श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(प्रथम-खण्ड स्कन्ध १-४)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक — श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करण — ३,००० प्रतियाँ
श्रीकृष्णकी हैमन्तिकी रासयात्रा
श्रीचैतन्याब्द ५२३
२ नवम्बर, २००९ ई०

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ०प्र०)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ०प्र०)
०५६५-२४४३२७०

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ०प्र०)
०५६५-२८१५६६८

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ०प्र०)
०५६५-२४४३१०१

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प० बं०)
०९३३३२२२७७५

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

भक्त–भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ–भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक–कामिनी–प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करने–वालोंके लिए पाषण्ड–गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध–भागवत–परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप–उप–छलादि धर्म रूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत अर्ककी प्रभा राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरु–पादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय-सूची

द्वितीयः स्कन्धः २४१-३७४

तृतीयः स्कन्धः ३७५-७७२

❁ ❁ ❁

प्रस्तावना

परमाराध्य गुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवतम्के मूल श्लोक एवं श्लोकानुवाद सहित प्रथम-खण्ड (स्कन्ध १-४) का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मेरे द्वारा श्रीमद्भागवतका माहात्म्य वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखलाना है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इसीलिए महाभागवतजन भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थराज भागवत्की आराधना किया करते हैं। भगवान् श्रीवेदव्यास जैसे भगवत्-स्वरूप महापुरुषको भी वेदोंका विभाग करने, निखिल श्रुतियोंके सार ब्रह्मसूत्र, महाभारत और पुराणोंकी रचना करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, अन्ततः श्रीमद्भागवतकी रचना करनेपर ही उन्हें शान्ति मिली। जिसमें सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक निखिल समस्याओंका समाधान है—उस श्रीमद्भागवतकी अपार महिमाको कौन वर्णन कर सकता है। यह परम मधुर भगवद्रसका छलकता हुआ अगाध-अनन्त महासागर है। इसीलिए भावुक भक्तजन इसमें अवगाहनकर परम मधुर भगवद्रसका पद-पदपर आस्वादन करते हैं। 'विद्याभागवतावधि' अर्थात् भागवत पराविद्याकी चरम सीमा है।

गरुड़पुराणमें लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है।

पद्मपुराणमें भी कथित है—

तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥

मैं अपार संसार सागरको पार करनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणानिधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक-अवतार श्रीमद्भागवतका भजन करता हूँ।

अतः इस ग्रन्थ-भागवतकी महिमा ब्रह्माजी और महादेव शङ्करजीकी तो बात ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी पूर्ण रूपमें नहीं वर्णन कर सकते।

आजकल भारत और समस्त विश्वके हिन्दी भाषी लोगों द्वारा अधिकांशतः गीता प्रेस, गोरखपुरसे अनुवादित श्रीमद्भागवतका ही पठन-पाठन होता है। किन्तु दूसरे संस्थानोंसे प्रकाशित हिन्दीका भागवत-संस्करण उपलब्ध नहीं होता। गीता प्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतका अनुवाद प्रधानतः प्रसिद्ध निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ब्रह्मलीन पं॰ श्रीशान्तनु-विहारीजी द्विवेदी, संन्यास ग्रहणके पश्चात्—श्रद्धेय स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीने किया है। अत्यन्त परितापका विषय है कि उनके इस अनुवादमें भक्तिपरक श्लोकोंका भी अनुवाद अद्वैतवादपरक रूपमें किया गया है। यत्र-तत्र सर्वत्र अद्वैतवादका मिश्रण है, जैसे—'जीवका प्रधान लक्ष्य मुक्ति है', 'जीव और ब्रह्म एक हैं', 'मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्म हो जाता है', जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है इत्यादि।

किन्तु श्रीमद्भागवत्के रचयिता महाभागवत वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन परामहंस्यमेकममलं ज्ञानं परम गीयते।
तत्र ज्ञान विराग-भक्ति-सहितं नैष्यकर्म्यमाविष्कृतं
तच्छ्रृण्वन सुपठन विचारण परो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥
(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१८)

श्रीमद्भागवत-पुराण निर्मल अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगसे रहित पुराण है। यह वैष्णव मात्रका प्रिय है, किन्तु यह कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियोंको प्रिय नहीं है। इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण, पठन और मनन करनेवालोंको स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है तथा उसके आनुसङ्गिक-फलसे उनका माया-बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

और भी—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रुषुभिस्तत्क्षणात्॥
(श्रीमद्भा॰ १/१/२)

यह ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत महामुनि श्रीनारायण ऋषिके द्वारा चतुःश्लोकीके रूपमें रचित है। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सब प्राणियोंमें दयाविशिष्ट व्यक्तियोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी छलसे रहित (कैतवशून्य) परमधर्मकी व्याख्या हुई है। वही धर्म जीवका त्रिताप नाशक, कल्याणकारी और यथार्थ वस्तु-तत्त्वज्ञानप्रद है। जिस किसी समय सुकृतिवान पुरुष इसके श्रवणमात्रकी इच्छा करते हैं, उसी समय ईश्वर अविलम्ब ही उसके हृदयमें आकर बद्ध हो जाते हैं। अतएव अब अन्य किसी साधन या शास्त्रसे प्रयोजन ही क्या है?

श्रीधरस्वामीपादने इस प्रस्तुत श्लोकके 'प्रोज्झित कैतवो' पदमें कैतव-शब्दका अर्थ मोक्षकी कामना तकको छोड़ना किया है। श्रीवेदव्यास और भी कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
(श्रीमद्भा॰ १/७/७)

इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति उदित हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय अनायास ही नष्ट हो जाते हैं।

'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३) श्लोकमें भी वर्णित है—निर्विशेष ज्ञानकी तो बात ही क्या, तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भी समस्त प्रकारके प्रयासोंको छोड़कर जो भगवान्‌की लीला-कथाओंका ही श्रवण करते हैं, भगवान् उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं। ब्रह्माजी आगे और भी कहते हैं—

श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१४/४)

हे प्रभो! परम कल्याण-स्वरूप आपको पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। जो लोग भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम करते और दुःख भोगते हैं, उन्हें मात्र क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है। जैसे थोथी-भूसी कूटनेवालेका केवल श्रम ही होता है, उसे चावल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूपैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३)

निष्काम भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तकको ग्रहण नहीं करते। वे मुक्तिका तिरस्कारकर भक्तिको ही ग्रहण करते हैं और उसे ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं। आत्मा भगवान्‌का एक क्षुद्र अंश (विभिन्नांश) है। जीव क्षुद्र हैं। परमात्मा विभु हैं; जीव अनेक हैं, ईश्वर एक हैं; जीव मायाबद्ध होनेयोग्य हैं, ईश्वर मायापति हैं। जगत् मिथ्या नहीं, अनित्य है अर्थात् जगत् सत्यसङ्कल्प परमात्माके सत्यसङ्कल्पसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, किन्तु नाशवान है। श्रीमद्भागवतमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है। भगवान् निराकार, अरूप, निर्गुण नहीं, अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। श्रीकृष्ण, नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीकान्त और राधाकान्त आदि उनके अनन्त नाम हैं। नवजलधरके समान उनका साँवला रूप है। जन्म, बालक्रीड़ा, असुर-संहार, रासलीला आदि उनकी अनन्त मधुर-मधुर लीलाएँ हैं। श्रीकृष्णके अंशों एवं अंशांश—कलाओंसे जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। अतः वे निराकार, निर्गुण आदि निर्विशेष तत्त्व कैसे हो सकते हैं?

अतएव वैष्णवोंको गीताप्रेसके भागवत-संस्करणका पठन-पाठन आनन्दप्रद नहीं, अपितु इसके विपरीत दुःखदायी ही प्रतीत होता है।

यद्यपि गीताप्रेसके श्रीमद्भागवत्‌की अनुवाद-शैली सरल-सहज, बोधगम्य, मधुर और आकर्षक है, तथापि उसके पठन-पाठनसे जीवोंका आत्यन्तिक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् उन्हें भगवत्-प्रेम, सेवा, शुद्धभक्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा विचारकर ही मैंने परम विदुषी, श्रीमद्भागवतपर पी॰ एच॰ डी॰ करनेवाली मधु बेटीसे कहा कि श्रीमद्भागवतका एक यथार्थ हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है और यदि तुम कर सको तो जगत्‌का परम कल्याण होगा। किन्तु वह हिन्दी अनुवाद विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता वैष्णवकुल-चूड़ामणि अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतके बँगला संस्करणके आधारपर ही होना चाहिये। इसके लिए उसने बँगला भाषाका अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने 'श्रील प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित संस्करणके आधारपर श्रीमद्भागवत्‌का हिन्दी अनुवाद किया।

बेटी मधुके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुवादको मैंने स्वयं बहुत सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया तथा उसमें संशोधनके साथ-साथ विषयोंको वैष्णव-आचार्योंकी टीकाओंके आधारपर और भी स्पष्ट किया। इस संस्करणको प्रस्तुत करनेके लिए बेटी वृन्दा देवीने संस्कृतके सभी श्लोकों तथा श्लोक-सूचीको एवं श्रीमान् सुबल सखा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् अच्युतानन्द ब्रह्मचारीने हिन्दी-अनुवादको टाइप किया है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् परमेश्वरी दास ब्रह्मचारी, श्रीमान् विजय कृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् संजय दास ब्रह्मचारीने प्रूफ-संशोधन तथा बेटी कान्ता दासी और बेटी शान्ति दासीने ले-आउट आदिका कार्य किया है। मुखपृष्ठ तथा ग्रन्थमें प्रस्तुत किये गये चित्र श्रीमती श्यामरानी द्वारा बनाये गये हैं तथा डिजाइन श्रीमान् विकास ठाकुर दासाधिकारी द्वारा किया गया है। श्रीमान् अमल कृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् माधव प्रिय ब्रह्मचारी, श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् जयगोपाल ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है।

इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थके प्रकाशनमें (१) परलोकगत पिता श्रीसुन्दरलाल डागा और परलोकगत माता श्रीमती कान्ता देवीके

पारमार्थिक कल्याणके लिए उनके पुत्र श्रीगोविन्द डागा और श्रीगिरिधर डागा, (२) श्रीमान् रमेश खण्डेवाल एवं उनकी पत्नी श्रीमती सपना देवी (३) परलोकगत पति श्रीफूलचाँद अग्रवाल एवं उनके पुत्र राजेन्द्र कुमार अग्रवालके पारमार्थिक कल्याणके लिए श्रीमती शकुन्तला देवी, (४) श्रीमती लता अग्रवाल, श्रीलक्ष्मीचन्द्र अग्रवाल, (५) श्रीमंयक बरखा रावत—इन सबकी अपने पारमार्थिक कल्याणके लिए आर्थिक सेवा-चेष्टा सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका गिरिधारी इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जिस किसी भी प्रकारसे सहयोग करनेवाले सभी भक्तोंपर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें परमगुरुदेव नित्यलीला प्रविष्ट श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' द्वारा भागवतके सम्बन्धमें प्रदत्त वक्तृताके कुछ अंशोको 'श्रीभागवत-तात्पर्य' शीर्षकके अन्तर्गत तथा उसके बाद मदीय सतीर्थवर नित्यलीला प्रविष्ट श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत 'श्रीमद्भागत-माहात्म्य' एवं 'श्रीमद्भागवत सप्ताहके श्रवणकी महिमा और पारायण विधि' नामक दो प्रबन्धोंके अनुवादको प्रस्तुत किया गया है।

श्रीमद्भागवतके इस हिन्दी संस्करणका एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रत्येक स्कन्धकी कथाका सार दिया गया है। जिससे पाठकोंको उस स्कन्धकी विषय वस्तुसे अवगत होनेमें सुविधा है। इसके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्लोकका अनुवाद अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्थापित शक्ति-परिणामवाद समन्वित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त पर आधारित है।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकों द्वारा उनका संशोधनपूर्वक पाठ करनेसे हमलोग आनन्दित होंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थराजका पठन-पाठनकर परमार्थ-पथपर अग्रसर हों—यही विनीत प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगोपाष्टमी
५२३ श्रीचैतन्याब्द
२६ अक्टूबर २००९ ई०

श्रीहरि-गुरु-वैष्णवकृपालेश-प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीमद्भागवत् तात्पर्य[1]

'भागवत्' शब्दका अर्थ

'भागवत्' का अर्थ है—भगवान् और उनके अनुगत भक्त। भागवतका श्रवण, पठन और चिन्तन करना भक्तिका प्रधान अङ्ग है।

श्रीमद्भागवतका इतिहास

अति पूर्वकालमें जीवोंके हृदयमें उपासनाका विचार था और वे उपास्य-वस्तुके निर्णयकी आवश्यकताको समझते थे। किन्तु समयके साथ-साथ देखा गया कि सभीके उपास्य अथवा आराध्य एवं उपासना अथवा आराधना एक नहीं हैं; उनके अनेकानेक गन्तव्य स्थान हैं और प्राप्य वस्तु भी बहुत प्रकारकी है। इसलिए बहुत-से देवताओंकी उपासना प्रचलित हुई। अति प्राचीनकालमें 'हंस' नामक केवल एक ही जाति थी। वे इस जगत्में वास करके भिन्न-भिन्न उपास्योंकी उपासना, पूज्योंकी पूजा करते थे। उनमें जो श्रेष्ठ थे, वही 'परमहंस' अर्थात् परमार्थ पथके पथिक कहलाते थे। पहले वैष्णवोंका नाम 'परमहंस' था। भागवत-सम्प्रदायके अति पूर्वकालकी आलोचना करनेपर हम 'हंस' और 'परमहंस' की बात जान पाते हैं। इनकी 'एकायनपद्धति' थी। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ उस प्राग् वैदिक युगमें भी आलोच्य होनेके कारण 'पारमहंस्य' अथवा 'पारमहंसी संहिता' के नामसे पुकारा जाता है। 'संहिता' का अर्थ है—सङ्कलित ग्रन्थ। अतएव जिस ग्रन्थमें परमहंसोंके आलोच्य विषय संग्रहित हुए हैं, उसीको 'पारमहंसी संहिता' कहते हैं। एकायनोंमें पाँच स्थानोंसे जो ज्ञान संग्रह किया जाता था, उसे 'पञ्चरात्र' कहते हैं। पुष्कर, हयशीर्ष, नारदपञ्चरात्र आदि पाञ्चरात्रिक ग्रन्थ हैं।

भगवान्के उपासक 'भागवत' के नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस समय तक श्रीव्यासदेवने शम्याप्रासमें श्रीशुकदेवको भागवतका अध्ययन नहीं

---

[1] विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाताचार्य जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' द्वारा भागवतके सम्बन्धमें प्रदत्त वक्तृताका सारमर्म।

कराया था, उस समय भी 'पारमहंसी संहिता', 'सात्वत संहिता' आदिके नाम हमें श्रीव्यासदेवकी लेखनीमें देखनेको मिलते हैं। वेदोंके अर्थको पूर्ण करनेके लिए श्रीवेदव्यासने पुराणोंकी रचना की। पुराणोंमें प्राचीन कथाएँ हैं। श्रीमद्भागवतको भी श्रीवेदव्यास द्वारा रचित पुराण विशेष ही कहा जाता है। किन्तु श्रीमद्भागवत एकायन पद्धतिका एकमात्र ग्रन्थ है, इसे पाञ्चरात्रिक ग्रन्थ भी कहा जाता है।

एकायन स्कन्ध और बह्वायन शाखाएँ—वेदोंकी ये दो प्रकारकी स्कन्ध-शाखाएँ हैं। च्युतगोत्रीय ऋषि बह्वायन-शाखावलम्बी तथा अच्युत गोत्रीय ही एकायन पन्थी हैं। बह्वायन शाखा एकायन शाखासे स्वतन्त्र है। एकायन पद्धतिमें ही पूर्ण समन्वय विचार और एक ही पथका विचार है। सत्ययुगमें जो कथाएँ भागवतने बोली थी, उन कथाओंका विचार क्रमशः क्षीण हो गया, इसलिए वेदविभाग और वर्णविभाग आदि आरम्भ हुआ। एकपाद धर्म (तपस्या) के क्षय होनेपर ऋक्, साम, यजुः आदि संहिता, उपनिषद् एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदिकी वृत्तिके विचारसे वर्ण विचार हुआ था। त्रेतासे पहले वर्णविभाग नहीं था। सभी हंस जातिके अन्तर्गत थे।

जो निष्क्रिय (समस्त काम्य-कर्मोंसे रहित) होकर परमार्थके पथपर अग्रसर होते थे, वही परमहंस कहलाते थे। वैष्णव-विद्वेषी मतके क्रमशः प्रबल होनेके साथ-ही-साथ ऋक्-साम आदि वेद विभाग और हंस जातिमें ब्राह्मण आदि वर्ण विभाग आरम्भ हुआ।

प्रारम्भिक कालमें हंसजाति काश्यपह्रदं (Caspian Sea) के निकट एशिया नामक स्थानपर वास करते समय 'आर्य' के नामसे प्रसिद्ध हुई। अग्नि आदि देवोंकी उपासनाके प्रत्यक्ष विचारमें अवस्थित होकर विष्णु उपासनाको भी उन्होंने वैसा ही समझा। विष्णुसे स्वतन्त्र ईश्वरका ज्ञान करके ऋक्, साम, यजुः आदि संहिताख्य ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंका उल्लेख एवं उनके उपासनाकाण्डमें इन सब देवताओंके स्तव आदि देखनेको मिलते हैं। जो श्रीमद्भागवतके विवरणको श्रवण करेंगे, उनके लिए इन समस्त बातोंको जाननेकी आवश्यकता है, अन्यथा उनके द्वारा श्रीमद्भागवतके प्रति नवीन रूपसे उदित होनेवाले मध्ययुगीय ग्रन्थ मात्रकी भ्रान्ति होना अवश्यम्भावी है।

एकायन पद्धति रूप श्रीमद्भागवत ही एकमात्र वेद है। उपनिषदोंमें एकायन, महाभारत, पञ्चरात्र आदि शब्द पाये जाते हैं। भागवतके प्राक् इतिहास अर्थात् प्राग्वैदिक युगके इतिहासकी आलोचना करनेपर जाना जाता है कि ऋक् वेदके पहले भी मानव जाति सभ्य-उपासक थी। वह एकायन पथावलम्बी होकर सहज विष्णुभक्ति अथवा वैष्णवताके विचारमें प्रतिष्ठित थी। त्रेताके प्रारम्भमें ही स्थान-स्थानपर एकायन-विचारके शिथिल होनेके कारण वेदविभाग और वेदोंके अङ्ग आदिका प्रचार हुआ। पहले 'एकायन' 'पञ्चरात्र' 'सात्वत' आदि शब्द थे। वर्त्तमान इतिहासमें एकायनकी बात अब प्रायः विलुप्त है। प्रचुर परिमाणमें इसकी आलोचना करनेपर जाना जाता है कि प्राग्वैदिक युगमें विष्णुभक्तिकी कथाके अतिरिक्त अन्य कोई कथा नहीं थी, त्रेताके आरम्भसे ही अन्यान्य कथाओंका विस्तार हुआ है। हमारे इस देशमें कुछ समय पहले केवल बौद्ध या जैन आदि ही वास करते थे—ऐसा कहना ठीक नहीं है। यहाँ सात्वत ब्राह्मण थे, उनमें विष्णु-भक्तिकी कथा ही प्रबल थी। उन्हींके वंशधर ही अब 'सात्वती' के ही अपभ्रंश 'सात-शती' अथवा 'शम्वती' कहकर अपना परिचय प्रदान करते हैं। कान्यकुब्जसे पञ्च ब्राह्मणोंके आनेसे पहले बङ्गालमें सात्वत अथवा वैष्णव ब्राह्मण वास करते थे। प्रत्यक्ष जड़-विचार परायण बौद्ध राजाओंके प्रबल पराक्रमसे वैष्णव-धर्मका प्रचार लगभग स्तब्ध हो गया था। भगवान्की कृपासे अनेक प्रकारकी बाधाओंको अतिक्रम करके उसी पुरातन जैवधर्म (वैष्णव-धर्म) की पुनः प्रचुर परिमाणमें आलोचना हो रही है।

जो 'पुराण' शब्द सुनते ही नाक सिकोड़ते अर्थात् कुण्ठित होते हैं, वे लोग प्राग्वैदिक युगके सात्वत स्वभावसे सम्पन्न व्यक्ति क्या आलोचना करते थे, इसका विचार करें। पुराण या पञ्चरात्रके अन्तर्गत अकृत्रिम वेदान्त श्रीमद्भागवत नाकको सिकोड़नेकी (कुण्ठित होनेकी) वस्तु नहीं है। श्रीमद्भागवत महामुनि नारायण ऋषि द्वारा कही गयी थी। श्रीनारायण ऋषिने नारदको, नारदने वेदव्यासको, वेदव्यासने फिर शुकदेवको यही भागवती कथा सुनायी। बादमें श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने उसे शिष्य-परम्परामें आलोचनाके लिए ग्रन्थके आकारमें

रचना की थी। श्रीव्यासदेवके शम्याप्रास आश्रममें श्रीमद्भागवतका प्रथम अधिवेशन हुआ था। श्रीशुकदेवने वहींपर भागवतकी आलोचनाकी थी। उस समयसे ही 'भागवत्' शब्दका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इतिहासकी आलोचना करते समय उससे पहले हम परमहंस, सात्वतोंके आलोच्य 'पारमहंसी', 'सात्वत-संहिता' आदि शब्दोंका व्यवहार ही देखते हैं।

अनेक लोग भागवतको पुराण या पञ्चरात्रके अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते। किन्तु श्रीमद्भागवतमें आगम और निगम एकत्रित मिलकर विद्यमान हैं। हमें भागवतकी आलोचना करते समय प्रथमस्कन्धके चतुर्थ अध्यायमें 'सात्वती-श्रुति' नामक एक शब्द मिला है। श्रीनारायण ऋषिने जब नारदजीको भागवतका उपदेश दिया था, तब उसे 'वेद-संज्ञित' कहा गया था। जिस प्रकार श्रौत पद्धतिका अवलम्बन करनेवाले कर्मकाण्डीय ऋषियोंने बहुत-से देवताओंका स्तव करनेवाले साधारण शास्त्रोंको भी वेद कहा है, उसी प्रकार सात्वतगणोंने भागवतको वेदका सर्वोत्तम अंश कहकर स्वीकार किया है। प्रयोजन तत्त्वका निरूपण करते समय 'निगमकल्पतरोर्गतिलफलं' (श्रीमद्भा० १/१/३) श्लोकमें 'निगम' शब्दका व्यवहार हुआ है। इसके अतिरिक्त भागवतमें उपनिषदोंके अनेक मन्त्र यथायथ रूपमें देखे जा सकते हैं। भागवतमें स्थान-स्थानपर श्रुतिवाक्य लिखे गये हैं—श्रुतिकी प्राञ्जल व्याख्याकी गयी है। यथा, (गरुड़पुराणमें श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें उक्ति)—

"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्री भाष्य रूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥"

गीताका विशेष अर्थ भागवतमें देखा जा सकता है। यह ब्रह्मसूत्रका भाष्य-स्वरूप, वेदार्थसे परिपूर्ण एवं वेदमाता गायत्रीकी व्याख्याका अवलम्बन करके रचित हुआ है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें भगवत्ताकी कथा प्रचुर परिमाणमें वर्णित हुई है एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य अवतारोंका वर्णन भी इसमें किया गया है। इस श्रीमद्भागवतके विषयमें विभिन्न शास्त्रोंमें लिखा गया है। जैसे स्कन्धपुराणके विष्णु-खण्डमें चार अध्याय, पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें,

गरुड़पुराण तथा और भी कुछेक पुराणोंमें भागवतके प्राधान्यके विषयमें लिखा गया है। सर्वोपरि भागवतके अनुगत सम्प्रदाय इसे प्रमाण शिरोमणि कहते हैं।

श्रीमद्भागवतपर विभिन्न टीकाएँ

जो श्रीचैतन्यदेवके अनुगत हैं, उन्होंने एक प्रकारकी व्याख्या की है और जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी कथा श्रवण नहीं की है, उनकी व्याख्या करनेकी शैली ही दूसरी प्रकार की है। जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी कथा नहीं सुनी है, जिनके निकट चैतन्यदेवका अनुग्रह पूर्ण मात्रामें नहीं पहुँचा है, वे भागवतकी आलोचनाको नहीं समझ पायेंगे। उनके द्वारा भागवतका (सठीक) अनुवाद नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवतके अनुगत विश्रम्भ-भावका पोषण करनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं, यथा—श्रीरूप गोस्वामी कृत 'लघुभागवतामृतम्', श्रीसनातन गोस्वामी कृत 'बृहद्भागवामृतम्', श्रीजीव गोस्वामी कृत 'षड्सन्दर्भ', श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कृत 'सारार्थदर्शिनी टीका' और श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी 'दशमस्कन्धकी टीका' लिखी है। इन सभीकी गौरानुगत भागवत-सम्प्रदायमें आलोचना होती है।

किन्तु कैवलाद्वैतवादियोंमेंसे किसीने भी भागवतकी टीका नहीं लिखी। वे केवल कपटतापूर्वक कहते हैं कि भागवतमें केवलाद्वैतवादकी कथा है। किन्तु हम तो भागवतमें कहीं भी केवलाद्वैतवाद नहीं देखते। भागवतसे सैकड़ो-हजारों योजन दूर रहकर क्या कोई व्यक्ति भागवतकी कथा लिख या जान सकता है? यह कभी भी सम्भवपर नहीं है। अनेक लोग कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती भागवतके पक्षके हैं, किन्तु ऐसा नहीं है, वह अद्वैतवादी हैं। अघ, बक और पूतना आदि असुरोंने भी अपना परिचय श्रीकृष्णके पक्षके लोगोंके रूपमें दिया था। श्रीकृष्णने मथुरामण्डलमें अघ-बक आदि १८ असुरोंका वध किया था। श्रीकृष्णको ध्वंस करना ही असुरोंकी प्रधान चेष्टा है, किन्तु श्रीकृष्ण उनकी सब चेष्टाओंको व्यर्थ कर देते हैं। यद्यपि गीता वैष्णवोंका पूज्य ग्रन्थ है, किन्तु पंचायती आखड़ेके लोगोंने उसे अपनी प्रधान पूज्य वस्तु कहकर अनेक प्रकारकी टीका-टिप्पणी

आदिकी रचना करके वैष्णव-धर्मके सरल विश्वासके प्रति आक्रमण किया है। भागवतको भी इसी प्रकार अपना बनाने जाकर उन्होंने विपरीत कथाका ही प्रचार किया है।

जैसा भी हो, सभीके लिए एकमात्र भागवत ग्रन्थ ही आलोच्य है। सोनेके बने सिंहासनपर श्रीमद्भागवतको रखकर भाद्रपद मासकी पूर्णिमामें श्रीमद्भागवत-वितरणका माहात्म्य भी शास्त्रोंमें कीर्त्तित हुआ है।

श्रीमन् महाप्रभु द्वारा श्रीमद्भागवतकी रक्षा

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावके पहले भागवतकी कथाको लोगोंसे आवृत करनेके लिए अनेक कुविचार प्रबल रूपसे प्रचलित थे। जो चेतनके विलासको जड़-विलासमें बदलकर भागवतके साथ आत्मीयता दिखाने जाते हैं, दुश्चेष्टाओंसे भागवतको कदर्थित करनेमें प्रवृत्त होते हैं, श्रीचैतन्यदेवने उन लोगोंसे ही भागवतकी रक्षा की है। जब जगत्में इस प्रकारके अन्यायपूर्ण विचार प्रवर्त्तित हुए थे, उस समय श्रीचैतन्यदेवने मनुष्योंके कल्याणके लिए श्रीकृष्णपादपद्म की क्या महिमा है, यह बतला दिया था। किन्तु हमारा ऐसा दुर्भाग्य है कि हमें उन श्रीकृष्णकी कथामें रुचि नहीं है।

श्रीचैतन्यदेवने जब जगत्के दुःखको जाना, उनके परमप्रिय श्रीसनातन-रूप-जीव गोस्वामी आदि जब जगत्के दुःखमें दुःखी हुए, तब उन्होंने भागवतको क्रय-विक्रयकी वस्तु बनानेमें बाधा दी। उन्होंने भागवतको कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवी, भर्त्तृहरि आदि द्वारा लिखित या अन्यान्य काव्य या पुराणोंमेंसे एक माननेसे निषेध किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आस्वादित श्रीमद्भागवतके अनुगत ग्रन्थावली तथा भागवतके प्रति निष्ठा

श्रीचैतन्यदेवने कवि जयदेवकी मधुर कोमल कान्त पदावलीका आदर किया, क्योंकि श्रीजयदेवने भागवतकी कथाका अवलम्बन करके ही उसकी परिशिष्ट कथा वर्णन की है। अनेक लोग कवि जयदेवकी कथाको समझ नहीं पानेके कारण उनका आदर नहीं कर पाये।

चण्डीदास, विद्यापति, रायेर नाटक गीति,
कर्णामृत, श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप-रामानन्द-सने महाप्रभु रात्रिदिने
गाय, शुने, परम आनन्दे॥
(चै० च० मध्य २/७७)

श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरामानन्द रायके साथ रात-दिन चण्डीदास और विद्यापतिकी पद्यावली, श्रीरामानन्द रायके जगन्नाथ-वल्लभ नाटक, श्रीकृष्ण-कर्णामृतम् और श्रीगीत-गोविन्द—इन पाँच ग्रन्थोंको गाते, सुनते और इससे परम आनन्दका अनुभव करते थे।

इन पाँच ग्रन्थों और गीतिने श्रीगौरसुन्दरकी परम-प्रीतिका विधान किया है। यही भागवत-सम्प्रदायकी परिपाटी है। साधारण लोग अर्थोपार्जन, पुण्य सञ्चय आदिके लिए भागवत पढ़ते हैं तथा वे भागवत पाठको मार्कण्डेय सप्तशती पाठमेंसे ही एक समझते हैं।

कुलीन ग्राम निवासी गुणराज खानने श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी कथाओंको बङ्गला पयार-छन्दमें ग्रथित किया है। ग्रन्थका नाम 'श्रीकृष्ण-विजय' है। उस ग्रन्थमें उज्ज्वल रूपसे लिखा है—'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ।' महाप्रभुने इस बातको सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए कहा था—'ऐई वाक्ये बिकाइनु ताँर वंशेर हात।' अर्थात् गुणराज खान द्वारा नन्दनन्दन श्रीकृष्णको अपने प्राणनाथके रूपमें स्वीकार करनेके कारण मैं उनके वंशके हाथों बिक गया हूँ।

श्रीचैतन्यदेव द्वारा भागवतका सार-संग्रह

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और उनके तद्रूप वैभव स्वरूप श्रीधाम वृन्दावन ही आराध्य वस्तु हैं। व्रजवधुओंने जिस भावसे श्रीकृष्णकी उपासना की थी, वह उपासना ही सर्वोत्कृष्ट है।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही निर्मल शब्द प्रमाण एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है। इसी सिद्धान्तके प्रति ही हमारा परम आदर है, अन्य मतोंके प्रति नहीं।

'अपरैः किम्'—अतएव अन्य शास्त्रोंकी आलोचनाकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि केवल इसी भागवतसे ही सर्वार्थ सिद्धि होगी। श्रीहरिके हृदयमें अवरुद्ध होनेपर उस हृदयमें और कोई भी कथा नहीं रहेगी। तभी महाप्रभुकी कथा—'आनेर हृदय मन, मोर मन वृन्दावन'—विषय समझ आ पायेगा।

नाम-कीर्त्तनमें ही रूप, गुण, लीला और परिकर कीर्त्तन है। कपटतापूर्वक नाम-कीर्त्तनका त्याग करके रूप आदिका कीर्त्तन करनेसे चित्तरूपी दर्पण मलीन ही रहेगा। ऐसा होनेसे भागवत पढ़ना और सुनना नहीं होगा। श्रीचैतन्यदेवके आनुगत्यमें सुननेसे ही भागवत समझ आयेगी।

भागवतके अनुशीलन द्वारा ही श्रीचैतन्यदेवकी पूर्ण दया—'अमन्दोदय दया' प्राप्त की जा सकती है। महाप्रभुकी दया तीनों तापोंसे उत्पन्न मलिनताको दूर करनेवाली, निर्मलता प्रदान करनेवाली, निरन्तर प्राकृत चिद्रस, सेवा-प्रवृत्ति तथा भगवत्-निष्ठाको प्रदान करनेवाली है।

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदय-कन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥
(चै॰ च॰ आ॰ ३/४, विदग्धमाधव १ अङ्क २ श्लोक)

श्रीकृष्णचैतन्यदेवके विचारानुमोदित भागवतकी जो व्याख्या है, वही हमारे लिए अवलम्बनीय है। जिन श्रीकृष्णचैतन्यदेवने पहले जो वस्तु कभी जीवोंको दान नहीं की थी, उसी स्वभक्ति-शोभाको कृपा-परवश होकर जीवोंके लिए सुप्राप्य बनाया है। वही साक्षात् श्रीहरि कृष्णचैतन्यदेव हमारे हृदयमें भागवतमें उल्लिखित समस्त भक्तिपूर्ण कथाओंका विस्तार करें।

श्रीमद्भागवतम्‌में सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्व

वेद शास्त्रमें जिस सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनकी बात कही गयी है, वही सम्बन्ध भागवतके प्रथम श्लोक 'जन्माद्यस्य यतः' में अभिधेय 'धर्मः प्रोज्झितकैतव' में तथा प्रयोजन 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं' नामक श्लोकोंमें सूत्राकारमें निर्णीत हुआ है।

"एते चांशकलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

(श्रीमद्भा॰ १/३/२८)

श्रीराम, श्रीनृसिंहदेव तथा वराह आदि भगवान् श्रीकृष्णके अवतार तथा उनके अंश-कलादि हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं—इसी तत्त्वको निरूपित करना ही भागवतका प्रतिपाद्य विषय है।

श्रीकृष्ण अखिलरसामृत-मूर्त्ति हैं। उनका कीर्त्तन ही सम्यक् कीर्त्तन है। अखिलरसामृत-मूर्त्ति श्रीकृष्णकी लीलाके श्रवण द्वारा ही सम्यक् कीर्त्तन होगा, अन्यान्य अवतारोंकी कथा सुननेसे नहीं। श्रीलक्ष्मी-नारायणके कीर्त्तनकी अपेक्षा श्रीसीता-रामके कीर्त्तन ही सब प्रकारसे जययुक्त हैं। किन्तु श्रीकृष्णकीर्त्तन होनेसे ही पूर्णतमता होती है, सब प्रकारके अभाव ही दूर हो जाते हैं। भागवतके दशमस्कन्धमें कृष्ण-कीर्त्तन पूर्ण मात्रामें है। अतः फिर केवल दशमस्कन्धको लिखनेसे ही होता, अन्यान्य स्कन्धोंकी क्या आवश्यकता थी? यद्यपि भगवत्-अवतारोंमें तारतम्यका निर्देश करनेके लिए ही अन्यान्य स्कन्धोंमें अन्यान्य अवतारोंकी कथाओंका परिवेशन किया गया है, तथापि भागवतमें श्रीकृष्णकी कथाका ही पूर्ण रूपसे वर्णन किया गया है। रस विचारसे श्रीकृष्णका सर्वोत्कर्ष दिखलाया गया है। भागवतमें कृष्णभक्तिरस वर्णित है तथा रूपानुगत्यसे ही वह प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतम्‌में आलोचित विषय

महाभारतमें मथुरेश-कृष्ण, द्वारकेश-कृष्णकी कथा है, किन्तु श्रीवृन्दावनके व्रजेन्द्रनन्दनकी कथा सुष्ठु रूपमें नहीं है। जो इस जगत्‌में ही रहना चाहते हैं, इससे बाहर नहीं जाना चाहते, वे महाभारत पढ़े, किन्तु जन्म-जन्मान्तरका—नित्यकालका कृत्य ही जिनकी आलोचनाका विषय है, वे भागवतका आस्वादन करें।

श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धोंको भगवान्‌के द्वादश अङ्गोंके रूपमें वर्णन किया गया है, किन्तु यह विराट रूपकी कल्पनाकी भाँति नहीं है। भगवान् अपने वास्तविक श्रीविग्रहके रूपमें इस श्रीभागवतमें अवस्थित हैं। श्रीमद्भागवतकी विशेष आलोचना करनेपर इसे समझा जा सकता है।

भागवतमें श्रीकृष्ण, रोहिणीनन्दन राम (बलराम), दाशरथि राम, परशुराम, वामन, वराहदेव, नृसिंदेव, लक्ष्मी-नारायण, ब्रह्म, परमात्माकी व्यापकता और शक्तिके विषयमें आलोचना हुई है। अतएव भागवतमें निर्विशेष व्याधिको दूरकर सविशेष धर्मकी पूर्णता स्थापित हुई है।

यद्यपि भागवत श्रीकृष्णलीलाका वर्णन करती है—श्रीकृष्णकी पूर्वार्ध सम्भोगमयी लीलाकी कथा ही बोलती है, किन्तु विप्रलम्भमयी लीला, जिसमें सम्भोगकी पुष्टि होती है, उस परम प्रयोजनीय विषयको श्रीगौरसुन्दरने ही भागवतमें प्रदर्शित किया है। अतएव श्रीगौरसुन्दरके द्वारा प्रचारित जो भागवतकी विचार प्रणाली है—वही हमारी आलोचनाका विषय हो।

कुछ लोग कहते हैं—"भागवतमें दुर्नैतिक-कथाओंसे पूर्ण कृष्णलीलाकी आलोचना की गयी है, इसलिए भागवतकी विचार-प्रणाली व्यभिचारकी पुष्टि करनेवाली है। इससे अच्छा तो नेपोलियनकी वीरताकी कथा सुनना है।" किन्तु हमारा कहना है कि भागवत allegory (रूपक) या history (इतिहास) नहीं है। इसमें क्या-क्या समता और विषमता है, उसे समझनेके लिए साधुके मुखसे इसे श्रवण करना होगा।

श्रीमद्भागवतम्‌में श्रीराधा-नाम

पश्चिम भारतके भाग्यहीन लोग (भागवतके विषयमें) अनेक प्रश्न करते हैं। मथुराके एक पण्डितने मुझसे प्रश्न किया था कि भागवतमें जब राधाका नाम ही नहीं है, तब फिर गौरसुन्दरको यह नाम कहाँसे मिला? किन्तु हमारा कहना है कि भागवतमें वह नाम किसके लिए रहेगा? हमारे जैसे निर्दोष व्यक्ति जो भागवतको देख ही नहीं पा रहे हैं, कहते हैं कि उसमें राधाका नाम नहीं है। किन्तु हमारा कहना है कि भागवतको देख पानेसे उसमें केवल श्रीराधा नहीं, बल्कि

ललिता, विशाखा, रूप मञ्जरी, चन्द्रावली आदिका भी नाम देख पायेंगे। जिनमें योग्यता होगी, वे प्रयत्न करनेपर ये सबकुछ देख पायेंगे। ये सब बातें साधारण व्यक्तियोंके लिए नहीं है, इसलिए श्रीव्यास, शुक आदिने इन नामोंको गोपन रखा है।

कोई इस भ्रममें न रहे कि भागवतमें राधाजीका नाम नहीं है, केवल नाम ही नहीं बल्कि भागवतमें उनके (रूप, गुण) आदि अनेक विचार हैं। किन्तु, जैसे जुलाब (जोलाप) लेनेके बाद ही औषधि खानेसे काम करती है, नहीं तो वह अम्ल (पित्त) आदिमें ही परिवर्त्तित हो जाती है, उसी प्रकार यदि अनर्थ युक्त अवस्थामें एकदमसे राधाजीके विषयमें जानना चाहेंगे, तो कुछ भी हजम नहीं होगा।

श्रीमद्भागवतम्—अमल प्रमाण

व्रजवधुओंने जिस प्रकारसे श्रीकृष्णकी सेवा की है—तटस्थ होकर विचार करनेसे जाना जाता है कि वही उपासना सर्वोत्तम है। इसका प्रमाण क्या है? श्रीमद्भागवत ही इसका अमल प्रमाण है। 'प्रमाण' के नामपर वेद और वेदानुग शास्त्र असंख्य बातें बोलते हैं, किन्तु अपरा (जड़) विद्याका अनुशीलन करनेवालोंका विचार मलयुक्त होनेके कारण ग्रहणीय नहीं है। इस प्रकारके प्रमाण रेगिस्तानमें प्याससे व्याकुल व्यक्तिके लिए दूरमें स्थित सूर्यकी किरणोंसे चमकनेवाली रेतीमें जलके भ्रमके समान है। अर्थ ही नित्य प्रार्थनीय है, अनर्थ तात्कालिक है तथा अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है। वास्तव वस्तु ही अर्थ है, अतएव वही ग्रहणीय है, अवास्तव वस्तु ग्रहणीय नहीं है। अनेक व्यक्तियोंके विचारसे निर्विशेषवाद ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु वह समल अर्थात् अशुद्ध है, परन्तु भागवत अमल प्रमाण है। इस भागवतमें अन्तर्निहित वास्तविक स्वार्थपरताके कारण इसमें भुभुक्षा (भोग) और मुमुक्षा (मोक्ष) रूपी कैतव नहीं है। पाण्डित्य-प्रतिभा द्वारा जो वेदकी संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की व्याख्या करते हैं, अपस्वार्थपरतामें दीक्षित होनेके कारण उनका प्रमाण कैतवयुक्त है, अतएव उनकी बात स्वीकार करने योग्य नहीं है।

श्रीमद्भागवत्की विषय वस्तु—प्रेम

भागवतकी आलोचना करनेवाले जानते हैं कि जीव सेवकतत्त्व है, सेव्य नहीं। मुक्त सेव्य भगवान् केवल सेव्य हैं, वे सेवक नहीं हैं। मुक्त सेवक और मुक्त सेव्यमें परस्पर अविच्छिन्न प्रेम विद्यमान है। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय करनेसे ही भागवत नामक वस्तुका अनुसन्धान पाया जा सकता है, अन्यथा ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र आदि भी इस वस्तुका कोई अन्त नहीं पाते।

धर्म, अर्थ और काम—ये भोगके तीन फल हैं तथा मुक्ति या मोक्ष अर्थात् बन्धनसे मुक्ति—अशान्तिके हाथसे छुटकारा पाना त्यागका फल है। इन्हींको चार पुरुषार्थ कहा जाता है, किन्तु 'प्रेम' को पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। जो चतुर्वर्गकी प्रार्थनामें व्यस्त हैं, वे भागवत पढ़कर कोई फल प्राप्त नहीं कर पाते। 'प्रेम' अर्थात् श्रीकृष्णकी प्रीतिका संग्रह करना ही जिनका प्रयोजनीय विषय है, वही भागवतको पढ़नेका फल प्राप्त करते हैं। 'प्रेम' ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, यह समझ आ जानेपर ही भागवत पढ़नेकी आवश्यकता पड़ती है।

साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवतश्रवण।
मथुरावास, श्रीमूर्त्तिर श्रद्धाय सेवन॥

सकल-साधन-श्रेष्ठ एइ पञ्चअङ्ग।
कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प-सङ्ग॥

(चै० च० म० २२/१२८)

प्रेम ही हमारा परम प्रयोजनीय विषय है। साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत श्रवण, मथुरावास, श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्तिकी सेवा—यह पाँच अङ्ग समस्त साधनोंमें श्रेष्ठ हैं। इन पाँचोंका अल्प सङ्ग ही कृष्णप्रेमको उत्पन्न कर देता है, अर्थात् इनके द्वारा ही भजनीय वस्तुका अनुशीलन किया जा सकता है। इन पाँचोंके अल्प सङ्गके प्रभावसे भगवत्-वस्तुकी प्राप्ति होती है। भागवत जैसे ग्रन्थका श्रवण करनेके उपरान्त लोगोंको दूसरे-दूसरे ग्रन्थोंके श्रवणसे क्या लाभ होगा? भागवतके श्रवणसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? इत्यादि, इन सब पूर्वपक्षोंकी आलोचना होना आवश्यक है। विषय-वस्तुको भलीभाँति जाननेकी आवश्यकता है।

इसलिए भागवत श्रवण ही हमारा एकमात्र कार्य है। भागवत श्रवणसे ही भक्ति साधनके अन्यान्य चार प्रधान अङ्ग—साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, श्रीमूर्त्तिकी सेवा तथा मथुरावासका पालन हो जायेगा।

भक्त-भागवतके निकट ग्रन्थ भागवतका श्रवण नहीं करनेसे सर्वनाश होता है। भोगी व्यक्ति भागवतका पाठ नहीं कर सकता। पञ्चोपासक अथवा अघ, बक, पूतनाके अनुगतजनोंके मुखसे भागवत नहीं सुननी चाहिये। भागवत समझनेके लिए भगवद्भक्तोंकी चरणरेणु ही एकमात्र परम प्रयोजनीय वस्तु है।

श्रीमद्भागवतम्का श्रवण, पठन तथा विचार करनेका फल—विशेष प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्ति

यह भागवत किसे प्रिय है? यह क्या वस्तु है? इसमें किस प्रकारका ज्ञान प्रदान किया गया है? इसमें ज्ञान-विराग-भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका विचार है या नहीं तथा भक्तिपूर्वक श्रवण-पठन और विचारके फलसे विशेष प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्ति होती है या नहीं? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीमद्भागवतके अन्तमें (१२/१३/१८) यह श्लोक दिखायी देता है—

"श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छ्र ण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्तया विमुच्येन्नरः॥"

श्रीमद्भागवत नामक विशुद्ध पुराण वैष्णवोंकी परमप्रिय वस्तु है। इसमें परमहंस पुरुषोंके द्वारा प्राप्य एक अमल परम ज्ञान कीर्त्तित हुआ है तथा ज्ञान-वैराग्य-भक्ति समन्वित नैष्कर्म्य प्रकाशित हुआ है। मनुष्य यदि भक्तिपूर्वक इसका श्रवण, पाठ या फिर विचार करे, तो वह मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवत विष्णु भक्तोंको जितना प्रिय है, जगत्की और कोई वस्तु उन्हें उतनी प्रिय नहीं है। वैष्णवोंने श्रीमद्भागवतको ही एकमात्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवतके आनुगत्यमें ही वेद शास्त्रकी आलोचना करनी चाहिये। अज्ञ व्यक्तियों द्वारा की गयी

भक्तिकी बात भागवतमें नहीं कही गयी है। सबसे अधिक सुचतुर व्यक्तियोंकी जो सेवाकी उपलब्धि है, उसी भक्तिका भागवतमें वर्णन है।

सेवावृत्तिपूर्वक भागवतका श्रवण करना होगा। "अतः श्रीकृष्ण नामादि न भवेत् ग्राह्यमिन्द्रियैः। सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।" सेवोन्मुखकी जिह्वापर अर्थात् भक्तिमान व्यक्तिकी जिह्वा और होंठपर (भागवत) स्वयं ही प्रकाशित होगी। स्वयंरूप स्वयं प्रकाश वस्तु ऐसी नहीं है कि वह अन्य किसीके द्वारा परिचित होगी। वह रजोगुण, सतोगुण आदिके अन्तर्गत नहीं, बल्कि गुणातीत—निर्गुण है।

मूर्ख व्यक्तिका भागवत पाठ और द्वितीय वस्तु अर्थात् कृष्णसे इतर वस्तुमें अभिनिविष्ट जड़-विलासीका भागवत पाठ (शुद्धभक्तोंके पाठसे) सम्पूर्ण विपरीत है। इस विषयमें 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः' नामक श्लोक आलोच्य है। श्रोताकी रुचिके अनुसार ढलकर लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकामी कभी भी भागवतके सेवक नहीं हो सकते।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्रार्थना करनेवाले कपटतासे युक्त हैं। श्रीमद्भागवत चतुर्वर्गकी अभिलाषा करनेवालोंका पाठ्य ग्रन्थ नहीं है। भागवतकी आलोचना भक्ति द्वारा ही सम्भवपर है, अन्यथा भागवत पाठ करके भी भोगवृत्ति ही प्रबल होगी।

स्मरणको आग्रहसे परिपक्व करना होगा, अविस्मृतिका विचार करनेकी आवश्यकता है। केवल विचार नहीं, उसके साथ भक्ति प्राप्त करनेसे ही विमुक्ति होगी।

मनुष्योंमें भगवत्-सेवाका विचार बहुत कम हो गया है। उनके अनुसार भागवतकी कथा ही मानो अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली अनादरकी वस्तु है। कहाँ तो अन्य सब कथाओंको छोड़कर शत-प्रतिशत भागवतकी कथा—नित्य मङ्गलकी कथा प्रबल होगी, किन्तु वैसा न होकर उसके विपरीत विचार ही उठ रहा है। जीवोंके समस्त सङ्कीर्ण विचार रुक जायें। भागवतकी कथाकी आलोचना न करनेसे ही हम अन्यान्य विषयोंमें अपना मन लगायेंगे, हमारे मनमें केवल जड़-जगत्के ही विचार आयेंगे। जो जन्म-जन्मान्तरसे भगवत्-

प्रसङ्गसे विमुख होकर संसारके दुःख-कष्ट-अशान्ति आदिका भोग कर रहे हैं, वे क्या अब भी स्वास्थ्य (आत्मस्वरूप) की प्राप्तिके लिए चेष्टा नहीं करेंगे? प्रवृत्ति मार्गमें अनेक प्रकारकी वृत्तियों द्वारा चालित होकर पग-पगमें अशान्ति भोग करनी पड़ती है, एकमात्र भगवत्-कथाके आश्रयमें ही परमशान्ति प्राप्त हो सकती है, मनुष्य जाति क्या अभी भी इसका विचार नहीं करेगी?

श्रीमद्भागवतकी शुश्रूषा (सेवा)

भागवत निगम शास्त्रका सर्वप्रधान ग्रन्थ है। भागवतने ही वास्तव वस्तुका सन्धान प्रदान किया है, जिससे हमारे जैसे लोग उस भगवत्-वस्तुकी सेवा करनेके लिए उत्साहित हो सकें। हम सदैव सेवाविमुख हैं। सेव्य वस्तुके दर्शनसे सेवकमें सेवा करनेकी उत्कण्ठा वर्द्धित होती है।

भागवतमें ही सभी शास्त्रोंकी आलोचना हुई है—भागवतके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी कोई आवश्यकता नहीं है। भागवतमें ही सबकुछ है। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र' (१/१/२) श्लोकमें 'शुश्रूषुभिः' नामक एक विषय कहा गया है, 'शुश्रूषुः' अर्थात् सेवाधर्म युक्त व्यक्ति। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवय।'—घोड़ेकी सेवा करनेसे 'सहिस', कुत्तेकी सेवा करनेसे 'भङ्गी', लोहेका काम करनेसे 'लोहार', सोनेका काम करनेसे 'सुनार' तथा भगवान्‌की सेवा करनेसे 'भक्त' हुआ जा सकता है। जगत्‌में जिन सब विषयोंको लेकर मनुष्य जाति व्यस्त है, उन सब सीमाबद्ध पदार्थोंको ग्रहण करनेके अभिलाषी होकर भागवतको क्रय-विक्रयकी वस्तु न समझकर भागवत-भक्त हो जानेकी आवश्यकता है। किन्तु 'मैं भागवत हो गया हूँ', 'मैंने सम्पूर्ण भागवतको पढ़ लिया है'—ऐसा समझनेवालेका सर्वनाश भी अवश्यम्भावी है। अनन्त कोटि जन्मोंमें भी भागवत पढ़ना नहीं होता। यह कोई पुतलोंका खेल नहीं है—अभिनयमात्र नहीं है। भगवत्-सान्निध्यमें रहकर वास्तव सत्यका सान्निध्य प्राप्त करना चाहिये, उनकी सेवामें नियुक्त होना चाहिये। भगवान् भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं। मैं भोक्ता हूँ, द्रष्टा हूँ, श्रवणकारी हूँ, आस्वादनकारी हूँ, चिन्तन करनेवाला

हूँ—ऐसी दुर्बुद्धि होनेसे भागवतकी आलोचनाके स्थानपर सीमाविशिष्ट पदार्थकी आलोचना हो जाती है।

माया-रचित क्रियाको भक्ति कहनेसे कर्माधिकार, ज्ञानाधिकार, कर्म-ज्ञानमिश्र योगाधिकार या अन्याभिलाषितारूप अमङ्गलके हाथसे छुटकारा नहीं मिलता। जब तक यह विचार रहेगा कि मैं स्वयं ही पढ़कर समझ लूँगा, तब तक भागवतके निकट नहीं पहुँचा जा सकता। व्याकरणके लिङ्ग आदिके विचारसे उत्पन्न 'अनुस्वार-विसर्ग' द्वारा, भाषाके ज्ञानके द्वारा तथा शब्द और शब्दीमें भेद बुद्धिके द्वारा भागवत पढ़ना नहीं होगा। जो चौबीस घण्टे भगवान्‌की सेवा कर रहे है, उनके पास जाकर भागवत पढ़नी होगी, उनसे ही जानना होगा कि भागवत क्या वस्तु है, कौन-कौनसे अक्षरोंका रूप धारण करके कौन-कौनसे शास्त्रोंमें भागवतका विचार है? तब कौन-सी बात भागवतकी नहीं है, यह भी समझ आ जायेगा।

जो चौबीस घण्टेमेंसे चौबीस घण्टे भगवान्‌की सेवामें नियुक्त हैं, अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान आदिकी चेष्टासे पूर्णतया मुक्त हैं, भागवत उन्हींकी आराध्य है तथा वही भागवतकी आराधना करना जानते हैं। भागवतको अर्थ या पुण्य संग्रह अथवा दुःख निवृत्तिकी औषधिके रूपमें पर्यवसित करना भागवतकी सेवा नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें आत्म-धर्म

वास्तविक अभक्त कभी भी भागवत नहीं पढ़ सकते। वे भुक्ति और मुक्तिकी पिपासा रखनेवाले कर्मी और ज्ञानी हैं। भुक्ति और मुक्ति ही जिनका प्रयोजन है, उनका भागवत पाठमें अधिकार नहीं है तथा इसकी आलोचना द्वारा उन्हें अधिक सुख भी नहीं मिलेगा। मोक्षके साधन द्वारा केवलमात्र उपाधिका ही नाश हो सकता है। किन्तु भागवतमें वर्णित कृष्णप्रेमकी कथा आत्माके नित्य धर्मके साथ संश्लिष्ट है। यद्यपि इस भागवतकी महिमा अनेक स्थानोंपर वर्णित है, तथापि यह बहुत-से लोगोंके लिए रुचिप्रद नहीं है। यहाँ तक कि भागवतके पाठक और आलोचकोंके मनकी सन्तुष्टिके लिए विपरीत पथके पथिक भी बहुत बार भागवतका आदर करते हैं। किन्तु उनके

क्रिया-कलापोंको देखनेसे बहुत बार इसका वास्तविक आदर प्रमाणित नहीं होता।

श्रीमद्भागवतम्—सभीके लिए आराध्य और आलोच्य है

यह भागवत क्या वस्तु है? इसकी इतनी प्रशंसा क्यों सुनी जाती है? इसके प्रति इतना अधिक दौरात्म्य (दुर्बुद्धि) क्यों है?—इन सब विषयोंको जाननेकी आवश्यकता है। आज यह ग्रन्थराज कितने लोगोंकी जीविकाके यन्त्रके रूपमें परिणत हो चुका है। पक्षान्तरमें जो लोग पारमार्थिकजनोंके आदर्शस्वरूप हैं, यह भागवत उनकी ही परम सेव्य है। वास्तवमें संसारमें वास करनेवाले चारों वर्णोंके सभी व्यक्तियोंके लिए ही यह ग्रन्थ आराध्य है।

कितने ही प्रकारके कर्मोंके अनुष्ठान एवं विभिन्न अवस्थाओंके उपयोगी विचार इस ग्रन्थराजमें है—जैसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यतियोंके धर्मके विषयमें पृथक् भावसे सबकुछ वर्णित हुआ है। वर्ण-विचारसे विभिन्न वर्णोंका लक्षण और उन-उन लक्षणोंके द्वारा वर्णके निरूपणका विधान दिया गया है। भागवतमें दर्शनकी कथा, ज्ञानियोंकी कथा, सभी श्रेणियोंकी कथा ही है, अतएव यह सभीके लिए पाठ्य एवं परम प्रयोजनीय है। पण्डित, मूर्ख, स्त्री, पुरुष, संसारमें आसक्त तथा संसारसे मुक्त—यह सभीके लिए आलोच्य है। यह भागवत भगवान्‌से अभिन्न वस्तु है।

चौबीस वर्षके युवाके द्वारा काव्यके अध्ययन और बालकके द्वारा काव्यके अध्ययनमें साधारण व्यक्तिको कोई भेद भले ही न दिखायी देता हो, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अच्छी तरहसे समझ सकता है कि दोनोंकी उपलब्धि एक प्रकारकी नहीं है। अनेक बार पार्थक्यके बोधके अभावके कारण हम वस्तुके निर्णयमें भ्रान्त होते हैं। वास्तवमें श्रीमद्भागत विभिन्न स्तरोंके सभी व्यक्तियोंकी आलोचनाका विषय है। तार्किक, मूक, तर्कज्ञान रहित—सभी लोग सभी अवस्थाओंमें भागवतकी आलोचना करनेके साथ-साथ अपने-अपने कर्त्तव्योंको निरूपित कर सकते हैं, इसमें किसी प्रकारके संशयकी कोई समस्या ही नहीं रहेगी। भगवत्-दर्शनसे सब प्रकारके संशय दूर होते हैं। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया' (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३०) ही इसका प्रमाण है।

श्रीमद्भागवतका श्रवण और कीर्त्तन करनेके लिए गौड़ीय मठ

'मठन्ति वसन्ति छात्राः यस्मिन्' अर्थात् परमार्थिक शिक्षा सदन ही भागवत मठ है। शिक्षा शिरोमणि परमार्थ अनुशीलनके अतिरिक्त और कोई कार्य, कार्य ही नहीं है। भक्तिमठमें भगवान्‌की सेवाके प्रति अनुराग विशिष्ट व्यक्ति ही वास करें, सेवा-विमुख या सेवा-विरोधियोंकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी आदि अभक्त यहाँ वास करनेके सत्-उद्देश्यको नहीं समझ पायेंगे। भक्तिमठमें पञ्चरात्र विधिसे मन्त्र द्वारा विविध उपचारोंके माध्यमसे भगवान्‌का अर्चन होता है, भोग होता है। भगवत्-भोग्य वस्तुके भगवान्‌को समर्पित होनेपर उस अन्नका भगवत्-उच्छिष्टके विचारसे प्रसादके रूपमें ग्रहण किया जाता है। प्राग् वैदिक युगमें आलोच्य भागवतके विचारका अनुसरण करके नामधारी वैदिक पण्डिताभिमानियोंको अपने वर्त्तमान विचारसे छुटकारा पानेकी आवश्यकता है। भगवान्‌की कथा द्वारा ही सबकुछ होगा। एकमात्र भागवतको संरक्षित रखकर दूसरे समस्त ग्रन्थोंका त्याग करनेपर भी चलेगा—'किंवापरैः।' श्रीमद्भागवतमें पूर्वपक्षके रूपमें समस्त विरुद्ध कथाओंकी अवतारणा करके उनकी सम्पूर्ण अकर्मण्यताको आँखोंमें अङ्गुली डालकर दिखलाया गया है।

श्रीमद्भागवतरूपी दुष्प्राप्य वैकुण्ठ-कथाके श्रवण और कीर्त्तनका सुयोग प्रदान करनेके लिए ही गौड़ीय मठके श्रवण-सदनके निर्माणकी आवश्यकता पड़ी है। स्थान-स्थानपर श्रवण-सदनोंका निर्माण किया जा रहा है, जिससे भागवतकी कथा लोगोंके कानमें प्रविष्ट होकर अन्य कथाओंके प्रति वृथा श्रद्धाको प्रवेश करनेसे रोके। कोई-कोई कहते हैं कि श्रीमद्भागवत स्वाध्यायमें रत रहनेवाले विचार-परायण ब्राह्मणोंके विचार-योग्य ग्रन्थ नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि पुराणोंकी कथाएँ व्यर्थकी कथाएँ हैं, काल्पनिक कहानियाँ हैं, पुरानी कथाएँ है, इन्हें सुननेसे क्या होगा? कोई-कोई कहते हैं, भागवत वोपदेव द्वारा रचित है। भागवत विरोधी सम्प्रदाय श्रीमद्भागवतको श्रीव्यासदेव द्वारा रचित ग्रन्थ न मानकर उसके प्रति जो दोषारोपण करते है, खृष्टीय त्रयोदश या दशम शताब्दीका ग्रन्थ विशेष मानकर भागवतकी आधुनिकताको प्रमाणित करनेकी जो घृणित चेष्टा प्रदर्शित

की जाती है, श्रवण-सदनमें उसके मूल कारणकी विशेष रूपसे आलोचना होनी चाहिये। अन्यान्य लोगोंकी जिह्वारूपी गह्वरका अनेक प्रकारका वितण्डा तथा मेढ़क जैसे टरटरकी आवाज करनेवालोंकी जिह्वाके कोलाहलको सम्पूर्ण रूपसे स्तब्ध होना उचित है। इसलिए श्रवण-सदनमें भागवतकी आलोचना हो, भागवतका क्रय-विक्रय बन्द हो। सांसारिक आवश्यकताओंके उपायस्वरूप या अर्थके विनिमयमें भागवतके श्रवणका विचार आनेपर उससे एकान्तिक प्रयोजनीयताकी उपलब्धि या आशानुरूप फल प्राप्त नहीं होगा। शुद्ध सारस्वत श्रवण-सदन जितने अधिक बढ़ेंगे, भागवतकी जितनी आलोचना बढ़ेगी, उतना ही जगत्‌का कल्याण होगा। उस दिन जितने बड़े-बड़े टाउन हाल हैं, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ हैं, वे सभी श्रीगौड़ीय मठ (भागवत श्रवण) सदन होंगे, वहाँ सभी हरिकथाकी ही आलोचना करेंगे, सभी स्थान हरिकथामय हो जायेंगे—उस दिन ही जगत् पूर्ण सुखमय होगा।

अनेक लोगोंकी भ्रान्त धारणा है कि गौड़ीय मठमें गोस्वामियोंके ग्रन्थ अथवा भागवतकी कथाको आवृतकर और-और कथाएँ बोली जाती हैं तथा प्राकृत सहजिया ही उन सब कथाओंकी आलोचनामें नियुक्त रहते हैं। किन्तु हमारा कहना है—गलेमें (तुलसी) माला पहनकर, नाकपर तिलक लगाकर, वैष्णवके वेशमें सजकर कनक-कामिनी और प्रतिष्ठाकी आशामें घूमना-फिरना भागवत-पाठका फल नहीं है। इस प्रकारका भागवत पाठ बन्द होना चाहिये।

१९०४ ई॰ में मैंने नीलाचलमें श्रीचैतन्यचरितामृतकी व्याख्या करनी आरम्भ की थी। बहुत-से लोग सुनने आते थे, किन्तु उनमेंसे बहुत लोग मेरी बातोंको समझ नहीं पाये। जो खाने-पीने, सुविधापूर्वक रहने आदिमें ही व्यस्त हैं, वे वैष्णवतासे सैकड़ों-हजारों योजन दूर हैं। उनके साथ हमारी कोई प्रतियोगिता नहीं है। हम श्रीकृष्ण-विमुख लोगोंके सङ्गसे हजारों योजन दूर अवस्थित हैं। भागवत-श्रवणाङ्क्षी व्यक्तिके साथ ही हमारा सम्बन्ध है। समर्पित-आत्मा व्यक्तिके निकट ही भागवतका कीर्त्तन करना चाहिये। दूसरी ओर, जो दुःखमें पड़े हुए हैं, उनका उद्धार करना भी हमारा प्रधान कर्त्तव्य है। किन्तु आजकल

उसमें भी विपद (परेशानी) है। दो पक्षोंमें झगड़ा चल रहा है, तृतीय पक्ष उनका झगड़ा मिटाने जाकर लाठी खाता है। जो जलमें डूब रहे व्यक्तिको बचाने जाता है, जलमें डूबनेवाला व्यक्ति उसीको पकड़कर डूबाना चाहता है। इसलिए विद्वेषी incorrigible (संशोधनके अयोग्य) व्यक्तिको पहचान लेनेपर उसे दूर रखना चाहिये। अश्रद्धालु व्यक्तिको भगवान्‌का नाम (भागवत-पाठ) श्रवण करानेसे अपराध होता है। किन्तु आजकल ऐसे व्यक्ति हरिनाम ग्रहण करनेका अभिनय करके विपथगामी हो रहे हैं। नामधारी गुरु भी कह रहे हैं—जो इच्छा हो करो, किन्तु वार्षिक (कर) दे जाना। किन्तु, अपराधयुक्त होनेपर हरिनाम नहीं होता। बाहादुरी करके जगत्‌के जीवोंकी वञ्चना अथवा आत्मवञ्चना करना अच्छा नहीं है। गुणजात पदार्थोंका बहुमानन करनेसे विफल मनोरथ होना पड़ता है। नामाभास, नामापराध, असत्-सङ्गका त्याग करके शुद्ध नामाश्रय ही कर्त्तव्य है।

सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतोवरे।
श्रीमद्भागतार्थानामास्वादो रसिकै सहः॥
(भ॰ र॰ सि॰ १/२/९१)

सजातीय अर्थात् एक ही प्रकारकी वासना द्वारा स्निग्ध, किन्तु अपनेसे श्रेष्ठ साधुका सङ्ग करना चाहिये। ऐसे रसिक साधुके साथ श्रीमद्भागवतके अर्थका आस्वादन करना चाहिये।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके तथाकथित अनुगतजनों द्वारा उनकी शिक्षाके विरुद्ध विचारोंका प्रचार

बङ्गालमें प्राकृत-सहजिया लोगोंका प्रबल दौरात्म्य चल रहा है। भागवत-विरोधी कथाओंको चैतन्यदेवके अनुगत कथाओंके रूपमें परिचय देकर बेचा जा रहा है। लोगोंकी चापलूसी करनेके लिए भागवत-विरोधी विपरीत कथाओंको बेचना कितना कुविचार है, कैसा दौरात्म्य है, इसे भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए हमारा कहना है—भारतमें, केवल भारतमें ही नहीं, समग्र जगत्‌में ही भागवतकी कथा प्रचारित हो, दूसरी समस्त कथाएँ बन्द हों। भागवतकी कथा ही श्रीचैतन्यदेवकी कथा है, भागवतकी कथासे श्रीचैतन्यदेवकी कथाका बिल्कुल भी पार्थक्य नहीं है। चैतन्यदेवकी

कथाके सुष्ठु रूपसे प्रचारित होनेपर ही लोगोंको नित्य मङ्गलकी प्राप्ति होगी। अनन्तकालसे सञ्चित—जन्म-जन्मान्तरके समस्त अनर्थ—समस्त असुविधाएँ दूर हो जायेगी। यही श्रीचैतन्यवाणी अर्थात् श्रीमद्भागवतकी कथा ही गौड़ीय मठके प्रचारका विषय है।

एक ओर भजनीय या 'सेव्य' वस्तु भागवत, दूसरी ओर, भागवतके पाठक और श्रोतारूप 'सेवक' तथा बीचमें भक्ति या भागवत-कथाका श्रवण आदि 'सेवा'। भागवतकी सुष्ठु रूपसे आलोचनाकी आवश्यकता है। श्रीचैतन्यदेवके अकृत्रिम दास भागवतकी कथाके अतिरिक्त अन्य कोई कथा नहीं कहते हैं, उन दासोंके निकट ही भागवत आलोच्य है। आज श्रीचैतन्यके अनुगत दासके परिचयमें कैसे-कैसे अन्यायपूर्ण कार्य नहीं चल रहे हैं? वे सब कार्य जगत्का कोई मङ्गल नहीं कर सकते।

हमारे बन्धु-बान्धव आज भागवत कथाको भूलकर श्रीकृष्णको रूपक या ऐतिहासिक नायकके रूपमें कल्पना करके अनेक प्रकारकी न सुनने योग्य कथाओंकी आलोचना करके तथा न देखने योग्य चित्रोंको अङ्कित करके स्वयं तो नष्ट हो ही रहे हैं, साथ ही और भी कितने लोगोंके दिमागको नष्ट कर रहे हैं। महाप्रभु परम प्रीतिपूर्वक जिन सब प्रसङ्गोंकी आलोचना करते थे, उसके अनेक प्रकारके कदर्थ करके सहजिया लोग उसे दुकानोंपर, चौराहोंपर यहाँ-वहाँ सर्वत्र इन्द्रिय तर्पणकी वस्तुके रूपमें परिवर्त्तित कर रहे हैं। यह कितने दुर्भाग्यकी बात है। अत्यधिक उच्च अधिकारके लोगोंके आलोच्य विषयोंको उच्चता या योग्यता प्राप्त करनेसे पहले ही साधारण लोगोंमें आलोचना करना अत्यन्त अन्यायपूर्ण कार्य है। मूर्ख या पण्डितभिमानी—किसीके लिए भी ऐसा करना शोभनीय नहीं है। वे इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंकी आलोचना करनेकी दाम्भिकता करने जाकर अपने साथ-साथ बहुत लोगोंका सर्वनाश करेंगे। जो कथा मनुष्य मात्रके लिए ही प्रयोजनीय है, क्या मनुष्य उसे सुनेगा? जिससे तात्कालिक आनन्द और इन्द्रिय चाञ्चल्य उपस्थित होता है, मनुष्य उसे ही सुननेके लिए व्यस्त है। विवर्त्तवादियोंकी कथाको सुनना ही मनुष्योंने अपना प्रयोजन समझ लिया है। हरिकथा सुननेके लिए लोग

मिलते ही नहीं। जिनका भाग्य खराब है, वही भक्तिका विरोध करनेवाले अभक्तों—मायावादियोंके चङ्गुलमें जा फसते है। जो भक्तिकी नित्यताको स्वीकार नहीं करते, वे अघ-बकको शाखाके अन्तर्गत हैं, इनका सङ्ग करके कभी भी मनुष्यका मङ्गल नहीं हो सकता। अप्राकृत पञ्च-रसाश्रित सेवकोंकी धारामें विद्यमान चितवृत्तिके प्रति लोभके उपस्थित होनेमें ही जगत्‌का मङ्गल है। अप्राकृत रसाश्रित भक्त ही परम मुक्त पुरुष हैं। आज जगत्‌में उनकी ही कथाका अकाल पड़ा हुआ है।

कुछ लोग चैतन्यदेवके अनुगतके रूपमें अपना परिचय देनेपर भी भागवतके उद्देश्यको नष्ट, कलङ्कित और कलुषित करनेके लिए व्यस्त हुए हैं, ऐसे लोगोंसे श्रीमद्भागवतकी कथाका संरक्षण करके भागवतको उज्ज्वल और पुष्ट करना ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य बन पड़ा है।

भागवत भोगोंमें लिप्त तथा कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लोलुप जीवोंके लिए प्रस्तुत किया गया कोई खाद्य पदार्थ नहीं है। केवलाद्वैतवादी कहते हैं—"भागवत बहुत खराब वस्तु है, इसे छोड़कर वेदान्त, उपनिषद आदि पढ़ने चाहिये, क्योंकि भागवतका श्रवण करनेवालेमें व्यभिचार उत्पन्न होकर उन्हें नरकमें ले जायेगा।" किन्तु जो भागवतसे घृणा करते हैं, वे असाधु और मत्सरता पारायण हैं। अज्ञातावशतः हो या फिर रजोगुण, तमोगुणके कारण हो, जिनमें भागवतके प्रति विराग है, वे सब भागवत विरोधी सम्प्रदाय ही ऐसा विचार करके असत् पापिष्ठ बनकर सांसारिक भोगके लिए नरक प्राप्त करते हैं। भागवत विरोधी सम्प्रदाय भगवत्-रसको अपने भोगका विरोधी समझकर मङ्गलके पथसे विपरीत दिशाकी ओर जा रहे हैं। धर्मके नामपर अपनी इन्द्रियोंके तर्पणमें लगकर बाहरसे धार्मिकता दिखला रहे हैं।

चरम व्याधिके चङ्गुलसे छुटकारा पानेके लिए वैष्णवोंके आनुगत्यमें भागवत अनुक्षण पठनीय

जो Shakespeare, कालिदास आदि जड़ीय कवियोंके पार्थिव जड़-रसके काव्यके समान ही भागवतको लेकर खेल-खेलना चाहते हैं, उसे क्रय-विक्रयकी वस्तुके रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा करते हैं,

उनकी ऐसी दुर्बुद्धि अत्यन्त अपराधमय कार्य है। हमारे जैसे दुर्भागे पशु-बुद्धियुक्त व्यक्तियोंमें भागवत सुननेकी प्रवृत्ति नहीं है, अपितु उसका विरोध करके अपनी मूर्खताकी वृद्धि करना ही हमारा भागवत-पाठ है।

भागवतके 'येऽन्येरविन्दाक्ष', 'श्रेयः सृतिं' एवं 'नैष्कर्ममप्यच्युत-भाववर्जित' आदि श्लोकोंमें निर्विशेष-विचारको अविवेचकोंका चिन्तास्रोत कहा गया है। भागवत श्रेष्ठ प्रमाण है। प्रमाण द्वारा शक्तिविशिष्ट होनेके बाद हम श्रद्धायुक्त हो सकते हैं। भागवत नित्य लीलामय भगवान्‌के चरित्र वर्णनका प्रमाण है। भागवत द्वारा कौन-सा कार्य सिद्ध होता है? ये समस्त मानव जातिकी भीषणतम व्याधिकी सबसे बड़ी औषधि और चिकित्सक—दोनों ही है। जिस भयानक व्याधिने विज्ञ दार्शनिकोंमें प्रवेश किया है, वह है वेदान्तसूत्रकी निर्विशेष परक व्याख्या—अँग्रेजी भाषामें जिसे Impersonalism कहते हैं। भगवत्ताको निर्विशेष रूपमें स्थापित करके अपने जड़ीय भोगोंमें व्यस्त होना ही मानवकी सबसे प्रधान बीमारी है। हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यपु, रावण-कुम्भकर्ण, कंस, जरासन्ध आदि इस बहुत कठिनतासे दूर होनेवाली बीमारीसे आक्रान्त थे। यह बीमारी चिन्ताशील प्राणी-जगत्‌के चरम मङ्गलके प्रति बाधा प्रदान करनेके लिए सबसे अधिक cogent (प्रभावी) है। भागवत-धर्मको नष्ट करनेके लिए कितनी प्रकारसे प्रयास किये जा रहे हैं। वर्त्तमान समयमें ईश्वरसे विमुखताका भाव एवं आनुगत्य हीनता ही हमारा स्वभाव बन गया है। यदि कोई कहे कि भागवतमें निर्विशेष विचार हैं, तो वह कभी भी भागवत नहीं समझ सकता। जिस प्रकार नामापराधीके लिए अनुक्षण नाम-ग्रहण ही नामापराधके विनाशका उपाय है, उसी प्रकार इस चरम व्याधिके चङ्गुलसे छुटकारा पानेके लिए वैष्णवोंके आनुगत्यमें अनुक्षण भागवत पढ़नेकी आवश्यकता है।

भगवत्ताको निर्विशेष विचारसे स्थापित करना अपराधकी चरम सीमा है। इस व्याधिसे मुक्त होनेके लिए भक्त-भागवतके निकट ग्रन्थ—भागवतकी आलोचना करनी चाहिये, भागवत विरोधीके निकट नहीं। जो चौबीस घण्टे भागवतकी सेवा करते हैं, जिनका प्रत्येक

कार्य ही भागवत सेवाके लिए है, जो अचित् पिण्ड (जड़) के दर्शनमें आबद्ध नहीं है, ऐसे पूर्णचेतन विग्रह वैष्णवगण अर्थात् पूर्णप्रज्ञके अधीन भागवतगण, जो अचेतनकी मलिनतासे ज्ञान संग्रह नहीं करते, वही भागवतकी सुष्ठु रूपसे आलोचना कर सकते हैं। यदि भागवत पढ़ते समय मनमें यह विचार आये कि भागवतमें कुछ मनोकल्पित उपाख्यान दिये गये हैं, तो फिर भागवत अध्ययन नहीं हुआ। श्रीगौरसुन्दरने जिस प्रणालीसे भागवतकी आलोचना करनेके लिए कहा है, उसके अनुसार आलोचना न करनेसे वृक्षके ऊपरके हिस्सेको बचाये रखकर जड़को अन्दरसे काट देने जैसी स्थिति होगी। इसलिए चौबीस घण्टेमेंसे एक निमेषकाल भी भागवत श्रवण और कीर्त्तनसे अलग नहीं होना चाहिये।

भवरोगी सम्प्रदायका विषम रोग निर्विशेषपरक वेदान्तके विचारके नामपर रजोगुण और तमोगुण प्रकृतिको वर्द्धित करना तथा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनके नामपर दरिद्रको नारायण कहकर स्वयं दाता बनकर जन्मान्तर अर्थात् बादमें प्रशंसा या फिर सेवा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना है। किन्तु, ऐसी चेष्टाओंका मूल्य फूटी कौड़ीसे भी कम है, यह केवल तभी समझ आ सकता है, जब भागवतकी आलोचना हो। भागवतकी आलोचनाके अभावमें ही ऐसी बातें विभिन्न देशोंमें बहुमानित हो रही हैं।

श्रीमद्भागवतमें सभी प्रकारके रोगोंकी चिकित्सा प्रणाली विद्यमान है

यद्यपि श्रीमद्भागवत अखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप है, तथापि अचेतन मिश्रित भाव द्वारा आवृत्त अवस्थामें उसे देखा नहीं जा सकता। पुनः जब तक हमारा अभिनिवेश मलयुक्त ज्ञानमें रहता है, तब तक हम भगवान्‌की श्रीमूर्त्तिमें अनेक प्रकारकी मलिनता लक्ष्य करते हैं। वास्तवमें यह अपनी-अपनी दर्शनेन्द्रियोंकी अपटुतामात्र है।

अमल ज्ञान लब्ध व्यक्ति उस प्रकारसे दर्शन नहीं करते। जो साधारण दिखायी देनेवाली स्त्रियों अर्थात् गोपियोंके अनुगत नहीं हैं,

वे जो दर्शन करते हैं, वे कामनेत्रोंसे भागवतका दर्शन करते हैं। अपनी इन्द्रियोंका तर्पण करनेकी इच्छासे संश्लिष्ट दर्शनमें मलिनता है। एक ही वस्तु अनेक बार मलिनताके परिमाणके अनुसार ही विभिन्न प्रकार की दिखलायी देती है। अनर्थकालीन अवस्था तथा अनर्थमुक्त अवस्थामें दर्शन पृथक् होता है। अनर्थयुक्त अवस्थामें पूर्ण प्रकाशित वस्तुका दर्शन नहीं होता। साधारण व्यक्ति और परममुक्त व्यक्तिके दर्शनमें पार्थक्य है।

'मैं बहुत बुद्धिमान हूँ', 'मैं भागवतको स्वयं ही समझ सकता हूँ (इसे समझनेके लिए मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं है)'—जो ऐसा कहता है, उसे उतनी ही भूल-भ्रान्ति हुई है तथा वह वास्तवमें हरिभक्तिके मार्गपर चला ही नहीं है। यही मूर्ख बननेका सहज मार्ग है—foolishness made easy.

हमें पग-पगपर भ्रान्ति होती है। कुहक द्वारा आवृत्त रहनेपर तब तक सत्यका उद्घाटन सम्भवपर नहीं होता, जब तक सत्यके आलोकसे आलोकित न हुआ जाये। जैसे नेत्रोंके रहनेपर भी आलोकके अभावमें अन्धकारमें ही हाथ-पैर मारना होता है।

इस (श्रीचैतन्यमठ रूपी) अस्पतालमें सभी औषधियोंका भण्डार है। श्रीचैतन्य और उनके अनुगतजनोंके द्वारा उत्साह सहित औषधियाँ वितरित की जा रही है। किन्तु इस देशका ऐसा दुर्भाग्य है कि जैसे भी क्यों न हो भागवतको इस देशसे निकाल फैंकना चाहते हैं, इसलिए पूर्ण सामर्थ्यसे उसके पीछे लगाना ही लोगोंका प्रधान कर्त्तव्य हो गया है। भागवतमें छिद्र-अन्वेषण करके कर्म प्रवृत्तिको वर्द्धित किया जा रहा है। किन्तु 'कर्माणां परिणामित्वाद्' (श्रीमद्भा॰ ११/१९/१८) श्लोककी आलोचनासे रहित होने तक ही जीवोंमें फल-भोगकी आकांक्षा प्रबल होती है।

धर्म जगत्में जितने भी रोग हैं, उन सबकी चिकित्सा-प्रणाली भागवतमें है। भागवत सब प्रकारके रोगोंका विनाश करके रोगकी जड़को भी उखाड़कर फैंक देगी। यदि मनुष्यके श्रवण योग्य कान हों, तो भागवत antitheistic (आस्तिक्य विरोधी) चिन्ता-स्रोतको केवल फूँक मारकर ही उड़ा देगी। यदि भागवतके श्रवणमें उदासीन रहेंगे,

तो बहिर्जगत्का चिन्ता स्रोत हमपर आक्रमण करेगा। बहिर्जगत्के चिन्ता स्रोतको dismate (आवरण मुक्त या दूर) करनेकी व्यवस्था भागवतने दी है।

'जगत्में कुछ है'—जो ऐसा सोचकर केवल व्यर्थमें ही व्यस्त हैं, भागवत उनकी कथा नहीं है, बल्कि यह निष्किञ्चनोंकी कथा है। वे निष्किञ्चन इस जगत्की किसी वस्तुका दान करने नहीं आते, अपितु वे तो उस अप्राकृत जगत्की वस्तुको देनेके लिए ही सर्वदा प्रस्तुत हैं, जो इस जगत्में नहीं है। उन निष्किञ्चनोंके श्रीचरणोंकी धूलिसे जो मुकुट तैयार होता है, जिनके मनमें उसे पहननेकी आकांक्षा है, वही (भागवतके श्रवण-कीर्त्तन द्वारा) भगवान्के चरण-कमलोंको स्पर्श करनेका अधिकार प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवतम्—कल्पतरु

भागवत श्रवण सभी लोगोंके भाग्यमें नहीं होता। जो भावुक हैं, भावकी मर्यादा जानते हैं, भोगोंमें व्यस्त नहीं हैं, सेवा-भावसे विभावित हैं, केवल उन्हें ही प्रयोजनकी प्राप्ति होती है। उन्हें ही सम्बन्ध-ज्ञान, अभिधेय-रुचि तथा प्रयोजन-सिद्धि की प्राप्ति होती है। भागवतका प्रतिपाद्य विषय जिस किसीको भी नहीं दिया जाता। अप्रयोजनके विचारमें ही जो मग्न हैं, उनका विचार हैं—"हमारी कृष्ण-भजन अथवा भागवत श्रवणमें रुचि नहीं है, हम मद्यपानमें व्यस्त हैं, हमारी रस प्राप्तिमें रुचि नहीं है, प्रभु बननेमें ही हमें आनन्द आता है—हम दूसरेकी नौकरी नहीं करना चाहते।" अनर्थयुक्त अवस्थामें अविद्याग्रस्त जीवोंमें ऐसा अभिमान रहता है। जैसे पढ़ते समय ध्यान नहीं देनेपर पढ़नेका कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार अनर्थ युक्त व्यक्ति प्रयोजनीय ज्ञानके अभावमें भागवत पाठ करके भी दूसरी-दूसरी वस्तुओंकी इच्छा करता है, किन्तु भगवद्भक्तिरसकी कथामें मन नहीं लगाता और इसी कारण वह भागवतका वास्तविक आस्वादन नहीं कर पाता। भागवत रचयिताके अनुसार भागवत वेदरूपी कल्पतरुका फल है, अतः उससे व्यक्ति जो-जो चाहता है, वह उसे वही देता है—भागवत सर्वार्थसिद्धि प्रद है।

श्रीमद्भागवत्के रसका आस्वादन करनेका क्रम

भागवतको पढ़ लेनेपर 'मैंने तो बाजी मार ली है'—ऐसा विचार आनेपर कृष्णका नित्यानुशीलन ही समाप्त हो जायेगा। इसकी अपेक्षा आस्वाद्य पदार्थका क्रमपूर्वक आस्वादन करना अच्छा है। जैसे saccharine (चीनी जैसी मीठी वस्तु) बहुत मीठी होती है, किन्तु उसे सीधे खानेसे वह स्वादिष्ट नहीं लगती, dilute करके अर्थात् उसमें अधिक परिमाणमें जल अथवा दूध मिलाकर क्रमशः आस्वादन करनेकी आवश्यकता होती है। शब्दका vibration[१] बहुत अधिक या बहुत कम होनेपर वह सुनायी नहीं देता, range (धारण क्षमता) के अनुसार ही सुननेमें सुविधा होती है। अधिक खानेसे पेटमें दर्द होता है, योग्यतानुसार ही खाद्य वस्तुओंको ग्रहण करना चाहिये।

यावता स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्षात्तावदर्थवित्।
आधिक्ये न्यूनतायाञ्च च्यवते परमार्थतः॥

(नारदीय पुराण)

जिस परिमाणमें विषय स्वीकार करनेसे अपना प्रयोजन पूर्ण हो, अर्थज्ञ व्यक्तिको उतना परिमाणमात्र ही स्वीकार करना चाहिये, किन्तु उससे अधिक या कम ग्रहण करनेसे परमार्थसे भ्रष्ट होना पड़ता है।

सात्वत संहिता भागवतको नहीं पढ़ने तक जीव आध्यक्षिक[२] बना रहता है। भागवत—पारमहंसी संहिता है, परमहंस—परममुक्त निष्किञ्चनोंने क्या बोला है, उसे जानने और समझनेके लिए भागवतके दशमस्कन्धकी आलोचना करनी होगी। दशमस्कन्धकी आलोचनाके बाद एकादशस्कन्ध नहीं पढ़नेसे अधःपतन होगा।

श्रीमद्भागवतम्का पाठ करनेके अधिकारी

पृथ्वीपर विराजित भगवद्भावमें भावुक, सेवा-निपुण, रस-निपुण, भागवतगण—रसिक सम्प्रदाय ही भगवान्की लीलासे परिपूर्ण भागवतका पाठ करें।

❁ ❁ ❁

---

(१) frequency

(२) महाज्ञानी, महाकर्मी आदि होनेका अभिमान रखनेवाला।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य[१]

गोकर्ण और धुन्धुकारीका उपाख्यान

दक्षिण भारतमें तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक अपूर्व नगर अवस्थित था। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र नामक चारों वर्णोंके आश्रित सभी लोग अपने-अपने धर्मके पालन द्वारा सत्पथपर चलते हुए धर्म-कर्म परायण थे। उस नगरमें सर्ववेद-विशारद, श्रुति और स्मृति शास्त्रोंमें पारदर्शी, सूर्यके समान तेजस्वी 'आत्मदेव' नामके एक धार्मिक एवं धनवान ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी सत्कुलमें उत्पन्न, अपने वचनोंको स्थापित करनेमें दक्ष तथा परचर्चामें रत रहनेवाली, क्रूर, अधिक बोलनेवाली, कलहप्रिय तथा गृहकार्योंमें चतुर 'धुन्धुली' नामकी एक पत्नी थी। प्रचुर धन-सम्पत्ति होनेपर भी निःसन्तान होनेके कारण इस दम्पतिके मनमें किसी प्रकारकी सुख-शान्ति नहीं थी। अन्तमें ये दोनों पति-पत्नी सन्तान-प्राप्तिकी इच्छासे धर्मका पालन करते हुए दीन-दुःखी व्यक्तियोंको गो, भूमि, स्वर्ण, वस्त्रादि दान करने लगे। इस प्रकार अपनी धन-सम्पत्तिका आधा भाग उक्त दान-धर्ममें व्यय कर देनेपर भी उन्हें पुत्र अथवा कन्याकी प्राप्ति नहीं हुई। यह देखकर वे ब्राह्मण दुश्चिन्तामें निमग्न होकर अत्यन्त दुःखके साथ अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन वे ब्राह्मण अत्यधिक दुःखी होकर गृहत्याग करके वनमें चले गये। दोपहरके समय वनमें घूमते-घूमते प्याससे पीड़ित होनेपर उन्होंने एक सरोवरका जल पान किया, किन्तु सन्तानकी कामनाकी चिन्तामें दुःखी होकर वे उस सरोवरके तटपर ही बैठे रहे। उसी समय एक संन्यासीको वहाँ जलपान करते देख वे ब्राह्मण तुरन्त उनके चरणोंमें प्रणाम करके दुःखी अन्तःकरणसे उनके सम्मुख खड़े हो गये।

संन्यासीने उनसे पूछा—हे ब्राह्मण! तुम रो क्यों रहे हो? किस प्रबल चिन्ताने तुम्हें व्याकुल कर रखा है? तुम शीघ्र ही मुझे अपने दुःखका कारण बतलाओ।

---

[१] श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत।

ब्राह्मणने उत्तर देते हुए कहा—हे संन्यासिवर! मैं अपने दुःखके विषयमें क्या बतलाऊँ? मैं इस समय अपने पूर्व पापोंका ही फल भोग रहा हूँ। मैं सन्तानहीन हूँ, इसलिए मेरे पिता-पितामह आदि मेरे द्वारा प्रदत्त उदकाञ्जलि (तर्पण) को गर्म-गर्म श्वास छोड़ते हुए अत्यधिक कष्टपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं। मेरा पिण्डदान करनेवाला कोई नहीं होगा, यह विचारकर मेरे पितृपुरुष आदि अत्यन्त चिन्तित हैं। पुत्रहीन होनेके कारण मेरे द्वारा प्रदत्त कोई भी वस्तु देवता और ब्राह्मण प्रीतिसहित ग्रहण नहीं करेंगे, इसीलिए सन्तान प्राप्तिकी कामनासे मर्माहत होकर मैं प्राण त्याग करनेकी इच्छासे इस स्थानपर आया हूँ। पुत्रहीन व्यक्तिके प्राण, गृह, धन और कुलको धिक्कार है। मेरा भाग्य ही ऐसा है कि मैंने जिस गायको पाला, वह बाँझ है तथा जिस वृक्षको लगाया, वह फल-फूल हीन है। मेरा गृहस्थाश्रम विफल हो गया, पुत्रविहीन होकर मेरे जीवित रहनेका क्या लाभ है?—इस प्रकार कहकर वे ब्राह्मण उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगे। इसके बाद संन्यासी करुणासे द्रवीभूत हृदयसे उन ब्राह्मणकी भाग्यलिपि (पत्री) की गणना करके विस्तृत रूपसे सबकुछ जान गये और कहने लगे—हे द्विज! अज्ञानसे उत्पन्न पुत्रकामनारूपी मोहका परित्याग करो। कर्मोंकी शक्तिशाली गतिको कोई नहीं रोक सकता। तुम सन्तान प्राप्तिकी आशासे और दुःख न करके विवेकका आश्रय ग्रहणकर संसार-वासनाका परित्याग करनेका प्रयत्न करो। मैं तुम्हारे प्रारब्ध कर्मोंको जानकर उसके अनुसार कह रहा हूँ—सात जन्मों तक तुम्हारा पुत्र प्राप्तिका योग नहीं है। देखो, पूर्वकालमें राजा सगर और अङ्गराजने पुत्रादि प्राप्त करके भी कितना दुःख पाया था। अतः हे विप्र! तुम कुटुम्बकी आशाका परित्याग करो। संन्यास अर्थात् त्यागमें ही सर्वदा सुख विद्यमान है। मेरे इस वचनको तुम सत्य जानो।

यह सुनकर ब्राह्मणने कहा—यतिराज! केवल विवेकके द्वारा क्या होगा? आप अपने तपोबलसे मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। ऐसा न होनेपर मैं शोकसे मूर्च्छित होकर आपके सम्मुख ही प्राण त्याग कर दूँगा। सन्तानादिके सुखसे रहित जो शुष्क संन्यासयोग है, मैं उसे अच्छा नहीं समझता। मैं पुत्र-पौत्रादिके साथ सरस गृहस्थ जीवन यापन करनेकी इच्छा रखता हूँ।

ब्राह्मणका संसारधर्मके प्रति अत्यधिक आग्रह देखकर संन्यासीने पुनः कहा—"देखो, राजा चित्रकेतु भी विधिका विधान नहीं बदल सके। हे द्विज! तुम यह निश्चित जान लो कि तुम्हें पुत्रसे सुख प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह दैवविरुद्ध प्रयास है। मैं यह विचार नहीं कर पा रहा हूँ कि तुम हठ करके मुझसे जिस प्रकारसे प्रार्थना कर रहे हो, मैं उसके लिए क्या करूँ? तथापि तुम्हारे अत्यन्त दृढ़ सङ्कल्पको देखकर, अन्य कोई उपाय न होनेके कारण यह फल प्रदान कर रहा हूँ। इसे अपनी पत्नीको खिलाना, तुम्हें अवश्य ही पुत्र प्राप्त होगा—तुम इसमें संशय मत करना। सत्य, शौच, दया एवं दानादिका आचरण तथा प्रतिदिन केवल एक समय भोजनकर भक्तिभावसे नियमोंका पालन करनेपर तुम्हारी पत्नीके गर्भसे एक अत्यन्त सुलक्षणयुक्त पुत्रका जन्म होगा।" यह कहकर वे संन्यासी वहाँसे चले गये एवं ब्राह्मणने भी अपने घर लौटकर यत्नपूर्वक वह फल अपनी पत्नीको प्रदान किया।

तब ब्राह्मणकी नवयुवती कुटिल पत्नी अपनी सखीके पास गयी और रोते-रोते उससे कहने लगी—हे सखि! मैं एक बहुत बड़ी चिन्तामें पड़ गयी हूँ। मैं कदापि इस फलको नहीं खा सकती। इसे खाकर गर्भ धारण करनेपर मेरा पेट बड़ा हो जायेगा, तब कम भोजन करना पड़ेगा, जिससे शरीर शक्तिहीन हो जायेगा, फिर गृहकार्य कौन करेगा? दैववश चोर-डाकू आदिका उपद्रव होनेपर मैं गर्भिणी प्राण रक्षाके लिए किसी अन्य स्थानपर किस प्रकार भाग सकूँगी? यदि गर्भमें शुकदेवके समान बालक आकर गर्भमें ही रह गया, तो गर्भिणी किस प्रकार उसे प्रसव करेगी? प्रसवके समय शिशुके टेढ़ा हो जानेपर गर्भधारिणी स्त्री निश्चित रूपसे ही मृत्युके मुखमें जाती है। मैं सुकुमारी भला किस प्रकार प्रसवकी पीड़ाको सहन करूँगी? और यदि प्रसववशतः मैं दुर्बल हो गयी, तो मेरी ननद मेरे घरमें आकर मेरा सर्वस्व हरण कर लेगी। पुनः सत्य-शौचादि नियम अत्यन्त कठोर होते हैं, मैं किस प्रकार उनका पालन करूँगी? प्रसवके बाद भी स्त्रीको सन्तानके लालन-पालनके लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, इसके विपरीत बांझ अथवा विधवा स्त्री अत्यन्त सुखसे जीवन यापन

करती है। इस प्रकार कुतर्कवशतः उस ब्राह्मण पत्नीने वह फल नहीं खाया। जब उसके पतिने उससे उस फलके भक्षणके विषयमें पूछा तो उसने 'हाँ मैंने वह फल खा लिया है' कहकर झूठ बोल दिया।

एक समय दैवयोगसे इस ब्राह्मण पत्नीकी बहन अपनी इच्छासे ब्राह्मणके घरमें आयी। तब धुन्धुलीने अपनी छोटी बहनसे कहा—"मैं दिन-रात चिन्ता और दुःखमें अपना समय व्यतीत कर रही हूँ। इस चिन्तासे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है और मैं अत्यन्त दुर्बल हो गयी हूँ। हे बहन! किस प्रकार यह ज्वाला शान्त होगी? मैं क्या करूँ?" यह सुनकर ब्राह्मण पत्नीकी बहनने कहा—"तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो। मैं इस समय गर्भवती हूँ, सन्तानके उत्पन्न होनेपर मैं उसे तुम्हें सौंप दूँगी। तुम अपने घरमें गुप्त रूपसे गर्भवतीके रूपमें रहो, कोई भी इस विषयमें कुछ न जान पाये। मेरे पतिको कुछ धन देनेपर वे तुम्हें अपनी सन्तान दे देंगे। 'छः मासके गर्भमें ही मेरा पुत्र मर गया है'—मेरे द्वारा लोगोंमें केवल इतना कहनेसे ही चल जायेगा। मैं प्रतिदिन तुम्हारे घरमें आकर अपने द्वारा प्रदत्त बालकका यत्नपूर्वक लालन-पालन करूँगी। किन्तु, अभी तुम इस फलको अपनी गायको खिलाकर इसकी परीक्षा करो।" स्त्री-स्वभाववशतः धुन्धुलीने अपनी बहनके कहे अनुसार वही किया। कालक्रमसे ब्राह्मणीकी बहन द्वारा पुत्र प्रसव करनेपर शिशुके पिताने धनके लोभसे मुग्ध होकर नवजात शिशुको लाकर धुन्धुलीको प्रदान कर दिया।

यथासमय धुन्धुलीने अपने पतिको यह संवाद दिया कि उसने पुत्रको जन्म दिया है। आत्मदेव भी पुत्र प्राप्त करके अत्यन्त आनन्दित मनसे नवजात शिशुका जात-कर्मादि संस्कार कराकर ब्राह्मणोंको धनादि दान करने लगे। आत्मदेवके घरमें गीत-वाद्यादि माङ्गलिक कृत्य होने लगे। तत्पश्चात् धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा—"मेरे स्तनोंमें दुग्ध नहीं है। यदि कोई दुग्धवती स्त्री यहाँ आकर इसे स्तनपान नहीं कराती है, तो इस बालकके प्राण किस प्रकार बचेंगे? मेरी बहनके प्रसवके बाद उसका पुत्र मर गया है, यदि उसे बुलाकर घरमें रख लिया जाये, तो वह इस शिशुका पालन-पोषण

कर सकती है।" आत्मदेवने अपने पुत्रके जीवनकी रक्षाके लिए यही किया। तत्पश्चात् धुन्धुलीने अपने पुत्रका नाम रखा—'धुन्धुकारी'।

इधर, तीन मास बीतनेपर उस गायने बछड़ेके स्थानपर सर्वाङ्गसुन्दर, अति सुनिर्मल, स्वर्णवर्णके समान एक दिव्य मनुष्याकार शिशुको जन्म दिया। आत्मदेवने भी अत्यन्त सुखपूर्वक उस शिशुके यथोचित संस्कारादि सम्पन्न कराये। गायसे उत्पन्न उस सर्वसुलक्षणयुक्त, सर्वाङ्गसुन्दर मनुष्य-शिशुको देखकर सभी स्थानीय लोग आश्चर्य चकित होकर कहने लगे—ब्राह्मण आत्मदेवका महाभाग्य उदित हुआ है, देखो! इसकी गायने भी देवपुत्रको जन्म दिया है। किन्तु उनमेंसे कोई भी इसके रहस्यको नहीं जान पाया। शिशुके कान गायके समान हैं, यह देखकर आत्मदेवने बड़े प्रेमसे उसका नाम 'गोकर्ण' रखा। कालक्रमसे दोनों शिशुओंने युवावस्थामें प्रवेश किया। गोकर्ण तो समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता पण्डित हो गये और धुन्धुकारी अत्यन्त दुष्ट बन गया। धुन्धुकारीने ब्राह्मणोचित स्नान-शौच-क्रियाहीन, कदाचारी, अत्यन्त क्रोधी, शवहस्त-भोजी (शवके हाथसे छुआ भोजन खानेवाला), दुष्ट-परिग्रहकारी, चोर, सर्वद्वेषी, दूसरेके घरोंको जलानेवालेके रूपमें कु-ख्याति अर्जित की। वह अन्य लोगोंके प्राणोंके समान प्रिय बालकोंको उठाकर कुँएमें डाल देता। शस्त्र धारण किये हिंसक होकर वह प्रतिदिन दीन-अन्धे लोगोंको पीड़ा पहुँचाने लगा। सर्वदा पाश हाथमें लेकर चण्डालादि नीच जातिके व्यक्तियोंके साथ बन्धुत्व स्थापितकर उनके साथ कुत्तोंको पकड़नेके लिए घूमता रहता। वेश्याओंके कुसङ्गमें अपने पिताकी सारी सम्पत्तिको नष्ट करने लगा। एक दिन उसने अपने पिता-मातापर निर्दयतापूर्वक प्रहार करके घरमें स्थित धातु-पात्रादि समस्त सम्पत्तिका हरण कर लिया। धीरे-धीरे उसके पिता धनहीन होकर हा-हुताश करते हुए उच्चस्वरसे रोते-रोते कहने लगे—दुःखप्रद कुपुत्रकी अपेक्षा निःसन्तान रहना ही अच्छा है। अब मैं कहाँ रहूँगा? कहाँ जाऊँगा? कौन मेरे इस दुःखको दूर करेगा? इतना कष्ट अब और सहन नहीं होता। इस भीषण दुःखसे मेरे प्राण ही छूट जायेंगे।

तब ब्राह्मणके ज्ञानी पुत्र गोकर्णने वहाँ आकर अपने पितामें वैराग्य-पथसे सम्बन्धित ज्ञानका उदय कराते हुए कहा—हे पिता! यह संसार असार है तथा मोह अर्थात् बन्धनका कारण है। यहाँ सुखका लेशमात्र भी नहीं है, केवल दुःख-ही सार है। किसका पुत्र, किसका धन?—यह सब ही मायामय है। माया और स्नेहासक्त व्यक्तिको चिरकाल तक केवल अशान्ति ही प्राप्त होती है। हे पिता! देवराज इन्द्र हो अथवा चक्रवर्ती राजा, किसीको भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं है। शान्ति तो केवल साधुसङ्गमें रत रहनेवाले विरक्त मुनियोंको ही प्राप्त होती है। अब आप पुत्र बुद्धिरूपी अज्ञानताका परित्याग कीजिये। मोहके वशीभूत होनेपर केवल नरक ही प्राप्त होता है। इस जड़देहका पतन अवश्य होगा, अतः सबकुछ छोड़कर हरिभजनके लिए वनकी ओर प्रस्थान कीजिये। पुत्रके वचन सुनकर आत्मदेवको वनमें जानेकी इच्छा हुई। तब उन्होंने पुनः अपने पुत्रसे पूछा—हे पुत्र! वनमें जानेके पश्चात् मेरा जो भी कर्त्तव्य है, तुम उन सब तत्त्वोंका मेरे समक्ष विस्तृत रूपसे वर्णन करो। गृहरूपी अन्धकूपमें जड़ स्नेहपाशसे बद्ध होनेके कारण मैं पङ्गु हो गया हूँ। अपने कर्मोंके फलके कारण ही मैं इतना पतित हुआ हूँ। हे पुत्र! मेरे उद्धारके उपायकी चिन्ता करो।

गोकर्णने कहा—"हे पिताजी! अस्थि-मांस-रक्तसे निर्मित इस जड़देहके प्रति वृथा अभिमानका परित्याग कीजिये तथा पत्नी-पुत्रके प्रति जो ममता है, उसका भी परित्याग कीजिये। सदैव यह विचार कीजिये कि यह जगत् क्षणभङ्गुर है, अतः वैराग्यके साथ तथा चित्तको अनुरागमें अनुरञ्जित करके भक्तिरसके द्वारा कृष्णप्रेममें निमग्न हो जाइये। सदैव भागवत-धर्मका सेवन और याजन कीजिये एवं काम्य-कर्मादि लोकधर्मका परित्याग करनेके लिए प्रतिक्षण प्रयास कीजिये। साधुओंकी सेवाके द्वारा कामनाओं और तृष्णाओंका निवारण कीजिये तथा वृथा ही दूसरोंके दोष-गुणोंका विचार परित्यागकर कृष्णसेवा और कृष्ण-कथारूपी भागवतरसका निरन्तर पान कीजिये।" पुत्रके मुखसे सुदुर्लभ उपदेश सुनकर आत्मदेवने साठ वर्षकी आयुमें

गृहत्यागकर वनकी ओर प्रस्थान किया। नियमित रूपसे श्रीकृष्णकी सेवामें नियुक्त रहकर श्रीमद्भागवत्के दशमस्कन्धका पाठ करते-करते अन्तिम समयमें उन्होंने परमधन स्वरूप श्रीकृष्णके चरणकमलोंको प्राप्त किया।

जब ब्राह्मण आत्मदेवने वनमें जाकर देहका परित्याग कर दिया तब धुन्धुकारी अपनी माताको प्रायः ही मारने-पीटने लगा और अपशब्द कहने लगा। एक दिन उसने अपनी मातासे कहा—"शीघ्र बतला कि धन कहाँ छुपा रखा है, नहीं तो लाठीसे मार-मारकर तेरी हत्या करके मैं उस धनको ले लूँगा।" चिरकालसे अपने पुत्रके व्यवहारसे दुःखी धुन्धुली उसकी इस बातसे अत्यन्त भयभीत हो गयी और रात्रिके समय उसने कुँएमें कूदकर अपने प्राण त्याग दिये। इधर गोकर्ण भी भक्तियोगका अवलम्बन करते हुए तीर्थ यात्राके लिए निकल पड़े। उन्हें दुःख-सुख, शत्रु-मित्र आदिका ज्ञान ही नहीं था। क्रूरकर्मा, हतबुद्धि धुन्धुकारी यह सुयोग पाकर पाँच वेश्याओंको घरमें ले आया और उनके साथ समय व्यतीत करने लगा। एकबार उन वेश्याओं द्वारा लोभवश स्वर्णादि अलङ्कारोंकी प्रार्थना करनेपर वह कामान्ध धुन्धुकारी मृत्युके भयसे भयभीत न होकर कहींसे प्रचुर धनराशि और बहुमूल्य वस्त्रादि लेकर घरमें आया और उसमेंसे कुछ अंश उन वेश्याओंको प्रदान किया। यह देखकर वे सभी वेश्याएँ घोर रात्रिमें आपसमें इस प्रकार परामर्श करने लगीं—"यह दुष्ट प्रतिदिन चोरी करके यह सब वस्तुएँ लाता है। किसी दिन राजा इसे पकड़कर दण्ड देगा अथवा कोई अन्य व्यक्ति इसका सारा धन छीनकर अन्तमें इसे मार डालेगा। अतः हम सब मिलकर गुप्त रूपसे इसकी हत्या करके इसका सारा धन लूट लेती हैं तथा यहाँसे भाग जाती हैं, किन्तु देखो! इस विषयमें कोई कुछ भी जान न पाये।" इस प्रकार निश्चयकर उन वेश्याओंने सोये हुए धुन्धुकारीके हाथ-पैर बाँध दिये और उसके गलेमें रस्सीका फंदा डालकर उसके प्राण लेनेका प्रयास करने लगीं। किन्तु इस उपाय द्वारा जब उसके प्राण नहीं निकले तब चिन्तायुक्त होकर वे उसके मुखमें जलते हुए अङ्गारे डालने लगीं। धुन्धुकारीने गलेमें फाँस और अङ्गारोंकी ज्वालासे पीड़ित होकर

अन्तमें प्राण त्याग दिये। मृत्युके पश्चात् उन दुष्ट वेश्याओंने घरके भीतर गड्ढा खोदकर धुन्धुकारीकी देहको वहाँ गाड़ दिया। इस प्रकार धुन्धुकारीकी मृत्युका रहस्य कोई भी जान नहीं पाया। यदि कोई उन वेश्याओंसे धुन्धुकारीके बारेमें पूछता तो वे कहतीं—"हमारे प्रियतम धन कमानेके लिए किसी दूर देशमें गये हैं। वर्षकी समाप्ति तक वे बहुत सारा धन लेकर यहाँ वापस आ जायेंगे।" पण्डितगण कभी भी दुष्ट स्त्रियोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते। जो मूढ़ उनपर विश्वास करते हैं, उन्हें दुःख ही प्राप्त होता है। असती नारीके मुखसे सदा ही सुधामय वाणी निकलती है, वह रसालाप अर्थात् मीठी-मीठी बातें करनेमें विशेष दक्ष होती है, किन्तु उसका हृदय छुरीकी धारके समान तीक्ष्ण होता है। इस संसारमें उसका कोई भी प्रिय नहीं होता, वह भी किसीके प्रेममें बद्ध नहीं होती। इस प्रकार यथासमय धन-रत्न-वस्त्रादि संग्रहकर वे वेश्याएँ वहाँसे भाग गयीं।

धुन्धुकारीको भी आजीवन कुसङ्गमें बुरे कर्म करनेके कारण महाप्रेत-योनि प्राप्त हुई। वह वायुभूत (बवंडर) के रूपमें निराश्रय होकर चारों दिशाओंमें इधर-उधर भ्रमण करने लगा। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदिसे पीड़ित होकर वह कहीं भी आश्रय न पाकर सर्वदा हा-हुताश करता रहता था। तीर्थस्थलोंमें वास करते हुए गोकर्णने जब यह सब सुना, तब उन्होंने अपने भाई धुन्धुकारीको अनाथ जानकर गया आदि विभिन्न तीर्थोंमें यथाविधि उसका प्रेतश्राद्ध आदि सम्पन्न किया। इस प्रकार तीर्थयात्रा समाप्त होनेपर गोकर्ण अपने नगरमें लौट आये तथा अपने घरमें उपस्थित हुए। रातमें जब वे सोते उस समय प्रेतयोनिको प्राप्त धुन्धुकारी अलक्षित रूपसे घरके आङ्गनमें आता और उन्हें अपने विभिन्न प्रकारके भयङ्कर रूप दिखाने लगता। उसने कभी भेड़, कभी भैंस, कभी इन्द्र, कभी अग्नि, तो कभी पुरुषादिका रूप धारण किया। इन सब असम्भव रूपोंको देखकर गोकर्ण जान गये कि यह कोई ऐसी जीवात्मा है, जिसकी सद्गति नहीं हुई है। तब वे धैर्यधारणकर दयापूर्वक उस अशरीरीसे कहने लगे—इस घोर रात्रिमें उग्रमूर्त्ति धारण करके यहाँ आनेवाले तुम कौन हो? तुम्हारी यह दशा किस प्रकार हुई? तुम प्रेत, पिशाच, अथवा राक्षस—कौन

हो? मुझे अपना परिचय प्रदान करो। गोकर्णके इन प्रश्नोंको सुनकर वह प्रेत उच्चस्वरसे रोने लगा। बोलनेका सामर्थ्य न होनेके कारण वह बार-बार विभिन्न प्रकारके सङ्केतोंके द्वारा गोकर्णको अपना दुःख बतलाने लगा। गोकर्णने उसके कष्टको जानकर अपनी अञ्जलिमें जल लिया और उसे अभिमन्त्रित (मन्त्र द्वारा पवित्र किया हुआ) करके उस प्रेतके ऊपर छिड़क दिया, जिससे वह प्रेत निष्पाप होकर अपने विषयमें विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहने लगा—"मैं तुम्हारा भाई धुन्धुकारी हूँ। अपने कर्मोंके दोषोंके कारण मैंने अपना ब्राह्मणत्व खो दिया है। महामोहमें अन्धा होकर मैंने जितने कुकर्म किये हैं, उनकी गणना कौन कर सकता है? मैं दुर्मति सर्वदा लोक-हिंसामें रत रहता था। अन्तमें वेश्याओंने मुझे प्रचुर यातनाएँ देकर मेरा वध कर दिया। तब मुझे बाध्य होकर इस प्रेतयोनिको स्वीकार करना पड़ा। दैवाधीन, वाताहारी (वायुका भक्षण करनेवाला) होकर मैं अपने किये हुए कुकर्मोंका फल भोग रहा हूँ।" यह सुनकर गोकर्णने कहा—"मैंने तुम्हारे उद्देश्यसे गयामें यथाविधि पिण्डादि दान किया था, किन्तु फिर भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई। यह देखकर मैं आश्चर्यचकित हो रहा हूँ। गयामें श्राद्धादि करनेपर भी जब तुम्हारी सद्गति नहीं हुई, तो फिर किस प्रकार होगी?—मैं इसके अतिरिक्त और कोई विधि-विधान नहीं जानता। अतः हे प्रेत! मुझे विस्तारसे बतलाओ कि मुझे तुम्हारी सद्गतिके लिए और किस उपायका अवलम्बन करना होगा।" यह सुनकर प्रेतने कहा—"सौ बार गयामें श्राद्ध करनेपर भी मेरी मुक्ति सम्भवपर नहीं है, तब मेरा किस प्रकार उद्धार होगा? अब तुम ही मेरे उद्धारका और कोई उपाय सोचो।" प्रेतके इन वचनोंको सुनकर गोकर्ण अत्यन्त विस्मित होकर विचार करने लगे—"सौ बार श्राद्ध करनेपर भी जिसकी मुक्ति असम्भव है, उसके उद्धारकी चेष्टा करना पशुओंके वृथा श्रमकी भाँति है। तब वे उस प्रेतको लक्ष्यकर कहने लगे—"अभी तुम निर्भय होकर अपने स्थानपर निवास करो। मैं भलीभाँति विचारकर वही व्यवस्था करूँगा, जिससे शीघ्र ही तुम्हारी मुक्ति हो।" गोकर्णके आदेशसे धुन्धुकारी अपने स्थानपर जाकर अपनी मुक्तिकी कामनासे उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा।

दूसरी ओर, सारी रात जागकर बहुत सोचनेपर भी गोकर्ण उस प्रेतकी मुक्तिका कोई उपाय निश्चित नहीं कर पाये। प्रातःकाल होनेपर आस-पासके लोग प्रीतिपूर्वक बातचीत करनेके लिए उनके पास आने लगे। गोकर्णने उन्हें रात्रिकालमें प्रेतके साथ हुए अपने समस्त कथोपकथनके विषयमें बतलाया। पण्डित, योगी, ज्ञानी और ब्रह्मवादी आदि सभी मिलकर शास्त्रोंकी आलोचना करनेपर भी उस प्रेतकी मुक्तिके विषयमें किसी सिद्धान्तपर नहीं पहुँच सके। अन्तमें सभीने मिलकर यह स्थिर किया कि सूर्यके वचन ही इस विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं। तब गोकर्णने मन्त्रोचारण करके सूर्यदेवकी गतिको रोक दिया और उनके शरणागत होकर उन्हें बतलाया—"हे देव! हे जगत्के साक्षी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप कृपा करके मुझे मेरे भाईकी मुक्तिका उपाय बतलाइये।" तब सूर्यदेवने दूरसे ही सुस्पष्ट भाषामें गोकर्णसे कहा—"सात दिनों तक श्रीमद्भागवतका श्रवण करनेपर ही तुम्हारे भाईकी मुक्ति होगी। तुम श्रीमद्भागवत सप्ताह-पारायणका अनुष्ठान करो।"

गोकर्णने सूर्यदेवके आदेशको शिरोधार्य किया और इसे सहज पन्था जानकर आषाढ़ मासकी शुक्ला नवमी तिथिसे आरम्भकर एक सप्ताह तक श्रीमद्भागवत पाठका अनुष्ठान किया। विभिन्न नगरों और ग्रामोंसे लङ्ङड़े, अन्धे, वृद्ध और पापी आदि सभी भागवत-कथा श्रवण करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए। जब गोकर्णने अपने आसनपर बैठकर श्रीमद्भागवत-कथा आरम्भ की, तब प्रेत शरीरधारी धुन्धुकारी भी उस सभामें आकर अपने बैठने योग्य स्थानको इधर-उधर ढूँढ़ने लगा। वहाँ सात गाँठोंसे युक्त एक विशाल बांसके दण्डको देखकर वह उसके मूल छिद्रमें प्रवेशकर भागवत-कथा श्रवण करने लगा। वायुभूतके रूपमें निराश्रय अवस्थाके कारण धुन्धुकारी भागवत-कथा श्रवण करनेमें असमर्थ था, इसलिए उसने उस बांसके दण्डका आश्रय लिया था। वैष्णव और ब्राह्मणादि श्रेष्ठ श्रोतृमण्डलीसे युक्त उस महती सभामें प्रथम दिनके अन्त तक गोकर्ण द्वारा प्रथमस्कन्धसे आरम्भकर यथासम्भव भागवत-कथाकी आलोचना होनेपर वहाँ एक विचित्र घटना घटी। प्रेतरूपी धुन्धुकारीने जिस बांसके दण्डका आश्रय लिया

था, उसकी एक गाँठ शब्द करते हुए फट गयी। इसे सभामें उपस्थित सभी सज्जनोंने भी देखा। दूसरे दिन सन्ध्या तक पाठ होनेके पश्चात् बांसकी दूसरी गाँठ, इसी प्रकार तीसरे दिन तीसरी गाँठ और सप्ताहके अन्तमें उस बांसके दण्डकी सातवीं गाँठ भी फट गयी। एक सप्ताहमें द्वादशस्कन्ध तक श्रीमद्भागवत श्रवण करनेपर धुन्धुकारीको प्रेतयोनिसे मुक्ति प्राप्त हो गयी।

तब वह प्रेत कण्ठमें तुलसीमालासे मण्डित, पीतवस्त्र पहनकर, मुकुट तथा कुण्डलोंसे सुशोभित, घनश्यामवर्णका दिव्यरूप धारणकर गोकर्णको प्रणाम करते हुए कहने लगा—हे परम बान्धव! तुमने भागवत श्रवण कराकर पापमय प्रेत-योनिकी ज्वालासे मेरा उद्धार किया है। प्रेत-पीड़ाका विनाश करनेवाली यह भागवत-कथा संसारमें धन्य है तथा इसकी अपेक्षा यह भागवत-सप्ताह पारायण विधि धन्य है—जो कृष्णलोककी प्राप्ति करानेवाली है। एक सप्ताह तक इस भागवत-कथाका श्रवण करनेपर पापीके शरीरमें समस्त पाप कम्पित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि गीली-सूखी, छोटी-बड़ी समस्त लकड़ियोंको जला देती है, उसी प्रकार काय, मन और वाक्यसे होनेवाले तथा नये-पुराने, छोटे-बड़े आदि जितने भी पाप हैं, वे सभी प्रकारके पाप इस भागवत-कथाका श्रवण करनेपर अग्निमें पड़नेवाली आहुतिके समान नष्ट हो जाते हैं। इस भारतवर्षमें वेद-सभामें पण्डित सज्जनगण सुस्पष्ट रूपमें इस भागवत-कथाकी महिमाका गान करते हैं।

जो मनुष्य इस भागवतकी वाणीको श्रवण नहीं करता, उसका जन्म और जीवन निष्फल है। मोहके वशीभूत होकर बलवान और हृष्ट-पुष्ट शरीर धारण करनेसे भी उसे क्या लाभ है? इस भागवत शास्त्रकी कथाके बिना उसका शरीर धारण करना व्यर्थ है। माँस-रक्त और चर्मसे ढकी अस्थियाँ, असंख्य नाड़ियोंसे युक्त देहभार, अत्यन्त दुर्गन्धमय मल-मूत्रके द्वारोंवाला उसका शरीर केवल रोगोंका घर मात्र है। वृद्धावस्था, शोक और नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे अत्यधिक दुःखमय, कामनाओं द्वारा व्याकुल, तृप्तिहीन तथा भार-स्वरूप यह देह अनेक दोषोंसे युक्त और क्षणस्थायी है। जिसे 'शरीर' कहा जाता

है, वह कृमि, विष्ठा और भस्मके परिणामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जिन अनित्य कर्मोंके कारण यह जड़देह सदा अस्थिर रहती है, यदि उन कर्मोंके विनिमयमें चिरस्थायी फल प्राप्त किया जा सके, तो कौन उसे प्राप्त करनेके लिए प्रयास नहीं करेगा? प्रातःकालमें बनाया गया उत्तम भोजन भी सन्ध्या समय तक बासी होकर नष्ट हो जाता है, उसी भोजनके रससे परिपुष्ट यह देह क्या नित्य हो सकती है? इस अनित्य संसारमें भागवत-कथाका मात्र एक सप्ताह तक श्रवण करके ही नित्यसत्य श्रीहरिको चिरकालके लिए प्राप्त किया जा सकता है। समस्त दोषोंके निवारणका एकमात्र यही साधन है। प्राणियोंमें जिस प्रकार मच्छर एवं जलमें बुलबुले एक मुहूर्त्तके लिए ही उत्पन्न होकर अगले क्षण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार भागवत-कथासे विहीन मनुष्य भी केवल मरनेके लिए ही जन्म लेता है। भागवतकी कथासे यदि बांसके शुष्क दण्डकी गाँठें फट सकती हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है कि इसके द्वारा संसार आसक्तिरूप हृदयकी ग्रन्थियोंका भी छेदन हो जायेगा। भागवत-कथाके श्रवणसे हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा सभी कर्मोंका क्षय हो जाता है। यह भागवती-वाणी संसाररूपी कीचड़में लिप्त व्यक्तिके अङ्गोंको धोकर उसे अत्यधिक पवित्र करनेमें समर्थ है। जिसका चित्त इस भागवत-कथामें स्थिर हो गया है, वह श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूपी मुक्तिका अधिकारी है।

जिस समय धुन्धुकारी प्रेत शरीरका परित्याग करके दिव्यदेह धारणकर इस प्रकार भागवत-कथाकी महिमा कह ही रहा था कि तभी आकाशमार्गमें वैकुण्ठ-पार्षदोंसे युक्त एक स्निग्ध एवं अत्यन्त ज्योर्तिमय विमान उपस्थित हुआ। धुन्धुलीके पुत्र धुन्धुकारीके उस विमानपर चढ़नेपर गोकर्ण उसमें स्थित विष्णु-पार्षद वैष्णवोंको लक्ष्यकर इस प्रकार कहने लगे—"हे भगवत्-पार्षदजन! यहाँ सरल, निर्मल चित्तयुक्त बहुत-से व्यक्ति विद्यमान हैं, जिन्होंने मुझसे भागवत-कथा श्रवण की है अर्थात् इन सबने समान रूपसे भागवत-कथामृतका श्रवण किया है, फिर इन सबके लिए भी विमान

क्यों नहीं आया? हे श्रीहरिके प्रियजनो! आप लोग कृपा करके बतलाइये कि इस प्रकारका फल भेद क्यों हुआ है?"

विमानपर विराजमान श्रीहरिके दास गोकर्णके प्रश्नके प्रत्युत्तरमें इस प्रकार कहने लगे—"श्रवणके भेदसे ही इस प्रकारका फलभेद उपस्थित हुआ है। एकसाथ बैठकर समभावसे श्रवण करनेपर भी सबने एक-समान भावसे कथाका मनन नहीं किया। और हे मानद! भजनके भेदसे भी फलभेद देखा जाता है। इस प्रेतने सात दिन तक निराहार रहकर तथा मन लगाकर भागवत-कथाका श्रवण किया है। अतः स्थिर चित्तसे इस भागवत-कथाका मनन करनेके कारण इसे उत्तम फलकी प्राप्ति हुई है। किन्तु दृढ़चित्तसे श्रवण न करनेपर ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा कथा श्रवणमें प्रमाद (असावधानी) के कारण श्रवणका फल नष्ट हो जाता है। सन्दिग्ध चित्तवाले व्यक्तिका मन्त्र नष्ट हो जाता है एवं चित्तके चञ्चल होनेपर जपमें विघ्न उत्पन्न होता है। वैष्णव विहीन स्थान नष्ट हो जाता है और अपात्रको श्राद्धका दान देनेपर वह व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार वेदके ज्ञानसे हीन व्यक्तिको दान देना अनर्थकारी होता है, उसी प्रकार अनाचारी व्यक्तिके कारण कुल नष्ट हो जाता है। अतः सद्गुरुके वचनोंपर विश्वासकर, निष्किञ्चन दीन-हीन भावसे जीवन यापन करना ही मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है। भागवत-कथामें निश्चला मति होनेपर मनके सभी दोषोंपर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकारसे सभी विधियोंका भलीभाँति पालन करनेपर भागवत-कथाके श्रवण करनेका वास्तविक फल प्राप्त किया जा सकता है। अतएव यदि इन नियमोंका पालन करते हुए भागवत-कथाको पुनः श्रवण किया जाये, तो सभी श्रोता ही वैकुण्ठमें स्थान प्राप्त कर पायेंगे। हे गोकर्ण! स्वयं-भगवान् श्रीगोविन्द आपको गोलोकमें स्थान देंगे।" यह कहकर उन भगवत्-पार्षदोंने श्रीहरिकीर्त्तन करते-करते वैकुण्ठकी ओर प्रस्थान किया।

तत्पश्चात् समस्त सदगुणोंके आधार गोकर्णने श्रावण मासकी शुक्ला-नवमी तिथिको पुनः भागवत-कथाका कीर्त्तन आरम्भ किया। उन सभी पूर्व श्रोताओंके द्वारा सप्ताह तक भागवत-कथाका श्रवण करनेके पश्चात् एक अपूर्व घटना घटी। स्वयं श्रीहरि अपने भक्तोंके

साथ विमानपर आरुढ़ होकर वहाँ आविर्भूत हुए। 'जय' और 'नमः' शब्दोंकी ध्वनिसे वह स्थान गुञ्जायमान हो गया। स्वयं श्रीभगवान्ने अत्यन्त हर्षपूर्वक अपने पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि की। गोकर्णका गाढ़ आलिङ्गन करके श्रीहरिने उसे सारूप्य प्रदान किया एवं अन्य समस्त श्रोताओंको क्षणकालमें ही घनश्यामरूप, पीताम्बर और किरीट–कुण्डलसे विभूषित कर दिया। उस गाँवके कुत्ते–चण्डालादि जितने भी जीव थे, सभी श्रीहरिके प्रिय गोकर्णकी कृपासे उस दिव्य विमानपर चढ़ गये। वे सभी श्रीहरिलोक वैकुण्ठमें भेज दिये गये, किन्तु गोपवल्लभ गोपाल श्रीकृष्ण अपने प्रिय गोकर्णको अपने धाम गोलोक लेकर गये। भक्तवत्सल श्रीहरि स्व–स्वरूपभूत (स्वयंसे अभिन्न) भागवत–कथासे परितुष्ट होकर सदा ही उस भागवत–कथाका वर्णन करनेवाले भक्तोंके स्थानपर गमन किया करते हैं। पूर्वकालमें अयोध्यावासी भी भगवान् श्रीरामके द्वारा इसी विधिसे ही वैकुण्ठलोकमें पहुँचे थे। किन्तु सिद्ध मुनियोंके लिए भी दुर्लभ तथा चन्द्र और सूर्यके लिए भी दुष्प्राप्य श्रीभगवान्के इस गोलोकधामको श्रीमद्भागवतके विधिपूर्वक श्रवणके फलसे ही प्राप्त किया जा सकता है।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवत–सप्ताहके श्रवणकी महिमा और पारायण–विधि[१]

श्रीमद्भागवत–कथामृतको कानरूपी दोनोंके द्वारा पान करनेपर किसीको भी पुनः गर्भकी यातना नहीं भोगनी पड़ती। योगीगण केवल वायु, जल एवं गिरे हुए पत्तोंके भोजनपर आश्रित रहकर कठोर तपस्याके द्वारा योग सिद्धियोंको प्राप्त करके भी जिस गतिको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो पाते, मनुष्योंको वह परमगति केवल भागवत–कथाके श्रवणमात्रसे ही प्राप्त हो जाती है। इस परम–पवित्र भागवत–कथाका केवलमात्र एकबार श्रवण करनेपर ही जीवकी समस्त पापराशि भस्मीभूत हो जाती है। यदि पिता–माता आदिके श्राद्धके अवसरपर इसके पठन–पाठनका अनुष्ठान किया जाये, तो अपने लोकमें स्थित पितृ–पुरुषादि परम सन्तुष्ट होते हैं। जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ इसका नित्य पाठ करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह भगवद्धाममें जाकर श्रीहरिकी साक्षात् सेवा प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत स्वयं श्रीकृष्णका अवतार है। जो श्रद्धापूर्वक इसका पठन और श्रवण करते हैं, वे अनायास ही गोलोक धामको प्राप्त करनेमें सक्षम हो जाते हैं। इस घोर कलिकालमें कालरूपी सर्पके मुखसे जीवोंका उद्धार करनेमें केवल श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित भागवत–शास्त्र ही समर्थ है। जन्म–जन्मान्तरके पुण्योंके फलसे ही जीवकी इस भागवत–कथामें रुचि होती है। भागवत–कथाके अतिरिक्त दुष्ट मनका शोधन करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।

द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय–यज्ञ और ज्ञान यज्ञादि सकाम–साधनरूपी कर्म हैजा रोगके समान हैं। किन्तु श्रीशुकादि श्रेष्ठ मुनिगण जिसके पाठक हैं, वह श्रीमद्भागवत कथा समस्त यज्ञोंका सार है। जिस प्रकार घोर वनमें सिंहके गर्जनसे सियार भाग जाते हैं, उसी प्रकार भागवत–वाणीकी हुङ्कारसे कलिके अनन्त दोष विनष्ट हो जाते हैं। वेद–वेदान्त और उपनिषदोंके सारका मन्थन करके यह सर्वशास्त्र–

---

[१] श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत।

शिरोमणि श्रीमद्भागवत आविर्भूत हुआ है तथा अपनी अपूर्व मूर्त्तिके द्वारा यह अत्युत्तम रूपसे श्रेष्ठ फल प्रदान करनेमें समर्थ है। यद्यपि आमका फल वृक्षके रससे ही पुष्ट होकर अत्यधिक स्वादिष्ट होता है, तथापि जिस प्रकार वह रस वृक्षमें दिखायी नहीं देता, तथा जिस प्रकार दुग्धमें घीके विद्यमान रहनेपर एवं गन्नेमें शक्करके परिव्याप्त रहनेपर भी वह दिखलायी नहीं देते, उसी प्रकार वेद-उपनिषदोंसे प्रकट होनेपर भी इस श्रीमद्भागवतने उन वेद-शास्त्रोंकी अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया है। यह ग्रन्थराज भागवत-पुराण वेदरूपी ब्रह्मके समान है। यह भक्ति, ज्ञान और वैराग्यमें प्राणोंका सञ्चारकर उन्हें यथायोग्य स्थापित करनेके लिए प्रकाशित हुआ है। वेद-वेदान्तादि विमल सरोवरमें पूर्णता निमग्न श्रीव्यासमुनि गीता-महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रणयन करके भी अज्ञानीकी भाँति मनमें शान्ति प्राप्त नहीं कर पानेके कारण अनुताप करते-करते अत्यन्त मोहग्रस्त हो गये थे। उस समय 'चतुःश्लोकी भागवत' का श्रवण करके ही उनके चित्तकी अशान्ति और मोह दूर हुआ था। श्रीमद्भागवत ही जीवोंकी समस्त आशाओंको परिपूर्ण करनेमें समर्थ है एवं इसके द्वारा ही अनन्त प्रकारके शोक, दुःख और जड़ताका विनाश होता है। संसार-दुःखरूपी दावाग्निमें दग्ध हो रहे जीवोंके अशुभोंका नाशकर उनका सब प्रकारसे मङ्गल करनेवाली, यह भागवत-कथामृत ही सुरसिक सज्जनोंके लिए एकमात्र प्रेय (श्रेष्ठ) वस्तु और उनका आश्रय स्वरूप है।

श्रीशुक-शास्त्र श्रीमद्भागवतकी अपार महिमा है। इसका श्रवण करनेमात्रसे ही मुक्ति करतलगत[१] होती है एवं उस श्रवण करनेवाले भक्तके हृदयमें श्रीहरि नित्य विराजमान हो जाते हैं। अतः यह अमूल्य भागवती-कथा धरातलपर स्थित जीवमात्रके लिए ही आश्रय-योग्य एवं सेव्य है। समस्त शास्त्रोंका सार यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ द्वादश स्कन्धोंसे युक्त और अठारह हजार श्लोकोंसे समन्वित है। श्रीशुकदेव गोस्वामी और परीक्षित् महाराजका वार्त्तालाप इसीमें कीर्त्तित हुआ है। जब तक अज्ञानसे आवृत जीवके कानोंमें यह सुधामय श्रीशुक-शास्त्र

---

[१] हाथों तले।

अर्थात् श्रीमद्भागवत-कथा प्रवेश नहीं करती, तब तक ही वह इस संसार-चक्रमें भ्रमण करता रहता है। जब एकमात्र निर्गुण श्रीमद्भागवत-शास्त्र ही समस्त जीवोंको श्रीहरिकी सेवारूपी मुक्ति प्रदान करनेकी उच्चस्वरसे घोषणा कर रहा है, तब सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे अनित्य धर्म-कर्म आदिका प्रतिपादन करनेवाले पुराणादि विविध शास्त्रोंके श्रवण करनेकी आवश्यकता क्या है? जिस घरमें नित्य भागवत-कथाकी आलोचना होती है, वह घर तीर्थ-स्वरूप है, क्योंकि इस कथासे गृहस्थोंके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इस श्रीशुक-शास्त्र—श्रीमद्भागवतके समक्ष एक हजार अश्वमेध-यज्ञ और सौ वाजपेय-यज्ञ, सोलह कलाओंकी एक कलाके समान भी नहीं है। जब तक मनुष्य एकाग्रचित्तसे इस भागवत-कथाका श्रवण नहीं करता, तब तक ही उसकी देहमें पाप अवस्थान करते हैं।

गङ्गा, गया, काशी, प्रयागादि तीर्थ कभी भी इस श्रीशुक-शास्त्रके समान नहीं हो सकते। जो सर्वोत्तम गतिको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस शास्त्रके आधे श्लोक अथवा आधेके भी आधे श्लोकका नित्य अपने मुखसे कीर्त्तन करना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति वेदादिकी प्रणवरूपी ॐकार ध्वनि, वेदमाता गायत्री, पुरुषसूक्त-मन्त्र, तीन-वेद, श्रीभागवत-पुराण, द्वादशाक्षर-मन्त्र, प्रयागादि-धाम, वैष्णव-ब्राह्मण, सुरभि-माता, एकादशी-तिथि, तुलसी तथा अधोक्षज-विष्णुमें पृथक् तत्त्वकी कल्पना नहीं करते। जो प्रतिदिन नियमित रूपसे इस श्रीभागवत ग्रन्थका यथार्थ अर्थ सहित पाठ करते हैं, उनके कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं—इसमें कोई संशय नहीं है। नित्य श्रीमद्भागवतका पठन, श्रीहरिका चिन्तन, तुलसीकी सेवा और गौ-पालन प्रत्येक बुद्धिमान वैष्णवका कृत्य है। अन्तिम समयमें इस शुक-शास्त्रका श्रवण करनेवाले श्रोताको श्रीगोविन्द प्रसन्न होकर वैकुण्ठकी गति प्रदान करते हैं। श्रीमद्भागवतको स्वर्ण-सिंहासनपर स्थापितकर श्रद्धा सहित वैष्णवको दान करनेसे दाताको निश्चित ही भगवद्धाममें श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त होती है।

जो धूर्त अपने सम्पूर्ण जीवनमें इस शुक-शास्त्ररूपी सुधाका पान नहीं करता, वह चण्डाल और गधेके समान व्यर्थ ही अपनी देहका भार ढोता है। उसका जन्म अकारण है तथा उसकी माताका गर्भ-धारण करना भी व्यर्थ है। जिसके कानमें भागवत-कथा प्रवेश नहीं करती, वह पापी जीवित होनेपर भी मृतके समान है। वह पशुतुल्य है, देवता भी उसे धिक्कारते हैं। करोड़ो जन्मोंकी सुकृतिके बलपर भी इस श्रीमद्भागवत-कथाके श्रवणका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, यह इस जगत्‌में सुदुर्लभ है। अतः हे बुद्धिमान मानव! विशेष मनोयोगके साथ इस भागवत-कथाका श्रवण करो। इसे श्रवण करनेके लिए दिन, तिथि, वार आदिका कोई नियम नहीं है, अतएव इस कथासारको सर्वदा ही ग्रहण करो। सत्य और ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए इस भागवत-कथाका श्रवण करना कर्त्तव्य है। इस घोर कलियुगमें म्रियमाण (मृत्युकी शय्यापर पड़े हुए), आतुर, पतित, स्खलित, अवश और असमर्थ मनुष्यमात्रके लिए भी श्रीशुकदेव गोस्वामीने यह भागवत-कथारूपी विशेष व्यवस्था प्रदान की है। मनोवृत्तिको जय करनेमें, असमर्थ नियमादिका पालन करनेमें अक्षम और दीक्षादिमें अशक्त व्यक्तिके लिए इस भागवत-सप्ताह-श्रवण-विधिकी व्यवस्था हुई है। माघमासमें श्रद्धापूर्वक नित्य भागवत-कथा श्रवण करनेका जो फल है, श्रीशुकदेव गोस्वामीके आदेशसे वही फल भागवत-सप्ताहके श्रवणसे प्राप्त होता है। कलिकालके जीवोंके चञ्चल मन, रोग, क्लेश, क्षीण आयु आदि अनेक दोषोंको देखकर श्रीशुकदेव गोस्वामीने भागवत-सप्ताहके श्रवणका विधान किया है। योग, याग, समाधि आदिके द्वारा जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह भागवत-सप्ताहके श्रवणसे ही प्राप्त हो जाती है। व्रत, तप, ध्यान तथा तीर्थादिको पराभूतकर यह भागवत सप्ताह-श्रवण-विधि सिंहके समान हुङ्कार कर रही है।

कर्म-ज्ञानादिको तुच्छ करके यह सर्वशास्त्र-शिरोमणि भागवत-गाथा भुक्ति-मुक्तिको सहज ही प्रदान करनेवाली है। श्रीकृष्णके (भावी) विरहमें कातर उद्धवजीने जब उनसे भक्तोंके लिए इस

धराधामपर कुछ समय और रहनेका अनुरोध किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने अप्राकृत तेजको इस भागवत ग्रन्थमें सञ्चारितकर अपने धामकी ओर प्रस्थान किया एवं वाङ्मयी-मूर्त्ति धारणकर वे भागवतरूपी सिन्धुमें प्रविष्ट हो गये। अतः श्रीमद्भागवतके सेवन, श्रवण, पठन और दर्शनसे समस्त दुःख और पाप विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए यह भागवत-सप्ताह-श्रवण-विधि अन्य समस्त साधनोंका तिरस्कार करके कलिकालमें एकमात्र परमधर्मके रूपमें विहित हुई है। दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य, पाप-प्रक्षालन एवं काम-क्रोधादिको जय करनेका यही एकमात्र सहज उपाय और आश्रय है। देवतागण भी जिससे मोहित हो जाते हैं, उस सुदुस्त्यज विष्णु-मायासे छुटकारा पानेके लिए यह श्रीमद्भागवत-सप्ताह-श्रवण-यज्ञ ही जगत्में अनुष्ठित और कीर्त्तित होता है। परब्रह्मात्मक इस भागवतकी महिमा वर्णनातीत है। यदि सुवक्ता और सुश्रोता इसका आश्रय ग्रहण करते हैं, तो वे भी श्रीकृष्णके समान गुण प्राप्त कर लेते हैं। भागवत-धर्म ही जीवोंका परम धर्म है, अतः अन्य किसी धर्मको ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है?

श्रीभागवतके सप्ताह-श्रवणका अपूर्व फल शास्त्रोंमें वर्णित है। मूर्ख, धूर्त, पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जीवोंने इसके द्वारा निष्पाप होकर उत्तम गति प्राप्त की है। कलियुगमें इस नरलोकमें चित्तका शोधन करनेवाली, समस्त पापोंका विनाश करनेवाली ऐसी सुपवित्र भागवत-गाथा कहीं भी सुलभ नहीं है। जो मनुष्य सदा पापकर्मोंमें लिप्त, दुराचार, कुमार्गगामी, क्रोधकी अग्निमें दग्ध, कुटिल और लम्पट हैं, वे भी इस भागवत-सप्ताह-यज्ञसे शुद्ध हो जाते हैं। जो सत्यहीन, पिता-माताकी निन्दा करनेवाले, कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए व्याकुल, दैव-वर्णाश्रमधर्मके विरोधी, दाम्भिक, ईर्ष्यापरायण और हिंसक हैं, वे भी इस यज्ञसे ही पवित्र होते हैं। पातक, अतिपातक और महापातकादि उग्र पापोंमें लिप्त, छल-छद्मवेशधारी, क्रूर, व्यभिचारपरायण, ब्रह्मस्व-अपहरणकारी (ब्राह्मण या सद्गुरुकी वस्तुका अपहरण करनेवाले), निर्दय, भूत, प्रेत, पिशाचादि भी इस भागवत-सप्ताह-यज्ञके श्रवणसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। शठ, हठ करनेवाले, काय, मन,

वाक्यसे पाप करनेवाले, दूसरोंका धन छीनकर उससे अपना पोषण करनेवाले, मन्द, दुराशय युक्त मनुष्य भी कलिकालमें इस श्रीमद्भागवत सप्ताह-परायण-यज्ञके द्वारा ही मुक्त होंगे।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने ज्ञान और वैराग्यके साथ भक्तिदेवीको श्रीमद्भागवतमें स्थापित किया है, अतः यह भागवत ही ग्रन्थ-सम्राटके रूपमें जगत्में विख्यात है। भक्तिके द्वारा ही श्रीभगवान् और भगवद्भक्त वशीभूत होते हैं, अतः यह शास्त्र-शिरोमणि इन दोनोंको ही अत्यन्त प्रिय है। जो दरिद्रता-दुःखरूपी ज्वरसे सर्वदा जर्जरित, माया-पिशाचिनी द्वारा क्लिष्ट एवं संसार-समुद्रमें पतित हैं, यह भागवत-गाथा अवश्य ही उनका आत्यन्तिक मङ्गल विधान करती है। दुर्जय कलिकालमें यह भागवती-वार्त्ता भवरोग विनाशिनी है। हे सज्जनगण! तीर्थ-यात्रा आदिके परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? श्रीकृष्णकी प्रिय, समस्त पापोंका नाश करनेवाली तथा भक्तिरूपी मुक्तिको प्रदान करनेवाली इस शुक-शास्त्ररूपी रसकथाका श्रवणेन्द्रिय द्वारा निरन्तर पान करो। श्रीयमराज अपने दूतोंको इस प्रकार आदेश देते हैं—"जो भागवत-कथामें मत्त हैं, वे वैष्णव हैं, मैं उनका शासक नहीं हूँ, अतः उन्हें दूरसे ही दण्डवत्-प्रणाम करके छोड़ देना। किन्तु जो इस असार संसारके विषयरूपी विषसे प्रमत्त हैं, आधे क्षणके लिए भी इस शुक-कथामृतका पानकर अपना कल्याण नहीं करते, विषयोंकी चर्चामें और कुपथपर चलते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं, वे ही मेरे दण्डके योग्य हैं।"

श्रीशुकके मुखका उच्छिष्ट होनेके कारण भागवतका यह परिपक्व फल अमृतके समान स्वादिष्ट हो गया है। इस कथामृतको कण्ठमें धारण करनेवालेको शीघ्र ही गोलोकगति प्राप्त होती है। यह श्रीमद्भागवत परमगुह्य, समस्त सिद्धान्तोंका सार तथा निखिल-शास्त्र शिरोमणि है, जगत्में इस कथामृतसे सुनिर्मल वस्तु और कोई नहीं है। हे साधुओ! अपने आत्यन्तिक मङ्गलके लिए द्वादश स्कन्धोंसे युक्त इस श्रीमद्भागवतामृतका निरन्तर पान करो। शुद्ध वैष्णवोंके समीप नियमित रूपसे भक्तिपूर्वक समस्त विधि-विधानोंका पालन करते हुए इस श्रीमद्भागवत-शास्त्रका पाठ अथवा सप्ताह-पारायण करनेपर वक्ता

और श्रोता दोनोंके लिए ही जगत्में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती अर्थात् उनके समस्त अभीष्ट पूर्ण हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत-सप्ताहके श्रवण और पारायणकी विधि

श्रीमद्भागवतका यह सप्ताह-श्रवण-यज्ञ विशेष परिश्रम और बहुत धन व्यय करके पूर्ण होता है। प्रचुर धन संग्रह करनेके पश्चात् दैवज्ञ (ब्राह्मण) को बुलाकर कथा आरम्भ करनेके लिए शुभक्षणका निर्वाचन करना चाहिये। आषाढ़, श्रावण, भाद्र, आश्विन, कार्त्तिक और अग्रहायण—ये छः मास भागवत-सप्ताह श्रवणके लिए अत्यन्त उत्तम हैं। इन छः मासोंमें भागवत-कथा आरम्भ होनेपर वह श्रोताओंके लिए विशेष मोक्ष-साधक होती है। इनमेंसे किसी मासमें असुविधा होनेपर उसका परित्याग कर देना चाहिये। भद्रा, दग्धा, व्यतीपात, वैधृति आदि निन्दित योग और कालका परित्यागकर चन्द्र-तारोंसे युक्त शुद्ध दिन, शुभतिथि, और शुभवारको कथा-श्रवण-यज्ञ आरम्भ करनेपर वह विशेष फल प्रदान करता है। उत्साही लोगोंकी सहायतासे सप्ताह करानेवाले व्रतीको देश-देशान्तरमें इस भागवत-सप्ताहके सम्बन्धमें प्रचार-प्रसार करना चाहिये। 'इस स्थानपर भागवत-कथा होगी'—यह घोषितकर स्त्री, शुद्र आदिका विचार किये बिना भगवान् अच्युतके कीर्त्तनमें अनुरक्त तथा हरिकथा-पिपासु सभी लोगोंको कथामें आमन्त्रित करना चाहिये। अनेकानेक स्थानोंसे त्यागी-वैष्णव और सङ्कीर्त्तनके लिए उत्सुक रहनेवाले लोगोंके निकट निमन्त्रण-पत्रादि भेजना चाहिये। पत्रादिको इस प्रकार लिखना चाहिये—"इस स्थानपर एक सप्ताह तक सुदुर्लभ सज्जन-सभाका आयोजन किया जा रहा है। जिसमें अपूर्व कथा-रसकी धाराएँ प्रवाहित होगी। हे रसिक प्रेमिकगण! आप लोग श्रीमद्भागवतामृतका पान करनेके लिए कृपा करके अवश्य ही यहाँ उपस्थित होइये। यदि सम्पूर्ण कथा श्रवण करनेका अवकाश न मिले, तो अन्ततः किसी भी प्रकारसे एक दिनके लिए ही भागवत-कथा और साधुसङ्गके इस सुदुर्लभ सुयोगका लाभ उठाइये।" इस प्रकारके विनीत आमन्त्रणसे सबको बुलाकर सभी श्रोताओंको यथायोग्य वासस्थान प्रदान करना कर्त्तव्य है।

तीर्थमें, वनमें, गृहमें अथवा किसी बहुत खुले स्थानपर इस भागवत-कथा-यज्ञका स्थान निर्वाचन करना चाहिये। तत्पश्चात् भूमिका शोधन, मार्जन, लेपन और गैरिकादि धातुके द्वारा उक्त स्थानको सजाना चाहिये। पाँच दिन पहले ही विस्तीर्ण आसन आदिका यत्नपूर्वक संग्रहकर वहाँ रखना चाहिये। उक्त स्थानके चारों ओर केलेके वृक्ष लगाकर एक बहुत ऊँचा मण्डप बनाना चाहिये। उस मण्डपको पत्र, पुष्प, फल, दल और चन्द्रातप (चंदोवे) द्वारा सुसज्जित् कर उसके चारों ओर ध्वजा आदि लगाकर उसकी सुन्दरतामें वृद्धि करनी चाहिये। वेदीके ऊपर वैष्णव-ब्राह्मणोंके लिए सात स्थान सुरक्षित रखने चाहिये एवं उन्हें पूर्व दिशाकी ओर आसन देनेके पश्चात् वक्ताके लिए आसन प्रदान करना चाहिये। वक्ता अथवा पाठकको उत्तर दिशाकी ओर तथा श्रोताओंको पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठना चाहिये। यदि वक्ता पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे, तो श्रोताओंको उत्तर दिशाकी ओर बैठना चाहिये। यदि इसमें असुविधा हो तो किसी भी दिशामें बैठा जा सकता है। उस अवस्थामें पाठक और श्रोताओंके बीचके स्थानको ही पूर्व दिशा समझना चाहिये।

पण्डित-सज्जनगण ही देश, काल, पात्रका विवेचन करके श्रोताओंके उद्देश्यसे भागवत-कथाकी आलोचना करनेके अधिकारी हैं। त्यागी, वैष्णव-ब्राह्मण, वदान्य, वेदशास्त्रोंमें पारङ्गत, दृष्टान्तोंकी व्याख्या करनेमें कुशल, निस्पृह, धीर, वक्ता, पण्डित और भगवद्भक्त ही पाठक होने योग्य हैं। बहुधर्मयाजी (पञ्चोऽपासक), भ्रान्त, स्त्रैण (स्त्रीमें आसक्त रहनेवाले) तथा पाषण्डवादी पण्डित होनेपर भी वे शुक-शास्त्र श्रीभागवतके पाठके लिए अवश्य ही परित्यज्य हैं। वक्ताके निकट ही पण्डितको तथा संशयका छेदन करनेवाले और भ्रमका संशोधन करनेमें पटु सज्जनको स्थान प्रदान करना चाहिये। वक्ताको व्रतपालनके पूर्व दिन यथाविधि मुण्डन आदि कर लेना चाहिये तथा व्रतके दिन अरुणोदयके समय शौच-स्नानादि करके संक्षेपमें नित्य सन्ध्या-वन्दनादिका अनुष्ठान करना चाहिये। विघ्न-विनाशके लिए भक्तिभावसे गणेशजीके आराध्य श्रीनृसिंहदेवकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् चित्तशुद्धिके लिए एक मनोहर मण्डलकी रचना करके श्रीहरिको वहाँ स्थापितकर

कृष्ण-मन्त्रोच्चारण करते हुए यथाविधि उनका अर्चन-पूजन करना चाहिये। इसके बाद उनकी परिक्रमा, प्रणाम और पूजाके अन्तमें भक्तियुक्त चित्तसे उनकी इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये—"हे करुणानिधे! मैं दीन इस संसार-सागरमें मग्न हूँ, मुझे कर्ममोहरूपी मगरमच्छने निगल लिया है। आप कृपाकर इस भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये।" इसके पश्चात् भक्तिभावसे विशेष यत्नके साथ विधिपूर्वक धूप-दीपादि नाना उपहारोंके द्वारा शास्त्र-चूड़ामणि श्रीमद्भागवतकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् प्रसन्नचित्तसे अनेक स्तव-स्तुति करते हुए ग्रन्थराजको प्रणाम करके इस प्रकार दीन वाक्य उच्चारण करने चाहिये—"हे पुराण श्रेष्ठ श्रीमद्भागवत! आप साक्षात् कृष्ण हैं। इस भवसागरसे मुक्ति पानेके लिए मैं आपको नाविकके रूपमें वरण करता हूँ। हे केशवस्वरूप! आप मेरे मनोरथको निर्विघ्न सफल कीजिये। मैं आपका दास हूँ, आप ही मेरा एकमात्र सहारा हैं।"

इसके बाद कथाका आयोजन करनेवाले व्रतीको वक्ताकी वस्त्र-आभूषणादिके द्वारा पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये—"आप श्रीशुक-स्वरूप, लोगोंको समझानेमें विशेष पारदर्शी और सर्वशास्त्र-विशारद हैं। आप दया प्रकाशितकर मेरे अज्ञानका विनाश करें।" व्रतीको अपने हितके लिए कथाके आरम्भसे लेकर उसके अन्त तक अर्थात् सात दिन एवं सात रात तक सभी नियमोंका यथाशक्ति पालन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। तत्पश्चात् व्रतीको वैष्णव-ब्राह्मण तथा कीर्त्तन आदि करनेवालोंकी यथायोग्य पूजा करनेके पश्चात् श्रद्धा सहित सभीको प्रणाम करना चाहिये। लोकचिन्ता, धनचिन्ता, गृहचिन्ता तथा पुत्रादिकी चिन्ताका परित्यागकर श्रीमद्भागवत-कथामें शुद्धचित्तसे एकान्तिक रूपमें निमग्न होनेपर व्रतीको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है।

सुधी पाठकोंको सूर्योदयसे कथा आरम्भकर सार्द्ध-त्रिप्रहरावधि (साढ़े तीन प्रहर तक) उत्तम रूपसे स्पष्ट भाषामें तथा धीर-कण्ठसे पाठ करना चाहिये। मध्याह्नके समय दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट भागवत-पाठका विश्राम काल होता है। इस समय भी वैष्णवोंको हरि कीर्त्तन करना चाहिये। मल-मूत्रके वेगसे बचनेके लिए अल्पाहारको

ही सुखदायक जानकर कथा-श्रवण व्रती श्रोताओंको दिनमें केवल एकबार ही भगवत्-प्रसादका भोजन करना चाहिये। समर्थ होनेपर पूर्ण सप्ताह तक उपवास करते हुए अथवा ऐसा सम्भव न होनेपर घृत अथवा दुग्ध पानकर सुखपूर्वक हरिकथाका श्रवण करना चाहिये। फलाहारी अथवा एकाहारी भी हो सकते हैं। श्रवणके लिए जो सुखसाध्य हो, वैसा करना ही कर्त्तव्य है। यदि भागवत-श्रवण करते समय आलस्य न आये, तो भोजन करना भी उत्तम है और यदि उपवाससे श्रवणमें विघ्न उत्पन्न हो, तो उपवास करनेका भी विधान नहीं है। कथा-व्रती श्रोताओंको कथाके अन्त तक प्रतिदिन ब्रह्मचर्यका पालन, भूमिपर शयन और पत्तलमें भोजन करना चाहिये। उन्हें दाल, शहद, तेल, गरिष्ट भोजन, भावदुष्ट (कुभावनासे बना हुआ), पर्युषित (बाँसी) और शास्त्र-निषिद्ध अन्नादिका वर्जन करना चाहिये। काम, क्रोध, मद, मान, मात्सर्य, लोभ, दम्भ, मोह, द्वेषादिका परित्यागकर— वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गो, व्रती, नारी, राजा, महापुरुष—इनके प्रति कभी भी कोई कटाक्ष या इनकी निन्दादि नहीं करनी चाहिये। रजस्वला, अन्त्यज, म्लेच्छ, पातकी, सावित्री-पतित[१], ब्राह्मण-द्वेषी या फिर वेदबाह्य लोगोंके साथ वार्त्तालाप न करके सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, नम्रताका पालन और उदारताका प्रदर्शन करना चाहिये।

दरिद्र, क्षयरोगी, भाग्यहीन, पापी, पुत्रहीन, अपुष्पा, बन्ध्या (बाँझ), काकबन्ध्या (जिसकी केवल एक ही सन्तान हुई हो), मृतसुता (जिसकी सन्तान मर जाती हो), गर्भपातरूपी व्याधिसे युक्त—ये सब भी यत्नपूर्वक भागवत-सप्ताहका श्रवण करनेसे मुक्तिके अधिकारी हो जाते हैं। इस प्रकार विधिपूर्वक इस अत्युतम दिव्य कथाका श्रवण करनेपर करोड़ों यज्ञोंके समान अक्षय फलकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार विधि-विधानोंका पालन करते हुए व्रतीको अपने व्रतका उद्यापन करना चाहिये। फलाकांक्षी व्यक्तिको इस व्रतका जन्माष्टमीके समान पालन करना चाहिये। अकिञ्चन भक्तोंके लिए इस सप्ताह-

[१] गायत्री मन्त्र लेनेके उपरान्त उसे जप नहीं करनेवाला।

श्रवणरूपी व्रतका उद्यापन करनेकी व्यवस्था शास्त्रोंमें नहीं दी गयी है, क्योंकि शान्त, निष्काम वैष्णवगण स्वयं पवित्र होते हैं तथा उनके दर्शनमात्रसे ही पवित्रता प्राप्त होती है।

इस प्रकार सप्ताह-पारायण-यज्ञके अन्तमें व्रतीको विशेष भक्तिपूर्वक ग्रन्थ और वक्ताकी पूजा करके उन्हें प्रसाद और तुलसीमाला प्रदान करनी चाहिये। यज्ञके अन्तमें मृदङ्ग और करतालके साथ 'जय' और 'नमः' शब्द तथा शङ्खकी ध्वनि करते हुए सङ्कीर्त्तन करना चाहिये। यदि प्रधान श्रोता गृहत्यागी हो, तो उसके लिए गीता पाठ करना कर्त्तव्य है और यदि वह गृहस्थ हो तो उसे कर्म शान्तिके लिए होमादि करना चाहिये। दशमस्कन्धके एक-एक श्लोकके उच्चारण द्वारा खीर, शहद तथा घी आदिसे मिश्रित अन्नके द्वारा विधिपूर्वक समाहित चित्तसे गायत्रीका उच्चारण करते हुए गायत्रीमय श्रीमद्भागवतके उद्देश्यसे होमकार्य करना चाहिये। फल प्राप्तिकी आशासे होमकार्य करनेमें अशक्त व्यक्तिको होम समाप्त होनेपर अवशिष्ट वस्तुओंका वितरण कर देना चाहिये। होमके अनुष्ठानमें न्यूनता और अधिकता आदि अनेक प्रकारके दोष और भूलके निवारणके उद्देश्यसे भक्ति युक्त होकर 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करना ही कर्त्तव्य है। इसके पश्चात् वैष्णव और ब्राह्मणोंको शहद और खीर आदिके साथ भोजन कराना चाहिये। दक्षिणाके साथ स्वर्ण युक्त गाय देकर अन्य याचकोंको धन-अन्नादिका दानकर सन्तुष्ट करना चाहिये। यदि सामर्थ्य हो तो बारह तोलेका स्वर्णसे निर्मित-सिंहासन बनवाकर उसके ऊपर ग्रन्थराज श्रीमद्भागवतको स्थापित करके दक्षिणा आदिके साथ आवाहनादि विविध उपचार और वस्त्र-आभूषण तथा सुगन्धित द्रव्यों आदिके द्वारा वक्ता अथवा पाठककी पूजाकर, उसे वह सिंहासन प्रदान करना चाहिये। सप्ताह-श्रवण-विधिका इस प्रकार यत्न सहित पालन करनेपर सभी पाप विनष्ट होकर शुभफल प्राप्त होता है। इस सप्ताह-पारायण-यज्ञका अनुष्ठान करनेपर मानव धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भी तिरस्कृत करनेवाले पञ्चम-पुरुषार्थ (प्रेम) को प्राप्तकर भगवद्धामको जाते हैं।

श्रीकृष्णके अपने धाममें जानेके पश्चात् कलियुगके तीस वर्ष बीतनेपर भाद्रमासकी शुक्ल–पक्षीय नवमी तिथिको श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित् महाराजके समक्ष इस भागवत–कथाका कीर्त्तन आरम्भ किया था। परीक्षित् महाराजके द्वारा सात दिन श्रवण करनेके पश्चात् दो सौ वर्ष बीतनेपर पुनः आषाढ़ मासकी शुक्ल–पक्षकी नवमी तिथिको गोकर्णने धुन्धुकारीके उद्देश्यसे श्रीमद्भागवत–सप्ताह श्रवण–यज्ञका अनुष्ठान किया था। इस यज्ञके समाप्त होनेके तीस वर्षके पश्चात् कार्त्तिक मासकी शुक्ला–नवमी तिथिको सनकादि–चतुःसनने श्रीनारदजीके समक्ष सप्ताह–यज्ञमें भागवत–कथाका कीर्त्तन किया था।

❁ ❁ ❁

प्रथमः स्कन्धः

प्रथम स्कन्धकी कथाका सार

बहुत समय पहले कलियुगके प्रारम्भमें नैमिषारण्यमें शौनकादि विप्र-ऋषियोंने वैकुण्ठलोककी प्राप्तिकी कामनासे हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया था। एक दिन प्रातःकाल जब वह अपना दैनिक होम समाप्त कर चुके थे, उस समय रोमहर्षणके[१] पुत्र महाभागवत उग्रश्रवा-सूत वहाँ उपस्थित हुए। उन्हें देखकर ऋषियोंने उनका यथायोग्य सत्कार किया तथा आदर सहित उनसे जीवके परम कल्याण और श्रीकृष्णके विषयमें कथाओंका कीर्त्तन करनेका अनुरोध किया।

तब सर्वप्रथम श्रीसूत गोस्वामीने अपने गुरु परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामीको प्रणाम किया और फिर ऋषियोंके भगवान् श्रीहरि-विषयक पूर्वोक्त प्रश्नोंकी प्रशंसा करके प्रथमतः श्रीविष्णुके विराटादि बहुत-से अवतारोंकी कथाका वर्णन किया। फिर उन्होंने निखिल वेदों, पुराणों और इतिहासोंके सार श्रीमद्भागवतकी रचनाके सम्बन्धमें कहा—"इस श्रीमद्भागवतको सर्वप्रथम श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीव्यासदेवके निकट अध्ययन किया था। फिर जब गङ्गाके तटपर अनशनके लिए बैठे शुश्रूषामें रत महाराज परीक्षित्को श्रीशुकदेव गोस्वामीने इस श्रीमद्भागवतका श्रवण कराया था, उस समय मैंने भी उनके श्रीमुखसे इस ग्रन्थका श्रवण किया था। मैंने जो कुछ श्रीशुकदेव गोस्वामीसे श्रवण किया है, अब वही आपके समक्ष यथायथ वर्णन कर रहा हूँ।" यह सुनकर ऋषियोंने श्रीशुक और श्रीव्यासके वृत्तान्तको जाननेकी इच्छा की, तब श्रीसूत गोस्वामी श्रीव्यासदेवके विषयमें वर्णन करने लगे।

महर्षि पराशरके औरससे उपरिचर वसुकी कन्या सत्यवतीके गर्भमें श्रीहरिके अंश श्रीव्यासदेवने जन्म-ग्रहण किया। एक दिन श्रीव्यासदेव

---

[१] ये उग्रश्रवा-सूतके पिता और पुराणके वक्ता थे तथा श्रीबलदेव प्रभुके द्वारा इनका वध किया गया था।

सूर्योदयके उपरान्त सरस्वती नदीके जलमें स्नानादि समाप्तकर बदरिकाश्रममें एकान्त स्थानमें अकेले बैठकर अप्रसन्न मनसे इस प्रकार चिन्ता कर रहे थे—"क्या करनेसे समस्त जीवोंका मङ्गल हो सकता है? चारवेद, पुराण और महाभारतादि इतिहासकी रचना करनेपर भी मुझे आत्म-सन्तुष्टि और प्रसन्नता क्यों नहीं प्राप्त हो रही? अथवा भागवत-धर्म अर्थात् हरिकथाके कीर्त्तन द्वारा परमहंस वैष्णवोंको सन्तुष्ट नहीं कर पानेके कारण ही क्या मेरी आत्मा अभी तक अप्रसन्न है?" जब श्रीव्यासदेव इस प्रकारकी चिन्तासे दुःखित हो रहे थे, उसी समय उनके गुरुदेव देवर्षि श्रीनारद सहसा उनके सम्मुख आ पहुँचे। श्रीव्यासदेवने तत्क्षणात् श्रीनारदकी यथाविधि पूजा की और उन्हें आदर सहित बैठाया। फिर उन्होंने श्रीनारदसे अपनी अप्रसन्नताका कारण पूछा। तब श्रीनारदजीने श्रीव्यासदेवसे कहा—"तुमने समस्त शास्त्रोंमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके माहात्मयका ही विशेष रूपमें प्रदर्शन किया है। किन्तु तुमने भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमाका उस प्रकार सम्पूर्ण रूपमें कीर्त्तन नहीं किया, इसीलिए तुम अभी तक भी अतृप्ति अनुभव करते हो।" इस प्रकार कहकर नारदजी अपने पूर्वजन्म और कर्मका वृत्तान्त कहने लगे।

"पूर्वजन्ममें मैंने कुछ वेदज्ञ ऋषियोंकी किसी एक दासीके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था। वर्षा ऋतुसे आरम्भ होनेवाले चातुर्मास-व्रतके पालनकालमें उन ऋषियोंकी सेवा-परिचर्यामें नियुक्त होकर मैंने यथाविधि उनका उच्छिष्ट भोजन ग्रहण और उनके द्वारा कीर्त्तित हरिकथाका श्रवण किया था। इस प्रकार उनके सङ्गके फलस्वरूप शुद्धचित्त होकर मैंने भगवान् श्रीनारायणके प्रति अनुराग और दृढ़भक्ति प्राप्त की। जब चातुर्मासकी समाप्तिपर वे ऋषिगण वहाँसे दूर देशको जाने लगे, तब उन्होंने मुझे परम गोपनीय विष्णु-दीक्षा और भगवत्-तत्त्वज्ञान प्रदान किया। कालक्रमसे मेरी माताका देहान्त होनेपर मैं अकेला ही उस स्थानसे चल पड़ा और चलते-चलते मैंने बहुत देशोंको पार कर लिया। तब किसी एक स्थानपर पहुँचकर एक नदीके जलमें स्नानकर उसके तटपर स्थित एक वृक्षके नीचे बैठकर मैं एकाग्र चित्तसे भगवान् श्रीनारायणका ध्यान करने लगा। क्रमशः

भगवान् श्रीनारायण मेरे हृदयमें आविर्भूत हुए, किन्तु उसी क्षण ही वे अन्तर्हित हो गये। तब मैं अत्यन्त विचलित हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने कृपापूर्वक अलक्ष्य रूपमें मुझसे कहा—'तुम इस जन्ममें पुनः मेरे दर्शन प्राप्त नहीं करोगे। इस जन्ममें तुम साधुसेवा करते रहो, अगले जन्ममें तुम मेरे पार्षद बन पाओगे।' उसी समयसे मैं देश-देशमें सर्वत्र हरिनाम गान करते हुए भ्रमण करने लगा। प्रपञ्च त्याग करनेपर मैंने भगवान्के पार्षददेहको प्राप्त किया। कल्पके अन्तमें इस विश्वका संहारकर भगवान्के द्वारा एकार्णव-जलमें शयन करनेपर मैं उनकी निःश्वास सहित उनके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकारसे हजार युगोंके उपरान्त पुनः सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर जब भगवान् निद्रासे उठे, तब मैं उनकी इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ।"

इस प्रकार अपने वृत्तान्तका वर्णन समाप्तकर श्रीनारद ऋषिने श्रीव्यासदेवसे कहा—"आजसे तुम श्रीहरिकी कथाओंका विशेष रूपसे कीर्त्तन करो, तभी तुम्हारी आत्मा अत्यधिक प्रसन्न होगी, क्योंकि अन्य किसी उपायसे आत्म-प्रसन्नता प्राप्त करना असम्भव है।"

ऐसा कहकर देवर्षि नारद वहाँसे चले गये। तब श्रीव्यासदेवने 'शम्याप्रास' नामक आश्रममें वास करते हुए भक्ति-समाहित-चित्तमें पूर्ण परमपुरुष श्रीभगवान्का उनकी समस्त शक्तियों सहित दर्शन किया, तथा जीवके माया द्वारा वशीभूत होनेके क्रमसे उदित अनर्थ और भगवद्भक्तियोगके द्वारा ही उन अनर्थोंकी निवृत्ति होने आदिका भी दर्शन किया। तब श्रीव्यासदेवने अज्ञानी लोगोंके अहैतुक मङ्गलके लिए श्रीमद्भागवतकी रचना की। इस श्रीमद्भागवतके श्रवणके फलसे जीवमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति उदित होती है, जो उसके समस्त शोक-मोह-भयका नाश कर देती है।

इसके उपरान्त श्रीकृष्णकी कथाके प्रसङ्गमें ही श्रीसूत गोस्वामीने महाराज परीक्षित्के जन्म और उनके देह-त्यागका वृत्तान्त वर्णन किया। कुरुक्षेत्र-युद्धके बाद टूटी हुई जाँघवाले दुर्योधनकी सन्तुष्टिके लिए अश्वत्थामा द्वारा रात्रिमें निद्रित पाण्डव-पुत्रोंका सिर काट देनेपर द्रौपदी अत्यन्त विलाप करने लगी। महावीर अर्जुनने द्रौपदीको सान्त्वना दी और श्रीकृष्णको साथ लेकर अश्वत्थामाका पीछा किया।

तब अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। यह देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णके आदेशसे उस ब्रह्मास्त्रका निवारण करनेके लिए अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा जिससे दोनों अस्त्र एक-दूसरसे टकराकर नष्ट हो गये। तब अर्जुन अश्वत्थामाको रस्सीसे बाँधकर अपने शिविरमें लाये। गुरुपुत्रकी ऐसी अवस्था देखकर द्रौपदी और अन्य सभीके द्वारा उसे बन्धनसे मुक्त करनेके लिए अनुमोदन करनेपर भी महावीर भीम उसके वधके लिए ही निरन्तर अनुरोध करने लगे। ऐसी परिस्थितिमें अर्जुनने श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर अपनी प्रतिज्ञाका पालन तथा भीम और द्रौपदीको सन्तुष्ट करनेके लिए अर्थात् दोनों ही कार्योंको एकसाथ पूर्ण करनेके लिए तलवार द्वारा अश्वत्थामाके मस्तककी मणिको निकालकर उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया।

तब पाण्डवोंने महिलाओंको आगे करके श्रीकृष्ण सहित गङ्गाके तटपर जाकर उदक(अन्त्येष्टि)-क्रिया समापन की। तदुपरान्त श्रीकृष्णने युधिष्ठिर महाराजको पुनः सिंहासनपर अधिष्ठित किया तथा क्रमशः उन्हें तीन अश्वमेध-यज्ञोंमें दीक्षित और कृतार्थकर सात्यकि और उद्धवके साथ वे द्वारकाकी ओर प्रस्थान करने लगे। उसी समय अर्जुनकी पुत्रवधु उत्तरा अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये बाणसे पीड़ित होकर कातर स्वरसे श्रीकृष्णकी कृपाकी याचना करते-करते तीव्रगतिसे वहाँ आकर उपस्थित हुई। अश्वत्थामाने यह ब्रह्मास्त्र पृथ्वीको पाण्डवशून्य करनेके लिए छोड़ा है—यह जानकर श्रीकृष्णने अपने सुदर्शनचक्र द्वारा उस ब्रह्मास्त्रका प्रभाव समाप्तकर उत्तराके गर्भमें स्थित शिशुकी रक्षा की।

कुछ दिनोंके पश्चात् श्रीकृष्णके पुनः द्वारका जानेके लिए प्रस्तुत होनेपर पाण्डवोंकी माता कुन्तीने उन्हें जानेसे रोककर विविध प्रकारसे उनकी स्तुति की। श्रीकृष्णने उनकी प्रार्थना स्वीकारकर हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। पुनः जब वे वहाँकी महिलाओंसे विदायी लेकर द्वारकाकी ओर जानेके लिए उद्यत हुए, तब महाराज युधिष्ठिरने पुनः उन्हें रोक लिया। फिर श्रीकृष्णके साथ महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणों द्वारा घिरकर महामति भीष्मके निकट विविध प्रकारके धर्मोंको श्रवण

करनेके लिए कुरुक्षेत्र गये। वहाँ बाणोंकी शय्यापर लेटे हुए तथा मानो अपनी कक्षासे च्युत हुए ज्वलनशील ग्रहके समान भीष्मदेवका निरीक्षण करके उन्होंने यथाविधि उनकी पूजा की। श्रीभीष्मने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्णको सम्मुख देखकर श्रीकृष्णके सहायक युधिष्ठिरके भाग्यकी प्रशंसा की। फिर युधिष्ठिरकी जिज्ञासाके अनुसार उन्हें वर्णाश्रम-धर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म, दृष्टान्त सहित दान-धर्म, मोक्ष-धर्म, राज-धर्म, स्त्री-धर्म और भगवत्-धर्म तथा अधिकार-भेदसे धर्मके पृथक्-पृथक् उपायोंका वर्णन किया। उसी समय उत्तरायण कालके उपस्थित होनेपर भीष्मदेवने प्राण त्याग करनेकी इच्छा की और उन्होंने अपने सम्मुख उपस्थित श्रीकृष्णकी विविध प्रकारसे शुद्धभक्तिमूलक स्तव-स्तुति करके प्राण त्याग दिये। वैकुण्ठगत पितामहकी अन्त्येष्टि क्रिया समाप्तकर महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णके साथ हस्तिनापुर लौट आये। वहाँ श्रीकृष्णकी सम्मति और धृतराष्ट्रकी आज्ञा ग्रहणकर वे यथाविधि अपने पैतृक राज्यपर शासन करने लगे।

बान्धवोंके शोककी शान्ति और सुभद्राके अनुरोधसे कुछ मास तक हस्तिनापुरमें अवस्थानकर श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर द्वारका जानेके लिए रथपर आरूढ़ हुए। तब अर्जुनने उनके सिरपर श्वेत छत्र धारण किया तथा उद्धव और सात्यकि उन्हें चामर ढुलाने लगे। उस समय कुरुकुलकी महिलाएँ श्रीकृष्णका स्तव करने लगीं। बहुत-से देशोंको पारकर वे 'आनर्त्त' नामक जनपदमें उपस्थित हुए। वहाँ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया जिसे सुनकर द्वारकावासिगण उनकी स्तुति करने लगे। श्रीकृष्णने उनपर अनुग्रह करते हुए अपनी राजधानी द्वारकामें प्रवेश किया। वहाँ वसुदेव, उग्रसेन, बलदेव, अक्रूर, प्रद्युम्न आदि यादवोंने आनन्दित होकर उनका अभिनन्दन किया। श्रीकृष्णने सभीका यथोचित सम्मान करते हुए राजपथसे होकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया और वहाँ सर्वप्रथम अपने माता-पिताकी चरण-वन्दना कर फिर उन्होंने अपने निज अन्तःपुरमें प्रवेश किया। श्रीकृष्णकी रानियाँ भी बहुत दिनोंके बाद अपने कान्तके चरणोंका दर्शनकर हर्षके सागरमें निमग्न हो गयीं।

श्रीसूत गोस्वामीके द्वारा यहाँ तक की कथाका वर्णन करनेके उपरान्त शौनकादि ऋषियों द्वारा परीक्षित्के जन्म और चरितके विषयमें पुनः जिज्ञासा करनेपर श्रीसूतगोस्वामीने पुनः वर्णन करना आरम्भ किया—“गर्भवास कालमें अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे दग्ध हो रहे परीक्षित्ने देखा कि श्रीभगवान्ने इस ब्रह्मास्त्रके प्रभावको नष्ट कर दिया है। श्रीविष्णु द्वारा रक्षित होनेके कारण वे ‘विष्णुरात’ नामसे तथा जन्म-ग्रहण करनेपर मनुष्यमात्रको देखते ही अपने गर्भवास कालमें देखे गये पुरुषका स्मरणकर ‘क्या ये वही पुरुष हैं?’—इस प्रकारकी भावना (परीक्षा) करनेवाले होनेके कारण वे ‘परीक्षित्’ नामसे भी जाने जाते हैं। अपने स्वभावसे ही वैष्णव परीक्षित् दिन-दिन बड़े होने लगे। ब्राह्मणगण उनके अनुपम चरित्रके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरके निकट भविष्यवाणी करने लगे। राजा युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध-यज्ञकी अभिलाषा करनेपर श्रीकृष्णकी इच्छानुसार युधिष्ठिरने अपने भाईयों द्वारा उत्तर दिशासे मरुत्त राजाके यज्ञके समयमें परित्यक्त सोनेके पात्रोंको संग्रह किया, फिर श्रीकृष्णको निमन्त्रण पत्र भेजकर बुलवाया तथा उनके निर्देशानुसार तीन अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया। श्रीकृष्ण भी कुछ मास हस्तिनापुरमें रहनेके पश्चात् अर्जुनके साथ द्वारका लौट आये।”

इस प्रकार वर्णनकर श्रीसूत गोस्वामी विदुरजीके विषयमें कहने लगे। बहुत-से तीर्थोंका भ्रमणकर श्रीविदुरने हस्तिनापुरमें लौटकर सभीके साथ यथोचित वार्त्तालाप आदि किया। तदुपरान्त युधिष्ठिरने उनसे यादवोंकी कुशलताके विषयमें पूछा। यदुकुलके ध्वंसके विषयमें सुनकर पाण्डव अत्यधिक कष्ट पायेंगे, इस भयसे श्रीविदुरजीने उनके सम्मुख यदुकुलके ध्वंसके वृत्तान्तका उल्लेख नहीं किया तथा कुछ दिन वहींपर रहकर विविध उपदेश आदि प्रदानकर धृतराष्ट्रके हृदयमें संसारसे वैराग्य उत्पन्न कराया। धृतराष्ट्रने अपनी पत्नी गान्धारी और विदुरके साथ गृह त्यागकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया। कुछ देरके बाद जब महाराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको वहाँ न देख पाये, तब उन्होंने एकान्तमें बैठे हुए सञ्जयसे धृतराष्ट्रके विषयमें पूछा, किन्तु सञ्जयने इस सम्बन्धमें अपनी अज्ञता ज्ञापन की। उसी समय देवर्षि

नारद वहाँ उपस्थित हुए। तब शोकसे दुःखित धर्मराजने उनसे धृतराष्ट्र, गान्धारी और विदुरके विषयमें पूछा। देवर्षिने युधिष्ठिरको वैराग्य विषयक बहुत-से उपदेश देते हुए कहा—“भगवान् श्रीवासुदेव इस अवतारमें देवताओंका प्रियकार्य सम्पूर्णकर अब यदुकुलके ध्वंसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तदुपरान्त वे अप्रकट होंगे। राजा धृतराष्ट्र भी अपनी इन्द्रियों और मनको संयमितकर योगसिद्ध होकर आजसे पाँचवें दिन देहत्याग करेंगे तथा उनकी पत्नी गान्धारी भी उनका अनुगमन करेंगी। फिर महात्मा विदुर भी उनके देहत्यागका दर्शनकर तीर्थ-भ्रमणके उद्देश्यसे वहाँसे प्रस्थान करेंगे।” ऐसा कहकर नारदजी वहाँसे चल दिये।

इधर द्वारकामें गमन करनेके उपरान्त सात मास बीत जानेपर भी जब अर्जुन लौटकर नहीं आये, तब महाराज युधिष्ठिर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको आता देखकर चिन्तासे पीड़ित हृदयसे भीमसेनके साथ परामर्श करने लगे। उसी समय गम्भीर दुःख और शोकसे आच्छादित अर्जुनको अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित लौटा देखकर युधिष्ठिरने आशङ्कित मनसे उनसे श्रीकृष्ण और यादवोंकी कुशलताके विषयमें पूछा। श्रीकृष्णसखा अर्जुन सहसा कुछ भी कहनेमें समर्थ नहीं हुए। बहुत देरके बाद श्रीकृष्णके अप्रकट होने और यदुकुलके समाप्त होनेका समाचार सुनाकर अर्जुन श्रीकृष्णके विरहमें गहन शोक प्रकाश करने लगे। फिर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी चिन्ता करते-करते उनके हृदयमें गीतामें उक्त ज्ञान पुनः उदित हो गया। कुन्तीने भगवान्के अप्रकट होनेका संवाद सुनकर देहत्याग कर दिया। पाण्डवगणोंने भी परीक्षित्को कुरुराज्य तथा अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभको शूरसेनके राज्यमें अभिषिक्तकर द्रौपदी सहित महाप्रस्थान करते हुए भगवान् श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के चरणकमलोंकी चिन्ता करते-करते परम गतिको प्राप्त किया।

तदुपरान्त श्रीसूतगोस्वामीने शौनकादि ऋषियोंके निकट परीक्षित्का उत्तरकी पुत्री इरावतीके साथ विवाह, उसके गर्भसे जनमेजय इत्यादि चार पुत्रोंके उत्पन्न होनेकी कथा तथा उनके द्वारा प्रजाको प्रसन्न करने आदि विषयोंका वर्णन किया। कुरुजाङ्गल प्रदेशमें रहते समय अपने राज्यमें कलिकी दुर्जनताकी बात सुनकर वे दिग्विजयके लिए निकले

और बहुत-से देशोंको जय करके वहाँसे कर ग्रहण किया। एकबार उन्होंने धर्मरूपी बैलको एक पैरपर खड़े हुए, गायरूपी पृथ्वीको अश्रु सहित रोते हुए तथा राजवेशधारी शुद्ररूपी कलि द्वारा उन दोनोंको ताड़न करते हुए देखा। यह देख महाराज परीक्षित् क्रोधित होकर कलिका वध करनेके लिए आगे बढ़े और धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना प्रदान की। प्राण जानेकी आशङ्कासे कलिने राजा परीक्षित्की शरण ग्रहण की। तब महाराज परीक्षित्ने तत्क्षणात् कलिको उनका राज्य त्याग करनेका आदेश दिया। तदुपरान्त उन्होंने कलिके प्रार्थना करनेपर उसे जुआ, मादकद्रव्य, स्त्री, हिंसा और अर्थ—इन पाँच स्थानोंमें वास प्रदान किया।

इस प्रकार श्रीसूत गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित्के विविध गुणोंका कीर्त्तन करनेपर शौनकादि ऋषि उनसे श्रीहरिकी कथा और श्रीभागवत शास्त्रको और भी अधिक रूपमें कीर्त्तन करनेका अनुरोध करने लगे। तब श्रीसूतगोस्वामी राजा परीक्षित् द्वारा ब्रह्मशाप प्राप्तिका वृत्तान्त वर्णन करने लगे।

एक दिन महाराज परीक्षित् शिकारपर निकले थे और तब शिकार करते-करते उन्हें बहुत प्यास लगी। शमीक ऋषिका आश्रम निकट देखकर वे वहाँ गये और ऋषिसे पानीके लिए याचना की। किन्तु ध्यानमग्न ऋषि द्वारा उन्हें जलप्रदान न करनेके कारण राजा क्रोधित हो उठे और उन्होंने निकटमें ही पड़े हुए एक मृत सर्पको मुनिके गलेमें डाल दिया और अपनी राजधानीको लौट आये। शमीक ऋषिके पुत्र शृङ्गीने इस वृत्तान्तको सुनकर आचमनपूर्वक 'सात दिनोंके अन्दर राजा परीक्षित्को तक्षक सर्प डसेगा'—ऐसा कहकर राजा परीक्षित्को शाप दे दिया।

ध्यानभङ्ग होनेपर समस्त घटनासे अवगत होकर शमीक ऋषिने अपने पुत्रका बड़ा तिरस्कार किया। उधर राजा परीक्षित् भी अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मका स्मरणकर अनुताप करने लगे। उसी समय शमीक ऋषिके एक शिष्यने राजाको शापके विषयमें अवगत कराया। राजा परीक्षित्ने इस अभिशाप-संवादको अपने लिए शुभ ही समझा। महाराज परीक्षित् अपने पुत्र जनमेजयके हाथोंमें राज्यभार समर्पणकर

उत्तर दिशाकी ओर चल दिये। राजा परीक्षित्‌ने श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाको ही जीवनका सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य जानकर गङ्गाके तटपर बैठकर मृत्यु तक अन्न-जल ग्रहण न करनेका सङ्कल्प किया।

धीरे-धीरे बहुत-से महर्षि, देवर्षि और ब्रह्मर्षि उस गङ्गा तटपर उपस्थित हुए तथा राजा परीक्षित्‌की हरिसेवामें मतिका दर्शनकर उसकी प्रशंसा करने लगे। महाराज परीक्षित्‌ने मुनियोंको शङ्का रहित चित्तसे हरिकथाका कीर्त्तन करनेको कहा तथा जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो, उसके लिए सर्वदा क्या करना कर्त्तव्य है—इस विषयमें प्रश्न किया। इस विषयमें विभिन्न मत होनेके कारण मुनियोंमें विवाद होना आरम्भ हो गया। उसी समय सहसा भ्रमण करते-करते परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामी वहाँ उपस्थित हुए। तत्क्षणात् सभीने खड़े होकर उनका स्वागत किया। महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें दण्डवत्-प्रणाम करके विशेष रूपमें उनका अभिनन्दन और स्तव किया। तब श्रीपरीक्षित्‌ने शुश्रुषा (सेवाभाव) के साथ 'मृत्युके निकट और चरम कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तिका क्या कर्त्तव्य है'—इस विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जिज्ञासा की। तब भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने राजा परीक्षित्‌के प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया।

❁ ❁ ❁

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

प्रथमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियों द्वारा श्रीसूत गोस्वामीसे प्रश्न

श्रीवेदव्यास द्वारा किया मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥ १॥

जिन परमेश्वरसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति (पालन) तथा विनाश कार्य अन्वय (कारणकी कार्यमें स्थिति, जैसे—मिट्टीकी घटमें स्थिति) और उसके विपरीत व्यतिरेक (कारणका कार्यसे पृथक् भाव अर्थात् मिट्टीकी घटसे पृथक् स्थिति) रूपमें साधित होते हैं, जो जगत्के कर्त्ताके धर्मसे सम्पूर्ण रूपमें अवगत हैं, जिनमें स्वतःसिद्ध ज्ञान स्वयं विराजमान है, जिन्होंने आदि कवि ब्रह्माके हृदयमें सङ्कल्पके द्वारा तत्त्व-वस्तुको प्रकाशित किया है, जिन परमेश्वरके सम्बन्धमें ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता भी मोहमें पड़ जाते हैं; तथा जिस प्रकार तेज, जल और मिट्टीमें परस्पर एकके बदले दूसरी वस्तुका सत्यकी भाँति भ्रम होता है (अर्थात् जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका सत्यकी भाँति भ्रम होता है), उसी प्रकार जिन परमेश्वरमें सत्त्व, रजः और तमः गुणोंका अवस्थान सत्यकी भाँति प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः जिनमें जड़धर्म सम्भव ही

नहीं है, जो माया और मायाके कार्य—कपटतासे सर्वदा मुक्त हैं, समस्त जीवोंके हृदयमें विराजित तथा सर्वदेशकालवर्ती उन्हीं सत्यस्वरूप-लक्षणमय परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं॥ १॥

धर्मः प्रोज्झित-कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ २॥

(अब श्रोतामण्डलीको भागवत-श्रवणमें प्रेरित करानेके लिए कर्म, ज्ञान और भक्तिमूलक अन्यान्य समस्त शास्त्रोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं—)

महामुनि श्रीनारायणके द्वारा सर्वप्रथम और संक्षेपमें चतुःश्लोकी भागवत प्रकाशित हुई थी। इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें दूसरोंका उत्कर्ष (श्रेष्ठता) सहन कर सकनेमें समर्थ अर्थात् मात्सर्य-भावसे रहित, समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु साधुओंका परमधर्म अर्थात् कर्म-ज्ञान काण्डके शास्त्रोंमें वर्णित विषयोंसे भी श्रेष्ठ धर्म—शुद्धभक्तियोग निरूपित हुआ है। इस मत्सरतासे रहित सद्धर्ममें फलकी कामनावाले लक्षणोंसे युक्त धर्म, अर्थ, काम तथा सालोक्यादि मुक्तियोंकी इच्छाओं तकका भी स्थान नहीं है। श्रीमद्भागवतरूपी परम ग्रन्थके अनुशीलनके फलसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये तीनों प्रकारके मायिक ताप और उनका मूलकारण अविद्या तक सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा परमानन्दका अनुभव करानेवाले नित्य-अविनाशी अद्वयज्ञान[१] वस्तु-तत्त्वका अनुभव होता है। जैसे ही श्रीमद्भागवतका श्रवणादि अनुशीलन आरम्भ होता है, उसी क्षणसे श्रवण-इच्छुक सुकृतिसम्पन्न श्रोताओंके हृदयमें परमेश्वर श्रीहरि अतिशीघ्र ही अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः फिर अन्य किसी शास्त्र या मार्गको अनुगमन करनेकी क्या आवश्यकता है? अतएव सभी शास्त्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ इस श्रीमद्भागवतका ही नित्यकाल श्रवण करना कर्त्तव्य है॥ २॥

---

[१] एक अद्वितीय वास्तव वस्तु।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ३॥

हे भगवत्-प्रीतिरस-रसिक जनो! हे अप्राकृत रसविशेषकी भावनामें चतुर भक्तो! श्रीमद्भागवत वेदरूपी कल्पतरुका परमानन्दरसमय परिपक्व फल है। यह छिलका, गुठली आदि कठिन हेय-अंशसे रहित तरल होनेके कारण पान करने योग्य है। श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे निकलकर शिष्य-प्रशिष्यादिकी परम्पराक्रमसे स्वेच्छासे पृथ्वीपर अखण्ड रूपमें अवतीर्ण इस फलको आपलोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें। स्वर्गके सुखोंकी उपेक्षा करनेवाले परम मुक्तपुरुष भी इस रसमय फल (श्रीमद्भागवत) की उपेक्षा न करके नित्यकाल ही इसका सेवन किया करते हैं॥ ३॥

ॐ नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रः स्वर्गाय-लोकाय सहस्रसममासत॥ ४॥

(सर्वप्रथम शास्त्रके आरम्भमें मङ्गलवाचक प्रणव 'ॐ' तथा प्रणवसे इस वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतका आरम्भ।)

नैमिषारण्य नामक विष्णुतीर्थमें शौनकादि ऋषियोंने अप्राकृत हरिलोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया॥ ४॥

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्॥ ५॥

एकबार प्रातःकालमें शौनकादि ऋषि जब आह्वानीय[१] आदि अग्नियोंमें आहुति प्रदान करके अपने नित्य-नैमित्तिकादि कार्योंसे निवृत्त हो गये, तब उन्होंने महाभागवत श्रीसूतजीको बड़े आदरके साथ यथोचित अति-सम्माननीय आसनपर बिठाकर पूजन किया और उनसे इस प्रकार पूछा—॥ ५॥

---

[१] एक प्रकारकी अग्नि जो विराट् पुरुषका मुख है।

श्रीऋषय ऊचुः—

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत॥ ६॥

ऋषियोंने पूछा—हे श्रीसूत गोस्वामी! आप समस्त पापोंसे सर्वथा मुक्त हैं। आपने महाभारतादि इतिहास ग्रन्थोंके साथ-साथ समस्त पुराणों और जितने भी धर्मशास्त्र हैं, उन सबका अपने गुरुदेवसे अध्ययन किया है। केवल अध्ययन ही किया है, ऐसा नहीं, अपितु आपने उनकी भलीभाँति व्याख्या भी की है॥ ६॥

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः।
अन्ये च मुनयः सूत परावर-विदो विदुः॥ ७॥

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ८॥

और भी, हे सौम्य श्रीसूत! आप परम साधु-स्वभावके हैं। वेदोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वेदव्यास जो कुछ जानते हैं, और दूसरे मुनि सगुण और गुणातीत धाममें अवस्थित ब्रह्मके स्वरूपको जिस रूपमें जानते हैं, आप भी उनकी कृपासे उन इतिहास, पुराणादि समस्त शास्त्रोंको यथार्थ रूपसे जानते हैं। इसका कारण यह है कि जो शिष्य स्निग्ध-स्वभावका होता है, वह गुरुकी प्रीतिका पात्र होता है और ऐसे स्निग्ध शिष्यके निकट ही गुरुजन अति निगूढ़ रहस्यको भी प्रकट कर देते हैं॥ ७-८॥

तत्र तत्राञ्जसायुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि॥ ९॥

हे आयुष्मन् (बहुतकाल तक शास्त्र अध्ययनकारी और विचारशील)! आपने उन सब अध्ययन किये हुए शास्त्रोंसे और गुरुजनोंके उपदेशोंसे कलियुगके जीवोंके एकान्तिक कल्याणका जो सहज साधन निश्चित किया है, उस परम मङ्गलमय साधनको आप हमारे समक्ष कहनेमें समर्थ हैं। अतएव कृपापूर्वक आप उस रहस्यको हमलोगोंको बतलाइये॥ ९॥

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥ १०॥

हे साधु-समाजके भूषण! आप देश, काल और पात्रको जाननेवाले हैं। इस कलियुगमें प्रायः सभी लोग अल्पायुके हैं। यदि कोई दीर्घायु भी हों, तो परमार्थके प्रति उनकी चेष्टा नहीं होती, अर्थात् इस विषयमें वे बड़े आलसी होते हैं। यदि कोई-कोई निरलस भी हों, तो उनकी बुद्धि बड़ी मन्द होती है। यदि कोई सुबुद्धिसे युक्त भी हों, तो उनका भाग्य बड़ा मन्द होता है अर्थात् उन्हें साधुसङ्ग प्राप्त नहीं होता। यदि सौभाग्यवशतः साधुसङ्ग प्राप्त भी हो जाये, तो वे रोगादि त्रितापों और अनेक प्रकारकी बाधाओंसे विचलित रहते हैं। इसलिए साधुसङ्गमें श्रवणके द्वारा वे अपने परम कल्याणके रूपमें जो कुछ भी निश्चित करते हैं, उसका पालन नहीं कर पाते॥ १०॥

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति॥ ११॥

इस जगत्में करने योग्य बहुत-से कर्म हैं तथा श्रवणके योग्य बहुत-से साधन हैं। पुनः उन साधनोंके प्रतिपादक बहुत-से शास्त्र हैं, जिन्हें विभिन्न भागोंमें बाँटा गया है। अतएव हे विद्वन्! इन श्रेयस्कर साधनोंका मुख्य तात्पर्य अर्थात् जिसे आप सर्वश्रेष्ठ और सहज रूपमें पालनीय समझते हैं, वह क्या है? आपने अपनी अति तीक्ष्ण बुद्धिके प्रभावसे विविध शास्त्रोंसे जिन सार वचनोंको संग्रह किया है, समस्त प्राणियोंके मङ्गल और उन सबकी बुद्धिकी सुप्रसन्नता अर्थात् भगवान्के प्रति उन्मुखताके लिए कृपया हमें उन सब सार-वचनोंको बतलाइये॥ ११॥

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया॥ १२॥

(पुनः शौनकादि ऋषि उत्सुकतापूर्वक आशीर्वाद देते हुए कह रहे हैं—)

हे श्रीसूत! आपका मङ्गल हो। सात्त्वतपति अर्थात् शुद्धसत्त्व वैष्णवोंके पालक भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण जिस विशेष उद्देश्यसे श्रीवसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे आविर्भूत हुए थे, उस विषयको आप भलीभाँति जानते हैं॥ १२॥

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥ १३॥

हे सूतजी! जिनका अवतार अथवा आविर्भाव जीवोंके परम कल्याण तथा उनमें भगवत्-प्रेमकी समृद्धिके लिए होता है, हम उन श्रीवासुदेवकी अवतार-लीलाओंको सुनना चाहते हैं। आप कृपापूर्वक हमारे लिए उनका वर्णन कीजिये॥ १३॥

आपन्नः संसृतिः घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥ १४॥

जन्म-मृत्युरूप भयङ्कर संसारमें पतित मानव यदि विवश होकर भी भगवान्के नामका उच्चारण कर लें, तो वे तुरन्त ही इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं। भगवान्के नामोंका ऐसा प्रभाव है कि जिनसे यम और यमदूतोंकी तो बात ही क्या, स्वयं भय (महाकाल) भी भयभीत रहता है॥ १४॥

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रश्रमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धन्यापोऽनुसेवया॥ १५॥

हे सूतजी! भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करनेवाले तथा उनमें निष्ठायुक्त श्रीशुकादि मुनियोंके निकटमात्र जानेसे अर्थात् उनके दर्शनमात्र करनेसे ही वे उसी क्षण ही लोगोंको पापोंसे मुक्त करके पवित्र कर देते हैं, जब कि गङ्गाकी बहुत समय तक साक्षात् सेवा करनेसे अर्थात् दीर्घकाल तक गङ्गाका स्पर्श, उसमें स्नान आदि करनेके बाद ही वह पवित्र करती है॥ १५॥

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न श्रृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥ १६॥

आत्म-शुद्धिका इच्छुक ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसके लिए पावनचरित्र देवताओंके पूज्य उरुक्रम भगवान्‌का कलिकालके कल्मषको हरण करनेवाला पवित्र यशगान श्रवणीय नहीं है। इसलिए सभीको भगवान्‌के यशगानका अवश्य ही श्रवण करना चाहिये॥ १६॥

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥ १७॥

स्वयंरूप अवतारी भगवान् श्रीकृष्ण लीलावशतः ही पुरुषावतारादि कलाएँ धारण करते हैं। नारदादि देवगण उन भगवान्‌की विश्व-सृष्टि आदिरूप महान, अथवा परमानन्द प्रदान करनेवाली जन्मादि लीलाओंका गान करते रहते हैं। उन सब लीलाओंका श्रवण करनेके लिए हम श्रद्धावान बड़े उत्कण्ठित हो रहे हैं, कृपया आप उनका वर्णन कीजिये॥ १७॥

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया॥ १८॥

हे बुद्धिमान सूतजी! भगवान् श्रीकृष्णने अपनी इच्छाशक्ति (चित्-शक्ति योगमाया) के द्वारा स्वच्छन्द रूपसे जगत्‌की स्थिति (पालन) के लिए भू-भार-हरण आदि मायातीत लीलाएँ की हैं, अतः आप हमारे निकट भगवान्‌के अवतारोंकी परम-मङ्गलदायिनी कथाओंका वर्णन कीजिये॥ १८॥

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ १९॥

रसिक श्रोता जब पुण्यकीर्त्ति उरुक्रम श्रीकृष्णके गुण और लीला-कथाओंका श्रवण करते हैं, तब उन्हें पद-पदपर नये-नये रसका आस्वादन होता है। इसीलिए श्रीकृष्णकी उन गुण-लीला-कथाओंका और अधिक आस्वादन प्राप्त करनेकी आशासे हमें तृप्ति

नहीं हो रही है, अर्थात् उन लीला-कथाओंके श्रवणसे हमारा कौतूहल और आग्रह बढ़ता ही जा रहा है॥ १९॥

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः॥ २०॥

भगवान् श्रीश्यामसुन्दर नित्य एवं अप्राकृत वस्तु होकर भी अपने मनुष्यरूपमें आविर्भूत होते हैं और मनुष्योचित लीलाएँ करते हैं, जिन्हें देखकर प्रापञ्चिक लोग श्रीकृष्णको साधारण मनुष्यकी भाँति समझते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण अपने स्वरूपको छिपाकर श्रीबलदेवप्रभुके साथ ऐसी अलौकिक लीलाओंका भी प्रदर्शन करते हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं कर सकता। अतएव आप परब्रह्म श्रीकृष्णकी उन सब अलौकिक कथाओंका हमारे समक्ष वर्णन कीजिये॥ २०॥

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥ २१॥

कलियुगको आया जानकर हम इस पवित्र वैष्णवक्षेत्र नैमिषारण्यमें दीर्घकालीन यज्ञके उपलक्ष्यमें आकर बैठे हुए हैं। अब हमें हरिकथा श्रवण करनेका अवसर प्राप्त हुआ है॥ २१॥

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम्।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम्॥ २२॥

यह कलिकाल मनुष्योंकी बल-बुद्धिका नाश करनेवाला है। इस कलिकालरूप दुसाध्य समुद्रको पार पाना बड़ा ही कठिन है। जिस प्रकार समुद्रको पार करनेके इच्छुक लोगोंको कर्णधारकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस कलिकालरूप समद्रसे पार जानेके इच्छुक हमलोगोंके लिए कर्णधारके रूपमें विधाताने ही आपको भेजा है, इसीलिए हमें आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है॥ २२॥

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः॥ २३॥

हे सूतजी! श्रीकृष्ण कवचके समान धर्मके रक्षक, ब्राह्मणोंके पालक और योगेश्वरोंके द्वारा वन्दित हैं। श्रीकृष्णके द्वारा अपने नित्यधाममें गमन अर्थात् अन्तर्धानरूप अप्रकट लीलामें प्रवेश करनेपर सनातनधर्मने अब किसकी शरण ली है—कृपया इसे बतलाइये? ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथम-स्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने ऋषिप्रश्नो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

सम्बन्ध—श्रीभगवान् अभिधेय—श्रीभक्ति, प्रयोजन—प्रेम

इति सम्प्रश्न-संहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ १॥

शौनकादि ब्राह्मणोंके इन प्रश्नोंको सुनकर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा सूत अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। उन्होंने ऋषियोंके इन सर्व-हितकारी वचनोंका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहने लगे—॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

यं प्रवव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जन्मके साथ ही उपनयनादि संस्कारके अनुष्ठानसे रहित अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको संन्यासके उद्देश्यसे अकेले ही वनमें जाते देखकर विरहकातर श्रीव्यासने 'पुत्र-पुत्र' कहकर उन्हें उच्चस्वरसे पुकारा था। उस समय शुकभावमय (अर्थात् शुकमें तन्मय) वृक्षोंने ही प्रतिध्वनिके छलसे विरहमें कातर पिताको उत्तर दिया था। अपने योगबलके प्रभावसे सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान उन श्रीशुकदेव मुनिको मैं प्रणाम करता हूँ। (जिस प्रकार उन्होंने जड़ वृक्षोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्युत्तर दिया था, उसी प्रकार वे मेरे भी अन्तःकरणमें प्रवेश करके मेरे मुखसे भागवत कहें)॥ २॥

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्म-दीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥ ३॥

विषयोंमें आसक्त जो लोग संसाररूप गहन अज्ञानसे पार जानेके इच्छुक हैं, उन पर कृपा करनेके लिए वेद और उपनिषदादिका सारस्वरूप अनुपम यह श्रीमद्भागवत आत्म-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान है। जिन्होंने समस्त पुराणोंके रहस्यस्वरूप गोपनीय इस श्रीमद्भागवतकी रस-उत्कर्षमयी महिमाको अपने अनुभव द्वारा बोला था, ऐसे भागवतोपदेशक मुनियोंके गुरु व्यासपुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीकी मैं शरण लेता हूँ॥ ३॥

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ ४॥

भगवान्‌के अवतार पुरुषोत्तम नारायण और नर ऋषि इस शास्त्रके दो अधिष्ठातृ देवता हैं, पराविद्या रूपिणी देवी सरस्वती इस शास्त्रकी शक्ति हैं तथा व्यासदेव इस शास्त्रके ऋषि हैं—इन सबको प्रणाम करके ही अन्तःकरणके समस्त विकारोंपर विजय प्राप्त करनेके उपायस्वरूप इस श्रीमद्भागवत महापुराणका पाठ करना चाहिये॥ ४॥

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥ ५॥

हे ऋषियो! आपके द्वारा किये गये सभी प्रश्न उत्तम हैं, अतः वे समस्त भुवनका मङ्गल करनेवाले हैं। आपके ये प्रश्न श्रीकृष्ण विषयक होनेके कारण आत्माको सम्पूर्ण रूपसे प्रसन्न (सन्तुष्ट) करनेवाले हैं॥ ५॥

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥ ६॥

जिस धर्ममें इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णमें लौकिक कामनासे रहित नित्य-निरन्तरमयी श्रवण-कीर्त्तन आदिरूप ऐकान्तिकी स्वाभाविकी और निरपेक्ष भक्ति बनी रहे, वही मनुष्यमात्रके लिए परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म है—ऐसी भक्तिके बलसे ही समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं और आत्मा सुप्रसन्न हो जाती है॥ ६॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥ ७॥

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके प्रति परम-धर्म अर्थात् (प्रेम) भक्तिको उदय करानेकी चेष्टारूप श्रवण-कीर्त्तन आदि (साधन) भक्ति योगके अनुष्ठित होते-होते अनायास ही विषयोंसे वैराग्य हो जाता है तथा अभेद-मोक्षकी कामनासे रहित भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले शुद्ध अद्वयज्ञानका उदय होता है॥ ७॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८॥

मनुष्य द्वारा वर्णाश्रमरूप अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेपर भी यदि उसकी श्रीभगवान्‌की लीला-कथाओंमें रति अर्थात् आसक्तिरूप रुचि उत्पन्न नहीं होती है, तो उसका स्वधर्म पालन निश्चित रूपसे केवलमात्र श्रम ही है। अतः स्वधर्मको छोड़कर श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिरूप परमधर्मका ही पालन करना चाहिये॥ ८॥

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥ ९॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥ १०॥

(नवम और दशम श्लोकमें अन्यान्य धर्मोंके साथ परमधर्मके पार्थक्यका विचार कथित हुआ है—)

कर्मीजन अपने वर्णाश्रमधर्मको ही परमधर्म मानते हैं, किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। उनके मतानुसार धर्मका फल अर्थ है, अर्थका फल काम है और कामका फल जड़-इन्द्रियोंका भोग-विलास है। भोग-विलासमें इन्द्रियोंकी प्रसन्नता तभी तक रहती है, जब तक जीवका औपाधिक नश्वर जीवन रहता है। जब तक तत्त्व-जिज्ञासाका अभाव रहता है, तभी तक जीवकी इन्द्रिय-भोगकी चेष्टा रहती है और इन्द्रियाधिपति भगवान् श्रीहृषीकेशके विषयमें कोई प्रयत्न नहीं होता। धर्मका फल विषयभोग नहीं, बल्कि मोक्ष है। अर्थ

भी केवल धर्मके लिए है, भोगविलासके लिए नहीं। इस जगत्में स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए जो नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान किये जाते हैं, वह भी प्रयोजन नहीं है। भगवत्-जिज्ञासा ही जीवनका एकमात्र मुख्य प्रयोजन है॥ ९-१०॥

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ ११॥

अद्वयज्ञान अर्थात् एक अद्वितीय वास्तव-वस्तुको ही तत्त्ववेत्ताजन परमार्थ कहते हैं। साधकोंके विभिन्न भाव-भेदसे वह एक ही तत्त्व-वस्तु तीन नामोंसे जानी जाती है—ज्ञानीके निकट चिन्मात्र ज्योतिःपुञ्ज ब्रह्मरूपमें, योगियोंके लिए आकारसे युक्त चिन्मय परमात्माके रूपमें तथा भक्तोंके लिए स्वयं-स्वरूप श्रीभगवान्के रूपमें प्रकाशित होती है॥ ११॥

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥ १२॥

श्रीगुरुमुखसे श्रौतपथके[१] सेवनके फलसे अर्थात् शास्त्रोंके श्रवणसे जब सुकृति प्राप्त होती है तथा फिर क्रमशः सम्बन्धज्ञानके उदित होनेपर हृदय विषय-भोगोंसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तब अप्राकृत वस्तुमें सुदृढ़ विश्वाससे युक्त मुनि अर्थात् कीर्त्तनकारी अपने शुद्ध हृदयरूप वृन्दावनमें भक्तिका आश्रय करके भगवान्में ही परमात्मा और ब्रह्मरूप तत्त्व-वस्तुकी उपलब्धि करते हैं॥ १२॥

अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥ १३॥

अतएव हे शौनकादि ऋषियो! मनुष्य द्वारा वर्णभेद अथवा आश्रम भेदसे जिस किसी भी विभागमें स्थित होकर त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के अन्तर्गत स्वधर्मका उत्तम रूपसे अनुष्ठान करनेका चरम फल श्रीहरिको सन्तुष्ट करना ही है। श्रीहरिके सन्तुष्ट होनेसे ही समस्त धर्मोंकी सम्पूर्ण सिद्धि होती है॥ १३॥

---

[१] भजनीय वस्तुका सेवन-धर्म ही श्रौतपथ है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥ १४॥

अतः श्रीहरिको प्रसन्न करनेके लिए सदा-सर्वदा एकान्त चित्तसे कर्म-ज्ञानादिके अनुष्ठानकी चञ्चलताको त्यागकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनाकी गन्धसे भी रहित होकर सर्वप्रथम श्रीगुरुमुखसे भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिकी कथाओंका श्रवण करना चाहिये। तत्पश्चात् उन हरिकथाओंका कीर्त्तन एवं हरि विषयक स्मरण करना चाहिये। ऐसा होनेपर भजनीय वस्तु श्रीहरिका पूजारूपमें नित्य ही अनुशीलन सम्भवपर है॥ १४॥

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म ग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्॥ १५॥

विवेकके अभावमें हरिकथाका श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि न कर जीव अपनेको मायाका भोक्ता मान लेता है। किन्तु जिन भगवान्के नित्य-निरन्तर स्मरणरूप खड्ग (तलवार) से विवेकीगण अहङ्कारजनक फल-भोगमयी समस्त कर्मोंकी गाँठोंका छेदन कर डालते हैं, ऐसे भगवान्की कथामें किसकी रुचि नहीं होगी? ॥ १५॥

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव-कथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ १६॥

हे शौनकादि ऋषियो! विष्णुतीर्थ (भगवत्-भक्तोंकी अधिष्ठित भूमि) की परिक्रमा तथा सद्गुरु और कृष्ण-भक्तोंकी सेवासे ही साधु, गुरु एवं शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा होती है। ऐसे श्रद्धावानजन जब भगवत्-कथाको श्रवण करनेके अभिलाषी होते हैं, तब उनकी भगवान् श्रीवासुदेवमें रुचि उत्पन्न होती है॥ १६॥

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥ १७॥

श्रीकृष्णके नामोंका श्रवण और कीर्त्तन सभीको पवित्र करनेवाला हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी अप्राकृत लीला-कथा अथवा नाम-गुण श्रवण करनेवालोंके हृदयमें अन्तर्यामी—चैत्यगुरुके रूपमें विराजित होकर

हृदयकी पाप-वासनाओंको समूल नष्ट कर डालते हैं, क्योंकि वे साधुओंके एकमात्र नित्य हितैषी हैं॥ १७॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमःश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥ १८॥

नित्य-निरन्तर श्रीमद्भागवतकी श्रवण-कीर्त्तनादिरूप सेवा और भक्त-भागवतकी परिचर्यारूप सेवा करनेसे अशुभ वासनाओंका प्रायः नाश हो जाता है। तब मनुष्योंमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति अचला एवं नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है॥ १८॥

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥ १९॥

जिस समय नैष्ठिकी भक्ति उदित होती है, उस समय रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न भजनमें विघ्न डालनेवाले छः शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—जात-रति[१] भक्तको आवृत नहीं कर पाते, क्योंकि उसका मन शुद्धसत्त्वमें निमग्न होनेके कारण दुःसङ्गसे प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध निर्मल जीवात्मा दुर्गतिको प्राप्त न करके हरिसेवामयी चित्तवृत्तिमें अवस्थित होकर प्रसन्न हो जाता है॥ १९॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥ २०॥

इस प्रकार प्रत्येक क्षण भगवान् श्रीकृष्णका आसक्तिपूर्वक भजन करनेसे साधकका प्रशान्त चित्त आनन्दसे भर जाता है तथा कामादि वासनाओंसे रहित हो जाता है। तदुपरान्त श्रीभगवान्में प्रेममय भक्तियोगका उदय होनेपर साधकको भगवान् और उनकी समस्त शक्तियोंका विज्ञान अर्थात् साक्षात् अनुभूति होती है॥ २०॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ २१॥

---

[१] जिसमें रति उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार आत्माओंके आत्मा भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर उस भगवत्-तत्त्ववेत्ताके हृदयकी गाँठ अर्थात् चित्-जड़ ग्रन्थनरूप अहङ्कार नष्ट हो जाता है, असम्भवादि सन्देहरज्जु छिन्न-भिन्न हो जाती है और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है॥ २१॥

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्म-प्रसादनीम्॥ २२॥

इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति निश्चय ही अति आनन्दपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीवासुदेवकी भक्ति (प्रेममयी सेवा) करते रहते हैं, क्योंकि ऐसी भक्ति आत्माको प्रसन्न करनेवाली है॥ २२॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि-विरिञ्चि-हरेतिसंज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ २३॥

सत्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन तीन गुणोंके अधीश्वररूपमें एक परमपुरुष तुरीय (तीनों गुणोंसे अतीत) श्रीनारायण अपनी माया-शक्तिके द्वारा इस विश्वका पालन, उत्पत्ति और ध्वंस करनेके लिए क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीन नाम धारण करते हैं। इनमेंसे सत्त्वगुणके विग्रह वासुदेव श्रीविष्णु ही भक्तोंका अभिलषित मङ्गल करते हैं, ब्रह्मा और शिव नहीं। अतः अन्य देवताओंकी उपासनाको छोड़कर एकमात्र भगवान् श्रीवासुदेवकी ही उपासना करनी चाहिये॥ २३॥

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २४॥

पृथ्वीका रूपान्तर चेतनाहीन जड़ लकड़ी प्रकाशसे रहित होती है, अतः उससे धुआँ श्रेष्ठ है, क्योंकि वह वस्तुका अल्पमात्र प्रकाशक और कर्मसाधक है। वस्तुके आभासरूप इस धुएँसे अग्नि श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् रूपसे तीनों वेदोंमें उक्त यज्ञ-यागादिके द्वारा सद्गति प्रदाता होनेके कारण क्रियासाधक और वस्तुकी प्रकाशक है।

इसी प्रकार तमोगुण प्रकाशरहित और लयात्मक है। इसकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी निकटतावशतः रजोगुण तमोगुणसे श्रेष्ठ है और उस सत्त्वाभास रजोगुणसे साक्षात् वस्तुका प्रकाशक होनेके कारण सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। ब्रह्मके साक्षात् रूप-गुणके आविर्भावका द्वारस्वरूप होनेके कारण सत्त्वगुण भगवान्‌के दर्शन करानेवाला है। इसी प्रकारसे शिव-ब्रह्मादिमें विष्णु ही श्रेष्ठ हैं॥ २४॥

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥ २५॥

इसीलिए प्राचीन कालमें सत्त्वगुणयुक्त ऋषि केवल विशुद्ध सत्त्वमय मूर्त्ति—अप्राकृत वैकुण्ठाधीश्वर श्रीविष्णुकी उपासना किया करते थे। अतएव इस संसारमें जो सौभाग्यवान पुरुष उन्हीं भजन-परायण मुनियोंका अनुसरण करते हैं, वे भी चरम-कल्याणके पात्र बनते हैं॥ २५॥

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥ २६॥

अतएव अपने अनर्थोंको दूर करनेके इच्छुक लोग असत्-तृष्णाओंसे रहित होकर शान्त भावसे रहते हुए न तो किसीकी निन्दा करते हैं और न ही किसीमें दोष देखते हैं। वे भयङ्कर-आकृतिवाले तमोगुणी-रजोगुणी भूतों, प्रजापतियों और पितरों आदिकी उपासनाका त्याग करके भगवान् श्रीनारायणके अंश-कलावतारोंकी ही आराधना किया करते हैं॥ २६॥

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
पितृभूत-प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सवः॥ २७॥

किन्तु जो रजगुणी और तमोगुणी स्वभावके हैं, वे धन, ऐश्वर्य और सन्तानकी कामनासे पितर, भूत और प्रजापति आदि लौकिक फल-प्रदान करनेवाले अपने-अपने इष्ट देवताओंकी उपासना किया करते हैं। इन लोगोंका स्वभाव भी अपने इष्ट देवताओंसे मिलता-जुलता होता है॥ २७॥

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥ २८॥

चारों वेदोंका तात्पर्य भगवान् वोसुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, वेदोंमें उक्त समस्त यज्ञ यज्ञेश्वर श्रीविष्णुके उद्देश्यसे ही हैं, योगशास्त्र भी योगेश्वरेश्वर श्रीविष्णुके उद्देश्यसे हैं और योगशास्त्रोंमें कही गयी क्रियाओंका तात्पर्य भी श्रीविष्णुभक्ति ही हैं। इसी प्रकार ज्ञान-शास्त्र भी भगवान् श्रीवासुदेवको ही लक्ष्य करते हैं, ज्ञान और वैराग्य (तपस्या) भी हरिभक्तिके उद्देश्यसे ही हैं। दान-व्रतादि विषयक धर्मशास्त्रोंका तात्पर्य भी हरिभक्तिमें पर्यवसित होता है। अतएव स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिरूप अनित्य सुखोंका परित्याग करके हरिभक्तिरूप नित्यानन्द ही जीवनका परमलक्ष्य होना चाहिये॥ २८॥

स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥ २९॥

ऐसे भगवान् स्वयं निर्गुण हैं, किन्तु उनकी बहिरङ्गा-शक्ति त्रिगुणमयी है। वे भगवान् सृष्टिके प्रारम्भमें कारणोदकशायी प्रथम पुरुषके रूपमें प्रथमतः कार्य-कारण रूपवाली अपनी माया-शक्तिके प्रति ईक्षणकर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं॥ २९॥

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः॥ ३०॥

भगवान् श्रीवासुदेव अपनी चित्-शक्तिके प्रभावसे परम स्वतन्त्र अधीश्वर हैं। यह वित्रितापूर्ण जड़ आकाशादि प्रपञ्चमय विश्व उनकी बहिरङ्गा माया-शक्तिसे उत्पन्न है। पुनः इस विश्वमें अन्तर्यामी रूपसे अनुप्रविष्ट होनेके कारण वे भगवान् सगुणके समान प्रकाशित होते हैं, किन्तु वास्तवमें वे ब्रह्माण्डके अन्तर्गत गुणातीत द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी विष्णु हैं॥ ३०॥

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥ ३१॥

अग्निका उत्पत्तिस्थान काष्ठ है तथा उसमें अग्नि व्याप्त रहती है, किन्तु प्रकाशके तारतम्यसे वह एक ही अग्नि विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होती है। उसी प्रकार तृतीय पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे रहकर अनेक प्रकारकी विचित्र विभूतियों (योनियों) के रूपमें प्रकाशित होते हैं॥ ३१॥

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान्॥ ३२॥

वे विश्वात्मा लीलामय श्रीहरि विविध व्यूहोंका विस्तार करके पञ्चभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय और मनरूप त्रिगुणमय भावोंसे अपने द्वारा बनायी हुई देव-नर-तिर्यक् आदि योनियोंमें प्रविष्ट होकर जीवोंको उन-उन योनियोंके अनुरूप विषयोंका लीलाक्रमसे भोग कराते हैं॥ ३२॥

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ्नरादिषु॥ ३३॥

सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करनेवाले भगवान् श्रीविष्णुने देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियोंमें जो-जो लीलावतार प्रकट किये हैं, वे स्वयं उनमें अनुरक्त होकर सत्त्वगुणके द्वारा ही प्राणियोंका पालन करते हैं॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने श्रीभगवदनुभाव-वर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीभगवान्के अवतारोंकी कथा

श्रीसूत उवाच—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामी कहने लगे—सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् श्रीहरिने लोकोंके निर्माणकी इच्छा की। तब सर्वप्रथम उन्होंने कारणार्णवशायी (कारण समुद्रमें शयनकारी) रूप प्रथम पुरुष अथवा विराट नामक रूप धारण किया। भगवान्के इस रूपमें महत्-तत्त्वसे निष्पन्न मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत—ये सोलह पदार्थ अंश रूपमें विद्यमान थे॥ १॥

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजांपतिः॥ २॥

तत्पश्चात् श्रीहरिने द्वितीय पुरुषावतारके रूपमें गर्भोदकमें (ब्रह्माण्डके भीतर भरे जलपर) शयन करते हुए योगनिद्राका विस्तार किया। तदनन्तर उनके नाभि-सरोवरसे उत्पन्न कमलसे प्रजापतिनाथ ब्रह्माने जन्म-ग्रहण किया॥ २॥

यस्यावयव-संस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥ ३॥

कारणोदकशायी (कारण समुद्रमें शयनकारी) श्रीहरिके उस विराट् रूपके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पाताल आदि समस्त लोकोंसे युक्त प्रपञ्चकी कल्पना की गयी है। उन भगवान् श्रीहरिका स्वरूप रजोगुण और तमोगुणसे रहित सत्त्वमय है, अतः वही रूप अत्यन्त अप्राकृत और विशुद्ध है॥ ३॥

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरु-भुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्ध-श्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥

योगीजन अपने असीम विज्ञान-चक्षुरूप दिव्यदृष्टिसे श्रीहरिके उस परम चमत्कारमय पुरुष रूपको देखते हैं, जिनके असंख्य सिर, कान, नेत्र, नासिकाएँ, भुजाएँ, मुख और चरण हैं। भगवान्‌का यह रूप असंख्य मुकुट, सुन्दर वस्त्र एवं कुण्डलोंसे परिशोभित रहता है॥ ४॥

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥ ५॥

वह कारणोदकशायी विष्णु ही लीलाओंकी समाप्तिपर समस्त अवतारोंकी प्रवेश-स्थली हैं। वे अक्षय तथा समस्त अवतारोंके उद्‌गमस्थान[१] हैं। इसी रूपके अंश ब्रह्मा तथा ब्रह्माके अंश मरीचि आदि ऋषिगण—देव, तिर्यक, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं॥ ५॥

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥ ६॥

उन्हीं भगवान् श्रीविष्णुने पहले कौमारसर्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके रूपमें अवतीर्ण होकर अत्यन्त कठोर और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था॥ ६॥

द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः॥ ७॥

---

[१] संक्षेपतः भगवान्‌के अवतारोंकी इस प्रकारसे गणना की जाती है—(१) पुरुषावतार—तीन प्रकारके हैं—महासङ्कर्षणसे कारणार्णव, गर्भोदक और क्षीरोदकशायी, (२) गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, (३) लीलावतार—मत्स्यादि, (४) मन्वन्तरावतार चौदह हैं—यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, बृहद्भानु, (५) युगावतार चार प्रकारके हैं—शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत, (६) शक्त्यावेशावतार—पृथु, व्यास, परशुराम, बुद्ध आदि।

इस विश्वके कल्याणके लिए यज्ञेश्वर श्रीविष्णुने रसातलमें गयी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेकी इच्छासे द्वितीय अवतारमें श्रीवराहरूप धारण किया था॥ ७॥

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥ ८॥

इन भगवान् श्रीविष्णुने ही तृतीय अवतारमें ऋषियोंमें देवर्षि श्रीनारदके रूपमें अवतरित होकर सात्त्वत तन्त्र—पञ्चरात्रकी व्याख्या की थी। उस पञ्चरात्रके अनुसार वर्णाश्रमधर्म आदिका अनुष्ठान करनेसे कर्मबन्धनका नाश होता है॥ ८॥

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः॥ ९॥

चतुर्थ अवतारके रूपमें इन्हीं भगवान्ने धर्मकी कला अर्थात् पत्नी—मूर्त्तिके गर्भसे नर-नारायण नामक दो ऋषियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। इस अवतारमें उन्होंने आत्माको प्रसन्न करनेवाली अत्यन्त कठोर तपस्याका आचरण किया था॥ ९॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ १०॥

पञ्चम अवतारमें वे सिद्धोंमें श्रेष्ठ कपिल नामक ऋषिके रूपमें प्रकट हुए थे। तब उन्होंने कालके प्रभावसे लुप्तप्रायः और तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले सांख्य दर्शनका आसुरि नामक ब्राह्मणको उपदेश दिया था॥ १०॥

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥ ११॥

छठे अवतारमें वे महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाकी प्रार्थनासे दत्तात्रेय नामक उनके पुत्रके रूपमें प्रकट हुए। इस अवतारमें उन्होंने अलर्क नामक ब्राह्मण और प्रह्लादादि राजाओंको आत्म-विद्याका उपदेश दिया था॥ ११॥

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम्॥ १२॥

तत्पश्चात् सप्तम अवतारमें वे भगवान् ही प्रजापति रुचिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे यज्ञरूपमें प्रकट हुए थे। इन्हीं यज्ञरूपी श्रीहरिने अपने पुत्र याम आदि प्रमुख देवताओंके साथ स्वायम्भुव नामक मन्वन्तरकी रक्षा की थी॥ १२॥

अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥ १३॥

भगवान् श्रीविष्णुने आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऋषभ नामसे आठवाँ अवतार ग्रहण किया था। इस अवतारमें उन्होंने धीरजनोंको सभी आश्रमोंके लिए वन्दनीय परमहंसोंका मार्ग दिखलाया था॥ १३॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः॥ १४॥

हे शौनकादि विप्रो! मुनियोंके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर उन्हीं भगवान्‌ने अपने नवम अवतारमें राजा पृथुका रूप धारण किया था। इस अवतारमें उन्होंने पृथ्वीसे औषधियोंके साथ समस्त वस्तुओंका दोहन किया था, इसीलिए यह अवतार परम मनोहर हो गया था॥ १४॥

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद् वैवस्वतं मनुम्॥ १५॥

चाक्षुष-मन्वन्तरमें जब समस्त सागरोंके उफननेके कारण सारी त्रिलोकी उसमें डूब रही थी, तब भगवान्‌ने मत्स्यावतारके रूपमें दसवाँ अवतार ग्रहण किया था और पृथ्वीरूपी नौकाके द्वारा अगले मन्वन्तरके अधिपति सूर्यपुत्र वैवस्वत मनुकी रक्षा की थी॥ १५॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥ १६॥

जिस समय देवता और दानव समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय उनके मन्थनके लिए भगवान् श्रीहरिने ग्यारहवें अवतारके रूपमें

कच्छप रूप स्वीकार किया और मन्दर नामक पर्वतको अपनी पीठपर धारण किया॥ १६॥

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।
अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥ १७॥

वे भगवान् श्रीहरि ही बारहवें अवतारमें धन्वन्तरि-रूपको धारणकर अमृतके कलशको हाथमें उठाये हुए समुद्रसे प्रकट हुए थे। तेरहवें अवतारमें भगवान्ने मोहिनी रूपसे असुरोंको मोहितकर उनकी वञ्चना करके देवताओंको अमृत पान कराया था॥ १७॥

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद् दैत्येन्द्रमूर्जितम्।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद् यथा॥ १८॥

चौदहवें अवतारमें भगवान्ने श्रीनृसिंह रूप धारण करके भीषण मदमें मत्त और महाबलवान असुरराज हिरण्यकशिपुको अपनी जंघापर रखकर उसके वक्षःस्थलको अपने नखोंसे अनायास ही इस प्रकार चीर डाला था, जिस प्रकार चटाई बनानेवाला सींकको चीर डालता है॥ १८॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः।
पादत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम्॥ १९॥

भगवान् श्रीहरि दैत्यराज बलिकी छलनाकर देवताओंको स्वर्गका राज्य प्रदान करना चाहते थे। तब वे पन्द्रहवें अवतारमें वामनरूप धारणकर बलिकी यज्ञशालामें पहुँचे। वे बलिसे त्रिलोकीका राज्य चाहते थे, किन्तु उन्होंने छलपूर्वक केवल तीनपग भूमि ही माँगी॥ १९॥

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्॥ २०॥

भगवान् विष्णुने सोलहवें अवतारमें परशुरामके रूपमें अवतीर्ण होकर क्रोधके कारण पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था, क्योंकि ये क्षत्रिय राजा देवता और ब्राह्मणोंसे बहुत द्रोह करने लगे थे॥ २०॥

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥ २१॥

इसके बाद सत्रहवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि पराशर द्वारा सत्यवतीके गर्भसे कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासके रूपमें अवतरित हुए। उस समय मनुष्यकी अल्प धारणा-शक्ति और बुद्धिको देखकर मानव-कल्याणके लिए उन्होंने वेद-वृक्षका विभिन्न शाखाओंमें विस्तार किया॥ २१॥

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥ २२॥

अट्ठारहवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि देवताओंका कार्य सम्पूर्ण करनेकी इच्छासे महाराज दशरथके पुत्र नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतरित हुए और उन्होंने सेतु-बन्धन, रावण-संहार तथा माया-सीताका उद्धार आदि बहुत-से वीरतापूर्ण कार्यों (लीलाओं) को किया॥ २२॥

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्॥ २३॥

उन्नीसवें तथा बीसवें अवतारोंमें भगवान् श्रीहरिने यदुकुलमें श्रीबलराम और श्रीकृष्ण—ये दो नाम ग्रहण करके पृथ्वीका भार उतारा था॥ २३॥

ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ २४॥

इसके बाद कलियुगके आनेपर देवताओंके विद्वेषी तामसिक लोगोंको सम्मोहित करनेके लिए इक्कीसवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि अञ्जन (अजिन) के पुत्रके रूपमें गयाप्रदेश (बिहार) में बुद्ध नामसे अवतीर्ण होंगे॥ २४॥

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः॥ २५॥

इसके बाद युग-सन्धिका काल उपस्थित होगा अर्थात् कलिका अन्त होगा, उस समय राजा लोग प्रायः दस्यु हो जायेंगे। तब जगत्के

रक्षक भगवान् श्रीविष्णु बाइसवें अवतारमें कल्कि नामसे प्रख्यात होकर विष्णुयश नामक ब्राह्मणके घरमें अवतीर्ण होंगे॥ २५॥

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ २६॥

हे शौनकादि ऋषियो! जिस प्रकार अक्षय-सरोवरसे हजारों छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्व (शुद्धसत्त्व चित् और आनन्दके) सागर श्रीहरिसे असंख्य अवतार प्रकट होते हैं॥ [१]२६॥

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥ २७॥

प्रजापतिगण, महान शक्तिशाली मुनि, देवता, मनु तथा मनुपुत्र मानव—सभी श्रीहरिके अंश हैं, उनकी विभूति हैं॥ २७॥

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ २८॥

पहले कहे गये समस्त अवतारोंमेंसे कोई-कोई पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिके अंशावतार, कोई कलावतार और कोई शक्त्यावेश अवतार हैं। प्रत्येक युगमें जब भी जगत् असुरोंसे पीड़ित होता है, तब असुरोंके उपद्रवसे जगत्की रक्षा करनेके लिए ये अवतार हुआ करते हैं। किन्तु, ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तो साक्षात् स्वयं-भगवान् (अवतारी) हैं॥ २८॥

---

[१] कलियुगमें भगवान् अवतार-मूर्त्ति प्रकाशित न करके स्वयं अवतारी रूपमें अपने रूपको छिपाकर रखते हैं, इसीलिए उनका एक नाम 'त्रियुगी' है। तीन युगोंमें ही युगावतार प्रकाशित होते हैं, किन्तु कलियुगमें वे आच्छादित रहते हैं। यह आच्छादन श्रीगौराङ्गदेवमें ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाकी कान्ति एवं भावके द्वारा हुआ है। भगवान्के ऐश्वर्य प्रकाशक अवतार हैं—नृसिंह, परशुराम, कल्कि और पुरुष। धर्मके प्रकाशक अवतार हैं—नारद, व्यास, वराह और बुद्ध। श्री अर्थात् सौन्दर्य प्रधान अवतार हैं—राम, धन्वन्तरि, यज्ञ, पृथु, बलराम, मोहिनी और वामन। ज्ञान प्रदर्शक अवतार हैं—दत्तात्रेय, मत्स्य, चतुःसन और कपिल। वैराग्य प्रदर्शक अवतार हैं—नारायण, नर, कूर्म और ऋषभ। स्वयं श्रीकृष्ण षडैश्वर्यसे परिपूर्ण और माधुर्यकी महानिधि हैं एवं उनमें ही समस्त अवतार और शक्तियाँ निहित हैं।

जन्मगुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतो नरः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते॥ २९॥

भगवान् श्रीहरिके अवतारोंकी यह कथा अति रहस्यमय है। जो मनुष्य पवित्र होकर एकाग्रचित्तसे प्रातः एवं सन्ध्या कालमें भक्तिपूर्वक इसका पाठ करता है, वह इस क्लेशजनक संसारसे विमुक्त हो जाता है॥ २९॥

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥ ३०॥

प्राकृत रूपसे रहित अर्थात् अप्राकृतरूप, एकमात्र चिन्मय रसविग्रह परमात्माका यह प्राकृत-स्थूल जगदाकार रूप अनित्य है। इस स्थूलरूप महत्, अहङ्कार, पञ्च-तन्मात्रादि रूप बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न गुणों द्वारा जीवकी देह निर्मित हुई है। मायाधीश भगवान् गुणोंसे उत्पन्न जगत्में आबद्ध नहीं होते॥ ३०॥

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥ ३१॥

जिस प्रकार अल्पबुद्धिवाले मूढ़ व्यक्ति आकाशको मेघसे ढका हुआ तथा वायुको धूलसे मलिन आरोप करते हैं, जब कि वास्तवमें मेघ वायु द्वारा चालित होते हैं और धूसरपना (मलिनता) धूलमें होता है, उसी प्रकार मूढ़ विवर्त्तवादी[१], सबके द्रष्टा सच्चिदानन्दरूप भगवान्में दृश्य अर्थात् जड़-इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले धर्मसे युक्त अचित् शरीरका आरोप करते हैं॥ ३१॥

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत् पुनर्भवः॥ ३२॥

इस प्राकृत-जड़ विराट रूपसे पृथक् जो अव्यक्त सूक्ष्मरूप है, वह अव्यूढ़ अर्थात् हस्त-पदादि रूपमें अपरिणत मायिक गुणों द्वारा रचित आकार विशेषसे रहित है तथा उसे पहले न तो कभी देखा गया

[१] विवर्त्त—मूल वस्तुमें ही अन्य वस्तुके होनेके भ्रमको विवर्त कहते हैं, जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम।

है और न ही उसके विषयमें कभी सुना गया है। इस प्रकार वह सूक्ष्मरूप पुनर्जन्म ग्रहण करनेयोग्य जीवकी उपाधि—सूक्ष्म लिङ्गदेह रूपमें कल्पित होता है॥ ३२॥

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्म-दर्शनम्॥ ३३॥

उपर्युक्त सूक्ष्म और स्थूल शरीर अविद्याके कारण ही आत्मा (जीव) में आरोपित होते हैं। जिस अवस्थामें आत्म-स्वरूपके सम्पूर्ण ज्ञानके प्रभावसे जीवका यह अविद्या द्वारा रचित आरोप दूर हो जाता है, उसी समय आत्मा (जीव) का चिदानन्दमय ब्रह्मसे साक्षात्कार होता है॥ ३३॥

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥ ३४॥

तत्त्ववेत्ता जन इस बातसे अवगत हैं कि जब श्रीभगवान्‌की कृपासे उनकी दैवी-अविद्यारूपी माया दूर हो जाती है, तब जीव स्थूल-सूक्ष्म उपाधिसे रहित होकर श्रीभगवान्‌में मतियुक्त अपने परमानन्द स्वरूपमें विराजित हो जाता है। अपनी ऐसी महिमामें स्थित जीव ही पूज्य होते हैं, अन्यथा अपनी महिमासे भ्रष्ट होनेपर वे निन्दनीय हो जाते हैं॥ ३४॥

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्त्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥ ३५॥

श्रीभगवान्‌की आविर्भाव आदि लीलाएँ जीवके जन्मादिकी भाँति माया-कल्पित नहीं, अपितु मायासे अतीत हैं। यद्यपि वेदोंमें उन अन्तर्यामी श्रीविष्णुके दिव्य जन्म और कर्मको अति रहस्यपूर्ण और परम उपादेय रूपमें भलीभाँति आवृत करके स्थापित किया गया है, तथापि रसिकजन निश्चय ही उन अलौकिक लीलाओंका कीर्त्तन करते हैं॥ ३५॥

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।

भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥ ३६ ॥

भगवान् श्रीविष्णुकी लीला अलौकिक और अमोघ है। वे लीलावशतः ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं ध्वंस करते हैं। वे समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान रहते हैं तथा छह इन्द्रियों (ज्ञान-इन्द्रियों और मन) के विषयोंको गन्ध-ग्रहण करनेकी भाँति स्पर्श भी करते हैं। किन्तु छह इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् हृषीकेश परम स्वतन्त्र होनेके कारण इन सभी कार्योंमें आसक्त नहीं होते॥ ३६ ॥

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥ ३७ ॥

जैसे अभिनय-कलाको न जाननेवाला व्यक्ति अभिनेता अथवा जादूगरके हाथादि-सञ्चालन द्वारा किये गये सङ्केत और वचनोंसे किये गये नाट्य-कौशलको समझ नहीं पाता, उसी प्रकार मूर्खजन प्रपञ्चमें अवतीर्ण भगवान्के नाम-रूपसे युक्त लीलाओंको अपने मन एवं वाक्योंके संयोगसे बुद्धि और कुतर्कके द्वारा नहीं समझ सकते॥ ३७ ॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥ ३८ ॥

अलौकिक-लीलामय परमेश्वर चक्रपाणिकी लीला, शक्ति और पराक्रम अनन्त हैं। जो भक्त निष्कपट होकर अनुकूल भावसे नित्य-निरन्तर वैकुण्ठ-सेवाकी[१] वृत्तिसे भगवान्के चरणकमलोंका सेवन करते हैं, वे ही सबके विधाता भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जान पाते हैं॥ ३८ ॥

---

[१] विषयके प्रति आश्रयकी चेष्टा या शुद्ध सेवा प्रवृत्ति।

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त्त उग्रः॥ ३९॥

हे भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले शौनकादि महात्माओ! आप इस जगत्‌में अत्यन्त सौभाग्यशाली और धन्य हैं, क्योंकि आपने समग्र भुवनके पति भगवान् श्रीवासुदेवके विषयमें कौतूहलपूर्वक इस प्रकारके प्रश्न करके अपनी ऐकान्तिक मनोवृत्तिका परिचय दिया है। जिनका भगवान्‌में इस प्रकारका आत्मभाव और निश्चल प्रेम होता है, उन्हें पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप संसारके भयङ्कर चक्रसे छुटकारा मिल जाता है॥ ३९॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
उत्तमःश्लोक-चरितं चकार भगवानृषिः।
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्॥ ४०॥

श्रीमद्भागवत पुराण भगवान् श्रीकृष्णके तुल्य अर्थात् उनका प्रतिनिधि है। भगवान् वेदव्यासने शान्तिप्रद, कल्याण-साधक, भगवत्-लीला-कथाओंसे परिपूर्ण तथा वेदोंके समान इस श्रीमद्भागवत नामक महापुराणकी जगत्‌के परम-मङ्गलके लिए रचना की है॥ ४०॥

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतांवरम्।
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥ ४१॥

यह श्रीमद्भागवत नामक शास्त्र दधि-मन्थनसे उत्पन्न नवनीतके समान ही समस्त वेदादि शास्त्रोंके मन्थनकी सार-वस्तु है। श्रीव्यासदेवने अत्यन्त स्नेहसे धीर व्यक्तियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र श्रीशुकदेवको इसका अध्ययन कराया था और वेदादिरूप दधि-मन्थनके अपने श्रमको सार्थक किया था॥ ४१॥

स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः॥ ४२॥

पुनः इसी श्रीमद्भागवत पुराणका उन आत्मज्ञानी–शिरोमणि श्रीशुकदेव गोस्वामीने गङ्गाके तटपर परम वैराग्यके कारण आमरण अनशनपर बैठे तथा महर्षियोंसे घिरे हुए महाराज परीक्षित्को श्रवण कराया था॥ ४२॥

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेषः पुराणार्कोऽधुनोदितः॥ ४३॥

धर्मके संस्थापक भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपनी लीलाको सम्वरण करके धर्म–ज्ञानादि षडैश्वर्योंके साथ अपने धाममें गमन करनेपर इस कलिकालमें अज्ञानके अन्धकारसे अन्धे हो रहे लोगोंको दिव्य–ज्ञानका आलोक प्रदान करनेके लिए इस श्रीमद्भागवतरूप पुराण सूर्यका उदय हुआ है। श्रीकृष्णरूप सूर्यके अस्त होनेपर श्रीमद्भागवतरूप पुराणसूर्य उदित हुए हैं॥ ४३॥

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः।
अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति॥ ४४॥

हे शौनकादि ब्राह्मणो! उस समय परीक्षित्की सभामें उपस्थित रहकर मैंने भी महा–तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ श्रीशुकदेवके मुखसे कीर्त्तित इस कथाको उनकी कृपाके प्रभावसे सुना था। अपने गुरुदेव श्रीशुकदेव गोस्वामीके निकट मैंने जिस रूपमें इस श्रीमद्भागवत कथाको सुना और जिस रूपमें इसका अनुभव किया, उसीके अनुसार ही मैं इसे आपको सुनाऊँगा॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने जन्मगुह्यं नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

वक्ता एवं श्रोताकी श्रेष्ठता, श्रीव्यासदेवका असन्तोष

श्रीव्यास उवाच—

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीव्यासदेवने कहा—श्रीसूतके इस प्रकार कहनेपर मुनियोंने उनका बहुत आदर किया। दीर्घकालीन सत्रमें होनेवाले यज्ञ कार्योंमें दीक्षित, वयोवृद्ध, कुलपति, वेदाभ्यास ज्ञानमें प्रवीण और ऋग्वेदी शौनक मुनि ही समस्त मुनियोंके द्वारा प्रश्न-कर्त्ताके रूपमें नियुक्त हुए थे। तब श्रीशौनकमुनिने श्रीसूत गोस्वामीकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १॥

श्रीशौनक उवाच—

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः॥ २॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे श्रीसूत! हे परम भाग्यवान्! आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। अतएव भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने जो भगवत्-सम्बन्धित पवित्र और पुण्यमयी कथाएँ कही हैं, कृपया आप उन सब कथाओंको हमें सुनाइये॥ २॥

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः॥ ३॥

हे सूतजी! यह कथाएँ किस युगमें तथा किस स्थानपर हुई? महाभारतादि धर्मशास्त्रोंकी रचना करनेपर भी कृष्णद्वैपायन मुनिवरने किस कारणसे इस पारमहंसी संहिताका आरम्भ किया? तथा इस भागवती संहिताकी रचना करनेकी प्रेरणा उन्हें किससे प्राप्त हुई?॥ ३॥

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ़ इवेयते॥ ४॥

श्रीव्यासदेवके पुत्र श्रीशुकदेव महायोगी (भक्तियोगी) तथा ब्रह्मदर्शी होनेके कारण समदर्शी थे। वे मायारूपी निद्रा (अविद्या) से जगे हुए और परब्रह्म श्रीकृष्णमें एकान्तिक रूपसे अनुरक्त परमहंस थे। जो उनके परिचयसे अनजान थे, वे ही उन्हें पागल अथवा जड़के समान समझते थे॥ ४॥

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥ ५॥

जब श्रीशुकदेव गोस्वामीने नग्नावस्थामें ही संन्यासके लिए वनकी ओर गमन किया, तब उन्हें देखकर जल-क्रीड़ामें रत अप्सराओंने अपने अङ्गोंको वस्त्रोंसे नहीं ढका, परन्तु श्रीशुकदेवजीका पीछा करते हुए वस्त्रोंसे आवृत उनके पिता श्रीव्यासदेवको देखकर उन स्त्रियोंने लज्जासे अपने वस्त्र पहन लिये। इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर जब श्रीव्यासदेवने उन स्त्रियोंसे इसका कारण पूछा, तब उन अप्सराओंने उत्तर दिया—"यह स्त्री है, यह पुरुष है—इस प्रकारका भेद-ज्ञान आपमें विद्यमान है, किन्तु आपके पुत्रमें ऐसा कोई भेद-ज्ञान नहीं है। आपका पुत्र विविक्त अर्थात् पवित्र दृष्टिसे युक्त है। हम स्त्रियाँ किसीकी आँखोंसे ही उसके हृदयके समस्त भावोंको जाननेमें समर्थ हैं॥"५॥

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।
उन्मत्त-मूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये॥ ६॥

इसी अवस्थामें श्रीशुकदेव गोस्वामीने पहले कुरु और जाङ्गल प्रदेशमें भ्रमण किया था। इसके बाद वे हस्तिनापुरमें कभी पागलकी भाँति, तो कभी गूँगे और कभी मूढ़की भाँति विचरण किया करते थे। (हे सूतजी!) उस समय हस्तिनापुरके वासियोंने उन्हें किस प्रकार पहचाना? ॥ ६॥

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः॥ ७॥

हे तात! ऐसे भेद-ज्ञानसे रहित महामुनि श्रीशुकदेवके साथ पाण्डव-वंशके राजर्षि परीक्षित्का कैसा वार्त्तालाप हुआ, जिसके फलस्वरूप यह भागवती संहिता प्रकट हुई॥ ७॥

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥ ८॥

परम भाग्यवान श्रीशुकदेव गोस्वामी गृहस्थोंके घरके द्वारपर भिक्षाके छलसे उतनी ही देर रुकते थे, जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है। उनके द्वारा भिक्षा करनेका एकमात्र उद्देश्य था—गृहस्थोंके घरोंको पवित्र-तीर्थ स्वरूप बनाना॥ ८॥

अभिमन्यु-सुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥ ९॥

हे सूत गोस्वामी! हमने सुना है कि लोग अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित्को महाभागवत और भगवान्का बड़ा प्रेमी मानते थे। कृपया उन राजा परीक्षित्के अत्यन्त आश्चर्यमय जन्म और कर्मोंका भी वर्णन कीजिये॥ ९॥

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्द्धनः।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम्॥ १०॥

राजाधिराज परीक्षित् पाण्डव-वंशके गौरव थे, अतः वे किस कारणसे युधिष्ठिरादिकी राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके गङ्गाके तटपर मृत्यु तक अनशन-व्रतका सङ्कल्प करके बैठ गये?॥ १०॥

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः॥ ११॥

हे सूत गोस्वामी! विपक्षी राजा अपने मङ्गलके लिए धन-रत्नादि उपहार सहित जिनकी चरण रखनेवाली चौकीमें प्रणाम किया करते थे, ऐसे महावीर राजा परीक्षित्ने यौवनकालमें ही अपने प्राणोंके

साथ-साथ उस दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीका किस कारणसे परित्याग करनेकी इच्छा की? ॥ ११ ॥

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमःश्लोकपरायणाः जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति भगवान्‌में अनुरक्त होते हैं, वे संसारके परम कल्याण और सुख-समृद्धिके लिए ही जीवन धारण करते हैं। उनकी देह दूसरोंके उपकारके लिए होती है, अपने स्वार्थके लिए नहीं। अतः ऐसी राजदेह धारण करनेवाले महाराज परीक्षित्‌ने विरक्त होकर प्रजाके आश्रय-स्वरूप अपनी देहका किस कारणसे परित्याग किया था? ॥ १२ ॥

तत् सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥ १३ ॥

हम यह जानते हैं कि आप वेद-शास्त्रोंके कुछेक कर्मकाण्ड प्रतिपादक विषयोंके अतिरिक्त अन्यान्य समस्त श्रेष्ठ शास्त्रोंमें पारङ्गत हैं। अतएव हमने इस समय आपसे जो कुछ भी पूछा है, कृपया वह सब हमें बतलाइये ॥ १३ ॥

श्रीसूत उवाच—

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये।
जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलया हरेः ॥ १४ ॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—वैवस्वत मन्वन्तरकी इस वर्त्तमान चतुर्युगीके तृतीय युगके परिवर्तनके समय द्वापरके समुपस्थित होनेपर महर्षि पराशरके द्वारा उपरिचर-वसुकी कन्या सत्यवतीके गर्भसे भगवान् श्रीविष्णुके अंशके अंश (कलावतार) महाज्ञानी कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासने जन्म-ग्रहण किया था ॥ १४ ॥

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥ १५ ॥

पराशर-पुत्र श्रीव्यासदेव एक दिन सूर्योदय होनेपर सरस्वती नदीके जलमें स्नानादि क्रिया समापन करके पवित्र होकर बदरिकाश्रममें किसी एक एकान्त स्थानमें अकेले बैठे हुए थे॥ १५॥

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥ १६॥
भौतिकानाञ्च भावानां शक्तिह्रासञ्च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥ १७॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद् दध्यौ हितममोघदृक्॥ १८॥

महर्षि श्रीव्यासदेव भूत-भविष्यको जाननेवाले तथा समस्त प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न थे। उन्होंने अपनी दिव्य-दृष्टिसे देखा कि प्रत्येक युगमें कालके प्रभावसे पृथ्वीपर युगधर्ममें अव्यवस्था उपस्थित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पञ्च-भौतिक वस्तुओंकी शक्ति अर्थात् देहादिके सामर्थ्यका भी ह्रास होता रहता है। ऐसे समयमें मनुष्य श्रद्धाहीन, धैर्यहीन, मन्दमति, अल्पायु और भाग्यरहित हो जाते हैं। वे विचार करने लगे कि ऐसी परिस्थितिमें सभी वर्णों एवं सभी आश्रमोंका कल्याण कैसे हो?॥ १६-१८॥

चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥ १९॥

ऋक् आदि चारों वेदोंके होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विक (पुरोहित) हैं। इन पुरोहितोंके द्वारा अनुष्ठित होनेवाले वैदिक यज्ञादि चातुर्होत्र कर्म लोगोंको शुद्ध करनेवाले हैं—यह जानकर श्रीवेदव्यासने निरन्तर यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञोंका विस्तार करनेके लिए एक ही यजुःवेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया॥ १९॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहास-पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥ २०॥

तब श्रीवेदव्यासने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेदोंको पृथक् किया। इतिहास और पुराण पञ्चम वेदके नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २०॥

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन ऐवैको निष्णातो यजुषामुतः॥ २१॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहास-पुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥ २२॥

इन चारों वेदोंमें एकमात्र पैलऋषि ही ऋग्वेदके वेत्ता, स्तवगान करनेवाले जैमिनी कवि सामवेदके विद्वान, वैशम्पायन ऋषि यजुर्वेदमें प्रवीण, अथर्व-वेदोक्त अभिचार-क्रियादिमें प्रवृत्तिवशतः निष्ठुर-स्वभाववाले सुमन्तु मुनि अथर्ववेदमें तथा मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास एवं पुराणोंके स्नातक थे॥ २१-२२॥

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥ २३॥

पूर्वोक्त पैलादि ऋषियोंने जिन-जिन वेदोंमें प्रवीणता प्राप्त की थी, उन्होंने अपनी-अपनी उसी शाखाको और भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। ये विभक्त वेद पुनः शिष्य-प्रशिष्यकी परम्पराक्रमसे बहुत-सी शाखाओंमें विभाजित हो गये॥ २३॥

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥ २४॥

ये विभक्त वेद भी केवल मेधावी व्यक्तियोंके ही बोधगम्य थे। अतः अल्पबुद्धि और कम स्मरणशक्तिवाले लोग भी इन्हें समझ सकें—ऐसा विचार करके दीनवत्सल कृपालु भगवान् श्रीवेदव्यासने इन वेदोंका उसी प्रकार विभाग किया॥ २४॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेयः एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ २५॥

स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु अर्थात् सावित्री-पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंका वेदत्रयी (ऋक्, यजु और साम) के श्रवणमें अधिकार नहीं है। अतएव इस संसारमें वेदोक्त शुभ-कर्मोंसे अनजान लोगोंका मङ्गल किस प्रकार हो—यह सोचकर महर्षि श्रीवेदव्यासने कृपापूर्वक महाभारत नामक इतिहासकी रचना की॥ २५॥

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः॥ २६॥

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित्॥ २७॥

हे शौनकादि ऋषियो! इस प्रकार श्रीव्यासदेव अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ सदैव प्राणियोंके हित-साधनमें ही लगे रहे। बहुत-से उद्देश्यों तथा बहुत-से कर्मानुष्ठानोंके द्वारा भी जब धर्मवेत्ता श्रीव्यासदेवका मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, तब वे अत्यधिक खिन्न होकर सरस्वती नदीके तटपर निर्जनमें एकान्त भावसे पवित्र होकर बैठ गये और अपने मनकी अप्रसन्नताके कारणका चिन्तन करते-करते अपने आपसे इस प्रकार कहने लगे—॥ २६-२७॥

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतञ्चानुशासनम्॥ २८॥

मैंने निष्कपट रूपसे ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करते हुए निश्चित रूपसे वेद, गुरुवर्ग और यज्ञ-अग्निकी पूजा की है तथा उनके अनुशासनका भी अनुसरण किया है॥ २८॥

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥ २९॥

इसके अतिरिक्त महाभारतकी रचनाके छलसे मैंने गुरु-शिष्य परम्पराक्रमसे प्राप्त वेदके अर्थको सरल-सहज रूपमें प्रकाशित किया है, जिससे अन्योंकी तो बात ही क्या, स्त्री, शूद्रादि भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग-साधक धर्मको पालन करनेके योग्य हो जाते हैं॥ २९॥

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः॥ ३०॥

किन्तु हाय! वेदोंका विभाग और महाभारतकी रचना करके भी देहस्थित मेरी आत्मा—वस्तुतः तपस्या और ज्ञानादिके द्वारा परिपूर्ण तथा अति श्रेष्ठ वेदादि अध्ययनादिके द्वारा ब्रह्म-तेजसे सम्पन्न होकर भी स्वरूपतः अभावग्रस्त और अपूर्ण-कामके समान जान पड़ती है॥ ३०॥

किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः॥ ३१॥

अब तक मैंने भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले तथा परमहंसों अर्थात् वर्णाश्रमसे अतीत चारों वर्णाश्रमोंके गुरु महाभागवत वैष्णवोंके प्रिय भागवत-धर्मका भलीभाँति निरूपण नहीं किया। निश्चय ही यही मेरे चित्तकी खिन्नताका कारण है, क्योंकि नित्य भागवत-धर्म ही भगवान् श्रीविष्णुका प्रिय है॥ ३१॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम्॥ ३२॥

इस प्रकार स्वयंको अपूर्ण मानकर जब श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास खिन्न हो रहे थे, तभी पूर्वोक्त सरस्वती नदीके तटपर स्थित उनके आश्रममें देवर्षि श्रीनारद उपस्थित हुए॥ ३२॥

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम्॥ ३३॥

देवताओंके द्वारा वन्दित देवर्षि श्रीनारदको वहाँ आया देखकर श्रीव्यासदेवजी तुरन्त ही अपने आसनसे उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने गुरु ब्रह्माकी भाँति श्रीनारदजीकी यथाविधि पूजा की॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नारदागमनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान्‌के यश-कीर्त्तनकी महिमा और देवर्षि नारदका पूर्वचरित

श्रीसूत उवाच—

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—तदनन्तर हाथोंमें वीणाको धारण करनेवाले महायशस्वी देवर्षि श्रीनारद सुखपूर्वक बैठ गये और पासमें बैठे हुए विप्रर्षि श्रीवेदव्याससे मृदु-मन्द मुसकानके साथ कहने लगे—॥ १॥

श्रीनारद उवाच—

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥ २॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महात्मा पराशरनन्दन! क्या आपकी आत्मा शरीर (कर्म) और मन (चिन्तन) सहित सन्तुष्ट तो है?॥ २॥

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥ ३॥

धर्मादिके विषयमें आपकी जो कुछ जाननेकी इच्छा थी, उस सबको तो आपने सम्पूर्ण रूपसे जान ही लिया है और उसका अनुष्ठान भी कर लिया है, क्योंकि आपने परमाश्चर्यमय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गसे परिपूर्ण महाभारतकी रचना की है॥ ३॥

जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥ ४॥

हे तत्त्ववेत्ता! नित्य-सनातन परब्रह्म-स्वरूप भगवान्‌को भी आपने पर्याप्त विचार करके प्राप्त कर लिया है, फिर भी आप स्वयंको

विफल मनोरथ समझकर अकृतार्थ-पुरुषके समान किसलिए शोक कर रहे हैं?॥ ४॥

श्रीव्यास उवाच—

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छाम हे त्वात्मभवात्मभूतम्॥ ५॥

श्रीव्यासदेवने कहा—आपने मेरे विषयमें जो कुछ भी कहा, वह सब ठीक ही है, तथापि मेरा चित्त (आत्मा) प्रसन्न नहीं है। हे देवर्षि नारद! आप स्वयम्भू ब्रह्माके पुत्र होनेके कारण अगाध ज्ञानसे सम्पन्न हैं, अतएव मैं आपसे अपने चित्तकी अप्रसन्नताका गूढ़ कारण जानना चाहता हूँ॥ ५॥

स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत् पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः॥ ६॥

आप सभी गूढ़ रहस्योंको अवश्य ही जानते हैं, क्योंकि विश्वके कार्य-कारणके नियन्ता तथा स्वयं अनासक्त अर्थात् निर्विकार रहकर भी सङ्कल्पमात्रसे ही तीनों गुणों द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, पालन और ध्वंस करनेवाले आदिपुरुष श्रीविष्णुकी आप उपासना करते हैं॥ ६॥

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-
मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व॥ ७॥

सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें परिभ्रमण करनेके कारण आप सर्वदर्शी हैं। अपने योगबलके प्रभावसे प्राण-वायुके समान समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरण करनेके कारण आप सबकी बुद्धिकी वृत्तियोंके भी ज्ञाता हैं। अतः आप विचार करके कहिये कि

योगानुष्ठानसे परमब्रह्ममें और स्वाध्याय-नियमादि अर्थात् व्रत-ध्यान आदिके द्वारा शब्द-ब्रह्ममें प्रवीण होनेपर भी मुझे इतना अधिक अभाव क्यों अनुभव हो रहा है?॥ ७॥

श्रीनारद उवाच—

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥ ८॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महर्षे! आपने श्रीहरिकी पवित्र लीलाओंकी महिमाका स्पष्ट रूपसे वर्णन नहीं किया है। श्रीभगवान्‌की कथाओंके गानके अतिरिक्त जो धर्मादिके ज्ञानका अनुशीलन है, उससे भगवान् श्रीहरि सन्तुष्ट नहीं होते। इसीलिए ऐसा ज्ञान अपूर्ण और हेय है—मेरा यह विचार है॥ ८॥

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥ ९॥

हे ऋषिवर! आपने स्वरचित समस्त ग्रन्थोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गको प्रधान पुरुषार्थके रूपमें जिस प्रकारसे वर्णन किया है, इन सबके ऊपर विराजमान पुरुषार्थ शिरोमणि भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमा कथाको उस प्रकारसे मुख्य पुरुषार्थके रूपमें वर्णन नहीं किया॥ ९॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥ १०॥

मानस-सरोवरके कोमल-कमलके वनमें रहनेवाले राजहंस जिस प्रकार कौओंके क्रीड़ा-स्थल अपवित्र अन्नादिसे पूर्ण उच्छिष्ट (जूठन) के गड्ढेमें कभी भी उल्लसित नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म-धाममें विचरण करनेवाले भगवान्‌के चरणकमलोंके आश्रित परमहंस भक्त भी विचित्र रस, भाव, अलङ्कारादि पदोंसे युक्त उन आडम्बरपूर्ण शब्दों और विचारोंसे उल्लसित नहीं होते, जो भुवन-पावन श्रीवासुदेवकी

महिमा सूचक हरिकथाके रससे हीन होते हैं अर्थात् वे ऐसे शुष्क वचनों अथवा ग्रन्थोंको कौओंके तुल्य कामीजनोंका रतिस्थान जानकर परित्याग कर देते हैं॥ १०॥

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ ११॥

इसके विपरीत जिन वाणियों अथवा ग्रन्थोंमें भगवान् अनन्तदेवकी महिमासूचक नामोंका वर्णन है, उसका प्रत्येक श्लोक अथवा आख्यान दूषित अपशब्दादिसे युक्त रहनेपर भी, तथा सुर, मान, लय, ताल आदि साहित्यगत अलङ्कार-गुणोंसे रहित होनेपर भी लोगोंके पापोंका विनाश करता है। ऐसी वाणीका वक्ता मिलनेपर ही साधुजन उसका श्रवण करते हैं, श्रोता मिलनेपर कीर्त्तन करते हैं और यदि कोई न हो तो स्वयं ही गान करते हैं॥ ११॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥ १२॥

समस्त प्रकारकी कर्म-वासनाओंसे रहित होनेपर भी मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन—निर्मल ब्रह्मज्ञान यदि भगवान् श्रीहरिकी भक्तिसे रहित हो, तो वह भी शोभा नहीं देता। अतएव जो साधन और सिद्धि दोनों ही अवस्थाओंमें सदा ही अमङ्गलस्वरूप तथा दुःखप्रद है, वह काम्य कर्म और यहाँ तक कि निष्काम कर्म भी यदि भगवान्को अर्पण नहीं किये गये हों, तो वह कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकते हैं? इसका कारण है कि वह भगवत्-सेवा और सत्त्व-शुद्धिके भावसे रहित होते हैं॥ १२॥

अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।

उरुक्रमस्याखिल-बन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥ १३॥

अतएव हे महाभाग वेदव्यासजी! आपकी दृष्टि अमोघ अर्थात् यथार्थ बुद्धिसे युक्त है। आपका यश पवित्र है। आप हरिकथा श्रवणरत, सत्यनिष्ठ और नियमपरायण हैं। अतः सभी जीवोंको मायाके बन्धनसे मुक्त करानेके लिए आप अचिन्त्यशक्ति भगवान् उरुक्रमकी विविध लीला-चेष्टाओंका समाधि द्वारा (एकाग्र चित्तसे) ध्यान कीजिये और फिर वर्णन कीजिये। विशुद्ध चित्तमें श्रीभगवान्‌की लीलाएँ स्वयं प्रकाशित होती हैं॥ १३॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कर्हिचित् क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहत-नौरिवास्पदम्॥ १४॥

भगवान् श्रीहरिकी लीला-चेष्टा अर्थात् उनकी महिमाके वर्णनके अतिरिक्त यदि कोई किसी अन्य विषयको वर्णन करनेकी इच्छा करता है, तो वह अनर्थका परिचायक मनोधर्म है। उस मनोधर्ममें विभिन्न नाम और रूप स्फुरित होते हैं, जिनसे विक्षिप्त होकर बुद्धि उसी प्रकार स्थिर नहीं रह पाती, जिस प्रकार वायुवेगसे डगमगाती हुई नौका॥ १४॥

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥ १५॥

स्वभावतः ही निन्दित काम्य-कर्मोंमें आसक्त संसारी लोगोंके धर्मके लिए आपने जो काम्यकर्मोंकी विधि दी है—जैसे 'देवता और पितरोंका भलीभाँति अर्चन करके मांस खानेपर दोषका भागी नहीं होना पड़ता' इत्यादि—आपके द्वारा दिये गये इन विधि-वाक्योंको ही विषयलोलुप मूर्खलोग मुख्य-धर्मके रूपमें मान लेते हैं। अतः आपसे

यह महा-अनर्थ हो गया है। यदि कोई तत्त्वज्ञ व्यक्ति इस प्रकारके पशु-हिंसा आदि विधि-विधानके अनुष्ठानका निषेध भी करें, तो भी संसारमें आसक्त लोग उसके उपदेशको न तो समझेंगे और न ही मानेंगे॥ १५॥

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम्।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभो॥ १६॥

तत्त्व-विचारोंमें अति निपुण कोई-कोई व्यक्ति ही समस्त सांसारिक विषयोंको छोड़कर असीम, अनन्त, सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिके सेवासुखरूप परमानन्दको जाननेमें समर्थ हो सकता है, किन्तु पारमार्थिक बुद्धिसे रहित व्यक्ति नहीं। इसलिए हे सर्वज्ञ! आप सत्त्वादि तीनों गुणों द्वारा नचाये जानेवाले देहाभिमानी समस्त लोगोंके कल्याणके लिए भगवान्‌की नव-नवायमान लीलाओंका वर्णन कीजिये॥ १६॥

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥ १७॥

जो अपने वर्णाश्रमधर्मका परित्यागकर श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करता है, सिद्ध होनेकी बात तो दूर रहे, असिद्ध अवस्थामें भी यदि वह भजनसे किसी प्रकारसे भ्रष्ट हो जाये अथवा उसकी मृत्यु हो जाये, तो भी कर्म-त्यागवशतः उसका कभी भी अमङ्गल अथवा पतन नहीं हो सकता। अर्थात् वह किसी भी अवस्थामें रहे, यहाँ तक कि नीच योनिमें भी रहे, तो भी ऐसे भगवत्-रसिकमें सेवाकी वासना रहनेके कारण क्या कभी उसका अमङ्गल हो सकता है? किन्तु भक्तिहीन स्वधर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंको न तो कोई लाभ मिलता है और न ही उनका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है॥ १७॥

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥ १८॥

विवेकी पुरुष कभी भी उन लोभपूर्ण वचनोंसे प्रभावित नहीं होते, जो वचन स्वधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लौकिक फलोंका निरूपण करते हैं। वे तो उस नित्य सुखके लिए प्रयत्न करते हैं, जो उच्च ब्रह्मासे लेकर निम्न स्थावर—तृण तकको योनियोंमें भ्रमण करनेवाले जीवको भी कभी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार बिना चेष्टाके भी दुःख प्राप्त होता है, उसी प्रकार गम्भीर वेगशाली कालके प्रभावसे विषय-सुख भी पूर्व कर्मफलोंके कारण सभी अवस्थाओंमें, यहाँ तक कि नारकीय शूकरादि योनियोंमें भी प्राप्त होता है॥ १८॥

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः॥ १९॥

अहो! भक्तिसे रहित कर्मी जिस प्रकार संसार-दशा प्राप्त करते हैं, श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवामें रत व्यक्तिको कभी भी वैसी दशा प्राप्त नहीं होती। किसी कारणवश यदि वे कुयोनि भी प्राप्त कर लें, तो भी वे कदापि कर्मीकी भाँति भोगमय संसारमें प्रवेश नहीं करते। भक्तोंको श्रीभगवान्की इच्छासे ही शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त होता है तथा वे कभी भी इससे विचलित नहीं होते। रसस्वरूप श्रीभगवान्में आग्रहपूर्वक अनुरक्त रसिक भक्त बारम्बार भगवान्के चरणकमलोंके आलिङ्गनका स्मरण करके उनका परित्याग करनेकी कभी इच्छा नहीं करते॥ १९॥

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥ २०॥

जिनकी शक्तिसे विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, उन भगवान्‌से यह विश्वरूप प्रपञ्च अभिन्न होनेपर भी भगवान् विश्वसे पृथक् हैं। चेतन (जीव) और अचेतन (जगत्) तत्त्वका भगवान्‌से अलग अवस्थान नहीं है। यद्यपि श्रुतियोंके प्रमाणके बलसे आप इस तत्त्वको स्वयं ही जानते हैं, तथापि मैंने आपको यत्किञ्चित् सङ्केतमात्रसे बतलाया है॥ २०॥

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥ २१॥

हे सत्यदर्शिन्! आप परमात्मा परमपुरुष श्रीहरिके कलावतार हैं। अजन्मा होकर भी आपने जगत्‌के मङ्गलके लिए जन्म-ग्रहण किया है—यह आप स्वयं जानते हैं। अतः सभी अवतारोंकी अपेक्षा प्रभावशाली श्रीहरिके परम-मङ्गलमय लीला-पराक्रमका विशेष रूपसे कीर्त्तन कीजिये॥ २१॥

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमःश्लोक-गुणानुवर्णनम् ॥ २२॥

महर्षियोंने निरूपित किया है कि पुरुषोंकी तपस्या, वेदाध्ययन, यथाविधिसे अनुष्ठित यज्ञ, भलीभाँति उच्चारित वेदमन्त्र, ब्रह्मज्ञान तथा दानका एकमात्र नित्य फल उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीलाओंका गुण-कीर्त्तन है। श्रीहरिका कीर्त्तन तो हरि-सेवनका ही मुख्य अङ्ग है॥ २२॥

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्याश्च कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥ २३॥

हे महर्षे! पिछले कल्पमें हुए अपने पूर्वजन्ममें मैंने वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी किसी एक दासीके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था। एकबार वर्षाकालमें चातुर्मास्य व्रतके उपलक्ष्यमें किसी एक स्थानपर एक साथ वास करनेके इच्छुक कृष्णकथाका गान करनेवाले भक्त-योगियोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए बालक होनेपर भी मैं नियुक्त हुआ था॥ २३॥

ते मय्यपेताखिल-चापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि॥ २४॥

मैं बालक होनेपर भी बाल-सुलभ चञ्चलतासे सर्वथा रहित था तथा बालक्रीड़ासे दूर रहता था। मैं जितेन्द्रिय था तथा मैंने वाणीको संयतकर अर्थात् प्रगल्भता त्यागकर आज्ञानुवर्ती अनुचरके रूपमें उन ऋषियोंकी सेवा-शुश्रूषा की थी। इस प्रकार समदर्शी होनेपर भी उन ऋषियोंने शील-स्वभाववाले मुझ बालकके प्रति अनुग्रह किया॥ २४॥

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध-चेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥ २५॥

मैंने उन ब्राह्मणोंकी अनुमति प्राप्तकर उनके भोजन-पात्रमें लगे हुए उच्छिष्ट अन्नका मात्र एकबार भोजन किया था। इसके परिणामस्वरूप मेरे समस्त पाप अर्थात् भक्तिके प्रतिबन्धक अनर्थ दूर हो गये। उनकी सेवा करते-करते मेरा चित्त निर्मल हो गया तथा परमेश्वर श्रीहरिकी श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्तिमें अनायास ही मेरी रुचि उदित हो गयी॥ २५॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥ २६॥

हे व्यासजी! वे ऋषिगण उस स्थानपर प्रतिदिन निरन्तर चित्तको उन्मत्त कर देनेवाली श्रीहरिकी लीला और गुणोंका गान करते थे। उनके अनुग्रहसे मैं उन मनोहर लीला-कथाओंका श्रवण किया करता था। इस प्रकार प्रत्येक पदको परम श्रद्धाके साथ सुनते-सुनते प्रियकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिमें मेरी प्रीति और आसक्ति (रति) उत्पन्न हो गयी॥ २६॥

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥ २७॥

हे महामुने! तदनन्तर उन मनोहरकीर्त्ति भगवान्‌में रुचिका उदय होनेसे मेरी उनमें निश्चला बुद्धि हो गयी। उस बुद्धिके प्रभावसे मैं तत्काल ही अनुभव करने लगा कि मेरे प्रपञ्चातीत शुद्ध स्वरूपपर यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर अविद्यासे विरचित है। मैं यह भी जान गया कि यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्णकी सेवाके लिए ही है॥ २७॥

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
सन्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा॥ २८॥

इस प्रकार शरत् और वर्षा—इन दो ऋतुओं अर्थात् चार मास तक उन महात्मा ऋषियोंके मुखसे प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें गान किये जानेवाले श्रीहरिके निर्मल लीला-यशके विशेष रूपसे श्रवण करनेके कारण मेरे हृदयमें रज और तम गुणोंको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हो गया॥ २८॥

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥ २९॥

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥ ३०॥

इस प्रकार अत्यन्त अनुरागके साथ बड़े विनीतभाव, निष्पाप मन और श्रद्धासे युक्त होकर तथा संयत चित्त, वाणी और मनसे मैं उन महात्माओंका आज्ञाकारी होकर निरन्तर उनकी सेवा करने लगा। चातुर्मास्य समाप्त होनेपर जब वे दीनवत्सल मुनि जाने लगे, तब उन्होंने मुझ जैसे बालकको साधन-स्वरूप गुह्य धर्मतत्त्वका ज्ञान, गुह्यतर नैष्कर्म्यरूप आत्म अथवा ब्रह्म-ज्ञान एवं उससे भी अधिक परम रहस्यमय उस भगवत्-ज्ञान अर्थात् एकमात्र भक्ति-तात्पर्यसे विशिष्ट भागवत-धर्मका कृपापूर्वक उपदेश दिया, जिस उपदेशको स्वयं भगवान्ने ब्रह्मा, उद्धव और अर्जुनको प्रदान किया था॥ २९-३०॥

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम्॥ ३१॥

ऐसे परम गोपनीय भक्ति-तात्पर्ययुक्त भगवत्-ज्ञानके प्रभावसे ही मैं विश्वके विधाता भगवान् श्रीवासुदेवकी चित्-शक्ति अथवा स्वरूप-शक्तिके वैभवको जान पाया हूँ। उस भगवत्-ज्ञानके प्रभावसे ही जीव श्रीविष्णुके परम पदको प्राप्त करते हैं॥ ३१॥

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥ ३२॥

हे ब्रह्मज्ञ! सर्वनियन्ता ईश्वर भगवान्में जो कर्म समर्पित होते हैं, वे कर्म ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन तापोंको दूर करनेवाले अर्थात् उनका उपशम करनेकी औषधि-स्वरूप हैं। यही शास्त्रोंके मर्मको जाननेवालों द्वारा कथित हुआ है॥ ३२॥

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रवयं न पुनाति चिकित्सितम्॥ ३३॥

हे भगवन्निष्ठ व्यासदेव! जिन-जिन द्रव्योंके भोजनसे प्राणियोंमें रोग उत्पन्न होते हैं, केवल उन रोग उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंका सेवन

करनेमात्रसे वे रोग कभी भी दूर नहीं हो सकते, किन्तु यदि उन सभी द्रव्योंका चिकित्सा-विधिके अनुसार अर्थात् अन्य द्रव्यों या औषधियोंके मिश्रणके साथ सेवन किया जाये, तो वे रोग अवश्य ही दूर हो जाते हैं॥ ३३॥

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ ३४॥

इसी प्रकार मनुष्योंके नैमित्तिक-काम्यकर्म ही संसार-बन्धनके अथवा विभिन्न योनियोंमें भ्रमणके कारण होते हैं। किन्तु यदि इन समस्त कर्मोंको ईश्वरको समर्पित कर दिया जाये, तो उन कर्मोंमें कर्त्तापनका भाव ही नहीं रहता, अर्थात् वही कर्म भगवत्-विमुख अहङ्कारमय बुद्धिका विनाश करनेमें समर्थ होते हैं॥ ३४॥

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥ ३५॥

श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्तियोगसे युक्त भागवत-ज्ञान ही इस संसारमें भगवान्‌के सन्तोषके लिए अनुष्ठित शास्त्र विहित कर्मोंका नित्य फल है॥ ३५॥

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णास्यानुस्मरन्ति च॥ ३६॥

जिस समय मानव (हे अर्जुन! जो कुछ भी करो, वह समस्त मुझे ही अर्पित करो—इत्यादि) भगवान्‌की शिक्षाके अनुसार कर्मोंको करनेके लिए प्रस्तुत हो जाता है, उसी समय वह पुनः-पुनः श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्त्तन एवं स्मरण करने लग जाता है॥ ३६॥

ॐ नमो भगवते (तुभ्यं) वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥ ३७॥

हे श्रीकृष्ण! आप ही प्रणव-स्वरूप हैं। आप ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूपमें चतुर्व्यूहात्मक स्वरूप हैं। हम आपको हृदयसे नमस्कार करते हैं। हम आपका ध्यान करते हैं॥ ३७॥

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥ ३८॥

इस प्रकार जो लोग वासुदेवादि चारों भगवत्–मूर्त्तियोंके (पञ्चरात्रात्मक विधिके अनुसार) 'वासुदेवाय नमः', 'प्रद्युम्नाय नमः' आदि नामात्मक मन्त्रोंके द्वारा उन–उन मन्त्रोंमें उक्त चिन्मय रूपसे युक्त अथवा प्राकृत–मूर्त्ति–रहित भगवान् यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं, उन्हीं लोगोंका ज्ञान पूर्ण और यथार्थ है॥ ३८॥

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावञ्च केशवः॥ ३९॥

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने भगवान्‌की आज्ञाका भलीभाँति पालन किया। यह जानकर भगवान् श्रीहरिने मुझे अपना अनुभव (आत्म–ज्ञान) और अणिमादि ऐश्वर्य प्रदान किये। तत्पश्चात् मेरे इन सबसे अनासक्त होनेके कारण उन्होंने मुझे प्रेमाभक्ति प्रदान की॥ ३९॥

त्वमप्यदभ्र–श्रुतविश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
प्रख्याहि दुःखैर्मुहुरर्द्दितात्मनां
संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा॥ ४०॥

हे महर्षे! आप भी सर्वव्यापी श्रीविष्णुके उस यशका भलीभाँति कीर्त्तन कीजिये, जिसे जाननेसे विद्वानोंकी भी समस्त जिज्ञासाएँ समाप्त हो जाती हैं। मुनियोंने भी कहा है कि जो मनुष्य बारम्बार त्रिविध दुःखोंसे तापित हैं, श्रीहरिके गुण–गानके अतिरिक्त उनके सांसारिक क्लेशोंको शान्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे व्यास–नारदसंवादो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

देवर्षि नारदका वनमें गमन, श्रीकृष्णका दर्शन तथा चिन्मय स्वरूपकी प्राप्ति

श्रीसूत उवाच—

एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार सत्यवती-नन्दन भगवान् वेदव्यासने देवर्षि नारदजीसे उनके जन्म और साधनका वृत्तान्त बड़े आदरके साथ सुना एवं पुनः उनसे यह प्रश्न किया—॥ १॥

श्रीव्यास उवाच—

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान्॥ २॥

श्रीव्यासदेवने कहा—हे देवर्षे! जब आपको रहस्यपूर्ण भगवत्-ज्ञानका उपदेश करनेवाले परिव्राजक महात्मागण चले गये, तब अपने जीवनकी उस प्राथमिक अर्थात् बाल्यावस्थामें आपने क्या किया?॥ २॥

स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम्॥ ३॥

हे ब्रह्मनन्दन (श्रीनारद)! आपने बाल्यावस्थाके बादकी अपनी आयुको किस प्रकारसे व्यतीत किया? कालवशतः आपको वार्द्धक्य (बुढ़ापा) भी आया होगा। अतः मृत्यु उपस्थित होनेपर आपने उस दासीके गर्भसे उत्पन्न देहका किस प्रकार त्याग किया?॥ ३॥

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते मुनिसत्तम।
न ह्येष व्यवधात् काल एष सर्वनिराकृतिः॥ ४॥

हे मुनिश्रेष्ठ! कालके प्रभावसे तो समस्त वस्तुएँ ही लुप्त हो जाती हैं, अतः यह काल आपके पूर्वकल्पोंके जन्मोंकी स्मृति-शक्तिका नाश क्यों नहीं कर सका?॥ ४॥

श्रीनारद उवाच—

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम्॥ ५॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—मुझे भगवत्-ज्ञानका उपदेश करनेवाले महात्मागण जब किसी दूसरे स्थानपर चले गये, तब अपने जीवनकी प्राथमिक (बाल्यावस्था) मैंने इस प्रकार व्यतीत की—॥ ५॥

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम्॥ ६॥

मेरी माँ एक अबला स्त्री थी। वह स्वभावसे ही बुद्धिहीन और पराधीन दासी थी। मैं ही उसका एकमात्र पुत्र था। अतः मेरी अन्य कोई गति न देखकर वह मुझसे अत्यधिक स्नेह करती थी॥ ६॥

सास्वतन्त्रा न कल्पासीद् योगक्षेमं ममेच्छती।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा॥ ७॥

वह मेरी रक्षा तथा पालन-पोषणकी बहुत चिन्ता करती थी, परन्तु पराधीन होनेके कारण कुछ कर नहीं पाती थी। जिस प्रकार कठपुतली अपने नचानेवालेकी इच्छाके अनुसार ही नाचती है, वैसे ही प्राणीमात्र ईश्वरकी इच्छाके अधीन होता है॥ ७॥

अहञ्च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः॥ ८॥

मैं उस समय पाँच वर्षका बालक था तथा मुझे दिशा, देश एवं कालका कोई भी ज्ञान न था। सदैव माताके स्नेहपाशमें बँधे रहनेके कारण मैं उसका त्याग भी नहीं कर सकता था। अतः उसके स्नेह-पाशसे कब मुक्त हो पाऊँगा—इसी प्रतीक्षाके साथ मैं उसी ब्राह्मण-कुलमें वास करने लगा॥ ८॥

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत् पदास्पृष्टः कृपणां कालचोदितः॥ ९॥

एक बार रात्रिके समय मेरी माता गो-दोहनके लिए घरसे बाहर निकली। कालकी प्रेरणासे उसका पाँव एक साँपको छू गया और साँपने पथमें ही उस बेचारीको डस लिया॥ ९॥

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम्॥ १०॥

भगवान् सदैव अपने भक्तोंके मङ्गलकी अभिलाषा करते हैं। उस समय मैंने अपनी माताकी मृत्युको भगवान्‌की कृपा माना और उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा॥ १०॥

स्फीतान् जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान्।
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च॥ ११॥

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान्।
जलाशयाञ्छिवजलान् नलिनीः सुरसेविताः॥ १२॥

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः।
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्॥ १३॥

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत्।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम्॥ १४॥

मैं अकेला ही उत्तर दिशामें तीव्र-गतिसे चलता जा रहा था। मार्गमें मैंने बहुत-से धन-धान्यसे सम्पन्न देश और नगर, ब्राह्मण, शूद्रों और अहीरोंकी बस्तियाँ, रत्नोंकी खानें, कृषकोंकी खेड़े, पहाड़की तलहटीपर स्थित ग्राम, पुष्प-कुञ्ज (वाटिकाएँ), वन-उपवन तथा स्वर्ण-रत्नादि विविध धातुओंसे रञ्जित विचित्र पर्वत देखे। कहीं-कहीं मुझे विशाल वृक्ष दिखायी पड़े, जिनकी शाखाएँ हाथियोंकी सूँड़ोंसे टूटी हुई थीं। कहींपर स्वास्थ्यवर्धक पुण्य जलसे भरे हुए जलाशय थे, जिनमें देवताओंके प्रयोगमें आनेवाले कमल खिले हुए थे। फिर कहीं विविध प्रकारकी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके कलरवकी ध्वनिसे

आकृष्ट इधर-उधर विचरणशील भ्रमरोंके दलोंसे परिशोभित देवताओंके रमणीय आवास स्थल थे। इतना दीर्घ मार्ग पार करके मैं एक घन-घोर जङ्गलमें पहुँचा। वह जङ्गल नरकट, वेणु, सरपत (सेंठा), स्तम्भ आदि विविध प्रकारकी झाड़ियोंसे परिपूर्ण था तथा विपुल अन्तरालसे युक्त छिद्ररहित बाँस, कुश एवं कीचकके कारण वहाँका मार्ग अतीव दुर्गम, दुःसह और भयङ्कर था। उस जङ्गलकी लम्बाई-चौड़ाई भी बहुत अधिक थी और वह सर्प, उल्लू और सियारोंका क्रीड़ा-स्थल बना हुआ था॥ ११-१४॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः॥ १५॥

चलते-चलते मेरा शरीर क्लान्त हो गया और इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयीं। मैं भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। तब मैंने नदीके जलमें स्नान, उस जलका पान और आचमन किया, जिससे मेरी थकावट दूर हो गयी॥ १५॥

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः।
आत्मनात्मस्थमात्मानं यथाश्रुतमचिन्तयम्॥ १६॥

तदनन्तर उसी निर्जन वनमें मैं एक पीपलके पेड़के नीचे आसन लगाकर बैठ गया। तब मैं आत्म-बुद्धि द्वारा हृदयस्थित अन्तर्यामी परमात्माके उस मन्त्रोपदिष्ट स्वरूपका ध्यान करने लगा जिसके विषयमें उन महात्माओंने मुझे बतलाया था॥ १६॥

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥ १७॥

भक्ति-भावसे शुद्ध हुए हृदयमें श्रीहरिके चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र लालसासे मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा निकलने लगी। तब मेरे शुद्ध हृदयमें श्रीहरि धीरे-धीरे प्रकट हो गये। (उस समय हृदयकी तीनों वृत्तियाँ—नासिका, कान और नेत्र क्रमशः उनके अङ्ग-सौरभ, नूपुरकी सुमधुर ध्वनि और श्रीमुखके सौन्दर्यका रसास्वादन करने लगीं)॥ १७॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥ १८॥

हे महर्षि वेदव्यास! गम्भीर प्रेमकी प्रचुरतासे भरा मेरा शरीर पुलकित और रोमाञ्चित हो उठा। मेरा हृदय अत्यधिक सुखका अनुभव करता हुआ परमानन्दके सागरमें डूब गया। उस समय मुझे न तो अपना भान रहा और न ही मैं ध्येय वस्तु—श्रीहरिको प्रत्यक्ष देख सका॥ १८॥

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव॥ १९॥

भगवान् श्रीहरिके उस मनमोहक, अनिर्वचनीय तथा समस्त शोकोंका नाश करनेवाले रूपको सहसा न देख पानेके कारण मैं इस प्रकार दुःखी और व्याकुल हो गया, जिस प्रकार प्राप्त धन-सम्पत्तिके हरण हो जानेसे लोग दुःखी और व्याकुल हो जाते हैं। मेरा हृदय उस विरह दुःखसे अनमना-सा होकर व्याकुल हो गया और तब मेरा ध्यान भङ्ग हो गया॥ १९॥

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः॥ २०॥

पुनः भगवान्के उस रूपके दर्शनकी इच्छासे मैंने अपने हृदय और मनको समाहित किया और उन्हें देखनेका बहुत प्रयास किया, परन्तु देख नहीं पाया। अतृप्त रह जानेसे मैं व्याकुल और अधीर हो उठा॥ २०॥

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम्।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव॥ २१॥

अपनी इस व्याकुल अवस्थामें मैं निर्जन वनमें भगवान्के दर्शनके लिए बारम्बार चेष्टा करने लगा। यह देखकर वाणीके अगोचर रहनेवाले भगवान् श्रीहरि गम्भीर, स्नेहपूर्ण और मधुर वचनोंसे अपने अदर्शनसे उत्पन्न मेरे विरह-दुःख और शोकको दूर करते हुए कहने लगे— ॥ २१॥

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥ २२॥

हे वत्स! खेद है कि इस जन्ममें तुम पुनः मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी सांसारिक कामना–वासनारूपी मलिनता दग्ध नहीं हुई है, ऐसे अपरिपक्व योगियोंके लिए मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है॥ २२॥

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥ २३॥

हे निष्पाप बालक! तथापि मैंने एकबार जो तुम्हें अपने रूपकी झलक दिखलायी है, वह मेरे प्रति तुम्हारे अनुरागकी वृद्धिके लिए ही है। मुझमें अनुराग हो जानेपर ही साधु–पुरुष क्रमशः अपने हृदयकी सम्पूर्ण कामना–वासनाओंका भलीभाँति त्याग करनेमें समर्थ होते हैं॥ २३॥

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि॥ २४॥

तुमने जो अति अल्पकाल मात्रके लिए साधु–सेवा की है, उसके द्वारा ही तुम्हारा चित्त मुझमें स्थिर हो गया है। अतएव अब तुम दासीके गर्भसे उत्पन्न अपनी इस मलिन–देहका परित्याग करके मेरे पार्षदत्वको प्राप्त करोगे॥ २४॥

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्॥ २५॥

मुझे प्राप्त करनेके लिए दृढ़तापूर्वक मुझमें अनुरक्त तुम्हारी यह बुद्धि कभी भी किसी प्रकारसे विलुप्त नहीं होगी। मेरी कृपाके प्रभावसे सृष्टि तथा प्रलयके समय भी तुम्हें अपने पूर्व जन्मकी स्मृति बनी रहेगी॥ २५॥

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्–
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम्।

अहञ्च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः॥ २६॥

इतना कहकर वे आकाशके समान सर्वव्यापी, अशरीरी, सर्वनियन्ता, विभुचैतन्य श्रीहरि मौन हो गये। उनकी कृपाका अनुभव करके महानसे भी महानतम उन भगवान्‌को मैंने सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २६॥

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन्नमदो विमत्सरः॥ २७॥

तभीसे मैं उस (अपनी मलिन-देहको त्यागकर भगवान्‌के पार्षदत्वको प्राप्त करनेके) कालकी प्रतिक्षा करते हुए लज्जा-सङ्कोचको छोड़कर भगवान् अनन्तदेवके मङ्गलमय नामोंका निरन्तर कीर्त्तन और उनकी रहस्यमय लीलाओंका स्मरण करते-करते पृथ्वीपर पर्यटन करने लगा। इसके फलस्वरूप मेरा हृदय सन्तुष्ट हो गया और समस्त प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करके मैं अहङ्कार और मात्सर्यसे रहित हो गया॥ २७॥

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तडित् सौदामनी यथा॥ २८॥

हे ब्रह्मज्ञ! इस प्रकार मेरा जीवन कृष्णमय हो गया। हृदय कृष्णानुरागमें मग्न रहने लगा तथा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण मेरी स्वरूप-सिद्धि हो गयी अर्थात् मुझे अपने स्वरूपका अनुभव हुआ। इसीके साथ ही स्थूल-देहको छोड़नेका समय भी आ गया और आकाशमें बिजलीके चमकनेके समान सहसा मृत्यु आकर उपस्थित हुई॥ २८॥

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥ २९॥

श्रीहरिके कथनानुसार जब मैं भगवत्-कृपासे अपनी उस शुद्धसत्त्वमय, अप्राकृत, चिन्मय, भगवत्-पार्षदोचित भागवती तनु[१] प्राप्त करनेके योग्य हो गया, तब मेरे प्रारब्ध कर्मोंका नाश हो गया और मेरा पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया॥ २९॥

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः॥ ३०॥

कल्पके अन्तमें इस विश्वका ध्वंस करनेके लिए श्रीनारायणने एकार्णव (प्रलयकालीन समुद्र) के जलमें शयन किया, तब शयन करनेके इच्छुक भगवान्के अन्तरमें उनके निःश्वासके साथ मैंने भी प्रवेश किया॥ ३०॥

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहञ्च जज्ञिरे॥ ३१॥

इस प्रकार एक हजार चतुर्युगोंके बीत जानेपर भगवान् पुनः जाग्रत हुए। तब उनके द्वारा विश्व-सृष्टि करनेकी इच्छा करनेपर उनकी इन्द्रियोंसे मैं भी मरीचि आदि प्रमुख ऋषियोंके साथ प्रकट हो गया॥ ३१॥

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः।
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित्॥ ३२॥

तभीसे भगवान् श्रीहरिकी कृपासे मैं वैकुण्ठादि अप्राकृत लोकोमें तथा इस जगत्के तीनों लोकोंमें बाहर और भीतर सर्वत्र बिना किसी रोक-टोकके विचरण किया करता हूँ। भगवत्-भक्तिमें मेरी निष्ठा अखण्ड होनेके कारण ही ऐसा सम्भव हुआ है॥ ३२॥

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्म-विभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥ ३३॥

---

[१] स्वरूप-सिद्ध भक्त द्वारा भगवान्की सेवाके उपयोगी उपकरणरूप अपनी चिन्मय प्रतीतिको ही शुद्ध भागवती तनु कहा जाता है।

मैं भगवान् द्वारा प्रदत्त सप्तस्वर[१]—स्वरब्रह्मसे स्वाभाविक रूपमें झंकृत इस वीणापर मूर्च्छनासे आलाप करते हुए अर्थात् तान छेड़कर श्रीहरिके नामों और गुणोंका कीर्त्तन करता हुआ सर्वत्र विचरण करता हूँ॥ ३३॥

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ ३४॥

जब मैं उन उत्तमश्लोक श्रीहरिकी लीलाओंका भलीभाँति गान करता हूँ, जिनके श्रीचरणकमल समस्त तीर्थोंके उद्गमस्थल हैं, तब वे आह्वान किये गये व्यक्तिकी भाँति तुरन्त ही मेरे हृदयमें प्रकट हो जाते हैं॥ ३४॥

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ ३५॥

जिनका चित्त सदैव विषय-भोगकी वासनाओंसे व्याकुल हो रहा है, उनके लिए श्रीहरिचरित्र-कथाका निरन्तर कीर्त्तन ही भवसागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय है। प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष सब प्रकारसे मेरा यही अनुभव है, अतः इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है॥ ३५॥

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाद्धात्मा न शाम्यति॥ ३६॥

निरन्तर काम-लोभादि रूप शत्रुओंके वशीभूत अशान्त मन भगवान् श्रीमुकुन्दकी सेवाके द्वारा जिस प्रकारसे प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम-नियमादिसे युक्त अष्टाङ्गयोग-मार्गका अवलम्बन करनेसे वह वैसा शान्त नहीं हो पाता॥ ३६॥

सर्वं तदिदमाख्यातं यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम्॥ ३७॥

---

[१] षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद आदि ब्रह्मव्यञ्जक सप्तस्वर।

हे निष्पाप! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसीके अनुसार मैंने आपको अपने जन्म-कर्मादि गुह्य विषय अर्थात् साधन-सिद्धिका रहस्य तथा आपके चित्तकी प्रसन्नताका उपाय आदि सभी कुछ बतला दिया। ये सब रहस्य वेदान्तदर्शियोंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम्।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार महर्षि वेदव्यासके साथ सम्भाषण करनेके उपरान्त देवर्षि नारदजीने उनसे जानेकी अनुमति ली। तब इच्छानुसार विचरण करनेवाले वे महायोगी श्रीनारद वीणावादनके साथ श्रीहरिके गुण गाते-गाते वहाँसे चल दिये॥ ३८॥

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यः कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥ ३९॥

अहा! श्रीहरिकीर्त्तनमें रत नारदमुनि धन्य हैं, जो शार्ङ्गपाणि[१] भगवान् श्रीविष्णुके यशोगुणको अपने वीणायन्त्रमें गान करते हुए स्वयं तो प्रसन्नचित्त रहते ही हैं और साथ ही विषयभोगोंसे तप्त विश्ववासियोंको भी सर्वदा कृष्ण-प्रेमानन्द प्रदान करके आनन्दित करते रहते हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे व्यासनारद-संवादो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

---

[१] शार्ङ्गपाणि अर्थात् शार्ङ्ग नामक धनुषको धारण करनेवाले।

सप्तमोध्यायः

श्रीव्यासदेवके द्वारा भक्तियोग–समाधिमें लीला–परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन, अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाका मानमर्दन

श्रीशौनक उवाच—

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे श्रीसूत गोस्वामी! सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीव्यासदेवने देवर्षि श्रीनारदका अभिप्राय सुनकर उनके वहाँसे प्रस्थान करनेपर क्या किया?॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मनदी अर्थात् ब्राह्मणोंसे घिरी हुई सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर शम्याप्रास नामक एक आश्रम है। वहाँ ऋषियोंके यज्ञ होते ही रहते हैं॥ २॥

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥ ३॥

वहींपर बेरके वृक्षोंके सुन्दर वन द्वारा परिशोभित श्रीव्यासजीका आश्रम है। वे अपने आश्रममें आसनपर बैठ गये और उन्होंने जलस्पर्श अर्थात् आचमन किया। आचमनके बाद जड़–प्रक्रियाओंकी सहायताके बिना वे देवर्षि श्रीनारदके उपदेशानुसार भक्ति–समाधि द्वारा अपने मनको स्थिर करते हुए ध्यान करने लगे॥ ३॥

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥ ४॥

भक्तियोगके प्रभावसे व्यासदेवजीका मन पूर्णतः एकाग्र और निर्मल हो गया। तब उन्होंने लीला-परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनके पृष्ठ भाग (पीछे) में लज्जित भावसे आश्रय लेकर खड़ी बहिरङ्गा मायाको भी देखा॥ ४॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥ ५॥

इसी मायाके द्वारा जीवका स्वरूप आवृत और विक्षिप्त हो जाता है। उस समय जीव मोहित होकर गुणातीत होनेपर भी स्वयंको त्रिगुणात्मक मान लेता है और जड़ातीत होनेपर भी इस जड़-देहमें आत्म-बुद्धि (जड़-शरीरमें 'मैं' का अहङ्कार) करने लगता है। इस जड़-अभिमानके कारण ही वह अपनेको कर्त्ता और भोक्ता मानकर सांसारिक भोगोंकी वासनाको प्राप्त करता है॥ ५॥

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥ ६॥

अधोक्षज अर्थात् इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत भगवान् श्रीविष्णुमें अहैतुक भक्तियोग अनुष्ठित होनेसे संसारके दुःखोंका भोगना समाप्त हो जाता है। सर्वज्ञ श्रीव्यासदेवने जब समाधिमें इन सबका दर्शन किया तब इन विषयोंसे अनजान लोगोंके कल्याणके लिए उन्होंने श्रीमद्भागवत नामक पारमहंसी संहिताकी रचना की॥ ६॥

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ ७॥

इस श्रीमद्भागवत नामक पारमहंसी संहिताके श्रवणके साथ-साथ ही भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति प्रेमभक्ति उदित होती है, जिसके फलस्वरूप शोक-मोह और भयका नाश हो जाता है॥ ७॥

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्॥ ८॥

महर्षि श्रीव्यासदेवने इस पारमंहसी भागवत्-संहिताकी रचना की अर्थात् प्रथमतः स्वयं ही इसे संक्षेपमें भक्तियुक्त रूपमें प्रस्तुत किया

और फिर बादमें श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकमात्र श्रीभगवद्भक्तिको ही प्रधान रूपसे स्थापित करते हुए उसका क्रमपूर्वक विस्तार किया। तत्पश्चात् उन्होंने भोग-तृष्णासे रहित तथा भगवान्के मननमें रत अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको इसका अध्ययन कराया था॥ ८॥

श्रीशौनक उवाच—

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत्॥ ९॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे सूतजी! श्रीशुकदेव गोस्वामी तो परम विरक्त थे, वे किसी भी वस्तुकी अपेक्षासे रहित, ब्रह्मानन्दमें निमग्न और ब्रह्म-चिन्तनमें डूबे रहते थे। अतः किसलिए उन्होंने इस विशाल श्रीमद्भागवत ग्रन्थका भलीभाँति अध्ययन किया?॥ ९॥

श्रीसूत उवाच—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ १०॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मानन्द-सुखमें मग्न एवं आत्मामें ही रमण करनेके कारण जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, वे मुनिगण भी क्रोध-मोह-अहङ्कारादिसे मुक्त होकर निष्काम भावसे अर्थात् फलकी कामनासे रहित होकर अमित-विक्रम श्रीहरिकी सेवा करते रहते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं जिससे वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित कर लेते हैं॥ १०॥

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥ ११॥

महायोगी व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीका चित्त भगवान् श्रीहरिके गुणोंसे आकृष्ट हो चुका था, इसीलिए उन्होंने इतने विशाल महापुराण श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया। इस भागवतकी ऐसी सुन्दर व्याख्या करनेके कारण ही श्रीशुकदेव भगवद्भक्तों अर्थात् वैष्णवोंके नित्य प्रिय हैं॥ ११॥

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म–कर्म–विलापनम्।
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्॥ १२॥

अब मैं राजर्षि परीक्षित्के जन्म, कर्म, आमरण अनशन और देहत्याग अर्थात् मुक्तिका वृत्तान्त कहूँगा तथा साथ ही पाण्डवोंके स्वर्ग–आरोहणरूप महाप्रस्थानका भी वर्णन करूँगा। इन सब वृत्तान्तोंके द्वारा प्रधान रूपसे श्रीकृष्णकी बहुत–सी कथाओंका उदय होता है॥ १२॥

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष–
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे॥ १३॥

भर्त्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति॥ १४॥

माता सुतानां निधनं शिशूनां
निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद्बाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली॥ १५॥

जिस समय कौरवों और सृञ्जयवंशमें उत्पन्न पाञ्चालराज द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा परिचालित पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच हुए महाभारतके युद्धमें बहुत–से योद्धा वीरगति (स्वर्ग) को प्राप्त हो चुके थे और भीमसेनकी गदाके प्रहारसे दुर्योधनकी जाँघ टूट चुकी थी, उस समय अश्वत्थामाने स्वयं ही अपने पालनकर्त्ता दुर्योधनका प्रिय–कार्य सोचकर द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका उनकी सुप्त अवस्थामें ही वध करके उनके सिरोंको दुर्योधनको उपहारके रूपमें प्रदान किया। परन्तु दुर्योधनको भी यह निन्दनीय कर्म अप्रिय ही लगा, क्योंकि ऐसे नितान्त नीच, घृणित और भीषण पापकार्योंकी सभी निन्दा करते हैं। जब द्रौपदीने अपने पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनी, तब वह असहनीय

शोक–तापसे जर्जरित होकर पुत्रोंके वियोगमें क्रन्दन करने लगी और उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उनकी यह दशा देखकर किरीटमाली[१] अर्जुन द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे— ॥ १३–१५ ॥

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाक्रम्य यत् स्नास्यसि दग्धपुत्रा॥ १६ ॥

(श्रीअर्जुनने कहा—)हे कल्याणि! जब मैं उस आततायी[२] अर्थात् हाथोंमें शस्त्र धारणकर छलसे पुत्रोंका वध करनेवाले अधम ब्राह्मण अश्वत्थामाका सिर अपने गाण्डीव–धनुषके द्वारा छोड़े गये बाणोंसे काटकर तुम्हें उपहार–स्वरूपमें प्रदान करूँगा और पुत्रोंके दाह–संस्कारके बाद जब तुम उसपर पैर रखकर स्नान करोगी, तभी मैं तुम्हारे शोकाश्रुओंको पोछूँगा॥ १६ ॥

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
सः सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन॥ १७ ॥

इस प्रकार अर्जुनने विविध मनोहर और विचित्र वचनोंसे अपनी पत्नी द्रौपदीको सान्त्वना दी। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ही जिनके एक साथ बन्धु और सारथी—दोनों ही हैं, उन कपिध्वज अर्जुनने अपने भयङ्कर गाण्डीव–धनुषको धारण किया, कवच पहना और रथपर सवार होकर वे गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़ पड़े॥ १७॥

तमापतन्तं स विलोक्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन।

---

[१] किरीटमाली अर्थात् मुकुटोंकी मालाको धारण करनेवाले।

[२] आग लगानेवाला, विष देनेवाला, बुरी नियतसे हाथमें शस्त्र धारण करनेवाला, धन लूटनेवाला, खेत और स्त्रीको छीननेवाला—ये छह आततायी कहलाते हैं।

पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद् यथा कः॥ १८॥

बालकोंके हत्यारे अश्वत्थामाने जब दूरसे ही अर्जुनको रथपर सवार होकर अपनी ओर तीव्रगतिसे आते हुए देखा, तो उसका हृदय काँपने लगा और वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए पृथ्वीपर यथाशक्ति ठीक उसी प्रकार भागा, जिस प्रकार रुद्रके भयसे भयभीत होकर सूर्य भाग रहे थे॥ [१]१८॥

यदा शरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः॥ १९॥

किन्तु जब द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने देखा कि वह अब रक्षकहीन होनेके कारण बिलकुल अकेला है तथा उसके घोड़े भी थक गये हैं, तब उस नासमझ विप्रने ब्रह्मास्त्रको ही अपनी रक्षाका एकमात्र उपाय समझा॥ १९॥

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत् समाहितः।
अजानन्नपि संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते॥ २०॥

यद्यपि अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्रको लौटानेकी विधिसे अवगत नहीं था, तथापि प्राणोंपर सङ्कट आया देख उसने आचमन किया और ध्यानस्थ होकर ब्रह्मास्त्रका सन्धान किया॥ २०॥

ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतो दिशम्।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह॥ २१॥

तब उस अस्त्रसे भयङ्कर आग निकलने लगी और वह दसों दिशाओंमें फैल गयी। उस समय अपने प्राणोंपर ही सङ्कट आया देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की॥ २१॥

---

[१] वामनपुराणके अनुसार शिवभक्त विद्युन्माली नामक कोई राक्षस शिवजी द्वारा प्रदत्त सुवर्णमय विमानपर सवार होकर सूर्यके पीछे-पीछे भ्रमण करता हुआ उस विमानकी चमकसे रात्रिके अन्धकारको दूर कर रहा था। इससे सूर्यने क्रोधित होकर अपने तेजसे उसे विमानसे नीचे गिरा दिया। उसी समय श्रीरुद्रदेव आ पहुँचे, उनसे डरकर सूर्य तीव्रगतिसे भागते हुए वाराणसीमें गिर पड़े, जिससे उनका नाम लोलार्क प्रसिद्ध हो गया।

श्रीअर्जुन उवाच—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः॥ २२॥

श्रीअर्जुनने कहा—हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महाबाहो! (आपकी शक्ति अनन्त है।) आप भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले हैं। हे हरि! एकमात्र आप ही त्रितापकी ज्वालासे दग्ध लोगोंके संसारके तापका विनाश करनेवाले हैं॥ २२॥

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥ २३॥

आप ही समस्त कारणोंके कारण हैं। आप ही प्रकृतिसे अतीत आदि पुरुष साक्षात् परमेश्वर हैं, अतएव आप निर्लिप्त अथवा अविकारी हैं। आप अपनी स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे त्रिगुणमयी बहिरङ्गा माया-शक्तिको दूर रखकर केवल स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं॥ २३॥

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम्॥ २४॥

मायासे दूर अवस्थित रहनेपर भी आप अपनी शक्तिके प्रभावसे माया द्वारा अभिभूत अर्थात् हरिसेवासे विमुख तथा भोगपरायण जीवोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्गरूप कल्याणका विधान करते हैं॥ २४॥

तथायञ्चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानाञ्चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्॥ २५॥

पूर्व-पूर्व अवतारोंकी भाँति आपका वर्त्तमान श्रीकृष्णरूपमें अवतार भी पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए और आपके स्वजनों तथा एकान्तिक भक्तोंके निरन्तर भजन-सुख (स्मरण-ध्यान) के लिए ही हुआ है॥ २५॥

किमिदं स्वित् कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम्॥ २६॥

हे देवादिदेव भगवन्! मैं यह जो अपने समीपमें सर्वव्यापी अत्यन्त भयङ्कर अग्नि देख रहा हूँ, यह क्या वस्तु है और कहाँसे आ रही है? मुझे इसके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ २६॥

श्रीभगवानुवाच—

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम्।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते॥ २७॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! यह अश्‍वत्थामाका ब्रह्मास्त्र है। अपने जीवनको सङ्कटमें आया देखकर उसने इसका प्रयोग तो कर दिया है, किन्तु वह इस अस्त्रको लौटाना बिलकुल नहीं जानता, किन्तु तुम जानते हो॥ २७॥

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम्।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा॥ २८॥

इस ब्रह्मास्त्रका दमन किसी भी अन्य अस्त्र द्वारा नहीं हो सकता, अतएव तुम अपने ब्रह्मास्त्रके तेजके द्वारा ही इस उत्कट ब्रह्मास्त्रके तेजका विनाश करो। तुम अस्त्र-विद्याके कुशल जानकार हो, अतः तुम्हें इसका प्रयोग भी आता है और इसे लौटाना भी॥ २८॥

श्रीसूत उवाच—

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे॥ २९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अर्जुन वीर-शत्रुओंको मारनेमें बड़े प्रवीण थे। भगवान्के इन वचनोंको सुनकर अर्जुनने आचमन किया और उनकी परिक्रमा की। तत्पश्‍चात् उस ब्रह्मास्त्रका निवारण करनेके लिए श्रीकृष्णके आदेशानुसार उन्होंने अपने ब्रह्मास्त्रका ही सन्धान किया॥ २९॥

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते।
आवृत्य रोदसी खञ्च ववृधातेऽर्कवह्निवत्॥ ३०॥

इसके बाद बाणोंसे घिरे हुए उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंका प्रचण्ड तेज, प्रलयकालके समय नीचेसे सङ्कर्षणकी मुखाग्नि और ऊपर स्थित

सूर्यके प्रखर तापके समान, परस्पर मिलकर स्वर्ग, मर्त्त्य और अन्तरीक्ष लोकोंको आच्छन्नकर सभी दिशाओंमें वर्द्धित होने लगा॥ ३०॥

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रील्लोँकान् प्रदहन्महत्।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत॥ ३१॥

अर्जुन और अश्वत्थामाके उन भीषण ब्रह्मास्त्रोंकी आगकी लपटे तीनों भुवनोंको ही दग्ध करने लगीं, जिससे समस्त जीव उत्तप्त हो गये और समझने लगे कि प्रलयकालीन सांवर्तक अग्नि ही उपस्थित हो गयी है॥ ३१॥

प्रजोपद्रवमालक्ष्य लोकव्यतिकरञ्च तम्।
मतञ्च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम्॥ ३२॥

उस प्रचण्ड प्रलयाग्निसे प्रजाओंका सङ्कट और समस्त लोकोंका विनाश होते देखकर महावीर पार्थने भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर उनकी अनुमतिसे उन दोनों ही ब्रह्मास्त्रोंको लौटा लिया॥ ३२॥

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा॥ ३३॥

अर्जुनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। उन्होंने गौतम-वंशमें उत्पन्न कृपी (कृपाचार्यकी बहिन) के पुत्र नृशंस (अर्थात् नर-वध करनेवाले) अश्वत्थामाको झपटकर बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे इस प्रकार बाँध दिया, जिस प्रकार याज्ञिक लोग रस्सी द्वारा यज्ञके पशुको बाँध देते हैं॥ ३३॥

शिबिराय निनीषन्तं रज्वा बध्वा रिपुं बलात्।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः॥ ३४॥

इस प्रकार जब अर्जुन अपने शत्रु अश्वत्थामाको रस्सी द्वारा बलपूर्वक बाँधकर शिविरकी ओर ले जा रहे थे, तभी कमल दलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण मानो क्रोधित होकर अर्जुनसे कहने लगे— ॥ ३४॥

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान्॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! इस अश्वत्थामाने रातके समय सोये हुए निरपराध शिशुओंकी हत्या की है। अतः इस अधम ब्राह्मणको छोड़ना युक्तिसङ्गत नहीं है, इसका वध कर डालो॥ ३५॥

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥ ३६॥

धर्मवेत्ता पुरुष न तो ऐसे व्यक्तिका वध करते हैं जो मद्यपानसे मत्त, असावधान, ग्रह या वायु-रोग आदिसे पीड़ित (पागल) हो और न ही वे सोये हुए, चेष्टारहित, विवेकशून्य, शरणागत, रथहीन, बालकों, स्त्रियों अथवा भयभीत शत्रुका ही वध करते हैं॥ ३६॥

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान्॥ ३७॥

परन्तु जो दुष्ट और क्रूर व्यक्ति दूसरोंका वधकर अपने प्राणोंका पोषण करते हैं, उनके लिए मृत्यु-दण्ड ही कल्याणकारी है। मानव जब पापादि कार्य करते हैं, तब राजाओंके द्वारा दण्डित होनेसे उनका पाप धुल जाता है और वे सुकृतिवानोंके समान स्वर्गलोक जाते हैं। अन्यथा इस लोकमें दण्ड और प्रायश्चित्तसे रहित रहनेपर पापके फलसे वे नरकगामी होते हैं॥ ३७॥

प्रतिश्रुतञ्च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा॥ ३८॥

हे अर्जुन! मैं जानता हूँ कि तुमने द्रौपदीसे यह प्रतिज्ञा की है कि "हे मानवती! जिस अश्वत्थामाने तुम्हारे पुत्रोंकी हत्या की है, मैं उसके सिरको तुम्हें उपहारके रूपमें प्रदान करूँगा॥"३८॥

तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा।
भर्त्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः॥ ३९॥

हे शूर! इस शस्त्रधारी, स्वजनोका वध करनेवाले, पापी, कुलाङ्गार अश्वत्थामाने ऐसा घृणित कार्य किया है, जिससे इसके स्वामी दुर्योधनको भी दुःख पहुँचा है, अतएव हे अर्जुन! इसका वध कर ही डालो॥ ३९॥

श्रीसूत उवाच—

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान्॥ ४०॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—इस प्रकार अर्जुनकी धर्म-निष्ठाकी परीक्षा करते हुए यद्यपि श्रीकृष्ण उन्हें अश्वत्थामाके वधके लिए प्रोत्साहित ही करते रहे, तथापि महात्मा अर्जुनने अपने महत्वके लिए पुत्रोंका हत्यारा होनेपर भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाका वध करनेकी इच्छा नहीं की॥ ४०॥

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्द-प्रियसारथिः।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्यायात्मजान् हतान्॥ ४१॥

तत्पश्चात् अर्जुन अपने सखा और सारथी श्रीकृष्णके साथ अपने शिविरमें उपस्थित हुए और पुत्रोंके मर जानेपर शोक करती हुई द्रौपदीके निकट अश्वत्थामाको उसी स्थितिमें समर्पित कर दिया॥ ४१॥

तथाहृतं पशुवत् पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं
वामस्वभावा कृपया ननाम च॥ ४२॥

द्रौपदीने देखा कि अश्वत्थामाको रस्सीसे बाँधकर पशुके समान बड़े ही असम्माननीय रूपसे लाया गया है। अपने निन्दनीय कर्म-दोषके कारण वह मौन है और नीचेकी ओर मुख किये हुए है। उस अनिष्ट करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस अवस्थामें देखकर शोभनीय स्वभावसे युक्त द्रौपदीका चित्त दयासे भर गया और उसने सम्मानके साथ अश्वत्थामाको नमस्कार किया॥ ४१-४२॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः॥ ४३॥

गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस प्रकार पशुकी भाँति बाँधकर लाना साध्वी द्रौपदीको सहन नहीं हुआ। वह बड़े आदरके साथ अर्जुनसे कहने लगीं—"आप इसे छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये। यह तो ब्राह्मण है और ब्राह्मण तो सब समय ही हमारे लिए पूजनीय हैं॥ ४३॥

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्॥ ४४॥
स एव भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।
तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी॥ ४५॥

"हे नाथ! जिनकी कृपासे आपने रहस्यपूर्ण मन्त्रोंके साथ धनुर्विद्या तथा प्रयोग एवं उपसंहारके कौशलके साथ समस्त अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है, वे भगवान् द्रोणाचार्य अपने पुत्र इसी अश्वत्थामाके रूपमें विद्यमान हैं। आपने इन्हें क्यों बाँधा? श्रीद्रोणाचार्यकी अर्द्धाङ्गिनी कृपी भी अभी जीवित हैं। अपने इसी वीरपुत्रकी ममताके कारण ही उन कृपीने अपने पतिका अनुगमनकर मृत्युको स्वीकार नहीं किया॥ ४४-४५॥

तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः॥ ४६॥

"हे महायशस्विन् आर्यपुत्र! आप तो धर्मके ज्ञाता हैं। जिस गुरु-वंशका नित्य पूजन और वन्दन करना चाहिये, उसीको दुःख प्रदान करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ४६॥

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥ ४७॥

"जिस प्रकार आज मैं अपने पुत्रोंके मर जानेपर दुःखी होकर रो रही हूँ, बार-बार आँसुओंके आनेके कारण मेरा मुख सूख ही नहीं रहा है, इस अश्वत्थामाकी माता पतिव्रता कृपी उस प्रकारसे न रोयें॥ ४७॥

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः।
तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्॥ ४८॥

यदि कोई क्षत्रिय राजा अपने असंयमित कार्योंसे ब्राह्मण-कुलको क्रोधित कर देता है, तब वह कुपित ब्राह्मण-कुल भी उस क्षत्रिय-वंशको सपरिवार शोकाग्निमें निमग्नकर शीघ्र ही उसे नष्ट कर देता है॥ ४८॥

श्रीसूत उवाच—

धर्म्यं न्यायं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः॥ ४९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ब्राह्मणो! महारानी द्रौपदीके वचन धर्म और न्यायके अनुकूल, कपटतारहित, समता-सूचक और करुणापूर्ण थे। अतएव धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरने रानी द्रौपदीके इन हितपूर्ण, श्रेष्ठ और उदार वचनोंका अनुमोदन किया॥ ४९॥

नकुलः सहदेवञ्च युयुधानो धनञ्जयः।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याञ्च योषितः॥ ५०॥

स्वयं-भगवान् श्रीवासुदेव, नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन तथा अन्यान्य जो सभी पुरुष एवं नारियाँ उस स्थानपर उपस्थित थे, उन सभीने द्रौपदीकी बात सुनकर उसका समर्थन किया॥ ५०॥

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा॥ ५१॥

किन्तु उसी समय भीमसेन क्रोधित होकर बोले—इस दुर्मति अश्वत्थामाने न तो अपने स्वामी दुर्योधनका और न ही अपना हित किया है। इसने बिना किसी कारणके ही सोये हुए बालकोंकी हत्या की है, अतएव इस पापीका वध करनेमें ही इसका कल्याण है अन्यथा निश्चय ही इसका नरकपात होगा॥ ५१॥

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याञ्च चतुर्भुजः।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव॥ ५२॥

इस प्रकारसे भीमसेन एवं द्रौपदीके द्वारा कहे गये वचनोंको सुनकर श्रीकृष्णने सहसा चतुर्भुज रूप धारण कर लिया। (भीम यदि क्रोधित होकर अश्वत्थामाका वध करनेमें उद्यत हों, तब द्रौपदी उन्हें अवश्य ही रोकेगी। अतः दोनोंको ही रोकनेके लिए श्रीकृष्णने चतुर्भुज रूप धारण किया।) अर्जुनका मन स्थिर नहीं हो रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुनके मुखकी ओर दृष्टिपात करके (आज तुम्हारी बुद्धिकी गम्भीरताकी परीक्षा होगी, इस अभिप्रायसे) हँसते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥५२॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम्॥५३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्राह्मण अधम होनेपर भी वधके योग्य नहीं है, किन्तु शस्त्रधारी-प्राणघातक आततायीका वध अवश्य ही कर देना चाहिये। मैंने इन दोनों ही विधानोंकी व्यवस्था शास्त्रोंमें की है। हे अर्जुन! परस्पर विरोधी होनेपर भी तुम मेरी इन दोनों ही आज्ञाओंका पालन करो॥५३॥

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत् सान्त्वयता प्रियाम्।
प्रियञ्च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च॥५४॥

हे सखे! शोकसे व्याकुल पत्नी द्रौपदीको सान्त्वना प्रदान करते हुए तुमने जो पुत्रोंके हत्यारेके सिरको उपहारके रूपमें प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा की थी, तुम उस प्रतिज्ञाको यथार्थ रूपसे सत्य करो। अश्वत्थामाका वध करके भीमका, वध न करके द्रौपदीका, एवं वध तथा अवध—इन दोनों विधियोंकी रक्षा करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूर्णकर मेरा और सभीका प्रिय कार्य करो॥५४॥

श्रीसूत उवाच—

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना।
मणिं जहार मूर्द्धन्यं द्विजस्य सहमूर्द्धजम्॥५५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—तदनन्तर सहसा श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर वध और अवध परस्पर विरुद्ध दोनों कार्योंको साधित करते हुए महावीर धनञ्जयने अपनी तलवारसे ब्रह्मबन्धु अश्वत्थामाके सिरका मुण्डनकर उसके मस्तककी मणिको निकाल लिया॥ ५५॥

विमुच्य रसनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम्।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत्॥ ५६॥

सोये हुए बालकोंका वध करनेके कारण अश्वत्थामा पहलेसे ही तेजहीन और शोभाहीन हो गया था। अब पुनः मणिसे रहित और ब्रह्मतेजसे भी हीन हो गया। यह देखकर अर्जुनने रस्सीसे बँधे हुए अश्वत्थामाको बन्धनमुक्त करके शिविरसे बाहर निकाल दिया॥ ५६॥

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः॥ ५७॥

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार सिरका मुण्डन कर देना, धन छीन लेना और अपने स्थानसे बाहर निकाल देना—यह सब पतित ब्राह्मणके लिए उसका वध करनेके समान ही हैं। इसके अतिरिक्त सिर काटना इत्यादि द्वारा ब्राह्मणके शारीरिक-वधकी आज्ञा शास्त्रोंमें नहीं दी गयी है॥ ५७॥

पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम्॥ ५८॥

तत्पश्चात् पुत्रशोकसे कातर पाँचो पाँण्डवों और द्रौपदीने अपने परलोकगत भाई-बन्धुओंके शवोंकी दाहादि समस्त ऊर्ध्व-दैहिक (अन्त्येष्टि) क्रियाएँ सम्पन्न की॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे द्रौणिदण्डो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

गर्भस्थ परीक्षित्‌की रक्षा, माता कुन्तीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा महाराज युधिष्ठिरका शोक

श्रीसूत उवाच—

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इसके बाद पाण्डव परलोकगत आत्मीय-बन्धुओंके उद्देश्यसे तर्पण करनेके लिए शास्त्र-विधिके अनुसार द्रौपदी सहित स्त्रियोंको आगे करके गङ्गाके तटपर आये॥ १॥

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्ज-रजःपूतसरिज्जले॥ २॥

उन सबने स्नानके बाद मृत-बन्धुओंको जलाञ्जलि प्रदान की अर्थात् तर्पण किया तथा उनके गुणोंका स्मरण करते हुए विलाप करने लगे। तदुपरान्त सभीने श्रीहरिके चरणकमलोंकी धूलिसे पवित्र गङ्गाके जलमें पुनः स्नान किया॥ २॥

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्त्तां पृथां कृष्णाञ्च माधवः॥ ३॥

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धून् शुचार्पितान्।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम्॥ ४॥

उस गङ्गाके तटपर भीमादि भाइयोंके साथ महाराज युधिष्ठिर, दुर्योधनादिके पिता धृतराष्ट्र, पुत्रोंके शोकसे कातर दुर्योधनादिकी माता गान्धारी, पाण्डवोंकी माता कुन्ती, पाण्डव-पत्नी द्रौपदी आदि बैठे हुए थे। वे सभी बन्धु-बान्धवोंके निधनसे शोकमें अभिभूत हो रहे थे। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने मुनियोंके साथ उन सबको सान्त्वना

देते हुए कहा—कालकी गतिको रोका नहीं जा सकता है तथा कोई भी प्राणी इससे बच नहीं सकता॥ ३-४॥

साधयित्वाजातशत्रोः स्वराज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वाऽसतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः॥ ५॥

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत्॥ ६॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके जिस पैतृक राज्यको दुर्योधनादि धूर्त्त राजाओंने छलसे छीन लिया था, उसे वापस दिलवाया तथा द्रौपदीके केशोंको खींचनेके दोषसे जिन दुष्ट राजाओंकी आयु क्षीण हो गयी थी, उनका विनाश करवाया। तत्पश्चात् उन्होंने महाराज युधिष्ठिरके द्वारा सर्वश्रेष्ठ सामग्रियों एवं पुरोहितोंसे तीन अश्वमेध यज्ञ करवाकर सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके समान उनकी पवित्र कीर्त्तिका चारों दिशाओंमें विस्तार किया॥ ५-६॥

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः॥ ७॥

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम्॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! अब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका जाना चाहते थे। अतः उन्होंने पाण्डवोंसे यथायोग्य संभाषण करते हुए विदायी ली और श्रीवेदव्यास आदि मुनियोंका बड़ा सत्कार किया। पुनः उन ऋषियोंने भी श्रीकृष्णकी पूजा की। तदनन्तर जैसे ही श्रीकृष्ण शिनिपौत्र सात्यकि और उद्धवके साथ द्वारका जानेके लिए रथपर सवार हुए, उसी समय उन्होंने देखा कि अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा भयसे व्याकुल होकर तीव्रगतिसे उनकी ओर दौड़ी चली आ रही है॥ ७-८॥

श्रीउत्तरोवाच—

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥ ९॥

श्रीउत्तरादेवीने कहा—हे देवादिदेव! हे विश्वस्वामिन्! हे महायोगी! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो। इस मर्त्यलोकमें एक वस्तु दूसरी वस्तुके विनाशका कारण है। आपके अतिरिक्त इस संसारमें अभय प्रदान करनेवाला कोई दूसरा दिखलायी नहीं देता, अतएव आपको छोड़कर मैं किससे प्रार्थना करूँ?॥ ९॥

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥ १०॥

हे परमेश्वर! हे सर्वव्यापिन्! हे सर्वशक्तिमान! देखिये! यह दहकता हुआ लोहेके बाणसे युक्त ब्रह्मास्त्र मुझे पीड़ा देनेके उद्देश्यसे मेरी ओर वेगपूर्वक चला आ रहा है। हे नाथ! यह चाहे मुझे दग्ध कर डाले, मुझे कोई चिन्ता नहीं, किन्तु मेरी गर्भस्थ सन्तानको नष्ट न करे॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—
उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः।
अपाण्डवमिदं कर्त्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण शरणागतोंके पालक हैं। उन्होंने उत्तराके इन दुःखपूर्ण वचनोंको सुना और भलीभाँति विचारकर समझ गये कि अपनी पराजयके कारण अत्यन्त क्रोधित द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने इस संसारको पाण्डवोंसे रहित करनेके लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा है॥ ११॥

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान्।
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः॥ १२॥

हे मुनिश्रेष्ठ शौनक! ठीक उसी समय पाण्डवोंने देखा कि जलते हुए पाँच बाण उनकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। यह देखकर उन्होंने अपने-अपने अस्त्र धारण कर लिये॥ १२॥

व्यसनं वीक्ष्य तत् तेषामनन्यविषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः॥ १३॥

सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि उनके ऐकान्तिक प्रेमी और शरणागत भक्त पाण्डवोंपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है तथा दूसरे-दूसरे अस्त्रोंसे इस घोर विपत्तिजनक ब्रह्मास्त्रको रोका नहीं जा सकता, तब उन्होंने तत्काल ही अपने सुदर्शनचक्रसे अपने निजजन उन पाण्डवोंकी रक्षा की॥ १३॥

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे॥ १४॥

भगवान् श्रीहरि षडैश्वर्यपूर्ण और सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान परमात्मा हैं। उन्होंने कुरुवंशमें उत्पन्न पाण्डवोंके वंशकी रक्षाके लिए विराटनन्दिनी उत्तराके गर्भमें श्रीकृष्णरूपमें ही प्रवेश किया और अपने योगमायारूपी कवचसे उसके गर्भको ढक दिया॥ १४॥

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघञ्चाप्रतिक्रियम्।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह॥ १५॥

हे भार्गव शौनकजी! यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है अर्थात् कभी व्यर्थ नहीं जाता और उसके निवारणका भी कोई उपाय नहीं है, तथापि श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) से सम्बन्धित तेजके समक्ष आकर वह ब्रह्मास्त्र पूर्णतया शान्त हो गया॥ १५॥

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः॥ १६॥

हे ब्रह्मन्! परमपुरुष श्रीविष्णु जन्मादिसे रहित हैं। वे अपनी बहिरङ्गा माया-शक्तिसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश करते हैं। अचिन्त्यशक्तिमान होनेके कारण वे अनेक परम चमत्कारपूर्ण लीलाएँ करते हैं। उन अच्युत श्रीकृष्णके लिए इस ब्रह्मास्त्रको शान्त करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है॥ १६॥

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती॥ १७॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर प्रस्थान करनेके लिए तत्पर हुए। यह देखकर साध्वी कुन्ती ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे मुक्त अपने पुत्रों

और द्रौपदीके साथ उनकी इस प्रकारसे स्तुति करने लगीं—॥ १७॥

श्रीकुन्त्युवाच—

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥ १८॥

माता कुन्तीने कहा—हे कृष्ण! आप मेरे भतीजे होते हुए भी आदिपुरुष हैं। आप मायासे अतीत तत्त्व हैं तथा मायाके नियन्ता हैं। यद्यपि आप समस्त प्राणियोंके भीतर एवं बाहरमें पूर्ण रूपसे अवस्थित हैं, तथापि आपको इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ १८॥

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥ १९॥

हे वासुदेव! आप अपने मायारूपी आवरणसे ढके रहते हैं। आप इन्द्रियज्ञानसे अतीत, अपरिच्छिन्न और अच्युत हैं। मैं भक्तियोगसे अनजान हूँ, इसलिए आपको केवल नमस्कार करती हूँ। जिस प्रकार गान-नृत्य-तालादिसे युक्त अभिनय करता हुआ कोई नट भिन्न-भिन्न वेश धारणकर भिन्न-भिन्न भाव प्रस्तुत करता है और उसके अभिनयसे मुग्ध द्रष्टा उसे पहचान नहीं पाते, उसी प्रकार आप देहाभिमानियोंके सामने प्रत्यक्ष रहकर भी उनके दृष्टिगोचर नहीं होते॥ १९॥

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥ २०॥

मननशील, आसक्ति रहित, आत्म-अनात्म विवेकी जीवन्मुक्त परमहंस पुरुष भी आपकी महिमाके प्रभावके कारण आपका दर्शन नहीं कर पाते। अतएव ऐसे पुरुषोंमें भी अपने प्रति भक्ति उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अवतीर्ण आपका मेरे जैसी मुग्ध स्त्रियाँ कैसे दर्शन कर सकती है अर्थात् किस प्रकार आपको जाननेमें समर्थ हो सकती हैं?॥ २०॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥ २१॥

हे श्रीकृष्ण! समस्त अवतारोंकी तुलनामें आपका यह श्रीकृष्ण अवतार ही अति श्रेष्ठ है। पुनः इस अवतारमें आपने जिन्हें अपने सम्बन्धसे प्रीतियुक्त और कृतार्थ किया है, उनमें मेरे भाई वसुदेव ही अति धन्य हैं, क्योंकि आपने उन्हें अपने पिताके रूपमें वरण किया है, इसलिए आपका नाम वासुदेव है। पिता वसुदेवकी अपेक्षा भी अधिक स्नेहवत्सला एवं सौभाग्यशालिनी माता देवकी हैं, जिनके गर्भसे प्रकट होकर आपने उन्हें अधिक धन्या और समृद्धिमती बनाया है, इसीलिए आप 'देवकीनन्दन' कहलाते हैं। इसकी भी अपेक्षा अधिक धन्य वात्सल्य-स्नेहसे परिपूर्ण गोपराज नन्द हैं। उन्होंने आपकी कौमार-लीलाके माधुर्यका आस्वादन किया है, इसलिए आप 'नन्दगोपकुमार' अर्थात् 'नन्दनन्दन' कहलाते हैं। उनकी भी अपेक्षा प्रीतिमती देवी यशोदा धन्या हैं, इसलिए आप 'यशोदानन्दन' कहलाते हैं। आपकी कौमार-लीलाकी अपेक्षा व्रजकी कैशोर-लीलाका माधुर्य श्रेष्ठ है, क्योंकि आप अपनी कैशोर-लीला द्वारा सभीकी समस्त इन्द्रियोंको आकर्षणकर आनन्दका उपभोग करते हैं, इसलिए आप 'गोविन्द' हैं। आपको बार-बार प्रणाम है॥ २१॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २२॥

आपकी नाभिसे ब्रह्माजीका जन्म-स्थान 'कमल' प्रकट हुआ है, आपके गलेमें सुन्दर कमलोंकी माला सुशोभित है, आपके दोनों नेत्र कमलके समान प्रफुल्लित एवं विशाल हैं, आपके दोनों चरणोंमें कमलका चिह्न अङ्कित है। आपको देखकर मेरे नेत्र सुशीतल हो जाते हैं, अतएव मैं आपको पुनः-पुनः प्रणाम करती हूँ॥ २२॥

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहञ्च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥ २३॥

हे सर्वशक्तिमान इन्द्रियाधिपति! आपकी माता देवकीको क्रूर कंसने बहुत समय तक कारागारमें बन्द कर दिया था, जिससे वे शोकसे व्याकुल रहती थीं। जिस प्रकार आपने उन्हें कारागारसे मुक्त किया है, उसी प्रकार हे सर्वव्यापिन् प्रभो! आपने मेरे और मेरे पुत्र—पाण्डवोंके रक्षक एवं पालकके रूपमें हमें अनेक विपत्तियोंसे अति शीघ्र ही बार-बार मुक्त किया है॥ २३॥

विषान्महाग्नेः पुरुषाद-दर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः॥ २४॥

हे श्रीहरि! आप सर्वशक्तिमान हैं। आपने विष-मिश्रित मोदक (लड्डु) से होनेवाली मृत्युसे, लाक्षा-गृह-दाहसे, मानव-भक्षक हिडिम्बादि दुष्ट राक्षसोंकी दृष्टिसे, दुष्टोंकी द्यूत-सभासे, वनवासरूप कष्टोंसे और प्रत्येक युद्धमें भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि अनेकों महारथियोंके प्राणघाती अस्त्रोंसे तथा अभी-अभी अश्वत्थामाके इस ब्रह्मास्त्रसे सभी प्रकारसे हमारी रक्षा की है॥ २४॥

विपदः सन्तु ताः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भावतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ २५॥

हे विश्वपति श्रीकृष्ण! इन सब विपत्तियोंके बार-बार उपस्थित होनेके कारण ही हमें आपके दुर्लभ दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। आपका दर्शन होनेपर पुनः इस संसार-चक्रमें आना नहीं पड़ता। इसलिए हे सम्पद्रूप अहङ्कारकी आँधीको ध्वंस करनेवाले! हमारी वे सभी विपत्तियाँ इस प्रकारकी विचित्र अवस्थाओंमें चिरस्थायी बनी रहें, बार-बार आती रहें॥ २५॥

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥ २६॥

हे श्रीकृष्ण! उच्चकुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और रूपादिको प्राप्तकर जिनका अभिमान बढ़ता जाता है, वे कभी भी आपके

श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि पावन नामोंका कीर्त्तन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। यह सौभाग्य तो एकमात्र सांसारिक अभिमानसे रहित निष्किञ्चन भक्तोंको ही प्राप्त होता है॥ २६॥

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥ २७॥

आप अकिञ्चन भक्तोंके परम धन हैं और ये अकिञ्चन भक्त भी आपके सर्वस्व हैं। आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी वाञ्छारूप विषयोंकी कामनासे रहित हैं, अपितु ये सब तो आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते, क्योंकि आप अपनी आत्मामें ही विहार करनेवाले हैं। आप पूर्णानन्दस्वरूप, शान्तस्वरूप तथा मोक्ष प्रदाता हैं। अतः मैं आपको बार-बार प्रणाम करती हूँ॥ २७॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः॥ २८॥

हे श्रीकृष्ण! आप केवल देवकीके पुत्र ही नहीं, अपितु सभीके कालस्वरूप हैं। आप सभीके नियन्ता हैं, अतः आपका न आदि है और न ही अन्त। आप सर्व-समर्थ प्रभु हैं तथा सर्वत्र समान भावसे रहते हैं। यद्यपि आप पार्थसारथी हैं, तथापि आपको निमित्त बनाकर प्राणी परस्पर कलह करते रहते हैं कि आप ईश्वर हैं, दुःख और सुख प्रदाता हैं, सम और विषम हैं, करुणापूर्ण और करुणाहीन हैं। किन्तु वस्तुतः आपमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं है॥ २८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्॥ २९॥

हे ईश्वर! आपका कभी भी कोई भी प्रिय मित्र अथवा अप्रिय शत्रु नहीं है। जब आप नरवत् लौकिक-लीलाका अनुकरण करनेके लिए तत्पर होते हैं, तब यह कोई नहीं जान सकता कि आप किस अभीष्ट कार्यको सम्पन्न करना चाहते हैं। आपके सम्बन्धमें मनुष्य

कृपा और दण्डरूप भ्रम-बुद्धिका आरोप उसी प्रकार कर लेता है, जिस प्रकार सूर्य सूर्यकान्त शिलामें अपने ही समान दाहिका शक्तिका गुण प्रदान करता है, जिससे अन्ध, उदासीन और चक्रवाक पक्षियोंका तो उपकार होता है, किन्तु उल्लूपक्षी, तस्कर और अन्धकारादिका अपकार होता है। वस्तुतः सूर्यमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं होती॥ २९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम्॥ ३०॥

हे विश्वकी आत्मा! आप परमात्मा अन्तर्यामी विश्वरूप हैं। आप न तो जन्म लेते हैं और न ही कर्म करते हैं, तथापि पशु-लीला करते हुए वराहादि रूपमें, नर-लीला करते हुए रामादि रूपमें, ऋषि-लीला करते हुए नर-नारायणादि रूपमें, जल-जन्तुकी लीला करते हुए मत्स्यादि रूपमें अवतीर्ण होकर आप जिन-जिन क्रियाओंको करते हैं—वह समस्त केवल अभिनय हैं अर्थात् लोक प्रवञ्चना मात्र हैं॥ ३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥ ३१॥

बाल्यकालमें आपने दधि-भाण्डको फोड़ दिया था। आपके इस 'अपराध' के लिए गोपराज पत्नी श्रीयशोदादेवीने आपको बाँधनेके लिए जिस समय हाथोंमें रस्सी धारण की थी, उस समय आपके अञ्जन लगे हुए नेत्र व्याकुल होने लगे और उनसे आँसू निकलने लगे। आपने अपना मुख नीचे कर लिया और 'माता मुझे मारेगी'—इस भयसे भीत होकर चिन्तामग्न हो गये। आप तो साक्षात् भयस्वरूप हैं, महाकाल भी आपसे भयभीत होता है। अतः उस समय आपकी जो अवस्था हुई थी, उस लीला छविको स्मरण करके मैं मोहित हो रही हूँ॥ ३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥ ३२॥

आपने अजन्मा होकर भी जन्म-ग्रहण किया है। आपके इस प्रादुर्भावके कारणके विषयमें कई मतभेद है। कोई-कोई कहते हैं कि जिस प्रकार मलय-पर्वतके यशकी वृद्धिके लिए उसपर चन्दन-वृक्षोंका जन्म होता है, उसी प्रकार पुण्यश्लोक प्रिय युधिष्ठिर और पवित्रकीर्त्ति यदुओंके यशके विस्तारके लिए ही आप यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं॥ ३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥ ३३॥

अन्य कुछ लोग कहते हैं कि सुतपा-पृश्निरूप क्षत्रिय दम्पत्तिने आपको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेके लिए आपसे वरदान माँगा था, इसलिए आपने इस जगत्के कल्याण और असुरोंके नाशके लिए अजन्मा होकर भी वसुदेव-देवकी (पूर्व जन्ममें सुतपा-पृश्नि) के पुत्र होनेके भावको सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है॥ ३३॥

भारावतरणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरि भारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥ ३४॥

दैत्योंके असहनीय पाप-भारके कारण पृथ्वी अति पीड़ित होकर इस प्रकार डगमगा रही थी, जिस प्रकार समुद्रके बीचमें अत्यधिक भारके कारण नौका डूबने लगती है। ब्रह्माजीने (समस्त देवताओंके साथ) पृथ्वीके भार-हरणके लिए आपसे प्रार्थना की थी। उनकी प्रार्थनाके फलस्वरूप ही आप अवतीर्ण हुए हैं—ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं॥ ३४॥

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥ ३५॥

इस संसारमें आपके परमानन्द स्वरूपकी जो अज्ञानरूपिणी अविद्या है, उसके कारण ही जीवकी शरीरके प्रति आत्मबुद्धि होती है, जिससे उसमें अनेकों कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। कोई-कोई

ऐसा भी कहते हैं कि आपने जन्म-ग्रहण करके अनेकों प्रकारकी लीलाएँ की है, जिससे इन कामनाओंकी अग्निमें दग्ध हो रहे जीव अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिए ही इन लीलाओंका श्रवण-स्मरण-ध्यान कर सकें॥ ३५॥

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ ३६॥

जो लोग आपकी पवित्र कथाका बार-बार श्रवण, कीर्त्तन, उच्चारण और स्मरण करके आनन्दित होते हैं अथवा दूसरेके द्वारा आपकी कथाका कीर्त्तन होनेपर उसका बड़ा आदर करते हैं, वे लोग अतिशीघ्र ही आपके चरणकमलोंका दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, जिसके प्रभावसे उनका जन्म-मृत्युका प्रवाह सदाके लिए रुक जाता है॥ ३६॥

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित् सुहृदोऽनुजीविनः।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम्॥ ३७॥

हे भगवन्! आप सदा अपने भक्तोंके कार्योंको सम्पन्न करनेके इच्छुक रहते हैं। युद्धमें मेरे पुत्रों द्वारा राजाओंके बन्धु-बान्धवादिके वधके कारण वे राजा मेरे पुत्रोंके विद्वेषी और शत्रु हो गये हैं। हमलोग पूर्णतया आपके आश्रित हैं, अतएव आपके चरणकमलोंके अतिरिक्त हमारा कोई दूसरा सहारा नहीं है। क्या अब आप अपने आश्रित स्वजनोंको छोड़कर जाना चाहते हैं?॥ ३७॥

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः।
भवतो दर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः॥ ३८॥

जिस प्रकार इन्द्रियोंके चालक जीवके अदृश्य होते ही इन्द्रियाँ अपने नाम और रूपसे रहित तथा शक्तिहीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यदि हमपर आपकी कृपादृष्टि न रहे, तो यशस्वी और समृद्धिशाली

यदुओंके साथ युक्त होनेपर भी, पाँचों पाण्डवोंका और मेरा मूल्य ही क्या रह जायेगा? हमारा अस्तित्व तो अति तुच्छ है। हम सैकड़ों बलोंसे भी बलवान क्यों न हों—आपके अभावमें सब कुछ निष्फल ही है, क्योंकि आप ही हमारा एकमात्र बल और सहारा हैं॥ ३८॥

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः॥ ३९॥

हे गदाधर कृष्ण! अब जिस प्रकार हमारी पाल्य—कुरुजाङ्गल देशकी भूमि असाधारण ध्वज, वज्र, अंकुश आदि चिह्नोंसे युक्त आपके चरण-युगलोंसे चिह्नित होकर शोभा पा रही है, आपके चले जानेपर उसकी वैसी शोभा नहीं हो सकती॥ ३९॥

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षिताः॥ ४०॥

विशेष रूपसे आपके दर्शनके प्रभावसे यह देश समस्त प्रकारके उत्तम फलों, औषधियों और लता-वृक्षोंसे समृद्ध हो रहा है। आपकी कृपादृष्टिसे समृद्ध होकर ही ये वन, पर्वत, नदियाँ और सागर वर्द्धित हो रहे हैं॥ ४०॥

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु॥ ४१॥

हे जगदीश! हे सबके अन्तर्यामिन्! हे विश्वरूप! अब आप यहाँसे प्रस्थान करें या यहाँ रहें, जो भी करें, परन्तु इन पाण्डवों एवं यादवोंके प्रति मेरा जो स्नेहबन्धन बड़ा गाढ़ हो गया है—आप कृपया इसका छेदन कर दीजिये॥ ४१॥

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥ ४२॥

हे माधव! गङ्गा जिस प्रकार किसी भी विघ्नको विघ्न नहीं मानतीं तथा समस्त नद-नदियोंके आश्रय सागरकी ओर उन्मुख होकर अपने स्रोतको प्रवाहित करती रहती हैं, उसी प्रकार मेरी एकान्तिक साध्वी

मति विघ्नोंसे मुक्त होकर समस्त भक्तोंके आश्रय-स्वरूप आपके प्रति निरन्तर प्रेममयी बनी रहे॥ ४२॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनीध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विज-सुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥ ४३॥

हे कृष्ण! हे अर्जुनसखा! हे यादवश्रेष्ठ! आप पृथ्वीद्रोही राजवेशधारी दैत्योंके कुलका विनाश करनेवाले हैं। हे गोविन्द! आप अपने अक्षय प्रभावसे वैकुण्ठ और गोलोकाधिपति हैं। गौ, ब्राह्मण और देवताओंके दुःखोंको दूर करनेके लिए आपका अवतार हुआ है। हे योगेश्वर! हे विश्वगुरु! हे ईश्वर! मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ४३॥

श्रीसूत उवाच—

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया॥ ४४॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—श्रीकुन्तीदेवीने इस प्रकार मधुर पदोंसे युक्त वचनोंके द्वारा भगवान्‌की सम्पूर्ण महिमाके विषयमें विशेष भावसे स्तुति की, जिसे सुनकर अप्राकृत वैकुण्ठके ईश्वर श्रीकृष्ण उन्हें अपनी मायासे मानो मोहित करते हुए मन्द-मन्द मुसकराने लगे॥ ४४॥

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम्।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः॥ ४५॥

'आपमें मेरी एकान्तिक मति निरन्तर प्रेममयी रहे'—माता कुन्तीकी इस प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कहा और कुन्तीके अनुरोधको भी स्वीकार करके रथसे उतरकर हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। इसके बाद पुनः जब वे कुन्ती और सुभद्रा आदि अन्यान्य स्त्रियोंसे विदायी लेकर अपने राज्य द्वारकापुरीको जाने लगे, तब राजा श्रीयुधिष्ठिरने उनसे 'यहाँ कुछ दिन और रह जाइये'—इस प्रकारकी अत्यन्त प्रेमभरी प्रार्थना करके उन्हें रोक लिया॥ ४५॥

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥ ४६ ॥

राजा युधिष्ठिरको अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेका बड़ा शोक हो रहा था,[१] भगवान्‌की लीलाका मर्म जाननेवाले व्यास आदि महर्षियोंने और स्वयं अलौकिक लीलाएँ करनेवाले श्रीकृष्णने पूर्व इतिहास बतलाकर अबोध युधिष्ठिरको समझानेका बहुत प्रयास किया, परन्तु उन्हें सान्त्वना नहीं मिली, न ही उनका विवेक जगा अर्थात् उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई॥ ४६ ॥

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम्।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥ ४७ ॥

हे शौनकादि ब्राह्मणो! धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरका हृदय अविवेकसे ग्रस्त हो रहा था। सुहृद और स्वजनोंके विनाशकी चिन्तासे वे स्नेह और मोहके वशीभूत होकर कहने लगे—॥ ४७ ॥

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदिरूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥ ४८ ॥

हाय! मैं बड़ा ही पापी हूँ। मेरे हृदयके मूलमें बद्ध हुए इस गाढ़ मोहरूप अज्ञानको तो देखो! मैंने सियार और कुत्तोंके आहार इस

---

[१] मूल श्लोकमें 'ईश्वरेहाज्ञैः' पदका अर्थ 'ईश्वरेहाया अज्ञैः' भी किया गया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वरचित टीकामें इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने भक्त भीष्मको उनके निर्याणके समयमें दर्शन देनेके लिए राजा युधिष्ठिरके साथ कुरुक्षेत्र जाना और उन्हीं भीष्मदेवके मुखसे युधिष्ठिरको सान्त्वना दिलाना—व्यासदेव इत्यादि ऋषि भी श्रीकृष्णके इन दोनों कार्योंको सम्पन्न करनेके अभिप्रायसे अवगत नहीं थे। जिन भगवान् द्वारा कौरव और पाण्डवोंकी सन्धिके लिए यथेष्ट चेष्टा करनेपर भी जिस प्रकार उन भगवान्‌ने युद्धको ही पहलेसे निश्चित कर रखा था, उसी प्रकार यहाँपर भी भक्तराज भीष्मदेवके माहात्म्यको दिखलानेके लिए उन श्रीकृष्णने स्वयं अन्तर्यामी रूपमें राजा युधिष्ठिरके अन्तरमें प्रवेशकर उनमें अविवेक उत्पन्न किया और बाहरसे स्वयं और व्यासादि ऋषियों द्वारा युधिष्ठिरको समझानेपर भी उनका अविवेक ही दृढ़ किया—]

अनात्म शरीरके लिए कितनी ही अक्षौहिणी[१] सेनाओंको मार डाला॥ ४८॥

बालद्विज-सुहृन्मित्र-पितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः॥ ४९॥

हाय! मैंने बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, सखा, चाचा-ताऊ, भाई और गुरुजनोंका वध किया है, अतः मैं करोड़ों वर्षों तक भी नरकसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाऊँगा॥ ४९॥

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मो युद्धे वधो द्विषाम्।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः॥ ५०॥

'युद्धके समय प्रजाके पालनके उद्देश्यसे राजा शत्रुओंका विनाश कर सकता है तथा यह उसका स्वधर्म है, इसमें पाप नहीं होता—यही धर्मशास्त्रका विधान है', परन्तु मुझे इन लिखित वचनोंसे सान्त्वना नहीं मिल रही है। भावार्थ—शत्रु द्वारा अपनी प्रजामें अशान्ति उत्पन्न होनेपर राजा द्वारा शत्रुओंका वध शास्त्र-विहित है। किन्तु दुर्योधन तो अपनी प्रजाका सुखपूर्वक पालन कर रहा था। मैंने तो केवल राज्यके लोभसे उसका वध किया है, अतः मेरे द्वारा पाप ही हुआ है॥ ५०॥

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम्॥ ५१॥

इस युद्धमें मैंने जिनके पति, बन्धु-बान्धवोंका वध किया है, उन स्त्रियोंके मनमें मेरे प्रति भयानक हिंसाका भाव उत्पन्न हो गया है। उनके प्रति हुए मेरे इस अपराधको मैं गृहस्थाश्रममें विहित समस्त धर्म-कर्मादि द्वारा भी धोनेमें समर्थ नहीं हो सकता॥ ५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥ ५२॥

---

[१] २१८७० रथ, २१८७० हाथी, १०९३५० पैदल, ६५६०० घुड़सवार—इतनी सेनाको अक्षौहिणी कहते हैं।

जिस प्रकार कीचड़ द्वारा कीचड़ मिश्रित जल स्वच्छ नहीं होता अथवा जिस प्रकार एक बिन्दु मदिराके स्पर्शकी अपवित्रताको मदिरापान द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मनुष्य द्वारा प्रमादवशतः हो जानेवाली प्राणियोंकी हत्यासे उत्पन्न पापको हिंसामूलक बहुत-से यज्ञोंके द्वारा शोधित नहीं किया जा सकता, अर्थात् हिंसा द्वारा उसका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकुन्तीस्तवः श्रीयुधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदिका भीष्मदेवके पास जाना, भीष्मदेवके द्वारा उन्हें समझाना तथा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए भीष्मदेवका महाप्रयाण

श्रीसूत उवाच—

इति भीतः प्रजाद्रोहात् सर्वधर्मविवित्सया।
ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर प्रजाके विद्रोहकी आशङ्कासे भयभीत हो गये। ऐसी अवस्थामें समस्त धर्मोंके तत्त्वको जाननेके इच्छुक महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके कहे अनुसार कुरुक्षेत्रकी ओर चल दिये, जहाँ श्रीभीष्मदेव शर-शय्यापर लेटे हुए थे॥ १॥

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा॥ २॥

हे शौनकादि ऋषियो! सब भाई स्वर्ण-जड़ित रथोंपर सवार हुए जिनमें उत्तम-उत्तम अश्व जुते हुए थे। सभी भाई महाराज युधिष्ठिरका अनुगमन कर रहे थे तथा व्यास, धौम्य आदि ब्राह्मण भी उनके साथ थे॥ २॥

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः॥ ३॥

हे शौनकजी! श्रीकृष्ण भी अर्जुनके साथ रथपर चढ़कर धर्मराज युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चलने लगे। उस समय समस्त भाईयोंके साथ राजा युधिष्ठिर इस प्रकारसे शोभायमान हो रहे थे, मानो यक्षोंसे घिरे हुए धनाधिपति साक्षात् कुबेर चले जा रहे हों॥ ३॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम्।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा॥ ४॥

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्ण और अपने अनुचरोंके साथ कुरुक्षेत्रमें उपस्थित होकर देखा कि श्रीभीष्मदेव स्वर्गसे गिरे हुए श्रेष्ठ देवताके समान भूमिपर पड़े हुए हैं। तब सभीने उन्हें प्रणाम किया॥ ४॥

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम्॥ ५॥
पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः॥ ६॥
वशिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
काक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः॥ ७॥

हे साधुश्रेष्ठ शौनक! उस समय भरतकुलके तिलक श्रीभीष्मदेवको देखनेके लिए ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि एवं शिष्योंके सहित नारद, धौम्य, भगवान् बादरायण, बृहदश्व, भरद्वाज, रेणुकासुत (परशुराम), वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, काक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक और सुदर्शन आदि मुनि वहीं कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए॥ ५-७॥

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! इनके अतिरिक्त श्रीशुकदेव आदि अमल परमहंसगण तथा कश्यप, अङ्गिरापुत्र बृहस्पति प्रमुख मुनि भी अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे॥ ८॥

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित्॥ ९॥

वसुश्रेष्ठ भीष्म पितामह धर्म-व्यवहारको जाननेवाले तथा देश-काल-पात्रके विचारके अनुसार किये जानेवाले कार्योंकी रीतिसे भलीभाँति अवगत थे। उन्होंने महाभाग्यवान उन समस्त मुनियोंको अपने पास समुपस्थित देखकर यथाविधि उनका सत्कार किया॥ ९॥

कृष्णञ्च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम्।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम्॥ १०॥

भक्तराज भीष्मदेव भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाको भलीभाँति जानते थे। उन्होंने अन्तर्यामीके रूपमें हृदयमें स्थित तथा स्वरूपशक्तिके बलसे अप्राकृत शरीर धारण करके मनुष्यवत् लीला करनेवाले और अपने सम्मुख विराजमान जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णकी बाहर एवं भीतरसे पूजा की॥ १०॥

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्।
अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा॥ ११॥

पाण्डव विनय और स्नेहसे युक्त होकर भीष्म पितामहके सम्मुख ही अवनत भावसे बैठे हुए थे। उन्हें देखकर भीष्म पितामहकी दृष्टि स्नेहाश्रुओंके कारण ढक गयी। तब वे पाण्डवोंसे कहने लगे— ॥ ११॥

श्रीभीष्म उवाच—

अहो कष्टमहोऽन्यायं यद्यूयं धर्मनन्दनाः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः॥ १२॥

श्रीभीष्मदेवने कहा—हे धर्मपुत्र पाण्डवो! तुम लोगोंने ब्राह्मण, धर्म और भगवान् श्रीकृष्ण—इन तीनोंका ही आश्रय लिया हुआ था, तथापि तुमलोगोंको इतने कष्टके साथ जीवन यापन करना पड़ा—यह कदापि तुम लोगोंके योग्य नहीं था। यह तो बहुत ही दुःख और अन्यायकी बात थी॥ १२॥

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः॥ १३॥

आह! जिस समय तुमलोगोंके पिता महाराज महारथी पाण्डुकी मृत्यु हुई, उस समय तुमलोग छोटे-छोटे शिशु थे। तुम्हारी माता बालवधू कुन्तीदेवी अति दीन हो पड़ी थी। तुम्हारे लिए कुन्तीदेवीको बार-बार बहुत-से कष्टोंको झेलना पड़ा॥ १३॥

सर्वं कालकृतं मन्ये भवताञ्च यदप्रियम्।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः॥ १४॥

हे पाण्डवो! तुमने जो इतना निरानन्द और दुःख पाया है तथा तुम्हारे साथ जो इतनी अप्रिय घटनाएँ घटी हैं, उन सबको मैं कालके प्रभाव द्वारा ही हुई मानता हूँ। मेघ जिस प्रकार वायुके अधीन होकर परिचालित होते हैं, उसी प्रकार लोकपालोंके साथ समस्त लोक अर्थात् ब्रह्माण्ड भी कालके अधीन होकर रहते हैं॥ १४॥

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत् कृष्णस्ततो विपत्॥ १५॥

जहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिर राज्याधिपति हों, गदाधारी भीमसेन और अस्त्रधारी अर्जुन जैसे वीर रक्षक हों, जहाँ गाण्डीव धनुष हो और जहाँ बान्धवके रूपमें स्वयं श्रीकृष्ण विद्यमान हों, उस स्थानपर भी विपत्ति हो सकती है! अर्थात् पुण्य-बल, दैहिक-बल, अस्त्र-नैपुण्य और सुहृत्-बल अर्थात् इष्टदेव—इस प्रकारसे तुम लोगोंके पास चार प्रकारकी अद्भुत सम्पत्ति होनेपर भी तुमलोगोंने इतना दुःख पाया। बड़ा ही आश्चर्य है! अहो! कालका कैसा प्रभाव है॥ १५॥

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥ १६॥

हे राजन्! इस समय कालस्वरूप श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं। ये क्या करना चाहते हैं, इसे ब्रह्मा और शिवादि कोई भी कभी नहीं जान सकते। अधिक क्या, जो इन्हें विशेष रूपसे जाननेके इच्छुक रहते हैं, वे योगसे युक्त ज्ञानी, पण्डित अथवा देवतागण भी इनके विषयमें मोहित हो जाते हैं॥ १६॥

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो॥ १७॥

अतएव हे कुल-परम्परागत स्वामिन्! हे शासन-पालनमें समर्थ राजन्! जीवोंके सुख-दुःखादिको ईश्वरके अधीन जानकर उन ईश्वर श्रीकृष्णके अनुगत होकर अनाथ प्रजाका पालन करो॥ १७॥

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु॥ १८॥

सबके ईश्वर आदिपुरुष साक्षात् नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख विराजमान हैं। ये अपनी चित्-शक्तिके बलसे विश्वको मुग्ध करते हुए यदुकुलमें छिपकर लीला कर रहे हैं॥ १८॥

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप॥ १९॥
यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम्।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम्॥ २०॥

हे राजन्! भगवान् शम्भु, देवर्षि नारद और साक्षात् भगवान् कपिलदेव ही श्रीकृष्णके अति गूढ़ प्रभावको जानते हैं, अन्य कोई नहीं। उन श्रीकृष्णको तुमलोग मामा वसुदेवका पुत्र (ममेरा भाई), प्रिय-मित्र और सबसे बड़ा हितैषी मानते हो और प्रगाढ़ प्रीतिके कारण उन्हें मन्त्री, दूत और सारथीके रूपमें नियुक्त कर बैठे हो॥ १९-२०॥

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित्॥ २१॥

सभीकी आत्मा होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी, अद्वितीय, निरभिमान और आसक्ति आदिसे रहित हैं। श्रीकृष्णमें उच्च-नीच कर्मोंके द्वारा मतिकी विषमता नहीं होती अर्थात् यह मेरे योग्य है और यह योग्य नहीं है—उनमें ऐसी सङ्कल्प-विकल्पात्मक बुद्धि नहीं होती॥ २१॥

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः॥ २२॥

हे राजन्! इस प्रकार सर्वत्र समदर्शी होनेपर भी अपने ऐकान्तिक भक्तोंके प्रति श्रीकृष्णका कृपा-वात्सल्य तो देखो! ऐसे समयमें जब कि मैं अपने प्राणोंका त्याग करने ही वाला हूँ, मुझे साक्षात् दर्शन देनेके लिए ये यहाँ चले आये हैं॥ २२॥

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥ २३॥

जिनका अन्तःकरण इन श्रीकृष्णके प्रति भक्ति द्वारा एकाग्र हो गया है, ऐसे भक्तयोगी पूर्ण भक्तिभावसे इन श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित कर देते हैं और अपने वचनों (मुख) से इनका नाम-सङ्कीर्त्तन करते हुए देह-त्यागके साथ-साथ सकाम कर्मोंके बन्धनसे भी मुक्त हो जाते हैं॥ २३॥

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः॥ २४॥

जब तक मैं स्वेच्छासे इस शरीरका परित्याग नहीं करता, तब तक प्रफुल्लित हास्य और अरुण नेत्रोंसे सुशोभित मुखकमलवाले तथा सभीके ध्यानके विषय चतुर्भुजधारी परमेश्वर श्रीकृष्ण मेरे सम्मुख विद्यमान होकर कृपापूर्वक मेरे मृत्युकालकी प्रतीक्षा करें॥ २४॥

श्रीसूत उवाच—

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे।
अपृच्छद्विविधान् धर्मानृषीणामनुशृण्वताम्॥ २५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भीष्म पितामहके इन कृपापूर्ण वचनोंको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर बहुत-से ऋषियोंके सामने ही बाणोंकी शय्यापर लेटे हुए उन भीष्म पितामहसे नाना प्रकारके धर्मोंके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्न पूछने लगे॥ २५॥

पुरुषस्वभाव-विहितान् यथावर्णं यथाश्रमम्।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान्॥ २६॥

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः॥ २७॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित्॥ २८॥

हे ऋषिवर शौनक! तत्त्ववेत्ता भीष्म पितामहने नाना प्रकारके उपाख्यानों और इतिहास आदिमें जिस रूपमें वर्णन किया गया हैं,

उसी रूपमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंके तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमोंके अनुसार मनुष्योंके स्वभावोचित यथाविधि धर्म बतलाये। उन्होंने वैराग्य और आसक्तिरूप उपाधिके द्वारा क्रमशः निवृत्ति और प्रवृतिके लक्षणसे युक्त धर्म बतलाये। दान-धर्म, राज-धर्म, शम-दमादि मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म तथा इन सबसे पृथक् भगवत्-धर्म—इन सबका अलग-अलग रूपमें संक्षेप एवं विस्तारसे वर्णन किया। इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस चतुर्वर्ग-धर्मका अधिकारके अनुसार वर्णन किया और इसकी प्राप्तिके उपायों अर्थात् साधनोंका भी यथाविधि वर्णन किया॥ २६-२८॥

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।
यो योगिनश्छन्द-मृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः॥ २९॥

योगैश्वर्यशाली और मृत्युको अपनी इच्छाके अधीन करनेवाले भीष्म पितामह इस प्रकारसे धर्मतत्त्वकी व्याख्या कर ही रहे थे कि वह पवित्र उत्तरायण काल आ पहुँचा, जिसकी वे अपेक्षा कर रहे थे॥ २९॥

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
र्विमुक्तसङ्गं मन आदिपुरुषे।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥ ३०॥

उस समय हजारों रथियोंके अधिनायक महावीर भीष्मदेवने कथाका उपसंहार करते हुए अपनी वाणीको विराम दिया और अपने समीपमें ही स्थित उज्ज्वल पीताम्बर धारण किये हुए चतुर्भुजधारी आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको अपलक नेत्रोंसे निहारते हुए अपने मनको समस्त जड़ वस्तुओंसे हटाकर विशेष रूपसे उनमें निविष्ट (लगा) कर दिया॥ ३०॥

विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम्॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीकृष्णमें विशुद्ध ध्यानके कारण भीष्मदेवके समस्त अशुभ नष्ट हो गये। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा दृष्टिके प्रभावसे श्रीभीष्म पितामहकी बाणोंके चुभनेसे होनेवाली पीड़ा तत्क्षण ही दूर हो गयी। उनकी समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ शान्त हो गयीं। तदनन्तर महाबुद्धिमान भीष्म पितामह अपनी देहका परित्याग करते समय बड़े प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे—॥ ३१ ॥

श्रीभीष्म उवाच—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्त्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥ ३२ ॥

श्रीभीष्मदेवने कहा—मेरा मन अनेक प्रकारके साधनोंका अनुष्ठान करनेसे कामना-रहित हो गया है। मैं इस शुद्ध मनको षड् ऐश्वर्यसे परिपूर्ण परमस्वरूप नारायणके भी मूल अवतारी यदुकुल-चूड़ामणिके रूपमें प्रसिद्ध तथा यादव एवं पाण्डवोंके साथ परमानन्दमें मग्न रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णमें समर्पित करता हूँ। लीला-विहार करनेकी इच्छासे जिनसे प्रकृतिकी सृष्टि-परम्परा चलती है, इस मायाके प्रति ईक्षणमात्र स्वीकार करनेपर भी जो जीवके समान आवृत-स्वरूप अथवा परतन्त्र नहीं होते हैं, जिनकी तुलनामें और कोई विराट स्वरूप नहीं है—मैं उन परात्पर, स्वस्वरूप सत्तावान श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ॥ ३२ ॥

त्रिभुवन-कमनं तमालवर्णं
रविकरगौर-वराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥ ३३ ॥

जिनका त्रिभुवन-सुन्दररूप कमनीय है, जिनका वर्ण श्याम-तमालवृक्षके समान साँवला है, जो अर्जुनके रथके ऊपर सारथी रूपमें अवस्थित हैं तथा जो सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल पीतवस्त्र (परिधेय और

उत्तरीय) से विभूषित हैं और जिनका मुखकमल घुँघराले केशोंसे ढका हुआ है, उन अर्जुन सखा श्रीकृष्णके प्रति मेरी अहैतुकी अर्थात् फलकी कामनासे रहित रति हो॥ ३३॥

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलित-श्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥ ३४॥

मुझे युद्धकालकी वह विलक्षण छवि याद आती है, जब घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलसे इधर-उधर बिखरी हुई उनकी घुँघराली अलकें मटमैली हो गयी थीं और पसीनेकी बूँदोंसे जिनका मुखमण्डल परिशोभित हो रहा था, अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मैं जिनके शरीरको क्षत-विक्षत कर रहा था, उन उज्ज्वल कवचसे मण्डित भगवान् श्रीकृष्णमें ही मेरा मन रमण करें॥ ३४॥

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा।
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु॥ ३५॥

'हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलिये, जिससे मैं युद्धके लिए प्रस्तुत वीरोंको देख सकूँ'—अपने सखा अर्जुनके इन वचनोंको सुनकर जिन्होंने तत्क्षणात् रथको अपनी और शत्रु सेनाके बीचमें स्थापित कर दिया था तथा स्वयं वहाँपर स्थित होकर अपनी कालरूप दृष्टिके प्रभावसे दुर्योधन और उसके पक्षके योद्धाओंका—ये भीष्म हैं, ये द्रोण हैं, यह कर्ण हैं इत्यादि प्रकारसे परिचय देनेके छलसे जिन्होंने उन सबकी आयुका हरणकर अर्जुनकी भावी विजयकी नींव रख दी थी, उन अर्जुनके सखा श्रीकृष्णमें मेरी परम प्रीति हो॥ ३५॥

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।

कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु॥ ३६॥

जब अर्जुनने दूर स्थित विशाल सेना तथा उस सेनाके अग्रभागमें स्थित सेनापति स्वरूप हमलोगोंको देखा था, तब वह स्वजनोंके वधसे होनेवाले पापके भयसे युद्धसे विरत हो गया था और अपना गाण्डीव उतारकर रथके ऊपर बैठ गया था। तब जिन्होंने आत्मविद्या द्वारा अर्जुनके अज्ञानको दूर किया था, उन श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें मेरी आसक्ति हो॥ ३६॥

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥ ३७॥

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥ ३८॥

'श्रीकृष्णको शस्त्र धारण कराऊँगा', मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य और ऊँचा करनेके लिए जो 'मैं युद्धमें कदापि शस्त्र नहीं उठाऊँगा, केवल सहायता मात्र करूँगा'—अपनी इस प्रतिज्ञाका उल्लघंनकर अर्जुनके रथसे सहसा ही कूद पड़े तथा अपनी नर-लीलाके अभिनयको भूलकर क्रोधवशतः रथका पहिया लेकर इस प्रकार प्रबल वेगसे मेरी ओर झपटे, जिस प्रकार हाथीका वध करनेके लिए सिंह प्रबल-वेगसे दौड़ पड़ता है। उस समय दौड़नेके वेगसे उनके कन्धेसे उत्तरीय वस्त्र गिर गया और पृथ्वी काँपने लगी। उस समय मुझ विस्मित धनुर्धारीके तीक्ष्ण बाणोंसे उनका कवच टुट चुका था तथा शरीर लहुलुहान हो चुका था। अर्जुनके द्वारा रोके जानेपर भी वे तीव्रगतिसे मेरा वध करनेके लिए मेरी ओर बढ़ते चले आ रहे थे। अर्थात् बाह्य दृष्टिसे वे अर्जुनका पक्ष लेनेवाले प्रतीत हो रहे थे, पर वस्तुतः भक्तवत्सलतासे

परिपूर्ण वे प्रभु मुझपर ही अनुग्रह कर रहे थे—ऐसे भगवान् मुकुन्द मेरे आश्रय हों॥ ३७-३८॥

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्॥ ३९॥

अर्जुनके रथ-रक्षक श्रीकृष्णके दाहिने हाथमें चाबुक, बाएँ हाथमें घोड़ोंकी रस्सी (लगाम) और मुखारविन्दसे प्रकट हुम्, हुम् अश्वताड़नका शब्द—इस प्रकार रणभूमिमें सारथीके रूपमें श्रीकृष्णकी अद्भुत छवि थी। मैंने अपनी दिव्यदृष्टिके प्रभावसे देखा कि महाभारत युद्धमें मरनेवाले सभी योद्धा उनकी इस अनुपम छविका दर्शन करते हुए सारूप्य नामक मुक्तिको प्राप्त हो रहे थे। प्राकृत लौकिक दृष्टिसे जिनके प्रति मेरा अन्याय आचरण होनेपर भी जो अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए सदा व्याकुल रहते हैं, अचिन्त्य ऐश्वर्यसे युक्त उन्हीं पार्थसारथी श्रीकृष्णके प्रति इस मरणासन्न अवस्थामें मेरी प्रीति हो॥ ३९॥

ललितगतिविलास-वल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षण-कल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः॥ ४०॥

जिन श्रीकृष्णकी सुचारु मञ्जुल-गति, रास-नृत्य आदि विलास, सुन्दर हास्य और प्रेमपूर्ण चितवनसे प्रचुरमात्रामें सम्मानित होकर गोपियाँ रासलीलामें उनके अन्तर्धान हो जानेपर प्रेमके उन्मादसे मतवाली होकर उनमें पूर्णता तदात्मिक होकर उनकी गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओंका अनुकरण करती हुई उनके स्वरूपको ही प्राप्त हो गयी थीं—उन्हीं श्रीकृष्णमें मेरी परम रति हो॥ ४०॥

मुनिगण-नृपवर्य-संकुलेऽन्तः-
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशि गोचर एष आविरात्मा॥ ४१॥

जिस समय धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ हो रहा था, तब उस सभामें बड़े-बड़े मुनि और श्रेष्ठ राजागण रत्नासनोंपर विराजमान थे। उन सभीको विस्मित करते हुए सबके दर्शनीय जिन श्रीकृष्णने मेरे ही सामने अग्रपूजाको स्वीकार किया था, वे ही विश्वात्मा श्रीकृष्ण आज मेरे सामने साक्षात् विद्यमान हैं। अहो! मेरा कितना सौभाग्य है! यही श्रीमूर्त्ति मेरे हृदयमें सदैव स्फुरित होती रहे॥ ४१॥

तमिममहमजं शीरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥ ४२॥

जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक घड़ोंके जलमें पृथक्-पृथक् सूर्यके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक ही श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणीके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें विराजमान हैं, किन्तु भ्रमवशतः वे अनेक शरीरधारियोंके हृदयोंमें अनेक रूपोंमें जान पड़ते हैं। मैं प्राकृत भेद-ज्ञानसे उत्पन्न मोहका परित्यागकर उन एक परमात्माको श्रीकृष्णका ही अंश जानकर ऐसे अनादि, जन्मरहित तथा यहाँ समुपस्थित श्रीकृष्णकी शरण लेता हूँ॥ ४२॥

श्रीसूत उवाच—

श्रीकृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥ ४३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार मन, वाणी और चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा अपने मनको परमात्म-स्वरूप भगवान् पार्थसारथी श्रीकृष्णमें लगाकर प्राणवायुको रोककर श्रीभीष्मदेवने प्राणत्याग किये॥ ४३॥

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीभीष्मदेवको निरुपाधि परब्रह्मको प्राप्त होता देखकर वहाँपर उपस्थित सभी लोग इस प्रकार मौन हो गये, जिस प्रकार दिनकी समाप्तिपर पक्षियोंका कलरव शान्त हो जाता है॥ ४४॥

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानव-वादिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात् पेतुः पुष्पवृष्टयः॥ ४५॥

उस समय स्वर्गमें देवता और मर्त्यलोकमें मनुष्य नगाड़े बजाने लगे और उस तुमुल ध्वनिसे सभी दिशाएँ गूँज उठीं। मात्सर्य-रहित साधु स्वभावके राजा महात्मा भीष्मदेवकी प्रशंसा करने लगे तथा आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ ४५॥

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत्॥ ४६॥

हे भृगुवंश-तिलक शौनकजी! धर्मराज युधिष्ठिर भीष्मदेवके द्वारा त्यागे गये शरीरका दाह-संस्कार आदि अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्नकर कुछ क्षणोंके लिए शोकमग्न हो गये॥ ४६॥

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः॥ ४७॥

तब वहाँ उपस्थित मुनिगण आनन्दचित्तसे वेदोंमें कहे गये भगवान् श्रीकृष्णके गूढ़ नामोंका सङ्कीर्त्तन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। इसके पश्चात् श्रीकृष्णको अपने-अपने हृदयमें धारण करके उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंकी ओर प्रस्थान किया॥ ४७॥

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीञ्च तपस्विनीम्॥ ४८॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णके साथ महाराज युधिष्ठिर हस्तिनापुर चले आये और वहाँ अपने ज्येष्ठ-पिता धृतराष्ट्र और शोक-सन्तप्त गान्धारीको सान्त्वना देने लगे॥ ४८॥

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः॥ ४९॥

इसके बाद ऐश्वर्यशाली धर्मराज युधिष्ठिर ज्येष्ठ-पिता धृतराष्ट्रकी आज्ञा और श्रीकृष्णकी सम्मति प्राप्तकर अपने पिता-पितामह आदि वंश-परम्पराके उत्तराधिकारीके रूपमें धर्मके अनुसार साम्राज्यका पालन करने लगे॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरराज्यप्राप्तिर्नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

पाण्डवोंके निष्कण्टक राज्यकी स्थापना, श्रीकृष्णका द्वारका गमन एवं कुरु-रमणियों द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति

श्रीशौनक उवाच—

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत् ततः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—महाराज युधिष्ठिर धार्मिक शिरोमणि थे। अपने भाईयोंके साथ मिलकर अपनी पैतृक सम्पत्तिको संग्राम द्वारा हड़पनेवाले आततायियोंका वध करके वे बन्धु-बान्धवोंके वधके दुःखके कारण भोग-विलाससे कुण्ठित हो गये थे। तब फिर वे किस प्रकारसे राज्य-शासनमें प्रवृत्त हुए तथा अपने भाइयोंके साथ मिलकर उन्होंने कौन-कौनसे विशेष कार्य किये?॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

वंशं कुरोर्वंश-दवाग्निनिर्हृतं
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—कौरव और पाण्डवोंकी परस्पर क्रोधाग्निसे दग्ध परीक्षित्‌की रक्षा करके भगवान् श्रीकृष्णने कुरुवंशको पुनः अङ्कुरित किया। महाराज युधिष्ठिरको उनके राज्य-सिंहासनपर बिठाकर सम्पूर्ण सृष्टिका पालन करनेवाले जगत्-पिता सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हो गये॥ २॥

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।

शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्त्तिनः ॥ ३ ॥

श्रीभीष्मदेव द्वारा कथित वचनों और बादमें श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उक्त उपदेशोंको श्रवण करके तथा श्रीकृष्णके आश्रयमें रहते हुए धर्मराज युधिष्ठिरके अन्तःकरणमें 'जगत् परमेश्वरके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है'—इस प्रकारका विज्ञान उदित हो गया। इसके फलस्वरूप 'मैं कर्त्ता हूँ'—इस प्रकारके मोहसे रहित होकर राज्यके पालनमें भाईयोंकी सेवाको प्राप्त करते हुए महाराज युधिष्ठिर देवराज इन्द्रकी भाँति समुद्र तक पृथ्वीका पालन करने लगे॥ ३ ॥

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा॥ ४ ॥

महाराज युधिष्ठिरके राज्यकालमें मेघ आवश्यकतानुसार वर्षा करते थे। पृथ्वी समस्त वस्तुएँ प्रदान करके सभीकी कामनाएँ पूर्ण करती थी। दूधसे भरे बड़े-बड़े थनोंवाली गायें प्रसन्नचित्तसे प्रचुर दूध देकर गोशालाओंको दूधसे परिपूर्ण कर दिया करती थीं॥ ४ ॥

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पति-वीरुधः।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिरके राज्यमें नदियाँ, सागर, वनस्पति और लताओंके साथ सभी पर्वत तथा सभी फसलें और औषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें इच्छाके अनुरूप ही अपनी-अपनी वस्तुएँ प्रदान किया करती थीं॥ ५ ॥

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित्॥ ६ ॥

अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके राज्य-कालमें प्राणियोंके आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तापोंके कारण कभी भी आत्मिक क्लेश, रोग और शीतोष्णादिसे उत्पन्न कष्ट नहीं होते थे॥ ६ ॥

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः।
सुहृदाञ्च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया॥ ७ ॥

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम्।
आरुरोह रथं कैश्चित् परिष्वक्तोऽभिवादितः॥८॥

पाण्डवोंके शोकको दूर करनेके लिए और अपनी बहन सुभद्राको प्रसन्न करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कुछ मास तक हस्तिनापुरमें ही रहे। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा महाराज युधिष्ठिरसे द्वारका जानेकी अनुमति माँगनेपर युधिष्ठिरने उन्हें स्वीकृति प्रदान की। उस समय श्रीकृष्णने झुककर महाराज युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया और फिर आलिङ्गन किया। कुछ लोगोंने भगवान्‌का आलिङ्गन किया और कुछने उन्हें प्रणाम किया। इस प्रकार सभीसे अनुमति ग्रहणकर भगवान् श्रीकृष्ण रथपर सवार हुए॥७-८॥

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ॥९॥

वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥१०॥

सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्तीदेवी, विराटतनया उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र और उनकी वैश्या-पत्नीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र युयुत्सु, कृपाचार्य, जुड़वाँ भाई—नकुल-सहदेव, भीमसेन, पाण्डवोंके पुरोहित धौम्य और सत्यवती आदि स्त्रियाँ—सभी शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णके विच्छेदको सहन नहीं कर पाये और शोकसे मूर्च्छित हो गये॥९-१०॥

सत्सङ्गान्मुक्त-दुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥११॥

तस्मिन् न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शनालाप-शयनासनभोजनैः ॥१२॥

साधु-सङ्गके प्रभावसे जिनका पुत्रादि-विषयरूप दुःसङ्ग छूट गया है, ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति उन साधुओंके मुखसे कीर्त्तित तथा हृदयके लिए रसायन और कर्णके लिए रुचिकर जिन श्रीकृष्णके गुण-लीलारूपी सुयशको एक बार भी श्रवण करते हैं, फिर वे क्षणमात्रके लिए भी उन साधुओंका सङ्ग परित्याग नहीं कर पाते। अतएव जिन पृथानन्दन

पाण्डवोंने एक ही साथमें सदा-सर्वदा साक्षात् उन श्रीकृष्णका दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्त्तालाप, शयन, उठना-बैठना और भोजनादि कार्य किये थे तथा जिनकी बुद्धि पूर्ण रूपसे उनमें निविष्ट हो गयी थी, वे पाण्डव फिर किस प्रकार उन श्रीकृष्णका विच्छेद सहन करनेमें समर्थ हो सकते थे?॥ ११-१२॥

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह॥ १३॥

उन पाण्डवादि सभीका हृदय भगवान्के स्नेह-पाशमें सम्पूर्ण रूपसे बँधा हुआ था और उनका चित्त श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ था। जिन-जिन स्थानोंपर श्रीकृष्ण जा रहे थे, पाण्डवादि सभी बिना पलकें झपकाये उनका दर्शन करते हुए उन-उन स्थानोंपर उनके पूजनके उद्देश्यसे उनका अनुगमन कर रहे थे॥ १३॥

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः॥ १४॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने भवनसे निकले, तब अत्यन्त आसक्तिके कारण उनके बन्धुओंकी स्त्रियोंके नेत्र आँसुओंसे भर गये। किन्तु, श्रीकृष्णकी यात्रामें किसी प्रकारका अमङ्गल न हो— इस भयसे उन सबने बड़ी कठिनतासे अपनी आँखोंसे बहते हुए आँसुओंको रोक लिया॥ १४॥

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणा-पणव-गोमुखाः।
धुन्धुर्यानक-घण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तदा॥ १५॥

भगवान्के प्रस्थानके समय मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, वीणा, ढोल, नरसिंगे, धुन्धुरी, नगाड़े, घण्टे और दुन्दुभि आदि सभी वाद्य एक साथ बजने लगे॥ १५॥

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी इच्छासे कुरुवंशकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी अटारियोंपर चढ़ गयीं तथा अनुराग एवं लज्जासे परिपूर्ण

मुसकानसे युक्त नयनोंसे श्रीकृष्णको देखती हुईं उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं॥ १६॥

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम्।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह॥ १७॥

उस समय भगवान्‌के प्रियसखा निद्राको जीतनेवाले अर्जुनने अपने प्रियतम सखा श्रीकृष्णके सिरपर श्वेतछत्र धारण किया हुआ था। उस छत्रका दण्ड रत्नोंसे निर्मित था तथा वह छत्र चारों ओरसे मोतियोंकी झालरोंसे मण्डित था॥ १७॥

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि॥ १८॥

उद्धव और सात्यकि दोनों ही भगवान्‌को अत्यन्त अद्भुत चामर ढुला रहे थे। मार्गमें चारों ओरसे पुष्प-वर्षण हो रहा था, जिससे भगवान् श्रीमाधवकी परम शोभा हो रही थी॥ १८॥

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १९॥

समस्त नित्य चिन्मयगुणोंसे विशिष्ट एवं मनुष्य जैसी लीलाका अभिनय करनेवाले श्रीकृष्ण अपने गमन-पथपर ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित यथार्थ आशीर्वाद-वचनोंको सुन रहे थे। यद्यपि ऐश्वर्यकी दृष्टिसे त्रिगुणातीत परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके लिए 'तुम सुखी रहो' आदि आशीर्वाद उपयुक्त नहीं थे, तथापि माधुर्यकी दृष्टिसे उन श्रीकृष्ण द्वारा ब्राह्मणोंका हित करना तथा अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत रहना इत्यादि उनके अप्राकृत गुणमय स्वरूपके कारण ये आशीर्वाद उपयुक्त भी थे॥ १९॥

अन्योन्यमासीत् संजल्प उत्तमःश्लोकचेतसाम्।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः॥ २०॥

उस समय हस्तिनापुरकी कुलीन रमणियाँ, जिनका चित्त श्रीकृष्णमें ही रम गया था, परस्पर उपनिषद आदि श्रुतियोंके द्वारा अभिनन्दित

श्रीकृष्ण-विषयक कथाओंकी चर्चा करती हुईं सभीके कान और मनको आकृष्ट कर रही थीं॥ २०॥

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन् निशि सुप्तशक्तिषु॥ २१॥

शान्तरतिमती कुरुनारियाँ विस्मयपूर्वक परस्पर कहने लगीं—हमने श्रीव्यासादिके मुखसे सुना है कि अद्वितीय पुरातन-पुरुष अपने प्रपञ्चातीत रूपमें वर्त्तमान रहते हैं तथा उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं है—वे निश्चय ही ये श्रीकृष्ण ही हैं। सत्त्वादि प्राकृत गुणोंकी सृष्टि अथवा क्षोभसे पहले अर्थात् प्रलयकालमें उपाधिभूत सत्त्वादि शक्तियोंके सुप्त होनेसे समस्त जगत् और जीव प्रकृतिके अन्तर्यामी परमात्मा-स्वरूप इन ईश्वर अर्थात् गर्भोदकशायी विष्णुमें लीन रहते हैं। उस समय मात्र ये ही पुरातन-पुरुष अपने प्रपञ्चातीत स्वरूपमें वर्त्तमान रहते हैं॥ २१॥

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥ २२॥

ये भगवान् ही अपने अच्युत स्वरूपमें स्थित रहकर इस सृष्टि-प्रवाहको अनादि रूपमें परिचालित करनेके उद्देश्यसे जड़ीय नाम-रूपसे रहित जीवात्माके भोगोंके लिए नाम-रूप आदिकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं। इसके लिए वे अपनी काल-शक्तिसे प्रेरित अपने ही अंश-भूत जीवोंको मोहित करके सृष्टि करनेकी इच्छुक बहिरङ्गाशक्तिमें अन्तर्यामी रूपसे अधिष्ठित रहते हैं तथा कर्मोंका विधान करनेके लिए वेदादि शास्त्रोंकी सृष्टि भी करते हैं॥ २२॥

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः।

पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति॥ २३॥

सुनो सखियो! इस संसारमें जो ज्ञानी-साधु जितेन्द्रिय होकर तथा प्राणवायुका निरोध करके भक्तिसे उदित उत्कण्ठा सहित निर्मल बुद्धि-योगके द्वारा जिनके परम पद अथवा स्वरूपका दर्शन करते हैं, ये वही परम ब्रह्म विष्णु हैं। देखो! जिस बुद्धिको योगादिसे निर्मल करना सम्भव नहीं है, उसे निर्मल करनेमें ये ही समर्थ हैं। अथवा अहो! इनका हमें मोहित करके हमारी दृष्टिसे दूर जाना उचित नहीं है, अतः हमें इनके साथ ही चलना चाहिये॥ २३॥

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते॥ २४॥

हे सखि! वास्तवमें ये वही अद्वितीय परमेश्वर हैं, जिनकी पवित्र लीलाओंका वर्णन वेदशास्त्रों और अन्य-अन्य गोपनीय आगमों (तन्त्रादि शास्त्रों) में रहस्यवादी श्रीव्यासादि ऋषियोंने किया है। ये अपनी लीला-विलासके कारण इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, किन्तु स्वयं कभी उसमें लिप्त नहीं होते—देखो! वे ही हमारे सम्मुख वर्त्तमान हैं॥ २४॥

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद् युगे युगे॥ २५॥

अरी सखि! जब तामसी बुद्धिवाले राजा अधर्मपूर्ण आचरण करते हुए केवल अपने ही प्राणोंका पालन करते हैं, तब ये भगवान् श्रीकृष्ण ही विश्वकी स्थिति बनाये रखनेके लिए विशुद्ध-सत्त्वगुणका आश्रय लेकर युग-युगमें विविध अवतारोंके रूपमें ऐश्वर्य, सत्य-प्रतिज्ञता, भक्त-कृपा और अद्भुत चेष्टा इत्यादि अपने विविध लीला-पराक्रमको दिखलाया करते हैं॥ २५॥

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति॥ २६॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! पृथ्वीपर यह यदुवंश धन्यातिधन्य है, क्योंकि लक्ष्मीपति पुरुषोत्तम श्रीहरिने स्वयं यहाँ जन्म-ग्रहण करके इसका सत्कार किया है। अहो! यह मथुरा (व्रजमण्डल) भी पुण्यतरसे भी पुण्यतम तीर्थ है, क्योंकि श्रीकृष्णने अपनी बाल्य और किशोरावस्थामें लीला-विहार करके इसे सुशोभित किया है॥ २६॥

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः॥ २७॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! कुशस्थली अर्थात् द्वारकापुरी स्वर्गके यशका भी तिरस्कारकर इस पृथ्वीकी पवित्र कीर्त्तिका विस्तार कर रही है। इसका कारण है कि ये द्वारकावासी आत्माओंकी आत्मा इन भगवान् श्रीकृष्णका मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त अनुग्रह अर्थात् श्रीकृष्णकी कृपा-दृष्टिको प्राप्त करनेके लिए नित्य-निरन्तर उन्हें निहारा करते हैं॥ २७॥

नूनं व्रतस्नान-हुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
र्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः॥ २८॥

उज्ज्वलरसमयी कोई रमणी दूसरी रमणीसे कहने लगी—अरी सखि! जिनके अधरामृत-पानके स्मरणमात्रसे ही व्रजबालाएँ व्याकुल चित्त होकर मूर्च्छित हो जातीं हैं—उस अधर-सुधाका वे स्त्रियाँ बार-बार पान करती हैं, जिन सबका भगवान्‌ने पाणिग्रहण किया है। अतः निश्चय ही इन स्त्रियोंने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें विविध व्रत-स्नान और

होमादिके द्वारा इन विश्वात्मा श्रीकृष्णकी भलीभाँति पूजा की होगी॥ २८॥

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः।
प्रद्युम्नसाम्बाम्ब-सुतादयोऽपरा
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः॥ २९॥

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते।
यासां गृहात् पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन्॥ ३०॥

ये श्रीकृष्ण स्वयंवर-सभामें बलशाली शिशुपाल आदि प्रमुख राजाओंको अनायास ही पराजितकर जिन्हें अपने बाहुबलसे हरणकर ले लाये थे, वे प्रद्युम्न, साम्ब और आम्बकी माताएँ—रुक्मिणी, जाम्बवती और नाग्नजिती आदि आठों पटरानियाँ, तथा पृथ्वीपुत्र नरकासुरका वध करके श्रीकृष्ण द्वारा लायी गयीं अन्यान्य हजारों राजकुमारियाँ वास्तवमें धन्य हैं। अहो! इन समस्त नारियोंने अबला और अपवित्र स्त्रीजातिको पवित्र एवं उज्ज्वल बनाकर सम्पूर्ण रूपसे धन्य कर दिया है। इसका कारण है कि इनके प्राणेश्वर कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो अपने अद्भुत व्यवहार, अनेक प्रकारकी चेष्टाओं तथा पारिजातादि प्रिय वस्तुओंकी भेंटसे उन रानियोंके हृदयमें प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि किया करते हैं। यहाँ तक कि वे एक क्षणके लिए उन्हें छोड़कर और कहीं भी नहीं जाते॥ २९-३०॥

श्रीसूत उवाच—

एवंविधा वदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम्।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः॥ ३१॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हस्तिनापुरकी शान्तरतिमयी और उज्ज्वल-रतिमयी स्त्रियाँ इस प्रकारसे परस्पर विचित्र वार्त्तालाप कर ही रही थीं

कि भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमपूर्ण चितवन और मन्द-मुसकानसे उनका सत्कार करते हुए वहाँसे द्वारकाकी ओर प्रस्थान किया॥ ३१॥

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात् प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम्॥ ३२॥

धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके प्रति स्नेहके वशीभूत होकर 'शत्रु कहीं रास्तेमें श्रीकृष्णका अनिष्ट न कर दें'—इस आशङ्कासे मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाओंसे युक्त विराट सेनाको उनके साथ भेज दिया॥ ३२॥

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्।
सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः॥ ३३॥

तत्पश्चात् सुदृढ़ सौहृदके कारण कुरुवंशी-पाण्डव बहुत दूर तक श्रीकृष्णके साथ चले। श्रीकृष्णसे बिछुड़नेके विरहसे उनका हृदय व्याकुल हो रहा था। तब भगवान् श्रीकृष्णने बड़े आग्रहके साथ अपने प्रिय पाण्डवोंको भलीभाँति समझा-बुझाकर विदा किया और उद्धव, सात्यकि आदि प्रिय सखाओंके साथ द्वारकाकी ओर गमन किया॥ ३३॥

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् स यामुनान्।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ॥ ३४॥

मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः॥ ३५॥

हे भृगुनन्दन शौनकजी! इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण यमुनातटवर्ती प्रदेश कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत, मरुदेश और जलके अभाववाले मरुधन्वादि प्रदेशोंको पार करते हुए सौवीर (सौराष्ट्र) और आभीर (गुजरात) प्रान्तमें पहुँचे और अन्तमें इन सबके पश्चिममें स्थित आनर्त्त नामक द्वारकाके प्रदेशमें उपस्थित हुए। अधिक चलनेके कारण भगवान्‌के रथके वाहक घोड़े कुछ थक गये थे॥ ३४-३५॥

तत्र तत्र हि तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा॥ ३६॥

द्वारका जानेके मार्गमें श्रीहरि जिन-जिन प्रान्तोंमें प्रवेश करते थे, उन समस्त प्रदेशोंके वासी उन्हें उपहारादि प्रदान करते थे। श्रीभगवान् भी उन सबके द्वारा किया गया अभिनन्दन स्वीकार करते। सायंकाल होनेपर वे रथसे उतर आते और जलाशयपर जाकर सन्ध्या-वन्दना करते थे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारका-गमनं नाम दशमोऽध्यायः॥

एकादशोऽध्यायः

द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णका राजोचित अभिनन्दन

श्रीसूत उवाच—

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इसके बाद अपने समृद्धशाली आनर्त्त नामक द्वारका देशके निकट पहुँचकर श्रीकृष्णने वहाँके निवासियोंकी विरह-वेदनाको शान्त करनेके लिए अपना पाञ्चजन्य नामक श्रेष्ठ शङ्ख बजाया॥ १॥

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जषण्डे कलहंस उत्स्वनः॥ २॥

श्रीकृष्णके अधरोंकी लालीसे लाल हुआ वह श्वेतवर्णका शङ्ख बजते समय उनके कर-कमलरूप सम्पुटमें इस प्रकारसे अति सुशोभित हो रहा था, मानो लाल रङ्गके कमलोंपर बैठकर कोई राजहंस उच्चस्वरसे मधुर गान कर रहा हो॥ २॥

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः॥ ३॥

संसारके भयको भी भयभीत करनेवाली उस पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनिको श्रवणकर उस देशमें रहनेवाली समस्त प्रजा अपने प्रभुका दर्शन करनेके लिए उत्सुक होकर नगरके बाहर निकल आयी॥ ३॥

तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः॥ ४॥

सबके मुखकमल प्रेमसे खिल उठे। तत्पश्चात् सूर्यको प्रदीप दान करनेके समान वे समस्त प्रजागण श्रीकृष्णके निकट परम आदरपूर्वक विभिन्न उपहार समर्पित करने लगे और सर्वदा परमानन्दस्वरूपसे युक्त, अपने स्वरूपानन्दमें ही तृप्त, अपनी इच्छासे विचरण करनेवाले, समस्त जीवोंके बन्धु और रक्षक श्रीकृष्णके प्रति प्रीतियुक्त होकर और आनन्दसे गद्गद वचनोंसे उनसे वैसे ही बोलने लगे जैसे बालक तोतली बोलीमें अपने पितासे बातें करते हैं॥ ४॥

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्य-सुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परःप्रभुः॥ ५॥

(प्रजाजनोंने कहा—)हे प्रभो! ब्रह्माादिपर भी अपना प्रभाव विस्तार करनेवाला काल तक जिन श्रीचरणकमलोंके ऊपर किसी प्रकारका प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता, जो श्रीचरण-कमल इस संसारमें अपने चरम कल्याणकी अभिलाषा करनेवालोंके लिए परम आश्रय हैं, ब्रह्मा, उनके पुत्र सनकादि ऋषि एवं देवराज इन्द्रादि अन्यान्य देवतागण भी जिन चरणकमलोंकी वन्दना किया करते हैं, आपके उन श्रीचरणकमलोंमें हम सदा-सर्वदा प्रणाम करते हैं॥ ५॥

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत् पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥ ६॥

हे जगत्पालक हरि! आप हमारा कल्याण कीजिये। आप ही हमारे पिता, माता, बन्धु और स्वामी हैं तथा आप ही हमारे सद्गुरु एवं परम आराध्यदेव हैं। आपके आगमनसे हम कृतार्थ हो गये हैं॥ ६॥

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैपिष्टपानामपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्ध-निरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम्॥ ७॥

अहो! आपकी कृपासे हमारे जैसे अनाथ अब सनाथ हो गये हैं। प्रेमपूर्ण मन्द-हास्ययुक्त और सुन्दर नेत्रविशिष्ट मुखमण्डलसे परिशोभित सर्वाङ्गसुन्दर आपके जिस रूपका हम दर्शन कर रहे हैं, इस रूपका दर्शन करना स्वर्गवासी देवताओंके लिए भी दुर्लभ है॥ ७॥

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्-
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत॥ ८॥

हे कमलनयन हरि! जब आप अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेकी इच्छासे हमें छोड़कर हस्तिनापुर एवं मथुरा चले जाते हैं, तब हे अच्युत! आपके विरहमें आपके चरणोंके आश्रित हमें क्षणभरका काल भी करोड़ो-करोड़ो वर्षोंके समान प्रतीत होता है। जैसे सूर्यके बिना आँखें अन्धी हो जाती हैं, हमारी भी वैसी ही दशा हो जाती है॥ ८॥

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम् ।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्॥ ९॥

हे स्वामिन्! आपकी प्रफुल्लित दृष्टि हमारा ताप दूर करनेवाली है और मनोहर मुसकानसे अलंकृत आपका यह मुखमण्डल चित्तको आकर्षित करनेवाला है। आपके द्वारा इतने दिनों तक प्रवासमें रहनेसे इसे देखे बिना हम किस प्रकार अपना जीवन धारण करते हैं—यह हम ही जानते हैं॥ ९॥

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरीम्॥ १०॥

मधुभोजदशार्हार्ह-कुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥

सर्वर्तुसर्वविभव-पुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तःप्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

सम्मार्जितमहामार्ग-रथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥ १४ ॥

द्वारि द्वारि गृहाणाञ्च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

इसके बाद भक्तवत्सल श्रीकृष्णने प्रजाओंके इस प्रकारके एवं अन्यान्य हर्षोत्साहपूर्ण वचनोंको श्रवणकर उनपर सहर्ष दृष्टिसे कृपाकी वर्षा करते हुए द्वारकापुरीमें प्रवेश किया। जिस प्रकार पाताल नगरी अनन्त-नाग आदि प्रमुख नागोंसे सुरक्षित है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके ही समान पराक्रमशाली मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशियों द्वारा द्वारकापुरी सुरक्षित थी। उस द्वारकापुरीमें सभी ऋतुओंके समस्त प्रकारके पुष्प आदि सम्पदाओंसे भूषित पवित्र वृक्ष एवं लता-मण्डपोंसे परिपूर्ण उद्यान-बगीचे थे। वहाँ कहींपर फल-प्रधान बाग थे, तो कहीं पुष्प-प्रधान बगीचे। कहींपर केलि-कुञ्ज वाटिकाएँ थीं, तो कहीं क्रीड़ोद्यानोंसे घिरे हुए सुशोभित सरोवर थे। पुर-द्वार, गृह-द्वार, राजमार्ग तथा अन्यान्य मार्गोंको उत्सवके कारण तोरणोंसे सुसज्जित किया गया था। उन तोरणोंपर विचित्र गरुड़ादि चिह्नोंसे चिन्हित ध्वजाएँ और जयप्रद मन्त्रोंसे अङ्कित पताकाएँ लहरा रही थीं, जिनके कारण उन-उन स्थानोंपर सूर्यकी किरणें अवरुद्ध होकर प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही थीं। राजपथपर प्रचुर छाया थी और वह धूलिसे रहित साफ-सुथरा था। छोटे-छोटे अन्यान्य पथ, गलियाँ, बाजार, चौक, आँगन आदि सभीको झाड़-बुहारकर सुगन्धित जलसे सिञ्चित किया गया था। श्रीभगवान्‌के स्वागतके लिए फल, फूल, अरवा चावल, मङ्गलसूचक शस्यादिके अङ्कुर यहाँ-वहाँ बिखेरे गये

थे। प्रत्येक घरके द्वारपर दही, अरवा चावल, फल, ईख एवं जलसे भरे हुए कलश सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार श्रीकृष्णने धूप-दीप आदि विविध पूजाके द्रव्योंसे विभूषित पुरीमें प्रवेश किया॥ १०—१५॥

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः॥ १६॥

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
प्रहर्षवेगोच्छशित-शयनासनभोजनाः ॥ १७॥

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः॥ १८॥

प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः।
वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः।
लसत्कूण्डलनिर्भात-कपोलवदनश्रियः ॥ १९॥

प्राणप्रिय श्रीकृष्ण द्वारका लौट रहे हैं—यह शुभ संवाद सुनकर महात्मा वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत-बलशाली बलदेव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और जाम्बवतीनन्दन साम्ब आदि सभीने अत्यधिक आनन्दवशतः सोना, बैठना, भोजन करना आदि आवश्यक कार्योंको छोड़ दिया। श्रीकृष्णके आगमनसे उनमें हर्षकी लहर दौड़ने लगी तथा वे आदरसे युक्त और प्रणयके कारण सम्भ्रमयुक्त हो गये। मङ्गल शकुनके लिए एक राजहाथीको आगे करके तथा पुष्प आदि माङ्गलिक सामग्रियोंसे युक्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर सभी रथपर सवार हुए। शङ्ख और तुरहीकी स्वागत-ध्वनि और ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन पाठके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानीकी व्यवस्था की जाने लगी। उज्ज्वल कुण्डलोंकी चमकसे युक्त कपोलोंके कारण जिनके मुखमण्डल अत्यन्त शोभायुक्त हो रहे थे, ऐसी रूपवती सैकड़ों श्रेष्ठ नर्त्तकी वराङ्गनाएँ भी श्रीकृष्णके दर्शनके कौतूहलसे व्याकुल होकर पालकियोंपर सवार होकर उनकी अगवानीमें सम्मिलित होनेके लिए चल पड़ीं॥ १६—१९॥

नटनर्तक-गन्धर्वाः सूतमागध-वन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमःश्लोक-चरितान्यद्भुतानि च॥ २०॥

रसके अभिनयमें चतुर बहुत-से नट, ताल-तालपर नाचनेवाले नर्त्तक, राग-रागिनियोंसे युक्त गीत गानेवाले गायक, पौराणिक वक्ता, वंशीवादक, निर्मल ज्ञानसम्पन्न एवं प्रकरणके अनुसार वर्णन करनेवाले वन्दी आदि सभी प्रियश्रवा श्रीकृष्णके भक्त-वात्सलतादि विस्मयपूर्ण चरित्रोंका गान करते हुए उनकी ओर चलने लगे॥ २०॥

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥ २१॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अगवानी करनेवाले बन्धु-बान्धवों आदि सुहृद पुरवासियोंसे अलग-अलग मिलकर उनका यथोचित सम्मान किया॥ २१॥

प्रह्वाभिवादनाश्लेष-करस्पर्शस्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥ २२॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपने पिता श्रीवसुदेव और गर्गाचार्य आदिको सिर झुकाकर प्रणाम किया, यदुवंशियों आदिकी वाणी द्वारा वन्दना की, किसीको हृदयसे लगाया, किसीका अपने कोमल हाथोंसे स्पर्श किया और किसीको प्रेमभरी दृष्टिसे देखकर मात्र मुसकरा दिये, किसीको अभीष्ट वर प्रदान करते हुए अभय प्रदान किया—इस प्रकार भगवान्ने चण्डाल तक सभीको सम्मान प्रदान करके सन्तुष्ट किया॥ २२॥

स्वयञ्च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत् पुरीम्॥ २३॥

इसके बाद श्रीकृष्णने स्वयं ही सपत्नीक वृद्ध, गुरुजन, ब्राह्मण तथा अन्यान्य व्यक्तियोंसे आशीर्वाद लिया और वन्दीजनोंसे विरुदावली सुनते हुए सबके साथ नगरमें प्रवेश किया॥ २३॥

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्रास्तदीक्षणमहोत्सवाः॥ २४॥

हे ब्राह्मणो! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजमार्गसे जा

रहे थे, उस समय उनके दर्शनके आनन्दसे मतवाली होकर द्वारका-वासिनी कुल-महिलाएँ अपने भवनोंकी अटारियोंपर चढ़ गयीं॥ २४॥

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
नैव तृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम्॥ २५॥

इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण शोभाके आधारस्वरूप हैं। उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सौन्दर्यका सार है। परम रमणीय एवं मनोहर श्रीहरिके सदा-सर्वदा दर्शन करके भी द्वारकावासियोंके नेत्र कभी तृप्त नहीं होते थे॥ २५॥

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्॥ २६॥

भगवान् श्रीकृष्णका वक्षःस्थल सौन्दर्यकी मूर्त्तिमान-स्वरूप लक्ष्मीका विलासस्थान है, उनका मुखचन्द्र समस्त प्राणियोंके नेत्रोंके लिए सौन्दर्यरूप अमृत पानका पात्र-स्वरूप है, उनकी भुजाएँ लोकपालोंकी आश्रय हैं तथा उनके चरणकमल सार अर्थात् उनका यश गान करनेवाले परमहंस भक्तोंके आश्रय हैं॥ २६॥

सितातपत्र-व्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः॥ २७॥

पीताम्बर एवं वनमालासे सुशोभित भगवान् श्रीश्यामसुन्दर जब राजपथपर चल रहे थे, उस समय उनके ऊपर श्वेत वर्णका छत्र शोभायमान था और उन्हें श्वेत वर्णके ही चामर ढुलाये जा रहे थे। उनपर चारों ओरसे पुष्पोंकी प्रचुर वर्षा हो रही थी। श्रीभगवान्‌की यह समस्त शोभा ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो नीलमेघ एक ही समयमें सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष और बिजलीसे सुशोभित हो॥ २७॥

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखास्तदा॥ २८॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने सबसे पहले अपने माता-पिताके महलमें प्रवेश किया। माता-तुल्य श्रीवसुदेवजीकी अन्य पत्नियोंने स्नेहसे सराबोर होकर उन्हें हृदयसे लगाया। भगवान् श्रीकृष्णने देवकी आदि सातों माताओंको सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २८॥

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः॥ २९॥

उन श्रीदेवकी आदि प्रमुख माताओंमेंसे प्रत्येकने ही पुत्र श्रीकृष्णको अपनी-अपनी गोदमें बिठाया और उन्हें लाड़-प्यार करने लगीं। अत्यधिक स्नेहके कारण माताओंके स्तनोंसे स्वतः ही दूध झरने लगा। उनका हृदय आनन्दसे छलकने लगा और वे अपने आनन्दाश्रुकी धाराओंसे श्रीकृष्णको अभिषिक्त करने लगीं॥ २९॥

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम्।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश॥ ३०॥

माताओंसे अनुमति लेकर श्रीहरिने समस्त प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया। वहाँ उनकी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके अलग-अलग उत्तम महल थे॥ ३०॥

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः॥ ३१॥

तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने एक साथ ही पृथक्-पृथक् रानियोंके महलोंमें एक ही समयमें प्रवेश किया। प्रवासके बाद अपने प्राणनाथको दूरसे ही निकट आते देखकर श्रीकृष्णकी उन समस्त पत्नियोंका हृदय परमानन्दसे पूर्ण हो गया तथा उनके मुख और नेत्र लज्जावशतः झुक गये। अपने प्रियतमको निकट देखकर वे स्मृतिमें उक्त प्रोषितभर्तृका[१] द्वारा धारण किये गये समस्त प्रकारके भोग-विलासके त्याग आदिके

---

[१] जिसका पति प्रवासमें हो अर्थात् परदेश गया हो।

विधि-नियमको परित्याग किये बिना ही अपने-अपने आसन अर्थात् देह और सर्वान्तःकरणके साथ उठ खड़ी हुईं॥ ३१॥

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥ ३२॥

हे भार्गवश्रेष्ठ शौनकजी! इन महिषियोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति बड़ा ही गम्भीर भाव था। श्रीकृष्णको दूरसे ही आता देखकर प्रेम-विवशताके कारण पहले उन्होंने मन-ही-मन, फिर नेत्रोंके द्वारा, पुनः उन्हें समीप आते देखकर अपने पुत्रों द्वारा श्रीकृष्णका कण्ठ धारणकर उन्हें उनसे आलिङ्गित करवाकर स्वयं आलिङ्गन सुखका अनुभव किया। उस समय विह्वलताके कारण उनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे तथा वे संकोचके कारण उन आँसुओंको रोकनेका बहुत प्रयास कर रही थीं। किन्तु धैर्य न रहने कारण वे रानियाँ विशेष रूपसे लज्जित हो रही थीं। अब इन श्रीकृष्णकी पत्नियोंके विशिष्ट प्रेम-विलासका श्रवण कीजिये॥ ३२॥

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यत् श्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥ ३३॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्तमें सर्वदा ही अपनी पत्नियोंके समीप रहते थे, तथापि उनके श्रीचरणकमल प्रत्येक क्षण नवनवायमान ही जान पड़ते थे। अतएव चञ्चल स्वभावयुक्त साक्षात् लक्ष्मीजी भी जिनके श्रीचरणकमलोंको कभी नहीं छोड़तीं, तो फिर कोई अन्य स्त्री भी उन चरण-युगलकी सेवासे किस प्रकार विरत हो सकती है?॥ ३३॥

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्।

विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुधः॥ ३४॥

जिस प्रकार वायु बाँसके वृक्षोंमें परस्पर संघर्षणके द्वारा दावानल उत्पन्न कराकर उन बाँसोंको जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयं निरस्त्र रहकर पृथ्वीके भार स्वरूप बहुत-सी अक्षौहिणी सेनाओंसे युक्त शक्तिशाली राजाओंमें परस्पर शत्रुता उत्पन्न कराकर उनके द्वारा एक-दूसरेका वध करवाकर स्वयं शान्त हो गये॥ ३४॥

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा॥ ३५॥

अद्वितीय भोक्ता तथा एकमात्र परमपुरुष तुरीय श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य स्वरूपशक्ति—योगमायाके बलसे इस मर्त्यधाममें अवतीर्ण हुए। उन्होंने प्राकृत दृष्टिसे सहस्रों उत्तम रमणी-रत्नोंके साथ साधारण मनुष्यके समान रमण किया था॥ ३५॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतोऽमदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥ ३६॥

तमयं मन्यते लोको ह्यसक्तमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ ३७॥

जिन समस्त परम सुन्दरियोंके गूढ़ हाव-भावसूचक निर्मल मनोहर हास्य और सलज्ज कटाक्षसे अत्यन्त सम्मोहित होकर कामरिपु साक्षात् महादेव भी अपने पिनाक-धनुषका परित्याग कर देते हैं, अथवा स्वयं कामदेव अपने कर्त्तव्यसे सम्मोहित होकर लज्जापूर्वक अपने कुसुम-धनुषका परित्याग कर देते हैं, वैसी महेश-मदन-विजयिनी श्रेष्ठ रमणियाँ भी अपने कपट हाव-भावोंके पूर्ण विक्रमादि द्वारा श्रीकृष्णके मनको तनिक भी क्षुब्ध न कर सकीं। ऐसे निर्विकार और प्राकृत सङ्गसे अतीत श्रीकृष्णको प्राकृत-मायासे मुग्ध संसारके

अतत्त्वज्ञ लोग मूर्खताके कारण अपने ही समान कामी, स्त्री-आसक्त और मरणशील सामान्य मनुष्य मान लेते हैं॥ ३६-३७॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥ ३८॥

जिस प्रकार परम-भागवतजनोंकी भगवान्‌के प्रति शरणागत बुद्धि प्रकृतिमें स्थित होनेपर भी प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार श्रीभगवान् प्रकृतिके अन्तर्गत प्रपञ्चमें अवस्थित होकर भी सुख-दुःख आदि प्राकृत गुणोंसे कदापि लिप्त नहीं होते। परमेश्वर या उनकी वस्तुओंका यही ऐश्वर्य है॥ ३८॥

तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणञ्चानुव्रतं रहः।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा॥ ३९॥

जिस प्रकार अहंबुद्धिसे युक्त व्यक्ति अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ ईश्वरको अपने-अपने धर्मसे युक्त मानते हैं, उसी प्रकार ये अबलाएँ भी श्रीकृष्णकी महिमाको नहीं जानती थीं, अतः मोहवश उन ईश्वरको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्त्रीपरायण एवं अपना एकान्त अनुगत मानती थीं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारका-प्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

परीक्षित्का जन्म-वृत्तान्त

श्रीशौनक उवाच—

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे श्रीसूत गोस्वामी! अश्वत्थामाके द्वारा छोड़े गये महाभयङ्कर ब्रह्मास्त्रसे उत्तराका गर्भ नष्ट हो गया था, तथापि भगवान् श्रीकृष्णने उस गर्भस्थ शिशुकी भलीभाँति रक्षा की॥ १॥

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।
निधनञ्च यथैवासीत् स प्रेत्य गतवान् यथा॥ २॥

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः॥ ३॥

शक्तिशाली, महाज्ञानी और महानुभाव उन परीक्षित्का उस गर्भसे कैसे जन्म हुआ? कौन-कौनसे कर्म किये एवं किस प्रकार अपनी देहका परित्याग किया? वे किस प्रकारसे अपनी देहका त्याग करके वैकुण्ठ गये? परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवने उन्हें तत्त्व-ज्ञान श्रवण कराकर कृतार्थ किया था, अतः उन श्रीपरीक्षित्के विषयमें समस्त वृत्तान्त जाननेकी हमारी बड़ी अभिलाषा है। यदि आप अनुग्रहपूर्वक उस वृत्तान्तको कहना चाहे, तो हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें उनका सम्पूर्ण चरित बतलायें, हम बड़ी श्रद्धाके साथ उसे सुनना चाहते हैं॥ २-३॥

श्रीसूत उवाच—

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद्रञ्जयन् प्रजाः।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया॥ ४॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्रतिक्षण सेवा करनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिर समस्त प्रकारकी कामनाओंसे निर्मुक्त हो गये थे। वे अपने पिता पाण्डुके समान ही अपनी प्रजाको भलीभाँति सन्तुष्ट करते हुए उसका पालन करने लगे॥ ४॥

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही।
जम्बुद्वीपाधिपत्यञ्च यशश्च त्रिदिवं गतम्॥ ५॥

हे शौनकादि ऋषियो! धर्मराज युधिष्ठिरके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें पुण्यलोकोंका अधिकार प्राप्त हो गया था। अनुकूल रानी, आज्ञाकारी भाई, सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन, जम्बूद्वीप तक प्रभुत्व एवं स्वर्ग तक विस्तृत कीर्त्ति—सभी कुछ उन्हें प्राप्त था॥ ५॥

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विज।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे॥ ६॥

किन्तु हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार अन्न-भोजनकी लालसावाले भूखसे पीड़ित व्यक्तिको भूख-मिटानेके लिए अन्न-भोजनके अतिरिक्त माला, चन्दनादि अन्य कुछ भी सुखकर नहीं लगता, उसी प्रकार जिनका चित्त एकमात्र श्रीकृष्णमें ही रमा हुआ है, उनके पास देवताओं द्वारा भी वाञ्छित सम्पदाएँ विद्यमान रहनेपर क्या ये सम्पदादि विषय उन्हें आनन्द प्रदान कर सकते हैं? कदापि नहीं॥ ६॥

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा॥ ७॥

हे भृगुनन्दन! जब ब्रह्मास्त्रने उत्तराके गर्भमें प्रवेश किया, उस समय उत्तराके गर्भमें स्थित महावीर शिशु परीक्षित् उस ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलने लगे, किन्तु तभी उन्होंने अपनी आँखोंके सामने एक ज्योतिर्मय पुरुषका दर्शन किया॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥ ८॥

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकूण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतो दिशम्।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः॥ ९॥

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ॥ १०॥

बालक परीक्षित्‌ने देखा कि उन पुरुषका माप तो केवल अङ्गूठे मात्रका है और उनकी कान्ति निर्मल है। वे उज्ज्वल स्वर्णमुकुटधारी अति सुन्दर रूपयुक्त हैं तथा उन्होंने अपने अङ्गोंपर विद्युतसे विभूषित मेघके समान पीताम्बर धारण किया हुआ है। उन निर्विकार पुरुषकी घुटने तक लम्बी-लम्बी सुन्दर चार भुजाएँ हैं, तथा उनके कान अग्निसे तपाये हुए स्वर्णमय कुण्डलोंसे सुशोभित हैं। 'अहो! मेरे भक्तको गर्भवासकालमें ही ब्रह्मास्त्रके तापको सहन करना पड़ रहा है।'—यह देखकर क्रोधसे भरे अपने अत्यन्त लाल नेत्रोंको वह चारों ओर घुमा रहे हैं। उन पुरुषने हाथमें गदा धारण कर रखी है तथा उल्काके समान जलती हुई अपनी गदाको वह पुनः-पुनः अपने चारों ओर घुमा रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य कुहरेका विनाश कर देता है, ठीक उसी प्रकार वह अपनी गदाके द्वारा अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्रके तेजका विनाश कर रहे हैं। ऐसे पुरुषको अपने समीपमें स्थित देख गर्भस्थित बालक परीक्षित् 'यह कौन हैं?'—इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे॥ ८—१०॥

विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः।
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ११॥

असीम शक्तिशाली, धर्मके परिपालक और सर्वगत परमेश्वर श्रीहरि उस ब्रह्मास्त्रका विनाश करके दस मासके गर्भस्थ शिशु (उन परीक्षित्) की आँखोंके सामने उस गर्भमें ही अन्तर्धान हो गये॥ ११॥

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा॥ १२॥

तदनन्तर समस्त सद्‌गुणोंको विकसित करनेवाले तत्कालीन उदय लग्नके साथ अन्यान्य अनुकूल ग्रहोंके सम्मिलित होनेपर उस शुभ समयमें पाण्डुके समान ही पराक्रमी पाण्डुके वंशधर परीक्षित्‌ने जन्म-ग्रहण किया॥ १२॥

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम्॥ १३॥

पौत्रके जन्मका समाचार सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरका चित्त प्रफुल्लित हो गया। उन्होंने धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंके द्वारा पुण्याह आदि स्वस्ति-वाचन पाठ करवाये और नवजात बालकका जातकर्म संस्कार सम्पन्न करवाया॥ १३॥

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान् नृपतिर्वरान्।
प्रादात् स्वन्नञ्च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित्॥ १४॥

दानके उचित समय और योग्य पात्रको जाननेवाले महाराज युधिष्ठिरने सन्तानोत्पत्ति रूप प्रजातीर्थ नामक पुण्यकालमें अर्थात् नाल काटनेसे पहले ही ब्राह्मणोंको स्वर्ण, गाय, भूमि, श्रेष्ठ गाँव, हाथी, घोड़े आदि एवं आवश्यकतानुसार उत्तम-उत्तम भोजन सामग्री प्रदान की॥ १४॥

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयानतम्।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ॥ १५॥
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना॥ १६॥

उस समय ब्राह्मणगण सन्तुष्ट होकर राजा युधिष्ठिरसे कहने लगे—हे पुरुवंशश्रेष्ठ! पुरुवंशियोंके पवित्र वंशका अङ्कुर यह पुत्र कालकी प्रायः निश्चित गतिसे दैववशतः विनाशको प्राप्त हो ही गया था, किन्तु महाप्रभावशाली श्रीनारायणने आपके प्रति अनुग्रह करते हुए इस बालककी रक्षाकर इसे आपको प्रदान किया है॥ १५-१६॥

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति।
न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान्॥ १७॥

भगवान् श्रीविष्णुके द्वारा रक्षित होनेके कारण यह बालक जगत्में 'विष्णुरात' नामसे प्रसिद्ध होगा। हे सौभाग्यवान महाराज! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक संसारमें महागुणशाली और परम वैष्णव होगा॥ १७॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः॥ १८॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर परमानन्दित हो गये और गम्भीरताके साथ पूछने लगे—हे श्रेष्ठ सज्जनो! क्या यह नवजात कुमार अपनी उज्ज्वल कीर्त्ति और सद्-प्रशंसाके द्वारा हमारे वंशके पवित्रकीर्त्ति महान् राजर्षियोंका अनुसरण करेगा?॥ १८॥

श्रीब्राह्मणा ऊचुः—

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा॥ १९॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! यह बालक साक्षात् मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान प्रजारक्षक, दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्रके समान ब्राह्मणोंका हितकारी और सत्यप्रतिज्ञ होगा॥ १९॥

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः।
यशो वितनिता स्वानां दौष्मन्तिरिव यज्वनाम्॥ २०॥

अपना माँस प्रदान करके बाजके आक्रमणसे शरणागत कबूतरकी रक्षा करनेवाले उशीनर नरेश शिबिके समान यह बालक उदार-दाता और शरणागतजनोंका पालक तथा दुष्मन्त-पुत्र भरतके समान ही सुहृद्-सम्बन्धियोंके यशका विस्तार तथा बहुत-से यज्ञ करनेवाला होगा॥ २०॥

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः।
हुताश इव दुर्द्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः॥ २१॥

हे राजन्! यह कुमार धनुर्धारियोंमें अपने दादा महावीर पार्थ और हैहयाधिपति कार्त्तवीर्य (सहस्रार्जुन) के समान श्रेष्ठ, अग्निके समान ही

दुर्जय एवं समुद्रके समान ही दुस्तर अर्थात् गम्भीर होगा॥ २१॥

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव॥ २२॥

यह शिशु पशुराज सिंहके समान पराक्रमशाली, हिमालयके समान साधुओंकी अनन्यगति, पृथ्वीके समान क्षमाशील और माता-पिताके समान स्नेहवशतः सहनशील होगा॥ २२॥

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः॥ २३॥

इस बालकमें ब्रह्माजीके समान द्वेषभावसे रहित समता गुण होगा, आशुतोष शिवके समान सन्तोष गुण होगा तथा भगवान् लक्ष्मीपति श्रीहरिके समान यह समस्त प्राणियोंका आश्रयदाता होगा॥ २३॥

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः।
रन्तिदेव इवौदार्ये ययातिरिव धार्मिकः॥ २४॥

यह कुमार समस्त सद्‌गुणोंसे युक्त महिमाको धारण करनेमें श्रीकृष्णका अनुयायी होगा, रन्तिदेवके समान उदार तथा ययातिके समान धार्मिक होगा॥ २४॥

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः॥ २५॥

महाराज युधिष्ठिर! यह शिशु धैर्यमें प्रह्लादपौत्र बलिके समान और भगवान् श्रीकृष्णके प्रति दृढ़ मनोयोगमें भक्तराज प्रह्लादके समान होगा। यह बहुत-से अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान और वृद्धोंका सम्मान करनेवाला होगा॥ २५॥

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम्।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात्॥ २६॥

यह जनमेजय आदि राजर्षियोंका जन्मदाता, असत्-पथ पर चलनेवाले (मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले) लोगोंका शासनकर्त्ता, पृथ्वी और धर्मकी रक्षाके लिए कलिको दण्ड देनेवाला होगा॥ २६॥

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात्।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः॥ २७॥

तदनन्तर ब्राह्मण (शमीक) के पुत्र शृङ्गी ऋषिके शापसे तक्षक नागके द्वारा अपनी मृत्युको अनिवार्य जानकर यह इस संसारसे विरक्त हो जायेगा और श्रीहरिके अभय चरणकमलोंका आश्रय लेगा॥ २७॥

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम्॥ २८॥

हे महाराज! यह श्रीमान् बालक वेदव्यास-पुत्र ब्रह्मर्षि श्रीशुकदेवके मुखसे अपने (आत्माके) वास्तविक तत्त्वको जाननेका अभिलाषी होकर उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करेगा। अन्ततः गङ्गाके तटपर अपने स्थूलशरीरका परित्याग करके निश्चित रूपसे भगवान् श्रीविष्णुके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करेगा॥ २८॥

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान्॥ २९॥

नवजात शिशुकी अदृष्ट गणनामें निपुण अर्थात् ज्योतिष-शास्त्रके विशेषज्ञ वह समस्त ब्राह्मण धर्मराज युधिष्ठिरको बालकके जन्मलग्नका फल बतलाकर भेंट-पूजा आदि प्राप्त करके अपने-अपने घर चले गये॥ २९॥

स एव लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत् प्रभुः।
गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥ ३०॥

उस बालकने माताके गर्भमें ही परम पुरुषका दर्शन किया था, अतः कुछ बड़ा होनेपर वह निरन्तर उनका ही स्मरण करता हुआ, संसारमें जितने भी लोग हैं, सभीकी 'क्या ये वही पुरुष हैं जिन्हें मैंने गर्भमें देखा था' इस प्रकारसे परीक्षा किया करता था। इसी कारण वह इस जगत्में 'परीक्षित्' के नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ ३०॥

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम्॥ ३१॥

जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्षीय पन्द्रह कलाओंसे परिपूर्ण होकर दिन-प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार भी पितामह युधिष्ठिर आदि गुरुजनोंके लालन-पालनसे क्रमशः समस्त गुणोंसे परिपूर्ण होकर शीघ्र ही वर्द्धित होने लगा॥ ३१॥

बाल एव स धर्मात्मा कृष्णभक्तो निसर्गतः।
प्रीतिदः सर्वलोकस्य महाभागवतः सुधीः॥ ३२॥

हे शौनक ऋषि! परीक्षित् बाल्यावस्थासे ही स्वभावतः धार्मिक, कृष्णभक्त, समस्त लोगोंका प्रिय करनेवाले, महाभागवत एवं परम बुद्धिमान थे॥ ३२॥

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया।
राजालब्धधनो दध्यौ नान्यत्र कर-दण्डयोः॥ ३३॥

धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञके द्वारा स्वजनोंके वधसे उत्पन्न अधर्मको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त करना चाहते थे। किन्तु कर-ग्रहण और दण्ड-विधान (जुर्माना)—इन दोनों विधियोंसे प्राप्त होनेवाला समस्त धन परिजनोंके भरण-पोषणादि कार्योंमें व्यय हो जाता था। इसके अतिरिक्त धन-आगमनका अन्य कोई उपाय न होनेके कारण अर्थके अभाववशतः वे यज्ञके लिए उपयोगी अर्थकी व्यवस्थाके लिए चिन्ता करने लगे॥ ३३॥

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः॥ ३४॥

धर्मराजके अभिप्रायसे भलीभाँति अवगत होकर भीमसेन आदि सभी भाई श्रीकृष्णकी प्रेरणानुसार उत्तर दिशामें गये और मरुत्त राजाके यज्ञमें ब्राह्मणों द्वारा परित्यक्त प्रचुर स्वर्ण-पात्रादि रूप धन-रत्नोंको उठा लाये॥ ३४॥

तेन संभृतसम्भारो लब्धकामो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञेशमयजद्धरिम्॥ ३५॥

स्वजनोंके वधसे उदित पापसे शंकित-चित्त धर्मराज युधिष्ठिरने उस धनके द्वारा यज्ञके उपकरणों एवं सामग्रियोंकी व्यवस्था की। इस

प्रकार अभीष्ट प्राप्ति अर्थात् यज्ञके लिए धनको प्राप्तकर उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ किये और उन यज्ञोंके द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिका पूजन किया॥ ३५॥

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम्।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया॥ ३६॥

अश्वमेध यज्ञमें धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको निमन्त्रित किया। भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पधारकर ब्राह्मणोंके द्वारा उनका यज्ञ सम्पन्न करवाया तथा पाण्डवादि बन्धु-बान्धवोंकी प्रसन्नताके लिए वे कुछ मास तक वहीं रहे॥ ३६॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः।
ययौ द्वारवतीं कृष्णः सार्जुनो यदुभिर्वृतः॥ ३७॥

तदनन्तर द्रौपदी, धर्मराज युधिष्ठिर और बन्धु-बान्धवोंसे सब प्रकारसे अनुमति ग्रहणकर यदुवंशियोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ द्वारकानगरीके लिए प्रस्थान किया॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीपरीक्षिज्जन्म नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीविदुरके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें गमन और युधिष्ठिर द्वारा देवर्षि नारदसे उनका वृत्तान्त श्रवण

श्रीसूत उवाच—

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब विदुरजी तीर्थयात्राके लिए गये थे, उस समय उन्हें श्रीहरिके विषयमें सबकुछ जाननेकी तीव्र अभिलाषा थी। इसीलिए वहाँ उन्होंने श्रीमैत्रेय ऋषिसे आत्माकी गति—परमात्मा श्रीहरिके विषयमें ज्ञान प्राप्त किया और उन श्रीहरिमें एकाग्र चित्त होकर वे हस्तिनापुर लौट आये॥ १॥

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौशारवाग्रतः।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह॥ २॥

महात्मा विदुरने श्रीमैत्रेय ऋषिसे पहले तो कर्म-योगादिके विषयमें बहुत प्रश्न किये थे। किन्तु बादमें अर्थात् तीन-चार प्रश्नोंका उत्तर सुननेमात्रसे ही उनमें श्रीगोविन्ददेवके प्रति ऐकान्तिक भक्ति उदित हो गयी, जिसके फलस्वरूप वे कर्मयोगादिसे सम्बन्धित प्रश्नोंको पूछनेसे विरत हो गये अर्थात् उनके उत्तर सुननेकी भी उनमें इच्छा ही नहीं रही। इसका कारण है कि भक्ति उदित हो जानेपर अन्य समस्त जिज्ञासाएँ दूर हो जाती हैं॥ २॥

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा॥ ३॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च यामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः॥ ४॥

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम्।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! जब किसी भी प्रकारसे मूर्च्छादि दोषके कारण प्राणवायु प्रायः रुक जाती है, तब जिस प्रकार देह और हाथ-पैर आदि निश्चेष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पाण्डव विदुरजीके दर्शन न होनेपर अत्यन्त दुःखित रहते थे। परन्तु आज भीम आदि अनुजों सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, सञ्जय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, पाण्डुराजके सम्बन्धी, सम्बन्धियोंकी पत्नियाँ, पुत्रों सहित अन्यान्य महिलाएँ आदि सभी बन्धु विदुरजीको आया देखकर बड़े आनन्दित हो गये, मानो उनके प्राणहीन शरीरोंमें पुनः प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। सबने परम आनन्दके साथ विधिवत् उनकी अगवानी करनेके लिए उनके समीप जाकर आलिङ्गन, प्रणाम आदिके द्वारा उनका यथोचित सत्कार किया॥ ३-५॥

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम्॥ ६॥

विदुरजी महाराज युधिष्ठिर द्वारा दिये गये आसनपर सुखपूर्वक बैठ गये। राजा युधिष्ठिरने उनका पूजा-सत्कार किया। विदुरजीके विरहसे उदित उत्कण्ठासे कातर होकर पाण्डवगण प्रेमाश्रु बहाने लगे॥ ६॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषाञ्च शृण्वताम्॥ ७॥

महात्मा विदुरने भोजन करके विश्राम किया और उसके बाद जब वे पुनः सुखसे आसनपर बैठ गये, तब सभीके सामने राजा युधिष्ठिर सिर झुकाकर विदुरजीसे बड़े नम्र वचनोंसे कहने लगे—॥ ७॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत् समातृकाः॥ ८॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंकी छाया द्वारा अति स्नेहसे अपने शावकोंकी रक्षा करते हुए उन्हें सम्वर्द्धित करते हैं, उसी प्रकार आपने भी हमें अत्यन्त वात्सल्यके साथ अपने कर-कमलोंकी छत्रछायामें पाला-पोसा है। पक्षपातरूप छायाके द्वारा भी आपने विष-दान, लाक्षागृह-दाह आदि विपत्तियोंसे बार-बार हमारी एवं हमारी माताजी की रक्षा की थी। तीर्थमें भ्रमण करते समय क्या आप कभी हमलोगोंका स्मरण करते थे?॥ ८॥

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले॥ ९॥

चाचाजी! जब आप पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे, तब आपने किस प्रकारकी वृत्ति द्वारा अपनी देह-यात्राका निर्वाह किया? आपने पृथ्वीके विभिन्न क्षेत्रोंमेंसे कौन-कौनसे प्रधान तीर्थोंका सेवन किया?॥ ९॥

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥ १०॥

हे प्रभो! आप जैसे भागवतजन तो स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं, क्योंकि वे अपने अन्तःकरणमें स्थित गदाधारी भगवान्‌की पवित्रताके बलसे पापियोंके पाप द्वारा मलिन समस्त तीर्थोंको पुनः पवित्र कर देते हैं॥ १०॥

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते॥ ११॥

हे तात! श्रीकृष्णमें ही जिनके प्राण समर्पित हैं, वे हमारे आत्मीय और सुहृद बन्धु यादवगण अपनी राजधानी द्वारकामें कुशलसे तो हैं न? क्या आपकी उनसे भेंट हुई थी? अथवा आपने उनके विषयमें कुछ सुना तो अवश्य ही होगा?॥ ११॥

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत्।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम्॥ १२॥

जब धर्मराज युधिष्ठिरने यह सब पूछा, तब विदुरजीने अपने तीर्थ-भ्रमण और द्वारकाका समस्त वृत्तान्त जैसा देखा था अथवा

सुना था, वैसा ही यथाक्रमसे वर्णन कर दिया। परन्तु उन्होंने पाण्डवोंको यदुवंशके ध्वंसके विषयमें कुछ भी नहीं बतलाया॥ १२॥

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम्।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः॥ १३॥

इस जगत्में मनुष्योंके निकट उनके लिए असहनीय तथा उनके अमङ्गलकी बातको बोलना भी उचित नहीं है। परमकरुणामय परदुःखदुःखी विदुरजी पाण्डवोंको दुःखी नहीं देख सकते थे, इसलिए उन्होंने यह अप्रिय और असहनीय घटना पाण्डवोंको नहीं सुनायी, क्योंकि वह तो स्वयं प्रकट होने ही वाली थी॥ १३॥

कञ्चित् कालमथावात्सीत् सत्कृतो देववत् स्वकैः।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत् सर्वेषां प्रीतिमावहन्॥ १४॥

इसके बाद महात्मा विदुरने तत्त्वोपदेश द्वारा ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्रके कल्याणकी कामनासे एवं सभीकी प्रसन्नताके लिए कुछ दिनों तक हस्तिनापुरमें ही वास किया। विदुरजीके सभी आत्मीयजन उनकी देवताके समान सेवा-पूजा किया करते थे॥ १४॥

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथाघमघकारिषु।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः॥ १५॥

(यदि आपत्ति हो कि विदुर शूद्र होकर किस प्रकार तत्त्वोंका उपदेश कर सकते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—वे शूद्र नहीं हैं) माण्डव्य मुनिके शापसे साक्षात् धर्मराज यम ही सौ वर्षोंके लिए शूद्ररूपमें विदुर होकर आये थे। इतने काल तक यमराजके पदपर सूर्यदेव थे और वे ही पापियोंको उचित दण्ड दिया करते थे॥ १५॥

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम्।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया॥ १६॥

राज्याधिकार प्राप्त हो जानेपर महाराज युधिष्ठिर इन्द्रादि लोकपालोंके तुल्य भाइयोंके साथ और वंशधर पौत्र परीक्षित्को देखते हुए श्रेष्ठ राज्य लक्ष्मीरूप सम्पत्तिसे सेवित होकर आनन्दित रहने लगे॥ १६॥

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः॥ १७॥

इस प्रकार पाण्डवगण घर-गृहस्थीके कार्योंमें आसक्त होकर रम गये और एक प्रकारसे यह बात भूल ही गये कि परम दुस्तर काल अज्ञात रूपसे उनपर आक्रमण कर रहा है, अर्थात् उनका आयु-काल सम्पूर्ण हो रहा है॥ १७॥

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत।
राजन् निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम्॥ १८॥

विदुरजी कालकी गतिको जानते थे, अतः आयुकी समाप्तिके कालको उपस्थित हुआ जानकर वे अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे बोले—राजन्! देखिये! अब बड़ा भयङ्कर समय उपस्थित हुआ है, शीघ्र ही इस स्थानसे बाहर निकलिये॥ १८॥

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित् कर्हिचित् प्रभो।
स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः॥ १९॥

हे प्रभो! यह सर्वसंहारक काल अब हमारे निकट ही उपस्थित हो चुका है। इस जगत्में इसे टालनेका कोई भी उपाय नहीं है॥ १९॥

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः॥ २०॥

इस कालके वशीभूत होनेसे अन्यान्य समस्त प्रकारकी धन-सम्पत्तियोंकी बात तो दूर रहे, सर्वाधिक प्रिय प्राणोंसे भी क्षण भरमें ही वियोग हो जाता है॥ २०॥

पितृभ्रातृ-सुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ २१॥

(महामति विदुरजी राजा धृतराष्ट्रको वैराग्य उत्पन्न कराते हुए कहने लगे—)आपके पिता, भाई, बन्धु, पुत्र सभी मृत्युको प्राप्त हो चुके है। अब आपकी आयु भी ढल चुकी है। आपकी यह देह जरावस्थाके कारण जीर्ण हो रही है, अतः ऐसी दशामें भी आप इस पराये घरमें पड़े हुए हैं?॥ २१॥

अन्धः पूरैव बधिरो मन्दप्रज्ञश्च साम्प्रतम्।
विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्वहन्॥ २२॥

आप तो जन्मसे ही अन्धे हैं, उसपर भी अब आप बहरे और मन्द बुद्धि हो गये हैं। आपके सारे दाँत टूट चुके हैं, जठराग्नि मन्द हो गयी है, कफ निकल रहा है, फिर भी आप विषयोंमें इतने आसक्त हैं?॥ २२॥

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥ २३॥

अहो! प्राणियोंमें जीवित रहनेकी आशा कितनी बलवती होती है! इसी आशासे मोहित होकर ही तो आप अपने पुत्रोंका वध करनेवाले उस भीमके द्वारा भी दिया हुआ रोटीका टुकड़ा खाकर घरमें पाले जानेवाले कुत्ते जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं॥ २३॥

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत्॥ २४॥

आपने जिन्हें जलाकर मार डालनेकी कामनासे लाक्षागृहमें आग लगवा दी थी, जिन्हें विष देकर मार डालनेका प्रयत्न किया था, जिनकी धर्मपत्नीको अपमानित किया था, जिनकी भूमि एवं धनको छीन लिया था, आज उनके ही अन्नसे आप अपना जीवन यापन कर रहे हैं? ऐसा जीवन जीनेमें क्या गौरव है?॥ २४॥

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव॥ २५॥

आप जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं, पर आपके चाहनेसे क्या होगा? देह-त्यागके लिए आपका शोक करना व्यर्थ है, क्योंकि अपने शरीरको परित्याग करनेकी इच्छा नहीं करनेपर भी फटे-पुराने वस्त्रोंके समान इस देहका क्षय होता जा रहा है॥ २५॥

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥ २६॥

महाराज! जो विषय आदिमें आसक्तिरहित और अभिमानशून्य होकर ऐहिक (लौकिक) और पारत्रिक (पारलौकिक) सुखसाधनकी कामनासे रहित इस शरीरका दूसरोंके बिना जाने त्याग कर देते हैं, वे ही 'धीर' कहलाते हैं॥ २६॥

यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः॥ २७॥

भैया! आत्म-तत्त्वको जाननेवाला जो व्यक्ति अपने विवेकसे या दूसरेके समझानेपर वैराग्यवान होकर अपने हृदयमें श्रीहरिको धारणकर संन्यासके लिए घरसे निकल जाता है, वही 'नरोत्तम' अर्थात् उत्तम मनुष्य है॥ २७॥

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।
इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः॥ २८॥

इसलिए अब आप अपने आत्मीयजनोंसे छिपकर उत्तर-दिशाकी ओर प्रस्थान कीजिये। इसके बाद जो समय आ रहा है, वह मनुष्योंके धैर्य, दया आदि गुणोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला है॥ २८॥

एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो ह्याजमीढः।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान् द्रढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा॥ २९॥

इस प्रकार छोटे भाई विदुरजीने अपने बड़े भाई अजमीढ़ वंशजात अन्धे राजा धृतराष्टको समझाते हुए उनके समक्ष बन्धन और मोक्षका मार्ग प्रदर्शित किया। विदुरजीके इन उपदेशोंसे राजा धृतराष्ट्रके ज्ञानके नेत्र खुल गये और वे दृढ़चित्तसे आत्मीय-जनोंका स्नेहबन्धन काटकर घर त्यागकर अपने छोटे भाईके दिखलाये हुए मार्गपर निकल पड़े॥ २९॥

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी।

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सन् सम्प्रहारः॥ ३०॥

सुबलतनया पतिव्रता सुशीला गान्धारीने अपने पतिको हिमालय पर्वतकी ओर जाते देखा। यह हिमालय संन्यासियोंको उसी प्रकारसे आनन्द प्रदान करता है, जिस प्रकार युद्धमें वीरोंको अपने शत्रुके द्वारा किये गये न्यायोचित तीव्र प्रहारोंसे आनन्द प्राप्त होता है। अतः गान्धारी भी अपने पतिके पीछे-पीछे चल पड़ी॥ ३०॥

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
र्विप्रान् नत्वा तिलगोभूमि-रुक्मैः।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत् पितरौ सौबलीञ्च॥ ३१॥

इधर अजातशत्रु युधिष्ठिरने प्रातःकालमें सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्रादि कार्योंका समापन करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और तिल, गौ, भूमि एवं स्वर्ण आदिका दान देकर उनका भलीभाँति सत्कार किया। इसके बाद जब वे गुरुजनोंकी वन्दनाके लिए उनके महलमें प्रविष्ट हुए, तो देखा कि चाचा विदुर, धृतराष्ट्र और सुबलतनया गान्धारी आदि कोई भी वहाँ नहीं हैं॥ ३१॥

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः।
अम्बा च हतपुत्रार्त्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत्॥ ३२॥

गुरुजनोंको घरमें न देखकर युधिष्ठिरका चित्त बहुत उद्विग्न हो गया। वहाँ सञ्जयको बैठा हुआ देखकर उन्होंने उससे पूछा—हे गवलगणनन्दन सञ्जय! मेरे वृद्ध एवं नेत्रहीन ताऊ धृतराष्ट्र कहाँ हैं? पुत्रोंके मर जानेसे शोकसे पीड़ित मेरी दुःखिया माता गान्धारी कहाँ हैं? मेरे परम आत्मीय हितैषी चाचा विदुरजी कहाँ चले गये?॥ ३२॥

अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत्॥ ३३॥

मैंने अपने ताऊजीके पुत्रोंका विनाश किया है। मैं बड़ा ही मन्दबुद्धि हूँ। कही मुझसे किसी अपराधकी आशङ्का करके दुःखी होकर वे पत्नी गान्धारीके साथ गङ्गामें तो नहीं कूद पड़े?॥ ३३॥

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान् नः सुहृदः शिशून्।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः॥ ३४॥

सञ्जय! जब हमारे पिता महाराज पाण्डुने स्वधाममें गमन किया, तब हम छोटे-छोटे बालक थे। उस समय इन चाचाजी और ताऊजीने ही अपने बालकोंके समान हमारी बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे रक्षा की थी। वे हमपर बड़ा ही वात्सल्य रखते थे। हाय! ताऊजी और माता गान्धारी यहाँसे कहाँ चले गये?॥ ३४॥

श्रीसूत उवाच—

कृपया स्नेहवैक्लव्यात् सूतो विरहकर्षितः।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीड़ितः॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अपने स्वामी धृतराष्ट्रको न देखकर विरहसे कातर हो रहे सञ्जयका हृदय भी दया और स्नेहसे व्याकुल हो रहा था। अत्यधिक दुःखी होनेके कारण वे युधिष्ठिरको तत्क्षण कोई प्रत्युत्तर न दे सके॥ ३५॥

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन्॥ ३६॥

कुछ क्षणोंके बाद सञ्जयने दोनों हाथोंसे अपने आँसू पोंछे और बुद्धि द्वारा चित्तमें धैर्य धारणकर अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते हुए वे अजातशत्रु युधिष्ठिरको उत्तर देने लगे—॥ ३६॥

श्रीसञ्जय उवाच—

नाहं वेद्मि व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन।
गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥ ३७॥

श्रीसञ्जयने कहा—हे पाण्डव कुलतिलक! मैं आपके चाचा और ताऊ दोनोंके तथा गान्धारीके अभिप्रायों अथवा सङ्कल्पोंके विषयमें

कुछ नहीं जानता। हे महाबाहो! मैं उन महात्माओंके द्वारा ठग लिया गया॥ ३७॥

अथाजगाम भगवान् नारदः सह तुम्बुरुः।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव॥ ३८॥

(इस प्रकार सञ्जय कुछ समय तक शोक प्रकट करते रहे।) तभी तुम्बुरु हाथमें लिए देवर्षि भगवान् श्रीनारद वहाँ उपस्थित हुए। उन्हें देखकर युधिष्ठिर और उनके सभी भाई उठ खड़े हुए और उन्हें प्रणाम किया। इसके बाद महाराज युधिष्ठिर उनका सम्मान करते हुए कहने लगे—॥ ३८॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः।
अम्बा वा हतपुत्रार्त्ता क्व गता च तपस्विनी।
कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः॥ ३९॥
अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः॥ ४०॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। अपार शोकके सागरमें पतित मनुष्योंके आप ही कर्णधार और मार्गदर्शक हैं। हे प्रभो! मेरे चाचा और ताऊ यहाँसे कब और कहाँ चले गये—इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता। पुत्रोंके मर जानेसे माता गान्धारी शोकसे कातर तथा सदा दुःखमें डूबी रहती थीं—वे कहाँ चली गयीं, मैं यह भी नहीं जानता। युधिष्ठिरके इस प्रकार शोकार्त्त वचनोंको सुनकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीनारद कहने लगे॥ ३९-४०॥

श्रीनारद उवाच—

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत्।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च॥ ४१॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! किसीके लिए भी शोक नहीं करना चाहिये। यह जगत् तो ईश्वरके अधीन है। समस्त लोक और

लोकपाल उनकी ही आज्ञाका पालन करते हैं। वे ईश्वर ही समस्त जीवोंको एक-दूसरेसे मिलाते और अलग करते है॥ ४१॥

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्र्यां बद्धाश्च दामभिः।
वाक्तन्त्र्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः॥ ४२॥

जिस प्रकारसे बैल बड़ी रस्सीसे बँधे और छोटी रस्सियोंसे नथे रहकर अपने स्वामीका भार ढोते हैं, उसी प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल तथा अन्यान्य समस्त प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निरूपण करनेवाली वेदवाणीरूप लम्बी रस्सीसे बँधकर और ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि अलग-अलग नामरूपी छोटी-छोटी रस्सियोंसे नथे रहकर ईश्वरकी ही आज्ञाका अनुसरणकर उनकी पूजा करते हैं॥ ४२॥

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम्॥ ४३॥

जिस प्रकार खिलाड़ी व्यक्तिकी इच्छासे ही क्रीड़ाकी साधन वस्तुओं (पासे आदि खिलौनों) का संयोग और वियोग होता है, उसी प्रकार इस संसारमें भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका परस्पर मिलन और वियोग हुआ करता है॥ ४३॥

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात्॥ ४४॥

युधिष्ठिर! देखो! तुम मनुष्योंको जीव रूपसे नित्य और देह रूपसे अनित्य मानो अथवा अनिर्वचनीय होनेके कारण चित् रूपसे नित्य और जड़ रूपसे अनित्य दोनों ही प्रकारसे मानो—ऐसा मान लेनेपर किसी भी अवस्थामें उनके लिए शोक करना उचित नहीं है। मोहसे उत्पन्न स्नेहके अतिरिक्त शोकका अन्य कोई भी कारण दिखलायी नहीं देता॥ ४४॥

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः।
कथन्त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना॥ ४५॥

अतएव हे राजन्! 'असहाय और शोकसे कातर वे मेरे चाचा-ताऊ और माता गान्धारी मेरी सहायताके बिना किस प्रकारसे जीवन धारण करेंगे'—अज्ञानसे उदित मनकी इस व्याकुलताका आप परित्याग कीजिये॥ ४५॥

कालकर्म-गुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः।
कथमन्यांस्तु गोपायेत् सर्पग्रस्तो यथापरम्॥ ४६॥

यह पाञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणोंके अधीन है। जो व्यक्ति स्वयं ही अजगरके मुहँमें पड़ा हुआ है, वह दूसरेकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है? ॥ ४६॥

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्॥ ४७॥

हाथयुक्त मनुष्यादिके लिए हाथ रहित पशु आदि प्राणी, चार पैरवाले पशुओंके लिए पैर रहित तृणादि और बड़े जीवोंके लिए छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव ही दूसरे जीवका जीवन है॥ ४७॥

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक्।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा॥ ४८॥

इसलिए हे युधिष्ठिर! यह परिदृश्यमान हस्तयुक्त और हस्त रहित रूप जगत् विश्व-प्रकाशक भगवत्-स्वरूप है। इन समस्त रूपोंमें जीवोंके बाहर और भीतर सम्पूर्ण आत्माओंके आत्मा वही एक स्वयंप्रकाश भगवान् मायाके द्वारा अनेक प्रकारसे प्रकट हो रहे हैं। तुम केवल उन्हींको देखो॥ ४८॥

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभवाय सुरद्विषाम्॥ ४९॥

हे महाराज! समस्त प्राणियोंको जीवन दान देनेवाले भूतभावन भगवान् अभी इस पृथ्वीपर देव-विद्वेषी असुरोंके विनाशके लिए काल-स्वरूप होकर अवतीर्ण हुए हैं॥ ४९॥

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते।
तावद् यूयं प्रतीक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः॥ ५०॥

वे देवताओंके सभी कार्य पूर्ण कर चुके हैं और इस समय वे अपने बचे हुए कार्यको पूरा करनेके लिए ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। उस कार्यके सम्पन्न होते ही वे अपने धामको चले जायेंगे। अतः हे महाराज! जब तक वे ईश्वर इस पृथ्वीपर विराजमान हैं, तब तक आप भी उनकी प्रतीक्षा कीजिये॥ ५०॥

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः॥ ५१॥

आपके ताऊजी धृतराष्ट्र अपनी पत्नी गान्धारी और भाई विदुरजीके साथ हिमालयकी दक्षिण दिशामें स्थित ऋषिओंके आश्रममें गये हैं॥ ५१॥

स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात्।
सप्तानां प्रीतये नाम्ना सप्तस्रोतः प्रचक्षते॥ ५२॥

उस स्थानपर अति प्रसिद्ध देवनदी गङ्गाजी सातों ऋषियोंकी प्रसन्नताके लिए स्वयंको सप्त-धाराओंमें विभक्तकर प्रवाहित होती हैं, इसलिए उस स्थानको 'सप्तस्रोत तीर्थ' कहा जाता है॥ ५२॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्निं यथाविधि।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः॥ ५३॥

जितासनो जितश्वासः प्रकेत्याहृतषडिन्द्रियः।
हरिभावनया ध्वस्त-रजःसत्त्वतमोमलः॥ ५४॥

तुम्हारे ताऊजी उसी तीर्थमें त्रिकाल सन्ध्या-स्नान एवं विधिपूर्वक अग्निहोत्र आदि करते हुए केवल जल पीकर वहाँ वास कर रहे हैं। उनका चित्त शान्त प्रशान्त हो गया है और वे पुत्र, राज्य आदि कामनारूप समस्त भोग-इच्छाओंसे विरत हो गये हैं। आसन और श्वासवायुकी प्रक्रियाको वशमें करके उन्होंने शब्दादि विषयोंसे छहों इन्द्रियोंका मुख श्रीहरिकी ओर मोड़कर श्रीहरिकी भावना अर्थात्

ध्यान-धारणा द्वारा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके मलको धो डाला है॥ ५३-५४॥

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरामिवाम्बरे॥ ५५॥

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाधुनाः॥ ५६॥

उन्होंने अहङ्कारको बुद्धिके साथ जोड़कर पुनः उसे क्षेत्रज्ञ जीवके साथ संयुक्तकर दिया है तथा घटाकाश जिस प्रकार महाकाशमें युक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्माका सभीके आश्रय परब्रह्ममें संयोगकर वे माया-गुणके वासनारूप परिणामोंसे निर्मुक्त हो गये हैं। संयत-इन्द्रिय होनेके कारण अब उनमें भोक्ता बुद्धि द्वारा बाह्य-विषयोंका चिन्तनरूप विक्षोभ नहीं होता। समस्त कर्मोंसे निवृत होकर इस समय वे ठूँठकी तरह निश्चल होकर वास कर रहे हैं॥ ५५-५६॥

तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः।
स वा अद्यतनाद्राजन् परतः पञ्चमेऽहनि।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति॥ ५७॥

(युधिष्ठिरको उनके पास जानेके लिए तत्पर देख नारदजीने कहा—हे राजन् धर्मराज!) जिन्होंने अपने समस्त कर्मोंसे संन्यास ले लिया है, उन धृतराष्ट्रके लिए आप विघ्न स्वरूप न बनें। वे आजसे पाँचवे दिन अपनी देहका परित्याग कर देंगे और उनकी देह भी भस्मके रूपमें परिणत हो जायेगी॥ ५७॥

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति॥ ५८॥

गान्धारीको भी लौटा लानेके विषयमें मत सोचो। अपने पतिकी देहको पर्ण (कुश निर्मित) कुटिके सहित ही योगाग्नि एवं गार्हपत्यादि अग्निके द्वारा जलते देख बाहर खड़ी पतिव्रता पत्नी गान्धारी भी अपने पतिका अनुगमन करती हुई उस अग्निमें प्रवेश कर जायेंगी॥ ५८॥

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः॥ ५९॥

हे कुरुनन्दन! तुम्हारे द्वारा विदुरजीको भी लौटा लाना उचित नहीं है। विदुरजी इस आश्चर्यजनक घटनाका दर्शन करके भाईकी मुक्तिसे उत्पन्न हर्ष एवं लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे उनकी मृत्युसे उत्पन्न शोकसे अभिभूत होकर उस स्थानसे तीर्थपर्यटनके लिए चल देंगे॥ ५९॥

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः॥ ६०॥

यह सब कहकर वीणाको धारण करनेवाले देवर्षि श्रीनारद स्वर्गको चले गये। महाराज युधिष्ठिरने भी नारदजीके वचनोंको हृदयमें धारण करके शोकका परित्याग कर दिया॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीनारदवाक्यं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिरका शङ्का करना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना

श्रीसूत उवाच—

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ १॥

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात् ततोऽर्जुनः।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिए और पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण अब क्या करना चाहते हैं, इसे जाननेके लिए अर्जुन द्वारका गये हुए थे। कई मास बीत जानेपर भी अर्जुन द्वारकासे लौटकर नहीं आये। इसी समय धर्मराज युधिष्ठिरको अनिष्टसूचक भयङ्कर अपशकुन दिखने लगे॥ १-२॥

कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम्॥ ३॥

जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रञ्च सौहृदम्।
पितृमातृ-सुहृद्भ्रातृ-दम्पतीनाञ्च कल्कनम्॥ ४॥

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम्।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः॥ ५॥

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा—कालकी गति अति भयावह हो गयी है। ऋतुओंका धर्म विपरीत हो गया है, उनकी क्रियाएँ और समय भी बदल गया है। लोग क्रोधी, लोभी और असत्यवादी हो गये हैं। इसीलिए लोगोंने पाप-पथका अनुसरण करते हुए पापपूर्ण क्रियाओं आदिसे जीविकाका निर्वाह करना आरम्भ कर दिया है। उनका व्यवहार कपटतासे परिपूर्ण हो गया है और मित्रतामें भी छल-कपट

मिश्रित होने लगा है। पिता, माता, सुहृत्, भ्राता, पति और पत्नीमें परस्पर कलह आरम्भ हो गया है। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अपने शासनकालमें ही इन समस्त अत्यन्त अशुभ अनिष्टसूचक अपशकुनों और लोगोंको लोभ, दम्भ आदि अधर्मोंके वशीभूत होते देख अपने छोटे भाई भीमसेनसे कहने लगे—॥ ३—५॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ ६॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! मैंने अर्जुनको द्वारका भेजा था कि वह वहाँ जाकर बन्धुओंसे मिल आये और यह भी जान ले कि पुण्यश्लोक श्रीकृष्ण इस समय क्या कर रहे हैं॥ ६॥

गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा॥ ७॥

तबसे सात महीने बीत गये हैं, पर तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन अभी तक लौटा नहीं है। वह किस कारणसे नहीं लौटा, मुझे यह ठीकसे समझमें नहीं आ रहा है॥ ७॥

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः।
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति॥ ८॥

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात्॥ ९॥

कहीं देवर्षि श्रीनारद द्वारा बतलाया हुआ वह समय तो उपस्थित नहीं हो गया है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी नरवत् लीला-विग्रहका सम्वरण करना चाहते हैं। उन्हीं भगवान्की कृपासे हमें यह सम्पत्ति, राज्य, पत्नी, प्राण, कुल, प्रजा, शत्रुओंपर विजय और यज्ञोंके द्वारा स्वर्गादि लोकोंका अधिकार प्राप्त हुआ है॥ ८-९॥

पश्योत्पातान् नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान्।
दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम्॥ १०॥

हे व्याघ्रके समान बलवान भीमसेन! देखो तो सही! आकाशमें उल्कापातादि, पृथ्वीमें भूकम्पादि और शरीरमें रोगादि विविध प्रकारके भयङ्कर उत्पात उपस्थित हो रहे हैं। यह सब घटनाएँ इस बातकी सूचना दे रही हैं कि हमारी बुद्धिको मोहमें डालनेवाला कोई भय निकट भविष्यमें उपस्थित होनेवाला है॥ १०॥

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनःपुनः।
वेपथुश्चापि हृदय आराद्दास्यन्ति विप्रियम्॥ ११॥

हे भीमसेन! मेरी बायीं जाँघ, बायाँ नेत्र और बायीं भुजा पुनः–पुनः फड़क रहीं हैं तथा हृदय भी बार–बार धड़क रहा है। ऐसा लगता है कि शीघ्र ही हमारे ऊपर कोई घोर विपत्ति आनेवाली है॥ ११॥

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत्॥ १२॥

प्रिय भीम! यह देखो, यह सियारिन उदयगिरिपर खड़ी होकर सूर्यकी ओर मुख करके भीषण आर्त्तनाद कर रही है। अरे! इसके मुखसे तो आग भी निकल रही है। यह कुत्ता भी निर्भय होकर मेरी ओर मुख करके कितने ऊँचे स्वरसे चिल्ला रहा है॥ १२॥

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम॥ १३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! गौ आदि शुभ पशु मुझे अपनी बायीं ओर रखकर जा रहे हैं और गधे आदि अशुभ जीव मेरी दायीं ओरसे चल रहे हैं। मुझे तो हमारे घोड़े भी रोते हुए प्रतीत हो रहे हैं॥ १३॥

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैर्विश्वं वै शून्यमिच्छतः॥ १४॥

जरा देखो तो! यह कबूतर मुझे यमके दूतके समान प्रतीत हो रहा है। यह उल्लू और उसका प्रतिपक्षी कौआ अपने कर्कश स्वरसे मेरे हृदयमें कम्पन उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसा लग रहा है, मानो ये सम्पूर्ण विश्वको ही सूना कर देना चाहते हैं॥ १४॥

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः।
निर्घातश्च महांस्तात साकञ्च स्तनयित्नुभि॥ १५॥

अग्निका धुआँ जिस प्रकार अग्निको आवृत करता है, उसी प्रकार ये धुँधली दिशाएँ समस्त लोकोंको आवृत कर रही हैं। पृथ्वी पर्वतोंके साथ काँप रही है। हे तात! यह देखो! बिना बादलोंके ही भीषण गर्जना हो रही है और जहाँ-तहाँ भयङ्कर वज्रपात हो रहा है॥ १५॥

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः।
असृग्वर्षन्ति जलदा वीभत्समिव सर्वतः॥ १६॥

प्रचण्ड वायु धूलि-कणोंसे सभी दिशाओंको अन्धकारमय बनाती हुए प्रबल वेगसे प्रवाहित हो रही है। बादल अति भयानक रूपमें चारों दिशाओंमें मानो रक्तकी वर्षा कर रहे हैं॥ १६॥

सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते रोदसी इव॥ १७॥

हे भीम! देखो! सूर्यकी प्रभा कितनी मन्द पड़ गयी है। आकाशमें ग्रह परस्पर टकरा रहे हैं। रुद्रके अनुचर भूत आदि और अन्यान्य प्राणी मिलकर आकाश और पृथ्वीको मानों जला रहे हैं॥ १७॥

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति॥ १८॥

और यह देखो! नहरें, नदियाँ और सरोवर क्षुब्ध दिखायी दे रहे हैं। समस्त प्राणियोंके मन भी खिन्न प्रतीत हो रहे हैं। घीकी आहुति प्रदान किये जानेपर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रही है। न जाने यह घोर काल और कैसी-कैसी भयङ्कर विपत्तियाँ उपस्थित करेगा? ॥ १८॥

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे॥ १९॥

यहाँ देखो! बछड़े अपनी माता गौवोंका दूध पीनेके लिए उनके थनोंमें मुँह नहीं लगा रहे हैं। गौवोंके थनोंसे भी दूध धारा नहीं

निकल रही। गौशालामें स्थित इन समस्त गायोंकी आखोंमें आँसू भरे हैं और वे रो रही हैं। गोष्ठ (चरागाहों) में बैल भी प्रसन्न न होकर बड़े उदास हो रहे हैं॥ १९॥

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः॥ २०॥

देवताओंकी मूर्त्तियाँ रोती हुई प्रतीत हो रही हैं, उनमेंसे पसीना बह रहा है और वे कम्पित हो रही हैं। इन समस्त जनपद, ग्राम, पुर, उद्यान, खानों और आश्रमोंकी ओर तो देखो! ये सभी मानो शोभाहीन और आनन्द रहित हो गये हैं। पता नहीं, ये सब लक्षण हमारे लिए कौन-सी विपत्तियोंकी सूचना दे रहे हैं॥ २०॥

मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा॥ २१॥

हे भीमसेन! इन समस्त अशुभ लक्षणोंको देखकर ऐसा लग रहा है कि आज पृथ्वीका सौभाग्य नष्ट हो गया है। निश्चय ही यह पृथ्वी आज भगवान् श्रीकृष्णके उन श्रीचरणकमलोंसे रहित हो गयी है, जिन चरणकमलोंका सौन्दर्य तथा जिनके ध्वजा, वज्र अङ्कुशादि विलक्षण चिह्न किसी भी दूसरे व्यक्तिके चरणोंमें नहीं हैं॥ २१॥

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः॥ २२॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्राह्मण शौनक! महाराज युधिष्ठिर इन अशुभ लक्षणोंको देखकर मन-ही-मन चिन्तित हो रहे थे कि उसी समय कपिध्वज अर्जुन द्वारकासे लौट आये॥ २२॥

तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम्।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः॥ २३॥

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन् नारदेरितम्॥ २४॥

अर्जुन आते ही महाराज युधिष्ठिरके चरणोंमें गिर पड़े। किन्तु अर्जुन पहले जिन भावोंसे उनके चरणोंमें झुकते थे, आज वे भाव नहीं थे। वे अत्यन्त व्याकुल और दुःखित दिखायी दे रहे थे। उनका मुख-मण्डल झुका हुआ तथा उनके कमलके समान नेत्रोंसे बूँद-बूँद आँसू गिर रहे थे। अपने छोटे भाई अर्जुनके मुखको इस कान्तिहीन अवस्थामें देखकर धर्मराज युधिष्ठिरका हृदय व्याकुल हो उठा। उन्हें देवर्षि श्रीनारदके वचनोंका स्मरण होने लगा। वे सुहृदोंके सामने ही अर्जुनसे पूछने लगे— ॥ २३-२४ ॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते।
मधुभोजदशार्हार्हाः सात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

श्रीयुधिष्ठिरने पूछा—हे अर्जुन! द्वारकापुरीमें हमारे आत्मीय मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक एवं वृष्णिगण सभी कुशलसे तो है न? ॥ २५ ॥

शूरो मातामहः कच्चित् स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः।
मातुलः सानुजः कच्चित् कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥ २६ ॥

हमारे महा-माननीय नाना शूरसेनजी आनन्दसे तो हैं न? मामा श्रीवसुदेव अपने छोटे भाइयोंके साथ प्रसन्न तो हैं? ॥ २६ ॥

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥ २७ ॥

श्रीवसुदेवजीकी सहधर्मिणी देवकी आदि सातों बहनें—हमारी मामियाँ अपने-अपने पुत्रों एवं पुत्रवधुओंके साथ सुखपूर्वक तो हैं? ॥ २७ ॥

कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्त-गदसारणाः ॥ २८ ॥

आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः ॥ २९ ॥

जिनका पुत्र कंस अत्यन्त दुष्ट था, वे राजा उग्रसेन और उनके कनिष्ठ भाई देवक अब भी जीवित हैं क्या? हृदीक और उनके पुत्र कृतवर्मा, अक्रूर तथा जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित् आदि श्रीकृष्णके भाई और अपने भक्तोंके प्रभु श्रीबलदेवजी आनन्दपूर्वक तो हैं न?॥ २८–२९॥

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्द्धते भगवानुत॥ ३०॥

वृष्णिवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ महारथी प्रद्युम्नका कुशल-मङ्गल तो है न? युद्धमें अत्यधिक वेगवान भगवान् अनिरुद्ध आनन्दपूर्वक तो हैं न?॥ ३०॥

सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः॥ ३१॥
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः।
सुनन्द-नन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः॥ ३२॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः॥ ३३॥

सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवतीनन्दन साम्ब तथा अपने पुत्रोंके साथ ऋषभादि अन्यान्य प्रधान-प्रधान श्रीकृष्णके पुत्र, श्रुतदेव, उद्धव आदि श्रीकृष्णके सेवक और सुनन्द-नन्द आदि प्रमुख यदुवंशी तथा अन्यान्य हमारे परम सुहृद सात्वत-श्रेष्ठ—वे सभी श्रीबलराम और श्रीकृष्णके बाहुबलसे सुरक्षित होकर कुशल-मङ्गल तो है न? हमसे अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम रखनेवाले वे सबलोग क्या कभी हमारा कुशल-मङ्गल पूछते थे?॥ ३१–३३॥

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।
कच्चित् पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः॥ ३४॥

ब्राह्मणोंके हितकारी भक्तवत्सल भगवान् श्रीगोविन्द द्वारकापुरीमें सुधर्मा नामक सभामें सुहृदोंसे घिरकर सुखपूर्वक विराज रहे हैं न?॥ ३४॥

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान्॥ ३५॥

आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण चराचर जीवोंके मङ्गल-साधन, परिपालन, उन्नति और सम्पद्-प्रदानके उद्देश्यसे यदुकुलरूप सागरमें श्रीबलरामजीके साथ विराजमान हैं न?॥ ३५॥

यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव॥ ३६॥

यदुवंशी लोग इन दोनोंके ही भुजदण्डोंसे सुरक्षित होकर अपनी नगरी द्वारकापुरीमें वैकुण्ठनाथके पार्षदोंके समान तीनों लोकोंमें पूजित होकर परमानन्दके साथ विहार कर रहे हैं न?॥ ३६॥

यत्पाद-शुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः॥ ३७॥

सत्यभामा आदि सोलह हजार रमणियाँ अपने मुख्य-कर्मके रूपमें जिनके चरणकमलोंकी सेवामें सदैव रत रहती हैं, उन श्रीकृष्णके बाहुबलसे युद्धमें इन्द्रादि देवताओंको पराजित कराकर उन्होंने इन्द्रकी पत्नी शचीदेवीके भोगयोग्य पारिजात-कुसुमका अपहरण करा लिया था। वे अपनी उन अभीष्ट वस्तुओंका उपभोग तो करती हैं न?॥ ३७॥

यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम्॥ ३८॥

जिनके भुजदण्डके प्रभावसे प्रतिपालित होकर यदुवंशके वीर किसीसे भी भयभीत नहीं होते और स्वर्गसे बलपूर्वक अपहरण की गयी श्रेष्ठ देवताओंके बैठने योग्य सुधर्मा नामकी सभाको अपने चरणोंसे आक्रान्त करते हैं, वे भगवान् श्रीगोविन्द आनन्दसे तो हैं न?॥ ३८॥

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किंवा तात चिरोषितः॥ ३९॥

हे तात! तुम स्वयं तो कुशलसे हो न? आज तुम मुझे तेजहीन दिखायी दे रहे हो? तुम बहुत दिनों तक द्वारकापुरीमें बन्धुओंके भवनमें रहकर आये हो। वहाँ किसीने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया? अथवा तुम्हारे यथोचित सम्मानमें तो किसी प्रकार की कमी नहीं हुई?॥ ३९॥

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत् प्रतिश्रुतम्॥ ४०॥

क्या किसीने प्रेमशून्य कठोर वचनोंसे तुम्हारे चित्तको दुखाया है? अथवा किसी याचकके प्रार्थना करनेपर क्या अभाववशतः तुम उसे कुछ देनेमें समर्थ नहीं हुए हो? अथवा 'तुम्हारी आशा पूर्ण करूँगा'—इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करके क्या तुम किसी याचकको कुछ दे नहीं पाये?॥ ४०॥

कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम्।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः॥ ४१॥

भ्राता अर्जुन! तुम सदैव शरणागत व्यक्तियोंको आश्रय प्रदान करते आये हो। आज कहीं तुमने किसी ब्राह्मण, बालक, गाय, वृद्ध, रोगी, स्त्री अथवा अन्य किसी शरणागत प्राणीका त्याग तो नहीं कर दिया?॥ ४१॥

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम्।
पराजितो वाथ भवान् नोत्तमैर्नासमैः पथि॥ ४२॥

क्या तुमने किसी अगम्य स्त्रीके साथ समागम किया है? अथवा किसी समागम करने योग्य स्त्रीके मलिन वस्त्रादि देखकर उसका परित्याग तो नहीं कर दिया? अथवा मार्गमें अपने समान या अपनेसे निकृष्ट व्यक्तिके द्वारा पराजित तो नहीं हो गये?॥ ४२॥

अपिस्वित् पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान्।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् कृतवान् न यदक्षमम्॥ ४३॥

कहीं तुमने अपने साथ भोजन करनेके योग्यपात्र—वृद्ध अथवा बालकका परित्याग करके पहले ही स्वयं (अकेले) तो भोजन नहीं कर लिया? अथवा कोई अनुचित या निन्दित कर्म तो नहीं किया?॥ ४३॥

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्॥ ४४॥

अथवा क्या तुम अपने अति प्रियतम आत्मबन्धु श्रीकृष्णके विरहमें अपनेको शून्य मान रहे हो? अन्यथा तुममें इस प्रकारकी अशान्ति तो हो ही नहीं सकती॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरवितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके विरहमें व्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्को राज्य देकर परम गतिको प्राप्त करना

श्रीसूत उवाच—

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः॥ १॥

शोकेन शुष्यद्वदन-हृत्सरोजो हतप्रभः।
विभुं तमेवानुध्यायन् नाशक्नोत् प्रतिभाषितुम्॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे विप्र शौनक! भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुन श्रीकृष्णके विरहमें दुःखित हो रहे थे, उनका कमल-सदृश हृदय शोकसे सूख गया था और मुख कान्तिहीन हो गया था। उनकी ऐसी विरहाविष्ट अवस्था देखकर उनके सहोदर महाराज युधिष्ठिरने उनसे अनेक प्रकारकी आशङ्काओंसे युक्त प्रश्न किये, परन्तु अर्जुन परमेश्वर श्रीकृष्णके चिन्तनमें ऐसे डूबे हुए थे कि वे उनके किसी भी प्रश्नका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हुए॥ १-२॥

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः।
परोक्षेण समुन्नद्ध-प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः॥ ३॥

सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु संस्मरन्।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४॥

श्रीकृष्णके दर्शन न होनेके कारण अर्जुनकी प्रेमोत्कण्ठा अत्यधिक रूपमें बढ़ती जा रही थी, जिससे वे अत्यन्त दीनहीन और कातर हो पड़े थे। उस समय सारथी आदिके कार्योंमें श्रीकृष्णका सख्यभाव, मित्रता एवं बन्धुताका स्मरणकर उनका कण्ठ भीतरसे अवरुद्ध हो गया। तब उन्होंने बड़े कष्टसे अपनी आँखोंसे विगलित होनेवाले अपने शोकके वेगको रोका, अपने हाथोंसे नेत्रोंके आँसुओंको पोंछा

और फिर गद्‌गद स्वरसे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ ३-४ ॥

श्रीअर्जुन उवाच—

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्॥ ५॥

श्रीअर्जुनने कहा—महाराज! मेरे ममेरे भाई और घनिष्ठ मित्रका रूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने आज मुझे ठग लिया है। श्रीकृष्णके द्वारा दिया गया मेरा जो शौर्य-वीर्य देवताओंको भी विस्मित करता था, मेरे उस तेजका उन्होंने अपहरण कर लिया है॥ ५॥

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येषः मृतकः प्रोच्यते यथा॥ ६॥

जिस प्रकार अति प्रिय माता-पिता आदिके प्राण जब देहसे निकल जाते हैं, तब उनकी मृत देह भी अत्यन्त अप्रिय हो जाती है और लोग उस मृत देहसे अत्यधिक घृणा करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके क्षण भरके वियोगसे ही मुझे सारा संसार अप्रिय जान पड़ता है॥ ६॥

यत्संश्रयाद्द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मया निहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा॥ ७॥

मैंने जिनके बलसे बलवान होकर राजा द्रुपदके राजभवनमें द्रौपदी-स्वयंवर-सभामें समागत कामोन्मत्त राजाओंके तेजको मात्र धनुष ग्रहण करते ही हर लिया था तथा बादमें उसी धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर चञ्चल मत्स्यको बेधकर मैंने द्रौपदीको प्राप्त किया था॥ ७॥

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रञ्च सामरगणं तरसा विजित्य।

लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन् नृपतयो बलिमध्वरे ते॥ ८॥

उन श्रीकृष्णके सान्निध्यके प्रभावसे ही मैंने अपने बलसे देवताओं सहित देवराज इन्द्रको युद्धमें पराजित करके इन्द्रका खाण्डव-वन अग्निको भोजनके लिए प्रदान कर दिया था। इसी खाण्डव-वनके दहनमें मयदानवके प्राणोंकी रक्षा हुई थी और उसने हमारे लिए अद्भुत शिल्पसे परिपूर्ण मायामयी सभाका निर्माण कर दिया था। श्रीकृष्णकी कृपासे ही चारों दिशाओंसे राजाओंने आकर आपके राजसूय यज्ञमें कर प्रदान किया था॥ ८॥

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रि-महन्मखार्थ-
मार्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते॥ ९॥

जिनके तेजसे ही दस हजार हाथियोंके समान बलवान एवं उत्साह और वीरतासे सम्पन्न आपके अनुज आर्य भीमसेनने राजसूय यज्ञके लिए उस जरासन्धका वध किया था, जिसके चरणोंकी पूजा अनेक राजाओं द्वारा होती थी। जरासन्धको जीते बिना राजसूय यज्ञका होना सम्भव नहीं था, क्योंकि जरासन्धने महाभैरव यज्ञमें बलि चढ़ानेके लिए विभिन्न दिशाओंसे राजाओंको पराजितकर बन्दी बना कर रखा था। भगवान् श्रीकृष्णने ही उन बन्दी राजाओंको कारागारसे मुक्त किया था, जिसके कारण उन समस्त राजाओंने हमारे यज्ञमें अनेक प्रकारके उपहार प्रदान किये थे॥ ९॥

पत्न्यास्तवाधिमख-क्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम्।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः॥ १०॥

राजसूय यज्ञकी समाप्तिपर महाभिषेकके समय हमारी पत्नी द्रौपदीने जो अति प्रशंसनीय एवं सुचारु रूपसे केश-बन्धन किया था,

उस सुन्दर वेणी-बन्धनको कपटाचारी धूर्त्त दुःशासनने भरी सभामें ही खोलकर खींच लिया था। वनवास-कालमें बिखरे हुए केशोंवाली द्रौपदीने श्रीकृष्णका स्मरण मात्र किया था, जिससे श्रीकृष्ण उसके निकट उपस्थित हुए थे। जब आँखोंमें आँसू भरकर द्रौपदीने उनके चरणोंमें प्रणाम किया, तब उसके आँसुओंने भगवान्‌के चरणोंको अभिषिक्त किया था। तब करुणावशतः भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रके युद्धमें हमलोगोंके द्वारा उस दुष्ट दुःशासनादि की स्त्रियोंकी भी ऐसी दशा कर दी कि विधवा हो जानेके कारण उन्हें अपने केशोंको स्वयं ही खोल देना पड़ा॥ १०॥

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्-
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्तामममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥ ११॥

दुर्वासा ऋषि दस हजार शिष्योंके साथ बैठकर भोजन करें—दुर्योधनने ऐसा षडयन्त्र रचकर महर्षि दुर्वासाको अतिथि रूपमें वनमें हमारे पास भेजा था। उस समय हम घोर सङ्कटमें पड़ गये थे। श्रीकृष्णके चिन्तनमें व्याकुल द्रौपदीके स्मरणमात्रसे ही श्रीकृष्ण अपनी गोदमें स्थित रुक्मिणीदेवीको उसी क्षण त्यागकर वनमें ही चले आये थे और उन्होंने सूर्य द्वारा प्रदत्त द्रौपदीकी बटलोईमें लगे शाकका एक कणमात्र ही खाकर—'तृप्तोऽस्मि' कहकर हमारी रक्षा की थी। उनके ऐसा कहते ही जलमें स्नान करती हुई मुनि-मण्डली पूर्ण रूपसे तृप्त हो गयी थी, यहाँ तक की समस्त त्रिलोकी ही तृप्त हो गयी थी। इस प्रकार महाक्रोधी दुर्वासा-मुनिके शापरूप भयङ्कर विपत्तिसे भगवान्‌ने हमारी रक्षा की थी॥ ११॥

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्द्धम्॥ १२॥

श्रीकृष्णके प्रभावसे ही मैंने युद्धमें पार्वती सहित महादेवजीको अपने तेजसे आश्चर्यचकित कर दिया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मुझे अपना पाशुपत नामक अस्त्र प्रदान किया था, तथा साथ ही दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर मुझे अपने-अपने अस्त्र दिये थे। उनकी कृपासे ही मैंने इसी मनुष्य शरीरसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी सभामें उसके साथ आधे आसनपर बैठनेका गौरव प्राप्त किया था॥ १२॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना॥ १३॥

हे अजमीढ़-वंशके भूषण! मेरे स्वर्ग अवस्थानके समय इन्द्रके साथ अन्यान्य देवताओंने निवातकवच आदि असुरोंका संहार करनेके लिए मेरी इन दोनों भुजाओंका आश्रय लिया था, जो श्रीकृष्णके प्रतापसे गाण्डीव धारण करनेवाली और अतुल बलशाली हो गयी थीं। महाराज! आज मैं उन्हीं परमपुरुष विभु श्रीकृष्णकी महती कृपासे वञ्चित हो गया हूँ॥ १३॥

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम्।
प्रत्याहृतं पुरु धनञ्च मया परेषां
तेजस्पदं मणिमयञ्च हृतं शिरोभ्यः॥ १४॥

महाराज! उनकी सहायतासे ही मैंने अकेले ही रथपर सवार होकर भीष्म, द्रोण आदि भीषण महामत्स्योंसे परिपूर्ण दुस्तरणीय अपार कुरुसेनारूपी सागरको अनायास ही पार कर लिया था। उन्हींके प्रभावसे मैंने शत्रुओंसे राजा विराटका गोधन तो वापिस ले ही लिया था, साथ ही उनके सिरोंपर समस्त तेजके आश्रय स्वरूप चमकते हुए मणिमय मुकुट और अङ्गोंके आभूषण भी छीन लिये थे॥ १४॥

यो भीष्मकर्ण-गुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।

अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत्॥ १५॥

प्रभो! जिस समय कौरवोंकी सेना प्रधान-प्रधान राजाओं, क्षत्रिय वीरों और महारथी भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य एवं शल्य आदिके रथोंसे मण्डित थी, उस समय सारथीके रूपमें मेरे आगे अवस्थानकर उन्होंने अपनी अचिन्त्यशक्तिसे एकबार दृष्टिपात करके ही उन सब रथ-यूथपतियोंकी आयु, उत्साह, शक्ति, बल और अस्त्रकौशल आदिका हरण कर लिया था॥ १५॥

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्त-शलसैन्धव-बाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६॥

उन्होंने अपनी भुजाओंकी छत्रछायामें मुझे स्थापित कर रखा था, इसलिए गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, त्रिगर्तदेशाधिपति सुशर्मा, शल्य, सिंधुदेशाधिपति जयद्रथ, शान्तनु राजाके भाई बाह्लीक आदि वीर-चूड़ामणियों द्वारा चलाये गये अचूक अस्त्र मेरे अङ्गोंका उसी प्रकार स्पर्श न कर सके, जिस प्रकार प्राचीनकालमें हिरण्यकशिपु आदि असुरों द्वारा चलाये अस्त्र-शस्त्र नृसिंह-सेवक प्रह्लादके अङ्गोंको स्पर्श तक नहीं कर पाये थे॥ १६॥

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्ण सभीके लिए स्वयं तकको प्रदान कर देनेवाले ईश्वर हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति मोक्ष-प्राप्तिके लिए उनके चरणकमलोंका भजन करते हैं। हाय! मेरी कैसी दुर्बुद्धि थी कि मैंने उनका भजन न कर उन्हें अपना सारथी बना डाला। मैं इतना अपराधी था, फिर भी उनकी दया असीम थी। जयद्रथके वधके समय मेरे रथके घोड़े

जल-पान न कर पानेके कारण बड़े प्यासे थे तथा अत्यन्त थक गये थे। उस समय जब मैं रथसे उतरकर भूमिपर आया था और बाण द्वारा पृथ्वीकी सतहको भेदकर उन्हें पानी पिला रहा था, तब शत्रु पक्षके लोग बाणोंके द्वारा मेरे प्राणोंका संहार कर सकते थे, किन्तु वे लोग उनके प्रभावसे अनमने-से हो गये थे—मानो उनकी बुद्धि मारी गयी हो। वे बड़े-बड़े महारथी शत्रु मुझपर प्रहार न कर सके। अहो! श्रीकृष्णका प्रभाव कितना अद्भुत था॥ १७॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥ १८॥

हे राजन्! वे माधव मेरे प्रति गम्भीर, उन्मुक्त, हृदयस्पर्शी, विनोदभरे और सुन्दर हास-परिहासपूर्ण वचनोंका प्रयोग करते थे। किसी भी कार्यके प्रस्तावके समय मुझे कभी 'हे पार्थ!', कभी 'हे अर्जुन!', कभी 'हे सखे!', कभी 'हे कुरुनन्दन' आदि मधुर और मनोहर सम्बोधनोंसे पुकारा करते थे। आज वह सब स्मरण करके मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो रहा है॥ १८॥

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत् तनयस्य सर्वं
सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥ १९॥

हम लोग एक साथ ही सोते, बैठते, भ्रमण करते, अपने-अपने गुणोंकी प्रशंसा और भोजनादि करते थे। यदि किसी दिन दैवात् किसी कार्यमें अथवा वाक्यमें भूल या बाधा उपस्थित होती, तब मैं व्यंग्यसे—'अहो! तुम तो बड़े सत्यवादी हो' इस प्रकारकी वक्रोक्तियोंसे उनका तिरस्कार करता। किन्तु जिस प्रकार सखा अपने सखाका और पिता अपने पुत्रका अपराध सहन कर लेता है, उसी प्रकार देवपूज्य वे भी मुझ दुर्बुद्धिके समस्त अपराधोंको अपने गुणोंसे क्षमा करते हुए सह लिया करते थे॥ १९॥

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि॥ २०॥

हे राजश्रेष्ठ! जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मेरे सखा, मेरे परम सुहृद और मेरे प्राण ही थे, उनके द्वारा मैं परित्यक्त हो गया हूँ। अब मेरा वैसा पराक्रम नहीं रहा, यहाँ तक कि मेरा हृदय भी शून्य हो गया है। मैं उनकी सोलह हजार रानियोंकी रक्षा करता हुआ आ रहा था, परन्तु मार्गमें कुछ दुष्ट गोपोंने आकर मुझे अबलाके समान सहज ही परास्त कर दिया॥ २०॥

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥ २१॥

आज मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वही बाण हैं, वही रथ है, वही घोड़े हैं और मैं भी वही रथी हूँ जिसके सामने समस्त राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु जिन श्रीकृष्णके प्रभावसे मेरा ऐसा पराक्रम था, उनके वियोगमें क्षणभरमें ही सब कुछ उसी प्रकार सार-शून्य हो गया है, जिस प्रकार विविध मन्त्र-उच्चारणोंके साथ भस्ममें आहुति प्रदान करनेसे, किसी मायावी द्वारा अति प्रसन्न होकर द्रव्य प्रदान करनेसे अथवा बञ्जर भूमिमें बीज बोनेसे कोई फल उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् श्रीकृष्णके विरहमें मैं, मेरा धनुषादि सब कुछ अक्षम हो गये हैं॥ २१॥

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः॥ २२॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम्।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः॥ २३॥

हे राजन्! आपने द्वारकापुरीके जिन सुहृदोंके विषयमें पूछा है, उन लोगोंमें ब्राह्मणके शापसे कुछ विशेष मोह उत्पन्न हो गया था। उन्होंने अन्न (सड़े हुए चावल) से बनी वारुणी नामक मदिराका पान किया, जिससे उनके चित्तमें ऐसा उन्माद उपस्थित हुआ कि वे एक-दूसरेको पहचान भी नहीं पाये और एरका नामक तृणोंको मुष्टिमें पकड़कर अपरिचितोंकी भाँति एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। इससे प्रायः वे सभी नष्ट हो गये। इस समय उनमेंसे केवलमात्र चार या पाँच लोग ही बचे हैं॥ २२-२३॥

प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम्।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः॥ २४॥

वस्तुतः यह निश्चित रूपसे उन षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्रीजगदीश्वरकी ही लीला है कि कभी-कभी तो संसारके प्राणी एक-दूसरेका पालन-पोषण करते हैं और कभी एक-दूसरेका संहार भी कर डालते हैं॥ २४॥

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः।
दुर्बलान् बलिनो राजन् महान्तो बलिनो मिथः॥ २५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः।
यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह॥ २६॥

हे महाराज! जिस प्रकार जलचरोंमें बड़ी मछलियाँ अपनेसे छोटे-छोटे जलचरोंका एवं बलवान जीव-जन्तु दुर्बल जीव-जन्तुओंका भक्षण करते हैं तथा समान बलशाली और बड़े प्राणियोंमें जो जिसे परास्त कर लेता है, वही उसे खा जाता है, उसी प्रकार उन सर्वव्यापी भगवान्ने भी बलवान और महान यादवोंके द्वारा दुर्बल राजाओंका संहार कराया। इसके बाद समान बलवाले यदुवंशियोंका एक-दूसरेके द्वारा संहार कराके पृथ्वीका भार हरण किया॥ २५-२६॥

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे॥ २७॥

भगवान् श्रीगोविन्दने मुझे देश, काल और प्रयोजनके अनुरूप जो उपदेश दिये थे, वे सब वचन हृदयके तापका विनाश करनेवाले थे। उनकी वे सब शिक्षाएँ मेरे स्मृतिपथपर उदित होकर मेरे चित्तको आकर्षित कर रही हैं॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकारसे अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेमके साथ श्रीकृष्णके चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन करते-करते अर्जुनका मन शोकसे रहित हो गया और वे विषयोंके प्रति अनुराग रहित हो गये॥ २८॥

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यान-परिबृंहितरंहसा।
भक्त्या निर्मथिताशेष-कषायधिषणोऽर्जुनः॥ २९॥

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्द्धनि।
कालकर्म-तमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः॥ ३०॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके निरन्तर चिन्तनसे अर्जुनकी उनके प्रति प्रेममयी भक्ति अत्यन्त बढ़ गयी। भक्तिके वेगने उनके हृदयको मथकर उसमेंसे समस्त विकारोंको बाहर निकाल दिया। तब अर्जुनको कुरुक्षेत्र युद्धके प्रारम्भमें भगवान्के द्वारा उपदेश दिया गया गीताका ज्ञान पुनः स्मरण हो आया, जिसकी कालके व्यवधान और कर्मोंके विस्तारके कारण भोगाभिनिवेश वशतः उन्हें कुछ दिनोंके लिए विस्मृति हो गयी थी॥ २९-३०॥

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥ ३१॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर प्रकृतिके तीनों गुणोंकी कारण स्वरूप अर्जुनकी अविद्या दूर हो गयी। अविद्याके लयसे सत्त्व-रज-तम रूपी तीनों गुण क्षयको प्राप्त हो गये। इसलिए गुणोंके कार्यभूत

सूक्ष्मशरीर विषयक ज्ञानके तिरोहित होनेसे अन्ततः उनमें स्थूलशरीरका अभिमान भी नहीं रहा। इस प्रकारके शोकके प्रधान कारण द्वैत-भ्रमके[१] दूर हो जानेपर अर्जुन सम्पूर्ण रूपसे शोकरहित हो गये॥ ३१ ॥

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णके स्वधाम-गमन एवं यदुकुलके विनाशकी वार्त्ताको सुनकर निश्चलमति महाराज युधिष्ठिरने स्वयं भी श्रीकृष्ण-धामके मार्गपर जानेका निश्चय कर लिया॥ ३२ ॥

पृथाप्युपश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिञ्च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः॥ ३३॥

जैसे ही कुन्तीदेवीने भी धनञ्जयके मुखसे यदुवंशियोंके नाश और भगवान्के अत्यन्त कठिनतासे समझ आनेवाले स्वधाम-गमनके विषयमें सुना, उसी क्षण उन्होंने ऐकान्तिक भक्तिके साथ अपने चित्तको इन्द्रिय ज्ञानातीत भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें समर्पित कर दिया और सदाके लिए इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे अपना मुँह मोड़ लिया अर्थात् अपनी देहका परित्याग कर दिया॥ ३३ ॥

ययाहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चापीशितुः समम्॥ ३४॥

---

[१] 'द्वैत-भ्रम' का तात्पर्य है—आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु स्वरूपदेहके साथ सम्बन्ध होने या नहीं होनेका सन्देह। (किन्तु इस प्रसङ्गमें इस पदका वास्तविक तात्पर्य है कि—)अर्जुनका अपने सखा श्रीकृष्णसे भिन्न होनेका संशय अर्थात् (अर्जुन विचार कर रहे थे कि) श्रीकृष्ण और मुझमें पहले तो सख्य भाववशतः ऐक्य था, किन्तु अब द्वैत अर्थात् पार्थक्य हो गया है। अतः क्या वे श्रीकृष्ण पुनः मुझे सख्य-सुखमय अद्वैत अर्थात् एकत्वके रूपमें स्वीकार करेंगे अथवा पार्थक्य लक्षणस्वरूप द्वैत-दुःखके सागरमें निमज्जित करेंगे?—ऐसे भावनामय सन्देहको ही द्वैत-भ्रम कहा गया है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीकाका सारांश)

जिस प्रकार किसीके पैरमें काँटा चुभ जानेपर एक अन्य काँटेकी सहायतासे उस काँटेको निकाला जाता है और बादमें उन दोनों ही काँटोंको फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जन्म-रहित भगवान् श्रीकृष्णने भी जिन यादवादि-मूर्त्तियों द्वारा पृथ्वीके भारस्वरूप असुरोंका वध करके पृथ्वीका भार हरण किया था, बादमें उन यादवादि-मूर्त्तियोंको भी अप्रकट कर दिया। इसका कारण है कि भगवान्के लिए तो यादवादि देवगण और भू-भार स्वरूप असुर दोनों ही समान हैं॥ ३४॥

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥ ३५॥

जिस प्रकार एक ही नट विभिन्न चरित्रोंका अभिनय करनेके लिए बहुत प्रकारसे सजता है और अभिनयके अन्तमें उन सभी रूपोंको अन्तर्हित कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् भी विशेष प्रयोजनके उद्देश्यसे ही मत्स्यादि बहुत-से रूपोंको धारण करते हैं और प्रयोजन पूर्ण हो जानेपर उन सब रूपोंको अप्रकट कर लेते हैं। इसी प्रकारसे भगवान् श्रीकृष्णने भी जिस कलेवरसे भू-भार हरण किया, उसे अन्तर्हित कर लिया॥ ३५॥

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत॥ ३६॥

जिनका पवित्र यशोगान ही श्रवण करनेके योग्य है, उन भगवान् श्रीमुकुन्ददेवने जिस क्षण इस पृथ्वीका अपने मनुष्य जैसे दिखायी देनेवाले शरीरसे परित्याग किया, उसी दिन ही अविवेकी लोगोंका अमङ्गल करनेवाले कलियुगने इस पृथ्वीपर प्रवेश किया॥ ३६॥

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि।

विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात्॥ ३७॥

महाराज युधिष्ठिर परम विज्ञ थे। लोभ, मिथ्याचार, कुटिलता और हिंसा आदि अधर्म-चक्रका प्रचलन देखकर वे समझ गये कि नगर, राज्य, घर और प्राणियोंमें कलिका सञ्चार हो गया है। अतः उन्होंने महाप्रस्थान करनेके उद्देश्यसे समुचित वस्त्रोंको पहन लिया॥ ३७॥

सम्राट् पौत्रं विनियतमात्मनः सुसमं गुणैः।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद् गजाह्वये॥ ३८॥

सम्राट युधिष्ठिरने समस्त प्रकारसे अपने ही समान गुणशाली और विनयी अपने पौत्र परीक्षित्‌को सागर तक पृथ्वीके अधिपतिके रूपमें हस्तिनापुरके सिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया॥ ३८॥

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः॥ ३९॥

उन्होंने अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभको शूरसेन प्रदेशके अधिपतिके रूपमें मथुरामें अभिषिक्त कर दिया। इसके बाद अपने उसी प्रबल प्रतापसे नरपति महाराज युधिष्ठिरने प्राजापत्य-यज्ञका अनुष्ठान करके गार्हपत्य, प्राजापत्य और आह्वानीय आदि तीनों अग्नियोंको आत्मामें आरोपित कर लिया अर्थात् गृहस्थाश्रम धर्मसे मुक्त होकर समर्थ युधिष्ठिरने संन्यास ग्रहण किया॥ ३९॥

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम्।
निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः॥ ४०॥

उन्होंने उसी समय वहींपर अपने वस्त्र और कङ्गन आदि आभूषण त्याग दिये और 'मैं और मेरा' रूप अहङ्कार और ममतासे रहित होकर समस्त बन्धनोंको काट डाला॥ ४०॥

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥ ४१॥

तत्पश्चात् उन्होंने दृढ़ भावनासे अपनी वाणी आदि इन्द्रियोंको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी (मल-मूत्रादि त्यागरूप) क्रियाके साथ उसके अधिष्ठात्री देवता मृत्युमें तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन कर दिया॥ ४१॥

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥ ४२॥

बादमें मुनि युधिष्ठिरने पञ्चभूतोंके ऐक्यस्वरूप देहको सत्त्वादि त्रिगुणोंमें लीनकर त्रिगुणोंको एकत्वमें अर्थात् अविद्यामें लीन कर दिया। तत्पश्चात् सब प्रकारके आरोपोंकी कारण स्वरूप अविद्याको जीवात्मामें और जीवात्माको कूटस्थ-स्वरूप ब्रह्ममें लीन कर दिया॥ ४२॥

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्द्धजः।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन् बधिरो यथा॥ ४३॥

इस प्रकार सब ओरसे निश्चिन्त महाराज युधिष्ठिरने चीर-वस्त्र पहन लिये, भोजनका त्याग कर दिया, मौन हो गये और केश बिखेर लिये। स्वयंको जड़, पागल अथवा पिशाचके समान दिखाते हुए अपने छोटे भाई आदि किसीकी भी अपेक्षा न करके बहरेके समान किसी की भी कोई बात न सुनते हुए वे घरसे बाहर निकल पड़े॥ ४३॥

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन् नावर्तेत यतो गतः॥ ४४॥

फिर वे एकाग्र चित्तसे परब्रह्म श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए उस उत्तर दिशाकी ओर चल दिये, जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। पूर्व-पूर्व महात्माओंने भी भगवान्की प्राप्तिके लिए इसी उत्तर दिशाका आश्रय लिया था॥ ४४॥

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि॥ ४५॥

जब धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाइयोंने देखा कि पृथ्वीपर प्रजाओंको अधर्मके बन्धु कलियुगने प्रभावित कर लिया है, तब वे भी श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्तिके लिए एकाग्र चित्त और दृढ़ निश्चय होकर बड़े भाईके पीछे-पीछे चल पड़े॥ ४५॥

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम्॥ ४६॥

यद्यपि सभी पाण्डवोंने ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्गका सम्पूर्ण रूपसे अनुष्ठान कर लिया था, तथापि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको ही जीवोंका परम पुरुषार्थ जानकर वे मन-ही-मन उनका ध्यान करने लगे॥ ४६॥

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन् नारायणपद एकान्तमतयो गतिम्॥ ४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषास्थानं विरजेनात्मनैव हि॥ ४८॥

पाँचों पाण्डवोंके हृदयमें परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ध्यानसे भक्ति-प्रवाहकी तरङ्गें उच्छलित होने लगीं, उनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी तथा भगवान् श्रीकृष्णके सर्वोत्कृष्ट स्वरूपमें चित्तके एकाग्र हो जानेसे उनका चित्त निष्पाप हो गया। अन्ततः रज और तमसे रहित अप्राकृत (शुद्धसत्त्व) शरीर द्वारा उन्होंने श्रीकृष्णके उस धामको प्राप्त किया, जो विषयोंमें आसक्त असाधु मनुष्योंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता॥ ४७-४८॥

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ॥ ४९॥

आत्म-तत्त्वको जाननेवाले श्रीविदुरने भी श्रीकृष्णकी भक्ति द्वारा उनमें अपने चित्तको निमग्नकर प्रभास तीर्थमें अपनी देहका त्याग कर दिया। देह-त्यागके समय उन्हें लेनेके लिए आये हुए पितरोंके साथ ही वे अपने अधिकारानुसार लोकमें चले गये॥ ४९॥

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम्।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम्॥ ५०॥

जब द्रौपदीने देखा कि उसके पतियोंमें किसीने भी उसकी अपेक्षा नहीं की और एक-एक करके सभी चले गये, तब उसने भी एकान्त भावसे भगवान् श्रीवासुदेवमें चित्त समर्पितकर उन्हें प्राप्त कर लिया॥ ५०॥

यच्छ्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥ ५१॥

जो भगवान्के प्रियपात्र पाण्डवोंके इस परम पवित्र मङ्गलमय महाप्रस्थानकी कथाका श्रद्धा-सहित श्रवण करता है, वह श्रीहरिके प्रति भक्तिको प्राप्त करके सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेता है॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीयुधिष्ठिरादि-स्वधाम-गमनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोड़शोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌की दिग्विजय तथा धर्म और पृथ्वीका संवाद

श्रीसूत उवाच—

ततः परीक्षिद्द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे विप्र शौनकजी! पाण्डवोंके महाप्रयाणके बाद परम भागवत परीक्षित् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपदेशोंके अनुसार पृथ्वीपर शासन करने लगे। परीक्षित्‌के जन्मके समय भाग्य-गणनामें पारङ्गत ज्योतिषियोंने उनके जिन महान गुणोंका वर्णन किया था, वे सभी गुण उनमें काल-क्रमसे प्रकट होने लगे॥ १॥

स उत्तरस्य तनयामुपयेमे इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने उत्तर राजाकी पुत्री इरावतीसे विवाह किया और उससे उन्होंने जनमेजयादि चार पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः॥ ३॥

उन्होंने कृपाचार्यको आचार्यके रूपमें वरण किया और गङ्गाके तटपर तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया, जिसमें उन्होंने ब्राह्मणोंको प्रचुर दक्षिणा दी। इन यज्ञोंमें देवताओंने प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होकर अपना-अपना भाग ग्रहण किया था॥ ३॥

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा॥ ४॥

वीरोंके चूड़ामणि राजा परीक्षित् एक बार दिग्विजयके लिए निकले। तब उन्होंने एक स्थानपर देखा कि शूद्रके रूपमें कलि राजाका वेश धारण करके गाय और बैलके एक जोड़ेपर अपने पैरोंसे ठोकरें मार रहा है। यह देखकर उन्होंने अपना पराक्रम प्रकाशित करते हुए कलिको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे दण्ड दिया॥ ४॥

श्रीशौनक उवाच—

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदा अहन्॥ ५॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—कलि तो अत्यन्त अधम और निन्दित शूद्र ही था। वह राजाका वेष धारण करके भी गाय और बैलके जोड़ेपर पदाघात कर रहा था। किन्तु दिग्विजयके लिए निकले महाराज परीक्षित्ने उसका संहार न करके केवल उसे दण्ड ही क्यों दिया? कृपया इसका कारण बतलाइये?॥ ५॥

तत् कथ्यतां महाभाग यदि विष्णुकथाश्रयम्।
अथवास्य पदाम्भोज-मकरन्दलिहां सताम्॥ ६॥

महाभाग्यवान सूतजी! यदि यह वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्णकी लीला अथवा उनके चरणकमलोंके मकरन्द-रसका पान करनेवाले रसिक महानुभावोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखता हो, तो उसका वर्णन अवश्य ही कीजिये॥ ६॥

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम्॥ ७॥

हे श्रीसूत गोस्वामी! मरणधर्मी मनुष्यकी आयु तो अत्यन्त अल्प है। उसमें भी जो लोग अपना समय वृथा ही आयु क्षय करनेवाले असत् आलापोंमें बिताते हैं, किन्तु साथ ही अमृतस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें क्या मिलेगा?॥ ७॥

इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि।
न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदस्ति इहान्तकः॥ ८॥

जब तक यमराज यहाँ (नैमिषारण्यमें) रहेंगे, तब तक किसीकी मृत्यु नहीं होगी, इसलिए मृत्युस्वरूप भगवान् यमको आवाहन करके उन्हें यहाँ शान्तिकर्ममें नियुक्त कर दिया गया है॥ ८॥

एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः॥ ९॥

मनुष्यलोकके मृत्युसे ग्रस्त जीव निश्चिन्त होकर भगवान् श्रीहरिके लीला-कथामृतका पान करते रहें, इसी उद्देश्यसे महर्षियोंने यमराजको यहाँ बुलाया है॥ ९॥

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥ १०॥

श्रीहरिकी लीलारूप कथामृतके पानसे वञ्चित मन्दभाग्य, आलसी, अल्पबुद्धि एवं अल्पायु मनुष्योंका जीवन वृथा ही जा रहा है। उनका रात्रिकाल नींदमें और दिन व्यर्थके कार्य-कलापोंमें व्यतीत हो रहा है॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गले वसन्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्ड आददे॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जिस समय रणनिपुण राजा परीक्षित् अपनी सेनाओं द्वारा रक्षित अपने साम्राज्य कुरुजाङ्गल प्रदेशमें निवास कर रहे थे, उसी समय उन्होंने अपने राज्यमें कलिके प्रवेशका सामाचार सुना। इस अप्रिय संवादको सुनते ही उन्हें दुःख हुआ और तब उन्होंने उस दुष्टको दण्डित करनेके लिए धनुष हाथमें ले लिया॥ ११॥

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमास्थितः पुरात्।

वृतो रथाश्व-द्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः॥ १२॥

वे बिना किसी विलम्बके ही नाना प्रकारके अलङ्कारोंसे अलंकृत श्याम (काले) वर्णके घोड़ोंसे जुते हुए और सिंहकी ध्वजासे चिह्नित रथपर सवार होकर दिग्विजयके लिए अपने नगरसे बाहर निकल पड़े। उस समय रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सेना उनके साथ-साथ चल रही थी॥ १२॥

भद्राश्वं केतुमालञ्च भारतञ्चोत्तरान् कुरून्।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम्॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने क्रमसे एक-एक करके भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर-कुरु और किंपुरुष आदि समुद्रसे संलग्न सभी वर्षोंको जीतकर वहाँके राजाओंसे कर ग्रहण किया॥ १३॥

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम्।
प्रगीयमाणञ्च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम्॥ १४॥

आत्मानञ्च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः।
स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिञ्च केशवे॥ १५॥

तेभ्यः परमसंहृष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः॥ १६॥

उदारचित्त राजा परीक्षित्‌को उन-उन देशोंमें सर्वत्र ही वहाँके निवासियोंसे अपने पूर्वज महापुरुषोंका सुयश सुननेको मिला। वहाँके प्रमुख निवासी अपना-अपना अनुभव सुनाते थे, जिसमें पग-पगपर श्रीकृष्णके माहात्म्यका ही ज्ञापन होता था। वहींपर उन्होंने यह सुना कि अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रके तीव्र तापसे गर्भस्थ उन्हें दग्ध करना चाहा था, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी रक्षा की थी। उन्होंने यह भी सुना कि यादवों एवं पाण्डवोंमें प्रगाढ़ सौहार्द्द था। श्रीकृष्णभक्तिसे सम्बन्धित इन सब बातोंको सुनकर राजा परीक्षित्‌को परम आनन्द प्राप्त हुआ था तथा उनके दोनों नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। तब उन्होंने ऐसा यश गान करनेवाले लोगोंको प्रचुर धन, वस्त्र और हार आदि आभूषणोंसे पुरस्कृत किया था॥ १४-१६॥

सारथ्य-पारषद-सेवन-सख्य-दौत्य-
वीरासनानुगमन-स्तवन-प्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे॥ १७॥

महाराज परीक्षित्‌ने उन-उन देशोंमें सुना कि इस जगत्‌में समस्त जीव ही जिन्हें प्रणाम करते हैं, वे श्रीकृष्णप्रेमके वशीभूत होकर अपने प्रिय पाण्डवोंके सारथी बने, सभापति बने, उनके मनके अनुसार कार्य करके उनकी सेवा की, उनके साथ सखाके समान व्यवहार किया तथा उनके दूत भी बने। केवल इतना ही नहीं, अपितु रात्रिके समय हाथमें तलवार लेकर द्वारपालके समान जागरण करते हुए शिविरका पहरा दिया, उनके पीछे-पीछे चले, उनकी स्तुति की और उन्हें प्रणाम भी किया। यहाँ तक कि अपने प्रेमी पाण्डवोंके चरणोंमें उन्होंने समस्त जगत्‌को झुका दिया। यह सब वृत्तान्त सुनकर महाराज परीक्षित्‌में भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति भक्ति अत्यधिक रूपमें वर्द्धित हो गयी॥ १७॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम्।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे॥ १८॥

राजा परीक्षित् दिन-प्रतिदिन अपने पूर्वज पाण्डवोंके आचार-व्यवहार आदि विषयक बातोंको श्रवण किया करते और इसी प्रकार वे उन्हींकी श्रेष्ठ वृत्तियोंका अनुसरण करते हुए दिग्विजय कर रहे थे। तभी सहसा एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई, आप उसे श्रवण करें॥ १८॥

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम्।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम्॥ १९॥

जब धर्म बैलके रूपमें अपने एक पैरसे विचरण कर रहा था, तब उसने एक स्थानपर गायका रूप धारण की हुई पृथ्वीको देखा जो पुत्रके वियोगसे दुःखी माताके समान क्रन्दन कर रही थी। आँसुओंके झरनेसे उसका मुखमण्डल भीगा हुआ था तथा उसकी

कान्ति अत्यन्त मलिन पड़ गयी थी। पृथ्वीको इस अवस्थामें देखकर धर्म उसके पास जाकर पूछने लगा— ॥ १९ ॥

श्रीधर्म उवाच—

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायते यन्मुखेन।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब॥ २० ॥

धर्मने पूछा—हे कल्याणि! तुम शारीरिक रूपसे कुशल तो हो न? यद्यपि बाहरसे तो तुममें किसी प्रकारकी व्याधिका चिह्न दिखायी नहीं दे रहा है, किन्तु तुम्हारी यह मलिन कान्ति और शोभाहीन मुख देखकर जान पड़ता है कि तुम्हारे हृदयमें अवश्य ही कोई तीव्र पीड़ा है। हे माता! क्या तुम्हारा कोई सम्बन्धी या बन्धु दूरदेश चला गया है, जिसके लिए तुम इतना शोक कर रही हो? ॥ २० ॥

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद-
मुतात्मानं वृषलैर्भोक्ष्यमाणम्।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति॥ २१ ॥

मेरे तीन पैर नहीं रहे हैं और अब मैं केवल एक पैरपर ही खड़ा हूँ—क्या तुम मेरी इस अवस्थाको देखकर चिन्तित हो? अथवा क्या यह सोचकर इतनी दुःखित हो रही हो कि अब शूद्र राजा तुम्हारे ऊपर शासन करेंगे? क्या तुम यह देखकर तो व्याकुल नहीं हो रही हो कि आजकल कोई यज्ञानुष्ठान नहीं करता, अतः देवताओंको आहुति द्वारा उनका यज्ञभाग अर्पित नहीं किया जा रहा है? अथवा यह सोचकर शोकाकुल हो रही हो कि यज्ञभाग प्राप्त न होनेके कारण देवराज इन्द्र अब पहलेकी भाँति वर्षाकालमें वर्षा नहीं करेंगे, जिस कारणसे समस्त प्रजाको अकाल और भुखमरीसे पीड़ित होना पड़ेगा? ॥ २१ ॥

अरक्ष्यमाणाः स्त्रियः उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान्।

वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान्॥ २२॥

देवि! वर्त्तमान कालमें पति अपनी स्त्रीकी और पिता अपनी सन्तानोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं, बल्कि राक्षसोंकी भाँति उनके प्रति निर्दय व्यवहार कर रहे हैं। अब (विद्यादेवी) सरस्वती सदाचार-विहीन ब्राह्मणोंकी सेवा कर रही हैं तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणगण द्विजद्वेषी क्षत्रियोंके दास बने हुए हैं—क्या इन कारणोंसे तुम शोक कर रही हो?॥ २२॥

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि।
इतस्ततो वाशनपानवासः-
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥ २३॥

कलियुगके प्रभाव द्वारा मोहग्रस्त अधम राजा केवल नाम-मात्रके राजा रह गये हैं और वे परवर्तीकालमें बड़े-बड़े राज्योंको भी उजाड़ डालेंगे—क्या यही सोचकर तुम शोक कर रही हो? अथवा सारी प्रजा शास्त्रीय नियमोंका पालन न करके स्वेच्छाचारपूर्वक यहाँ-तहाँ अपनी ही रुचिके अनुरूप भोजन, पान, स्नान, अवस्थान और परस्त्री-सहवासके लिए उन्मुख हो रही है—क्या यह देखकर तुम इतनी शोकग्रस्त हो रही हो?॥ २३॥

यद्वाम्ब ते भूरिभारावतार-
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि॥ २४॥

हे माता धरति! भगवान् श्रीहरि तुम्हारे ऊपर पड़े हुए प्रबल भारको दूर करनेके लिए ही अवतीर्ण हुए और उन्होंने ऐसी लीलाएँ कीं, जो मोक्षसुखसे भी अधिक आनन्दप्रदायिनी थीं। अब वे श्रीहरि अन्तर्हित हो गये हैं, अतः उनकी समस्त लीलाओंका स्मरण करके ही क्या तुम शोक कर रही हो?॥ २४॥

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि।

कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम्॥ २५॥

हे वसुन्धरे! तुम्हें ऐसी कौन-सी मानसिक पीड़ा है, जिसके कारण तुम इतनी दुबली हो रही हो। कृपया मुझे अपने कष्टका मूल कारण तो बतलाओ। पूर्वकालमें देवतागण भी तुम्हारे जिस सौभाग्यकी वन्दना किया करते थे, क्या प्रबल बलशाली कालने इस समय तुम्हारे उस सौभाग्यको छीन लिया है?॥ २५॥

श्रीधरण्युवाच—

भवान् हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि।
चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः॥ २६॥

श्रीपृथ्वीने कहा—हे धर्म! आपने मुझसे जो कुछ भी पूछा है, आप स्वयं ही उसके सम्बन्धमें अर्थात् उन भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें सबकुछ जानते हैं, जिनके प्रभावसे पहले आप तप, शौच, दया और सत्य—इन चार चरणोंसे पूर्ण होकर लोगोंके सुखको बढ़ाते हुए अवस्थान करते थे॥ २६॥

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ २७॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥ २८॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥ २९॥

एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥ ३०॥

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम्॥ ३१॥

सत्यता, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम (मनकी स्थिरता), दम (इन्द्रियोंका संयम), तप (स्वधर्म), समता, सहनशीलता, उपरति (लाभ आदिमें उदासीन), शास्त्रविचार, ज्ञान,

वैराग्य, ऐश्व र्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति (कर्त्तव्य अनुसन्धान), स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील (सु-स्वभाव), सङ्कल्प, उत्साह (ज्ञान इन्द्रियोंकी दक्षता), बल (कर्म इन्द्रियोंकी दक्षता), सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्त्ति, गौरव और निरहङ्कारता—महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंके द्वारा वाञ्छनीय ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा और भी बहुत-से महान गुण जिनमें नित्य अक्षय रूपमें विद्यमान हैं, उन्हीं समस्त गुणोंके आश्रय, सौन्दर्यके धाम भगवान् श्रीकृष्णने इस समय इस लोकसे अपनी लीला सम्वरण कर ली है और यह संसार पापमय कलियुगकी कुदृष्टिका शिकार हो गया है। यह देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है॥ २७—३१॥

आत्मानाञ्चानुशोचामि भवन्तञ्चामरोत्तमम्।
देवानृषीन् पितृन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाश्रमान्॥ ३२॥

हे अमरश्रेष्ठ! आपके लिए, अपने लिए तथा देवता, ऋषि, पितर, साधु और समस्त वर्णों तथा आश्रमोंके मनुष्योंकी दशाकी चिन्ताकर मैं शोकग्रस्त हो रही हूँ॥ ३२॥

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥ ३३॥

भगवान्‌के चरणोंमें शरणागत होकर भी ब्रह्मादि देवताओंने जिन लक्ष्मीजीकी किञ्चित् करुणा-कटाक्षको प्राप्त करनेकी आशासे बहुत समय तक तपस्या की थी, वही कमला (लक्ष्मीजी) अपने निवास-स्थान कमलवनका परित्यागकर अनुरागके साथ श्रीकृष्णके अमल-चरणकमलके सौन्दर्यकी निरन्तर सेवा करती हैं॥ ३३॥

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुश-केतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते॥ ३४॥

जिस समय मैं भगवान् श्रीकृष्णके ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमल आदि चिह्नोंसे चिह्नित श्रीचरणों द्वारा भलीभाँति अलंकृत थी, उस समय त्रिलोकीका समस्त सौन्दर्य मेरी शोभासे पराजित हो गया था, क्योंकि मैं भगवान्‌की समस्त विभूतियोंसे सम्पन्न रहा करती थी। परन्तु जब उन विभूतियोंके नाशका समय उपस्थित हुआ, उस समय तक मुझमें अपने सौभाग्यका बहुत अभिमान होने लगा। ऐसा लगता है कि भगवान्‌ने मेरे उस अभिमानको चूर करनेके लिए ही मेरा त्याग कर दिया है॥ ३४॥

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमविभ्रदङ्गम्॥ ३५॥

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोक-रुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रि विटङ्कितायाः॥ ३६॥

मैं असुरवंशी राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओंके प्रबल भारसे पीड़ित हो रही थी। उन परम स्वतन्त्र भगवान्‌ने असुरोंका संहारकर मेरे उस भारका हरण कर लिया था। आप भी तीनों पैरोंसे विरहित हो जानेके कारण दुःखसे पीड़ित हो रहे थे। आपको भी अपने पौरुषके द्वारा स्वस्थ करनेके लिए उन्होंने यदुकुलमें जन्म ग्रहणकर अत्यन्त रमणीय शरीर धारण किया था। भगवान्‌ने अपने प्रेमसे परिपूर्ण चितवन, मनोहर मुसकान और मधुर सम्भाषणसे सत्यभामा आदि मधुमयी मानिनी-कामिनियोंके धैर्य और मानका एक साथ ही हरण कर लिया था। मैं उनके धूलिरूपी परागसे अङ्कित चरणचिह्नोंसे अलंकृत होकर उनके चरण-स्पर्शका अनुभव किया करती थी और आनन्दके कारण दुर्वादि घासोंके छलसे मेरे अङ्ग पुलकित होते थे। अतः उन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका विरह कौन-सी कामिनी सहन कर सकती है?॥ ३५-३६॥

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा।
परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम्॥ ३७॥

पृथ्वी एवं धर्ममें परस्पर इस प्रकारसे वार्त्तालाप चल ही रहा था कि उसी समय राजर्षि परीक्षित् पूर्व दिशाकी ओर प्रवाहित होनेवाली सरस्वती नदीके तटपर स्थित कुरुक्षेत्रमें आ पहुँचे॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीधर्मपृथ्वीसंवादो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

राजा परीक्षित् द्वारा कलिको दण्ड देना एवं अनुग्रह करना

श्रीसूत उवाच—

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तञ्च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकजी! कुरुक्षेत्र पहुँचनेपर राजा परीक्षित्‌ने देखा कि एक शूद्रने राज-वेषको धारण किया हुआ है और वह अपने हाथमें डण्डा लेकर बैल एवं गायके एक जोड़ेको इस प्रकार पीटता जा रहा है, मानो वे अनाथ हों॥ १॥

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्॥ २॥

बैल कमल-नालके समान सफेद वर्णका था और शूद्रकी ताड़नासे उत्पीड़ित एवं भयभीत होकर मूत्र त्याग कर रहा था। वह इतना दुर्बल हो गया था कि एक पैरसे खड़ा हुआ काँप रहा था॥ २॥

गाञ्च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सामश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम्॥ ३॥

उन्होंने और भी देखा कि धर्मके उपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थोंको देनेवाली वह गाय भी शूद्र द्वारा बार-बार मारे जानेवाली पैरोंकी ठोकरसे अत्यन्त पीड़ित हो रही थी। आँसुओंसे उसका मुख इस प्रकार भीगा हुआ था मानो वह अपना बछड़ा मर जानेके कारण रो रही हो। वह अत्यन्त दुबली-पतली थी और भूखी होनेके कारण घास खानेके लिए लालायित थी॥ ३॥

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः॥ ४॥

रथपर विराजमान राजा परीक्षित्‌ने अपने धनुषपर बाण चढ़ाया और सोनेसे बने कटिबन्धको धारण करनेवाले उस शूद्रको मेघके समान गम्भीर वाणीमें ललकारते हुए उससे पूछने लगे॥ ४॥

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।
नरदेवोऽसि वेशेण नटवत् कर्मणाऽद्विजः॥ ५॥

अरे! तू कौन है? तुझमें ऐसी क्या शक्ति है कि तू अपने बलसे गर्वित होकर मेरे राज्यमें मेरे शरणागत दुर्बल प्राणियोंकी हिंसा कर रहा है? तूने अभिनयकारी नटके समान राजाका वेश तो धारण किया हुआ है, परन्तु तेरा कर्म शूद्र जैसा है॥ ५॥

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णके गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ परम धाम पधार जानेके कारण तू इस निर्जन स्थानपर निरपराध प्राणियोंको मारनेका दुस्साहस कर रहा है? अपने इस अपराधके कारण तू वधके ही योग्य है॥ ६॥

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन्।
वृषरूपेण किं कश्चिद्देवो नः परिखेदयन्॥ ७॥

पुनः बैलके प्रति लक्ष्य करके राजा परीक्षित् कहने लगे—आप कौन हैं? आपका वर्ण कमल-नालके समान सफेद है। आपके तीन पैर नहीं हैं, आप केवल एक पैरसे ही विचरण कर रहे हैं। क्या आप कोई देवता हैं? आप बैलका रूप धारण करके मुझसे छल तो नहीं कर रहे हैं?॥ ७॥

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः॥ ८॥

कुरुवंशके श्रेष्ठ वीरोंकी भुजाओंके बलसे सुरक्षित इस राज्यमें मैंने आपके अतिरिक्त किसी भी प्राणीकी आँखोंसे कभी भी शोकके आँसू बहते हुए नहीं देखे हैं॥ ८॥

मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम्।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि॥ ९॥

हे सुरभिनन्दन! अब और शोक न कीजिये। इस शूद्रसे और भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है। (पुनः गायको लक्ष्यकर कहने लगे—)हे गोमाता! आप भी और न रोयें। दुष्टोंको दण्ड देनेवाला शासक मैं अभी जीवित हूँ, अतः आपका कल्याण ही होगा॥ ९॥

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥ १०॥

हे साध्वि! जिस राजाके राज्यमें प्रजाएँ दुष्ट व्यक्तियोंके द्वारा अत्यन्त पीड़ित रहती हों, उस मदमत्त दुराचारी राजाके यश, परमायु, सौभाग्य और परलोक आदि सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं॥ १०॥

एष राज्ञः परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम्॥ ११॥

जो त्रस्त एवं पीड़ित हैं, उनके भय और दुःखको दूर करना ही राजाका परम धर्म है। यह राजवेशधारी दुष्टोंका सरदार है और प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला है, अतएव मैं अभी इसके प्राणोंका संहार करूँगा॥ ११॥

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद।
मा भूवंस्त्वादृशो राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम्॥ १२॥

(महाराज परीक्षित्‌ने पुनः बैलको सम्बोधित करते हुए पूछा—)हे सुरभि-पुत्र! तुम तो चार पैरवाले प्राणी हो, अतः तुम्हारे अन्य तीन पैरोंको किसने काट डाला? श्रीकृष्णके अनुवर्ती कौरववंशके राजाओंके राज्यमें तुम्हारे जैसा दुःख तो कभी किसीको भी नहीं हुआ॥ १२॥

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम्।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम्॥ १३॥

हे वृष! निरपराधी और साधु-स्वभाववाले तुम्हारा मङ्गल हो। किस दुष्ट व्यक्तिने तुम्हारे तीन पैरोंको काटकर तुम्हें विरूप कर दिया

है? अथवा कृपया मुझे उसका नाम तो बतलाइये, जिसने पाण्डवोंकी कीर्त्तिको कलङ्कित किया है?॥ १३॥

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते॥ १४॥

जो व्यक्ति निरपराध प्राणियोंको कष्ट प्रदान करता है, वह अवश्य ही सब प्रकारसे मेरे द्वारा भयभीत रहता है। दुष्टोंका दमन करनेसे ही साधुओंका कल्याण होता है॥ १४॥

अनागःस्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम्॥ १५॥

जिस उद्दण्ड व्यक्तिने निरपराध प्राणियोंको दुःख देकर अपराध किया है, वह चाहे साक्षात् देवता ही क्यों न हो, मैं उसकी बाजूबन्द और अन्य आभरणोंसे विभूषित भुजाओंको काट डालूँगा॥ १५॥

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥ १६॥

जो विपत्तिकालके बिना ही शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन करके विपथगामी होते हैं, उन्हें शास्त्रानुसार दण्ड देना तथा जो शास्त्रके अनुसार अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, उन लोगोंका पालन करना राजाका परम धर्म है॥ १६॥

श्रीधर्म उवाच—

एतद्वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः॥ १७॥

श्रीधर्मने कहा—राजन्! जिन पाण्डवोंके श्रेष्ठ गुणोंसे आकृष्ट होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनका सारथी और दूत बनना स्वीकार किया था, आप उन्हीं पाण्डवोंके वंशज हैं, इसलिए हम जैसे दुःखित व्यक्तियोंके प्रति इस प्रकारसे अभय प्रदान करना आपके योग्य ही है॥ १७॥

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः॥ १८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! शास्त्रोंके विविध वचनोंमें भेदवशतः विमोहित होनेके कारण हमारे लिए यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि कौन व्यक्ति प्राणियोंके ऐसे क्लेशोंका मूल कारण है॥ १८॥

केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्येऽपरे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्॥ १९॥

जो लोग विकल्प अर्थात् भेदज्ञानको आवृत करते हैं, ऐसे कोई-कोई (योगी) कहते हैं कि जीव स्वयं ही अपने सुख-दुःखका कर्त्ता है। अन्य कोई-कोई दैव (प्रारब्ध) को ही सुख-दुःखका प्रदाता मानते हैं। पुनः कोई-कोई (मीमांसक) कर्मको ही सुख-दुःखका कारण मानते हैं। दूसरे कोई-कोई (लोकायतिक या निरीश्वर सांख्य) स्वभाव या प्रकृतिको ही हमारे सुख-दुःखका प्रभु बतलाते हैं॥ १९॥

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया॥ २०॥

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि सुख-दुःखादि सभी कुछ वाणी और मन (तर्क) के अगोचर किसी अनिर्देश्य कारण अर्थात् परमेश्वरसे ही प्राप्त होता है। अतएव हे वैष्णवराज! जो सिद्धान्त समुचित हो, उसे आप स्वयं ही अपनी वैष्णवी बुद्धिके द्वारा विचार कीजिये॥ २०॥

श्रीसूत उवाच—

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तमाः।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम्॥ २१॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ शौनक! धर्मके इस प्रकार कहनेके बाद सम्राट परीक्षित् विशेष मनोयोगपूर्वक चिन्तन करते हुए मोह रहित हो गये और प्रसन्न होकर उनसे कहने लगे॥ २१॥

श्रीराजोवाच—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्॥ २२॥

हे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले बैल! यद्यपि आप स्वयं निरपराधी हैं तथा अपने अनिष्ट करनेवालेका नाम जानते हैं, तथापि मेरे पूछनेपर भी आपने मुझे उसका नाम नहीं बतलाया। धर्मशास्त्रमें कथित है कि अधार्मिक तथा पापाचारियोंको जो-जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, अधर्मकी सूचना अर्थात् निर्देश करनेवालेको भी वैसी ही निम्नगति प्राप्त होती है। आप तो धर्मकी बातें बतला रहे हैं, इसलिए बैलके रूपमें आप निश्चय ही साक्षात् धर्म हैं॥ २२॥

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः॥ २३॥

अथवा यही सिद्धान्त निश्चित है कि प्राणियोंके मन और वाणीसे दैवी (परमेश्वरकी) मायाके स्वरूप अर्थात् गतिका निरूपण नहीं किया जा सकता॥ २३॥

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मय-सङ्ग-मदैस्तव॥ २४॥

हे धर्म! सत्ययुगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यतारूप आपके चारों चरण थे। परन्तु अब गर्व, स्त्रीमें आसक्ति और मद्यपानसे उत्पन्न मत्तता—अधर्मके इन तीन अंशों द्वारा आपके तपः, शौच और दया—ये तीन चरण नष्ट हो गये हैं॥ २४॥

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥ २५॥

हे धर्म! इस समय आपके चारों चरणोंमेंसे केवल एक सत्यरूप चरण ही बाकी रह गया है। इस सत्यरूप चरणके कारण ही आप किसी प्रकार जीवन धारण कर रहे हैं, परन्तु यह अधर्मरूपी कलि क्रमशः असत्य द्वारा संवर्धित होकर आपके इस चरणको भी नष्टकर देना चाहता है॥ २५॥

इयं भूमिर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका॥ २६॥

ये गौ रूपमें साक्षात् पृथ्वीदेवी हैं। श्रीभगवान्‌ने इनका बहुत भारी बोझ हरण कर लिया था। जब तक भगवान् श्रीकृष्ण इनके ऊपर असीम सौन्दर्य बिखेरनेवाले अपने श्रीचरणोंको रखा करते थे, तब तक ये समस्त प्रकारकी शोभाओंसे युक्त थीं॥ २६॥

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिता सती।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति॥ २७॥

अब ये पृथ्वी श्रीकृष्णके द्वारा परित्यक्त होकर अभागिनीके समान रो रही हैं। इन साध्वीके नेत्रोंसे इस चिन्ताके कारण आँसू बह रहे हैं कि अब ब्राह्मणोंका अहित करनेवाले शूद्र राजा बनकर इसका भोग करेंगे॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

इति धर्मं महीञ्चैव सान्त्वयित्वा महारथः।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार राजा परीक्षित्‌ने धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना प्रदान की। इसके बाद उन्होंने अधर्मके कारणरूप कलिका विनाश करनेके लिए हाथमें तीक्ष्ण तलवार उठा ली॥ २८॥

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम्।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद्भयविह्वलः॥ २९॥

तब कलि समझ गया कि राजा परीक्षित् तो अब मुझे मार ही डालना चाहते हैं, अतः तुरन्त उसने अपना राजवेश उतार डाला और भयसे व्याकुल होकर राजा परीक्षित्‌के चरणोंमें अपना सिर रख दिया॥ २९॥

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः।
शरण्यो नावधीत् श्लोक्य आह चेदं हसन्निव॥ ३०॥

दीनवत्सल, शरणागतपालक, यशस्वी और महावीर महाराज परीक्षित्‌ने कलिको अपने चरणोंमें पड़ा हुआ देखकर कृपावशतः उसका वध नहीं किया और मन्द हास्य सहित उससे कहने लगे—॥ ३०॥

श्रीराजोवाच—

न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः॥ ३१॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे कलि! निद्राको जीतनेवाले अर्जुनके वंशज मेरे निकट हाथ जोड़कर शरणागत हुए तुम्हें किसी भी प्रकारके भयकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। किन्तु तुम अधर्मके प्रधान सहचर हो, इसलिए तुम मेरे द्वारा शासित राज्यमें किसी भी स्थानपर रह नहीं पाओगे॥ ३१॥

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः॥ ३२॥

तुम्हारे द्वारा मनुष्य अथवा देवताओंके शरीरमें रहनेसे तुम्हारे पीछे-पीछे लोभ, असत्य, चोरी, दुर्जनता, स्वधर्म-त्याग, दरिद्रता, कपटता, कलह एवं दम्भ आदि अधर्म समूह वहाँ प्रवेश करते हैं॥ ३२॥

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥ ३३॥

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा॥ ३४॥

अतः हे अधर्मके बन्धु! इस क्षेत्रमें यज्ञविधिके विस्तारमें निपुण महात्मागण यज्ञोंके द्वारा निरन्तर यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना

करते रहते हैं। वायुकी भाँति समस्त चराचर जीवोंमें एक ही साथ भीतर और बाहर रहनेवाले वे सबके अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि इस देशमें यज्ञोंके रूपमें निवास करते हैं, यज्ञोंके द्वारा उनकी पूजा होती है तथा वे यज्ञ करनेवालोंको नित्य मङ्गल प्रदानकर उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं। अतः धर्म और सत्यके निवास स्थान इस ब्रह्मावर्तमें तू एक क्षणके लिए भी न ठहरना॥ ३३-३४॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम्॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्के इस प्रकारके आदेशोंको सुनकर कलि भयसे काँप उठा। उस समय हाथमें तलवार लेकर यमराजके समान मारनेके लिए उद्यत महाराज परीक्षित्से उसने इस प्रकार कहा—॥ ३५॥

कलिरुवाच—

यत्र क्व वाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम्॥ ३६॥

कलिने कहा—हे पृथ्वीके एकमात्र सम्राट! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार जिस किसी भी स्थानपर वास करनेका विचार करता हूँ, उन समस्त स्थानोंपर ही आप मुझे धनुषपर बाण चढ़ाये हुए दिखायी देते हैं॥ ३६॥

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि।
यत्रैव नियतो वत्स्ये आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम्॥ ३७॥

अतएव हे धार्मिकोंमें अग्रगण्य! आप ही ऐसा कोई स्थान निर्दिष्ट कीजिये, जिस स्थानपर मैं स्थिरचित्तसे आपकी आज्ञाका पालन करते हुए वास कर सकूँ॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—कलिकी इस प्रार्थनाको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उसके उपयोगी ये चार स्थान उसे प्रदान किये—द्यूत (जुआ), मद्यपान, (अवैद्य) स्त्री-सङ्ग और हिंसा। इन चारों स्थानोंपर असत्य, तपस्यानाश, अपवित्रता और क्रूरता—ये चार अधर्म वास करते हैं॥ ३८॥

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पञ्चमम्॥ ३९॥

चार स्थानोंको प्राप्त करके भी कलिके पुनः याचना करनेपर दण्ड देने और कृपा करनेमें समर्थ राजा परीक्षित्‌ने उसे रहनेके लिए पाँचवाँ स्थान स्वर्ण (धन) प्रदान कर दिया। इस प्रकारसे कलिके पास रहनेके लिए असत्य, अहङ्कार, काम, रजोगुणकी मूल प्रवृत्ति हिंसा और शत्रुता—ये पाँच स्थान हो गये॥ ३९॥

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत्॥ ४०॥

अधर्मको उत्पन्न करनेवाला कलि उत्तरानन्दन राजर्षि परीक्षित्‌की आज्ञाके अनुसार उनके द्वारा दिये गये इन पाँचों स्थानोंपर जाकर वास करने लगा॥ ४०॥

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः॥ ४१॥

अतएव जो पुरुष आत्म-कल्याणकी कामना करते हैं, उन्हें इन पाँचों स्थानोंका सेवन नहीं करना चाहिये। विशेषतः धार्मिक व्यक्ति, राजा, प्रजापालक लोक-नेता और धर्मोपदेष्टा गुरुओंके लिए तो इन सब स्थानोंसे सम्पर्क रखना भी सर्वथा अनुचित है॥ ४१॥

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादांस्तपः शौचं दयामिति।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीञ्च समवर्द्धयत्॥ ४२॥

इसके बाद महाराज परीक्षित्‌ने बैलका रूप धारण करनेवाले धर्मके तप, शौच और दयारूप तीनों टूटे हुए पैरोंको पुनः जोड़ दिया और पृथ्वीको अपने आश्वासन-वचनोंसे संवर्धित किया॥ ४२॥

स एष एतर्ह्यध्यास्ते आसनं पार्थिवोचितम्।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता॥ ४३॥

इस प्रकार वे ही महाराज परीक्षित् इस समय अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर द्वारा गृहत्याग कर वन जाते समय प्रदान किये गये राजसिंहासनपर विराजमान हैं॥ [१]४३॥

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन्।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः॥ ४४॥

अब वे ही परम भाग्यशाली, परमयशस्वी, चक्रवर्ती सम्राट राजर्षि परीक्षित् कौरव-कुलकी राजलक्ष्मीसे अत्यधिक दीप्तिशाली होकर हस्तिनापुरमें रह रहे हैं॥ ४४॥

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः॥ ४५॥

अभिमन्युपुत्र राजा परीक्षित् वास्तवमें ऐसे महान गुणोंसे सम्पन्न हैं कि उनके द्वारा पृथ्वीपर शासन किये जानेके कारण ही आपलोग यज्ञमें दीक्षित हो सके हैं॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

---

[१] श्लोक ४३ से ४५ तक वर्त्तमान कालका प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार कभी-कभी वर्त्तमान कालका प्रयोग निकटवर्ती भूतकाल और भविष्यत्-कालको सूचित करनेके लिए भी किया जाता है।

अष्टादशोऽध्यायः

राजा परीक्षित्को शृङ्गी ऋषिका शाप

श्रीसूत उवाच—

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।
अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! जब परीक्षित् अपनी माताके गर्भमें थे, तब द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने उनपर ब्रह्मास्त्र चलाया था, जिससे वे दग्ध हो गये थे। परन्तु अद्भुत कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहसे वे मृत्युके मुखमें जानेसे बच गये॥ १॥

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात् प्राणविप्लवात्।
न सम्मुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः॥ २॥

जब ब्राह्मणके शापसे तक्षक महाराज परीक्षित्को डसनेके लिए आया, उस समय वे प्राणनाशके महान भयसे भी मोहित नहीं हुए, क्योंकि वे सर्वान्तःकरणसे भगवान्के चरणोंमें समर्पित थे॥ २॥

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजित-संस्थितिः।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम्॥ ३॥

व्यासपुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीके शिष्य महाराज परीक्षित्ने भगवत्-तत्त्वको भलीभाँति जानकर समस्त प्रकारकी आसक्तियोंका परित्यागकर गङ्गाके तटपर अपने शरीरका परित्याग किया था॥ ३॥

नोत्तमःश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात् सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम्॥ ४॥

महाराज परीक्षित् अपने अन्तिम समयमें भी श्रीहरिका स्मरण कर रहे थे। इसमें किसी प्रकारका भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जो लोग उत्तमश्लोक भगवान्की लीला-कथाओंमें ही निरन्तर डूबे रहते हैं,

अर्थात् जो लोग सदैव भगवत्-कथारूप अमृतका पान करते हैं और उनके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं, मृत्युके समय भी उनकी बुद्धि भ्रमित नहीं होती है॥ ४॥

तावत् कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट्॥ ५॥

यद्यपि कलियुग पहलेसे ही इस पृथ्वीपर सर्वत्र प्रविष्ट हो गया था, परन्तु महानुभव चक्रवर्ती अभिमन्युनन्दन महाराज परीक्षित्के शासनकालमें वह अपने प्रभावका विस्तार करनेमें समर्थ नहीं हुआ॥ ५॥

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः॥ ६॥

जिस दिन और जिस क्षणमें भगवान् श्रीकृष्णने इस धरा-धामका परित्याग किया था, उसी दिन और उसी मुहूर्त्तमें ही अधर्मके मूल कारण कलिका इस जगत्में प्रवेश हुआ॥ ६॥

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥ ७॥

सम्राट परीक्षित्ने कलिका वध नहीं किया, क्योंकि वे भ्रमरके समान सारग्राही थे। उन्होंने देखा कि कलियुगमें श्रीभगवान्के नामोंका कीर्त्तनादिरूप शुभकर्म सङ्कल्प करनेमात्रसे ही सफल हो जाता है, परन्तु कलिकालमें पापकर्मका फल शरीरसे करनेपर ही मिलता है, सङ्कल्प करनेमात्रसे नहीं॥ ७॥

किन्नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते॥ ८॥

राजा परीक्षित्का एक और अभिप्राय भी था कि कलि स्वयं सावधान रहकर अविवेकी असावधान लोगोंपर ही सिंहके समान अपना प्रभाव दिखला सकता है। अतः ऐसे पराक्रमशाली कलिसे फिर क्या क्षति हो सकती है, क्योंकि धीर, विवेकी और भक्तोंसे तो

कलि स्वयं ही भयभीत रहता है। जिस प्रकार भेड़िया बालकपर ही आक्रमण कर सकता है, उसी प्रकार कलि भी असावधान व्यक्तियोंपर ही अपनी वीरता दिखला सकता है॥ ८॥

उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत॥ ९॥

हे शौनकादि ऋषियो! आपने मुझसे भगवान् श्रीवासुदेवकी कथासे युक्त राजा परीक्षित्‌का जो पवित्र चरित्र पूछा था, उसे मैंने आपके समक्ष वर्णन किया है॥ ९॥

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।
गुणकर्माश्रयाः पुंभिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णके अद्भुत चरित्र सभी जीवोंके द्वारा कीर्त्तन एवं श्रवण करने योग्य हैं। आत्म-कल्याणके इच्छुक व्यक्तियोंको उनके गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाली कथाओंका भलीभाँति सेवन करना चाहिये॥ १०॥

श्रीऋषय ऊचुः—

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्त्यानाममृतं हि नः॥ ११॥

ऋषियोंने कहा—हे सौम्य श्रीसूत! आप अनन्तकाल तक जीवित रहें, क्योंकि आप हमारे जैसे मरणशील मनुष्योंके लिए मृत्युका भय दूर करनेवाला श्रीकृष्णके अमृतमय उज्ज्वल विशुद्ध यशका कीर्त्तन कर रहे हैं॥ ११॥

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु॥ १२॥

हम जिस दीर्घ यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, उसके धुएँसे हमलोगोंका शरीर धूमिल हो गया है। ऐसे यज्ञमें बहुत प्रकारके विघ्नोंकी सम्भावनाके कारण फल प्राप्तिके विषयमें कोई निश्चयता नहीं है। हमारी धूएँ द्वारा धूमिल ऐसी अवस्थामें तो आप भगवान्

श्रीगोविन्दके चरणकमलोंके मादक एवं मधुर मकरन्दका पान कराके हमें पूर्ण रूपसे स्वस्थ कर रहे हैं॥ १२॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ १३॥

भगवान्‌के प्रेमीभक्तोंके लवमात्रकालके सत्सङ्गसे जीवोंका जो असीम मङ्गल साधित होता है, उससे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मरणशील मनुष्योंके तुच्छ राज्यादि भोगोंकी तो बात ही क्या है?॥ १३॥

को नाम तृप्येद्रसवित् कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः॥ १४॥

ऐसा कौन-सा रसज्ञ व्यक्ति होगा, जो परम श्रेष्ठ महापुरुषोंके एकमात्र जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे तृप्त हो जाये? समस्त प्राकृतगुणोंसे अतीत भगवान्‌के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंका पार तो ब्रह्मा, शङ्कर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके॥ १४॥

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्॥ १५॥

अतएव हे विद्वन्! आप परम भागवत हैं और हम श्रवणके अभिलाषी श्रद्धालु श्रोता हैं। अतएव आप श्रेष्ठ पुरुषोंके एकमात्र आश्रय श्रीहरिके विशुद्ध और उदार चरित्रोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ १५॥

स वै महाभागवतः परीक्षिद्-
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम्॥ १६॥

महाभागवत और महाबुद्धिमान परीक्षित्‌ने व्यासनन्दन श्रीशुकदेवसे भगवत्-चरित्ररूप ज्ञान प्राप्त करके गरुड़ध्वज श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूप मोक्षफल प्राप्त किया था॥ १६॥

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम्॥ १७॥

हे सूत गोस्वामी! श्रीव्यासनन्दन द्वारा महाराज परीक्षित्‌के लिए वर्णित अद्भुत श्रीमद्भागवत आख्यानका आप हमारे लिए यथायथ रूपसे वर्णन कीजिये। यह आख्यान निश्चय ही परम पवित्र भक्ति-योग-निष्ठ होगा तथा इसमें श्रीकृष्णकी उन अपार लीला-कथाओंका पद-पदपर वर्णन किया गया होगा, जो भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके लिए अत्यधिक प्रिय और रमणीय हैं॥ १७॥

श्रीसूत उवाच—

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अहो! आज मैं धन्य हो गया। यद्यपि मैं विलोम[१] जातिमें उत्पन्न वर्णसङ्कर हूँ, तथापि महात्माओंकी सेवाके उद्देश्यसे भगवान्‌के गुणोंका वर्णनकर ज्ञानवृद्ध श्रीशुकदेव गोस्वामीका अनुसरण करके मेरा जन्म सफल हो गया। नीच जातिमें जन्म लेनेके कारण जो मानसिक पीड़ा होती है, वह महापुरुषोंके साथ भगवत्-यशोगानरूप सम्भाषण करनेमात्रसे शीघ्र ही मिट जाती है॥ १८॥

---

[१] उच्च वर्णकी माता और निम्न कुलके पिता द्वारा उत्पन्न सन्तानको 'विलोमज' कहते हैं। सूत जाति ब्राह्मणकुलकी माता और क्षत्रियकुलके पितासे उत्पन्न हुई है।

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः॥ १९॥

महापुरुषोंके एकान्त परम-आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नामोंका उच्चारण करनेसे नीच कुलमें जन्मके कारण होनेवाले मानसिक कष्ट अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इस विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? भगवान्‌की शक्ति अनन्त है, वे स्वयं भी अनन्त हैं, उनके गुणोंकी अनन्तताके कारण लोग उन्हें अनन्त कहते हैं॥ १९॥

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः॥ २०॥

पुनः श्रीकृष्णके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन करनेका भी क्या प्रयोजन है? उनके गुणोंकी समानता किसीमें नहीं है, तब फिर किसीमें उनसे अधिक गुणोंके होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। जिन श्रीलक्ष्मीदेवीकी कृपा प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवता निरन्तर प्रार्थना करते हैं, वे लक्ष्मीदेवी उन ब्रह्मादि देवताओंका परित्याग करके भगवान्‌के न चाहनेपर भी उनके चरणकमलोंकी रजकी ही सेवा करती हैं॥ २०॥

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥ २१॥

श्रीभगवान्‌के चरणोंको धोनेके लिए ब्रह्माजीने जो जल समर्पित किया था, वही जल उनके चरण-नखोंके स्पर्शसे गङ्गाके रूपमें महादेव सहित सम्पूर्ण जगत्‌को पवित्र करता है। इस जगत्‌में उन भगवान् मुकुन्दके अतिरिक्त और कौन भगवान् कहलानेके योग्य हो सकता है?॥ २१॥

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः॥ २२॥

उन भगवान्‌में अनुरक्त होकर धीर मनीषिगण बिना किसी संकोचके सहसा ही देह और गृहकी आसक्तिका परित्यागकर सभी आश्रमोंकी चरम सीमास्वरूप उस परमहंस आश्रमको प्राप्त होते हैं, जिसमें मात्सर्यादि रहित भगवत्-निष्ठा ही स्वाभाविक स्वधर्म होता है॥ २२॥

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥ २३॥

हे ऋषियो! आपलोग वेदमूर्त्ति हैं, इसलिए सूर्यके समान प्रकाशमान हैं। आपने मुझसे जो राजा परीक्षित्‌का उपाख्यान और उससे सम्बन्धित श्रीकृष्णकी लीलाओंके वर्णनके विषयमें प्रश्न किया है, उसे मैं जितना जानता हूँ, उसीके अनुसार कहूँगा। जिस प्रकार पक्षी अपनी शक्तिके अनुसार ही आकाशमें उड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त पण्डित अपनी-अपनी समझके अनुसार ही भगवान् श्रीहरिकी लीलाओंका गान करते हैं॥ २३॥

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम्॥ २४॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम्।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम्॥ २५॥
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राण-मनोबुद्धिमुपारतम्।
स्थानत्रयात् परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम्॥ २६॥

एक बार महाराज परीक्षित् धनुषपर बाण चढ़ाकर शिकारके लिए वन-वनमें भ्रमण कर रहे थे। हिरणोंके पीछे भागते-भागते वे अत्यन्त थक गये और भूख एवं प्याससे व्याकुल हो गये। कहीं भी जलाशय

न दिखनेपर वे समीपमें ही एक ऋषिके आश्रममें प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि एक मुनि आँखे बन्द करके आसनपर प्रशान्त भावसे बैठे हुए हैं। उनके इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि सभी अपने-अपने विषयोंसे विरक्त हो गये थे तथा उनका चित्त शान्त हो चुका था। वे जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय (समाधि) अवस्थामें स्थित थे। वे ब्रह्मभूत अर्थात् जड़ाभिनिवेश-शून्य और निर्विकार थे॥ २४-२६॥

विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत॥ २७॥

उन मुनिकी जटाएँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं तथा देह रुरु (कृष्णसार) नामक मृगकी चर्मसे ढकी हुई थी। प्यासके कारण राजाका तालु तक सूख गया था, अतः उन्होंने समाधि अवस्थामें स्थित मुनिसे जलके लिए प्रार्थना की॥ २७॥

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह॥ २८॥

राजाने जब देखा कि मुनिने उन्हें बैठनेके लिए तृणका आसन तक भी नहीं दिया, अर्घ्य आदि कुछ भी प्रदान नहीं किया, यहाँ तक कि प्रिय वचनोंसे उनके साथ सम्भाषण भी नहीं किया, तब वे स्वयंको अपमानित मानकर अत्यधिक क्रोधमें आविष्ट हो गये॥ २८॥

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद्ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च॥ २९॥

हे ब्रह्मन्! भूख और प्याससे अत्यन्त व्याकुल हो रहे महाराज परीक्षित्के मनमें सहसा ही शमीक मुनिके प्रति ऐसा क्रोध और मत्सर भाव जाग उठा, जो उनके जीवनमें पहले कभी भी उदित नहीं हुआ था॥ २९॥

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन् धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः॥ ३०॥

अपनेको उपेक्षित अनुभवकर राजा परीक्षित्‌ने लौटते समय क्रोधवशतः अपने धनुषकी नोकसे एक मरा हुआ साँप उठाया और उस मृत सर्पको ब्रह्मर्षिके कन्धेपर रख दिया और फिर वे अपने नगरमें लौट आये॥ ३०॥

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।
मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः॥ ३१॥

रास्तेमें उनके मनमें यह विचार आने लगा कि क्या वास्तवमें ही मुनिने अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा रखा था और नेत्रोंको बन्द करके समाधिस्थ थे? अथवा मेरे जैसे क्षत्रियाधमके इस आश्रममें आनेसे ही क्या लाभ और यहाँसे चले जानेपर भी क्या लाभ—ऐसा विचार करके झूठ-मूठ समाधिका बहाना बनाते हुए मुनिने मेरी अवज्ञा की है?॥ ३१॥

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत्॥ ३२॥

शमीक मुनिका पुत्र शृङ्गी बालक होनेपर भी बड़ा तेजस्वी था। जब वह अन्यान्य ऋषि कुमारोंके साथ खेल रहा था, तभी उसने सुना कि राजा परीक्षित्‌ने उसके पिताका बड़ा अपमान किया है। तब वह अपने साथियोंके सम्मुख ही कहने लगा—॥ ३२॥

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव।
स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव॥ ३३॥

(ब्राह्मण बालक शृङ्गीने कहा—)कितने आश्चर्यकी बात है! भोगोंसे परिपुष्ट सण्ड-मुसण्ड राजाओंका यह कैसा अधर्म है! जिनकी तुलना उच्छिष्टभोजी कौओं और द्वार-रक्षक कुत्तोंके साथ हो सकती है, ऐसे राजालोग ऋषियों (ब्राह्मणों) के दास होकर भी अपने स्वामीके प्रति पापाचरण करने लगे हैं!॥ ३३॥

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपितः।
स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति॥ ३४॥

ब्राह्मणोंने इन नीच क्षत्रियोंको गृह-रक्षक कुत्तोंके रूपमें नियुक्त किया है। घरके द्वारपर ही जिनका स्थान निर्दिष्ट किया है, आज वे किस साहससे घरमें ही प्रवेशकर स्वामीके पात्रमें रखे हुए अन्नको खा सकते हैं? ॥ ३४ ॥

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम्।
तद्भिन्नसेतुमद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम्॥ ३५॥

समस्त कुमार्गगामी लोगोंके शासनकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण अपने धामको चले गये हैं—यह जानकर जो व्यक्ति अपनी मर्यादा भङ्ग कर रहा है, मैं इसी मूहुर्त्तमें उसे दण्ड देता हूँ। तुमलोग मेरी तपशक्तिको देखो॥ ३५॥

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह॥ ३६॥

ऋषि बालककी दोनों आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। अपने मित्रोंसे ऐसा कहकर उसने कौशिकी नदीके जलमें आचमन किया और वज्रके समान वचनोंका प्रयोग करते हुए बोला—॥ ३६॥

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि।
दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्॥ ३७॥

"जिस कुलाङ्गारने मर्यादाका उल्लघंन करके मेरे पिताका इस प्रकारसे अपमान किया है, मेरी प्रेरणासे तक्षक सर्प आजसे सातवें दिन उसे डस लेगा॥"३७॥

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम्।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ३८॥

ऐसा कहकर ऋषिकुमार अपने आश्रममें लौट आया। अपने पिताके गलेमें मृत-सर्प देखकर वह अत्यधिक दुःखी हो गया और उच्च स्वरसे रोने लगा॥ ३८॥

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम्।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम्॥ ३९॥

विसृज्य तञ्च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि।
केन वा तेऽप्यपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत्॥ ४०॥

हे ब्रह्मन् शौनकजी! अङ्गिरा गोत्रमें उत्पन्न शमीक ऋषिने अपने पुत्रका विलाप सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं। तब अपने गलेमें एक मरा हुआ साँप लटका देखकर उन्होंने उसे दूर फेंक दिया और अपने पुत्रसे पूछने लगे "वत्स! तुम किसलिए रो रहे हो? क्या किसीने तुम्हारा अनिष्ट किया है?" इन वचनोंको सुनकर ऋषि बालकने पिताको सारी बात बतला दी॥ ३९-४०॥

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत्।
अहो बतांहो महदज्ञ ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः॥ ४१॥

अपने पुत्र द्वारा दिये गये शापकी बात सुनकर शमीक ऋषिने अपने पुत्रकी प्रशंसा नहीं की, क्योंकि राजा परीक्षित् कदापि शापके योग्य नहीं थे। बल्कि उन्होंने पुत्रसे कहा—अहो! कितने दुःखकी बात है! तुम तो बड़े ही मूर्ख हो! आज तुमने महापाप किया है, क्योंकि तुमने इतने छोटे-से अपराधके लिए राजाको इतना बड़ा दण्ड दे दिया॥ ४१॥

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः॥ ४२॥

हे अल्पबुद्धे! जो राजा विष्णुतुल्य भगवत्-स्वरूप माने जाते हैं तथा जिनके दुःसह तेजके प्रभावसे ही सारी प्रजा सुरक्षित रहकर निर्भयताके साथ सुख एवं ऐश्वर्यका उपभोग कर रही है, तुम्हारे द्वारा उस राजाको साधारण मनुष्यके समान समझना युक्तिसङ्गत नहीं हुआ है॥ ४२॥

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः।

तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात्॥ ४३॥

हे वत्स! राजाका नाम और रूप धारण करनेवाले भगवान् चक्रपाणिके अन्तर्हित होते ही पृथ्वीपर चोरोंका उत्पात प्रचुर रूपमें बढ़ जायेगा और सारी प्रजा रक्षकहीन होकर अरक्षित भेड़ोंके समान क्षणभरमें ही नष्ट हो जायेगी॥ ४३॥

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात्।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः॥ ४४॥

अतएव प्रजा-रक्षक राजाके अभावमें चोरी आदिकी प्रचुरता होनेपर जो पाप होंगे, दूसरोंके द्वारा किये गये उन पापोंका हमसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी हम ही उन पापोंके उत्तरदायी होंगे। राजाके अभावमें लुटेरे बहुत परिमाणमें बढ़ जायेंगे और वे आपसमें एक दूसरेके साथ मार-पीट, गाली-गलौज करेंगे तथा पशु, स्त्री एवं धन आदिका भी अपहरण करेंगे॥ ४४॥

तदार्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥ ४५॥

उस समय जगत्में वर्णाश्रममें विहित वेदोक्त सदाचार और वैदिक आर्यधर्मका विनाश हो जायेगा। केवल अर्थ और काम-वासनामें ही चित्तके अभिनिविष्ट हो जानेसे लोग कुत्तों और बन्दरोंके समान हो जायेंगे और इस कारणसे तब वर्णसङ्कर पैदा होने लगेंगे॥ ४५॥

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड्बृहच्छ्रवाः।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट्।
क्षुत्तट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति॥ ४६॥

सम्राट परीक्षित् तो धर्मरक्षक, महायशस्वी और परमभागवत हैं। बहुत-से अश्वमेध यज्ञ करनेवाले वे राजर्षि भूख-प्यास और परिश्रमसे व्याकुल होकर बड़े ही विपत्तिग्रस्त भावसे हमारे आश्रममें आये थे, अतएव वे कदापि हमारे शापके योग्य नहीं थे॥ ४६॥

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति॥ ४७॥

इस पापका कोई प्रायश्चित्त न देखकर शमीक मुनिने कहा—हे सर्वात्मा भगवन्! आप सबके अन्तर्यामी हैं। मेरे इस बालककी बुद्धि अपरिपक्व होनेके कारण यह नितान्त नासमझ है, इसीलिए इसने आपके ही समान निरपराध आपके भक्तके प्रति पापका आचरण किया है। आप इसे क्षमा करें॥ ४७॥

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि॥ ४८॥

यदि भगवान्‌के भक्त दूसरोंके द्वारा निन्दित, वञ्चित, अपमानित, अभिशप्त और प्रताड़ित होते हैं, तब भी वे अपने अनिष्टकारीका अपकारकर उनसे बदला लेनेमें समर्थ होनेपर भी अन्यायका आचरण नहीं करते॥ ४८॥

श्रीसूत उवाच—

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत्॥ ४९॥

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ शमीक अपने पुत्र द्वारा किये गये अपराधकी चिन्तासे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु राजा परीक्षित्‌के द्वारा हुए अपने अपमानरूपी अपराधके प्रति उन्होंने एक बार भी ध्यान तक नहीं दिया॥ ४९॥

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः॥ ५०॥

साधुओंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादिरूप द्वन्द्वके प्राप्त होनेपर प्रायः दुःखोंसे दुःखित और सुखोंसे अत्यन्त हर्षित नहीं होते। वे जानते हैं कि आत्मा तो सुख-दुःखादि गुणोंसे सर्वथा परे है॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते विप्रशापोपलम्भो नामाष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌का अनशनव्रत और श्रीशुकदेव गोस्वामीका आगमन

श्रीसूत उवाच—

महीपतिस्त्वथ तत्कर्मगर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः।
अहो मया नीचमनार्यवत् कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! इसके बाद महाराज परीक्षित् मुनिवर शमीकके आश्रमसे अपने महलमें लौट आये। लौटते समय उनका मन अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा था। अतएव अपने महलमें पहुँचकर वे विचार करने लगे—अहो! मैंने बड़ा ही निन्दनीय कार्य कर डाला है। मैंने उस निरपराध ब्राह्मणके छिपे हुए ब्रह्मतेजको पहचान न पानेके कारण अति नीच अनार्य व्यक्तिके समान कार्य कर डाला। इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे अत्यन्त उदास हो गये॥ १॥

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्-
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा॥ २॥

मैंने देवतुल्य ऋषिका अपमान किया है, इसलिए निःसन्देह शीघ्र ही मुझपर कोई भयङ्कर विपत्ति आयेगी। मैं भी यही चाहता हूँ कि वह विपत्ति शीघ्र ही मुझपर आये, जिससे मेरे पापका उपयुक्त प्रायश्चित्त हो जाय और मैं पुनः ऐसा घृणित कार्य करनेका दुःसाहस न कर सकूँ॥ २॥

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोषं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे।

दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्
पापीयसी धीर्द्विज-देवगोभ्यः॥ ३॥

मैं अत्यन्त अशिष्ट हूँ, अतः आज ही मेरा राज्य, मेरी सेना और अक्षय भण्डार आदि मेरी समस्त सम्पत्ति ब्राह्मणकुलकी कोप-अग्निसे भस्म हो जाये। ऐसा होनेपर पुनः गौ, ब्राह्मण अथवा देवताओंको कष्ट देनेकी मेरी दुर्बुद्धि नहीं होगी॥ ३॥

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद्यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः।
स साधु मेने न चिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्ति-कारणम्॥ ४॥

महाराज परीक्षित् ऐसा सोच ही रहे थे कि उसी समय शमीक मुनिके द्वारा भेजे गये उनके शिष्यने उन्हें संवाद दिया कि मुनिपुत्र शृङ्गीके अभिशापसे तक्षक नागके डसनेसे आजसे सातवें दिन उनकी मृत्यु हो जायेगी। 'इस तक्षककी विष-अग्नि मेरे लिए विषय-आसक्तियोंसे वैराग्यका कारण बनेगी'—यह सोचकर राजा परीक्षित्ने इस अभिशाप-संवादको अपने लिए शुभ ही समझा॥ ४॥

अथो विहायेमममुञ्च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रि-सेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम्॥ ५॥

राजा परीक्षित्ने पहलेसे ही स्थिर कर लिया था कि यह लोक और परलोक (स्वर्गादि)—दोनों ही हेय हैं। अतएव अब उन्होंने ऐहिक और पारलौकिक सुखोंकी कामनाका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवाको ही समस्त पुरुषार्थोंका सार निश्चय किया और उन्हीं श्रीकृष्णके अमल चरणकमलोंकी प्राप्तिकी लालसासे गङ्गातटपर आमरण अनशनका सङ्कल्प लिया॥ ५॥

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।

पुनाति सेशानुभयत्र लोकान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके परागसे मिश्रित तुलसी दलके संस्पर्शवशतः भगवती गङ्गा सर्वोत्कृष्ट जलको लेकर प्रवाहित होती हैं। अतः वे लोकपालों सहित समस्त जीवोंको अन्दर और बाहरसे पवित्र करती हैं। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपनी मृत्युको निकट जानकर उन पवित्र भागीरथीकी सेवा (गङ्गाका पूजन, आचमन, उसमें स्नानादि) नहीं करेगा? ॥ ६॥

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम्।
दधौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः॥ ७॥

श्रीहरिके चरणकमलोंसे निकली गङ्गाके तटपर मृत्यु तक अनशन करनेका निश्चयकर पाण्डुवंशधर परीक्षित्‌ने समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर दिया और वे मुनियोंके समान शान्तचित्त होकर एकाग्रचित्तसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करने लगे॥ ७॥

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥ ८॥

उस समय अपनी तपस्याके प्रभावसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्योंके साथ वहाँपर पधारे। साधुगण स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं, अतः वे तीर्थयात्राके छलसे समस्त तीर्थोंको ही पवित्र करते हैं॥ ८॥

अत्रिर्वशिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदः सुबाहु॥ ९॥

मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-
र्द्वैपायनो भगवान् नारदश्च॥ १०॥

अन्ये च देवर्षिमहर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे॥ ११॥

अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, गाधितनय विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, सुबाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि अगस्त्य, द्वैपायन वेदव्यास, भगवान् नारद तथा इनके अतिरिक्त और भी कई देवर्षि, महर्षि और राजर्षि एवं अरुण आदि काण्डर्षि वहाँपर उपस्थित हुए। श्रेष्ठ-श्रेष्ठ ऋषियोंको एकत्र देखकर राजाने सबका यथायोग्य सत्कार किया और उनके चरणोंमें सिर रखकर उन सबकी वन्दना की॥ ९-११॥

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः॥ १२॥

तत्पश्चात् जब वे सभी सुखपूर्वक अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, तब महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें फिरसे प्रणाम किया और उनके सामने खड़े होकर शुद्ध हृदयसे हाथ जोड़कर अपने अभिलषित मृत्यु तक अनशनके विषयमें क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, यह पूछने लगे॥ १२॥

श्रीराजोवाच—

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः।

राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचा-
दाराद्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—अहो, कैसा भाग्य है! साधारणतः ब्राह्मणगण क्षत्रियोंको उनके हिंसक और निन्दित कर्मोंके कारण उन्हें अपने चरण धोनेके स्थान तकसे भी दूर रखते हैं, परन्तु आज हम आप सब महापुरुषोंके कृपापात्र बन गये हैं। अतएव आज हम समस्त राजाओंमें धन्यतम हुए हैं॥ १३॥

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णन्।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते॥ १४॥

समस्त कार्य और कारणके नियन्ता स्वयं भगवान्‌ने ही मुझपर कृपा की है। एक तो मैं सदैव गृहमें अत्यधिक आसक्त हूँ और उसपर फिर ब्राह्मणका अपमान करके मैंने पाप किया है। भय ही विषयोंमें आसक्त व्यक्तिके वैराग्यका कारण होता है तथा बिना वैराग्यके भगवान्‌को प्राप्त करनेका कोई उपाय भी नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि भगवान् स्वयं ही मेरे वैराग्य प्राप्त करनेके मूल कारण—ब्राह्मणके शापके रूपमें मुझपर कृपा करनेके लिए पधारे हैं॥ १४॥

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः॥ १५॥

हे ब्राह्मणो! अब मैंने अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है। आपलोग और गङ्गादेवी शरणागत जानकर मुझपर कृपा करें। अब ब्राह्मणकुमारके शापसे प्रेरित तक्षक ही हो अथवा कोई दूसरा भी कपटसे तक्षकका रूप धारणकर अपनी इच्छासे मुझे डस ले, इसकी मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। आपलोग भगवान् श्रीहरिकी रसमयी कथाका गान कीजिये॥ १५॥

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः॥ १६॥

मैं आप सब ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रणाम करते हुए यही प्रार्थना करता हूँ कि यदि मुझे पुनः इस जगत्में जन्म लेना पड़े, तब प्रति जन्ममें ही मेरा उन अनन्त गुणोंसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अनुराग हो, मुझे उनके चरणाश्रित महानुभव साधु भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो और समस्त जीवोंके प्रति मेरी मैत्री हो॥ १६॥

श्रीसूत उवाच—

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुत-न्यस्तभारः॥ १७॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित् परम धीर (आत्म संयमी) थे। ऐसा दृढ़ निश्चय करके उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया और स्वयं गङ्गाके दक्षिण तटपर पूर्वकी ओर अभिमुख जड़ोंवाले कुशके आसनोंपर उत्तरकी ओर मुख करके बैठ गये॥ १७॥

एवञ्च तस्मिन् नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टै दिवि देवसङ्घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः॥ १८॥

जब राजाधिराज परीक्षित् इस प्रकार आमरण अनशन करके बैठ गये, तब स्वर्गके देवतालोग राजाकी प्रशंसा करते हुए आनन्द सहित पृथ्वीपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके नगाड़े बार-बार बजने लगे॥ १८॥

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः।

ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमःश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९ ॥

वहाँ उपस्थित सभी महर्षियोंने महाराज परीक्षित्‌के सङ्कल्पकी प्रशंसा की और 'साधु-साधु' (बहुत-अच्छा) कहकर उनका अनुमोदन किया। ऋषिजन स्वभावसे ही लोगोंपर कृपाकी वर्षा करते रहते हैं, क्योंकि इस कार्यमें वे समर्थ होते हैं। उन महर्षियोंने भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंसे प्रभावित परीक्षित्‌के प्रति उनके अनुरूप मनोरम वचन कहे॥ १९ ॥

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥ २० ॥

हे राजर्षियोंके शिरोमणे! भगवान्‌का नित्य सान्निध्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे जिन्होंने बड़े-बड़े राजाओंके मुकटों द्वारा परिसेवित सार्वभौम सिंहासनका सहज ही त्याग कर दिया था, श्रीकृष्णके एकान्त भक्त उन्हीं पाण्डवोंके वंशमें आपने जन्म-ग्रहण किया है। अतः सहसा ही वैराग्य और विषय वासनाओंका त्याग करना आपके लिए आश्चर्यकी बात नहीं है॥ २० ॥

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ
कलेवरं यावदसौ विहाय।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥ २१ ॥

(मुनिगण राजाको इस प्रकार कहकर आपसमें विचार करने लगे—)जब तक भगवान्‌के परमभक्त महाराजा परीक्षित् अपनी देहको त्यागकर मायाके दोष और शोकसे रहित भगवान्‌के परम धाममें नहीं गमन करते, तबतक हम सब यहीं रहेंगे॥ २१ ॥

आश्रुत्यर्षिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद्गुरु चाव्यलीकम्।

आभाषतैनानभिवन्द्य युक्तः
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः॥ २२॥

ऋषियोंके अमृतमय मधुर, गम्भीर अर्थवाले, सत्य और पक्षपात रहित वचनोंको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उन सबका अभिनन्दन किया और श्रीकृष्णके मनोहर चरित्रको सुननेकी इच्छासे उनसे कहने लगे—॥ २२॥

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे।
नेहाथ नामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्॥ २३॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महात्माओ! आप सभी सब ओरसे यहाँ पधारे हैं। आप त्रिभुवनके ऊपरमें स्थित सत्यलोकमें रहनेवाले मूर्त्तिमान वेदोंके समान हैं। दूसरोंपर निःस्वार्थ अनुग्रह करना ही आपका सहज स्वभाव है, इसके अतिरिक्त इस लोक या परलोकमें आपका कोई अन्य स्वार्थ नहीं है॥ २३॥

ततश्च वः पृच्छ्यमिदं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम्।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ताः॥ २४॥

अतएव हे श्रेष्ठ विप्रो! आपलोगोंपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने कर्त्तव्यके विषयमें पूछने योग्य प्रश्न कर रहा हूँ। आपलोग कृपया भलीभाँति विचार करके बतलाइये कि सबके लिए सब अवस्थाओंमें और विशेषकर जिसकी मृत्यु अति निकट हो, उस मनुष्यके लिए पाप-स्पर्शसे रहित शुद्ध कर्त्तव्य क्या है?॥ २४॥

श्रीसूत उवाच—

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।

अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेशः ॥ २५ ॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—उसी समय किसीसे कोई अपेक्षा नहीं रखनेवाले व्यासनन्दन भगवान्[१] श्रीशुकदेव पृथ्वीपर अपनी इच्छापूर्वक विचरण करते हुए वहाँपर उपस्थित हुए। वे बाह्य विषयोंके प्रति उदासीन, किसी विशेष वर्ण अथवा आश्रमके चिह्नोंसे रहित तथा आत्मानुभूतिमें सन्तुष्ट थे। उनका वेष अवधूत जैसा था। बच्चों और स्त्रियोंने उन्हें घेर रखा था॥ २५॥

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंस-कपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥ २६ ॥

श्रीव्यासनन्दनकी आयु मात्र सोलह वर्षकी थी। चरण, हाथ, जंघा, भुजाएँ, कन्धे, कपोल और अन्य सब अङ्ग अत्यन्त सुकुमार थे। उनके नेत्र कान तक विस्तृत बड़े-बड़े और मनोहर थे, नासिका कुछ ऊँची थी, दोनों कान बराबर थे तथा भौंहें सुन्दर थीं। इनसे उनका मुखमण्डल अत्यधिक शोभायमान हो रहा था। उनका कण्ठ तो मानो तीन रेखाओंसे अङ्कित सुन्दर शङ्ख ही था॥ २६॥

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥ २७ ॥

उनकी हँसली[२] माँससे ढकी हुई, वक्षःस्थल विशाल और उभरा हुआ, नाभि भँवरके समान गहरी तथा उदर त्रिवलीसे युक्त बड़ा ही

---

[१] विष्णुपुराणमें कहा गया है—'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानाम् आगतिं गतिं। वेत्ति विद्यामविद्यांश्च स वाच्यो भगवानिति॥' अर्थात् जो ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और प्रलय, जीवोंका संसारसे गमन और आगमन तथा अविद्या और विद्यारूप भगवत् शक्तियोंके वेत्ता हैं, वही 'भगवान्' पद वाच्य हैं।

[२] कण्ठके नीचे स्थित अस्थि।

सुन्दर था। उनकी भुजाएँ लम्बी–लम्बी थीं, उनके सुन्दर मुखमण्डलपर घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। दिशाएँ ही उनके वस्त्र थीं। उनकी अङ्गकान्ति देवोत्तम श्रीहरिके समान अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रही थी॥ २७॥

श्यामं सदापीव्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य–
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥ २८॥

उनका वर्ण श्यामल था तथा उनकी नव–युवावस्था चित्तको चुरानेवाली थी। उस नवयौवनके अनुरूप देहकी छटा और मन्द–मधुर मुसकानसे वे स्त्रियोंको सदा ही मनोहर जान पड़ते थे। यद्यपि उन्होंने अपने तेजको अर्थात् वास्तव महिमाको छिपा रखा था, फिर भी महापुरुषके लक्षणोंको जाननेवाले मुनियोंने उन्हें पहचान लिया और वे सभी अपने–अपने आसन छोड़कर उनके सम्मानके लिए उठ खड़े हुए॥ २८॥

स विष्णुरातोऽतिथये आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाजहार।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः॥ २९॥

विष्णुरात अर्थात् विष्णु द्वारा रक्षित उन राजा परीक्षित्ने अतिथि रूपसे पधारे हुए श्रीशुकदेवको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। उनके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले बच्चे और स्त्रियाँ उनकी ऐसी महिमा देखकर वहाँसे लौट गये। फिर सबके द्वारा सम्मानित होकर श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए॥ २९॥

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।

व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः॥ ३०॥

तब उस सभामें ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे घिरे हुए महान् भगवान् श्रीशुकदेव उसी प्रकार अत्यन्त शोभायमान होने लगे, जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी शोभा होती है॥ ३०॥

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत्॥ ३१॥

उस समय संयमी परम भागवत राजा परीक्षित्‌ने देखा कि मुनिवर श्रीशुकदेव सुखपूर्वक बैठ गये हैं, उनका हृदय पूर्ण रूपसे शान्त है तथा उनकी मेधा अतुलनीय है अर्थात् वे समस्त विषयोंका निसंकोच रूपमें समाधान करनेवाली तीक्ष्ण बुद्धिसे युक्त हैं। अतः राजाने उनके समीप जाकर उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और फिर खड़े होकर प्रश्न करनेके उद्देश्यसे पुनः हाथ जोड़कर नमस्कार करके अत्यन्त मधुर वाणीसे उनसे पूछने लगे—॥ ३१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः॥ ३२॥

श्रीपरीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! आज हमारा परम सौभाग्य है, क्योंकि आपने कृपापूर्वक अतिथिरूपमें पधारकर हमें तीर्थके समान पवित्र कर दिया है। अतएव अधम क्षत्रिय होनेपर भी हम साधुओंकी सेवा करनेके अधिकारी हुए हैं॥ ३२॥

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्श-पादशौचासनादिभिः॥ ३३॥

आप-जैसे महात्माओंके स्मरणमात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं, तब फिर आपके दर्शन, स्पर्श, आपके चरणको

धोने और आपको आसन प्रदानादिका सुअवसर मिलनेपर मनुष्य पवित्र होगा, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है?॥ ३३॥

सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥ ३४॥

हे महायोगिन्! जिस प्रकार भगवान् श्रीविष्णुके सामने आते ही असुर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके सान्निध्यमें जीवोंके बड़े-बड़े पाप भी तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ३४॥

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः॥ ३५॥

पाण्डवोंके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण अवश्य ही मुझपर भी प्रसन्न हैं। उन्होंने अपने फुफेरे भाइयोंकी प्रसन्नताके लिए उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए मुझे भी बन्धुरूपमें स्वीकार किया है॥ ३५॥

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः॥ ३६॥

यदि भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा नहीं होती, तो आप-जैसे एकान्त वनवासी और सामान्य लोगोंसे अलक्षित रहकर विचरण करनेवाले परम सिद्धपुरुषका स्वयं पधारकर मुझ-जैसे मरणासन्न प्राकृत मनुष्योंको दर्शन देना कैसे सम्भव होता?॥ ३६॥

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत् कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा॥ ३७॥

आप योगियोंके परम गुरु हैं तथा सबकुछ जाननेवाले हैं। इसलिए मैं आपसे परम सिद्धिके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ। जो पुरुष मरणासन्न है, उसे सिद्धि प्राप्तिके विषयमें सब प्रकारसे क्या करना चाहिये?॥ ३७॥

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत् कर्तव्यं नृभिः प्रभो।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्॥ ३८॥

प्रभो! साथ ही कृपापूर्वक यह भी बतलाइये कि मनुष्यमात्रके लिये क्या करना आवश्यक है अर्थात् वे किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करें तथा उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिये? ॥ ३८ ॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित्॥ ३९ ॥

हे ब्रह्मन्! आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है, आप उतनी देर भी गृहस्थोंके घरपर नहीं ठहरते हैं। (इसलिए कृपापूर्वक इसी क्षण मेरे प्रश्नोंका उत्तर प्रदान कीजिये)॥ ३९ ॥

श्रीसूत उवाच—

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः॥ ४० ॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब राजाने बड़े ही मधुर वचनोंसे इस प्रकार सम्भाषण और प्रश्न किया, तब समस्त धर्मोंके सारको जाननेवाले भगवान् व्यासनन्दन श्रीशुकदेवने राजाको उत्तर देना आरम्भ किया॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीशुकागमनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥

॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ॥

द्वितीयः स्कन्धः

द्वितीय स्कन्धकी कथाका सार

"जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो और जो अपने चरम कल्याणको चाहनेवाले हैं—ऐसे लोगोंका क्या कर्त्तव्य है?" महाराज परीक्षित्‌के इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा कि समस्त वस्तुओंके सर्वप्रधान आराध्यदेवके सम्बन्धमें यह प्रश्न और इसका उत्तर सभी प्राणियोंके लिए सर्वोत्तम श्रवण करने योग्य, परम-हितकर तथा आत्मवेत्ता महात्माओंके लिए भी अभिलषित विषय है। गृहव्रत (सांसारिक जीवनका व्रत) लिये हुए व्यक्ति परममङ्गलमय हरिकथाका श्रवण न कर अपनी-अपनी इन्द्रियों और जड़-देहके सम्पर्कयुक्त नाममात्रके आत्मीयजनोंकी सन्तुष्टिमें ही एकान्त रूपसे निमग्न रहते हैं तथा अपने जीवनके कर्त्तव्य और परमार्थके अनुशीलनमें सम्पूर्ण रूपसे उदासीन रहते हैं। जो श्रीभगवान्‌का अभयपद (धाम) प्राप्त करनेके अभिलाषी हैं, उनके लिए केवल हरिकथाका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना ही कर्त्तव्य है। इसके द्वारा ही जीवके हृदयमें श्रीहरिके चरणकमलोंकी स्मृति उदित होती है। स्वधर्म-पालनादिमें निष्ठा और सांख्य योगादि जितने भी अवान्तर (अन्यान्य) कर्त्तव्य हैं, उन सबका एकमात्र चरम उद्देश्य ही श्रीहरिके चरणकमलोंका स्मरण होना है। हरिकथा शोक, मोह और भयका नाश करनेवाली है। इसके अतिरिक्त जीवके लिए वाञ्छनीय अन्य कुछ भी नहीं है, इसीलिए परमहंस मुनि भी सभी कुछ परित्याग करके निरन्तर श्रीहरिके गुणोंका अनुकीर्त्तन करते हैं। वह श्रीहरिगुण-अनुकीर्त्तनरूप पुराण-कथा ही समस्त वेदोंके समान महापुराण है। इस पुराणराजका नाम 'श्रीमद्भागवत' है। द्वापरयुगके अन्तमें श्रीशुकदेवने इसी पुराणका अपने गुरु श्रीकृष्णद्वैपायनसे अध्ययन किया था। इस श्रीमद्भागवतके एकमात्र वर्णनीय विषय 'श्रीकृष्ण' का ऐसा माधुर्य है कि आत्माराम मुक्त परमहंसगण भी उनके माधुर्यसे मुग्ध और आकृष्ट होकर शुद्धभावसे उनका भजन करते हैं। इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामीका ब्रह्ममें रत

चित्त भी स्वतः ही श्रीगोविन्दकी लीलाकथामें निविष्ट हुआ। इस श्रीमद्भागवतके अध्ययनमें एकान्तिक रूपसे श्रीकृष्णके शरणागत महात्माओंका ही अधिकार है, इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीपरीक्षित्की भाँति श्रीकृष्णैक शरण तथा शुश्रुषु भागवत-जनके निकट इस श्रीभागवत-कथाका कीर्त्तन कर रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रद्धा रखनेवाले सौभाग्यवानजनोंकी ही श्रीकृष्णमें एकान्तिकी रति उदित होती है तथा हरिनामके अनुकीर्त्तन द्वारा ही जीवको चरम-कल्याण प्राप्त होता है।

श्रीहरिसे विमुख जीवोंका जीवन दीर्घ होनेपर भी वृथा ही है। जीवनका अति अल्प समय भी हरिसेवामें नियोजित होनेसे वह सभी प्रकारके अर्थों (अभिलाषाओं) की सिद्धि प्रदान करता है। खट्वाङ्ग राजाने अपने जीवनके बचे हुए (अन्तिम) मुहूर्त्त कालमात्रमें भी एकान्तिकी हरिसेवामें मग्न रहकर अन्तमें श्रीहरिके अभय पद (धाम) को प्राप्त किया था। अतएव आसन्न-मृत्यु व्यक्ति अर्थात् जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो उसे पुत्र-पत्नी-धनादिमें आसक्ति त्यागकर चित्तको निरन्तर भगवान्के श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादिमें रत रखना चाहिये। भगवान्की चिन्ता और ध्यानके प्रभावसे स्वभावसे चञ्चल चित्त भगवान्में एकाग्र होकर सुस्थिर हो जाता है, तथा धारणाके द्वारा हृदयके प्रशान्त होनेपर उस हृदयमें ही शीघ्र भक्ति लक्षणरूप योगके उदित होनेकी सम्भावना होती है। अतः राजा परीक्षित्के लिए उस समय एक सप्ताह कालकी आयु बची रहनेके कारण उनके लिए चिन्ताका कोई कारण नहीं था।

महाराज परीक्षित् द्वारा इस विषयको और भी अधिक जाननेकी इच्छा करनेपर योगीजन श्रीभगवान्के जिस स्थूल विराट् रूपकी मनमें धारणा करते हैं, श्रीशुकदेव गोस्वामीने उसी विराट् विश्वरूपका विषय वर्णन किया, तत्पश्चात् उन्होंने महत्तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व और सृष्टिके वैचित्र्यका वर्णन किया। इसके बाद श्रीशुकदेव गोस्वामीने अष्टाङ्ग-योगियोंकी क्रमोन्नतिके पथको व्यक्त किया। अष्टाङ्गयोगके अनुष्ठानमें रत योगीगण सबके अन्तर्यामी श्रीनारायणके शङ्ख, चक्र, गदा और कमलसे सुशोभित सुन्दररूपका सदा-सर्वदा ध्यानकर अपने अन्तरमें उनका साक्षात्कार करते हैं। इसीके द्वारा उनकी सम्पूर्ण प्रकारसे सिद्धि

होती है। परमात्मा श्रीहरि ही सबके अन्तर्यामी ईश्वर हैं। अतएव सर्वदा और सर्वत्र श्रीहरिका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना ही नित्यमङ्गलकामी व्यक्तिका एकमात्र कर्त्तव्य है।

इस प्रकार श्रीशुकदेव गोस्वामीने आसन्न-मृत्यु व्यक्तिके कर्त्तव्यका निर्णय करते हुए कहा कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इत्यादि विविध कामनाओंमें अनुरक्त सकाम उपासक सूर्य, गणेश, दुर्गा, शिवादि बहुत-से देवताओंको अपनी-अपनी इन्द्रियोंका तर्पण करनेवाले यन्त्र मानकर उन देवताओंकी उपासना करते हैं, किन्तु निष्काम भक्त केवलमात्र श्रीहरिकी ही उपासना करते हैं। श्रीहरिसेवा ही सभीके नित्यमङ्गलका द्वारस्वरूप है। अन्य देवी-देवताओंके उपासकगण यदि कभी भक्तोंके सङ्गसे हरिभक्ति प्राप्तकर सकेंगे तभी उनकी भी मायातीत विष्णुके परम-धामको प्राप्त करनेकी सम्भावना है। साधुसङ्गमें प्रेमामृतको प्राप्तकर सभीकी समस्त प्रकारकी इतर (अन्य-अन्य) कामनाएँ परिपूर्ण होती हैं।

श्रीसूत गोस्वामीसे हरिकथाका श्रवण करते-करते शौनकादि मुनियोंने श्रीसूत गोस्वामीको परममङ्गलमयी इस हरिकथाको और भी विस्तारसे वर्णन करनेका अनुरोध करते हुए कहा कि ऐसे सर्वाङ्ग सुन्दर नरदेहको प्राप्तकर जो व्यक्ति अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा सर्वदा श्रीहरिकी सेवा नहीं करता, उसके द्वारा इस देहको धारण करना वृथा ही है तथा वह वृक्ष-पर्वतादिकी भाँति आवृत-चेतन अचरमात्र है।

तदुपरान्त श्रीसूत गोस्वामीने महाराज परीक्षित्‌के सौभाग्यका वर्णन करनेके प्रसङ्गमें प्रथमतः उनका विषयोंसे प्रगाढ़ वैराग्य, श्रीकृष्णमें उनकी एकान्तिकी रति और सर्वश्रेष्ठ उपास्यके रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णमें ही उनकी स्थिर मतिकी प्रशंसा की। फिर श्रीशुकदेव गोस्वामीने सभी कारणोंके कारण, अखिल जगत्‌में सबके एकमात्र आश्रय, भक्तोंका त्राण करनेवाले, अभक्तोंके दण्डदाता तथा निर्विशेषवादी कुयोगियोंके लिए सुदुर्लभ श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पुनः-पुनः स्तुति और नमन किया तथा भगवान् श्रीव्यासदेवकी चरण-वन्दना करते हुए कहने लगे—यह श्रीमद्भागवत पूर्वकालमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं श्रीब्रह्माजीको कही थी और ब्रह्माजीने अपने शिष्य श्रीनारदजीको कही थी।

पहले-पहले श्रीनारद ब्रह्माजीको ही जगत्-कर्त्ताके रूपमें मानते थे, किन्तु इस भागवत-श्रवणके प्रसङ्गमें ब्रह्माजीके मुखसे ही उन्हें ज्ञात हुआ कि सर्वात्मा श्रीहरि ही सभी कारणोंके कारण और असमोर्द्ध (अद्वितीय) अधीश्वर हैं। श्रीहरिके भक्तगण ही उनके तत्त्वको जान सकते हैं, अन्य कोई कभी भी किसी भी उपायसे उसे नहीं जान सकते। इसके बाद ब्रह्माजीने श्रीनारदको सृष्टि-तत्त्वके विषयमें उपदेश दिया, तथा किस प्रकार सबके मूल-आश्रय श्रीविष्णुसे ही सूक्ष्मसे स्थूलरूप यह लोक-प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है, किस प्रकार वे एकांशमें सर्वमय परमात्मा होकर भी युगपत् सर्वदा मायाधीश्वरके रूपमें विराज कर रहे हैं—इन सबका वर्णन किया।

श्रीब्रह्माने और भी कहा—"उन कारणशायी महाविष्णु द्वारा गर्भवारिमें शयन करनेपर उनके नाभिकमलसे मैंने जन्म-ग्रहण किया है। वे ही समस्त अवतारोंके बीजस्वरूप हैं। उनकी दुरत्यया मायासे विमोहित होकर कोई भी उन्हें जान नहीं सकता। मैं सर्वदा उनके ही चरणकमलोंका ध्यान करता हूँ। मैं समग्र ब्रह्माण्डका अधीश्वर हूँ तथा लोकपालगण भी मेरी पूजा करते हैं, किन्तु ऐसा होनेपर भी मैं उन श्रीहरिकी चरण-पीठसे भी अत्यन्त क्षुद्र हूँ। सर्वदा योगयुक्त रहकर भी उन जन्मदाता पिताके परमतत्त्वके एक बिन्दुको भी मैं जान नहीं सका, तथा रुद्रादि अन्य कोई भी नहीं जान सके। अहो! वे तो स्वयं ही अपनी महिमाका अन्त नहीं पाते, दूसरा कोई फिर कैसे जानेगा? जीवगण मायाके द्वारा विमोहित होकर कुतर्कके सहारे उनके गूढ़तत्त्वका निर्णय करने जाकर धृष्टता प्रदर्शन करते हैं। ऐसे लोगोंके निकट श्रीहरिका परमस्वरूप सदाके लिए ही तिरोहित रहता है।"

श्रीभगवान् जीवोंके हितके लिए भिन्न-भिन्न समयमें ब्रह्माण्डमें असंख्य मायाधीश अवताररूप ग्रहण करते हैं। ब्रह्माजीने श्रीनारदके निकट उनमेंसे श्रीविष्णुके वराह, यज्ञ, कपिल, दत्त, चतुःसन, नर-नारायण, पृश्निगर्भ, हरि, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, गजेन्द्र-मोचन, गरुड़वाहन, वामन, हंस, धन्वन्तरी, परशुराम, श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न, श्रीबलराम-वासुदेव, व्यासदेव और बुद्ध इत्यादि

बहुत-से अवतारोंका वर्णन किया। उन्होंने श्रीनारदजीको यह भी बतलाया कि वही श्रीविष्णु कलिके अन्तमें पूर्ण रूपसे श्रीकृष्णसे विमुख हुए नास्तिक जनसमूहको ध्वंस करनेके लिए कल्किके रूपमें अवतीर्ण होंगे। ब्रह्मादि प्रजापतिगण सभी उन श्रीविष्णुके अनन्त वैभवके अंशमात्र हैं। भगवान्‌की मायासे मोहित जीवगण भगवान्‌की कृपाके बिना कभी भी उनकी लीलाके रहस्यको नहीं जान सकते हैं। केवल शरणागत भक्तगण ही भगवान्‌के तत्त्वको जानकर कृतार्थ होते हैं। इसलिए ब्रह्मा, नारद, शिव और सनकादि एवं प्रह्लाद, सपत्नीक मनु, प्रियव्रत-उत्तानपाद, प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेण-पिता अङ्ग, ध्रुव, इक्ष्वाकु, पुरूरवा, मुचुकुन्द, विदेह, गधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, दिलीप, सौभरी, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुक, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर, श्रुतदेव इत्यादि कतिपय भाग्यवानजन भगवान्‌की योगमायाकी कृपासे उन्हें जान सके हैं। अत्यन्त नीचकुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी श्रीहरिका चरणाश्रयकर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं। मुनिगण श्रीहरिको ही परमार्थ-तत्त्व कहते हैं। योगीगण श्रीहरिके चरणोंका ही ध्यान करते हैं। वे ही विधाता हैं।

इस सम्पूर्ण कथाको कहकर श्रीब्रह्माने नारदजीको मायाके मलको नाश करनेवाले हरिकथामय इस श्रीमद्भागवतको प्रकाश करनेका आदेश दिया।

इस सब कथाको श्रवणकर महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे अनेक विषयोंको जाननेकी इच्छासे जिज्ञासा की—"किस प्रकारसे जीवकी मायासे मुक्ति होती है? श्रीभगवान् किस प्रकारसे लीला करते हैं?" इत्यादि। श्रीपरीक्षित्‌ने यह भी कहा—"आपके मुखसे हरिकथारूप अमृत पानकर मेरा मृत्युभय तक दूर हो गया है तथा मैं इस अमृतको निरन्तर पान करनेका अभिलाषी हुआ हूँ। श्रीकृष्ण कथाका आलाप करते-करते ही मैं इस देहका त्याग करूँगा।"

यह सुनकर श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीपरीक्षित्‌को सृष्टिविस्तार प्रसङ्गमें सर्वप्रथम श्रीनारायणके नाभिकमलसे ब्रह्माके उद्भव (जन्म),

श्रीनारायण द्वारा 'तप-तप' इन दो शब्दोंका उच्चारण, ब्रह्माजीकी तपस्या, ब्रह्माजी द्वारा भगवद्धाम-वैकुण्ठ और अप्राकृत ऐश्वर्यका दर्शन, ब्रह्माजीके प्रति भगवान्‌की कृपा और तत्त्वोपदेश तथा ब्रह्माजीसे जड़जगत्‌की उत्पत्ति रूप वृत्तान्तयुक्त पुराण कथाका विस्तारसे वर्णन किया। इस श्रीभागवत-पुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, मन्वन्तर, ऊति, इशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—यह दस लक्षण कथित हुए हैं। इसके बाद श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीभगवान्‌के स्थूल अर्थात् प्रपञ्च-परिणत विश्वरूप और निर्विशेष-चिन्मात्र रूपका वर्णनकर महाकल्प और अवान्तर (मध्यवर्ती) कल्पादिके संवादका भी संक्षेपमें वर्णन किया। अन्तमें उन्होंने पाद्मकल्पके वर्णनकी प्रतिज्ञा की।

शौनकादि ऋषियोंके द्वारा मैत्रेय-विदुरके संवादको श्रवण करनेके अभिलाषी होनेपर श्रीसूत गोस्वामीने श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे जो-जो सुना था, उसीका ही वर्णन करना आरम्भ किया।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

द्वितीयः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

ध्यानकी विधि और भगवान्के विराट्रूपका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥ १॥

(पिछले अध्यायमें राजा परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे प्रश्न पूछे थे कि जो पुरुष मरणशील है, उसे सम्पूर्ण सिद्धि अर्थात् भगवान्के चरणोंकी प्राप्तिके लिए क्या करना चाहिये, कौन-से विषयोंको सुनना चाहिये, किसका जप करना चाहिये और किसका स्मरण तथा भजन करना चाहिये, उस व्यक्तिके लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं? इन प्रश्नोंके उत्तरमें ही) श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! आपने अति उत्तम प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नोंमें कोई प्राकृत दोष नहीं है, ये सभी लोगोंके लिए बड़े हितकारी हैं तथा ये प्रश्न यहाँ आपकी सभामें उपस्थित समस्त आत्मज्ञानी मुक्तजनोंके द्वारा भी सम्मत हैं॥ १॥

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥ २॥

हे राजश्रेष्ठ! जिनका चित्त गृहमें आसक्त है और जो गृहमेधी पञ्चसूना[१] परायण हैं, तथा मैं कौन हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ,

[१] ऊखल, जूता, चूल्हा, घड़ा और सम्मार्जनी (झाड़ु)—गृहस्थोंके लिए ये पाँच पञ्चसूना या प्राणी हिंसाके स्थान हैं।

भविष्यमें मेरा क्या होगा, किस प्रकारसे मेरा उद्धार होगा? इत्यादि आत्मतत्त्वके ज्ञानकी समालोचनाके प्रति उदासीन हैं—ऐसे व्यक्तियोंके लिए कहने-सुनने और सोचनेके लिए असंख्य बातें हुआ करती हैं॥ २॥

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥ ३॥

ऐसे व्यक्तियोंकी आयु व्यर्थ ही बीत जाती है। उनकी रात नींद और रतिक्रिया (स्त्री-सङ्ग) में तथा दिन अर्थ-संग्रहकी चेष्टामें और उसके द्वारा कुटुम्बियोंके भरण-पोषणरूप कार्योंमें समाप्त हो जाता है॥ ३॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४॥

देह, स्त्री और पुत्रादि आत्माकी उस सेनाके समान हैं, जो कालके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वास्तवमें ये सब अनित्य ही हैं। पिता, पितामह सभी कालके द्वारा विनाशको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार अपने पूर्व-पूर्व आत्मीयजनोंकी देहादिका विनाश देखकर भी स्त्री, पुत्र, देहादि असत् वस्तुओंमें आसक्त व्यक्तियोंको इन सबका विनाश दिखलायी नहीं देता। अर्थात् वे विनाशके कारणको जानकर भी अपनी भगवद्-विमुखताको त्याग नहीं पाते हैं॥ ४॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥ ५॥

हे भरतवंशके मुकुट परीक्षित्! जो व्यक्ति समस्त प्रकारके भयोंका निवारण करनेवाले, सर्वानन्दमय तथा पुरुषार्थ-प्राप्तिरूप अभयपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें समस्त जीवोंके 'परमात्मा' अभय प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीहरिके विषयमें ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये॥ ५॥

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥ ६॥

सांख्य-ज्ञान (आत्म-अनात्म विवेक) के द्वारा, योग (यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग) के द्वारा अथवा अपने स्वधर्ममें विशेष निष्ठाके साथ श्रीनारायणका स्मरण करना ही मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका श्रेष्ठ फल है। किन्तु[१] जन्मके अन्तमें अर्थात् मृत्युके समय भी श्रीनारायणकी स्मृति ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्य वस्तु है। इसकी महिमा अनन्त है तथा इसीसे मनुष्यका जन्म सार्थक एवं कृतार्थ होता है॥ ६॥

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥ ७॥

हे राजन्! जो मुनि विधि-निषेध (करणीय-अकरणीय) से अतीत होकर सांख्य और योग शास्त्रसे प्राप्त होनेवाली गौण-निर्गुणताका परित्याग करके वास्तविक निर्गुणतामें स्थित हो जाते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, वे भी भगवान्के गुण-कीर्त्तनमें ही निरन्तर आनन्द प्राप्त करते हैं॥ ७॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥ ८॥

हे परीक्षित्! भागवत नामक पुराणमें भगवान्का विषय सन्निविष्ट है, अथवा साक्षात् भगवान्के श्रीमुखसे निकली हुई वाणी होनेके कारण इसका नाम भागवत है। यह भागवत-पुराण समस्त उपनिषदोंका रस-सार है। यह अनादि कालसे ही सिद्ध है। मेरे पिता श्रीव्यासदेवने इसे जगत्में प्रकाशित किया है। यह पुराण परब्रह्मके समान है। द्वापरयुगकी समाप्तिपर मैंने अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनसे इसका अध्ययन किया था, क्योंकि इसके तात्पर्यको स्वयं ही अपने बुद्धि-बलसे हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता॥ ८॥

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमःश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥ ९॥
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती॥ १०॥

---
[१] 'अन्ते' शब्दका दूसरा अर्थ।

हे राजर्षे! मेरा चित्त निर्गुण-ब्रह्ममें विशेष भावसे मग्न रहता था, तथापि उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌की लीलाओंके द्वारा मेरा चित्त आकर्षित हो उठा और मैंने इस आख्यानका अध्ययन किया। हे राजन्! आपमें महापुरुष श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी योग्यता है, इसीलिए मैं आपके समक्ष इस भागवत शास्त्रका वर्णन कर रहा हूँ। यह महापुराण सभीके लिए परम साधन भी है और परम साध्य भी। जिसकी इसके प्रति श्रद्धा होती है, उसके हृदयमें भगवान् श्रीमुकुन्दके प्रति शीघ्र ही प्रेम उदित हो जाता है॥ ९-१०॥

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥ ११॥

हे राजन्! जो इस संसारसे विरक्त होकर ऐकान्तिक भक्ति कर रहे हैं, जिनकी स्वर्ग अथवा मोक्षादिकी कामना है और जो आत्माराम योगी पुरुष हैं, उन सभीके लिए श्रीहरिके नाम और गुणोंका पुनः-पुनः श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण ही परम साधन और साध्यके रूपमें पूर्व-पूर्व आचार्यों द्वारा निर्णीत हुआ है॥ ११॥

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥ १२॥

इस संसारमें भोगोंमें प्रमत्त असावधान व्यक्तियोंके बहुत-से वर्ष अनजानेमें व्यर्थ ही चले जाते हैं। जब क्षण भरके लिए भी उन्हें यह ज्ञान होता है कि उनका समय व्यर्थ जा रहा है, तो वही ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह जानकर ही लोग नित्य मङ्गलकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर सकते हैं॥ १२॥

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥ १३॥

खट्वाङ्ग नामक राजर्षिको जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी परमायु मुहूर्त्तमात्रकी ही रह गयी है, तब वे उसी क्षण इस भूतलपर आ गये और समस्त विषयोंका परित्याग करके श्रीहरिके अभय प्रदान करनेवाले श्रीचरणकमलोंमें शरणागत हो गये॥ १३॥

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः।
उपकल्पय तत् सर्वं तावद् यत् साम्परायिकम्॥ १४॥

हे कुरुवंश-प्रदीप परीक्षित्! आपके पास तो अभी भी आपकी आयुका सप्ताह भरका काल बाकी है, अतएव इतने कालमें ही आप अपने कल्याणके लिए पारलौकिक साधन सम्पन्न करें॥ १४॥

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्॥ १५॥

जब जीवनका अन्तकाल उपस्थित हो जाये, तब व्यक्तिको मृत्युसे भय नहीं करना चाहिये, बल्कि अनासक्ति (वैराग्य) रूप शस्त्रसे शरीर और शरीरसे सम्बन्धित पुत्र-पत्नी आदिके प्रति भोग-बुद्धि एवं ममताको काट डालना चाहिये॥ १५॥

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥ १६॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मवीजमविस्मरन्॥ १७॥

तत्पश्चात् वह व्यक्ति घरका त्याग करके निकल जाये और धीर अर्थात् ब्रह्मचर्यादि रूप यम (प्रथम योगाङ्ग) का पालन करे, पुण्यतीर्थमें स्नानादि रूप नियम (द्वितीय योगाङ्ग) करे एवं पवित्र निर्जन स्थानपर कुश, मृगचर्म और वस्त्र इन तीनोंका क्रमके अनुसार आसन (तृतीय योगाङ्ग) बिछाकर उसपर बैठ जाये। इसके बाद ॐकार अर्थात् 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'-कार—इन तीन अक्षरोंमें ग्रथित शुद्ध ब्रह्माक्षर प्रणवका मन-ही-मन जप करे। तत्पश्चात् प्रणवको एक क्षणके लिए भी विस्मृत न करके प्राणवायु (साँस) को रोककर कुम्भक द्वारा मनको स्थिर कर (प्राणायाम-चतुर्थ योगाङ्ग) का अभ्यास करे॥ १६-१७॥

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥ १८॥

मनके दमन हो जानेपर उसके द्वारा रूप-रसादि विषयोंसे चक्षु-कर्णादि इन्द्रियोंका प्रत्याहार (पञ्चम योगाङ्ग) करे अर्थात् विभिन्न स्थानोंपर विक्षिप्त हो रही इन्द्रियोंको वहाँ-वहाँसे हटाकर एक निर्दिष्ट स्थानपर लगा दे। अपनी निश्चयात्मिका अर्थात् स्थिर बुद्धिको सारथी बनाये। पूर्व संस्कारोंकी बहुत अधिक प्रबलता रहनेके कारण यदि प्राणायाम द्वारा मनका भलीभाँति स्थिर होना असम्भव हो रहा हो, तो बुद्धि द्वारा भगवान्‌के रूपकी धारणा (षष्ठ योगाङ्ग) करके मनको शुभ विषयोंमें लगाये॥ १८॥

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत् परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥ १९॥

इसके बाद श्रीभगवान्‌के समग्र रूपसे मनको कभी भी न हटाये और इस प्रकार युक्त-चित्तसे श्रीभगवान्‌के स्वरूपमें कर-चरणादि उनके एक-एक अङ्गका ध्यान (सप्तम योगाङ्ग) करे। श्रीभगवान्‌में विषयका स्पर्शमात्र भी नहीं है, अतः मनको उनमें ऐसा निमग्न कर दे कि फिर अन्य किसी भी विषयका स्मरण ही न रहे। ऐसा होनेपर मन उपशमता अर्थात् समाधि (अष्टम योगाङ्ग) को प्राप्त कर लेता है। यही भगवान् श्रीविष्णुका परमपद है॥ १९॥

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम्॥ २०॥

पुनः यदि श्रीभगवान्‌के रूपका ध्यान करते समय मन रजोगुणसे चञ्चल तथा तमोगुणसे विमूढ़ होने लगे, तो धीर व्यक्तियोंको धारणाके द्वारा मनको वशमें करना चाहिये। इसका कारण है कि धारणा ही रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न मलिनताको दूर कर सकती है॥ २०॥

यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।
आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः॥ २१॥

इस प्रकार जब भक्ति-लक्षणोंसे युक्त धारणाका अभ्यास हो जाता है, तब इस धारणा-योगमें ही भगवान्‌का दर्शन होने लगता है, जिसके

फलस्वरूप ऐसे धारणा-परायण योगियोंकी भक्ति-योगमें शीघ्र ही प्रीति हो जाती है॥ २१॥

श्रीराजोवाच—

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम्॥ २२॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! धारणा जिस रीतिसे सुचारु रूपसे की जा सकती है और वह जिस वस्तुमें प्रतिष्ठित रहती है तथा जिस प्रकारकी होनेसे व्यक्तिके मनकी मलिनतको अतिशीघ्र ही दूर करती है—इन सबके विषयमें आप मुझे बतलाइये॥ २२॥

श्रीशुक उवाच—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मनुष्य आसन-नियमादि द्वारा आसनको जीतकर, प्राणायाम द्वारा श्वासको जीतकर और फिर जितेन्द्रिय और आसक्तिरहित होकर सबसे पहले बुद्धि-योगसे भगवान्के स्थूल रूप—विराट् स्वरूपकी मनमें धारणा करे॥ २३॥

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥ २४॥

भगवान्की विराट् देह अति स्थूलसे भी स्थूलतर है। भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान कार्यरूप यह समस्त विश्व भगवान्की उस विराट् देहमें ही प्रकाशित हो रहा है॥ २४॥

अण्डकोषे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः॥ २५॥

पचास करोड़ योजन परिमाणवाले ब्रह्माण्डरूप भगवान्का विराट् शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्-तत्त्व—इन सात आवरणोंसे घिरा हुआ है। इसके बीचमें स्थित जीवोंके नियन्ता भगवान् विराट् पुरुष ही धारणाके आश्रय स्वरूप हैं, अर्थात् उनकी ही धारणा की जाती है॥ २५॥

पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥ २६॥

(तत्त्ववेत्ता व्यक्ति उनके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन करते हैं—) पाताल उन विराट् पुरुषके तलवे हैं, रसातल उनके चरणोंका आगे एवं पीछेका भाग (पंजे और एड़ियाँ) हैं। उनके दोनों चरणोंकी एड़ीके ऊपरकी गाँठे महातल हैं और दोनों पैरोंके पिण्डे तलातल हैं॥ २६॥

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति॥ २७॥

सुतल उन विश्वमूर्त्ति विराट् पुरुषके दो घुटने हैं, वितल एवं अतल उनकी दोनों जाँघें हैं, भूतल उनका जघन (पेडू) है तथा आकाश अथवा भुवर्लोक उनका नाभि-सरोवर है॥ २७॥

उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः
सत्यन्तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः॥ २८॥

स्वर्गलोक उन विराट् पुरुषका वक्षःस्थल है, महर्लोक उनका गला, जनलोक उनका मुख और तपोलोक उनका ललाट है। सत्यलोकको उन सहस्र सिरवाले विराट् पुरुषके सिरके रूपमें जाना जाता है॥ २८॥

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥ २९॥

इन्द्रादि देवता विराट् पुरुषकी भुजाएँ हैं और समस्त दिशाएँ उनके कान हैं। शब्द उनकी श्रवणेन्द्रिय और दोनों अश्विनी कुमार परम-पुरुषके दोनों नासाछिद्र हैं, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है तथा धधकती हुई आग उनका मुख है॥ २९॥

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥ ३०॥

भगवान्‌के नेत्रगोलक अन्तरीक्ष हैं और उनमें देखनेकी शक्ति सूर्य है। रात और दिन उनकी दोनों पलके तथा ब्रह्मपद उनका भ्रू-विलास है। जल उनके तालुका अधिष्ठान तथा रस उनकी जिह्वा है॥ ३०॥

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥ ३१॥

वेदोंको उन अनन्त विराट् पुरुषका ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। यम उनके बड़े दाँत अर्थात् दाढ़ें हैं। पुत्रादिके प्रति स्नेहलेश उनकी दन्तपंक्ति है तथा जगत्‌को उन्मादित करनेवाली माया उनकी मुसकान है। यह अपार संसार उनका कटाक्ष-पात है॥ ३१॥

व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम्।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः॥ ३२॥

लज्जा उनके ऊपरका होंठ और लोभ उनका अधर (नीचेका होंठ) है। धर्म उनका स्तन और अधर्मका पथ उनकी पीठ है। प्रजापति उनकी मूत्रेन्द्रिय तथा मित्र और वरुण उनके दोनों अण्ड-कोश हैं। समुद्र उनकी कोख एवं बड़े-बड़े पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं॥ ३२॥

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः॥ ३३॥

हे राजश्रेष्ठ! नदियाँ उन विश्व-तनु विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ तथा वृक्ष उनके रोम हैं। अनन्त विक्रमशाली पवन उनका निःश्वास, काल उनकी चाल (गमन-गति) तथा गुण प्रवाहरूप प्राणियोंका संसार उनका कर्म अर्थात् क्रीड़ा है॥ ३३॥

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः॥ ३४॥

हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्! बादलोंको उन विराट् पुरुषका केश माना जाता है, सन्ध्या उनका वस्त्र है, अव्यक्त अर्थात् प्रधान उनका हृदय और सब विकारोंका आश्रय-स्वरूप प्रसिद्ध चन्द्रमा उनका मन है॥ ३४॥

विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे॥ ३५॥

विद्वान व्यक्ति महत्-तत्त्वको ही उनकी विज्ञान-शक्ति अर्थात् चित्त कहते हैं और श्रीरुद्रको उन सर्वात्माका अहङ्कार कहते हैं; घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी इत्यादि उनके नख हैं तथा समस्त मृगादि पशु उनके कटि प्रदेशमें स्थित हैं॥ ३५॥

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः-
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः॥ ३६॥

पक्षियोंमें उनका विचित्र शिल्प-कौशल प्रकाशित हो रहा है, (जिसके द्वारा हंसोंका श्वेत वर्ण, शुकपक्षीका हरित वर्ण और मोरोंका रङ्ग-बिरङ्गा वर्ण दिखायी दे रहा है) स्वायम्भुव मनु उनकी विचार करनेवाली बुद्धि है और मनुकी सन्तान मनुष्य उनका निवास-स्थान है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ उनके षडजादि स्वर हैं और समस्त असुर-सेनामें श्रेष्ठ प्रह्लाद उनकी स्मृति हैं। सभी दैत्य उनका वीर्य अर्थात् शक्ति हैं॥ ३६॥

ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः॥ ३७॥

ब्राह्मण उनका मुख, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ, वैश्य उनकी जङ्घाएँ और कालेवर्णवाले शूद्र उनके चरण है। वे विराट् पुरुष वसु, रुद्र आदि विविध नामवाले देवताओंसे युक्त हैं तथा हवि आदि द्रव्यों द्वारा साधित यज्ञ उनके कर्म हैं॥ ३७॥

इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्॥ ३८॥

हे महाराज परीक्षित्! मैंने उन विराट्-विग्रहके सम्पूर्ण विभिन्न अङ्गोंका आपके लिए वर्णन कर दिया है। योगीलोग अपने-अपने बुद्धि-योगसे भगवान्‌के इस स्थूलशरीरकी हृदयमें धारणा करते हैं, क्योंकि इस विराट्-विग्रहके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है॥ ३८॥

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः॥ ३९॥

जिस प्रकार जीव अपने स्वप्नमें पात्र, मित्र, सैन्यादिका तथा उनके द्वारा उपलक्षित स्वयंके मनोरथ द्वारा रचित राज्यादि भोगोंका अनुभव करता है, उसी प्रकार योगी अपनी बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके द्वारा अपने पूर्व–पूर्वके बहुत–से जन्मोंमें देवराज इन्द्र, राजा आदि रूपमें भोग–ऐश्वर्योंको भोग चुकनेका अनुभव करता है। इन भोगादि ऐश्वर्योंकी कोई स्थिरता नहीं है। अतः उन सत्यस्वरूप, आनन्दनिधि और विराट्के अन्तर्यामी श्रीनारायणका भजन करना चाहिये। अन्य किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि यह आसक्ति ही अधःपतन अर्थात् संसार प्रवृत्तिका कारण है॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म रूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका विवेचन

श्रीशुक उवाच—

एवं पुरा धारणयात्मयोनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात्।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टि-
र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्राचीनकालमें प्रलयके समयमें ब्रह्माजीकी सृष्टि-विषयक स्मृति नष्ट हो गयी थी। तब श्रीब्रह्माने इस प्रकारकी धारणाके बलपर ही भगवान्को प्रसन्न करके अपनी नष्ट स्मृतिको पुनः प्राप्त किया था। इसी धारणाके बलपर ही उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका और दृष्टि अमोघ हो गयी थी। तब उन्होंने इस विश्वको वैसा ही रच दिया, जैसा कि वह प्रलयसे पहले था॥ १॥

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः॥ २॥

(स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञादि साधन करने चाहिये तथा इस विषयमें वेद ही प्रमाण हैं—जो ऐसा कहना चाहते हैं, उनके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—)शब्द-ब्रह्मरूप वेदोंका पथ अथवा कर्म-फलको बोध करानेका मार्ग कुछ ऐसा है कि लोग निरर्थक स्वर्गादि नामोंकी सृष्टि कर लेते हैं और 'यह कर्म करके मैं स्वर्ग-सुख प्राप्त करूँगा' इत्यादिरूप चिन्तामें अपनी बुद्धिका व्यर्थ ही प्रयोग करते हैं। सुखकी वासनासे सोया हुआ पुरुष जिस प्रकार

स्वप्न-कालमें सुखको देखता अवश्य है, पर वास्तवमें उन सुखोंका भोग नहीं कर पाता, उसी प्रकार मायामय-पथमें भटकता हुआ जीव स्वर्गादि नश्वर लोकोंके प्राप्त होनेके कारण कभी भी ऐकान्तिक और निर्मल सुख प्राप्त नहीं कर पाता, अपितु वह पुनः मृत्युलोकमें पतित हो जाता है। कर्मकाण्ड जीवको कभी भी आत्यन्तिक अथवा नित्य-मङ्गल प्रदान नहीं कर सकता॥ २॥

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः॥ ३॥

इसलिए बुद्धिमान व्यक्तिको नाममात्रके भोग्य-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिये। जितना ग्रहण करनेसे देह-यात्राका निर्वाह हो जाये, किन्तु इन्द्रिय-तर्पण नहीं, उतना ही ग्रहण करना चाहिये। पुनः उन प्राप्त विषयोंमें भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये तथा इनसे नित्य सुख प्राप्त नहीं हो सकता—इस विषयमें भी दृढ़ निश्चय रहना चाहिये, क्योंकि भगवान्के श्रीचरणोंमें अहैतुकी भक्ति ही एकमात्र नित्य सुख है। यदि देह-यात्राका निर्वाह प्रारब्धवशतः बिना किसी परिश्रमके अनायास ही हो जाये, तो पुनः उसके उपार्जनके लिए प्रयास नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह प्रयास व्यर्थ है। श्रीकृष्ण-प्रीतिके लिए भोगोंका त्याग करना ही युक्त-वैराग्यका लक्षण है। अपनी साधन-सिद्धिके विषयमें सावधान रहना चाहिये। यदि विघ्न उपस्थित हो, तो भी पीछे नहीं हटना चाहिये॥ ३॥

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥ ४॥

जब भूमिपर ही सोया जा सकता है, तो पलङ्गके लिए प्रयास क्यों? जब भुजाओंके रूपमें स्वतः सिद्ध तकिया है, तो दूसरे

तकियोंसे क्या प्रयोजन? जब अञ्जलि है, तो बहुत प्रकारके भोजन पात्रोंको संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है? जब दिशाएँ ही वस्त्र हैं, अथवा जब वृक्षोंकी छाल आदि पहनकर जीवनका निर्वाह हो सकता है, तो वस्त्रोंको एकत्रित करनेका प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है?॥ ४॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥ ५॥

यदि कहो कि सर्दीसे रक्षा कैसे हो सकती है, तो क्या रास्तेमें फटे-पुराने वस्त्र नहीं पड़े रहते? भूखकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए क्या ये परोपकारी वृक्ष फल-फूलकी भिक्षा दान नहीं करते? पीनेके लिए जलकी आवश्यकता होनेपर क्या नदियोंका जल सूख गया है? वर्षा होने, ओले गिरने इत्यादि परिस्थितियोंमें आश्रय लेनेके लिए क्या पर्वतोंकी गुफाएँ बन्द हो गयी हैं? यदि कहो कि उनमें रहनेसे व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओंका भय रहेगा, तो क्या अजित भगवान् अपने चरणाश्रित भक्तोंकी सदा-सर्वदा रक्षा नहीं करते हैं? वे तो व्याघ्रादिके भी अन्तर्यामी हैं, फिर भक्तवत्सल भगवान् किसलिए इन जन्तुओंको वहाँ प्रेरित करेंगे। अतः विवेकी व्यक्ति फिर किसलिए धनके नशेमें चूर व्यक्तियोंकी चापलूसी करेंगे?॥ [१]५॥

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतः नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥ ६॥

[१] संसारमें आसक्त मूढ़ व्यक्ति भगवान्के द्वारा प्रदत्त धन, रूप, कुल और पाण्डित्यके मदमें मत्त हो जाते हैं और भगवान्के शरणागत निष्किञ्चन व्यक्तियोंको दुःखी मानकर उनका अपमान करते हैं। किन्तु निष्किञ्चन हरिजन भिक्षादिके छलसे इन भोग-ऐश्वर्यके मदमें मत्त लोगोंकी भगवदोन्मुखी सुकृति उत्पन्न करनेके मङ्गल उद्देश्यसे ही उनके घरोंमें उपस्थित होते हैं।

इस प्रकारसे विरक्त होकर अपने अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध रूपमें उपस्थित उन भजनीय भगवान्‌की ही सेवा करना कर्त्तव्य है। चित्तके अधिष्ठाता श्रीवासुदेव हैं, अतः उनके आह्वानके लिए परिश्रम करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। परम-सत्य, परम-गुरुरूप वे भगवान् स्वभावतः ही परम-प्रियतम हैं तथा सौन्दर्यादि गुणोंके द्वारा दृश्य हैं। अनन्त और सर्वव्यापक होनेके कारण वे समस्त स्थानोंपर स्थित हैं। इस प्रकार श्रीहरिके भजनान्दमें मग्न होकर बड़ी निष्ठा और प्रेमके साथ उनकी सेवा करनी चाहिये। इसके गौणफलसे जन्म-मृत्युरूप संसार बन्धनकी हेतु अविद्याका भी नाश हो जाता है॥ ६॥

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम कुर्यात्।
पश्यन् जनं पतितं वैतरण्यां
स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणम्॥ ७॥

पशु अर्थात् कर्मजड़व्यक्तिके अतिरिक्त ऐसा कौन व्यक्ति है जो इस प्रसिद्ध भक्तिका अनादर करके अनित्य एवं असत्य विषयोंकी चिन्तामें फँसेगा? जो व्यक्ति विषयोंमें रमा रहता है, उसे यमके द्वारपर स्थित वैतरणी नदीमें गिरना पड़ता है और अपने कर्मोंसे उत्पन्न त्रितापोंका भोग करना पड़ता है। यह देखकर भी पशुओंको छोड़कर दूसरा कौन अपने चित्तको परमात्मा श्रीहरिकी धारणाका अनादर करके विषय-भोगोंमें भटकने देगा॥ ७॥

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ ८॥

योगियोंकी पूर्वोक्त विराट् पुरुषकी धारणासे भी अन्तर्यामी चिद्‌घनस्वरूप श्रीभगवान्‌की धारणा अति श्रेष्ठ है। जैसे, कोई-कोई योगी पुरुष अपनी-अपनी देहके भीतर हृदयरूप गुफामें विराजित प्रादेशमात्र पुरुष अर्थात् अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोररूप श्रीहरिकी धारणा द्वारा उनका स्मरण करते हैं कि वे व्यष्टि अन्तर्यामी

चतुर्भुज हैं और अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं॥८॥

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्क-पिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्न-किरीटकुण्डलम् ॥९॥

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाचितम्॥१०॥

विभूषितं मेखलयाङ्गुरीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥११॥

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेतमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते॥१२॥

उन श्रीहरिका मुख प्रसन्न दिखायी दे रहा है, उनके दोनों नेत्र कमलदलके समान विशाल एवं प्रफुल्लित हैं, वे कदम्बके पुष्पके केसरके समान पीतवर्णके वस्त्रोंको धारण किये हुए हैं, उनकी भुजाओंमें महारत्नोंसे जड़े हुए सोनेके बाजूबन्द सुशोभित हो रहे हैं तथा उनके मुकुट और कुण्डलोंमें पद्मरागादि मणियाँ झिलमिला रही हैं। उनके चरणकमलरूप पल्लव योगेश्वरोंके विकसित हृदयरूप कमलकी कर्णिका (कमलके बीचमें स्थित बीजकोष) में विराजमान हैं। उनके बाँयें स्तनके ऊपर लक्ष्मीरेखा अर्थात् श्रीवत्सका चिह्न है और कण्ठमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। उनका वक्षःस्थल और गला कभी न मुरझानेवाली वनमालासे घिरा हुआ है। उनके अन्यान्य अङ्ग—जैसे कमरमें मेखला, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ, चरणोंमें नूपुर और

हाथोंमें कङ्कनादि—बहुमूल्य आभूषणोंसे झिलमिला रहे हैं। उनका मुख घुँघराले, स्निग्ध (चिकने), निर्मल और नीले रङ्गके केशोंसे अत्यधिक शोभायमान है। अपनी मन्द-मन्द मुस्कानसे वे परम मनोहर दिखलायी दे रहे हैं। उनके माधुर्यपूर्ण लीला-हास्ययुक्त चितवनमें जो चमत्कारपूर्ण भ्रू-भङ्गिमा अति दीप्तिमान हो रही है, उसके द्वारा अपने भक्तोंपर उनकी प्रचुर मात्रामें कृपाकी वर्षा स्पष्ट रूपसे सूचित हो रही है। अतएव जब तक मन ऐसी धारणाके द्वारा स्थिर न हो जाये, तब तक यही चिन्तन करते हुए भगवान्का ध्यान करना चाहिये॥ ९-१२॥

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा॥ १३॥

गदाधारी भगवान्के श्रीचरणकमलोंसे लेकर मधुर-मुसकानसे युक्त उनके मुखकमल तक समस्त अङ्गोंमेंसे एक-एक अङ्गकी बुद्धिके द्वारा भावना करें। जब चरण, एड़ी इत्यादि जो-जो अङ्ग स्वाभाविक रूपसे स्फुरित होने लगें, अर्थात् उन अङ्गोंका ध्यान ठीक-ठीक होने लगे, तब उनका त्याग करके जंघा, जानु इत्यादि दूसरे अङ्गोंका ध्यान करना चाहिये। जैसे-जैसे चित्तकी शुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे चित्त स्थिर होकर ध्यान गाढ़ा होता जायेगा॥ १३॥

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत॥ १४॥

भगवान् विश्वेश्वर द्रष्टा अथवा सर्वसाक्षी हैं, दृश्य वस्तु नहीं। वे ब्रह्मादि देवताओंके भी शीर्ष स्थानीय हैं अर्थात् उन सबसे श्रेष्ठ हैं। जब तक इन भगवान्में प्रेमलक्षणमय भक्तियोगका उदय न हो जाये, तब तक आवश्यक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करनेके पश्चात् यत्नपूर्वक विराट् पुरुषके उक्त स्थूलरूपका चिन्तन करना चाहिये॥ १४॥

स्थिरं सुखञ्चासनमास्थितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम्।
देशे च काले च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः॥ १५॥

इसी प्रकार जब योगी स्वयं ही देहका परित्याग करना चाहे, तब अपने मनको किसी पुण्य-क्षेत्र अथवा युक्त-काल उत्तरायणादिमें न लगाये। इसका कारण है कि योगियोंके लिए देश और काल सिद्धिके कारण नहीं हैं, बल्कि एकमात्र योग ही सिद्धिका कारण है—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके निश्चल अर्थात् स्थिर और सुखकर आसनपर बैठकर प्राण एवं इन्द्रियोंको मन द्वारा संयत करे॥ १५॥

मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥ १६॥

इसके पश्चात् अपनी निर्मल बुद्धिसे मनको संयमित करके मनको बुद्धिमें विलीन कर दे। अपनी बुद्धिको क्षेत्रज्ञ अर्थात् बुद्धि आदिके द्रष्टा जीवमें विलीन कर दे। फिर उस क्षेत्रज्ञ (जीव) को आत्मा अर्थात् शुद्ध जीवमें और इस आत्माको परब्रह्मके साथ एक करके परम शान्तिको प्राप्त हो जाये। ऐसा योगी पुरुष समस्त कार्योंसे विरत हो जाये, क्योंकि मुक्त पुरुषके लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता॥ १६॥

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ १७॥

परीक्षित्! जो योगी पुरुष इस प्रकारसे ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है, उसे देवताओंका भी परमनियामक—काल स्पर्श भी नहीं कर सकता। सामान्य इन्द्रादि देवता मात्र प्राकृत जगत्पर ही अपना अधिकार कर सकते हैं, किन्तु योगियोंपर वे अपना प्रभाव नहीं दिखा

सकते। ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो जानेपर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण ही निरस्त हो जाते हैं और अहङ्कार-तत्त्व, महत्-तत्त्व तथा प्रधानरूप प्रकृतिका भी उन योगियोंपर कोई प्रभाव नहीं रहता॥ १७॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥ १८॥

योगी पुरुष 'नेति, नेति' ('यह नहीं, यह नहीं')—इस प्रकारके भावसे अतत् (परमात्माके अतिरिक्त) वस्तुओंका त्याग कर देते हैं अर्थात् विष्णु-सम्बन्धरहित वस्तुओंमें स्नेहसे रहित हो जाते हैं। वे शरीर तथा शरीरसे सम्बन्धित वस्तुओंमें आत्म-बुद्धिका विशेष रूपसे परित्याग कर देते हैं। उन्हें यही अनुभव होता है कि एकमात्र श्रीविष्णुके अतिरिक्त और कोई भी सुहृद नहीं है। अतः वे क्षण-क्षणमें श्रीविष्णुके चरणकमलोंको सर्वस्व जानकर उनका आलिङ्गन करते हुए प्रेमसे परिपूर्ण रहते हैं॥ १८॥

इत्थं मुनिस्तूपरमेद्व्यवस्थितो
विज्ञानदृग्वीर्य-सुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः॥ १९॥

इस प्रकार शास्त्र-ज्ञानरूप दृष्टिके प्रभावसे जिनके चित्तकी विषय-वासनाएँ जड़ सहित नष्ट हो गयी हैं, ऐसे मुनि ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित होकर शान्तिको प्राप्त करते हैं। ऐसे योगियोंको अपने शरीरका इस प्रकारसे त्याग करना चाहिये—सबसे पहले एड़ीके द्वारा मूलाधार (गुदा) को दबाकर स्थिर हो जाये। फिर बिना घबराहटके प्राणोंको षट्चक्रभेदन रीतिसे अर्थात् नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, तालुमूल और भौहोंके बीचसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर क्रमशः ऊपर ले जाये॥ १९॥

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।

ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत॥ २०॥

मनस्वी योगी सर्वप्रथम प्राणवायुको नाभिके नीचे स्थित स्वाधिष्ठान चक्रसे ऊपर नाभिमें अर्थात् मणिपुर चक्रमें और वहाँसे हृदयमें स्थित अनाहतचक्रमें ले जाये। फिर इस स्थानसे उदान वायुकी गतिके द्वारा कण्ठके अधोदेशमें स्थित विशुद्ध चक्रमें ले जाये। इसके बाद चित्तको जीतनेवाला वह मुनि बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करके उस वायुको धीरे-धीरे तालुमूल अर्थात् विशुद्ध चक्रके अग्रभागमें ले जाये॥ २०॥

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तास्वयनोऽनपेक्षः
स्थित्वा मुहूर्तार्द्धमकुण्ठदृष्टि-
निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः॥ २१॥

प्राणोंके सात मार्ग हैं—दो कान, दो नेत्र, दो नासाछिद्र और एक मुख। इन सातों छिद्रोंको रोककर वह योगी तालुमूलमें स्थित प्राणवायुको दोनों भौंहोके बीच स्थित आज्ञाचक्रमें स्थापित कर दे। यदि ब्रह्मा इत्यादिके पदके भोगकी इच्छा नहीं है, तो उस स्थानपर आधी घड़ीके लिए प्राणवायुको रोक दे। इसके बाद प्राणोंके स्थिर लक्ष्यके साथ ब्रह्म-रन्ध्रका भेदन करते हुए देह और इन्द्रियादिका परित्याग कर दे॥ २१॥

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद्विहारम्।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च॥ २२॥

(सद्योमुक्तिका मार्ग बतलाकर अब क्रममुक्तिका मार्ग बतला रहे हैं—)हे परीक्षित्! यदि योगीकी इच्छा ब्रह्माके पदको प्राप्त करनेकी हो, अथवा उसमें आकाशचारियोंके साथ विहार करनेका कौतूहल हो, अथवा आठ प्रकारकी सिद्धियों—अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशिता, वशिता और कामावसायितारूप ऐश्वर्यपूर्ण स्थानोंको

भोग करनेकी हो, अथवा वह सर्वत्र आधिपत्य प्राप्त करना चाहे, अर्थात् उसकी त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डके किसी भी प्रदेशमें विचरण करनेकी अभिलाषा हो, तो उसे पूर्वोक्त प्रकारसे देह त्याग करनेके समय मन एवं इन्द्रियोंका परित्याग न कर उनके साथ ही उन-उन लोकोंमें भोग प्राप्तिके लिए जाना चाहिये॥ २२॥

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोग-समाधिभाजाम् ॥ २३॥

भोग-विषयमें भी कर्मियोंके साथ योगियोंकी समानता नहीं है। योगी भगवत्-उपासना (विद्या), भगवत्-धर्म (तप) अष्टाङ्गयोग (योग), समाधि (ज्ञान) से भजन करते हैं। वे वायुमें अपने लिङ्गशरीरको आबद्धकर स्वच्छन्द रूपसे मर्त्यलोक आदि त्रिलोकीके अन्दर और बाहर सर्वत्र विचरण कर सकते हैं। इन योगेश्वरोंको जो गति प्राप्त होती है, वह कर्मियोंको उनके कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती॥ २३॥

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥ २४॥

योगीजन देहकी समाप्तिपर आकाशमार्गसे जब ब्रह्मलोककी ओर जाते हैं, तब उस ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ीके सहयोगसे वे पहले अग्निलोकमें अग्नि अभिमानी (नामक) देवताके पास जाते हैं। उस स्थानपर उनके बचे हुए समस्त कल्मष (मल) भी दूर हो जाते हैं। इसके बाद वे ऊपर स्थित शिशुमाराकार ज्योतिर्मय चक्रमें स्थित आदित्यादि ध्रुवान्त पदकी ओर गमन करते हैं॥ २४॥

तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः।

नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति
कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते॥ २५॥

वह शिशुमाराकार विष्णु-चक्र विश्वात्मक पुरुषका नाभि-स्थानीय है। निर्मल लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे विष्णु-चक्रका अतिक्रमण करके योगी अकेला उस महर्लोकमें पहुँचता है, जो ब्रह्मवेत्ताओंके द्वारा भी आराधित है तथा जहाँ महाकल्प तक जीवित रहनेवाले भृगु आदि ऋषि विहार करते हैं॥ २५॥

अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं
यद्द्वैपरार्द्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम्॥ २६॥

यदि वह योगी कौतूहलवशतः कल्प तक वहीं रहनेकी इच्छा करता है, तो वह कल्पके अन्तमें अनन्तदेवके मुखसे निकलती हुई आगसे तीनों लोकोंको जलते हुए देखता है और अपने उस स्थानपर भी उष्णताका अनुभव करता है। तब वह इस महर्लोकसे ऊपर ब्रह्माकी आयुके समान दो परार्द्ध तक स्थायी रहनेवाले सत्यलोकमें चला जाता है, जहाँपर सिद्धेश्वरों द्वारा सेवित विमानसमूह विराजमान रहते हैं॥ २६॥

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्।
यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदंविदां
दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥ २७॥

उस सत्यलोकके वासियोंमें चित्तके दुःखके अतिरिक्त शोक, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख, भयादि कुछ भी नहीं रहता। उस चित्तके दुःखका प्रकार और निर्देश यह है कि जो लोग वैष्णव-योगसे अवगत नहीं हैं, त्रिलोकमें स्थित वैसे लोगोंके जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखको देखकर सत्यलोकके वासियोंका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता और उन दुःखी लोगोंके प्रति उनमें बड़ी दया उदित होती है॥ २७॥

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्॥ २८॥

यदि वह योगी महाकल्प तक इस सत्यलोकमें ही रहनेकी इच्छा करता है, तो वह कल्पके अन्तमें ब्रह्माके साथ ही मुक्त होता है। यदि इसके पहले ही वह मोक्षकी इच्छा करता है, तो वह निर्भय होकर पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-अहङ्कार और महत्-तत्त्व आदि क्रमशः सात आवरणोंका भेदन करके ब्रह्ममें प्रवेश करता है। सबसे पहले वह पृथ्वीरूपसे ही पचास कोटि योजन विशाल ब्रह्माण्डके प्रथम आवरण पृथ्वीको प्राप्त करता है, इसके बाद पृथ्वीसे दस गुना परिमाणवाले जलरूप आवरणको प्राप्त होता है, जलरूपसे तेजोमय होकर तेजोमय आवरणको प्राप्त होता है। वहाँपर शीघ्रता न करके पृथ्वी, जल इत्यादि रूप आवरणोंमें घ्राण, रसनादि इन्द्रियोंके द्वारा गन्ध, रस आदि विचित्र भोगोंको भोगनेके लिए सुस्थिर हो जाता है। भोगोंकी समाप्तिपर वह वायु स्वरूपसे तेजसे दसगुना परिमाणवाले वायुरूप आवरणको प्राप्त होता है। इसके बाद वायुसे दसगुना परिमाणयुक्त आकाश स्वरूपको प्राप्त होता है। यह आकाश ही बृहदात्मा अर्थात् उपासनाके उपकरणोंमें परमात्माकी मूर्त्तिरूपमें कहा गया है। अथवा वेद शब्दरूपमें उन परमात्माके ही निर्देशक है॥ २८॥

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी॥ २९॥

योगी जब स्थूल आवरणोंको प्राप्त करता है, उस समय उसकी इन्द्रियाँ भी अपने सूक्ष्म अधिष्ठानमें लीन होती जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय गन्ध तन्मात्रामें, रसनेन्द्रिय रस तन्मात्रामें, चक्षु इन्द्रिय रूप तन्मात्रामें, त्वक् इन्द्रिय स्पर्श तन्मात्रामें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशके गुण शब्द तन्मात्रामें

और कर्मेन्द्रिय अपनी-अपनी क्रियाओंका अतिक्रमण करके सूक्ष्म स्वरूपको प्राप्त हो जाती है॥ २९॥

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम्।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम्॥ ३०॥

इसके बाद वह योगी पुरुष सूक्ष्मभूत एवं इन्द्रियोंके लय स्थानको प्राप्त करता है, जहाँ उसे मनोमय अर्थात् तामस-राजस एवं देवमय अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार प्राप्त होते हैं। वह सूक्ष्मभूतोंको तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंको राजस अहङ्कारमें तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहङ्कारमें लीन कर देता है। इसके बाद वह अवशिष्ट अहङ्कारके साथ लयरूप गतिके द्वारा विज्ञानतत्त्व अर्थात् महत्-तत्त्वको प्राप्त होता है और उस अहङ्कारको महत्-तत्त्वमें लीन करता है। अन्तमें वह समस्त गुणोंके सम्पूर्ण लय स्थान 'प्रधान' की ओर गमन करके महत्-तत्त्वको प्रधान (प्रकृति) में लय करा देता है॥ ३०॥

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग॥ ३१॥

इसके बाद वह प्रधान स्वरूपमें ही अर्थात् प्रकृतिके साथ अपने-अपने रूपमें अर्थात् प्रकृति स्वरूपमें आनन्दित होने लगता है। प्रकृतिके आवरणके बाद कारणार्णवशायी महापुरुष विराजते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंकी समाप्ति होनेपर वह योगी अपने निरावरण रूपसे अविकृत, आनन्द-स्वरूप, शान्त परमात्माको प्राप्त होता है। जो पुरुष इस प्रकारसे भागवती गतिको प्राप्त करते हैं, उन्हें पुनः इस संसारमें आना नहीं पड़ता॥ ३१॥

एते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे व सनातने च।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः॥ ३२॥

हे राजन्! तुम्हारे द्वारा पूछे गये 'मरणशील व्यक्तिका क्या कर्त्तव्य है?' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने मुक्ति विषयमें वेदोंमें कथित सद्यमुक्ति एवं क्रममुक्ति रूप दोनों प्रकारके सनातन मार्गोंका वर्णन कर दिया है। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने भगवान् श्रीवासुदेवकी आराधना की थी। तब भगवान्ने प्रसन्न होकर ब्रह्माजीको इन दोनों मुक्ति मार्गोंके विषयमें बतलाया था॥ ३२॥

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥ ३३॥

यद्यपि इस संसार-चक्रमें भ्रमण करनेवाले मनुष्योंके लिए अपवर्ग (मुक्ति) की प्राप्तिके विभिन्न पथ हैं, तथापि जिन भगवत्-अर्पित कर्मोंसे भगवान्को सन्तोष होता है, वही विघ्न रहित अर्थात् सुखकर और मङ्गलमय पथ है। भगवान्को सन्तुष्ट करनेवाले कर्मोंसे भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्तियोग अर्थात् हृदयमें प्रेमका उदय होता है और यही भक्तियोग मानवका परम धर्म भी है॥ ३३॥

भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥ ३४॥

सर्ववेदसिद्ध भगवान् ब्रह्माजीने एकाग्र चित्तसे समग्र वेद-शास्त्रोंका तीन बार विचार करके अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय करना चाहा था कि किस प्रकारसे परमात्मा श्रीहरिमें अनन्य प्रेम हो सकता है। तब उन्होंने शुद्ध भक्तियोगको ही मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ धर्म स्थिर किया था॥ ३४॥

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥ ३५॥

समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीहरि ही अन्तर्यामी रूपमें अनुभूत (लक्षित) होते हैं, क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं तथा वे इन सबके साक्षी एकमात्र द्रष्टा हैं॥ ३५॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥ ३६॥

अतएव हे राजन्! मनुष्यमात्रको ही चाहिये कि भगवान् श्रीहरिमें परम भक्तियोगका उदय करानेके लिए वह सब समय और सभी परिस्थितियोंमें भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण आदि रूप भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करता रहे, क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई निर्विघ्न पथ नहीं है॥ ३६॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥ ३७॥

(महाराज परीक्षित् द्वारा पूछे गये 'सम्यक् सिद्धि' से सम्बन्धित प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—)हे परीक्षित्! भक्तजन अपने भावोंके अनुरूप भगवान्के बाल्य, पौगण्ड एवं किशोर लीलारूप कथामृतका वितरण करते ही रहते हैं। जो लोग भक्तोंकी आत्माके प्रकाशक उन भगवान् श्रीहरिके इस कथामृतका श्रवण करके अपने कानरूपी दोनोंमें भर-भरकर उस अमृतका पान करते हैं, उनका विषय-कामनाओंसे दूषित अन्तःकरण पवित्र हो जाता है तथा वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोध्यायः

कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना और भगवद्भक्तिके उत्कर्षका निरूपण

श्रीशुक उवाच—

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान् मम।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! आपने मुझसे जो मरणशील व्यक्तिके आवश्यक कर्त्तव्यके विषयमें पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने आपको योगमतके अनुसार दो पथ बतलाये हैं। कदाचित् दैवयोगसे जीवोंमें जिन्हें मानव-जन्म प्राप्त हुआ है और उन मनुष्योंमें भी जो बुद्धिमान हैं, पुनः उन बुद्धिमानोंमें भी जो आपके समान मृत्युके निकट हैं, उनके लिए एकान्त रूपसे मात्र यही कर्त्तव्य है कि वे श्रीहरि-कथामृतका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करते रहें॥ १॥

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २॥

(हे परीक्षित्! आपने पूछा है कि मनुष्योंके लिए सुनने योग्य, जप योग्य, स्मरण योग्य और भजनीय क्या है। मैं सबसे पहले आपको मन्दबुद्धिवाले अर्थात् विषय-कामी व्यक्तियोंके भजनीय देवताओंके विषयमें बतला रहा हूँ—)जो ब्रह्मतेज प्राप्त करना चाहते हैं, वे वेदपति ब्रह्माकी उपासना करें, जिन्हें इन्द्रियोंकी पटुता (विशेष शक्ति) की इच्छा हो, वे इन्द्रकी तथा जो पुत्रादिकी कामना करते हैं, उन्हें दक्षादि प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये॥ २॥

देवीं मायान्तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥

जिन्हें लक्ष्मीकी कामना है, वे दुर्गादेवीकी; जो तेज प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अग्निकी; धन चाहनेवालोंको अष्ट वसुओंकी तथा बल चाहनेवाले वीर्यवान पुरुषोंको रुद्रोंकी आराधना करनी चाहिये॥ ३॥

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥ ४॥

बहुत-सा अन्न प्राप्त करनेकी इच्छावाले भोजनकामी व्यक्तियोंको अदितिकी, स्वर्गकी कामना रखनेवालोंको अदितिके पुत्र द्वादश आदित्योंकी, राज्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको विश्वदेवोंकी एवं कृषि और वाणिज्य आदिमें सम्पूर्ण आत्म-निर्भरता चाहनेवालोंको साध्य देवताओंकी पूजा करनी चाहिये॥ ४॥

आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकामो इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५॥

आयुकी कामना करनेवाले पुरुषोंको दोनों अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिकी अभिलाषा रखनेवालोंको पृथ्वीकी, प्रतिष्ठा अर्थात् अपने पदसे कभी च्युत न होना पड़े—इस कामनासे लोक-अधिष्ठान स्वरूप स्वर्ग और पृथ्वीकी पूजा करनी चाहिये॥ ५॥

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६॥

सौन्दर्य चाहनेवालोंको गन्धर्वोंकी, श्रेष्ठ स्त्रीकी कामनावाले पुरुषोंको उर्वशी नामक अप्सराकी और सभीके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी आङ्काक्षा करनेवालोंको ब्रह्माकी आराधना करनी चाहिये॥ ६॥

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७॥

जो यशकी कामना करते हैं, उन्हें यज्ञ नामक इन्द्रकी; जो धन-संचयके अभिलाषी हैं, उन्हें वरुणकी; विद्या चाहनेवालोंको शिवकी तथा पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम बने रहनेकी कामनावाले व्यक्तियोंको सती उमादेवीकी पूजा करनी चाहिये॥ ७॥

धर्मार्थ उत्तमःश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितृन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८॥

धर्म उपार्जनकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको पुण्यश्लोक विष्णुकी, सन्तानादि वंश-परम्पराके विस्तारकी इच्छा करनेवालोंको पितरोंकी, समस्त विघ्न-बाधाओंसे रक्षा चाहनेवाले पुरुषोंको पुण्यवान यक्षोंकी तथा बल-प्राप्तिकी कामना करनेवाले मनुष्योंको मरुदादि देवताओंकी आराधना करनी चाहिये॥ ८॥

राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिन्त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९॥

जो राज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मन्वन्तरोंके अधिपतियोंकी; जो अभिचार अर्थात् शत्रुकी मृत्युकी इच्छा करते हैं, उन्हें राक्षसोंकी तथा काम-भोगके इच्छुक व्यक्तियोंको सोमदेव—चन्द्रमाकी पूजा करनी चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति (जागतिक) कामनाओंका नाश करना चाहते हैं, वे परम-पुरुष पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना करें॥ ९॥

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ १०॥

जो उदार-बुद्धिवाले व्यक्ति हैं, वह चाहे स्वसुखरूपी समस्त कामनाओंसे युक्त हों, निष्काम अर्थात् अप्राकृत-बुद्धिसे युक्त एकान्त भक्त हों, अथवा मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले हों—उन सबको तो शुद्ध एवं तीव्र (ऐकान्तिक) भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना चाहिये॥ १०॥

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥ ११॥

इस पृथ्वीपर इन्द्र आदि देवताओंके जितने भी उपासक हैं, उनके लिए परम कल्याण इसीमें है कि वे भगवान्‌के प्रेमी भक्तों—महाभागवतोंका सङ्गकर भगवान् अच्युतकी अविचल भक्ति प्राप्त कर लें॥ ११॥

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।

कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२॥

देवताओंके उपासकोंकी बात तो दूर रहे, ब्रह्मोपासकोंकी भी श्रीभगवान्‌में शुद्धाभक्ति हो जाती है—इसीकी क्रमरीतिको इस श्लोकमें बतलाया गया है। भागवतजनोंके मुखसे भगवान्‌की लीला-कथाओंका श्रवण करते-करते ऐसा दुर्लभ ज्ञान उदित हो जाता है, जिससे संसारकी गुणमयी तरङ्गमालाओंके आघात शान्त हो जाते हैं और आत्मा प्रसन्न हो जाती है। चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त होनेपर लौकिक और परलौकिक विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, कैवल्यपथ (मोक्ष) स्वरूप प्राकृत गुणसे पूर्णता मुक्ति हो जाती है और तब भक्तियोग प्राप्त होता है। अतएव भक्ति-सुखमें निमग्न हो जानेपर भी ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो श्रीहरिकी कथाओंसे प्रेम नहीं करेगा? ॥ १२ ॥

श्रीशौनक उवाच—

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः।
किमन्यत् पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम्॥ १३॥

श्रीशौनकादि ऋषियोंने कहा—हे श्रीसूतजी! जब राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीके द्वारा कहे गये इन सब वचनोंको सुना, तब उन्होंने परब्रह्मदर्शी, शब्दब्रह्ममें निष्णात और भगवान्‌की कथाओंकी माधुरीके वर्णनमें अतिशय निपुण व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीसे और किन-किन विषयोंमें प्रश्न किये थे? ॥ १३ ॥

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम्।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम्॥ १४॥

हे विद्वन् सूतजी! तदनन्तर और क्या-क्या कथाएँ हुई थीं, हम उन कथाओंको सुननेके बड़े इच्छुक हैं, अतएव आप हमें उन कथाओंको कृपापूर्वक कहिये। भागवतजनोंकी सभामें जो समस्त कथाएँ होती हैं, उनका फल भी निश्चय ही हरिकथाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता॥ १४॥

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः।
बालः क्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे॥ १५॥

पाण्डव पुत्र महारथी राजा परीक्षित् परमभागवत थे। अपनी बाल्यावस्थामें भी वे खिलौनोंसे खेलते हुए कृष्ण-पूजादि रूप खेल-ही-खेला करते थे, अर्थात् कृष्ण-क्रीड़ाओंका ही अनुकरण किया करते थे॥ १५॥

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे॥ १६॥

भगवान् व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामी भी श्रीवासुदेवमें अनुरक्त थे। अतः श्रीशुकदेव और महाराज परीक्षित् दोनों ही साधु थे। इस प्रकार दो महाभागवत साधुओंका समागम होनेपर, अपने उदार गुणोंसे सभी की मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी कथाएँ अवश्य ही हुई होंगी, क्योंकि महाभागवतजनोंके मिलनके परिणाम स्वरूप ऐसी रसमयी कथाएँ ही तो भक्तोंकी आस्वादनीय वस्तु हैं॥ १६॥

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्तया॥ १७॥

अतः श्रीकृष्ण-कथाओंके श्रवणमें विलम्ब करना उचित नहीं है, क्योंकि सूर्यदेव प्रतिदिन उदित और अस्त होकर मनुष्योंकी हरिकथासे रहित व्यर्थ आयुको हरण कर लेते हैं। जिनका समय केवल उत्तमश्लोक श्रीहरिकी कथाओंमें ही व्यतीत होता है, उनकी ही आयुका वे हरण नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण-कथामें क्षणमात्र काल भी व्यतीत होनेपर सम्पूर्ण जीवन सफल हो जाता है॥ १७॥

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे॥ १८॥

क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते है? क्या लुहारकी धौंकनी श्वास लेती अथवा छोड़ती नहीं है? क्या गाँवके अन्य पशु आहार अथवा मैथुन नहीं करते? अतएव जो हरिभजन न कर आहार और निद्रादिमें ही अपना समय बिताते है, वे नराकारमें पशु ही हैं॥ १८॥

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥१९॥

जिनके कानोंमें कभी भी श्रीकृष्णके नामने प्रवेश नहीं किया, वे मानव कुत्ते, ग्रामके शूकर, ऊँट और गधेके समान पशु कहे गये हैं, अर्थात् ऐसे श्रीकृष्ण-भजनसे हीन मनुष्योंको पशुसे भी अधिक निन्दनीय माना गया है॥१९॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥२०॥

जो व्यक्ति अपने कानोंसे प्रचुर गुणोंसे युक्त भगवान्के पराक्रमकी कथा नहीं सुनते, उनके दोनों कानोंके छिद्र बिलके समान व्यर्थ ही हैं। जिसकी जिह्वा भगवान्के पराक्रमका कीर्त्तन नहीं करती, अर्थात् जो जिह्वा अपने पति भगवान् हृषीकेशकी लीलाओंका गुणगान न करके तरह-तरहकी सांसारिक वार्त्ताको ही कहती रहती है, वह असती नारी अथवा वेश्याके समान है। वह मेंढककी जिह्वाके समान केवल टर्र-टर्रका शोर मचाकर कालसर्पके समान मृत्युका ही आह्वान करती है॥२०॥

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥२१॥

जो मस्तक भगवान् मुकुन्दके श्रीचरणोंमें नहीं झुकता, रेशमी वस्त्रोंसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त रहनेपर भी वह उत्तमाङ्ग रूपी मस्तक संसार सागरके अतल जलमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको और भी अधिक शीघ्रतासे उसमें डुबोनेके लिए केवल बोझमात्र ही है। जो हाथ सोनेके कङ्गनोंसे सुशोभित होकर भी श्रीहरिकी सेवामें नियुक्त नहीं होते, वे मृतकके हाथोंके समान हैं। (इसका कारण है कि देव

पितरादि भी इन हाथों द्वारा दिये गये जल-पिण्ड आदिको अपवित्र मानकर स्वीकार नहीं करते)॥ २१॥

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥ २२॥

जिन व्यक्तियोंके नेत्र भगवान्‌के श्रीविग्रह, तीर्थ आदिका दर्शन नहीं करते, वे मोरोंके पंखमें बनी हुई आँखोंके समान व्यर्थ ही हैं। ऐसी निरर्थक आँखोंवाले व्यक्ति अपने उद्धारके पथको न देख पानेके कारण संसाररूप कण्टक-क्षेत्रमें ही पड़े रहते हैं। जिन मनुष्योंके पैर श्रीहरिकी लीलाभूमि अथवा तीर्थोंमें नहीं जाते, उनके पैर न चलनेवाले वृक्षोंके समान स्थावर ही हैं। जिस प्रकार वृक्षकी जड़को कुठार द्वारा काट डाला जाता है, उसी प्रकार यमदूत भी कुठारके द्वारा ऐसे व्यक्तियोंके पैरोंको काट डालते हैं॥ २२॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणून्
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥ २३॥

जिस व्यक्तिने कभी भी भगवद्भक्तोंकी चरणरेणुको भलीभाँति अपने समस्त अङ्गोंमें नहीं लगाया, जीवित रहनेपर भी उस व्यक्तिके अङ्ग प्रेतके समान हैं, क्योंकि वह सदा-सर्वदा साधुओंसे भयभीत रहता है। उसके हाथों द्वारा की गयी पूजा-सेवाको भी भगवान् स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् श्रीविष्णुके श्रीचरणोंमें अर्पित तुलसीकी सुगन्धको लेकर आनन्दित नहीं होता, वह व्यक्ति साँस लेते हुए भी मृत प्राणीके समान ही है॥ २३॥

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।

न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ २४॥

(इस प्रकार एक-एक करके बाह्य अङ्गोंकी और अब आन्तरिक भावोंकी निन्दा करते हुए कह रहे हैं कि) भगवान् श्रीहरिके मङ्गलमय नामोंको ग्रहण करनेपर भी जिनका हृदय नहीं पिघलता, आँखें आँसुओंसे भर नहीं जातीं, रोम-रोम आनन्दसे पुलकित नहीं हो जाते, हाय! उनका हृदय लोहेके समान अति कठोर है। (ये श्रीनामके प्रति अपराधके भी लक्षण हैं)॥ २४॥

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवतप्रधानः।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः॥ २५॥

हे श्रीसूत गोस्वामी! जो भक्त नहीं हैं, उनका सब कुछ ही व्यर्थ है—यह तो आपने हमारे मनके अनुकूल ही कहा है। अब महा-भागवतोंमें प्रधान आत्म-तत्त्वको जाननेवाले व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित् महाराजके प्रश्नोंके उत्तरमें जो समस्त कथाएँ कहीं, उन संवादमयी कथाओंको आप कृपापूर्वक हमें सुनाइये॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्का सृष्टिविषयक प्रश्न और श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथाका आरम्भ

श्रीसूत उवाच—

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ऋषियो! आत्म-विद्यामें निपुण व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीके आत्मतत्त्वका निर्णय करनेवाले इन वचनोंको सुनकर उत्तरानन्दन परीक्षित्ने अपनी शुद्ध, ऐकान्तिकी मतिको और भी विशेषभावसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें स्थापित कर दिया॥ १॥

आत्म-जाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु।
राज्ये चाविकले नित्यं निरूढां ममतो जहौ॥ २॥

महाराज परीक्षित्की अपनी देह, पत्नी, पुत्र, महल, हाथी आदि पशु, धन, भाई-बन्धु और भलीभाँति परिचालित अपने निष्कण्टक राज्यमें जो अत्यधिक दृढ़ आसक्ति थी, उस ममताको उन्होंने क्षण-भरमें ही सदाके लिए त्याग दिया॥ २॥

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः॥ ३॥

हे शौनकादि श्रेष्ठ ऋषियो! 'जो मनुष्य हरिकथा नहीं सुनते, उनके दिन व्यर्थमें ही बीत रहे हैं, अतएव आप हमें श्रीकृष्ण विषयक कथा कहिये'—इस वाक्यके द्वारा आपने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किये हैं, उदार बुद्धिवाले महाराज परीक्षित्ने भी श्रीकृष्णकी महिमाको सुननेके लिए बड़ी श्रद्धाके साथ इसी विषयपर श्रीशुकदेव गोस्वामीसे प्रश्न पूछे थे॥ ३॥

संस्थां विज्ञाय सन्न्यस्य कर्म त्रैवर्गिकञ्च यत्।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः॥ ४॥

राजा परीक्षित्‌ने अपनी मृत्युके निश्चित समयको विशेष रूपसे जान लिया था। अतः उन्होंने धर्म, अर्थ और कामकी प्रधानतावाले त्रैवर्गिक कर्मोंका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर भगवान् श्रीकृष्णमें अपने पूर्वसिद्ध सेवाभावको और भी सुदृढ़ कर दिया था॥ ४॥

श्रीराजोवाच—

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवानघ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्॥ ५॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! आप निष्पाप और सर्वज्ञ हैं। आपके द्वारा कीर्त्तित श्रीहरिकी इन कथाओंका श्रवण करते-करते मेरा अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट होता जा रहा है। अतएव आपकी कथाएँ युक्तियुक्त और अतिश्रेष्ठ हैं॥ ५॥

भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यम् मुनीश्वरैः॥ ६॥

(महाराज परीक्षित् मायाशक्तिसे युक्त भगवान्‌की सृष्टि आदि लीलाओंके विषयमें जिज्ञासा करते हुए कहने लगे—)हे मुने! भगवान् अपनी माया द्वारा किस प्रकार इस विश्वकी सृष्टि करते हैं—मैं इसे फिरसे जानना चाहता हूँ। यह विषय इतना रहस्यमय है कि बड़े-बड़े मुनीश्वर भी अत्यधिक तर्क विचार द्वारा इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते॥ ६॥

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥ ७॥

अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था नामक बहुत-सी शक्तियोंसे सम्पन्न परमपुरुष श्रीहरि किस प्रकारसे और अपनी कौन-कौनसी शक्तियोंके द्वारा इस जगत्‌की रक्षा करते हैं तथा किस प्रकारसे पुनः संहारकर उसे अपने आपमें ही लीन कर लेते हैं? वे क्रीड़ा करनेवाले पुरुष

किस प्रकार स्वयंसे ही क्रीड़ा करते हैं, किस प्रकार मायाशक्तिके साथ खेलते हैं, किस प्रकार स्वयंका ही महत्-अहङ्कारादि रूपमें सृजन करते हैं (सर्ग-विषयक प्रश्न) तथा किस प्रकार ब्रह्मा, मरीचि आदि देवतारूपमें क्रीड़ाके छलसे स्वयंको देव, तिर्यक्, नर आदि रूपमें सृजन करते हैं (विर्सग विषयक प्रश्न)? आप इन सबका वर्णन कीजिये॥ ७॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम्॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीहरि बड़े ही अद्भुत-कर्म करनेवाले हैं। अर्थात् उनकी लीलाएँ अद्भुत और अचिन्त्य हैं। उनके सृष्टि आदि चरित्रोंका रहस्य समझना न्यायादि शास्त्रकारोंके लिए भी अत्यन्त कठिन है, फिर मेरी तो बात ही क्या है?॥ ८॥

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः॥ ९॥

वही एक परमपुरुष भगवान् पुरुषरूपमें एक ही साथ एक ही समयमें प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम आदि गुणोंका पालन करते हैं, परन्तु वे उनमें लिप्त नहीं होते। वे अपने ईक्षणमात्रसे ही इस विश्वको धारण भी करते हैं और इसका पालन भी करते हैं। अतः ब्रह्मा, मरीचि आदि रूपमें प्रादुर्भूत होकर क्रमपूर्वक सृष्टि-कार्य करते हुए वे भगवान् किस प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंको ग्रहण करते हैं?॥ ९॥

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु॥ १०॥

इन समस्त विषयोंमें मुझे सन्देह है, अतएव आप कृपा करके मुझे इन सब तत्त्वोंको ठीकसे समझाइये। आप भगवान् श्रीकृष्णके भक्त हैं, इसलिए आपका शब्दब्रह्म—वेदमें विशेष रूपसे प्रवेश है तथा परब्रह्म श्रीकृष्णके तत्त्वको भी आपने यथार्थ रूपमें निश्चित् ही अनुभव किया है॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित् द्वारा इस प्रकारसे श्रीहरिके गुण-कीर्त्तनके लिए प्रार्थना किये जानेपर श्रीशुकदेव गोस्वामीने समस्त इन्द्रियोंके पति भगवान् श्रीकृष्णको बार-बार स्मरण किया, और फिर गुरुवर्गको प्रणाम करके परीक्षित्के प्रश्नोंका उत्तर देना आरम्भ किया॥ ११॥

श्रीशुक उवाच—

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थान-निरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी कहने लगे—पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें बार-बार नमस्कार है। उन्होंने अपने पुरुषादि अवतारोंके द्वारा अपने अनन्त ऐश्वर्यको इस प्रकारसे प्रकाशित किया है कि उसकी महिमाका परिमाण बताया नहीं जा सकता। प्रथम पुरुषावतारकी लीलाके रूपमें वे विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयके कारण-स्वरूप हैं। जब वे ब्रह्मा-विष्णु एवं रुद्र रूपोंको स्वीकार करते हैं, तब वे सत्त्व, रज एवं तम—इन तीन शक्तियोंको ग्रहण करते हैं। जब उनकी द्वितीय और तृतीय पुरुषावतार लीला होती है, तब वे समष्टि ब्रह्मादिके और व्यष्टि जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित रहते हैं। उनके स्वरूप एवं अलौकिक गतिको बुद्धिसे नहीं समझा जा सकता। भक्तियोग ही उन्हें जाननेका एकमात्र मार्ग है, जो योगियोंके लिए भी परम दुर्लभ है॥ [१]१२॥

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।

---

[१] प्रस्तुत श्लोक (१२) से श्लोक २४ तक श्रीशुकदेव मुनिने नमस्काररूप मङ्गलाचरण किया है।

पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको पुनः-पुनः नमस्कार है। वे श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतारोंके रूपमें अपने भक्तोंके दुःखोंको दूर करते हैं। वे भक्तिहीन राक्षसों और असुरोंका वध करके उनका भी संसार-दुःख विनाशकर उन्हें पुनर्जन्मसे मुक्ति प्रदान करते हैं। वे अप्राकृत शुद्ध-सत्त्व तनुसे युक्त हैं। वे ही परमहंस आश्रममें स्थित भक्ति-मिश्रित ज्ञानियोंको ब्रह्मानन्द और अपने शुद्ध भक्तोंको परम प्रेमानन्दको प्रदान करते हैं॥ १३ ॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥ १४॥

मैं अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। वे अत्यधिक भक्त-वत्सल हैं और अपने भक्तोंका बड़े प्रेमसे पालन करते हैं। भक्तिसे हीन मनुष्य उन्हें कभी भी जान ही नहीं सकते। उनके समान ऐश्वर्य ही किसीके पास नहीं है, फिर उनसे अधिक ऐश्वर्यकी तो बात ही क्या है। वे अपने अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य द्वारा विभावित होकर स्वधाम—मथुरामण्डल और ब्रह्म-स्वरूप गोपालपुरमें विहार करते रहते हैं॥ १४॥

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १५॥

जिनके विषयमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण तथा जिनका श्रीविग्रह-दर्शन, वन्दन एवं अर्चन शीघ्र ही लोगोंके अनर्थों और कल्मषोंका विनाश करता है, ऐसे मङ्गलमय-यश-स्वरूप-माधुर्यमय श्रीभगवान्‌को मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ १५॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १६॥

अनर्थोंसे निवृत्त विवेकी पुरुष जिनके चरणोंकी उपासना करके अपने हृदयसे लौकिक और पारलौकिक आसक्तियोंका त्यागकर तथा समस्त प्रकारके क्लेशोंसे रहित होकर सहज रूपसे ब्रह्म-स्वरूप गतिको प्राप्त कर लेते हैं, उन सुमङ्गल यशयुक्त भगवान्‌को पुनः-पुनः प्रणाम है॥ १६॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १७॥

जब तक बड़े-बड़े तपस्या-परायण ज्ञानी, दानशील कर्मी, अश्वमेधयज्ञ करनेवाले प्रतिष्ठावान कर्मी, मननशील योगी, वेदशास्त्रोंमें कुशल जप-परायण व्यक्ति अथवा सदाचारी पुरुष अपने-अपने कर्मों और साधनाओंको भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें अर्पण नहीं करते, तब तक उन्हें कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिनके प्रति आत्म-समर्पणकी ऐसी महिमा है, ऐसे सुमङ्गल कीर्त्तिमान भगवान्‌को पुनः-पुनः नमस्कार है॥ १७॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा
आभीरशुह्मा यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ १८॥

जातिगत पापसे दुष्ट किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, शुह्म, यवन और खस इत्यादि नीच जातियाँ तथा जो लोग अपने कर्मोंसे पापी हैं, वे सब भी जिन श्रीभगवान्‌के आश्रित भागवत-स्वरूप सद्‌गुरुके चरणोंमें शरणागत होनेमात्रसे ही जातिगत

और कर्मगत दोषोंसे शुद्ध हो जाते हैं, उन स्वाभाविक रूपसे प्रभुता-सम्पन्न, सर्वशक्तिमान भगवान्‌को नमस्कार है॥[१]१८॥

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥ १९॥

वे भगवान् ही सबके अधीश्वरके रूपमें प्रसिद्ध हैं। वे कर्मकाण्डियोंके लिए वेदत्रयीरूप देवमय हैं, धार्मिकोंके लिए धर्ममय एवं तपस्वियोंके लिए तपोमय हैं। वे ही आत्म-निष्ठ-धीर ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंके लिए आत्म-तत्त्वके रूपमें उपास्य हैं। कैतवयुक्त अर्थात् मुक्तिकी कामनावाले कपट-धर्मयुक्त ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंकी बात तो दूर रहे, निष्कपट ब्रह्मा और शङ्कर आदि भी अपने शुद्ध हृदयसे जिनके स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं, पर उनके निश्चित स्वरूपको जान नहीं पाते, वे भगवान् परमेश्वर मुझपर प्रसन्न हों॥ १९॥

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥ २०॥

जो परमेश्वर समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवीके पति हैं, यज्ञेश्वर रूपमें यज्ञोंका भोग करनेवाले और फल प्रदान करनेवाले हैं, सम्पूर्ण प्रजाओंके अधीश्वर हैं, व्यष्टि रूपमें जीवोंके अन्तर्यामी पुरुष हैं तथा समस्त भोग्य भुवनों (लोकों) के एकमात्र भोक्ता हैं, उन्होंने ही कृपापूर्वक अवतार लेकर पृथ्वीदेवीके पतिके रूपमें लीलाको प्रकाशित किया है। वे अन्धक, वृष्णि और यदुवंशीय भक्तोंके एकमात्र पालक और आश्रय-स्थल हैं। समस्त साधुओंके स्वामी ऐसे भक्त-वत्सल श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों॥ २०॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।

[१] यहाँ भक्तिदेवीका प्रारब्ध और अप्रारब्ध पापनाशकत्व व्यक्त हुआ है।

वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्॥ २१॥

पण्डितगण पाण्डित्यके बलपर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार परमात्माके स्वरूपको साकार अथवा निराकार बतलाते हैं, जीवात्माके स्वरूपको अणुप्रमाण अथवा सर्वगत, विश्वको मिथ्या अथवा सत्य या नित्य—अपनी युक्तियोंके द्वारा कुछ भी वर्णन करते रहते हैं—ये समस्त विचार ही मनोधर्मसे सम्बन्धित हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि ईश्वरपर आश्रित न होनेके कारण शुद्ध नहीं हुई है, अतः वे भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु एकमात्र जिन भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके श्रेष्ठ ध्यानरूप समाधिसे सूरीगण (विद्वान) अपनी बुद्धिको शुद्ध करते हैं, अर्थात् मनोधर्मसे निर्मुक्त होकर निश्चित रूपसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कर पाते हैं, वे भगवान् मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों॥ २१॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥ २२॥

यह प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान्‌ने ही कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके हृदयमें पूर्वकल्पकी सृष्टिसे सम्बन्धित स्मृतिको प्रकटित करनेके लिए वेद-वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीको प्रेरित कर उन्हें ब्रह्माजीके मुखसे वेद-रूपमें प्रकटित कराया था। ये सरस्वतीदेवी श्रीकृष्णको ही उपास्य मानती हैं। अतः ऐसे वेद-वाणीरूप ज्ञानके मूलकारण श्रीभगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों। (अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मादिके मुखसे वेद अपने आरण्यकादि अङ्गोंके साथ प्रकटित हुए थे, उसी प्रकार मेरे मुखसे उन भगवान्‌की लीलाकथाएँ प्रकट हों)॥ २२॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्टाखिलविद्वचांसि मे॥ २३॥

जो विभु पुरुष देव, मनुष्य, तिर्यकादि शरीरोंकी रचना करके उनमें अन्तर्यामी रूपसे स्वयं वास द्वारा उन समस्त शरीरोंको सफल और सार्थक करते हैं, जो महत्–तत्त्व आदिके द्वारा विभिन्न शरीरोंकी सृष्टिरूप पुरमें शयन (वास) करनेके कारण 'पुरुष' नामसे प्रसिद्ध हैं, जो ग्यारह इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतरूप सोलह गुणोंकी चेतनताको प्रकाशित करनेवाले आत्मा (परमात्मा) के रूपमें अथवा विराजमान रहकर साक्षीस्वरूप और अनासक्त भावसे केवल दृष्टिके द्वारा ही इन सोलह गुणोंके सोलह विषयोंका भोग करते हैं, वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें॥[१]२३॥

नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे[२]।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥ २४॥

भक्तगण जिनके मुखकमलसे विगलित ज्ञानमय मकरन्दके मधुर आसवका पान करते रहते हैं, मैं भगवान् श्रीवासुदेवके उन शक्त्यावेशावतार अतुलनीय विक्रमशाली और भक्तियोगके ऐश्वर्यसे सम्पन्न, शास्त्रकर्त्ता अपने गुरुदेव भगवान् श्रीवेदव्यासके चरणोंमें बार–बार प्रणाम करता हूँ॥ २४॥

एतदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद्यदाह हरिरात्मनः॥ २५॥

हे राजन्! साक्षात् भगवान्ने वेदगर्भ ब्रह्माजीको अपने श्रीमुखसे जिस विषयका वर्णन किया था तथा जो विषय (स्वयंभू) ब्रह्माजीने नारदको बतलाये थे, अब मैं तुमसे वही सब कह रहा हूँ॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

---

[१] श्रीशुकदेव गोस्वामीके उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आत्मासे रहित देह बहुमूल्य अलङ्कारोंसे युक्त रहनेपर भी साधुओंके स्पर्शके योग्य नहीं होती, उसी प्रकार मेरी वाणी भी भगवान्के गुण–गानके अभावमें साधुओं द्वारा अस्पृश्य न हो अर्थात् भगवान् मेरे वाक्योंमें अवस्थानकर साधुजनोंका आनन्द–वर्धन करे।

[२] 'व्यासायामिततेजसे' के स्थानपर पाठान्तर 'वासुदेवाय वेधसे'।

पञ्चमोऽध्यायः

सृष्टिका वर्णन

श्रीनारद उवाच—

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्॥ १॥

देवर्षि नारदने ब्रह्माजीसे कहा—हे देवाधिदेव! आप भूतभावन हैं अर्थात् आपने ही समस्त प्राणियोंकी सृष्टि की है। आप समस्त प्राणियोंसे पहले उत्पन्न हुए हैं, अतएव मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप परमात्मा और जीवात्माके तत्त्वसूचक ज्ञानसे भलीभाँति अवगत हैं, अतः उस ज्ञानको मुझे भी विशेष रूपसे प्रदान कीजिये॥ १॥

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः॥ २॥

हे प्रभो! इस विश्वका क्या लक्षण है? इसका क्या आश्रय है? इसकी रचना किसने की है? यह किसमें लीन होता है? यह किसके अधीन है? इसका यथार्थ स्वरूप क्या है? यह सब तत्त्व मुझे यथार्थ रूपसे बतलाइये॥ २॥

सर्वं ह्येतद्भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः।
करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव॥ ३॥

आप परमात्मा, जीवात्मा और सम्पूर्ण जगत्‌के तत्त्वको निश्चित रूपसे जानते हैं। जो सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो उत्पन्न होगा और जो उत्पन्न हो रहा है, उन सभीके आप ही स्वामी हैं। अतएव आपको अपनी विलक्षण ज्ञान-दृष्टिसे यह सारा संसार ऐसा दिखायी देता है, मानो हाथोंमें रखा आँवलेका फल हो॥ ३॥

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया॥ ४॥

हे प्रभो! मैं तो समझता था कि आप ही स्वतन्त्र परमेश्वर हैं, क्योंकि आप बिना किसीकी सहायताके अकेले ही अपनी मायाके प्रभावसे पञ्च-महाभूतों द्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं। किन्तु जब मैंने आपको भी तपस्या करते हुए देखा, तब मुझे आशङ्का हुई की आपके भी कोई स्वामी हैं, इसलिए मैं आपसे पूछ रहा हूँ—आपको यह विशेष ज्ञान किसने दिया है? आपके आधार कौन हैं? आप जिनके अधीन हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं? आपका वास्तविक स्वरूप क्या है?॥ ४॥

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम्।
आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः॥ ५॥

जिस प्रकार मकड़ी अपनी शक्तिके द्वारा अनायास ही जालका निर्माण कर लेती है, उसी प्रकार आप भी अपनी शक्तिके बलपर ही स्वयंको किसी अन्यके अधीन न कर बिना किसी परिश्रमके समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं और स्वयं ही उनका पालन करते हैं॥ ५॥

नाहं वेद परन्त्वस्मिन्नापरं न समं विभो।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः॥ ६॥

हे प्रभो! इसी कारणसे इस जगत्में कौन-सी वस्तु उत्तम है, कौन-सी अधम और कौन-सी मध्यम अर्थात् समान है—मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता। इन वस्तुओंमें भी मनुष्यादि नाम, द्विपदत्वादि रूप, शुक्लत्वादि गुणों द्वारा साध्य स्थूल एवं सूक्ष्म जो कुछ भी पदार्थ हैं—ये सब आपसे ही उत्पन्न होते हैं, मैं यही मानता हूँ। मैं यह नहीं जानता कि उनकी उत्पत्ति आपके अतिरिक्त और किसी वस्तुसे हुई है॥ ६॥

स भवानचरद्घोरं यत्तपः सुसमाहितः।
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि॥ ७॥

इस प्रकारसे सबके ईश्वर होनेपर भी अत्यन्त एकाग्र चित्तसे आपने जो इतनी घोर तपस्या की, इससे मुझमें मोह उत्पन्न हो रहा है। क्या आपसे भी बढ़कर कोई स्वतन्त्र ईश्वर हैं? आपने स्वयं ही अपने कार्य द्वारा इस प्रकारकी आशङ्काको मुझमें जाग्रत किया है॥ ७॥

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर।
विजानीहि तथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः॥ ८॥

आप सर्वज्ञ हैं तथा सबके ईश्वर हैं। मैंने इस ईश्वर-सम्बन्धित विषयपर जितने भी प्रश्न किये हैं, उन सभीका उत्तर मुझे विशेष रूपसे बतलाइये जिससे कि आपसे प्राप्त उपदेशके द्वारा मैं इस तत्त्वसे भलीभाँति अवगत हो सकूँ॥ ८॥

श्रीब्रह्मोवाच—

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने॥ ९॥

श्रीनारदके इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीब्रह्माने कहा—हे पुत्र! तुम्हारा यह सन्देह बड़ा उचित है। तुमने मुझसे जो भी प्रश्न किये हैं, उनके द्वारा मेरे प्रति तुम्हारी करुणा ही प्रकाशित हुई है, क्योंकि इन प्रश्नोंके आधारपर मैं भगवान्के तत्त्वका कीर्त्तन करके भगवान्के विश्व-सृष्टि आदि पराक्रमके दर्शनके लिए प्रेरणा प्राप्त कर रहा हूँ। अर्थात् भगवान्के तत्त्वका कीर्त्तन करते समय मैं अपने हृदयमें अनन्त पराक्रमशाली भगवान्का दर्शन कर सकूँगा॥ ९॥

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे॥ १०॥

हे पुत्र! तुमने जिस प्रकारसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वरके रूपमें मेरा वर्णन किया है, वह भी असत्य नहीं है। इसका कारण है कि जगत्में मुझसे भी श्रेष्ठ परमेश्वरको तुम जानते नहीं हो, इसीलिए—तुम मेरे विषयमें इस प्रकारसे वर्णन कर रहे हो॥ १०॥

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः॥ ११॥

यह सम्पूर्ण विश्व स्वयं-प्रकाश भगवान्से ही प्रकाशित हुआ है। जिस प्रकार सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रादि परमेश्वर द्वारा प्रकाशित वस्तुओंको पुनः प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मैं भी केवल परमेश्वरकी ही शक्तिसे प्रकाशित वस्तुओंकी सृष्टि करके

पिष्ट-पेषण (पिसे हुए को फिरसे पीसना) न्यायके द्वारा उन्हें पुनः प्रकाशित करता हूँ। ब्रह्मकी ज्योतिके द्वारा दीप्तिमान होकर ब्रह्मके अनुगत भावसे सूर्यादि प्रकाश प्राप्त करते हैं और दूसरोंको प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार सूर्य आदि कोई भी स्वतन्त्र प्रकाशक नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता नहीं हूँ॥ ११॥

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।
यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम्॥ १२॥

मैं भगवान् श्रीवासुदेवको नमस्कार करता हूँ और उनका ध्यान करता हूँ। उन भगवान्‌की अपार मायाके द्वारा विमोहित होकर लोग मुझे ही जगत्-गुरु कहते हैं, वस्तुतः वे यह नहीं जानते कि मेरे भी एक ईश्वर हैं॥ १२॥

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥ १३॥

जिस प्रकार कपटी स्त्री 'पति मेरी कपटता समझ गये हैं'—इस भयसे पतिके सम्मुख आनेमें लज्जाका अनुभव करती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णकी दासी जड़माया भी 'जीवोंको मोहित करना भगवान्‌को रुचिकर नहीं है'—ऐसा जानकर उक्त कुकर्म करनेवाली स्त्रीके समान भगवान्‌के नेत्रोंके सामने आनेमें लज्जा-बोध करती है। यह माया भगवान्‌की पीठके पीछे ही स्थित रहती है और इसी मायासे विमोहित होनेके कारण ही सभी जीवोंकी बुद्धि विपरीत (ईश्वरसे विमुख) हो जाती है। तब वे स्वयंको देह और मन मानकर 'मै', 'मेरा' इत्यादि प्रकारसे अपनी ही प्रशंसा किया करते हैं॥ १३॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥ १४॥

हे नारद! उपादान-रूप महाभूतादि द्रव्य, जन्म प्राप्त करनेके कारण स्वरूप कर्म (कर्मफल), गुणोंका क्षोभक काल, इसके (द्रव्य) परिणामका हेतु स्वभाव और भोक्ता जीव—इनमेंसे किसी की भी श्रीवासुदेवसे भिन्न सत्ता नहीं है। (इसका कारण यह है कि द्रव्यादि मायाके कार्य हैं तथा जीव और माया भगवान्‌की शक्ति हैं। अतः

यह विश्व वासुदेवरूप है—यह प्रमाणित हुआ। यही तुम्हारे 'यद्रूपम्' (श्रीमद्भा० २/५/२)—इस प्रथम प्रश्नका उत्तर है।)॥ १४॥

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥ १५॥

श्रीनारायण ही 'उपास्य' रूपमें वेदोंके तात्पर्य-विषय हैं। दूसरे सभी देवताओंके उपास्यरूपमें कहलाये जानेपर भी वे श्रीनारायणके श्रीअङ्गसे ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् श्रीनाराणके प्रभावसे ही उनका प्रभाव है। वे श्रीनारायणके अधीन-तत्त्व हैं। स्वर्गादि जितने भी लोक हैं, वे सब भी श्रीनारायणके आनन्दांशके मात्र आभासरूप ही हैं। समस्त यज्ञ भी श्रीनारायण-परायण हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिके साधन स्वरूप हैं (यह 'यदधिष्ठानम्' (श्रीमद्भा० २/५/२)—तुम्हारे द्वितीय प्रश्नका उत्तर है)॥ १५॥

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥ १६॥

अष्टाङ्ग अथवा सांख्य आदि सभी योग श्रीनारायण-परायण हैं, अर्थात् उनकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। समस्त तपस्याओंके परम कारण श्रीनारायण हैं, अर्थात् सभी तपस्याएँ उनकी ओर ही ले जाती हैं। तपस्याओंका साध्य ब्रह्म-ज्ञानादि भी श्रीनारायण-पर है, अर्थात् उनके आंशिक स्वरूपको ही प्रकट करता है। मोक्षके भी परम विषय श्रीनारायण ही हैं, अर्थात् श्रीनारायणका तत्त्वसूचक जो ज्ञान है, उसका फल मोक्ष है और वह भी श्रीनारायणके अधीन है॥ १६॥

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः॥ १७॥

एकमात्र श्रीनारायण ही सभी प्राणियोंके नियन्ता, कूटस्थ, साक्षी, अन्तर्यामी और अन्तरात्मा हैं। मेरी सृष्टि भी उन्होंने ही की है, अतएव न तो मेरी कोई स्वतन्त्र शक्ति है और न ही कोई स्वतन्त्र इच्छा। मैं उनकी ईक्षण शक्ति द्वारा प्रेरित होकर उनके द्वारा सृष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करता हूँ॥ [1] १७॥

---

[1] इसके द्वारा ब्रह्माका जीवत्व एवं नारायणका ईश्वरत्व प्रमाणित हुआ है।

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥ १८॥

वे परमेश्वर सर्वव्यापक और सत्त्वादि प्राकृत गुणोंसे रहित होकर भी जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और लयके लिए अपनी अधीनस्थ मायाशक्तिके सत्त्व, रज एवं तम गुणोंको अपनी स्वतन्त्रतावशतः स्वेच्छासे ग्रहण करते हैं॥ १८॥

कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः॥ १९॥

सत्त्व, रज एवं तमो-गुणात्मक माया भगवान्‌की तटस्थाशक्तिकी वृत्तिरूप जीवोंको बन्धनमें डाल देती है। वस्तुतः नित्यमुक्त होनेपर भी तटस्थशक्तिभूत होनेके कारण अनादिकालसे ही जीवकी भगवान्‌के प्रति बहिर्मुखता और उन्मुखतारूप दोनों ही अवस्थाएँ रही हैं। वह अपने स्वरूपके विषयमें अज्ञानी भी रहा है और ज्ञानयुक्त भी। माया भगवान्‌की पीठके पीछे स्थित है और बहिर्मुख जीव भी उनकी पीठके पीछे स्थित है। दोनोंके एकत्र होनेके कारण जीवका मायाके साथ सङ्ग हो जाना अति सम्भवपर है। इसलिए अधिभूत (कार्य), अध्यात्म (कारण) एवं अधिदैव (कर्त्ता)—इनका कर्त्तृत्व, महाभूतरूप द्रव्य, देवतारूप ज्ञान, इन्द्रियरूप क्रियाओंके आश्रय अर्थात् कारणभूत मायाके गुण उस-उस अभिमानके द्वारा अपनी तटस्थावस्थामें माया-मुग्धतासे रहित जीवको बाँध लेते हैं॥ १९॥

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः॥ २०॥

हे नारद! श्रीभगवान् मायाशक्तिके अधीश्वर तथा इन्द्रियोंके अतीत हैं। जीवके स्वरूपज्ञानको ढकनेवाले उपाधिरूप तीनों गुणोंके द्वारा उन भगवान्‌के अतीन्द्रिय तत्त्वको जाना नहीं जा सकता। श्रीभगवान्‌के प्रियतम भक्त ही उनके तत्त्वका निर्णय कर सकते हैं। वे मेरे और हम सभीके ईश्वर हैं॥ २०॥

कालं कर्म स्वभावञ्च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥ २१॥

उन मायाधीश भगवान्‌ने स्वयं (एक) अपनेसे ही बहुत होनेकी इच्छा की। उन्होंने अपनेमें अनुस्यूत (लीन) भावसे स्थित रहनेवाले जीवोंके अदृष्ट (कर्म), काल एवं स्वभावको आश्रय प्रदान किया अर्थात् स्वीकार किया, जिससे वे अपनी इच्छासे उनकी सृष्टि कर सकें॥ २१॥

कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥ २२॥

भगवान्‌के द्वारा कालमें अधिष्ठित होनेपर उस कालके द्वारा गुणोंका क्षोभ होता है, अर्थात् सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था जो प्रकृति है, उसके गुण अपनी साम्य अवस्थाका त्याग कर देते हैं। भगवान्‌के द्वारा स्वभावमें अधिष्ठित होनेपर रूपान्तरकी प्राप्ति होती है और भगवान्‌के द्वारा जीवोंके अदृष्ट (कर्म) में अधिष्ठित होनेपर उससे महत्-तत्त्वका आविर्भाव होता है॥ २२॥

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधानस्त्वभवद्द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥ २३॥

वही महत्तत्त्व काल, स्वभाव और कर्मके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ तथा रज एवं सत्त्वगुणके द्वारा वर्धित होनेपर उस महत्-तत्त्वसे तमः-प्रधान अधिभूत—द्रव्य, अधिदैव—ज्ञान और अध्यात्म—एक क्रियात्मक तत्त्व (अहङ्कार) उत्पन्न हुआ॥ २३॥

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो॥ २४॥

यही तत्त्व 'अहङ्कार' कहलाता है। जब यह अहङ्कार विकारको प्राप्त हुआ, तब तीन प्रकारका हो गया—वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस। तामस अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति द्रव्यस्वरूप आकाशादि महाभूतोंपर, राजस अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति इन्द्रियोंपर और सात्त्विक अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके ऊपर क्रिया करती है॥ २४॥

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः॥ २५॥

पञ्चभूतोंके कारणरूप तामस भूतादिका विकार होनेपर आकाशकी उत्पत्ति होती है। तामस अहङ्कार-तत्त्वसे सर्वप्रथम शब्द उत्पन्न होता है। यही शब्द आकाशका सूक्ष्म रूप और स्वभाव है, अर्थात् शब्दसे आकाशकी उत्पत्ति होती है। शब्द ही द्रष्टा एवं दृश्यका बोध करानेवाला लक्षण है॥ २५॥

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥ २६॥

इसके बाद आकाशमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे स्पर्श गुणसे युक्त वायुकी उत्पत्ति हुई। वायुका अपने कारणरूप आकाशसे सम्बन्ध रहनेके कारण वायुमें भी आकाशका शब्द-गुण विद्यमान रहता है। वायुसे ही देह-धारण, इन्द्रियोंकी ओज शक्ति, मनकी सहन शक्ति तथा शरीरमें बल होता है॥ २६॥

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।
उदपद्यत वै तेजो रूपवत् स्पर्शशब्दवत्॥ २७॥

काल, कर्म और स्वभाववशतः वायुमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे तेजकी उत्पत्ति हुई। तेजका प्रधान गुण रूप है। आकाश और वायु तेजके कारण हैं, इसलिए स्वाभाविक रूपवान तेजमें आकाश और वायुके सम्बन्धसे शब्द एवं स्पर्श गुण भी विद्यमान रहते हैं॥ २७॥

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ २८॥

तेजमें विकार होनेपर जलकी उत्पति हुई, जिसका गुण रस है। जलमें आकाश, वायु और तेजका कारण रूपसे सम्बन्ध रहनेसे उसमें शब्द, स्पर्श और रूप भी प्रविष्ट रहते हैं। इस प्रकार रसात्मक जल चार गुणोंसे युक्त होता है॥ २८॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद्रसस्पर्श-शब्दरूपगुणान्वितः ॥ २९॥

जलके विकारसे पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वीका स्वाभाविक गुण गन्ध है। पृथ्वीका आकाश, वायु, तेज एवं जलके साथ कारण रूपसे सम्बन्ध होनेके कारण पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस—ये चारों गुण भी विद्यमान रहते हैं॥ २९॥

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥ ३०॥

वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारके विकार प्राप्त होनेपर मनकी उत्पत्ति होती है। (मन शब्दसे उसके अधिष्ठाता चन्द्रकी भी उत्पत्ति समझनी चाहिये।) इसी सात्त्विक अहङ्कारसे दस देवता भी उत्पन्न होते हैं। कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः दिशा, पवन, सूर्य, वरुण एवं दोनों अश्विनीकुमार हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ—इन पाँच कर्मेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता यथाक्रमसे अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र एवं प्रजापति हैं॥ ३०॥

तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः॥ ३१॥

जब तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार विकारको प्राप्त होता है, तब दस इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। पाँच-ज्ञानशक्ति रूप इन्द्रियाँ अथवा बुद्धि एवं पाँच-क्रियाशक्ति रूप इन्द्रियाँ अथवा प्राण राजस अहङ्कारके कार्य हैं। दस इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ॥ ३१॥

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम॥ ३२॥

(इस प्रकार कारणकी सृष्टि बतलाकर अब कार्यकी सृष्टि बतला रहे हैं।) हे ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ नारदजी! ये सब भूतेन्द्रियाँ, मन एवं सत्वादि गुणोंके कार्यरूप भाव पहले पृथक्-पृथक् थे, इसलिए ये शरीर निर्माणमें समर्थ नहीं थे॥ ३२॥

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः॥ ३३॥

तब भगवान्‌की प्रेरणासे उनकी संयोगकारिणी शक्तिने इन सबमें प्रवेशकर इनका परस्पर योग करा दिया। परस्पर संयुक्त होनेपर इन समस्त तत्त्वोंने मुख्य एवं गौण भावको स्वीकार करते हुए व्यष्टि-समष्टि रूप पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनोंकी सृष्टि की॥ ३३॥

वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥ ३४॥

यह ब्रह्माण्ड कई हजारों वर्षों तक जलमें अचेतन रूपसे अवस्थित था। इसके बाद काल, जीवके अदृष्टरूप कर्म और स्वभावमें अधिष्ठित होकर हिरण्यगर्भ-अन्तर्यामी पुरुषने उस अचेतन अण्डको सचेतन कर दिया॥ ३४॥

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥ ३५॥

तदनन्तर उस अण्डेको फोड़कर उसमेंसे वही विराट् पुरुष निकले, जिनके हजारों सिर, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों बाहु, हजारों जंघा और हजारों चरण हैं॥ ३५॥

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥ ३६॥

पण्डितलोग उन्हीं पुरुषके अवयवों (अङ्गों) में चौदह लोकोंकी कल्पना करते हैं। अर्थात् उन पुरुषकी कमरसे नीचेके अङ्गोंमें तल, अतल, सुतल, वितल, महातल, रसातल और पाताल—सात अधोलोक तथा उनके जघन (पेड़ू) से ऊपरके अङ्गोंमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तप और सत्य—ये सात ऊर्ध्वलोक हैं॥ ३६॥

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत॥ ३७॥

उन विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जाँघोंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं॥ ३७॥

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥ ३८॥

उन महापुरुषके दोनों चरणोंसे कमर तक सातों पाताल तथा भूलोककी, नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्ग-लोककी तथा उनके वक्षःस्थलमें महर्लोककी कल्पना की जाती है॥ ३८॥

ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥ ३९॥

उन पुरुषके गलेमें जनलोक, दोनों स्तनोंमें तपोलोक एवं सिरमें सत्यलोककी कल्पना की गयी है। इसके ऊपर स्थित वैकुण्ठ नामक भगवान्‌का जो नित्य लोक है, वह सृष्ट-प्रपञ्चके अन्तर्गत नहीं आता। वह वैकुण्ठधाम विराट् पुरुषके अङ्ग-रूपमें ध्येय नहीं है, क्योंकि वह सनातन है। अर्थात् अण्डमें स्थित होनेपर भी भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उनका वह धाम भी उसी प्रकार नित्य है॥ ३९॥

तत्कट्याञ्चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यान्तु तलातलम्॥ ४०॥
महातलस्तु गुल्फाभ्यां प्रपादाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥ ४१॥

उन परमेश्वरकी कमरमें अतल, दोनों जाँघोंमें वितल, दोनों घुटनोंमें शुद्ध[१] सुतल, जंघाओंमें तलातल, एड़ीके ऊपरकी गाँठोंमें महातल, दोनों चरणोंके अग्रभाग (पञ्जों) में रसातल और दोनों पैरोंके तलुओंमें पातालकी कल्पना की गयी है। इस प्रकार वह पुरुष चौदह भुवनात्मक हैं॥ ४०-४१॥

---

[१] सुतलको शुद्ध और पवित्र लोक कहा जाता है, क्योंकि वह प्रह्लाद, बलि आदि हरिभक्तोंका निवास स्थान है।

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्द्ध्ना इति वा लोककल्पना॥ ४२॥

अथवा विराट् पुरुषके अङ्गोंमें तीनों लोकोंकी कल्पना इस प्रकार भी की जाती है कि उन पुरुषके दोनों चरणोंमें भूर्लोक, नाभिमें भुवर्लोक और सिरमें स्वर्लोक हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीपुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

विराट् पुरुषकी अध्यात्मादि विभूतियोंका वर्णन

श्रीब्रह्मोवाच—

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च॥ १॥

श्रीब्रह्माने नारदजीसे कहा—उन विराट् पुरुषका मुख, वाक् इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता अग्निका उत्पत्ति-स्थान है। उनकी त्वचा आदि सातों धातुओंसे गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप, उष्णिक, बृहती, पंक्ति और जगती—ये सातों छन्द निकले हैं। उनकी जिह्वासे हव्य (देवताओंका अन्न), कव्य (पितरोंका अन्न), अमृत (देवताओं और पितरोंका अवशिष्ट मनुष्योंका अन्न), मधुरादि छह प्रकारके रस, हमारी रसनेन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता वरुण उत्पन्न हुए हैं॥ १॥

सर्वासूनाञ्च वायोश्च तन्नासे परमायणे।
अश्विनोरोषधीनाञ्च घ्राणो मोदप्रमोदयोः॥ २॥

उनके दोनों नासाछिद्रोंसे समस्त जीवोंके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण तथा वायु उत्पन्न हुए हैं। उनकी घ्राणेन्द्रियोंसे दोनों अश्विनीकुमार, समस्त औषधियाँ तथा साधारण एवं विशेष गन्ध उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशाञ्च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः॥ ३॥

उनकी नेत्रेन्द्रिय समस्त प्रकारके रूपों और रूप-प्रकाशक वस्तुओं अर्थात् तेजादिका उत्पत्ति-स्थान है। उनके नेत्रोंके दोनों गोलक स्वर्ग और सूर्यके उत्पत्ति-स्थान हैं। उनके कानोंसे समस्त दिशाएँ एवं तीर्थ निकले हैं। उनकी श्रवणेन्द्रियसे आकाश और शब्द उत्पन्न हुए हैं॥ ३॥

तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि॥ ४॥

उनका शरीर वस्तुओंके सारांश और सौभाग्य (सौन्दर्य) का आधार है। उनकी त्वचा स्पर्श, वायु एवं समस्त यज्ञोंकी उत्पत्तिका स्थान है॥ ४॥

रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः।
केश-श्मश्रु-नखान्यस्य शिला-लोहाभ्र-विद्युताम्॥ ५॥

जिन सब वृक्षों द्वारा यज्ञोंका भलीभाँति अनुष्ठान होता है, वे समस्त वृक्ष भगवान्के रोमसे उत्पन्न हुए हैं। उनके केशों एवं दाढ़ी-मूँछोंसे जलवाही मेघोंका उद्गम हुआ है तथा उनके हाथ एवं चरणोंके कान्तिमय नखोंसे विद्युत्, श्वेत और रक्त वर्णकी शिलाएँ तथा लोहा प्रकट हुआ है॥ ५॥

बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्॥ ६॥

उनकी भुजाओंसे शुभकार्य करनेवाले अर्थात् संसारका पालन करनेवाले लोकपाल देवताओंकी उत्पत्ति हुई है॥ ६॥

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च।
सर्वकाम-वरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्॥ ७॥

उन पुरुषका पद-न्यास (चलना-फिरना) भू, भुव एवं स्वर्ग—तीनों लोकोंका आश्रय है। उन श्रीहरिके चरणकमल कल्याण अर्थात् प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा करनेवाले हैं, शरण अर्थात् समस्त प्रकारके भयोंको दूर करनेवाले हैं तथा समस्त प्रकारकी कामनाओंकी पूर्ति एवं वरोंकी प्राप्तिका आश्रय स्थल हैं॥ ७॥

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः॥ ८॥

उन विराट् पुरुषका लिङ्ग जल, शुक्र (वीर्य), प्रजासृष्टि, मेध (वर्षारूपी जल) एवं प्रजापतिका आधार है। उनकी उपस्थेन्द्रिय सन्तान उत्पत्तिके लिए सम्भोगजनित आनन्द द्वारा कामरूपी तापके नाशका आधार है॥ ८॥

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतम्॥ ९॥

हे नारद! उन विराट् पुरुषकी गुह्येन्द्रिय (पायु इन्द्रिय) यम, मित्र एवं मल-त्यागका स्थान माना जाता है तथा उनका पायुस्थान (गुदा) हिंसा, अलक्ष्मी (निर्ऋति), मृत्यु एवं नरकका आश्रय कहा जाता है॥ ९॥

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः।
नाड्यो नद-नदीनाञ्च गोत्राणामस्थिसंहतिः॥ १०॥

उन विराट् पुरुषकी पीठ पराजय, अधर्म और अज्ञानका स्थान है, उनकी नाड़ियाँ समस्त नद-नदियोंका तथा उनकी हड्डियाँ पर्वतोंका आश्रय हैं॥ १०॥

अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्॥ ११॥

उन विराट् पुरुषका उदर प्रधान अर्थात् त्रिगुणा-प्रकृति, अन्नादि-रस, समुद्र, प्राणियोंके लय (मृत्यु) का स्थान है, जब कि उनका हृदय प्राणियोंके लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीरका आश्रय है—ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं॥ ११॥

धर्मस्य मम तुभ्यञ्च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥ १२॥

हे नारद! उन पुरुषका अन्तःकरण (चित्त) धर्म, मेरा, तुम्हारा, सनत्-कुमारादि, रुद्र, बुद्धि (विज्ञान) और हम सबके सत्त्व—तत्त्वात्मक चित्तका परम आश्रय है॥ १२॥

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुर-नरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥ १३॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः॥ १४॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः ॥ १५॥

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥ १६॥

हे नारदजी! मैं, तुम, रुद्र, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि, देवतागण, असुर, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, सरीसृप (रेंगनेवाले पशु), गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, उरग (सर्प), पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष तथा जल, स्थल और अन्तरीक्षमें विचरण करनेवाले अन्यान्य विविध प्राणीसमूह, ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु (पुच्छल तारे), तारे, बिजली, मेघ, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सभी कुछ विराट् पुरुष ही हैं। अर्थात् उनसे भिन्न किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं। वे दस अङ्गुलके स्थानमात्रमें अधिष्ठित रहकर इस सम्पूर्ण विश्वमें जो कुछ भी था, है और होगा—उसे घेरे हुए हैं॥ १३-१६॥

स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान्॥ १७॥

जिस प्रकार सूर्य अपने मण्डलको प्रकाशित करते हुए बाहर भी अपने प्रकाशको फैलाता है, उसी प्रकार वे परमपुरुष भी अपनी विराट् देहको प्रकाशित करते हुए ब्रह्माण्डके भीतर और बाहर अपने प्रकाशसे सभी वस्तुओंको प्रकाशित कर रहे हैं। वे सर्वत्र एकरससे प्रकाशित होते हैं॥ १७॥

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥ १८॥

हे नारद! वे परमेश्वर अमृत और अभयपद (मोक्ष) के स्वामी हैं तथा मरणधर्मी अर्थात् नश्वर विषय-सुखोंसे परे हैं, इसीलिए उन परमेश्वरकी महिमा असीम है॥ १८॥

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु॥ १९॥

पण्डितजन कहते हैं कि जिनके चरणकमल ही स्थिति-पद अर्थात् समस्त लोकोंके पालक हैं, उन विराट् पुरुषके (एकपाद) अंशभूत मायिक और त्रिपाद अमायिक (माया रहित) प्रदेशोंमें क्रमशः बद्ध

और मुक्त जीव विराजित हैं। त्रिगुणमय स्थानोंके ऊपरी भागमें परव्योम है, जहाँ मरणका अभाव (अमृत), रोगादिका अभाव (क्षेम) तथा भगवत्-अपराधके कारण भयका अभाव (अभय) नित्य विराजित है। अर्थात् वहाँ मृत्यु, व्याधि एवं भय नहीं हैं, बल्कि अमृत, क्षेम एवं अभयकी सदा-सर्वदा अवस्थिति है॥ १९॥

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः॥ २०॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी—इन तीन आश्रमियोंको प्राप्त होने योग्य जो जन, तप और सत्य आदि लोक हैं, वे उन पुरुषके त्रिपाद अंशमें और त्रिलोकीके बाहरमें स्थित हैं। किन्तु दीर्घकालीन अर्थात् नैष्ठिकी ब्रह्मचर्य और भगवत्-व्रतसे रहित गृहस्थ-कर्मियोंको प्राप्त होने योग्य स्थान त्रिलोकीके ही अन्दर स्थित हैं। वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकमें ही वास करते हैं॥ २०॥

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥ २१॥

अपने कर्मवशतः अविद्या और विद्याके वशीभूत होकर विश्व-परिभ्रमणकारी जीव क्रमशः एकपाद एवं त्रिपाद-विभूतिको प्राप्त करनेके दो मार्ग—दक्षिण एवं उत्तरमें विचरण करता है। दक्षिण पथ भोगके साधन अविद्यारूप कर्मका है तथा उत्तर पथ मोक्षके साधन विद्यारूप ज्ञानका है। अविद्या-दशामें जीव एकपाद विभूति और विद्या-दशामें त्रिपाद विभूतिको प्राप्त करता है। परमेश्वर विद्या और अविद्या दोनोंके आश्रय हैं अर्थात् दोनों प्रकारकी माया ही परमेश्वरके अधीन है, वे ही एकमात्र मायाधीश हैं॥ २१॥

यस्मादण्डं विराड्जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः।
तद्द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्॥ २२॥

जिन पुरुषसे इस अण्ड, पञ्चभूत, इन्द्रिय एवं गुणात्मक विराट्की उत्पत्ति हुई है, वे ही ईश्वर हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे विश्वको प्रकाशित करके भी अपने ही मण्डलमें स्थित रहते हैं, उसी

प्रकार वे पुरुष भी ब्रह्माण्ड एवं विराट् शरीरको प्रकाशित करके भी अपने अन्तरङ्ग स्थान त्रिपाद-विभूतिमें सर्वदा विराजित रहते हैं॥ २२॥

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवानृते॥ २३॥

हे नारद! जिस समय मैं (ब्रह्मा) उन महापुरुषके नाभि-कमलसे उत्पन्न हुआ, उस समय उन विराट् पुरुषके अङ्गोंके अतिरिक्त पृथक् रूपसे यज्ञकी और कोई सामग्री मुझे दिखायी नहीं दी॥ [१]२३॥

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः।
इदञ्च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः॥ २४॥

उस समय मैंने यज्ञ-पशु, यूप (स्तम्भ), कुश, यज्ञके लिए उपयुक्त स्थान और बहुत गुणोंसे युक्त वसन्तादि उत्तम काल इत्यादि समस्त नित्य-सिद्ध यज्ञकी सामग्रियोंका उन पुरुषके अङ्गोंसे ही संग्रह किया॥ २४॥

वस्तून्योषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम्।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रञ्च सत्तम॥ २५॥
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च॥ २६॥
गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम्।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया॥ २७॥

यज्ञ करनेके लिए पात्र, जौ-चावलादि शस्य, घृतादि स्नेह पदार्थ, मधुरादि छह रस, सोना-चाँदी आदि धातुएँ, मिट्टी, जल, ऋक्, यजुः, साम तथा होता, उद्गाता, ब्रह्मा एवं ऋत्विक—इन चारोंके द्वारा करणीय कर्म, यज्ञ आदिके ज्योतिष्टोमादि नाम, स्वाहाकारादि मन्त्र,

---

[१] यद्यपि अद्वयज्ञान भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी पृथक् सत्ता नहीं है, तथापि भक्तगण सर्वदा भगवान्की सेवा करनेके लिए उत्कण्ठित रहते हैं। जिस प्रकार पार्थिव गन्ध, पुष्पादि द्वारा पृथ्वीकी आराधना होती है, उसी प्रकार भगवत्-सम्बन्धी वस्तुओंके द्वारा ही भगवान्की आराधना सिद्ध होती है। यही भगवान्का आदेश है और मैंने इसी दृष्टान्तका अनुसरण किया है।

दक्षिणा, व्रत, देवताओं आदिके उद्देश्य, बोधायनादि कर्म-पद्धति ग्रन्थ, 'मैं इस प्रकारका यज्ञ करूँगा'—ऐसा सङ्कल्प तन्त्र अर्थात् अनुष्ठानका प्रकार, विष्णुक्रमादि गति, देवताओंका ध्यानादिरूप मति, प्रायश्चित्त, कर्मोंका भगवान्‌के प्रति समर्पण—ये सब नित्य-सिद्ध यज्ञके उपकरण मेरे द्वारा उन विराट् पुरुषकी देहसे एकत्रित हुए हैं॥ २५-२७॥

इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम्।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्॥ २८॥

इस प्रकार उन विराट् पुरुषके अङ्गोंसे यज्ञ-सामग्रियोंका संग्रह करके मैंने उन समस्त यज्ञ-सामग्रियोंसे यज्ञेश्वर पुरुषके उद्देश्यसे यज्ञ किया था॥ २८॥

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः॥ २९॥

हे नारद! तदनन्तर तुम्हारे बड़े भाई मरीचि आदि इन नौ प्रजापतियोंने एकाग्र चित्तसे इन्द्रादिके रूपमें प्रकटित (साकार) एवं स्वतः अव्यक्त पुरुषके (निराकार) उद्देश्यसे यज्ञ किया था॥ २९॥

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्॥ ३०॥

तदनन्तर मनुओंने अपने-अपने उचित समयपर तथा अन्यान्य ऋषियों, पितरों, देवताओं, दैत्यों, मनुष्योंने उन परमेश्वरकी यज्ञोंके द्वारा ही आराधना की॥ ३०॥

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः॥ ३१॥

('यदधिष्ठानम्' इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हुए कह रहे है कि) भगवान् श्रीनारायणमें ही यह सम्पूर्ण विश्व अधिष्ठित है। भगवान् स्वतः प्रकृतिके गुणोंसे रहित रहकर भी सृष्टिादिके प्रारम्भमें ब्रह्मा, रुद्रादि रूपोंमें सृष्टि और प्रलयादिके लिए त्रिगुणात्मक मायाके द्वारा महत्-गुणोंको ग्रहण कर लेते हैं॥ ३१॥

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥ ३२॥

(यत्परं—इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि) भगवान् श्रीहरिकी आज्ञासे नियुक्त होकर ही मैं संसारका सृजन करता हूँ तथा उनके ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुण-माया-शक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा मायाशक्ति और तटस्था जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुके रूपमें विश्वका पालन करते हैं॥ ३२॥

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्॥ ३३॥

(प्रकरणका उपसंहार करते हुए कह रहे हैं—)हे तात! तुमने मुझसे जिस प्रकारसे प्रश्न किये थे, मैंने उसी प्रकारसे ही बतलाया है। सत् अर्थात् कार्य और असत् अर्थात् कारणरूप सृष्टि तथा एकपादात्मक या त्रिपादात्मक सभी कुछ उन भगवान्से पृथक् है—ऐसी भावना कभी नहीं करना॥ ३३॥

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥ ३४॥

हे नारद! मैंने अत्यन्त उत्कण्ठित और सेवोन्मुख भावसे अपने हृदयमें श्रीहरिका ध्यान किया है, जिसके प्रभावसे मेरी वाणी, मन एवं इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सभी कुछ दोष रहित हैं। अतएव मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती, मेरा मन भी कभी मिथ्या भावना नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी असत्-पथ अर्थात् कुमार्गपर नहीं जातीं॥ ३४॥

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः॥ ३५॥

इस प्रकार उत्काण्ठापूर्ण चित्तसे श्रीहरिका ध्यान करनेवाले मेरे चारों मुखोंसे समस्त वेद प्रकट हुए हैं, श्रीभगवान्‌के आदेशसे मेरा जीवन तपोमय हुआ है तथा मैं प्रजापतियों द्वारा पूजित उनका ईश्वर हूँ। मैंने एकाग्र चित्तसे बड़ी निष्ठापूर्वक योगका आश्रय करके योगके सभी अङ्गोंका अनुष्ठान किया है। मैंने जिनसे जन्म-ग्रहण किया है, जब मैं ही उन्हें जान नहीं पाया हूँ, तो मेरे द्वारा सृष्ट अन्यान्य जीव किस प्रकार उन पुरुषको जान सकते हैं॥ ३५॥

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम्।
यो ह्यात्ममायाविभवञ्च पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः॥ ३६॥

मैं श्रीभगवान्‌के उन मङ्गलजनक श्रीचरणोंमें प्रणत होता हूँ, जो चरण शरणागत भक्तोंके भव-बन्धनरूप दुःखोंका छेदन करनेवाले तथा भक्तोंको निज प्रेमरूप सुख प्रदान करनेवाले हैं। जिस प्रकार आकाश स्वयं ही अपना अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार वे परमेश्वर भी अपनी योगमायाके विस्तारकी सीमाको प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव फिर हम जैसे तुच्छ जीव किस प्रकारसे उनकी मायाके विस्तारको मापनेमें समर्थ हो सकते हैं?॥ ३६॥

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितञ्चात्मसमं विचक्ष्महे॥ ३७॥

मैं, तुमलोग और रुद्र उन श्रीनारायणकी एकपाद विभूतिको भी जान नहीं सकते, तब फिर दूसरे देवता उन्हें किस प्रकारसे जान सकेंगे? हम सबकी बुद्धि उनकी माया द्वारा विमोहित रहती है, अतः उनकी माया द्वारा रचे हुए इस विश्वका हम अपने-अपने ज्ञानके अनुसार ही वर्णन करते रहते हैं॥ ३७॥

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥ ३८॥

इस प्रकार हम सभी देवता उनके अवतारों और लीला-चरित्रोंका कीर्त्तन-गान करते रहते हैं, परन्तु हममेंसे कोई भी उनके यथार्थ शक्ति-स्वरूप-तत्त्वको ठीकसे नहीं जान पाता। अतः मैं उन भगवान्‌के स्वरूपके विषयमें क्या कहूँ? मैं तो उन भगवान्‌को केवल प्रणाम कर सकता हूँ॥ ३८॥

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति पाति च॥ ३९॥

वे आदि (मूल) पुरुषावतार प्रत्येक कल्पके आरम्भमें स्वयं अपनेमें अपने द्वारा अपना ही सृजन, पालन एवं संहार करते हैं॥ ३९॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥ ४०॥

भगवान्‌का निर्विशेष-स्वरूप उपाधिशून्य अर्थात् मायाके लेशमात्रसे रहित होनेके कारण विशुद्ध है। कर्त्ता, कर्म और करणके अभावके कारण वे केवल शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हैं, सबके भीतर विराजित रहनेसे प्रत्यक् हैं, चारों दिशाओंमें ओत-प्रोत होनेके कारण वे सम्यक् रूपसे स्थित हैं, व्याप्तिरूप होकर सर्वत्र सत्तारूपमें स्थित होनेके कारण सत्य हैं, तारतम्यके अभाववशतः शक्ति, बल एवं ऐश्वर्यसे परिपूर्ण अपरिच्छिन्न हैं, जन्मादि विकारोंसे शून्य होनेके कारण वे अनादि एवं अनन्त हैं, सत्त्वादि मायिक गुणोंके संसर्गके अभावके कारण वे निर्गुण हैं, सर्वकालमें एक ही रूप—एक रससे स्थिर होनेके कारण वे नित्य हैं, उनके जैसी किसी द्वितीय वस्तुके अभावके कारण वे अद्वय हैं॥ ४०॥

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्॥ ४१॥

हे देवर्षि नारद! जिनकी देह, इन्द्रियाँ और मन प्रशान्त एवं सम्पूर्ण रूपसे दोष रहित हो गये हैं—ऐसे मननशील मुनि ही भगवान्‌के तत्त्वको जान सकते हैं, अर्थात् उनका साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जब यही भगवत्-तत्त्व अज्ञानीजनोंके कुतर्कोंसे परिव्याप्त होकर ढक जाता है, तब इसका सम्यक् दर्शन सम्भव नहीं हो पाता॥ ४१॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥ ४२॥

प्रकृतिके प्रति ईक्षणकर्त्ता कारणार्णशायी पुरुष परव्योमाधिपति भगवान् श्रीनारायणके प्रथम अवतार हैं। गुणोंमें क्षोभ करनेवाला काल, स्वभाव, कार्य-कारण रूप (सत्-असत् रूप) प्रकृति, महत्-तत्त्व, पञ्च-महाभूत (द्रव्य), अहङ्कार (विकार), सत्त्वादि गुण, इन्द्रियाँ, समष्टि शरीररूप पातालादि (ब्रह्माण्ड), समष्टि जीव अर्थात् हिरण्यगर्भ, स्थावर—जङ्गमरूप व्यष्टि शरीर—ये सभी परमेश्वरसे सम्बन्धित वस्तुएँ हैं॥ ४२॥

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला
नृलोकपालास्तललोकपालाः ॥ ४३॥

गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा
ये यक्ष-रक्षोरग-नागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां
दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत-
कुष्माण्ड-यादो-मृग-पक्ष्यधीशाः ॥ ४४॥

यत् किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजःसहस्वद्बलवत् क्षमावत्।

श्री-ह्री-विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥ ४५॥

मैं (ब्रह्मा), श्रीरुद्र, श्रीविष्णु, दक्षादि प्रजापति, तुम (नारद) और तुम्हारे जैसे सनकादि, स्वर्गलोकके अधिपति इन्द्रादि, पक्षियोंके राजा गरुड़ादि, मनुष्यलोकके समस्त राजा, पातालादि नीचेके लोकोंके राजा, गन्धर्व, विद्याधर, चारणोंके अधिनायक, यक्ष, राक्षस, सर्प, नागोंके स्वामी, ऋषिगण, पितरोंमें श्रेष्ठगण, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर और समस्त दानवराज, अन्यान्य समस्त प्रेत-पिशाच, भूत, कुष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, पक्षियोंके अधिपति तथा लोकमें जो कुछ भी ऐश्वर्ययुक्त, तेजयुक्त, इन्द्रियशक्तियुक्त, मनःशक्तियुक्त, बलवान, शोभासम्पन्न, लज्जायुक्त, विभूतिसम्पन्न, बुद्धियुक्त, आश्चर्यवर्ण (अर्थात् अद्भुत वर्णोंसे युक्त), रूपवान (हमारे समान साकार) अथवा अरूप (निराकार) है, वे सभी कुछ परमपुरुषकी विभूतियाँ हैं, किन्तु उनका स्वरूप नहीं॥ ४३-४५॥

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।
आपीयतां कर्णकषायशोषान्-
अनुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्॥ ४६॥

हे देवर्षि नारद! इन विभूतियोंके अतिरिक्त उन भूमा-पुरुषके वराह, यज्ञ आदि परम पवित्र और प्रधान-प्रधान लीलावतार भी हैं, जिनका साधुलोग गुणगान करते रहते हैं। इन कथाओंका श्रवण करनेपर दूसरी-दूसरी वार्त्ताओंको सुननेकी वासनारूपी मलिनता दूर हो जाती है। इन समस्त मधुर कथाओंको मैं क्रमशः तुम्हें सुनाऊँगा, अतएव इस सम्पूर्ण कथामृतका तुम बड़े आग्रहके साथ भलीभाँति पान करो॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीब्रह्मनारद-संवादे पुरुषविभूतिवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

भगवान्‌के लीलावतारों और उनकी विभूतियोंका वर्णन

श्रीब्रह्मोवाच—

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार॥ १॥

श्रीब्रह्माने नारदजीसे कहा—जब भगवान् श्रीविष्णु प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए समुद्रके तलमें जानेके लिए तत्पर हुए, तब उन्होंने सर्वयज्ञमय वराह-शरीर धारण किया। उसी समय उस महासमुद्रमें हिरण्याक्ष नामक आदि दैत्य उनसे लड़नेके लिए जलके भीतर ही उनके सामने आ गया। भगवान्‌ने पहले अपने हाथोंसे उसे आहत किया और फिर अपनी दाढ़ोंसे उसे इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े कर डाला, जिस प्रकार इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंके पंख काट दिये थे॥ १॥

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम्।
लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः॥ २॥

उन्हीं भगवान्‌ने प्रजापति रुचिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे सुयज्ञ रूपमें अवतार लिया। इस अवतारमें उन्होंने अपनी पत्नी दक्षिणाके गर्भसे 'सुयम' नामके देवताओंको उत्पन्न किया। उन्होंने ही इन्द्र बनकर त्रिलोकीके बड़े-बड़े दुःखोंको हर लिया था। सुयज्ञ नामसे प्रसिद्ध होनेपर भी विपत्तियोंको हर लेनेके कारण उनके नाना स्वायम्भुव मनुने[१] उन्हें 'हरि' के नामसे पुकारा॥ २॥

---

[१] चौदह मनुओंमें स्वायम्भुव मनु प्रथम मनु हैं। स्वयम्भू ब्रह्मासे जन्म लेनेके कारण इन्हें स्वायम्भुव मनु कहा जाता है।

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे।
ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-
मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे॥ ३॥

हे नारद! भगवान्ने कर्दम ऋषिके घरमें उनकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे नौ बहिनोंके साथ कपिलके रूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको इस प्रकारके भगवत्-ज्ञानका उपदेश दिया था, जिससे देवहूतिने अपने उसी जन्ममें आत्माको मलिन करनेवाले मायाके तीनों गुणोंके आसक्तिरूपी मलको धोकर भगवान्के वैकुण्ठ धामको प्राप्त किया॥ ३॥

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः॥ ४॥

अत्रि ऋषिने पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे भगवान्की आराधना की थी। उनकी इस आराधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने अत्रि ऋषिसे कहा—"मैंने अपने-आपको पुत्र-रूपमें तुम्हें दान कर दिया।" इसीसे इस अवतारमें भगवान्का नाम दत्तात्रेय हुआ। दत्तात्रेयके रूपमें उन्होंने भुक्ति-मुक्तिरूप योग-सम्पत्तिको प्रदान किया। उनके श्रीचरणकमलोंके परागसे अपने शरीरको पवित्र करके राजा यदु और कार्त्तवीर्यार्जुन आदिने लौकिक और पारलौकिक—भोग और मोक्षरूप दोनों ही प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त की॥ ४॥

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसंप्लव-विनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥ ५॥

हे नारद! मैंने प्रथमतः विविध लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे तपस्या की। मेरी अखण्ड तपस्यासे प्रसन्न होकर श्रीहरि चतुःसन[१]

[१] 'सन' तप् अर्थमें प्रयुक्त है।

(सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्-कुमार) के रूपमें आविर्भूत हुए। इस चतु:सन अवतारमें उन्होंने पूर्वकल्पमें प्रलयके कारण विनष्ट हुए आत्मतत्त्वके ज्ञानको भलीभाँति और यथावत् रूपमें मुनियोंके लिए वर्णन किया था। मुनियोंने जैसे ही इस आत्मतत्त्वको सुना, उसी क्षण उन्होंने अपने शुद्ध हृदयमें उस परमतत्त्वका आत्म-साक्षात्कार कर लिया॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः॥ ६॥

धर्मकी पत्नी और दक्षकी कन्या मूर्त्तिके गर्भसे भगवान्ने नारायण एवं नर—इन दो स्वरूपोंमें जन्म-ग्रहण किया। इन अवतारोंमें उनकी तपस्याका प्रभाव उनके ही जैसा असाधारण था। कामदेवकी सेनारूप अप्सराएँ उनकी तपस्या भङ्ग करनेके उद्देश्यसे उनके पास आयीं, किन्तु जब इन अप्सराओंने भगवान् नारायण द्वारा उत्पन्न अपनी प्रतिरूप उर्वशी (भगवान् नारायणके उरूके मलसे उत्पन्न) आदि अपनेसे भी अत्यन्त सुन्दर अप्सराओंको देखा, तो वे विस्मयसे उनके व्रतको भङ्ग करनेकी आशाको निरर्थक मानकर स्तब्ध रह गयीं॥ ६॥

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥ ७॥

श्रीरुद्र आदि शक्तिशाली देवता अपनी क्रोधभरी दृष्टिसे कामको जला डालते हैं, किन्तु वही क्रोध उनके चित्तको भी जलाता रहता है। वे अपने क्रोधको दग्ध नहीं कर पाते, बल्कि इस असहनीय क्रोधसे स्वयं ही पीड़ित अर्थात् पराजित होते रहते हैं। ऐसा क्रोध भी जब भगवान् नर-नारायणके अमल अन्तःकरणमें प्रवेश करनेसे पहले ही भयभीत हो उठता है, तब उनके मनमें क्रोधसे भयभीत रहनेवाले कामका प्रवेश ही किस प्रकार हो सकता है?॥ ७॥

विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि।
तस्मा अदाद्ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात्॥ ८॥

राजा उत्तानपादके समक्ष ही ध्रुवकी सौतेली माता सुरुचिने अपने कटु वचनरूपी बाणोंसे उस पाँच वर्षके बालकके हृदयको बेंध डाला। उन कटु उक्तियोंसे बालकको इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि वह ऐसी छोटी अवस्थामें ही तपस्या करनेके लिए वनमें चला गया। ध्रुवकी कठोर तपस्यासे भगवान् श्रीनारायण प्रसन्न हो गये और पृश्निगर्भ अवतार धारणकर प्रकट हुए। उन्होंने वरदानके रूपमें ध्रुवको नित्य स्थल-विशेष ध्रुवपद प्रदान किया। आज भी ध्रुवपदके ऊपर स्थित भृगु आदि दिव्य महर्षिगण और नीचे स्थित सप्तर्षिगण उस पदकी परिक्रमा करते हुए उसकी स्तव-स्तुति करते रहते हैं॥ ८॥

यद्वेणमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
निष्प्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम्।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदञ्च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलापि येन॥ ९॥

जब राजा वेन कुमार्गपर चलने लगा, तब ब्राह्मणोंने वज्रके समान कठोर शापसे उसके पौरुष और ऐश्वर्यको जलाकर भस्म कर दिया। जब वह नरकमें गिरने लगा, तब ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने उसके शरीरके मन्थनसे 'पृथु' अवतार धारण कर 'पुत्र' शब्दको सार्थक करते हुए नरककी यातनाओंसे उसका उद्धार किया। इसी पृथु अवतारमें उन्होंने जगत्‌के कल्याणके लिए पृथ्वीको गाय बनाकर बहुत-से रत्न एवं खाद्यान्नादि द्रव्योंका दोहन किया॥ ९॥

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥ १०॥

आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान् ऋषभदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। इस ऋषभदेव अवतारमें भगवान् समस्त प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित, समदर्शी, प्रशान्त अन्तः करणसे युक्त और जितेन्द्रिय रहते हैं। अपने इस शान्त स्वरूपमें स्थित रहकर तथा नित्य समाधि योगका आश्रय लेकर उन्होंने जड़ अर्थात् अवधूतके समान योगका आचरण किया। ऋषिगण जिस अवस्थाको परमहंसोका सेव्यपद कहकर वर्णन करते हैं, उन्होंने उसी पदका चिन्तनपूर्वक आचरण किया था॥ १०॥

सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो
साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः॥ ११॥

वही यज्ञेश्वर साक्षात् भगवान् मेरे (ब्रह्माके) यज्ञमें हयग्रीव रूपमें आविर्भूत हुए। उनकी कान्ति सुवर्णमयी थी तथा उनका श्रीविग्रह वेदमय (कर्म-काण्ड), यज्ञमय (ज्ञान-काण्ड) और सम्पूर्ण देवताओंके ईश्वर (देवता-काण्ड) रूपमें प्रकाशित हुआ था। हयशीर्ष अवतारमें जब उन्होंने श्वासका त्याग किया, तब उनके नासापुटोंमेंसे कमनीय वेदवाणी उत्पन्न हुई थी॥ ११॥

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षौणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्॥ १२॥

जब चाक्षुष मन्वन्तर अपनी समाप्तिपर था, तब भावी वैवस्वत मनुने भगवान्‌को मत्स्य रूपमें देखा था। उस मत्स्यावतारमें वे पृथ्वीके साथ-साथ जरायु, अण्ड, स्वेद और उद्भिद् (वृक्षादि)—इन चार प्रकारसे उत्पन्न जीवोंके आश्रय स्थल बन गये थे। मन्वन्तरके अन्तमें प्रलयके महाभयङ्कर जलमें भयके कारण मेरे मुखसे वेद निकले थे, तब इन्हीं मत्स्य भगवान्‌ने उन वेदोंको धारण किया और उस प्रलय-समुद्रके जलमें विहार किया॥ १२॥

क्षीरोदधावमरदानवयूथपाना-
मुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः ॥ १३ ॥

जब देवता और दानव अमृतकी प्राप्तिके लिए क्षीर-सागरका मन्थन कर रहे थे, तब आदिदेव भगवान् कच्छप रूपमें प्रकट हुए और उन्होंने मन्दर पर्वतको मथनी बनाकर अपनी पीठपर धारण किया। जब कच्छप भगवान्‌की पीठपर पर्वत घूम रहा था, तब उसकी रगड़से उनकी पीठकी खुजलाहट थोड़ी दूर हो गयी, जिसके फलस्वरूप वे कुछ क्षण तक सुखसे सो सके॥ १३ ॥

त्रैपिष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम्॥ १४॥

देवताओंके महान् भयका विनाश करनेके लिए उन भगवान् श्रीविष्णुने नृसिंह रूप धारण किया। भगवान् श्रीनृसिंहकी फड़कती हुई भयङ्कर भौंहों तथा धर्षित हो रही तीखी दाढ़ोंसे युक्त उनका मुख अति विकराल लगता था। उन्हें देखते ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुने हाथोंमें गदा लेकर उनपर आक्रमण किया। श्रीनृसिंह भगवान्‌ने उस दैत्यको पकड़कर जैसे ही अपनी जँघापर रखा, वह छटपटाने लगा। इसी अवस्थामें ही भगवान्‌ने अपने प्रचण्ड नखोंसे शीघ्र ही उसके वक्षःस्थलको फाड़ डाला॥ १४॥

अन्तःपयस्युरुबलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय॥ १५ ॥

वरुणोद्यानके बड़े विशाल सरोवरमें महाबली ग्राहने यूथपति गजराजका पैर पकड़ लिया था। अपने पैरको छुड़ानेकी बहुत चेष्टा

करनेपर भी अन्तमें वह थककर अत्यन्त व्याकुल हो उठा और अपनी सूँड़में कमलका फूल लेकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए पुकारने लगा—"हे आदि पुरुष! हे अखिल लोकोंके नाथ! मेरा भी परित्राण कीजिये। हे पुण्यश्रवः (तीर्थयश)! आप दुर्जातिके दोषको भी पवित्र कर सकते हैं। हे श्रवण-मङ्गल! आप अपने नामके श्रवण मात्रसे मङ्गल करनेवाले हैं। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥"१५॥

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार॥ १६॥

अपनी शरणमें आये गजराजकी इस कातर पुकारको सुनकर अनन्तशक्तिमान भगवान् चक्रपाणिने श्रीहरि नामका अवतार धारण किया और पक्षीराज गरुड़की पीठपर चढ़कर वहाँ आये तथा अपने चक्रसे उस ग्राहके सिरको काट डाला। भगवान् श्रीहरिने गजराजपर कृपा करते हुए उसकी सूँड़को पकड़ा और शरणागत गजेन्द्रको ग्राहके मुखसे छुड़ाकर उसका उद्धार किया॥ १६॥

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः॥ १७॥

भगवान् वामन अदितिके पुत्रों—द्वाद्वश आदित्योंमें आयुमें सबसे छोटे थे, परन्तु गुणोंकी दृष्टिमें वे सबसे बड़े थे। अपने इस अवतारमें उन यज्ञाधिष्ठाता भगवान् श्रीविष्णुने वामन बनकर राजा बलिसे तीनपग भूमिकी याचना की और महाराज बलिके सङ्कल्प लेते ही भगवान्‌ने तीनपग भूमिके बहाने समस्त त्रिलोकी ही नाप ली। इस कार्य द्वारा भगवान्‌ने प्रमाणित कर दिया कि जो कृपा करने और दण्ड देनेमें समर्थ हैं, यद्यपि वे सभी कुछ कर सकते हैं, तथापि याचनाके बिना अन्य किसी उपायसे धर्म मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको उनके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करना उचित नहीं है॥ १७॥

नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच-
मापः शिखाधृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग मनसा हरयेऽभिमेने॥ १८॥

हे नारद! भगवान् वामन दैत्यराज बलिको अपना सालोक्यादि पद प्रदान करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उसके द्वारा अधिकृत भूमिका हरण कर लिया था। उन महाराज बलिने भगवान्के चरणामृतको बड़े आदरके साथ अपने सिरपर धारण किया था तथा गुरु शुक्राचार्यके द्वारा उन्हें शाप देकर मना करनेपर भी वे तीन-पग भूमि दानकी अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे। अतः जब वामनरूपी भगवान् तीसरे पगके लिए स्थान जानना ही चाहते थे, उसी समय बलिने मन-ही-मनमें अपनी अहंतास्पद देहको भगवान्को समर्पित कर अपने उत्तमाङ्ग मस्तकको उनके चरणोंमें रख दिया था। ऐसे राजा बलिके लिए इन्द्राधिपत्य (इन्द्र-पद) की प्राप्ति कभी भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसीलिए भगवान्ने बलिका राज्य हरण किया था॥ १८॥

तुभ्यञ्च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधु परितुष्ट उवाच योगम्।
ज्ञानञ्च भागवतमात्म-सतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव॥ १९॥

हे नारद! उन भगवान्ने अपने हंसावतारमें तुम्हारी ऐकान्तिक भक्तिसे परम सन्तुष्ट होकर तुम्हें परिपूर्ण रूपसे भक्तियोग, प्रेम द्वारा प्राप्त होनेवाले भगवान्के सौन्दर्य और माधुर्य आदि सद्गुणोंके अनुभव तथा जीवोंके आत्मतत्त्व प्रकाशक अर्थात् उनकी अविद्याके निवारणके लिए प्रदीप-स्वरूप भागवत-ज्ञानको प्रदान किया था। यह ज्ञान भगवान् श्रीवासुदेवके ऐकान्तिक भक्तोंको अनायास ही प्राप्त होता है॥ १९॥

चक्रञ्च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।

दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः॥ २०॥

वे ही भगवान् मन्वन्तरावतार लेकर मनुवंशका पालन और रक्षण करते हुए दसों दिशाओंमें सुदर्शनचक्रके समान तेज अपने अपराजित प्रभावसे महर्लोक, जनलोक और तपलोकमें निष्कण्टक राज्य करते हैं। वे अपने विचित्र-गुणों द्वारा उसके ऊपर स्थित सत्यलोकमें भी अपने कमनीय यशका विस्तार करते हैं और साथ ही दुष्ट राजाओंको दण्ड प्रदान करते हैं॥ २०॥

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्धे
आयुष्यवेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥ २१॥

भगवान् धन्वन्तरि रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर अपने धन्वन्तरि नामके प्रभावसे ही महारोगी मनुष्योंके विषम रोगोंका भी शीघ्र ही विनाश कर देते हैं। उन्होंने अमृत पिलाकर देवताओंको अमर बना दिया तथा दैत्योंके द्वारा हरण किये गये उनके यज्ञ-भागको देवताओंको फिरसे दिला दिया। भगवान् धन्वन्तरिने ही अवतार लेकर पृथ्वीपर आयुर्वेद (चिकित्सा-शास्त्र) का प्रवर्त्तन किया॥ २१॥

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन॥ २२॥

जब ब्राह्मण-द्रोही, वेदमार्गके उल्लंघनकारी, पृथ्वीके कण्टक-स्वरूप तथा नरक-यातना भोगनेके इच्छुक क्षत्रिय जगत्‌के विनाशके लिए दैववश बढ़ गये, तब भगवान्‌ने महाबलशाली परशुरामके रूपमें अवतार लेकर अनन्त पराक्रमका प्रकाश करते हुए अपने तीखी धारवाले फरसेसे इक्कीस बार इन क्षत्रियोंका संहार किया॥ २२॥

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत्॥ २३॥

मायाधीश पूर्णब्रह्म भगवान् ब्रह्मादिसे लेकर गुल्म (झाड़ी) तक समस्त जीवोंपर कृपा करनेके लिए अपने अंश लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नके साथ इक्ष्वाकुवंशमें दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें अवतरित हुए। इस अवतारमें अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिए वे अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये। वहींपर दस मुखवाले रावणने उनके साथ विरोध ठान लिया और अन्ततः वह विनाशको प्राप्त हुआ॥ २३॥

यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्दिधक्षोः।
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमान-मकरोरगनक्रचक्रः ॥ २४॥

जिस प्रकार महादेव त्रिपुरको जला डालनेके लिए तत्पर थे, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र भी शत्रुकी पुरी लङ्काको जला देना चाहते थे। रावणने उनकी प्रियतमा सीताका हरण कर उन्हें दूर लङ्कामें रख लिया था। उसी लङ्कामें प्रवेश करनेके लिए भगवान् श्रीरामचन्द्र समुद्र तटपर आये। सीता-हरणके कारण वे अत्यन्त क्षुब्ध हो रहे थे, प्रचण्ड क्रोधके कारण उनके नेत्र लाल हो रहे थे तथा उनकी दृष्टिके प्रखर तापसे ही समुद्रके गर्भमें स्थित मगर, साँप और ग्राह (मगरमच्छ) आदि जलने लगे। अतएव समुद्र अपने परिजनोंके साथ अपने विनाशकी आशङ्कासे भयभीत होकर काँपने लगा और उसने तुरन्त ही श्रीरामचन्द्रको मार्ग दे दिया॥ २४॥

वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जुष ऊढहासम्।

सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये॥ २५॥

युद्धमें रावणकी छातीके स्पर्शसे ही इन्द्रके वाहन ऐरावत हाथीके प्रचण्ड दाँत चूर-चूर होकर विभिन्न स्थानोंपर गिर गये थे। उन दाँतोंकी श्वेत-रश्मिसे समस्त दिशाएँ चमक उठीं। अब तो रावण स्वयंको 'दिग्विजयी' और 'मेरे समान कोई नहीं है' समझकर बड़े गर्व और अहङ्कारके साथ हँसते-हँसते अपनी और विपक्षी सेनाओंके बीचमें यहाँ-वहाँ विचरण करने लगा। किन्तु भगवान् श्रीरामने धनुषकी टङ्कारमात्रसे ही अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाले रावणके प्राणोंका विनाश कर डाला, जिससे उसका दर्पीला हास्य भी समाप्त हो गया॥ २५॥

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्द्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥ २६॥

जिस समय असुर राजाओंकी सेनाओंके अत्याचारोंसे यह पृथ्वी पीड़ित हो जायेगी, तब इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिए हमारे लिए भी दुर्ज्ञेय तत्त्व तथा (शृङ्गारकलाकी) विशेष निपुणतासे बँधे हुए अत्यन्त काले केशवाले माधुर्य-ऐश्वर्यमय श्रीकृष्ण अपने स्वांश बलरामजीके साथ आविर्भूत होंगे। वे इस जगत्‌में अपनी माधुर्यमयी लीलाओंको प्रकाश करनेवाली अलौकिक क्रीड़ाएँ करेंगे, जिससे समस्त लोगोंका चित्त उनके प्रति आकर्षित हो उठेगा॥ २६॥

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनत्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम्॥ २७॥

छोटे-से बालकके रूपमें ही विशाल शरीरवाली पूतनाके प्राणोंको हर लेना, तीन महीनेकी अवस्थामें ही अपने सुकोमल चरणोंके

आघातसे छकड़ा उलट देना, घुटनोंके बल चलते-चलते आकाशको छूनेवाले अत्यन्त ऊँचे यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें प्रवेशकर उन्हें जड़ समेत उखाड़ डालना—ये सब कार्य क्या ईश्वरके अतिरिक्त और कोई कर सकता है?[१] ॥ २७॥

यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीतान्
पालानजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥ २८ ॥

यमुनाके विषैले जलको पीकर जब व्रजके पशु और गोप मर जायेंगे, तब श्रीकृष्ण अपनी अमृतमयी कृपा-दृष्टिसे उन्हें जीवित कर देंगे। वे उस ह्रदके जलको विषसे रहित करनेके लिए उसमें विहार करेंगे और वहाँ स्थित विषके पराक्रमसे लपलपाती जिह्वावाले कालिय नागको वहाँसे निकाल देंगे। ऐसे अलौकिक कार्य क्या भगवान्के अतिरिक्त और कोई कर सकता है?॥ २८॥

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः॥ २९ ॥

---

[१] श्रीकृष्णमें महैश्वर्य होनेपर भी वे महा-माधुर्यमय स्वयं-भगवान् हैं, क्योंकि बालकरूपमें उन्होंने महामाधुर्य द्वारा अपने समस्त महैश्वर्यको ढककर सभीके मनको आकर्षित किया था। ऐश्वर्यमय वामनावतारमें अति विराटाकार शरीर त्रिविक्रम मूर्त्तिसे उन्होंने तीन पग भूमिको नाप लिया था। किन्तु श्रीकृष्णने अति भयङ्कर आकारवाली और अत्यन्त बलशाली पूतनाके वधोपयोगी ऐश्वर्यमयी वामनावतारकी त्रिविक्रम मूर्त्तिके समान वैसी कोई भी मूर्त्ति ग्रहणकर पूतनाका वध नहीं किया, अपितु छोटे-से बालकरूपमें ही उसका वध किया था। हिरण्यकशिपुका वध करनेके लिए भगवान्ने जिस प्रकार भयङ्कर नृसिंह मूर्त्ति धारण की थी, किन्तु शकटभञ्जनके लिए श्रीकृष्णने वैसा कोई भी भाव ग्रहण नहीं किया, अपितु तीन माहकी आयुवाले शिशुरूपमें ही अपने सुकोमल पदाघात द्वारा शकटासुरका वध कर डाला। पृथ्वीके उद्धारके लिए भगवान्ने भीषण वराहरूप धारण किया, किन्तु यमलार्जुन वृक्षोंके उद्धारके लिए बालक कृष्णको कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

वास्तवमें तो श्रीकृष्णके समस्त कार्य ही अचिन्त्य और अप्राकृत हैं। जिस दिन कालिय-दमन होगा, उसी रात्रिको समस्त व्रजवासी वहीं यमुना तटपर सो जायेंगे। उस समय दावाग्नि द्वारा ग्रीष्मकालका शुष्क मूँजका वन चारों ओरसे जलने लगेगा, जिससे व्रजवासियोंकी मृत्यु अनिवार्य हो पड़ेगी। किन्तु तब उस मुञ्जाटवीमें प्राणोंके सङ्कटमें पड़े हुए व्रजवासियोंसे उनकी आँखें बन्द करवाकर दुर्जेय श्रीकृष्ण अपने भाई बलरामके साथ उस दावाग्निसे उनका उद्धार करेंगे॥ २९॥

गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधितासीत्॥ ३०॥

माता यशोदा पुत्र कृष्णको बाँधनेके लिए जितनी भी रस्सियाँ जोड़ती जायेंगी, वे सभी रस्सियाँ श्रीकृष्णको बाँधनेके लिए दो अङ्गुल कम ही पड़ती जायेंगी। इसके बाद एकदिन जब श्रीकृष्ण जँभाई लेंगे, तब माता यशोदा बालकके मुखमें चौदह भुवनोंको देखकर भयभीत हो जायेंगी और इसका कारण निश्चित न कर पानेके कारण यह सोचकर विस्मित हो जायेंगी कि क्या यह स्वप्न है अथवा देवमायाका कार्य है। तब श्रीकृष्णके द्वारा ही प्रकटित ऐश्वर्यज्ञानके विपरीत पुत्र-स्नेह रूप माधुर्यसे भरकर प्रार्थना करने लगेंगी "मैं भगवान् नारायणके चरणोंमें प्रणत हूँ, वे ही मेरे पुत्रकी रक्षा करें॥"३०॥

नन्दञ्च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशाद्-
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म॥ ३१॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शनकी अभिलाषासे वरुणदेव निषिद्ध समयमें स्नान करनेवाले नन्दरायजीको वरुणालयमें ले जायेगा, तब श्रीकृष्ण वरुण-पाशके कारण भयभीत नन्दबाबाको भयसे मुक्त करेंगे। जब मय दानवका पुत्र व्योमासुर गोप-बालक वेशमें आकर सब-के-सब

सखाओंको पर्वतकी गुफाओंमें छिपा देगा, तब श्रीकृष्ण उन सब गोप-बालकोंकी रक्षाकर उन्हें लौटा लायेंगे। गोकुलवासी लोग दिनके समय श्रीनन्द और श्रीकृष्णके विच्छेद दुःखमें उन्हें ढूँढ़नेके कारण तथा नाना प्रकारके कामधन्धोंमें व्यस्त रहनेके कारण रातमें अत्यधिक थककर सो जायेंगे, तब तदनुरूप साधनसे हीन होनेपर भी श्रीकृष्ण उन्हें अपने वैकुण्ठधाममें ले जायेंगे॥ ३१॥

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्॥ ३२॥

हे निष्पाप नारदजी! नन्दादि गोप जब श्रीकृष्णकी बात मानकर इन्द्र-यज्ञको बन्द कर देंगे, तब इन्द्र व्रजभूमिका नाश करनेके लिए सात दिनों तक लगातार मूसलाधार वर्षा करने लगेगा। उस समय सात वर्षके बालक श्रीकृष्ण कृपा-परवश होकर गोप-गोपियों, गायों और व्रजके पशुओंकी रक्षा करनेकी इच्छासे बिना किसी परिश्रमसे अपने एक हाथसे छत्रपुष्प (कुकुरमुत्ते) की भाँति गोवर्धन पर्वतको उठाकर उसे सात दिनों तक धारण किये रहेंगे॥ ३२॥

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥ ३३॥

जिस रात्रिकालमें उज्ज्वल चाँदनी चारों ओर छिटक रही होगी, उस रात्रिमें रास-क्रीड़ा करनेकी इच्छासे उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरीपर मनोहर पदों तथा दीर्घ-आलापसे युक्त मधुर सङ्गीतकी तान छेड़ेंगे, जिससे व्रजकी गोपरमणियोंमें काम-पीड़ा उद्दीपित होने लगेगी। उस समय धनके अधिपति कुबेरके अनुचर (सेवक) शङ्खचूड़ द्वारा उन गोपवधुओंका हरण कर लिए जानेपर श्रीकृष्ण उस शङ्खचूड़का सिर काट डालेंगे॥ ३३॥

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट-
मल्लेभ-कंस-यवनाः कपि-पौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्व-कुज-बल्वल-दन्तवक्र-
सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मिमुख्याः ॥ ३४॥

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोज-मत्स्य-कुरु-सृञ्जय-कैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल-पार्थ-भीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥ ३५॥

प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, वृषासुर आदि दैत्य, चाणूर और मुष्टिकादि मल्ल, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, भूमिपुत्र नरकासुर और पौण्ड्रकादि जो सभी जीव तथा शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्र, राजा नग्नजित्के सात बैल, संग्राममें अपनी ही प्रशंसा करनेवाले शम्बरासुर, विदूरथ और रुक्मी आदि प्रमुख प्रसिद्ध शूर एवं काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय, सृञ्जयादि देशोंके वीर राजा अपने-अपने हाथोंमें धनुष ग्रहण करके युद्ध करेंगे—वे सभी बलराम, भीम और अर्जुनादिके द्वारा मारे जायेंगे। किन्तु वास्तवमें इन सबका वध तो श्रीहरि ही करेंगे। इस प्रकारके लोग श्रीहरिका दर्शन करनेके योग्य नहीं होते। प्रलम्बासुर और धेनुकासुर आदि दैत्य निधन होनेपर सायुज्य प्राप्त करते हैं, जब कि पौण्ड्रक-दन्तवक्रादि जीव वैकुण्ठको जाते हैं॥ ३४-३५॥

कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म॥ ३६॥

कालके प्रभावसे मनुष्योंकी बुद्धि संकुचित होने लगती है और उनकी आयु भी कम हो जाती है। ऐसी स्थितिमें मनुष्योंके लिए वेदोंके तात्पर्योंको हृदयंगम करना अति दुर्गम होगा—यह विचार करके भगवान् कल्प-कल्पमें सत्यवतीके गर्भसे व्यासरूपमें आविर्भूत होते हैं और वे वेदरूपी वृक्षका विभिन्न शाखाओंके रूपमें विभाजन करते हैं॥ ३६॥

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥ ३७॥

देवताओंके शत्रु असुरलोग भी वैदिक-पथका आश्रय लेकर उसके प्रभावसे मय दानव द्वारा बनायी हुई अलक्षित वेगवाली पुरियोंका निर्माण करेंगे और वहीं रहकर लोगोंका विनाश करने लगेंगे। तब भगवान् उन लोगोंकी बुद्धिको मोहित करने तथा उनमें अत्यन्त लोभ उत्पन्न करनेके लिए पाखण्ड-वेश धारण करके बुद्धरूपमें अवतीर्ण होंगे और बहुत प्रकारके पाखण्ड-धर्म रूपी उपधर्मोंका प्रचार करेंगे॥ ३७॥

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न कथा हरेः स्युः
पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषड़िति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते॥ ३८॥

कलियुगके अन्तमें वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेमें तत्पर व्यक्तियोंके आश्रमोंमें भी हरिकथा-कीर्त्तनके नहीं होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीनों वर्ण पाखण्डी हो जायेंगे। शूद्र, म्लेच्छ आदि राजा हो जायेंगे। 'स्वाहा', 'स्वधा', 'वषट्' इत्यादि वेदमन्त्रकी ध्वनियाँ सुनायी नहीं पड़ेंगी। तब कलिपर शासन करनेके लिए भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे॥ ३८॥

सर्गे तपेऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्यु-वशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः॥ ३९॥

हे नारद! जब सृष्टि रचनाका काल आता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति और मैं (ब्रह्मा); सृष्टिकी स्थिति (रक्षण) के समय धर्म, यज्ञ (विष्णु), मनु, देवता और राजागण; तथा सृष्टिके संहार-कालमें

अधर्म, हर (रुद्र), क्रोधी सर्प एवं असुर आदि—ये समस्त ही अनन्त शक्तिधारी भगवान्‌की मायाकी विभूतियोंके रूपमें प्रकटित होते हैं॥ ३९॥

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥ ४०॥

जिन श्रीविष्णुने एकबार त्रिलोकीको नापते समय त्रिविक्रमावतार धारण करके अपने चरणोंके प्रबल वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोक आदि तक सारा ब्रह्माण्ड कँपा दिया था और फिर उन्होंने अपनी शक्तिसे सत्यलोक सहित समस्त ब्रह्माण्डको स्थिर भी कर दिया था, अतएव कौन व्यक्ति उनके पराक्रमकी गणना करनेमें समर्थ हो सकेगा? अर्थात् जो व्यक्ति अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके धूलि-कणोंकी एक-एक करके गणना कर सकता है, ऐसे पण्डित व्यक्ति भी भगवान् श्रीविष्णुके पराक्रमोंकी गणना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ ४०॥

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥ ४१॥

हे नारद! मैं (ब्रह्मा) एवं तुम्हारे बड़े भाई सनकादि मुनि भी जब उन परमपुरुष भगवान्‌की मायाशक्तिका ही अन्त नहीं पा सकते, तब फिर उनकी चित्-शक्तिका अन्त पाना तो बहुत दूरकी बात है। आदिदेव अनन्त हजारों मुखोंसे भगवान्‌के गुणोंका नित्य कीर्त्तन करते रहते हैं, परन्तु आज तक भी उन गुणोंकी सीमाको प्राप्त नहीं कर सके, फिर अन्यान्य जीव उन्हें किस प्रकारसे जान सकेंगे?॥ ४१॥

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।

ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥ ४२॥

जो लोग तन, मन, वचनसे कपटताका त्याग करके तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी इच्छासे रहित होकर अर्थात् एकान्तिक रूपसे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें शरणागत होते हैं, उनपर ही वे अनन्त भगवान् कृपा करते हैं। ऐसे शरणागत भक्त ही दुस्तरा दैवी-मायाको पार कर पाते हैं तथा मायाके वैभवको भी जान सकते हैं। वास्तवमें ऐसे सब शरणागत भक्तोंकी कुक्कुर-शृगाल द्वारा भक्ष्य अपनी और पुत्रादिके देहमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि नहीं होती॥ ४२॥

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च॥ ४३॥

इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेह-गाधि-
रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः॥ ४४॥

सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलाद-
सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त-
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर-श्रुतदेववर्याः ॥ ४५॥

हे नारद! मुझपर भगवान्‌की कृपा है, इसलिए मैं उन परमपुरुषकी योगमायाको जानता हूँ तथा तुम भी जानते हो। भगवान् महादेव, दैत्यकुलभूषण प्रह्लाद, स्वायम्भुव मनु, मनुपत्नी शतरूपा, मनुपुत्र-प्रियव्रत और उत्तानपाद, मनुपुत्री देवहूति आदि, प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेनके पिता अङ्ग एवं ध्रुव भी इस योगमायाके तत्त्वको जानते हैं। इक्ष्वाकु, ऐल (पुरुरवा), मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप आदि राजा तथा सौभरि, उतङ्क, शिवि, देवल, पिप्पलाद,

सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण एवं विभीषण, हनुमान, शुकदेव, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर और श्रुतदेव आदि महात्मा भी जानते हैं॥ ४३–४५॥

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रम–परायण–शीलशिक्षा–
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥ ४६॥

जो व्यक्ति भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक रूपमें आश्रित प्रेमीभक्तोंका आनुगत्य स्वीकार करके उनके द्वारा आचरण किये जानेवाले भक्तिधर्मकी शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे स्त्री, शूद्र, हूण, शबर इत्यादि पाप–जातिके होनेपर भी, अथवा पापके कारण हंस, गज, शुक, सारिका आदि पशु–पक्षी योनि प्राप्त करके भी भगवान्‌की मायाको जानकर संसार–सागरसे पार हो सकते हैं। अतएव जो समस्त मनुष्य श्रीगुरुके मुखसे भगवान्‌के नाम–रूपादिका श्रवण करके भगवान्‌के उस स्वरूपको हृदयमें धारण करते हैं, वे भगवान्‌की उस मायाको जानकर उसे अनायास ही निश्चित रूपसे पार कर जाते हैं—इस विषयमें फिर आश्चर्य ही क्या है?॥ ४६॥

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥ ४७॥

ज्ञानीजन जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह परमपुरुष विचित्र रूप–गुणादिसे युक्त भगवान्‌की प्रथम प्रतीति हैं। वह ब्रह्म प्रतिरोध–मात्र, सदैव एकरस, नित्य सुख–स्वरूप, शोकसे अतीत, सदा क्षोभ रहित, अभय, शुद्ध, सम और सत्–असत्‌से परे हैं। लौकिक शब्द उसे प्रकाशित नहीं कर सकते अर्थात् वह साधारण शब्दके विषय नहीं हैं, किन्तु वह उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय हैं। और तो क्या, माया भी उनके

सामने जानेमें लज्जा बोध करती है और उनसे दूरमें ही अवस्थित रहती है॥ ४७॥

सध्र्यङ्नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं।
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः॥ ४८॥

हे नारद! यत्नशील योगी और संन्यासी (ज्ञानी) आत्माके सहचर-स्वरूप मनको परमात्मा और ब्रह्म-स्वरूपमें संलग्न कर देते हैं, तथा 'अभेदके साधनभूत ज्ञानकी अब कोई आवश्यकता नहीं है'—ऐसा समझकर उस ज्ञानको भी त्याग देते हैं। जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति कुआँ खोदते-खोदते धनको प्राप्त कर धनी हो जानेपर कुआँ खोदनेके साधन-स्वरूप कुदालका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार उक्त योगी एवं ज्ञानी परमात्मा अथवा ब्रह्ममें अपने मनके संलग्न हो जानेपर अभेदके साधन-स्वरूप ज्ञानका भी परित्याग कर देते हैं। परन्तु इसके विपरीत भगवद्भक्तों द्वारा अपने साध्यकी प्राप्ति कर लेनेपर वे अपने साधन (भक्ति) को और भी तीव्र कर देते हैं, अर्थात् वे अपने साधनका और भी अधिक समादर करने लगते हैं। वस्तुतः भगवद्भक्तोंके लिए जिस प्रकार भगवद्भक्ति साधन है, उसी प्रकार वही भक्ति उनका साध्य भी है॥ ४८॥

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः॥ ४९॥

परमात्माके उपासक, ब्रह्मके उपासक अथवा अन्य कोई भी उपासक क्यों न हों, किसीकी भी भगवान्के आश्रयके बिना फलसिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् ही पाँचों प्रकारकी मुक्तियों और दूसरे-दूसरे पुरुषार्थोंके एकमात्र ईश्वर हैं, इसलिए कर्मी, ज्ञानी और योगीके लिए भी अपने-अपने साधनकी सिद्धिके लिए भगवद्भक्तिका आश्रय लेना ही कर्त्तव्य है। भगवान्की प्रेरणासे शुद्ध भक्तोंका दास्य, सख्यादि भावोंसे युक्त जो स्वभाव है, उस स्वभावसे किये जानेवाले उत्तम साधनसे सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु परमात्मा और

ब्रह्मके साधनसे वैसी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अतएव प्रेमकी सिद्धिके लिए भक्तोंको भक्तिके अतिरिक्त कर्म-ज्ञान-योगादि अन्य कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि भक्तियोग या ज्ञानादिका साधन करते-करते सिद्धिको प्राप्त करनेसे पहले ही देह-त्याग हो जाये, तो भी भक्ति-ज्ञानादिके साधनकी वासनाके अनुसार समुचित स्थानपर पुनः वैसे साधनके उपयोगी देहकी प्राप्ति होती है तथा साधन द्वारा ही अगले जन्ममें सिद्धि प्राप्ति सम्भव होती है। इसका कारण है कि कालवशतः शरीरके आरम्भक (संघटनके द्रव्य-स्वरूप) पञ्चभूतोंका वियोग होकर देह-त्याग हो जानेपर भी देहमें स्थित जीव देहस्थ आकाशके समान विनाशको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा जन्मरहित वस्तु है, वह देहके साथ उत्पन्न नहीं होता॥ ४९॥

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्॥ ५०॥

हे वत्स! इस विश्वको सङ्कल्पसे प्रकाशित करनेवाले भगवान्‌का स्वरूप मैंने तुम्हें संक्षेपमें बतलाया है। समष्टि और व्यष्टिात्मक जगत्‌रूप कार्य एवं जीव और मायारूप कारण—ये सब श्रीहरिसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं अर्थात् श्रीहरि ही एकमात्र अद्वय वस्तु हैं॥ [(१)]५०॥

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु॥ ५१॥

हे नारद! ऐसा मत समझना कि यह सब केवल मैं तुम्हें अपनी कल्पनाके अनुसार बतला रहा हूँ। भगवान्‌ने साक्षात् रूपसे मुझे इसका उपदेश दिया था तथा इसका नाम ही भागवत पुराण है। यह

[(१)] जीव और माया उन चित्-शक्तिमान श्रीहरिकी ही शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमानमें अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है, इसी कारणसे शक्तियोंकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है। श्रीहरि तटस्था जीवशक्ति और बहिरङ्गा मायाशक्तिसे पृथक् हैं, परन्तु ये शक्तियाँ उनके ही आश्रित हैं। श्रीहरि जगत्‌से स्वतन्त्र, चैतन्य एवं आनन्दमय हैं। उनके अनासक्त द्रष्टामात्र होनेसे मायाशक्ति और जीवशक्तिके दोषोंका सम्पर्क मात्र भी उनमें नहीं है।

भगवान्‌की विभूतियों (अंश-कलावतारों) का संग्रह-स्वरूप है अर्थात् साक्षात् भगवान् इस शास्त्रमें विराज रहे हैं। अतएव तुम भी सर्वत्र इसका विस्तार करके इस भागवतकी सेवा करो॥ ५१॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥ ५२॥

जिस प्रकारसे इस श्रीमद्भागवतका वर्णन करनेसे सबकी आत्मा और सबके आधार श्रीहरिके प्रति मनुष्यमात्रकी ही प्रेममयी भक्ति उदित हो, तुम आजसे ही उसी प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिका वर्णन अर्थात् भागवतका प्रचार करनेका सङ्कल्प करो॥ ५२॥

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥ ५३॥

यद्यपि यह सृष्टि आदि लीलाएँ मायासे सम्बन्धित हैं, तथापि इनका भगवान्‌से सम्बन्ध होनेके कारण ये लीलाएँ निर्गुण हैं। जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ इन लीलाओंका नित्य श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं अथवा इनके वर्णनका अनुमोदन करते हैं, वे कभी भी मायाके द्वारा विमोहित नहीं होते॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीब्रह्मानारद-संवादो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्के विविध प्रश्न

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः॥ १॥

एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्वं तत्त्वविदांवर।
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः॥ २॥

महाराज परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे कहा—हे ब्रह्मन्! जब ब्रह्माजीने देवताके समान सौम्य दर्शनयुक्त श्रीनारदको प्राकृत गुणोंसे रहित श्रीभगवान्के गुणोंका वर्णन करनेका आदेश दिया, तब उन्होंने किस-किसके समक्ष और किस-किस प्रकारसे अपूर्व शक्तिमान श्रीहरिकी परम मङ्गलमयी कथाओंका वर्णन किया। मैं इस तत्त्वको जानना चाहता हूँ। आप तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, अतः आप कृपापूर्वक मुझे बतलाइये॥ १-२॥

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्॥ ३॥

हे महाभाग्यशाली श्रीशुकदेव गोस्वामी! मैं जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विषय-मलसे निर्मुक्त एवं अन्य समस्त आसक्तियोंसे शून्य होकर अपने मनको अखिलात्मा श्रीकृष्णमें सन्निविष्ट करके अपनी देहका परित्याग कर सकूँ—इस विषयमें आप मुझे उपदेश दीजिये॥ ३॥

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि॥ ४॥

जो श्रीहरिकी परम कल्याणमयी कथाओंको अत्यन्त श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण करते हैं अथवा स्वयं कीर्त्तन करते हैं, भगवान् अतिशीघ्र ही उन भक्तोंके हृदयमें स्वयं ही आकर विराजमान हो जाते हैं। इसके

लिए भक्तोंको पृथक् रूपसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि श्रवण-कीर्त्तनके फलस्वरूप स्मरण तो स्वयं ही होने लगता है॥ ४॥

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥ ५॥

श्रीहरि कथाके रूपमें कानोंके माध्यमसे अपने भक्तोंके हृदयमें प्रवेश करके स्वयं ही उनके दास्य-सख्यादि भावरूप हृद-कमलासनपर विराजित हो जाते हैं। अतः जिस प्रकार शरद्-ऋतुके आगमनपर समस्त नदियों और सरोवरों आदिकी मलिनता सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट होनेपर उनका जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् उन भक्तोंके सभी प्रकारके पाप तथा काम, क्रोध, हिंसादिरूप मलिनताके लेशमात्रको भी बाकी न रखते हुए उन्हें सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देते हैं॥ ५॥

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥ ६॥

जिस प्रकार कोई पथिक धनादिके उपार्जनके कष्टसे मुक्त होकर अर्थात् परिपूर्ण अर्थका संग्रह करके जब अपने घरको लौट आता है, उस समय उसकी सभी आशाएँ पूर्ण हो जानेके कारण वह अपने घरकी शान्तिको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण श्रीकृष्णसे अभिन्न उनकी कथाओंके श्रवणरूप संस्पर्शसे सम्पूर्ण रूपसे शुद्ध हो गया है, वे एकक्षणके लिए भी श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका परित्याग नहीं कर पाते॥ ६॥

यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! यद्यपि जीवात्माका पञ्चभूतादिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि जीवका शरीर पञ्चभूतोंसे ही बनता है। क्या ऐसा स्वाभाविक रूपसे ही होता है अर्थात् बिना कारणके ही सिद्ध होता है? अथवा कर्मादि किसी कारणवशतः होता है? आप इस विषयको यथार्थ रूपसे जानते हैं, अतएव इसे मुझे भी बतलाइये॥ ७॥

आसीद्यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम्।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक्।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! लोक-सृष्टिके लक्षणसे युक्त अण्डात्मक पद्म जिनकी नाभिसे उत्पन्न हुआ, वे भगवान् यदि अपने उचित परिमाणवाले अङ्गोंसे युक्त लौकिक पुरुषोंसे भिन्न हैं, तब वे इन लौकिक पुरुषोंके समान स्थूल, कृश एवं दीर्घ अङ्गों तथा उसी प्रकार कर-चरणादिसे युक्त क्यों है? यदि ईश्वरको हाथ पैरोंसे युक्त जीवके समान ही कहा जाये, तब फिर भगवान् और लौकिक पुरुषोंमें अन्तर क्या है? जीवसे भगवान्‌की विशेषता क्या है?॥ ८॥

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः॥ ९॥

लौकिक पुरुष और ईश्वरमें अवश्य ही भेद कहा जायेगा, क्योंकि जैसा आपने बतलाया है—ईश्वरके अनुग्रहसे ब्रह्माजी समस्त प्राणियोंके स्रष्टा और नियन्ता हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वरको निराकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अजन्मा होनेपर भी ब्रह्माजीने उनके नाभिकमलसे उत्पन्न होकर उनके रूपका दर्शन किया था॥ ९॥

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।
मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥ १०॥

जिनसे समस्त जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, वही पुरुष मायाके अधिपति, प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता तथा सभीमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित हैं। वे पुरुष अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिका स्पर्श न करते हुए ही किस स्थानपर तथा किस रूपमें शयन करते हैं? इस विषयमें भी मुझे बतलाइये॥ १०॥

पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम॥ ११॥

'लोकपालोंके साथ सम्पूर्ण लोकोंके रूपमें उन पुरुषके अङ्गोंकी कल्पना होती है', और पुनः 'विराट् पुरुषके अङ्गोंसे लोकपाल सहित

लोकोंकी कल्पना होती है'—ये दोनों ही प्रकारके वचन मैंने आपके मुखसे सुने हैं। इन दोनों कथनोंमें यदि कोई विशेषता है, तो कृपया आप उसे भी कहिये॥ ११॥

यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।
भूत-भव्य-भवच्छब्द आयुर्मानञ्च यत् सतः॥ १२॥

महाकल्प (सृष्टि, स्थिति और प्रलयकाल) तथा अवान्तर-कल्प (मन्वन्तर इत्यादि) का परिमाण कितना है? किस प्रकारसे भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान—इन तीनों कालोंका अनुमान किया जाता है? तथा स्थूल देहाभिमानी मनुष्य, पितर एवं देवताओंकी आयुका परिमाण काल कितना है? इन सबका भी वर्णन कीजिये॥ १२॥

कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम॥ १३॥

हे द्विजश्रेष्ठ! कालकी त्रुटि आदि सूक्ष्म-गति और वर्ष आदि स्थूल-गति किस प्रकारसे जानी जाती है तथा शुभ एवं अशुभ कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्थानोंकी संख्या, परिमाण और इनका जो प्रकार है, वह भी मुझे बतलाइये॥ १३॥

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनाञ्चैव परिणाममभीप्सताम्॥ १४॥

सत्त्वादि गुणों और उनके परिणामसे देव आदि योनियोंको प्राप्त करनेके अभिलाषी जीवोंमें किस परिमाणमें सुकृत, दुष्कृत, योग, ज्ञान और भक्तिरूप कर्मोंके उदय होनेकी सम्भावना रहती है? अर्थात् मनुष्योंमें कौन कर्मके और कौन ज्ञान आदिके अधिकारी हैं? किस प्रकारसे कौन-कौनसा साधन करके क्या-क्या साध्य वस्तु प्राप्त होती है—यह सब भी मुझे बतलाइये॥ १४॥

भूः-पाताल-ककुब्व्योम-ग्रह-नक्षत्र-भूभृताम्।
सरित्समुद्र-द्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम्॥ १५॥

भूमि, पाताल, दिशाएँ, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र,

द्वीप—ये सब और इन स्थानोंमें जो समस्त प्राणी वास करते हैं, उन सबकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है?॥ १५॥

प्रमाणमण्डकोषस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
महताञ्चानुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः॥ १६॥

बाहर और भीतरके भेदसे इस ब्रह्माण्डका परिमाण मुझे बतलाइये। महत् व्यक्तियोंके चरित्र एवं जो-जो लक्षण और स्वभाव हैं तथा इनके अनुसार जो वर्ण और आश्रम धर्म निर्दिष्ट होते हैं, वह भी कृपा करके कहिये॥ १६॥

युगानि युगमानञ्च धर्मो यश्च युगे युगे।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः॥ १७॥

युग कितने प्रकारके हैं? उनका परिमाण क्या है? इन युगोंके अलग-अलग धर्म क्या-क्या हैं? किस-किस युगमें भगवान् श्रीहरिके कौन-कौनसे युगावतार होते हैं और उनके कैसे-कैसे आश्चर्यजनक चरित्र हैं? यह सब भी कृपा करके मुझे बतलाइये॥ १७॥

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः।
श्रेणीनां राजर्षीणाञ्च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम्॥ १८॥

मनुष्य-मात्रका साधारण धर्म तथा विशेष धर्म अर्थात् वर्ण और आश्रमके अनुसार धर्म क्या-क्या हैं? विभिन्न व्यवसायोंसे जीविका उपार्जन करनेवाले व्यक्तियोंका व्यवहार, नियम और लक्षणरूप धर्म क्या है? प्रजा-पालनके अधिकारी धर्म-परायण राजाओंका धर्म क्या है? तथा जीवोंका आपात्कालीन धर्म अर्थात् बड़े कष्टके साथ जीविकाका निर्वाह करनेवाले जीवोंका धर्म क्या है? इन सबको कहिये॥ १८॥

तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम्।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च॥ १९॥

प्रकृति आदि तत्त्वोंकी संख्या कितनी है? उनका स्वरूप किस प्रकारका है? उन-उन कार्योंके हेतु उनके लक्षण किस प्रकारके हैं?

देवपूजाका प्रकार अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान्‌की उपासना-प्रणाली कैसी है? अध्यात्म शास्त्रोंमें बतलाये गये अष्टाङ्गयोगकी विधि कैसी है? यह भी कृपापूर्वक बतलाइये॥ १९॥

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम्।
वेदोपवेद-धर्माणामितिहास-पुराणयोः ॥ २०॥

शम्भु आदि महानुभाव भक्तोंकी अणिमादि ऐश्वर्यरूपा गति किस प्रकारकी है? योगी पुरुष आदिके लिङ्गशरीरका लय किस प्रकारसे होता है? ऋक् आदि वेदोंका तात्पर्य क्या है? आयुर्वेदादि उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास एवं पुराणोंके लक्षण क्या-क्या हैं?॥ २०॥

संप्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः।
इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः॥ २१॥

समस्त प्राणियोंके लिए संसार-सिन्धुसे भलीभाँति उत्तीर्ण होनेका साधन क्या है? शूरता (सामर्थ्य) अर्थात् भक्तिके अनुकूल विषय क्या हैं? विनाश अर्थात् भक्तिके प्रतिकूल विषय क्या-क्या हैं? इन सबको भी बतलाइये। अथवा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार किस प्रकार होता है? यज्ञ-यागादि वैदिक कर्म तथा बावली, कुआँ, तलाबादि खुदवाना, देवमन्दिर-प्रतिष्ठा, अन्न-दान, वृक्षवाटिका निर्माण आदि स्मार्त्त-कर्म एवं काम्य-कर्मोंकी विधि तथा धर्म, अर्थ और कामके साधनोंकी विधिका भी वर्णन कीजिये॥ २१॥

यो वानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः॥ २२॥

महाप्रलयके समय जिन जीवोंकी उपाधि (स्थूल एवं सूक्ष्म देह) ईश्वरमें लय होती है, उन जीवोंकी पुनः किस प्रकारसे सृष्टि होती है? पाखण्डियोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है? जीवोंका मायारचित संसारमें बन्धन और संसारसे मुक्तिका हेतु क्या है? उनका निज-स्वरूप (श्रीकृष्ण-दास्य) में पूर्ण रूपसे अवस्थान किस प्रकारका है?॥ २२॥

यथात्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर हैं। वे अपनी योगमायाके द्वारा किस प्रकारसे पूतना-वधादि लीला करते हैं? तथा प्रलयकालमें इसी आत्म-माया द्वारा मौषलादि अन्तर्द्धान-लीलारूप विशेष भावकी सृष्टि करके वे किस प्रकार साक्षीके समान उदासीन रहकर क्रीड़ा करते हैं? यह सब भी बतलाइये॥ २३॥

सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने॥ २४॥

हे भगवन्! हे महामुने! मैं आपके शरणागत हूँ। जिन समस्त विषयोंमें मैंने आपसे प्रश्न किये हैं और जिन सब विषयोंको मैं पूछ नहीं सका, आप कृपापूर्वक उन सबका तात्त्विक निरूपण करके मेरी जिज्ञासाओंको शान्त कीजिये॥ २४॥

अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथात्मभूः।
अपरे चानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्॥ २५॥

हे मुने! आत्मयोनि (स्वयंभू) ब्रह्माके समान आप ही पूछे गये इन विषयोंको जाननेवाले एकमात्र तत्त्ववेत्ता अर्थात् परम प्रमाण हैं। इस लोकमें अन्यान्य सभी लोग अपनी पूर्व-परम्परासे सुनी-सुनायी बातोंका ही आचरण करते हैं, अर्थात् उन प्राचीनजनोंके द्वारा अनुष्ठित कर्मादिको देखकर उनसे बार-बार उसीका अध्ययन करते हैं और उनका ही अनुसरण करते हैं॥ २५॥

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी।
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात्॥ २६॥

हे ब्रह्मन्! अनशन तथा कुपित ब्राह्मणके शापसे मेरा चित्त व्याकुल नहीं हो रहा है, (अर्थात् इनसे मेरे प्राणोंका वियोग नहीं हो सकता,) क्योंकि मैं तो आपके मुखारविन्दसे निकले हुए वाक्यरूप समुद्रसे उदित अच्युत-कथामृतका पान कर रहा हूँ॥ २६॥

श्रीसूत उवाच—

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि॥ २७॥

श्रीसूत गोस्वामीने ऋषियोंसे कहा—इस प्रकार महाराज परीक्षित्‌ने सन्तोंकी उस सभामें जब श्रीशुकदेव गोस्वामीसे सात्त्वत-पति श्रीकृष्णकी गुण-गाथाका वर्णन करनेके लिए जिज्ञासा की, तो श्रीशुकदेव अत्यन्त आनन्दित हुए॥ २७॥

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित्‌को वेदगर्भ श्रीमद्भागवत महापुराणको सुनाना आरम्भ किया, जिसे सृष्टिके प्रारम्भ होनेपर सर्वप्रथम कल्प—ब्रह्मकल्पमें स्वयं भगवान्‌ने ब्रह्माजीको सुनाया था॥ २८॥

यद्यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति।
आनुपूर्व्येण तत् सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ २९॥

पाण्डुवंशशिरोमणि महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जिन विषयोंसे सम्बन्धित प्रश्नोंको पूछा था, श्रीशुकदेव गोस्वामीने क्रमशः उन समस्त विषयोंका प्रत्युत्तर देना आरम्भ कर दिया॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीपरीक्षित् प्रश्नो नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

राजा परीक्षित् द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर और भगवान् द्वारा ब्रह्माजीको दिये गये चतुःश्लोकी भागवतके उपदेशका वृत्तान्त

श्रीशुक उवाच—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिका स्वप्नमें देखी गयी देहादि वस्तुओंके साथ वास्तविक रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा श्रीहरिकी मायाके बिना अन्य किसी भी कारणसे अनुभवस्वरूप अर्थात् ज्ञानमय जीवात्माका भी देहादिके साथ वस्तुतः कोई सम्बन्ध संघटित नहीं हो सकता॥ १॥

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते॥ २॥

इस बहुरूपिणी मायाके प्रभावसे ही जीव देव, नर, बालक, युवा, वृद्धादि बहुत प्रकारके रूपोंवाला प्रतीत होता है। जब जीव इस मायाके ही गुणोंमें पूरी तरह रम जाता है, तब वह जड़शरीरमें 'मैं' और शरीरसे सम्बन्धित वस्तुओंमें 'मेरा'—इस प्रकारका अभिमान करने लगता है॥ २॥

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः।
रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्॥ ३॥

किन्तु जिस समय जीव पुरुष और प्रकृतिसे अतीत होकर अपने स्वरूपकी महिमा (कृष्णदासत्व) में अनुरक्त हो जाता है, अर्थात्

ममतास्पद श्रीभगवान्से ही सम्पूर्ण रूपसे प्रेम करने लगता है, तब उसका मोह दूर हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह मायाकृत देहादिमें 'मैं' और 'मेरा'—इन दोनों प्रकारकी बुद्धिका परित्यागकर अपने शुद्ध जीवात्म-स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है॥ ३॥

आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः॥ ४॥

भगवान् श्रीहरिने ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें जो अपने सत्य, चिद्घन स्वरूपका दर्शन कराया तथा अपने भजनके विषयमें बतलाया—उसे जीवके तत्त्व-ज्ञानके उद्देश्यसे ही समझना। यही मैं तुम्हें बतलाऊँगा॥ ४॥

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवत्॥ ५॥

इस जगत्के परम गुरु और आदिदेव ब्रह्माजी अपने आधार-स्थान पद्मासनपर बैठकर मन-ही-मन विचार करने लगे कि किस प्रकारसे इस जगत्की सृष्टि की जाये। किन्तु वे तब भी प्रपञ्चकी सृष्टिके विषयमें उस निश्चित ज्ञानदृष्टिको प्राप्त नहीं कर सके, जो सृष्टिके लिए वाञ्छनीय विधि है॥ ५॥

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः॥ ६॥

वे इस प्रकारसे चिन्तन कर ही रहे थे कि उसी समय दो अक्षरोंसे ग्रथित एक ही शब्द प्रलय-जलके भीतरसे दो बार उनके सम्मुख उच्चरित होता हुआ सुनायी पड़ा। उस शब्दका प्रथम वर्ण व्यञ्जनोंका सोलहवाँ अक्षर 'त' एवं द्वितीय वर्ण व्यञ्जनोंका इक्कीसवाँ अक्षर 'प' था। हे राजन्! यह 'तप' शब्द ही निष्किञ्चन त्यागियोंका एकमात्र धन माना जाता है॥ ६॥

निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः॥ ७॥

इस 'तप' शब्दको दो बार सुनते ही ब्रह्माजीने उक्त शब्दके उच्चारण करनेवालेको देखनेके लिए चारों दिशाओंमें दृष्टि डाली, किन्तु उन्हें कहीं भी कोई भी दिखायी नहीं पड़ा। तब वे पुनः अपने आसनपर बैठ गये 'मुझे तपस्या करनेके लिए किसीने साक्षात् आदेश दिया है'—ऐसा अनुभव करके तपस्यामें ही नियुक्त होना अपने लिए हितकर समझकर उन्होंने तपस्यामें अपने मनको पूरी तरह लगा दिया॥ ७॥

दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥ ८॥

तपस्वियोंमें श्रेष्ठ उन ब्रह्माजीने 'तप' 'तप'—इस वाक्यके अर्थमें अमोघदृष्टि अर्थात् सत्यदर्शनकर अपने प्राण और मनको जय कर, तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको संयत करके एकाग्र चित्तसे एक हजार दिव्य वर्ष तक ऐसी तपस्या की। जिसके प्रभावसे वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सके॥ ८॥

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेश–विमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्॥ ९॥

अनन्तर भगवान्ने ब्रह्माजीकी इस प्रकारकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना लोक—महावैकुण्ठधाम दिखलाया। उस वैकुण्ठधाममें क्लेश और क्लेशसे उत्पन्न मोह अथवा भय नहीं है तथा उस स्थानसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी स्थान नहीं है। पुण्यवान आत्मवेत्तागण सदा–सर्वदा उस धामकी स्तुति किया करते हैं॥ ९॥

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥ १०॥

उस वैकुण्ठधाममें रजोगुण, तमोगुण तथा इनसे मिश्रित सत्त्वगुण भी नहीं है। उस स्थानपर मात्र शुद्ध-सत्त्व ही वर्त्तमान है। वहाँ कालका प्रभाव नहीं है तथा लौकिक सुख-दुःखादिकी कारणभूता मायाका भी प्रवेश नहीं है, फिर अन्यान्य राग द्वेषादिका होना तो बहुत दूरकी बात है। वहाँ देवता एवं असुर दोनों ही के द्वारा वन्दित भगवान्के पार्षदगण सर्वदा विराजमान रहते हैं॥ १०॥

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवाल-वैदूर्य-मृणालवर्चसः
परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥ ११॥

इन सभी भगवत्-पार्षदोंका वर्ण उज्ज्वल आभासे युक्त श्याम है, नेत्र खिले हुए कमलके समान और वस्त्र पीले रङ्गके हैं। उनके अति कोमल अङ्ग-प्रत्यङ्गसे सौन्दर्य झलकता है। उन सभीकी चार भुजाएँ हैं तथा वे सभी अत्यन्त प्रभाशाली हैं। वे मणिजटित स्वर्णमय हारादि आभूषणोंसे अलंकृत और महातेजस्वी हैं। उनकी कान्ति मूँग, वैदूर्यमणि और उज्ज्वल कमल-तन्तुके समान है। उनके कानोंमें दीप्तिमान कुण्डल, सिरपर अतिशय उज्ज्वल मुकुट और गलेमें झिलमिलाती मालाएँ शोभायमान हैं॥ ११॥

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः॥ १२॥

जिस प्रकार आकाश बिजलीसे सुशोभित घने बादलोंसे परिमण्डित होकर शोभायमान होता है, उसी प्रकार वह वैकुण्ठधाम महात्माओंके देदीप्यमान विमानों और वराङ्गनाओं (कामिनियों) की परमोज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित रहता है॥ १२॥

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः
करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रियकर्म गायती॥ १३॥

इस वैकुण्ठधाममें अनन्त सम्पत्तियोंकी मूर्त्तिमती लक्ष्मीदेवी प्रेयसीके रूपमें अपनी सहचरी विभूतियोंके साथ विमलकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिके श्रीचरणोंकी पूजा करती हैं। वे लक्ष्मीदेवी प्रेमके वशीभूत होकर झूलेपर झूलती हुई अपने प्रियतम श्रीनारायणकी लीलाओंका गान करती रहती हैं। उनके सौन्दर्य और सौरभसे मतवाले होकर वसन्तके अनुचर-भ्रमर उन लक्ष्मीजीका गुण-गान करने लगते हैं॥ १३॥

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः
स्वपार्षदाग्रैः परिसेवितं विभुम्॥ १४॥

ब्रह्माजीने देखा कि उस वैकुण्ठलोकमें समस्त भक्तोंके वल्लभ, यज्ञपति, जगत्पति, लक्ष्मीपति, विभु भगवान् विराजमान हैं। वहाँ सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण आदि पार्षदवृन्द उन्हें घेरकर उनकी सेवा कर रहे हैं॥ १४॥

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम्।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया॥ १५॥

भगवान् श्रीहरि वहाँ सेवकोंपर अपनी कृपा वितरण करनेके लिए उपस्थित रहते हैं। उनकी चितवन बड़ी मनमोहक है तथा देखनेवालोंका

आनन्द विधान करती है। उनका मुख-मण्डल सदैव ही मधुर मुसकानसे सुप्रसन्न रहता है तथा उनकी आँखोंमें लालिमा छायी रहती है। उनके श्रीमस्तकपर मुकुट एवं कानोंमें कुण्डल दीप्तिमान रहते हैं। वे चतुर्भुजधारी हैं। उन्होंने अपने श्याम वर्णपर पीतवर्णका झिलमिलता वस्त्र धारण कर रखा है। उनके वक्षःस्थलके वाम भागमें स्वर्ण रेखाकृति 'श्री' (लक्ष्मीदेवी) समलंकृत होकर सदा विराजमान रहती हैं॥ १५॥

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतुः-षोडश-पञ्चशक्तिभिः।
युतं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः
स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्॥ १६॥

(वैकुण्ठीय योगपीठका वर्णन करते हुए कहते हैं—)वे परमेश्वर श्रीनारायण श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजित हैं। वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य रूप चार अन्तरङ्ग शक्तियों; चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र इत्यादि सोलह बहिरङ्ग शक्तियों तथा कूर्म, अनन्त, गरुड़ इत्यादि पाँच समीप स्थित शक्तियों—इन पच्चीस शक्तियों द्वारा घिरकर तथा स्वरूपभूत ऐश्वर्यादि शक्तियोंसे युक्त होकर विराजमान हैं। भगवान्‌की लेशमात्र कृपा द्वारा योगी कभी-कभी इन सब शक्तियोंका आभासमात्र प्राप्त करते हैं। वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं और अपने स्वरूपभूत धाममें नित्य रमण करते हैं॥ १६॥

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्-
यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते॥ १७॥

उन भगवत्-स्वरूपके दर्शनमात्रसे ही ब्रह्माजीका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया तथा उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। विश्वकी रचना करनेवाले श्रीब्रह्माने प्रेमाश्रुसे छलकते नेत्रों सहित भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपना सिर झुकाकर प्रणाम किया। इसका कारण है कि

भागवत् परमहंसों अर्थात् भगवद्भक्तोंके मार्ग 'भक्तियोग' का आश्रय करनेसे ही भगवान् श्रीवासुदेवके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है॥ १७॥

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा
प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा
प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्॥ १८॥

तब प्रेमके वशमें रहनेवाले भगवान् अपने प्रिय ब्रह्माजीको शरणागत तथा प्रजा सृष्टिके लिए उपदेश देनेके योग्य देखकर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीभगवान्‌ने अत्यन्त प्रीतिके साथ अपने हाथोंसे उनका हाथ पकड़कर उनके प्रति समादर प्रदर्शित किया तथा मृदु-मन्द मुसकान करते-करते सुमधुर और सुललित वाणीमें कहना आरम्भ किया॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वयाहं तोषितः सध्रग्वेदगर्भ सिसृक्षया।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम्॥ १९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे वेदगर्भ! (ब्रह्मा—जिनके हृदयमें भगवान्‌ने समस्त वेदोंके ज्ञानको सञ्चारित किया) तुमने सृष्टि करनेकी इच्छासे बहुत समय तक तपस्या करके मुझे भलीभाँति सन्तुष्ट कर लिया है। मोक्षादि नाना प्रकारकी कामना-वासनाओंसे युक्त कपट योगी मुझे कभी भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते॥ १९॥

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माऽभिवाञ्छितम्।
ब्रह्मन् श्रेयः परिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः॥ २०॥

हे ब्रह्मन! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मुझसे अपनी अभिलषित वस्तु माँग लो, क्योंकि एकमात्र मैं ही समस्त अभिलाषाओंको प्रदान करनेमें समर्थ हूँ। सभी लोग श्रेय-प्राप्तिके लिए मङ्गलमय श्रवणादि साधनरूप जो कुछ भी परिश्रम करते हैं, मेरा साक्षात्कार (दर्शन) ही उसका चरम फल है। इसका कारण है कि मेरे भक्त मेरे दर्शनके अतिरिक्त किसी अन्य फलकी इच्छा ही नहीं करते॥ २०॥

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! तुमने जो मेरे इस वैकुण्ठलोकका दर्शन किया है, इसे मेरी ही इच्छाका प्रभाव समझो। तुमने मुझे देखे बिना ही निर्जनमें 'तप' 'तप'—मेरी इस वाणीको सुनकर कठोर तपस्या की है॥ २१॥

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ॥ २२॥

हे निष्पाप ब्रह्मन्! तुम सृष्टिके प्रारम्भमें अपने कर्त्तव्यके विषयमें विमूढ़ हो रहे थे। उस समय मेरे द्वारा आज्ञा दिये जानेपर तुम तपस्यामें नियुक्त हुए। तपस्या मेरा हृदय है तथा मैं तपस्याकी आत्मा अर्थात् आश्रय अथवा लक्ष्य हूँ॥ २२॥

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥ २३॥

मैं इस परिदृष्यमान जगत्की सृष्टि तपस्या द्वारा ही करता हूँ, तपस्यासे ही इसका पालन-पोषण करता हूँ और तपस्यासे ही पुनः इसका संहार करता हूँ। दुष्कर तपस्या ही मेरी शक्ति है॥ २३॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्॥ २४॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अध्यक्ष हैं तथा सबकी हृदय-कन्दराओंमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित रहते हैं। आप अपने अप्रतिहत ज्ञानके प्रभावसे सभीके अभीष्टको जानते हैं। अतएव मैं क्या करना चाहता हूँ—इससे भी आप अवगत ही हैं॥ २४॥

तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम्।
परावरे यथारूपे जानीयां ते त्वरूपिणः॥ २५॥

हे नाथ! तथापि मैं आपसे जो याचना कर रहा हूँ, मेरी उस अभिलाषाको आप परिपूर्ण कीजिये। मेरी प्रार्थना यह है कि मैं प्राकृत रूपरहित अर्थात् निरुपाधिक स्वरूप आपके पर (अप्राकृत) और अवर (प्राकृत)—इन दोनों ही प्रकारके रूपोंको जान सकूँ॥ २५॥

यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना॥ २६॥
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥ २७॥

हे माधव (हे लक्ष्मीपते)! आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। मकड़ी जिस प्रकार अपनेसे जाला निकालकर स्वयं ही उसमें विहार करती हैं, किन्तु स्वयं उसमें नहीं फँसती, उसी प्रकार आप स्वयं ही आत्म-माया (योगमाया) के प्रभावसे ब्रह्मादि नाना प्रकारके रूप प्रकटित करके विविध शक्तिसे समन्वित इस संसारकी जिस प्रकारसे सृष्टि, पालन एवं संहार करते हुए क्रीड़ा करते हैं—मुझे भी इन सबको समझनेकी बुद्धि प्रदान कीजिये॥ २६-२७॥

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्॥ २८॥

हे भगवन्! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे आलस्य त्याग करके मैं आपके द्वारा दी गयी उपदेशरूप आज्ञाका निश्चित रूपसे पालन कर सकूँ। इसके साथ ही तत्त्वज्ञानके उपदेशरूप आपका अनुग्रह प्राप्तकर मैं प्रजाकी सृष्टि करके भी अहङ्कारादि द्वारा कहीं अपनेको स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता न मान बैठूँ॥ २८॥

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम्।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिनः॥ २९॥

हे ईश! सखा जिस प्रकार सखाके साथ व्यवहार करता है, आपने भी मेरे हाथोंको पकड़कर मेरे साथ उसी प्रकारसे सम्मानपूर्वक व्यवहार किया है। अतएव आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि जब तक मैं बिना किसी व्याकुलताके अर्थात् स्थिर चित्त होकर उत्तम-मध्यमादिके भेदसे प्रजासृष्टि कार्यरूप आपकी सेवामें नियुक्त रहूँ, तब तक—मैं आपके समान स्वतन्त्र भगवान्, स्वराट् और आपके समकक्ष हूँ—इस प्रकारका अभिमान मुझमें कदापि उदित न हो॥ २९॥

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥ ३०॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि और रहस्यमयी प्रेमाभक्तिके साथ अत्यन्त गोपनीय शब्द शास्त्रोंका प्रतिपाद्य मेरा ज्ञान तथा उस प्रेमाभक्तिके अङ्ग—साधनभक्तिको मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, तुम इसे ग्रहण करो॥ ३०॥

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१॥

स्वरूपतः मेरा जो परिमाण (आकार) है, सत्तावान होना जो लक्षण है तथा मेरे (श्याम, चतुर्भुज आदि) जो-जो रूप (भक्तवात्सल्यादि) गुण और कर्म (लीलाएँ) हैं, तुम उन सब विषयोंका ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव मेरी कृपासे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करो॥ ३१॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२॥

सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृतिादि मुझसे पृथक् रूपमें अन्य कुछ भी नहीं था। सृष्टिके पश्चात् भी एकमात्र मैं ही रहता हूँ, क्योंकि यह विश्व भी मैं ही हूँ तथा प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट (बचा) रहता हूँ॥ ३२॥

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥ ३३॥

वास्तव प्रयोजन तत्त्वके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है अथवा सत्तायुक्त होनेपर भी मेरे अधिष्ठानमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसे ही मेरी माया समझो। उदाहरण स्वरूप—जिस प्रकार दो चन्द्रमाओंका अधिष्ठान न रहनेपर भी काँचादिमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतिछवि दिखायी देती है, अथवा जिस प्रकार राहु ग्रह-मण्डलमें रहनेपर भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार। भावार्थ यह है कि ज्योतिर्मय वस्तुके दर्शनके समय आभास और अन्धकारका दर्शन कुछ भी नहीं होता और आभास तथा अन्धकारके दर्शनकालमें ज्योतिर्मय वस्तुका दर्शन भी नहीं होता, तथा आभास और अन्धकारकी कर्त्तृत्व-सत्तामें ज्योतिर्मय वस्तुके अतिरिक्त उन दोनोंकी स्वतन्त्रता नहीं है। उसी प्रकार भगवान् और उनकी माया हैं। श्रीभगवान् ज्योतिर्मय वस्तु हैं—उनकी माया दो प्रकारकी है—आभास-स्थानीय जीव-माया और तम-स्थानीय गुण-माया। इन दोनोंके ही श्रीभगवान्के आश्रित होनेपर भी भगवदन्तरङ्ग-प्रतीतिमें जीव और मायाकी प्रतीतिका अभाव है और जीव और मायिक प्रतीतिमें भी भगवत्-प्रतीति नहीं होती है॥ ३३॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४॥

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत देव-तिर्यक् आदि उच्च-नीच प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपसे स्वतन्त्र होकर वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भी भूतमय जगत्में सभी प्राणियोंमें (सत्त्वाश्रयरूप परमात्मभावसे) प्रविष्ट होकर भी पृथक् भगवत्-स्वरूपमें सभीके भीतरमें और बाहरमें स्फुरित होता हूँ॥ ३४॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५॥

आत्म-तत्त्वके जिज्ञासु व्यक्ति मेरे स्वरूप-तत्त्वका अनुवृत्ति और व्यावृत्ति (निष्कासन) क्रमसे अथवा विधि और निषेध द्वारा विचार करके जो वस्तु सर्वत्र और सर्वदा नित्य है, उस विषयमें ही परिप्रश्न करेंगे॥ ३५॥

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

हे ब्रह्मन्! तुम चित्तकी परम एकाग्रताके साथ मेरे इस मतका अनुष्ठान करो। इसीसे कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टि करके भी तुम 'मैं ही सृष्टिकर्त्ता हूँ'—इस प्रकारके अहङ्कारसे कभी भी विमोहित नहीं होओगे॥ ३६॥

श्रीशुक उवाच—

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्।
पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः॥ ३७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अलौकिक नित्य-शरीरी श्रीहरिने लोकोंके परम अधिपति पितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश प्रदान करके उनके समक्ष ही अपने उस रूपको अन्तर्हित कर लिया॥ ३७॥

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्॥ ३८॥

श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको सौन्दर्य और सौरभ्यसे युक्त अपने रूपका प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। उनका वह स्वरूप जब ब्रह्माजीके सम्मुख ही अन्तर्हित हो गया, तब सर्वभूतमय ब्रह्माजीने श्रीहरिके उद्देश्यसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पूर्व-पूर्व कल्पोंमें जैसी सृष्टि थी, उसीके समान इस विश्वकी सृष्टि की॥ ३८॥

प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान्।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थकाम्यया॥ ३९॥

चतु:श्लोकी-भागवतको सुननेके बाद किसी एक समय धर्मका पालन करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त प्रजाओंके मङ्गलकी कामना करके

स्वयं यम-नियमादिका अनुष्ठान किया जिससे कि उनके आचरणसे शिक्षा प्राप्त करके प्रजा भी यम-नियमादिका पालन करे॥ ३९॥

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च॥ ४०॥

मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत्॥ ४१॥

श्रीब्रह्माजीके पैतृक धनके अधिकारी उनके दक्षादि पुत्रोंमेंसे श्रीनारद ही भक्तियुक्त होनेके कारण उनके प्रियतम पुत्र हैं। परम वैष्णव देवर्षि श्रीनारद मायाधीश्वर श्रीविष्णुकी मायाके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे बड़े ही प्रणत भावसे अपने गुरु (पिता) की सेवामें तत्पर हो गये। उन्होंने अपने चरित्र, विनय और संयमादिसे अपने पिता ब्रह्माजीको सन्तुष्ट कर लिया॥ ४०-४१॥

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम्।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्माऽनुपृच्छति॥ ४२॥

हे महाराज परीक्षित्! जब श्रीनारदने लोक पितामह और अपने पिता ब्रह्माजीको इस प्रकार प्रसन्न और सन्तुष्ट देखा, तब उन्होंने उनसे वही समस्त प्रश्न पूछे थे, जो अब आप मुझसे पूछ रहे हैं॥ ४२॥

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्॥ ४३॥

श्रीनारदके प्रश्नोंसे ब्रह्माजी और भी प्रसन्न हो गये। तब प्राणियोंके स्रष्टा ब्रह्माजीने सर्ग-विसर्गादि दस लक्षणोंसे युक्त श्रीभागवत-पुराण अपने पुत्र नारदजीको सुनाया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान्ने उन्हें प्रदान किया था॥ [१]४३॥

---

[१] श्रीभगवान्ने चतुःश्लोकीके द्वारा इस भागवतको ब्रह्माजीको कहा था, ब्रह्माजीने अपने पुत्र नारदजीको, श्रीनारदजीने श्रीव्यासदेवको और श्रीव्यासदेवने विस्तारपूर्वक सर्ग-विसर्ग आदि दस लक्षणोंसे युक्त द्वादश स्कन्धात्मक सम्पूर्ण भागवत श्रीशुकदेवजीको कही थी।

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे॥ ४४॥

हे राजन्! यह भागवत शास्त्र मुझे साम्प्रदायिक गुरु-परम्परासे प्राप्त हुआ है। जिस समय परम तेजस्वी महर्षि वेदव्यास सरस्वती नदीके तटपर परब्रह्म श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न थे, उस समय देवर्षि श्रीनारदने उन्हें इसी चतुःश्लोकी-भागवतको कहा था॥ [(१)]४४॥

तदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम्।
यथासीत् तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः॥ ४५॥

हे महाराज! यह विश्व विराट पुरुषसे किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह आपने मुझसे पूछा है। मैं श्रीभागवत-पुराणकी व्याख्याके रूपमें आपके इस प्रश्नका एवं अन्यान्य समस्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमबद्ध रूपसे कहूँगा—आप श्रवण कीजिये॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीभागवत-प्रवृत्तिर्नाम नवमोऽध्यायः॥

---

(१) सत्साम्प्रदायिक गुरु-परम्परासे तात्पर्य है—पहले भगवान् श्रीनारायणने ब्रह्माजीको, ब्रह्माजीने नारदको, श्रीनारदने व्यासजीको, श्रीव्यासदेवने शुकदेव गोस्वामीको, श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित्को और सूत गोस्वामीने शौनकादि ऋषियोंको भागवत सुनायी थी। इस प्रकारसे यह छह संवाद युक्त भागवतीय कथा ही प्रसिद्ध है।

दशमोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतके दस लक्षण

श्रीबादरायणिरुवाच—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ १॥

व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस भागवत शास्त्रमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस लक्षणोंका वर्णन किया गया है॥ १॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥ २॥

इनमें जो दसवाँ लक्षण आश्रय है, उसके विशुद्ध विचार अर्थात् तत्त्व-ज्ञानके लिए सर्गादि नौ लक्षणोंका स्वरूप विदुर-मैत्रेय आदि महात्माओंने कहीं श्रुत अर्थात् स्तुति आदिके स्थानपर अपने ही वचनों द्वारा साक्षात् रूपसे, तो कहीं अर्थ अर्थात् विविध आख्यानोंमें तात्पर्य वृत्ति द्वारा वर्णन किया है॥ २॥

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः॥
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः॥ ३॥

सत्त्वादि तीनों गुणोंके परिणाम द्वारा परमेश्वरसे आकाशादि पञ्चभूत, शब्द-स्पर्शादि पञ्च तन्मात्राएँ, चक्षु-कर्णादि ग्यारह इन्द्रियाँ, महत्-तत्त्व एवं अहङ्कार तत्त्वोंकी स्वरूपतः और विराट् रूपमें जो उत्पत्ति होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। वैराजः पुरुष अर्थात् ब्रह्मा द्वारा रचित जो विश्वकी चराचर सृष्टि है, उसका नाम 'विसर्ग' है॥ ३॥

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥ ४॥

अपने द्वारा सृष्ट वस्तुओंको यथायथ स्थिति अर्थात् मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् श्रीविष्णुकी (ब्रह्मा और शम्भुसे) जो श्रेष्ठता है, उसका नाम 'स्थान' है। अपने द्वारा सुरक्षित इस सृष्टिमें अपने भक्तोंके प्रति भगवान्‌का जो अनुग्रह है, उसका नाम 'पोषण' है। मन्वन्तरोंके अधिपति (मनु) जो भगवद्भक्ति और प्रजापालनरूप सद्धर्म अर्थात् शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं। इस प्रकारकी स्थितिमें जो बहुत प्रकारकी शुभ और अशुभ कर्मजनित वासनाएँ हैं, उनका नाम 'ऊति' है॥ ४॥

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥ ५॥

श्रीहरिके अवतारोंके चरित्र और उनके प्रेमी भक्तोंके विविध उपाख्यानोंसे परिपुष्ट सत्कथाएँ ही 'ईशकथा' कही जाती हैं॥ ५॥

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥ ६॥

जब श्रीहरि योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब जीवोंका अपनी उपाधियोंके साथ ही जो शयन (अर्थात् महाप्रलयके समय परमेश्वरमें लय) है, उसीका नाम 'निरोध' है। मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म रूप दोनों उपाधियोंका परित्याग करके अपने स्वरूप अर्थात् शुद्ध जीव-रूपमें और किसी-किसीका भगवत्-पार्षद रूपमें विशुद्ध भावसे अवस्थानका नाम 'मुक्ति' है॥ ६॥

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥ ७॥

जिनसे सृष्टि और लय होता है तथा जिनसे यह विश्व प्रकाशित होता है, वे ही 'आश्रय' हैं—उन्हें ही शास्त्रोंमें परब्रह्म और परमात्मा कहा जाता है॥ ७॥

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥ ८॥

जो स्वयंको इन्द्रियाभिमानी अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपमें मानता है, वे जीवात्मा ही आध्यात्मिक पुरुष है, तथा जो चक्षु आदि इन्द्रियोंका अधिष्ठाता अर्थात् सूर्यादि देवतारूपमें उनपर अधिपत्य करता है, वह जीवात्मा ही आधिदैविक पुरुष है। पुनः उस एक ही पुरुष (जीवात्मा) में जिस कारणसे इन्द्रियाभिमानी और उनके अधिष्ठाता देवता—यह दो प्रकारकी भेद-बुद्धि होती है, वही आधिभौतिक पुरुष है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपमें लक्षित दृश्य देह है तथा वही जीवकी उपाधि है॥ ८॥

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥ ९॥

इन तीनों (अर्थात् इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता और दृश्य देह) मेंसे यदि एक का भी अभाव हो जाये तो अन्य दोनोंके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। अतः जो इन तीनोंके साक्षी रूपमें द्रष्टा हैं, वही परमात्मा स्वयं ही अपना आश्रय हैं और वही समस्त जीवोंके भी आश्रय हैं॥ ९॥

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः॥ १०॥

वह पूर्वोक्त विराट् पुरुष (प्रथम पुरुष) जिस समय ब्रह्माण्डको अपनेसे पृथक्कर गर्भोदकशायीके रूपमें बाहर निकले, उस समय वे विशुद्ध पुरुष अपने रहनेका स्थान ढूँढ़ने लगे। तब अपने आवास स्थानकी अभिलाषासे उन शुद्ध-सङ्कल्प पुरुषने पवित्र जलकी सृष्टि की॥ १०॥

तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रं परिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः॥ ११॥

उन विराट् पुरुषरूप 'नर' से उत्पन्न होनेके कारण ही वह जल 'नार' कहलाता है। वे स्वयंसे उत्पन्न हुए उस जलमें एक हजार वर्ष तक वास करते रहे, इसीलिए उनका नाम नारायण हुआ। अर्थात् यही नार जिनका आश्रय या अयन है, वे ही नारायण हैं॥ ११॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥ १२॥

द्रव्य (अर्थात् महत्-तत्त्वसे उपादान स्वरूप पृथ्वी तक), कर्म (निमित्तभूत शुभ-अशुभ रूप जीवका अदृष्ट), काल (गुणोंको क्षोभित करनेका कारण), स्वभाव (परिणामका हेतु) एवं जीव (हिरण्यगर्भ भोक्ता)—इन सबका उन भगवान् श्रीनारायणके अनुग्रहसे ही अस्तित्व है। यदि वे भगवान उपेक्षा कर दें, तो ये सब अपने-अपने कार्य करनेमें अक्षम हो जायेंगे॥ १२॥

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा॥ १३॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।
अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु॥ १४॥

हे राजन्! जब उन पुरुष भगवान् श्रीनारायणने योगनिद्रासे जागकर देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि अनेक रूपोंमें होनेकी इच्छा की,[१] तब उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप सोनेके समान अपने वीर्यको अपनी शक्ति मायासे अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत—इन तीन भागोंमें विभक्त कर दिया। भगवान्‌ने एक ही पौरुष वीर्य अर्थात् समष्टि विराट्‌रूप देहको उक्त तीन प्रकारमें कैसे विभक्त किया, वह भी मैं आपको बतलाता हूँ, श्रवण कीजिये॥ १३-१४॥

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः॥ १५॥

अपनी क्रियाशक्ति द्वारा विविध चेष्टा करनेमें रत उन पुरुषके हृदयाकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और देहबल प्रकट हुए। तदनन्तर इन तीनों शक्तियोंके सूक्ष्म रूपसे इन सबका राजा अर्थात् जीवनस्वरूप मुख्य प्राण उत्पन्न हुआ॥ १५॥

---

[१] प्रलयमें स्वांश और विभिन्नांश जीवोंको अपनेमें अवस्थित देखकर, अब सृष्टिके समय उन-उन स्वांशादि जीवोंको अपनेसे अलग करनेकी इच्छा की।

अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः॥ १६॥

सेवक जिस प्रकार राजाके पीछे-पीछे चलते हैं, उसी प्रकार जीवकी इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी शक्तिसे सञ्चालित होती हैं। मुख्य प्राण कार्य करना बन्द कर दें, तो ये इन्द्रियाँ भी कार्य करना बन्द कर देती हैं॥ १६॥

प्राणेनाक्षिपता क्षुत्तृडन्तराजायते विभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत॥ १७॥

उस विराट् पुरुषके उदरके भीतर जब प्राण जोर-जोरसे आने-जाने लगे, तब उन्हें भूख-प्यासका अनुभव हुआ। खाने-पीनेकी इच्छा होते ही सबसे पहले उनके शरीरमें मुख प्रकट हुआ॥ १७॥

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते॥ १८॥

इसके बाद मुखसे तालु प्रकट हुआ और तालुसे रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई। तदनन्तर रसनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जानेवाले नाना प्रकारके मधुर-अम्लादि रस एवं उनके अधिष्ठातृ देवता वरुण उत्पन्न हुए॥ १८॥

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः॥ १९॥

जब उन भूमा पुरुषको बोलनेकी इच्छा हुई, तब उनके मुखसे वाक् इन्द्रिय, उसके अधिष्ठातृ देवता अग्नि और वाक्-इन्द्रियका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए॥ १९॥

जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत।
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः॥ २०॥

बहुत समय तक उस जलमें ही रहनेसे उन विराट् पुरुषकी प्राणवायु अवरुद्ध हो गयी। बादमें श्वास (प्राणवायु) के अत्यधिक वेगसे उसके अधिष्ठान रूपमें दो नासिका छिद्र उत्पन्न हुए।

नासाछिद्रोंसे प्राणवायुके चलनेपर गन्धको वहन करनेवाले वायुदेव प्रकट हुए। जब उन पुरुषको इस गन्धके विषयोंको सूँघनेकी इच्छा हुई, तब घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक उत्पन्न हुई॥ २०॥

यदात्मनि निरालोकमात्मानञ्च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः॥ २१॥

जब उनमें प्रकाशका अभाव था, तब उन्हें स्वयंको और अन्यान्य वस्तुओंको देखनेकी इच्छा हुई। इसके कारण अधिष्ठान रूपमें उनके दोनों नेत्र-गोलक और उनसे नेत्रोंके अधिष्ठातृ देवता प्रकाशरूप सूर्य प्रकट हुए तथा रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र इन्द्रिय प्रकट हुई॥ २१॥

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः॥ २२॥

जब वेदरूप ऋषि वेद-स्तुतियोंके द्वारा विराट् पुरुषको जगा रहे थे, तब उन्हें उन वेद-स्तुतियोंको सुननेकी इच्छा हुई। इससे अधिष्ठान रूपमें उनके दोनों कान, उन कानोंके अधिष्ठातृ देवता दिशाएँ और शब्द गुणरूपी विषयको ग्रहण करनेवाली श्रवणेन्द्रिय प्रकट हो गयी॥ २२॥

वस्तुनो मृदुकाठिन्य-लघुगुर्वोष्णशीतताम्।
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः॥ २३॥

इसके बाद उन्हें वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हल्कापन, भारीपन, उष्णता और शीतलता आदिको अनुभव करनेकी इच्छा हुई, तब अधिष्ठान रूप उनके शरीरमें त्वचा अर्थात् त्वगेन्द्रिय अभिव्यक्त हो गयी। इस त्वचासे रोम-इन्द्रियाँ उसी प्रकार प्रकट हुईं, जिस प्रकार पृथ्वीसे वृक्ष प्रकट होते हैं। साथ ही त्वगेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता समस्त औषधियाँ भी प्रादुर्भूत हो गयीं। स्पर्श-गुणके विषयको ग्रहण करनेवाली वायु त्वगेन्द्रियके अन्दर एवं बाहर चारों ओरसे व्याप्त होकर अवस्थित हो गयी॥ २३॥

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम्॥ २४॥

जब उन विराट् पुरुषको पकड़ने या छोड़ने आदि अनेक प्रकारके कर्म करनेकी अभिलाषा हुई, तभी उनके दोनों हाथ निकल आये। इससे बलेन्द्रिय (हस्तेन्द्रिय) के साथ-साथ उनके अधिष्ठातृ देवता इन्द्र भी प्रकट हो गये। बल-इन्द्रिय और उनके अधिष्ठातृ देवतासे ही द्रव्यादिका आदान-प्रदानरूप कर्म होता है॥ २४॥

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः॥ २५॥

जब विराट् पुरुषकी किसी स्थानपर जानेकी इच्छा हुई, तब उनके शरीरमें इसके अधिष्ठान रूप दो चरण उत्पन्न हुए। दोनों चरणोंके साथ अधिष्ठाता रूपमें वहाँ स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी शक्तिसे आविष्ट उसके अधिष्ठाता कोई देवता प्रकटित हो गये। मनुष्य गति रूप इन्द्रिय (पैर) द्वारा साध्य कर्म अर्थात् यज्ञके लिए सामग्री संग्रह करते हैं॥ २५॥

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्॥ २६॥

जब उन विराट् पुरुषने सन्तान, रति-सुख और स्वर्गादि विषयोंकी इच्छा की, तब उनकी उपस्थेन्द्रियके अधिष्ठान रूपमें लिङ्ग प्रकट हुआ। उसके बाद उपस्थेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता प्रजापति उत्पन्न हुए। स्त्री-सम्भोगसे प्राप्त होनेवाला सुख इसी इन्द्रिय और देवताके अधीन है॥ २६॥

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः॥ २७॥

जब उन्होंने खाये हुए अन्नादिके असार अंश (विष्ठा) का त्याग करनेकी इच्छा की, तब इसके अधिष्ठान रूपमें गुदाद्वार उत्पन्न हो गया। इसके बाद पायु-इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता मित्र प्रकट हुए। मल-त्याग इसी इन्द्रिय एवं इन्हीं देवताके अधीनरूप विषय हैं॥ २७॥

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम्॥ २८॥

जब उन्होंने सम्पूर्ण रूपसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा की, तब उस शरीरसे गमनके उपयोगी अधिष्ठानरूप नाभिद्वार प्रकाशित हो गया। उससे अपान-इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता मृत्यु उत्पन्न हो गये। इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण एवं अपानका वियोग होनेपर मृत्यु होती है। मरणरूपी विषय इसी इन्द्रिय और देवताके अधीन हैं॥ २८॥

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये॥ २९॥

जब विराट् पुरुषकी भोजन और जल ग्रहण करनेकी इच्छा हुई, तब उसके अधिष्ठान रूपमें उदर, आँत एवं नाड़ियाँ (इन्द्रिय) प्रकट हो गयीं। नाड़ी-इन्द्रियकी अधिष्ठातृ देवता नदियाँ और आँत-इन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता समुद्र हैं। तुष्टि (उदर पूर्तिरूप विषय) आँत-इन्द्रिय और समुद्र देवताके अधीन और पुष्टि (रस-परिणाम स्वरूप स्थूलशरीरकी उन्नति) नाड़ी-इन्द्रिय और नदीके अधीन हैं। इस प्रकार ये दोनों उनके आश्रित विषय उत्पन्न हुए॥ २९॥

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत।
ततो मनस्ततश्चन्द्रः सङ्कल्पः काम एव च॥ ३०॥

जब विराट् पुरुष अपनी माया और मायिक वस्तुओंका अत्यधिक चिन्तन करनेकी इच्छा करने लगे, तब उसका अधिष्ठान रूप हृदय प्रकट हो गया। उससे मन (इन्द्रिय) और उसके अधिष्ठातृ देवता चन्द्र उत्पन्न हुए। मनसे ही सङ्कल्प एवं कामनादि विषय उत्पन्न हुए हैं॥ ३०॥

त्वक्चर्ममांसरुधिर-मेदोमज्जास्थिधातवः।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः॥ ३१॥

विराट् पुरुषके शरीरमें भूमि, जल और तेजसे त्वचा, चर्म, मँास, रूधिर, मेद, मज्जा एवं अस्थि—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। उनमें आकाश, जल और वायुसे प्राण-वायु प्रकटित हुई॥ ३१॥

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी॥ ३२॥

इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले स्वभावसे युक्त हैं। शब्द-स्पर्शादि गुण पृथ्वी आदि भूतोंके आदिभूत अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। मन सुख-दुःखादि समस्त विकारोंका प्राण-स्वरूप है। बुद्धि शब्दादि विषयोंकी विवेक-शक्ति-रूपिणी है॥ ३२॥

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३॥

हे राजन्! मैंने आपके निकट भगवान्के स्थूलरूपका वर्णन किया है। इस स्थूलरूपका बाह्य भाग पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत् और प्रकृति—इन आठ प्राकृत आवरणोंसे घिरा हुआ है॥ ३३॥

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्॥ ३४॥

इसके अतिरिक्त भगवान्का अत्यन्त सूक्ष्मतम नित्य रूप है। वह इन्द्रियोंसे अतीत अर्थात् अव्यक्त, वर्ण-आकारादिसे रहित निर्विशेष, जन्म, स्थिति और अन्तसे रहित तथा मन और वाणीकी पहुँचसे परे है॥ ३४॥

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥ ३५॥

मैंने आपके समक्ष उनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूपोंका वर्णन किया है। शुद्ध भक्तिमान पण्डितगण उपासनाके लिए इन दोनों रूपोंको ही स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ये दोनों ही मायाके द्वारा रचित हैं॥ ३५॥

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः॥ ३६॥

वे भगवान् परमेश्वर प्राकृत क्रियाओंसे रहित होकर भी ब्रह्माके रूपको धारण करके क्रियाशील हो जाते हैं। वाच्य रूपमें वे देवादि बहुत प्रकारके रूप धारण करते हैं तथा वाचक रूपमें देव-तिर्यक, मनुष्यादि बहुत प्रकारके नाम स्वीकारकर उन नाम एवं रूपोंके अधिकारके अनुरूप क्रियाओंकी सृष्टि करते हैं॥ ३६॥

प्रजापतीन् मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक्।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान्॥ ३७॥

किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषान् नरान्।
मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान्॥ ३८॥

कुष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
मृगान् खगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान्।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः॥ ३९॥

हे नराधिप परीक्षित्! वे भगवान् ब्रह्माका रूप धारणकर प्रजापति, मनु, देवता, ॠषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक (यक्ष), किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, नर, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कुष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान, ग्रह, मृग, पक्षी, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसर्प—इन सभीकी तथा अन्यान्य स्थावर एवं जङ्गम रूपमें दो प्रकारके; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज रूपमें चार प्रकारके और जल, स्थल एवं आकाशमें विचरण करनेवाले प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् भावसे सृष्टि करते हैं॥ ३७-३९॥

कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः॥ ४०॥

विभिन्न प्रकारकी सृष्टिका कारण विभिन्न प्रकारके कर्मोंकी गति अर्थात् फल है। कर्मकी गति तीन प्रकारकी हैं—कुशल (उत्तम) अर्थात् पुण्य कर्मोंकी फलरूप गति, अकुशल (अधम) अर्थात् पाप कर्मोंकी फलरूप गति एवं मिश्र (मध्यम) अर्थात् पाप एवं पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंकी फलरूप गति॥ ४०॥

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः॥ ४१॥

तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते॥ ४२॥

हे राजन्! सत्त्वगुणकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे नारकीय योनियोंकी प्राप्ति—यह तीन प्रकारकी गतियाँ होती हैं। जिस समय तीनों गुणोंमेंसे कोई एक गुण अन्य दो गुणोंके द्वारा बाधाको प्राप्त होता है, तब एक ही गति तीन-तीन प्रकारसे प्रकाशित होती है। जिस प्रकार रजोगुणके स्वभावसे युक्त मनुष्य सत्त्वगुणके स्वभावके मिश्रणकी अधिकताके कारण ब्राह्मण बन जाता है, परन्तु फिर जब उसमें तमोगुणके स्वभावके मिश्रणकी अधिकता होती है, तब वह शूद्र हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंकी कुल नौ प्रकारकी गतियाँ होती हैं॥ ४१-४२॥

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरादिभिः॥ ४३॥

वे भगवान् ही विष्णुरूप धारण करके जगत्का पालन और पोषण करते हैं। वे ही (वराह, मीन, कच्छप) आदि तिर्यक रूपमें, (राम-कृष्णादि) नर रूपमें एवं (वामन-यज्ञादि) देवता रूपमें अवतारोंको प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे धर्मरूपमें रक्षक भावसे समस्त संसारका पालन-पोषण करते हैं॥ ४३॥

ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत् सृष्टमिदमात्मनः।
सन्नियच्छति तत् कालेन घनानीकमिवानिलः॥ ४४॥

अनन्तर वे ही फिर प्रलयकालमें कालाग्नि और रुद्ररूप धारण करके अपने ही द्वारा रचित इस जगत्का उसी प्रकार संहार कर देते हैं, जिस प्रकार वायु मेघोंको छिन्न-भिन्न कर डालती है॥ ४४॥

इत्थं भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः।
नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥ ४५॥

श्रुतियोंने षडैश्वर्यशाली भगवान्‌का इसी प्रकारसे ही निरूपण किया है, किन्तु तत्त्वदर्शी शुद्धभक्तोंको केवल विश्व-सृष्टा आदि रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये॥ ४५॥

नास्य कर्माणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्॥ ४६॥

विश्वकी सृष्टि आदि कार्य भगवान्‌के निज स्वरूपका कर्म नहीं है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भगवान्‌में प्राकृत सृष्टिके कर्त्तापनका निषेध करनेके लिए इन कार्योंका वैसा वर्णनमात्र करती हैं, इनमें भगवान्‌का कर्त्तापन दिखाना उनका तात्पर्य नहीं है। इसका कारण है कि बहिरङ्गा माया ही अपने कार्योंमें अपने प्रभु परमेश्वरके कर्त्तृत्वका आरोप करती है॥ ४६॥

अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः॥ ४७॥

हे राजन्! इस प्रकार ब्रह्माजीके अवान्तर कल्पके साथ महाकल्पका संक्षेपमें उदाहरणके छलसे वर्णन किया गया है। सब कल्पोंमें सृष्टिका क्रम एक-सा ही है, अन्तर केवल इतना है कि महाकल्पके प्रारम्भमें प्राकृत महत्-तत्त्व आदिकी सृष्टि तथा अवान्तर कल्पमें वैकृत चराचर प्राणियोंकी सृष्टि नवीन रूपसे होती है॥ ४७॥

परिमाणञ्च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम्।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु॥ ४८॥

कालके स्थूल और सूक्ष्म परिमाण एवं कल्पके लक्षण और विभागोंकी मैं बादमें (तृतीय-स्कन्धमें) व्याख्या करूँगा। अभी पाद्मकल्पका विषय विस्तार सहित वर्णन कर रहा हूँ—श्रवण करो॥ ४८॥

श्रीशौनक उवाच—

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान्॥ ४९॥

क्षत्तुः कौशारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह॥ ५०॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम्।
बन्धुत्यागनिमित्तञ्च तथैवागतवान् पुनः॥ ५१॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सौम्य सूतजी! आपने कहा था कि जिन बन्धुओंका त्याग करना बड़ा दुष्कर होता है, महाभागवत विदुरजीने उनका भी परित्याग करके पृथ्वीके सम्पूर्ण तीर्थोंका भ्रमण किया था। उस यात्रामें उन विदुरजीका महामुनि मैत्रेयजीके साथ जो अध्यात्म-ज्ञानके सम्बन्धमें वार्त्तालाप हुआ था, कृपया उसका वर्णन कीजिये। विदुरजीने क्या-क्या प्रश्न पूछे तथा भगवान् मैत्रेयजीने उन प्रश्नोंके उत्तरमें किन तत्त्वोंका उपदेश दिया? हे सूतजी! आप हमें यह भी बतलाइये कि विदुरजीने किसलिए बन्धुओंका त्याग किया और पुनः वे उनके पास क्यों लौट आये?॥ ४९-५१॥

श्रीसूत उवाच—

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः॥ ५२॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! आपने जो प्रश्न पूछे हैं, महाराज परीक्षित्ने भी श्रीशुकदेव गोस्वामीसे वही प्रश्न किये थे। श्रीशुकदेव गोस्वामीने विदुर और मैत्रेयके संवादके अनुसार ही राजाके समस्त प्रश्नोंके उत्तर दिये थे। मैं भी उसी संवादको कहूँगा—आपलोग सावधानीसे श्रवण कीजिये॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे दशलक्षणकथनं नाम दशमोऽध्यायः॥

॥ द्वितीयः स्कन्धः समाप्तः॥

तृतीयः स्कन्धः

तृतीय स्कन्धकी कथाका सार

श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित श्रीउद्धव और विदुरजीके सम्वादका वर्णन करते हुए श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब विदुरजीने देखा कि अपने पुत्रोंके प्रति मोहवशतः धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णके किसी भी सत्परामर्श और उनके द्वारा प्रदान की गयी सत्मन्त्रणाको स्वीकार नहीं किया है, विशेषतः दुर्योधनादिके द्वारा अपना तिरस्कार होनेपर विदुरजी हस्तिनापुर और बन्धु-बान्धवोंका परित्यागकर अकेले ही पृथ्वीके विभिन्न तीर्थोंका भ्रमण करते-करते सौराष्ट्र, सौबीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल देशको पारकर यमुनाके तटपर उपस्थित हुए। वहाँपर भगवान् श्रीवासुदेवके अनुचर (सेवक), नीतिशास्त्रको जाननेवाले, बृहस्पतिके पूर्व शिष्य परमभागवत उद्धवजीके साथ विदुरजीका साक्षात्कार हुआ। तब विदुरजीने उद्धवजीसे श्रीकृष्ण और उनके आश्रित ज्ञाति (बन्धु-बान्धवों) की कुशलताके विषयमें पूछा तथा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अधार्मिक व्यक्तियोंके विनाश और भक्तोंके अभीष्ट प्रयोजनको पूर्ण करनेके लिए उनकी प्रपञ्चमें अवतरण करनेकी लीलाका उल्लेख करके उन्होंने श्रीउद्धवसे भगवान्‌की कथाको श्रवण करनेकी इच्छा प्रकटित की।

तब श्रीउद्धवने कहा—"हे विदुर! भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके साथ-साथ ही हमारे घरकी समस्त शोभा ही चली गयी है। हाय! श्रीकृष्ण सहित एक साथ रहकर भी यादवगण उन्हें स्वयं-भगवान्‌के रूपमें नहीं जान पाये, अपितु यादवोंने उन्हें केवलमात्र यदुश्रेष्ठके रूपमें जानकर ही उनका सम्मान किया। इसका कारण है कि ऐश्वर्यज्ञानसे मिश्रित सेवा-बुद्धिमें गोकुलपतिके माधुर्यकी स्फूर्ति नहीं होती। यही श्रीकृष्ण-मूर्त्ति गोकुलका नित्यधन है तथा चित्-शक्तिके प्रभावसे प्रपञ्चमें प्रकटित हुई है। ये मूर्त्ति ही मर्त्त्यलीलाके उपयोगी है। व्रजरमणियाँ तथा समस्त भुवनोंके सभी प्राणी श्रीकृष्णकी इस मोहनमूर्त्ति द्वारा आकृष्ट हैं, यहाँ तक कि वह मूर्त्ति अपने माधुर्यमय

स्वरूपसे स्वयं श्रीकृष्णमें भी विस्मय उत्पन्न करती है। श्रीकृष्णने सभी प्राणियोंके अधिपति तथा तीनों शक्तियोंके अधीश्वर, असमोर्ध्व पुरुष होकर भी उग्रसेनके भृत्य (सेवक) होनेका अभिनय किया है। जिन्होंने दुष्ट पूतना तकको धात्री गति प्रदान की, उन श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन इतना दयालु और शरण लेने योग्य हो सकता है। श्रीकृष्णने अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिए ही विविध लीलाएँ की हैं। उन्होंने व्रजमें विविध प्रकारकी बाल्य और कौमार लीलाओंका प्रदर्शनकर श्रीबलदेव सहित मथुरामें आगमन किया।

"श्रीकृष्णने मथुरामें कंसवध आदि विविध लीलाएँ कीं। उन्होंने मथुरासे द्वारका जाकर सांख्य अर्थात् प्रकृति-पुरुषके विवेक द्वारा लोक और वेदधर्मकी शिक्षा दी। द्वारकामें श्रीकृष्ण मर्त्यलोक, अमरलोक, यदुगण और पुर-रमणियोंको प्रसन्न करते हुए विहार करते थे।

"किसी एक समय यदु और भोज वंशके कुमार बालकोंने द्वारकापुरीमें क्रीड़ा करते-करते मुनियोंको कुपित कर दिया, जिसके फलस्वरूप मुनियोंने उन्हें शाप दे दिया। उसके कुछ दिनोंके पश्चात् ही वृष्णि, भोज, अन्धक इत्यादि यादवगण दैवी मायासे मोहित होकर प्रभास-तीर्थमें गये तथा वहाँ स्नान-तर्पणादिके उपरान्त पैष्टी मदिराके[१] पानसे उनका ज्ञान भ्रष्ट होनेपर उन्होंने परस्पर विवाद आरम्भ कर दिया एवं सूर्यास्तके समयपर उनके संहारका क्रम आरम्भ हुआ। श्रीभगवान् आत्म-मायासे यादवोंकी ऐसी गतिको देखकर एक वृक्षके नीचे बैठ गये।

"श्रीकृष्णने अपने कुलके संहारकी अभिलाषा करके पहलेसे ही मुझे बदरिकाश्रम जानेको कहा था। मैं उनके अदर्शनको सहन करनेमें असमर्थ होकर उनके सङ्गको प्राप्त करनेके अभिप्रायसे उन्हें ढूँढ़ने लगा और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हें उक्त वृक्षके नीचे बैठे देखा। उसी समय वहाँ महर्षि मैत्रेय मुनि आकर उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण उनके समक्ष ही मुझे कहने लगे—'हे उद्धव! पूर्वजन्ममें तुम वसु थे तथा तुमने विश्वस्रष्टा प्रजापति और वसुओंके यज्ञमें मेरी आराधना की थी, इसलिए इस जन्ममें तुमने मेरी कृपा प्राप्त की है। अतः यही तुम्हारा

[१] आटे अथवा चावलके मांडसे बनी मदिरा।

अन्तिम जन्म है। मैं अभी नरलोक परित्याग करके जा रहा हूँ। मैं पाद्म-कल्पमें सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको जो परमज्ञान प्रदान करता हूँ, वही ज्ञान चतुःश्लोकी-भागवतके रूपमें उक्त होता है।' श्रीभगवान्के इस अनुग्रहको प्राप्तकर मुझमें उसी आत्मरहस्य प्रकाशक चतुःश्लोकीके प्रतिपाद्य भगवत्-ज्ञानको श्रवण करनेकी इच्छा हुई। तब भगवान्ने मुझे उसी परमज्ञानका उपदेश दिया (एकादश-स्कन्ध द्रष्टव्य है)। श्रीभगवान्के द्वारा प्रदत्त उस परमज्ञानको श्रवण करनेके बाद ही मैं यहाँ आ रहा हूँ, तथा यहाँसे बदरिकाश्रम जाऊँगा। वहाँपर नर-नारायण ऋषि दुश्चर (कठोर) तपस्याका आचरण कर रहे हैं।"

तदुपरान्त विदुरजीने श्रीउद्धवको जानेके लिए प्रस्तुत देखकर उन्हें चतुःश्लोकी-भागवतका कीर्त्तन करनेके लिए अनुरोध किया। इसपर श्रीउद्धवने विदुरजीको श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट जानेको कहा।

यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा—"वृष्णि और भोजवंशियोंका निधन होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनी प्रपञ्च-लीलाका परित्याग कर दिया था, तब फिर केवल श्रीउद्धवके ही बचे रहनेका क्या कारण था?" श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—श्रीकृष्णकी इच्छा ही यादववंशके ध्वंसका मूल कारण थी, ब्रह्मशाप तो एक उपलक्ष्यमात्र था। श्रीकृष्णने चिन्ता की कि उनकी अप्रकट लीलाके बाद एकमात्र उद्धव ही उनके विषयमें ज्ञान प्राप्त करने तथा लोगोंको उपदेश देनेके योग्य पात्र हैं, अतएव उद्धवका जगत्में अवस्थान करना उचित है। उद्धवजी श्रीकृष्णकी तुलनामें किञ्चित्मात्र भी कम नहीं हैं। भक्तराज विदुर उद्धवजीके मुखसे श्रीकृष्णसे सम्बन्धित कथाका श्रवणकर भागीरथीके तटपर श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट उपस्थित हुए।

श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट आकर विदुरजीने उनसे तत्त्वविषयक बहुत-से परिप्रश्न किये। उन्होंने तुच्छसुख प्रदान करनेवाले वर्णाश्रमधर्मकी कथाको श्रवण करनेके स्थानपर श्रीनारद आदि द्वारा कीर्त्तित समस्त कथाओंकी सार—श्रीकृष्णकथाको श्रवण करनेके लिए विशेष आग्रह प्रकाश किया। श्रीमैत्रेय ऋषि कहने लगे—"हे भक्तप्रवर विदुर! आपके प्रश्नों द्वारा जगत्का असीम मङ्गल होगा। आप पूर्वजन्ममें यम थे।

माण्डव्य मुनिके शापसे विचित्रवीर्यकी पत्नीके रूपमें ग्रहण की गयी दासीके गर्भसे सत्यवतीके पुत्र श्रीव्यासदेवके औरससे आपका जन्म हुआ है। आप श्रीभगवान्‌के द्वारा चिह्नित भक्त हैं। श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही आपको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया है। अपने वैकुण्ठ गमनकालमें भगवान्‌ने मुझे आपको इस ज्ञानका स्मरण करा देनेका आदेश दिया है। अब मैं भगवान्‌की स्वांश-माया द्वारा विस्तारित सृष्टि-स्थिति-प्रलय लीलाका वर्णन कर रहा हूँ—

"जीवजगत् की सृष्टि होनेसे पूर्व सृष्टिकी इच्छा भगवान्‌में ही अनुस्यूत (बद्ध) थी, इसलिए श्रीभगवान् नाना प्रकारके वैभवोंसे युक्त होकर भी एक अद्वयतत्त्वके रूपमें विराजित थे। सृष्टिसे पहले यह विश्व भी प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता पुरुषमें लीन था। श्रीभगवान्‌में चित्-शक्तिके नित्य ही देदीप्यमान रहनेके कारण मायाशक्ति सुप्त अवस्थामें थी। द्रष्टास्वरूप भगवान्‌की कार्य-कारणात्मिका शक्ति—मायाके द्वारा ही जगत् उत्पन्न होता है। श्रीभगवान् चिद्विलासयुक्त नित्यधाममें स्वतन्त्र स्वराट् पुरुषरूपमें सेवित होते हैं। अपने स्वांशभूत कारणार्णवशायी पुरुषके द्वारा ही वे अपनी अत्यक्त प्रकृतिमें जीवरूप वीर्यका आधान कराते हैं। उस प्रकृतिसे ही फिर महत्-तत्त्वादिके क्रमसे सृष्टि और उन तत्त्वोंके अधिष्ठात्री देवताओंकी सृष्टि होती है।"

श्रीमैत्रेय ऋषिने और भी कहा—"महत्-तत्त्वादिके परस्पर मिलित न होनेपर विश्वकी सृष्टि आदि कार्यमें उनकी असमर्थताको जानकर श्रीभगवान्‌ने अन्तर्यामी-स्वरूपसे एक ही साथ तेइस तत्त्वोंमें प्रवेश किया तथा उन तत्त्वोंकी क्रिया शक्तिको विकसित कर उन सबको एक साथ मिला दिया। इस प्रकारसे सम्मिलित होनेमात्रसे ही श्रीभगवान्‌की इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे इन समस्त तत्त्वोंने अपने-अपने अंशों द्वारा चराचर लोकके अवस्थान स्वरूप विराट्-देहको उत्पन्न किया। इस विराट्-मूर्त्तिने ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और आत्मशक्ति विशिष्ट होकर जीवशक्ति द्वारा एक, प्राणशक्ति द्वारा दस और अध्यात्मशक्ति द्वारा तीन प्रकारसे अपनेको विभक्त किया। ये विराट् पुरुष ही सभी जीवोंकी आत्मा और परमात्माके आदि अवतार स्वरूप हैं।"

विदुरजी द्वारा श्रीमैत्रेय ऋषिसे इस समस्त कथाको श्रवणकर पुनः परिप्रश्न किये जानेपर श्रीमैत्रेयने उसके उत्तरमें कहा—"भगवान्‌की बहिरङ्गा-शक्ति माया द्वारा अनात्म प्रतीतिमें ही बद्धजीव क्लेश पाता है, आत्म-प्रतीतिसे युक्त शुद्धजीवात्माके लिए किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है। श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तिमान होते ही बद्धजीवके समस्त प्रकारके कष्ट दूर हो जाते हैं।" इसके बाद विदुरजीने श्रीमैत्रेय ऋषिसे विराट्-पुरुषकी विभूति, प्रजापतियोंका विवरण तथा जीव और ईश्वरतत्त्व इत्यादि बहुत-से विषयोंको पूछा।

श्रीमैत्रेय ऋषिने विदुरजीके प्रश्नोंको श्रवणकर उनके निकट श्रीभगवान् द्वारा कीर्त्तित श्रीमद्भागवतका कीर्त्तन किया। भगवान् सङ्कर्षणने इस पुराणको सनत्कुमारादि ऋषियोंको, सनत्कुमारने सांख्यान ऋषिको, सांख्यान ऋषिने पराशर मुनिको और फिर बृहस्पतिको, पराशर मुनिने पुलस्त्यको और फिर पुलस्त्य ऋषिने मैत्रेय ऋषिके निकट इसका कीर्त्तन किया था तथा अब मैत्रेयने विदुरको इसका श्रवण कराया। जब भगवान् श्रीनारायण प्रलयजलमें अनन्त-शय्यापर शयन कर रहे थे, उस समय उनके नाभिकमलसे आत्मयोनि वेदमय श्रीब्रह्मा उत्पन्न हुए। स्वयं आविर्भूत होनेके कारण वे 'स्वयम्भू' नामसे जाने जाते हैं। ब्रह्माजी उस नाभिसे उत्पन्न कमलकी कर्णिकामें किसीको भी न देखकर उस स्थानके चारों ओर भ्रमण करने लगे। वहाँ भी किसीको न देखकर आकाशमें चारों ओर अपनी गर्दनको घुमाने लगे, उसी समय ही ब्रह्माजीके चार मुख हुए। ब्रह्माजी अपने अधिष्ठानतत्त्व, लोकतत्त्व, आत्मतत्त्वादिको न जान पानेके कारण कमलनालके छेदवाले पथ द्वारा श्रीनारायणकी नाभिके निकट जाकर भी कुछ नहीं जान पाये। तब उन्होंने अपने स्थानपर लौटकर दिव्य सौ वर्षों तक योगके अनुष्ठान द्वारा भगवत् तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया और अपने हृदयमें शेषशायी भगवान्‌को विराजित देखा। तब ब्रह्माजी द्वारा प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे दृष्टिपात करनेपर उन्होंने गर्भोदकशायी पुरुषके नाभिसरोवरमें स्थित अपने कारणस्वरूप कमलको, स्वयंको, प्रलयकालीन जल और वायु तथा आकाश—इन पाँच वस्तुओंको सृष्टि-क्रियाके कारण रूपमें देखा और सृष्टि करनेके लिए उन्मुख और अभिनिविष्ट चित्तसे भगवान्‌का स्तव करने लगे।

श्रीब्रह्माजी कहने लगे—"श्रीभगवान् एक अद्वयतत्त्व हैं, अतः उनसे पृथक् अन्य कोई सत्ता नहीं है। इस जगत्का वैचित्र्य श्रीभगवान्की बहिरङ्गा-शक्ति—मायाके गुणका परिणाम है। चित्-शक्तिके नित्य प्रकटित रहनेके कारण भगवान् प्रकृतिके समस्त गुणोंसे रहित हैं। वे समस्त अवतारोंके एकमात्र मूल कारण हैं। रजोगुणसे विभावित रहनेके कारण ब्रह्माजी प्रथमतः श्रीभगवान्का पूर्णस्वरूप देख नहीं पाये। स्वयंरूप भगवान् सृष्टि आदि कार्योंमें उदासीन रहते हैं और मायाधीश कारणार्णवशायी पुरुष ही मायाके प्रति ईक्षण द्वारा सृष्टि-कार्य सम्पन्न करते हैं। कुतर्कमें निष्ठ व्यक्तिगण श्रीभगवान्के सच्चिदानन्द सविशेष स्वरूपका आदर नहीं कर पाते। शुद्धभक्तिके साथ भगवान्की लीलाका श्रवण और उनके चरणोंमें सम्पूर्ण रूपसे शरणागति होनेसे जीवके समस्त प्रकारके अनर्थोंका नाश हो जाता है और उसे परम मङ्गलकी प्राप्ति होती है।" सत्यलोकमें अवस्थित होकर भी ब्रह्माजीको कालसे भय हुआ और भगवत्-प्राप्तिके लिए यज्ञानुष्ठानादि तपस्या करनी पड़ी।

श्रीब्रह्माने गर्भोदकशायी पुरुषसे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति सृष्टि करनेका सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना की। गर्भोदकशायी पुरुषके आदेशानुसार ब्रह्माजीने दिव्य सौ वर्षों तक तपस्या की और फिर उन्होंने कमलनालको ही त्रिभुवन रूपमें तीन भागोंमें विभक्त किया। गुणोंके महत्-तत्त्वादि परिणाम द्वारा जो व्यक्त होता है, वही 'काल' है। वह काल आदि-अन्त शून्य है। उसे निमित्त कारण बनाकर ईश्वरने 'आत्म' शब्दवाच्य विश्वकी सृष्टि की। यह विश्व ईश्वरकी सृष्टि आदि शक्तियोंके साथ उनमें लीन था, किन्तु बादमें काल द्वारा प्रकाशित हुआ। विश्वकी सृष्टि नौ प्रकारकी है तथा प्राकृत और विकृत—ये दोनों सृष्टिका दसवाँ प्रकार हैं। इस रूपमें दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन कर श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीके समक्ष वेश (आश्रम) और मन्वन्तरका वर्णन करने लगे।

इसी प्रसङ्गमें श्रीमैत्रेय ऋषिने 'परमाणु' और 'परम महत्'—इन दो शब्दोंकी व्याख्याकर उनके लक्षणों द्वारा प्रथमतः कालका निरूपण किया और फिर युग-मन्वन्तरादिसे कल्प-मानादिका भेद वर्णन किया।

उन्होंने यह भी बतलाया कि जब ब्रह्माजीकी परमायु तक क्षीण हो जाती है, तब कालसे भयभीत ब्रह्माजी भी विषयभोगसे विरत होकर श्रीभगवान्‌की उपासना करते हैं, अतः फिर भोगोंमें आसक्त और अल्प आयु वाले मनुष्य किस साहससे भगवत्‌-सेवासे विमुख होते हैं? देह, गृहादिमें अभिमान रखनेवाले व्यक्तिके ऊपर ही कालशक्तिका आधिपत्य होता है। जिनमें करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड प्रविष्ट रहकर परमाणुके तुल्य लक्षित होते हैं, पण्डितगण उन्हें 'ब्रह्म' कहते हैं। ये ब्रह्म ही कारणार्णवशायी विष्णुका धाम अर्थात्‌ अङ्गकान्ति है।

तदुपरान्त श्रीमैत्रेय ऋषि ब्रह्माजीकी सृष्टिके विषयका वर्णन करते हुए कहने लगे—ब्रह्माजीने सृष्टिसे पूर्व तमः, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र इत्यादि अज्ञानवृत्तियोंकी सृष्टि की। इसके द्वारा भी सन्तुष्ट नहीं होनेपर उन्होंने चतुःसनकी सृष्टि की। ये चतुःसन ऊर्ध्वरेता थे, अतः प्रजासृष्टिके विषयमें उदासीनता प्रकाश करनेके कारण ब्रह्माजीको क्रोध उत्पन्न हुआ। तब उनकी दोनों भ्रूओंके बीचसे नीले और लाल रङ्गके एक पुरुष रोते-रोते आविर्भूत हुए। उन पुरुषने ब्रह्माजीसे अपने नाम और स्थानादिके विषयमें प्रश्न किया। तब ब्रह्माजीने उनकी रोदन क्रियासे उनका 'रुद्र' नाम निर्देश किया तथा यह भी बतलाया कि वे मन्यु, मनु, शिव इत्यादि और भी दस नामोंसे तथा उनकी पत्नी रुद्रानी, अम्बिका आदि नामोंसे विख्यात होगी। इस रुद्रसे जगत्‌ ग्रासकारी असंख्य रुद्रोंकी सृष्टि होनेपर ब्रह्माजीने भयभीत होकर पूर्वोक्त (मूल) रुद्रको जगत्‌-मङ्गलकारी तपस्याके प्रभावसे सृष्टि करनेका अनुरोध किया।

श्रीब्रह्माके द्वारा लोक-सृष्टिकी चिन्तामें रत रहनेपर उनके विभिन्न अङ्गोंसे मरीचि आदि दस पुत्र तथा पीठसे अधर्म और काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति हुई। देवहुतिके पति कर्दम मुनिने उनकी छायासे जन्म-ग्रहण किया। वाक्‌ नामकी उनकी एक मनोहारिणी कन्या भी उत्पन्न हुई थी। ब्रह्माके द्वारा अपनी पुत्रीके प्रति कामोन्मत्त होनेपर वे अपने पुत्रों द्वारा लज्जित हुए और फलस्वरूप उन्होंने अपनी तात्कालिक तनुका त्याग कर दिया। ब्रह्माकी वही तनु तमोमय (अन्धकारमय) कोहरा हुई। अन्य एक समयमें ब्रह्मा द्वारा सृष्टिकी

चिन्तामें रत होनेपर उनके चार मुखोंसे चार वेद, चातुर्होत्र, उपवेद, कर्मतन्त्र, धर्मके चार पद, आश्रमोंकी वृत्तियाँ, पञ्चमवेद इतिहास एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंसे सावित्र्यादि गार्हस्थ्य, वैखानसादि चार प्रकारके वानप्रस्थ तथा कुटीचकादि चार प्रकारकी संन्यास अवस्था उत्पन्न हुई। इस प्रकारसे क्रमशः व्याहृतित्रय (भू, भुवः, स्वः), छन्दः और सप्तस्वरादि उत्पन्न हुए। उन ब्रह्माकी देह दो भागोंमें विभक्त होकर एक भाग 'स्वायम्भुव मनु' नामसे पुरुष तथा दूसरा भाग 'शतरूपा' नामकी स्त्री हुई। इन मनुके उत्तानपाद और प्रियव्रत नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। रुचिके साथ आकूतिका, कर्दमके साथ देवहूतिका तथा दक्षके साथ प्रसूतिका विवाह हुआ। इनके वंशजोंके द्वारा ही यह जगत् परिपूर्ण है।

तदुपरान्त श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीको भगवद्भक्त मनुके सृष्टि प्रकरणादि बतलाने लगे—मनुके जन्म-ग्रहण करते ही पिता ब्रह्माजीने उन्हें प्रजासृष्टिके लिए आदेश दिया। तब मनुने ब्रह्माजीसे जलमें मग्न पृथ्वीके उद्धारके लिए प्रार्थना की। ब्रह्माजी द्वारा इस विषयमें चिन्तित होनेपर भगवान् श्रीविष्णु उनकी नाकके छिद्रसे एक सूक्ष्म वराहमूर्त्ति धारण करके निकले और देखते-ही-देखते उस वराहमूर्त्तिने भीषणाकार धारणकर रसातलमें प्रवेश किया। क्षणकालमें ही उन्होंने पृथ्वीको अपने दातोंके अग्रभागपर रखकर उसे रसातलसे बाहर निकाला और फिर जलमें ही हिरण्याक्ष दैत्यका वध किया। इसपर देवताओंने वराहमूर्त्तिका स्तव किया। वराहदेव पृथ्वीको जलके ऊपर रखकर अन्तर्हित हो गये।

विदुरजी द्वारा हिरण्याक्षके वधका वृत्तान्त और वराहावतारके कारण इत्यादिको श्रवण करनेकी इच्छा करनेपर मैत्रेय ऋषि कहने लगे—एक दिन सन्ध्याकालमें दाक्षायणी दितिने मरीचिपुत्र कश्यपके निकट रमणकी प्रार्थना की। कश्यप द्वारा महाभयङ्कर रुद्राधिकार-ग्रस्त अशुभ सन्ध्याकालके दोषका वर्णन करनेपर भी वे दितिका निवारण न कर सके और उन्होंने उसकी मनोभिलाषाको पूर्ण किया। किन्तु, नियमभङ्ग करनेके कारण कश्यपका चित्त असन्तुष्ट था, अतः उन्होंने

दितिको अभिशाप देते हुए कहा—तुम्हारे गर्भसे अभद्र स्वरूपवाले दो अधम और अत्याचारी पुत्र जन्म लेंगे और वे वधके योग्य होंगे। ये दोनों पुत्र ही हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु थे। दितिने इन दोनों पुत्रोंकी भगवान् श्रीविष्णुके हाथोंसे ही निहत होनेकी प्रार्थना की। कश्यपने दितिकी कातरतासे सन्तुष्ट होकर कहा—"तुम्हारे पुत्र हिरण्यकशिपुका प्रह्लाद नामक एक हरिभक्त पुत्र होगा तथा भगवान् विष्णु ही तुम्हारे दोनों पुत्रोंका वध करेंगे।"

इसके बाद मैत्रेय ऋषि विदुरजीको हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके जन्मका रहस्य बतलाने लगे—दिति द्वारा सौ वर्षों तक कश्यप ऋषिके वीर्यको धारण करनेके कारण दितिके गर्भके तेजसे देवतागण भयभीत होकर ब्रह्माजीके निकट अभयकी प्रार्थना करने लगे। ब्रह्माजी देवताओंको आश्वासन देकर दितिके गर्भमें स्थित उन दोनों दैत्योंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त वर्णन करने लगे—एक समय चतुःसन (चार कुमारों) ने भगवान्के दर्शनके उद्देश्यसे वैकुण्ठधाममें गमन किया। वहाँ छह कक्षोंको पार करनेपर सातवें कक्षमें उनका जय और विजय नामक दो द्वारपालोंसे सामना हुआ। इन दोनों द्वारपालोंने चारों कुमारोंको उलङ्ग (नग्न) देखकर उपहासपूर्वक उन्हें प्रवेश करनेसे निषेध किया। द्वारपालोंके ऐसे विषम स्वभावको देखकर तथा भगवान्के दर्शनमें बाधाप्राप्त होनेके कारण चतुःसनने उन्हें अभिशाप दिया—"भेदबुद्धिके कारण तुम वैकुण्ठधामसे भ्रष्ट होकर काम-क्रोधादिसे परिपूर्ण पापीयसी योनिमें जन्म ग्रहण करो।" इस प्रकारसे अभिशाप प्राप्त होनेपर उन द्वारपालोंने चार ऋषियोंसे श्रीहरिके स्मरणमें बाधा उपस्थित न हो, ऐसी प्रार्थना की। उसी समय भगवान् श्रीनारायण चतुःसनके क्रोधके कारणको जानकर लक्ष्मी सहित वहाँ उपस्थित हुए।

श्रीनारायणने मुनियोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—"आज इन जय-विजयने आपके जैसे भक्तोंका असम्मान कर मेरी ही अवज्ञा की है। आपलोगोंने उन्हें जो दण्ड दिया है, वह मेरे द्वारा सम्पूर्ण रूपसे ही अनुमोदित है। जो व्यक्ति भक्तोंके प्रति द्रोहका आचरण करता है, वह लोकेश्वर होनेपर भी वधके योग्य है।" मुनिगण जय-विजयको अभिशाप प्रदान करनेके कारण सन्तप्त हो गये और

अपने प्रति भगवान्से उचित दण्ड देनेके लिए अनुरोध करने लगे। भगवान्ने कहा—"तुमलोगोंके द्वारा दिया गया यह शाप मेरे द्वारा ही सृष्ट है।" फिर भगवान्ने जय-विजयसे कहा—"तुम दोनों शीघ्र ही ब्रह्मशापसे मुक्त होकर मेरे समीप आ सकोगे।" जय और विजय वैकुण्ठसे पतनोन्मुख होकर शोभा और गर्व—दोनोंसे रहित हो पड़े। ये जय-विजय ही कश्यप पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए।

दितिने सौ वर्षों तक गर्भ धारणकर इन दो जुड़वा पुत्रोंको जन्म दिया। दोनों पुत्र मूर्त्तिमान अमङ्गल स्वरूप हो उठे। उनके अत्याचारोंसे भयभीत होकर विश्ववासी महाप्रलयकी आशङ्का करने लगे। हिरण्याक्षके द्वारा पहले जन्म लेनेपर भी पिताके शुक्र (वीर्य) पातके क्रमानुसार हिरण्यकशिपु ही ज्येष्ठ हैं। हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रिय था। हिरण्यकशिपुने ब्रह्माके वरसे अमर होनेपर त्रिलोकीको अपने वशमें कर लिया। हिरण्याक्ष युद्धकामी होकर हाथमें गदा लेकर सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा। स्वर्ग और मर्त्यलोकमें अपने समान किसीको भी न देखकर उसने समुद्रगर्भमें—पातालमें प्रवेश किया। पातालके अधिपति वरुणदेव हिरण्याक्षके प्रतिद्वन्दी होनेमें समर्थ नहीं थे, अतः वरुणने यह जानकर उसके उपयुक्त प्रतिपक्षके रूपमें भगवान् श्रीविष्णुका ही निर्देश किया।

हिरण्याक्षने श्रीनारदसे भगवान् श्रीहरिके गन्तव्य स्थानसे अवगत होकर रसातलमें प्रवेश किया। तब उस समय भगवान् श्रीविष्णुने वराहमूर्त्ति धारणकर अपने दाँतोंके अग्रभागपर पृथ्वीको उठा रखा था। हिरण्याक्ष द्वारा भगवान्के साथ युद्ध करनेकी इच्छा करनेपर भगवान् वराहदेवने जलके ऊपरी भागपर आधारशक्तिको स्थापित कर वहाँ पृथ्वीको संरक्षित किया और फिर वे युद्धके लिए प्रस्तुत हुए। हिरण्याक्षके साथ युद्धमें बहुत समय बीतनेके कारण तथा देवताओंके भय और अधैर्यको देखकर भगवान् वराहदेवने शीघ्र ही हिरण्याक्षको निहत करनेके लिए 'सुनाभ' चक्र द्वारा दैत्यके समस्त प्रकारके अस्त्र-शस्त्र और उसकी आसुरी मायाको नष्ट कर दिया। अन्तमें उन्होंने अपने पदाघातसे हिरण्याक्षको भी विनष्ट कर डाला। यह देखकर ब्रह्मादि देवताओंने वराहदेवकी बहुत प्रकारसे स्तव-स्तुति की।

तदनन्तर श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंके समक्ष विदुर-मैत्रेय संवाद द्वारा इस प्रकारसे भगवान्‌की महिमाका कीर्त्तन कर पुनः पूर्ववर्णित मनुवंशका विवरण कहने लगे।

श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीके अत्यधिक आग्रहवशतः स्वायम्भुव मनुके वंश-विस्तारका वर्णन करने लगे—ब्रह्माजी द्वारा प्रजापति कर्दमको प्रजासृष्टिके लिए कहनेपर इन ऋषिवरने सरस्वतीके तटपर जाकर दस हजार वर्षों तक श्रीहरिकी तपस्या की। श्रीभगवान्‌ने सन्तुष्ट होकर उन्हें दर्शन दिया तथा ऋषिराजकी प्रजासृष्टिके उद्धेश्यसे पत्नी प्राप्त करनेकी कामनाको पूर्णकर कहने लगे—"स्वायम्भुवकी कन्या देवहूति तुम्हारी पत्नी होगी और देवहूतिके गर्भसे उत्पन्न नौ कन्याएँ मरीचि आदि प्रजापतियोंकी पत्नियाँ होंगी। कर्दम और देवहूतिका 'कपिल' नामसे एक पुत्र प्रकटित होकर सांख्य-कर्त्ताके रूपमें जगत्‌में विख्यात होगा।" ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। तब कर्दम मुनि बिन्दुसरोवरके तटपर रहने लगे। इसी बीचमें मनु अपनी पत्नी शतरूपा और कन्या देवहूतिके साथ वहाँ उपस्थित हुए।

स्वायम्भुव मनुने महर्षि कर्दमसे अपनी कन्या देवहूतिको पत्नीके रूपमें स्वीकार करनेके लिए अनुरोध किया। कर्दम ऋषिने इससे सहमत होकर मनुसे कहा कि वे देवहूतिके सन्तान-उत्पत्ति काल तक ही ग्रह-आश्रममें वास करेंगे और फिर श्रीहरिकी आराधनाके लिए प्रव्राजक-वृत्ति ग्रहण करेंगे। मनु शास्त्रविधिके अनुसार अपनी कन्याको उपयुक्त पात्रको देकर ब्रह्मावर्त्तमें अपनी बर्हिष्मति नामक पुरीमें लौट आये।

कर्दम ऋषिने पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनाके अनुसार योगबलसे एक कामग (इच्छानुसार गतिसे गमन करनेवाला) विमान लाकर उसमें देवहूतिके साथ विहार किया और अपनेको नौ भागोंमें विभक्तकर देवहूतिके गर्भमें वीर्यका आधान किया। इससे देवहूतिकी नौ सुन्दर कन्याएँ उत्पन्न हुईं। कर्दम द्वारा अपने पूर्वकथित सङ्कल्पानुसार प्रव्रज्याके लिए प्रस्तुत होनेपर देवहूतिको भोगके प्रति निर्वेद हो गया।

देवहूतिके निर्वेदपूर्ण वचनोंको सुनकर कर्दम ऋषिने सन्तुष्ट होकर उसे भगवान्‌की आराधना करनेका उपदेश दिया। देवहूतिने भी बहुत

वर्षों तक श्रीहरिकी आराधना की। देवहूतिके गर्भसे भगवान् श्रीहरि अपने शक्त्यावेश अवतार श्रीकपिलदेवके रूपमें उदित हुए। ब्रह्माजी कर्दम ऋषिके प्रजासृष्टिके कार्योंसे सन्तुष्ट होकर मरीचि आदि नौ ऋषियोंके साथ कर्दमके आश्रममें आये और उन्होंने कर्दमकी नौ कन्याओंको उन नौ प्रजापतियोंको प्रदान करनेका आदेश दिया। ब्रह्माजीके आदेशानुसार कर्दमने अपनी कलादि कन्याओंको मरीचि आदि प्रजापतियोंको समर्पण किया। तदुपरान्त कर्दम ऋषिने भगवान् श्रीकपिलदेवका स्तव किया और उनकी अनुमति लेकर वनमें गमन किया।

शौनकादि ऋषियों द्वारा कपिलदेवके विषयमें और भी सुननेकी इच्छा करनेपर श्रीसूतगोस्वामीने विदुर-मैत्रेय संवादके वर्णन-प्रसङ्गमें कहा—"कर्दम ऋषिके प्रव्रज्यामें गमन करनेपर कपिलदेव देवहूतिके मङ्गलके लिए बिन्दुसरोवरके तटपर अवस्थान करने लगे। देवहूतिने ब्रह्माजीके वाक्योंको स्मरणकर कपिलदेवके निकट प्रणिपात और परिप्रश्न सहित आत्म-अनात्म विवेक तथा प्रकृति और पुरुषके तत्त्वकी जिज्ञासा की। इसके उत्तरमें श्रीकपिलदेवने कर्म, ज्ञान और भक्तियोगमेंसे एकमात्र भक्तियोगकी ही श्रेष्ठता और उसके परम कल्याणको प्रदान करनेके सामर्थ्यका वर्णन किया। असत् विषयोंमें आसक्ति ही जीवका बन्धन है तथा शुद्धभक्त और भगवान्‌के चरणोंमें आसक्ति ही जीवकी मुक्ति है। भगवान्‌के शुद्धभक्तोंके मुखसे हरिकथाके श्रवणके फलसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा श्रीकृष्णके चरणोंमें रति और प्रेमभक्तिकी प्राप्ति होती है।

इसके बाद कपिलदेवने देवहूतिको प्रकृति-पुरुषके तत्त्वज्ञानके लिए महत्-तत्त्वादिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए सांख्य-योगका वर्णन किया।

तदुपरान्त भगवान् कपिलदेवने प्रकृति-पुरुष विवेक द्वारा मोक्षरीतिके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा कि शुद्ध-जीवात्मा देहमें रहकर भी प्राकृत गुणोंके साथ निर्लिप्त भावसे रह सकता है। किन्तु, जीवके प्राकृतिक गुणोंमें आसक्त होते ही वह अहङ्कार-विमूढ़ात्मा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उत्तम-अधम बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसे

संसारकी गति प्राप्त होती है। भगवान्से इतर वस्तुओंमें ऐसी आसक्ति तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा क्रमशः दूर होती है।

इसके बाद कपिलदेवने देवहूतिके सावलम्बन-योग (बीज सहित योग अर्थात् भगवत्-श्रीविग्रहके ध्यानका अवलम्बनपूर्वक योग) का लक्षण वर्णनकर निर्मल योग द्वारा एकाग्र हुए चित्तमें अप्राकृत श्रीमूर्त्तिके ध्यानकी कथाका वर्णन किया। फिर उन्होंने ध्यानका क्रमपन्था और श्रीभगवान्की ध्येयमूर्त्तिका वर्णन किया। योगमिश्रा भक्तिके शुद्धाभक्तिमें परिणत होनेपर योग साधन क्रिया परित्यक्त हो जाती है तथा कैवल्यकी कामनासे चित्त क्रमशः निर्मुक्त हो जाता है। अपने स्वरूपकी उपलब्धि करनेवाले साधकोंको देहादिकी कोई स्मृति नहीं रहती, केवल पूर्व संस्कारवशतः ही उनका आरब्धकर्म कृत होता है। भक्तियोगी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें समस्त प्राणियोंको देखते हैं।

तदन्तर देवहूति द्वारा भक्तियोगके प्रकार, जीवोंकी विचित्र संसार गति तथा भगवान्के स्वरूपके विषयमें श्रवण करनेके इच्छुक होनेपर कपिलदेव तामसिक, राजसिक और सात्त्विकके भेदसे तीन प्रकारके सकाम और सगुण भक्तिके लक्षणोंको कहकर निर्गुण और निष्काम शुद्धभक्तिके लक्षण कहने लगे। भगवान्के गुण श्रवणमात्रसे उनके प्रति जीवात्माकी अहैतुकी, अव्यवहिता (व्यवधान रहित) और स्वाभाविकी गति ही शुद्धभक्तिके लक्षण हैं। भगवान्के भक्तोंको अनायास ही सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होनेपर भी वे उसे स्वीकार नहीं करते। भगवान्की सेवाके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई भी अभिलाषा नहीं होती। इसके बाद कपिलदेवने श्रीअर्चा-पूजा और वैष्णवोंकी श्रेष्ठता इत्यादि विषयोंका वर्णन किया।

कपिलदेवने बहिर्मुख जीवोंकी चेष्टाका वर्णन करते हुए कहा कि जीव अनित्य वस्तुमें नित्य वस्तुका अभिमानकर उससे सुख प्राप्त करनेकी आशा करता है, किन्तु फलमें उसे दुःख ही प्राप्त होता है। वह जो-जो योनि प्राप्त करता है, उस-उस योनिमें प्राप्त देह-गृहादिमें अत्यन्त आसक्तिके कारण वह गृहव्रत हो पड़ता है तथा नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोगकर जीवनके अन्तमें यमदण्ड प्राप्त

करता है। तत्त्ववेत्तागण कहते हैं कि इस भोगभूमिकामें ही स्वर्ग और नरक वर्त्तमान हैं, क्योंकि नरक-यातना इस जगत्में भी दिखायी देती है। गृहव्रत पाप-आचरणकारी नाना प्रकारकी अधम योनियोंमें निक्षिप्त होकर बहुत यातना भोगते हैं और भोगके अन्तमें पुनः नरलोकमें आगमन करते हैं।

भगवान् कपिलदेव और भी कहने लगे कि जीवके पूर्वकृत भोगमय कर्मोंके फलसे ही उसका गर्भवास होता है। सप्तम मासमें गर्भस्थ बद्धजीव समस्त अङ्गोंसे पूर्ण हो जाता है तथा ज्ञानके उदय होनेके साथ ही गर्भ-यन्त्रणा अनुभव करने लगता है। उस समय वह पुनः गर्भवाससे भयभीत होकर भगवान्की स्तव-स्तुति करने लगता है तथा भगवान्के भजनमें कृत-सङ्कल्प होकर ऐसी कातरतासे प्रार्थना करता है कि जिससे उसे फिर गर्भवासरूप दुःख न भोगना पड़े। फिर दसवें मासमें वह जीव गर्भसे बाहर आकर जननीके गर्भमें अपने वासकी समस्त स्मृतिको भूलकर अन्य विषयोंमें आसक्त हो पड़ता है। आयुकी वृद्धिके साथ-साथ क्रमशः असत्-सङ्गके फलसे नाना प्रकारके पापाचरणमें प्रवृत्त होता है और फलस्वरूप पुनः नरकभोग करता है। आत्मवान पुरुष असत्-सङ्गको तृण द्वारा ढके हुए कुएँकी भाँति मृत्युस्वरूप देखते हैं। भगवान्की सेवाके अभिलाषी व्यक्तिके लिए स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गीका सङ्ग सम्पूर्ण रूपसे परित्यज्य है।

गृहव्रत व्यक्ति त्रैवर्गिक (धर्म-अर्थ-काम) धर्मका याजन करके भगवान्की सेवासे विमुख तथा आत्मेन्द्रिय-तर्पणके मूलमें कर्मजड़ होकर यज्ञादि द्वारा प्राकृत देवता और पितृपुरुषोंका अर्चन और व्रतधारण करता है। इसके फलसे वह स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है तथा पुण्योंके क्षय होनेपर पुनः अधपतित होता है अर्थात् मृत्युलोकमें आगमन करता है। महाप्रलयके समय इन समस्त लोकोंके साथ-साथ इन लोकोंको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंका लय हो जाता है। ब्रह्मादि देवतागण तक भक्तिके अभावमें स्वतन्त्र ईश्वर होनेके अभिमानवशतः तथा भगवान्के स्वरूपमें मायिक-बुद्धि करके संसारमें लौटकर आते हैं। भक्तिके बिना किसी भी पथमें चरम प्रयोजनकी प्राप्ति नहीं होती है। कर्म और ज्ञानादिके द्वारा प्रपञ्चके सङ्गसे उदासीनतामात्र प्राप्त

होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुमें अभिनिवेशवशतः ही इन्द्रियोंसे अतीत भगवान् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य स्वरूपमें प्रतीत होते हैं। श्रद्धारहित व्यक्ति अथवा भगवान् और भक्तोंके विद्वेषियोंके समक्ष ये समस्त कथाएँ वर्णनीय नहीं है।

भगवान् कपिलदेवसे इन समस्त तत्त्वोंसे सम्बन्धित कथाओंको सुनकर देवहूतिके मोहका आवरण दूर हो गया। उसने कपिलदेवको प्रणाम किया तथा उनका स्तव करते हुए कहा कि भगवान्‌के नामोंका श्रवण, अनुकीर्त्तन, स्मरण और वन्दनकारी चण्डालकुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी जब भगवद्भक्तिसे हीन ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है, तब फिर साक्षात् भगवान्‌के दर्शनकारीके विषयमें क्या कहा जाये? देवहूति भगवान् कपिलदेवके उपदेशानुसार भक्तियोगका आश्रय करके सरस्वतीके तटपर स्थित आश्रममें कठोर वैराग्यके अभ्यास द्वारा श्रीहरिकी आराधनामें नियुक्त हो गयी।

देवहूतिने जिस स्थानपर सिद्धि प्राप्ति की, वह स्थान 'सिद्धपद' के नामसे विख्यात है। योगके प्रभावसे उसके शरीरका समस्त धातुमल दूर हो गया और वह सिद्धजनों द्वारा सेवित सिद्धिदायिनी नदीके रूपमें भूतलपर प्रवाहित है। श्रीकपिलदेवने माता देवहूतिको उपदेश प्रदान करके पिताके आश्रमसे उत्तरकी ओर गमन किया और फिर गङ्गासागरके सङ्गममें नित्य समाधिस्थ होकर रहने लगे।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

तृतीयः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीउद्धव और विदुरजीका मिलन और
उनके बीचमें कथोपकथन

श्रीशुक उवाच—

एवमेतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! पूर्वकालमें विदुरजी समस्त सम्पत्तियोंसे युक्त अपने घरका परित्यागकर वनमें चले गये थे और उन्होंने योगैश्वर्यशाली महर्षि मैत्रेयसे वही प्रश्न पूछे थे, जो अभी आपने मुझसे पूछे हैं॥ १॥

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्॥ २॥

समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुरमें गये थे, तब वे कौरव-राज दुर्योधनके महलोंको त्यागकर बिना बुलाये ही विदुरजीके घर चले गये थे। इस प्रकार भगवान्ने विदुरजीके घरको अपने ही घरके रूपमें अङ्गीकार किया था॥ २॥

श्रीराजोवाच—

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो॥ ३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे प्रभो! कृपया मुझे यह बतलाइये कि भगवान् मैत्रेयजीके साथ महात्मा विदुरजीका मिलन कहाँपर हुआ था तथा किस समय उन दोनोंका परस्पर वार्त्तालाप हुआ था?॥ ३॥

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः॥ ४॥

शुद्धात्मा विदुरजी द्वारा महर्षि मैत्रेयसे पूछे गये प्रश्न साधुओंके द्वारा अनुमोदित तथा प्रशंसित हैं, अतः ऐसे श्रेष्ठ प्रश्नोंके उत्तर भी अवश्य ही साधारण अर्थको प्रकाशित करनेवाले नहीं होंगे॥ ४॥

श्रीसूत उवाच—

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।
प्रत्याह तं सुबहुवित् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ५॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेपर मुनियोंमें श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ श्रीशुकदेव गोस्वामी अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—महाराज! श्रवण कीजिये॥ ५॥

श्रीशुक उवाच—

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—(यह उस समयकी बात है) जब जन्मसे अन्ध राजा धृतराष्ट्रने अपने दुष्ट-पुत्रोंका अन्यायपूर्वक पक्ष लेते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षागृहमें भेजकर उसमें आग लगवाकर उन्हें दग्ध करनेकी चेष्टा की थी॥ ६॥

यदा सभायां कुदेवदेव्याः
केशाभिमर्षं सुतकर्म गर्ह्यम्।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि॥ ७॥

जिस समय उनका पुत्र दुःशासन उनके छोटे भाई पाण्डुके पुत्र महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश पकड़कर उसे खींचते हुए भरी सभामें ले आया था, उस समय द्रौपदी क्रन्दन कर रही थी और आँसुओंकी धाराओंसे उसका वक्षःस्थल भीग गया था; किन्तु तथापि राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको ऐसा निन्दित कर्म करनेसे नहीं रोका॥ ७॥

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनं गतस्य।
न याचतोऽदात् समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः॥ ८॥

जब द्युतक्रीड़ामें दुर्योधनने सत्यका आश्रय लेनेवाले और सरल-स्वभावयुक्त राजा युधिष्ठिरको कपटतापूर्वक पराजित कर दिया, तब युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञानुसार वनमें चले गये। वनसे लौट आनेपर युधिष्ठिर द्वारा पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार अपने पैतृक राज्यभागकी प्रार्थना करनेपर भी धृतराष्ट्रने मोहवशतः अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका न्यायोचित राज्यभाग नहीं दिया॥ ८॥

यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः॥ ९॥

और हे परीक्षित्! जिस समय युधिष्ठिरने कलह मिटानेके लिए जगद्गुरु श्रीकृष्णको कौरवोंकी सभामें दूतके रूपमें भेजा था, उस समय भगवान्‌ने उस सभामें हितपरक और अमृतके समान सुमधुर वचन कहे थे। श्रीकृष्णके उन वचनोंको सुनकर भीष्म आदिको तो परमानन्दका अनुभव हुआ, किन्तु राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधनने भगवान्‌के वचनोंका समादर नहीं किया, क्योंकि उन दोनोंके समस्त पुण्य नष्ट हो चुके थे॥ ९॥

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन।

अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति॥ १०॥

बड़े भाई धृतराष्ट्रने जब विदुरजीसे परामर्श लेनेके लिए उन्हें अपने भवनमें बुलवाया, उस समय मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने धृतराष्ट्रके द्वारा पूछे जानेपर उन्हें जो सदुपदेश प्रदान किये थे, उन उपदेशोंको आज भी मन्त्रणामें विशारद लोग 'वैदुरिक' अर्थात् 'विदुर-वाक्य' अथवा 'विदुर-नीति' कहते हैं॥ १०॥

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन् रुषा यत् त्वमलं बिभेषि॥ ११॥

विदुरजीने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे कहा—हे महाराज! आपके द्वारा दी गयी असहनीय यातनाओंको भी जो चुपचाप सहन कर रहे हैं, आप उन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये। आपको अत्यन्त भीत करनेवाला वह भीम तो साक्षात् कालसर्पके समान है। आपके द्वारा किये गये अत्याचारोंका बदला लेनेके लिए वह अपने भाइयोंके साथ क्रोधसे भरकर निरन्तर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहा है॥ ११॥

पार्थांस्तु देवो भगवान् मुकुन्दो
गृहीतवान् सक्षितिदेवदेवः।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२॥

आप अपने अनेक पुत्र होनेका गर्व मत कीजिये, क्योंकि आपको पता नहीं है कि सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णने पृथापुत्र—पाण्डवोंको अपना लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी श्रीकृष्णके पक्षमें हैं। वे यदुवीरोंके आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं तथा उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है॥ १२॥

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैव्यं कुलकौशलाय॥ १३॥

जिसे आप पुत्र समझकर पोषण कर रहे हैं, वह दुर्योधन तो मूर्त्तिमान पापस्वरूपमें आपके घरमें घुसकर बैठा हुआ है। वह परमेश्वर श्रीकृष्णसे विद्वेष करनेवाला तथा उनसे विमुख है, अतः उसीके दुःसङ्गसे आप भी कृष्णविमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं। अतएव यदि आप अपने वंशका मङ्गल चाहते हैं, तो शीघ्र ही इस अमङ्गलस्वरूप दुर्योधनका त्याग कर दीजिये॥ १३॥

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन॥ १४॥

विदुरजीके द्वारा इस प्रकार कहनेपर दुर्योधन अत्यन्त क्रोधित हो उठा और आक्रोशके कारण उसके दोनों होंठ काँपने लगे। विदुरजीका उत्तम चरित्र तो साधुओंके लिए भी वाञ्छनीय था, तथापि दुर्योधन कर्ण, दुःशासन और शकुनिके साथ मिलकर विदुरजीका तिरस्कार करते हुए कहने लगा—॥ १४॥

क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः॥ १५॥

अरे! ऐसे खल-स्वभाववाले इस दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है? यह व्यक्ति इतना कृतघ्न है कि जिसके अन्नपर पल रहा है, उसके ही प्रतिकूल आचरण करके उसके शत्रुओंकी सहायता कर रहा है। इसे अपने कर्मोंका फल मिलना चाहिये। अतः इसके प्राणोंका हनन तो मत करो, परन्तु इसे हस्तिनापुरसे तुरन्त बाहर कर दो॥ १५॥

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः॥ १६॥

दुर्योधनके ऐसे अत्यन्त कठोर वचनोंने बाणकी भाँति विदुरजीके कानोंमें प्रवेशकर उनके मर्म-स्थान (हृदय) को आघात किया। तथापि 'यह सब भगवान्‌की मायाका खेल है'—ऐसा सोचकर विदुरजी तनिक भी दुःखित नहीं हुए। उन्होंने अपने धनुष-बाणको राजघरके द्वारपर रख दिया और बिना एक शब्द कहे स्वयं ही वहाँसे चल दिये॥ १६॥

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात् तीर्थपदः पदानि।
अन्वाक्रमत् पुण्यचिकीर्षयोर्व्या-
मधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः॥ १७॥

कौरवोंको विदुर जैसे महात्मा बड़े पुण्योंसे प्राप्त हुए थे। किन्तु, अब विदुरजी हस्तिनापुरसे निकलकर पृथ्वीमें जिन-जिन स्थानोंपर तीर्थपाद भगवान्‌की मत्स्य, कूर्मादि बहुत प्रकारकी श्रीमूर्त्तियाँ विराजित थीं, उन सभी स्थानोंमें पुण्यको सञ्चय करनेकी इच्छासे भ्रमण करने लगे॥ १७॥

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः॥ १८॥

वे अकेले ही भगवान् अनन्तके श्रीविग्रहोंसे अलंकृत विष्णुमन्दिर आदि तीर्थ स्थानों एवं भगवान्‌के धामोंमें स्थित पुण्यमय उपवनों, पर्वतीय कुञ्जों, पावन जलसे परिपूर्ण नदी, सरोवर आदि पुण्य-क्षेत्रोंमें विचरण करने लगे॥ १८॥

गां पर्यटन् मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।

अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि॥ १९॥

तीर्थोंमें भ्रमण करते समय विदुरजी पवित्र और साधारण भोजन करते थे तथा शुद्धवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते थे। वे प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, भूमिपर सोते और अपने शरीरको सजाते नहीं थे। वे वृक्षकी खालका वस्त्र धारण करनेवाले अवधूतके रूपमें स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते हुए इस प्रकारसे रहते थे कि उनके आत्मीय-जन भी उन्हें पहचान न सकें। वे श्रीहरिको प्रसन्न करनेवाले व्रतोंका भी पालन करते थे॥ १९॥

इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान प्रभासम्।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः॥ २०॥

इस प्रकार समस्त भारतवर्षमें परिभ्रमण करते हुए जिस समय वे प्रभासक्षेत्रमें उपस्थित हुए, तब तक भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे धर्मराज युधिष्ठिर पृथ्वीपर एकछत्र अखण्ड शासन करने लगे थे॥ २०॥

तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम्।
संस्पर्द्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम्॥ २१॥

तदनन्तर विदुरजीने प्रभासतीर्थमें पहुँचकर सुना कि कौरव आदि उनके स्वजन परस्परकी विरोध-अग्निसे उसी प्रकार विनष्ट हो गये हैं, जिस प्रकार अपनी ही रगड़से उत्पन्न हुई आगसे बाँसका समस्त जङ्गल जलकर भस्म हो जाता है। यह सुनकर वे बड़े दुःखी हुए और पश्चिमकी ओर बहनेवाली सरस्वती नदीकी ओर चल दिये॥ २१॥

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे॥ २२॥

विदुरजीने सरस्वतीके तटपर स्थित त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेव नामक प्रसिद्ध ग्यारह तीर्थोंकी स्नान-दान आदिसे विधिपूर्वक सेवा की॥ २२॥

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्ति॥ २३॥

इसके अतिरिक्त विदुरजीने देवताओं और ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति निर्दिष्ट एवं स्थापित भगवान्‌के अन्यान्य पुण्यक्षेत्रों अथवा तीर्थोंका दर्शन भी किया। उन्होंने उन समस्त विष्णु-मन्दिरोंका सेवन किया, जिनके शिखर चक्र आदिसे चिह्नित थे, क्योंकि इन मन्दिरोंके दर्शनके फलसे भगवान् श्रीकृष्ण उनकी स्मृति-पटलपर बार-बार आ जाते थे॥ २३॥

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श॥ २४॥

इसके बाद वे समृद्धिशाली सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल आदि देशोंको पार करते हुए श्रीयमुनाके तटपर उपस्थित हुए। वहाँपर भक्तचूड़ामणि परमभागवत श्रीउद्धवके साथ उनका मिलन हुआ॥ २४॥

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम्।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५॥

श्रीउद्धव भगवान् श्रीकृष्णके प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्त-स्वभावके थे। वे पहले नीतिकुशल बृहस्पतिजीके शिष्य रह चुके थे। श्रीउद्धवका दर्शन करते ही विदुरजी पुलकित हो उठे और उन्होंने अति स्नेहके साथ उनका गाढ़ आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् उन्होंने उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल समाचार पूछा॥ २५॥

कच्चित् पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे॥ २६॥

सबसे पहले वे श्रीकृष्ण और श्रीबलरामकी कुशलवार्त्ता पूछते हुए बोले—हे उद्धवजी! जिन्होंने अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया और उन ब्रह्माजीके अनुरोधसे ही जो दोनों सनातन पुरुष—श्रीकृष्ण और श्रीबलराम इस प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुए हैं, वे सर्वमङ्गलमय राम-कृष्ण पृथ्वीका भार दूर करके इस समय श्रीवसुदेवजीके घरपर कुशल-मङ्गलसे तो हैं न?॥ २६॥

कच्चित् कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः।
यो वै स्वसृणां पितृवद्ददाति
वरान् वदान्यो वरतर्पणेन॥ २७॥

हे अङ्ग! हे प्रियवर! कुरुकुलके परम-हितैषी और सर्वाराध्य श्रीवसुदेवजी अपनी कुन्ती आदि बहिनोंके प्रति उनके पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिए अपने पितासे भी अधिक यत्न एवं अर्थ प्रदान करते थे। वे उदारचित्त श्रीवसुदेवजी इस समय कुशलसे तो हैं न?॥ २७॥

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे॥ २८॥

प्रिय उद्धवजी! यदुओंके सेनानायक महावीर प्रद्युम्न इस समय कैसे हैं? वे पूर्वजन्ममें कामदेव थे। रुक्मिणीने बहुत समय तक ब्राह्मणोंकी आराधना करके भगवान् श्रीकृष्णसे उन्हें पुत्रके रूपमें प्राप्त किया है॥ २८॥

कच्चित् सुखं सात्वतवृष्णिभोज–
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात्॥ २९॥

जो कंस आदि दुष्टोंके अत्याचारसे राज्य–प्राप्तिकी अभिलाषाका परित्याग करके प्राणोंके भयसे दूर देशमें रहने लगे थे और जिन्हें कमललोचन भगवान् श्रीकृष्णने पुनः सिंहासनपर अभिषिक्त किया था, वे सात्वत, वृष्णि, भोज, दाशार्हवंशियोंके अधिपति महाराज उग्रसेन कुशलसे हैं न?॥ २९॥

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे॥ ३०॥

हे सौम्य! श्रीकृष्णके ही अनुरूप उनके पुत्र रथीश्रेष्ठ साम्ब इस समय कैसे हैं? पूर्वजन्ममें इन्होंने अम्बिकाके गर्भसे कार्तिकेयके नामसे जन्म–ग्रहण किया था। इस जन्ममें श्रीकृष्णकी महिषी जाम्बवतीने अनेक व्रतोंके फलसे उन कार्तिकेयको ही अपने पुत्र साम्बके रूपमें प्राप्त किया है॥ ३०॥

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम्॥ ३१॥

जिन्होंने अर्जुनसे धनुर्विद्याके रहस्यकी शिक्षा प्राप्त की है, वे सात्यकि कुशलसे तो हैं? ये भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करके

अनायास ही अधोक्षज-सम्बन्धिनी अर्थात् भगवद्भक्तोंसे सम्बन्धित उस महान गति (अवस्था) को प्राप्त कर चुके हैं, जो परम योगियोंके लिए भी दुर्लभ है॥ ३१॥

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांशु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः॥ ३२॥

भगवान्के शरणागत और बुद्धिमान श्वफल्कके पुत्र अक्रूरजी कुशलपूर्वक तो हैं न? वे श्रीकृष्णके ऐसे प्रेमी हैं कि जब उन्होंने श्रीनन्दमहाराजके नगर गोकुलकी सीमापर श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको रजमें अङ्कित देखा, उस समय वे प्रेमसे गद्गद होकर उस धूलिपर लोटने लगे थे॥ ३२॥

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम्॥ ३३॥

भोजकुलमें उत्पन्न देवककी पुत्री श्रीकृष्ण-जननी श्रीदेवकी कुशलपूर्वक तो हैं? जिस प्रकार देवमाता अदितिने अपने गर्भमें भगवान् विष्णुको धारण किया था, उसी प्रकार श्रीदेवकीने भी श्रीकृष्णको अपने गर्भमें धारण किया था। जिस प्रकार तीनों वेद अपने मन्त्रोंमें यज्ञ-विस्ताररूप अर्थको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार माता देवकीने श्रीकृष्णको प्रकाशित किया है॥ ३३॥

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः।
यमामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम्॥ ३४॥

सात्वत वैष्णवोंकी वाञ्छाको पूर्ण करनेवाले षड़ैश्वर्यपूर्ण अनिरुद्ध कुशलसे तो हैं? मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार—इस अन्तःकरण

चतुष्टयमें मनके प्रवर्त्तक और अधिष्ठाताके रूपमें वेदादि शास्त्र भगवान् अनिरुद्धको तुरीय-तत्त्व और शब्दब्रह्मका मूलस्वरूप बतलाते हैं॥ ३४॥

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य॥ ३५॥

हे सौम्य-स्वभाव उद्धवजी! इसके अतिरिक्त जो चिरकालसे इन्द्रिय आदि समस्त देहकी अन्तरात्माके रूपमें अपने हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका एकान्तभावसे अनुसरण करते हैं, वे हृदीक, सत्यभामाके पुत्र चारुदेष्ण और गद आदि श्रीकृष्णके अनुचरगण सुखपूर्वक तो हैं न?॥ ३५॥

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम्।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या॥ ३६॥

धर्मराज युधिष्ठिरके साम्राज्यमें श्री और जय इतने अखण्डित रूपसे प्रतिष्ठित थे कि उनके राज्य-वैभव और मयदानवकी बनायी हुई उनकी सभाकी शोभाको देखकर महाभिमानी दुर्योधनको अत्यधिक ईर्ष्या हुई थी। वे राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण एवं अर्जुनरूप अपनी दोनों भुजाओंकी सहायतासे पहलेके समान ही धर्मका प्रतिपालन करते हुए धर्म-मर्यादाकी रक्षा कर रहे हैं न?॥ ३६॥

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत्।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम्॥ ३७॥

अपराधी कुरुओंके प्रति अत्यन्त क्रोधपरायण और असहिष्णु भीमसेनने सर्पके समान अपने दीर्घकालीन क्रोधका परित्याग कर दिया

है क्या? जब वे युद्धक्षेत्रमें गदा घुमाते हुए विचित्र-विचित्र पैंतरे बदलते हैं, तब उनके गदाघात और पदाघातसे रणभूमि सिहर उठती है॥ ३७॥

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष॥ ३८॥

कपट-किरात वेशधारण करनेके कारण सबसे अलक्षित रहनेवाले शिवजी जिनके बाण-जालसे घिरकर भी उनके युद्ध-नैपुण्यसे अत्यन्त प्रसन्न हुए थे, वे महारथियोंमें सुयशस्वी गाण्डीवधारी अर्जुन कुशलसे तो हैं न? अब तक तो अर्जुनने अपने समस्त शत्रुओंका नाश कर दिया होगा॥ ३८॥

यमावुतस्वित् तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात् सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात्॥ ३९॥

हे उद्धवजी! नकुल और सहदेव माद्रीके जुड़वा-पुत्र हैं। जिस प्रकार दोनों पलकें नेत्रोंकी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार पृथापुत्र अर्जुन आदिने उन्हें सुरक्षा प्रदान की थी। कुन्तीके द्वारा लालन-पालन किये जानेके कारण वे कुन्तीपुत्रके रूपमें ही परिचित हैं। जिस प्रकार गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृतका हरणकर लाये थे, उसी प्रकार वे युद्धमें शत्रु दुर्योधनसे अपना राज्य छीनकर आनन्दपूर्वक तो हैं?॥ ३९॥

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः॥ ४०॥

अहो! राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके वियोगमें मृतप्राय-सी होकर भी इन पुत्रोंके लिए ही प्राण धारण करनेवाली वे कुन्तीदेवी कैसी हैं?

महाराज पाण्डु रथियोंमें श्रेष्ठ एवं अद्वितीय योद्धा थे। उन्होंने केवल एक धनुष लेकर अकेले ही चारों दिशाओंको जीत लिया था॥ ४०॥

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे यः।
निर्यापितो येन सुहृत् स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन॥ ४१॥

हे सौम्य-स्वभाववाले उद्धवजी! जिन्होंने अपने परलोकवासी भाई पाण्डुके अनाथ पुत्रों—पाण्डवोंसे द्रोहकर अपने भाई पाण्डुसे ही द्रोह किया, अपने पुत्र दुर्योधनके कहनेपर मेरे जैसे हितकारी भाईको भी अपने भवनसे निकाल दिया, अधःपतनकी ओर जानेवाले उन धृतराष्ट्रके लिए मैं बार-बार शोक कर रहा हूँ॥ ४१॥

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र॥ ४२॥

हे उद्धवजी! मुझे धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंकी कुचेष्टाओंका कुछ भी खेद अथवा आश्चर्य नहीं है। यह सत्य है कि जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करते हुए लोगोंकी मनोवृत्तियोंको भ्रमित कर देते हैं, परन्तु मैं तो उन श्रीहरिकी कृपासे उनकी महिमाकी उपलब्धिकर समस्त प्रकारके संशयोंसे मुक्त हो चुका हूँ तथा अलक्षित रूपसे इस भूमण्डलपर सुखपूर्वक विचरण कर रहा हूँ॥ ४२॥

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः।
वधात् प्रपन्नार्त्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम्॥ ४३॥

यद्यपि कौरवोंने बहुत-से अपराध किये थे, तथापि समर्थवान होनेपर भी भगवान् उन समस्त अपराधोंको अनदेखा करते रहे। वे

उन कौरवोंके साथ-साथ धन, विद्या और जातिके मदसे अन्धे होकर कुमार्गगामी तथा बार-बार अपनी सेनाओंके द्वारा पृथ्वीको कँपानेवाले समस्त दुष्ट राजाओंको भी एक ही समयमें मारकर अपने शरणागत भक्तोंका दुःख दूर करना चाहते थे॥ ४३॥

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम्॥ ४४॥

हे उद्धवजी! भगवान् जन्मरहित होकर भी दुराचारियोंके विनाशके लिए आविर्भूत होते हैं तथा कर्मरहित होकर भी भक्तोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए दिव्य लीलाएँ करते हैं। अन्यथा, गुणातीत भगवान्के जन्मादिके द्वारा देह-सम्बन्ध और कर्म-विस्तारका संयोग ही कहाँ है?॥ ४४॥

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ ४५॥

हे सखे! अपने शरणागत राजाओं और अपने शासनमें रहनेवाले अन्यान्य भक्तोंके प्रियकार्य सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे श्रीभगवान्ने अजन्मा होकर भी यदुकुलमें अवतार लिया है। उन भगवान् श्रीकृष्णकी संसार-तारिणी परमपावनी कीर्त्तिका विस्तार करनेवाली लीला-कथाओंका वर्णन कीजिये॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णके वियोगमें शोकाकुल उद्धव द्वारा श्रीकृष्णकी बाल्यलीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम्।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेहे औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार जब विदुरजीने श्रीउद्धवसे उनके आराध्य भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें बहुत-सी बातें पूछी, तब उत्कण्ठाके कारण परमभागवत श्रीउद्धवके स्मृतिपटलपर श्रीकृष्ण उदित हो आये, जिससे वे उनके वियोगमें व्याकुल हो उठे और किसी भी प्रश्नका उत्तर न दे सके॥ १॥

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया॥ २॥

हे राजन्! जब श्रीउद्धवजी पाँच वर्षके बालक थे, तब बाल्य-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णकी मूर्त्ति बनाकर पूजा-सामग्रियोंसे उस मूर्त्तिकी अर्चना करते थे। उस समय जब उनकी माता प्रातःकालीन भोजनके लिए उन्हें बार-बार बुलाती थी, तो वे 'अभी मेरी पूजा सम्पूर्ण नहीं हुई'—यह कहकर भोजन करनेकी इच्छा भी नहीं करते थे॥ २॥

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन्॥ ३॥

वे महात्मा उद्धव दीर्घकालसे भगवान्‌की सेवा करते हुए कालक्रमसे वृद्ध हो गये थे। विदुरजी द्वारा प्रश्न करनेमात्रसे ही उन्हें अपने प्यारे प्रभु श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्मरण हो आया और उनका चित्त विरहसे व्याकुल हो गया। अतः वे सहसा किस प्रकार प्रत्युत्तर देनेमें समर्थ हो सकते थे?॥ ३॥

स मुहूर्तमभूत् तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम्।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः॥ ४॥

अतएव उस समय उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके ध्यानरूप अमृत-रसके आस्वादनमें उत्तम रूपसे आनन्दित हो गये और चित्तको विरहाकुल करनेवाले भक्तियोगमें अतिशय निमग्न होकर क्षणकाल तक निःशब्द ही रहे॥ ४॥

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः॥ ५॥

उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रेमके कारण पुलकित हो उठा तथा उनके किञ्चित् मुँदे हुए नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। वे भगवान्‌के प्रति अपने स्नेहके प्रवाहमें डूब गये। यह देखकर विदुरजी समझ गये कि उद्धवजी भगवत्-भाव प्राप्त करके कृतार्थ हो चुके हैं॥ ५॥

शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रीत्याहोद्धव उत्स्मयन्॥ ६॥

कुछ क्षणके पश्चात् महात्मा उद्धव नित्यलीलामय भगवद्धामसे उतरकर धीरे-धीरे पुनः आत्म-लोक[१] में आ गये। उन्होंने अपने दोनों नेत्रोंको पोंछा और यदुकुल-संहार आदि भगवान्‌की चातुर्यपूर्ण लीलाओंके स्मरणसे विस्मित होकर विदुरजीको सम्बोधन करके कहने लगे॥ ६॥

श्रीउद्धव उवाच—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥ ७॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे विदुरजी! श्रीकृष्णरूप सूर्यके अस्त हो जानेसे हमारे घरोंको महा-अजगररूप शोकान्धकारने निगल लिया है, अतः वे शोभाहीन हो गये हैं। ऐसी अवस्थामें आपके द्वारा पूछी गयी बन्धुवर्गकी कुशलताके विषयमें मैं क्या कहूँ?॥ ७॥

---

[१] **आत्म-लोक अर्थात् बाह्य-दशा**—महाभागवतोंमें तीन प्रकारकी दशा उदित होती है—अन्तर-दशा, अर्द्धबाह्य-दशा और बाह्य-दशा। जब सम्पूर्ण रूपसे बाह्य जगत्‌का ज्ञान रहता है, उस दशाको बाह्य-दशा कहते हैं।

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥ ८॥

हाय! यह मनुष्यलोक बड़ा ही अभागा है और उसमें भी यादव तो सबसे अधिक भाग्यहीन ही हैं। जिस प्रकार क्षीरसमुद्रमें उत्पन्न चन्द्रमाके साथ एकत्र वास करनेपर भी उसी समुद्रमें रहनेवाली मछलियाँ चन्द्रको कोई कमनीय जलचरमात्र समझकर उसके अमृतमय स्वरूपको नहीं पहचान पातीं, उसी प्रकार ये यादव निरन्तर श्रीकृष्णके साथ एकत्र वास करनेपर भी उनके भगवत्-स्वरूपको पहचान नहीं पाये॥ ८॥

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढ़ा एकारामाश्च सात्वताः।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत॥ ९॥

हे विदुरजी! यादवलोग मनके भावोंको जाननेवाले, बड़े समझदार और भगवान्‌के साथ एक ही स्थानमें रहकर क्रीड़ा करनेवाले थे, तथापि उन सबने समस्त विश्वके आश्रय और सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको एक श्रेष्ठ यादवमात्र ही समझा॥ ९॥

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनौ हरौ॥ १०॥

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित उन यादवोंके 'ये यादव हैं, ये हमारे बन्धु है'—आदि प्रकारसे उनके प्रति अवहेलनासूचक वचनों तथा श्रीकृष्णसे व्यर्थका वैर ठाननेवाले शिशुपाल आदिके द्वारा उनके निन्दासूचक वचनोंसे भगवत्प्राण महानुभावोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती है॥ १०॥

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम्।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्॥ ११॥

उन भगवान् श्रीकृष्णने तपस्या हीन लोगोंको भी इतने दिनों तक दर्शन दिया किन्तु अब वे उनकी दर्शन-लालसाको तृप्त किये बिना ही पुनः जगत्‌के नयन स्वरूप अपने त्रिभुवन-मोहन श्रीविग्रहको उनके नेत्रोंसे छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं॥ ११॥

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥ १२॥

भगवान्ने प्रपञ्च जगत्में योगमायाके बलसे अपनी जिस श्रीमूर्त्तिको प्रकटित किया था, वह मर्त्यलीलाके लिए बहुत ही उपयोगी थी। वह श्रीमूर्त्ति इतनी मनमोहक थी कि स्वयं श्रीकृष्ण भी उसे देखकर विस्मित हो जाते थे, अर्थात् उस रूपमें सौभाग्य और सौन्दर्यकी चरमसीमा प्रदर्शित थी। वह श्रीमूर्त्ति समस्त लौकिक दृश्योंमें भी परम अलौकिक तथा समस्त भूषणोंकी भी भूषणस्वरूप थी॥ १२॥

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु-
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत॥ १३॥

अहो! धर्मपुत्र युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णके उस नयनोंको आनन्दित करनेवाले रूपको देखकर तीनों भुवनोंमें स्थित प्राणी यह अनुमान करने लगे कि मानव-सृष्टिके विषयमें विधाताकी जितनी भी निपुणता थी, वह सब इस श्रीमूर्त्तिको प्रकाशित करनेमें ही समाप्त हो गयी है॥ १३॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः॥ १४॥

श्रीकृष्णके अनुरागपूर्ण हास-परिहास, आमोद-प्रमोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित होकर व्रजसुन्दरियाँ अभिमानवती हो जाया करती थीं। श्रीकृष्ण जहाँ भी जाते, उन व्रजरमणियोंके नेत्र उनकी ओर ही लगे रहते थे। उनके नेत्रोंके साथ-साथ उनका चित्त भी श्रीकृष्णमें ऐसा आविष्ट हो जाता था कि वे अपने घरके कार्योंको अधूरा ही

छोड़कर काठकी पुतलियोंकी भाँति खड़ी-की-खड़ी रह जाती थीं॥ १४॥

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः॥ १५॥

चित् और अचित्के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने शान्तस्वरूप भक्तोंको अपने ही आश्रित अशान्त-स्वभावयुक्त भगवत्-विमुख असुरोंके द्वारा पीड़ित होता देखते हैं, तब वे अपने भक्तोंके प्रति करुणाभावसे द्रवित हो जाते हैं और जिस प्रकार काष्ठसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अजन्मा होनेपर भी वे अपनी कला महत्-स्रष्टा कारणाब्धिशायीके अंशके रूपमें भिन्न-भिन्न अवतार लेकर प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हैं॥ १५॥

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६॥

श्रीउद्धवने कहा—अजन्मा होनेपर भी श्रीवसुदेवजीके घरमें जन्म लेनेका अभिनय करना, शत्रुओंसे भयभीत होकर व्रजमें वास करना, अनन्त पराक्रमशाली होनेपर भी कालयवन आदिके भयसे मथुरा परित्यागरूप श्रीकृष्णकी विचित्र लीलाओंका स्मरण करते-करते मेरे मनमें खेद उत्पन्न हो रहा है॥ १६॥

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्-
यदाह पादावभिवन्द्य मित्रोः।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम्॥ १७॥

श्रीकृष्णने अपने माता-पिताके चरणोंकी वन्दना करते हुए कहा था—"हे पिताजी! हे माताजी! कंसके भयसे अत्यधिक भयभीत

होकर मैं आपकी सेवा नहीं कर सका। आप मेरे इस अपराधपर ध्यान न देकर मुझपर प्रसन्न हों।" श्रीहरिके इन अद्भुत चरित्रोंका स्मरण करते हुए मेरा चित्त अत्यन्त दुःखित हो रहा है॥ १७॥

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन्।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार॥ १८॥

जिन्होंने अपनी कालरूप भ्रू-भङ्गीसे पृथ्वीके भारका अपहरण कर लिया था, उन श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी परागरूप रेणुका आस्वादन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उन्हें भूल सके?॥ १८॥

दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत॥ १९॥

हे विदुरजी! युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें आपने साक्षात् अपनी आँखोंसे ही देखा था कि श्रीकृष्णके विद्वेषी शिशुपालने उनकी निन्दा करते हुए भी जिस सिद्धिको प्राप्त किया था, उस सिद्धिको योगी अपने योग-साधनके बलपर प्राप्त करनेकी स्पृहा करनेपर भी प्राप्त नहीं कर पाते। अतः ऐसे श्रीकृष्णका विरह फिर कौन सहन कर सकता है?॥ १९॥

तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम्।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य॥ २०॥

महाभारत युद्धक्षेत्रमें जिन अन्यान्य योद्धाओंने श्रीकृष्णके नयनाभिराम मुखकमलके मकरन्दका अपने नेत्रोंके द्वारा पान करते-करते ही अर्जुनके बाणोंके आघातसे अपने प्राणोंको त्याग दिया था, वे लोग भी पवित्र होकर भगवान्के परमधाम—विष्णुपदको प्राप्त हुए हैं॥ २०॥

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्य-लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोटीडितपादपीठः ॥ २१ ॥

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों, गुणों और शक्तियोंके अधिपति हैं। उनके समान ही कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ होनेकी तो बात ही क्या? वे अपने परमानन्द-स्वरूपमें ही परिपूर्णकाम हैं। इन्द्रादि असंख्य लोकपालगण विभिन्न प्रकारके पूजा-उपहार समर्पणकर अपने करोड़ों-करोड़ों मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम करते हैं तथा मुकुटके स्पर्शसे उत्पन्न ध्वनिसे उस चौकीकी स्तुति किया करते हैं॥ २१ ॥

तत् तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान् नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम्।
तिष्ठन् निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति॥ २२ ॥

हे प्रिय विदुरजी! ब्रह्मादि देवतागण भी जिस राजसिंहासनकी कामना करते हैं, उसपर विराजित उग्रसेनके समक्ष खड़े होकर जब श्रीकृष्ण 'हे महाराज! कृपया विचार कीजिये'—ऐसा कहकर उग्रसेनको निवेदन करते, तब भगवान्‌के उस सेवक-भावका स्मरणकर मेरे जैसे सेवकोंका अन्तःकरण आज भी अत्यधिक पीड़ित हो उठता है॥ २२॥

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥ २३ ॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! बकासुरकी बहन दुष्ट पूतनाने श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर उन्हें पान कराया था, परन्तु उसे भी भगवान्‌ने वह परम गति प्रदान की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये। अतएव हे विदुरजी!

भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और ऐसा कौन दयालु है, जिसकी शरण ली जाये? ॥ २३ ॥

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४ ॥

अहो! मैं तो उन असुरोंको भी धन्य भक्त मानता हूँ, जिनका चित्त वैरभावसे उदित क्रोधवशतः भी तीनों शक्तियोंके अधीश्वर श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे सुदर्शनचक्रधारी भगवान् श्रीहरिको अपने कन्धेपर वहन किये हुए, कश्यपतनय गरुड़जीको रणभूमिमें नित्य-निरन्तर अपने ऊपर झपटते हुए देखा करते थे॥ २४॥

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारकर उसे आनन्दित करनेके लिए कंसके कारागारमें श्रीवसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे अवतीर्ण हुए॥ २५ ॥

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्धि बिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६ ॥

उस समय कंसके भयसे अत्यन्त भीत पिता श्रीवसुदेवजीने उन्हें ले जाकर नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँपर वे बलरामजीके साथ ग्यारह वर्ष तक इस प्रकार छिपकर रहे कि उनका प्रभाव व्रजके बाहर किसीपर भी प्रकट नहीं हुआ॥ २६ ॥

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७ ॥

सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंका पालन करनेवाले ग्वाल-बालोंके साथ मिलकर बछड़ोंको चराते हुए यमुनाके तटपर स्थित पक्षियोंके कलरवसे गुञ्जित सुरम्य हरे-भरे वृक्षोंसे मण्डित उपवनमें क्रीड़ा करते हुए विचरण किया करते थे॥ २७॥

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्।
रुदन्निव हसन् मुग्ध-बालसिंहावलोकनः॥ २८॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम्।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत्॥ २९॥

वे व्रजवासियोंको अपनी कौमारलीलाकी माधुरीका प्रदर्शन कराते हुए कभी तो मानो रोते, कभी हँसते और कभी मुग्ध सिंहशिशुकी भाँति प्रतीत होते थे। आयुमें कुछ और बड़े होनेपर वे परम शोभाशाली सफेद बैलों और रङ्ग-बिरङ्गी गौओंको चराते हुए वंशी-ध्वनिके द्वारा अनुचर गोपबालकोंको रिझाने लगे॥ २८-२९॥

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।
लीलया व्यनुदत् तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव॥ ३०॥

जब भोजराज कंसने श्रीकृष्णको मारनेके लिए मायावी और इच्छानुरूप आकार धारण करनेवाले असुरोंको भेजा, तब उन्होंने उन असुरोंको खेल-ही-खेलमें इस प्रकार मार डाला, जिस प्रकार बालक खिलौनोंको तोड़-फोड़ डालता है॥ ३०॥

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम्।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम्॥ ३१॥

उन्होंने कालियनागका दमन करके यमुनाका विषैला जल पीनेसे मरे हुए गोपबालकों और गायोंको पुनर्जीवित कर दिया। तत्पश्चात् कालियको वहाँसे निकालकर उन सबको यमुनाका निर्दोष एवं निर्मल जल पान कराया था॥ ३१॥

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सद्व्ययं विभुः॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने संग्रहीत प्रचुर धनके सद्व्यय एवं इन्द्रका मान भङ्ग करनेकी इच्छासे उत्तम ब्राह्मणोंके द्वारा गोपराज नन्दसे गौ-पूजारूप यज्ञका आयोजन करवाया था॥ ३२॥

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता॥ ३३॥

हे भद्र विदुरजी! उस पूजासे इन्द्रका मान भङ्ग हो गया। उसने क्रोधित होकर व्रजका विनाश करनेके लिए मूसलाधार जल बरसाना आरम्भ कर दिया, जिससे गोप आदि सभी व्रजवासी भयसे व्याकुल हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने क्रीड़ाके छलसे गोवर्धन-पर्वतको छत्रके समान धारणकर व्रजवासियों एवं व्रजके पशुधनकी रक्षा की थी॥ ३३॥

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम्।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः॥ ३४॥

शरत्-चन्द्रमाकी चाँदनीसे उज्ज्वल वृन्दावनमें प्रदोष-काल (रात्रिके प्रथम प्रहर) को उपयुक्त जानकर श्रीकृष्णने अव्यक्त मधुर-पदोंका गान करते हुए गोपीमण्डलसे सुशोभित होकर रासक्रीड़ा की थी॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी मथुरा और द्वारका लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन

श्रीउद्धव उवाच—

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम्॥ १॥

श्रीउद्धवने कहा—इसके बाद श्रीकृष्ण अपने पिता श्रीवसुदेव और माता देवकीको सुख पहुँचाने और उनका मङ्गल करनेकी इच्छासे बलदेवजीके साथ व्रजसे मथुरामें पधारे। वहाँ उन्होंने शत्रुओंके यूथपति कंसको राजमञ्चसे भूमिपर गिरा दिया तथा मृत कंसके शवको बलपूर्वक पृथ्वीपर घसीटा॥ १॥

सान्दीपनेः सकृत् प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम्।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात्॥ २॥

उन्होंने सान्दीपनि मुनिके मुखसे उच्चारित अङ्ग-उपाङ्ग सहित सम्पूर्ण वेदोंका मात्र एकबार श्रवण करके ही अपना अध्ययन समाप्त किया एवं गुरु-दक्षिणामें उन मुनिकी इच्छानुसार पञ्चजन असुरके पेटको फाड़कर मुनिके मृत पुत्रको यमलोकसे लाकर उन्हें प्रदान किया॥ २॥

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम्।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत् सुपर्णः॥ ३॥

राजा भीष्मककी कन्या रुक्मिणीदेवीके साक्षात् लक्ष्मीके समान सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर शिशुपाल और उसके सहायक समस्त राजा विवाहके नियमानुसार रुक्मिणीके भाई रुक्मीके द्वारा बुलाये जानेपर उनके साथ विवाह करनेकी इच्छासे राजधानी कुण्डिनपुरमें उपस्थित थे। उन समागत राजाओंके देखते-ही-देखते भगवान् श्रीकृष्णने उनके सिरपर पैर रखकर अर्थात् उनका अनादर कर और उन्हें युद्धमें पराजितकर गान्धर्व विधिसे विवाह करनेके लिए स्वांश-रूपा रुक्मिणीको इस प्रकार हरण कर लिया, जिस प्रकार गरुड़ने सर्पोंके बीचसे अमृत-कलशका हरण कर लिया था॥ ३॥

ककुद्मिनोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञान्
जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः॥ ४॥

बिना नथे हुए सात बैलोंको एक ही रस्सीसे नथकर श्रीकृष्णने स्वयंवरमें नाग्नजिती (सत्यभामा) से विवाह किया। वहाँपर उपस्थित जो मूर्ख राजा थे, वे सब अपमानित होकर तथा कन्याके लोभकी इच्छासे शस्त्र उठाकर राजकुमारीको छीन लेना चाहते थे। परन्तु श्रीकृष्णने स्वयं बिना घायल हुए अपने शस्त्रोंसे उन राजाओंका वध कर दिया॥ ४॥

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे।
वज्र्याद्रवत् तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम्॥ ५॥

साधारण विषयी पुरुष लौकिक-व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हैं, परम स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार जब अपनी प्राणप्रिया सत्यभामाको सन्तुष्ट करनेकी इच्छासे स्वर्गसे पारिजात वृक्ष उखाड़ लाये थे, तब स्त्रियोंके क्रीड़ामृग इन्द्रने क्रोधित होकर वज्र हाथमें लेकर अपने सैनिकोंके साथ श्रीकृष्णसे युद्ध किया था॥ ५॥

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश॥ ६॥

जब नरकासुरने अपने विशाल शरीरसे आकाशको ग्रास करनेके लिए चेष्टा की, तब युद्धमें श्रीकृष्णने उसे चक्रसे मार डाला। अपने पुत्रको मरा हुआ देखकर नरकासुरकी माता पृथ्वीदेवीने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की, तो भगवान्‌ने नरकके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ ६॥

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम्।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥ ७॥

वहाँ नरकासुरके द्वारा हरण करके लायी हुई बहुत-सी राजकन्याएँ थीं। वे दीनबन्धु श्रीहरिका दर्शन करते ही खड़ी हो गयीं और उन सबने प्रचुर आनन्द, लज्जा, अनुराग और प्रेमपूर्ण चितवनसे तत्काल ही श्रीकृष्णको पतिरूपमें वरण कर लिया॥ ७॥

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥ ८॥

श्रीकृष्णने अपनी चित्-शक्ति योगमायाके बलसे उन सब स्त्रियोंके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर विविध महलोंमें स्थित होकर उन सब स्त्रियोंके साथ एक ही मुहूर्त्तमें शास्त्रीय विधि-विधानसे विवाह कर लिया॥ ८॥

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया॥ ९॥

इसके बाद स्वरूप-वैभवकी अभिलाषासे भगवान् श्रीकृष्णने उन स्त्रियोंमेंसे प्रत्येकके गर्भसे अपने ही समान दस-दस पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ ९॥

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम्।
अजीघनत् स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत्॥ १०॥

कालयवन, जरासन्ध, शाल्व आदिने जब अपनी सेनाओंके साथ मथुरापुरीको घेर लिया, तब अपने निजजन मुचुकुन्द और भीमादिको निमित्तमात्र बनाकर और उनमें अपनी शक्तिका सञ्चारकर भगवान्ने स्वयं ही उन असुरोंका वध किया। इसके द्वारा भगवान्ने अपने निज भक्तोंको यश प्रदान किया॥ १०॥

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत् कांश्च घातयत्॥ ११॥

शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल तथा अन्यान्य दन्तवक्र आदि अनेक असुरोंका भगवान्ने स्वयं ही वध किया एवं अनेकोंका बलराम-प्रद्युम्न आदिके द्वारा भी संहार करवाया॥ ११॥

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान् नृपान्।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः॥ १२॥

हे विदुरजी! इसके बाद आपके भतीजे युधिष्ठिर और दुर्योधनके पक्षपाती होकर भगवान्ने कुरुक्षेत्रके युद्धमें एकत्रित उन समस्त राजाओंका संहार किया था जिन राजाओंकी सेनाओंसे पृथ्वी काँप उठी थी॥ १२॥

स कर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन्॥ १३॥

कर्ण, दुःशासन और शकुनिकी कुमन्त्रणाओंसे जिसकी श्री एवं आयु दोनों ही नष्ट हो चुकी थी, तथा भीमसेनकी गदाके प्रहारसे जिसकी जाँघ टूँट चुकी थी, उस दुर्योधनको उसके अनुचरोंके साथ भूमिपर पड़ा हुआ देखकर श्रीकृष्णको प्रसन्नता नहीं हुई थी॥ १३॥

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुन-भीममूलैः ।

अष्टादशाक्षौहिणीको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम्॥ १४॥

वे सोचने लगे—यद्यपि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीम आदिके कारण अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाओंका संहार होनेसे पृथ्वीका भार तो हरण हुआ है, किन्तु बहुत ही कम मात्रामें, क्योंकि मेरे अंशभूत प्रद्युम्न आदिके द्वारा संरक्षित यादवोंकी दुःसह सेना अभी भी विद्यमान है॥ १४॥

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म॥ १५॥

जब ये यादव मधुपान करके सम्पूर्ण रूपसे मदमत्त हो जायेंगे, तब इनकी आँखें लाल-लाल हो जायेंगी और उसी मत्तताके कारण ये एक दूसरेके साथ कलह करने लग जायेंगे। यही कलह उनके विनाशका कारण होगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके विनाशका और कोई उपाय नहीं है। मेरी अन्तर्धानकी इच्छा होते ही ये सभी निश्चित रूपसे परस्पर विवादकर स्वयं ही अन्तर्हित हो जायेंगे॥ १५॥

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन्॥ १६॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भलीभाँति विचारकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरको उनके पैतृकराज्यमें स्थापित करके अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंको साधु-पुरुषोंका मार्ग दिखलाकर सन्तुष्ट किया॥ १६॥

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना।
स वै द्रौण्यस्त्रसंप्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः॥ १७॥

उत्तराके उदरमें अभिमन्युने जो पुरुवंशका बीज (गर्भ) स्थापित किया था, वह गर्भ द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके द्वारा प्राय विनष्ट हो गया था; परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उसे बचा लिया॥ १७॥

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेधयज्ञ करवाये। युधिष्ठिर भी एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणागत होकर भीम, अर्जुन आदि अपने छोटे भाइयोंके साथ पृथ्वीका पालन करते हुए आनन्दपूर्वक काल-यापन करने लगे॥ १८॥

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः॥ १९॥

विश्वके अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने भी द्वारकापुरीमें रहते हुए भोक्ता (पुरुष) और भोग्य (प्रकृति) के विवेकसे युक्त होकर स्वयंको लौकिक एवं वैदिक मार्गका अनुगामी दिखलाकर युक्तवैराग्यके साथ विषयोंका भोग किया था॥ १९॥

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना॥ २०॥

इमं लोकममुञ्चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः॥ २१॥

स्निग्ध मुसकानयुक्त अवलोकन, सुधामयी शिष्ट वाणी, निर्दोष चरित्र एवं परम शोभा और सौन्दर्यसे युक्त अपनी देहसे सभीकी प्रीतिका विषय होकर श्रीकृष्णने इस मर्त्यलोक तथा देवलोकमें स्थित भक्तोंको और उन सबमें भी विशेष रूपसे यादवोंको अत्यन्त आनन्दित किया था। जो कामिनियाँ रात्रिमें अवकाश पाकर उनके निकट आतीं, वे उन रमणियोंके साथ उसी क्षण रत्युत्सव द्वारा प्रणय संस्थापित करते हुए क्रीड़ा विहार करते॥ २०-२१॥

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून्।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत॥ २२॥

इस प्रकार बहुत वर्षों तक आनन्दपूर्वक विहार-क्रीड़ामें रत रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी प्रपञ्चमें प्रकटित गृहस्थ-लीलासे अवसर प्राप्त करनेकी इच्छा हुई॥ २२॥

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्।
को विश्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः॥ २३॥

ये कामादि भोग्य विषय और स्वयं जीव भी ईश्वरके अधीन हैं। जब भगवान्‌को ही अपने अधीन रहनेवाले भोग्य विषयोंसे वैराग्य हो गया, तब फिर भक्तियोगके प्रभावसे उन योगेश्वर श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले भक्त उन विषयोंपर प्रीति या विश्वास कैसे स्थापित कर सकते हैं?॥ २३॥

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिर्यदुभेजकुमारकैः।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः॥ २४॥

किसी एक समय द्वारकापुरीमें यदुवंशीय और भोजवंशीय कुमारोंने खेल-खेलमें ही मुनियोंको क्रोधित कर दिया। तब भगवान् श्रीकृष्णके पृथ्वीका भार-हरणरूप अभिप्रायको जाननेवाले मुनियोंने कुमारोंको अभिशाप दे दिया॥ २४॥

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः॥ २५॥

इसके कुछ महीनोंके भीतर ही वृष्णि, भोज, अन्धक आदि यादव श्रीकृष्णकी दैवीमायासे विमोहित होकर आनन्दित हृदयसे रथोंपर चढ़कर प्रभासतीर्थमें गये॥ २५॥

तत्र स्नात्वा पितॄन् देवानृषींश्चैव तदम्भसा।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः॥ २६॥

वहाँ जाकर उन्होंने प्रभासतीर्थमें स्नान किया एवं पितर, देव और ऋषियोंको तीर्थजलके द्वारा तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको दुग्धवती बहुत-सी गौएँ आदि दान कीं॥ २६॥

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान्।
इयानिभान् रथान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि॥ २७॥

उन्होंने सोना, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, घोड़े, हाथी, कन्याएँ तथा जीविका निर्वाहके योग्य भूमि भी ब्राह्मणोंको दान की॥ २७॥

अन्नञ्चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम्।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्द्धभिः॥ २८॥

तदनन्तर उन ब्राह्मणोंको भगवदर्पित बहुत-से रसोंसे युक्त सरस अन्न प्रदानकर, गायों और ब्राह्मणोंके लिए ही जीवनधारण करनेवाले उन यदुवीरोंने भूमिपर मस्तक टेककर उन ब्राह्मणोंको प्रणाम किया॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीउद्धवजीके कहनेपर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

श्रीउद्धव उवाच—

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः॥ १॥

श्रीउद्धवने कहा—इसके बाद उन सभी यादवोंने ब्राह्मणोंकी अनुमति लेकर भोजन किया। तदनन्तर उन्होंने वारुणी मदिराका पान किया, जिससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और बुद्धि मारी गयी। वे कटूक्तियों और दुर्वचनोंका प्रयोग करके एक-दूसरेको मर्माहत करने लगे॥ १॥

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम्।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम्॥ २॥

जिस प्रकार बाँसोंके परस्पर संघर्षणसे निकली आगसे बाँसका समस्त वन ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दिनमणि—सूर्यके अस्ताचलकी ओर जाते ही वारुणी सुरापानसे विकृतचित्त समस्त यादव आपसमें ही संघर्ष करते हुए विनाशको प्राप्त हो गये॥ २॥

भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूल उपाविशत्॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायाकी इस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके तटपर आ गये और आचमन करके एक वृक्षके नीचे विराजमान हो गये॥ ३॥

अहञ्चोक्तो भगवता प्रपन्नार्त्तिहरेण ह।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा॥ ४॥

शरणागतजनोंके दुःखोंका हरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छासे द्वारकामें ही मुझसे कह दिया था—"उद्धव! तुम बदरिकाश्रम चले जाओ॥"४॥

तथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः॥ ५॥

किन्तु हे शत्रुदमनकारी[१] विदुरजी! तथापि मैं भगवान् श्रीकृष्णके कुल-संहारके अभिप्रायको जानकर तथा उनके श्रीचरणकमलोंके दर्शनके विच्छेद-दुःखको सहन करनेमें असमर्थ होकर उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया॥ ५॥

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम्।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम्॥ ६॥

प्रियतम प्राणपति श्रीकृष्णकी खोजमें जाते-जाते मैंने देखा कि सबके आश्रय वे प्रभु श्रीनिवास आज निराश्रय-भावसे सरस्वतीके तटपर अकेले ही बैठे हैं॥ ६॥

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम्।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च॥ ७॥

विदुरजी! उनका शरीर उज्ज्वल श्यामवर्णका था, दोनों नेत्र प्रशान्त और अरुणवर्णके थे। वे शुद्धसत्त्व चतुर्भुज-स्वरूप थे और रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। यह देखकर मैं समझ गया कि ये श्रीकृष्ण ही हैं॥ ७॥

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम्।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम्॥ ८॥

वे एक छोटे-से पीपलके वृक्षके नीचे उस वृक्षसे पीठ लगाकर तथा बायीं जाँघके ऊपर दायें चरणकमलको रखकर बैठे हुए थे। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी विलास-लीला अर्थात् विषय-सुखोंका परित्याग करके भी वे आनन्दसे परिपूर्ण थे॥ ८॥

---

[१] काम, क्रोध आदि शत्रुओंका दमन करनेवाले।

तस्मिन् महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा।
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया॥ ९॥

हे विदुर! उसी समय कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यासजीके सुहृत् एवं सखा महाभागवत मैत्रेय ऋषि त्रिभुवनमें विचरण करते हुए अकस्मात् वहाँपर उपस्थित हुए॥ ९॥

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच॥ १०॥

मैत्रेय ऋषि भगवान्के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। भगवान्के दर्शनसे उदित आनन्द एवं भक्तिभावसे उनका सिर झुका हुआ था। भगवत्-कथाके श्रवणमें अनुरक्त उन ऋषिके समक्ष ही भगवान् मुकुन्दने अनुराग और मुस्कानयुक्त चितवनसे मेरे विरहसे उत्पन्न श्रमको दूर करते हुए कहा॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच—

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद्दुरवापमन्यैः।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः॥ ११॥

श्रीभगवान्ने कहा—प्रिय उद्धव! मैं तुम्हारे अन्तःकरणमें अवस्थित रहकर तुम्हारे हृदयकी अभिलाषाको भलीभाँति जानता हूँ। पूर्वजन्ममें तुम वसु थे। विश्वस्रष्टा प्रजापति एवं वसुओंके द्वारा मिलकर किये गये यज्ञमें मुझे प्राप्त करनेकी कामनासे तुमने मेरी आराधना की थी। अतएव मुझसे बहिर्मुख व्यक्तियोंके लिए जो दुष्प्राप्य है, मैं वही साधन तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ॥ ११॥

स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्।
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या॥ १२॥

विरह-दुःखसे व्याकुल उद्धवजीको सान्त्वना प्रदान करते हुए श्रीभगवान्‌ने कहा—हे साधुस्वभाव उद्धव! समस्त जन्मोंमेंसे तुम्हारा यह वर्त्तमान जन्म ही अन्तिम जन्म है, क्योंकि इस जन्ममें तुम्हें मेरा अनुग्रह प्राप्त हुआ है। मैं इस नरलोकका परित्यागकर वैकुण्ठको जानेके लिए तैयार हूँ। अतः ऐसे समयमें इस निर्जनस्थानमें ऐकान्तिक भक्तियोगके प्रभावसे बड़े सौभाग्यवशतः ही तुमने मेरा दर्शन प्राप्त किया है॥ १२॥

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत् सूरयो भागवतं वदन्ति॥ १३॥

हे उद्धव! पूर्वकाल अर्थात् पाद्म-कल्पमें सृष्टिके आरम्भमें मैंने अपने नाभि-कमलमें बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाको प्रकाशित करनेवाले परमगुह्य ज्ञानका उपदेश दिया था। मनीषिगण उसे 'चतुःश्लोकी-भागवत' के रूपमें जानते हैं। वही ज्ञान अब मैं तुम्हें भी प्रदान कर रहा हूँ॥ १३॥

इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतीक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे॥ १४॥

परमपुरुष श्रीकृष्णके इस प्रकारके आदरपूर्ण वचनों तथा कृपादृष्टिरूप अनुग्रहको प्राप्त करके मेरा शरीर प्रेमसे रोमाञ्चित हो गया और वाणी गद्‌गद होने लगी। कुछ क्षण पश्चात् मैंने अपने शोकाश्रुओंको पोंछते हुए हाथ जोड़कर भगवान्‌से निवेदन किया॥ १४॥

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥ १५॥

हे भगवन्! जो व्यक्ति आपके चरणकमलोंके सेवक हैं, उनके लिए इस संसारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमेंसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तथापि हे प्रभो! मुझे उनमेंसे किसीकी भी कामना नहीं है। मैं तो केवल आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिए ही लालायित रहता हूँ॥ १५॥

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रमः
स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥ १६॥

हे प्रभो! आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके बलसे निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, प्राकृत जन्मसे रहित होकर भी जन्म स्वीकार करते हैं, साक्षात् कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे भागकर द्वारकाके किलेमें छिप जाते हैं तथा आत्माराम होकर भी सोलह हजार रानियोंके साथ गृहस्थ-धर्म स्वीकार करते हैं—आपकी इन क्रियाओंका समाधान करते समय विद्वानोंकी बुद्धि भी भ्रमित हो जाती है॥ १६॥

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत् त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव॥ १७॥

आप कुण्ठाधर्म और संशय आदिसे रहित, कालादिके द्वारा अखण्डित तथा विद्याशक्तिसे युक्त होनेपर भी जो मुझे बुलवाकर अज्ञकी भाँति मुझसे मन्त्रणा लेते थे—हे देव! आपका वैसा व्यवहार मेरे चित्तको मुग्ध कर रहा है॥ १७॥

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम्।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम॥ १८॥

हे भगवन्! अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्य-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला जो परम गुह्य एवं समग्र ज्ञान आपने ब्रह्माजीको बतलाया था, यदि वह ज्ञान हमारे समझने योग्य हो, तो कृपापूर्वक हमें भी बतलाइये। उसे श्रवणकर हम अनायास ही संसारदुःखसे पार हो जायेंगे ॥ १८ ॥

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम्॥ १९॥

इस प्रकार जब मैंने उनके सम्मुख अपने हृदयका अभिप्राय निवेदन किया, तब उन परमपुरुष कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे अपने परमगुह्य-तत्त्वका उपदेश प्रदान किया॥ १९॥

स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा॥ २०॥

इस प्रकार परमपूज्यपाद गुरु श्रीकृष्णसे परमात्म-तत्त्वके ज्ञानमें पारदर्शी होकर मैंने उनके चरणकमलोंमें प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा करके विरहके कष्टसे व्याकुल होकर मैं यहाँ चला आया हूँ॥ २०॥

सोऽहं तद्दर्शनाह्लाद-वियोगार्तियुतः प्रभो।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम्॥ २१॥

हे प्रभो विदुरजी! प्रतिक्षण श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए मैं आनन्दको प्राप्त करता था और अब उनके वियोगके कारण अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। अब मैं उनके परमप्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रममें चला जाऊँगा, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं मुझे वहाँ जानेके लिए आदेश दिया है॥ २१॥

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ॥ २२॥

बदरिकाश्रममें जगत्‌के लोगोंपर अनुग्रह करनेवाले श्रीकृष्णके अंशस्वरूप भगवान् नारायण और नर ऋषि रहते हैं। ये दोनों वहाँपर

कल्पके अन्तकाल तक समस्त लोगोंको सुख प्रदान करनेवाली, उपद्रवसे रहित—कठोर तपस्याका आचरण कर रहे हैं॥ २२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम्।
ज्ञानेनाशमयत् क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार श्रीउद्धवजीके मुखसे प्रिय बन्धुओंके निधनका असहनीय समाचार सुनकर परम पण्डित विदुरजीमें शोकका जो वेग उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने विवेकरूप ज्ञानके द्वारा शान्त कर दिया॥ २३॥

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे॥ २४॥

कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने श्रीकृष्णकी कृपाके मुख्यपात्र महाभागवत श्रीउद्धवको बदरिकाश्रम जानेके लिए तत्पर देखकर श्रद्धा एवं विश्वास सहित उनसे कहा॥ २४॥

श्रीविदुर उवाच—

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।
वक्तुं भवान् नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति॥ २५॥

श्रीविदुरने कहा—हे उद्धवजी! भगवान् विष्णुके दास वैष्णवजन अपने सेवकोंके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए ही इस संसारमें विचरण करते हैं। अतएव योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने आपको जो आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाला परमगुह्य-ज्ञान बतलाया था, उसे आप कृपापूर्वक मुझे भी बतलाइये॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्तिके।
साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता॥ २६॥

श्रीउद्धवने कहा—हे विदुरजी! उस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिए आपको मैत्रेय ऋषिकी सेवा करनी चाहिये, क्योंकि इस मर्त्यलोकको परित्याग करनेके अभिलाषी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं मेरे समक्ष ही आपको उस तत्त्वका उपदेश देनेके लिए उन्हें आज्ञा दी थी॥ २६॥

श्रीशुक उवाच—

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात्॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुण-लीलादिरूप कथामृतके द्वारा उद्धवजीका वियोगसे उत्पन्न महान मानसिक ताप दूर हो गया। उस रात्रि उन्होंने यमुना-पुलिनपर ही वास किया तथा वह रात्रि मानो क्षण भरके समान ही बीत गयी। प्रातःकाल होनेपर श्रीउद्धव वहाँसे बदरिकाश्रमके लिए चल दिये॥ २७॥

श्रीराजोवाच—

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः।
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो य-
द्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः॥ २८॥

महाराज परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! वृष्णिवंश एवं भोजवंशके अधिरथी, यूथपति और यूथपतियोंके भी यूथपति ब्रह्मशापसे विनष्ट हो गये थे। यहाँ तक कि ब्रह्मादि तीनों देवताओंके अधीश्वर भगवान् श्रीहरिने भी जब मनुष्याकारका त्याग कर दिया था, तब फिर केवल उद्धवजी ही किस प्रकार बचे रहे?॥ २८॥

श्रीशुक उवाच—

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः।
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत्॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ब्रह्मशाप ही यदुकुलके विनाशका मूल कारण नहीं है, बल्कि भगवान्‌की इच्छा ही इसका मूल कारण है। भगवान् अव्यर्थसङ्कल्प हैं अर्थात् उनका सङ्कल्प कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। उन्होंने ब्रह्मशापके छलसे अपनी कालरूप शक्तिके द्वारा अपने विशाल वंशका संहार करवाया और स्वयं पृथ्वीका त्याग करनेकी इच्छा करते हुए वे इस प्रकार विचार करने लगे—॥ २९॥

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥ ३०॥

मेरे द्वारा इस प्रापञ्चिक लोकसे अप्रकट होनेपर आत्म-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ उद्धव ही मेरे आश्रित रहनेवाले तत्त्वज्ञानको सम्पूर्ण रूपसे जाननेके योग्य होंगे॥ ३०॥

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥ ३१॥

उद्धव मुझसे किञ्चित्मात्र भी कम नहीं हैं, क्योंकि वे गोस्वामी हैं अर्थात् वे विषयोंके द्वारा क्षुब्ध नहीं होते। अतः वे ही लोगोंमें मुझसे सम्बन्धित ज्ञानका उपदेश देते हुए इस जगत्‌में रहें॥ ३१॥

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना॥ ३२॥

तीनों लोकोंके गुरु वेदकर्त्ता भगवान्‌के द्वारा इस प्रकार आदेश दिये जानेपर श्रीउद्धवजी बदरिकाश्रम चले गये और वहाँ वे समाधियोगमें श्रीकृष्णकी आराधना करने लगे॥ ३२॥

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च॥ ३३॥

देहन्यासञ्च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम्।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम्॥ ३४॥

आत्मानञ्च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम्।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः॥ ३५॥

हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्‌जी! भगवान् श्रीकृष्णने लीलाके लिए ही अपना मनुष्य जैसा श्रीविग्रह ग्रहण किया था और लीलासे ही उसे अन्तर्धान भी कर दिया। भगवान्‌की यह अन्तर्धान लीला धीर व्यक्तियोंके लिए प्रेमवर्धक, परन्तु अधीर-चित्त और पशुओंके समान भगवत्-बहिर्मुख पाखण्डियोंके लिए अत्यन्त दुष्कर है। परमभागवत उद्धवजीके मुखसे भगवान्‌की प्रशंसनीय लीला तथा उनके अन्तर्धान होनेके विषयमें श्रवणकर एवं भगवान् श्रीकृष्णने परमधाम जाते समय मुझे भी स्मरण किया था—इन सब बातोंको जानकर उद्धवजीके जानेके बाद विदुरजी इन सबका ध्यान करते-करते प्रेमसे विह्वल हो गये और भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके कारण व्यथित चित्तसे रोने लगे॥ ३३-३५॥

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः॥ ३६॥

हे राजन्! इस प्रकार परमभागवत विदुरजी कुछ दिनों तक यमुनाके तटपर ही निवास करनेके बाद सुरधुनीके तटपर चले गये, जहाँपर मैत्रेय ऋषि वास कर रहे थे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

विदुरजीका परिप्रश्न और मैत्रेय ऋषि द्वारा सृष्टिक्रमका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभाव-सिद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—श्रीकृष्णभक्तिके कारण निर्मलचित्त एवं सरलता और कारुण्य आदि गुणोंसे सन्तुष्ट कौरवश्रेष्ठ विदुरजीने गङ्गाके तटपर स्थिर-भावसे विराजमान असीम ज्ञानशाली मैत्रेय ऋषिके समीप पहुँचकर उनसे पूछा॥ १ ॥

श्रीविदुर उवाच—

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः॥ २ ॥

श्रीविदुरने कहा—हे महर्षि! इस संसारमें लोग जागतिक-सुखोंको प्राप्त करनेके लिए कर्म करते रहते हैं, किन्तु उन कर्मोंसे न तो उन्हें सुख मिलता और न ही उनका दुःख दूर होता है, अपितु उन कर्मोंसे उन्हें पुनः दुःख और क्लेश ही प्राप्त होता है। आप सर्वज्ञ हैं, अतः कृपापूर्वक हमें यह बतलाइये कि इस संसारमें हमारे लिए क्या करना उचित है॥ २ ॥

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।

अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥ ३॥

जो लोग अपने पूर्व कर्मोंके कारण दुर्भाग्यवशतः भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर अधर्ममें रत हैं, क्लेशोंसे अत्यन्त तप्त उन लोगोंपर कृपा करनेके लिए निश्चय ही श्रीकृष्णके मङ्गलमय भक्तजन इस मर्त्त्यलोकमें विचरण करते हैं॥ ३॥

तत् साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः
संराधितो भगवान् येन पुंसाम्।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम्॥ ४॥

अतएव हे साधुश्रेष्ठ मैत्रेयजी! कृपया आप मुझे उस सुख-स्वरूप साधन-पथके विषयमें उपदेश दीजिये, जिस पथके द्वारा भगवान् भलीभाँति आराधित होकर अपने भक्तोंके भक्तियोगसे पवित्र हुए हृदयमें विराजमान हो जाते हैं और अपने स्वरूपका अनुभव करानेवाला अनादि वेद-प्रमाणक ज्ञान प्रदान करते हैं॥ ४॥

करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते॥ ५॥

हे महर्षि! त्रिलोकीके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधीश्वर एवं त्रिगुणात्मिका मायाके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषरूपमें अवतार लेकर कौन-कौनसी लीलाएँ करते हैं तथा निःस्पृह होकर किस प्रकार पहले इस जगत्की सृष्टि करके और पुनः इसे सुस्थिर करके जीवोंकी जीविकाका विधान करते हैं—कृपया इन सबका वर्णन कीजिये॥ ५॥

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत्॥ ६॥

पुनः वे किस प्रकारसे इस जगत्को अपने हृदयाकाशमें स्थापित करके निश्चेष्ट भावसे योगमायाका आश्रय लेकर शयन करते हैं और किस प्रकारसे योगेश्वरोंके अधीश्वर वे भगवान् एक होनेपर भी ब्रह्माण्डमें अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्मादि अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं—इन रहस्योंको भी आप मुझे बतलाइये॥ ६॥

क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७॥

वे गायों, ब्राह्मणों एवं देवताओं आदिके मङ्गलकी कामनासे मत्स्य, कूर्म आदि अवतार धारणकर जो-जो लीलाएँ करते हैं, उन सबका भी आप वर्णन कीजिये। पुण्य-कीर्त्तिवानोंके मुकुटमणि भगवान् श्रीहरिके चरितामृतका श्रवण करते हुए हमारा मन तृप्त नहीं हो रहा है॥ ७॥

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान् सहलोकपालान्।
अचीक्लपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः॥ ८॥

समस्त लोकपतियोंके अधीश्वर भगवान्ने पृथ्वी आदि कौन-कौनसे तत्त्वभेदोंके द्वारा इन्द्रादि लोकपालोंके साथ स्वर्ग-मर्त्त्य आदि लोकोंकी और लोकालोक पर्वतके बाहरके भागोंकी रचना की है, तथा उन-उन स्थानोंपर प्राणी अपने-अपने जातिभेदसे जिन-जिन कर्मोंके अधिकारी बनकर रहते हैं, उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ८॥

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानाञ्च भिदां व्यधत्त।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य॥ ९॥

हे विप्रश्रेष्ठ! विश्वस्रष्टा स्वतःसिद्ध भगवान् नारायणने जिस प्रकारसे जीवोंके स्वभाव, कर्म, रूप एवं नाम आदिका भेद किया है, कृपया उसका भी वर्णन कीजिये॥ ९॥

परावरेषां भगवन् व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम्।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात्॥ १०॥

हे भगवन्! मैंने श्रीवेदव्यासजीके मुखसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि नीच जातियोंके धर्मको कई बार श्रवण किया है। इन तुच्छ-सुख उत्पन्न करनेवाले धर्मोंके विषयमें सुनकर मेरा चित्त तृप्त हो चुका है, किन्तु श्रीकृष्णके कथामृत-प्रवाहके पानसे मेरा चित्त तृप्त नहीं हुआ है॥ १०॥

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति॥ ११॥

आप जैसे साधुओंके समाजमें श्रीनारद आदि महात्माओंके द्वारा वर्णन की गयी तीर्थपद श्रीकृष्णकी लीला-गुण आदिकी कथाओंके श्रवणसे कौन तृप्त हो सकता है? वैसा भगवत्-कीर्त्तन मनुष्योंके कर्ण-रन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर संसार-बन्धनमें डालनेवाली उसकी गृह-आसक्तिको काट डालता है॥ ११॥

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः।
यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम्॥ १२॥

हे मुने! आपके सखा मुनिवर कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने भी भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेकी अभिलाषासे ही महाभारतकी रचना की थी। उसमें उन्होंने अर्थ और कामसे सम्बन्धित सांसारिक-कथाओंका उल्लेख करते हुए साधारण मनुष्योंकी बुद्धिको भगवान् श्रीहरिकी कथाओंकी ओर ही उन्मुख करनेका प्रयत्न किया है॥ १२॥

सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।

हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते॥ १३॥

श्रद्धावान पुरुषकी मति जैसे-जैसे श्रीकृष्णमें वर्द्धित होती है, वैसे-वैसे ही उसे हरिकथाके अतिरिक्त अन्य विषय-सुखोंसे विरक्ति होने लगती है। श्रीकृष्णके चरणकमलोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दित होनेपर शीघ्र ही उस व्यक्तिके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं॥ १३॥

तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४॥

मैं तो शोचनीयोंके भी शोचनीय उन अज्ञानी मूढ़ पुरुषोंके लिए शोक कर रहा हूँ, जो अपने पूर्व पापोंके कारण हरिकथासे विमुख हैं। हाय! ये लोग वाणी, देह और मनसे व्यर्थके चिन्तन और विषयोंमें आसक्त हैं और काल उनकी आयुको वृथा ही क्षीण कर रहा है॥ १४॥

तदस्य कौषारव शर्मदातु-
र्हरेः कथामेव कथासु सारम्।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ १५॥

अतएव हे दीनबन्धु महर्षि मैत्रेय! भ्रमर जिस प्रकार पुष्पोंसे उसके सारस्वरूप मधुको निकाल लेता है, उसी प्रकार आप भी समस्त कथाओंकी सारभूता पवित्रकीर्त्ति श्रीहरिकी परम मङ्गलमयी कथाओंको हमें सुनाइये, जिससे हमारा कल्याण हो॥ १५॥

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्॥ १६॥

उन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने इस विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारके लिए सम्पूर्ण रूपसे अपनी शक्तिका आश्रय लेकर पुरुषावतारोंके

रूपमें अवतीर्ण होकर जो समस्त अलौकिक लीलाएँ की हैं, उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ १६॥

श्रीशुक उवाच—

एवं स भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौशारवो मुनिः।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन्॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार विदुरजीने जब योगैश्वर्यशाली महर्षि मैत्रेयसे ये सब प्रश्न पूछे, तब उन्होंने विदुरजीकी प्रशंसा करते हुए मनुष्योंके नित्य कल्याणके लिए उनसे कहना आरम्भ किया॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः॥ १८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे साधुस्वभाव विदुर! आपने जो उत्तम प्रश्न पूछे हैं, उनसे आपने जगत्-वासियों और मेरे प्रति परम अनुग्रह ही प्रकाशित किया है। आपका चित्त तो सर्वदा ही इन्द्रियोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णमें लगा ही रहता है, किन्तु इन प्रश्नोंके द्वारा आपका सुयश भी समस्त संसारमें विस्तारित होगा॥ १८॥

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत् त्वया हरिरीश्वरः॥ १९॥

हे विदुरजी! आपने अनन्यभावसे सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् रूपमें प्राप्त किया है और इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि आप भगवान् वेदव्यासके औरस-पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए हैं॥ १९॥

माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात्॥ २०॥

आप पूर्वजन्ममें प्रजाका संहार करनेवाले यमराज थे। आप माण्डव्य-मुनिके शापसे सत्यवती-नन्दन श्रीव्यासदेव द्वारा विचित्रवीर्यकी पत्नीके रूपमें स्वीकृत दासीके गर्भसे प्रकटित हुए हैं॥ २०॥

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च।
यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान् व्रजन्॥ २१॥

आप सर्वदा ही भगवान् श्रीहरि द्वारा स्वीकार किये गये उनके पार्षद भक्त हैं, इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अपने धाममें पधारते समय मुझे आपको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेकी आज्ञा दे गये हैं॥ २१॥

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः॥ २२॥

इसलिए अब मैं आपके समक्ष भगवान्‌की स्वांश-मायाके द्वारा विस्तारित इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे सम्बन्धित लीलाओंका क्रमपूर्वक वर्णन कर रहा हूँ॥ २२॥

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्माऽनानामत्युपलक्षणः ॥ २३॥

इस दृश्यमान जगत्‌की सृष्टि होनेसे पूर्व समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप और ईश्वर—छह ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण एकमात्र भगवान् ही थे। वे भगवान् असीम वैकुण्ठ आदि नाना प्रकारके वैभवोंसे युक्त थे तथा जीव-जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छा उनके हृदयमें लीन रहनेके कारण वे अकेले ही अद्वयतत्त्व भगवत्-स्वरूपमें विद्यमान थे॥ २३॥

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥ २४॥

सृष्टिके प्रारम्भमें उन सर्वाधिकारी दृष्टा अर्थात् प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता पुरुषको दृश्य स्वरूप—प्रधान दिखलायी नहीं दिया, क्योंकि प्रकृति उस समय उनमें ही लीन थी। पुरुषमें चित्-शक्ति नित्यकाल प्रकाशित रहती है, किन्तु विश्वसृष्टिकी सहायकारिणी बहिरङ्गा मायाशक्ति उस समय उनमें ही सुप्त थी। अतः उन्होंने समष्टि विराटको अपनेमें सूक्ष्म रूपमें विराजित रहनेपर भी उसकी नहीं रहनेके समान ही विवेचना की, क्योंकि कारणार्णवशायी पुरुषके प्रकृतिके प्रति ईक्षणके अतिरिक्त समष्टि विराटका प्रकटन असम्भव है॥ २४॥

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥ २५॥

द्रष्टा-स्वरूप परमेश्वरकी दृश्य-स्वरूप शक्ति ही माया है, जो कार्य और कारणरूपमें अभिव्यक्त होती है। हे महाभाग! इस मायाशक्तिके द्वारा ही परमेश्वरने इस परिदृश्यमान विश्वकी सृष्टि की है॥ २५॥

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमयामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥ २६॥

चित्-शक्तिसे युक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने अपने अंशभूत प्रकृतिके अधिष्ठातृरूप पुरुषावतारके द्वारा कालशक्तिसे क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें चिदाभासरूप बीज अर्थात् जीवसमूहको स्थापित किया॥ २६॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विष्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥ २७॥

इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमोगुणका नाशक विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्-तत्त्व आविर्भूत हुआ। जिस प्रकार बीजसे निकला अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है, उसी प्रकारसे महत्-तत्त्व भी अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करनेवाला है॥ २७॥

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया॥ २८॥

तत्पश्चात् चिदाभास, गुण एवं गुण-क्षोभक काल—इन तीनोंके अधीन उस महत्-तत्त्वने उत्पन्न होनेवाले विश्वके आश्रय उन महान् एवं सर्वाध्यक्ष भगवान्की इच्छाके अनुरूप अहङ्कार-तत्त्वकी सृष्टिके लिए स्वयंको रूपान्तरित कर दिया॥ २८॥

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ २९॥

महत्-तत्त्वके विकार प्राप्त होनेपर उससे अहङ्कार-तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। यह अहङ्कार कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्त्ता (अधिदैव)—इन तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। यह अहङ्कार पञ्चभूत, इन्द्रिय और मन—इन तीनोंका विकार-विशिष्ट है, इसलिए सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेदसे यह तीन प्रकारका है॥ २९॥

अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः॥ ३०॥

सात्त्विक अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर उससे मनकी उत्पत्ति हुई। जिन सब वैकारिक देवताओंसे शब्दादि कार्य प्रकाशित होते हैं, वे वैकारिक देवता भी सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न हुए हैं॥ ३०॥

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥ ३१॥

राजस अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं॥ ३१॥

तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥ ३२॥

तामस अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर उससे शब्द उत्पन्न हुआ। इस शब्दसे ही परमात्माका बोध करानेवाले आकाशकी उत्पत्ति हुई॥ ३२॥

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम्॥ ३३॥

इसके बाद काल और मायाके आंशिक योगसे आकाशने भगवान्‌की इच्छानुसार स्पर्शको उत्पन्न किया। तब इसी आकाशसे उत्पन्न स्पर्शतन्मात्राके फिरसे रूपान्तरको प्राप्त होनेपर वायुकी सृष्टि हुई॥ ३३॥

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्॥ ३४॥

जब आकाशके साथ महाबलशाली वायु विकारको प्राप्त हुआ, तब रूपतन्मात्राकी सृष्टि हुई, जिससे समस्त भुवनको प्रकाशित करनेवाला तेज उत्पन्न हुआ॥ ३४॥

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत् परवीक्षितम्।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः॥ ३५॥

जब वह ज्योति (तेज) वायुके साथ मिलकर परमेश्वरके दृष्टिपात द्वारा विकारको प्राप्त हुई, तब काल और मायाके आंशिक योगसे रस-तन्मात्राके कार्य जलकी उत्पत्ति हुई॥ ३५॥

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः॥ ३६॥

हे विदुरजी! इसके बाद जब जल ज्योति (तेज) के साथ मिलकर भगवान्‌की दृष्टिपातसे विकारको प्राप्त हुआ, तब काल और बहिरङ्गा-मायाके सहयोगसे गन्ध-गुणयुक्त पृथ्वीकी सृष्टि हुई॥ ३६॥

भूतानां नभ आदीनां यद्यद्भव्यावरावरम्।
तेषां परानुसंसर्गाद् यथासंख्यं गुणान् विदुः॥ ३७॥

हे सौम्य! आकाश आदि पञ्चभूतोंमें जो-जो भूत क्रमशः निकृष्ट हैं, उनके साथ स्व-स्व कारणका क्रमशः सम्बन्ध होनेके कारण उनमें अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुणोंको भी विद्यमान जानना चाहिये। (जिस प्रकार आकाशका केवल शब्दमात्र एक ही गुण है। इस गुणका वायुके साथ मिलन होनेपर वायुमें स्पर्श और शब्द ये दो गुण होते हैं; तेजमें आकाश और वायुका सम्बन्ध होनेपर तेजमें रूप, शब्द एवं स्पर्श—ये तीन गुण होते हैं; जलमें आकाश आदि पूर्व भूतत्रयका अनुप्रवेश होनेपर जलमें रस, शब्द, स्पर्श और रूप चार गुण होते हैं; तथा पृथ्वीमें आकाश आदि भूत-चतुष्टयके अनुप्रविष्ट होनेपर गन्ध, शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस—ये पाँच गुण विद्यमान रहते हैं।)॥ ३७॥

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः।
नानात्वात् स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्॥ ३८॥

इन सब महत् आदि तत्त्वोंके अभिमानी देवता विष्णुके अंश हैं तथा इनमें विकार, विक्षेप और चेतना आदि गुण समभावसे विद्यमान रहते हैं। किन्तु उनमें परस्पर सम्बन्ध न हो पानेके कारण जब वे ब्रह्माण्डकी रचना करनेमें असमर्थ हो गये, तब वे हाथ जोड़कर श्रीभगवान्से कहने लगे॥ ३८॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति॥ ३९॥

देवताओंने कहा—हे परमदेव! हम आपके उन चरणकमलोंमें प्रणत हैं, जो छत्रके समान शरणागत व्यक्तियोंके तापको दूर करते हैं। आपके इन चरणकमलोंके तलका आश्रय लेनेवाले यतिलोग संसार-दुःखको सहज रूपमें दूर फेंक देते हैं॥ ३९॥

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणाभिहता न शर्म।
आत्मन् लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम॥ ४०॥

हे पिता! हे जगदीश्वर! इस संसारमें जीव आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन त्रितापोंसे दग्ध होकर किसी भी प्रकारसे शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतएव हे भगवन्! हम आपके चरणकमलोंकी विद्यामयी छायाका ही आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४०॥

मार्गन्ति यत् ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते।
यस्याघमर्षोद-सरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः॥ ४१॥

ऋषिगण अपने आसक्तिशून्य अन्तःकरणमें आपके मुखकमलरूप घोंसलेका आश्रय लेनेवाले वेदमन्त्ररूप पक्षियोंकी सहायतासे जिस

परमपद स्वरूप चरणकमलोंका अनुसन्धान करते रहते हैं, तथा समस्त पापनाशिनी नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गा जिन चरणकमलोंसे निकली हैं, उस गङ्गाकी सेवामें तत्पर होकर ही भक्तगण भी समस्त तीर्थोंके आश्रय स्वरूप आपके उन श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करते हैं। अतः हम आपके उन परम पावन चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं॥ ४१॥

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत् तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥ ४२॥

हे भगवन्! विषयोंमें पूर्णता आसक्त व्यक्ति भी श्रद्धा और श्रवणमें आग्रहरूप भक्तिके द्वारा भलीभाँति मार्जित अपने हृदयमें आपके जिन चरणकमलोंका अनुभव करते हैं तथा वैराग्यके बलसे उन चरणकमलोंके माधुर्यके आस्वादनरूप ज्ञानके द्वारा तत्त्ववेत्ता हो जाते हैं, हम आपके उन्हीं चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४२॥

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम्॥ ४३॥

हे ईश! आप विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए अवतार लेते हैं, अतः हम सब आपके चरणारविन्दोंमें शरणागत हैं। आपके चरणकमल अपने आश्रितोंको स्मृति अर्थात् स्वरूपज्ञान और अभय प्रदान करते हैं॥ ४३॥

यत् सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढ-दुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम्॥ ४४॥

स्त्री-पुत्र आदि विषयों सहित तुच्छ देह, घर आदिमें जिनका 'मैं और मेरा' रूप प्रबल दुराग्रह रहता है, उन समस्त जीवोंके देहपुरमें

आपके द्वारा अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित रहनेपर भी आपके जो श्रीचरणकमल उन देहाभिमानियोंके लिए दुष्प्राप्य हैं, हम आपके उन्हीं पदारविन्दोंका भजन करते हैं॥ ४४॥

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः॥ ४५॥

हे परम यशस्वी परमेश्वर! जिनका अन्तःकरण बहिर्मुखी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें ही विचरण करनेके कारण भगवान्‌से दूर रहता है, वे मूढ़ निश्चय ही लीलाकथा-विलासकी स्मरण, कीर्त्तनादि रूप सम्पत्ति द्वारा परम कृतार्थ हुए भक्तोंका दर्शन नहीं कर पाते॥ ४५॥

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ४६॥

हे देव! आपके कथामृतका पान करनेके फलस्वरूप सम्पूर्ण रूपसे उच्छलित भक्तिके द्वारा कपटतारहित होकर भक्त वैराग्यके सार स्वरूप आत्मज्ञानको प्राप्त करके शीघ्र ही काल आदिके प्रभावसे रहित वैकुण्ठलोकको प्राप्त कर लेते हैं॥ ४६॥

तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥ ४७॥

मोक्षमात्रकी कामना करनेवाले अन्य धीर व्यक्ति चित्त-निरोधरूप समाधि अर्थात् ज्ञानयोगके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आदि पुरुषमें ही प्रवेशकर सायुज्य प्राप्त करते हैं। इसमें उन्हें बहुत परिश्रम होता है, किन्तु भक्तोंको आपकी सेवामें श्रम नहीं होता,

क्योंकि सदा ही सेवानन्दका अनुभव करनेके कारण वे आनुषङ्गिक रूपसे ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ ४७॥

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते॥ ४८॥

हे आदिदेव! लोक-निर्माणकी कामनासे आपने सत्त्वादि तीन प्रकारके स्वभाव द्वारा हमारी सृष्टि की है। यद्यपि हमसब आपके अधीन हैं, तथापि परस्पर विरुद्ध-स्वभावके कारण हमारा आपसमें वियोग ही रहता है। अतः आपकी क्रीड़ाके उपकरणरूप ब्रह्माण्डका निर्माण न कर पानेके कारण हम उसे आपको समर्पित करनेमें असमर्थ हो रहे हैं॥ ४८॥

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयञ्चान्नमदाम यत्र।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः॥ ४९॥

अतः हे जन्मरहित भगवन्! कृपया हमें ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये जिससे कि हम ब्रह्माण्डकी रचना करके आपको सब प्रकारके भोग समर्पण कर सकें और उसमें स्थित होकर हम भी अपनी योग्यताके अनुसार अन्न ग्रहण कर सकें तथा ये सब जीव भी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे दूर रहकर हमें और आपको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण अर्थात् अपने-अपने कर्मका फल भोग कर सकें॥ ४९॥

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः॥ ५०॥

हे परमदेव! आप ही हम देवताओंके कारण सहित कार्यस्वरूप आदिकारण, अविकारी, आदिरहित पुरातन पुरुष और सभीके अधिष्ठाता हैं। प्राकृत जन्मरहित आपने ही सत्त्वादि गुण और कर्मादिकी कारणभूता आद्य-शक्ति मायामें समष्टि जीवरूप अथवा महत्-तत्त्वरूप वीर्यका आधान किया है॥५०॥

ततो वयं मत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन् करवाम किं ते।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या
देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्॥५१॥

हे परमात्मन्! महत्-तत्त्व आदि अभिमानी हम देवता जिन कार्योंके लिए उत्पन्न हुए हैं, उसके लिए हमें निर्देश और आज्ञा प्रदान कीजिये? हे देव! आपने हमपर अनुग्रह किया है, अतः इस ब्रह्माण्डकी रचनाके लिए आप हमें क्रियाशक्तिके साथ ज्ञानशक्ति भी प्रदान कीजिये—यही हमारी प्रार्थना है॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे महदाद्युत्पत्तिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

विराट-मूर्त्तिकी सृष्टि

श्रीऋषिरुवाच—

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान्‌ने अपनी महत्-तत्त्व आदि शक्तियोंके परस्पर संगठित न होनेके कारण विश्व-रचनाकी क्रियामें उनकी असमर्थताके विषयमें सुना॥ १॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥ २॥

तब उरुक्रम भगवान्‌ने अपनी काल-नामक प्रकृतिको स्वीकारकर एक ही समयमें महत्-तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्त्वोंके समूहमें प्रवेश किया॥ २॥

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥ ३॥

अन्तर्यामी पुरुषने अपनी क्रिया-शक्तिकी सहायतासे इन समस्त तत्त्वोंमें प्रवेश किया और इनकी क्रियाओं अथवा जीवके सुप्त अदृष्ट (कर्मों) को प्रकाशित किया। इसके पश्चात् उन्होंने इन सभी भिन्न-भिन्न तत्त्वोंको एकत्रितकर संयुक्त कर दिया॥ ३॥

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपुरुषम्॥ ४॥

जब इन तेईस तत्त्वोंकी क्रियाशक्ति जाग्रत हो गयी, तब उन तत्त्वोंने भगवान्‌की प्रेरणासे परिचालित होकर अपने अंशोंके द्वारा ब्रह्माण्डरूप विराट् देहकी रचना की॥ ४॥

परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योऽन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥ ५॥

जब परमेश्वर अपने अंशरूपमें विश्वकी रचना करनेवाले महदादि तत्त्वोंमें प्रविष्ट हो गये, तब उनकी शक्तिसे वे समस्त तत्त्व परस्पर मिलित होकर विराट् देहके रूपमें परिणत हो गये। यह चराचर जगत् इसी विराट् देहमें अवस्थित है॥ ५॥

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
अण्डकोष उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ६॥

ब्रह्माण्डमें स्थित उन हिरण्यगर्भ पुरुषने अपनेमें शयन करनेवाले समस्त जीवोंके साथ मिलित होकर ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित जलमें एक हजार वर्ष तक वास किया॥ ६॥

स वै विश्वसृजां गर्भो दैवकर्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा॥ ७॥

महदादि तत्त्वोंके कार्यस्वरूप गर्भ अर्थात् इस विराट् मूर्त्तिने ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और आत्मशक्तिके साथ संयुक्त होकर (जीवशक्ति द्वारा) एक, (प्राणशक्तिके द्वारा) दस तथा (अध्यात्मशक्तिके द्वारा) तीन प्रकारके भेदोंमें स्वयंको विभक्त कर दिया॥ ७॥

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥ ८॥

ये विराट् पुरुष ही समष्टि जीव स्वरूप होनेके कारण समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं, जीवरूप होनेके कारण परमात्माके अंश हैं एवं परमात्माके साथ ऐक्य भावनाके कारण आदि अवतार-स्वरूप हैं। समस्त भूतसमूह इनमें ही प्रकाशित होते हैं॥ ८॥

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥ ९॥

ये विराट् पुरुष अपनी चित्-शक्ति द्वारा अध्यात्म (समस्त इन्द्रियों), अधिदैव (इन्द्रिय-अधिष्ठाता देवताओं) एवं अधिभूत (इन्द्रियोंके

विषय)—इन तीनोंके साथ मिलकर तीन प्रकारके, प्राण आदि स्वरूप होकर दस प्रकारके तथा हृदयस्थित चैतन्यके साथ मिलकर एक प्रकारके हुए हैं॥ ९॥

स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः।
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये॥ १०॥

इन्द्रियातीत भगवान्के अंश विश्वस्रष्टा कारणार्णवशायी पुरुषने महदादि तत्त्वोंकी प्रार्थनाका स्मरण करके महदादिकी विभिन्न वृत्तियोंको स्वीकार करनेके लिए अपनी चित्-शक्तिके द्वारा विराट् शरीरको प्रकाशित किया॥ १०॥

अथ तस्याभितप्तस्य कतिधायतनानि ह।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥ ११॥

तत्पश्चात् परमेश्वरके द्वारा प्रकाशित उस विराट् पुरुषमें देवताओंके लिए जितने प्रकारके स्थान उत्पन्न हुए, उनसब स्थानोंका मैं वर्णन कर रहा हूँ—श्रवण करो॥ ११॥

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदम्।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते॥ १२॥

उस विराट् पुरुषका मुख पृथक् रूपसे प्रकाशित होनेपर लोकपाल अग्नि अपनी शक्ति वाक्-इन्द्रियके साथ अपने स्थानस्वरूप उस मुखमें प्रविष्ट हो गये। उस वाक्-शक्तिके द्वारा ही यह जीव (विराट्) अपनेको शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त करता है॥ १२॥

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः।
जिह्वयांशेन च रसान् ययासौ प्रतिपद्यते॥ १३॥

उस विराट् पुरुषका तालु प्रकाशित होनेपर लोकपाल वरुण अपनी शक्ति रसना-इन्द्रियके साथ उस तालुके मूलमें प्रवेश कर गये। इस रसनाके द्वारा जीव (विराट्) रसोंको ग्रहण करता है॥ १३॥

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम्।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १४॥

विराट् पुरुषकी दोनों नासिका पृथक् रूपमें उत्पन्न होनेपर उनके अधिष्ठाता दोनों अश्विनीकुमार अपने अंश घ्राणेन्द्रियके साथ उसमें प्रविष्ट हुए। इस घ्राणेन्द्रियके द्वारा ही जीवमें गन्ध ग्रहण करनेकी शक्ति उदित होती है॥ १४॥

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १५॥

इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके चक्षुके दो गोलक (नेत्र) पृथक् रूपमें प्रकट हुए, तब लोकपाल आदित्यने अपने अंश चक्षु-इन्द्रियके साथ उसमें प्रवेश किया। इस चक्षु-इन्द्रियसे जीवको रूपका दर्शन होता है॥ १५॥

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते॥ १६॥

उन विराट् पुरुषके शरीरमें त्वचाके पृथक् रूपसे प्रकट होनेपर लोकपाल वायुने त्वक्-इन्द्रियरूप अपनी आंशिक शक्तिके साथ उसमें प्रवेश किया। इस त्वक्-इन्द्रियके द्वारा जीवको स्पर्शका अनुभव होता है॥ १६॥

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते॥ १७॥

विराट् पुरुषके दोनों कान पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर समस्त दिशाओंने अपने श्रवणेन्द्रियरूप अंशके साथ उन कानोंमें प्रवेश किया। इन श्रवणेन्द्रियोंके द्वारा ही जीवको शब्दका ज्ञान प्राप्त होता है॥ १७॥

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते॥ १८॥

जब इन विराट् पुरुषकी त्वचा पृथक् रूपसे प्रकाशित हुई, तब रोमरूप अंशके साथ औषधियोंने अपने-अपने वासस्थान-स्वरूप रोमकूपोंमें प्रवेश किया। इन समस्त रोमकूपोंके द्वारा जीव खुजलाहटका सुख अनुभव करता है॥ १८॥

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते॥ १९॥

उन विराट् पुरुषकी उपस्थेन्द्रियके पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर प्रजापतिने शुक्ररूप अंशके साथ अपने आवासस्थान उस इन्द्रियमें प्रवेश किया। इस उपस्थेन्द्रियके द्वारा जीव जड़ानन्द अर्थात् जड़ कामसुखको प्राप्त करता है॥ १९॥

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत्।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते॥ २०॥

विराट् पुरुषकी पायु-इन्द्रिय (मलद्वार) के पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर पायु-इन्द्रियके साथ लोकपाल सूर्य अधिदेवताके रूपमें उसमें प्रविष्ट हो गये। इस इन्द्रियके द्वारा जीव मलत्याग करता है॥ २०॥

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वःपतिराविशत्।
वार्तायांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते॥ २१॥

उन विराट् पुरुषके दोनों हाथ पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर स्वर्गपति इन्द्र क्रय-विक्रयादि अंशके साथ उसमें प्रविष्ट हो गये। इस इन्द्रियकी सहायतासे जीव अपनी जीविकाका निर्वाह करता है॥ २१॥

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत्।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते॥ २२॥

उन विराट् पुरुषके दोनों चरण पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर लोकपाल विष्णु गमनरूप अपने अंशके साथ उनमें प्रविष्ट हो गये। इस गमन शक्तिके द्वारा जीव देशान्तरमें गमनागमन करते हुए अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है॥ २२॥

बुद्धिञ्चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत्।
बोधेनांशेन बोद्धव्यं प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ २३॥

तत्पश्चात् उन विराट् पुरुषकी बुद्धि भिन्न रूपसे प्रकट होनेपर वाक्पति ब्रह्माने बोधरूप अंशके साथ अपने वासस्थान बुद्धिमें प्रवेश किया। इससे जीव ज्ञातव्य विषयका अनुभव करता है॥ २३॥

हृदयञ्चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत्।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते॥ २४॥

उन विराट् पुरुषका हृदय भी पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ और चन्द्रमाने मनरूप अपने अंशके साथ उसमें प्रवेश किया। इस मनके द्वारा जीव सङ्कल्प-विकल्पादि रूप विकारोंको प्राप्त करता है॥ २४॥

आत्मानञ्चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत् पदम्।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते॥ २५॥

उन विराट् पुरुषका अहङ्कार पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर रुद्रने अहंवृत्तिरूप अंशके साथ अपने उस अधिष्ठानमें प्रवेश किया। इस अहंवृत्तिके द्वारा जीव अभिमानके विषय देह आदिको 'मैं' मानकर नानाप्रकारके कर्त्तव्य कर्म करता है॥ २५॥

सत्त्वञ्चास्य विनिर्भिन्नं महान् धिष्ण्यमुपाविशत्।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते॥ २६॥

तत्पश्चात् उन विराट् पुरुषके चित्तका अधिष्ठान गोलक (हृदयका एक भाग) पृथक् रूपसे प्रकाशित होनेपर विष्णु अपने अधिष्ठानरूप इस चित्तगोलकमें अपनी चेतनाके साथ प्रविष्ट हुए। इस चेतनारूप इन्द्रिय द्वारा जीव ज्ञेय वस्तुका विज्ञान प्राप्त करता है॥ २६॥

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः॥ २७॥

विराट् पुरुषके सिरसे स्वर्ग, दोनों चरणोंसे पृथ्वी और नाभिदेशसे अन्तरीक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ। इन स्थानोंपर क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंके परिणामस्वरूप देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं॥ २७॥

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु॥ २८॥

देवतालोग सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्ग-लोकमें रहते हैं। यज्ञ आदि द्वारा परस्पर व्यवहारसे युक्त मानव और उनके (यज्ञके)

उपकरण-स्वरूप गाय आदि रज प्रकृतिके कारण पृथ्वीपर रहते हैं॥ २८॥

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः।
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणाः॥ २९॥

तृतीय तमः प्रकृतिके द्वारा रुद्रके पार्षद—भूतगण स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें स्थित विराट्की नाभिका आश्रय करके रहते हैं, जिसे अन्तरीक्ष अर्थात् भुवर्लोक भी कहा जाता है॥ २९॥

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥ ३०॥

हे कुरुश्रेष्ठ! विराट् पुरुषके मुखसे वेद और ब्राह्मण उत्पन्न हुए। भगवान् और वेदोंके उन्मुख होनेके कारण ब्राह्मण सभी वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबके गुरु हैं॥ ३०॥

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥ ३१॥

उन विराट् पुरुषकी दोनों भुजाओंसे पालनरूप वृत्ति और उस वृत्तिका अनुसरण करनेवाले क्षत्रिय उत्पन्न हुए। विष्णुका अंश क्षत्रियवर्ण चोरी आदि उपद्रवोंसे सभी वर्णोंकी रक्षा करता है॥ ३१॥

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्॥ ३२॥

उन विराट् पुरुषकी दोनों जाँघोंसे समस्त लोगोंकी जीविकाके कारणस्वरूप कृषि आदि समस्त व्यवसाय-वृत्तिके साथ वैश्य वर्ण भी उत्पन्न हुआ। यह वैश्यवर्ण अपने व्यवसायके द्वारा सभी मनुष्योंकी जीविकाका निर्वाह करता है॥ ३२॥

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥ ३३॥

विराट् पुरुषके दोनों चरणोंसे धर्मकी सिद्धि (रक्षा) के लिए सेवावृत्तिके साथ उसके निमित्तस्वरूप शूद्रवर्ण उत्पन्न हुआ। इस सेवावृत्तिके द्वारा ही श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं॥ ३३॥

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः॥ ३४॥

ये सभी वर्ण अपनी-अपनी जीविका (वृत्ति) के साथ जिन भगवान्से उत्पन्न हुए हैं, आत्मशोधनके लिए श्रद्धापूर्वक स्वधर्म पालनके द्वारा ये सभी वर्ण अपने गुरु उन श्रीहरिकी पूजा करते हैं॥ ३४॥

एतत् क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम्॥ ३५॥

हे विदुर! काल, कर्म और स्वभाव-शक्तिसे युक्त भगवान्की योगमायाके बलसे उत्पन्न इस विराट् रूपका सम्पूर्ण रूपसे निरूपण करनेकी इच्छा भी कौन व्यक्ति कर सकता है?॥ ३५॥

तथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम्।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम्॥ ३६॥

तथापि श्रीगुरुके सान्निध्यमें श्रीहरिके यशका श्रवण करके अपनी बुद्धिकी योग्यतानुसार मैंने जो कुछ धारण किया है, तुम्हारे समक्ष उसीका वर्णन कर रहा हूँ। हे अङ्ग! भगवान्के अतिरिक्त अन्य विषयोंकी चर्चासे मेरी वाणी मलिन हो गयी है, अब श्रीहरिके गुणोंका वर्णन करके अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिए मैं इस विषयमें प्रवृत्त हो रहा हूँ॥ ३६॥

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसंप्रयोगम्॥ ३७॥

हे विदुर! उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेमें ही मनुष्योंकी वाणीकी सार्थकता है तथा विद्वानोंके द्वारा कीर्त्ति भगवत्-कथामृतके प्रवाहके सान्निध्यमें अपनी श्रवणेन्द्रियोंको स्थापन करनेमें अर्थात् उसका पान करनेमें ही कानोंकी सार्थकता है—पण्डितजन यही बतलाते हैं॥ ३७॥

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया॥ ३८॥

हे वत्स! आदिकवि ब्रह्माजी अपनी योग-परिपक्व बुद्धिके द्वारा हजारों वर्षों तक परमात्मा श्रीहरिके अचिन्त्य ऐश्वर्यादिका चिन्तन करते रहे, तथापि वे उसका पार नहीं पा सके॥ ३८॥

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी।
यत् स्वयञ्चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे॥ ३९॥

भगवान्‌की माया मायावियोंको भी निश्चित रूपसे मोहित करनेवाली और संसारमें पतित करानेवाली है, क्योंकि जब परमेश्वर स्वयं ही अपने स्वरूप-ऐश्वर्यका निर्णय नहीं कर सकते, तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या?॥ ३९॥

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहञ्चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥ ४०॥

जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है तथा अहङ्कारके अधिष्ठाता रुद्र और अन्यान्य इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता भी जिनकी अचिन्त्य महिमामें प्रवेश करनेमें असमर्थ होकर निवृत्त हुए हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीविदुरके अन्यान्य प्रश्न

श्रीशुक उवाच—

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मैत्रेय ऋषिके ऐसे मधुर वचनोंको सुनकर व्यासनन्दन परमविज्ञ विदुरजी अपनी वाणीके द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हुए प्रत्युत्तरमें कहने लगे॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! जो भगवान् विभुचित्-स्वरूप, निर्विकार, प्राकृत गुणोंसे अतीत और चिन्मात्र हैं, उनके साथ लीलावशतः भी प्राकृत गुणों एवं क्रियाओंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?॥ २॥

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥ ३॥

श्रीभगवान्‌की लीलाको बालकोंकी क्रीड़ाके समान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बालकोंकी अभिलाषा ही उनकी स्वाभाविक क्रीड़ा प्रवृत्तिका कारण होती है अथवा अन्य वस्तुओं या दूसरे बालकोंसे भी उन्हें खेलनेकी प्रेरणा मिलती है, इसीलिए वे खेलनेके लिए प्रयत्न करते हैं; परन्तु आत्माराम, पूर्णकाम एवं सर्वदा अन्य वस्तुके असङ्गके कारण अद्वयतत्त्व श्रीभगवान्‌में क्रीड़ाकी इच्छा भी कैसे सम्भव है?॥ ३॥

अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥ ४॥

भगवान्‌ने जीवमें कर्त्ता और भोक्तादिका मोह उत्पन्न करनेवाली त्रिगुणात्मिका बहिरङ्गा मायाके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि की है। वे इस मायाके द्वारा ही इस विश्वका पालन करते हैं और फिर विपरीत क्रमसे उसी मायासे इसका संहार भी करते हैं॥ ४॥

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम्॥ ५॥

देश, काल, अवस्था, स्वभाव या अन्य किसी भी कारणसे जिस शुद्ध जीवात्माकी नित्य ज्ञानशक्ति कभी विलुप्त नहीं होती, उस जीवात्माका अविद्या अर्थात् मायाके साथ संयोग किस प्रकार हो सकता है?॥ ५॥

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः॥ ६॥

अद्वयतत्त्व श्रीभगवान् ही अन्तर्यामी रूपसे समस्त जीवोंकी देहोंमें अवस्थित हैं। ऐसी अवस्थामें चित्स्वरूप जीव चिदानन्दसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ और उसके लिए कर्मसे उत्पन्न क्लेश कहाँसे आये?॥ ६॥

एतस्मिन् मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत्॥ ७॥

हे विद्वन्! इस अज्ञानरूप दुर्गमें पड़कर मेरा मन खिन्न हो रहा है। अतः हे विभो! कृपापूर्वक मेरे हृदयसे इस मोहको दूर कीजिये॥ ७॥

श्रीशुक उवाच—

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! तत्त्व-जिज्ञासु विदुरजीके द्वारा इस प्रकार प्रश्न पूछे जानेपर यद्यपि मुनिवर मैत्रेयको किसी प्रकारका भी विस्मय नहीं हुआ, तथापि वे विस्मय-सा प्रकाशित करते हुए प्रत्युत्तरमें कहने लगे—॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥ ९॥

महर्षि मैत्रेयने कहा—ईश्वर अर्थात् स्वरूप-ज्ञान और आनन्द आदिको अनुभव करनेमें समर्थ, कुछ-कुछ चित्-ऐश्वर्यसे युक्त, अतएव जड़-बन्धनसे सम्पूर्ण रूपसे मुक्त शुद्धजीवोंका शोक और त्रिगुणके द्वारा जो बन्धन है, वह अचिन्त्य-स्वरूपशक्तिसे युक्त भगवान्की प्रसिद्ध मायाशक्तिका ही कार्य है, किन्तु यह बात युक्तिके द्वारा अवश्य ही विरुद्ध रूपमें प्रतीत होती है॥ ९॥

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः॥ १०॥

जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले जीवके लिए बिना सिर कटे भी 'मेरा यह सिर कट गया है'—इस प्रकारसे स्वरूप-भ्रमका होना केवल मिथ्या प्रतीतिमात्र है, उसी प्रकार इस शुद्ध जीवके लिए बन्धन अर्थात् उसका ज्ञान-आनन्द आदिसे भ्रष्ट होना तथा कर्मसे उत्पन्न क्लेश आदिके वस्तुतः न होनेपर भी वह सब केवल उसकी अज्ञानसे उत्पन्न प्रतीतिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ १०॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥ ११॥

जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें ही जलरूप उपाधि द्वारा किये गये कम्पन आदि धर्म दृष्ट होते हैं—वस्तुतः वह कम्पनादि आकाशमें स्थित चन्द्रमाके धर्म नहीं होते, उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मामें—शोक, मोह आदि अनात्मगुणोंके न रहनेपर भी देहाभिमानी (बद्ध) जीवमें ही वे सब गुण देखे जाते हैं॥ ११॥

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥ १२॥

हे विदुर! निष्कामस्वभाव तथा भक्तियोगवशतः श्रीकृष्णकी कृपासे अविद्याका अभिनिवेश निश्चय ही धीरे-धीरे दूर हो जाता है॥ १२॥

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः॥ १३॥

तदनन्तर जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर सबके साक्षी परमात्मा श्रीहरिमें निश्चल भावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए व्यक्तिके समान जीवके अविद्यासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त क्लेश सब प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४॥

मुरारि श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्त्तन और श्रवण करनेमात्रसे ही जब अनन्त प्रकारके दुःख दूर हो जाते हैं, तब हृदयमें उनके चरणकमलोंकी सेवासे सम्बन्धित रति उदित होनेपर क्या फल होगा, इस विषयमें फिर क्या कहा जाये?॥ १४॥

श्रीविदुर उवाच—

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो।
उभयत्रापि भगवन् मनो मे संप्रधावति॥ १५॥

श्रीविदुरने कहा—हे विभो! आपके पवित्र वचनोंरूपी तलवारसे मेरे संशय सम्पूर्ण रूपसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अब मेरा मन ईश्वरकी स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—इन दोनों विषयोंमें भलीभाँति प्रवेश कर रहा है॥ १५॥

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विष्वमूलं न यद्बहिः॥ १६॥

हे विज्ञवर! आपने यह सत्य ही कहा है कि जीवके बन्धन आदि श्रीहरिकी मायाके द्वारा ही साधित होते हैं, क्योंकि भगवान्‌की बहिरङ्गा मायाके अतिरिक्त जीवोंके क्लेशका और कोई भी कारण नहीं है। यह माया ही जीवको स्वप्नावस्थामें सिर कट जानेकी मिथ्या प्रतीतिकी भाँति अकारण ही सुख एवं दुःख आदि क्लेशोंमें लिप्त करती है॥ १६॥

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ १७॥

इस जगत्‌में जो व्यक्ति विषयासक्त बुद्धिके कारण पशुओंके समान सार-असार विवेकसे रहित मूढ़ हैं तथा जो प्रकृतिसे परे परमेश्वरको प्राप्त कर चुके हैं—ये दोनों प्रकारके व्यक्ति ही सुखी हैं। किन्तु बीचकी श्रेणीके संशयात्मा लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं॥ १७॥

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः।
ताञ्चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे॥ १८॥

भगवन्! अब मुझे यह दृढ़विश्वास हो गया है कि इस अनात्म-संसाररूप प्रपञ्चकी प्रतीति होनेपर भी वास्तवमें इसका कोई अर्थ नहीं है। आपके श्रीचरणोंकी सेवाके द्वारा मैं इस प्रतीतिको भी दूर करनेमें समर्थ हो जाऊँगा॥ १८॥

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥ १९॥

भगवद्भक्तोंके श्रीचरणोंकी सेवासे निर्विकार, सर्वकाल-व्यापी भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें ऐकान्तिक प्रेमरूप उत्सव उदित होता है और उसके आनुसङ्गिक फलसे संसार-बन्धनका भी नाश हो जाता है॥ १९॥

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः॥ २०॥

विशुद्ध भक्तोंकी सेवा ही भगवान् श्रीविष्णु अथवा उनके वैकुण्ठलोककी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग है। किन्तु, अल्प सुकृतिवालोंके लिए ऐसी सेवाको प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन भक्तोंके समाजमें ही सर्वदा देवताओंके देव और समस्त प्राणियोंके नियन्ता भगवान्‌के गुणोंका गान होता रहता है॥ २०॥

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात्।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः॥ २१॥

विदुरजीने कृतार्थ भावसे कहा—हे ब्रह्मन्! आपने कहा है कि कारणार्णवशायी पुरुषने सृष्टिके प्रारम्भमें इन्द्रियों आदिके साथ महदादि-तत्त्वोंको क्रमपूर्वक उत्पन्नकर उनके अंशोंसे विराटशरीरका निर्माण किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें अनुप्रविष्ट हो गये॥ २१ ॥

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्युरुबाहुकम्।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं त आसते॥ २२ ॥

उन कारणार्णवशायी पुरुषको ही पण्डितजन आदिपुरुष कहते हैं। वे आदिपुरुष ही गर्भोदकशायीके रूपमें हजारों चरण, हजारों जाँघों और हजारों भुजाओंवालेके रूपमें कीर्त्तित होते हैं। उनके ही रोमकूपोंमें समस्त विश्व और ये लोक विस्तारपूर्वक स्थित हैं॥ २२ ॥

यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत्।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः॥ २३ ॥

हे ब्रह्मन्! आपने उन विराट् पुरुषकी इन्द्रियों, शब्द-स्पर्श आदि इन्द्रियोंके विषय और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके सहित दस प्रकारके प्राण तथा सह (इन्द्रिय), ओज (मन) और बल (शारीरिक)—इन तीन प्रकारकी जीवनी शक्तिका वर्णन किया है। उनसे ही ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। अब आप मुझे उन परमेश्वरकी प्रजापति इत्यादि विभूतियोंके विषयमें बतलाइये॥ २३ ॥

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः।
प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम्॥ २४ ॥

इन समस्त विभूतियोंमें ही पुत्र, पौत्र, दौहित्र (नाती), गोत्रज (कुटुम्बियों) आदि विभिन्न भावोंसे युक्त प्रजाएँ अवस्थित हैं और इन सबसे ही यह समस्त विश्व परिपूर्ण हो रहा है॥ २४॥

प्रजापतीनां स पतिश्चक्लिपे कान् प्रजापतीन्।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून् मन्वन्तराधिपान्।
एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च॥ २५ ॥

हे महर्षि! कृपया यह बतलाइये कि प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजीने किस-किसको प्रजापति बनाया, कौन-कौनसे सर्गों और सर्गोंके भेदरूप अनुसर्गोंकी रचना की तथा मन्वन्तरोंके अधिपति मनुओंका किस क्रममें निर्णय किया। इसके अतिरिक्त मनुवंश एवं उनके वंशधरोंके चरित्रोंका भी वर्णन कीजिये॥ २५॥

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते।
तेषां संस्थां प्रमाणञ्च भूर्लोकस्य च वर्णय॥ २६॥

हे मित्रके पुत्र (मैत्रेयजी)! पृथ्वीके ऊपर और नीचे व्याप्त होकर जो भी लोक वर्त्तमान हैं, उनके साथ-साथ भूलोक (पृथ्वी) के भी आकार, स्थिति और परिमाणादिका वर्णन कीजिये॥ २६॥

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्त्रिणाम्।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम्॥ २७॥

देवता, मनुष्य, पशु, सरीसृप (सर्प आदि रेंगनेवाले जन्तु), पक्षी और जरायुज (गर्भजात मनुष्य आदि), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न कृमि), अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न) एवं उद्भिज्ज (तृण, गुल्म पौधे इत्यादि) आदिकी सृष्टिका विभाग भी बतलाइये॥ २७॥

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम्॥ २८॥

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि अपने गुणावतारोंके द्वारा इस विश्वकी क्रमशः सृष्टि, स्थिति एवं संहारका कार्य करनेवाले भगवान् श्रीलक्ष्मीपतिके उदार पराक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ २८॥

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः।
ऋषीणां जन्मकर्मादि वेदस्य च विकर्षणम्॥ २९॥

हे प्रभो! वेषादि लक्षण, आचरण और शम-दम आदि स्वभावके अनुसार वर्ण एवं आश्रमोंका विभाग, ऋषियोंके जन्म और कर्म तथा वेदोंके विभागका भी निरूपण कीजिये॥ २९॥

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम्॥ ३०॥

इसके साथ ही कृपया यज्ञोंके विस्तार, अष्टाङ्गयोगके मार्ग, नैष्कर्म्य (ज्ञान) और उसके उपाय-स्वरूप सांख्यका पथ एवं भगवान् श्रीनारायणके द्वारा कहे गये नारदपञ्चरात्र आदि तन्त्र-शास्त्रोंके विषयमें भी बतलाइये॥ ३०॥

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम्।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः॥ ३१॥

पाखण्ड-मार्गोंके प्रचारसे होनेवाली विषमता, प्रतिलोम अर्थात् सूत आदि वर्णसङ्कर जातियोंकी स्थिति और जीवोंके गुणों एवं कर्मोंके अनुसार उनकी जैसी और जितनी भी गतियाँ हैं—उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ३१॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक्॥ ३२॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गके परस्पर अविरोधी साधनों; कृषि, वाणिज्य आदि शास्त्रों तथा अर्थशास्त्र (दण्डनीति) एवं वेदशास्त्रोंकी पृथक्-पृथक् विधियों और प्रकारोंको भी बतलाइये॥ ३२॥

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितृणां सर्गमेव च।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम्॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! श्राद्धकी विधि, पितृ-लोकको सृष्टि, दिन-रात्रि-मास-वर्ष आदिमें ग्रहों, नक्षत्रों और तारोंकी स्थितियोंका भी वर्णन कीजिये॥ ३३॥

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम्।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि॥ ३४॥

दान, तपस्या और इष्ट (अग्निष्टोमादि यज्ञ), पूर्त्त (वापी, कूप और जलाशय खुदवाना) आदि सकाम कर्मोंके फल एवं प्रवासमें स्थित व्यक्तिके विपत्तिकालीन धर्म अर्थात् कर्त्तव्यका भी वर्णन कीजिये॥ ३४॥

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः।
संप्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ॥ ३५॥

हे निष्पाप! कृपया हमें यह भी बतलाइये कि समस्त धर्मोंके मूल कारण भगवान् श्रीजनार्दन किसके द्वारा सन्तुष्ट होते हैं और किसपर अनुग्रह करते हैं॥ ३५॥

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणाञ्च द्विजोत्तम।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः॥ ३६॥

हे द्विजश्रेष्ठ! परदुःखदुखी गुरुजन बिना पूछे जानेपर भी अपने अनुगत शिष्यों एवं पुत्रोंको उनके हितकारक कर्त्तव्यके विषयमें उपदेश दिया करते हैं॥ ३६॥

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥ ३७॥

हे मुने! आपने जिन महत् आदि तत्त्वोंका वर्णन किया है, उनका कितने प्रकारका प्रलय होता है? (राजाके शयन करनेपर चामरधारी सेवक जिस प्रकार राजाकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार) प्रलयकालमें परमेश्वरके योगनिद्रामें शयन करनेपर कौन उनकी सेवा करते हैं और कौन उनके पश्चात् सोते हैं? इन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ३७॥

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च।
ज्ञानञ्च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्य-प्रयोजनम्॥ ३८॥

जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप, उन दोनोंका आंशिक ऐक्य एवं उपनिषदोंका प्रतिपादित-ज्ञान—जो गुरु और शिष्यके लिए प्रयोजनीय है, उसका भी वर्णन कीजिये॥ ३८॥

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव च॥ ३९॥

हे निष्पाप! सद्गुरुके आनुगत्यके बिना व्यक्तिको अपने-आप ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्य कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः

निरपराध विद्वान भक्तोंने परतत्त्वके ज्ञानके जो समस्त साधन बतलाये हैं, वे सब भी हमें सुनाइये॥ ३९॥

एतान् मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः॥ ४०॥

हे महर्षि! मैं अविद्याग्रस्त हूँ तथा माया-मोहके द्वारा मेरी विचार-दृष्टि नष्ट हो गयी है, अतएव श्रीहरिकी लीलाओंको जाननेकी इच्छासे ही मैंने आपसे बन्धुभावसे ये सब प्रश्न पूछे हैं। आप कृपापूर्वक मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये॥ ४०॥

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि॥ ४१॥

हे पुण्यमय महर्षि मैत्रेय! भगवत्-तत्त्वके उपदेश द्वारा जीवोंको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर अभय प्रदानकर देनेसे जो पुण्य-यश प्राप्त होता है, समस्त वेदोंके अध्ययन, समस्त यज्ञ, तपस्या और दानसे होनेवाला पुण्य उसके एक अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच—

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह॥ ४२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! इस प्रकार जब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने प्रश्न पूछे, तो पुराणविद् मुनिश्रेष्ठ मैत्रेयजी भगवान्‌के गुण-कीर्त्तनकी प्रेरणा प्राप्तकर अतिशय आनन्दित हो उठे और मन्द-मन्द मुस्कानके साथ कहने लगे—॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीविदुरप्रश्नो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

गर्भोदकशायी विष्णुकी नाभिसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पुरुवंश अति पवित्र होनेके कारण साधुओंके द्वारा सेवनीय है, क्योंकि आप परमभागवत लोकपाल यमराज होकर भी इसी वंशमें उत्पन्न हुए हैं। आप अजित भगवान् श्रीहरिकी कीर्त्तिमयी लीलाओंको प्रत्येक क्षण नवनवायमान रूपमें आस्वादनके योग्य करते रहते हैं॥ १॥

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं
यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः॥ २॥

जो मनुष्य तुच्छ विषयसुखकी प्राप्तिके लिए महादुःखरूपी समुद्रमें डूब रहे हैं, उनके दुःखोंकी निवृत्तिके लिए अब मैं श्रीमद्भागवत महापुराणका कीर्त्तन आरम्भ कर रहा हूँ। स्वयं-भगवान् श्रीसङ्कर्षणने इस पुराणको सनत्कुमार आदि ऋषियोंको सुनाया था॥ २॥

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन्॥ ३॥

किसी एक समय तत्त्ववस्तुकी जिज्ञासासे सनत्कुमार आदि ऋषियोंने पाताल-लोकमें जाकर वहाँपर विराजमान अखण्ड-ज्ञानसे सम्पन्न, आदिपुरुष भगवान् श्रीसङ्कर्षणसे उनके प्रभु परम पुरुषोत्तम श्रीवासुदेवके तत्त्वको जाननेकी अभिलाषासे प्रश्न पूछे थे॥ ३॥

स्वमेव धिष्ण्यं बहुमानयन्तं
यद्वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोषमीष-
दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय॥ ४॥

उस समय श्रीसङ्कर्षणदेव अपने आश्रयस्वरूप तथा वेदोंके द्वारा निरूपित भगवान् श्रीवासुदेव नामक परमानन्दमय स्वरूपको ध्यानपथमें अनुभवकर बहुत सम्मानपूर्वक उनकी मानसी पूजा कर रहे थे। किन्तु सनत्कुमार आदि ऋषियोंके कल्याणके लिए उन्होंने अपने अन्तर्मुखी किये हुए कमलके समान नेत्रोंको थोड़ा-सा खोल लिया॥ ४॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेम-नानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५॥

सनत्कुमारादि ऋषिगण श्रीमद्भागवतको श्रवण करनेके उद्देश्यसे सत्यलोकसे गङ्गाके माध्यम द्वारा पातालमें आये थे। इसलिए उन्होंने गङ्गाजलसे भीगी हुई अपनी जटाओंके द्वारा भगवान् सङ्कर्षणकी उस चरणकमलोंकी चौकीको प्रणाम करते हुए प्रश्न किया, जिस चौकीकी नागराजकी कन्याएँ अभिलषित पतिकी कामनासे प्रेमपूर्वक नाना प्रकारकी पूजा-सामग्रियोंसे पूजा करती हैं॥ ५॥

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६॥

सनत्कुमार आदि ऋषिगण श्रीभगवान्‌की लीला-चरितावलीसे पूर्ण रूपसे परिचित थे, अतएव वे प्रेमपूर्ण गद्‌गद वचनोंसे उन लीलाओंका बार-बार वर्णन करने लगे। उस समय भगवान् सङ्कर्षणदेवके हजारों मुकुटोंमें जड़ित उत्कृष्ट रत्नोंकी किरणोंसे उनके हजारों उन्नत फण उद्भासित होने लगे॥ ६॥

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय॥ ७॥

हे विदुरजी! भगवान् सङ्कर्षणदेवने इस भागवत-पुराणको निवृत्तिपरायण सनत्कुमारादि ऋषियोंको सुनाया था। तदनन्तर व्रतपरायण 'सांख्यायन' नामक ऋषिके द्वारा प्रश्न किये जानेपर सनत्कुमारने उन्हें भागवत सुनायी थी॥ ७॥

सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च॥ ८॥

परमहंसोंमें श्रेष्ठ सांख्यायन मुनिने भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन करनेकी इच्छासे इस श्रीमद्भागवतको अपने एकान्त अनुगत शिष्य हमारे गुरुदेव पराशर मुनिको तथा बादमें बृहस्पतिजीको भी सुनाया था॥ ८॥

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम्।
सोऽहं तवैतत् कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय॥ ९॥

परम कारुणिक महर्षि पराशरने पुलस्त्य मुनिसे वर प्राप्तकर कृपापूर्वक यह सनातन भागवत-पुराण मुझे सुनाया था। हे वत्स! तुम अति श्रद्धावान हो और मेरे नित्य अनुगत हो, अतएव मैं उसी श्रीमद्भागवतको तुम्हें सुना रहा हूँ॥ ९॥

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्-
यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत्
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः॥ १०॥

सृष्टिके पूर्व जिस समय यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयजलमें डूबा हुआ था, उस समय अद्वयतत्त्व भगवान् श्रीनारायणने (मायाके प्रति ईक्षण परित्यागपूर्वक) अपनी स्वरूप-शक्ति सहित स्वरूपानन्दमें अनन्त शय्यापर शयनकर निष्क्रिय और निश्चेष्ट भावसे अपने दोनों नेत्र मूँदे हुए थे॥ १०॥

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुनिरुद्धवीर्यः॥ ११॥

जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार श्रीभगवान् त्रिभुवन स्थित समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको अपने शरीरमें लीन करके अपने आधारभूत उस एकार्णव-जलमें शयन किये हुए थे। पुनः सृष्टिकाल आनेपर भगवान्ने उन जीवोंको जगानेके लिए अपनी कालशक्तिको प्रेरित किया॥ ११॥

चतुर्युगानाञ्च सहस्रमप्सु
स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान् ददृशे स्वदेहे॥ १२॥

इस प्रकार भगवान्ने अपनी स्वरूपभूता चित्-शक्तिके साथ एक हजार चतुर्युग तक योगनिद्रामें शयन किया। तत्पश्चात् प्रलयकालके अन्तमें भगवान्के द्वारा नियुक्त उनकी कालशक्तिने जीवोंके कर्मोंकी प्रवृत्तिके लिए प्रेरितकर उन्हें समस्त सृष्टिकर्मके सम्बन्धमें अवगत कराया तथा उन्होंने अपनी देहमें चौदह-भुवनको लीन हुए देखे॥ १२॥

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्॥ १३॥

लोकसृष्टिके उद्देश्यसे जिस समय भगवान्‌की दृष्टि अपनेमें निहित जीवोंके लिङ्गशरीरपर पड़ी, तब वह सूक्ष्मतत्त्व कालाश्रित रजोगुणसे क्षोभित होकर सृष्टिरचनाके लिए उनके नाभिदेशसे बाहर निकला॥ १३॥

स पद्मकोषः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत् सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥ १४॥

भगवान् श्रीविष्णुकी इच्छासे ही जीवोंके अदृष्ट अर्थात् कर्मको प्रकाशित करनेवाले कालके द्वारा प्रेरित वह सूक्ष्म पदार्थविशेष कमलकोषके आकारमें परिणत हो गया। फिर वह अपनी सूर्यके समान कान्तिसे प्रलयकालीन विशाल जलराशिको देदीप्यमान करता हुआ सहसा आविर्भूत हुआ॥ १४॥

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम्।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥ १५॥

हे विदुर! उस सर्वलोकमय कमलमें समस्त गुण-कार्यों अर्थात् जीवके भोग्य स्वर्ग और नरक आदिको प्रकाशित करनेवाले गर्भोदशायी भगवान् श्रीविष्णु अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट हो गये। श्रीविष्णुके द्वारा अधिष्ठित इस कमलसे विधाता अर्थात् सृष्टिकर्त्ता और सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाले वेदमूर्त्ति ब्रह्माजी आविर्भूत हुए। स्वयं आविर्भूत होनेके कारण लोग उन्हें 'स्वयम्भू' कहते हैं॥ १५॥

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः।

परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि॥ १६॥

कमलकोषसे आविर्भूत होकर ब्रह्माजी उस पद्मकी कर्णिकारूप गद्दीपर बैठ गये, परन्तु तथापि उन्हें कहीं कोई लोक दिखलायी नहीं दिया। तब वे उसी स्थानपर बैठकर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर लोकोंको देखनेके लिए दृष्टिपात करने लगे। इस प्रकार अपनी गर्दनको चारों दिशाओंमें घुमानेसे ब्रह्माजीके चार मुख हो गये॥ १६॥

तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात् सलिलाद्विरूढम्।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमध्वाविददादिदेवः ॥ १७॥

यद्यपि आदिदेव ब्रह्माजी प्रलयवायुके वेगसे कम्पित भँवरयुक्त जलराशिमें उत्पन्न कमलपर बैठे हुए थे, तथापि ब्रह्माजी न तो उस पद्मस्वरूप अपने अधिष्ठानके उद्गम-तत्त्वके रहस्यको जान पाये, न सृष्टि-तत्त्वको और न ही आत्म-तत्त्व अर्थात् स्वयंको॥ १७॥

क एष योऽसावहमब्जपृष्ठे
एतत् कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम्॥ १८॥

वे विचार करने लगे—इस कमलकी कर्णिकामें बैठा हुआ मैं कौन हूँ? जलमें कहाँसे यह एकमात्र पद्म उत्पन्न हुआ है? निश्चय ही इसके नीचे कुछ आधार होना चाहिये, जिसपर यह पद्म अवस्थित है॥ १८॥

स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः॥ १९॥

इस प्रकार विचार करके ब्रह्माजी उस कमलनालके छिद्रसे होकर प्रलयजलमें प्रवेश कर गये, परन्तु कमलनालके आधारको खोजते-खोजते उसके आधारस्वरूप श्रीनारायणके नाभिदेशके निकट पहुँचकर भी वे कुछ न जान पाये॥ १९॥

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत् सुमहांस्त्रिनेमिः।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः॥ २०॥

हे विदुर! जो काल भगवान् श्रीविष्णुके सुदर्शनचक्रके रूपमें देहधारी मनुष्योंको घोर अज्ञानके अन्धकारसे भयभीत करके उनकी परमायुको पूर्ण रूपसे क्षीण करता है, अपनी उत्पत्तिके कारणको खोजनेमें लगे हुए ब्रह्माजीके लिए भी वही दिव्य सौ वर्षोंका अन्तिम काल आकर उपस्थित हो गया॥ २०॥

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१॥

तत्पश्चात् अपने अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिमें विफल-मनोरथ होकर ब्रह्माजी पुनः अपने अधिष्ठानस्वरूप कमल-कर्णिकापर लौट आये तथा उन्होंने अन्तर्मुख-वृत्तिके द्वारा क्रमशः प्राणवायुको जीत लिया और भगवान्‌के ध्यानके द्वारा एकाग्रचित्त होकर समाधिमें स्थित हो गये॥ २१॥

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम्॥ २२॥

दिव्य सौ वर्षों तक योगानुष्ठानके द्वारा ब्रह्माजीने भगवत्-तत्त्वज्ञान प्राप्त किया। पहले बहुत समय तक खोज करनेपर भी वे जिनका

दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे, इस समय उन्होंने उन्हें ही अपने हृदयमें स्वयं प्रकाशित होते देखा॥ २२॥

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।
फणातपत्रायुतमूर्द्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३॥

ब्रह्माजीने देखा कि प्रलयकालीन जलमें कमलनालके समान गौरवर्ण और विशालकाय शेषनागके शरीररूपी शय्यापर एक पुरुष शयन किये हुए हैं। उस शेषनागके फण छत्रके समान उन पुरुषके ऊपर फैले हुए थे तथा उनके असंख्य फणोंपर स्थित मणियोंकी प्रभाके द्वारा प्रलय-समुद्रके जलका अन्धकार दूर हो रहा था॥ २३॥

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः॥ २४॥

वे परमपुरुष अपने निरूपम लावण्यसे मरकत शिलाओंसे युक्त पर्वतकी शोभाका तिरस्कार कर रहे थे। मरकत पर्वतके प्रान्तदेशमें छाये हुए सायंकालके पीले-पीले चमकीले मेघोंके द्वारा परिधेय वस्त्रोंके रूपमें मरकत पर्वतकी शोभाका विस्तार करनेपर भी वह उन पुरुषके पीताम्बरकी शोभासे पराभूत हो रहे थे। विचित्र सुवर्णमय शिखरोंसे उस मरकत पर्वतकी जैसी शोभा विस्तार होती है, उन पुरुषके सिरपर स्थित मुकुटमें जड़ित रत्न उनसे भी अधिक शोभा प्रकाशितकर उस मरकत पर्वतकी शोभाको फीका कर रहे थे। मरकत पर्वतपर स्थित रत्न, जलधारा, औषधि और पुष्पोंकी वनमालाके रूपमें; वेणु-दण्डकी बाहुके रूपमें और वृक्षोंकी चरणोंके रूपमें कल्पना करनेपर उस पर्वतकी जो रमणीयता है, वह भी उन विराट्मूर्त्ति भगवान्की रत्नमाला, मुक्तामाला, तुलसीमाला, पुष्पमाला, भुजाओं एवं चरणोंकी शोभाके द्वारा तिरस्कृत हो रही थी॥ २४॥

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ २५ ॥

उन पुरुषका श्रीविग्रह लम्बाई-चौड़ाईमें असीम था तथा उसमें स्वर्ग, मर्त्त्य एवं पाताल—ये तीनों लोक विराजित थे। उनका श्रीविग्रह स्वतः ही नाना प्रकारके अपूर्व वस्त्रों एवं आभूषणोंकी शोभाको सुशोभितकर परम सौन्दर्य प्रदर्शन करनेवाला था। अतः उन्होंने मानो उन अलङ्कारोंकी शोभाको बढ़ानेके लिए ही उन्हें धारण किया हुआ था॥ २५ ॥

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम्।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६ ॥

वे विराट् पुरुष कृपापूर्वक अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए वेदोक्त विशुद्ध भक्तिमार्ग द्वारा पूजा करनेवाले भक्तजनोंको उनकी सेवोपयोगी वाञ्छाको पूर्ण करनेके लिए कल्पतरुके समान अपने सहस्र चरणकमलोंमेंसे एक चरणकमलको किञ्चित् उठाकर प्रदर्शित कर रहे थे। उनके उस चरणकमलके नखचन्द्रकी किरणोंसे उद्भासित उनके मनोहर अङ्गुलि-दलरूप पत्रोंकी भी अतिशय शोभा हो रही थी॥ २६ ॥

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा॥ २७॥

वे पुरुष सेवकोंके दुःखको विनाश करनेवाले मन्दहास्यसे युक्त, उज्ज्वल कुण्डलोंसे विभूषित, बिम्बफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति, सुन्दर नासिका एवं दोनों भौहोंसे सुशोभित मुखकमलके द्वारा अपने सेवकोंका अभिनन्दन कर रहे थे॥ २७॥

कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८ ॥

हे वत्स विदुर! ब्रह्माजीने देखा कि उनका नितम्बदेश कदम्ब-कुसुमकी केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला द्वारा विभूषित हो रहा था। उनका वक्षःस्थल सुनहरी रेखावाले श्रीवत्सचिह्न एवं उस वक्षःस्थलके प्रियस्वरूप बहुमूल्य हारोंसे सुशोभित हो रहा था॥ २८॥

परार्द्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ २९ ॥

वे विराट् पुरुष महाचन्दन वृक्षके समान विराजित थे। महामूल्य केयूरादि और उत्तम-उत्तम मणियोंके द्वारा सुशोभित उनके अनन्त विशाल भुजदण्ड ही मानो उस वृक्षकी सहस्रों शाखाएँ थीं। जिस प्रकार चन्दन-वृक्षका मूलदेश अव्यक्त रहता है, उसी प्रकार उनके भी मूल अर्थात् अधोभागमें अव्यक्त प्रकृति विराज रही थी। (अथवा वे ही सबके मूल होनेके कारण उनका अन्य कोई मूल नहीं था)। चन्दनके वृक्षोंमें जिस प्रकार बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उन पुरुषके कन्धोंको नागराज अनन्तदेवके फणोंने लपेट रखा था॥ २९॥

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३० ॥

अथवा, वे विराट् पुरुष महापर्वतके समान विराजमान थे। पर्वत जिस प्रकार चराचर प्राणियोंका आवासस्थान होता है, विराट् पुरुषकी देह भी उसी प्रकारसे चराचर समस्त प्राणियोंका आश्रयस्थान है।

पर्वतपर सर्पोंके वासके कारण उसे 'सर्पबन्धु' कहा जाता है, उसी प्रकार भगवान् भी नागराज अनन्तके बन्धु हैं। मैनाक आदि प्रधान-प्रधान पर्वत जिस प्रकार समुद्रके जलमें निमग्न रहते हैं, वे भगवान् भी उसी प्रकार प्रलय-समुद्रके जलसे आवृत रहते हैं। जिस प्रकार प्रधान पर्वतोंके शिखर आदि स्वर्णवर्णके होते हैं, उसी प्रकार उन भगवान्‌के सहस्रों मुकुट स्वर्ण-शिखरोंके रूपमें शोभित हो रहे थे। जिस प्रकार पर्वतके गर्भसे कहीं-कहीं रत्न आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार उनकी भी श्रीमूर्त्तिमें स्पष्ट रूपसे दृश्यमान कौस्तुभमणि विराजित थी॥ ३०॥

निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम्।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१ ॥

श्रीब्रह्माजीने देखा कि पर्वतके समान उन भगवान् श्रीहरिके कण्ठदेशमें उनकी अपनी कीर्त्तिमयी वनमाला विराजमान थी। वेदरूप मधुकरोंके समूह अपनी गुञ्जारसे उस मनोहर वनमालाकी शोभाका विस्तार कर रहे थे। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि अपनी-अपनी कार्य-क्षमताके द्वारा उन पुरुषकी धारणा भी नहीं कर सकते। जिन युद्ध-अस्त्रोंकी कान्तिसे तीनों भुवन व्याप्त हैं और जो अस्त्र उपासकोंकी रक्षाके लिए चारों दिशाओंमें बाधा रहित होकर धावित हो रहे हैं, संग्राममें प्रयोजनीय उन सुदर्शनचक्र आदि आयुधोंने भगवान्‌को दुष्प्राप्य कर रखा था॥ ३१॥

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः॥ ३२॥

जगत्-विधाता ब्रह्माजीने जब प्रजासृष्टि करनेकी इच्छासे दृष्टिपात किया, तब गर्भोदकशायी पुरुषके नाभि-सरोवरमें स्थित अपने कारण

अर्थात् अपने उत्पत्ति-स्थल पद्मको, स्वयंको तथा अपने चारों ओर प्रलयकालीन वायु, जल और आकाश—इन पाँच ही पदार्थोंको देखा। इसके अलावा उन्हें कुछ भी दिखलायी नहीं दिया॥ ३२॥

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३ ॥

उस समय रजोगुणसे युक्त होनेके कारण ब्रह्माजी प्रजाकी सृष्टि करना चाहते थे। किन्तु, जब उन्होंने सृष्टि-क्रियाके कारणरूपमें पूर्वोक्त नाभिपद्म आदि पाँच पदार्थोंको ही देखा, तब लोकरचनाके लिए उत्सुक होनेके कारण वे अपना चित्त भगवान् श्रीहरिमें लगाकर उन परमपूजनीय भगवान्‌की स्तव-स्तुति करने लगे॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीभगवद्दर्शनं नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

श्रीब्रह्मा द्वारा भगवान्‌की स्तुति करके उनकी कृपासे सृष्टिके लिए सामर्थ्य प्राप्त करना

श्रीब्रह्मोवाच—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद् यदुरुर्विभासि॥ १॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! बहुत समय तक उपासना करनेके बाद मैं आज आपको जान सका हूँ। अहो! देहधारी जीवोंका कैसा दुर्भाग्य है कि वे आपके तत्त्वको जान नहीं सकते। आप ही एकमात्र जाननेके योग्य पुरुष हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी पृथक् सत्ता नहीं है और जो सत्ता पृथक् रूपसे प्रतीत भी होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है। आप जो जगत्‌रूपमें बहुत रूप होकर प्रकाशित होते हैं, वह भी आपकी बहिरङ्गा प्रधानरूप मायाके गुणोंके परिणामसे ही प्रतीत होता है, अर्थात् उसमें भी सत्यता नहीं है॥ १॥

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम्॥ २॥

हे भगवन्! आपकी चित्‌शक्तिके नित्य ही प्रकाशित रहनेके कारण मायाके समस्त गुण सदा ही आपसे दूर रहते हैं। सैकड़ों अवतारोंके एकमात्र मूलकारणस्वरूप आपकी यह (गर्भोदशायी) श्रीमूर्त्ति भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिए प्रकटित हुई है तथा मैं उसीके ही नाभि-कमलसे उत्पन्न हुआ हूँ॥ २॥

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥ ३॥

हे परमपुरुष! देश, काल आदिके आवरणसे रहित आपका जो प्रकाशमय, निर्भेद, आनन्दमात्र ब्रह्मस्वरूप है, उसे मैं इस सविशेष अद्वयतत्त्वके रूपसे भिन्न नहीं देख रहा हूँ, अपितु वह ब्रह्मस्वरूप इसी अद्वयतत्त्वकी ही आंशिक प्रतीति है। हे आत्मन्! इसीलिए उपास्योंमें मुख्य, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, अतः विश्वसे भिन्न एवं जीवोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठान आपके इस अद्वितीय सविशेष रूपका ही मैं आश्रय लेता हूँ॥ ३॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥ ४॥

हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं। आपने हमारे कल्याणके लिए ही ध्यान-योगमें जिस रूपको दिखलाया है, ईश्वरको न माननेवाले कुतार्किक व्यक्ति आपके इस स्वरूपको सच्चिदानन्दमय विग्रह न मानकर मायामय कहकर अनादर करते हैं और नरकमें पतित होते हैं। मैं षड़ैश्वर्य युक्त आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ ४॥

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम्॥ ५॥

हे प्रभो! आपके शुद्धभक्त वेद अथवा श्रवणभक्तिरूप वायुके द्वारा लायी हुई आपके चरणकमलोंकी सुगन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं, अर्थात् बड़े आदरके साथ आपकी लीला-कथाएँ सुनते हैं।

आप भी अपने भक्तोंके हृदयकमलसे कभी दूर नहीं होते, क्योंकि उन्होंने आपके चरणकमलोंको परमपुरुषार्थके रूपमें स्वीकारकर उन्हें प्रेमकी डोरीसे अपने हृदयमें बाँध रखा है॥ ५॥

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥ ६॥

हे भगवन्! जब तक लोग आपके अभय प्रदानकारी चरणकमलोंको सम्पूर्ण रूपसे वरण नहीं करते, तभी तक उन्हें धन, देह और बन्धुजनोंके नष्ट हो जानेका भय, उनके नष्ट होनेपर शोक, पुनः उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा, उन सब वस्तुओंके द्वारा तिरस्कार होनेपर भी उनके लिए अत्यधिक लालसा तथा उनके पुनः प्राप्त होनेपर उनमें 'मैं और मेरेका' दुराग्रह रहता है। यह सब ही उनके दुःखोंका एकमात्र कारण है॥ ६॥

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्
सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥ ७॥

हे भगवन्! आपकी कथाएँ सब प्रकारके अमङ्गलोंको नष्ट कर देती हैं। जो व्यक्ति समस्त प्रकारके दुःखोंको शान्त करनेवाली आपकी लीला-कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनादि रूप प्रसङ्गोंसे विमुख होकर तुच्छ विषय-सुखकी आशाओंके लोभसे निरन्तर अमङ्गलजनक कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे निश्चय ही अत्यधिक भाग्यहीन हैं, क्योंकि उनकी बुद्धिको दैवने हर लिया है॥ ७॥

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युतरुषा च सुदुर्भरेण
संपश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे॥ ८॥

आह! हरिकथासे विमुख जीव भूख-प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी-गर्मी, पवन और वर्षा आदिके द्वारा तथा पुत्र, स्त्री आदि बहुत-से कारणोंसे बार-बार कष्ट पाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त असहनीय कामाग्नि और अविराम क्रोधके कारण वे दुःखी होते रहते हैं। हे उरुक्रम! इन जीवोंकी इस अवस्थाको देखकर मेरा मन बड़ा ही दुःखित होता है। हाय, हाय इनका उद्धार किस प्रकार होगा? ॥ ८ ॥

यावत् पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥ ९ ॥

हे परमेश्वर! जब तक लोग इन्द्रियभोगके विषयरूप फलोंको प्रदान करनेवाली आपकी मायासे वर्द्धित इस देहादिके भावोंको ग्रहण करते रहते हैं, अर्थात् जड़ शरीरमें 'मैं' की बुद्धि रखते हैं और अपने शुद्धस्वरूपको देहसे पृथक् रूपमें उपलब्धि नहीं करते, तभी तक अनित्य दुःखोंको प्राप्त करानेवाले एवं कर्मफलोंको उत्पन्न करनेवाले इस संसार-चक्रके निरर्थक होनेपर भी वे इससे मुक्त नहीं हो सकते॥ ९ ॥

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति॥ १० ॥

(यदि कहो कि अविवेकी व्यक्तियोंके लिए सांसारिक कष्ट सम्भव हो सकते हैं, किन्तु विवेकी व्यक्ति तो मुक्त हैं, उन्हें भक्तिकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—)हे देव! यदि साक्षात् मुनि भी आपके कथाप्रसङ्गसे विमुख हो जायें तो उन्हें भी संसार-चक्रमें फँसना पड़ता है। दिनमें उनकी इन्द्रियाँ भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे विषयोंमें व्यस्त होकर अत्यन्त क्लान्त हो जाती हैं और रात्रिके समय भी उन्हें लेशमात्र विषयसुख नहीं मिलता, क्योंकि वे बाह्य इन्द्रियोंकी

क्रियाओंसे निवृत्त होकर सोते तो हैं, किन्तु उस समय भी नाना प्रकारके असत्-विषयोंमें धावित मनोधर्मरूप स्वप्न-दर्शनके द्वारा उनकी नींद क्षण-क्षणमें भङ्ग होती रहती है। इसके अतिरिक्त अर्थसिद्धिके लिए की गयी उनकी समस्त चेष्टाएँ भी दैववश विफल होती रहती हैं॥ १०॥

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ ११॥

हे नाथ! श्रीगुरुमुखसे आपकी कथाओंको सुननेके बाद लोग आपकी सेवाप्राप्तिके मार्गको जान पाते हैं। आप भक्तियोगसे विशुद्ध हुए अपने निजजनोंके हृदय-कमलमें निश्चय ही सर्वदा विश्राम करते हैं। हे उत्तमश्लोक! भक्तगण अपनी-अपनी सिद्धदेहकी भावनाके अनुसार आपके जिन नित्य स्वरूपोंकी विशेष रूपसे भावना करते हैं, आप उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए उन-उन स्वरूपोंको प्रकट करते हैं॥ ११॥

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदिबद्धकामैः।
यत् सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा॥ १२॥

हे प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं और सभीके एकमात्र बन्धु हैं। देवतागण कामनाओं सहित नाना प्रकारके साधनोंसे आपकी उपासना करते हैं, किन्तु आप उनसे इतने प्रसन्न नहीं होते, जितने प्रसन्न आप उन भक्तोंसे होते हैं, जो अभक्तोंके लिए अप्राप्य समस्त प्राणियोंके प्रति दयाशीलता गुणसे युक्त हैं॥ १२॥

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा परिचर्यया च।

आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिदन्म्रियते न यत्र॥ १३॥

इसलिए समस्त जीवों द्वारा श्रुति और स्मृति अर्थात् वैदिक और लौकिक यज्ञादि कर्म, दान, कठोर तपस्या, व्रत एवं परिचर्याके द्वारा आपकी आराधना ही इन समस्त कर्मोंका श्रेष्ठ फल है। किसी भी कामनाके लिए किया गया धर्म उस कामनाको पूर्ण करके नष्ट हो जाता है, किन्तु आपमें अर्पित धर्मका कभी भी विनाश नहीं होता॥ १३॥

शश्वत् स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै।
विश्वोद्भवास्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय॥ १४॥

हे भगवन्! आपके स्वरूपके प्रकाशके द्वारा ही प्राणियोंका भेद-भ्रमरूपी मोह सर्वदा दूर हो जाता है। आप विद्याशक्तिके आश्रय होनेके कारण परतत्त्व हैं, अतः आपको नमस्कार है। विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयका निमित्त कारण जो बहिरङ्गा मायाका लीला-विलास है, उसी मायाके साथ आप ईक्षणादि द्वारा क्रीड़ा करते हैं। आप मायाके नियन्ता होनेके कारण परमेश्वर हैं। हम आपको पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं॥ १४॥

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥ १५॥

जो लोग प्राणत्याग करते समय विवश होकर भी आपके देवकीनन्दन इत्यादि अवतारसूचक, सर्वज्ञ, भक्तवत्सल आदि गुणसूचक और गोवर्धनधारी, कंसारि आदि लीलासूचक नामोंका केवलमात्र उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंसे तत्काल मुक्त होकर मायाके आवरणसे रहित सच्चिदानन्दस्वरूप आपको प्राप्त हो

जाते हैं। मैं (ब्रह्मा) उन जन्मरहित भगवान् (आप) की शरण लेता हूँ॥ १५॥

यो वा अहञ्च गिरिशश्च विभुः स्वयञ्च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥ १६॥

हे भगवन्! इस विश्वरूपवृक्षके रूपमें आप ही विराजमान हैं। आप स्वयं ही अपने जिस मूल अर्थात् प्रकृतिके अधिष्ठान हैं, उसी प्रकृतिको भेद करके सत्त्व, रज और तमरूप तीनगुणोंमें विभक्त होकर यथाक्रमसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिए मेरे (ब्रह्मा), अपने (विष्णु) और महादेव रूप तीन प्रधान शाखाओंमें विभक्त हुए हैं। फिर इन प्रधान शाखाओंसे मरीचि आदि मुनि एवं मनु आदि प्रजापतिरूप शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें आपका बहुत अधिक विस्तार हुआ है, अतएव भुवनाकार वृक्षस्वरूप भगवान् आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १६॥

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥ १७॥

हे विभो! जब तक लोग साक्षात् आपके द्वारा कथित भगवदर्चनरूप अपने कल्याणसे उदासीन रहते हैं एवं निषिद्ध कर्मोंमें रत रहते हैं, तब तक ही बलवान काल उन अभक्तोंकी आयुको बड़ी शीघ्रतासे काटता रहता है। वह काल भी आपका ही स्वरूप है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ॥ १७॥

यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्द्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत्।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम्॥ १८॥

हे भगवान्! द्विपरार्ध काल तक विद्यमान रहनेवाले और समस्त लोकोंके वन्दनीय सत्यलोकमें अधिष्ठित होकर भी मैं कालरूप आपसे भयभीत रहता हूँ। आपको प्राप्त करनेके लिए मैंने बहुत प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए बहुत वर्षों तक तपस्या की है। उन यज्ञादि कर्मोंके अधिष्ठाता आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १८॥

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्तविषयोऽप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नामे भगवते पुरुषोत्तमाय॥ १९॥

हे पूर्णकाम! अपनी आत्मरामताके कारण विषय-सुखसे अतीत रहकर भी आप अपने द्वारा रचित धर्म-मर्यादाके पालनके लिए स्वेच्छाक्रमसे पशु-पक्षी, देव और मनुष्य आदि योनियोंमें अपनी नित्यमूर्त्ति प्रकटित करके अनेकों प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हैं। औपाधिक धर्मके संस्पर्शसे रहित होनेके कारण आप ही पुरुषोत्तम हैं। ऐसे षडैश्वर्यशाली भगवान् आपको नमस्कार है॥ १९॥

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्द्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्॥ २०॥

हे प्रभो! आप पाँच प्रकारकी वृत्तियोंसे[१] युक्त रहनेवाली निद्राकी कारणभूत अविद्यासे कभी भी अभिभूत नहीं होते हैं, तथापि इस समय तीनों लोकोंके संस्थानरूप विश्वको अपने उदरमें विलीन करके अविवेकी, निद्रामें रत जीवोंका निद्रासुख प्रदर्शन करनेके लिए ही आपने भयानक तरङ्गोंसे विक्षुब्ध प्रलय-समुद्रके जलमें अनन्तनागकी शय्यापर लेटकर उसके कोमल स्पर्श-सुखमें निमग्न होकर निद्राको स्वीकार किया था॥ २०॥

---

[१] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥

हे स्तवनीय पुरुष! आपके अनुग्रहसे मैं आपके नाभिकमलसे प्रकट होकर और आपकी ही कृपाको प्राप्तकर सृष्टि आदि द्वारा तीनों लोकोंका उपकार करनेके लिए नियुक्त हुआ हूँ। प्रलयकालमें जब संसाररूप प्रपञ्च आपके उदरमें स्थित रहता है, उस समय आप शयन करते रहते हैं। अब आपकी योगनिद्राके विराम होनेपर आपके कमलनयन विकसित हो रहे हैं, आपको नमस्कार है॥ २१ ॥

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद् यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ॥ २२ ॥

हे भगवन्! आप ही समस्त जगत्के एकमात्र सुहृत्, आत्मा और भक्तवत्सल हैं—मैं आपके चरणोंमें प्रणत हूँ। अतः आप अपने जिस ज्ञान एवं ऐश्वर्यके द्वारा विश्वको सुखी करते हैं, मेरी बुद्धिको भी उसीसे युक्त कर दीजिये जिससे कि मैं पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान इस विश्वकी सृष्टि करनेमें समर्थ हो सकूँ॥ २२ ॥

एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलञ्च यथा विजह्याम्॥ २३ ॥

(इस प्रकार भगवान्की स्तुतिकर श्रीब्रह्मा चार श्लोकोंमें भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं—)प्रणतजनोंको वर प्रदान करनेवाले एवं भक्तवात्सल्य आदि गुणोंके अवतार वे भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिके साथ जो-जो लीलाएँ करेंगे, मेरे द्वारा उन श्रीविष्णुके आदेशसे इस विश्वसृष्टिका कार्य भी उनकी लीलाओंमेंसे एक है। वे मेरे चित्तको इस प्रकारसे

नियुक्त करें कि जिससे सृष्टि आदि कर्ममें मेरी आसक्ति न रहे और उससे उत्पन्न विषमता आदि पापोंका परित्याग करनेमें मैं समर्थ हो सकूँ॥ २३॥

नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः॥ २४॥

हे भगवन्! प्रलयकालीन जलमें सोये हुए अनन्त शक्तिसे युक्त परमपुरुष आपके नाभि-सरोवरमें उदित कमलसे विज्ञानशक्ति अर्थात् बुद्धितत्त्वका अधिष्ठाता मैं उत्पन्न हुआ हूँ और आपके विचित्ररूप इस विश्वका विस्तार कर रहा हूँ। अतएव आप ऐसी कृपा कीजिये कि वेदके अवयवरूप मेरा वाक्य-उच्चारण लुप्त न हो, अर्थात् ऋगादि भेदसे वेदोंका विस्तार मायाके प्रभावसे मुझे विस्मृत न हो जाये॥ २४॥

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः॥ २५॥

आप अपार करुणामय पुरातन पुरुष हैं। अतः आप कृपापूर्वक परम प्रेममयी मुस्कानके साथ अपने नेत्रकमलोंको खोलिये तथा इस विश्वके उद्भव और मेरे प्रति अनुग्रह करनेके लिए शेषशय्यासे उठकर सुमधुर वाणीसे मेरे विषादको दूर कीजिये॥ २५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—
स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्॥ २६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार ब्रह्माने तपस्या, उपासना और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान गर्भोदशायी पुरुषको देखा तथा यथाशक्ति मन एवं वाणीके द्वारा उनकी स्तुति करके वे थके हुए की भाँति मौन हो गये॥ २६॥

अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः।
विषण्णचेतसस्तेन कल्पव्यतिकराम्भसा॥ २७॥

लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव॥ २८॥

इसके बाद भगवान् श्रीमधुसूदनने देखा कि ब्रह्मा देव, पशु-पक्षी आदि रूप लोक-सृष्टिकी रीतिके विषयमें विज्ञान प्राप्त करनेके लिए चिन्तित तथा प्रलय-जलको देखकर अत्यन्त विषादग्रस्त हो रहे हैं। तब उनके अभिप्रायको जानकर तथा उनके मोहको दूर करनेके लिए श्रीभगवान् गम्भीर वाणीसे कहने लगे॥ २७—२८॥

श्रीभगवानुवाच—

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह।
तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्॥ २९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे वेदगर्भ! विषादके वशीभूत होकर आलस्य मत करो और सृष्टिके लिए प्रयत्न करो। तुम मुझसे जो कुछ भी याचना कर रहे हो, वह मैं पहले ही तुम्हें प्रदान कर चुका हूँ॥ २९॥

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्याञ्चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! तुम पुनः तप करो और मेरी उपासनासे सम्बन्धित विद्याका अभ्यास करो। इन दोनोंके द्वारा तुम अपने हृदयमें ही पृथ्वी आदि समस्त लोकोंको स्पष्ट रूपसे देख सकोगे॥ ३०॥

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः॥ ३१॥

इसके बाद भक्तियुक्त और समाहितचित्त हो जानेपर तुम मुझे अपनी आत्मामें और इन समस्त लोकोंमें व्याप्त देख सकोगे तथा मुझमें अपनेको, सभी लोकको तथा समस्त जीवोंको भी देख सकोगे॥ ३१॥

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्॥ ३२॥

काष्ठमें स्थित अग्निकी भाँति मैं समस्त प्राणियोंमें अवस्थित हूँ। जिस समय जीव मुझे इस भावसे देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मोहको त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ३२॥

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥ ३३॥

जिस समय लोग पृथ्वी आदि पञ्चभूत, इन्द्रिय, सत्त्वादि गुण और विषयोंसे पूर्णतया मुक्त शुद्ध जीवात्माको अपने आश्रयस्वरूप मेरे साथ अभिन्न रूपमें दर्शन करते हैं, तभी वे स्वस्वरूप अर्थात् श्रीकृष्ण-दास्यरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं।॥ ३३॥

नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान् मदनुग्रहः॥ ३४॥

हे ब्रह्मा! तुमने नाना प्रकारके कर्मोंका विस्तार करते हुए अनेक प्रकारकी प्रजा-सृष्टि करनेकी इच्छा की है, इससे तुम्हारा चित्त खिन्न नहीं होगा, क्योंकि सब समयके लिए ही तुमपर मेरा अत्यधिक अनुग्रह है॥ ३४॥

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते॥ ३५॥

तुम ही सर्वप्रथम ऋषि हो, क्योंकि प्रजाकी सृष्टि करनेके इच्छुक होनेपर भी तुम्हारा मन मुझमें लगा रहता है। अतः तुम पापमय रजोगुणसे भयभीत मत होओ, वह तुम्हें बाँध नहीं सकेगा॥ ३५॥

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम्।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः॥ ३६॥

मैं देहधारी जीवोंके लिए दुर्ज्ञेय हूँ, तथापि आज तुमने मुझे जान लिया है। इसका कारण है कि तुमने मेरे सविशेष रूपको पञ्चभूत, इन्द्रियों, सत्त्वादि मायिक गुणों और अहङ्कारसे रहित अनुभव किया है॥ ३६॥

तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः॥ ३७॥

जिस समय कमलनालके छिद्र-पथ द्वारा जलके अन्दर प्रवेश करके उस नालके मूलको खोजते-खोजते तुममें मेरे विषयमें 'अस्ति', 'नास्ति' रूप (अर्थात् मैं हूँ या नहीं हूँ) संशय हुआ था, उसी समय मैंने तुम्हारे हृदयमें अपने स्वरूपको दिखलाया था॥ ३७॥

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः॥ ३८॥

हे ब्रह्मन्! तुमने जीवोंके लिए मङ्गल-स्वरूप मेरी कथाओंके वर्णन द्वारा जो स्तुति की है, तथा मुझे जाननेके लिए तपस्यामें तुमने जो एकाग्रता दिखलायी है, तुम्हारा वह सामर्थ्य मेरी कृपासे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा जानना॥ ३८॥

प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन्॥ ३९॥

हे ब्रह्मन्! लोक-सृष्टिकी इच्छासे तुमने प्राकृतलोगोंकी भोगदृष्टिमें गुणमय प्रतीत होनेवाले मेरे अप्राकृत गुणमय भगवत्-स्वरूपकी जो अप्राकृत गुणों तथा निर्गुण (प्राकृत गुण रहित) रूपसे स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। अतः मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मङ्गल हो॥ ३९॥

य एतेन पुमान् नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत्।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः॥ ४०॥

जो लोग नित्यप्रति तुम्हारे द्वारा रचित इस स्तोत्रके द्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेंगे, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तथा सभीको वर प्रदान करनेवाला मैं उनपर शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा॥ ४०॥

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्॥ ४१॥

हे ब्रह्मन्! जलाशय-खननादि कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग और समाधि द्वारा लोगोंको जो फल प्राप्त होता है, वह फल तो मेरे प्रति प्रीतिसे ही प्राप्त हो जाता है—यही तत्त्वदर्शी साधुओंका मत है॥४१॥

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥४२॥

हे विधाता (ब्रह्मा)! मैं आत्माओंका भी आत्मा हूँ, इसलिए प्राणियोंके लिए स्त्री-पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओंसे भी अधिक प्रियतम एवं निर्दोष हूँ। मेरे लिए ही देहादिके प्रति प्रियभाव उदित होता है (अर्थात् यह देह श्रीकृष्णकी सेवामें नियुक्त होनेके उपयोगी है, अन्यथा देहप्रीति तो केवल देहसुखमात्र है)। अतएव मुझसे ही प्रेम करना कर्त्तव्य है॥४२॥

सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥४३॥

हे ब्रह्मन्! मैं ही तुम्हारा कारण हूँ अर्थात् तुम मुझसे ही प्रकट हुए हो। अतएव सर्ववेदमय स्वरूप तुम अन्योंकी अपेक्षासे रहित होकर पूर्व-पूर्वकल्पकी भाँति मुझमें लीन प्रजाओं एवं त्रिलोकीको प्रकाशित करो॥४३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे॥४४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रकृति और जीवके ईश्वर गर्भोदकशायी पुरुषावतारने जगत्स्रष्टा ब्रह्माके समक्ष इस प्रकारसे सृष्टिविषयक ज्ञान प्रकाशित करके अपने नारायण स्वरूपको अन्तर्हित कर लिया॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पाद्मोद्भवे श्रीब्रह्मस्तवो नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

कालके लक्षण और दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

श्रीविदुर उवाच—

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे महर्षि! भगवान् श्रीनारायणके अन्तर्धान हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह श्रीब्रह्माने अपनी देह और मनसे कितने प्रकारकी प्रजाकी सृष्टि की?॥ १॥

ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम।
तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्॥ २॥

हे भगवन्! आप विज्ञजनोंमें श्रेष्ठ पुरुष हैं। मैंने पहले भी आपसे जिन समस्त विषयोंको पूछा है, उन सबका क्रमपूर्वक वर्णन कीजिये और मेरे समस्त प्रकारके संशयोंको दूर कीजिये॥ २॥

श्रीसूत उवाच—

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौशारविर्मुनिः।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव॥ ३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे भृगुनन्दन श्रीशौनक! विदुरजीके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर महर्षि मैत्रेय अति प्रसन्न हुए और अपने हृदयमें स्थित उन प्रश्नोंका यथाक्रमसे उत्तर देने लगे॥ ३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः॥ ४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्राकृत जन्मरहित श्रीभगवान्ने जिस प्रकारसे उपदेश प्रदान किया था, ब्रह्माने भी तदनुसार ही एक

सौ दिव्य वर्षों तक भगवान्‌में मनको अभिनिविष्ट करके तपस्या की थी॥ ४॥

तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम्॥ ५॥

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा॥ ६॥

इसके बाद कमलयोनि ब्रह्माजीने देखा कि वे जिस कमलपर बैठे हैं, वह कमल और उसका आधारस्वरूप जल प्रलयकालीन प्रबल वायुके वेगसे कम्पित हो रहा है। उस समय ब्रह्माजी अपनी वर्द्धित तपस्या और हृदयमें स्थित आत्म-ज्ञानके द्वारा प्रचुर विज्ञानबलसे सम्पन्न हो गये थे, अतः उन्होंने प्रलय जलके साथ इस प्रबल वायुका भी पान कर लिया॥ ५-६॥

तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥ ७॥

श्रीब्रह्मा जिस कमलपर बैठे थे, उसे आकाशव्यापी अर्थात् सत्यलोक तक विस्तृत देखकर उन्होंने विचार किया कि 'मैं इस कमलके द्वारा ही पूर्वकल्पमें विलीन हुए लोकोंकी रचना करूँगा॥'७॥

पद्मकोषं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा॥ ८॥

तदनन्तर श्रीभगवान्‌के द्वारा सृष्टि-रचनारूप कर्त्तव्य-कार्यमें नियुक्त ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और चौदह भुवन या उससे भी अधिक लोकोंके रूपमें विभक्त होने योग्य उस एक कमलको ही भूः, भुवः एवं स्वः रूप त्रिभुवनमें विभक्त कर दिया॥ ८॥

एतावान् जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ॥ ९॥

इस भूः, भूवः और स्वः रूप त्रिलोकीका ही शास्त्रोंमें ब्रह्माके प्रत्येक दिनमें सृष्ट जीवोंके भोग-स्थानके रूपमें वर्णन हुआ है। जो

निष्काम कर्म करनेवाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्यलोकरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है जो प्रतिदिन सृष्ट नहीं होते हैं॥ ९॥

श्रीविदुर उवाच—

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो॥ १०॥

श्रीविदुरने कहा—हे प्रभो! परम अद्भुत लीलामय तथा अनेक रूपोंमें विद्यमान श्रीविष्णुके 'काल' नामक जिस स्वरूपकी बात आपने कही है, कृपया हमारे समक्ष उस काल स्वरूपका यथावत् वर्णन कीजिये॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—जिससे गुणोंका महत्-तत्त्वादि रूपमें परिणाम व्यक्त होता है, वही 'काल' है। यह काल अनादि और अनन्त है। भगवान् लीलावशतः इसी कालको निमित्त बनाकर अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिके कार्यस्वरूप 'आत्म' शब्दवाच्य विश्वकी सृष्टि करते हैं॥ ११॥

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥ १२॥

विष्णुकी सृष्टि आदि शक्तियोंके साथ यह विश्व पहले ब्रह्म अर्थात् विष्णुमें ही तादात्म्य रूपमें लीन था। वही विश्व पुनः अव्यक्तस्वरूप ईश्वरके प्रभावरूपी कालके द्वारा पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ है॥ १२॥

यथेदानीं तथा चग्रे पश्चादप्येतदीदृशम्॥ १३॥

यह विश्व इस समय जैसा है, महाप्रलयके पहले भी यह ऐसा ही था और फिर प्रलयके बादमें भी ऐसा ही रहेगा॥ १३॥

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः॥ १४॥

इस विश्वकी सृष्टि नौ प्रकारकी होती है तथा प्राकृत और वैकृतके भेदसे इसकी एक दसवीं सृष्टि भी है। इस दसवीं सृष्टिका काल, द्रव्य और गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका प्रलय निरूपित हुआ है। (केवल कालके कारण नित्य प्रलय, सङ्कर्षणकी मुखाग्निरूप द्रव्यके द्वारा नैमित्तिक प्रलय और स्व-स्व कार्य-ग्रासकारी गुणोंके द्वारा प्राकृतिक प्रलय होती है)॥ १४॥

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः॥ १५॥

नौ प्रकारकी सृष्टिमें महत्-तत्त्वकी उत्पत्ति प्रथम सृष्टि है। यह महत्-तत्त्व परमेश्वरकी प्रेरणासे सत्त्वादि गुणोंमें विषमता उत्पन्न करता है। दूसरी सृष्टि अहङ्कारकी है—इससे पृथ्वी आदि पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रिय, देवता और मन तथा कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है॥ १५॥

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः॥ १६॥

तीसरी सृष्टि भूतसर्गकी है जिसमें पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतोंको उत्पन्न करनेवाले पञ्चतन्मात्र रूप सूक्ष्मभूत रहते हैं। ज्ञान और कर्मकी कारणभूत इन्द्रियोंकी सृष्टि चौथी सृष्टि है॥ १६॥

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो॥ १७॥

सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं और मनकी सृष्टि पाँचवीं है तथा परमेश्वरकी अविद्या नामक जीव मोहिनी शक्ति द्वारा रचित तमः (अज्ञान) ही छठी सृष्टि है॥ १७॥

षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः॥ १८॥

यह छह प्रकारकी सृष्टि मायाशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण प्राकृत सृष्टि कहलाती है। अब समष्टि विराट् ब्रह्मासे उत्पन्न वैकृतिक सृष्टियोंके विषयमें भी सुनो। जो भगवान् श्रीहरि अपना चिन्तन करनेवालोंके संसाररूपी सम्पूर्ण क्लेशोंको हर लेते हैं, वे ही ब्रह्माके रूपमें रजोगुणको स्वीकारकर इस जगत्की रचना रूप लीला करते हैं॥ १८॥

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषाञ्च यः।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः॥ १९॥

सातवीं सृष्टि स्थावरोंकी है। वैकृत सृष्टियोंमें यह सर्वप्रथम सृष्टि है। स्थावर छह प्रकारके हैं—वनस्पति (पुष्परहित फलवान वृक्ष—गूलर, बड़, पीपल), औषधि (फलोंके पक जानेपर जो वृक्ष मर जाते हैं, जैसे धान, गेहूँ, चना आदि), लता (जो बढ़नेके लिए किसीके आश्रयकी अपेक्षा रखती है—ब्राह्मी, गिलोय आदि), त्वक्सार (जिसकी छाल बहुत कठोर होती है—बाँस आदि), वीरुध् (एक प्रकारकी लता जो कठोर होनेके कारण बढ़नेके लिए किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा नहीं रखती), द्रुम (पुष्पोंके साथ ही फलवान् होनेवाले वृक्ष—आम, जामुन आदि)॥ १९॥

उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः॥ २०॥

वत्स! ये सभी स्थावर अपने आहारके लिए नीचेसे ऊपरकी ओर सञ्चरणशील हैं। इनकी चेतना अव्यक्त रहती है, किन्तु ये अन्दरमें ही वेदनाका अनुभव करते हैं और अव्यवस्थित परिणामादि अर्थात् जातिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं॥ २०॥

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥ २१॥

आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षी-जलचरों) की है जो अट्ठाईस प्रकारकी है। ये भविष्यत् ज्ञानसे शून्य हैं तथा तमोगुणकी अधिकताके कारण आहार, मैथुन और शयन आदिमें ही तत्पर रहते हैं। वे केवल अपनी घ्राणेन्द्रिय द्वारा अभिलषित वस्तुका ज्ञान प्राप्त

कर लेते हैं। इनमें दूरदर्शिता नहीं होती अर्थात् ये अपने हृदयमें सुख-दुःखके विषयमें अल्प चिन्ता ही कर सकते हैं॥ २१॥

गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम॥ २२॥

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून्॥ २३॥

श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः॥ २४॥

कङ्क-गृध्र-वक-श्येन-भास-भल्लक-बर्हिणः ।
हंससारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगाः॥ २५॥

हे साधुश्रेष्ठ विदुर! गाय, बकरी, भैंस, कृष्णसार मृग (काला हिरण), सुअर, नीलगाय, रुरु नामका विशेष हिरण, भेड़ और ऊँट—ये नौ प्रकारके पशु दो खुरवाले हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर (सपोद हिरण), शरभ (अरना भैंसा) और चमरी (जङ्गली गाय)—ये छह प्रकारके पशु एक खुरवाले हैं। अब पाँच नखोंसे युक्त पशुओंके विषयमें सुनो—कुत्ता, शृगाल, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बन्दर, हाथी, कच्छप, गोह—ये बारह प्रकारके पाँच नखवाले जन्तु हैं। इस प्रकार ये सत्ताईस प्रकारके स्थलचर हैं। मकर आदि जलचर हैं एवं बगुला, गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू—ये सब आकाशमें उड़नेवाले पक्षी कहलाते हैं। मगरसे उल्लू तक सभीको एक श्रेणीमें माननेसे कुल अट्ठाइस प्रकारके तिर्यग्‌की सृष्टि है॥ २२-२५॥

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥ २६॥

मनुष्योंकी जो सृष्टि है, वह नवीं है। यह सृष्टि एक ही प्रकारकी है तथा इनके आहारका प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचेकी ओर होता है। मनुष्योंमें रजोगुण ही अधिक होता है, इसलिए ये कर्मोंमें बड़े तत्पर होते हैं और दुःखकर विषयोंको ही सुखकारी मानते हैं॥ २६॥

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः॥ २७॥

हे सत्तम! यह जो (सातवीं, आठवीं, नवीं) तीन प्रकारकी सृष्टियोंके विषयमें बतलाया गया—यह वैकृत हैं। पहले जिस वैकारिक देवसृष्टिके विषयमें कहा गया है, वह प्राकृत सृष्टि है, परन्तु उससे भिन्न अर्थात् ब्रह्मा द्वारा सृष्ट देवसृष्टि वैकृत भी है। किन्तु सनत्कुमारादिकी सृष्टि प्राकृत एवं वैकृत दोनों प्रकारकी है, क्योंकि उनमें मनुष्य एवं देव दोनोंके ही गुण विद्यमान हैं॥ २७॥

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥ २८॥

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः॥ २९॥

हे विदुर! वैकारिक देव-सृष्टि भी आठ प्रकारकी है—(१) देव, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व और अप्सरा, (५) यक्ष और राक्षस, (६) सिद्ध, चारण और विद्याधर, (७) भूत, प्रेत और पिशाच, (८) किन्नर आदि। इस प्रकार विश्व-स्रष्टा श्रीब्रह्माने पहले जो दस प्रकारकी सृष्टि की थी, उसके विषयमें कहा गया है॥ २८-२९॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान् मन्वन्तराणि च।
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना॥ ३०॥

इसके बाद मैं वंश और मन्वन्तरोंके विषयमें बतलाऊँगा। श्रीहरि ही अपने अमोघ सङ्कल्पसे रजोगुणको स्वीकारकर सृष्टिकर्त्ता आत्मभू ब्रह्मा होकर स्वयं ही अपनी शक्तिके द्वारा जगत्के रूपमें स्वयंको प्रकाशित करते हैं॥ ३०॥

गुणव्यत्यय एतस्मिन् मायावित्वादधीशितुः।
न पौर्वापर्यमिच्छन्ति सृष्टे नद्यां यथा भ्रमे॥ ३१॥

जिस प्रकार नदियोंमें भँवर, बुलबुले आदि एक साथ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मायावी अर्थात् आश्चर्य शक्तिसे युक्त होनेके कारण गुणपरिवर्त्तनशील इस सृष्टिकी रचना करते हैं। पण्डितगण इसमें पूर्वापर भावकी इच्छा नहीं रखते॥[१]३१॥

देवासुरादयो नामरूपाभ्यां ये प्रकीर्त्तिताः।
अस्मिन् कल्पे त एवासन् क्षत्तर्मन्वन्तरान्तरे॥३२॥

हे विदुर! इन्द्र आदि नाम तथा सहस्रलोचन आदि रूप भेदसे इस कल्पमें जो समस्त देव-असुर इत्यादि वर्णित हुए हैं, वे ही अन्य मन्वन्तर (कल्प) में अन्यान्य नाम-रूप भेदसे थे, क्योंकि नये-नये जीवोंकी सृष्टि नहीं होती॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे तत्त्वाद्युत्पतिक्रमो नाम दशमोऽध्यायः॥

---

[१] अर्थात् महत्-तत्त्व आदि तथा ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्राणियोंकी सृष्टि दोनों ही एकसाथ हुई है।

एकादशोऽध्यायः

कालका विशेष रूपसे निरूपण

श्रीमैत्रेय उवाच—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—कार्यस्वरूप पृथ्वी आदिके सूक्ष्मतम अंश जिसका पुनः कोई अंश (विभाग) नहीं हो सकता, जो अंशकार्यावस्थाको भी प्राप्त नहीं होता तथा जो अन्यके साथ संयोग रूप समुदायवस्थाको भी प्राप्त नहीं हुआ हो, अतएव कार्य और समुदायावस्थाके दूर होनेपर भी जो विद्यमान रहता है, उसे ही परमाणुके रूपमें जाना जाता है। इन सभी परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे परमाणुके समुदायरूप जीव-देहके प्रति भ्रमवशतः मनुष्योंकी देही अर्थात् देहमें आत्मबुद्धिका उदय होता है॥ १॥

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥ २॥

जिसका सूक्ष्मतम अंश परमाणु है, उन पृथ्वी आदि कार्योंकी अवस्थामें भेद न होकर स्वरूपमें अवस्थित होनेपर उनका जो ऐक्य है, उसीका नाम परम महान है। उसमें विशेष विवक्षा और भेद-विवक्षा नहीं है, इसीलिए सारा प्रपञ्च ही 'परम महान्' शब्दवाच्य है॥ २॥

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥ ३॥

हे साधुश्रेष्ठ! इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्मतम और महतम स्वरूपका विचार हुआ। अतएव परमाणु आदि जिस प्रकारकी अवस्थाओंमें व्याप्त होकर स्थूल, सूक्ष्म और मध्यम अवस्थाको प्राप्त होते हैं, कालका भी उसी प्रकार अनुमान किया जाता है। भगवान्

श्रीहरि स्वयं अव्यक्त होकर भी अपनी शक्ति—कालके द्वारा समस्त व्यक्त प्रपञ्चका भाग करते हैं, क्योंकि वे स्वयं विभु अर्थात् व्यापक हैं, अथवा उत्पत्ति आदिके विषयमें दक्ष हैं॥ ३॥

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्॥ ४॥

जो काल प्रपञ्चकी परमाणुके समान सूक्ष्म अवस्थाका भोग करता है अर्थात् उसमें व्याप्त रहता है, उसीको अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु काल कहते हैं तथा जो काल प्रपञ्चकी सृष्टिसे प्रलय तक की सभी अवस्थाओंको भोग करता है, उसे परम महान अथवा स्थूल काल कहते हैं (अर्थात् सूर्य जब परमाणु स्थानको लाँघकर गमन करता है, वही परमाणुकाल है तथा जिस परिमाणके कालमें वह बारह राशियोंसे युक्त समग्र भुवन-कोषका अतिक्रमण करता है, वह काल ही परम महान संवत्सर काल है। उस संवत्सर कालकी अनुवृत्तिके द्वारा ही युग-मन्वन्तरादि क्रमसे द्विपरार्द्ध तक भेद होता है)॥ ४॥

अणुर्द्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥ ५॥

दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है तथा तीन अणुओंके मिलनेसे एक 'त्रसरेणु' होता है। अत्यन्त लघु होनेके कारण ये त्रसरेणु जब झरोखोंसे होकर घरमें प्रविष्ट होते हैं, तो सूर्यकी किरणोंमें प्रत्यक्ष आकाशमें उड़ते हुए दिखायी देते हैं॥ ५॥

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः सा त्रुटिः स्मृता।
शतभागस्तु वेधः स्यात् तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ ६॥

इस प्रकार तीन त्रसरेणु जितने कालका भोग करते हैं, अथवा ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है, उस अवधिका नाम त्रुटि है। (सूईके द्वारा कमलके पत्तेको छेदनेमें जितना समय लगता है, उस कालको त्रुटि कहा जाता है)। सौ त्रुटियोंकी अवधिका (त्रुटिसे सौगुणा) काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है॥ ६॥

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातास्ते त्रयः क्षणः।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च॥ ७॥

तीन लवका एक 'निमेष' होता है और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। पाँच क्षणोंकी एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठाओंका एक 'लघु' होता है—ऐसा जानो॥ ७॥

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्॥ ८॥

पन्द्रह लघुकी एक 'नाड़ी' अर्थात् दण्ड होता है। दो दण्डोंका एक मुहूर्त्त होता है और छह या सात दण्डोंका एक प्रहर होता है। यह प्रहर मनुष्योंके दिन या रात्रिका एक चौथाई भाग होता है॥ ८॥

द्वादशार्द्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत् प्रस्थजलप्लुतम्॥ ९॥

हे विदुर! 'नाड़ी' अथवा दण्डका अनुमान इस रूपमें होता है—छह पल ताँबेका एक ऐसा पात्र बनाया जाये जिसमें एक प्रस्थ[1] जल भरा जा सके और चार मासे सोनेसे बनी हुई चार अङ्गुल लम्बी शलाका द्वारा उसमें छेद करके उस बर्तनको जलमें छोड़ दिया जाये। जितने समयमें एक प्रस्थ जल उस पात्रमें भर जाये और वह पात्र जलमें डूब जाये, उतने समयको एक नाड़ी अथवा दण्ड कहा जाता है॥ ९॥

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद॥ १०॥

हे मानद विदुर! मनुष्योंके एक दिन और रात चार–चार प्रहरके होते हैं। ऐसे पन्द्रह दिनों और रातोंका एक पक्ष होता है और वह कृष्ण एवं शुक्ल भेदसे दो प्रकारका होता है॥ १०॥

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणञ्चोत्तरं दिवि॥ ११॥

---

[1] बत्तीस पलका एक प्राचीन परिमाण।

अयने अहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्॥ १२॥

इन दोनों (शुक्ल और कृष्ण) पक्षोंको मिलाकर एक मास होता है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासकी एक ऋतु और छह मासका एक अयन होता है। दक्षिणायन एवं उत्तरायण भेदसे अयन दो प्रकारका होता है। दोनों अयन मिलकर देवताओंके एक दिन-रात होते हैं। मनुष्यलोकमें ये दोनों अयन एक वर्ष या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे सौ वर्षोंकी मनुष्यकी परमायु निरूपित हुई है॥ ११-१२॥

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत्।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः॥ १३॥

चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी इत्यादि नक्षत्र एवं अन्यान्य तारोंका जो कालचक्र अर्थात् ज्योतिचक्र हैं, उसमें स्थित कालस्वरूप ईश्वरके अंश सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरकाल तक द्वादश राशियोंरूप सम्पूर्ण भुवनकोषका निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं॥ १३॥

संवत्सरः परिवत्सर इदावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते॥ १४॥

हे विदुर! सौर, बार्हस्पत्य, सावन, चान्द्र और नक्षत्रके भेदसे पाँच प्रकारके संवत्सर विख्यात हैं—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर॥ [१]१४॥

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय॥ १५॥

---

[१] जितने समयमें सूर्य, बृहस्पति और चन्द्र अपनी-अपनी गतिसे बारह राशियोंका भोग करते हैं, उस कालको क्रमशः संवत्सर, परिवत्सर और अनुवत्सर कहते हैं। नक्षत्रोंके सत्ताइस दिनमान युक्त संक्रान्त मासके बारह मास 'वत्सर' कहलाते हैं। तीस सौर दिनोंका जो सावन मास होता है, उस अवधिके बारह मास 'इदावत्सर' कहलाते हैं।

हे विदुर! पञ्चमहाभूतोंमें विशेष तेजमण्डल स्वरूप सूर्यदेव लोगोंके मोहकी निवृत्ति अर्थात् आयु क्षयके द्वारा उनकी विषयासक्तिको हटानेके लिए अन्तरीक्षमें धावमान हो रहे हैं। वे अपनी कालशक्तिके द्वारा कार्यसमूहके बीज अर्थात् मूलकारणको अङ्कुरादि उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रदानकर उसे बहुत प्रकारसे कार्योन्मुख करते हैं तथा सकाम पुरुषोंको स्वर्ग आदि फल प्रदान करनेवाले यज्ञादि कर्मोंका विस्तार करते हैं। अतः हे धार्मिक लोगो! इन पाँच प्रकारके वत्सरोंके प्रवर्त्तक काल स्वरूप ईश्वरके अंश सूर्यकी अर्घ्यादिके द्वारा पूजा करो॥ १५॥

श्रीविदुर उवाच—

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे मैत्रेय ऋषि! जिस प्रकारसे पितर, देव एवं मनुष्योंकी अपने-अपने मानमें सौ वर्षोंकी परमायु होती है, उसे आपने बतलाया है। किन्तु अब कल्प अर्थात् प्रतिदिन सृष्ट त्रिलोकीके बहिर्भागमें स्थित सनकादि एवं भृगु आदि ज्ञानियोंकी आयुका भी वर्णन कीजिये॥ १६॥

भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा॥ १७॥

हे भगवन्! आप कालरूपी ईश्वरकी गतिको भलीभाँति जानते हैं, क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति अपने योग-सिद्ध चक्षुओंके द्वारा समस्त विश्वको देख सकते हैं॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्॥ १८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चारों युगोंका इनकी अपनी सन्ध्याओं और सन्ध्यांशोंके साथ पूर्ण योग बारह हजार दिव्य (अर्थात् देवताओंके) वर्षोंके समान निरूपण किया गया है॥ १८॥

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥ १९॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलिकी अवधि यथाक्रमसे देवताओंके चार, तीन, दो और एक हजार वर्षकी होती है, तथा उससे दुगुने दिव्य सौ वर्ष उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंमें होते हैं॥[१]१९॥

सन्ध्या-सन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥ २०॥

हे विदुर! युगके प्रारम्भमें सन्ध्या होती है और अन्तमें सन्ध्यांश। इनका परिमाण यथाक्रमसे युगकी संख्याके अनुसार सैकड़ोंकी संख्यामें होता है।[२] इस सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके बीचके कालको कालवेत्ता पण्डितोंने 'युग' कहा है। प्रत्येक युगमें ध्यान-यज्ञादि एक-एक विशेष युगधर्मका विधान पाया जाता है॥ २०॥

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्द्धता॥ २१॥

सत्ययुगमें धर्म अपने चारों चरणों (तप, शौच, दया, और सत्य) पर विद्यमान होकर अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे मनुष्योंका अनुवर्त्ती होता है। त्रेता आदि युगोंमें अधर्मका एक-एक चरण बढ़ता जाता है और धर्मका क्रमशः एक-एक चरण घटता जाता है॥ २१॥

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥ २२॥

---

[१] सत्ययुगमें ४००० दिव्य वर्ष युगके और ८०० वर्ष सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके—इस प्रकार कुल ४८०० वर्ष होते हैं। इसी प्रकार त्रेतामें ३६००, द्वापरमें २४०० और कलियुगमें १२०० दिव्यवर्ष होते हैं। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है, अतः देवताओंका एक वर्ष मनुष्योंके ३६० वर्षोंके बराबर हुआ। इस प्रकार मनुष्योंकी गणनाके अनुसार कलियुगमें ४,३२,००० वर्ष हुए तथा इससे दुगुने द्वापरमें, तिगुने त्रेतामें और चौगुने सत्ययुगमें होते हैं।

[२] अर्थात् यदि सत्ययुग ४००० दिव्य वर्ष तो सन्ध्या और सन्ध्यांश ४००-४०० वर्ष, कुल ४८०० दिव्यवर्ष।

हे तात! इस त्रिलोकीके बाहर महर्लोकसे ब्रह्मलोक तक एक हजार चतुर्युगोंका एक दिन और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है। इसी रात्रिकालमें विश्वस्रष्टा ब्रह्मा शयन करते हैं॥ २२॥

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश॥ २३॥

श्रीब्रह्माकी रात्रिका अन्त होनेपर लोक-सृष्टिका कार्य पुनः आरम्भ होता है, जो चौदह मनुओं (मन्वन्तर) की जीवन-अवधि तक चलता रहता है और तभी तक भगवान् श्रीब्रह्माका दिन रहता है॥ २३॥

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्॥ २४॥

हे विदुर! प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक काल तक अपने-अपने आधिपत्यका भोग करते हैं॥ २४॥

मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः।
भवन्ति चैते युगपत् सुरेशाश्चानु ये च तान्॥ २५॥

मन्वन्तरोंमें स्वायम्भुव मनु आदि और मनुवंशीय पृथ्वी पालक राजा लोग क्रमसे उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्वादि भी एक ही समयमें उत्पन्न होते हैं॥ २५॥

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः।
तिर्यङ् नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः॥ २६॥

हे विदुर! त्रिलोकीको उत्पन्न करनेवाले श्रीब्रह्माकी यही प्रतिदिनकी सृष्टि है। इसमें अपने-अपने कर्मोंके अनुसार पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर एवं देवता जन्म लेते रहते हैं॥ २६॥

मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत् सत्त्वं स्वमूर्तिभिः।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः॥ २७॥

प्रत्येक मन्वन्तरमें श्रीभगवान् सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अपना पौरुष प्रकाशित करते हुए मन्वन्तरावतारोंके द्वारा इस विश्वकी रक्षा करते हैं॥ २७॥

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये॥ २८॥

श्रीब्रह्माकी रात्रि उपस्थित होनेपर श्रीभगवान् त्रिलोकीके संहारके लिए तमोगुणका किञ्चित् मात्र सम्पर्क स्वीकारकर कालाग्नि—रुद्रके रूपमें अपने सम्पूर्ण विक्रमको स्थगित करते हैं। उस समय तीनों लोकोंमें स्थित जीव उनमें ही लीन हो जाते हैं और वे मायिक लीलाविनोदका परित्याग करके निश्चेष्ट हो जाते हैं॥ २८॥

तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः।
निशयामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम्॥ २९॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्यसे सम्पूर्ण रूपसे रहित होनेपर भूः, भुवः और स्वः—इन तीनों लोकोंकी अवस्था अन्धकारमय हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्माकी रात्रिके उपस्थित होनेपर कालाग्नि रुद्रके पीछे-पीछे स्वयं ही तिरोहित हो जाती है॥ २९॥

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना।
यान्त्युष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः॥ ३०॥

जिस समय उक्त तीनों लोक भगवान् सङ्कर्षणके मुखसे निकली हुई अग्निरूप भगवान्‌की शक्तिसे दग्ध होने लगते हैं, उस समय इस अग्निके तीव्र तापसे पीड़ित भृगु इत्यादि महर्षि महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं॥ ३०॥

तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोप-चण्डवातेरितोर्मयः॥ ३१॥

कल्पका अन्तकाल उपस्थित होनेपर समस्त समुद्र बढ़ने लगते हैं तथा तीव्र क्षोभकारी प्रचण्ड वायुके वेगसे युक्त अपनी उत्तङ्ग तरङ्गोंसे शीघ्र ही तीनों भुवनोंको जलमग्न कर देते हैं॥ ३१॥

अन्तः स तस्मिन् सलिले आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः॥ ३२॥

उस समय भगवान् श्रीहरि प्रलय-समुद्रके जलमें अनन्त-शय्यापर नेत्र मूँदकर योगनिद्रामें शयन करते हैं और जनलोक एवं महर्लोकसे आये भृगु इत्यादि महर्षि उनकी स्तुति करते हैं॥ ३२॥

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
उपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम्॥ ३३॥

इस प्रकार कालकी गतिके द्वारा उपलक्षित एक-एक हजार चतुर्युगोंके रूपमें प्रतीत होनेवाले दिन-रातके अनुसार श्रीब्रह्माकी सौ वर्षकी परमायु भी कालधर्मसे बीती हुई-सी ज्ञात होती है॥ ३३॥

यदर्द्धमायुषस्तस्य परार्द्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्द्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते॥ ३४॥

श्रीब्रह्माकी सौ वर्षकी आयुका आधा भाग 'परार्ध' कहलाता है, जिसमें पूर्व परार्ध (प्रथम पचास वर्ष) तो बीत चुका है और दूसरा परार्ध इस समय चल रहा है॥ ३४॥

पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत्।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः॥ ३५॥

पूर्व परार्धके प्रारम्भमें ब्राह्म नामक महान कल्प हुआ था। उसी कल्पमें ब्रह्मा आविर्भूत हुए थे। पण्डितगण उन ब्रह्माको 'शब्दब्रह्म' के रूपमें जानते हैं॥ ३५॥

तस्यैवान्ते च कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम्॥ ३६॥

इस ब्राह्म कल्पके अन्तमें जो कल्प हुआ था, उसे 'पाद्मकल्प' कहा जाता है। इसी कल्पमें गर्भोदकशायी श्रीहरिके नाभि-सरोवरसे सर्वभुवन युक्त कमल उत्पन्न हुआ था॥ ३६॥

अयन्तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः॥ ३७॥

हे भारत (विदुर)! इस समय दूसरे परार्द्धका प्रारम्भिक कल्प चल रहा है। यह आदि कल्प ही 'वाराह कल्प' के रूपमें विख्यात है। इस कल्पमें भगवान् विष्णु 'वराह' मूर्त्तिमें प्रकटित हुए थे॥ ३७॥

कालोऽयं द्विपरार्द्धाख्यो निमेष उपचर्यते।
अव्याकृतस्यानन्तस्य ह्यनादेर्जगदात्मनः॥ ३८॥

इस प्रकार ब्रह्माकी आयुरूप दो परार्द्धकी अवधि—विकार-रहित, अनन्त, अनादि अर्थात् खण्डकालके अतीत सम्पूर्ण जगत्‌के कारण—परमेश्वरका एक निमेषमात्र है॥ ३८॥

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्द्धान्त ईश्वरः।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम्॥ ३९॥

हे विदुर! परमाणुसे द्विपरार्द्धकी अवधि तकका विस्तृत काल सामर्थ्यसे युक्त होनेपर भी परिपूर्णस्वरूप परमेश्वरको नियन्त्रित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यह केवल देह-गृह आदिके अभिमानी (मैं और मेरा बुद्धियुक्त) अथवा सत्यलोक आदिके अधिकारीके रूपमें अभिमानी जीवोंपर ही अपना आधिपत्य करनेमें समर्थ है॥ ३९॥

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः।
अण्डकोषो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः॥ ४०॥

प्रकृति, महत्, अहङ्कार और शब्दादि पञ्चतन्मात्ररूप आठ प्रकृतियों सहित ग्यारह इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूत रूप सोलह प्रकारके विकारों द्वारा बने हुए इस ब्रह्माण्डका भीतरी भाग पचास करोड़ योजन तक फैला हुआ है और बाहरी भाग पृथ्वी आदि सात आवरणोंसे घिरा हुआ है॥ ४०॥

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः॥ ४१॥

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः॥ ४२॥

इन सातों आवरणोंका परिमाण भी ब्रह्माण्डके परिमाणकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दस-दस गुना अधिक है। केवल यही एक ब्रह्माण्ड नहीं, अपितु इस प्रकारके कोटि-कोटि अन्यान्य ब्रह्माण्ड भी जिनमें प्रविष्ट होकर परमाणुके समान दिखायी पड़ते हैं, पण्डितगण महाविष्णुके स्वतःसिद्ध परम अंशीरूप उस तत्त्वको ही 'अक्षर' अर्थात् नित्याविर्भाव-स्वरूप ब्रह्म अथवा परिपूर्ण भगवत्तत्त्वके रूपमें वर्णन करते हैं, क्योंकि वे सर्वकारण कारणोदकशायी पुरुषावतारके भी कारण स्वरूप हैं॥ ४१-४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे कालस्वरूपकथनं नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मा द्वारा की गयी विविध प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार अब तक मैंने आपके समक्ष परमात्माके काल नामक स्वरूपके प्रभावका वर्णन किया है। अब वेदगर्भ श्रीब्रह्माने जिस प्रकारसे सृष्टि की, उसके विषयमें सुनिये॥ १॥

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्।
महामोहञ्च मोहञ्च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥ २॥

आदिकर्त्ता ब्रह्माने अपनी सृष्टिमें सर्वप्रथम जीवोंके स्वरूपको अप्रकाशित करनेवाला—तम, देहादिमें अहम् बुद्धिका आरोपरूप—मोह, भोग्य विषयोंमें ममताका आरोप—महामोह, भोगमें बाधा प्राप्त होनेपर अन्तःकरणके धर्म-स्वरूप क्रोधका सञ्चार—तामिस्र, भोग्य वस्तुके नाश होनेपर अपनी मृत्यु होनेके अभिनिवेशकी बुद्धि—अन्धतामिस्र—इन सबकी एवं अन्यान्य अज्ञानकी वृत्तियोंकी सृष्टि की॥ २॥

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यांस्ततोऽसृजत्॥ ३॥

किन्तु अपनी इस सृष्टिमें पापकी प्रचुरताको देखकर श्रीब्रह्मा अपनी ही क्रियाको अनुचित जानकर प्रसन्नताको प्राप्त नहीं कर सके। इसके बाद ब्रह्माने भगवान्के ध्यानके द्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल करके अन्यान्य सृष्टि की॥ ३॥

सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥ ४॥

तत्पश्चात् आत्मभू श्रीब्रह्माने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण, काम्यकर्मरहित तथा ऊर्ध्वरेता होनेके कारण जितेन्द्रिय मुनि उत्पन्न किये॥ ४॥

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥ ५॥

श्रीब्रह्माने अपने इन पुत्रोंसे कहा—हे पुत्रो! तुमलोग प्रजाकी सृष्टि करो। किन्तु वे सनकादि ऋषिगण तो जन्मसे ही मोक्षधर्ममें निष्ठ और भगवान् वासुदेवके ध्यानमें निमग्न थे, अतः उन्होंने प्रजा-सृष्टिकी अभिलाषा ही नहीं की॥ ५॥

सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे॥ ६॥

जब श्रीब्रह्माने देखा कि उनके पुत्र उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर रहे हैं, तो वे अपनेको अपमानित अनुभव करने लगे। इससे उनमें असहनीय क्रोध उत्पन्न हो गया, किन्तु ब्रह्माजी उस क्रोधको मनमें रोकनेकी चेष्टा करने लगे॥ ६॥

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः॥ ७॥

बुद्धिके द्वारा बहुत रोके जानेपर भी वह क्रोध तत्काल प्रजापति ब्रह्माकी दोनों भौंहोके बीचके स्थलमेंसे निकलकर एक नील-लोहित (नीले और लाल रङ्गके मिश्रित वर्णवाले) बालकके रूपमें उत्पन्न हुआ॥ ७॥

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो॥ ८॥

वे नील-लोहित देवता ही देवताओंके पूर्वज थे और बड़े शक्तिशाली थे। वे ब्रह्माके समक्ष रोते हुए कहने लगे—हे विधाता! हे जगद्‌गुरो! मेरा नाम और मेरे रहनेके स्थानका निर्देश कीजिये॥ ८॥

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन्।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत् करोमि ते॥ ९॥

उस कुमारकी यह बात सुनकर पद्मयोनि ब्रह्मा भी मधुर वाणीमें उसे सान्त्वना देते हुए कहने लगे—वत्स! रोओ मत! तुम्हारी इस वाञ्छाको मैं अभी पूर्ण कर देता हूँ॥ ९॥

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।
अतस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥ १०॥

हे सुरश्रेष्ठ! तुम जन्म लेते ही बालकके समान उत्कण्ठित होकर रोदन करने लगे, इस कारण प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी॥ १०॥

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे॥ ११॥

तुम्हारे रहनेके लिए मैंने हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र एवं तपस्या—ये समस्त स्थान पहलेसे ही रच दिये हैं॥ ११॥

मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः॥ १२॥

हे रुद्र! तुम्हारे मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव, धृतव्रत—ये ग्यारह नाम भी होंगे॥ १२॥

धीर्धृती रसलोमा च नियुत् सर्पिरिलाम्बिका।
इरावती स्वधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः॥ १३॥

धी, घृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा, दीक्षा—ये सब रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी॥ १३॥

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत् पतिः॥ १४॥

तुम इन समस्त नामों और स्थानोंको स्वीकार करो। तुम प्रजापति हो, अतएव स्त्रियोंके साथ नाम आदिसे युक्त होकर प्रजाकी सृष्टि करो॥ १४॥

इत्यादिष्टः स्वगुरुणा भगवान् नीललोहितः।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः॥ १५॥

भगवान् नीललोहित अपने गुरु श्रीब्रह्मासे ऐसी आज्ञा प्राप्तकर अपने ही समान बल, आकार और स्वभावके अनुसार प्रजा उत्पन्न करने लगे॥ १५॥

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत्।
निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत॥ १६॥

उन रुद्रसे जितने भी रुद्र उत्पन्न हुए, उन सबने असंख्य दल बनाकर संसारको ग्रास करनेकी चेष्टा की, जिसे देखकर ब्रह्माजीको बड़ी शङ्का हुई॥ १६॥

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः॥ १७॥

तब श्रीब्रह्माने रुद्रसे कहा—हे सुरश्रेष्ठ! यह प्रजा अपनी तीव्र और भयङ्कर दृष्टि द्वारा मुझे और समस्त दिशाओंको दग्ध करनेके लिए तत्पर हो रही है, अतः जगत् उत्पातकारी ऐसी प्रजाओंको उत्पन्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥ १७॥

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम्।
तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान्॥ १८॥

हे रुद्र! तुम्हारा मङ्गल हो! तुम समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिए तपस्या करो। तपस्याके प्रभावसे तुम पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान इस विश्वकी सृष्टि कर सकते हो॥ १८॥

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान्॥ १९॥

तपस्याके प्रभावसे ही व्यक्ति समस्त जीवोंकी हृदय-कन्दरामें विराजमान परम ज्योतिःस्वरूप अतीन्द्रिय भगवान् विष्णुको शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं॥ १९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम्।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम्॥ २०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार नीललोहित रुद्रने आत्मभू ब्रह्माजीसे आदेश प्राप्त करनेपर 'जो आज्ञा' कहकर उनके आदेशको शिरोधार्य किया और उनकी परिक्रमा करके तपस्याके लिए वनमें चले गये॥ २०॥

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः॥ २१॥

इसके बाद श्रीब्रह्मा सृष्टिके विषयमें विशेष रूपसे ध्यानपरायण हो गये और भगवान्‌की शक्तिको प्राप्त करके उन्होंने लोक-विस्तारके लिए दस पुत्र उत्पन्न किये॥ २१॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसो पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥ २२॥

ये पुत्र यथाक्रमसे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष एवं दसवें पुत्र नारद थे॥ २२॥

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः।
प्राणाद्वशिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः॥ २३॥

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥ २४॥

ब्रह्माजीकी गोदसे नारद, अंगुठेसे दक्ष, प्राणसे वशिष्ठ, त्वचासे भृगु, हाथसे क्रतु, नाभिसे पुलह, कानोंसे पुलस्त्य, मुखसे अङ्गिरा, दानों नेत्रोंसे अत्रि और उनके मनसे मरीचि उत्पन्न हुए॥ २३-२४॥

धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ २५॥

धर्म ब्रह्माजीके दक्षिण वक्षःस्थल (स्तन) से प्रकाशित हुआ, जहाँ भगवान् श्रीनारायण स्वयं विराजित हैं तथा अधर्म उनकी पीठसे

प्रकाशित हुआ। इस अधर्मसे ही प्राणियोंकी भयावह मृत्यु संघटित होती है॥ २५॥

हृदि कामो भ्रुवोः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात्।
आस्याद्वाक् सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः॥ २६॥

श्रीब्रह्माके हृदयसे काम, भौंहोंसे क्रोध, अधर (नीचेके होठ) से लोभ, मुखसे वाक्-रूपिणी सरस्वती, लिङ्गसे समुद्र और मलद्वारसे पापका निवासस्थान (राक्षसोंका अधिपति) निर्ऋति उत्पन्न हुए॥ २६॥

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत्॥ २७॥

ब्रह्माजीकी कान्तिसे देवहूतिके पति प्रभावशाली कर्दम ऋषिने जन्म-ग्रहण किया। इस प्रकार यह परिदृश्यमान जगत् उन विश्वस्रष्टाके मन और देहसे उत्पन्न हुआ है॥ २७॥

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥ २८॥

हे विदुर! स्वयम्भू ब्रह्माकी 'वाक्' नामकी मनोहारिणी और सुन्दरी कन्या थी। हमने सुना है कि एक बार ब्रह्माने काममें उन्मत्त होकर अपनी ही कन्याकी अभिलाषा की थी, जब कि वह कन्या कामसे रहित थी॥ २८॥

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन्॥ २९॥

तब ब्रह्माजीके मरीचि प्रमुख मुनिपुत्रोंने अपने पिताकी इस प्रकारसे अधर्ममें मति होती देखकर विनयपूर्ण वचनोंसे उन्हें समझाया॥ २९॥

नैतत् पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥ ३०॥

पिताजी! आपके पूर्व-पूर्व कल्पोंमें किसी भी ब्रह्मा अथवा अन्य किसीने इस प्रकारका कार्य नहीं किया है और न ही भविष्यमें भी

कोई करेगा। आप समर्थ होकर भी कामका दमन न करके कन्या-गमन जैसे दुस्तर पापकार्यमें प्रवृत्त हुए हैं॥ ३०॥

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते॥ ३१॥

हे जगद्गुरो! इस प्रकारका निन्दित कार्य आप जैसे तेजस्वी व्यक्तिके लिए सत्कीर्त्ति प्रदायक नहीं है, क्योंकि आपके आचरणका अनुसरण करके ही जगत्के लोगोंका पारमार्थिक कल्याण होता है॥ ३१॥

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति॥ ३२॥

(मरीचि आदिके द्वारा प्रबोधित किये जानेपर भी जब ब्रह्माका विवेक जाग्रत नहीं हुआ, तब श्रीभगवान्की कृपाके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे कभी भी काम उपशमित नहीं हो सकता—इस सिद्धान्तका स्मरण करके मरीचि आदि मुनि श्रीभगवान्के ही शरणागत हो गये और कहने लगे—)जिन्होंने अपने स्वरूपमें स्थित इस परिदृश्यमान जगत्को अपने तेजके प्रभावसे प्रकाशित किया है, उन भगवान्को नमस्कार है। इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं॥ ३२॥

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः॥ ३३॥

अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने ही सम्मुख इस प्रकारसे प्रबोधित वचनोंको कहते हुए देखकर प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माने अत्यन्त लज्जित होकर उसी समय अपने उस शरीरका परित्याग कर दिया। तब उस शरीरको समस्त दिशाओंने ले लिया। पण्डितजन उसीको अन्धकारमय कुहरेके रूपमें जानते हैं॥ ३३॥

कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात्।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा॥ ३४॥

किसी एक समय जब ब्रह्मा 'पूर्व कल्पोंमें ये सभी लोक जिस प्रकारसे सुव्यवस्थित थे, अब भी इन लोकोंकी वैसी ही रचना किस प्रकारसे की जाये'—इस प्रकारसे विचार कर ही रहे थे कि उनके चारों मुखोंसे चार वेद आविर्भूत हुए॥ ३४॥

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः॥ ३५॥

होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन चारों ऋत्विजोंके (चातुर्होत्रादि) कर्म, आयुर्वेदादि उपवेद, नीतिशास्त्रादिके साथ यज्ञोंका विस्तार, धर्मके चार चरण तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम और उनकी वृत्तियाँ भी ब्रह्माजीके मुखसे उत्पन्न हुईं॥ ३५॥

श्रीविदुर उवाच—

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत्।
यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन॥ ३६॥

श्रीविदुरने कहा—हे तपोधन! विश्वस्रष्टाओंके ईश्वर ब्रह्माजीने अपने चारों मुखोंसे वेदादिको रचा था, किन्तु उन्होंने कौन-सा वेद किस मुखसे प्रकाशित किया था—इसे आप हमें कृपा करके बतलाइये॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुति-स्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥ ३७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—ब्रह्माने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार मुखोंसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व—इन चारों वेदोंको प्रकाशित किया। उन्होंने यथाक्रमसे होताके कर्मरूपमें शस्त्र (अर्थात् जिनका गान नहीं किया जाता, ऐसे मन्त्र-स्तोत्र), अध्वर्युके कर्मरूपमें इज्या (यज्ञ), उद्गाताके कर्मरूपमें स्तुतिस्तोम (अर्थात् सङ्गीत स्तोत्र एवं स्तोमके लिए रचित ऋक् समुदाय) एवं ब्रह्माके कर्मरूपमें (अर्थात् कर्म करते हुए किसी अङ्गकी हानि हो जानेपर) प्रायश्चित इत्यादिका विधान किया॥ ३७॥

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
स्थापत्यञ्चासृजद्वेदं क्रमात् पूर्वादिभिर्मुखैः॥ ३८॥

इसी प्रकार ब्रह्माजीने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर मुखोंसे ही यथाक्रमसे आयुर्वेद (चिकित्सा–शास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्र–विद्या शास्त्र), गान्धर्व–वेद (सङ्गीत–शास्त्र) और स्थापत्यवेद (शिल्प–विद्या अथवा विश्वकर्मा–शास्त्र) रूप उपवेदोंकी भी रचना की॥ ३८॥

इतिहास–पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥ ३९॥

फिर सर्वदर्शी ब्रह्माने पञ्चम वेद—इतिहास और पुराणोंकी भी अपने चारों मुखोंसे सृष्टि की॥ ३९॥

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात् पुरीष्यग्निष्टुतावथ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम्॥ ४०॥

इसी क्रमसे षोड़शी और उक्थ (यज्ञाङ्ग कर्मविशेष) ब्रह्माके पूर्वमुखसे, पुरीषि (अग्निचयन) और अग्निष्टोम दक्षिण मुखसे, आप्तोर्याम और अतिरात्र पश्चिम मुखसे तथा गोसव और वाजपेयरूप यज्ञ–कर्म उनके उत्तरमुखसे उत्पन्न हुए॥ ४०॥

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत् सह वृत्तिभिः॥ ४१॥

उन्होंने विद्या (शौच), दान (दया अथवा प्राणियोंको अभय प्रदान), तपस्या और सत्य—धर्मके इन चार चरणों और वृत्तियों सहित चारों आश्रमोंकी भी इसी प्रकार यथाक्रमसे सृष्टि की॥ ४१॥

सावित्रं प्राजापत्यञ्च ब्राह्मञ्चाथ बृहत्तथा।
वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे॥ ४२॥

सावित्र (गायत्री–अध्ययनकारीका उपनयन संस्कारसे आरम्भ करके तीन रात तक ब्रह्मचर्य व्रत), प्राजापत्य (व्रतोंका आचरण करनेवाले व्यक्तिका एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत), ब्राह्म (वेदाध्ययनकी समाप्ति तक ब्रह्मचर्य व्रत), बृहद् (आमरण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत)—इन चार

ब्रह्मचारी वृत्तियोंकी तथा वार्त्ता (कृषि आदि शास्त्र विहित वृत्ति), सञ्चय (याजन आदि वृत्ति), शालीन (अयाचित वृत्ति), शिलोञ्छ (खेत कट जानेपर भूमिपर गिरे हुए अन्नके कणोंको खाकर जीविका निर्वाह करना)—इन चार गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्यानुष्ठानोंको भी ब्रह्माजीने रचा॥ ४२॥

वैखानसा वालिखिल्यौडुम्बराः फेनपा वने।
न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ॥ ४३॥

वैखानस (जो कन्द-मूलादि द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं), वालखिल्य (जो नया अन्न मिलनेपर पूर्व सञ्चित अन्नका त्याग कर देते हैं), औडुम्बर (प्रातःकाल उठकर जिस दिशामें सर्वप्रथम देखते हैं, उस दिशासे ही लाये हुए फल आदिको खाकर जीवन धारण करनेवाले), फेनप (वृक्षोंसे अपने-आप गिरे हुए फल आदि खाकर जीवन यापन करनेवाले)—इस प्रकार नामभेदसे और वृत्तिभेदसे ये चार प्रकारके वानप्रस्थ आश्रम; एवं कुटीचक (अपने आश्रमके कर्मको प्रधान माननेवाले), बहूदक (कर्मको गौण और ज्ञानको प्रधान माननेवाले), हंस (ज्ञानाभ्यासमें निष्ठ) तथा निष्क्रिय (प्राप्त-तत्त्व अर्थात् परमहंस)—इन चार प्रकारकी संन्यास वृत्तियोंको भी ब्रह्माजीने रचा है॥ ४३॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्रतः॥ ४४॥

इसी क्रमसे आन्वीक्षिकी (तर्क या मोक्ष शास्त्र), त्रयी (वेद या धर्म शास्त्र), वार्त्ता (कामशास्त्र) एवं दण्डनीति (अर्थशास्त्र) तथा भूः, भुवः, स्वः—ये व्यस्त (अर्थात् पृथक् रूपमें तीन) एवं भूर्भुवःस्वः समस्त (एकत्र रूपमें तीनों)—इन चार शास्त्र तथा व्याहृतियाँ भी उसी प्रकार ब्रह्माके पूर्व आदि मुखोंसे उत्पन्न हुईं तथा प्रणव उनके हृदयाकाशसे उत्पन्न हुआ॥ ४४॥

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात् स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः।
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत्॥ ४५॥

उन विभु ब्रह्माके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, माँससे त्रिष्टुप्, नाड़ी (स्नायु) से अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती, मज्जासे पंक्ति और प्राणोंसे बृहती छन्द उत्पन्न हुए॥ ४५॥

स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः।
उष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तस्था बलमात्मनः।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः॥ ४६॥

उन प्रजापतिके जीवत्व (आत्मा) से 'क'कारादिसे 'म'कारादि तक पच्चीस स्पर्शवर्ण, देहसे 'अ'कार आदि चौदह स्वरवर्ण, बलसे य, र, ल और व—चार अन्तःस्थ वर्ण तथा इन्द्रियोंसे श, ष, स और ह—चार उष्मवर्ण उत्पन्न हुए—ऐसा तत्त्वज्ञगण वर्णन करते हैं। प्रजापतिकी क्रीड़ावृत्तिसे षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात स्वर उत्पन्न हुए॥ ४६॥

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः॥ ४७॥

वे ब्रह्मा शब्दब्रह्म अर्थात् वेदमय तनुविशिष्ट हैं। उनका व्यक्त स्वरूप 'वैखरी' नामक वाक्यरूप भाषा और अव्यक्त स्वरूप 'प्रणव' है। उस अव्यक्त-स्वरूपसे परब्रह्मस्वरूप आविर्भूत हुए एवं व्यक्त-स्वरूपसे बहुत प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त इन्द्रादि देवता बाहर निकलते हैं॥ ४७॥

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे॥ ४८॥

तत्पश्चात् ब्रह्माने पहले जिस शरीरका परित्याग किया था, वह अन्धकारमय (कुहरा) हो गया। इसलिए उन्होंने अन्य शुद्ध अनिषिद्ध अर्थात् शास्त्र विहित कामासक्त शब्दब्रह्ममय नित्यस्वरूपको स्वीकारकर सृष्टिका विस्तार करनेके लिए मनोनिवेश किया॥ ४८॥

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम्।
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव॥ ४९॥

हे कौरव! तब ब्रह्माजीने देखा कि महापराक्रमशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका विस्तार नहीं हो रहा है, अतः वे सृष्टिके लिए पुनः चिन्ता करने लगे॥ ४९॥

अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम्॥ ५० ॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! मैं सर्वदा सृष्टि कार्यमें लगा रहता हूँ, फिर भी मेरी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है। निश्चय ही इस विषयमें दैव प्रतिकूल है॥ ५० ॥

एवं युक्तकृतस्तस्य दैवञ्चावेक्षतस्तदा।
कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत् कायमभिचक्षते॥ ५१ ॥

इस प्रकार यथोचित कार्य करनेके लिए चेष्टा रत होनेपर भी जब ब्रह्माजी दैवके प्रति दृष्टि रखकर चिन्ता कर रहे थे कि उसी समय अकस्मात् उनकी यह मूर्त्ति दो भागोंमें विभक्त हो गयी। इन विभक्त रूपको ही लोग ब्रह्माकी 'काय' कहते हैं॥ ५१ ॥

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ ५२ ॥

उस कायसे स्त्री और पुरुषका एक जोड़ा उत्पन्न हुआ॥ ५२ ॥

यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट्।
स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः॥ ५३ ॥

उस जोड़ेमें जो पुरुष थे, वे सार्वभौम स्वायम्भुव 'मनु' हुए तथा जो स्त्री थी, वह उन सार्वभौमकी महारानी 'शतरूपा' नामसे परिचित हुईं॥ ५३ ॥

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे॥ ५४॥

उसी समयसे मिथुनधर्म (स्त्री-पुरुष संयोग) के द्वारा प्रजाओंकी वृद्धि होने लगी॥ ५४॥

स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत्।
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम॥ ५५ ॥

हे भरतवंशके भूषण! हे साधु शिरोमणि विदुर! स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं। इनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे एवं आकूति, देवहूति और प्रसूति—ये तीन कन्याएँ थीं॥ ५५॥

आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम्।
दक्षायादात् प्रसूतिञ्च यत आपूरितं जगत्॥ ५६॥

मनुने ज्येष्ठ कन्या आकूतिका रुचि नामक ऋषिसे, मध्यम कन्या देवहूतिका कर्दम नामक ऋषिसे और कनिष्ठ कन्या प्रसूतिका दक्ष ऋषिसे विवाह कर दिया। इन तीनों कन्याओंकी संतानोंसे समस्त जगत् भर गया॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे सृष्टिवर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीवराहदेव द्वारा जलमग्न पृथ्वीका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! मैत्रेय मुनि द्वारा कथित इन सब अत्यन्त पवित्र कथाओंको सुनकर कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने भगवान् वासुदेवकी कथाओंके प्रति आदर अभिव्यक्त करते हुए पुनः उनसे पूछा॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे मुने! ब्रह्माजीके प्रिय पुत्र सम्राट् स्वायम्भुव मनुने अपनी प्रियतमा पत्नीको प्राप्त करनेके बाद क्या किया?॥ २॥

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ॥ ३॥

हे साधुश्रेष्ठ! आदिराज राजर्षि स्वायम्भुव मनु वास्तवमें ही श्रीहरिके शरणागत थे। मुझमें उनके चरित्रको श्रवण करनेकी श्रद्धा है, अतः मेरे समक्ष उसका वर्णन कीजिये॥ ३॥

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥ ४॥

हे मुने! जिनके हृदयमें भगवान मुकुन्दके चरणारविन्द विराजित हैं, उन भक्तोंके गुणानुवादको पुनः-पुनः श्रवणपूर्वक अनुकीर्त्तन करना

ही मनुष्योंके द्वारा बहुत समय तक किये गये वेद-अध्ययनरूप श्रमका मुख्य फल है—यही विद्वानोंका श्रेष्ठ मत है॥ ४॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट॥ ५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अपने चरणोंको जिन विदुरकी गोदमें रख दिया था। उन विदुरजीने विनीत होकर जब इस प्रकारसे कहा, तब भगवान्‌के गुणानुवर्णन करनेमें प्रेरित हुए मैत्रेय मुनि पुलकित होकर कहने लगे॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

यदा स्वभार्यया सार्द्धं जातः स्वायम्भुवो मनुः।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जब स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नी शतरूपाके साथ उत्पन्न हुए, तब उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए ब्रह्माजीसे निवेदन किया—॥ ६॥

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत्॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! आप समस्त प्राणियोंके जन्म-दाता और प्रतिपालक पिता हैं। यद्यपि आपको किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी आपकी सन्तान हम जिस प्रकारसे आपकी सेवा कर सकें, वह हमें बतलाइये॥ ७॥

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु।
यत् कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः॥ ८॥

हे परमपूज्य! हम आपको नमस्कार करते हैं। हमारे सामर्थ्यके योग्य किस कार्यके द्वारा आपकी सेवा हो सकती है? जिस कार्यके

द्वारा इस लोकमें हमें यश प्राप्त हो तथा परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके, हमारे उस कर्त्तव्यको आप हमें बतलाइये॥ ८॥

श्रीब्रह्मोवाच—

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम्॥ ९॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे तात! हे क्षितीश्वर (पृथ्वीपते)! तुमने निष्कपट भावसे 'मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर जो आत्मसमर्पण किया है, इससे मैं तुम्हारे प्रति बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम दोनोंका कल्याण हो॥ ९॥

एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः॥ १०॥

हे वीर! मत्सरता रहित और संयत चित्त पुत्र यथाशक्ति बड़े ही आग्रहके साथ पिताकी आज्ञाका पालन करें—यही पिताके प्रति पुत्रका सेवा कार्य है॥ १०॥

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज॥ ११॥

तुम अपनी पत्नीसे अपने ही समान गुणशाली सन्तानोंको उत्पन्न करके धर्मके अनुसार पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष श्रीहरिकी आराधना करो॥ ११॥

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात् प्रजारक्षणन्नृप।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशो नु तुष्यति॥ १२॥

हे राजन्! प्रजाके पालन द्वारा ही मेरी सेवा होगी। तुम्हें प्रजाका पालन करते देखकर भगवान् हृषीकेश भी तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रसन्न होंगे॥ १२॥

येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम्॥ १३॥

वत्स! यज्ञमूर्त्ति भगवान् जनार्दन जिनके प्रति प्रसन्न नहीं होते, उनका श्रम व्यर्थ ही होता है, क्योंकि भगवान् श्रीहरिके अनादर द्वारा

वे लोग स्वाभाविक रूपमें अपनी आत्माका स्वयं ही अनादर करते हैं॥ १३॥

श्रीमनुरुवाच—

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन।
स्थानन्त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो॥ १४॥

श्रीमनुने कहा—हे भगवन्! हे पापनाशन पिताजी! मैं आपके आदेशका पालन करूँगा। हे प्रभो! आप मेरे और मेरी भावी प्रजाके रहनेके लिए स्थानका निर्देश कीजिये अथवा 'इस स्थानपर रहो'—यह आज्ञा प्रदान कीजिये॥ १४॥

यदोकः सर्वभूतानां मही मग्ना महाम्भसि।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम्॥ १५॥

हे देव! समस्त प्राणियोंका वासस्थान पृथ्वी इस समय प्रलयके जलमें डूबी हुई है। अतः आप कृपापूर्वक उसके उद्धारके लिए यत्न कीजिये॥ १५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम्।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्॥ १६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जलमें डूबी हुई पृथ्वीको देखकर ब्रह्माजी बहुत समय तक सोचते रहे कि 'मैं किस प्रकारसे इसका उद्धार करूँ?॥'१६॥

पीतं मया जलं पूर्वं पृथिवी च निवेशिता।
तथापि किमिदं साद्य प्लाव्यते पुनरम्बुभिः॥ १७॥

मैंने पहलेसे ही समस्त जलको समाप्त (सुखाकर) पृथ्वीको संस्थापित किया था, तथापि इस समय यह पृथ्वी पुनः जलराशिके द्वारा किस कारणसे प्लावित हो रही है, यह मुझे समझ नहीं आ रहा है॥ १७॥

प्रजा देवासुरपितृमनुष्य पशुपक्षिणः।
सरीसृपान्नगान्नागान् भूतान्युच्चावचानि च॥ १८॥

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे॥ १९॥

जिस समय मैं प्रजा, देवता, असुर, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, पर्वत, महासर्प एवं छोटे-बड़े प्राणियोंकी सृष्टि कर रहा था, उस समय पृथ्वी जलमें डूबकर रसातलमें चली गयी। इस समय तो मैं भगवान्‌के आदेशसे सृष्टिमें नियुक्त हूँ, अतः अब मुझे पृथ्वीके उद्धारके लिए क्या करना चाहिये? मैं जिन भगवान्‌के सङ्कल्पमात्रसे ही उनके नाभिपथसे उत्पन्न हुआ हूँ, वे परमेश्वर विष्णु ही इस समय मेरे कर्त्तव्यको पूरा करें॥ १८-१९॥

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात् सहसानघ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः॥ २०॥

हे निष्पाप विदुर! जिस समय ब्रह्मा इस प्रकार विचार कर रहे थे, उसी समय उनके नासाछिद्रसे सहसा अंगुष्ठके बराबर आकारका एक सूक्ष्म अर्थात् लघुकाय वराह (शूकर) निकला॥ २०॥

तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत्॥ २१॥

हे भारत! आकाशमें स्थित वह वराह ब्रह्माजीके देखते-ही-देखते क्षणभरमें ही आश्चर्यजनक रूपमें हाथीके आकारका हो गया॥ २१॥

मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह।
दृष्ट्वा तच्छौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा॥ २२॥

इस विशाल शूकर रूपको देखकर ब्रह्माजी मरीचि जैसे प्रमुख विप्रों, सनकादि ऋषियों और स्वायम्भुव मनुके साथ नाना प्रकारसे तर्क-वितर्क करने लगे॥ २२॥

किमेतच्छूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम्।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम्॥ २३॥

ब्रह्माजी विचार करने लगे—क्या यह शुद्धसत्त्वमय परव्योमका कोई देवता है, जो छद्मवेशमें शूकरके रूपमें आविर्भूत हुआ है? अहो! कैसा आश्चर्य है कि मेरे नासाछिद्रसे ही यह अपरूप मूर्त्ति प्रकट हुई है?॥ २३॥

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः॥ २४॥

पहले तो यह वराह अँगूठेके समान दिखायी दे रहा था, किन्तु क्षणमात्रमें ही विशाल शिलाके समान हो गया। क्या कहीं यज्ञपुरुष श्रीभगवान् तो अपने स्वरूपको छिपाकर हम लोगोंके मनको मोहित नहीं कर रहे हैं?॥ २४॥

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः॥ २५॥

जब ब्रह्माजी अपने पुत्रोंके साथ इस प्रकार विचार-विमर्श कर रहे थे, उसी समय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु पर्वतराजके समान होकर गर्जना करने लगे॥ २५॥

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः॥ २६॥

सर्वव्यापी श्रीहरि अपनी प्रचण्ड गर्जनाके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ब्रह्मा एवं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्साहित और आनन्दित करने लगे॥ २६॥

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयशूकरस्य।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म॥ २७॥

जब ब्रह्मा और उनके पुत्रोंने तथा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनियोंने वराहरूपी भगवान्‌की गर्जन-ध्वनिको सुना, तो उन सबके दुःख विनष्ट हो गये और वे पवित्र वेदत्रयीमें उक्त मन्त्रोंके द्वारा श्रीवराहदेवकी स्तुति करने लगे॥ २७॥

तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश॥ २८॥

जब वेदमन्त्रों द्वारा स्तुत वराहमूर्त्ति भगवान् श्रीविष्णुने उन मुनियोंके द्वारा उच्चारित वेदवाक्योंको सुनकर यह निश्चयकर लिया कि यह मेरा ही गुणानुवाद है, तब उन्होंने एक बार फिर गर्जना की और गजेन्द्रके समान लीला करते हुए देवताओंके मङ्गलके लिए जलमें प्रविष्ट हो गये॥ २८॥

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक्।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान् महीध्रः॥ २९॥

पृथ्वीके उद्धारके लिए जलमें प्रवेश करनेसे पहले वराहरूपी भगवान्‌ने अपनी पूँछको उठाया और बड़े वेगसे आकाशमें उछले तथा अपने कन्धेपर स्थित कड़े बालोंको फटकारकर खुरोंके द्वारा मेघोंको छिन्न-भिन्न करने लगे। उनकी त्वचापर तीक्ष्ण और कड़े बाल थे, उनकी दाढ़ें सफेद वर्णकी थीं और वे अपनी दर्शनरूप महाज्योतिसे युक्त होकर शोभा पा रहे थे॥ २९॥

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत् कम्॥ ३०॥

वे भगवान् स्वयं यज्ञेश्वर पुरुष होकर भी वराहरूपके छलसे पशुओंके समान नाकसे सूँघते हुए पृथ्वी जिस स्थानमें निमज्जित थी, उस स्थानको खोजने लगे। यद्यपि भयङ्कर दाढ़ों आदिके द्वारा वे बड़े क्रूर और विकराल प्रतीत हो रहे थे, तथापि प्रशान्त एवं सौम्य दृष्टिसे ऊपरकी ओर अवस्थित अपनी स्तुति करनेवाले मरीचि आदि विप्रोंको देखते हुए वे जलके अन्दर प्रविष्ट हो गये॥ ३०॥

य वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान्।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति॥ ३१॥

जैसे ही भगवान् वराहका वज्रमय पर्वतके समान कठोर शरीर समुद्रमें गिरा, उसके वेगसे समुद्रका पेट विदीर्ण हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों समुद्र अपने प्राणोंके नाशके भयसे उत्ताल तरङ्गरूप अपनी लम्बी भुजाओंको फैलाकर दुखसे व्याकुल व्यक्तिकी भाँति उच्चकण्ठसे पुकार रहा हो—'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो!'॥ ३१॥

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम्।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त॥ ३२॥

तब उन यज्ञमूर्त्ति भगवान् वराहदेवने अपने अर्द्धचन्द्रकी आकृतिवाले तथा बाणोंके समान तीक्ष्ण खुरोंके द्वारा पारापारसे रहित समुद्रको उसकी सतह तक विदीर्ण कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने रसातलमें समस्त जीवोंकी आधारभूता पृथ्वीदेवीको उस रूपमें देखा, जिस रूपमें प्रलयके समय शयन करनेके इच्छुक भगवान्ने उसे अपने उदरमें धारण कर लिया था॥ ३२॥

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः।

तत्रापि दैत्यं गदयापतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥ ३३ ॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
सलीलयेभं मृगराडिवाम्भसि।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन्॥ ३४ ॥

जिस समय भगवान् श्रीवराहदेव रसातलमें स्थित पृथ्वीको अपने दाँतोंसे उठाकर रसातलसे उपर उठे, उस समय वे अत्यन्त शोभित हो रहे थे। पृथ्वीको जलसे बाहर निकालनेके समय ही महापराक्रमशाली हिरण्याक्ष दैत्य जलके भीतर ही गदा लेकर प्रतिरोध करनेके लिए भगवान्‌के मार्गमें आकर उपस्थित हुआ। इससे चक्रपाणि (सुदर्शनधारी) वराहरूपी भगवान् श्रीविष्णु अत्यन्त क्रोधित हो उठे और उन्होंने अपने चक्रसे हिरण्याक्ष दैत्यका खेल ही खेलमें इस प्रकार वध कर डाला, जिस प्रकार पशुराज सिंह अनायास ही हाथीका वध कर डालता है। दैत्यके रक्त-पंकसे सन जानेके कारण भगवान्‌का कपोल एवं मुखमण्डल इस प्रकार लाल हो गये, जिस प्रकार त्रिकुट पर्वतके प्रान्तदेश (मिट्टीके टीले) का विदारण करते समय गजराजके तुण्ड (सूण्ड) एवं गण्ड (कनपटी) गैरिक धातुके द्वारा लालिमाको धारण करते हैं॥ ३३-३४॥

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम्॥ ३५ ॥

हे अङ्ग! जिस प्रकार गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीवराहदेवने भी हाथीके समान क्रीड़ा करते हुए अपने सफेद दाँतोंके अग्रभागमें पृथ्वीको उठा लिया और जलसे बाहर निकल आये। यह देखकर ब्रह्मा, मरीचि आदि ऋषिगण भलीभाँति समझ गये कि ये तमालके समान श्यामवर्णवाले

भगवान् विष्णु ही हैं। अतः वे सब हाथ जोड़कर वैदिक-सूक्तके समान वचनों द्वारा भगवान् श्रीवराहदेवकी स्तुति करने लगे॥ ३५॥

श्रीऋषय ऊचुः—

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरब्धय-
स्तस्मै नमः कारणशूकराय ते॥ ३६॥

ऋषियोंने कहा—हे अजित! आप जययुक्त हुए हैं। आपकी जय हो, जय हो। आप अपने वेदमय श्रीविग्रहसे सर्वत्र विचरण कर रहे हैं, आपको नमस्कार है। हे समस्त यज्ञोंके पालक! आपके रोमकूपोंमें समस्त सागर विलीनसे रहते हैं। हे समस्त जगत्के कारण! पृथ्वीके उद्धारके लिए आपने शूकररूप धारण किया है, आपको बार-बार नमस्कार है॥ ३६॥

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम्।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हि रोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्॥ ३७॥

हे देव! आपकी यज्ञात्मक श्रीमूर्त्तिके दर्शन दुराचारियोंके लिए दुष्कर हैं। आपकी चर्ममें गायत्री आदि छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत एवं चारों चरणकमलोंमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्माके चार प्रकारके कर्म विराजमान हैं॥ ३७॥

स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्॥ ३८॥

हे परमेश्वर! आपकी थूथनी (मुखके अग्रभाग) में स्रुक् ('जुहू' नामक यज्ञपात्र), आपके दोनों नासिका छिद्रोंमें स्रुवा नामक यज्ञपात्र, उदरमें इडा अर्थात् यज्ञीय हविभक्षण पात्र, कर्णरन्ध्रोंमें चमस नामक

सोमपात्र तथा आपके मुखमें प्राशित्र नामक ब्रह्मभागपात्र प्रकाशित हो रहा है तथा मुखके अन्तर्वर्ती कण्ठ-छिद्रमें ग्रह नामक सोमपात्र है। हे भगवन्! आपका चर्वण (चबाना) ही हमारा अग्निहोत्र है॥ ३८॥

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः
सत्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते॥ ३९॥

आपका पुनः-पुनः प्रकाश अर्थात् अवतार लेना ही दीक्षा अर्थात् दीक्षणीय यज्ञ है, आपका ग्रीवादेश उपसद अर्थात् तीन यज्ञ विशेष हैं, आपकी दोनों दाढ़ें प्रायणीया अर्थात् दीक्षाके बादके यज्ञ एवं उदयनीया अर्थात् समाप्तिके यज्ञ हैं। जिह्वा प्रवर्ग्य अर्थात् प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक यज्ञ-विशेष है। सत्य अर्थात् होम रहित अग्नि और आवसथ्य अर्थात् औपासनाग्नि—ये दोनों आपका सिर हैं तथा चिति अर्थात् यज्ञके लिए इष्टका चयन आपके पञ्चप्राण हैं॥ ३९॥

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धय-
स्त्वं सर्वयज्ञः क्रतुरिष्टिबन्धनः॥ ४०॥

हे देव! आपका वीर्य सोमयज्ञ है, आपका आसन अथवा आपकी बाल्यादि अवस्थाएँ ही प्रातःकालीन सवनादि कर्म हैं। अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये यज्ञोंके सात भेद आपकी त्वचा, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, मेद और रुधिर रूप सप्त धातु हैं। 'द्वादशाह' आदि समग्र यज्ञ ही आपके शरीरकी सन्धियाँ हैं। आप सर्वयज्ञमय हैं। यज्ञके अङ्गस्वरूप आपकी जो भक्ति है, वही आपका बन्धन है। इसी भक्तिके द्वारा ही आप अपने भक्तोंसे बँध जाते हैं॥ ४०॥

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने।

वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः॥ ४१॥

समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, सर्वयज्ञ और यज्ञादि क्रियारूपी आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। वैराग्य अर्थात् कर्मफलकी इच्छासे रहित जो भक्ति है, उसके द्वारा चित्तकी स्थिरता और ईश्वर विषयक ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान आपका स्वरूप है। अतएव सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले गुरुस्वरूप आपको बार-बार नमस्कार है॥ ४१॥

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी॥ ४२॥

हे पृथ्वीधर! हे भगवन्! आपकी दाढ़ोंके अग्रभागपर धारण की हुई पर्वत आदिके साथ अलंकृत यह पृथ्वी उसी प्रकार सुशोभित हो रही है, जिस प्रकार जलसे बाहर निकले हुए मत्त गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी सुशोभित होती है॥ ४२॥

त्रयीमयं रूपमिदञ्च शौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः॥ ४३॥

हे भगवन्! जिस प्रकार महापर्वतके शिखरोंपर मेघ छा जानेसे वे अत्यधिक शोभाको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार दाँतोंपर भूमण्डलको धारणकर आपका यह वेदमय शूकररूप अत्यधिक सुशोभित हो रहा है॥ ४३॥

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः॥ ४४॥

हे भगवन्! स्थावर-जङ्गम (चराचर) सभी जीवोंके सुखपूर्वक वासके लिए आप अपनी पत्नी जगज्जननी इन पृथ्वीदेवीको जलपर संस्थापित कीजिये। आप जगत्के पिता हैं और ये धरणी माता हैं, अतः हम आप दोनोंको नमस्कार करते हैं। आपने इस धरणीमें अपनी शक्तिको इस प्रकार निहित कर रखा है, जिस प्रकार याज्ञिक लोग काष्ठमें अग्नि स्थापित करते हैं॥ ४४॥

कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम्॥ ४५॥

हे प्रभो! आपके अतिरिक्त क्या कोई रसातलमें गयी हुई पृथ्वीके उद्धारके लिए साहस भी कर सकता है? परन्तु यह किञ्चित् भी विस्मयका विषय नहीं है, क्योंकि आप समस्त आश्चर्योंके आधारस्वरूप हैं। आपने ही मायाके प्रति ईक्षणके द्वारा अत्यन्त आश्चर्यजनक इस विश्वकी सृष्टि की है॥ ४५॥

विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम्।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः॥ ४६॥

हे परमेश्वर! आप अपने वेदमय शूकर विग्रहको हिलाकर अपनी गरदनके बालोंके अग्रभागसे झरते हुए पवित्र जलकणोंके द्वारा जन, तप तथा सत्यलोकके निवासी हम मुनिजनोंको अभिषिक्त करके परम पवित्र कर रहे हैं॥ ४६॥

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम्॥ ४७॥

आपकी लीला दुर्गम और अपार है। अहो! जो व्यक्ति आपकी लीलाका पार पानेकी स्पृहा करता है, वह अत्यन्त मूढ़ है। हे भगवन्! आपकी मायाके गुणोंके संयोगरूपी अविद्या द्वारा मोहित इस समस्त जगत्का आप कल्याण करें॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युपस्थीयमानोऽसौ मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम्॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्मवादी मुनियोंके द्वारा इस प्रकारसे स्तुति करनेपर जगत्की रक्षा करनेवाले भगवान् श्रीवराहदेवने अपने खुरोंसे जलको आक्रान्त (स्तम्भित) कर दिया और उसके ऊपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया॥ ४८॥

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सुन्यस्य ययौ हरिः॥ ४९॥

इस प्रकार प्रजाओंके रक्षक विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् श्रीहरि रसातलसे लीलापूर्वक उद्धार की गयी पृथ्वीको जलके ऊपर स्थापित करके अन्तर्हित हो गये॥ ४९॥

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति॥ ५०॥

भक्तोंके संसारका नाश करनेवाली अर्थात् अहंता-ममताका छेदन करनेवाली भगवान्की कथा ही कीर्त्तनका विषय है। जो व्यक्ति स्वरूपशक्तिसे युक्त भगवान्की सुमङ्गलमयी कमनीय कथाओंको भक्तिपूर्वक सुनते अथवा सुनाते हैं, भगवान् जनार्दन उनपर प्रसन्न होकर अतिशीघ्र ही उनके हृदयमें आविर्भूत हो जाते हैं॥ ५०॥

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः।

अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम्॥ ५१॥

समस्त पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाले भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर और क्या दुष्प्राप्य रहता है? उस समय अन्यान्य समस्त प्रकारके कल्याण तुच्छ और अनावश्यक प्रतीत होते हैं। जो लोग ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं, सर्वान्तर्यामी परमपुरुष भगवान् उन भक्तोंके हृदयके शुद्धभावको जानकर स्वयं ही उन्हें अपने परमपदकी प्राप्ति करा देते हैं॥ ५१॥

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम्॥ ५२॥

अहो! इस जगत्‌में एकमात्र पशुके अतिरिक्त पुरुषार्थके सार (भगवत्-प्रेम) को जाननेवाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो प्राचीन वृतान्तोंमेंसे जन्म-मृत्युरूप संसारका विनाश करनेवाले भगवान्‌के कथामृतका कर्णाञ्जलिके द्वारा पान करनेसे विरत हो जाये?॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पृथिव्युद्धरणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

सन्ध्याकालमें दितिका गर्भधारण

श्रीशुक उवाच—

निशम्य कौशारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणशूकरात्मनः।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मैत्रेय ऋषिके द्वारा कथित वराहरूपी भगवान्की कथाको सुनकर भी भक्तिव्रतधारी विदुरजी पूर्ण रूपसे तृप्त नहीं हुए, अतः उन्होंने हाथ जोड़कर पुनः मैत्रेय ऋषिसे पूछा॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ! हमने आपके मुखसे यह सुना कि पृथ्वीका उद्धार करनेवाले यज्ञमूर्त्ति श्रीहरिने आदि-दैत्य हिण्याक्षका वध कर डाला था॥ २॥

तस्य चोद्धरतः क्षौणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! पृथ्वीका उद्धार करनेके समय जब भगवान् लीलापूर्वक अपने दाँतोंके अग्रभागमें पृथ्वीदेवीको रखकर उसे रसातलसे निकाल रहे थे, उस समय श्रीवराहदेवका दैत्यराज हिरण्याक्षके साथ किस कारणसे युद्ध हुआ था?॥ ३॥

श्रद्दधानाय भक्ताय ब्रूहि तज्जन्मविस्तरम्।
ऋषे न तृप्यति मनः परं कौतूहलं हि मे॥ ४॥

हे मुने! भगवान् श्रीहरिकी चरित-कथाओंको सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है, अपितु उन्हें सुननेके लिए मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है। मैं श्रद्धायुक्त और विष्णु सेवाका प्रयासी हूँ, अतः मुझे उस दैत्यके जन्मकी कथा भी विस्तारपूर्वक सुनाइये॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।
यत् त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम्॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वीर! तुमने अति उत्तम प्रश्न किया है, क्योंकि इस प्रश्नका सम्बन्ध मरणशीलजनोंके मृत्यु-भयका नाश करनेवाली भगवान्‌की अवतार-कथासे है॥ ५॥

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम्॥ ६॥

श्रीनारदमुनिके द्वारा सुनायी गयी ऐसी हरिकथाओंके प्रभावसे ही राजर्षि उत्तानपादके पुत्र बालक ध्रुवने बाल्यकालमें ही मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्‌के परमपद विष्णुलोकमें गमन किया था॥ ६॥

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम्॥ ७॥

पूर्वकालमें भी एक बार देवताओंने देवाधिपति ब्रह्माजीसे श्रीभगवान् और हिरण्याक्षके युद्धका वृत्तान्त पूछा था। तब श्रीब्रह्माने उनके समक्ष जिस इतिहासका वर्णन किया था, उसे मैंने भी सुना था॥ ७॥

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम्।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता॥ ८॥

इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम्।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यागारे समाहितम्॥ ९॥

हे विदुर! दक्षकी कन्या दिति सन्तान-प्राप्तिकी इच्छासे कामवासनासे पीड़ित होकर सन्ध्याके समयमें ही अपने पति मरीचिके पुत्र कश्यपसे रमणकी अभिलाषा करने लगी। जिस समय सूर्य अस्त हो रहा था,

उस समय कश्यप मुनि अग्निहोत्रशालामें यज्ञाहुतिके द्वारा यज्ञपति अग्निजिह्व भगवान् श्रीविष्णुकी पूजा समाप्त करके समाधिस्थ थे॥ ८-९॥

श्रीदितिरुवाच—

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशरासनः।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः॥ १०॥

दितिने उनकी समाधिको भङ्ग करनेके लिए उच्च स्वरसे कहा—हे विद्वन्! जिस प्रकार मदमत्त हाथी अपना पराक्रम दिखलाते हुए केलेके वृक्षोंको नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार कामदेव अपने बाणके द्वारा मुझ अबलाको पीड़ितकर मुझे आपके सङ्गके लिए व्याकुल कर रहा है॥ १०॥

तद्भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम्॥ ११॥

मैं पुत्र रहित होनेके कारण दुःखी हूँ तथा अपनी पुत्रवती सौतोंकी सुख-समृद्धिको देखकर ईर्ष्यासे जल रही हूँ। अतः आप पुत्रकी कामनावाली मुझपर अनुग्रह कीजिये। आपका मङ्गल हो॥ ११॥

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते॥ १२॥

जिनका पति आपके समान गुणवान हो और वही गुणवान पति ही जिसके गर्भसे गुणवान पुत्रके रूपमें उत्पन्न हो, वे सब पत्नियाँ पतिके द्वारा बहुत सम्मानित होती हैं। ऐसी ही नारियोंका यश जगत्में व्याप्त हो जाता है॥ १२॥

पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्॥ १३॥

हमारे पिता प्रजापति दक्षका हम पुत्रियोंपर बड़ा ही स्नेह था। एकबार उन्होंने हम सब बहनोंको पृथक्-पृथक् बुलाकर पूछा था—हे पुत्रियो! तुमलोग किसे पतिके रूपमें वरण करना चाहती हो?॥ १३॥

स विदित्वात्मजानां नो भावं सन्तानभावनः।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः॥ १४॥

हमारे पिता अपनी सन्तानोंका बड़ा ध्यान रखते थे। उन्होंने हम सब कन्याओंकी अभिलाषाको जानकर हम तेरह बहनोंका ही आपके साथ विवाह कर दिया है। हम सब सम्पूर्ण रूपसे आपके प्रति श्रद्धा रखनेवाली हैं॥ १४॥

अथ मे कुरु कल्याणं कामं कमललोचन।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि॥ १५॥

हे कमललोचन! हे मङ्गलमूर्त्ते! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिये। हे महत्तम! महापुरुषोंके समक्ष दुःखीजनोंका निवेदन विफल नहीं होता॥ १५॥

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम्।
प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम्॥ १६॥

हे विदुर! दिति कामदेवके वेगसे अत्यन्त व्याकुल और पीड़ित हो रही थी। उसने बड़े ही दीनभावसे बहुत-सी बातें बनाते हुए जब मरीचि-तनय कश्यप मुनिसे इस प्रकारकी अभिलाषा प्रकट की, तब कश्यपने अनुनयपूर्ण वाक्योंसे उसे समझाते हुए कहा॥ १६॥

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः॥ १७॥

हे भीरु! तुम जिसकी अभिलाषा कर रही हो, मैं तुम्हारे उस प्रियकार्यको अवश्य ही पूर्ण करूँगा। जिस पत्नीसे धर्म, अर्थ एवं काम—इस त्रिवर्गकी सिद्धि होती हो, उसकी कामनाको कौन पूर्ण नहीं करेगा?॥ १७॥

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान्।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैरिवार्णवम्॥ १८॥

जिस प्रकार नौकाके द्वारा मनुष्य महासमुद्रको पार कर लेता है, उसी प्रकार गृहस्थ पुरुष अपनी स्त्रीके साथ आश्रमोचित-धर्मके पालन

द्वारा दूसरे समस्त आश्रमोंके प्रति अन्न आदि दानरूप उपकार करके दुःख-सागरको पार करनेमें समर्थ हो जाता है॥ १८॥

यामाहुरात्मनो ह्यर्द्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः॥ १९॥

हे मानिनि! यज्ञादि कर्मोंमें स्त्री-पुरुषके समान अधिकारके कारण स्त्रीको कल्याणकामी पतिका 'अर्द्धांग' कहा जाता है। पुरुष अपने दृष्ट और अदृष्ट कर्मोंका भार उस अर्द्धांगपर सौंपकर निश्चिन्त होकर विचरण कर सकता है॥ १९॥

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून् दुर्गपतिर्यथा॥ २०॥

अधिक क्या कहा जाये! जिस प्रकार किसी दुर्गका स्वामी (सेनापति) अनायास ही लूटपाट मचानेवाले दस्युओंको जीत लेता है, उसी प्रकार हम भी विवाहिता पत्नीका आश्रय करके उन शत्रुके समान इन्द्रियोंको जीत सकते हैं, जो अन्यान्य आश्रमवासियोंके लिए दुर्जेय हैं॥ २०॥

न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः॥ २१॥

हे गृहेश्वरि! हम अपनी समस्त आयुके द्वारा अथवा जन्मान्तरमें भी तुम्हारे उपकारोंका बदला चुकाकर तुम्हारे समान नहीं हो सकते, यहाँ तक कि पत्नीके गुणोंको ग्रहण करनेवाले व्यक्तियोंके लिए भी यह सम्भव नहीं है॥ २१॥

अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम्।
यथा मां नातिरोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय॥ २२॥

यद्यपि तुम्हारा प्रत्युपकार करके तुम्हारे समान होना सम्भव नहीं है, तथापि मैं पुत्रोत्पत्तिके लिए तुम्हारी इच्छाको पूर्ण करूँगा, किन्तु लोग मेरी निन्दा न करें, इसलिए तुम क्षणकालके लिए ठहर जाओ॥ २२॥

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह॥ २३॥

यह सन्ध्याकाल अति घोरतम समय है, क्योंकि इस समयके अधिपति भयङ्कर भूत-प्रेतादि है। इस समय भूतपति रुद्रके अनुचर भूत-प्रेत-पिशाच इधर-उधर विचरण कर रहे हैं॥ २३॥

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः।
परितो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट्॥ २४॥

हे पतिव्रते! इस सन्ध्याकालमें भूतोंके पालक भूतपति भगवान् रुद्र भूत-प्रेत आदि अनुचरोंके द्वारा परिवेष्टित होकर बैलपर चढ़कर भ्रमण किया करते हैं॥ २४॥

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
विकीर्णविद्योतजटाकलापः।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते॥ २५॥

जिनके जटा-जूट श्मशान भूमिसे उठे हुए चक्राकार बवण्डरकी धूलिसे धूसरित होकर धूम्रवर्णकी द्युतिसे देदीप्यमान हैं, जिनकी निर्मल स्वर्ण कान्तिसे युक्त गौरवर्णकी देह भस्मसे आच्छादित है, वे तुम्हारे देवर महादेव—चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप अपने तीन नयनोंसे सबकुछ देख रहे हैं॥ २५॥

न यस्य लोके स्वजनः परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम्॥ २६॥

इस लोकमें न तो कोई उनका अपना है और न ही कोई पराया है, अथवा न तो कोई उनके लिए निन्दनीय है और न ही कोई आदरणीय। उन्होंने चरणों द्वारा जिस वस्तुको प्रसादी-निर्माल्यकी भाँति दूरमें फेंक दिया है, हमलोग नाना प्रकारके व्रतोंका पालनकर

उनकी उस भोगावशिष्ट मायामयी विभूतिकी ही महाप्रसादके रूपमें आकांक्षा करते हैं॥ २६॥

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत् स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम्॥ २७॥

जो मनीषिगण अविद्याका विनाश करना चाहते हैं, वे विषयोंकी आसक्तिसे शून्य उनके आचरणको बड़े आदरके साथ ग्रहण करते हैं। साधुओंकी गतिस्वरूप भगवान् शिवसे बढ़कर तो क्या, उनके समान भी कोई नहीं है, तथापि वे स्वयं पिशाचके समान आचरण करते हैं॥ २७॥

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम्।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्॥ २८॥

जो अविवेकी पुरुष कुत्तोंके द्वारा भक्ष्य इस शरीरमें ही आत्मबुद्धि करके वस्त्र, माल्य, आभरण और चन्दनके अनुलेपन आदिके द्वारा इसका लालन-पालन करते हैं, वे भाग्यहीन आत्माराम अर्थात् श्रीकृष्णमें अनुरक्त उन महादेवके लोकशिक्षारूप अभिप्रायको न समझकर उनके आचरणका उपहास करते हैं॥ २८॥

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदञ्च माया।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ २९॥

हम तो क्या, ब्रह्मा आदि देवता भी जिनके द्वारा निर्दिष्ट अपनी-अपनी धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं, जो विश्वके कारण हैं तथा यह माया भी जिनकी आज्ञाके अधीन है, अहो! उनका भी

पिशाचके समान आचरण!—उन परमेश्वरका यह अद्भुत चरित्र तर्कके अगोचर है॥ २९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—अपने पतिके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर भी कामपीड़ासे उन्मत्त दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपके वस्त्रोंको पकड़ लिया॥ ३०॥

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह॥ ३१॥

तब मुनिवर कश्यपने देखा कि उनकी पत्नीकी उस निषिद्ध कर्ममें ही दृढ़ मति है, अतएव उन्होंने दैवरूप ईश्वरको प्रणाम किया और पत्नीके साथ निर्जनमें समागम किया॥ ३१॥

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः।
ध्यायन् जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्॥ ३२॥

इसके पश्चात् कश्यप मुनि जलमें स्नान और प्राणायाम आदि समापनपूर्वक वाणीका संयम करके 'भर्ग' शब्दवाच्य ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्मका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करने लगे॥ ३२॥

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत॥ ३३॥

हे भारत! दिति भी अपने निन्दनीय कर्मके कारण अत्यन्त लज्जित होकर विप्रर्षि कश्यपके निकट गयी और मुख नीचा करके कहने लगी॥ ३३॥

श्रीदितिरुवाच—

न मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभोऽवधीत्।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम्॥ ३४॥

दितिने कहा—हे ब्रह्मन्! भूतपति रुद्रके प्रति मैंने अपराध किया है, इसलिए कहीं वे भूतश्रेष्ठ मेरे गर्भको नष्ट न कर दें॥ ३४॥

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे॥ ३५॥

रुत् अर्थात् दुःखोंको विनष्ट करनेके कारण जो रुद्र हैं, जिनका कोई लंघन नहीं कर सकता, जो सकाम व्यक्तियोंके कर्मोंके फल वितरण करनेवाले और निष्काम व्यक्तियोंके लिए 'शिव'—परममङ्गल-स्वरूप हैं। वस्तुतः शासनरूपी दण्ड त्याग करके भी जो दुष्टोंके प्रति दण्डधर तथा संहारकालमें क्रोधस्वरूप हैं, वे महादेव मेरे अपराधको क्षमा करें। उन महादेवको नमस्कार है॥ ३५॥

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः॥ ३६॥

भगवान् रुद्रदेव मेरे बहनोई हैं अर्थात् मेरी बहन सतीके पति हैं, अतः स्त्रियोंके स्वभावको अच्छी तरहसे जानते हैं। निर्दय व्याध भी दयाकी पात्र स्त्रियोंके प्रति कृपा करते हैं, अतएव वे रुद्रदेव मेरे प्रति प्रसन्न हों॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम्।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः॥ ३७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रजापति कश्यपने जब देखा कि सन्ध्याकालीन नियमको भङ्ग करनेके कारण दितिका शरीर भयसे काँप रहा है तथा वह अपनी सन्तानके लिए इसलोक और परलोकमें मङ्गलकी कामना कर रही है, तब वे दितिसे कहने लगे॥ ३७॥

श्रीकश्यप उवाच—

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत।
मन्निदेशातिचारेण देवानाञ्चातिहेलनात्॥ ३८॥

भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ।
लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः॥ ३९॥

श्रीकश्यप मुनिने कहा—हे अभद्रे! तुम्हारा चित्त अपवित्र था और वह सन्ध्याका समय भी दोषपूर्ण था। इस प्रकार तुमने मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है और रुद्र आदि देवताओंकी भी अवज्ञा की है, इसलिए तुम्हारे गर्भसे धर्म एवं मर्यादाको भङ्ग करनेवाले अमङ्गलस्वरूप दो कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होंगे। हे कोपने (चण्डि)! वे भगवान्‌के विद्वेषी होंगे और दिक्पालोंके साथ त्रिभुवन-वासियोंको बार-बार पीड़ित करेंगे॥ ३८–३९॥

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम्।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु॥ ४०॥

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक्॥ ४१॥

जब उनके द्वारा निरपराध और दीन प्राणी मारे जाने लगेंगे, स्त्रियोंपर अत्याचार होने लगेगा और इसके फलस्वरूप महात्मागण क्रोधित होना आरम्भ करेंगे, तब सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् विश्वेश्वर श्रीविष्णु कुपित होकर वराह और नृसिंह अवतार धारण करेंगे और इन्द्र जिस प्रकार पर्वतोंको विदीर्ण कर डालता है, उसी प्रकार वे तुम्हारे दोनों पुत्रोंका वध कर डालेंगे॥ ४०–४१॥

श्रीदितिरुवाच—

वधं भगवता साक्षात् सुनाभोदारबाहुना।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणात् प्रभो॥ ४२॥

दितिने कहा—हे स्वामिन्! मेरी यही प्रार्थना है कि सुदर्शनचक्रधारी स्वयं भगवान्‌के हाथों ही मेरे दोनों पुत्रोंका विनाश हो, किन्तु ब्राह्मणोंके क्रोधरूप शापसे वे विनष्ट न हों॥ ४२॥

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः॥ ४३॥

जो व्यक्ति ब्राह्मणोंके शापसे मारे जाते हैं और जो प्राणियोंको भय देनेवाले होते हैं, नारकीजन भी उनपर कृपा नहीं करते। वे जिन-

जिन योनियोंको प्राप्त होते हैं, उन समस्त योनियोंमें स्थित प्राणी भी उनके प्रति अनुग्रह नहीं करते॥ ४३॥

श्रीकश्यप उवाच—

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात्।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात्॥ ४४॥

पुत्रस्यैव च पुत्राणां भवितैकः सतां मतः।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम्॥ ४५॥

श्रीकश्यप मुनिने कहा—अपने किये हुए अपराधके कारण तुम्हें शोक और पश्चाताप हुआ है तथा शीघ्र ही उचित-अनुचितका ज्ञान भी हो गया है। तुममें भगवान् श्रीहरि और उनके भक्त रुद्रके प्रति भक्ति तथा मेरे प्रति आदर है। अतः इन पाँच कारणोंसे तुम्हारे पुत्रके पुत्रोंमेंसे एक ऐसा होगा, जिसका साधुपुरुष भी सम्मान करेंगे। उसके पवित्र यशका गान भी भगवान्‌के समान ही होगा॥ ४४-४५॥

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम्॥ ४६॥

जिस प्रकार खोटे सोनेको अग्निमें बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार साधु भी तुम्हारे इस पौत्रके जैसा स्वभाव प्राप्त करनेके लिए वैर-भावसे रहित होनेके उपायोंके द्वारा अपने-अपने चित्तको शुद्ध करेंगे॥ ४६॥

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्।
स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा॥ ४७॥

जिन भगवान्‌के अनुग्रहसे उनका स्वरूपभूत यह विश्व आनन्दित होता है, आत्मसाक्षी वे भगवान् भी तुम्हारे उस पौत्र प्रह्लादकी अनन्याभक्तिसे सन्तुष्ट हो जायेंगे॥ ४७॥

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः।

प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति॥ ४८॥

तुम्हारा पौत्र महाभागवत प्रह्लाद महात्मा, महानुभव और महत्-जनोंमें भी अत्यन्त महान होगा। वह तीव्रभक्तिसे अपने चित्तको शुद्धकर उसे भगवान् श्रीहरिमें स्थापित करके देहाभिमानका परित्याग कर देगा॥ ४८॥

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः॥ ४९॥

तुम्हारा पौत्र प्रह्लाद विषयोंमें अनासक्त, सत्स्वभावयुक्त, धैर्यादि गुणोंका समुद्र, दूसरोंकी समृद्धिमें सुखी एवं दूसरोंके दुःखमें दुःखी तथा अजातशत्रु होगा। जिस प्रकार चन्द्रमा ग्रीष्मकालीन तापको हर लेता है, उसी प्रकार प्रह्लाद भी जगत्के शोकका हरण कर लेगा॥ ४९॥

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम्॥ ५०॥

तुम्हारा वह पौत्र उन श्रीभगवान्को सर्वदा अन्दर एवं बाहरमें दर्शन करेगा जो समस्त हेयगुणोंसे रहित, कमलनयन, भक्तोंकी इच्छाके अनुसार अप्राकृत मङ्गलमय विग्रह धारण करनेवाले, लक्ष्मीरूपा ललनाके भूषण-स्वरूप तथा झिलमिलाते कुण्डलों द्वारा सुशोभित मुखमण्डलसे युक्त हैं॥ ५०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम्।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वासीन्महामनाः॥ ५१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—दितिने जब यह सुना कि उसका एक पौत्र महाभागवत होगा, तब वह अत्यधिक आनन्दित हो उठी तथा श्रीविष्णुके द्वारा ही उसके दोनों पुत्रोंका विनाश होगा, यह जानकर उसका चित्त उत्साहसे प्रफुल्लित हो गया॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दितिगर्भाधानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

वैकुण्ठका वर्णन तथा वहाँके द्वारपाल जय और विजयको सनकादिका शाप

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्राजापत्यं हि तत्तेजः परतेजोहनं दितिः।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! प्रजापति कश्यपका शक्तिशाली वीर्य निश्चय ही देवताओंको पीड़ा देनेवाला होगा, इसलिए देवता लोग उसे नष्ट कर सकते हैं—इस भयसे दितिका मन शङ्कित हो उठा और वह उस गर्भको सौ वर्षों तक धारण किये रही॥ १॥

लोके तेनाहतालोके लोकपाला हतौजसः।
न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्॥ २॥

दितिके गर्भके तेजसे जगतमें चन्द्र, सूर्य आदिका प्रकाश अवरुद्ध हो गया तथा इन्द्र आदि लोकपाल प्रभावहीन होकर समस्त दिशाओंमें छाये हुए उस अन्धकारके विषयमें विश्वविधाता ब्रह्माजीसे पूछने लगे॥ २॥

श्रीदेवा ऊचुः—

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः॥ ३॥

देवताओंने कहा—हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं। अतः हम जिससे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं, उस अन्धकारका कारण आप निश्चय ही जानते हैं, क्योंकि काल आपकी ज्ञान-शक्तिमें बाधा देनेमें असमर्थ है॥ ३॥

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित्॥ ४॥

हे देवाधिदेव! हे जगत्‌का उद्धार करनेवाले! हे इन्द्रादि लोकपालोंके चूड़ामणि! आप श्रेष्ठ और निकृष्ट समस्त प्राणियोंके अभिप्रायको जाननेवाले हैं, अतः किस अभिप्रायसे दितिका गर्भ वृद्धिको प्राप्त हो रहा है, इससे भी आप अवगत हैं॥ ४॥

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्ते व्यक्तयोनये॥ ५॥

हे भगवन्! विज्ञान अर्थात् चित्-शक्ति ही आपका बल है। आपने किसी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा ही इस ब्रह्माके शरीरको प्राप्त किया है एवं सृष्टि आदिके लिए रजोगुणको ग्रहण किया है। आप ही दृश्यमान जगत्‌के एकमात्र कारण हैं अथवा प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणके द्वारा आपकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं जाना जाता। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ५॥

ये त्वनन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्॥ ६॥
तेषां सुपक्कयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः॥ ७॥

आप जीवोंके सृष्टिकर्त्ता हैं तथा आपने अपनेमें समस्त जगत् ग्रथित कर रखा है अर्थात् आप चेतन-अचेतन प्रपञ्चके कारण हैं। आप कार्य-कारण स्वरूप होकर भी वस्तुतः इन दोनोंसे अतीत हैं। जो लोग निष्काम भक्तियोगके द्वारा आपका ध्यान करते हैं, वे सब परिपक्व भक्तियोगी आनुषङ्गिक रूपसे प्राणादि वायु, इन्द्रिय और मनको जीत लेते हैं तथा आपकी कृपाको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते हैं। आपकी कृपाको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिकी कहीं भी पराजय नहीं होती॥ ६-७॥

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्र्येव यन्त्रिताः।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः॥ ८॥

जिस प्रकार बैल रस्सीके द्वारा बँधे रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजा आपकी वेदवाणीसे नियन्त्रित होकर अपने-अपने अधिकारके

अनुसार कर्मोंका अनुष्ठान करती हुई आपको पूजा-उपहार समर्पित करती है। इस प्रकारसे सबके मुख्य नियामक या प्राण-स्वरूप आपको नमस्कार है॥ ८॥

स त्वं विधत्स्व शं भूमन् तमसा लुप्तकर्मणाम्।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम्॥ ९॥

हे सर्वव्यापी प्रभो! इस समय सर्वव्यापी अन्धकारवशतः दिन-रातका विभाग स्पष्ट नहीं होनेके कारण जिनके यज्ञ आदि कर्म लुप्त हो गये हैं, उन समस्त लोगोंका आप कल्याण कीजिये। आप अपनी कृपामयी दृष्टिसे विपत्तिमें पड़े हुए हमलोगोंका अनुग्रहपूर्वक अवलोकन कीजिये॥ ९॥

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम्।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा एधतेऽग्निरिवैधसि॥ १०॥

हे देव! कश्यप मुनिके द्वारा स्थापित किये गये वीर्यसे उत्पन्न दितिका यह गर्भ समस्त दिशाओंको अन्धकारसे आच्छादित करता हुआ क्रमशः उसी प्रकार बढ़ रहा है, जिस प्रकार सूखी लकड़ियोंमें अग्नि बढ़ती रहती है॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स प्रहस्य महाबाहो भगवाञ्छब्दगोचरः।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे महाबाहो विदुर! विधाता ब्रह्माने देवताओंकी प्रार्थनाको सुना और फिर इस गर्भको दितिकी कुचेष्टा द्वारा उत्पन्न जानकर मुसकराते हुए बड़ी प्रीतिके साथ सुमधुर वचनोंसे देवताओंसे कहने लगे॥ ११॥

श्रीब्रह्मोवाच—

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः॥ १२॥

श्रीब्रह्माने कहा—इस विपत्तिका कारणरूप प्राचीन कालकी एक अद्भुत कथा सुनो। तुम्हारे पूर्वज भ्राता और मेरे मानसपुत्र सनकादि

ऋषि संसारसे विरक्त होकर आकाशमार्गसे विविध लोकोंमें विचरण किया करते थे॥ १२॥

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥ १३॥

एकबार वे चारों कुमार विचरण करते हुए समस्त लोकोंके शिरोमणि स्वरूप उन भगवान् श्रीनारायणके वैकुण्ठ नामक धाममें पहुँच गये, जिन भगवान्‌की सेवा करनेसे जीवोंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है॥ १३॥

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥ १४॥

जो भी पुरुष उस वैकुण्ठधाममें वास करते हैं, उन सभीका रूप श्रीहरिके समान ही हैं। उन सबने भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिए पूर्वकालमें निष्काम धर्मके द्वारा श्रीहरिकी आराधना की थी, जिसके प्रभावसे अब वे श्रीहरिकी सेवा करते हुए वहाँ विराजमान हैं॥ १४॥

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥ १५॥

उस धाममें एकमात्र वेदान्तके द्वारा ही जानने योग्य धर्ममूर्त्ति आदिपुरुष भगवान् विष्णु शुद्धसत्त्वमयी श्रीमूर्त्तिको धारणकर अपने भक्तोंको आनन्द प्रदान करते हुए विराजमान रहते हैं॥ १५॥

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत्॥ १६॥

उस धाममें मूर्त्तिमान शुद्धभक्तिसुखस्वरूप 'निःश्रेयस' नामक एक वन है। वह वन छहों ऋतुओंके पुष्पादिसे युक्त तथा सभीको अभीष्ट फल प्रदान करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित रहता है॥ १६॥

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्-
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः।

अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः॥ १७॥

वैकुण्ठधामवासी अपनी स्त्रियोंके साथ विमानमें विचरणकर सभी जीवोंकी समस्त प्रकारकी मलिनताओंको नष्ट करनेवाली प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गुणगान करते रहते हैं। वे निरन्तर भगवान्‌के गुणानुकीर्त्तन करनेमें इतने निमग्न रहते हैं कि जब सरोवरोंके तटपर खिली हुई मकरन्दयुक्त माधवी लता अथवा मकरन्द विस्तारकारी वसन्तकालके पुष्पोंकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करती है, उस समय वे इस गन्धको वहन करनेवाली वायुकी ही उपेक्षा कर देते हैं॥ १७॥

पारावतान्यभृत-सारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुक-तित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ १८॥

जिस समय भगवान्‌की वनमालाका अधिकारी कोई भ्रमरराज भगवान्‌के पार्षदोंके द्वारा कीर्त्तित हरिकथाकी भाँति ऊँचे स्वरसे गुञ्जार करते हुए मानो हरिकथाका गान करता है, उस समय वहाँ उपस्थित कपोत, कोकिल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर, मोर आदि पक्षीकुल अपना कोलाहल शीघ्र ही बन्द कर देते हैं—मानो वे उस श्रीहरिके कथाके श्रवणानन्दमें बेसुध हो गये हों॥ १८॥

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति॥ १९॥

तुलसी ही श्रीनारायणका आभूषण-स्वरूप हैं। वैकुण्ठधाममें तुलसीरूप भूषणसे विभूषित श्रीनारायण तुलसीकी सुगन्धका बहुत अधिक आदर करते हैं—यह देखकर मन्दार, पारिजात, कुन्द, कुरवक और रात्रिमें विकसित होनेवाले कमल (उत्पल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग,

नागकेसर, बकुल (मौलसिरी); तथा दिनमें विकसित होनेवाले पद्म आदि पुष्प स्वयं अति सुगन्धसे युक्त होनेपर भी तुलसीकी तपस्याको बहुत अधिक मानते हैं॥ १९॥

तत् सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
वैंदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः।
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः॥ २०॥

वह वैकुण्ठधाम भगवान् श्रीहरिके युगल चरणकमलोंमें प्रणति अर्थात् शरणागतिमूलक भजनसे युक्त भक्तों द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु ज्ञान-कर्मके द्वारा नहीं। वह धाम वैदुर्य एवं मरकत मणियोंसे जड़ित स्वर्णमय विमानोंसे परिपूर्ण रहता है। जिन भक्तोंकी आत्मा श्रीकृष्णमें अर्पित है अर्थात् जो भजनानन्दमें निमग्न रहनेके कारण सांसारिक कामनाओंसे रहित हैं, उनके चित्तमें बड़े नितम्बोंवाली तथा मुस्कानसे युक्त मुखमण्डलवाली ललनाएँ परिहास आदिके द्वारा किञ्चित्मात्र भी काम विकार उत्पन्न नहीं कर पाती। ऐसे भक्तोंके द्वारा ही वैकुण्ठ व्याप्त है॥ २०॥

श्रीरूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः॥ २१॥

जिन परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीदेवीके अनुग्रहको प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवता भी यत्न करते रहते हैं, वे मनोहर मूर्त्तिधारिणी साक्षात् लक्ष्मीदेवी अपनी चञ्चलताको त्याग करके उस वैकुण्ठधाममें वास करती हैं। बीच-बीचमें जिस समय वे अपने चरणकमलोंके नूपुरोंकी झंकार करती हुई हाथमें धारण किये हुए लीलाकमलको घुमाती हैं, उस समय श्रीहरिके स्वर्ण-शोभित स्फटिकमय भवनकी स्वच्छ भित्तिमें प्रतिबिम्बित होकर वे ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो हाथमें झाड़ू लिए मार्जन-सेवामें नियुक्त हों॥ २१॥

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः॥ २२॥

हे देवताओ! उस वैकुण्ठधाममें जब श्रीलक्ष्मीदेवी अपनी दासियोंके साथ निर्मल अमृतके समान जलसे परिपूर्ण सरोवरके पद्मरागमणिसे जड़ित घाटपर स्थित अपने 'लक्ष्मी वन' में तुलसी-दलोंके द्वारा भगवान् श्रीनारायणका भलीभाँति पूजन करती हैं, उस समय अपनी अलकावलियोंसे युक्त और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखकमलको सरोवरके स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्बत देखकर 'यह श्रीभगवान्‌के द्वारा चुम्बित है'—इस भावनासे स्वयंको अत्यन्त सौभाग्यशालिनी मानती हैं॥ २२॥

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त॥ २३॥

जो लोग पापोंका हरण करनेवाले भगवान्‌की सृष्टि आदि लीला-कथाओंको सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली धर्म-अर्थ-कामादि रूप निन्दित कथाओंको सुनते हैं, वे कभी भी उस वैकुण्ठधाममें नहीं पहुँच सकते हैं। हाय! भगवान्‌से इतर ये सब असत् कथाएँ अभागे लोगोंके द्वारा ही सुनने योग्य हैं, क्योंकि वैसी कथाएँ श्रोताओंके सम्पूर्ण पुण्योंका हरण करके उन्हें आश्रयहीन घोर नरकोंमें डाल देती हैं॥ २३॥

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्मं यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत मायया ते॥ २४॥

अहो! जो मनुष्य-जन्म हम ब्रह्मादि देवताओंके लिए भी प्रार्थनीय वस्तु है तथा जो भगवत्-धर्मके साथ-साथ भगवत्-तत्त्वज्ञानकी

प्राप्तिके लिए भी उपयोगी है, वैसे महिमाशाली मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके भी जो समस्त प्रकारके धर्म और ज्ञानके मूल भगवान् श्रीहरिका भजन नहीं करते, वे उन भगवान्की सर्वत्र फैली हुई मायासे ही विमोहित हैं॥ २४॥

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गा॥ २५॥

श्रीहरि समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। जो मनुष्य उनकी लीला-कथाओंके श्रवण, कीर्त्तनादिरूप सेवाके प्रभावसे यमके भयसे निवृत्त हुए हैं, जो कारुण्यादि गुणोंसे युक्त हैं तथा श्रीहरिके सुमङ्गलमय नाम-रूप-गुण-लीलाके परस्पर वर्णनमें अनुरागके कारण जिनके नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं तथा समस्त अङ्ग पुलकित हो जाते हैं, ऐसे भक्तजन ही हमारे (सत्यलोकोंसे भी) ऊपर स्थित श्रेष्ठ वैकुण्ठधाममें गमन करते हैं॥ २५॥

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्॥ २६॥

उस समय सनकादि मुनि योगमायाके प्रभावसे शोक-मोहादि कुण्ठा-धर्मसे रहित परमदिव्य एवं अद्भुत वैकुण्ठधाममें पहुँचकर परमानन्दित हुए। वह वैकुण्ठधाम विश्वगुरु स्वयं श्रीहरिका निवास स्थान होनेके कारण समस्त भुवनोंके द्वारा एकमात्र वन्दनीय और अलौकिक है तथा देवताओंके नाना प्रकारके विमानोंसे सुशोभित रहता है॥ २६॥

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः।
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।

देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७॥

सनकादि मुनि वैकुण्ठधाममें पहुँचकर छह द्वारोंको पार कर गये। भगवान्‌के दर्शनके लिए उनकी ऐसी उत्कण्ठा थी कि वैकुण्ठकी अन्य अद्भुत दर्शनीय-वस्तुओंकी ओर देखे बिना ही वे क्रमशः सातवें द्वारपर उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने एक ही समान-आयुवाले गदाधारी एवं श्रेष्ठ केयूर, कुण्डल, किरीटादिके द्वारा सुन्दर रूपसे सुसज्जित दो द्वारपालोंको देखा॥ २७॥

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ॥ २८॥

वे दोनों द्वारपाल मतवाले भ्रमरोंसे घिरी हुई वनमालासे अलंकृत हो रहे थे। यह माला उन्होंने चार श्यामल भुजाओंके बीचमें धारण कर रखी थी। मुनियोंने देखा कि उनकी भौहें बाँकी हैं, फड़कते हुए नासारन्ध्र और लाल-लाल नेत्रोंके कारण उनका मुख-मण्डल कुछ कुपित-सा प्रतीत हो रहा था॥ २८॥

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः॥ २९॥

वे सनकादि मुनि अपने-परायेके भेदभावसे रहित होकर अपनी बुद्धि द्वारा निःसङ्कोच भावसे सर्वत्र विचरण करते थे। वे कुमार जिस प्रकार पहले उज्ज्वल स्वर्णसे अलंकृत वज्रमय किवाड़ोंसे युक्त छह द्वारोंको लांघकर आये थे, उसी प्रकार दोनों द्वारपालोंसे पूछे बिना ही सातवें द्वारमें प्रवेशकर गये॥ २९॥

तान् वीक्ष्य वातवसनांश्चतुरः कुमारान्
वृद्धान् दशार्द्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।

वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ॥ ३०॥

वे चारों कुमार ब्रह्माकी सृष्टिमें सबसे बड़े होनेपर भी पाँच वर्षके बालकसे जान पड़ते थे। ब्रह्मण्यदेव श्रीभगवान्‌के शील-स्वभावसे विपरीत चरित्रवाले जय-विजय नामक वैकुण्ठके दोनों द्वारपाल उन आत्म-तत्त्वज्ञ चतुःसनको बिलकुल नग्न और निःसङ्कोच रूपसे भीतर जाते देखकर उनके तेजस्वी प्रभावकी अवहेलना कर उनका अनादर कर बैठे। यद्यपि वे मुनि कदापि निवारणके योग्य नहीं थे, तथापि उन दोनों द्वारपालोंने उन कुमारोंको अपने वेत्र दण्डों (बेंत) और वचनों द्वारा रोक दिया॥ ३०॥

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः।
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम्।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत्-
कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः॥ ३१॥

वैकुण्ठवासी देवताओंके समक्ष ही दोनों द्वारपालोंने पूज्यतम मुनियोंको पुरीमें प्रवेश करनेसे रोक दिया, जिससे मुनियोंकी अपने प्रियतम श्रीहरिके दर्शनकी इच्छामें बाधा उपस्थित हो गयी। यह देखकर सनकादि सहसा ही क्रोधसे लाल नेत्रोंसे दोनों द्वारपालोंसे कहने लगे॥ ३१॥

श्रीमुनय ऊचुः—

को वा इहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः।
तस्मिन् प्रशान्त पुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत् कुहकयोः परिशङ्कनीयः॥ ३२॥

मुनियोंने कहा—अरे द्वारपालो! पूर्व-पूर्व जन्मोंमें भगवान्‌की महती सेवाके प्रभावसे वैकुण्ठधामको प्राप्त करके सभी भगवद्धर्म-परायण और समदर्शी पुरुष यहाँ वास करते हैं। यद्यपि तुम दोनों भी उन्हींमेंसे हो, तथापि तुम्हारा इस प्रकारका विपरीत स्वभाव क्यों है? भगवान्

श्रीहरि प्रशान्त पुरुष हैं और उनका कोई भी शत्रु नहीं है। तुम स्वयं कपटी हो, इसलिए दूसरे साधुओंको भी अपने ही समान कपटी मानते हो। इस वैकुण्ठराज्यमें भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त दूसरा कोई भी आ नहीं सकता है, तब फिर ऐसी शङ्का करनेका अवसर कहाँ है?॥ ३२॥

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य॥ ३३॥

जिनके उदरमें सम्पूर्ण विश्व विराजित है अर्थात् शङ्का करने योग्य जो कुछ भी है, वह उनकी कुक्षीमें ही है, अतएव भय कुछ नहीं है; जिन अद्वयज्ञानतत्त्व भगवान्में विद्वान भक्त किसी प्रकारका भेद नहीं देखते (अर्थात् भगवान्से स्वतन्त्र किसी भी वस्तुकी सत्ताका अनुभव नहीं करते हैं), अपितु महाकाशके अन्तर्गत क्षुद्र घटाकाशकी भाँति परमात्मामें अणुचैतन्य जीवात्मस्वरूप अन्तर्भुक्त है (अर्थात् परमात्मा तथा जीवात्मामें गुणगत कोई भेद नहीं है, केवल परिमाणगत भेद है। जीव भगवान्का विभिन्नांश है। दोनों ही समजातीय चेतनधर्मविशिष्ट हैं तथा दोनोंमें सेव्य-सेवक भाव नित्य वर्त्तमान है)—इस रूपमें दर्शन करते हैं। उन श्रीभगवान्के समान देववेश धारण करनेवाले तुम दोनोंमें अन्यान्य राजाओंके समान हत्या करनेका भय किस विशेष कारणसे उत्पन्न हुआ है॥ ३३॥

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र॥ ३४॥

अरे! परमेश्वर वैकुण्ठनाथके मन्दमति सेवको! जिससे तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल हो, हम उसी प्रकारसे तुम्हारे इस अपराधका उपयुक्त प्रायश्चित्त विचार कर रहे हैं। भेद-दर्शनरूप अपने इस

अपराधके कारण तुम दोनों इस वैकुण्ठलोकसे च्युत होकर ऐसी योनियोंमें भ्रमण करते रहो, जहाँ ऐसे अपराधियोंके लिए उपयुक्त काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों शत्रु विद्यमान हैं॥ ३४॥

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५ ॥

मुनियोंके ऐसे वाक्योंको भयानक एवं शस्त्रोंके द्वारा भी अच्छेद्य ब्रह्मशाप जानकर श्रीविष्णुके वे दोनों अनुचर अत्यन्त कातरभावसे उन मुनियोंके चरणोंको पकड़कर उसी समय भूमिपर गिर पड़े। वे जानते थे कि उनके प्रभु श्रीनारायण भी ऐसे ब्राह्मणोंसे बहुत अधिक भयभीत रहते हैं॥ ३५॥

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः॥ ३६ ॥

द्वारपालोंने अत्यन्त कातर होकर कहा—हे मुनियो! महापापियोंके लिए जैसा दण्ड विधान करना उचित है, आपने हमारे प्रति वैसे ही उचित दण्डका विधान किया है—यह आपके लिए उचित ही है। हमने भगवान्‌का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञाका उल्लंघन किया है। इस प्रकारके दण्डसे भगवान्‌की अवज्ञारूप हमारा अपराध सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जायेगा। किन्तु हमारी एकमात्र प्रार्थना यह है कि हमारी इस दुर्दशाका विचार करके यदि आपमें करुणावश अनुतापका लेशमात्र भी हो, तो हमपर ऐसा अनुग्रह कीजिये कि हम चाहे जिस किसी भी अधम योनिमें क्यों न जायें, हमलोग उन-उन योनियोंमें भगवत्-स्मृतिको नष्ट करनेवाले मोहसे ग्रस्त न हों॥ ३६॥

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः।

तस्मिन् ययौ परममहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः॥ ३७॥

इस प्रकारसे जब साधुजनोंके हृदयधन भगवान् पद्मनाभ श्रीनारायणको अपने दोनों द्वारपालोंके द्वारा किये गये महत्-अतिक्रम अर्थात् साधुओंके अनादररूप अपराधका पता चला, तब वे उसी क्षण परमहंस महामुनियोंके द्वारा ढूँढ़े जानेवाले अपने युगल चरणकमलोंसे चलकर लक्ष्मीदेवीके साथ उसी स्थानपर आ पहुँचे॥ ३७॥

तन्त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
शुभ्रातपत्र-शशिकेशरशीकराम्बुम् ॥ ३८॥

भगवान् श्रीनारायणके द्वारा इस प्रकार चलकर आनेपर मुनियोंने अपनी-अपनी समाधिके फलस्वरूप जब अधोक्षज श्रीवैकुण्ठनाथको इन्द्रियोंके गोचर होते देखा, तब वे निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हें निहारने लगे। भगवान्‌के पार्षदगण उनके साथ-साथ गमनोचित छत्र-पादुकादि लेकर चल रहे थे। भगवान्‌के दोनों ओर राजहंसके पंखोंके समान श्वेतवर्णके दो चामर ढुलाये जा रहे थे और सिरपर चन्द्रमाके समान श्वेतछत्र सुशोभित था। उस छत्रके चारों ओर लटकी हुई मोतियोंकी झालरें चामरकी अनुकूल वायु-सञ्चारसे इस प्रकार सञ्चारित हो रही थीं, मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतकी बूँदें झरकर भगवान् श्रीनारायणके श्रीअङ्गको स्पर्श कर रही हों॥ ३८॥

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥ ३९॥

भगवान् श्रीनारायणके सौम्य मुखारविन्दकी सुप्रसन्न दृष्टिसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो वे द्वारपाल और मुनियों—दोनोंपर ही निरन्तर अपनी कृपारूपी सुधाका वर्षण कर रहे हैं। वे समस्त वाञ्छनीय

गुणोंके आलय-स्वरूप हैं। उनका सप्रेम कटाक्ष सभीके हृदयको स्पर्शकर आनन्दित कर रहा था। श्रीलक्ष्मीदेवी उनके विस्तृत वक्षःस्थलपर स्वर्ण-रेखाके रूपमें विराजित थीं। श्रीनारायण सत्यलोकके चूड़ामणि-स्वरूप अपने स्थान वैकुण्ठकी शोभाको बढ़ा रहे थे॥ ३९॥

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥ ४०॥

मुनियोंने देखा कि भगवान् श्रीनारायणके विशाल नितम्बोंपर विराजित पीतवस्त्रके ऊपर झिलमिलाती हुई करघनी एवं उनके वक्षःस्थलपर वनमाला सुशोभित हो रही थी। उस वनमालाके ऊपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे और मणिबन्धपर कंगन सुशोभित हो रहे थे। भगवान् अपना वामहस्त गरुड़जीके कन्धेपर रखे हुए थे और दक्षिण हाथसे लीलाकमल घुमा रहे थे॥ ४०॥

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम्।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्द्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन॥ ४१॥

मुनियोंने देखा कि श्रीनारायणके कपोल विद्युतकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी शोभाको बढ़ा रहे थे। उनका सुन्दर मुखमण्डल उभरी हुई नासिका और सिर जगमगाती मणिमय किरीटसे सुशोभित था। उनकी चारों भुजाओंके बीचमें स्थित वक्षःस्थल महामूल्यवान मनोहर हारसे और कण्ठदेश कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहा था॥ ४१॥

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।
मह्यं भवस्य भवताञ्च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः॥ ४२॥

ऐसे अद्भुत सौन्दर्यसे परिपूर्ण श्रीनारायणकी श्रीमूर्त्तिका दर्शन करके भक्तोंके मनमें तर्क-वितर्क होने लगा—'मैं ही समस्त सौन्दर्यकी निधिःस्वरूप हूँ'—श्रीलक्ष्मीदेवीका यह सौन्दर्याभिमान था, वह अभिमान इस भगवत्-सौन्दर्यके सम्मुख खर्व (कम) हो गया। हे देवताओ! इन भगवान्ने मेरी (ब्रह्माकी), महादेवकी और तुम सब की भजनीय परमसुन्दर श्रीमूर्त्तिको प्रकट किया है। भगवान् श्रीहरिकी उस अद्भुत छविको देख-देखकर मुनियोंके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे। उन्होंने बड़े आनन्दपूर्वक सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४२॥

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥ ४३॥

जैसे ही सनकादि मुनियोंने कमललोचन श्रीनारायणके चरणारविन्दोंमें सिर झुकाया, भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी केसरके समान अङ्गुलियोंके साथ संलग्न हुई तुलसीपत्रकी गन्धसे सुवासित वायुने मुनियोंकी नासिकारन्ध्रोंके माध्यमसे उनके हृदयमें प्रवेश किया, जिससे ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहनेवाले उन मुनियोंके चित्तमें अत्यधिक आनन्दका अनुभव होनेके कारण उनका रोम-रोम खिल उठा॥ ४३॥

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम्।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः॥ ४४॥

जब उन्होंने ऊपरकी ओर दृष्टिपात किया तो नीलकमलके कोशके समान श्रीनारायणके अति शोभाशाली मुखमण्डलपर अरुणवर्णके मनोहर अधर एवं प्रस्फुटित कुन्द-कुसुमके समान उनकी आकर्षक मन्द-मुसकान देखकर वे अत्यधिक आनन्दसे सराबोर हो उठे। मुनियोंने पुनः श्रीनारायणके अरुणवर्णयुक्त मणिसदृश नखसमूहसे सुशोभित श्रीचरणयुगलका दर्शन किया, किन्तु एकसाथ ही उनके सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंकी शोभाके दर्शनमें असमर्थ होनेपर वे मुनिलोग

श्रीचरणकमलोंसे लेकर मस्तक तक भगवान्‌के सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंका ध्यान करने लगे॥ ४४॥

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम्।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः॥ ४५॥

जब मुनिगण ध्यानमें मग्न हो गये, तब भगवान्‌ने उन्हें योगमार्गके द्वारा ढूँढ़े जानेवाले, ध्यानके विषय तथा अत्यन्त आदरणीय अर्थात् तत्त्वदर्शियों द्वारा सम्मत अपने नयनाभिराम रूपका दर्शन कराया। मुनिगण भी असाधारण एवं नित्यसिद्ध अणिमादि अष्ट ऐश्वर्योंसे युक्त उन भगवान्‌की सुन्दर रूपसे स्तुति करने लगे॥ ४५॥

श्रीकुमारा ऊचुः—

योऽन्तर्हितो हृदिगतोऽपि दुरात्मनां त्वं
नाद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन॥ ४६॥

सनत्कुमारादि मुनियोंने कहा—हे अनन्त! आप समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान रहनेपर भी दुष्ट चित्तवाले व्यक्तियोंकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं। किन्तु आज आप हमारे निकट अप्रकाशित नहीं रह सके, क्योंकि हम आपकी कृपासे ही इस समय आपको अपने नेत्रोंके सम्मुख देख रहे हैं। आपसे उत्पन्न हमारे पिता ब्रह्माने जिस समय हमें आपके रहस्यके विषयमें बतलाया था, उसी समय आप कानोंके मार्ग द्वारा हमारी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गये थे। आज तो हमें आपके दर्शनका महासौभाग्य प्राप्त हुआ है॥ ४६॥

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः॥ ४७॥

हे भगवन्! निरभिमानी होनेके कारण असत् विषयोंसे अनासक्त मुनिगण एकमात्र आपकी कृपाके द्वारा ही जिनके स्वरूपसे अवगत होते हैं तथा श्रवणादि लक्षण संयुक्त सुदृढ़ भक्तियोगसे हृदयमें जिस परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि करते हैं, हम समझ गये कि आप ही वे परमतत्त्व हैं। हे प्रभो! आप विशुद्धसत्त्वमय श्रीमूर्त्ति हैं तथा इसीके द्वारा आप प्रतिक्षण भक्तोंके लिए नवनवायमान आनन्दका सृजन करते हैं॥ ४७॥

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किमवन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥ ४८॥

हे भगवन्! आपका सुयश परम मनोहर है, इसलिए एकमात्र वही कीर्त्तनीय एवं परम पवित्र तीर्थस्वरूप है। जो भक्तगण आपके श्रीचरणोंमें शरणागत और आपकी कथाओंके कुशल रसिक हैं, यदि उन्हें आप मोक्षपद देना भी चाहे, तो भी वे उसे ग्रहण नहीं करते, तब फिर आपके कुटिल-कटाक्षसे भययुक्त इन्द्रादि पदोंकी बात ही क्या कही जाये?॥ ४८॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्ता-
च्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥ ४९॥

हे भगवन्! हमने आपके दो भक्तोंके प्रति अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप हमें नरक ही मिलेगा। किन्तु हे नाथ! जिस प्रकार मधुकर काँटोंसे विद्ध होकर भी सुगन्धित पुष्पोंके मधुपानमें रत रहता है, उसी प्रकार यदि हमारा चित्तरूपी भृङ्ग भी आपके श्रीचरणकमलोंके माधुर्यकी रसास्वादन-सेवामें नित्यकाल आसक्त रहे; जिस प्रकार तुलसी अपने गुणोंकी कोई अपेक्षा न करके आपके श्रीचरणोंके सम्बन्धसे ही सुशोभित रहती है, हमारी वाणी भी यदि उसी प्रकार

आपके श्रीचरणोंके गुणानुवर्णनमें नियुक्त रहकर शोभा पाये; हमारे कर्णरन्ध्र सदा-सर्वदा आपके अप्राकृत गुणोंके श्रवणका सौभाग्य प्राप्त करते रहें अर्थात् यदि हम नित्यकाल आपके गुणोंका निरन्तर स्मरण, कीर्त्तन और श्रवणका सौभाग्य प्राप्त कर सकें, तब फिर आपके भक्तोंको अभिशाप देनेके फलस्वरूप हमारा जन्म नरकादि योनियोंमें होनेपर भी हमें कोई चिन्ता नहीं है॥ ४९॥

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूतरूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥ ५०॥

हे विपुलकीर्त्ति प्रभो! आपने जिस श्रीमूर्त्तिको हमारे सम्मुख प्रकट किया है, उस अप्राकृत रूपके दर्शनसे हमारे नेत्रोंको बड़ा ही सुख प्राप्त हुआ है। हे परमेश्वर! आप विषयोंमें आसक्त अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंके लिए अप्रकाशित रहते हैं, तथापि आप कृपापूर्वक हमारे नयनोंके सामने प्रकट हुए हैं। अतः साक्षात् भगवत्-स्वरूप आपको हम प्रणाम करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीवैकुण्ठवर्णनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीहरि द्वारा सनकादि मुनियोंके शापका अनुमोदन

श्रीब्रह्मोवाच—

इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम्।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः॥ १॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओ! वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण योगधर्ममें रत उन स्तवकारी मुनियोंकी स्तुतिको सुनकर आनन्द प्रकाश करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

एतौ द्वौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम्॥ २॥

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात्॥ ३॥

श्रीभगवान्ने कहा—जय और विजय नामक ये दोनों पुरुष मेरे ही पार्षद हैं, किन्तु इन्होंने मेरी अवज्ञा करते हुए आपलोगोंका बहुत अनादर किया है। हे मुनियो! आपलोग भी मेरे परम अनुगत निजजन हैं, अतएव आपके अनादर द्वारा मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, उसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ॥ २-३॥

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुम्भिरसत्कृताः॥ ४॥

ब्राह्मण मेरे परम आराध्य देवता हैं, इसलिए मैं आपसे अनुनय-विनयपूर्वक कह रहा हूँ कि यद्यपि इस विषयमें वस्तुतः मेरा कोई अपराध नहीं है, तथापि मेरे अनुचरोंने अनादरकर आपके

चरणोंमें जो अपराध किया है, उसे मैं अपने द्वारा ही किया हुआ अपराध मानता हूँ और इसलिए आपलोगोंसे प्रसन्नताकी भिक्षा माँगता हूँ॥ ४॥

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः॥ ५॥

यदि सेवक कोई अपराध करता है, तो संसारमें उसके स्वामीका ही नाम लिया जाता है अर्थात् जिस प्रकार श्वेत-कुष्ठरोग त्वचाके सौन्दर्यको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सेवकोंके असाधु आचरणसे स्वामीकी ही कीर्त्तिका लोप होता है॥ ५॥

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥ ६॥

मेरे जिस अमृतस्वरूप निर्मल सुयशको मनोयोगपूर्वक श्रवण करनेसे चण्डाल तक समस्त जगत् शीघ्र ही पवित्र हो जाता है, मैं वही वैकुण्ठ (अर्थात् कुण्ठा या मायिक धर्मसे रहित) हूँ। आपलोग ही मेरी इस सुशोभन कीर्त्तिके विस्तारके मूल कारण हैं। जो व्यक्ति आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरी भुजा स्थानीय लोकेश्वर ही क्यों न हो, मैं उसे तुरन्त काट डालूँगा॥ ६॥

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थमितरे नियमान् वहन्ति॥ ७॥

आपलोगोंकी सेवाके द्वारा ही मेरे चरणकमलोंमें स्थित रज पवित्र होकर सम्पूर्ण जगत्के कामादि मलका तत्काल विनाश कर डालती है। आप लोगोंकी सेवाके प्रभावसे ही मुझे ऐसा स्वभाव प्राप्त हुआ है कि ब्रह्मादि देवता भी जिन लक्ष्मीकी लेशमात्र कृपा-कटाक्ष प्राप्त करनेके लिए तप, व्रतादि बहुत-से नियमोंका पालन करते हैं, वे

लक्ष्मी मेरे उदासीन होनेपर भी मुझे एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ती हैं (अर्थात् जो ब्राह्मणोंके प्रति प्रतिकूल आचरण करता है, मैं उनका विनाश कर देता हूँ)॥ ७॥

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥ ८॥

हे द्विजो! अपने समस्त कर्मफल मुझमें समर्पित करके सदा सन्तुष्ट रहनेवाले ज्ञानयुक्त निष्काम ब्राह्मण जब प्रत्येक ग्रासमें घीसे पके हुए खीरादि स्वादिष्ट पकवानोंका रसास्वादनपूर्वक भोजन करते हैं, तब उनके मुखसे भोजन करते हुए मुझे जैसी तृप्ति होती है, यज्ञमें मेरे अग्निरूप मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियों अर्थात् चारु और पिष्टकादि भोजनको ग्रहण करनेपर भी मुझे वैसी तृप्ति नहीं मिलती॥ ८॥

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः।
विप्रान् नु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान्॥ ९॥

मेरा पवित्र पादोदक गङ्गाजल चन्द्रमौलि महादेवके साथ सभी लोकपालोंको तुरन्त ही पावन करता है। योगमायाका अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है अर्थात् मैं उनका ईश्वर हूँ। इस प्रकार पवित्र एवं परमेश्वर होकर भी मैं जिनके चरणकमलोंमें स्थित निर्मल चरणरजको अपने सिरपर स्थित मुकुटपर धारण करता हूँ, वे ब्राह्मण यदि कोई अपकार भी करें, तो उसे कौन सहन नहीं करेगा?॥ ९॥

ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः॥ १०॥

आचारवान ब्राह्मण, दुग्धवती गौएँ और अनाथ (रक्षक हीन) प्राणी—ये तीनों मेरे ही शरीर स्थानीय हैं। जो इनमें भेद-बुद्धि रखते हैं (अर्थात् इनमें मेरा अधिष्ठान नहीं है, इस प्रकार विचार करके इन्हें मुझसे पृथक् देखते हैं), उनकी विवेक-दृष्टि पापोंसे विनष्ट हो चुकी है। मेरे अधीन रहनेवाले दण्ड देनेके अधिकारी यमके गृध्र जैसे दूत सर्पके समान क्रोधसे भरकर अपनी चोंचोंसे उनकी आँखों और शरीरके माँसको निकाल लेते हैं॥ १०॥

ये ब्राह्मणान् मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद्‌गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाकृतस्तैः ॥ ११ ॥

यदि ब्राह्मण कटु वाक्य भी कहे, तब भी जो मुझमें बुद्धिको स्थिर रखकर अर्थात् वासुदेवसे सम्बन्धित जानकर प्रसन्न चित्तसे उनका अर्चन करते हैं, तथा जिस प्रकार पुत्रवत् स्नेहके द्वारा मैं भृगु या आपको सन्तुष्ट करता हूँ, उसी प्रकार जो प्रसन्न चित्त और मन्द-मुसकानसे युक्त प्रेमपूर्ण वचनोंके द्वारा उन ब्राह्मणोंका स्तव करते हैं, मैं उनके वशीभूत हो जाता हूँ॥ ११॥

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत् कल्प्यतामचिरतो भृतयोर्विवासः॥ १२॥

अतएव मेरे इन दोनों सेवकोंने मेरे अभिप्रायको न समझकर ही आपके प्रति अपराध किया है। ये दोनों तुरन्त ही अपराधके दण्डको भोगकर पुनः मेरे समीप आ जायें। इन दोनों सेवकोंका स्थान भ्रष्ट होकर अन्यत्र वास शीघ्र ही समाप्त हो जाये—यही मेरे प्रति आपका यथेष्ट अनुग्रह होगा॥ १२॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम्।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत॥ १३॥

श्रीब्रह्माने कहा—देवताओ! यद्यपि सनकादि ऋषियोंका चित्त सर्पके समान महाक्रोधरूप विषसे अभिभूत था, तथापि भगवान्‌के ऐसे कमनीय, सुमधुर और योग्य वचनोंको सुनकर उनका चित्त तृप्त नहीं हो रहा था (अर्थात् भगवान्‌की ऐसी मधुर वाणीको श्रवण करनेकी उनकी इच्छा और भी बढ़ गयी)॥ १३॥

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम्॥ १४॥

श्रीभगवान्‌ने अल्प अक्षरोंमें ही अर्थसे परिपूर्ण, गम्भीर, दुर्विज्ञेय और अपार-मर्मसे युक्त सुमधुरवाणीसे जो कुछ कहा, सनकादि ऋषियोंने कानोंको पसारकर मनोनिवेशपूर्वक उसे सुनकर विचार किया—क्या भगवान् हमारी प्रशंसा कर रहे हैं अथवा हमने जिस दण्डका विधान किया है, उसे ही हल्का कर रहे हैं? इस विषयमें भगवान्‌के गूढ़ अभिप्रायको वे समझ ही न सके॥ १४॥

ते योगमाययारब्ध-पारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्राचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥ १५॥

तत्पश्चात् 'श्रीभगवान् उनका अभिनन्दन ही कर रहे हैं',—ऐसा स्थिरकर वे ब्राह्मण आनन्दित हो गये और उनका रोम-रोम खिल उठा। फिर योगमायाके द्वारा अपने ब्रह्मभावसे परम उत्कृष्ट प्रभावको प्रकट करनेवाले भगवान्‌से वे हाथ जोड़कर कहने लगे॥ १५॥

श्रीऋषय ऊचुः—

न वयं भगवन् विद्मस्तव देव चिकीर्षितम्।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे॥ १६॥

ऋषियोंने कहा—हे स्वप्रकाश भगवन्! आपने सर्वेश्वर होकर भी 'मेरे प्रति आपलोगोंने बड़ा अनुग्रह किया है'—यह जो कहा है, इसका यथार्थ अभिप्राय हमारी समझमें नहीं आ रहा है॥ १६॥

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम्॥ १७॥

हे प्रभो! आप ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, इसलिए आप 'ब्राह्मण मेरे परम देवता हैं'—लोकशिक्षाके लिए ही ऐसा कहते हैं, किन्तु वस्तुतः आप देवपूज्य ब्राह्मणोंके भी मूलदेवता और आराध्यदेव हैं॥ १७॥

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान् मतः॥ १८॥

हे भगवन्! सनातनधर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए आपके अवतारोंके द्वारा वह समय-समयपर संरक्षित होता रहता है। निर्विकार आप ही उस धर्मके परम गुह्य फल-स्वरूप हैं—यही शास्त्रवेत्ताओंका स्थिर सिद्धान्त है। (अतएव आपका ऐसा आचरण लोक शिक्षाके लिए है)॥ १८॥

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्।
योगिनः स भवान् किंस्विदनुगृह्येत यत्परैः॥ १९॥

आपकी कृपासे लोग वैराग्ययुक्त योगी होकर अनायास ही मृत्युरूप संसार सागरसे तर जाते हैं। ऐसे होकर भी आप दूसरोंसे अनुग्रहकी प्रार्थना करते हैं—इसका तात्पर्य क्या है?॥ १९॥

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना॥ २०॥

भक्तोंके अतिरिक्त ऐश्वर्य अभिलाषी अन्यान्य सकाम पुरुष जिनकी पदरेणुको अपने-अपने सिरपर धारण करते हैं, वे लक्ष्मीदेवी निरन्तर आपकी सेवामें लगी रहती हैं तथा ऐसा जान पड़ता है कि सुकृतिवान भक्तों द्वारा आपके चरणोंमें अर्पित नवीन तुलसी-दलपर गुञ्जार करनेवाले भौरोंके समान वे भी आपके चरणकमलोंको ही अपना निवासस्थान बनाना चाहतीं हैं॥ २०॥

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत् परमभागवतप्रसङ्गः।

स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्॥ २१॥

आप परम-भागवतजनोंमें एकान्तिक रूपसे इतने आसक्त हैं कि आपकी विशुद्ध सेवामें निरन्तर रत रहनेवाली लक्ष्मीदेवीका भी आप अधिक आदर नहीं करते। अतः ऐसे सर्व-सौभाग्यनिधि, स्वयं षड़ैश्वर्यपूर्ण और परम शुद्ध आपको क्या पथ-पथपर संलग्न ब्राह्मणोंकी पद-धूलि और श्रीवत्स चिह्न पवित्र कर सकते हैं? किसलिए आप इन दोनोंको भूषणरूपमें अङ्गीकार करते हैं? हम तो ऐसा समझते हैं कि आप लोकशिक्षाके लिए ही ऐसा करते हैं॥ २१॥

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम्।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य॥ २२॥

हे भगवन्! आप 'त्रियुग' हैं अर्थात् आप तीनों युगोंमें ही साक्षात् रूपसे आविर्भूत होते हैं[१] (अथवा त्रियुगल अर्थात् षड़विध ऐश्वर्य अथवा भग आपमें वर्त्तमान हैं)। साक्षात् धर्मस्वरूप आपके असाधारण तपस्या, शौच और दयारूप तीन चरण अपने विनाशक रज एवं तमोगुणका नाश करते हैं तथा हमारे प्रति वरदायिनी विशुद्धसत्वस्वरूप श्रीमूर्त्ति धारणकर आप देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रयोजनके लिए उक्त तीनों पादों द्वारा इस चराचर जगत्का पालन करते हैं॥ २२॥

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदि हात्मगोपं
गोप्ता वृषस्त्वर्हणेन ससूनृतेन।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत् प्रमाणम्॥ २३॥

हे देव! आप सर्वश्रेष्ठ होकर भी यदि सुमधुर वचनों और पूजनादि द्वारा अपने रक्षणीय ब्राह्मणोंकी रक्षा नहीं करेंगे, तो आपके द्वारा स्थिर किया हुआ मङ्गलमय वेदमार्ग सम्पूर्ण रूपसे ही विनष्ट

---

[१] चतुर्थ कलियुगमें भगवान् प्रच्छन्न रूपसे श्रीमन् चैतन्य महाप्रभुके रूपमें प्रकट होते हैं।

हो जायेगा, क्योंकि सभी लोग श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरणको ही प्रमाण रूपमें ग्रहण करते हैं॥ २३॥

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः॥ २४॥

वेदमार्गका समूल विनाश करना आपका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि आप विशुद्धसत्त्वकी निधिस्वरूप हैं तथा लोगोंके कल्याणकी कामनासे आप अपने शक्तिस्वरूप राजा आदि अवतारोंके द्वारा धर्म-विरोधियोंको समूल उखाड़ फेंकते हैं। त्रिभुवनके अधीश्वर एवं विश्वके पालनकर्त्ता होकर भी धर्मकी रक्षाके लिए आप जो ब्राह्मणोंके सम्मुख अवनत होनेका अभिनय करते हैं, उससे आपका प्रभाव क्षीण नहीं होता, बल्कि यह तो आपकी एक लीला अर्थात् कौतुक-विशेष प्रतीत होता है॥ २४॥

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम्।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण॥ २५॥

हे जगदीश्वर! आप अपने इन दोनों सेवकों (द्वारपालों) के लिए यदि कोई दूसरा दण्ड देना चाहते हैं अथवा पुरस्कार रूपमें इनकी वृत्तिको बढ़ानेकी इच्छा करते हैं, तो हम निष्कपट रूपसे उसका अनुमोदन करेंगे। तथा हमने जो इन निरपराध सेवकोंको अभिशाप दिया है, उसके लिए हमारे प्रति भी उपयुक्त दण्डका विधान करें, हम उसे भी सहर्ष स्वीकार करेंगे॥ २५॥

श्रीभगवानुवाच—

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृत-समाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवेत विप्राः॥ २६॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे मुनियो! ये दोनों शीघ्र ही असुरयोनिको प्राप्त होंगे तथा क्रोधावेशसे वर्द्धित एकाग्रताके कारण इनका योग सुदृढ़ होगा जिससे ये शीघ्र ही पुनः मेरे समीप आ जायेंगे। आपने इन्हें जो अभिशाप दिया है, वास्तवमें वह मेरी ही प्रेरणासे हुआ है॥ २६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयानानन्दभाजनम्।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठञ्च स्वयम्प्रभम्॥ २७॥
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च।
प्रजिग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्॥ २८॥

श्रीब्रह्माने कहा—इसके बाद उन मुनीश्वरोंने नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले एवं स्व-प्रकाश भगवान् वैकुण्ठनाथ और उनके द्वारा अधिष्ठित वैकुण्ठधामका दर्शन करके प्रसन्नचित्तसे प्रभुकी परिक्रमाकी और उन्हें प्रणाम किया। फिर वे भगवान् श्रीविष्णुसे अनुमति लेकर उनके ऐश्वर्यका परस्पर वर्णन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे अपने-अपने स्थानोंकी ओर चले गये॥ २७-२८॥

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतन्तु मे॥ २९॥

तत्पश्चात् भगवान्‌ने जय और विजय नामक अपने उन दोनों अनुचरोंसे कहा—अब तुम इस स्थानसे चले जाओ तथा मनमें किसी प्रकारका भय मत करो। तुम्हारा कल्याण हो। यद्यपि मैं ब्रह्मशापका खण्डन करनेमें समर्थ हूँ, तथापि वैसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है, क्योंकि यही मेरा अभिमत है॥ २९॥

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते॥ ३०॥

पूर्व समयमें जब मैं योगनिद्रामें शयन कर रहा था, उस समय मेरे घरसे बाहर गयी हुई श्रीलक्ष्मीदेवीने जब पुनः घरमें प्रवेश करनेकी

इच्छा की थी, तब भी तुमने उन्हें द्वारपर रोक दिया था। उस समय क्रुद्ध होकर श्रीलक्ष्मीदेवीने तुम्हारे लिए अभी इन ब्राह्मण ऋषियों द्वारा दिये गये शापकी व्यवस्था पहलेसे ही निर्दिष्ट कर रखी थी॥ ३०॥

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः॥ ३१॥

अब दैत्ययोनिमें मेरे प्रति निरन्तर क्रोध-वृत्तिरूप योग रहनेसे तुममें जो एकाग्रता होगी, उससे अल्पकालमें ही तुम ब्राह्मणके अनादरसे उदित पापसे मुक्त हो जाओगे और पुनः मेरे पास लौट आओगे॥ ३१॥

द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत्॥ ३२॥

दोनों द्वारपालोंको इस प्रकारका आदेश देकर भगवान्ने विमान-श्रेणियोंसे विभूषित एवं सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न अपने धाममें प्रवेश किया॥ ३२॥

तौ तु गीर्वाणवृषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ॥ ३३॥

वे दोनों देवश्रेष्ठ दुस्तर ब्रह्मशापके कारण वैकुण्ठलोकसे अधःपतित होनेके कारण श्रीहीन हो गये और उनका समस्त गर्व नष्ट हो गया॥ ३३॥

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः॥ ३४॥

हे देवताओ! जैसे ही वे दोनों वैकुण्ठलोकसे गिरने लगे, उस समय श्रेष्ठ-विमानोंमें बैठे हुए देवताओंमें महान् हा-हाकार मच गया॥ ३४॥

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम्॥ ३५॥

भगवान्‌के उन दोनों पार्षदोंने इस समय दितिके गर्भमें स्थित कश्यप मुनिके उग्र तेज (वीर्य) में प्रवेश किया है॥ ३५॥

तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति॥ ३६॥

उन दोनों असुरोंके तेजसे ही इस समय तुमलोगोंका तेज फीका हो रहा है। मुझमें इसे रोकनेकी शक्ति नहीं है, क्योंकि भगवान्‌की इच्छासे ही यह सब हुआ है॥ ३६॥

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥ ३७॥

जो आदिपुरुष इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूल कारण हैं, जिनकी योगमाया शक्तिको बड़े-बड़े योगेश्वर भी पार नहीं पा सकते, वे सत्त्वादि त्रिगुणोंके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि ही सत्त्वगुणके उत्कर्ष कालमें स्वयं ही हमारा मङ्गल-विधान करेंगे। अतः इस विषयमें चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे जयविजयभ्रंशो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! तदनन्तर ब्रह्माजीके मुखसे उस उपद्रवकी उत्पत्तिका कारण अर्थात् दितिके गर्भतेजका कारण जानकर समस्त देवताओंकी शङ्का दूर हो गयी और वे निर्भय होकर स्वर्गलोकको लौट गये॥ १॥

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ॥ २॥

इधर साध्वी दितिको भी अपने पतिके कथनानुसार अपनी दोनों सन्तानोंके द्वारा देवताओंके प्रति किये जानेवाले उपद्रवादिके विषयमें आशङ्का बनी रहती थी, अतः उसने एक सौ वर्षका गर्भकाल पूर्ण हो जानेपर दो यमज (जुड़वा) पुत्रोंको जन्म दिया॥ २॥

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः॥ ३॥

इन दोनों सन्तानोंके जन्म लेते ही स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरीक्षमें बहुत-से उपद्रव होने लगे, जिनके कारण लोग अत्यन्त भयभीत हो गये॥ ३॥

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः॥ ४॥

उस समय पर्वतों आदिके साथ समस्त पृथ्वी काँपने लगीं, दिशाएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं, उल्कापातके साथ-साथ वज्रपात होने लगा और आकाशमें लोगोंके लिए अनिष्ट-सूचक धूमकेतु (पुच्छल-तारे) दिखायी देने लगे॥ ४॥

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फुत्कारानीरयन्मुहुः।
उन्मूलयन्नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः॥ ५॥

बार-बार साँय-साँय करती हुई विकट और असहनीय आँधी बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ती हुई प्रवाहित होने लगी। उस समय प्रबल आँधीके झौंके उसकी सेना तथा उड़ती धूल उसकी ध्वजाके समान जान पड़ती थी॥ ५॥

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्॥ ६॥

उस समय आकाशमें विद्युत्रूप अट्टहाससे युक्त घनघोर मेघमालाओंने सूर्यादि ग्रह-नक्षत्रोंके प्रकाशको ढक दिया जिससे नभमण्डलमें सर्वत्र अन्धकार छा गया और कहीं कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था॥ ६॥

चुक्रोश विमना वार्द्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः॥ ७॥

समुद्र मानो दुःखी होकर गर्जन (विलाप) करने लगा, उसमें ऊँची-उँची विकराल तरङ्गें उठने लगीं, जिससे उसके भीतर रहनेवाले मकर आदि जलजन्तु क्षुब्ध हो उठे। सरोवरों, कूपों तथा सभी नदियोंमें भी ऐसी खलबली मच गयी कि उनमें खिलनेवाले समस्त कमल सूख गये॥ ७॥

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे॥ ८॥

राहुसे ग्रस्त चन्द्रमा और सूर्यके अमङ्गलसूचक परिधि-मण्डल बार-बार दिखायी देने लगे, बिना बादलोंके ही पुनः-पुनः मेघगर्जन होने लगा तथा पर्वतोंकी गुफाओंसे रथ-चक्रकी घरघराहट जैसा भयावह शब्द निकलने लगा॥ ८॥

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम्।
शृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः॥ ९॥

गाँवोंमें गीदड़ एवं उल्लुओंकी भयानक ध्वनिके साथ सियारिनें अपने मुखसे दहकती आग उगलती हुई अमङ्गलसूचक चित्कार करने लगीं॥ ९॥

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम्।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः॥ १०॥

जहाँ-तहाँ कुत्ते गर्दन ऊपर उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे॥ १०॥

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम्।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः॥ ११॥

हे विदुर! गधे झुण्ड बनाकर अपने तीक्ष्ण खुरोंसे पृथ्वीको खोदने लगे और उन्मत्त होकर रेंकते हुए चारों दिशाओंमें इधर-उधर दौड़ने लगे॥ ११॥

रुदन्तो रासभात्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत॥ १२॥

गधोंके रेंकनेसे भयभीत होकर पक्षी खेद सूचक रोदन करते हुए अपने-अपने घोंसलोंसे उड़ने लगे। अपने खिरकोंमें बँधे हुए तथा वनमें चरते हुए गाय-बैल आदि सभी पशु डरकर बार-बार मलमूत्र त्यागने लगे॥ १२॥

गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः।
व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम्॥ १३॥

गायें इतनी डर गयीं कि उनके थनोंसे रक्तयुक्त दुग्ध निकलने लगा तथा बादलोंसे पीब बरसने लगा। सभी देव-प्रतिमाओंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और आँधीके बिना ही वृक्ष उखड़-उखड़ कर भूमिपर गिरने लगे॥ १३॥

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम्॥ १४॥

शनि और मङ्गलादि क्रूर ग्रह भी अत्यन्त उद्दीप्त होकर बृहस्पति और शुक्रादि शुभ ग्रहोंको लाँघकर चलने लगे तथा वक्रगतिसे पीछे चलकर परस्पर युद्ध करने लगे॥ १४॥

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातान्नतत्तत्त्वविदः प्रजाः।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसंप्लवम्॥ १५॥

इनके अतिरिक्त और भी अनेक भयङ्कर उत्पातोंको देखकर ब्रह्मापुत्र सनकादिके अतिरिक्त अन्य समस्त प्रजा शापके कारण दैत्योंकी उत्पत्तिके विषयमें न जाननेके कारण भयभीत होकर यही समझने लगी कि अब विश्वमें प्रलय होनेवाली है॥ १५॥

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव॥ १६॥

इधर उन दोनों आदि दैत्योंका पूर्वसिद्ध पराक्रम सहसा प्रकाशित होने लगा और उनका शरीर दिन-प्रतिदिन दो बृहत् पर्वतोंके समान विशाल तथा पत्थरके समान कठोर होने लगा॥ १६॥

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
र्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः॥ १७॥

उन दैत्योंके स्वर्णमय मुकुटोंका अग्रभाग मानो स्वर्गको स्पर्श करने लगा और उनके विशाल शरीरने दिशाओंको ढक लिया। उनकी भुजाएँ स्वर्णनिर्मित बाजूबन्द आदिसे सुशोभित हो रही थीं तथा उनके द्वारा पृथ्वीपर एक-एक कदम रखनेपर भूकम्प होने लगता था। जब वे खड़े होते थे, तब उनके कटिदेश (कमर) पर स्थित सुशोभित करधनी अपनी चमचमाहटसे सूर्यको भी मात करती थी और कटिदेशकी ऊँचाई सूर्यको भी पार कर देती थी॥ १७॥

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीत्
यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः॥ १८॥

प्रजापति कश्यपने उन दोनों जुड़वा पुत्रोंका नामकरण किया। इनमें जो कश्यप मुनिके वीर्य द्वारा दितिके गर्भमें पहले स्थापित हुआ था, उस ज्येष्ठ पुत्रका नाम हिरण्यकशिपु रखा और जो दितिके गर्भसे पहले निकला उस कनिष्ठ पुत्रका नाम हिरण्याक्ष रखा॥ १८॥

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च।
वशे सपालान् लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः॥ १९॥

हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीके वरसे मृत्यरहित होकर तथा अपनी भुजाओंके बलसे गर्वित होकर दिक्पालोंके साथ तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया था॥ १९॥

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम्।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम्॥ २०॥

उस हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रिय तथा सदा प्रियकार्य करनेवाला छोटा भाई हिरण्याक्ष एक दिन हाथमें गदा लेकर युद्धका अवसर खोजता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा॥ २०॥

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम्।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम्॥ २१॥
मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम्।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः॥ २२॥

हिरण्याक्षका वेग दुःसहनीय था, उसके दोनों पैरोंसे सोनेके नूपुरोंकी झनकार हो रही थी, गलेमें वैजयन्ती अर्थात् पुष्प-पल्लवादिसे निर्मित माला सुशोभित थी, कन्धेपर विशाल गदा रखी हुई थी, शारीरिक बल, मनोबल और ब्रह्माजीके वरदानसे वह क्रमशः गर्वित, निरङ्कुश और निर्भय हो गया था। उसे देखकर देवता इस प्रकार

डरकर छिप गये, जिस प्रकार गरुड़को देखकर सर्प डरकर छिप जाते हैं॥ २१–२२॥

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट्।
सेन्द्रान् देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद्भृशम्॥ २३॥

दैत्यराज हिरण्याक्षने जब देखा कि देवराज इन्द्रके साथ अपनी शक्तिका गर्व करनेवाले बड़े–बड़े देवता भी उसके तेजसे डरकर छिप गये हैं, तो अपने समक्ष किसीको न देखकर वह अत्यधिक मतवाला हो गया और भीषण गर्जना करने लगा॥ २३॥

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम्।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः॥ २४॥

इसके बाद वह महाबली हिरण्याक्ष स्वर्गसे लौट आया और जल–क्रीड़ा करनेकी अभिलाषासे उसने मतवाले हाथीके समान अत्यन्त गहरे और भयङ्कर गर्जन करनेवाले समुद्रमें प्रवेश किया॥ २४॥

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः॥ २५॥

जैसे ही उस हिरण्याक्षने समुद्रमें प्रवेश किया, वरुणकी सेना–स्वरूप जलजन्तु भयके कारण घबरा गये। वे उसके तेजसे इस प्रकार डर गये कि उसके द्वारा प्रताड़ित न किये जानेपर भी वे सब बहुत दूर भाग गये॥ २५॥

स वर्षपूगानुदधौ महाबल–
श्चरन्महोर्मीन् श्वसनेरितान्मुहुः।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी–
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः॥ २६॥

हे विदुर! वह महाबली दैत्य बहुत वर्षों तक समुद्रमें विचरण करता रहा, किन्तु अपने सामने किसी प्रतिपक्षी योद्धाको न पाकर वह बार–बार अपनी निःश्वास वायुके वेगसे उठी हुई समुद्रकी प्रचण्ड

तरङ्गोंपर ही काली लौहमयी गदासे बारबार आघात करने लगा। हे विदुर! इसके बाद वह विचरण करते हुए वरुणदेवकी विभावरी नामक पुरीमें पहुँचा॥ २६॥

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम्।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम्॥ २७॥

वहाँ पाताललोकके पालक (स्वामी) तथा जलचरोंके अधिपति वरुणदेवको देखकर बड़े गर्वसे उनका उपहास करनेके लिए ही मानो उसने उन्हें प्रणाम किया और नीचके समान मुसकराते हुए व्यंग्य करते हुए कहने लगा—हे महाराज! मुझे युद्धकी भिक्षादान दीजिये॥ २७॥

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम्।
विजित्य लोके किल दैत्यदानवान्
यद्राजसूयेन पुरायजत् प्रभो॥ २८॥

हे प्रभो! आप लोकपालोंके अधीश्वर, महायशस्वी और अपनी वीरताका अभिमान करनेवाले दुर्मद व्यक्तियोंके दर्पको चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले हैं। आपने पहले भी इस लोकमें दैत्य-दानवोंको पराजित करके राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था, अब मेरे साथ युद्ध करके अपनी पूर्वकीर्त्तिका संरक्षण कीजिये॥ २८॥

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपाम्पतिः।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया
न्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम्॥ २९॥

मदमत्त शत्रुके द्वारा इस प्रकार उपहास किये जानेपर जलके अधिपति वरुणदेवको बहुत क्रोध आया, किन्तु उन्होंने अपने बुद्धि-बलसे क्रोधका सम्वरण कर लिया और कहा—हे दैत्यराज! हमें अब युद्धादिमें कोई रुचि नहीं रह गयी है॥ २९॥

पश्यामि नान्यं पुरुषात् पुरातनाद्-
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम्।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः॥ ३०॥

हे दैत्यराज! एक पुराणपुरुष विष्णुके अतिरिक्त हमें ऐसा और कोई व्यक्ति दिखायी नहीं देता है, जो युद्ध-विद्यामें निपुण तुम्हारे साथ युद्ध करके तुम्हें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ हो। अतएव तुम्हारे समान वीर जिनकी स्तुति किया करते हैं, तुम उन विष्णुके ही पास जाओ, क्योंकि वे ही तुम्हारी कामनाको पूर्ण कर सकते हैं॥ ३०॥

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया॥ ३१॥

वे महावीर हैं, अतः जैसे-ही तुम उनके पास पहुँचोगे, तुम्हारा गर्व शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा और तुम युद्ध क्षेत्रमें कुत्तों आदिसे घिरकर वीर-शय्यापर शयन करोगे। श्रीविष्णु साधुओंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए और तुम्हारे समान दुष्टोंके विनाशके लिए नृसिंह, वराह आदि रूप धारण किया करते हैं॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्ष-दिग्विजये आदिदैत्योत्पत्तिर्नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अष्टादशोऽध्यायः

हिरण्याक्षके साथ भगवान् वराहदेवका युद्ध

श्रीमैत्रेय उवाच—

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदा-
द्रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जलाधिपति वरुणसे प्रतियोद्धाके विषयमें सुनकर भी महाबलके मदसे उन्मत्त उस दैत्यने वरुणदेवके इस तिरस्कार कथन 'तू उनके हाथसे मारा जायेगा' पर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु दैववशतः समागत श्रीनारदसे श्रीहरिके स्थानका पता लगाकर वह शीघ्र ही रसातलमें पहुँच गया॥ १॥

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः॥ २॥

वहाँ रसातलमें उसने सर्वजयी, धराधारी वराहरूपी श्रीहरिको अपनी दाढ़ोंकी नोंकपर धरतीको ऊपरकी ओर ले जाते देखा। उस समय श्रीवराहदेव मानो अपने लाल-लाल और चमकीले नेत्रोंसे उस दैत्यका तेज हर रहे थे। हिरण्याक्ष दैत्य श्रीभगवान्‌को इस रूपमें देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—"अरे! यह तो एक जलचर वराह है॥"२॥

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता।

न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितशूकराकृते ॥ ३ ॥

इसके बाद उस दैत्यने वराहरूपी श्रीभगवान्‌से कहा—रे मूर्ख! जरा इधर तो आ। इस पृथ्वीको छोड़ दे, क्योंकि इस धराको तो ब्रह्माने हम पातालवासियोंको दे रखा है। हे वराहरूपधारी देवताधम! मेरे देखते-देखते क्या तू पृथ्वीको लेकर यहाँसे कुशलतापूर्वक जा सकेगा? ॥ ३ ॥

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४ ॥

अरे सुराधम! क्या मेरे परम शत्रु देवताओंने तुझे मेरे नाशके लिए पाला-पोसा है। तू तो चोरके समान लुक-छिपकर रहता है और मायाके द्वारा असुरोंका विनाश करता रहता है। अरे मूर्ख! योगमाया ही तो तेरा बल है, किन्तु वास्तवमें तुझमें कोई बल नहीं है। तेरे जैसे दुर्बलका विनाश करके आज मैं अपने सुहृदोंका दुःख दूर करूँगा ॥ [१] ४ ॥

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

जब मेरे हाथसे यह गदा छूटेगी, तो इसके आघातसे तेरा सिर चूर्ण-विचूर्ण हो जायेगा और तू मारा जायेगा। उस समय तेरे जो

---

[१] (पक्षान्तरमें—)हमारे वैरीपक्ष देवताओंने हमें मोक्ष प्राप्त करानेके लिए क्या आपका आश्रय लिया है? आप तो अप्रत्यक्ष रूपमें रहकर भी कृपापूर्वक असुरों तकको सद्‌गति प्रदान करते हैं तथा महामूढ़जनों तकको भी अपनी भक्ति प्रदानकर तुष्ट करते हैं। योगमाया ही आपकी अचिन्त्यशक्ति है, कारणार्णवशायी महत्स्रष्टा पुरुषका विश्वसृष्टि आदि पौरुष भी आपके अनुरूप नहीं है। भक्तियोगसे आपको हृदयमन्दिरमें संस्थापन करके मैं अपने सुहृद्‌गुणोंका संसार-दुःख दूर करूँगा।

भक्त, ऋषि एवं देवता आदि तुझे पूजोपहार अर्पण करते हैं, वे स्वयं ही निर्मूल होकर नष्ट हो जायेंगे॥ ५॥

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम्।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्-
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः॥ ६॥

शत्रुके इस प्रकारके कटु वचनरूप अस्त्रोंसे परम व्यथित होनेपर भी भगवान् वराहदेव अपने दाढ़ोंकी नोकपर स्थित पृथ्वीको भयविह्वल होते देखकर दैत्यके दुर्वचनरूप बाणोंकी चोटोंको सहन कर गये। मकर आदि जलजन्तुओंके द्वारा आहत गजराज जिस प्रकार हथिनीके साथ जलसे निकल आता है, उसी प्रकार भगवान् धरतीको लेकर जलसे बाहर निकल आये॥ ६॥

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवी-
द्गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम्॥ ७॥

हिरण्याक्षके तिरस्कारकी उपेक्षा करते हुए भगवान् श्रीवराहदेव जिस समय जलसे बाहर निकले, उस समय ग्राह जिस प्रकार हाथीका पीछा करता है, उसी प्रकार वह भयङ्कर दाढ़ों और पीले केशोंवाला हिरण्याक्ष उनका पीछा करते हुए वज्रके समान गर्जन करते हुए कहने लगा—"अरे निर्लज्ज! भाग रहा है! सच है, असत् पुरुष (कापुरुष) के लिए कुछ भी निन्दनीय नहीं है॥"७॥

स गामुदस्तात् सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात् स्वसत्त्वम्।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः॥ ८॥

भगवान्ने दैत्यके वचनोंकी चिन्ता न कर पृथ्वीको ले जाकर जलकी सतहपर अपनी दृष्टिके समक्ष स्थापित कर दिया और उसमें

अपनी आधार शक्ति निहित कर दी। उस समय ब्रह्माजी उनकी स्तुति करने लगे और देवता उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ ८॥

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम्।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे॥ ९॥

स्वर्णमय आभूषणों एवं विचित्र काञ्चनमय कवचसे विभूषित दैत्य हिरण्याक्ष बहुत भारी गदा लिये भगवान्‌के पीछे-पीछे आ रहा था और अपने कटु वचनोंसे वराहदेवको निरन्तर मर्मान्तक पीड़ा प्रदान कर रहा था। अब भगवान् बहुत क्रोधित हो उठे और उसका उपहास करते हुए कहने लगे॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान् मृगये ग्रामसिंहान्।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र॥ १०॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अभद्र! हम तो सचमुच जलचर शूकर हैं तथा तेरे जैसे ग्राम-सिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ते रहते हैं। अरे! तू तो मृत्यु-पाशमें बँधा हुआ है। मेरे जैसे वीर पुरुष कभी भी तेरे जैसे अभागे जीवोंकी आत्मश्लाघा (स्वयं ही अपनी महिमा गान करने) पर ध्यान नहीं देते॥ १०॥

एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्राविताास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम्॥ ११॥

रसातलवासियोंकी धरोहरको चुरानेके कारण निस्सन्देह मैं बहुत निर्लज्ज हो गया हूँ तथा यद्यपि तुम्हारी गदा द्वारा मुझे कष्ट हो रहा है, तथापि असमर्थ होकर भी मैं किसी प्रकारसे इसी स्थानपर रहूँगा।

अर्थात् मुझे युद्ध-क्षेत्रमें ही रहना होगा, क्योंकि तेरे जैसे बलवानके साथ विरोध करके अन्यत्र कहीं जानेका स्थान ही कहाँ है?॥ ११॥

त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः॥ १२॥

तू पैदल वीरोंके यूथपतियोंका प्रधान और भयहीन है। अतः अरे! अब विलम्ब न कर तथा बिना किसी दुविधाके शीघ्र ही हमें पराभूत करनेका प्रयत्न कर। हमें मारकर तू अपने आत्मीयजनोंके आँसू पोंछ। जो अपनी प्रतिज्ञाकी मर्यादा (रक्षा) नहीं कर सकता, वह तो नितान्त असभ्य अर्थात् सभ्य-समाजमें बैठने योग्य नहीं है॥ १२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम्।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव॥ १३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् श्रीहरिने जब इस प्रकारसे उस दैत्यका तिरस्कार और उपहास किया, तब क्रीड़ा करनेके समय छेड़नेसे महासर्प जिस प्रकार क्रोधित हो जाता है, उसी प्रकार वह दैत्य भी अपने तिरस्कारके कारण क्रोधसे तिलमिला उठा॥ १३॥

सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदया न्यहनद्धरिम्॥ १४॥

क्रोधावेशसे उसकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठीं तथा अत्यधिक क्रोधके कारण लम्बे-लम्बे निःश्वास छोड़ते हुए उसने बड़े वेगसे कूदकर भगवान्पर गदासे प्रहार किया॥ १४॥

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम्॥ १५॥

परन्तु, योगी पुरुष जिस प्रकार योगारूढ़ होकर मृत्युसे अपनेको बचा लेता है, उसी प्रकार भगवान्ने भी अपने वक्षःस्थलपर चलायी

गयी उस गदाके प्रहारको थोड़ा-सा वक्र होकर निष्फल कर दिया॥ १५॥

पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम्॥ १६॥

हिरण्याक्ष पुनः अपनी गदाको उठाकर उसे बार-बार घुमाने लगा और क्रोधके कारण दाँतोंसे अपने होठोंको काटने लगा। तब भगवान् श्रीहरि अत्यन्त कुपित होकर उस दैत्यकी ओर झपटे॥ १६॥

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत्॥ १७॥

इसके बाद भगवान्‌ने अपनी गदासे शत्रुकी दायीं भौंहपर प्रहार किया। किन्तु, हे सौम्य विदुर! गदायुद्धमें निपुण उस दैत्यने उस प्रहारको बीचमें ही अपनी गदापर रोक लिया, जिससे वह आहत न हो सका॥ १७॥

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ १८॥

इस प्रकार हिरण्याक्ष और भगवान् वराहदेव दोनों ही जय-प्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करते हुए एक-दूसरेपर अपनी-अपनी भारी गदाओंसे प्रहार करने लगे॥ १८॥

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्व्योः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः॥ १९॥

इस प्रकार दोनोंमें ही परस्पर स्पर्धा होने लगी। तीक्ष्ण गदाओंके प्रहारसे दोनोंके ही अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये और उन क्षत स्थानोंसे बहते हुए रक्तकी गन्ध पाकर दोनों ही अत्यधिक क्रोधित हो उठे। परस्पर विजयकी अभिलाषासे दोनों ही गदायुद्धके तरह-तरहके पैंतरे बदलने लगे। जिस प्रकार एक गायके लिए दो मतवाले साँढ़ोंके बीच

महायुद्धका दृश्य उपस्थित होता है, उन दोनोंका संग्राम भी इसी प्रकार शोभा पा रहा था॥ १९॥

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्हिमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट्॥ २०॥

हे विदुर! जब यज्ञमूर्त्ति श्रीविष्णु अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे वराहरूप धारण करके हिरण्याक्षके साथ पृथ्वीके लिए इस प्रकार युद्धमें प्रवृत्त हुए, तब महापुरुष श्रीहरि और दैत्यके बीच होनेवाले इस संग्रामको देखनेके लिए मरीचि आदि ऋषियोंसे परिवेष्टित होकर श्रीब्रह्मा युद्धस्थलमें उपस्थित हुए॥ २०॥

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिशूकरम्॥ २१॥

हजारों ऋषियोंके नेता श्रीब्रह्माने देखा कि दैत्य अत्यधिक शौर्य-मदसे उन्मत्त हो रहा है। उसमें लेशमात्र भी भय नहीं हैं, बल्कि वह तो भगवान्‌के द्वारा किये गये प्रहारोंको भी व्यर्थ कर रहा है, भगवान् द्वारा उस दैत्यके ऐसे विक्रमका कोई प्रतिकार नहीं होता देखकर ब्रह्माजीने आदि-वराहदेव श्रीविष्णुसे कहा—॥ २१॥

श्रीब्रह्मोवाच—

एष ते देवदेवानामङ्‌घ्रिमूलमुपेयुषाम्
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम्।
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः॥ २२॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देव! यह असुर मुझसे वरदान प्राप्त करके इतना प्रबल हो गया है कि अब इसकी जोड़का कोई प्रतिद्वन्दी ही नहीं रहा। यह आपके चरणाश्रित देवताओं, ब्राह्मणों, गायों और अन्य

निरपराध प्राणियोंपर वृथा ही अत्याचार कर रहा है। यदि कोई इसे रोकता है, तो यह उसे डर दिखाता है और उसे भयभीत देखकर उसके अर्थ, प्राण आदि सभीका अपहरण कर लेता है। यह कण्टकके समान उत्पीड़नकारी दैत्य अपने समान प्रतिद्वन्द्वीको ढूँढ़ता हुआ समस्त लोकोंमें भ्रमण कर रहा है॥ २२॥

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम्।
आक्रीड बालवद्देव यथाशीविषमुत्थितम्॥ २३॥

हे देव! यह दुष्ट बड़ा ही मायावी, अहङ्कारी और निरङ्कुश है। जिस प्रकार बालक क्षुब्ध सर्पकी पूँछको खींच-खींचकर उसके साथ खेलता है, वैसे ही आप इसके साथ और खिलवाड़ न करें॥ २३॥

न यावदेष वर्द्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत॥ २४॥

हे देव! हे अच्युत! जिस समय तक आसुरी बेला न आ जाये और यह निर्दयी दैत्य अपनी मायाके द्वारा और अधिक प्रबल न हो जाये, उससे पहले ही आप अपनी अचिन्त्यशक्ति प्रकट करके मूर्त्तिमान पापरूपी इस दैत्यका विनाश कर डालिये॥ २४॥

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छद्म(म्ब)ट्करी प्रभो।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह॥ २५॥

हे प्रभो! इस समय लोकोंका संहार करनेवाली सन्ध्याकी घोर बेला उपस्थित होने ही वाली है। अतः हे सर्वात्मन्! इससे पहले ही इस असुरको मारकर आप देवताओंको विजय दिलवाइये॥ २५॥

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात्।
शिवाय नस्त्वत्सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम्॥ २६॥

हे देव! इस समय 'अभिजित्' नामक मङ्गलमय योग है। इस शुभ योगका स्थितिकाल मुहूर्त्तमात्र ही है और वह भी लगभग बीतनेवाला है। हम आपके सुहृद हैं, अतः हमारे कल्याणके लिए आप क्षणभर भी विलम्ब न करके इस दुर्जय दैत्यका वध कर डालिये॥ २६॥

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि॥ २७॥

हे भगवन्! आपने इसपर शापरूपी अनुग्रह करते समय स्वयंको ही इसकी मृत्युस्वरूपमें स्थिर किया है, अर्थात् इसकी मृत्यु आपके ही हाथसे निश्चित है। अब भाग्यक्रमसे यह दैत्य स्वयं ही आपके समीप आ गया है, अतः पराक्रम दिखाते हुए युद्धमें इसका संहारकर त्रिभुवनमें सुख स्थापित कीजिये॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्ष-युद्धे अष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

हिरण्याक्ष दैत्यका वध

श्रीमैत्रेय उवाच—

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—श्रीब्रह्माके निष्कपट और अमृतमय वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीवराहदेव उनपर किञ्चित् मुसकराये और स्नेहपूर्ण कटाक्षके द्वारा उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया॥ १॥

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः॥ २॥

इसके बाद श्रीब्रह्माकी नाकसे आविर्भूत आदि वराहदेव अपने शत्रु हिरण्याक्षको अपने ही सामने निर्भीक रूपसे विचरण करते देख छलाङ्ग लगाकर उसपर कूद पड़े और उन्होंने अपनी गदासे उसकी ठोडीपर प्रहार किया॥ २॥

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात्।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत्॥ ३॥

किन्तु महाबली हिरण्याक्षने भी जब अपनी गदासे वराहदेवकी गदाके ऊपर प्रत्याघात किया, तब भगवान्की वह गदा उनके हाथसे छूट गयी और चक्कर काटती हुई नीचे भूमिपर गिरकर भी अत्यधिक सुशोभित होने लगी। अथवा इस घात-प्रतिघातसे हिरण्याक्षका पराक्रम और उत्साह बढ़कर अपूर्व रूपसे शोभित होने लगा। उस समय वह घटना बड़ी अद्भुत-सी प्रतीत हुई॥ ३॥

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन्॥ ४॥

भगवान्‌के निरस्त्र होनेपर उस दैत्यराजके लिए वराहदेवपर आक्रमण करनेका उपयुक्त अवसर था, किन्तु युद्धधर्मका सम्मान करते हुए हिरण्याक्षने उनपर गदासे प्रहार नहीं किया। अवश्य ही इस आचरणसे भगवान् श्रीनारायणका क्रोध बढ़ाना ही हिरण्याक्षका एकमात्र उद्देश्य था॥ ४॥

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभञ्चास्मरद्विभुः॥ ५॥

इधर श्रीभगवान्‌के हाथसे गदाको छूटते देखकर देवताओं और ऋषियोंके मुखसे हा-हाकार ध्वनि निकलने लगी। उस समय भगवान् श्रीवराहदेवने उस दैत्य द्वारा इस युद्ध-नीतिके धर्मको पालन करनेकी प्रशंसा की और अपने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया॥ ५॥

तं व्यग्रचक्रं दितिजाधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विसज्जमानम्।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रा स्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति॥ ६॥

श्रीभगवान्‌के द्वारा अपने चक्रका स्मरणमात्र करनेपर ही वह चक्र बड़े वेगके साथ उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनके हाथमें घूमने लगा। देवताओंने उन सम्भ्रमयुक्त अर्थात् सेवाके लिए व्याकुल चक्रको धारण किये हुए भगवान्‌को बाहरमें दितिके अधम-पुत्ररूपमें न्याय आचरणकारी और अन्तरमें अपने प्रधान पार्षदके रूपमें अवस्थित हिरण्याक्षके साथ युद्धमें सम्मिलित होते देखा। उक्त आकाशचारी देवता भगवान्‌के अचिन्त्य प्रभावको नहीं जानते थे, अतः वे रणभूमिमें पुनः-पुनः इस प्रकार विचित्र वाक्य कहने लगे—हे देव! आपका मङ्गल हो! इस असुरके साथ और अधिक खिलवाड़ न कीजिये, इसे तुरन्त ही मार दीजिये॥ ६॥

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम्।

विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन्॥ ७॥

जब दैत्यने देखा कि कमलकी पंखुड़ियोंके समान नेत्रवाले श्रीभगवान् चक्र धारण किए हुए उसके सामने खड़े हैं, तब वह भीषण क्रोधसे भर गया और उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगीं। वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ दाँतोंके अग्रभागसे अपने होठोंको चबाने लगा॥ ७॥

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव।
अभिद्रुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम्॥ ८॥

विकराल दाढ़ोंवाला वह दैत्य अपने लाल-लाल नेत्रोंके सञ्चालनसे मानो चारों दिशाओंको दग्ध करने लगा। अब वह भगवान्‌को तीव्र दृष्टिसे घूरते हुए उनकी ओर दौड़ पड़ा और 'ले, अब तू मरा'—यह कहकर ललकारते हुए उसने अपनी गदासे श्रीहरिपर प्रहार किया॥ ८॥

पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञशूकरः।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम्॥ ९॥

हे सौम्य विदुर! वराह शरीरधारी यज्ञमूर्त्त भगवान् श्रीहरिने शत्रुकी आँखोंके सामने ही उसकी वायुके समान वेगवती गदाको खेल-ही-खेलमें अपने बाएँ चरणसे रोककर नीचे गिरा दिया॥ ९॥

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि।
इत्युक्तः स तया भूयस्ताडयन् व्यनदद्भृशम्॥ १०॥

इसके बाद श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दैत्य! यदि तू मुझे जीतना चाहता है, तो पुनः अस्त्र धारण करके आक्रमण करनेकी चेष्टा कर। श्रीभगवान्‌के द्वारा इस प्रकार ललकारनेपर उसने गदा उठाकर पुनः प्रहार किया और भयङ्कर रूपसे गरजने लगा॥ १०॥

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम्॥ ११॥

भगवान् श्रीवराहदेवने उसकी गदाको भीषण वेगसे आते हुए देखा। जिस प्रकार गरुड़ समीपमें आयी हुई साँपिनको पकड़ लेता है, उसी प्रकार भगवान्‌ने उस गदाको अनायास ही लीलापूर्वक पकड़ लिया॥ ११॥

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः॥ १२॥

महादैत्य हिरण्याक्षने जब अपने उद्यमको इस प्रकार व्यर्थ हुआ देखा, तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया और उसका तेज नष्ट हो गया। भगवान् द्वारा उसकी गदाको लौटानेपर भी दैत्यने उस गदाको लेना स्वीकार नहीं किया॥ १२॥

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम्।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा॥ १३॥

जिस प्रकार अभिचार अर्थात् मारणादि उपायोंका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति वेदज्ञ ब्राह्मणको मार डालनेके लिए अभिचार-यज्ञ करके भी निष्फल ही होता है, उसी प्रकार वराहरूपधारी भगवान् विष्णुपर प्रहार करनेके लिए उस दैत्यने प्रज्वलित अग्निके समान लपलपाता हुआ एक त्रिशूल लिया और उसे वृथा ही उनपर निक्षेप किया॥ १३॥

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्रमुज्झितम्॥ १४॥

महावीर हिरण्याक्षके द्वारा प्रबल वेगसे छोड़ा हुआ वह त्रिशूल उत्कट दीप्तिके साथ आकाशमें चमकने लगा। तब भगवान् श्रीहरिने अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उस त्रिशूलको उसी प्रकार खण्डित-विखण्डित कर दिया, जिस प्रकार देवराज इन्द्रने गरुड़के द्वारा परित्याग किये हुए पंखका छेदन किया था॥ १४॥

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत्।

प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन् प्रहत्यान्तरधीयतासुरः॥ १५॥

जब दैत्यराज हिरण्याक्षने देखा कि श्रीहरिके तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका शूल बहुत-से भागोंमें छिन्न-विच्छिन्न हो गया है, तब वह अत्यन्त क्रोधसे भरकर गर्जन करने लगा और भगवान्‌के सम्मुख आकर श्रीवत्स चिह्नसे सुशोभित[१] उनके विशाल वक्षःस्थलपर कसकर घूँसा मारकर अन्तर्धान हो गया॥ १५॥

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिशूकरः।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः॥ १६॥

हे विदुर! भगवान् आदिवराह दैत्यराज हिरण्याक्षके द्वारा इस प्रकार घूँसा मारे जानेपर भी उसी प्रकार किञ्चित् मात्र विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार पुष्पमालाके प्रहारसे हाथीपर कोई असर नहीं होता॥ १६॥

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम्॥ १७॥

इसके बाद वह महामायावी दैत्य योगमायाधीश श्रीहरिके प्रति नाना प्रकारकी ऐन्द्रजालिक मायाओंका विस्तार करने लगा। यह देखकर समस्त प्रजाने भयभीत होकर यह निश्चय कर लिया कि अब इस संसारमें प्रलय होनेवाली है॥ १७॥

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांशवमैरयन्।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव॥ १८॥

सहसा प्रबल आँधी चलने लगी, जिससे धूलि द्वारा समस्त दिशाएँ अन्धकारसे भर गयीं। तब 'क्षेपण' नामक किसी यन्त्र विशेष (गुलेल) से मानो सञ्चालित होकर चारों ही दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षा होने लगी॥ १८॥

---

[१] विभूतिशाली लक्ष्मीका आश्रय स्थान।

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत्॥ १९॥

आकाशमें बिजलीकी चमचमाहट और गर्जनके साथ बादल छा गये एवं बार-बार रक्त, पीब, केश, हड्डी, विष्ठा एवं मूत्रादिकी वर्षा करने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र एक ही बारमें विनष्ट (विलुप्त) हो गये हों॥ १९॥

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्द्धजाः॥ २०॥

हे निष्पाप विदुर! उस समय ऐसा दिखायी दे रहा था कि मानो समस्त पर्वत अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हों। तत्पश्चात् कितनी ही नग्न, खुले केशोंवाली, शूलधारिणी राक्षसियाँ भी आकर उपस्थित हो गयीं॥ २०॥

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्यश्वरथकुञ्जरैः।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः॥ २१॥

देखते-ही-देखते बहुत-से आततायी गन्धर्व और राक्षस पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंपर सवार होकर प्रकाशित हुए और तब 'मारो-मारो, काटो-काटो' ऐसा अत्यन्त क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी पड़ने लगा॥ २१॥

प्रदुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयन्।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात्॥ २२॥

तब तप, सत्य और दयारूप त्रिपादसे युक्त यज्ञमूर्त्त भगवान्ने उस असुर द्वारा प्रकटित मायाका विनाश करनेके लिए अपने अति प्रिय सुदर्शनचक्रका प्रयोग किया॥ २२॥

तदा दितेः समभवत् सहसा हृदि वेपथुः।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे॥ २३॥

इसी समय दितिको अपने पति कश्यप मुनि द्वारा कथित इस बातका स्मरण हो आया कि 'भगवान् श्रीहरि तुम्हारे दोनों पुत्रोंका

विनाश करेंगे', इससे सहसा ही उसका हृदय काँपने लगा और स्तनोंसे रक्त बहने लगा॥ २३॥

व्युदस्तासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम्।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः॥ २४॥

भगवान् श्रीकेशवके सुदर्शनचक्रसे दैत्यकी समस्त मायाके विनष्ट होनेपर वह दैत्य पुनः वराहदेवकी ओर झपटा। अत्यन्त क्रोधसे भरकर उसने भगवान्‌को दोनों भुजाओंमें भरकर पीसनेकी चेष्टा की, किन्तु उस दैत्यने देखा कि भगवान् वराहदेव उसकी दोनों भुजाओंके बाहर ही खड़े हैं॥ २४॥

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः॥ २५॥

इसके बाद भी वह दैत्य वज्रके समान कठोर मुट्ठीसे भगवान्‌पर प्रहार करता रहा। तब भगवान् आदिवराहने अपने हाथों (आगेके चरणों) द्वारा उसकी कनपटीपर उसी प्रकारसे तमाचा मारा जिस प्रकार इन्द्रने वृत्रासुरपर प्रहार किया था॥ २५॥

स आहतो विश्वसृजा ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता॥ २६॥

यद्यपि विश्वविजयी भगवान् श्रीवराहदेवने दैत्यको बड़ी उपेक्षापूर्वक ही तमाचा मारा था, किन्तु उसकी चोटसे ही उसका सारा शरीर घूमने लगा, दोनों नेत्र बाहर निकल आये, हाथ-पैर परस्त पड़ गये, केश बिखर गये और वह इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जिस प्रकार प्रचण्ड वायुके वेगसे विशाल वृक्ष जड़से उखड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ता है॥ २६॥

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम्।

अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम्॥ २७॥

हिरण्याक्षका तेज अब भी मलिन नहीं हुआ था। उस भयङ्कर दाढ़ोंवाले दैत्यको दाँतोंसे होठ चबाते हुए पृथ्वीपर पड़ा देखकर, वहाँ युद्ध देखनेके लिए समागत ब्रह्मा आदि देवता उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—अहो! ऐसी मृत्यु किसके भाग्यमें हो सकती है?॥ २७॥

यं योगितो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया।
तस्यैव दैत्य ऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह॥ २८॥

अहो! इसका कैसा सौभाग्य है, योगीजन जड़-प्रकृतिसे उत्पन्न लिङ्गदेहसे मुक्ति पानेके लिए निर्जनमें योग समाधिके द्वारा जिनके चरणोंका ध्यान करते रहते हैं, दैत्यश्रेष्ठ हिरण्याक्षने आज उन्हीं भगवान्के चरणोंसे आहत होकर उनके ही मुख-कमलका दर्शन करते हुए शरीरका त्याग किया है॥ २८॥

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद् यातावसद्गतिम्।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः॥ २९॥

ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान्के ही पार्षद हैं। यद्यपि ब्राह्मणोंके शापके कारण इन्हें आसुरी योनि मिली है, किन्तु कुछ (तीन) जन्मोंके पश्चात् ये पुनः जड़-विलाससे शून्य अपने स्थानमें चले जायेंगे॥ २९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः॥ ३०॥

उस समय देवता कहने लगे—हे भगवन्! आप ही समस्त यज्ञोंके विस्तारके कारण हैं तथा लोक-स्थितिके लिए आप शुद्धसत्त्वसे परिपूर्ण मङ्गलमयी मूर्त्ति प्रकट करते हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। आज हमारा परम सौभाग्य है कि आपने संसारको कष्ट देनेवाले इस दुष्ट दैत्यको मार डाला है। हे ईश! आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे अब हमें शान्ति प्राप्त हो गयी है॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिशूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकारसे महापराक्रमी दैत्यराज हिरण्याक्षका विनाश करके आदिवराह भगवान् श्रीहरि अपने उस धाममें चले गये, जहाँ अनन्त उत्सव चलते रहते हैं। उस समय ब्रह्मादि प्रमुख देवता उनकी स्तुति कर रहे थे॥ ३१॥

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम्।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः॥ ३२॥

हे मित्र विदुर! भगवान् श्रीहरि अवतार लेकर जैसी लीलाओंका प्रदर्शन करते हैं और महासंग्राममें महापराक्रमी हिरण्याक्ष भगवान्के हाथोंसे साधारण खिलौनेके समान जिस प्रकार मारा गया, वह मैंने गुरुमुखसे जैसे सुना था, वैसा ही तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है॥ ३२॥

श्रीसूत उवाच—

इति कौशारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम्।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज॥ ३३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकजी! परम भागवत विदुरजी मैत्रेयमुनिके द्वारा वर्णित भगवान्‌की यह समस्त कथा सुनकर बड़े आनन्दित हुए॥ ३३॥

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम्।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः॥ ३४॥

हे शौनक! महान् और पवित्र कीर्त्तिशाली युधिष्ठिरादि साधुओंकी कथाओंको सुनकर ही जब आनन्द प्राप्त होता है, तब फिर श्रीवत्सधारी स्वयं भगवान्‌की कथाओंके श्रवणकी तो बात ही क्या है?॥ ३४॥

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम्।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्द्रुतम्॥ ३५॥
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः॥ ३६॥

हे द्विज! जिन्होंने अपने चरणकमलोंका नित्य-निरन्तर ध्यान करनेवाले ग्राहसे ग्रस्त गजेन्द्रका उसकी पत्नियोंके कातर आर्त्तनादसे कृपापरवश होकर शीघ्र ही उद्धार कर दिया था, जो अनन्यशरण सरलचित्त मनुष्यमात्रके द्वारा ही सुखपूर्वक आराधित होते हैं तथा केवल असाधुओं द्वारा ही दुराराध्य हैं अर्थात् अतिकष्टपूर्ण साधनसे भी प्राप्त नहीं होते, उन भगवान्‌के उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन-सा कृतज्ञ व्यक्ति होगा, जो उनकी सेवा नहीं करेगा?॥ ३५-३६॥

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणशूकरात्मनः।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः॥ ३७॥

हे द्विज! जो लोग पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए वराहरूपधारी श्रीभगवान्‌की ऐसी अत्यद्भुत हिरण्याक्ष-वध लीलाका श्रवण, कीर्त्तन अथवा अनुमोदन करते हैं, वे ब्रह्महत्यासे उत्पन्न महापापसे भी मुक्त हो जाते हैं॥ ३७॥

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम्।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्द्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम्॥ ३८॥

हे शौनक ऋषि! जो व्यक्ति भगवान्‌के इस स्वर्गादि-फल प्रदायक, चित्तको पूर्ण रूपमें शुद्ध करनेवाले, परम पवित्र, धन और यशकी प्राप्ति करानेवाले, आयु एवं कामनाओंकी पूर्त्ति करनेवाले तथा युद्धमें प्राणेन्द्रियोंके शौर्यको बढ़ानेवाले लीला-वृत्तान्तका श्रवण करते हैं, अन्तिम कालमें उन्हें भगवान् श्रीनारायणका आश्रय प्राप्त होता है॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्षवधो नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥

विंशोऽध्यायः

श्रीब्रह्मा द्वारा रचित विभिन्न प्रकारकी सृष्टियोंका संक्षेपमें वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

मर्ही प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम्॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सूत गोस्वामी! स्वायम्भुव मनुने पृथ्वीको आधार रूपमें प्राप्त करके प्रलयकालमें ईश्वरमें प्रविष्ट हुए समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करनेके लिए किन-किन उपायोंका सहारा लिया?॥ १॥

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति॥ २॥

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः।
सर्वात्मनाश्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः॥ ३॥

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम्॥ ४॥

जो श्रीकृष्णके अनन्य भक्त और परम बन्धु थे, जिन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर उनके दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ परित्याग कर दिया था, जो महर्षि श्रीवेदव्यासके पुत्र थे और महिमामें वेदव्याससे कुछ कम नहीं थे, जो तन, मन और वचनसे श्रीकृष्णके आश्रित होकर उनके अनुगत भक्तोंके अनुगामी थे, उन परमभागवत विदुरजीने तीर्थसेवाके द्वारा बाह्य रूपसे और अन्तःकरणमें पवित्रता प्राप्त कर ली थी। गङ्गाके द्वार कुशावर्त्त क्षेत्र हरिद्वारमें पहुँचकर उन्होंने कृष्णतत्त्ववेत्ता मैत्रेय ऋषिसे और कौन-कौनसे विषयोंमें प्रश्न किये?॥ २-४॥

तयोः संवदतोर्नूनं प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः।
आपो गाङ्ग्य इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः॥ ५॥

उन दोनोंके परस्पर वार्त्तालापमें निश्चय ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पवित्र कथाएँ हुई होंगी। इन हरिकथाओंके प्रभावसे श्रीकृष्णके चरणोंसे निकले गङ्गाजलके समान जीवोंके पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं॥ ५॥

ता नः कीर्तय भद्रन्ते कीर्तन्योदारकर्मणः।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्॥ ६॥

हे सूत गोस्वामी! आपका मङ्गल हो। आप हमें कीर्त्तन करने योग्य उदार-लीलामय श्रीहरिकी इन सब पवित्र कथाओंको सुनाइये। श्रीहरिका लीलामृत पान करके क्या कोई रसज्ञ व्यक्ति परितृप्त हो सकता है, अर्थात् क्या वह पुनः-पुनः सुननेका आग्रह किये बिना रह सकता है?॥ ६॥

एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायणैः।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति॥ ७॥

नैमिषारण्यावासी ऋषियोंकी इस प्रकारसे हरिकथा सुननेकी इच्छा होनेपर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा श्रीसूत गोस्वामीने श्रीभगवान्में मन समर्पित करके शौनकादि ऋषियोंको सम्बोधित करते हुए कहा—जब आपलोगोंकी ऐसी अभिलाषा है, तो आपलोग कृपापूर्वक सुनिये॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात्।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ऋषियो! अपनी योगमायाके प्रभावसे वराह मूर्त्तिधारी श्रीभगवान्ने रसातलसे पृथ्वी-उद्धार-लीला सम्पन्न की और खेल-ही-खेलमें हिरण्याक्षका विनाश कर डाला। यह सुनकर

विदुरजीका रोम-रोम खिल उठा और वे मुनिवर मैत्रेयसे कहने लगे— ॥ ८ ॥

श्रीविदुर उवाच—

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन्।
किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित्॥ ९ ॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! मरीचि आदि प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्मा जब प्रजाओंकी सृष्टि करनेमें प्रवृत्त हुए, तब प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेके बाद उन्होंने कौन-सा कार्य आरम्भ किया? आप तो परोक्ष विषयोंको भी जाननेवाले हैं, कृपया मुझे ये सब विषय यथायथ रूपमें सुनाइये॥ ९ ॥

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः।
ते वै ब्रह्मण आदेशात् कथमेतदभावयन्॥ १० ॥

मरीचि आदि विप्रों और स्वायम्भुव मनुने श्रीब्रह्माके आदेशसे किस प्रकार इस चराचर जगत्की सृष्टि (वृद्धि) की?॥ १० ॥

सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु।
अहो स्वित् संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन्॥ ११ ॥

क्या उन्होंने स्त्रीके सहयोगसे इस जगत्की सृष्टि की अथवा अपने-अपने कार्योंमें स्वतन्त्र भावसे रहकर सृष्टि की अथवा सबने मिलकर ही इस जगत्का निर्माण किया था?॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात्॥ १२ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जिनकी गति जानना कठिन है, उन दैव अर्थात् जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृतिके अधिष्ठाता महापुरुष और काल—इन तीन कारणोंके द्वारा भगवान्की सन्निधिमें जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें स्थित प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न हुआ, तब उससे महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ १२ ॥

रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात्।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः॥ १३॥

ईश्वरकी प्रेरणासे महत्-तत्त्वमें रजोगुणकी वृद्धि होनेसे अहङ्कार उत्पन्न हुआ। यद्यपि महत्-तत्त्व स्वतः ही सत्त्वगुण प्रधान है, तथापि अहङ्कारके उत्पत्तिकालमें कार्यानुरूप रजोगुण प्रधान हुआ करता है। वह अहङ्कार सत्त्व, रज और तम—गुणत्रय स्वरूप है। यह अहङ्कार पुनः पाँच-पाँच करके आकाशादि भूतोंकी सृष्टि करता है, अर्थात् उनसे पञ्च-तन्मात्रा, पञ्च-महाभूत, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ और उन-उन इन्द्रियोंके पाँच-पाँच अधिष्ठातृ देवता उत्पन्न हुए हैं॥ १३॥

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम्।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन्॥ १४॥

ये पञ्च-तन्मात्रा एवं पञ्च-महाभूतादि अलग-अलग होकर स्वतन्त्र रूपसे किसी भी वस्तुकी सृष्टि करनेमें असमर्थ थे। अतः ईश्वरकी शक्तिसे परस्पर संगठित होकर इन्होंने एक भौतिक स्वर्णमयी अण्डकी रचना की॥ १४॥

सोऽशयिष्टाब्धिसलिले अण्डकोषो निरात्मकः।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत् तमीश्वरः॥ १५॥

यह अण्डकोष चेतनशून्य होकर हजार वर्षोंसे अधिक समय तक कारणार्णवके जलमें पड़ा रहा। इसके बाद महत्-तत्त्वके स्रष्टा ईश्वरने उस अण्डकोषमें गर्भोदकशायीके रूपमें प्रवेश किया॥ १५॥

तस्य नाभेरभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत् स्वराट्॥ १६॥

उन गर्भोदकशायी पुरुषके अण्डकोषमें अधिष्ठित होनेपर उनकी नाभिसे हजारों सूर्योंके समान देदीप्यमान तथा समस्त जीवोंके अधिष्ठान-स्वरूप एक कमल उत्पन्न हुआ, जिसमें स्वयं ब्रह्माका भी आविर्भाव हुआ॥ १६॥

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया॥ १७॥

हे विदुर! ब्रह्माण्डके कारणार्णव जलमें शयन करनेवाले गर्भोदकशायी विष्णुके द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्माजीने नाम-रूपादिके क्रमसे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति समस्त लोकोंकी रचना की॥ १७॥

ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः॥ १८॥

सबसे पहले प्रजापति ब्रह्माने प्रकाश स्वरूप ज्ञानकी प्रतियोगिनी अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—इन पाँच अविद्याओंकी सृष्टि की॥ १८॥

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम्।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्॥ १९॥

किन्तु इस छायामयी सृष्टिके तमोमयी अर्थात् अविद्यामयी होनेके कारण ब्रह्माजीको अपना छायारूपी शरीर अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने इस तमोमय-शरीरका परित्याग कर दिया। यही शरीर भूख-प्यासके उद्भव स्थानरूप रात्रिमें परिणत हो गया। इसी रात्रिसे यक्ष और राक्षस उत्पन्न हुए और उन्होंने बड़े आदरसे इस रात्रिको ग्रहण कर लिया॥ १९॥

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिता॥ २०॥

तब ये समस्त यक्ष-राक्षसादि भूख और प्याससे व्याकुल होकर उन ब्रह्माजीको ही खानेके लिए दौड़ पड़े और परस्पर कहने लगे—अरे! इस (ब्रह्मा) को पिता जानकर इसपर दयावशतः इसकी रक्षा मत करो, इसे खा जाओ॥ २०॥

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ॥ २१॥

ब्रह्माजी उनके इन वचनोंसे अत्यधिक डर गये और उन यक्ष-राक्षसादिसे कहने लगे—मुझे मत खाओ, मेरी रक्षा करो। अरे, यक्ष-राक्षसो! तुम सब मेरी सन्तान हो, मुझे मारना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। (अतः जिन्होंने 'भक्षण करो' यह कहा, वे 'यक्ष' और जिन्होंने 'रक्षा मत करो' यह कहा, वे 'राक्षस' के नामसे प्रसिद्ध हुए)॥ २१॥

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
तेऽहार्षुर्देवयन्तो वै विसृष्टां तां प्रभामहः॥ २२॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपनी सात्त्विकी प्रभाके द्वारा दीप्तिमान होकर प्रधान-प्रधान देवताओंकी सृष्टि की। उन सभी देवताओंने क्रीड़ा करते हुए ब्रह्माजीके द्वारा त्यागे हुए दिवसरूप प्रकाशमय शरीरको स्वीकार कर लिया॥ २२॥

देवोऽदेवान् जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे॥ २३॥

तदनन्तर ब्रह्माजीके मनमें काममय राजस भाव उदित हुआ, जिसके कारण उनकी जाँघसे कामासक्त दैत्योंकी सृष्टि हुई। वे अत्यधिक स्त्री-लम्पट दैत्य मैथुनके लिए उत्सुक होकर ब्रह्माजीकी ओर ही दौड़ पड़े॥ २३॥

ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्॥ २४॥

तब ब्रह्माजी उन असुरोंकी इस प्रकारकी कुप्रवृत्तिको देखकर पहले तो हँस पड़े, बादमें जब वे असुर निर्लज्ज होकर वेगपूर्वक ब्रह्माजीके पीछे-पीछे दौड़ने लगे, तब ब्रह्माजीको अत्यधिक क्रोध आ गया और वे भयभीत होकर भागने लगे॥ २४॥

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्॥ २५॥

जो भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिए उन भक्तोंकी ही इच्छाके अनुरूप अपनारूप प्रकाशित करते हैं, जो शरणागतजनोंके दुःखोंका हरण करनेवाले हैं, ब्रह्माजी उन्हीं अभीष्टफल प्रदायक भगवान् श्रीहरिके समीप गये और उनसे इस प्रकार निवेदन करने लगे॥ २५॥

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः।
ता इमा जभितुं पापा उपक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६॥

हे परमात्मन्! हे प्रभो! आपकी प्रेरणासे ही मैंने प्रजाकी सृष्टि की है, परन्तु यह पापिष्ठ प्रजा मुझे भी मैथुनके द्वारा भोगनेके लिए उद्यत हो रही है। कृपया मेरी रक्षा कीजिये॥ २६॥

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः।
त्वमेव क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव॥ २७॥

हे प्रभो! एकमात्र आप ही दुःखी जीवोंके क्लेशोंका हरण करनेवाले हैं और जो व्यक्ति आपके चरणारविन्दोंका आश्रय ग्रहण नहीं करते, आप केवल उन्हें ही कष्ट दिया करते हैं॥ २७॥

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह॥ २८॥

श्रीहरि दूसरोंके हृदयके भावोंको भली-भाँति जानते हैं, इसलिए ब्रह्माजीकी आतुरता और दैन्यको देखकर उन्होंने कहा—'हे ब्रह्मा! तुम अपने इस कामकलुषित शरीरको त्याग दो।' ब्रह्माने भी भगवान् श्रीहरिके इन वचनोंको सुनकर अपने उस कामकलुषित देहका परित्याग कर दिया॥ २८॥

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम्॥ २९॥

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्ग-निरन्तरपयोधराम्।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम्॥ ३०॥

गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम्।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुः स्त्रियम्॥ ३१॥

ब्रह्माजीने जैसे ही उस शरीरका परित्याग किया, वैसे ही वह शरीर सन्ध्याके रूपमें परिणत हो गया। यह सन्ध्या कामके उत्पन्न होनेका काल है। स्त्रीलम्पट असुर इस सन्ध्याको स्त्रीरूपमें कल्पना करके मुग्ध हो गये और परस्पर कहने लगे—देखो, इस सुन्दरीके चरणकमल नूपुरोंकी ध्वनिसे झंकृत हो रहे हैं, इसके दोनों नेत्र मदसे मतवाले हो रहे हैं और इसके कटितटपर स्थित महीन वस्त्र करधनीकी लड़ियोंसे विलसित हो रहा है। इसके दोनों पयोधर परस्पर उपमर्दनके कारण अति उन्नत एवं सटे होकर सुशोभित हो रहे हैं। इसकी नासिका एवं दन्तावली अति सुन्दर है, मुसकान अत्यधिक मधुर एवं सुस्निग्ध है और अवलोकन बड़ा ही हाव-भावपूर्ण है। देखो! यह कैसे लज्जावशतः अपने वस्त्राञ्चलमें स्वयं ही सिमटी जा रही है? इसके घुँघराले केश कितने मनोहर नीलवर्णके हैं। इस प्रकार सभी असुर ब्रह्माजीके द्वारा परित्यक्त शरीरमें 'कामिनी' की कल्पना करके पूर्ण रूपसे मोहित हो गये॥ २९-३१॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति॥ ३२॥

काममुग्ध असुर कहने लगे—अहो! इसका कैसा विस्मयकारी रूप है! कैसा आश्चर्यमय धैर्य है! कितनी मनोहर नवीन (युवा) अवस्था है! हम सभी इसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा कर रहे हैं, किन्तु यह हम सबके बीच काम भावसे रहितकी भाँति विचरण कर रही है?॥ ३२॥

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम्।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात् पर्यपृच्छन् कुमेधसः॥ ३३॥

वे कुबुद्धियुक्त असुर उस प्रमदा आकृतिवाली सन्ध्याको स्त्रीरूप मानकर बहुत प्रकारके तर्क-वितर्क करने लगे—क्या यह रमणी हमारे प्रति अनुराग रखती है अथवा किसी दूसरेके प्रति? यह देवी है अथवा मानुषी? यह क्या पतिकी कामना कर रही है या ब्रह्मचारिणी है? तत्पश्चात् प्रेमवश उसका यथायोग्य सत्कार करते हुए उससे प्रश्न पूछने लगे॥ ३३॥

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान् नो विबाधसे॥ ३४॥

हे रम्भोरु (सुन्दरी)! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? हे भामिनि! तुम्हारा इस स्थानपर आनेका क्या प्रयोजन है? तुम अपने इस अमूल्य सौन्दर्यरूप विक्रेय वस्तुके द्वारा हम दुर्भागोंको क्यों पीड़ा दे रही हो?॥ ३४॥

या वा काचित् त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः॥ ३५॥

अथवा तुम्हारे जाति–कुलादिको जाननेकी हमें आवश्यकता ही क्या है? हे अबले! तुम जो कोई भी हो, हमें बड़े भाग्यवशतः ही तुम्हारा दर्शन प्राप्त हुआ है। तुम्हारा गेंदके साथ खेलना हम देखनेवालोंके मनको मथ रहा है॥ ३५॥

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
ध्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
श्रान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः॥ ३६॥

हे प्रशंसनीये! तुम हथेलीसे इस उछलती गेंदको बार–बार थपकी मारते हुए खेल रही हो, इसके कारण तुम्हारे चरणकमल एक स्थानपर स्थिर नहीं रह पा रहे हैं। तुम्हारा यह क्षीण कटिप्रदेश तुम्हारे स्तनोंके भारसे झुका होनेसे थका हुआ–सा प्रतीत हो रहा है। तुम्हारी निर्मल दृष्टि भी मन्द पड़ती दिख रही है। अहो! तुम्हारा यह केशपाश कैसी शोभाका विस्तार कर रहा है!॥ ३६॥

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम्॥ ३७॥

इस प्रकार काम द्वारा भ्रान्त चित्त असुरगण प्रमदाके समान आचरण करनेवाली सन्ध्याको स्त्री मानकर उसके मोहमें मुग्ध हो गये और उन्होंने उसीको 'रमणी' समझकर उसे ग्रहण कर लिया॥ ३७॥

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना।
कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान्॥ ३८॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपने सौन्दर्यकी गम्भीरताको व्यक्त करनेवाली हँसीसे हँसकर अपनी शोभनीय कान्तिके द्वारा गन्धर्वों और अप्सराओंको उत्पन्न किया॥ ३८॥

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम्।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः॥ ३९॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपने चन्द्रिका (ज्योत्स्ना) रूप प्रिय शरीरका परित्याग कर दिया। विश्वावसु प्रमुख गन्धर्वोंने उस कान्तिमय शरीरको बड़े आदरके साथ ग्रहण कर लिया॥ ३९॥

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ॥ ४०॥

ब्रह्माजीने अपने आलस्यसे भूत और पिशाचोंकी सृष्टि की। उन सभीको दिगम्बर (नग्न) और उनके बाल बिखेरे हुए देखकर ब्रह्माजीने अपनी दोनों आँखें मूँद लीं॥ ४०॥

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः।
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते
येनोच्छिष्टान् धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते॥ ४१॥

कुछ क्षणोंके बाद ब्रह्माजीने अपने 'आलस्य' (जम्भाई) नामक शरीरका त्याग कर दिया, जिसे भूत और पिशाचोंने ग्रहण कर लिया। हे विदुर! जिस तनुके द्वारा इन्द्रियोंमें शिथिलता आ जाती है, उसका नाम 'निद्रा' है। यदि कोई मनुष्य जुठे मुँहसे सो जाता है, तो उसपर भूत-पिशाच आक्रमण कर देते हैं, उस शरीरको 'उन्माद' कहते हैं॥ ४१॥

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः।
साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत् प्रभुः॥ ४२॥

तत्पश्चात् कृपा और दण्ड देनेमें समर्थ, अजन्मा और ऐश्वर्ययुक्त ब्रह्माजीने स्वयंको बलिष्ठ (तेजोमय) मानकर अपने अदृश्य रूपके द्वारा पितरों एवं देवताओंको उत्पन्न किया॥ ४२॥

त आत्मसर्गं तत्कायं पितरः प्रतिपेदिरे।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते॥ ४३॥

हे विदुर! ब्रह्माजीके इस अदृश्य शरीरसे साध्यगण (एक प्रकारके देवता) और पितर उत्पन्न हुए तथा उन्होंने अपने उत्पत्ति स्थान इस अदृश्य शरीरको ग्रहण कर लिया। उस शरीरको लक्ष्य करके ही कर्म-मार्गीय पण्डितगण साध्योंके उद्देश्यसे हव्य और पितरोंके उद्देश्यसे कव्यादि (पिण्ड) प्रदान करते हैं॥ ४३॥

सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्।
तेभ्योऽददात् तमात्मानमन्तर्द्धानाख्यमद्भुतम्॥ ४४॥

ब्रह्माजीने दृश्य रहनेपर भी अन्तर्धान होनेकी अपनी शक्तिसे सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि करके अपना अत्यन्त आश्चर्यमय 'अन्तर्धान' नामक देह उन्हें प्रदान किया॥ ४४॥

स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत् प्रभुः।
मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन्॥ ४५॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं ही स्वयंको सुन्दर जानकर मन-ही-मन कल्पनापूर्वक अपने प्रतिबिम्बके द्वारा नराकृति किन्नर और किम्पुरुषोंकी सृष्टि की॥ ४५॥

ते तु तज्जगृहु रूपं त्यक्तं यत् परमेष्ठिना।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः॥ ४६॥

किन्नरों एवं किम्पुरुषोंने ब्रह्माजीके द्वारा परित्यक्त प्रतिबिम्बरूप शरीरको ग्रहण किया और उषाकालमें ये पति-पत्नी दोनों मिलकर ब्रह्माजीके पराक्रम गुण-कर्मादिका गान किया करते हैं॥ ४६॥

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः॥ ४७॥

इस प्रकारसे सृष्टिकी वृद्धि न होती देखकर ब्रह्माजी बड़े चिन्तित होकर हाथ-पैर फैलाकर अपने स्थूलशरीरसे लेट गये तथा फिर क्रोधवश उन्होंने उस भोगमय शरीरको भी छोड़ दिया॥ ४७॥

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः॥ ४८॥

ब्रह्माजीके परित्यक्त शरीरसे जो केश झड़े, वे अहि बन गये। हाथ-पैर सिकोड़कर (सरककर) चलनेके कारण उनका नाम सर्प है तथा अत्यधिक वेगवान होनेके कारण उन्हें 'नाग' कहा जाता है। ब्रह्माके भोगमय शरीरसे उत्पन्न होनेके कारण 'भोग' अर्थात् फण आदिके द्वारा उनके कन्धे फैले रहते हैं। क्रोधयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ये सभी अत्यन्त क्रूरस्वभाववाले होते हैं॥ ४८॥

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः।
तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान्॥ ४९॥

जब ब्रह्माजीने अपने-आपको कृत्कृत्य-सा जाना, तब अन्तमें उन्होंने मनके द्वारा मनुओंकी सृष्टि की। ये समस्त मनु ही लोकोंकी उत्पत्तिका कारण अर्थात् प्रजाकी वृद्धि करनेवाले हैं॥ ४९॥

तेभ्यः सोऽत्यसृजत् स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान्।
तान् दृष्ट्वा ये पुरासृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्॥ ५०॥

इसके बाद आत्मतत्त्वज्ञ ब्रह्माजीने मनुओंको अपना पुरुषाकार देह प्रदान किया। जो देवता, गन्धर्वादि पहले उत्पन्न हुए थे, वे भी मनुओंको देखकर प्रजापति ब्रह्माजीकी प्रशंसा करने लगे॥ ५०॥

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदाम हे॥ ५१॥

हे जगत्स्रष्टा! आहा! हमारे लिए यह अत्यन्त आनन्दकी बात है। आपने मनुओंकी सृष्टि करके अति उत्तम कार्य किया है, क्योंकि आपके इस कार्यसे अग्निहोत्रादि कार्य प्रतिष्ठित रहेंगे। अब हम सब एकत्रित होकर अपने हविके भागादिको ग्रहण करनेमें समर्थ हों॥ ५१॥

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः॥ ५२॥

इसके बाद ब्रह्माजीने तपस्या, उपासना, आसनादि अष्टाङ्गयोग, वैराग्य और ऐश्वर्ययुक्त समाधि द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूत करके ऋषिरूप अन्य प्रकारके अभिमतसे अपनी प्रिय प्रजा अर्थात् ऋषियोंका सृजन किया॥ ५२॥

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः।
यत्तत् समाधियोगर्द्धि-तपोविद्याविरक्तिमत्॥ ५३॥

फिर आदि-ऋषि ब्रह्माजीने उनमेंसे एक-एकको अपनी देहका एक-एक अंश—जिसमें समाधि, योग-समृद्धि अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या और वैराग्य वर्त्तमान थे, प्रदान किया॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे जगत्सृष्टिर्नाम विंशोऽध्यायः॥

एकविंशोऽध्यायः

कर्दम ऋषिकी तपस्या और मनुके साथ उनका वार्त्तालाप

श्रीविदुर उवाच—

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः।
कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे भगवन् मैत्रेय! स्वायम्भुव मनुका वंश साधुओंके द्वारा अत्यधिक आदरणीय था। उस वंशमें मैथुन-धर्मके द्वारा जिस प्रकारसे प्रजाकी वृद्धि हुई, कृपया उसका वर्णन कीजिये॥ १॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै।
यथा धर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ २॥

स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने किस प्रकारसे इस सप्तद्वीपवती पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया? ॥ २॥

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन् देवहूतीति विश्रुता।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! हमने आपके मुखसे यह भी सुना है कि स्वायम्भुव मनुकी देवहूति नामसे प्रसिद्ध एक कन्या थी। हे निष्पाप! प्रजापति कर्दमसे उस देवहूतिका विवाह हुआ था—यह भी आपने बतलाया है॥ ३॥

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद॥ ४॥

कर्दम ऋषि महायोगी थे एवं उनकी पत्नी देवहूति भी यम-नियमादि योग लक्षणोंसे युक्त थी। हे प्रभो! उन्होंने अपनी पत्नीसे कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? यह सुननेकी मेरी प्रबल इच्छा हो रही है, कृपापूर्वक आप यह सब मुझे सुनाइये॥ ४॥

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन् दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्याञ्च मानवीम्॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! महर्षि रुचिने मनु-कन्या आकूतिको और ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने मनु-कन्या प्रसूतिको पत्नीके रूपमें प्राप्त करके जिस प्रकारसे सन्तानें उत्पन्न कीं, उन सब प्रसङ्गोंका भी वर्णन कीजिये॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वत्स विदुर! जब ब्रह्माजीने प्रजापति कर्दमको 'आप प्रजाकी सृष्टि करें' इस प्रकारकी आज्ञा दी, तब कर्दम ऋषिने सरस्वतीके तटपर जाकर दस हजार वर्षों तक तपस्या की॥ ६॥

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम्॥ ७॥

तपस्यामें एकाग्रचित्त होकर कर्दम ऋषि पूजोपचार द्वारा शरणागत-जनोंको शीघ्र ही वर देनेवाले भगवान् श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ७॥

तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः॥ ८॥

हे विदुर! कर्दम ऋषि द्वारा सत्ययुगमें इस प्रकारसे तपस्या करनेपर कमलनयन भगवान् श्रीहरि उनसे प्रसन्न हो गये और एकमात्र शब्द (वेद) से जाननेयोग्य सच्चिदानन्दमय मूर्त्ति धारण करके उन्हें दर्शन दिया॥ ८॥

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम्।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजाम्बरम्॥ ९॥

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम्॥ १०॥

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम्॥ ११॥
जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः।
गीर्भिश्चाभ्यगृणात् प्रीति-स्वभावात्मा कृताञ्जलिः॥ १२॥

तपस्याकालमें कर्दम ऋषिने ऊपरकी ओर दृष्टिपात करके देखा कि भगवान् श्रीविष्णुका दिव्य श्रीविग्रह सूर्यकी भाँति आकाशमें प्रकाशित हो रहा था, उनके गलेमें श्वेत कमल एवं कुमुदके पुष्पोंकी माला सुशोभित हो रही थी, उनका मुखकमल स्निग्ध-नीलवर्णसे युक्त अलकावलीसे सुशोभित था, कटितटपर निर्मल पीताम्बर सुशोभित था, सिरपर देदीप्यमान स्वर्णका मुकुट और कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे थे। उनके तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा विद्यमान थे और चतुर्थ हाथमें क्रीड़ाहेतु श्वेत कमल सुशोभित था। उनकी मृदु-मुसकान युक्त दृष्टि सबके हृदयोंको ही आनन्दित कर रही थी। वे अपने वाहन गरुड़के कन्धोंपर दोनों चरणोंको रखे हुए थे, उनके वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्सचिह्न' (लक्ष्मी) एवं कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित हो रही थी। श्रीभगवान्‌की ऐसी मनोहर मूर्त्तिका दर्शनकर कर्दम ऋषिका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। भगवान्‌के दर्शनसे अपनी सभी मनोकामनाओंको सिद्ध हुआ जानकर उन्होंने आनन्दपूर्ण हृदयसे भूमिपर लेटकर मस्तकसे दण्डवत्-प्रणाम किया और स्वाभाविक रूपसे प्रेममें विभोर होकर हाथ जोड़कर मधुर वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे॥ ९-१२॥

श्रीऋषिरुवाच—

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः
सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः॥ १३॥

श्रीकर्दम ऋषि आनन्दमग्न होकर कहने लगे—हे परमेश्वर! उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बहुत-से जन्मोंमें योगसिद्ध ऋषिगण जिन भगवान्‌के दर्शनोंकी प्रार्थना करते हैं, उन सम्पूर्ण सत्त्वगुणोंके निधि स्वरूप आपका दर्शन करके आज मेरे दोनों नेत्र सार्थक हो गये हैं॥ १३॥

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान् निरयेऽपि ये स्युः॥ १४॥

हे भगवन्! आपके चरणकमल संसारसमुद्रको पार करनेके लिए एकमात्र नौका-स्वरूप हैं। अहो! जिनकी बुद्धि आपकी बहिरङ्गा मायाके द्वारा नष्ट हो गयी है, वे ही नरक तुल्य शूकरादि योनियोंमें भी प्राप्त होनेवाले तुच्छ काम-सुखके लिए आपके चरणोंका आश्रय लेते हैं, किन्तु हाय! आप भी उन मनुष्योंको वे सब तुच्छ विषय-भोग ही प्रदान कर देते हैं॥ १४॥

तथापि चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम्।
उपेयिवान् मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य॥ १५॥

हे प्रभो! यद्यपि मैंने सकाम भक्तोंकी इस प्रकार निन्दा की है, तथापि मैं भी वैसी अत्यन्त निन्दनीय काम-कलुषित अभिलाषाके कारण स्वयं अपने अनुरूप स्वभाववाली, गृहस्थाश्रमके लिए कामधेनुके समान धर्म-अर्थ-काम प्रदान करनेवाली उपयुक्त पत्नीको प्राप्त करना चाहता हूँ। इसी उद्देश्यसे मैं समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले तथा कल्पवृक्ष स्वरूप आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ॥ १५॥

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः।
अहञ्च लोकानुगतो वहामि
बलिञ्च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम्॥ १६॥

हे सर्वेश्वर! आप सम्पूर्ण लोकपालकोंके अधिपति हैं। आपकी वेद-वाणीरूप रस्सी द्वारा कामसे पीड़ित लोग पशुओंके समान बँधे हुए हैं। हे धर्ममूर्त्ते! मैं भी इन सब लोगोंका ही अनुगमन कर रहा हूँ। अतएव कालस्वरूप आपके लिए आज्ञा-पालनरूप पूजोपहार समर्पितकर

पत्नी प्राप्तिकी इच्छा कर रहा हूँ (हे प्रभो! मैं केवल कामाभिलाषी व्यक्तियोंके अनुवर्ती होकर पुत्रादिकी वासनासे पत्नीको प्राप्त करना चाहता हूँ, ऐसा नहीं है, किन्तु देव, ऋषि और पितृ—इन तीनोंका ऋण चुकानेके लिए ही मेरी ऐसी प्रार्थना है)॥ १६॥

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम्।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७॥

हे भगवन्! आप कालस्वरूप हैं, इसलिए हम आपसे भयभीत होकर कर्म करते रहते हैं। किन्तु आपके भक्तोंको ऐसा कोई भय नहीं है, क्योंकि आपके भक्तजन सम्पूर्ण रूपसे विषयासक्त लोगों और उनके मार्गका अनुसरण करनेवाले मेरे जैसे कर्मजड़ पशुओंकी उपेक्षा करके आपकी सुशीतल चरण-छायाका आश्रय लेते हैं। आपकी गुण-कथारूप मादक-सुधाका परस्पर पान करनेसे उनके देहधर्मकी भूख-प्यासादि क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं॥ १७॥

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व।
षण्णम्येनन्तच्छदि यत् त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्॥ १८॥

हे प्रभो! आपका त्रि-नाभिरूप कालचक्र बड़ा ही प्रबल और अद्भुत है। वह अजर ब्रह्मस्वरूप-धुरीके ऊपर निरन्तर घूमता रहता है। अधिकमास सहित तेरह महीने इसके तेरह अरे हैं। तीन सौ साठ दिन-रात इसके जोड़ हैं। छह ऋतुएँ इसकी छह नेमि (हाल) हैं। अनन्त क्षण पलादि इसकी पत्राकार धाराएँ हैं। तीन चातुर्मास्य इसके आधारभूत नाभि हैं। हे भगवान्! यह तीव्र वेगशाली संवत्सररूप कालचक्र समस्त जगत्‌की आयुका छेदन करता हुआ घूमता रहता है, परन्तु यह आपके भक्तोंकी आयुका हरण नहीं कर सकता॥ १८॥

एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः॥ १९॥

हे भगवन्! आप स्वयं एक होकर भी जगत्‌की सृष्टिकी इच्छासे अपनी योगमायाको स्वीकारकर उसकी छायारूप महामायाके प्रति ईक्षण अर्थात् दृष्टिपातके प्रभावसे अभिव्यक्त सत्त्वादि तीन शक्तियोंको बहिरङ्ग रूपसे स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार मकड़ी स्वयंसे ही जालेको बाहर निकालती है, उसकी रक्षा करती है और स्वयंमें ही जालेको लय भी कर लेती है, उसी प्रकार आप भी उक्त तीनों शक्तियोंके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं॥ १९॥

नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या भगवान् विलक्षितः॥ २०॥

हे परमेश्वर! हमारे समान अपने सकाम उपासकोंके लिए आप जो शब्दादि जड़-भोग्य विषय-सुखका विस्तार करते हैं, वह यद्यपि आपको पसन्द नहीं है, तथापि आप हम सकाम उपासकोंके प्रति अनुग्रहपूर्वक ही ऐसा कीजिये, जिससे कि हम देव-ऋषि-पितृऋणसे मुक्त हो जायें। इसका कारण है कि हमने आपके तुलसीमालासे सुशोभित श्रीविग्रहका दर्शन किया है, जो जीवोंको भुक्ति एवं मुक्ति दोनों ही प्रदान करता है॥ २०॥

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमाययावर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम्॥ २१॥

हे भगवन्! भगवत्-विषयक ज्ञान होनेपर जीवोंकी कर्मफल भोगकी वासना समाप्त हो जाती है। आप स्वरूपसे निष्क्रिय होनेपर

भी अपनी मायाशक्तिकी प्रेरणासे देव-तिर्यग् आदि लोकोंके लिए सुखदुःख कर्मफलरूप उपकरण सर्वदा सम्पादित करते हैं। आप क्षुद्र चित्तवाले सकाम पुरुषोंके द्वारा अभिलषित वस्तुओंको भी प्रदान करते हैं, इसलिए क्या सकाम, क्या निष्काम—सभी आपके चरणकमलोंमें शरणागत होते हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ २१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥ २२ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! कर्दम ऋषिने जब गरुड़के कन्धेपर विराजमान भगवान् श्रीपद्मनाभकी इस प्रकार निष्कपट भावसे स्तुति की, तब प्रेमपूर्वक मन्द-मन्द मुसकराते हुए और तिरछी चितवनके द्वारा चञ्चल भ्रू-भङ्गिमासे युक्त भगवान् अमृतमय मधुर वचनोंसे कर्दम ऋषिसे इस प्रकार कहने लगे॥ २२॥

श्रीभगवानुवाच—

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः॥ २३ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे मुनिवर! तुमने जिस अभिप्रायसे इतने दिन तक तपस्यादिके द्वारा मेरी भलीभाँति आराधना की है, मैं तुम्हारे हृदयके उस भावसे पूर्णतया अवगत हूँ, अतः मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर रखी है॥ २३॥

न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम्॥ २४ ॥

हे प्रजापते! जो अपने चित्तको नित्य निरन्तर मुझमें समाहित करके मेरा अर्चन करते हैं, उनकी वह आराधना कभी निष्फल नहीं होती। विशेष रूपसे तुम जैसे महात्मा मेरे नितान्त अनुग्रहके पात्र होते हैं॥ २४॥

प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्॥ २५॥

इस समय प्रजापति ब्रह्माके पुत्र सम्राट् स्वायम्भुव मनु अपने सदाचारादि मङ्गल गुणोंसे विख्यात हैं। वे ब्रह्मावर्त्त प्रदेशमें रहते हुए सात-सागरोंसे युक्त इस पृथ्वीपर शासन कर रहे हैं॥ २५॥

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः॥ २६॥

हे विप्रवर! वे धर्मज्ञ राजर्षि स्वायम्भुव मनु महारानी शतरूपाके साथ तुम्हारे दर्शनोंके लिए परसों इसी स्थानपर आयेंगे॥ २६॥

आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम्।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो॥ २७॥

हे मुनिश्रेष्ठ! उन राजर्षि मनुकी एक उपयुक्त आयु, शील-स्वभाव और गुणोंसे सम्पन्न मृगलोचना कन्या है। वे उसी कन्याके लिए योग्य पतिको ढूँढ़ रहे हैं। हे प्रजापते! तुम सर्वथा उसके योग्य हो, अतएव राजर्षि तुम्हें ही अपनी वह कन्या प्रदान करेंगे॥ २७॥

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।
सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशु भजिष्यति॥ २८॥

बहुत वर्षोंसे तुम्हारा चित्त जैसी पत्नीके लिए आसक्त हो रहा था, हे ब्रह्मन्! वैसी राजकन्या अतिशीघ्र ही तुम्हें पतिरूपमें ग्रहणकर तुम्हारी यथेष्ट सेवा करेगी॥ २८॥

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः॥ २९॥

वह तुम्हारे वीर्यको अपने गर्भमें धारणकर उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी। पुनः तुम्हारी उन कन्याओंमें मरीचि आदि ऋषि लोकरीतिके अनुसार अपने वीर्यका आधानकर पुत्र उत्पन्न करेंगे॥ २९॥

त्वञ्च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः।
मयि तीर्थीकृताशेष-क्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे॥ ३०॥

हे वत्स! तुम मेरी आज्ञाका अच्छी तरह पालन करते हुए मुझमें ही सम्पूर्ण कर्मफल समर्पण करो। ऐसा करनेसे तुम शुद्धसत्त्व होकर अन्तमें मुझे ही प्राप्त करोगे॥ ३०॥

कृत्वा दयाञ्च जीवेषु दत्वा चाभयमात्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्॥ ३१॥

वत्स! तुम गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पहले अन्न-वस्त्र दान आदिके द्वारा जीवोंपर दया करना और तत्पश्चात् संन्यास आश्रम ग्रहणकर करके प्राणिमात्रको अभय प्रदान करना। ऐसा करनेसे तुम अपने सहित अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको कारणार्णवशायी पुरुष मुझमें और अन्तर्यामीरूपमें स्थित मुझे अपनेमें स्थित देख सकोगे॥ ३१॥

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्॥ ३२॥

हे महामुने! इसके बाद मैं भी अपने अंश-कलासे तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भसे जन्म लेकर 'तत्त्व-संहिता' (सांख्य-शास्त्र) का प्रणयन करूँगा॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्॥ ३३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! भगवान् श्रीहरि ऋषिप्रवर कर्दम ऋषिके नेत्रोंके सम्मुख प्रकट होकर तथा उन्हें इस प्रकार उपदेश प्रदान करके सरस्वती नदीसे घिरे हुए बिन्दुसरोवर तीर्थपर स्थित कर्दम ऋषिके आश्रमसे अन्तर्धान हो गये॥ ३३॥

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टु तसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम॥ ३४॥

कर्दम ऋषिने देखा कि समस्त योगीश्वर जिनकी वन्दना करते हैं तथा सिद्धगण भी जिनके वैकुण्ठ मार्गको ढूँढ़ते रहते हैं, वे भगवान्

कर्दम ऋषिके सामने ही उनके द्वारा उच्चारित इन समस्त सामवेदकी ऋचाओंको, जिनकी अभिव्यक्ति उनके वाहन गरुड़जीके पङ्खोंसे हो रही थी, सुनते-सुनते चले गये॥ ३४॥

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन्॥ ३५॥

तदनन्तर शुद्ध-सत्त्वमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिके प्रस्थान करनेपर कर्दम ऋषि राजर्षि मनुके आगमनकालकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दुसरोवरके तटपर ही ठहर गये॥ ३५॥

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम्।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन् महीम्॥ ३६॥

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत् समादिशत्।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत्॥ ३७॥

हे विदुर! इसी बीचमें स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नी महारानी शतरूपाके साथ स्वर्णमण्डित रथपर सवार होकर तथा अपनी कन्याको भी उसी रथमें बिठाकर पृथ्वीपर भ्रमण करते हुए उसी दिन ही शान्तव्रत कर्दम ऋषिके प्रसिद्ध आश्रममें आ पहुँचे, जिस दिनके लिए भगवान्ने उनका आगमन निर्दिष्ट किया था॥ ३६-३७॥

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन् हर्षबिन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्॥ ३८॥

यह वही आश्रम है, जहाँ शरणागत कर्दम ऋषिके प्रति अत्यन्त करुणा और स्नेहके वशीभूत होकर भगवान्के नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदे गिरी थीं॥ ३८॥

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम्॥ ३९॥

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम्॥ ४०॥

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥ ४१ ॥

कदम्बचम्पकाशोक-करञ्जबकुलासनैः ।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥ ४२ ॥

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गुकूजितम्॥ ४३ ॥

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४ ॥

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहानुगः।
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम्॥ ४५ ॥

विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकला-पीयूषश्रवणेन च॥ ४६ ॥

प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम्।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम्॥ ४७ ॥

सरस्वतीके जलसे परिपूर्ण यह वही बिन्दुसरोवर है। यह तीर्थ परम पवित्र है, इसका जल कल्याणकारी तथा अमृतके समान मीठा है। महर्षिगण सदा इसकी सेवा किया करते हैं। उस समय यह स्थान बहुत-से पवित्र वृक्ष-लताओंसे सुशोभित और हिंसादिसे रहित नाना प्रकारके पशु और पक्षियोंके कूजनसे परिव्याप्त था। यह सभी ऋतुओंके फल और पुष्पादिसे सम्पन्न तथा सुन्दर वन-श्रेणीसे सुशोभित था। यह स्थान मदोन्मत्त पक्षियोंके कूजनसे प्रतिध्वनित एवं मधुपानमें मत्त मधुकरोंकी झंकारसे आनन्दक्रीड़ासे युक्त था। यहाँ मदमत्त मयूर नटके समान नृत्य करते थे और मतवाली कोयलें कुहू-कुहू करके एक-दूसरेको बुलाती रहती थीं। इसी आश्रममें कदम्ब, चम्पक, अशोक, करञ्ज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज और तरुण आम्रवृक्ष सुशोभित हो रहे थे। यहाँ कारण्डव (जलकाग), बतख, हंस, कुरर, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक, चकोर आदि पक्षियोंका मनोहर कूजन ध्वनित हो रहा था। इसी स्थानपर हिरण,

वराह, शल्लक (स्याही), नीलगाय, हाथी, लङ्गूर वानर, नेवला, कस्तुरी मृग आदि पशु विचरण कर रहे थे। आदिराज मनुने अपने अनुचरों तथा कन्याके साथ इस सर्वतीर्थ श्रेष्ठ परम मनोहर आश्रममें प्रवेश करके देखा कि एक मुनिवर (कर्दम) ब्रह्मचारीके लिए योग्य अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर बैठे हुए हैं। बहुत समय तक उग्र तपस्यामें रत रहनेके कारण उस अत्यधिक कठोर योगका प्रभाव उनके शरीरमें प्रकाशित हो रहा था। श्रीभगवान्‌की सुस्निग्ध अपाङ्गदृष्टि एवं अमृतमय चन्द्रकलास्वरूप सुमधुर कथामृतका पान करनेसे वे अत्यन्त पतले नहीं दिख रहे थे। उनका शरीर लम्बा एवं नेत्र कमल-दलके समान विशाल एवं मनोरम थे। सिरपर जटाएँ और कटि-देशपर चीर-वस्त्र विराजित था। महाराज मनु जब उनके समीप गये, तो वे असंस्कृत (बिना सानपर चढ़ी हुई) महामूल्य मणिके समान किञ्चित् मलिन दिखायी दे रहे थे॥ ३९-४७॥

अथोटजमुपायान्तं नृदेवं प्रणतं पुरः।
सपर्यया प्रत्यगृह्णात् प्रतिनन्द्यानुरूपया॥ ४८॥

तत्पश्चात् आदिराज मनुने कर्दम ऋषिकी कुटीमें आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने भी आशीर्वचनसे उनका अभिनन्दन करते हुए यथायोग्य आतिथ्यकी रीतिसे उनका पूजन-सत्कार किया॥ ४८॥

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन् मुनिः।
स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा॥ ४९॥

महाराज मनु उनकी पूजा ग्रहण करके स्थिर चित्तसे आसनपर विराजमान हो गये। तब मुनिवर कर्दम श्रीभगवान्‌के आदेशका स्मरणकर सुमधुर वचनोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ ४९॥

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां स त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी॥ ५०॥

हे राजर्षे! आपका विचरण निश्चित रूपसे साधु-सज्जनोंकी रक्षा और असुरोंके विनाशके लिए ही होता है, क्योंकि आप श्रीभगवान्‌की जगत्-पालिका-शक्ति स्वरूप हैं॥ ५०॥

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम्।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः॥ ५१॥

हे देव! आप विभिन्न कार्योंके प्रवर्त्तनके लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं। आप ही वे सर्वदेवमय, शुक्लवर्ण अर्थात् शुद्धसत्त्वस्वरूप विष्णुरूप हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ५१॥

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान्॥ ५२॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन् मण्डलं भुवः।
विकर्षन् महतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव॥ ५३॥
तदैव सेवतः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः॥ ५४॥

हे राजन्! यदि आप मणियोंसे जड़े हुए जयदायक रथपर सवार होकर अपने प्रचण्ड शब्दायमान धनुषकी टङ्कार और रथकी घर-घराहटसे धर्म विरोधी पापियोंको भयभीत नहीं करते, अपने सुविशाल सैन्यदलके साथ उसके पाद-प्रहारोंसे रौंदे गये भूमण्डलको कँपकँपाते हुए सूर्यके समान इस पृथ्वीपर भ्रमण न करते, अहो! तब तो हे महाराज! भगवान्के द्वारा सृष्ट वर्णाश्रमधर्मके संस्थापक समस्त पथ ही दुराचारी असुरोंके द्वारा विनष्ट हो जाते॥ ५२-५४॥

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति॥ ५५॥

हे राजन्! यदि आप इस संसारके प्रति निश्चिन्त हो जायें, तो कृष्णसे बहिर्मुख विषयलोलुप स्वतन्त्र-स्वेच्छामय मनुष्योंके द्वारा किया जानेवाला अधर्म वर्द्धित होता रहेगा। इसके फलस्वरूप यह लोक दुराचारियों (दस्युओं) के द्वारा पीड़ित होकर नष्ट हो जायेगा॥ ५५॥

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा॥ ५६॥

यद्यपि आप बिना किसी कारणके ही भ्रमण नहीं करते हैं, तथापि मैं आपसे पूछता हूँ—हे वीर! कृपया मुझे बतलाइये कि आप किस उद्देश्यसे मेरे आश्रममें पधारे हैं? मैं निष्कपट हृदयसे आपके अभिप्रायको पूर्ण करूँगा॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर–मैत्रेय संवादे श्रीमनु–कर्दम–संवादो नाम एकविंशोऽध्यायः॥

द्वाविंशोऽध्यायः

देवहूतिके साथ प्रजापति कर्दमका विवाह

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवमाविष्कृताशेष-गुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह॥ १॥

श्रीमैत्रेयऋषिने कहा—हे विदुर! महर्षि कर्दमने इस प्रकार मनुके समस्त गुणों एवं कर्मोंके उत्कर्षकी बहुत प्रशंसा की। तब सम्राट् मनु आत्म-प्रशंसाको सुनकर लज्जित-से हो गये और निवृत्ति-धर्म परायण कर्दम ऋषिसे कहने लगे॥ १॥

श्रीमनुरुवाच—

ब्रह्मासृजत् स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान्॥ २॥

श्रीमनुने कहा—हे ब्रह्मन्! वेदमय ब्रह्माने वैदिक ज्ञानके विस्तारकी अभिलाषासे भगवान्‌की आराधना, ध्यान और योगसे सम्पन्न तथा निष्कपट अर्थात् विषयोंसे अनासक्त आप-जैसे ब्राह्मणोंकी अपने विराट् देहके मुखसे सृष्टि की है॥ २॥

तत्त्राणायासृजच्चास्मान् दोःसहस्रात् सहस्रपात्।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते॥ ३॥

और उन्हीं सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिए अपनी सहस्र भुजाओंसे हम क्षत्रियोंकी सृष्टि की है। इसीलिए ब्राह्मणको ब्रह्माका (उन विराट् पुरुषका)[१] हृदय एवं क्षत्रियको उनकी भुजा कहा जाता है॥ ३॥

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रञ्च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः॥ ४॥

[१] यहाँ परमेश्वरके साथ ब्रह्माके ऐक्यरूपमें ऐसा कहा गया है।

अतएव ब्राह्मण और क्षत्रिय एक ही शरीरसे सम्बन्धित रहनेके कारण एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं। ब्राह्मण तपोबलके प्रभावसे क्षत्रियका पालन करते हैं और क्षत्रिय देहबलके द्वारा ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं। यद्यपि यह रक्षा परस्पर हमारे द्वारा की हुई प्रतीत होती है, तथापि जो सर्वात्मक अर्थात् कार्य-कारणरूप होकर भी निर्विकार हैं, वे परमेश्वर ही वास्तवमें सबकी रक्षा करते हैं॥ ४॥

तव सन्दर्शनादेवच्छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत् स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः॥ ५॥

हे देव! आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे समस्त संशय दूर हो गये हैं। मैं क्षत्रियोंके लिए उचित रक्षा-कार्य करनेका इच्छुक हूँ, इसीलिए षड़ैश्वर्यशाली आपने मेरी प्रशंसा करके बड़े प्रेमके साथ राजाओंके (मेरे) धर्मका निरूपण किया है॥ ५॥

दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम्।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्॥ ६॥

मुझे बड़े सौभाग्यसे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। दुराचारी अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंको आपका दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। अपने सौभाग्यके कारण ही मैं आपकी मङ्गलमयी चरणधूलिको अपने सिरपर धारण कर सका हूँ॥ ६॥

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान्।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः॥ ७॥

मेरे सौभाग्यके कारण ही आपने मुझे राजधर्मकी शिक्षा देकर मुझपर महान् कृपा की है और मैंने भी अपनी बहुत सुकृतियोंके फलसे आपकी पवित्र और कमनीय वाणीको कान खोलकर सुना है॥ ७॥

स भवान् दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने॥ ८॥

हे मुने! आपने मुझपर विशेष कृपा की है। अपनी कन्याके प्रति स्नेहवशतः मेरा हृदय बड़ा ही चिन्तित हो रहा है। आप कृपा करके मुझ दीन-जनका एक निवेदन सुनिये॥ ८॥

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः॥ ९॥

हे मुनिवर! मेरी एक कन्या है, जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है। यह आयु, स्वभाव एवं गुण आदिमें अपने अनुरूप पतिकी खोज कर रही है॥ ९॥

यदा तु भवतः शील-श्रुतरूपवयोगुणान्।
अश्रृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत् कृतनिश्चया॥ १०॥

जबसे इसने श्रीनारद ऋषिके मुखसे आपके चरित्र, पाण्डित्य, रूप, आयु और गुणोंको सुना है, तभीसे इसने आपको ही पतिके रूपमें वरण करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है॥ १०॥

तत् प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपाहृतां मया।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु॥ ११॥

अतएव हे द्विजश्रेष्ठ! मेरे द्वारा अर्पित श्रद्धाके उपहार-स्वरूप इस कन्याको आप अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये। मेरी यह कन्या सब प्रकारसे आपके योग्य है, यह आपके गृहास्थाश्रमोचित समस्त कार्योंमें परम सहायक होगी॥ ११॥

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥ १२॥

विरक्त अर्थात् विषय-संपर्कसे सम्पूर्णता निर्मुक्त पुरुषको भी स्वयं उपस्थित भोगोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये, फिर जो कामासक्त हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है?॥ १२॥

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥ १३॥

जो व्यक्ति स्वयं प्राप्त काम्यवस्तु (भोग) का अनादर कर देता है, बादमें वह उसी वस्तुके लिए कृपण व्यक्तियोंके निकट हाथ पसारता है। इस प्रकार वह यशस्वी होनेपर भी क्रमशः अपने यशको क्षीण कर बैठता है और दूसरोंके द्वारा तिरस्कार होनेपर उसका मान भी नष्ट हो जाता है॥ १३॥

अहं त्वाश्रृणवं विद्वन्नुद्वाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे॥ १४॥

हे विद्वन्! मैंने सुना है कि आप विवाहके लिए उद्यत हैं, इसीलिए मैं आपसे इस कन्याका पाणिग्रहण करनेका आग्रह कर रहा हूँ। आपका ब्रह्मचर्यव्रत नैष्ठिक नहीं हैं; अतः जब आपने ब्रह्मचर्यव्रतको समाप्त करना ही है, तब मेरे द्वारा अर्पित की हुई कन्याको ही पत्नी रूपमें स्वीकार करें॥ १४॥

श्रीऋषिरुवाच—

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः॥ १५॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—यह उत्तम प्रस्ताव है, मैंने आपकी कन्याको स्वीकार किया। मैं भी विवाह करनेका इच्छुक हूँ और आपकी इस कन्याके द्वारा भी मुझे पति रूपमें वरण करनेका निश्चय किया गया है, इसलिए यह किसीको भी वचनके द्वारा दान नहीं दी गयी है। अतः प्रथम वैवाहिक विधि अर्थात् ब्राह्म विधिसे[१] ही हमारा विवाह होना उचित होगा॥ १५॥

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम्॥ १६॥

हे राजन्! आपकी इस कन्याका विवाह-संस्कार वेदोक्त विधिसे ही भलीभाँति अनुष्ठित हो। आपकी इस कन्याके साथ सम्बन्ध होनेसे वेदोक्त 'गृह्णामि ते'[२] मन्त्रोंमें बताया हुआ काम अर्थात् सन्तान-उत्पत्ति रूप मनोरथ सफल होगा। आपकी पुत्रीकी अङ्ग-कान्तिसे तो

---

[१] मनुस्मृतिके अनुसार आठ प्रकारके विवाहोंमें सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ—जिसमें पिता अपनी कन्याको योग्यवरको दान करता है।
[२] वेदोंमें प्रसिद्ध मन्त्र है—'गृह्णामि ते' अर्थात् सौभाग्यके लिए मैं पति रूपमें तुम्हारी कन्याका पाणिग्रहण करता हूँ। तुम वीर-प्रसविनी होओ।

आभूषणोंकी शोभा भी तिरस्कृत हो रही है, अतः कौन पुरुष इसका आदर नहीं करेगा?॥ १६॥

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्।
विश्वावसुर्न्यपतत् स्वाद्विमानाद्-
विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः॥ १७॥

एक बार आपकी यह कन्या महलकी छतपर चढ़कर गेंदके साथ खेल रही थी। उस समय गेंदके इधर-उधर जानेसे इसकी दृष्टि भी चञ्चल हो रही थी। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए इसके दोनों पैरोंके नूपुरोंसे रुनझुन शब्दोंके द्वारा इसके पैर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। विश्वावसु नामक गन्धर्व इसका ऐसी दशामें दर्शन करनेमात्रसे सम्मोहवशतः विमूढ़ चित्त होकर अपने विमानसे भूमिपर गिर पड़ा था॥ १७॥

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवित श्रीचरणैरदृष्टाम्।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम्॥ १८॥

यह रमणियोंमें भूषण-स्वरूप है। जिन्होंने कभी भी श्रीलक्ष्मीके चरणोंकी सेवा नहीं की, उनके भाग्यमें इसका दर्शन नहीं है। उसपर भी यह आदिराज स्वायम्भुव मनुकी दुलारी कन्या और उत्तानपादकी प्यारी बहिन है तथा स्वयं ही यहाँ आकर पतिके लिए प्रार्थना कर रही है। फिर कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा, जो इसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं करेगा?॥ १८॥

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान्॥ १९॥

अतः जब तक यह मेरे और अपने स्वयंके तेजको धारण नहीं करती अर्थात् गर्भवती नहीं होती, तब तक मैं आपकी इस साध्वी कन्याके साथ गार्हस्थ्य धर्मका निर्वाह करूँगा। इसके पश्चात् भगवान् श्रीविष्णु द्वारा कथित परमहंस अर्थात् संन्यास प्रधान अहिंसा धर्मको ग्रहण करूँगा॥ १९॥

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वाव तिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः॥ २०॥

हे राजन्! यह विचित्र विश्व जिनसे उत्पन्न हुआ है, जिनमें अवस्थित है एवं अन्तमें जिनमें लीन हो जायेगा, प्रजापतियोंके पति वे भगवान् अनन्तदेव श्रीविष्णु ही मेरी एकमात्र परम-शरण हैं॥ २०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम्।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे श्रेष्ठ धनुर्धर विदुर! इतना कहकर कर्दम ऋषि मौन हो गये और फिर बुद्धिको पूर्णतया समाहित करके वे पद्मनाभ श्रीविष्णुका स्मरण करने लगे। इससे उनका मुखकमल मुस्कानसे खिल उठा। यह देखकर देवहूतिका चित्त उनके प्रति आकर्षित हो गया॥ २१॥

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम्।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः॥ २२॥

तदनन्तर मनुने अपनी महारानी शतरूपा और कन्याकी स्पष्ट अनुमति जानकर आनन्दित हृदयसे सर्वगुण विभूषित उन मुनिवरके साथ उनके ही अनुरूप अपनी गुणवती कन्याका विवाह कर दिया॥ २२॥

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान् महाधनान्।
दम्पत्योः पर्यदात् प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान्॥ २३॥

महारानी शतरूपाने भी अपनी पुत्री एवं जामाताको विवाह कालमें दान देने योग्य बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण एवं विविध गृहोपकरण प्रीति सहित प्रदान किये॥ २३॥

प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः॥ २४॥

उपयुक्त वरके साथ कन्याका विवाह करके मनु निश्चिन्त हो गये, किन्तु कन्याके प्रति अत्यधिक स्नेहके कारण उनके मनमें अन्य प्रकारकी उत्कण्ठा होने लगी, जिससे उनका चित्त विह्वल हो गया। तब उन्होंने अत्यन्त स्नेहवशतः अपनी दोनों भुजाएँ फैलाकर कन्याको हृदयसे लगा लिया और उसे अपने आँसुओंसे अभिषिक्त कर दिया॥ २४॥

अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः॥ २५॥

कन्याके विरह-दुःखको सहन करनेमें असमर्थ होकर मनु कातर रूपमें बेटी! बेटी! सम्बोधन करते हुए पुनः-पुनः रोने लगे जिससे उनकी पुत्रीके केश भीग गये॥ २५॥

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः॥ २६॥

तदनन्तर मनुने मुनिवर कर्दमसे आज्ञा लेकर और उनकी अनुमति प्राप्तकर उनसे विदा ली और पत्नीके साथ रथपर चढ़कर अनुचरोंके साथ अपनी राजधानीकी ओर प्रस्थान किया॥ २६॥

उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः॥ २७॥

ऋषियोंका हित साधन करनेवाली सरस्वती नदीके शोभनीय दोनों तटोंपर प्रशान्त मुनियोंके आश्रम विराजित थे। महाराज मनु उन

आश्रमोंकी शोभा-सम्पद्का दर्शन करते हुए अपनी पुरीकी ओर अग्रसर होने लगे॥ २७॥

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात् प्रजाः पतिम्।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः॥ २८॥

महाराज मनुके अपनी पुरीके समीप आगमनका समाचार जानकर उनकी प्रजा अपने राजाके दर्शनकी अभिलाषासे आनन्दित चित्तसे विविध गीत, वाद्य और स्तुति करती हुई महाराजकी आगवानी करनेके लिए ब्रह्मावर्त्तकी राजधानीसे बाहर निकल आयी॥ २८॥

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः॥ २९॥

हे विदुर! समस्त प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नामक पुरी ही ब्रह्मावर्त्त देशकी राजधानी है। इसी स्थानपर पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् यज्ञमूर्त्ति भगवान् श्रीवराहदेवके अङ्ग कम्पित होनेके कारण उनके शरीरसे रोम झड़कर गिर गये थे॥ २९॥

कुशाः काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे॥ ३०॥

इस स्थानपर गिरे वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास रूपमें परिणत होकर सर्वदा विराजमान रहते हैं। इनके द्वारा ही ऋषियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले राक्षसोंका तिरस्कार करके यज्ञानुष्ठानके द्वारा श्रीविष्णुकी आराधना की है॥ ३०॥

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान् मनुः।
अयजद् यज्ञपुरुषं लब्ध्वा स्थानं यतो भुवम्॥ ३१॥

राजर्षि मनुने भी भगवान् श्रीवराह देवसे भूमण्डलरूप स्थान प्राप्तकर इसी स्थानमें कुश और काससे बनी हुई चटाई (आसन) को बिछाकर यज्ञपुरुष श्रीहरिकी अर्चना की थी॥ ३१॥

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निविश्य समावसत्।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम्॥ ३२॥

महाराज मनु अपनी 'बर्हिष्मती' नामक पुरीमें आये और उन्होंने त्रिताप-विनाशक अपने भवनमें प्रवेश किया॥ ३२॥

सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः।
संगीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः॥ ३३॥

प्रतिदिन प्रातःकाल होनेपर गन्धर्व अपनी पत्नियोंके साथ उनकी सत्कीर्त्तिका गान करते थे। मनु अपने पुत्र, पत्नी और सेवकोंके साथ उस कीर्त्तित यशको भगवान्में आसक्त-चित्त होनेके कारण वैष्णवी प्रतिष्ठा मानकर श्रवण करते थे, तथा धर्मादिका विरोध न करके युक्त-वैराग्यके साथ विषयोंका भोग करते थे॥ ३३॥

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम्।
यदाभ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम्॥ ३४॥

इस प्रकार महाराज मनु भगवान्के आश्रित और मननशील होनेके कारण ऐहिक भोग रचनामें भी कुशल थे, किन्तु वे भोग किञ्चित् मात्र भी उन्हें विचलित नहीं कर पाते थे॥ ३४॥

अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः॥ ३५॥

महाराज मनु नित्य-निरन्तर हरिकथा-श्रवण, हरिके विषयमें ध्यान-चिन्तन, हरिके लीला-वृत्तान्तकी रचना और हरिकीर्त्तनमें ही समय बिताया करते थे। अतएव उनका समय कभी भी व्यर्थ नष्ट नहीं होता था। इस प्रकार कालके अवयव (अंश) क्षण-मुहूर्त्त आदिमें भी सार रहित न रहकर उन्होंने मन्वन्तरका समय पूर्ण किया था॥ ३५॥

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम्।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः॥ ३६॥

इस प्रकारसे महाराज मनुने अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग व्यतीत किये। श्रीवासुदेवकी कथा-प्रसङ्गमें निमग्न रहकर उन्होंने

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको पराभूत कर दिया था॥ ३६॥

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम्॥ ३७॥

हे व्यासनन्दन विदुर! शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक और भौतिक क्लेश श्रीहरिके चरणाश्रित व्यक्तियोंको किस प्रकार पीड़ा देनेमें समर्थ हो सकते हैं?॥ ३७॥

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान् नानाविधान् शुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणाञ्च सर्वभूतहितः सदा॥ ३८॥

महाराज मनु सर्वदा समस्त प्राणियोंके हितकारी थे। मुनियोंके द्वारा धर्मके विषयमें जिज्ञासा किये जानेपर उन्होंने मनुष्योंके साधारण धर्म, वर्ण और आश्रम धर्म आदि नाना प्रकारके मङ्गलकारी धर्मोंका उपदेश दिया था॥ ३८॥

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम्।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु॥ ३९॥

आदिराज मनुका यह अद्भुत चरित्र कीर्त्तनके योग्य है, इसीलिए इसे मैंने तुम्हें सुनाया है। अब उनकी पुत्री देवहूतिके प्रभावके विषयमें सुनो॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेय संवादे देवहूति-प्रदानं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

कर्दम और देवहूतिका विहार

श्रीमैत्रेय उवाच—

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—वत्स विदुर! माता-पिताके चले जानेके बाद पतिके मनोरथको जाननेमें कुशल साध्वी देवहूति प्रतिदिन अत्यधिक प्रीतिके साथ पतिकी इस प्रकार सेवा करने लगी, जिस प्रकार पार्वती श्रीशिवकी सेवा करती हैं॥ १॥

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥ २॥

विसृज्य कामं दम्भञ्च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ ३॥

देवहूति काम-वासना, कपटता, द्वेष, लोभ, अहङ्कार और निषिद्धाचरण आदिका त्याग करके अत्यन्त सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, इन्द्रिय-संयम, प्रेम और मधुर सम्भाषणादिके द्वारा सर्वदा अपने तेजस्वी पतिको शुश्रूषासे सन्तुष्ट करने लगी॥ २-३॥

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम्।
दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः॥ ४॥

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत्॥ ५॥

पतिको दैवसे भी श्रेष्ठ माननेवाली देवहूति उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखे हुए थी। पतिकी सेवाके लिए दीर्घकाल तक व्रताचरण

आदिका नियम पालन करनेके कारण देवहूतिका शरीर क्षीण हो गया। महर्षि कर्दम सहधर्मिणीकी यह दशा देखकर दयावश दुःखित हो गये और प्रेमसे गद्‌गद वाणीसे अपनी प्रेयसीसे इस प्रकार कहने लगे॥ ४-५ ॥

श्रीकर्दम उवाच—

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या।
यो देहिनामयमतीव सुहृत् स देहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे॥ ६ ॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—हे मनुपुत्रि! तुमने मुझे बड़ा आदर दिया है। मैं तुम्हारी इस प्रकारकी उत्तम सेवा और मेरे प्रति सम्पूर्ण अनुरागमयी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। देहधारियोंको अपना देह-मात्र ही अत्यन्त प्रिय होता है, परन्तु तुमने मेरी सेवाके लिए अपनी इस देहको भी क्षीण करनेमें कोई चिन्ता नहीं की॥ ६ ॥

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान्॥ ७ ॥

हे प्रिये! मैंने अपने धर्मका पालन करते हुए तपस्या, समाधि और उपासनाके द्वारा चित्तको स्थिर कर लिया है और इन सबके द्वारा ही भगवान्‌के प्रसाद-स्वरूप भय एवं शोकसे रहित दिव्यभोगोंको प्राप्त किया है। एकमात्र मेरी सेवा करनेसे तुम्हारा भी इन समस्त भोगोंपर अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तुम इन सबको देख सकोगी॥ ७ ॥

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान् निजधर्मदोहान्
दिव्यान् नरैर्दुरधिगान् नृपविक्रियाभिः॥ ८ ॥

अन्यान्य जितने भी मनोरथ हैं, वे सब तो नितान्त तुच्छ और हेय हैं, क्योंकि वे सब तो भगवान् उरुक्रमके भ्रू-भङ्गी विलासमात्रसे ही नष्ट हो जाते हैं, अतएव वे तुम्हारे उपयुक्त नहीं हैं। हे प्रिये! तुमने सिद्ध अवस्थाको प्राप्त किया है, अपने पातिव्रत्य धर्मके फलस्वरूप उपलब्ध इन दिव्य भोगोंका उपभोग करो। ये समस्त भोग मनुष्योंके लिए दुर्लभ है, परन्तु हमारे लिए सुलभ हैं। अधिक क्या, 'मैं राजा या रानी हूँ', 'मुझे सब कुछ सुलभ है', इस प्रकारके अभिमानके द्वारा भी राजाओं या रानियोंको इन दिव्य भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती है॥ ८॥

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत्।
संप्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाह ॥ ९ ॥

महर्षि कर्दम निखिल प्रकारकी योग-विभूतियों और उपासनाओंमें सुनिपुण थे। पतिके इस प्रकार कहनेसे ही देवहूतिकी समस्त चिन्ता दूर हो गयी। उस समय वह किञ्चित् लज्जायुक्त चितवन और मधुर-मुसकानसे सुशोभित मुखसे प्रेम एवं विनयसे उदित गद्गद स्वरसे कहने लगी॥ ९॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम्॥ १०॥

देतहूतिने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! हे स्वामिन्! मैं जानती हूँ कि आप अमोघ अर्थात् कभी निष्फल न होनेवाली योगमाया शक्तिके अधिपति हैं। आपने जो कुछ भी कहा, वह सब आपके द्वारा सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु प्रभो! मेरे विवाहके समय आपने जो प्रतिज्ञा की थी—गर्भादान होने मात्र तक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुखका उपभोग करूँगा, अब उसे पूर्ण कीजिये अर्थात् गर्भ होने तक आपके

साथ एकबार भी अङ्ग-सङ्ग हो जाये। श्रेष्ठ पतिको प्राप्त करके साध्वी (पतिव्रता) स्त्रियाँ यदि सन्तान प्राप्त करती हैं, तो यही उनका परम लाभ है॥ १०॥

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे करशितोऽतिरिरंसयात्मा।
सिध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व॥ ११॥

पुत्रोत्पत्ति हेतु हम दोनोंके समागमके लिए शास्त्रकी व्यवस्थाके अनुसार जो कर्त्तव्य हो, उसका आप विधान कीजिये। बलवती रमण-स्पृहाके कारण कृश और दुर्बल हुआ मेरा शरीर आपके साथ रति-क्रीड़ामें समर्थ हो सके, इसके उपयोगी उबटन, गन्ध, भोजन-पानादिकी व्यवस्था कीजिये। हे ईश! रति-क्रीड़ाके लिए उपयुक्त एक भवनका निर्माण कीजिये॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥ १२॥

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम्॥ १३॥

दिव्योपस्करणोपेतं सर्वकालसुखावहम्।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम्॥ १४॥

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम्॥ १५॥

उपर्युपरिविन्यस्त-निलयेषु पृथक् पृथक्।
क्लिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः॥ १६॥

तत्र तत्र विनिक्षिप्तं नानाशिल्पोपशोभितम्।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः॥ १७॥

द्वार्षु विद्रुमदेहल्या भातं बज्रकवाटवत्।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम्॥ १८॥

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः।
जुष्टं विचित्रवैतानैः सहारैर्हेमतोरणैः॥ १९॥
हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्।
कृत्रिमान् मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च॥ २०॥
विहारस्थानविश्रामसंवेश-प्राङ्गणाजिरैः।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महर्षि कर्दम अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए उसी समय योगासनमें बैठ गये। उनके योगबलसे उसी मुहूर्त्तमें ही इच्छानुसार चलनेवाला एक दिव्यविमान उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। वह दिव्य विमान समस्त अभिलषित भोगोंको प्रदान करनेवाला, अति सुन्दर, विविध रत्नोंसे विभूषित, उत्तरोत्तर वर्द्धित समस्त सम्पत्तियोंसे युक्त एवं मणिमय स्तम्भोंसे शोभित था। वह विमान स्वर्गीय उपकरणोंसे युक्त, समस्त ऋतुओंमें आनन्द और सुखदायक तथा छोटी-छोटी रङ्ग-बिरङ्गी रेशमी झण्डियों एवं चित्र-विचित्र पताकाओंसे विभूषित था। विमानके बीचमें बहुत प्रकारकी विचित्र मालाएँ और माला-निर्माणके योग्य पुष्पोंका ढेर था। इन पुष्पोंके सौरभसे आकर्षित होकर भ्रमर इधर-उधर उड़ते हुए मनोहर गुञ्जार कर रहे थे। विमानका भीतरी भाग नाना प्रकारके सूती, रेशमी आदि वस्त्रोंसे अलंकृत था। उस विमानमें एकके ऊपर एक बने हुए पृथक्-पृथक् कमरोंमें स्थान-स्थानपर शय्या, पलङ्ग, पङ्खे और आसनादि सुसज्जित थे, जिससे उन कक्षोंका दृश्य अति मनोरम हो रहा था। वह स्थान-स्थानपर विविध प्रकारके शिल्प-कार्यों द्वारा विभूषित था। पन्नेसे निर्मित फर्श एवं मूँगेसे बनी हुई वेदियाँ विराजित रहनेसे उसकी शोभा और भी मनोहर हो रही थी। उस विमानकी देहली विद्रुम-मणिसे जड़ित स्तम्भोंसे शोभित थी तथा वह हीरोंसे जड़े हुए किवाड़ोंसे युक्त था। उसके इन्द्रनीलमणिमय भवनके शिखरोंपर स्वर्ण-कलश स्थापित थे। उसकी हीरकमय दीवारोंपर सर्वोत्तम पद्म-राग मणियाँ जड़ित होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता था, मानो विमानमें आँखें लगी हों। उसमें विचित्र चँदोवे तथा लड़ियोंसे भूषित

बहुमूल्य स्वर्ण-तोरण शोभित हो रहे थे। उस विमानमें जहाँ-तहाँ स्थित कृत्रिम हंस एवं कबूतरोंको स्वजातीय जानकर उनके ऊपर बार-बार उड़ते-बैठते हंस-कबूतरादि पक्षी अपनी-अपनी बोलीमें कलरव कर रहे थे। वहाँ विहारस्थली, शयनगृह, उपभोग-स्थान, आँगन और दीवारोंका बाह्य भाग जिस प्रकारसे भी सुखदायक हो सकते थे, उसी प्रकारसे स्थापित थे। वह विमान स्वयं सृजनकारी महर्षि कर्दमको भी आश्चर्यचकित-सा कर रहा था॥ १२-२१॥

ईदृग्गृहं तत् पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत् कर्दमः स्वयम्॥ २२॥

ऐसे अनुपम भवनको देखकर भी देवहूतिका मन अपनी मलिन देह और परिचारिकाओंके अभावके कारण प्रसन्न नहीं हो सका। यह देखकर सभीके मनोभावको जाननेवाले कर्दम ऋषि स्वयं ही उससे कहने लगे॥ २२॥

निमज्ज्यास्मिन् ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम्॥ २३॥

हे भयशीले! तुम इस बिन्दुसरोवरमें स्नान करो और इस विमानपर सवार हो जाओ। यह सरोवर महातीर्थ है और भगवान् विष्णुके आनन्दसे उनके नेत्रोंसे गिरे आँसूके बिन्दुसे बना है, अतः यह मनुष्योंको सर्वाभीष्ट प्रदान करता है॥ २३॥

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतान् स्वमूर्द्धजान्॥ २४॥
अङ्गञ्च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम्।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम्॥ २५॥

देवहूतिके वस्त्र मैले हो गये थे, बालोंकी जटाएँ बन गयी थीं, उसके शरीरपर मैल जम गया था और उसके दोनों स्तन भी विवर्ण और कान्तिहीन हो गये थे। पतिके इन वचनोंका आदर करते हुए कमलाक्षी देवहूतिने उसी अवस्थामें परम-पावन सरस्वती नदीके तटपर स्थित पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमें प्रवेश किया॥ २४-२५॥

सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः॥ २६॥

जलमें डुबकी लगाते ही उसे एक विस्मयकारी दृश्य दिखलायी पड़ा। उसने देखा कि सरोवरके जलके भीतर एक भवनमें एक हजार कन्याएँ हैं, उन सबकी किशोरावस्था है और उन सबके शरीरसे कमल जैसी सुगन्ध निकल रही है॥ २६॥

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम्॥ २७॥

वे सभी कन्याएँ देवहूतिको देखते ही आदर सहित उठ खड़ी हुईं और दोनों हाथ जोड़कर कहने लगीं—देवि! हम आपकी आज्ञाका पालन करनेवाली परिचारिकाएँ हैं, अतः आप हमें आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें?॥ २७॥

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम्।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः॥ २८॥

भूषणानि परार्द्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानञ्चैवामृतासवम्॥ २९॥

हे विदुर! यह कहकर उन रमणियोंने अपनी परम आदरणीय मनस्विनी देवहूतिको स्नानयोग्य तेल आदिसे मालिश करके स्नान कराया तथा स्नानके बाद उन्हें पहननेके लिए नवीन निर्मल वस्त्र और उत्तरीय प्रदान किये। इसके बाद उन्होंने नाना प्रकारके प्रिय लगनेवाले, बहुमूल्य, दिव्य-कान्तियुक्त अलङ्कारोंसे उनका शृङ्गार किया तथा चर्व्य (चबानेवाला), चूष्य (चूसनेवाला), लेह्य (चाटनेवाले), पेय (पीनेवाले) आदि विविध प्रकारके स्वादिष्ट भोजन तथा पीनेके लिए अमृतके समान स्वादिष्ट आसव प्रदान किये॥ २८-२९॥

अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम्॥ ३०॥

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम्॥ ३१॥

श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम्॥ ३२॥

सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम्॥ ३३॥

तब देवहूति दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगी। उसने देखा कि उसके कण्ठमें भाँति-भाँतिके सुगन्धित फूलोंसे बनी सुन्दर माला है, वह श्वेत वसन धारण किये हुए है, उसका शरीर निर्मल और कान्तिमान हो गया है। इस प्रकार उन सुन्दरियोंने उसका मङ्गल-अनुष्ठानसूचक शृङ्गार किया है और वे उसका बहुत ही सम्मान कर रही हैं। उसने यह भी अनुभव किया कि उबटनादिके द्वारा उसका शरीर साफ-सुथरा और सुन्दर हो गया है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको अलङ्कारोंसे विभूषित किया गया है। गलेमें पदकयुक्त हार, हाथोंमें कंगन और पैरोंमें रुन-झुन करते हुए स्वर्ण-नूपुर विराजित हैं। कमरमें बहुत-से रत्नोंसे जड़ित काञ्चनमयी करधनी है, कण्ठमें महामूल्यवान हार एवं सम्पूर्ण देह कुम्कुमादि अनेक प्रकारके मङ्गल-द्रव्योंसे सुसज्जित है। उसने यह भी देखा कि मनोहर भ्रू-युगल सुन्दर दन्त-पंक्ति, कमलकी कलीको पराभूत करनेवाले सुन्दर स्निग्ध, स्नेहमयी चितवनसे युक्त नेत्र और नीलवर्णयुक्त अलकावलि उसके मुखमण्डलकी शोभाको बढ़ा रहे हैं॥ ३०-३३॥

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम्।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः॥ ३४॥

विदुर! देवहूतिने दर्पणमें अपने इस प्रकारके मनोहारिणी रूपको देखकर जैसे ही अपने प्रियतम ऋषि श्रेष्ठ पतिका स्मरण किया वैसे ही उसने उन परिचारक कन्याओंसे घिरी स्वयंको उसी स्थानपर उपस्थितं देखा जहाँपर प्रजापति कर्दम विराजमान थे॥ ३४॥

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत॥ ३५॥

अपने पतिके सम्मुख स्वयंको सहस्र सुन्दरियोंसे घिरी हुई देखकर और अपने पतिके योग-प्रभावको देखकर उसका चित्त विस्मयसे भर गया॥ ३५॥

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत्।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीत-रुचिरस्तनीम्॥ ३६॥

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम्।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन्॥ ३७॥

हे जितकाम विदुर! मुनिवरने देखा कि स्नान आदिके द्वारा निर्मल होकर देवहूतिकी अत्यन्त शोभा हो रही है। विवाहके पूर्व उसका जैसा सौन्दर्य था, पुनः वही अपूर्व सौन्दर्य प्रस्फुटित हो गया है। सुन्दर वस्त्रोंसे आवृत होकर उसके मनोहर स्तनयुगल सुशोभित हो रहे हैं। उसने अत्युत्तम वस्त्र पहन रखे हैं और हजारों विद्याधरियाँ उसकी सेवामें नियुक्त हैं। देवहूतिको इस अवस्थामें देखकर मुनिवरने कामसे आविष्ट होकर उसे विमानपर चढ़ा लिया॥ ३६–३७॥

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीव्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभस्थः॥ ३८॥

उस समय मुनिवर कर्दम अपनी प्रिया देवहूतिके प्रणयमें आसक्त थे, तथापि उनकी महिमा (स्वतन्त्रता) किसी भी अंशमें कम नहीं हुई। उस सुन्दर विमानमें कर्दम मुनि अपनी प्रिया देवहूति सहित विद्याधरियोंसे सेवित होकर इस प्रकार अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे, मानो आकाशमें तारोंसे परिवेष्टित रात्रि कुमुदिनियोंको प्रकाश करनेवाला नक्षत्रपति चन्द्रमा हों॥ ३८॥

तेनाष्टलोकप-विहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी॥ ३९॥

तदुपरान्त उस विमानमें ललनाओंसे परिवृत्त होकर कर्दम मुनि आठों लोकपालोंकी विहार-स्थली सुमेरु पर्वतकी समस्त घाटियोंमें, कामभावको वर्द्धन करनेवाली सुशीतल और मृदु-मन्द सुगन्धित वायुसे सुशोभित स्थानोंपर तथा स्वर्गनदी मन्दाकिनीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मङ्गलमयी ध्वनिसे निरन्तर गूँजते स्थानोंपर उसी प्रकार रमण द्वारा प्रसन्नताका अनुभव करते रहे, जिस प्रकार धनपति कुबेर सिद्धजनोंकी स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं॥ ३९॥

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः॥ ४०॥

महर्षि कर्दमने उस विमानपर चढ़कर अपनी प्रिया देवहूतिके साथ वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र और चैत्ररथ आदि स्वर्गके उद्यानों और मानस-सरोवरमें प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा-विहार किया॥ ४०॥

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा।
वैमानिकानत्यशेत चरल्ँलोकान् यथानिलः॥ ४१॥

उस अत्यन्त दीप्तिशाली और इच्छानुसार गतिसे युक्त श्रेष्ठ विमानमें बैठकर वायुके समान समस्त लोकोंमें विचरण करते हुए कर्दम मुनि विमान विहारी सिद्धजनोंके लोकोंसे भी आगे बढ़ गये॥ ४१॥

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः॥ ४२॥

हे विदुर! महायोगी कर्दमका इस प्रकारका प्रभाव कुछ भी विस्मयकारी नहीं है, क्योंकि जो धीरचित्त पुरुष संसारके भयनाशक तीर्थपद श्रीहरिके चरणकमलोंमें शरणागत होते हैं, उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता॥ ४२॥

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत॥ ४३॥

यह भू-मण्डल द्वीप और वर्षादिकी रचनाके कारण बहुत प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुओंसे पूर्ण है। महायोगी कर्दम अपनी

प्रियतमा देवहूतिको यह सब दिखलाकर अपने आश्रममें लौट आये॥ ४३॥

विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम्।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत्॥ ४४॥

अनन्तर ऋषिराजने देखा कि मनुकन्या देवहूति रमणके लिए अत्यन्त उत्सुक हो पड़ी है। उस समय वे अपनेको नौ भागोंमें विभक्त करके मनुकुमारीके साथ रमण करने लगे। इस प्रकार देवहूतिको आनन्दित करते हुए बहुत वर्ष बीत गये, परन्तु इतना दीर्घ काल भी उन्हें एक मुहूर्त्तके समान प्रतीत हुआ॥ ४४॥

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीव्येन सङ्गता॥ ४५॥

इधर उस विमानमें अति उत्कृष्ट रतिसुखप्रद शय्यापर परम रूपवान पतिके साथ रमणमें विभोर रहनेके कारण देवहूतिको भी सुदीर्घकाल दीर्घ रूपमें जान नहीं पड़ा॥ ४५॥

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक्॥ ४६॥

इस प्रकार योग-शक्तिके प्रभावसे परस्पर रमण करते हुए दम्पत्तिकी काम-मुग्धताके कारण सैकड़ों वर्षों तक का काल भी मानो क्षणकालके समान बीत गया॥ ४६॥

तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनात्मवित्।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः॥ ४७॥

आत्मज्ञानी कर्दम ऋषि समस्त सङ्कल्पोंको जानते थे, अतएव वे जान गये कि देवहूति बहुत-सी कन्या-सन्तानोंको उत्पन्न करना चाहती है और वे स्वयं ही उसकी इच्छाको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। अतः उन्होंने अत्यन्त प्रीतिके साथ एकाग्रचित्तसे देवहूतिको अपनी अर्धाङ्गिनी अर्थात् पत्नीके रूपमें भावना करके स्वयंको नौ भागोंमें विभक्तकर उसके गर्भमें अपने वीर्यको स्थापित किया॥ ४७॥

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः॥ ४८॥

इसके बाद देवहूतिने शीघ्र ही एक साथ नौ कन्याओंको उत्पन्न किया। ये सभी कन्याएँ सर्वाङ्ग सुन्दरी थीं और उन सभीके अङ्गोंसे ही लाल कमलकी सुगन्ध निकल रही थी॥ ४८॥

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदालक्ष्योशती बहिः।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता॥ ४९॥

लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलाः शनैः॥ ५०॥

उस समय देवहूतिने अपने पतिको पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार गृहत्याग करनेमें तत्पर देखा तो वह बाहरसे मन्द-मन्द मुसकराती रही, किन्तु उसका हृदय अत्यधिक व्याकुल हो गया। पति-विरहकी वेदनासे उसका हृदय शोक-सन्तप्त हो गया। वह अपना मुख नीचा कर अपने नखमणिकी शोभासे युक्त चरणोंके द्वारा भूमिको कुरेदने लगी और अपने आँसुओंकी धाराको बड़े कष्टसे संवरण करनेका प्रयास करती हुई सुमधुर वाणीसे कहने लगी॥ ४९-५०॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

सर्वं तद्भगवान् मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम्।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि॥ ५१॥

श्रीदेवहूतिने कहा—हे स्वामिन्! विवाहके समय आपने जिस-जिस विषयमें प्रतिज्ञा की थी, वे सभी पूर्ण हो चुकी हैं। तथापि हे प्रभो! मैं आपके शरणागत हूँ, कृपा करके मुझे अभयदान कीजिये॥ ५१॥

ब्रह्मन् दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम्॥ ५२॥

हे ब्रह्मन्! आप तो तपस्याके लिए वनमें जा रहे हैं तथा आपकी कन्याएँ भी स्वयं ही अपने योग्य पतियोंको ढूँढ़ लेंगी, किन्तु हे देव! मेरे शोकको दूर करनेके लिए कोई एक पुत्र तो होना ही चाहिये॥ ५२॥

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः॥ ५३॥

प्रभो! अब तक मेरा समय इन्द्रिय-सुखको भोगनेमें व्यर्थ ही बीत गया। हाय! मैं परमात्माके चिन्तनको सम्पूर्ण रूपसे परित्याग कर बैठी॥ ५३॥

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे॥ ५४॥

मैंने इन्द्रियोंके सुखमें आसक्त होकर ही आपसे प्रेम किया था। आप इतने ब्रह्मविद् और परम विरागी हैं, इसे मैं जान ही नहीं पायी। हे देव! तथापि आपके प्रति मेरी जो आसक्ति है, वह मुझे संसारसे अभय-दान करे अर्थात् मुक्ति प्रदान करे॥ ५४॥

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥ ५५॥

हे देव! अज्ञानताके कारण असत्पुरुषोंके साथ जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सङ्ग सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर मुक्तिका कारण-स्वरूप होता है॥ ५५॥

नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥ ५६॥

इस संसारमें जिस पुरुषके कार्य धर्म-अर्थ-कामरूप धर्मकी ओर उन्मुख होकर नहीं किये जाते, जिसका धर्म निष्काम होकर कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न नहीं करता और जिसका वैराग्य तीर्थपद श्रीहरिकी सेवामें पर्यवसित नहीं होता, वह व्यक्ति जीवित होनेपर भी मृत ही है॥ ५६॥

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम्।
यत् त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात्॥ ५७॥

इस प्रकार जीवन्मृता (जीवित होनेपर भी मृतके समान) मैं भी भगवान्‌की मायासे मुग्ध होकर निश्चय ही बुरी तरहसे ठगी गयी हूँ,

क्योंकि मुक्ति-प्रदाता आपको पतिके रूपमें प्राप्त करके भी मैंने संसार-बन्धनकी दशासे मुक्ति पानेकी कोई भी चेष्टा नहीं की—यह मेरा बड़ा ही दुर्भाग्य है॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेय संवादे देवहूत्यनुतापो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकपिलदेवका जन्म, महर्षि कर्दम द्वारा अपनी नौ कन्याओंको नौ प्रजापतियोंको प्रदान करना तथा कर्दम ऋषिका गृहस्थाश्रम त्याग

श्रीमैत्रेय उवाच—

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! उत्तम गुणोंसे सुशोभित अति प्रशंसनीय मनुतनया देवहूतिके इस प्रकार वैराग्यसूचक वचनोंको सुनकर महर्षि कर्दमका चित्त करुणासे द्रवित हो गया। उन्हें श्रीभगवान्के द्वारा कहे गये वचनोंका समरण हो आया और वे देवहूतिसे कहने लगे॥ १॥

श्रीऋषिरुवाच—

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात् सम्प्रपत्स्यते॥ २॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—हे निर्दोष राजकुमारी! तुम अपनेको भाग्यहीन मानकर इस प्रकार खेद मत करो। पूर्णब्रह्म श्रीभगवान् नारायण शीघ्र ही तुम्हारे गर्भमें प्रवेश करेंगे॥ २॥

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज॥ ३॥

हे प्रिये! तुमने अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन किया है। अब इन्द्रिय-संयम, स्वधर्माचरण, तपस्याका अनुष्ठान और धनादिका दान करते हुए श्रद्धाके साथ श्रीभगवान्की आराधना करो॥ ३॥

स त्वयाराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः॥ ४॥

तुम्हारी आराधनासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्मज्ञानके उपदेशक विशुद्धसत्त्व स्वरूप भगवान् श्रीहरि मेरा यश बढ़ाते हुए तुम्हारे पुत्रके रूपमें जन्म-ग्रहण करेंगे। वे तुम्हें भगवत्-तत्त्वका उपदेश देकर अहङ्कार लक्षणयुक्त तुम्हारी हृदय-ग्रन्थिका छेदन कर डालेंगे॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम्॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—देवहूतिने भी प्रजापति कर्दमके इन सब उपदेश-वचनोंको अत्यन्त श्रद्धाके साथ सुना और उनमें सम्पूर्ण रूपसे विश्वास रखते हुए निर्विकार जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी॥ ५॥

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥ ६॥

देवहूतिके द्वारा इस प्रकार आराधना करते हुए बहुत समय बीत जानेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीमधुसूदन कर्दम ऋषिके वीर्यका आश्रय लेकर अर्थात् उनके भक्तिभावसे वशीभूत होकर देवहूतिके पुत्र-रूपमें इस प्रकार प्रकाशित हो गये, जिस प्रकार काष्ठके भीतर रहनेवाली अग्नि बाहर प्रकाशित हो जाती है॥ ६॥

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा॥ ७॥

उस समय गगन-मण्डलमें मेघ जल वर्षण करते हुए गरज-गरजकर विविध प्रकारके बाजे बजाने लगे, गन्धर्व गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दसे नृत्य करने लगीं॥ ७॥

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च॥ ८॥

अन्तरीक्षमें रहनेवाले देवता दिव्यपुष्पोंकी वर्षा करने लगे। सभी दिशाओंमें हर्ष व्याप्त हो गया, जलाशयोंका जल स्वच्छ हो गया और सभी प्राणियोंके चित्तमें प्रसन्नता छा गयी॥ ८॥

तत् कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात्॥ ९॥

उसी समय श्रीब्रह्माने मरीचि आदि ऋषियोंको साथ लेकर सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दम ऋषिके आश्रमकी ओर प्रस्थान किया॥ ९॥

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन्।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट्॥ १०॥
सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम्।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमञ्चेदमभ्यधात्॥ ११॥

हे जितेन्द्रिय विदुर! स्वतःसिद्ध ज्ञानके प्रभावसे ब्रह्माजीने जान लिया कि सांख्य-ज्ञानका विशेष रूपसे उपदेश देनेके लिए परब्रह्म स्वयं-भगवान्‌ने अपने शुद्धसत्त्वमय अंश रूपसे जन्म-ग्रहण किया है। तब ब्रह्माजी निर्मल अन्तःकरणसे श्रीभगवान्‌के कार्योंकी समादरपूर्वक प्रशंसा करने लगे और प्रसन्न चित्तसे कर्दम और देवहूतिसे कहने लगे॥ १०-११॥

श्रीब्रह्मोवाच—

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः।
यन्मे संजगृहे वाक्यं भवान् मानद मानयन्॥ १२॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे तात कर्दम! तुम दूसरोंका सम्मान करनेवाले हो। तुमने निष्कपट भावसे मेरे आदेशका भलीभाँति पालन करके मेरी यथायोग्य सेवा ही की है॥ १२॥

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः॥ १३॥

गुरुजनोंके आदेशको 'जो आज्ञा' कहकर आदरके साथ प्रतिपालन करना ही 'गुरुसेवा' है। पुत्र द्वारा पिताकी ऐसी सेवा करना ही कर्त्तव्य है॥ १३॥

इमा दुहितरः सत्यस्तव वत्स सुमध्यमाः।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्ति नैकधा॥ १४॥

हे वत्स कर्दम! तुम्हारी ये सब सुशोभना (तन्वङ्गी) साधु स्वभाववाली कन्याएँ अपने-अपने अंशसे प्रभावशाली वंशका विस्तार करके मेरी सृष्टिको बहुत प्रकारसे बढ़ायेंगी॥ १४॥

अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि॥ १५॥

अतएव, मेरे साथ मरीचि आदि जो समस्त महर्षि आये हैं, इनमें जिनका जैसा स्वभाव और रुचि है, उसका विचार करके अपनी इच्छाके अनुसार आज ही अपनी इन कन्याओंको उचित पात्रको समर्पण कर दो। इससे सम्पूर्ण भू-मण्डलमें तुम्हारा यश फैलेगा॥ १५॥

वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने॥ १६॥

हे मुने! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे ये पुत्र साक्षात् ईश्वर हैं, ये ही आदिपुरुष भगवान् विष्णु हैं। ये साक्षात् ईश्वर ही अपनी योगमाया शक्तिके द्वारा समस्त प्राणियोंके सभी अभीष्टोंको प्रदान करनेवाली देह धारणकर कपिल रूपमें अवतीर्ण हुए हैं॥ १६॥

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः॥ १७॥
एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति॥ १८॥

इसके बाद श्रीब्रह्मा देवहूतिको सम्बोधित करते हुए कहने लगे—वत्से! तुम्हारे इस पुत्रके सुनहरे केश, कमलके समान विशाल नेत्र और चरणोंमें कमल-मुद्रा अङ्कित है। ये शास्त्रसे उदित परोक्ष तत्त्वज्ञान और अपरोक्ष साक्षात् दर्शन रूप विज्ञानके द्वारा तुम्हारी कर्ममूल वासनाओंको जड़से उखाड़ फेंकेंगे। और हे मनुपुत्रि! तुम्हारे गर्भमें जिन्होंने प्रवेश किया है, वे कैटभनाशन साक्षात् श्रीभगवान् तुम्हारे स्वरूपसे अज्ञानरूप अविद्या और मिथ्याज्ञान आदिरूप संशयसे युक्त हृदय-ग्रन्थीका छेदन करते हुए पृथ्वीपर यथेच्छापूर्वक विचरण करेंगे॥ १७-१८॥

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः॥ १९॥

तुम्हारे ये पुत्र सिद्धगणोंके अधीश्वर हैं। ये सांख्याचार्योंके द्वारा पूजनीय होकर संसारमें कपिल नामसे विख्यात होंगे और तुम्हारे यशका विस्तार करेंगे॥ १९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सह नारदः।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ॥ २०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! कर्दम मुनि और देवहूतिको इस प्रकार आश्वासन प्रदान करनेके बाद जगत्-स्रष्टा श्रीब्रह्मा मरीचि आदि ऋषियोंको विवाहके लिए वहीं छोड़कर देवर्षि नारद और चारों कुमारोंके साथ (अर्थात् पाँच नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके साथ) हंस-यानपर सवार होकर तृतीय स्वर्ग धामकी परमसीमा स्वरूप सत्यलोकको चल दिये॥ २०॥

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः।
यथोचितं स्वदुहितॄः प्रादाद्विश्वसृजां ततः॥ २१॥

हे विदुर! श्रीब्रह्माके जानेके बाद महर्षि कर्दमने उनके ही निर्देशानुसार उन समस्त विश्व-स्रष्टा प्रजापतियोंके साथ अपनी पुत्रियोंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया॥ २१॥

मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत् पुलस्त्याय हविर्भुवम्॥ २२॥

उन्होंने मरीचिको अपनी पुत्री कला, अत्रिको अनसूया, अङ्गिराको श्रद्धा और पुलस्त्यको हविर्भू नामक कन्याएँ समर्पित कीं॥ २२॥

पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम्।
ख्यातिञ्च भृगवेऽयच्छद्वशिष्ठायाप्यरुन्धतीम्॥ २३॥

पुलहको उनके योग्य गति नामक कन्या, क्रतुको पतिव्रता क्रिया, भृगुको ख्याति एवं वशिष्ठको अरुन्धती नामक कन्याएँ प्रदान कीं॥ २३॥

अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत्॥ २४॥

तत्पश्चात् जिसके द्वारा यज्ञ समृद्ध किया जाता है, उस शान्तिकी अधिष्ठातृ देवी शान्ति नामक कन्याको उन्होंने अथर्व ऋषिको दिया। इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न करके महर्षि कर्दमने उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंका उनकी पत्नियोंके सहित आदरपूर्वक बहुत सत्कार किया॥ २४॥

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम्।
प्रातिष्ठन् नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम्॥ २५॥

हे विदुर! विवाह सम्पन्न हो जानेपर सभी ऋषि कर्दम ऋषिकी आज्ञा लेकर आनन्दित होकर अपने-अपने आश्रमोंमें लौट गये॥ २५॥

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम्।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत॥ २६॥

तदनन्तर महर्षि कर्दम सर्वदेवश्रेष्ठ भगवान् विष्णुको अपने ही गृहमें पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुआ जानकर एकान्तमें उनके समीप गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगे॥ २६॥

श्रीकर्दम उवाच—

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः॥ २७॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—अहो! इस नरकतुल्य दुःखमय संसारमें अपने-अपने पापकर्मोंकी अग्निमें दग्ध जीवोंके प्रति देवतागण बहुत काल तक योग-ध्यानादि साधन करनेके बाद निश्चय ही प्रसन्न होते हैं॥ २७॥

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्॥ २८॥

स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः॥ २९॥

यतिगण निर्जन स्थानमें बहुत जन्मोंके साधनके बाद भक्तियोगका आश्रय लेकर चित्तको समाहितकर जिनके चरणकमलोंके दर्शनका प्रयत्न करते हैं, आज वे भगवान् ही हमारे अवज्ञारूप अपराधको न गिनकर हम अविवेकी और अतिनीच विषयलोलुपोंके घरमें अवतीर्ण हुए हैं। हे भगवन्! अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले आपके लिए यह उचित ही है॥ २८-२९॥

स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्द्धनः॥ ३०॥

हे भगवन्! आपने 'तुम्हारे पुत्र रूपमें जन्म-ग्रहण करूँगा'—अपने इस वचनको सत्य करने और ज्ञानके साधन सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिए ही हमारे घरमें अवतार लिया है। आप अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं॥ ३०॥

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥ ३१॥

हे भगवन्! यद्यपि आप प्राकृत रूपसे रहित हैं, तथापि आपके जो अलौकिक चतुर्भुज आदि रूप हैं एवं आपके जो-जो मनुष्याकार आदि रूप आपके भक्तोंके लिए प्रीतिप्रद हैं, वे समस्त रूप ही अप्राकृत सच्चिदानन्दमय स्वरूप हैं॥ ३१॥

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रियां पूर्त्तमहं प्रपद्ये॥ ३२॥

हे देव! विद्वान लोग सहज रूपमें आत्मतत्त्वके ज्ञानकी अभिलाषासे सर्वदा आपकी ही आराधना करते हैं। आपका पादपीठ ही भक्तोंके अभिवादन, अर्चन एवं सेवाका विषय है। ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य एवं श्री—इन छह प्रकारके ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण आपकी मैं शरण लेता हूँ॥ ३२॥

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥ ३३॥

हे प्रभो! आप स्वतन्त्र शक्तिमान परमेश्वर हैं। प्रधान या प्रकृति एवं उसका अधिष्ठाता पुरुष जीव आपका ही बहिरङ्ग या तटाङ्ग हैं। आप ही महत्-तत्त्वस्वरूप, महाकालरूपमें सबके क्षोभक, सूत्रतत्त्व-स्वरूप सर्वज्ञ कवि (अर्थात् प्रधानादिके आविर्भाव और तिरोभावके साक्षी स्वरूप हैं), अहङ्कारस्वरूप एवं चतुर्दशभुवन तथा उसके पालकके रूपमें इन्द्र आदि लोकपाल हैं। आप अपनी चित्-शक्तिके बलसे बाहरमें स्थित होकर भी इस प्रपञ्चमें अनुप्रविष्ट होकर अवस्थान कर रहे हैं। इस समय कपिलके रूपमें प्रकट हुए आपकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥ ३३॥

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः॥ ३४॥

हे प्रभो! आपके द्वारा मेरे पुत्र रूपमें अवतीर्ण होनेके कारण मैं देव, ऋषि और पितर—इन तीनों ऋणोंसे मुक्ति प्राप्त करके पूर्णमनोरथ हो गया हूँ। तथापि अब आपके निकट केवल यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं संन्यास ग्रहणकर हृदयमें आपका स्मरण करते हुए शोकरहित होकर विचरण करूँ। आप समस्त प्रजाओंके स्वामी हैं, इसलिए इस विषयमें आपकी आज्ञा चाहता हूँ॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके।
अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने॥ ३५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे मुने! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमें मेरे कथन ही संसारके लिए प्रमाण-स्वरूप हैं। इसलिए मैंने जो कहा था

'तुम्हारे पुत्ररूपमें जन्म-ग्रहण करूँगा'—उसीको सत्य प्रमाणित करनेके लिए ही मैंने तुम्हारे पुत्ररूपमें जन्म-ग्रहण किया है॥ ३५॥

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥ ३६॥

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम्॥ ३७॥

हे मुने! इस लोकमें जो मुनिगण दुष्ट-वासनाओंसे युक्त लिङ्गदेहसे मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें आत्मदर्शन सम्मत तत्त्व अर्थात् आत्म-अनात्मक विवेकके सम्बन्धमें उपदेश देनेके लिए ही मैंने यह जन्म-ग्रहण किया है। आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग पहलेसे ही सिद्ध होनेपर भी कालके प्रभावसे विनष्ट हो गया है। मैंने उसका पुनः प्रवर्त्तन करनेके उद्देश्यसे ही इस देहको धारण किया है—ऐसा जानो॥ ३६-३७॥

गच्छ कामं मयापृष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज॥ ३८॥

हे मुने! आप जब मुझसे अनुमतिकी प्रार्थना कर ही रहे हैं, तो मैं आपको आज्ञा देता हूँ—आप इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। किन्तु, यदि मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पित करते हुए सुदुर्जय मृत्युको जीतकर अमृतत्व अर्थात् मृत्यु-रहित नित्य भगवत्-धाम प्राप्तिकी कामना है, तब मेरा ही भजन करना॥ ३८॥

मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।
आत्मन्येवात्मनान्वीक्षन् विशोकोऽभयमृच्छसि॥ ३९॥

इस प्रकारसे जब तुम समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले स्व-प्रकाश परमात्मास्वरूप मेरा अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने आत्मामें दर्शन करोगे, तब तुम्हें मेरा शोक और भय रहित मोक्षपद—भगवद्धाम प्राप्त हो जायेगा॥ ३९॥

मात्रे चाध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम्।
वितरिष्ये यया चासौ भयञ्चातितरिष्यति॥ ४०॥

मैं माता देवहूतिको भी समस्त कर्मोंके बन्धनसे छुड़ानेवाली आत्मतत्त्व-प्रकाशक विद्या प्रदान करूँगा। इससे उन्हें संसार-भयसे छुटकारा मिलेगा और वे परमानन्दमें स्थित हो जायेंगी॥ ४०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह॥ ४१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् कपिलदेवके द्वारा ऐसे समुचित वचनोंके कहे जाने पर प्रजापति कर्दमने उनकी परिक्रमा की और आनन्दित चित्तसे वनमें चले गये॥ ४१॥

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः।
निःसङ्गो व्यचरत् क्षौणीमनग्निरनिकेतनः॥ ४२॥

मुनिवर कर्दम परमात्माके शरणापन्न होकर मुनियोंके अहिंसादि लक्षणयुक्त संन्यासधर्मका आश्रय लेकर जनसङ्गसे रहित, अग्नि (अर्थात् आहारादिकी चेष्टासे शून्य) और आश्रम (अर्थात् निर्दिष्ट वासस्थानसे रहित) का त्यागकर पृथ्वीपर पर्यटन करने लगे॥ ४२॥

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत् सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते॥ ४३॥

निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक्।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः॥ ४४॥

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः॥ ४५॥

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥ ४६॥

तत्पश्चात् कर्दम ऋषिने सत्-असत् अर्थात् मङ्गल और अमङ्गलसे अतीत प्राकृतगुणोंसे रहित होनेपर भी सौन्दर्य आदि माधुर्य और ऐश्वर्यरूप चिन्मय गुणोंके प्रकाशक परब्रह्ममें अपना चित्त निविष्ट कर दिया तथा एकान्तिक भक्तिके प्रभावसे अतिशीघ्र ही उन परब्रह्मका

साक्षात्कार कर लिया। देह आदिके अहङ्कार एवं ममतासे रहित होनेके कारण वे सुख-दुःख और शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंसे व्याकुल नहीं होते थे एवं भेद-बुद्धिसे रहित अर्थात् समदर्शी होकर सर्वत्र आत्म-दर्शन करते थे। अन्तर्मुखी वृत्तिके द्वारा स्थिरचित्त होकर वे तरङ्गरहित समुद्रके समान ही प्रशान्तभावसे अवस्थान करने लगे। अनन्तर समस्त प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर पराभक्तिके द्वारा उनका चित्त सर्वज्ञ और समस्त जीवोंके आत्मा भगवान् वासुदेवमें आसक्त हो गया। उन्होंने देखा कि श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें परमात्मारूपमें अवस्थित हैं और समस्त प्राणी श्रीहरिमें अवस्थित हैं। इस प्रकार वे महाभागवतकी अवस्थाको प्राप्त हो गये॥ ४३–४६॥

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियोगेन प्राप्ता भागवती गतिः॥ ४७॥

तदनन्तर वे राग-द्वेषसे रहित और सर्वत्र सम-बुद्धि होकर भगवत्-भक्तियोगके प्रभावसे 'भागवती गति' अर्थात् भगवान्‌के पार्षदत्वको प्राप्त हो गये॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेयसंवादे
श्रीकर्दमप्रव्रज्या नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

देवहूतिके प्रश्न और भगवान् कपिलदेवके द्वारा भक्तियोगका माहात्म्य-वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सूत गोस्वामी! सांख्य-शास्त्रके प्रवर्त्तक भगवान् कपिलदेव स्वयं जन्म-रहित होकर भी मनुष्योंको आत्मतत्त्वका उपदेश देनेके लिए अपनी योगमायाके प्रभावसे आविर्भूत हुए थे॥ १॥

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्नः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः॥ २॥

भगवान् कपिलदेव क्षीरोदकशायी आदि पुरुषोंमें उत्तम एवं दत्तात्रेय आदि योगियोंमें श्रेष्ठ थे। उनके यशका गान बहुत बार सुननेपर भी मेरी श्रवणादि इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हो रही, बल्कि मेरी श्रवणकी इच्छा क्रमशः बढ़ती ही जा रही है॥ २॥

यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्मात्ममायया।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय॥ ३॥

सर्वथा स्वतन्त्र भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छानुसार देह धारण करके अपनी स्वरूपशक्तिके द्वारा जो-जो लीलाएँ करते हैं, वे सभी कीर्त्तन करने योग्य हैं। आप कृपा करके हम श्रद्धालुओंको उन सभी लीला-कथाओंको सुनाइये॥ ३॥

श्रीसूत उवाच—

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः॥ ४॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे जिस प्रकारसे आत्मज्ञान-सम्बन्धित जिज्ञासा की है, महात्मा विदुरने भी एक दिन श्रीव्यासदेवके सखा भगवान् मैत्रेय ऋषिसे इसी प्रकारके प्रश्न ही पूछे थे। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने विदुरजीको जो कुछ बतलाया था, उसीको मैं आपलोगोंके समक्ष वर्णन कर रहा हूँ, आप लोग सुनिये॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया।
तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पिताके संन्यासाश्रमके लिए वनमें चले जानेपर माताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे भगवान् कपिलदेव उसी बिन्दुसरोवरके तटपर रहने लगे॥ ५॥

तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम्।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः॥ ६॥

भगवान् कपिलदेव तत्त्व-मार्गके सिद्धान्तके प्रदर्शक थे, इसीलिए वे नैष्कर्म्य अवस्थामें अर्थात् कर्म-मार्गसे निवृत्त होकर बैठे रहते थे। एक समय देवहूतिको ब्रह्माजीका यह कथन—'हे मनुपुत्रि! कैटभमर्दन श्रीभगवान् तुम्हारे गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं।' स्मरण हो आया। तब वे अपने पुत्रको सम्बोधित करके कहने लगीं॥ ६॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात्।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो॥ ७॥

श्रीदेवहूतिने कहा—हे भूमन्! असत् इन्द्रियोंकी विषय-अभिलाषाओंसे मैं अत्यन्त थक चुकी हूँ। हे प्रभो! इन लालसाओंको पूर्ण करते-करते मैं क्रमशः घोर-अज्ञानरूपी अन्धकारसे आवृत संसारकूपमें गिरती ही जा रही हूँ॥ ७॥

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम्।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात्॥ ८॥

किन्तु हे भगवन्! बहुत जन्मोंके बाद आज मैंने आपके ही अनुग्रहसे इस दुष्पार अन्धतम अज्ञानसे पार ले जानेवाले सत् नेत्ररूप आपको प्राप्त किया है॥ ८॥

य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः॥ ९॥

अथवा आप ही एकमात्र आदिदेव भगवान् और समस्त पुरुषोंके अधीश्वर हैं। आप केवल मेरे ही चक्षु-स्वरूप हैं, ऐसा नहीं हैं, अपितु इस समय आप अज्ञानरूपी अन्धकारमें पड़े हुए समस्त जीवोंके नेत्रोंके प्रकाशक सूर्यरूपमें उदित हुए हैं॥ ९॥

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि।
योऽवग्रहोऽहं-ममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया॥ १०॥

हे देव! इस देह-गृह आदिमें 'मैं और मेरा' बुद्धिरूप जो असत्-आग्रह अर्थात् द्वितीय अभिनिवेश उत्पन्न हुआ है, वह आपकी बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही कार्य है। अतएव एकमात्र आप ही मेरे इस महामोहरूप अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ हैं॥ १०॥

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्॥ ११॥

हे देव! आप ही एकमात्र शरण्य हैं। अपने अनुगत भक्तोंके संसाररूप वृक्षका छेदन करनेके लिए आप कुठारके समान हैं। मैं आपके शरणागत होती हूँ। आप भक्तिपथको जानेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। मुझे प्रकृति एवं पुरुषके विषयमें जाननेकी इच्छा है। मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्द्धनम्।

धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः॥ १२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माताके ये अभिलषित वचन निर्दोष एवं साधारण लोगोंके अपवर्ग नामक भक्तियोगको बढ़ानेवाले थे। इन्हें सुनकर आत्मतत्त्ववेत्ता साधुओंके एकमात्र आश्रय भगवान् कपिलदेवने हृदयसे माता देवहूतिका अभिनन्दन किया और मन्द-मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दसे मधुरवाणीमें मातासे कहने लगे॥ १२॥

श्रीभगवानुवाच—

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च॥ १३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे माता! मेरा यह निश्चय है कि परमात्मनिष्ठ योग अर्थात् भक्तियोग ही लोगोंके लिए परममङ्गल प्राप्तिका उपाय-स्वरूप है। इसके आश्रयसे ही मनुष्योंके सुख एवं दुःखोंकी सम्पूर्ण रूपमें निवृत्ति होती है॥ १३॥

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम्॥ १४॥

हे निष्पाप साध्वि! पूर्वकालमें नारद आदि ऋषि भी शम-दमादि अङ्गोंसे युक्त परमात्म-योगके विषयमें सुननेके लिए उत्सुक हुए थे। उस समय मैंने उन ऋषियोंको जिस योगके विषयमें बतलाया था, आज वही मैं आपको भी बतला रहा हूँ॥ १४॥

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥ १५॥

हे माता! मन ही जीवात्माके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब जीवोंके लिए बन्धन उपस्थित होता है और जब यह मन परमपुरुष श्रीभगवान्में नियुक्त होता है, तब उसकी मुक्ति हो जाती है॥ १५॥

अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥ १६॥

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥ १७॥

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिञ्च हतौजसम्॥ १८॥

जिस समय चित्त देह आदिमें 'मैं और मेरा' अभिमानसे उदित होनेवाले काम-लोभ आदि विकारोंसे रहित होकर निर्मल हो जाता है, तथा सुख और दुःख—इन दोनों अवस्थाओंमें समभाव धारण करता है, उसी समय जीवात्मा अविद्या अर्थात् प्रकृतिसे परे अवस्थित, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों देहोंकी बाधाओंसे रहित, अत्यन्त सूक्ष्म, स्वयं-प्रकाश, विषय-वासनाओंके आवरणसे रहित और अनासक्त अपने शुद्धस्वरूपको भक्तिके अनुकूल ज्ञानवैराग्ययुक्त चित्तके द्वारा देखता है और तभी वह अविद्याकी शक्तिको भी क्षीण होते देख पाता है॥ १६-१८॥

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ १९॥

हे माता! योगियोंकी ब्रह्मभूत अवस्था अर्थात् ब्रह्मके समान पाप रहित होना आदि आठ गुणोंसे युक्त शुद्धस्वरूपके उद्बोधनके लिए समस्त जीवोंके आत्मास्वरूप श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तियोगके आश्रयके अतिरिक्त दूसरा कोई मङ्गलमय पथ नहीं है॥ १९॥

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ २०॥

विद्वानलोग आसक्तिको ही जीवात्माके लिए दृढ़-बन्धनस्वरूप मानते हैं, परन्तु जब यही आसक्ति साधुओंके प्रति हो जाती है, तब यह मोक्ष प्राप्तिका द्वारस्वरूप होती है। (उक्त मोक्ष सालोक्य, सारूप्य आदि पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंका द्वारस्वरूप है एवं सम्पूर्ण रूपसे आवरण रहित ऐकान्तिक भक्तोंकी भी सेवाका यह आनुसङ्गिक फलमात्र है)॥ २०॥

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥ २१॥

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥ २२॥

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः॥ २३॥

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥ २४॥

(उन साधुओंका तटस्थ-लक्षण बतला रहा हूँ, सुनो—)वे हरिकीर्त्तनमें वृक्षके समान सहनशील, जीवोंके दुःखोंमें दयासे द्रवीभूत चित्तवाले और प्राणियोंके अहैतुक नित्य हितकारी होते हैं। वे समस्त जीवोंको परोक्ष और अपरोक्ष भावसे भगवान्‌का ही सेवक समझते हैं, अतएव किसीको भी शत्रु नहीं मानते। वे निष्काम होनेके कारण शान्त, शास्त्रके अनुवर्ती और सरल-स्वभावके होते हैं। सुशीलता ही उनका भूषण होता है। (अब इन साधुओंके स्वरूप-लक्षण सुनो—)वे मुझे ही एकमात्र भजनीय वस्तु जानकर मुझमें एकनिष्ठ भक्ति करते हैं। मेरे सेवासुखके लिए समस्त कर्मों एवं धर्मों अर्थात् स्वजन बन्धु-बान्धव आदि सबका परित्याग कर देते हैं। वे मुझमें अनुरक्त रहकर परस्पर मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण और कीर्त्तन करते हैं। मुझमें अर्पित चित्तवाले ऐसे साधुओंको आध्यात्मिक आदि त्रिताप कष्ट नहीं पहुँचा पाते। हे साध्वि! उक्त गुणोंसे युक्त इन महापुरुषोंकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्षस्वरूप पुरुषार्थोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं होती। ये महात्मा ही असत्सङ्गसे उत्पन्न दोषोंको हरण करनेमें समर्थ होते हैं, अतः ऐसे साधुओंके सङ्गके लिए ही आपको प्रार्थना करनी चाहिये॥ २१-२४॥

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥ २५॥

साधुओंके प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) सङ्ग अर्थात् प्रतिकूलतासे रहित सङ्गमें मेरे माहात्म्यको प्रकाश करनेवाली तथा शुद्ध हृदय और कर्णको प्रिय लगनेवाली जो कथाएँ होती हैं, उनका प्रीतिपूर्वक सेवन (श्रवण) करते-करते शीघ्र ही अविद्या-निवृत्तिके पथस्वरूप मुझमें यथाक्रमसे पहले श्रद्धा, बादमें रति और अन्तमें प्रेमभक्ति उदित होती है॥ २५॥

भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥ २६॥

तदुपरान्त मेरे द्वारा रचित सृष्टि आदि लीलाओंके चिन्तनसे जीवोंमें जिस भक्तिका उदय होता है, उसके प्रभावसे वे दृष्ट और श्रुत अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक इन्द्रिय-सुखोंसे विरक्त हो जाते हैं। उसके बाद भक्तियोगमें स्थित होकर उस सुगम भक्तियोगके साधनाङ्गका आश्रय लेकर अपने मनको वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं॥ २६॥

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥ २७॥

इस प्रकारसे जीव प्रकृतिके गुणोंके सङ्गसे उत्पन्न विषयोंकी सेवा न करके विषयोंके प्रति वैराग्ययुक्त ज्ञान, अष्टाङ्गयोग एवं मेरे प्रति सुदृढ़ अनन्य-भक्तिसे इसी देहमें ही 'तत्' पदार्थ वाच्य मुझे प्राप्त कर लेते हैं॥ २७॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

काचित् त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम्॥ २८॥

श्रीदेवहूतिने कहा—भगवन्! आपकी भक्ति किस प्रकारसे करनी चाहिये? मैं स्त्री जाति हूँ, मेरे लिए किस प्रकारकी भक्ति उचित है,

जिसके द्वारा मैं अनायास ही आपके मोक्षपद अर्थात् आपके आनन्द-स्वरूप चरणकमलोंकी नित्य सेवाको सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकूँ?॥ २८॥

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम्॥ २९॥

हे पूर्ण आनन्द-स्वरूप श्रीभगवान्! जो योग भगवान्‌को लक्ष्य करके साधित होता है, जिस योगके विषयमें आपने इससे पहले भी वर्णन किया है और जिससे तत्त्वोंका ज्ञान होता है, वह योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं?॥ २९॥

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे।
सुखं बुध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्॥ ३०॥

हे हरे! मैं स्त्री होनेके कारण अल्प बुद्धिवाली हूँ, अतः आप कृपापूर्वक इनसब दुर्बोध तत्त्वोंको इस प्रकारसे मुझे समझाइये जिससे कि मैं अनायास ही उन्हें हृदयङ्गम कर सकूँ॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः।
तत्त्वाम्नायं यत् प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम्॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् कपिलदेव देवहूतिके देहका आश्रय करके आविर्भूत हुए थे, इसलिए माताके ऐसे अभिप्राय और परिप्रश्नोंको जानकर उनके प्रति स्नेहसे अभिभूत हो उठे। तब उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका क्रमानुसार निरूपण करनेवाले शास्त्र, जिसे पण्डित लोग 'सांख्ययोग' कहते हैं, का उपदेश दिया तथा भक्तिका विस्तार करनेवाले योगका भी उपदेश दिया॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥ ३२॥
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥ ३३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे माता! निर्विकार-चित्तयुक्त पुरुषकी विषयग्रहणमें निपुण इन्द्रियों और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके द्वारा श्रीगुरु उपदिष्ट वेद-विहित कर्मानुष्ठानवशतः शुद्धसत्त्वमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिमें जो स्वाभाविकी या अहैतुकी निष्काम वृत्ति है, उसे ही भागवती भक्ति कहते हैं। जिनका चित्त श्रीभगवान्‌में लग गया है, उन शुद्धसत्त्वमें अधिष्ठित पुरुषके लिए वह भक्ति मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। जठराग्नि जिस प्रकार खाये हुए अन्नको अपने प्रयत्नके बिना अनजानेमें ही पचा देती है, उसी प्रकार वह भक्ति भी वासनामय लिङ्गशरीरको अनायास ही भस्म कर डालती है, अर्थात् मुक्ति भक्तिका आनुषङ्गिक (गौण) फलमात्र है॥ ३२-३३॥

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥ ३४॥

(अनन्तर श्रीकपिलदेव मुक्तिसे भक्तिकी श्रेष्ठता प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं—हे माता!) जो लोग समस्त इन्द्रियोंके द्वारा प्रीति सहित मेरी चरण-सेवामें रत हैं, जो मेरी ही प्रसन्नताके लिए समस्त चेष्टाएँ करते हैं, जो परस्पर सम्मिलित होकर मेरे ही माहात्म्यका वर्णन करनेमें आनन्द अनुभव करते हैं, ऐसे भागवतजन कभी भी मेरे साथ एकात्मरूप सायुज्य मुक्तिकी स्पृहा नहीं करते॥ ३४॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥ ३५॥

हे माता! वे भागवतजन मनोहर मुखारविन्द और अरुण-नयनसे युक्त मेरे सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंके दर्शन प्राप्त करते हैं तथा

उन स्वरूपोंके साथ भुक्ति और मुक्तिकी स्पृहासे रहित नानाविध सेवा-अभिलाषाओंसे युक्त प्रेमपूर्वक वाक्यों द्वारा वार्त्तालाप करते हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े योगी-तपस्वी भी लालायित रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिमें परमेश्वरका अनुभवरूपी सुख नित्य वर्त्तमान है॥ ३५॥

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते॥ ३६॥

मेरे उस परम मनोहर अप्राकृत मुख-नेत्र आदि अङ्गोंसे युक्त सच्चिदानन्दमय श्रीमूर्त्तियाँ भक्तोंके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले लीलाविलास, उदार-हास्य, मनोहर-चितवन और मधुर सम्भाषण आदिसे युक्त अपनी रूप-माधुरीके द्वारा भक्तोंके मन एवं प्राणोंको आकर्षित कर लेती हैं। ऐसे भक्तोंमें आत्मानन्द प्राप्तिरूप मुक्तिकी कोई स्पृहा न रहनेपर भी मेरे प्रति भक्ति ही उन्हें उस मुक्तिको अनायास ही प्राप्त करा देती है॥ ३६॥

अथो विभूतिं मम मायया चिता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके॥ ३७॥

अविद्या या अज्ञानके दूर होनेपर वे मुक्त पुरुष यद्यपि मेरी मायाके द्वारा रचित ऊपरी लोकोंकी भोगसम्पत्ति, यहाँ तक कि भक्तिके साथ-साथ प्राप्त होनेवाले आठ प्रकारके ऐश्वर्य अथवा मेरे वैकुण्ठमें जो सब ऐश्वर्य आदि हैं, उन सबकी लेशमात्र भी इच्छा नहीं करते, तथापि वे मेरे वैकुण्ठलोकमें जाकर मेरी भागवती सम्पत्तिका भोग करते हैं॥ ३७॥

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥ ३८॥

हे शान्तरूपे माता! स्वर्ग आदि लोकोंमें भोक्ता और भोग्य वस्तुओंका कभी-न-कभी विनाश हो ही जाता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंके लिए कभी भी उस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है। मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रास नहीं कर सकता। मैं ही उनके लिए आत्माके समान प्रिय, पुत्रके समान स्नेहपात्र, सखाके समान विश्वासपात्र, गुरु तुल्य उपदेष्टा, सुहृदके समान हितकारी और इष्टदेवके समान पूज्य हूँ, अर्थात् जो इस प्रकारसे भलीभाँति मेरा ही भजन करते हैं, मेरा कालचक्र उन्हें कभी भी ग्रास नहीं कर सकता॥ ३८॥

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः॥ ३९॥

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये॥ ४०॥

हे माता! जो इस लोकमें, परलोकमें और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गदेह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र, स्त्री, धन, ऐश्वर्य, पशु, गृह और अन्यान्य सभी कुछ परित्याग करके एकान्तिकी भक्ति सहित विविध रसोंके विषयस्वरूप मेरा भजन करते हैं, मैं उनका संसारसे परित्राण कर देता हूँ॥ ३९-४०॥

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥ ४१॥

हे माता! मैं ही साक्षात् भगवान् हूँ, मैं ही प्रकृति एवं पुरुषावतार आदिका नियन्ता हूँ तथा मैं ही समस्त प्राणियोंका आत्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त और किसीका आश्रय लेनेसे जीवोंको इस भीषण मृत्यु-रूप संसारभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता॥ ४१॥

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥ ४२॥

मेरे भयसे ही वायु चलती है, मेरे भयसे ही सूर्य तपता है, मेरे ही भयसे इन्द्र जल वर्षण करता है, मेरे ही भयसे अग्नि दहन करती है और मेरे ही भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है॥ ४२॥

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्॥ ४३॥

माता! भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि योगीजन भी ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्तियोगका आश्रय लेकर योग-क्षेमकी प्राप्तिके लिए मेरे ही अभय चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४३॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ ४४॥

(उपसंहारमें सारकथा यही है कि) यदि मनुष्यका चित्त सुदृढ़ एवं अनन्य भक्तियोगके द्वारा मुझमें अर्पित होकर स्थिर हो जाये, तब वही इस संसारमें मनुष्यके लिए सबसे महान कल्याणकी प्राप्ति है—ऐसा जानना होगा॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये श्रीभक्तियोगो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥

षड्विंशोऽध्यायः

महत्-तत्त्व आदि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! अब मैं आपको प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् लक्षण बतला रहा हूँ, इन्हें जानकर जीव प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है॥ १॥

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम्॥ २॥

आत्म-दर्शनरूप जो ज्ञान मनुष्योंके अहङ्कारको दूर करनेवाला है तथा जिसे पण्डितजन निःश्रेयसार्थ अर्थात् आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिका कारण कहते हैं, मैं उस ज्ञानका भी आपके सम्मुख वर्णन करूँगा॥ २॥

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥ ३॥

अनादि (नित्य) परमात्मा ही पुरुष हैं तथा वे प्रकृतिसे पृथक् हैं। असङ्ग होनेके कारण वे प्राकृत गुणोंसे रहित, इन्द्रियोंसे अतीत कारणार्णव-धामपति—स्वप्रकाश वस्तु हैं। यह जगत् उन्हींके ईक्षणसे प्रकाशित हुआ है॥ ३॥

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥ ४॥

उन्हीं कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतारकी शक्तिरूपिणी अव्यक्ता, त्रिगुणमयी प्रकृतिके लीलावशतः उनके समीप उपस्थित होनेपर उन्होंने

स्वेच्छासे उसे बहिरङ्गारूपमें ग्रहण कर लिया अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षण (जीवशक्तिरूप वीर्याधान) करके इस जगत्‌की सृष्टि की॥ ४॥

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया॥ ५॥

इसके बाद वह प्रकृति अपने सत्त्वादि तीन गुणोंके द्वारा उन्हीं गुणोंके अनुरूप विचित्र (देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदिरूप) प्रजाकी सृष्टि करने लगी। प्रकृतिको ऐसा करते देखकर उस प्रकृतिमें लीन जीवात्मा, प्रकृतिके संसर्गके समय ही ज्ञानको आवृत करनेवाली प्रकृतिकी ही अविद्या नामक वृत्तिसे युक्त होकर मोहित हो गया और अपने शुद्ध-स्वरूपको भूल गया॥ ५॥

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥ ६॥

इस प्रकार प्रकृतिमें अध्यास (भ्रम) वशतः यह पुरुष (जीव) प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न कार्योंमें स्वयंके कर्त्ता होनेका अभिमान करता है॥ ६॥

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यञ्च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥ ७॥

वस्तुतः जीव केवल साक्षीमात्र है। वह किसी भी कर्मका कर्त्ता नहीं है। वह ईश-शब्दवाच्य ईश्वरकी पराशक्तिका रूप और स्वयं सुखस्वरूप है, किन्तु उसके इस प्रकारके कर्त्ता होनेके अभिमानसे ही उसका जन्ममृत्यु-प्रवाहरूप संसार-बन्धन होता है एवं उस बन्धनसे ही वह भोग्य-विषयोंके पराधीन हो जाता है॥ ७॥

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥ ८॥

हे माता! शरीर, इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठातृ देवताओंके कार्य-कारण-कर्त्तृत्व आदि भाव-प्राप्तिके विषयमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण बतलाते हैं, (क्योंकि कूटस्थ आत्मामें परमात्माका प्राधान्य

विद्यमान है, इसलिए वह आत्मा निरुपाधिक—स्वतः ही निर्विकार है। प्रकृतिके परिणाम-स्वरूप ही देह आदिमें अहङ्कारके उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके ही प्राधान्य-वशतः उसीको ही इस कर्त्तत्व आदिके कारणके रूपमें कहा गया है।) किन्तु सुख-दुःख आदिके कर्मफलको भोगनेमें प्रकृतिसे भिन्न पुरुष (जीव) को ही कारण कहा जाता है। (अर्थात् यद्यपि कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक ही अहङ्कारके अन्तर्गत हैं, तथापि देहादिके जड़के कार्य होनेके कारण उस कर्त्तृत्वमें प्रकृतिकी प्रधानता विद्यमान है तथा सुख-दुःख आदि भोगक्रिया चैतन्यके बिना सम्भवपर नहीं है, इसलिए भोक्तृत्वमें प्रकृतिसे सम्बन्धयुक्त चैतन्यकी ही प्रधानता है।)॥८॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम्॥९॥

माता देवहूतिने श्रीकपिलदेवसे कहा—हे पुरुषोत्तम! (मैं जीवके संसार एवं संसारके कारण प्रकृतिके विषयमें अवगत हो गयी हूँ, अब मैं जगत्के कारण ईश्वर और उनकी प्रकृतिके विषयमें जानना चाहती हूँ।) इस जगत्के स्थूल एवं सूक्ष्म कार्य जिनसे सम्पादित होते हैं, उन प्रकृति एवं पुरुषके लक्षण क्या है, उसके विषयमें मुझे बतलाइये॥९॥

श्रीभगवानुवाच—

यत्तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥१०॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—जो सत्त्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था है एवं प्रलयमें भी कारणमात्र रूपमें वर्त्तमान रहनेके कारण जो नित्य है, उसीको पण्डितगण अनभिव्यक्त अर्थात् विशेष रूपमें 'अव्यक्त', महत् आदि विशेषके आश्रय रूपमें 'प्रधान' और कार्य-कारणरूप महत् आदिके अनुगत स्वरूपमें 'प्रकृति'—इन तीन नामोंसे पुकारते हैं॥१०॥

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥११॥

उक्त प्रधानके कार्यस्वरूप पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियाँ—कुल मिलाकर इन चौबीस तत्त्वोंको पण्डितगण उपासनाके लिए प्रधानकार्याधीश ब्रह्मके रूपमें मानते हैं॥ ११ ॥

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे॥ १२ ॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। ये सभी मेरे अभिमतके अनुसार ही विभक्त हुई हैं॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसन-नासिकाः।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते॥ १३ ॥

चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये दस इन्द्रियाँ कहलाती हैं॥ १३ ॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया॥ १४ ॥

एक अन्तःकरण ही पुनः संशय, निश्चय, अभिमान एवं स्मरणरूप भिन्न लक्षणों या वृत्तियोंके अनुसार 'मन', 'बुद्धि', 'अहङ्कार' एवं 'चित्त'—इन चार प्रकारके भेदोंके रूपमें लक्षित होता है॥ १४॥

एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य च।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥ १५ ॥

हे माता! मैंने ब्रह्मकी जिस बहिरङ्गाशक्तिके परिणाम महत् आदि प्रपञ्चके विषयमें बतलाया है, वही चौबीस तत्त्व ही पण्डितोंके द्वारा चौबीस-संख्याके रूपमें गिने गये है। इसके अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व जो 'काल' (अथवा कालस्वरूप पुरुष) है, वह प्रकृतिकी अवस्था विशेष है॥ १५ ॥

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥ १६ ॥

कोई-कोई ईश्वरके विक्रमको ही 'काल' कहते हैं। उस कालके प्रभावसे ही प्रकृतिसे प्राप्त देहादिमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान अहङ्कार-विमूढ़ जीवोंमें भय उत्पन्न कर देता है॥ १६॥

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥ १७॥

हे मनुपुत्रि देवहूते! पुनः किसी-किसीके मतानुसार जिनसे सत्त्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वे पुरुषावतार ही 'काल' नामसे जाने जाते हैं॥ १७॥

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥ १८॥

जो अपनी योगमाया शक्तिके प्रभावसे समस्त जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी पुरुषके रूपमें और बाहरमें कालके रूपमें भलीभाँति वर्त्तमान हैं, वे ही पच्चीस तत्त्वोंके अधीश्वर पुरुषावतार भगवान् हैं॥ १८॥

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥ १९॥

जीवोंके अदृष्टवशतः जिसके सत्त्वादि गुण क्षोभित हुए हैं, उस प्रकृतिकी योनि अर्थात् अभिव्यक्ति-स्थानमें जब परमपुरुष भगवान् चित्-रूप जीवशक्तिका आधान करते हैं, उसीसे ही वह प्रकृति तेजोमय महत्-तत्त्वको प्रसव करती है॥ १९॥

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः।
स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः॥ २०॥

उक्त महत्-तत्त्व अत्यन्त तेजोमय है तथा वह लय, विक्षेप आदिसे शून्य जगत्का अङ्कुर-स्वरूप है। वह महत्-तत्त्व ही अपनेमें सूक्ष्मरूपमें अवस्थित अहङ्कार आदि प्रपञ्चको प्रकटित करता है तथा जो घोर तम प्रलयकालमें महत्-तत्त्वको प्रकृतिमें विलीन कर देता है, उसी तमको तेजोमय महत्-तत्त्व अपने प्रभावसे लोप कर देता है॥ २०॥

यत्तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम्॥ २१॥

हे माता! जो चित्त सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, रागादिसे रहित और भगवत् उपलब्धिका स्थान है, पण्डितजन उसीको ही 'वासुदेव' के नामसे पुकारते हैं। यह चित्त ही महत्-तत्त्वका स्वरूप है॥ २१॥

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा॥ २२॥

जिस प्रकार पृथ्वी आदिके संसर्गसे पूर्व अपनी स्वाभाविक अवस्थामें जल मधुर, स्वच्छ एवं शीतल होता है, उसी प्रकार स्वच्छत्व अर्थात् भगवत्-स्वरूपको ग्रहण करनेकी शक्ति, अविकारित्व अर्थात् लय-विक्षेपसे रहित होना एवं शान्तत्व अर्थात् रागादिसे शून्य होना—ये सब वृत्तियाँ चित्तके स्वाभाविक लक्षण हैं॥ २२॥

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत॥ २३॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः।
मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि॥ २४॥

सहस्रशिरसं साक्षाद् यमनन्तं प्रचक्षते।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम्॥ २५॥

भगवान्‌का वीर्य अर्थात् चित्-शक्तिसे उत्पन्न पूर्वोक्त महत्-तत्त्व जब विकारको प्राप्त होता है, तब उससे क्रियाशक्तिसे युक्त अहङ्कार-तत्त्व उत्पन्न होता है। यह अहङ्कार-तत्त्व वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, तैजस अर्थात् राजसिक और तामस भेदसे तीन प्रकारका है। इस त्रिविध अहङ्कारसे मन, इन्द्रियों और पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति होती है। 'सङ्कर्षण' नामक जिन पुरुषके हजार मस्तक हैं और तत्त्वविद् लोग जिन्हें 'अनन्तदेव' कहते हैं, वे पुरुष ही पञ्चभूत, इन्द्रियों एवं मनके कारण हैं॥ २३-२५॥

कर्तृत्वं करणत्वञ्च कार्यत्वञ्चेति लक्षणम्।
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः॥ २६॥

देवतारूपमें अहङ्कारका कर्तृत्व, इन्द्रियरूपमें कारणत्व और भूतरूपमें कार्यत्व हैं तथा शान्तत्व, घोरत्व एवं विमूढ़त्व रूपी लक्षण कारणरूप सत्त्वादि गुणोंके अनुसार इस अहङ्कारमें दिखायी देते हैं॥ २६॥

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः॥ २७॥

पूर्वोक्त त्रिविध अहङ्कारोंमेंसे वैकारिक अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे 'मन' रूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ। मनकी ही सङ्कल्प और विकल्प नामक वृत्तियोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है॥ २७॥

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः॥ २८॥

तत्त्वविद्‌गणोंके अनुसार मन ही इन्द्रियोंका अधीश्वर है और 'अनिरुद्ध' के नामसे विख्यात है। अनिरुद्धदेव शारदीय नीलकमलके समान श्यामल वर्णके हैं। योगीगण धीरे-धीरे मनको वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं॥ २८॥

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्‌बुद्धितत्त्वमभूत् सति।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९॥

हे साध्वि! तैजस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे बुद्धि नामक तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। द्रव्योंका स्फुरणरूप विज्ञान अर्थात् पदार्थोंका विशेष ज्ञान कराना ही बुद्धि-तत्त्वका स्वरूप है। बुद्धि-तत्त्व इन्द्रियोंका प्रकाशक है॥ २९॥

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्॥ ३०॥

संशय, मिथ्याज्ञान, निश्चयज्ञान, स्मरण और निद्रा—ये सब पृथक्-पृथक् वृत्तिके भेदसे बुद्धि-तत्त्वके कुछेक लक्षण कहे गये हैं॥ ३०॥

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता॥ ३१॥

क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय। ये दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ ही तैजस अहङ्कारसे उत्पन्न हुई हैं तथा इनमें 'क्रिया' प्राणकी शक्ति है और 'विज्ञान' बुद्धि की॥ ३१॥

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रन्तु शब्दगम्॥ ३२॥

तामस अहङ्कार कालस्वरूप भगवान्के प्रभावसे चालित होकर जब विकृत हुआ, तब उससे शब्द-तन्मात्र उत्पन्न हुआ। उस शब्द-तन्मात्रसे ही आकाशकी उत्पत्ति हुई है। इस शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय है॥ ३२॥

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च।
तन्मात्रत्वञ्च नभसो लक्षणं कवयो विदुः॥ ३३॥

आकाशका जो तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मत्व है, पण्डितजन उसीको ही शब्दका लक्षण कहते हैं। शब्द—अर्थका वाचक और वक्ताका ज्ञापक है॥ ३३॥

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥ ३४॥

प्राणियोंको अवकाश (छिद्र) प्रदान करना, सबके बाहर-भीतर वर्त्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये सब आकाशकी वृत्तियाँ ही उसके लक्षण हैं॥ ३४॥

नभसः शब्दतन्मात्रात् कालगत्या विकुर्वतः।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः॥ ३५॥

शब्द तन्मात्ररूप आकाश जब कालकी गतिसे विकारको प्राप्त हुआ, तब उससे स्पर्श-तन्मात्रा उत्पन्न हुई। स्पर्श-तन्मात्रसे पुनः वायुरूप महाभूतकी उत्पत्ति हुई। त्वचासे ही स्पर्शका अनुभव होता है॥ ३५॥

मृदुत्वं कठिनत्वञ्च शैत्यमुष्णत्वमेव च।
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः॥ ३६॥

कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता—ये स्पर्शके स्वरूप लक्षण हैं। इस स्पर्शत्वको ही वायु-तन्मात्र कहते हैं॥ ३६॥

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥ ३७॥

वृक्षकी शाखाओंका सञ्चालन, तृणादिका सम्मेलन और संयोजन, गन्धयुक्त द्रव्योंको घ्राणेन्द्रियोंके समीप ले जाना, ठण्डी-गर्म वस्तुओंका त्वचाके साथ एवं शब्दका श्रोतेन्द्रियके साथ संयोग कराना वायुका कार्य है। इसके अतिरिक्त वायु समस्त इन्द्रियोंका सञ्चालन भी करती है॥ ३७॥

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत्।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम्॥ ३८॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे पूर्वोक्त स्पर्श-तन्मात्ररूप वायु जब विकृत हुआ, तब उससे रूप-तन्मात्रकी उत्पत्ति हुई। उससे तेजरूप महाभूत उत्पन्न हुआ। चक्षु-इन्द्रिय ही रूपको ग्रहण करता है॥ ३८॥

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः॥ ३९॥

हे साध्वि! द्रव्यको आकृति प्रदान करना, द्रव्योंकी गुणोंके रूपमें प्रतीति, द्रव्यका जैसा (स्थूल, सूक्ष्म, सरल और वक्र) परिमाण होता है, उसी परिमाणमें ही उसकी प्रतीति (ज्ञान) और तैजस-तत्त्वका असाधारणत्व अर्थात् सूक्ष्मत्व—ये सब रूप-तन्मात्रके लक्षण हैं॥ ३९॥

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम्।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च॥ ४०॥

वस्तुओंको प्रकाशित करना, चावल आदि पकाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना और उसकी निवृत्तिके लिए भोजन एवं जलपान करना, सुखाना एवं शीतको दूर करना—ये सब तेजकी वृत्तियाँ हैं॥ ४०॥

रूपमात्राद्विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात्।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः॥ ४१॥

रूप-तन्मात्रमय तेजके दैवके द्वारा प्रेरित होकर विकारको प्राप्त होनेपर उससे रस-तन्मात्रकी उत्पत्ति हुई। रस-तन्मात्रसे पुनः जलरूप महाभूतकी उत्पत्ति हुई। रसनेन्द्रिय अथवा जिह्वा इस रसको ग्रहण करती है॥ ४१॥

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते॥ ४२॥

यह रस एकमात्र मधुर होनेपर भी अपने सम्पर्कमें आनेवाले भौतिक पदार्थोंके गुण-भेदसे कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि बहुत प्रकारसे विभक्त होता है॥ ४२॥

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः॥ ४३॥

गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवन-रक्षा, प्यासके कारण उत्पन्न दुर्बलताको दूर करना, पदार्थोंको मृदु करना, ताप-निवारण एवं बार-बार निकाले जानेपर भी कूपादिमें पुनः-पुनः प्रकट हो जाना—ये सब जलकी वृत्तियाँ हैं॥ ४३॥

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात्।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः॥ ४४॥

रस-तन्मात्ररूप जल कालसे प्रेरित होकर जब विकृत हुआ, तब उससे गन्ध-तन्मात्र उत्पन्न हुआ। इस गन्ध-तन्मात्रसे भूमिरूप महाभूत उत्पन्न हुआ। घ्राणेन्द्रिय (नासिका) ही गन्ध-तन्मात्रको ग्रहण करती है॥ ४४॥

करम्भपूतिसौरभ्य-शान्तोग्राम्लादिभिः पृथक्।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते॥ ४५॥

गन्ध एक होकर भी सम्पर्कमें आनेवाले द्रव्योंके भेदके कारण मिश्र-गन्ध, दुर्गन्ध, कर्पूर आदिकी सुगन्ध, कमल आदिकी शान्त गन्ध, लहसुन एवं हींग आदिकी तीव्र गन्ध और इमली आदिकी खट्टीगन्ध—इस प्रकारसे पृथक्-पृथक् भागोंमें विभक्त हो जाती है॥ ४५॥

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम्।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम्॥ ४६॥

परमेश्वरकी प्रतिमाके निर्माणका कारण होना, जल आदिकी अपेक्षा किये बिना ही स्थिति, जलादिका आधार होना, आकाशादिका अवच्छेदक (मलिन, धूल इत्यादि युक्त) होना और परिणाम विशेषसे समस्त प्राणियोंके (स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि) गुणोंको प्रकट करना—ये सब पृथ्वीकी वृत्तियाँ हैं॥ ४६॥

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः॥ ४७॥

आकाशका विशेष गुण 'शब्द' जिसका विषय है, वही 'श्रोत्र' (कर्ण) के नामसे कथित है। इसी प्रकार वायुका विशेष गुण 'स्पर्श' जिसका विषय है, तत्त्वविद्‌गण उसे 'त्वचा' कहते हैं॥ ४७॥

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य घ्राण स उच्यते॥ ४८॥

तेजका विशेष गुण 'रूप' जिसका विषय है, उसे चक्षु, जलका विशेष गुण 'रस' जिसका विषय है, उसे 'रसना' (जिह्वा) तथा पृथ्वीका विशेष गुण 'गन्ध' जिसका विषय है, उसे 'घ्राणेन्द्रिय' (नासिका) कहते हैं॥ ४८॥

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलभ्यते॥ ४९॥

परस्पर सम्बन्धवशतः कारणके विशेष गुण कार्यमें भी देखे जाते हैं। इसीलिए पृथ्वीमें आकाशादि चारों भूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये चारों गुण देखे जाते हैं॥ ४९॥

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत्॥ ५०॥

महत्-तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्चभूत—ये सात तत्त्व जब पृथक् रूपमें अवस्थित थे, तब जगत्के आदिकारण ईश्वर काल, कर्म एवं गुणोंसे युक्त होकर उनके भीतर प्रविष्ट हो गये॥ ५०॥

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्॥ ५१॥

तदनन्तर भगवान्के प्रवेशके कारण ये समस्त पदार्थ क्षोभित होकर आपसमें मिल गये। तब उनमेंसे एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ तथा उस अण्डसे ही विराट् पुरुष प्रादुर्भूत हुए॥ ५१॥

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः॥ ५२॥

इस अण्डका नाम 'विशेष' है, उसका बाहरी भाग प्रकृतिके द्वारा आवृत है। उसका भीतरी भाग पृथ्वीसे क्रमशः दस-दस गुणा अधिक जल आदि भूतोंके आवरणोंसे घिरा हुआ है तथा यह अण्ड ही भगवान् श्रीहरिका मायिक स्वरूप है। इसी अण्डमें ही चौदह भुवनोंका विस्तार हुआ है॥ ५२॥

हिरण्मयादण्डकोषादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्॥ ५३॥

उन विराट् पुरुषने कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उदासीनताका परित्याग किया तथा पुनः अण्डमें ही अधिष्ठान कर उसमें बहुत प्रकारके छिद्र-भेद प्रकाशित किये॥ ५३॥

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः॥ ५४॥

सबसे पहले उस अण्डमें मुख उत्पन्न हुआ। उसके बाद वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई। तदनन्दर वाक्के साथ उसके अधिष्ठाता अग्नि देवताने उसमें प्रवेश किया। फिर नाकके दो छिद्र उत्पन्न हुए और उन छिद्रोंसे प्राणवायुसे युक्त घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई॥ ५४॥

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः।
तस्मात् सूर्यो न्यभिद्येतां,
कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥ ५५॥

घ्राणके पश्चात् उसका अधिष्ठाता वायु प्राणोंके साथ संयुक्त होकर प्रकाशित हुआ। उसके बाद दो चक्षुगोलक प्रकटित हुए। तत्पश्चात् चक्षु इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता सूर्य उसमें प्रविष्ट हुए। इसके बाद दो कर्णगोलक और श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न हुए। फिर उसमें दिशाओंने देवताके रूपसे प्रवेश किया॥ ५५॥

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत औषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः॥ ५६॥

इसके बाद उस विराट् पुरुषकी त्वचा उत्पन्न हुई। उसके बाद रोम, मूँछ-दाढ़ी, सिरके बाल आदि इन्द्रियरूपमें और औषधियाँ देवतारूपमें प्रकाशित हुईं। बादमें उनकी उपस्थेन्द्रिय (लिङ्ग) उत्पन्न हुई॥ ५६॥

रेतस्तस्मादाप आसन् निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ ५७॥

इस इन्द्रियसे वीर्य उत्पन्न हुआ और उसके बाद लिङ्गके अभिमानी जलदेवता प्रकट हुए। तदनन्तर पायु (गुदा-अधिष्ठान) निकला और पायुसे अपान वायु और अपान इन्द्रियके अभिमानी लोगोंको भयभीत करनेवाले मृत्यु देवता प्रकट हुए॥ ५७॥

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः॥ ५८॥

इसके बाद दोनों हाथ प्रकट हुए। इन दोनों हाथोंसे बलशक्ति प्रकाशित हुई। इसके बाद हस्तेन्द्रियके अभिमानी देवता इन्द्र आविर्भूत हुए। इसके बाद दोनों चरण बाहर निकले और उन दोनों चरणोंसे गति-शक्ति उत्पन्न हुई। फिर उसके अभिमानी देवताके रूपमें विष्णु आविर्भूत हुए॥ ५८॥

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत॥ ५९॥

तदनन्तर विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं और समस्त नाड़ियोंसे रक्त सञ्चालक इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। उस रक्तसे नदियाँ देवतारूपमें प्रकाशित हुईं और क्रमशः उनका उदर प्रकट हुआ॥ ५९॥

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत्।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम्॥ ६०॥

इसके बाद उनमें भूख और प्यासकी अभिव्यक्ति हुई और उन दोनोंसे उदरका अभिमानी देवता समुद्र उत्पन्न हुआ। फिर विराट् पुरुषका हृदय प्रकटित हुआ और उससे मन उत्पन्न हुआ॥ ६०॥

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत्॥ ६१॥

मनसे उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा तथा हृदयसे बुद्धि, अहङ्कार और चित्त उत्पन्न हुए। बुद्धिसे उसके अभिमानी देवता वाक्पति ब्रह्मा प्रकट हुए, तदनन्तर अहङ्कारसे उसके अभिमानी देवता रुद्र उत्पन्न हुए एवं चित्तसे चित्तके क्षेत्रज्ञ पुरुष वासुदेव आविर्भूत हुए॥ ६१॥

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात्॥ ६२॥

ये सब देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें समर्थ नहीं हुए, तब उन्होंने उन्हें उठानेके लिए पुनः अपने-अपने उत्पत्ति-स्थानोंमें यथाक्रमसे प्रवेश किया॥ ६२॥

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६३॥

अग्निने वाक्-इन्द्रियके साथ मुखमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। इसके बाद वायुने घ्राणेन्द्रियके साथ नासारन्ध्रोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६३॥

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६४॥

इसके बाद सूर्यने दर्शनेन्द्रियके साथ दोनों चक्षु-रन्ध्रोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। अनन्तर दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके साथ कानोंमें प्रवेश किया, उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६४॥

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६५॥

औषधियोंने लोमोंके साथ त्वगेन्द्रियमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। तत्पश्चात् जलने शुक्रके साथ लिङ्गमें प्रवेश किया, परन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६५॥

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६६॥

मृत्युने अपान वायुके साथ गुदा-देशमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। इन्द्रने बलशक्तिकी इन्द्रियके साथ दोनों हाथोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६६॥

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६७॥

विष्णुने गति-शक्तिके साथ दोनों चरणोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। नदियाँ रक्तके साथ नाड़ियोंमें प्रविष्ट हुईं, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६७॥

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६८॥

इसके बाद समुद्रने भूख और प्यासके साथ उदरमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। बादमें चन्द्र मनके साथ हृदयमें प्रविष्ट हुआ, किन्तु तब भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६८॥

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६९॥

इसके बाद ब्रह्माने बुद्धिके साथ हृदयमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुषका उत्थान नहीं हुआ। तब रुद्र अभिमानके साथ पुनः हृदयमें ही प्रविष्ट हुए, किन्तु विराट् पुरुष तब भी नहीं उठे॥ ६९॥

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥ ७०॥

अन्तमें जैसे ही चित्तके अधिष्ठातृ देवता अन्तर्यामी पुरुषने चित्तके साथ हृदयमें प्रवेश किया, उसी समय विराट् पुरुष जलसे उठकर खड़े हो गये॥ ७०॥

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा॥ ७१॥

जिस प्रकार प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी जीवात्माके बिना अपने बलसे सोये हुए मनुष्य आदिकी देहको जगा नहीं सकते, उसी प्रकार अग्नि आदि देवता भी क्षेत्रज्ञ वासुदेवके प्रवेशके बिना विराट् देहको क्रियाशील करनेमें समर्थ नहीं हो सके॥ ७१॥

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत्॥ ७२॥

अतएव सर्वप्रथम परमेश्वरकी भक्ति, फिर उस भक्तिसे उत्पन्न इतर विषयोंके प्रति विरक्ति और ज्ञान, उससे चित्तका एकाग्र होना और उस एकाग्रतासे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके द्वारा ही शुद्धान्तःकरणमें भगवत्-स्वरूपका विचारपूर्वक चिन्तन करना चाहिये॥ ७२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये तत्त्वसमाम्नायो नाम षड्विंशोऽध्यायः॥

सप्तविंशोऽध्यायः

भक्ति-मिश्र ज्ञानका साधन और पुरुष-प्रकृतिके विवेकसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें जिस प्रकार जलकी शीतलता और वायुके वेगसे होनेवाले कम्पनसे लिप्त नहीं होतीं, उसी प्रकार शुद्ध-जीवात्मा मनुष्य, देव और पशु-पक्षी आदि देहोंमें स्थित रहनेपर भी स्वभावसे निर्विकार, अकर्त्ता और निर्गुण होनेके कारण सुख-दुःखादि प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होता है॥ १ ॥

स एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २ ॥

किन्तु वही जीव जब सुख-दुःखादिरूप प्रकृतिके गुणोंमें विशेष रूपसे आसक्त हो जाता है, तभी वह अहङ्कारसे विमूढ़ होकर 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ', इस प्रकारका अभिमान करता है॥ २ ॥

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥ ३ ॥

इसी कर्त्तृत्व अभिमानके कारण जीव विवश होकर प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न देहोंके द्वारा किये गये पुण्य-पापरूप कर्म-दोषोंसे देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि उच्च-नीच बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता है। इस प्रकार वह कर्मके कारण उत्पन्न सुख-दुःखके उपभोगसे निवृत्त न हो पानेके कारण संसार-चक्रमें ही घूमता रहता है॥ ३ ॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ४॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें असत्य वस्तुएँ भी सत्य प्रतीत होती है, उसी प्रकार विषयोंका चिन्तन करते-करते जीव उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि उस अविद्याग्रस्त जीवको अवास्तव वस्तुओंमें वास्तव वस्तुका भ्रम हो जाता है। इसलिए वैसे जीवोंकी संसारसे निवृत्ति नहीं हो पाती॥ ४॥

अतएव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्॥ ५॥

अतएव चित्तके विषयोंकी ओर धावित होनेपर उसे सुदृढ़ भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा क्रमशः वशीभूत करना ही उचित है॥ ५॥

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च॥ ६॥
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण महीयसा॥ ७॥
यदृच्छयोपस्थितेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ८॥
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ९॥
निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक्॥ १०॥
मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम्॥ ११॥

भक्तियोग-प्रधान योगमार्गके द्वारा चित्तको पुनः-पुनः एकाग्र करके श्रद्धायुक्त होकर मुझसे निष्कपट प्रेम करनेसे, मेरी कथाओंको सुननेसे, समस्त प्राणियोंके प्रति समदृष्टि रखनेसे, किसीके प्रति वैरभाव न रखनेसे, असत्-सङ्गका परित्याग करनेसे, ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे,

वृथा प्रजल्पका परित्याग करनेसे, अव्यक्त मनोवेगको धारण करनेसे, अपने-अपने वर्णाश्रमोचित्त धर्मोंको ईश्वरके प्रति अर्पित कर देनेसे, प्रारब्ध-वश प्राप्त द्रव्योंसे सन्तोष कर लेनेसे, परिमित आहार करनेसे, एकान्तमें वास करनेसे, शान्त-स्वभावसे, सबका हित करनेसे, दयावान होनेसे, धैर्य धारण करनेसे, देहमें अथवा देह सम्बन्धित स्त्री-पुत्रादिमें 'मैं और मेरा' के मिथ्या अभिनिवेशसे रहित होनेसे तथा प्रकृति-पुरुषके यथार्थ तत्त्वज्ञानकी उपलब्धिके द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानवान शुद्ध-चित्‌कण जीवात्मा भक्तियोगसे पूर्णचैतन्यकी निधि मुझ परमात्माकी उपलब्धि करता है। उस समय उसमें मनका सङ्कल्प-विकल्पादि धर्म तथा भगवान्‌के अतिरिक्त बाह्य दर्शन नहीं रहता। अतएव जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंकी सहायतासे विमल नेत्रोंके द्वारा गगनमें स्थित सूर्यका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न आदि बाह्य दर्शनसे रहित शुद्ध-जीवात्मा भक्तिके द्वारा पूर्ण चैतन्यस्वरूप परमात्माका दर्शन करता है। इसके फलस्वरूप वह देह-नामादि उपाधियोंके स्पर्शसे शून्य, अहङ्कारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्‌-रूपसे भासमान जगत्‌के कारणरूप प्रधानके अधिष्ठान, महत्‌-तत्त्वादि कार्योंके प्रकाशक एवं कार्य और कारणादि समस्त वस्तुओंमें व्याप्त परिपूर्ण स्वरूप अद्वयतत्त्व मुझको प्राप्त कर लेता है॥ ६-११॥

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते।
स्वाभासेन यथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः॥ १२॥

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक्॥ १३॥

जलमें प्रतिफलित सूर्यका प्रतिबिम्ब जब घरकी भीतरी दीवारपर प्रतिफलित होता है, तो उस घरके कोनेमें बैठा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार दीवारपर भासित उस सूर्यके प्रतिबिम्बको लक्ष्य करता हुआ पहले जलमें स्थित सूर्यके प्रतिबिम्बको देखता है और फिर जलमें स्थित प्रतिबिम्बके योगसे जिस प्रकार गगनमें स्थित सूर्यको प्रत्यक्ष देखता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय एवं मन—इन तीन व्यवधान रहित आत्म-प्रतिबिम्बोंके द्वारा त्रिगुणात्मक अहङ्कारयुक्त जीव-प्रतिबिम्ब

लक्षित होता है और फिर उस जीवात्माके भक्तियुक्त प्रकाशके द्वारा सत्य, ज्ञान एवं आनन्दरूप परमात्मा परिदृष्ट होते हैं॥ १२-१३॥

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः॥ १४॥

मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः॥ १५॥

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः॥ १६॥

पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदिके निद्रावशतः असत् प्रकृतिमें लीन होनेपर उस समय जो जाग्रत और अहङ्कारशून्य होकर अवस्थित रहता है, वह द्रष्टा जीव विनष्ट नहीं होता। किन्तु, उपाधिभूत अहङ्कारके नष्ट होनेपर द्रष्टा जीव भी स्वयंको अकारण ही उसी प्रकार नष्ट मान लेता है, जिस प्रकार धनके नष्ट होनेपर धनवान व्यक्ति अत्यन्त व्याकुल होकर स्वयंको ही नष्ट माननेका अभिमान कर बैठता है। इस प्रकार विशेष रूपसे विचार करके पूर्वोक्त भावयुक्त विवेकी पुरुष कार्य और कारणके प्रकाशक और आश्रय उस परमात्माको प्राप्त होता है॥ १४-१६॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन् न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वाच्चानयोः प्रभो॥ १७॥

माता देवहूतिने कहा—हे प्रभो! हे ब्रह्मन्! प्रकृति कभी भी पुरुषका त्याग नहीं करती, क्योंकि वे एक-दूसरेपर आश्रित हैं और उन दोनोंका परस्पर आश्रय नित्य है॥ १७॥

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च॥ १८॥

जिस प्रकार पृथ्वी और गन्धमेंसे एकके न रहनेसे दूसरेकी सत्ता नहीं रह सकती तथा जिस प्रकार जल एवं रसका परस्पर सम्बन्ध

नित्य रहता है, उसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुषमें एकके अभावमें दूसरेकी सत्ता सम्भव नहीं है॥ १८॥

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम्॥ १९॥

जीव अकर्त्ता होनेपर भी प्रकृतिके जिन गुणोंमें आसक्त होकर स्वयंको कर्त्तारूपमें अभिमान कर कर्मबन्धनको प्राप्त होता है, प्रकृतिके उन गुणोंके विद्यमान रहनेपर जीवकी मुक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है?॥ १९॥

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात् पुनः प्रत्यवतिष्ठते॥ २०॥

यह सत्य है कि कभी-कभी तत्त्व विचारके द्वारा किसी-किसी पुरुषका अति उग्र संसार-बन्धनका भय दूर हो जाता है, किन्तु उसके कारणके नष्ट नहीं होनेसे वही भय पुनः उत्पन्न हो जाता है॥ २०॥

श्रीभगवानुवाच—

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसंभृतया चिरम्॥ २१॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥ २२॥

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥ २३॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! निर्मल मनके द्वारा कर्मफलकी कामनासे रहित होकर निष्काम रूपसे स्वधर्मका पालन करनेसे, मेरी कथाओंके श्रवणसे परिवर्द्धित मेरे प्रति सुदृढ़ भक्तियोगसे, तत्त्व प्रदर्शक ज्ञानसे, कठोर वैराग्यसे, तपस्यायुक्त योग एवं चित्तकी दृढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अर्थात् उसका अविद्या जनित लिङ्गशरीर) दिन-रात दग्ध होता रहता है। अतएव जिस प्रकार अग्नि अपने उत्पत्ति-स्थान लकड़ीसे उत्पन्न होकर लकड़ीको ही दग्ध कर

डालती है, उसी प्रकारसे ही पुरुषकी प्रकृति अर्थात् लिङ्गशरीर क्रमशः विलुप्त हो जाता है॥ २१-२३॥

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥ २४॥

तब पुरुष प्रकृति अर्थात् लिङ्गदेह द्वारा (स्वर्ग, नरकादि बहुत प्रकारसे) भोग करना समाप्त हो गया है—ऐसा जानकर निरन्तर उस प्रकृति (लिङ्गदेह) के विविध दोषोंको देखता हुआ उसका परित्याग कर देता है। उस समय वह परित्यक्त प्रकृति नित्यानन्दको प्राप्त पुरुषके लिए पुनः अशुभ (संसार-भय) उत्पन्न नहीं कर सकती॥ २४॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न विमोहाय कल्पते॥ २५॥

जिस समय पुरुष (जीव) सोया रहता है, केवल उसी समय ही स्वप्नमें देखे गये अनर्थ उसे महान् भय दिखलाते हैं। किन्तु जब वही निद्रित पुरुष जाग जाता है, तब पूर्वोक्त अनर्थ यद्यपि संस्कारवशतः उसके स्मृतिपथपर आते भी हैं, तथापि वे उसे विमोहित नहीं कर पाते॥ २५॥

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्॥ २६॥

उसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्, जीव और मायाके परस्पर सम्बन्ध-तत्त्वको जानकर तथा मुझमें अपने चित्तको लगाकर आत्माराम हो जाता है, प्रकृति कभी भी उसका अपकार करनेमें समर्थ नहीं हो पाती॥ २६॥

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आ-ब्रह्मभुवनान्मुनिः॥ २७॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥ २८॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाविनिर्गमे॥ २९॥

इस प्रकार पुरुष बहुत-से जन्मोंमें बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जिस समय भगवत्-आश्रित होकर ब्रह्मलोक तक समस्त प्रकारके भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, तब वह मननशील भक्त मेरे प्रति प्रीतिके साथ मेरे भक्तियोगसे युक्त होकर मेरी यथेष्ट कृपाके प्रभावसे आत्मतत्त्वको जान पाता है, और फिर उसी जन्ममें ही अतिशीघ्र मेरे ही आश्रयभूत देहादिसे भिन्न स्वरूप, अत्यधिक आनन्दमय, नित्यानन्द नामक ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस स्थितिमें आत्म-ज्ञान होनेके कारण उसके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्गशरीरके नाश होनेपर वह उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी जीवका पुनरागमन नहीं होता॥ २७-२९॥

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्या-
दात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः॥ ३०॥

हे माता! ऐसी अवस्थाको प्राप्त करनेवाले पुरुषका चित्त योग-साधनसे समृद्ध अणिमादि योग-सिद्धियोंमें आसक्त नहीं होता, अपितु एकमात्र मुझमें ही सम्पूर्ण रूपसे लग जाता है, अतः उस समय वह पुरुष मुझसे सम्बन्धित आत्यन्तिकी गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है। इस गतिके प्राप्त होनेपर पुरुष फिर मृत्युका हास्यास्पद पात्र नहीं बनता अर्थात् वह जन्म-मृत्युरूप आवागमनसे मुक्त हो जाता है॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये प्रकृति-विवेको नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

भक्ति-मिश्रित अष्टाङ्गयोगका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम्॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे मनुराजपुत्रि! अब मैं सबीज अर्थात् भगवत्-स्वरूपका सहारा लेकर किये जानेवाले योगके लक्षणोंका वर्णन करूँगा, आप श्रवण कीजिये। इस योगविधिके द्वारा मन प्रसन्न होकर सत्पथ (भगवत्-पथ) की ओर लगता है॥ १॥

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम्॥ २॥

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम्॥ ३॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम्॥ ४॥

मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि॥ ५॥

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम्।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः॥ ६॥

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः॥ ७॥

यथाशक्ति स्वधर्मका आचरण, शास्त्र-विरुद्ध विधर्मोंका त्याग, प्रारब्धके अनुसार प्राप्त द्रव्योंसे सन्तोष, भगवत्-तत्त्वविद् भक्तोंकी चरणसेवा, धर्म-अर्थ-काम इस त्रैवर्गिक ग्राम्य अर्थात् विषयधर्मसे निवृत्ति, संसार-बन्धनको छुड़ानेवाले मोक्ष धर्ममें रति, परिमित एवं

पवित्र (भगवदर्पित) द्रव्योंका भक्षण, निरन्तर निर्जन और उपद्रव रहित स्थानपर रहकर हरिभजन, अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, आवश्यकतानुसार वस्तुओंका संग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि, वेदोंका अध्ययन, भगवान्का अर्चन, भगवत्-कथाके अतिरिक्त वृथा-प्रजल्पका परित्याग, आसनको जीतकर स्थिरभावसे बैठना, मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर हृदयमें स्थापन, मनके साथ प्राणोंको मूलाधारादि स्वाधिष्ठानके किसी एक देशमें केन्द्रीकरण, अधोक्षज श्रीहरिकी लीलाओंका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण, मनके सङ्कल्प एवं विकल्पोंको दूर करके आत्माभिन्न स्वरूपमें परिणत कर देना, श्वासको जीतना एवं आलस्य रहित होकर पूर्वोक्त इन सभी उपायों एवं इनके अतिरिक्त शास्त्रोंमें बतलाये गये अन्यान्य उपायोंके द्वारा कुमार्गगामी, चञ्चल मनको बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे एकाग्रतापूर्वक परमात्माके ध्यानमें लगाएँ॥ २-७॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्तिकमासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥ ८॥

इसके बाद आसनको जीतकर पवित्र स्थानपर कुश और मृगचर्म आदिसे युक्त आसनको बिछाकर शरीरको सरल-सीधा रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर प्राणोंके संयमका अभ्यास करे॥ ८॥

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम्॥ ९॥

पूरक, कुम्भक और रेचक एवं प्रतिलोमके क्रमसे रेचक, कुम्भक और पूरक द्वारा प्राणवायुकी गमनागमनके पथका इस प्रकारसे शोधन करे, जिससे चित्त स्थिर होकर पुनः चञ्चल न हो॥ ९॥

मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लौहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥ १०॥

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपनी मलिनताका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार प्राणवायुको जीतनेवाले योगीका चित्त शीघ्र ही निर्मल हो जाता है॥ १०॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ ११॥

साधकको प्राणायामके द्वारा वात और पित्त आदिके दोषोंको, धारणादिके द्वारा पापोंको, प्रत्याहारके द्वारा विषय-संसर्गसे उत्पन्न दोषोंको एवं ध्यानके द्वारा रागादि दोषोंको दग्ध करना चाहिये॥ ११॥

यदा मनः सूविरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः॥ १२॥

इस प्रकार जब योगाभ्यासके द्वारा मन भलीभाँति निर्मल और एकाग्र हो जाये, तब अपनी नासिकाके अग्रभागकी ओर देखते हुए भगवान् श्रीहरिकी श्रीमूर्त्तिका इस प्रकारसे ध्यान करे॥ १२॥

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ १३॥

लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्॥ १४॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्द्ध्यहारवलय-किरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ १५॥

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥ १६॥

अपीव्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥ १७॥

कीर्तन्य-तीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेदेवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः॥ १८॥

श्रीहरिका मुखारविन्द आनन्दसे सुप्रसन्न है, नयन कमलके कोशके समान अरुण वर्णके हैं, अङ्ग नीले रङ्गके कमलके समान श्यामवर्णका है, उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, कटि-देशमें कमलके केसरके समान पीतवर्णका रेशमी वस्त्र शोभा पा रहा है, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न विराजमान है, कण्ठमें दीप्तिशाली कौस्तुभमणि विराजित है। उनके गलेमें स्थित वनमाला उनके

चरणोंतक लटकी हुई है और जिसकी सुगन्धसे मत्त मधुकर चारों दिशाओंमें मधुर गुञ्जार कर रहे हैं। बहुमूल्य हार, वलय, किरीट, अङ्गद एवं नूपुरोंके द्वारा उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुपम शोभा धारण कर रहे हैं। उनकी कमरमें मेखला अद्भुत शोभाका विस्तार करती हुई झुम रही है, वे अपने भक्तोंके हृदयरूपी कमलासनपर विराजमान हैं, उनके समान सुन्दर और दर्शनीय वस्तु दूसरी कोई नहीं है। वे प्रशान्त-विग्रह हैं, दर्शकोंके चित्त एवं नेत्रोंके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं, उनकी अतीव सुन्दर झाँकी है, वे समस्त लोकोंके आराध्य हैं, नव-किशोर हैं, निजजनोंके प्रति कृपा-वितरणके लिए सदा लालायित रहते हैं, उनका यश पवित्र और एकमात्र कीर्त्तनीय है तथा वे ही बलि आदि प्रमुख यशस्वी जनोंके यशकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग-सुन्दर भगवान्‌के दर्शनसे जब तक चित्त हट न जाये, तब तक ध्यान करे॥ १३-१८॥

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥ १९॥

हे माते! यह भगवत्-मूर्त्ति प्रत्येक जीवके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित है तथा उनकी लीलाएँ अपूर्व-दर्शनीय हैं। शुद्धभावयुक्त चित्तमें किसी विशेष स्थानपर अवस्थित अथवा गमनशील या शयन करती हुई अवस्थामें विराजित इस मूर्त्तिका ध्यान करें॥ १९॥

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥ २०॥

जब यह अनुभव हो जाये कि भगवत्-मूर्त्तिके सर्वाङ्गमें चित्त भलीभाँति स्थिर हो गया है, तब भक्तियोगीको अपने चित्तको श्रीभगवान्‌के एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये॥ २०॥

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुह-लाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहत-महद्धृदयान्धकारम्॥ २१॥

सर्वप्रथम ध्वज, वज्र, अङ्कुश एवं पद्मके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त श्रीहरिके चरणकमलोंका भलीभाँति ध्यान करे। जो व्यक्ति इस प्रकारसे भावना करता है, श्रीहरिके उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखरूप चन्द्रमण्डलकी किरणोंकी छटासे उसके हृदयका भीषण अन्धकार दूर हो जाता है॥ २१॥

यच्छौचनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥ २२॥

जिन चरणकमलोंके धौत जलसे उत्पन्न नदियोंमें श्रेष्ठ—भगवती गङ्गाके पवित्र जलको सिरपर धारण करके शिव भी शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलमय हुए हैं, जो व्यक्ति उन चरणारविन्दोंका ध्यान करता है, (पाप-रूप) पर्वतोंपर वज्र-निक्षेपके समान उसके मनका समस्त कल्मष ध्वंस हो जाता है। अतएव भगवान्के उन चरणारविन्दोंका सर्वदा ध्यान करे॥ २२॥

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्॥ २३॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम्॥ २४॥

सम्पूर्ण जगत्के सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीकी माता तथा देवताओं द्वारा वन्दनीय कमललोचना लक्ष्मीदेवी श्रीनारायणकी श्रेष्ठ पिण्डलियोंको अपनी जंघाओंपर संस्थापित करके अरुण एवं पीत वर्णकी कान्तिसे सुशोभित अपने सुन्दर कर-पल्लवों द्वारा उनकी सेवा करती हैं। श्रीहरिके चरण-चिन्तनके बाद भक्तियोगी उनकी पिण्डलियोंका ध्यान करे। इसी प्रकार भक्तियोगी गरुड़के स्कन्धके ऊपर शोभायमान, बलके

निधिस्वरूप, अतसी (अलसी) के पुष्पके समान नीली कान्तिसे युक्त प्रकाशमान भगवान्‌की जंघाओंका ध्यान करे। तदनन्तर एड़ियों तक लटके हुए पीताम्बरसे वेष्टित एवं लड़ियों और सुवर्णमयी मेखलासे बँधे हुए उनके नितम्ब-देशकी भावना करे॥ २३-२४॥

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम्॥ २५॥

इसके बाद भगवान्‌के उदरमें भुवनोंका अधिष्ठानस्वरूप जो उनका नाभिह्रद है तथा जिससे आत्मयोनि ब्रह्माजीका आधारभूत अखिललोकात्मक पद्म प्रादुर्भूत हुआ, उस नाभिह्रदका चिन्तन करे। इसके बाद उत्कृष्ट मरकत मणि द्वारा अलंकृत निर्मल एवं उज्ज्वल हारोंकी किरणोंसे शुभ्र-वर्णके जान पड़ते उनके स्तनोंकी भावना करे॥ २५॥

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।
कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ २६॥

तदुपरान्त भगवान्‌के वक्षःस्थलका चिन्तन करे जो ध्यानकारीके चित्त और नेत्रोंके आनन्दको बढ़ानेवाले तथा ब्रह्मादि अखिल लोकोंके द्वारा नमस्कृत महालक्ष्मीका आवासस्थल हैं। फिर भगवान्‌के उस कण्ठदेशका हृदयमें ध्यान करे, जहाँ आभूषणके रूपमें धारण की हुई कौस्तुभमणि विराजित होकर अधिक शोभा पाती है॥ २६॥

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खञ्च तत्करसरोरुहराजहंसम्॥ २७॥

इसके बाद समस्त लोकपालकोंकी आश्रयस्वरूप श्रीभगवान्‌की चारों भुजाओंका भलीभाँति ध्यान करे। समुद्रमन्थनके समय मन्दर नामक

पर्वतकी रगड़के कारण इन चारों भुजाओंके वलय एवं अङ्गद आदि अतिशय उज्ज्वल हो गये हैं। उसी प्रकार जिसका तेज दुःसह है, उस सहस्त्र धारसे युक्त वेगवान सुदर्शनचक्रका और भगवान्के करकमलमें स्थित राजहंसके समान श्वेतवर्णके शङ्खकी भावना करे॥ २७॥

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे॥ २८॥

तत्पश्चात् शत्रुओंके रुधिरसे सनी हुई भगवान्की प्रिय कौमुदकी गदाका, मधुकरोंके स्तुतिरूपी गुञ्जारसे गुञ्जायमान वनमालाका तथा भगवान्के कण्ठमें स्थित जीवतत्त्व-स्वरूप निर्मल कौस्तुभमणिका भी ध्यान करे॥ २८॥

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम्।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामल-कपोलमुदारनासम् ॥ २९॥

श्रीभगवान् जीवोंपर अनुकम्पा करनेकी इच्छासे अपने नित्य-स्वरूप श्रीविग्रहको प्रपञ्चमें प्रकट करते हैं। भक्तियोगी उन्हीं भक्तवाञ्छा-कल्पतरु श्रीहरिके मुख-कमलकी भलीभाँति भावना करे। अहा! श्रीहरिका मुखकमल उन्नत नासिका तथा अत्यन्त दीप्तिमान मकराकृति कुण्डलोंके सञ्चालनसे अति उज्ज्वल हुए सुकोमल गण्डस्थलसे युक्त होकर कैसी अपूर्व शोभा पा रहा है॥ २९॥

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमाणं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु॥ ३०॥

समस्त सौन्दर्यका मूल, काली घुँघराली अलकावलियोंसे मण्डित, पद्मपलाशलोचन और क्रीड़ाशील भौओंसे सुशोभित अपनी विभूतिके

द्वारा प्रकाशित, भ्रमरोंसे परिसेवित, मीननिन्दित नेत्रयुगलसे सुशोभित श्रीभगवान्‌के मनोहर श्रीमुखकमलका आलस्य त्याग करके एकाग्रताके साथ ध्यान करे॥ ३०॥

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम्॥ ३१॥

श्रीभगवान् अपनी आन्तरिक कृपावशतः सुस्निग्ध मुसकानके साथ जो स्नेह दृष्टि निक्षेप करते हैं, वह घोरतर तीनों तापोंका नाश करनेमें समर्थ है। अतः भक्तियोगी अपनी हृदय-गुफामें विपुल प्रसन्नतासे परिपूर्ण उनके ऐसे चक्षुओंकी चितवनका एकाग्रचित्त होकर सतत ध्यान करे॥ ३१॥

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागर-विशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य॥ ३२॥

तदनन्तर श्रीहरिके अतीव मनोरम उस हास्यका चिन्तन करे, जो समस्त शरणागत भक्तोंके तीव्र विप्रलम्भात्मक शोकसे उत्पन्न अश्रु-सागरको सुखानेमें समर्थ है और जो अत्यन्त आनन्दप्रद है। मुनियोंके उपकारके लिए तथा कामदेवके दर्पको खर्व करनेके लिए भगवान्‌ने अपनी निजमायासे जिस भ्रू-युगलकी रचना की थी, भक्तियोगी उसकी भी भावना करे॥ ३२॥

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरौष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥ ३३॥

इसके बाद श्रीहरिके उच्च हास्यका ध्यान करे। उनका यह उच्च हास्य अतिशय मनोरम और बिना प्रयत्नके ही ध्यानका विषय है।

हँसते समय भगवान्‌के अरुणवर्णके अधरोष्ठकी लालिमामयी कान्ति द्वारा कुन्द-पुष्पकी कलीके समान उनकी शुभ्र एवं सूक्ष्म दन्तराजि दीप्तिशाली होकर शोभा पाती है। जब भक्तियोगी इस प्रकारकी भावनाके द्वारा भगवान्‌को हृदयमें प्रत्यक्ष देखे, उस समय प्रेमरससे आप्लावित भक्ति बलसे चित्तको उनमें अर्पितकर भगवत्-स्वरूप-विग्रहके अतिरिक्त अन्य किसीको देखनेकी इच्छा न करे॥ ३३॥

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥ ३४॥

इस प्रकार ध्यानाभ्यासके द्वारा जब भगवान् श्रीहरिमें साधकका भाव उदय होता है, तब उसका चित्त भक्तिरससे द्रवीभूत हो उठता है, अतिशय आनन्दके कारण उसके अङ्गोंमें रोमाञ्च होने लगता है और उत्सुकतासे उदित आनन्दाश्रुओंसे वह बार-बार आनन्द-सागरमें निमज्जित होता रहता है। उस समय उसकी योगमिश्राभक्ति शुद्धभक्तिमें पर्यवसित होनेके कारण उसका चित्तरूपी बड़िश (मछली पकड़नेका काँटा) शुद्धभक्तिके प्रभावसे योगके साधन स्वरूप ध्यान आदि क्रियाओंका परित्यागकर वैसे ध्येय वस्तुके योग या कैवल्यसे क्रमशः मुक्त हो जाता है॥ ३४॥

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥ ३५॥

जिस समय चित्त शब्द आदि विषयोंसे रहित होकर नित्यमुक्त भगवत्-विषयोंका ही आश्रय लेता है और अन्यान्य जड़-विषयोंसे विरक्त हो जाता है, तब जैसे तेल आदिके समाप्त हो जानेपर दीपशिखा स्वयं ही बुझ जाती है, वैसे ही चित्त भी इन्द्रियोंके विषयोंके ग्रहणरूप प्रवाहसे मुक्त होकर अपने चिन्मय स्वरूपके अनुभवके कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीरका समस्त अभिमान त्याग देता है तथा वह

व्यक्ति व्यवधान-रहित होकर अखण्ड अद्वय-परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है॥ ३५॥

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥ ३६॥

उस समय वह योगी पुरुष पूर्वोक्त अविद्यारहित चितमें चरम निवृत्तिरूप वृत्तिके द्वारा सुख-दुःखातीत ब्रह्म-स्वरूपकी महिमामें निष्ठा प्राप्त करता है। इससे पूर्व आत्माका जो सुख-दुःखके भोक्तृत्वका अभिमान था, अब वह योगी उसे अविद्याकृत अहङ्कारके रूपमें दर्शन करता है, क्योंकि अब वह आत्मतत्त्वसे परिचित हो चुका होता है॥ ३६॥

देहञ्च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिहृतं मदिरामदान्धः॥ ३७॥

इस चरमस्थितिको प्राप्त जीवन्मुक्त सिद्ध-पुरुषोंका देह—आसनपर आसीन रहे, अथवा वहाँसे उठ खड़ा हो, अथवा उठकर भी उसी स्थानपर ही रहे, अथवा वहाँसे अन्यत्र चला जाये, अथवा दैवक्रमसे दूसरे स्थानमें ही वास करे—इसमें उसकी कोई क्षति नहीं होती। जिस प्रकार मदिरापानसे मतवाला अचेत व्यक्ति कमरमें बँधे हुए वस्त्रको भी जान नहीं पाता कि वह कमरपर है या वहाँसे हट गया है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका भी देहसे सम्बधित कोई अनुसन्धान नहीं रहता, क्योंकि वह अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है॥ ३७॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३८॥

यद्यपि पूर्व जन्मके संस्कारोंके कारण उसका शरीर प्रारब्ध कर्मोंकी समाप्ति तक इन्द्रियोंके साथ वर्त्तमान रहकर अपनी दैहिक क्रियाओंको करता रहता है, तथापि वह योगसिद्ध पुरुष उस शरीरको स्वप्नमें देखे गये शरीर आदिके समान मानता है और उस देहमें एवं देह-सम्बन्धित पुत्र-स्त्री आदिमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव नहीं रखता। इसका कारण है कि वह समाधिकी अवस्था तक योगारूढ़ होनेके कारण स्वरूपतत्त्वको जान चुका होता है॥ ३८॥

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा॥ ३९॥

मर्त्यजीव (साधारण मनुष्य) अतिशय स्नेहके कारण धन एवं पुत्र आदिको आत्मस्वरूप मान लेता है, जब कि वस्तुतः वे उससे सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार यह देह आत्मस्वरूप माने जानेपर भी इसका द्रष्टा पुरुष (जीव) इस देहसे पृथक् है—यह जानना चाहिये॥ ३९॥

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥ ४०॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥ ४१॥

अग्निके साथ आपाततः एक प्रतीत होनेपर भी जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी, अग्निसे उत्पन्न धुआँ और चिनगारियाँ—तीनों ही अग्निसे पृथक् हैं, उसी प्रकार अग्नि स्थानीय द्रष्टा परमात्मा भी जलती हुई लकड़ी स्थानीय 'प्रधान' से, धुआँ स्थानीय 'पञ्चभूत, इन्द्रियों और अन्तकरण' (स्थूल और सूक्ष्म देह) से तथा चिनगारी स्थानीय 'जीव' से नित्य पृथक् हैं। वे परमात्मा ही 'भगवान्' और ब्रह्म नामसे जाने जाते हैं॥ ४०-४१॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥ ४२॥

जिस प्रकार जगत्में लोग भूतसमूहके कार्योंको महाभूतके अन्तर्गत देखते हैं, उसी प्रकार भक्तियोगी भी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको

और परमात्माको समस्त प्राणियोंमें अनन्यभावसे दर्शन करता रहता है॥ ४२॥

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः॥ ४३॥

जिस प्रकार अग्नि एक होकर भी अपने उत्पत्ति-स्थान काष्ठ आदिके नाना प्रकारके आकारोंके कारण नाना प्रकारकी प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा भी देहगत होकर देहके गुणोंकी विषमताके कारण नाना प्रकारका प्रतीत होता है॥ ४३॥

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥ ४४॥

अतएव भक्तियोगके द्वारा जीवके बन्धनकी कारण स्वरूप विष्णुकी बहिरङ्गाशक्तिरूपा, कार्य-कारणात्मिका, दुस्तरा प्रकृति अर्थात् विष्णुमायाको विष्णुकी कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हुआ जा सकता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

सगुण और निर्गुणके भेदसे भक्तियोग और कालकी महिमा

श्रीदेवहूतिरुवाच—

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत् पारमार्थिकम्॥ १॥

यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत् प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरतः प्रभो॥ २॥

माता देवहूतिने कहा—हे भगवन्! महत् आदि तत्त्व एवं प्रकृति और पुरुषके लक्षणोंका सांख्य-शास्त्रमें जिस प्रकारसे निरूपण किया गया हैं, वह आपने बतलाया। इन लक्षणोंके द्वारा ही महत् आदिके परस्पर विभक्त भावोंको जाना जा सकता है। किन्तु हे प्रभो! इन सबके उल्लेख करनेका मूल प्रयोजन भक्तियोग है। अतएव अब उस विभिन्न प्रकारके भक्तियोगके विषयमें मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये॥ १-२॥

विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत्।
आचक्ष जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः॥ ३॥

हे भगवन्! जीवलोककी विचित्र संसार-गतिका भी वर्णन कीजिये, जिसे सुनकर जीव संसारसे सब प्रकारसे विरक्त हो सके॥ ३॥

कालस्येश्वररूपस्य परेषाञ्च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः॥ ४॥

आप कालस्वरूप, महाप्रभावशाली और समस्त कारणोंके कारण हैं। अहो! आपके भयसे सभी लोग पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। आप अपने इस काल-स्वरूपका भी वर्णन कीजिये॥ ४॥

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये।

श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः॥ ५॥

जो यथार्थ-ज्ञानसे अवगत नहीं हैं, मिथ्यास्वरूप देहादिमें अहङ्कार रखते हैं और कर्मासक्त बुद्धिके कारण अत्यधिक थके हुए हैं, दुस्तर संसारके अन्धकारमें चिरकालसे सोये हुए ऐसे लोगोंको जागरित करनेके लिए ही आप योग-प्रकाशक सूर्यके रूपमें आविर्भूत हुए हैं॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः।
अबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे कुरुकुलशिरोमणि विदुर! महामुनि कपिलदेवने माताके ऐसे सुन्दर वचनोंको सुनकर बड़े प्रसन्न चित्तसे उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद करुणासे भरकर अपनी मातासे इस प्रकार कहने लगे॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥ ७॥

श्रीभगवान् कपिलदेवने कहा—विभिन्न अभिप्रायोंसे युक्त व्यक्तियोंके भेदसे भक्तियोग बहुत प्रकारसे प्रकाशित होता है। मनुष्योंके स्वभावभूत सत्त्व, रज एवं तम नामक वृत्तियोंके भेदके अनुसार अभिप्राय भेदवशतः भक्तिका भी भेद देखा जाता है॥ ७॥

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः॥ ८॥

क्रोधी और भेददर्शी[१] व्यक्ति हिंसा, दम्भ और मात्सर्यके उद्देश्यसे मेरी भक्ति करनेके कारण 'तामस भक्त' कहलाता है॥ ८॥

---

[१] प्रस्तुत श्लोकमें 'भिन्नदृक्' अर्थात् भेददर्शीसे तात्पर्य है ऐसा दयाहीन व्यक्ति जो दूसरेके सुख और दुःखको अपने सुख-दुःखके समान नहीं देखता। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः॥ ९॥

जो व्यक्ति विषय, यश और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे भेददर्शी[१] होकर मेरी पूजा करता है, वह व्यक्ति 'राजस भक्त' है॥ ९॥

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥ १०॥

और जो व्यक्ति पापोंका क्षय करनेके लिए मुझ परमेश्वरमें कर्मोंका फल अर्पण करने अर्थात् भगवान्‌की प्रीतिके उद्देश्यसे अथवा 'भगवत्-अर्चन मेरा कर्त्तव्य है'—इस बुद्धिसे भेददर्शी[२] होकर मेरी पूजा करता है, वह 'सात्त्विक भक्त' है॥ १०॥

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥ ११॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ १२॥

हे माता! इस प्रकारसे यह त्रिविध भक्ति ही सगुण है और इसके अतिरिक्त निर्गुण शुद्धभक्ति भी है। जिस प्रकारसे गङ्गाजल स्वाभाविक रूपसे सागरकी ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करनेवाले मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति आत्माकी जो तैलधारावत् अविच्छिन्ना स्वाभाविकी गति उदित होती है, वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है। पुरुषोत्तम स्वरूप मेरे प्रति की गयी वह भक्ति अहैतुकी अर्थात् भगवत्-सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य सब कामनाओंसे रहित और अव्यवहिता अर्थात् ज्ञान और कर्म आदि व्यवधानसे रहित होती है॥ ११-१२॥

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ १३॥

---

[१] प्रस्तुत श्लोकमें 'पृथग्भावः' अर्थात् भेददर्शीका अर्थ है—भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यान्य विषयोंकी स्पृहा रखनेवाला। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

[२] प्रस्तुत श्लोकमें 'पृथग्भावः' अर्थात् भेददर्शीका तात्पर्य है—भक्तिसे भिन्न मोक्षकी कामना करनेवाला व्यक्ति। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

मेरे ऐसे निष्काम भक्त मेरी अप्राकृत नित्यसेवाके अतिरिक्त सालोक्य (भगवान्‌के साथ एक ही लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूप), सामीप्य (भगवान्‌के समीप वास) तथा एकत्व (सायुज्य अर्थात् भगवान्‌के साथ मिलकर एक हो जानेवाली) मुक्ति प्रदान किये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे मेरी नित्यसेवाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके लिए प्रार्थना ही नहीं करते॥ १३॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥ १४॥

इसीको ही आत्यान्तिक अर्थात् उत्तम या परम भक्तियोग कहा जाता है। इस भक्तियोगके द्वारा जीव त्रिगुणमयी मायाको लाँघकर मेरे विमल प्रेमको प्राप्त करता है॥ १४॥

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥ १५॥

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्श-पूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च॥ १६॥

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥ १७॥

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा॥ १८॥

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥ १९॥

हे माता! ऐसी निर्गुण भक्तिसे युक्त भक्तोंके साधन बतला रहा हूँ, श्रवण कीजिये। भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओंसे रहित होना, भक्तिके अनुकूल नित्य-नैमित्तिक धर्मोंका सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करना, नित्य श्रद्धायुक्त चित्तसे निष्काम और हिंसा आदिसे रहित होकर पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें कथित पूजा आदि क्रियाओंका निर्वाह करना, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्शन एवं पूजन करना,

स्तव-वन्दना करना, समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करना, धैर्य-वैराग्यका आश्रय लेना, महत्-पुरुषोंका सम्मान करना, दीनोंके प्रति कृपा प्रकाशित करना, अपने समान व्यक्तियोंके साथ मित्रता करना, बाह्य एवं अन्तरेन्द्रियोंको वशमें करना, साधु-गुरुसे आत्मतत्त्वका श्रवण करना, मेरे नामोंका सङ्कीर्त्तन करना, मनकी सरलता, साधु-सङ्ग, अहङ्कारका त्याग—इन सबके द्वारा जो मनुष्य भगवत्-धर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसका चित्त विशेष रूपसे निर्मल हो जाता है और वह निर्मल चित्त मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे अनायास ही निश्चित रूपसे मुझे प्राप्त करता है अर्थात् मेरे निर्गुण भक्तियोगको प्राप्त कर लेता है॥ १५-१९॥

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात्।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत्॥ २०॥

जिस प्रकार गन्ध वायुका आश्रय लेकर अपने उत्पत्ति-स्थान पुष्पादिसे घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगनिष्ठ शान्तचित्त व्यक्ति परमात्म-स्वरूप भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥ २१॥

(प्राकृत भक्तोंकी केवल प्रतिमादिके प्रति होनेवाली निष्ठाकी निन्दा करते हुए कह रहे हैं—)हे माता! मैं अन्तर्यामी रूपसे समस्त जीवोंके हृदयमें अवस्थित हूँ। जो मेरे अधिष्ठान स्वरूप प्राणियोंमें कार्ष्ण (कृष्णके सेवककी) बुद्धि नहीं रखते, वे वस्तुतः मेरा ही अपमान करते हैं। वे प्राकृत बुद्धिसे मेरी प्रतिमा आदिकी जो पूजा करते हैं, उसके द्वारा श्रीअर्चा-विग्रहकी अवज्ञा ही होती है॥ २१॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥ २२॥

जो समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्म-स्वरूप मेरी उपेक्षा करके मूढ़तावश केवल लौकिक रीतिके अनुसार प्राकृतबुद्धिसे अर्चा-विग्रहकी

पूजा करता है, वह व्यक्ति तो भस्ममें ही आहुति प्रदान करता है॥ २२॥

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥ २३॥

जो व्यक्ति दूसरे शरीरोंमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित मेरी उपेक्षा करते हैं, वैसे अभिमानी, भेददर्शी, दूसरे जीवोंके प्रति शत्रुता करनेका सङ्कल्प लेनेवाले व्यक्तियोंका चित्त कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता॥ २३॥

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥ २४॥

हे निष्पाप माता! दूसरे प्राणियोंकी निन्दा करनेवाला व्यक्ति यदि बहुत-सी उत्कृष्ट (उत्तम) और निकृष्ट (साधारण) सामग्रियोंसे की जानेवाली पूजा आदि क्रिया द्वारा मेरी प्रतिमाका अर्चन करता है, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता॥ २४॥

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥ २५॥

(भगवत्-भक्तोंमें श्रद्धारहित तथा श्रीअर्चाविग्रहमें प्राकृत बुद्धिसे युक्त व्यक्तिकी प्रतिमा-पूजाके दोषके विषयमें कहा जा रहा है—)जब तक अपने और समस्त प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित मेरे भगवत्-स्वरूपकी उपलब्धि न हो जाये अर्थात् उत्तमाधिकार प्राप्त न हो जाये, तब तक श्रीअर्चाविग्रहमें मेरी पूजा करनी चाहिये॥ २५॥

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥ २६॥

जो व्यक्ति अपनेमें और दूसरेमें अणुमात्र भी अन्तर देखता है, उस भेदभाव करनेवाले मूढ़के लिए मृत्युस्वरूप मैं अति उत्कट भय उपस्थित करता हूँ॥ २६॥

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ २७॥

अतएव मुझे समस्त प्राणियोंमें अवस्थित और सर्वान्तर्यामी जानकर मेरे परमात्म-स्वरूपकी पूजा करनी चाहिये, समस्त प्राणियोमें समदृष्टि सम्पन्न होना चाहिये, सबके साथ मित्रता करनी चाहिये और सबका ही दान, मान आदिके द्वारा यथायोग्य सम्मान करना चाहिये॥ २७॥

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥ २८॥

हे मङ्गलमयि जननि! अचेतन शुष्क तृण आदि पदार्थोंसे सचेतन सजीव तृण आदि पदार्थ श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा प्राणवृत्तिशाली जीवन्त पाषाण(१) आदि श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा ज्ञानविशिष्ट पर्वत(२) आदि श्रेष्ठ हैं तथा उनकी अपेक्षा उद्गम और अवकाश आदि ज्ञानयुक्त वृक्ष(३) श्रेष्ठ हैं॥ २८॥

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥ २९॥

स्पर्शका अनुभव करनेवाले (वृक्षादि) पदार्थोंसे रस ग्रहण करनेवाले (मत्स्यादि) प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनसे भी गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमर आदि) प्राणी श्रेष्ठ हैं और गन्ध ग्रहण करनेवालोंसे शब्दज्ञानविद् (सर्पादि) प्राणी श्रेष्ठ हैं॥ २९॥

---

(१) भूमिमें स्थित जलको खींचना और बाहर निकालना—इस प्रकारके चिह्नोंके द्वारा ही यह स्पष्ट होता है कि पाषाण आदिमें भी प्राण है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

(२) सुना जाता है कि पूर्वकालमें सभी पर्वत उड़ते थे, बादमें इन्द्रने उनके पङ्ख काट दिये, अतएव भीतरसे वे ज्ञान-विशिष्ट ही हैं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

(३) "वृक्ष देख सकते हैं, वृक्ष श्वास लेते हैं"—इत्यादि उक्तियोंसे जाना जाता है कि वृक्ष उद्गम और अवकाश आदिसे ज्ञानयुक्त इन्द्रियोंवाले हैं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्॥ ३०॥

सर्प आदिकी अपेक्षा रूपका अनुभव करनेवाले (कौए आदि) प्राणी श्रेष्ठ हैं और उनसे भी ऊपर-नीचेके दो पंक्ति दाँतवाले जीव श्रेष्ठ हैं। उनकी अपेक्षा बहुत-से पैरोंवाले जीव श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा चार पैरवाले जन्तु और उनकी भी अपेक्षा दो पैरवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं॥ ३०॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥ ३१॥

दो पैरवाले मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ये चार वर्ण श्रेष्ठ हैं। इनमें भी ब्राह्मण सर्वप्रधान हैं, ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ ब्रह्मण श्रेष्ठ हैं और वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी अपेक्षा वेदोंका तात्पर्य जाननेवाले ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ हैं॥ ३१॥

अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्मकृत्।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥ ३२॥

वेदोंका तात्पर्य जाननेवाले ब्राह्मणोंकी अपेक्षा मीमांसक ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। इन मीमांसक ब्राह्मणोंकी अपेक्षा वर्णाश्रमोचित स्वधर्ममें रत ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। स्वधर्मोंका निर्वाह करनेवाले ब्राह्मणोंकी अपेक्षा विषयोंमें आसक्तिरहित ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि निष्काम होनेके कारण ऐसे ब्राह्मणोंमें अनुष्ठित धर्मोंके फलसिद्धिकी लालसा नहीं होती॥ ३२॥

तस्मान्मय्यर्पिताशेष-क्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥ ३३॥

जो व्यक्ति अपनी अखिल चेष्टाओंके फल एवं देहको मुझमें अर्पण कर देते हैं, अतएव सदैव मेरे ही शरणागत हैं, तथा 'मैं ही एकमात्र समस्त क्रियाफलोंका भोक्ता हूँ', यह जानकर वे मुझमें समस्त कर्म अर्पण कर देते हैं—ऐसे कर्तृत्व-अभिमानशून्य, समदर्शी पुरुषोंकी

अपेक्षा अन्य कोई जीव मुझे अधिक श्रेष्ठ दिखलायी नहीं देता॥ ३३॥

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ ३४॥

श्रीविष्णु अन्तर्यामी ईश्वर रूपसे सभी जीवोंमें अवस्थित हैं, यह निश्चय करके हृदयसे सभी प्राणियोंका सम्मान करते हुए उन्हें प्रणाम करना चाहिये॥ ३४॥

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥ ३५॥

हे मनुपुत्रि! मैंने आपको भक्तियोग और अष्टाङ्गयोग—इन दोनों ही योगोंके विषयमें बतलाया है। इन दोनोंमेंसे मनुष्य जिस किसी भी साधनके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त कर सकता है॥ ३५॥

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानपुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम्॥ ३६॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥ ३७॥

प्रकृति और उसका प्रवर्त्तक पुरुष तथा कर्मचेष्टा ही 'दैव' के नामसे जाने जाते हैं। वस्तुके विभिन्न रूपोंका कारण ही अद्भुत प्रभाव सम्पन्न 'काल' कहलाता है। इसी कालसे ही महत्-तत्त्वादि-अभिमानी देवताओं एवं भेददर्शी मनुष्योंको सदा जन्म-मरणादिरूप भय लगा रहता है॥ ३६-३७॥

योऽन्तःप्रविश्य भूतानि भूतैरत्यखिलाश्रयः।
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥ ३८॥

'काल' सबका आश्रय है। सबके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर यह भूतोंके द्वारा ही भूतोंका संहार कर रहा है। यह सभी यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाला है तथा जो दूसरोंको वशीभूत करते हैं, उनके भी प्रभु विष्णुका ही यह एक नाम विशेष है॥ ३८॥

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्॥ ३९॥

इस कालका न कोई प्रिय है और न ही कोई अप्रिय है तथा न ही इसका कोई बन्धु-बान्धव है। यह स्वयं सदा अप्रमत्त संहारक होकर प्रमत्त जनोंका संहार कर रहा है॥ ३९॥

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥ ४०॥

इसीके भयसे वायु चलती है, इसीके भयसे सूर्य ताप प्रदान करता है, इन्द्र वर्षण करता है और तारे भी इसीके भयसे प्रकाशित होते हैं॥ ४०॥

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥ ४१॥

इसीसे भयभीत होकर समस्त वनस्पतियों एवं औषधियोंके सहित लताएँ स्वयं ही समय-समयपर फल एवं पुष्प धारण करती हैं॥ ४१॥

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥ ४२॥

इसीके भयसे नदियाँ प्रवाहित होती हैं, इसीके भयसे समुद्र अपनी मर्यादा (तट) को लाँघकर पृथ्वीको प्लावित नहीं करता, इसीके भयसे अग्नि प्रज्जवलित होती है और इसीके भयसे पृथ्वी पर्वतोंके साथ जलमें नहीं डूबती॥ ४२॥

अदो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमान्नभः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥ ४३॥

इस कालके भयसे ही यह परिदृश्यमान आकाश जीवित प्राणियोंकी श्वास-क्रियाके लिए अवकाश प्रदान करता है और इसीके भयसे महत्-तत्त्व पृथ्वी आदि सात आवरणोंसे आवृत होकर अहङ्कारात्मक अपनी देहका लोकोंके रूपमें विस्तार करता है॥ ४३॥

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥ ४४॥

यह चराचर विश्व जिन ब्रह्मादि देवताओंके वशीभूत होकर वर्त्तमान है, वे गुण-नियन्ता ब्रह्मादि देवता भी कालसे भयभीत होकर इस विश्वकी सृष्टि आदि कार्योंमें पुनः-पुनः प्रवृत्त होते हैं॥ ४४॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम्॥ ४५॥

यह काल ही पिताके द्वारा पुत्रादिको उत्पन्न कराता है तथा मृत्युके द्वारा सबका विनाश करता है। अतएव यह काल ही सबका अन्त करनेवाला है, किन्तु काल स्वयं अनादि, अनन्त और अव्यय है॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये श्रीभक्तियोगो नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

त्रिंशोऽध्यायः

देह और स्त्री पुत्रादिमें आसक्त जीवोंकी तामसी गतिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! मैंने जो यह कालके विषयमें बतलाया है, मनुष्य इसीके प्रभावसे चालित होकर विभिन्न अवस्थाओं और योनियोंमें भ्रमण करता है। जिस प्रकार मेघ वायुके द्वारा विचालित होकर भी वायुके प्रबल पराक्रमको नहीं जान पाते, उसी प्रकार मनुष्य भी इस बलवान कालके असीम विक्रमको नहीं जान पाते॥ १॥

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते॥ २॥

मनुष्य अपने सुखोंके लिए अतिशय कष्ट उठाकर जिन-जिन प्रयोजनीय वस्तुओंका उपार्जन करता है, यह शक्तिमान काल उन सभी वस्तुओंको विनष्ट कर देता है और इसके फलस्वरूप मनुष्य दुःखी होता रहता है॥ २॥

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च॥ ३॥

दुर्बुद्धिपरायण जीव मोहके कारण स्त्री आदिसे युक्त अनित्य शरीर, घर, खेत एवं धन आदिको नित्य मान लेता है, यही कारण है कि इन सब वस्तुओंके नष्ट होनेपर वह शोकमें डूब जाता है॥ ३॥

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते॥ ४॥

जीव इस संसारमें जिन-जिन योनियोंमें परिभ्रमण करते हैं, उन-उन योनियोमें ही आनन्द प्राप्तकर सन्तुष्ट रहते हैं, इसलिए किसी भी प्रकारसे विरक्त नहीं हो पाते॥ ४॥

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः॥ ५॥

दैवीमायासे विमोहित व्यक्ति नारकीय योनियोंको प्राप्त करके भी नारकीय आहार विष्ठा आदिसे सन्तुष्ट रहता है और नारकीय शरीरको परित्याग करनेकी इच्छा भी नहीं करता॥ ५॥

आत्मजायासुतागार-पशुद्रविणबन्धुषु ।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥ ६॥

इस प्रकार वह मूढ़ देह, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु आदिमें आसक्त होकर नाना प्रकारके मनोरथोंके बन्धनमें बँधकर अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानता है॥ ६॥

संदह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥ ७॥

इन्हीं कुटुम्बियोंके पालन-पोषणकी चिन्तासे वह दुराशय मूढ़ व्यक्ति सिरसे पैर तक निरन्तर दग्ध होता रहता है और उनके ही कारण वह तरह-तरहके पाप-कार्योंमें प्रवृत्त होता है॥ ७॥

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनाञ्च मायया।
रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ ८॥

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥ ९॥

ऐसा गृहस्थ व्यक्ति बहुत प्रकारके कपटपूर्ण धर्मसे युक्त सुख-दुःख प्रधान गृहमें आलस्य त्यागकर मीठी-मीठी बोली बोलनेवाले शिशुओंकी तोतली बोलीमें और कुलटा स्त्रियोंके साथ एकान्तमें सम्भोग आदि

रूप मायामें अपने मन और इन्द्रियोंके साथ अभिभूत हो जाता है। दुःखोंके प्रतिकारके लिए ही निरन्तर यत्न करते-करते उस प्रतिकारको ही सुख मानने लगता है॥ ८-९॥

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम्॥ १०॥

जिनके पालन-पोषणसे अधोगति होती है, घोर हिंसावृत्तिके द्वारा नाना स्थानोंसे अर्थका उपार्जन कर वह उन परिवारीजनोंका पोषण करता है तथा उनके भोजन करनेके बाद जो कुछ बच जाता है, उसीको खाकर स्वयं जीवन धारण करता है॥ १०॥

वार्तायां लुब्धमानायामारब्धायां पुनः पुनः।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥ ११॥

बार-बार प्रयास करनेपर भी जब उसकी जीविका नहीं चल पाती है, तब वह अन्य जीविकाकी प्राप्तिके लिए बार-बार चेष्टा करता है, परन्तु उसकी चेष्टा व्यर्थ होनेपर वह लोभसे अभिभूत होकर चोरी आदिके द्वारा दूसरोंका धन हरण करनेकी चेष्टा करता है॥ ११॥

कुटुम्बभरणेऽकल्यो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायन् श्वसिति मूढधीः॥ १२॥

वह मन्द-बुद्धिवाला दुर्भागा व्यक्ति बार-बार यत्न करके भी जब कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब धनहीन, दुःखी एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़[१] होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगता है॥ १२॥

एवं स्वभरणाकल्यं तत्कलत्रादयस्तदा।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम्॥ १३॥

इस प्रकार जब वह स्त्री-पुत्र आदिके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब उस गृहव्रतीके पुत्र-स्त्री आदि उस व्यक्तिका अब उसी प्रकारसे पहले जैसा आदर नहीं करते, जिस प्रकार निर्दयी किसान बूढ़े बैलके अकर्मण्य होनेपर उसकी उपेक्षा कर देता है॥ १३॥

---
[१] अपने कर्त्तव्यका निश्चय करनेमें असमर्थ।

तत्राप्यजातनिर्वेदो ध्रियमाणः स्वयम्भृतैः।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे॥ १४॥

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः॥ १५॥

किन्तु, फिर भी उस मूढ़ व्यक्तिका संसारके प्रति वैराग्य नहीं होता। वृद्धावस्थाके कारण विकृत आकृति और मरणोन्मुख होकर वह गृहव्रत व्यक्ति उसी घरमें ही वास करता है। पहले जिन स्त्री-पुत्रादिका उसने स्वयं प्रतिपालन किया था, अब वे ही उसे अपमानितकर खानेके लिए जो कुछ भी थोड़ा-बहुत भोजन देते हैं, वह घरमें पाले हुए कुत्तेके समान उसीको ही खाता है। रोगोंसे ग्रस्त हो जानेके कारण उसकी जठराग्निमें वैसा बल नहीं रहता। उसका आहार भी बहुत कम हो जाता है और कोई भी कार्य करनेमें असमर्थ होनेके कारण वह घरमें ही पड़ा रहता है॥ १४-१५॥

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिना।
कासश्वासकृतायासः कण्ठो घुरघुरायते॥ १६॥

उसके देहमें स्थित वायुकी ऊर्ध्वगतिके कारण उसकी श्वास-प्रश्वासरूप वायुके गमनागमन मार्गरूप नाड़ियाँ कफ द्वारा अवरुद्ध हो जाती हैं तथा पुतलियाँ बाहर आ जाती हैं। खाँसते और साँस लेते समय उसे अत्यन्त कष्ट होता है और उसके कण्ठसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है॥ १६॥

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः॥ १७॥

क्रमशः जब वह गृहव्रत व्यक्ति मृत्यु-शय्यापर पड़ा रहता है, उस समय आत्मीय बन्धु-बान्धव उसे चारों ओरसे घेरकर शोक करना आरम्भ कर देते हैं और बार-बार उससे अनेक बातें पूछा करते हैं। किन्तु वह कालपाशके वशीभूत होकर उन बन्धुओंको किसी भी बातका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हो पाता॥ १७॥

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥ १८॥

जिसका चित्त निरन्तर कुटुम्बके भरण-पोषणमें लगा रहता है, वह अजितेन्द्रिय गृहस्थ व्यक्ति ऐसी अवस्थामें भी रोते हुए आत्मीय स्वजनोंके अतिशय दुःखको देखकर अधीर हो जाता है और अन्तमें नष्टबुद्धि होकर प्राणोंका त्याग कर देता है॥ १८॥

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥ १९॥

उसकी मृत्युके समय क्रोधपूर्ण नेत्रोंवाले भयङ्कर दो यमदूत आते हैं। उन्हें देखते ही उसका हृदय काँप जाता है और अत्यन्त भयभीत होकर वह बार-बार मलमूत्रका त्याग करने लगता है॥ १९॥

यातना-देह आवृत्य पाशैर्बध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥ २०॥

इसके बाद वे दोनों यमदूत उस मृत गृहव्रत व्यक्तिको स्थूल-देहसे यातना-देहमें डालकर बलपूर्वक उसके गलेको पाशसे बाँध देते हैं। राजपुरुष जिस प्रकार दण्डनीय व्यक्तिको पाशमें बाँधकर ले जाते हैं, यमराजके सेवक भी उसी प्रकार उसे लेकर यमलोकके दीर्घ-पथपर प्रस्थान करते हैं॥ २०॥

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥ २१॥

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कषया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके॥ २२॥

यमदूतोंके तिरस्कारपूर्ण वचनोंसे उस व्यक्तिका हृदय विदीर्ण होने लगता है और सारा शरीर काँपने लगता है। रास्तेमें कुत्ते उसे काटते रहते हैं और इस प्रकार यातनाओंसे अत्यन्त पीड़ित होकर वह अपने

पापोंका स्मरण करते हुए चलता रहता है। यमदूत उसे जिस पथसे लेकर जाते हैं, वह तपती बालुसे परिपूर्ण होता है तथा उसमें कोई विश्राम-स्थल अथवा पानी पीनेकी कोई व्यवस्था नहीं होती। उसे भूख प्यास आदि पीड़ित करते रहते हैं, सूर्य एवं दावानलसे सन्तप्त होनेके कारण चलनेमें नितान्त असमर्थ होनेपर भी यमदूत उसकी पीठपर कोड़ोंसे प्रहार करते हैं और उसे अत्यधिक कष्टको झेलते हुए भी चलनेके लिए बाध्य होना पड़ता है॥ २१-२२॥

तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥ २३॥

पथपर चलते समय थकानके कारण उस व्यक्तिके पैर इधर-उधर पड़ते हैं और वह बार-बार मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। पुनः वह चेतनताको प्राप्त करके उठता है और यमदूत उसे पापपूर्ण अन्धकारमय पथसे यमालयमें ले जाते हैं॥ २३॥

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः॥ २४॥
आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा॥ २५॥
जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारं श्वगृध्रैर्यमसादने।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥ २६॥
कृन्तनञ्चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम्।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनञ्चाम्बुगर्तयोः॥ २७॥

जिस पथसे यमालय जाना होता है, उसका परिमाण निन्यानवे सहस्र योजन है। यमदूत किसी-किसी व्यक्तिको तीन अथवा दो मुहूर्त्तमें ही दीर्घ-पथसे पार करा देते हैं। वह पापी जिस समय यम-सदनमें उपस्थित होता है, उस समय वह देखता है कि कहीं जलते हुए अङ्गारोंपर शरीरको रखकर पापियोंकी देहको जलाया जा रहा है। कहीं किसी एक पापीकी देहको कोई दूसरा पापी तथा कहीं कोई पापी अपने माँसको स्वयं ही काट-काटकर उस माँसको खा

रहा है। कहीं यमालयके कुत्ते, गीध आदि किसी पापीकी जीवित अवस्थामें ही उसकी आँतों एवं नाड़ियोंको खींचकर बाहर निकाल रहे हैं। कोई पापी साँप, बिच्छु अथवा डाँस[१] आदि जन्तुओंके डसे जानेसे अतिशय वेदनाका अनुभव कर रहा है। किसी-किसी पापीके अङ्ग-प्रत्यङ्गको खण्ड-खण्ड करके काटा जा रहा है, किसी-किसी पापीको पर्वतके शिखरसे फैंका जा रहा है और किसी पापीको गड्ढे या जलमें डालकर रखा गया है। अन्तमें इस सब दृश्योंको देखनेवाले उस नवागन्तुक पापीको भी इन सब नारकीय यातनाओंको ही भोगना पड़ता है॥ २४-२७॥

यास्तामिस्रान्धतामिस्र-रौरवाद्याश्च यातनाः।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः॥ २८॥

तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि जितनी भी प्रकारकी नरककी यातनाएँ हैं, वे पारस्परिक आसक्तिरूप पाप-संसर्गवशतः ही निर्मित हुई हैं। मृत गृहव्रत व्यक्ति—पुरुष हो या नारी, उन्हें उन सब यातनाओंको भोगनेके लिए बाध्य होना ही पड़ता है॥ २८॥

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्ष्यते।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः॥ २९॥

हे माता! तत्त्वविद् कहते हैं कि यहींपर नरक है और यहींपर ही स्वर्ग है। नरकमें जो सब यातनाएँ भोग करनी पड़ती हैं, वह इस जगत्में भी राजदण्डादिके रूपमें देखी जाती हैं॥ २९॥

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम्॥ ३०॥

इस प्रकारसे व्यक्ति अनेक कष्टोंका भोगता हुआ कुटुम्बके पोषणमें रत रहे अथवा अपने उदर भरणमें ही व्यस्त रहे, मृत्युके बाद उसे अपनी देह और कुटुम्ब दोनोंका ही यहींपर परित्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे यमलोकमें उन समस्त कर्मफलोंको भोगना ही पड़ता है॥ ३०॥

---

[१] एक तरहका बड़ा मच्छर।

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेह स्वं कलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम्॥ ३१॥

प्राणीहिंसाके द्वारा परिपुष्ट स्थूलदेह एवं सञ्चित धन—इन दोनोंका इसी जगत्में परित्याग करके पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह गृहव्रत व्यक्ति अन्धकारपूर्ण घोर नरकको भोगता है॥ ३१॥

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः॥ ३२॥

ऐसे गृहव्रत मनुष्यके द्वारा कुटुम्ब-पोषणके लिए किये गये पापकर्म परकालमें दैवके द्वारा उसे कुफल प्रदान करते हैं, जिसे उसे नरकमें भोगना ही पड़ता है। उस समय वह ऐसा व्याकुल हो जाता है मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो॥ ३२॥

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्॥ ३३॥

जो मनुष्य केवल अधर्मके द्वारा अर्जित धनसे कुटुम्बके भरण-पोषणमें उत्सुक रहता है, वह व्यक्ति नरकोंमें भी चरम कष्टके स्थान अन्धतामिस्र नामक नरकमें जाता है॥ ३३॥

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥ ३४॥

इस प्रकार नरकभोगके बाद कुत्ते, सुअर आदि योनियोंमें जितनी प्रकारकी यातनाएँ हैं, क्रमशः उन सब यातनाओंका भोग करनेके बाद जब उस व्यक्तिके पाप क्षीण हो जाते हैं, तब वह पवित्र होकर पुनः इस नरलोकमें मनुष्य-देहको प्राप्त करता है॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये कर्मविपाको नाम त्रिंशोऽध्यायः॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पाप-पुण्य द्वारा मनुष्य-योनिकी प्राप्तिरूप राजसी गति तथा उसमें गर्भसे लेकर पौगण्ड तक जीवकी यातनाका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जीव भगवान्‌की प्रेरणासे अपने पूर्व कर्मफलके अनुसार देहकी प्राप्तिके लिए पुरुषके वीर्यकणोंका आश्रय लेकर स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है॥ १॥

कललन्त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्‌बुदम्।
दशाहेन तु कर्कन्धुः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥ २॥

यह वीर्यकण गर्भमें पतित होकर एक ही रातमें रजके साथ मिल जाता है। पाँच रातोंमें बुद्‌बुदके आकारमें परिणत हो जाता है, दस दिनोंमें बेरके फलके समान कठोर हो जाता है और उसके बाद माँसरूपी पिण्डाकारको धारण करता है तथा पक्षी आदि योनियोंमें अण्डेके समान आकारको प्राप्त होता है॥ २॥

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥ ३॥

इस प्रकार पहले महीनेमें उसका सिर निकल आता है, दूसरे महीनेमें उसके हाथ-पैर आदि अङ्गोंका विभाग हो जाता है और तीसरे महीनेमें उसके नख, रोम, हड्डियाँ, चर्म, लिङ्ग एवं इन्द्रियोंके सब छिद्र प्रकट हो जाते हैं॥ ३॥

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥ ४॥

चौथे महीनेमें सातों धातु (त्वक्, माँस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र) उत्पन्न हो जाते हैं। पाँचवे महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती है। छठे महीनेमें वह जीव जरायु (झिल्ली) से लिपटा हुआ माताकी कोखमें दायीं ओर घूमने लगता है॥ ४॥

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे॥ ५॥

वह जीव माताके द्वारा खाये हुए अन्न-जल आदिके द्वारा पुष्ट होता रहता है तथा उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसे प्राणियोंके उत्पत्ति स्थान मलमूत्रके गड्ढेमें शयन करते हुए पड़े रहना पड़ता है॥ ५॥

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम्।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥ ६॥

उसी गर्भमें स्थित भूखसे व्याकुल कीड़े उसके सुकोमल देहको पाकर उसके समस्त अङ्गोंको सब समय काटते रहते हैं, जिससे उसे जगह-जगह घाव हो जाते हैं तथा वह अतिशय कष्ट पाकर बार-बार मूर्च्छित हो जाता है॥ ६॥

कटुतीक्ष्णोष्णलवण-क्षाराम्लादिभिरुल्बणैः।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः॥ ७॥

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः।
अकल्यः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे॥ ८॥

गर्भको धारण करनेवाली माता जब अत्यधिक दुःसहनीय कड़वा, तीखा, गर्म, लवण, रुक्ष एवं अम्ल आदि रसोंका भक्षण करती है, उन सबके साथ गर्भस्थ जीवकी देहका स्पर्श होनेपर उसके समस्त अङ्गोंमें बड़ी पीड़ा होती है। वह जीव भीतरमें झिल्लीसे लिपटा और बाहरसे नाड़ियोंके द्वारा विशेष रूपसे आबद्ध होकर पीठ तथा गर्दनको मोड़कर माताकी कोखमें नीचेकी ओर अपने सिरको रखकर उसी अवस्थामें पड़ा रहता है। अतः पिञ्जरेमें रखे हुए पक्षीके समान अपने

अङ्गोंको हिलाने-डुलानेमें असमर्थ होकर वह उसी गर्भमें ही वास करता है॥ ७-८॥

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम्।
स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते॥ ९॥

गर्भमें ही जीवको दैववश अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये कर्मोंकी स्मृति उदित होती है। उस समय वह सैकड़ो जन्मोंके पाप-कर्मोंका स्मरण करके लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ता रहता है, अतएव ऐसी अवस्थामें उसे किस प्रकारसे सुख-शान्ति मिल सकती है?॥ ९॥

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः॥ १०॥

इस प्रकार जब जीवका गर्भवास सातवें महीनेमें पदार्पण करता है, तब उसमें ज्ञानका उदय होता है, किन्तु प्रसव वायुके द्वारा परिचालित होकर उसी उदरमें उत्पन्न विष्ठाके कीड़ोंके समान वह एक स्थानपर स्थिर होकर नहीं रह पाता॥ १०॥

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥ ११॥

तब देहात्मदर्शी (देहको ही आत्मा समझनेवाला) जीव पुनः गर्भवासकी यातनासे भयभीत होकर सप्त धातुओं द्वारा बद्ध अवस्थामें ही हाथ जोड़कर बड़े व्याकुल मनसे उन परमेश्वरकी स्तुति करना आरम्भ कर देता है, जिन्होंने उसे माताके गर्भमें डाला है॥ ११॥

जीव उवाच—

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा॥ १२॥

जीव कहता है—जो इस परिदृश्यमान नश्वर जगत्के पालन करनेकी इच्छासे नाना प्रकारके रूप प्रकट करते हैं, जिन भगवान्ने

मेरे जैसे असत् व्यक्तिके अनुरूप ऐसी गति प्रदान की है, मैं उनके भूतलपर विचरण करनेवाले अभय चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ १२॥

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥ १३॥

मैं माताके पेटमें देहके रूपमें परिणत मायाका आश्रय लेकर अपने पाप-पुण्य कर्मोंसे आवृत-स्वरूप होकर बद्धके समान पड़ा हुआ हूँ तथा भगवान् अन्तर्यामीके रूपमें मेरे साथ इस स्थानपर भी वास कर रहे हैं। मुझमें और भगवान्में विशेष भेद है। भगवान् स्थूल और लिङ्ग देहरूपी उपाधिसे रहित हैं अर्थात् उनमें देह और देहीका कोई भेद नहीं है तथा वे अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। मेरे सन्तप्त हृदयमें उनका यही रूप प्रतिभात हो रहा है। वे ही मेरे शरण्य हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ॥ १३॥

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-
च्छन्नोऽयथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम्॥ १४॥

'मैं' पञ्चभूतोंसे निर्मित इस देहसे आच्छादित होकर वास कर रहा हूँ—ऐसा कहनेसे 'मेरा' बोध हो रहा है, किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है, क्योंकि मेरा नित्यस्वरूप पाञ्चभौतिक देहसे पृथक् है, अतः इन्द्रिय, गुण, विषय और चिदाभासात्मक (मन) होना मेरे लिए असम्भव है। किन्तु भगवान्की महिमा इस शरीरके योगसे कम नहीं होती अर्थात् प्रत्येक जीवके हृदयमें अन्तर्यामीके रूपमें रहनेपर भी उनके अप्राकृत स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता अथवा उनका मायाके साथ कोई स्पर्श नहीं होता। अथवा मायिक जीवके समान उनमें देह और देहीका कभी भी भेद नहीं होता, क्योंकि वे वैकुण्ठ वस्तु हैं। वे प्रकृति एवं पुरुषके नियन्ता और सर्वज्ञ हैं। मैं उन आदि पुरुषकी वन्दना करता हूँ॥ १४॥

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदतिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण॥ १५॥

जिनकी मायासे जीव अपनी पूर्व स्मृतिको भूलकर अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुणों और कर्मोंके बन्धनसे युक्त इस संसार-मार्गमें प्राप्त होनेवाले तरह-तरहके कष्टोंको भोगता हुआ भटकता रहता है, अतः उन परमेश्वरकी कृपाके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे जीव पुनः अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकता है॥ १५॥

ज्ञानं यदेतददधात् कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशम्।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम॥ १६॥

परमेश्वरके अतिरिक्त मुझे भूत, भविष्य और वर्त्तमान रूपी त्रैकालिक ज्ञान देनेमें और कौन समर्थ हो सकता है? उन परमेश्वरका अंश अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें चराचर समस्त पदार्थोंमें विद्यमान है। अतएव कर्मफलस्वरूप बद्धजीवकी पदवीको प्राप्त होकर हम त्रिविध तापोंकी ज्वालाको दूर करनेके लिए उन परमेश्वरका भजन करते हैं॥ १६॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु॥ १७॥

हे भगवन्! मैं रक्त, मल एवं मूत्रसे परिपूर्ण कूपस्वरूप माताके गर्भमें पड़ा हुआ हूँ और उनके जठरानलसे मेरी देह सन्तप्त हो रही है। यहाँसे निकलनेके लिए मैं अपने निर्धारित महीनोंको गिन रहा हूँ तथा सोचता रहता हूँ कि भगवान् कब मुझे इस स्थानसे बाहर निकालेंगे॥ १७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥ १८॥

हे ईश! आपके समान असीम कृपामय प्रभुने जो मात्र दस मासकी अवस्थावाले जीवको ऐसा सुदुर्लभ ज्ञान और पूर्वजन्मादिकी स्मृति दी हैं, हे दीननाथ! आप स्वयं ही अपने ऐसे उपकारसे सन्तुष्ट हों, क्योंकि मात्र हाथ जोड़नेके अतिरिक्त भगवान्‌के द्वारा किये गये उपकारका यथोचित प्रत्युपकार करनेमें कौन समर्थ हो सकता है॥ १८॥

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे।
यत्सृष्टया स तमहं पुरुषं पुराणम्
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम्॥ १९॥

हे भगवन्! सप्त धातुरूप बन्धनमें बद्ध पशु आदि दूसरे जन्तु केवल अपनी देहमें शरीरसे उत्पन्न सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। किन्तु मैं जिनके द्वारा दिये गये विवेक-ज्ञानके बलसे शम-दमादिसे युक्त हुआ हूँ, उन भोक्तास्वरूप अनादि एवं सभी कारणोंके कारण अपरोक्ष रूपमें प्रतीयमान पुरुषोत्तमका अन्दर और बाहरमें दर्शन कर रहा हूँ॥ १९॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत्॥ २०॥

हे प्रभो! मैं बहुत प्रकारके दुःखोंके आलय इस गर्भमें वास करनेपर भी इस स्थानसे बाहर निकलनेकी इच्छा नहीं करता हूँ, क्योंकि बाहर तो इससे भी अधिक घोर अन्धकारमय संसार-कूप विद्यमान है। जो भी व्यक्ति वहाँपर जाते हैं, आपकी माया उन्हें ढक

लेती है। मायाके द्वारा आच्छन्न होकर जीव देह आदिमें 'मैं' बुद्धि करके स्त्री-पुत्रादिके सम्बन्धके कारण इस संसार-चक्रमें परिभ्रमण करता रहता है॥ २०॥

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्ये
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः॥ २१॥

हे भगवन्! अतः मैं इसी स्थानपर अर्थात् गर्भमें ही रहते हुए व्याकुलतासे रहित होकर आप भगवान् श्रीविष्णुके चरणयुगलोंको हृदयमें धारण करके सारथी रूपिणी बुद्धिकी सहायतासे इस संसारसे अतिशीघ्र अपना उद्धार कर लूँगा, जिससे मुझे पुनः नाना प्रकारके गर्भवासरूप दुःखोंको और भोगना न पड़े॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्य स्तुवन्नृषिः।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः॥ २२॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! इस प्रकार दस महीनेका गर्भस्थ जीव जब ऐसे विवेकसे सम्पन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करता है, तब प्रसवकी कारणस्वरूप वायु उसी क्षण उस अधोमुख शिशुको भूमिष्ठ अर्थात् गर्भसे बाहर आनेके लिए धकेल देती है॥ २२॥

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्शिर आतुरः।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥ २३॥

उसी प्रसवकालीन वायुके द्वारा धकेले जानेपर वह जीव अत्यन्त व्याकुल होकर नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वासकी गति अवरुद्ध हो जाती है और उसकी स्मरण शक्ति विलुप्त हो जाती है॥ २३॥

पतितो भुव्यसृङ्मिश्रो विष्ठाभूरिव चेष्टते।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः॥ २४॥

अनन्तर वह जीव माताके गर्भसे रक्तसे सने कलेवरसे भूमिपर गिरकर (गर्भसे बाहर निकलकर) विष्ठाके कीड़ेके समान अपने अङ्गोंका हिलाता-डुलाता है। उस समय विपरीत दशा अर्थात् देहाभिमानरूप अविद्यासे आवृत होनेसे उसका गर्भवासका समस्त ज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे वह पुनः-पुनः उच्च स्वरसे रोने लगता है॥ २४॥

परच्छन्दमविदुषा पुष्यमाणो जनेन सः।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः॥ २५॥

इसके बाद जो लोग उसके अभिप्रायको नहीं समझ पाते, ऐसे अज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा उस नव-प्रसूत-शिशुका पालन-पोषण होता है। अतः वह पालन करनेवाले व्यक्ति बालकके रोनेके कारणको जाननेमें असमर्थ होकर उसके रोनेपर उसे उसके द्वारा न चाही गयी वस्तु प्रदान कर देते हैं। (अर्थात् जब वह भूखसे रोता है, तब उसकी भावनाको न समझकर वे उसे पेट दर्द आदिकी औषधि देते हैं तथा जब वह पेट दर्द आदिके कारण रोता है, तो उसे दूध पिलाते हैं।) इस प्रकार शिशुको जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, वह उसका निषेध करनेमें भी समर्थ नहीं हो पाता॥ २५॥

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने॥ २६॥

शिशुके पालक उस शिशुको मल-मूत्रादिसे अपवित्र शय्यापर सुलाकर रखते हैं। उस शय्यामें पसीनेसे उत्पन्न खटमल आदि चिपके रहते हैं तथा वे उस शिशुके शरीरको काटते रहते हैं। उस समय वह शिशु अपने शरीरको खुजलाने, शय्यादिसे उठने अथवा करवट बदलनेकी चेष्टा भी नहीं कर पाता है॥ २६॥

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा॥ २७॥

बड़े-बड़े कीड़े जिस प्रकार छोटे-छोटे कीड़ोंको डँसते है, उसी प्रकार डाँस, मच्छर और खटमल आदि शिशुके कोमल-शरीरको पाकर उसे डँसते रहते हैं। उस समय शिशुका गर्भमें उदित ज्ञान नष्ट

हो चुका होता है और वह प्रतिकारका कोई उपाय करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल पीड़ा अनुभव करते हुए रोता रहता है॥ २७॥

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः॥ २८॥

सह देहेन मानेन वर्द्धमानेन मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः॥ २९॥

इस प्रकार जन्मसे लेकर पाँचवें वर्ष तक पूर्वोक्त क्लेशोंका भोग करनेके बाद पौगण्ड अवस्थामें जीव अध्ययन आदिके दुःखका अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब वह यौवन अवस्थामें पहुँचता है, तब अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त न कर पानेके कारण अज्ञानतावश क्रोधसे जलने लगता है और शोकसे अभिभूत हो जाता है। शरीरकी वृद्धिके साथ-साथ उसका देहात्माभिमान भी बढ़ता जाता है। कामकी पूर्ति न होनेपर जिस क्रोधकी उत्पत्ति होती है, तब वह कामी जीव उस क्रोधसे अभिभूत होकर अपने ही विनाशके लिए दूसरे कामीजनोंके साथ वैर ठान लेता है॥ २८-२९॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहं-ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्॥ ३०॥

मूढ़ और मन्दबुद्धि वह जीव पञ्चभूतोंसे निर्मित इस देहमें पुनः-पुनः 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि कर लेता है अर्थात् वह अनित्य वस्तुको ही ग्रहण करता है, किन्तु सत्य अर्थात् नित्य वस्तुको नहीं॥ ३०॥

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत् क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः॥ ३१॥

जो देह अविद्या और कर्मोंके द्वारा जीवके बन्धनका कारण बनकर जीवको क्लेश प्रदान करती हुई जन्म-जन्म तक जीवका पीछा करती है, मूढ़ देही पुनः उसी देहके लिए ही नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ कर्मोंके द्वारा ही बद्ध होकर पुनः-पुनः संसार-चक्रमें भ्रमण करता रहता है॥ ३१॥

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥ ३२॥

सत्पथपर रहते हुए भी जीव यदि उदर और उपस्थ वृत्तिको चरितार्थ करनेमें ही व्यस्त होकर असाधु व्यक्तियोंका सङ्ग करता है तथा उन्हींके द्वारा दिखलाये गये मार्गपर ही चलता है, तो इसके फलस्वरूप वह पहलेकी भाँति नरकमें प्रवेश करता है॥ ३२॥

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥ ३३॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥ ३४॥

सत्य, शौच (बाहरी एवं भीतरी पवित्रता), दया, मौन (वाणीका संयम), परम-पुरुषार्थ विषयिनी मति, लज्जा, धन-धान्य लक्षणयुक्त सम्पत्ति अथवा हरिसेवामयी शोभा, कीर्त्ति, क्षमा, बाह्य इन्द्रियों और अन्तर मनका निग्रह, चित्तका प्रशान्त भाव, उन्नति आदि सद्‌गुण असत् जनोंके संसर्गसे पूर्ण रूपसे क्षय हो जाते हैं। अतः अपने परम कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको अशान्त, देहमें आत्म-बुद्धिसे युक्त, क्रीड़ामृगके[१] समान कामिनियोंके वशीभूत, मूढ़ और अत्यन्त शोचनीय असाधु व्यक्तियोंका सङ्ग कभी भी नहीं करना चाहिये॥ ३३-३४॥

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्‌यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३५॥

स्त्री और स्त्री-सङ्गी व्यक्तिके संसर्गसे जीवोंको जैसा मोह और बन्धन होता है, वैसा और किसी वस्तुके संसर्गसे नहीं होता॥ ३५॥

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृष्यरूपी हतत्रपः॥ ३६॥

देखिये, स्वयं प्रजापति ब्रह्मा भी अपनी दुहिता (कन्या) को देखकर उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो गये थे। यहाँ तक कि जब

---

[१] खेलने, मन बहलानेके लिए पाला हुआ हिरण।

उस कन्याने उनके भयसे मृगीका रूप धारण कर लिया, तब भी वे अपनी उस कन्याके पीछे-पीछे मृगरूप धारण करके निर्लज्जके समान दौड़ पड़े थे॥ ३६॥

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥ ३७॥

अतः कामिनीके रूप मात्रको देखकर जब ब्रह्माजीमें भी मोह उपस्थित हो जाता है, तब उनके ही द्वारा सृष्ट मरीचि आदि ऋषियों और उन मरीचि आदिके द्वारा सृष्ट कश्यप आदि तथा कश्यप आदिके द्वारा सृष्ट देव-मनुष्यादि किस प्रकार स्त्री और स्त्री-सङ्गीके संसर्गसे अविचलित हुए बिना रह सकते हैं? एकमात्र नारायण ऋषिके अतिरिक्त क्या ऐसा कोई पुरुष है, जो स्त्री-रूपिणी मायासे विमुग्ध न होकर अविचल रह सके?॥ ३७॥

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥ ३८॥

हे माता! मेरी स्त्री-रूपिणी-मायाके प्रभावको तो देखो! यह स्त्री-रूपिणी माया एकमात्र अपनी भ्रू-भङ्गिमासे ही दिग्विजयी वीरों तक को भी अपने पैरोंमें झुकवा लेती है॥ ३८॥

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
सत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥ ३९॥

जो योगके परम-फलको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें कभी भी स्त्रियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये, क्योंकि योगीगणोंके अनुसार स्त्रियाँ आत्म-अनात्मका विवेक रखनेवाले मुमुक्षओंके लिए नरकका द्वार-स्वरूप हैं॥ ३९॥

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामिक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥ ४०॥

दैव-द्वारा निर्मित स्त्री-रूपिणी माया सेवा-शुश्रूषाके छलसे धीरे-धीरे पुरुषके समीप जाती है, किन्तु बुद्धिमान पुरुष तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान उसे अपनी मृत्युके रूपमें ही देखते हैं॥ ४०॥

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम्।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम्॥ ४१॥

स्त्री-सङ्गके कारण अन्तकालमें जीव स्त्रीके ध्यानके द्वारा स्त्री-जन्म प्राप्त करता है और तब वह पुरुषके समान आचरण करनेवाली मेरी स्त्रीरूपी मायाको मोहवशतः धन, पुत्र एवं गृह आदिको प्रदान करनेवाला पति मान बैठता है॥ ४१॥

तामात्मनो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम्।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा॥ ४२॥

जिस प्रकार व्याधका कर्णप्रिय गान मृगके लिए उसकी मृत्युका कारण बनता है, उसी प्रकार पति, पुत्र और गृह स्वरूप मायाके आपाततः अनुकूल प्रतीत होनेपर भी स्त्री-देहधारी जीव यदि बुद्धिमान हो, तब वह उन सबको निश्चित ही दैव-प्रेरित मृत्युके रूपमें ही जाने॥ ४२॥

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥ ४३॥

जीव अपने उपाधि-स्वरूप लिङ्गशरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, किन्तु फिर भी वह दूसरी देहोंकी प्राप्तिके कारणस्वरूप उन कर्मोंमें ही लगा रहता है॥ ४३॥

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रिय-मनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः॥ ४४॥

जीवका उपाधि-स्वरूप लिङ्गदेह आत्माका अनुगामी है तथा स्थूल भूतादिके विकाररूप स्थूलदेह उसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही जीवकी 'मृत्यु' है और दोनोंका एकत्रित होकर प्रकट होना ही 'जन्म' कहलाता है॥ ४४॥

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहम्मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः॥ ४५॥

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह॥ ४६॥

जिस प्रकार चक्षुके दोनों गोलक पीलिया रोगादिके कारण वस्तुओंके रूप-दर्शनमें असमर्थ हो जाते हैं, तब द्रष्टा जीव भी उन वस्तुओंको देखनेमें असमर्थ हो जाता है (इसका कारण है कि स्थूलदेहकी असमर्थतासे लिङ्गदेहकी भी असमर्थता उपस्थित होती है)। ठीक उसी प्रकार जब वस्तुओंकी उपलब्धिका स्थानस्वरूप स्थूलशरीर वस्तुओंकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ हो जाता है, तब उसीको 'मरण' अवस्था कहा जाता है तथा जब स्थूलशरीरमें अहंबुद्धिसे वस्तुओंकी उपलब्धि होती है, तो इसीको 'जन्म' कहा जाता है।

अतः जब स्वरूपतः जीवका जन्म-मरण ही नहीं है, तब मृत्युके लिए भय, शोक या फिर जीवन रक्षाके लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति जीवके ऐसे परिणामकी विवेचना करके असत्सङ्गसे रहित होकर इस संसारमें विचरण करे॥ ४५-४६॥

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम्॥ ४७॥

मुक्तसङ्ग पुरुष भलीभाँति विचार करनेवाली तथा योग-वैराग्यसे युक्त बुद्धिके बलपर माया द्वारा विरचित इस संसार एवं देहके प्रति आसक्ति त्याग करके विचरण करे॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये जीवगतिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

सकाम कर्मियोंकी पुनरावृत्ति, निष्काम कर्मियोंकी अनावृत्ति तथा अभक्तोंकी निन्दा

श्रीभगवानुवाच—

अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थञ्च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्॥ १॥

स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः॥ २॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जो गृहव्रत व्यक्ति घरमें ही रहकर गृहमेधीय धर्मोंका पालन करते हुए उनसे धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गका दोहन करके बार-बार उनकी पूर्तिकी कामनासे उन्हींका ही अनुष्ठान करता रहता है, वह व्यक्ति भगवान्के आराधनारूपी आत्मधर्मसे विमुख हो जाता है। कामनाओं द्वारा विमूढ़ वह व्यक्ति कर्मोंके प्रति ही परम श्रद्धा रखकर विविध यज्ञोंके द्वारा प्राकृत देवताओं एवं पितरोंकी अर्चना करता है॥ १-२॥

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥ ३॥

देवताओं और पितरोंके प्रति श्रद्धा होनेके कारण गृहव्रत व्यक्तिकी बुद्धि उन्हींमें लगी रहती है, जिससे वह पितरों और देवताओंके उद्देश्यसे व्रत धारण किया करता है। इसके फलस्वरूप वह कभी-कभी चन्द्रलोक पहुँचकर सोमरसका पान करता है, किन्तु कुछ समय बाद पुनः उस स्थानसे उसका अधःपतन हो जाता है॥ ३॥

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम्॥ ४॥

जब भगवान् श्रीहरि अनन्त-शय्यापर शयन करते हैं, उस समय गृहमेधियोंको प्राप्त होनेवाले इन समस्त लोकोंका लय हो जाता हैं। अतः उन-उन स्थानोंको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंका भी पतन हो जाता है॥ ४॥

ये स्वधर्मं न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥ ५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।
स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा॥ ६॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्॥ ७॥

जो बुद्धिमान व्यक्ति काम और अर्थकी प्राप्तिके लिए अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार उचित धर्मका पालन न कर आत्म-धर्मलब्ध सत्त्वगुण तथा परिशुद्ध चित्तके द्वारा ईश्वरमें कर्म समर्पितकर अनासक्त, प्रशान्त, निवृत्ति-धर्म-परायण, बाह्यविषयोंमें ममताशून्य तथा निरहङ्कार होकर अवस्थान करते हैं, वे सूर्यरश्मिद्वार (अर्चिमार्ग) के माध्यमसे सर्वव्यापी परमेश्वर तथा प्रकृतिके उपादान एवं निमित्त कारण-स्वरूप पुरुषावतारको प्राप्त होते हैं॥ ५-७॥

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः॥ ८॥

जो परमेश्वरबुद्धिसे हिरण्यगर्भ विराट् पुरुषका ध्यान करते हैं, वे द्विपरार्द्ध काल अर्थात् ब्रह्माजीके प्रलय होने तक सत्यलोकमें ही वास करते हैं॥ ८॥

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः॥ ९॥

जिस समय ब्रह्माजी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय एवं शब्दादि तन्मात्रा तथा अहङ्कारादि द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्डका

द्विपरार्ध कालतक भोग करनेके उपरान्त उसका संहार करनेकी अभिलाषा करते हैं, उस समय वे त्रिगुणात्मक स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकृतिके अन्तर्यामी परमेश्वरमें प्रवेश करते हैं॥ ९॥

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः॥ १०॥

जिन्होंने श्वास एवं प्राणोंको जीत लिया है, वे विरक्त योगी पुरुष इस प्रकार दूरमें जाकर अर्थात् ब्रह्मलोकमें देहका परित्याग करके हिरण्यगर्भमें अनुप्रविष्ट होते हैं। वे 'ब्रह्माके उपासक' के अभिमानसे युक्त होकर ब्रह्माजीके साथ ही परमानन्द-स्वरूप, पुराण-पुरुष, उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं। ऐसे अभिमानके कारण ही उनका परमेश्वरमें आत्यन्तिक लय नहीं होता, किन्तु प्राकृतिक लय होता है, अतएव जगत्की सृष्टिके समय उनकी भी सृष्टि होती है॥ १०॥

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भाविनि॥ ११॥

(भगवान्के उपासक क्रममुक्तिको प्राप्त नहीं करके साक्षात् रूपसे भगवान्को ही प्राप्त करते हैं।) अतएव हे भक्तिमती! आप साक्षात् भगवत्-स्वरूपका ही भजन कीजिये। भगवान् समस्त प्राणियोंके हृदयरूप कमलमें अपना आवास-स्थान विरचितकर वहाँ नित्य अवस्थित रहते हैं। आप वेदोंके द्वारा जाने जा सकनेवाले उन्हीं भगवान्की प्रेम-लक्षण युक्त भक्तियोगसे शरण ग्रहण कीजिये॥ ११॥

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः॥ १२॥

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा।
कर्तृत्वात् सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम्॥ १३॥

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते॥ १४॥

जो वेदगर्भ ब्रह्माजी स्थावर-जङ्गमके आदिस्रष्टा हैं, वे ब्रह्मा तक भी मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, योग-सिद्धों तथा सनत्कुमारादि ऋषियोंके साथ निष्काम कर्मोंके द्वारा गुणाधिष्ठाता प्रथम अवतार-पुरुषको प्राप्त करके भी भगवान्में मायासे युक्त ब्रह्मत्वकी बुद्धि एवं भगवान्के नित्यस्वरूप श्रीविग्रहको मायिक वस्तुओंका ही एक भेद मान लेते हैं। इस कारणसे अर्थात् अप्राकृत रूपमें प्राकृत अभिमान करनेके कारण ईश्वरकी मूर्त्तिरूस्वरूप कालके प्रभावसे सृष्टिके प्रारम्भमें प्रकृतिके तीनों गुणोंमें क्षोभ होनेपर वे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति पुनः जन्म-ग्रहण करते हैं॥ १२-१४॥

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यञ्च तेऽपि कर्मविनिर्मितम्।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति॥ १५॥

हे माता! इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मोंके फलानुसार ऐश्वर्य, ब्रह्मलोकमें वास आदि यथोचित भोगोंका भोग करके गुणोंके क्षोभका समय उपस्थित होनेपर अपने-अपने अधिकारके अनुसार पुनः लौट आते हैं॥ १५॥

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः॥ १६॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।
पितृन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः॥ १७॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः॥ १८॥

जो संसारमें आसक्त चित्त होकर अत्यन्त श्रद्धाके साथ बहुत प्रकारके प्राकृत काम्य और वेदोक्त नित्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, जिनका मन रजोगुणकी अधिकताके कारण विक्षिप्त-सा रहता है, जो नाना प्रकारकी कामनाएँ ही करते रहते हैं तथा जो इन्द्रियोंमें आसक्त और गृहमेधीके कार्योंमें निरत होकर नित्य-निरन्तर पितरोंकी आराधना करते हैं—ऐसे लोग संसार-बन्धनका नाश करनेवाले मधुसूदन भगवान् श्रीहरिके एकमात्र कीर्त्तन योग्य महत्-विक्रम सम्पन्न गुण-कीर्त्तनसे

विमुख होकर केवल धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गके साधनमें ही व्यस्त रहते हैं॥ १६-१८॥

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥ १९॥

हाय! ऐसे लोग तो बड़े ही भाग्यहीन और दैव द्वारा प्रताड़ित हैं। जिस प्रकार विष्ठाभोजी शूकर दूध एवं खाँडका परित्याग करके विष्ठाको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये भी श्रीकृष्णके हरिकथारूपी अमृतका परित्याग करके असत्-विषय-वार्त्ताओंका ही श्रवण करते हैं॥ १९॥

दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः॥ २०॥

गर्भाधानसे लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि) तक समस्त क्रियाओंको यथाविधि करनेवाले ऐसे गृहव्रत व्यक्ति सूर्यके दक्षिणायन पथ द्वारा पितृलोकमें जाते हैं और फिर वहाँसे भ्रष्ट होकर अपने-अपने पुत्र-पौत्रादिके वंशमें जन्म-ग्रहण करते हैं॥ २०॥

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं प्रति।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥ २१॥

(किसलिए वे पुत्र-पौत्र आदिके वंशमें जन्म-ग्रहण करते हैं? इसीके लिए कह रहे हैं—)उनकी नश्वर कर्ममयी सुकृतियोंके क्षीण हो जानेपर वे दैववशतः उन लोकोंके भोगोंसे वञ्चित हो जाते हैं तथा विवश होकर पुनः इसी मर्त्त्यलोकमें पतित होते हैं॥ २१॥

तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्॥ २२॥

अतएव हे मातः! आप भगवान्के गुणोंका आश्रय करनेवाले 'भक्तियोग' के द्वारा अतिशय प्रीतिके साथ परमेश्वरकी आराधना कीजिये। भगवान्के श्रीचरणकमल ही समस्त जीवोंके लिए एकमात्र भजनीय वस्तु हैं॥ २२॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेमभक्तिको उदित करानेवाले (साधन) भक्तियोगके अनुष्ठित होनेपर शीघ्र ही कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य एवं निर्मल ज्ञान उदित होता है। जीवको ज्ञान और वैराग्यके लिए स्वतन्त्र रूपमें चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती तथा उस निर्मल ज्ञानसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है॥ २३॥

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत॥ २४॥

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते॥ २५॥

जब उस भक्तका चित्त श्रीभगवान्के गुणोंमें ही अनुरक्त होकर निश्चल हो जाता है तथा इन्द्रिय-वृत्तिके द्वारा वह किसी वस्तुको प्रिय और किसीको अप्रिय जाननेरूपी विषमताको धारण नहीं करता, तभी वह भक्त विशुद्ध बुद्धिके द्वारा स्वप्रकाश, सङ्ग-रहित, जड़ीय हेय और उपादेय—दोनों भावोंसे वर्जित और सर्वत्र समदर्शी हो जाता है तथा 'मैं परमानन्द स्वरूप हूँ'—इस प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्माका दर्शन करता है॥ २४-२५॥

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥ २६॥

अद्वयज्ञानस्वरूप चित्-विग्रह भगवान्को दृश्य, द्रष्टा तथा करणके भेदसे ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष और परमेश्वर इत्यादि बहुत-से नामोंसे पुकारा जाता है अर्थात् ज्ञानयोगके द्वारा वे असम्यक् प्रतीति ब्रह्म रूपमें, अष्टाङ्गयोगके द्वारा आंशिक प्रतीति परमात्मा रूपमें तथा शुद्धभक्तिके द्वारा सम्यक्प्रतीति स्वयं-भगवान्के रूपमें दृष्ट होते हैं॥ २६॥

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥ २७॥

भक्ति ही सर्वत्र जीवोंके चरम प्रयोजनका मूल-स्वरूप है, किन्तु सभी प्रकारके योगों अर्थात् कर्म, ज्ञान और अष्टाङ्गादि योगके द्वारा प्रपञ्च-सङ्गसे उदासीनता मात्र ही प्राप्त होती है॥ २७॥

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मणा॥ २८॥

अद्वयज्ञानस्वरूप निर्गुण परब्रह्म ही बहिर्मुख इन्द्रियोंके द्वारा जीवके द्वितीय अभिनिवेशके कारण इन्द्रियग्राह्य शब्द, स्पर्शादिके रूपमें प्रतीत होते हैं॥ २८॥

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत् पञ्चविधः स्वराट्।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद् यतः॥ २९॥

जिस प्रकार एकमात्र महत्-तत्त्व ही त्रिगुणात्मक—वैकारिक, राजस और तामस अहङ्कारके रूपमें, फिर पञ्चभूतोंके रूपमें, फिर एकादश इन्द्रियोंके रूपमें, फिर समष्टि-व्यष्टि-विराट रूपमें, फिर जीवोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीरके रूपमें, फिर ब्रह्माण्डके रूपमें और फिर मायिक जगत्के रूपमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार एक अद्वय ब्रह्मकी चित्-शक्तिके परिणामसे चित्-जगत्, तटस्थाशक्तिके परिणामसे जैव-जगत् और बहिरङ्गाशक्तिके परिणामसे मायिक जगत् प्रकाशित हुए हैं—वस्तुतः सभी ब्रह्मात्मक हैं॥ २९॥

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति॥ ३०॥

हे माता! जो श्रद्धा, भक्ति एवं योगानुष्ठानके द्वारा सर्वदा स्थिर-चित्त, असत्-सङ्गसे रहित और संसारकी आसक्तिसे शून्य हो गये हैं, केवल वही इस जगत्को ब्रह्मात्मक रूपमें दर्शन कर सकते हैं॥ ३०॥

इत्येतत् कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम्।
येनावबुध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ३१॥

हे पूज्ये! मैंने आपको ब्रह्म-दर्शनके द्वारस्वरूप जिस ज्ञान-साधनके विषयमें बतलाया है, उस ज्ञानके द्वारा प्रकृति एवं पुरुष (जीव) का यथार्थ तत्त्व जाना जा सकता है॥ ३१॥

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एकार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥ ३२॥

निर्गुण अर्थात् कैवल्य आदिकी वाञ्छासे रहित शुद्ध ज्ञानयोग एवं मुझमें निष्ठायुक्त भक्तियोग—दोनोंका एक ही प्रयोजन है अर्थात् ये दोनों ही 'भगवत्' शब्द द्वारा ज्ञापक वस्तुको प्राप्त करानेमें समर्थ हैं॥ ३२॥

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ ३३॥

जिस प्रकार रूप-रस आदि बहुत-से गुणोंके आश्रय स्वरूप दूध आदि द्रव्य एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न योग्यतासे युक्त इन्द्रियों द्वारा नाना रूपमें प्रतीत होते हैं (जैसे दूध नेत्रों द्वारा सफेद, स्पर्शेन्द्रिय द्वारा शीतल एवं जिह्वाके द्वारा मधुर अनुभूत होता है), उसी प्रकार एक अद्वयवस्तु भगवान् ही शास्त्रोंके विभिन्न मार्गोंके द्वारा विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥ ३३॥

क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम्॥ ३४॥

योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्॥ ३५॥

आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक्॥ ३६॥

कूप खनन आदि पवित्र कर्म, यज्ञ और दानादि गृहस्थके धर्म हैं; तपस्यादि वानप्रस्थके धर्म हैं; वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन और मीमांसा अथवा शास्त्र-विचार आदि ब्रह्मचारीके धर्म हैं तथा मन एवं इन्द्रियोंका जय करना आदि संन्यासीके धर्म हैं। कर्मोंका त्याग, विविध

अङ्गोंसे सम्पन्न राजयोग, भगवद्भक्तियोग, प्रेम एवं ब्रह्मानुभव, भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यान्य विषयोंसे एकनिष्ठ वैराग्य—इन प्रवृत्तिपरक और निवृत्ति लक्षणात्मक भगवत्-धर्मोंके द्वारा भगवान् सगुण, निर्गुण तथा स्व-स्वरूपमें अनुभूत होते हैं (अर्थात् यज्ञ और दान आदि प्रवृत्ति मार्ग द्वारा सगुण-स्वर्ग आदिके रूपमें, संन्यास आदि निवृत्ति मार्ग द्वारा निर्गुण ब्रह्म-परमात्मा आदिके रूपमें तथा भगवत्-भक्तियोगके द्वारा भगवान् स्वप्रकाश, स्वराट्, नित्य स्व-स्वरूपमें दृष्ट होते हैं। अतएव भक्तियोग ही सर्वश्रेष्ठ और नित्य परिपूर्ण वस्तु प्रदान करनेमें समर्थ है)॥ ३४-३६ ॥

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु॥ ३७॥

हे माता! मैंने आपको त्रिगुण और निर्गुणके भेदसे चार प्रकारके भक्तियोगके लक्षण तथा प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं प्रलय आदिके कारणस्वरूप अव्यक्तगति कालके भी लक्षण बतलाये हैं॥ ३७॥

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥ ३८॥

हे माता! जिस अविद्याके कारण किये गये कर्मों द्वारा निर्मित बहुत प्रकारके संसाररूपी बन्धनोंमें प्रविष्ट होनेपर जीव आत्मगति अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो पाते, उस संसार-गतिके विषयका भी मैंने वर्णन किया है॥ ३८॥

नैतत् खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित्।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च॥ ३९॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि॥ ४०॥

हे माता! मैंने जो आपको आत्मतत्त्व विषयक इस ज्ञानका उपदेश दिया है, उसे दूसरोंको उद्वेग देनेवाले, अविनीत, अत्यधिक अभिमानी, दुराचारी, धर्मध्वजी, विषय भोगोंको अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करनेके

लिए अत्यन्त लोभी, पुत्र, पत्नी और धनमें अत्यन्त आसक्त, अभक्त और मेरे भक्तोंके द्वेषी व्यक्तियोंको कभी भी नहीं बतलाना चाहिये॥ ३९-४०॥

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च॥ ४१॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयते।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः॥ ४२॥

परन्तु जो व्यक्ति श्रद्धावान्, भक्त, विनीत, शिष्टाचाररूपी मर्यादासे युक्त, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित, समस्त प्राणियोंके प्रति दयासे युक्त, (गुरु) सेवामें रत, बाह्य विषयोंमें आसक्तिशून्य, शान्तचित्त, निर्मत्सर, बाहरी एवं भीतरी रूपमें पवित्र तथा मुझे समस्त प्रियवस्तुओंसे भी अधिक प्रियतर मानते हैं, ऐसे योग्य अधिकारी व्यक्तियोंको ही इसका उपदेश करना चाहिये॥ ४१-४२॥

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत्।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीञ्च मे॥ ४३॥

हे माता! जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ एकबार भी इसका श्रवण करते हैं अथवा जो मुझमें एकनिष्ठचित्त होकर इसका कीर्त्तन करते हैं, वे निश्चय ही मेरी पदवी अर्थात् मेरे धामको प्राप्त होते हैं॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये कर्मविपाको नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

त्रयोस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकपिलदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेसे माता देवहूतिको भगवान्‌की प्राप्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! भगवान् कपिलदेवके इन सब वचनोंको सुनकर उनकी माता कर्दम ऋषिकी पत्नी देवहूतिका मोहरूपी आवरण दूर हो गया। उन्होंने सांख्य-ज्ञानके प्रवर्त्तक श्रीकपिलदेवको प्रणाम किया और उनकी स्तुति करते हुए कहने लगीं॥ १॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः॥ २॥

माता देवहूतिने कहा—हे देव! आपका यह व्यक्त (गर्भोदकशायी रूप) देह पञ्चभूत, इन्द्रिय, शब्द, आत्मा और मन—इन सबके द्वारा परिव्याप्त है, यह अनन्त कार्य-कारणोंका बीज-स्वरूप है एवं इसमें समस्त प्रकारके गुणोंका प्रवाह वर्त्तमान है। ब्रह्माजीने आपके नाभि-कमलसे उत्पन्न होकर कारणजलमें शयनकारी आपके इस तनुका ही चिन्तन किया था, किन्तु वे इसका दर्शन नहीं कर पाये थे॥ २॥

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।

सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः　　॥ ३ ॥

आप स्वयं निष्क्रिय होकर भी गुण-प्रवाह रूपमें अपनी शक्तिका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश-साधनरूप तीन प्रकारके कार्योंका सम्पादन करते हैं। आप ही जीवोंके ईश्वर (भोक्ता) हैं एवं आपकी अनन्त शक्ति तर्कसे परे है॥ ३॥

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत्।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः॥ ४॥

हे प्रभो! प्रलय कालमें यह परिदृश्यमान विश्व आपके उदरमें अवस्थित था। अहो! मैंने आपको किस प्रकार गर्भमें धारण किया था! आपने प्रलय-कालमें भी अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे शिशुरूप धारण करके अपने पैरका अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्तेपर 'शयन' किया था॥ ४॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजाञ्च विभो विभूतये।
यथावतारास्तव शूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये　　॥ ५॥

हे विभो! आपने पापात्माओंके दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंकी समृद्धि और शुद्ध ज्ञानमार्गके प्रदर्शनके लिए वराह आदि अन्यान्य अवतारोंके समान कृपापूर्वक इस चिदानन्द तनुको स्वीकार किया है॥ ५॥

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥ ६॥

हे भगवन्! कुक्कुरभोजी अन्त्यज कुलमें उत्पन्न चण्डाल व्यक्ति भी यदि आपके नामोंका श्रवण करनेके बाद उन नामोंका कीर्त्तन, आपको प्रणाम तथा आपका स्मरण करता है, तो वह भी उसी समय सोमयज्ञका अधिकारी हो जाता है और जो आपका दर्शन प्राप्त करते हैं, उनका तो फिर कहना ही क्या?॥ ६॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥ ७॥

(अथवा सोमयज्ञके अधिकारी ब्राह्मणसे भी जिस किसी कुलमें उत्पन्न श्रीनाम उच्चारणकारी व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ है।) अहो! नाम-ग्रहणकारी व्यक्तियोंकी श्रेष्ठताके विषयमें और क्या कहूँ? जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें एक बार भी आपका नाम उच्चारित होता है, वह इस नामोच्चारणके कारण ही चण्डालके घरमें उत्पन्न होनेपर भी पूज्यतम है। उनकी व्यवहारिक ब्राह्मणता तो पूर्वसिद्ध है, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व जन्मोंमें ही व्यवहारिक ब्राह्मणोंके समस्त अधिकारोचित कृत्य अर्थात् समस्त प्रकारकी तपस्या, सब प्रकारके यज्ञ, सभी तीर्थोंमें स्नान, सभी वेदोंका अध्ययन और सदाचार समापन करके इस वर्तमान जन्ममें नाम ग्रहण कर रहे हैं॥ ७॥

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥ ८॥

आप परब्रह्म परमपुरुष हैं। एक मात्र विषयोंसे हटाये हुए चित्तमें ही आपका सम्यक् ध्यान सम्भव है। आप अपने प्रभावके द्वारा ही गुण-प्रवाहको क्षोभरहित कर देते हैं। प्रलयकालमें आपके ही उदरमें वेद अवस्थित थे। अतएव कपिल रूपमें अवतीर्ण उन श्रीविष्णुके आवेशावतार आपकी मैं वन्दना करती हूँ॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान्।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः॥ ९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माता देवहूतिने जब इस प्रकारसे श्रीकपिलदेवकी स्तुति की, तब मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिल गम्भीर वाणीसे माताको इस प्रकार कहने लगे॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि॥ १०॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! मैंने आपको जो सब उपदेश प्रदान किये हैं, वह आपके लिए सुगम हैं। इनका अनुष्ठान करनेसे आप शीघ्र ही जीवन्मुक्ति (प्रेमसिद्धि) प्राप्त कर सकेंगी॥ १०॥

श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः।
येन मामभयं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः॥ ११॥

ब्रह्मवेत्ता महापुरुषगण इसी मतका अनुगमन करते हैं, अतः आप भी इस मतमें अपनी श्रद्धा स्थापित कीजिये। इसके द्वारा आप अभयस्वरूप मुझे प्राप्त कर सकेंगी। जो मेरे इस भक्तियोगके विषयसे अनभिज्ञ हैं, वे ही मृत्युके कवलमें पतित होते हैं॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रदर्श्य भगवानुशतीमात्मनो गतिम्।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ॥ १२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार भगवान् श्रीकपिलदेवने श्रेष्ठ आत्मगतिका मार्ग दिखलाकर ब्रह्मवादिनी (आत्मतत्त्वज्ञा) अपनी माताकी अनुमति लेकर वहाँसे प्रस्थान किया॥ १२॥

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक्।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता॥ १३॥

माता देवहूतिने भी पुत्रके द्वारा उपदेश दिये गये भक्तियोगका

अनुष्ठान करते हुए सरस्वती नदीके पुष्प-मुकुट तुल्य उस आश्रममें समाधिका साधन करना आरम्भ कर दिया॥ १३॥

अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान्।
आत्मानञ्चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम्॥ १४॥

तीनों सन्ध्याओंमें स्नान करनेके कारण उनके घुँघराले केशकलाप पीले-पीले वर्णकी जटाओंमें परिणत हो गये। चीर-वस्त्र धारण करके उन्होंने कठोर तपस्यामें निमग्न होकर अपने शरीरको अत्यन्त दुर्बल बना दिया॥ १४॥

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम्।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि॥ १५॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च॥ १६॥

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसेयुताः॥ १७॥

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम्॥ १८॥

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम्॥ १९॥

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम्।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा॥ २०॥

प्रजापति कर्दमका गृहस्थाश्रम तपस्या एवं योगके द्वारा अतिशय उज्ज्वल हो उठा था, अतः अब उनका गृहस्थधर्म देवताओंके लिए भी प्रार्थनीय हो गया था। वह गृहस्थाश्रम दुग्ध-फेनके समान शय्या, अतिशय स्पर्श-सुख प्रदान करनेवाले पलङ्क, स्वर्णमय आसन, स्वर्ण परिच्छदसे विभूषित तथा हाथी दाँतके बने पलङ्कोंसे सुशोभित था। महामूल्यवान मरकत मणि और स्वच्छ स्फटिक द्वारा विनिर्मित भित्तियाँ रत्नमय दीपोंकी पंक्तियोंकी किरणोंसे जगमगा रही थीं, उस घरकी ललनाएँ भी रत्नालङ्कारोंसे शोभित थीं, घरके निकटवर्त्ती

उपवन नानाविध पुष्पित पारिजातादि देवतरुओंके द्वारा परम रमणीय शोभाको धारण कर रहा था। पक्षियोंके जोड़े इन तरुओंकी शाखाओंपर बैठकर कूजन करते तथा भ्रमर मधुपानमें मत्त होकर गुञ्जन करते रहते थे। महर्षि कर्दमकी सुरक्षिता देवहूति जब इस उपवनमें कमलोंसे सुगन्धित सरोवरमें अवगाहन करती थीं, तब देवताओंके अनुचर उनका यशोगान करते थे। अधिक क्या? कर्दम ऋषिके गृहस्थ आश्रमका ऐश्वर्य इन्द्रकी ललनाओं तकके लिए भी परम आकांक्षित वस्तु था, परन्तु पुत्रके वियोगजनित विरहसे कातर होकर देवहूतिने उस गृहस्थाश्रम तकका भी परित्याग कर दिया॥ १५-२०॥

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला॥ २१॥

देवहूति तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेपर भी पतिके संन्यासके लिए गमन और पुत्रके वियोगसे उत्पन्न दुःखमें ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गायकी दशा हो जाती है॥ २१॥

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम्।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे॥ २२॥

वत्स विदुर! देवहूति इन पुत्ररूपी कपिल-नामक श्रीहरिका चिन्तन करते हुए अति अल्पकालमें ही सुख-ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण गृहके प्रति आसक्ति-रहित हो गयी॥ २२॥

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम्।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया॥ २३॥

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना॥ २४॥

विशुद्धेन तदात्मानमात्मना विश्वतोमुखम्।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम्॥ २५॥

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ॥ २६॥

पुत्र श्रीकपिलदेवने माता देवहूतिको ध्यान करने योग्य प्रसन्न मुखकमलयुक्त स्वरूप जिस सच्चिदानन्द भगवत्-रूपका उपदेश दिया था, देवहूतिने विशुद्धचित्तमें उसी भगवत्-रूपके अङ्गोंका एक ही समय एक साथ और पृथक्-पृथक् भावसे ध्यान करना आरम्भ कर दिया। वे भक्ति प्रवाहरूप योग, प्रबल वैराग्य, परिमित आहार-विहारादिके अनुष्ठान एवं ब्रह्मानुभवके कारण शुद्धभक्तिसे हुए ज्ञानके सहयोगसे विशुद्धात्मा हो गयीं। जो सर्वव्यापी हैं, जिनमें स्वरूप प्रकाशके कारण सत्त्वादि गुण और उनके शोक-मोहादिरूप विशेष धर्म सर्वदा दूरसे निवारित रहते हैं, उन परमात्मास्वरूप भगवान्‌का ध्यान करते हुए देवहूतिने समस्त जीवोंके एकमात्र आश्रय-स्वरूप भगवान् परब्रह्ममें अपना चित्त स्थिर कर दिया॥ २३-२६॥

निवृत्तजीवापत्तित्वात् क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः
नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः॥ २७॥

उस समय देवहूतिका बद्धजीवभाव (अर्थात् जीवोंकी विपत्ति-स्वरूप अविद्या-भाव अथवा लिङ्गशरीरमें अध्यास) निवृत्त होनेसे उनके समस्त क्लेश दूर हो गये और उन्होंने परम शान्तिको प्राप्त किया। क्रमशः निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न उनके भ्रम भी दूर हो गये। जिस प्रकार सोकर उठे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरकी सुध-बुध भी नहीं रहती, उसी प्रकार वे भी अपने स्थूल एवं लिङ्ग देहके विषयमें विस्मृत हो गयीं॥ २७॥

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात्।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः॥ २८॥

कर्दम ऋषिके योग-प्रभावसे उत्पन्न विद्याधरियाँ माता देवहूतिका पोषण करती रहती थीं। देवहूतिमें मानसिक पीड़ाका कोई कारण न था, अतः उनका देह दुर्बल नहीं हुआ। किन्तु मैलसे आच्छादित रहनेपर भी वह धुएँसे युक्त अग्निके समान दीप्त हो उठा॥ २८॥

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम्।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः॥ २९॥

उनकी बुद्धि प्रतिपल भगवान् श्रीवासुदेवमें निमग्न रहने लगी। तपस्या और योगमें निरत रहनेके कारण उनके सिरके केश मुक्त हो जाते और कभी उनके अङ्ग वस्त्रहीन हो जाते, किन्तु वे इन बातोंका अनुभव नहीं कर पाती थीं। वस्तुतः श्रीभगवान् ही उनकी रक्षा कर रहे थे॥ २९॥

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम्।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तं तमाप ह॥ ३०॥

हे विदुर! इस प्रकार देवहूतिने भगवान् कपिलदेव द्वारा कहे गये मार्गका आचरण करके शीघ्र ही परमब्रह्म, परमात्मा, और नित्यमुक्त महावैकुण्ठनाथ भगवान्‌को प्राप्त कर लिया॥ ३०॥

तद्वीरासीत् पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी॥ ३१॥

हे विदुर! उन्होंने जिस स्थानपर सिद्धि प्राप्त की थी, वह स्थान तीनों लोकोंमें ही पुण्यतम क्षेत्र 'सिद्ध-पद' के नामसे विख्यात है॥ ३१॥

तस्यास्तद्योगविधुत-मार्त्यं मर्त्यमभूत् सरित्।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता॥ ३२॥

हे सौम्य विदुर! योगके प्रभावसे उनके समस्त दैहिक धातुमल दूर हो गये थे तथा उनका वह शरीर एक श्रेष्ठ सिद्धिदायिनी ('कपिला' नामक) नदीके रूपमें परिणत हो गया है। सिद्धगण नित्य उस नदीकी सेवा किया करते हैं॥ ३२॥

कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात्।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ॥ ३३॥

हे विदुर! महायोगी भगवान् श्रीकपिल भी माता देवहूतिकी अनुमति प्राप्त करके पिताके आश्रमसे उत्तरकी ओर मुख करके चले गये थे॥ ३३॥

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥ ३४ ॥
आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥ ३५ ॥

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि एवं अप्सराओंने श्रीकपिलदेवकी स्तुति की थी तथा समुद्रने भी उन्हें अर्घ्य और निकेतन प्रदान किया था। तीनों लोकोंकी शान्तिके लिए वे आज भी योग अवलम्बनपूर्वक समाधिमें रहते हैं। सांख्याचार्यगण आज भी उनकी स्तुति किया करते हैं॥ ३४–३५ ॥

एतन्निगदितं तात यत् पृष्टोऽहं तवानघ।
कपिलस्य च संवादो देवहूतेश्च पावनः ॥ ३६ ॥

हे निष्पाप विदुर! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, मैंने वह समस्त ही बतला दिया है। मैंने तुम्हें भगवान् श्रीकपिलदेव और माता देवहूतिका यह परम-पवित्र संवाद भी सुना दिया है॥ ३६ ॥

य इदमनुश्रृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता–
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥ ३७ ॥

हे विदुर! जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ मुनिवर कपिलके अभिमत इस गुह्य आत्म-योगके तत्त्वको सुनता है या पाठ करता है, उसकी बुद्धि गरुड़ध्वज श्रीकृष्णमें निमग्न हो जाती है और वे अन्तमें श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी सेवाको प्राप्त करता है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकपिलोपाख्यानं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धः समाप्तः ॥

चतुर्थः स्कन्धः

चतुर्थ स्कन्धकी कथाका सार

तृतीय स्कन्धमें जिनका वर्णन किया गया है, वे कपिलदेव स्वायम्भुव मनुके दौहित्र (नाती) थे। मनुकी तीन कन्याएँ और दो पुत्र थे। तीनों कन्याओंमेंसे—आकूतिसे प्रजापति रुचि, देवहूतिसे कर्दम ऋषि तथा प्रसूतिसे प्रजापति दक्षने विवाह किया था। दक्ष प्रजापतिने सोलह कन्याओंको उत्पन्न किया, उनमेंसे सबसे छोटी कन्या सतीसे श्रीशिवने विवाह किया था।

पुरातन काल (स्वायम्भुव मन्वन्तर) में विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें जब शिवने प्रत्युत्थान[1] आदि द्वारा दक्षके लिए किसी भी प्रकारसे सम्मान प्रदर्शित नहीं किया, तब दक्षने अक्षज (इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके) विचारसे शिवको अपनी अपेक्षा हीन समझकर बहुत-से देवताओं और ऋषियोंके समक्ष उनकी निन्दा की तथा उन्हें अभिशाप दिया कि देवताओंमें अधम शिव देवताओंके लिए होनेवाले यज्ञोंमें इन्द्र और उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञभाग प्राप्त नहीं कर सकेगा। शिवजीकी निन्दा सुनकर उनके अनुचर नन्दी बहुत क्रोधित हुए तथा उन्होंने भी दक्षको अभिशाप दिया कि शिवजीकी निन्दा करनेवाले तुम्हारे जैसोंकी मति वेदोंके अर्थवादमें पड़कर विनष्ट हो जायेगी जिसके फलस्वरूप तुम सब देहमें आसक्त होकर बकरेकी भाँति स्त्रीसङ्ग करोगे तथा सर्वभुक् अर्थात् अच्छा-बुरा सबकुछ खानेवाले बनकर परमार्थसे विच्युत होकर संसाररूपी यन्त्रणाका भोग करोगे। नन्दीश्वरके अभिशापके बदलेमें दुस्तर ब्रह्मदण्डरूप शाप देते हुए भृगुने कहा कि शिव-दीक्षामें दीक्षित[2] व्यक्ति पाषण्ड-धर्मका आश्रय करनेवाले होंगे।

बहुत समयके बाद दक्षने शिव और उनके गणोंका तिरस्कार करते हुए 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञ आरम्भ किया। तीनों लोकोंके

---

[1] किसी बड़ेके आनेपर उसके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए अपने आसनसे उठ जाना।

[2] श्रीशिवजीके अनुचरोंका अनुसरण करनेवाले।

सभी अधिवासियोंको उक्त यज्ञमें योगदान करते देखकर सतीमें भी पितृयज्ञ देखनेकी प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। जब सतीने शिवजीके निकट पितृयज्ञमें चलनेके लिए प्रार्थना की, तब शिवजीने दक्ष द्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें किये गये उनके व्यवहारका स्मरण कराके सतीको जानेके लिए निषेध किया। श्रीशिवने सतीसे कहा कि जो विद्या, तपस्या, धन, देह, आयु और कुल आदि साधुमें विद्यमान रहनेसे गुणके रूपमें शोभायमान होते हैं, वही गुण असाधु व्यक्तिमें रहनेपर उनमें अभिमान उत्पन्न करते हैं। जो भगवान् वासुदेवके दास हैं तथा वासुदेवमें प्रणत होकर जीव मात्रके प्रति ही सम्मान प्रदर्शित करते हैं, उन्हें वैष्णवोंके अतिरिक्त अन्य किसी बहिर्मुख जीवको स्वतन्त्र रूपसे अभिवादन आदि करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

श्रीशिवके इन वचनोंको सुनकर भी इन वचनोंका उल्लंघन करके सती अपने पिताके घरमें गयी। उनकी माता और बहनोंके अतिरिक्त किसीने भी दक्षके भयसे उनसे कोई बातचीत नहीं की। जब सतीने देखा कि यज्ञमें रुद्रका भाग नहीं है, तब उसने कहा "दुर्जन व्यक्ति यदि वैष्णवकी निन्दा करें तो सामर्थ्य रहनेपर उसकी जिह्वाका छेदन करके अपनी देहका त्याग करना ही कर्त्तव्य है और असमर्थ व्यक्तिके लिए कानोंको ढककर उस स्थानका त्याग करना ही कर्त्तव्य है।" सतीने वैष्णव-विद्वेषी पिताके द्वारा उत्पन्न देहको धारण करनेमें घृणा अनुभव करके योगबलसे अपनी देहको त्याग दिया।

श्रीनारद आदिके मुखसे सतीके देह त्यागके विषयमें सुनकर शिवजीने क्रोधित होकर सिरसे एक जटाको उखाड़कर उसे भूमिपर दे मारा, जिससे वीरभद्र उत्पन्न हुए। वीरभद्रने शिवजीके आदेशानुसार दक्षके यज्ञमें जाकर यज्ञको विध्वंस करके दक्षका विनाश कर दिया।

दक्षके विनाशके विषयमें सुनकर ब्रह्माजी अन्यान्य देवताओं सहित शिवजीके समीप गये तथा अनेक स्तव आदिके द्वारा शिवजीको प्रसन्न करके उन्होंने दक्षके पुनर्जीवनके लिए प्रार्थना की। शिवजीकी कृपासे दक्ष बकरेके मुण्डको लगाकर जीवित हुए तथा उन्होंने फिरसे यज्ञ आरम्भ करके रुद्र और श्रीहरिको यज्ञका भाग प्रदान किया। सतीने

हिमालयके घरमें जन्म-ग्रहण करके फिरसे शिवजीको पतिरूपमें प्राप्त किया।

स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी सुनीति और सुरुचि नामक दो पत्नियाँ थीं। सुरुचि पतिको अत्यन्त प्रिय थी। सुनीतिके पुत्र ध्रुवने सौतेली माता सुरुचिके वचनोंसे दुःखी होकर सब प्रकारके दुःखोंको दूर करनेवाले भगवान् श्रीहरिकी आराधनाके उद्देश्यसे वनकी ओर गमन किया। मार्गमें बालक ध्रुवने श्रीनारदकी कृपा प्राप्तकी तथा उन्हींके निर्देशानुसार कठोर तपस्या द्वारा श्रीहरिको सन्तुष्ट किया। तब भगवान्ने प्रसन्न होकर बालक ध्रुवको वर माँगनेके लिए कहा। ध्रुवने इसके उत्तरमें कहा कि श्रीविष्णुसे नरक-प्राप्य विषयोंके लिए प्रार्थना करना मूढ़ता है। भक्तोंके साथ हरि-कथामृतका श्रवण और कीर्त्तन ही जीवके लिए एकमात्र वाञ्छनीय है, क्योंकि उससे जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है, ब्रह्मानन्दमें भी उस प्रकारके सुखकी अनुभूति नहीं होती, फिर देवता पद तो अति तुच्छ है। ध्रुवको अपूर्व धाम, सुदीर्घ जीवन और अप्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यका भलीभाँति भोग करनेका वर देकर श्रीहरि अन्तर्द्धान हो गये। भगवान्के आदेशानुसार ध्रुव राजपुरीमें लौट आये। तब ध्रुवकी तरुण अवस्था देखकर राजा उत्तानपादने कुछ समय पश्चात् ध्रुवको राज्य भार सौंपकर स्वयं वानप्रस्थको स्वीकार किया।

ध्रुवके द्वारा राज्यको प्राप्त करनेके बाद उनकी सौतेली माता सुरुचिके पुत्र (अर्थात् सौतेले भाई) उत्तम एक दिन शिकारके लिए गये तथा वहाँ यक्षके हाथों मारे गये। जब ध्रुवको उक्त घटनाकी सूचना मिली, तब ध्रुव यक्षपुरीमें जाकर यक्षोंका विनाश करनेमें प्रवृत्त हुए। उस समय स्वायम्भुव मनुने वहाँ जाकर महाराज ध्रुवसे कहा कि देहात्माभिमानी जीव ही परस्पर हिंसा करते हैं, भगवद्भक्त तो सभी जीवोंके प्रति समदर्शी होते हैं। भाई आदिका सम्बन्ध तो पञ्चभौतिक देहका सम्बन्धमात्र है। भगवान्की काल शक्तिके प्रभावसे ही देहका विनाश होता है तथा अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही जीवोंको विभिन्न गतियोंकी प्राप्ति होती है। भगवान् ही सभीके मूल कारण हैं, उन्हें ढूँढ़नेसे 'मैं' और 'मेरा' रूपी बुद्धि दूर हो जाती है।

स्वायम्भुव मनुके उपदेशसे ध्रुव महाराज हिंसाके कार्यसे निवृत्त हुए और तब यक्षपति कुबेरने महाराज ध्रुवको वरदान माँगनेके लिए कहा। महाराज ध्रुवने अचला (नैरन्तर्यमयी) भगवत्-स्मृतिके अतिरिक्त और कुछ भी वर नहीं माँगा। वहाँसे अपने राज्यमें लौटकर ध्रुव महाराजने विविध यज्ञोंके अनुष्ठान द्वारा श्रीहरिकी आराधना करके अन्तमें भगवान् श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त किया।

ध्रुवके वंशज अङ्गराजसे वेन उत्पन्न हुए। वेनके निष्ठुर व्यवहारसे अङ्गराजने राज्यका परित्याग कर दिया। वेन राज्यभार ग्रहण करके महाभागवतोंके साथ दुर्व्यवहार करने लगा। मुनियोंने वेनको सदुपदेश प्रदान करते हुए कहा कि सर्वलोक आराध्य श्रीहरिके सेवकोंकी अवज्ञा करना अनुचित है। उन सेवकोंकी कृपाके बलसे श्रीहरिको प्राप्त करनेपर जीवोंके लिए और कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। मुनियोंके वचनोंको सुनकर वेन क्रोधित होकर कहने लगा कि वही एकमात्र सभीका पूज्य है, उसकी अवहेलना करके श्रीहरिकी आराधना करना कुलटा स्त्रीके व्यभिचारकी भाँति है। मुनियोंने भगवान् विष्णुकी निन्दा श्रवण करके हुँकार शब्दके द्वारा वेनका विनाश कर दिया। वेनकी माताने मन्त्रके बलसे वेनकी मृत देहकी रक्षा की। राजाके अभावसे राज्यमें अनेक उपद्रव होने लगे। मुनियोंने मृत वेनकी भुजाओंका मन्थन किया, जिससे भगवान् विष्णुके अंश पृथु अपनी पत्नी सहित आविर्भूत हुए। ब्रह्माजीके साथ देवताओंने आकर पृथुको अस्त्र-शस्त्रादि अनेक उपहार प्रदान करके उन्हें राज्यपदपर अभिषिक्त किया। वन्दिगणोंने जब महाराज पृथुका स्तव करना आरम्भ किया, तब उन्होंने वन्दिगणोंको यह शिक्षा दी कि पुण्यकीर्त्ति श्रीविष्णुकी लीला-कथाओंके रहते मेरे जैसे अव्यक्त कीर्त्ति[१] राजाओंके स्तव द्वारा वाक्यका वृथा व्यय करना अनुचित है। महाराज पृथुने एक सौ यज्ञ करनेका व्रत लिया। अन्तिम यज्ञके समय इन्द्र द्वारा यज्ञीय अश्वका अपहरण करनेपर महाराज पृथु यज्ञ-आहुति द्वारा इन्द्रको नष्ट करनेमें प्रवृत्त हुए, किन्तु तब ब्रह्माजीने आकर उन्हें ऐसा करनेसे रोका। यज्ञेश्वर विष्णुने यज्ञस्थलीमें उपस्थित होकर पृथुको तत्त्वोपदेश

[१] अप्रकाशित पराक्रमवाले/अप्रसिद्ध।

प्रदान करके उन्हें सर्वत्र समबुद्धि होकर प्रजापालन करनेका आदेश दिया। महाराज पृथुने भगवान् विष्णुके आदेशसे इन्द्रके प्रति वैरभावको त्याग दिया। जब भगवान् विष्णुने महाराज पृथुको वर ग्रहण करनेके लिए कहा, तब पृथु महाराजने सर्वप्रथम साधुके मुखसे हरि-कीर्त्तनके श्रवणके फलकी महिमाका गान किया और तदुपरान्त भगवत्-गुणानुवाद-श्रवण करनेके लिए अनन्त कानोंके लिए प्रार्थना की। भगवान् विष्णु उनके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर अन्तर्धान हो गये।

महाराज पृथुके राज्याभिषेकके बाद जब पृथ्वी अन्न-रहित हो गयी, तब प्रजा भूखसे कातर होकर महाराज पृथुके शरणागत हुई। 'पृथ्वी द्वारा औषधियोंको ग्रास कर लिया गया है'—ऐसा अनुमान करके महाराज पृथुने पृथ्वीको लक्ष्य करके बाण चढ़ाया। तब पृथ्वीके भयभीत होकर महाराज पृथुके शरणागत होनेपर महाराज पृथुने पृथ्वीके वचनानुसार वत्स एवं पात्र आदिके भेदसे पृथ्वीसे औषधियोंका दोहन किया।

महाराज पृथुने और भी एक यज्ञका अनुष्ठान करके प्रजाको परम पुरुष भगवान् विष्णुका भजन और वैष्णवोंको सम्मान प्रदान करनेका उपदेश दिया।

भगवान्के आदेशसे सनत्कुमारके महाराज पृथुकी सभामें उपस्थित होनेपर महाराज पृथुने उनसे जीवोंके श्रेयः (कल्याण) प्राप्तिके उपायकी जिज्ञासा की। सनत्कुमारने कहा कि विषयसङ्गका त्याग करके भगवान् मुकुन्दके चरित्रका आस्वादन, आत्मेन्द्रिय-प्रीतिमूलक कपट भजनका त्याग, हरिगुणगान तथा सहिष्णुता आदि द्वारा परब्रह्ममें नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होनेपर देह आदिमें 'अहंता' और 'ममता' नष्ट होती है; वही जीवोंके लिए चरम मङ्गलका विषय है। केवल विषयोंकी चिन्ता स्मृति-विभ्रम उत्पन्न करके आत्म-विनाशका कारण बनती है।

महाराज पृथुने सनत्कुमारके उपदेशानुसार तपोवनमें जाकर भक्तिमार्ग विहित अनुष्ठान द्वारा कर्मके मूलको नष्ट किया। इससे श्रीहरिके प्रति उनकी ऐकान्तिकी भक्तिका उदय हुआ तथा संसार बन्धन नष्ट हो

गया। अन्तमें महाराज पृथु द्वारा योगबलसे देह त्याग करनेपर उनकी पत्नीने भी उनका अनुगमन किया।

पृथु पुत्र विजिताश्वके हविर्द्धान नामक पुत्रके पुत्र बर्हिषत्‌ने यज्ञानुष्ठानपूर्वक प्राचीनाग्र नामक कुश द्वारा पृथ्वी तलको आच्छादन किया था, इसलिए वे प्राचीनबर्हिके नामसे विख्यात हुए। प्रचेतागण इन्हीं प्राचीनबर्हिके ही पुत्र थे। प्रचेताओंने शिवजीके उपदेशसे 'रुद्रगीत' नामक स्तव द्वारा दस हजार वर्षों तक भगवान् विष्णुकी आराधना की थी। वैष्णव प्रवर रुद्रने प्रचेताओंसे कहा था कि विष्णुभक्त ही उन्हें अत्यधिक प्रिय हैं। स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति सौ जन्मोंमें ब्रह्मत्व और उसके बाद रुद्रका साक्षात्कार प्राप्त करता है, किन्तु वैष्णवगण शीघ्र ही भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। स्वर्ग तो दूरकी बात है, वैष्णवगण तो मुक्तिको भी तुच्छ समझते हैं।

जिस समय प्रचेतागण तपस्या कर रहे थे, उस समय देवर्षि नारदने प्राचीनबर्हिके निकट जाकर उन्हें उपदेश दिया कि कर्मके द्वारा कभी भी परम मङ्गलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि यज्ञ आदि कर्मोंमें मारे गये पशु अगले जन्ममें मारनेवालेसे बदला लेते हैं। इस प्रसङ्गमें देवर्षि नारदने एक उपाख्यानका वर्णन किया जिसमें पुरञ्जन नामक एक राजा भोग बुद्धि द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर विविध चेष्टाओं द्वारा अनन्त प्रकारके भोगोंसे भी तृप्त नहीं हो पाया। उसने यज्ञ द्वारा जिन सब पशुओंको मारा था, वे पुरञ्जनकी मृत्युके बाद यमलोकमें अपनी हत्याका बदला लेने लगे। अन्तमें पूर्वजन्ममें सदैव स्त्रीकी चिन्ता करनेके फलस्वरूप उसने स्त्रीके रूपमें जन्म-ग्रहण किया तथा कृष्णभक्त महाभागवत राजा मलयध्वजसे उसका विवाह हुआ। इस जन्ममें सौभाग्यसे कृष्णभक्तके सङ्गको प्राप्त करके वैराग्यसे युक्त भक्तियोगका आश्रय लेकर उन्होंने परमार्थ प्राप्त किया। यह पुरञ्जन और कोई नहीं, अपितु जीवोंकी स्वतन्त्रताके अपव्यवहारके फलस्वरूप श्रीकृष्ण विस्मृति और भोग बुद्धिके कारण विषयोंमें आसक्तिके फलस्वरूप जैसी दुर्गति होती है, उसीका ही एक रूपक[१] स्वरूप

[१] 'रूपक'—उपमान और उपमेयका साधर्म्यवशतः जो तदात्म्य है, उसे 'रूपक' अलङ्कार कहते हैं।

आदर्श दृष्टान्तमात्र है। देवर्षि नारदने प्राचीनबर्हिसे और भी कहा कि केवल कर्मके द्वारा त्रिताप–यन्त्रणाके प्रतिकारकी चेष्टा सिरके भारको सिरसे उतारकर कन्धेपर रखकर थकावट कम करनेकी भाँति है। कर्म द्वारा उच्च–नीच अनेक योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। स्वप्नमें देखा गया दुःख जिस प्रकार जागृत अवस्थाके बिना दूर नहीं होता, उसी प्रकार वासुदेवके प्रति की गयी भक्तिके बिना अन्य किसी भी उपायसे जीवोंका मङ्गल नहीं होता। साधुके मुखसे निकली हरिकथाके श्रवण द्वारा ही जीव तीनों प्रकारके तापोंसे मुक्त होकर परम प्रयोजन भगवत्–प्रेमको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। तथाकथित गुरु आत्मतत्त्वको नहीं जानते, सद्गुरु ही जीवोंके संशयोंका छेदन करते हैं। मन ही संसार प्राप्तिका कारण है। राजा प्राचीनबर्हिने देवर्षि नारदके उपदेशसे भक्तियोगका आश्रय करके सारूप्य मुक्ति प्राप्त की थी।

प्रचेताओंने विष्णुकी आराधना करके उन्हें सन्तुष्ट किया। भगवान् विष्णुने प्रचेताओंके समक्ष प्रकट होकर वर माँगनेके लिए कहा। प्रचेताओंने वैष्णवसङ्ग प्राप्तिरूपी वरकी प्रार्थना की, क्योंकि क्षणमात्रके साधुसङ्गसे असीम कल्याणकी प्राप्ति होती है। उन्होंने श्रीविष्णुके आदेशसे प्रम्लोचा नामक अप्सराकी मारिषा नामक कन्याका पाणिग्रहण करके 'दक्ष' नामक पुत्रको उत्पन्न किया। इसी दक्षने श्रीशिवजीके शापसे गर्भ यन्त्रणाको प्राप्त किया था।

प्रचेताओंने दक्षके हाथमें राज्य समर्पण करके भक्तियोगके आश्रयसे मुक्तिको प्राप्त किया था।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

चतुर्थः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुकी कन्याओंके पृथक्-पृथक् वंशका वर्णन और उनमें यज्ञादि मूर्त्ति द्वारा भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव

श्रीमैत्रेय उवाच—

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! शतरूपाके गर्भसे स्वायम्भुव मनुकी जिन तीन कन्याओंका जन्म हुआ था—वे आकूति, देवहूति एवं प्रसूतिके नामसे प्रसिद्ध थीं। इसके अतिरिक्त उन स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र भी उत्पन्न हुए॥ १॥

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः॥ २॥

स्वायम्भुव मनुने अपनी पत्नी महारानी शतरूपाकी सम्मतिसे तीन कन्याओंमेंसे सबसे बड़ी 'आकूति' का विवाह 'पुत्रिका धर्म'[(१)] के अनुसार प्रजापति रुचिके साथ किया॥ २॥

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना॥ ३॥

[(१)] पुत्रिका धर्मके अनुसार किये जानेवाले विवाहमें यह शर्त होती है कि कन्याका जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्याके पिता ले लेंगे। इस विषयमें अधिक जानाकारीके लिए 'मनुः संहिता' द्रष्टव्य है।

ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और ऐश्वर्यवान उन प्रजापति रुचिने अत्यन्त संयमित-चित्त द्वारा अपनी पत्नी आकूतिके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्याको उत्पन्न किया॥ ३॥

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी॥ ४॥

उन दोनोंमेंसे 'यज्ञ' नामक पुत्र तो यज्ञरूपधारी साक्षात् श्रीविष्णु थे और कन्या 'दक्षिणा' के नामसे विख्यात भगवान्से कभी भी अलग न रहनेवाली श्रीलक्ष्मीकी अंश थी॥ ४॥

आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम्।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम्॥ ५॥

स्वायम्भुव मनु बड़े आनन्दके साथ अपनी पुत्री आकूतिके परम तेजस्वी पुत्र यज्ञको अपने भवनमें ले आये। प्रजापति रुचिने अपनी पुत्री 'दक्षिणा' को ग्रहण किया अर्थात् वे अपनी पुत्रीको पुत्रके समान मानकर उसका पालन-पोषण करने लगे॥ ५॥

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद्द्वादशात्मजान्॥ ६॥

कुछ समयके बाद विवाहयोग्य होनेपर जब दक्षिणाने अपने सहोदर (भाई) यज्ञके साथ विवाह करनेकी अभिलाषा की, तब भगवान् यज्ञ अथवा यज्ञमूर्त्ति विष्णुने परम सन्तुष्ट होकर उसका पाणिग्रहण किया जिससे दक्षिणा अत्यधिक आनन्दित हुई। तत्पश्चात् यज्ञने दक्षिणाके गर्भसे बारह पुत्र उत्पन्न किये॥ ६॥

तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः।
इध्मः कविर्विभुः स्वाह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट्॥ ७॥

इन बारह पुत्रोंके नाम तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वाह्न, सुदेव एवं रोचन हुए॥ ७॥

तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः॥ ८॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम्॥ ९॥

प्रजापति रुचिके ये बारह नाती ही स्वायम्भुव मन्वन्तरमें 'तुषित' नामक देवता हुए। उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि जन सप्तर्षि थे, भगवान् यज्ञ ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र थे और महान् प्रभावशाली प्रियव्रत एवं उत्तानपाद मनुपुत्र थे। वह मन्वन्तर उन्हीं दोनोंके पुत्रों और नातियोंके वंशसे भर गया तथा उन्हींके द्वारा ही परिपालित हुआ॥ ८-९॥

देवहूतिमदात् तात कर्दमायात्मजां मनुः।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम॥ १०॥

हे वत्स (विदुर)! स्वायम्भुव मनुने अपनी दूसरी कन्या देवहूतिको महर्षि कर्दमके हाथमें समर्पित किया था। मैं पहले आपको उनके विषयमें ही विस्तारपूर्वक बतला रहा था, अतएव आपने उनके विषयमें प्रायः सबकुछ सुन लिया है॥ १०॥

दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान् मनुः।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान्॥ ११॥

महा-ऐश्वर्यशाली स्वायम्भुव मनुने अपनी सबसे छोटी कन्या प्रसूतिको ब्रह्माजीके पुत्र दक्षको प्रदान किया। उन्हींके विशाल-वंश द्वारा ही तीनों लोक परिव्याप्त हुए॥ ११॥

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे॥ १२॥

मैंने आपको पहले महर्षि कर्दमकी जिन नौ कन्याओंके विषयमें बतलाया था, वे नौ कन्याएँ नौ ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ बनी थीं। अब मैं पुत्र-पौत्रादिके क्रमसे उनके वंश-विस्तारका वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण कीजिये॥ १२॥

पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा।
कश्यपं पूर्णिमानञ्च ययोरापूरितं जगत्॥ १३॥

मरीचि ऋषिकी पत्नी तथा कर्दमकी पुत्री 'कला' ने कश्यप एवं पूर्णिमा नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। इन दोनोंके वंश द्वारा ही जगत् परिपूर्ण हुआ है॥ १३॥

पूर्णिमासूत विरजं विश्वगञ्च परन्तप।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत् सरिद्दिवः॥ १४॥

हे परन्तप विदुर! उनमेंसे पूर्णिमाके विरज एवं विश्वग नामक दो पुत्र हुए। इसके अतिरिक्त देवकुल्या नामकी उनकी एक कन्या भी थी। यह कन्या ही दूसरे जन्ममें श्रीहरिके पाद-प्रक्षालनसे उत्पन्न पुण्यके प्रभावसे इस जगत्में स्वर्गनदी—नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाके रूपमें प्रकट हुई थी॥ १४॥

अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीन् जज्ञे सुयशसः सुतान्।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान्॥ १५॥

महर्षि अत्रिकी सहधर्मिणी अनसूयाने दत्तात्रेय, दुर्वासा और सोम (चन्द्रमा) नामक तीन महायशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया। ये तीनों पुत्र क्रमसे श्रीविष्णु, रुद्र एवं ब्रह्माके अंशसे आविर्भूत हुए थे॥ १५॥

श्रीविदुर उवाच—

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे गुरुदेव! ये तीनों श्रेष्ठ देव तो सृष्टि, स्थिति एवं विनाशके कारण-स्वरूप हैं। ये किस अभिप्रायसे अत्रिके घरमें अवत्तीर्ण हुए, कृपा करके मुझे इसके विषयमें बतलाइये॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ब्रह्मणा चोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्माजीने जब ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको प्रजाकी सृष्टिके लिए आदेश दिया, तब वे तपस्याके लिए दृढ़सङ्कल्प होकर अपनी सहधर्मिणी अनसूयाके साथ ऋक्ष नामक कुलपर्वतकी ओर चल दिये॥ १७॥

तस्मिन् प्रसूनस्तबक-पलाशाशोककानने।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः॥ १८॥
प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः॥ १९॥
शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन्॥ २०॥

उस पर्वतपर एक वन था, जो पलाश एवं अशोक वृक्षोंसे सुशोभित था। उसके सभी वृक्ष फूलोंके गुच्छोंसे लदे हुए थे। वहाँ निर्विन्ध्या नामकी नदी प्रवाहित हो रही थी, जिसकी जल-तरङ्गोंकी कलकल ध्वनि उस स्थानपर गूँज रही थी। महर्षि अत्रिने प्राणायाम द्वारा चित्तको संयमित करके केवल वायुको आहारके रूपमें ग्रहण करते हुए सर्दी-गर्मी आदि बिना किसी द्वन्द्वके एक सौ वर्षों तक एक पैरपर खड़े होकर इसी पर्वतपर तपस्या की। उस समय वे मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करते थे कि 'जो इस जगत्के अधीश्वर हैं, मैं उन श्रीहरिकी शरणमें हूँ, वे मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें॥'१८-२०॥

तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः॥ २१॥
अप्सरोमुनिगन्धर्व-सिद्धविद्याधरोरगैः।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः॥ २२॥

प्राणायामरूपी ईन्धनसे दीप्तिवान महर्षि अत्रिके सिरसे एक अग्नि-शिखा उत्पन्न हुई। इस योगाग्निसे तीनों भुवनोंको तप्त होते देखकर अप्सराएँ, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर एवं नागगणों सहित सर्वत्र यशस्वी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—ये तीनों प्रभु अत्रिके आश्रममें पधारे॥ २१-२२॥

तत्प्रादुर्भावसंयोग-विद्योतितमना मुनिः।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददृशे विबुधर्षभान्॥ २३॥

सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय तीनों देवोंके एक साथ आविर्भूत होनेसे अत्रि मुनिका चित्त प्रसन्नतासे खिल उठा। वे एक ही पैरपर खड़ी हुई अवस्थामें ही तीनों श्रेष्ठ देवोंके दर्शन करने लगे॥ २३॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः।
वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान्
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान्॥ २४॥

महर्षि अत्रिने देखा कि महेश, ब्रह्मा और विष्णु तीनों क्रमशः वृष, हंस और गरुड़की पीठपर आरूढ़ होकर त्रिशूल, कमण्डलु और चक्र आदि अपने-अपने चिह्नोंको धारण किये हुए हैं। उनके नेत्रोंसे करुणा बरस रही है और उनके मुखपर मन्द हास्य प्रस्फुटित हो रहा है। अत्रि मुनिने भूमिपर दण्डके समान लेटकर उन तीनोंको दण्डवत् प्रणाम किया एवं पुष्पों द्वारा उनकी पूजा की॥ २४॥

तच्छोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी।
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत् संहताञ्जलिः।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः॥ २५॥

महर्षि अत्रिके दोनों नेत्र उन तीनों देवोंके तेजकी किरणोंसे बन्द होने लगे, इसलिए वे मुँदे नेत्रोंसे ही चित्तको उनमें समाहित करके हाथ जोड़कर गम्भीर अर्थवाले मधुर वचनोंसे उन सर्वाराध्य देवोंकी स्तुति करने लगे॥ २५॥

श्रीअत्रिरुवाच—

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः॥ २६॥

श्रीअत्रि मुनिने कहा—हे सुरश्रेष्ठगण! प्रत्येक कल्पमें पृथक्-पृथक् रूपमें मायाके सत्त्वादि गुणोंका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय साधित होता है। आप ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके प्रसिद्ध अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रके रूपमें

प्रकट होते हैं। मैं आप तीनोंके चरणोंमें प्रणत होता हूँ। परन्तु मैंने तो आपमेंसे एक अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वरका ही आह्वान किया था, अतः आप तीनोंमेंसे वे जगदीश्वर कौन हैं? इसे आप ही कृपा करके बतलाइये॥ २६॥

एको मयेह भगवन् विविधप्रधानै-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम्।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूरा
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे॥ २७॥

आपमेंसे जो षडैश्वर्यशाली भगवान् हैं और जो समस्त देवताओंमें प्रधान हैं, मैंने पुत्रकी उत्पत्तिके लिए चित्तमें उन्हींकी ही भावना करके बहुत प्रकारके पूजा-उपचारोंसे उनकी आराधना की थी। किन्तु आप देहधारी व्यक्तिके मनके अगोचर होकर भी किसलिए एक साथ एक ही समयमें उपस्थित हुए हैं? आप प्रसन्न होकर इस विषयको कृपापूर्वक व्यक्त कीजिये। मुझे इस विषयमें बड़ा विस्मय हो रहा है॥ २७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो॥ २८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वररूपी वे तीनों श्रेष्ठ देव महर्षि अत्रिके इन वचनोंको सुनकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मधुर वचनोंसे उन ऋषिवरको इस प्रकार उत्तर देने लगे॥ २८॥

श्रीदेवदेवा ऊचुः—

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति ते वयम्॥ २९॥

श्रीब्रह्मा, विष्णु एवं महेशने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जो सङ्कल्प किया है, वह अति उत्तम है, इसलिए वह निश्चय ही सिद्ध होगा। आप जिस एकमात्र जगदीश्वर नामक तत्त्वका ध्यान कर रहे हैं, हम तीनों ही वही तत्त्व हैं, क्योंकि अद्वयज्ञान-तत्त्व भगवान्से हमारा

स्वतन्त्र अधिष्ठान नहीं है। हम स्वतन्त्र भगवान् श्रीहरिके ही अंश और आश्रित-तत्त्व हैं॥ २९॥

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः॥ ३०॥

हे ऋषे! आपका मङ्गल हो। हम तीनोंके ही अंशसे आपके तीनों लोकोंमें सुविख्यात तीन पुत्र होंगे। वे आपके यशका भी चारों दिशाओंमें विस्तार करेंगे॥ ३०॥

एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः॥ ३१॥

तत्पश्चात् तीनों देव महर्षि अत्रिको उनका अभिलषित वर प्रदान करके एवं महर्षि अत्रि तथा उनकी पत्नीकी पूजा स्वीकार करके उनके समक्ष ही अन्तर्हित हो गये॥ ३१॥

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः॥ ३२॥

अत्रिके तीनों पुत्रोंमेंसे ब्रह्माके अंशसे सोम नामक पुत्र, विष्णुके अंशसे योगविद् दत्तात्रेय एवं रुद्रके अंशसे दुर्वासा उत्पन्न हुए। अब मैं अङ्गिरा ऋषि (ब्रह्माके तीसरे पुत्र) की सन्तानोंके विषयमें बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण कीजिये॥ ३२॥

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा॥ ३३॥

अङ्गिरा ऋषिकी पत्नी श्रद्धाने सिनीवाली, कुहु, राका एवं अनुमति नामक चार कन्याओंको जन्म दिया॥ ३३॥

तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे।
उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः॥ ३४॥

इनके अतिरिक्त स्वारोचिष मन्वन्तरमें उनके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। इन दोनोंमेंसे एक साक्षात् भगवत्-अवतार उतथ्यके नामसे एवं दूसरे ब्रह्मज्ञ बृहस्पतिके नामसे प्रसिद्ध हुए थे॥ ३४॥

पुलस्त्योऽजनयत् पत्न्यामगस्तयञ्च हविर्भुवि।
सोऽन्यजन्मनि दह्लाग्निर्विश्रवाश्च महातपाः॥ ३५॥

महर्षि पुलस्त्यकी हविर्भू नामक पत्नीसे अगस्त्य नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। ये अगस्त्य ही दूसरे जन्ममें जठराग्निके रूपमें उत्पन्न हुए थे। अगस्त्यके अतिरिक्त पुलस्त्य ऋषिके विश्रवा नामक और भी एक महातपस्वी पुत्र उत्पन्न हुए थे॥ ३५॥

तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विलविलासुतः।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः॥ ३६॥

विश्रवाकी इलविला और केशिनी नामकी दो पत्नियाँ थी। इलविलाके गर्भसे यक्षराज कुबेर और केशिनीके गर्भसे रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण उत्पन्न हुए थे॥ ३६॥

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान्।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुञ्च महामते॥ ३७॥

हे महामते विदुर! पुलहकी गति नामकी पतिव्रता पत्नीने कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् एवं सहिष्णु नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया था॥ ३७॥

क्रतोरपि क्रिया भार्या वालिखिल्यानसूयत।
ऋषीन् षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा॥ ३८॥

महर्षि क्रतुकी पत्नी क्रियाने भी ब्रह्मतेजसे प्रकाशमान साठ हजार वालिखिल्य (प्रसिद्ध वानप्रस्थ) ऋषियोंको जन्म दिया था॥ ३८॥

ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप।
चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त सप्तर्षयोऽमलाः॥ ३९॥

हे परन्तप (शत्रु-तापन) विदुर! वशिष्ठकी पत्नी ऊर्जाके गर्भसे चित्रकेतु आदि प्रमुख सात पुत्र उत्पन्न हुए। वे ही विशुद्ध-चरित्रवाले सप्तर्षिके नामसे प्रसिद्ध हुए थे॥ ३९॥

चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे॥ ४०॥

इन सातों महर्षियोंके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे। इनके अतिरिक्त महर्षि वशिष्ठकी दूसरी पत्नीके गर्भसे शक्त्रि आदि और भी कुछेक सन्तानें उत्पन्न हुई थीं॥ ४० ॥

चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम्।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे॥ ४१ ॥

अथर्वा ऋषिकी सहधर्मिणी चित्तिने तपोनिष्ठ दधीचि नामक एक जितेन्द्रिय पुत्रको प्राप्त किया। अश्व जैसा सिर होनेके कारण वे अश्वशिराके नामसे भी प्रसिद्ध थे। हे विदुर! अब भृगुके वंशके विषयमें बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥ ४१ ॥

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत्।
धातारञ्च विधातारं श्रियञ्च भगवत्पराम्॥ ४२ ॥

महाभाग भृगुने अपनी सहधर्मिणी ख्यातिके गर्भसे धाता एवं विधाता नामक दो पुत्र तथा श्री नामक एक भगवत्परायण कन्या उत्पन्न की थी॥ ४२ ॥

आयतिं नियतिञ्चैव सुते मेरुस्तयोरदात्।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च॥ ४३ ॥

मेरु ऋषिने आयति एवं नियति नामक अपनी दोनों पुत्रियोंका विवाह धाता एवं विधातासे किया था। धाता और विधातासे इन दोनों कन्याओंके गर्भसे क्रमशः मृकण्ड एवं प्राण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे॥ ४३ ॥

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः
सर्व ते मुनयः क्षत्तर्लोकान् सर्गैरभावयन्॥ ४४ ॥

उनमेंसे मृकण्ड ऋषिका मार्कण्डेय एवं प्राणका मुनिवर वेदशिरा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। उक्त भृगुका कवि नामक और भी एक पुत्र था। परम ऐश्वर्यशाली उशना (शुक्राचार्य) नामक ऋषि इन्हीं कविके ही पुत्र थे॥ ४४ ॥

एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः॥ ४५॥

हे विदुर! इन सब ऋषियोंने ही सन्तानोंकी सृष्टि द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका विस्तार किया था। प्रजापति कर्दमके इस अति उत्तम नातियोंके वंशका वर्णन श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे शीघ्र ही पापोंसे निवृत्ति होती है। आप श्रद्धायुक्त हैं, इसलिए उक्त वंशके विषयमें मैंने आपके समक्ष कीर्त्तन किया है॥ ४५॥

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः।
तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः॥ ४६॥

श्रीब्रह्माके पुत्र दक्षने स्वायम्भुव मनुकी पुत्री प्रसूतिका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे सुन्दर नेत्रोंवाली सोलह कन्याओंको उत्पन्न किया॥ ४६॥

त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे॥ ४७॥

दक्ष प्रजापतिने इन सोलह कन्याओंमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक पितरोंको और अन्तिम एक संसार-बन्धन-मोचक शिवजीको प्रदान की॥ ४७॥

श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥ ४८॥

श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, लज्जा एवं मूर्ति—ये तेरह धर्मकी पत्नियाँ हुईं॥ ४८॥

श्रद्धासूत ऋतं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥ ४९॥

इनमेंसे श्रद्धाने सत्यको, मैत्रीने प्रसादको, दयाने अभयको, शान्तिने सुखको, तुष्टिने हर्षको एवं पुष्टिने गर्वको जन्म दिया॥ ४९॥

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥ ५०॥

क्रियाने योगको, उन्नतिने दर्पको, बुद्धिने अर्थको, मेधाने स्मृतिको, तितिक्षाने मङ्गलको और लज्जाने विनयको जन्म दिया॥ ५०॥

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी।
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत् सुनिर्वृतम्॥ ५१॥

समस्त कल्याणकारी गुणोंकी जननी धर्मकी पत्नी मूर्तिदेवीने नर-नारायण नामक दो ऋषियोंको जन्म दिया। इन्हीं नर-नारायणके प्रकट-कालमें यह परिदृश्यमान विश्व उद्वेग रहित होकर आनन्दसे भर गया था॥ ५१॥

मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः।
दिव्यवाद्यन्त तुर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ५२॥

नर-नारायण ऋषियोंके जन्मके समय मनुष्योंके हृदय, समस्त दिशाएँ, वायु, नदियाँ एवं पर्वत-शृंखलाएँ सभी प्रसन्न हो उठे थे। स्वर्गपुरीसे तुरी आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ध्वनि सुनायी दे रही थी तथा आकाशसे भूतलपर पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी॥ ५२॥

मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः।
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत् परममङ्गलम्॥ ५३॥

मुनिगण परम आनन्दित होकर स्तुति करने लगे थे। गन्धर्व एवं किन्नर आनन्दपूर्वक गीत गा रहे थे। अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार चारों दिशाओंमें परम मङ्गल विराजित था॥ ५३॥

देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः॥ ५४॥

अधिक क्या? ब्रह्मादि सभी देवताओंने भी अनेक प्रकारके स्तोत्रोंके द्वारा उन नर-नारायण ऋषियोंकी पूजा की थी॥ ५४॥

श्रीदेवा ऊचुः—

यो मायया विरचितं निजयात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥ ५५॥

देवता नर-नारायण ऋषियोंका स्तव करते हुए कहने लगे—जो अपनी मायाके द्वारा आकाशमें विरचित गन्धर्व-नगरकी भाँति इस विराट्-रूप (विश्व) की अपने ही अधिष्ठानमें अर्थात् अपनेमें ही रचना कर लेते हैं, उन्होंने ही अब अपने स्वरूपके प्रकाशके लिए धर्मके घरमें नर-नारायण ऋषियोंके रूपमें स्वयंको प्रकटित किया है। हम उन परमपुरुष भगवान्‌को प्रणाम करते हैं॥५५॥

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥५६॥

श्रौतपन्थासे ही जिनका स्वरूप जाना जा सकता है, किन्तु जिन अधोक्षज वस्तुका तत्त्व हमारी इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, उन्हीं षडैश्वर्यशाली भगवान्‌ने ही इस जगत्‌की मर्यादाको बनाये रखनेके लिए सत्त्वगुणके द्वारा हम देवताओंकी सृष्टि की है। उनके युगल कमल-नेत्र श्रीलक्ष्मीके निवास-स्थानमें स्थित निर्मल कमलोंकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले हैं। वे प्रभु अपने उन्हीं अत्यधिक करुणासे युक्त नेत्रोंसे कृपापूर्वक हमारा अवलोकन करें॥५६॥

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम्॥५७॥

हे वत्स विदुर! देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तव करनेपर नर-नारायण ऋषि देवताओंके प्रति कृपापूर्वक अवलोकन एवं उनकी पूजा स्वीकारकर गन्धमादन पर्वतकी ओर चले गये॥५७॥

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥५८॥

सबके अंशी भगवान् श्रीकृष्णके अंश नारायण और नर ऋषि पृथ्वीके भार-हरण एवं भगवान्‌की इच्छाको पूर्ण करनेके लिए द्वापरके अन्तमें प्रकटित यदुकुलके पालक श्रीकृष्ण और कुरुकुलके श्रेष्ठ अर्जुनमें प्रविष्ट हुए थे॥५८॥

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानञ्च शुचिश्च हुतभोजनम् ॥ ५९ ॥

अग्नि नामक देवताकी पत्नीका नाम स्वाहा था। उसी स्वाहाने अग्निके ही अभिमानी पावक, पवमान एवं शुचि नामक तीन हुतभोजी (यज्ञ-हविका भक्षण करनेवाले) पुत्रोंको उत्पन्न किया था॥ ५९ ॥

तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च।
त एवैकोनपञ्चाशत् साकं पितृपितामहैः ॥ ६० ॥

इन तीनोंसे और भी पैंतालीस अग्नि उत्पन्न हुए। ये ही अपने तीन पिता और एक पितामहको साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये॥ ६० ॥

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः।
आग्नेय इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते॥ ६१ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण वेदोक्त यज्ञादि कार्यमें जिनका नाम उल्लेख करके अग्नि-सम्बन्धीय आहुति प्रदान करते हैं, ये वही उनचास अग्नि हैं॥ ६१ ॥

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा॥ ६२ ॥

अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, सोमप, आज्यप—ये पितर हैं। इनमें कोई-कोई साग्निक और कोई-कोई निरग्निक हैं। दक्षकन्या स्वधा इन दोनों ही प्रकारके पितरोंकी पत्नी है॥ ६२ ॥

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे॥ ६३ ॥

पितरोंसे स्वधाकी वयुना एवं धारिणी नामकी दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं। दोनों ही पुत्रियाँ ब्रह्मवादिनी और ज्ञान-विज्ञानके विवेकमें पारदर्शिनी थीं॥ ६३ ॥

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥ ६४ ॥

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ॥ ६५ ॥

शिवजीकी पत्नी सती अपने पति देवादिदेव शिवजीकी सेवामें ही लगी रहती थीं। किन्तु वे अपने गुण एवं शीलके अनुरूप किसी पुत्रको प्राप्त न कर सकीं, क्योंकि सतीके पिता दक्षने बिना किसी दोषके ही शिवजीके प्रतिकूल आचरण किया था। सतीने वैष्णव-विद्वेषी अपने पिताके प्रति क्रोधित होकर यौवनावस्थामें ही योगका आश्रय लेकर अपने शरीरका त्याग कर दिया था॥ ६४-६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दाक्षायणं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिके द्वारा शिवजीकी निन्दा एवं शाप प्रदान

श्रीविदुर उवाच—

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः।
विद्वेषमकरोत् कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम्॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे मैत्रेय! कन्याओंके प्रति स्नेहवान प्रजापति दक्षने किसलिए अपनी सती नामकी कन्याका अनादर किया और सत्-चरित्र पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ महादेवजीके प्रति क्यों विद्वेष-भाव प्रदर्शित किया?॥ १॥

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥ २॥

महादेवजी चराचर जगत्के गुरु हैं। वे शत्रुतासे रहित, प्रशान्त मूर्त्ति, भगवान् वासुदेवके प्रति रतिविशिष्ट एवं जगत्के परम देवता हैं। ऐसे महादेवजीके प्रति प्रजापति दक्षने क्यों द्वेष किया?॥ २॥

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् जामातुः श्वशुरस्य च।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्याज दुस्त्यजान् सती॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! जामाता एवं श्वसुरके इस कलहका कारण बतलाइये और यह भी बतलाइये कि किस कारणसे सती देवीने दुस्त्यज्य प्राणोंका परित्याग किया॥ ३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः॥ ४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पूर्वकाल अर्थात् स्वायम्भुव मन्वन्तरमें विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें

प्रधान-प्रधान ऋषि, देवता, मुनि और अग्निगण अपने-अपने अनुयायियोंके साथ एकत्रित हुए थे॥ ४॥

तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः॥ ५॥

उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः।
ऋते विरिञ्चाच्छर्वाच्च तद्भासाक्षिप्तचेतसः॥ ६॥

सूर्यके समान तेजसे देदीप्यमान हो रहे प्रजापति दक्षने भी उस विशाल सभामण्डपमें प्रवेश किया था। उनकी अङ्गप्रभासे सभास्थल उज्ज्वल हो उठा था तथा वहाँका समस्त अन्धकार दूर हो गया था। अग्नि सहित सभासद ऋषियोंने जब उन्हें सभामें प्रवेश करते हुए देखा, तो उन्होंने अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनकी अभ्यर्थना की। परन्तु केवल ब्रह्मा एवं शिवजी ही उनके प्रति किसी प्रकारका सम्मान व्यक्त न करते हुए अपने-अपने आसनपर ही बैठे रहे॥ ५-६॥

सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया॥ ७॥

तेजस्वी दक्षने सभासदोंका सत्कार भलीभाँति स्वीकार किया तथा लोकगुरु ब्रह्माजीको प्रणामकर उनकी आज्ञासे वे अपने आसनपर बैठ गये॥ ७॥

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत् तदनादृतः।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव॥ ८॥

प्रजापति दक्षके आसनपर बैठनेसे पहले ही शिवजी अपने आसनपर बैठे थे। यह देखकर दक्ष शिव द्वारा की गयी अपनी ऐसी अवमानना सहन नहीं कर पाये। अतएव वे क्रोधसे आगबबूला हो उठे और वक्र-दृष्टिसे महादेवजीको इस प्रकारसे देखने लगे, मानो उन्हें दग्ध ही कर डालेंगे। फिर वे रोषपूर्ण वचनोंसे इस प्रकार कहने लगे॥ ८॥

श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात्॥ ९॥

हे ब्रह्मर्षियो! हे देवताओ! हे अग्नियो! मैं अज्ञान अथवा मात्सर्यके वशीभूत होकर कोई बात नहीं कहूँगा, केवल साधुओंके आचरणकी बात बतलानेके लिए ही जो कुछ कहूँगा आप उसे कृपापूर्वक श्रवण कीजिये॥ ९॥

अयन्तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः॥ १०॥

इस निर्लज्ज महादेवने यथोचित कर्त्तव्यसे विमुख होकर साधुओंके द्वारा आचरित पथको दूषित किया है। अतएव आज इसके द्वारा किये गये आचरणसे समस्त लोकपालोंकी पवित्र कीर्त्ति ही विनष्ट हो गयी है॥ १०॥

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत्।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत्॥ ११॥

सत्पुरुषोंके समान इसने ब्राह्मणों एवं अग्निके समक्ष मेरी सावित्री-सरीखी पुत्रीका पाणिग्रहण किया है, इसलिए इस शिवने एक प्रकारसे मेरे पुत्रके समान होनेके कारण मेरे शासनके अधीन होना स्वीकार किया है॥ ११॥

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम्॥ १२॥

बन्दरके समान नेत्रोंवाले इस शिवने बालमृगनयना मेरी कन्याका पाणिग्रहण करके प्रत्युत्थान आदि द्वारा सर्वथा पूजनीय मुझे वचनोंके द्वारा भी उचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया॥ १२॥

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम्॥ १३॥

जिस प्रकार पराधीन ब्राह्मण इच्छा न होनेपर भी शूद्रोंको वेद पढ़ा देता है, उसी प्रकार मैंने इच्छा न रहनेपर भी ब्रह्माजीके

आदेशसे इस सदाचार-विहीन, अपवित्र, अभिमानी तथा धर्मकी मर्यादाका उल्लंघन करनेवालेको अपनी सुकुमारी कन्या प्रदान की थी॥ १३॥

प्रेतावासेषु यो घोरैः प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः।
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्॥ १४॥

यह शिव भयङ्कर आकृतिवाले भूत-प्रेतोंसे घिरकर पागलोंकी भाँति नङ्ग-धड़ङ्ग होकर श्मशानोंमें भटकता रहता है। इसके केश इधर-उधर बिखरे रहते हैं तथा कभी यह रोता है तो कभी हँसता है॥ १४॥

चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।
पतिः प्रमथनाथानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥ १५॥

चिताओंकी अपवित्र भस्मसे तो यह स्नान करता है, इसके गलेमें प्रेतोंके पहनने योग्य नरमुण्डोंकी माला झूलती रहती है तथा शवोंकी हड्डियोंको ही यह आभूषणोंकी तरह पहनता है। यह तो केवल नाममात्रका ही शिव है—परन्तु वास्तवमें तो यह अशिव अर्थात् अमङ्गलस्वरूप ही है, क्योंकि स्वयं उन्मत्त रहनेके कारण यह उन्मत्त व्यक्तियोंको ही प्रिय लगता है॥ १५॥

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना॥ १६॥

यह तामसिक प्रकृतिवाले प्रमथोंके पतियोंका भी स्वामी है तथा 'उन्माद' नामक भूतोंका सरदार है। अहो! मैंने ब्रह्माजीके आदेशपर विश्वास करके ऐसे अपवित्र, दुष्टस्वभाववाले व्यक्तिको अपनी पुत्री 'सती' को प्रदान किया था॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम्।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे॥ १७॥

श्रीमैत्रेयने कहा—निर्विकार भावसे सभास्थलमें बैठे हुए श्रीशिवकी केवल इस प्रकार निन्दा करके ही दक्ष शान्त नहीं हुआ, बल्कि क्रोधसे अन्धा होकर जल-स्पर्श करके उन्हें अभिशाप देनेके लिए उद्यत हो उठा॥ १७॥

अयन्तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः॥ १८॥

दक्षने कहा—देवताओंमें अधम यह शिव देवताओंके लिए होनेवाले यज्ञोंमें इन्द्र और उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञभाग प्राप्त नहीं कर सकेगा॥ १८॥

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम्।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम्॥ १९॥

हे कुरुनन्दन विदुर! सभामण्डपमें उपस्थित प्रधान-प्रधान सभासदोंके द्वारा बार-बार मना करनेपर भी दक्षका क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। अतः क्रोधसे भरे हुए उसने गिरीश शिवजीको पूर्वोक्त शाप दे ही डाला और सभास्थलसे बाहर निकलकर अपने भवनमें चला गया॥ १९॥

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः॥ २०॥

दूसरी ओर, इस अभिशापकी बातको सुनकर शिवजीके अनुचरोंमें सर्वप्रधान नन्दीश्वरके नेत्र क्रोधसे अरुणवर्णके हो गये। उन्होंने क्रोधित होकर दक्षको तथा सभामें उपस्थित उन सभी ब्राह्मणोंको जिन्होंने शिवजीके प्रति कहे गये निन्दासूचक वचनोंका अनुमोदन किया था, अति भयङ्कर शाप दे दिया॥ २०॥

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत्॥ २१॥

श्रीनन्दीश्वरने कहा—इस भेददर्शी और मूर्ख दक्ष प्रजापतिने सृष्टिकार्यमें निपुण अपने नश्वर माँसके पिण्डको ही बहुमानन करके द्रोहियोंसे भी द्रोह न करनेवाले, भगवान्‌से अभिन्न तनु शिवजीके प्रति द्रोहाचरण किया है, अतः यह तत्त्वज्ञानसे रहित होकर परमार्थसे वञ्चित हो जाये॥ २१॥

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया।
कर्मतन्त्रं वितनुताद्वेदवादविपन्नधीः॥ २२॥

ऐसे व्यक्तिकी बुद्धि वेदोंमें कहे गये वचनोंके अर्थवादसे मोहित होकर नष्ट हो जाये, जिससे यह स्त्री-सङ्गादि सांसारिक सुखोंकी इच्छासे गृहमेधी व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले प्रवञ्चना आदि विविध प्रकारके कपटधर्मोंमें आसक्त होकर वैसे कर्मोंके जालका ही विस्तार करता रहे॥ २२॥

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात्॥ २३॥

इस दक्षकी बुद्धि देहादिमें आत्मभावका चिन्तन करती रहे, जिससे यह आत्मतत्त्वको भूलकर साक्षात् पशुके समान बन जाये एवं स्त्रीके प्रति अत्यन्त कामुक होकर शीघ्र ही इसका मुख सब समय स्त्रीकी कामना करनेवाले बकरेके समान हो जाये॥ २३॥

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसावजः।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम्॥ २४॥

इस दक्षने कर्ममयी अविद्याको ही तत्त्व-विद्या समझा है। अतः यह वास्तवमें बकरा ही है और जिन सब ब्राह्मणोंने इस शिवद्वेषी दक्षके शापका अनुमोदन किया है, वे भी इस संसारमें पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहें॥ २४॥

गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः संमुह्यन्तु हरद्विषः॥ २५॥

जिनकी मति वेदोक्त अर्थवादरूप पुष्पित, आपात रमणीय, मनको क्षुब्ध करनेवाले बहुत प्रकारके कर्मफलोंकी मधुरगन्धसे युक्त लुभावने वचनोंके द्वारा विमुग्ध हो चुकी है, वे सभी शिव-विद्वेषी कर्मकाण्डमें आसक्त होकर सम्पूर्ण रूपसे मोहग्रस्त हो जायें॥ २५॥

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह॥ २६॥

ये सब ब्राह्मण भक्ष्य-अभक्ष्यके विचारसे शून्य होकर सर्वभक्षी हो जायें। ये अपने पेट, पुत्र, परिवार आदिका पालन-पोषण करनेके लिए ही विद्या, तप एवं व्रत आदिको धारण करें और धन, देह एवं इन्द्रियोंके सुखके ही दास बनकर याचकके वेशमें इस संसारमें भटकते रहें॥ २६॥

तस्यैवं वदतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्॥ २७॥

ब्राह्मणोंके प्रति नन्दीश्वरके इस प्रकारके अभिशापको सुनकर भृगुजीने भी उन्हें इस अभिशापके बदले दुस्तर ब्रह्मदण्डरूप शाप दे डाला॥ २७॥

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ २८॥

(भृगुजीने कहा—)जो शिवका व्रत पालन करेंगे अथवा जो शिवभक्तोंके अनुयायी होंगे, वे सत्शास्त्रोंके प्रतिकूल आचरण करेंगे और पाषण्डी होंगे॥ २८॥

नष्टशौचा मूढधियो जटा भस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥ २९॥

जो लोग शौच आदिसे रहित हैं, मन्दबुद्धि हैं, वे ही जटा, भस्म और हड्डियोंको धारणकर शिवजीकी दीक्षामें दीक्षित होंगे। शिव दीक्षामें

दीक्षित व्यक्ति गौड़ी, पेष्ठी, माधवी आदि सुरा और ताल आदिसे बनाये गये मद्यको ही देवताओंके समान पूज्य मानेंगे॥ २९॥

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ।
सेतुं विधरणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः॥ ३०॥

अरे शिवानुचरो! तुमलोगोंने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवालोंकी मर्यादारूपी सेतुके धारक-स्वरूप वेदों एवं वेदमार्गके अनुयायी ब्राह्मणोंकी निन्दा की है, इसलिए तुम पाषण्ड-धर्मके आश्रित बनोगे॥ ३०॥

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः।
यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः॥ ३१॥

वेदोंके लक्षणोंसे युक्त पथ ही मनुष्योंके लिए मङ्गलकारी और सनातन पथ है। प्राचीन कालमें भी ऋषियोंने इसी वेदमार्गका ही आश्रय लिया था। श्रीजनार्दन ही वेदोंके मूल अर्थात् एकमात्र प्रतिपाद्य विषय हैं॥ ३१॥

तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम्।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट॥ ३२॥

तुमलोगोंने उसी परम विशुद्ध साधुओंके द्वारा अवलम्बनीय मार्ग-स्वरूप वेदोंकी निन्दा की है। अतः जिस स्थानपर तामस भूतगणाधिपति रह रहा है, तुम भी उसी स्थानपर जाकर उसी पाषण्डी देवताको प्राप्त करो॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः॥ ३३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान्से अभिन्न महादेवजी महर्षि भृगुके इस प्रकारके अभिशापको सुनकर कुछ व्याकुलसे हो गये और अपने अनुगतोंके साथ उस स्थानसे चले गये॥ ३३॥

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रं परिवत्सरान्।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः॥ ३४॥

आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः॥ ३५॥

हे धनुर्धारी विदुर! विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि वे सभी प्रजापति सर्वश्रेष्ठ आराध्य यज्ञेश्वर श्रीहरिके उद्देश्यसे किये गये एक हजार वर्ष तक चलने वाले उस यज्ञको सम्पन्न करके यज्ञके अन्तमें गङ्गा और यमुनाके सङ्गमपर किये जानेवाले स्नानके उपरान्त निर्मल अन्तःकरणसे अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ३४-३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

पिता दक्षके यज्ञोत्सवमें जानेके लिए सतीकी प्रार्थना और श्रीशिव द्वारा नीतिपूर्ण वाक्योंसे उन्हें रोकनेकी चेष्टा

श्रीमैत्रेय उवाच—

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार सदैव परस्पर विद्वेष भावसे रहते हुए ससुर एवं जामाताका बहुत समय बीत गया॥ १॥

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत्॥ २॥

तदुपरान्त जब परमदेवता ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंके अधिपतिके रूपमें अभिषिक्त किया, तब दक्षके हृदयमें गर्व उत्पन्न हुआ॥ २॥

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ ३॥

इसी गर्वके वशीभूत होकर दक्षने शिवजी और उनके अनुचरोंको यज्ञका भाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो 'वाजपेय-यज्ञ' का अनुष्ठान किया और उसके पश्चात् 'बृहस्पति-सव' नामक एक सर्वोत्तम महायज्ञ करना आरम्भ किया॥ ३॥

तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः।
आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥ ४॥

इस यज्ञमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता एवं उनकी पत्नियाँ भी अपने-अपने पतियोंके साथ यथायोग्य सम्मानित हुईं थीं॥ ४॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम्।
सती दाक्षायणी देवी पितृयज्ञमहोत्सवम्॥ ५॥
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः॥ ६॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्यासे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत॥ ७॥

आकाशचारी देवता इस महायज्ञके विषयमें वार्त्तालाप करते हुए आकाशमें विचरण करने लगे। दक्षपुत्री सतीने उनके मुखसे पिताके यज्ञरूपी महोत्सवका वृत्तान्त सुना तथा देखा कि उनके भवनके समीपमें ही चारों दिशाओंसे गलेमें पदक[१] धारण किये हुए, सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित और अत्यधिक उज्ज्वल कुण्डलोंसे अलंकृत चञ्चल नेत्रोंवाली गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने पति-पुत्र आदि परिजनोंके साथ वार्त्तालाप करती हुईं विमानोंपर सवार होकर यज्ञ-स्थलीकी ओर जा रही हैं। यह दृश्य देखकर देवी सतीके हृदयमें भी पिताके यज्ञको देखनेके लिए अत्यन्त उत्सुकता जाग उठी। वे अपने पति देवादिदेव भूतपति शिवजीसे कहने लगीं॥ ५-७॥

श्रीसत्युवाच—

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।
वयञ्च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि॥ ८॥

श्रीसतीदेवीने कहा—हे नाथ! आपके ससुर प्रजापति दक्षके यहाँ यज्ञरूपी महोत्सव आरम्भ हुआ है। यह देखिये! देवता तक भी उस यज्ञको देखनेके लिए जा रहे हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी वहाँ चलें॥ ८॥

तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः।

---

[१] पूजनके लिए बनायी हुई किसी देवताके चरणकी प्रतिमूर्त्ति।

अहञ्च तस्मिन् भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्॥ ९॥

मेरी बहनें भी अपने-अपने पतियोंके साथ निश्चय ही अपने आत्मीयजनोंसे मिलनेकी अभिलाषासे उस यज्ञ-स्थलीपर आयेंगी। मेरी बहुत इच्छा हो रही है कि जिस प्रकार वे यज्ञ-उत्सवमें माता-पिता द्वारा दिये गये अलङ्कारादि उपहारोंको ग्रहण करेंगी, मैं भी आपके साथ उन उपहारोंको ग्रहण करूँ॥ ९॥

तत्र स्वसृर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसृः क्लिन्नधियञ्च मातरम्।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानञ्च मृडाध्वरध्वजम्॥ १०॥

हे शम्भो! बहुत दिनोंसे मेरा मन आत्मीय-स्वजनोंको देखनेके लिए उत्कण्ठित हो रहा है। अतएव मैं उस यज्ञ-महोत्सवमें जाकर वहाँ अपने-अपने पतियोंके साथ आयी बहनों, मौसियों और स्नेहसे द्रवीभूत हृदयवाली माता एवं ऋषियों द्वारा लहरायी गयी यज्ञीय ध्वजाको देख पाऊँगी॥ १०॥

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम्।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥ ११॥

हे अज! आप आत्माराम हैं, अतः परमात्मा श्रीभगवान्की मायाके द्वारा निर्मित यह त्रिगुणात्मक और आश्चर्यमय जगत् आपको अद्भुत प्रतीत नहीं हो रहा। किन्तु हे शिव! मैं स्त्री हूँ। मेरा स्वभाव उत्कण्ठाओंसे भरा रहता है और विशेषतः मैं तत्त्वज्ञानसे रहित हूँ, इसीलिए इतनी अधीर होकर मैं अपनी जन्मभूमिका दर्शन करनेकी अभिलाषा कर रही हूँ॥ ११॥

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-
ऽप्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः।

यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः॥ १२॥

हे नीलकण्ठ! आप अभव अर्थात् जन्म आदिसे रहित हैं, इसलिए सुहृदोंका विरह-दुःख आपने कभी अनुभव नहीं किया है। एकबार अपनी दृष्टिको ऊपर उठाकर तो देखिये! जिन स्त्रियोंके साथ प्रजापति दक्षका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, वे भी अपने-अपने पतियोंके साथ सज-धजकर झुण्ड-की-झुण्ड मेरे पिताके यज्ञमें जा रही हैं। जरा देखिये! इन स्त्रियोंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे आकाश-मण्डल कैसी अपूर्व शोभासे शोभायमान हो रहा है॥ १२॥

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ १३॥

हे देवश्रेष्ठ! पिताके घरमें उत्सवका वृत्तान्त सुनकर पुत्रीका शरीर उसे देखनेके लिए क्यों नहीं छटपटायेगा? बन्धु, पति, ससुर एवं पिताके यहाँ तो बिना बुलाये भी जाया जा सकता है॥ १३॥

तन्मे प्रसीदेदममर्त्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान् कारुणिको बतार्हति।
त्वयात्मनोऽर्द्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः॥ १४॥

अतएव हे ईश्वर! आप दयालु हैं अतः आप मेरे प्रति प्रसन्न हों और कृपापूर्वक मेरी इस इच्छाको पूर्ण कीजिये। आपने परम ज्ञानी होकर भी मुझे अपनी अर्द्धाङ्गिनीके रूपमें स्वीकार किया है, अतः मुझपर अनुग्रह प्रकाशित कीजिये। मैं आपसे कृपाकी याचना कर रही हूँ॥ १४॥

श्रीऋषिरुवाच—

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः।

संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः॥ १५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सुहृद-वत्सल भगवान् गिरीश अपनी प्रियाके इन वचनोंको सुनकर मुस्कराने लगे एवं प्रजापति दक्षने विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके सम्मुख उनके प्रति जिन मर्मभेदी दुर्वचनरूपी बाणोंका प्रयोग किया था, उनका स्मरण करके कहने लगे॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना॥ १६॥

योगेश्वर महादेवने कहा—हे शोभने! तुम्हारा यह कथन कि 'बिना बुलाये भी बन्धु-बान्धवोंके घर जाया जा सकता है' अति उपयुक्त है, परन्तु तुम्हारे ये वचन तभी शोभा पा सकते हैं, जब तुम्हारे बन्धु देहाभिमानसे उत्पन्न गर्व और क्रोधके कारण किसीमें दोष न देखते हों॥ १६॥

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ १७॥

विद्या, तपस्या, धन, सुन्दर शरीर, यौवन एवं उच्चकुल—ये छः साधुओंके ही गुण हैं। किन्तु यही छहों गुण असत्पुरुषोंमें विपरीत फल ही प्रदान करते हैं अर्थात् उनके लिए ये गुण ही अवगुण बन जाते हैं, क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़ जाता है और विवेक नष्ट हो जाता है। अभिमानसे मत्त होनेपर असत् पुरुष महत्-जनोंके प्रभावको नहीं देख पाते हैं॥ १७॥

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥

ऐसे असंयतचित्त व्यक्तियोंको स्वजन समझकर उनके घर नहीं जाना चाहिये। वे अपनी कुटिल बुद्धिके कारण घरपर आये हुए व्यक्तियोंको भौंहे चढ़ाकर क्रोधभरी दृष्टिसे देखा करते हैं॥ १८॥

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-
र्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः॥ १९ ॥

कुटिलबुद्धियुक्त आत्मीयजनोंके कटु वचनोंसे बिंधनेपर हृदय जैसा व्यथित होता है, शत्रुओंके बाणोंसे शरीरके बिंधनेपर भी वैसी पीड़ा नहीं होती। इसका कारण है कि बाणोंसे आहत होकर भी व्यक्ति जैसे-तैसे नींदका सुख प्राप्त कर सकता है, किन्तु वचनरूपी बाणसे विद्ध हो जानेपर व्यक्ति मानसिक पीड़ासे दिन-रात बेचैन रहता है॥ १९॥

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियात्मजानामसि सुभ्रु मे मता।
तथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात् कः परितप्यते यतः॥ २०॥

हे सुन्दरि! यद्यपि तुम्हारे पिता प्रजापति दक्ष अत्यन्त उत्कृष्ट मर्यादाशाली हैं और फिर उनकी पुत्रियोंमेंसे तुम ही उनकी सबसे अधिक लाड़ली हो—इसे मैं भी जानता हूँ, तथापि तुम मेरी आश्रिता होनेके कारण अपने पितासे सम्मान प्राप्त नहीं कर पाओगी, क्योंकि वे तुम्हारे साथ मेरे सम्बन्धकी गन्ध रहनेसे ही दुःखी हो रहे हैं॥ २०॥

पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।

अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम्॥ २१॥

निरहङ्कारी पुरुषोंकी पुण्यकीर्त्ति आदिको देखकर जिनका हृदय ईर्ष्यारूपी अग्निसे जलता रहता है और इन्द्रियाँ विवश हो जाती हैं, वे असुर जिस प्रकार श्रेष्ठ ऐश्वर्यको प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर केवल श्रीहरिसे द्वेष ही करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे पिता दक्ष भी सदैव मुझसे द्वेष ही करते रहते हैं॥ २१॥

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥ २२॥

हे सुन्दरि! अज्ञानी जन लोक-व्यवहारमें परस्पर अभ्युत्थान, प्रणाम एवं अभिवादन आदि करते हैं। किन्तु विद्वान व्यक्ति इन्हीं व्यवहारोंका अन्य प्रकारसे श्रेष्ठ रूपमें आचरण करते हैं। वे विद्वज्जन बहिर्मुख देहाभिमानियोंको अपनी कायिक चेष्टाओंसे अभिवादन आदि न करके मनके द्वारा ही उनके हृदयमें विराजित अन्तर्यामी परमपुरुष वासुदेवके प्रति प्रणाम आदि किया करते हैं॥ २२॥

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते॥ २३॥

गुणातीत अप्राकृत विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है, आवरणशून्य[१] पुरुष उस विशुद्धसत्त्वमें ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए उनका नाम 'वासुदेव' है। वे षडैश्वर्यशाली भगवान् और इन्द्रिय ज्ञानसे अतीत पुरुष हैं। वे विशुद्ध सेवोन्मुख अप्राकृत अन्तःकरणमें नित्य प्रकाशित होते हैं। मैं उन्हीं भगवान्‌को ही विशेष रूपसे प्रणाम करता हूँ॥ २३॥

---

[१] स्वरूपशक्तिकी वृत्तिसे युक्त तथा स्वप्रकाश-शक्ति लक्षण युक्त पुरुष—श्रीभगवान्।

तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्-
दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-
मनागसं दुर्वचसाऽकरोत्तिरः॥ २४॥

हे वराङ्गने! यद्यपि दक्ष तुम्हारी देहके जन्मदाता पिता हैं, तथापि तुम्हारे लिए न तो उनसे मिलना उचित है और न ही दक्षके समर्थकोंका मुख देखना योग्य है। जगत्की सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें तुम्हारे पिताने मेरा कोई अपराध न होनेपर भी मेरे प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग करके मेरा तिरस्कार किया था॥ २४॥

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति।
सम्भावितस्य स्वजनात् पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते॥ २५॥

यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी, तो तुम्हारा मङ्गल नहीं होगा, क्योंकि सुप्रतिष्ठित मनुष्यका जब अपने ही स्वजनोंके द्वारा अपमान होता है, तो वह अपमान तत्काल ही उसकी मृत्युका कारण बन जाता है॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीउमारुद्र-संवादो नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

पतिकी आज्ञाका उल्लंघनकर पिताके यज्ञमें आयी हुई सतीका पिताके द्वारा अपमान तथा क्रोधसे यज्ञस्थलीमें सतीका देह-त्याग

श्रीमैत्रेय उवाच—

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महादेव यह कहकर शान्त हो गये, किन्तु मन-ही-मन सोचने लगे कि सतीको दक्षके यहाँ 'जानेकी अनुमति दूँ या न दूँ, दोनों अवस्थओंमें ही सतीका प्राण-त्याग अवश्यम्भावी है।' दूसरी ओर, बन्धुजनोंको देखनेकी लालसासे देवी सती एक क्षण घरसे बाहर निकलतीं और दूसरे ही क्षण शिवजीके भयसे अन्दर चली जातीं। कुछ निश्चय न कर पानेके कारण वे असमंजसमें थीं॥ १॥

सुहृद्दिदृक्षा-प्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः॥ २॥

बन्धुजनोंसे मिलनेकी प्रबल इच्छामें बाधा पड़नेपर सती बड़ी अनमनी-सी होकर पिता आदि बन्धुओंके प्रति अत्यधिक स्नेहके कारण निरन्तर अश्रुधारा वर्षण करते हुए अत्यन्त विह्वल हो गयीं। क्रोधके कारण उनके अङ्ग थर-थर काँपने लगे। अतुलनीय पुरुष श्रीरुद्रको वे इस प्रकार देखने लगीं, मानो रोषाग्निसे उन्हें भस्म कर डालेंगी॥ २॥

ततो विनिश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा।
पित्रोरगात् स्त्रैण्यविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्द्धमदात् सतां प्रियः॥ ३॥

सतीका हृदय शोक एवं क्रोधसे अत्यन्त बेचैन हो रहा था। दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई वे पिताके घरकी ओर चल पड़ीं। साधुजनोंके प्रिय जिन शङ्करने प्रीतिवशतः सतीको अपनी अर्द्धाङ्गिनीके रूपमें स्वीकार किया था, स्त्री-स्वभाववश विमूढ़ होकर आज सती अपने उन्हीं स्वामीको छोड़कर पिताके घर जाते हुए तनिक भी कुण्ठित नहीं हुई॥ ३॥

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः।
सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः॥ ४॥

सतीको अकेली और पैदल ही तीव्र गतिसे जाते देखकर त्रिलोचन भगवान् शङ्करके मणिमान और मद आदि हजारों यक्ष-पार्षद और अनुचरवृन्द वृषभराजको आगे करके सतीके पीछे-पीछे दौड़ने लगे॥ ४॥

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजैः
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः॥ ५॥

तत्पश्चात् सतीके समीप पहुँचनेपर उन्होंने देवी सतीको बैलपर चढ़ा दिया तथा उन्हें सारिका, गेंद, दर्पण, कमल आदि खिलौने प्रदान किये। तत्पश्चात् उन्हें श्वेत छत्र, व्यजन (पङ्खा) तथा माला आदि राजोचित विभूतियों और सङ्गीत-साधन रूप दुन्दुभि, शङ्ख एवं बाँसुरी आदि अनेक प्रकारके वाद्य-यन्त्रोंसे सुसज्जित एवं सुशोभित करके वे अनुचर उनके साथ-साथ चलने लगे॥ ५॥

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत्॥ ६॥

तदनन्तर जब सतीने सेवकोंके साथ पिताकी यज्ञ-स्थलीमें प्रवेश किया, तो उसने देखा कि वहाँ चारों दिशाओंमें वेद-ध्वनि हो रही है। वेदोच्चारणपूर्वक पशुवध होनेके कारण यज्ञ-स्थली यज्ञीय पशुओंके वधके कोलाहलसे युक्त थी। सब ओर ब्रह्मर्षि एवं देवता विराजमान थे तथा वहाँ मिट्टी, काष्ठ, लौह, काञ्चन, दर्भ एवं चर्म आदिसे निर्मित पात्र सुसज्जित थे॥ ६॥

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्-
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः।
ऋते स्वसृर्वै जननीञ्च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा॥ ७॥

पिता दक्षके द्वारा सतीकी अवहेलना होती देखकर दक्षके भयसे किसीने भी सतीका आदर नहीं किया। केवलमात्र उनकी माता एवं बहनें अवश्य उन्हें देखकर गद्‌गद हो गयीं, प्रेमवश उनकी आँखोंसे अश्रुधाराएँ बहने लगीं और उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उन्होंने बड़े आनन्दके साथ सतीको गले लगाया॥ ७॥

सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम्।
दत्तां सपर्यां वरमासनञ्च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती॥ ८॥

किन्तु पिताके द्वारा अपना अनादर होते देखकर सतीने अपनी बहनोंके कुशलता-सम्बन्धी पूछे गये प्रश्नोंकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। माता एवं मौसियोंने स्नेहके साथ उन्हें जो अलङ्कार और सुन्दर आसनादि उपहार प्रदान किये, सतीने उन्हें भी स्वीकार नहीं किया॥ ८॥

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा॥ ९॥

महेश्वरकी सहधर्मिणी सतीने देखा कि एक तो यज्ञसभामें उनका अनादर हुआ है और दूसरा विभूतिशाली महादेवको यज्ञमें निमन्त्रित न करके पिताने रुद्रका भी विशेष अपमान किया है। यहाँ तक कि यज्ञमें रुद्रका कोई भाग भी नहीं था। अतः यज्ञके इस प्रकारके दृश्यको देखकर सती अत्यन्त क्रोधित हो उठी, मानो कि वे समस्त लोकोंको ही अपने क्रोध द्वारा भस्म कर देंगी॥ ९॥

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम्।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिश्रृण्वतः॥ १०॥

दक्षको कर्ममार्गके अभ्याससे बहुत अहङ्कार हो गया था, इसी कारण वह शिवजीसे विद्वेष करने लगा था। सतीके साथ आये हुए भूत-समुदायका भी विक्रम कुछ कम न था। वे दक्षका विनाश करनेके लिए उद्यत हो उठे। किन्तु सतीदेवीने उन्हें मना किया एवं सब लोगोंको सुनाकर पिताके व्यवहारकी निन्दा करते हुए क्रोधसे लड़खड़ाती वाणीमें कहने लगीं॥ १०॥

श्रीदेव्युवाच—

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः।
तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्॥ ११॥

श्रीसतीदेवीने कहा—हे पिता! जो इस संसारमें समस्त देहधारी जीवोंको अतिशय प्रिय हैं, जिनके लिए न कोई प्रिय है और न ही कोई अप्रिय, अतएव जिनका किसीके साथ भी विरोध नहीं हो सकता, इस जगत्में जिनकी अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ नहीं है और जो

समस्त जगत्के कारण हैं, अतः आपके अतिरिक्त फिर ऐसा कौन है, जो ऐसे श्रीशिवका विरोध करेगा? ॥ ११ ॥

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२ ॥

हे द्विजवर! कोई-कोई साधु व्यक्ति दूसरोंके दोषोंको भी गुणोंके रूपमें ग्रहण करते हैं, किन्तु आपके समान ईर्ष्यायुक्त व्यक्ति दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं। जो वास्तवमें किसीके गुण और दोषोंका विचार करते हैं, वे मध्यम हैं, परन्तु जो किसीके थोड़े-से गुणको भी महत् बतलाकर उनकी प्रशंसा किया करते हैं, वे तो अति उत्तम हैं। और फिर आपने ऐसे सर्वोत्तम श्रीमहादेवके प्रति भी दोषारोपण किया है॥ १२ ॥

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांशुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥ १३ ॥

अथवा इस शवरूप जड़-देहको ही 'आत्मा' समझनेवाले असत्पुरुष यदि ईर्ष्यावशतः निरन्तर महाजनोंकी निन्दा भी करें, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? यद्यपि महापुरुष तो अपनी निन्दा सहन कर लेते हैं तथापि उनकी पदरेणु[१] महत् व्यक्तिकी निन्दा सहन नहीं कर पाती। वे निन्दुक व्यक्तियोंके तेजको नष्ट कर देती है। अतएव उन दुष्ट पुरुषोंको महत्-पुरुषोंके प्रति विद्वेष जैसा जघन्य कार्य ही शोभा देता है, क्योंकि उसके द्वारा ही उन्हें समुचित फलकी प्राप्ति होती है॥ १३ ॥

यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत् प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।

[१] अर्थात् महत् व्यक्तिके चरणकमलोंका ही सम्पूर्ण रूपसे आश्रय लेनेवाले आश्रित भक्त।

पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ १४॥

अहो! जो प्रसिद्ध दो अक्षरवाले 'शिव' नामका केवल एक बार भी प्रसङ्गवश अपनी जिह्वासे उच्चारण कर लेता है, उस मनुष्यके समस्त अशुभ शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। आप स्वयं अमङ्गलस्वरूप हैं अतएव ऐसे पवित्रकीर्त्ति मङ्गलस्वरूप शिवसे द्वेष रखते हैं जिनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता॥ १४॥

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥ १५॥

ब्रह्मानन्द-मकरन्दके लोभी महत्-जनोंका मनरूपी मधुकर जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन करता रहता है और जिनके चरणकमल सकाम पुरुषोंकी अभिलषित वस्तुओंका वर्षण करते हैं, आप ऐसे विश्वबन्धु शिवके प्रति द्रोहाचरण कर रहे हैं?॥ १५॥

किंवा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत् पिशाचै-
र्ये मूर्द्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥ १६॥

अथवा हे पिता! जो जटाओंको बिखेरे रहते हैं, श्मशानमें पड़े हुए नरमुण्डोंकी माला, चिताकी भस्म एवं मृत मनुष्यके कपालोंको आभूषणोंके रूपमें धारणकर पिशाचोंके साथ श्मशानमें वास करते हैं, ऐसे शिव नामक मङ्गलस्वरूप देवको आपके अतिरिक्त ब्रह्मा आदि कोई भी देवता अशिव अर्थात् अमङ्गलस्वरूप नहीं मानते, बल्कि वे स्वयं उन्हीं श्रीशिवके चरण-विगलित जल आदि निर्माल्यको अपने-अपने सिरपर धारण करते हैं॥ १६॥

कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यशृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।

छिन्द्यात् प्रसह्य रुषतीमसतां प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः॥ १७॥

स्वेच्छाचारी व्यक्ति द्वारा धर्मकी रक्षा करनेवाले प्रभुकी निन्दा आरम्भ किये जाने प्रभुदासमें यदि उस निन्दुकको मारने या फिर स्वयं मरनेका सामर्थ्य न हो, तो उसके लिए दोनों कानोंको ढककर उस स्थानसे चले जाना कर्त्तव्य है। और यदि उस प्रभुभक्तमें सामर्थ्य रहे, तो उस निन्दुककी अमङ्गलसूचक शब्द बोलनेवाली जिह्वाको बलपूर्वक काटनेके बाद निन्दा श्रवणरूपी पापका प्रायश्चित करनेके लिए अपने प्राणोंका भी त्याग करना धर्म है॥ १७॥

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते॥ १८॥

अतएव श्रीशिव-विद्वेषी आपसे उत्पन्न अपनी इस देहको मैं अब और धारण नहीं करूँगी। यदि अज्ञानवशतः कोई किसी निन्दित वस्तुका भक्षण कर भी ले, तो वमन द्वारा उसे बाहर निकाल देनेसे ही उसकी शुद्धि होती है—यही विद्वानोंका कथन है॥ १८॥

न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः॥ १९॥

जो महामुनि निरन्तर आत्मानन्दमें ही विभोर रहते हैं और विषयोंसे पूर्ण रूपसे विरक्त हो गये हैं, उनकी बुद्धि कभी भी वेदोक्त विधि-निषेधके अनुवर्ती नहीं होती। जिस प्रकार देवता और मनुष्यकी गति परस्पर पृथक् होती हैं, उसी प्रकार प्रवृत्त और निवृत्त धर्मोंका पालन करनेवालोंके प्रयोजन भी पृथक् होते हैं। अतः प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति लक्षणात्मक धर्ममें स्थित व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति अथवा उसके धर्मकी निन्दा न करें॥ १९॥

कर्म प्रवृत्तञ्च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम्।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति॥ २०॥

प्रवृत्त अर्थात् अग्निहोत्र आदि एवं निवृत्त अर्थात् शम-दमादि—दोनों प्रकारके कर्म ही सत्य हैं, क्योंकि वेदोंमें विशेष विवेचनाके द्वारा ही दोनों प्रकारके कर्मोंकी व्यवस्था दी गयी है। पुनः इन दोनों प्रकारके कर्मोंका कोई भी एकसाथ आचरण नहीं कर सकता। भोग और त्याग दोनों ही प्राकृत हैं, इसीलिए वैष्णवराज शिवके द्वारा भगवत्-सेवाके अतिरिक्त किसी भी प्रकारका प्राकृत कर्म किये जानेकी सम्भावना नहीं है॥ २०॥

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः॥ २१॥

हे पिता! हमारी आश्रित अणिमा आदि समृद्धियाँ आपमें नहीं हैं। आप लोगोंका ऐश्वर्य तो केवल यज्ञशाला तक ही आबद्ध रहता है और अग्निपुरुष ही उस ऐश्वर्यका भोग करते हैं। आप लोग तो यज्ञान्न भोजन करके ही तृप्तिका अनुभव करते हैं और इन अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि आप लोगोंमें उन्हें प्राप्त करनेका अधिकार ही नहीं है। किन्तु अलक्ष्य-प्रभावसे युक्त यह सब अणिमा आदि सिद्धियाँ तो चतुःसन, नारद आदि अवधूतोंके द्वारा निरन्तर सेवित हैं॥ २१॥

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत् कुजनप्रसङ्गत-
स्तज्जन्म धिग् यो महतामवद्यकृत्॥ २२॥

अधिक क्या कहूँ, आप शिवविद्वेषी हैं, अतः आपकी देहसे उत्पन्न अपनी इस घृणित देहको रखनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।

आप दुर्जन हैं, अतः आपके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण मैं बहुत लज्जित हूँ। महत्-जनोंका अप्रिय करनेवाले व्यक्तिसे प्राप्त हुए जन्मको ही धिक्कार है॥ २२॥

गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत् कुणपं त्वदङ्गजम्॥ २३॥

ऐश्वर्यशाली वृषध्वज शिव जिस समय हास-परिहासके छलसे मुझे 'दक्षनन्दिनी' कहकर सम्बोधित करते हैं, उस समय आपके साथ मुझे अपने सम्बन्धका स्मरण हो आनेपर मेरा हृदय अत्यधिक दुःखी हो जाता है। हास-परिहासका समय होनेपर भी मैं उस समय हँस नहीं पाती, अतः आपके अङ्गसे उत्पन्न शवके समान इस घृणित देहका मैं निश्चय ही परित्याग करूँगी॥ २३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक्।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत्॥ २४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे शत्रुदमन विदुर! उस यज्ञमण्डपमें दक्षको इस प्रकार कहकर सती मौन होकर उत्तर दिशाकी ओर मुख करके भूमिपर बैठ गयीं। इसके बाद सतीने पीताम्बरसे अपनी देहको अच्छी तरहसे ढक लिया और आचमन करके दोनों नेत्रोंको बन्दकर योगपथका आश्रय लिया॥ २४॥

कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५॥

विशुद्ध स्वभाववाली सतीने सर्वप्रथम आसनको जीता। इसके बाद प्राण एवं अपान वायुको निरोधकर नाभिचक्रमें एकरूप किया। बादमें उदानवायुको धीरे-धीरे उठाते हुए उसे बुद्धिके साथ हृदयमें स्थापित कर लिया। अन्तमें कण्ठ-मार्ग द्वारा उस प्राणादि वायुको दोनों भौहोंके बीचमें स्थापित किया॥ २५॥

एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात्।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम्॥ २६॥

महत् व्यक्तियोंके भी पूज्यतम श्रीरुद्र जिस देहको आदरपूर्वक पुनः-पुनः अपनी गोदमें बिठाया करते थे, आज मनस्विनी रुद्राणीने दक्षके प्रति रोष करते हुए उसी देहको परित्याग करनेकी इच्छासे पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त अङ्गोंमें अग्नि एवं वायुको अवरुद्ध कर लिया॥ २६॥

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥ २७॥

इसके बाद अनर्थनिर्मुक्ता सतीदेवी अपने स्वामी जगद्गुरु शम्भुके चरणकमलोंके मकरन्दरूप माधुर्यका चिन्तन करने लगी, जिसके फलस्वरूप उन्हें श्रीकृष्ण और उनके परिकरोंके अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं देने लगा। उस समय उनका शरीर समाधिसे उत्पन्न योगाग्निके द्वारा शीघ्र ही प्रदीप्त हो उठा॥ २७॥

तत् पश्यतां खे भूवि चाद्भुतं महद्-
हाहेति वादः सुमहानजायत।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून् केन सती प्रकोपिता॥ २८॥

आकाश एवं पृथ्वीपर स्थित जो सब इस अति आश्चर्यमयी घटनाको देख रहे थे, उनके मुखसे उच्चस्वरसे हाय-हाय शब्द निकलने लगा। यह हाहाकार भयङ्कर कोलाहलके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हो गया। सब यही कह रहे थे—हाय! प्रजापति दक्षके दुर्व्यवहार द्वारा उत्तेजित तथा वैष्णव-विद्वेषीके प्रति कुपित देवादिदेव भगवान् शङ्करकी प्रिया सतीदेवीने अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया॥ २८॥

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः।
जहावसून् यद्विमतात्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति॥ २९॥

अहो! जरा दक्षकी दुर्जनताको तो देखो! सम्पूर्ण चराचर जगत् इस प्रजापतिकी प्रजा अर्थात् स्नेहभाजन है, परन्तु उसके ही अङ्गोंसे उत्पन्न और सर्वथा सम्मानके योग्य मनस्विनी रुद्राणीने उसीके अपमानके कारण अपने प्राण त्याग दिये॥ २९॥

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च
लोके च कीर्तिमसतीमवाप्स्यति।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः॥ ३०॥

यह दक्ष बड़ा ही निष्ठुर हृदयवाला एवं ब्रह्मद्रोही है। अरे, इस लोकमें तो इसका अपयश हुआ ही है, परलोकमें भी इसे दण्ड प्राप्त होगा। इस वैष्णव-द्वेषी दक्षने अपनी कन्याका ऐसा अपमान किया कि वह देहत्याग करनेके लिए उद्यत हो गयी, फिर भी यह उसे देखता ही रहा, किसी प्रकारसे उसे रोका तक नहीं॥ ३०॥

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम्।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः॥ ३१॥

लोग सतीकी ऐसी अद्भुत प्राण-विसर्जन लीलाको देखकर इस प्रकार कह ही रहे थे कि इसी बीच सतीके अनुचर अस्त्र-शस्त्र लेकर दक्षका विनाश करनेके लिए तत्पर हो गये॥ ३१॥

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह॥ ३२॥

शिव पार्षदोंको आक्रमणके लिए प्रबल वेगसे आते देखकर ऐश्वर्यशाली महर्षि भृगु यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेमें समर्थ यजुर्वेदोक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्निमें आहुति प्रदान करने लगे॥ ३२॥

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः॥ ३३॥

यज्ञ पुरोहित भृगुके द्वारा आहुति प्रदान करनेपर सहस्र-सहस्र 'ऋभु' नामक देवता यज्ञकुण्डसे अत्यधिक वेगके साथ उठे। इन्हीं देवताओंने तपस्याके प्रभावसे सोमत्व (चन्द्रके बल) को प्राप्त किया था॥ ३३॥

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा॥ ३४॥

ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान उन देवताओंने जलती हुई लकड़ियोंको ही अस्त्रोंके रूपमें धारणकर प्रमथों एवं गुह्यकोंपर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। इस आक्रमणके कारण प्रमथ एवं गुहक चारों ओर भागने लगे॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीसतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

वीरभद्रके द्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस और दक्षका वध

श्रीमैत्रेय उवाच—

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यञ्च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! श्रीरुद्रने जब देवर्षि श्रीनारदसे सुना कि भवानीने प्रजापति दक्षसे अपमानित होकर प्राणोंका परित्याग कर दिया है और ऋभु नामक देवताओंने उनके पार्षदोंको मार-पीटकर यज्ञभूमिसे भगा दिया है, तो वे अत्यन्त क्रोधित हो गये॥ १॥

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि॥ २॥

महादेव अत्यन्त क्रोधवशतः अपने होठोंको काटने लगे। क्रोधित धूर्जटिने[१] बिजली एवं आगकी लपटके समान दीप्त अपनी एक जटाको सिरसे उखाड़ा और खड़े होकर गम्भीर अट्टहास करते हुए उस जटाको भूमिपर पटक दिया॥ २॥

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन् दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक्।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्द्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः॥ ३॥

---

[१] त्रिलोकीके चिन्तारूपी भारको वहन करनेवाले।

उसी क्षण उस जटासे वीरभद्र नामक एक विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुए। उन्होंने नरमुण्डोंकी माला पहन रखी थी, उनका सिर आकाशको स्पर्श कर रहा था, उनके तीन नेत्र सूर्यके समान दीप्तिमान एवं केश आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित हो रहे थे, उन्होंने अपनी हजार भुजाओंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र उठा रखे थे॥ ३॥

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे॥ ४॥

वीरभद्रने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आज्ञा कीजिये, क्या करना होगा?" ऐश्वर्यशाली भगवान् भूतनाथ रुद्रने वीरभद्रके ये वचन सुनकर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"हे भयङ्कर! हे युद्धकुशल! तुम मेरे अंशसे उत्पन्न हुए हो। तुम मेरे पार्षदोंके अधिनायक बनकर दक्षका उसके यज्ञ सहित विनाश करो॥"४॥

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम्।
मेने तदात्मानमसङ्गरंहसा
महीयसां तात सहः सहिष्णुम्॥ ५॥

हे वत्स विदुर! क्रोधाविष्ट श्रीरुद्रकी ऐसी आज्ञा पाकर वीरभद्रने उनकी परिक्रमा की। उस समय वीरभद्रमें अप्रतिहत[१] वेगका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वे अपनेको बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सहन करनेमें समर्थ अनुभव करने लगे॥ ५॥

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत् सुभैरवम्।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
सम्प्राद्रवद्घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥ ६॥

---

[१] जिसे रोकनेमें कोई समर्थ न हो।

तदनन्तर वीरभद्र भी भयानक शब्द करनेवाले रुद्रके अनुचरोंके साथ मिलित होकर भीषण गर्जना करने लगे। उन्होंने जगत्‌के संहारक मृत्युके भी मृत्युस्वरूप त्रिशूलको उठा लिया और दक्षकी यज्ञस्थलीकी ओर प्रबल वेगसे दौड़े। उस समय वीरभद्रके चरणोंमें संलग्न नूपुरादि आभूषण बजने लगे॥ ६॥

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम्।
तमः किमेतत् कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः॥ ७॥

तदनन्तर यज्ञशालामें बैठे हुए ऋत्विज, यज्ञमें दीक्षित् यजमान दक्ष, सदस्य, द्विज एवं द्विजपत्नियोंने जब देखा कि उत्तरदिशासे धूल उड़ती चली आ रही है, तब वे सोचने लगे—अरे! अचानक यह अन्धकार क्यों छा रहा है? इतनी धूल कहाँसे उड़ती हुई आ रही है?॥ ७॥

वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते॥ ८॥

इस समय न तो प्रचण्ड आँधी ही चल रही है और न ही दस्यु, तस्कर आदि दुरात्माओंकी सम्भावना है, क्योंकि इन चोर-डाकुओंको भीषण दण्ड देनेवाले राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित हैं। अथवा अभी तो गौओंके आगमनका समय भी नहीं हुआ कि कोई गो-पालक उन्हें खदेड़कर ला रहा हो, अतः फिर यह धूल कहाँसे उठ रही है? क्या संसारमें अभी ही प्रलयकाल उपस्थित हो गया है?॥ ८॥

प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैव तस्य।
यत् पश्यन्तीनां दुहितॄणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम्॥ ९॥

ऐसी अवस्था देखकर प्रसूति आदि दक्षपत्नियोंका हृदय अत्यन्त व्याकुल हो गया। वे परस्पर कहने लगीं—प्रजापति दक्षने अपनी अन्यान्य पुत्रियोंके समक्ष ही अपनी कन्या निरापराधी सतीकी जो अवज्ञा की है, लगता है यह उनके उसी पापका कुफल ही उपस्थित हुआ है॥ ९॥

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥ १०॥

प्रलयकालमें अपनी जटाओंको बिखेरकर और विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपनी भुजाओंरूपी ध्वजाओंको फैलाकर आनन्दके साथ ताण्डव नृत्य करनेवाले जिन रुद्रके त्रिशूलके अग्रभागसे दिग्गज बिंध जाते हैं एवं जिनके मेघगर्जनके समान अट्टहाससे सम्पूर्ण दिक्‌मण्डल विदीर्ण हो जाता है॥ १०॥

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात् स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः॥ ११॥

जिनका तेज बड़ा असहनीय होता है, जो स्वभावतः ही क्रोधसे परिपूर्ण रहते हैं, भ्रुकुटि टेढ़ी होनेपर जिनके नेत्र अति भयङ्कर हो उठते हैं, जिनकी विकराल दाढ़ोंसे छिन्न-भिन्न होकर नक्षत्रगण कक्षसे च्युत हो पड़ते हैं—ऐसी उग्रमूर्त्ति रुद्रको क्रोधित करके स्वयं ब्रह्मा भी क्या छुटकारा पा सकते हैं?॥ ११॥

बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक्॥ १२॥

यज्ञसभामें उपस्थित सभी व्यक्ति भयभीत होकर बार-बार एक-दूसरेको देखते हुए तरह-तरहकी बातें करने लगे। इसी बीच आकाश एवं पृथ्वीमें चारों ओरसे हजारों भयङ्कर उत्पात होने लगे, जिससे अत्यधिक धीर दक्ष भी भयभीत हो गया॥ १२॥

तावत् स रुद्रानुचरैर्महामखो
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३ ॥

हे विदुर! इधर रुद्रके अनुचर क्षणमात्र भी विलम्ब किये बिना नाना प्रकारके अस्त्रोंको उठाये हुए प्रबल वेगसे चले आये और उन्होंने उस विशाल यज्ञभूमिको घेर लिया। उनमेंसे कोई बौने, कोई कपिल अर्थात् भूरे अथवा बादामी रङ्गके और कोई पीले रङ्गके थे। किसीका पेट मगरके समान था, तो किसीका मुख मगरके जैसा था॥ १३॥

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे।
सद आग्नीध्रशालाञ्च तद्विहारं महानसम्॥ १४॥

इन रुद्रानुचरोंमेंसे किसी-किसीने यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके स्तम्भोंके बीचमें आड़ी रखी हुए बल्लियोंको तोड़ डाला, किसीने पश्चिमकी ओर स्थित पत्नीशालाको तोड़ दिया, किसीने यज्ञशालाके सामनेका सभा-मण्डप एवं उसके सम्मुख स्थित घी रखनेके स्थानको तोड़ डाला, किसीने ऋत्विकोंके घरोंको, किसीने यजमानोंके घरोंको और किसीने पाकशालाओंको तोड़ डाला॥ १४॥

रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन्।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः॥ १५॥

अन्य कुछ रुद्रके अनुचरोंने यज्ञके पात्रोंको तोड़कर फैंक दिया, तो किसीने अग्नियोंको बुझा दिया। किसी-किसीने यज्ञकुण्डोंमें मूत्र विसर्जन कर दिया, किसी-किसीने यज्ञीय वेदी और मेखलाको ही तोड़ डाला॥ १५॥

अबाधन्त मुनीनन्ये एके पत्नीरतर्जयन्।
अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान्॥ १६॥

अन्य कुछ रुद्रके अनुचर दुवर्चनोंके द्वारा मुनियोंको मारने-पीटने लगे, कुछ मुनिपत्नियोंके प्रति तर्जन-गर्जन करने लगे। अन्य कुछ अपने समीप उपस्थित और भागते हुए देवताओंको भी पकड़ने लगे॥ १६॥

भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम्।
चण्डेशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत्॥ १७॥

मणिमान् नामक रुद्रानुचरने भृगुको और वीरभद्रने प्रजापति दक्षको बाँध लिया, चण्डेश्वरने सूर्यदेवको तथा नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ लिया॥ १७॥

सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाऽद्रवन्॥ १८॥

ऋत्विकों, सदस्यों एवं देवताओंने जब भगवान् रुद्रके अनुचरोंके द्वारा किये जानेवाले इस प्रकारके भयङ्कर उपद्रवको देखा, तो उन्होंने वहाँसे चारों ओर भागना आरम्भ कर दिया। यह देखकर रुद्रके अनुचर उनके ऊपर पत्थर फेंकने लगे, जिससे उन्हें अत्यधिक आघात पहुँचा॥ १८॥

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसत् श्मश्रु दर्शयन्॥ १९॥

जिस समय भृगु होमपात्र—स्रुवाको हाथमें लेकर अग्निमें आहुति प्रदान कर रहे थे, उस समय महापराक्रमशाली वीरभद्रने उनकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ फैंकी, क्योंकि इसी भृगुने पूर्वोक्त प्रजापतियोंके सभास्थलमें मूँछ दिखा-दिखाकर महादेवजीका उपहास किया था॥ १९॥

भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि।
उज्जहार सदस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्॥ २०॥

तत्पश्चात् वीरभद्रने क्रोधाविष्ट होकर भगदेवको भूमिपर पटक दिया और उनकी दोनों आँखें उखाड़ ली, क्योंकि जिस समय सभामण्डपमें दक्ष शिवजीकी निन्दा कर रहे थे, उस समय भगदेवने आँखोंको सङ्कुचित करके सङ्केतोंके द्वारा दक्षको उत्साहित किया था॥ २०॥

पूष्णो ह्यपातयद्दन्तान् कलिङ्गस्य यथा बलः।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन् दतः॥ २१॥

श्रीबलदेव प्रभुने जिस प्रकार कलिङ्गराजा दन्तवक्रके दाँतोंको उखाड़ डाला था, उसी प्रकार वीरभद्रने भी पूषादेवके दाँतोंको उखाड़ डाला, क्योंकि दक्ष जिस समय गुरुतर (सर्वश्रेष्ठ) श्रीरुद्रकी निन्दा कर रहे थे, उस समय यही पूषादेव दाँत दिखा-दिखाकर हँसा था॥ २१॥

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा॥ २२॥

इसके पश्चात् रुद्रांश वीरभद्र दक्षके वक्षःस्थलपर चढ़कर तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे उसका सिर काटनेके लिए उद्यत हुए, परन्तु वे दक्षके धड़से उसके सिरको विच्छिन्न नहीं कर पाये॥ २२॥

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेनमनिर्भिन्नत्वचं हरः।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम्॥ २३॥

जब अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे दक्षकी त्वचा तक भी विच्छिन्न नहीं हुई, तब वीरभद्र अतिशय विस्मित होकर बहुत देर तक विचार करने लगे॥ २३॥

दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे।
यजमानपशोः कस्य कायात् तेनाहरच्छिरः॥ २४॥

अन्तमें पशुपति वीरभद्रने यज्ञमण्डपमें संज्ञपन-योग अर्थात् यज्ञ-पशुओंको मारनेके लिए व्यवहृत होनेवाले 'कण्ठनिपीडन' नामक अस्त्रको देखकर उसी साधनसे पशु तुल्य यजमान प्रजापति दक्षके धड़से उसके सिरको विछिन्न कर दिया॥ २४॥

साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य पश्यताम्।
भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः॥ २५॥

तब वीरभद्रके इस कार्यको देखकर भूत-प्रेत एवं पिशाचादि 'साधु'-'साधु' कहकर उनकी सराहना करने लगे। किन्तु दक्षके पक्षके द्विजोंके मुखसे इसके ठीक विपरीत असाधुवाद निकलने लगा॥ २५॥

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन् दक्षिणाग्नावमर्षितः।
तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम्॥ २६॥

क्रोधाभिभूत वीरभद्रने दक्षके उस कटे हुए सिरको दक्षिणाग्निमें आहुतिके रूपमें डाल दिया और इसके बाद वे दक्षकी यज्ञशालामें आग लगाकर कैलाश पर्वतकी ओर लौट आये॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दक्षयज्ञ-विध्वंसनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंका कैलाश जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंश–गदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥

सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद रुद्रकी सेनाने देवताओंको पराजित करके उनके सर्वाङ्गोंको त्रिशूल, पट्टिश नामक शस्त्र, खड्ग, गदा, परिघ (लोहेकी छड़ी) और मुद्गर (हथौड़ा) इत्यादिके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया। इससे देवता बड़े भयभीत हो गये। वे ऋत्विजों एवं सदस्योंके साथ ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके यज्ञका सारा वृत्तान्त कह-सुनाया॥ १-२ ॥

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥ ३ ॥

ऐश्वर्यशाली पद्मयोनि ब्रह्मा एवं विश्वात्मा श्रीनारायण पहलेसे ही जानते थे कि ऐसा होगा, इसीलिए वे प्रजापति दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे॥ ३ ॥

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम्॥ ४॥

ब्रह्माजीने देवताओंके द्वारा बतलाये गये वृत्तान्तको सुनकर कहा—जो व्यक्ति अति तेजस्वी पुरुषके प्रति अपराध करके भी जीनेकी इच्छा करते हैं, उनके ऐसे अपराधमय जीवन-धारणकी इच्छा प्रायः ही मङ्गलजनक नहीं हो पाती॥ ४॥

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

तुमलोगोंने यज्ञमें श्रीरुद्रके प्रति घोर अपराध किया है। वे यज्ञके अंशके भागीदार थे, किन्तु तुमलोगोंने उन्हें उनका प्राप्य अंश प्रदान न करके उन्हें दूरसे परित्याग कर दिया था। अतएव अब विशुद्ध अन्तःकरणसे उनके चरणकमलोंको पकड़कर उन आशुतोषको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करो॥ ५॥

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन्।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः॥ ६॥

उन महादेवके क्रोधित होनेसे लोकपालोंके साथ समस्त लोक ही विनष्ट हो जाते हैं। दक्षके दुर्वचनोंसे उनका हृदय तो पहलेसे ही बिंधा हुआ था, उसपर प्रियतमा सतीके वियोगसे वे अत्यन्त रुष्ट हो गये हैं। अतएव तुमलोग यज्ञके पुनः आरम्भ करने हेतु प्रार्थी होकर शीघ्र ही उन रुद्रदेवके समीप जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करो॥ ६॥

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत्॥ ७॥

मैं ब्रह्मा, यज्ञस्वरूप देवराज इन्द्र, तुमलोग ऋषि-मुनि एवं सभी देहधारी जीव—हममेंसे कोई भी उन देवदेव महादेवके यथार्थ स्वरूपको और उनके बल-विक्रमकी सीमाको नहीं जानता है। मैं उन स्वतन्त्र पुरुषकी प्रसन्नताके लिए और क्या उपाय बतलानेकी इच्छा करूँ? अर्थात् श्रीशिवके चरणोंमें क्षमा-प्रार्थनाके अतिरिक्त मैं इस विषयमें दूसरा कोई उपाय नहीं देख पा रहा हूँ॥ ७॥

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तु तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः॥ ८॥

कमलयोनि ब्रह्मा देवताओंको इस प्रकार आदेश देकर प्रजापतियों और देवताओंके साथ अपने धामसे त्रिपुरारि भगवान् शङ्करके प्रियतम निवासस्थान पर्वतराज कैलाशकी ओर चल पड़े॥ ८॥

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा॥ ९॥

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः॥ १०॥

नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम्॥ ११॥

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम्।
प्लाविते रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम्॥ १२॥

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः॥ १३॥

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम्।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः॥ १४॥

चूतैः कदम्बनीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि॥ १५॥

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वीररेणुकजातिभिः।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम्॥ १६॥

पनसोडुम्बराश्वत्थ-प्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः॥ १७॥

खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः॥ १८॥

कुमुदोत्पलकह्लार-शतपत्रसमृद्धिभिः ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥ १९ ॥

मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रेभर्क्षशल्लकैः ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ।
कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभिः ॥ २० ॥

कदलीषण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥ २१ ॥

पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥ २२ ॥

उस कैलाश पर्वतपर जन्म, औषधि, तपस्या, मन्त्र एवं योग—इन पाँचों द्वारा सिद्धिको प्राप्त करनेवाले सिद्धगण निवास करते हैं। यह स्थान देवताओं द्वारा नित्य सेवित है तथा यक्ष, किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सराओंसे घिरा रहता है। इस पर्वतके शिखर अद्भुत मणियोंसे मण्डित हैं, जो विचित्र धातु-रागसे सुसज्जित होनेके कारण रङ्ग-बिरङ्गे प्रतीत होते हैं। ये मणिमय शिखर विचित्र चित्रोंसे चित्रित हैं तथा विविध द्रुमलताओं एवं गुल्म आदिसे आच्छादित हैं। यहाँ बहुत प्रकारके जङ्गली पशु विचरण किया करते हैं। इस पर्वतपर सैकड़ों निर्मल जलके झरने एवं असंख्य कन्दराएँ और सानु[१] प्रदेश कान्ताओंके साथ विहारमें आसक्त सिद्धों और उनकी कामिनियोंके अनुरागको वर्धित कर रहे हैं। मयूरोंके के-का-रवसे, कोयलोंके कुहु-कुहुके प्लुत स्वरसे एवं विविध पक्षियोंके कूजनसे वहाँका आकाशमण्डल निनादित रहता है। मधुपानसे मदान्ध मधुकरोंका गुञ्जार चारों दिशाओंमें मुखरित होता रहता है। मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कल्पवृक्षकी शाखाएँ वायुके वेगसे सञ्चालित होकर हिलती-डुलती रहती हैं, जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पर्वतराज कैलाश अपने शाखा-प्राशाखारूपी उन्नत हाथोंको फैलाकर पक्षियोंका आह्वान कर रहे हैं। हाथियोंके इधर-उधर विचरण करनेके कारण कैलाश मन्थर गतिसे चलता हुआ-सा और झरनोंकी कल-कल ध्वनिसे अपने सुन्दर कण्ठसे कीर्त्तन करता-सा प्रतीत होता

[१] पर्वतके ऊपर स्थित समतल भूमि।

है। कैलाश पर्वत मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताल (ताड़), कोविदार (कचनार), आसन, अर्जुन, आम्र, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पक, गुलाब, अशोक, बकुल, कुन्द, कुरबक, सुनहरे शतदल कमल, करवीर, इलायची, मालती, कुब्जक, मल्लिका (मोगरा) और माधवी आदि वृक्षों और लताओं द्वारा सुमण्डित है। यहाँ पनस (कटहल), डुम्बुर (गूलर), अश्वत्थ, प्लक्ष (पाकर), न्यग्रोध (वट), हिङ्गुल (गूगल), भूर्ज (भोजवृक्ष), विविध औषधियाँ, पूग (सुपारी), राजपूग, जामुन, खजूर, आम्रातक (आमड़ा), आम्र, पियाल, महुआ, इङ्गुद (लिसौड़ा), वेणु, कीचक (पोले और ठोस बाँसके झुरमुट) एवं अन्यान्य वृक्ष अपनी अद्भुत छटा बिखेरते रहते हैं। वहाँके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कल्हार, पद्म आदि अनेक जातिके विकसित कमल पुष्पोंके मकरन्द एवं सौरभकी समृद्धिका अवलोकन करके विविध जलचर पक्षी मुग्ध हो जाते हैं और मधुर कूजन करते हैं। इस श्रेष्ठ पर्वतपर मृग, शाखामृग (वानर), वराह, सिंह, हाथी, भालु, शल्यक (साही), नीलगाय, शरभ, बाघ, रुरु (कृष्णमृग), भैंसे, कर्ण, ऊर्ण, एकपद अश्वमुख, वृक (भेड़िये) एवं कस्तूरी मृग आदि अनेक प्रकारके पशु वास करते हैं। सरोवरके तटोंपर केलोंकी पंक्ति अपूर्व सौन्दर्यका विस्तार करती है। इस पर्वतराज कैलाशके चारों ओर सुरधुनी (नन्दा नामकी नदी) बहती है, जिसका पुण्यजल सतीके स्नानके कारण और भी अधिक पवित्र एवं सुगन्धित हो गया है। भूतपति गिरीशके आवास-धाम कैलाश पर्वतके इस सौन्दर्यको देखकर देवता भी अत्यधिक आश्चर्यचकित हो गये॥ ९-२२॥

ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम्।
वनं सौगन्धिकञ्चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम्॥ २३॥

देवताओंने उस कैलाश पर्वतपर मनोहारिणी अलका नामक पुरी एवं सौगन्धिक नामक वनको देखा। सर्वत्र सुगन्ध फैलानेवाले सौगन्धिक कमल इसी सौगन्धिक वनमें उत्पन्न होते हैं॥ २३॥

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः।
तीर्थपादपदाम्भोज-रजसातीव पावने॥ २४॥

इस पुरीके बाहरी भागमें नन्दा एवं अलकानन्दा नामकी दो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। ये दोनों नदियाँ तीर्थपाद श्रीहरिके चरणकमलोंकी रेणुका स्पर्श करके पुण्यसलिला हो गयी हैं॥ २४॥

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शताः॥ २५॥

हे विदुर! रति-विलाससे थकी हुई देवाङ्गनाएँ अपने-अपने निवास-स्थानसे आकर इन दोनों नदियोंके जलमें अवगाहन करती हैं और अनुरागसे भरकर अपने प्रियतमोंके अङ्गोंपर जल उछालती हुई जलक्रीड़ा करती हैं॥ २५॥

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्ट-नवकुङ्कुमपिञ्जरम्।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः॥ २६॥

जब ये दिव्याङ्गनाएँ स्नान करती हैं, उस समय उनके शरीरोंसे धुले हुए नव-कुङ्कुमसे इन दोनों नदियोंका जल पीला हो जाता है। प्यास न रहनेपर भी हाथी हथिनियोंको यह कुङ्कुम-मिश्रित जल पिलाते हैं और स्वयं भी पान करते हैं॥ २६॥

तारहेममहारत्न-विमानशतसङ्कुलाम्।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम्॥ २७॥

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकञ्च तत्।
द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः॥ २८॥

रक्तकण्ठखगानीक-स्वरमण्डितषट्पदम्।
कलहंसकुलप्रेष्ठ-खरदण्डजलाशयम्॥ २९॥

वनकुञ्जरसंघृष्ट-हरिचन्दनवायुना।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः॥ ३०॥

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः।
प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम्॥ ३१॥

इसी कैलाश पर्वतपर यक्षेश्वर कुबेरकी चाँदी एवं स्वर्णसे बनी हुई अलका नामक पुरी थी। इस पुरीमें बहुमूल्य महारत्नोंसे जड़े हुए शत-शत विमान यहाँ-वहाँ छा रहे थे। विद्युत्‌की प्रभासे प्रकाशित बादलोंसे युक्त आकाश मण्डलकी भाँति यह पुरी यक्षरमणियोंके द्वारा सेवित हो रही थी। यक्षेश्वर कुबेरकी राजधानी अलकापुरीको पार करके देवता सौगन्धिक वनमें उपस्थित हुए। सौगन्धिक वन भी विचित्र सौन्दर्यसे परिपूर्ण था। वहाँ सभी मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष विद्यमान थे, जिनमें विचित्र पुष्प, फल एवं पत्ते शोभायमान हो रहे थे। कोकिल आदि पक्षियोंके मधुर कलरवके साथ भ्रमरोंका गुञ्जन मिलकर सुननेमें बड़ा ही मीठा लग रहा था। सरोवरोंमें राजहंसोंके परमप्रिय कमल शोभाका विस्तार कर रहे थे। जङ्गली हाथी हरिचन्दन वृक्षोंसे शरीरको रगड़ रहे थे, इन घिसे हुए वृक्षोंका स्पर्श करते हुए वायु सुवासित होकर प्रवाहित हो रही थी। इस सुगन्धित वायुके स्पर्शसे पुण्यशीला यक्षकामिनियोंका चित्त और भी अधिक उन्मथित हो रहा था। उस वनमें स्थित बावड़ियोंमें विकसित कमलोंकी श्रेणी शोभा पा रही थीं तथा उनकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणिसे निर्मित थीं। उस वनमें किन्नरगण विहार कर रहे थे। अलकापुरीको पार करके सौगन्धिक वनकी ऐसी शोभाको देखते हुए देवगण कुछ आगे बढ़े कि उन्हें एक वट वृक्ष दिखलायी पड़ा॥ २७-३१॥

स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जतः॥ ३२॥

यह वट-वृक्ष सौ योजन ऊँचा था। उसकी शाखा-प्रशाखा पचहत्तर योजन तक फैली हुई थी। उस वृक्षकी अविचल छाया चारों ओर व्याप्त हो रही थी। उस वृक्षपर किसी पक्षीका कोई घोंसला नहीं था एवं उस वृक्षके नीचे तापका लेशमात्र भी नहीं था॥ ३२॥

तस्मिन् महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम्॥ ३३॥

देवताओंने उस वट-वृक्षके मूलमें मुमुक्षुओंके आश्रयस्वरूप अणिमादि सिद्धि प्रदान करनेवाले भगवान् महादेवको विराजित देखा। (अपने

द्वारा किये गये अपराधोंका स्मरण हो आनेसे देवताओंको) वे क्रोध आदिका त्याग करके बैठे हुए साक्षात् यम प्रतीत हो रहे थे॥ ३३॥

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम्॥ ३४॥

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम्॥ ३५॥

लिङ्गञ्च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम्।
अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखाञ्च बिभ्रतम्॥ ३६॥

उपविष्टं दर्भमय्यां बृष्यां ब्रह्म सनातनम्।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम्॥ ३७॥

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मञ्च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥ ३८॥

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥ ३९॥

शान्त प्रकृतिवाले महासिद्ध सनन्दनादि मुनि तथा यक्ष और राक्षस आदिके पालक एवं सखा कुबेर प्रशान्त विग्रहवाले श्रीगिरीशका स्तव कर रहे थे। भगवान् शम्भु सम्पूर्ण जगत्के बान्धव हैं। वात्सल्यवश वे सबका कल्याण करनेवाले हैं, अतः समस्त लोकोंके हितके लिए ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदि साधनोंके द्वारा तपस्यादिका अनुष्ठान करते हैं। वे अपने सन्ध्याकालीन मेघके समान रक्तिम वर्णकी आभावाले श्रीअङ्गोंपर तपस्वियोंके अभीष्ट चिह्न भस्म, दण्ड, जटा, मृगचर्म आदि एवं ललाटपर चन्द्रलेखा धारण किये हुए थे। भगवान् शम्भु कुश द्वारा निर्मित वृष्यासन (घासके आसन) पर बैठे हुए थे। सनन्दनादि अन्यान्य श्रोताओंके समक्ष देवर्षि नारद परिप्रश्न कर रहे थे और श्रीशिव नित्य सत्य वेदतत्त्वका उपदेश दे रहे थे। उन्होंने अपना बायाँ चरणकमल दायीं जंघापर और बायाँ

हाथ बायें घुटनेपर रखा हुआ था। दायीं भुजाकी कलाईपर रुद्राक्षकी माला धारण किये हुए वे तर्क मुद्रा बनाकर बैठे थे। वे योगपट्ट (लकड़ीकी बनी हुई टेकनी) का आश्रय लिए हुए थे और उनका चित्त ब्रह्मानन्द अर्थात् अधोक्षजके आश्रयमें तन्मय था। हे विदुर! महादेव मननशील मुनियोंमें अग्रगण्य हैं। लोकपालों सहित समस्त मुनियोंने उन वैष्णवप्रवर शम्भुको हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ ३४-३९॥

स तूपलभ्यागतमात्मयोंन
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-
मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः॥ ४०॥

श्रीवामन मूर्त्तिधारी भगवान् श्रीविष्णुने स्वयं पूज्यजनोंके संपूज्य होकर भी जिस प्रकार प्रजापति कश्यपको प्रणाम किया था, उसी प्रकार आज श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवताओं और असुरों द्वारा जिनके चरण वन्दित होते हैं, उन श्रीमन् महादेवने भी पद्मयोनि ब्रह्माको उपस्थित देखकर अपने आसनसे उठकर सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४०॥

तथापरे सिद्धगणा मर्हषभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम्।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः॥ ४१॥

वहाँपर जो अन्यान्य सिद्धपुरुष महर्षियोंके साथ मिलकर श्रीमन्शङ्कर भगवान्के चारों ओर बैठे हुए थे, उन्होंने भी नीललोहित शिवजीका अनुसरण करते हुए ब्रह्माजीको प्रणाम किया। सबके द्वारा प्रणाम कर लिये जानेपर आत्मयोनि ब्रह्मा चन्द्रमौलि शिवजीको प्रणामकी मुद्रामें खड़े देखकर किञ्चित् मुस्कराते हुए कहने लगे॥ ४१॥

श्रीब्रह्मोवाच—

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥ ४२॥

श्रीब्रह्माने शिव-मतावलम्बियोंके मतका अनुसरण करते हुए कहा—आप सदाशिवके रूपमें प्राकृत-अप्राकृत सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर हैं। आप प्राकृत प्रपञ्चकी योनिरूपी प्रकृति और बीजरूप पुरुष शिवके अंशी हैं। निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म भी आप ही हैं। अतः यद्यपि आपने दैन्यवशतः मुझे प्रणाम आदि किया है, तथापि मैं आपके ऐश्वर्यसे अवगत हूँ॥ ४२॥

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥ ४३॥

हे प्रभो! आप ही सदाशिवके रूपमें स्वाशंभूत पुरुष एवं प्रकृतिके अन्तरमें अवस्थित रहकर मकड़ीके समान इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय किया करते हैं॥ ४३॥

त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जथाध्वरम्।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान् ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः॥ ४४॥

हे देव! आपने ही तो धर्म-अर्थकी प्राप्ति करानेवाले ऋक, यजुः और सामरूपी वेदत्रयीकी रक्षाके लिए दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञोंकी सृष्टि की है। हे प्रभो! ब्राह्मणगण व्रतधारी होकर जिस वर्ण और आश्रम धर्मका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, उसकी मर्यादाका निर्णय भी जगत्‌में आपने ही किया है॥ ४४॥

त्वं कर्मणां मङ्गलमङ्गलानां
कर्तुः स्वलोकं तनुषे स्वः परं वा।
अमङ्गलानाञ्च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित्॥ ४५॥

हे शिव! आप शुभ कर्म करनेवालोंके लिए स्वर्ग, निजलोक अथवा मोक्ष भी प्रदान करते हैं। दूसरी ओर आप ही अशुभ कर्म करनेवालोंके लिए भीषण नरकका विधान करते हैं। हे प्रभो! फिर भी किसी-किसीके लिए उन-उन कर्मोंमें उक्त नियमोंका अर्थात् उन

कर्मोंका उल्टा फल प्राप्त होते देखा जाता है, इसका कारण क्या है? ॥ ४५ ॥

न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम्॥ ४६॥

हे प्रभो! जिन्होंने आपके चरणकमलोंमें अपने चित्तको लगा दिया है, जो स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें आपका ही व्यापक रूपमें दर्शन करते हैं और जो भेद-दर्शन-रहित दृष्टिके कारण समस्त प्राणियोंको ही आत्म-तुल्य मानते हैं, वे पशुवत् दक्षके समान कभी भी आपके क्रोधसे अभिभूत नहीं होते॥ ४६॥

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम्।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान् मा वधीद्दैववधान् भवद्विधः॥ ४७॥

जो भेददर्शी हैं, जिनकी दृष्टि जड़ीय कर्मोंमें ही आसक्त रहती है, जिनकी चिन्ता-भावना अच्छी नहीं है, दूसरोंकी सम्पदा देखकर जिनके हृदयमें निरन्तर वेदना बनी रहती है और जो दुर्वचनोंसे दूसरोंके हृदयको बिद्ध करके उन्हें दुःख देते हैं, ऐसे लोगोंके लिए ही दैव द्वारा अपराधके दण्डका विधान होता है। ऐसा जाननेके कारण आपके जैसे निरूपम साधुपुरुष उनका वध करना उचित नहीं समझते॥ ४७॥

यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात् कृते क्रमम्॥ ४८॥

हे प्रभो! यद्यपि किसी स्थानपर किसी समयमें कोई व्यक्ति श्रीविष्णुकी मायासे मोहित होकर भेदबुद्धि होनेसे कोई अपराध कर

बैठता है, तो भी साधुपुरुष अपराधी व्यक्तिके उस कार्यको प्रारब्धके द्वारा हुआ जानकर उसके प्रति कृपा ही करते हैं, कभी भी उसके नाशके लिए अपने पराक्रमको प्रकट नहीं करते॥ ४८॥

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयाऽस्पृष्टमतिः समस्तदृक्।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः–
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो॥ ४९॥

हे प्रभो! आप परमपुरुष श्रीभगवान्‌की अचिन्त्य-प्रभावशालिनी मायासे विमोहित नहीं होते, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। अतएव भगवान्‌की माया द्वारा मोहित होकर जिनका चित्त केवल जड़ कर्मोंमें ही आसक्त है, हे देव, वैसे व्यक्तिके प्रति कृपा करना आपके जैसे महत् व्यक्तिका नितान्त कर्त्तव्य हो गया है॥ ४९॥

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो–
त्वयाऽसमाप्तस्य मनो प्रजापतेः।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयाजिनो येन मखो निनीयते॥ ५०॥

हे शिव! आप ही सम्पूर्ण यज्ञोंके फलोंको प्रदान करनेवाले हैं एवं आपको यज्ञ-भाग प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकार है। दक्ष-यज्ञके बुद्धिहीन याज्ञिकोंने आपको यज्ञभाग प्रदान नहीं किया, इसलिए आपने प्रजापति दक्षके यज्ञको विनष्ट किया है। वह यज्ञ अभी तक भी समाप्त नहीं हुआ अतः अब कृपया आप उस यज्ञका पुनरुद्धार कीजिये॥ ५०॥

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत्॥ ५१॥

हे देव! अब आपकी कृपा प्राप्त करके यजमान दक्ष फिर जीवित हो उठे, भगदेवको उसके चक्षु पुनः प्राप्त हो जायें, भृगुदेवकी दाढ़ी-मूँछ और पूषादेवकी दन्तपंक्ति पुनः पूर्ववत् हो जाये॥ ५१॥

देवानां भग्नगात्राणामृत्विजाञ्चायुधाश्मभिः।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम्॥ ५२॥

हे देव! अस्त्र-शस्त्र एवं पत्थरोंके प्रहारसे जिन देवताओं एवं यज्ञ-पुरोहितोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग टूट गये हैं, वे सभी आपके अनुग्रहसे आरोग्य प्राप्त करें॥ ५२॥

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन्॥ ५३॥

हे रुद्र! आजसे यज्ञ सम्पूर्ण होनेपर जो कुछ भी अवशिष्ट रहेगा, वही आपका भाग होगा। हे यज्ञध्वंसकारी रुद्र! अब आप अपना भाग ग्रहणकर यज्ञ पूर्ण करें॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीरुद्रसान्त्वनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

यज्ञस्थलीमें श्रीविष्णुका आविर्भाव और उनकी कृपासे दक्षके यज्ञका सम्पूर्ण होना

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे महाबाहो विदुर! ब्रह्माजीके इस प्रकारके अनुनयपूर्ण वचनोंसे सन्तुष्ट होकर श्रीमन्महादेवने मुस्कराते हुए उन सभीकी ओर देखते हुए कहा—आप सभी सुनिये॥ १॥

श्रीमहादेव उवाच—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥ २॥

श्रीमहादेवने कहा—हे प्रजापते! मैं भगवान्‌की मायासे मोहित और बालकके समान नासमझ दक्षादिके अपराधकी बात अपने मुखमें भी नहीं लाता, अधिक क्या, मनमें विचार भी नहीं करता। केवल मर्यादाकी रक्षाके लिए ही मुझे दक्षके यज्ञमें दण्डका विधान करना पड़ा॥ २॥

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः॥ ३॥

प्रजापति दक्षका सिर दग्ध हो गया है, अतः अब बकरेका सिर ही उनका सिर हो और भगदेव मित्रदेवके चक्षुओंके द्वारा ही अपने यज्ञभागका दर्शन करें॥ ३॥

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक्।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः॥ ४॥

पूषा भी केवल पिसे हुए पदार्थ खानेवाला होकर यजमानके दाँतोंसे ही भक्षण करें। जिन समस्त देवताओंने मुझे यज्ञका अवशिष्ट प्रदान किया है, उनके भग्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी सम्पूर्ण रूपसे स्वस्थ हो जायें॥ ४॥

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत्॥ ५॥

जिन सब ऋत्विकोंके अङ्ग सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो गये हैं, अश्विनीकुमारोंकी भुजाओंसे वे भुजावान और सूर्यके हाथोंसे ही वे हस्तवान हों। बकरेकी दाढ़ी-मूँछ ही भृगुजीकी दाढ़ी-मूँछें हों॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन्॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वत्स विदुर! चन्द्रशेखर शिवजीके इन वचनोंको सुनकर समस्त प्राणी प्रसन्नचित्त होकर साधु-साधु कहने लगे॥ ६॥

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य सुनासीराः सहर्षिभिः।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः॥ ७॥

तत्पश्चात् देवताओंने चन्द्रमौलि महादेवसे यज्ञशालामें आकर यज्ञ सम्पन्न करनेकी प्रार्थना की तथा शिव एवं ब्रह्माको साथ लेकर वे ऋषियोंके साथ पुनः उसी यज्ञस्थलपर चले आये॥ ७॥

विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः।
सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः॥ ८॥

ऐश्वर्यशाली शिवजीने देवताओंसे जो-जो कहा था, उन्होंने उसीके अनुसार सभी कुछ सम्यक् रूपसे सम्पन्न किया और दक्षकी देहपर बकरेका सिर जोड़ दिया॥ ८॥

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम्॥ ९॥

श्रीरुद्रने जैसे ही दक्षकी देहपर बकरेका सिर जोड़कर उसकी ओर कृपादृष्टिसे अवलोकन किया, उसी समय प्रजापति दक्ष तत्क्षण ही सोकर जागनेके समान ही उठे और अपने सम्मुख महादेव भूतनाथको देखने लगे॥ ९॥

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः॥ १०॥

पहले वृषभवाहनके प्रति द्वेष करनेसे दक्षकी आत्मा कलुषित हो गयी थी, किन्तु इस समय महादेवके कृपावलोकनसे दक्षका अन्तःकरण तत्क्षणात् ही शरत्कालीन सरोवरके समान निर्मल हो गया॥ १०॥

भव-स्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया संपरेतां सुतां स्मरन्॥ ११॥

जब दक्ष शिवजीकी स्तुति करने ही वाले थे कि उन्हें स्नेहके कारण अपनी परलोकगता पुत्रीका स्मरण हो आया, जिससे वे अतिशय उत्कण्ठित हो उठे। उस उत्कण्ठाके कारण हुए अश्रुवर्षणसे उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और उनके मुखसे एक शब्द भी न निकल सका अर्थात् वे स्तव करनेमें समर्थ न हो सके॥ ११॥

कृच्छ्रात् संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः॥ १२॥

पुत्री-स्नेहसे दक्षका चित्त विवश हो गया। शुद्ध बुद्धि प्राप्त होनेके कारण दक्ष अति कष्टसे किसी प्रकार चित्तके आवेगको रोककर निष्कपट भावसे महादेवजीसे क्षमा-याचना करने लगे॥ १२॥

श्रीदक्ष उवाच—

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु॥ १३॥

श्रीदक्षने कहा—हे भगवन्! यद्यपि मैंने आपका तिरस्कार किया था, तथापि आपने मुझ अपराधीके प्रति उपेक्षा न कर उस अपराधके

उपयुक्त दण्डका विधान करके मेरे प्रति यथेष्ट कृपा प्रकाशित की है। अथवा आपकी ऐसी कृपा समुचित ही है, क्योंकि जब ब्राह्मणाभास अर्थात् आचरणहीन एवं नाममात्रके ब्राह्मणोंकी भी श्रीहरि एवं आप उपेक्षा नहीं करते, तब फिर जो मेरे समान यज्ञ-यागादि व्रतमें दीक्षित हैं, उनकी आप किस प्रकार उपेक्षा कर सकते हैं?॥ १३॥

विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक्।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव प्रभो प्रगृहीतदण्डः॥ १४॥

हे उत्कृष्ट ऐश्वर्यशाली पुरुष! आपने ही वेद एवं आत्मतत्त्वको प्रवर्त्तित करनेके लिए अपने मुखसे विद्या, तपस्या एवं व्रतधारी ब्राह्मणोंकी रचना की है। अतएव पशुपालक जिस प्रकार पशुओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी ब्राह्मणोंकी सब प्रकारकी विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं॥ १४॥

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम्।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्-
दृष्ट्यार्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्॥ १५॥

मैं आपके तत्त्वको नहीं जानता था, इसीलिए मैंने भरी सभामें आपके प्रति दुर्वचन-रूपी बाणोंका व्यवहार किया था। आप पूजनीय महानुभावोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे महिमायुक्त आपकी इस प्रकारसे निन्दा करके मैं नरकादि नीचेके लोकोंमें गिरने ही वाला था कि आपने मेरे अपराधोंको ग्रहण न कर अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे मेरी रक्षा कर ली। आप परम महान् हैं। आपको प्रसन्न करनेके लिए मुझमें कोई गुण नहीं है, आप निजगुणोंके द्वारा ही मुझपर प्रसन्न हों॥ १५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः॥ १६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—दक्षने इस प्रकार महादेव आशुतोष शङ्करसे अपना अपराध क्षमा कराकर ब्रह्माजीकी आज्ञासे उपाध्याय और ऋत्विजों आदिके साथ पुनः यज्ञ-कार्य आरम्भ कर दिया॥ १६॥

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः।
पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये॥ १७॥

ब्राह्मणोंने यज्ञ सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे तथा रुद्रके पार्षद प्रमथों (भूत-पिशाचों) के संसर्गसे उत्पन्न दोषोंकी शुद्धिके लिए तीन कपालके आकारके पात्रोंमें विष्णु भगवान्के लिए तैयार किये हुए पके अन्न और पुरोडाश नामक हवि द्वारा हवन किया॥ १७॥

अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः॥ १८॥

हे विदुर! हविको हाथोंमें लेकर खड़े हुए यजुर्वेदज्ञ पुरोहित अध्वर्युके साथ यजमान दक्ष विशुद्धचित्तसे जैसे ही ध्यानस्थ हुए, उसी समय नारायण श्रीहरि प्रकट हो गये॥ १८॥

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना॥ १९॥

तब श्रीहरि अपने शरीरकी प्रभाके द्वारा दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए एवं ब्रह्मा आदि देवताओंके प्रभावको खण्डित करते हुए 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नामक दो पँखोंसे युक्त गरुड़जीकी पीठपर आरोहणपूर्वक वहाँपर उपस्थित हुए॥ १९॥

श्यामो हिरण्यरसनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः॥ २०॥

श्यामवर्णयुक्त श्रीहरिकी कमरमें स्वर्णकी करधनी दोदुल्यमान हो रही थी तथा उनके सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट सुशोभित हो रहा था। श्रीहरिके कान्तिमय कुण्डलोंसे युक्त मुखकमलपर

कृष्णवर्णकी अलकावलियाँ भ्रमरोंके समान विहार कर रही थीं। उनकी भुजाएँ स्वर्णके आभूषणोंकी आभासे स्वर्णवर्णकी कान्तिको धारण कर रही थीं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शर, धनु, असि एवं ढाल धारण किये हुए वे अपने अनुचरोंकी रक्षाके लिए व्यग्र दिखायी दे रहे थे। वे इन अस्त्रोंको धारणकर इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, जैसे पुष्पोंसे युक्त कनेरका वृक्ष होता है॥ २०॥

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम्।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः॥ २१॥

उनके वक्षःस्थलपर प्रियतमा लक्ष्मीदेवी सुशोभित थीं और कण्ठमें वनके फूलोंसे बनी माला विराजित थी। वे अपने मुक्त माधुर्य वर्षी हास्य और लीलामय कटाक्षकी चातुरीसे समस्त जगत्‌को आमोदित कर रहे थे। पार्षदगण एक ओरसे राजहंसके समान सफेद पङ्खा एवं दूसरी ओरसे चँवर ढुला रहे थे तथा उनके सिरके ऊपर पूर्ण चन्द्रमाके समान रमणीय श्वेतछत्र अतिशय शोभाका विस्तार कर रहा था॥ २१॥

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः॥ २२॥

भगवान् श्रीहरिको वहाँ उपस्थित हुआ देखकर ब्रह्मा, इन्द्र एवं त्रिलोचन महादेव आदि प्रमुख देवताओंने सम्भ्रमपूर्वक उठकर उन्हें प्रणाम किया॥ २२॥

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः।
मूर्ध्ना कृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम्॥ २३॥

श्रीहरिके तेजके समक्ष सबका प्रभाव फीका पड़ गया। भगवान्‌के महिमा-गाम्भीर्यसे सबका चित्त भयसे विह्वल हो गया और वाणी गद्‌गद हो गयी। वे हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर अधोक्षज श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥ २३॥

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम्॥ २४॥

जिन श्रीहरिकी महिमाके सामने ब्रह्मादि प्रमुख देवताओंकी बुद्धि वृत्ति तुच्छ प्रतिपन्न हुई, जो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए कृपापूर्वक अपने श्रीविग्रहको प्रकट करते हैं, देवतालोग अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार ऐसे श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥ २४॥

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम्।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः॥ २५॥

सर्वप्रथम प्रजापति दक्षने चित्तको संयत करके विनीत भावसे हाथ जोड़े और एक उत्तम पात्रमें पूजाके द्रव्योंको लेकर विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके परमगुरु तथा सुनन्द-नन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीहरिकी आनन्दित होकर स्तुति करते हुए उनके शरणापन्न हो गये॥ २५॥

श्रीदक्ष उवाच—

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः॥ २६॥

श्रीदक्षने कहा—हे भगवन्! आप अपनी स्वरूपशक्तिके वैभवस्वरूप परम धाम वैकुण्ठमें रहते हैं। आप ब्रह्मा-रुद्रादिके समान कभी भी प्रकृतिके संसर्गमें आविष्ट नहीं होते। अतएव आप परम शुद्ध, चिद्घनस्वरूप अद्वय-ज्ञानतत्त्व हैं। आपमें द्वितीय वस्तुरूप मायाका अवस्थान नहीं है, इसलिए आप अभयस्वरूप और मायाधीश होनेके कारण मायाको अभिभूत करनेमें समर्थ हैं। आप परम स्वतन्त्र भगवत्-रूपमें रहते हुए भी महत्-तत्त्वके स्रष्टा कारणार्णवशायी पुरुषका रूप धारण करके प्रकृतिके प्रति ईक्षणादि मायासे सम्बन्धित

कार्यमें नियुक्त रहते हैं। यही कारण है कि प्राकृत लोग आपको अपनी अक्षज दृष्टिके कारण अशुद्धके समान देखते हैं, किन्तु वस्तुतः आप विशुद्ध मायाधीशके रूपमें ही अवस्थान करते हैं॥ २६॥

श्रीऋत्विज ऊचुः—

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो भगवन् विदामः।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः॥ २७॥

ऋत्विजोंने कहा—हे निरञ्जन! रुद्रके प्रधान अनुचर नन्दीश्वरके अभिशापसे हमारी बुद्धि कर्मोंमें ही आसक्त हो गयी है। हम नितान्त मूर्ख हैं, इसलिए आपके तत्त्वको नहीं जानते हैं। हम आपके वेदत्रयीके प्रतिपाद्य एवं धर्मके उपलक्षण-स्वरूप 'यज्ञ' नामक स्वरूपसे ही अवगत हैं। हम तो यही समझते हैं कि आपने यज्ञ-सिद्धिके उद्देश्यसे ही विभिन्न देवताओंके लिए उनके अधिकारोचित 'इस कर्मके यही देवता हैं'—इस प्रकारसे यज्ञभाग आदिकी व्यवस्था की है॥ २७॥

श्रीसदस्या ऊचुः—

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः॥ २८॥

सदस्योंने कहा—हे आश्रयप्रद! संसार-मार्ग अनेक प्रकारके दुःसहनीय क्लेशोंके कारण अतिशय दुर्गम है, यमरूपी भयानक कालसर्प निरन्तर इसके प्रति लक्ष्य साधकर बैठा हुआ है, यह स्थान सुख-दुःखादि गड्ढोंसे परिपूर्ण है, खल (दुर्जन) रूपी जङ्गली व्याघ्रादिका भय इस स्थानपर निरन्तर बना रहता है, यहाँपर शोकरूप दावाग्नि सदा ही धधकती रहती है, विषयरूपी मृगतृष्णा जीवोंको सर्वदा ही लुभाती रहती है तथा इसमें विश्रामका कोई स्थल नहीं है। अज्ञ व्यक्ति ऐसे जन्म-मरणादि लक्षणोंसे युक्त संसार-मार्गमें ही देह एवं गृहके भारी बोझको उठाये जीते रहते हैं और कामवश पीड़ित रहते हैं। हे प्रभो!

अतः फिर ऐसा कौन-सा दिन होगा, जब उन्हें आपके चरणरूप आश्रयस्थलकी प्राप्ति होगी? ॥ २८ ॥

श्रीरुद्र उवाच—

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत् त्वत्परानुग्रहेण॥ २९॥

श्रीरुद्रने कहा—हे वरदायक प्रभो! आपके श्रीचरण समस्त अभिलषित फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं, इसलिए निष्काम मुनि भी बड़े आदरके साथ आपके उत्तम चरणोंकी सेवा करते हैं। मेरा चित्त आपके उन सर्वाभीष्टप्रद चरणोंमें ही सदा-सर्वदा संलग्न रहता है, इसीलिए मूर्ख (दक्षादि) मुझे सदाचारभ्रष्ट कहकर जल्पना करते हैं। परन्तु आपकी परम अनुकम्पासे मैं इन व्यर्थकी बातोंपर ध्यान ही नहीं देता हूँ॥ २९॥

श्रीभृगुरुवाच—

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः।
नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः॥ ३०॥

श्रीभृगुने कहा—जिनकी दुस्तर माया द्वारा तत्त्वज्ञानके आच्छादित हो जानेसे ब्रह्मादि देह-धारी भी अज्ञानरूपी अन्धकारमें शयन कर रहे हैं, जिनका तत्त्व उन ब्रह्मादिकी आत्मामें सुप्तभावसे अवस्थित रहनेपर भी वे सब अभी तक भी उस तत्त्वकी उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं हो रहे, वही शरणागतोंके पालक आप प्रसन्न हों॥ ३०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नैतत् स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत्।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम्॥ ३१॥

श्रीब्रह्माने कहा—प्रभो! जीव जड़-विषयोंको ग्रहण करनेवाली जड़-इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है। असत् वस्तुमात्र ही मायामय है, आप उससे भिन्न हैं—यही साधुओंका अभिमत है। आप ज्ञान, पदार्थ तथा इन्द्रियोंके आश्रय हैं॥ ३१॥

श्रीइन्द्र उवाच—

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम्।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥ ३२॥

श्रीइन्द्रने कहा—हे अच्युत! आप धर्म-संस्थापक एवं अधर्म-विनाशक हैं। आपकी देहका प्राकट्य विश्वके कल्याणके लिए ही हुआ है, इसलिए यह भक्तोंके मन एवं नेत्रोंके लिए आनन्ददायक है। आप भक्तविद्वेषी दैत्योंके विनाशके लिए अपने हाथोंमें सदा ही नाना प्रकारके अस्त्र धारण किए रहते हैं, इसलिए आपकी आठों भुजाएँ आठ दीर्घ दण्ड़ोंके समान आपके शरीरसे संयुक्त हैं॥ ३२॥

श्रीपत्न्य ऊचुः—

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात्।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन् नलिनरुचा दृशा पुनीहि॥ ३३॥

ऋत्विकोंकी पत्नियोंने कहा—हे यज्ञेश्वर! आपके पूजनके लिए ही ब्रह्माजीने पहले इस यज्ञका प्रवर्त्तन किया था। किन्तु दक्षके प्रति कुपित होनेके कारण श्रीमहादेवने इस यज्ञका विध्वंस कर दिया था। इस समय यहाँपर होनेवाला पशुहिंसारूप उत्सव समाप्त हो गया है, अतएव आप हमारे यज्ञको पद्मपलाश लोचनोंकी-सी कान्तिवाले अपने नेत्रोंकी कृपादृष्टिसे पवित्र कीजिये॥ ३३॥

श्रीऋषय ऊचुः—

अनन्वितं तव भगवन् विचेष्टितं
यदात्मनाचरसि हि कर्म नाज्यसे।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान्॥ ३४॥

ऋषियोंने कहा—हे भगवन्! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है, क्योंकि आप स्वयं कार्य करके भी कार्यके साथ लिप्त नहीं होते। अन्यान्य जीव विभूतिकी कामनासे जिन लक्ष्मीदेवीकी सेवा करते हैं, वे लक्ष्मी स्वयं आपकी सेवाके लिए लालायित रहती हैं, किन्तु फिर भी आप उसे ग्रहण नहीं करते॥ ३४॥

श्रीसिद्धा ऊचुः—

अयं तत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः।
तृषार्त्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः॥ ३५॥

सिद्धगणोंने कहा—हे भगवन्! हमारा मनरूपी हाथी क्लेशरूप दावानलसे दग्ध होनेके कारण तृष्णाओंसे कातर रहता है। किन्तु जिस समय हमारा मन आपकी कथारूप विशुद्ध अमृतमयी सरितामें अवगाहन करता है, उस समय वह दावाग्नि तुल्य संसार-क्लेशको भूल जाता है और भगवत्-सेवा सम्पत्तिसे सम्पन्न व्यक्तिकी भाँति आपकी सेवाका परित्याग करके दूसरे विषयोंमें आविष्ट नहीं होता॥ ३५॥

श्रीयजमान्युवाच—

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः॥ ३६॥

यजमान दक्षकी पत्नी प्रसूतिने कहा—हे ईश! आपका स्वागत है, आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं आपको प्रणाम करती हूँ। हे श्रीनिवास! आप अपनी पत्नी लक्ष्मीदेवीके साथ हमारी रक्षा कीजिये। हे अधीश (सर्वोपरि)! सिरसे रहित कबन्ध (धड़मात्रसे युक्त) पुरुष जिस प्रकार केवल हाथ-पैर आदि अङ्गोंसे शोभित नहीं होता, उसी प्रकार अन्य अङ्ग-उपाङ्गोंसे पूर्ण होनेपर भी यह यज्ञ आपके बिना शोभायमान नहीं हो रहा॥ ३६॥

श्रीलोकपाला ऊचुः—

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन विश्वम्।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यत् त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः॥ ३७॥

लोकपालोंने कहा—हे भगवन्! आप सबके साक्षी हैं, अतः आप सदैव सम्पूर्ण जगत्को देख रहे हैं। हम अपनी विषयोंसे अभिभूत प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा किस प्रकारसे आपको देख पायेंगे? आप पञ्चभूतोंसे परे षष्ठ स्वरूप (अर्थात् चिन्मय स्वरूप) वाले होकर भी हमारे सामने जिस पाञ्चभौतिक शरीरके समान प्रकाशित हो रहे हैं, यह भी आपकी मायाका ही प्रभाव है॥ ३७॥

श्रीयोगेश्वरा ऊचुः—

प्रेयान् न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग् य आत्मनः।
अथापि भक्त्येश तयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल॥ ३८॥

योगेश्वरोंने कहा—हे प्रभो! आप समस्त जीवोंके आश्रयस्वरूप हैं तथा सभी जीव आपके नित्यदास हैं। जो उन जीवोंको आपका शक्तिस्वरूप जानकर उन्हें आपसे अभिन्न अर्थात् उनका आपसे भेदाभेद सम्बन्ध दर्शन करता है, उससे अधिक आपका और कोई प्रिय नहीं है। फिर भी, हे ईश! हे भक्तवत्सल! हम तो उस अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्वके अप्राकृत सूक्ष्मत्वकी धारणा न कर पानेके

कारण भेदवादी अर्थात् प्रभु और दासके भेदको ही प्रबल जानकर आपमें अनन्य भक्ति करते हैं, हमारे जैसे निम्न अधिकारियोंके प्रति आप अनुग्रह प्रकाश करें॥ ३८॥

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः॥ ३९॥

हे भगवन्! जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए अदृष्ट अर्थात् प्रारब्धवशतः आपकी बहिरङ्गा-मायाके समस्त गुण बहुत प्रकारसे विभाजित हुआ करते हैं। आप सृष्टि आदि कार्योंके लिए उस मायाके द्वारा ही जीवोंमें अपने भगवत्-स्वरूपके प्रति भेदबुद्धि उत्पन्न कराते हैं अर्थात् जीव आपकी मायाके प्रभावसे जड़भेदवादी होकर अचिन्त्य-भेदाभेदके रहस्यको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। अतएव हम आपके शरणागत होते हैं, क्योंकि जीव शुद्ध-स्वरूपमें अवस्थित होकर एकमात्र आपकी कृपासे ही द्वितीयाभिनिवेशसे उत्पन्न भेदभ्रमसे निवृत्ति प्राप्त करता है। अतएव ऐसे महिमान्वित आपको हम केवल प्रणाम ही कर सकते हैं॥ ३९॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनाञ्च सूतये।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च॥ ४०॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आपने विशुद्ध सत्त्वगुणको स्वीकार किया है, आप धर्मादिको उत्पन्न करनेवाले हैं, आप निर्गुणस्वरूप हैं, अतएव मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप भगवान् हैं, इसलिए आपके अचिन्त्य तत्त्वको मैं नहीं जानता हूँ, रुद्रादि देवता भी उस तत्त्वको नहीं जानते हैं॥ ४०॥

श्रीअग्निरुवाच—

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम्।

तं यज्ञियं पञ्चविधञ्च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम्॥ ४१॥

श्रीअग्निने कहा—जिनके तेजसे ही सम्यक् रूपसे प्रज्वलित होकर मैं यज्ञोंमें घृतसे अभिषिक्त हव्य-सामग्रीको वहन किया करता हूँ, जो अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य एवं पशुसोम—इन पाँच प्रकारके यज्ञोंके स्वरूप हैं एवं जो इन पाँच प्रकारके यज्ञमन्त्रों द्वारा पूजित होते हैं, मैं उन्हीं यज्ञेश्वर श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ॥ ४१॥

श्रीदेवा ऊचुः—

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने।
पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः॥ ४२॥

देवताओंने कहा—जो आदिपुरुष पूर्वकालमें कल्पके अन्त होनेके समय अपनेसे भिन्न आकारमें परिणत निखिल कार्यरूप प्रपञ्चको अपने उदरमें लीन करके कारर्णाणव जलमें अनन्त शय्यापर शयन करते हैं, सनकादि सिद्धगण ज्ञानमार्गसे जिनका हृदयमें विशेष रूपसे स्मरण करते हैं—वही आदिपुरुष आज हमारे नयनपथके पथिक होकर विचरण कर रहे हैं और हमें सेवक जानकर हमारी रक्षा कर रहे हैं॥ ४२॥

श्रीगन्धर्वाप्सरस ऊचुः—

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूम-
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम॥ ४३॥

गन्धर्वों एवं अप्सराओंने कहा—हे देव! मरीचि आदि प्रजापति एवं श्रीब्रह्मा, इन्द्र और रुद्रादि प्रमुख देवता आपके अंशके भी अंश हैं। यह विश्व आपकी क्रीड़ाका उपकरण है। हे नाथ! हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ४३॥

श्रीविद्याधरा ऊचुः—

तन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत्॥ ४४॥

विद्याधरोंने कहा—हे भगवन्! यद्यपि दुर्मति मनुष्य पुरुषार्थ-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप इस मानव देहको प्राप्त करके भी कुमार्गपर चलनेवाले अपने पुत्रादि आत्मीजनोंसे तिरस्कृत होकर दुःख प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु तथापि वे आपकी मायासे मोहित होकर इस देहमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमानकर अनित्य विषयोंकी ही लालसा करते रहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति आपके कथामृतके पिपासु हैं, वे ऐसे देहात्माभिमानरूप मोहका दूरसे ही त्यागकर सकते हैं॥ ४४॥

श्रीब्राह्मणा ऊचुः—

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः॥ ४५॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे प्रभो! आप स्वयं यज्ञ-स्वरूप हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही मन्त्र हैं, आप ही समिधा हैं, आप ही यज्ञ-पात्र हैं, आप ही सदस्य हैं, आप ही ऋत्विक हैं, आप ही सपत्नीक यजमान हैं, आप ही देवता हैं, आप ही अग्निहोत्र हैं, आप ही स्वधा हैं, आप ही सोमरस हैं, आप ही हवनीय घृत और आप ही यज्ञीय पशु हैं॥ ४५॥

त्वं पुरा गां रसाया महाशूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः॥ ४६॥

हे वेदमूर्ते! आप ही यूपयुक्त यज्ञ हैं अथवा यज्ञ-सङ्कल्प स्वरूप हैं। गजेन्द्र जिस प्रकार खेल-ही-खेलमें कमलिनीको उठा लेता है, आपने भी उसी प्रकार पूर्वकालमें लीलापूर्वक महाशूकररूप धारणकर गर्जन करते हुए अपनी दाढ़ोंके अग्रभागसे रसातलमें निमग्न वसुन्धराका उद्धार किया था। उस समय योगीगण आपकी वन्दना कर रहे थे॥ ४६॥

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम्।
कीर्त्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः॥ ४७॥

हे यज्ञेश! इस समय वही आप हमारे प्रति प्रसन्न हों। हमारा यज्ञरूप सत्कार्य भ्रष्ट हो गया था, इसीलिए हम आपके दर्शनोंकी अभिलाषा कर रहे थे। मनुष्य जिस समय आपका नाम-सङ्कीर्त्तन करता है, उस समय उसके यज्ञसे सम्बन्धित सभी विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रभावशाली आपको हम नमस्कार करते हैं॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम्।
कीर्त्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये यज्ञभावने॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार सबलोग यज्ञेश्वर भगवान् हृषीकेशके गुणोंका गान करते रहे। परम बुद्धिमान दक्षने भी रुद्रके पार्षद वीरभद्रके द्वारा विनष्ट यज्ञको पुनः आरम्भ कर दिया॥ ४८॥

भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ॥ ४९॥

हे निष्पाप विदुर! भगवान् विष्णु समस्त देवताओंकी आत्मा होनेके कारण समस्त यज्ञांशोंके भागी होनेपर भी अपने भाग द्वारा अत्यधिक सन्तुष्ट होकर दक्षको सम्बोधित करते हुए कहने लगे॥ ४९॥

श्रीभगवानुवाच—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥५०॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे दक्ष! मैं जगत्का परम कारण, आत्मा, ईश्वर एवं साक्षी स्वरूप हूँ। मैं स्वयं-प्रकाश, जड़-उपाधि-शून्य एवं अप्राकृत वस्तु हूँ। मैं ही गुणावतार ब्रह्मा और शिवके रूपमें प्रकाशित होता हूँ॥५०॥

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥५१॥

हे विप्र! एकमात्र मैं ही त्रिगुणात्मक मायाका आश्रय करके भी गुणातीत रहनेवाला हूँ। मैं ही सत्त्वगुण-स्वरूप मायाधीश विष्णुके रूपमें जगत्की रक्षा करता हूँ। मैं ही ब्रह्मा एवं रुद्रके रूपमें जगत्की सृष्टि एवं संहार करता हूँ। इस प्रकार मैं ही इन त्रिविध कार्योंके उपयुक्त स्रष्टा, पालक एवं संहारक अथवा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश नाम धारण करता हूँ॥५१॥

तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥५२॥

मैं अद्वयज्ञान-परतत्त्व स्वरूप हूँ अर्थात् मुझसे अलग किसीका भी स्वतन्त्र अधिष्ठान या भगवत्ता नहीं है। मैं ही एकमात्र स्वतन्त्र भगवान् हूँ। ब्रह्मा, रुद्रादि सभी मेरे अधीनतत्त्वके रूपमें मुझमें ही अवस्थित हैं। अज्ञानी व्यक्ति ही मेरे गुणावतार ब्रह्मा, रुद्र और सम्पूर्ण जीवोंको मुझसे स्वतन्त्र मानते हैं॥५२॥

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥५३॥

जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने सिर और हाथ आदि अङ्गोंको कभी भी स्वयंसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मुझमें अनुरक्त व्यक्ति भी ब्रह्मा, रुद्रादि देवताओं एवं प्राणीमात्रको मुझसे स्वतन्त्र रूपमें नहीं मानते, अर्थात् वे इसे भलीभाँति जानते हैं कि अद्वयज्ञान-स्वरूप

मुझसे भेदाभेद-सम्बन्ध युक्त होकर ही समस्त देवता एवं जीव अवस्थान कर रहे हैं॥ ५३॥

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥ ५४॥

हे ब्रह्मन्! हम ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तीनों ही अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्धसे युक्त हैं। समस्त प्राणियोंके आत्म-स्वरूप हममें जो भेद-बुद्धि नहीं रखते अर्थात् भेदाभेद-तत्त्वके रूपमें हमें परस्पर अभिन्न मानकर हमारा दर्शन करते हैं—वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं॥ ५४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत्॥ ५५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! भगवान् श्रीविष्णुके द्वारा इस प्रकार आज्ञा प्रदान किये जानेपर प्रजापतियोंके प्रधान दक्षने 'त्रिकपाल' नामक यज्ञ द्वारा भगवान् श्रीहरिका पूजन किया और बादमें 'अङ्ग' एवं 'प्रधान'—इन दोनों प्रकारके यज्ञोंके द्वारा अन्य देवताओंकी पूजा की॥ ५५॥

रुद्रञ्च स्वेन भागेन ह्युपाधावत् समाहितः।
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः॥ ५६॥

इसके बाद एकाग्रचित्तसे यज्ञके अवशिष्टरूप रुद्रके भाग द्वारा रुद्रदेवकी पूजा की और यज्ञसमापक कर्मसे सोमपायी एवं अन्यान्य देवताओंके पूजनमें प्रवृत्त हुए। अन्तमें यज्ञका समापनकर दक्षने ऋत्विकोंके साथ यज्ञके समाप्त होनेपर किया जानेवाला स्नान किया॥ ५६॥

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे।
धर्म एव मतिं दत्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः॥ ५७॥

यद्यपि भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे ही प्रजापति दक्षके समस्त अभीष्ट सिद्ध हुए थे, तथापि सभी देवताओंने उन्हें 'धर्ममें सदा तुम्हारी मति रहे'—यह वर प्रदान किया तथा स्वर्गलोकको चले गये॥ ५७॥

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम्।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम॥ ५८॥

हे विदुर! मैंने सुना है कि दक्षकी पुत्री सतीने पूर्वोक्त प्रकारसे अपनी देहका परित्याग करके बादमें हिमालयकी पत्नी मेनकाके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था॥ ५८॥

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्॥ ५९॥

जिस प्रकार प्रलय-कालमें लीन हुई प्रकृति पुनः सृष्टिके आरम्भमें कारणार्णवशायी पुरुषका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्य परायणा सतीने उस जन्ममें भी पुनः अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम वैष्णवप्रवर भगवान् शङ्करका ही भजन किया अर्थात् पुनः देवी सतीने पत्नी बनकर उनकी सेवा की॥ ५९॥

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः॥ ६०॥

हे विदुर! दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले ऐश्वर्यशाली रुद्रके इस चरित्रको मैंने बृहस्पतिके परमभागवत शिष्य श्रीउद्धवके मुखसे सुना था॥ ६०॥

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम्।
यो नित्यदाकर्ण्य नरोऽनुकीर्त्तयेद्-
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः॥ ६१॥

हे विदुर! वैष्णवराज शम्भुकी यह चरित-कथा परम पवित्र, यश प्रदान करनेवाली, आयुको बढ़ानेवाली तथा अनर्थोंका ध्वंस करनेवाली

है। जो व्यक्ति भगवान् विष्णु एवं वैष्णवराज शिवके इस चरित्रका नित्यकाल श्रवणपूर्वक अनुकीर्त्तन करता है, उसके हृदयमें भक्ति प्रकट हो जाती है और वह अपने तथा दूसरोंके संसाररूपी क्लेशका विनाश करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दक्षयज्ञसन्धानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

विमाताके दुर्वचनोंसे पाँच वर्षीय बालक ध्रुवका वन-गमन और कठोर तपस्या

श्रीमैत्रेय उवाच—

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरतसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! चतु:सन, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—श्रीब्रह्माके ये सभी पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, इन्होंने गृहस्थाश्रमको स्वीकार नहीं किया था॥ १॥

मृषाधर्मस्य भार्यासीद्दम्भं मायाञ्च शत्रुहन्।
असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजाः॥ २॥

हे शत्रुविनाशक विदुर! श्रीब्रह्माके पुत्र 'अधर्म' की 'मृषा' अथवा 'मिथ्या' नामकी एक पत्नी थी। उस मिथ्याने 'दम्भ' नामक पुत्र एवं 'माया' नामकी कन्याको जन्म दिया। अधर्मके अंश होनेके कारण भाई और बहन होनेपर भी 'दम्भ' एवं 'माया'—दोनोंमें स्त्री-पुरुष सम्बन्ध हो गया। नैऋत कोणका अधिपति निर्ऋति (राक्षस) सन्तानरहित था, इसलिए उसने इन दोनोंको अपनी सन्तानके रूपमें ग्रहण कर लिया॥ २॥

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः॥ ३॥

हे महामते विदुर! उन 'दम्भ' एवं 'माया' से 'लोभ' नामक एक पुत्र एवं 'शठता' नामकी एक कन्याने जन्म-ग्रहण किया। उनमें भी परस्पर दाम्पत्य भाव होनेके कारण उनके मिलनसे 'क्रोध' एवं 'हिंसा' उत्पन्न हुए। 'कलि' (कलह) उस 'क्रोध' एवं 'हिंसा' का ही पुत्र है एवं 'दुरुक्ति' (गाली) उस कलि (कलह) की बहन है॥ ३॥

दुरुक्तौ कलिराधत्त भियं मृत्युञ्च सत्तम।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा॥ ४॥

हे साधुश्रेष्ठ विदुर! इस दुरुक्तिके गर्भसे कलिने 'भीति' नामकी कन्या एवं 'मृत्यु' नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। इस 'भीति' एवं 'मृत्यु' से 'यातना' नामकी कन्या एवं 'नरक' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ ४॥

संग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ।
त्रिःश्रुत्वैतत् पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम्॥ ५॥

हे निर्दोष विदुर! मैंने इस प्रकारसे आपके निकट संक्षेपमें प्रलयके कारणरूप इस अधर्मके वंशका वर्णन किया। जो प्राणी इस अधर्म-वंशके आख्यानका तीन बार श्रवण करता है, उसके मनकी मलिनता दूर हो जाती है॥ ५॥

अथातः कीर्त्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः॥ ६॥

हे कुरुकुल श्रेष्ठ विदुर! अब मैं पुण्यकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिके अंश (ब्रह्माजी) के अंश स्वायम्भुव मनुके वंशका वर्णन करूँगा॥ ६॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ॥ ७॥

हे विदुर! महारानी शतरूपाके पति स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत एवं उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों भगवान् श्रीवासुदेवके अंशसे अवतीर्ण होकर पृथ्वीके पालनमें नियुक्त थे॥ ७॥

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः॥ ८॥

उत्तानपादकी सुनीति एवं सुरुचि नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें सुरुचि ही पतिको अधिक प्रिय थी, किन्तु दूसरी पत्नी सुनीति, जिसके पुत्रका नाम ध्रुव था, अपने स्वामीकी वैसी प्रिय नहीं बन पायी॥ ८॥

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन्।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत॥ ९॥

एकबार राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें बैठाकर बड़ा दुलार कर रहे थे। उसी समय सुनीतिके पुत्र ध्रुवने भी पिताकी गोदमें बैठनेकी इच्छा प्रकाशित की, किन्तु राजा सुरुचिके भयसे उसका समादर नहीं कर सके॥ ९॥

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम्।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता॥ १०॥

तब अत्यन्त घमण्डसे भरी सुरुचि सौतके पुत्र ध्रुवको राजाकी गोदमें चढ़नेका इच्छुक देखकर ईर्ष्यालु हो उठी और राजाके सम्मुख ही ध्रुवसे कहने लगी॥ १०॥

न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति।
न गृहीतो मया यत् त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः॥ ११॥

वत्स ध्रुव! तुम राजाके पुत्र हो, यह सत्य है, परन्तु क्योंकि तुमने मेरे गर्भसे जन्म-ग्रहण नहीं किया, अतः तुम किसी भी प्रकारसे राजाकी गोदमें (राजसिंहासनपर) बैठनेके योग्य नहीं हो सकते॥ ११॥

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्।
नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः॥ १२॥

हाय! तुम बालक होनेके कारण अभी नासमझ हो। तुम दूसरी स्त्रीके गर्भमें पुष्ट हुए थे, इसे तुम अवश्य ही नहीं जानते हो। यदि जानते होते, तो तुममें इस प्रकारके दुष्प्राप्य विषयकी अभिलाषा ही उत्पन्न न होती॥ १२॥

तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ १३॥

हे वत्स! यदि तुम राजसिंहासनको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो, तो तपस्या द्वारा श्रीभगवान्की आराधना करके उनके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म-ग्रहण करो॥ १३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

मातुः सपत्न्याः सुदुरुक्तिविद्धः
श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः।

हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः स रुदन् सकाशम्॥ १४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सौतेली माता सुरुचिने अति दुरुक्तिपूर्ण कठोर वचनोंसे ध्रुवके हृदयको बहुत अधिक आघात पहुँचाया। पिता उत्तानपाद सुरुचिको ऐसा व्यवहार करते हुए देखकर भी चुप बैठे रहे, उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकला। बालक ध्रुव यह सब देखकर डण्डेसे चोट खाये सर्पके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेते हुए रोते-रोते अपनी माता सुनीतिके पास चले आये॥ १४॥

तं निश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्गमुदूह्य बालम्।
निशम्य तत् पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या॥ १५॥

बालक ध्रुवके होंठ फड़क रहे थे, वे दीर्घनिःश्वास लेते हुए सिसक-सिसककर रो रहे थे। यह देखकर माता सुनीतिने पुत्र ध्रुवको गोदमें उठा लिया। अन्तःपुरके अन्य लोगोंसे जब उन्हें यह पता चला कि सौत सुरुचिकी कही हुई बातें ही बालकके रोनेका कारण हैं, तब वे अत्यन्त व्यथित हो गयीं॥ १५॥

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
दावाग्निना दावलतेव बाला।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह॥ १६॥

ध्रुवकी माता सुनीति अब अधिक धैर्य धारण न कर सकीं। वे दावाग्निके बीच स्थित लताके समान शोकाग्निसे सन्तप्त होकर रोने लगीं। अपनी सौतके वाक्य जितने-जितने उन्हें याद आते जाते थे, उतने ही उनके कमल-सदृश सुन्दर नेत्रोंसे अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगती थीं॥ १६॥

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
मपश्यती बालकमाह बाला।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत् परदुःखदस्तत्॥ १७॥

अपने दुःखोंका कहीं अन्त होता नहीं देखकर वे दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बालक ध्रुवसे बोलीं—वत्स! तुम्हारी विमाताने तुम्हारा अपकार किया है, ऐसा सोचकर तुम उन्हें दोष मत देना। अपने द्वारा की गयी पुरानी सुकृतियों और दुष्कृतियोंके फलस्वरूप ही जीव सुख और दुःख अनुभव करता है। जो दूसरोंको दुःख देता है, उसे अगले जन्ममें उस दुःखका भोग करना पड़ता है॥ १७॥

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान् मे
यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम्॥ १८॥

वत्स! तुमने मुझ मन्दभागिनीके उदरसे जन्म-ग्रहण किया है और मेरे ही दूधसे तुम पले हो—यह सुरुचिने सत्य ही कहा है। हाय! राजा मुझे 'पत्नी' का तो कहना ही क्या, 'दासी' कहकर भी स्वीकार करनेमें लज्जा करते हैं॥ १८॥

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥ १९॥

अतः वत्स ध्रुव! यदि तुम अपने भाई सुरुचिके पुत्र उत्तमके समान राजसिंहासन प्राप्त करना चाहते हो, तो फिर तुम मात्सर्यको त्यागकर तुम्हारी विमाता होनेपर भी सुरुचिने तुम्हें 'अतीन्द्रिय भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंकी आराधना करो', जो कपट-रहित सत्य वचन कहे हैं, उन वचनोंका पालन करो॥ १९॥

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत् खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम्॥ २०॥

उन्हीं अधोक्षज भगवान् श्रीहरिने इस विश्वके पालनके लिए सत्त्वगुण प्रधान विग्रहको स्वीकार किया है। मन एवं प्राणोंको जीतनेवाले योगियोंके द्वारा वन्दनीय उन्हीं भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी सेवा करके ब्रह्माजीने भी सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है॥ २०॥

तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम्॥ २१॥

श्रीब्रह्माजीने जिस प्रकार भगवान्की आराधना करके पारमेष्ठ्य पदको प्राप्त किया था, तुम्हारे पितामह ऐश्वर्यशाली स्वायम्भुव मनुने भी उसी प्रकार एकाग्र बुद्धिसे बहुत-सी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए श्रीहरिकी आराधना की थी और दूसरोंके लिए दुर्लभ लौकिक, पारलौकिक एवं मोक्षके सुखको प्राप्त किया था॥ २१॥

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥ २२॥

अतएव वत्स ध्रुव! जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले मुक्तिकामी व्यक्ति भी जिनके चरणकमलरूप मार्गको ढूँढ़ते हैं, तुम दूसरी सभी वस्तुओंके प्रति आसक्ति छोड़कर अपने भक्तिधर्मसे शोधित चित्तमें उन भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिको स्थापितकर उन्हींकी आराधना करो॥ २२॥

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्-
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥ २३॥

वत्स! कमलदल-लोचन श्रीहरिके अतिरिक्त मुझे दूसरा कोई भी व्यक्ति तुम्हारे दुःखको दूर करनेमें समर्थ दिखायी नहीं देता। इसका कारण है कि ब्रह्मादि देवता भी मनको एकाग्र करके जिन महालक्ष्मीका ध्यान किया करते हैं, वे महालक्ष्मी भी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिये स्वयं उन्हीं श्रीहरिको ढूँढ़ती रहती हैं॥ २३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं संजल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः।
संनियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात्॥ २४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माता सुनीतिने इस प्रकार विलाप करते हुए जब स्वाभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाले वचन कहे, तो उन्हें सुनकर बालक ध्रुवने बुद्धिके द्वारा मनमें धैर्य धारण किया और पिताके घरसे बाहर निकल गये॥ २४॥

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा चास्य चिकीर्षितम्।
स्पृष्ट्वा मूर्द्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः॥ २५॥

दूसरी ओर, देवर्षि नारद पुरवासियोंसे ध्रुवके घरसे निकलने एवं उनके मनोऽभीष्ट (भगवत्-आराधनाके विषय) को जानकर बहुत विस्मित हुए तथा वे ध्रुवके निकट पहुँचकर उसके सिरपर अपना पापनाशक करकमल फेरते हुए मन-ही-मन कहने लगे॥ २५॥

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम्।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत् समातुरसद्वचः॥ २६॥

अहो! अपमानको सहन करनेमें असहिष्णु क्षत्रियोंका यह कैसा अद्भुत प्रभाव है? ध्रुव छोटा-सा बालक है, फिर भी सौतेली माताके तिरस्कार पूर्ण वचनोंको इसने अभी तक भी हृदयमें धारण कर रखा है॥ २६॥

श्रीनारद उवाच—

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानञ्चापि पुत्रक।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु॥ २७॥

श्रीनारदने कहा—वत्स ध्रुव! तुम तो इस समय मात्र पाँच वर्षके बालक हो, खेल-कूदमें ही तुम्हारा मन लगा रहता है। इस आयुमें तुम्हारा सम्मान या अपमान होना—कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता॥ २७॥

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः॥ २८॥

अगर तुममें मान-अपमानका विवेक हुआ भी हो, तो भी मोहके अतिरिक्त और कुछ भी मनुष्यके असन्तोषका कारण नहीं होता, क्योंकि इस जगत्में जीव अपने द्वारा किये गये कर्मोंके अनुसार ही सुख-दुःख एवं मान-अपमानादि प्राप्त करता है॥ २८॥

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥ २९॥

अतएव वत्स ध्रुव! ईश्वरकी इच्छाके अतिरिक्त और कोई भी उद्यम फल प्रदायक नहीं हो सकता—यह विचार करके अपने प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है, बुद्धिमान व्यक्तिके लिए उसीमें सन्तुष्ट रहना उचित है॥ २९॥

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुण्त्ससि।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम॥ ३०॥

इसके अतिरिक्त माताके उपदेशको मानकर तुम जिस उपायका आश्रय करके जिन भगवान्‌की कृपाको प्राप्त करनेकी अभिलाषा कर रहे हो, मनुष्यमात्रके लिए उन भगवान्‌की कृपाको प्राप्त करना बड़ा कठिन है—ऐसा मेरा मानना है॥ ३०॥

मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना॥ ३१॥

इसका कारण है कि मुनिजन सब प्रकारसे असत्-सङ्गसे रहित होकर तीव्र योगयुक्त समाधि द्वारा बहुत जन्मों तक अन्वेषण (खोज) करनेपर भी उन भगवान्‌की पदवीको जाननेमें समर्थ नहीं हो पाते॥ ३१॥

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः।
यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते॥ ३२॥

अतः तुम अपनी इस व्यर्थकी हठको छोड़ दो। मङ्गल-साधनके उपयुक्त समयके उपस्थित होनेपर अर्थात् जब तुम्हारी वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम इसके लिए प्रयत्न करना॥ ३२॥

यस्य यद्दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति॥ ३३॥

दैवकी प्रेरणासे अपने प्रारब्ध-वश सुख एवं दुःख जो भी प्राप्त हो, उसी अवस्थामें ही रहकर श्रीहरिमें मनोनिवेशपूर्वक आत्माको सन्तुष्ट करनेसे मोहरूप संसार-सागरसे उत्तीर्ण अर्थात् मुक्त हुआ जा सकता है॥ ३३॥

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते॥ ३४॥

जो व्यक्ति अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान व्यक्तिको देखकर उससे ईर्ष्या न कर प्रीति करता है अर्थात् आनन्दित होता है एवं जो अपनी अपेक्षा गुणहीन व्यक्तिको देखकर उसकी अवज्ञा न कर उसपर कृपा करता है, तथा अपने ही समान गुणोंवाले व्यक्तिसे स्पर्धा न कर मित्रता करता है, वह किसी भी प्रकारके दुःखसे प्रभावित नहीं होता॥ ३४॥

श्रीध्रुव उवाच—

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम्।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः॥ ३५॥

बालक ध्रुवने कहा—भगवन्! सुख-दुःखमें जिनका विवेक नष्ट हो जाता है, ऐसे लोगोंपर कृपा करके आपने आत्म-सन्तोषके

लक्षण-स्वरूप जिस शान्तिमार्गको दिखलाया है, उस मार्गपर चलना मेरे जैसे दुष्ट व्यक्तिके लिए नितान्त दुर्लभ है॥ ३५॥

तथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रं घोरमुपेयुषः।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि॥ ३६॥

इसके अतिरिक्त मुझे असहनीय लक्षणयुक्त क्षत्रिय स्वभाव प्राप्त हुआ है, इसलिए मुझमें स्वभावतः ही विनयका अभाव है और उसपर भी विमाता सुरुचिके कटुवाक्यरूपी बाणोंसे मेरा हृदय विद्ध हो गया है। इस आहतयुक्त हृदयमें आपका उपदेश ठहरता नहीं है॥ ३६॥

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधुवर्त्म मे।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७॥

हे ब्रह्मन्! मैंने उस पदको प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है, जो तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट है तथा जिसपर मेरे पिता-पितामह और अन्य कोई भी आरूढ़ होनेमें समर्थ नहीं हो पाये हैं। आप मुझे उसीको प्राप्त करनेका ही सहज पथ बतलाइये॥ ३७॥

नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः।
विनुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत्॥ ३८॥

आप ऐश्वर्यशाली ब्रह्माजीके अङ्गसे उत्पन्न पुत्र हैं। आप निश्चित रूपसे जगत्के मङ्गल-विधानके लिए वीणा बजाते हुए सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें भ्रमण किया करते हैं॥ ३८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान् नारदस्तदा।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया॥ ३९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—बालक ध्रुवकी इन बातोंको सुनकर भक्तराज नारद अति प्रसन्न हो गये और बालकपर अनुग्रह करते हुए उसे इस प्रकार सदुपदेश देने लगे॥ ३९॥

श्रीनारद उवाच—

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।
भगवान् वासुदेवस्त्वं भज तं प्रवणात्मना॥ ४०॥

श्रीनारदने कहा—हे ध्रुव! तुम्हारी माता सुनीति देवीने भगवान् वासुदेवके आराधनारूपी जिस भक्तियोगका तुम्हें उपेदश दिया है, वही तुम्हारे चरम कल्याणका एकमात्र सहज पथ है। अतएव तुम एकाग्रचित्तसे उन वासुदेवका ही भजन करो॥ ४०॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ ४१॥

जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूपी मङ्गलकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् श्रीविष्णुके चरणकमलोंका ही सेवन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त परम कल्याणका अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ ४१॥

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः॥ ४२॥

अतएव हे वत्स! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम श्रीयमुनाके तटपर स्थित परम पावन मधुवनमें जाओ, क्योंकि श्रीहरि उस मधुवनमें नित्य निवास करते हैं॥ ४२॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः॥ ४३॥
प्राणायामेन त्रिवृता प्राणोन्द्रियमनोमलम्।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम्॥ ४४॥

हे वत्स! तुम उस मधुवनमें जाकर सर्वप्रथम कालिन्दीके मङ्गलमय जलमें तीनों सन्ध्याओंके समय स्नान करके अपने नित्य-कर्मको समाप्त करना। इसके पश्चात् आसनकी रचना करके उसपर स्थिर भावसे बैठना। बैठनेके बाद रेचक, पूरक एवं कुम्भकसे युक्त प्राणायाम द्वारा प्राण, इन्द्रिय एवं मनके चाञ्चल्यादि दोषोंको दूर कर स्थिरचित्तसे क्रमपूर्वक जगद्गुरु श्रीवासुदेवका ध्यान करना॥ ४३-४४॥

प्रसादाभिमुखं शश्वत् प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनसं सुभ्रुवं चारु-कपोलं सुरसुन्दरम्॥ ४५॥

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥ ४६॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तं चतुर्भुजम्॥ ४७॥

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥ ४८॥

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥ ४९॥

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्॥ ५०॥

स्मयमानमभिध्यायेत् सानुरागावलोकनम्।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम्॥ ५१॥

श्रीहरि भक्तोंको वरदान देनेके लिए सदैव आतुर रहते हैं। उनके मुख एवं नेत्र सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। वे सुन्दर नासिका, मनोहारिणी भौंहों एवं विलक्षण कपोलोंसे सुशोभित हैं। वे समस्त देवताओंमें परम सुन्दर पुरुष हैं। वे नित्य तरुण अवस्थामें अवस्थित रहनेवाले हैं। उनके अङ्ग कमनीय एवं होठ तथा नेत्र अरुण वर्णके हैं। वे प्रणतजनोंके परम आश्रय और सभी पुरुषार्थोंके आकरस्वरूप हैं। वे ही एकमात्र शरण्य तथा दयाके सागर हैं। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और सजल नवीन मेघके समान उनका श्यामलवर्ण है। उनके गलेमें वनपुष्पोंसे बनी माला शोभा पाती है। शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म द्वारा उनका चतुर्भुज रूप अत्यधिक स्पष्ट भावसे अभिव्यक्त होता है। उनके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल एवं भुजाओंमें केयूर और वलय एवं कण्ठ कौस्तुभ रत्नसे बने आभूषणों द्वारा सुशोभित हैं। वे पीले रङ्गके रेशमी वस्त्र पहनते हैं। उनकी कमर करधनीसे परिवेष्टित रहती है एवं उनके चरणोंमें उज्ज्वल स्वर्ण नूपुर जगमगाते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें दर्शनीय जो कुछ भी सुन्दर द्रव्य हैं, उनमें श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका स्वरूप भक्तोंके शुद्ध मन और

सेवोन्मुख नेत्रोंके लिए आनन्दका वर्द्धन करनेवाला है। वे नखरूपी मणियोंसे सुशोभित चरणकमलों द्वारा अपने भक्तोंके हृदयरूपी कमलके मध्य-भाग स्थित कर्णिकामें अधिकार करके उनकी आत्मामें विराजित रहते हैं। वे वहींसे मृदु मन्द-मुस्कान तथा अनुरागसे रञ्जित कटाक्ष द्वारा भक्तोंके ऊपर कृपा करते हैं। हे वत्स! उन वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीहरिका पूर्वोक्त धारणा द्वारा भलीभाँति संयत एवं एकाग्र चित्तमें विशेष रूपसे ध्यान करना॥ ४५-५१॥

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते॥ ५२॥

इस प्रकार भगवान्‌के मङ्गलप्रद रूपका ध्यान करते-करते शीघ्र ही तुम्हारा मन परम शान्त हो जायेगा और वह नित्य-ध्येय वस्तुके ध्यानसे कभी भी नहीं हटेगा॥ ५२॥

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥ ५३॥

हे राजकुमार! जिस मन्त्रका सात रात्रियों तक प्रकृष्ट रूपसे जप करनेपर व्यक्ति आकाशमें विचरण करनेवाले भगवत्-पार्षदोंका दर्शन प्राप्त कर सकता है, मैं तुम्हें वही परमगुह्य मन्त्र प्रदान कर रहा हूँ—तुम उसे सुनो॥ ५३॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ ५४॥

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—यही वह मन्त्र है। किस देश और किस कालमें कौन-सी वस्तु उपयोगी है—इसका विचार करनेमें निपुण पण्डित व्यक्तिको इस मन्त्रके द्वारा विभिन्न प्रकारकी सामग्रियोंसे भगवान् वासुदेवकी द्रव्यमयी पूजा करनी चाहिये॥ ५४॥

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत् तुलस्या प्रियया प्रभुम्॥ ५५॥

पवित्र जल, पुष्पमाला, वनमें प्राप्त होनेवाले फलमूल आदि, उत्तम दुर्वादि अङ्कुर, वनमें ही प्राप्त होनेवाले वल्कल वस्त्र और उन भगवत्-प्रिय तुलसी आदि पूजाके उपकरणोंके द्वारा भगवान् वासुदेवका अर्चन करना चाहिये॥ ५५॥

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत्।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक्॥ ५६॥

शिला आदिसे निर्मित श्रीविग्रह प्राप्त होनेपर संयतचित्त, शान्त, मननशील, संयतवाक् तथा सात्त्विक पदार्थोंका परिमित आहार करते हुए उनकी पूजा करना। श्रीविग्रहके अभावमें मिट्टी अथवा जल आदिमें भगवान् श्रीनारायणकी अर्चना करना॥ ५६॥

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमःश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम् ॥ ५७॥

पवित्रकीर्त्ति श्रीभगवान् अचिन्त्य-स्वरूपशक्तिका आश्रय लेकर स्वतन्त्र इच्छावश जो-जो अवतार और लीलाएँ प्रपञ्चमें प्रकट किया करते हैं, तुम उत्तमश्लोक भगवान्के उन-उन अवतारों एवं हृदयको मनोहर लगनेवाली उनकी लीलाओंका ध्यान करना॥ ५७॥

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये॥ ५८॥

श्रीभगवान्के जितने प्रकारके सेवाके उपचारोंका विधान पूर्व-पूर्व भक्तों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, पूर्वोक्त द्वादशाक्षर मन्त्र द्वारा उन सभी परिचर्याओंको उन मन्त्रमूर्त्ति श्रीभगवान्के प्रति अर्पण करना॥ ५८॥

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम्।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया॥ ५९॥

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्द्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्॥ ६०॥

पूर्वोक्त प्रणालीके अनुसार काय, मन एवं वाणी द्वारा भगवान्की भक्तिपूर्वक परिचर्या करनेसे भगवान् दम्भरहित आराधकको धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे आराधककी इच्छाके अनुसार फल प्रदान करते हैं। किन्तु जो सम्पूर्ण रूपसे अर्थात् शुद्ध भागवत गुरुका पदाश्रय लेकर भगवत्-अर्चना करते हैं, भगवान् उन्हें मुक्तिसे भी श्रेष्ठ वस्तु प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। इसका कारण है कि भगवान् देहधारी भक्तोंकी भाव-भक्तिको बढ़ानेवाले हैं॥ ५९-६०॥

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये॥ ६१॥

जो आराधक धर्म, अर्थ, कामरूप इन्द्रिय-तर्पण और यहाँ तक कि मोक्षसे भी विरक्त हैं, उन्हें ज्ञान-कर्मादि बाधाओंसे रहित विपुल भक्तियोगके द्वारा ऐकान्तिक भावसे साक्षात् प्रेमभक्ति-प्राप्तिके लिए श्रीहरिका भजन करना चाहिये॥ ६१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम्॥ ६२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवर्षि नारदसे इस प्रकार सदुपदेश प्राप्त करनेपर राजकुमार ध्रुवने उन्हें प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। इसके बाद वे श्रीहरिके चरणचिह्नोंसे अङ्कित परम पवित्र मधुवनकी ओर चले गये॥ ६२॥

तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम्॥ ६३॥

बालक ध्रुवके उस मधुवन नामक तपोवनमें चले जानेपर देवर्षि नारदने भी अन्तःपुरमें प्रवेश किया और महाराज उत्तानपादके महलमें पहुँचे। राजा उत्तानपादने उनकी अर्घ्यादिसे पूजा की। पूजा स्वीकार करके वे सुखपूर्वक आसनपर विराजित हुए और राजा उत्तानपादसे कहने लगे॥ ६३॥

श्रीनारद उवाच—

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता।
किंवा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः॥ ६४॥

श्रीनारद मुनिने कहा—हे राजन्! आपका मुख इतना मुरझा क्यों रहा है? इतने समयसे आप क्या चिन्ता कर रहे हैं? आपके धर्म, अर्थ अथवा काममेंसे कुछ नष्ट हो गया है क्या?॥ ६४॥

श्रीराजोवाच—

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान् कविः॥ ६५॥

राजाने कहा—हे ब्रह्मन्! मैंने स्त्रीके वशीभूत होकर निष्ठुर हृदयसे अपने पाँच वर्षके सुबुद्धिमान बालक और उसकी माताकी उपेक्षा कर दी॥ ६५॥

अप्यनाथं वने ब्रह्मन् मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम्॥ ६६॥

हे ब्रह्मन्! उस अनाथ, सुशील, भूख-प्याससे कुम्हलाये हुए मुखवाले बालकको व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंने क्या इतने दिनोंमें खा नहीं लिया होगा?॥ ६६॥

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय।
योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः॥ ६७॥

अहो! मैंने स्त्रीके वशीभूत होकर कैसा दौरात्म्य प्रकाश किया है! मेरे असत्-आचरणको तो देखिये, बालकने प्रेमवश मेरी गोदमें बैठनेकी इच्छा की थी, किन्तु मैं ऐसा नराधम हूँ कि मैंने उसका एकबार भी आदर तक नहीं किया॥ ६७॥

श्रीनारद उवाच—

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत्॥ ६८॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे प्रजानाथ! आप अपने पुत्रके प्रभावको नहीं जानते हैं। देवता आपके पुत्रकी रक्षा कर रहे हैं। आपके पुत्रका यश जगत्में चारों ओर फैल जायेगा। अतः आप उसके लिए वृथा ही शोक मत कीजिये॥ ६८॥

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः।
ऐष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव॥ ६९॥

हे महाराज! जो कार्य बड़े-बड़े लोकपालोंके लिए भी दुष्कर हैं, उस भगवत्-आराधनारूप कर्मका अनुष्ठान करके ध्रुव आपके यशका विस्तार करके शीघ्र ही लौट आयेगा॥ ६९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत्॥ ७०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवर्षि नारदकी इन सब बातोंको सुनकर राजा उत्तानपाद राज्यलक्ष्मी तक का भी अनादर करके निरन्तर पुत्रकी चिन्तामें ही डूबे रहने लगे॥ ७०॥

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥ ७१॥

इधर ध्रुवने मधुवन पहुँचकर कालिन्दीमें स्नान किया। तदुपरान्त पवित्र एवं संयत भावसे एकाग्रचित्त होकर उसी रातसे ही उपवास करने लगे और देवर्षि नारदके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधनामें लग गये॥ ७१॥

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन् हरिम्॥ ७२॥

प्रत्येक तीन रात्रियोंके अन्तरसे बालक ध्रुवने केवल कैथ और बेर खाकर किसी प्रकारसे शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीहरिकी अर्चनामें एक मास व्यतीत किया॥ ७२॥

द्वितीयञ्च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने।
तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयन् विभुम्॥ ७३॥

दूसरे मासके आरम्भ होनेपर बालक ध्रुव प्रत्येक छठे दिन वृक्षसे स्वयं गिरे हुए सूखे तृण-पत्रादिका आहार करके भगवान्‌की सेवा करने लगे। इस प्रकार उन्होंने दूसरा मास व्यतीत गया॥ ७३॥

तृतीयञ्चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि।
अब्भक्ष उत्तमःश्लोकमुपाधावत् समाधिना॥ ७४॥

इसके बाद तीसरे मासमें वे प्रत्येक नौ दिनोंके अन्तरमें जल-मात्र पान करके एकाग्रचित्तसे उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌की आराधनामें तत्पर हुए॥ ७४॥

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन् देवमधारयत्॥ ७५॥

चौथा मास उपस्थित होनेपर उन्होंने प्रत्येक बारह दिनोंके अन्तरमें मात्र वायुका ही भक्षण किया। इस प्रकार श्वासपर जय प्राप्त करते हुए वे ध्यान द्वारा श्रीनारायणकी आराधना करने लगे॥ ७५॥

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः।
ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः॥ ७६॥

पाँचवे मासमें उन्होंने प्राणवायुको जीत लिया और वे राजकुमार ध्रुव एक पैरपर स्तम्भके समान निश्चल भावसे खड़े होकर परब्रह्मका ध्यान करने लगे॥ ७६॥

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम्॥ ७७॥

इस समय वे शब्दादि तन्मात्राओंके तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके विश्रामस्थान मनको विषयोंसे हृदयमें खींचकर केवल भगवत्-रूपका ध्यान करनेमें तत्पर हुए। ध्रुवने भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त किसी दूसरे बाह्य विषयकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया॥ ७७॥

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे॥ ७८॥

जब इस प्रकार ध्रुव प्रकृति एवं पुरुषके ईश्वर अर्थात् 'महत्' आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार परब्रह्मका ध्यान करने लगे, तब उनका तेज सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण तीनों भुवन काँप उठे॥ ७८॥

यदैकपादेन स पार्थिवात्मज-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही।
ननाम तत्रार्द्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे॥ ७९॥

राजपुत्र ध्रुव जिस समय एक पैरपर खड़े थे, उस समय उनके अंगुष्ठके भारसे दबकर धरती अर्द्धांशमें एक ओर झुक गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे गजराज एक छोटी नावपर चढ़कर अपने भारको कभी दायें पैर और कभी बायें पैरपर स्थानान्तिरित कर रहा है तथा उस समय नाव बार-बार डगमगा रही है॥ ७९॥

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम्॥ ८०॥

जिस समय ध्रुव प्राण और प्राणों अर्थात् देहके सभी द्वारोंको रोककर विश्वात्मा भगवान् श्रीविष्णुका अनन्य बुद्धिसे ध्यान करने लगे, उस समय लोकपालोंके साथ सम्पूर्ण लोकोंकी साँस अवरुद्ध हो गयी। इससे वे सब अत्यधिक पीड़ित होकर श्रीहरिके शरणापन्न हुए॥ ८०॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम्॥ ८१॥

देवताओंने कहा—हे भगवन्! स्थावर और जङ्गम—सभी प्राणियोंका श्वास-प्रश्वास एक साथ अवरुद्ध हो गया है। हमने पहले तो ऐसा कभी भी अनुभव नहीं किया था। आप शरणागतपालक हैं और हम आपके शरणापन्न हैं। आप हमें प्राण-निरोधसे उत्पन्न कष्टसे मुक्त कीजिये॥ ८१॥

श्रीभगवानुवाच—

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा॥ ८२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवताओ! मैं विश्वात्मा हूँ। जिस बालकके कारण तुम्हारा प्राण-निरोध हुआ है, उसे मैं इसी समय इस दुष्कर तपस्यासे निवृत्त करता हूँ। उत्तानपादका पुत्र ध्रुव ध्यान-योगके द्वारा एकान्त भावसे मुझमें ही अपने चित्तको लगाकर अवस्थान कर रहा है, अतएव तुम लोगोंके लिए उससे भयभीत होनेका कोई कारण नहीं है। तुमलोग निश्चिन्त होकर अपने-अपने लोकोंको लौट जाओ॥ ८२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीध्रुवचरिते अष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

ध्रुवके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और उनका वर प्राप्तकर घर लौटना

श्रीमैत्रेय उवाच—

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिपिष्टपम्।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! श्रीहरिके वचनोंसे इन्द्र आदि लोकपाल निर्भय हो गये। श्रीहरिको प्रणामकर वे लोग स्वर्ग-धाम चले गये। इसके बाद गर्भोदकशायीसे अभिन्न सहस्रशीर्षा श्रीनारायण अपने सेवक ध्रुवको देखनेकी इच्छासे गरुड़की पीठपर चढ़कर मधुवनमें उपस्थित हुए॥ १॥

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोषे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श॥ २॥

इधर ध्रुव ध्यान योगकी परिपक्वताके कारण तीव्र अर्थात् सुदृढ़ बुद्धियोगसे अपने हृदयरूपी कमलमें श्रीहरिके विद्युत जैसे देदीप्यमान प्रभासे युक्त जिस रूप-विलासका दर्शन कर रहे थे, वह सहसा ही विलीन हो गया। इससे व्याकुल होकर बालक ध्रुवने जैसे ही आँखें खोलीं, उन्होंने उसी क्षण भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सम्मुख प्रकटित देखा॥ २॥

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।

दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्॥ ३ ॥

भगवान्‌का दर्शन पाकर बालक ध्रुव आनन्दसे उत्पन्न सम्भ्रमसे युक्त हो गये। उन्होंने पृथ्वीपर दण्डके समान लेटकर श्रीहरिको प्रणाम किया। इसके बाद बालक ध्रुव भगवान्‌की रूप-माधुरीको इस प्रकार प्रेममयी दृष्टिसे निहारने लगे, मानो अपने नेत्रोंसे उनके मुखकमलका सम्पूर्ण माधुर्य पान कर जायेंगे, अपने मुखसे उनके श्रीचरणकमलोंका चुम्बन कर लेंगे और अपनी भुजाओंके द्वारा उनका आलिङ्गन कर लेंगे॥ ३ ॥

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ ४ ॥

श्रीहरि समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान रहनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं, अतः ध्रुवके हृदयमें भी वे विद्यमान थे। बालक ध्रुव हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, किन्तु किस प्रकार की जाये, वे इसे जानते नहीं थे। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ध्रुवकी अभिलाषा समझ गये, इसलिए उन दयामय श्रीहरिने कृपापरवश होकर 'वेदात्मक शंख' को ध्रुवके कपोलपर स्पर्श करा दिया॥ ४ ॥

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः॥ ५ ॥

भगवान्‌के शङ्खके स्पर्शमात्रसे ही बालक ध्रुवकी भगवत्-विषयिनी वाक्-शक्ति उत्पन्न हो गयी और उनके हृदयमें परमात्मा एवं जीवात्मा विषयक सम्बन्ध-ज्ञानकी स्फूर्ति हो गयी। भविष्यमें अविचल पदकी प्राप्तिके लिए ध्रुव भक्तिजनित प्रेमसे ओत-प्रोत होकर धैर्यपूर्वक विश्वविख्यात विपुल-कीर्त्ति श्रीभगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ५ ॥

श्रीध्रुव उवाच—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६॥

बालक ध्रुवने कहा—जो पुरुष चक्षु आदि सम्पूर्ण ज्ञान एवं क्रियाशक्ति धारण करते हैं, जिन्होंने मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मेरी सुप्त वाणीको सञ्जीवित किया है तथा जिन्होंने मेरे हाथ-पैर-नाक-कान-त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियोंको चेतनता प्रदान की है, आप वही सर्वान्तर्यामी पुरुष हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ६॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥ ७॥

हे भगवन्! एकमात्र आप ही अपनी विचित्र गुणमयी मायाशक्तिके द्वारा इस 'महत्' आदि सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करके इसमें अन्तर्यामी रूपसे प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार एक ही अग्नि बहुत प्रकारकी लकड़ियोंके आश्रयसे विविध रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार आप भी उन्मुख एवं विमुख जीवोंकी विभिन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होते हैं॥ ७॥

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्त्तबन्धो॥ ८॥

हे आर्त्तबन्धो! सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीके आपके प्रति शरणागत होनेपर आपने उन्हें जो ज्ञान प्रदान किया था, उसी ज्ञानके द्वारा उन्होंने शयन अवस्थासे उठे हुए पुरुषके समान इस विश्वको देखा

था। हे नाथ! आपके चरणकमल मुक्तजनोंके भी आश्रय हैं, अतः जो आपके द्वारा सब प्रकारसे उपकृत हैं, वे कृतज्ञ मुक्तपुरुष आपके श्रीचरणकमलोंको कैसे भूल सकते हैं?॥ ८॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत् स्पर्शजं नरकेऽपि नृणाम्॥ ९॥

आप जीवोंको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त करके उन्हें अपनी नित्य सेवा प्रदान करते हैं। हे प्रभो! आप वाञ्छाकल्पतरु हैं। जो आपकी नित्यसेवा-प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य किसी कामनाके उद्देश्यसे आपकी आराधना करते हैं, उनकी बुद्धि निश्चय ही मायाके द्वारा ठगी गयी है, क्योंकि वे शवतुल्य शारीरिक भोगोंके उपभोगके लिए ही लालायित रहते हैं। इन्द्रिय एवं विषय-संसर्गजनित सुखभोग तो प्राणियोंको नरकमें भी प्राप्त हो जाते हैं॥ ९॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्
किंवन्तकासि-लुलितात् पततां विमानात्॥ १०॥

हे नाथ! आपके श्रीचरणकमलोंका ध्यान करनेसे एवं आपके निजजनों सहित आपकी अथवा आपके भक्तोंकी चरित्र-कथाएँ सुननेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह ब्रह्मानन्दमें भी अनुभूत नहीं हो सकता, तो फिर जिन्हें कालरूपी तलवार काट डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे मर्त्यलोकमें गिरनेवाले देवताओंको वह सुख मिल ही कैसे सकता है?॥ १०॥

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥ ११॥

हे अनन्त! मुझपर इतना अनुग्रह कीजिये कि जो शुद्धात्मा पुरुष निरन्तर आपकी भक्ति करते हैं, मुझे उन साधु-महात्माओंका वास्तविक सङ्ग प्राप्त हो। ऐसे महत्-सङ्गके प्रभावसे मैं आपके गुण-कथामृतका पान करके उन्मत्त होकर अतिशय दुःखोंसे परिपूर्ण इस भीषण संसार-समुद्रको अनायास ही पार कर सकूँगा॥ ११॥

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥ १२॥

हे ईश! हे पद्मनाभ! जो आपके चरणकमलोंकी सुगन्धके लोभी महात्माओंका यथार्थमें सङ्ग प्राप्त करते हैं, वे अत्यन्त प्रिय इस देहको एवं इससे सम्बन्धित पुत्र, सुहृत्, गृह, धन एवं स्त्री आदिकी किञ्चित्मात्र भी चिन्ता नहीं करते॥ १२॥

तिर्यङ्नग-द्विज-सरीसृप-देव-दैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः॥ १३॥

हे अजन्मा! हे परमेश्वर! आपका यह विराट् स्वरूप पशु, पक्षी, वृक्ष-पर्वत, सरीसृप, देवता, दैत्य एवं मनुष्य आदिसे परिपूर्ण है। इसमें स्थूल एवं सूक्ष्मादि तथा सत् एवं असत् पदार्थ परस्पर पृथक् रूपसे प्रकाशमान हैं। इस स्वरूपके महदादि अनेक कारण भी वर्त्तमान हैं। मैं आपके इसी स्थूल विश्वरूपको जानता हूँ। किन्तु, इससे परे जो आपका ईश्वर स्वरूप और शब्दादि क्रिया शून्य ब्रह्मस्वरूप है—मैं उससे अवगत नहीं हूँ॥ १३॥

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै॥ १४॥

प्रलयकालमें जिस पुरुषने अपने हृदयमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको लीन करके योगनिद्राका आश्रय लेकर शेषशय्यापर शयन किया था एवं उस समय जिनके नाभिसमुद्रसे उत्पन्न स्वर्णमय लोकपद्मकी कर्णिकामें परम तेजस्वी ब्रह्माजीने जन्म-ग्रहण किया था, मैं उन्हीं भगवान् वासुदेवको प्रणाम करता हूँ॥ १४॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥ १५॥

हे देव! आप नित्यमुक्त हैं, जीव आपके अनुग्रहसे ही इस संसारके जड़ीय बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है। आप परम शुद्धसत्त्वमय हैं, जीव मलिन है। आप सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है। आप मायाधीश हैं, जीव मायाके वश होने योग्य है। आप निर्विकार हैं, जीव मायाके संस्पर्शसे अपने स्वरूपको भूल जानेवाला है। आप जन्मरहित आदिपुरुष हैं, जीव जन्मयुक्त है। आप पूर्ण ऐश्वर्यशाली हैं, स्वरूपमें अवस्थित होनेपर भी जीव आपकी तुलनामें स्वल्प ऐश्वर्यशाली ही रहता है। आप त्रिगुणोंके अधीश्वर स्वतन्त्र पुरुष हैं, जीव गुणोंके द्वारा अभिभूत होने योग्य है। आप अपनी अखण्डित चिन्मय दृष्टि द्वारा बुद्धिकी समस्त अवस्थाओंका दर्शन करते हैं। आप विश्वके पालनके लिए यज्ञाधिष्ठाता श्रीविष्णुरूपमें विराजमान हैं। अतः आप जीवसे सम्पूर्ण रूपमें विलक्षण हैं॥ १५॥

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्वात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ १६॥

जिनसे परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली विद्या एवं अविद्यादि विविध शक्तियाँ धाराप्रवाह रूपमें निरन्तर उत्पन्न हो रही हैं, मैं उन्हीं विश्वके कारणभूत, अखण्ड, अनन्त, अनादि, आनन्दमात्र, अविकारी, परब्रह्म श्रीभगवान्के चरणोंकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ १६॥

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥ १७॥

हे भगवन्! जो आपको ही एकमात्र पुरुषार्थ जानकर परमानन्द-स्वरूप आपका भजन करते हैं, उनके लिए राज्य आदिकी अपेक्षा आपके चरणकमल ही परमार्थ-फलस्वरूप होते हैं। (मैंने तो अज्ञ होनेके कारण राज्य आदिके लोभसे आपका भजन किया था, तथापि आप सकाम भजन करनेवाले मुझे निष्काम भक्तों द्वारा प्राप्य आपके चरणकमलोंका किञ्चित् माधुर्य-प्रदान करके प्रतिपालन कीजिये।) इसका कारण है कि आप अनुग्रह करनेके लिए कातर रहते हैं। अतः यह सोचकर कि 'यद्यपि बालक होनेके कारण यह मेरी शुद्धभक्तिके विषयमें नहीं जानता है, तथापि मैं इसे भक्तिके फल—माधुर्यका ही आस्वादन कराऊँगा।' नवजात बछड़ेको जन्म देनेवाली गाय जैसे अज्ञ बछड़े द्वारा अपनी सेवा न किये जानेपर भी उसे दूध पान कराती है तथा व्याघ्र आदिसे उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार आप भी मुझे अपने श्रीचरणकमलोंकी भक्तिके माधुर्यका आस्वादन करवाइये तथा सकाम भक्तिरूपी विघ्नसे मेरी रक्षा कीजिये॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता।
भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्॥ १८॥

श्रीमैत्रेयी ऋषिने कहा—हे विदुर! दृढ़-सङ्कल्पवान परम बुद्धिमान ध्रुवने जब इस प्रकार स्तुति की, तब भक्तवत्सल श्रीभगवान् ध्रुवकी प्रार्थनाका अनुमोदन करते हुए कहने लगे॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक।
तत् प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत॥ १९॥

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति।

यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
मेध्यां गोचक्रवत् स्थास्नु परस्तात् कल्पवासिनाम्॥ २०॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत् सतारकाः॥ २१॥

हे राजकुमार! हे सुव्रत! तुम्हारा मङ्गल हो। मैं तुम्हारे मनोऽभीष्टको जान गया हूँ। मैं तुम्हें जो समुज्ज्वल पद प्रदान कर रहा हूँ, वह पद महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होगा। हे भद्र! इस अविनाशी लोकपर आज तक अन्य कोई भी अधिकार करनेमें समर्थ नहीं हो सका है। इसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणसे समन्वित शिशुमा नामक ज्योतिश्चक्र सर्वदा संलग्न रहकर उसी प्रकार चक्कर काटा करते हैं, जिस प्रकार मेधीके[१] चारों ओर दँवरीके बैल घूमते हैं। महाकल्प तक अर्थात् कल्पके अन्त तक वास करनेवालोंके नष्ट होनेपर भी वह लोक नष्ट नहीं होता। धर्म, अग्नि, कश्यप, इन्द्र, वानप्रस्थी मुनिवृन्द एवं सप्तर्षिगण तारोंके साथ निरन्तर उस स्थानकी प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। हे ध्रुव! मैं तुम्हें उसी दुष्प्राप्य स्थानको प्रदान करता हूँ॥ १९-२१॥

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताऽव्याहतेन्द्रियः॥ २२॥

हे वत्स! तुम्हारे पिता तुम्हें पृथ्वीका शासन-भार देकर वनमें चले जायेंगे। तुम धर्मका भलीभाँति आश्रय लेकर स्थिर चित्तसे छत्तीस हजार वर्षों तक उस राज्यकी रक्षा करोगे॥ २२॥

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायान्तु तन्मनाः।
अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति॥ २३॥

(तुम्हारे और तुम्हारी माताके प्रति अपराध करनेवाली सुरुचिकी जो अवस्था होगी, उसे श्रवण करो।) इसके बाद किसी समय तुम्हारा (सौतेला) भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायेगा और उसकी

---

[१] कटी हुई फसल धान, गेहूँ आदिकी मड़वाईके लिए जिस खम्भेमें बैलोंको बाँधा जाता है।

माता सुरुचि पुत्रप्रेममें विह्वल होकर उसे वनमें खोजती हुई दावानलमें प्रवेश कर जायेगी॥ २३॥

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः।
भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि॥ २४॥

यज्ञ ही मेरी प्रियमूर्त्ति-स्वरूप है। अतएव तुम बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंके द्वारा मेरी आराधना करके इस लोकमें उत्तम भोगोंकी प्राप्ति करोगे और अन्त समयमें मुझे अपनी स्मृतिपथमें धारण करनेमें समर्थ हो सकोगे॥ २४॥

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्त्तते यतिः॥ २५॥

इसके बाद तुम समस्त लोकोंके द्वारा वन्दनीय एवं सप्त-ऋषियोंके स्थानके ऊपर स्थित मेरे निज धाम (ध्रुवलोक) में जा पाओगे। यतिगण उस धाममें पहुँचकर पुनः वहाँसे च्युत नहीं होते॥ २५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम्।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः॥ २६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार बालक ध्रुवके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे पूजित होकर भगवान् गरुड़ध्वजने उसे अपना परमपद प्रदान किया और उसके देखते-देखते ही वेअपने लोकको चले गये॥ २६॥

सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम्।
प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात् पुरम्॥ २७॥

बालक ध्रुवने श्रीहरिके जिन चरणकमलोंकी सेवा प्राप्त की, उसके प्राप्त होनेपर जीवोंके समस्त बहिर्मुख सङ्कल्पोंकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि ध्रुवने अपना मनोऽभीष्ट प्राप्त कर लिया, तथापि उनका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। वे अप्रसन्न चित्तसे ही पिताके भवनकी ओर लौट आये॥ २७॥

श्रीविदुर उवाच—

सुदुर्लभं यत् परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना
कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित्॥ २८॥

श्रीविदुरने जिज्ञासा की—हे महर्षि मैत्रेय! परमपद श्रीहरिका धाम सकाम व्यक्तियोंके लिए सुदुर्लभ है, किन्तु पुरुषार्थ-तत्त्ववित् ध्रुव उस परमपदको एक ही जन्ममें ही प्राप्त करनेपर भी स्वयंको किसलिए अपरिपूर्ण मनोरथवाला मान रहे थे?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन्।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्तापमुपेयिवान्॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—सौतेली माताके वाक्-बाणोंसे ध्रुवका हृदय विद्ध हो गया था, इसलिए उन्होंने उस समय शुद्धभक्तिकी इच्छा नहीं की थी। उन्होंने तत्क्षणात् मधुवनमें आकर 'मेरे पिता-पितामह आदिके लिए भी दुर्लभ सर्वश्रेष्ठ उच्च पदकी प्राप्तिके लिए मैं श्रीभगवान्की सेवा करूँगा'—इस प्रकार सङ्कल्प करके तपस्या की थी। किन्तु भगवान्के साक्षात् दर्शनके समय जब भगवान्ने उन्हें कहा कि 'मैं तुम्हारे चित्तकी अभिलाषाको जानता हूँ'। तब उन्हें अपने पूर्व सङ्कल्पका स्मरण हो आया, वे मन-ही-मन सोचने लगे 'मेरी सकाम कामनारूप व्यभिचारको मेरे प्रभु जानते हैं'—यह विवेचना करके वे लज्जित होकर अनुताप करके कहने लगे—'हाय! हाय! दुर्बुद्धियुक्त मैंने किसलिए इस प्रकारका सङ्कल्प किया, मैंने अभी भजनपरायण भक्तोंके सङ्गके लिए जो प्रार्थना की है, प्रभुने उसे मेरी कपटता ही समझा है, इसलिए उन्होंने इस प्रार्थनाके अनुरूप स्पष्ट रूपसे कुछ न कहकर मुझे मेरे पूर्व सङ्कल्पके अनुसार ही वर प्रदान किया है। पुनः 'तुम्हारे भाई उत्तमके मारे जानेपर'—ऐसा कहकर उन्होंने मुझे मेरे मात्सर्यका भी स्मरण कराया था।' इस प्रकार उस समय लज्जा, अनुताप, दैन्य और निर्वेदके उदित होनेके कारण वे मुक्तिपति भगवान्

श्रीहरिसे अपने स्वरूपमें अवस्थितिकी प्रार्थना नहीं कर सके, इसीलिए उन्हें बादमें पश्चाताप हो रहा था॥ २९॥

श्रीध्रुव उवाच—

समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः॥ ३०॥

बालक ध्रुवने मन-ही-मन दुःखी होते हुए विचार किया—अहो! बड़े दुःखकी बात है? नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनन्दनादि मुनि भी बहुत जन्मों तक अभ्यस्त सुदृढ़ समाधि द्वारा जिस पदके विषयमें जान पाते हैं, मैं मात्र छह महीनोंमें ही उन भगवान्‌के चरणकमलोंकी छाया प्राप्त करके भी द्वितीयाभिनिवेशके कारण उस पदसे विच्युत होकर पुनः संसारमें ही निमग्न हो गया॥ ३०॥

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यतः।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत्॥ ३१॥

अहो! मैं बड़ा ही दुर्भागा हूँ। मेरी मूढ़ता तो देखो, मैंने संसारबन्धनका नाश करनेवाले श्रीहरिके चरणकमलोंमें उपस्थित होकर—वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करके भी नश्वर पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए ही सङ्कल्प किया था॥ ३१॥

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्रहीषमसत्तमः॥ ३२॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे दृढ़व्रतके कारण देवताओंको मेरी अपेक्षा निम्न लोककी प्राप्ति हो रही थी, (क्योंकि उन्हें तो एक-न-एक दिन स्वर्गभोगके पश्चात् नीचे गिरना ही था।) इसीलिए उन्होंने असहिष्णुतावशतः मेरी बुद्धिको विकृत कर दिया था। अन्यथा मुझ नीच व्यक्तिने देवर्षि नारदके हितकर वचनोंको अस्वीकार क्यों कर दिया?॥ ३२॥

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा॥ ३३॥

यद्यपि अद्वयज्ञान भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है, तथापि सोया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार भेद-दृष्टिके कारण व्याघ्र आदि द्वितीय वस्तुके न रहनेपर भी व्यर्थ ही उसकी कल्पना करके भयवशतः दुःखका अनुभव करता है, उसी प्रकार मैंने भी दैवी-मायासे मोहित होकर दूसरी वस्तुकी कल्पनाकर अपने भ्राताको शत्रु मान लिया और उसी कारण मानसिक तापसे जल रहा हूँ॥ ३३॥

मयैतत् प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम्।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः॥ ३४॥

जगत्‌के आत्मा-स्वरूप संसार-निवर्त्तक भगवान् श्रीहरिको तपस्याके द्वारा प्रसन्न करना भी बड़ा ही कठिन है, किन्तु मैंने तो उन श्रीहरिको प्रसन्न करके भी उनसे उस असत् संसारकी ही प्रार्थना की। ओह! जिस प्रकार गतायु[१] व्यक्तिकी चिकित्सा निष्फल होती है, उसी प्रकार मेरा प्रार्थित विषय भी निरर्थक हो गया॥ ३४॥

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत।
ईश्वरात् क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः॥ ३५॥

हाय! हाय! जिस प्रकार कोई निर्धन व्यक्ति किसी चक्रवर्ती राजाको प्रसन्न करके उससे भूसीयुक्त चावलोंकी कनीकी याचना करता है, उसी प्रकार मैं भी इतना अधिक दुष्कृतिशाली हूँ कि मुझे सेवानन्द प्रदान करनेके लिए आग्रह करनेवाले श्रीहरिसे मैंने अपनी मूढ़ताके कारण अभिमान बढ़ानेवाला तुच्छ असत् राज्यादि ही माँगा॥ ३५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः।

---

[१] जिसकी आयु समाप्त हो चुकी हो।

वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—वत्स विदुर! तुम्हारे जैसे भक्त जो श्रीमुकुन्दके चरणकमलके परागके रसका ही आस्वादन करनेवाले मधुकर हैं तथा जो प्रभुकी चरणरजका ही सदा-सर्वदा सेवन किया करते हैं, वे भगवान्‌से उनके नित्य-दास्यके अतिरिक्त अपने लिए कुछ भी नहीं माँगते। उन्हें अपने-आप जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसीको वे श्रीहरिका प्रसाद मान लेते हैं और उसीमें उनका चित्त पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट रहता है॥ ३६॥

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम्।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम॥ ३७॥

इधर जब राजा उत्तानपादने सुना कि उनका पुत्र ध्रुव घर लौट रहा है, तो उन्हें उसी प्रकार इस बातका विश्वास नहीं हुआ, जिस प्रकार मृत व्यक्तिके यमलोकसे आनेकी बातको सुनकर कोई विश्वास नहीं करता। वे सोच रहे थे कि 'मैं नितान्त अभद्र हूँ, मेरे मङ्गल होनेकी सम्भावना ही कहाँ है?'॥ ३७॥

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम्॥ ३८॥

फिर उन्हें देवर्षि नारदकी बात याद आ गयी। वे कहकर गये थे—'तुम्हारा पुत्र शीघ्र ही लौटेगा।' राजा उत्तानपाद देवर्षिके कथनपर विश्वासकर अत्यन्त प्रसन्नताके कारण पहले तो अपनेको धिक्कारते रहे, किन्तु बादमें अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सन्देशवाहक दूतको एक महामूल्यवान हार पुरस्कारमें दिया॥ ३८॥

सदश्वं रथमारुह्य कार्त्तस्वरपरिष्कृतम्।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः॥ ३९॥

शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः।
निश्चक्राम पुरात् तूर्णमात्मजावेक्षणोत्सुकः॥ ४०॥

राजा उत्तानपाद पुत्रका मुख देखनेके लिए बड़े ही उत्सुक हो उठे। उन्होंने ब्राह्मण, कुलके बड़े-बूढ़े, मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंको साथ लिया और एक स्वर्णभूषित उत्तम वेगवान सुन्दर घोड़ोंसे युक्त रथपर सवार होकर झटपट नगरसे बाहर निकल आये। उनके आगे-आगे उच्चस्वरसे वेद-ध्वनि हो रही थी और शङ्ख, दुन्दुभि एवं वेणु आदि वाद्य बज रहे थे॥ ३९-४०॥

सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते।
आरुह्य शिबिकां सार्द्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः॥ ४१॥

राजाकी दोनों रानियाँ सुनीति एवं सुरुचि स्वर्णाभूषणोंसे अलंकृत होकर एक पालकीपर चढ़ी एवं उत्तमको साथ लेकर ध्रुवको देखनेके लिए चल पड़ीं॥ ४१॥

तं दृष्ट्वोपवनाभ्यास आयान्तं तरसा रथात्।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः॥ ४२॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन्।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्श-हताशेषाघबन्धनम्॥ ४३॥

सर्वप्रथम राजा उत्तानपादने देखा कि ध्रुव उपवनके समीप आ गया है, यह देख स्नेहसे विह्वल होकर वे झट रथसे उतर पड़े। बहुत समयसे ध्रुवको देखनेकी तीव्र उत्कण्ठावशतः राजाने लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ते हुए बड़े वेगसे अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा पुत्रका आलिङ्गन कर लिया। उस समय बालक ध्रुवके हृदयमें किसी प्रकारका राग-द्वेष नहीं था। भगवान् श्रीनारायणके परम पुनीत चरणकमलोंके स्पर्शसे ध्रुवके समस्त बन्धन नष्ट हो चुके थे॥ ४२-४३॥

अथाजिघ्रन् मुहुर्मूर्ध्नि शान्तैर्नयनवारिभिः।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाम-मनोरथः॥ ४४॥

पुत्र-प्राप्तिरूपी महान् मनोरथके पूर्ण होनेपर राजा उत्तानपाद अपने पुत्रके सिरको बार-बार सूँघने लगे। प्रेम एवं आनन्दके कारण प्रवाहित अश्रुओंकी शीतल धारासे उन्होंने ध्रुवको स्नान करा दिया॥ ४४॥

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः॥ ४५॥

सज्जनोंमें अग्रगण्य बालक ध्रुवने सर्वप्रथम पिताके चरणोंकी वन्दना की। उत्तानपादने उन्हें आशीर्वाद दिया और कुशल-क्षेम आदिके विषयमें पूछकर उनसे वार्त्तालाप किया। पितासे आशीर्वाद प्राप्त करनेके पश्चात् बालक ध्रुवने भूमिपर गिरकर दोनों माताओंको प्रणाम किया॥ ४५॥

सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम्।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४६॥

सुरुचिने अपने पैरोंमें झुके हुए बालकको प्रसन्नतापूर्वक उठाया और अपनी छातीसे लगा लिया। उसने आँसु बहाते हुए गद्गद स्वरसे अर्द्ध-स्फुरित वाणी द्वारा 'चिरञ्जीवी हो' कहकर ध्रुवको आशीर्वाद दिया॥ ४६॥

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्॥ ४७॥

श्रीहरि जिन मनुष्योंके मैत्री आदि गुणोंसे प्रसन्न हो जाते हैं, समस्त जीव भी उनके सम्मुख नीचेकी ओर बहनेवाली जलधाराकी स्वाभाविक गतिके समान झुक जाते हैं॥ ४७॥

उत्तमश्च ध्रुवश्चेतावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः॥ ४८॥

इसके बाद उत्तम एवं ध्रुव दोनोंने ही प्रेमविह्वल होकर एक-दूसरेका आलिङ्गन किया। एक दूसरेके अङ्ग-स्पर्शसे दोनोंके ही शरीरोंमें रोमाञ्च हो आया। दोनोंकी ही आँखोंसे बार-बार आनन्दाश्रुओंकी धारा प्रवाहित होने लगी॥ ४८॥

सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम्।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता॥ ४९॥

बालक ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रको गोदमें बिठा लिया एवं बालकके सुकोमल अङ्गोंके स्पर्शसे उन्हें परम आनन्दकी प्राप्ति हुई और उनके मनकी सारी व्यथा दूर हो गयी॥ ४९ ॥

पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः॥ ५०॥

हे वीरवर विदुर! उस समय वीर बालकका प्रसव करनेवाली सुनीतिके दोनों स्तन नेत्रोंसे झरती हुए स्नेहमयी अश्रुधाराओंसे भीग गये और वात्सल्यके कारण उन स्तनोंसे अविरल दुग्धधारा प्रवाहित होने लगी॥ ५० ॥

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः॥ ५१॥

नगरवासी लोग राजमहिषी सुनीतिसे कहने लगे—महारानी! बहुत सुकृतियोंके फलसे बहुत दिनोंके बाद आज आपके तथा हम सभीके सन्तापोंको दूर करनेवाला पुत्र लौट आया है। आपका यह पुत्र ही इस भूमण्डलका पालन करेगा॥ ५१ ॥

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्त्तिहा।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम्॥ ५२॥

जिन भगवान् श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करनेसे धीर पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी जीत लेते हैं, आपने निश्चय ही उन प्रणतजनोंके कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीभगवान्‌की आराधना की होगी॥ ५२ ॥

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत् पुरम्॥ ५३॥

हे विदुर! पूर्वोक्त प्रकारसे सभीके द्वारा सम्मानित ध्रुवको भाई उत्तमके साथ हथिनीपर बिठाकर महाराज उत्तानपादने बड़े हर्षके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय एकत्रित सभी लोग राजा उत्तानपादके भाग्यकी प्रशंसा करते हुए उनका अनुगमन करने लगे॥ ५३ ॥

तत्र तत्रोपसंक्लिप्तैर्लसन्मकरतोरणैः।
सवृन्तैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः॥ ५४॥

चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः॥ ५५॥

दूसरी ओर, पुरके मध्यमें स्थित प्रत्येक महलके द्वारपर मकराकृति तोरण बनाये गये थे। उनमें फल-मञ्जरियोंके साथ केलेके स्तम्भ एवं सुपारीके नवीन वृक्ष सजाये गये थे। प्रत्येक द्वारपर जलसे पूर्ण कलश रखे थे, जिन्हें आम्र-पल्लव, वस्त्र, माला एवं मोतियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित किया गया था। कलशके सामने दीपोंकी पंक्ति सुशोभित हो रही थी॥ ५४-५५॥

प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः।
सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः॥ ५६॥

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम्।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम्॥ ५७॥

इस पुरीकी चारों दिशाओंमें परकोटे, गोपुर एवं पुरद्वार स्वर्णमय सामग्रियोंसे विभूषित होकर सुन्दर विमानोंके शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे। आङ्गन, राजपथ, उच्च महलोंकी छतोंके ऊपर बने हुए भ्रमण-स्थानों एवं छोटे-छोटे मार्गोंपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था तथा खील, अक्षत, पुष्प, फल, तण्डुल, मिष्ठान्न, वस्त्र एवं आभूषणादि माङ्गलिक पूजा-सामग्रियोंसे मार्गोंको सजाया गया था॥ ५६-५७॥

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बु-दूर्वापुष्पफलानि च
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः॥ ५८॥

शृण्वंस्तद्गुणगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः॥ ५९॥

ध्रुव जिन-जिन पथोंसे महलकी ओर बढ़ रहे थे, वहाँ-वहाँ नगरकी शीलवती सुन्दरियाँ उन्हें देखनेके लिए आयी हुई थीं। बालक ध्रुवको देखकर वे वात्सल्यसे भर गयीं और उन्हें शुभाशीर्वाद देते हुए

उनके सिरपर श्वेत सरसों, जौ, दधि, जल, दुर्वा, पुष्प एवं फलोंकी बौछार करने लगीं। वे आनन्दसे गीत गा रही थीं। उनके मनोहर गीत सुनते हुए बालक ध्रुवने पिताके महलमें प्रवेश किया॥ ५८-५९॥

महामणिव्रातमये स तस्मिन् भवनोत्तमे।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत्॥ ६०॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः॥ ६१॥

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः॥ ६२॥

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः॥ ६३॥

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः॥ ६४॥

वह अत्युत्तम राजभवन महामूल्यवान मणियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित था। उस भवनमें ध्रुव अपने पिता उत्तानपादके द्वारा किये गये लाड़-प्यारको प्राप्तकर उसी प्रकार आनन्द अनुभव कर रहे थे, जिस प्रकार स्वर्गमें देवता करते हैं। उस श्रेष्ठ भवनमें दुग्धके फेनके समान श्वेत रङ्गके हाथीके दाँतसे बनी, स्वर्णमय परिच्छदसे विशिष्ट अति कोमल शय्या, महामूल्यवान आसन और बहुत-से स्वर्णपात्र आदि विद्यमान थे। उसकी इन्द्रनीलमणियोंसे खचित स्फटिकमय दीवारोंमें प्रतिफलित रत्नोंकी बनी हुई स्त्रियोंकी मूर्त्तियोंपर रखे हुए मणिमय दीपक जगमगा रहे थे। उस भवनके चारों ओर मनोहर उद्यान थे, जिनमें दिव्य वृक्ष विराजित थे। इन देववृक्षोंके ऊपर नर एवं मादा पक्षियोंके जोड़े सुमधुर स्वरसे कूजन कर रहे थे एवं मधुपानसे उन्मत्त भ्रमर मनोहर गुञ्जार कर रहे थे। उस उद्यानमें अनेकों बावड़ियाँ थीं, जिनकी सीढ़ियाँ वैदुर्यमणियोंसे निर्मित थीं। उनके जलमें कमल, उत्पल एवं कुमुद विकसित हो रहे थे और हंस, कारण्डव, चकवा तथा सारसादि जलचर पक्षी विहार करते हुए इन जलाशयोंकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ६०-६४॥

उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुत-तमं प्रपेदे विस्मयं परम्॥ ६५॥

राजर्षि उत्तानपाद अपने पुत्रके मनु आदि द्वारा भी अप्राप्त पदकी प्राप्तिरूप अति अद्भुत प्रभावको श्रवणकर एवं उनके प्रति प्रजाके अनुरागको देखकर अत्यधिक विस्मित हुए॥ ६५॥

वीक्ष्योढवयसं पुत्रं प्रकृतीनाञ्च सम्मतम्।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम्॥ ६६॥

जब राजाने देखा कि बालक ध्रुव तरुण हो गये हैं, उन्हें राज्यका पालन करने योग्य अवस्था प्राप्त हो गयी है, सभी मन्त्रियोंकी सम्मति भी प्राप्त है एवं प्रजा भी ध्रुवके प्रति बड़ा अनुराग रखती है—तब महाराज उत्तानपादने उन्हें निखिल भूमण्डलके युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया॥ ६६॥

आत्मानञ्च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम्॥ ६७॥

इसके बाद वार्धक्य उपस्थित देखकर आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए राजा उत्तानपाद विषयोंसे विरक्त होकर वनकी ओर चल दिये॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीध्रुव-राज्याभिषेकं नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

यक्षके हाथ उत्तमका मारा जाना और ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज ध्रुवने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिका पाणिग्रहण किया। उस भ्रमिसे ध्रुवके कल्प एवं वत्स नामक दो पुत्र हुए॥ १॥

इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत्॥ २॥

महाबलवान ध्रुवकी दूसरी पत्नी वायुकी पुत्री इला थी। पटरानी इलाके गर्भसे उत्कल नामक एक पुत्र एवं कामिनियोंमें रत्नस्वरूपा एक कन्या उत्पन्न हुई॥ २॥

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता॥ ३॥

उत्तमने अभी विवाह नहीं किया था। वह एक दिन शिकारके लिए हिमालय पर्वतपर गया और वहीं एक बलवान यक्षके हाथों मारा गया। उसे ढूढ़ँनेके लिए गयी हुई उसकी माता सुरुचिकी भी उसी पर्वतपर ही मृत्यु हो गयी॥ ३॥

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम्॥ ४॥

महाराज ध्रुवने जब भाईकी मृत्युका समाचार सुना, तो वे क्रोध एवं असहिष्णुतासे उत्पन्न शोकसे अधीर हो गये और विजयके लिए रथपर सवार होकर यक्षोंके निवास-स्थानकी ओर चल पड़े॥ ४॥

गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम्।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम॥ ५॥

राजा ध्रुवने उत्तर दिशाकी ओर चलते-चलते रुद्रके अनुचरोंसे सेवित हिमालय पर्वतकी घाटीमें पहुँचकर दूरसे यक्षों द्वारा परिव्याप्त अलका नामकी नगरीको देखा॥ ५॥

दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन्।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन् भृशम्॥ ६॥

हे विदुर! बृहद्बाहु ध्रुवने उस अलकापुरीके समीप पहुँचकर अपना शङ्ख बजाया, जिसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाएँ एवं आकाश गूँज उठे। उस शङ्खध्वनिसे यक्षोंकी पत्नियाँ अत्यन्त डर गयीं॥ ६॥

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः॥ ७॥

महाबली कुबेरकी सेना इस शङ्खनादको सहन नहीं कर पायी। यक्षसेना तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र उठाकर पुरीसे बाहर निकलकर महाराज ध्रुवकी ओर दौड़ पड़ी॥ ७॥

स तानापततो वीरानुग्रधन्वा महारथः।
एकैकं युगपत् सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ ८॥

महारथी ध्रुव प्रचण्ड धनुर्धर थे। जब उन्होंने यक्षोंकी सेनाको अपनी ओर अग्रसर होते देखा, तो उन्होंने उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाणोंसे बींधकर उन सभीको एक ही समयमें आहत कर दिया॥ ८॥

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन् कर्म तस्य तत्॥ ९॥

यक्ष-सैनिकोंने जब अपने-अपने मस्तकपर तीन-तीन बाण लगे देखे, तब अपनेको पराजित-सा मानकर वे महाराज ध्रुवके इस विस्मयकारी पराक्रमकी प्रशंसा करने लगे॥ ९॥

तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः।
शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः॥ १०॥

तत्पश्चात् सर्प जिस प्रकार किसीके पैरोंके स्पर्शको सहन नहीं कर पाते, उसी प्रकार वे भी ध्रुवके बाणोंके प्रहारोंको सहन नहीं कर पाये और बदलेमें उनमेंसे प्रत्येकने एक ही समय उनसे दुगुने अर्थात् छह-छह बाण छोड़े॥ १०॥

ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि॥ ११॥

अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम्।
इच्छन्तस्तत् प्रतीकर्तुमयुतानां त्रयोदश॥ १२॥

यक्ष-सैनिकोंकी संख्या तेरह अयुत (१,३०,०००) थी। वे बदला लेनेके लिए अत्यन्त क्रोधपूर्वक महारथी ध्रुव, उनके रथ एवं सारथीपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, फरसा, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी और विचित्र-विचित्र पंखोंवाले बाणोंको निक्षेप करने लगे॥ ११-१२॥

औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा।
नो एवादृश्यताच्छन्न आसारेण यथा गिरिः॥ १३॥

पर्वत जिस प्रकार भारी वर्षाके कारण दीखना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार उत्तानपादनन्दन ध्रुव भी असंख्य शस्त्रोंकी बौछारसे पूरी तरह ढक गये और लोगोंको दीखने बन्द हो गये॥ १३॥

हाहाकारस्तदैवासीत् सिद्धानां दिवि पश्यताम्।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे॥ १४॥

उस समय जितने भी सिद्ध-पुरुष आकाशसे इस दृश्यको देख रहे थे, वे सहसा ही हाहाकार कर उठे और कहने लगे—अहो! मनुपौत्र ध्रुवरूप सूर्य यक्षसेनारूप सागरमें निमग्न हो गये॥ १४॥

नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः॥ १५॥

तदनन्तर रणभूमिमें यक्षलोग सिंहके समान गरजते हुए 'हम जीत गये' इस प्रकार विजयनाद करने लगे। इतनेमें ही कुहरेसे जिस प्रकार सूर्यदेव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार रणस्थलीमें महाराज ध्रुवका रथ प्रकाशित हुआ॥ १५॥

धनुर्विस्फूर्जयन्नुग्रं द्विषतां खेदमुद्वहन्।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः॥ १६॥

महाराज ध्रुवने अपने दिव्य एवं उग्र बाणोंकी टङ्कारसे शत्रुओंके हृदयमें त्रास उत्पन्न किया एवं आँधी जिस प्रकार मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार ध्रुवने अपने प्रचण्ड बाणोंके आघातसे शत्रुओंके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला॥ १६॥

तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्वा वर्माणि रक्षसाम्।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा॥ १७॥

उनके धनुषसे अत्यधिक तीखे बाण पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले वज्रके समान यक्ष-राक्षसोंके कवचोंको भेदकर उनके शरीरमें घुसने लगे॥ १७॥

भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः॥ १८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीर मनोहराः॥ १९॥

हे जितेन्द्रिय विदुर! महाराज ध्रुवके अर्धचन्द्राकार बाणोंसे छिन्न-भिन्न यक्षोंके सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित सिरों, सोनेके ताम्रवृक्षोंके समान जाँघों, वलयोंसे विभूषित मनोहर भुजाओं, महामूल्य हारों, केयूरों, मुकुटों एवं बहुमूल्य पगड़ियोंसे वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी॥ १८-१९॥

हतावशिष्टा इतरे रणाजिरा-
द्रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः।
प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविद्रावितयूथपा इव॥ २०॥

जो यक्ष मारे जानेसे बच गये थे, उनके अङ्ग क्षत्रिय-श्रेष्ठ ध्रुवके बाणोंसे विकलाङ्ग हो गये थे। वे युद्धमें सिंहके द्वारा परास्त हुए गजराजके समान रणभूमिको छोड़कर भागने लगे॥ २०॥

अपश्यमानः स तदाततायिनं
महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद्द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः॥ २१॥

मनु वंशमें श्रेष्ठ ध्रुवने देखा कि रणक्षेत्रमें अब एक भी यक्ष हाथमें शस्त्र लेकर उनके सामने नहीं है। किन्तु, तब उन्होंने सामने ही यक्षपुरीको विराजमान देखा। महाराज ध्रुवके मनमें उस नगरीको देखनेकी अभिलाषा होनेपर भी उन्होंने उसमें प्रवेश नहीं किया। वे विचार कर रहे थे कि यक्ष बड़े मायावी हैं, मानव उनके मनकी बातको नहीं समझ सकते॥ २१॥

इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत॥ २२॥

महाराज ध्रुव अपने चित्र-विचित्र रथपर बैठे रहे और अपने सारथीके साथ 'मायावियोंके कार्य मनुष्योंके लिए बोधगम्य नहीं हैं'—इस प्रकारसे कथोपकथन करते हुए शत्रुओंके द्वारा पुनः आक्रमणकी आशङ्का करके सावधानीसे प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच उन्हें मेघगर्जनके समान एक भयङ्कर शब्द सुनायी पड़ा। दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा कि प्रचण्ड वायुके वेगसे चारों दिशाओंमें धूल उठ रही है॥ २२॥

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत् स्तनयित्नुना॥ २३॥

क्षणभरमें ही आकाश मेघोंसे व्याप्त हो गया। आकाशमें भीषण गड़गड़ाहटके साथ बिजली चमकने लगी, जिससे प्राणियोंके हृदयोंमें भयका सञ्चार हो गया॥ २३॥

ववृषू रुधिरोघासृक्-पूयविण्मूत्रमेदसः।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ॥ २४॥

हे निष्पाप विदुर! तभी मेघोंसे खून, कफ, पीब, मल, मूत्र एवं चर्बीकी वर्षा होने लगी और गगनमण्डलसे महाराज ध्रुवके समक्ष ही बहुत-से सिर-विहीन धड़ गिरने लगे॥ २४॥

ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतो दिशम्।
गदापरिघनिस्त्रिंश-मुसलाः साश्मवर्षिणः॥ २५॥

तदनन्तर आकाशमें एक पर्वत दिखायी पड़ा। उससे चारों दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षा होने लगी और उसके साथ ही उस पर्वतसे गदा, परिघ, तलवार एवं मूसलादि भी गिरने लगे॥ २५॥

अहयोऽशनिनिश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः।
अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः॥ २६॥

महाराज ध्रुवने देखा कि भयङ्कर सर्प क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ उगलते हुए एवं वज्रकी भाँति गर्जन युक्त फुँफकार करते हुए तथा मदोन्मत्त हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि जन्तु झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर उनकी ओर दौड़ते हुए आ रहे हैं॥ २६॥

समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम्।
आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः॥ २७॥

उन्होंने यह भी देखा कि विराट समुद्र मानो प्रलयकालीन महाभयङ्कर रूप धारणकर अपनी उत्ताल लहरोंसे सम्पूर्ण भुवनको डुबाता हुआ भीषण गर्जनाके साथ उनकी ओर बढ़ रहा था॥ २७॥

एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम्।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः॥ २८॥

हे विदुर! क्रूर-स्वभाववाले यक्षोंने अपनी आसुरी मायाके द्वारा वीरतारहित कायर व्यक्तियोंको भयभीत करनेवाले इस प्रकारके बहुत-से भयङ्कर कौतुक दिखलाये॥ २८॥

ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम्।
निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः॥ २९॥

इधर जब मुनियोंको पता चला कि असुरोंने महाराज ध्रुवपर अपनी दुस्तर माया फैलायी है, तो वे वहाँ चले आये और ध्रुवके मङ्गलके लिए प्रार्थना करने लगे॥ २९॥

श्रीमुनय ऊचुः—

औत्तनपाद भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान्।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य वाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम्॥ ३०॥

मुनियोंने कहा—हे उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव! जिनके नामके कीर्त्तन अथवा श्रवणमात्रसे ही जीव दुस्तर मृत्युके हाथोंसे अनायास ही बच जाता है, शरणागतोंके भयको नाश करनेवाले वे भगवान् चक्रपाणि श्रीहरि तुम्हारे शत्रुओंका संहार करें॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीध्रुवचरिते यक्षमायाधानं नाम दशमोऽध्यायः॥

एकादशोऽध्यायः

यक्षोंका विनाश देखकर स्वायम्भुव मनुका ध्रुवको युद्ध बन्द करनेके लिए समझाना

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः।
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ध्रुवने ऋषियोंके इन वचनोंको सुनकर आचमन किया और धनुषमें नारायणास्त्ररूपी बाणका सन्धान किया॥ १॥

सन्धीयमान एतस्मिन् माया गुह्यकनिर्मिताः।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा॥ २॥

हे विदुर! ज्ञानके उदय होनेसे जिस प्रकार अविद्यादि क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार महाराज ध्रुवके द्वारा धनुषपर उस नारायणास्त्रका सन्धान करनेमात्रसे ही यक्षोंके द्वारा व्याप्त माया उसी समय नष्ट हो गयी॥ २॥

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः॥ ३॥

महाराज ध्रुवके उस अस्त्रसे सैकड़ों ऐसे बाण निकलने लगे, जिनका पिछला भाग तो सोनेका था और पङ्ख राजहंसके समान मनोहर थे। मयूर जिस प्रकार भयङ्कर के–का–रव करते हुए वनमें प्रवेश कर जाते हैं, वे बाण भी उसी प्रकार भयानक शब्द करते हुए शत्रुकी सेनामें प्रवेश करने लगे॥ ३॥

नैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै-
रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः॥ ४॥

इन तीक्ष्ण धारवाले बाणोंसे शत्रु युद्धस्थलमें ही बेचैन हो गये। जिस प्रकार गरुड़के द्वारा छेड़े जानेपर बड़े-बड़े फनवाले सर्प फनोंको उठाकर गरुड़की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार वे यक्ष भी क्रोधाविष्ट होकर अस्त्र-शस्त्र उठाये चारों ओरसे महाराज ध्रुवकी ओर दौड़ पड़े॥ ४॥

स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान्।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः॥ ५॥

महाराज ध्रुवने इन यक्षोंको रणाङ्गनमें आते देखकर अपने बाणोंके द्वारा किसीकी भुजा, किसीकी जंघा, किसीकी गर्दन और किसीके उदर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गको काट दिया। इस प्रकार उन्होंने बहुत-से यक्षोंको ही उस परलोक (सत्यलोक) में भेज दिया, जहाँ ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी और संन्यासी सूर्यमण्डलका भेदन करके पहुँचते हैं॥ ५॥

तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः॥ ६॥

इधर जब स्वायम्भुव मनुने देखा कि उनके पौत्र ध्रुव असंख्य निरपराध यक्षोंका वध कर रहे हैं, तो वे कृपा परवश होकर बहुत-से महर्षियोंको अपने साथ लेकर उस युद्धभूमिपर आ पहुँचे और वहींपर ही उत्तानपाद-नन्दन ध्रुवको समझाने लगे॥ ६॥

श्रीमनुरुवाच—

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः॥ ७॥

श्रीस्वायम्भुव मनुने कहा—हे वत्स! तुमने जिस क्रोधके वशीभूत होकर इन सब निरपराध यक्षोंका विनाश किया है, यह बड़ा ही पापजनक कार्य है। यह क्रोध नरकका द्वार-स्वरूप है, तुम इस क्रोधका परित्याग कर दो॥ ७॥

नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत् सद्विगर्हितम्।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम्॥ ८॥

हे वत्स! तुम जो इन निरपराध यक्षोंका संहार करनेमें रत हो, यह हमारे कुलके लिए बड़ा ही अनुचित कार्य है। साधु पुरुष इसकी निन्दा करते हैं॥ ८॥

नन्वेकस्यापराधेन तत्सङ्गाद्बहवो हताः।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल॥ ९॥

हे भाईके प्रति स्नेह रखनेवाले ध्रुव! सुनो! तुम्हारे भाईका तो एक यक्षने ही वध किया था, किन्तु तुमने भाईके वधसे उत्पन्न क्रोधसे सन्तप्त होकर एक यक्षके अपराधके बदले कितने ही यक्षोंका विनाश कर डाला है॥ ९॥

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम्॥ १०॥

हे ध्रुव! इस जड़देहको 'आत्मा' मानकर प्राणियोंकी हिंसा करना पशुओंका स्वभाव है, किन्तु इस प्रकारकी हिंसावृत्ति इन्द्रियोंके अधिपति हृषीकेशकी सेवा करनेवाले भगवद्भक्तोंका मार्ग नहीं है॥ १०॥

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान्।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत् परमं पदम्॥ ११॥

श्रीहरि दुराराध्य हैं, परन्तु तुमने तो बाल्यकालमें ही समस्त प्राणियोंमें उन प्रभुका अधिष्ठान जानकर सर्वात्मभावसे[१] सभी जीवोंके अन्तर्यामी श्रीहरिकी आराधना करके परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है॥ ११॥

---

[१] सभी प्राणियोंको अपने जैसा मानकर।

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः।
कथन्त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम्॥ १२॥

तुम निरन्तर श्रीहरिका ध्यान करते रहते हो और प्रभु-भक्त तुम्हारी प्रशंसा किया करते हैं। तुमने साधुओंके आचरणकी शिक्षा भी प्राप्त की है, फिर तुमने किसलिए ऐसा निन्दनीय कार्य किया?॥ १२॥

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥ १३॥

जो महत् व्यक्तियोंके द्वारा तिरस्कार करनेपर भी उसे सहन कर लेता है, जो छोटोंके प्रति कृपा, बराबरवालोंके साथ मित्रता एवं समस्त प्राणियोंमें समभाव रखता हैं, सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान् उस व्यक्तिके प्रति सदा प्रसन्न रहते हैं॥ १३॥

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ १४॥

भगवान्के सुप्रसन्न होनेपर व्यक्ति प्राकृत गुणोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव गुणोंके कार्य-स्वरूप लिङ्गशरीरसे मुक्त होकर सुखात्मक ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं॥ १४॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित् पुरुष एव हि।
तयोर्व्यवायात् सम्भूतिर्योषित् पुरुषयोरिह॥ १५॥

देहादिके रूपमें परिणत हुए पञ्चभूतोंसे स्त्री-पुरुषका आविर्भाव होता है और फिर उन स्त्री एवं पुरुषोंके पारस्परिक मिलनसे इस संसारमें अन्यान्य स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं॥ १५॥

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च।
गुणव्यतिकराद्राजन् मायया परमात्मनः॥ १६॥

हे वत्स! इस प्रकार भगवान्की मायाके द्वारा ही सत्त्व आदि गुणोंमें विषमता होनेके कारण सृष्टि, स्थिति एवं संहार कार्य प्रवर्त्तित होते रहते हैं॥ १६॥

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत्॥ १७॥

ईश्वर गुणाधीश तत्त्व हैं। वे सृष्टि आदि कार्यमें जड़ा प्रकृतिके अधिष्ठाता निमित्त–कारण मात्र है। जिस प्रकार लोहा अचल होनेपर भी निमित्त–स्वरूप चुम्बकसे आकृष्ट होकर सचल हो जाता है, उसी प्रकार यह कार्यकारणरूप विश्व भी भगवान्के ईक्षणके प्रभावसे देव–मनुष्य आदिके रूपमें परिवर्त्तित होता है॥ १७॥

स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥ १८॥

काल–शक्तिके प्रभावसे सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ उपस्थित होनेपर लीलामय भगवान् अपनी शक्तिका विभाग करके 'अकर्त्ता' होकर भी जगत्की रचना आदि कर्म करते हैं, 'संहारकर्त्ता' न होकर भी विनाश करते हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान्की लीलाएँ निश्चय ही अचिन्त्य हैं॥ १८॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम्॥ १९॥

वे कालरूपी भगवान् स्वयं अनादि, अनन्त एवं अव्यय हैं। वे प्राणियोंके द्वारा ही प्राणियोंकी उत्पत्ति कर रहे हैं तथा मृत्युके द्वारा यमका भी संहार करके 'संहारकर्त्ता' नाम धारण कर रहे हैं॥ १९॥

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः॥ २०॥

मृत्युरूपी काल–स्वरूप भगवान्का स्वपक्ष अथवा विपक्ष कोई भी नहीं है। वे समभावसे समस्त प्राणियोंमे प्रवेश करते हैं और सर्वत्र

ही भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार धूलिकण वायुके पीछे-पीछे उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर कालकी गतिके पीछे-पीछे चल रहे हैं॥ २०॥

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ॥ २१॥

सर्वशक्तिमान काल स्वयं ही अपने-आपमें अवस्थान कर रहे हैं, इसलिए उनका न काल है और न ही अकाल। वे कर्माधीन जीवोंमें किसीकी अकाल-मृत्युका विधान करते हैं और किसीकी काल-मृत्युसे रक्षा भी करते हैं॥ २१॥

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥ २२॥

हे राजन्! मीमांसक इस कालको 'कर्म', चार्वाक् 'स्वभाव', पौराणिकगण 'काल', ज्योतिषी 'दैव' और वात्स्यायन ऋषि आदि कामशास्त्री इसे 'काम अर्थात् वासना' कहते हैं॥ २२॥

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम्॥ २३॥

हे वत्स! ईश्वर अव्यक्त हैं, इसलिए वे किसी भी इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं हैं। महत् आदि नाना प्रकारकी शक्तियाँ उनसे ही उत्पन्न होती हैं। उनकी क्या इच्छा है, इसे कौन बता सकता है? अतएव स्वसम्भव अर्थात् स्वयम्भू भगवान्‌के विषयमें कोई कुछ भी नहीं कह सकता॥ २३॥

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम्॥ २४॥

हे वत्स ध्रुव! तुम यह सोच रहे हो कि कुबेरके ये अनुचर तुम्हारे भाई उत्तमका वध करनेवाले हैं, किन्तु वास्तविक रूपसे वे संहारकर्त्ता नहीं हैं। ईश्वर ही प्राणियोंके जन्म एवं मृत्युका कारण हैं॥ २४॥

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च।
तथापि ह्यनहङ्कारो नाज्यते गुणकर्मभिः॥ २५॥

एकमात्र वे ईश्वर ही इस जगत्‌की सृष्टि करते हैं, जगत्‌की रक्षा करते हैं और इस जगत्‌का संहार करते हैं। तथापि वे अहङ्कारसे रहित हैं तथा वे किसी भी प्रकारके गुण एवं कर्मोंमें लिप्त नहीं होते॥ २५॥

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च॥ २६॥

वे भगवान् सर्वनियन्ता, समस्त प्राणियोंके पालक और उनके कारण हैं। वे अपनी शक्तिके द्वारा इस स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं पालन करते हैं॥ २६॥

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपैहि जगत्परायणम्।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथोता नसि दामयन्त्रिताः॥ २७॥

हे वत्स! वे अभक्तोंके लिए मृत्युस्वरूप एवं भक्तोंके लिए अमृत अर्थात् जीवनस्वरूप हैं। वे ही सम्पूर्ण विश्वके परमेश्वर एवं जगत्-वासियोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं। तुम सर्वान्तःकरणसे उन्हीं भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करो। नाकमें नकेल पड़े हुए बैल जिस प्रकार अपने प्रभुकी आज्ञासे कार्य करनेके लिए बाध्य होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि प्रजापतिगण भी परमेश्वरके लिए पूजाके उपहारोंका आहरण किया करते हैं॥ २७॥

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः॥ २८॥

हे ध्रुव! तुम अपनी सौतेली माताके दुर्वचनोंसे मर्माहत होकर पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अपनी माँकी गोद छोड़कर वनमें चले गये थे

और तपस्याके द्वारा योगियोंके ध्येय श्रीभगवान्‌की आराधना करके तुमने तीनों लोकोंके ऊपर स्थित स्थानको प्राप्त किया है॥ २८॥

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम्।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृक्
यस्मिन्निदं भेदमसत् प्रतीयते॥ २९॥

हे वत्स ध्रुव! इस समय भी तुम आत्मदर्शी होकर अपने अन्तःकरणमें उस निर्गुण, अद्वयतत्त्व, अच्युत, नित्यमुक्त परमात्माको ढूँढ़ो। देखो, वे तुम्हारे वैरभावसे रहित, सरल अन्तःकरणमें वात्सल्यवश विशेष रूपसे निरन्तर विराजमान रहते हैं। उन परमात्माको ढूँढ़नेमें तत्पर होनेपर यह शत्रु-मित्रादि भेदज्ञान अत्यन्त अरुचिप्रद प्रतीत होता है॥ २९॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥ ३०॥

पाँच वर्षकी आयुमें ही तुम स्वरूपभूत, अनन्त, आनन्दमात्र एवं समस्त शक्तियोंके परिपूर्ण आधार भगवत्-स्वरूपमें अहैतुकी और बाधा-रहित पराभक्तिका अनुशीलन करके अति सहजमें ही 'मैं और मेरा' रूप सुदृढ़ अविद्या-ग्रन्थिका छेदन करनेमें समर्थ हुए थे॥ ३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम्॥ ३१॥

हे राजन्! कल्याणके मार्गमें क्रोध अत्यन्त प्रतिकूल है। अतएव जिस प्रकार औषधिके प्रयोगसे रोगी स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानके द्वारा तुम इस क्रोधको शान्त करो। इसीमें तुम्हारा मङ्गल है॥ ३१॥

येनोपसृष्टात् पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः॥ ३२॥

संसारमें क्रोधी व्यक्तिसे सभीको अत्यन्त उद्वेगकी प्राप्ति होती है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पण्डित व्यक्तिको कभी भी क्रोधके वशीभूत नहीं होना चाहिये॥ ३२॥

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः॥ ३३॥

हे वत्स ध्रुव! तुमने यक्षके अनुचरोंको अपने भाईका संहारकर्त्ता समझ लिया और क्रोधवशतः उन्हें मार डाला। ऐसा करके तो तुमने श्रीशङ्करके भ्राता कुबेरकी अवज्ञा की है॥ ३३॥

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रणयोक्तिभिः।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति॥ ३४॥

हे वत्स! इससे पूर्व कि लोकपाल आदि महापुरुषोंके तेजसे हमारा वंश आक्रान्त हो, तुम शीघ्र ही धनपति कुबेरको प्रणाम एवं स्तुतिपूर्ण वचनोंके द्वारा प्रसन्न करो॥ ३४॥

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम्।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ॥ ३५॥

स्वायम्भुव मनु अपने पौत्र ध्रुवको इस प्रकार शिक्षा प्रदान करके तथा ध्रुवके द्वारा संस्तुत होकर ऋषियोंको साथ लेकर अपने स्थानपर चले गये॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीध्रुवचरिते श्रीमनुवाक्यं नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

महाराज ध्रुवके प्रति कुबेरका वरदान और ध्रुव द्वारा परमपदकी प्राप्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानो न्यवदत् कृताञ्जलिम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! यह जानकर कि ध्रुव अपने पितामहके वचनोंको सुनकर क्रोधका त्यागकर हिंसाकर्मसे निवृत्त हो गये हैं, धनपति कुबेर उनके समीप उपस्थित हुए। चारण, यक्ष एवं किन्नर स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। उन्हें देखते ही महाराज ध्रुव हाथ जोड़कर खड़े हो गये। ध्रुवको ऐसा करते देख यक्षराज कुबेर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीधनद उवाच—

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ।
यत् त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः॥ २॥

धनपति कुबेरने कहा—हे क्षत्रियनन्दन! हे निष्पाप ध्रुव! तुमने पितामह मनुके उपदेशसे सुदुस्त्यज्य शत्रुताका परित्याग कर दिया है। मैं तुमसे अतिशय प्रसन्न हूँ॥ २॥

न भवानवधीद्यक्षान् न यक्षा भ्रातरं तव।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः॥ ३॥

वास्तवमें न तो तुमने यक्षोंका विनाश किया और न ही यक्षने तुम्हारे भाईका वध किया है। काल ही एकमात्र समस्त जीवोंकी उत्पत्ति एवं विनाशका कारण है॥ ३॥

अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात् पुरुषस्य हि।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ॥ ४॥

मनुष्योंकी अज्ञानताके कारण स्वप्नकालीन ज्ञानकी भाँति 'मैं', 'तुम' इत्यादि प्रकारकी मिथ्या बुद्धि होती है। इसी बुद्धिसे देहको ही आत्मा मान लेनेके कारण कर्म-बन्धन एवं दुःखादि उपस्थित होता है॥ ४॥

तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम्॥ ५॥

भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम्।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया॥ ६॥

अतः हे ध्रुव! इस स्थानसे प्रस्थान करो एवं समस्त प्राणियोंमें परमात्माका दर्शनकर इन्द्रियोंसे अतीत, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी तथा संसार-पाशका छेदन करनेवाले श्रीभगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त करनेके लिए उनका भजन करो। उनके चरणकमल ही जीवोंके लिए एकमात्र भजनीय वस्तु और संसार निवर्त्तक है। वे स्वरूपभूत अन्तरङ्गाशक्तिसे युक्त हैं, किन्तु उनमें त्रिगुणमयी बहिरङ्गा मायाका अधिष्ठान नहीं है, क्योंकि वे मायाधीश हैं। इस प्रकार श्रीभगवान्की आराधना करनेसे ही तुम्हारा मङ्गल होगा॥ ५-६॥

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम॥ ७॥

हे वत्स! सुना है कि तुम भगवान् पद्मनाभ श्रीहरिके चरणकमलोंके अति निकट उपस्थित हुए हो। अतएव तुम निसन्देह वर-प्राप्तिके योग्य पात्र हो। हे उत्तानपाद-नन्दन! हे राजन्! यदि मुझसे कोई वर माँगनेकी तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम बिना किसी भयके माँग लो॥ ७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः।

हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः॥ ८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—यक्षराज कुबेरने जब वर माँगनेके लिए अनुरोध किया, तब महाभागवत महामति ध्रुवने यही वरदान माँगा कि भगवान् श्रीहरिके प्रति उनकी अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे अनायास ही दुस्तर अविद्यारूप संसार-सागरसे पार हुआ जा सके॥ ८॥

तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैलविलस्ततः।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत॥ ९॥

इलविलाके पुत्र श्रीकुबेरने अत्यन्त प्रसन्न मनसे ध्रुवको अखण्ड भगवत्-स्मृतिका वर प्रदान किया और उनके देखते-ही-देखते वे अन्तर्धान हो गये। इसके उपरान्त श्रीध्रुव भी अपनी पुरीको लौट आये॥ ९॥

अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम्॥ १०॥

महाराज ध्रुवने अपने राज्यमें लौटकर प्रचुर दक्षिणासे युक्त यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिकी आराधना की। भगवान् ही पुरोडाश आदि द्रव्य, ऋत्विकोंकी क्रिया और इन्द्रादि देवताओंसे सम्बन्धित समस्त कर्मों द्वारा साध्य फलस्वरूप और कर्मफल प्रदाता हैं॥ १०॥

सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन्।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम्॥ ११॥

समस्त जीवोंके आत्मा-स्वरूप तथा समस्त जड़-उपाधियोंसे रहित श्रीअच्युतमें प्रबल प्रेममयी ऐकान्तिक भक्ति रखते हुए महाराज ध्रुव उन्हें अपने अन्तःकरणमें तथा समस्त प्राणियोंके हृदयमें देखने लगे॥ ११॥

तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम्।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः॥ १२॥

महाराज ध्रुवको पूर्वोक्त भगवत्-भक्तिके लक्षणोंसे युक्त, सत्-ब्राह्मणोंके हितैषी, दीनवत्सल एवं वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके रक्षकके रूपमें देखनेके कारण समस्त प्रजा उन्हें अपना पिता ही मानती थी॥ १२॥

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम्।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम्॥ १३॥

इस प्रकार महाराज ध्रुवने विविध ऐश्वर्योंके भोगके द्वारा पुण्योंका क्षय तथा यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा प्रारब्धके अशुभोंका क्षय करते हुए छत्तीस हजार वर्षों तक पृथ्वीपर शासन किया॥ १३॥

एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम्॥ १४॥
मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।
अविद्यारचितस्वप्न-गन्धर्वनगरोपमम्॥ १५॥

इस प्रकार यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा धर्म, अर्थ एवं कामके सम्पादनमें बहुत समय व्यतीत करनेके उपरान्त जितेन्द्रिय, शुद्ध चित्तवाले महात्मा ध्रुवने विचार किया कि 'यद्यपि यह देह तथा सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌की बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, तथापि जीवके लिए यह अविद्याके द्वारा रचित स्वप्नदृष्ट गन्धर्व-नगरके समान असत्य है',—अतः अन्तमें उन्होंने अपने पुत्र उत्कलको राजसिंहासन सौंप दिया॥ १४-१५॥

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोष-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम्॥ १६॥

महात्मा ध्रुवको अपनी देह, स्त्री, पुत्र, सुहृत्, मित्र, सैन्य-सामन्त, समृद्ध-कोषागार, अन्तःपुर, रमणीय विहार-भूमि, समुद्र-तक भूमण्डल राज्य इत्यादि सभी कालके ग्रासमें पड़े हुए एवं अनित्य लगने लगे। अतएव वे श्रीभगवान्‌की आराधना करनेके लिए बदरिकाश्रम चले गये॥ १६॥

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य
बद्धासनं जितमरुन्मनसाहृताक्षः।
स्थूले दधार भवत्प्रतिरूप एतद्-
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत् समाधौ॥ १७॥

उस बदरिकाश्रममें महाराज ध्रुवने पवित्र जलमें अवगाहन किया एवं इन्द्रियोंको परम शुद्ध करके स्वस्तिक आदि आसनकी रचना की। वायुको वशमें करके तथा मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर वे श्रीभगवान्‌के प्रतिनिधिभूत विराट्-स्वरूपकी धारणा करने लगे। इस प्रकार धारणा करते-करते वे उसीमें एकनिष्ठ होकर समाधिस्थ हो गये एवं उन्हें वह स्थूल रूप भी विस्मृत हो गया॥ १७॥

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥ १८॥

इस प्रकार महात्मा ध्रुवका भगवान् श्रीहरिमें निरन्तर भक्ति-प्रवाह बढ़ता गया। उनके नेत्रोंसे निरन्तर आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे, जिससे वे अभिभूत हो गये। उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार उनका देहाभिमान दूर हो गया और उन्हें देहकी सुध-बुध ही न रही॥ १८॥

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम्॥ १९॥

इतनेमें ही ध्रुवने देखा कि एक उत्कृष्ट विमान नवोदित चन्द्रमाके समान दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए गगनमण्डलसे नीचे उतर रहा है॥ १९॥

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥ २०॥

महात्मा ध्रुवने देखा कि उस विमानमें दो श्रेष्ठ देवता गदाका सहारा लिये खड़े हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं, सुन्दर श्याम वर्ण है, तरुण अवस्था है और अरुण-कमलके समान नेत्र हैं। वे सुन्दर वस्त्र, मनोज्ञ किरीट, हार, भुजबन्ध एवं चमचमाते कुण्डलोंसे अलंकृत हैं॥ २०॥

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः।
ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः॥ २१॥

महात्मा ध्रुव उन्हें उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌के किङ्कर एवं मधुसूदन श्रीहरिके प्रधान पार्षद जानकर घबरा गये और यथाविधि पूजा-विधान आदिके क्रमको भूल गये। वे आसनसे उठे और उन्होंने हाथ जोड़कर केवलमात्र श्रीहरिके नामों 'जय नारायण, जय गोपाल, जय गोविन्द' का उच्चारण करते हुए उन पार्षदोंको प्रणाम किया॥ २१॥

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम्।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रीत्योचतुः पुष्करनाभसम्मतौ॥ २२॥

महात्मा ध्रुवका हृदय भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अभिनिविष्ट था। वे हाथ जोड़कर विनयसे मुख नीचा किये खड़े रहे। तब श्रीनारायणके प्रिय पार्षद सुनन्द एवं नन्द ध्रुवके समीप गये और उनसे बड़े प्रेमके साथ मुस्कराते हुए कहने लगे॥ २२॥

श्रीसुनन्दनन्दावूचतुः—

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु।
यं पञ्चवर्षस्तपसा भवान् देवमतीतृपत्॥ २३॥

तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम्॥ २४॥

श्रीसुनन्द एवं नन्दने कहा—हे राजन्! आपका मङ्गल हो। आप एकाग्रचित्त होकर हमारे वचनोंको सुनिये। आपने पाँच वर्षकी

अवस्थामें ही तपस्या करके जिन निखिल जगत्-कर्त्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न किया था, हम उन्हीं शार्ङ्ग-पाणि[1] भगवान् श्रीहरिके ही सेवक हैं। हम आपको उन श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें ले जानेके लिए ही यहाँ आये हैं॥ २३-२४॥

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत् सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम्।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम्॥ २५॥

आपने अपनी भक्तिसे परम दुर्लभ विष्णुपदको जीत लिया है। सप्तर्षिगण भी उस श्रेष्ठ पदको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल उसकी ओर टकटकी लगाये रहते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा-मण्डल उस स्थानकी निरन्तर परिक्रमा करते रहते हैं। चलिये, आप उस पदको सुशोभित कीजिये॥ २५॥

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित्।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥ २६॥

हे ध्रुव! आपके पिता, पितामह अथवा कोई और तपस्वी कभी भी उस पदपर आसीन नहीं हुए हैं। आप जगत्‌के वन्दनीय उन विष्णुके परमपद (धाम) पर आरोहण कीजिये॥ २६॥

एतद्विमानप्रवरमुत्तमःश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि॥ २७॥

हे आयुष्मान्! महायशस्वी पुरुषोंके मुकुटमणि श्रीहरिने आपके लिए यह उत्कृष्ट विमान भेजा है, आप कृपा करके इसपर चढ़िये॥ २७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः।

---

[1] शार्ङ्ग नामक धनुषको धारण करनेवाले।

कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो
मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत्॥ २८॥

श्रीमैत्रेयने कहा—हे विदुर! भगवान् वैकुण्ठनाथके दोनों भगवत्-पार्षदोंकी अमृत-वर्षिणी वाणीको सुनकर भगवान् उरुक्रमके प्रिय ध्रुवने स्नान किया और नित्य सन्ध्या-वन्दनादि माङ्गलिक कर्मोंसे निवृत्त होकर बदरिकाश्रममें रहनेवाले मुनियोंको प्रणामकर उनसे आशीर्वादकी भिक्षा माँगी॥ २८॥

परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम्॥ २९॥

इसके बाद उन्होंने उस श्रेष्ठ विमानकी वन्दना और परिक्रमा करके सुनन्द एवं नन्द नामक दोनों पार्षदोंका अभिवादन किया तथा दिव्य तेजोमय रूप धारण करके उस विमानपर चढ़नेकी इच्छा प्रकाशित की॥ २९॥

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥ ३०॥

उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव विमानपर चढ़ना ही चाहते थे कि उन्होंने मृत्युको अपने सम्मुख उपस्थित देखा। वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर अर्थात् मृत्युको जयकर उस अद्भुत विमानपर सवार हो गये॥ ३०॥

तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ३१॥

उस समय आकाशमें दुन्दुभि, मृदङ्ग, ढोल आदि बाजे बजने लगे। प्रधान-प्रधान गन्धर्वोंने गाना आरम्भ कर दिया और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ ३१॥

स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिपिष्टपम्॥ ३२॥

जैसे ही ध्रुव विमानमें बैठकर विष्णुधामको जानेके लिए तैयार हुए, तभी उन्हें अपनी माता सुनीतिका स्मरण हो आया। वे सोचने

लगे कि 'दुःखिता माता सुनीतिको छोड़कर मैं दुर्लभ विष्णुलोकको अकेला कैसे जाऊँगा?'॥ ३२॥

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम्॥ ३३॥

ध्रुवको लेनेके लिए आये हुए दोनों पार्षद ध्रुवके हृदयकी बात जान गये। उन्होंने ध्रुवको दिखलाया कि उनके आगे जानेवाले विमानमें माता सुनीति देवी विराजमान हैं॥ ३३॥

तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान्॥ ३४॥

विष्णुधामके पथपर उन्होंने सूर्य आदि सभी ग्रहोंको देखा। जहाँ-तहाँ विमानोंमें बैठे हुए देवता उनकी प्रशंसा करते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा करके उन्हें विभूषित कर रहे थे॥ ३४॥

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि।
परस्ताद्यद्ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात्॥ ३५॥

यद्भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते।
यन्नाव्रजन् जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम्॥ ३६॥

इस प्रकार विमानके द्वारा तीनों लोकों एवं सप्तर्षि मण्डलको पार करके महाराज ध्रुव उनके भी ऊपर स्थित अपनी निश्चल गतिस्वरूप भगवान् श्रीविष्णुके नित्य धाममें पहुँच गये। यह दिव्यधाम अपने ही तेजसे सर्वदा प्रकाशमान है तथा उस धामके नीचे स्थित अन्यान्य लोकसमूह उसकी प्रभासे ही निरन्तर प्रकाशित होते हैं। जो समस्त प्राणियोंके प्रति निरन्तर हितका आचरण करते हैं, वे ही उस उत्तम पदको प्राप्त कर सकते हैं॥ ३५-३६॥

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥ ३७॥

जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध, समस्त प्राणियोंको हरिसेवामें लगाकर उनकी आत्माको प्रसन्न करते हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण ही जिनके परम प्रिय बान्धव हैं, वे अनायास ही उस अच्युत-पदको प्राप्त करते हैं॥ ३७॥

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः।
अभूत् त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः॥ ३८॥
गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेध्यामिव गवां गणः॥ ३९॥

हे विदुर! जिस प्रकार जुते हुए बैल खम्भेके चारों ओर घूमते हैं, उसी प्रकार महात्मा ध्रुवने जिस लोकको प्राप्त किया, उससे युक्त होकर ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी लोकको घेरकर अविच्छिन्न वेगसे उसके चारों ओर घुमता है। इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनुरक्त और निर्मल चित्त उत्तानपाद-नन्दन महात्मा ध्रुव तीनों लोकोंके चूड़ामणि-स्वरूप हो गये थे॥ ३८-३९॥

महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः।
आतोद्यं विनुदन् श्लोकान् सत्रेऽगायत् प्रचेतसाम्॥ ४०॥

निर्मल चित्तवाले ध्रुवकी ऐसी महिमा देखकर ऐश्वर्यवान देवर्षि नारदने प्रजापतियोंकी यज्ञ-सभामें वीणा वादन करते हुए निम्नलिखित तीन श्लोक गाये थे॥ ४०॥

श्रीनारद उवाच—

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम्।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः॥ ४१॥

श्रीनारदने कहा—पति-परायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवने तपस्याके प्रभावसे जिस गतिको प्राप्त किया था, मैं निश्चित रूपसे कहता हूँ कि वेदवाद-परायण ब्रह्मर्षिगण भी कभी उस गतिको प्राप्त करनेमें

समर्थ नहीं हैं। तब फिर अन्यान्य पार्थिव राजाओंकी तो बात ही क्या कहूँ? ॥ ४१ ॥

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम्॥ ४२॥

पाँच वर्षकी अवस्थामें ही सौतेली माताके वाक्य-बाणोंसे ध्रुवका हृदय विदीर्ण हो गया था और वह दुःखी अन्तःकरणसे वनमें चला गया था। तदुपरान्त मेरे आदेशके अनुसार उसने अजित श्रीहरिको अपनी भक्तिके द्वारा वशमें कर लिया था, क्योंकि भगवान् श्रीहरि अजित होनेपर भी अपने भक्तोंके गुणोंके द्वारा ही सर्वदा पराजित हो जाते हैं॥ ४२॥

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः।
षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम्॥ ४३॥

ध्रुवने पाँच अथवा छह वर्षकी आयुमें ही वैकुण्ठनाथ श्रीभगवान्की आराधना करके कुछ दिनोंमें ही जिस उत्तम पदको प्राप्त किया था, इस पृथ्वीका अन्य कोई क्षत्रिय बहुत वर्षों तक चेष्टा करके भी क्या उनके द्वारा अधिकृत इस पदपर आरोहण करनेकी दुराशा कर सकता है? ॥ ४३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एतत् तेऽभिहितं सर्वं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम्॥ ४४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! तुमने मुझसे जिन साधु-सम्मत विपुल-कीर्त्ति ध्रुवके चरित्रके विषयमें पूछा था, उसे मैंने सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें सुना दिया है॥ ४४॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम्॥ ४५॥
श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् ।
भक्तिर्भवेद्भगवति यया स्यात् क्लेशसंक्षयः॥ ४६॥

ध्रुवका चरित्र अति धन्य, यश एवं आयुको बढ़ानेवाला, परम मङ्गलस्वरूप, महत्, स्वर्ग और ध्रुवलोकको प्राप्त करानेवाला, मनको शुद्ध करनेवाला, अत्यन्त प्रशंसनीय एवं पाप-विनाशक है। भगवान् अच्युतके प्रियपात्र भक्त ध्रुवका यह चरित्र श्रद्धाके साथ पुनः-पुनः श्रवण करनेसे भगवान्के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और भगवत्-भक्तिके प्राप्त होनेसे अविद्यादि क्लेश सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जाते हैं॥ ४५-४६॥

महत्त्वमिच्छतस्तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम्॥ ४७॥

यदि कोई सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है, तो वह ध्रुव-चरित्रका श्रवण करे। इसे श्रवण करनेसे श्रोताको शीलादि गुणोंकी, तेज-प्रार्थीको तेजकी एवं मनस्वी व्यक्तियोंको अति उन्नत हृदयकी प्राप्ति होती है॥ ४७॥

प्रयतः कीर्तयेत् प्रातः समवाये द्विजन्मनाम्।
सायञ्च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत्॥ ४८॥

पवित्रकीर्त्ति ध्रुवके इस महत्-चरित्रका ब्राह्मणादि द्विजातियोंकी सभामें प्रातः और सायंकालमें एकाग्रचित्तसे कीर्त्तन करना चाहिये॥ ४८॥

पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा।
दिनक्षये व्यतीपाते संक्रमेऽर्कदिनेऽपि वा॥ ४९॥

पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी, श्रवणा नक्षत्र, तीन तिथियोंका स्पर्श होनेपर, व्यतीपात[१], संक्रान्ति अथवा रविवारको इस ध्रुव-चरितका कीर्त्तन करना उचित है॥ ४९॥

---

[१] विष्कम्भ आदि सत्ताईस योगोंमेंसे एक योग।

श्रावयेत् श्रद्दधानानां तीर्थपादप्रियाश्रयः।
नेच्छंस्तत्रात्मनात्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति॥५०॥

हे विदुर! तीर्थपाद श्रीहरिके प्रिय भक्तोंका पदाश्रयकर जो हरिकथाको श्रवण करनेमें श्रद्धावान हो, उन्हें ध्रुवका चरित्र श्रवण कराना। निष्काम होकर ध्रुव-चरित्रका कीर्त्तन अथवा श्रवण करनेसे मन अपने आप ही प्रसन्न होता है, अतः अनायास ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है॥५०॥

ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात् सत्पथेऽमृतम्।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते॥५१॥

जब कोई व्यक्ति भगवत्-तत्त्वके विषयमें अनभिज्ञ व्यक्तियोंको भगवान्के सत्-मार्ग विषयक ज्ञानामृतको प्रदान करता है, तो देवता भी दीनोंका उद्धार करनेवाले उस कृपाशील व्यक्तिके मार्गमें कोई विघ्न उत्पन्न नहीं कर पाते॥५१॥

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः।
हित्वार्भकक्रीडनकानि मातु-
गृहञ्च विष्णुं शरणं जगाम्॥५२॥

हे कुरुवंशावतंस विदुर! मैंने तुम्हें प्रसिद्ध विशुद्धकर्मा ध्रुवका पवित्र चरित्र सुना दिया है। ये ध्रुव बाल्यकालमें ही बालोचित खिलौने आदि एवं माताके गृहका परित्याग करके भगवान् विष्णुके शरणापन्न हुए थे॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीध्रुवचरितं नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ध्रुवके वंशमें वेनका जन्म और उसके निष्ठुर आचरणसे उसके पिता राजा अङ्गका वन गमन

श्रीसूत उवाच—

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम्।
प्ररुढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनक! श्रीमैत्रेय ऋषिके मुखसे श्रीध्रुवके विष्णु-धाम प्राप्तिके विषयमें सुनकर इन्द्रियातीत भगवान् श्रीनारायणके प्रति विदुरकी भक्ति और भी सुदृढ़ हो गयी। उन्होंने पुनः श्रीमैत्रेय ऋषिसे प्रश्न करना आरम्भ कर दिया॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत॥ २॥

श्रीविदुरने पूछा—हे सुव्रत! (देवर्षि नारद जिन प्रचेताओंके यज्ञ-स्थलमें ध्रुवके माहात्म्यका गान कर रहे थे) वे प्रचेतागण कौन थे? उन्होंने किस वंशमें जन्म-ग्रहण किया था? वे किसके पुत्र थे? उन्होंने किस स्थानपर यज्ञका अनुष्ठान किया था?॥ २॥

मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम्।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः॥ ३॥

भगवत्-दर्शनसे कृतार्थ देवर्षि नारदको मैं एक महाभागवत और भगवत्-तत्त्वज्ञ महापुरुषके रूपमें जानता हूँ। उन्होंने श्रीभगवान्की पूजा-पद्धतिरूप क्रियायोगका उपदेश पञ्चरात्रादि शास्त्रोंमें दिया है॥ ३॥

स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यमानो भगवता नारदेनेडितः किल॥ ४॥

उस यज्ञमें वर्णाश्रमधर्ममें निष्ठ प्रचेतागण यज्ञपुरुष श्रीभगवान् नारायणकी पूजा-आराधना कर रहे थे। उस समय भक्तिमान श्रीनारदने उन भगवान्‌की स्तुति की थी॥ ४॥

यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! प्रचेताओंके उस यज्ञस्थलमें देवर्षि नारदने भगवान्‌की जिन-जिन लीला-कथाओंका वर्णन किया था, आप मुझे उन सब कथाओंको विस्तारपूर्वक सुनाइये। उन कथाओंको सुननेके लिए मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम्।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः॥ ६॥

स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि॥ ७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! (ध्रुवके वंशमें ही प्रचेताओंने जन्म-ग्रहण किया था, अतएव उनकी वंशावलीका वर्णन करनेसे ही प्रचेताओंकी बात भी आ जायेगी, इसी अभिप्रायसे मैं महाराज ध्रुवके वंशका वर्णन कर रहा हूँ, तुम उसे श्रवण करो।) पिताके वनमें चले जानेके लिए उद्यत होनेपर ध्रुव-तनय उत्कलने ज्येष्ठ होनेके कारण अपने पिता द्वारा पालित समस्त भू-सम्पत और राजसिंहासनके अधिकारी होनेपर भी उसे ग्रहण करनेकी कोई इच्छा नहीं की, क्योंकि उत्कल जन्मसे ही ज्ञानी, प्रशान्त-चित्त, आसक्ति-रहित और समदर्शी थे। वे समस्त प्राणियोंमें परमात्माके एवं परमात्मामें समस्त प्राणियोंके दर्शन करते थे॥ ६-७॥

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम्।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८॥

अव्यवच्छिन्नयोगाग्नि-दग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यत् तदैक्षत॥ ९॥

निरन्तर अभ्यास किये जानेवाले योगानलमें उनके अन्तःकरणका कर्मवासनारूपी मल भस्म हो जानेके कारण वे शान्त, निरुपाधिक, ज्ञानैक रस, आनन्दमय, सर्वत्र व्याप्त जीवात्माको (भगवान्‌का अंश होनेके कारण) परमकारणरूप ब्रह्मसे अभिन्न मानने लगे थे। जब उन्हें आत्म-उपलब्धि हो गयी, तब उन्हें अद्वयज्ञानपरतत्त्व ब्रह्मके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही दिखायी नहीं दी॥ ८-९॥

जडान्धबधिरोन्मत्त-मूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः॥ १०॥

जब वे मार्गपर चलते थे, तब अज्ञानी बालक उन्हें जड़ (मूर्ख), अन्धा, बहरा, उन्मत्त और गूँगा समझते थे। परन्तु वास्तवमें उनकी बुद्धि जड़ व्यक्तिके समान नहीं थी। वे बिना लपटकी आगके समान रहते थे॥ १०॥

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम्॥ ११॥

मन्त्रियों एवं कुलके बड़े-बूढ़ोंने उत्कलको अकर्मण्य एवं पागल समझकर उनके छोटे भाई भ्रमिपुत्र वत्सरको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया॥ ११॥

सुवीथीर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान्।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुञ्च इषमूर्जं वसुं जयम्॥ १२॥

सुवीथी वत्सरकी प्रियतमा पत्नी थी। उसके गर्भसे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु एवं जय नामके छह पुत्र उत्पन्न हुए॥ १२॥

पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः॥ १३॥

पुष्पार्णकी प्रभा एवं दोषा नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनमेंसे प्रभाके प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न नामक तीन पुत्र हुए॥ १३॥

प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे॥ १४॥

दोषाके प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट नामके तीन पुत्र हुए। व्युष्टने पुष्करिणी नामकी अपनी पत्नीके गर्भसे सर्वतेजा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया॥ १४॥

स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह।
मनोरसूत महिषी विरजान् नड्वला सुतान्॥ १५॥
पुरुं कृत्स्नमृतं द्युम्नं सत्यवन्तं धृतं व्रतम्।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम्॥ १६॥

वही सर्वतेजा बादमें चक्षु नामसे जाना गया और उसने आकूति नामकी पत्नीके गर्भसे चाक्षुष मनु नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। चक्षुष मनुकी महिषी नड्वलासे पुरु, कृत्स्न, ऋत्, द्युमान्, सत्यवान्, धृत, व्रत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि और उल्मुक नामक बारह शुद्ध चित्तवाले पुत्र उत्पन्न हुए॥ १५-१६॥

उल्मुकोऽजनयत् पुत्रान् पुष्करिण्यां षडुत्तमान्।
अङ्गं सुमनसं स्वातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम्॥ १७॥

उनमेंसे उल्मुकने अपनी पत्नी पुष्करिणीके गर्भसे अङ्ग, सुषमा, स्वाति, क्रतु, अङ्गिरा और गय नामक छह पुत्र उत्पन्न किये जो दया, दक्षिणा आदि गुणोंसे सम्पन्न थे॥ १७॥

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम्।
यद्दौःशील्यात् स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात् पुरात्॥ १८॥

अङ्गकी पत्नी सुनीथाने वेन नामक एक भयङ्कर पुत्रको जन्म दिया। उस वेनकी दुष्टताके कारण धर्मात्मा अङ्ग विरक्त होकर नगर छोड़कर चले गये॥ १८॥

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम्॥ ११॥

हे विदुर! अति प्रभावशाली मुनियोंके वचन वज्रके समान अमोघ होते हैं। उन्होंने क्रोधित होकर वेनको अभिशाप दे डाला, जिससे

उसके प्राण चले गये। इन ऋषियोंने मृत वेनकी दाहिनी भुजाका मन्थन किया था॥ १९॥

अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः॥ २०॥

कोई भी रक्षक न होनेके कारण पृथ्वीपर अराजकता व्याप्त हो गयी। लुटेरे प्रजाओंका उत्पीड़न करने लगे। ऋषियों द्वारा उनकी रक्षाके लिए वेनकी भुजाका मन्थन किये जानेपर श्रीभगवान् नारायणके अंशसे आदिराज[१] पृथु उत्पन्न हुए॥ २०॥

श्रीविदुर उवाच—

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ॥ २१॥

श्रीविदुरने कहा—समस्त सद्‌गुणोंके भण्डार, साधु और ब्राह्मणोंके भक्त महात्मा अङ्गराजकी इस प्रकारकी कुलाङ्गार सन्तान होनेका क्या कारण था, जिसके फलस्वरूप राजा अङ्ग विरक्त होकर नगर त्यागकर वन जानेके लिए बाध्य हुए॥ २१॥

किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन्।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः॥ २२॥

और, शासन करनेका व्रत धारण करनेवाले अर्थात् दण्डधारी राजा वेनसे ऐसा क्या अपराध हुआ था, जिसके कारण धर्मको भलीभाँति जाननेवाले ऋषियोंने उन्हें ब्रह्मशाप दे डाला?॥ २२॥

नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा॥ २३॥

प्रजाका पालन करनेवाला राजा पापी होनेपर भी प्रजाके द्वारा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि राजा अपने तेजके प्रभावसे इन्द्रादि लोकपालोंके सामर्थ्यको धारण किया करता है॥ २३॥

---

[१] राजा पृथुको आदिराज कहनेका कारण यह है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम पृथ्वीको नगर एवं ग्राम आदिमें विभक्त किया था।

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम्।
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः॥ २४॥

हे ब्रह्मन्! आप भूत-भविष्यको जाननेवालोंमें अति श्रेष्ठ हैं। इस सुनीथाके पुत्र वेनके आचरण और उसके प्रति मुनियोंके कोपके कारणका वर्णन कीजिये। मैं श्रद्धा एवं भक्तिके साथ इसे सुनना चाहता हूँ॥ २४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम्।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः॥ २५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जब राजर्षि अङ्गने अश्वमेध महायज्ञका अनुष्ठान किया था, तब मन्त्रज्ञ ब्राह्मणों द्वारा आवाहन किये जानेपर भी देवता अपना भाग लेनेके लिए उस यज्ञमें नहीं आये॥ २५॥

त ऊचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः॥ २६॥

हे वत्स! इससे विस्मित होकर ऋत्विजोंने यजमान अङ्गराजसे कहा—राजन्! हम जिस घृतादि हवनीय द्रव्योंकी आहुतियोंके द्वारा हवन कर रहे हैं, देवता उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं॥ २६॥

राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयासादितानि ते।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः॥ २७॥

हे राजन्! आपने समस्त हव्य-सामग्री बड़ी श्रद्धाके साथ संग्रहीत की है, यह निर्दोष है तथा याजकोचित सभी नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले हम जिन वेदमन्त्रोंका प्रयोगकर रहे हैं, वे भी बलहीन नहीं हैं॥ २७॥

न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि।
यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः॥ २८॥

इस यज्ञमें देवताओंकी तिलमात्र भी अवहेलना हुई हो—हमें ऐसा भी नहीं लगता, फिर भी वे अपने-अपने यज्ञ-भागको ग्रहण क्यों नहीं कर रहे हैं?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः।
तं प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—ऋत्विक ब्राह्मणोंके इस प्रकारके वचन सुनकर यजमान अङ्ग बहुत दुःखी हो गये। तब उन्होंने सदस्योंसे देवताओंके न आने तथा अपने दोषका कारण जाननेके लिए यज्ञ-पुरोहितोंसे अनुमति ली और अपना मौन भङ्ग करते हुए पूछा॥ २९॥

नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम्॥ ३०॥

(महाराज अङ्गने पूछा—)हे सदस्यो! देवताओंको इस यज्ञमें आह्वान किया गया है, फिर भी वे आ नहीं रहे हैं और न ही वे सोमपात्र ग्रहण कर रहे हैं। इसका कारण क्या है? मुझसे कौन-सा निन्दित कर्म हो गया है? आप ही बतलाइये॥ ३०॥

श्रीसदसस्पतय ऊचुः—

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम्।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः॥ ३१॥

सदस्योंने कहा—हे नरपते! इस जन्ममें तो आपने कोई भी पाप नहीं किया है, किन्तु पूर्वजन्ममें किया हुआ आपका एक पाप अवश्य है, जिसके कारण इस जन्ममें धार्मिक होकर भी आप पुत्रहीन हैं॥ ३१॥

तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक्॥ ३२॥

अतएव हे राजन्! आप सुपुत्र प्राप्त करनेका कोई उपाय कीजिये। इसीसे आपका कल्याण होगा। आप पुत्रकी कामनासे यज्ञ-भोक्ता भगवान्‌की अर्चना करें, वे आपको पुत्र प्रदान करेंगे॥ ३२॥

तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः॥ ३३॥

आप जब सन्तान–प्राप्तिके लिए यज्ञपुरुष श्रीहरिका वरणकर उनका आवाहन करेंगे, तब उनके साथ सभी देवता आकर अपना–अपना भाग ग्रहण करेंगे॥ ३३॥

तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद् यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः॥ ३४॥

उपासक जिस–जिस वस्तुकी कामना करते हैं, भगवान् श्रीहरि उन्हें वही वस्तु प्रदान कर देते हैं। वस्तुतः जो व्यक्ति जिस भावसे भगवान्‌की आराधना करता है, उसके फलका उदय भी उस भावके अनुरूप ही होता है॥ ३४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये।
पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे॥ ३५॥

ब्राह्मणोंने सभासदोंकी बात सुनकर उनकी बातोंपर विश्वासकर राजा अङ्गको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिए पशुमें यज्ञरूपसे प्रविष्ट होकर अवस्थित श्रीभगवान् विष्णुके उद्देश्यसे पुरोडाश नामक हविसे आहुति प्रदान की॥ ३५॥

तस्मात् पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम्॥ ३६॥

अग्निमें आहुति डालते ही उस यज्ञाग्निमेंसे स्वर्ण–हारसे विभूषित एवं उज्ज्वल वस्त्र पहने हुए एक पुरुष प्रकट हुए। वे एक स्वर्ण–पात्रमें सुपक्व खीर लिये हुए थे॥ ३६॥

स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम्।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात् पत्न्या उदारधीः॥ ३७॥

उदारबुद्धि राजाने ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपनी अञ्जलिमें वह खीर ग्रहण की और बड़े प्रसन्नचित्त होकर स्वयं सूँघकर उसे पत्नी सुनीथाको दे दिया॥ ३७॥

सा तत् पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजाः॥ ३८॥

पुत्रहीना रानी सुनीथाने उस पुत्र-प्रदायक खीरको आनन्दपूर्वक खाया तथा अपने पतिसे गर्भ धारण किया। यथासमय उसने एक पुत्रको जन्म दिया॥ ३८॥

स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः॥ ३९॥

वह राजपुत्र वेन बाल्यकालसे ही अधर्मके अंशसे उत्पन्न हुए अपने नाना 'मृत्यु' का ही अनुगामी था, इसलिए वह भी अधार्मिक ही हुआ॥ ३९॥

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः।
हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः॥ ४०॥

वह दुष्ट बालक वेन शिकारके लोभसे वनमें जाता था और अपने धनुष-बाणसे दुर्भागे हिरणोंको मार डालता था। पुरवासी उसे दूरसे देखते ही 'वेन आ रहा है, वेन आ रहा है' कहकर भयसे चिल्ला उठते थे॥ ४०॥

आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत्॥ ४१॥

वह इतना निष्ठुर और निर्दयी था कि क्रीड़ाभूमिमें समान आयुवाले बालकोंके साथ क्रीड़ा करते हुए उन्हें पशुओंके समान मार डालता था॥ ४१॥

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत् सुदुर्मनाः॥ ४२॥

पुत्र वेनको प्राणियोंका उत्पीड़न करनेमें निरत देखकर राजा अङ्गने डाँट-डपट और मार-पीट आदि अनेक उपायोंसे उसे सुधारना चाहा, किन्तु जब वे उसे सुमार्गपर लानेमें सम्पूर्ण रूपसे असमर्थ हो गये, तब उनका हृदय अत्यन्त दुःखित हो गया॥ ४२॥

प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम्॥ ४३॥

(वे विचार करने लगे) पुत्रहीन गृहमेधि[१] प्रायः पुत्रकी कामनाके वशीभूत होकर भक्तोंके दुःखोंको दूर करनेवाले श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, किन्तु हाय! कुपुत्रसे कैसा असहनीय दुःख प्राप्त होता है! यदि वे इस बातको जानते, तो कभी भी पुत्रकी कामना नहीं करते॥ ४३॥

यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान् नृणाम्।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः॥ ४४॥

कुसन्तानसे मनुष्योंका सम्पूर्ण यश नष्ट हो जाता है, महान् अधर्मका भागीदार होना पड़ता है, सभी प्राणियोंके साथ विरोध हो जाता है और कभी न छूटनेवाली चिन्ता लग जाती है॥ ४४॥

कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः॥ ४५॥

जिस पुत्रके कारण घर कष्टदायक हो पड़ता है, ऐसा नाम-मात्रका पुत्र ही कुपुत्र है। वह केवल मोह-बन्धनका ही कारण होता है। अतः कौन विवेकवान व्यक्ति ऐसे पुत्रकी लालसा करेगा?॥ ४५॥

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात्।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः॥ ४६॥

सुपुत्रकी अपेक्षा कुपुत्र ही अधिक शुभदायक है। इसका कारण है कि कुपुत्रसे घर नरकके समान अनुभव होने लगता है और इसके फलस्वरूप मनुष्यको गृहस्थ धर्मके प्रति विरक्ति हो जाती है॥ ४६॥

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात्।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम्॥ ४७॥

---

[१] इन्द्रिय-तपर्णमें रत भगवत्-सेवा-विमुख गृहस्थ।

इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अङ्गको वैराग्य हो गया। रातमें उन्हें नींद नहीं आयी। वे आधी रातको शय्यासे उठ बैठे और सबका मोह छोड़कर समृद्धिशाली राजमहलसे निकलकर वनको चल दिये। वेनकी माता सुनीथा नींदमें बेसुध पड़ी थी, तथा दूसरे लोगोंको भी इस बातका पता नहीं चला॥ ४७॥

विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः॥ ४८॥

तदनन्तर, महाराजने विरक्त होकर गृहका त्याग कर दिया है—यह जानकर समस्त प्रजा, पुरोहित, मन्त्री एवं सभी सुहृद् शोकके कारण अत्यन्त विह्वल होकर राजा अङ्गको, जो कि अभी वेश बदलकर उसी नगरीमें ही रह रहा था, अपनी पुरीके अतिरिक्त पृथ्वीपर सर्वत्र उसी प्रकार ढूँढ़ने लगे जैसे कुयोगी अर्थात् योगके रहस्यको न जाननेवाले अपने हृदयमें छिपे हुए भगवान्को बाहरमें ढूँढ़ते हैं॥ ४८॥

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम्।
ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम्॥ ४९॥

हे विदुर! जब राजा अङ्ग किसी भी स्थानपर नहीं मिले, तब सभी प्रजा-पुरोहितादि विफल मनोरथ होकर राजधानी लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने एकत्रित हुए ऋषियोंको यथावत् प्रणाम किया तथा अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे राजाके न मिलनेका वृत्तान्त कह सुनाया॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीअङ्गप्रव्रज्या नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

राजा वेनकी कथा

श्रीमैत्रेय उवाच—

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम्॥ १॥

वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः॥ २॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! लोगोंके कल्याणकी चिन्तामें रत भृगु आदि ब्रह्मवादी मुनियोंने प्रजाको अपने रक्षकके अभावमें पशुके समान भोगोन्मुख होते देखकर वेनकी माता सुनीथाको बुलवाया और उसकी अनुमति लेकर प्रजाकी सम्मति न रहनेपर भी वेनको राजपदपर नियुक्त कर दिया॥ १-२॥

श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम्।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः॥ ३॥

अति कठोर स्वभाववाले वेनको राज्य-सिंहासन प्राप्त हो गया है, यह सुनकर दस्यु (चोर-डाकू) सर्पसे डरे हुए चूहोंके समान इधर-उधर छिप गये॥ ३॥

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः॥ ४॥

वेन राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ होकर अष्ट लोकपालोंके ऐश्वर्यसे क्रमशः समृद्धि प्राप्त करने लगा और स्वयंको वीर-श्रेष्ठ जानकर अभिमानवशतः महाभागवतोंका तिरस्कार करने लगा॥ ४॥

एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः।
पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी॥ ५॥

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वतः॥ ६॥

इस प्रकार राजाका सिंहासन प्राप्त करके वेन ऐश्वर्यसे मदान्ध होकर लौकिक और वैदिक आचरण शून्य हो गया। वह अङ्कुश और प्रहारसे रहित हाथीके समान स्वर्गलोक एवं भूलोकको कँपाता हुआ रथपर चढ़कर इधर-उधर पर्यटन करने लगा। उसने धर्मानुष्ठान करनेमें सभी प्रकारसे बाधा प्रदान की और ढिंढोरा पिटवाकर सर्वत्र यह घोषणा करवा दी कि कोई भी ब्राह्मण किसी प्रकारका यज्ञ, दान अथवा होमादि क्रिया न करे॥ ५-६॥

वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम्।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः॥ ७॥

हे विदुर! दुराचारी वेनके द्वारा सदाचारपर लगाये गये प्रतिबन्धको देखकर मुनिगण समझ गये कि धर्म-कर्मादिके नाश होनेसे जगत्पर महान-सङ्कट उपस्थित हुआ है। इसलिए कृपा परवश होकर वे सब एकत्रित होकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे॥ ७॥

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्।
दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः॥ ८॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! जैसे लकड़ीके मूल और अग्रभागके जलनेपर उस लकड़ीके बीचमें रहनेवाले चींटी आदि जन्तुओंके लिए दोनों ही दिशाओंमें सङ्कट उपस्थित होता है, उसी प्रकार इन धर्मनिष्ठ लोगोंको नगरमें रहनेपर राजाका और नगरसे बाहर जानेपर दस्यु-तस्करादि का भय सता रहा है॥ ८॥

अराजकभयादेष कृतो राजाऽतदर्हणः।
ततोऽप्यासीद्भयन्त्वद्य कथं स्यात् स्वस्ति देहिनाम्॥ ९॥

अराजकताके भयसे राजसिंहासनके नितान्त अयोग्य होनेपर भी हमने वेनको राजाके पदपर आसीन कर दिया था, किन्तु उससे तो प्रजाको अधिक भय ही हो रहा है। इस अवस्थामें प्रजाके मङ्गलके लिए उपाय क्या है?॥ ९॥

अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत्।
वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः।
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः॥ १०॥

जिस प्रकार दुग्ध द्वारा पालित कालसर्प पालकके लिए भी अनर्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह वेन हमारे लिए भी अनिष्ट उत्पन्न कर रहा है। सुनीथाकी कोखसे उत्पन्न यह वेन स्वभावसे ही दुष्ट है। हमने इसे प्रजा-पालकके पदपर बिठाया था, परन्तु यह तो स्वयं ही प्रजाघातक बन गया है॥ १०॥

तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत्।
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः॥ ११॥

यद्यपि हम जानते थे कि वेन दुराचारी है, तो भी हमने इसे राजा बनाया। किन्तु अब हम इसे सत्-युक्तियोंके द्वारा समझानेका प्रयास करेंगे, जिससे कि इसके पाप हमें स्पर्श न कर सकें॥ ११॥

सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत्।
लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा॥ १२॥

एक तो यह अधार्मिक वेन प्रजाओंके धिक्कारसे जर्जरित है, उसपर भी यदि यह हमारे समझानेसे नहीं सम्भलता है, तो हम इसे अपनी क्रोधाग्निसे भस्म कर डालेंगे॥ १२॥

एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः।
उपव्रज्याब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वाथ सामभिः॥ १३॥

मुनिगण इस प्रकार निश्चय करके अपने-अपने क्रोधको छिपाते हुए वेनके समीप गये और उसे प्रिय वचनोंसे समझाते हुए कहने लगे॥ १३॥

श्रीमुनय ऊचुः—

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः।
आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्द्धनम्॥ १४॥

श्रीमुनियोंने कहा—हे नृपश्रेष्ठ! हे वत्स! हम तुमसे जो भी कह रहे हैं, इससे तुम्हारी आयु, ऐश्वर्य, बल और कीर्त्ति आदि बढ़ेंगे। तुम इन सब बातोंपर सावधानीपूर्वक ध्यान दो॥ १४॥

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यप्यानन्त्यमसङ्गिनाम्॥ १५॥

काय-मन-वचन एवं बुद्धि द्वारा अनुष्ठित धर्म सकाम मनुष्योंको स्वर्ग आदि लोक तथा निष्काम व्यक्तियोंको मोक्ष तक भी प्रदान किया करता है॥ १५॥

स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।
यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवारोहति॥ १६॥

अतः हे वीर! तुम प्रजाओंके कल्याणजनक धर्मका विनाश मत करो, क्योंकि धर्मके विनष्ट होनेपर राजाको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होना पड़ता है॥ १६॥

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चौरादिभ्यः प्रजा नृपः।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते॥ १७॥

हे राजन्! जो राजा असत् मन्त्रियों एवं चोर-लुटेरोंसे प्रजाकी रक्षा करता है और शास्त्रोंके निर्देशानुसार कर ग्रहण करता है, वह इस लोक एवं परलोक—दोनोंमें ही सुख प्राप्त करता है॥ १७॥

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमात्मकैः॥ १८॥

तस्य राज्ञो महाराज भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥ १९॥

हे महाराज! जिस राजाके राज्य और नगरमें वर्णाश्रम-धर्मका पालनकर प्रजा अपने-अपने अधिकारोचित धर्मके अनुसार भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करती है, प्रजापालनरूप भगवत्-अभिलषित कार्यमें अवस्थित उस राजाके प्रति भूतभावन विश्वात्मा श्रीभगवान् अत्यधिक सन्तुष्ट होते हैं॥ १८-१९॥

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः॥ २०॥

ब्रह्मादि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर उन भगवान्के प्रसन्न होनेपर उस राजाके लिए और क्या अप्राप्य रह सकता है? क्योंकि तब लोकपालों सहित सभी प्राणी आदरपूर्वक उसे पूजोपहार समर्पण करते हैं॥ २०॥

तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम्।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि॥ २१॥

हे राजन्! श्रीहरि स्वर्गादि लोक, लोकपाल, देवताओं एवं यज्ञोंके नियामक हैं। वे यज्ञके बोधक वेदत्रयीरूप, यज्ञीय द्रव्यरूप एवं तपोरूप हैं। तुम्हारी ये स्वदेशवासी प्रजा तुम्हारे ही मङ्गलके लिए स्वाध्याय द्रव्यादिमय यज्ञके द्वारा उन भगवान्का यजन करती है, अतः तुम्हें भी अपने आचरण द्वारा प्रजाको प्रेरणा प्रदान करनी चाहिये॥ २१॥

यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं
तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम्॥ २२॥

हे वीर! ब्राह्मण यदि तुम्हारे राज्यमें यज्ञका अनुष्ठान करेंगे, तब सम्यक् रूपसे पूजित होनेपर श्रीहरिके अंशसे उत्पन्न देवता प्रसन्न होकर अभिलषित वर प्रदान करेंगे। अतः उन देवताओंकी अवज्ञा करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है॥ २२॥

श्रीवेन उवाच—

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते॥ २३॥

वेनने कहा—हे मुनियो! मेरी सेवाका परित्याग करके विष्णुके भजनरूप अधर्ममें ही तुमलोगोंने धर्मबुद्धि कर रखी है। अतएव निश्चय ही तुम कुछ नहीं जानते हो, क्योंकि तुम लोग अन्नदाता

वास्तविक-पतिका त्याग करके व्यभिचारिणी स्त्रीके समान जार-पतिकी उपासना करते हो?॥ २३॥

अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम्।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च॥ २४॥

अपनी मूर्खता तो देखो! तुमलोग राजारूपी मुझ ईश्वरकी अवज्ञा कर रहे हो। अतः तुम्हारा न तो इस लोकमें मङ्गल होगा और न ही परलोकमें॥ २४॥

को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम्॥ २५॥

कुलटा स्त्रियाँ ही विवाहित पतिकी सेवाका परित्याग करके पर-पुरुषमें आसक्त होती हैं, तुम्हारी भक्ति भी उसी प्रकारकी देख रहा हूँ। जिसमें तुम्हारी इतनी भक्ति है, वह यज्ञपुरुष है कौन? उसका नाम क्या है?॥ २५॥

विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः॥ २६॥

एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः॥ २७॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, पर्जन्य (मेघ), कुबेर, यम, सूर्य, पृथ्वी आदि एवं अन्य समस्त देवता जो वरदान एवं शाप प्रदान करनेमें समर्थ हैं, वे सब राजाकी देहमें विराजमान रहते हैं। इसलिए राजा ही सर्वदेवमय होता है॥ २६-२७॥

तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः।
बलिञ्च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान्॥ २८॥

अतः हे विप्रो! तुम सब मेरे प्रति मत्सरताका परित्याग करके मेरी इच्छानुसार कार्योंसे मेरे ही उद्देश्यसे यज्ञ करो। मेरे लिए ही पूजोपहार (कर आदि) समर्पित करो। अतः मेरे अतिरिक्त और कौन व्यक्ति अग्रभुक् अथवा आराध्य हो सकता है?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः॥ २९॥

श्रीमैत्रय ऋषिने कहा—भ्रान्तमति होनेके कारण वेन पापिष्ठ एवं कुमार्गगामी हो गया था तथा उसके पुण्य नष्ट हो चुके थे। मुनियोंने उससे बार-बार विनयपूर्वक अनुरोध किया, परन्तु उसने उनकी एक बात न सुनी॥ २९॥

इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना।
भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः॥ ३०॥

हे विदुर! इस प्रकार कल्याणकारिणी उपदेशोंके व्यर्थ होनेपर एवं अपनेको पण्डित माननेवाले वेनके द्वारा अपमानित होकर ब्राह्मण लोग उसपर अत्यधिक क्रोधित हो गये और कहने लगे॥ ३०॥

हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः।
जीवन् जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद्ध्रुवम्॥ ३१॥

इस पापीका स्वभाव बड़ा ही निष्ठुर है, इसे अभी मार डालो। यह पापात्मा यदि जीवित रहा, तो निश्चित रूपसे अपनी दुराचाररूप अग्निसे समस्त जगत्‌को भस्म कर डालेगा॥ ३१॥

नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम्।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः॥ ३२॥

इस दुराचारीमें राजसिंहासनपर बैठनेकी कोई योग्यता नहीं है। यह इतना निर्लज्ज है कि सर्वयज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी निन्दा करता है॥ ३२॥

को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम्।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः॥ ३३॥

जिन भगवान् श्रीविष्णुके अनुग्रहसे यह अत्यधिक उत्कृष्ट ऐश्वर्यका स्वामी हुआ है, उन भगवान्‌की निन्दा इस मूर्त्तिमान पापी वेनके अतिरिक्त और कौन कर सकता है?॥ ३३॥

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः।
निजघ्नुर्हूङ्कृतैर्वेणं हतमच्युतनिन्दया॥ ३४॥

इस प्रकार मुनियोंने वेनका वध करनेका निश्चय करके क्रोध प्रकट किया एवं अच्युत भगवान् श्रीहरिकी निन्दाके कारण पहलेसे ही मरे हुए वेनको अपनी हुङ्कार-ध्वनिसे मार डाला॥ ३४॥

ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम्।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती॥ ३५॥

इस प्रकार वेनका वध करके ऋषि अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये। शोकसे विह्वल वेनकी माता सुनीथा पुत्रकी मृत देहकी विद्यायोग अर्थात् मन्त्र द्वारा रक्षा करने लगी॥ ३५॥

एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः।
हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे॥ ३६॥

एक दिन वे सब मुनि सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नानकर होम-कार्यसे निवृत्त होकर उस नदीके तटपर बैठकर भगवत्-कथाओंकी चर्चा कर रहे थे॥ ३६॥

वीक्ष्योत्थितान् तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान्।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः॥ ३७॥

किन्तु, उसी समय लोगोंको आतङ्कित करनेवाले बहुत-से भयङ्कर उपद्रवोंको समुपस्थित देखकर मुनिगण परस्पर कहने लगे—पृथ्वी राजाके बिना सुरक्षित नहीं है, कहीं चोर-डाकुओंसे इसका कुछ अमङ्गल तो नहीं हो रहा है?॥ ३७॥

एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतो दिशम्।
पांशुः समुत्थितो भूरिश्चौराणामभिलुम्पताम्॥ ३८॥

वे ऋषि इस प्रकार परस्पर विचार कर ही रहे थे कि चारों दिशाओंसे अर्थलोभी चोर और डाकू आक्रमण करनेके लिए दौड़ पड़े, जिससे बड़ी भारी धूल उड़ने लगी॥ ३८॥

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यञ्च जिघांसताम्॥ ३९॥
चौरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्।
लोकान् नावारयन् शक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः॥ ४०॥

यह दृश्य देखते ही मुनिगण समझ गये कि राजा वेनकी मृत्युके बाद दस्यु लोग प्रजाओंका धन चुरानेमें तत्पर हैं तथा एक-दूसरेके प्राणोंका संहार करनेमें प्रवृत्त दुर्जनगण साधुओंके प्रति उपद्रव मचा रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जनपद अराजक, चोर प्राय और धैर्यहीन हो गयी है। यद्यपि क्षत्रियगण ऐसी उपद्रवकारी जनताको वेनकी भाँति नाश करनेमें समर्थ हैं तथा उन्हें नाश न करनेके दोषोंको भी जानते हैं, तथापि ऐसी जनपदको उनके कुकर्मोंसे रोक नहीं रहे हैं॥ ३९-४०॥

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥ ४१॥

फिर उन्होंने विचार किया कि ब्राह्मण समदर्शी एवं शान्त होनेपर भी यदि दुर्बलोंके प्रति अत्याचार देखकर उसके निवारणकी उपेक्षा कर देते हैं, तो फूटे हुए घड़ेसे दुग्ध-क्षरणके समान उनका भी तप नष्ट हो जाता है॥ ४१॥

नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः॥ ४२॥

(ऋषि कहने लगे—)राजर्षि अङ्गके इस वंशका पूरी तरहसे नाश होना उचित नहीं है, क्योंकि इस वंशमें भगवान् श्रीकेशवमें अनुरक्त अनेक अमोघवीर्य राजा उत्पन्न हुए हैं॥ ४२॥

विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः॥ ४३॥
काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्द्धजः॥ ४४॥

ऋषियोंने इस प्रकार निश्चय करके सुनीथाके द्वारा रक्षित मृत राजा वेनकी जाँघका बड़े वेगके साथ मन्थन किया, जिससे उसमेंसे एक बौने पुरुषकी उत्पत्ति हुई। उसका वर्ण कौएके समान काला था, उसके सभी अङ्ग और विशेष रूपसे दोनों भुजाएँ अत्यन्त छोटी थीं, उसके दोनों जबड़े बहुत बड़े थे, टाँगे बहुत छोटी थीं, नाकका अग्रभाग चपटा था, दोनों आँखें लाल रङ्गकी थीं तथा केश ताम्र वर्णके थे॥ ४३–४४॥

तन्तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम्।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत्॥ ४५॥

उस बौने पुरुषने सिर झुकाकर दीनता और विनम्र भावसे पूछा कि 'मैं क्या करूँ'? तब ऋषियोंने कहा—'निषीद' अर्थात् 'बैठ जाओ'। ऋषियोंके इस 'निषीद' वचनसे वह 'निषाद' नामसे प्रसिद्ध हो गया॥ ४५॥

तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः।
येनाहरज्जायमानो वेणकल्मषमुल्बणम्॥ ४६॥

निषादने जन्म लेते ही राजा वेनके भयङ्कर पापोंको अपने ऊपर ले लिया, इसलिए वह 'निषद' अर्थात् नीच जातिका हुआ। उसके वंशधर नैषाद भी हिंसा, लूटपाट आदि पाप-कर्मोंमें लगे रहते हैं तथा वन एवं पर्वतोंमें ही निवास करते हैं॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते निषादोत्पात्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद मुनियोंने पुनः पुत्रहीन पृथ्वीपति वेनकी दोनों भुजाओंका मन्थन किया, जिससे एक पुरुष और एक स्त्री उत्पन्न हुए॥ १॥

तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम्॥ २॥

वे ब्रह्मवादी ऋषि उस स्त्री और पुरुषको उत्पन्न हुआ देखकर उन्हें श्रीभगवान्‌का अंश जानकर परम सन्तुष्ट हुए और कहने लगे॥ २॥

श्रीऋषय ऊचुः—

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपावनी।
इयञ्च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी॥ ३॥

ऋषियोंने कहा—यह पुरुष भगवान् श्रीविष्णुका भुवन-पालन अंश है और यह स्त्री भी श्रीभगवान्‌की सनातनी लक्ष्मीके अंशसे उत्पन्न हुई है॥ ३॥

अत्र यः प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः॥ ४॥

इनमें जो पुरुष है, वह राजाओंमें सर्वप्रथम आदि-राजा होकर सुयशका विस्तार करेगा तथा महायशस्वी 'पृथु' नामसे प्रसिद्ध होकर महाराज चक्रवर्त्ती बनेगा॥ ४॥

इयञ्च देवी सुदती गुणभूषणभूषणम्।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती॥ ५॥

और, यह देदीप्यमान सुन्दर दाँतोंवाली, गुण एवं आभूषणोंकी भी अलङ्कार-स्वरूपा श्रेष्ठ-सुन्दरी 'अर्चि' के नामसे विख्यात होकर महाराज पृथुको अपने पतिके रूपमें अङ्गीकार करके उनकी सेवा करेगी॥ ५॥

एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया।
इयञ्च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी॥ ६॥

यह पुरुष साक्षात् श्रीहरिका अंश है और केवल लोकरक्षणके लिए ही इन्होंने जन्म-ग्रहण किया है। यह स्त्री भी श्रीभगवान्‌की एकान्तिक भक्तिसे युक्त तथा उनके वियोगको सहन करनेमें असमर्थ लक्ष्मी-स्वरूपा है, इसलिए यह अपने पतिके साथ ही इस लोकमें आविर्भूत हुई है॥ ६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः॥ ७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इसके बाद विप्रगण उस पुरुषकी स्तुति करने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्व यशोगान करने लगे, सिद्धगण पुष्पवृष्टि करने लगे और अप्सराओंने नृत्य करना आरम्भ कर दिया॥ ७॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः॥ ८॥

स्वर्गमें देवता शङ्ख, तूर्य (तुरही) मृदङ्ग एवं दुन्दुभि आदि वाद्य बजाने लगे। तत्पश्चात् देवर्षि एवं पितर आदि सभी उस स्थानपर आ गये॥ ८॥

ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः।
वैण्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः॥ ९॥

पादयोररविन्दञ्च तं वै मेने हरेः कलाम्।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः॥ १०॥

जगद्‌गुरु ब्रह्माजीने देवताओं एवं देवेश्वरोंके साथ उस स्थानपर आकर देखा कि वेननन्दनके दायें हस्तमें विष्णुकी चक्ररेखा और दोनों चरणोंमें कमलके चिह्न विद्यमान हैं। अतः उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि ये श्रीहरिके ही अंश हैं, क्योंकि जिनके हाथकी चक्ररेखा यदि अन्य रेखाओंके द्वारा कटी हुई न हो, तो वे परमेश्वरके ही अंश होते हैं॥ ९-१०॥

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः॥ ११॥

तब ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंने उन पुरुषका अभिषेक करना आरम्भ कर दिया। उस समय सभी लोग चारों दिशाओंसे महाराज पृथुके अभिषेकके लिए सामग्रियाँ लाकर ब्राह्मणोंको समर्पित करने लगे॥ ११॥

सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम्॥ १२॥

गिरि, नदी, समुद्र, नाग, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्गलोक, भूलोक एवं समस्त जीव विविध प्रकारके उपहार लाकर भेंट करने लगे॥ १२॥

सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः॥ १३॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंके द्वारा पृथुका विधिवत् अभिषेक हुआ। उन्हें शोभनीय वस्त्रों और साधुजनों द्वारा निवेदित अलङ्कारोंसे सजाया गया। तदनन्तर विविध आभूषणोंसे अलंकृता महारानी अर्चिदेवीके साथ राजसिंहासनपर विराजमान होकर वे द्वितीय अग्निके समान प्रतीत होने लगे॥ १३॥

तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम्।
वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम्॥ १४॥

वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम्।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः॥ १५॥

ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम्।
हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम्॥ १६॥

दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम्॥ १७॥

अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून्।
भूः पादुके योगमय्यौ द्यौः पुष्पावलिमन्वहम्॥ १८॥

नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्द्धानञ्च खेचराः।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम्॥ १९॥

सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे॥ २०॥

हे वीर विदुर! महाराज पृथुको कुबेरने एक स्वर्णसिंहासन, वरुणने निरन्तर जलकी फुहारें रिसनेवाला तथा चन्द्रकान्तिसे उज्ज्वल एक छत्र, वायुने दो चँवर, धर्मने एक कीर्त्तिमयी (मलिन नहीं होनेवाली) माला, इन्द्रने उत्कृष्ट मुकुट, यमने शत्रु-वशीकारक दण्ड, ब्रह्माने वेदमय कवच, सरस्वतीने उत्तम हार, श्रीभगवान् विष्णुने सुदर्शनचक्र, विष्णुप्रिया लक्ष्मीने अक्षय सम्पत्, रुद्रदेवने दस चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त कोष (म्यान) के साथ तलवार, पार्वतीने शत चन्द्राकृतियोंसे अङ्कित एक ढाल, सोमने (मरण, भ्रान्ति और क्षोभ आदिसे रहित) अमृतमय अश्व, विश्वकर्माने एक अति सुन्दर रथ, अग्निने बकरे और गायके सींगोंसे निर्मित धनुष, सूर्यने रश्मियोंसे युक्त बाण, भूमिने चरण स्पर्शमात्रसे अभीष्ट स्थानपर पहुँचानेवाली योगमयी पादुकाएँ, आकाशने प्रतिदिन पुष्पाञ्जलि, विमानचारी गन्धर्व एवं विद्याधर आदिने नाट्य, गीत, वाद्य और नाट्यादि कौशल, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद तथा समुद्रने अपने जलसे उत्पन्न शङ्ख उपहारमें प्रदान किये। समुद्र, पर्वत, नदी आदि सभीने श्रीविष्णु अवतार पृथुको बेरोक-टोक आने-जानेवाले रथमार्ग प्रदान किये। इस प्रकार समस्त प्रकारके उपहार निवेदित किये

जानेके बाद सूत, मागध एवं वन्दीगण उनकी स्तुति करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए॥ १४-२०॥

स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ २१॥

महाप्रतापवान वेननन्दन पृथुने उन्हें स्तुतिके लिए उद्यत जानकर मुसकराते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा॥ २१॥

श्रीपृथुरुवाच—

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दिन्
लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयोऽमे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः॥ २२॥

श्रीपृथुने कहा—हे सौम्य सूत! हे मागध! हे वन्दिगण! मेरा पराक्रम तो इस पृथ्वीपर अभी प्रकाशित ही नहीं हुआ है, फिर आप किन गुणोंको आधार बनाकर मेरी स्तुति करना चाहते हैं? अतः इस स्तुतिके लिए मेरे अतिरिक्त किसी अन्य योग्य व्यक्तिका आश्रय लीजिये। आपकी वाणी मेरे लिए प्रयुक्त होकर मिथ्या प्रतिपन्न न हो—यही मेरी इच्छा है॥ २२॥

तस्मात् परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः॥ २३॥

हे मधुरभाषी स्तावको! इस समय मेरे गुण व्यक्त नहीं हुए हैं। कालान्तरमें जब वे प्रकट हो जायेंगे, तब आप मेरी यश-महिमासे अपने प्रत्येक स्तोत्रको अलंकृत कर लेना। उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिका गुणानुवाद ही कीर्त्तनीय है, अतः सभ्य लोग मेरे समान अप्रसिद्ध व्यक्तिको कभी भी स्तव-योग्य नहीं मानते॥ २३॥

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।

तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद॥ २४॥

अनेक लोगोंमें महान् व्यक्तियोंके गुणोंको अपनेमें समाहित करनेका सामर्थ्य होता है—यह सत्य है, किन्तु ऐसा कौन विवेकी व्यक्ति है, जो इन सब गुणोंके आविर्भूत होनेसे पहले ही केवल उनकी सम्भावनामात्रसे ही स्तावकोंके द्वारा अपनी स्तुति करवायेगा? अथवा 'शास्त्राभ्यास करनेपर तुम्हारे विद्यादि गुण प्रकट हो जायेंगे'—इस रूपमें किसीके द्वारा उपहासपरक स्तुति किये जानेपर यदि कोई इस स्तुतिको अपनी वञ्चना नहीं समझता, तो यह मान लेना चाहिये कि वह नितान्त मूर्ख एवं मन्दबुद्धि है॥ २४॥

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्॥ २५॥

निष्कपट, उन्नत-हृदयवाले लज्जावान पुरुष जगत्में विश्रुतकीर्त्ति और प्रभावशाली होनेपर भी योग्य स्तावकके स्तुतिपरक वचनोंको निन्दित पौरुषकी चर्चाके समान मानते हैं। अर्थात् 'आप इतने समर्थ हैं कि आपको धर्मका उल्लघंन करनेपर भी कोई दोष नहीं लगता'—इस प्रकारकी स्तुति समर्थवान व्यक्तिके पक्षमें अनुचित या अतिस्तुति नहीं होनेपर भी समर्थवान व्यक्ति स्वयं इस प्रकारकी स्तुतिको सहन नहीं करता॥ २५॥

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत्॥ २६॥

हे सूत! अभी तक मैंने किसी वरिष्ठ कार्यके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त नहीं की है, जिसकी प्रशंसा या गुणगान किया जाये। अतः मैं अज्ञ बालकके समान किस प्रकार आपसे आत्म-स्तुति करवाऊँ?॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

मुनियोंके आदेशानुसार वन्दीजनोंके द्वारा महाराज पृथुकी स्तुति

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—यद्यपि राजा पृथुके इस प्रकार कहनेपर सूत आदि गायक उनके वचनामृतके आस्वादनसे सन्तुष्ट हुए, तथापि उन्होंने पुनः मुनियोंकी प्रेरणासे महाराज पृथुकी स्तुति करनी प्रारम्भ कर दी॥ १ ॥

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः॥ २ ॥

हे महाराज! आप भगवान् श्रीविष्णुके शक्त्यावेश अवतार हैं। हममें आपकी महिमाको वर्णन करनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि राजा वेनके अङ्गसे उत्पन्न होनेपर भी आपके पौरुषका वर्णन करनेमें ब्रह्मादि वाचस्पतियोंकी बुद्धि भी भ्रमित हो जाती है॥ २ ॥

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि॥ ३ ॥

(यद्यपि आपके गुणोंका कीर्त्तन करनेका हमारा सामर्थ्य नहीं है,) तथापि श्रीहरिके अंशावतार महायशस्वी आपके कथामृतके प्रति हमारा विशेष आदर उत्पन्न हुआ है। मुनियोंने ही हमें प्रेरणा प्रदान की है,

वे योगबलसे हमारे हृदयमें प्रविष्ट होकर जिस प्रकार की स्फूर्ति करायेंगे, हम उसी प्रकार ही आपकी प्रशंसनीय कीर्त्तिका गान करेंगे॥ ३॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतुनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥ ४॥

(सूतादि गायकोंने कहना आरम्भ किया—)ये महाराज पृथु स्वधर्म-पालन करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ और जनसमूहके धर्म-प्रवर्त्तक होंगे। ये वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके संरक्षक और कुमार्ग-गामियोंको दण्ड प्रदान करनेवाले होंगे॥ ४॥

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम्॥ ५॥

ये अकेले ही यथायोग्य भावसे दोनों लोकोंका अर्थात् यज्ञादि प्रवर्त्तनसे स्वर्गका और वर्षा आदिके द्वारा भूलोकका कल्याण करनेके लिए समय-समयपर अपने शरीरमें इन्द्रादि लोकपालोंकी मूर्त्ति धारण करेंगे॥ ५॥

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन् सूर्यवद्विभुः॥ ६॥

ये महाराज पृथु प्राणीमात्रके प्रति समदर्शी होकर एवं सूर्यकी भाँति अपना प्रताप प्रकाशित करके यथासमय धनका आदान-प्रदान करेंगे॥ ६॥

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रामतामपि।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान्॥ ७॥

वेननन्दन पृथुका स्वभाव सबकुछ सहन करनेवाली धरतीके समान होगा। आर्त्त व्यक्तियोंके प्रति ये सर्वदा करुणा करेंगे। यदि आर्त्त व्यक्ति इनके सिरपर पैर रखकर इनका अतिक्रमण भी करेंगे, तो ये उसे भी सहन कर लेंगे॥ ७॥

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत्॥ ८॥

इन्द्रके द्वारा वर्षा न करनेपर जब प्रजाजनोंके प्राण घोर सङ्कटमें पड़ जायेंगे, तब भगवान् श्रीहरिके अंशसे उत्पन्न राजवेशधारी ये महाराज पृथु स्वयं ही इन्द्रके समान जल बरसाकर प्रजाकी अनायास ही रक्षा कर लेंगे॥ ८॥

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा॥ ९॥

महाराज पृथु पूर्ण विकसित अमृतमय मुखचन्द्रकी विशुद्ध मनोहर मुसकान और प्रेमभरी चितवन द्वारा जनसमूहको आनन्दमें निमग्न कर देंगे॥ ९॥

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा॥ १०॥

महाराज पृथुके किसी स्थानमें प्रवेश करने और वहाँसे बाहर निकलनेका मार्ग दूसरा कोई भी नहीं जान पायेगा। इनके द्वारा किये जानेवाले कार्योंको फलकी प्राप्ति होनेसे पहले कोई भी नहीं जान पायेगा तथा ये उन कार्योंको भी इतने गम्भीर रूपसे सम्पन्न करेंगे कि वे किस अभिप्रायसे किये गये हैं, उसे भी कोई नहीं समझ सकेगा। इनका धन और ज्ञान आदि सदैव भलीभाँति सुरक्षित रहेगा। ये असीम गुणोंके धाम होंगे और इनका विष्णुके समान अनन्त माहात्म्य होगा। संयतमूर्त्ति ये पृथु महाराज अलक्षित-स्वभाववाले साक्षात् वरुण देवताके समान शोभायमान होंगे॥ १०॥

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत्।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः॥ ११॥

वेनरूप अरणि (यज्ञ-काष्ठ) के मन्थनसे यह पृथुरूप जो अग्नि उत्पन्न हुई है, शत्रु इन्हें मनके द्वारा भी स्पर्श नहीं कर पायेंगे। इनका पराक्रम शत्रुओंके लिए अत्यन्त असहनीय होगा। इनके निकट उपस्थित होनेपर भी कोई दुष्ट-से-दुष्ट शत्रु भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा॥ ११॥

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम्॥ १२॥

जिस प्रकार प्राणियोंके भीतर रहनेवाले अन्तर्यामी सब कुछ देखते हुए भी साक्षीके समान उदासीन रहते हैं, उसी प्रकार ये महात्मा भी गतिविधियों तथा गुप्तचरोंके द्वारा प्राणियोंके प्रकट एवं गुप्त—सभी प्रकारके कार्योंको जानकर भी अन्तर्यामीके समान उदासीन अर्थात् अनासक्त रहेंगे॥ १२॥

नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः॥ १३॥

महाराज पृथु धर्मराज यम की भाँति न्यायके पथपर स्थित होंगे। यदि शत्रुकी सन्तान दण्डके योग्य नहीं है, तो ये उसे दण्ड नहीं देंगे और इनका अपना पुत्र यदि दण्डनीय है, तो उसे दण्ड देंगे॥ १३॥

अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात्।
वर्तते भगवानर्को यावत् तपति गोगणैः॥ १४॥

ऐश्वर्यवान सूर्यदेव मानस-पर्वत तक जिस-जिस स्थानको अपनी किरणोंके द्वारा प्रकाशित करते हैं, उन सभी स्थानोंपर इनका आज्ञारूपी चक्र या सेना अथवा रथका चक्र निष्कण्टक गतिसे विचरण करेगा॥ १४॥

रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः॥ १५॥

महाराज पृथु अपने मनोरञ्जक पराक्रमसे प्रजाको आनन्दित करेंगे, इसी कारण प्रजा इन्हें ही 'राजा' कहकर सम्बोधित करेगी॥ १५॥

दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः॥ १६॥

ये अखण्डितव्रत, सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मण-हितैषी, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, समस्त जीवोंके आश्रय होने योग्य, सबको सम्मान देनेवाले एवं दीनवत्सल होंगे॥ १६॥

मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्द्ध इवात्मनः।
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम्॥ १७॥

इनकी परस्त्रीमें माताके समान भक्ति, अपनी स्त्रीमें अर्द्धाङ्गिनीके समान प्रीति तथा प्रजाओंमें पिताके समान वत्सलता होगी। ये ब्रह्मविद् ब्राह्मणोंकी आज्ञाका पालन करनेवाले होंगे॥ १७॥

देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्द्धनः।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु॥ १८॥

प्राणीमात्र इनसे इतनी प्रीति करेंगे, जितनी वे अपने-आपसे करते हैं। ये सुहृदोंको बहुत आनन्दित करेंगे। इन्हें विषयोंमें अनासक्त साधुओंका प्रकृष्ट सङ्ग प्राप्त होगा; परन्तु जो दुष्ट होंगे, उनके लिए ये यमके समान होंगे॥ १८॥

अयन्तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः।
यस्मिन्नविद्या-रचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम्॥ १९॥

ये चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्तिके अधीश्वर, निर्विकार साक्षात् भगवान् विष्णुके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। अद्वयतत्त्व भगवान्के बहुत रूपोंमें प्रतीत होनेपर भी उन सबमें भेदबुद्धि अविद्याके द्वारा ही कल्पित होनेके कारण निरर्थक है॥ १९॥

अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
र्गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः
पर्येष्यते दक्षिणतो यथार्कः॥ २०॥

भगवान्के अंश ये महाराज पृथु अद्वितीय पराक्रमशाली राजाधिराजके रूपमें उदयाचल तक समस्त पृथ्वीपर शासन करेंगे तथा इसी उद्देश्यसे ये जयप्रद रथपर सवार होकर धनुष-बाण हाथमें लेकर सूर्यके समान सर्वत्र परिभ्रमण करेंगे॥ २०॥

अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः॥ २१॥

महाराज पृथु इस प्रकार जिन-जिन स्थानोंपर विचरण करेंगे, उन-उन स्थानोंपर इन्द्र, वरुण आदि सभी लोकपाल एवं पृथ्वीपाल (राजा) उन्हें शुल्कके रूपमें भेंट प्रदान करेंगे और उन लोकपालोंकी महारानियाँ मण्डलाधिपति चक्रधर पृथुका यशोगान करते-करते इन्हें 'आदिराज' मानकर इनका बहुत सम्मान करेंगी॥ २१॥

अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम्।
यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या
भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः॥ २२॥

जिस प्रकार देवराज इन्द्रने अपने धनुषके अग्रभागके द्वारा अनायास ही पर्वतोंको तोड़-फोड़ करके पृथ्वीको समतल कर दिया था, ये राजचक्रवर्ती पृथु भी उसी प्रकार अनायास ही पर्वतोंको तोड़-फोड़कर पृथ्वीको समतल कर देंगे और प्रजाओंकी जीविकाके निर्वाहके लिए गौ-स्वरूपा इस पृथ्वीका दोहन भी करेंगे॥ २२॥

विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत् क्ष्मामविषह्य आजौ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः॥ २३॥

जिस प्रकार पशुओंका राजा सिंह अपनी पूँछ ऊँची करके वनमें विचरण करता है, उसी प्रकार ये भी जिस समय भैसों एवं गायोंके सींगोंसे बने धनुषकी टङ्कार करते हुए उस धनुषको ऊपर उठाकर रणभूमिमें विचरण करेंगे, तब दुष्ट इनके पराक्रमको सहन नहीं कर पायेंगे और इधर-उधर छिप जायेंगे॥ २३॥

एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र।

अहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने॥ २४॥

महाराज पृथु सरस्वती नदीके उद्गम स्थानपर सौ-अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे। अन्तिम यज्ञके समाप्त होनेके समय ही इन्द्रदेव इनके यज्ञीय अश्वका अपहरण कर लेंगे॥ २४॥

एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम्।
आराध्य भक्त्यालभतामलं तज्-
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति॥ २५॥

इसके बाद महाराज पृथु अपने महलके उपवनमें अनुपम ज्ञान-वैराग्य आदिसे युक्त श्रीसनत् कुमारका सङ्ग प्राप्त करके भक्तिपूर्वक उनकी आराधना करेंगे तथा जिस ज्ञानसे परब्रह्मको जाना जाता है, उस विशुद्ध निर्मल ज्ञानको प्राप्त करेंगे॥ २५॥

तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः॥ २६॥

'ये आदिराज पृथु महान् पराक्रमशाली हैं, इनका विक्रम सर्वत्र विख्यात है'—महाराज पृथु अपने सम्बन्धमें इस प्रकारकी विभिन्न स्तुतियों और गुण-गाथाओंका सर्वत्र ही श्रवण करते रहेंगे॥ २६॥

दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-
महानुभावो भविता पतिर्भुवः॥ २७॥

इन दिग्विजयीकी आज्ञाका कोई भी विरोध नहीं कर पायेगा। ये अपने तेजके प्रभावसे जीवोंके हृदयके सम्पूर्ण अभद्रोंको दूरकर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक होंगे। पृथ्वीपति ये महाराज पृथु सुर-असुर समस्त महानुभाव राजाओंके द्वारा बहुत सम्मानित होंगे॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुस्तवो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

प्रजाको भूखसे व्याकुल देखकर महाराज पृथुका पृथ्वीपर क्रोधित होना और पृथ्वी द्वारा उनकी स्तुति

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः।
छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! वन्दीजनोंने श्रीभगवान्‌के अंशावतार वेनके पुत्र महाराज पृथुके गुण और कर्मोंका वर्णन करते हुए इस प्रकार स्तुति की। इसके बाद पृथुने भी उन गायकोंकी प्रशंसा करते हुए उनका अभिनन्दन किया और उनकी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदानकर उन्हें सन्तुष्ट किया॥ १॥

ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः।
पौरान् जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत्॥ २॥

इसके बाद उन्होंने ब्राह्मणदि चारों वर्णों, सेवकों, पुरोहितों, पुरवासियों, जनपदवासियों, भिन्न-भिन्न व्यवसायियों तथा अन्यान्य आज्ञानुवर्तियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया॥ २॥

श्रीविदुर उवाच—

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनञ्च किम्॥ ३॥

श्रीविदुरने पूछा—ब्रह्मन्! महाराज पृथुने जिनका दोहन किया था, वह ब्रह्मरूपी पृथ्वी तो विविध रूप धारण कर सकती थी, फिर उसने गायका रूप ही क्यों धारण किया? महाराज पृथुके इस दोहन-कार्यमें बछड़ा कौन बना और दोहनका पात्र क्या था?॥ ३॥

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम्।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत्॥ ४॥

पृथ्वी तो स्वाभाविक रूपसे ऊँची-नीची है, महाराज पृथुने उसे किस प्रकार समतल किया? देवराज इन्द्रने किस कारणसे महाराज पृथुके यज्ञीय अश्वका हरण किया था?॥ ४॥

सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात्।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! राजर्षि पृथु वेदविदोंमें श्रेष्ठ महाभागवत सनत्कुमारसे अधोक्षज भगवत्-ज्ञान प्राप्त करके किस प्रकारकी गतिको प्राप्त हुए?॥ ५॥

यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवेद्भगवतः प्रभोः।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम्॥ ६॥

भक्ताय चानुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम्॥ ७॥

हे देव! मैंने आपसे जो सब विषय पूछे हैं और पवित्रकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके पृथु-अवतार-चरितसे सम्बन्धित अन्यान्य जो पुण्य-कीर्त्तियाँ हैं, वे सभी आप मुझसे कहिये। मैं आपका एवं अधोक्षज भगवान्का अनुरक्त भक्त हूँ, अतएव जिन भगवान् श्रीकृष्णने वेनके पुत्र महाराज पृथुके रूपमें पृथ्वीका दोहन किया था, कृपापूर्वक उनकी कथाका मेरे समक्ष कीर्त्तन कीजिये॥ ६-७॥

श्रीसूत उवाच—

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—श्रीमैत्रेय ऋषि भगवान् श्रीवासुदेवकी कथाके प्रति विदुरजीके इतने अधिक आग्रहको देखकर बहुत सन्तुष्ट हुए। तब उन्होंने विदुरजीकी प्रशंसा की और भगवान् श्रीवासुदेवकी कथाका कीर्त्तन करने लगे॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः।

प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन्॥ ९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्राह्मणोंके द्वारा राजपदपर अभिषिक्त होकर जब महाराज पृथु 'प्रजाके पालक' घोषित कर दिये गये, तब भूखसे अत्यधिक क्षीण कलेवरवाली प्रजा महाराज पृथुके समीप आकर कहने लगी॥ ९॥

वयं राजन् जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः॥ १०॥

हे राजन्! वृक्ष जिस प्रकार अपने कोटरमें सुलगती आगसे सन्तप्त होता है, हम भी उसी प्रकार जठराग्निकी ज्वालासे दग्ध हुए जा रहे है। मुनियोंने आपको हमारे जीविका प्रदानकारी स्वामीके रूपमें नियुक्त किया है। आप ही हमारे शरण्य हैं, अतः हम आपके ही शरणागत होते हैं॥ १०॥

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः॥ ११॥

महाराज! आप ही समस्त लोकोंके रक्षक और सभीको जीविका प्रदान करनेवालेके रूपमें कीर्त्तित हैं। हम भूखसे अत्यन्त आतुर हो रहे हैं। आप हमें शीघ्रातिशीघ्र अन्न दान करनेका प्रयत्न कीजिये, कहीं ऐसा न हो कि अन्न-प्राप्तिसे पहले ही हमारी मृत्यु हो जाये॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम्।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत॥ १२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! प्रजाके इस प्रकारके करुण-विलापको सुनकर महाराज पृथु बहुत समय तक विचार करते रहे। अन्ततः वे अन्नके अभावके कारणसे अवगत हो गये॥ १२॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा॥ १३॥

'पृथ्वीने स्वयं ही औषधि, अन्न एवं बीजादिको अपने भीतर छिपा लिया है, इसलिए जगत्‌में अन्नका अभाव हुआ है'—अपने बुद्धि-बलसे ऐसा निश्चय करके उन्होंने कुपित त्रिपुरारि भगवान् शङ्करके समान धनुष उठा लिया और पृथ्वीको लक्ष्य करके उसपर बाण चढ़ाया॥ १३॥

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधञ्च तम्।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता॥ १४॥

पृथ्वीने जैसे ही राजाको धनुषपर बाणका सन्धान करते हुए देखा, तो वह भयसे काँपने लगी और गौ-रूप धारण करके इस प्रकार भागने लगी, जिस प्रकार शिकारी द्वारा ताड़ित होनेपर हरिणी डरकर भागती है॥ १४॥

तामन्वधावत् तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः।
शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते॥ १५॥

यह देखकर महाराज पृथुके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। जहाँ-जहाँ पृथ्वी भागी, वहाँ-वहाँ धनुषपर बाण चढ़ाये वे उसका पीछा करते रहे॥ १५॥

सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम्॥ १६॥

पृथ्वीदेवी दिशा, विदिशा, स्वर्ग, मर्त्य एवं अन्तरीक्ष आदि जिन-जिन स्थानोंपर भागती जा रही थी, वह उस-उस स्थानपर महाराज पृथुको धनुष-बाण लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़े चले आते देखती थी॥ १६॥

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता॥ १७॥

जिस प्रकार प्राणीके लिए मृत्युसे परित्राणका कोई उपाय नहीं होता, उसी प्रकार पृथ्वी भी वेनके पुत्र महाराज पृथुसे अपने

परित्राणका कोई उपाय न देखकर डर गयी एवं दुःखी होकर उसने भागना बन्द कर दिया॥ १७॥

उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान्॥ १८॥

वह महाभाग पृथुसे कहने लगी—हे धर्मज्ञ! हे शरणागतवत्सल! आप तो सदैव प्रजाकी रक्षामें नियुक्त रहते हैं, इसलिए मेरी भी रक्षा कीजिये॥ १८॥

स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम्।
अहनिष्यत् कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः॥ १९॥

आप मुझ दीन और निरपराध अबलाका किसलिए वध करना चाहते हैं? आपको सभी परम धार्मिकके रूपमें जानते हैं, फिर आप स्त्रीकी हत्या किस प्रकार कर सकते हैं?॥ १९॥

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः।
किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः॥ २०॥

हे राजन्! जब स्त्रियाँ कोई अपराध करती हैं, तब अति साधारण व्यक्ति भी उनपर प्रहार नहीं करते, फिर आपके जैसे करुण-हृदय एवं दीनवत्सलका तो कहना ही क्या?॥ २०॥

मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम्।
आत्मानञ्च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि॥ २१॥

राजन्! यह विश्व तो मुझपर ही प्रतिष्ठित है। मैं इसकी सुदृढ़ नौका-स्वरूपा हूँ। मुझे विदीर्ण करके आप किस प्रकारसे जलके ऊपर स्वयंको और इस प्रजाको धारण करायेंगे॥ २१॥

श्रीपृथुरुवाच—

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु॥ २२॥

महाराज पृथुने कहा—हे वसुन्धरे! तुमने मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है। तुम यज्ञमें देवताके रूपमें अपना भाग तो ग्रहण करती हो,

किन्तु हमें अन्नादि कुछ भी प्रदान नहीं करती हो। अतः मैं तुम्हारा विनाश कर डालूँगा॥ २२॥

यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते॥ २३॥

जो गाय प्रतिदिन हरी-हरी घास खाती है, पर दूध नहीं देना चाहती, इस अपराधके कारण उस दुष्टाको दण्ड देना क्या युक्तिसङ्गत नहीं है?॥ २३॥

त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक्सृष्टानि स्वयम्भुवा।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः॥ २४॥

ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमें लोगोंके उपकारके लिए जिन अन्न-बीजोंकी सृष्टि की थी, उन सबको ही तुमने अपनी देहमें छिपा रखा है। तुम बड़ी मन्दबुद्धि हो, इसीलिए मेरी अवज्ञा करके उन बीजोंको अपनी देहसे निकाल नहीं रही हो?॥ २४॥

अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम्।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा॥ २५॥

अब मैं बाणोंसे तुम्हें छिन्न-भिन्न कर डालूँगा और तुम्हारी देहके माँससे इन सब भूखसे मर रही प्रजाओंके आर्त्तनादको शान्त करूँगा!॥ २५॥

पुमान् योषिदुत क्लीव आत्मसम्भावनोऽधमः।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः॥ २६॥

पुरुष हो, स्त्री हो अथवा क्लीव हो, जो पापिष्ठ स्वयंका ही बहुमानन करनेवाला हो और अन्य प्राणियोंके प्रति दया न रखता हो, उसका वध करना राजाके लिए तनिक भी दोषपूर्ण नहीं होता॥ २६॥

त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः॥ २७॥

तुमने माया द्वारा कपट गायका रूप धारण किया है और बड़ी मदोन्मत्ता हो रही हो। तुम्हारा स्वभाव बड़ा हठी और गर्वीला हो गया

है। मैं तुम्हें बाणोंसे तिल-तिल करके खण्ड-विखण्ड कर डालूँगा और अन्तमें अपने योग-बलसे स्वयं ही इस समस्त प्रजाको धारण करूँगा॥ २७॥

एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम्।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः॥ २८॥

इस प्रकार जब महाराज पृथुने साक्षात् कालसे भी भयङ्कर क्रोधमयी मूर्त्ति धारण करके ऐसे मर्मभेदी वचन कहे, तब पृथ्वी भयसे काँपने लगी और दण्डवत् प्रणाम करती हुई विनीत भावसे हाथ जोड़कर उनसे कहने लगी॥ २८॥

श्रीपृथिव्युवाच—

नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्द्धूत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ २९॥

श्रीपृथ्वी देवीने कहा—जो अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नाना प्रकारके शरीर प्रकटित करके प्राकृत गुणमय जान पड़ते हैं, किन्तु वस्तुतः आत्मानुभवके कारण जो अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवादि अहङ्कारसे उत्पन्न राग-द्वेषादिसे सदैव निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे साक्षात् परमपुरुष आपको मैं नमस्कार करती हूँ॥ २९॥

येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसंग्रहः।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-
डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये॥ ३०॥

जिन विधाताने मुझे प्राणियोंके आवास-स्थलके रूपमें सृष्ट किया है एवं जिन्होंने मुझपर जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (पक्षी, सरी-सृप आदि), स्वेदज (कृमि आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) के भेदसे चार प्रकारके गुणमय देहधारियोंको धारण कराया है, वही आप स्वराट् पुरुष ही जब स्वयं अस्त्र लेकर मेरा हनन करनेके लिए उपस्थित हुए हैं, तब मैं और किसकी शरणमें जाऊँ?॥ ३०॥

य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति॥ ३१॥

जिन भगवान्‌ने सृष्टिके प्रारम्भमें जीव-विषयिनी अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा इस चराचर जैव-जगत्‌की सृष्टि की है और पुनः जो अपनी पालनी-शक्ति द्वारा पृथु रूपमें उसकी रक्षाके लिए तत्पर हुए हैं, वही धर्मपरायण पुरुष अब किसलिए मेरा विनाश चाहते हैं?॥ ३१॥

नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः॥ ३२॥

अथवा जिनका चित्त भगवान्‌की दुर्जय माया द्वारा विक्षिप्त हो चुका है, उनके लिए समर्थवान् पुरुषके आचरणको समझ पाना अत्यन्त कठिन है। ईश्वर स्वतन्त्र होकर भी ब्रह्माजीकी सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा सृष्टि करवाते हैं। वे स्वयं एक होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं॥ ३२॥

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥ ३३॥

जो भगवान् अपनी शक्तिस्वरूप पञ्च-महाभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, बुद्धि और अहङ्कार इत्यादि द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कराते हैं, जिनकी शक्तियाँ अति प्रबल और परस्पर विरुद्ध भावसे युक्त हैं—उन्हीं अचिन्त्यशक्तिशाली परमपुरुष विधाताको मैं प्रणाम करती हूँ॥ ३३॥

स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्-
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो।

संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिशूकरः॥ ३४॥

हे विभो! जिन्होंने अपनी मायाशक्तिके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि की है, आप ही वे पुरुष हैं। हे अज! आपने ही स्वनिर्मित भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणात्मक इस जगत्‌की स्थितिके लिए आदिशूकर रूप धारण करके जलमय रसातलसे मेरा उद्धार किया था॥ ३४॥

अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि॥ ३५॥

मेरा उद्धार करनेवाले आप ही 'धराधर' वराहमूर्त्ति हैं। मैं जलके ऊपरी भागमें नौकाके समान स्थित हूँ और आपकी प्रजा इस नौका-रूप मुझपर अवस्थित है। किन्तु आज आप प्रजाजनोंकी रक्षाकी इच्छासे वीरमूर्त्ति पृथु-रूप प्रकाशित करके केवलमात्र दुग्धके लिए सर्वाधारभूता मुझे तीक्ष्ण बाणोंसे मारना चाहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ ३५॥

नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
मस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः॥ ३६॥

हे देव! त्रिगुणात्मक-सर्गकी रचना करनेवाली आपकी मायाके द्वारा हमारे जैसे साधारण जनोंका चित्त निश्चित रूपसे मोहित रहता है। हम तो आपके भक्तोंकी क्रियाओंके उद्देश्यको भी समझ नहीं पाते, फिर आप परमेश्वरके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। अतएव परमेश्वरकी भाँति मैं जितेन्द्रिय व्यक्तियोंके यशका विस्तार करनेवाले उनके भक्तोंको भी प्रणाम करती हूँ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते धरानिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अष्टादशोऽध्यायः

महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी-दोहन

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम्।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना॥ १ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! उस समय क्रोधके कारण महाराज पृथुके होंठ काँप रहे थे। इधर भयभीत धरती देवीने पूर्वोक्त प्रकारसे उनकी स्तुति करनेके बाद बुद्धि-बलसे अपने चञ्चल-चित्तको संयम किया और पुनः कहने लगी॥ १ ॥

संनियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितञ्च मे।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः॥ २ ॥

हे देव! अब आप क्रोधका सम्वरण कीजिये और मुझे अभय प्रदान कीजिये। आप कृपापूर्वक मेरी प्रार्थनाको सुनिये। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंसे अपना सारभाग मकरन्द ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार पण्डित व्यक्ति भी समस्त विषयोंसे सार ग्रहण कर लेते हैं॥ २ ॥

अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये॥ ३ ॥

तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंके पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए ही शास्त्रोंसे बहुत-से उपाय निकाले हैं और उनका प्रयोग भी किया है॥ ३ ॥

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥ ४ ॥

इस समय भी जो व्यक्ति श्रद्धासे युक्त होकर प्राचीन मुनियों द्वारा प्रदर्शित उपायोंका भलीभाँति अनुष्ठान करता है, वह भी सहज रूपमें ही अभीष्ट फलकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ४ ॥

ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥ ५॥

यदि पण्डित व्यक्ति भी निरर्थक तर्कोंके आधारपर इन उपायोंका अनादर करके अपनी स्वतन्त्र इच्छासे कल्पित उपायोंका अनुष्ठान करते हैं, तो उनका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है। वे जितनी बार भी कार्य आरम्भ करते हैं, उतनी ही बार निष्फल होते हैं॥ ५॥

पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः॥ ६॥

हे महाराज! पहले ब्रह्माजीने लोगोंकी संसार-यात्राके निर्वाह एवं यज्ञादि-सम्पादनके लिए जिन सब धान्य आदि औषधियोंकी सृष्टि की थी, मैंने देखा कि शास्त्रोंके अनुसार आचरण न करनेवाले दुराचारी व्यक्ति ही उनका भोगकर रहे हैं॥ ६॥

अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः।
चौरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः॥ ७॥

हे लोकरक्षक! वेन आदि राजाओंने न तो चोरोंको दण्ड देकर मेरा पालन किया और न ही यज्ञ आदिके प्रवर्त्तन द्वारा मेरा आदर किया। इसके फलस्वरूप प्रायः सभी लोग चोर हो गये थे। अतएव जिससे यज्ञकी रक्षा हो सके, इसलिए ही मैंने सम्पूर्ण औषधियोंको अपने भीतर छिपा लिया॥ ७॥

नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा।
तत्र दृष्टेन योगेन भवानादातुमर्हति॥ ८॥

ये सभी औषधियाँ दीर्घकालसे मेरे उदरमें रहनेके कारण सूक्ष्म रूपमें अवस्थान कर रही हैं। इस विषयमें मैं जो उपाय बतला रही हूँ, उसके द्वारा ही आप उन्हें ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे, अतः उपायोंका प्रयोग करके इन समस्त वस्तुओंका उद्धार करना ही आपके लिए उचित है॥ ८॥

वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव।
धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपञ्च दोहनम्॥ ९॥

दोग्धारञ्च महाबाहो भूतानां भूतभावन।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान् वाञ्छते यदि॥ १०॥

हे वीर! हे महाबाहो! हे भूतभावन! आप यदि प्राणियोंके अभीष्ट एवं बलप्रदायक अन्नकी इच्छा करते हैं, तो आप मेरे अनुरूप वत्स (बछड़ा), दोहन-पात्र एवं दुहनेवालेकी व्यवस्था करें, जिससे मैं बछड़ेके प्रति वात्सल्ययुक्त होकर आपकी इच्छानुसार दूधके रूपमें अन्तर्लीन अन्न आदि समस्त वस्तुएँ प्रदान कर सकूँ॥ ९-१०॥

समाञ्च कुरु मां राजन् देववृष्टं यथा पयः।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो॥ ११॥

हे विभो! मुझे इस प्रकारसे समतल करें, जिससे वर्षा ऋतुके बीत जानेपर भी मेरे ऊपर इन्द्रका बरसाया हुआ जल सर्वत्र बना रहे। हे राजन! इससे सर्वत्र कृषि आदि सम्पत्तिमें वृद्धि होगी॥ ११॥

इति प्रियहितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत् सकलौषधीः॥ १२॥

महाराज पृथुने पृथ्वीके इस प्रकारके प्रिय और हितकारी वचनोंको सुनकर स्वायम्भुव मनुको बछ़डा बनाकर अपने हाथरूपी पात्रमें ही समस्त औषधियों अर्थात् जौ आदि धान्योंका दोहन कर लिया॥ १२॥

तथापरे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ १३॥

पण्डित सर्वत्र ही असारका परित्याग करके सार वस्तुको ही ग्रहण करते हैं। राजा पृथुने पृथ्वीको वशीभूत कर लिया था, अतः दूसरे ऋषि आदि भी वशीभूत पृथ्वीका अपनी-अपनी इच्छानुसार दोहन करने लगे॥ १३॥

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तमाः।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि॥ १४॥

सज्जनश्रेष्ठ ऋषियोंने बृहस्पतिको बछ़डा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन एवं श्रोत्र) रूप पात्रमें पृथ्वीसे पवित्र वेदरूप दुग्धका दोहन किया॥ १४॥

कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः॥ १५॥

देवताओंने इन्द्रको बछ़डा बनाकर स्वर्णमय पात्रमें सोम (अमृत), वीर्य (मनःशक्ति), ओज (इन्द्रिय-शक्ति) एवं शारीरिक बलरूप दुग्धका दोहन किया॥ १५॥

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम्।
विधाय दुदुहुः क्षीरमयःपात्रे सुरासवम्॥ १६॥

दितिवंशीय दैत्यों एवं (दनु वंशीय) दानवोंने असुरकुल-श्रेष्ठ प्रह्लाद महाराजको बछ़डा बनाकर लोहेके पात्रमें मदिरा एवं आसव (ताल आदिके फलसे बनी ताड़ी) रूप दुग्धका दोहन किया॥ १६॥

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गन्धं मधु ससौभगम्॥ १७॥

गन्धर्व एवं अप्सराओंने विश्वावसुको बछ़डा बनाकर कमलमय पात्रमें गन्धर्व सम्बन्धित गान, वाक्-माधुर्य और इनके साथ ही सौन्दर्य रूप दुग्धका दोहन किया॥ १७॥

वत्सेन पितरोऽर्यम्ना कव्यं क्षीरमधुक्षत।
आमपात्रे महाभाग श्रद्धया श्राद्धदेवताः॥ १८॥

हे महाभाग विदुर! श्राद्धके अधिष्ठातृ देवताओं एवं पितरोंने भी पितरोंमें मुख्य अर्यमाको वत्स बनाकर मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धाके साथ कव्य अर्थात् पितरोंके उद्देश्यसे प्रदान किये जानेवाले अन्नरूप दुग्धका दोहन किया॥ १८॥

प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम्।
सिद्धिं नभसि विद्याञ्च ये च विद्याधरादयः॥ १९॥

अणिमादि अष्ट-सिद्धियों एवं विद्याधरोंने कपिलदेवको वत्स बनाकर आकाशरूप पात्रमें खेचरत्वादि (आकाशमें विचरण करनेकी शिक्षा देनेवाली) विद्याका दोहन किया॥ १९॥

अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम्।
मयं प्रकल्प्य वत्सत्वे दुदुहुर्धारणामयीम्॥ २०॥

अन्यान्य किम्पुरुषादि मायावियोंने 'मय' नामक दानवको वत्स बनाकर उसी आकाशरूप पात्रमें ही अन्तर्धानरूपी अद्भुत स्वभाववाली सङ्कल्पमयी मायाका दोहन किया॥ २०॥

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम्॥ २१॥

यक्ष, राक्षस एवं पिशाच आदि मांसाहारी प्राणियोंने भूतनाथ रुद्रको वत्स बनाकर नर-कपालरूप पात्रमें रुधिरमय मद्यका दोहन किया॥ २१॥

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम्।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः॥ २२॥

इस प्रकारसे फनहीन सर्प, फनयुक्त सर्प, नाग, बिच्छु आदि विषैले जन्तुओंने तक्षकको वत्स बनाकर मुखरूप पात्रमें विषरूपी दुग्धका दोहन किया॥ २२॥

पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम्।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन् मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः॥ २३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वकलेवरे।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरञ्चाचरमेव च॥ २४॥

गौ, अश्वादि पशुओंने भगवान् रुद्रके वाहन बैलको वत्स बनाकर अरण्यरूप पात्रमें तृणमय दुग्धका दोहन किया और बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ोंसे युक्त मांसाहारी व्याघ्रादि पशुओंने सिंहको वत्स बनाकर अपने शरीररूप पात्रमें मांसरूप दुग्धका दोहन किया। पक्षियोंने गरुड़जीको वत्स बनाकर अपने देहरूप पात्रमें कीट-पतङ्गरूप चर और फल आदिरूप अचर दुग्धका दोहन किया॥ २३-२४॥

वटवत्साश्च तरवः पृथग्रसमयं पयः।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु॥ २५॥

वृक्षोंने वटवृक्षको वत्स बनाकर भिन्न-भिन्न रसमय दुग्धका दोहन किया। पर्वतोंने हिमालयको वत्स बनाकर अपने-अपने शिखर रूप पात्रोंमें विविध धातुमय दुग्धको दुहा॥ २५॥

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ २६॥

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथ्वी इस समय राजा पृथुके वशमें थी। अतः सभीने अपनी-अपनी जातिके प्रधान व्यक्तिको वत्स बनाकर अपने-अपने पात्रोंमें भिन्न-भिन्न वस्तुरूप दुग्धका दोहन किया॥ २६॥

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह॥ २७॥

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! इस प्रकारसे पृथु आदि सभी अन्नभोजी जीवोंने भिन्न-भिन्न दोहन-पात्रों और वत्सोंके द्वारा अपने-अपने अभीष्ट खाद्यरूप दुग्धका दोहन किया॥ २७॥

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः॥ २८॥

इसके बाद राजा पृथु सभी कामनाओंरूपी दूधको देनेवाली पृथ्वीपर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उसके प्रति उनका बड़ा स्नेह उमड़ आया। तब उन्होंने पृथ्वीको अपनी पुत्रीके रूपमें ग्रहण कर लिया॥ २८॥

चूर्णयंश्च धनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ २९॥

तदनन्तर महाप्रभावशाली राजाधिराज पृथुने अपने धनुषकी नोकसे पर्वतोंकी चोटियोंको चूर्ण-विचूर्ण कर इस पृथ्वीको प्रायः समतल कर दिया॥ २९॥

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥ ३०॥

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्॥ ३१॥

अनन्तर प्रजाके लिए अन्न-प्रदान आदिकी व्यवस्था करनेके कारण पिता-स्वरूप महाराज पृथुने इस भूमण्डलपर जो स्थान जिसके लिए उपयुक्त था, उस-उस स्थानपर उनके लिए यथा उपयुक्त वासस्थानोंका विभाग कर दिया। उन्होंने गाँव, नगर, बस्ती, विविध दुर्ग, घोषपल्ली, पशुओंके रहनेके स्थान, सैन्य-निवास, खानें, खेट (किसानोंके गाँव), खर्वट (पर्वतप्रान्त अर्थात् तलहटियोंमें स्थित ग्राम) आदि वास-स्थानोंका निर्माण करवा दिया॥ ३०-३१॥

प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥ ३२॥

महाराज पृथुसे पहले इस भूमण्डलपर पुर, ग्राम आदिके विभाजन नहीं थे। किन्तु अब प्रजाजन अपने-अपने स्थानपर निर्भय होकर परम सुखसे वास करने लगे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पृथ्वीदोहो नामाष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

पृथु महाराजके अश्वमेध-यज्ञमें इन्द्र द्वारा अश्वका अपहरण, पृथु द्वारा इन्द्रका वध करनेकी चेष्टा एवं ब्रह्माके द्वारा उसका निवारण

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथादीक्षत राजर्षिर्हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद राजर्षि पृथु मनुके ब्रह्मावर्त्त क्षेत्रमें जहाँपर सरस्वती नदी पूर्व दिशाकी ओर प्रवाहित होती है, सौ अश्वमेध-यज्ञोंके अनुष्ठानके लिए दीक्षित हुए॥ १॥

तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम्॥ २॥

यह देखकर इन्द्रने विचार किया कि इस प्रकार तो पृथुके कर्म मेरे कर्मोंकी अपेक्षा भी बढ़ जायेंगे, इसलिए ईर्ष्यावशतः वह महाराज पृथुके इस यज्ञ-महोत्सवको सहन नहीं कर पाया॥ २॥

यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान् हरिरीश्वरः।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः॥ ३॥

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः॥ ४॥

सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः।
सुनन्द-नन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः॥ ५॥

कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः॥ ६॥

यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत॥ ७॥

ऊहुः सर्वरसान् नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान्।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः॥ ८॥

सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम्।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वेलोकाः सपालकाः॥ ९॥

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तत् परमोदयम्।
असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत्॥ १०॥

महाराज पृथुके यज्ञोत्सवमें सर्वात्मा, समस्त लोकोंके पूज्य—यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरि साक्षात् प्रकट हुए थे। ब्रह्माजी एवं शिवजी भी अपने अनुचरोंके साथ वहाँ उपस्थित हुए थे। गन्धर्व, मुनि, अप्सराएँ, लोकपाल एवं लोकपालोंके अनुचर भगवान्‌का यशोगान कर रहे थे। सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, गुह्यक तथा सुनन्द एवं नन्द आदि योगेश्वर और श्रीहरिके अन्य-अन्य उत्तम पार्षद तथा भगवान्‌की सेवाके लिए उत्सुक रहनेवाले कपिल, नारद, दत्तात्रेय, सनकादि भागवत-जन भी श्रीहरिके पीछे-पीछे चले आये थे। हे भारत! उस यज्ञमें धर्म-प्रसविनी यज्ञभूमि 'सर्वकाम-प्रसूति' के रूपमें यजमान पृथुको समस्त अभिलषित वस्तुएँ प्रदान कर रही थी। समस्त नदियाँ ईख, अङ्गूर आदिके रसोंको वहन कर रही थीं। मधुस्रावी विशाल देहवाले वृक्ष दूध, दही, अन्न एवं घृत आदि तरह-तरहकी सामग्रियाँ प्रदान कर रहे थे। सिन्धु रत्नोंका ढेर, पर्वत चर्व्य, चूष्य, लेह्य एवं पेय—इन चार प्रकारकी खाद्य-सामग्रियों तथा लोकपालोंके साथ समस्त लोक उन्हें नाना प्रकारके उपहार प्रदान कर रहे थे। अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके सेवक महाराज पृथुके ऐसे अत्यन्त वृद्धिशील यज्ञ-कार्यको सहन न कर पानेके कारण इन्द्र पृथुके यज्ञमें विघ्न डालने लगा॥ ३-१०॥

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्द्धन्नपोवाह तिरोहितः॥ ११॥

जिस समय वेननन्दन पृथु अन्तिम अश्वमेध-यज्ञ द्वारा यज्ञपति विष्णुकी आराधना कर रहे थे, उस समय इन्द्रने मात्सर्यवशतः गुप्त-वेशमें आकर उनके यज्ञीय अश्वका अपहरण कर लिया॥ ११॥

तमत्रिर्भगवानैक्षत् त्वरमाणं विहायसा।
आमुक्तमिव पाषण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः॥ १२॥

कवचके रूपमें पाखण्ड-वेश धारणकर मनुष्योंके लिए अधर्ममें धर्मका भ्रम उत्पन्न करानेवाला इन्द्र जब अश्वको लिये आकाश-मार्गमें बड़ी तेजीसे दौड़ा चला जा रहा था, तब महर्षि अत्रिने उसे देख लिया॥ १२॥

अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः।
अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १३॥

ऐसा देखकर अत्रि ऋषि महाराज पृथुके महारथी पुत्रको इन्द्रका संहार करनेके लिए प्रोत्साहित करने लगे। पृथु-तनय भी क्रोधमें भरकर इन्द्रके पीछे-पीछे दौड़ने लगे और उनसे रुकनेके लिए कहने लगे॥ १३॥

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम्।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति॥ १४॥

इन्द्रके सिरपर जटाओं और उसके शरीरको भस्म आदिसे आच्छादित देखकर पृथु-तनयने उन्हें मूर्त्तिमान-धर्म समझा और इसलिए उनपर बाणोंसे प्रहार नहीं किया॥ १४॥

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत्।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम्॥ १५॥

पृथु-तनय इन्द्रका वध किये बिना ही लौट आये हैं, यह देखकर महर्षि अत्रिने उन्हें पुनः प्रेरित करते हुए कहा—"हे वत्स! अपने पिताके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इस देवाधम इन्द्रका विनाश करो॥"१५॥

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा।
अन्वद्रवदतिक्रुद्धो गृध्रराडिव रावणम्॥ १६॥

महर्षि अत्रिके ऐसे वचन सुनकर पृथु-तनय पुनः अतिशय क्रोधित हो उठे। पक्षीराज जटायु जिस प्रकार भागते हुए रावणका वध करनेके लिए उसके पीछे-पीछे वेगपूर्वक दौड़ पड़े थे, उसी प्रकार पृथु-तनय भी इन्द्रके पीछे-पीछे दौड़े॥ १६॥

सोऽश्वं रूपञ्च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान्॥ १७॥

उस समय स्वतः प्रकाशमान इन्द्रने उस पाखण्ड-वेशका परित्याग कर दिया और यज्ञ-पशुको वहीं रखकर वे अन्तर्हित हो गये। महावीर पृथुपुत्र अपने यज्ञीय अश्वको लेकर पिताके यज्ञस्थलपर लौट आये॥ १७॥

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो॥ १८॥

हे शक्तिशाली विदुर! महर्षियोंने पृथुपुत्रके इस प्रकारके अद्भुत पराक्रमको देखकर उसे 'विजिताश्व' नाम प्रदान किया॥ १८॥

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः॥ १९॥

पृथु पुत्रने अश्वका उद्धार करके उसे सोनेकी जंजीर द्वारा चषाल एवं यूप-काष्ठमें[१] बाँधकर रखा था। किन्तु पराक्रमी इन्द्रने घोर अन्धकारकी सृष्टि करनेके उपरान्त उसीमें ही प्रच्छन्न वेश धारण करके उस अश्वका पुनः अपहरण कर लिया॥ १९॥

अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमधावत॥ २०॥

इस बार इन्द्र कपाल एवं खट्वाङ्ग (प्रायश्चित्त करनेवालेका भिक्षा माँगनेका पात्र) धारण करके आकाश-पथसे द्रुतगतिसे भाग रहा था।

---

[१] यज्ञ-मण्डपमें यज्ञपशुको बाँधनेके लिए जो खम्भा रहता है, उसे 'यूप' कहते हैं और यूपके आगे रखे हुए गोलाकार काष्ठको 'चषाल' कहते हैं।

महर्षि अत्रिने पुनः भागते हुए इन्द्रको विजिताश्वको दिखाया, पर इस बार महावीर पृथु-पुत्र उसके पीछे नहीं भागे॥ २०॥

अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा।
सोऽश्वं रूपञ्च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्॥ २१॥

अत्रि मुनिके बार-बार प्रेरित करनेपर पृथु-तनयने क्रोधपूर्वक इन्द्रकी ओर बाण साधा। उस समय अभिलषित रूप धारण करनेमें समर्थ इन्द्र पुनः यज्ञीय-अश्व और पाखण्ड-वेशका परित्याग करके वहीं अन्तर्हित हो गये॥ २१॥

वीरश्चाश्वमुपादाय पितुर्यज्ञमथाव्रजत्।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः॥ २२॥

तत्पश्चात् महावीर विजिताश्व पुनः उस अश्वको लेकर पिताके यज्ञस्थलपर लौट आये। हे विदुर! तबसे ज्ञानहीन मन्दबुद्धिवाले मनुष्य इन्द्रके इस निन्दित एवं परित्यक्त कपट वेषको ग्रहण करते हैं॥ २२॥

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया।
तानि पापस्य षण्डानि लिङ्गं षण्डमिहोच्यते॥ २३॥

इन्द्रने अश्वका अपहरण करनेके लिए जिन सब कपट वेशोंको धारण किया था, वे सभी 'पापके षण्ड' नामसे जाने जाते हैं। शास्त्रोंमें 'षण्ड' शब्दसे 'चिह्न' उद्दिष्ट होता है, इसके अनुसार 'पाषण्ड' शब्दका अर्थ है 'पापका चिह्न'॥ २३॥

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाषण्डेषु मतिर्नृणाम्॥ २४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु॥ २५॥

इस प्रकार वेन-नन्दन पृथुके यज्ञका विध्वंस करनेकी इच्छासे देवराज इन्द्रने यज्ञीय-पशुको चुराते समय बार-बार जिन-जिन पाषण्ड-रूपोंको ग्रहण एवं परित्याग किया, उन-उन रूपोंमें क्रमशः

मनुष्योंकी बुद्धि मोहित होती गयी। दिगम्बर जैन लोग, रक्तवस्त्रधारी बौद्ध जन एवं कापालिक आदि सभी पाषण्ड-रूप-उपधर्मका आश्रय लिये हुए हैं। ये नास्तिक मत आपात रमणीय प्रतीत होते हैं। ये नास्तिक बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे अपने पक्षका समर्थन करते हैं, इसलिए मनुष्योंकी मति पाषण्ड-धर्मके प्रति आकृष्ट हो जाती है॥ २४-२५॥

तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः॥ २६॥

परम पराक्रमी, महाशक्तिधारी पृथु इन्द्रके इस अभिप्रायको समझकर क्रोधित हो उठे। उन्होंने अपना धनुष उठाकर उसपर इन्द्रके उद्देश्यसे बाण चढ़ाया॥ २६॥

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम्।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात्॥ २७॥

ऋत्विजोंने देखा कि पृथु इन्द्रके वधके लिए उद्यत हो उठे हैं। उनके लाल-लाल नेत्रों और भीषण-आकृतिकी ओर देखना भी दुःसाध्य हो रहा है। उनका वेग सहन करनेमें किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। तब वे महाराज पृथुको रोकते हुऐ कहने लगे—हे महामते! इस यज्ञस्थलमें शास्त्र-विहित यज्ञीय पशु-वधके अतिरिक्त अन्य किसीका भी वध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ २७॥

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम्।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम्॥ २८॥

हे राजन्! जो इन्द्र ईर्ष्यावश आपका यज्ञ नष्ट करनेके लिए तत्पर हुआ है, आपकी सत्-कीर्त्तिके प्रभावसे उसका प्रभाव निस्तेज हो गया है। हम उस यज्ञ-विघ्नकारी इन्द्रको अमोघ आह्वान-मन्त्रोंके द्वारा इस यज्ञशालामें आह्वान करके पशुकी भाँति बलपूर्वक उसकी अग्निमें आहुति दे देते हैं॥ २८॥

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा।
स्रुग्घस्तान् जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत॥ २९॥

हे विदुरजी! ऋत्विजोंने यजमान पृथुके साथ इस प्रकार परामर्श किया और होमपात्र (स्रुवा) को हाथोंमें धारण करके क्रोधपूर्वक इन्द्रका आह्वान करनेके लिए आहुति डालनेके लिए उद्यत हुए, किन्तु उसी क्षण स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं वहाँपर उपस्थित हुए और उन्हें रोकते हुए कहने लगे॥ २९॥

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः॥ ३०॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे पुरोहितो! आप लोगोंने यज्ञकी रक्षाके लिए जिस इन्द्रको यज्ञमें आहुति देकर वध करनेकी इच्छा की है, उन इन्द्रका एक नाम 'यज्ञ' भी है। वे भगवान्‌के ही अवतार विशेष हैं। यज्ञमें जितने भी देवताओंकी तुम आराधना कर रहे हो, वे उनके ही तो अङ्ग हैं। अतः इन्द्रका वध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ३०॥

तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता॥ ३१॥

हे द्विजो! देखो! महाराज पृथुके यज्ञका विनाश करनेकी इच्छासे इन्द्रने वेदवादी महाजनोंके धर्मको कितना अधिक निन्दित किया है॥ ३१॥

पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात् तर्ह्येकोनशतक्रतुः।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान् मोक्षधर्मवित्॥ ३२॥

अतः विपुलकीर्त्ति पृथुके निन्यानवें यज्ञ ही रहें। श्रीब्रह्माने ऋत्विकोंको यह कहकर फिर महाराज पृथुको सम्बोधित करते हुए कहा—हे राजन्! आप मोक्ष-धर्मको जाननेवाले हैं, अतः आपके लिए मोक्ष-धर्मका याजन ही कर्त्तव्य है। आपको काम्य यज्ञादि करनेकी आवश्यकता ही क्या है?॥ ३२॥

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमःश्लोकविग्रहौ॥ ३३॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो। आप एवं इन्द्र दोनों ही उत्तमश्लोक श्रीहरिके शक्त्यावेशावतार हैं। अतः आप इन्द्रसे भिन्न नहीं हैं। स्वयंके प्रति स्वयं ही क्रोध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ३३॥

मास्मिन् महाराज कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम्॥ ३४॥

हे महाराज! इस यज्ञमें हुए विघ्नकी आप चिन्ता न करें। आप श्रद्धावान होकर मेरी बातोंको ध्यानसे सुनिये। दैवके द्वारा किसी कार्यके विनष्ट होनेपर जो व्यक्ति उसी कार्यको पुनः सम्पन्न करनेके लिए चिन्ता करता हैं, उसका मन निश्चय ही अतिशय रुष्ट होकर मोहान्ध-राज्यमें प्रवेश करता है॥ ३४॥

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाषण्डैरिन्द्रनिर्मितैः॥ ३५॥

अब आप इस यज्ञके लिए प्रयत्न करना बन्द कीजिये। देवताओंमें इन्द्र दुष्ट आग्रह रखनेवाला है। आपके यज्ञमें इन्द्रने जो समस्त पाषण्ड वेश बनाये हैं, उनके द्वारा भी धर्मकी बहुत हानि होगी॥ ३५॥

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाषण्डैर्हारिभिर्जनम्।
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट्॥ ३६॥

जरा देखिये! आपके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इन्द्रने यज्ञीय-अश्वका अपहरण करके जिन पाषण्डोंकी सृष्टि की है, वे पाषण्ड-वेष मनुष्योंके चित्तको आकर्षित करके उन्हें अभिभूत कर रहे हैं॥ ३६॥

भवान् परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम्।

वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य॥ ३७॥

वेनके दुराचारके कारण लोगोंका युगधर्म विलुप्त हो रहा था। उस समयोचित धर्मके उद्धारके लिए ही अब आप विष्णुकी कला (अंशके अंश) के रूपमें वेनकी देहसे उत्पन्न हुए हैं॥ ३७॥

स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि।
ऐन्द्रीञ्च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाषण्डपथं प्रभो जहि॥ ३८॥

हे प्रजापते! इस विश्वकी उत्पत्तिका विचार करके विश्वकी सृष्टि करनेवाले भृगु आदि जिन समस्त ऋषियोंने आपको प्रकाशित किया है, आप उनकी मनोवाञ्छाको पूर्ण कीजिये। प्रचण्ड-पाषण्ड-मतवादरूपी उपधर्मोंकी जननी एन्द्री (इन्द्रकी) मायाको नष्ट कर दीजिये॥ ३८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः।
तथाच कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे॥ ३९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! राजा पृथुने लोकगुरु ब्रह्माजीके इस प्रकार समझानेपर यज्ञका आग्रह परित्याग कर दिया और वात्सल्य-भावको प्रकाशित करते हुए इन्द्रके साथ मित्रता भी कर ली॥ ३९॥

कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे।
वरान् ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः॥ ४०॥

तत्पश्चात् पृथुने यज्ञके अन्तमें किया जानेवाला स्नान किया। जो समस्त वरप्रद देवता भूरिकर्मा पृथुके यज्ञमें अर्चित हुए थे, वे परम सन्तुष्ट होकर उन्हें वर प्रदान करने लगे॥ ४०॥

विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः॥ ४१॥

हे विदुरजी! जिन सब ब्राह्मणोंके आशीर्वाद अमोघ होते हैं, आदिराज पृथुने उन्हें श्रद्धापूर्वक दक्षिणाएँ दीं और ब्राह्मणोंने भी सन्तुष्ट होकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान किये॥ ४१॥

त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः॥ ४२॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे महाबाहो पृथु! आपने जिन पितरों, देवताओं, ऋषियों एवं मानवोंका आह्वान किया था, वे सभी यहाँ पधारे हैं और आपके यथोपयुक्त दान-मानादिसे सम्मानित हुए हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुविजये श्रीब्रह्मवाक्यं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥

विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी यज्ञशालामें भगवान् विष्णुका आविर्भाव और वर प्रदान

श्रीमैत्रेय उवाच—

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! यज्ञेश्वर, यज्ञभोक्ता वैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीविष्णु भी इन्द्रके साथ यज्ञशालामें उपस्थित हुए और महाराज पृथुकी पूजाको स्वीकारकर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

एष तेऽकारषीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि॥ २॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाराज पृथु! इन्द्रने तुम्हारे सौवें अश्वमेध यज्ञमें विघ्न डाला है, किन्तु इस समय यह तुमसे क्षमा प्रार्थना कर रहा है, अतः इसे क्षमा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है॥ २॥

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम्॥ ३॥

हे नरदेव! यह देह आत्मा नहीं है। अतः मनुष्योंमें उत्तम सुबुद्धिसे सम्पन्न सत्पुरुष प्राणियोंके प्रति हिंसा नहीं करते॥ ३॥

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया॥ ४॥

तुम्हारे समान विवेकी पुरुष भी यदि मेरी दैवी मायासे विमोहित हो जाये, तब तो दीर्घकालतक ज्ञानी व्यक्तियोंकी सेवा करनेको केवल व्यर्थका परिश्रम ही कहा जायेगा॥ ४॥

अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुसज्जते॥५॥

देखो, जो व्यक्ति इस शरीरको अविद्या, काम एवं कर्मोंके द्वारा बना हुआ जान पाते हैं, ऐसे आत्मज्ञ व्यक्ति कभी भी इस देहमें आसक्त नहीं होते॥५॥

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः॥६॥

और जो इस देहमें ही आसक्त नहीं होते, वैसे आत्मदर्शी व्यक्ति इस देहसे उत्पन्न सन्तान, घर और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता रख सकते हैं?॥६॥

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः॥७॥

(देहादिमें अनासक्तिका कारण आत्मज्ञान है, इसीका ही उपदेश देते हुए परमात्माके ज्ञानके सम्बन्धमें बतला रहे हैं) परमात्मा—जीवात्मा[१] और देहसे नौ प्रकारसे भिन्न है। (१) देह और जीवोंकी संख्या अनेक है, किन्तु परमात्मा एक अद्वयतत्त्व हैं। (२) जीव और देह—अशुद्ध अथवा मलिन हैं, किन्तु परमात्मा विशुद्ध हैं। (३) जीव-प्रकाशहीन तथा देह—जड़ है, किन्तु परमात्मा—स्वतः प्रकाश तथा चेतन वस्तु हैं। (४) जीव तथा देह—सगुण अर्थात् गुणयुक्त हैं, किन्तु परमात्मा—निर्गुण हैं अर्थात् प्राकृत राग-द्वेष आदि गुणोंसे रहित हैं। (५) जीव—गुणके अधीन है तथा देह—प्राकृत मायाके गुण द्वारा उत्पन्न है, किन्तु परमात्मा—अप्राकृत ज्ञान, आनन्द आदि कल्याणकारी गुणोंके आधार हैं। (६) देह—जड़ तथा जीव—जड़के अनुरूप है, अतएव परिछिन्न है, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी है। (७) जीव—देह द्वारा तथा देह—गृह आदि वस्तु द्वारा आवृत्त हैं, किन्तु परमात्मा सर्वत्र अनावृत्त (स्वतन्त्र) हैं। (८) परमात्मा—देह-इन्द्रिय आदिके द्रष्टा स्वरूप हैं, किन्तु जीव—उसके विपरीत धर्म विशिष्ट अर्थात् दृष्य है और देह अचेतन वस्तु है। (९) परमात्मा—बाहर और अन्दर आदिके

---

[१] यहाँ जीवात्माका जो विवेचन है, वह मायाबद्ध जीवके लिए है।

भेदसे रहित हैं, किन्तु जीव—परमात्मासे युक्त है तथा देह—जीव आदिसे युक्त है और दोनों ही परमात्माके अधीन हैं। अतएव जीवात्मा और देह परमात्मासे सम्पूर्ण रूपसे भिन्न है॥ ७॥

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः॥ ८॥

जो व्यक्ति देहमें स्थित आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे देहसे भिन्न जानते हैं, वे देहमें स्थित होकर भी देहके गुणोंमें आसक्त नहीं होते, वे मुझ (परमात्मा) में ही अवस्थित रहते हैं॥ ८॥

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति॥ ९॥

जो निष्काम होकर श्रद्धापूर्वक धर्मानुष्ठानोंके द्वारा नित्यप्रति मेरा भजन करते हैं, उनका चित्त धीरे-धीरे प्रसन्नता प्राप्त करता है॥ ९॥

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते॥ १०॥

चित्त प्रसन्न होनेपर वे प्रकृतिके तीनों गुणोंसे परिमुक्त होकर पूर्ण रूपसे तत्त्वदर्शी हो जाते हैं। मुझमें सम्पूर्ण रूपसे उदासीनता रूप स्थिति ही 'ब्रह्मकैवल्य' है। वे इसी ब्रह्मकैवल्यरूपी शान्तिको प्राप्त करते हैं॥ १०॥

उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति सोऽभवम्॥ ११॥

जो उदासीन रूपसे अवस्थित, साक्षीस्वरूप निर्विकार आत्माको देह, ज्ञान, कर्मेन्द्रिय और मनके अध्यक्षके रूपमें जान लेते हैं, वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥ ११॥

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः॥ १२॥

देह, कर्म, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता एवं चिदाभासरूप लिङ्गशरीरका ही गुणप्रवाहरूप आवागमन एवं संसार-भोग होता है। यह जानकर विवेकी मनुष्य मुझमें सम्बन्ध युक्त होकर निश्चल रहते हैं। अतएव सम्पद् उपस्थित हो अथवा विपद्, वे किसी भी स्थितिमें हर्ष-शोकादि विकारोंके वशीभूत नहीं होते॥ १२॥

समः समानोत्तम-मध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः।
मयोपक्लिप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम्॥ १३॥

हे वीर! तुम भी बुद्धिमान हो। अतएव प्राकृत सम्पद् और विपदमें समबुद्धि रखो। सत्त्वादि गुणोंके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधममें समान बुद्धि रखो। सुख-दुःखके विषयोंमें इन्द्रियों और मनको वशीभूत करो तथा मैंने तुम्हें मन्त्री आदि जितने भी राजकीय पार्षद प्रदान किये हैं, उन सबके साथ मिलकर समस्त लोकोंकी रक्षा करो॥ १३॥

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत् साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥ १४॥

प्रजाका पालन ही राजाके लिए परम मङ्गलजनक कार्य है, क्योंकि परलोकमें राजा प्रजाओंके द्वारा उपार्जित पुण्योंके छठे भागका भोग करता है। जो राजा प्रजाओंसे कर तो ग्रहण करता है, पर उनकी रक्षाके विषयमें उदासीन रहता है, प्रजा उस राजाके पुण्योंका हरण कर लेती है और उस राजाको प्रजाके पापोंका फल भी भोगना पड़ता है॥ १४॥

एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः॥ १५॥

अतः जो धर्म प्रधान-प्रधान महर्षियोंके द्वारा अनुमोदित है तथा श्रौत-परम्परासे चला आ रहा है, तुम उसी धर्मको श्रेष्ठ जानकर ग्रहण करो और अनासक्त भावसे इस पृथ्वीका पालन करो। इस प्रकारसे प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त होगी और तुम शीघ्र ही अपने घरमें सनकादि सिद्धजनोंको उपस्थित देख सकोगे॥ १५॥

वरञ्च मत् कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत् समचित्तवर्ती॥ १६॥

हे राजन्! मैं तुम्हारे शम आदि गुणों एवं निर्मत्सरता आदि स्वभावके द्वारा वशीभूत हो गया हूँ। अतः तुम मुझसे कोई एक अभीष्ट वर माँग लो। राजन्! मैं समचित्तवाले व्यक्तियोंके ही अनुभवका विषय हुआ करता हूँ। यज्ञ, तपस्या अथवा योगके द्वारा मैं कभी भी सहज रूपसे प्राप्त नहीं होता हूँ॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित्।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सर्वलोकगुरु भगवान् श्रीहरिने जब विश्व-विजयी पृथुको इस प्रकारसे उपदेश दिये, तब उन्होंने भगवान्की आज्ञाको सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया॥ १७॥

स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह॥ १८॥

उस समय देवराज इन्द्र अपने किये हुए कार्योंके कारण लज्जित होकर महाराज पृथुके चरणोंमें गिर पड़े। राजा पृथुने प्रेमवश उनका आलिङ्गन करके उनके प्रति विद्वेष-भावका परित्याग कर दिया॥ १८॥

भगवानपि विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः॥ १९॥

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत् सताम्॥ २०॥

इसके बाद पृथु महाराजने विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिकी पूजा करनेके लिए अनेक प्रकारकी साम्रगी एकत्रित की और पल-पल परिवर्द्धित होनेवाले भक्ति-भावसे उनके चरणकमलोंकी वन्दना करने लगे। श्रीहरि सज्जनोंके सुहृत् हैं, इसलिए जानेके लिए तत्पर होनेपर भी भक्त पृथुके प्रति अनुग्रहके कारण वे शीघ्र प्रस्थान न कर सके। भगवान् अपने कमलनयनोंसे राजाकी ओर निहारते हुए स्थिर खड़े रहे॥ १९-२०॥

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१ ॥

तब आदिराज पृथुने श्रीहरिकी स्तुति करनेके लिए हाथ जोड़े, किन्तु नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आनेके कारण वे भगवान्‌का दर्शन न कर सके और कण्ठ अवरुद्ध हो जानेके कारण उनके मुखसे एक भी शब्द न निकल सका। अतः उन्होंने श्रीहरिका हृदयसे ही आलिङ्गन कर लिया॥ २१ ॥

अथावमृज्याश्रुकला विलोकय-
न्नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम्।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २२ ॥

इसके बाद उन्होंने आँसुओंको पोंछकर देखा कि श्रीहरि भूमिपर चरणयुगलोंको स्थापित करके खड़े थे तथा उन्होंने अपना हस्तकमल गरुड़के ऊँचे कन्धेपर रखा हुआ था। महाराज पृथु अतृप्त नयनयुगलके विषयीभूत श्रीहरिको सम्बोधन करके इस प्रकार कहने लगे॥ २२॥

श्रीपृथुरुवाच—

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्।

ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च॥ २३॥

महाराज पृथुने कहा—हे मुक्तिदाता विभो! जिनमें वरदान आदि देनेका सामर्थ्य है, आप उन ब्रह्मादि देवताओंके भी ईश्वर हैं। कौन बुद्धिमान व्यक्ति आपसे देहाभिमानियोंके भोग्य विषयोंकी प्रार्थना करेगा? हे परमेश! ये सब भोग्य वस्तुएँ तो नरकवासी देहधारियोंको भी उपलब्ध हैं। अतः हे मुकुन्द! मैं इन समस्त घृणित तुच्छ भोग्य वस्तुओंके लिए कोई प्रार्थना नहीं करना चाहता॥ २३॥

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥ २४॥

हे नाथ! मुझे तो उस मोक्षपदकी भी कामना नहीं है, जिसमें महत्तम भागवतोंके अन्तर्हृदयसे उनके मुख-मार्गके द्वारा निकली हुई आपकी चरणकमलरूपी सुधाका यशोगान श्रवण करनेकी सम्भावना नहीं हो। मेरी प्रार्थना तो यह है कि आप मुझे अनन्त कान प्रदान कर दीजिये, जिनसे मैं आपकी गुण-कथाका श्रवण करता रहूँ। यही मेरा एकमात्र प्रार्थनीय वर है, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ॥ २४॥

स उत्तमःश्लोकमहन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोज-सुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृत-तत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥ २५॥

हे उत्तमश्लोक प्रभो! आपके चरणकमलोंके मकरन्दरूपी अमृतकणोंसे युक्त होकर महापुरुषोंके मुखसे जो वायु निकलती है, वह तत्त्वको भूले हुए कुयोगियोंको भी पुनः तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देती है। अतः हमें दूसरे वरोंसे प्रयोजन ही क्या है?॥ २५॥

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
श्रीर्यत् प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया॥ २६॥

हे मङ्गलकीर्त्ति प्रभो! जो व्यक्ति महाजनोंके सान्निध्यमें आपके मङ्गलप्रद सुयशका एक बार भी किसी प्रकारसे श्रवण करता है, यदि पशु न होकर वह थोड़ा-सा भी सारग्राही हो, तो वह उस कथा श्रवणको कैसे छोड़ सकता है? इसका कारण है कि लक्ष्मीदेवीने भी निखिल गुणोंको संग्रह करनेकी अभिलाषासे आपके सर्वपुरुषार्थप्रद सुयशका ही सम्पूर्ण रूपसे आश्रय लिया है॥ २६॥

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं
गुणालयं पद्मकरेव लालसः।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात् कृतत्वच्चरणैकतानयोः॥ २७॥

आप पुरुषोत्तम एवं समस्त गुणोंके भण्डार हैं। मैं भी लक्ष्मीजीके समान समुत्सुक होकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। हे नाथ! लक्ष्मी और मैं—हम दोनों अपने एक ही प्रभु आपकी कामना करेंगे तथा दोनों ही आपके चरणकमलोंमें मनको एकान्तिक भावसे नियुक्त रखेंगे, इससे हम दोनोंमें परस्पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होगा॥ २७॥

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम्।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया॥ २८॥

(किन्तु कुछ विचार करनेके उपरान्त पुनः कहने लगे—)हे जगदीश! जगत् जननी लक्ष्मीजीके साथ विरोध तो अवश्य ही होगा, क्योंकि मैं भी जगत्-जननीकी भाँति आपकी सेवा करनेका इच्छुक हूँ, तथापि मैं उस विरोधका सामना करनेसे पीछे नहीं हटूँगा। इसका कारण है कि आप दीनवत्सल हैं, अतः अपने भक्त द्वारा किये गये

तुच्छ कार्यको भी आप यथेष्ठ समझेंगे। जब आप अपने परमानन्द स्वरूपमें ही अवस्थान कर रहे हैं, तो फिर लक्ष्मीजीसे भी आपका क्या प्रयोजन है?॥ २८॥

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन् न विद्महे॥ २९॥

हे भगवन्! आपको दीनवत्सल जानकर ही साधु-महात्मा आपका भजन करते हैं। आपमें मायाके गुणोंके विलाससे उत्पन्न कार्यका सर्वथा अभाव है। हे भगवन्! मुझे तो आपके सर्वसुख-चूड़ामणि चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त महान् पुरुषोंके लिए दूसरा कोई प्रयोजन दिखायी नहीं देता॥ २९॥

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत्।
वाचा नु तन्त्र्या यदि ते जनोऽसितः
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः॥ ३०॥

आपने जो 'वर माँगो' यह कहा है, वह तो जगत्को मोहमें डालनेवाली बात है। हे नाथ! मनुष्य यदि आपकी (वेदवाणीरूपी) रज्जुसे बँधे न होते, तो वे किस प्रकारसे पुनः-पुनः मायामुग्ध होकर सकाम कर्मोंमें प्रवृत्त होते रहते?॥ ३०॥

त्वन्मायया‌द्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः।
यथाचरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्॥ ३१॥

हे ईश! अज्ञ मनुष्य आपकी मायाके द्वारा निश्चय ही विमुग्ध हैं, क्योंकि वे अद्वयतत्त्व सत्यस्वरूप आपसे विमुख होकर अपने भोगके लिए पृथक् रूपसे स्त्री, पुत्रादिकी कामना करते हैं। किन्तु जिस प्रकार पिता अपने पुत्रकी इच्छाकी अपेक्षा किये बिना भी उसके कल्याणकी

चेष्टा करता है, उसी प्रकार आपके लिए भी स्वयं ही हमारे जैसे अज्ञ व्यक्तियोंके मङ्गलकी कामना करना ही उचित है॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्तराम्॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! आदिराज पृथुके द्वारा इस प्रकारसे स्तुति करनेपर विश्वस्रष्टा भगवान् श्रीविष्णुने कहा—हे राजन्! मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति वृत्ति उदित हो। पूर्व-पूर्व सुकृतियोंके फलसे ही तुमने ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त की है। पण्डितजनोंने इसी बुद्धियोगके द्वारा मेरी सुदुस्तर मायाका भी अतिक्रम किया है॥ ३२॥

तत् त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्तः प्रजापते।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम्॥ ३३॥

अतएव हे प्रजापते! मैंने तुम्हें जो आदेश दिया है, तुम सावधान होकर उसका पालन करो। जो मेरी आज्ञाका पालन करता है, उस व्यक्तिका सर्वत्र मङ्गल ही होता है॥ ३३॥

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम्॥ ३४॥

हे विदुर! इस प्रकार भगवान् श्रीहरिने राजर्षि पृथुके सारगर्भित वचनोंका समादर किया। तत्पश्चात् राजा पृथुने भगवान्‌का पूजा-सत्कार किया और भगवान् श्रीहरि उनपर सब प्रकारसे कृपा करके वहाँसे चलनेको तैयार हो गये॥ ३४॥

देवर्षिपितृगन्धर्व-सिद्धचारणपन्नगाः।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः॥ ३५॥

यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः॥ ३६॥

इसके बाद महाराज पृथुने देवर्षि, पितर, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग (नाग), किन्नर, अप्सरा, मनुष्य, पक्षी एवं अन्यान्य बहुत प्रकारके प्राणियों एवं विष्णुके पार्षदोंको यज्ञेश्वर विष्णुसे अभिन्न जानकर अर्थात् उनकी स्वतन्त्र पूजा न करके उन्हें सर्वेश्वर विष्णुका आश्रित-तत्त्व तथा विष्णुसे सम्बन्धित जानकर भक्तिपूर्वक वाणीसे, धनसे और हाथ जोड़कर उनकी यथोचित पूजा की। इस प्रकार पूजित होकर सभी अपने-अपने स्थानोंपर चले गये॥ ३५-३६॥

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ३७॥

उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो राजर्षि पृथुके मनका हरणकर भगवान् श्रीहरि भी ऋत्विजोंके साथ अपने धामकी ओर प्रस्थान कर गये॥ ३७॥

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने।
अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ॥ ३८॥

अव्यक्तस्वरूप देवादिदेव श्रीवासुदेव प्राकृत नेत्रोंसे दिखायी नहीं देते हैं, किन्तु उन्होंने राजा पृथुके सेवोन्मुख नेत्रोंके सम्मुख अपने स्वरूपको प्रकट किया था। इस प्रकार अपना स्वरूप दिखलाकर वे भगवान् वासुदेव वहाँसे अन्तर्धान हो गये। आदिराज पृथु भी भगवान् अच्युतको प्रणाम करके अपनी राजधानीको लौट गये॥ ३८॥

श्रीमन्मध्वाचार्यपाद, तदनुग श्रीमन् विजयध्वजतीर्थ एवं श्रीसम्प्रदायभुक्त श्रीमद् वीरराघवाचार्यपादने अपनी-अपनी टीकाओंमें निम्नलिखित दो श्लोकोंको इस अध्यायमें अतिरिक्त पाठके रूपमें स्थिर किया है—

ते साधु वर्णितं राजन्नाशास्से यदार्शिषः।
स्वर्गापवर्गनरकान् समं पश्यति मत्परः॥ १॥

(श्रीभगवान्ने कहा—)हे राजन्! आपने उत्तम बात कही है। आपने ऐहिक पुरुषार्थकी प्राप्तिकी लेशमात्र भी कामना नहीं की,

बल्कि मुझमें आसक्त होकर मेरी सेवासे रहित स्वर्ग एवं मोक्षको भी नरकके समान माना है॥ १ ॥

प्रीतोऽहं ते महाराज रोषं दुस्त्यजमत्यजः।
मदादेशं श्रद्दधानास्तन्मह्यं परमार्हणम्॥ २ ॥

हे राजन्! मैं आपके प्रति सन्तुष्ट हुआ हूँ, क्योंकि आपने मेरी वाणीके प्रति श्रद्धावान होकर दुस्त्यज क्रोधका परित्याग कर दिया है तथा मुख्य रूपसे मेरे आदेशका पालन करके मेरी श्रेष्ठ पूजा की है॥ २ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथु-चरिते श्रीपृथुस्तवो नाम विंशोऽध्यायः॥

एकविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै॥ १॥

चन्दनागुरुतोयार्द्र-रथ्या-चत्वरमार्गवत् ।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिभिरर्चितम् ॥ २॥

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम्।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलंकृतम्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—महाराज पृथुकी राजनगरी स्थान-स्थानपर असंख्य मोतियोंकी लड़ियों, पुष्पमालाओं, रङ्ग-बिरङ्गे रेशमी वस्त्रों एवं स्वर्ण-द्वारोंसे सुशोभित तथा सुगन्धित धूपके द्वारा सुवासित थी। उसकी गलियाँ, पथ और प्राङ्गणोंको चन्दन एवं अगुरुमिश्रित जलसे सिञ्चित किया गया था तथा उन्हें पुष्प, अक्षत (अरवा चावल), फल, यवाङ्कुर, खील, प्रदीप आदि माङ्गलिक सामग्रियोंसे सजाया गया था। यह नगरी यहाँ-वहाँ रखे फल-फूलोंके गुच्छोंसे युक्त केलेके खम्भों एवं सुपारीके पौधोंसे अति मनोहारी लग रही थी। सभी ओर आम आदि तरुओंके नव-पल्लवोंकी झालरें समलंकृत हो रही थीं॥ १-३॥

प्रजास्तं दीपबलिभिः संभृताशेषमङ्गलैः।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः॥ ४॥

जब महाराज पृथुने नगरमें प्रवेश किया, तब समस्त प्रजाजनों तथा समुज्ज्वल मणिकुण्डलोंसे सुशोभित सुन्दर कन्याओंने दीपमाला और दधि आदि बहुत प्रकारके माङ्गलिक द्रव्योंसे उनकी अगवानी की॥ ४॥

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम्।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः॥ ५॥

उनकी अगवानी करनेके लिए शङ्ख-दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे, ऋत्विजगण वेदध्वनि करने लगे तथा वन्दीजन प्रशंसाके गीत गाने लगे। यह सब देख-सुनकर भी महाप्रतापी राजा पृथु बिना किसी अभिमानके राजभवनमें प्रविष्ट हुए॥ ५॥

पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः।
पौरान् जानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः॥ ६॥

पथमें पुरवासियों एवं जनपदवासियोंने विपुलकीर्त्ति महाराज पृथुका स्थान-स्थानपर स्वागत-सत्कार किया। महाराजने भी उनसे सन्तुष्ट होकर उन्हें अभीष्ट वर देकर प्रसन्न किया॥ ६॥

स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान् महत्तमः।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम्॥ ७॥

इस प्रकार पवित्र कर्म करनेवाले और महान् जनोंमें भी महत्तम पृथु महाराजने यज्ञादि बहुत प्रकारके कर्म करते हुए भूमण्डलपर शासन किया और अन्तमें पृथ्वीपर विपुल यशको स्थापितकर विष्णुके परमपदको प्राप्त हुए॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम्।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन्॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनिवर शौनक! इस प्रकार श्रीमैत्रेयने आदिराज पृथुके असीम गुणोंसे सम्पन्न एवं गुणज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा प्रशंसित यशका कीर्त्तन किया। यह सुनकर महाभागवत विदुर श्रीमैत्रेय ऋषिका अभिनन्दन करते हुए कहने लगे॥ ८॥

श्रीविदुर उवाच—

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः।
बिभ्रत् स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम्॥ ९॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! जिनका ब्राह्मणोंने अभिषेक किया, जिन्होंने बहुत-से देवताओंसे उपहाररूप सम्मान प्राप्त किया, जिन्होंने दोनों भुजाओंसे पृथ्वीका दोहन किया और वैष्णव तेजको धारण किया, उन पृथु महाराजने और क्या-क्या कार्य किये थे?॥ ९॥

को न्वस्य कीर्त्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम्॥ १०॥

जिनके पराक्रम आदिके उच्छिष्ट-स्वरूप अभीष्ट भोगोंको प्राप्त करके इन्द्रादि लोकपालोंके साथ समस्त लोक एवं भू-पाल आज भी जीवित हैं, उन राजर्षि पृथुकी कीर्त्तिको कौन विवेकी पुरुष सुनना नहीं चाहेगा? आप मुझे उनके और भी विशुद्ध चरित्र सुनाइये॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन्।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—महाराज पृथु गङ्गा एवं यमुनाके मध्यवर्ती पवित्र प्रदेशमें वासकर स्वयं साधारण जीवोंके समान आचरण करने लगे। उस समय वे सुख-भोगके द्वारा पुण्योंका और दुःख-भोगके द्वारा पापोंका क्षय करनेकी इच्छासे प्रारब्ध कर्मोंसे प्राप्त भोग्य वस्तुओंका भोग करने लगे॥ ११॥

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः॥ १२॥

पृथु महाराज सप्तद्वीपवती पृथ्वीके एकछत्र सम्राट थे। उनकी आज्ञा सर्वत्र ही पालनीय थी, परन्तु ऋषियों, ब्राह्मणों एवं अच्युत गोत्रीय वैष्णवोंके ऊपर उन्होंने किसी प्रकारका आधिपत्य नहीं रखा॥ १२॥

एकदासीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम्।
समाजो ब्रह्मर्षीणाञ्च राजर्षीणाञ्च सत्तम॥ १३॥

हे साधुश्रेष्ठ! वे पहले एक और भी महायज्ञमें दीक्षित हुए थे। उस यज्ञमें देवताओं, ब्रह्मर्षियों एवं राजर्षियोंका बहुत बड़ा समाज एकत्रित हुआ था॥ १३॥

सस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडूराडिव॥ १४॥
प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः।
सुनसः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः॥ १५॥
व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः।
आवर्त्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात्॥ १६॥
सूक्ष्मवक्रासितस्निग्ध-मूर्द्धजः कम्बुकन्धरः।
महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च॥ १७॥
व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः॥ १८॥
शिशिरस्निग्धताराक्षः सदः समैक्षत समन्ततः।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव॥ १९॥
चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा उनुवदन्निव॥ २०॥

उस यज्ञमें पधारे हुए सभी पूजनीयजनोंका महाराज पृथुने यथायोग्य स्वागत किया था। तदनन्तर सभाके बीचमें राजा पृथु इस प्रकार खड़े हो गये थे, जैसे तारोंके बीचमें चन्द्रमा सुशोभित होता है। उनका शरीर ऊँचा, दोनों भुजाएँ दीर्घ एवं विशाल, दोनों नेत्र कमलके समान अरुणवर्ण, नासिका अति सुन्दर और मुख प्रफुल्लित था। उनके दोनों कन्धे उन्नत थे। वे मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे, जिससे उनकी सुचारु दन्तपंक्ति प्रकाशित हो रही थी। वे बड़े तेजस्वी दीख रहे थे। उनका वक्षःस्थल विस्तृत, कटिदेश स्थूल, उदर त्रिवली रेखाओंसे सुशोभित एवं पीपलके पत्तेके समान पिछला भाग सुडौल

और निम्न भाग संकुचित था, उनकी नाभि भँवरके समान गहरी, जंघाएँ सुवर्णके समान देदीप्यमान और चरणका अग्रभाग उन्नत था। उनके केश सूक्ष्म, घुँघराले, काले एवं चिकने थे, गला शङ्खके समान रेखाओंसे युक्त था। उन्होंने बहुमूल्य रेशमी परिधान तथा कन्धेपर उत्तरीय वस्त्र धारणकर रखा था। नियमानुसार मृगछाला और हाथोंमें कुश धारणकर वे यज्ञोचित समस्त कर्म कर रहे थे। पृथ्वीपति पृथुने अपने सन्ताप-हारक एवं स्निग्ध तारकाओंसे युक्त नेत्रोंसे चारों दिशाओंमें दृष्टिपात किया और सभाजनोंको हर्षित करते हुए अपना वक्तव्य आरम्भ किया। उनका वह वक्तव्य सुननेमें बहुत मधुर, मनोहर, विचित्र पदोंसे युक्त, प्रशस्त, शुद्ध एवं गम्भीर अर्थोंसे परिपूर्ण था। वे सबका उपकार करनेके लिए ही निःशङ्क चित्तसे अपने अनुभवका अनुवाद करते हुए कहने लगे॥ १४–२०॥

श्रीराजोवाच—

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम्॥ २१॥

राजा पृथुने कहा—हे सभासदो! हे समागत साधुओ! आपका मङ्गल हो। आप सब महानुभाव जो यहाँ पधारे हैं, कृपया मेरे निवेदनको सुनें। धर्म-जिज्ञासुओंके निकट अपने-अपने मनकी अभिलाषाको व्यक्त करना उचित है, इसलिए मैं आप लोगोंके सम्मुख अपने द्वारा विचारित विषयको व्यक्त कर रहा हूँ॥ २१॥

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्॥ २२॥

परमेश्वरने मुझे इस जगत्में प्रजादिके शासन, धर्म-संरक्षण, जीविका-प्रबन्धन एवं पृथक्-पृथक् वर्णाश्रमादि-धर्मोंकी मर्यादाके स्थापन कार्यमें नियुक्त किया है॥ २२॥

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक्॥ २३॥

सर्वधर्मसाक्षी भगवान्‌को प्रसन्नकर जिन पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है, वेदवादियोंने उसका वर्णन किया है। मुझे भी प्रजा-रक्षणादि-स्वधर्मानुष्ठानका यथावत् पालन करनेसे उन सभी सर्वाऽभीष्टप्रद लोकोंकी प्राप्ति हो॥ २३॥

य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगञ्च स्वं जहाति सः॥ २४॥

जो राजा प्रजाओंको अपने-अपने धर्म-मार्गकी शिक्षा प्रदान न करके उनसे मात्र कर ही ग्रहण करता रहता है, वह प्रजाओंके पापोंका भागी होता है और उसका समस्त ऐश्वर्य भी नष्ट हो जाता है॥ २४॥

तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयतः।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः॥ २५॥

अतएव हे प्रजावृन्द! आप लोग ईर्ष्या छोड़कर भगवान् श्रीअधोक्षजमें अपने मनको निविष्ट किजिये। मैं आपका भरण-पोषण करनेवाला हूँ। जिस प्रकार पितरोंके उद्देश्यसे पिण्डदान किया जाता है, उसी प्रकार आप भी यदि मेरा पारलौकिक मङ्गल चाहते हैं, तो स्वधर्ममें स्थित रहिये—इससे मुझपर आप सभीका यथेष्ट अनुग्रह होगा॥ २५॥

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत् प्रेत्य तत्फलम्॥ २६॥

हे पितृदेव एवं महर्षियो! आपलोग बुद्धिमान हैं, मेरी प्रार्थनाका अनुमोदन कीजिये। इसका कारण है कि किसी भी कर्मके कर्त्ता, उपदेष्टा और समर्थकको मृत्युके बाद परलोकमें उसका समान फल प्राप्त होता है॥ २६॥

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥ २७॥

हे पूज्यतम सज्जनो! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावोंके मतमें यज्ञपति नामक एक परमेश्वर हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो इस कालमें तथा

परकालमें समुज्ज्वल भोगभूमि एवं भोगके साधन शरीर आदि क्यों दिखायी देते? ॥ २७ ॥

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥ २८ ॥

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९ ॥

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान्।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३० ॥

मृत्युके नाती वेन आदि धर्मविमूढ़ और शोचनीय व्यक्तिके अतिरिक्त महाराज मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, मेरे पितामह अङ्गराज, ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि एवं इसी श्रेणीके अन्यान्य महात्माओंके मतमें भी भगवान् अवश्य ही हैं। इसका कारण है कि धर्म, अर्थ एवं कामरूपी त्रिवर्ग तथा स्वर्ग और मोक्ष—ये सब उनकी कृपाके अधीन हैं। अर्थात् समस्त प्रकारके फलोंकी प्राप्तिके मूलमें एक अद्वय भगवान् हैं, उनके अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र नहीं है ॥ २८–३० ॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना–
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ३१ ॥

विनिर्धूताशेषमनोमलः पुमा–
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन–
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि–
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

भगवान् श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी सेवाकी अभिलाषा उन्हींके पदाङ्गुष्ठसे निकली गङ्गाके समान निरन्तर वर्द्धित होकर दिन-प्रतिदिन संसार-तापसे दग्ध जीवोंके जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित बुद्धिमलको शीघ्र ही विनष्ट कर डालती है। जिनके मनका मैल उन भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय लेनेके फलस्वरूप धुल गया है, वह व्यक्ति वैराग्य-सहित भक्तियोगके द्वारा विज्ञान अर्थात् भगवानका साक्षात्काररूप बल प्राप्त करके पुनः इस क्लेशमय संसारमें नहीं आता। इसलिए हे प्रजाजनो! आपलोग सिद्धि-लाभके लिए दृढ़निश्चय होकर अपने-अपने अधिकारके अनुसार निष्कपट रूपसे अपनी-अपनी जीविकाके उपयोगी वर्णाश्रमोचित अध्यापनादि स्वधर्म, शरीर, मन, वाणी, गुण और स्वकर्म आदि द्वारा सर्वाभीष्टप्रद उन श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करें॥ ३१-३३॥

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः॥ ३४॥

वे भगवान् स्वरूपतः शुद्धसत्त्वमय चिदानन्दस्वरूप हैं। वे प्राकृत गुणोंसे रहित होकर भी विविध द्रव्य, गुण, क्रिया, मन्त्र, अर्थ, सङ्कल्प, द्रव्य-शक्ति और नाम—इन सब विशेषणोंसे सम्पन्न होकर कर्ममार्गमें यज्ञरूपसे प्रकाशित होते हैं॥ ३४॥

प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः॥ ३५॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न लकड़ियोंमें प्रवेश करके लकड़ीके दीर्घत्व एवं वक्रत्वादि आकारोंके अनुरूप ही भासती है, उसी प्रकार वे विभु भगवान् परमानन्दस्वरूप होते हुए भी अव्यक्त प्रकृति, उसे क्षोभित करनेवाला काल, वासना और अदृष्ट—इन

सबके साथ उत्पन्न शरीरोंमें स्थित होकर उन्हें कर्मार्पणरूप बुद्धिकी प्रेरणा देकर उनके कर्मफलोंके अनुसार स्वयं प्रकाशित होते हैं॥ ३५॥

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षौणितले दृढव्रताः॥ ३६॥

अहो! इस भूमण्डलमें मेरे जो समस्त प्रजाजन दृढ़व्रत होकर यज्ञभोक्ता देवताओंके अधीश्वर जगद्गुरु श्रीहरिकी एकनिष्ठतासे आराधना कर रहें हैं, वही वास्तवमें मेरे ऊपर कृपाका वितरण कर रहे हैं॥ ३६॥

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम्॥ ३७॥

सहनशीलता, तपस्या और विद्या द्वारा स्वयं प्रकाशमान आत्मविद् ब्राह्मणों एवं अजित श्रीविष्णु ही जिनके एकमात्र परमदेवता हैं, ऐसे वैष्णवोंके वंशमें महाशक्ति और सम्पत्तिशाली राजकुलका तेज कदापि अपने प्रभावका विस्तार करनेका प्रयास न करे॥ ३७॥

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रञ्च महत्तमाग्रणीः॥ ३८॥

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदैव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥ ३९॥

ब्रह्मादि समस्त महत्तमोंके अग्रगण्य, ब्रह्मण्यदेव, पुराणपुरुष श्रीहरिने भी सर्वदा जिन ब्राह्मणोंकी चरणवन्दना करके अचला लक्ष्मी एवं

भुवनपावन यशको प्राप्त किया है, तथा जिस ब्राह्मणवंशकी सेवा करनेपर सर्वान्तर्यामी विप्रप्रिय स्वयंप्रकाश भगवान भी परितुष्ट होते हैं, आपलोग भगवद्धर्म–परायण होकर सर्वान्तःकरणसे विनीत भाव सहित उन आत्मविद् ब्राह्मणोंकी सेवा करें॥ ३८–३९॥

पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम्।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्॥ ४०॥

आत्मविद् ब्राह्मणोंको नित्य–सेव्य जानकर उनकी सेवा करनेसे चित्त स्वयं ही अतिशीघ्र परिशुद्ध हो जाता है तथा ज्ञान आदिके अभ्यासके बिना भी परम शान्तिरूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस लोकमें ब्राह्मणोंकी सेवाकी अपेक्षा हविष्यभोजी देवताओंका क्या और कोई श्रेष्ठ मुख है?॥ ४०॥

अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः॥ ४१॥

भगवान् अनन्त, सर्वान्तर्यामी और चिद्घनविग्रह हैं। यज्ञविद् पण्डितोंके द्वारा इन्द्र आदिके नामोंका उच्चारण करके श्रद्धा सहित ब्राह्मणोंके मुखमें यजनीय द्रव्य समर्पित करनेपर वे (श्रीभगवान्) उसे जिस प्रकार तृप्ति सहित भोजन करते हैं, चेतनाशून्य अग्निमें होम किये हुए द्रव्योंका वैसे भोजन नहीं करते॥ ४१॥

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते॥ ४२॥

तेषामहं पादसरोजरेणु–
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः।

यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति॥ ४३॥

वेदोंके तात्पर्यको जाननेके लिए ब्राह्मण श्रद्धा (दृढ़ विश्वास), मङ्गल (प्रतिकूलको त्यागकर अनुकूलको ग्रहण), मौन (अध्ययन विरोधी वार्त्ताका परित्याग), इन्द्रिय संयम एवं समाधिके द्वारा नित्यकाल विचार करते रहते हैं। (आप सभी मेरी सहायता कीजिये, जिससे) मैं इस प्रकारके आत्मविद् ब्राह्मणोंकी पद-रेणुको जीवनभर अपने मुकुटके ऊपर धारण कर पाऊँ। जो परमार्थतत्त्वको जाननेवाले इन ब्राह्मणोंकी धूलिको नित्यकाल सिरपर धारण करते हैं, उनके पाप शीघ्र ही दूर हो जाते हैं और समस्त सद्गुण उनका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४२-४३॥

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवाञ्च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम्॥ ४४॥

जिसने समस्त गुणोंके आधार, सच्चरित्र, कृतज्ञ एवं ज्ञानवृद्ध गुरुजनोंका आश्रय लिया है, उस व्यक्तिके पास धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षादि समस्त सम्पत्तियाँ अपने-आप ही आकर उसकी भलीभाँति सेवा करती हैं। अतः ब्राह्मण, गोवंश और अपने भक्तोंके साथ श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों॥ ४४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः।
तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः॥ ४५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज पृथुके इस प्रकार कहनेपर पितर, देवता, साधु और ब्राह्मण आदि सभी बहुत सन्तुष्ट होकर प्रसन्न चित्तसे महाराज पृथुको 'साधु', 'साधु' कहकर उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे॥ ४५॥

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत् तमः॥ ४६॥

'पुत्रके द्वारा पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है'—श्रुतिका यह वचन सत्य है, क्योंकि ब्रह्मदण्डसे दण्डित पापी वेनका भी ऐसे पुत्रके कारण नरकसे उद्धार हो गया॥ ४६॥

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः।
विविक्षुरत्यगात् सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः॥ ४७॥

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण नरक-गतिको प्राप्त करने ही वाला था कि पुत्र प्रह्लादके प्रभावसे वह भी नरकसे उत्तीर्ण होनेमें समर्थ हुआ था॥ ४७॥

वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्त्तरि॥ ४८॥

(समागत साधुओंने कहा—)हे वीरश्रेष्ठ! हे पृथ्वीके रक्षक! समस्त लोकोंके एकमात्र भर्त्ता भगवान् श्रीअच्युतमें आपकी ऐसी भक्ति देखकर हमलोग बड़े सन्तुष्ट हुए हैं। आप चिरकालतक जीवित रहें॥ ४८॥

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः।
य उत्तमःश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति॥ ४९॥

हे पवित्रकीर्त्तिवाले! उत्तमश्लोक ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्रीविष्णुकी कीर्त्तिका प्रकाश करनेवाले आपके द्वारा ही आज हमने श्रीमुकुन्दको अपने स्वामीके रूपमें पहचाना है, अतः वास्तवमें आप ही हमारे स्वामी हैं॥ ४९॥

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम्।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम्॥ ५०॥

हे स्वामिन्! अपने सेवकोंको इस प्रकारका उत्कृष्ट उपदेश प्रदान करना कोई अति आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि प्रजाजनोंका अनुरञ्जन करना ही पर-दुःख-दुखी करुणामय महत् व्यक्तियोंका स्वभाव होता है॥ ५०॥

अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः॥ ५१॥

हे प्रभो! हमलोग यथार्थ-ज्ञानसे रहित होकर प्रारब्ध कर्मोंके द्वारा नाना योनियोंमें भटक रहे थे। हमारा विवेक ही लुप्त हो गया था। आज आपने हमें इस अज्ञानरूपी अन्धकारसे उत्तीर्ण कर दिया है॥ ५१॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्त्तीदं स्वतेजसा॥ ५२॥

जो ब्राह्मणोंके हृदयमें अधिष्ठित रहकर क्षत्रियोंका तथा क्षत्रियोंके हृदयमें अधिष्ठित रहकर ब्राह्मणोंका एवं ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके हृदयमें एक साथ विराजित होकर इस सम्पूर्ण विश्वका पालन कर रहे हैं, हम उन विशुद्धसत्त्वरूप महान् पुरुषोत्तम श्रीहरिको प्रणाम करते हैं॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते श्रीपृथुवाक्यं नामैकविंशोऽध्याय॥

द्वाविंशोऽध्यायः

भगवान्‌के आदेशसे सनकादि महर्षियोंके द्वारा महाराज पृथुको उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम्।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रजाजन प्रबल पराक्रमी पृथुकी इस प्रकार स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय वहाँ सूर्यके समान तेजोमय चार मुनीश्वर उपस्थित हुए॥ १॥

तांस्तु सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा।
लोकानपापान् कुर्वाणान् सानुगोऽचष्ट लक्षितान्॥ २॥

महाराज पृथु और उनके अनुचरोंने देखा कि चारों सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य कान्तिसे लोकोंको पवित्र करते हुए अन्तरीक्षसे अवतीर्ण हो रहे हैं। उस समय उनके तेजसे ही पता चल गया था कि वे सनकादि ऋषि हैं॥ २॥

तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव॥ ३॥

जिस प्रकार जीवका चित्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंकी ओर स्वयं ही दौड़ता है, उसी प्रकार उन ऋषियोंके दर्शनमात्रसे ही राजा पृथुके प्राण मानो उनका साक्षात्कार करनेके लिए उनसे पहले ही दौड़ पड़े। तब वे मन्त्रियों एवं अनुगतजनोंके साथ एकाएक उठ खड़े हुए॥ ३॥

गोरवाद्यन्त्रितः सद्यः प्रश्रयानतकन्धरः।
विधिवत् पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान्॥ ४॥

महाराज पृथुने ऋषियोंके गौरवसे प्रभावित होकर विनयसे अपने सिरको झुकाकर उन्हें तत्क्षणात् अर्घ्य एवं आसन प्रदान करके यथाविधि उनका पूजन किया॥ ४॥

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव॥ ५॥

तदनन्तर महाराज पृथुने उनके चरणोदकको अपने सिरपर धारण किया। इस प्रकार साधुओं जैसा आचरण करके उन्होंने दिखलाया कि सदाचार-परायण व्यक्तियोंको भी इस प्रकारका ही आचरण करना चाहिये॥ ५॥

हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान्।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान्॥ ६॥

सनकादि चारों मुनीश्वर भगवान् शङ्करके भी अग्रज हैं। जब वे अपने-अपने स्वर्ण-सिंहासनपर विराजमान हुए, तब उनकी इस प्रकारसे शोभा हो रही थी, मानो अपने-अपने स्थानोंपर अग्नि-देवता आसीन हों। महाराज पृथुने बड़े संयम एवं श्रद्धाके साथ प्रीतिपूर्वक उन मुनियोंसे कहा॥ ६॥

श्रीपृथुरुवाच—

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानाञ्च योगिभिः॥ ७॥

श्रीपृथुने कहा—हे मङ्गलनिलय ऋषियो! मैंने ऐसा कौन-सा शुभकार्य किया था, जिसके फलस्वरूप मुझे योगियोंके लिए भी अति दुर्लभ आपके साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए हैं॥ ७॥

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥ ८॥

जिनपर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, उनपर अपने अनुचरोंके साथ श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णु भी प्रसन्न होते हैं। उन लोगोंके लिए इहलोक एवं परलोकमें क्या कुछ दुष्प्राप्य है? अर्थात् कुछ भी नहीं॥ ८॥

नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान्।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः॥ ९॥

जिस प्रकार मनु आदि ऋषिगण इस विश्वके कारणभूत सर्वज्ञ परमात्माको नहीं जान पाते, उसी प्रकार जनसमूह सूर्यके समान सर्वत्र पर्यटन करनेवाले आपको नहीं जान पाते॥ ९॥

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बु-तृणभूमीश्वरावराः॥ १०॥

जिनके घरोंमें आपके समान पूजनीय साधुओंके ग्रहण करने योग्य भक्षणीय द्रव्योंके अभावमें केवल जल, जलके अभावमें बैठने योग्य तृणसे बना आसन, आसनके भी अभावमें बैठने योग्य साफ-सुथरी भूमि, उसके भी अभावमें प्रीतिपूर्ण वाक्य बोलनेवाला गृहस्वामी तथा गृहस्वामीके भी अभावमें अश्रुपूर्ण प्रणिपात आदि करनेके लिए घरमें वास करनेवाले उसके पुत्र, पत्नी आदि विद्यमान होते हैं, वही घर तथा उस घरमें वास करनेवाले ही वास्तवमें गृहस्थ तथा निर्धन होनेपर भी प्रशंसाके पात्र हैं॥ १०॥

व्यालालयद्रुमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः।
यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्जिताः॥ ११॥

जिन घरोंमें तीर्थपाद महाभागवतोंके चरणामृतका छिड़काव नहीं हुआ हैं, वे घर सम्पूर्ण समृद्धियोंसे परिपूर्ण होनेपर भी सर्पोंसे भरे हुए वृक्षोंके समान मृत्युका भय प्रदान करनेवाले होते हैं॥ ११॥

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति वै॥ १२॥

हे द्विजश्रेष्ठगण! आपका स्वागत है। मुमुक्षुलोग जिन व्रतोंका आचरण करते हैं, आप तो उन समस्त ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका बाल्यकालसे ही धैर्यपूर्वक बड़ी श्रद्धाके साथ आचरण कर रहे हैं॥ १२॥

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः॥ १३॥

हे स्वामियो! यह संसार नानाप्रकारके क्लेशोंकी आकर-भूमि है। हमलोग अपने कर्मोंके परिणामस्वरूप इस संसारमें आ पड़े हैं और इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मान रहे हैं। क्या हमारे मङ्गलकी कोई सम्भावना है?॥ १३॥

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः॥ १४॥

आप आत्माराम हैं, आपसे कुशलता-सम्बन्धी प्रश्न करना तो उचित नहीं है, क्योंकि आपमें 'यह शुभ है, यह अशुभ है'—ऐसी भेद-बुद्धि होती ही नहीं है॥ १४॥

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम्।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्॥ १५॥

मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि आप ही संसाररूपी दावानलसे सन्तप्त व्यक्तियोंके सुहृद् हैं। अतएव मैं श्रद्धापूर्वक आपसे यह जानना चाहता हूँ कि इस संसारमें मनुष्योंका किस प्रकार अनायास ही कल्याण हो सकता है?॥ १५॥

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यज॥ १६॥

यह निश्चित है कि प्राकृत-जन्मसे रहित और स्वयं प्रकाशित श्रीभगवान् आत्मज्ञ पुरुषोंकी आत्मामें अपने स्वरूपको प्रकाशित करते हैं तथा अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिए इस जगत्में आप जैसे सिद्ध पुरुषोंके रूपमें विचरण करते हैं॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पृथोस्तत् सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—पृथु महाराजके युक्तियुक्त, गम्भीर अर्थोंसे

पूर्ण, परिमित और प्रीतियुक्त मधुर वचनोंको सुनकर ब्रह्मर्षि श्रीसनत्कुमार मन्द-मुस्कानके साथ स्नेहसे परिपूर्ण होकर कहने लगे॥ १७॥

श्रीसनत्कुमार उवाच—

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी॥ १८॥

श्रीसनत्कुमारने कहा—हे महाराज! आप विद्वान् हैं, समस्त प्राणियोंके कल्याणकी इच्छासे ही आपने ऐसे उत्तम प्रश्न पूछे हैं। आपके जैसे साधु पुरुषोंकी ऐसी मति होना ही उचित है॥ १८॥

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषाञ्च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसंप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥ १९॥

साधुओंका सङ्ग—श्रोता एवं वक्ता दोनोंके लिए ही अभिलषित होता है। उनके साथ होनेवाला सत्-आलाप एवं परिप्रश्न सभी जीवोंका ही कल्याण करता है॥ १९॥

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः॥ २०॥

हे राजन्! मधुरिपु श्रीहरिके चरणकमलोंके गुणानुकीर्त्तनमें आपकी सुदुर्लभा और निश्चला मति है। इस प्रकारकी मतिसे ही अन्तरात्माका विषय-वासनारूप मल धुल जाता है॥ २०॥

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥ २१॥

आत्मासे पृथक् देहादि अनात्म वस्तुओंमें अनासक्ति और निर्गुण ब्रह्मस्वरूप आत्मामें सुदृढ़ रति होना ही शास्त्रोंका भलीभाँति विचार करके जीवोंके कल्याण-प्राप्तिके उपायके रूपमें निश्चित किया गया है॥ २१॥

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च॥ २२॥

श्रद्धाके साथ भगवत्-धर्मका अनुशीलन, तत्त्वजिज्ञासा, भगवत्-सेवा-निष्ठा सहित श्रेष्ठ भक्तोंकी पूजा एवं पुण्यकीर्त्ति भगवान्‌की पावन कथाओंको सुननेसे यह रति उत्पन्न होती है॥ २२॥

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि
विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥ २३॥

धन और रूप आदिमें आसक्त तथा इन्द्रिय-भोगरूपी सुखोंमें रत असत् व्यक्तियोंके सङ्गके प्रति वितृष्णासे, उन्हें प्रिय लगनेवाले अर्थ-कामादिका परित्याग करनेसे तथा निर्जनवासमें रुचि होनेसे आत्माको सन्तोष प्राप्त होता है। किन्तु जिस स्थानपर साधुओंके मुखसे हरिकथामृत पान करनेकी सम्भावना नहीं है, ऐसे निर्जनवासकी कभी भी स्पृहा मत करना, क्योंकि इसके द्वारा आत्मेन्द्रिय तर्पण तो होता है, किन्तु श्रीकृष्णकी प्रसन्नता नहीं॥ २३॥

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च॥ २४॥

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः॥ २५॥

अहिंसा, शुद्धसत्त्व-प्रधान वृत्ति, सद्गुरुके उपदेशानुसार सदाचार अनुष्ठानरूप स्मृति, भगवान् मुकुन्दके परम पवित्र चरित्रकी परस्पर

आलोचना, इन्द्रिय-दमन, भोगवासना-परित्याग, हरिव्रतादि नियम, किसीकी निन्दा न करना, भोग्य विषयोंकी प्राप्ति और उसके रक्षणमें चेष्टा शून्यता, शीतोष्णादि द्वन्द्व-सहिष्णुता एवं भगवत्-भक्तोंके कर्ण भूषणस्वरूप श्रीहरिके गुणोंका बार-बार कीर्त्तन करनेसे भक्ति वर्द्धित होती है और उसके द्वारा कार्य-कारणरूप अनात्मवस्तु जड़-प्रपञ्चसे वैराग्य और निर्गुण परब्रह्ममें सहज ही परम रतिका उदय होता है॥ २४-२५॥

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥ २६॥

परब्रह्ममें नैष्ठिकी रतिके उत्पन्न होनेपर आचार्यकी सेवामें निमग्न व्यक्ति ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे उसी प्रकार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पञ्च क्लेशात्मक जीव स्वरूपके आवरणरूपी लिङ्गदेहको जला डालता है, जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि अपने ही उत्पत्ति-स्थान काष्ठको जला डालती है॥ २६॥

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्‌गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे॥ २७॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ जाग्रत अवस्थामें दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार संसारावस्थामें जीवात्मा एवं परमात्माके बीचके 'व्यवधान' (बाधा) के विनष्ट होनेपर उपाधिरहित और कर्त्तृत्वादि समस्त प्रकारके अभिमानोंसे मुक्त व्यक्ति बाह्यविषयों (शब्द-स्पर्शादि) एवं अन्तर विषयों (शोक-मोहादि) का अनुभव नहीं करता॥ २७॥

आत्मानमिन्द्रियार्थञ्च परं यदुभयोरपि।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा॥ २८॥

लिङ्गदेह ही जीवात्माकी 'उपाधि' है तथा उसे ही 'व्यवधान' कहा जाता है। सोपाधिक जीव अपने लिङ्गदेहमें भोगजनित सुख-दुःखादिका अनुभव करता है, किन्तु इस लिङ्गदेहके नहीं रहनेपर ऐसी अनुभूतियाँ नहीं होतीं अर्थात् व्यवधान रहित होनेपर जीवको अपने स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त होती है॥ २८॥

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा॥ २९॥

इस जगत्में भी जल-दर्पणादि 'निमित्त' के रहनेसे बिम्ब एवं प्रतिबिम्बके बीच भेद सर्वत्र ही दिखलायी देता है, किन्तु जलादिके अभावमें वैसा नहीं होता; उसी प्रकार उपाधिरूप लिङ्गदेहके रहनेपर उसमें जीवात्मा एवं परमात्माके बीच जड़-वैषम्य दिखायी देता है, किन्तु उसके अभावमें वैसा नहीं होता॥ २९॥

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते वुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥ ३०॥

विषयोंकी चिन्तामें रत व्यक्तियोंका चित्त विषयोंके आकर्षणके प्रभावसे विषयोंमें ही आसक्त होता है। जिस प्रकार जलाशयके तटपर स्थित कुशादिके पौधे अपनी जड़ोंके द्वारा अलक्षित भावसे जलाशयके जलको खींचते रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा विक्षिप्त मन भी विषयोंके प्रति आकृष्ट होकर बुद्धिके विचार-सामर्थ्यको हर लेता है॥ ३०॥

भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥ ३१॥

विचार-सामर्थ्यरूप बुद्धिवृत्तिके अपहृत हो जानेपर स्मृति-शक्ति विलुप्त हो जाती है। स्मृतिके क्षय होनेपर ज्ञान नष्ट हो जाता है। सोपाधिक जीवोंके इस ज्ञान-नाशको ही पण्डितगण 'आत्मनाश' अर्थात् निरुपाधिक आत्माकी अस्फूर्ति कहते हैं॥ ३१॥

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥ ३२॥

जिस आत्माका आश्रय करके ही देहादि अन्यान्य वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, उस आत्माके विनष्ट होनेपर जितनी बड़ी हानि होती है, उससे बढ़कर और क्या क्षति हो सकती है?॥ ३२॥

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्॥ ३३॥

धन एवं भोग्य-विषयादिका चिन्तन ही जीवोंके समस्त पुरुषार्थोंके नाशका मूल है, क्योंकि इन दोनोंके चिन्तनसे जीव परोक्ष और अपरोक्ष अनुभूतिसे भ्रष्ट होकर जड़ताको प्राप्त करता है॥ ३३॥

न कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम्॥ ३४॥

जो संसारजनक अज्ञानरूप अन्धकारको पार करना चाहते हैं, उन्हें कभी भी उन सब विषयोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिए अत्यन्त प्रतिबन्धक हैं॥ ३४॥

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः॥ ३५॥

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम एवं (भक्तिहीन) मोक्ष—यह चतुर्वर्ग 'पुरुषार्थ' रूपमें कहे जाते हैं, तथापि वास्तवमें भगवत्-सेवारूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, इसलिए वही वाञ्छनीय है। धर्म-अर्थ-काम रूप तीनों पुरुषार्थोंमें सर्वदा कालका भय बना रहता है॥ ३५॥

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम्॥ ३६॥

जितने भी उत्कृष्ट और निकृष्ट भाव और वस्तुएँ हैं, सभी प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंके परिणामसे उत्पन्न हुई हैं। ईश-शक्तिरूप कालके प्रभावसे इनके धर्मादि पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं, अतः इनसे मङ्गलकी सम्भावना भी नहीं रहती॥ ३६॥

तत् त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषाञ्च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम्।

यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि॥ ३७॥

हे राजन्! देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि एवं अहङ्कारसे आवृत स्थावर-जङ्गमादि सभी प्राणियोंके हृदयोंमें जो साक्षात् अन्तर्यामीके रूपसे सर्वत्र प्रकाश पाते हैं—उन्हीं एकमात्र भगवान्‌से ही अवगत होओ॥ ३७॥

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये॥ ३८॥

जिन परमात्मामें यह मायामय जगत् मालामें सर्पबुद्धिकी भाँति कार्य-कारणरूपमें प्रतीत होकर जीवोंमें भ्रम या विवर्त्तबुद्धिको उत्पन्न करता है, किन्तु विवेकके उदित होनेपर वह भ्रम नहीं रहता, मैं उन नित्यमुक्त, सत्यस्वरूप, विशुद्धसत्त्व, अतएव प्राकृत कर्ममल-रहित भगवान्‌के शरणागत होता हूँ॥ ३८॥

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥ ३९॥

भक्तलोग भगवान्‌के चरणकमलोंकी पंखुड़ियों जैसी अङ्गुलियोंकी छिटकती हुई छटाका भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्म-वासनाओंसे गठित हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिसे रहित निर्विषयी योगी इन्द्रियोंको संयत करनेपर भी हृदय-ग्रन्थिका उस प्रकारसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अतः इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये॥ ३९॥

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।

तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥ ४०॥

यह संसार-समुद्र मन एवं इन्द्रियादि रूपी मगरमच्छोंसे भरा पड़ा है। जो इस भवसागरको पार करनेके लिए नौका सदृश भगवान्के आश्रयके बिना योगादि दुष्कर साधनोंके द्वारा इसे पार करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अत्यन्त क्लेश उठाने पड़ते हैं। अतः हे राजन्! आप भी उन भजनीय भगवान्के चरणकमलोंको नौका बनाकर इन इन्द्रियादि विपत्तियोंसे भरे हुए सुदुस्तर भव-समुद्रको पार करें॥ ४०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा।
दर्शितात्मगतिः सम्यक् प्रशस्योवाच तं नृपः॥ ४१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—आत्म-तत्त्वदर्शी ब्रह्माजीके पुत्र सनत् कुमारके द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्वके ज्ञानको प्राप्तकर महाराज पृथु उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे॥ ४१॥

श्रीराजोवाच—

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्त्तानुकम्पिना।
तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः॥ ४२॥

राजा पृथुने कहा—हे भगवन्! दीनदयाल श्रीहरिने पहले भी मुझपर कृपा की थी। उनके द्वारा उपदिष्ट भक्तिके भलीभाँति स्थापनके लिए ही आप सभीका यहाँ आगमन हुआ है॥ ४२॥

निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे॥ ४३॥

आप सभी अत्यन्त कृपामय हैं। आप लोगोंने भगवत्-भक्ति-स्थापनरूप भगवानके अनुग्रहको भलीभाँति सम्पादित किया है। मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ? मेरे पास यह देह एवं राज्यादि जो कुछ भी है, वह सभी कुछ आप जैसे साधुओंका दिया उच्छिष्टस्वरूप प्रसाद है। अतः इसका प्रतिदान करना भी उचित नहीं है॥ ४३॥

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम्॥ ४४॥

हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार सेवक राजाकी सेवाके लिए ताम्बूल आदि प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मैं भी प्राण, पुत्र, परिवार और समस्त प्रकारकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण घर, राज्य, सेना और पृथ्वी आदि समस्त वस्तुएँ आपके श्रीचरणोंमें निवेदन करता हूँ। आप इन्हें स्वीकार कीजिये॥ ४४॥

सैनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति॥ ४५॥

वास्तवमें तो सेनापतित्व, राज्य, दण्ड-विधान एवं समस्त लोकोंके शासनका अधिकार वेदशास्त्रविद् ब्राह्मणोंको ही है॥ ४५॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः॥ ४६॥

अतएव ब्राह्मण अपने ही धनका भोग करते हैं, अपने ही वस्त्र पहनते हैं और अपना ही द्रव्य दूसरोंको प्रदान करते हैं। उनके ही अनुग्रहसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अन्नादि विषयोंका भोग करते हैं॥ ४६॥

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥ ४७॥

आप वेदविद् हैं और परमात्म-तत्त्वविचारमें ऐकान्तिक निष्ठासे युक्त हैं। आपने हमारे लिए यह अति अपूर्व वासुदेव-तत्त्व निर्णित किया है। आप परम कृपालु हैं। आप अपने सत् कार्य द्वारा ही सन्तुष्ट हों। हाथ जोड़कर निवेदन करनेके अतिरिक्त आपका प्रत्युपकार करनेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता, अतएव मैं भी वही कर रहा हूँ॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभवन् मिषतां नृणाम्॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुरजी! आत्मतत्त्वोपदेशक सनत् कुमारादि ऋषि आदिराज पृथु द्वारा पूजित होकर उनके शीलादि गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सबके सामने आकाशमार्गसे सत्यलोकको चले गये॥ ४८॥

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः॥ ४९॥

महात्माओंमें अग्रगण्य महाराज पृथु उनसे प्राप्त आत्मतत्त्वकी शिक्षाके प्रभावसे भगवत्-उपासनामें एकनिष्ठ हो गये और स्वयंको कृत-कृतार्थ मानने लगे॥ ४९॥

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम्।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम्॥ ५०॥

वे देश, काल और पात्रके अनुसार यथायोग्य सभी विषयोंको भगवत्-अर्पित करते हुए शुद्धभक्तोंके द्वारा अनुमोदित कर्मोंको करने लगे॥ ५०॥

फलं ब्रह्मणि संन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः।
कर्माध्यक्षञ्च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम्॥ ५१॥
गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत्॥ ५२॥

महाराज पृथुने भगवान्‌को कर्मोंका फल अर्पण करके कर्ममें आसक्तिका परित्याग कर दिया और एकाग्रचित्तसे प्रकृतिसे अतीत परतत्त्व भगवान्‌को कर्माध्यक्ष जानकर अपना कर्त्तृत्वादि अभिमान भी दूर किया। जिस प्रकार सूर्य सर्वत्र पर्यटन करते हुए भी पदार्थोंके गुण-दोषमें आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार महाराज पृथु भी सार्वभौम साम्राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न घरमें रहकर भी रूप-रस आदि विषयोंमें कभी आसक्त नहीं हुए॥ ५१-५२॥

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन्।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान्।
विजिताश्वं धूमकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम्॥ ५३॥

इस प्रकारसे महाराज पृथु कर्त्तव्य कर्मोंको उचित रीतिसे करते हुए भगवान्‌को अर्पण कर देते थे। आसक्ति रहित विषय-भोगरूप सिद्धि विशेषके द्वारा उन्होंने अपनी पत्नी अर्चिके गर्भसे अपने ही समान विजिताश्व, हर्यक्ष, द्रविण, धूमकेश एवं वृक नामक पाँच पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ ५३॥

सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान्।
गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः॥ ५४॥

भगवान् अच्युतके अवतार महाराज पृथुने सृष्टिकी रक्षाके लिए उपयुक्त समयपर अवतीर्ण होकर समस्त लोकपालोंके गुणोंको एकसाथमें धारण किया था॥ ५४॥

मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः।
राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः॥ ५५॥

महाराज पृथुने हित-चिन्तनादिरूप मनोवृत्ति, प्रिय-भाषणादिरूप वाक्-वृत्ति और मनोहर गुणोंके द्वारा प्रजाका रञ्जन करके 'द्वितीय सोमराज' नाम धारण किया था॥ ५५॥

सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु।
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः॥ ५६॥

वे धरतीपर सूर्यके समान विराजमान रहे। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वीसे जलको ग्रहण करता है तथा उसे पुनः यथासमय बरसा देता है, उसी प्रकार महाराज पृथु भी प्रजासे यथायोग्य कर ग्रहण करते थे और यथासमयपर उसका दान कर देते थे। महाराज पृथु अग्निके समान तेजस्वी और इन्द्रके समान बलशाली एवं अजय थे॥ ५६॥

तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम्।
वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन्॥ ५७॥

आदिराज पृथु पृथ्वीके समान क्षमाशील और स्वर्गके समान समस्त मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करनेवाले थे। जिस प्रकार मेघ आवश्यकताके अनुसार जल-वर्षण करके सबको तृप्त करते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने प्रजाजनोंके अभावोंको दूरकर उन्हें परम सन्तोष प्रदान किया करते थे॥ ५७॥

समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव।
धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव॥ ५८॥

वे समुद्रके समान गम्भीर थे, इसलिए उनके अभिप्रायको कोई समझ नहीं सकता था। वे पर्वतराज सुमेरुके समान अटल, दण्ड प्रदान करनेमें यमराज और विस्मयपूर्ण वस्तुओंके संग्रहमें हिमालयके समान थे॥ ५८॥

कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा।
मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा॥ ५९॥

महाराज पृथु कुबेरके समान धनवान, अज्ञात और सुरक्षित धनादि पदार्थोंके संरक्षण करनेमें वरुणके समान तथा शरीर, मन और इन्द्रियोंके बलमें वे सर्वत्र गतिशील वायुके समान थे॥ ५९॥

अविसह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव।
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव॥ ६०॥

पराक्रममें वे साक्षात् रुद्र, सौन्दर्यमें कामदेवके समान तथा निर्भीकतामें सिंहके समान थे॥ ६०॥

वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः।
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः॥ ६१॥

वे वात्सल्यमें मनुके समान, मनुष्योंके प्रभुत्वमें सर्वसमर्थ ब्रह्माजीके समान, ब्रह्मतत्त्वके विचारमें साक्षात् बृहस्पतिके समान और इन्द्रियोंको जय करनेमें साक्षात् श्रीहरिके समान थे॥ ६१॥

भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्त्तिषु।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे॥ ६२॥

वे गौ, ब्राह्मण, गुरुजन एवं वैष्णवोंके प्रति भक्तिमान, लज्जाशील, विनयी और सुखी थे एवं परोपकारादि गुणोंमें आत्मतुल्य अर्थात् अपने समान वे केवल स्वयं ही थे॥ ६२॥

कीर्त्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव॥ ६३॥

जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रकी कीर्त्तिने साधुओंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार उन पृथु महाराजका यश भी तीनों भुवनोंके पुरुषोंके द्वारा उच्चस्वरसे कीर्त्तित होकर स्त्रियोंके कर्णरन्ध्रोंमें भी प्रवेश कर गया था॥ ६३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते श्रीकुमारोपदेशो नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पत्नीके साथ महाराज पृथुका वन-गमन और भक्तियोग-समाधिके द्वारा उनका वैकुण्ठ-गमन

श्रीमैत्रेय उवाच—

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान्।
आत्मना वर्द्धिताशेष-स्वानुसर्गः प्रजापतिः॥ १॥

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत् सताम्।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान्॥ २॥

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! आत्मवित् राजा वेननन्दन पृथु अन्नादि और पुर-ग्रामादि सृष्टिकी सम्पूर्ण प्रकारसे वृद्धि करनेके उपरान्त अपनी वृद्धावस्था देखकर सोचने लगे—'मैंने भूमण्डलपर स्थित स्थावर-जङ्गम सभीके लिए जीविका निर्द्धारण कर दी है, साधुजनोंके धर्म-रक्षणका कार्य भी पूर्ण कर दिया है तथा परमेश्वरकी प्रजापालनादि जिन सब आज्ञाओंका पालन करनेके लिए मैं इस भूमण्डलपर अवतीर्ण हुआ था, ईश्वरकी उन सभी आज्ञाओंका पालन भी हो चुका है।' इस प्रकार विचार करके महाराज पृथुने पुत्री-स्वरूपा पृथ्वीका भार अपने पुत्रोंको सौंप दिया और अपनी पत्नीके साथ तपोवनमें चले गये। उनके विरहमें पृथ्वी एवं प्रजा बिलख-बिलखकर रोने लगी थी॥ १-३॥

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा॥ ४॥

अखण्ड व्रत धारण करनेवाले महाराज पृथुने पूर्वकालमें पृथ्वीको जय करनेके लिए जिस प्रकारका यत्न किया था, अब वनमें गमन

करनेपर भी वे उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रमियोंके नियमानुसार कठोर तपस्याके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हुए॥ ४॥

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित्।
अब्भक्षः कतिचित् पक्षान् वायुभक्षस्ततः परम्॥ ५॥

पृथुने कुछ दिन तो कन्दमूल एवं फल खाकर बिताये, कुछ समय तक वे सूखे पत्ते खाकर ही रहे और कितने ही पक्षों (पखवाड़ों) तक उन्होंने केवल जल ही पान किया। फिर अन्तमें वे वायुमात्रका भक्षण करके ही तपस्या करने लगे॥ ५॥

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः।
आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः॥ ६॥

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम्॥ ७॥

ग्रीष्मकालमें चारों दिशाओंमें चार अग्निकुण्ड और ऊर्ध्वदिशामें सूर्य—इस प्रकार पञ्चाग्नि अर्थात् पाँचों प्रकारके तापोंको सहन करके वे पञ्चतपा बन गये। वर्षाकालमें अनावृत रहकर उन्होंने वर्षाकी धाराओंको शरीरपर सहन किया और शीत ऋतुमें आकण्ठ जलमग्न होकर रहे। वे प्रतिदिन भूमिपर ही सोते थे। उन्होंने सहिष्णु, संयतवाक्, जितेन्द्रिय, ऊर्ध्वरेता और जितश्वास होकर भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिए अति उत्तम तपस्याका अनुष्ठान किया॥ ६-७॥

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्मामलाशयः।
प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः॥ ८॥

सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम्।
योगं तेनैव पुरुषमभजत् पुरुषर्षभः॥ ९॥

इस प्रकार तपस्याके प्रभावसे क्रमशः उनके सम्पूर्ण कर्ममल विनष्ट हो गये और उनका हृदय निर्मल हो गया। उन्होंने प्राणायाम अर्थात् भक्तिमार्ग विहित भगवत्-मन्त्र आदिके जपके प्रभावसे षड्रिपुओंको

भलीभाँति जीत लिया और उनका संसार-बन्धन भी कट गया। इसके बाद पुरुषश्रेष्ठ पृथु, भगवान् सनत्कुमारके द्वारा उपदिष्ट परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोगके अनुसार परमपुरुष श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ८-९॥

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत्॥ १०॥

इस प्रकारसे भगवत्-आराधनामें तत्पर सज्जनवर महाराज पृथु श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा भगवत्-सेवाके लिए ही प्रयत्नशील रहने लगे। अतिशीघ्र ही उनमें परब्रह्म श्रीभगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्तिका उदय हुआ॥ १०॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्॥ ११॥

श्रीभगवान्‌की उपासनासे पृथुका हृदय निर्मल हो गया और वे प्रतिक्षण भगवत्-शरणागति द्वारा भक्तिरसके आस्वादनमें ओतप्रोत रहने लगे। इस तरह तीव्र भक्तियोगके प्रभावसे उनकी संशयमूल हृदय-ग्रन्थिका छेदन हो गया और उन्हें वैराग्ययुक्त भगवत्-ज्ञानकी प्राप्ति हुई॥ ११॥

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्वत् तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२॥

इस प्रकार देहात्मबुद्धिके दूर हो जानेपर उन्हें आत्मतत्त्वकी अनुभूति हुई। इससे उनकी अणिमादि योग सिद्धियोंकी प्राप्तिके विषयमें कोई स्पृहा नहीं रही। पहले उन्होंने जिस ज्ञानके द्वारा अपनी हृदय-ग्रन्थिका छेदन किया था, अब उसका भी परित्याग कर दिया;

इसका कारण है कि मुमुक्षु व्यक्ति जब तक गदाग्रज[१] श्रीहरिकी कथामें अनुराग प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक वे केवल योगादि साधनोंके द्वारा दूसरे विषयोंसे अनासक्त नहीं हो सकते॥ १२॥

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम्॥ १३॥

इस प्रकार वीरश्रेष्ठ महाराज पृथुने स्वरूपसिद्धि प्राप्त की तथा देहत्यागके समय भक्तियोगका आश्रय करके परमात्मा श्रीभगवान्में मनको दृढ़तापूर्वक स्थितकर अपने शरीरका त्याग कर दिया॥ १३॥

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि॥ १४॥

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत्॥ १५॥

पहले उन्होंने दोनों पैरोंकी एड़ियोंके द्वारा गुदाद्वारको दबाकर मूलाधारसे प्राणवायुको धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए उसे नाभि देशमें स्थित मणिपूरकचक्रमें स्थापित किया, तत्पश्चात् वहाँसे हृदय-देशमें स्थित अनाहतचक्रमें, वहाँसे कण्ठके अधोभागमें स्थित विशुद्धचक्रमें, वहाँसे उसके आगेके भागमें और इसके बाद दोनों भौंहोंके बीच स्थित आज्ञाचक्रमें प्राणोंका स्थापन किया। अन्तमें वहाँसे उसे धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर संस्थापित कर दिया। अनन्तर सांसारिक भोगोंसे निःस्पृह पृथुने देहारम्भक पञ्चभूतोंका यथास्थान विभाग करके देहस्थ प्राणवायुको समष्टि वायुमें, पार्थिव देहगत कठिन भागको पृथ्वीमें और तेजको समष्टि अग्निमें लीन कर दिया॥ १४-१५॥

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः।
क्षितिमम्भसि तत् तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम्॥ १६॥

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम्।
भूतादिनामून्युत्क्षिप्य महत्यात्मनि सन्दधे॥ १७॥

---

[१] श्रीवसुदेव महाराज द्वारा श्रीदेवकीकी छोटी बहन देवरक्षिताके गर्भसे उत्पन्न गद नामक पुत्रके बड़े भाई होनेके कारण श्रीकृष्णका एक नाम गदाग्रज भी है।

इसके पश्चात् महाराज पृथुने इन्द्रियोंको आकाशमें और शरीरगत रक्तादि जलांशको समष्टि जलमें यथायोग्य विभागके अनुसार मिला दिया। इसके बाद उन्होंने महाभूतोंकी उत्पत्तिके क्रमानुसार पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें लीन करके, मनको इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंको उनके उत्पत्तिस्थल तन्मात्राओंमें मिला दिया। अन्तमें तन्मात्राओंको अहङ्कारमें और अहङ्कारको महत्-तत्त्वमें लीन कर दिया॥ १६-१७॥

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्।
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान्।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात् प्रभुः॥ १८॥

इसके पश्चात् समस्त गुणोंके आधार-स्वरूप उस महत्-तत्त्वको अव्यक्त प्रधानमें और प्रधानको जीवोपाधि लिङ्गशरीरमें न्यस्त कर दिया। महाराज पृथु पहले लिङ्गशरीराभिमानी जीव थे, किन्तु अब वह ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे भगवत्-पार्षद देहको प्राप्त करके उस लिङ्गशरीरको परित्याग करनेमें समर्थ हुए॥ १८॥

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम्।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः॥ १९॥

महाराज पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि बड़ी सुकुमारी थी। उन्होंने अपने पैरोंसे कभी भी भूमिका स्पर्श नहीं किया था, फिर भी पतिके वन जाते समय उन्होंने पैदल ही उनका अनुगमन किया था॥ १९॥

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया।
नाविन्दतार्त्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः॥ २०॥

अपने पतिके भूमि-शय्यादि कठोर व्रतधर्ममें उनकी भी बड़ी निष्ठा थी। वे भी पति-सेवा और ऋषियोंके समान कठोर देह-यात्राके निर्वाह करनेके कारण अत्यन्त दुबली-पतली हो गयी थीं। परन्तु प्रियतमके करस्पर्श और मधुर-सम्भाषणसे उत्पन्न आनन्दके कारण उन्हें किसी प्रकारका कष्ट अनुभव नहीं होता था॥ २०॥

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१ ॥

पतिपरायणा अर्चिने जब देखा कि पृथ्वीके स्वामी और उसके अति प्रियतम पतिके देहमें जीवनके चेतना आदि धर्म विलुप्त हो गये हैं, तब उन्होंने कुछ समय तक विलाप किया। उसके बाद पर्वतकी चोटियोंपर स्थित समतल भूमिमें एक चिता बनायी और उसके ऊपर पतिके शरीरको रख दिया॥ २१ ॥

विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादम्॥ २२ ॥

अनन्तर तत्कालोचित अन्यान्य कृत्य समाप्त करके सरोवरके जलमें स्नान किया और उदार-कीर्त्ति पतिको जलाञ्जलि प्रदान की। इसके बाद अन्तरीक्षवासी देवताओंको प्रणाम करके चिताकी तीनबार परिक्रमा की तथा पतिके चरणयुगलोंका ध्यान करती हुईं चिताकी आगमें प्रवेश कर गयीं॥ २२ ॥

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम्।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः॥ २३ ॥

उस परम साध्वीको अपने वीरश्रेष्ठ पतिका अनुगमन करते देखकर वरदान देनेमें समर्थ सहस्र-सहस्र देवता एवं वरदायिनी देवपत्नियाँ परम आनन्दित हुईं॥ २३ ॥

कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन् मन्दरसानुनि।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम्॥ २४ ॥

स्वर्गमें देवताओंके बाजे बजने लगे। उस मन्दर-पर्वतकी चोटियोंपर अवस्थित देवाङ्गनाएँ पुष्पोंकी वर्षा करती हुईं परस्पर इस प्रकार कहने लगीं॥ २४ ॥

श्रीदेव्य ऊचुः

अहो हयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम्।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव॥ २५॥

देवताओंकी पत्नियोंने कहा—अहो! यह वधू अर्चि अति धन्य है। जिस प्रकार यज्ञेश्वर भगवान् श्रीविष्णुकी प्रियतमा लक्ष्मी अपने पतिकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार इन्होंने राजाधिराज पृथुकी सर्वान्तकरणसे सेवा की है॥ २५॥

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा॥ २६॥

आहा! देखो, देखो! यह पतिव्रता अर्चि किस प्रकार असतियोंके लिए अचिन्तनीय अपने अचिन्त्य कर्मोंके प्रभावसे अपने पति वेनपुत्र पृथुका अनुगमन करते हुए हमें भी लांघकर वैकुण्ठकी ओर जा रही है॥ २६॥

तेषां दुरापं किम्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम्।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत॥ २७॥

(अथवा यह आश्चर्यका विषय नहीं है,) यद्यपि भूमण्डलमें मनुष्यका जीवन अतिशय चञ्चल है, तथापि जिस ज्ञानके द्वारा भगवान्‌के परमपदको प्राप्त किया जा सकता है, मनुष्य पृथ्वीपर उस ज्ञानका साधन करनेमें भी समर्थ होते हैं, फिर उनके लिए क्या देवादि-पद दुर्लभ हो सकता है?॥ २७॥

स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते॥ २८॥

जन्म-जन्मान्तरमें बहुत कष्ट-साध्य कर्मोंके फलसे इस पृथ्वीपर मोक्षके द्वारस्वरूप मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी जो व्यक्ति अनित्य विषयोंमें आसक्त हो जाता है, वह निश्चय ही आत्मघाती होनेके कारण वञ्चित होता है॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः।
यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवपत्नियाँ इस प्रकार स्तुति कर ही रही थीं कि इतनेमें आत्मविदोंमें श्रेष्ठ भगवत्-भक्त पृथु जिस परमधामको प्राप्त हुए थे, पृथुपत्नी अर्चिने भी पतिके उसी वैकुण्ठलोकको ही प्राप्त किया॥ २९॥

इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते॥ ३०॥

हे विदुर! महाभागवत पृथु बड़े अलौकिक प्रभावसे सम्पन्न थे तथा उनका चरित्र बड़ा उदार था। मैंने उनके चरित्रका तुम्हारे समक्ष वर्णन किया॥ ३०॥

य इदं सुमहत् पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत्।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात्॥ ३१॥

जो एकाग्रचित्त होकर श्रद्धाके साथ महाराज पृथुके इस परम पवित्र चरित्रका स्वयं पाठ करता है, अथवा दूसरेको सुनाता है, अथवा स्वयं सुनता है, वह उनके समान ही भगवान्‌के परमधामको प्राप्त होता है॥ ३१॥

ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः।
वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्॥ ३२॥

इस चरित्रका पाठ करनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेजमें, क्षत्रिय जगत्‌के आधिपत्यमें, वैश्य पशुओंके अथवा वैश्योंके प्रतिपालनमें और इसका श्रवण करनेसे शूद्र स्वजातिमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं॥ ३२॥

त्रिः कृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवादृता।
अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः।
अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः॥ ३३॥

यह आख्यान तीन बार श्रद्धाके साथ श्रवण करनेसे पुत्रहीन जन सत्पुत्र प्राप्त कर लेते हैं, निर्धन धनियोंमें श्रेष्ठ हो जाते हैं, यशहीन विपुल कीर्त्तिशाली हो जाते हैं और मूर्ख पण्डित हो जाते हैं॥ ३३॥

इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्॥ ३४॥

यह आख्यान जीवोंका मङ्गलस्वरूप, अमङ्गलको दूर करनेवाला, धनकी प्राप्ति करानेवाला, यश एवं आयुका वर्द्धक तथा कलियुगके दोषोंका नाशक है॥ ३४॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिमभीप्सुभिः।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम्॥ ३५॥

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इस चतुर्वर्गकी सम्पूर्ण सिद्धिकी कामना करते हैं, वे उसके मूलकारण स्वरूप इस पृथु-चरित्रका श्रद्धाके साथ पुनः-पुनः श्रवण करें॥ ३५॥

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान्।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा॥ ३६॥

इस चरित्रको श्रवण करके जो राजा विजय-प्राप्तिके उद्देश्यसे जिन-जिन स्थानोंकी ओर जायेगा, उन-उन स्थानोंके अधिपतिगण उस राजाको उसी प्रकार उपहार भेंट करेंगे, जिस प्रकार पूर्वकालमें राजा लोग पृथु महाराजको दिया करते थे॥ ३६॥

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन्।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत् पठेत्॥ ३७॥

असत्सङ्ग अथवा अन्य सब प्रकारके फलकी कामनाको छोड़कर एवं भगवान्में विमल भक्तियुक्त होकर वेननन्दन पृथुके इस पुण्य चरित्रका श्रवण एवं कीर्त्तन करना चाहिये॥ ३७॥

वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम्।
अस्मिन् कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात्॥ ३८॥

हे विचित्रवीर्यके पुत्र विदुर! मैंने भगवद्भक्तोंके माहात्म्यको प्रकट करनेवाले इस पृथु-चरित्रका तुम्हारे सम्मुख कीर्त्तन किया। जो मानव इसमें अपनी बुद्धि स्थिर कर लेते हैं अर्थात् उनके जीवन-चरित्रको आदर्श बनाकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे महाराज पृथु जैसी गतिको प्राप्त होते हैं॥ ३८॥

अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन् विमुक्तसङ्गः।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः॥ ३९॥

हे विदुर! जो कामनाओंका परित्याग करके श्रद्धाके साथ नित्यप्रति इस पृथु-चरितका श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं, वे संसार-सागरको पार करनेमें नौका-स्वरूप भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें प्रगाढ़ अनुरागसे युक्त हो जाते हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीपृथुचरितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी वंशपरम्पराका वर्णन और प्रचेताओंको श्रीरुद्रदेवका उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

विजिताश्वोऽधिराजासीत् पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः।
यवीयोभ्योऽददात् काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज पृथुके वैकुण्ठ चले जानेपर उनके पुत्र महायशस्वी विजिताश्व पृथ्वीके अधीश्वर हुए। वे अपने छोटे भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते थे, अतः उन्होंने अपने चारों भाइयोंको एक-एक दिशाका राज्य प्रदान कर दिया॥ १॥

हर्यक्षायादिशत् प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम्।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः॥ २॥

उन्होंने हर्यक्षको पूर्व, धूम्रकेशको दक्षिण, वृकको पश्चिम और द्रविणको उत्तर दिशाका राज्यत्व प्रदान किया॥ २॥

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धान-संज्ञितः।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम्॥ ३॥

पृथुनन्दन विजिताश्व इन्द्रसे 'अन्तर्धान विद्या' प्राप्त करके 'अन्तर्धान' नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपनी शिखण्डिनी नामकी पत्नीके गर्भसे अपने ही समान तीन पुत्र उत्पन्न किये॥ ३॥

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः॥ ४॥

उन तीन पुत्रोंके नाम पावक, पवमान एवं शुचि थे। ये तीनों ही पूर्व जन्ममें तीन अग्नि थे और उन्होंने वशिष्ठ ऋषिके शापसे विजिताश्वके पुत्रोंके रूपमें जन्म लिया था। बादमें योगबलसे वे पुनः अग्निरूप हो गये थे॥ ४॥

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्द्धानमविन्दत।
य इन्द्रमश्वहर्त्तारं विद्वानपि न जघ्निवान्॥ ५॥

अन्तर्धानकी और एक पत्नी थी, जिसका नाम 'नभस्वती' था। उस पत्नीके गर्भसे उनका 'हविर्धान' नामक एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। इन्द्रने उनके पिताके यज्ञके अश्वका हरण कर लिया था—यह जानकर भी विजिताश्वने इन्द्रका वध नहीं किया था, इसलिए इन्द्रने प्रसन्न होकर उन्हें अन्तर्धान विद्या प्रदान की थी॥ ५॥

राज्ञां वृत्तिं करादान-दण्डशुल्कादिदारुणाम्।
मन्यमानो दीर्घसत्र-व्याजेन विससर्ज ह॥ ६॥

कर लेना, शुल्क लेना और दण्ड-विधान करना—यही राजवृत्ति है। किन्तु यह सब क्रियाएँ दूसरोंको अत्यधिक पीड़ा पहुँचानेवाली हैं—ऐसी विवेचना करके अन्तर्धानने दीर्घकालव्यापी एक यज्ञमें दीक्षित होनेके बहानेसे राजकार्यको छोड़ दिया॥ ६॥

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक्।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना॥ ७॥

आत्मदर्शी अन्तर्धानने उस यज्ञमें भक्तोंके क्लेशोंको दूर करनेवाले पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करके पुण्यरूप समाधि योगसे भगवान् विष्णुके दिव्य लोकको प्राप्त किया॥ ७॥

हविर्द्धानाद्धविर्द्धानी विदुरासूत षट् सुतान्।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम्॥ ८॥

हे विदुर! हविर्धानकी पत्नी महारानी हविर्धानीने पतिके सहयोगसे बर्हिषत्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य एवं जितव्रत नामक छह पुत्र उत्पन्न किये॥ ८॥

बर्हिषत् सुमहाभागो हाविर्द्धानिः प्रजापतिः।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह॥ ९॥

यस्येदं देवयजनमनुयज्ञं वितन्वतः।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम्॥ १०॥

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! इन छहोंमें बर्हिषत् असाधारण भाग्यवान थे। वे यज्ञादि क्रियाकाण्ड एवं योगाभ्यासमें विशेष रूपसे दीक्षित थे। वे जिस स्थानपर एक यज्ञ करते थे, उसके अति निकट और एक दूसरा यज्ञ करते थे। इस प्रकार उन्होंने इतने यज्ञ किये कि सम्पूर्ण वसुन्धराको ही उन्होंने क्रमशः यज्ञवेदीमय बना दिया। इससे पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए उनके कुशोंसे धरती आच्छादित हो गयी थी, इसी कारण लोग उन्हें 'प्राचीनबर्हि' कहकर पुकारते थे॥ ९-१०॥

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्।
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम्।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव॥ ११॥

हे विदुर! महात्मा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके आदेशसे समुद्रकन्या शतद्रुतिसे विवाह किया। सर्वाङ्गसुन्दरी नवयौवना शतद्रुति विवाहके अवसरपर जब आकर्षक आभूषणोंसे भूषित होकर विवाह-मण्डपमें अग्निके फेरे लगा रही थी, उस समय अग्नि उसकी वैसे ही अभिलाषा करने लगे, जैसे पहले उन्होंने सुन्दरी शुकीकी अभिलाषा की थी॥ ११॥

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः॥ १२॥

नवविवाहिता समुद्रकन्या शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी झंकारसे चारों दिशाओंमें स्थित सुर, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य एवं नाग आदि सभीको वशीभूत कर लिया था॥ १२॥

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन्।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः॥ १३॥

शतद्रुतिके गर्भसे प्राचीनबर्हिके दस पुत्रोंने जन्म-ग्रहण किया। वे सभी धर्म-पारङ्गत, सदाचारी एवं अपने-अपने नामोंके समान आचारवान पुरुष थे। ये सभी 'प्रचेता' के रूपमें विख्यात हुए॥ १३॥

पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन्।
दशवर्षसहस्राणि तपसार्चंस्तपस्पतिम्॥ १४॥
यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः॥ १५॥

जब पिताने अपने पुत्र प्रचेताओंको प्रजा-सृष्टिका आदेश प्रदान किया, तब उस आदेशकी पूर्ति हेतु तप करनेके लिए उन्होंने समुद्रमें प्रवेश किया और वहाँ दस हजार वर्षों तक तपस्या-पति श्रीहरिकी आराधना की। जब वे घरसे तपस्याके लिए जा रहे थे, तभी मार्गमें उनकी शिवजीके साथ भेंट हुई। श्रीशम्भुने प्रसन्न होकर उन्हें जो सब उपदेश प्रदान किये थे, प्रचेताओंने जितेन्द्रिय होकर केवल उन्हीं उपदेशोंके अनुसार ही ध्यान, जप और पूजा की॥ १४-१५॥

श्रीविदुर उवाच—

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत् पथि सङ्गमः।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत्॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! मार्गमें प्रचेताओंका श्रीशिवजीके साथ जिस प्रकार साक्षात्कार हुआ और श्रीशम्भुने प्रसन्न होकर उन्हें जो उपदेश दिया, आप मेरे समीप उसका भी यथार्थ रूपमें कीर्त्तन कीजिये॥ १६॥

सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम्।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम्॥ १७॥
आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः॥ १८॥

हे विप्रर्षे! देहधारियोंके लिए श्रीमन्महादेवजीका साक्षात्कार होना निश्चय ही सुदुर्लभ है। औरोंकी तो बात ही क्या है, मुनिजन जन-सङ्ग आदिका परित्याग करके अपने अभीष्ट देवके रूपमें केवल उनका ही निरन्तर ध्यान करनेपर भी सहजमें उनका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाते। परमात्मा श्रीहरिके सेवानन्दमें सर्वदा विभोर रहनेवाले ऐश्वर्यशाली महादेवजी लोकसृष्टिकी रक्षाके लिए ही प्रलयकी कारण-स्वरूपा घोर शक्तिके साथ युक्त होते हैं॥ १७-१८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः॥ १९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! साधुस्वभाववाले प्रचेतागण पिताकी आज्ञाको सिरपर धारणकर तपस्याके लिए परमोत्साहके साथ पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ १९॥

समुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन् सुमहत् सरः।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम्॥ २०॥

नीलरक्तोत्पलाम्भोज-कह्लारेन्दीवराकरम्।
हंससारसचक्राह्व-कारण्डवनिकूजितम्॥ २१॥

मत्तभ्रमरसौस्वर्य-हृष्टरोमलताङ्घ्रिपम्।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम्॥ २२॥

थोड़ी दूर चलनेपर उन्होंने एक बहुत बड़े सरोवरको देखा। यह सरोवर प्रायः समुद्रके समान विशाल और महत्-जनोंके निर्मल अन्तःकरणके समान स्वच्छ था। इस सरोवरका जल अतिशय निर्मल था और उसमें मत्स्यादि प्राणी हर्षपूर्वक क्रीड़ा कर रहे थे। उसमें बहुत-से नीलोत्पल, रक्तोत्पल, कमल, कह्लार और इन्दीवर पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव आदि जलचर पक्षी निरन्तर क्रीड़ामें उन्मत्त होकर उस स्थानको अपने कूजन द्वारा मुखरित कर रहे थे। उस सरोवरके तटपर स्थित विविध वृक्षोंकी पंक्तियाँ एवं वल्लरियाँ मधुमत्त मधुकरोंके मधुर-झंकारको सुनकर मानो रोमाञ्चित हो रही थीं। वहाँ सुगन्धित वायुके झोंके दिशा-विदिशामें पद्मकोष-पराग-पुञ्जको इधर-उधर बिखेरते हुए मानो आनन्दोत्सवको प्रवाहित कर रहे थे॥ २०-२२॥

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम्।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु॥ २३॥

हे विदुर! उस स्थानपर राजपुत्र प्रचेताओंने मृदङ्ग एवं पणव आदि वाद्योंकी ध्वनि सुनी तथा उसी क्षण ही राग-रागिनियोंके विभाजनके

साथ मनोहर दिव्य गीतोंकी ध्वनि उनके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट हुई, जिससे उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ॥ २३॥

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम्।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः॥ २४॥

तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम्।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः॥ २५॥

इसी बीच उन्होंने देखा कि देवताओंमें श्रेष्ठ त्रिलोचन महादेव अपने अनुचरोंके साथ उस सरोवरसे बाहर आ रहे हैं। उनका शरीर तप्तकाञ्चनके समान देदीप्यमान है, कण्ठ नीलवर्ण है, उनके तीन विशाल नेत्र हैं, वे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए उन्मुख हो रहे हैं, तथा गन्धर्वादि देवता उनकी स्तुति करते हुए उनका अनुगमन कर रहे हैं। सहसा शिवजीको देखकर प्रचेताओंको बड़ा कूतुहल हो गया। उन्होंने देवादिदेव महादेवको प्रणाम किया॥ २४-२५॥

स तान् प्रपन्नार्त्तिहरो भगवान् धर्मवत्सलः।
धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतः प्रीतानुवाच ह॥ २६॥

आश्रितजनोंके सन्तापका हरण करनेवाले, धर्मवत्सल देवादिराज श्रीशम्भुने उन धर्मज्ञ, सच्चरित्र, हर्षित चित्तवाले प्रचेताओंसे बड़े प्रसन्न होकर जिज्ञासा की॥ २६॥

श्रीरुद्र उवाच—

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम्।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम्॥ २७॥

श्रीरुद्रने कहा—तुमलोग राजा बर्हिषत्के पुत्र हो। मैं तुम्हारे सङ्कल्पको भलीभाँति जानता हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो। मैंने तुम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही तुम्हें इस प्रकारसे दर्शन दिया है॥ २७॥

यः परं रहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥ २८॥

जो व्यक्ति त्रिगुणमयी प्रकृति और जीवसंज्ञक पुरुषके नियन्ता गुह्यसे भी गुह्यतर भगवान् श्रीवासुदेवके चरणोंमें अनन्य भावसे शरणागत हो जाता है, वही मुझे प्रिय है॥ २८॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥ २९॥

मनुष्य अपने वर्णाश्रम-धर्मका भलीभाँति आचरण करके बहुत जन्मोंके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त करते हैं, उसके बाद और अधिक पुण्य होनेपर मुझे प्राप्त करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति भगवान् श्रीविष्णुके भक्त हैं, वे देहके अन्त होनेपर प्रपञ्चातीत श्रीविष्णुके पदको प्राप्त करते हैं। ये सब आधिकारिक देवता और मैं, सभी श्रीविष्णुके सेवक हैं। अतः हम भी सूक्ष्मदेहके नष्ट होनेपर उस प्रपञ्चातीत वैष्णवपदको प्राप्त करेंगे॥ २९॥

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।
न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥ ३०॥

तुमलोग भगवान् विष्णुके भक्त हो, इसलिए भगवान् जिस प्रकार मेरे प्रिय हैं, उसी प्रकार तुमलोग भी मेरे प्रिय हो तथा भगवान्‌के भक्तोंको भी मुझसे अधिक अन्य कोई प्रिय नहीं होता॥ ३०॥

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम्।
निःश्रेयसकरञ्चापि श्रूयतां तद्वदामि वः॥ ३१॥

मैं तुम्हें एक पवित्र, परम मङ्गलमय और चरम श्रेयकी प्राप्तिके उपायस्वरूप 'जप' बतला रहा हूँ। इसे किस प्रकार शुद्धभावसे जप करना चाहिये, इसका श्रवण करो॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः।
बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान् नारायणपरं वचः॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ऐश्वर्यशाली श्रीशम्भुने इस प्रकार दयार्द्र होकर राजपुत्रोंको नारायण-विषयक स्तोत्र बतलाना आरम्भ किया। प्रचेतागण भी हाथ जोड़कर श्रीशिवके वचनोंको सुनने लगे॥ ३२॥

श्रीरुद्र उवाच—

जितं त आत्मविद्वर्य-स्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः॥ ३३॥

श्रीरुद्र भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! आत्मविद् श्रेष्ठपुरुषोंके लिए स्वानन्द सुखद होनेके कारण ही सबकी अपेक्षा आपका उत्कर्ष सिद्ध है। अतएव मुझे भी स्वानन्द प्राप्त हो। आप तो नित्यकाल अपने आनन्दमें ही अवस्थित रहते हैं। आप सर्वात्मा, सर्वमय और सर्वस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३३॥

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे॥ ३४॥

हे पङ्कजनाभ भगवन्! आपके नाभिदेशसे सर्वलोकात्मक कमल उत्पन्न हुआ है। आप भूत, तन्मात्र एवं इन्द्रियोंके नियन्ता हैं, चित्तके अधिष्ठाता हैं, शान्त, निर्विकार, स्वप्रकाश-स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३४॥

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने॥ ३५॥

आप अव्यक्त और अनन्त हैं। आप अपनी मुखाग्नि द्वारा तीनों लोकोंको दहन करनेवाले हैं। आप अहङ्कारके अधिष्ठाता सङ्कर्षण हैं। आप विश्वके प्रकाशक तथा बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। आपको नमस्कार है॥ ३५॥

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने॥ ३६॥

आप इन्द्रियोंके अधीश्वर मनके अधिष्ठाता अनिरुद्ध हैं। आप सूर्यरूपमें अपने तेजसे विश्वको व्याप्त करनेवाले हैं। पूर्ण होनेके

कारण आपमें वृद्धि और ह्रास नहीं है। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ३६॥

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे॥ ३७॥

आप स्वर्ग एवं मुक्तिके द्वारस्वरूप हैं। आप नित्यकाल ही अन्तःकरणमें अवस्थान करते हैं। आप अग्नि-स्वरूप और चातुर्होत्र कर्मोंके साधनभूत हैं, क्योंकि आपने ही यज्ञादि समस्त कर्मोंका प्रवर्त्तन एवं विस्तार किया है। आपको नमस्कार है॥ ३७॥

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने॥ ३८॥

हे देव! आप देवता एवं पितरोंके अन्न-पोषक चन्द्रस्वरूप हैं। आप समस्त जीवोंको तृप्त करनेवाले जलस्वरूप हैं। आप तीनों वेदोंके अधिष्ठाता हैं। आपको नमस्कार है॥ ३८॥

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च॥ ३९॥

आप पृथ्वीरूपी विराट् पुरुष हैं, इसलिए आप समस्त प्राणियोंके देहस्वरूप हैं। आप वायुके रूपमें तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं। आप ही देहबल, मनोबल और शारीरिक-बल हैं। आपको नमस्कार है॥ ३९॥

अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे॥ ४०॥

आप अपने शब्दरूपी गुणके द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले तथा आप ही 'भीतर' और 'बाहर'—इस प्रकारके व्यवहारके आश्रय स्वरूप आकाश भी है। आप ही पुण्यलोक स्वरूप अर्थात् सर्वोत्तम और प्रचुर ज्योतिःस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ४०॥

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च॥ ४१॥

प्रवृत्तिपरक कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले पितरलोक एवं निवृत्तिपरक कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले देवलोक आप ही हैं। अधर्मकी फलस्वरूप दुःखदायक मृत्यु भी आप हैं। आपको नमस्कार है॥४१॥

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च॥४२॥

हे ईश! आप सर्वज्ञ हैं। आप सम्पूर्ण कामनाओं और समस्त कर्मोंके फलदाता हैं। आपको नमस्कार है। आप पुराण पुरुष हैं, क्योंकि आप पद्मनाभ रूपमें अपने निःश्वास द्वारा प्रवर्त्तित वेदके द्वारा धर्म प्रवर्त्तन करते हैं। यह विस्तारशील धर्म भी आप ही हैं। आपको नमस्कार है। आप कपिल-दत्तात्रेय आदिके रूपमें अवतरित होकर भिन्न-भिन्न अधिकारके व्यक्तियोंके लिए सांख्य और योग आदि धर्मोंका प्रवर्त्तन करते हैं। पुनः, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूप द्वारा आप परब्रह्मके रूपमें कुण्ठाधर्म रहित अधोक्षज-ज्ञानका प्रवर्त्तन करते हैं। आपको नमस्कार है॥४२॥

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने।
चेत-आकूतिरूपाय नमो वाचो विभूतये॥४३॥

आप ही अहङ्कारात्मा हैं। आप ही कर्त्ता, कर्म और करण—इन तीनों शक्तियोंसे सम्पन्न रुद्र हैं। आपको नमस्कार है। आप ज्ञान एवं क्रिया रूप हैं, आपसे ही वेदरूप विविध वाक्योंकी सृष्टि होती है। आपको नमस्कार है॥४३॥

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम्।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम्॥४४॥

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम्।
चार्वायतचतुर्बाहु-सुजातरुचिराननम् ॥४५॥

पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम्।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम्॥४६॥

प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम्　।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-दुकूलं　मृष्टकुण्डलम्॥ ४७॥

स्फुरत्किरीटवलय-हारनूपुरमेखलम्　।
शङ्खचक्रगदापद्म-मालामण्युत्तमर्द्धिमत्　॥ ४८॥

सिंहस्कन्धत्विषो　बिभ्रत्　सौभगग्रीवकौस्तुभम्।
श्रियानपायिन्याक्षिप्त-निकषाश्मोरसोल्लसत्　॥ ४९॥

पूररेचकसंविग्न-वलिवल्गुदलोदरम्　।
प्रतिसंक्रामयद्विश्वं　नाभ्यावर्त्तगभीरया॥ ५०॥

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णु-दुकूलस्वर्णमेखलम्　।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरु-निम्नजानुसुदर्शनम्　॥ ५१॥

पदा　शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं　विधुन्वता।
प्रदर्शय　स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं　गुरो　मार्गगुरुस्तमोजुषाम्॥ ५२॥

हे भगवन्! आपका जो रूप भक्तोंके द्वारा नित्य-निरन्तर अर्चित और समादृत होता है, जो रूप आपके निजजनोंको बहुत प्रिय है तथा जो सभी इन्द्रियोंके विषयोंके विषयी-स्वरूप हैं, हम आपके उसी रूपके दर्शन करनेके अभिलाषी हुए हैं। आप हमें अपने दर्शन प्रदान कीजिये। हे प्रभो! आपका रूप वर्षाकालीन अत्यधिक स्निग्ध मेघोंके समान श्यामवर्णका है तथा निखिल सौन्दर्यका सार-संग्रह स्वरूप है। आपके इस रूपमें मनोहर एवं विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं। सभी अवयवों (अङ्गों) के अनुरूप आपका सुन्दर मुखकमल सुशोभित हो रहा है, आपके नेत्र कमलदलके समान, सुन्दर भौंहें और सुघड़ नासिका है। आपकी दन्त-पंक्ति सुचारु और दोनों कपोल बड़े मनमोहक हैं, कर्णयुगल परस्पर इस प्रकार समान हैं कि वे आपके सुन्दर मुखमण्डलके भूषणस्वरूप लगते हैं। आपका केशबन्धन कुञ्चित एवं कृष्णवर्णका है, आपकी चितवनसे मानो प्रेमके कारण निर्मल मुस्कान झलकती रहती है तथा आपकी कमरमें कमल-कुसुमके

केसरके समान पीताम्बर झिलमिला रहा है। आपके कानोंमें देदीप्यमान कुण्डल लटके हुए हैं। आप चमचमाते किरीट, वलय, हार, नूपुर एवं मेखलासे अतिशय रूपमें सुशोभित हो रहे हैं। करकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा आपके गलेमें मणियोंसे युक्त मालाएँ एवं वनमाला विचित्र रूपसे विलसित हो रही हैं। आपके सुचारु गलदेशमें विराजमान कौस्तुभमणिकी मनोहर कान्तिकी झिलमिलाहट चारों ओर इस प्रकार बिखर रही है, जिस प्रकार सिंहके कन्धेपर चारों ओर केश बिखरे रहते हैं। आपके श्यामल वक्षःस्थलपर अङ्कित श्रीवत्सकी शोभाका क्या वर्णन किया जाये, उसके द्वारा कसौटी[१] भी मात खा जाती है। त्रिवलीसे युक्त अश्वत्थ-पत्रके समान आपका सुडौल उदर निःश्वास-प्रश्वासके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है। आपके भँवरके समान चक्करदार नाभिप्रदेशको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाभिदेशसे यह सारा जगत् निकल रहा है और इसीमें पुनः प्रवेश कर रहा है। आपके श्यामल नितम्बमें जो मनोहर पट्ट-पीताम्बर वेष्टित हैं, उस पर स्वर्णमेखलाके विराजमान रहनेसे उसकी और भी अधिक शोभा बढ़ रही है। आपके दोनों चरण, दोनों पिंडलियाँ, दोनों जाँघे और दोनों घुटने परस्पर समान एवं अतीव सुन्दर हैं। दोनों चरणोंके नख शारदीय कमलकी भाँति दीप्तिशाली हैं, उनकी द्युतिसे जीवोंके हृदयका अज्ञानान्धकार नष्ट हो रहा है। आपके श्रीचरण प्रदीप्त दीप-स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रपन्न पुरुषोंका संसारभय दूर हो जाता है। हे प्रभो! आप अज्ञानमें पड़े हुए जीवोंके वास्तविक मार्ग-प्रदर्शक श्रीगुरुदेव हैं, आप हमें अपने ऐसे रूपके दर्शन कराइये॥ ४४-५२॥

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम्॥ ५३॥

जो आत्म-शुद्धिके लिए प्रयास करते हैं, वे इस रूपका ध्यानमात्र ही किया करते हैं, पर प्रत्यक्ष दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते।

---

[१] एक काला पत्थर जिसपर सोना घिसकर परखा जाता है।

जो स्वधर्म-भक्तिका पालन करते हैं, उन भक्तोंके लिए यह रूप उनके भक्तियोगके प्रभावसे अभयप्रद होता है॥ ५३॥

भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम्।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः॥ ५४॥

स्वर्गके राजत्वको भोग करनेवाले ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा स्पृहणीय होनेपर भी जो लोग स्वर्ग आदिसे विरक्त होकर एकान्तिक भक्तिके द्वारा आपकी आराधना करते हैं, आप उन आत्मविद् भक्तोंके अधोक्षज-ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं। आप समस्त देहधारियोंके लिए दुर्लभ होनेपर भी अपने भक्तोंके लिए सुलभ हैं॥ ५४॥

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना बहिः॥ ५५॥

आप दुराराध्य हैं। आपके प्रति ऐकान्तिकी भक्ति सत्पुरुषोंके लिए भी दुर्लभ है, अतः ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो इस अनन्य भक्तिके द्वारा आपको प्रसन्न करके आपके चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी स्वर्गादि बाह्य वस्तुओंकी कामना करेगा?॥ ५५॥

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते।
विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा॥ ५६॥

काल अपने अदम्य शौर्य-वीर्य द्वारा फड़कती भौंहोंके सङ्केत मात्रसे समस्त संसारका विध्वंस कर डालता है—यह सत्य है, किन्तु जो व्यक्ति आपके चरणोंमें शरणागत होता है, काल उन्हें अपने अधीन माननेका साहस नहीं कर सकता अर्थात् काल भी उनका ध्वंस नहीं कर सकता॥ ५६॥

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ५७॥

यदि आधे क्षणके लिए भी भगवत्-प्रेमी भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो जाये, तो उसकी तुलनामें मैं मर्त्यलोकके राजत्व आदि सुखोंकी बात तो दूर रहे, स्वर्ग और मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता हूँ॥ ५७॥

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव॥ ५८॥

आपके श्रीचरणकमल समस्त पापोंका निवारण करनेवाले हैं। आन्तरिक रूपसे आपके यशरूपी तीर्थमें और बाह्य रूपसे गङ्गा आदि तीर्थोंमें स्नान करके जिनके मानसिक एवं शारीरिक सभी पाप धुल गये हैं और जिनके राग-द्वेषसे रहित अन्तःकरणमें सरलतादि सद्गुणोंका निवास है, आप ऐसी कृपा करें जिससे कि हमें नित्य-निरन्तर उन भक्तोंका ही सङ्ग प्राप्त होता रहे। ऐसा होनेसे ही हमारे प्रति आपका यथेष्ठ अनुग्रह प्रकाशित होगा॥ ५८॥

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत्।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्॥ ५९॥

जब व्यक्तिका चित्त साधुओंकी कृपासे भागवतगणोंके प्रति भक्ति-योगके कारण उज्ज्वल और निर्मल हो जाता है एवं जब वह न तो बाह्य विषयोंके द्वारा आकृष्ट होता है और न ही अज्ञानरूपी गुफामें प्रविष्ट होकर लीन होता है, तभी वह अनायास ही मननशील होकर आपके तत्त्वकी उपलब्धि कर सकता है॥ ५९॥

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत्।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम्॥ ६०॥

चिद्-अचिदात्मक यह समस्त जगत् इस विश्वके आधार-स्वरूप भगवान्में अवस्थित है। वे ही परमात्म-स्वरूपमें समग्र जगत्में व्याप्त हैं। ब्रह्मतत्त्व परम ज्योतिर्मय और आकाशके समान व्यापक है॥ ६०॥

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्-
बिभर्त्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः।

यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि॥ ६१॥

हे भगवन्! आप तो विकार-रहित हैं, परन्तु आपकी माया बहुरूप-धारिणी है। इसी मायाके द्वारा आप विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं। यह माया आपमें तथा आपके भक्तोंमें अपनी क्षमताका प्रकाश नहीं कर पाती, किन्तु अन्य व्यक्तियोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न कराती है। हे भगवन्! आप स्वतन्त्र पुरुष हैं, आप ऐसी कृपा करें, जिससे हम आपको जान सकें॥ ६१॥

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः॥ ६२॥

आप पञ्चभूतों, इन्द्रियों एवं अन्तःकरणके नियन्ता हैं। जो भक्ति-योगी पुरुष सिद्धिके लिए श्रद्धान्वित होकर भक्तिके अङ्गोंके द्वारा आपके नित्य चिदानन्द स्वरूपकी सेवा करते हैं, वे ही वेदों एवं सात्त्वत तन्त्रोंके सुपण्डित हैं। किन्तु जो आपके इस नित्य-स्वरूपकी अवज्ञा करके केवल ज्ञान प्राप्तिमें प्रवृत्त होते हैं, वे विज्ञ नहीं कहे जाते॥ ६२॥

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते।
महानहं खं मरुदग्निवार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः॥ ६३॥

हे प्रभो! आप ही एकमात्र आद्य पुरुष हैं। मायाशक्ति आपके ऊपर अपना प्रभाव डालनेमें समर्थ नहीं होती, किन्तु कालक्रमसे आपकी इस मायाशक्तिके प्रभावसे सत्त्व, रज एवं तम—ये तीनों गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसके बाद उनसे ही महत्-तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि, भूतगण एवं अन्यान्य समस्त प्राणियोंके देह और यह जगत् क्रम-पूर्वक उत्पन्न होता है॥ ६३॥

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः॥ ६४॥

इस प्रकार आप अपनी मायाशक्तिके द्वारा चार प्रकारके (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज) शरीरोंकी सृष्टि करके अपने एक अंशसे अन्तर्यामी रूपमें उनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं और उन्हींमें अवस्थित रहते हैं। 'पुर' अर्थात् शरीरोंमें शयन करनेके कारण पण्डितगण आपको 'पुरुष' कहते हैं, किन्तु आप जीव नहीं हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी अपने द्वारा संग्रहीत मधुका आस्वादन करती है, उसी प्रकार अविद्यासे आवृत होकर जो अंश (विभिन्नांश) क्षुद्र-क्षुद्र विषय-सुखोंका भोग करते है, उन्हें ही जीव कहा जाता है॥ ६४॥

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५॥

हे प्रभो! जो इस विश्वकी सृष्टि करके उसमें अन्तर्यामी स्वरूपसे प्रविष्ट होते हैं, आप वही पुरुष हैं। आपका स्वरूप अलक्ष्य एवं वेग अति प्रचण्ड है। जिस प्रकार सुदुःसह वायु अपने प्रचण्ड झोंकोंसे मेघोंको चारों दिशाओंमें छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार आप भी प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका संहार करवाते हैं॥ ६५॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ६६॥

अत्यन्त विषयासक्तिके कारण मनुष्योंका लोभ क्रमशः बढ़ता ही रहता है। कौन-सा कार्य किस प्रकारसे करना है, यह सोच-सोच कर ही वह अतिशय प्रमत्त हो उठते हैं। जिस प्रकार भूखसे पीड़ित सर्प

लपलपाती जिह्वासे चूहेको पकड़ लेता है, उसी प्रकार आप भी सजग रहकर काल रूपसे ऐसे प्रमत्त जीवोंपर अकस्मात् आक्रमण करते हैं॥ ६६॥

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्-
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश॥ ६७॥

आपके प्रति अनादर प्रकट करनेके कारण मनुष्य विनष्ट हो जाता है, इस नाशके भयसे लोकगुरु ब्रह्मा भी आपके चरणारविन्दोंकी अर्चना करते हैं। स्वायम्भुव आदि चौदह मनु भी दृढ़ विश्वासके साथ आपकी अर्चना करते हैं। अतः कौन पण्डित व्यक्ति आपके चरण-कमलोंका परित्याग करेगा? ॥ ६७॥

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम्।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः॥ ६८॥

हे ब्रह्मन्! यह विश्व रुद्रके भयसे विध्वस्त हो रहा है। इस समय आप ही हमारी गति हैं। अतः हमें किसी वस्तुसे भयकी आशङ्का नहीं है॥ ६८॥

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः॥ ६९॥

हे नृपकुमारो! तुमलोग विशुद्धचित्तसे भगवान्में चित्त समर्पण करके भगवत्-भक्तिका अनुष्ठान करते हुए इस स्तोत्रका जप करते रहना। इसीसे तुम्हारा मङ्गल होगा॥ ६९॥

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम्॥ ७०॥

जो अन्तर्यामी रूपसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अधिष्ठित रहते हैं, उन श्रीहरिका निरन्तर गुणगान एवं स्मरण करते हुए उनकी आराधना करना॥ ७०॥

योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः॥ ७१॥

तुमलोगोंने मुझसे यह 'योगादेश' नामक स्तोत्र सुन लिया है। तुम इसे मनमें धारण करना और मुनिव्रतका आचरण करते हुए संयमपूर्वक बड़े आदरके साथ इसका अभ्यास करना॥ ७१॥

इदमाह पुरास्माकं भगवान् विश्वसृक्पतिः।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम्॥ ७२॥

प्राचीन कालमें ऐश्वर्यवान ब्रह्माजीने सृष्टिका विस्तार करनेकी कामनासे मुझे एवं सृष्टि कार्यमें उन्मुख भृगु आदि अपने पुत्रोंको यह 'योगादेश स्तोत्र' सुनाया था॥ ७२॥

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः॥ ७३॥

जब ब्रह्माजीने समस्त प्रजापतियों और मुझे प्रजा सृष्टिके विषयमें आज्ञा दी, तब इस स्तोत्रके प्रभावसे अज्ञानको नष्ट करके हमने विविध प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि की थी॥ ७३॥

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान्।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः॥ ७४॥

अतः जो व्यक्ति एकाग्रचित्त द्वारा विषयोंसे विरक्त होकर एकमात्र श्रीवासुदेवका ही आश्रय करके नित्यकाल इस स्तोत्रका जप करेगा, वह शीघ्र ही मङ्गल प्राप्त करनेमें समर्थ होगा॥ ७४॥

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्॥ ७५॥

इस लोकमें जितने भी प्रकारके कल्याणके साधन हैं, उनमें शुद्ध भगवत्-ज्ञान ही परम मङ्गल-विधायक है। इसका कारण है कि जो इस ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेकर उसपर सवार हैं, वे दुस्तर विपत्तिपूर्ण संसार-सागरको अनायास ही पार कर लेते हैं॥ ७५॥

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम्।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ॥ ७६॥

यद्यपि भगवान्‌की आराधना करना बहुत कठिन है, तथापि जो पुरुष मेरे द्वारा बतलाये हुए इस भगवत्-स्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करता है, वह श्रीहरिको अनायास ही प्रसन्न कर लेता है॥ ७६॥

विन्दते पुरुषोऽमुष्माद् यद्यदिच्छत्यसत्वरन्।
मद्गीतगीतात् सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात्॥ ७७॥

जो स्थिरचित्त होकर मेरे द्वारा गाये गये इस स्तोत्रका जप करके समस्त मङ्गलके एकमात्र आश्रय-स्वरूप श्रीभगवान्‌को सुप्रसन्नकर उनसे जो भी प्रार्थना करता है, उस प्रार्थित वस्तुको वह तत्काल ही प्राप्त कर लेता है॥ ७७॥

यः इदं कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः॥ ७८॥

जो मनुष्य उषाकालमें उठकर श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर इस स्तोत्रको सुनता है या दूसरे व्यक्तिको सुनाता है, वह समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ ७८॥

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम्।
जपन्त एकान्तधियस्तपो मह-
च्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम्॥ ७९॥

हे राजकुमारो! मैंने पुरुषोत्तम परमात्मा श्रीहरिका यह स्तव तुम्हें सुनाया है। तुमलोग एकाग्रचित्तसे इसका जप करते हुए महती तपस्याका आचरण करो, इससे तुम्हें सम्पूर्ण अभीष्ट फलकी प्राप्ति होगी॥ ७९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीरुद्रगीतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

प्रचेताओंके द्वारा श्रीहरिकी आराधना और पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार जब भगवान् श्रीरुद्रदेवने प्राचीनबर्हिके पुत्र प्रचेताओंको भगवत्-स्तोत्रका उपदेश दिया, तो उन्होंने भी भक्तिपूर्वक श्रीरुद्रकी पूजा की। तत्पश्चात् रुद्रदेव उसी समय प्रचेताओंके समक्ष ही उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये॥ १॥

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले॥ २॥

इसके बाद सभी प्रचेता जलमें खड़े हो गये और भगवान् रुद्र द्वारा बतलाये गये इस स्तोत्रका जप करते हुए दस हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे॥ २॥

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम्।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत्॥ ३॥

हे विदुर! इधर राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत ही आसक्त हो गया था। आत्म-तत्त्वविद् देवर्षि नारदको उनपर दया आयी और उन्होंने राजाको ज्ञानका उपदेश दिया॥ ३॥

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मन ईहसे।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते॥ ४॥

श्रीनारदने जिज्ञासा की—हे राजन्! आप इन काम्यकर्मोंके द्वारा कौन-से कल्याणकी कामना कर रहे हैं? दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति

एवं सुखकी प्राप्ति—ये दोनों ही कल्याण कहे जाते हैं, किन्तु कर्ममार्गसे तो ये दोनों उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकते॥ ४॥

श्रीराजोवाच—

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः॥ ५॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे महाभाग! मेरी बुद्धि कर्मोंमें उलझ गयी है। मुझे अपने परम कल्याणका उपाय ही समझमें नहीं आ रहा है। आप मुझे इस प्रकारका निर्मल ज्ञान दीजिये, जिससे मुझे कर्मोंसे छुटकारा मिल सके॥ ५॥

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु॥ ६॥

हे देव! जो व्यक्ति गृहस्थाश्रममें रहते हुए पुत्र, स्त्री, धन आदिको ही परमार्थ रूपमें मान लेता है, वह मूर्ख काम्य कर्मोंमें ही लगा हुआ संसारमें भटकता रहता है। उसे कभी भी परमार्थ-तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ ६॥

श्रीनारद उवाच—

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञपितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः॥ ७॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे प्रजापालक राजन्! आपने निर्दयतापूर्वक अपने यज्ञमें जिन सहस्र-सहस्र पशुओंकी बलि दी है, उन समस्त जीवोंको प्रत्यक्ष देखो॥ ७॥

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥ ८॥

हे राजन्! आपने इन्हें जिस प्रकारसे पीड़ित किया है, उसका स्मरण करके ये बदला लेनेके लिए क्रोधसे जल रहे हैं और आपकी मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, उस समय ये अपने लोहेके समान तीक्ष्ण सींगोंसे शीघ्र ही आपको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे॥ ८॥

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम्।
पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम॥ ९॥

इस विषयमें मैं आपको प्राचीन पुरञ्जन-उपाख्यान सुनाता हूँ, जो आपका इस सङ्कटसे उद्धार कर सकता है। अतः आप इस पुरञ्जन-चरित्रको सावधान होकर सुनें॥ ९॥

आसीत् पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामासीत् सखाऽविज्ञातचेष्टितः॥ १०॥

हे राजन्! पुरञ्जन नामक एक महायशस्वी राजा था। उसका एक सखा था, जिसके नाम या चरितको कोई भी नहीं जानता था॥ १०॥

सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत् स विमना इव॥ ११॥

यह पुरञ्जन अपने स्थूलदेहकी भोग-योग्य वस्तुओंको ढूँढ़ता हुआ पृथ्वीपर सर्वत्र घूमा, किन्तु कहीं भी अपनी इच्छाके अनुरूप वस्तुको प्राप्त न कर पानेके कारण बहुत ही उदास हो गया॥ ११॥

न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः।
कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये॥ १२॥

उसने विषय-भोगोंकी लालसासे भोगाश्रय-स्वरूप भूमण्डलके समस्त नगरोंका सन्धान किया, किन्तु उनमेंसे कोई भी नगर उसे उपयुक्त नहीं लगा, जहाँ वह अपनी कामनाकी सिद्धि कर सके॥ १२॥

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु।
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः पुरं लक्षितलक्षणाम्॥ १३॥

एकबार उसने हिमाचलके दक्षिणमें स्थित कर्मभूमि भारतवर्षमें भ्रमण करते हुए नौ द्वारोंसे युक्त एवं समस्त लक्षणोंसे सम्पन्न एक 'पुर' को देखा॥ १३॥

प्राकारोपवनाट्टाल-परिखैरक्षतोरणैः।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः संकुलां सर्वतो गृहैः॥ १४॥

वह पुर सब ओरसे प्राचीर, उपवन, अट्टालिका, शत्रुओंसे रक्षा हेतु किलेके चारों ओर बनी खाई, झरोखों और राजद्वारोंसे सुशोभित था तथा सोने, चाँदी एवं लोहेके शिखरोंसे युक्त भवनोंसे परिपूर्ण था॥ १४॥

नीलस्फटिकवैदूर्य-मुक्तामरकतारुणैः ।
क्लिप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव॥ १५॥

उस महलका भीतरी भाग नीलम, स्फटिक, वैदूर्य, मोती, पन्ना एवं लालोंसे[१] बना हुआ था, इसलिए वह पुर सौन्दर्यमें नागोंकी राजधानी भोगवतीके समान ही झलमला रहा था॥ १५॥

सभाचत्वर-रथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः॥ १६॥

उसमें जहाँ-तहाँ समाज-स्थान, चौराहे, राजपथ, द्यूतादि क्रीड़ास्थान, बाजार, विश्राम-स्थान, ध्वज-दण्डसे युक्त पताकाएँ और मूँगेसे बनी वेदियाँ सुशोभित हो रही थीं॥ १६॥

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले।
नदद्विहङ्गालिकुल-कोलाहलजलाशये ॥ १७॥

हिमनिर्झरविप्रुष्मत्-कुसुमाकरवायुना ।
चलत्-प्रवालविटप-नलिनीतटसम्पदि ॥ १८॥

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः॥ १९॥

यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम्।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २०॥

उस पुरीके बाहरी भागमें विविध प्रकारके वृक्षों एवं लताओंसे पूर्ण उद्यान था और उस उद्यानके बीचमें अनेक जलाशय थे। उन जलाशयोंमें जलचर पक्षी नाना प्रकारके कोलाहल कर रहे थे, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो जलाशय ही कोलाहल कर रहा

[१] ruby stone

हो। सरोवरोंके तटोंपर जो वृक्ष सुशोभित थे, उनकी शाखाएँ एवं पल्लव विविध कुसुमोंकी गन्ध वहन करनेवाले और शीतल ओसकणोंसे मिली वासन्ती वायुके झरोखोंसे हिल रहे थे और इस प्रकार वे तटवर्त्ती भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँके जङ्गली जानवर भी मुनियोंके समान अहिंसा धर्मका पालन करनेवाले थे, इसलिए उस वनमें प्रवेश करनेमें किसीको भी डर नहीं लगता था। वहाँ कोयलें वृक्षोंमें इस प्रकारसे कूजन करती थीं कि मानो पथिकोंको वहाँ विश्राम करनेके लिए बुला रही हों। इसी बीच पुरञ्जनने देखा कि एक परम सुन्दरी घूमते-घूमते संयोगसे उसी अद्भुत उपवनमें प्रवेश कर गयी। इस सुन्दरीके साथ दस सेवक भी थे, जिनमेंसे प्रत्येक ही सौ-सौ नायिकाओंका पति था॥ १७-२०॥

पञ्चशीर्ष्णाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम्॥ २१॥

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम्।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम्॥ २२॥

पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम्।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं नूपुरैर्देवतामिव॥ २३॥

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम्॥ २४॥

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम्।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा॥ २५॥

वह प्रमदा षोडशी अर्थात् सोलह वर्षकी किशोरी थी तथा नित्य विविध शृङ्गार करनेवाली थी। इस समय वह कामिनी अपने लिए स्वामी ढूँढ़ रही थी। पाँच फनोंवाला एक सर्प द्वारपालके रूपमें उस सुन्दरीकी चारों दिशाओंसे रक्षा कर रहा था। उस सुन्दरीके रूप-लावण्यकी बात क्या कही जाये! उसकी नासिका सुघड़, दन्त-पंक्ति अति शोभनीय, कपोल मनोहर एवं मुख अत्यन्त सुन्दर था। एक समान दिखायी देनेवाले दोनों कान कुण्डलकी शोभासे सुशोभित थे। उसका वर्ण साँवला था तथा वह पीले रङ्गकी साड़ी पहने हुए थी।

उसका कटि-प्रदेश मनोहर था, जिसपर उसने सोनेकी करधनी पहनी हुई थी। वह अपने दोनों चरणोंके द्वारा नूपुरोंकी झंकार करते हुए साक्षात् देवाङ्गनाके समान इधर-उधर घूम रही थी। उसके एक समान दिखायी देनेवाले, सुन्दर और सटे हुए दोनों स्तन उस षोडशीके नवयौवनका प्रतिपादन कर रहे थे। वह गजगामिनी सुन्दरी लज्जाके कारण स्तनोंको बारम्बार वस्त्राञ्चलसे ढक रही थी। उस षोडशीकी प्रेमभरी भौंहे धनुषके समान इधर-उधर मटक रही थीं और उसकी तिरछी चितवन अति स्निग्ध एवं बाणके समान थी। वीर पुरञ्जन उस कामिनीके कटाक्ष-बाणोंसे घायल-सा होकर तनिक लज्जा और मुस्कानसे सुललित एवं मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछने लगा॥ २१-२५॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति।
इमामुपपुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे॥ २६॥

हे पद्मपलाशलोचने! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? हे साध्वी! तुम किस स्थानसे यहाँ आयी हो? हे भीरु! तुम पुरीमें स्थित इस उपवनकी भूमिपर क्या करना चाहती हो?॥ २६॥

क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः।
एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः॥ २७॥

हे सुभ्रु! तुम्हारे अनुवर्ती इन समस्त व्यक्तियोंमेंसे ये जो ग्यारहवाँ महा-शूरवीर एक व्यक्ति हैं, वह कौन है? ये सब ललनाएँ एवं तुम्हारे आगे-आगे चलनेवाला यह सर्प कौन है?॥ २७॥

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात्॥ २८॥

हे सुन्दरि! तुम क्या साक्षात् लज्जादेवी हो अथवा भवानी हो, या फिर लक्ष्मी या सरस्वतीमेंसे कोई एक हो, जो मुनियोंके समान संयत-चित्तसे इस निर्जन वनप्रदेशमें घूमती हुई अपने पतिदेवको ढूँढ़ रही हो? अहो, तुम्हारे चरणोंकी सेवा करके तो तुम्हारे पतिकी

सम्पूर्ण कामनाएँ चरितार्थ हो जायेंगी। यदि तुम लक्ष्मी हो, तो तुम्हारे हाथोंसे लीलाकमल कहाँ गिर गया?॥ २८॥

नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम्।
अर्हस्यलङ्कर्त्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा॥ २९॥

अथवा हे वरोरु! तुम लज्जा आदिमेंसे कोई भी नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे चरण भूमिका स्पर्श कर रहे हैं। मैं एक श्रेष्ठ वीर पुरुष हूँ, मेरा पराक्रम भी महान् है। अतः लक्ष्मी जिस प्रकार नारायणके साथ मिलकर वैकुण्ठको अलंकृत करती हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे साथ मिलकर इस श्रेष्ठ नगरीको अलंकृत कर सकती हो॥ २९॥

यदेष तेऽपाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभाव-स्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान् मनोभवः
प्रबाधते मानुगृहाण शोभने॥ ३०॥

हे शोभने! एक तो तुम्हारी अपाङ्ग-दृष्टि मेरे चित्तको खण्ड-विखण्ड कर रही है और उसपर तुम्हारी लज्जायुक्त प्रेमभरी मुस्कानसे उल्लसित भौंहोंसे प्रेरित शक्तिमान मदन मुझे और भी अधिक पीड़ित कर रहा है। अतः हे सुन्दरि! तुम मुझपर अनुग्रह प्रकाशित करो॥ ३०॥

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं
व्यालम्बि-नीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते॥ ३१॥

हे चारुहासिनि! तुम्हारा यह मुखारविन्द सुन्दर भौंहों और सुचारु नेत्रोंसे विभूषित तथा कपोलों तक लटकती हुई काली-काली घुँघराली अलकावलियोंसे घिरा हुआ है। तुम जिस मुखसे इतने मधुर और मनोहर वचन बोल रही हो, वह तो मेरी ओर उठता ही नहीं,

अपितु लज्जाके कारण झुका जा रहा है। जरा इसे ऊपर उठाकर एक बार मेरी ओर दृष्टिपात तो करो॥ ३१॥

श्रीनारद उवाच—

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत्।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता॥ ३२॥

श्रीनारदने कहा—हे राजन् प्राचीनबर्हि! वह वीर पुरञ्जन अधीर-सा होकर उस कामिनीसे इस प्रकारसे याचना करने लगा। वह कामिनी भी उसके प्रति मोहित हो गयी और मुसकराती हुई पुरञ्जनका अनुमोदन करने लगी। वह बड़े आदरके साथ सम्भाषण करते हुए कहने लगी॥ ३२॥

न विदाम वयं सम्यक् कर्त्तारं पुरुषर्षभ।
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम्॥ ३३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! न तो मुझे अपने और अन्योंके उत्पन्न करनेवालेके विषयमें ठीक-ठीक ज्ञान है, और न मैं अपने या किसी दूसरेके नाम या गोत्रको ही जानती हूँ॥ ३३॥

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम्।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः॥ ३४॥

इस समय तो यह पुरी ही मेरा आवास-स्थल है। यह पुरी किसके द्वारा बनायी गयी है, उन महात्माको अथवा इसमें वास करनेवाले किसी को भी मैं नहीं जानती हूँ॥ ३४॥

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम्॥ ३५॥

हे मानद! ये समस्त नर और नारियाँ मेरे सखा और सखियाँ हैं और यह सर्प मेरी पुरीकी रक्षा करता है। मेरे सोनेपर भी यह सर्प जागता रहता है और इस पुरीकी रक्षा करता है॥ ३५॥

दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामानभीप्ससे।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम॥ ३६॥

हे शत्रुदमन! मेरा भाग्य है कि तुम इस स्थानपर आये हो। मैं देख रही हूँ कि तुम्हें भी मेरे समान इन्द्रिय-सुखकी अभिलाषा है। मैं अपने सखा एवं सखियोंकी सहायतासे तुम्हारे लिए भोगकी सभी वस्तुएँ प्रस्तुत करूँगी, अतः तुम्हारा मङ्गल हो॥ ३६॥

इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो।
मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः॥ ३७॥

हे विभो! मेरे द्वारा प्रदत्त समस्त भोग्य वस्तुओंका इच्छानुसार भोग करते हुए सौ वर्षों तक इसी नौ द्वारोंसे सम्पन्न पुरीमें निवास कीजिये॥ ३७॥

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम्।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम्॥ ३८॥

मैं तुम्हें छोड़कर और किस व्यक्तिके साथ रमण करूँगी? दूसरे लोग न तो रतिसुखके आस्वादनको जानते हैं, न विहित सुखोंका उपभोग करते हैं, न परलोककी चिन्ता करते हैं और न 'कल क्या होगा' इस विषयमें एकबार भी विचार करते हैं। अतएव वे सब पशुतुल्य हैं॥ ३८॥

धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः।
लोका विशोका विरजा यान् न केवलिनो विदुः॥ ३९॥

गृहस्थाश्रममें धर्म, अर्थ, काम, रति-सुखसे उत्पन्न पुत्र-पौत्र आदिके लालन-पालनरूप आनन्द, अथवा भक्षणीय यज्ञावशिष्ट सुयश और यागादिसे प्राप्त होनेवाले शोकरहित एवं शुद्ध जितने भी पुण्यलोक वर्त्तमान हैं, संसार-त्यागी यतिजन तो इन सबका नाममात्र भी नहीं जानते॥ ३९॥

पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह।
क्षेमं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद्गृहाश्रमः॥ ४०॥

पण्डितोंका कहना है कि इस संसारमें गृहस्थाश्रम ही पितर, देवता, ऋषि, मानव एवं कीट, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियोंके लिए देह-निर्वाहक आश्रय-स्थल है॥ ४०॥

का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम्।
न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम्॥ ४१॥

हे वीरशिरोमणे! तुम विश्व प्रसिद्ध, उदार-चित्त एवं देखनेमें भी बहुत सुन्दर पुरुष हो। अतः तुम्हारे जैसे प्रिय पतिके रूपमें स्वयं ही उपस्थित होनेवाले व्यक्तिके अतिरिक्त मेरी जैसी गुणवती कामिनी और किसे पतिके रूपमें वरण करेगी?॥ ४१॥

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत-
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम्॥ ४२॥

हे महाबाहो! पृथ्वीपर ऐसी कौन-सी रमणी होगी, जिसका मन तुम्हारी सुकोमल, साँप जैसी गोलाकार भुजाओंका आलिङ्गन करना नहीं चाहेगा? तुम कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो। तुम अपने कारुण्यामृतसे परिपूर्ण और मधुर-मुसकानसे युक्त अवलोकनके द्वारा अनाथ जीवोंकी मनःपीड़ाको सब प्रकारसे दूर करनेके लिए विचरण कर रहे हो॥ ४२॥

श्रीनारद उवाच—

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः।
तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समाः॥ ४३॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे महाराज प्राचीनबर्हि! इस प्रकार उन स्त्री और पुरुष दोनोंने परस्पर सङ्केतोंसे एक-दूसरेका समर्थन किया और नौ द्वारयुक्त पुरीमें प्रवेश कर गये तथा वहाँ रहते हुए सौ वर्ष आमोद-प्रमोदमें व्यतीत करने लगे॥ ४३॥

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः।
क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ॥ ४४॥

गायक उस नगरीमें यहाँ-वहाँ मनोहर सङ्गीतसे पुरञ्जनका यशोगान करने लगे। जब ग्रीष्मकाल आता था, तब पुरञ्जन कामिनियोंसे घिरकर सरोवरमें प्रवेशकर जल-क्रीड़ा करता था॥ ४४॥

सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः॥ ४५॥

पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये॥ ४६॥

उस नगरका जो कोई राजा होगा, वह वहाँसे बाहर निकलकर भिन्न-भिन्न विषयोंको उपभोग कर सके, इसी अभिप्रायसे ही उस नगरीके ऊपरी भागम सात और नीचेके भागमें दो—अर्थात् कुल मिलाकर नौ द्वार बनाये गये थे। हे राजन्! ऊपरी भागमें स्थित सात द्वारोंमेंसे पाँच पूर्वमें, एक दक्षिणमें और एक उत्तर दिशामें था। इसके अतिरिक्त पश्चिम दिशामें और भी दो द्वार थे, उनके नाम पृथक्-पृथक् बतला रहा हूँ॥ ४५-४६॥

खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः॥ ४७॥

पूर्व दिशाकी ओर खद्योता और आविर्मुखी नामक दो द्वार एक ही स्थानपर बने थे। इन द्वारोंकी सहायतासे पुरञ्जन अपने मित्र द्युमान्के साथ विभ्राजित नामक जनपदमें जाया करता था॥ ४७॥

नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम्॥ ४८॥

इसी पूर्व दिशामें और भी दो द्वार एक स्थानपर बनाये गये थे। इसमेंसे एकका नाम नलिनी और दूसरीका नाम नालिनी था। पुरञ्जन 'अवधूत' नामक सखाकी सहायतासे इन दोनों द्वारोंसे 'सौरभ' नामक प्रदेशमें जाता था॥ ४८॥

मुख्या नाम पुरस्ताद्द्वास्तयापणबहूदनौ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः॥ ४९॥

पूर्व दिशाकी ओर जो एक प्रधान द्वार था, पुरीका राजा पुरञ्जन इस द्वारसे रसज्ञ और विपणके साथ बहूदन और आपण नामक प्रदेशमें जाया करता था॥ ४९॥

पितृहूर्नृपपुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥५०॥

हे राजन्! उस पुरीके दक्षिण दिशामें जो द्वार था, उसका नाम 'पितृहू' था। पुरञ्जन इस द्वारसे श्रुतिधरके साथ दक्षिण पाञ्चाल राज्यमें जाया करता था ॥५०॥

देवहूर्नाम पुर्या द्वारुत्तरेण पुरञ्जनः।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥५१॥

उस पुरीकी उत्तर दिशाके द्वारका नाम 'देवहू' था। पुरञ्जन इस द्वारसे श्रुतिधरके साथ उत्तर पाञ्चाल राज्यमें जाया करता था॥५१॥

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः॥५२॥

उस पुरीकी पश्चिम दिशामें जो 'शिश्न' नामक द्वार था, उसका नाम आसुरी था। पुरञ्जन इस द्वारसे दुर्मदकी सहायतासे ग्रामक नामक प्रदेशमें जाया करता था॥५२॥

निर्ऋतिर्नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः॥५३॥

पश्चिम दिशामें और भी एक द्वार था, जिसका नाम 'निर्ऋति' था। पुरञ्जन लुब्धकके साथ इस द्वारसे 'वैशस' नामक प्रदेशकी ओर जाता था॥५३॥

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च॥५४॥

हे महाराज! उस नगरके निवासियोंमें दो निवासी—निर्वाक् और पेशस्कृत अन्धे थे। उस पुरीके नेत्रयुक्त वासियोंका अधीश्वर पुरञ्जन—इन दोनोंकी सहायतासे इधर-उधर जाता था और नाना प्रकारके कर्म करता रहता था॥५४॥

स यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनं समन्वितः।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम्॥५५॥

यह पुरञ्जन जब अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्तःपुरमें प्रविष्ट होता, तब उसे स्त्री और पुत्रके कारण उत्पन्न मोह, मानसिक शान्ति अथवा हर्षका अनुभव होता था॥ ५५॥

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्त्तत॥ ५६॥

इस प्रकार वह अपनी पत्नीके लिए विविध कर्मोंमें आसक्त होकर वञ्चित और काम-परवश होनेके कारण मोहित-सा होकर उस मूढ़ रमणीके द्वारा ठगा गया। पत्नी जैसा कहती, वह भी वैसा ही करने लगता॥ ५६॥

क्वचित् पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति॥ ५७॥

पत्नी मद्य-पान करती तो पुरञ्जन भी मदिरा पीता और मदसे उन्मत्त होकर सबकुछ भूल जाता। पत्नी जब अन्नादि भोजन अथवा मिष्ठान्न भक्षण करती, तो पुरञ्जन भी पत्नीके साथ भोजन करने लगता॥ ५७॥

क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदन्त्यां रोदिति क्वचित्।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनुजल्पति॥ ५८॥

पत्नीके गान करनेपर गाता, पत्नीके रोनेपर रोता, उसके हँसनेपर स्वयं भी हँसता और उसके बोलनेपर पुरञ्जन भी उसका अनुकरण करते हुए बोलने लगता॥ ५८॥

क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनुतिष्ठति।
अनुशेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम्॥ ५९॥

जब कभी पत्नी दौड़ती तो वह भी दौड़ने लगता और उसके रुक जानेपर स्वयं भी ठहर जाता। जब वह सो जाती, तब वह स्वयं भी सो जाता और उसके बैठनेपर वह भी उठकर बैठ जाता॥ ५९॥

क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनुपश्यति।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्॥ ६०॥

जब पत्नी सुनती तो स्वयं भी सुनता, उसके देखनेपर स्वयं भी देखता, सूँघनेपर सूँघता और स्पर्श करनेपर वह भी स्पर्श करता॥ ६०॥

क्वचिच्च शोचतीं जायामनुशोचति दीनवत्।
अनुहृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनुमोदते॥ ६१॥

पत्नीके शोक करनेपर पुरञ्जन भी अनाथकी भाँति शोक करता, पत्नीके आनन्दित होनेपर पुरञ्जन भी उसे देखकर आनन्दित होता और उसके प्रसन्न होनेपर वह स्वयं भी प्रसन्न होता॥ ६१॥

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात् क्रीडामृगो यथा॥ ६२॥

इस प्रकार अपनी सुन्दरी पत्नीके द्वारा प्रताड़ित होकर राजा पुरञ्जन अपने अनासक्त-स्वरूपसे वञ्चित हो गया। तब वह मूर्ख इच्छा न रहनेपर भी घरमें पाले हुए बन्दरके समान उस रानीके कार्योंका अनुकरण करने लगता॥ ६२॥

श्रीमन्मध्वाचार्यपाद और उनके अनुगामी श्रीमद् विजयध्वजतीर्थने इस अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकको अतिरिक्त पाठके रूपमें स्वीकार किया है—

तेषां परिवृढो राजन् सर्वेषाम् बलिमुद्वहन्।
सस्त्रीकानां सखा तस्या बहुरूपेऽग्रणीः स्त्रियः॥

हे राजन्! उस रमणीका बहुरूपधारी एक प्रधान सखा था। वह अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर पूजोपहारादि अर्पण करता था।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पुरञ्जनोपाख्यानं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥

षड्‌विंशोऽध्यायः

राजा पुरञ्जनका शिकार खेलने वनमें जाना और कुपित रानीको सान्त्वना प्रदान करना

श्रीनारद उवाच—

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम्।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम्॥ १॥

एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम्।
पञ्चप्रहरणं सप्त-वरूथं पञ्चविक्रमम्॥ २॥

हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः।
एकादश-चमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम्॥ ३॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! एकबार पुरञ्जन हाथमें विशाल धनुष लेकर, स्वर्णमय कवच धारण करके और पीठपर अक्षय तरकश बाँधकर एक रथमें सवार होकर 'पञ्चप्रस्थ' नामक वनमें गया। इन्द्रियाधिपति 'मन' नामक सेनापति भी पुरञ्जनके साथ गया। उस रथमें पाँच घोड़ोंके संलग्न होनेके कारण वह अति शीघ्र चलनेवाला था। इस रथके दो दण्ड, दो चक्र, एक धुरी, तीन ध्वज-दण्ड, पाँच डोरियाँ, एक रस्सीकी लगाम, एक सारथि, एकमात्र रथीके बैठनेका स्थान और दो जुए बन्धन-स्थान थे। उसके पाँच आयुध (हथियार) और सात आवरण थे। वह पाँच प्रकारकी चालोंसे चलता था॥ १-३॥

चचारो मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः॥ ४॥

पुरञ्जन उस वनमें उपस्थित हुआ तथा त्यागनेके अयोग्य अपनी प्रियाका परित्याग करके शिकारके व्यसनकी लालसासे धनुष-बाण चढ़ाकर बड़े गर्वके साथ आखेट करने लगा॥ ४॥

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान्॥ ५॥

निर्दयी पुरञ्जनने आसुरी वृत्तिका अवलम्बन करके भयङ्कर स्वरूप धारण किया और तीक्ष्ण बाणोंसे वनमें जितने भी निर्दोष जङ्गली जानवर थे, उन सबका संहार कर डाला॥ ५॥

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते॥ ६॥

यदि कोई माँसके प्रति अत्यन्त आसक्त होकर पशु-हत्या करना चाहता है, तो वह शास्त्र-विहित नियमोंके अनुसार ही पशुओंका वध कर सकता है। पुनः वैसा पशु-हनन भी सब समय नहीं किया जा सकता, किन्तु केवल किसी-किसी श्राद्ध आदिमें उचित देश, काल और परिस्थितिमें ही सम्भव है। श्राद्ध आदिमें पशु-वधकी विधि होनेपर भी शास्त्रोपदिष्ट किसी-किसी विशेष श्राद्धके लिए ही वह विधि है, नित्य श्रद्धादिके लिए नहीं। लोभी राजाके लिए शिकारकी विधि होनेपर भी वह विहित देश-काल अर्थात् वनमें ही शिकारकर सकता है एवं जितनी आवश्यकता है उतना ही शिकार ग्रहण करना शास्त्रोंके द्वारा नियमके रूपमें बतलाया गया है॥ ६॥

य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते॥ ७॥

हे राजेन्द्र! इस प्रकार जो मानव पूर्वोक्त शास्त्र-विधानको जानकर परलोकके उद्देश्यसे शास्त्र विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह कर्मोंसे प्राप्त ज्ञानके कारण उन कर्मोंके फलानुसार संसारमें नहीं बँधता॥ ७॥

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यथः॥ ८॥

परन्तु जो व्यक्ति शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन करके अभिमानके वशीभूत होकर मनमाना कर्म करता है, वह अपने द्वारा किये गये

कर्मोंके द्वारा विनष्ट हो जाता है। गुण-प्रवाहरूप चक्रमें पड़कर उसका विवेक नष्ट हो जाता है और वह नरकमें गमन करता है॥ ८॥

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम्॥ ९॥

अतएव राजा पुरञ्जन विचित्र पङ्खोंसे युक्त बाणोंसे अनेक प्राणियोंपर प्रहार करने लगा, जिससे उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न होने लगे। आर्त्त होकर मृगादि बड़े कष्टके साथ अपने प्राण त्यागने लगे। परदुःखकातर साधुपुरुषोंके हृदयोंमें इस प्रकार जीव-संहार देखकर करुणाका सञ्चार हो आया। वे बड़े दुःखी हुए और इसे सहन नहीं कर सके॥ ९॥

शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरु-शल्यकान्।
मेध्यानन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममध्यगात्॥ १०॥

इस प्रकार उस वनमें खरगोश, वराह, भैंस, नीलगाय, कृष्णमृग, साही[१] तथा दूसरे अनेक यज्ञके उपयुक्त पशुओंका संहार करके पुरञ्जन बहुत थक गया॥ १०॥

ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान्।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः॥ ११॥

तब वह अत्यन्त थकान एवं भूख-प्याससे कातर होकर शिकारसे निवृत्त होकर राजभवनमें चला आया। वहाँ उसने यथायोग्य रीतिसे स्नान किया और समुचित आहारादि समापनकर कुछ देरतक विश्राम करके अपनी थकानको दूर किया॥ ११॥

आत्मानमर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः॥ १२॥

तदनन्तर राजा पुरञ्जनने गन्ध, चन्दन एवं माला आदिके द्वारा सुसज्जित होकर समस्त अङ्गोंमें उत्तम-उत्तम अलङ्कार पहने। अब उसे अपनी प्रियतमाका स्मरण हुआ॥ १२॥

---

[१] बिल्लीसे कुछ बड़ा जानवर, जिसका सारा शरीर तेज लम्बे काँटेसे भरा रहता है तथा जो जमीनमें माँद बनाकर रहता है।

दृप्तो हृष्टः सुतृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम्॥ १३॥

भोजनादिसे तृप्त, धूप-चन्दनके लेपनसे सन्तुष्ट और अलङ्कारोंसे विभूषित होकर राजा पुरञ्जन गर्वित हो गया। अतः मदमें उन्मत्त राजा पुरञ्जन कामसे पीड़ित होकर अपने गृहकर्मोंका निर्वाह करनेवाली सुन्दरी पत्नीको ढूँढ़ने लगा, परन्तु वह उसे कहीं दिखायी न दी॥ १३॥

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत्।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा॥ १४॥

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः।
यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥ १५॥

हे प्राचीनबर्हि! प्रियाके दिखायी न देनेपर राजा पुरञ्जन उद्विग्न हो गया। वह व्याकुल होकर अन्तःपुरकी सखियोंसे पूछने लगा—हे सुन्दरियो! अपनी स्वामिनीके साथ तुम सब पहलेकी तरह ही कुशलसे तो हो न? वनमें जानेसे पहले गृह-सम्पत्ति मुझे जिस प्रकारसे रुचिकर प्रतीत होती थी, अब वह उतनी रुचिकर नहीं जान पड़ती। घरमें यदि माता अथवा पतिपरायणा पत्नी न रहे, तो कौन बुद्धिमान व्यक्ति वहाँ रहकर दुःख भोगनेकी इच्छा करता है? पहिये और घोड़ों आदिसे रहित रथमें कौन-सा व्यक्ति सुस्थिर होकर बैठता है?॥ १४-१५॥

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे॥ १६॥

जिसने मेरी बुद्धिको समुज्जवल किया है, मेरे दुःखरूपी सागरमें निमग्न होनेपर जो मेरा प्रति पद-पदपर उद्धार करती है, बताओ मेरी वह प्रिया इस समय कहाँ है?॥ १६॥

रामा ऊचुः—

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन्॥ १७॥

स्त्रियोंने कहा—हे नृपति! आज आपकी प्रेयसीने क्या ठाना है, हम कुछ नहीं जानतीं। हे शत्रुदमनकारिन्! यह देखो, आपकी प्रिया बिना बिछौनेके ही पृथ्वीपर पड़ी हुई है॥ १७॥

श्रीनारद उवाच—

पुरञ्चनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधूतां भुवि।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ॥ १८॥

श्रीनारदने कहा—जब राजा पुरञ्जनने देहकी सुध-बुधको भूलकर पृथ्वीपर अस्त-व्यस्त पड़ी हुई अपनी प्रियाको देखा, तो वह उससे मिलनेके लिए आत्महारा[१] और अत्यन्त व्याकुल हो गया॥ १८॥

सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भ-लिङ्गमात्मनि नाध्यगात्॥ १९॥

वह सन्तप्त हृदयसे मधुर-मनोज्ञ वचनोंके द्वारा अपनी प्रेयसीको समझानेकी चेष्टा करने लगा, किन्तु उसे अपनी प्रियामें अपने प्रति कुटिल-दृष्टि आदिरूप प्रणय-कोपका कोई चिह्न दिखायी न पड़ा॥ १९॥

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम्॥ २०॥

इसके बाद अनुनय-विनयके द्वारा मनानेमें अत्यन्त निपुण पुरञ्जन अपनी प्रियाको मनाने लगा। उसने अपनी प्रियासे बड़ी नम्रतापूर्वक विनती की। यहाँ तक कि पहले तो उसने पत्नीके चरणोंका स्पर्श भी किया और उसके बाद पत्नीको गोदमें लेकर आदर करते-करते कहने लगा॥ २०॥

पुरञ्जन उवाच—

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे।
कृतागःस्वात्मसात् कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते॥ २१॥

पुरञ्जनने कहा—हे कल्याणि! यदि स्वामी अपने अपराधी सेवकको 'यह मेरे अधीन है'—इस प्रकार अपना समझकर शिक्षा

---

[१] आत्मविस्मृत।

देनेके लिए उसे उचित दण्ड नहीं देता है, तो ऐसा सेवक निश्चय ही दुर्भागा कहलाता है॥ २१॥

परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः।
बालो न वेद तत् तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः॥ २२॥

हे कृशाङ्गि! सेवकोंको दण्ड देना ही स्वामीका उनपर परम अनुग्रह होता है। जो सेवक इसके लिए क्रोध करते हैं, वे निश्चय ही मूर्ख हैं, क्योंकि वे अपने हितकारी स्वामीके उपकारको समझ नहीं पाते॥ २२॥

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम्।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम्॥ २३॥

हे सुदर्शने! हे शुभशालिनि! हे मनस्विनी! तुम हमारी अधीश्वरी हो! तुम हमें अपना समझकर अपना मुखकमल तो दिखलाओ। तुम्हारे इस मनोहर मुखपर अनुरागके कारण जो लज्जा उत्पन्न हुई है, उसके कारण मन्द-मन्द मुस्कराकर तुम जो कटाक्ष निक्षेप कर रही हो, उसके द्वारा तुम्हारा मुखकमल कितना शोभायमान हो रहा है। कृष्णवर्णके केशपाशरूप मधुकर तुम्हारे मुखकमलको घेरे हुए हैं। उन्नत सुघड़ नासिका और मनोज्ञ वचनके कारण तुम्हारा मुखारविन्द कैसा मनमोहक जान पड़ता है॥ २३॥

तस्मिन् दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात् कृतकिल्बिषस्तम्।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात्॥ २४॥

हे सुन्दरि! मैं वीर हूँ और तुम मेरी भार्या होनेसे वीरपत्नी हो। अतएव यदि कोई तुमसे शत्रुता करे, तो मैं उसे दण्ड प्रदान करनेमें समर्थ हूँ। यदि किसीने तुम्हारे प्रति अपराध किया हो, तो मुझे बतलाओ। यदि वह ब्राह्मण अथवा मुररिपु श्रीकृष्णका दास अर्थात्

वैष्णव न हो, तो उसे मैं निश्चित ही दण्ड दूँगा। तुम्हारे प्रति अपराध करके प्रसन्नचित्त होकर कोई जीवित रह पाये, ऐसा निर्भीक व्यक्ति तो मैं तीनों लोकोंमें अथवा उसके बाहर कहीं भी नहीं देखता॥ २४॥

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीमममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम्॥ २५॥

हे सुन्दरि! इससे पहले तो मैंने कभी तुम्हारा तिलकहीन, उदास, मुरझाया हुआ, क्रोधके कारण भयावह एवं स्नेहरहित मुख नहीं देखा। मैं आज देख रहा हूँ कि शोकके कारण आँसुओंसे तुम्हारे कुच-युगल भीग रहे हैं, किन्तु पहले तो मैंने ऐसा कभी नहीं देखा। मैंने पहले कभी भी तुम्हारे बिम्बफल सदृश अधरोंको स्निग्ध केसरकी लाली अथवा ताम्बूलकी लालीसे रहित नहीं देखा॥ २५॥

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये॥ २६॥

यद्यपि तुम्हारी अनुमति लिये बिना ही मैं व्यसनवश शिकार खेलनेके लिए वनमें चला गया, जिससे तुम्हारे प्रति अवश्य ही मेरा अपराध हुआ है, तथापि सुहृद् जानकर मेरा अपराध क्षमाकर मेरे प्रति प्रसन्न होओ। जो कान्त प्रियतमाको उसके द्वारा अभिलषित रति प्रदान करनेमें उन्मुख हो, जो कामदेवके विषम-बाणोंके प्रहारसे अधीर होकर सर्वदा कान्ताके अधीन हो, ऐसे अपने प्रिय कान्तको कमनीय कौन-सी कामिनी काम-भोग योग्य देश-कालको प्राप्त करके स्वीकार नहीं करेगी॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पुरञ्जनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः॥

सप्तविंशोऽध्यायः

स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्त पुरञ्जनकी आत्म-विस्मृति, पुरञ्जनपर चण्डवेगका आक्रमण और काल कन्याका चरित्र

श्रीनारद उवाच—

इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम्॥ १॥

श्रीनारदने कहा—हे महाराज! पुरञ्जनीने इस प्रकार हाव-भाव-विलासके द्वारा पुरञ्जनको भलीभाँति अपने वशमें कर लिया और उसे आनन्दित करती हुई उसके साथ विहार करने लगी॥ १॥

स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां रुचिराम्बराम्।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम्॥ २॥

हे राजन्! पुरञ्जनीने सुचारु रूपसे स्नान किया, मनोहर वस्त्र पहने और कुमकुम, सिन्दूर आदि द्वारा माङ्गलिक शृङ्गार किया। इसके बाद भोजन-पानादिसे तृप्त होकर पुरञ्जनके समीप आयी और पुरञ्जनने भी अपने समीप आयी उस मनोहर मुखवाली अपनी प्रिय राजमहिषीको भोगके लिए ग्रहण किया॥ २॥

तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः॥ ३॥

प्रेयसीने पुरञ्जनका आलिङ्गन किया, पुरञ्जनने भी दोनों भुजाओंके द्वारा उस कामिनीको गले लगाया। इस प्रकार वह रमणी एकान्तमें पुरञ्जनके मनके अनुकूल गुह्य बातें करने लगी, जिससे पुरञ्जनका

विवेक नष्ट हो गया। अतः उस प्रमदाके साथ क्रीड़ामें उन्मत्त होनेके कारण उसे दिन-रातका ज्ञान ही न रहा। इधर क्षण-क्षण उसकी आयु क्षीण होती गयी, परन्तु पुरञ्जनको कालकी दुस्तर गतिका कुछ पता नहीं चला॥ ३॥

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभूजोपधिः।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परञ्च यत्॥ ४॥

पुरञ्जन भोगोंमें उत्तरोत्तर रूपसे बढ़नेवाले मदसे उन्मत्त हो गया तथा भोगके लिए अनेक प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प करने लगा। वीर पुरञ्जन राजमहिषीकी भुजलताको तकिया बनाकर महामूल्यवान शय्यापर पड़ा हुआ रतिक्रीड़ामें मत्त रहता था। वह पत्नीके सङ्गको ही जीवनका परम पुरुषार्थ मानने लगा, परन्तु अपने स्वरूप एवं परमेश्वरके स्वरूप अर्थात् परमेश्वरके साथ अपने सम्बन्ध ज्ञानको परम पुरुषार्थके रूपमें विचार नहीं कर पाया॥ ४॥

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः।
क्षणार्द्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः॥ ५॥

हे राजेन्द्र! कामसे मोहित चित्तवाले पुरञ्जनका नवयौवन उस कामिनीके साथ कामक्रीड़ामें आधे क्षणके समान बीत गया और उसे इसका बोध भी न हुआ॥ ५॥

तस्यामजनयत् पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्द्धमथात्यगात्॥ ६॥

सम्राट् पुरञ्जनने अपनी पत्नी पुरञ्जनीके गर्भसे ग्यारह सौ पुत्र उत्पन्न किये, इसीमें उसकी परमायु (सौ वर्ष) का आधा भाग व्यतीत हो गया॥ ६॥

दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते॥ ७॥

हे प्रजापते! उस पुरञ्जनने पुरञ्जनीके गर्भसे एक सौ दस कन्याएँ भी उत्पन्न कीं। वे सभी कन्याएँ पिता-माताके यशको बढ़ानेवाली, शील एवं औदार्यादि गुणोंसे विभूषित थीं। वे सभी पौरञ्जनी नामसे विख्यात हुईं॥ ७॥

स पञ्चालपतिः पुत्रान् पितृवंशविवर्द्धनान्।
दारैः संयोजयामास दुहितृः सदृशैर्वरैः॥ ८॥

पाञ्चालराज पुरञ्जनने अपने वंशके गौरव स्वरूप पुत्रोंका उपयुक्त पत्नियोंके साथ विवाह करा दिया और कन्याओंका भी उनके ही समान वरोंके साथ विवाह करा दिया॥ ८॥

पुत्राणाञ्चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम्।
यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः॥ ९॥

पुरञ्जनके सभी पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इन सभी पुत्र एवं पौत्रादिसे पुरञ्जनका वंश बढ़ते हुए समस्त पाञ्चाल राज्यमें फैल गया॥ ९॥

तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोषानुजीविषु।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत॥ १०॥

पुरञ्जन इन पुत्र, गृह, भण्डार, सेवक आदिमें प्रगाढ़ ममता रखते हुए विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो गया॥ १०॥

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः।
देवान् पितृन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान्॥ ११॥

हे प्राचीनबर्हि! वह भी तुम्हारे समान ही बहुत प्रकारके भोगोंकी कामनासे यज्ञ-साधनमें दीक्षित होकर पशुहिंसा-प्रधान भयानक यज्ञोंके द्वारा देवता, पितर, भूतपति और भैरव आदिकी आराधना करने लगा॥ ११॥

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः।
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम्॥ १२॥

वह कुटुम्ब-पालनमें आसक्त होकर आत्मकल्याण-साधक भगवान्‌की आराधना आदि कार्योंमें असावधान रहा। इतनेमें ही स्त्रीलम्पटोंको बड़ा ही अप्रिय लगनेवाला वृद्धावस्थाका समय उसके सम्मुख उपस्थित हुआ॥ १२॥

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ १३॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम्॥ १४॥

हे महाराज! चण्डवेग नामक एक गन्धर्व राजा था। उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान गन्धर्व रहते थे तथा उतनी ही कृष्ण एवं शुक्ल वर्णकी गन्धर्वियाँ भी थीं। ये सब गन्धर्व जोड़े-जोड़े होकर रहते थे और बारी-बारीसे परिभ्रमण करके भोग-विलासकी सामग्रियोंसे भरी एवं कामसे निर्मित पुरियोंको लूटते रहते थे॥ १३-१४॥

ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत् प्रजागरः॥ १५॥

गन्धर्वराज चण्डवेगके अनुचर इन सब गन्धर्वोंने जब पुरञ्जनकी पुरीको लूटना आरम्भ किया, तब वहाँपर स्थित पुरका रक्षक पाँच फनोंवाले नाग उन्हें रोकने लगा॥ १५॥

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली॥ १६॥

हे राजन्! पुरञ्जनके पुरकी रक्षा करनेवाला महाबली सर्प अकेले ही सौ वर्षों तक सात सौ बीस गन्धर्वों एवं गन्धर्वियोंसे युद्ध करता रहा॥ १६॥

क्षीयमाणे स्वसम्बन्ध एकस्मिन् बहुभिर्युधि।
चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः॥ १७॥

बहुत-से वीरोंसे युक्त सेनाके साथ बहुत समय तक अकेले ही लड़ते-लड़ते पुर रक्षक सर्पकी शक्ति क्षीण हो गयी। यह देखकर

पुरञ्जन और उसके बन्धु-बान्धव, राष्ट्रवासी नागरिक सभी दुःखके कारण अतिशय चिन्तित हो गये॥ १७॥

स एव पुर्यां मधुभुक् पञ्चालेषु स्वपार्षदैः।
उपनीतं बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद्भयम्॥ १८॥

राजा पुरञ्जन इससे पूर्व अपनी पुरी और पाञ्चाल प्रदेशमें मधुभुक् (मधुर विषय-सुखोंके भोक्ता) के समान वास करता रहा। उसके अनुचर राज्यके विभिन्न स्थानोंसे उसके लिए भोग-सामग्री लाकर प्रस्तुत करते थे। स्त्रीके वशीभूत होकर वह इन सबका भोग करनेमें मग्न रहा, इसलिए बादमें आनेवाले अवश्यम्भावी भयका उसे कुछ पता ही न चला॥ १८॥

कालस्य दुहिता काचित् त्रिलोकीं वरमिच्छतीम्।
पर्यटन्तीं न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन॥ १९॥

हे प्राचीनबर्हि! कालकी एक बेटी (जरा) इन्हीं दिनों अपने योग्य पतिको ढूँढ़ती हुई तीनों लोकोंमें भ्रमण कर रही थी, किन्तु किसीने भी उसे अपनी पत्नीके रूपमें अङ्गीकार करनेकी अभिलाषा नहीं की॥ १९॥

दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा।
या तुष्टा राजर्षये वृतादात् पूरवे वरम्॥ २०॥

अपने दुर्भाग्यके कारण यह कन्या जगत्में 'दुर्भगा' के नामसे प्रसिद्ध हुई। एकबार राजर्षि पुरुने अपने पिता ययातिको अपना यौवन प्रदान करनेके लिए इस दुर्भगाका वरण कर लिया था, जिससे सन्तुष्ट होकर इस रमणीने उन्हें राज्य-प्राप्तिका वर दिया था॥ २०॥

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम्।
वव्रे बृहद्व्रतं मान्तु जानती काममोहिता॥ २१॥

वह कालकन्या एक बार कामासक्त होकर वरको ढूँढ़ते हुए त्रिलोकीमें भ्रमण कर रही थी, उसी समय मैं ब्रह्मलोकसे भूतलपर आ रहा था। यद्यपि वह जानती थी कि मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ, तो भी वह मुझे अपना पति होनेके लिए प्रार्थना करने लगी॥ २१॥

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम्।
स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने॥ २२॥

किन्तु मैंने जब उसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया, तो वह क्रोधित हो गयी और उसने मुझे दुःसह शाप प्रदान करते हुए कहा—हे मुने! आपने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया है, अतः आप कभी भी एक स्थानपर स्थिर नहीं रह सकोगे॥ २२॥

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम्।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम्॥ २३॥

तदुपरान्त सङ्कल्प पूर्ण न होनेके कारण वह कालकन्या मेरे उपदेशसे 'भय' नामक यवनेश्वर (मृत्युको ही ईश्वर माननेवाले यवन अर्थात् आधि-व्याधि) के पास गयी और उससे अपना पति बननेकी प्रार्थना करते हुए कहने लगी॥ २३॥

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम्।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति॥ २४॥

हे वीर! आप यवनोंमें श्रेष्ठ हैं। मैं आपको अभिलषित पतिके रूपमें वरण करती हूँ, क्योंकि आपपर विश्वास करके प्राणी जो सङ्कल्प करते हैं, वह कभी भी विफल नहीं होता॥ २४॥

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥ २५॥

लोक अथवा शास्त्रोंकी दृष्टिसे जो वस्तु देने अथवा ग्रहण करनेके लिए सम्मत है, किसीके प्रार्थना करनेपर जो उस वस्तुका दान नहीं करता अथवा किसीके दिये जानेपर जो उसे स्वीकार नहीं करता, वे दोनों ही दुराग्रही और अज्ञ हैं। सज्जन इन दोनोंकी मूर्खतापर शोक करते हैं॥ २५॥

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु।
एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते॥ २६॥

अतएव हे भद्र! इस समय मैं आपकी अभिलाषा कर रही हूँ, आप भी मुझे स्वीकार कीजिये, मेरे ऊपर दया कीजिये। आर्त जनोंके प्रति करुणा प्रकट करना ही पुरुषोंका धर्माचरण है॥ २६॥

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत॥ २७॥

कालकन्याकी बातोंको सुनकर यवनेश्वरने विधाताके किसी रहस्यमय कार्यको करनेके लिए किञ्चित् मुस्कराते हुए उसे सम्बोधित करते हुए कहा॥ २७॥

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम्॥ २८॥

तुम्हारा जो पति होगा, उसे मैंने आत्म-समाधिमें देखकर पहले ही निश्चित कर रखा है। तुम अमङ्गलरूपा और सबका अनिष्ट करनेवाली हो। तुम किसीको भी अच्छी नहीं लगती हो, इसीलिए तुम्हें कोई भी स्वीकार नहीं करता॥ २८॥

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम्।
या हि मे पृतना युक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि॥ २९॥

अतः तुम अलक्षित होकर कर्मसे निर्मित लोकका बलपूर्वक भोग करो। तुम आधि-व्याधिरूपी मेरी सेनाको लेकर जाओ। इनकी सहायतासे तुम निश्चय ही प्रजाका नाश करनेमें समर्थ हो सकोगी॥ २९॥

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वञ्च मे भगिनी भव।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः॥ ३०॥

यह प्रज्वार मेरा भाई है और तुम मेरी बहन बन जाओ। तुम दोनोंको सैनिक बनाकर मैं सेनाके साथ लोगोंमें भय उत्पन्न करते हुए अलक्षित रूपसे विचरण करूँगा॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

स्त्रीकी चिन्ता करनेसे पुरञ्जनको स्त्री-योनिकी प्राप्ति और अविज्ञातके उपदेशसे उसका मुक्त होना

श्रीनारद उवाच—

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम्॥ १॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे प्राचीनबर्हि! इसके बाद मृत्यु नामक यवनराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले योद्धागण लोक-विनाशके लिए प्रज्वार और कालकन्याके साथ इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करने लगे॥ १॥

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम्॥ २॥

हे राजन्! एकबार इस समस्त सेनाने पार्थिव भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण और बलहीन बूढ़े सर्पसे सुरक्षित पुरञ्जनकी पुरीको चारों ओरसे घेर लिया॥ २॥

कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात्।
ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात्॥ ३॥

तब जिसके चङ्गुलमें फँसकर मनुष्य शीघ्र ही निर्जीव हो जाता है, उस कालकन्याने बलपूर्वक पुरञ्जनकी पुरीको अपने अधीन कर लिया॥ ३॥

तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतो दिशम्।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम्॥ ४॥

उस समय कालकन्याको पुरञ्जनकी पुरीका भोग करते देखकर वे यवन भी उस पुरीमें चारों दिशाओंमें स्थित विभिन्न द्वारोंकी

सहायतासे पुरीमें सर्वत्र प्रविष्ट होकर पुरवासियोंको अत्यन्त पीड़ा प्रदान करने लगे॥ ४॥

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः।
अवापोरुविधांस्तापान् कुटुम्बी ममताकुलः॥ ५॥

पुरञ्जन अभिमानी, स्वजनप्रणयी और ममता-ग्रस्त होनेके कारण आकुलित चित्तवाला था। पुरमें इस प्रकारके उत्पीड़नके आरम्भ होनेपर पुरञ्जनको अनेक प्रकारके क्लेश सताने लगे॥ ५॥

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वैर्यवनैर्बलात्॥ ६॥
विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान।
पुत्रान् पौत्रानुगामात्यान् जायाञ्च गतसौहृदाम्॥ ७॥
आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान्।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम्॥ ८॥

कालकन्याके आलिङ्गनसे पुरञ्जनकी सम्पूर्ण श्री (सुन्दरता) नष्ट हो गयी। विषयासक्त होनेके कारण वह दीन-हीन हो गया और उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गयी। गन्धर्व और यवनोंने उसका समस्त ऐश्वर्य लूट लिया। पुरञ्जनने देखा कि उसकी पुरीकी समृद्धि नष्ट हो गयी है तथा उसके पुत्र, पौत्र, पूर्वानुगत सैन्यवर्ग एवं सेवक आदि उसके प्रतिकूल हो गये हैं और वे उसे सम्मान नहीं देते। पत्नीका भी अब उसके प्रति वैसा प्रेम नहीं रहा। कालकन्याने आकर उसके शरीरपर और शत्रुओंने पाञ्चाल राज्यपर अधिकार कर लिया है—यह सब देखकर पुरञ्जन अपार चिन्तामें डूब गया, किन्तु इन सब दुःखोंसे मुक्ति पानेका उसे कोई उपाय दिखायी नहीं दिया॥ ६-८॥

कामानभिलषन् दीनो यातयामांश्च कन्यया।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन्॥ ९॥
गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम्।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः॥ १०॥

पुरञ्जनने देखा कि कालकन्याने जिन समस्त भोग्य-विषयोंके सारभागका उपभोग करके सारहीन वस्तुओंका परित्याग किया है, उसे उन्हीं सारहीन वस्तुओंका ही भोग करना पड़ रहा है। आत्माकी लौकिक और पारलौकिक गति तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्नेह-ममतासे वञ्चित होनेपर भी उसे स्त्री एवं पुत्र आदिका लालन-पालन करना पड़ रहा है। और भी, गन्धर्व एवं यवन-सेनाने उस पुरीपर आक्रमण कर रखा था तथा कालकन्या जराने उसको विध्वंस कर दिया था। ऐसी अवस्थामें भी उसकी अपने बन्धु-बान्धवोंसे बिछुड़नेकी इच्छा नहीं थी, पर दीन भावसे युक्त राजा पुरञ्जनको पुरीका त्याग करनेके लिए बाध्य होना पड़ा॥ ९-१०॥

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः।
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया॥ ११॥

इसी बीच यवनराज भयका बड़ा भाई प्रज्वार उस पुरीमें लौट आया और अपने भाईका प्रियकार्य करनेकी इच्छासे वह उस पुरीमें आग लगाने लगा॥ ११॥

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः॥ १२॥

जब वह पुरी जलने लगी, तब पुरञ्जन पुरके अधिवासी अपने परिजन, सेवक, कुटुम्ब, पत्नी एवं पुत्र-पौत्रादिके साथ अत्यन्त सन्तप्त रहने लगा॥ १२॥

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत॥ १३॥

कालकन्याने पुरञ्जनकी पुरीपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया है, यह देखकर यवन सैनिकोंने उस पुरीके द्वारोंको अवरुद्ध कर दिया और प्रज्वार उस पुरीको दग्ध करने लगा। ऐसा देखकर पुरीकी रक्षा करनेवाला बूढ़ा सर्प भी शोकसे कातर हो गया॥ १३॥

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः।
गन्तुमैच्छत् ततो वृक्षकोटरादिव सानलात्॥ १४॥

पुरीमें बहुत प्रकारके क्लेशोंके उपस्थित होनेके कारण पुरीके रक्षक उस बूढ़े सर्पका शरीर काँपने लगा और वह पुरीमें रहकर भी पुरीकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो गया। जिस प्रकार वृक्षमें आग लग जानेपर उसके कोटरमें स्थित साँप दूसरे स्थानपर चले जानेकी इच्छा करता है, उसी प्रकार उस पुरपालक सर्पने भी उस स्थानसे कहीं और जानेकी इच्छा की॥ १४॥

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह॥ १५॥

हे राजन्! जब गन्धर्वोंने पुरञ्जनके पौरुषका अपहरण कर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको शिथिल कर दिया तथा यवन शत्रुओंने उसके कण्ठको दबा दिया, तब पुरीका पालन करनेवाला वह सर्प 'घुरघुर' शब्द करने लगा॥ १५॥

दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च यामिजामातृपार्षदान्।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद्गृहकोषपरिच्छदम्॥ १६॥

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते॥ १७॥

जब उस कुमति गृहव्रत पुरञ्जनका स्त्रीसे बिछुड़नेका समय उपस्थित हुआ तब वह अत्यन्त कातर हो उठा तथा देह-गृह आदिमें ही 'मैं' और 'मेरा' का भाव रखनेके कारण वह उनमें ही उलझकर अतिशय विवेक-रहित हो गया। कन्या, पुत्र, पौत्र, पुत्रवधु, जामाता, पार्षद-वर्ग, सेवक, गृह, भण्डार एवं गृहकी सामग्रियोंमें अभी भी उसकी कुछ ममता रह गयी थी, अतः वह उन सबके लिए इस प्रकार चिन्ता करने लगा॥ १६-१७॥

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी।
वर्तिष्यते कथन्त्वेषा बालकाननुशोचती॥ १८॥

हाय! जब मैं दूसरे लोकमें चला जाऊँगा, तब यह मेरी पत्नी अनाथ हो जायेगी। उस समय यह पुत्र-पौत्र आदिसे युक्त बड़े

कुटुम्बका पालन भार कैसे वहन करेगी तथा परिवारकी दुरावस्थाको देखकर शोकदग्ध होकर यह अपना निर्वाह कैसे करेगी?॥ १८॥

न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा।
मयि रुष्टे सुसन्त्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात्॥ १९॥

मेरे भोजन न करनेपर यह कामिनी भोजन नहीं करती थी, मेरे स्नान किये बिना यह स्नान नहीं करती थी, मेरे कुपित होनेपर यह रमणी अत्यन्त भयभीत रहा करती थी और यदि मैं कभी उसको डाँट-डपट देता, तो वह भयसे एक शब्द भी नहीं बोलती थी॥ १९॥

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता।
वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति॥ २०॥

जब मेरा विवेक गड़बड़ा जाता था, तो वह कामिनी मुझे सचेत किया करती थी। मैं यदि किसी दूसरे स्थानपर चला जाता था, तो वह विरह शोकसे कातर हो जाती थी। यद्यपि इसने वीरपुत्रोंको जन्म दिया है, तथापि मेरे वियोगसे कातर होकर क्या वह इन गृहस्थ धर्मोंका पालन करनेकी इच्छा करेगी?॥ २०॥

कथं नु दारका दीना दारिका वा परायणाः।
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ॥ २१॥

जिस प्रकार समुद्रके बीचों-बीच नौकाके टूट जानेपर उसपर सवार यात्री निराश्रित होकर विपत्तिमें पड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे परलोक चले जानेपर मेरे ही आश्रित रहनेवाले मेरे पुत्र-पुत्रियाँ किस प्रकार जीवन धारण करेंगे? वे तो रोते-रोते ही मर जायेंगे॥ २१॥

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम्।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत॥ २२॥

पुरञ्जन स्वरूपतः चेतन था और ज्ञानकी दृष्टिसे उसका शोकादि करना उचित नहीं था, तथापि मोह-बुद्धिके कारण वह स्त्री-पुत्रादिके लिए शोकविह्वल हो रहा था। इतनेमें ही उसे पुरीसे निकालनेके लिए दृढ़ निश्चय करके 'भय' नामक यवनराज आ धमका॥ २२॥

पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम्।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः॥ २३॥

जब यवन उसे पशुके समान बाँधकर अपने स्थानपर लेकर जा रहे थे, उसी समय उसके अनुचर अतिशय व्याकुल होकर शोक करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगे॥ २३॥

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता॥ २४॥

यवनोंके द्वारा आक्रान्त होकर पुररक्षक सर्प भी पुरीको त्यागकर वहाँसे चल दिया, उसके बाहर निकलते ही वह पुरी छिन्न-भिन्न होकर पञ्चभूतमें विलीन हो गयी॥ २४॥

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा।
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः॥ २५॥

प्रबल-पराक्रमी यवनराजने जब पुरञ्जनको बलपूर्वक खींच लिया, तब भी अज्ञानवशतः राजा पुरञ्जन अपने पूर्व सखा और परम हितकारी अविज्ञातका स्मरण नहीं कर पाया॥ २५॥

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत्॥ २६॥

राजा पुरञ्जनने निर्दयी होकर जिन यज्ञ-पशुओंका वध किया था, वे पशु उसके निष्ठुर आचरणका स्मरण करके क्रोधित हो गये और कुठार द्वारा उसे छिन्न-भिन्न करने लगे॥ २६॥

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः॥ २७॥

तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि॥ २८॥

स्त्रीसङ्गसे उदित दोषके कारण असीम अन्धकारसे आच्छन्न होकर उसकी पूर्वस्मृति नष्ट हो गयी। वह उस अवस्थामें बहुत वर्षों तक यातनाओंको भोगता रहा। कामिनीका स्मरण करते हुए ही उसने

देहका त्याग किया था, अतः अत्यधिक कष्ट भोगनेके बाद उसने विदर्भ राजाके घरमें सुन्दरी कन्या होकर जन्म लिया॥ २७-२८॥

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः।
युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरञ्जयः॥ २९॥

विदर्भ-राजकन्या वैदर्भी जब विवाहके योग्य हुई, तब विदर्भ राजाने ऐसी शर्त रखी कि सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी वीर ही राजकन्याके साथ विवाह कर सकेगा। पाण्ड्य देशमें उत्पन्न शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले मलयध्वजने युद्धभूमिमें अन्यान्य राजाओंको पराजित करके वैदर्भीके साथ विवाह कर लिया॥ २९॥

तस्यां स जनयाञ्चक्रे आत्मजामसितेक्षणाम्।
यवीयसः सप्त सुतान् सप्त द्रविडभूभृतः॥ ३०॥

उस मलयध्वजने विदर्भनन्दिनीके गर्भसे एक श्यामलोचना कन्या और उस कन्याके कनिष्ठ भाईयोंके रूपमें सात पुत्र उत्पन्न किये। ये सातों पुत्र आगे चलकर द्राविड़-प्रदेशके सात राजा हुए॥ ३०॥

एकैकस्याभवत् तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम्।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम्॥ ३१॥

उनमेंसे प्रत्येक पुत्रके एक-एक अरब पुत्र उत्पन्न हुए। उनके वंशधर ही इस पृथ्वीका मन्वन्तरके अन्त तक और उसके बाद भी भोग करेंगे॥ ३१॥

अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम्।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः॥ ३२॥

मलयध्वजकी कन्या नैष्ठिक व्रतपरायणा थी। उसका विवाह महर्षि अगस्त्यके साथ हुआ। इस कन्याके गर्भसे दृढ़च्युत नामक मुनिने जन्म लिया। दृढ़च्युतके पुत्र इध्मवाह हुए॥ ३२॥

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम्॥ ३३॥

इसके बाद राजर्षि मलयध्वज श्रीकृष्णकी आराधनाकी कामनासे अपने पुत्रोंमें पृथ्वीका विभाग करके स्वयं कुलाचल (व्येङ्कट) पर्वतपर चले गये॥ ३३॥

हित्वा गृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम्॥ ३४॥

चाँदनी जिस प्रकार चन्द्रका अनुसरण करती है, उसी प्रकार मत्त-नयना विदर्भ-नन्दिनीने भी गृह, पुत्र एवं भोग-सामग्रीको जलाञ्जलि देकर पाण्ड्यराजका अनुगमन किया॥ ३४॥

तत्र चन्द्ररसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन्॥ ३५॥

कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः॥ ३६॥

उस कुलाचल पर्वतपर चन्द्ररसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नामकी तीन नदियाँ प्रवाहित होती थी। मलयध्वज प्रतिदिन इन सब नदियोंके पुण्य जलमें बाह्य एवं आन्तरिक मलको स्नान एवं पानादिके द्वारा दूर करके कन्द, बीज, मूल, फल, पुष्प, पत्र, तृण एवं जलमात्र भोजन और पान करके कठोर तपस्या करने लगे। इससे धीरे-धीरे उनका शरीर सूख गया॥ ३५-३६॥

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये।
सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत् समदर्शनः॥ ३७॥

मलयध्वजने सर्वत्र समदृष्टि रखकर शीत-उष्ण, आँधी-वर्षा, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदि द्वन्द धर्मोंको जीत लिया॥ ३७॥

तपसा विद्यया पक्व-कषायो नियमैर्यमैः।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः॥ ३८॥

तपस्या, उपासना, यम एवं नियमादिसे उनकी कामादि वासनाएँ दग्ध हो गयी। उस समय उन्होंने इन्द्रिय, प्राण एवं चित्तको जीतकर आत्माको परब्रह्ममें नियुक्त कर दिया॥ ३८॥

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम्॥ ३९॥

इस प्रकार वे खम्भेके समान निश्चल होकर सौ दिव्य वर्षों तक एक ही स्थानपर बैठे रहे और भगवान् वासुदेवमें दृढ़ रति हो जानेके कारण उन्हें और कुछ भान ही न रहा॥ ३९॥

स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि।
विद्वान् स्वप्न इवामर्श-साक्षिणं विरराम ह॥ ४०॥

स्वप्नमें 'मेरा सिर कट गया है', इस प्रकारकी प्रतीति होनेपर जैसे अपनेको देहसे पृथक् रूपमें जाना जाता है, उसी प्रकार वे मलयध्वज अपने शरीरमें वर्त्तमान देहके अतिरिक्त देह आदिके प्रकाशक द्रष्टा आत्माका अनुभवकर जड़ीय वस्तुओंके तत्त्वानुसन्धानसे विरत हो गये॥ ४०॥

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम्॥ ४१॥

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि।
ईक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह॥ ४२॥

हे राजन्! स्वयं भगवान्ने ही गुरुके रूपमें मलयध्वजके हृदयमें विशुद्ध ज्ञानके आलोकको प्रकाशित किया था, इसलिए उनका वह ज्ञान सर्वत्र ही स्फुरित होता था। इसीके प्रभावसे वे आश्रयतत्त्व परब्रह्ममें आश्रिततत्त्व जीवात्माका एवं शुद्धजीवात्मामें परब्रह्मका अधिष्ठान अनुभव करके संसारसे मुक्त हो गये थे॥ ४१-४२॥

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम्।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता॥ ४३॥

पतिव्रता विदर्भनन्दिनी भी सम्पूर्ण भोगविलासोंका परित्याग करके भक्तियुक्त वैराग्यका अवलम्बनकर परम धर्मज्ञ स्वामी मलयध्वजकी भक्तिपूर्वक सेवा करती थी॥ ४३॥

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा।
बभावुपपतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम्॥ ४४॥

वह फटे-पुराने वस्त्रोंको धारण किये रहती थी। निराहार व्रतानुष्ठानोंसे उसका शरीर क्षीण हो गया था तथा सिरके केशकलापोंको न सँवारनेके कारण उसके केश जटाओंके रूपमें परिवर्त्तित हो गये थे। वह अपने पतिके समीप धुँएसे रहित आगका अनुगमन करनेवाली शिखाके समान विशुद्धभावसे अवस्थान करने लगी॥ ४४॥

अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत्॥ ४५॥

उस भामिनी विदर्भनन्दिनीको इस बातका पता ही नहीं चला कि उसके पतिने प्रपञ्च-लीलाका परित्याग कर दिया है। वे पूर्ववत् स्थिरतापूर्वक आसनपर विराजमान थे और वह भी पूर्ववत् उनकी सेवा कर रही थी॥ ४५॥

यदा नोपलभेताङ्घ्रावुष्माणं पत्युरर्चती।
आसीत् संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा॥ ४६॥

किन्तु पतिके चरणोंकी सेवा करते समय जब उसे उनके चरणोंमें उष्णताका अनुभव नहीं हुआ, तब वह झुण्डसे बिछुड़ी हुई हिरणीके समान अत्यधिक विकल हो गयी॥ ४६॥

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा॥ ४७॥

उस बीहड़ वनमें अपनी वैधव्य दशाके लिए शोक करते समय उसके अश्रुओंकी धारासे उसके स्तन भीग गये तथा वह उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहने लगी—॥ ४७॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम्।
दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि॥ ४८॥

हे राजर्षे! उठिये, उठिये, देखिये, सागरसे परिवेष्टित यह धरती दस्युओं और अधार्मिक क्षत्रियोंसे भयभीत हो रही है, इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है॥ ४८॥

एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम्।
पतिता पादयोर्भर्तु रुदत्यश्रूण्यवर्तयत्॥ ४९॥

पतिकी अनुगामिनी वह पतिव्रता विदर्भनन्दिनी निर्जन वनके भीतर इस प्रकार विलाप करती हुई पतिके चरणोंमें गिर पड़ी और आँसू बहाने लगी॥ ४९॥

चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम्।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे॥ ५०॥

इसके बाद उसने लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसमें पतिका कलेवर रखकर चिताको अग्नि लगायी और विलाप करते हुए पतिके साथ मरने अर्थात् सती होनेका सङ्कल्प कर लिया॥ ५०॥

तत्र पूर्वतरः कश्चित् सखा ब्राह्मण आत्मवान्।
सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो॥ ५१॥

हे प्रभो! उसी समय उस स्थानपर स्वस्वरूपसे युक्त उसका कोई पुराना सखा (अनादि ईश्वर परमात्मा) ब्राह्मणके वेशमें उपस्थित हुआ और उस रोती हुई विदर्भनन्दिनीको मनोहर एवं प्रिय वचनोंसे सान्त्वना देते हुए कहने लगा॥ ५१॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह॥ ५२॥

श्रीब्राह्मणने कहा—तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? तुम जिस सोये हुए पुरुषके लिए शोक कर रही हो, वह कौन है? क्या तुम मुझे पहचान पा रही हो? मैं तुम्हारा मित्र हूँ, तुमने पहले मेरे साथ सख्य सुखका अनुभव किया था॥ ५२॥

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः॥ ५३॥

हे सखे! यद्यपि तुम मुझे पहचान नहीं पा रही हो, तथापि क्या तुम्हें कभी इस प्रकारसे स्मरण होता है कि किसी समय तुम्हारा कोई

अविज्ञात नामक सखा था? तुम मेरा परित्याग करके अपने लिए भोगका स्थान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपने पूर्व जन्ममें प्राकृत भोगोंमें ही आसक्त हो गये थे॥ ५३॥

हंसावहञ्च त्वञ्चार्य सखायौ मानसायनौ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान्॥ ५४॥

हे आर्ये! तुम और मैं—ये दो हंस मित्र मानस-सरोवरमें एकत्र वास करते थे। हमने बिना किसी घरके ही सहस्र वर्षों तक एकसाथ वास किया था॥ ५४॥

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम्।
विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥ ५५॥

हे सखे! हंस होनेपर भी तुम प्राकृत विषयोंके भोगोंकी इच्छासे मुझे छोड़कर इस प्रपञ्चमें चले आये थे और यहाँ वासस्थान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुमने किसी स्त्रीके द्वारा रची हुई एक पुरीको देखा था॥ ५५॥

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम्।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम्॥ ५६॥

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रहः॥ ५७॥

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया।
शक्त्यधीशः पुमानत्र प्रविष्टो नावबुध्यते॥ ५८॥

उस पुरीमें पाँच उपवन, नौ द्वार, एक रक्षक, तीन परकोटे, छह कुल एवं पाँच बाजार थे। पाँच उपादान कारणोंसे यह पुरी बनी हुई थी और एक स्त्री (बुद्धि) उसकी अधीश्वरी थी। हे सखे! इन्द्रियोंके पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) उसके पाँच उपवन थे, प्राणोंके नौ छिद्र (इन्द्रिय छिद्र) नौ द्वार थे, तेज, जल एवं अग्नि तीन परकोटे थे, मन एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये छह उसके कुल थे, पाँच क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ ही उसके बाजार थे, महाप्रलय तक

रहनेवाले पाँच महाभूत उसके पाँच उपादान कारण थे। जीव मायाकार्यभूता बुद्धिके वशीभूत होकर उस पुरीमें प्रवेश करके आत्म-स्वरूपको जान नहीं पाता॥ ५६-५८॥

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो॥ ५९॥

हे सखे! तुम इस देहरूप पुरीमें विषय-बुद्धिरूपा स्त्रीके द्वारा मोहित होकर विषयोंमें ही आसक्त हो गये थे, इसी कारणसे तुम्हारी भगवत्-विस्मृति और ऐसी अत्यधिक दीनदशा हुई है॥ ५९॥

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत् तव।
न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया॥ ६०॥

देखो, तुम विदर्भराजकी कन्या नहीं हो और न ही यह मलयध्वज तुम्हारा पति है। जिस पुरञ्जनीके द्वारा तुम उस नवद्वारवाले पुरमें अवरुद्ध कर लिये गये थे, तुम उस पुरञ्जनीके पति भी नहीं हो॥ ६०॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यत् पुमांसं स्त्रियं सतीम्।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्याद्य नौ गतिम्॥ ६१॥

तुम जो स्वयंको कभी पुरुष, कभी सुन्दर स्त्री और कभी नपुंसक मानते हो, इसका कारण है—माया। वह माया मेरी ही शक्ति है। वस्तुतः मैं और तुम अर्थात् भगवान् और जीव दोनों ही शुद्ध अर्थात् चिन्मय हैं। हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, मैं अब उसे वर्णन कर रहा हूँ, तुम उसे अनुभव करो॥ ६१॥

अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥ ६२॥

मैं परमात्मा हूँ और तुम जीव हो। मेरे चैतन्य स्वरूपसे तुम भिन्न नहीं हो। अतएव हे सखे! स्वरूपतः तुम मुझसे अभिन्न हो, इसका भलीभाँति विचार करके देखो। चेतनताकी दृष्टिसे समजातीय होनेके कारण तत्त्वविद्जन वस्तुतः हममें कोई भी भेद नहीं देखते॥ ६२॥

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः॥ ६३॥

जिस प्रकार व्यक्ति निर्मल दर्पणमें प्रतिफलित अपने देहको अपनेसे अभिन्न देखता है, किन्तु अन्यकी दृष्टिमें दो व्यक्तियोंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार औपाधिकधर्ममें लिप्त एवं अलिप्तके भेदसे हममें (जीव एवं भगवान्‌में) भेद है॥ ६३॥

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम्॥ ६४॥

इस प्रकार जब मानससरोवरमें अवस्थित एक हंस (जीव) दूसरे हंस (परमात्मा) के द्वारा सावधान किया गया, तो उसने भगवत्-विमुखताके कारण भूले हुए आत्मज्ञानको पुनः प्राप्तकर लिया॥ ६४॥

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्।
यत् परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः॥ ६५॥

हे बर्हिष्मन् प्राचीनबर्हि! विश्वकर्त्ता भगवान् परोक्षप्रिय हैं। इसलिए मैंने इस पुरञ्जन-उपाख्यानके छलसे तुम्हें आत्मतत्त्वके ज्ञानका उपदेश दिया है, इसमें अन्य बुद्धि मत करना॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्यानेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

पुरञ्जन-उपाख्यानका तात्पर्य

श्रीप्राचीनबर्हिरुवाच—

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः॥ १॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे प्रभो! मैं आपके वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति नहीं समझा हूँ। विवेकी पण्डित ही इसे समझ सकते हैं, मुझ जैसा कर्मोंमें आसक्तचित्तवाला व्यक्ति नहीं॥ १॥

श्रीनारद उवाच—

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद् यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम्।
एक-द्वि-त्रि-चतुष्पादं वहुपादमपादकम्॥ २॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! पुरञ्जनको 'पुरुष' अर्थात् 'जीव' के रूपमें जानो। पुरुष (जीव) अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही एक पैर, दो पैर, तीन पैर, चार पैर तथा बहुत पैरोंवाले अथवा बिना पैरोंवाले 'पुरम्' अर्थात् शरीरका निर्माण करता है, इसीलिए उसे 'पुरञ्जन' कहा जाता है॥ २॥

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः॥ ३॥

जिसे मैंने 'अविज्ञात' कहा है, वही उस जीवका सखा ईश्वर है। जीव प्राकृत नाम, गुण एवं क्रियादिके द्वारा ईश्वरके स्वरूपको नहीं जान सकता, इसलिए उन ईश्वरका 'अविज्ञात' नामसे निर्देश किया गया है॥ ३॥

यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रिं तत्रामनुत साध्विति॥ ४॥

जब जीव प्रकृतिके गुणों अर्थात् प्राकृत विषयोंको सम्पूर्ण रूपसे उपभोग करनेकी इच्छा करता है, तब वह पूर्वोक्त अन्य-अन्य शरीरोंकी अपेक्षा नौ द्वार तथा दो हाथ और दो पैरोंसे युक्त मानव देहको ही उपयोगी मानता है॥ ४॥

बुद्धिन्तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम्।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान्॥ ५॥

मैंने जिसका 'प्रमदा' के रूपमें वर्णन किया है, उसे बुद्धि अथवा अविद्याके रूपमें जानो। उस अविद्यारूपा बुद्धिका आश्रय करके ही जीव इस देहमें 'मैं' एवं 'मेरा' का अभिमान कर लेता है और इन्द्रियोंके द्वारा रूप-रस आदि विषयोंका भोग करनेकी चेष्टा करता है॥ ५॥

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम्।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः॥ ६॥

इन्द्रियाँ ही पुरञ्जनके सखा हैं। उनके द्वारा ही समस्त ज्ञान और कर्म सम्पन्न होते हैं। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ पुरञ्जनकी सखियाँ हैं। मैंने नगरकी रक्षा करनेवाले (पाँच फनवाले) जिस सर्पके विषयमें बतलाया था, प्राण-अपान-व्यान-उदान और समानरूप पाँच वृत्तियों वाला प्राण ही वह सर्प है॥ ६॥

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम्।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम्॥ ७॥

मैंने जिसे ग्यारह महाबलियोंका 'नायक' कहा था, उसे ज्ञान और कर्म—दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंका अधीश्वर महाबली 'मन' जानो। रूप-रसादि पाँच विषय ही 'पञ्चालदेश' हैं, जिसके बीचमें वह नौ द्वारोंवाला पुर अर्थात् देह विराजित है॥ ७॥

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः॥ ८॥

दो नेत्र, दो नासा, दो कान—ये दो-दो द्वार एकत्र निर्मित हैं। मुख, लिङ्ग और गुदा—ये तीन पृथक्-पृथक् द्वार हैं, कुल मिलाकर

नौ द्वार हैं। इन्द्रियोंके साथ जीव इन द्वारोंकी सहायतासे रूप-रसादि बाह्य विषयोंको ग्रहण करता है॥ ८॥

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः।
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः।
पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते॥ ९॥

दो चक्षु, दो नासा एवं मुख—ये पाँच द्वार पुरीके पूर्व भागमें बने हुए हैं। दाहिने कानको 'दक्षिण-द्वार' और बायें कानको 'उत्तर-द्वार' कहा जाता है। जो द्वार पश्चिम दिशामें स्थित कहे गये हैं, वे इस पुरीके निचले भागमें 'गुदा' और 'लिङ्ग' के नामसे परिचित हैं॥ ९॥

खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः॥ १०॥

'खद्योता' एवं 'आविर्मुखी' के विषयमें जो बतलाया गया था, उन दोनों द्वारोंको उस शरीरमें एकत्र निर्मित दोनों चक्षुओंके रूपमें जानो। 'विभ्राजित' नामक जिस जनपदके विषयमें बतलाया गया था, उसे 'रूप' जानो। जिसको 'द्युमान्' नामक सखाके रूपमें कहा गया है, वही चक्षु इन्द्रिय है। द्युमान्‌का सखा पुरञ्जन, इन्द्रियोंका अधीश्वर जीव है। जीव दोनों चक्षुओंके द्वारा रूपका दर्शन करता है॥ १०॥

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः॥ ११॥

'नलिनी' एवं 'नालिनी' नामसे जिन दो द्वारोंकी बात बतलायी गयी है, उन्हें दो नासाछिद्रके रूपमें समझो। जिसे 'सौरभ देश' कहा गया है, वही 'गन्ध' नामसे कथित है। 'अवधूत' शब्दका तात्पर्य घ्राणेन्द्रियसे है। 'मुख्य' नामक जिस द्वारका उल्लेख किया गया है, उसका अर्थ है 'मुख'। 'विपण' शब्दसे वागिन्द्रिय और 'रसविद्' शब्दसे रसनेन्द्रियको समझना चाहिये॥ ११॥

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम्।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः॥ १२॥

इस पुरीमें 'आपण' शब्दका अर्थ भाषण और 'बहूदन' शब्दका अर्थ 'विचित्र अन्न' है। 'पितृहू' शब्दसे दायाँ कान और 'देवहू' शब्दसे बायाँ कान कहा गया है॥ १२॥

प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम्।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत्॥ १३॥

'पञ्चाल' नामक जिस शास्त्रके विषयमें बतलाया गया, वे प्रवृति-निवृत्ति विषयक शास्त्र हैं। 'दक्षिण-पञ्चाल' शब्दसे प्रवृत्तिमूलक कर्म-काण्डीय शास्त्र एवं 'उत्तर-पञ्चाल' शब्दसे निवृत्तिमूलक ज्ञानकाण्डीय शास्त्र समझना। शब्दोंको ग्रहण करनेवाली श्रवणेन्द्रिय द्वारा पुरुष इन दोनों शास्त्रोंका श्रवण करके पितृलोकको प्राप्त करानेवाले पितृयान एवं देवलोकको प्राप्त करानेवाले देवयानसे गमन करता है। 'श्रुतधर' शब्दसे श्रोत्रेन्द्रियको जानना चाहिये॥ १३॥

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते॥ १४॥

मैंने पुरीके अधोभागमें जिस 'आसुरी' नामक द्वारका उल्लेख किया है, वह 'लिङ्ग' है। 'ग्रामक' अर्थात् ग्राम्य-व्यक्तियोंकी रतिको ही स्त्रीसङ्गसे उत्पन्न सुख समझो। 'दुर्मद' शब्दसे उपस्थेन्द्रिय एवं 'निर्ऋति' शब्दसे मलद्वारको कहा गया है॥ १४॥

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च॥ १५॥

'पुरञ्जन वैशस चला गया', पहले जो इस प्रकारसे कहा गया, उसके द्वारा 'वह नरक चला गया'—ऐसा समझना चाहिये। 'लुब्धक' शब्दका अर्थ गुदा समझना चाहिये। जिन दो अन्धे निवासियोंके विषयमें पहले बतलाया गया, उन्हें हाथ-पैरके रूपमें जानो। पुरुष इन दोनों इन्द्रियोंकी सहायतासे आवागमन और कर्म करता रहता है॥ १५॥

अन्तःपुरञ्च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः॥ १६॥

'अन्तःपुर' शब्दका अर्थ है—'हृदय' और 'विषूचि' (सर्वत्रगामी) शब्दका अभिप्राय 'मन' है। यह मन सत्त्वादि गुणों द्वारा मोह, प्रसन्नता अथवा हर्षादि विकारोंको प्राप्त होता है॥ १६॥

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा।
तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते॥ १७॥

पहले जिस राजमहिषी पुरञ्जनीके विषयमें बतलाया गया है, वह बुद्धि है। यह बुद्धि स्वप्न और जागृत अवस्थामें जिस-जिस प्रकारका विकार उत्पन्न करा देती है, बुद्धिके गुणोंमें आसक्त जीव द्रष्टामात्र होकर उस बुद्धिके ही दर्शन, स्पर्शन आदि वृत्तियोंका अनुकरण करता है॥ १७॥

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सर-रयोऽगतिः।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुण-ध्वजः पञ्चासुबन्धुरः॥ १८॥

मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः॥ १९॥

आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूना-विनोदकृत्।
संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः॥ २०॥

जिस रथके विषयमें पहले कहा गया है, वह देह ही है एवं इन्द्रियाँ ही उसके अश्व हैं। संवत्सरके समान इसकी गति अप्रतिहत है, किन्तु वास्तवमें इसकी गति नहीं है। पाप एवं पुण्य ही इसके दो चक्र हैं, तीन गुण इसकी ध्वजा हैं, पञ्चप्राण ही इसकी पाँच रस्सियाँ हैं, मन ही लगाम है, बुद्धि ही सारथी है, हृदय ही रथीके बैठनेका स्थान है और सुख-दुःखरूप द्वन्द्व अथवा शोक-मोह ही युग-बन्धन (जुए) का स्थान है। पञ्चेन्द्रियोंके शब्दादि विषयसमूह ही उसके द्वारा प्रक्षिप्त होते हैं। सात धातुएँ ही रथके सात आवरण हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ही उसका बाह्य-विक्रम हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ ही उस पुरुषकी सेना हैं। उनमेंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा वह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता है। वह जीव इस रथमें चढ़कर मृगतृष्णारूप शिकारके लिए अर्थात् मिथ्याभूत विषयभोगोंके पीछे दौड़ता है॥ १८-२०॥

तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ठ्युत्तरशतत्रयम्॥ २१॥

'चण्डवेग' नामक जिस कालके विषयमें बतलाया गया है, वही संवत्सर है। इस उपाख्यानमें संवत्सरके दिन ही 'गन्धर्व' एवं रात्रियाँ 'गन्धर्वियाँ' कही गयी हैं। ये तीन सौ साठ दिन एवं रात्रियाँ बारी-बारीसे चक्कर लगाते हुए देहधारी प्राणियोंकी आयुका हरण करते रहते हैं॥ २१॥

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः॥ २२॥

पहले जिस कालकन्याके विषयमें कहा गया था, वह 'जरा' अर्थात् वृद्धावस्था है। कोई भी प्राणी प्रसन्नतापूर्वक उस जराको स्वीकार नहीं करना चाहता। यवनेश्वर मृत्यु लोकसंहार करनेके लिए जराको अपनी बहनके रूपमें स्वीकार करता है॥ २२॥

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः॥ २३॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः॥ २४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते काम-लवान् ध्यायन् ममाहमिति कर्मकृत्॥ २५॥

उस यवनेश्वरके आज्ञाकारी अनुचरोंको ही 'यवनसेना' कहा गया है। आधि (मानसिक) एवं व्याधि (शारीरिक) पीड़ाओंको ही यवनराजकी सेनाके रूपमें जानो। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर शीघ्र ही मृत्युका कारण बननेवाला शीत और उष्ण—दो प्रकारका ज्वर ही प्रज्वार नामक उसका भाई है। इस प्रकार अज्ञानसे आवृत देहाभिमानी जीव बहुत प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक दुःखोंसे कष्ट पाता रहता है। जीव स्वरूपतः निर्गुण है, फिर भी भूख-प्यास आदि प्राणधर्म, अन्धत्वादि इन्द्रियधर्म, कामादि मनोधर्मको अपने जीवात्म-स्वरूपमें आरोपित करते हुए देहादिमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि करके क्षुद्र

विषय-सुखोंका चिन्तन करता है और उनके लिए तुच्छ कर्मोंमें प्रवृत्त होकर इस देहमें सौ वर्षों तक पड़ा रहता है॥ २३-२५॥

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक्॥ २६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते॥ २७॥

जीव स्वरूपतः स्वयं प्रकाशित-स्वभाववाला होनेपर भी जब तक उन परम-गुरु सर्वज्ञान-प्रकाशक (परमात्म-स्वरूप) भगवान्‌की उपलब्धि नहीं कर पाता, तब तक वह प्रकृतिके गुणोंमें अत्यन्त आसक्त रहता है। वह प्राकृत गुणाभिमानके कारण देहादिके अधीन होकर कभी पुण्यजनक सात्त्विक कर्म कभी पापजनक तामसिक कर्म और कभी राजस कर्म करता है तथा वह जैसा कर्म करता है, उन-उन कर्मोंके अनुसार योनियोंको प्राप्त करता है॥ २६-२७॥

शुक्लात् प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित्।
दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित्॥ २८॥

जो सात्त्विक अथवा पुण्यजनक कर्म करते हैं, वे ज्योतिर्मय स्वर्गादि लोकोको प्राप्त करते हैं। जो राजसिक कर्म करते हैं, वे उन मनुष्यादि लोकोंको प्राप्त करते हैं जहाँपर अन्तमें सभी कार्योंका परिणाम दुःख ही है तथा जहाँ कोई भी कार्य करनेके लिए बहुत कठोर परिश्रम करना पड़ता है। और जो तामसिक कर्म करते हैं, वे अत्यन्त शोक-मोह आदिसे परिपूर्ण तिर्यगादि तामसिक योनियोंमें जन्म लेते हैं॥ २८॥

क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥ २९॥

इस प्रकार अज्ञानसे आवृत बुद्धिवाला जीव अपने-अपने कर्मों और गुणोंके अनुसार ही कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी नपुंसक, कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी आदि होकर जन्म-ग्रहण करता है॥ २९॥

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥ ३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥ ३१॥

जिस प्रकार भूखसे व्याकुल बेचारा कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार कभी डण्डे द्वारा ताड़ित होता है और कभी एक मुट्ठी भात प्राप्त करता है, उसी प्रकार कामनाओंसे भरे चित्तवाला जीव भी उच्च एवं नीच विविध मार्गोंमें भटकता हुआ प्रारब्धवश देवादि ऊर्ध्वलोक, नरकादि अधोलोक अथवा मनुष्यादि मध्यलोकोंमें सुख-दुःख भोगता रहता है॥ ३०-३१॥

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत् तत्तत्प्रतिक्रिया॥ ३२॥

यद्यपि उन दुःखोंसे छुटकारा पानेका उपाय शास्त्रोंमें बतलाया गया है, फिर भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी भी प्रकारके दुःखसे बद्ध जीवको छुटकारा नहीं मिलता है॥ ३२॥

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥ ३३॥

जब व्यक्ति सिरपर अत्यन्त भारी बोझ लेनेके कारण बहुत अधिक थक जाता है, तब वह सिरकी पीड़ाको हलका करनेके लिए उस भारको अपने कन्धेपर रख लेता है और उस थकानको दूर करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु तथापि वह बोझ तो उसके ऊपर ही रहता है। इस प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा पानेके जो भी उपाय हैं, उनसे दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो पाती॥ ३३॥

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ॥ ३४॥

हे निष्पाप! कृष्ण-सम्बन्धज्ञानसे रहित कर्म मात्र ही दुःखोंसे सर्वथा छूटनेका आत्यन्तिक प्रतिकार या उपाय नहीं हैं। इसका कारण

है कि दुःख और उनसे छुटकारा दिलानेवाले कर्म—दोनों ही अविद्याजनित हैं। जिस प्रकार जागरणके अतिरिक्त और किसी उपायसे स्वप्नावस्थामें दृष्ट दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता है, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त दशामें मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा पानेके लिए जो सब कर्म किये जाते हैं, उनमें विघ्न और पुनः दुराचारकी सम्भावनाके कारण उन कर्मोंसे सम्पूर्ण रूपसे दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती॥ ३४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा॥ ३५॥

जिस प्रकार स्वप्नमें विचरणशील जीवके लिए उपाधिस्वरूप मन द्वारा व्याघ्र, सर्प, चोर आदि वस्तुओंके वास्तवमें विद्यमान न रहनेपर भी व्याघ्रादि-दर्शनसे उत्पन्न दुःख केवल जागरणके द्वारा निद्रा-दोषके दूर होनेके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपायसे दूर नहीं होता, उसी प्रकार अविद्याकी निवृत्तिके अतिरिक्त प्राकृत कर्मोंसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती॥ ३५॥

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ॥ ३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानञ्च जनयिष्यति॥ ३७॥

अतएव जिस अज्ञानके कारण पुरुषार्थ-स्वरूप जीवात्माकी जन्म-मरणादि दुःखोंसे परिपूर्ण संसार-गति होती है, एकमात्र परमगुरु भगवान् श्रीवासुदेवके प्रति परम भक्तिसे ही उस अज्ञानका भलीभाँति विनाश हो सकता है। भगवान् श्रीवासुदेवमें ही सम्यक् प्रकारसे की गयी भक्ति अर्थात् एकमात्र भगवत्-सुख तात्पर्यमयी अथवा कृष्णेन्द्रिय तृप्तिमूलक भक्तियोगके अनुष्ठित होनेपर ही यथार्थ रूपसे भगवत्-ज्ञान और कृष्णसम्बन्ध-रहित विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है॥ ३६-३७॥

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३८॥

हे राजर्षे! जो व्यक्ति श्रद्धासे युक्त होकर निरन्तर हरिकथा-श्रवण एवं भगवत्-लीलाओंका अध्ययन करता है, भगवान् श्रीअच्युतकी कथाओंका आश्रय करनेवाला वह भक्तियोग बहुत कम समयमें ही उसमें आविर्भूत हो जाता है॥ ३८॥

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथन-श्रवणव्यग्रचेतसः ॥ ३९॥

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान् न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥ ४०॥

हे राजन्! जिस स्थानपर सदाचार-सम्पन्न, विशुद्धचित्त एवं भगवत्-गुणानुवादके श्रवण-कीर्त्तनके लिए व्याकुल-चित्तवाले भागवत-जन वास करते हैं, हे नृप! उस स्थानपर महापुरुषोंके मुखसे निःसृत भगवान् श्रीमधुरिपुके चरितामृतकी धारावाहिनी सरिताएँ चारों दिशाओंमें प्रवाहित होती हैं। जो अतृप्त एवं अभिनिविष्ट कर्णकुहरोंके द्वारा उस अमृतवहनकारी धाराओंकी सेवा करते हैं—उन्हें भूख, प्यास, भय, शोक और मोह आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते॥ ३९-४०॥

एतैरुमद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम्॥ ४१॥

हाय! स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेवाले भूख-प्यासादि विघ्नोंके द्वारा नित्य अभिभूत होकर जीव हरिकथामृतसिन्धुमें आसक्ति नहीं कर पाता॥ ४१॥

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः॥ ४२॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः॥ ४३॥

अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥ ४४॥

प्रजापतियोंके भी पति साक्षात् परम ऐश्वर्यशाली ब्रह्मा, महादेव, मनु और दक्ष आदि प्रजापति, ऊर्ध्वरेता सनकादि मुनि, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ तथा मेरे जैसे अन्यान्य ब्रह्मवादी एवं वाचस्पतिगण तपस्या, विद्या एवं समाधि आदि उपायोंके द्वारा सतत अनुसन्धान करनेपर भी आज तक सर्वसाक्षी परमेश्वरको जान नहीं सके॥ ४२–४४॥

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्॥ ४५॥

शब्द–ब्रह्म अर्थात् शब्दात्मक वेद भी दुर्बोध और अत्यधिक विस्तृत हैं, वह अर्थकी दृष्टिसे विशाल और शाब्दिक दृष्टिसे दुष्पार हैं। अतः उनमें विचरण करके भी तथा वेदोंके मन्त्रोंके अर्थानुसार वज्रहस्तादि–चिह्नोंको धारण करनेवाले इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करनेपर भी हम परम पुरुष परमेश्वरको तत्त्वतः नहीं जान पाये॥ ४५॥

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ४६॥

जिस समय परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली भगवान् किसी भी जीवात्माको आत्म–समर्पण करते देखकर उसपर प्रसन्न होकर अथवा उसकी आत्मवृत्तिके द्वारा सेवित होकर उसपर कृपा करते हैं, उस समय वह भक्त लौकिक–व्यवहार और वैदिक कर्मकाण्डमें अत्यधिक आसक्तिका परित्याग कर देता है॥ ४६॥

तस्मात् कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥ ४७॥

इसलिए हे बर्हिष्मन्! अज्ञानताके कारण परमार्थके रूपमें प्रतीयमान केवल कानोंको ही प्रिय लगनेवाले एवं वस्तुतः वास्तव वस्तुके साथ सम्पर्कमात्रसे रहित कर्मोंको परमार्थ मत समझना॥ ४७॥

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥ ४८॥

जो मलिनमति हैं, वे ही वेदोंको कर्मपरक मानते हैं। वे निश्चय ही वेदोंके तात्पर्यसे अवगत नहीं हैं, क्योंकि जहाँ भगवान् जनार्दन नित्य विराजमान रहते हैं, वे उन वैकुण्ठादि लोकोंको स्व-स्वरूपके प्राप्य लोकोंके रूपमें जान नहीं पाते॥ ४८॥

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कात्स्न्र्येन क्षितिमण्डलम्।
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत् परम्।
तत् कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥ ४९॥

हे राजन्! पूर्वकी ओर अग्रभागवाले कुशाओंसे सम्पूर्ण पृथ्वीका आच्छादन और बहुत-से पशुओंका वध करके तुम स्वयंको 'महायागकारी' मानकर अभिमान कर रहे हो, इसीलिए तुम दाम्भिक होकर भगवत्-आराधनारूपी हरिसेवाके अनुकूल कर्मको ही एकमात्र परम कर्त्तव्यके रूपमें जान नहीं पा रहे हो। देखो, जिसके द्वारा श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, वही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है और जिसके द्वारा श्रीहरिके प्रति मति होती है, वही विद्या है॥ ४९॥

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥ ५०॥

श्रीहरि समस्त देहधारी जीवोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सभीके एकमात्र मूल कारण और नियन्ता हैं। अतएव इस संसारमें उनके चरणतल ही मनुष्योंके लिए एकमात्र आश्रयकी वस्तु हैं। श्रीहरिके चरणाश्रयसे ही जीवोंका सब प्रकारसे मङ्गल होता है॥ ५०॥

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥ ५१॥

भगवान्के भजनमें लेशमात्र भी भय नहीं है, क्योंकि भगवान् ही सभी जीवोंके प्रियतम आत्मा हैं—जो यह जानता है, वही विद्वान है। जो विद्वान है, वही गुरु है और जो गुरु है, वही श्रीहरिसे अभिन्न है॥ ५१॥

श्रीनारद उवाच—

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम्॥ ५२॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ! आपने जो प्रश्न किया था, मैंने उसका उत्तर दे दिया। अब साधु-सम्मत एवं वेदगुह्य एक और बात बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥ ५२॥

क्षुद्रंचरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम्।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम्॥ ५३॥

हे राजन्! एकबार पुष्पोद्यानमें हरिणीमें आसक्त होकर एक हिरण उसके साथ विहार करता हुआ आनन्दमग्न होकर घूम रहा था। वह अति सामान्य दुर्वा आदि छोटे-छोटे अङ्कुरोंको चर रहा था, उसके कान भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारमें लुब्ध हो रहे थे, वह अचानक अपने सम्मुख दूसरोंको मारकर अपना पेट भरनेवाले व्याघ्रोंको देखकर भी उनके प्रति दृष्टिपात नहीं करके ही चला जा रहा था तथा पीछेसे शिकारीके द्वारा छोड़े गये बाणसे उसके बिद्ध होनेमें भी और अधिक विलम्ब नहीं था। जरा, क्षुद्र सुखान्वेषी मृतप्राय इस हिरणकी मरणासन्न दशापर विचार तो करो॥ ५३॥

सुमनःसमधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत् क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्व-तितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान् काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति यथा मृगयुहतं मृगमिति॥ ५४॥

हे राजन्! जो प्रारम्भिक अवस्थामें सुखद और परिणाममें दुःखद पुष्पोंके समान धर्मवाली स्त्रियोंके घरमें काम्य-कर्मोंसे उत्पन्न पुष्पोंके मधु और गन्धके समान अतिशय तुच्छ भोजन और कामसुखको ही क्रमशः जिह्वा एवं उपस्थादि इन्द्रियोंसे निरन्तर ढूँढ़ रहे हैं; जो सब समय स्त्रियोंसे ही मिलकर उनमें ही चित्तको लगाकर रखते हैं;

जिनके कान स्त्री-पुत्रादिरूप भ्रमरोंकी झङ्कारके समान मनोहर आलापोंमें ही मुग्ध हो रहे हैं; हिरणके सम्मुख स्थित व्याघ्रके समान काल जिनकी आयुका दिन-रात हरण कर रहा है तथा शिकारीके समान काल पीछेसे अर्थात् चुपकेसे बाण चलाकर जिनके हृदयको दूरसे बींधना चाहता है, तथापि जो इन सबको देखकर भी अनदेखा करके गृहस्थीके सुखोंमें ही रमे हुए हैं—उस मृगके समान मरणोन्मुख तुम आत्माके विषयमें कुछ तो विचार करो॥ ५४॥

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीञ्च चित्ते।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण॥ ५५॥

हे राजन्! तुम अपनी आत्माकी उपरोक्त मृग जैसी चेष्टाके विषयमें विचार करके आत्मामें मनको स्थापित करो और कानोंको अच्छे लगनेवाली कलनादिनी स्रोतस्विनी स्वरूप कर्मकाण्डकी फल-श्रुतियोंके प्रति आसक्तिको छोड़ो। जहाँपर कामुकजनोंकी असत् वार्त्ताएँ मुखरित होती रहती हैं, उस गृहस्थाश्रमका परित्याग करके शुद्धजीवोंके एकमात्र आश्रय श्रीहरिसे प्रीति स्थापित करो और क्रमशः संसार-प्रवृत्ति अर्थात् विषयोंसे विरत हो जाओ॥ ५५॥

श्रीराजोवाच—

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि॥ ५६॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जो कुछ बतलाया, मैंने उसे ध्यानसे सुना तथा आपके द्वारा कथित विषयपर विचार करके देखा कि मुझे कर्मोंका उपदेश देनेवाले गुरुजन निश्चय ही इस तत्त्वको नहीं जानते थे। यदि वे इस तत्त्वको जानते, तो मुझे इसका उपदेश क्यों नहीं करते?॥ ५६॥

संशयोऽत्र तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान्।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः॥ ५७॥

हे विप्र! मेरे कर्मोपदेशक गुरुओंके वचनोंके साथ आपके वचनोंका विरोध है। उन्होंने मेरे हृदयमें भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्यके विषयमें असम्भावनारूप जो महान् संशय उत्पन्न कर दिया था, आपने उसका पूरी तरहसे छेदन कर डाला है। इस विषयमें जितेन्द्रिय ऋषियोंको भी मोह हो जाता है॥ ५७॥

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम्।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते॥ ५८॥

(कर्ममार्गमें मेरा एक संशय है, आप कृपापूर्वक उसका भी छेदन कीजिये।) जीव इस लोकमें जिस देहके द्वारा कर्म करते हैं, वे उसे इसी लोकमें परित्याग कर देते हैं और कर्मानुसार स्वर्ग या नरकमें अन्य देहके द्वारा कर्मफलका भोग करते हैं—ऐसा सुना जाता है। किन्तु यह किस प्रकार सम्भव है?॥ ५८॥

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह।
कर्म यत् क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते॥ ५९॥

वेदविद्जनोंके कथनोंसे भी यह सुना जाता है कि वेदोक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं। अतः मुझे इसमें भी संशय होता है कि फिर उनका परलोकमें फलभोग किस प्रकार सम्भव है?॥ ५९॥

श्रीनारद उवाच—

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत् पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम्॥ ६०॥

देवर्षि श्रीनारदने (राजा प्राचीनबर्हिके प्रथम संशयका छेदन करते हुए) कहा—जीव स्थूल देह द्वारा जो समस्त कर्म करता है, वासनामय लिङ्गदेह ही उसका मूल कारण है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर भी लिङ्गदेहका नाश नहीं होता। वह लिङ्गदेह ही स्वर्ग-नरकादिमें फल भोग करता है॥ ६०॥

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा॥ ६१॥

जिस प्रकार जीव जाग्रत शरीरका अभिमान छोड़कर स्वप्नावस्थामें मनःकल्पित देव, मनुष्य अथवा पशु देहमें विषय-भोग करता है, उसी प्रकार स्वर्गादि लोकोंमें भी जीव कर्मफलके अनुसार स्वप्नके समान देहको प्राप्त करता है॥ ६१॥

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन्।
गृह्णीयात् तत् पुमान् राद्धं कर्म चेन पुनर्भवः॥ ६२॥

(राजा प्राचीनबर्हिके दूसरे संशयका छेदन करते हुए देवर्षि नारदने कहा) 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ'—इस प्रकारके अभिमानसे देहाभिमानी जीव 'यह कर्म मेरा हित करनेवाला है'—इस प्रकार विचार करके जिन कर्मोंको करता है, वे समस्त कर्म विनाशी होनेपर भी कर्मफल प्रदाता ईश्वरके द्वारा जीवको यथायोग्य कर्मफलोंको प्राप्त कराते हैं। कर्माभिमान द्वारा जीवका पुनर्जन्म होता है॥ ६२॥

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः॥ ६३॥

जिस प्रकार इन्द्रियोंके ज्ञान और कर्मरूप दो प्रकारकी चेष्टाओं द्वारा चित्तका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति द्वारा पूर्व-पूर्व शरीरोंसे किये गये कर्मोंका भी अनुमान होता है॥ ६३॥

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि॥ ६४॥

इस वर्त्तमान स्थूलदेहके द्वारा जिस प्रकारकी वस्तुका पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ, जिसे कभी देखा अथवा सुना भी नहीं गया, वह भी कभी-कभी स्वप्न आदि अवस्थामें मनमें उदित होती है एवं वह जिस प्रकारकी होती है, वैसी ही मनमें अनुभव होती है॥ ६४॥

तेनास्य तादृशं राजन् लिङ्गिनो देहसम्भवम्।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥ ६५॥

अतएव हे राजन्! वासनामय लिङ्गदेहका आश्रय करनेवाले जीवका उस प्रकारका अनुभव पूर्व जन्मके देह-सम्बन्धसे उत्पन्न

है—यह निश्चित रूपसे जानो। इसका कारण है कि जिसका पहले अनुभव नहीं होता, उसकी मनमें स्फूर्ति भी नहीं हो सकती॥ ६५॥

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ ६६॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो! जीवकी उग्र और शान्तादि मनोवृत्तियों द्वारा ही—'यह पहले इस प्रकारका था, बादमें ऐसा होगा अथवा नहीं होगा'—उसके पूर्वजन्म एवं परजन्मके अशुभ और शुभ शरीरोंसे अवगत हुआ जा सकता है॥ ६६॥

अदृष्टमश्रुतञ्चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्॥ ६७॥

कभी-कभी स्वप्नमें देश, काल अथवा क्रिया-सम्बन्धी ऐसी बातें भी दिखायी देती हैं, जो पहले कभी देखी या सुनी नहीं गयी। जैसे पर्वतके ऊपर समुद्र, दिनमें तारे अथवा अपना कटा हुआ सिर दिखायी देना इत्यादि। इनके दीखनेमें निद्रादोष अर्थात् भ्रान्तिको ही कारण मानना चाहिये॥ ६७॥

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः।
आयान्ति बहुशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः॥ ६८॥

बहुत जन्मोंके संस्कारोंसे युक्त मन सभी जीवोंके साथ होता है। शब्दादि इन्द्रियोंके भोग्य-विषय पाप-पुण्यादि कर्मफलोंके अनुसार बहुत प्रकारके हैं। मनसे ही समस्त विषयोंका स्मरण एवं विस्मरण होता है॥ ६८॥

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्त्तिनि।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥ ६९॥

भगवान्के चिन्तनमें लगे हुए विशुद्ध सत्त्वात्मक चित्तमें यह परिदृश्यमान जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् भगवान् जिस प्रकार समग्र विश्वका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार भगवत्-इच्छासे उनके भक्त भी समग्र विश्वका दर्शन करते हैं। वैसी प्रतीति सार्वकालिक

नहीं होनेपर भी ग्रहणके समय चन्द्रके साथ राहुके मिलनकी भाँति कदाचित् ही होती है॥ ६९॥

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थ-गुणव्यूहो ह्यनादिमान्॥ ७०॥

जब तक बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय (पाँच तन्मात्राएँ) और गुणोंका परिणाम स्वरूप लिङ्गदेह रहता है, तब तक जीवका स्थूलदेहसे 'मैं और मेरा' भावरूप सम्बन्ध दूर नहीं होता॥ ७०॥

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि॥ ७१॥

निद्रा, मूर्च्छा, अत्यधिक क्लेश और मृत्युके समय प्रबल ज्वरावस्थामें जीवका ज्ञान अतिशय संकुचित हो जाता है, इसलिए उस समय उसमें 'मैं यह शरीर हूँ' ऐसी स्पष्ट प्रतीति नहीं रहती॥ ७१॥

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा॥ ७२॥

ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्त लिङ्गदेह युवावस्थामें स्पष्ट प्रतीत होता है, पर गर्भावस्था और बाल्यकालमें इन्द्रियोंका पूर्ण विकास न होनेके कारण उसकी उसी प्रकार प्रतीति नहीं होती, जिस प्रकार अमावस्याकी रात्रिमें चन्द्रमा रहते हुए भी दिखायी नहीं देता॥ ७२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ७३॥

जिस प्रकार असत् सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले व्यक्तियोंके लिए स्वप्नावस्थामें विषयादिका अभाव होनेपर भी विषय-ग्रहणरूप अनर्थ उपस्थित होता है, उसी प्रकार लिङ्गदेहके अभाव (अर्थात् उसकी संकोचावस्था) में भी जीवका जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा नहीं होता॥ ७३॥

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥ ७४॥

पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित त्रिगुणात्मक लिङ्गदेह जब चेतनाशक्तिसे युक्त होता है, तब उसे 'जीव' कहते हैं॥ ७४॥

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखञ्चानेन विन्दति॥ ७५॥

इस लिङ्गदेहके द्वारा ही देही जीव भिन्न-भिन्न स्थूलदेहोंको ग्रहण एवं परित्याग करता है और इसीके द्वारा ही हर्ष, शोक, भय, दुःख एवं सुखादिका अनुभव करता है॥ ७५॥

यथा तृणजलौकेयं नापयात्यपयाति च।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः॥ ७६॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम्।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्॥ ७७॥

जिस प्रकार जोंक अन्य तिनकेका सहारा लेकर ही पहले धारण किये हुए तृणका परित्याग करती है, उसी प्रकार जीव मरणकाल उपस्थित होनेपर दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाले देहके कारण स्वरूप कर्मोंका आश्रय करके जब तक दूसरी देहको प्राप्त नहीं करता, तब तक पूर्वदेहके अभिमानका परित्याग नहीं करता। हे नरनाथ! मन ही जीवोंके जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्तिका कारण है॥ ७६-७७॥

यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः॥ ७८॥

विषय-वासनाओंसे ही कर्मोंकी उत्पत्ति होती है। कर्म किये जानेपर जीव चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा उन कर्मोंका फल भोगते हैं और उन सब विषयोंका मनके द्वारा चिन्तन करते हुए जीव पुनः-पुनः कर्म करते रहते हैं। इन कर्मोंसे ही जीवका बन्धन होता है॥ ७८॥

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः॥ ७९॥

श्रीभगवान्से ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होती है, इसलिए इस जगत्को भगवान्के अधीन रूपमें देखो और अविद्याको दूर करनेके लिए सर्वान्तकरणसे भगवान् श्रीहरिका भजन करो॥ ७९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

भागवतमुख्यो भगवान् नारदो हंसयोर्गतिम्।
प्रदर्श्य नृपमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत्॥ ८०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार महाभागवत भगवान् श्रीनारदने राजा प्राचीनबर्हिको जीव एवं ईश्वरके स्वरूपका उपदेश दिया। फिर वे उनसे विदायी लेकर सिद्धलोकको चले गये॥ ८०॥

प्राचीनबर्हीं राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे।
आदिश्य पुत्रानगमत् तपसे कपिलाश्रमम्॥ ८१॥

राजर्षि प्राचीनबर्हि भी मन्त्रियोंको 'मेरे पुत्रोंसे प्रजाकी रक्षाके लिए कह देना'—यह आदेश देकर तपस्याके लिए कपिल मुनिके आश्रममें चले गये॥ ८१॥

तत्रैकाग्रमना धीरो गोविन्दचरणाम्बुजम्।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्यतामगात्॥ ८२॥

राजा प्राचीनबर्हिने कपिल मुनिके आश्रममें जितेन्द्रिय होकर समस्त प्रकारके दुःसङ्गका परित्याग करके एकाग्रचित्तसे भक्तिपूर्वक भगवान्के चरणकमलोंका अनुक्षण भजन करते हुए भगवत्-सारूप्यको प्राप्त किया॥ ८२॥

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ।
यः श्रावयेद् यः शृणुयात् स लिङ्गेन विमुच्यते॥ ८३॥

हे विदुर! जो देवर्षि नारद द्वारा उपाख्यानके छलसे वर्णन किये गये आत्मतत्त्वका श्रवण करते हैं अथवा दूसरोंको श्रवण कराते हैं, वे दोनों ही संसारके मूल वासनामय लिङ्गदेहसे मुक्त हो जाते हैं॥ ८३॥

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।

यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः॥ ८४॥

देवर्षि नारदके मुखनिःसृत यह उपाख्यान भगवान् मुकुन्दके यशसे परिपूर्ण है, अतः यह तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाला, चित्तका संशोधन करनेवाला और परमात्म-पदको प्राप्त करानेवाला है। जो इसका कीर्त्तन करेंगे, वे समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जायेंगे और उन्हें पुनः इस संसार-चक्रमें भ्रमण नहीं करना पड़ेगा॥ ८४॥

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम्।
एवं स्त्रियाश्रयः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः॥ ८५॥

हे विदुर! अति चमत्कारपूर्ण उपाख्यानके छलसे वर्णित यह आत्मतत्त्वोपदेश मैंने गुरुकृपासे प्राप्त किया था। इसके द्वारा 'स्त्री' अर्थात् 'बुद्धि' से युक्त आत्माका अहङ्कार छिन्न-भिन्न हो जाता है एवं स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकारसे कर्मफलोंका भोग होता है, वह संशय भी दूर हो जाता है॥ ८५॥

पैंतालीसवें श्लोकके बाद 'पदरत्नावली' टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्यानुग श्रीमद्विजयध्वजतीर्थने इन दो श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें उद्धृत किया है—

सर्वेषामेव जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तदा नृणाम्॥ १॥

अपने देह-गृहके पालन-पोषणकी चेष्टा पशुओंमें भी सर्वदा ही देखी जाती है, इसलिए इस विषयमें हरिविमुख मनुष्योंके साथ उनका पार्थक्य ही कहाँ है?॥ १॥

लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥ २॥

बहुत जन्मोंके बाद परमार्थसाधक मनुष्यजन्म प्राप्त करके जो इस स्थूल एवं लिङ्ग देहमें 'मैं और मेरा' रूप असत् आग्रहका त्याग कर देते हैं, वे आत्मज्ञानके प्रभावसे इस देहका परित्याग करके भी ब्रह्मसे पृथक् भाव अर्थात् आत्म-सत्तामें विद्यमान रहते हैं॥ २॥

श्रीमद्विजयध्वज (७९वे) श्लोकके बाद 'पदरत्नावली' टीकामें इन दो श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें उद्धृत करते हैं—

भक्तिः कृष्णे दया जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।
यदि स्यादात्मनो भुयादपवर्गस्तु संसृतेः॥ १॥

यदि जीवकी श्रीकृष्णमें भक्ति, जीवोंपर दया एवं आत्मतत्त्वज्ञान अर्थात् स्व-स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है, तो वह संसारसे मुक्त हो जाता है॥ १॥

अदृष्टं दृष्टवन्नङ्क्षेद्भूतं स्वप्नवदन्यथा।
भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः॥ २॥

स्वर्गादि सुख भी लौकिक सुखोंके समान नश्वर हैं, अतः वे स्वप्नके समान अनित्य हैं। इस जगत्में जो कुछ उत्पन्न हुआ था, होगा, या फिर हुआ है—सभी कुछ स्वप्नके समान है, यही समस्त शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य है॥ २॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्राचीनबर्हिर्नारद-संवादो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

त्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको भगवान्‌का वरदान, उनका घर लौटकर विवाह करना और राज्य-पालन

श्रीविदुर उवाच—

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन् सुताः प्राचीनबर्हिषः।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम्॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने प्राचीनबर्हिके जिन पुत्रोंका पहले वर्णन किया था, उन्होंने 'रुद्रगीत' नामक स्तोत्रके द्वारा श्रीहरिको प्रसन्न करके किस प्रयोजनकी सिद्धि की?॥ १॥

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः॥ २॥

हे बृहस्पति-शिष्य मैत्रेय! उन प्रचेताओंने संयोगवश देवादिदेव श्रीरुद्रका सान्निध्य प्राप्त करके मुकुन्दप्रिय गिरीशकी कृपासे निश्चय ही परमपदको प्राप्त किया था। किन्तु इसके पहले उन्होंने इस लोक अथवा परलोकमें कौन-सा फल प्राप्त किया था—यह भी बतलाइये॥ २॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्रचेताओंने पिताकी आज्ञानुसार प्रजा-सृष्टिकी कामनासे समुद्रके भीतर खड़े होकर रुद्रगीत जपरूप यज्ञ एवं तपस्याके द्वारा सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा परम पुरुष श्रीहरिको सन्तुष्ट किया था॥ ३॥

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः।
तेषामाविरभूत् कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा॥ ४॥

प्रचेताओंके द्वारा तपस्या करते हुए दस हजार वर्ष बीत जानेपर सनातन-पुरुष भगवान् श्रीविष्णु अपनी प्रशान्त कान्तिके द्वारा उनके तपसे उत्पन्न कष्टको शान्त करते हुए उनके सम्मुख आविर्भूत हुए थे॥ ४॥

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः॥ ५॥

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै-
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः॥ ६॥

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या
स्पर्धत्श्रिया परिवृतो वनमालयाद्यः।
बर्हिष्मतः पुरुषः आह सुतान् प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः॥ ७॥

उस समय भगवान् गरुड़के स्कन्धपर आरोहण करके इस प्रकार शोभा पा रहे थे, मानो सुमेरु पर्वतके शिखरपर श्याम मेघ माला छायी हो। उन्होंने कमरमें पीताम्बर और कण्ठमें कौस्तुभमणि धारण की थी। उन स्वप्रकाश पुरुषकी दिव्य अङ्ग-प्रभा दसों दिशाओंके अन्धकारको दूर कर रही थी। उनके कर्ण समुज्ज्वल स्वर्णाभूषणोंसे विभूषित थे, जिनकी कान्तिसे उनके कमनीय कपोल एवं मनोहर मुखमण्डल दीप्त हो रहा था। उनके सिरपर मुकुट झिलमिला रहा था तथा आठों भुजाओंमें उन्होंने आठ प्रकारके अस्त्र धारण कर रखे थे। मुनि, देवता एवं उनके पार्षदगण उनकी सेवामें प्रस्तुत थे। गरुड़ स्वयं किन्नर स्वरूपमें पंखोंकी ध्वनिके द्वारा उनका यशोगान कर रहे थे। उनके गलेमें लटकती हुई वनमाला उनकी आजानुलम्बित[१] आठ

---

[१] घुटने तक लम्बी।

भुजाओंके बीचमें रहनेवाली लक्ष्मीजीकी सुन्दरताके साथ स्पर्धा कर रही थी। ऐसी वनमालासे विभूषित होकर आद्यपुरुष भगवान् श्रीहरिने शरणागत प्राचीनबर्हिके पुत्रोंका करुणामय दृष्टिसे अवलोकन करते हुए मेघोंके समान गम्भीर वाणीसे सम्बोधन करते हुए कहा॥ ५-७॥

श्रीभगवानुवाच—

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः।
सौदार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः॥ ८॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे राजपुत्रो! तुम लोगोंमें परस्पर इतना सौहार्द है कि तुम सभी एक ही धर्मका पालन कर रहे हो। मैं तुम्हारे इस सौहार्दको देखकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो। तुमलोग मुझसे वर माँगो॥ ८॥

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम्॥ ९॥

जो प्रतिदिन सन्ध्याकालमें तुम्हारा स्मरण करेगा, वह भाइयोंको तथा समस्त प्राणियोंको अपने समान समझेगा और उनसे प्रीति करने लगेगा॥ ९॥

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः।
स्तुवन्त्यहं कामवरान् दास्ये प्रज्ञाञ्च शोभनाम्॥ १०॥

जो एकाग्रचित्तसे सायं एवं प्रातःकाल 'रुद्रगीत' द्वारा मेरा स्तव करेंगे, मैं उनको उनका अभिलषित वर एवं उद्धारके लिए उपयोगी प्रज्ञा और बुद्धि प्रदान करूँगा॥ १०॥

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति॥ ११॥

तुमने अति प्रसन्न हृदयसे पिताकी आज्ञाका पालन किया है, इसलिए तुम्हारी कमनीय कीर्त्ति सम्पूर्ण लोकमण्डलमें फैल जायेगी॥ ११॥

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति॥ १२॥

तुम्हारा एक पुत्र होगा, जो गुणोंमें ब्रह्माजीसे किसी भी अंशमें कम नहीं होगा। अतः वह जगत्में विशेष रूपसे विख्यात होगा। उसकी सन्तानोंसे तीनों लोक परिपूर्ण हो जायेंगे॥ १२॥

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः॥ १३॥

हे राजपुत्रो! इन्द्रने प्रम्लोचा नामकी अप्सराको कण्डु ऋषिके तपको नाश करनेके लिए भेजा था। प्रम्लोचा कण्डु ऋषिके सहयोगसे एक कमलनयना पुत्रीको प्राप्त करके उसे वृक्षोंके बीच छोड़कर चली गयी थी। वृक्षोंने ही उस परित्यक्त कन्याको ग्रहण किया था॥ १३॥

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम्।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः॥ १४॥

जब इस बालिकाने भूखसे कातर होकर रोना आरम्भ किया था, उस समय वनस्पतियोंके अधिपति चन्द्रमाने दयावश उसके मुखमें अमृतवर्षिणी तर्जनी अङ्गुली डालकर उसका पालन-पोषण किया था॥ १४॥

प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम्॥ १५॥

मेरी आज्ञाका पालन करनेवाले तुम्हारे पिता प्राचीनबर्हिसे तुम्हें प्रजा-सृष्टिका आदेश प्राप्त हुआ है। अतः इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए तुम शीघ्र ही उस देवियों जैसी सुन्दरी कन्याके साथ विवाह कर लो॥ १५॥

अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात् पत्न्यर्पिताशया॥ १६॥

तुम सभी भाइयोंका एक ही धर्म है और एक जैसा ही स्वभाव है। अतः धर्म और चरित्रमें तुम्हारे ही अनुरूप वह सुमध्यमा तुम सबकी पत्नी होगी तथा तुम सभीमें उसका समान अनुराग होगा॥ १६॥

दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः।
भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम॥ १७॥

तुम लोग मेरे अनुग्रहसे दिव्य सहस्र वर्षों तक अबाधित प्रभावसे सम्पन्न होकर पार्थिव और दिव्य भोगोंका भोग कर पाओगे॥ १७॥

अथ मयनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः॥ १८॥

इसके बाद जब मेरे प्रति अविचल भक्तिके प्रभावसे तुम्हारे चित्तके काम, क्रोध आदि मल दग्ध हो जायेंगे, तब तुम स्वर्ग एवं मर्त्य लोकके नरक-तुल्य भोगोंसे निवृत्त होकर मेरे नित्यधामको प्राप्त करोगे॥ १८॥

गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥ १९॥

नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः॥ २०॥

जो कुशलकर्मा मुझे ही समस्त कर्मोंका एकमात्र फलभोक्ता जानकर मुझमें समस्त कर्मोंके फलको अर्पण कर देते हैं और जो मेरी कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनमें ही अपना समस्त समय व्यतीत करते हैं, ऐसे व्यक्तियोंके गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गृह उनके लिए बन्धनका कारण नहीं बनता। इसका कारण है कि जो नित्यप्रति मेरी कथाओंका श्रवण करते हैं, सर्वज्ञ मैं उन सब व्यक्तियोंके हृदयमें पग-पगपर नव-नवायमान रूपमें आविर्भूत होता हूँ। मेरे इसी स्वरूपको ब्रह्मवादी 'ब्रह्म' के रूपमें उल्लेख करते हैं। मुझे प्राप्तकर लेनेपर व्यक्ति शोक, मोह अथवा हर्षके द्वारा अभिभूत नहीं होता॥ १९-२०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरा गृणन् गद्गदया सुहृत्तमम्॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—जब समस्त पुरुषार्थोंके प्रदाता, सबके परम हितैषी भगवान् श्रीजनार्दनने इस प्रकार कहा, तब भगवत्-दर्शनके प्रभावसे रजोगुण एवं तमोगुणसे मुक्त होनेवाले प्रचेतागण हाथ जोड़कर गद्गद वचनोंसे उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे॥ २१॥

श्रीप्रचेतस ऊचुः—

नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः॥ २२॥

श्रीप्रचेताओंने कहा—हे भगवन्! एकमात्र आप ही समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले हैं, वेद आपके उदार गुण एवं नामोंका मङ्गलसाधकके रूपमें निरूपण करते हैं। आपका वेग मन और वचनके वेगसे भी कहीं अधिक है। किसी भी जड़-इन्द्रियके द्वारा आपकी गतिको समझा नहीं जा सकता। अर्थात् आप मन और वचनके आगोचर हैं। हम आपको पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं॥ २२॥

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३॥

जिनमें एकान्त निष्ठा हो जानेपर विविध सुखोंका आकर होनेपर भी प्रपञ्च जगत् निरर्थक प्रतीत होता है, आप वही विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप परमानन्द विग्रह हैं। आपको नमस्कार है। आप जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए मायिक गुणोंको अङ्गीकार करके ब्रह्मा आदि मूर्त्तियोंमें प्रकाशित होते हैं, आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ २३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम्॥ २४॥

आप विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप हैं। हे हरि! आपको जान लेनेसे जीवोंका संसार-बन्धन दूर हो जाता है। आप समस्त भक्तों एवं

यादवोंके पालक भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण हैं, आपको नमस्कार है॥ २४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण॥ २५॥

आप पद्मनाभ हैं अर्थात् आपकी नाभिसे पद्मयोनि ब्रह्मा प्रकट हुए है, आपको नमस्कार है। आपके कण्ठमें कमलकी माला सुशोभित हो रही है, आपको नमस्कार है। आपके श्रीचरण कमलके समान कोमल और भक्त-भ्रमरोंके सेवनीय हैं, आपको नमस्कार है। आपके नयनयुगल कमल-पत्रके समान हैं, हे कमलनयन! आपको नमस्कार है॥ २५॥

नमः कमलकिञ्जल्क-पिशङ्गामलवाससे।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे॥ २६॥

आपने कटिदेशमें कमलकुसुमोंके केसरके समान स्वच्छ पीताम्बरको धारण कर रखा है। आप समस्त प्राणियोंके आधारस्वरूप और सर्वसाक्षी हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २६॥

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम्।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम्॥ २७॥

हे भगवन्! हम अविद्या, अस्मिता एवं राग-द्वेषादि क्लेशोंसे पीड़ित हैं। आपने हमारे सम्पूर्ण क्लेशोंका पूर्ण रूपसे विनाश करनेके लिए ही अपनी इस क्लेश नाशकारी श्रीमूर्त्तिको प्रकटित किया है। इससे अधिक हमारे प्रति आपकी और क्या कृपा होगी? अर्थात् यही हमारे प्रति आपकी परम अनुकम्पा है॥ २७॥

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन॥ २८॥

हे अमङ्गल-विनाशन प्रभो! दीन सेवकवत्सल प्रभुओंके लिए यह उचित ही है कि वे यथासमय अर्थात् अपनी प्रयोजनीय सेवाके समय सेवकोंको 'ये मेरे अनुगत हैं', कहकर स्मरण करते हैं॥ २८॥

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम्।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः॥ २९॥

अतएव प्रभु यदि इस प्रकारसे अपने सेवकका स्मरण करते हैं, तो इसीसे ही उन समस्त प्राणियोंके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं। आप अति तुच्छ क्षुद्र जीवोंके भी अन्तःकरणमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान रहकर उनके द्वारा प्रार्थित विषयोंको जानते हैं, तब हमारी कामनाओंको आप क्यों नहीं जान पायेंगे?॥ २९॥

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते।
प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः॥ ३०॥

हे जगत्पते! आप ही भक्तियोग-पथके प्रदर्शक एवं जीवोंके एकमात्र परम पुरुषार्थ हैं। आप हमसे प्रसन्न हैं, अतः हमारा एकमात्र अभीष्ट वर आपकी प्रसन्नताके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता॥ ३०॥

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत् परतः परात्।
न ह्यन्तो यद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे॥ ३१॥

तथापि हे नाथ! सभी कारणोंके भी कारण परात्पर-पुरुष आपसे हम एक वरकी प्रार्थना करते हैं। आपके द्वारा प्रदान की जानेवाली विभूतियोंका अन्त नहीं है, इसलिए वह वर आप अवश्य ही प्रदान करेंगे॥ ३१॥

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात् किं किं वृणीमहि॥ ३२॥

हे प्रभो! जिस प्रकार अनायास ही सब प्रकारकी अभिलषित वस्तुओंको प्रदान करनेमें समर्थ पारिजात वृक्षके प्राप्त होनेपर भी केवलमात्र मकरन्दको ग्रहण करनेवाला मधुकर (सुलभ होनेपर भी) उससे और कुछ नहीं चाहता, उसी प्रकार साक्षात् आपके चरणकमल प्राप्त करके हम भी आपके चरणकमलोंके मकरन्दके अतिरिक्त आपसे और क्या प्रार्थना करें?॥ ३२॥

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे॥ ३३॥

आपकी मायासे मोहित होकर अपने-अपने कर्मानुसार हम इस संसारमें जब तक भ्रमण करें, तब तक हमें जन्म-जन्ममें आपके गुणोंका कीर्त्तन करनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो—हम आपसे इसी वरकी प्रार्थना करते हैं॥ ३३॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ३४॥

भगवत्-सङ्गी भक्तोंके अति अल्प समयके सङ्गसे भी जीवोंका जो असीम मङ्गल होता है, उसके साथ स्वर्ग तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती। फिर मनुष्योंके नश्वर राज्य-भोग आदि सुखोंकी तो बात ही क्या है?॥ ३४॥

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन॥ ३५॥

यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान् न्यासिनां गतिः।
प्रस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः॥ ३६॥

भगवत्-भक्तोंके समाजमें सदा-सर्वदा आपकी विशुद्ध कथाओंका गान होता रहता है, इन सब कथाओंके श्रवणसे भोग इच्छारूपी तृष्णा शान्त हो जाती है। इन कथाओंके श्रवणसे किसी भी प्राणीके साथ वैरभाव या उद्वेग नहीं रहता। उस स्थानपर सत् कथाके प्रसङ्गमें मुक्त-सङ्ग अर्थात् निरपेक्ष साधु साक्षात् भगवान् नारायणका बार-बार स्तव करते हैं। वे भगवान् नारायण ही समस्त प्रकारके फलोंका त्याग करनेवाले निष्काम भक्तोंकी एकमात्र गति हैं॥ ३५-३६॥

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥ ३७॥

हे भगवन्! आपके निजजन तीर्थोंको पवित्र करनेके लिए पैदल ही भ्रमण करते हैं। अतः संसारसे भयभीत किस व्यक्तिके लिए उनका समागम रुचिकर नहीं होगा?॥ ३७॥

वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्सस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः॥ ३८॥

हे भगवन्! हमने आपके प्रियतम शम्भुके क्षणभरके सङ्गके प्रभावसे सुदुश्चिकित्स्य (जिसकी चिकित्सा अति दुष्कर है, ऐसे) संसार और जन्म-मृत्युरूप रोगके सद् वैद्यस्वरूप आपको आज अपने परम आश्रयके रूपमें प्राप्त किया है॥ ३८॥

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव॥ ३९॥

यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु।
सर्वं तदेतत् पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय॥ ४०॥

हे ईश! हमने समाहित चित्तसे वेदोंका जो भलीभाँति अध्ययन किया है; शुद्ध आनुगत्य द्वारा जो गुरु, विप्र और वृद्ध आर्योंको नमस्कार किया है; सुहृदों, भ्राताओं और प्राणियोंके प्रति जो हिंसा रहित व्यवहार किया है तथा आहार आदिका परित्याग करके जलमें खड़े होकर बहुत समय तक जो घोरतर तपस्या की है, उन सब सत् आचरणोंके द्वारा आपका सन्तोष हो—यही हमारा प्रार्थनीय वर है॥ ३९-४०॥

मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः॥ ४१॥

तपस्या तथा ज्ञान आदिके द्वारा विशुद्ध-चित्तवाले योगी एवं मनु, स्वयम्भू ब्रह्मा और शिव—इन्होंने भी आपकी महिमाका अन्त न पाकर अपने-अपने साध्यानुसार आपका स्तव किया है। अतः हम भी यथासाध्य आपकी स्तुति कर रहे हैं॥ ४१॥

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः॥ ४२॥

हे प्रभो! आपका कोई शत्रु अथवा प्रिय नहीं है। आप सर्वत्र समान हैं। अतएव आप निष्पाप, विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति परम पुरुष भगवान् वासुदेव हैं। आपको नमस्कार है॥ ४२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः॥ ४३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार प्रचेताओं द्वारा संपूजित होकर शरणागतपालक भगवान् श्रीहरिने सन्तोषपूर्वक कहा—'तुम लोगोंने जो प्रार्थना की है, वैसा ही हो।' इसके बाद अकुण्ठित प्रभाववाले भगवान् श्रीहरि अतृप्त नेत्रोंवाले प्रचेताओंकी इच्छा न रहनेपर भी स्वधाम चले गये॥ ४३॥

अथ निर्याय सलिलात् प्रचेतस उदन्वतः।
वीक्ष्याकुप्यन् द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः॥ ४४॥

इसके बाद प्रचेतागण समुद्रके जलसे बाहर निकले और देखा कि वृक्ष बहुत ऊँचे-ऊँचे हो गये हैं और उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वीको ढक दिया है। तब ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे स्वर्गको भी आच्छादित करनेके लिए तत्पर हो रहे हैं। ऐसा देखकर (उनके मनमें आया कि यदि ऐसा ही होगा तो मनुष्य कहाँ रहेंगे और हम भगवान्‌के द्वारा आदिष्ट राज्य ही कहाँ करेंगे, अतः) वे अतिशय क्रोधाविष्ट हो गये॥ ४४॥

ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये॥ ४५॥

हे राजन्! प्रलयके समय रुद्र जिस प्रकार अपने मुखसे अग्नि निकालते हैं, प्रचेतागण भी उसी प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वीको तरु-लताओंसे रहित करनेके लिए क्रोधसे भरकर मुखसे अग्नि और अग्निके सखा वायुको छोड़ने लगे॥ ४५॥

भस्मसात् क्रियमाणांस्तान् द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः।
आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः॥ ४६॥

पृथ्वीके सम्पूर्ण वृक्षोंको भस्म होता हुआ देखकर पितामह ब्रह्मा वहाँ आये और उन्होंने प्रचेताओंको युक्तिपूर्वक समझाकर शान्त किया॥ ४६॥

तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा॥ ४७॥

इन वृक्षोंमेंसे जो बच गये थे, वे भयभीत होकर ब्रह्माजीके आदेशसे अपनी मारिषा नामकी कन्याको ले आये और उसे प्रचेताओंको समर्पित कर दिया॥ ४७॥

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः॥ ४८॥

ब्रह्माजीके आदेशसे प्रचेताओंने वृक्षोंके द्वारा दी गयी मारिषा नामकी उस कन्याके साथ विवाह किया। ब्रह्मा-पुत्र दक्षने शिवजीके प्रति अपराध करनेके कारण मारिषाके गर्भसे जन्म लिया अर्थात् गर्भकी यन्त्रणाको भोग किया॥ ४८॥

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः॥ ४९॥

स्वायम्भुव मन्वन्तरमें सतीके पिता दक्षने अपनी देहके कालवशतः विनष्ट होनेके बाद पुनः उपरोक्त दक्षके रूपमें जन्म-ग्रहण किया था तथा इन्हीं दक्षने ही अपने पूर्व ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पाँच

मन्वन्तरों तक तपस्या करनेके उपरान्त छटें मन्वन्तर अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तरमें पहले जैसा ऐश्वर्य प्राप्तकर भगवान्‌की प्रेरणासे अपनी इच्छानुसार बहुत-सी नवीन प्रजाओंकी सृष्टि की थी॥ ४९॥

यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा।
स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन्॥ ५०॥

तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन्॥ ५१॥

प्रचेतापुत्र दक्षने उत्पन्न होकर अपने प्रभावसे समस्त तेजस्वियोंके तेजको ढक दिया था। ये समस्त कर्मोंमें अतिशय निपुण थे, इसलिए लोग इन्हें 'दक्ष' कहते थे। ब्रह्माजीने इन्हीं दक्षको अभिषिक्त करके प्रजाकी सृष्टि एवं रक्षण आदि कार्यके लिए नियुक्त किया था। बादमें दक्षने पुनः मरीचि आदि अन्यान्य प्रजापतियोंको प्रजा रक्षण आदि कार्यमें नियुक्त किया था॥ ५०-५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्रचेतसां चरिते त्रिंशोऽध्यायः॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको देवर्षि श्रीनारदका उपदेश और उनका परमपदको प्राप्त करना

श्रीमैत्रेय उवाच—

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम्।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद दिव्य सहस्र वर्ष बीत जानेपर जब प्रचेताओंमें दिव्य ज्ञान उदित हुआ, उस समय उन्हें अधोक्षज भगवान्‌के वचनोंका स्मरण हो आया। वे अपनी पत्नी मारिषाको पुत्रोंके हाथोंमें सौंप करके शीघ्र ही घरसे निकल पड़े॥ १॥

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः॥ २॥

वेदोंके तात्पर्यका विवेचन करनेपर जिस ज्ञानके द्वारा समस्त जीवोंमें परमात्माका दर्शन होता है, उस आत्म-ज्ञानका साधन करनेके लिए कृतसङ्कल्प होकर वे पूर्व दिशामें समुद्रके तटपर, जहाँ 'जाजलि' नामक ऋषिने सिद्धि प्राप्त की थी—उस स्थानकी ओर चल दिये॥ २॥

तान् निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनान् शान्तसमानविग्रहान्।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः॥ ३॥

प्रचेतागण प्राण, मन, वाणी एवं बाह्य दृष्टिको नियन्त्रित करके आसनको जीतकर विषयोंसे विरक्त हो गये तथा ऋजुभावसे अर्थात् शरीरको निश्चेष्ट, स्थिर और सीधा रखकर सर्वोत्तम निर्मल ब्रह्ममें आत्माको नियुक्त करके बैठ गये। उसी समय सुरासुर द्वारा संपूजित देवर्षि नारदने उन्हें दर्शन दिया॥ ३॥

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिवाद्य च।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन्॥ ४॥

श्रीनारदको आते देखकर प्रचेतागण तुरन्त खड़े हो गये और उन्होंने शास्त्रोंके विधानानुसार उनका आदर-सत्कार एवं पूजा की। जब नारदजी सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये, तब प्रचेता उनसे कहने लगे॥ ४॥

श्रीप्रचेतस ऊचुः—

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः।
तव चंक्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः॥ ५॥

श्रीप्रचेताओंने कहा—हे देवर्षे! हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आज सौभाग्यसे हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार सूर्यदेवका भ्रमण लोगोंको चोर आदिके भयसे छुटकारा दिलानेके लिए होता है, उसी प्रकार आपका पर्यटन भी लोगोंको ज्ञानालोकके द्वारा अभय प्रदान करनेके लिए होता है॥ ५॥

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च।
तद्गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो॥ ६॥

हे प्रभो! ऐश्वर्यशाली (भगवद्भक्त) शिवजी एवं अधोक्षज श्रीहरिने हमें जो उपदेश दिया था, गृहस्थीमें अत्यन्त आसक्त होनेके कारण हम उसे प्रायः भूल गये हैं॥ ६॥

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्म-ज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम्।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम्॥ ७॥

अतः जिस तत्त्वज्ञानके प्रदीप-स्वरूप अध्यात्मज्ञानके द्वारा दुस्तर भवसागरको अनायास ही पार किया जा सकता है, आप हमारे हृदयमें उस ज्ञानको पुनः प्रकाशित करा दीजिये॥ ७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान् नारदो मुनिः।
भगवत्युत्तमःश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान्॥ ८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्रचेताओंके द्वारा इस प्रकार कहनेपर सदा-सर्वदा भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्णमें ही आसक्त रहनेवाले भगवन्मय देवर्षि नारद राजपुत्रोंसे कहने लगे॥ ८॥

श्रीनारद उवाच—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥ ९॥

श्रीनारदने कहा—मनुष्योंके जिस जन्मके द्वारा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिकी सेवा होती है, वह जन्म ही 'जन्म' है; जिस कृत्यके द्वारा श्रीहरिका सेवानुकूल्य होता है, वह कृत्य ही एकमात्र 'कृत्य' है; जिस आयुके द्वारा श्रीहरिकी सेवा होती है, वही 'परमायु' है तथा जिस मन और वचनके द्वारा विश्वात्मा परमेश्वर श्रीहरि सेवित होते हैं, वही मन शुद्ध है एवं वही वचन यथार्थ वचन है॥ ९॥

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥ १०॥

मनुष्यके तीन प्रकारके जन्म हैं—विशुद्ध माता-पितासे 'शौक्र-जन्म', उपनयन द्वारा 'सावित्र-जन्म' तथा सर्वेश्वर श्रीविष्णुकी आराधनारूप यज्ञ-दीक्षाके द्वारा 'याज्ञिक या दैक्ष' जन्म। किन्तु श्रीहरिकी सेवाके अतिरिक्त इन तीनों जन्मोंसे क्या लाभ? तथा हरिसेवाके बिना वेदोक्त समस्त कर्म तथा देवताओंके समान लम्बी आयुका भी क्या लाभ है?॥ १०॥

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा॥ ११॥

श्रीहरिकी सेवाके बिना वेदान्तादिका श्रवण, तपस्या, शास्त्र-व्याख्यादि वाग्-विलास, अनेक शास्त्रोंके अर्थोंको धारण करनेका सामर्थ्य, प्रखर बुद्धि, बल एवं इन्द्रिय-पटुताके द्वारा भी क्या लाभ?॥ ११॥

किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥ १२॥

प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगसे और देहादिसे भिन्न आत्मज्ञानसे भी क्या लाभ? यहाँ तक कि संन्यास, वेदाध्ययन, व्रत और वैराग्यादि अन्यान्य कल्याणजनक साधन—जिनसे श्रीहरिकी इन्द्रियोंकी सन्तुष्टि नहीं होती, (केवल जीवकी आत्मेन्द्रिय-तृप्तिमात्र होती है) उन सब साधनोंसे भी क्या लाभ?॥ १२॥

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः॥ १३॥

समस्त प्रकारके श्रेयः फलोंकी भी पराकाष्ठा परमार्थतः एकमात्र आत्मा ही है—यह बात निश्चित है। समस्त आत्माओंके भी प्रिय परमात्मा—श्रीहरि हैं। वे जीवोंकी अविद्याको दूर करके उनके नित्य-स्वरूपको प्रकाशित करते हैं। वे परमानन्द-स्वरूप हैं और भक्तोंको अपने आप तकको भी दे देते हैं॥ १३॥

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ १४॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़को भलीभाँति सींचनेसे उसका तना, शाखा, उपशाखा, पत्र-पुष्पादि सभी सञ्जीवित हो जाते हैं तथा जिस प्रकार भोजनके द्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियोंकी तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार एकमात्र श्रीकृष्णकी पूजाके द्वारा ही समस्त देव-पितरों आदिकी भी पूजा हो जाती है॥ १४॥

यथैव सूर्यात् प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः॥ १५॥

जिस प्रकार जल वर्षाकालमें सूर्यके तापसे उत्पन्न होकर पुनः ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंमें ही प्रवेश करता है, जिस प्रकार स्थावर-जङ्गमादि प्राणी पृथ्वीसे उत्पन्न होकर पुनः पृथ्वीमें ही लयको प्राप्त

होते हैं, उसी प्रकार यह गुणमय प्रपञ्च सृष्टिके समय भगवान् श्रीहरिसे उत्पन्न होकर प्रलयकालमें भगवान्‌में ही लीन हो जाता है॥ १५॥

एतत् पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तया
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥ १६॥

जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी सर्वोपाधिरहित परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण उनसे अभिन्न है (वस्तुतः यह विश्व भगवान्‌से पृथक् तत्त्व नहीं है, अपितु उनकी मायाशक्तिका ही परिणाम है)। जिस प्रकार इन्द्रियाँ जाग्रत अवस्थामें नाना कार्योंमें लगी रहती हैं, किन्तु निद्रित अवस्थामें शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार सृष्टिकालमें यह जगत् भगवान्‌से पृथक् रूपमें प्रतीत होनेपर भी, इन्द्रियादि पञ्चभूतात्मक इस देहमें आत्मबुद्धिके दूर हो जानेपर यह जगत् भगवान्‌से पृथक् प्रतीत नहीं होता तथा उस समय भेद-भ्रम भी तिरोहित हो जाता है॥ १६॥

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः॥ १७॥

हे नृपतियो! जिस प्रकार आकाशमें कभी मेघ, कभी अन्धकार और कभी प्रकाश क्रमशः प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्ममें रज, तम और सत्त्वरूप शक्तियाँ क्रमशः प्रकाशित होती हैं और उन्हींमें लीन हो जाती हैं॥ १७॥

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा॥ १८॥

भगवान् ही समस्त कारणोंके कारण हैं, इसलिए वे ही समस्त देहधारियोंके आत्मा, निमित्त और उपादान कारण हैं। मायाधीश होनेके कारण वे अपनी शक्ति द्वारा गुण-प्रवाहरूप संसारसे निर्मुक्त रहते हैं। अतः तुम परम पुरुष परमेश्वर श्रीहरिको आत्मासे अभिन्न जानकर उनका साक्षात् रूपसे भजन करो॥ १८॥

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥ १९॥

समस्त प्राणियोंपर दया, जो कुछ भी प्राप्त हो जायें उसीमें सन्तोष तथा विषयोंसे समस्त इन्द्रियोंका निग्रह—इन सबके द्वारा भगवान् जनार्दन शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं॥ १९॥

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽयन्
न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि॥ २०॥

जिन सत्पुरुषोंका मन समस्त कामनाओंसे निर्मुक्त होकर परम विशुद्ध हो गया है, उनके द्वारा निरन्तर की जानेवाली भावनाओंके द्वारा आमन्त्रित होकर अधोक्षज श्रीहरि उनके मनमें वास करते हैं। इसके बाद अपनी भक्तवश्यताको चरितार्थ करते हुए हृदयाकाशके समान उस स्थानसे अन्यत्र नहीं जाते॥ २०॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु॥ २१॥

पार्थिव धनसे हीन होनेपर भी जो भगवान्‌को ही अपना सर्वोत्तम धन समझते हैं, ऐसे साधु ही भगवान्‌को बहुत प्रिय हैं। ऐसे भक्तोंके प्रेमरसको वे रसज्ञ प्रभु ही भलीभाँति जानते हैं। जो व्यक्ति पाण्डित्य, धन, उच्चकुलमें जन्म और कर्मोंके अहङ्कारमें मत्त होकर अकिञ्चन

साधुओंका तिरस्कार करते हैं, श्रीहरि ऐसे दुर्बुद्धियुक्त व्यक्तियोंकी पूजाको कभी भी स्वीकार नहीं करते॥ २१॥

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः॥ २२॥

अपने आपमें परिपूर्ण होनेपर भी जो अपने भक्तोंकी अधीनताको अङ्गीकार करते हैं, किन्तु जो निरन्तर सेवामें रत रहनेवाली लक्ष्मीदेवी और लक्ष्मीकी कामना करनेवाले राजाओं एवं देवताओंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, अहो! ऐसे भक्तवत्सल भगवान्‌को कृतज्ञ पुरुष किस प्रकारसे क्षण भरके लिए भी छोड़ सकता है?॥ २२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः॥ २३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्माजीके पुत्र श्रीनारद मुनि प्रचेताओंको ये समस्त उपदेश एवं अन्यान्य बहुत-सी भगवत्-कथाएँ सुनाकर ब्रह्मलोकको चले गये॥ २३॥

तेऽपि तन्मखनिर्यातं यशो लोकमलापहम्।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः॥ २४॥

प्रचेतागण भी देवर्षि श्रीनारदके मुखसे मोह-कल्मष विनाशक श्रीहरिके गुणानुवादका श्रवण करके भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते अन्तमें विष्णुलोकको प्राप्त हुए॥ २४॥

एतत् तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम्॥ २५॥

हे वत्स विदुर! तुमने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किया था, वह नारद एवं प्रचेता-सम्वादरूप हरि-कीर्त्तन-विषयक आख्यान मैंने तुम्हें सुना दिया॥ २५॥

श्रीशुक उवाच—

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे नृपश्रेष्ठ परीक्षित्! इस प्रकार यहाँ तक स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके वंशका वर्णन हुआ है। अब मनुके द्वितीय पुत्र प्रियव्रतके वंशका वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण करो॥ २६॥

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम्।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात् पदम्॥ २७॥

प्रियव्रतने देवर्षि श्रीनारदसे आत्मविद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद पृथ्वीका पालन किया। अन्तमें पुत्रोंमें राज्यको बाँटकर वे अनायास ही भगवत्-धामको प्राप्त हो गये॥ २७॥

इमान्तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम्।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः॥ २८॥

इधर श्रीमैत्रेय ऋषिके द्वारा कथित भगवत्-माहात्म्य सम्बन्धी कथा सुनकर विदुरजी भगवत्-भावमें विह्वल हो गये तथा उनके विकल नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। तब उन्होंने अपने हृदय द्वारा भगवान् श्रीहरिके चरण तथा अपने सिर द्वारा गुरुवर श्रीमैत्रेय मुनिके चरणकमलोंको धारण किया॥ २८॥

श्रीविदुर उवाच—

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः॥ २९॥

श्रीविदुरने कहा—हे महायोगिन्! आज परदुःखदुःखी आपने मुझे संसार-समुद्रके उस पारका दर्शन कराया है, जहाँ पहुँचनेपर श्रीहरि स्वयं ही अपने अकिञ्चन भक्तोंको दर्शन दिया करते हैं॥ २९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम्।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः॥ ३०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकारसे परमानन्दको प्राप्त कर रहे विदुरजीने मैत्रेय ऋषिके प्रति कृतज्ञता प्रकटकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और अपने बन्धुओंसे मिलनेकी कामनासे वे हस्तिनापुरकी ओर चल दिये॥ ३०॥

एतद् यः शृणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम्।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात्॥ ३१॥

हे राजन्! जो मनुष्य भगवान् श्रीहरिमें समर्पितचित्त प्रचेताओंके इस चरित्रका श्रवण करेंगे, उन्हें दीर्घायु, धन, यश, कल्याण, ऐश्वर्य एवं वैकुण्ठादि लोकोंकी प्राप्ति होगी॥ ३१॥

इस अध्यायमें श्रीमन्मध्वाचार्यके अनुगत श्रीविजयध्वज-तीर्थपादने अपनी पदरत्नावली-टीकामें निम्नलिखित श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें स्वीकार किया है—

यथा, (४/३१/१८) श्लोकके बाद—

निरस्त सङ्कल्पविकल्पमद्वयं
द्वयापवादोपरमोपलम्भनम्।
अनादिमध्यान्तमजस्रनिर्वृतिं
संज्ञप्तिमात्रं भजतामुया दृशा॥ १॥

जिनकी कृपासे जीवोंका सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनोधर्म दूरीभूत होता है, जिनके समान अथवा जिनसे अधिक कोई नहीं है, भेदापवादके हाथसे परित्राण प्राप्त करनेपर [अर्थात् निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानमें तत्पर केवलाद्वैतवादी अपने उद्देश्यकी सिद्धिके प्रतिकूल ज्ञानमें जो शुद्धद्वैत अर्थात् पञ्चविध भेद—ईश्वर-जीवमें भेद, जीव-जीवमें भेद, जीव-जड़में भेद, जड़-जड़में भेद, जड़ और ईश्वरमें भेदरूप ज्ञानकी निन्दा करते रहते हैं, वैसे कुतर्कके नष्ट होनेपर] जिनका दर्शन प्राप्त

होता है, जिनका आदि, मध्य अथवा अन्त नहीं है, उन नित्यानन्दस्वरूप, विज्ञान-घनानन्दमय पुरुषका मनोधर्मसे मुक्त भक्तगण भजन करते हैं।

(४/३१/२२) श्लोकके बाद

भवतां वंशधुर्येऽभूद् ध्रुवश्चित्ररथः स्वराट्।
गुरुदारवचोबाणैर्निर्भिन्नहृदयोऽर्भकः ॥ २ ॥

त्यक्त्वा स्त्रैणं च तं गच्छन् दृष्टो मे पथ्युदारधीः।
पञ्चवर्षो मदादेशैः संराध्य पुरुषेश्वरम् ॥ ३ ॥

तत्परं सर्वधिष्णेभ्यो मायाधिष्ठितमारुहत्।
मुनयोऽद्याप्युदीक्षन्ते परं नापुरवाङ्मुखाः ॥ ४ ॥

आपके वंशमें चित्ररथ नामक चक्रवर्ती भक्तश्रेष्ठ ध्रुवका जन्म हुआ था। बाल्यकालमें सौतेली माँके वाक्यरूपी बाणोंसे घायल होकर सरलचित्त पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपने स्त्रैण पिताका परित्याग करके वनमें चला गया था। पथमें मेरे (नारदके) साथ उसकी भेंट हुई थी और मेरे उपदेशसे उसने परमपुरुष भगवान्‌की आराधना करके जिस लोकको प्राप्त किया था, उसका नाम ध्रुवलोक है। वह लोक समस्त लोकोंमें श्रेष्ठ एवं विष्णुके सान्निध्यमें अवस्थित है। उसके निम्नलोकमें अवस्थित मुनि आज भी उस लोककी प्राप्तिके लिए चेष्टा करते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते॥ २-४॥

तं यूयं सर्वभूतानामन्तर्यामिणमीश्वरम्।
रुद्रादिष्टोपदेशेन भजध्वं भवनुत्तये ॥ ५ ॥

आपलोग संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिए महादेवजीके उपदेशानुसार उन ध्रुव-सेवित सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की सेवा कीजिये॥ ५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्राचेतसोपाख्यानं नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥

॥ चतुर्थः स्कन्धः समाप्तः ॥

श्लोक–सूची

अ

इ

त

ध

य

ल

व

ष

ह

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

(द्वितीय-खण्ड – स्कन्ध ५-९)

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्‌कृष्णद्वैपायनवेदव्यास–प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(द्वितीय–खण्ड — स्कन्ध ५–९)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य–केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन
वृन्दावन

प्रथम संस्करण — श्रीगौरपूर्णिमा (९ मार्च, २०२० ई॰)

ISBN: 978-81-942673-5-5

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ॰प्र॰)	९७१९०७०९३९
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९२१९४७८००१
३. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, गोवर्धन (उ॰प्र॰)	(०५६५)२८१५६६८
४. श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रम, मथुरा (उ॰प्र॰)	९९९७५४३१७३
५. श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ, जनकपुरी, नई दिल्ली	(०११)२५५३३२६८
६. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, नवद्वीप (प॰बं॰)	९३३३२२२७७५
७. श्रीगोपीनाथ-भवन, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९६३४५६३७३९
८. जयश्रीदामोदर गौड़ीय मठ, पुरी (उड़ीसा)	९७७६२३८३२८
९. श्रीवामनगोस्वामी गौड़ीय मठ, कोलकाता (प॰बं॰)	(०३३)२३५१०३६९
१०. श्रीरङ्गनाथ गौड़ीय मठ, बेङ्गलुरु, कर्नाटक	(०८०)२८४६६७६०
११. श्रीगोविन्द गौड़ीय मठ, बेङ्गलुरु, कर्नाटक	९९००१९२७३८
१२. श्रीश्रीगोविन्दजी गौड़ीय मठ, जम्मू	९९०६९०४८०९
१३. श्रीराधे-कुञ्ज, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९४५७२२५५६७
१४. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, नोएडा (उ॰प्र॰)	(०१२०)२५८२०१८
१५. श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ, फरीदाबाद (हरियाणा)	९९११२८३८६९
१६. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, बड़ौत (उ॰प्र॰)	९४११८२६२१५
१७. श्रीकुञ्जविहारी गौड़ीय मठ, अम्बाला (हरियाणा)	९७२९३८४९९५
१८. श्रीराधाविनोदविहारी गौड़ीय मठ, नोएडा (उ॰प्र॰)	९६५०८२४४४२
१९. Pure Bhakti Center, जयपुर (राजस्थान)	७२२९८८२२२८

Please visit us at www.purebhakti.com & www.harikatha.com

समर्पण

भक्त–भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ–भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक–कामिनी–प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करनेवालोंके लिए पाषण्ड–गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध–भागवत–परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप–उप–छलादि धर्मरूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत–अर्ककी प्रभा–राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा. मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'

एम.ए.(संस्कृत) पी–एच.डी.

टंकण

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज

श्रीमान् सुबल सखा दासाधिकारी

श्रीमान् अच्युतानन्द दासाधिकारी

श्रीमती वृन्दा देवी दासी

प्रूफ–संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज

डा. मधु खण्डेलवाल

सहयोग

सुश्री राधिका खण्डेलवाल

प्रच्छद एवं अन्य चित्र

श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा

श्रीमती राधादासी (सपना रमेश खण्डेलवाल, मुम्बई) एवं श्रीजयदेव दास (मुम्बई) इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा–योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपा–भाजन हुए हैं।

विषय–सूची

❁ ❁ ❁

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

रसिककुल चूड़ामणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर

यमराजके द्वारा अपने दूतोंके निकट भागवतधर्मके उत्कर्षका कीर्त्तन

श्रीनृसिंहदेव द्वारा हिरण्यकशिपुका वध

ग्राहकी गन्धर्वत्व एवं गजेन्द्रकी भगवत्-पार्षदत्व-प्राप्ति

पञ्चमः स्कन्धः

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

पञ्चम स्कन्धकी कथाका सार

इस पञ्चम स्कन्धमें स्वायम्भुव मनुके द्वितीय पुत्र प्रियव्रतके वंशका वर्णन हुआ है। महाराज परीक्षित्‌ने जब यह सुना कि प्रियव्रतकी पहले ज्ञान-निष्ठा थी, बादमें विषय-भोग और अन्तमें मोक्ष-प्राप्ति हुई तो उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे जिज्ञासा की कि भगवद्-भक्तोंमें विषयासक्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तब श्रीशुकदेवने इसके उत्तरमें कहा कि भगवद्-भक्ति अप्रतिहता (अवरोधरहित) है। जितेन्द्रिय व्यक्तिके लिए गृहस्थाश्रम कोई भी अनिष्ट नहीं कर सकता। अजितेन्द्रिय वन भी चले जायें तो भी उनकी संसार-वासनाकी निवृत्ति नहीं हो सकती। मनुके वन चले जाने पर प्रियव्रतने ब्रह्माजीके आदेशसे राज्यका भार ग्रहण किया। प्रियव्रतके दस पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। इन्हींके रथाग्रचक्रसे सप्तद्वीप एवं उनकी परिखा अर्थात् उनके चारों ओर खाई-स्वरूप सप्त-समुद्रकी उत्पत्ति हुई। उनके तीन पुत्रोंने चतुर्थाश्रमका (यति धर्मका) अवलम्बन किया एवं शेष सात पुत्र सात द्वीपोंके अधीश्वर हुए। उनकी दूसरी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न तीन पुत्र मन्वन्तराधिपति थे।

महाराज प्रियव्रत श्रीनारदजीके उपदेशसे परमार्थ-साधनमें लग गये और उनके पुत्र आग्नीध्र राजपद पर अधिरूढ़ हुए। वे पुत्रकी कामनासे तपस्या करने लगे। तब ब्रह्माजीने 'पूर्वचित्ति' नामकी एक अप्सराको उनके समीप भेजा। उस अप्सराके गर्भसे आग्नीध्रने नौ पुत्र उत्पन्न किये और उनको नौ वर्षोंका अधिपति बना दिया। आग्नीध्र भोगोंसे अतृप्त थे, इसलिए सर्वदा उस अप्सराका ही चिन्तन करते रहते। अतः मृत्युके बाद उनकी गति अप्सरा लोकमें ही हुई।

आग्नीध्रके पुत्र नाभिने पुत्रकी कामनासे यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिकी आराधना की, तब भगवान् अपने अंशसे ही नाभिके पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए। रूप एवं गुणमें उनके समान कोई भी न था, इसलिए उनका नाम पड़ा 'ऋषभ'। उन्होंने लोक-शिक्षाके लिए

गुरुकुलमें वास किया तथा गुरुकी आज्ञासे समावर्त्तन करके इन्द्र-प्रदत्त 'जयन्ती' नामकी कन्याके गर्भसे सौ पुत्रोंको उत्पन्न किया। इनमें भरत ज्येष्ठ थे और शेष सभीमेंसे नौ जन महाभागवत थे। विषय भोग तो विष्ठाभोजी शूकरगण भी करते हैं, अतः यह मनुष्योंका कर्त्तव्य नहीं है। मनुष्योंकी मुक्ति समस्त प्राणियोंके कल्याणमें रत रहनेसे, देह-गृहादिमें आसक्ति-रहित होनेसे एवं महत् सेवासे प्राप्त होती है। स्त्री-सङ्गसे संसार-बन्धन प्राप्त होता है। जो भक्तिमार्गका पथ बतलाकर अपने आश्रितजनोंको संसारसे मुक्त करानेकी चेष्टा नहीं करते, वे पिता, माता, देवता, भक्त अथवा स्वजनपद-वाच्य नहीं हो सकते। परमहंस गुरुदेव एवं भगवान्में भक्तिसे द्वन्द्व-सहिष्णुता, सर्वत्र सम-दर्शन, कृष्णके लिए अखिल चेष्टा, देह-गृहादिमें आसक्ति-रहितता एवं व्यर्थ वार्त्तालापका परित्याग एवं आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मका बीज 'अविद्या' विनष्ट हो जाती है। मन ही जीवको काम-क्रोधका दास बना देता है। भक्ति सुदुर्लभ है। जो मुक्ति-सिद्धि आदिकी कामनाका त्याग करके केवल भक्तिकी अभिलाषा करते हैं, भगवान् उनको ही भक्ति दान करते हैं। ऋषभदेवकी पारमहंस्य लीलाका श्रवण करके जैन राजा अर्हतने शिक्षा ग्रहण की, बादमें दैवी मायासे प्रेरित होकर पाखण्ड धर्मका प्रवर्त्तन किया। ऋषभदेवने दावानलमें देह-त्याग करके योगियोंको देह-त्यागका प्रकार सिखाया था।

ऋषभदेवके अभिप्रायानुसार भरतने राज्य ग्रहण करके यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिको प्रसन्न करनेका प्रयास किया। इससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया और वासुदेवमें उनकी भक्ति दृढ़ हो गयी। राज्य-भोगादि प्रारब्ध कर्म समाप्त होनेपर उन्होंने पुलहाश्रममें प्रस्थान किया और विष्णुकी आराधनामें लग गये।

एक दिन भरत महाराज नदीमें स्नानके पश्चात् 'प्रणव' का जप कर ही रहे थे कि उन्होंने देखा, एक पूर्ण गर्भवती हिरनी जलपान कर रही है। हठात् सिंहकी गर्जना हुई, जिसे सुनकर वह भयसे विह्वल हो गयी और छलांग मारकर दूसरे पार जानेके लिए उद्यत हुई। इतने ही में उसका गर्भस्थ शिशु जलमें गिर पड़ा और उस

हिरनीने किनारे पर गिरकर प्राण त्याग दिये। महाराज भरत दयापरवश होकर उस मातृहारा शिशुको अपने आश्रममें ले आये और उसका लालन-पालन करने लगे। उस शिशुके प्रति उनकी आसक्ति क्रमशः बढ़ती गयी। वे समस्त साधन-भजन त्याग करके उसकी सेवामें ही सम्पूर्णरूपसे लग गये। एक दिन उस मृगशिशुके दिखायी न देनेपर उन्होंने 'हा मृग, हा मृग' कहते-कहते अकस्मात् प्राण त्याग दिये।

मृगके चिन्तनके परिणामस्वरूप वे दूसरे जन्ममें मृगत्वको प्राप्त हुए, परन्तु पूर्व जन्मकी सुकृतिके बलसे उनकी पूर्वस्मृति विनष्ट नहीं हुई। आत्मकृत विकर्मके कारण विलाप करते-करते उन्होंने मृग-ममताका त्याग कर दिया तथा सदा-सर्वदा हरिनामसे मुखरित पुलस्त्याश्रममें प्रस्थान किया। कर्म-क्षय होनेपर मृग-देहका त्याग करके सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण-पुत्रके रूपमें जन्म ग्रहण किया। पूर्वजन्मका सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मृत था कि किस प्रकार सङ्ग-दोषके कारण अधःपतन हो गया था। अतः इस जन्ममें वे इसी भयसे लोगोंकी दृष्टिमें जड़ एवं उन्मत्तके समान आचरण करते, सर्वदा हरि-चिन्तनमें निमग्न रहते तथा कभी भी भगवत्-विमुखोंका सङ्ग न करते। उनको अस्वाभाविक जानकर लोग उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करते, परन्तु वे कभी भी उनके प्रति भ्रूक्षेप तक न करते। पिताकी मृत्युके बाद वैमात्रेय भ्राताओंने (सौतेली माताके पुत्रोंने) उनको कदर्य (निम्न) कार्योंमें नियुक्त कर दिया और ऐसा ही कदर्य भोजन भी दिया, लेकिन वे इन सबसे विचलित नहीं हुए। एक दिनकी बात है, वे जब शस्य-रक्षाका कार्य कर रहे थे कि उस घोर रात्रिमें किसी तस्करके अनुचर उनको उठा ले गये और भद्रकालीके सम्मुख उनकी बलि देनेके लिए उद्यत हो गये। देवी भगवद्-भक्तके प्रति ऐसे अत्याचारको देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं और उन्होंने उन सभी तस्करोंका संहार कर डाला।

वे प्रतिमाके पूजा-स्थलसे लौट ही रहे थे कि राजा रहूगणकी शिबिका वहन करनेके लिए एक शिबिका-वाहकका अभाव था, उस राजाके अनुचर दैवक्रमसे वहीं उपस्थित हो गये और भरतजीको

शिबिका-वहनमें लगा दिया। भरतजी कहीं किसी जीवकी हत्या न हो जाय, इस भयसे बड़ी सावधानीके साथ अपना पदक्षेप कर रहे थे (कदम बढ़ा रहे थे), जिससे अन्यान्य वाहकोंके साथ उनका गति-वैषम्य हो रहा था। इस कारण शिबिका भी आन्दोलित हो रही थी (हिल-डुल रही थी)। राजा रहूगण क्रोधित हो गया और कटु वाक्य कहने लगा। तब भरतजीने तत्त्वपूर्ण वचनोंके द्वारा राजा रहूगणको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। राजा रहूगणकी चेतना उदित हो गयी। भरतको महाभागवत जानकर वे उनके शरणागत हो गये।

महर्षि भरतने राजाके वैराग्यकी दृढ़ताके लिए भवाटवीका वर्णन किया, जिससे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके राजा रहूगणने देहमें आत्मबुद्धिका परित्याग किया और निज अपराधके लिए क्षमा प्रार्थना की।

भवाटवीका वर्णन रूपक बाँधकर किया गया है। यह महाराज परीक्षित्के लिए दुर्बोध्य था। इस कारण श्रीशुकदेव मुनिने उसके वास्तव अर्थका वर्णन किया। संसार-अनुभूतिके द्वार-स्वरूप पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं दस्युके समान मन अजितेन्द्रिय व्यक्तिको विषय-भोगोंमें लिप्त कराके उसके भगवदाराधनारूप परमधनका अपहरण कर लेते हैं। कुटुम्बी-जन सियार-भेड़ियेके समान मनुष्यके यत्नपूर्वक रक्षित द्रव्यका अपहरण करके अपने भोगोंमें व्यय कर देते हैं। गृहस्थाश्रम कर्मक्षेत्र है, उसका कर्मबीज सम्पूर्णरूपसे नष्ट नहीं होता। तात्कालिक इन्द्रिय-सुखमें प्रमत्त गृहासक्त व्यक्ति असत् कर्ममें रत रहकर भगवत् श्रीचरणोंको विस्मृत कर लेते हैं। कर्मके साक्षीस्वरूप जो देवतागण विराजमान हैं, वह उन्हें देख नहीं पाता। असत्-सङ्गके कारण वे पाखण्ड-मतका आश्रय कर लेते हैं, जिससे वे इस कालमें तो कष्ट पाते ही हैं, परकालमें भी कष्ट प्राप्त करते हैं। अर्थके लिए जीव आत्मीयोंको क्लेश प्रदान करनेमें कोई कसर नहीं छोड़ते और आत्मीयगण व्याकुल रहकर बड़ी अशान्तिसे जीवन यापन करते हैं।

प्रियव्रतके पौत्रोंने जिन नव वर्षका आधिपत्य ग्रहण किया था, वे नव वर्ष जम्बूद्वीपके अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त भूमण्डलमें और भी छह द्वीप हैं। जम्बूद्वीप दस लाख योजन विस्तृत है।

जम्बूद्वीपके अन्तर्गत प्रत्येक वर्षका परिमाण (भद्राश्व एवं केतुमालके अतिरिक्त) नौ सहस्र योजन है। आठ सीमा-निर्देशक पर्वतोंके द्वारा नौ वर्ष विभक्त हैं। विष्णुपादसे उद्भूत गङ्गा प्रत्येक वर्षमें ही बहुत-सी धाराओंमें प्रवाहित हो रही है। भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है, अन्य आठ वर्ष स्वर्गसुखभोगियोंके भोगस्थान हैं। नौ वर्षोंमें ही श्रीहरि नानारूपोंमें विराजमान रहकर पूजित होते हैं।

इलावृत-वर्षमें वैष्णव-प्रवर शम्भु पार्वतीके साथ श्रीहरिकी सङ्कर्षण-मूर्त्तिकी उपासना करते हैं। इधर यदि कोई अन्य पुरुष जाता है, तो भवानीके शापसे वह स्त्रीत्वको प्राप्त हो जाता है।

भद्राश्व-वर्षके अधिपति भद्रश्रवा भगवान्‌की हयग्रीव मूर्त्तिकी उपासना करते हैं। हरिवर्षमें भगवान् नृसिंहदेव अवस्थान करते हैं।

केतुमाल-वर्षमें भगवान् कामदेव-मूर्त्तिमें विराजमान हैं। रम्यक् वर्षमें मनु मत्स्यदेवकी उपासना करते हैं।

हिरण्मय-वर्षमें भगवान् कूर्ममूर्त्तिमें विराजमान हैं। उत्तर कुरुवर्षमें श्रीवराहदेव कुरुखण्डवासियोंके उपास्यरूपमें अवस्थान कर रहे हैं।

किम्पुरुष-वर्षवासी भगवान् रामचन्द्रकी उपासना करते हैं।

देवर्षि नारद भारतवर्षीय प्रजाजनोंके साथ परम-पुरुष भगवान्‌की उपासना करते हैं। यह वर्ष अन्यान्य वर्षोंकी अपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मलोकसे भी श्रेष्ठ है। कारण यह है कि ब्रह्मलोकसे भी जीवका पुनरावर्त्तन होता है, किन्तु इस भारतवर्षमें अपने वर्ण तथा आश्रम-धर्मको भगवान् विष्णुमें समर्पण कर देनेपर पुनरावर्त्तन नहीं होता। इस भारतवर्षमें जन्म ग्रहण करके भी जो भगवत्-सेवासे विरत रहता है, उसकी अवस्था अति शोचनीय है।

प्लक्ष, शाल्मली, कृश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर सभी द्वीपोंमें ही सात-सात वर्ष हैं। सभी द्वीप एक-एक समुद्रसे परिवेष्टित हैं। प्रत्येक वर्षमें भगवान् विष्णु विभिन्न मूर्त्तियोंमें पूजित होते हैं।

भू एवं भुवर्लोकके अन्तःस्थलमें सूर्यदेव अवस्थित हैं। इस स्थानका परिमाण पच्चीस कोटि योजन है। सौर-रथके संवत्सर नामक चक्रमें कालचक्र प्रतिष्ठित है। अनुष्टुपादि सात छन्द सूर्यके अश्व हैं। रथके युगकी लम्बाई नौ लाख योजन है। इसी रथमें अरुणदेव सातों

अश्वोंको जोतकर सूर्यको वहन करते हैं। आदित्यदेव नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तारवाले भूमण्डलका दो हजार योजनसे अधिक स्थान एक क्षणमें ही भ्रमण कर लेते हैं।

सूर्यमण्डलसे एक लाख योजन ऊपरमें चन्द्र ग्रह है। इसके प्रत्येक दो लाख योजन ऊपरी भाग पर अन्यान्य ग्रह अवस्थित हैं। ग्रहोंके ऊपरी भाग पर सप्तर्षि-मण्डलसे तेरह लाख योजनकी दूरी पर विष्णुका परम पद है। वहाँ पर इन्द्र, कश्यप, प्रजापति, अग्नि, धर्म इत्यादि द्वारा बहु-सम्मानित होकर ध्रुव विराजमान हैं। कालचक्रस्थ ज्योतिर्गण ध्रुवकी चारों ओर परिक्रमा करते हैं।

सूर्य एवं चन्द्रमण्डलके अधोदेशमें राहू नामक ग्रहकी अवस्थिति है। सूर्य और चन्द्रमाके अन्तरालमें (मध्यमें) राहूकी अवस्थिति 'ग्रहण' कही जाती है। ऋजु (सीधे-सरल) एवं वक्र भावसे उसके अवस्थान-क्रममें सर्व-ग्रास एवं अर्ध-ग्रास ग्रहण होता है। राहू ग्रहके दस लाख योजन नीचे सिद्ध, चारण, विद्याधर, यक्ष एवं राक्षसोंका वासस्थान है। इसके नीचे पृथ्वीके अधोदेशमें प्रत्येक दस लाख योजनकी दूरी पर सप्त पाताल वर्त्तमान हैं। वहाँ सूर्यालोकके प्रवेश न रहने पर भी नागोंके मस्तक पर स्थित मणियोंकी छटासे अन्धकार दूर हो जाता है। अतलमें मयदानवके पुत्र बलका वास है, वितलमें हरगौरीका वासस्थान है। सुतलमें महाभागवत बलि अवस्थान करते हैं। तलातलमें मयदानवका वास है। इसके नीचे महातल, रसातल एवं पातालमें सर्पोंका आवास-स्थल है।

पातालके मूलदेशमें भगवान् अनन्तदेव विराजमान हैं। उनके फण पर समग्र ब्रह्माण्ड सरसोंके दानेके समान अवस्थित है। उनके ललाट-देशसे संहारकारी रुद्रकी उत्पत्ति हुई है। ये अनन्तदेव समस्त जीवोंका सम्यक् रूपसे आकर्षण करते हैं, इस कारण उनका नाम सङ्कर्षण है। उनके ईक्षण-प्रभावसे प्रकृतिकी त्रिगुणात्मक सृष्टि, स्थिति और पालनादि कार्य सम्भव होते हैं, उनके प्रभाव अर्थात् महिमाका अन्त नहीं है।

❀ ❀ ❀

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

पञ्चमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

प्रियव्रत-चरित्र

श्रीराजोवाच—

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुने (श्रीशुकदेव गोस्वामी)! महाराज प्रियव्रत तो आत्मानन्दमें सदैव विभोर रहनेवाले परम भागवत थे, फिर वे गृहस्थ धर्ममें किस प्रकार लीन हो गये? गृह तो कर्मबन्धन एवं स्वरूप-विस्मृतिका (स्वरूप-ज्ञानक

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति॥ २ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ मुने! ऐसे आत्माराम, फलाभिसन्धिरहित अर्थात् कर्मफलकी कामनाओंसे रहित निसङ्ग महापुरुषोंका गृहस्थाश्रममें आसक्त होना निश्चय ही उचित नहीं है॥२॥

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमःश्लोकपादयोः।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः॥ ३ ॥

हे ब्रह्मर्षे! जिनका चित्त पवित्रकीर्त्ति भगवान्क
शीतल छायाका आश्रय लेकर प्रशान्त हो गया है, ऐसे महाभागवतजनोंकी मति निश्चय ही पत्नी, पुत्र, गृह, क
रख नहीं सकती॥३॥

संशयोऽयं महान् ब्रह्मन् दारागारसुतादिषु।
सक्तस्य यत् सिद्धिरभूत् कृष्णे च मतिरच्युता॥ ४॥

हे ब्रह्मन्! हमें इस बातका बड़ा संशय है कि स्त्री, पुत्र एवं गृहादिमें आसक्त रहकर भी महाराज प्रियव्रतने किस प्रकार भगवत्-सामीप्यादि-रूप सिद्धि प्राप्त कर ली और किस प्रकार उनकी श्रीकृष्णमें अविचल भक्ति बनी रही॥४॥

श्रीशुक उवाच—

बाढमुक्तं भगवत उत्तमःश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति॥ ५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आपने जो कहा वह सत्य है, किन्तु जिनका चित्त उत्तमःश्लोक (शिव, ब्रह्मादि द्वारा वन्दनीय) श्रीहरिक
सुगन्धित, सुक
मधुप्रवाहमें) आविष्ट हो जाता है, वे परमहंस भागवतजन प्राणोंकी अपेक्षा प्रिय श्रीवासुदेवकी कथाको ही परम पदवी (परम कल्याणमय मार्ग)क
बाधाओंक
श्रीवासुदेव भगवान्‌की लीला-कथारूपी पदवीको प्रायः नहीं छोड़ते॥५॥

यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणः अवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद् यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः॥ ६॥

हे राजन्! मनुक
नारदक

ही बोध हो गया था। वे आत्मतत्त्व चिन्तनक
लक्षणोंसे युक्त वास्तव-वस्तु तत्त्व अर्थात् भगवान्क
दिव्य ज्ञानरूपी दीक्षा प्राप्त करनेका संकल्प लेनेवाले ही थे, उसी समय पिता मनुने प्रियव्रतको शास्त्रोक्त श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न देखकर राज्य शासनक
करक
ही पड़ता है, यह विचार करक
पालन नहीं किया, जब कि यह आज्ञा उल्लङ्घनक
नहीं थी॥६॥

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसित सकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार॥७॥

जो सत्त्वादि गुणोंक
इस जगत्क
लोगोंक
मूर्त्तिमान् समस्त वेदों एवं अपने पार्षदों मरीचि आदि ऋषियोंको साथ लेकर सत्यलोकसे प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुए॥७॥

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथम-मरपरिवृढैरभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्य-चारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प॥८॥

जब ब्रह्मा हंसवाहनपर सवार होकर नीचे उतरने लगे, तब आकाशमें उनकी प्रभा तारोंक
रही थी। पथमें यहाँ-वहाँ विमानोंपर सवार इन्द्रादि प्रधान देवता उपहारोंक
चारण और मुनि उनका यशोकीर्त्तन कर रहे थे। इस प्रकार सर्वत्र आदर सम्मान पाते हुए एवं गन्धमादन पर्वतकी घाटीको प्रकाशित करते हुए ब्रह्मा प्रियव्रतक

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवाभ्युत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे॥ ९॥

वहाँ गन्धमादनकी घाटीमें नारदने एकान्तमें प्रियव्रतको आत्मतत्त्वका उपदेश प्रदान किया था और मनु भी अपने पुत्रको ले जानेक
लिए वहीं उपस्थित थे। उसी समय देवर्षि नारदने ब्रह्माक
हंसको देखा, तो समझ गये कि उनक
हुआ है। वे स्वायम्भुव मनु और प्रियव्रतक
खड़े हो गये और हाथ जोड़कर परम आदरक
स्तुति करने लगे॥९॥

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतार-सुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच॥ १०॥

हे भारत! नारदने विधि-विधानसे पूजाकर मधुर स्तुति-वचनोंसे उनक
ब्रह्मा प्रसन्न होकर प्रियव्रतकी ओर मधुर-मन्द मुसकानसे देखते हुए कहने लगे॥१०॥

श्रीभगवानुवाच—

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्।
वयं भवस्ते तत एष महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम्॥ ११॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे वत्स प्रियव्रत! मैं तुम्हें सत्य सिद्धान्त बतला रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो—तुम, तुम्हारे पिता, तुम्हारे गुरु देवर्षि नारद तथा मैं हम सभी परतन्त्र हैं और परम स्वतन्त्र परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करते हैं। इन्द्रियज ज्ञानक
जान नहीं सकोगे—इसलिए उनपर कभी दोषारोपण मत करना॥११॥

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा न योगवीर्येण मनीषया वा।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात्॥ १२॥

कोई भी जीव तपस्या, ज्ञान, उत्तमयोग-प्रभाव, सामादि बुद्धि-बल, अर्थ, धर्म अथवा अन्य किसी भी बलवान् शक्तिका आश्रय

लेकर अथवा निज शक्तिक
नहीं सकता॥१२॥

भवाय नाशाय च कर्म कर्त्तुं शोकाय मोहाय सदा भयाय।
सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते॥१३॥

हे वत्स! समस्त जीव अव्यक्त ईश्वर द्वारा प्रदत्त देह धारणकर जन्म, मरण, शोक, मोह, भय, सुख, दुःखका भोग करते हैं तथा कर्म करनेको बाध्य होते हैं॥१३॥

यद्वाचि तन्त्र्यां गुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः॥१४॥

हे वत्स! जिस प्रकार नाकमें रस्सीसे नथे हुए बैल आदि चार पैरवाले पशु द्विपद मनुष्योंकी इच्छाक
ढोते हैं, उसी प्रकार हे वत्स! हम भी भगवान्‌की वेदवाणी रूप रस्सीसे सत्त्वादि गुणोंक
करनेक
बँधकर भगवान्‌की इच्छानुसार ही कर्म करते हैं॥१४॥

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात्।
आस्थाय तत् तद्यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः॥१५॥

हे प्रियव्रत! कर्मफल-प्रदाता भगवान् हमारे गुण-कर्मोंक
हमें देव, तिर्यकादि शरीर प्रदान करते हैं। उन-उन देहोंको स्वीकार करक
भोगते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति आँखवाले पुरुषक
प्राप्तकर उसका अनुसरण करता है॥१५॥

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात् स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान् न वृङ्क्ते॥१६॥

हे प्रियव्रत! मुक्त पुरुष कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धिसे रहित होकर अपने प्रारब्ध कर्मोंक
हैं, जिस प्रकार निद्रा टूटनेपर मनुष्य स्वप्नमें देखे हुए विषयको

स्मरण करता है, किन्तु वह उन गुण-कर्म और वासनाओंको स्वीकार नहीं करता, जिनक
पड़ते हैं॥१६॥

भयः प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥१७॥

गृह छोड़कर वनमें चले जानेपर भी अजितेन्द्रिय पुरुषको संसारका भय बना ही रहता है, क्योंकि चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन—इन छह शत्रुओंसे उसका पीछा नहीं छूटता, इनसे उसका सम्बन्ध बना ही रहता है। जो इन्द्रियोंको जीतकर परमात्मामें ही रति रखता है, गृहस्थाश्रम उसका क्या बिगाड़ सकता है?॥१७॥

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन् क्षीणेषे कामं विचरेद्विपश्चित्॥१८॥

जो इन (चक्षु, मनादि) छह शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें सबसे पहले घरमें ही रहकर इन्हें वशमें करनेका प्रयास करना चाहिए। शत्रुओंक
अथवा किसी भी स्थान पर विचरण कर सकता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति गृहस्थरूपी दुर्गका आश्रयकर षड् रिपुओंपर विजय प्राप्त कर सकता है। इसक
वनमें विचरण करे॥१८॥

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोशदुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः।
भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान् विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व॥१९॥

हे प्रियव्रत! पद्मनाभ श्रीनारायणक
आश्रय लेकर तुम इन छहों शत्रुओंको विशेषरूपसे जीत चुक
अतः अब गृहस्थाश्रममें रहकर अपने प्रभुक
भोगो, बादमें पुत्र, स्त्री आदि सब छोड़कर वनमें जाकर श्रीहरिकी आराधना करना॥१९॥

श्रीशुक उवाच—

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह॥ २०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब त्रिभुवन-गुरु ब्रह्माजीने इस प्रकार आदेश दिया, तब परम भागवत प्रियव्रतने छोटा (उनका पौत्र) होनेक

साथ स्वीकार कर लिया कि "आपने जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा"॥२०॥

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषम-मभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगात्॥ २१॥

इसक

प्रियव्रत और नारदक

(ब्रह्मा सोच रहे थे कि प्रियव्रतका योग भ्रष्ट हुआ है और नारदका भी शिष्यगत मनोरथ नष्ट हुआ है, अतः वे दोनों ही उन्हें क

दृष्टिसे देख रहे होंगे, परन्तु ऐसा नहीं था।) प्रियव्रत एवं नारद दोनों ही उन्हें सरल भावसे देख रहे थे। निवृत्त प्रियव्रतको पुनः प्रवृत्तिमार्गमें प्रविष्ट करा दिया है—इस कारणसे ब्रह्माको बड़ा दुःख था। परब्रह्मके उस व्यवहारातीत स्वरूपका चिन्तन करते हुए वे अपने धाम चले गये, जो वाणी और मनके अगोचर है॥२१॥

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरा-मण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम॥ २२॥

इधर ब्रह्माक

देवर्षि नारदकी आज्ञासे भूमण्डलक

पुत्र प्रियव्रतका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं भोगवासनाओंक अति दुस्तर तथा विषमय संसार-जलाशयसे निवृत्त हो गये॥२२॥

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिल-जगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरत-ध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्द्धनो महतां महीतलमनुशशास॥ २३॥

इस प्रकार भूपति प्रियव्रतने ईश्वरकी इच्छासे राज्यभारको प्राप्त किया। जो अपने प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्क
देते हैं—उन आदिपुरुष श्रीभगवान्क
चिन्तनसे यद्यपि प्रियव्रतक
दग्ध हो चुक
ब्रह्मादि श्रेष्ठजनोंका मान रखनेक
करने लगे॥२३॥

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान् दश भावयाम्बभूव कन्याञ्च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम॥ २४॥

तदनन्तर प्रियव्रतने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया। उन्होंने पत्नीक
पराक्रमसे विभूषित दस महत् पुत्र एवं ऊर्जस्वती नामकी एक कन्याको जन्म दिया। यह कन्या सबसे छोटी थी॥२४॥

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथि-वीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः॥ २५॥

परीक्षित्! इन दस पुत्रोंका अग्नि देवताक
हुआ—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र एवं कवि॥२५॥

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन्॥ २६॥

इनमें कवि, महावीर और सवन—ये तीन नैष्ठिक (जितेन्द्रिय) ब्रह्मचारी थे। इन तीनोंने बाल्यकालसे ही ब्रह्मविद्याका अभ्यास

करते हुए अन्तमें पारमहंस्य धर्म अर्थात् संन्यासाश्रमको स्वीकार कर लिया था॥२६॥

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरत-स्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः॥ २७॥

संन्यासी होनेक

थे। वे हर पल, हर क्षण सम्पूर्ण जीवोंक

लोगोंक

करते रहते थे। भक्तियोगक

गया था और उनमें समग्र चित् एवं अचित्क

चिद-अचित् शक्तिसे युक्त) भगवान्का आविर्भाव हो गया था। उन्होंने औपाधिक देह (देहादिमें अहंता, ममता) एवं मनोधर्मका परित्याग करक

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः॥ २८॥

प्रियव्रतकी और भी एक पत्नी थी। उसक

और रैवत नामक

नामवाले तीन मन्वन्तरोंक

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसंभूतदोर्दण्डयुगलापीडित मौर्वी-गुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो रसम्भूतदोर्दण्ड बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमान-प्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमान-विवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे॥ २९॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंक

महामना प्रियव्रत ग्यारह अर्बुद (अरब) वर्षोंतक पृथ्वीका शासन करते रहे। जब वे अखण्ड पौरुषमयी और वीर्यवती भुजाओंसे धनुषकी डोरी

खींचकर टङ्कार करते थे, तब सभी धर्मद्रोही उस ध्वनिको सुनकर बिना युद्ध किये ही छिप जाया करते थे। उन्होंने विषयोंका भी निपुणतासे भोग किया था। पत्नी बर्हिष्मतीक
लज्जा एवं संकोचक
शृङ्गार तथा मनोमुग्धकारी परिहासवचनोंसे उनका प्रणय दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। प्रतीत होता था कि महाराज प्रियव्रत विषयासक्तिक
भूल गये हैं, परन्तु वास्तवमें वे विषयोंमें आसक्त नहीं थे॥२९॥

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्द्धेनैव प्रतपत्यर्द्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभाव-स्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेण रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्ग एवः कुर्वाणं प्रियव्रतमागत्य चतुराननविधकारोऽयं न भवतीति निवारयामास॥३०॥

प्रियव्रतका शासन सुचारु रूपसे चल रहा था, तभी एक बार उन्होंने यह देखा कि तेजवान् सूर्य लोकालोक पर्वत तक किरणोंको बिखराते हुए जब सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, उस समय पृथ्वीका आधा भाग प्रकाशित रहता है और आधे भागमें अन्धकार छाया रहता है। यह आधा अन्धकार रहना उन्हें पसन्द नहीं आया। उन्होंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की—"मैं अपने प्रभावसे रात्रिको दिन बना डालूँगा।" इस अभिप्रायसे उन्होंने सूर्यक
ज्योतिर्मय रथपर सवार होकर दूसरे सूर्यकी ही भाँति उनक
पृथ्वीक
प्रभावसे उनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था, अतः यह कार्य उनक
कि उसी समय चतुरानन ब्रह्मा उनक
हे वत्स! यह कार्य तुम्हारे अधिकारक

ये वा उह तद्रथचरणनेमिकृताः परिखातास्तेसप्त सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः॥३१॥

इस प्रकार प्रियव्रतक
बनीं, वे ही प्रसिद्ध सात समुद्र बन गये। इन सात समुद्रोंसे पृथ्वी सात द्वीपोंमें विभक्त हो गयी॥३१॥

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञाः तेषां परिमाणं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः॥ ३२॥

सात समुद्रोंक
प्लक्ष, शाल्मलि, क
परिणामानुसार क्रमशः एक दूसरेसे दुगुने हैं और समुद्रक
भागमें चारों दिशाओंमें फ

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्तद्वीपपरिखा इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक् पृथक् परित उपकल्पिताः। तेषु जम्ब्वादिषु बर्हिष्मतीपतिरनुवृतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहु हिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधा-तिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् यथासंख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे॥ ३३॥

जिस प्रकार एक-एक समुद्रक
स्थित है, उसी प्रकार एक-एक द्वीपक
है, इन समुद्रोंक
और जल—ये सात प्रकारक
द्वीपोंकी खाईक
हैं। इन द्वीपोंका जितना परिमाण है, उन समुद्रोंका परिमाण भी उतना ही है। परीक्षित्! बर्हिष्मती-पति प्रियव्रतने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र नामक सात पुत्रोंमें-से प्रत्येकको एक-एक द्वीपका राजा बना दिया॥३३॥

दुहितरञ्चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद्देवयानी नाम काव्यसुता॥ ३४॥

प्रियव्रतने अपनी पुत्री ऊर्जस्वतीका विवाह शुक्राचार्यक
कर दिया। इसीसे देवयानी नामकी एक पुत्रीका जन्म हुआ॥३४॥

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्॥ ३५॥

हे महाराज! जिन भक्तोंने उरुक्रम (अद्भुतशक्ति सम्पन्न) भगवान्क
जरा तथा मृत्यु—इन छह गुणोंपर विजय प्राप्त कर ली है, उनका इस प्रकारका पौरुष प्रकट होना क
वर्ण-बहिष्कृत अन्त्यज—चाण्डाल आदि नीच योनिका पुरुष भी यदि एक बार भगवान्क
उसी क्षण वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥३५॥

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतित-गुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह॥ ३६॥

एक बार असीमित बल पराक्रमशाली महाराज प्रियव्रत देवर्षि नारदजीक
भोगोंकी प्राप्तिको प्रपञ्च (छलावा) मात्र समझकर उसक
स्वयंको अशान्त-सा मानने लगे और मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे—॥३६॥

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचित-विषमविषयान्धकूपेतदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार॥ ३७॥

अहो! मुझसे ऐसा कौन-सा अन्याय हो गया? मेरी इन्द्रियोंने मुझे इतने दिनोंसे अविद्या-जनित विषम विषयरूप अन्ध-क
डाल रखा है। अब विषय-भोग बहुत हो गया, अब इससे मुझे और प्रयोजन नहीं है। हाय! मैं तो कामिनीक
हो गया। मुझे धिक्कार है, धिक्कार है! यह कहते हुए प्रियव्रत अपने-आपको कोसने लगे॥३७॥

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः स्वपुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगाञ्च महिर्षीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार॥ ३८॥

परमपुरुष श्रीभगवान्की कृपासे उन्हें अपने स्वरूपकी उपलब्धि हुई। हृदयमें विषयोंसे वैराग्य और श्रीहरिक
जाग उठी। उन्होंने सारी पृथ्वीका यथायोग्य विभाजन किया और अपने पुत्रोंको सौंप दिया, साथ ही भुक्त-भोग साम्राज्य-लक्ष्मी और अपनी पत्नीका मृतदेहक
नारदजी द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करने लगे॥३८॥

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन्॥ ३९॥

हे राजन्! महाराज प्रियव्रतकी महिमा सर्वविदित है। इस सम्बन्धमें अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं—महाराज प्रियव्रतने जो कार्य किये, उन्हें श्रीभगवान्क
रात्रिक
लकीरोंसे ही सात समुद्र बना डाले॥३९॥

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः॥ ४०॥

महाराज प्रियव्रतने प्राणियोंक
तदनन्तर जीवोंमें पारस्परिक विवाद न हो, इसलिए प्रत्येक द्वीपमें नदी, पर्वत और वनादिकी रचना करक
कर दी॥४०॥

भौमं दिव्यं मानुषञ्च महित्वं कर्मयोगजम्।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीप्रियव्रतविजयो नाम प्रथमोऽध्यायः।

परमपुरुष श्रीभगवान्क
प्रियजन थे। उन्होंने स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक एवं कर्म और योगसे सिद्ध होनेवाले ऐश्वर्योंको नरकवत् समझा था॥४१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

आग्नीध्र-चरित्र

श्रीशुक उवाच—

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार प्रियव्रत राज्य-पालनादि कार्योंसे मुक्त हो गये। उनकी आज्ञासे उनक
इन कार्योंमें संलग्न रहकर धार्मिक सिद्धान्तोंक
प्रजाओंका अपनी सन्तानक

स च कदाचित् पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्वी आराधयाम्बभूव॥ २॥

किसी समय राजा आग्नीध्र पितृलोककी प्राप्ति करानेवाले सत्पुत्रकी कामनासे सुर-सुन्दरियोंकी क्रीड़ास्थली मन्दराचलकी घाटीमें पहुँचे और वहाँ पुष्पादि पूजाक
लिए तत्पर होकर एकाग्रचित्तसे ब्रह्माकी आराधना करने लगे॥२॥

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास॥ ३॥

आदिपुरुष ब्रह्माको जब आग्नीध्रकी तपस्याक
पता चला, तब उन्होंने देवसभाकी गायिका पूर्वचित्ति नामकी एक श्रेष्ठ अप्सराको उनक

सा च तदाश्रमोपवनमति रमणीयं विविधनिबिडविटपिविटपनिकर-संश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः

प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामल-जलाशयकमलाकरमुपबभ्राम॥ ४॥

आग्नीध्रक
था। वहाँ नाना प्रकारक
पर स्वर्ण लताएँ जड़ी हुई थीं। इन शाखाओंक
मयूरादि स्थलचारी विहंग-जोड़े षड्जादि मधुर स्वरोंसे क
रहे थे, जिसे सुनकर जलक
पक्षी भी विचित्र कलरव करने लगे थे। इससे वहाँक
सुशोभित निर्मल सरोवर गूँजने लगते थे। पूर्वचित्ति इसी आश्रमक
निकट आकर भ्रमण करने लगी॥४॥

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमान-रुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलित-नयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट॥ ५॥

पूर्वचित्ति जब विलासपूर्ण पाद-विक्षेप एवं सुललित गति विलाससे चलती थी, तब उसक
थे। उसक
झंकृत हो उठती, जिसे सुनकर राजपुत्र आग्नीध्र ध्यानमें अधमुँदे नयन-कमलोंको क

तामेवाऽविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासव-सहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तन-कलसकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच॥ ६॥

उन्होंने देखा कि वह अप्सरा समीपमें ही भ्रमरीक
पुष्पोंको सूँघ रही थी। उस अप्सराकी विलासमयी गति देवताओं तथा मनुष्योंक

उसका विहार, लज्जा, विनयपूर्ण दृष्टि, सुमधुर स्वर, वाणी एवं नेत्रादि अङ्ग मनुष्योंक
बना रहे थे। जब वह हँस–हँसकर बोलने लगती तब ऐसा प्रतीत होता कि उसक
निःश्वासकी गन्धसे मदान्ध होकर भौंरे उसक
लेते। इससे व्याक
चलती, तो उसक
बड़े ही सुहावने लगते। आग्नीध्रने जैसे ही इस सुन्दरीको देखा, वैसे ही वे कामदेवक
कारण उनका सारा ज्ञान धरा रह गया और उसक
उसे प्रसन्न करनेक
और कभी स्त्रीरूपमें सम्बोधित करने लगे॥६॥

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किंवा मृगान् मृगयसे विपिने प्रमत्तान्॥७॥

आग्नीध्रने कहा—हे मुनिवर्य! तुम कौन हो और इस पर्वत पर तुम क्या करना चाहते हो? तुम क्या ब्रह्मादि देवताओंक
भी उपास्य परदेव भगवान्की माया हो? (दोनों भौहोंकी ओर लक्ष्य करक
अपने लिए धारण कर रखा है अथवा इस संसाररूपी अरण्यमें मुझ जैसे अजितेन्द्रिय कामातुर मतवाले मृगोंका शिकार करना चाहते हो?॥७॥

बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिराववतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन् न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोस्तु॥८॥

(कटाक्षकी ओर सङ्क
कमलक
शृङ्गारिकताक
अत्यन्त शक्तिशाली बाण हैं, वे पंखहीन (बाणक
स्थित दीर्घशलाकासे रहित) होकर भी अतिशय शोभाशाली हैं, किन्तु इनका अग्रभाग अति तीक्ष्ण है। इस वनमें विचरण करती हुई तुम इन बाणोंको किसक
जानता। यहाँ तुम्हारा सामना करनेवाला कोई भी दिखायी नहीं पड़ता। जो भी हो, मुझ मन्दबुद्धिकी एकमात्र यही प्रार्थना है कि तुम्हारा यह पराक्रम मेरे मङ्गलक

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम्।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः॥ ९॥

(उस अप्सराक
अनुगमन कर रहे थे—यह देखकर आग्नीध्र कहने लगे)—हे प्रभो! महामहिम! आपक
साथ क्या सामवेदका गान कर रहे हैं? ऋषि जिस प्रकार वेदोंकी शाखाका सेवन करते हैं, उसी प्रकार आपक
चोटीसे गिरती हुई पुष्प-वृष्टिका सेवन कर रहे हैं॥९॥

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम्।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते॥ १०॥

(नूपुर-झंकारकी ओर सङ्क
होता है कि तुम्हारे नूपुरोंक
सुनायी दे रही है, परन्तु वह दिखायी नहीं दे रहा है। (पूर्वचित्तिक

परिधान वस्त्रोंमें एक पीले रङ्गका झीना वस्त्र उसक
संलग्न था, जिसमें-से लावण्य झिलमिला रहा था—उसकी ओर
सङ्क
श्याम वर्णका है, परन्तु वह कदम्बक
रङ्गका क
अलातचक्र अर्थात् ज्वलन्त अङ्गारोंक
रेखा है, वह क्या है? (पहने हुए वस्त्रोंमें भी नितम्बकान्तिक
कारण उन्होंने कल्पना की कि वस्त्र नहीं पहना है, अतः पूछने
लगे) तुम्हारा वल्कल (परिधेय) वस्त्र कहाँ है?॥१०॥

किं संभृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्-
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि॥११॥

(दोनों स्तनोंकी ओर लक्ष्य करक
उन्नत, अतीव मनोहर तुम्हारे इन दोनों पयोधरोंमें क्या भरा है,
अवश्य ही इनमें बहुमूल्य रत्न भरे हुए हैं। तुम्हारी कमर तो
अत्यन्त पतली है, तो भी तुम इनका बोझ ढो रहे हो। वहाँ
जाकर तो मेरी दृष्टि भी मानो अटक गयी है (स्तनोंमें लगे
क
अरुण वर्णका सुगन्धित यह लाल-लाल लेप-सा क्या लगा रखा
है? यह कहाँसे आ गया? हे सौभाग्यवान्! तुम्हारे इस अङ्गरागकी
गन्धसे मेरा सारा आश्रम सुवासित हो उठा है॥११॥

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति बह्वद्भुतं सरसराससुधादि वक्त्रे॥१२॥

हे मित्रवर! तुम अपने देशका एक बार मुझे दर्शन कराओ
जहाँक
हैं, जिन्हें देखकर मेरे जैसे लोगोंक
हो रहे हैं? उनक

कल्पना की जा सकती है कि उनक
अधरामृत रहता होगा॥१२॥

का वात्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचि–
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते॥१३॥

हे सखे! तुम अपने जीवन धारणक
ताम्बूल चर्वण करनेक
निकल रही है! इससे प्रतीत होता है कि तुम विष्णुकी कला हो और यज्ञसे सम्बन्धित किसी पवित्र द्रव्यका भोजन करते हो। (यज्ञादिक
किसी द्रव्यका भोजन नहीं करते, अतः तुम उस भोजनका ही अवशेष ग्रहण करते हो।) तुम्हारा मुखमण्डल सरोवरकी शोभाको धारण कर रहा है। तुम्हारे कानोंमें दो रत्नजड़ित मकराकृति क
हैं। तुम्हारे दोनों नयन मछलीक
तुम्हारे मुख–सरोवरमें बिना पलकक
मीन विहार कर रहे हैं। तुम्हारे दाँतोंकी धवल (सफेद) पंक्ति राजहंसोंकी पंक्तिक
लोभी भ्रमरोंक

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरुथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम्॥१४॥

जब तुम अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस गेंदको उछालती हो, तब भ्रान्त चित्तवाले मेरे दोनों नेत्रोंको चञ्चल बना देती हो, साथ ही मेरे मनमें भी चञ्चलता उत्पन्न कर देती हो। तुम्हारे घुँघराले बालोंका बँधा हुआ बाँका जूड़ा खुल रहा है, तुम इसे

बाँधती क्यों नहीं? यह धूर्त पवन लम्पट पुरुषक
आसक्त होकर तुम्हारे नीवी-वस्त्रको उड़ा रहा है। क्या तुम्हें क
सुध भी है?॥१४॥

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किंवा प्रसीदति स वै भवभावनो मे॥ १५॥

हे तपोधन! तपस्वियोंको तपसे भ्रष्ट करनेवाला यह अद्भुत रूप तुमने किस तपस्याक
मुझे सुखी करनेक
रहेगा अथवा कहीं विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीने मुझपर प्रसन्न होकर तुम्हें मेरी पत्नी बनाकर तो नहीं भेजा है?॥१५॥

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं
यस्मिन् मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम्।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः॥ १६॥

द्विजदेव! सत्य ही ब्रह्माजीकी कृपासे तुम मुझे मिल गये हो। अब मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। तुममें तो मेरे मन, नयन ऐसे आविष्ट हो गये हैं कि वहाँसे हटना ही नहीं चाहते। हे चारु-शृङ्गि! (सुन्दर वक्षःस्थलवाली!) मैं तुम्हारे अनुगत हूँ। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, मुझे वहीं ले चलो। तुम्हारी ये मङ्गलमयी सखियाँ भी अनुक

श्रीशुक उवाच—

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! राजा आग्नीध्र देवतुल्य बुद्धिमान् थे। स्त्रियोंको प्रसन्न करनेकी कलामें भी वे अतिशय

निपुण थे। उन्होंने ग्राम्य रसिकतामयी (रतिचातुर्यमयी) मीठी-मीठी बातोंसे पूर्वचित्तिको प्रसन्न कर लिया॥१७॥

सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपविद्यावयःश्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान् बुभुजे॥ १८॥

वीरश्रेष्ठ आग्नीध्रकी विद्या, बुद्धि, आयु, स्वभाव, श्री और उदारता देखकर पूर्वचित्तिका मन आकृष्ट हो गया। उसने जम्बूद्वीप अधिपति आग्नीध्रक

सुखोंका उपभोग किया॥१८॥

तस्यामुह वा आत्मजान् स राजवर्य आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुष-हरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान् नव पुत्रानजनयत्॥ १९॥

तदनन्तर महाराज आग्नीध्रने पूर्वचित्तिक

हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, क

नामक

सा तु सूत्वाथ सुतान् नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे॥ २०॥

पूर्वचित्तिने प्रतिवर्ष एक-एक करक

उन पुत्रोंको राजभवनमें ही छोड़कर पुनः ब्रह्माजीकी उपासनाक लिए (अर्थात् अपने सङ्गीत कार्यक

हो गयी॥२०॥

आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथा विभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः॥ २१॥

पूर्वचित्तिक

सुडौल और बलवान् शरीरवाले थे। पिता आग्नीध्रने अपने पुत्रोंक लिए उनक

वर्ष (भूखण्ड) बना दिये। वे सब अपने-अपने वर्षका पालन करने लगे॥२१॥

आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते॥ २२॥

राजा आग्नीध्र स्वयंको विषय-भोगोंसे अतृप्त ही अनुभव करते रहे। हर क्षण वह उस अप्सराको ही परम पुरुषार्थ मानते थे। अतः वेदोक्त फलानुसार उन्हें अप्सरा लोककी प्राप्ति हुई। इस लोकमें पितृगण भी आनन्दपूर्वक भोग करते हैं॥२२॥

सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितृर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देवदीधितिमितिसंज्ञा नवोदवहन्॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

पिताक
नौ कन्याओंसे विवाह कर लिया। उनक
उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देव-दीधिति॥२३॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

राजा नाभिका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहिता–त्मायजत॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आग्नीध्रक
नाभि एवं उनकी पत्नी मेरुदेवी निःसन्तान थे। उन दोनोंने पुत्रकी कामनासे एकाग्रचित्त होकर भगवान् यज्ञेश्वर श्रीविष्णुकी आराधना की॥१ ॥

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार॥ २ ॥

यद्यपि परम सुन्दर अङ्गोंवाले भगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक, दक्षिणा और विधि—इन सात सम्पत्तिरूप उपायोंक
दुष्प्राप्य हैं, तथापि वे भक्तवत्सल हैं। अतः जब भक्त महाराज नाभिने विशुद्ध भावसे तथा श्रद्धा और भक्तिक
प्रारम्भ किया तब अपने भक्तोंक
लिए भगवान्का चित्त उत्सुक हो उठा। स्वतन्त्र ईश्वर होनेपर भी वे भक्तोंक
चतुर्भुज श्रीमूर्त्तिमें प्रकट हो गये॥२ ॥

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुह–वनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवर–मणिमयमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषित–

मृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमान-मर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

परीक्षित्! तेजोमय पुरुषोत्तम भगवानकी चार भुजाएँ थी, उन्होंने कटिदेशमें पीतवर्णका रेशमी वस्त्र पहन रखा था, वक्षःस्थलपर सुमनोहर श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित हो रहा था। चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म तथा गलेमें वनमाला एवं कौस्तुभमणि धारण कर रखे थे, अङ्ग-प्रत्यङ्गकी कान्तिको विकसित करनेवाले अत्युज्ज्वल श्रेष्ठ मणियों एवं रत्नोंसे जड़ित आभूषण—मुक
वलय, कटिसूत्र, हार, क
जिस प्रकार अपार धन प्राप्त करक
प्रकार ऋत्विक् सदस्य और गृहपति (यजमान) नाभि आदि सभी परम सुन्दर भगवन्मूर्तिको देखकर बड़े हर्षित हुए। उन्होंने मस्तक झुकाकर आदरक
उनकी पूजा की। ऋत्विजोंने उनकी स्तुति की॥३॥

ऋत्विज ऊचुः—

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत् सदुपशिक्षितम्। कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् सकलजननिकाय-वृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते॥ ४॥

ऋत्विजोंने कहा—हे पूज्यतम! हम आपक
आप परिपूर्ण हैं तो भी वात्सल्यवशतः हमारी पूजा स्वीकार करना आपक
अनभिज्ञ हैं। 'नमो नमः', 'नमो नमः'—आपको बार-बार नमस्कार है—साधुओंसे हमने यही कहना सीखा है। हम आपकी पूजा, परिचिर्या, स्तवादि क
आसक्त होती है, अतः जीव कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता; किन्तु आप प्रकृति, पुरुष एवं त्रिगुणोंसे अतीत परमेश्वर हैं। आपक

नाम, रूप और आकृति अप्राकृत और अधोक्षज हैं। प्रपञ्चक
अन्तर्गत नाम, इन्द्रनीलमणि इत्यादि रूप और श्यामल-आकृतिकी
आपक
सकती। अप्राकृत पदार्थमें प्राकृत जीवोंका बुद्धि-प्रवेश असम्भव
है। निखिल लोकोंक
मङ्गलमय श्रेष्ठ गुणोंका कीर्त्तन जीवोंक
सम्भव है। इससे अधिक उनकी सामर्थ्य नहीं है॥४॥

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसी-दूर्वाङ्कुरैरपि संभृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि॥५॥

हे परिपूर्णस्वरूप! आपक
वाणीसे आपकी स्तुति करते हैं। यदि वे सामान्य जल, शुद्ध पल्लव, तुलसी एवं दुर्वाङ्कुर द्वारा सुष्ठुभावसे आपकी प्रीतिपूर्वक पूजा करते हैं, तो आप निश्चय ही उस पूजासे भी परम सन्तुष्ट हो जाते हैं॥५॥

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे॥६॥

हम यह जो सम्पूर्ण अङ्गोंसे समृद्ध इस यज्ञको कर रहे हैं, इससे आपक
दिखाई नहीं देता॥६॥

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति॥७॥

जो पुरुषार्थ साक्षात्‌रूपसे, स्वतः सिद्ध होकर, अबाधित गतिसे, प्रचुर मात्रामें और क्षण-क्षण उत्पन्न होता है, वह पुरुषार्थरूप आनन्द आपका ही स्वरूप है। परन्तु, हे नाथ! हमें तो अनेक भोगोंकी कामना है। अतः हम जैसे सकामियोंक
सर्वपुरुषार्थप्रद है। यद्यपि सकाम पूजासे आपका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, परन्तु यही आराधना आपकी अनुग्रह-प्राप्तिका निमित्त मात्र है॥७॥

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानञ्चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ८ ॥

हे परात्पर पुरुष! हम तो धर्म-विषयसे नितान्त अनभिज्ञ हैं। हमें तो यह भी नहीं पता कि हमारा कल्याण किसमें है। जिस प्रकार बिना बुलाये और बिना सम्मान प्राप्त किये भी तत्त्वज्ञ महापुरुष अज्ञानियोंक
करुणावश हमें हमारी इच्छित वस्तुओं एवं अपवर्ग संज्ञक परम पदको प्रदान करनेक
पूजा नहीं की है, तब भी इस यज्ञमें पूजा-प्राथींक
आकर आपने यज्ञ-कौतुकदर्शी साधारण मनुष्योंक
प्रदान किये हैं॥८॥

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान् निजपुरुषेक्षणविषय आसीत्॥ ९ ॥

हे पूज्यतम! आप वरदायकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आप वर प्रदान करनेक
हमें दर्शन दिये, इससे बढ़कर हमारे लिए अन्य कोई वरदान नहीं हो सकता। अब हम और वर क्या माँगें?॥९॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि॥ १० ॥

हे प्रभो! आत्माराम (भगवान् जिनमें सम्यक्‌रूपसे रमण करते हैं) मुनिगण भी निरन्तर आपक
हैं। जिन्होंने वैराग्य द्वारा और भी अधिक प्रज्वलित ज्ञानाग्निसे अपने अन्तःकरणक
वे आपक
मुनियोंक
स्वरूप है॥१०॥

अथ कथञ्चित् स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु॥ ११ ॥

यद्यपि आपक

एक प्रार्थना करते हैं—यदि हम कभी विपथगामी, क्षुधार्त्त, पतित, अज्ञानाच्छन्न, दुरवस्थाग्रस्त, पीड़ित (ज्वरग्रस्त) अथवा मृत्युग्रस्त होकर आपका स्मरण करनेमें असमर्थ हो जायें, तो भी सर्वपापविनाशक एवं भक्तवात्सल्यादि गुणोंसे सम्बन्धित आपक नामोंका उच्चारण करते रहें॥११॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम्॥ १२ ॥

हम लोग निवेदन करनेक

निवेदन करते हैं—आप स्वर्ग एवं अपवर्गक

सम्पूर्ण अभीष्टोंको प्रदान करनेवाले हैं। जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति

क

परम पुरुषार्थ माननेवाले राजर्षि नाभि पुत्र-प्राप्तिकी अभिलाषासे आपकी आराधना कर रहे हैं॥१२॥

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषय-विषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः॥ १३ ॥

हे प्रभो! आपकी माया दुर्ज्ञेय है, उसकी दुर्गम गतिका पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। जिन्होंने महापुरुषोंक

उपासना की है, एकमात्र वे ही मायासे निस्तार पा सकते हैं, अन्यथा ऐसा कोई नहीं है जो इससे मोहित न हुआ हो, उसक वशीभूत न हुआ हो अथवा विषय-विषक

आच्छादित न हुई हो॥१३॥

यदुह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तदर्थधियां मन्दानां नस्तद् दद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिवोढुमविदुषाम्॥ १४॥

हे देवदेव! हमारी बुद्धि पुत्रको ही परम पुरुषार्थ मानती है। हम मन्दमति यह भी नहीं जानते हैं कि हमारा वास्तविक कल्याण किसमें है। हे बहुकार्यकारिन्! हमने इस सामान्यसे यज्ञमें पुत्रकी कामनासे आपका आह्वान करक
हे देवाधिदेव! आप अपने समदर्शिता गुणसे हमारी इस धृष्टताको कृपापूर्वक क्षमा कीजिये॥१४॥

श्रीशुक उवाच—

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादित- र्त्विगभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह॥ १५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भारतवर्षाधिपति महाराज नाभिक
भगवान्क
स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर अनुग्रहपूर्वक कहा—॥१५॥

श्रीभगवानुवाच—

अहोबताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति। ममाहमेवाभिरूपः कैवल्याद्। अथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति। ममैव हि मुखं यद्द्वि जदेवकुलम्॥ १६॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ऋत्विजो! मैं आपकी स्तुतिसे सन्तुष्ट हूँ। आपलोग सत्यवादी महात्मा हैं। आपने यह जो वरदान माँगा है कि महाराज नाभिको मेरे समान पुत्र हो—वह वस्तुतः अति दुर्लभ है, क्योंकि मैं तो अद्वितीय पुरुष हूँ। मेरे समान मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं, तो भी ब्राह्मणोंक
विद्या आदि द्वारा दीप्तमान् ब्राह्मण मेरे ही मुख हैं॥१६॥

तत्राग्नीध्रीयेऽंशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः॥ १७॥

मैं अपने तुल्य किसी पुरुषको नहीं देख पा रहा हूँ। इसलिए मैं स्वयं ही अंशरूपमें आग्नीध्रक
मेरुदेवीक

श्रीशुक उवाच—

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। नाभिकी पत्नी मेरुदेवी अपने पतिक
बैठी थीं। वे भी भगवान्क

बर्हिषि तस्मिन्नेवं विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातवसनानां श्रमणानामृषीणामूर्द्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवाविर्भावो नाम तृतीयोऽध्यायः।

हे विष्णुरात! इस प्रकार भगवान् उस यज्ञमें श्रेष्ठ ऋषियोंक द्वारा आराधित होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थी तथा याज्ञिक गृहस्थादिको अपने आचरण द्वारा उनक
तथा राजा नाभिका प्रिय साधन करनेक
पत्नी मेरुदेवीक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषभदेवका राज्यशासन

श्रीशुक उवाच—

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्य-महाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चा-वनितलसमवनायातितरां जगृधुः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भूमिष्ठ होते ही नाभिनन्दनक पाद-तलादिमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि भगवत् चिह्न देखे गये। तदनन्तर समस्त प्राणियोंमें समता, शान्ति, जितेन्द्रियता, विषयोंसे वैराग्य और अलौकिक ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंक
उनका प्रभाव बढ़ने लगा। यह देखकर प्रजावर्ग, ब्राह्मणगण, देवतागण और अमात्यादि सभीकी ऐकान्तिक अभिलाषा होने लगी कि वे ही भूमण्डलक

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्याञ्च पिता ऋषभः इतीदं नाम चकार॥ २॥

अपने पुत्रक
गुणसम्पन्नता, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणोंको देख महाराज नाभिने उसका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ पुरुष) रखा॥२॥

यस्य हि इन्द्रः स्पर्द्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्वं वर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्॥ ३॥

एक बार ऐश्वर्यशाली इन्द्रने ईर्ष्यावश विरुद्धाचरण करते हुए ऋषभजीक

भगवान् ऋषभदेव उनक
किञ्चित् मुसकानक
वर्षासे सम्पूर्णरूपसे सिञ्चित कर दिया॥३॥

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः॥४॥

राजा नाभि अपनी इच्छासे अपने अनुसार परम श्रेष्ठ पुत्र पाकर परमानन्दसे विभोर रहते थे। भगवान्‌की योगमायाक
'मेरा पुत्र'—इस प्रकारकी बुद्धि रखकर वे मोहको प्राप्त हो गये थे। जिन पुराण-पुरुष भगवान्‌ने अपनी इच्छासे अपनी अचिन्त्य शक्तिक
राजा नाभि 'हे वत्स', 'हे तात' इस प्रकार गद्‌गदमयी वाणीसे सम्बोधित करते थे और अनुरागसे भरकर उनका लालन-पालनादि करते हुए परमानन्दमें डूबे रहते थे॥४॥

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप॥५॥

महाराज नाभि नगरवासी आदि प्रजाजनोंक
स्वरूप मानते थे। जब उन्हें यह पता चला कि नागरिक और मन्त्रीमण्डल सभी ऋषभजीसे बड़ा प्रेम रखते हैं तो उन्होंने धर्मकी मर्यादाकी रक्षाक
मार्गदर्शनक
पत्नी मेरुदेवीक
नामक तीर्थ विशेष) चले गये। वहाँ भगवद्-प्रसन्नता-विधानकारिणी तीव्र तपस्या तथा समाधि योगक
जानेवाले भगवान् वासुदेवकी उपासनामें लग गये और ठीक समय आनेपर भगवत्-महिमा-क्षेत्र श्रीवैक

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—
को नु तत् कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत् पुमान्।
अपत्यतामगाद् यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा॥ ६॥

हे पाण्डुपुत्र! पुराविद्‌गण नाभिराजका यशगान करते हुए इन दो श्लोकोंका पाठ करते हैं—राजर्षि नाभिक
दूसरा पुरुष आचरण कर सकता है—जिनक
होकर स्वयं श्रीहरिने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया था॥६॥

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा॥ ७॥

राजर्षि नाभिक
है—जिनक
यज्ञशालामें ही यज्ञेश्वर भगवान्‌को प्रकट करा दिया था॥७॥

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नात-मभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास॥ ८॥

पिताक
अजनाभ मण्डलको ही अपनी कर्मभूमि माना। जीवोंको शिक्षा प्रदान करनेक
हुए गुरुक
ऋषभदेवको गुरुक
स्वयं धर्मका आचरण करक
न्यायसे गृहस्थाश्रमियोंको शिक्षा दी कि पहले गुरुक
ब्रह्मचर्यका पालन करना आवश्यक है।] शिक्षा पूर्ण होनेक
उन्होंने गुरु दक्षिणा प्रदान की। इसक
करक
इन्द्रक
सौ पुत्रोंको जन्म दिया॥८॥

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥ ९ ॥

ऋषभदेवक
महायोगी थे। उन्हींक
कहा जाने लगा॥९॥

तमनु कुशावर्त्त इलावर्त्तो ब्रह्मावर्त्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग् विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः॥ १० ॥

महाराज भरतक
नौ बड़े और श्रेष्ठ भाई थे, उनक
ब्रह्मावर्त्त, मलय, क

कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः
इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः॥ ११ ॥

इन पुत्रोंक
आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—महाराज भरतक
भाई श्रीमद्भागवतक
थे। ये सभी अपनी उत्कृष्ट भक्तिक
महिमासे मण्डित थे। चित्तको शान्ति प्रदान करनेवाले इनक
सुचरितोंका वसुदेव-नारद संवादमें वर्णन करूँगा॥११॥

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः॥ १२ ॥

इन उन्नीस पुत्रोंक
पुत्र और थे। ये सभी अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, अतिशय विनीत, वेदनिपुण और यज्ञपरायण थे। पुण्य कर्मों और सदाचरणक

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवल आनन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत् कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं

धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्॥ १३॥

भगवान्क

और अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप थे। उनका जन्म, मरणादि अनर्थ परम्परासे कभी कोई स्पर्श भी न था। वे राग, लोभादि दोषोंसे रहित, समस्त प्राणियोंक

जीवोंक

था, वे उस वर्णाश्रम-धर्मादिरूप कर्मोंका आचरण करक

तत्त्व न जाननेवाले लोगोंको शिक्षा देते थे। ईश्वर होकर भी सामान्य जीवक

शिक्षाक

लिए मनुष्यको गृहस्थाश्रममें नियमपूर्वक रहना सिखाया था। उन्होंने यही आदर्श स्थापित किया कि गृहस्थाश्रममें संयम बरतकर मनुष्य हरिसेवा-परायण हो सकता है॥१३॥

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः॥ १४॥

शीर्षस्थ अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग उसीका अनुसरण करते हैं॥१४॥

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास॥ १५॥

यद्यपि ऋषभदेव समस्त धर्मका प्रतिपादन करनेवाले वेदोंक

रहस्योंको जानते थे, तथापि उन्होंने ब्राह्मणोंक

सामादि विधियोंका आश्रय लेकर प्रजापर शासन किया था॥१५॥

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज॥ १६॥

उन्होंने समस्त प्रकारक

सौ बार आराधना की थी। उनक

पुण्यस्थान, वसन्तादि श्रेष्ठकाल, यौवन-आयु, श्रद्धा, ऋत्विक् और

(यज्ञेश्वर विष्णुका उच्छिष्ट प्राप्त करनेवाले) नाना देवताओंक
उद्देश्यादिसे अतिशय समृद्ध हुआ करते थे॥१६॥

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाच्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात् कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्त्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण॥ १७॥

जिस प्रकार आकाश-क
जाती, उसी प्रकार जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्षका शासन कर रहे थे, तब इस देशमें कोई भी व्यक्ति अपने लिए किसी दूसरेसे कभी भी क
कि उनका अपने प्रभुक
रहे। इसक
आकाश-क
ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था॥१७॥

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्त्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच॥ १८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरिते चतुर्थोऽध्यायः।

एक बार भगवान् ऋषभदेव भ्रमण करते हुए ब्रह्मावर्त्त नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंकी सभा चल रही थी और
राजाक
थे। यद्यपि ऋषभदेवक
गुणोंसे युक्त थे, तथापि पिता ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको (आगे कहे जानेवाले) तत्त्वपूर्ण उपदेश दिये, जिससे वे शासन-प्रणालीमें भलीभाँति प्रशिक्षित हो सक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषभदेवका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं अवधूतवृत्ति ग्रहण करना

श्रीऋषभ उवाच—

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यन्त्वनन्तम्॥ १॥

श्रीऋषभदेवने कहा—हे पुत्रो! इस जगत्में देहधारी प्राणियोंमें नश्वर मानव देहको प्राप्त करक
उचित नहीं है। इस प्रकारक
सुअरोंको भी प्राप्त हो जाते हैं। इस देहसे तो भगवत्-सेवासे परिपूर्ण तपस्या करना ही उचित है। ऐसी तपस्यासे अन्तःकरण निर्मल होता है और हृदयक
प्रकारक
समान अन्तयुक्त नहीं; बल्कि अपार एवं अनन्त होता है॥१॥

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥ २॥

पण्डितोंकी उपासना दो प्रकारकी होती है—ब्रह्मोपासना एवं भगवदुपासना। इन पाण्डित्यपूर्ण महापुरुषोंकी सेवासे ब्रह्म-सायुज्यरूप मुक्ति और भक्तियुक्त भगवत्-पार्षदत्व साधनानुसार प्राप्त होता है। स्त्री-सङ्गियोंका सङ्ग नरकका द्वार-स्वरूप बतलाया गया है। जो

समदर्शी, भगवान्‌में निष्ठायुक्त, क्रोधरहित, समस्त प्राणियोंक
रत एवं किसीक

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न
प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥ ३॥

इसक
प्रीतिको ही एकमात्र पुरुषार्थ मानते हैं, अन्य किसी वस्तुको नहीं, जो भोजन-पानादिमें लगे हुए विषयीजनोंकी असद् वार्ता और धन-जन-स्त्री-पुत्र, गृहादिमें रुचि नहीं रखते हैं और जो देह निर्वाहक
करते, वे महत् पुरुष हैं॥३॥

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतये आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः॥ ४॥

इन्द्रिय-तर्पणक
कार्यमें लग जाता है, जिसक
शरीर प्राप्त होता रहता है। वस्तुतः जीवका देह प्राकृत नहीं है, जीवात्माको प्राकृत देह नहीं मिलना चाहिए, किन्तु इन्द्रिय-तृप्तिक
लिये जीव उसे प्राप्त करता रहता है। इसलिए क्लेशोत्पत्तिक
कारण विकर्मादि (परदारादि ग्रहणरूप पाप इत्यादि) की चेष्टाओंको मैं अच्छा नहीं मानता। जीवात्मा वस्तुतः देहादिमें लिप्त नहीं है, किन्तु अध्यासक

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥ ५॥

जब तक जीव आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा नहीं करता, तब तक उसे अविद्या-जनित क्लेश प्राप्त होते रहते हैं। आत्माका स्वरूप आवृत्त रहनेक
बनी रहती है। इसीलिए मन कर्ममय स्वभावको प्राप्त कर लेता है और इसीसे देह-बन्धन प्राप्त होता है॥५॥

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥ ६॥

(मन किस प्रकारसे कर्मात्मक हो जाता है, वही बतला रहे हैं—) पूर्वोक्त प्रकारसे जीवात्मा एवं परमात्माका विवेक अविद्या द्वारा आच्छादित हो जाता है, जिससे मन कर्मोंक
है और पुरुष कर्मनिष्ठ हो जाता है। अतः जब तक मुझ सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तबतक जीवको देह-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता॥६॥

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित्।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः॥ ७॥

ज्ञानवान् होनेपर भी जब तक जीवको यह उपलब्धि नहीं हो जाती कि विषय-सुखकी चेष्टाएँ अनर्थकारिणी हैं, तब तक स्वरूप-विस्मृतिक
रहता है और उसमें नानाविध क्लेशोंको भोगता रहता है॥७॥

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहंममेति॥ ८॥

स्त्री और पुरुषक
एक दूसरेक
गृह, धन एवं पुत्रादिमें मैं और मेरा बुद्धिरूप मोह होता है॥८॥

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जनः सम्परिवर्त्ततेऽस्मा-
न्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम्॥ ९॥

जिस समय मनुष्योंकी कर्मफलजनित सुदृढ़ हृदय-ग्रन्थि शिथिल होती है, उसी समय वे स्त्री-सङ्गसे निवृत्त हो जाते हैं। उनका संसार-मूल 'मैं' और 'मेरा' रूप अहङ्कार दूर हो जाता है। वे सब प्रकारक
मुक्त हो जाते हैं और उन्हें परम-पदकी प्राप्ति हो जाती है॥९॥

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या॥ १०॥

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्त्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः॥ ११॥

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक्।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्व-
दसम्प्रमादेन यमेन वाचाम्॥ १२॥

सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत् कुशलोऽहमाख्यम्॥ १३॥

हे पुत्रो! परमहंस गुरुदेव और मुझमें ऐकान्तिक भक्ति, विषय-भोगादिसे वितृष्णा, शीतोष्णोदि द्वन्द्वोंमें सहिष्णुता, इस लोक और परलोकमें समस्त जीवोंको जो सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं इस तथ्यकी पर्यालोचना, तत्त्वातत्त्व-विचार, एकादशी आदि व्रतोंका अनुष्ठान, काम्य कर्मोंका त्याग, मेरी आराधनारूप कर्म, मुझसे सम्बन्धित कथाएँ, मेरे भक्तोंका नित्य सङ्ग, मेरा गुणानुकीर्त्तन, समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि और वैरभावका वर्जन, उपशम (क्रोध-शोकादिसे अभिभूत न होना) देह-गृहमें 'मैं'-'मेरा' बुद्धिका परित्याग, अध्यात्म शास्त्रोंका अभ्यास, निर्जन-वास, प्राण, मन एवं इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन, शास्त्रादिमें श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, निरन्तर कर्त्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान, व्यर्थकी बातोंसे विरत रहना, मेरे चिन्तनमें निपुणता और विज्ञान-समन्वित ज्ञान, योग—इन सबक
युक्त होकर मनुष्य संसारक
निरस्त कर दें॥१०-१३॥

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययासादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात्॥ १४॥

मैंने जिस प्रकारसे तुमलोगोंको उपदेश दिया, उसी प्रकारसे सावधान होकर इन उपायोंसे अविद्याजनित कर्मवासनारूप हृदयग्रन्थिको भलीभाँति काट डालो और तत्पश्चात् उन उपायोंमें भी आसक्ति मत रखो॥१४॥

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुः पिता
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत् कर्मसु कर्ममूढान्।
कं योजयन् मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन् नष्टदृशं हि गर्ते॥ १५॥

यदि मेरा लोक और मेरी ही कृपा एकान्तरूपसे प्रार्थनीय है, तो पिता पुत्रको, गुरु शिष्योंको एवं राजा प्रजाओंको इसी प्रकारसे शिक्षा प्रदान करें। उपदेश देनेक
करे, तो उसपर क्रोध न करें। तत्त्वको न जानकर कर्मको ही पुरुषार्थ माननेवाले अज्ञानीको कर्ममें प्रवृत्त न होने दें। मोहान्ध व्यक्तियोंको काम्य-कर्मरूप संसार-क
कौन-सा पुरुषार्थ प्राप्त कर लेंगे। कोई अन्धा व्यक्ति गड्ढेकी ओर बढ़ रहा है और उससे कहा जाय—इसी रास्तेसे चलो, तो जिस प्रकार उसे गड्ढेमें ढक
व्यक्तिको कर्ममें लगानेसे भगवत्-चरणोंमें अपराध होता है॥१५॥

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखञ्च न वेद मूढः॥ १६॥

जो मनुष्य अपने वास्तविक मङ्गलक
वे नितान्त कामासक्त होकर विविध प्रकारक
करते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति सामान्य इन्द्रिय-सुखक
शत्रुता ठान लेते हैं और उससे उत्पन्न होनेवाले क्लेशोंको समझ भी नहीं पाते॥१६॥

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चि-
दविद्यायामन्तरे वर्त्तमानम्।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम्॥ १७॥

अन्धे व्यक्तिको उल्टे रास्तेपर चलते देखकर कोई आँखवाला व्यक्ति उसे उस पथपर जानेक
प्रकार ज्ञानवान्, दयाशील एवं पण्डित व्यक्ति किसी क
संसारासक्त और विपथगामीको अज्ञान-जनित संसार-गर्त्तमें पड़े नहीं रहने देता॥१७॥

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न
मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥ १८॥

शुद्धभक्तिक
संसारसे रक्षा नहीं कर सकता, वह गुरु 'गुरु' नहीं है, वह स्वजन 'स्वजन' कहलाने योग्य नहीं है, वह पिता 'पिता' नहीं है अर्थात् उसका पुत्रोत्पत्तिक
'माता' नहीं है, उस जननीका गर्भ-धारण करना अनुचित ही है, वह देवता 'देवता' नहीं है, अर्थात् जो देवता जीवकी संसारसे रक्षा नहीं कर सकता है, उसका मनुष्यक
उचित नहीं है, और वह पति 'पति' नहीं है, अर्थात् उसक
पाणिग्रहण करना उचित नहीं है। इस प्रकार जो जीवोंको भगवद्-वैमुख्यजनित अनर्थोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता, उन गुरु आदिका उसी प्रकार परित्याग कर देना चाहिए, जिस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा बलिने अपने गुरु शुक्राचार्यको, विभीषणने स्वजन रावणको, प्रह्लादने पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपुको, भरतने अपनी माता क
अपने पति याज्ञिक विप्रोंको भगवद्-विमुखताक
परित्याग कर दिया था॥१८॥

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरा-
दतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥ १९॥

पुत्रो! मेरा यह मनुष्य शरीर अवितर्क्य है (अर्थात् मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है, मैं प्राकृत जीवोंक
नहीं हूँ।) मेरा हृदय विशुद्ध सत्त्वात्मक है और जहाँ मुझे प्राप्त करानेवाला भक्तियोगसे पूर्ण धर्म विराजित है, वहीं मेरा वास है।

मैंने अधर्मका दूरसे ही परित्याग कर दिया है, इसलिए श्रेष्ठ व्यक्ति मुझे 'ऋषभ' कहते हैं॥१९॥

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम्॥२०॥

तुम लोग मेरे शुद्ध सत्त्वमय हृदयसे उत्पन्न हुए हो। अतः तुम सब मत्सरतादिका परित्याग करक
सेवा करो। भरतकी सेवा करनेसे मेरी भी सेवा हो जाएगी और प्रजा-पालनादिरूप कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जायेंगे॥२०॥

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीमृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये॥२१॥

देवाऽसुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः॥२२॥

चेतन और अचेतन पदार्थोंमें प्रस्तरादि (पत्थर-चट्टानादि)की तुलनामें वृक्षादि स्थावर श्रेष्ठ हैं, उनसे जङ्गम अर्थात् कीट और साँप श्रेष्ठ हैं, साँपादिसे बुद्धिमान् पशु और पशुओंसे मानव श्रेष्ठ हैं। मानवोंसे भी देव-योनिक
उनसे भी गन्धर्व श्रेष्ठ हैं। इन गन्धर्वोंसे सिद्ध, सिद्धोंसे किन्नर और किन्नरोंकी भी अपेक्षा असुर श्रेष्ठ हैं। असुरोंसे देवता और देवताओंमें सर्वप्रधान इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्रकी भी अपेक्षा ब्रह्मा-पुत्र दक्षादि (प्रजापतिगण) श्रेष्ठ हैं, और इन पुत्रोंमें शङ्कर प्रधान हैं। शङ्कर ब्रह्माक

श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मा मेरे अधीन हैं, इसलिए मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ। पुनः द्विज-श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे भी पूज्य हैं॥२१-२२॥

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं नु।
यस्मिन् नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे॥ २३॥

मुझे ब्राह्मणोंकी अपेक्षा कोई श्रेष्ठ दिखायी नहीं देता, इसलिए मैं किसीको उनक

श्रद्धाक

करते हैं, वह मेरे लिये जितना तृप्तिदायक होता है, अग्निहोत्र यज्ञादिमें दिये हुए अन्नादिसे मुझे उतनी सन्तुष्टि नहीं मिलती॥२३॥

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र॥ २४॥

वेद मेरी मूर्त्ति हैं। इस लोकमें ब्राह्मण ही वेदोंक
द्वारा मेरी विशुद्ध, मनोरम और चिरन्तन मूर्त्तिको धारण करते हैं। परम पवित्र सत्त्वगुण, शम (अन्तरेन्द्रिय निग्रह), दम (बाह्येन्द्रिय निग्रह), सत्य, अनुग्रह, तपस्या, सहिष्णुता, अनुभव (वेदार्थ ज्ञान) —ये आठों गुण ब्राह्मणोंमें नित्य विराजमान रहते हैं। इन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन श्रेष्ठ हो सकता है!॥२४॥

मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्॥ २५॥

मैं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ हूँ। मेरी अनन्त शक्तियाँ हैं। मैं स्वर्ग एवं मोक्षका अधिपति हूँ, तो भी शुद्ध ब्राह्मण भक्त मुझसे क

रखते। वे निष्किञ्चन रहकर मेरी भक्ति करते हैं। राज्यादि दूसरी वस्तुओंसे भला उनका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?॥२५॥

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे॥ २६॥

पुत्रो! स्थावर-जङ्गमादि (अचल-चलादि) सभी प्राणियोंमें मेरा अधिष्ठान है। अतः ईर्ष्या-द्वेष आदिका परित्याग करक
सर्वदा सबका सम्मान करना, यही मेरी पूजा है॥२६॥

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत्॥ २७॥

मेरी आराधना मन, चक्षु, वाणी एवं अन्यान्य इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका साक्षात् फल है। कोई भी जीव मेरी आराधनाक
मृत्यु-पाशसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता है॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपरिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यद्यपि महानुभाव परम सुहृद् भगवान् ऋषभदेवक
उन्होंने लोक-शिक्षाक
उनक

भगवत्-भक्त-परायण थे। भगवान् ऋषभदेवने पृथ्वीक
उनका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं घरमें रहते हुए ही वस्त्र, आभूषणादि सबका परित्याग करक
मात्रको धारण किये रखा, जिससे वासनारहित, कर्म-ग्रन्थि-रहित महामुनियोंक
आदर्श स्थापित हो। गृहमें वे उन्मत्तक
बिखेरे हुए रहे और बादमें वे आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें स्थापित करक

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेशोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव॥ २९॥

हे राजन्! ऋषभदेव अवधूत वेश धारण करक
जड़, अन्धे, मूक, बहरे एवं पिशाचक
कोई उनसे बातचीत करना चाहता तो वे मौन धारण कर लेते, किसीक

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदुपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम॥ ३०॥

इधर-उधर घूमते हुए वे कभी नगरों, ग्रामों, खानों, किसानोंकी बस्तियों, पहाड़ी गाँवों, पुष्पवाटिकाओं, सेनाकी छावनियों, गोशालाओं, अहीरोंकी बस्तियों, यात्रियोंक
तो कभी पर्वतों, वनों और ऋषियोंक
किया करते। जिस प्रकार जंगली हाथीको मक्खियाँ घेर लेती हैं, उसी प्रकार वे जहाँ-जहाँ भी जाते, उन-उन स्थानोंपर दुष्टलोग उन्हें डराते-धमकाते, मारते, उनपर पेशाब करते, थूका करते, पत्थर, विष्ठा एवं धूल फ

गाली-गलौजसे उन्हें नाना प्रकारक
इन सबकी ओर ध्यान भी नहीं देते। वे इस चैतन्य तत्त्वको जानते थे कि यह देह अचिद् वस्तुका परिणाम है और भ्रमक कारण लोग इसमें आत्मबुद्धि कर लेते हैं। वे स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप (अपने स्वरूप और परमात्माक
अनुभूतिक
रहते थे। उनको देहमें 'मैं' और 'मेरा'का अभिमान नहीं था। वे बिना किसी क्षोभक
करते थे॥३०॥

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसयुगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायत-नयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमान-कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत॥ ३१ ॥

परीक्षित्! उनक
और मुख इत्यादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग अतिशय सुकोमल थे। अतिशयोत्तम मुखमण्डल स्वाभाविक मुस्कानक
नेत्र-युगल नवीन नलिन-दलक
थे, उनकी आँखोंक
उनक
सुन्दर थे। मुखमण्डलपर सर्वदा मन्द-मन्द मुस्कान छायी रहती थी, जिससे पुरकामिनियोंक
मुखक
परन्तु शरीरक
भाँति दिखायी देते थे॥३१॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः

शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः॥ ३२॥

जब भगवान् ऋषभदेवने देखा कि लोग उनक
साक्षात् रूपसे विघ्न डाल रहे हैं, तो उन्होंने उसक
लिए कर्मको भी निन्दित माना और 'अजगर वृत्ति' धारण कर ली। तदनुसार एक स्थानपर लेटे हुए ही वे खाते-पीते और मल-मूत्रका परित्याग करते। वे त्यागे हुए मल-मूत्रमें लोट-पोट करते, जिससे उनक

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभिं चकार॥ ३३॥

ऐसा होनेपर भी उनमें घृणाकी कोई आशङ्का न थी, क्योंकि उस मलमूत्रमें दुर्गन्धका लेशमात्र भी नहीं था। ऋषभदेवकी विष्ठाक सौरभसे वायु सुगन्धित होकर चारों ओर दस-दस योजन तकक स्थानको सुगन्धित कर देती थी॥३३॥

एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म॥ ३४॥

परीक्षित्! इसी प्रकारसे गौ-वृत्ति, मृग-वृत्ति और काक-वृत्तिका आचरण करते हुए वे कभी चलते, कभी एक स्थानपर ठहर जाते, कभी बैठ जाते, कभी लेट जाते और गाय, मृग एवं कौएक समान ही खाते-पीते और मल-मूत्र त्यागते॥३४॥

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरम-महानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेवे आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्द्धान परकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोध्यायः।

हे राजन्! भगवान् ऋषभदेवने योगियोंको योग-साधन प्रदर्शित करनेक
वे तो मुक्तिक
अखण्ड आनन्दसे युक्त थे। सर्वभूतात्मा निज अंशी भगवान् वासुदेवसे उनका कोई व्यवधान अथवा भेद न था। उन्होंने अश्रु-पुलकादि लक्षणोंसे युक्त असीम प्रेममें सराबोर होकर समस्त फल प्राप्त कर लिये थे। अन्तरिक्षमें विचरण, मनक
अन्तर्धान हो जाना, परकायामें प्रवेश कर लेना, दूरकी वस्तुओंको देख लेना इत्यादि समस्त योग-सिद्धियाँ यदृच्छाक्रमसे उनक
उपस्थित हुई, परन्तु उन्होंने किसीको भी स्वीकार नहीं किया॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

ऋषभदेवका देहत्याग

श्रीराजोवाव—

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन्! जो आत्माराम होते हैं, उनक
जलकर नष्ट हो जाते हैं। उनक
उपस्थित होते हैं तो भी वे सब उनक
तब भगवान् ऋषभदेवने उन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया?॥१॥

श्रीऋषिरुवाच—

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते॥ २ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आप सत्य ही कह रहे हैं। धूर्त व्याध जिस प्रकार अपने पकड़े हुए मृगोंपर—कहीं ये भाग न जायें, इसलिए पूरा विश्वास नहीं करता, उसी प्रकार इस लोकमें रहनेवाले महात्मागण भी अपने चञ्चल मनपर पूरा भरोसा नहीं करते॥२॥

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥ ३ ॥

पण्डितोंने कहा है—इस चञ्चल मनसे कभी मैत्री स्थापित मत करना। इस मनपर विश्वास करनेसे बहुत कालसे सञ्चित तपस्या भी नष्ट हो जाती है। जैसे भगवान् विष्णुक

दर्शन करनेसे शङ्करजी और मछलियोंका विहार देखनेसे सौभरि मुनि आदि समर्थ व्यक्तियोंका मन भी विचलित हो गया था॥३॥

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥४॥

व्यभिचारिणी स्त्री जिस प्रकार जार-पुरुष (उपपति)को सुयोग देकर अपने पतिका वध करवा डालती है, उसी प्रकार मनक
विश्वास करनेवाले योगियोंका असत् मन काम और कामक
क्रोधादिको अवसर प्रदान करक

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात् को नु तद्बुधः॥५॥

जिसक
कर्मबन्धन उपस्थित होते हैं, ऐसे मनपर भला पण्डितजन किस प्रकार विश्वास कर सकते हैं?॥५॥

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेशभाषाचरितैर विलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेन निरीक्ष्यमाण उपरतानु-वृत्तिरुपरराम॥६॥

ऋषभदेव समस्त लोकपालोंक
व्यवहृत विविध वेश, भाषा और आचरणका आश्रय लिया और
जड़क
उन्होंने योगियोंको साम्पराय विधि अर्थात् देहत्याग-प्रक्रियाकी शिक्षा
देनेक
श्रीवासुदेवसे स्वयंको अभिन्न जानकर और मायासे मुक्त होकर लिङ्गदेह-अभिमानको त्याग दिया। इस प्रकार ऋषभदेवको संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ा। जो ऋषभदेवक
करते हुए इस सूक्ष्म देहका परित्याग करता है, उसे इस जगत्में पुनः भौतिक देह धारण नहीं करना पड़ता॥६॥

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः कोङ्कवेङ्कटकुटकान् दक्षिणकर्णाटकान् देशान् यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्ये कृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्द्धजोऽसंवीत एव विचचार॥ ७॥

ऋषभदेवक

भी अपनी अवतार–लीलाको प्रकट करनेकी इच्छाक

उनकी देह इस पृथ्वीपर विचरण करने लगी। इस प्रकार भ्रमण करते हुए वे एक बार दक्षिण कर्णाटकक

क

उपवनमें उपस्थित हुए। वहाँ मुखमें पत्थरक

बिखेरकर उन्मत्तक

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह॥ ८॥

उसी समय उस वनमें तेज हवा चलनेसे बाँसोंक

रगड़नेपर भीषण अग्नि प्रज्वलित हुई और उसने ऋषभदेवकी देहक साथ सारे वनको जला दिया॥८॥

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्कटकुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाषण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते॥ ९॥

हे राजन्! कलियुगमें ऋषभदेवकी पारमंहस्य–लीलाको सुनकर कोङ्क, वेङ्कट और क

अनुकरण करेगा। तब लोगोंक

अधर्म प्रबल होनेपर वह मन्दबुद्धि राजा अर्हत मूर्खोंकी भाँति निर्भय होकर स्वधर्मका अर्थात् वैदिक–नियमका परित्याग करक अपनी बुद्धिसे वेद–विरुद्ध पाखण्डपूर्ण जैनादि धर्मरूप अनुचित मार्गका प्रचार करेगा। (यही जैन धर्मका आरम्भ है, अनेक धर्म इसी नास्तिक्यवादको ग्रहण करते रहेंगे।)॥९॥

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायाविमोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्र्यविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति॥ १०॥

इसक
वर्णाश्रमोचित विधि–निषेधादि, शास्त्रपरक स्नान और सन्ध्योपासना रूपी शौच एवं आचार छोड़ देंगे, देव–अवज्ञा रूपी क
अनुष्ठान करने लगेंगे, स्नान न करना, आचमन न करना, अशुचि अवस्थामें रहना, क
अनाचारोंको स्वेच्छासे ग्रहण करेंगे। इस प्रकार अधर्म–प्रधान कलियुगक
ब्राह्मण, भगवान् एवं भागवतक

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति॥ ११॥

वे अधम लोग अज्ञानवशतः वैदिक धर्मक
मानकर और अन्ध–परम्परासे प्रेरित होकर अवैदिक, नवीन और मनमानी प्रवृत्तिमें विश्वास करक

अयमवतारो रजसोपप्लुतलोककैवल्योपशिक्षणार्थः॥ १२॥

रजोगुणसे परिपूर्ण लोगोंको क
देनेक

तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति॥ १३॥

पण्डितगण ऋषभदेवक
श्लोक गाया करते हैं—अहो! सात समुद्रोंसे घिरी इस पृथ्वीमें

बहुत-से द्वीप और वर्ष हैं, इनमें भारतवर्ष ही अतिशय पुण्यवान् है। इसी भारतवर्षमें लोग भगवान् मुरारिक
मङ्गलमय अवतार-चरितोंका गान करते हैं॥१३॥

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम्॥ १४॥

अहो! महाराज प्रियव्रतक
इस वंशमें पुराण-पुरुष आदिदेव भगवान् श्रीनारायणने ऋषभावतार लेकर समस्त कर्म-फलोंसे मुक्ति दिलानेवाले पारमहंस्य धर्मका (नैष्कर्म्य-धर्मका) आचरण किया था॥१४॥

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः॥ १५॥

अहो! जन्म-रहित (भगवान्) ऋषभदेवक
कोई योगी क्या मनसे भी चल सकता है? अन्यान्य योगी जिन योग-सिद्धियोंकी प्राप्तिक
प्रयत्न करते हैं, उन्हें ऋषभदेवने अपने-आप प्राप्त होनेपर भी 'असत्' समझकर परित्याग कर दिया था॥१५॥

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणम्। परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते॥ १६॥

राजन्! भगवान् ऋषभदेव समस्त वेद, लोक, देवता, गौ और ब्राह्मणोंक
कराया, जो मनुष्योंक

मङ्गलका निलय (आगार) है। इस चरितको जो अत्यन्त श्रद्धा एवं सरल चित्तसे श्रवण करते हैं अथवा दूसरोंको श्रवण कराते हैं, उनको भगवान् वासुदेवकी अव्यभिचारिणी अर्थात् अनन्य विशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है॥१६॥

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापो-पतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः॥ १७॥

विविध पापोंसे भरे संसार-तापमें निरन्तर दग्ध होनेक
पण्डितगण अपनी आत्माको भगवद्-भक्ति-सुधारसमें स्नान कराते हैं, इसीसे उन्हें परमानन्दकी प्राप्ति होती है। यदि परम पुरुषार्थरूप मुक्ति स्वयं आकर उपस्थित हो भी जाय अथवा श्रीभगवान् इसे स्वयं प्रदान करें, तो भी उनक
होता। उन्होंने तो भगवद् विषयिणी भक्तिक
पहले ही भलीभाँति प्राप्त कर लिया होता है॥१७॥

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥ १८॥

हे राजन्! भगवान् मुक
गुरु, उपास्य (इष्टदेव), सुहृद् (बन्धु) और क
क्या कहा जाय! भक्तवत्सलताक
बनकर उनक
भजन करते हैं, उन्हें वे मुक्ति तो प्रदान कर सकते हैं, किन्तु भक्तियोग कभी किसीको सहज ही नहीं देते॥१८॥

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।

लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरितं नाम षष्ठोध्यायः।

परीक्षित्! भगवान् ऋषभदेव अपने स्वरूपकी अनुभूतिको ही परम उपलब्धि मानते थे, उन्हें किसी अन्य पुरुषार्थकी आकाङ्क्षा न थी। अनित्य देह-गृह आदिमें मग्न रहनेक
बुद्धि अपने वास्तविक मङ्गलकी प्राप्तिक
बेसुध थी, उन लोगोंपर अनुग्रह करते हुए उन्होंने निर्भय होकर भगवत्-तत्त्वका उपदेश दिया था, मैं उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार करता हूँ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

भरत-चरित्र

श्रीशुक उवाच—

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! परम भागवत महाराज भरत अपने पिता भगवान् ऋषभदेवक
ब्रह्मावर्त्तसे प्रस्थानक
नियुक्त करनेक
नियुक्त हो गये और उनकी ही आज्ञासे उन्होंने विश्वरूपकी पुत्री पञ्चजनीक

तस्याम् उह वा आत्मजान् कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति॥ २ ॥

अहङ्कारसे जिस प्रकार शब्द-स्पर्शादि सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति होती है, राजा भरतने भी उसी प्रकार पञ्चजनीक
ही समान सद्गुणसम्पन्न पाँच पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनक
थे—सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रक

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति॥ ३ ॥

पहले इस वर्षका नाम अजनाभ वर्ष था। भरतक
बादसे पण्डितजन इसे भारतवर्ष कहने लगे॥३॥

स च बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्त्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्त्तमानः पर्यपालयत्॥ ४॥

पृथ्वीपति राजा भरत सर्वज्ञ थे। उन्होंने सर्वतोभावसे अपने धर्ममें प्रतिष्ठित एवं अपने कर्त्तव्यमें रत होकर पितामहक
अपनी प्रजाका पालन किया॥४॥

ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहृताग्निहोत्रदर्श-पूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना॥५॥

महाराज भरतने बड़ी श्रद्धाक
यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उन्होंने होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा—इन चार प्रकारक
अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, अश्वमेधादि पशुयज्ञ और सोमयज्ञ सम्पन्न किये। उनक
होते थे, तो कभी सभी अङ्ग अनुष्ठित नहीं होते थे। इस प्रकार इन यज्ञोंक

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत् तत् क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात् कर्त्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत्॥६॥

अङ्ग और क्रियाओंक
करते समय धर्म नामक जिस अपूर्व (अदृष्ट) का उदय होता है, वही यज्ञादि क्रियाओंका फल है। महाराज भरत इन सब क्रियाओंक
लिए उनको ही समर्पित कर देते थे। वे जानते थे कि भगवान् वासुदेव इन्द्रादि देवताओंक
और सभी देवताओंक
उनकी बुद्धिरूपी आत्म क
होने लगे। याज्ञिक पुरोहित यज्ञमें आहुति देनेक
(यज्ञ-सामग्री) हाथमें लेते, तब यजमान भरत यज्ञ-भागक
इन्द्रादि देवताओंका भगवान् वासुदेवक

रूपमें ध्यान इस प्रकार करते अर्थात् 'इन्द्राय स्वाहा', इस मन्त्रक
द्वारा मैं भगवान्की बाहुकी पूजा कर रहा हूँ, 'सूर्याय स्वाहा' इस
मन्त्र द्वारा मैं भगवान्क

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत॥ ७॥

इन विशुद्ध कर्मानुष्ठानोंक
गया और भगवान् वासुदेवक
बढ़ने लगी। वसुदेवनन्दन ही उपासना भेदसे परमात्मा, ब्रह्म एवं भगवान् शब्दोंसे जाने जाते हैं। योगी लोग अपने हृदयमें जिनका ध्यान करते हैं, वे ही परमात्मा हैं, ज्ञानी जिसकी उपासना करते हैं—वे निर्विशेष ब्रह्म हैं, भक्तोंक
हैं। वे महापुरुषोंक
प्रसिद्ध है—वे श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला और शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित हैं। नारदादि निजजनोंक
चित्रपटक
प्रकाशित होते हैं॥७॥

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्मनिकेतात् पुलहाश्रमं प्रवव्राज॥ ८॥

प्रारब्ध कर्मोंक
एक करोड़ वर्ष तक निर्धारित था। इस निर्दिष्ट अवधिक
जानेपर उन्होंने वंश-परम्परासे प्राप्त सम्पत्तिको विधिपूर्वक अपने पुत्रोंमें विभाजित कर दिया और स्वयं समस्त सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण अपने राजभवनसे निकलकर तपस्याक
(हरिहर क्षेत्र) चले गये॥८॥

यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन संनिधाप्यत इच्छारूपेण॥ ९॥

इस पुलहाश्रममें आज भी भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि वहाँक भक्तोंकी इच्छानुसार श्रीमूर्त्ति धारण करते हैं और उन्हें दर्शन प्रदान करते हैं॥९॥

यत्राश्रमपदान्युभयतो नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति॥ १०॥

इसी पुलहाश्रममें समस्त नदियोंमें श्रेष्ठ गण्डकी नदी है। यह चक्राकार शालिग्राम शिलाओंक
करती है। यहाँ सभी शिलाओंक
दिखायी देता है॥१०॥

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपसंभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप॥ ११॥

इस पुलहाश्रमक
विविध प्रकारक ुर), तुलसी, जल एवं कन्द-मूल आदिसे भगवान् वासुदेवकी अर्चना की, जिससे उनका चित्त शुद्ध हो गया और उनकी विषय सम्बन्धी सभी अभिलाषाएँ दूर हो गयीं। शम-गुण (बाह्य एवं अन्तःकरणका निग्रह) का आश्रय लेनेसे उन्हें परम शान्ति और प्रीतिक
पराभक्तिकी प्राप्ति हुई॥११॥

तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्द्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्प-निरुद्धावलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयह्रदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार॥ १२॥

महाभागवत भरत निरन्तर भगवत्-सेवामें ही लीन रहने लगे। दिन-प्रतिदिन भगवान् वासुदेवमें उनका अनुराग बढ़नेक
उनक
पुलकादि प्रेमक
नेत्रोंसे आनन्दक
हो जाती। इस प्रकार अपने प्रेमप्रदाता भगवान्क
चरणकमलोंक
और उनका गम्भीर हृदयरूपी हृद (क
भर गया। अब उनकी बुद्धि इस आनन्दसे भरे क
रहती। वे भगवान्की जो नित्य सेवा-पूजा करते थे, उसका भी उन्हें स्मरण नहीं रहता॥१२॥

इत्थं धृतभगवद्व्रत एणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिश-कुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥ १३॥

भगवद्-विषयक नियमोंका आश्रय लेकर महाराज भरत वस्त्रोंक
रूपमें मृगचर्म पहनने लगे। त्रिसन्ध्या स्नान करनेक
रहनेसे उनक
गये, जिससे वे और भी सुशोभित होने लगे। वे उदित होनेवाले सूर्यमण्डलमें उसक
मन्त्रोंसे आराधना करते और इस प्रकार कहा करते—'ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्त्ती' अर्थात् सूर्यमण्डलक
भगवान् श्रीनारायण सदा ध्येय हैं॥१३॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
स्वरेतसाऽदः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः॥ १४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीभरतचरिते श्रीभगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः।

विशुद्ध सत्त्वात्मक, जगत्-प्रकाशक तथा भक्तोंक
भगवान् संकल्प मात्रसे ही अपने तेजक
सृष्टि करते हैं। वे ही अन्तर्यामीरूपसे जगत्में प्रविष्ट होकर अपनी चिद्-शक्ति द्वारा अनित्य विषयोंकी आकाङ्क्षा करनेवाले जीवोंकी रक्षा करते हैं। बुद्धि-वृत्तिका प्रवर्त्तन करनेवाले उन भर्गदेवकी हम शरण ग्रहण करते हैं॥१४॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

भरतका मृगक

मृग-योनिमें जन्म लेना

श्रीशुक उवाच—

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्त्तत्रयमुदकान्त उपविवेश॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक दिन भरत नित्य-नैमित्तिक क्रिया, शौच, स्नानादि आवश्यक कार्य समाप्त करक

तटपर बैठे रहे॥१॥

तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम॥ २॥

हे महाराज! उसी समय वहाँ प्याससे व्याक

अक

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत्॥ ३॥

वह बड़ी तृप्त होकर जल पी ही रही थी कि समीपमें ही एक सिंह जोरसे गरज उठा। उसका यह भीषण गर्जन बड़ा ही भयङ्कर था॥३॥

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात् सहसैवोच्चक्राम॥ ४॥

हिरणी एक तो स्वभावसे ही डरपोक और चकित नयनोंवाली (दृष्टिवाली) होती है, उसपर सहसा भीषण गर्जन सुनकर वह हिरणी और भी भयभीत हो गयी। उसका हृदय जोर-जोरसे धड़कने लगा।

वह चञ्चल नेत्रोंसे इधर-उधर देखने लगी। अभी उसकी प्यास बुझी भी न थी, तो भी भयभीत होनेक
एक छलांग मारी और नदीक

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात॥ ५॥

हे राजन्! यह हिरणी पूर्ण गर्भवती थी। अतः छलांग लगाते समय अतिशय वेग तथा भयक
उसक

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार॥ ६॥

यह हिरणी अपने झुण्डसे बिछुड़ी हुई तो थी ही, अपने गर्भक
गिर जाने, बलपूर्वक छलांग लगाने तथा सिंहक
अतिशय पीड़ित हो गयी थी। वह एक पर्वतकी गुफामें जाकर गिर गयी और वहीं उसने प्राण त्याग दिये॥६॥

तन्त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत्॥ ७॥

राजर्षि भरत नदीक
स्वजनोंसे बिछुड़कर दयनीय मृगशावक (मृगशिशु) नदीक
बहता चला जा रहा है। इस दृश्यसे उनका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने आत्मीय बन्धुक
मृगशावकको उठा लिया और उसे अपने आश्रममें ले आये॥७॥

तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषण-पालनप्रीणनलालनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन्॥ ८॥

हे राजन्! उस मृगशावकमें भरतकी आसक्ति (अपनेपनका अभिमान) दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। दिन-रात उसका तृणादि भोजन जुटाना, व्याघ्रादिसे रक्षा करना, खुजलाहट आदिक

और चुम्बनादिक
होने लगे। इस कारण उनक
भगवत्-परिचर्या आदि क्रियाएँ प्रतिदिन क्षीण होने लगीं और क
ही दिनोंमें उनका सारा धर्माचरण नष्ट हो गया॥८॥

अहोबतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणञ्च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मयतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा॥ ९ ॥

(भरतजी मन-ही-मनमें विचार करते) अहो! यह निराश्रय मृगशावक कालचक्रक
मेरे आश्रममें आ गया है। यह मुझे ही अपना माता, पिता, भ्राता, और जाति सहचर मानता है। मुझपर इसका ऐकान्तिक विश्वास है। मेरे अतिरिक्त यह किसीको नहीं जानता। इसका पालन करनेसे मेरे परमार्थकी हानि होगी—इस प्रकारका स्वार्थ भाव मुझे नहीं रखना चाहिए। इसका लालन-पालन करना, इसका पोषण करना और लाड़-प्यारसे सन्तुष्ट रखना मेरा कर्त्तव्य है। मैं ही इसकी एकमात्र शरण हूँ। जो शरणागतका अनादर करता है, वह पापका भागी होता है—यह मैं जानता हूँ। अतः इस आश्रितकी उपेक्षा करना उचित नहीं है॥९॥

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते॥ १०॥

समस्त प्रकारसे बाहरी विषयोंसे विरक्त होनेपर भी दीन-जनोंक परम सुहृद्, शिष्ट और सज्जन निश्चय ही शरणागतोंकी रक्षाक लिए अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थकी भी उपेक्षा कर देते हैं॥१०॥

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत्॥ ११॥

भरतका चित्त मृगशावकक
वे उठते-बैठते, सोते-जागते, टहलते, स्नान एवं भोजनादि करते हुए उसीक

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसाला-वृकादिभ्यो भयमाशंसमानां यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति॥ १२॥

भरत जब क
लानेक
अपने साथ ले जाते कि कहीं उनक
आकर उसे खा न जाएँ॥१२॥

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात् स्कन्धेनोद्वहति। एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन् मुदं परमामवाप॥ १३॥

मार्गपर चलते समय वे मृगशावकक
हो जाते, उसकी ओर उनका चित्त खिंचता चला जाता और वे प्रेमसे विह्वल हो पड़ते। इस प्रकार स्नेह-वात्सल्यसे भरकर वे उस शावकको कभी कन्धेपर उठा लेते, कभी गोदमें रख लेते और कभी वक्षःस्थलपर रखकर अत्यन्त आदरक
परम आनन्दित होते॥१३॥

क्रियायामनिर्वर्त्यमानायामन्तरालेप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति॥ १४॥

प्रारम्भ की हुई देव-पूजादि नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ करते समय महाराज भरत बीच-बीचमें उठकर देखने लगते कि शावक कहाँ है? यदि वह प्रसन्न दिखायी देता, तो वर्षपति भरतजीका चित्त हर्षित हो जाता और वे उसे मङ्गल आशीष देते हुए कहते—हे वत्स! तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण हो॥१४॥

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच॥ १५॥

दैवात् यदि वह किसी समय दिखायी नहीं देता तो उनका चित्त उस प्रकार से अत्यन्त व्याक
लिये जानेपर कृपण व्यक्तिका चित्त मोहग्रस्त हो जाता है। उत्कण्ठाक
कारण वे शावकक
और मोहक

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन् सुजन इवागमिष्यति॥ १६॥

अहो! मृत हिरणीका यह मृगछौना निराश्रय है! यद्यपि मैं अतिशय अभद्र और हतभाग्य हूँ, मेरी बुद्धि भी शठतासे युक्त और व्याधकी भाँति क्रूर है, तथापि वह तो मुझमें विश्वास रखता है। सज्जन जिस प्रकार अपने अन्तःकरणक
दुर्जनक
करक
चित्तक
पास आयेगा क्या?॥१६॥

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि॥ १७॥

आहा! क्या मैं उसे देख पाऊँगा? देवताओंक
इस आश्रमक
चरते हुए पुनः देख सक

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति॥ १८॥

कहीं भेड़िया, क
अक

निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रयात्माद्यापि न मम मृगवधून्यास आगच्छति॥ १९॥

अहो! जिनक
(क
ही वेदोक्त दया-धर्मसे विमुख हूँ) सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर जा रहे हैं, किन्तु वह मृगवधू जाते समय अपना जो धन मेरे पास रख गयी थी, वह धन मेरे पास अब तक लौटा क्यों नहीं?॥१९॥

अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन्॥ २०॥

वह मृगराजक
राजपुत्रक
समीप पुनः लौटेगा और स्वभाव सुलभ विविध मनोहर दर्शनीय क्रीड़ाओंसे मेरे असन्तोषको दूर करेगा?॥२०॥

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनामीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति॥ २१॥

अहो! जब वह क्रीड़ा करता था, तब मिथ्या ध्यानक
मैं अपनी आखें बन्द कर लेता था। तब वह प्रणय-कोपक
कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और सचकित होकर मेरे समीप आकर अपने कोमल सींगोंकी नोकसे मेरा स्पर्श करता। उसका स्पर्श मुझे जल-बिन्दुओंक
होता था॥२१॥

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते॥ २२॥

जब मैं क
हुए अपनी चञ्चलताक
सामग्री दूषित हो जाती। यह देखकर मैं उसे डाँटता तो वह अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय खेल-क

बैठ जाता मानो कोई मुनि-बालक अपनी इन्द्रियोंका संयम करक बैठा हो॥२२॥

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनय-कृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानञ्च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति॥ २३॥

(इस प्रकार विलाप करते हुए राजर्षि भरत उठे एवं बाहर गये। वहाँ मृगशावकक
नहीं जानता! इस भाग्यवती पृथ्वीने कौनसी तपस्या की है, जो यह विनीत कृष्णसार-सुत (काले हिरणशिशु)क
परम मङ्गलस्वरूप चरण-चिह्न धारण कर रही है और मृगधन लुट जानेसे अति व्याक
मार्ग बता रही है। यह धरिणी स्वयं तो अपनी देहपर सर्वत्र ही उन चिह्नोंको धारणकर विभूषित हो रही है और स्वर्ग-अपवर्गक इच्छुक ब्राह्मणोंक

अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति॥ २४॥

(चन्द्रमाक
राजर्षि भरत उसे ही अपना मृग समझकर कहने लगते—) दीनवत्सल भगवान् सोमदेवने मेरे आश्रमसे बिछुड़े हुए और मातृविहीन मृगशावकपर कृपा की है। वे मृगपति सिंहक
उसे अपने ही पास रखकर उसकी रक्षा कर रहे हैं॥२४॥

किंवात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृत-मयगभस्तिभिः सुधयतीति च॥ २५॥

(चन्द्रमाकी किरणोंका अनुभव करते हुए कहने लगे—) यह मृगवधू-तनय जो मेरा ऐकान्तिक अनुगत था, मैंने ही उसे पुत्र

रूपमें अङ्गीकार किया था। उसक
मेरा हृदय-पद्म जल रहा है। उसक
प्रति अनुरागवशतः अपनी शीतल, शान्त और स्नेहयुक्त अमृतमयी किरणोंकी धारासे मुझे सुख देनेकी चेष्टा कर रहे हैं। ये (ओझाकी भाँति) मुखमें जल भरकर उसक
कर रहे हैं, जिससे मेरा विरह-ज्वर शान्त हो जाय॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्ध-कर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च। कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जिन मनोरथोंका पूरा होना असम्भव था, भरतजीका चित्त उनसे ही व्याक
अपने प्रारब्ध-कर्मोंक
भगवदर्चन-रूपी स्वधर्मसे पतित हो गये। जिन्होंने दुस्त्यज्य अपने औरस (पत्नीसे उत्पन्न) पुत्रोंको भगवद् प्राप्तिमें बाधक समझकर परित्याग कर दिया था, उनकी उस विजातीय मृग-शिशुमें साक्षात् अपने पुत्रकी भाँति आसक्ति किस प्रकार हो गयी? वे उस मृगशावकक
कि आत्महितकी चिन्तासे भी उदासीन हो गये। मृगशिशुक
आसक्ति रूपी विघ्न पड़नेसे उनका योग साधन नष्ट हो गया। राजन्! इसी समय प्रबल वेगशाली अटल भीषण काल उनक
समक्ष इस प्रकार उपस्थित हो गया, मानो चूहेक
सर्प प्रवेश कर गया हो॥२६॥

तदानीमपि पार्श्ववर्त्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप॥ २७॥

मृत्युक
बैठकर पुत्रक
भगवद्-विमुख व्यक्तिक
मनुष्य देहका भी परित्याग कर दिया। उस समय उनका चित्त मृगमें ही लगा हुआ था, इसलिए दूसरे जन्ममें उन्हें मृग-शरीर ही प्राप्त हुआ। हे राजन्! राजर्षि भरतकी देह नष्ट हो गयी, किन्तु पूर्वजन्मक

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह॥ २८॥

भगवान्की आराधनाक
अपने पूर्वजन्मकी मृगासक्तिक
स्मृति बनी रही। वे बार-बार अनुताप करते हुए मन-ही-मन कहते रहते— ॥२८॥

अहो कष्टं! भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्त्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत् तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु सुस्राव॥ २९॥

हाय! हाय! बड़े दुःखकी बात है कि मैं धीरजनोंक
भ्रष्ट हो गया। मैं स्त्री-पुत्रादिकी आसक्तिका परित्याग करक
पुण्यारण्यमें रहकर जितेन्द्रिय हो गया था। वहाँ मैंने समस्त जीवोंक
आत्म-स्वरूप भगवान् वासुदेवक
आराधन और अनुस्मरणादि भक्तिक
सुस्थिर कर रखा था। चित्तको उनमें ही पूरी तरह स्थापित एवं

सुदृढ़ करक
था और इसी प्रकारसे बहुत दिन बीत गये, किन्तु वही चित्त मृगशावकमें आसक्त हो गया और मैं अपनी भगवदाराधनासे बहुत दूर पतित हो गया॥२९॥

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशील-मुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात् प्रत्याजगाम॥ ३० ॥

मृग-देहको प्राप्तकर भरतक
किन्तु उन्होंने इसे व्यक्त नहीं किया। जहाँ उनका जन्म हुआ था, उस कालाञ्जर पर्वत एवं मृगी माताका त्याग करक
प्रिय शालग्राम नामक
ऋषिक

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्त्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन् मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे आदिभरतचरितेऽष्टमोऽध्याय।

राजर्षि भरत पुनः सङ्ग-दोषसे अत्यन्त भयभीत और उद्विग्न होकर उसी आश्रममें एकाकी ही रहने लगे। वे सूखे पत्ते, तृण, लतादि खाकर मृगदेहक
मृगासक्तिक
विचारकर वहाँ स्थित गण्डकीक
भागको डुबोये रखा और उस मृग-शरीरको त्याग दिया॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

भरतका ब्राह्मणक

श्रीशुक उवाच—

अथ कस्यचिद्द्विजवरस्याङ्गिरसप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययन-त्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्ज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुत-शीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनञ्च यवीयस्यां भार्यायाम्। यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः॥ १-२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आङ्गिरस गोत्रीय ब्राह्मणोंमें एक अति श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, जो शम, दम, स्वाध्याय, गुरुक निकट वेदाध्ययन, दान, सन्तोष, सहिष्णुता, विनय, विद्या, अनसूया (ईर्ष्याराहित्य), आत्मज्ञान, भक्तियोग आदि गुणोंसे युक्त थे। वे प्रायः समाधिमें ही रहा करते थे। इन ब्राह्मणकी बड़ी पत्नीक
नौ पुत्र उत्पन्न हुए। ये सभी शास्त्र-ज्ञान, चरित्र, सदाचार, रूप, गुण और उदारतामें अपने पिताक
छोटी पत्नीक
जन्म लिया। विद्वान् लोग कहते हैं—इनमें जो पुत्र थे, वे ही परम भागवत राजर्षि श्रेष्ठ भरत थे, जिन्हें मृगशरीर छोड़नेक
अन्तमें ब्राह्मणत्व प्राप्त हुआ था॥१-२॥

तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमाना भगवतः कर्मबन्ध-विध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मान-मुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य॥ ३॥

भगवान्क
स्मरण था। इस जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करक

स्वजनोंक
क्षण अपने हृदयमें भगवान्‌क
जिनक
समस्त बन्धनोंका विनाश हो जाता है। वे लोगोंक
उन्मत्त, जड़, अन्धे और बहरेक

तस्यापि ह वा आत्मजस्य स विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्त्तनात् संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन् कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयत्; अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति॥ ४॥

उनक
विवाहसे पूर्व ब्रह्मचर्य आश्रमकी समाप्ति तक शास्त्रोक्त समस्त संस्कार करवानेकी इच्छासे उनका उपनयन संस्कार करवाया। भरतजीकी इच्छा न होनेपर भी उन्होंने भरतजीको कर्मक
लिए शौच एवं आचमनकी विशेषरूपसे शिक्षा प्रदान की। प्रत्येक पिताका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पुत्रको शास्त्र विधियोंका पालन करना सिखाये॥४॥

स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति। छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान् मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास॥ ५॥

किन्तु भरतजी तो अपने पिताक
हुए शौच और आचमनादि उपदेशोंका उनक
आचरण करते थे, मानो उन्होंने क
उनक
छोड़ दें। वे मल-मूत्र आदि त्यागसे पहले ही मृत्तिका-शुद्धि और आचमनादि कर लेते, बादमें नहीं। इसक
कि पुत्र भरतको वेदाध्ययनादि करा दिया जाय। अतः सर्वप्रथम उन्होंने वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु (चैत्रादि चार मास) तक प्रणव एवं व्याहृतिक

हे परीक्षित्! वे भरतको भूः भुवः स्वःका (व्याहृतियोंक
भी उच्चारण सिखा न पाये॥५॥

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियम-गुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः॥६॥

इस प्रकारसे वे ब्राह्मण अपने पुत्र भरतको आत्म-स्वरूप सम्बन्धी-ज्ञान प्राप्त करानेका प्रयास करते रहे, क्योंकि अतिशय स्नेहक
उनका प्रयास असफल रहता था। पुनः पुत्रको अवश्य सुशिक्षित करना चाहिए—इस अनुचित आग्रहसे व्याक
पुत्रकी इच्छा न होनेपर भी नियमितरूपसे ब्रह्मचर्यक
यथा—व्रताचारीक
अग्निकी शुश्रूषा इत्यादि सिखानेका प्रयत्न किया, परन्तु उनका सारा आग्रह विफल हो गया। पुत्रको विद्वान् बनानेकी जिस आशाको वे सँजोये हुए थे, वह अपूर्ण ही रही। वे ब्राह्मण घरमें आसक्तिक कारण अपने आपको भी भूल गये, किन्तु मृत्यु किसीको नहीं भूलती। यथासमय मृत्युने आकर ब्राह्मणको ग्रास कर लिया॥६॥

अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात्॥७॥

इसक
उत्पन्न हुए जुड़वाँ बालकोंको सपत्नी (ब्राह्मणकी ज्येष्ठ पत्नी) क
हाथोंमें सौंपकर पतिक

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्॥८॥

पिताक
मूर्ख मान लिया। उनकी शिक्षाक

था, उन्होंने उसे पूर्ण नहीं किया। भरतक
साम और यजुर्वेदक
बुद्धि भगवद्-भक्तिसे युक्त पराविद्यामें प्रवेश नहीं कर पायी थी, इसलिए वे भरतकी आत्मारामताका अनुभव नहीं कर सक

स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरमूकेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्। नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुख-दुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्द्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमसिना द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार॥ ९-१०॥

हे राजन्! इधर नीच स्वभाव, विवेकशून्य, द्विपद पशुक
मनुष्य भरतको उन्मत्त, जड़, बधिर अथवा गूँगा कहकर सम्बोधित करते तो वे भी उनक
उनक
समान व्यवहार करने लगते। यदि कोई उनसे क
तो वे उसकी इच्छा पूरी कर देते। वेतन लेकर, बिना वेतनक
माँगकर अथवा दैवात् जैसा भी भोजन मिल जाता, वह बिना स्वादक
ही खा लेते थे। इन्द्रियोंकी सन्तुष्टि उनका प्रयोजन नहीं था। वे तो पहलेसे ही सुख-दुःखको उत्पन्न करनेवाले शुभाशुभ कर्मबन्धनसे मुक्त हो गये थे। उन्होंने स्वतःसिद्ध अप्राकृत अनुभवानन्दक
निजाभीष्ट श्रीकृष्ण-प्रतीतिको प्राप्त कर लिया था। अतः सुख-दुःखका हेतु और मान-अपमानादिसे उत्पन्न देहाभिमान उनमें नहीं था। उनका शरीर साँड़क
सुदृढ़ थे। सर्दी हो या गर्मी अथवा आँधी हो या वर्षा, वे अपने शरीरको वस्त्रसे ढकते नहीं थे। वे भूमिपर ही सोते, कभी तेल

नहीं लगाते और स्नान नहीं करते जिसक
मलिन हो गयी थी। मैलकी परत जमा होनेसे उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार प्रकट नहीं होता था, जिस प्रकार धूल जम जानेसे महामणिका तेज छिप जाता है। वह कमरमें एक मटमैला कौपीन पहने रहते थे और उनक
पड़ा रहता था। अज्ञानी व्यक्ति उन्हें अधम ब्राह्मण समझकर उनका तिरस्कार करते थे। हे राजन्! इस प्रकार वे मूर्ख लोगों द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित होकर इधर-उधर घूमा करते थे॥९-१०॥

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु समं विषमं न्यूनमधिकमिति न वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थाली-पुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति॥ ११ ॥

वे दूसरोंका काम करक
अपेक्षा रखते हैं—यह देखकर उनक
दिखाकर खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया, किन्तु जड़भरत यह नहीं जानते थे कि कहाँ मिट्टी डाली जाय, कहाँकी भूमि समतल या ऊँची-नीची रखी जाय। उनक
कनी, खली, भूसा, घुन लगे उड़द, बरतनमें जले हुए अन्नकी खुरचन जो क
खा लिया करते थे॥११॥

अथ कदाचित् कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमाल-भतापत्यकामः॥ १२ ॥

किसी समय एक शूद्र दस्युओंक
कामनासे भद्रकालीक
लिए सङ्कल्प किया॥१२॥

तस्य ह दैवविमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसावृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन्॥ १३ ॥

वह जिस पुरुषकी बलि देना चाहता था, दैवयोगसे वह बन्धन तोड़कर भाग गया। उस चोरोंक
खोजनेक
मिला। घूमते-घूमते वे घोर अन्धकारमयी रात्रिक
खेतपर पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न कोई ब्राह्मण पुत्र एक ऊँचे स्थानपर बैठकर मृग एवं वराहादि पशुओंसे खेतकी रक्षा कर रहा है॥१३॥

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्त्तुकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः॥ १४॥

उन्होंने देखा कि स्थूलता आदि गुणोंक
सुलक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष-पशु है, अतः इसीसे हमारे स्वामीका कार्य सिद्ध हो जायेगा। यह निश्चय करक
बाँध लिया। हर्षसे उन लोगोंका मुख खिल गया और वे हँसते हुए उन्हें चण्डीक

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाच्छाद्य भूषणालेपस्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्य-लाजकिशलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्ग-पणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः॥ १५॥

चोरोंक
स्नान कराया और नये वस्त्र पहनाये। इसक
समान ही अलङ्कार, गन्ध, तिलक, चन्दन, मालादि द्वारा विभूषित करक
(भरतजीकी) धूप, दीप, माल्य, खील, नूतनपत्र, दुर्वाङ्कुर एवं फलादि उपहारोंक
उच्च गीत, स्तुति एवं मृदङ्ग तथा पणवादिका उच्च स्वरसे शब्द करते हुए उन पुरुष-पशुको भद्रकालीक
बिठा दिया॥१५॥

अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालं निशितमुपाददे॥ १६॥

दस्युराजने मुख्य पुरोहित-कर्मक
किया था, उसने इन उपकल्पित नर-पशुक
देवीको तृप्त करनेकी इच्छासे भद्रकाली-मन्त्रसे अभिमन्त्रित की हुई एक तीक्ष्ण धारवाली भयङ्कर तलवार निकाल ली॥१६॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलाधीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालभनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली॥ १७॥

परीक्षित्! इन डाक
था। वे धनमें इतने मतवाले हो रहे थे कि उनक
लेशमात्र भी स्थान न था। इसी कारणसे वे भगवान्क
ब्राह्मणको तुच्छ समझ रहे थे और स्वेच्छाचारितावश क
हो रहे थे। हिंसा ही उनका क्रीड़ोत्सव था। इसी कारण वे पूर्वोक्त बलि-कर्मक
अनुमोदन किया जाता है, उसमें भी समस्त प्राणियोंक
भगवद्गतचित्त, ब्रह्मर्षि-पुत्रका वध कभी भी विहित न था। देवी भद्रकाली धर्म-विरोधी साधनाका प्रयास करनेवाले उन शूद्रोंका अति क्रूर, अकरणीय, ब्रह्महिंसासे पूर्ण भगवद्-विरोधी-कर्म समझ गयी जिसके कारण उनका शरीर अति दुःसह ब्रह्मतेजसे सन्तप्त होने लगा। वे शीघ्र ही प्रतिमाको विदीर्ण करक

भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटो-पातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां वृषलानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात् स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया॥ १८॥

अत्यधिक असहनशीलता और क्रोधावेशक
भौंह रूपी शाखाएँ हिलने लगीं, भीषण दाढ़ें बाहर निकल आयीं, लाल-लाल नेत्र विघूर्णित होने लगे—इससे उनका मुखमण्डल अत्यन्त भयङ्कर हो उठा। वे क्रोधसे भरकर इस प्रकार अट्टहास करने लगीं, मानो सम्पूर्ण संसारका संहार कर डालेंगी। वे प्रतिमासे उछलीं और तुरन्त ही उन डाक
तलवारसे वे जड़भरतकी बलि देनेक
उन सभीक
निकलने लगा, भद्रकाली देवी अपनी डाकिनी इत्यादि सहचरियोंक साथ उस आसवका पान करने लगीं। अतिशय रक्त-पानसे उन्मत्त होकर देवीने उसी समय अपने पार्षदोंक
और नाचना आरम्भ कर दिया और उन डाक
सिरोंको गेंदक

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्र्येनात्मने फलति॥ १९॥

महापुरुषक
इसी प्रकारसे स्वयं ही भुगतना पड़ता है॥१९॥

न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरच्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैरभिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम्॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीजडभरतचरिते नवमोऽध्यायः।

हे विष्णुरात! जिनकी देहादिमें आत्माभिमान रूप दुर्भेद्य हृत्-ग्रन्थिका छेदन हो चुका है, उनका हृदय सदैव समस्त व्यक्तियोंक
नहीं करते और न किसीसे शत्रुता रखते हैं। भगवान् असुरोंक (भक्तविरोधियोंक

हैं। भक्त-रक्षणमें सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले सुदर्शन-चक्रधारी भगवान् विष्णु शिष्ट-पालन एवं दुष्ट-दलनादि रूपमें उनकी रक्षा करते हैं। जिन्होंने भगवान्क
आश्रय लिया है, ऐसे परम-भागवत, परमहंसका अपना सिर-छेदन काल उपस्थित होनेपर भी विचलित (क्षुब्ध) न होना कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है॥२०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

जड़भरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच—

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहकपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्धः एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक समय सिन्धु और सौवीर राज्योंका राजा रहूगण कपिलाश्रम जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीक

कहारको एक और कहारकी आवश्यकता पड़ी। कहारकी खोज करते-करते उन्हें दैवयोगसे जड़भरत मिल गये। कहारोंने उनक बलिष्ठ शरीर, सुदृढ़ अङ्ग और तरुण अवस्थाको देखकर विचार किया कि यह तो गधे एवं घोड़ोंक

होता है। ऐसा विचारकर उन लोगोंने जड़भरतको पूर्व वाहकोंक साथ बलपूर्वक पालकी ढोनेमें लगा दिया। महानुभाव भरतजी यद्यपि इस कार्यक

दिये जानेक

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह—हे वोढारः साध्वतिक्रामत किमिति विषममुह्यते यानमिति॥ २॥

पालकी ढोते समय द्विजवर भरत कहीं चींटी आदि प्राणियोंकी हिंसा न हो जाय, इस भयसे आगेकी एक बाण (तीन फ

पृथ्वीको देखनेक

चालकी सङ्गति नहीं बैठती और पालकी हिलने लगती। यह देखकर

राजा रहूगण वाहकोंसे कहने लगा—अरे! इस प्रकारसे पालकीको ऊँची-नीची करक

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायातुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः॥ ३ ॥

राजा रहूगणक
दण्डक

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमुह वयं पारयाम इति॥ ४॥

हे राजन्! हम अपने-अपने कार्यमें किञ्चित् भी असावधान नहीं हैं। हम तो आपकी आज्ञानुसार पालकीको ठीक प्रकारसे वहन कर रहे हैं, किन्तु अभी-अभी यह नया मनुष्य जो इसमें लगाया गया है, वह जल्दी-जल्दी नहीं चल रहा है। यही कारण है कि हम इसक
पा रहे हैं॥४॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह॥ ५ ॥

राजा रहूगणने दण्डसे भयभीत वाहकोंक
विचार किया कि एकक
इसलिए अभी इसका प्रतिकार न किया गया तो धीरे-धीरे सभी कहारोंकी चालमें तालमेल सम्भव नहीं होगा। यह विचारकर राजा रहूगण महापुरुषोंकी सेवा-परायण एवं परम-धार्मिक होने पर भी राजस्वभावक
ब्रह्मतेज भस्मसे आच्छादित अग्निक
मति रजोगुणसे आच्छन्न थी। वह भरतजीसे व्यङ्ग्यपूर्वक कहने लगा— ॥५ ॥

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर एते संघट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशये स्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहंममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह॥ ६॥

हाय! बड़े कष्टकी बात है! अरे भाई! तुम निश्चय ही अत्यन्त क्लान्त हो गये हो। तुम अक
पालकी ढोकर लाये हो। बुढ़ापेक
हो? हे सखे! तुम्हारा शरीर भी बलिष्ठ नहीं है और न ही तुम्हारे अङ्ग ही सुदृढ़ हैं। ये सब वाहक भी तुम्हारा सहयोग नहीं कर रहे हैं न!—राजा रहूगणने जब इस प्रकार परिहासक
तिरस्कार किया, तो भी भरतजी मौन धारण करक
समान पालकी वहन करते रहे। वे तो मायारचित द्रव्य (पञ्च महाभूत), गुण (शब्दादि पञ्च तन्मात्रा), कर्म (पाप-पुण्यादि) एवं वासनामय सूक्ष्म शरीरमें तथा हाथ-पैर आदि अवयवोंसे युक्त अनात्म स्थूल शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' रूप मिथ्या ज्ञानक
सदा सर्वदा निवृत्त होकर ब्रह्मभूत हो गये थे॥६॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतोसि मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा स्वां प्रकृतिं भजिष्यसीति॥ ७॥

पालकी पुनः पूर्ववत् हिलने लगी। यह देखकर राजा रहूगण अत्यन्त क्रोधित हो गया और कहने लगा—अरे दुष्ट! तू यह क्या कर रहा है? तू जीवित ही मर गया है क्या? मैं तेरा स्वामी हूँ। तू मेरा अनादर करक
दण्डपाणि यम जिस प्रकार लोगोंक
हैं, उसी प्रकार मैं भी तुझ अवज्ञाकारीको दण्ड देता हूँ, जिससे तू सचेत हो जायेगा॥७॥

एवं बह्वबद्धमभिभाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह॥ ८॥

रहूगणको अपने राजा होनेका अभिमान था। रज एवं तमो गुणोंक कारण उसका अहङ्कार बहुत बढ़ गया था, जिससे उसने भगवान्क प्रिय निक
अपनेको पण्डित समझता था, पर योगियोंकी विचित्र कथनी और करनीको वह नहीं जानता था। उसकी ऐसी मति देखकर समस्त प्राणियोंक
बिना किसी अहङ्कारक

श्रीब्राह्मण उवाच—

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्त्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः॥ ९॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ भरतने कहा—हे वीर! आपने जो कहा वह सत्य है, मात्र उलाहना नहीं है। आपक
नहीं है। परन्तु यदि भार है तो वह शरीर द्वारा वहन किया जा रहा है, मैं (आत्मा) वहन नहीं कर रहा। यदि भार मेरी आत्मा द्वारा ढोया जाता, तो आपक
मैं देहसे पृथक् हूँ, अतः मैं वाहक नहीं हूँ। पालकी ढोनेमें मेरा कोई श्रम नहीं है। मार्गमें जानेवाले आप हैं। आपका (लौकिक) गन्तव्य स्थान यदि मेरी आत्माका भी (पारलौकिक) गन्तव्य स्थान होता तो मेरे जानेमें श्रमसाध्य कष्ट हो सकता था। किन्तु मेरा ऐसा कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए मुझे कष्ट भी नहीं है। यदि कोई मार्ग भी है, तो वह भी चलनेवालेक
जो यह कहा कि 'मैं बलिष्ठ नहीं हूँ' तो यह भी मूर्खजनोचित

(शरीर तथा आत्माका अन्तर नहीं जानने वालेका) व्यवहार है। आपकी ये बातें (दुर्बलता-स्थूलता) स्थूल देहक
पण्डितजन आत्माक
मेरी यह देह ही स्थूल है, मैं (आत्मा) स्थूल नहीं हूँ॥९॥

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥१०॥

स्थूलता, कृशता, आधि (मानसिक-पीड़ा), व्याधि (शारीरिक-पीड़ा), क्षुधा (भूख), तृष्णा (प्यास), भय, कलह, विषय-भोग-वासना, जरा (वृद्धावस्था), निद्रा, विषयासक्ति, क्रोध, देहात्मबुद्धि, शोक और मोह आदि देहाभिमानक
जीवको ही मोटापन, दुबलापन आदि होते हैं, पर मुझमें तो देहाभिमान है ही नहीं। फलतः मुझमें इस प्रकारसे स्थूलता, कृशता इत्यादि भी नहीं है॥१०॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम्।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः॥११॥

हे राजन्! आपने जो मुझे 'जीवित ही मरा हुआ'—कहा, इस विषयमें मेरा कहना यह है कि मात्र मैं ही 'जीवन्मृत' नहीं हूँ, मैं देख रहा हूँ कि परिणामशील वस्तु मात्रका ही आदि और अन्त है। आपने जो यह कहा कि 'स्वामीक
कर रहे हो' तो इस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि "हे पूज्य! स्वामी और सेवकका भाव यदि किसीक
'पालकी वहन करनेक
अनुचित नहीं होता, (उचित ही होता), किन्तु यदि कालवशतः आपका राज्य नष्ट हो जाय और मुझे राज्य प्राप्त हो जाय, तो

सब विपरीत हो जायेगा। अभी आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ, तब मैं आपका स्वामी हो जाऊँगा और आप मेरे सेवक"॥११॥

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्य-
मथापि राजन् करवाम किं ते॥१२॥

यदि आप यह कहना चाहते हैं कि जब तक मैं राजा हूँ तब तक तुम मेरे सेवक ही हो, तो इस सन्दर्भमें मेरा कहना यह है कि मैं राजा हूँ अथवा मैं सेवक हूँ—इस प्रकारकी भेद-बुद्धिका अवकाश मात्र व्यवहारक

व्यवहारक

कौन राजा है और कौन सेवक है? फिर भी यदि आप अपनेको राजा समझते हैं, तो कहिये, आपकी क्या सेवा करूँ?॥१२॥

उन्मत्तमत्तजडवत् स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।
अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः॥१३॥

हे राजन्! आपने यह जो मुझसे कहा—'अरे तू बड़ा उन्मत्त है, मैं तेरा उपचार करता हूँ, जिससे तेरे होश ठिकाने आ जायेंगे'—इसपर मैं यह कहना चाहता हूँ कि उन्मत्त, मत्त अथवा जड़क

है, मुझे दण्ड देकर अथवा मुझे क

आपक

रस्सी पीटने जैसा होगा। आपकी दृष्टिमें यदि मैं प्रमत्त और संसारी हूँ, तो भी मेरे लिए आपका दण्ड विधान पिसे हुएको पीसनेक समान निष्फल ही होगा। कारण—पागलको दण्डित करनेसे उसका पागलपन शान्त नहीं होता, अपितु और बढ़ जाता है॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य स मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथैवोवाह॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा रहूगणने परम भागवत श्रीभरतजीको जो भी तिरस्कारपूर्ण वचन कहे थे, शान्तचित्त मुनिवर भरतने उन सभी वचनोंका विशेष अर्थक
दिया। देहमें आत्मबुद्धिका कारण अविद्या है, वह उनमें थी नहीं। दैन्यवशतः 'मैं भक्त हूँ' वे ऐसा अभिमान भी नहीं करते थे। इसलिए साधारण जीवक
प्रारब्ध कर्मफलका क्षय कर रहा हूँ'—इस प्रकार विचार करक
पूर्ववत् राजाकी पालकीको वहन करते रहे॥१४॥

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धया- धिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिविमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा तत्पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच॥ १५॥

हे पाण्डवेय (परीक्षित्)! सिन्धु-सौवीर शासक रहूगण उत्तम श्रद्धाक
भरतजीक
बहुत-से वचनोंको सुनकर उसका राजमद दूर हो गया। वह शीघ्र ही पालकीसे उतर पड़ा और भरतजीक
रखकर क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहने लगा॥१५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः॥ १६॥

हे ब्राह्मण! प्रच्छन्नरूपसे इस संसारमें विचरण करनेवाले आप कौन हैं? क्या आप ब्राह्मण अथवा साधुपुरुषोंमें-से कोई हैं? क्योंकि आपने यज्ञ-सूत्र धारण कर रखा है। अथवा आप दत्तात्रेयादिमें-से कोई महाज्ञाननिष्ठ अवधूत हैं। आप किस महात्माक शिष्य हैं? कहाँ रहते हैं? यहाँ आपका आगमन किस कारणसे हुआ है? यदि हमारे कल्याणक
तो क्या आप विशुद्ध-सत्त्वमय-मूर्ति नारायणावतार मुनि कपिल ही तो नहीं हैं?॥१६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा
न्न त्र्यक्षसशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात्॥ १७॥

हे महानुभाव! मैं देवराज इन्द्रक
शूलपाणिक
मुझे कोई भय नहीं है और न ही मैं अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु अथवा क
अपराधसे मुझे बड़ा भय लगता है॥१७॥

तद्ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम्॥ १८॥

आपक
विशिष्ट) ज्ञानका प्रभाव प्रच्छन्न है। आप विषयी लोगोंक
परित्याग करक
पागलक
बतलाइये। हे महात्मन्! आपने योगक
वचन कहे हैं, मेरी बुद्धि उनकी थाह नहीं पा रही है। मैं उन्हें समझ नहीं पा रहा हूँ॥१८॥

अहञ्च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां प्रवरं गुरुं वै।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं यत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम्॥ १९॥

योगेश्वरोंमें अति प्रधान, आत्मतत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ, मुनियोंक
परम गुरु, साक्षात् भगवान्क
प्रदान करनेक
रहा था कि इस संसारमें प्राणियोंक
अर्थात् शरण लेने योग्य कौन हैं?॥१९॥

स वै भवान् लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित्।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबद्धः॥ २०॥

आप वही भगवान्क
आप साधु-असाधुकी परीक्षा लेनेक
संगोपन करक
तो मेरे जैसे विवेकरहित गृहासक्त व्यक्ति आप जैसे योगेश्वरोंक
आचरणको किस प्रकार समझ सकते हैं?॥२०॥

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्त्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः॥ २१॥

हे प्रभो! आपने कहा है 'मुझे कष्ट नहीं होता', किन्तु मेरा
अनुभव यह है कि आत्माक
युद्धादि कर्म-जनित श्रम आत्मामें ही लक्षित होता है। देखिये, जब आप भार ढो रहे थे, तब निश्चय ही आपको श्रम साध्य कष्ट हुआ होगा—मैं ऐसा अनुमान करता हूँ। और आपने यह भी कहा है कि 'राजा और सेवकमें भेद-बुद्धि व्यवहार मात्र ही है, सत्य नहीं'।

किन्तु इस व्यावहारिक जगत्क
उन घटादिक
हैं? अतः प्रमाणित होता है कि व्यवहार मार्ग ही सत्य है॥२१॥

स्थाल्यग्नितापात् पयसोऽपि ताप
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात्॥ २२॥

आपने यह भी कहा है कि स्थूलता आदि औपाधिक धर्म मेरा नित्य धर्म नहीं है, क्योंकि इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु बतलाइये, औपाधिक धर्म मिथ्या किस प्रकार है? अग्निक तापसे बटलोई गर्म होती है, जिससे उसमें रखा दूध उबलने लगता है, उबलते दूधमें डाले गये चावलोंका बहिर्भाग पकता है और उसक
है। इस सम्पूर्ण प्रक्रियामें कोई भी अंश मिथ्या नहीं है। अग्निक सम्बन्धसे जिस प्रकार चावलादि पकते हैं, उसी प्रकार जीवात्माको देह, इन्द्रिय, प्राण और मनक
होता है और इनका कारण यही औपाधिक धर्म ही होता है॥२२॥

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम्।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम्॥ २३॥

आपने कहा है कि 'राजा और प्रजाका भाव नित्य नहीं है', किन्तु अनित्य होनेपर भी जिस समय जो व्यक्ति राजा होता है, उस समय उच्छृंखल प्रजाजनोंका शासन और शिष्ट प्रजाओंका पालन करना उसका कर्त्तव्य होता है। और आपने यह भी कहा कि जड़ एवं उन्मत्तको शिक्षा देना पिसी हुई वस्तुको पीसनेक समान निरर्थक है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् अच्युतका दास है, वह कभी भी व्यर्थक

शिक्षा देकर भी यदि उसकी जड़ताको दूर नहीं कर सक
भगवान्की आज्ञाका पालन करनेक
व्यर्थ नहीं होती। भगवान् अच्युतकी आराधना ही स्वधर्म है, इसक
द्वारा सचेष्ट व्यक्तिकी सम्पूर्ण पाप-राशि नष्ट हो जाती है॥२३॥

तन्मे भवान् नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्त्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः॥ २४॥

आपने जो कहा, वह सब मुझे तो विपरीत ही जान पड़ रहा है। हे आर्त्तबन्धो! मैंने राजमदसे मतवाला होकर आप-जैसे परम भागवतका तिरस्कार किया है। यद्यपि मैं अत्यन्त अपराधी हूँ, तो भी आप मेरे प्रति कृपा दृष्टि कीजिये। आपकी कृपा प्राप्त करक
साधुओंक

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्-
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीजड़भरतरहूगणसंवादे दशमोऽध्यायः।

हे प्रभो! विश्व-सुहृद् भगवान् आपक
समान दृष्टि है, अपनी देहमें भी आपकी आत्म-बुद्धि नहीं है। मैंने जो आपका तिरस्कार किया, उससे यद्यपि आपमें क
नहीं हुआ, तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेक
फलसे मेरा जैसा व्यक्ति शूलपाणि शङ्करकी भाँति विशेष सामर्थ्यवान् होनेपर भी अति शीघ्र विनष्ट हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है॥२५॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

राजा रहूगणको भरत मुनिका उपदेश

श्रीब्राह्मण उवाच—

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेतं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति॥ १॥

श्रीब्राह्मणने (जड़ भरतने) कहा—राजन्! आप विज्ञ नहीं हैं, पर विज्ञों जैसी बातें करते हैं। अतः आप विज्ञोंमें श्रेष्ठ नहीं माने जा सकते। विवेकीजन तत्त्व-विचारक
सुख-दुःख इत्यादि लौकिक व्यवहारोंका आदर नहीं करते। ऐसे व्यवहार सत्य भी नहीं होते॥१॥

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ २॥

हे राजन्! राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक आदि तो लौकिक व्यवहार हैं तथा उसीक
यज्ञोंसे सम्बन्धित विधि-विधानोंमें ही विस्तारसे शोभा पाते हैं। अतः ये दोनों ही सत्य नहीं हैं। उनसे रागादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्रायः नहीं हो पाती॥२॥

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्-
वरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्॥ ३॥

स्वप्नमें प्राप्त सुख-भोग जाग्रतावस्थामें मिथ्या, हेय एवं व्यर्थ स्वतः ही अनुभव होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थोंक
एवं पारलौकिक सुख जबतक स्वयं ही हेय एवं तुच्छ प्रतीत नहीं होते, तबतक सर्वश्रेष्ठ वैदिक वचन भी उस मनुष्यमें तत्त्वज्ञानका उदय नहीं करा सकते॥३॥

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम्।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलञ्चेतरं वा॥४॥

जबतक मनुष्योंका मन सत्त्व, रज एवं तमोगुणक
है, तबतक उनका यह मन उन्मत्त हाथीक
कर्मेन्द्रियोंक
करता रहता है॥४॥

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।
बिभ्रत् पृथङ्नामभि रूपभेद
मन्तर्बहिष्ट्वञ्च पुरैस्तनोति॥५॥

पाप-पुण्यादि कामनाओंसे भरा हुआ यह मन काम-क्रोधादि विकारोंसे ग्रस्त रहता है और विषयोंमें आसक्त होकर मायिक सत्त्व, रज एवं तमो गुणोंसे सञ्चालित होता है। ग्यारह इन्द्रियों और पञ्चमहाभूत—इन सोलह कलाओंमें मन प्रधान है। यह मन ही पृथक्-पृथक् नामोंसे देव-तिर्यगादि विभिन्न देह धारण करता है। देह धारणसे ही जीवकी उत्कृष्टता एवं निकृष्टता (उच्चता एवं निम्नता) प्रकटित होती है॥५॥

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तञ्च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः॥६॥

मायाक
जीवका आलिङ्गनकर संसारचक्रमें उसकी प्रवञ्चना करते हुए उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त कराता है और कालचक्रसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि एवं मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी सृष्टि कराता है॥६॥

तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य॥ ७॥

मन जबतक जीवको इस संसारमें भ्रमण कराता है, तब तक 'मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ' आदि स्थूल एवं सूक्ष्म देह-आत्माभिमान रूप बहुत प्रकारक
होते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानियोंका निर्देश है कि जिस प्रकार उत्तम एवं अधम योनियोंकी प्राप्ति करानेवाला मन है, उसी प्रकार बन्धन एवं मोक्ष-प्राप्तिका हेतु भी मन ही है॥७॥

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्त्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम्॥ ८॥

जीवोंका मन जब विषयोंमें आसक्त होता है, तब उसे सांसारिक दुःखोंको भोगना पड़ता है और जब भोगोंमें अनासक्ति होती है, तब यही मन मुक्तिका कारण बन जाता है। दीपाग्नि जिस समय घीकी वर्त्तिका (बाती) को जला डालती है, तब वह धूएँसे आवृत होती हुई कृष्णवर्णकी लौ बन जाती है, किन्तु अन्य समयमें स्व-स्वरूप शुभ्र-दीप्तिमें ही प्रदर्शित होती है। मन भी इसी प्रकार

मायिक गुणों एवं कर्मोंसे आबद्ध होकर नाना वृत्तियोंका आश्रय करता है, अन्यथा अपने स्वभावको ही धारण करता है॥८॥

एकादशासन् मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरञ्च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः॥ ९॥

हे ज्ञानवीर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहङ्कार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं। शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियोंका विषय हैं, विसर्गादि पाँच क्रियाएँ कर्मेन्द्रियोंक
हैं, देह-गृहमें आत्मबुद्धि अहङ्कारका विषय है—इस प्रकार पण्डितोंने ग्यारह वृत्तियोंका वर्णन किया है॥९॥

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः॥ १०॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंक
‘ज्ञानाकार-वृत्ति’क
गमन, मलत्याग और सम्भोग—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंक
वृत्ति’क
विषय है। ‘यह शरीर मैं हूँ’ इस प्रकारक
बारहवीं वृत्तिक
बारहवीं वृत्तिका विषय है—शय्या अर्थात् देह। अर्थात् उनक
(अहङ्कारक
वृत्तिका विषय है। इस प्रकार अहङ्कारका कार्य-क्षेत्र शरीर है॥१०॥

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः॥ ११॥

द्रव्य अर्थात् विषय, स्वभाव अर्थात् परिणाम-हेतु, आशय अर्थात् संस्कार, कर्म अर्थात् अदृष्ट और गुण-क्षोभक-काल—ये निमित्त कारण हैं। इनक
हैं, बादमें हजार प्रकारक
भेदोंमें परिणत हो जाते हैं। इतने प्रकारक
स्वतः अथवा परस्पर मिश्रणसे नहीं होते, अपितु परमेश्वरकी अनन्त शक्तिसे होते हैं॥११॥

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः॥१२॥

ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञ (मुक्तजीव)का कोई सम्बन्ध नहीं है। मायाक
है, इसलिए यह भगवद्-विमुख कर्म कराता हुआ संसार-बन्धनमें डाल देता है। इस मनकी अनन्त विभूतियाँ हैं, जो अनादिकालसे वर्त्तमान हैं। ये जाग्रत एवं स्वप्नावस्थामें आविर्भूत होती हैं और सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थामें तिरोहित हो जाती हैं। संसारसे मुक्त क्षेत्रज्ञ जीवात्मा मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता है॥१२॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात् स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥१३॥

यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः॥१४॥

(जीवात्मा एवं परमात्माक
पहले जीवात्मा-स्वरूप क्षेत्रज्ञकी बात कहकर अब परमात्मा-स्वरूप क्षेत्रज्ञका वर्णन करते हैं—) क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापी, जगत्-कारण, पूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, जन्मादिसे रहित और ब्रह्मादिक
ईश्वर हैं। वे नारायण समस्त जीवोंक
भगवान् और समस्त प्राणियोंक
अपनी मायासे सभी जीवात्माओंमें उनक
रहते हैं। वायु जिस प्रकार प्राणरूपमें स्थावर-जंगम आदि समस्त प्राणियोंमें प्रवेश करक
आत्मा परमपुरुष वासुदेव भी अपने अंशरूपसे इस विश्व-प्रपञ्चमें प्रवेश करक

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥ १५॥

हे नरनाथ! ज्ञानोदयक
जबतक असद्-सङ्गसे रहित होकर एवं काम-क्रोधादि षड्-रिपुओंपर विजय प्राप्त करक
इस संसार-चक्रमें भटकता ही रहता है॥१५॥

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते॥ १६॥

आत्माका उपाधिरूप मन जीवोंक
जीव जबतक इस तथ्यको नहीं जान लेता, तबतक उसे संसारकी विभिन्न योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। यह मन शोक, मोह, रोग, राग, लोभ तथा वैर—इन सबसे सर्वदा ग्रस्त रहकर झूठी ममता और व्यर्थक

भ्रातृव्यमेतं तददभ्रवीर्य–
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे एकादशोऽध्यायः।

यह मन ही अत्यन्त प्रबल शत्रु है। इसकी उपेक्षा करनेसे इसका पराक्रम (प्रभाव) बढ़ता चला जाता है। यह अवास्तव होनेपर भी जीवक
हे राजन्! श्रीगुरुक
अस्त्रक
विनाश कीजिए॥१७॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

रहूगणके प्रश्न और जड़ भरतका समाधान

श्रीरहूगण उवाच—

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम्॥ १ ॥

राजा रहूगणने कहा—हे अवधूत! आप ईश्वरसे अभिन्न विग्रह हैं। आपने जगत्का उद्धार करनेक
है। आपक
निरस्त हो गये हैं। हे द्विज-बन्धु! एक जड़ ब्राह्मणक
नित्यज्ञानमय-स्वरूपको जन-समाजकी दृष्टिसे गोपन किये हुए हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥१॥

ज्वरामयार्त्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-
र्ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे॥ २ ॥

हे ब्राह्मण! विष्ठादिसे परिपूर्ण देहमें अभिमानरूपी सर्पने मेरी विवेक-दृष्टिको डँस लिया था। ऐसी अवस्थामें मेरे लिए आपक वचन उसी प्रकार अमृतमय महा-औषध स्वरूप हैं, जिस प्रकार ज्वरसे तप्त व्यक्तिक
व्यक्तिक

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम्।

अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे॥ ३॥

मुझे जिन-जिन विषयोंमें सन्देह है, उन्हें मैं आपक
बादमें निवेदन करूँगा। अभी आपने जो अध्यात्मयोगसे युक्त उपदेश दिये हैं, वे मेरे लिए अतिशय दुर्बोध्य हैं, आप उन्हें इस प्रकारसे समझायें कि वे मुझे स्पष्ट एवं सहज रूपसे बोधगम्य हो सक
मेरे चित्तमें उन्हें जाननेक

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम्।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे॥ ४॥

हे योगेश्वर! आपने कहा—दूर तक गमनादि क्रियाओंका फल जो श्रमादि है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणक
इस श्रमादिका अस्तित्व व्यवहारमूलक ही है अर्थात् कहने मात्रक लिए ही है—इससे वास्तव-तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता। आपक इन वचनोंसे मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है॥४॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५॥

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः॥ ६॥

ब्रह्मज्ञ भरतजीने कहा—पार्थिव विकारोंक
शरीर किसी कारणसे पृथ्वीपर विचरण करता है, तब वह भारवाही

नामसे कथित होता है (और जो चल-फिर नहीं सकता, उसे पाषाण आदि कहा जाता है। इन पाषाणोंसे मनुष्य शरीरका भेद ही क्या है?) जो पार्थिव विकार सचल हैं, उनक
ऊपरक
वक्षःस्थल, गले और कन्धे हैं। उनक
बनी पालकी और पालकीमें 'सौवीरराज' नामक प्रसिद्ध एक और पार्थिव विकार बैठा हुआ है। इस विकारमयी देहको ही आप 'मैं सिन्धुदेशका राजा हूँ', ऐसा समझकर प्रबल अहङ्कारमें अन्धे होकर अपनेको सुखी मान रहे हैं। (जबकि निरभिमानियोंक
सुख-दुःख क

शोच्यानिमांस्त्वं ह्यधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन् निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः॥७॥

ये सब दीन-दुःखी कहार पालकी वहन करनेक
कष्ट उठा रहे हैं, इनकी अवस्था बड़ी शोचनीय है। आपने इन्हें बलपूर्वक बिना वेतनक
और इनका निग्रह कर रहे हैं। वास्तवमें तो आप बड़े ही क्रूर और धृष्ट हैं, किन्तु महापुरुषोंकी सभामें बढ़-चढ़कर बातें बनाते हो कि 'मैं सबका रक्षक हूँ।' यह मिथ्या कहना आपको शोभा नहीं देता। अतः आत्म-अनात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोंकी सभामें आपको कौन सम्मान दे सकता है॥७॥

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवञ्च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्॥८॥

हम जो सर्वदा ही पृथ्वीपर स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी उत्पत्ति एवं विनाश देख रहे हैं, वे सब पृथ्वीक

ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही मिल जाते हैं। जितनी भी परिणामशील (आदि एवं अन्तसे युक्त) वस्तुएँ हैं, वे सब नाममात्रक लिए ही भिन्न दिखायी देती हैं, वे पृथ्वीकी ही रूपान्तर मात्र हैं। जैसे जल लाना आदि कार्य-भेदसे जिसका सत्य रूपमें अनुमान किया जाता है, उन सब व्यवहारोंका भी मूल कारण पृथ्वीक अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तुम स्वयं ही निर्णय करो॥८॥

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात् परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः॥९॥

यह मान लेनेसे भी क्या पृथ्वीकी सत्यता सिद्ध होती है, ऐसा नहीं है। पृथ्वी-शब्द-वाच्य सभी पार्थिव वस्तुओंकी सत्ता नाम-मात्रसे ही है—मिथ्या कहकर ही इनका निरूपण हुआ है। परमाणु पुञ्जीभूत होकर पृथ्वीरूपी स्थूल अवयवीको उत्पन्न करते हैं—पृथ्वीका अपना उपादान कारण इन अति सूक्ष्म परमाणुओंमें लय हो जाता है। ये परमाणु भी नित्य नहीं हैं—ये अदृश्य हैं—इनको स्वीकार न करनेसे पृथ्वी आदि स्थूल कार्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। वादीगण (वैशेषिकादि) अज्ञानताक
कर लेते हैं। अतः जैसे परमाणु नित्य नहीं है, वैसे ही परमाणुओंक विविध संगठनसे रचित घट, पटादि भी सत्य नहीं हैं॥९॥

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद् य-
दसच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥१०॥

पृथ्वीकी ही भाँति अन्य वस्तुओंमें जो कृश (सूक्ष्म), स्थूल, अणु (अतिसूक्ष्म), बृहत् (अतिस्थूल), सत् (कार्य), असत् (कारण), चेतन, अचेतन और इनक
जगत्में हैं, वे सभी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म नामसे

प्रसिद्ध हैं तथा उनको अनादि अविद्यासे उत्पन्न जानना चाहिए। (सभी भ्रमसे ही उत्पन्न हैं, वास्तवमें इनकी सत्यता नहीं है)॥१०॥

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरन्त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥ ११॥

[अच्छा, तो फिर सत्य क्या है? इसक
रहे हैं—] अद्वयज्ञान ही सत्य है, यही विशुद्ध (गुणातीत), परमार्थ (मोक्षप्रद), एक (अद्वितीय), सर्वव्यापक एवं निर्विकल्प ज्ञान है। (इसक
एवं प्रत्यक् (समस्त जीवोंक
(क्षोभरहित) रूपमें योगियों द्वारा जो अनुभूति होती है (वह अद्वयज्ञानकी द्वितीय प्रतीति 'परमात्मा' हैं) और इस ज्ञानकी पूर्ण प्रतीतिका नाम भगवान् है। विद्वान् इनको वासुदेव कहते हैं। [वे ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा और आश्रय, परमात्माक
उपास्य वस्तु हैं।]॥११॥

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ १२॥

हे राजा रहूगण! महाभागवतोंकी चरणरेणुसे अपनेको पूर्णरूपसे अभिषिक्त किये बिना क
आदिसे अथवा जल, अग्नि एवं सूर्य इत्यादि देवताओंकी उपासनासे भगवत्-तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥१२॥

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥ १३॥

महाभागवतोंकी सभामें भगवान्क
है, जिसक
ही नहीं रहता। उनक
एवं मनोयोगक
कामना भी दूर हो जाती है और भगवान् वासुदेवमें शुद्धारति
उदित हो जाती है॥१३॥

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥१४॥

मैं पहले भरत नामका एक राजा था। दृष्ट (ऐहिक-प्रत्यक्ष अनुभव) एवं श्रुत अर्थात् वेदोंसे ज्ञान प्राप्त करक
आसक्तियोंसे मुक्त होकर भगवान्की आराधना करता था। दैवात् एक मृगशिशुमें आसक्त हो जानेसे मैं अपने उद्देश्यमें विफल हो गया और मृग-योनिको प्राप्त हुआ॥१४॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि॥१५॥

हे वीर! श्रीहरिकी अर्चनाक
पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही। इसीलिए अब मैं जनसङ्गसे भयभीत होकर अक

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनैवेह विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः।

जीवको मनुष्य जन्म प्राप्त करक
प्राप्त ज्ञानरूपी तलवारक
डालना चाहिये। भगवान्‌क
भगवत-स्मृति बनी रहती है, जिससे मनुष्य भवसागरको अनायास
ही पार करक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

भवाटवीका वर्णन और रहूगण राजाका संशय नाश

श्रीब्राह्मण उवाच—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक्।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दते॥ १॥

ब्रह्मज्ञ भरतजीने कहा—हे राजन्! यह संसार-मार्ग अति दुस्तरणीय है। जीव इस संसारमें भगवान्की मायामें अभिनिवष्ट हो जाता है और सत्त्व, रज एवं तमोगुणोंमें विभक्त शुभ-अशुभ एवं मिश्रित समस्त कर्मोंको ही अपना परम कर्त्तव्य मानकर उन्हींक निर्वाहमें लगा रहता है। इसीसे धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गमें उसकी आसक्ति हो जाती है। वह वणिक्की भाँति सुखकी आशा लिए चारों दिशाओंमें भटकते हुए भवाटवी (संसाररूपी जङ्गल)में फँस जाता है, पर उसे सुख प्राप्त नहीं होता॥१॥

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥ २॥

महाराज! उस जङ्गलमें छह डाक
समाजका नायक बड़ा ही दुष्ट है। उसक
विभिन्न देशोंमें भ्रमण करते-करते किसी दुःख-बहुल जङ्गलमें पहुँचता है, तब ये छहों लुटेरे बलपूर्वक इसका सर्वस्व लूट लेते हैं। भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंक
हैं, उसी प्रकार भवाटवीमें इसक

ही इसक
इधर-उधर खींचने लगते हैं॥२॥

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित् तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित् क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम्॥ ३॥

यह जङ्गल असंख्य तृण (घास), गुल्म (झाड़ी) एवं सघन लताओंक
है। वणिक्तुल्य जीव वहाँ मच्छरोंक
अतिशय पीड़ित रहते हैं। कभी ये जीव काल्पनिक गन्धर्वनगरक समान देह-गृहादि अनित्य वस्तुओंको ही नित्य मान लेते हैं और कभी क्षणभरक
पिशाचक

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः॥ ४॥

हे राजन्! यह वणिक् गृह-धन-क
बुद्धि रखकर इस भवाटवीमें इधर-उधर भटकता रहता है। जब चक्रवात (बवण्डर)से उठी धूलक
हैं, तब उसकी आँखें भी धूलि-कणोंसे भर जाती हैं जिससे उसे दिशाओंका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् चक्रवाततुल्य स्त्री और उससे उठनेवाले धूलतुल्य काम-वेगसे चित्तक
कामान्ध वणिक्को ऋतुमती स्त्रीक
नहीं देता॥४॥

अदृश्याझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा।

अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५॥

कभी इस वणिक्को दिखायी न देनेवाले झींगुरोंक
शब्द सुनायी पड़ते हैं (अर्थात् दुर्जनोंक
उसे मानसिक कष्ट होता है), तो कभी उल्लुओं (दुष्टों)क
कथनसे उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो जाती है और कभी-कभी तो वह भूखसे व्याक
लिए जीव अधार्मिक लोगोंकी सेवा करता है), कभी मरीचिकामें जल-पान करनेकी आशासे उसकी ओर दौड़ता है। (अर्थात् जो दरिद्रको अन्नादिका दान नहीं करते, वह उन कृपणजनोंक
भिक्षाक
प्राप्त होता है भिक्षा नहीं।)॥५॥

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः॥ ६॥

और हे रहूगण! कभी वह जल-शून्य नदियोंकी ओर दौड़ता है, परन्तु उसमें गिर जानेसे उसक
प्रकार उसे जल तो प्राप्त नहीं होता, बल्कि कष्ट ही मिलता है। यह संसारी जीव सुख प्राप्तिकी आशासे इहलोक एवं परलोकमें दुःख-प्रदायक पाखण्ड-मतका आश्रय लेता है, जिसमें उसे दुःखक
अतिरिक्त और क
होनेपर वह दानियोंक
और कभी दावाग्निक
सन्तप्त एवं दुःखी रहता है। कभी यक्षक
प्राण-तुल्य धनका अपहरण कर लेते हैं और वह निर्वेदको प्राप्त होकर मृतप्राय हो जाता है॥६॥

शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम्।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्त्तम्॥ ७॥

कभी किसी स्थानपर कोई अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्ति जब उसका सर्वस्व हरण कर लेता है, तब वह अत्यन्त विषादग्रस्त हो जाता है और उसक
है और कभी गन्धर्व-नगरक
बीच स्वयंको परम शान्तिको प्राप्त हुआ मानकर मुहूर्त्तभरक
सुखका अनुभव करता है॥७॥

चलन् क्वचित् कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगान् रुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय॥ ८॥

कभी पर्वतपर चढ़ना चाहता है (अर्थात् पर्वतक
बड़ी-बड़ी कामनाएँ लेकर चलना आरम्भ करता है), उस समय पादुकादिक
इस कारण वह दुःखी हो जाता है। (अर्थात् जीव कभी-कभी शास्त्रोंमें वर्णित पर्वतारोहणक
इच्छा करता है, किन्तु सहायक-सम्पद्क
पूर्णतामें अनेक विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं। तब 'मैं किस प्रकारसे इस कार्यको सम्पूर्ण करूँगा'—इस चिन्तासे व्याक
ही अनमना रहता है।) कभी कोई क
ज्वाला (भूख)से पीड़ित होकर सब समय स्त्री, पुत्रादिपर क्रोध प्रकट करता है॥८॥

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।

दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे॥ ९॥

और कभी भवाटवीमें अजगर सर्पादि उस व्यापारीको डँस लेते हैं, जिनक
हुए शवक
अजगर-सर्पक
अनुभव नहीं कर पाता)। कभी हिंसक पशु उसे काट खाते हैं (अर्थात् दुर्जन लोग उसे नाना प्रकारकी पीड़ा प्रदान करते हैं), तब वह विवेक-रहित होकर घन-तमसावृत अन्ध-क
जाता है (अर्थात् दुःखादिसे परिपूर्ण माया-मोहक
निमग्न हो जाता है।)॥९॥

कर्हिस्मचित् क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रं प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तांस्ततोऽन्ये॥ १०॥

कभी वह किसी स्थानपर थोड़ा-बहुत मधु (अर्थात् परस्त्री सुख) खोजने जाता है, पर वहाँ भी मधुमक्खियोंसे (अर्थात् उस स्त्रीक पति, श्वसुरादि आत्मीयजनोंसे) प्रताड़ित होकर कष्ट भोगता है। धनादि व्यय करक
साथ रति सुख) प्राप्त हो भी जाय, तो दूसरे कामी पुरुष उस मधु (स्त्री)का अपहरण कर लेते हैं और वह उसका भोग कर ही नहीं पाता॥१०॥

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात्॥ ११॥

इस जगत्में बहुत-से लोग शीत-ग्रीष्म, आँधी-वर्षा इत्यादिसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते और दुःखी रहते हैं। क

खरीदकर परस्पर विनिमय (लेन-देन) करते हैं। वे धनक
ठगते हैं और इस प्रकार पारस्परिक शत्रुता बढ़ा लेते हैं॥११॥

क्वचित् क्वचित् क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥

इस भवाटवीमें किसी-किसी स्थानपर धनहीन दरिद्र व्यक्ति धनक
अभावमें शय्या, आसन, रहनेका स्थान एवं विहारक
आदि दूसरोंसे माँगते हैं। माँगनेपर भी जब उनकी इच्छाएँ अपूर्ण
रहती हैं, तब वे पराये धनक
हैं और फिर उनक

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन् मिथश्च।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः॥१३॥

कहीं वे परस्पर धन-विनिमय आदिक
लेते हैं, तो कहीं परस्पर विवाहादि विशेष सम्बन्ध स्थापित करक
इस भवाटवीमें भ्रमण करते हैं और कठोर परिश्रम, धनक्षय एवं
रोगादिसे

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः।
आवर्त्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम्॥१४॥

हे वीर! वणिकोंका समुदाय दुःखी एवं मृतप्राय माता-पिता आदि
साथियोंका परित्याग करक
लेकर इस भवाटवीमें आगे बढ़ता है, परन्तु इनमें-से किसी भी
सामर्थ्यशाली व्यक्तिने आजतक न तो भगवद्-भक्ति-योगको प्राप्त
किया है और न ही संसारसे अतीत श्रीहरिको॥१४॥

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः।
मृधे शयीरन् न तु तद् व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति॥ १५॥

जो बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति दिग्गजोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, वे भी 'यह भूमि मेरी है'—इस प्रकारक
होकर एक दूसरेक
कर देते हैं। वे भगवान्क
जो ईर्ष्या-द्वेष रहित परमहंसोंको प्राप्त होता है॥१५॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित् कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः॥ १६॥

कभी जीवात्मा भवाटवीमें वृक्षक
है और उन लताओंपर बैठे हुए पक्षियोंकी अस्फ
सुननेकी इच्छा करता है (अर्थात् स्त्री-सङ्ग और उसक
बातें सुनकर सुख-सन्तोष प्राप्त करता हुआ पुत्रक
अभिलाषा करता है) और कभी सिंहक
और बगुलादिक
भयसे डरकर वञ्चक, क
जाता है।)॥१६॥

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान्।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७॥

और फिर उनसे भी वञ्चित होकर वह हंसक
जाता है (अर्थात् पाखण्डियोंका आश्रय लेनेसे शुभ फल प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है, यह देखकर वह ब्राह्मण-क

प्रविष्ट होता है), किन्तु उनक
अभीष्ट (मनोगत) पूर्ण न होते देखकर वह बन्दरोंक
उनकी सङ्गति कर लेता है और उनकी जातिक
क्रीड़ा करता हुआ अपनी इन्द्रियोंक
विषयीजनोंका मुख देख-देखकर विषयोंमें ऐसा मुग्ध हो जाता है कि उसे अपने मरण-कालका भी स्मरण नहीं रहता॥१७॥

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित् प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः॥ १८॥

वहाँ वृक्षोंमें क्रीड़ा करता हुआ अर्थात् गृहमें रमण करते-करते सम्भोगेच्छाक
वह स्त्रीको छोड़ नहीं पाता। कभी वह गिरि कन्दराओंकी भाँति भयानक असाध्य रोगोंसे ग्रस्त होकर वहाँ स्थित हाथीक
मृत्युक
बँधा हुआ लटका रहता है॥१८॥

अतः कथञ्चित् स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमन् जनोऽद्यापि न वेद कश्चन॥ १९॥

हे शत्रुसूदन! जीव इतने कष्ट एवं विपत्तियोंसे मुक्त हो भी जाय, तो भी पूर्वकी भाँति ही प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् विषयी जीवनमें ही प्रवेश करता है। इस प्रकार भगवन्मायाक
आसक्ति-पथपर प्रवेश करक
भगवान्‌को कभी जान ही नहीं पाता॥१९॥

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तराति पारम्॥ २०॥

हे महाराज रहूगण! आप भी मायासे प्रेरित होकर इस प्रवृत्ति-मार्गमें उलझे हुए हैं। अब आप दण्ड प्रदानादि राज व्यवहार छोड़कर समस्त जीवोंसे मित्रता करें एवं विषय-भोगोंका त्याग कर हरि सेवासे प्राप्त ज्ञान रूपी तीक्ष्ण तलवारकी सहायतासे माया-पाशको छिन्न-भिन्न करक
पार करें॥२०॥

श्रीराजोवाच—

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥ २१॥

राजा रहूगणने कहा—अहो! यह मनुष्य जन्म ही समस्त जन्मोंसे श्रेष्ठ है। स्वर्गमें देव-जन्म भी इससे उत्कृष्ट नहीं है। पुनः स्वर्गमें देवतादिक
भगवान् हृषीक
जैसे महात्माओंका अधिक सङ्ग प्राप्त नहीं होता॥२१॥

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२॥

आपकी चरण-धूलिकी प्राप्ति मात्रसे ही जीव निष्पाप होकर ब्रह्मादिक
कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपक
मेरे क
हो गया॥२२॥

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्॥ २३॥

(हाय! हाय! मैंने आपको अपनी पालकी ढोनेमें लगाकर बहुत बड़ा अपराध कर डाला। आप यदि स्वयंको प्रकाशित करक
न समझाते, तो मेरे जैसे अपराधीकी क्या गति होती—इस प्रकार विचार करते हुए राजा रहूगण कहने लगे—) महद्जनोंक
मेरा नमस्कार है! बालकों तथा युवकोंक
है। क्रीड़ारत विप्र बालकोंक
अवधूत-वेशमें पृथ्वीपर विचरण कर रहे हैं, उन सबको मेरा नमस्कार है। उन सबकी कृपासे मुझ जैसे अपराधी राजाओंका कल्याण हो॥२३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरणः पूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार॥ २४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे उत्तरानन्दन परीक्षित्! महानुभाव भरतका मन एवं इन्द्रियोंकी तरङ्गोंका वेग शान्त हो गया था तथा अन्तःकरण पूर्ण समुद्रक
सौवीर देशक
तथापि उन्होंने अहैतुकी कृपा करक
दिया था। इसक
चरणोंकी वन्दना की। महाराज भरत पुनः पूर्ववत् सारे विश्वमें भ्रमण करने लगे॥२४॥

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपिताञ्च देहात्ममतिं विससर्ज्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः॥ २५॥

परीक्षित्! सौवीर-पति राजा रहूगणने परम-भागवत भरतजीसे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति समझकर अविद्या द्वारा कल्पित देहमें आत्म-बुद्धिका परित्याग कर दिया। हे राजन्! भगवदाश्रित भक्तोंक चरणाश्रयकी महिमा ही ऐसी है, जिसका आश्रय करनेसे जीवका देहाभिमान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥२५॥

श्रीराजोवाच—

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतद् दुरधिगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे भवाटव्युपवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

राजा परीक्षित्ने कहा—हे भागवतश्रेष्ठ! आप सर्वज्ञ हैं। आपने वणिक्क
आख्यान प्रस्तुत किया है, उससे विवेकी जन बुद्धि-बलसे जान सकते हैं कि इन्द्रियाँ दस्युक
समान हैं किन्तु इस प्रकारक
अल्पबुद्धिवालोंक
है, अतः आप (उनक
दृष्टान्त द्वारा सहज, सरल और बोधगम्यरूपमें स्पष्ट करें॥२६॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

भवाटवीका यथार्थ अभिप्राय

स होवाच—

स एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशल-समवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन् दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे॥ १ ॥

महाराज परीक्षित्क

शुकदेव गोस्वामी अतिशय आनन्दमें भरकर कहने लगे—महाराज! अर्थोपार्जनमें लगे हुए वणिक् जिस प्रकार धनक

परिपूर्ण दुर्गम पथपर चलते-चलते घोर जङ्गलमें भटक जाते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणी मायाधीश भगवान् विष्णुकी अधीनस्थ मायासे प्रेरित होकर दुर्गम प्रवृत्ति मार्गमें चलते-चलते भवाटवीमें भटकने लगते हैं। इसी कारणसे ऐसे प्राणी भगवदभिन्न श्रीगुरुदेवक चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले मधुकरों अर्थात् भक्तोंक

भक्ति मार्गको आजतक प्राप्त नहीं कर पाये हैं। देहाभिमानी जीव सत्त्वादि गुणोंक

करक

करते हैं और इन विभिन्न प्रकारकी देहोंक

जनित सुख-दुःखरूप अनादि संसारका अनुभव करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—ये छह संसारक

इन्हींकी सहायतासे जीव अपनी-अपनी देहोंसे किये हुए कर्मोंक

फलोंको भोगता है। भगवान्‌की बहिरङ्गा शक्ति मायाक
होकर जो भी कर्म किये जाते हैं, कभी तो वे निष्फल हो जाते हैं और कभी बहुत-से विघ्नोंसे उनमें रुकावट आ जाती है। भगवदभिन्न श्रीगुरुदेवक
पदवी (भक्ति) ही आध्यात्मिकादि तीनों पापोंका विनाश करनेमें समर्थ है परन्तु अमङ्गलकारी भवाटवीक
कर पाते॥१॥

यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते, तद्‌यथा पुरुषस्य धनं यत् कञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात् परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तन्तु साम्पराय उदाहरन्ति। तद्धर्म्यं धनं दर्शन-स्पर्शन-श्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पसमवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य तथा विलुम्पन्ति॥२॥

इन्द्रियोंको जिन्हें दस्यु कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि ये अपने कर्मोंसे दस्यु कही जाती हैं। किसी पुरुषक
कष्टसे उपार्जित धर्मोपयोगी थोड़े-बहुत धनको जिस प्रकार चोर चुरा ले जाते हैं, उसी प्रकार दस्युक
अर्थात् असद् विषयोंक
सङ्कल्प एवं अध्यवसायादि चेष्टाओंक
करानेक
व्यापारीका परमपुरुषकी आराधनाक
लिये उपार्जित यत्किञ्चित् धन है, जिसे पारलौकिक धर्म कहा जाता है, उस धर्मरूप धनका भी दस्यरूप इन्द्रियाँ अपहरण कर लेती हैं। (उपार्जित धनका पारलौकिक धर्ममें व्यय निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है।)॥२॥

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकशृगाला एवानिच्छतोऽपिकदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत् संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपहरन्ति॥३॥

हे राजन्! इस संसारमें क
कहे जाते हैं, किन्तु उनक
होते हैं। भेड़िया जिस प्रकार पालकोंसे संरक्षित भेड़ोंको बलपूर्वक उठा ले जाता है, उसी प्रकार ये स्त्री, पुत्रादि भी अत्यन्त लोभी गृहस्थाश्रमी व्यक्तिक
धनको उसक
हरण कर ले जाते हैं॥३॥

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन् न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः॥४॥

जिस प्रकार प्रत्येक वर्ष खेतको जोतकर समस्त घास-फ
जड़से खोदकर खेतका परिष्कार किया जाता है, किन्तु तब भी इन तृण-गुल्मादिक
बाद खेतीका समय आनेपर वह खेत पुनः घास-फ
आदिसे भरकर गह्वर (क
यह गृहाश्रम कर्मक्षेत्र स्वरूप है। इसमें सारे कर्म एक बारमें ही उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि यह (गृहाश्रम) काम्य कर्मोंक
समान है। जिस प्रकार कर्पूरक
उसकी सुगन्ध बनी रहती है, उसी प्रकार वासनाओंका सम्पूर्ण क्षय न होनेक

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्कर-मूषिकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित् परिवर्त्तमानोऽस्मिन्नध्वन्य-विद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति॥५॥

कभी गृहस्थाश्रममें आसक्त व्यक्तिकी धन-सम्पत्तिको डास एवं मच्छरक
एवं चोरक
संसार-मार्गमें ही भटकता रहता है। उसका चित्त अविद्या, कामनाओं

एवं कर्मोंसे कलुषित रहता है। वह भ्रमित-सा गन्धर्वनगरक
अनित्य एवं असत्य इस मर्त्यलोकको ही सत्यरूपमें देखता है॥५॥

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति पानभोजन-व्यवायादिव्यसनलोलुपः॥ ६॥

कभी इस गन्धर्वपुरमें वही जीव खान-पान एवं स्त्री-सङ्ग आदि व्यसनोंसे लालायित होकर मृगतृष्णाक
विषयोंक

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम्॥ ७॥

हे राजा रहूगण! स्वर्णको हिंसा, परस्त्री गमन, द्यूत, मद्यपान इत्यादि बहुत प्रकारक
नहीं, यह एक प्रकारका पीले रंगका मल है। जिनकी बुद्धि रजोगुणसे प्रेरित है, वे ही इसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। सर्दीक
करनेक
अग्नि मान उसकी ओर धावित होता है, उसी प्रकार स्वर्णाभिलाषी व्यक्ति विष्ठाकी ओर ही दौड़ता है॥७॥

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति॥ ८॥

कभी वह अपना जीवन धारण करनेक
निवास-स्थान, जल और धन आदि बहुत प्रकारकी उपयोगी वस्तुओंमें आसक्त होकर संसार-अटवीमें इधर-उधर दौड़ता रहता है॥८॥

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षो दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति॥ ९॥

कभी बवण्डरक
लेती है। उस समय उड़ती हुई रजक
विवेक नष्ट हो जाता है और कामान्ध होकर वह विधि-मार्गकी

मर्यादाका उल्लङ्घन कर लेता है। चन्द्र, सूर्यादि देवता उसक
मर्यादातिक्रमणक
नेत्रोंसे उन्हें भी रात्रिक
हुआ-सा वह जान ही नहीं पाता कि उसक
देवता देख रहे हैं॥९॥

क्वचित् सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति॥ १०॥

कभी मनुष्य अपने-आप ही एक-आध बार यह धारणा कर लेता है कि विषय विफल एवं दुःखदायी हैं, किन्तु देहात्मबुद्धि होनेक
वह मरु-मरीचिकाक
लगता है॥१०॥

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः॥ ११॥

कभी शत्रु एवं राजा उल्लूक
समान अप्रत्यक्षरूपसे उसको उग्रता एवं गर्वपूर्ण कठोर वचन कहकर उसकी भर्त्सना एवं प्रताड़ना करते हैं। ये कर्णकटु शब्द उसक
वेदनाका अनुभव करता है॥११॥

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्कराद्यपुण्यद्रुमलता-विषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान् जीवन्मृतान् स्वयं जीवन् म्रियमाण उपधावति॥ १२॥

जीव पूर्व-सञ्चित पुण्योंक
भी मृतकक
है, जो कारस्कर आदि अपवित्र वृक्षों, दूषित लताओं और जहरीले क
दोनोंक

एकदा असत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्त्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाषण्डमभियाति॥ १३ ॥

संसाराटवीमें भटकनेक
बुद्धि वञ्चित हो जाती है। जल-रहित नदीमें गिरनेसे जिस प्रकार तत्क्षण ही मस्तक फ
है, उसी प्रकारसे यह वञ्चित पुरुष वेद-विरुद्ध एवं पाखण्डपूर्ण मत-मतान्तरोंका आश्रय लेकर वर्त्तमान काल और भविष्यमें भी दुःख प्राप्त करता है॥१३॥

यदा तु क्षुत्पिपासार्दितः परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति॥ १४॥

इस संसारमें मनुष्य क्षुधा, पिपासा इत्यादि अथवा उत्कट यातनाक
देकर भी जब अपनी प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त नहीं कर पाता, तब यदि वह तृणक
पुत्र या सगे-सम्बन्धियोंक
लोगोंको बहुत उत्पीड़ित करता है॥१४॥

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत् प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति॥ १५ ॥

यह गृह दावानलक
नहीं है, दुःख ही इसका चरम फल है, चिरन्तन सुखक
कोई वस्तु इसमें अनुक
प्राप्त करक
मन्दभागा हूँ', 'मेरी कोई सुकृति नहीं है'—इस प्रकार सोच-सोच कर खिन्न एवं विपन्न रहता है॥१५॥

क्वचित् कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुर्मृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते॥ १६ ॥

हे राजन्! साधारणतः राजा राक्षसोंक
ये प्रतिक
क
अनुभूतिरूप जीवन-चिह्नोंसे रहित होकर मृतवत् हो जाते हैं॥१६॥

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिं क्षणमनुभवति॥ १७॥

किसी समय भवाटवीका पथिक यह मान लेता है कि मेरे पिता एवं पितामह ही मेरे पुत्र एवं पौत्रक
हैं—इस विचारसे वह क्षण भरक
अनुभव करता है॥१७॥

क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लौकिकव्यसन-कर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति॥ १८॥

गृहस्थाश्रममें अश्वमेधादि यज्ञ, विवाह एवं यज्ञोपवीत संस्कार आदि जो भी कर्त्तव्य हैं, उनक
विशाल है। जो व्यक्ति इन कर्मोंरूपी पहाड़क
है, उसका चित्त अति तुच्छ लौकिक कर्मकाण्डकी ओर आकृष्ट हो जाता है। पर्वतोंक
पाँव रखनेसे जो चुभन होती है, उसी प्रकारक
पर्वतारोहणक

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति॥ १९॥

कभी यह जीव देहमें स्थित जठरानल (शारीरिक भूख एवं प्यास) से इतना विचलित हो जाता है कि उसका धैर्य टूट जाता है और वह पुत्र-पत्नी आदि आत्मीयोंक
लगता है॥१९॥

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत् किञ्चन वेद शव इवापविद्धः॥ २०॥

हे राजन्! निद्रा अजगरक
मार्गमें भ्रमणशील व्यक्तियोंको डस लेता है, तब वे अज्ञानान्धक
खोये हुए-से सुदूर निर्जन वनमें परित्यक्त शवकी भाँति पड़े रहते हैं। उस समय जीवको अपनी कोई सुध-बुध नहीं रहती॥२०॥

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत् पतति॥ २१॥

कभी-कभी दन्दशूक अर्थात् सर्प, राक्षसादि हिंसक स्वभाववाले दुर्जनोंक
जिससे उसे विश्राम करनेका भी अवसर नहीं मिलता। उसका हृदय क्षण-क्षण व्यथित रहता है और विवेक दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगता है। अन्ततः वह अन्धेक

कर्हिस्मचित् काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये॥ २२॥

कभी वह जीव अत्यन्त तुच्छ मधुकणोंक
ढूँढ़ता हुआ परधन एवं परस्त्रीका अपहरण करना आरम्भ कर देता है, जिससे राजा और गृहस्वामीक
होकर घोर नरकक

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति॥ २३॥

इसीसे पण्डितजन कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें लगे हुए जीवक
लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकारक
आधार-भूमिक
कर्म ही जीवक
करते हैं॥२३॥

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः॥ २४॥

दूसरोंक
बन्धन, प्रहारादिसे मुक्त हो भी जाय, तब देवदत्त नामका कोई

दूसरा व्यक्ति उससे उसकी सारी वस्तुएँ छीन लेता है। पुनः विष्णुमित्र नामक कोई तीसरा व्यक्ति उस देवदत्तसे अपहृत द्रव्यका पुनः हरण कर लेता है। इस प्रकार एक हाथसे दूसरे हाथमें हस्तान्तरित होता हुआ धन कहीं भी नहीं ठहरता। कोई भी उसका उपभोग नहीं कर पाता॥२४॥

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकधिभौतिकाध्यात्मिकीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते॥ २५॥

कभी यह जीव शीत, वात आदि बहुतसे आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक क्लेशोंको सहनेमें असमर्थ होकर इनका प्रतिकार नहीं कर पाता और अपार चिन्तासे दुःखी हो जाता है॥२५॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्र-मप्यपहरन् यत् किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्॥ २६॥

परस्पर धनका लेन-देन करक
एक कौड़ी मात्र अथवा उससे भी कम धनका अपहरण कर लेता है, तो धनकी उस ठगीक
हो जाता है॥२६॥

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमान-प्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरा-मरणादयः॥ २७॥

इस संसारमें ये पूर्वोक्त महाकष्ट तो हैं ही, इनक
सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानस्तद्वि हारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोक-विचेष्टितापहृतहृदय आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति॥ २८॥

कभी देवमायारूपिणी स्त्रीकी भुज–लताओंसे आलिङ्गित होकर जीवक
हो जाते हैं। तब उसका हृदय स्त्रीक
करनेक
आश्रयमें रहनेवाले पुत्र, पुत्र–वधू एवं पुत्री आदिक
दृष्टिपात आदि कार्य–कलापोंमें आसक्त होकर वह अजितेन्द्रिय जीव अपार अन्धकार–नरकमें जा पड़ता है॥२८॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात् परमाण्वादि–द्विपरार्द्धापवर्गकालोपलक्षणात् परिवर्त्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाषण्डदेवताः कङ्कगृध्रबककरटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते॥ २९॥

परमेश भगवान् विष्णुक
परमाणुसे द्विपरार्ध तक फ
घूमता रहता है और ब्रह्मासे लेकर तृण–गुल्मादि तक सभी प्राणियोंक
जाता है। कोई भी इसका प्रतिकार करनेमें समर्थ नहीं है। यह कालचक्र भगवान्का निज अस्त्र है, अतः बहुत सतक
इस कालचक्रसे भयभीत होकर जीव चक्रायुध साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी अवज्ञा करक
शिष्टाचार रहित होकर आर्यशास्त्र से बहिष्कृत, मूल–प्रमाणसे रहित, कल्पित, पाखण्डी एवं अप्रमाणिक शास्त्रोंमें वर्णित उपास्य देवताओंका आश्रय लेता है। गीध, बगुले, कङ्क और वाय (कौआ) जिस प्रकार सिंहसे भयभीत प्राणीकी रक्षा नहीं कर सकते, उसी प्रकार ये मानव निर्मित देवता कालचक्रसे जीवका परित्राण नहीं कर सकते॥२९॥

यदा तु पाषण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्त्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव

तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः॥ ३०॥

पाखण्डी स्वयं तो वञ्चित होते ही हैं, उनका आश्रय लेने वाले जीव उनसे और भी अधिक वञ्चित होकर ब्राह्मणोंका आश्रय लेते हैं किन्तु ब्राह्मणोंक
कर्मोंक
उनक
करते हैं। शूद्रगण विधवा-विवाह, मूल्य देकर परित्यक्ता स्त्रीक साथ परिणय इत्यादि करक
इस प्रकारक
क
नहीं करते॥३०॥

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुख-निरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः॥ ३१॥

यह जीव शूद्र समाजमें प्रविष्ट होकर निर्बाध गतिसे (मुक्त भावसे) स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करता है, जिससे उसकी बुद्धि अतिशय मन्द हो जाती है। एक-दूसरेका मुँह देखनेमें (इन्द्रिय-तुष्टिमें) और ग्राम्य कर्मोंमें (सांसारिक कर्मोंमें) वह इतना व्यस्त हो जाता है कि सिरपर सवार मृत्युकालको भी भूल जाता है॥३१॥

क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः॥ ३२॥

राजन्! वानर जिस प्रकार वृक्षपर क्रीड़ा करते-करते (उछलते-कूदते) व्याधक
छुड़ानेमें असमर्थ होते हैं, उसी प्रकार यह जीव भी भौतिक सुखोंकी प्राप्तिक
रहता है तथा मैथुनोत्सवमें रत रहकर संसार-बन्धनसे आत्म-रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है॥३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात् तमसि गिरिकन्दरप्राये॥ ३३॥

इस संसार-मार्गमें पड़कर जीव जब भगवद् आराधनाका त्याग करक
आध्यात्मिकादि तीनों तापोंका भोग करना पड़ता है और अन्ततः वह मृत्युरूपी हाथीसे डरकर गिरि-गुफाक
पड़ता है॥३३॥

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयधिषणया विषण्ण आस्ते॥ ३४॥

कभी वह शीत-वात इत्यादि बहुत प्रकारक
आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंको सहन नहीं कर पाता, तब वह विषम विषयोंकी चिन्तामें दुःखी हो जाता है॥३४॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत् किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन द्वेषं गच्छति॥ ३५॥

कभी एक दूसरेक
आादि उपायोंसे जो क
शत्रु हो जाते हैं॥३५॥

क्वचित् क्वचित् क्षीणधनः शय्यासनाद्युपभोगविहीनो यावदप्रतिलब्ध-मनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते॥ ३६॥

कभी-कभी धन न रहनेक
वस्तुओंका अभाव हो जाता है, जब वह अपनी मनचाही वस्तु सदुपायों द्वारा प्राप्त नहीं कर पाता, तब वह चोरी आदि असद् उपायोंसे (अवैध तरीकोंसे) धन प्राप्त करनेका प्रयास करता है, जिसक

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति॥ ३७॥

इस प्रकार अर्थासक्तिक
है। कभी पूर्ववासनाक

लिए विवाहादि सम्बन्धमें बँध जाते हैं और जब शत्रुता बढ़ती है, तो वैवाहिक सम्बन्धोंका विच्छेद हो जाता है॥३७॥

एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमुह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् बिभ्यद्विनदन् विवहन् संहृष्यन् गायन् नह्यमानः साधुवर्ज्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थस्तमध्वनः पारमुपदिशन्ति॥ ३८॥

इस प्रकार इस संसारमें बहुत प्रकारक
पीड़ित होकर जीव आपत्ति-विपत्तियोंमें फँसता चला जाता है। अन्य कोई विपन्न व्यक्ति यथा पितादिक
है, तो वह उससे मोह छोड़कर नवजात पुत्रादिको ग्रहण कर उसमें आसक्त हो जाता है। कभी वह किसीक
करता है और कभी किसीक
स्थितिमें वह डरता है और कभी चीत्कार कर उठता है। कभी वह किसीका लालन-पालन करता है तो कभी अति प्रसन्नताका अनुभव कर गाने लगता है और इस प्रकार संसारसे बँधा ही रहता है। जीव भगवान्से अनादि कालसे बहिर्मुखताक
नित्य बद्ध है और इसी कारण ही इस भवाटवीमें भटकता रहता है। तत्त्वज्ञानी भगवद्-पदको ही इस संसार सागरसे पार जानेका एकमात्र उपाय बतलाते हैं। साधु-सङ्गक
भी संसार सागरको पार नहीं कर सका है। नित्यबद्ध जीव वैष्ण
ाव सङ्गको छोड़कर प्रवृत्तिमार्गसे मुक्त नहीं हो सकते और न ही भगवद्-सेवाको प्राप्त कर सकते हैं॥३८॥

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति॥ ३९॥

भक्तियोगक
सुहृत्, शान्त, जितेन्द्रिय मुनि ही भक्तियोगक
सहजतासे प्राप्त कर लेते है, किन्तु संसारमें आसक्त रहनेवालोंक
लिए यह कदापि सम्भव नहीं है॥३९॥

यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किन्तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः॥ ४०॥

बड़े–बड़े दिग्विजयी और यज्ञ–मार्गक
राजर्षि भी इस संसारको पारकर भगवद्–सेवा प्राप्त नहीं कर पाते। ये राजागण 'यह भूमि मेरी है' इस अभिमानसे परस्पर शत्रुता कर लेते हैं एवं जिस भूमिक
यहीं छोड़कर संग्राम–क्षेत्रमें स्वयं भी विनष्ट हो सदाक
कर जाते हैं॥४०॥

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्त्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि॥ ४१॥

इस प्रकार मनुष्य कर्म–वल्ली (कर्म–लता) का आश्रय लेकर स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंको प्राप्त कर भी लेते हैं और नारकीय गतिसे मुक्त हो भी जाते हैं, किन्तु पुण्योंक
मर्त्त्यलोकमें आना ही पड़ता है॥४१॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः॥ ४२॥

मुनिवर शुकदेवने पूर्वोक्त प्रकारसे भरतजीक
विषयोंकी व्याख्या करक
परिचय देते हुए कहा—हे महाराज! पण्डितगण राजर्षि भरतक
सम्बन्धमें इस प्रकार कहते हैं—जिस प्रकार मक्खियाँ पक्षीराज गरुड़क
सकतीं, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर कोई भी राजा आज तक अपने मनक
करनेमें समर्थ नहीं हुआ है॥४२॥

यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमःश्लोकलालसः॥ ४३॥

राजर्षि भरतने यौवनकालमें ही भगवद्-भावमें आसक्त होकर मनोरम स्त्री, पुत्र, सुहृत्, राज्य आदि समस्त दुस्त्यज्य विषयोंको विष्ठाक
इस प्रकारका त्याग दूसरोंक

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः॥ ४४॥

उन्होंने अति दुस्त्यज्य राज्य, पुत्र, कलत्र, धन यहाँ तक कि जो सर्वदा उनक
करती हैं, उन सुरजनों द्वारा प्रार्थनीय लक्ष्मीका भी परित्याग कर दिया। यह उनक
चित्त सर्वदा भगवान् श्रीमधुसूदनक
रहता है, उनक

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार॥ ४५॥

राजर्षि भरतने मृग शरीरका त्याग करते समय उच्च स्वरसे कहा था—स्वयं यज्ञस्वरूप, यज्ञादि अनुष्ठानोंक
फल-दाता, समस्त धर्मोंक
कौशल-स्वरूप, तत्त्वज्ञानपरक-योगसे अभिन्न मूर्त्ति, सांख्य-ज्ञान जिनका प्रधान फल है अर्थात् सांख्य-ज्ञानक
जो समस्त जगत्की कारणीभूत मायाको (प्रकृतिको) नियन्त्रित करते हैं, जीवोंमें जो सूक्ष्मरूपसे अनुस्यूत रहते हैं, ऐसे परम

मनोहर भगवान्क
करता हूँ॥४५॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यमापवर्ग्यञ्चानुशृणोत्याख्यात्यभिनन्दति च सर्वा ह्येवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीभरतोपाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

राजन्! भागवतजन भरतजीक
करते हैं। जो साधकजन भरतजीक
धनवृद्धिकर, यशस्कर, स्वर्ग एवं मोक्ष-प्रदायक चरित्रका श्रवण, कीर्त्तन अथवा अनुमोदन करते हैं, वे अपने समस्त अभीष्टोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं। उन्हें दूसरोंसे क
माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज भरतक

श्रीशुक उवाच—

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमुह वाव केचित् पाषण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्त्तमानञ्चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भरतक
जाना जाता है। इन्हें ऋषभदेवकी पदवी (जीवन्मुक्ति मार्ग) का अनुगमन करते देखकर कितने ही वेदाचरणसे विमुख दुर्जन लोग पापाचरणमें तत्पर हो जायेंगे और अपनी दुर्बुद्धिसे इनकी कलियुगमें अवेद-प्रतिपाद्य बुद्ध-भगवान्क
साक्षात् रूपमें भगवान् बुद्ध ही अवतीर्ण हुए हैं—इस प्रकार मनगढ़न्त धारणा कर लेंगे॥१॥

तस्माद्वृद्धसेनायां देवताजिन्नामा पुत्रोऽभवत्॥ २ ॥

उन्हीं सुमतिकी पत्नी वृद्धसेनाक
पुत्रका जन्म हुआ॥२॥

अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः॥ ३ ॥

देवताजित्की पत्नी आसुरीक
उत्पन्न हुआ। देवद्युम्नकी पत्नी धेनुमतीक
पुत्र और परमेष्ठीकी सुवर्चला नामकी पत्नीक
एक पुत्रका जन्म हुआ॥३॥

य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार॥ ४॥

प्रतीहने आत्मविद्याका प्रचार-प्रसार किया, जिससे वे स्वयं शुद्ध हुए और परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी साक्षात्‌रूपमें उपलब्धि की॥४॥

प्रतीहात् सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम्॥५॥

प्रतीहकी पत्नी सुवर्चलाक
नामक
अनुष्ठानोंमें निपुण थे। प्रतिहर्ताकी पत्नी स्तुतिक
भूमा नामक दो पुत्रोंका जन्म हुआ॥५॥

भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावाद्विरुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्याञ्च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद्द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत यः साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलात्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः॥६॥

भूमाकी पत्नी ऋषिक
हुआ। उद्गीथकी पत्नी देवक
पत्नी विरुत्सारक
पत्नी रतिक
नक्त नामक पुत्रने जन्म ग्रहण किया। नक्तकी पत्नी ऋति थी। ऋतिक
भगवान् विष्णु जगत् पालनक
हैं, गय साक्षात् उन्हीं भगवान् विष्णुक
लक्षणोंक

स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासन-लक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयापादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितविशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमान-ब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत्॥७॥

(राजाका धर्म दो प्रकारका है—राज्याभिषिक्त होकर प्रजापालनादि रूपी एक प्रकारका धर्म और गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञानुष्ठानादि द्वितीय प्रकारका धर्म।) राजा गयने प्रजाओंका पालन (जिससे अवांछित तत्त्वों द्वारा उनकी सम्पत्तिको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे), पोषण (अन्नादि द्वारा उनका पुष्टिकरण), प्रीणन (प्रजाओंको प्रिय वस्तु प्रदान करक
वचनोंसे उन्हें हर्षित करना), अनुशासन (शिक्षा द्वारा सन्मार्गमें प्रेरित करना)—इन सब गुणोंसे युक्त राजधर्म और याग-यज्ञादि गृहस्थाश्रमोचित धर्म—इन दोनों ही प्रकारक
किया था। वे सर्वात्मा, परमपुरुष, परात्पर (ब्रह्मादि श्रेष्ठ पुरुषोंसे भी परमश्रेष्ठ), परब्रह्म, भगवान् वासुदेवमें तन, मन और वचनसे समर्पित हो गये थे और पूरी तरह परमार्थ-स्वरूप ही बन गये थे। भगवान्में सर्वतोभावसे शरणागतिरूप पारमार्थिक धर्म एवं ब्रह्मविद् भागवतजनोंकी निरन्तर चरण-सेवा रूपी भक्तियोगसे उनकी बुद्धि विशुद्ध एवं परिष्कृत हो गयी थी। इसीसे विशुद्ध भाव प्राप्तकर-उनकी देहात्मबुद्धि भी दूर हो गयी थी। वह अपने चित्तमें स्वयं प्रकाशवान् ब्रह्ममें आत्मानन्दकी उपलब्धि करते थे और अनासक्त होकर समग्र पृथ्वीका पालन करते थे॥७॥

तस्येमा गाथाः पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति॥८॥

हे परीक्षित्, पुराणविद् पण्डित राजा गयकी महिमाका इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं—॥८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते॥९॥

अहो! कौन राजा अपने कर्मोंक
ठहर सकता है! वे श्रुतिविहित यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, मनस्वी,

बहुत-से शास्त्रोंको जाननेवाले, धर्मक
युक्त, महापुरुषोंकी सभाक
साक्षात् भगवान्‌क

यमभ्यषिञ्चन् परया मुदा सतीः
सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः॥ १०॥

दक्षकी श्रद्धा, मैत्री, दया आदि पतिव्रतपरायणा पुत्रियोंक
अव्यर्थ हैं। इन्होंने गङ्गादि सरिताओंक
साथ राजा गयका अभिषेक किया था एवं विभिन्न आशीर्वाद दिये थे। गाय जिस प्रकार स्नेहाभिभूत होकर बछड़ेको दूध देती है, उसी प्रकार इनक
देखकर पृथ्वीरूपी गायक
इनकी इच्छा न रहनेपर भी पृथ्वी इनकी समस्त मनोकामनाओंको पूर्ण करती थी॥१०॥

छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा
यदाशिषां षठमंशं परेत्य॥ ११॥

यद्यपि गय राजाकी कोई कामना नहीं थी, तब भी समस्त वेद एवं वेदविहित अनुष्ठान उनक
करते थे अर्थात् उनकी समस्त इच्छाओंकी पूर्त्ति होती थी। समस्त राजा युद्धस्थलपर उनक
प्रदान करते थे। ब्राह्मण उनकी दक्षिणादिसे पूजित एवं सम्मानित होकर उन्हें परलोकमें मिलनेवाले उपभोगोंक
धर्मका छठवाँ भाग प्रदान करते थे॥११॥

यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग-
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥ १२ ॥

राजा गयक
यज्ञमें सोमपान करक
विष्णु भी साक्षात्‌रूपसे इनक
एवं निर्मल तथा दृढ़ भक्तिभावसे समर्पित यज्ञफलको परम आदरक
साथ ग्रहण करते थे॥१२॥

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य॥ १३ ॥

जिन सर्वात्मा भगवान्‌क
लता, तृण अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सम्पूर्ण जगत् तत्काल
प्रसन्न हो जाता है, उन सर्वान्तर्यामी स्वभावतः आनन्दस्वरूप
भगवान् विष्णुने गय राजाक
अपने श्रीमुखारविन्दसे अपनी प्रसन्नताको व्यक्त किया था॥१३॥

गयात् गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरविरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुः चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट॥ १४॥

तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात् सरघायां मधुनामाभवत्। मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थु-प्रमन्थु जज्ञाते। मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो भूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजः विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां किलाजायत॥ १५॥

गयन्तीक
नामक तीन पुत्रोंने जन्म लिया। चित्ररथने ऊर्णाक

नामक पुत्रको जन्म दिया। सम्राट्की भार्या उत्कला थी। उसक
मरीचिका जन्म हुआ। मरीचिने बिन्दुमतीक नामक
पुत्र उत्पन्न किया। बिन्दुमान्की पत्नी सरघाक
पुत्र उत्पन्न हुआ। मधुकी पत्नी सुमनासे वीरव्रतका जन्म हुआ।
वीरव्रतकी पत्नी भोजाक
उत्पन्न हुए। मन्थुने सत्याक
यौवनने भूषणाक
गर्भसे विरज नामक पुत्रको और विरजने विषूचीक
आदि सौ पुत्र और एक कन्याको जन्म दिया। इन सबमें शतजित्
ही सर्वश्रेष्ठ थे॥१४—१५॥

तत्रायं श्लोकः—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां श्रीप्रियव्रतवंशानुकीर्त्तनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

विरजक
विष्णुने जिस प्रकार अपने प्रभावसे देवताओंको अलङ्कृत किया था,
विरजने उसी प्रकार प्रियव्रतक
द्वारा इस वंशको विभूषित किया था॥१६॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

भुवन कोशका वर्णन

श्रीराजोवाच—

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! सूर्यदेव जितनी दूरी तक ताप प्रदान करते हैं और जिन-जिन स्थानोंपर शुक्ल एवं कृष्ण पक्षक
विस्तार बतलाया है॥१॥

तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ताः यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन् खलु सूचितः एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि॥ २॥

हे भगवन्! आपने बतलाया था कि पृथ्वीपर प्रियव्रत राजाक रथचक्रसे सात परिखाओं (लकीरों) द्वारा सात समुद्र बन गये थे, जिसक
आपने इन सात द्वीपोंक
सामान्यरूपसे वर्णन किया था। अब मैं समस्त द्वीपोंका परिमाण और लक्षणोंक

भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदुहैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति॥ ३॥

जो मन भगवान्क
विग्रहमें निवेशित हो सकता है, वही मन भगवान् वासुदेवक शुद्ध-सत्त्वमय, अप्राकृत एवं स्वप्रकाश स्वरूपमें भी लगनेमें समर्थ

हो सकता है। हे गुरुवर! आप उसी ब्रह्माण्डात्मक स्थूल स्वरूपक विषयमें बतलाइये॥३॥

श्रीऋषिरुवाच—

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः स्थानविशेषाणां नामरूपतः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात् प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः॥४॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान्की सत्त्वादि गुण-परिमाण-रूपा-ब्रह्माण्डात्मिका माया-विभूतिका अन्त नहीं है। मनुष्यको यदि देवताओंकी आयु भी प्राप्त हो जाय, तो भी उन मायिक विभूतियोंक
एवं रूपोंकी अवधिको जाना नहीं जा सकता। अतः मैं क
प्रधान-प्रधान द्वीपोंक
करते हुए उनकी भौगोलिक व्याख्या करूँगा॥४॥

यो वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्त्तुलो यथा पुष्करपत्रम्॥५॥

भूमण्डल एक कमलक
हैं। जम्बूद्वीप इस कोषका मध्यवर्ती स्थल है। इस जम्बूद्वीपका विस्तार (लम्बाई एवं चौड़ाई) दस लाख योजन परिमित है, जो पद्म-पत्रकी भाँति गोलाकार है॥५॥

यस्मिन् नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति॥६॥

इस जम्बूद्वीपमें नौ वर्ष हैं। भद्राश्व एवं क
छोड़कर प्रत्येक वर्षका परिमाण नौ सहस्र योजन है। (हिमालय आदि) आठ सीमाओंका निदर्शन करनेवाले पर्वतोंसे इन नौ वर्षोंका सुन्दर रूपसे विभाजन हुआ है॥६॥

एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य

मूर्द्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः॥ ७॥

इन नौ वर्षोंक
वर्ष है, जो कमलकोशक
ठीक बीचोंबीच सुमेरु पर्वत है। यह सम्पूर्ण रूपसे स्वर्ण–निर्मित है और सभी सुप्रसिद्ध पर्वतोंका राजा है। वस्तुतः सुमेरु भूमण्डलरूप पद्म–कोशकी कर्णिका स्वरूप है। इस सुमेरुका विस्तार जम्बूद्वीपक
विस्तारक
हजार योजन और तलहटी सोलह हजार योजन विस्तृत है। यह पर्वत सोलह हजार योजन पृथ्वीक
बाहरसे इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन देखी जाती है॥७॥

उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रयोजनपृथव एकैकशः पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति॥ ८॥

इलावृत वर्षक
ये तीन पर्वत—रम्यक्, हिरण्यमय एवं क
विभाजित करते हैं। ये तीनों ही पर्वत लम्बाईमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर लवण समुद्र तक विस्तृत हैं। इनमें–से प्रत्येक पर्वतका विस्तार दो हजार योजन है। पूर्व–पूर्व पर्वतोंकी अपेक्षा बाद वाले पर्वत क
चौड़ाईमें नहीं॥८॥

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासंख्यम्॥ ९॥

इस प्रकार इलावृत–वर्षक
हिमालय—ये तीनों पर्वत क्रमसे विराजमान हैं। ये तीनों ही नीलादि पर्वतोंक

हजार योजन ऊँचे हैं। इनक
भारतवर्षकी सीमाओंका विभाग होता है॥९॥

तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते॥१०॥

इसी प्रकार इलावृत वर्षकी पश्चिम एवं पूर्व दिशामें यथाक्रमसे माल्यवान् और गन्धमादन नामक
पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत उत्तरमें नील और दक्षिणमें निषेध पर्वत तक फैले हुए हैं। इन दोनोंका ही विस्तार दो-दो हजार योजन है और ये क
करते हैं॥१०॥

मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः॥११॥

सुमेरु पर्वतकी चारों दिशाओंमें मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व एवं क
इन चारों पर्वतोंमें-से प्रत्येककी लम्बाई एवं ऊँचाई दस हजार योजन है॥११॥

चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः॥१२॥

इन चारों पर्वतोंक
वटक
समान सुशोभित हैं। इन वृक्षोंकी लम्बाई सौ योजन और ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। इनकी शाखाएँ ग्यारह सौ योजन तक फ
हुई हैं॥१२॥

ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति॥१३॥

देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति॥१४॥

हे भरतश्रेष्ठ! चारों पर्वतोंक
उनमें पहला दुग्धसे परिपूर्ण है, दूसरा मधुसे, तीसरा इक्षुरससे एवं चौथा विशुद्ध जलसे भरा हुआ है। सिद्ध, चारणादि उपदेवता इनका सेवन करक
लेते हैं। वहाँ चार देवोद्यान हैं, जिनक
वैभ्राजक और सर्वतोभद्र॥१३-१४॥

येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणै-रुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति॥ १५॥

उत्तम देवतागण अपनी-अपनी प्रेयसियों—अर्थात् प्रधान-प्रधान सुरवनिताओं एवं भूषणस्वरूपा श्रेष्ठ रमणियोंक
उद्यानोंमें विहार करते हैं। उस समय गन्धर्वगण उनकी महिमाका गान करते हैं॥१५॥

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि निपतन्ति॥ १६॥

मन्दर पर्वतक
नामक) एक आम्रमृक्ष है। इसक
बड़े-बड़े अमृतक

तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति॥ १७॥

अत्यन्त ऊँचाईसे गिरनेक
जिससे इनक
बहुत-सा रस बहने लगता है। यह रस अन्य वस्तुओंक
मिलकर और अधिक सुगन्धित हो जाता है। यह रस जब जलक साथ मिलता है, तब अरुणोदा नामकी एक नदीक
हो जाता है। यह नदी मन्दर पर्वतक
वर्षकी पूर्व दिशासे होकर बहती हुई उसे सींचती है॥१७॥

यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति॥ १८॥

श्रीपार्वतीजीकी अनुचरी यक्षवधुएँ जब इस अरुणोदा नदीका सेवन करती हैं, तब उनक
वायु इन यक्षणियोंक
दस योजन पर्यन्त वायुमण्डलको आमोदित कर देती है॥१८॥

एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति॥ १९॥

इसी प्रकार जम्बू वृक्षक
होते हैं एवं इनकी गुठली बहुत छोटी होती है। इसक
ऊँचाईसे गिरनेक
रूप धारण कर लेता है। यह जम्बू नदी मेरु पर्वतकी दस योजन ऊँची चोटीसे भूमिपर गिरकर अपने उत्पत्ति स्थान इलावृतक दक्षिणांशसे आरम्भ होकर सम्पूर्ण इलावृत भूखण्डको अपने रससे आप्लावित करती है॥१९॥

तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति॥ २०॥

यदुह वाव विबुधादयः सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्या-भरणरूपेण खलु धारयन्ति॥ २१॥

इस नदीक
जाती है। वायु तथा सूर्यक
जाम्बूनद नामक स्वर्ण बन जाता है। इस स्वर्णसे देवलोकमें अलङ्कार बनाये जाते हैं। देवतागण अपनी युवा पत्नियोंक
इसी स्वर्णसे निर्मित वलय, कटिसूत्र एवं मुक
धारण करते हैं॥२०-२१॥

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वपार्श्वनिरूढस्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्व शिखरात् पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति॥ २२॥

सुपार्श्व पर्वतक
है। इसक
प्रत्येकका परिमाण पाँच व्याम है। (दोनों हाथोंक
दूरी हाती है, उसे व्याम कहा जाता है—यह दूरी लगभग आठ फ
गिरती हुई अपने-अपने उत्पत्ति स्थान पश्चिमांशसे आरम्भ होकर सम्पूर्ण इलावृत वर्षको आमोदित करती हैं॥२२॥

या ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो वायुः समन्ताच्छतयो-जनमनुवासयति॥ २३॥

जो लोग इन पाँचों मधुधाराओंका पान करते हैं, वायु उनक मुखसे निकली गन्धसे सुवासित होकर अपने चारों ओर सौ-सौ योजन तकक

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीनाः पयोदधिमधुघृतगुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सर्व एव कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात् पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति॥ २४॥

इसी प्रकार क
जो प्रसिद्ध वट-वृक्ष है, उसकी सौ प्रमुख शाखाएँ हैं। इन शाखाओंसे अनेक जड़ें निकली हुई हैं, जिनसे बहुत-सी नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। ये नदियाँ नीचेकी ओर बहती हुई क
होते हुए इलावृत-वर्षक
ये सभी नदियाँ दधि, दूध, मधु, घृत, गुड़, अन्न, वस्त्र, शय्या, आसन, आभूषण इत्यादि समस्त अभिलषित द्रव्योंको प्रदान करती हैं॥२४॥

यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां बलीपलितक्लमस्वेद-दौर्गन्ध्यजरामयापमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव॥ २५॥

इन नदियोंसे उत्पन्न दुग्धादि द्रव्योंका सेवन करनेसे प्रजाकी त्वचामें कभी भी झुर्रियाँ, सफ
उत्पन्न दुर्गन्ध, बुढ़ापा, रोग, असामयिक मृत्यु, सर्दी एवं गर्मीक कारण कान्तिहीन हो जाना और अङ्ग-भङ्ग आदि क्लेश नहीं होते। वहाँकी प्रजा सम्पूर्ण जीवन अतिशय सुखपूर्वक बिताती है॥२५॥

कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशितिवास-कपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसर्षभनागकालञ्जरनीरदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केशरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः॥ २६॥

सुमेरु पर्वतक
क
कपिल, शङ्ख, वैदूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालञ्जर और नीरद आदि बीस पर्वत हैं। ये सभी पर्वत कर्णिका-स्वरूप सुमेरु पर्वतकी क

जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं पृथुतुङ्गौ भवतः। एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतौ। एवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरौ। अष्टाभिरेतैः परिवृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः॥ २७॥

इन सबक
नामक दो पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत उत्तर-दक्षिणमें अठारह हजार योजन लम्बे और दो-दो योजन चौड़े एवं ऊँचे हैं। इसी प्रकार इसक
करवीर तथा उत्तरकी ओर त्रिशृङ्ग और मकर नामक
इन सभीका परिमाण जठर एवं देवक

पर्वतोंसे चारों ओर घिरकर काञ्चनगिरि अर्थात् सुमेरु पर्वत सब प्रकारसे अग्निक

मेरोर्मूर्द्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति॥ २८॥

इस पर्वतक

स्थित है। उसका परिमाण एक करोड़ योजन है। यह पुरी स्वर्णसे बनी हुई है और आकारमें समचौरस है। पण्डित इस पुरीको 'शातकौम्भी पुरी' कहते हैं॥२८॥

तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं षोडशोऽध्यायः।

इस ब्रह्मपुरीक

अधिपति इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं। इन सभी पुरियोंका परिमाण ब्रह्मपुरीक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

गङ्गाजीका विवरण और महादेव शङ्करकृत सङ्कर्षणकी स्तुति

श्रीशुक उवाच—

तत्र ह भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्द्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्द्धन्यवततार यत् तद्विष्णुपदमाहुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यज्ञमूर्त्ति साक्षात् भगवान् विष्णुने महाराज बलिकी यज्ञशालामें पहुँचकर त्रिविक्रम मूर्त्तिको धारणकर जिस समय अपने चरणका विस्तार किया, उस समय उन्होंने दायें चरणसे भूमिको नापते हुए जैसे ही बायें चरणको ऊपर उठाया, उनक

भागमें छिद्र बन गया। इस छिद्रसे पृथ्वी आदि आठ आवरणोंक बाहरसे कारणार्णवकी एक चिन्मयी जलधाराने ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया। भगवान्क

क

स्पर्श मात्रसे ही विश्व-ब्रह्माण्डक

वह स्वयं सदैव अतिशय निर्मल रहती है। भूमण्डलमें अवतरित होनेसे पूर्व यह धारा साक्षात् भगवान्क

कारण 'भगवत्पदी' नामसे जानी जाती है। तब इसक

भागीरथी आदि नाम न थे। हजारों युगोंका दीर्घकाल बीतनेपर यह धारा ब्रह्माण्डक

कहलाई। पण्डितगण इस ध्रुवलोकको ही विष्णुपद कहते हैं॥१॥

यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवता-चरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुट्मल विगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति॥ २॥

महाराज उत्तानपादक
इसी विष्णुलोकमें रहते हैं। 'यह हमारे क
चरणोदक है'—ऐसा मानकर ध्रुव आज भी इस गङ्गाजलको बड़े
आदरक
हृदय निरन्तर बढ़ते हुए भक्तियोगक
है। उत्कण्ठाक
नयन-कमलोंसे निर्मल अर्थात् कपटतारहित अश्रुधारा बहती रहती
है और सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित दिखायी देता है॥२॥

ततः सप्तर्षयस्तत्प्रभावाभिज्ञा इयं ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावतीति भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति॥ ३॥

ध्रुवलोकक
है। ये गङ्गाक
"यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है, इसकी अपेक्षा और क
श्रेष्ठ नहीं है"—इस प्रकार निश्चय करक
धाराओंको अपनी-अपनी जटाओंमें धारण करते हैं तथा सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें अविच्छिन्न (निरन्तर) भक्तियोग प्राप्त करक धर्मादि अन्यान्य पुरुषार्थों और आत्मज्ञान आदिकी भी उपेक्षा करते हैं। मुमुक्षु जिस प्रकार मुक्तिका बहुत आदर करते हैं, उसी प्रकार ये सप्तर्षि भगवान् विष्णुक
भक्ति-भावसे अङ्गीकार करते हैं॥३॥

ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डल-मावार्य ब्रह्मसदने निपतति॥ ४॥

तत्पश्चात् यह चिन्मयी धारा सप्तर्षि-मण्डलसे अनन्त विमानोंक सहयोगसे आकाश-मार्गसे नीचेकी ओर उतरती है। वहाँ चन्द्रलोकको आप्लावित करती हुई सुमेरु पर्वतक
आवास ब्रह्मपुरीमें गिरती है॥४॥

तत्र चतुर्द्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्द्दिशमभिस्यन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति। सीतालकनन्दा वङ्क्षुर्भद्रेति॥ ५॥

यहाँ गङ्गा चार धाराओंमें विभक्त होकर पृथक्-पृथक् चारों दिशाओंमें वेगपूर्वक प्रवाहित होती हुई सरित्पति समुद्रमें मिल जाती है। इन चार धाराओंको सीता, अलकनन्दा, वङ्क्षु (गङ्गाकी एक शाखा) एवं भद्राक

सीता तु ब्रह्मसदनात् केशराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्द्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्वं वर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति॥ ६॥

इनमें-से सीता नामकी धारा ब्रह्मपुरीसे होकर बहती हुई
क
हुई यह गन्धमादन पर्वतक
भद्राश्ववर्षको आप्लावित करती हुई पूर्वकी ओर लवण-सागरमें मिल जाती है॥६॥

एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततः अनुपरतवेगा केतुमालमभि वङ्क्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति॥ ७॥

इसी प्रकार वङ्क्षु नामक धारा माल्यवान् गिरिक
गिरती है। वहाँसे प्रपातक
क
दिशामें समुद्रमें प्रवेश करती है॥७॥

भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादधः स्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि लवणार्णवमभिप्रविशति॥ ८॥

भद्रा नामकी धारा भी उत्तर दिशामें सुमेरु–शिखर पर पहुँचती है वहाँ–से क
शिखरपर, इसक
पर्वतोंकी चोटियोंसे नीचेकी ओर बहती है। तत्पश्चात् उत्तर क
होकर उत्तरकी ओर प्रवाहित होती हुई सागरमें मिल जाती है॥८॥

तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटहिमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि लवणजलधिमभिप्रविशति (यस्यां स्नानार्थञ्चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति)॥ ९॥

इसी प्रकार अलकानन्दा भी दक्षिण दिशामें स्थित ब्रह्मपुरीसे बहती हुई बहुत–से गिरि–शिखरोंको लाँघती हुई अति तीव्र वेगक
साथ हेमक
आगमन करती है। यहाँ यह दक्षिणकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है। इसमें स्नान करनेक
पर अश्वमेध और राजसूयादि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं है॥९॥

अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः॥ १०॥

सुमेरु इत्यादि पर्वतोंसे बहुत प्रकारकी छोटी–बड़ी नद–नदियाँ निकलती हैं और प्रत्येक वर्षमें शत–शत धाराओंक
होती हैं॥१०॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमस्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति॥ ११॥

सभी वर्षोंमें भारतवर्षको ही कर्मक्षेत्र कहा जाता है। पण्डितगण कहते हैं—अन्य आठ वर्ष स्वर्गीय पुण्यात्माओंक

हुए पुण्योंक
बिल स्वर्ग—ये तीन प्रकारक
ये आठ वर्ष हैं॥११॥

एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैक-गर्भकलत्राणां त्रेतायुगसमः कालो वर्तते॥ १२॥

इन आठों वर्षोंमें जो लोग वास करते हैं, उनकी परमायु मनुष्य
प्रमाणक
होते हैं। उनमें दस हजार हाथियोंका बल होता है। उनक
वज्रक
सम्पन्न रहते हैं। स्त्री तथा पुरुष दीर्घकाल तक इन्द्रिय-सुखोंका भोग करते हैं। अन्तमें सम्भोग-सुख समाप्त होनेपर जब परमायुका एक वर्ष शेष रहता है, तब स्त्रियाँ मात्र एक बार गर्भ धारण करती हैं। इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुग बना रहता है॥१२॥

यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः सर्वर्त्तुकुसुमस्तबक-फलकिसलयश्रिया नानम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिर-काननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविध-नववनरुहामोदप्रमुदितराजहंसकलहंसजलकुक्कुटकारंडवसारसचक्रवाकादि-भिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावलोकाकृष्ट-मनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति॥ १३॥

इन सभी वर्षोंमें समस्त ऋतुओंक
(नवीन पल्लवों) क
सुशोभित वन हैं। इन वनोंमें आश्रमोंकी अपार शोभा होती है। उनमें वर्षोंकी सीमाओंको सूचित करनेवाले दो-दो पर्वतोंक
जलाशय हैं, जिनमें नाना प्रकारक
सुगन्धसे आमोदित होकर राजहंस, कलहंस, जलक
सारस, चक्रवाक आदि पक्षी तरह-तरहकी बोली बोलते हैं और

मधुकर-निकर सुमधुर गुञ्जार करते हैं। उन वर्षोंमें रहनेवाले देवेश्वरगण उन उपवनों एवं जलाशयोंमें परमानन्दक
जल-क्रीड़ा करते हैं। उस समय परम सुन्दरी सुराङ्गनाएँ कामोत्तेजित होकर हास, विलास एवं तिरछी चितवनसे उन देवेश्वरादियोंक नयन एवं हृदयोंको आकर्षित करती हैं। इन देवाधिपतियोंक
पुष्पमाला, चन्दन आदि सामग्रियोंसे उनकी सेवा करते हैं॥१३॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान् नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते॥ १४॥

इन नौ वर्षोंमें परमपुरुष भगवान् नारायण अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेक
भी विराजमान हैं॥१४॥

इलावृते तु भगवान् भव एक एव पुमान् न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः शापनिमित्तज्ञः। यत्प्रवेष्टुः स्त्रीभावस्तत् पश्चाद् वक्ष्यामः॥ १५॥

इलावृत वर्षमें ऐश्वर्यशाली भगवान् शिव ही एकमात्र पुरुष हैं, वहाँ अन्य कोई पुरुष नहीं है। जो भवानीक
वे उस स्थानपर कभी भी प्रवेश नहीं करते हैं। जो यह नहीं जानते, उन्हें वहाँ प्रवेश करनेपर तत्काल ही स्त्री बन जाना पड़ता है। इस शापकी कथा मैं तुम्हें बाद (नवम स्कन्ध) में बतलाऊँगा॥१५॥

भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रैरवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्त्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति॥ १६॥

इस इलावृत वर्षमें भगवान् भव सदैव भवानीकी सौ अरब अनुचरियोंक
प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण—इन चार मूर्त्तियोंमें चौथी मूर्त्ति जो सङ्कर्षण है यह मूर्त्ति शुद्ध चिन्मयी होनेपर भी जगत्संहार आदि तामसिक कार्योंक

है। भगवान् शिव इस मूर्त्तिको अपना अंशी अथवा मूल कारण
जानकर उनमें अपने चित्तको सम्पूर्णरूपसे युक्त करक
जपते हुए उनकी उपासना करते हैं॥१६॥

श्रीभगवानुवाच—

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति॥ १७॥

(परम ऐश्वर्यशाली भगवान् शिव इस मन्त्रसे श्रीसङ्कर्षणकी स्तुति करते हैं—) प्रणवक
नमस्कार करता हूँ, जो समस्त गुणोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, किन्तु स्वयं अप्रमेय एवं अनन्त हैं॥१७॥

भजे भजेन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम्।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम्॥ १८॥

हे भजनीय प्रभो! आप परम ईश्वर हैं। आपक
भक्तोंक
आश्रय-स्थल हैं। भक्तोंक
पूर्णतया प्रकटित करते हैं। हे प्रभो! आप भक्तोंको संसारसे मुक्त करते हैं और अभक्तोंको इस संसारमें आसक्त कर बन्धनमें डाल देते हैं। हे परमेश! मैं आपका भजन करता हूँ॥१८॥

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः॥ १९॥

हम लोग क्रोधक
राग-द्वेषादिक
है। आप परमेश्वर हैं, आप नियमन करनेक

निरीक्षण करते हैं तो आपकी दृष्टि हमारे समान इन मायिक विषयोंमें अणुमात्र भी लिप्त नहीं होती। अतएव इन्द्रियोंको जीतनेकी इच्छा रखनेवाला कौन मुमुक्षु व्यक्ति हे भगवन्! आपकी सेवा नहीं करेगा!॥१९॥

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः॥ २०॥

जिनकी दृष्टि असती (क
मधु-आसव-पान करनेक
पुरुषक
नित्यानन्द स्वरूप हैं, बद्धजीवक
नहीं है)। अर्चन करते समय नागवधुएँ जिनक
मोहित एवं उन्मत्त हो जाती हैं परन्तु लज्जाक
अङ्गोंका अर्चन कर ही नहीं पातीं। भला, कौन ऐसा है जो उन भगवान्का आदर नहीं करेगा!॥२०॥

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित् स्थितं
भूमण्डलं मूर्द्धसहस्रधामसु॥ २१॥

ऋषिगण जिनको विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयका कारण बतलाते हैं और प्राकृत सत्त्वादि गुणोंसे रहित होनेक
'अनन्त' कहते हैं, उन्हीं अनन्तदेवक
एक स्थानपर यह भूमण्डल सरसोंक
है। हे अनन्तदेव! आपकी गणना किसीसे नहीं की जा सकती। हे प्रभो! ऐसा कौन है जो आपकी आराधना नहीं करेगा॥२१॥

यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल।

यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे॥ २२॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः।
महानहं वैकृततामसैन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम्॥ २३॥

जिनसे बुद्धिक
महत्-तत्त्व संज्ञक शरीरसे सम्पन्न ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्माजीसे अहङ्कार-स्वरूप मैं (रुद्र) जन्म प्राप्त करक
त्रिगुणात्मक तेजक
करता हूँ, जिन महात्माक
इन्द्रियाँ, ब्रह्मा और मैं रुद्र सभी डोरीमें बँधे हुए पक्षीक
नियन्त्रित होकर इस विश्वकी सृष्टि करनेमें समर्थ होते हैं, उन्हीं भगवान् अनन्तदेवको मैं नमस्कार करता हूँ॥२२-२३॥

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसङ्गमोहितः।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्तद्विलयोदयात्मने॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चम स्कन्धे भुवनकोशे श्रीसङ्कर्षणस्तोत्रं नाम सप्तदशोऽध्यायः।

जिनकी माया हमें कर्म-बन्धनमें आबद्ध कर देती है, माया-मुग्ध मेरे जैसे व्यक्ति जिनकी कृपाक
जान नहीं सकते, जिनसे इस विश्वकी सृष्टि एवं लय होता है। उन्हीं समस्त कारणोंक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

भद्राश्व आदि छह वर्षों तथा वहाँक
भगवान् हयग्रीव, नृसिंहदेव आदिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसी प्रकार भद्राश्व वर्षमें धर्मक
वास करते हैं। वे साक्षात् भगवान् वासुदेवकी अति प्रिय धर्ममयी 'हयग्रीव' मूर्त्तिको परम समाधि योगसे हृदयमें स्थापित करक
उच्चारणक

श्रीभद्रश्रवस ऊचुः—

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति॥ २ ॥

श्रीभद्रश्रवा और उनक
नमस्कार करते हैं, जो जीवकी अविद्या रूप मलिनताको दूरकर विशेष रूपसे चित्तका विशेषरूपसे शोधन करते हैं॥२॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन् न पश्यति।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति॥ ३ ॥

अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! मनुष्य प्राणोंका अपहरण करनेवाली मृत्युको देखकर भी देखते नहीं हैं। अपने मृत पिता अथवा पुत्रका दाह संस्कार करक

ही धनसे तुच्छ विषय-सुखोंका भोग करनेकी आशासे जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं॥३॥

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम्॥४॥

हे अज! यद्यपि वेदान्तविद्याका अध्ययन करनेवाले ज्ञानी एवं विवेकी जन विश्वको नश्वर मानते हैं और समाधिक
रूपसे अनुभव करते हैं तथापि वे भी आपकी मायाक
हो जाते हैं। यह आपकी ही लीला है! हे प्रभो! वास्तवमें आपकी माया बड़ी चमत्कारमयी है। हम आपको नमस्कार करते हैं॥४॥

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्त्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुनि॥५॥

आप मायाक
विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसरूप जो आपक
गये हैं, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह उपयुक्त ही है, क्योंकि आपकी अचिन्त्य शक्तिसे सब क
कार्यक
आपकी अचिन्त्य शक्तिका ही परिचय है॥५॥

वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति॥६॥

कल्पक
अपहरण करक

मनुष्यका संयुक्त) रूप धारण करक
ब्रह्माजीक
उन्हीं सत्यसङ्कल्प भगवान्को हम नमस्कार करते हैं॥६॥

हरिवर्षे चापि भगवान् नरहरिरूपेणास्ते तद्रूपग्रहण-निमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये। तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदञ्चोदाहरति॥ ७॥

हे राजन्! हरिवर्षखण्डमें भगवान् नृसिंहरूपमें विराजमान रहते हैं। भगवान्ने किसलिये नृसिंह विग्रह धारण किया था, वह मैं तुम्हें बादमें (सातवे स्कन्धमें) बतलाऊँगा। भागवत-श्रेष्ठ प्रह्लादजी महापुरुषोंक
क
है। प्रह्लाद इस वर्षक
भक्तियोगक
प्रकारसे मन्त्र जाप एवं पाठादि करते हैं॥७॥

ॐ नमो भगवते श्रीनरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः ॐ क्षौम् इति॥ ८॥

भगवान् श्रीनृसिंहदेवको नमस्कार है। आप समस्त तेजोंक तेज हैं। हे वज्रनख, हे वज्रदंष्ट्र! आप हमारी कर्मवासनाओंको दग्ध कर दें, हमारे अज्ञानान्धकारका विनाश कर दें। आप हमारे अन्तःकरणमें अभयदान देते हुए प्रकाशित हों॥८॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥ ९॥

सम्पूर्ण विश्वका मङ्गल हो। दुष्ट व्यक्ति अनुक
प्राणी अपनी बुद्धिसे एक-दूसरेक
मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो। हम सबकी बुद्धि निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्रीहरिमें लग जाय॥९॥

माऽगारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥१०॥

हे प्रभो! किसी भी विषयमें हमारी आसक्ति न हो। यदि आसक्ति हो भी, तो घर, स्त्री, पुत्र, धन अथवा बन्धुओंमें न हो, बल्कि भगवत्-प्रिय जनोंमें ही उदित हो। जो आत्मतत्त्ववित् पुरुष क
बहुत शीघ्र कृतकृत्य हो जाते हैं। परन्तु इन्द्रिय-लोलुप मनुष्योंको इस तरह सिद्धि प्राप्त नहीं होती॥१०॥

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम्।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम्॥११॥

भगवत्-प्रिय भक्तोंक
चरित्रोंको जाना जा सकता है। भगवान् मुक
असाधारण क्षमतासे युक्त हैं। जो व्यक्ति कर्णादि इन्द्रियोंक
उनकी कथाओंका निरन्तर सेवन करते हैं, वे कथाएँ उनक
प्रवेश करक
कर देती हैं। गङ्गा आदि तीर्थोंका बारम्बार सेवन किये जानेसे क
(कल्मष) नष्ट नहीं होते। अतः कौन ऐसा विवेकी व्यक्ति होगा, जो भगवत्-भक्तोंकी सेवा नहीं करेगा?॥११॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥ १२॥

भगवान् विष्णुमें जिसकी निष्काम सेवा–प्रवृत्ति विद्यमान है, उसक
हृदयमें धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यक
हैं। जो भगवान् श्रीहरिका भक्त नहीं है, अन्यान्य अभिलाषाओंक
कारण कर्म–ज्ञान–योगमें लगा हुआ है और गृह आदिमें आसक्त
है, उसकी श्रीहरिमें क
द्वारा काल्पनिक, असत् एवं बाहरी विषयोंकी ओर भागता हो, उसमें
महान् पुरुषोंक

हरिर्हि साक्षाद्भगवाञ्छरीरिणा–
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम्॥ १३॥

मछलियोंक
उसी प्रकार साक्षात् भगवान् श्रीहरि सभी प्राणियोंक
हैं। महद् गुणोंसे युक्त व्यक्ति यदि श्रीहरिका परित्यागकर गृह, धन,
पुत्रादिमें आसक्त रहता है, तो उस स्थितिमें शूद्र आदि निम्न जातिक
स्त्री–पुरुषोंक
सकता है। ऐसे लोगोंका तुच्छ पार्थिव महत्त्व तो हो सकता है, किन्तु
ज्ञानादिक

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु–
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयम्॥ १४॥ इति

अतएव हे असुरो! तुम लोग घर आदिको छोड़कर भगवान्
श्रीनृसिंहक

ही निर्भयताक
विषाद, क्रोध, मान, स्पृहा, भय, दैन्य, आदिका मूलकारण है। इसलिए इस गृहको जन्म-मरणादि संसार-मालाका आलवाल (चक्र) स्वरूप माना गया है॥१४॥

केतुमालेऽपि भगवान् कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणाञ्च तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते निपतन्ति॥ १५॥

हे राजन्! क
संवत्सरक
(कामदेव-स्वरूप) में विराजमान है। प्रजापति संवत्सरकी पुत्रियाँ
रातकी तथा उनक
मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुक
छत्तीस-छत्तीस हजार वर्ष है। वे ही उस वर्षक
वत्सरकी कन्याएँ परमपुरुषक
उद्विग्न हो जाती है, जिसक
उनक

अतीवसुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते॥ १६॥

इस क
सुललित होता है। उनकी चितवन सुन्दर, मृदु, मधुर मुस्कानसे युक्त अति मनोहर होती है। जब वे अपनी भौंहोंको किञ्चित् ऊपर उठाकर लीलापूर्वक लक्ष्मीजीको देखते हैं, तब उनकी शोभा और भी बढ़ जाती है। वे अपने मुख-पद्मकी इस शोभासे लक्ष्मीजीको आनन्द प्रदान करते हैं तथा स्वयं भी अपनी इन्द्रियोंको चरितार्थ करते हैं॥१६॥

तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमादेवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदञ्चोदाहरति॥ १७॥

श्रीलक्ष्मीदेवी संवत्सरकी अवधिकी रात्रियोंमें रात्रिक
देवता एवं दिनमें दिनक
समाधि योगसे भगवान्क
इस प्रकारक

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुण-विशेषर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणाञ्चाधिपतये षोडशकलाय छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात् इति॥ १८॥

भगवान् हृषीक
आप ही परिलक्षित होते हैं। आप ही क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति एवं चित्त-शक्ति तथा उनक
अधिपति हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच विषय—ये सोलह पदार्थ आपक
प्रकाशत्वक
मानसिक, ऐन्द्रियक एवं शारीरिक बलस्वरूप हैं। आप साहस, बल एवं तेजक
हम ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ॐ—इन बीजमन्त्रोंक
करते हैं। आप हमारे प्रति इस लोक और परलोक दोनोंमें अनुक

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषीकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम्।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः॥ १९॥

हे प्रभो! आप स्वयं ही इन्द्रियोंक
स्त्रियाँ व्रतादिक
करती हैं, उनक
रक्षा नहीं कर सकते हैं। वे लौकिक पति तो स्वयं ही परतन्त्र हैं अर्थात् वे काल, कर्म एवं गुणादिक

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
स एक एवेतरथा मिथो भयं
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम्॥ २०॥

पति तो उसे कहा जाता है, जो स्वयं किसीसे डरता नहीं और जो भयातुर हैं, उनकी भी सभी प्रकारसे रक्षा करे। अतः एकमात्र आप ही सबक
हो ही नहीं सकता। आप यदि पति नहीं होते, तो आप दूसरोंसे भयभीत होते। शास्त्रोंको जाननेवाले आप परमात्माकी सेवा–प्राप्तिक अतिरिक्त किसी और वस्तुको श्रेष्ठ नहीं मानते॥२०॥

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत् साखिलकामलम्पटा।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते॥ २१॥

हे भगवन्! जो स्त्री ऐकान्तिक भावसे एकमात्र पति–स्वरूप आपक
है, सत्य, सत्य ही उसकी अन्य समस्त कामनाओंसे आसक्ति हट जाती है। फलकी कामनासे रहित आपकी सेवा करनेवाली स्त्रियोंकी समस्त कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं, परन्तु जो स्त्री आपकी ऐकान्तिक परिचर्या न करक
करती हैं, तो आप उसे क
कर देते हैं। भोगकी समाप्तिपर जब वह फल विनष्ट हो जाता है, तो फिर उस स्त्रीको सन्तप्त होना पड़ता है। अतः आपसे इस प्रकारक

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय–
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित॥ २२॥

हे अजित! इन्द्रिय सुख-भोगमें आविष्ट चित्तवाले ब्रह्मा, रुद्र, और अन्यान्य सुर एवं असुर मुझे प्राप्त करनेक
करते हैं, किन्तु आपक
मात्रसे विलसित ऐश्वर्यको भी प्राप्त नहीं कर सकते। मेरा हृदय तो आपमें ही संलग्न रहता है। अतः मैं आपक
कर सकती हूँ, दूसरे मेरा अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकते॥२२॥

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत् त्वदधायि सात्वताम्।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क　ईश्वरस्येहितमूहितुं　विभुः॥२३॥इति

हे अच्युत! आपक
है, इसलिए साधुगण इनकी वन्दना करते हैं। आप अपने भक्तोंक
सिरपर इन्हीं कर-कमलोंको रखते हैं। आप कृपापूर्वक मेरे सिरपर भी अपने इन करकमलोंको संस्थापित कीजिये। हे वरेण्य! आपने मुझे कपटतासे ही स्वर्ण रेखा चिह्न रूपमें वक्षःस्थलपर धारण कर रखा है। मेरे प्रति आपका आदर दिखावा मात्र है, वास्तविक कृपा तो आप अपने अन्तरङ्ग भक्तोंपर ही करते हैं। आप ईश्वर हैं, आपकी लीलाओंक

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक् प्रदर्शितम्। स इदानीमपि महाभक्तियोगेनाराधयतीदञ्चोदाहरति॥२४॥

रम्यकवर्षमें चाक्षुष मन्वन्तरक
वहाँक
प्रिय मूर्त्तिको दिखलाया था। वे मनु आज भी ऐकान्तिक भक्तिक
साथ उस अवतार-स्वरूपकी आराधना करते हैं और मन्त्रादि द्वारा इस प्रकारसे जाप करते हैं॥२४॥

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः; सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति॥२५॥

शुद्ध-सत्त्वस्वरूप भगवान्‌को हमारा नमस्कार है। आप मुख्यप्राण, शारीरिक बल, बुद्धिकी शक्ति तथा ज्ञानेन्द्रिय-शक्तिक (मूल स्रोत) रूपमें तत्-तत् स्वरूपमें भी कहे जाते हैं। हम महामत्स्य-अवतार भगवान्‌को नमस्कार करते हैं॥२५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम्॥ २६॥

हे भगवन्! नट जिस प्रकार कठ-पुतलियोंको अपने वशमें रखता है, उसी प्रकार आपने ब्राह्मण आदि नामोंक विश्वको अपने नियन्त्रणमें कर रखा है। आप ही सबक हैं। आप समस्त प्राणियोंक (वायुरूपसे) विचरण करते हैं, तथापि ब्रह्मादि लोकपालगण आपको देख नहीं सकते। आपका वेदात्मक नाद अतीव उच्च है, अर्थात् आपकी सुमहान् ध्वनि वेदरूपमें प्रकाशित हो रही है। वेद ही आपक रहे हैं॥२६॥

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते॥ २७॥

हे प्रभो! इन्द्रादि लोकपालगण मात्सर्य-ज्वरसे अभिभूत हैं। आपको छोड़कर उन्होंने पृथक्-पृथक् रूपसे अथवा एक साथ मिलकर कितना भी यत्न किया, परन्तु मनुष्य-पशु, स्थावर-जङ्गम आदि किसी भी परिदृश्यमान (दिखायी देनेवाली) वस्तुकी रक्षा नहीं कर पाये। आप ही प्राणरूपमें सबक ईश्वर हैं॥२७॥

भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षौणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम्।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नमः इति॥ २८॥

हे सर्वशक्तिमान्! यह वसुन्धरा समस्त ओषधि एवं लताओंकी आश्रय स्वरूपा है। प्रलयकालमें यह पृथ्वी जब उत्ताल तरङ्गमालाओंसे युक्त सागरमें डूब गयी थी, उस समय हे अज-स्वरूप! आपने प्रबल उत्साहसे मेरे साथ विचरण किया था। आप इस संसारक
समस्त प्राणियोंक
करते हैं॥२८॥

हिरण्मयेऽपि भगवान् निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति; मन्त्रमिमञ्चानुजपति॥ २९॥

हिरण्यमय वर्षमें भगवान् विष्णु क
विराजमान रहते हैं। पितरोंक
लोगोंक
करते हैं और यह मन्त्र निरन्तर जपते रहते हैं॥२९॥

ॐ नमो भगवतेऽकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणाय नमोऽनुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमोऽवस्थानाय नमस्ते॥ ३०॥ इति

भगवान् क
सुन्दर शरीर! सम्पूर्ण शुद्ध सत्त्वगुण ही आपका विग्रह है अर्थात् आप शुद्ध सत्त्व मूर्त्ति हैं। जलमें विचरण करनेक
स्थानको कोई जान नहीं सकता; आपको नमस्कार है। आप
कालकी मर्यादाक
आप सर्वव्यापक हैं और सभीक
आपको नमस्कार है॥३०॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम्।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे॥ ३१॥

हे भगवन्! आपकी अपनी माया शक्तिसे प्रकटित (सृजनात्मक शक्तियोंसे अभिव्यक्त) यह जो दृश्य-प्रपञ्च पृथ्वी आदि नानाविध प्राकृत रूप प्रकाशित हो रहा है, यह सब आपका स्वरूपभूत रूप नहीं है, अतः आपका विराट् रूप अलीक अर्थात् कल्पित है। आपका स्वरूप नर, गौ, पशु, पक्षी आदि बहुतसे रूपोंमें निरूपित हो रहा है। इनकी संख्याका निर्णय करना भी बहुत कठिन है। आपक
नहीं हो सकता। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं॥३१॥

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम्।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः॥ ३२॥

हे देव! जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि चराचर, देवता, ऋषि, पितर, भूत और इन्द्रियाँ एवं स्वर्ग, अन्तरीक्ष, भूलोक, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह तथा नक्षत्र ये सभी आपक ही नाम हैं। आप अद्वय वस्तु हैं। आपक
दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह विश्व अनित्य होनेपर भी मिथ्या नहीं है। यह आपका प्राकृत रूप है। (इसलिए श्रुतियोंमें कहा गया है कि 'परिदृश्यमान् समस्त ही विद्वानोंकी प्रतीतिमें ब्रह्म है।' इस श्लोकक

यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम्।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति॥ ३३॥

हे प्रभो! आपक
प्रकारक
कपिलादि मुनिगण चौबीस तत्त्वोंकी कल्पना करते हैं। जिस
तत्त्वज्ञानक
वही सांख्य-सिद्धान्त-स्वरूप हैं अर्थात् सांख्य-ज्ञानक
हैं। निरीश्वर कपिलादि सांख्यकार आपक
वे क
नमस्कार करता हूँ॥३३॥

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान् यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते। तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति। इमाञ्च परमामुपनिषदमावर्त्तयति॥ ३४॥

हे राजन्! उत्तरक
होकर विराजमान हैं। पृथ्वीदेवी क
अविचलित भक्तियोगसे उनकी आराधना करती हैं और उपनिषद्क
इस परमोत्कृष्ट मन्त्रका बार-बार जप करती हैं॥३४॥

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते इति॥ ३५॥

हम परमपुरुष भगवान्को नमस्कार करती हैं। मन्त्रक
ही आपक
क्रतु स्वरूप हैं। अतः बड़े-बड़े सभी यज्ञानुष्ठान आपक
आप यज्ञक
अवतार प्रच्छन्न है, इसलिए आप 'त्रियुग' नामसे जाने जाते हैं। आशय यह है कि आप 'त्रि-युगल' ऐश्वर्योंसे युक्त षडैश्वर्यशाली रूपमें 'त्रियुग' हैं। आपको नमस्कार है॥३५॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम्।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने॥ ३६॥

जिस प्रकार काष्ठक
रहती है किन्तु जानकार लोग मन्थन द्वारा उस अग्निको प्रकाशित कर लेते हैं, उसी प्रकार तत्त्वविद् एवं निपुण व्यक्ति आपक
अभिलाषासे शरीर, श्रोत्र (नाम, गुण एवं लीलाका श्रवण) एवं वाक् इन्द्रियोंमें गुणानुवाद (कीर्त्तनादि दृढ़ अभ्यास) रूपमें आपका अन्वेषण करते हैं। विवेक, साधन, मन, कर्म और कर्मफल द्वारा तो आपका स्वरूप अप्रकाशित रहता है। आप स्वप्रकाश वस्तु (स्वतः प्रकट होने वाले) हैं। जो व्यक्ति आपक
अभिलाषी होकर मन्थन (भगवान्क
भक्तोंक
प्रयत्न करते हैं, उनसे प्रसन्न होकर आप अपने परमात्म स्वरूपको स्वयं ही प्रकाशित करते हैं। आपको नमस्कार है॥३६॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्त्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तु निरीक्षितात्मने।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः॥ ३७॥

शब्दादि विषय, इन्द्रियोंक
अधिष्ठातृ देवता, देह, काल और अहङ्कार—ये सभी मायाक
हैं। मायाक
दिखायी दे रही है, आप वही परमात्मा हैं। आपका यह स्वरूप मायाक
जिनकी बुद्धिकी वृत्तियाँ अवरुद्ध हो गयी हैं, वे ही आपक स्वरूपको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। हमारा आपको नमस्कार है॥३७॥

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे॥ ३८॥

हे भगवन्! जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपको प्रिय नहीं है, तथापि अनिच्छा होनेपर भी आप जीवोंक
कार्य करते हैं। प्रकृति जड़ है, किन्तु आपक
होकर अपने सत्त्व, रज और तमोगुणक
आदि कार्य करती है। (जड़रूपा प्रकृतिसे किस प्रकार सृष्टि हो सकती है? इसक
द्वारा आकृष्ट होकर उसकी ओर खिंचता चला जाता है, माया भी उसी प्रकार आपक
करती है। अतः हे गुण और कर्मोंक
नमस्कार है॥३८॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिशूकरः।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशे श्रीवर्षदेवस्तुतिर्नामाष्टादशोऽध्यायः।

हाथी जिस प्रकार दाँतोंक
करते हुए जलाशयसे बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार आप भी आदि-वराहरूपमें प्रतिद्वन्द्वी गजक
रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको दाढ़ोंकी नोकपर रखकर प्रलय-पयोधिसे बाहर निकाल लाये थे॥३९॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष वर्ष और भारतवर्षका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! किम्पुरुष वर्षमें परम भागवत श्रीहनुमानजी जगत्क
सीतापति भगवान् श्रीरामचन्द्रक
भलीभाँति युक्त करक
उपासना करते हैं॥१॥

आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपश्रृणोति स्वयञ्चेदं गायति॥ २ ॥

किम्पुरुषमें रहनेवाले गन्धर्व भगवान् श्रीरामचन्द्रकी परम कल्याणमयी कथाओंका गान करते हैं। हनुमानजी किम्पुरुष-पति आर्ष्टिषेणक
और स्वयं इस मन्त्रका जप करते हुए उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं॥२॥

ॐ नमो भगवते उत्तमःश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नमः इति॥ ३ ॥

'हम ॐकार स्वरूप, पवित्र कीर्त्ति, भगवान् श्रीरामचन्द्रको नमस्कार करते हैं, जिनमें आर्षगणोंक
स्वभाव और सदाचार विद्यमान हैं, जो सर्वदा ही संयत-चित्त हैं

और लोक-रञ्जनक
हैं। जो साधुताकी परीक्षाक
पर कृपालुता इत्यादि सद्गुणोंका निर्धारण किया जा सकता है।
जो समस्त साधुओंक
महापुरुष, राजाओंक
उच्चारणक

यत् तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये॥ ४॥

जो मायाक
जो 'अद्वितीय' रूपमें विख्यात हैं; जिनकी स्वरूप-शक्तिक
मायिक गुणोंकी कार्यरूप जाग्रत आदि विविध अवस्थाएँ दूरसे ही निरस्त हो जाती हैं, जो 'प्रत्यक्' स्वरूप हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे जिनका दर्शन नहीं किया जा सकता, जो प्राकृत नाम-रूप-रहित हैं, क
सकता है। हम अति सुदृढ़ भावसे उन्हीं साक्षात् परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण ग्रहण करते हैं॥४॥

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥ ५॥

राक्षसोंका अधिपति रावण मनुष्यक
द्वारा अवध्य था। उसीका वध करनेक
स्वयं इस जगत्में अवतीर्ण हुए थे। क
अवतारका कारण था, ऐसा नहीं। उनक
मर्त्य-जीवोंको यह शिक्षा देना था कि स्त्री-सङ्ग भौतिक दुःखोंका

मूल कारण है। भगवान् श्रीराम तो विश्वात्मा परमेश्वर एवं अपने स्वरूपमें ही आनन्दका उपभोग करते हैं। उन्हें सीता-विरह-जन्य दुःख किस प्रकार हो सकता है? ॥५॥

न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणञ्चापि विहातुमर्हति॥ ६॥

(श्रीरामलीला प्राकृत कामादिमें आसक्त किसी बद्ध जीवकी लीला नहीं है) हे प्रभो! वे त्रिलोकीमें किसी भी विषयमें आसक्त नहीं हैं। वे आत्मविद् भक्तोंकी आत्मा और उनक
एवं षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् वासुदेव हैं। कहा जाता है कि स्त्रीक विरहसे आप मोहको प्राप्त हो गये थे अथवा लक्ष्मण तथा जगन्माता लक्ष्मी स्वरूपिणी सीतादेवीका परित्याग किया था, यह कदापि सम्भव नहीं है। वस्तुतः मनुष्य शिक्षाक
बाहरी आचरण हैं॥६॥

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥ ७॥

प्राकृत सत्क
सद्-योनि ये सब महानुभाव श्रीरामचन्द्रकी प्रसन्नताक
हो सकते। देखिये, हम वनचर हैं—न तो हमारी क
न ही हममें सुन्दरता या वाग्विलास है तथापि लक्ष्मणक
भगवान् श्रीरामचन्द्रने हमारे साथ मित्रता की है॥७॥

सुरोऽसुरो वाथ नरोऽथ वानरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत् कोशलान् दिवम् इति॥ ८॥

सभीको अपने अन्तःकरणमें नराकृति परब्रह्म श्रीरामचन्द्रका भजन करना चाहिए चाहे वे देव, असुर, मनुष्य अथवा पशु, पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो। उनक
साधना करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे तो किञ्चत्मात्र भजनसे ही अनुग्रहक
वैक
(पशु-पक्षियोंको) भी अपने साथ ले गये थे॥८॥

भारतेऽपि वर्षे भगवान् नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्त-गतिश्चरति॥ ९॥

भगवान्‌की महिमा अचिन्त्य है; वे अनुग्रहकर अपने आत्मतत्त्वविद् भक्तोंको शिक्षा देनेक
मूर्त्तिमें प्रकटित होकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन्द्रिय संयम एवं निरहङ्कार गुणोंक
तक तपस्यामें रत रहेंगे। इस तपस्यासे उनका अपना तो कोई प्रयोजन नहीं, मनुष्योंको अवश्य ही इससे आत्म-साक्षात्कार अर्थात् 'त्वं पदार्थ' ज्ञानकी प्राप्ति होती है॥९॥

तं भगवान् नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवतप्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्ति-भावेनोपसरति इदञ्चाभिगृणाति॥ १०॥

पञ्चरात्रनामक-सात्वत तन्त्रमें स्वयं भगवान् द्वारा कहे हुए सांख्यज्ञान एवं योगा-शास्त्रादिक
गयी है। इस पञ्चरात्रका सावर्णि मनुको उपदेश करते हुए देवर्षि नारद भारतवर्षकी वर्ण एवं आश्रम धर्मक
साथ परम भक्ति भावसे भगवान् नर-नारायणकी सेवा करते हैं और इन वचनोंसे भगवान्‌का गुणानुवाद (स्तुति) करते हैं॥१०॥

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति॥ ११॥

ॐकार-स्वरूप, परमहंस, जितेन्द्रिय, निरहङ्कार, निष्किञ्चनोंक
धन, शान्तस्वभाव, महाभागवतोंक
ऋषिप्रवर भगवान् नर-नारायणको पुनः-पुनः नमस्कार है॥११॥

गायति चेदम्—

कर्त्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे॥ १२॥

राजन्! देवर्षि नारद उनकी आराधना करते हुए इस प्रकार और भी गाते हैं—जो इस परिदृश्यमान विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयक
हुए भी जो भूख, प्यासादि दैहिक धर्मोंसे अभिभूत नहीं होते। द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्य विषयोंसे दूषित नहीं होती। उन्हीं अनासक्त एवं प्रपञ्चसे निवृत्त, समस्तक
हमारा नमस्कार है॥१२॥

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्यादधीतोज्झितदुष्कलेवरः॥ १३॥

हे योगेश्वर! आत्मवित् भगवान् ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ)ने योगसाधनाकी निपुणता यही बतलायी है कि अन्तकालमें सभी योगी संसार-क्लेशक
कारण-स्वरूप देहात्माक
निर्गुण आपमें अपना चित्त लगायें॥१३॥

यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन्।
शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद्-
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम्॥ १४॥

लौकिक एवं पारलौकिक फलोंक
जिस प्रकार स्त्री-पुत्र एवं धनादिकी चिन्ता करते रहते हैं और इसीलिए विष्ठादिसे भरे हुए इस क
डरते हैं, शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी यदि इसी प्रकार मृत्युसे डरते हैं, तो उनक
लेना चाहिए॥१४॥

तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावम् इति॥१५॥

अतएव हे प्रभो! हे अधोक्षज! आपमें जो चित्तको स्थिर करनेवाला ज्ञानयोग है, आप हमें वही प्रदान कीजिये, जिससे हम अपने अस्थिर मनको वशमें कर सक
हैं, इसलिये मलमूत्रसे भरी इस देहक
समर्पित हैं। आप अपनी स्वभाव सिद्ध, निरुपाधिक प्रेमाभक्ति प्रदान कर इस अहंता-ममताका छेदन कर डालिये (विषयोंक
हमारी स्वाभाविक आसक्ति है, हमारा वही अनुराग, वही आसक्ति आपमें हो)॥१५॥

भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवः मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोण्वः सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारिपात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्द्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसंख्याताः॥१६॥

परीक्षित्! इलावृत वर्षक
एवं नदियाँ हैं—मलय, मङ्गलप्रस्थ, मैनाक, त्रिक
कोण्व (कोल्लक), सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेङ्कट, महेन्द्र, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्षगिरि, पारिपात्र, द्रोण, चित्रक

गोवर्द्धन, रैवत, कक
तथा इनक
तटप्रान्तोंसे निकलकर असंख्य नद-नदियाँ प्रवाहित होते हैं॥१६॥

एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति। चन्द्रवशा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्त्ता तुङ्गभद्रा कृष्णवेण्वा भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिर्ऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृशद्व ती गोमती सरयूरोधवती सप्तवती सुषोमा शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः॥ १७॥

उनमें ब्रह्मपुत्र और शोण यह दो नद एवं चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शक
तुङ्गभद्रा, कृष्णवेण्वा, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, शोण, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिक
दृषद्वती, गोमती, सरयू, ओघवती, षष्ठवती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रु, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी और विश्वा—ये सभी सर्वप्रधान महानदियाँ हैं। ये नदियाँ अपने नाम मात्रसे ही जीवोंको पवित्र करनेवाली हैं। भारतवासी इन नदियोंका मनमें स्मरण करते हैं। कभी-कभी जाकर इनका स्पर्श और इनमें स्नान भी करते हैं॥१७॥

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति॥ १८॥

इस वर्षमें जन्म ग्रहण करनेवाले पुरुषोंको अपने किये हुए सत्त्व, रज और तमोगुणक
और नारकी आदि नाना प्रकारकी योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी वर्षमें जीवोंको अपने-अपने विगत कर्मोंक

योनियाँ मिलती हैं और इसी वर्षमें अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम धर्मको भगवान् विष्णुको समर्पण करनेपर क्रमशः कर्मबन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है॥१८॥

योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः॥ १९॥

(अपवर्गका स्वरूप क

है, यह बतला रहे हैं) जन्म-जन्मान्तरकी सुकृतियोंक

समय भगवद्भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है उस समय उनक

देव, तिर्यक्, मनुष्यादि योनियोंमें जन्म ग्रहणक

और उनका मूल जो अविद्याकी गाँठ है, वह छिन्न हो जाती है एवं उसक

अगोचर, निराधार (स्वयं-ही-स्वयंक

वासुदेवमें अहैतुक भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। यही अपवर्ग है, यही फलाभिसन्धिरहित भक्तियोग है॥१९॥

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो वतैषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ २०॥

मनुष्य जन्ममें ही समस्त पुरुषार्थोंको प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए देवता भी मनुष्य जन्मकी इस प्रकारसे महिमा गाते हैं—अहो! भारतवर्षमें जन्मे मनुष्योंने ऐसी कौनसी महापुण्यशाली तपस्या की है? अथवा स्वयं भगवान् श्रीहरि इनपर बिना साधनाक ही क्यों प्रसन्न होते हैं? क्योंकि जिस भारत-भूमिमें मनुष्य-जन्म प्राप्तिक

मुक

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥ २१॥

हमें दुष्कर यज्ञ, तपस्या, व्रत और दानादिक
प्राप्त हुआ है, इस तुच्छ फल अर्थात् स्वर्ग-प्राप्तिकी सार्थकता भला क्या है? अरे, इस स्थानपर तो श्रीनारायणक
सम्भव नहीं है। यहाँ तो अतिशय इन्द्रिय तर्पणोत्सव अर्थात् अत्यधिक भोगोंक

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरः।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥ २२॥

ब्रह्मलोकमें द्विपरार्द्धकाल आयुकी अपेक्षा भारत भूमिमें अल्पायु होकर जन्म ग्रहण करना श्रेष्ठ है क्योंकि ब्रह्मलोकसे भी तो पुनः वापस आनेकी सम्भावना रहती है। मर्त्त्यवासियोंकी देह क्षणभङ्गुर एवं आयु अल्प होनेपर भी धीर पुरुष अल्पकालमें ही अपने कृत कर्मोंको भगवान् श्रीहरिमें समर्पण करक
प्राप्त कर सकते हैं। वहाँसे पुनः लौटना नहीं होता॥२२॥

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥ २३॥

जहाँ भगवत्-कथारूपी सुधा-सरिता प्रवाहित नहीं होती, जहाँ उसक
निवास नहीं है, जहाँ नृत्य-गीत-वाद्यादि महोत्सवक
श्रीहरिकी सङ्कीर्तन यज्ञसे आराधना नहीं होती, वह चाहे ब्रह्मलोक भी क्यों न हो, सुमेधावीजन वहाँ कभी नहीं निवास करते॥२३॥

प्राप्ता नृजातिस्त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
न चेद् यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥ २४॥

इस भारतवर्षमें चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों एवं क्षिति आदि द्रव्य-सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण (भगवद् भजनोपयोगी) मानव-देह प्राप्त करक
भक्तियोगक
पक्षियोंक
लोभसे उसी वृक्षपर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियोंक
बन्धनमें पड़ जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार पाशबद्ध पक्षी एक बार व्याधक
करने लग जाता है किन्तु असावधानी दोषक
व्याधकी फाँसीमें फँस जाता है, उसी प्रकार भारत भूमिमें भगवद् भक्तिमय मोक्षको प्राप्त कराने वाली मनुष्य योनि प्राप्त करक
मानव अपने-अपने कर्मदोषक

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
र्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा गृह्णाति
पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः॥ २५॥

अहो! भारतवासी बड़े सौभाग्यशाली हैं। जब ये विधि, मन्त्र एवं चरु पुरोडाशादि आदि भिन्न-भिन्न द्रव्योंक
तद्-तद् देवताओंक
करते हैं, तब पृथक्-पृथक् इन्द्रादि विभिन्न नामसे पुकारे जानेपर भी सर्वाङ्ग भगवान् श्रीहरि ही समस्त द्रव्योंको हर्षक
करते हैं। वे चारों प्रकारक
किन्तु स्वयं परिपूर्णस्वरूप भगवान् होकर भी हवि आदिकी उपेक्षा नहीं करते॥२५॥

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥ २६॥

सकाम भक्त भगवान्से जब क
उनकी माँगी हुई वस्तुओंको प्रदान तो कर देते हैं, यह सत्य है, किन्तु जिससे पुनः-पुनः कामनाओंका उदय होता है, वे ऐसा वर प्रदान नहीं करते। भगवान्क
पूर्ण करनेवाले हैं। जो उनक
न रखकर उनका भजन करते हैं, उन्हें भी वे स्वयं ही अपने चरणकमल प्रदान कर देते हैं॥२६॥

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्-
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति॥ २७॥

अतः हम जो भलीभाँति किये गये यज्ञ, वेदाध्ययन और अन्यान्य सत्कर्मोंक
उपभोग कर रहे हैं, यदि इन पुण्योंका किञ्चित् मात्र फल भी बचा हुआ हो, तो हमारा भारतवर्षमें ही हरिस्मरणक
मानव-जन्म हो—यही हमारी प्रार्थना है; क्योंकि भगवान् श्रीहरि इस वर्षमें भक्तोंका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान्॥ २८॥

तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भारतोत्तम परीक्षित्! क
मानना है कि जम्बूद्वीपमें और आठ उपद्वीप हैं। राजा सगरक
पुत्रोंने घोड़ेको ढूँढते हुए चारों ओरसे पृथ्वीको खोद डाला था,
जिससे इन उपद्वीपोंका विभाग हो गया था। इन द्वीपोंक
हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्त्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य,
सिंहल और लंका॥२८–२९॥

एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णितः इति॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः।

हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार जम्बूद्वीपक
जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, ठीक वैसा ही तुम्हें सुना दिया॥३०॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

प्लक्षादि छह द्वीपों तथा लोकालोक पर्वतका वर्णन

श्रीऋषिरुवाच—

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते॥ १ ॥

ऋषिवर श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अब मैं परिमाण, लक्षण एवं आकारक
वर्णन करता हूँ॥१॥

जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन। लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन। प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्यातिकरो हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वः। तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वस्तं द्वीपं सप्त वर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम॥ २ ॥

सुमेरु जिस प्रकार जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी लवण-समुद्रसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपका विस्तार जैसे एक लाख योजन है, उसी प्रकार लवण-समुद्रका परिमाण भी एक लाख योजन है। खाई जिस प्रकार बाहरी उपवनसे घिरी रहती है, उसी प्रकार लवण-समुद्र भी प्लक्ष द्वीपक
है। प्लक्ष द्वीपका विस्तार लवण-समुद्रसे दुगुना अर्थात् दो लाख योजन है। इस द्वीपमें प्लक्ष (पाकर) नामका एक महावृक्ष है। यह वृक्ष स्वर्णमय है और इसका परिमाण जम्बूवृक्षक
इसक
कारण ही इस द्वीपका नाम प्लक्ष द्वीप पड़ गया। इस द्वीपक

अधिपति प्रियव्रतक
सात पुत्रोंक
एक-एक वर्ष एक-एक पुत्रको सौंपकर वे स्वयं भगवद्-भक्ति प्राप्तकरक

शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतमभयमिति वर्षाणि। तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः। मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुवर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः। अरुणा नृम्णा आङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरेति महानद्यः। यासां जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते॥ ३-४॥

सातों द्वीपोंका नाम सात पुत्रोंक
यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय। इन सात वर्षोंमें सात पर्वत और सात नदियाँ प्रसिद्ध हैं। मणिक
ज्योतिष्मान्, सुवर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल—ये सात पर्वत सात वर्षोंकी सीमाओंको सूचित करनेवाले हैं। अरुणा, नृम्णा, आङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा—ये सात महानदियाँ हैं। प्लक्षवर्षमें रहनेवाले लोग चार वर्णोंमें विभाजित हैं—हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन और सत्याङ्ग। ये सभी इन नदियोंक
करक
स्वयंको पवित्र करते हैं। इनकी आयु एक हजार वर्षकी होती है। इनका सौन्दर्य देवताओंक
प्रकार भी वैसा ही होता है। ये त्रयीविद्यासे तीनों वेदोंमें वर्णित कर्ममार्गका आश्रय लेकर स्वर्गक
(परमात्मा-रूप) भगवान्का भजन करते हैं॥३-४॥

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत् सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमही इति॥ ५॥

उनकी उपासनाका मन्त्र इस प्रकार है—हम सर्वव्यापक पुराणपुरुष भगवान् विष्णुकी प्रतिमूर्त्ति-स्वरूप सूर्यदेवक
वे (सूर्य) अनुष्ठान-योग्य धर्म (आराध्य) प्रतीत होनेवाले (ऋत) धर्म (परब्रह्म), ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेवाले वेद तथा शुभाशुभ (सम्मुख शुभ कार्यों एवं फलोंक
एवं फलोंक

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्त्तते॥ ६॥

हे राजन्! प्लक्षादि (पाकर) पाँचों द्वीपोंमें सभी मनुष्योंकी आयु, ओज (मनोबल), इन्द्रियबल, दैहिकबल, साहस, बुद्धि, पराक्रम और स्वभावसिद्ध बुद्धि एक ही समान होते हैं॥६॥

प्लक्षस्तु समानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते॥ ७॥

प्लक्षद्वीप जिस प्रकार अपने समान दो लाख योजन विस्तार वाले इक्षु-समुद्रसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार प्लक्षद्वीपसे दुगुना अर्थात् चार लाख योजन विस्तार वाला शाल्मली द्वीप अपने समान परिमाणवाले मदिराक

यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा। यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतच्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते॥ ८॥

इस शाल्मली (सेमर) द्वीपमें एक शाल्मली (सेमर) वृक्ष है। यह वृक्ष प्लक्ष (पाकर) वृक्षक
सौ योजन चौड़ा एवं ग्यारह सौ योजन ऊँचा है। इस वृक्षक नामानुसार ही इस द्वीपका नाम शाल्मली है। पण्डितोंका कहना है कि शाल्मली (सेमल) वृक्षमें भगवान् विष्णुक
पङ्खोंवाले पक्षीराज गरुडका निवास है। श्रीगरुड छन्द अर्थात् वेदमन्त्रोंसे भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हैं॥८॥

तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्त वर्षाणि व्यभजत्। सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्हं पारिभद्रमाप्यायनमभिज्ञातमिति॥ ९ ॥

प्रियव्रतक
इस द्वीपको अपने सात पुत्रोंक
प्रत्येक पुत्रको एक-एक वर्ष प्रदान कर दिया। उनक
नाम हैं—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ह, पारिभद्र, आप्यायन और अभिज्ञात॥९॥

तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः। सुरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दः कुमुदः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति। अनुमती सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति॥ १०॥

इन सुरोचनादि सात विभागोंमें सुरस, शतशृङ्ग, वामदेव, क
क
सिनीवाली, सरस्वती, क
नदियाँ हैं॥१०॥

तद्वर्षपुरुषाः श्रुतिधरवीर्यधरवसुन्धरेषुन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते॥ ११॥

इस वर्षक
वसुन्धर, और इषुन्धर नामसे विख्यात हैं। ये अपने-अपने वर्ण और आश्रमोचित धर्मानुसार वेदमय भगवदात्मक चन्द्रमाकी उपासना करते हैं॥११॥

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः।
अन्धः प्रजानां सर्वासां राजा नः सोम आस्त्विति॥ १२॥

शाल्मली द्वीपवासी इस प्रकार स्तुति करते हैं—जो देवता एवं पितरोंको अन्नादि प्रदान करनेक
एक मासको शुक्ल तथा कृष्ण नामक दो पक्षोंमें विभाजित करते हैं, उन सोमदेव (चन्द्रमा) को नमस्कार है। (इसका तात्पर्य यह

है कि श्राद्धादि कार्यक
'स्वाहा', 'स्वधा' इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक देवलोक एवं पितृलोकक
वासियोंको हव्य-कव्यादि प्रदान करना निषिद्ध है। चन्द्रमा ही उस
कालक
हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे अनुक

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्यापनो ज्वलन इवापरः सुशष्परोचिषा दिशो विराजयति॥ १३॥

मदिरा-समुद्रक
आठ लाख योजन विस्तृत क
द्वीपक
मदिरा-सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार क
घृत-सागरसे घिरा हुआ है। क
है। यह दूसरे अग्निदेवक
सारी दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं। इसी क
ही क

तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन् हिरण्यरेता नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत् वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तसत्यव्रतविप्रनामदेवनामभ्यः॥ १४॥

हे राजन्! प्रियव्रत-पुत्र हिरण्यरेता इस द्वीपक
उन्होंने भी इस द्वीपको सात भागोंमें विभाजितकर उन्हें अपने सात
पुत्रोंको प्रदान कर दिया और स्वयं तपस्या करनेक
चले गये। हिरण्यरेताक
नाभिगुप्त, सत्यव्रत, विप्रनाम और देवनाम॥१४॥

वभ्रुतेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव। वभ्रुश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति। रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति॥ १५॥

इन सात द्वीपोंमें सात सीमान्त पर्वत हैं, जिनक
चतुःश्रृङ्ग, कपिल, चित्रक
रसक
मन्त्रमाला—ये सात प्रसिद्ध नदियाँ हैं॥१५॥

यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदःस्वरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते॥ १६॥

क
चार वर्णोंमें विभाजित हैं। ये नदियोंमें स्नान करते हैं और पवित्र होकर भगवद्-भजनक
अग्नि-स्वरूपमें उपासना करते हैं॥१६॥

परस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट्।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यज इति॥ १७॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे अग्ने! आप साक्षात् परमब्रह्म श्रीहरिक
पहुँचाते हैं। हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि हम परमपुरुष भगवान्क
करते हैं, आप वह हविष्य देवताओंक
कर दें॥१७॥

तथा घृतोदाद् बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः समानेन क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तः वृत्तो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन। यस्मिन् क्रौञ्चनामा पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्त्तक आस्ते॥ १८॥

घृत सागरक
घृत-सागरसे दुगुना अर्थात् सोलह लाख योजन है। क
प्रकार घृत सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार क्रौञ्चद्वीप भी अपने ही समान विस्तारवाले क्षीर-सागर (दुग्ध-सागर) से घिरा हुआ है। क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामका एक विशाल पर्वत है। इसी पर्वतराजक

योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनाभिषिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव॥ १९॥

यद्यपि श्रीस्वामीकार्तिक
तटप्रदेश एवं लता क
ओर स्थित क्षीरसागरक
द्वारा सुरक्षित होनेसे यह पर्वत निर्भय हो गया॥१९॥

तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त ऋक्थादीन् वर्षपान् निवेश्य स्वयं भगवान् भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम॥ २०॥

प्रियव्रत-पुत्र घृतपृष्ठ इस द्वीपक
ज्ञानवान् हैं। घृतपृष्ठने अपने द्वीपको अपने सात पुत्रोंक
सात वर्षोंमें विभाजित कर दिया और स्वयं सभीक
परम कल्याणमय, परम गुणी भगवान् श्रीहरिक
शरणागत हो गये थे॥२०॥

आत्मा मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुताः। तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः। शुक्लो वर्द्धमानो भोजन उपबर्हणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति। अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती रूपवती पवित्रवती शुक्लेति॥ २१॥

घृतपृष्ठक
भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति। इनक
सीमाओंको सूचित करनेवाले सात पर्वतोंक
भोजन, उपबर्हण, नन्द, नन्दन, एवं सर्वतोभद्र और सात नदियोंक
नाम हैं—अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती और शुक्ला॥२१॥

यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषर्षभद्रविणदेवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते॥ २२॥

क्रौञ्चवासियोंक
ये सभी नदियोंक
अञ्जलि भरकर भगवान्‌की जलमय मूर्त्तिकी उपासना करते हैं॥२२॥

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवःस्वरः।
ता नः पुनन्त्वमीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति॥ २३॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे जल! आपको भगवान्‌से सामर्थ्य प्राप्त है, इसलिए आप भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं। आप अपने स्वरूपसे ही पापोंका नाश करनेवाले हैं। हम आपका स्पर्श करते हैं, आप हमारे शरीरको पवित्र करें॥२३॥

एवं पुरस्तात् क्षीरोदात् परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन दधिमण्डोदेन परिवृत्तः यस्मिन् हि शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशकः। यस्य ह महासुरभिगन्धस्तद्-द्वीपमनुवासयति॥ २४॥

इस क्षीर-समुद्रक
विस्तार बत्तीस लाख योजन है। पहले जिस क्रौञ्च द्वीपक
बतलाया गया था कि वह अपने ही समान विस्तारवाले क्षीर सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार शाकद्वीप भी दधि-समुद्र से परिवेष्टित है। यहाँ शाक नामका महावृक्ष होनेक
शाकद्वीप है। इस महावृक्षकी मनोहर सुगन्धसे सम्पूर्ण शाकद्वीप सुवासित हो रहा है॥२४॥

तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः। सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजववेपमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान् निधाप्याधि-पतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश॥ २५॥

इस द्वीपक
द्वीपको अपने सात पुत्रों—पुरोजव, मनोजव, वेपमान, धूम्रानीक,

चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधारक
कर दिया और प्रत्येकको एक-एक वर्षका अधिपति नियुक्त कर
वे स्वयं भगवान् अनन्तदेवमें अपने चित्तको अर्पितकर तपस्याक
लिए तपोवनमें चले गये॥२५॥

एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति। अनघा आयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति॥ २६॥

इन सात वर्षोंमें ईशान, उरुशृङ्ग, शतक
और महानस नामक सीमा-पर्वत हैं और अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चनदी, सहस्रस्रुति और निजधृति नामकी सात नदियाँ हैं॥२६॥

तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते॥ २७॥

इस वर्षमें रहनेवाले ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत, और
अनुव्रत नामक चार वर्णोंक
तमोगुणको विनष्ट करक
आराधना करते हैं॥२७॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम्॥ २८॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—जो प्राण, अपान आदि भिन्न-भिन्न
वृत्तियोंसे प्राणियोंक
करते हैं, जो सभीक
जगत् जिनक

एवमेव दधिमण्डोदात् परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपक्लिप्तः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतः। यस्मिन् बृहत् पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम्॥ २९॥

इस प्रकार दधि-समुद्रक
द्वीपका परिमाण शाकद्वीपक
अपने ही समान विस्तारवाले स्वादिष्ट जलक
है। इस द्वीपमें एक विशाल पुष्कर (कमल) है; उसमें अग्निकी शिखाक
हो रही हैं। इस कमलपत्रको ज्ञानीजन पद्मयोनि ब्रह्माका आसन मानते हैं॥२९॥

तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलो-ऽयुतयोजनोच्छ्रायायामः। यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनाम्। यदुपरिष्टात् सूर्यरथस्य मेरुं परिक्रामतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति॥ ३०॥

इस द्वीपक
करनेवाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है। उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई दस हजार योजन है। इस पर्वतक
लोकपालोंकी चार पुरियाँ हैं। इसपर मेरु पर्वतक
घूमनेवाले सूर्यक
कालका भोग करता हुआ देवताओंकी चारों पुरियोंक
लौकिक चक्र (कोल्हूक

तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नाम तस्यात्मजौ रमणकधातकनामानौ वर्षपती नियुज्य स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते॥ ३१॥

प्रियव्रतक
रमणक और धातक नामक
वर्षोंका अधिपति नियुक्त कर दिया और स्वयं अपने बड़े भाई मेधातिथिक

तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाराधयन्ति इदञ्चोदाहरन्ति॥ ३२॥

इस वर्षक
भावसे वन्दनादि द्वारा आराधना करते हैं। वे इस प्रकार स्तुति करते हैं— ॥३२॥

यत् तत् कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत्।
भेदेनैकान्तमद्वैतं तस्मै भगवते नमः इति॥ ३३॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चताम् एति—अर्थात् जो एक सौ जन्मों तक वर्णाश्रम धर्मक
उसे ब्रह्मा-पदकी प्राप्ति होती है—इस भागवतीय वचनोंक
जो (ब्रह्मा) कर्मफलोंक
हैं, भगवान्क
हैं; सेव्य-सेवक भावसे जिन ब्रह्माजीकी स्तुति करना कर्त्तव्य है, हम उन्हीं ब्रह्मामूर्त्ति भगवान्को नमस्कार करते हैं॥३३॥

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्लिप्तः॥ ३४॥

तत्पश्चात् इस शुद्ध जल-सागरक
आलोकसे युक्त और आलोकसे रहित स्थान है। इन दोनों स्थानोंक
विभाजनक
हुआ है॥३४॥

यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यादर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित् पुनः प्रत्युपलभ्यते; तस्मात् सर्वसत्त्वपरिहृतासीत्॥ ३५॥

सुमेरु पर्वतक
शुद्धजल सागरक
प्राणी रहते हैं। इसक
शुद्ध दधि-समुद्र तक एक काञ्चनमयी भूमि है। यह भूमि दर्पणक समान स्वच्छ है। उसमें कोई वस्तु गिर भी जाय, तो वह मिलती नहीं है। इसलिए सभीने इस भूमिका त्याग कर रखा है॥३५॥

लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकाऽलोकस्या-न्तर्वर्त्तिनावस्थाप्यते॥ ३६ ॥

लोकालोक पर्वत सूर्यादिसे प्रकाशित एवं अप्रकाशित स्थानोंक मध्यमें स्थित है। दोनों स्थानोंको पृथक्-पृथक् करनेक
इसे लोकालोक पर्वत कहा जाता है॥३६॥

स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितः यस्मात् सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनास्त्रीन् लोकानावितन्वाना न कदाचित् पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः॥ ३७॥

परमेश्वरने इस लोकालोक पर्वतको भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनों लोकोंकी बाहरी सीमाक
किया है। सूर्यादि लोकसे ध्रुवलोक तक समस्त ज्योतिर्मय मण्डलकी किरणें चारों दिशाओंमें व्याप्त मण्डलक
त्रिलोकीमें व्याप्त हो रही हैं, लेकिन इस लोकालोकक
होनेक
पातीं। यह पर्वत ध्रुवलोकसे भी ऊँचा और बहुत दूर तक फ
हुआ है॥३७॥

एतावान् लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः। स तु पञ्चाशत्कोटिगुणितस्य भूगोलकस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः॥ ३८॥

विद्वानोंने परिमाण, लक्षण और आकारक
इतना ही विस्तार बतलाया है। सम्पूर्ण भूगोल (भू-सम्बन्धित ब्रह्माण्ड-गोलोक)का व्यास पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन इस लोकालोक पर्वतका विस्तार है॥३८॥

तदुपरिष्टाच्च्वतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणा विनिवेशिता ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोक-स्थितिहेतवः॥ ३९॥

लोकालोक पर्वतक
चार गजपति नियुक्त किये हैं, जिनक
वामन और अपराजित। ये चारों दिग्गज सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिक
कारण-रूप हैं अर्थात् लोकोंको धारण किये हुए हैं॥३९॥

तेषां स्वविभूतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानाञ्च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान् परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्दोर्द्दण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन् गिरिवरे समन्तात् सकललोकस्वस्तय आस्ते॥ ४०॥

परमैश्वर्यरूप, परव्योमपति, महापुरुष, अन्तर्यामी भगवान् अपने विशुद्ध-सत्त्वमय अप्राकृत रूपको प्रकटित कर निज पार्षदोंमें सर्वश्रेष्ठ विश्वकसेन आदिक
लोकपालोंकी शक्तियोंको बढ़ाने और समस्त जीवोंक
लिए गिरिवर लोकालोक पर्वतपर विराजमान रहते हैं। इस स्थानपर भगवान्क
ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्ट महासिद्धियाँ प्रकाशित होती हैं। श्रीभगवान् अपने चार भुजदण्डोंमें शङ्ख, चक्रादि आयुधोंसे अलङ्कृत होकर परम शोभाको धारण करते हैं॥४०॥

आकल्पमेष एवं गतो भगवानात्मयोगमायाविरचितविविध-लोकयात्रागोपीथायेत्यर्थः॥ ४१॥

इस प्रकार यह विविध लोकयात्रा भगवान्की चिच्छक्ति स्वरूपिणी योगमाया द्वारा विरचित है। भगवान् अपनी शक्तिसे विरचित इन लोकोंक
रहकर बाहरसे विविध ऐश्वर्यमयी श्रीमूर्त्तियोंको प्रकटित करते हैं॥४१॥

योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणञ्च व्याख्यातं यद्बहि-र्लोकालोकाचलात्, ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति॥ ४२॥

हे राजन्! लोकालोक पर्वतक
मैंने वर्णन किया है; वह मध्य भाग तक विस्तृत है। लोकालोकक
समान अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन अलोक वर्षका परिमाण कहा गया है। विद्वानोंका कहना है कि इस अलोक वर्षक बाद मुमुक्षुओंका गन्तव्य स्थान है। यह स्थान रज एवं तमो मलसे रहित होनेक
जब द्विजपुत्रको लेने गये थे, तब उन्होंने अर्जुनको यह स्थान दिखलाया था॥४२॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः॥४३॥

ब्रह्माण्डक
मध्यवर्त्ती जो भाग है, वही अन्तरीक्ष है। सूर्य एवं ब्रह्माण्ड-गोलोकक मध्यस्थानका परिमाण पच्चीस करोड़ योजन है॥४३॥

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत् ततो मार्त्तण्ड इति व्यपदेशः।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः॥४४॥

इस अचेतन अर्थात् मृत अण्डमें सूर्य वैराजरूप (स्थूल अथवा समष्टि शरीरमें अर्थात् सभी जीवात्माओंमें) में प्रविष्ट हैं, इसलिए उनका नाम मार्त्तण्ड है। सूर्यको हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है क्योंकि सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर (भौतिक शरीर अर्थात् विशाल भौतिक गोलक) महत्-तत्त्व शरीर ज्योर्तिमय हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से उनका वैराजरूप स्थूल शरीर प्रकट हुआ है॥४४॥

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः॥४५॥

हे महाराज! सूर्यक
भोग-स्थान, मोक्ष-स्थान, नरक, अतलादि समस्त लोकों तथा समस्त भागोंका विभाग होता है॥४५॥

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृप्खगवीरुधाम्।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे समुद्रद्वीपवर्णनं नाम विंशोऽध्यायः।

सूर्य ही समस्त देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, लता, वृषादि समस्त जीवोंकी समष्टिक
अभिन्नात्म (जीवन एवं आत्मा) स्वरूप हैं और वे ही नेत्रेन्द्रियक अधिष्ठाता हैं। सूर्यकी उपस्थितिमें ही सब देख सकते हैं, इसलिये वे दृग् अर्थात् दृष्टिक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

कालचक्रमें भ्रमण करते हुए सूर्यकी गतिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

एतावानेव भूवलयस्य सन्निवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भूमण्डलका इतना ही परिमाण (लम्बाईमें पचास करोड़ और ऊँचाईमें पच्चीस करोड़ योजन) है, जो मैंने तुम्हें परिमाण और लक्षणक

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनाम्। ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम्॥ २॥

गेहूँक

जाय तो उसक

जा सकता है, इसी प्रकार स्वर्ग-तत्त्वादिको जाननेवाले पण्डित भौगोलिक परिमाणक

हैं। भूगोलक एवं स्वर्गलोकका मध्यवर्ती स्थान आकाश है, इसे अन्तरिक्ष (बाह्य आकाश) भी कहते हैं। यह भूगोलकक

और स्वर्गलोकक

यन्मध्यगतो भगवांस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा। स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभि-र्मान्द्यक्षैप्रसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमस्थानेषु यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते॥ ३॥

आकाशक

सूर्य अपने तेज एवं अङ्ग-कान्तिक

एवं प्रकाशित करते हैं। उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत्—इन तीनों नामोंक

हैं। सूर्य इन त्रिविध गतियोंसे समयक
आरोहण, कर्कादिमें अवरोहण और विषुवत् आदि समान स्थानोंपर विचरण करते हुए दिन एवं रात्रिको बड़ा, छोटा एवं समान करते हैं॥३॥

यदा मेषतुलयोर्वर्त्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति। यदा वृषभादिषु पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्द्धन्ते। ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु॥४॥

सूर्य जब मेष एवं तुला राशिपर अवस्थित होते हैं, तब दिन और रात समान होते हैं। जब वे वृषभादि पाँच राशियोंमें विचरण करते हैं, उस समय प्रत्येक मासमें एक-एक घड़ी करक
कम होता जाता है और दिन बढ़ते जाते हैं॥४॥

यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु राशिषु वर्त्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति॥५॥

जिस समय वे वृश्चिक इत्यादि पाँच राशियोंमें भ्रमण करते हैं, तब दिन और रातका परिमाण विपरीत हो जाता है अर्थात् दिन क्रमशः छोटे होते जाते हैं और रात्रियाँ क्रमशः बड़ी होती जाती हैं॥५॥

यावद्दक्षिणायनमहानि वर्द्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः॥६॥

इस प्रकार सूर्य जब दक्षिणायनकी ओर जाते हैं, तब दिन बढ़ते हैं और जब उत्तरायणकी ओर चलते हैं, उस समय रात्रियाँ बढ़ती हैं॥६॥

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि च योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्त्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्याम् मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानि भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्द्दिशम्॥७॥

हे राजन्! सूर्यकी इस प्रकारकी गतिक
निर्णय किया है कि मानसोत्तर पर्वतकी चारों दिशाओंमें मण्डलाकार

रूपमें भ्रमण करते हुए सूर्यका परिक्रमा पथ नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तृत है। इस पर्वतपर सुमेरुक
देवधानी, दक्षिणमें यमकी संयमनी, पश्चिममें वरुणकी निम्लोचनी और उत्तर दिशामें चन्द्रमाकी विभावरी नामकी पुरी है। इन सभी पुरियोंमें काल-विशेषानुसार सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त और अर्द्ध रात्रि होते हैं। उदयादिसे ही जीवोंकी कार्योंमें प्रवृत्ति और उनसे ही निवृत्ति होती है॥७॥

तत्रत्यानां दिवसमध्यगत एव सदादित्यस्तपति सव्येन चलन् दक्षिणेन करोति। यत्रोदेति तस्य समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति ते तत्र गतं न पश्यन्ति येऽस्तमनुपश्येरन्॥८॥

जो लोग सुमेरुपर रहते हैं, उनक
कालमें ही ताप प्रदान करते हैं। यद्यपि वे अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी ओर जाते हुए स्वाभाविक गतिक
रखकर चलते हैं, तथापि दक्षिणावर्त्त-प्रवर्त्तक-प्रवाह नामक वायु द्वारा घुमाये जाते हुए ज्योतिष्चक्रक
दाईं ओर रखकर जाते हुए प्रतीत होते हैं। वे जिस स्थानपर लोगोंक
दिशामें रहनेवाले लोगोंक
जब वे आकाशक
पसीना-पसीना कर देनेवाला ताप प्रदान कर रहे होते हैं—ठीक उसी समय उस स्थानकी विपरीत दिशाक
होती है। अतएव जहाँ रहकर लोग सूर्यको अस्ताचलगामी होते देख रहे हैं, वे ही लोग विपरीत दिशा (चन्द्रमाक
सौम्य दिशा)में जायें, तो उन्हें सूर्यास्त दिखायी नहीं देगा॥८॥

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशभिर्घटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्द्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति। एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीञ्च पुनः॥९॥

सूर्य जब इन्द्रपुरीसे यमपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं, तब पंद्रह घड़ी (छह घंटों) में वे सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख पच्चीस हजारसे अधिक (२,३७,७५,०००) योजन पार करक
पहुँचते हैं। वहाँसे वे वरुणकी पुरी वारुणीसे चन्द्रदेवकी पुरीमें और चान्द्रीसे (विभावरीसे) पुनः इन्द्रकी पुरीकी ओर लौटते हैं॥९॥

तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वाभिनिम्लोचन्ति॥ १०॥

इसी प्रकार चन्द्रादि अन्यान्य ग्रहादि भी नक्षत्रोंक
ज्योतिष्चक्रमें उदित होते हैं और नक्षत्रोंक
जोते हैं॥१०॥

एवं मुहूर्त्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौररथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्त्तते पुरीषु॥ ११॥

इस प्रकार सूर्यदेवका त्रयीमय अर्थात् वेदमय रथ एक मुहूर्त्तमें चौंतीस लाख आठ सौ (३४,००,८००) योजन की गतिसे चलता हुआ इन चारों पुरियोंमें भ्रमण करता है॥११॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति। तस्याक्षो मेरोर्मूर्द्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति॥ १२॥

इस सौररथमें एक चक्र है जिसे संवत्सर कहा जाता है। बारह महीने इसक
छह नेमियाँ अर्थात् अग्रभाग हैं, तीन चातुर्मास इसक
विभाजित नाभि अर्थात् मध्यभाग हैं। इसक
एक सिरा सुमेरु पर्वतकी चोटीपर तथा दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर टिका हुआ है। रथचक्र इस अक्षमें संलग्न होकर कोल्हूक
समान दिन-रात घूमता रहता है॥१२॥

तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमाणेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः॥ १३॥

इस चक्रकी और एक धुरी है, जिसका पूर्व भाग सुमेरु मानसोत्तरकी लम्बाई एक करोड़ सत्तावन लाख पचास हजारक (१,५७,५०,०००) विस्तारवाली धुरीसे जुड़ा हुआ है और इस दूसरी धुरीका विस्तार प्रथम अक्षसे चौथाई अर्थात् उन्तालीस लाख साढ़े सैंतीस हजार (३९,३७,५००) योजन है। तैलयन्त्रक (धुरेक
संलग्न है॥१३॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान् रविरथयुगः यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम्॥ १४॥

हे महाराज! सौर रथमें बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लम्बा और इसका एक चौथाई भाग अर्थात् नौ लाख योजन चौड़ा है। रथक
है। इसमें अरुणदेवने गायत्री आदि (गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् तथा पंक्ति) सातों छन्दोंक
सात अश्व जोत रखे हैं, ये अश्व ही आदित्यदेवको वहन करते हैं॥१४॥

पुरस्तात् सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते॥ १५॥

अरुणदेव सूर्य-रथक
नियुक्त होकर सूर्यदेवक
पीछे मुड़कर उन्हें देखते रहते हैं॥१५॥

तथा बालिखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति॥ १६॥

अँगूठेक
लिए स्तुति करनेक
स्तुति करते हैं॥१६॥

तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नाना नामानं पृथङ्नामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते॥ १७॥

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और देवता आदि जो एक-एक करक

किन्तु जोड़ेमें रहनेक

मासमें अलग-अलग नाम धारण करक

प्रत्येक मासमें विभिन्न नामधारी सूर्य तथा सर्वान्तर्यामी भगवान्की उपासना करते हैं॥१७॥

लक्षोत्तरसार्द्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते॥ १८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रे श्रीसूर्यरथवर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः।

हे महाराज! इस प्रकार सूर्य देव नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तारवाले भूमण्डलकी एक क्षणमें दो हजार दो योजनकी गतिसे परिक्रमा करते हैं॥१८॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन

श्रीराजोवाच—

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवञ्च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितञ्चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति॥ १ ॥

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—हे प्रभो! आपने यह बतलाया है—भगवान् आदित्य जिस समय ध्रुवलोक और सुमेरु पर्वतको दायें रखकर चलते हैं, ठीक उसी समय वे राशियोंकी ओर अभिमुख होते हुए उन्हें अपने बायें रखकर आगे बढ़ते हैं—एक ही वस्तुकी एक ही साथ दोनों दिशाओंमें गति सम्भव नहीं है। अतः हम यह किस प्रकार मान सकते हैं?॥१॥

स होवाच—

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वात्। एवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुञ्च प्रदक्षिणतः परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्॥ २ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! क
चाकपर बैठी हुईं चींटियाँ चाकक
प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तवमें उनकी गति चाककी गतिसे भिन्न होती है। कभी वे चाकक
कभी दूसरे भागमें, इसी प्रकार नक्षत्र एवं राशियाँ भी सुमेरु एवं ध्रुवलोकको अपने दायीं ओर रखकर कालचक्रक

हैं। इसी कारण इन ग्रहोंकी गति कालचक्रक
देती है, परन्तु कालचक्रक
ग्रहोंकी गति उनकी गतिसे भिन्न है। कालभेदक
एवं अन्य ग्रह विभिन्न राशियों एवं नक्षत्रोंमें भिन्न गतिक
स्वीकृत हुए हैं॥२॥

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति॥ ३ ॥

जगत्क
द्वारा वेद–स्तुतिसे उपासना किये जानेपर वे सूर्यरूपमें अवस्थित होकर लोकहितार्थ कर्मशुद्धिक
त्रयीरूप काल विग्रहको बारह भागोंमें विभाजित करक
छह ऋतुओंमें प्राणियोंक
विधान करते हैं॥३॥

तमेनमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति॥ ४॥

इस प्रकार इस लोकमें वर्णाश्रम धर्मका अनुसरण करनेवाले लोग वेदोक्त अग्निहोत्रादि नानाविध छोटे–बड़े कर्मोंसे सूर्यरूपमें अवस्थित आदिपुरुष भगवान् नारायणकी इन्द्रादि देवताओंक
तथा अष्टाङ्ग योगादि द्वारा अन्तर्यामी परमात्मरूपमें श्रद्धापूर्वक उपासना करक

अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञकान् संवत्सरावयवान् मासः पक्षद्वयं सपादर्क्षद्वयं दिवा नक्तञ्चेद्युपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत, स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः॥ ५॥

समस्त लोकोंक
कारण आदित्यदेव स्वर्गलोक एवं मर्त्यलोकक
(नक्षत्रोंक
होकर द्वादश राशियोंक
हैं। ये बारह महीने संवत्सरक
अनुसार प्रत्येक मास दो पक्षका, पितृमानसे एक रात और एक दिनका तथा सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका होता है। सूर्यदेव जितने
कालमें संवत्सरक
उस कालको ऋतु कहा जाता है। यह ऋतु भी संवत्सरका ही एक अवयव है॥५॥

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्या प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते॥ ६॥

इस प्रकार सूर्यदेव जितने समयमें आकाश-मण्डलक
भागका मार्ग तय करते हैं अर्थात् छह महीनोंका भोग करते हैं, उतना समय अयन कहलाता है॥६॥

अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कात्स्न्र्येन स ह भुञ्जीत, तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिदावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति॥ ७॥

सूर्यदेव अपनी मन्द, शीघ्र एवं समान गतिसे जितने समय तक स्वर्गमण्डल, भूमण्डल और नभमण्डलका सर्वतोभावसे भोग करते हैं अर्थात् उनका एक चक्कर लगाते हैं, उतने समयको पण्डितगण संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर—इन पाँच नामोंसे जानते हैं॥७॥

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं स्वपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते॥ ८॥

सूर्य मण्डलसे एक लाख योजन (भूतलसे दो लाख योजन) ऊपरकी दूरीपर चन्द्र-ग्रह दिखायी देता है। चन्द्रदेव गतिमय

सूर्यसे भी अधिक उग्र आचरणवाले हैं। वे अपनी द्रुत गतिसे एक मासमें सूर्यक
मासका और एक-एक दिनमें सूर्यक
लेते हैं॥८॥

अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणामपक्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्त्तैर्भुङ्क्ते॥९॥

शुक्ल-पक्षमें बढ़ती कलाओं द्वारा चन्द्र शुक्ल पक्षमें देवताओंक लिए दिन और पितरोंक
कलाओं द्वारा देवताओंक
उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार तीस मुहूर्तोंमें वे एक-एक नक्षत्रोंको पार करते हैं। अमृतमय और अन्नमय होनेक
जीवोंक
जाता है॥९॥

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात् सर्वमय इति वर्णयन्ति॥१०॥

सोलह कलाओंसे युक्त भगवद्-विभूतिरूप चन्द्रमा मनक
रूपमें मनोमय, ओषधि-पति रूपमें अन्नमय और समस्त प्राणियोंक जीवन स्वरूप होनेक
भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष-लतादि सभीक
हैं, अतएव पण्डित उन्हें 'सर्वमय' कहते हैं॥१०॥

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः॥११॥

श्रीभगवान्की इच्छासे चन्द्रमण्डलक
पाँच लाख योजन) ऊपर कालचक्रमें कई नक्षत्र नियुक्त हैं। ये सुमेरु पर्वतको दाईं ओर रखकर भ्रमण करते हैं (सूर्यादि ग्रहोंक

समान इनकी भिन्न-भिन्न गति नहीं है)। अभिजित् नक्षत्रक
नक्षत्रोंकी संख्या अट्ठाईस है॥११॥

तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात् सहैवार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः॥१२॥

नक्षत्रमण्डलसे दो लाख योजन (भूतलसे सात लाख योजन) ऊपर शुक्रग्रह वर्त्तमान है। सूर्यकी शीघ्र, मन्द एवं समान गतियोंक
अनुसार शूक्र ग्रह कभी सूर्यक
उनक
नाश कर देता है। इसक
मानना है कि यह ग्रह प्राणियोंक

उशनसा बुधो व्याख्यातः। तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनतो बुधः उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृत्। यदार्काद्व्यतिरिच्यते तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते॥१३॥

बुध ग्रहकी व्याख्या शुक्रग्रहक
शुक्रक
साथ चलते हैं। शुक्र ग्रहक
भूतलसे नौ लाख योजन ऊपर) ये चन्द्र-तनय बुध वर्त्तमान हैं। ये भी प्रायः सभी लोगोंक
गतिका उल्लङ्घन करते हैं—तब प्रबल आँधी, जलरहित बादल, अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि आदि अनेक प्रकारक
होते हैं॥१३॥

अत ऊर्द्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन् द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्त्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः॥१४॥

बुध-मण्डलसे दो लाख योजन (अर्थात् भूतलसे ग्यारह लाख योजन) ऊपर मंगल ग्रह स्थित है। यदि यह वक्रगतिसे न चले,

तो यह तीन पक्षोंमें एक-एक करक
है। यह अशुभ ग्रह है और प्रायः दुःखकारी है॥१४॥

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं प्रचरति यदि न वक्रः स्यात् प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य॥ १५॥

मङ्गलमण्डलक
ऊपर) बृहस्पति ग्रह है। यदि ये वक्रगतिसे न चलें तो एक-एक परिवत्सरमें एक-एक राशिको भोगते हैं। ये प्रायः ब्राह्मणोंक
शुभकारी होते हैं॥१५॥

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात् प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन् राशौ त्रिंशतं त्रिंशतं मासान् विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः॥ १६॥

बृहस्पतिमण्डलसे दो लाख योजन (भूतलसे पन्द्रह लाख योजन) ऊपर शनैश्चर ग्रह दिखायी देते हैं। ये एक-एक राशिमें तीस-तीस महीने रहते हैं। सम्पूर्ण राशियोंको पार करनेमें इन्हें तीस अनुवत्सर लग जाते हैं। शनि ग्रह प्रायः सभीक

तत उत्तरस्माद‍ृषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत् परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रामन्ति॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रवर्णने द्वाविंशोऽध्यायः।

शनिमण्डलसे ग्यारह लाख योजनकी दूरी अर्थात् भूतलसे छब्बीस लाख योजन दूर सप्तर्षिमण्डल अवस्थित है। कश्यपादि सातों ऋषि जीवोंक
प्रदक्षिणा करते हैं॥१७॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

शिशुमार चक्र और उसक
ध्रुवलोकका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अथ तस्मात् परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते। तस्य महानुभाव उपवर्णितः॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सप्तर्षि मण्डलक
लाख योजनकी दूरीपर जो स्थान है, पण्डित उसे भगवान्
विष्णुका परम पद कहते हैं। यहाँ उत्तानपादक
ध्रुव कल्पजीव्यरूपमें अभी भी विराजमान हैं। ध्रुव कल्प तक
रहनेवाले समस्त जीवात्माओंक
कश्यप और धर्म—ये सब एक साथ मिलकर एक ही समय
बड़े सम्मानक
हैं। इस लोकमें ध्रुवकी भगवद्-आराधना और राज्य-पालनादिरूप
माहात्म्यका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ॥१ ॥

स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते॥ २ ॥

अविश्रान्त, अव्यक्त गति भगवदात्मक काल जिन ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्गणोंको भ्रमण कराता है, परमेश्वरने उन सभी आन्तरिक्षों (ग्रह-नक्षत्रों) क

ध्रुवलोक आधार-स्तम्भक
प्रकाशित हो रहा है॥२॥

यथा मेधीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्ति एवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परितः क्रामन्ति। नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्त्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति॥ ३॥

जिस प्रकार दाँव चलानेक
करनेवाले बैलोंको क्रमशः दाँवक
अर्थात् खम्भेक
मध्यम रस्सीसे नाथ दिया जाता है और वे अपने-अपने स्थानोंसे हटे बिना स्तम्भका मण्डलाकाररूपमें परिभ्रमण करते हैं, उसी प्रकार सूर्यादि ग्रह ऊपर और नीचेक
इस कालचक्रमें ईश्वरक
लिये हुए हैं, जो वायु द्वारा घुमाये जाते हुए कल्पक
अपनी-अपनी कक्षाओंमें उसक
आकाशमें मेघ एवं बाजादि पक्षी पूर्वकृत कर्मोंका आश्रय लेकर जिस प्रकार वायुक
हैं, कभी भी गिरते नहीं है, उसी प्रकार ये ग्रह भी पुरुषाधिष्ठित मायाक
करते हैं, पृथ्वीपर कभी गिरते नहीं। ये कल्पान्ततक ऐसे ही घूमते रहेंगे॥३॥

केचिदेतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति॥ ४॥

क
अर्थात् जलजन्तु विशेष (सूँस मछली) क

है। कोई–कोई वासुदेव श्रीकृष्णकी उपासनामें चित्त लगानेक
इसे उनका दृश्य–स्वरूप मानकर इसका ध्यान करते हैं॥४॥

यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपक्लृप्तस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयस्तस्य दक्षिणावर्त्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राणि उपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति। पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः॥५॥

इस शिशुमारका शरीर क
ओर है। इसकी पूँछक
भागक
धाता एवं विधाता स्थित हैं। इसक
हैं। क
इस अवस्थामें इसक
चौदह नक्षत्र हैं एवं बायें भागमें पुष्यसे लेकर उत्तराषाढ़ा तक भी
चौदह नक्षत्र स्थित हैं। जब शिशुमार क
है, तब इसक
इसकी पीठपर अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नामक
तीन नक्षत्रोंका समूह) है और उदरमें आकाश–गङ्गा स्थित है॥५॥

पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्द्धनिष्ठा मूलञ्च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वेषु प्रातिलोम्येन युञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत्॥६॥

प्रिय परीक्षित्! पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र यथाक्रमसे इस शिशुमारक
दायें ओर बायें कटि–प्रदेशमें स्थित हैं। इसक

चरणमें आर्द्रा और आश्लेषा, दायें एवं बायें नथुनोंमें अभिजित् एवं उत्तराषाढ़ा, दायें और बायें नेत्रोंमें श्रवणा और पूर्वाषाढ़ा, दायें एवं बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघासे लेकर अनुराधा तक दक्षिणायनक
प्रतिलोम (विपरीत) क्रमसे उत्तरायणक
आठ नक्षत्र दायें भागकी पसलियोंमें अवस्थित हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा इसक

उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखे चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशनास्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः॥ ७॥

शिशुमारकी ऊपरी थूथनीपर अगस्त्य, नीचेकी ठोढ़ीपर यम, मुखमें मङ्गल, उपस्थमें शनि, कक
हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीक
प्राण एवं अपानमें बुध, गलदेशमें राहु, समस्त अङ्गोंमें क
रोमोंमें तारे अवस्थित हैं॥७॥

एतदुहैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति॥ ८॥

हे महाराज! इस प्रकार शिशुमारकी आकृतिका वर्णन हुआ, यही भगवान् विष्णुका सर्वदेवमय स्वरूप है। प्रतिदिन सन्ध्याक
संयत एवं मौन होकर इस रूपका ध्यान करना चाहिये और इस मन्त्रका जप करते हुए उपासना करनी चाहिये—हे ज्योतिर्गणोंक आश्रय! हे कालचक्र रूप! सर्वदेवाधिपति परम पुरुष हम आपको नमस्कार करते हैं और आपक

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम्।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं नश्येत तत्कालजमाशु पापम्॥ ९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे शिशुमारसंस्थानं नाम त्रयोविंशोऽधायः।

इस प्रकार जो पूर्वोक्त मन्त्रसे समस्त ग्रह एवं नक्षत्रादिक आश्रयीभूत शिशुमार विग्रह भगवान्‌का प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—तीनों कालों में जप करते हैं, उनक

तीनों सन्ध्याओंमें उनको नमस्कार करते हैं अथवा उनका स्मरण करते हैं, उनक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

राहू आदिकी स्थिति, नीचेक
आदि लोकोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अधस्तात् सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वञ्चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद् वक्ष्यामः॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! क
कहना है कि सूर्यसे दस हजार योजन नीचे राहु ग्रह नक्षत्रक समान विचरण करता है। यह सिंहिका—पुत्र असुराधम ग्रहत्व एवं देवत्व प्राप्त करनेक
भगवान्‌की कृपासे इन दोनोंकी प्राप्ति हुई। वत्स! इसक
समस्त कर्मोंका मैं बादमें वर्णन करूँगा॥१॥

यदधस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसाहस्रं सोमस्य। त्रयोदशसाहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद् वैरानुबन्धः सूर्यचन्द्रमसावभिधावति॥ २ ॥

सूर्यदेवका तापप्रदानकारी मण्डल दस हजार योजन है और चन्द्रलोक बारह हजार योजन फैला हुआ है। राहूमण्डलका विस्तार तेरह हजार योजन है। पुराकालमें अमृतपानक
वेशमें सूर्य और चन्द्रक
सूर्य और चन्द्रमाने उसका भेद खोल दिया था। अतः उनक साथ उसकी शत्रुता हो गयी; इसी कारण यह आज भी प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको उनपर आक्रमण करता है और उन्हें लोगोंकी आँखोंक

तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्त्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्त्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्त्तते तदुपरागमिति वदति लोकः॥ ३॥

चन्द्र एवं सूर्यक
दोनोंकी रक्षाक
चक्रायुध नियुक्त कर रखा है। इस चक्रका तेज अतीव दुःसह है; यह निरन्तर घूमता रहता है। राहू इसक
(४८ मिनट) ठहरकर ही उद्विग्न और चकित होने लगता है तथा काँपते हृदयसे दूरसे ही लौट आता है। सूर्य एवं चन्द्रमाक
बीचमें राहूक

ततोऽधस्तात् सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव॥ ४॥

राहूग्रहसे दस हजार योजन नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधरोंका वासस्थान है॥४॥

ततोऽधस्तात् यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते॥ ५॥

इसक
अन्तरीक्ष है। जितनी दूर तक वायु प्रवाहित होती है और मेघ विचरण करते देखे जाते हैं, उतनी दूर तक अन्तरिक्षका विस्तार है॥५॥

ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तरं इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येन-सुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति॥ ६॥

इससे नीचे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथ्वी वर्त्तमान है। जितनी दूर तक हंस, भास (गिद्ध), बाज एवं सुपर्णादि प्रधान-प्रधान पक्षी उड़ सकते हैं, उतनी ही दूर तक पृथ्वीकी सीमा बतलायी जाती है॥६॥

उपवर्णितं भूमेर्यथासन्निवेशावस्थानम्। अवनेरप्यधस्तात् सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ताः। अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति॥ ७॥

महाराज! भूमिक
स्थिति है, वह मैं पहले ही बतला चुका हूँ। पृथ्वीक
दस-दस हजार योजनकी दूरीपर अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये सात भू-विवर (भूगर्भ—स्थित बिल या लोक) हैं। भूमण्डलका लम्बाई, चौड़ाईमें जितना परिमाण है, उतना ही इनका परिमाण माना गया है॥७॥

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्त-कलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति॥ ८ ॥

इन सात विवरोंको बिल-स्वर्ग कहा जाता है; इनमें जो भवन, उद्यान, क्रीड़ा-स्थान और विहार-भूमि आदि हैं, वे सब स्वर्गक भवनादिकी अपेक्षा अधिक काम, भोग, ऐश्वर्य, आनन्द, प्रभाव और सम्पत्ति द्वारा सुसमृद्ध हैं। इन सब स्थानोंपर दैत्य, दानव और नाग गृहस्थ (गृहस्वामियोंक
पत्नी-बन्धु एवं अनुचर सर्वदा इनक
डूबे रहते हैं। इन्द्रादि सामर्थ्यवान् देवताओंक
आ सकती है, किन्तु इनक
अथवा विघ्न नहीं आ सकते। यहाँक
आमोद-प्रमोदमें सदा मत्त रहते हैं॥८॥

येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो नाना-मणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादि-भिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकशारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलङ्कृताश्चकासति॥ ९ ॥

हे महाराज! इन सभी बिल-स्वर्गोंमें परम मायावी मय दानव द्वारा बनायी हुई बहुत-सी दानव-पुरियाँ सुशोभित हो रही हैं। इनमें उत्तम-उत्तम मणियोंसे बने हुए भवन, प्राकार, गोपुर, सभागृह,

देवालय, चत्वर (मन्दिराङ्गण) एवं उत्तम-उत्तम मणियोंसे निर्मित प्रजावासियोंक
सुन्दर और भव्य सदन नाग, असुर, कबूतर-कबूतरी एवं तोता-मैना आदिसे भरे हुए हैं; इनसे समलङ्कृत होकर ये कृत्रिम भू-भाग अति मनोहर शोभा धारण करते हैं॥९॥

उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभग-किसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घन क्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पल लोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमर-लोकश्रियमतिशयितानि॥ १०॥

वहाँ जितने भी उद्यान हैं, वे सब स्वर्गलोककी शोभाको तिरस्कार करनेवाले हैं। इनमें विराजित नानाविध वृक्ष, लताओं द्वारा आलिङ्गित होनेसे बड़े आकर्षक लगते हैं। इनकी शाखाएँ, फल, पुष्पोंक
और कोमल नवीन पल्लवोंक
मनोहर शोभा धारण करती हैं कि इनको देखते ही मन एवं प्राण आनन्दसे प्रफ
ये स्वच्छ एवं मीठे जलसे परिपूर्ण रहते हैं। इनमें मछलियाँ आदि जलचर जब उछलते-क
आलोड़ित और तरङ्गायित होने लगता है। इसमें खिले हुए पुष्पोंकी भरमार (सज्जा) देखकर प्रतीत होता है, मानो क
कह्लार तथा नील और लाल कमलोंका एक परम सुन्दर वन है, जिसमें चक्रवाकादि पक्षियोंक
अनवरत रूपसे विहार करनेक
और विविध प्रकारकी मीठी बोलियोंसे सारे वनको मुखरित कर देते हैं। इस कलरवको सुनकर इतना अधिक आह्लाद होता है कि मन और इन्द्रियोंमें उत्सव-सा छा जाता है, ऐसा लगता है कि इनकी शोभाने अमरलोकक

यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते॥ ११॥

इन सभी भू-विवरोंमें सूर्यका आलोक नहीं रहता, इसलिए दिन और रात रूप कालका विभाग नहीं होता है। कालसे सम्बन्धित किसी प्रकारक

यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वंतस्तमः प्रबाधन्ते॥ १२॥

यहाँ बड़े-बड़े सर्प वास करते हैं, जिनक
स्थित मणियोंकी प्रभासे चारों दिशाओंका अन्धकार दूर हो जाता है॥१२॥

न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनाशनपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदः क्लमो ग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति॥ १३॥

बिल-स्वर्गोंक
हैं, वे दिव्य रसायनोंका भोजन करते हैं और दिव्य रसोंसे स्नानादि करते हैं। इसी कारण उन्हें कोई शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा नहीं होती। बाल पक जाना, झुर्रियाँ पड़ जाना, बुढ़ापा आ जाना, देहका कान्तिहीन हो जाना, शरीरमें दुर्गन्ध आना, पसीना बहना, थक जाना, अनुत्साहित हो जाना और वयसक
अवस्थाका होना—ये सब किसीमें देखे नहीं जाते, इनकी तो वहाँ सम्भावना ही नहीं रहती है॥१३॥

न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात्॥ १४॥

वहाँक
नामक चक्रक
सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥१४॥

यस्मिन् प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च॥ १५॥

भगवत्-तेजरूप सुदर्शन चक्रक
लेनेपर असुर रमणियाँ भयभीत हो जाती हैं और उनका गर्भपात हो जाता है॥१५॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति। येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्माया याः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै बिलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति। यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्य-युतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कथ्यते मदान्ध इव॥ १६॥

महाराज! अब अतलादि भू-विवरोंका वर्णन क्रमशः श्रवण कीजिये। अतलमें मय दानवका पुत्र 'बल' नामक असुर वास करता है। बलने वहाँ छियानवे प्रकारकी माया रच रखी है। कोई-कोई मायावी आज भी उनमें-से क
हैं। मय दानवने जब जँभाई ली, तो उसक
(सवर्ण रेता), कामिनी (असवर्ण रेता) और पुंश्चली (चञ्चला) इन तीन प्रकारकी नारियोंकी उत्पत्ति हुई। स्वैरिणी अपने ही वर्णक
रमण करती है। पुंश्चली तो बार-बार अपना पति बदलती है। यदि कोई पुरुष अतलमें प्रवेश कर जाय, तो ये रमणियाँ उसे हाटक-रसका पान कराक
करा देती हैं। अपने असाधारण विलास यथा—मोहक चितवन, अनुरागयुक्त हास्य, एकान्त भाषण और आलिङ्गनादि द्वारा उन पुरुषोंक
नामक
जाता है और वे मदान्धक
इस प्रकार अपनी प्रशंसा करने लगता है॥१६॥

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान् हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूयास्ते। यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण। यत्तच्चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति। तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति॥ १७॥

अतलसे नीचे वितलमें भगवान् हाटक
भूतगणोंक
लिए ये भवानीक
तेजसे वितल लोकमें हाटकी नामकी नदी प्रवाहित हो रही है। जब
वायुक
करक
है। असुर-राजाओंक
बने आभूषणोंको धारण करते हैं॥१७॥

ततोऽधस्तात् सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि॥ १८॥

वितलक
महायशस्वी पुण्यश्लोक बलि महाराज आज भी वास करते हैं।
भगवान् विष्णु राजा इन्द्रका प्रिय साधनेक
वामन रूपमें अवतीर्ण हुए और बलिसे त्रिपाद भूमिकी याचनाक
छलसे तीनों लोक छीन लिये, अन्तमें उनपर कृपा करक
वितलक
सम्पत्तिसे समृद्धिमान हैं, वैसी इन्द्रादिक
स्वधर्माचरण द्वारा अपने आराध्य भगवान्की आज भी निर्भीक
चित्तसे उपासना करते हैं॥१८॥

नो एवैतत् साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परमया श्रद्धया परमादरेण समाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम्॥ १९॥

हे राजन्! बलि महाराजने भगवान् वामनदेवको जो त्रिपादभूमि दान की थी, उस भूमिदानका साक्षात् फल सुतलका ऐश्वर्य भोग है—ऐसा नहीं है अर्थात् दानक

हुआ है। जो अनन्त जीवोंक

परमात्मा हैं, जो समस्त जीवोंक

स्वयं भगवान् वासुदेवको महाराज बलिने दानक

पात्ररूपमें प्राप्त करक

चित्तसे भूमि-दान किया था। वे श्रद्धा आदि साक्षात् अपवर्ग अर्थात् भगवत्-प्राप्तिक

अनित्य हैं, अतः वे इसका साक्षात् फल नहीं हो सकते॥१९॥

यस्य ह वाव क्षुत्पतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति। यस्य हैव प्रतिबाधनन्तु मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते॥ २०॥

(त्रिलोकीक

यदि कोई भक्तिक

फलसे वह नामाभास रूपी सुकृतिसे अनायास ही कर्म-बन्धनोंको ध्वंस कर लेता है)। हे परीक्षित्! मनुष्य भूख लगने, गिरने और फिसलनेक

बार भी उनक

अनायास ही मुक्त हो जाता है, जब कि मुक्तिकी कामना करनेवाले कर्म-मूल-स्वरूप संसारका छेदन करनेक

सांख्यादि विविध कष्टोंको सहते हैं, परन्तु सफल नहीं होते॥२०॥

तद्भगवतामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतमे च॥ २१॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा भगवान् श्रीहरि अपने नारदादि भक्तोंक
प्रदान करते हैं और सनकादि जैसे ब्रह्म-ज्ञानियोंको वे अपनी परमात्म-स्वरूप-अनुभूति रूप ब्रह्मानन्दादिका दान करते हैं। अतः भगवान्‌को भूमिदानक
आधिपत्यकी प्राप्ति हुई—ऐसा नहीं है, भगवान् तो प्रेमक
हैं उनक
है। भक्तोंक
कारण है कि बलि महाराजक
विराजमान हैं॥२१॥

न वै भगवान् नूनममुष्यानुजग्राह। यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयं भोगैश्वर्यमेवातनुतेति॥ २२॥

महाराज बलिपर अनुग्रह करनेक
प्रदान किये थे—ऐसा कदापि नहीं है, क्योंकि भोगैश्वर्य मायामय है—यह भगवान्‌की विस्मृति करा देता है, उन्हें स्मृति-पथपर आने ही नहीं देता॥२२॥

यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषित-लोकत्रयो वरुणपाशैः सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्याञ्चापविद्ध इति होवाच॥ २३॥

(महाराज, अब मैं बलि राजाकी ऐकान्तिक भक्ति एवं भगवदनुग्रह-प्राप्तिक
कीजिये) जब श्रीभगवान्‌ने सर्वस्व-हरणका और कोई उपाय न देखा, तो उन्होंने याचनाक
बलिसे त्रिलोकीका आधिपत्य छीन लिया एवं इससे भी जब सन्तोष न मिला तो उन्हें वरुणपाशमें दृढ़तापूर्वक बाँधकर पर्वतकी गुफामें फ
इस प्रकार कहा— ॥२३॥

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेण आत्मानमयाचत आत्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यम्। अति गम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम्॥ २४॥

अहो! कितने दुःखकी बात है। देवराज इन्द्रने अपने अनन्य सहाय एवं मन्त्रणाक
वरण किया, किन्तु यह इन्द्र विद्वान् होनेपर भी परमार्थ-विषयमें नितान्त अनभिज्ञ रहा और इसको परामर्श देनेवाले बृहस्पति भी वैसे ही निकले क्योंकि इन्होंने इन्द्रको यथार्थ तत्त्वपरक उपदेश नहीं दिया। भगवान् वामनदेव इन्द्रक
दास्यकी प्रार्थना न करक
उद्देश्यसे त्रिलोकीका आधिपत्य माँगनेक
त्रिलोकाधिपत्य तो अति तुच्छ है जो कि कालक
है। दुरन्तवीर्य कालक
हैं। मन्वन्तर समाप्त होते ही इन्द्रिय-भोग्य जड़-पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं॥२४॥

यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वं पित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि॥ २५॥

एकमात्र मेरे पितामह प्रह्लाद ही पुरुषार्थको यथार्थ जाननेवाले थे। जब उनक
प्रह्लाद महाराजको उनक
वे उन्हें अपना अभय मोक्षपद भी देना चाहते थे किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विचार किया कि ये धन-सम्पत्ति, मोक्ष आदि श्रीभगवान्का साक्षात् अनुग्रह नहीं है, बल्कि ये तो भगवद्-भावको विनष्ट करते हैं। अतः उन्होंने भगवान्से क
उनका दास्य ही माँगा॥२५॥

तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीनभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति॥ २६ ॥

मेरे तो राग-द्वेषादि भाव अभी क्षीण भी नहीं हुए हैं, इसीलिए मैं भगवान्क
व्यक्ति महानुभाव प्रह्लादक
भी सक

तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते। यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरु-र्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयः। येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः॥ २७॥

हे राजन्! महाराज बलिकी महिमाका क्या वर्णन करूँ? अखिल-जगत्-गुरु भगवान् नारायण अपने भक्तोंक
हृदयसे हाथमें गदा लिये राजा बलिक
रावण जब दिग्विजयक
था, तब द्वारपालरूपी भगवान्ने अपने पैरक
हजार योजन दूर फ
विस्तारपूर्वक बाद (आठवे स्कन्ध) में बतलाऊँगा॥२७॥

ततोऽधस्तात् तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता त्रिपुरारिणा त्रिलोक्याः शं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते॥ २८॥

सुतलक
पर वास करता है। मय मायावियोंका गुरु है। महादेवजीने तीनों लोकोंक
दिया था, किन्तु बादमें प्रसन्न होकर पुनः उसे वहाँका अधिकार दे दिया था। उसी समयसे दानवराज मय त्रिपुरारि महादेवजी द्वारा सभी प्रकारसे सुरक्षित और अपने अनुचरोंक
यहाँ रहता है। वह सोचता है कि उसे भगवान्क
नहीं लगता॥२८॥

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्त्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित् प्रमत्ता विहरन्ति॥ २९॥

तलातलक
ये बहुतसे फणोंको धारण करनेवाले और क्रोधित स्वभावक
इन सर्पोंमें क
सर्प दीर्घकाय अवश्य हैं परन्तु भगवद्वाहन पक्षीराज गरुडक
निरन्तर उद्विग्न एवं चिन्तित होकर अपने-अपने स्त्री, पुत्र, बन्धु और क
वास करते हैं॥२९॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालकेया हिरण्यपुरवासिनः इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा प्रतिहतबलावलेपा बिलेशया इव वसन्ति। ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति॥ ३०॥

महातलक
और दानव रहते हैं। निवातकवच, कालक
तीन प्रकारक
लेकर लुक-छिपकर रहते हैं। ये जन्मसे ही महाबलशाली और महासाहसी होते हैं। जिन भगवान् श्रीहरिक
देदीप्यमान हो रहे हैं, उन्हींक
चूर्ण-चूर्ण रहता है। इन्द्रदूती सरमाने जिस मन्त्रात्मक वाक्य 'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्' (हे पणिगण! तुम लोग इन्द्रक
मृत्युको प्राप्तकर पृथ्वीपर सो जाओगे) का उच्चारण किया था, उसक

ततोऽधस्तात् पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिक–महाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति। येषामुह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे विवरतलोपवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।

रसातलक
धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शङ्खचूड़, कम्बल, अश्वतर, और देवदत्त आदि बड़े–बड़े फणधारी और अति क्रोधी स्वभावक
वास करते हैं। इनमें वासुकि प्रमुख हैं। इन सर्पोंमें किसीक
किसीक
फणोंमें उत्कृष्ट मणियाँ संलग्न हैं, जो सदा जगमगाती रहती हैं। इन मणियोंकी चमकसे पाताल–विवरका समस्त अन्धकार दूर हो जाता है॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चविंशोऽध्यायः

श्रीसङ्कर्षणदेवका वर्णन और उनकी स्तुति

श्रीशुक उवाच—

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्याता अनन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणं इत्याचक्षते॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! पाताल लोकक
तलदेशसे तीस हजार योजनकी दूरीपर भगवान्‌की एक नित्य तामसी कला विराजमान है, जिसका नाम 'अनन्त' है। (यह मूर्त्ति वस्तुतः विशुद्ध सत्त्वमय है, जो तमोगुणक
रहकर संहार आदि कार्य करती है; इसलिए इसे तमोमयी कहा जाता है। तमोगुणी देवता भगवान् शिवक
'अनन्त' भगवान् कभी-कभी तामसी कहे जाते हैं।) यह अनन्त नामक कला जीवोंक
इस प्रकार अभिमान-स्वरूप अहङ्कारक
भोग्यको अथवा द्रष्टा एवं दृश्वको परस्पर आकर्षित करती है। इसलिए सात्वत (वैष्णव) गण इसे सङ्कर्षण कहते हैं॥१॥

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्त्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते॥ २॥

सम्पूर्ण क्षितिमण्डल इन सहस्रशीर्षा अनन्त मूर्त्ति भगवान् सङ्कर्षणक
लक्षित होता है॥२॥

यस्य ह वा इदं कालेनोपसञ्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण सङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत्॥ ३॥

प्रलयकाल आनेपर अनन्तदेव जब इस विश्वका संहार करनेकी इच्छा करते हैं, तब क्रोधवश इनकी क
सङ्कर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं। इनक
हैं। उन सभीक
नोकोंवाले शूल लिये रहते हैं॥३॥

यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वादर्शेष्वहिपतयः सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि परिस्फुरत्-कुण्डलप्रभामण्डलीमण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति॥ ४॥

भगवान् सङ्कर्षणक
स्वच्छ, अरुणवर्णीय एवं दर्पणक
श्रेष्ठ भक्तोंक
हैं तब उन्हें इस नख-मणि-मण्डलमें अत्युज्ज्वल क
कान्तिसे मण्डित एवं कपोलोंकी कान्तिसे युक्त अपने-अपने सुदर्शन मुखारविन्दकी शोभाका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, जिससे उनका चित्त अतिशय आनन्दसे भर जाता है। अपनी मनोहरताको देखकर वे हर्षमें डूब जाते हैं॥४॥

यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसित-विशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेना-वलिम्पमानास्तदभिमर्षणोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्त-दनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति॥ ५॥

अनेक नागराज-क
जब सङ्कर्षणदेवक
सुनिर्मल, शुभ्रवर्ण, सुन्दर, मनोरम, विशाल, रुचिर एवं शुभ्र रजतक
अगुरू, चन्दन एवं क
उनक

हृदयमें कन्दर्पका आवेश हो उठता है; इसलिए वे ललित, मधुर, मनोहर मुस्कानक
नेत्रोंसे देखने लगती हैं, जो अनुराग एवं मदनसे मुदित सदा मद-विघूर्णित ईषत् सुशोभित हैं॥५॥

स एष भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते॥६॥

ये सङ्कर्षणदेव असीम-अनन्त-कल्याणक
भगवान्से अभिन्न हैं। वे असहिष्णुता एवं क्रोधक
संवरणकर प्राणियोंक
(भगवान् सङ्कर्षण अनन्त गुणोंक
नित्य विराजमान हैं॥६॥

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदित-विकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षद-विबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवनवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकर-व्रातमधुगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्महेन्द्रवारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति॥७॥

सुर, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण भगवान् अनन्तका निरन्तर ध्यान करते हैं। उनक
उत्फ
द्वारा वे अपने पार्षद एवं देवयूथपतियोंको सर्वदा सन्तुष्ट करते हैं। उनक
है। दोनों हाथ सुभग और सुन्दर हैं। पीठपर हल विराजमान है। उनकी लीला अति उदार है। देवराज इन्द्रका ऐरावत जिस प्रकार गलेमें काञ्चन शृङ्खला अर्थात् स्वर्ण निर्मित हार धारण करता है, ये भी इसी प्रकार गलेमें नवीन वैजयन्ती माला धारण करते हैं, इस मालामें ग्रथित तुलसी दलोंकी कान्ति कभी म्लान नहीं होती। इस वैजयन्ती-मालाक

भ्रमर मधुर गुञ्जार करते हैं, जिससे इसकी शोभा-श्री और भी अपूर्व हो जाती है॥७॥

य एष एवमनुश्रुतोऽभिध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासना-ग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति। तस्यानुभावान् भगवान् स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास॥ ८॥

इस प्रकार गुरुमुखसे श्रीअनन्तदेवकी महिमा सुनकर जो मुमुक्षु व्यक्ति उनका ध्यान करते हैं, श्रीभगवान् सङ्कर्षण उनक
रज एवं तमोगुणसे भरे हृदयक
अनादिकालसे सञ्चित कर्मवासना जनित अज्ञानमयी हृदय-ग्रन्थि-रूपी संसारका शीघ्र ही नाश कर देते हैं। एक बार ब्रह्माजीक
नारदने अपने पिता ब्रह्माजीकी सभामें तुम्बरु नामक गन्धर्वक
इनकी महिमाका इस प्रकार गान किया था॥८॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन्।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात् कथमु ह वेद तस्य वर्त्म॥ ९॥

इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयक
सत्त्वादि तीनों गुण जिन सङ्कर्षणक
अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, जिनका स्वरूप अनन्त (ध्रुव) एवं अनादि (अकृत) है, जो सत्स्वरूप एक (अक
होकर भी अपनेमें अर्थात् अपने शरीरक
ब्रह्माण्डोंको धारण करते हैं, मनुष्य किस प्रकार उनक
जान सकते हैं?॥९॥

मूर्त्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः॥ १०॥

जिनसे कार्य-कारणात्मक यह विश्व प्रकाशित हो रहा है, उन सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान्ने हमारे प्रति बहुत कृपा कर अपनी शुद्ध सत्त्वमयी मूर्त्तियोंको (अवतारोंको) प्रकट किया है। वे उदार-वीर्य अर्थात् प्रभूत प्रभावशाली हैं। भक्तोंक
समान मनोंको आकर्षित करनेक
वे अति सुन्दर सिंह-शावकक
आदि पवित्र लीलाएँ करते हैं॥१०॥

यन्नाम श्रुतमनुकीर्त्तयेदकस्मा-
दार्त्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा।
हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः॥११॥

जिनक
ही जप करने लगता है अथवा कोई आर्त्त या पतित व्यक्ति परिहास छलसे एक बार उच्चारण कर लेता है, तो ऐसे व्यक्ति
न क
मनुष्योंक
व्यक्ति भगवान् शेषक
करेंगे?॥११॥

मूर्द्धन्यर्पितमणुवत् सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम्।
आनन्त्यादविमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यपिगणयेत् सहस्रजिह्वः॥१२॥

अनन्त होनेक
सकता। जिनक
सागर और जन्तुओंक
प्रतीत होता है, उन अनन्तदेवक
जिह्वाएँ प्राप्त करक

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति॥ १३॥

इस प्रकार भगवान् अनन्तदेवका अद्भुत प्रभाव विद्यमान है। वस्तुतः उनक
शौर्य एवं गौरवका विस्तार बहुत अधिक है। वे स्वयं ही स्वयंक आधार हैं अर्थात् वे सभी प्रकारसे स्वतन्त्र हैं। रसातलक
(पातालमें) अवस्थित रहकर लोक-रक्षणक
वे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं॥१३॥

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान् कामयमानैः॥ १४॥

हे राजन्! मैंने गुरुमुखसे जो सुना था, वह सब तुम्हें सुना दिया। कर्मी जनोंक
विभिन्न गतियाँ रची गयी हैं। सकाम व्यक्ति इन सब गतियोंको (लोक-लोकान्तरोंको) प्राप्त करते हुए इस संसारमें भ्रमण करते रहते हैं॥१४॥

एतावतीर्हि राजन् पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत् कथयामीति॥ १५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीसङ्कर्षणमाहात्म्यं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः।

हे महाराज! इस लोकमें प्रवृत्तिमय धर्ममें रत रहनेक
ये सब उच्च एवं निम्नादि भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। तुमने जिस प्रकार प्रश्न पूछे थे, उनक
किया। अब और क्या कहूँ, बतलाओ॥१५॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

षड्विंशोऽध्यायः

नारकीय गतियोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महर्षे! सब लोकोंमें यह भिन्न-भिन्न भोग-वैचित्र्य अर्थात् ऊँची-नीची गतियाँ क्यों होती हैं, कृपाकर यह बतलाइये॥१॥

श्रीऋषिरुवाच—

त्रिगुणत्वात् कर्त्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति॥ २॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कर्म करनेवाले कर्त्ता तीन प्रकारक
तीन प्रकारकी श्रद्धाक
है अर्थात् सात्त्विक श्रद्धाक
श्रद्धाक
श्रद्धाक
तारतम्यसे सुखादिका तारतम्य होता है। भिन्न-भिन्न श्रद्धाक
भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। कालभेदसे सभी जीवोंको सभी प्रकारकी गतियाँ प्राप्त होती हैं॥२॥

अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्त्तुः श्रद्धाया वैसादृश्यात् कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया कृतकामानां तत्परिणाम-लक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः॥ ३॥

अतः क
कारण फलोंमें (स्वर्गिक गतियोंमें) विभिन्नता होती है, ऐसा नहीं

है। जो निषिद्ध कर्मोंको करते हैं, उनका भी श्रद्धाक
कर्म फल (नारकीय लोक) भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। प्रमादवश अर्थात् भूलसे अधर्म करनेवालेको कम कष्ट, करणीय एवं अकरणीयक
और नास्तिकतावश अधर्म करनेवालेको बहुत अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। अनादि कालसे ही अज्ञानवश अनेकानेक कामनाओंक परिणामस्वरूप जीवोंको हजार-हजारों नारकीय गतियाँ प्राप्त होती हैं। मैं इनका विस्तारसे वर्णन करूँगा॥३॥

श्रीराजोवाच—

नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या अहोस्विदन्तराल इति॥४॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! ये नरक क्या पृथ्वीक
स्थान विशेषमें हैं अथवा त्रिलोकीसे बाहर अथवा अन्दर किसी स्थानपर हैं?॥४॥

श्रीऋषिरुवाच—

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलात् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति॥५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—नरक त्रिलोकीक
ये ब्रह्माण्डक
स्थित है। यहाँ अग्निष्वात्ता आदि पितरगण परम समाधि योगसे भगवान्का ध्यान करते हैं और अपने-अपने गोत्रधर व्यक्तियोंक लिए मङ्गलकी कामना करते हुए वास करते हैं॥५॥

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषुपरेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति॥६॥

इस नरक लोकमें सूर्यपुत्र शक्तिशाली यम अपने पार्षदोंक
रहते हैं और भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए मृत्युक
बाद वहाँ दूतोंक
कर्मानुसार दोषादोषका विचार करक

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति। अथ तांस्ते राजन् नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामः। तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं शूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तशूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः॥७॥

कोई-कोई इस स्थानपर नरकोंकी संख्या इक्कीस बतलाते हैं। हे महाराज! मैं नाम, रूप और लक्षणोंका निर्देश करते हुए इन सभी नरकोंक
अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, क
शूकरमुख, अन्धक
वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि एवं अयःपान। इनक
दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात और भी नरक हैं। क
यन्त्रणाओंक

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते। अनशनानुदपान-दण्डताडनसन्तर्ज्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये॥८॥

हे राजन्! जो व्यक्ति इस पृथ्वीपर दूसरोंक
अपहरण करता है, यमराजक
पूर्वोक्त नरकोंमें-से तामिस्र नरकमें बलपूर्वक डाल देते हैं। यह तामिस्र

नरक घोर अन्धकारसे आच्छन्न है। यहाँपर लाये गये प्राणियोंको अन्न–जल नहीं मिलता। दण्ड, ताड़ना और भय दिखलाना आदि अनेक प्रकारकी यातनाओंसे उन्हें पीड़ित किया जाता है। इस प्रकारक

एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते। यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा हि वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति॥ ९॥

जो दूसरेको ठग करक
अन्धतामिस्र नरकमें जाना पड़ता है। किसी वृक्षको गिराये जानेसे पहले लोग जिस प्रकार उसकी जड़को काटते हैं, उसी प्रकार नरकमें डालनेसे पहले यमदूत उस पापीको अनेक प्रकारकी यातनाएँ प्रदान करते हैं, जिनकी वेदनासे उस जीवकी बुद्धि एवं दृष्टिशक्ति विनष्ट हो जाती है। इसी कारण इस नरकको पण्डितोंने अन्धतामिस्र कहा है॥९॥

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति॥ १०॥

इस संसारमें जो व्यक्ति देह एवं धनक
प्रकारकी बुद्धि करक
अपनी देहसे सम्पक
उसे अपनी देह एवं क
पापक

ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातना उपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहुः। रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः॥ ११॥

इस लोकमें जो व्यक्ति जिन प्राणियोंको प्रपीड़ित करता है, मृत्युक

यम-यातनाको प्राप्त होता है, उस समय वे हिंसित प्राणी 'रुरु' बनकर उसे काटते हैं। इसीलिए सुधीजन इस नरकको 'रौरव' कहते हैं। रुरु एक प्रकारका प्राणी है, जो सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाला है॥११॥

एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः॥१२॥

इसी प्रकार महारौरव नरक है। हिंसामें लगे हुए लोगोंको इस नरककी प्राप्ति होती है। दूसरेक
करनेवाले इन नारकीय प्राणियोंक
नामक रुरु उन्हें नानाविध पीड़ाएँ प्रदान करता है॥१२॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति॥१३॥

इस संसारमें जो निष्ठुर व्यक्ति अपने-अपने प्राणोंकी पुष्टिक पशु अथवा पक्षियोंकी हत्याकर उनका रन्धन करते हैं, मृत्युक बाद परलोकमें यमदूतगण नरमांस-भोजी राक्षसोंसे भी अधिक घृणित इन निष्ठुर व्यक्तियोंको 'क
खौलते हुए तेलमें राँधते हैं॥१३॥

यस्त्विह ब्रह्मध्रुक् स कालसूत्रसंज्ञके नरकेऽयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्ते खले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामभितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्याञ्च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि॥१४॥

इस लोकमें जो ब्रह्मघाती है, वह कालसूत्र नामक नरकमें जाता है। इस नरककी परिधि दस हजार योजन है। यह ताँबेसे बना हुआ समतल स्थान है। नीचेसे अग्नि और ऊपरसे सूर्यक
तापसे यह मैदान अत्यन्त तपा हुआ रहता है। ब्रह्महत्यारा जब इस स्थानपर पहुँचता है, तब उसका शरीर भूख-प्याससे अन्दरसे

एवं बाहरसे दग्ध होता रहता है। इस कारण वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है और कभी छटपटाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगता है। पशु देहमें जितनी संख्यामें रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इस यातनाको सहता रहता है॥१४॥

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाषण्डश्चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतो धारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाषण्डानुगमनफलं भुङ्क्ते॥१५॥

इस संसारमें जो व्यक्ति आपात् काल उपस्थित न होनेपर भी वेदमार्गसे भ्रष्ट होकर पाखण्ड धर्म अर्थात् वेद-विरुद्ध मार्गका अवलम्बन करता है, यमदूत उसे 'असिपत्रवन' नामक नरकमें डालकर कोड़ोंसे मारते हैं। कोड़ोंक
नरकमें इधर-उधर दौड़ता रहता है तथा दोनों ओर धारवाली तलवारक
उसक
अधीर होकर 'हाय, हाय! मर गया, मर गया' इस प्रकार कहते हुए पद-पदपर मूर्च्छित होता है। अपने धर्मका त्यागकर पाखण्ड मत अपनानेवालेको इस प्रकारका दण्ड प्राप्त होता है॥१५॥

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वादण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान् नरकेऽमुत्र शूकरमुखे निपतति। तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुदण्ड आर्त्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः॥१६॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष दण्डदानक
व्यक्तियोंको दण्ड प्रदान करते हैं अथवा अदण्डनीय ब्राह्मणको शारीरिक दण्ड देते हैं, वे पापी परलोकमें जाकर शूकरमुख नामक नरकमें गिरते हैं। वहाँ अति बलशाली यमदूतगण कोल्हूमें पेरे गये गन्नेक

स्वरसे रोते चिल्लाते हैं। इस संसारमें निर्दोष व्यक्ति जिस प्रकार अकारण सताये जानेपर मूर्च्छित होता है, उसी प्रकार वे पापी जीवात्मा वहाँ हाय, हाय करते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं॥१६॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति। तत्र हासौ तैस्तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृप-मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमा-णस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः॥ १७॥

भगवान्ने खटमलादि जीवोंक
निर्धारित की है, उन्हें विवेक नहीं दिया है, इसी कारणसे दूसरोंक
कष्टका अनुभव नहीं कर सकते; किन्तु उन्होंने मनुष्योंक
ब्राह्मणादि स्वभावक
वृत्तियाँ निर्दिष्ट की हैं और उन्हें विवेक भी दिया है। वे अपनी अनुभूतियोंसे दूसरोंकी वेदना जान सकते हैं। अतः विवेकी होकर भी जो मनुष्य इन विवेकहीन जीवोंको पीड़ित करते हैं, वे इस हिंसाजनित पापक
हैं। उन पापियोंने पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, मच्छर, जूँ, खटमल एवं मक्खी आदि जिन जीवोंकी पहले हिंसा की थी, वे ही सब उन्हें यहाँ चारों ओरसे काटते हैं। इससे उनका निद्रासुख एक बारमें ही समाप्त हो जाता है। यन्त्रणासे अस्थिर हो जानेक
विश्राम-स्थान भी नहीं मिलता। जीव जिस प्रकार तिर्यगादि घृणि
ात योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कष्ट पाता है, उसी प्रकार वह अन्धकारमें घूमता हुआ पीड़ित होता रहता है॥१७॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत् किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति। तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत् तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयति॥ १८॥

जो व्यक्ति किसी भक्ष्य द्रव्यक
उसका यथायथ भाग न देकर स्वयं ही खा लेता है और जो पञ्चविध यज्ञका अनुष्ठान नहीं करता, उसे कौएक
गया है। ऐसा व्यक्ति परलोकमें 'कृमिभोजन' नामक अति निकृष्ट नरकमें जाता है। इस नरकमें एक लाख योजन विशाल एक कृमिक
जहाँ वह कीड़ोंको खाता है और दूसरे कीड़े उसे नोचते-खाते रहते हैं। इस प्रकार जो लोग दूसरोंको भाग न देकर सारी वस्तु स्वयं ही भोग कर लेते हैं अथवा बिना यज्ञ किये द्रव्योंको ग्रहण करते हैं—जबतक उसक
समय तक अर्थात् प्रायश्चित्त पूरा न होनेतक उसका नानाविध यन्त्रणाओंको भोगना अवश्यम्भावी है॥१८॥

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्यापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति॥ १९॥

हे राजन्! इस लोकमें जो व्यक्ति प्राण सङ्कट उपस्थित न होनेपर भी ब्राह्मण अथवा दूसरे व्यक्तिक
रत्नादि धनको चुरा लेता है अथवा बलपूर्वक छीन लेता है, परलोकमें यमदूत सन्दंश नामक नरकमें डालकर लौहमय अग्निक पिण्डों एवं सण्डासियों द्वारा उसकी खालक
डालते हैं॥१९॥

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियं पुरुषोऽगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया शूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियञ्च पुरुषरूपया शूर्म्या॥ २०॥

और इस लोकमें जो व्यक्ति अगम्या स्त्रीसे और जो स्त्री अगम्य पुरुषसे अभिगमन करती है, मृत्युक
अथवा स्त्रीको तप्तशूर्मि नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे मारते

हैं और पुरुषको तप्त लौहमयी स्त्रीमूर्त्तिसे और स्त्रीको उसी प्रकार तप्त लौहमयी पुरुषमूर्त्तिसे आलिङ्गन कराते हैं॥२०॥

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्त्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति॥ २१ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें पशु आदिक

मरनेक

डाल देते हैं। इस नरकमें एक शाल्मली (सेमर)का वृक्ष है,

जिसक

वृक्षक

शरीर छिल जाता है॥२१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वाऽपाषण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांस-वसावाहिन्यामुपतप्यन्ते॥ २२ ॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष सत्क

भी धर्मकी निर्दिष्ट मर्यादाओंका उल्लङ्घन करते हैं, वे व्यक्ति इस कारणसे परलोकमें वैतरणी नामक नदीमें गिरते हैं। यह नदी नरककी खाई स्वरूप है। इसमें जितने भी हिंस्र जलजन्तु हैं, वे उस पापिष्ठको खाते रहते हैं, तथापि उसक

विष्ठा, मूत्र, पीव, शोणित, क

चर्बीको वहन करनेवाली इस नदीमें पड़े हुए वे भीषण यन्त्रणाको भोगते हैं और अपने पापमय कर्मोंका स्मरण करते हुए सन्तप्त होते रहते हैं॥२२॥

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति, ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्म-लालापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति॥ २३ ॥

जो इस संसारमें शूद्राओं (वेश्याओं)क
आचार एवं नियमसे भ्रष्ट हो जाते हैं एवं लज्जारहित होकर
पशुक
नरकमें पीव, विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा और लारसे भरे हुए समुद्रमें
फ
पड़ता है॥२३॥

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान् निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति॥ २४॥

इस लोकमें जो ब्राह्मणादि उच्च वर्गक
पालते हैं, इसक
बाहर जाकर शास्त्रोंक
मृत्युक
डालकर बाणोंसे बींध डालते हैं॥२४॥

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिन् लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति॥ २५॥

जो दाम्भिक व्यक्ति इस लोकमें मात्र पाखण्डपूर्ण मिथ्या अभिमान प्रकाशित करनेक
यज्ञोंमें पशु-वध करते हैं, परलोकमें उन्हें 'वैशस' नामक नरकमें डाला जाता है। वहाँ यमदूत उन्हें अपार यातना देकर उनका वध कर देते हैं॥२५॥

यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति॥ २६॥

इस लोकमें जो द्विज कामान्ध होकर अपनी सवर्णा भार्याको वशीभूत करनेक
है, परलोकमें यमक
डाल देते हैं और उसे वहाँ स्थित वीर्य-नदीक
कराते हैं॥२६॥

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेतान् यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति॥ २७॥

इस लोकमें जो अपनी जीविकाक
वृत्ति बना लेते हैं, जो दूसरोंक
प्राण-नाशक
राजा अथवा राजकर्मचारी ग्रामवासियों अथवा व्यवसायियोंकी हत्या करते हैं, ऐसे लोग मृत्युक
प्राप्त होते हैं, जहाँ सात सौ बीस यमक
आदेशपर अपनी वज्रक
करते हैं॥२७॥

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित् स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते। यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत् तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति॥ २८॥

जो व्यक्ति इस लोकमें साक्षी देते समय, क्रय-विक्रयमें अथवा दानक
उसे सौ योजन ऊँचे पर्वतक
नामक नरकमें डाल देते हैं। इस नरकका कोई आधार स्थान नहीं है। यहाँकी पथरीली भूमि जलक
इस जलमें वीचि अर्थात् तरङ्ग नहीं है—इसीलिए इसे 'अवीचि' कहा जाता है। इसमें गिरनेसे पापियोंक
टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु मृत्यु नहीं होती। यमक
पुनः उन्हें ऊपर ले जाते हैं और वहाँसे बार-बार नरकमें गिराकर बहुत-सी यातनाएँ देते हैं॥२८॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थो वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति॥ २९॥

इस लोकमें जो ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणी सुरापान करते हैं अथवा कोई व्रत धारण करनेवाला या कोई क्षत्रिय, वैश्य प्रमादवश सुरापान करता है, यमदूत उन्हें अयःपान नामक नरकमें ले जाते हैं और वहाँ अपने पैरोंको उनक
अग्निसे गलाये हुए कृष्णवर्ण लोहेको उनक

अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचार-वर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरये अवाक्शिरा निपातितो दुरन्तयातना ह्यश्नुते॥ ३०॥

इस संसारमें जो झूठी प्रतिष्ठाक
स्वयंको 'मैं महान् हूँ' ऐसा मानकर अहंकारवश अपनेसे जन्म, तपस्या, विद्या, आचार, वर्ण और आश्रमादि पदवीमें सभी प्रकारसे श्रेष्ठ व्यक्तियोंका सम्मान नहीं करते, वे जीवित होते हुए भी मरे हुएक
'क्षारकर्दम' नामक नरकमें डाल देते हैं। वहाँ उन्हें अति कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती है॥३०॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून् खादन्ति तांश्च ताश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव सुधितिनावदायासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः॥ ३१॥

इस संसारमें जो पुरुष नरमेध आदि यज्ञोंसे भैरव और भद्रकाली आदि देवताओंकी पूजा करक
बलिदान करक
किये गये जीव यमालयमें राक्षस होकर कसाईक
सुतीक्ष्ण खड्गसे उनका वध कर देते हैं। जिन्होंने इस लोकमें नरमेध यज्ञ करक
पशुओंका रक्त पिया था, वे सभी नररूपी हिंसित जीव 'रक्षोगण भोजन' नामक नरकमें अपने वध किये जानेवालेका उसी प्रकार लहू पीकर नाचते-गाते हुए आनन्दित होते हैं॥३१॥

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपश्रितानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून् शूलसूत्रादिषू प्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषू प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्याञ्चाभिहताः कङ्क-वटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति॥ ३२॥

इस लोकमें जो निरपराध पशु जीनेकी इच्छासे जीवनकी रक्षाक
लिए व्याक
सब निरीह प्राणियोंको जो नानाविध उपायोंसे विश्वास दिलाकर बर्छेसे (काँटेसे) बींधते हैं अथवा रस्सीसे बाँध देते हैं तथा उन्हें खिलौना बनाकर उनक
देते हैं, वे मृत्युक
ले जाये जाते हैं। वहाँ उनकी देहको शूलादिसे बेधा जाता है और वे भूख-प्याससे व्याक
और बटेर आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी आकर उन्हें नोंचते हैं। इस प्रकार यम-यातनासे व्याक
स्मरण करते हैं॥३२॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान्॥ ३३॥

इस लोकमें जो मनुष्य सर्पादि दुष्ट स्वभाववाले प्राणियोंक
क्रोधित होकर प्राणियोंको उत्पीड़ित करते हैं, वे परलोकमें 'दन्दशूक' नामक नरकमें गिरते हैं। हे राजन्! इस नरकमें पाँचमुख अथवा सात मुखोंवाले सर्प उन्हें चूहोंक

ये त्विह वा अन्धावटकुशूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति॥ ३४॥

इस लोकमें जो मनुष्य प्राणियोंको अन्धक
भण्डार गृह अथवा भूसा-गृह) एवं पर्वतोंकी गुफामें बन्द करक
पीड़ित करते हैं, वे 'अवट-निरोधन' नामक नरकमें जाते हैं।

एवं बाहरसे दग्ध होता रहता है। इस कारण वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है और कभी छटपटाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगता है। पशु देहमें जितनी संख्यामें रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इस यातनाको सहता रहता है॥१४॥

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाषण्डञ्चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतो धारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाषण्डानुगमनफलं भुङ्क्ते॥ १५॥

इस संसारमें जो व्यक्ति आपात् काल उपस्थित न होनेपर भी वेदमार्गसे भ्रष्ट होकर पाखण्ड धर्म अर्थात् वेद-विरुद्ध मार्गका अवलम्बन करता है, यमदूत उसे 'असिपत्रवन' नामक नरकमें डालकर कोड़ोंसे मारते हैं। कोड़ोंक
नरकमें इधर-उधर दौड़ता रहता है तथा दोनों ओर धारवाली तलवारक
उसक
अधीर होकर 'हाय, हाय! मर गया, मर गया' इस प्रकार कहते हुए पद-पदपर मूर्च्छित होता है। अपने धर्मका त्यागकर पाखण्ड मत अपनानेवालेको इस प्रकारका दण्ड प्राप्त होता है॥१५॥

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वादण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान् नरकेऽमुत्र शूकरमुखे निपतति। तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुदण्ड आर्त्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः॥ १६॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष दण्डदानक
व्यक्तियोंको दण्ड प्रदान करते हैं अथवा अदण्डनीय ब्राह्मणको शारीरिक दण्ड देते हैं, वे पापी परलोकमें जाकर शूकरमुख नामक नरकमें गिरते हैं। वहाँ अति बलशाली यमदूतगण कोल्हूमें पेरे गये गन्नेक

स्वरसे रोते चिल्लाते हैं। इस संसारमें निर्दोष व्यक्ति जिस प्रकार अकारण सताये जानेपर मूर्च्छित होता है, उसी प्रकार वे पापी जीवात्मा वहाँ हाय, हाय करते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं॥१६॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति। तत्र हासौ तैस्तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृप-मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमा-णस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः॥ १७॥

भगवान्ने खटमलादि जीवोंक
निर्धारित की है, उन्हें विवेक नहीं दिया है, इसी कारणसे दूसरोंक
कष्टका अनुभव नहीं कर सकते; किन्तु उन्होंने मनुष्योंक
ब्राह्मणादि स्वभावक
वृत्तियाँ निर्दिष्ट की हैं और उन्हें विवेक भी दिया है। वे अपनी अनुभूतियोंसे दूसरोंकी वेदना जान सकते हैं। अतः विवेकी होकर भी जो मनुष्य इन विवेकहीन जीवोंको पीड़ित करते हैं, वे इस हिंसाजनित पापक
हैं। उन पापियोंने पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, मच्छर, जूँ, खटमल एवं मक्खी आदि जिन जीवोंकी पहले हिंसा की थी, वे ही सब उन्हें यहाँ चारों ओरसे काटते हैं। इससे उनका निद्रासुख एक बारमें ही समाप्त हो जाता है। यन्त्रणासे अस्थिर हो जानेक
विश्राम-स्थान भी नहीं मिलता। जीव जिस प्रकार तिर्यगादि घृणि
ात योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कष्ट पाता है, उसी प्रकार वह अन्धकारमें घूमता हुआ पीड़ित होता रहता है॥१७॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत् किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति। तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत् तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयति॥ १८॥

जो व्यक्ति किसी भक्ष्य द्रव्यक
उसका यथायथ भाग न देकर स्वयं ही खा लेता है और जो पञ्चविध यज्ञका अनुष्ठान नहीं करता, उसे कौएक
गया है। ऐसा व्यक्ति परलोकमें 'कृमिभोजन' नामक अति निकृष्ट नरकमें जाता है। इस नरकमें एक लाख योजन विशाल एक कृमिक
जहाँ वह कीड़ोंको खाता है और दूसरे कीड़े उसे नोचते-खाते रहते हैं। इस प्रकार जो लोग दूसरोंको भाग न देकर सारी वस्तु स्वयं ही भोग कर लेते हैं अथवा बिना यज्ञ किये द्रव्योंको ग्रहण करते हैं—जबतक उसक
समय तक अर्थात् प्रायश्चित्त पूरा न होनेतक उसका नानाविध यन्त्रणाओंको भोगना अवश्यम्भावी है॥१८॥

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्यापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति॥ १९॥

हे राजन्! इस लोकमें जो व्यक्ति प्राण सङ्कट उपस्थित न होनेपर भी ब्राह्मण अथवा दूसरे व्यक्तिक
रत्नादि धनको चुरा लेता है अथवा बलपूर्वक छीन लेता है, परलोकमें यमदूत सन्दंश नामक नरकमें डालकर लौहमय अग्निक पिण्डों एवं सण्डासियों द्वारा उसकी खालक
डालते हैं॥१९॥

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियं पुरुषोऽगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया शूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियञ्च पुरुषरूपया शूर्म्या॥ २०॥

और इस लोकमें जो व्यक्ति अगम्या स्त्रीसे और जो स्त्री अगम्य पुरुषसे अभिगमन करती है, मृत्युक
अथवा स्त्रीको तप्तशूर्मि नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे मारते

हैं और पुरुषको तप्त लौहमयी स्त्रीमूर्त्तिसे और स्त्रीको उसी प्रकार तप्त लौहमयी पुरुषमूर्त्तिसे आलिङ्गन कराते हैं॥२०॥

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्त्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति॥ २१॥

जो मनुष्य इस लोकमें पशु आदिक
मरनेक
डाल देते हैं। इस नरकमें एक शाल्मली (सेमर)का वृक्ष है,
जिसक
वृक्षक
शरीर छिल जाता है॥२१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वाऽपाषण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांस-वसावाहिन्यामुपतप्यन्ते॥ २२॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष सत्क
भी धर्मकी निर्दिष्ट मर्यादाओंका उल्लङ्घन करते हैं, वे व्यक्ति इस कारणसे परलोकमें वैतरणी नामक नदीमें गिरते हैं। यह नदी नरककी खाई स्वरूप है। इसमें जितने भी हिंस्र जलजन्तु हैं, वे उस पापिष्ठको खाते रहते हैं, तथापि उसक
विष्ठा, मूत्र, पीव, शोणित, क
चर्बीको वहन करनेवाली इस नदीमें पड़े हुए वे भीषण यन्त्रणाको भोगते हैं और अपने पापमय कर्मोंका स्मरण करते हुए सन्तप्त होते रहते हैं॥२२॥

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति, ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्म-लालापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति॥ २३॥

जो इस संसारमें शूद्राओं (वेश्याओं)क
आचार एवं नियमसे भ्रष्ट हो जाते हैं एवं लज्जारहित होकर पशुक
नरकमें पीव, विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा और लारसे भरे हुए समुद्रमें फ
पड़ता है॥ २३॥

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान् निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति॥ २४॥

इस लोकमें जो ब्राह्मणादि उच्च वर्गक
पालते हैं, इसक
बाहर जाकर शास्त्रोंक
मृत्युक
डालकर बाणोंसे बींध डालते हैं॥ २४॥

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिन् लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति॥ २५॥

जो दाम्भिक व्यक्ति इस लोकमें मात्र पाखण्डपूर्ण मिथ्या अभिमान प्रकाशित करनेक
यज्ञोंमें पशु-वध करते हैं, परलोकमें उन्हें 'वैशस' नामक नरकमें डाला जाता है। वहाँ यमदूत उन्हें अपार यातना देकर उनका वध कर देते हैं॥ २५॥

यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति॥ २६॥

इस लोकमें जो द्विज कामान्ध होकर अपनी सवर्णा भार्याको वशीभूत करनेक
है, परलोकमें यमक
डाल देते हैं और उसे वहाँ स्थित वीर्य-नदीक
कराते हैं॥ २६॥

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेतान् यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति॥ २७॥

इस लोकमें जो अपनी जीविकाक
वृत्ति बना लेते हैं, जो दूसरोंक
प्राण-नाशक
राजा अथवा राजकर्मचारी ग्रामवासियों अथवा व्यवसायियोंकी हत्या करते हैं, ऐसे लोग मृत्युक
प्राप्त होते हैं, जहाँ सात सौ बीस यमक
आदेशपर अपनी वज्रक
करते हैं॥२७॥

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित् स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते। यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत् तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति॥ २८॥

जो व्यक्ति इस लोकमें साक्षी देते समय, क्रय-विक्रयमें अथवा दानक
उसे सौ योजन ऊँचे पर्वतक
नामक नरकमें डाल देते हैं। इस नरकका कोई आधार स्थान नहीं है। यहाँकी पथरीली भूमि जलक
इस जलमें वीचि अर्थात् तरङ्ग नहीं है—इसीलिए इसे 'अवीचि' कहा जाता है। इसमें गिरनेसे पापियोंक
टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु मृत्यु नहीं होती। यमक
पुनः उन्हें ऊपर ले जाते हैं और वहाँसे बार-बार नरकमें गिराकर बहुत-सी यातनाएँ देते हैं॥२८॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थो वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति॥ २९॥

इस लोकमें जो ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणी सुरापान करते हैं अथवा कोई व्रत धारण करनेवाला या कोई क्षत्रिय, वैश्य प्रमादवश सुरापान करता है, यमदूत उन्हें अयःपान नामक नरकमें ले जाते हैं और वहाँ अपने पैरोंको उनक
अग्निसे गलाये हुए कृष्णवर्ण लोहेको उनक

अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचार- वर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरये अवाक्शिरा निपातितो दुरन्तयातना ह्यश्नुते॥ ३०॥

इस संसारमें जो झूठी प्रतिष्ठाक
स्वयंको 'मैं महान् हूँ' ऐसा मानकर अहंकारवश अपनेसे जन्म, तपस्या, विद्या, आचार, वर्ण और आश्रमादि पदवीमें सभी प्रकारसे श्रेष्ठ व्यक्तियोंका सम्मान नहीं करते, वे जीवित होते हुए भी मरे हुएक
'क्षारकर्दम' नामक नरकमें डाल देते हैं। वहाँ उन्हें अति कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती है॥३०॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून् खादन्ति तांश्च ताश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव सुधितिनावदायासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः॥ ३१॥

इस संसारमें जो पुरुष नरमेध आदि यज्ञोंसे भैरव और भद्रकाली आदि देवताओंकी पूजा करक
बलिदान करक
किये गये जीव यमालयमें राक्षस होकर कसाईक
सुतीक्ष्ण खड्गसे उनका वध कर देते हैं। जिन्होंने इस लोकमें नरमेध यज्ञ करक
पशुओंका रक्त पिया था, वे सभी नररूपी हिंसित जीव 'रक्षोगण भोजन' नामक नरकमें अपने वध किये जानेवालेका उसी प्रकार लहू पीकर नाचते-गाते हुए आनन्दित होते हैं॥३१॥

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपश्रितानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून् शूलसूत्रादिषू प्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषू प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्याञ्चाभिहताः कङ्क-वटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति॥ ३२॥

इस लोकमें जो निरपराध पशु जीनेकी इच्छासे जीवनकी रक्षाक लिए व्याक

सब निरीह प्राणियोंको जो नानाविध उपायोंसे विश्वास दिलाकर बर्छेसे (काँटेसे) बींधते हैं अथवा रस्सीसे बाँध देते हैं तथा उन्हें खिलौना बनाकर उनक

देते हैं, वे मृत्युक

ले जाये जाते हैं। वहाँ उनकी देहको शूलादिसे बेधा जाता है और वे भूख-प्याससे व्याक

और बटेर आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी आकर उन्हें नोंचते हैं। इस प्रकार यम-यातनासे व्याक

स्मरण करते हैं॥३२॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान्॥ ३३॥

इस लोकमें जो मनुष्य सर्पादि दुष्ट स्वभाववाले प्राणियोंक

क्रोधित होकर प्राणियोंको उत्पीड़ित करते हैं, वे परलोकमें 'दन्दशूक' नामक नरकमें गिरते हैं। हे राजन्! इस नरकमें पाँचमुख अथवा सात मुखोंवाले सर्प उन्हें चूहोंक

ये त्विह वा अन्धावटकुशूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति॥ ३४॥

इस लोकमें जो मनुष्य प्राणियोंको अन्धक

भण्डार गृह अथवा भूसा-गृह) एवं पर्वतोंकी गुफामें बन्द करक पीड़ित करते हैं, वे 'अवट-निरोधन' नामक नरकमें जाते हैं।

यहाँ अन्ध-क
घुटने लगती है। इसी प्रकारकी अनेक यातनाएँ उन्हें झेलनी पड़ती है॥३४॥

यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान् वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्रकङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति॥ ३५॥

इस लोकमें जो गृहस्थ अतिथि-अभ्यागतको देखकर बार-बार क्रोध करने लगता है और उसे पापमयी क
है, मानो उसे दग्धकर डालेगा, ऐसे व्यक्तिको 'पर्यावर्त्तन' नामक नरकमें जाना पड़ता है। वहाँ वज्रक
कौए और बटेरादि पक्षी उस पाप-दृष्टि व्यक्तिकी दोनों आँखोंको बलपूर्वक निकाल लेते हैं॥३५॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिशङ्की अर्थ-व्ययविनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति। यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति॥ ३६॥

इस लोकमें जो धनक
अहङ्कारसे अपनी दृष्टि टेढ़ी बनाये रखता है, कोई मेरे धनका अपहरण न कर ले—इस आशङ्कासे गुरुजनोंक
संदिग्ध रहता है, धन-क्षयकी चिन्तासे जिनका हृदय और मुख शुष्क रहते हैं, ऐसे व्यक्तिको किसी प्रकारकी शान्ति नहीं मिलती। पिशाचक
चित्तको लगाकर वह जो पाप कर्म करता है, उस कारण उसे परलोकमें 'सूचीमुख' नामक नरकमें जाना पड़ता है। वहाँ यमदूत उस धन-पिशाच पापीक
देते हैं॥३६॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्त्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति। तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निर्विशन्ति॥ ३७॥

महाराज परीक्षित्! यमालयमें इस प्रकारक
नरक हैं। जिन अधार्मिकोंक
है और जिनक
बारी-बारीसे जाना पड़ता है। और जो धार्मिक हैं, वे स्वर्गादि पुण्य लोकोंमें जाते हैं, किन्तु पाप-पुण्य समाप्त होनेपर वे पापी एवं पुण्यात्मा दोनों ही पुनः जन्म लेनेक
आते हैं॥३७॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः। एतावानेवाण्डकोषो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उद्गीयते। यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति श‍ृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद॥ ३८॥

इन धर्म और अधर्मसे अतिरिक्त निवृत्ति पथक
तुम्हें पहले ही (द्वितीय स्कन्धमें) बतला चुका हूँ। पुराणोंमें ऐसा वर्णन है कि यह ब्रह्माण्डकोष चौदह भागोंमें विभक्त है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् नारायणका अपनी मायाक
विराट् रूप है। भगवान्क
पठन अथवा श्रवण करता है और दूसरोंको भी कराता है, उसकी बुद्धि श्रद्धा एवं भक्तियोगक
उपनिषदोंमें भगवान्क
है, तो भी उसका अनुभव किया जा सकता है॥३८॥

श्रुत्वा यथा स्थूल-सूक्ष्म-रूपं भगवतो यतिः।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति॥ ३९॥

निवृत्तिपंथी यति भगवान्क
ठीकसे सुनकर पहले भगवान्क
हुए मनको वशीभूत करें, बादमें बुद्धिसे धीरे-धीरे सूक्ष्म स्वरूपमें
अर्थात् भक्तियोगका आश्रय लें एवं भक्तोंक
चित्त लगाएँ॥३९॥

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभः समुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे नरकवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः।

हे राजन्! मैंने तुम्हें पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशाएँ, नरक और नक्षत्रमण्डल आदि लोकोंकी संस्थितिक
भगवान्का परम अद्भुत स्थूल शरीर है॥४०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमः स्कन्धः समाप्तः।

षष्ठः स्कन्धः

षष्ठ स्कन्धकी कथाका सार

श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर कथा, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन है। इनमें पूर्व-पूर्व स्कन्धोंमें 'सर्ग', 'विसर्ग' एवं 'स्थान' वर्णित हुए थे, इस स्कन्धमें पोषणका वर्णन है।

महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा, 'किस साधनसे जीवका नरककी यातनासे परित्राण हो सकता है?' तब श्रीशुकदेव गोस्वामीने बतलाया, इस कालमें काय, मन एवं वाक्यके द्वारा पापाचरण करके जीव यदि इसी जन्ममें उसका यथोचित प्रायश्चित्त नहीं करता है तो मृत्युके पश्चात् उन समस्त पापकर्मोंके फलस्वरूप वह नरक प्राप्त करता है और असीम यन्त्रणाका भोग करता है। कर्म तथा ज्ञान मार्गमें विविध प्रायश्चितोंके द्वारा पाप विनष्ट हो सकते हों, तो भी पापका मूल अविद्या नष्ट नहीं होती और पापमें पुनः प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्तियोगके प्रभावसे ही यह पाप-प्रवृत्ति समूल ध्वंस हो सकती है। जो एक बार भी श्रीकृष्णमें चित्त अर्पण कर सके, तो उसे यम अथवा यमदूतोंका दर्शन नहीं करना पड़ता। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका सुनी जाती है।

कान्यकुब्जवासी ब्राह्मण अजामिल वेद-निष्ठ और सदाचार-सम्पन्न था, लेकिन प्राक्तन (पूर्व-सञ्चित) कर्मफलके कारण किसी शूद्रामें (वेश्यामें) आसक्त होनेके कारण वह सदाचारसे भ्रष्ट हो गया। अजामिलका जब मृत्युकाल उपस्थित हुआ, तो यमदूतको देखकर वह भयभीत हो गया। तब उसने इसी शूद्रा पत्नीके गर्भसे उत्पन्न दस पुत्रोंमें-से कनिष्ठ पुत्रको 'नारायण' कहकर बुलाया—यह उसका साङ्केत्य नामाभास था, इसके परिणाम-स्वरूप विष्णुदूत वहाँ आये और उसे यमदूतोंके पाशसे मुक्त किया। यमदूतोंने विष्णुदूतोंसे जिज्ञासा की कि यह घोर पापी अजामिल यमदण्डके योग्य क्यों नहीं है?

तब विष्णुदूतोंने उत्तर दिया—ब्राह्मणके 'नारायण' नामाभाससे कोटि जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त हो गया है। शास्त्रविहित प्रायश्चित्तके द्वारा पापकी शान्ति होनेपर भी उससे पापीकी पाप-प्रवृत्ति दूर नहीं होती; किन्तु भगवान् श्रीहरिके नामाभाससे पापके मूलका ही उच्छेद हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इन दूतोंके परस्पर कथोपकथन-श्रवणसे अजामिल धर्म-तत्त्वको भलीभाँति जान गया और आत्मकृत पूर्वपापोंके लिए अनुताप करने लगा। वह वहाँसे 'हरिद्वार' नामक तीर्थस्थल पर चला गया और ऐकान्तिक भक्तियोगसे समाधिमें निमग्न हो गया। यथासमय पूर्व दृष्ट विष्णुदूतोंका वहाँ आगमन हुआ और वे उसे स्वर्ग-विमानमें आरोहण कराके विष्णुलोक ले गये।

यमदूतोंने यमराजके समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन किया और विशेषरूपसे यह जाननेकी प्रार्थना की कि 'कौन यमदण्ड्य है' और 'कौन यम-अदण्ड्य'। यम बतलाने लगे—'सनातन धर्म अत्यन्त निगूढ़ है, उसे भगवान् और भक्तोंके अलावा कोई नहीं जान सकता। यम इत्यादि द्वादश महाजन भगवान्की कृपासे इस तत्त्वको किञ्चित् मात्र जानते हैं। निरपराध नाम-संकीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हरिभक्त कभी भी यमदण्ड्य नहीं होते। जो भगवान्के नामादिका निष्कपट भावसे श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण अथवा उनकी वन्दना नहीं करता, वही यमदण्ड्य है। जो श्रीहरिको विस्मृत करके अत्यन्त गृहासक्त है, वह भी यमदण्ड्य है। श्रीहरिके नामादिका असम्यक् उच्चारण पाप-हरणादि इतने कार्य कर सकता है, जो बहु-कष्ट-साध्य कर्मादिसे भी नहीं हो सकते। अजामिल इसका दृष्टान्त-स्थल है।

श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित्की प्रार्थनाके अनुसार पुनः जीव-सृष्टिके विषयमें वर्णन करने लगे। उन्होंने कहना आरम्भ किया कि प्रजापति दक्षने प्रजाकी सृष्टिके निमित्त 'श्रीहंसगुह्य' स्तोत्र द्वारा श्रीहरिको सन्तुष्ट किया। भगवान् श्रीहरिने दक्षको असिक्नी नामकी कन्यासे विवाह करनेका आदेश दिया और वे अन्तर्धान हो गये। प्रजापति दक्षने अयुत संख्यक पुत्र उत्पन्न किये और उन पुत्रोंको प्रजाकी सृष्टि करनेका आदेश दिया। इसपर वे पुत्र 'नारायणसर' नामक तीर्थमें तपस्याके लिए चले गये। वहाँ देवर्षि नारदके उपदेशसे वे प्रजा-सृष्टि कार्यसे

विरक्त हो गये और पारमहंस-धर्ममें अनुरक्त हो गये। दक्ष अपने पुत्रोंको इस स्थितिमें देख शोकाकुल हो गये। उन्होंने पुनः सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें सृष्टि करनेके लिए आदेश दिया। वे भी बड़े भाइयोंके पथका अनुवर्त्तन करते हुए श्रीनारदजीके उपदेशसे श्रीविष्णुकी आराधनामें नियुक्त हो गये। इसपर दक्षने देवर्षि नारदका तिरस्कार करते हुए अभिशाप दिया कि वे (श्रीनारद) लोकमें कोई भी स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

दक्षने साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं और उन्हें चन्द्र, कश्यप, धर्म इत्यादिको प्रदान कर दिया। इन्हीं कन्याओंसे देव, दानव, मनुष्य, नाग, पशु, पक्षी इत्यादि असंख्य जीव उत्पन्न हुए, जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व भर गया।

एक बार देवराज इन्द्र सुर-सिंहासन पर विराजमान थे। इसी समय देवगुरु बृहस्पति वहाँ उपस्थित हुए। ऐश्वर्यमदोन्मत्त इन्द्रने उनके प्रति किसी प्रकारका सम्मान प्रदर्शन नहीं किया, इसपर बृहस्पति सभा त्यागकर चले गये। गुरुकी अवमाननाका फल यह हुआ कि इन्द्र युद्धमें शीघ्र ही दैत्योंसे पराजित होकर सिंहासनसे च्युत हो गये। अन्तमें त्वष्टा-तनय विश्वरूपको पुरोहितके रूपमें वरण करके और उनकी कृपासे 'नारायण-कवच' प्राप्त करके इन्द्रने पुनः सुर-सिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया।

इन्द्रने जब देखा कि पुरोहित विश्वरूप गोपनीयरूपसे असुरोंको यज्ञ-भाग प्रदान कर रहे हैं, तो उन्होंने विश्वरूपके मस्तकका छेदन कर दिया और इस ब्रह्महत्या-पापको भूमि, जल, वृक्ष एवं स्त्रियोंमें विभक्त कर दिया। विश्वरूपके पिता त्वष्टाने इन्द्र-वधकी कामनासे यज्ञ किया, किन्तु स्वरक्रमादिका व्यतिक्रम होनेके कारण फल विपरीत हुआ। उन्होंने इन्द्रके शत्रु-वर्द्धनकी कामना की थी, किन्तु इन्द्र जिसके शत्रु हैं, उस वृत्रासुरकी उत्पत्ति हो गयी। वृत्रासुरके प्रभावसे निस्तेज होकर देवगण भगवान्के शरणागत हुए। भगवान्ने उनको दधीचि मुनिके समीप भेजा और उनसे उनकी अस्थि-दानकी प्रार्थना करनेका निर्देश दिया। दधीचि मुनिकी अस्थियोंसे निर्मित वज्रसे वृत्रासुरका वध हुआ।

वृत्रासुरका वध करके इन्द्र ब्रह्म-हत्याके पापसे सुखी नहीं रह पाये और वहाँसे निर्मुक्तिका उपाय सोचते-सोचते मानसरोवर चले गये। वहाँ लक्ष्मीदेवीकी कृपासे संरक्षित रहे। सहस्र वर्षोंतक वे वहीं अवस्थित रहे। इस समय राजा नहुष इन्द्रके प्रतिनिधिके रूपमें कार्य करते रहे किन्तु शचीदेवीके प्रति भोग-बुद्धिके अपराधके कारण वे सर्पयोनिको प्राप्त हुए।

वृत्रासुर पूर्वजन्ममें शूरसेन राजा चित्रकेतुके नामसे विख्यात थे। पहले तो वे निःसन्तान थे, बादमें महर्षि अङ्गिराके वरदानसे उनकी प्रथम पत्नीसे एक पुत्रने जन्म ग्रहण किया। इससे उनकी अन्य पत्नियाँ अनादरका अनुभव करने लगीं और प्रतिहिंसाके आवेशमें बालकको विष पिलाकर मार डाला। राजा पुत्र-शोकसे अत्यन्त कातर हो पड़े। उसी समय महर्षि अङ्गिराके साथ देवर्षि नारदका वहाँ आगमन हुआ। उन्होंने मृत बालकको पुनर्जीवित करके चित्रकेतुमें ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उस बालकके मुखसे जीवतत्त्वको इस प्रकार प्रकट किया, 'जीवात्मा निजकर्मवश नाना योनियोंमें भ्रमण करती है, देहादिमें ही माता-पिताका सम्बन्ध है, देहत्याग करने पर किसीके साथ कोई सम्बन्ध रहता नहीं; अतः उसके लिए शोक करना निरर्थक है।' इस प्रकार अपने मृत पुत्रके मुखसे तत्त्वोपदेश श्रवण करके चित्रकेतु और उनकी पत्नियोंका शोक दूर हुआ। देवर्षि नारदकी कृपासे महाराज चित्रकेतुको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें सात दिनोंके अन्दर ही श्रीसङ्कर्षणदेवका दर्शन प्राप्त हुए।

एक बार मुनियोंकी सभामें महादेव पार्वतीका आलिङ्गन किये हुए बैठे थे, यह देखकर चित्रकेतु हँस पड़े। परमहंस महादेवके प्रति चित्रकेतुकी ऐसी अवज्ञा देखकर पार्वतीदेवी क्रुद्ध हो गयीं तथा उन्हें अभिशाप दे दिया कि—"चित्रकेतो! तुम्हारा जन्म असुर-कुलमें होगा।" चित्रकेतु पार्वतीके अभिशापसे किञ्चित् मात्र भी भयभीत नहीं हुए और धीर-स्थिर चित्तसे कहने लगे—"जीव प्राक्तन कर्मफलसे ही ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। कोई भी किसीके सुख-दुःखका हेतु नहीं है।" इस प्रकार चित्रकेतु ही वृत्रासुरके रूपमें आविर्भूत हुए। यह सब देखकर महाभागवत महादेव अति आनन्दित हुए

और भगवद्भक्तोंकी महिमाका वर्णन करने लगे। इस प्रसङ्गमें उन्होंने भगवद्भक्तोंमें निर्भीकता, स्वर्ग एवं नरकमें तुल्य-बोध, ईश्वराभिमानी देवताओंमें भगवत्स्वरूप उपलब्धिका अभाव, चित्रकेतुके साथ अपना अप्राकृत बन्धुत्व एवं उनके (चित्रकेतुके) परिहासका गूढ़ रहस्य इत्यादि विषय पार्वती एवं अन्यान्य सभासदोंको बतलाये। परमभक्त चित्रकेतु देवीको अभिशाप देनेमें परम समर्थ थे परन्तु उन्होंने उन्हें अभिशाप न देकर उनके द्वारा प्रदत्त शापको सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया। साधुओंके लक्षण ऐसे ही होते हैं।

सृष्टिका पुनः वर्णन हुआ है। इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजीने अदिति एवं दितिके वंशका विस्तृत वर्णन किया है। अदितिके पुत्रोंसे बहुत सन्तानें उत्पन्न हुईं। दितिके दो पुत्र थे—हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु। हिरण्यकशिपुसे प्रह्लादका आविर्भाव हुआ। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके विष्णुके हाथोंसे मारे जानेपर दिति पुत्र-हत्याके प्रतिशोधके लिए कृतसङ्कल्प हो गयी तथा इन्द्रको ही हत्याका मूल कारण जानकर इन्द्र-विनाशक पुत्र-प्राप्तिके लिए कश्यपकी सेवा करने लगी। सेवासे सन्तुष्ट होकर कश्यपने दितिको कतिपय नियमोंके साथ संवत्सर-व्रत धारण करनेका उपदेश दिया और सचेत किया—"वैगुण्य घटने पर विपरीत फल होगा।" दितिके व्रत धारण करनेपर छिद्रान्वेषी इन्द्रने दैवात् उसके व्रत-वैगुण्यको देख लिया और योगबलसे उसके गर्भमें प्रवेश कर गर्भस्थ सन्तानको उनचास खण्डोंमें विभक्त कर दिया। भगवद् इच्छासे ही वे जीवित थे। इन्द्रके शत्रु होनेके स्थान पर वे उनके मित्रके रूपमें उनचास-मरुत् नामसे प्रसिद्ध हुए।

❀ ❀ ❀

श्रीमद्भागवतम्

षष्ठः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

अजामिल उपाख्यान

विष्णुदूतों और यमदूतोंका संवाद

श्रीपरीक्षिदुवाच—

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा।
क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः॥ १॥

परीक्षित् महाराजने कहा—हे भगवन्! आपने पहले (द्वितीय स्कन्धमें) निवृत्ति-मार्गका यथावत् वर्णन किया है। उसमें यह बतलाया था कि इस निवृत्तिमार्गसे जीव क्रमशः अर्चिरादि लोकोंको प्राप्त करक
मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है॥१॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने।
योऽसावलीन प्रकृतेर्गुणसर्गः पुनःपुनः॥ २॥

हे मुनिवर! इसक
मार्गक
मायासे निवृत्ति न हो, तबतक जीवोंकी कामात्मता एवं अजितेन्द्रियता बनी रहती है, अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेक
बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होते रहते हैं, यही प्रवृत्ति-मार्गका स्वरूप है; इस मार्गसे जीवोंको स्वर्गादि सुख-भोगोंकी प्राप्ति भी होती है॥२॥

अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः।
मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः॥ ३॥

अधर्मक
उसका भी आपने भलीभाँति (पञ्चम स्कन्धमें) वर्णन किया। जिस मनवन्तरमें स्वायम्भुव मनु आविर्भूत होते हैं, उस आदि (प्रथम) मन्वन्तरक
बतलाया है॥३॥

प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च।
द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन्॥ ४॥

धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः।
ज्योतिषां विवराणाञ्च यथेदमसृजद्विभुः॥ ५॥

आपने (चौथे और पाँचवे स्कन्धमें) प्रियव्रत एवं उत्तानपादक
वंशों एवं चरित्रोंका भी वर्णन किया। सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरिने जिस प्रकार वर्ष, समुद्र, नदी, उद्यान, वनस्पति इत्यादिकी सृष्टि की है, उनक
उनक
भी वर्णन किया॥४–५॥

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः।
नानोग्रयातनान् नेयात् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ६॥

हे महाभाग! अब आप कृपापूर्वक वे सब साधन–उपाय बतलाएँ, जिनका अनुष्ठान करक
नरकोंमें जाना ही न पड़े॥६॥

श्रीशुक उवाच—

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्त्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस जन्ममें मनुष्य मन, वाणी एवं शरीरसे जो पापाचरण करता है, यदि वह इसी जन्ममें उन सभी पापोंका जो मन, वचन एवं शरीरसे यथाविधि (मनु आदि द्वारा बतलायी गयी धर्म विधिक
करता तो मृत्युक
लोकोंको प्राप्त होता है, जिनक
अन्तमें बतलाया था॥७॥

तस्मात् पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥८॥

अतएव जरावस्था एवं मृत्युसे पूर्व ही शरीरक
हुए शीघ्रातिशीघ्र पापोंक
उचित है (नहीं तो समय बीत जानेपर दुगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता है)। कुशल सुचिकित्सक जिस प्रकार रोगोंको छोटा एवं बड़ा जानकर उनक
पापोंकी गुरुता और लघुताको जानकर उनक
प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये॥८॥

श्रीराजोवाच—

दृष्टश्रुताभ्यां यत् पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम्।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम्॥९॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे मुनि! पाप करनेपर इस लोकमें राजदण्ड और लोकनिन्दादि एवं परलोकमें नरक-प्राप्ति होती है—यह देख-सुनकर लोग समझ ही सकते हैं कि पाप उनक
लिये कितना अहितकर है। यह जानकर प्रायश्चित्त करनेक
भी मनुष्य पाप-कर्म करनेक
द्वादशवर्षीय कष्टसाध्य व्रतादिको किस प्रकार प्रायश्चित्त कहा जा

सकता है। प्रायश्चित्त करनेक
होती है, फिर उसे प्रायश्चित्त कैसे कहेंगे?॥९॥

क्वचिन्निवर्त्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत् पुनः।
प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥ १०॥

कभी मनुष्य पापसे छूट भी जाता है, पर कुछ समय बाद ही पुनः पाप करने लगता है। अतः मैं समझता हूँ कि ऐसा कर्मकाण्डीय प्रायश्चित्त हाथीक
है। (हाथी स्नानोपरान्त पुनः अपने शरीरको मलिन करने लगता है)॥१०॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥ ११॥

वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! पापाचरण कर्म हैं, पुनः चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त भी कर्म हैं। अतएव कर्मोंक
द्वारा कर्मोंक
क्योंकि प्रायश्चित्तादि कर्मोंक
हैं। प्रायश्चित्त द्वारा एक बार पाप नष्ट हो भी जाय तो भी अविद्याका क्षय न होनेसे संस्कारवश पुनः-पुनः दूसरे पापोंक
उत्पन्न हो जाते हैं। (हे राजन्! यदि आप पूछें कि, 'वास्तविक प्रायश्चित्त' क्या है, तो उसका उत्तर है—अविद्याका नाश करनेवाला भगवद्-ज्ञान ही एकमात्र वास्तविक प्रायश्चित है)॥११॥

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते॥ १२॥

महाराज! जिस सुपथ्यसे रोग उत्पन्न होनेकी आशङ्का नहीं होती, उसका जो भलीभाँति सेवन करते हैं, उन्हें रोग अपने वशीभूत नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उससे क्रमशः पूर्व व्याधियोंकी भी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार जो नियम पालन करक

हैं, वे पापवासनाओंसे मुक्त होकर क्रमानुसार तत्त्वज्ञानक
हो जाते हैं और अपना कल्याण करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥१२॥

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च॥१३॥
देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः।
क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः॥१४॥

चित्तकी एकाग्रता, ब्रह्मचर्य, आंतरिक एवं बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह अन्नादिका दान, सत्य भाषण, पवित्रता, अहिंसादि यम, दम तथा जपादि नियम-पालन करनेसे धर्मरहस्यविद् श्रद्धावान् तत्त्वज्ञानी पुरुष तन, मन, वचनसे किये गये पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर डालते हैं, जिस प्रकार अग्नि बाँसोंक

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥१५॥

(अग्निसे बाँसोंक
तपस्या, ब्रह्मचर्यादिक
उसमें भी पुनः पापाङ्कुरोंक
बाँसोंका झुरमुट जड़ सहित पूरी तरह नष्ट हो, इसक
अग्नि बुझ जाती है। अतः इस प्रकारक
सुनकर परीक्षित् महाराज पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हुए। यह देखकर वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने उनक
उल्लेख करते हुए कहा—) परीक्षित्! कुछ (भक्ति-प्रधान पुरुष बड़े ही दुर्लभ हैं) वासुदेव-परायण पुरुष तपस्यादिकी अपेक्षा किये बिना क
देते हैं जिस प्रकार सूर्य कुहरेको नष्ट कर देता है। ऐकान्तिक भक्तोंक
प्रकाश प्रदान करना ही सूर्यका मुख्य कार्य है, शीतका विनाश तो उसका गौण कार्य है, उसी प्रकार भगवत्सेवा और प्रेमप्राप्ति ही भक्तिका मुख्य फल है एवं अविद्या वा पापादिका विनाश उसका

गौण फल है; जैसे सूर्य उदित होनेपर कुहरा सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार क
करनेकी प्रवृत्ति भी पूर्णतया नष्ट हो जाती है)॥१५॥

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपादिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया॥ १६॥

हे राजन्! पापी पुरुष भगवद् भक्तोंक
सेवाक
और सेवोन्मुख होकर) जिस प्रकार पवित्र हो सकते हैं, निश्चय ही वैसी पवित्रता वे तपस्यादिसे भी प्राप्त नहीं कर सकते॥१६॥

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः॥ १७॥

इस जगत्में एकमात्र भक्तिमार्ग ही मङ्गलमय, विघ्नादि भयसे रहित, शास्त्रसम्मत उत्तम पथ है। इस भक्तिमार्गपर ही नारायण-परायण, निष्काम, सुशील, साधुजन विचरण करते हैं॥१७॥

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥ १८॥

हे राजेन्द्र! जिस प्रकार समस्त नदियाँ मिलकर भी मदिरासे भरे पात्रको शुद्ध नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कर्मकाण्डीय बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंका अनुष्ठान भी नारायण-विमुख व्यक्तिको पवित्र नहीं कर सकता॥१८॥

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥ १९॥

इस संसारमें जिन्होंने क
चरणकमलोंमें अपने मनको अभिनिविष्ट किया है (यथार्थ-अनुभवकी बात तो दूर रहे) अर्थात् जिनका चित्त श्रीकृष्णक

किञ्चित्मात्र भी आसक्त हो गया है अथवा जिनक
कृष्ण-रतिका किञ्चित्मात्र आभास भी उदित हो गया है, उनक
सारे प्रायश्चित्त हो गये, उन्हें और कुछ करनेकी आवश्यकता
नहीं है। इन लोगोंको स्वप्नमें भी यम अथवा पाशधारी यमदूतोंक
दर्शन नहीं होते॥१९॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे॥ २०॥

इस विषयमें महात्मा लोग दृष्टान्तरूपमें एक इतिहास सुनाया करते हैं, जिसमें विष्णुदूतों एवं यमदूतोंका संवाद है। तुम भी यह इतिहास सुनो॥२०॥

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः॥ २१॥

कान्यकुब्ज देशमें अजामिल नामक एक ब्राह्मण रहता था।
उसने एक शूद्रासे (वेश्यासे) विवाह किया था। शूद्राक
उस ब्राह्मणका सारा सदाचार नष्ट हो गया॥२१॥

बन्द्यक्षैः कैतवैश्चोर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः।
बिभ्रत् कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः॥ २२॥

अजामिल पासोंक
बाँधकर उनका सब कुछ लूट लेता, चोरी, धोखा-धड़ी करता, ठग लेता। इस प्रकार लोकनिन्दित अपवित्र वृत्तिका आश्रय लेकर वह सभी प्राणियोंको बहुत कष्ट देकर अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करता था॥२२॥

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान्।
कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः॥ २३॥

हे राजन्! इस प्रकार दुराचार करते हुए वह अपने बच्चोंका
लालन-पालन करता रहा और इसीमें उसकी दीर्घायुक
वर्ष बीत गये॥२३॥

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषान्तु योऽवमः।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम्॥ २४॥

इस वृद्ध अजामिलक
आयुमें बहुत-ही छोटा था। उसका नाम था नारायण। छोटा होनेक
कारण नारायण अपने माता-पिताको अतिशय प्रिय था॥२४॥

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम्॥ २५॥

वृद्ध अजामिल उस बालककी तोतली-मीठी बोलीसे आकृष्ट होकर सर्वदा उसकी बालसुलभ क्रीड़ाओंको देखता रहता और उसका चित्त अतिशय आनन्दमें डूब जाता। वह अपना हृदय उसपर निछावर कर देता॥२५॥

भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकं स्नेहयन्त्रितः।
भोजयन् पाययन् मूढो न वेदागतमन्तकम्॥ २६॥

मूर्ख अजामिल उस बालकक
जब वह स्वयं भोजन करता, तब उसे भी अपने साथ भोजन कराता। जब वह पानी पीता तो उसे भी पानी पिलाता। इन सब कार्योमें व्यस्त रहनेसे उसे यह ज्ञान ही नहीं रहा कि मृत्यु उसक
सिरपर आ पहुँची है॥२६॥

स एवं वर्त्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।
मतिञ्चकार तनये बाले नारायणाह्वये॥ २७॥

बालक नारायणक
काल व्यतीत कर रहा था कि उसका मृत्युकाल उपस्थित हो गया।
तब भी वह मूर्ख अपने पुत्र नारायणक
रहा था। (नारायण नाम-ग्रहणक
भक्ति भी बढ़ रही थी।)॥२७॥

स पाशहस्तांस्त्रीन् दृष्ट्वा पुरुषानतिदारुणान्।
वक्रतुण्डानूर्द्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्॥ २८॥

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः॥ २९॥

उसी समय अजामिलने देखा कि तीन यमदूत उसकी जीवात्माको लेने आये हैं। उनकी आकृति अति भीषण है, उनक
है, रोएँ खड़े हुए हैं। उन्हें देखते ही अजामिल बड़ा व्याक
हो गया। उसका पुत्र बालक नारायण दूर खेलनेमें व्यस्त था। अजामिलने उसे उच्च स्वरसे पुकारा—'नारायण!'॥२८-२९॥

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्त्तनम्।
भर्त्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन्॥ ३०॥

हे महाराज! मरते समय अजामिलक
भगवान् विष्णुका नाम-संकीर्त्तन सुनकर और उसीको हरि-कीर्त्तन (अपराध रहित साङ्केत्यरूप नामाभास) मानकर भगवान् विष्णुक
पार्षद बड़े वेगसे वहाँ आ पहुँचे॥३०॥

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम्।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा॥ ३१॥

उस समय यमदूत दासीपति अजामिलक
(उसक
बलपूर्वक उन्हें रोक दिया॥३१॥

ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम्॥ ३२॥

उनक
भगवान् विष्णुक
आज्ञाका निषेध क्यों कर रहे हो?॥३२॥

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ।
किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः॥ ३३॥

तुम लोग किसक
पापिष्ठ अजामिलको ले जानेसे क्यों रोक रहे हो? क्या तुम

लोग कोई देवता हो, उपदेवता हो? अथवा कोई सिद्धश्रेष्ठ हो? ॥३३॥

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः॥ ३४॥
सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः।
धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥ ३५॥
दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन तेजसा।
किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान् नो निषेधथ॥ ३६॥

हम देख रहे हैं कि तुम सबक
हैं, सभीने रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा है, सभीक
किरीट, कानोंमें कुण्डल, गलोंमें कमलोंकी माला सुशोभित हो रही है। सभी नव-यौवनसे पूर्ण हैं, सभीकी आजानुलबित मनोहर चारों भुजाओंमें धनुष, तरकस, गदा, शङ्ख, चक्र एवं कमल सुशोभित हो रहे हैं। तुम सभीक
है और सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। हम धर्मराजक
हैं, तुम लोग हमें किसलिये रोक रहे हो? ॥३४-३६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्ते यमदूतैस्ते वासुदेवोक्तकारिणः।
तान् प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा॥ ३७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यमदूतोंक
कहनेपर भगवान् वासुदेवक
मेघक

श्रीविष्णुदूता ऊचुः—

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्चाधर्मस्य लक्षणम्॥ ३८॥

श्रीविष्णुक
हो, तो हमें धर्मका स्वरूप और अधर्मक

कथंस्विद्ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम्।
दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित् कतिचिन्नृणाम्॥ ३९॥

तुम्हारे दण्डकी व्यवस्था कैसी है? किस कारणवश दण्ड दिया जाता है? किसे दण्ड दिया जाता है? क्या सभी कर्मीलोग दण्डनीय हैं अथवा उनमें-से कुछ ही दण्डक

यमदूता ऊचुः—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥ ४०॥

यमदूतोंने कहा—वेदोंमें जिसे कर्त्तव्यक
है, वही धर्म है और इसक
अधर्म है। हमने सुना है कि वेद ही साक्षात-प्रमाण हैं क्योंकि वे भगवान् नारायणक

येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः।
गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम्॥ ४१॥

जो अपने धाममें रहकर सङ्कल्प मात्रसे ही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्राणियोंको उनक
अध्ययनादि क्रिया और वर्णाश्रमादि रूपोंक
प्रकाशित करते हैं, वे ही नारायण हैं॥४१॥

सूर्योऽग्निः खं मरुद्देवः सोमः सन्ध्याहनी दिशः।
कं कुः स्वयं धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः॥ ४२॥

सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवता, चन्द्र, सन्ध्या, दिन, रात दिशाएँ जल, पृथ्वी और स्वयं धर्म—ये सभी जीवोंक

एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः॥ ४३॥

इन सभीकी साक्षीसे अधर्मका पता चल जाता है, जिससे अधर्मीक

करनेवाले मनुष्य अपने किये कर्मोंक
होते है॥४३॥

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान् न ह्यकर्मकृत्॥४४॥

हे निष्पाप पुरुषो! कर्मियोंक
सम्भावना रहती है क्योंकि उनका सत्त्वादि गुणोंसे सम्बन्ध रहता है। देहधारी सभी व्यक्ति क्षणमात्रक
रह सकते। अतएव कर्मियोंसे पाप होना अवश्यम्भावी है; अतः सभी कर्मी दण्डनीय हैं॥४४॥

येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै॥४५॥

इस लोकमें जो लोग जिस परिमाणमें और जिस प्रकारसे धर्म अथवा अधर्म करते हैं परलोकमें वे लोग उसी प्रकारसे और उतने ही परिमाणमें अपने कर्मोंका भोग करते हैं॥४५॥

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते।
भूतेषु गुणवैचित्र्यात् तथान्यत्रानुमीयते॥४६॥

हे देवश्रेष्ठजनो, इस लोकमें जैसे सत्त्वादि तीन गुणोंक
वैचित्र्यक
और मध्यवर्त्ती-सुख-दुःख दोनों) तथा धार्मिक-अधार्मिक और उनक
बीचकी) त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं। उसी प्रकार परकालमें मृत्युक

वर्त्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा।
एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम्॥४७॥

जिस प्रकार वर्तमान वसन्तादि काल भूत एवं भविष्यमें आनेवाली वसन्तादि ऋतुओंक
उसी प्रकार यह वर्तमान जन्म अतीत एवं भविष्यत् जन्मक
दोनों प्रकारक

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति।
अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः॥ ४८॥

सर्वज्ञ एवं ब्रह्मतुल्य यमदेव अपनी संयमनी पुरीमें रहकर (अथवा प्राणियोंक
मनसे ही जीवोंक
अनुसार वहीं रहकर मनसे ही उनक
भी कर लेते हैं॥४८॥

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि।
न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा॥ ४९॥

निद्रामें सोया हुआ अज्ञानी व्यक्ति जिस प्रकार स्वप्नमें देखी गयी कल्पित देहको ही सर्वस्व मान लेता है—अर्थात् उसमें ही आत्मबुद्धि कर लेता है, उसी प्रकार पूर्व जन्मोंकी स्मृति नष्ट होनेसे अविद्या उपाधिसे ग्रस्त जीव पूर्व-पूर्व कर्मोंसे अभिव्यक्त वर्तमान देहादिमें मैं-मेराकी बुद्धि कर लेता है और अपने पूर्व जन्मोंक

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः।
एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते॥ ५०॥

सिद्धपुरुषो! जीव अक
कर्मेन्द्रियोंसे लेना-देना, चलना-फिरना आदि अपने अभिलषित कर्म करता है एवं श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्शादि पाँच विषयोंका उपभोग करता है। सोलहवाँ पदार्थ जो मन है, उसक
मिलकर सत्रहवाँ तत्त्व जीव स्वयं अक
एवं मन—इन सोलहक

तदेतत् षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत्।
धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्त्तिदाम्॥ ५१॥

दस इन्द्रियों, शब्द स्पर्शादि पाँच तन्मात्राओं और मन—इन सोलह कलाओंसे युक्त, सत्त्वादि तीन गुणोंका कार्यभूत, दुर्लंघ्य,

प्रबल इच्छाओंसे निर्मित यह लिङ्ग देह जीवको पुनः-पुनः हर्ष-शोक, भय एवं पीड़ा देनेवाले इस संसारमें डाल देता है॥५१॥

देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन् कर्माणि कार्यते।
कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति॥५२॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें न कर पानेवाला मूर्ख देहधारी जीव इस लिङ्ग शरीरकी प्रेरणासे कर्म करनेक
यथा—रेशमका कीड़ा जिस प्रकार अपने मुखसे तन्तु निकालकार जाल बनाता है और उसी जालमें फँस जाता है, उसे जालसे बाहर निकलनेका कोई रास्ता नहीं मिलता, उसी प्रकार जीव भी अपने कर्मजालमें आबद्ध होकर मोहको प्राप्त हो जाता है और कर्मोंसे मुक्तिका कोई उपाय खोज भी नहीं पाता है॥५२॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात्॥५३॥

कोई भी जीव कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। पूर्व संस्कार जनित राग, मोहादि बलपूर्वक उसे वशीभूतकर कर्म करनेक

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा॥५४॥

जीव द्वारा किये गये पुण्य-पापात्मक कर्म जब फलोन्मुख होते हैं, तब उन्हें अदृष्ट कहा जाता है। यह अदृष्ट ही जीवक
मूल कारण है। उसी अदृष्टको लेकर जीव प्रबल कर्मवासनारूप पिताक
एवं सूक्ष्म देह प्राप्त करता है॥५४॥

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः।
आसीत् स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते॥५५॥

प्रकृतिका संसर्ग होनेसे ही मनुष्यको इस प्रकारसे विपर्यय अर्थात् स्वरूप-भ्रमसे उत्पन्न संसार प्राप्त होता है किन्तु

भगवद्-भजनक
जाता है॥५५॥

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवाङ्मन्त्रविच्छुचिः॥५६॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूरनहङ्कृतः।
सर्वभूतसुहृत् साधुर्मितवागनसूयकः॥५७॥

हे देवशिरोमणियो! यह ब्राह्मण (अजामिल) पहले शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, सत्स्वभाव, सदाचार, क्षमादि सद्गुणोंका आलय था। यह व्रतनिष्ठ, कोमलचित्त, जितेन्द्रिय, सत्यविद्, मन्त्रज्ञ एवं पवित्र था। गुरु, अग्नि, अतिथि, तथा वृद्धादिकी सेवामें लगा रहता था। इसमें अहङ्कार न था। यह समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला, सुहृद, साधु, मधुर बोलनेवाला एवं ईर्ष्यादिसे रहित था॥५६-५७॥

एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद्द्विजः।
आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान्॥५८॥
ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया।
पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया॥५९॥
मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम्।
क्रीडन्तमनुगायन्तं हसन्तमनयान्तिके॥६०॥

एक बार यह ब्राह्मण अपने पिताक
और कुशादि लानेक
करक
एक कामुक शूद्रको लज्जाका परित्यागकर एक शूद्राणीक
साथ हँसते, गाते और विहार करते देखा। मद्य-पानक
शूद्राणीक
कारण उसक

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम्।
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः॥६१॥

हे निष्पाप पुरुषो! शूद्रकी भुजाओंमें अङ्गराग आदि कामोद्दीपक वस्तुएँ लगी थीं और वह उनसे उस शूद्राणीका आलिङ्गन कर रहा था। इस दृश्यको देखकर यह ब्राह्मण सहसा ही विमोहित हो कामक

स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम्॥ ६२॥

उसक
और अपने बुद्धि-बलसे वह अपने चित्तको संयत करनेकी चेष्टा करने लगा, किन्तु कामदेवक
मनका वह निग्रह नहीं कर पाया॥६२॥

तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः।
तामेव मनसा ध्यायन् स्वधर्माद्विरराम ह॥ ६३॥

इस शूद्राणीको लक्ष्य बनाकर प्रारब्ध कर्मरूप ग्रहने कन्दर्पक वेशमें अजामिलको ग्रसित कर लिया, जिससे उसका सारा उत्तम ज्ञान लुप्त हो गया। वह मन-ही-मन उस शूद्राणीका चिन्तन करने लगा और अपने धर्मसे भ्रष्ट हो गया॥६३॥

तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता।
ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा॥ ६४॥

अजामिलक
शूद्राणीको सन्तुष्ट करने लगा। जिन भौतिक मनोहर वस्तुओंसे उस वेश्याका चित्त प्रसन्न हो सकता था, वह उन वस्तुओंक लिए निरन्तर चेष्टा करता रहता॥६४॥

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम्।
विससर्जाचिरात् पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः॥ ६५॥

उस वाराङ्गनाक
चित्त ऐसा बिंध गया कि उसने सत्कुलमें उत्पन्न अपनी नवयौवना

विवाहिता ब्राह्मणी पत्नीका तत्काल त्याग कर दिया और पाप-कर्ममें प्रवृत्त हो गया॥६५॥

यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम्।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम्॥ ६६॥

यह मन्दबुद्धि ब्राह्मण न्याय अथवा अन्याय किसी भी प्रकारसे धन उपार्जन करक

करने में लीन हो गया॥६६॥

यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यार्यतिगर्हितः।
अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात्॥ ६७॥

यह द्विज शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन करक

था। उसने शूद्राणीक

हुए इस प्रकारक

बिता दिया। अति निन्दित कर्मोंक

पापमय हो गया॥६७॥

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम्।
नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति॥ ६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने श्रीविष्णुयमपुरुषसंवादे प्रथमोऽध्यायः।

उसने अबतक अपने पापोंका कोई प्रायश्चित भी नहीं किया है। अतएव हम इसे दण्डपाणि यमक

अपने पापोंक

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

विष्णुदूतों द्वारा हरिनामकी अद्भुत महिमाका निरूपण और अजामिलका परमधाम–गमन

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम्।
उपधार्याथ तान् राजन् प्रत्याहुर्नयकोविदाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विष्णुक
क
इस प्रकार उत्तर दिया॥१॥

श्रीविष्णुदूता ऊचुः—

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम्।
यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा॥ २॥

श्रीविष्णुदूतोंने कहा—अहो! बड़े खेदकी बात है! धर्मज्ञोंकी सभाका अधर्मने स्पर्श कर लिया, जो कि धर्ममें भी अधर्म देख रहे हैं। जो निष्पाप हैं, दण्डक
वहाँ दण्डकी व्यवस्था की गयी है॥२॥

प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः॥ ३॥

जो साधु पिताक
हैं, गुरुक
साधुओंमें भी यदि अदण्डनीयोंको दण्ड–प्रदानादिरूप विषमताका व्यवहार देखा जाय तो प्रजा किसकी शरणमें जायेगी॥३॥

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ ४॥

श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही अनुकरण करते हैं। वे जिसे 'प्रमाण' रूपमें स्थापित करते हैं, लोग उसीक

यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः।
स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः॥ ५॥
स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम्।
विश्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति॥ ६॥

जो मनुष्य अबोध पशुक
भी नहीं जानते, वे परवश पशुओंक
स्वामीकी गोदीमें अपना मस्तक रखकर निश्चिन्त भावसे सो जाते हैं। इस प्रकार जो स्वामी दयार्द्रचित्त और विश्वासपात्र हैं, जिन्हें अपना परम हितैषी समझकर प्राणियोंने आत्मसमर्पण कर रखा है, वे स्वामी किस प्रकार इन समस्त विश्वस्तचित्त, समर्पितात्म और अबोध प्राणियोंको पीड़ित कर सकते हैं। यह तो कभी भी सम्भव नहीं है॥५-६॥

अयं हि कृतनिर्वेशोजन्मकोट्यंहसामपि।
यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥ ७॥

अजामिलने क
नहीं है। इसने तो कोटि-कोटि जन्मोंक
है। इसने विवशतापूर्वक ही सही, परन्तु मोक्ष-प्राप्तिक
परम मङ्गलमय हरिनामका (नामाभास) उच्चारण किया है॥७॥

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥ ८॥

यह अजामिल पहले भी भोजनादिक
आओ—इस प्रकार पुत्रक
नारायणनामका उच्चारण (नामाभास) करता था। उसीसे इस पापीक
अनेक जन्मोंसे अर्जित पापोंका नाश हो गया है॥८॥

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥ ९॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥ १०॥

स्वर्णादि बहुमूल्य वस्तुओंको चुरानेवाले, मद्यपान करनेवाले, मित्रक
करनेवाले, स्त्रीकी हत्या करनेवाले, गौ, पिता अथवा राजाकी हत्या करनेवाले तथा और भी जो बड़े-से बड़े महापापी हैं—उनक
भगवान् श्रीविष्णुक
इन नामोंका उच्चारण करता है, उसक
'यह व्यक्ति मेरा निजजन है, इसकी सर्वतोभावसे रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है—इस प्रकारकी आत्मीय बुद्धि हो जाती है॥९-१०॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमःश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥ ११॥

पापी व्यक्ति श्रीहरिक
पवित्र हो जाते हैं, ब्रह्मवादी मनु आदिक
व्रत अथवा बड़े-से-बड़े प्रायश्चितसे भी वे उस प्रकार पवित्र नहीं हो सकते। उत्तमश्लोक श्रीभगवान्क
गुणोंको प्रकाशित करनेवाले नामोंका उच्चारण कष्टसाध्य व्रतोंक
समान क

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।
तत् कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः॥ १२॥

प्रायश्चितसे चित्त भलीभाँति निर्मल नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित करनेपर भी मन पुनः असत्पथकी ओर दौड़ता है। अतएव जो

पापोंको जड़से उखाड़ डालना चाहते हैं, उनक
श्रीहरिक
नाम-सङ्कीर्तन ही पापकी जड़—अविद्याका विनाश करक
संशोधन करनेमें समर्थ है॥१२॥

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्॥ १३ ॥

इस व्यक्तिने मरणासन्न अवस्थामें भगवान्क
सम्पूर्णरूपसे उच्चारण किया है। इसीसे इसक
प्रायश्चित्त हो गया है। अतः तुम लोग इसे नरकादि पापक
मत ले जाओ॥१३॥

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ १४ ॥

शास्त्रतत्त्वविद् महात्मा जानते हैं कि चाहे (पुत्रादि) अन्य वस्तुओंको
लक्ष्य करक
पूर्ण करनेक
भगवान्का नाम लेनेसे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो जाता है॥१४॥

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाः॥ १५ ॥

ऊँचे भवनादिसे गिरनेपर, रास्तेमें चलते-चलते फिसलनेपर, किसी भी प्रकारसे अङ्ग-भग्न होनेपर, सर्पादि द्वारा डस लिये जानेपर, ज्वरादि रोगसे सन्तप्त होनेपर, चोट लगनेपर अथवा विवश होनेपर भी जो व्यक्ति 'हरि'—इन दो अक्षरोंका उच्चारण करता है, उसे कभी भी नरककी यातनाएँ नहीं भोगनी पड़तीं॥१५॥

गुरूणाञ्च लघूनाञ्च गुरूणि च लघूनि च।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः॥ १६ ॥

महर्षियोंने विशेषरूपसे विचार करक
व्यवस्था की है कि बड़े पापका बड़ा और छोटे पापका छोटा

प्रायश्चित्त करना चाहिये, परन्तु हरिनाममें इस प्रकारकी व्यवस्था
मूल्य नहीं रखती, क्योंकि नाम-स्मरण मात्रसे ही पापियोंक
पाप नष्ट हो जाते हैं॥१६॥

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥ १७॥

तप, दान, व्रतादि प्रायश्चित्तोंसे पापियोंक
हैं, किन्तु पुनः अधार्मिक कार्य किये जानेसे हृदयकी मलिनता
अथवा पापक
अधर्मसे मलिन हुआ हृदय तो भगवान्क
ही शुद्ध होता है॥१७॥

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमःश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्त्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ १८॥

जिस प्रकार अग्नि तिनकोंक
है, उसी प्रकार यदि कोई जानकर अथवा अनजानेमें उत्तमश्लोक
श्रीभगवान्क
हो जाते हैं॥१८॥

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥ १९॥

जिस प्रकार शक्तिशाली ओषधिका प्रभाव न जानकर भी यदि उसका सेवन किया जाय, तो वह सेवन करनेवालेपर अपना प्रभाव दिखलाती ही है। उसी प्रकार अनजानेमें भी हरिनाम उच्चारित किये जानेपर वह उच्चारण करनेवालेको अवश्य ही उसका फल प्रदान करता है। वस्तु-शक्ति कभी भी श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं रखती; वह स्वतः ही अपना प्रभाव दिखलाती है॥१९॥

श्रीशुक उवाच—

त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन्॥ २०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार भगवान्क पार्षदोंने भागवत-धर्मका भलीभाँति निरूपण करक
यमपाशसे छुड़ाकर उसकी मृत्युसे रक्षा की॥२०॥

इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिकम्।
यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिंदम॥ २१॥

हे अरिसूदन! विष्णु-दूतोंसे इस प्रकारक
यमराजक
सारा वृतान्त कह सुनाया॥२१॥

द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः।
ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान् दर्शनोत्सवः॥ २२॥

अजामिल मृत्यु-पाशसे मुक्त होकर निर्भय और स्वस्थ हो गया। उसने विष्णुदूतोंको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनक दर्शनसे परम आनन्दमें निमग्न हो गया॥२२॥

तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः।
सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ॥ २३॥

हे निष्पाप! परम पुरुष श्रीभगवान्क
अजामिल क
सामने ही अन्तर्धान हो गये॥२३॥

अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यञ्च गुणाश्रयम्॥ २४॥

भक्तिमान् भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः।
अनुतापो महानासीत् स्मरतोऽशुभमात्मनः॥ २५॥

अजामिलने यमदूतों और विष्णदूतोंक
सगुण (प्रवृत्ति-विषयक) धर्म और भगवत्-प्रणीत गुणातीत शुद्ध भागवत धर्मको सुना और उनक
अविलम्ब भक्तिका उदय हो गया। उस समय वह अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मोंका स्मरण करक

अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः।
येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना॥ २६॥

वह (मन-ही-मन) कहने लगा—अहो! इन्द्रियोंक
होकर मेरी क
पुत्रोंको उत्पन्न करक

धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम्।
हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापीमसतीमगाम्॥ २७॥

ओह! मैंने सज्जनोंद्वारा निन्दित समस्त दुष्कर्म किये, मुझको धिक्कार है। मैं तो ब्राह्मण क
पीनेवाली क
परित्याग कर दिया॥२७॥

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ।
अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत्॥ २८॥

मेरे माता-पिता दोनों ही वृद्ध और अनाथ थे। मेरे अतिरिक्त उनका न कोई और पुत्र था और न ही कोई बन्धु। हाय! उन्हें कितने कष्टमें रहना पड़ा। मैंने नीच व्यक्तिक
उन्हें इस प्रकार असहाय अवस्थामें छोड़ दिया॥२८॥

सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे।
धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः॥ २९॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरे जैसे महापापीको उस अति भीषण नरकमें गिरना होगा—जहाँ धर्मघाती कामी व्यक्ति यम यन्त्रणाओंका भोग करते हैं॥२९॥

किमिदं स्वप्न आहोस्वित् साक्षाद्दृष्टमिहाद्भुतम्।
क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन् पाशपाणयः॥ ३०॥

यह अद्भुत दृश्य क्या मैंने स्वप्नमें देखा अथवा जाग्रत अवस्थामें साक्षात् अनुभव किया। हाथमें पाश लिये हुए जो भयङ्कर पुरुष मुझे घसीट रहे थे, वे अब कहाँ चले गये?॥३०॥

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः।
व्यामोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः॥ ३१॥

वे मुझे अपने फ
रहे थे कि तभी चार सुन्दर, सिद्ध पुरुषोंने मुझे मुक्त कर दिया। वे चारों भी न जाने कहाँ चले गये?॥३१॥

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति॥ ३२॥

यद्यपि मैं दुर्भागा हूँ—मेरा हृदय पापोंसे कलुषित है, तथापि पूर्व-पूर्व जन्मोंकी सुकृतियोंक
पुरुषोंका दर्शन प्राप्त हुआ। उनकी श्रीमूर्त्तिक
अति प्रसन्न हो रहा है॥३२॥

अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति॥ ३३॥

यदि पूर्व सुकृतियाँ न रही होतीं तो ऐसे दुःसमयमें (मृत्युकालमें) मुझ जैसे शूद्रागामी, अपवित्र और मरणासन्नकी जिह्वा किस प्रकारसे वैक

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः।
क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम्॥ ३४॥

कहाँ तो मैं कपटी, पापी, विप्रत्वका नाश करनेवाला, निर्लज्ज और कहाँ यह मङ्गलस्वरूप श्रीभगवान्का 'नारायण' नाम॥३४॥

सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये॥ ३५॥

अब मैं महापापी मन, प्राण और इन्द्रियोंको संयत करक
प्रकारसे प्रयत्न करुँगा कि पुनः महामोहान्धकार संसारमें न गिर पड़ूँ॥३५॥

विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम्।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ३६॥
मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्यात्ममायया।
विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः॥ ३७॥

देहादिमें आत्म-बुद्धि होनेसे विषयोंक
है और भोगवासनाक
होती है—यही जीवका बन्धन है—अब मैं इस बन्धनसे स्वयंको मुक्त करुँगा। श्रीहरिकी मायाने ही रमणीक
किया है। मैं बड़ा ही अधम हूँ। मैं उस स्त्रीक
पशुक
जाऊँगा, भोगोंकी इच्छाओंको त्याग दूँगा, समस्त जीवोंक
हितकारी और करुण बन जाऊँगा और निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें लीन रहूँगा॥३६-३७॥

ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिम्।
धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्त्तनादिभिः॥ ३८॥

भगवन्नाम-कीर्त्तन और भगवद्भक्तोंक
हो गया है। अब मैं मिथ्या प्रलोभनोंक
सत्य-वस्तुमें मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है। अब मैं देहादिमें मैं और मेराकी बुद्धिका त्याग करक
निविष्ट कर दूँगा॥३८॥

श्रीशुक उवाच—

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः॥ ३९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! क्षणमात्र साधुसङ्गक प्रभावसे ही अजामिलमें इस प्रकारका सुदृढ़ वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह पुत्रासक्ति आदि समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर हरिद्वारकी ओर चला गया॥३९॥

स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमास्थितः।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि॥ ४० ॥

हरिद्वार पहुँचकर अजामिल भक्तियोग-साधनमें लग गया। इस भक्तिक
श्रीभगवान्में समाहित हो गया॥४०॥

ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि॥ ४१ ॥

इसक
अपनी देह और इन्द्रियोंसे अपने चित्तको हटाकर उसे भगवान्क
सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दमयस्वरूपमें नियुक्त कर दिया॥४१॥

यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः॥ ४२ ॥

इस प्रकार अजामिलकी बुद्धि श्रीभगवान्क
गयी। एक बार उस ब्राह्मणक
वे ही चारों पुरुष थे जिन्हें उसने पहले भी देखा था। अजामिलने
सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥४२॥

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्त्तिनाम्॥ ४३ ॥

उनक
तीर्थमें अपनी जड़-देहको त्याग दिया और तत्क्षण ही
भगवद्-पार्श्ववर्त्ती-सेवकोंक

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः॥ ४४॥

वह परमपुरुष श्रीहरिक
आरूढ़ होकर आकाश-मार्गसे श्रीपति, श्रीहरिक
चला गया॥४४॥

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः
सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन्॥ ४५॥

अजामिलने अपना सारा धर्म-कर्म त्याग दिया था। उसक स्वदार-नियमादि जितने भी व्रत थे वे सब नष्ट हो गये थे। चोरी आदि निन्दित कर्मोंक
होनेपर भी उसने शूद्राका सङ्ग किया था। यमदूत उसे नरक ले जा रहे थे, किन्तु भगवान् नारायणक
वह तत्क्षणात् ही यम-पाशसे मुक्त हो गया॥४५॥

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्त्तनात्।
न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा॥ ४६॥

अतः जो भव-बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उनक
तीर्थपाद श्रीभगवान्क
करनेवाली और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। नाम-संकीर्त्तनसे चित्त पुनः कर्मोंमें लिप्त नहीं होता, जबकि लौकिक प्रायश्चित्तादिक बाद भी वह पुनः रजो एवं तमोगुणसे मलिन हो जाता है॥४६॥

य एवं परमं गुह्यमितिहासमघापहम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्त्तयेत्॥ ४७॥
न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः।
यद्यप्यमङ्गलो मर्त्त्यो विष्णुलोके महीयते॥ ४८॥

जो इस परम गुह्य सर्व-पाप-विनाशक इतिहासको श्रद्धापूर्वक भक्तिक
होनेपर भी नरकको प्राप्त नहीं होता। यमदूत उसे कभी देख भी नहीं सकते। विष्णुलोकमें उसकी पूजा होती है॥४७-४८॥

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः॥

अहो! मरते समय भीषण यन्त्रणाको भोगते हुए अजामिल जैसे महापातकीने पुत्रको बुलानेक
उच्चारण किया और भगवद्धामको प्राप्त हो गया, तब जो निरपराध व्यक्ति श्रद्धाक
भगवान्क
सिद्धान्त है॥४९॥

इति श्रीमद्भावगतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

यम और यमदूतोंका संवाद

श्रीराजोवाच—

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तानपि धर्मराजः।
एवं हताज्ञो विहतान् मुरारे-
र्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम्॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ऋषिवर! समस्त लोक जिनक
हैं, उन यमराजकी आज्ञा इस प्रकारसे भङ्ग कर दी गयी। भगवान्
विष्णुक
सारा वृतान्त सुना, तब उन्होंने अपने दूतोंसे क्या कहा?॥१॥

यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत्।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम्॥ २॥

हे मुनिवर! यमदेवकी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ हो, ऐसा पहले कभी नहीं सुना गया, अतः इस विषयमें लोगोंको सन्देह होगा ही। आपक अतिरिक्त कोई और इस संशयका छेदन नहीं कर सकता—यह मेरा दृढ़ विश्वास है, अतएव कृपा करक

श्रीशुक उवाच—

भगवत्पुरुषै राजन् याम्याः प्रतिहतोद्यमाः।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम्॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवद्पार्षदोंद्वारा
विफल-प्रयास यमदूतोंने संयमनीपुरीक
समीप जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥३॥

श्रीयमदूता ऊचुः—

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो।
त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः॥ ४॥

यमदूतोंने कहा—हे प्रभो, यह बतलाइए, इस जीवलोकपर शासन करनेवाले कितने लोग हैं? सत्त्व, रज एवं तमोगुणक
होकर कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारक
कर्म करनेवाले इन जीवोंक
कौन-कौन हैं॥४॥

यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः।
कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा॥ ५॥

यदि जगत्‌में बहुत-से दण्डधारी शासनकर्त्ता हैं, तो उनमें परस्पर मत विरोध होनेसे किसीको पाप-फल (दुःख) अथवा पुण्य-फल (सुख) क
जीवोंको दोनों ही फलोंकी प्राप्ति होगी॥५॥

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्‌बहूनामिह कर्मिणाम्।
शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्त्तिनाम्॥ ६॥

कर्मीजन बहुत-से हैं, उनक
बहुत-से शासनकर्त्ता हो सकते हैं, ऐसा होनेसे कोई दोष नहीं है क्योंकि उनका शासन-कार्य औपचारिक मात्र है। जैसे एक ही चक्रवर्त्ती राजा मुख्य शासनकर्त्ता होता है, उसक
रहनेवाले शासकोंका शासन नाममात्रका ही होता है॥६॥

अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः।
शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः॥ ७॥

अतः हम तो यही जानते हैं कि मुख्य शासनकर्त्ता एक ही होता है, बहुत-से नहीं हो सकते। आप ही देवताओंक
समस्त प्राणियोंक
भी एकमात्र आप ही हैं॥७॥

तस्य ते विहतो दण्डो न लोके वर्त्ततेऽधुना।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता॥ ८॥

किन्तु अब हम देख रहे हैं कि संसारमें आपक
दण्डको स्वीकार नहीं किया जाता। चार अद्भुत-मूर्त्ति सिद्ध पुरुषोंने आपक

नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान्।
व्यामोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान् प्रसह्य ते॥ ९॥

हम लोग आपक
(नारकीय लोकोंकी) ओर ले जा रहे थे, किन्तु उन सिद्ध पुरुषोंने बलपूर्वक उसक
कर दिया॥९॥

तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम्।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम्॥ १०॥

उस पापीक
कि वे दूत अति द्रुत गतिसे "माभैर्माभैः" (डरो मत, डरो मत) कहते-कहते वहाँ उपस्थित हो गये। हम आपसे उनक
जानना चाहते हैं। हे प्रभो! यदि आप हमारा मङ्गल चाहते हैं, तो हमें बतलाइये कि वे कौन थे?॥१०॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः।
प्रीतः स्वदूतान् प्रत्याह स्मरन् पादाम्बुजं हरेः॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दूतोंक
सुनते ही प्रजाका नियन्त्रण करनेवाले यमदेव परम प्रसन्न हो गये। वे श्रीहरिक
प्रकार कहने लगे॥११॥

श्रीयम उवाच—

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः॥ १२॥

यमराजने कहा—हे दूतो! तुम लोग मुझे ही सर्वश्रेष्ठ समझते हो, ऐसा नहीं है। मुझसे, इन्द्र तथा चन्द्र आदि प्रमुख लोकपालकोंसे भी श्रेष्ठ और एक जन हैं, जो सम्पूर्ण चराचर जीवोंक
हैं। उनक
सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं। सूतमें वस्त्रक
विश्व उनमें ही ओतप्रोत भावसे अवस्थित है। समस्त विश्व नथे हुए बैलक

यो नामभिर्वाचि जनं निजायां
बध्नाति तन्त्र्यामिव दामभिर्गाः।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति॥ १३॥

इस जगत्‌में जिस प्रकार रस्सीसे बैलोंको बाँध लिया जाता है, भगवान्‌ने भी उसी प्रकार अपने वेदवचनोंसे ब्राह्मण आदि नाम-रूपक
कर्म-बन्धनसे बद्ध होकर भयपूर्वक उनकी पूजा करते हैं और उन्हें उपहार समर्पण करते हैं अर्थात् अपने-अपने कर्मों द्वारा उनकी आराधना करते हैं॥१३॥

अहं महेन्द्रो निर्ऋतिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनो विरिञ्चिः।
आदित्य विश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः॥ १४॥

अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये॥ १५॥

मैं, इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, महादेव, पवन, ब्रह्मा, सूर्य, विश्वावसु, अष्ट वसु, साध्यगण, मरुद्गण, रुद्रगण, सिद्धगण, मरीचि आदि अन्यान्य विश्वस्रष्टा, बृहस्पति-प्रमुख देवश्रेष्ठगण तथा रज एवं तमोगुणक
भी उनकी लीला-चेष्टाओंको जाननेमें असमर्थ हैं, तब उनकी मायासे मोहित अन्य जीव उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं॥१४-१५॥

यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम्॥ १६॥

शरीरक
प्रकार अपने प्रकाशक चक्षुओंको नहीं देख सकते, वैसे ही जीव भी स्थावर-जङ्गमक
इन्द्रिय, (सविकल्पक) मन, प्राण (कर्मेन्द्रिय), हृदय (निर्विकल्पक चित्त) अथवा वाणीसे निर्णय नहीं कर सकते॥१६॥

तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः॥ १७॥

परम स्वतन्त्र, मायाधीश, परमपुरुष श्रीहरि सबक
हैं। उनक
स्वभावक
विचरण करते रहते हैं॥१७॥

भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥ १८॥

भगवान् विष्णुक
अलौकिक रूप दर्शन अति दुर्लभ है। वे भगवान्क
शत्रुओंक
उत्पातोंसे सब प्रकारसे रक्षा करते हैं॥१८॥

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतो नु विद्याधरचारणादयः॥ १९॥

सत्य-धर्म साक्षात् भगवान् द्वारा प्रणीत है। भृगु आदि सत्त्वगुण प्रधान ऋषिगण, देवता, प्रधान-प्रधान सिद्धगण, असुर अथवा मनुष्य कोई भी उस धर्मको निश्चित रूपसे नहीं जानता। विद्याधर एवं चारणोंकी बात तो बहुत दूर है॥१९॥

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥ २०॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥ २१॥

हे दूतो! स्वयम्भू (ब्रह्मा), देवर्षिनारद, शम्भु, सनत्क
देवहूतिनन्दन-कपिल, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक महाराज, भीष्म, बलि महाराज, शुकदेव और मैं (यम)—हम बारह जन भागवतक धर्म-तत्त्वको जानते हैं। यह धर्म अतिशय निर्मल, गोपनीय एवं दुर्बोध्य है। जीव यदि इसे जान लें तो वे मुक्त होकर भगवान्क परम पदकी सेवा प्राप्त कर लेते हैं॥२०-२१॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥ २२॥

श्रीभगवान् वासुदेवका जो नामसंकीर्त्तन आदि भक्तियोग है, इस जगत्में जीवोंक

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥ २३॥

हे वत्सगण! (प्रिय पुत्रो!) श्रीहरिक
तो देखो! अजामिल जैसे महापापीने पुत्रको बुलानेक
बार ही भगवान् विष्णुक
स्मरणक

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
संकीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥ २४॥

अतएव श्रीभगवान्क
मनुष्योंक
फल नहीं है, निरपराध होकर उनक
उच्चारण अथवा नामाभाससे ही सर्वथा पाप-हरण आदि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। अजामिल इसका दृष्टान्त है। इस महापापी अजामिलने मरणकालमें विवश होकर अस्वस्थ चित्तसे 'नारायण' कहते हुए अपने पुत्रको पुकारा, इस प्रकारकी विष्णु-स्मृतिसे ही उसे मुक्ति प्राप्त हो गयी॥२४॥

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥ २५॥

(नाम-संकीर्त्तनसे ही यदि मुक्ति सुलभ है, तो विद्वज्जन कर्म-योग आदिका उपदेश क्यों करते हैं, इसक
हैं)—भागवत-धर्मक

याज्ञवल्क्य, जैमिनि आदि अन्यान्य धर्मशास्त्र-प्रणेताओंकी बुद्धि प्रायः दैवी मायासे अतिशय विमोहित हो जाती है, अतः वे नाम-संकीर्त्तन रूपी परम भागवत-धर्मको जान नहीं सकते। उनका चित्त ऋक्, यजुः और साम—इस वेदत्रयीक
जड़ीभूत रहता है। वे द्रव्य-संग्रह, अनुष्ठान एवं मन्त्र आदि-द्वारा विस्तृत, अतिकष्टसाध्य दर्शपौर्णमासी आदि तुच्छ एवं अनित्य फलप्रद कर्मयज्ञोंमें ही लगे रहते हैं। अत्यन्त सरल, सुखसाध्य, सुगमातिसुगम चतुर्वर्गाधिकारी अर्थात् सभी वर्ण तथा आश्रमोंक व्यक्तियोंको सुलभ्य, परमार्थ फलप्रदाता जो नाम-संकीर्त्तन है—उसकी महिमाको वे नहीं जानते॥२५॥

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥ २६॥

इन समस्त विषयोंपर विचारकर बुद्धिमान व्यक्ति सर्वान्तकरणसे अखिल कल्याणगुणोंक
रूपी भक्तियोगका ही विधान करते हैं। वे मेरे दण्डक
हैं, वे तो कभी पाप कर ही नहीं सकते, यदि प्रमादवश कभी उनसे पाप हो भी जाय तो भगवान् श्रीहरिक
उस पापका ध्वंस हो जाता है॥२६॥

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥ २७॥

समस्त प्राणियोंको समानरूपसे देखनेवाले जो साधुपुरुष श्रीभगवान्क शरणापन्न हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्धगण जिनक
गान करते रहते हैं। भगवान् श्रीहरिकी कौमोदकी गदा जिनकी सभी प्रकारसे रक्षा करती है। तुमलोग कभी भूलसे भी उनक

निकट मत जाना। ब्रह्मा, मैं और काल तक भी उन्हें दण्ड देनेमें समर्थ नहीं हैं॥२७॥

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गै-
र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्॥ २८॥

निष्किञ्चन परमहंसगण तो असत्-संग त्यागकर भगवान्
श्रीमुक
परन्तु जो इस दिव्य रससे विमुख हैं, ऐसे असद् व्यक्ति नरकक
द्वार-स्वरूप—घर-गृहस्थीमें ही ऐकान्तिकरूपसे आसक्त रहते हैं। हे दूतो! उन्हें ही तुमलोग मेरे समीप लाया करो॥२८॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥ २९॥

जिस पापीकी जिह्वा एक बार भी कृष्ण-नाम, गुण आदिका कीर्त्तन नहीं करती, जिसका चित्त एक बार भी उनक
स्मरण नहीं करता, जिसका मस्तक एक बार भी उनक
प्रणत नहीं होता, जो कभी भी वैष्णव-व्रत आदिका अनुष्ठान नहीं करता, उसे ही तुम लोग मेरे पास लाया करो॥२९॥

तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत् कृतं न।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने॥ ३०॥

(यमराज अपने दूतोंक
श्रीभगवान्क
नारायण! मेरे दूतोंने जो अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिये।

हम आपक
बैठे हैं, हम अज्ञानी होनेपर भी आपक
आपकी आज्ञा पानेक
अतः परम महिमान्वित, परम श्रेष्ठ भगवान् नारायणक
योग्य है कि वे हमें क्षमा कर दें। हे परम पुरुष! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥३०॥

तस्मात् सङ्कीर्त्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्॥ ३१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
भलीभाँति जान लो कि श्रीहरिनाम संकीर्त्तन बड़े-से-बड़े पाप यहाँ तक कि पापकी वासनाको निर्मूल कर देता है। श्रीनामसंकीर्त्तन अखिल जगत्का मङ्गलस्वरूप है॥३१॥

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीहरिकी पापहरण करनेवाली अत्युत्तम माहात्म्य-कथाक निरन्तर श्रवण एवं कीर्त्तनसे अनायास ही भक्तिका उदय हो जाता है। यह भक्ति जिस प्रकारसे अन्तःकरणको विशुद्ध करती है, उस प्रकारकी शुद्धि व्रत आदिसे भी नहीं होती॥३२॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिड् न पुनर्विसृष्ट-
मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-
मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात्॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णक
दुःख प्रदान करनेवाले मायिकगुणोंको तुच्छ समझकर उनका परित्याग कर देते हैं और पुनः उनमें रत नहीं होते। इसक
उन चरणोंकी सेवासे अनभिज्ञ एवं काम आदिमें आसक्त हैं, वे अपने पाप आदि दोषका विनाश करनेक

प्रायश्चित्त करते हैं। इससे उनका चित्त विशुद्ध नहीं होता और वे पाप-कर्मोंमें पुनः लिप्त हो जाते हैं॥३३॥

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं
संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना
द्रष्टुञ्च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन्॥ ३४॥

यमदूत अपने स्वामी यमराजक
ऐसा माहात्म्य सुनकर अति विस्मित हो गये। उसी समयसे वे भगवद्-चरणाश्रित व्यक्तियोंको देखते ही अहे! यह हमारा काल है, इस प्रकारकी आशङ्का करक
भयभीत होते हैं॥३४॥

इतिहासमिमं गुह्यं भगवान् कुम्भसम्भवः।
कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन्॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः।

हे राजन्! महर्षि अगस्त्य भगवान् श्रीहरिकी पूजामें मग्न रहकर मलयाचल पर्वतपर रहा करते थे। उसी समय उन्होंने मुझे यह पौराणिक गोपनीय इतिहास सुनाया था॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

दक्षक

श्रीराजोवाच—

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ १ ॥

तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन् यथा।
अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान् परः॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! आपने स्वायम्भुव मन्वन्तर (तृतीय स्कन्ध) में देवता, असुर, मनुष्य, नाग एवं मृग आदि पशु-पक्षियोंक सृष्टि-वृत्तान्तका संक्षेपमें वर्णन किया—अब मैं आपसे उसीको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। परम पुरुष भगवान्‌ने जिस शक्ति-द्वारा और जिस प्रकारसे वयष्टि सर्ग अथवा अवान्तर सर्गकी सृष्टि की, उस शक्तिक
की? यह जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है॥१-२॥

श्रीसूत उवाच—

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः।
प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः॥ ३ ॥

श्रीसूतजीने कहा—हे मुनियोंमें श्रेष्ठ शौनकादि ऋषियो! राजर्षि परीक्षित्‌क
प्रश्नकी प्रशंसाकर इस प्रकार उत्तर दिया॥३॥

श्रीशुक उवाच—

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः।
अन्तः समुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम्॥ ४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्। जब राजा प्राचीनबर्हिके दसों पुत्र—प्रचेतागण समुद्रसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि सारी पृथ्वी वृक्षोंसे ढक गयी है। (नारदजीक
प्राचीनबर्हि संसारसे विरक्त होकर घर-बार छोड़कर वनमें चले गये थे। इससे पृथ्वीमें अराजकता फ
पृथ्वी वृक्षोंसे आच्छादित हो गयी थी)॥४॥

द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः।
मुखतो वायुमग्निञ्च ससृजुस्तद्दिधक्षया॥५॥

निराहार कठोर तपस्याक
क्रोधित हो उठे और उन्हें जला डालनेकी इच्छासे मुखसे वायु एवं अग्निकी सृष्टि करने लगे॥५॥

ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह।
राजोवाच महान् सोमो मन्युं प्रशमयन्निव॥६॥

हे परीक्षित्! उस अग्नि एवं वायुसे वृक्षराशि सम्पूर्णरूपसे जलने लगी। यह देखकर वनस्पतियोंक
क्रोध शान्त करनेक

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ।
विवर्द्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः॥७॥

हे महात्माओ! इन दीन वृक्षावलियोंको जलाकर क्षार करना आप लोगोंक
चाहनेवाले तथा उनक

अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः।
वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः॥८॥

अहो! ब्रह्मादि प्रजापतियोंक
और अव्यय (अविकारी) भगवान् श्रीहरिने जीवोंक
इन वनस्पतियों एवं ओषधियोंकी सृष्टि की है। (आप भी तो प्रजापति हैं, अपनी प्रजाओंकी इन भोज्य-वस्तुओंको इस प्रकार

नष्ट करना उचित नहीं है। भोजन-सामग्री विनष्ट होनेपर तो प्रजा भी नष्ट हो जायेगी)॥८॥

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम्।
अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदाञ्च चतुष्पदः॥९॥

अचर (स्थावर) पुष्प-फल आदि पदार्थ, चर (जङ्गम) भ्रमर आदि जीवोंक
गाय-भैंसादिक
व्याघ्रादिक
धान आदि दो पैरोंवाले मनुष्योंक

यूयञ्च पित्रान्वादिष्टा देवदेवेन चानघाः।
प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुमर्हथ॥१०॥

हे विशुद्ध आत्माओ! आप लोगोंक
देवाधिदेव भगवान्ने आपको प्रजाकी सृष्टि करनेका आदेश दिया है। अतः प्रजाक
दहन करना आपक

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्।
पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः॥११॥

आपक
सन्मार्गका सेवन किया है, आप लोग भी उसी पथका अनुकरण करें। आप अपने इस उद्दीप्त क्रोधको शान्त करें, क्रोध करना आपक

तोकानां पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः।
पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत्॥१२॥

जिस प्रकार माता-पिता बालकका लालन-पालन करनेसे उसक
भरण-पोषण एवं रक्षण करनेसे पति उसका बन्धु, भिक्षुकका अन्न, वस्त्रादिसे पोषण करनेसे गृहस्थ उसका बन्धु होता है और

जैसे ज्ञानी, अज्ञानीका बन्धु होता है उसी प्रकार प्रजाओंक
एवं जीविकाप्रद होनेसे प्रजापति राजा ही प्रजाका बन्धु होता है। अतः प्रजाक

अन्तर्देहेषु भूतानामात्मास्ते हरिरीश्वरः।
सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ॥ १३॥

स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंक
आत्मारूपमें विराजमान हैं। अतः आप इस स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वका उनक
करक
प्राणियोंक

यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम्।
आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्त्तते॥ १४॥

जो व्यक्ति अकस्मात् उत्पन्न देहस्थ उत्कट क्रोधको आत्म-विचार द्वारा नियंत्रित कर लेते हैं, वे दुःखक
करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥१४॥

अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः।
वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम्॥ १५॥

अब इन दीन वृक्षोंको और अधिक जलानेकी आवश्यकता नहीं है। जो भस्मसात् होनेसे बच गये हैं, उन वृक्षोंका और आपका मङ्गल हो। यह 'मारिषा' नामकी शुभ लक्षणोंसे युक्त कन्या है, जिसका पालन-पोषण वृक्षोंने किया है। आप इसे पत्नीक
स्वीकार करें॥१५॥

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप।
सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे॥ १६॥

हे राजन्! राजा सोमदेवने इस प्रकारसे उन्हें सान्त्वना देकर तथा 'प्रम्लोचा' नामकी अप्सराक
कन्याको (उठे हुए सुन्दर नितम्बों वालीको) उन्हें प्रदान कर वहाँ

से प्रस्थान किया। उन दस प्रचेताओंने धार्मिक पद्धतिक
उस कन्यासे विवाह कर लिया॥१६॥

तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल।
यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः॥ १७॥

इन दस प्रचेताओंने मारिषाक
उत्पन्न किया। इस दक्ष द्वारा उत्पन्न प्रजा-सृष्टिसे तीनों लोक भर गये॥१७॥

यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः।
रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु॥ १८॥

दक्ष प्राचेतस अपनी पुत्रियोंसे बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने जिस प्रकार अपने सङ्कल्प एवं बलसे प्राणियोंकी सृष्टि की, वह तुम ध्यानपूर्वक मेरे निकट श्रवण करो॥१८॥

मनसैवासृजत् पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः।
देवासुरमनुष्यादीन् नभःस्थलजलौकसः॥ १९॥

सर्वप्रथम प्रजापति दक्षने अपने सङ्कल्पसे देव, असुर, मनुष्य, खेचर, भूचर एवं जलचर आदि प्रजाओंकी सृष्टि की॥१९॥

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः।
विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद्दुष्करं तपः॥ २०॥

किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनक
नहीं हो रही है, तब वे विन्ध्याचलक
दुष्कर तपस्या करने लगे॥२०॥

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम्।
उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम्॥ २१॥

इस पर्वतपर पापोंको हरनेवाला अघमर्षण नामक एक श्रेष्ठ तीर्थ विद्यमान है। प्रजापति दक्ष उसी तीर्थमें त्रिकाल आचमन और सन्ध्यादि करते और तपस्याक

अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम्।
तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद्यतो हरिः॥ २२॥

प्रजापति दक्षने जिस 'हंसगुह्य' नामक स्तोत्रसे अधोक्षज श्रीहरिकी स्तुति की थी एवं जिस स्तुतिसे भगवान् श्रीहरि दक्षसे अत्यन्त प्रसन्न हुए, वह मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करूँगा॥२२॥

श्रीप्रजापतिरुवाच—

नमः परायवितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे॥ २३॥

दक्ष प्रजापतिने सुविख्यात 'हंसगुह्य' नामक स्तवसे अधोक्षज श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की—जो जीव, माया और मायिक पदार्थोंसे परे, सर्वश्रेष्ठ हैं एवं अव्यभिचारी ज्ञानेच्छा शक्तिसे (यथार्थ अनुभूति चिच्छक्तिसे) युक्त हैं, जो जीव और मायाक
हैं, जिन्होंने मायिक तीनों गुणोंक
विषयोंको अपने भोग्य ज्ञानक
गुणादिक
प्रकारकी बुद्धि कर रखी है, ऐसे मनुष्य जिनक
सकते; जो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अतीत, स्वतः प्रमाण और अपरिच्छिन्न हैं, जो कारणानन्तरसे उत्पन्न नहीं अर्थात् स्वयं ही स्वयंको प्रकाशित करनेवाले परात्परतत्त्व हैं—मैं उनको नमस्कार करता हूँ॥२३॥

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि॥ २४॥

रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्दादि विषय जिस प्रकार तत्प्रकाशक इन्द्रियोंक

देह-पुरमें रहकर भी जीव-देहमें विराजमान प्रपञ्चाधीश विभुचित् परमेश्वरको और उनक
पाते, ऐसे महेश्वर (परम नियन्ता) को मैं प्रणाम करता हूँ। (इस देहरूपी पुरमें आप सहचररूपसे वास करते हैं, किन्तु आपक सख्य भावको जाना नहीं जा सकता)॥२४॥

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे॥ २५॥

प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, पृथ्वी आदि समस्त स्थूलभूत और शब्दादि पांच तन्मात्राएँ अपने स्वरूपको, अन्यान्य इन्द्रियोंक स्वरूपको और इन दोनोंसे श्रेष्ठ उनक
स्वरूपको जान नहीं सकते; क्योंकि ये सब जड़ हैं, किन्तु जीव चेतन तत्त्व है वह स्वयंको, देहादिको, उसक
गुणोंको जान सकता है तथापि इन सब विषयोंको जानकर भी जीव, जिस सर्वज्ञ एवं अनन्तस्वरूपको जाननेमें समर्थ नहीं है, मैं ऐसे परमेश्वरकी स्तुति करता हूँ॥२५॥

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः॥ २६॥

जब चित्तकी उपरति हो जाती है अर्थात् जाग्रत अथवा स्वप्नावस्थाकी भाँति चित्तमें विक्षेप (विचलन) नहीं होता और सुषुप्ति अवस्थाक
है, तब नाम एवं रूपकी उद्भावक इस चित्तकी दर्शन-क्रिया एवं स्मृति-क्रिया दोनोंका ही सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकारकी समाधि अवस्थामें जो जीवक

स्वरूपको प्रकाशित करते हैं, शुद्ध अन्तःकरणमें प्रवेश करनेवाले उन्हीं भगवान् परमहंसको मेरा नमस्कार है॥२६॥

मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम्॥ २७॥

स वै ममाशेषविशेषमाया-
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥ २८॥

जिस प्रकार कर्मकाण्डीय यज्ञमें निपुण मनीषिगण काष्ठक
गूढ़ भावसे विद्यमान अलौकिक अग्निको सामिधेनी नामक पंद्रह
मन्त्रोंक
भी सत्त्व, रज एवं तम, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन और पञ्च
तन्मात्राएँ, पञ्च महाभूत एवं दस इन्द्रियाँ-अपनी इन सत्ताईस
तत्त्वात्मिका शक्तियोंसे आवृत्त हृदयक
परमात्माका ध्यान करते हैं, वे मेरे प्रति प्रसन्न हों। कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चरूपी जितनी भी मायिक विचित्रताएँ हैं—उनका नेति-नेति (निषेध होनेपर) इस विवेकसे त्याग अथवा वैराग्य होनेपर जब मोक्ष-सुख (स्वरूप-सिद्धिमें सेवा-सुख) उपस्थित होता है, तब जिनकी अनुभूति होती है, जो चित्तमें उदित सभी नामोंक
तृण पर्यन्त) वाच्य हैं, जो अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं, वे मेरे प्रति प्रसन्न हों॥२७-२८॥

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा ओत यस्य।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः॥ २९॥

वचनोंक
बुद्धिक
वस्तुओंको ग्रहण किया जाता है तथा मनसे जिनक
संकल्प किया जाता है—ये सभी गुणोंक
आपक
गुणातीत हैं और गुणोंक
हैं, जो गुण-त्रयीक
नमस्कार करता हूँ॥२९॥

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम्॥ ३०॥

यह जगत् जिनमें अधिष्ठित है, जिनसे प्रकट हुआ है, बिना किसी आश्रयक
हैं, प्रत्येक वस्तु जिनको अर्पण करनेक
(लक्ष्य) हैं, जो चाहे स्वयं कार्य करते हों अथवा दूसरोंसे कराते हों, जो स्वयं प्रयोज्य कर्त्ता अथवा स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। जो समस्त उच्च-नीच कारणोंक
हैं, जो समस्त वस्तुओंसे पहले विद्यमान थे, जिनका अन्य कोई कारण नहीं है, जो समस्त कारणोंक
हैं—जिनका सजातीय और विजातीय कोई नहीं है, मैं उनको नमस्कार करता हूँ॥३०॥

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥ ३१॥

जिनकी मायाविद्या आदि शक्तियाँ, जड़ीय द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं स्वभाववाद आदिक

एवं संवादकी (मतभेद एवं मतैक्यकी) एकमात्र कारण हैं तथा
जिनकी शक्तिक
आत्ममोह उत्पन्न होता है, उन अनन्त सच्चिदानन्द गुणशाली
सर्वव्यापी श्रीभगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥३१॥

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-
रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत् तत्॥३२॥

परमात्माकी उपासनाका वर्णन करने वाले योग (भक्ति) शास्त्र
सच्चित् प्रतीतिक
हैं, किन्तु प्रकृतिवादक
कारण तत्त्ववस्तुक
एवं 'नास्ति'क
एक परब्रह्म वस्तुमें ही स्थित (पर्यवसित) कहे जायेंगे, क्योंकि
दोनोंका मत भिन्न होनेपर भी भाव और अभावक
अधिष्ठान वस्तु है, दोनों उसी बृहत् उभयनिष्ठ परब्रह्मका निरूपण
करते हैं, मैं उन्हीं परब्रह्म स्वरूपको नमस्कार करता हूँ॥३२॥

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु॥३३॥

अचिन्त्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न जो भगवान् हैं, वे प्राकृत जड़
बुद्धिवाले जीवोंक
रहित तथा प्राकृत नाम, रूपादिसे रहित हैं, लेकिन अपने
चरण-कमलोंका भजन करनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेक
वे सदैव जन्म-लीलादिका प्रदर्शन करते हैं और उसीक
नाम-रूप धारण करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्द विग्रह परमेश्वर मेरे
प्रति प्रसन्न हों॥३३॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतां मनोरथम्॥ ३४॥

जिस प्रकार वायु पार्थिव पङ्कजादिकी गंध लेकर नानाविध सुगन्धोंसे सुगन्धित हो जाती है और अरूप होनेपर भी धूसर, कृष्णादि वर्ण धारण करनेसे नाना रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार समस्त देहोंमें अन्तर्यामीरूपमें स्थित भगवान् भी उपासकोंकी पूर्व कामनाओंक
पूजित होकर गणेशादि नाना देवताओंक
होते हैं, वे परमेश्वर मेरे मनोरथोंको पूर्ण करें, अन्य देवताओंसे मेरा क्या प्रयोजन है॥३४॥

श्रीशुक उवाच—

इति स्तुतः संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे।
प्रादुरासीत् कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः॥ ३५॥
कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः।
चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः॥ ३६॥
पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः।
वनमालानिवीताङ्गो लसत् श्रीवत्सकौस्तुभः॥ ३७॥
महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः।
काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः॥ ३८॥
त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत्त्रिभुवनेश्वरः।
वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः।
स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः॥ ३९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
भक्तवत्सल श्रीहरि दक्षकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर उसी 'अघमर्षण' नामक पर्वतपर प्रकट हुए। उनक

रखे हुए थे, आजानुलम्बित आठों भुजाओंमें चक्र, शङ्ख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, पाश और गदा—ये आठ अस्त्र देदीप्यमान हो रहे थे, वस्त्र एवं दुपट्टा पीत वर्णक
श्यामल थी, नयन और वदन प्रसन्न थे, गलेसे पैरों तक वनमाला सुशोभित हो रही थी, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स नामक मनोहर रोमावली एवं कौस्तुभ-मणि विराजमान थीं, मस्तकपर मुक
था, कानोंपर मकराकृति क
थी, मणिबन्धमें वलय, भुजाओंमें अङ्गद, अँगुलियोंमें अंगुठियाँ, कटिप्रदेशमें करधनी एवं चरणोंमें नुपुर थे। इस प्रकार अतिशय सुन्दर शोभाको धारण किये हुए अखिल लोकनाथ श्रीहरिने त्रैलोक्य विमोहन श्रीपुरुषोत्तम नामक रूप धारण कर रखा था। नारद, नन्दादि पार्षद, इन्द्रादि लोकपाल, सिद्ध, गन्धर्व एवं चारण उनक
चारों ओर खड़े थे। सभी उनक
स्तवपाठ एवं स्तुति कर रहे थे॥३५-३९॥

रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः।
ननाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः॥४०॥

श्रीभगवान्क
देखकर दक्ष प्रजापति पहले तो भयभीत हुए, परन्तु बादमें अत्यन्त आनन्दित होकर उन्होंने भूमिपर गिरकर भगवान्को दण्डवत् प्रणाम किया॥४०॥

न किञ्चनोदीरयितुमशकत् तीव्रया मुदा।
आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरैः॥४१॥

जिस प्रकार झरनोंक
प्रकार अत्यधिक आनन्दक
इन्द्रियाँ परिपूर्ण हो गयीं, अतः वे क

तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम्।
चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः॥४२॥

प्रजापति भगवान्क
उनक
जनार्दन उनकी भक्ति और प्रजावृद्धिकी कामना को जानते थे। अतः भगवान्ने दक्षसे इस प्रकार कहा॥४२॥

श्रीभगवानुवाच—

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान्।
यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः॥४३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाभाग प्राचेतस! तुमने मेरे प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखकर परम भक्तिभावको प्राप्त किया है। अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी है॥४३॥

प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः।
ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः॥४४॥

हे प्रजापते! तुमने इस विश्वकी अभिवृद्धिक
है, जिसक
प्रजाकी अभिवृद्धि एवं समृद्धि हो॥४४॥

ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः।
विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः॥४५॥

ब्रह्मा, शिव, मनुष्य, लोकपाल और तुम सब प्रजापति मेरी ही विभूति अर्थात् गुणावतार हो और तुम सभी प्राणियोंकी अभिवृद्धि करनेवाले हो॥४५॥

तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाकृतिः।
अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः॥४६॥

हे ब्रह्मन्! तपस्या अर्थात् यम-नियमक
हृदय है, विद्या (वैदिक ज्ञान) अर्थात् अङ्ग-उपाङ्ग, साङ्ग-मन्त्रजप मेरा शरीर है, नैमित्तिक क्रिया अर्थात् ध्यानादिका विषय-भावना शब्दसे वाच्य जो पुरुषोंका व्यापार (कर्म) है, वह मेरी आकृति है, भली-भाँति सम्पन्न होनेवाले यज्ञ मेरे अङ्ग हैं, यज्ञानुष्ठानसे

उत्पन्न होनेवाला 'अपूर्व' (अदृश्य) अर्थात् सुकृति मेरा मन है एवं यज्ञोंक

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः।
संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः॥ ४७॥

इस विश्वकी सृष्टिक
अन्तर्ग्राहक अन्तःकरणादि अथवा अन्य बहिर्ग्राह्य विषय क
न था। इन्द्रियवृत्ति द्वारा अप्रकट (अनभिव्यक्त) एकमात्र चैतन्य ही सर्वत्र प्रसुप्तक

मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः।
यदासीत् तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः॥ ४८॥

मैं अनन्त गुणोंका आधार और स्वयं भी अनन्त अर्थात् सर्वव्यापक हूँ। मेरी मायासे अर्थात् मुझसे ही यह ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है, इसी ब्रह्माण्डसे तुम्हारे कारणभूत अयोनिज स्वयम्भू ब्रह्मा आविर्भूत हुए हैं॥४८॥

स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः।
मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि॥ ४९॥
अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम्।
नव विश्वसृजो युष्मान् येनादावसृजद्विभुः॥ ५०॥

मेरी शक्ति सञ्चारित होनेपर देवश्रेष्ठ स्वयम्भू सृष्टिकार्यमें उद्यत तो अवश्य हुए, किन्तु स्वयंको इस कार्यमें असमर्थ जानकर वे मेरे द्वारा उपदेश प्राप्तकर तत्क्षण तपस्यामें रत हो गये। उसी घोर तपस्याक
सृष्टि की॥४९-५०॥

एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः।
असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम्॥ ५१॥

हे प्रजेश दक्ष! यह पञ्चजन नामक प्रजापतिकी कन्या असिक्नी है, तुम इसे पत्नीरूपमें ग्रहण करो॥५१॥

मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः।
मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि॥ ५२॥

तुम स्त्री-पुरुषक
इस कन्याक

त्वत्तोऽधस्तात् प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया।
मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम्॥ ५३॥

तुम्हारे बाद समस्त प्रजा मेरी मायाक
धर्मसे ही पुत्रादि उत्पन्न करेगी और वह मुझे पूजाकी सामग्री भेंट करती रहेगी॥५३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः।
स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीहंसगुह्यस्तवो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! विश्वभावन श्रीभगवान् हरि यह कहकर दक्षक
जिस प्रकार स्वप्नमें देखी कोई वस्तु स्वप्नक
हो जाती है॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

देवर्षि नादरजीक

तथा नारदजीको दक्षका शाप

श्रीशुक उवाच—

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! प्रजापति दक्षने भगवान् विष्णुकी मायासे संवर्द्धित होकर और उनकी शक्तिसे सामर्थ्य प्राप्त करक

जन्म दिया॥१॥

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम्॥ २॥

हे राजन्! दक्षक

थे। उनक

जिससे वे सभी तपस्याक

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम्॥ ३॥

पश्चिम दिशामें जिस स्थानपर सिन्धु-नदीका समुद्रक होता है, वहीं मुनि एवं सिद्धगणों-द्वारा सेवित अतिशय विशाल “नारायण-सर” नामक एक महान तीर्थ है॥३॥

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्द्धूतमलाशयाः।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत॥ ४॥

तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः।
प्रजाविवृद्धये यत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्श ह॥ ५॥

दक्षपुत्र हर्यश्वोंने उस तीर्थमें पहुँचकर स्नान-आचमन करनेक
लिये जलका स्पर्श किया ही था कि उनक
सम्पूर्णरूपसे धुल गया और उनकी पारमंहस्यधर्ममें मति हो गयी। पिताने उन्हें प्रजा-संवर्द्धनका आदेश दिया था, अतः वे बाध्य होकर प्रजाकी सृष्टिक
देवर्षि नारदने देखा कि हर्यश्वगण भागवत धर्ममें रुचि होनेपर भी प्रजावृद्धिक
उनसे कहा॥४-५॥

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः॥६॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम्।
बहुरूपां स्त्रियञ्चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम्॥७॥
नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम्।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमि॥८॥

श्रीनारदजीने कहा—अरे हर्यश्वगण! तुम लोगोंने पृथ्वीक छोरको तो देखा ही नहीं है। वहाँ एक राज्य है, जिसमें एक ही पुरुष विराजमान है। वहाँ एक बिल है, जहाँसे किसीको भी बाहर निकलते नहीं देखा गया है, वहाँ एक स्त्री है, जो बहुरूपिणी है तथा जो एक पुरुष है, वह उस पुंश्चलीका (असतीका) पति है। एक नदी है, जो दोनों दिशाओंकी ओर प्रवाहित होती है। एक घर है, जो पच्चीस पदार्थोंसे बना है, एक हंस है, जो अनेक प्रकारकी ध्वनियाँ करता है। एक प्रकारका पदार्थ है, जो तेज क्षुरों एवं वज्र द्वारा निर्मित है एवं सदैव घूमता रहता है। तुम लोग यह सब देखो। वस्तुतः तुम लोग पालक होनेपर भी अज्ञ हो। अपने सर्वज्ञ पिताक उचित आदेशको जब तक समझ नहीं लोगे और इन उपर्युक्त वस्तुओंको देख नहीं लोगे, तबतक प्रजाकी सृष्टि किस प्रकार करोगे॥६-८॥

कथं स्वपितुरादेशमाविद्वांसो विपश्चितः।
अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ॥ ९॥

अहो! तुम्हारे पिता सर्वज्ञ थे। उनका यथार्थ आदेश क्या है, तुम लोग वह नहीं जानते, अतः हे मूर्खों! अज्ञ होनेपर तुम किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि करोगे॥९॥

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।
वाचःकूटन्तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! हर्यश्वगण स्वाभाविक विचार शक्तिसम्पन्न थे। वे देवर्षि नारदक
उनकी बातोंपर आत्म-बुद्धिसे विचार-विश्लेषण करने लगे॥१०॥

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम्।
अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ ११॥

'भू' शब्दका अर्थ है—भूमि अथवा क्षेत्र। जीवका उपाधिभूत लिङ्गशरीर ही इस क्षेत्रक
है। यह जीवोंक
अर्थात् नाश देखे बिना मोक्षक
करनेसे भला क्या लाभ होगा? अतः कर्म-निर्वाणक
यत्न करना उचित है॥११॥

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् स्वाश्रयः परः।
तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १२॥

(वहाँ एक राज्य है, उसमें मात्र एक ही पुरुष है, देवर्षि नारदक
वह ईश्वर है। ईश्वर सबक
स्वयं ही अपने आश्रय हैं। माया उनका स्पर्श नहीं कर सकती, वे नित्यमुक्त एवं परतत्त्व हैं। उन्हें जाने बिना मनुष्य जो भी कर्म करते हैं, वे सभी कर्म असत् है, क्योंकि वे कर्म भगवान्क
लिये अर्पित नहीं हैं। अतः इन कर्मोंको करनेसे क्या लाभ?॥१२॥

पुमान् नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा।
प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १३॥

(वहाँ एक बिल है, जिससे किसीको भी बाहर निकलते नहीं देखा गया, इस उक्तिका तात्पर्य यह है कि) पातालमें प्रवेश करनेपर जिस प्रकार वहाँसे कोई बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार ज्योतिर्मय ब्रह्मधामको प्राप्त करनेक
पुनः लौटना नहीं पड़ता। मनुष्य ब्रह्म-वस्तु अर्थात् भगवान्‌को न जानकर अनित्य स्वर्गादिकी प्राप्तिक
करते हैं, उनसे क्या फल मिलेगा? (अतः वैक
ही प्रयत्न करना उचित है)॥१३॥

नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १४॥

'बहुरूपिणी स्त्री'—इस कथनका आशय यह है कि बुद्धि ही सत्त्व, रज आदि गुणोंको धारण करनेवाली व्यभिचारी स्त्रीक
है, जो पुरुषको मोहमें डाल देती है। मनुष्य इस बुद्धिका अन्त न पाकर जो असत् कर्म करते हैं, उनसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? (विवेकक

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत्।
तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १५॥

(वहाँ एक पुरुष है, 'जो पुंश्चलीका स्वामी' है, इस कथनका अभिप्राय यह है कि) क
स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बुद्धिक
स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। सभी जीव बुद्धिकी सुख एवं दुःख रूपी दो प्रकारकी गति—अर्थात् स्वर्ग एवं नरकादि भोगोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस जीव तत्त्वको जाने बिना जो अविवेकी पुरुष अनित्य कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उनकी भला क्या सार्थकता है? (अतः आत्माक

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम्।
मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १६॥

(एक नदी है—जो दोनों दिशाओंकी ओर प्रवाहित होती है, इस कथनका गूढ़ार्थ यह है कि) सृष्टि एवं प्रलयकारिणी माया ही दोनों तटोंकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदीका स्वरूप है। इस नदीक जल-प्रवाहमें जो गिर जाता है, उस व्यक्तिक
लिये दो पथ हैं—तपस्या एवं विद्या। इन दोनों ही स्थानोंपर बाधा देनेक
बहती है। जो इस वेगसे विवश हो इसमें निमग्न हो जाते हैं उन्हें इस माया नदीक
क्या उपलब्ध होगा? (अतः लौकिक प्रतिष्ठादिका परित्याग करक तपस्या एवं विद्यादिसे माया नदीको पार करना चाहिये)॥१६॥

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणः।
अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १७॥

एक घर है, जो पच्चीस पदार्थोंसे बना हुआ है, इस वचनका भावार्थ यह है कि अद्भुत-दर्शन, अन्तर्यामी पुरुष—पच्चीस तत्त्वों (पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन और जीव) क
कारणक
अभिमानसे असत् सकाम कर्मोंको करनेसे क्या प्राप्त होगा? (समस्त प्राकृत वस्तुएँ विष्णुगत होनेसे निर्मल एवं अप्राकृत हैं और नित्य धर्मसे युक्त हैं। अतः निज प्रतिबिम्बताका परित्याग करनेपर विष्णुरूपी दर्पणक
सभी क

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम्।
विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १८॥

(वहाँ एक हंस है जो विचित्र ध्वनि करता है—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि) ईश्वरक

शास्त्रोंमें 'चित्' एवं 'जड़'—ये दो वस्तुएँ विद्यमान हैं। ये शास्त्र हंस स्वरूप हैं, हंस जिस प्रकार मिश्रित नीर-क्षीरको अलग कर देता है, उसी प्रकार चित्त् एवं जड़ पदार्थको अलग-अलग ज्ञापित करा देनेक
बन्धन एवं मोक्षका उपदेश करनेवाले विविध प्रकारक
इन शास्त्रोंका परित्याग करक
हैं, उनसे क्या सिद्ध होगा?॥१८॥

कालचक्रं भ्रमि तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत्।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १९॥

(तीक्ष्ण छुरे एवं वज्रादिसे निर्मित और स्वयं भ्रमणशील
इस कथनका सङ्क
कालचक्र ही वह वस्तु है, जो निरन्तर घूमता रहता है। यही सारे जगत्को परिचालित करता हुआ स्वतन्त्ररूपसे भ्रमण कर रहा है। इस कालचक्रको जाने बिना जो कर्म फलोंको नित्य जानकर काम्य कर्म करते हैं, उन्हें भला क्या प्राप्त होनेवाला है॥१९॥

शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्त्तकम्।
कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत्॥ २०॥

तुम्हारे पिताका यथार्थ आदेश क्या है—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि उपनयनादि संस्कारोंसे जीवोंको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, शास्त्र ही उसका कारण हैं एवं यथार्थ उपदेश देनेक कारण शास्त्र ही वास्तविक पिता हैं। उन उपदेशोंका तात्पर्य निवृत्ति मार्गमें ही निहित है। इस निवृर्त्तिमार्गपरक आदेशको जाने बिना जो गुणमय प्रवृत्तिपरक मार्गमें आस्था रखते हैं, वे जागतिक पिताक
हो सकते हैं॥२०॥

इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एकचेतसः।
प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्त्तनम्॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! नारदजीक
हर्यश्व एकमत हो गये। उन्होंने देवर्षि नारदकी प्रदक्षिणा की और उस पथपर चल दिये, जहाँसे कोई लौटता नहीं है॥२१॥

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः॥ २२॥

षड्जादि स्वर-(ष,ऋ,ग,म,प,ध,नि) ब्रह्मस्वरूप हैं, क्योंकि ये सामवेदसे प्रकट हुए हैं। मुनिवर नारदक
गुणानुवादक
हृषीक
करनेक
रूपसे स्थिर करक

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम्।
अन्वतप्यत कः शोचन् सुप्रजस्त्वं शुचां पदम्॥ २३॥

उनक
गये हैं, प्रजापति दक्ष श्रीनारदसे यह कथा सुनकर अत्यन्त शोक करने लगे। सत्पुत्रोंका अभाव शोकका कारण (निलय) है, अतः दक्ष भला शोकसे व्याक

स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः।
पुत्रानजनयद्दक्षः सबलाश्वान् सहस्रिणः॥ २४॥

प्रजापति दक्ष इस प्रकार शोक कर रहे थे कि ब्रह्माजीने उन्हें सांत्वना दी, तब दक्ष प्रजापतिने अपनी पत्नी पञ्चजनीक
पुनः सबलाश्व नामक

ते च पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः॥ २५॥

पिता दक्षने सबलाश्वादियोंको भी सृष्टि करनेक
दिया। पिताका आदेश पालन करनेक
व्रत धारण करक

जहाँ उनक
प्राप्त किया था॥२५॥

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्द्धूतमलाशयाः।
जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तत्र महत्तपः॥ २६॥

नाराणय-सरोवरक
मल धुल गया। विशुद्ध चित्तसे वे प्रणव द्वारा सम्पुट लगाकर (यथा ॐ नमो नारायणाय) मन्त्र जप करते हुए महान् तपस्यामें लग गये॥२६॥

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान् कतिचिद्वायुभोजनाः।
आराधयन् मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम्॥ २७॥
ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने।
विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि॥ २८॥

उन्होंने क
महीनों तक क
उच्चारणक
विशुद्ध सत्त्वगुणोंक
ध्यान करते हैं', इस मन्त्रका जप करते हुए वे मन्त्राधिष्ठाता श्रीविष्णुकी आराधना करने लगे॥२७-२८॥

इति तानपि राजेन्द्र प्रजासर्गधियो मुनिः।
उपेत्य नारदः प्राह वाचःकूटानि पूर्ववत्॥ २९॥

हे राजेन्द्र! मुनिवर श्रीनारदने देखा कि सबलाश्व प्रजा-सृष्टिकी कामनासे तपस्यामें लगे हुये हैं, तब वे उनक
भाँति परोक्षवादपूर्ण (पहले जैसे ही) क

दाक्षायणाः संश्रृणुत गदतो निगमं मम।
अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातृणां भ्रातृवत्सलाः॥ ३०॥

देवर्षि नारदने कहा—हे दक्षपुत्रो! तुम मेरे उपदेशोंको ध्यानपूर्वक सुनो। तुम लोग अपने भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते हो, अतः बड़े भाइयोंक

भ्रातृणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित्।
स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते॥ ३१॥

जो भाई धर्मतत्त्वको जानता है, वह भाइयों द्वारा स्वीकृत यथार्थ-मार्गका अनुसरण करता है। ऐसे पुण्यवान्-पुरुष मरुत् आदि भ्रातृ-वत्सल देवताओंक
होते हैं॥३१॥

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः।
तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातृणामेव मारिष॥ ३२॥

हे आर्य! जिनक
इन सब गूढ़ वचनोंको कहकर वहाँसे चल दिये। इधर सबलाश्वोंने भी अपने भाइयोंक

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः।
नाद्यापि ते निवर्त्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव॥ ३३॥

परीक्षित्! वे भगवत्सेवोन्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त सर्वोत्कृष्ट पथ-भगवत-प्राप्तिक
ओर आजतक वे उसी प्रकार नहीं लौटे जिस प्रकार बीती रात्रियाँ न लौटती हैं, न लौटेंगी॥३३॥

एतस्मिन् काले उत्पातान् बहून् पश्यन् प्रजापतिः।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाश्रृणोत्॥ ३४॥

इसी समय प्रजापति दक्षने अनेक प्रकारक
पहलेकी भाँति नारदजीने मेरे इन पुत्रोंको भी भ्रष्ट कर डाला है, यह समाचार भी सुना॥३४॥

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः॥ ३५॥

पुत्रोंकी पारमहंस्य धर्ममें निष्ठा हो गयी है, यह सुनकर पुत्र-शोकक

नारदजीको अपने समीप देखते ही क्रोधसे उनक
लगे और उन्होंने नारदजीसे इस प्रकार कहा— ॥३५॥

दक्ष उवाच—

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया।
असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः॥ ३६॥

दक्ष प्रजापतिने कहा—अहो! तुमने क
धारण कर रखा है, किन्तु तुम साधु नहीं हो। साधु तो मैं हूँ, तुमने मेरे पुत्रोंको निवृत्ति-पथ दिखाकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है॥३६॥

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।
विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः॥ ३७॥

ब्राह्मणगण जन्म लेनेक
पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारक
ऋषि-ऋण, यज्ञोंसे देव-ऋण एवं सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है, किन्तु मेरे पुत्र पूर्वोक्त त्रिविध गुणोंसे मुक्त नहीं हुए एवं उन्होंने अपने कर्मोंका ठीक प्रकारसे विचार भी नहीं किया। अतएव रे पापिष्ठ (विश्वासघातिन्)! तुम उनक
इहलोक (विषय-भोगोंको त्याग कराक
दिखाकर) अर्थात् तीनों ऋण पूरा किये बिना ही मोक्ष धर्ममें लगाकर दोनों ही लोकोंकी मङ्गल प्राप्तिमें बाधक बन गये॥३७॥

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः॥ ३८॥

इस प्रकार जीव हिंसा करते हुए तुमने अपने स्वामी श्रीहरिक
अमल यशको कलङ्कित किया है। तुमने अबोध बालकोंकी शास्त्र विहित कर्मनिष्ठा-मति ही नष्ट कर दी। तुम बड़े निष्ठुर और निर्लज्ज हो, भगवान्क
कर सकते हो॥३८॥

ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम्॥ ३९॥

अरे! भागवतजन तो सभी प्राणियोंपर दया करनेक
रहते हैं, परन्तु तुम तो उनसे भिन्न ही हो। तुम लोगोंक
मित्रता भङ्ग करवाते हो और जिनका कोई शत्रु नहीं है, उनसे भी वैर ठनवा लेनेमें तत्पर रहते हो। लोगोंका इस प्रकारसे अहित करनेमें तुम्हें लज्जा नहीं आती॥३९॥

नेत्थं पुंसां विरागः स्यात् त्वया केवलिना मृषा।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम्॥ ४०॥

यदि तुम यह समझते हो कि वैराग्य द्वारा चित्तकी विषयोंसे निवृत्ति हो जाती है और चित्तक
कट जाते हैं तो यह तुम्हारा भ्रम है। मैं इस विषयमें तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि पूर्ण ज्ञान जाग्रत हुए बिना तुम्हारे समान क

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्यते स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः॥ ४१॥

विषयोंका भोग किये बिना यह नहीं जाना जा सकता कि विषय ही दुःखका कारण हैं। इसलिये विषयोंका भोग करनेसे ही उनकी कटुता, तीक्ष्णता एवं दुःखोंक
होनेपर स्वयं ही जैसा सहज वैराग्य होता है, वह तुम्हारे समान दूसरोंकी बुद्धि चला देनेसे (बुद्धिकी विच्युति कर देनेसे) उत्पन्न नहीं होता॥४१॥

यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम्।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम्॥ ४२॥

हम वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करक
हैं; हम ही साधु एवं गृहस्थ हैं अर्थात् फलभोगपरायण वैदिक कर्मानुसार देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ—इन पाँच

प्रकारक
भी तुमने मेरे पुत्रोंको निवृत्ति पथपर भटकाकर ऐसा ही अपकार किया था, जिसे सहना बड़ा कठिन था; किन्तु तब मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया था॥४२॥

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥ ४३॥

हे पुत्रनाशक! क्या तुम हमारी वंशपरम्पराका उच्छेद करनेपर ही उतारु हो गये हो; तुमने पुनः मेरे प्रति वही अमङ्गल कार्य किया है! रे मूढ़! इसी कारणवश तुम्हें लोक लोकान्तरोंमें भटकना पड़ेगा, तुम्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान प्राप्त नहीं होगा॥४३॥

श्रीशुक उवाच—

प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः।
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीनारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्, साधु-शिरोमणि नारदजीने ‘आपक
कर लिया। यद्यपि वे पलटकर शाप देनेमें समर्थ थे, किन्तु उन्होंने शाप न देकर दक्षक
स्वभाव है॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत्क
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

प्रजापतिकी साठ कन्याओंक

श्रीशुक उवाच—

ततः प्रचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा।
षष्टिं सञ्जनयामास दुहितृः पितृवत्सलाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसक
बार-बार अनुरोध करनेपर दक्ष प्रजापति प्रचेताने असिक्नी नामक
अपनी पत्नीक
पितासे बहुत प्रेम करती थीं॥१॥

दश धर्माय कायादाद्द्विषट् त्रिनव चेन्दवे।
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः॥ २॥

दक्ष प्रजापतिने उनमेंसे दस कन्याओंका धर्मसे, तेरहका कश्यपसे, सत्ताईसका चन्द्रमासे, दोका भूत नामक मुनिसे, दोका अङ्गिरासे, दोका कृशाश्वसे और शेष चारका तार्क्ष्यनामक कश्यपसे विवाह कर दिया॥२॥

नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानाञ्च मे शृणु।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः॥ ३॥

अब तुम इन दक्ष कन्याओं और उनकी सन्तानोंका नाम मुझसे श्रवण करो। इन्हींक
लोकोंमें फ

भानुर्लम्बा ककुद्यामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती।
वसुर्मुहूर्त्ता संकल्पा धर्मपत्न्यः सुतान् शृणु॥ ४॥

भानु, लम्बा, कक
मुहूर्त्ता और सङ्कल्पा—ये दस धर्मकी पत्नियाँ थीं। अब इनक
पुत्रोंक

भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः॥ ५॥

हे राजन्! भानुक
इन्द्रसेनका जन्म हुआ। लम्बाक
मेघोंका जन्म हुआ॥५॥

ककुदः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः।
भुवो दुर्गाणि यामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत्॥ ६॥

कक
हुआ। इसक
क
और स्वर्गसे नन्दीने जन्म ग्रहण किया॥६॥

विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान् प्रचक्षते।
साध्योगणश्च साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः॥ ७॥

विश्वाक
साध्यासे साध्यगणोंका जन्म हुआ और साध्योंसे अर्थसिद्धिने जन्म ग्रहण किया॥७॥

मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्या बभूवतुः।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः॥ ८॥

मरुत्वतीक
किया। जयन्त भगवान् वासुदेवक
समान) जयन्त भी जगत्में उपेन्द्रक

मौहूर्त्तिका देवगणा मुहूर्त्तायाश्च जज्ञिरे।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम्॥ ९॥

मुहूर्त्ताक
ये अपने-अपने कालमें प्राणियोंको उनक
प्रदान करते हैं॥९॥

सङ्कल्पायास्तु सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु॥ १०॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वास्तुर्विभावसुः।
द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः॥ ११॥

सङ्कल्पाका पुत्र हुआ सङ्कल्प और उस सङ्कल्पसे काम उत्पन्न हुआ। वसुक
सुनो—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अक
इनमें-से द्रोण नामक वसुकी पत्नी अभिमतिक
और भय आदि उत्पन्न हुए॥१०-११॥

प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः॥ १२॥

प्राणकी पत्नी ऊर्जस्वतीसे सह, आयु और पुरोजव इन तीन पुत्रोंका जन्म हुआ। ध्रुवकी पत्नी थी धरणी, जिसक
नगरोंका जन्म हुआ॥१२॥

अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः॥ १३॥

अक
पुत्र उत्पन्न हुए। अग्नि नामक वसुकी पत्नी धारासे भी द्रविणक आदि अनेक पुत्र हुए॥१३॥

स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला॥ १४॥

अग्निकी दूसरी पत्नी कृत्तिकासे स्कन्द (कार्त्तिक
विशाखादि पुत्रोंका जन्म हुआ। दोष नामक वसुकी पत्नीका नाम था शर्वरी, जिसक
भगवान् विष्णुक

वास्तोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्माकृतीपतिः।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद्विश्वे साध्या मनोः सुताः॥ १५॥

वास्तु नामक वसुकी पत्नी आङ्गिरसी थी; उसक
शिल्पकारोंक
आकृतीक
मनुक

विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम्।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु॥ १६॥

विभावसुकी पत्नी उषासे व्युष्ट, रोचिष और आतप ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इसक
उत्पत्ति हुई; इसीक
रहते हैं॥१६॥

सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः।
रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः॥ १७॥
अजैकपादहिर्ब्रध्नो बहुरूपो महानिति।
रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोरा प्रेतविनायकाः॥ १८॥

भूतकी पत्नी सरूपाने कोटि-कोटि रुद्र उत्पन्न किये, जिनमें ग्यारह प्रधान हैं—उनक
वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, बहुरूप और महान्। भूतकी दूसरी पत्नी भूतासे ग्याहरवे प्रधान रुद्र महान्क
भयङ्कर प्रेत और विनायकादिका जन्म हुआ॥१७—१८॥

प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितृनथ।
अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत् सती॥ १९॥

प्रजापति अङ्गिराकी स्वधा और सती नामकी दो पत्नियाँ थीं; इनमें-से स्वधा नामकी पत्नीने पितृगणोंको (पितरोंको) एवं सतीने अर्थवाङ्गिरस नामक वेदको ही पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया था अर्थात् कल्पना कर ली थी॥१९॥

कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेतुमजीजनत्।
धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम्॥ २०॥

कृशाश्वकी पहली पत्नी अर्चिस्‌से धूमक
धिषणाक
जन्म हुआ॥२०॥

ताक्ष्‍र्यस्य विनता कद्रुः पतङ्गी यामिनीति च।
पतङ्‌ग्यसूत पतगान् यामिनी शलभानथ॥२१॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद् यज्ञेशवाहनम्।
सूर्यसूतमनूरुञ्च कद्रुर्नागाननेकशः॥२२॥

ताक्ष्‍र्य नामक कश्यपकी चार पत्नियाँ थी—विनता, कद्रू, पतङ्गी और यामिनी। उनमें पतङ्गी नामक भार्यासे पतग (पक्षी) और यामिनीसे शलभ (टिड्डी) उत्पन्न हुए। सुपर्णा (विनता)से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें पहले साक्षात् भगवान् विष्णुक
एवं दूसरे सूर्यक
जन्म हुआ॥२१–२२॥

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत।
दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः॥२३॥

हे भारत! कृत्तिकादि सत्ताईस तारकाएँ (नक्षत्राभिमानिनियाँ) चन्द्रमाकी पत्नियाँ थीं। चन्द्रमा अपनी समस्त पत्नियोंकी उपेक्षा करक
ओर अतिशय अनुरागी हो गये थे। अपनी अन्यान्य कन्याओंका दुःख देखकर दक्ष प्रजापति कुपित हो गये और उन्होंने चन्द्रमाको 'तुम क्षयरोगसे ग्रस्त हो जाओ' यह अभिशाप दे दिया था। इसी कारण उनकी पत्नियोंक

पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः।
शृणु नामानि लोकानां मातॄणां शङ्कराणि च॥२४॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत्।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला॥२५॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः॥२६॥

तदनन्तर चन्द्रने विविध नम्रतापूर्ण वचनोंसे दक्षको सन्तुष्ट करक
वरदान तो प्राप्त कर लिया, किन्तु सन्तान प्राप्त न कर सक
श्रवण करो—इन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ये समस्त लोकोंकी माताएँ हैं। इनक
कल्याण होता है। इन लोकमाताओंक
हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि। इनमें तिमिक
गर्भसे जलजन्तु और सरमाक
तथा बाघ आदि हिंसक पशुओंका जन्म हुआ॥२४-२६॥

सुरभेर्महिषाः गावो ये चान्ये द्विशफा नृप।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः॥ २७॥

हे महाराज! सुरभिसे गाय, भैंस और दो खुरवाले अन्यान्य पशुओंका जन्म हुआ। ताम्रासे बाज, गीध आदि शिकारी पक्षियोंने जन्म लिया और मुनिसे अप्सरायें उत्पन्न हुईं॥२७॥

दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः।
इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः॥ २८॥

क्रोधवशासे दन्दशूक नामक सर्प, अन्य सरीसृप (रेंगनेवाले) जन्तु एवं मच्छरादि उत्पन्न हुए। इलाक
तथा सुरसासे राक्षसोंने जन्म लिया॥२८॥

अरिष्टायास्तु गन्धर्वाः काष्ठायाः द्विशफेतराः।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकान् शृणु॥ २९॥

द्विमूर्द्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः।
अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः॥ ३०॥

पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः।
धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जयः॥ ३१॥

अरिष्टाक
आदि पशुओंका जन्म हुआ। हे राजन्! दनुक
उत्पन्न हुए, उनमें-से अठारह प्रमुख थे। उनक
शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शङ्कुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रक
विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय॥२९-३१॥

स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली॥ ३२॥

स्वर्भानुकी सुप्रभा नामकी एक कन्या थी, जिसक
विवाह किया था और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे नहुषक
पुत्र ययातिने विवाह किया॥३२॥

वैश्वानरसुतायाश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा॥ ३३॥
उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप।
पुलोमां कालकाञ्च द्वे वैश्वानरसुते तु कः॥ ३४॥
उपयेमेऽथ भगवान् कश्यपो ब्रह्मचोदितः।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः॥ ३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः॥ ३६॥

दनुक
हयशिरा, पुलोमा और कालका। इनमें उपदानवीका विवाह हिरण्याक्षसे एवं हयशिराका विवाह क्रतुसे हुआ। इसक
अनुरोधपर प्रजापति कश्यपने वैश्वानरकी शेष दो कन्याओं पुलोमा और कालकासे विवाह कर लिया। इनक
आदि साठ हजार दानव पुत्र हुए, जो पौलोम और कालक
नामसे प्रसिद्ध हुए। ये अत्यन्त बलशाली एवं युद्धमें निपुण थे और सर्वदा ऋषि-मुनियोंक

हे राजन्! तुम्हारे पितामह अर्जुनने स्वर्गमें निवास करते समय इन यज्ञ विघ्नकारी दानवोंको अक
वे इन्द्रक

विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतञ्चैकमजीजनत्।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागताः॥ ३७॥

विप्रचित्तिकी पत्नी सिंहिकाक
हुए। उनमें सबसे बड़ा था राहु और दूसरे सभी सौ पुत्र क
इन सभीने प्रभावशाली ग्रहोंमें स्थान प्राप्त कर लिया था॥३७॥

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद्विभुः॥ ३८॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शत्रु उरुक्रमः॥ ३९॥

परीक्षित्! अब मैं अदितिकी वंश परम्पराका विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक श्रवण करो! इस वंशमें ही सर्वव्यापक भगवान् नारायण अपने अंशरूपमें अवतीर्ण हुए थे। अदितिक
धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शत्रु और उरुक्रम॥३८-३९॥

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयतः वै मनुम्।
मिथुनञ्च महाभागा यमं देवं यमीं तथा।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि॥ ४०॥

विवस्वान् सूर्यदेवकी पत्नी संज्ञासे श्राद्धदेव नामक मनुने जन्म लिया और इसी महाभाग्यवती संज्ञासे यमदेव एवं यमी (यमुना) यमजरूपमें उत्पन्न हुए। संज्ञाने ही घोड़ीका रूप धारण करक पृथ्वीपर विचरण करते हुए सूर्य द्वारा दो अश्विनी क
दिया था॥४०॥

छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुन्ततः।
कन्याञ्च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम्॥ ४१॥

विवस्वान् सूर्यकी दूसरी पत्नीका नाम था छाया, जिससे शनैश्चर एवं सावर्णिमनु नामक
हुई। तपतीने संवरणका पतिरूपमें वरण किया॥४१॥

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता॥४२॥

अर्यमाकी पत्नी मातृकाक
जन्म ग्रहण किया। ये सभी पुत्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यक
युक्त थे। अर्यमाक
ब्रह्माजीने इन्हींक
कल्पना) की थी। (श्रुतियोंमें कहा गया है कि मनुष्य जातिमें ही आत्मानुसन्धान भावका विशेषरूपसे विकास हुआ है।)॥४२॥

पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत् पुरा।
योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः॥४३॥

पूषाकी कोई सन्तान नहीं थी। उनक
वे पिसा हुआ अन्न ही खाते थे। पूर्वकालमें जब शिवजी दक्षपर कोप कर रहे थे, तब ये अपने दाँत दिखाकर हँस रहे थे, इसलिये शिवजीक

त्वष्टुर्दैत्यात्मजा भार्या रचना नाम कन्यका।
संन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान्॥४४॥

दैत्योंकी आत्मजा (पुत्री) क
थी, उसक
किया—जिनक

तं वव्रिरे सुरगणाः स्वस्रीयं द्विषतामपि।
विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत्॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे दक्षकन्यावंशो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

विश्वरूप देवताओंक
बृहस्पतिने देवताओंकी उपेक्षा करक
तब उन देवताओंने पौरोहित्य-कर्मक
बना लिया था॥४५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

बृहस्पतिक

देवगुरुक

श्रीराजोवाच—

कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः।
एतदाचक्ष्व भगवन् शिष्याणामक्रमं गुरौ॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे भगवन्! क
शिष्य देवताओको किस कारणवश त्याग दिया? देवताओंने अपने गुरुक

श्रीबादरायणिरुवाच—

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप॥ २॥

विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३॥

विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः।
निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत॥ ४॥

उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः।
पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा॥ ५॥

युक्तश्चिह्नैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः।
विराजमानः पौलम्या सहार्द्धासनया भृशम्॥ ६॥

स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह।
नाभ्यनन्दत संप्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः॥ ७॥

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम्।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम्॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—महाराज! त्रिभुवनका ऐश्वर्य प्राप्त करक
करने लगे। एक समय वे सभामण्डपमें अपनी पत्नी शचीक
सिंहासनपर विराजमान थे। मरुद्गण, वसुगण, रुद्रगण, आादित्यगण ऋभुगण, विश्वेदेवगण, साध्यगण, दोनों अश्विनी क
गन्धर्वगण और ब्रह्मवादी मुनि उनक
विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पक्षी एवं नाग उनकी सेवा और स्तुति कर रहे थे। अप्सराएँ एवं गन्धर्व अति सुललित स्वरमें उनका यशोगान कर रहे थे। उनक
मनोहर, शुभ्र राजछत्र सुशोभित था तथा चँवर, व्यजन (पंखा) आदि चक्रवर्ती महाराजोचित समस्त सामग्रियाँ यथास्थान सुसज्जित थीं। इसी समय देवताओंक
सुर-असुर सभीक
हुए। अपने सम्मुख देवगुरु बृहस्पतिको आया देखकर भी देवराज इन्द्र अपने सिंहासनसे नहीं उठे और न ही उन्हें आसनादि प्रदान करक
प्रदर्शनक

ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वान् श्रीमदविक्रियाम्॥ ९॥

तब भविष्यको जाननेवाले बृहस्पति देवराज इन्द्रक
व्यवहारको देखकर समझ गये कि इन्द्र ऐश्वर्य-मदमें मत्त हो रहा है। वे इन्द्रको शापादिक
रहकर उसी क्षण सभामण्डपको छोड़कर अपने घर चले आये॥९॥

तर्ह्येव प्रतिबुद्ध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना॥ १०॥

देवगुरु बृहस्पतिक
सुधि आई कि उन्होंने गुरुदेवकी अवहेलना की है। यह स्मरण करक

अहो बत मयासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः॥ ११॥

अहो! यह मैंने क्या अनर्थ कर दिया। अपनी अल्पबुद्धिक कारण मैं ऐश्वर्य-मदमें मतवाला हो गया। मैंने सभा-मण्डपमें उपस्थित गुरुदेवका अभिनन्दन तो किया नहीं, तिरस्कार कर बैठा।॥११॥

को गृध्येत् पण्डितो लक्ष्मीं त्रिपिष्टपपतेरपि।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः॥ १२॥

सात्त्विक प्रवृत्तिवाले देवताओंका राजा होकर भी मैं इस सामान्यसे धनक
कौन ज्ञानवान् व्यक्ति मेरे इस तुच्छ धनको चाहेगा। हाय! हाय! मेरे ऐसे धनको धिक्कार है॥१२॥

ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन्न कञ्चन।
प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः॥ १३॥

जो लोग यह कहते हैं कि यदि चक्रवर्ती-सम्राट् राजसिंहासनपर बैठा है तो उसे किसी राजा अथवा ब्राह्मणादिक
नहीं उठना चाहिये, तो यही समझना चाहिये कि वह धर्मक
नियमोंको नहीं जानता॥१३॥

तेषां कुपथदेष्टॄणां पततां तमसि ह्यधः।
ये श्रद्दधुर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव॥ १४॥

जो तमोगुणी दूसरोंको क
साथ उनक
पार करनेकी इच्छावाले व्यक्तियोंक
प्रकार पहले पत्थरकी नाव स्वयं डूबती है, उसक
सवार लोग डूब जाते हैं, उसी प्रकार क
पहले स्वयं नरकमें गिरता है, बादमें उसक
जाते हैं॥१४॥

अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम्।
प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन्॥ १५॥

जो भी हुआ, अब मैं शठताका परित्याग करक
विनीत भावसे ज्ञानक
बृहस्पतिजीक

एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान् गृहात्।
बृहस्पतिर्गतोऽदृश्यां गतिमध्यात्ममायया॥ १६॥

देवराज इन्द्र इस प्रकार चिन्तन कर ही रहे थे कि परम शक्तिमान् बृहस्पति उनक
निकल गये और अपने योगबलसे शीघ्र ही अदृश्य हो गये॥१६॥

गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट्।
ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः॥ १७॥

देवराज इन्द्र देवताओंक
लगे। किन्तु वे कहीं भी उन्हें खोज न पाये। वे चिन्ता करने लगे—हाय! गुरुदेव मुझसे अप्रसन्न हो गये। अब असुरोंसे हमारी रक्षा क
देवताओंसे घिरे हुए थे, तथापि उनक

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्वे आश्रित्यौशनसं मतम्।
देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः॥ १८॥

इधर दुष्टबुद्धि आतयायी असुरोंने देवराजकी इस दुर्दशाका समाचार सुनकर दैत्यगुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे अस्त्रादि धारण कर लिये और देवताओंपर आक्रमण कर दिया॥१८॥

तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः॥ १९॥

असुरोंक
आदि अङ्ग क्षत-विक्षत होने लगे। वे और कोई उपाय न देखकर देवराज इन्द्रक

तांस्तथाभ्यर्दितान् वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन्॥ २०॥

सामर्थ्यवान् स्वयम्भू ब्रह्माजीने दैत्योंक
हुए देवताओंको बड़े ही कातर भावसे आते देखा, तब उनका हृदय अत्यन्त करुणासे भर गया। वे उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगे॥ २०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत्।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत॥ २१॥

ब्रह्माजीने कहा—हे श्रेष्ठ देवताओ! तुम लोग ऐश्वर्य-मदसे ऐसे मतवाले हो गये कि तुमने अपने सम्मुख उपस्थित ब्रह्मज्ञानी, संयमी एवं ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीका सत्कार नहीं किया। यह बड़े दुःखकी बात है। अहो! तुमने तो बड़ा अन्यायपूर्ण कार्य किया है॥ २१॥

तस्यायमनयस्यासीत् परेभ्यो वः पराभवः।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानाञ्च यत् सुराः॥ २२॥

इस अनीतिपूर्ण आचरणका ही यह परिणाम है कि शत्रुओंसे तुम्हारी पराजय हुई है। यदि ऐसा न होता तो इतने शक्तिशाली होनेपर भी इन निर्बल दैत्य शत्रुओंसे तुम्हारी हार क
हे देवताओ! ये असुरगण युद्धमें कितनी ही बार तुम लोगोंसे हारे हैं॥ २२॥

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात्।
सम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः।
आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः॥ २३॥

हे इन्द्र! पहले तुम्हारे शत्रु दैत्योंने अपने गुरु भृगु-शिष्य शुक्राचार्यका इसी प्रकार तिरस्कार किया था, जिससे उनका बल क्षीण हो गया था और अब उन्होंने श्रद्धापूर्वक गुरुकी आराधना

कर उन्हें प्रसन्न करक
देखो! शुक्राचार्यक
इतने शक्तिशाली हो गये कि अब वे मेरा धाम भी अनायास ही हरण कर सकते है। (देखो, गुरुका सम्मान और अपमान ही जगत्‌में सम्पद् और विपद्‌का कारण है)॥२३॥

त्रिपिष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-
मन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम्॥ २४॥

शुक्राचार्यक
(जिनकी मन्त्रणा अथवा आदेश दूसरा जान नहीं सकता) से सम्पन्न एवं दृढ़प्रतिज्ञ होकर देवताओंको क
गाय, ब्राह्मण और स्वयं भगवान् गोविन्द जिन राजाओंपर अनुग्रह करते हैं—उनका कभी भी अमङ्गल नहीं होता। (इनक
सभी व्यक्तियोंका पग-पगपर सर्वदा अशुभ ही होता है)॥२४॥

तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम्।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म॥ २५॥

इस समय तुम लोग एक कार्य करो। शीघ्र ही त्वष्टाक
'विश्वरूप'क
आत्मज्ञानी और संयमी ब्राह्मण हैं। तुम्हारे सत्कार और पूजासे सन्तुष्ट होनेपर वे तुम्हारे मनोरथको पूर्ण कर देंगे। उनमें एक दोष है कि वे असुरोंक
देकर असुरोंक

श्रीशुक उवाच—

त एवमुदिता राजन् ब्रह्मणा विगतज्वराः।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन्॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! ब्रह्माजीसे इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर देवताओंका सन्ताप क
त्वष्टा-पुत्र विश्वरूप ऋषिक
इस प्रकार कहने लगे॥२६॥

श्रीदेवा ऊचुः—

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते।
कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः॥ २७॥

देवताओंने कहा—हे प्रिय विश्वरूप! तुम्हारा मङ्गल हो। हम सभी देवतागण अतिथिरूपमें तुम्हारे आश्रयमें आये हैं। हम तुम्हारे पिता तुल्य हैं, अतः तुम हमारी समयोचित्त अभिलाषा पूर्ण करो॥२७॥

पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम्।
अपि पुत्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम्॥ २८॥

हे ब्रह्मन्! जो पुत्रवान हैं उनक
कि वे अपने पितृजनोंकी सेवा-शुश्रुषा करें। यदि वे ब्रह्मचारी हों, तब उनक

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्त्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः॥ २९॥
दयाया भगिनी मूर्त्तिर्धर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्त्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥ ३०॥

जो यज्ञोपवीत आदि प्रदान करक
अध्ययन कराता है, वह आचार्य साक्षात् वेदकी मूर्त्ति है। इसी प्रकार पिता ब्रह्माकी मूर्त्ति, भ्राता इन्द्रकी मूर्त्ति, माता साक्षात् पृथ्वीकी मूर्त्ति, बहिन दयाकी मूर्त्ति, अतिथि स्वयं धर्मकी मूर्त्ति, अभ्यागत अग्निदेवकी मूर्त्ति तथा सभी प्राणी सर्वात्मक भगवान् श्रीविष्णुकी मूर्त्ति हैं (अतः सभी प्राणियोंमें आत्मदृष्टि रखनी चाहिये)॥२९-३०॥

तस्मात् पितॄणामार्त्तानामार्त्तिं परपराभवम्।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि॥ ३१॥

हे वत्स! हम लोग शत्रुओंसे हार जानेक
हैं। शत्रुसे पराभवरूपी हमारे दुःखको तुम अपने तपोबलसे दूर कर दो। हमने जो प्रार्थनाएँ की हैं, उन्हें पूर्ण करो॥३१॥

वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम्।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा॥ ३२॥

तुम ब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हो। अतः वर्णमात्रसे ही तुम सभीक
करते हैं, क्योंकि तुम्हारे तपोबलक
सहज ही पराजित करक

न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम्।
छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम्॥ ३३॥

तुम हमसे छोटे हो, यह सोचकर मनमें किसी प्रकारकी आलोचनाकी आशङ्का मत करो क्योंकि प्रयोजनक
छोटोंकी चरण-वन्दना करनेसे कोई निन्दा नहीं होती। वास्तवमें देखो तो वैदिक मन्त्रोंको छोड़कर गुरुता (बड़प्पन) सर्वत्र आयुसे ही निर्धारित होती है, किन्तु वैदिक-कार्योंमें वेदोंका ज्ञान ही गुरुताका कारण होता है। अतः मन्त्र प्रदान करनेसे तुम हमारे ज्येष्ठ एवं पूज्य हो जाओगे॥३३॥

श्रीऋषिरुवाच—

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा॥ ३४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! जब देवताओंने इस प्रकार महातपस्वी विश्वरूपसे पुरोहित बननेकी प्रार्थना की, तो वे देवताओंसे प्रसन्न हो गये और सुमधुर वचनोंसे इस प्रकार कहने लगे॥३४॥

श्रीविश्वरूप उवाच—

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्च्चउपव्ययम्।
कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम्।
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते॥ ३५॥

श्रीविश्वरूपने कहा—हे देवताओ! पुरोहित कर्मसे पूर्वसिद्ध ब्रह्मतेजका क्षय होता है, इसलिये धर्मपरायण मुनियोंने इसकी निन्दा की है परन्तु मेरे जैसे व्यक्तिको आप जैसे लोकपालोंकी प्रार्थनाको अस्वीकार नहीं करना चाहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे आपसे अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी हैं। अतः हे नाथगण! आपक
स्वार्थ है॥३५॥

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं
तेनेह निर्वर्त्तितसाधुसत्क्रियः।
कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः॥ ३६॥

हे अधीश्वरगण! शीलोच्छन अर्थात् फसल कटनेपर भूस्वामी द्वारा उपेक्षित धान्यादि और हाट (बाजार) उठ जानेपर गिरे हुए दाने ही हम निष्किञ्चनोंका धन हैं। यही हमारी जीविका-वृत्ति है। इसीका निर्वाह करते हुये गृहस्थाश्रममें रहनेवाले साधुओंको पुण्य-कर्म करते रहना चाहिये। जिसकी बुद्धि बिगड़ गयी है, वही पुरोहित-कर्मसे प्राप्त धनक
मैं इस प्रकारक

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत्।
भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये॥ ३७॥

तथापि आप सब मेरे गुरुजन हैं। मैं अपना धन एवं जीवन अर्पण करक
अतिशय निन्दित होनेपर भी आपकी इस छोटी-सी प्रार्थनाको

पूर्ण करूँगा। अतः मैं अपना धन एवं जीवन अर्पण करक
आपकी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा॥३७॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः।
पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना॥ ३८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजन्! विश्वरूप महातपस्वी थे। देवताओंसे इस प्रकार प्रतिज्ञा करक
वरण कर लिये जानेपर परम उत्साह एवं लगनसे उनक
पौरोहित्य कर्म करने लगे॥३८॥

सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया।
आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः॥ ३९॥

यद्यपि शुक्राचार्यने अपनी विद्यासे देवताओंक
श्रीसम्पत्तिको सुरक्षित कर दिया था, तथापि अत्यन्त तेजस्वी विश्वरूपने नारायण-कवचरूप विद्यासे दैत्योंकी सम्पत्ति छीनकर इन्द्रको प्रदान कर दी॥३९॥

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः।
तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीविश्वरूपोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः॥

सहस्राक्ष इन्द्रने इस नारायण-कवच विद्याक
होकर दैत्य सेनानियोंको जीत लिया। उदारमति विश्वरूपने ही इस विद्याको देवराज इन्द्रको प्रदान किया था॥४०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

विश्वरूप द्वारा इन्द्रको नारायण कवचका उपदेश

श्रीराजोवाच—

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान्।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम्॥ १॥

भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम्।
यथाततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महात्मन्! जिस वैष्णवी विद्यासे रक्षित होकर देवराज इन्द्रने अपने शत्रुओंको उनक
अनायास ही परास्त करक
था और जिसक
लिए तैयार शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी, उस 'नारायण कवच' विद्याक

श्रीबादरायणिरुवाच—

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित बना लिया, तब इन्द्रक
विषयमें जो वर्णन किया था, वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम इसे ध्यानपूर्वक श्रवण करो॥३॥

श्रीविश्वरूप उवाच—

धौताङ्‌घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्‌मुखः।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः॥ ४॥

नारायणपरं वर्म सन्नह्येद् भय आगते।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि॥ ५॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्कारादीनि विन्यसेत्।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा॥ ६॥

विश्वरूपने कहा—यदि किसी प्रकारका सङ्कट अथवा भय उपस्थित हो जाय, तो सर्वप्रथम हाथ-पैर धोकर आचमन करे। उसक
धारण कर ले तथा शुद्ध भावसे अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर मन्त्रोंसे अङ्गन्यास एवं करन्यास करक
ले—पहले दोनों पैर, इसक
उदर, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और मस्तकपर यथाक्रमसे ओंकारादि मन्त्रसे विन्यास करे अर्थात् "ॐ नमो नारायणाय" इस अष्टाक्षर मन्त्रसे पूर्वोक्त आठ अङ्गोंमें ओंकारादि क्रमसे विन्यास करे। इसक बाद विपरीत भावसे उत्पत्ति-न्यास और संहार-न्यास करे अर्थात् सिरसे पैरों तक आठ अङ्गोंमें ओंकारादि आठ वर्णोंका विन्यास करे अथवा विपरीतभावसे अर्थात् 'य' से 'ॐ' अर्थात् सारे वर्णोंको पैरोंसे मस्तक तक संहार-न्यास करक
समस्त वर्णोंको सिरसे पैरों तक क्रमशः उत्पत्ति-न्यास करे। इस प्रकार उत्पत्ति-न्यास और संहार-न्यास करना चाहिए॥४–६॥

करन्यासं ततः कुर्याद्द्वादशाक्षरविद्यया।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७॥

इसक
मन्त्रसे करन्यास करे। उक्त मन्त्रक
करक
तक आठ अँगुलियोंमें क्रमसे आठ वर्णोंका न्यास करे। इसक बाद बचे हुये चार अक्षरोंसे दोनों हाथोंक
एवं अन्तिम पर्वमें न्यास करे॥७॥

न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्द्धनि।
षकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया न्यसेत्॥ ८॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्त्तिर्भवेद्बुधः॥ ९॥
सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्द्दिशेत्।
ॐ विष्णवे नम इति॥ १०॥

इसक
प्रकार न्यास करे—यथा हृदयमें 'ॐ' इस वर्णका न्यास करे,
क्रमशः मस्तकमें 'वि' यह वर्ण, दोनों भौंहोंक
कार, शिखामें 'ण' कार, दोनों नेत्रोंक
और शरीरक
तत्पश्चात् मन्त्रजपकर्त्ता विज्ञ व्यक्ति 'म' कार का 'अस्त्र'
रूपमें चिन्तन करक
पश्चात् 'म' कारका 'विसर्ग', 'अस्त्र' एवं अन्तमें 'फट्' क
साथ संयोग करक
पूर्व आदि समस्त दिशाओंमें न्यास करक
तरह सम्पूर्ण दिशाएँ इस मन्त्रसे उसक
रूपमें हो जाएँगी॥८-१०॥

आत्मानं परमं ध्यायेद्ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम्।
विद्यातेजस्तपोमूर्त्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत्॥ ११॥

इस प्रकारसे न्यास-समाप्त होनेक
धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छह शक्तियोंसे युक्त
करक
देवो देवमर्चयेत्"—इस शास्त्र-वचनक
अनुरूप-उससे अभिन्न रूपमें चिन्तन करे। तत्पश्चात् ज्ञान-तपस्या
और तेजकी मूर्त्तिस्वरूप तथा सत्कर्मोंक
नामक मन्त्रका जप करे॥११॥

ॐहरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप -
पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः॥ १२॥

जो पक्षीराज गरुडजीकी पीठपर अपने चरण-कमलोंको स्थापित कर अपनी आठ भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, ढाल, तलवार गदा, बाण, धनुष और पाश धारण करक
अष्ट-ऐश्वर्यमयी सिद्धियोंसे युक्त ऊँकारस्वरूप अष्टबाहु श्रीहरि मेरी सदा-सर्वदा रक्षा करें॥१२॥

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्त्ति-
र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात्।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः॥ १३॥

मत्स्यरूपधारी भगवान् हिंसक जलजन्तुरूपी वरुण-पाशसे मेरी रक्षा करें। माया-बलसे ब्रह्मचारीका रूप धारण करनेवाले भगवान् वामन स्थलपर तथा विश्वरूपी त्रिविक्रम भगवान् आकाशमण्डलमें मेरी रक्षा करें॥१३॥

दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः॥ १४॥

जिनक
असुर-रमणियोंक
शत्रु भगवान् श्रीनृसिंहदेव वनमें एवं युद्धक्षेत्रक
भयङ्कर स्थानोंमें मेरी रक्षा करें॥१४॥

रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः।

रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद्भरताग्रजोऽस्मान्॥ १५॥

जो अपने अङ्गरूपी यज्ञोंसे यज्ञेश्वररूपमें विख्यात हैं और जो पृथ्वीको अपनी तीक्ष्ण दाढ़ोंक
उठा लाये थे—वे भगवान् वराह मार्गमें मेरी रक्षा करें। भगवान् परशुराम पर्वतक
भाई भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रवासमें मेरी रक्षा करें॥१५॥

मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादात्-
नारायणः पातु नरश्च हासात्।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात्॥ १६॥

भगवान् नारायण अभिचार (मारण-मोहन) इत्यादि उग्रधर्मोंसे और कर्त्तव्य-कर्मोंक
रक्षा करें। ऋषिश्रेष्ठ नर मिथ्या गर्वसे मेरी रक्षा करें। योगेश्वर दत्तात्रेयरूपी भगवान् योग-भ्रंश अर्थात् योगसे पतनरूपी प्रमादादि विघ्नोंसे मेरी रक्षा करें और गुणोंक
कपिलरूपी भगवान् कर्म-बन्धन अर्थात् संसाररूपी भव-बन्धनसे मेरी रक्षा करें॥१६॥

सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात्।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात्॥ १७॥

भगवान् सनत्क
चलते समय देव-विग्रहोंको नमस्कारादि न करनेक
देवर्षि नारद भगवद् अर्चनमें सम्भावित बत्तीस प्रकारक
मेरी रक्षा करें। भगवान् क
रक्षा करें॥१७॥

धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्या-
द्द्वन्द्वाद्भयादृषभो निर्जितात्मा।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्-
बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः॥ १८॥

श्रीभगवान् धन्वन्तरिरूपमें क
करनेवाले द्रव्योंका भक्षण करनेसे, अन्तर तथा बाह्य इन्द्रियोंको जीतनेवाले ऋषभदेव शीत-उष्णादि द्वन्द्वजनित भयसे, भगवान् यज्ञावतार लोकापवादसे, बलभद्र भगवान् लोगोंद्वारा किये जानेवाले उत्पीड़नसे तथा शेषरूपमें भगवान् क्रोधान्ध सर्पोंसे मेरी रक्षा करें॥१८॥

द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्-
बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात्।
कलिकः कलेः कालमलात् प्रपातु।
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनवेदव्यास अज्ञानसे तथा बुद्धदेव वेदविरुद्ध आचरण एवं आलस्यवश वैदिक अनुष्ठानोंमें विमुखतारूपी प्रमादसे मेरी रक्षा करें और धर्मकी रक्षाक
जाता है, वे भगवान् कल्किदेव निकृष्ट एवं पाप-बहुल कलिसे मेरी रक्षा करें॥१९॥

मां केशवो गदया प्रातरव्याद्-
गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्ति-
र्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः॥ २०॥

मथुराधिपति भगवान् क
प्रथम पाँच घड़ी (सूर्योदयक
चौबीस मिनट की होती है) और वृन्दावनाधिपति भगवान् गोविन्द वंशी लेकर दिन चढ़नेपर (छह घड़ीसे दस घड़ी तक), समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न भगवान् नारायण दोपहरक

(ग्यारह घड़ीसे पंद्रह घड़ी तक) पूर्वाह्ण कालमें और शत्रुओंको मारनेक
दोपहरमें (सोलह घड़ीसे बीस घड़ी तक) मेरी रक्षा करें॥२०॥

देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा सायं त्रिधामावतु माधवो माम्।
दोषे हृषीकेश उतार्द्धरात्रे निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः॥२१॥

अपराह्णमें (दिनक
तक) प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदन मेरी रक्षा करें, सायंकाल (छब्बीस घड़ीसे तीस घड़ी तक) त्रिधाम (सत्, चित, और आनन्दक
मेरी रक्षा करें। प्रदोष (सन्ध्या) कालमें अर्थात् रात्रिकी प्रथम चार घड़ी तक हृषीक
पाँच घड़ीसे आरंभ कर चौदह घड़ी तक और पंद्रह घड़ीसे सोलह घड़ी तक भगवान् पद्मनाभ अक

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्द्दनः।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्त्तिः॥२२॥

मध्यकालक
श्रीवत्सचिन्हधारी भगवान् मेरी रक्षा करें, उषाकाल अर्थात् रात्रिकी अन्तिम चार घड़ियोंमें भगवान् जनार्दन तलवार धारण करक
करें, प्रभात-कालमें (सूर्योदयसे पूर्व) भगवान् दामोदर और प्रत्येक सन्ध्याक

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत् समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम्।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हुताशः॥२३॥

हे सुदर्शन चक्र! आपक
समान प्रखर एवं तीक्ष्ण हैं। आप भगवान् द्वारा नियुक्त होकर दशों दिशाओंमें भ्रमण करते हैं। जैसे अग्नि वायुक
तृणादिको भस्म कर देती है, उसी प्रकार आप हमारी शत्रु सेनाको भस्मीभूत कर दें॥२३॥

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि।
कुष्माण्डवैनायकयक्षरक्षोभूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्॥ २४॥

हे कौमोदकी गदा! आपसे निकलनेवाली चिनगारियोंका स्पर्श वज्रक समान प्रखर और कठोर है। आप भगवान्की अति प्रिया हैं, और मैं उनका सेवक हूँ। अतः आप हमारे शत्रु कुष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत, तथा ग्रहगणोंको भली-भाँति क

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृपिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन्।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितोभीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन्॥ २५॥

हे शङ्खराज पाञ्चजन्य! आप श्रीकृष्णक
पूरित होकर ऐसी भयङ्कर ध्वनि करें, जिससे शत्रुओंका हृदय काँप जाय। आप राक्षस, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच एवं अन्यान्य भयङ्कर दिखनेवाले ब्रह्मराक्षसोंको भगा दें॥२५॥

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्यमीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि।
चक्षूंषि चर्मन् शतचन्द्र छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम्॥ २६॥

हे तीक्ष्णधार खड्गराज! आप भगवानकी प्रेरणासे सञ्चालित होकर मेरी शत्रु-सेनाका छेदनकर, उन्हें खण्ड-विखण्ड कर डालें। हे शत-शत चन्द्राकारोंसे युक्त ढाल! आप पापात्मा शत्रुओंकी आँखें बींध दें और भयङ्कर दृष्टिवालोंको अन्धा बना दें॥२६॥

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा॥ २७॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपानुकीर्त्तनात्।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः॥ २८॥

आदित्यादि नवग्रह, धूमक
बिच्छु आदि रेंगनेवाले जन्तु, सिंह, व्याघ्रादि हिंसक प्राणी, प्रेतादि, जल, अग्नि, विद्युत आदिक
और हमारे मङ्गलक
नाम एवं रूपक

गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः॥ २९॥

बृहद्, रथन्तर आदि सामवेदीय मन्त्रोंसे जिनकी स्तुति होती है, वे वेदमूर्त्ति परमपूज्य प्रभु गरुड और भगवान् विष्वक्सेन अपने नामोंक

सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः॥ ३०॥

भगवान् श्रीहरिक
पार्षदगण हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी समस्त प्रकारकी (संभावित) विपत्तियोंसे रक्षा करें॥३०॥

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः॥ ३१॥

स्थूल-सूक्ष्मात्मक (मूर्त्त और अमूर्त्तस्वरूप) यह जगत् वस्तुतः भगवानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वस्तु-तत्त्वक
वास्तव-वस्तु भगवान्का ही कार्यस्वरूप है। जगत्क
भगवान्से एक भी वस्तु पृथक् नहीं है—यदि यह सत्य है, तो उन सत्यस्वरूप वास्तव-वस्तु भगवान्द्वारा हमारी समस्त विपत्तियाँ विनष्ट हो जाएँ॥३१॥

तथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम्।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया॥ ३२॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः॥ ३३॥

ईश्वर, जीव, माया और जगत्—ये सभी वस्तुएँ हैं। वस्तु-तत्त्व विचारसे इनमें किसी प्रकारका पार्थक्य नहीं है-इस प्रकारकी भावनावाले व्यक्तियोंक
विचारसे अभिन्न हैं, तो भी कृपाशक्ति बलसे वे जिस प्रकार कौस्तुभादि भूषण, सुदर्शनादि आयुध और चतुर्भुज-द्विभुजादि मूर्त्ति

(चिह्न अथवा लक्षण) धारण करते हैं, उसी प्रकार विद्वत्-प्रतीतिक सत्य प्रमाणक
सर्वज्ञ भगवान् श्रीहरि सर्वत्र सभी अवस्थाओंमें सर्वदा मेरी रक्षा करें। (आयुध भूषणादि उनकी जो शक्तियाँ हैं—वे सभी भेदरहित हैं। उनकी विविध शक्तियोंमें कोई अन्तर नहीं हैं, इसीलिये वे अद्वयतत्त्व कहलाते हैं)।

तात्पर्य यह है कि मनीषीगण (मध्वाचार्यादि) सत्यप्रमाण (वष्णुपुराण) क
सुदर्शन चक्रादि आयुध, कौस्तुभादि भूषण, श्रीराम, श्रीकृष्णादि नाम, उनकी द्विभुज, चतुर्भुजादि मूर्त्तियाँ (चिह्न)—सभी भगवान्से विकल्परहित अर्थात् भेदरहित हैं। सभीमें चिन्मयत्व होनेक
एकरूपत्व है—अतः सभी आयुध, भूषण, नाम, लक्षण (चिह्न) भगवत्-स्वरूपसे अभिन्न हैं। भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिभूत मायाशक्तिसे सदैव युक्त रहते हैं। वे सवर्ज्ञ, सर्वदेशगत एवं सर्वकालव्यापी हैं। उनक
से किसीकी पूजा करनेसे उनकी ही पूजा होती है। सर्वत्र उनकी शक्तियाँ निहित हैं॥३२-३३॥

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्तादन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः।
प्रहापयल्लोकभयं स्वनेन स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः॥ ३४॥

जो (श्रीनृसिंहदेव) भीषण गर्जना करते हैं अथवा जो (प्रह्लाद महाराज) अपने प्रभुक
सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देते हैं और जो (श्रीनृसिंहदेव) अपने तेजसे तेजस्वियोंक
आदिक
उनक
बाहर सर्वत्र मेरी रक्षा करें॥३४॥

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम्।
विजेष्यसेऽञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान्॥ ३५॥

हे इन्द्र! यह नारायण नामक कवच मैने तुम्हें सुना दिया। तुम इस कवचको धारण करक
विजय प्राप्त कर सकोगे॥३५॥

एतद्धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा।
पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते॥ ३६॥

इस कवचको धारण करनेवाला पुरुष जिसे भी देख लेता है अथवा जिसे भी अपने पैरोंसे छू लेता है, वह तत्काल ही भयसे मुक्त हो जाता है॥३६॥

न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित्॥ ३७॥

जो व्यक्ति इस नारायण कवच नामकी वैष्णवी विद्याको धारण कर लेते हैं, उन्हें कभी भी राजा, दस्यु, गृहादि अथवा व्याधि आदिसे किसी भी प्रकारका भय नहीं होता॥३७॥

इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि॥ ३८॥

हे देवेन्द्र! प्राचीन कालमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण था। उसने इस नारायणात्मिका विद्याको धारणकरक
अपनी देहका परित्याग किया था॥३८॥

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा।
ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः॥ ३९॥

जिस मरुभूमिमें उस ब्राह्मणने अपने शरीरका परित्याग किया था, एक बार उसक
साथ विमानपर सवार होकर जा रहे थे॥३९॥

गगनान्न्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः।
स वालिखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात्॥ ४०॥

उस स्थानको लांघनेक
होकर विमानक
मुनिक
पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीमें प्रवाहित कर दिया। उन्होंने स्वयं भी नदीमें स्नान किया और अत्यधिक विस्मित होकर अपने धाम गन्धर्वलोक चले गये। (वालिखिल्य मुनिने चित्ररथको बतलाया कि यदि तुम इन अस्थियोंको यहाँसे नदीमें प्रवाहित नहीं करोगे तो इस स्थानसे जा नहीं पाओगे) गन्धर्वराज चित्ररथ मुनिका उपदेश श्रवणकर उन अस्थियोंको सरस्वती नदीमें प्रवाहित कर वहाँसे जानेमें सफल हुए। नारायण कवच धारण करनेका ऐसा प्रभाव है॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात्॥४१॥
एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान्॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीनारायणवर्मोपदेशो नामाष्टमोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! जो व्यक्ति भय उपस्थित होनेपर इस नारायण-कवचको सुनता है अथवा जो इसे श्रद्धाक साथ धारण करता है, वह समस्त प्राणियोंका पूज्य हो जाता है और समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है। राजन्! शतक्रतु इन्द्रने विश्वरूपसे इस विद्याको प्राप्त करक
और वे त्रिभुवनकी सम्पत्तिका उपभोग करने लगे॥४१-४२॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

विश्वरूपका वध, वृत्रासुर द्वारा देवताओंकी पराजय भगवान्‌की प्रेरणासे देवताओंका दधीचि ऋषिक

श्रीशुक उवाच—

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! उस देवपुरोहित विश्वरूपक
वे सोमरसका पान करते थे, दूसरेका नाम 'सुरापीथ' था—जिससे वे सुरापान करते थे और तीसरे का नाम 'अन्नाद' था, जिससे वे अन्न भोजन करते थे॥१॥

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः।
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप॥ २॥

हे राजन्! देवता विश्वरूपक
विश्वरूप प्रत्यक्षरूपसे ही अति विनीत भावसे 'इन्द्राय इदम्' (यह भाग इन्द्रक
—आदि मन्त्रोंसे बड़े उच्च स्वरसे अग्नि आदि देवताओंक
हविष्य (यज्ञका भाग) प्रदान करते थे॥२॥

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।
यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः॥ ३॥

देवताओंक
अर्थात् मातृसम्बन्धी मातामहपक्षीय असुरोंमें प्रीतिक
वञ्चना करते हुए उन्हें भी गुप्तरूपसे हविर्भाग (यज्ञका भाग) प्रदान करते थे॥३॥

तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा॥ ४॥

एक समय देवराज इन्द्रने जान लिया कि विश्वरूप देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी यज्ञका भाग देते हैं। इस प्रकार तो ये धर्मकी आड़में कपट कर रहे हैं, इससे तो असुरोंकी वृद्धि हो जायेगी। इन्द्र इस सम्भावनासे डर गये और उनक
कारण अत्यन्त क्रोधित होकर उन्होंने तत्काल ही विश्वरूपक तीनों सिर काट डाले॥४॥

सोमपीथन्तु यत् तस्य शिर आसीत् कपिञ्जलः।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत् स तित्तिरिः॥ ५॥

उनका सोमपीथ नामक सिर-कपिञ्जल पक्षी (पपीहा/चातक), सुरापीथ नामक सिर कलविङ्क पक्षी (गौरैया) और अन्नाद नामक सिर तीतर पक्षी बन गया॥५॥

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः॥ ६॥

विश्वरूपक
लगा। यद्यपि वे (ईश्वरकी विभूति-रूप अधिकृत भक्त होनेक कारण) इस पापको दूर करने में समर्थ थे तथापि उन्होंने हाथ जोड़कर अनुताप करते हुए इस पापको ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अनुताप करते हुये एक वर्ष बीत जानेपर अपनी देहमें स्थित पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) की शुद्धिक
रूपी पापको भूमि, जल, वृक्ष एवं स्त्री—इन चार भागोंमें विभक्त कर दिया॥६॥

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते॥ ७॥

भूमिपर कहीं गड्ढा होनेपर वह स्वतः ही भर जायेगा, इन्द्रसे इस प्रकारका वरदान प्राप्त करक
पापका चतुर्थांश भाग स्वीकार कर लिया। आज भी यह पाप ऊसर भूमिक
ऊसर भूमिपर वेदाध्ययन आदि पुण्य कर्म निषिद्ध हैं)॥७॥

तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः।
तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते॥ ८॥

वृक्षोंने इन्द्रसे अपना कोई भी भाग कटनेपर पुनः उत्पन्न होनेका वरदान प्राप्त करक
भाग ग्रहण कर लिया। आज भी वृक्षोंक
पाप दिखायी देता है। (इसी कारणसे वृक्ष-निर्यास अभक्ष्य है)॥८॥

शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः।
रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते॥ ९॥

स्त्रियोंने, इन्द्रसे यह वरदान प्राप्त करक
हानिकारक न होने पर वे गर्भकालमें भी सर्वदा पुरुषोंका सङ्ग कर सक
आज भी प्रत्येक मासमें रजोरूपमें यह पाप देखा जाता है। (इसी कारणसे रजस्वला स्त्री अस्पृश्य है एवं भगवत्सेवादि कार्योंमें अव्यवहार्य है)॥९॥

द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम्।
तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन्॥ १०॥

जलने यह वरदान प्राप्त किया कि वह अन्य वस्तुओं (दुग्धादि) में मिश्रित होनेपर उस वस्तुकी वृद्धि करेगा तथा खर्च होनेपर भी निर्झरादिक
कर लिया। आज भी जलमें यह पाप बुद्बुद एवं फ
दिखायी देता है। बुद्बुद अथवा फ
ग्रहण होता है इसलिये उसे हटाकर जल ग्रहण करना चाहिए॥१०॥

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम्॥ ११॥

विश्वरूपक
करनेक
किया। इस यज्ञमें आहुति डालते समय उन्होंने इस प्रकार उच्चारण किया—इन्द्रशत्रो! विवर्द्धस्व अर्थात् हे इन्द्रक
वर्द्धित हो? तुम शीघ्र ही अपने शत्रु इन्द्रका विनाश करो।

[इस स्थान पर 'इन्द्रशत्रो' पदमें इन्द्रक
षष्ठी तत्पुरुष समासक
था, किन्तु स्वर उच्चारणक
उच्चरित हो गया। इसलिए इस यज्ञमें इन्द्रका शत्रु उत्पन्न न होकर इन्द्र ही जिसका शत्रु है—उस वृत्रासुरका जन्म हो गया। तत्पुरुष समाससे 'इन्द्रशत्रु' पदकी निष्पत्ति होनेसे पूर्वपद 'इन्द्र' शब्द अनुदात्त होगा और बहुब्रीहि समासमें निष्पन्न होनेसे पूर्वपद 'इन्द्र' शब्द उदात्त होगा। किन्तु त्वष्टाने दैवात् (दुर्भाग्यवश) इन्द्र शब्द उदात्त स्वरमें उच्चारित किया था—इसलिए यह विपरीत कार्य हो गया। शिक्षाशास्त्रोंमें भी इस सम्बन्धमें प्रमाण देखे जाते हैं]॥११॥

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा॥ १२॥

यज्ञ समाप्त होनेपर अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) से एक भयङ्कर आकृतिवाला असुर उत्पन्न हुआ, जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह साक्षात् कालात्मा हो, जो प्रलयक
अन्तमें ब्रह्माण्ड का नाश कर देगा॥१२॥

विष्वग्विवर्द्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम्॥ १३॥

तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम्।
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी॥ १४॥

नृत्यन्तमुन्नदन्तञ्च चालयन्तं पदा महीम्।
दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम्॥ १५॥
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम्।
महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश॥ १६॥

उस असुरका शरीर दिन-प्रतिदिन द्रुत गतिसे चारों ओरसे चलाये गये बाणोंक
जले हुये पर्वतक
अङ्गोंकी दीप्ति सन्ध्याकालीन मेघोंक
दाढ़ी-मूँछ तपे हुये ताँबेक
नेत्र मध्याह्नकालीन सूर्यक
देदीप्यमान त्रिशूलको हाथमें लेकर उच्च ध्वनिक
तब सारी पृथ्वी उसक
होता था, जैसे उसने स्वर्ग और पृथ्वीको अपने त्रिशूलपर उठा रखा हो। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वतकी गुफाक समान उसका विशाल शरीर अपने मुखमण्डलसे आकाशका पान करना चाहता है, जिह्वासे नक्षत्रमण्डलको चाट लेना चाहता है और अपनी विशाल एवं भयङ्कर दाढ़ोंसे तीनों लोकोंको निगल लेना चाहता है। ऐसे भयानक असुरको देखकर सभी लोग डर गये और दसों दिशाओंमें (चारों ओर) भागने लगे॥१३-१६॥

येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्त्तिना।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥ १७॥

त्वष्टाक
समस्त लोकोंको आवृत्त कर रखा था। अतः परम दारुण (क्रूर) इस पापात्माने 'वृत्र' अर्थात् सारे लोकोंको आच्छादित करनेवाला—इस अर्थक

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत् तानि कृत्स्नशः॥ १८॥

इसक

उसक

लगे, किन्तु उस वृत्रने समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको निगल लिया॥१८॥

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः॥ १९॥

उस असुरका ऐसा बल देखकर देवताओंक

सीमा न रही। वे निराश एवं दुःखी होकर निस्तेज-से हो गये। अतः सभी मिलकर एकाग्रचित्तसे सर्वान्तर्यामी आदिपुरुष भगवान् नारायणकी उपासना करने लगे॥१९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततोऽस्तु नः॥ २०॥

देवताओंने कहा—वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पञ्च महाभूतोंसे तीनों लोकोंकी सृष्टि हुई है। इस त्रिलोकीक अधिपति ब्रह्मादि देवगण एवं उनकी अपेक्षा अर्वाचीन हम सभी देवता कालक

परमेश्वर ही हमारी रक्षा करें॥२०॥

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम्॥ २१॥

जो निरहङ्कार हैं, जिनक

अर्थात् जो किसी भी घटनासे आश्चर्यचकित नहीं होते, जो अपने स्वरूपभूत परमानन्दमें ही सर्वथा पूर्णकाम रहते हैं, जो उपाधि अथवा परिच्छेद-रहित, सम एवं प्रशान्त अर्थात् रागादिसे रहित हैं, उनको

छोड़कर जो व्यक्ति किसी दूसरेकी शरण लेता है, वह महामूर्ख
निश्चय ही क
है। (जब स्वयं क
पूँछ पकड़नेवाला व्यक्ति किस प्रकार सागरको पार कर सकता
है। क
है, उसी प्रकार परमेश्वरका परित्याग कर जो अन्य उपायोंका
अवलम्बन करते हैं, वे सभी दुःख-सागरमें डूब जाते हैं)॥२१॥

यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम्।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद्दुरन्तात्
त्राताश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम्॥ २२॥

सत्यव्रत नामक मनु भगवान्की जिस मत्स्य मूर्त्तिक
सींगोंपर पृथ्वी रूपी अपनी नौकाको बाँधकर प्रलयकालीन महासङ्कटसे
अनायास ही बच गये थे, हम आज उन्हीं मत्स्य भगवान्क
हुए हैं। वे इस दुरन्त वृत्रासुररूपी भयसे हमारी रक्षा करें॥२२॥

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार
तस्माद्भयाद् येन स नोऽस्तु पारः॥ २३॥

सृष्टिक
उठी उत्ताल तरङ्गोंकी भीषण गर्जनासे ब्रह्माजी भगवान् नारायणक
नाभिकमलसे प्रलयजलमें प्रायः गिर ही पड़े थे। इस असहाय
अवस्थामें ब्रह्माजी जिनकी सहायतासे बच पाये थे, वे भगवान् ही
हमारी इस विपत्तिमें रक्षा करें॥२३॥

य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानु सृजाम विश्वम्।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः॥ २४॥

एकमात्र अद्वितीय तत्त्व भगवान् अपने माया-बल बहिरङ्गा शक्तिसे हमारी सृष्टि करते हैं और उनक
रचना करते हैं। वे हमारे सम्मुख अन्तर्यामीरूपमें विराजमान हैं, तो भी हम उनक
कि हम सब स्वयंको पृथक् तथा स्वतन्त्र ईश्वर मानकर अभिमान करते हैं॥२४॥

यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वात्मसात् पाति युगे युगे च॥ २५॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा॥ २६॥

शत्रुओं द्वारा प्रपीड़ित होनेपर हमें अपना मानकर—जो सच्चिदानन्द भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिक
मत्स्य, क
तिर्यक् और मनुष्यादिक
रक्षा करते हैं, जो समस्त जीवोंक
कारणोंक
विश्व-स्वरूप होकर भी विश्वसे भिन्न हैं (अर्थात् इस प्रपञ्चक समान विकारयुक्त नहीं हैं,) हम उन्हीं शरणागत-वत्सल भगवान्की शरण ग्रहण करते हैं। वे महानुभाव उदार शिरोमणि श्रीभगवान् हमारा कल्याण करें॥२५-२६॥

श्रीशुक उवाच—

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम्।
प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! देवताओंक
प्रकार स्तुति करनेपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीहरि पहले तो
उनक
स्थान दैत्योंसे आक्रान्त हो गये थे, इसलिए उन्होंने निर्जन स्थानपर
बैठकर स्तुति की थी)॥२७॥

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः।
दण्डवत् पतिता राजन् शनैरुत्थाय तुष्टुवुः॥ २९ ॥

हे राजन्! भगवान्क
आदि सोलह पार्षद उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनकी सेवा कर रहे
थे। वे सभी श्रीवत्सचिन्ह और कौस्तुभमणिको छोड़कर अन्यान्य सब
प्रकारक ृत थे। शारदीय प्रफ
समान नेत्रोंवाले भगवान्का दर्शन करक
हो गये। उन्होंने भूमिपर गिरकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और
धीरे-धीरे उठकर पुनः भगवान्की स्तुति करने लगे॥२८-२९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये॥ ३० ॥

देवताओंने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञवीर्य अर्थात् यज्ञादिक
कारण स्वर्गादि फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं तथा कालान्तरमें स्वर्गादि
फलोंका विनाश करनेवाले कालस्वरूप भी आप ही हैं। यज्ञोंमें
विघ्न डालनेवाले दैत्योंक
करनेक
सुललित नाम धारण करते हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं॥३०॥

यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम्।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति॥ ३१ ॥

हे धाता! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनोंसे प्राप्त होनेवाली स्वर्ग, अपवर्ग और नरक—इन तीन प्रकारकी गतियोंक एकमात्र नियामक आप ही हैं। आपका परमधाम वैक
अर्थात् आपकी नानाविध दृश्यसृष्टिकी रचनाक
हुई है, इसलिए हम जैसे अर्वाचीन व्यक्ति आपक
नहीं सकते। अतः हम क

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्॥ ३२॥

हे भगवन्! हे नारायण! हे वासुदेव! हे आदिपुरुष! हे महापुरुष! हे महानुभव! हे परममङ्गल! हे मङ्गलकारिन्! हे परम कल्याण! हे परम कारुणिक! हे निर्विकार! हे जगदाधार! हे लोक
हे सर्वेश्वर! हे लक्ष्मीनाथ! परमहंस परिव्राजकगण अष्टाङ्गयोग साधनाक
शुद्धान्तःकरणमें जो भगवद्-भजनरूपी पारमहंस्य धर्म प्रकट होता है, उससे चित्तक
और आत्मलोक अर्थात् प्रत्यक्स्वरूप प्रकाशित होता है। उस समय जो निजसुखस्वरूपकी उपलब्धि अथवा अनुभूति होती है, आप वे ही सुख-स्वरूप हैं। आपको कोई जान नहीं सकता, अतएव हम आपको नमस्कार करते हैं॥३२॥

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि॥ ३३॥

आप किसी भी आश्रय अथवा प्राकृत शरीरसे रहित हैं। आपको हमारी किसी भी प्रकारकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है। आप इस जगत्क

हैं तथा स्वयं निर्गुण होनेपर भी इस मायागुणमय विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं। आपकी लीलाका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है॥३३॥

अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलफलमुपाददाति। आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः॥३४॥

हे भगवन्! हम यह भी समझ नहीं पाते कि देवदत्तादि संसारी जीव जिस प्रकार संसारमें गृहादिका निर्माण करक
प्राप्त करते हैं? क्या आप ब्रह्मस्वरूप होकर भी इस जगत्में गुणकार्यभूत-जीव शरीरमें प्रवेश करक
अपने किये हुए क
अथवा आत्माराम, उपशमशील (शान्तस्वभाव) और नित्यचित्शक्तिसे युक्त होकर क

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमितगुणगणे ईश्वरेऽन-वगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिला-न्तःकरणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्द्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्॥ ३५॥

हे देव! आपमें परस्पर विरोधी सभी धर्मोंका समावेश है क्योंकि आप भगवान् हैं। आप अपरिमित गुणोंक
कोई नहीं जान सकता। वैशेषिकादि नव्य शास्त्रोंमें विकल्प (इस प्रकार से अथवा उस प्रकार से), वितक
विचार (ऐसा ही होना चाहिये) और प्रमाणाभास (अवैध प्रमाण) की सहायता लेकर क
चित्त भ्रमित एवं क्षुब्ध हो गया है, वे प्रकृत-वस्तुरूप आपका संस्पर्श भी नहीं कर सकते। उनक
होता है, उससे आप अगोचर हैं। आप सम्पूर्ण माया-प्रपञ्चसे दूर रहते हैं। आप अद्वितीय हैं, आपमें कर्त्तृत्व-अकर्त्तृत्व, सुख-दुःख

आदि कोई विरोधी धर्म है ही नहीं। आपकी अघटनघटनपटीयसी आत्ममाया अर्थात् चिच्छक्तिक
नहीं है, आप सभी कुछ करनेमें समर्थ है। इसी कारण आपकी स्वाभाविक स्थिति बन्धन और मुक्ति आदि द्वैतसे रहित है॥३५॥

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्॥ ३६॥

हे भगवन्! जिस प्रकार रस्सीका टुकड़ा यथार्थ बुद्धिवाले व्यक्तियोंको रस्सीरूपमें ही दिखायी देता है और वे उससे कभी भी भयभीत नहीं होते, किन्तु भ्रान्त व्यक्ति उसीको सर्प समझकर भयभीत हो जाते हैं। आप भी इसी प्रकार समबुद्धिसे युक्त ज्ञानी व्यक्तियोंको अभय प्रदान करते हैं और विषम बुद्धि अर्थात् अज्ञानियोंको भयभीत कर देते हैं। सच तो यह है कि जीव अपनी-अपनी बुद्धिक
आपमें सम-विषम भाव नहीं है॥३६॥

स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः॥ ३७॥

विचार करक
आप ही समस्त प्रपञ्चमें परमार्थभूत, सत्स्वरूप, समस्त जगत्क कारण-रूप, सर्वेश्वर, महत् आदिक
प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तर्यामी हैं। समस्त बुद्धि, इन्द्रियों एवं विषयोंक प्रकाशकरूपमें आपको ही देखा जाता है। आपसे अतिरिक्त जो क
माया, मायिक वस्तुमात्र सभी पदार्थोंक
ही अवशिष्ट रहते हैं। आपसे भिन्न और क

अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टिश्रुतिविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरतनिर्वृतमनसः कथमुह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला

ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्तवच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्त्तः॥ ३८॥

हे मधुसूदन! जो आपकी महिमाक
भी ग्रहण कर लेता है, उसक
धारा बहने लगती है। उसे पहले देखे एवं सुने हुए मायिक विषयोंक
होकर परम भागवत हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंक
सुहृद्, सर्वात्मा एवं ऐश्वर्यवान् आपमें चित्त समर्पित करक
सुखी रहता है। आपक
आप ही इनकी आत्मा और प्रिय सुहृद् हैं। आपक
पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता। आप ही बतायें कि वे आपकी चरणाम्बुज-सेवाका परित्याग किस प्रकार कर सकते हैं?॥३८॥

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवन् जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे॥ ३९॥

हे त्रिभुवनस्वरूप! हे त्रिभुवनजनक (तीनों लोकोंमें जिनकी दृष्टि है)! हे त्रिविक्रम (वामनरूपधारी)! हे त्रिनयन (नृसिंहरूपधारी— तीनों लोकोंमें जिनकी दृष्टि है)! हे त्रिलोकमनोहारी। दैत्य, दानव और मनुष्य आदि आपकी विभूतियाँ हैं। हे दण्डधर! जब-जब दैत्योंका अभ्युत्थान होता है, आप उस समय अपनी मायाशक्तिक
बलसे कभी वामनादि देवतारूपमें कभी राम-कृष्णादि मनुष्यरूपमें, कभी वराहादि पशुरूपमें कभी हयग्रीव-नृसिंहादि मिश्रितरूपमें और कभी मत्स्य-क
असुरोंको उनक
आप इस वृत्रासुरको वधक
कर दीजिए॥३९॥

अस्माकं तावकानां तततत नतानां हरे तव चरणनलिन-युगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरेणात्मसात्कृतानामनुकम्पानु-रञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम्॥ ४०॥

हे रक्षक! हे पितामह! हे अनघ! हे हरे! हम आपक
चरणारविन्दोंमें सदैव सिर झुकाये रहते हैं। आपक
ध्यानमें ही हमारा चित्त सदैव निमग्न रहता है। आपने अपना श्रीविग्रह प्रकट करक
है। आप अपनी अनुकम्पासे रञ्जित विशद, शीतल एवं मृदु हास्यसे युक्त अपने अवलोकन एवं सुमधुर वचनोंक
उत्पन्न होनेवाले हमारे मनस्तापको दूर कीजिए॥४०॥

अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमाया विनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगा-त्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानो-पलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात् परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वार्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद्वि स्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः॥ ४१॥

हे भगवन्! आप अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लयकी कारणभूत अपनी अन्तरङ्गा शक्ति योगमायाक
सर्वदा विनोद-विलास करते हैं। आप समस्त जीवोंक
ब्रह्म और अन्तर्यामी परमात्माक
विराजमान रहते हैं। आप देश, काल और देहकी जो बाल, पौगण्डादि अवस्थाएँ हैं, उन सबका अतिक्रमण न करक
स्वीकार कर लेते हैं। सभी देवतादि जीवोंक
और प्रकाशकरूपमें आप ही प्रतीत हो रहे हैं। आप बुद्धि आदि समस्त प्रत्ययोंक
विकृत नहीं हो सकते, क्योंकि आपका स्वरूप आकाशक
निर्मल, सर्वगत (सर्वव्यापक) होनेपर भी अस्पृश्य है। हे प्रभो!

जिस प्रकार अग्निकी अंशभूत चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार इन चिनगारियोंक
सम्मुख क्या अपना कोई स्वार्थ प्रकट कर सकते हैं? आप सब क

अतएव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४२ ॥

आप सर्वज्ञ हैं। जिस कार्य सिद्धिकी कामनासे हम आपक चरणकमलोंकी छायामें उपस्थित हुए हैं, आप हमारे उस अभिप्रायको भलीभाँति जानते हैं। आप परमगुरु हैं। आप स्वयं ही हमारे कार्यको सम्पन्न करें। आपक
शरणागत भक्तोंकी विविध पापजनित संसार-श्रान्तिका (संसारमें भ्रमणशील परिश्रमका) उपशम हो जाता है॥४२॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम्।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च॥ ४३॥

अतएव हे ईश! आप त्वष्टाक
यह हमारा तेज, अस्त्र-शस्त्र एवं आयुधादि सभी क
है। अब तो यह तीनों भुवनोंको ही निगल लेना चाहता है। हे परम नियन्ता! इसका संहार कीजिए॥४३॥

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते॥ ४४॥

आप अति विशुद्ध हृदयाकाशमें रहनेवाले, चित्त-वृत्ति आदिक साक्षी, अनादि, उज्ज्वल यशसे युक्त, सदानन्द कृष्णस्वरूप हैं। आपका स्वरूप शुद्ध भक्तों द्वारा ज्ञेय है। संसारमें भटकते हुए प्राणी जब आपक

सार्थकता हो जाती है क्योंकि सर्वोत्तम फलक
प्राप्त हो जाते हैं। हे हरे! हम आपको नमस्कार करते हैं॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

अथैवमीडितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः।
समुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः॥ ४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! देवताओंने जब अत्यन्त आदरसे इस प्रकार श्रीहरिकी स्तुति की, तब उसे सुनकर भगवान् प्रसन्न हो गये और देवताओंसे इस प्रकार कहने लगे—॥४५॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठ मदुपस्थानविद्यया।
आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि॥ ४६॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवराज! तुम लोगोंने जिस प्रकारसे ज्ञानयुक्त स्तुतिसे मेरा स्तवन किया है, मैं उसे सुनकर तुम लोगोंसे अति प्रसन्न हुआ हूँ। ऐसे ज्ञानसे संसारक
मेरे ऐश्वर्यकी स्मृति होने लगती है और मेरे प्रति भक्ति उदित हो जाती है॥४६॥

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित्॥ ४७॥

हे बुद्धिमान् देवताओंमें श्रेष्ठगण! यद्यपि मेरे प्रसन्न होनेपर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती, तथापि तत्त्वज्ञानी मेरे अनन्यभक्त मेरे अतिरिक्त और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते॥४७॥

न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक्।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद् यदि सोऽपि तथाविधः॥ ४८॥

जो गुणजात विषय-प्रपञ्चको ही तात्त्विकरूपसे सत्य समझते हैं, वे कृपण हैं। वे कभी भी आत्म कल्याणको जान नहीं सकते। ऐसे विषयोंक

अभीष्ट वस्तु देता है, तो वह देनेवाला भी उनक
मूर्ख है॥४८॥

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः॥४९॥

जो स्वयं परमानन्द-प्राप्तिक
हैं, वे कभी भी अज्ञान व्यक्तिको प्रवृत्ति-मार्गका उपदेश देकर उन्हें कर्मोंमें नहीं फँसा सकते। (सहायता करना तो दूरकी बात है) रोगी क
करनेक

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम्॥५०॥

हे मघवन् (इन्द्र)! तुम्हारा कल्याण हो! महर्षि दधीचि समस्त ऋषियोंमें श्रेष्ठ हैं। तुम उनक
व्रत एवं तपस्यासे अति सुदृढ़ हो गया है। तुम शीघ्र जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो। विलम्ब मत करो॥५०॥

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात्॥५१॥

ऋषि दधीचिने (दध्यञ्चने) स्वयं ही ब्रह्मविद्याको प्राप्त किया था और उन्होंने इस ब्रह्मज्ञानको अश्विनीक
दधीचिने अश्वशिर (घोड़ेका मुख) धारण करक
था, इसीलिये उनक
मन्त्रक
ऋषिक

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम्।
विश्वरूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वमधास्ततः॥५२॥

अथर्ववेदी दधीचिने मेरे स्वरूपभूत दुर्भेद्य नारायण कवचको प्राप्त करक

प्रदान किया और विश्वरूपने तुम लोगोंको इसका उपदेश किया। इस विद्या-बलसे ही दधीचिका शरीर अति सुदृढ़ एवं पुष्ट हो गया है। तुमलोग उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें अपना शरीर प्रदान कर दें॥५२॥

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः।
येन वृत्रशिरो हर्त्ता मत्तेज उपबृंहितः॥५३॥

तुम लोंगोंकी ओरसे दोनों अश्विनी क

लिए याचना करें, वे उन्हें अपना शरीर अवश्य प्रदान करेंगे। इस विषयमें कोई सन्देह मत करना; क्योंकि ऋषि दधीचि धर्मक

कर देंगे, तब विश्वकर्मा उनकी अस्थियोंसे आयुध-श्रेष्ठ वज्रका निर्माण करेंगे॥५३॥

तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान्॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीभगवदुपदेशो नाम नवमोऽध्यायः॥

मेरे तेजसे अतिशय तेजवान होकर तुम उस वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट लोगे। वृत्रासुरक

और सम्पत्ति पुनः प्राप्त हो जायेंगे और तुम्हारा मङ्गल होगा। त्रिभुवनको निगलनेकी क्षमता रखनेवाला यह महासुर तुम लोगोंको मार डालेगा—ऐसी शङ्का कभी मत करना। जो मेरे शरणागत हैं, मुझसे युक्त हैं, उन्हें कोई नहीं मार सकता॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

देवताओं द्वारा दधीचि ऋषिकी अस्थियोंसे वज्र-निर्माण और वृत्रासुरकी सेनापर आक्रमण

श्रीबादरायणिरुवाच—

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः।
पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विश्वभावन श्रीहरि इन्द्रको इस प्रकार आदेश प्रदान करक
स्थानसे अन्तर्हित हो गये॥१॥

तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान्।
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत॥ २॥

हे राजन्! भगवान्की आज्ञानुसार देवता अथर्वक
दधीचिक
दधीचि उनकी प्रार्थना सुनकर प्रसन्न हुए, परंतु उनसे धार्मिक उपदेशोंको सुननेक

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम्।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः॥ ३॥

हे देवताओ! तुम लोग इन्द्रियाधिष्ठाता देवता होकर भी यह नहीं जानते कि देहधारी जीवोंको मृत्युक
होती है। यह यन्त्रणा इतनी कष्टदायक होती है कि यह जीवकी चेतनाका हरण करक

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे॥ ४॥

इस संसारमें जीवोंक
अतः जो जीवित रहनेकी अभिलाषा करते हैं, उनक
देहकी सब प्रकारसे रक्षा करना युक्तियुक्त है। अतः यदि स्वयं विष्णु भी अतिथिक
उन्हें भी कौन अपनी देह देनेक

श्रीदेवा ऊचुः—

किं नु तद्दुस्त्यजं ब्रह्मन् पुंसां भूतानुकम्पिनाम्।
भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम्॥ ५॥

देवताओंने कहा—हे ब्रह्मन्! बड़े-बड़े यशस्वी पुण्यवान् जिनक
कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियोंपर दया करनेवाले आप जैसे महात्मा परोपकारक
कोई वस्तु नहीं है, जो आपक

नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः॥ ६॥

ये याचक भी बड़े स्वार्थी होते हैं, दूसरों (दाताओं) क
समझ नहीं सकते। याचक यदि दाताक
दानक
व्यक्ति यदि याचककी विपत्ति समझ जाय, तो वह याचकको न ही क्यों कहेगा?॥६॥

श्रीऋषिरुवाच—

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम्॥ ७॥

दधीचि ऋषिने कहा—मैंने आप लोगोंक
बातोंको सुननेकी इच्छासे ही आपको देह देनेक
किया था। यह देह मुझे अतिशय प्रिय है, तो भी एक दिन मुझे इसे छोड़ना ही पड़ेगा। अतः इस देहको मैं आपक
उपकारक

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥ ८॥

हे देवताओ! जो मनुष्य प्राणियोंपर दयाक
इस अनित्य देहसे धर्म एवं यशका उपार्जन करनेका प्रयास नहीं करता, वह स्थावर वृक्षादिसे भी अधिक शोचनीय है॥८॥

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥ ९॥

जो व्यक्ति प्राणियोंक
होते हैं, पुण्यश्लोक व्यक्ति उनक
उनकी उपासना करते हैं॥९॥

अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः॥ १०॥

इस देहको मृत्युक
यह अपने किसी कामकी नहीं है, क्षण भरमें नष्ट होनेवाली है। इस देहक
हैं। मरणधर्मी मनुष्य यदि इनसे दूसरोंका उपकार नहीं करता, तो उसका जीवन क

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयन् जहौ॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! अथर्व-पुत्र ऋषि दधीचिने अपने अस्थि-दानका निश्चय करक
आत्माको एकीभूत करक
पाञ्चभौतिक देहका त्याग कर दिया॥११॥

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग्ध्वस्तबन्धनः ।
आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम्॥ १२॥

उस समय उन्होंने इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि आदिको वशीभूत करक
उनक
देह उनसे कब पृथक् हो गयी॥१२॥

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा।
मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः॥ १३॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव॥ १४॥

तत्पश्चात् देवराज इन्द्रने दधीचि मुनिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा द्वारा वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करवाया। इसक
धारण करक
दधीचि मुनिकी शक्तिसे शक्तिवान् और भगवत् तेजसे प्रकाशवान् हो रहे थे। सारे देवता उन्हें घेरे हुए थे। मुनिगण उनकी स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार अत्यन्त शोभायमान होकर वे तीनों लोकोंको हर्षित कर रहे थे॥१३-१४॥

वृत्रमभ्यद्रवच्छत्रुमसुरानीकयूथपैः ।
पर्यस्तमोजसा राजन् क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम्॥ १५॥

राजा परीक्षित्! रुद्र जिस प्रकार अत्यन्त क्रोधित होकर अन्तक (यमराज) को मारनेक
होकर बड़े वेगक
ओर दौड़ पड़े॥१५॥

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः।
त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे॥ १६॥

तदनन्तर वैवस्वत मन्वन्तरकी पहली चतुर्युगीक
समाप्ति और त्रेतायुगक
एवं दैत्योंमें अति भीषण युद्ध हुआ॥१६॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः।
मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम्॥ १७॥

दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया।
नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुरःसराः॥ १८॥

हे राजन्! वृत्रासुरादि प्रमुख असुरोंने युद्ध-प्राङ्गणमें देखा कि मरुत्पति इन्द्र वज्र धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं। उनक

बह्निगण, ऋभुगण, साध्यगण, विश्वेदेवगण भी उपस्थित हैं। इन्द्रका यह शक्ति-वैभव असुरोंक

नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्द्धा ऋषभोऽसुरः।
हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः॥ १९॥

पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः।
दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः॥ २०॥

सुमालिमालिप्रमुखाः कार्त्तस्वरपरिच्छदाः।
प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम्॥ २१॥

अभ्यर्द्दयन्नसम्भ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः।
गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः॥ २२॥

असुरोंमें स्वर्णालङ्कारोंसे सुसज्जित नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्द्धा, ऋषभ, असुर, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल सम्मिलित थे। उनकी ओरसे सैकड़ों-हजारों दैत्य, दानव यक्ष, राक्षस (मनुष्य-भक्षक) तथा सुमाली, माली आदि दुर्दान्त असुर स्वर्णाभूषणोंसे सुसज्जित होकर सिंहक

इन्द्रकी सेनाको साक्षात् काल भी नहीं जीत सकता था तो भी असुर उनक

परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर तथा तोमर आदि अस्त्रोंसे उन्हें पीड़ित करने लगे॥१९-२२॥

शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः।
सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान्॥ २३॥

उन असुरोंने चारों दिशाओंसे त्रिशूल, क
शतघ्नी एवं भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे आक्रमण करते हुए देवताओंकी सेनाक
कर दिया॥२३॥

न तेऽदृश्यन्त सञ्छन्नाः शरजालैः समन्ततः।
पुङ्खानुपुङ्खं पतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः॥ २४॥

आकाशमें मेघोंक
देते, उसी प्रकार चारों दिशाओंसे एकक
बाणोंसे आच्छादित हो जानेक
रहे थे॥२४॥

न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यसेदुः सुरसैनिकान्।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा॥ २५॥

परीक्षित्! अस्त्र-शस्त्रोंकी यह वर्षा देवताओं तक पहुँच ही नहीं पाई अर्थात् उनक
हस्तलाघव (द्रुतगतिसे बाण चलानेक
लक्ष्य स्थानपर पहुँचनेसे पहले आकाश-मार्गमें ही उन शस्त्रास्त्रोंको खण्ड-खण्ड कर डालते थे॥२५॥

अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः।
अभ्यवर्षन् सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत्॥ २६॥

असुरोंने जब देखा कि उनक
हैं, तब वे देवसेनाक
फ
चूर्ण-विचूर्ण कर दिया॥२६॥

तानक्षतान् स्वस्तिमतो निशाम्य शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गैरविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७॥

वृत्रासुरक
प्रहारसे भी देव-सैनिक अक्षत और क
प्रस्तर और पर्वतोंक
हुई है, यह देखकर वे अत्यन्त भयभीत हो गये॥२७॥

सर्वे प्रयासा अभवन् विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता उषती रूक्षवाचः॥ २८॥

जिस प्रकार तुच्छ व्यक्ति क्रोधमें भरकर महापुरुषोंक
दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं, परन्तु महद् व्यक्ति उनसे क्षुब्ध नहीं होते; अतः वे कटुवचन निष्फल ही रह जाते हैं, उसी प्रकार असुर देवताओं पर बार-बार प्रतिक
कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण देवताओंक
उनक

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः॥ २९॥

भगवान् श्रीहरिक
करनेका उनका सारा गर्व चकनाचूर हो गया। देवताओंने उनका धैर्य-शौर्य, बल-पौरुष सब क
विफल होता देख असुरोंने युद्ध-भूमिमें अपने प्रमुख सेनानायक वृत्रासुरका परित्याग करक

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत्।
पलायितं प्रेक्ष्य बलञ्च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः॥ ३०॥

धीर-प्रवीर वृत्रासुरने जब देखा कि उसक
अत्यधिक भयभीत होकर पलायन कर रहे हैं एवं परमवीर
कहलाये जाने वाले उसक
युद्ध-भूमि छोड़कर भाग रहे हैं तो वह हँसकर इस प्रकार
कहने लगा— ॥३०॥

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनां-
जगाद वाचं पुरुषप्रवीरः।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वन् शम्बर मे शृणुध्वम्॥ ३१॥

हे राजन्! पुरुष-प्रवीर वृत्रासुरक
करनेवाले, देश, काल तथा परिस्थितिक
मनस्वियोंक
विप्रचित्ति! हे नमुचि! हे पुलोमा! हे मय! हे अनर्वा! हे शम्बर!
तुम सभी मेरे वचनोंको सुनो॥३१॥

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम्॥ ३२॥

इस संसारमें जीव मात्रकी ही मृत्यु अवश्यसम्भावी है। आजतक
कोई भी इसक
भी इसक
इस लोकमें यश और परलोकमें स्वर्गलोककी सम्भावना रहती है,
तब कौन व्यक्ति ऐसी समुचित एवं यशस्वी मृत्युका वरण नहीं
करेगा? ॥३२॥

द्वौ सन्मताविह मृत्यु दुरापौ
यद्ब्रह्मसन्धारणया जितासुः।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्-
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीइन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः।

योगमार्गमें चलते हुये प्राणादि इन्द्रियोंको संयमित करक चिन्तनमें शरीरका त्याग करना एक प्रकारकी मृत्यु है और युद्धक्षेत्रमें पीठ न दिखाकर शत्रुओंका सामना करते हुए शरीरको त्यागकर वीरगति प्राप्त करना दूसरे प्रकारकी मृत्यु है। धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि ये दोनों प्रकारकी मृत्यु ही श्रेष्ठ एवं दुर्लभ हैं (तुमलोग भला, ऐसा शुभ अवसर क्यों खो रहे हो।)॥३३॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

वज्रधारी इन्द्रक
भक्ति सम्बन्धी भगवत्प्रार्थना और भगवत्प्राप्ति

श्रीशुक उवाच—

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः।
नैवागृह्णन् भयसन्त्रस्ताः पलायनपरा नृप॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! असुर सेनाधिपति वृत्रासुर इस प्रकार धर्मोपदेश कर रहा था, किन्तु युद्धसे भागनेवाले उन असुरोंका हृदय अति व्याक
कारण उन लोगोंने क

विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत्॥ २॥
दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः।
तान् निवार्यौजसा राजन्निर्भर्त्स्येदमुवाच ह॥ ३॥

हे राजन्! देवता समयकी अनुक
खदेड़ रहे थे और वे निराश्रय होकर बिखर गये थे। असुर-श्रेष्ठ, इन्द्र-शत्रु-वृत्रासुर असुरोंकी यह कायरता देखकर अत्यन्त दुःखी हो गया और अन्तमें इतना असहिष्णु हो गया कि उसने क्रोधमें भरकर बलपूर्वक देवसेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया और तिरस्कार करते हुए इस प्रकार कहने लगा॥२-३॥

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः।
न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम्॥ ४॥

हे देवताओ! इन भागनेवाले सभी असुरोंने माताक
मलमूत्रक

जन्म ग्रहण करना निरर्थक ही है। ऐसे कायर शत्रुओंको, जो भयसे पलायन कर रहे हैं, उन्हें पीछेसे मारनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? जो स्वयंको वीर मानकर अभिमान करते हैं, उनक
अपनी मृत्युसे भयभीत लोगोंका वध करना उचित नहीं है। इससे न तो उनकी प्रशंसा होती है और न ही स्वर्गकी प्राप्ति॥४॥

यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि।
अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद्ग्राम्यसुखे स्पृहा॥५॥

यदि तुम्हें युद्धमें अपनी वीरता दिखानेमें विश्वास है, अन्तःकरणमें धैर्य है और जीवित रहकर विषयभोगोंकी अभिलाषा नहीं है, तो हे क्षुद्र देवताओ! क्षणभरक
सम्मुख ठहरो॥५॥

एवं सुरगणान् क्रुद्धो भीषयन् वपुषा रिपून्।
व्यनदत् सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः॥६॥

वृत्रासुर महाबलशाली था। उसने क्रुद्ध होकर अपना विशाल शरीर दिखलाकर देवताओंको भयभीत करते हुए अत्यन्त भीषण सिंहनाद किया, जिससे सारे जीव मूर्च्छित हो गये॥६॥

तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै।
निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः॥७॥

देवतागण वृत्रासुरक
भूमिपर इस प्रकार गिर पड़े मानो उनपर बिजली गिर पड़ी हो॥७॥

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः॥८॥

रण-प्राङ्गणमें उन्मत्त हुआ वृत्रासुर त्रिशूल हाथमें लेकर उसे बलपूर्वक उछालने लगा। उसक
भयभीत होकर देवताओंने आँखें मूँद लीं। मदमत्त यूथपति हाथी

जिस प्रकार नरकटक
मूर्च्छित देवताओंको अपने पैरोंसे क

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम्।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया॥ ९॥

देवराज इन्द्रने यह देखकर अत्यन्त क्रोधसे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले अपने शत्रुकी ओर एक अत्यन्त शक्तिशाली गदा फेंकी। वृत्रासुरने अपने सम्मुख तीव्रतासे आती हुई इस दुःसह गदाको अनायास ही बायें हाथसे पकड़ लिया॥९॥

स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोरुविक्रमः।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन् मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप॥ १०॥

हे राजन्! इसक
अतिशय क्रोधित होकर संग्राम-क्षेत्रमें उच्च स्वरसे गर्जना करते हुए उसी गदासे इन्द्रक
इस अद्भुत कार्यकी स्वपक्षक
करने लगे॥१०॥

ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा।
अपासरद्भिन्नमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक् सप्तधनुर्भृशार्तः॥ ११॥

वृत्रासुरक
फट जानेसे ऐरावत अत्यन्त पीड़ित होकर खून उगलता हुआ वज्रसे आहत पर्वतक
पीठपर इन्द्रको लिये हुए ही अट्ठाईस हाथ दूर जा गिरा॥११॥

न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे
प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा।
इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श-
वीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥ १२॥

ऐरावतको विषादग्रस्त देखकर देवराज इन्द्रका चित्त दुःखी हो गया। इस अवसरपर धर्मप्राण वृत्रासुरने इन्द्रक
परन्तु इन्द्रने इसी बीच अमृतस्रावी अपने हाथोंक
घावकी व्यथाको दूर कर दिया और उसी स्थानपर आ डटे॥१२॥

स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसन् जगाद॥ १३॥

हे राजन्! वृत्रासुरने जब अपने भाई विश्वरूपक
शत्रु इन्द्रको युद्धकी इच्छासे वज्र धारण किये हुए अपने सम्मुख खड़े देखा तो उसे उनक
पापकर्मका स्मरण हो आया। वह शोक और मोहसे भ्रमित होकर हँसते-हँसते कहने लगा॥१३॥

वृत्र उवाच—

दिष्ट्या भवान् मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्याऽनृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृशद्धृदाचिरात् ॥ १४॥

वृत्रासुरने कहा-जिस व्यक्तिने ब्राह्मणका, गुरुका और मेरे भाईका वध किया है; आज भाग्यवश वही मेरे सम्मुख शत्रु बनकर खड़ा—है—यह कितने सौभाग्यकी बात है! रे पापिष्ठ! यदि मेरा शूल तुम्हारे पत्थरक
मैं आज शीघ्र ही भातृ-ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा॥१४॥

यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
र्गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः॥ १५॥

इन्द्र! तुमने स्वर्गकी कामनासे आत्मज्ञानी, निष्पाप, दीक्षित और विशेषरूपसे अपने गुरु एवं मेरे भाई ब्राह्मण विश्वरूपका पुरोहितक रूपमें वरण किया था। तुमने उसे विश्वास दिलाकर उसक
सिरोंको इस प्रकार काट डाला, जिस प्रकार स्वर्गकामी याज्ञिकपुरुष निर्दयतापूर्वक पशुका सिर काट डालता है॥१५॥

श्रीह्रीदयाकीर्त्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः॥ १६॥

सम्पत्ति, लज्जा, दया, कीर्त्ति आदि सद्‌गुणोंने तुम्हें छोड़ दिया है। राक्षस भी तुम्हारे कर्मोंकी निन्दा करते हैं। मैं अब अपने त्रिशूलसे तुम्हारे शरीरक
मृत्यु अत्यन्त कष्टप्रद होगी। अग्नि भी तुम्हारी देहका स्पर्श नहीं करेगी, अपितु गीध ही तुम्हारे शरीरको नोंच-नोंच कर खायेंगे॥१६॥

अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा
यत् उद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम्।
तैर्भूतनाथान् सगणान् निशात-
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥ १७॥

ये अन्यान्य देवतागण भी मेरे प्रभावको न जानकर तुम्हारे जैसे क्रुरस्वभावका अनुकरण करक
प्रहार कर रहे हैं। तुम यह निश्चय ही जान लो कि मेरा यह तीक्ष्ण त्रिशूल उनकी गरदन काट देगा और उन कटे सिरों द्वारा भूतप्रेतादि गणोंक

अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्त्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये॥ १८॥

और यदि हे वीर इन्द्र! तुम इस संग्राममें वीरतापूर्वक मेरी सेनाको छिन्न-भिन्न करक
अपनी यह देह पशु-पक्षियोंको बलिरूपमें समर्पित कर दूँगा और कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर श्रीनारदादि धीर-प्रवीर भक्तोंकी पदवीको प्राप्त कर लूँगा॥१८॥

सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम्।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रः
स्यान्निष्फलः कृपणार्थेव याच्ञा॥ १९॥

हे सुरपते! मैं तुम्हारे सामने शत्रुरूपमें खड़ा हूँ। तुम अपना यह अमोघ वज्र मुझ पर क्यों नहीं छोड़ते? तुमने मेरे ऊपर जो गदा चलायी, वह तो उसी प्रकार विफल हो गयी, जिस प्रकार कृपणसे की गयी प्रार्थना व्यर्थ हो जाती है, किन्तु तुमने यह जो वज्र धारण कर रखा है, तुम इसे चलाओ, यह विफल नहीं होगा। इस विषयमें किसी प्रकारका सन्देह मत करो॥१९॥

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधिचेस्तपसा च तेजितः।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयश्रीर्गुणास्ततः॥ २०॥

हे इन्द्र! तुम्हारा यह वज्र भगवान् श्रीहरिक
दधीचिकी तपस्यासे अतिशय तेजस्वी हो गया है। तुम्हें स्वयं भगवान् विष्णुने आज्ञा भी दी है। अतः तुम इस वज्रसे मेरा वध कर सकते हो। भगवान् श्रीहरि जिस पक्षको अपना आश्रय

प्रदान करते हैं, उस ओर जय, सम्पद् और सन्तोषादि सद्गुण सदैव
निवास करते हैं॥२०॥

अहं समाधाय मनो यथाह
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः॥ २१॥

तुम्हारे वज्रक
खण्ड–विखण्ड हो जायेगा। तब मैं इस लोकका परित्याग करक
भगवान् सङ्कर्षणक
भगवद् भक्त नारदादि मुनियोंक

पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्।
न राति यद्द्वेष उद्वेग आधि–
र्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः॥ २२॥

जो भगवान्क
हैं और भगवान् भी जिन्हें अपने निजजनक
करते हैं, उन्हें वे स्वर्ग, मर्त्य एवं पातालादि लोकोंकी सम्पत्ति
प्रदान नहीं करते। इन तीनों लोकोंकी सम्पत्तियोंसे शत्रुता, उद्वेग,
मनस्ताप, गर्व, कलह आदि उत्पन्न होते हैं। इनक
दुःख होता है और इनक
परिश्रम करना पड़ता है॥२२॥

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्–
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्रः।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥ २३॥

हे इन्द्र! हमारे स्वामी भगवान् श्रीहरि अपने भक्तोंक
धर्म, अर्थ, कामक

इससे ही उनकी कृपाका अनुमान होता है। ऐसा भगवत् कृपा-प्रसाद निष्किञ्चन भगवद्-भक्तोंको ही प्राप्य है, जिनका चित्त विषयोंमें आविष्ट है, उनक

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥ २४॥

वृत्रासुर ध्यानमें आविर्भूत भगवान्‌को देखकर प्रार्थना करने लगा—हे हरे! जो आपक
मैं पुनः आपक
जिससे मेरा मन सदैव आपक
सदैव आपक
सदा-सर्वदा नियुक्त रहे॥२४॥

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ २५॥

हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपकी सेवा त्यागकर ध्रुवलोक, ब्रह्मलोक, पृथ्वीका एकछत्र साम्राज्य एवं अणिमादि अष्ट योग-सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त नहीं करना चाहता। आपक
प्राण रह भी जायें, तो ये सब मुझे क्या सुख प्रदान करेंगे॥२५॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ २६॥

हे कमललोचन! जिनक
ऐसे पक्षी-शावक जिस प्रकार अपनी माताक

करते हैं; जैसे रस्सियोंसे बँधे छोटे-छोटे बछड़े भूखसे पीड़ित होनेपर गायक
पत्नी अपने प्रवासी पतिक
प्रकार मेरा मन भी आपक

ममोत्तमःश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे वृत्रवाक्यं नाम एकादशोऽध्यायः।

हे नाथ! मैं अपने कर्मोंक
हूँ। अतः आपक
प्राप्त होता रहे, उनक
मायासे मेरा चित्त जो देह, पुत्र, पत्नी और गृह आदिमें आसक्त है—आप इतनी कृपा करें कि वह अब और आसक्त न रहे॥२७॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध

श्रीऋषिरुवाच—

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत् सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! युद्धमें विजयकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक श्रेष्ठ है—यह विचार करक
शरीरका त्याग करनेकी इच्छासे त्रिशूल धारण कर देवराज इन्द्रपर उसी प्रकार आक्रमण कर दिया, जिस प्रकार प्रलयकालीन जलमें क

ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद॥ २॥

इसक
युगान्तकालीन प्रचण्ड अग्निकी लपटोंक
अपने त्रिशूलको घुमाकर बड़े वेगसे इन्द्रपर चला दिया और उच्च स्वरसे कहा—अरे पापी! ले, मैं तेरा वध करता हूँ॥२॥

ख आपतत् तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजञ्च तस्योरगराजभोगम्॥ ३॥

ग्रह तथा उल्काक
आकाश-मार्गसे अपनी ओर आते देखकर देवराज इन्द्रने निर्भीकतासे अपने शतपर्वविशिष्ट (सौ गाँठोंवाले) वज्रसे उस त्रिशूलको एवं सर्पराज वासुकिक
एक भुजाको भी काट दिया॥३॥

छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम्।
हनौ ततांडेन्द्रमथामरेभं
वज्रञ्च हस्तान्न्यपतन्मघोनः॥४॥

अपनी एक भुजाक
गया। वह वज्रधारी इन्द्रक
(परिघ) से उनकी ठोड़ीपर भीषण प्रहार किया और इसी अस्त्रसे ऐरावतपर भी आघात किया। इससे आहत होकर इन्द्रक
वज्र छूटकर गिर पड़ा॥४॥

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत् पुरुहूतसङ्कटं
निरीक्ष्य हाहेति विचुक्रुशुर्भृशम्॥५॥

सुर, असुर, चारण और सिद्धगण सभी वृत्रासुरक
कार्यकी बहुत प्रशंसा करने लगे, किन्तु जब देवेन्द्रको विपद्में देखा, तो 'हाय! हाय!' करक

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः॥६॥

इन्द्रक
इसी कारण लज्जित होकर इन्द्रने पुनः वज्र नहीं उठाया। तब

वृत्रासुरने इन्द्रको सम्बोधित करते हुए कहा—हे इन्द्र! वज्र उठाओ और अपने शत्रुका संहार करो, यह समय विषादका नहीं है॥६॥

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम्।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम्॥७॥

हे इन्द्र! उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयक
और अनादि सनातन पुरुष एकमात्र भगवानक
देहधारी अथवा जीवात्माएँ परतन्त्र हैं, उनक
इच्छा होनेपर जीत ही होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। कभी जय होती है, तो कभी पराजय भी होती है॥७॥

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम्॥८॥

इस ब्रह्माण्डक
जालमें बँधे हुये पक्षियोंक
वह काल अर्थात् भगवान् ही सबकी जय-पराजयक
कारण हैं॥८॥

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम्॥९॥

वे भगवान् ओजः (इन्द्रिय-शक्ति), सहः (मन-शक्ति), बल (शरीरकी शक्ति) एवं प्राण, अमृत और मृत्युस्वरूप हैं। उनको न जानकर मूर्ख व्यक्ति इस जड़ देहको ही जय-पराजयका हेतु मान लेते हैं॥९॥

यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः।
एवन्भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥१०॥

हे मघवन् (इन्द्र)! काठकी पुतली और पत्तोंका बना हुआ हिरन जिस प्रकार स्वेच्छासे नृत्य नहीं कर सकते, अपितु नचानेवालेकी

इच्छासे ही नृत्य करते हैं, उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भगवान्क
अधीन हैं। इस जगत्में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है॥१०॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥ ११॥

पुरुष (महत्-तत्त्वक स्रष्टा), प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार और आकाशादि पञ्चमहाभूत, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं चित्त—ये सभी भगवान्क अनुग्रहक

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम्।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम्॥ १२॥

सर्वनियन्ता स्वतन्त्र ईश्वरको न जानकर अज्ञानी जीव पराधीन होनेपर भी अपनी आत्माको ही स्वतन्त्र ईश्वर मान लेता है। मेरे पूर्व कर्मोंक
कोई दूसरा इसको मार देनेवाला है, यह सिद्धान्त उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान् ही प्राणियोंसे प्राणियोंकी सृष्टि एवं प्रणियोंसे ही दूसरे प्राणियोंका विनाश कराते हैं। अतः जीवोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। एकमात्र भगवान् ही स्वतन्त्र हैं॥१२॥

आयुः श्रीः कीर्त्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः।
भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः॥ १३॥

जिस प्रकार विनाशकाल आनेपर व्यक्तिकी इच्छा न होनेपर भी उसकी आयु, श्री एवं कीर्त्ति नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जब उसका जय-प्राप्ति इत्यादि अनुक
प्रयत्नक

तस्मादकीर्त्तियशसोर्जयापजययोरपि ।
समः स्यात् सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा॥ १४॥

अतएव यश-अपयश, जय-पराजय, जन्म-मरण तथा इनसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख सभी ईश्वरक
जीवोंको सभी अवस्थाओंमें समभावसे रहना चाहिए॥१४॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद स न बध्यते॥ १५॥

सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिक
इन सत्त्वादि गुणोंक
ही जो एकमात्र साक्षी मानते हैं, वे कभी हर्ष-विषादादिमें लिप्त नहीं होते॥१५॥

पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया॥ १६॥

इन्द्र! मुझे देखो! इस युद्धमें मेरा आयुध (अस्त्र) कट गया, मेरी भुजा छिन्न-भिन्न हो गयी और तुमने मुझे परास्त कर दिया, किन्तु तब भी मैं तुम्हारे प्राण लेनेकी इच्छासे इस संग्राम-स्थलीमें यथाशक्ति प्रयास कर रहा हूँ। मुझे इसका किञ्चित्‌मात्र भी दुःख नहीं है। इसी प्रकार तुम भी विषादका त्याग कर दो॥१६॥

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः।
अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः॥ १७॥

हे शत्रु! तुम यह जान लो कि यह युद्ध द्यूत-क्रीड़ाक समान है। इसमें हमारे प्राणोंकी बाजी लगी है। बाण इसमें अक्ष (पासे) हैं, हाथी-घोड़े आदि वाहन इधर-उधर चलनेवाले चौसर हैं। पासा-क्रीड़ाक
जय होगी और किसकी पराजय॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत्।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इन्द्रने वृत्रासुरक
निष्कपट वचनोंको सुनकर उसकी प्रशंसा करते हुए वज्रको उठा लिया। इसक
कहने लगे॥१८॥

श्रीइन्द्र उवाच—

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी।
भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम्॥ १९॥

देवराज इन्द्रने कहा—हे दानव! तुम इस सङ्कट-भूमिमें खड़े हो तो भी तुम्हारे विवेक, धैर्यादि गुण और भक्तिमयी विलक्षण मति बिन्दुमात्र भी विचलित नहीं हुए हैं। तुम कोई सिद्ध पुरुष हो। तुमने अवश्य ही सर्वात्मा एवं सभीक
अनन्यभावसे सेवा की है॥१९॥

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम्।
यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः॥ २०॥

अहो! तुमने जग-मोहिनी वैष्णवी (विष्णुकी) मायाको पार कर लिया है, अतः तुम्हारा असुर भाव दूर हो गया है। तुमने ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त महापुरुषत्वको प्राप्त कर लिया है॥२०॥

खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रजःप्रकृतेस्तव।
वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः॥ २१॥

असुरोंकी प्रकृति सामान्यतः रजोगुणमयी होती है, किन्तु विशुद्ध सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवमें जो तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति है, वह वस्तुतः महान् आश्चर्यकी बात है॥२१॥

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥ २२॥

परममङ्गलस्वरूप भगवान् श्रीहरिमें जिनकी भक्ति है, वे अमृत-सागरमें क्रीड़ा करते हैं, उन्हें छोटे-छोटे गड्ढोंक
समान स्वर्गसे क्या प्रयोजन है॥२२॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधां पती॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! वृत्रासुर एवं इन्द्र दोनोंने ही धर्मको जाननेकी अभिलाषासे परस्पर वार्त्तालाप करते हुए युद्ध करना आरम्भ कर दिया। दोनों ही प्रकृष्ठ योद्धा थे और दोनों ही समानरूपसे शक्तिशाली थे॥२३॥

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः।
इन्द्राय प्राहिणोद्घोरं वामहस्तेन मारिष॥ २४॥

हे मारिष (मान्यवर)! शत्रुदमन वृत्रासुरने लोहेक
परिघको बायें हाथमें धारण किया और उसे आकाशमें घुमाते हुए इन्द्रको लक्ष्यकर उनपर फेंक दिया॥२४॥

स तु वृत्रस्य परिघं करञ्च परिघोपमम्।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा॥ २५॥

इन्द्रने अपने सौ गाठोंवाले वज्रसे वृत्रासुर द्वारा चलाये गये परिघको और हाथीकी सूँड़ क
ही साथ काट डाला॥२५॥

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः॥ २६॥

वृत्रासुरकी दोनों बाहें जड़से कट गयीं और उनमें-से बड़े वेगसे रक्त बहने लगा। उस समय उसका शरीर इस प्रकार शोभा पा रहा था, मानो इन्द्रक
भिन्न होकर पङ्खों वाला कोई पर्वत आकाशसे गिर पड़ा हो॥२६॥

कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम्।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया॥ २७॥

दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम्।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन्॥ २८॥

गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम्।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम्॥ २९॥

वृत्रासुर अत्यन्त प्रभावशाली तथा बलवान् दैत्य था। उसने अपनी ठोड़ीक
होंठका स्वर्गतक विस्तार कर लिया। आकाशक
विशाल शरीर, सर्पक
समान विकराल दाढोंक
मानो त्रिलोकीको निगल लेनेक
ऊँचा, महाकाय वह असुर वेगपूर्वक पर्वतोंको उलटता–पलटता एवं अपने पैरोंकी चापसे पृथ्वीको रौंदता हुआ पैरोंसे चलनेवाले गिरिराजक
वाहन ऐरावत हाथीक
गया जिस प्रकार महाकाय, महाबलशाली अजगर हाथीको निगल जाता है॥२७–२९॥

महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्।
वृत्रग्रस्तं तमालोक्य सप्रजापतयः सुराः।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः॥ ३०॥

जब प्रजापति, महर्षि और देवताओंने देखा कि वृत्रासुरने इन्द्रको भी निगल लिया है, तो वे दुःखी अन्तःकरणसे 'हाय! हाय! बड़ा कष्ट है! हाय! बड़ा कष्ट है! यह कहते हुए विलाप करने लगे॥३०॥

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च॥ ३१॥

इन्द्र भगवान् नारायणसे अभिन्न नारायण–कवच (महापुरुष–विद्या) द्वारा सुरक्षित थे एवं उनक
बल भी था। अतः असुरक
नहीं हुई॥३१॥

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद्विभुः।
उच्चकर्त्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा॥ ३२॥

परमशक्तिशाली देवराज इन्द्र वज्रसे उसकी कोखको फाड़कर
उसक
वृत्रासुरक

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन् समन्तात् परिवर्त्तमानः।
न्यपातयत् तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये॥ ३३॥

वज्र अतिशय वेगवान् होनेपर भी वृत्रासुरकी गर्दनक
ओर घूमता रहा किन्तु वृत्रासुरकी गर्दनको उसक
करनेमें उसे एक वर्ष लग गया अर्थात् सूर्यादिक
अयनमें गतिक सौ साठ दिन बीतनेपर वृत्रासुर-वधका उचित-
काल उपस्थित हुआ। उसी समय वज्र द्वारा कटकर वृत्रासुरका
सिर भूमिपर गिर पड़ा॥३३॥

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन्॥ ३४॥

वृत्रासुरक
सिद्ध और महर्षिगण वृत्र-संहारक इन्द्रका पराक्रम सूचित करनेवाले
शौर्य मन्त्रोंसे उनका अभिनन्दन करने लगे तथा परम हर्षक
उनपर पुष्प-वर्षण करने लगे॥३४॥

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम।
पश्यतां सर्वदेवानामलोकं समपद्यत॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः।

हे अरिन्दम्! उस समय वृत्रासुरकी देहसे जीवरूपी आत्मज्योति
अर्थात् पार्षद-देहात्मक-प्रकाश बाहर निकला और समस्त देवताओंक

सम्मुख ही लोकातीत भगवान् श्रीसङ्कर्षणक
गया॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्महत्याक

भगवान् विष्णु द्वारा उनकी रक्षा

श्रीशुक उवाच—

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद।
सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महादानी राजन्! वृत्रासुरकी मृत्युक पश्चात् एकमात्र इन्द्रक
सहित सभी तत्क्षण सन्तापरहित हो गये। सभीक
आनन्द छा गया॥१॥

देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम्।
प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः॥ २॥

इसक
अनुचर तथा ब्रह्मा, महेश्वर और इन्द्रादि अन्यान्य सभी लोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये। जाते समय किसीने भी इन्द्रसे किसी प्रकारका कोई वार्त्तालाप नहीं किया॥२॥

श्रीराजोवाच—

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने।
येनासन् सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत्॥ ३॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे मुने! देवराज इन्द्रकी अप्रसन्नताका क्या कारण था? मैं इसक
वृत्रासुरक
क्यों दुःखी थे?॥३॥

श्रीशुक उवाच—

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः।
तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद्भीतो बृहद्वधात्॥ ४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वृत्रासुरक
ऋषिगण तथा देवतागण उद्विग्न हो गये थे। उन्होंने एकत्र होकर
वृत्रासुर-वधक
इन्द्रने उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया॥४॥

श्रीइन्द्र उवाच—

स्त्रीभूद्रुमजलैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम्।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व मार्ज्म्यहम्॥ ५॥

देवराज इन्द्रने कहा—हे देवताओ एवं ऋषियो! विश्वरूपका
वध करक
भूमि, वृक्ष और जलने मुझपर अनुग्रह करक
यदि मैं वृत्रासुरका वध करता हूँ, तो इस ब्रह्महत्याका पाप किसे
देकर मैं उससे मुक्त होऊँगा॥५॥

श्रीशुक उवाच—

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन्।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मास्म भैः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—देवराज इन्द्रक
ऋषियोंने कहा—हे देवराज! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम इसक
भय मत करो। हम तुम्हारे द्वारा एक अश्वमेध यज्ञ करायेंगे,
जिससे तुम समस्त पापोंसे मुक्त हो जाओगे॥६॥

हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम्।
दृष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात॥ ७॥

अश्वमेध यज्ञक
करक
हो, फिर वृत्रासुर-वध जैसे तुच्छ पापकी तो बात ही क्या है॥७॥

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कशको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्त्तनात्॥ ८॥

तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन।
हत्वापि सब्रह्मचराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण॥ ९॥

हे देवराज! भगवान् श्रीनारायणक
माता–पिता और आचार्यकी हत्या करनेवाला, यहाँ तक कि क
माँस खानेवाला पापी चाण्डाल भी मुक्त हो जाता है, फिर तुम तो भक्तिमान् हो। हमारे द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध महायज्ञसे भगवान्का अर्चन करक
चाहे तुमने ब्राह्मण समेत चराचर प्राणियोंकी हत्या ही क्यों न की हो। इस दुष्ट–प्रकृति वृत्रासुरक

श्रीशुक उवाच—

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम्।
ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नासससाद वृषाकपिम्॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ऋषियोंक
करनेपर इन्द्रने उनक
दिया। जब वृत्रासुर मारा गया, तब ब्रह्म हत्यारूपी पापने मूर्त्त होकर इन्द्रको घेर लिया॥१०॥

तयेन्द्रः स्मासहत् तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत्।
ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः॥ ११॥

देवताओंक
लगे। वृत्रासुरका वध करक
प्राप्त नहीं हुआ, जिस प्रकार कोई निन्दनीय कार्य करक
तो प्राप्त कर ले, किन्तु लज्जा एवं सङ्कोचक
भी सुख प्राप्त नहीं होता॥११॥

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम्।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम्॥ १२॥
विकीर्य पलितान् केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम्।
मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम्॥ १३॥

इन्द्रने देखा कि मूर्त्तिमती ब्रह्महत्या चाण्डालीक
पीछे-पीछे चली आ रही है। बुढ़ापेक
काँप रहे हैं। वह स्वयं क्षय रोगसे ग्रस्त है, इसलिये उसक
वस्त्र रक्तसे सने हुए हैं। वह अपने सफ
इन्द्रसे चिल्ला-चिल्ला कर कह रही है—ठहर जा, ठहर जा!
उसकी श्वाससे मछलीकी गन्धक
जिससे सारा मार्ग दूषित हो रहा है॥१२-१३॥

नभो गतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशाम्पते।
प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम्॥ १४॥

हे राजन्! इन्द्र सर्वप्रथम आकाशकी ओर दौड़े। तत्पश्चात् चारों दिशाओंमें भागे। वे जहाँ-जहाँ भी गये, सभी स्थानोंपर उन्होंने उस चाण्डालीको अपने पीछे-पीछे आते हुए देखा। अन्ततः वे उत्तर-पूर्व कोणकी ओर गये और शीघ्र ही मानस-सरोवरमें प्रवेश कर गये॥१४॥

स आवसत् पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः
सञ्चिन्तयन् ब्रह्मवधाद्विमोक्षम्॥ १५॥

इन्द्र उस मानसरोवरमें कमल-नालक
तक छिपकर निवास करते हुए ब्रह्म-हत्या-जनित पापसे मुक्तिका
उपाय सोचते रहे। अग्नि देवता उनक
थे परन्तु जलमें उनका प्रवेश असम्भव है। इस प्रकार देवराज
इन्द्र बहुत समयतक भोजन-सामग्रीक

तावत् त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या॥ १६॥

जब तक इन्द्रने जलमें कमल-नालक
तब तक विद्या, तपस्या, योगबल और स्वर्ग-पालनकी शक्तिसे सम्पन्न राजा नहुषने स्वर्ग पर शासन किया, किन्तु सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यक
हो गये कि उनक
इच्छा जाग उठी, तब शचीने उन्हें ब्रह्मशाप दिलवा दिया, जिससे उन्हें सर्पयोनिमें जाना पड़ा। (एक बार नहुषने ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त होकर शचीदेवीसे कहा—इस समय मैं स्वर्गका राजा हूँ, अतः तुम्हें मेरी सेवा करनी चाहिये। साध्वी शचीदेवीने यह बात देवगुरु बृहस्पतिको बतलायी। बृहस्पतिजीने कहा—तुम उसक
कहो कि ब्राह्मण द्वारा वहन की हुई पालकीपर सवार होकर आप मेरे पास आयें, मैं आपकी सेवा करूँगी। इस प्रकार वह ब्राह्मणक शापसे पतित हो जायेगा। शचीदेवीने जब नहुषको इस प्रकार कहा, तब उसने अगस्त्य आदि ब्राह्मणोंको शिविका वहन करनेक लिए आदेश दिया। नहुषने शचीक
लिए 'शीघ्रम् सर्प! सर्प!' जल्दी चलो, जल्दी चलो, इस प्रकार कहते हुए अगस्त्यक
अगस्त्यने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया 'तुम सर्प हो जाओ'।)॥१६॥

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या॥ १७॥

तदनन्तर समस्त दिशाओंक
ब्रह्महत्या जनित पाप निस्तेज हो गया तथा मानस-सरोवरक

कमलक
प्राप्त थी, इसलिये ब्रह्महत्या उनका क
देवराज इन्द्र स्वयं भी सत्यपालक भगवान् श्रीहरिका नित्य निरन्तर स्मरण करते थे, जिससे वे इस ब्रह्म-हत्याक
हो गये। इसक
पुनः स्वर्गलोक पहुँचे॥१७॥

तञ्च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत।
यथावद्दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह॥ १८॥

हे राजन्! देवराज इन्द्रक
निकट आये और उन्हें भगवान् नारायणकी आराधनामें प्रधान अश्वमेध यज्ञमें यथाविधि दीक्षित किया॥१८॥

अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः॥ १९॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना॥ २०॥

ब्रह्मवादी ऋषियोंद्वारा अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञमें देवराज इन्द्रने सर्वदेवमय परमपुरुष श्रीभगवान्की अर्चना की। इसक
राजन्! उनका ब्रह्महत्या वधजनित पाप अति प्रबल होनेपर भी उसी प्रकार भस्मसात् हो गया, जिस प्रकार सूर्यक
उनक

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः॥ २१॥

मरीचि आदि प्रधान ऋषियोंक
देवराज इन्द्र यज्ञेश्वर पुराणपुरुष श्रीभगवान्का अर्चन करक
पापोंसे मुक्त होकर पूर्ववत् सभी लोकोंक

इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्त्तनम्।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः॥ २२॥

पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः
शृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम्।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथायुषम्॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीइन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

परीक्षित्! यह उपाख्यान अतिशय महत्वपूर्ण है। इसमें तीर्थपद भगवान् श्रीनारायणक
भगवान्क
पापसे मुक्ति और असुरोंक
वर्णन है। यह उपाख्यान समस्त प्रकारक
है। विद्वज्जन इस उपाख्यानका सदा-सर्वदा पाठ करें एवं प्रत्येक पर्वपर इसका श्रवण-कीर्त्तन करें। इसक
पटुता, धनकी वृद्धि, यशकी वृद्धि, समस्त प्रकारक
शत्रुओंपर विजय तथा आयुकी वृद्धि होती है और सब प्रकारसे कल्याण होता है॥२२-२३॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

चित्रक

श्रीपरीक्षिदुवाच—

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः।
नारायणे भगवति कथमासीद्दृढा मतिः॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! वृत्रासुरका स्वभाव तो रजोगुण एवं तमोगुणसे सम्पन्न था, फिर ऐसे पापात्माकी भगवान् नारायणमें दृढ़ भक्ति किस प्रकार हो गयी?॥१॥

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणाञ्चामलात्मनाम्।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते॥ २॥

विशुद्ध सत्त्वगुणमें अधिष्ठित देवताओंकी एवं भोगमलसे रहित निर्मलात्मा ऋषियोंकी भी प्रायः भगवान् मुक
नहीं होती, फिर पापी वृत्रासुरकी भगवान्क
प्रकार हो गयी?॥२॥

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥ ३॥

इस जगत्‌में पार्थिव परमाणु (धूलक
हैं, उसी प्रकार जीवोंकी संख्या भी असंख्य है—उनकी गणना नहीं की जा सकती। इन समस्त जीवोंमें मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है और उनमें भी किसी-किसीकी ही धर्मानुष्ठानमें रुचि होती है॥३॥

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥ ४॥

हे द्विजोत्तम! इन धर्मानुष्ठान करनेवालोंमें बहुत ही विरले ऐसे होते हैं, जो मोक्षकी इच्छा करते हैं। उन हजारों मुमुक्षुओंमें भी

कदाचित् कोई व्यक्ति ही गृहादि असत् सङ्गसे मुक्त हो पाता है। इन असत् सङ्गरहित व्यक्तियोंमें भी कोई दुर्लभ व्यक्ति ही भगवान्क तत्त्वको जान पाता है॥४॥

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥५॥

हे महामुने! इन करोड़ों मुक्त एवं सिद्धजनोंमें भी ऐसा प्रशान्तात्मा शुद्ध भक्त अत्यन्त दुर्लभ है, जो एकमात्र भगवान् श्रीनारायणक ही परायण हो॥५॥

वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः।
इत्थं दृढमतिः कृष्णे आसीत् संग्रामे उल्बणे॥६॥

वृत्रासुर अत्यन्त पापी एवं सभी लोगोंको सन्तप्त करनेवाला था। भयङ्कर युद्धस्थलमें उपस्थित रहनेपर भी उसकी भगवान् श्रीकृष्णक

अत्र नः संशयो भूयान् श्रोतुं कौतूहलं प्रभो।
यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत्॥७॥

हे प्रभो! जिस वृत्रासुरने युद्धक्षेत्रमें अपनी वीरताका प्रदर्शन करक
किस प्रकार भक्तिका उदय हुआ, इस विषयमें मुझे बड़ा सन्देह है। अतः इसका कारण बतलाइए, इसे सुननेक
कौतूहल हो रहा है॥७॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितोऽथ संप्रश्नं भगवान् बादरायणिः।
निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत्॥८॥

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! इसक
परीक्षित्क
श्रीशुकदेवजीने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—॥८॥

श्रीशुक उवाच—

शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि॥ ९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! तुम्हारे प्रश्नक
द्वैपायन वेदव्यास, नारद एवं देवल ऋषिक
वही इतिहास मैं तुम्हारे समक्ष यथारूप कहता हूँ। तुम सावधान होकर इसे श्रवण करो॥९॥

आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत् कामधुङ्महो॥ १०॥

हे राजन्! शूरसेन देशमें चित्रक
उनक
पूर्ण करनेवाली थी॥१०॥

तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन्।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम्॥ ११॥

महाराज चित्रक
करनेमें समर्थ होनेपर भी उन्हें अपनी किसी भी पत्नीसे सन्तान प्राप्त नहीं हुई, दैवयोगसे उनकी सभी पत्नियाँ बन्ध्या (बाँझ) थीं॥११॥

रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।
सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत्॥ १२॥

महाराज चित्रक
विद्या, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि समस्त गुणोंसे अलङ्कृत होनेपर भी सन्तानक

न तस्य सम्पदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः।
सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन् प्रीतिहेतवः॥ १३॥

समस्त प्रकारकी सम्पत्तियाँ, अनेक सुन्दर-सुलोचना पत्नियाँ तथा पृथ्वीका एकछत्र साम्राज्य होनेपर भी महाराज चित्रक
न थे॥१३॥

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४ ॥

एक समय महर्षि अङ्गिरा स्वच्छन्दरूपसे समस्त लोकोंका भ्रमण करते-करते महाराज चित्रक

तं पूजयित्वा विधिवत् प्रत्युत्थानार्हणादिभिः।
कृतातिथ्यमुपासीदत् सुखासीनं समाहितः॥ १५ ॥

महाराज चित्रक
सिंहासनसे तुरंत उठ खड़े हुए और अर्घ्य-पाद्यादिद्वारा उनकी विधिवत् पूजा की। तत्पश्चात् भोजनादि द्वारा यथोचित आदर-सत्कार किया। जब महर्षि सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हो गये, तब राजा स्वयं शान्त चित्तसे ऋषिक

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ।
प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत्॥ १६ ॥

हे महाराज! अङ्गिरा ऋषिने जब महाराज चित्रक
विनीत भावसे सिर झुकाकर पृथ्वीपर अपने चरणोंक
देखा, तो वे बड़े आदरक
प्रकार कहने लगे॥१६॥

श्रीअङ्गिरा उवाच—

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान् राजा च सप्तभिः॥ १७॥

अङ्गिरा ऋषिने कहा—महाराज! आप शारीरिकरूपसे स्वस्थ तो हैं न? आपक
सक
पाँच तन्मात्राएँ (इन्द्रिय-तर्पणक
घिरा रहता है और इनक
सकता, उसी प्रकार राजा भी स्वामी (गुरु) मन्त्री, राज्य, दुर्ग, कोष, दण्ड (राजाज्ञा) एवं मित्र-इन सात प्रकृतियोंसे सुरक्षित

रहकर सुखी रहता है। इनक
राज्य नहीं रह सकता॥१७॥

आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात्।
राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः॥ १८॥

हे नृदेव! यदि राजा इन सात प्रकृतियोंक
चलता है, तो वह राज्य सुखादि प्राप्त कर सकता है और इसी प्रकार ये प्रकृतियाँ भी धनादि राजाको अर्पण करक
रहकर उसक
कर सकती हैं॥१८॥

अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः।
पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्त्तिनः॥ १९॥

हे महाराज! आपकी पत्नियाँ, प्रजा, मन्त्री, सेवक, तैलिक, ताम्बूलिक आदि व्यापारी, अमात्य(दीवान), नगरवासी, मण्डलेश्वर राजा (राज्यपालादि) एवं पुत्रादि आपक

यस्यात्मानुवशश्चेत् स्यात् सर्वे तद्वशगा इमे।
लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः॥ २०॥

यदि राजाका चित्त अपने वशमें रहता है, तो उसकी पत्नियाँ आदि सभी उसक
लोग अपने प्रान्त-पालकों सहित अनलस भावसे उस राजाको पूजा-उपहार प्रदान करते हैं। (सेवकादिक
क्या है?)॥२०॥

आत्मना प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा।
लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम्॥ २१॥

हे राजन्! मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा चित्त प्रसन्न नहीं है। लगता है कि तुम्हारा कोई मनोरथ तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ है। तुम्हारा मुख चिन्तासे ग्रसित हो रहा है, यह स्वतः ऐसा ही है या अन्य किसी कारणसे हुआ है?॥२१॥

एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनापि सः।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम्॥ २२॥

परीक्षित्! अङ्गिरा ऋषि सर्वज्ञ हैं। वे राजाक
क
राजाको पुत्रकी कामना थी, अतः वे विनीत भावसे अङ्गिरा ऋषिसे कहने लगे॥२२॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

भगवन् किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु॥ २३॥

राजा चित्रक
द्वारा सम्पूर्ण पापोंका ध्वंस कर देनेवाले आप जैसे योगियोंक
हम जैसे बद्ध प्राणियोंकी ऐसी आन्तरिक या बाह्य कौनसी बात है, जो अज्ञात हो?॥२३॥

तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम्।
भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया॥ २४॥

हे महात्मन्! आप सर्वज्ञ होकर भी मुझसे मेरी चिन्ताक
विषयमें पूछ रहे हैं, अतः मैं आपकी आज्ञासे प्रेरित होकर अपनी मानसिक चिन्ताका कारण आपक

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे॥ २५॥

भूखे-प्यासे व्यक्तिको जिस प्रकार अन्न-पानीय वस्तुएँ ही सुख दे सकती हैं, पुष्प-माला या चन्दनादि सुख नहीं दे सकते, उसी प्रकार मेरे पास लोकपालों द्वारा वाञ्छित साम्राज्य, ऐश्वर्य, सम्पत्ति तो हैं, परन्तु पुत्रका अभाव होनेक

ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः।
यथा तरेम दुष्पारं प्रजया तद्विधेहि नः॥ २६॥

अतएव हे महाभाग! आप मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मैं पुत्र प्राप्त कर सक
आदि पितर घोर नरकसे मुक्ति पा सकें। पुत्र द्वारा दिये गये पिण्ड-दानसे ही हम लोक-परलोकक
कर सकेंगे॥२६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार महाराज चित्रक
अपना अभीष्ट प्रकाशित किया। तब अङ्गिरा ऋषिने त्वष्टृ देवताक उद्देश्यसे चरु (खीर) निर्माण करक
यज्ञ सम्पन्न कराया॥२७॥

ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणाञ्च भारत।
नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद्द्विजः॥ २८॥

हे भारत! महाराज चित्रक
और सबसे बड़ी थी अर्थात् सबसे पहले विवाहिता थी, उसका नाम 'कृतद्युति' था। अङ्गिरा ऋषिने उसीको यज्ञ-भाग प्रदान किया॥२८॥

अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ॥ २९॥

राजाको यज्ञका अवशेष प्रसाद प्रदान करक
कहा—हे राजन्! तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा, जो तुम्हें हर्ष एवं शोक दोनों प्रदान करेगा। (पुत्र जन्मसे हर्ष तथा उसकी मृत्युसे शोक होगा यही मुनिका अभिप्राय था, किन्तु राजाने समझा कि पुत्र बहुतसे गुणोंसे युक्त होनेक
ऐश्वर्यक
यह कहकर अङ्गिरा ऋषि वहाँसे चले गये॥२९॥

सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत्।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम्॥ ३०॥

कृतद्युतिने अङ्गिराद्वारा सम्पन्न यज्ञावशिष्ट प्रसादको खाकर महाराज चित्रक
कृत्तिकाने अग्निसे महादेव-वीर्यको प्राप्त करक
नामक पुत्रको अपने गर्भमें धारण किया था॥३०॥

तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप॥ ३१॥

हे राजन्! शूरसेन देशक
राजमहिषी कृतद्युतिने जो गर्भ धारण किया था, वह शुक्लपक्षीय चन्द्रमाक

अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायतः।
जनयन् शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम्॥ ३२॥

इसक
किया। इस समाचारको सुनकर शूरसेन देशवासी अत्यन्त आनन्दित हो गये॥३२॥

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः।
वाचयित्वाशिषो विप्रैः कारयामास जातकम्॥ ३३॥

पुत्र प्राप्तिका संवाद सुनकर राजा चित्रक
न रही। उन्होंने स्नानादिसे पवित्र होकर अलङ्कारादि धारण किये और ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर अपने पुत्रका स्वस्तिवाचन तथा जातकर्म संस्कार सम्पन्न कराया॥३३॥

तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च।
ग्रामान् हयान् गजान् प्रादाद्धेनूनामर्बुदानि षट्॥ ३४॥

राजाने समस्त ब्राह्मणोंको स्वर्ण, रजत, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी आदि और छह अर्बुद् अर्थात् साठ करोड़ गौएँ दान कीं॥३४॥

ववर्ष कामानन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः॥ ३५॥

जिस प्रकार मेघ बिना पक्षपातक
महामति राजा चित्रक
और आयुकी वृद्धिक
प्रदान कीं॥३५॥

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्द्धत॥ ३६॥

तदनन्तर जिस प्रकार दरिद्र व्यक्तिको यदि कठिनाईसे क
प्राप्त हो जाय, तो दिन-प्रतिदिन उस धनमें उसकी आसक्ति बढ़ती
जाती है, उसी प्रकार कठिनाईसे प्राप्त हुए पुत्रक
चित्रक

मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत्॥ ३७॥

पिताक
आत्यन्तिक स्नेह क्रमशः बढ़ने लगा। इधर कृतद्युतिको पुत्रवती
देखकर महाराज चित्रक
ऐसा परिताप होने लगा, मानो उनको ज्वर हो गया हो॥३७॥

चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति।
न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम्॥ ३८॥

बालकका निरन्तर लालन-पालन करनेक
चित्रक
पुत्रवती पत्नी कृतद्युतिक
गयी। अन्य रानियोंक

ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया।
आनपत्येन दुःखेन राज्ञश्चानादरेण च॥ ३९॥

अन्य राजपत्नियाँ सन्तान न होनेक
थीं। इसपर राजाकी उपेक्षाने उन्हें और भी सन्तप्त कर दिया। वे ईर्ष्याक
करने लगीं॥३९॥

धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम्।
सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम्॥४०॥

जिस स्त्रीक
सम्मान नहीं करता और पतिकी अन्य पुत्रवती पत्नियाँ जिसका दासीक
समान तिरस्कार करती हैं, ऐसी पापिनी स्त्रीको धिक्कार है॥४०॥

दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः॥४१॥

दासियाँ भी अपने पतियोंकी निरन्तर सेवा करक
प्राप्त करती हैं। अतः इन दासियोंको भला क्या दुःख है? हाय! हम तो दासियोंकी भी दासी हैं, उनसे भी गयी बीती हैं। हम बड़ी मन्दभागा हैं॥४१॥

एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा।
राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत्॥४२॥

राजन्! महाराज चित्रक
एक ओर तो सौत कृतद्युतिको पुत्र-रूपी सम्पत्ति प्राप्त हो जानेक
कारण ईर्ष्या हो रही थी और दूसरी ओर राजा द्वारा उपेक्षित हो जानेसे उन सभीक

विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति॥४३॥

द्वेष बढ़नेक
द्वारा उपेक्षित व्यवहार भी उनसे सहा नहीं जा रहा था। इन कारणोंसे उनका चित्त अत्यन्त कठोर हो गया और अन्ततः इन सौतोंने उस बालकको विष दे दिया॥४३॥

कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत्।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद्गृहे॥ ४४॥

महारानी कृतद्युतिको अन्य रानियोंक
क
इधर-उधर विचरण करने लगीं॥४४॥

शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत्॥ ४५॥

बालकको बहुत देर तक सोया देखकर रानी कृतद्युतिको चिन्ता हुई। उन्होंने धायको, 'हे भद्रे! मेरे पुत्रको मेरे निकट ले आओ।' यह कहकर पुत्रको लानेक

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम्।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि॥ ४६॥

सोये हुए बालकक
नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी हैं। देहमें प्राणोंका सञ्चार नहीं है, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गयी हैं, आत्मा उसे छोड़कर चली गयी है। यह देखते ही 'हाय! मैं मारी गयी' यह कहकर वह धाय भूमिपर गिर पड़ी॥४६॥

तस्यास्तदाकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्तयाः कराभ्यामुर उच्चकैरपि।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयात्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम्॥ ४७॥

वह धाय अत्यन्त व्याक
पीटते हुए उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगी। रानी कृतद्युति उसका यह आर्त्त स्वर सुनकर शीघ्रतापूर्वक पुत्रक
देखा कि वह सहसा ही मर गया है॥४७॥

पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा॥ ४८॥

महारानी अपने पुत्रको हठात् मृत देखकर परम शोकमें डूब गयीं। उनक

और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥४८॥

ततो नृपान्तःपुरवर्त्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम्।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखिता-
स्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः॥४९॥

हे राजन्! इसक

रहनेवाले सभी नर-नारियाँ वहाँ दौड़े चले आये और रानीक समान ही दुःखी होकर रोने लगे। वे अपराधिनी रानियाँ भी वहाँ आकर कपटतापूर्वक रोनेका अभिनय करने लगीं॥४९॥

श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन् स्खलन् पथि।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥५०॥

पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः।
दीर्घं श्वसन् बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम्॥५१॥

राजा चित्रक

सुना, तो उनकी आँखोंक

पुत्रानुरागक

लगा। मार्गमें बार-बार गिरते-पड़ते, लड़खड़ाते उस स्थानपर पहुँचते ही वे मूर्च्छित हो गये। राजा लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहे थे। उनक

थे। मन्त्री और ब्राह्मणादि प्रकृति वर्ग उनक

बालकक

दूर होनेपर पुनः निःश्वास छोड़ने लगे। आँसुओंक
गला रुँध गया तथा राजा चित्रक

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतञ्च बालं सुतमेकसन्ततिम्।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा॥ ५२॥

पतिको अत्यधिक शोकसन्तप्त और वंशक
अपने बालकको मृत देखकर रानी कृतद्युति नाना प्रकारसे विलाप करने लगीं। उनक
ब्राह्मणोंक

स्तनद्वयं कुङ्कुमपङ्कमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः।
विकीर्य केशान् विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम्॥ ५३॥

राजमहिषी कृतद्युतिक
अञ्जन युक्त आँखोंसे आँसुओंकी धारा उमड़कर क
और सुवासित वक्षःस्थलको भिगोने लगी। जिस प्रकार विरहाविष्ट
क
अपने पुत्रक

अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो
यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परे नु जीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत् त्वमसि ध्रुवः परः॥ ५४॥

हा विधाता! तुम सृष्टि-विषयमें बड़े अनभिज्ञ हो। पिताक
जीवित रहते हुए पुत्रकी मृत्यु, तुम स्वयं अपनी ही सृष्टिक
आचरण कर रहे हो। वृद्ध जीवित रहें और बालक मर जाएँ,
यह क
तब तो तुम प्राणियोंक

न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि॥ ५५॥

यदि तुम कहो कि पुत्रक
हो और पिताक
सम्बन्धमें ऐसा कोई नियम नहीं है, अपने-अपने कर्मोंक
प्राणियोंका जन्म और मरण होता है तो ऐसा होनेपर ईश्वरकी
आवश्यकता ही क्या है? जड़ कर्मोंकी प्रबलताक
होते रहेंगे। पुनः यदि तुम कहो कि जड़में अपनी कोई क्रिया
शक्ति नहीं होती, इसलिये कर्मोंक
होती है तब अपनी सृष्टिकी वृद्धिक
निर्मित किये हैं, पुत्रादिक
ही छिन्न कर रहे हो। पुत्र-स्नेहक
अपने बालकोंसे भला क्यों स्नेह करेगा? अतः स्नेहक
पुत्रादि जीवित न रह सक
अतः तुम मूर्ख ही हो॥५५॥

त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम्।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्-
ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम्॥ ५६॥

हे वत्स! तुम्हारे बिना मैं अति कातर और दीन हो रही हूँ। मुझे इस प्रकार त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है, एक बार अपने शोक-सन्तप्त पिताको देखो, पुत्रहीनोंको नरकमें घोर यातना मिलती है, तुम्हारे द्वारा ही उससे हमारी रक्षा हो सकती है, अतएव हे पुत्र! तुम इस निर्दयी यमक
दूर मत जाओ॥५६॥

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्त्तुम्।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान् परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम्॥ ५७॥

हे तात! हे राजक
हो गया है, अब उठो! तुम्हारे साथी बालक तुम्हें खेलनेक
बुला रहे हैं, तुम्हें भूख लग रही होगी, उठो बेटा! स्तन-पान करो एवं हम सबका शोक दूर करो॥५७॥

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम्।
किं वा गतोऽस्य पुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते॥ ५८॥

प्रिय पुत्र! मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ। देखो, मैं तुम्हारे समीप आकर भी तुम्हारे मुख-कमलपर मृदुहास्य और आमोदभरी चितवन नहीं देख पा रही हूँ। क्या तुम वहाँ चले गये, जहाँसे कोई नहीं लौटता। निर्दयी यमराज क्या तुम्हें उसी लोकमें ले गया है? मुझे तुम्हारी मधुर बोली सुनायी नहीं पड़ रही है॥५८॥

श्रीशुक उवाच—

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ५९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा परीक्षित्! जब सम्राट् चित्रक
देखा कि उनकी पत्नी मृत पुत्रक
कर रही है तो वे स्वयं भी शोकसे सन्तप्त होकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगे॥५९॥

तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः।
रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम्॥ ६०॥

राजा-रानीक
नर-नारियाँ भी रोने लगे। इस आकस्मिक दुर्घटनासे राज्यक
लोग शोक-सन्तप्त होकर अचेतन हो गये॥६०॥

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम्।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम ऋषिराजगाम सनारदः॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतूपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः।

प्रिय परीक्षित्! जब श्रीनारद और अङ्गिरा ऋषिने देखा कि महाराज चित्रक
गये हैं, तब वे दोनों उस स्थानपर उपस्थित हुए॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

चित्रक

श्रीशुक उवाच—

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम्।
शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! पुत्र शोकसे आतुर होकर महाराज चित्रक
थे। यह देखकर देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिराने उन्हें विविध प्रकारक

कोऽयं स्यात् तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति।
त्वञ्चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम्॥ २॥

हे राजेन्द्र! तुम जिसक
तुम्हारा कौन है? अथवा तुम इसक
यदि कहो कि इस सृष्टिमें यह मेरा पुत्र है और मैं इसका पिता हूँ, तो हम तुमसे पूछते हैं कि पूर्व जन्मोंमें इससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध था, इस समय क्या है और भविष्यमें क्या होगा?॥२॥

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥ ३॥

राजन्! जल-प्रवाहक
हैं और बिछुड़ते हैं, उसी प्रकार प्राणी भी कालक
कभी एक साथ मिल जाते हैं और कभी एक दूसरेको छोड़कर चल देते हैं॥३॥

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
एवं भूतानि भूतेषु चोदितानीशमायया॥ ४॥

धान्यादि बीजोंको जब धरतीमें बोया जाता है, तो कभी उनसे बीज उत्पन्न होता है (और कभी तो उनक
ही नष्ट हो जाती है) और कभी नहीं। इसी प्रकार भगवत्-मायाक
द्वारा प्रेरित प्राणी कभी पुत्रादिरूपमें पितादिसे जन्म लेते हैं और कभी नहीं। कभी-कभी उत्पन्न होनेक
हैं (गर्भ ही नहीं ठहरता)। अतः ऐसे नश्वर सम्बन्धक
करना उचित नहीं है॥४॥

वयञ्च त्वञ्च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्नैवमधुनापि भोः॥५॥

हे राजन्! तुम, मैं और यह समस्त चराचर जगत्—जो इस वर्त्तमान कालमें एक साथ दिखायी दे रहे हैं, ये हम सब जन्मक
एक साथ नहीं थे और न ही मृत्युक
यही सोचो कि इस समय भी हम साथ नहीं हैं। यह जो तुम हम सबको साथ देख रहे हो—वह तो आदि अन्तसे रहित स्वप्नक
है अर्थात् अवास्तव वस्तु है। इनमें-से किसीकी भी वास्तविक सत्ता नहीं है। कारण कि जो त्रैकालिक नहीं है, वह वास्तव सत्यनहीं है। (मायावादियोंक
न होनेपर भी दैहिक स्थिति नित्य सत्य नहीं है। अतः वह स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंक

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्ति च।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत्॥६॥

समस्त प्राणियोंक
विषयमें निरपेक्ष हैं। वे बालकोंक
द्वारा सृष्ट-स्वतन्त्र अथवा स्ववशीभूत प्राणियोंक
समस्त प्राणियोंका सृजन, राजाक
विनाश कराते हैं। अतः सृष्टि आदि कार्योंमें परतन्त्र प्रणियोंका कोई कर्त्तापन नहीं है। मायाक
कर्त्ताका अभिमान कर लेते हैं॥६॥

देहेन देहिनो राजन् देहाद्देहोऽभिजायते।
बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः॥७॥

बीजसे जिस प्रकार बीजकी उत्पत्ति होती है, हे राजन्! उसी प्रकार पिताकी देह द्वारा माताकी देहसे पुत्र-देहकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि देही अर्थात् जीवात्मा तो भूमिक
नित्य है। बीजकी उत्पत्ति-स्थल भूमिपर जिस प्रकार कोई परिवर्त्तन नहीं होता, उसी प्रकार देह-सृष्टि आदि कार्योंसे देही आत्मामें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। तुमने आत्माकी सृष्टि नहीं की, इसलिए आत्मासे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है (देहका जन्मादि व्यवहार प्रसिद्ध है किन्तु देही आत्माका नहीं, यह शाश्वत है, अतएव किसलिए शोक कर रहे हो?)॥७॥

देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥८॥

(यदि तुम कहो कि देह नश्वर है, अतः देही भी अनित्य है तो इसक
दो प्रकारक
अनादि अज्ञानक
(ज्ञाति अर्थात् गोत्व इत्यादि सामान्य एवं व्यक्ति अर्थात् गोपिण्ड-विशेष—इस प्रकारका विभाग सत्स्वरूप ब्रह्मवस्तुमें अज्ञान द्वारा कल्पित है, जबकि अनादि सिद्ध वस्तुक
होना सम्भव नहीं है) अतः शोक करना उचित नहीं है॥८॥

श्रीशुक उवाच—

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।
विमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब देवर्षि नारद और ब्रह्मर्षि अङ्गिराने राजा चित्रक
महाराज चित्रक
कहने लगे—॥९॥

श्रीराजोवाच—

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम्।
अवधूतेन वेशेण गूढाविह समागतौ॥ १०॥

राजा चित्रक
परमहंस वेशमें अपनेको छिपाकर यहाँ पधारे हैं। आप दोनों हैं कौन? मैं देख रहा हूँ कि आप दोनों परम ज्ञानवान् हैं और महानसे भी अतिशय महान हैं॥१०॥

चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः॥ ११॥

(हाय)! भगवत्-प्रिय ब्रह्मज्ञानीजन हमारे जैसे विषयासक्तचित्तवाले मूर्खोंकी अज्ञानताको दूर करनेक
करक

कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः।
अपान्तरतमो व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः॥ १२॥
वशिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातुकर्णस्तथारुणिः॥ १३॥
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः।
ऋषिर्वेदशिरा धौम्यो मुनिः पञ्चशिखस्तथा॥ १४॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः॥ १५॥

हे महाशयो! मैंने सुना है—सनत्क
देवल, असित, अपान्तरतमा (व्यासदेव), माक
भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातुकर्ण, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, पतञ्जलि, वेदशिरा-ऋषि धौम्य, पञ्चशिख मुनि, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज—ये सब तथा अन्य सिद्ध श्रेष्ठ ऋषि, मुनि अज्ञानी जीवोंको उपदेश

करनेक
उनमें-से कोई हैं? ॥१२-१५॥

तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभु।
अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम्॥ १६॥

आप दोनों मुझे ज्ञान देनेमें समर्थ हैं; मैं ग्राम्य पशु (शूकर अथवा क
डूबा हुआ हूँ। आप मेरे उद्धारक
प्रज्वलित कीजिए॥१६॥

श्रीअङ्गिरा उवाच—

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप।
एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः॥ १७॥

श्रीअङ्गिरा ऋषिने कहा—हे राजन्! जब तुम पुत्रकी कामना कर रहे थे, तब तुम्हें जिसने पुत्र प्रदान किया था, मैं वही अङ्गिरा ऋषि हूँ। ये जो तुम्हारे समक्ष खड़े हैं, ये स्वयं ब्रह्माजीक
परम-पूज्य नारद ऋषि हैं॥१७॥

इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे।
अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम्॥ १८॥

अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो।
ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसादितुमर्हसि॥ १९॥

तुम पुत्र-शोकक
भगवद्-भक्त हो। शोक, मोहादिसे अभिभूत होना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। यही विचार करक
तुम्हारे पास आये हैं। तुम ब्राह्मण-वैष्णवोंकी सेवा करनेवाले हो, भगवत् सेवी हो, तुम्हारा इस प्रकार शोकमें निमग्न होना युक्तियुक्त नहीं है॥१८-१९॥

तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः।
ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददाम्यहम्॥ २०॥

जब मैं पहले तुम्हारे राजभवनमें आया था, उस समय मैं तुम्हें परम ज्ञानका उपदेश देना चाहता था, किन्तु तुम्हारी पुत्र-प्राप्तिक लिए उत्कट आसक्ति थी—यह जानकर मैंने तुम्हें ज्ञानोपदेश न देकर पुत्र प्रदान कर दिया॥२०॥

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।
एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः॥ २१॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः।
महीराज्यं बलं कोशो भृत्यामात्यसुहृज्जनाः॥ २२॥
सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्त्तिदाः।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः॥ २३॥

अब आप स्वयं ही पुत्रवानोंक

हे शूरसेन! इसी प्रकार पत्नी, गृह, धन और विविध ऐश्वर्य—सम्पद्, शब्द-स्पर्शादि विषय और राजैश्वर्य ये सभी अनित्य हैं। पृथिवी, राज्य, सैन्य, धनागार, सेवक, अमात्य और सगे सम्बन्धी—ये सभी भय, मोह-शोक एवं पीड़ा देनेवाले हैं। गन्धर्वनगरक

क्षणभरक

हैं। स्वप्न, माया (इन्द्रजाल) और सङ्कल्प (मनोरथ) क

ये क्षणभङ्गुर एवं मिथ्या हैं॥२१-२३॥

दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन्॥ २४॥

हे राजन्! स्त्री, पुत्र, आदि दिखायी देनेवाले विषय-वैभव मनःकल्पित हैं। इन सब विषयोंकी वास्तविक सत्ता न रहनेक कारण ये दूसरे ही क्षण दिखायी नहीं देते। अतः ये अनित्य हैं। पूर्व-पूर्व कर्मवासनाओंक

पुरुषोंका मन नानाविध कर्मोंकी सृष्टि करता है॥२४॥

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः॥ २५॥

देहाभिमानी जीवोंकी मिट्टी आदि पञ्च भूतों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मोन्द्रियोंसे बनी अर्थात् अधिभूत (द्रव्यात्मक), अधिदैव (ज्ञानात्मक) एवं अध्यात्म (क्रियात्मक) यह देह ही विविध क्लेश अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन प्रकारक

तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः।
द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशाममाविश॥ २६॥

इसलिये तुम व्यग्र मत होओ, चित्तको शान्त करो और आत्मतत्त्वपर विचार करो अर्थात् तुम कौन हो, कहाँसे आये हो, अन्तमें शरीर छोड़कर कहाँ जाओगे? तुम शोक मोहादिक द्वारा क्यों अभिभूत हो रहे हो? इस सबका विचार करो। द्वैत अर्थात् कृष्णेतर दूसरी वस्तुओंका नित्यत्व है, गृहादि प्रपञ्च नित्य है, जगत् सत्य वस्तु है—इस विश्वासको त्यागनेपर ही तुम परम शान्ति प्राप्त कर सकते हो॥२६॥

श्रीनारद उवाच—

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम।
यां धारयन् सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम्॥ २७॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—राजन्! तुम संयत होकर मेरे द्वारा प्रदत्त इस परम श्रेयास्पद मन्त्रोपनिषद्‌को ग्रहण करो। इसे धारण करने से तुम्हें सात रातमें ही भगवान् सङ्कर्षणक

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुर्भवानपि परं न चिरादुपैति॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतुसान्त्वनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

हे राजेन्द्र! प्राचीन कालमें महादेवादि देवता भगवान् सङ्कर्षणक चरणोंमें शरणापन्न हुए थे और तत्क्षण ही द्वैतभ्रम (अहंता और ममता) से मुक्त हो गये थे। वे उस महिमाको प्राप्त हो गये थे, जो अतुलनीय और सर्वश्रेष्ठ है। तुम भी शीघ्र ही उस परमपदको प्राप्त कर लोगे॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त॥

षोडशोऽध्यायः

चित्रक

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथ देवऋषी राजन् सम्परेतं नृपात्मजम्।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम्॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसक
योगबलसे मृतक राजपुत्रको शोकाक
प्रत्यक्ष बुलाकर कहा—॥१॥

श्रीनारद उवाच—

जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरञ्च ते।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम्॥ २ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे जीवात्मन्! तुम्हारा कल्याण हो। देखो, तुम्हारे माता-पिता और बन्धु-बान्धव तुम्हारे विरहक
व्याक

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः।
भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम्॥ ३ ॥

(असमय ही तुम्हारी मृत्यु हो गयी थी। इसलिए तुम्हारी आयु अभी भी बची हुई है) अतः तुम अपने शरीरमें पुनः प्रवेश करो और मित्रों तथा स्वजनोंक
अपने पिता द्वारा प्रदत्त राज्यैश्वर्यको स्वीकार कर राजासनपर विराजमान हो जाओ॥३॥

जीव उवाच—

कस्मिन् जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन्।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु॥ ४ ॥

जीवात्माने कहा—मैं अपने कर्मोंक
मनुष्य योनियोंमें न जाने कबसे भटक रहा हूँ। ये लोग किस जन्ममें मेरे माता-पिता थे?॥४॥

बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः॥५॥

इस अनादि संसार-प्रवाहमें क्रमशः सभी एक-दूसरेक
(विवाहादि द्वारा सम्बन्धी) ज्ञाति, शत्रु, मित्र (रक्षक) मध्यस्थ (बाहर मित्रता दिखाने वाले परन्तु अन्दरसे शून्य) द्रव्यादि विक्रयक
मित्र, शत्रु, उदासीन और विद्वेषी होते रहते हैं॥५॥

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्त्तृषु॥६॥

जैसे सुवर्णादि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ क्रमशः भिन्न-भिन्न मनुष्योंक
नानाविध योनियोंमें तत्-तत् सम्बन्धी माता-पिताक
करता रहता है॥६॥

नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु।
यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि॥७॥

(जन्म-जन्मान्तरोंकी बात तो दूर रहे, इस जन्ममें भी जीवोंक
साथ दूसरे जीवोंका सम्बन्ध अनित्य है। इसी दृष्टान्तको बतला रहे हैं) पशु आदि जीवोंक
देखा जाता। जब तक जिस वस्तुक
तक उस वस्तुक
तिरोहित हो जाता है, तब ममता भी समाप्त हो जाती है॥७॥

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः।
यावद्यत्रोपलभ्येत तावत् स्वत्वं हि तस्य तत्॥८॥

जीवात्माका पितादि मर्त्त्य देहोंसे सम्बन्ध होता दिखाई पड़े तो भी जीवात्मा नित्य है, क्योंकि देहादिका जन्म होता है, जीवात्माकी

उत्पत्ति कभी स्वीकार्य नहीं है। जीवात्मा निरहङ्कृत अर्थात् "मैं इसका पुत्र हूँ" इस प्रकारक
माता-पितासे उसका देहगत सम्बन्ध रहता है। कर्मानुसार जीव जब तक पिताक
उस पुत्रमें स्वत्व वर्त्तमान रहता है। मृत्युक
साथ सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। अतः शोक करना व्यर्थ है॥८॥

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः॥९॥

यह आत्मा नित्य वस्तु है, क्योंकि इसका विनाश नहीं है। यह आत्मा सूक्ष्म, जन्मादिसे रहित एवं सर्वाश्रय अर्थात् उत्पत्ति अथवा जन्मशील देहादिका आश्रय (स्वयं देह नहीं है) और स्वतःप्रकाश स्वरूप है। यह सामर्थ्यवान् होकर अपनी इच्छानुसार मायाक

न ह्यस्याति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्त्तृणां गुणदोषयोः॥१०॥

इस आत्माका न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। कोई अपना अथवा पराया नहीं है। यह अक
रहित और हित-अहित करनेवाले मित्र-शत्रुओंकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंका साक्षीमात्र है॥१०॥

नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम्।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः॥११॥

आत्मा शरीरक
ग्रहण नहीं करता। यह कार्य-कारणका स्रष्टा और देहादि रूप परतन्त्रतासे रहित उदासीनक
किसीको भी शोक नहीं करना चाहिए॥११॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा।
विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम्॥१२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वह जीवात्मा इस प्रकार कह कर चला गया। चित्रक
बातोंको सुनकर विस्मित रह गये। उन्होंने अपनी स्नेह-शृङ्खलाका छेदन करक

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्त्तिदम्॥ १३॥

तत्पश्यात् महाराज चित्रक
मृत राजपुत्रकी देहका दाह-संस्कार किया और मरणोपरान्तोचित श्राद्ध-तर्पणादि क्रियाएँ पूर्ण कीं। इसक
स्नेहका त्याग कर दिया, जिसक
दुःखोंकी प्राप्ति होती है॥१३॥

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम्।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम्॥ १४॥

हे महाराज! महारानी कृतद्युतिक
करनेवाली सपत्नियाँ बाल-हत्याक
अपने दुष्कर्मक
महर्षि अङ्गिराक
कारण होते हैं"—अतः उन्होंने पुत्र-कामनाका परित्याग कर दिया। ब्राह्मणोंक
और उन्होंने बालहत्यारूप घोर पापका प्रायश्चित्त किया॥१४॥

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।
गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः॥ १५॥

देवर्षि नारद और अङ्गिराक
सारग्राही महाराज चित्रक
अन्धे क
निविड़ (घनीभूत) कीचड़से हाथी बाहर निकल आता है॥१५॥

कालिन्द्यां विधिवत् स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत॥ १६॥

राजाने यमुनाजीमें विधिपूर्वक स्नान करक
अर्घ्य दिया तथा पितरोंक
मौन एवं संयत-चित्त होकर देवर्षि नारद एवं महर्षि अङ्गिराक
चरणोंमें प्रणाम किया॥१६॥

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने।
भगवान् नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह॥ १७॥

शरणागत, जितेन्द्रिय और भक्तिमान् चित्रक
परम सामर्थ्यवान् देवर्षि नारदने उन्हें इस विद्याका उपदेश दिया॥१७॥

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥ १८॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्त्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये॥ १९॥

(नारदोपदिष्ट विद्या इस प्रकार है) हे प्रणवात्मक भगवन्! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव! मैं आपकी प्रसन्नताक
आपका अपने हृदयमें ध्यान करता हूँ। हे प्रद्युम्न, हे अनिरुद्ध! हे सङ्कर्षण! आपको नमस्कार है। हे चित्शक्तिमन्! आपको नमस्कार करता हूँ। हे परमानन्दमूर्त्ते! हे आत्माराम! हे शान्त! हे द्वैत (अद्वितीय—जिनकी दृष्टिमें द्वैत मिट गया हो।) अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन प्रकारक
दूर करनेवाले अद्वयज्ञान स्वरूप! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। अहो! जीव मायिक प्रपञ्चमें ही आसक्त रहता है और वह आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता॥१८-१९॥

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः।
हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्त्तये॥ २०॥

आप स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूतिक
द्वेषादिरूप तरङ्गोंको तिरोहित कर देते हैं, अतः आपको

नमस्कार है। आप हृषीक
हैं। आप अनन्त मूर्त्ति और परम महान् हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥२०॥

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः॥ २१॥

मनक
है। जो नाम-रूप रहित, चिन्मात्र, क
अतीत एवं अद्वितीय हैं अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हैं, वे हमारी रक्षा करें॥२१॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते।
मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥ २२॥

मिट्टीक
अपने उपादान कारण मिट्टीमें ही स्थित रहते हैं और मिट्टीमें ही लीन हो जाते है, उसी प्रकार यह कार्य-कारणात्मक विश्व जिनसे उत्पन्न है, जिनमें स्थित है और जिनमें लीन होता है—ऐसे ब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥२२॥

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम्॥ २३॥

(सांख्यवादी दृश्य प्रधान अथवा तत्परिणामरूप देह, इन्द्रिय बुद्धि इत्यादिको अथवा कोई-कोई जीवको द्रष्टा नाम प्रदान करते हैं—इसी अशुद्ध मतका खण्डन करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं।) जो ब्रह्म आकाशक
बाहर-भीतर व्याप्त हैं, मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ जिन्हें अपनीं ज्ञानशक्तिसे जान नहीं सकतीं तथा प्राणशक्ति जिनका स्पर्श नहीं कर सकती, मैं ऐसे आपको नमस्कार करता हूँ॥२२-२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।

नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति॥ २४॥

लोहा जिस प्रकार अग्निकी शक्ति द्वारा सामर्थ्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि—ये सभी दृश्य पदार्थ आपक
अपने–अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। अग्निक
भी वस्तुको जला नहीं सकता, उसी प्रकार देहादि जड़ेन्द्रियाँ भी अचैतन्यावस्था अर्थात् सुषुप्ति एवं मूर्च्छामें अपना–कार्य नहीं कर सकतीं। कार्य करनेकी शक्ति आपक
है। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ब्रह्म ही एकमात्र 'द्रष्टा' संज्ञा प्राप्त करते हैं॥२४॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुट्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परमपरमेष्ठिन्नमस्ते॥ २५॥

हे गुणातीत! हे परमेष्ठिन्! हे सर्वेश्वर! श्रेष्ठ भक्तगण अपने करकमलोंकी कलियों द्वारा आपक
सेवा करते हैं। आप भगवान्, महापुरुष, महानुभव, महाविभूतिक अधिपति हैं। आपको मेरा नमस्कार है। (आप मुझे भी अपनी सेवामें नियुक्त करें)॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! देवर्षि नारद अपने शरणागत भगवद्–भक्त चित्रक
अङ्गिराक

चित्रकेतुस्तु तां विद्यां यथा नारदभाषिताम्।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः॥ २७॥

राजा चित्रक
यथोचितरूपसे सात दिनों तक मात्र जल पीकर बड़ी सावधानीसे जप किया॥२७॥

ततः स सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया।
विद्याधराधिपत्यञ्च लेभेऽप्रतिहतं नृपः॥ २८॥

हे राजन्! चित्रक
रातोंक
(यद्यपि यह फल अवान्तर था)॥२८॥

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः।
जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम्॥ २९॥

इसक
मन आत्मज्ञानसे प्रदीप्त हो उठा और वे देवाधिदेव अनन्तदेवक
चरणोंक

मृणालगौरं सितिवाससं स्फुरत्-
किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम्॥ ३०॥

परीक्षित्! चित्रक
सिद्धेश्वर मण्डलीक
समान गौर वर्णका है। उन्होंने नीला वस्त्र धारण कर रखा है, अत्युज्ज्वल, विराट् मुक
हो रहे हैं। मुख-कमलपर मृदु-मन्द मुसकान है और नेत्रोंमें लालिमा छायी हुई है॥३०॥

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपुरुषम् ॥ ३१॥

भगवान् सङ्कर्षणका दर्शन करने मात्रसे ही चित्रक
पाप नष्ट हो गये। अन्तःकरण निर्मल होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो गया। अत्यधिक हर्षक
प्रेमाश्रु गिरने लगे। वे शान्त एवं गम्भीर हो गये। उन्होंने अनन्य भक्तिक

स उत्तमःश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत् तं प्रसमीडितुं चिरम्॥ ३२॥

चित्रक
रखनेकी चौकी अभिषिक्त हो गयी। प्रेमातिशयताक
कण्ठ गद्गद हो गया। वे एक भी शब्दका उच्चारण करनेमें असमर्थ हो गये तथा बहुत देर तक भगवान्की स्तुतिक
न बोल सक

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत् प्रतिलब्धवागसौ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्त्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम्॥ ३३॥

क
बाह्य-वृत्तिको रोका। पुनः वाक्शक्ति प्राप्त करनेपर राजा चित्रक
नारद पञ्चरात्र, ब्रह्मसंहिता आदि भक्ति-शास्त्रोंमें वर्णित साच्चिदान्नद विग्रह जगद्गुरु भगवान् सङ्कर्षणकी इस प्रकार स्तुति की॥३३॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता।
विजितास्तेऽपि च भजताम-
कामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः॥ ३४॥

चित्रक
आप समबुद्धि साधुओंक
आपको अपने अधीन कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि आप अतीव करुणावश हैं। जो निष्काम होकर भजन करते हैं, उन्हें आप अपने-आपको ही प्रदान कर देते हैं। अतः आप भक्तोंको अपने नियन्त्रणमें रखते हैं॥३४॥

तव विभवः खलु भगवन्
जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेंऽशांशा-
स्तत्र मृषास्पर्द्धन्ति पृथगभिमत्या॥ ३५॥

हे भगवन्! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय एवं प्रवेश-नियमादि (अर्थात् वस्तुका विलय होनेपर आदि-शक्तिका पुनः परमेश्वरक
होना) जो क
विश्व-निर्माता ब्रह्मादि देवगण—आपक
अंश हैं। सृष्टि आदि कार्योंक
स्वयंको ईश्वर मान बैठे हैं—उनका यह अभिमान निरर्थक है॥३५॥

परमाणुपरममहतो-
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्त्ती त्रयविधुरः।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां
यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि॥ ३६॥

जगत्-सृष्टिका मूलीभूत जो सूक्ष्मकारण परमाणु एवं अति महत् जो अन्तिम कार्य-पदार्थ (विराट् ब्रह्माण्ड) है, उसक
एवं मध्यमें आप वर्त्तमान रहते हैं। सत्ताविशिष्ट-रूपमें प्रतीयमान कार्यपदार्थोंक
जिस प्रकार आप वर्त्तमान रहते हैं, अन्तरालमें (कार्योंकी वर्त्तमान दशामें) भी उसी प्रकारसे वर्त्तमान रहते हैं, जबकि आप स्वयं आदि, अन्त एवं मध्यसे रहित हैं। आप नित्य हैं (कार्यजात समस्त वस्तुएँ अवास्तव हैं।)॥३६॥

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः
सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः
सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः॥ ३७॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर (अपने पहले वालेसे) दस-दस गुना अधिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, महत् और अहङ्कार—प्रकृतिक
है। यह ब्रह्माण्ड दूसरे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंक
परमाणुकी भाँति घूमता है। आपकी सीमा न होनेक
अपरिमेय, अनन्त कहलाते हैं॥३७॥

विषयतृषो नरपशवो य
उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।
तेषामाशिष ईश तदनु
विनश्यन्ति यथा राजकुलम्॥ ३८॥

हे ईश! विषय भोगकी लालसा रखनेवाले नर-पशु आप-सर्वोत्तमका परित्याग करक
करते हैं। इन देवताओंक
देवताओंक
प्रकार राजक
गये विषय भोग नष्ट हो जाते हैं॥३८॥

कामधियस्त्वयि रचिता न परम
रोहन्ति यथा करम्भबीजानि।
ज्ञानात्मन्यगुणमयेगुण
गणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि॥ ३९॥

हे परम! आप ज्ञानात्मा एवं निर्गुण हैं। जो राज्य-प्राप्ति आदिकी कामनासे भी आपकी उपासना करते हैं, उन्हें भी पुनः जन्म-मरणक
प्रकार भुने हुए बीजोंसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते। प्राकृत गुणोंक

कारण ही जीवोंको संसार तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्व भाव प्राप्त होते हैं। आप निर्गुण तत्त्व हैं। अतः आपक
ही उपलब्ध होता है॥३९॥

जितमजित तदा भवता
यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम्।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय॥ ४०॥

हे अजित्! जिस समय आपने अपनी-प्राप्तिका उपायस्वरूप भागवत धर्म बतलाया, उसी समय आपने सबको जीत लिया। निष्किञ्चन सनत्क
द्वारा उपदिष्ट निर्मल भागवत धर्मकी उपासना करते हैं॥४०॥

विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः॥ ४१॥

अन्यान्य काम्य-कर्मरूप धर्मोंमें जैसे मैं-मेरा, तुम-तुम्हारा इत्यादि विषय-बुद्धि होती है, भागवत धर्मको माननेवालोंकी ऐसी बुद्धि नहीं होती। शत्रु-मारणादि कामनासे विषयबुद्धि द्वारा रचित जो धर्म हैं, वे राग-द्वेष आदिसे युक्त, अशुद्ध, नश्वर, हिंसादि बाहुल्य-प्रयुक्त (कराने वाले) और बहुत अधर्म करानेवाले हैं॥४१॥

कः क्षेमो निजपरयोः
कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण।
स्वद्रोहात् तव कोपः
परसंपीडया च तथाऽधर्मः॥ ४२॥

तपादिसे अपने शरीरको कष्ट देनेवाले स्वद्रोह और परद्रोहसे दूसरोंकी हिंसा कराने वाला जो धर्म (काम्य कर्म) है, इससे अपना अथवा पुत्रादि दूसरोंका भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

अथवा क्या वस्तु प्राप्त हो सकती है? स्वयं किसीसे द्रोह करनेसे अपने आपको पीड़ा होती है और किसीको सतानेसे वह काम्य कर्म अधर्म हो जाता है, जिससे अन्तःशरीरमें स्थित आपको भी क्रोध उत्पन्न होता है (अतः आपने रागान्ध व्यक्तियोंको किसी भी प्रकारसे वेदमार्गमें प्रवर्तित करनेक
दिया है, तात्त्विक दृष्टिसे नहीं)॥४२॥

न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बे-
ष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः॥४३॥

हे प्रभो! आपने जिस दृष्टिसे भागवत-धर्मका निरूपण किया है, आपकी वह दृष्टि काम्य कर्मोंक
नहीं होती। अतः श्रेष्ठ आर्यजन स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें समदृष्टि सम्पन्न होते हैं (किसीको उच्च अथवा निम्न नहीं मानते) और आपक

नहि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्
पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्॥४४॥

हे भगवन्! आपक
जाते हैं—यह क
एक बार भी सुन लिया जाय, तो अधार्मिक चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है॥४४॥

अथ भगवन् वयमधुना
त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यत् कथितं
तावकेन कथमन्यथा भवति॥४५॥

अतएव हे भगवन्! आपका दर्शन करक
अन्तःकरणसे पाप और उसक
गये हैं। आपक
अन्यथा नहीं हो सकता है। उनक
आपका सान्निध्य प्राप्त हुआ है॥४५॥

विदितमनन्त समस्तं
तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः॥ ४६॥

हे अनन्त! संसारमें लोग जो क
क
सामने जुगनू किसी वस्तुको क्या प्रकाशित करेगा? इसी प्रकार
सर्वप्रकाशक परमगुरु आपक
कर सकता है?॥४६॥

नमस्तुभ्यं भगवते
सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय।
दुरवसितात्मगतये
कुयोगिनां भिदा परमहंसाय॥ ४७॥

आप जगत्की स्थिति, लय एवं उत्पत्तिक
फँसे हुये क
जान सकते। आप परमहंस हैं, अति विशुद्ध हैं षडैश्वर्यपूर्ण हैं,
भगवान् हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥४७॥

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनुचित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्द्धिन
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्द्धने॥ ४८॥

आपकी चेष्टासे शक्ति प्राप्त करनेक
देवता चेष्टाएँ करते हैं, आपक

अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं। आपक
भूमण्डल सरसोंक
सहस्रशीर्षा भगवान्! आपको नमस्कार है॥४८॥

श्रीशुक उवाच—

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत।
विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह॥४९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा परीक्षित्! विद्याधराधिपति चित्रक
भगवान् अनन्तदेव बहुत प्रसन्न हो गये और उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—॥४९॥

श्रीभगवानुवाच—

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम्।
संसिद्धोऽसि तया राजन् विद्यया दर्शनाच्च मे॥५०॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवने कहा—हे राजन्! देवर्षि नारद एवं महर्षि अङ्गिराने मेरे सम्बन्धमें तुम्हें जिस विद्याका उपदेश दिया, उस विद्याक
प्राप्त हो गयी है॥५०॥

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू॥५१॥

मैं ही स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियोंक
आत्मा हूँ और मैं ही भूतभावन अर्थात् समस्त प्राणियोंका पालन करता हूँ। शब्दब्रह्म और परब्रह्म—ये दोनों ही मेरे नित्य-सनातन शरीर हैं॥५१॥

लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि सन्ततम्।
उभयञ्च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम्॥५२॥

इस भोग्यात्मक प्रपञ्चमें आत्मा भोक्तृत्वरूपमें व्याप्त है और आत्मामें यह प्रपञ्च भोग्यत्वरूपमें व्याप्त है। इन दोनोंका

कारण मैं हूँ, मेरे ही अधिष्ठान-कारणसे ये दोनों मुझमें कार्यरूपमें कल्पित हैं। (भूत-समूह मेरे स्वरूपभूत नहीं हैं, प्रत्युत् मेरी शक्तिक
ऐसा समझना चाहिये॥५२॥

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः॥५३॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्॥५४॥

कोई मनुष्य जब प्रगाढ़ नींदमें सोया होता है, तो वह दूरस्थ स्थित—पर्वत, नदी और वनको अपनेमें देखता है। पुनः स्वप्नसे जगनेपर स्वयंको मनुष्यक
लेता है, उसी प्रकार जागरणादि अवस्थाएँ जो बुद्धिकी उपाधियाँ हैं—ये सब परमात्माकी माया हैं। अतः मनुष्यको इन प्रगाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रदादि अवस्थाओंक
स्पर्श मात्रसे रहित जानकर द्रष्टा एवं अन्तर्यामीरूपमें उनका स्मरण करना चाहिए॥५३-५४॥

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा।
सुखञ्च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम्॥५५॥

सोया हुआ पुरुष अर्थात् जीव जिसक
सुप्तावस्था तथा इन्द्रियातीत सुखोंका अनुभव करता है, मैं वही सर्वव्यापी परब्रह्म हूँ। इसे तुम स्पष्टरूपसे समझ लो॥५५॥

उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः।
अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम्॥५६॥

यदि निद्रामें स्वप्न-साक्षी परमात्माक
जाग्रदवस्थामें जीव किसी प्रकारसे स्मरण कर सकता है, क्योंकि अनुभव-सिद्ध विषय कभी भी दूसरेक
(इसपर कहते हैं कि) निद्रा एवं जागरण—इन दोनों अवस्थाओंकी

अनुसन्धानकारी पुरुषकी निद्रा, निद्रित एवं जाग्रदवस्था—दोनोंक प्रकाशकरूपमें वर्त्तमान है और दोनों ही अवस्थाओंसे पृथक् 'ब्रह्म' पद वाच्य जो ज्ञान है, वह चिन्मात्र ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। बाल्यावस्थामें देखे गये पदार्थ जिस प्रकार यौवनमें भी स्मृतिगोचर होते हैं, उसी प्रकार निद्रावस्थामें अनुभूत विषय भी जाग्रदवस्थामें अनुभवक
समस्त अवस्थाओंमें अविकृतरूपसे विराजमान रहती है॥५६॥

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः॥५७॥

जब पुरुष मेरे ब्रह्मस्वरूपको भूलकर स्वयंको मुझसे अर्थात् परमात्मासे भिन्न (एक स्वतन्त्र पुरुष अथवा ईश्वर) मान लेता है, उसी समय भेद-दृष्टिक
देह, पुत्र आदिमें, 'मैं और मेरा' अभिमान कर अध्यात्मजनित कर्मोंक द्वारा देहसे देहान्तर अर्थात् देव-मनुष्यादि जन्म-परम्परा (जन्मपर जन्म) और मृत्युक

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचित् क्षेममाप्नुयात्॥५८॥

'मानव-शरीरमें ही ज्ञान-विज्ञान (आत्म-तत्त्व प्रतिपादक शास्त्र-ज्ञान और अनुभव—जन्य विज्ञान) सम्भव हैं। अतः इस पुण्यभूमि भारतवर्षमें जन्म प्राप्त करक
जाननेक
जहाँ तक कि देवादि योनियोंमें भी शान्ति अर्थात् वास्तविक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता॥५८॥

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम्।
अभयञ्चाप्यनीहायां संकल्पाद्विरमेत् कविः॥५९॥

लौकिक एवं काम्य कर्मोंसे क्लेश एवं विपरीत फलकी ही प्राप्ति होती है; सुखका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता। निष्काम

भावसे समस्त कार्यों और उसक
सर्वतोभावसे अभय प्राप्त हो जाता है एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति होती है। इस तथ्यको याद रखकर विवेकी जनोंको कर्म अथवा उसक

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च॥ ६०॥

इस जगत्में स्त्री और पुरुष—दोनों ही सुख-प्राप्ति एवं दुःखसे पिण्ड छुड़ानेक
होनेक
छुटकारा। सच तो यह है कि उन्हें क
होते हैं॥६०॥

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम्।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम्॥ ६१॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा।
ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्॥ ६२॥

जो अपनेको कर्म-मार्गमें प्रवीण मानकर अभिमान करते हैं, उन मनुष्योंको विपरीत परिणाम मिलता है। आत्मा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंसे अतीत है और दुर्विज्ञेय है। अतः विवेक-बलसे ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंकी पिपासाओंका परित्याग करक
भजन करना चाहिए॥६१-६२॥

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैकदर्शनम्॥ ६३॥

योग-क
वे जीवात्मा अथवा परमात्माक
समझें अथवा ब्रह्म-जीवक
इसक

त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि॥ ६४॥

हे राजन्! तुम समस्त विषयोंसे अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इन वचनोंको धारण करोगे, तो ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त करक

श्रीशुक उवाच—

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतोः श्रीपरमात्मदर्शनं नाम षोडशोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन! जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् सङ्कर्षण चित्रक
उस स्थानसे अन्तर्धान हो गये॥६५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

चित्रक

श्रीशुक उवाच—

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् अनन्तदेव जिस दिशामें अन्तर्धान हुए थे, विद्याधर चित्रक
दिशाको प्रणाम किया और आकाश मार्गमें विचरण करने लगे॥१॥

स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः।
स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः॥ २॥
कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम्॥ ३॥

महायोगी चित्रक
सिद्धस्थली सुमेरुकी कन्दराओं एवं घाटियोंमें विचरण करते रहे। उनका बल एवं इन्द्रिय-शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। सिद्ध और चारण उनकी स्तुति करते थे। वे विद्याधरकी स्त्रियोंसे हरिनाम-कीर्त्तन कराकर परम आनन्दित होते थे॥२-३॥

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः॥ ४॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके॥ ५॥

एक दिन चित्रक
सवार होकर विचरण कर रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि देवाधिदेव महादेव मुनियोंकी सभामें सिद्ध-चारणोंसे घिरे हुए बैठे हैं और

पार्वतीजीको गोदमें बिठाकर अपनी बाहोंसे उनका आलिङ्गन किये हुए हैं। वे विमानपर बैठे हुए ही उनक
ऊँचे स्वरसे हँसते हुए भगवती पार्वतीको जोर-जोरसे सुना-सुनाकर कहने लगे॥४-५॥

चित्रकेतुरुवाच—

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम्।
आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया॥६॥

चित्रक
सर्वश्रेष्ठ हैं, जो साक्षात् धर्मक
है कि वे ही आज मुनियोंकी सभामें अपनी पत्नीका आलिङ्गन करक

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादी सभापतिः।
अङ्कीकृत्य स्त्रियञ्चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा॥७॥

जरा देखो तो, जटाधारी, महातेजस्वी, ब्रह्मवादियोंक
शिव किस प्रकारसे निर्लज्ज एवं प्राकृत मनुष्यक
सभामें पत्नीका आलिङ्गन कर रहे हैं!॥७॥

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम्॥८॥

साधारण ग्राम्य नीच मनुष्य भी पत्नीक
ही उठते-बैठते हैं, किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंक
इतने बड़े तपस्वी होकर भी सभाक
धारण किये हुए हैं॥८॥

श्रीशुक उवाच—

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् महेश्वरका ज्ञान असीम एवं अगाध है। वे चित्रक

मुसकरा दिये और फिर मौन हो गये। उनक
उनका अनुसरण करते हुए क

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम्।
रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने॥ १०॥

चित्रक
एवं अनुचित बातें कहीं। उनक
आलोचना भी कभी-कभी व्यक्त हो रही थी। वे स्वयंको शिवजीसे भी बड़ा जितेन्द्रिय समझ रहे थे। उनकी ऐसी धृष्टता देखकर पार्वती क्रोधाविष्ट होकर कहने लगीं॥१०॥

श्रीपार्वत्युवाच—

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः।
अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानाञ्च विप्रकृत्॥ ११॥

पार्वतीने कहा—अहो! इस समय यह जो विरोध कर रहा है, क्या यही हमारे जैसे निर्लज्ज एवं दुष्टोंका शासन करने आया है? दण्ड धारण करनेवाला इस संसारमें यही एक प्रभु है क्या?॥११॥

न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-
र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः।
न वै कुमारः कपिलो मनुश्च
ये नो निषेधन्त्यतिवर्त्तिनं हरम्॥ १२॥

अहो! पद्मयोनि ब्रह्मा क्या धर्म नहीं जानते। ब्रह्म-पुत्र भृगु, नारदादि ऋषिगण भी क्या धर्मक
भी क्या धर्मक
कर्म करनेवाले भगवान् शङ्करको दुष्कर्मोंसे रोकने आया है?॥१२॥

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम्।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः॥ १३॥

ब्रह्मादि देवता जिनक
इस क्षत्रियाधम चित्रक
परमधर्ममूर्त्ति, मङ्गलोंक
किया है। अतः इसे दण्ड दिया जाना ही उचित है॥१३॥

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम्।
सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम्॥ १४॥

अपनी सर्वश्रेष्ठताका अहङ्कार करनेवाला यह दुर्विनीत व्यक्ति
इस जन्ममें तो साधुओंक
कमलोंमें रहने योग्य नहीं है॥१४॥

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते।
यथेह भूयो महतां न कर्त्ता पुत्र किल्बिषम्॥ १५॥

अहे दुर्मति! अतः तुम पापपूर्ण असुर-योनिमें जन्म लो। जिससे
हे पुत्र! फिरसे इन साधुओंक

श्रीशुक उवाच—

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत॥ १६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! पार्वतीक
होनेपर चित्रक
करने लगे॥१६॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके।
देवैर्मर्त्याय यत् प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत्॥ १७॥

चित्रक
है, उसे मैं हाथ जोड़कर स्वीकार करता हूँ। देवता मनुष्योंको
उनक
करते हैं॥१७॥

संसारचक्र एतस्मिन् जन्तुरज्ञानमोहितः।
भ्राम्यन् सुखञ्च दुःखञ्च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा॥ १८॥

अविद्यासे आच्छादित जीव इस संसारमें भटकता रहता है और सभी स्थानों तथा सभी समयोंपर पूर्व-पूर्व कर्मोंक
दुःखोंका भोग करता है। (अतः हे देवि! शाप-प्रदानक
मेरा अथवा आपका कोई दोष नहीं है)॥१८॥

नैवात्मा न परश्चापि कर्त्ता स्यात् सुखदुःखयोः।
कर्त्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥ १९॥

इस संसारमें सुख-द:ुखका कर्त्ता न तो मुनष्य स्वयं है और न ही कोई मित्र अथवा शत्रु; अज्ञानताक
अथवा दूसरोंको सुख-द:ुखका कर्त्ता मान लेता है॥१९॥

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥ २०॥

यह संसार मायामय गुणोंका प्रवाह-स्वरूप है। अतः इसमें क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्ग तक पहुँचना और क्या स्वर्गसे छूटकर नरकमें गिरना? क्या सुख, क्या दुःख? इनमें-से किसीकी भी तो वास्तविक सत्ता नहीं है॥२०॥

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया।
एषां बन्धञ्च मोक्षञ्च सुखं दुःखञ्च निष्कलः॥ २१॥

एकमात्र भगवान् अपनी मायाक
हैं। वे ही मायाक
द्वारा मुक्तिका विधान करते हैं। वे ही सत्त्वगुणक
रजोगुणक

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः॥ २२॥

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सम हैं। उनका प्रिय अथवा अप्रिय ज्ञाति अथवा बन्धु, पराया अथवा अपना कोई भी नहीं है। वे अनासक्त हैं। उनका सुखमें कोई अनुराग नहीं है, तब उनमें रागजन्य रोष तो आ ही कहाँसे सकता है?॥२२॥

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते॥ २३॥

यद्यपि वे अनासक्त हैं, तथापि वे अपनी मायाशक्ति द्वारा पाप-पुण्य इत्यादिकी रचना करते हैं और समस्त जीवोंक
मङ्गल-अमङ्गल, बन्धन-मोक्ष और जन्म-मरणरूप संसारक
बन जाते हैं (वस्तुतः गुणमाया ही जीवोंक
पुण्य-पापादि कर्मोंकी सृष्टि करक
होती है॥२३॥

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि।
यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत् क्षम्यतां सति॥ २४॥

हे भामिनि (अकारण क्रोध करनेवाली)! मैं अपनी शाप-मुक्तिक लिये आपसे प्रार्थना नहीं कर रहा। (सुख-दुःख मनुष्यको अपने कर्मोंक
होनेपर भी यदि आपको अनुचित लगते हों, तो उनक
आपसे क्षमा माँगता हूँ॥२४॥

श्रीशुक उवाच—

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम।
जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः॥ २५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे शत्रुदमन परीक्षित्! इस प्रकार चित्रक
ही अपने विमानपर चढ़कर वहाँसे चले गये। शापकी बात सुनकर

चित्रक
शङ्कर और देवी पार्वतीको विस्मय हुआ॥२५॥

ततस्तु भगवान् रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत्।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानाञ्च शृण्वताम्॥ २६॥

इसक
सामने ही रुद्राणीसे इस प्रकार कहा॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच—

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम्॥ २७॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे सुन्दरि! अलौकिक लीलाधारी भगवान्
श्रीहरिक
देखो! इन्हें विषय-सुखकी किञ्चित् मात्र भी स्पृहा नहीं है॥२७॥

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ २८॥

भगवान् श्रीनारायणकी सेवामें लगे रहनेवाले किसी भी अवस्थासे भयभीत नहीं होते। वे तो स्वर्ग, मुक्ति एवं नरकको समान भाव से ही देखते हैं॥२८॥

देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया।
सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च॥ २९॥

भगवाान्की मायासे ही जीवोंका देहसे सम्बन्ध होता है और इसीलिये सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, पाप और अनुग्रह ये सब द्वन्द्व प्राप्त होते हैं॥२९॥

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि।
गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्त्रजिवत् कृतः॥ ३०॥

अविवेकक
भ्रांतिक

प्रकार सुख–दुःखादिमें गुण–दोषका विचार (सुखमें गुण विचार, दोषमें दुःख विचार) भेद–बुद्धिक

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम्।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न हि कश्चिद्व्यपाश्रयः॥ ३१॥

जो भगवान् वासुदेवक

ज्ञान–वैराग्य–रूप शक्तिसे युक्त होते हैं। इस संसारमें उन्हें कोई भी वस्तु हेय या उपादेयरूपसे आकर्षित नहीं कर सकती॥३१॥

नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः।
विदाम यस्येहितमंशकांशका
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः॥ ३२॥

देवि! मैं (शिव), ब्रह्मा, सनकादि ऋषि, नारदादि ऋषि, देवेन्द्र आदि—हममें–से कोई भी श्रीहरिकी लीलाक

सकता। अतः जो श्रीहरिक

कर्त्ता समझ बैठे हैं, वे उनक

उन्हें निश्चितरूपसे उनक

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः॥ ३३॥

भगवान्को न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय, न कोई अपना है और न कोई पराया। वे समस्त प्राणियोंक

हैं, सभीको मङ्गल प्रदान करनेवाले हैं तथा सभीक

प्रियतम हैं॥३३॥

तस्य चायं महाभागाश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः।
सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहञ्चैवाच्युतप्रियः॥ ३४॥
तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु।
महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु॥ ३५॥

प्रिये! ये उदारचेता चित्रक
द्वेषसे शून्य रहकर समस्त प्राणियोंक
मैं भी भगवान् नारायणका प्रिय हूँ। अतः भगवान्क
प्राणियोंमें समदर्शी, शान्तचित्त महापुरुष हैं—उनक
भी प्रकारक

श्रीशुक उवाच—

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम्।
बभूव शान्तधी राजन् देवी विगतविस्मया॥ ३६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! परमपूज्य शिवक
वचनोंको सुनकर देवी पार्वतीने विस्मयका परित्याग करक
बुद्धिको स्थिर कर लिया॥३६॥

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः।
मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत् साधुलक्षणम्॥ ३७॥

परम भक्त चित्रक
परंतु उन्होंने ऐसा किया नहीं, बल्कि उन्होंने देवीक
गये शापको सिर झुकाकर ग्रहण कर लिया। साधुओंक
ऐसे ही होते हैं॥३७॥

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ३८॥

माता भवानीक
वे त्वष्टा ऋषिकी दक्षिण नामक यज्ञाग्निसे उत्पन्न हुए। उनका नाम वृत्रासुर हुआ। वे भगवत् सम्बन्धी ज्ञान एवं विज्ञानसे परिपूर्ण थे॥३८॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः॥ ३९॥

हे राजन्! तुमने मुझसे पूछा था कि भगवद्-भक्त वृत्रासुरका असुर-योनिमें जन्म किस कारणसे हुआ और उनकी भगवान्में

मति किस प्रकार बनी रही, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया॥३९॥

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः।
माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते॥४०॥

महात्मा चित्रक
विष्णु-भक्तोंसे सुनता है, वह संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥४०॥

य एतत् प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत्।
इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम्॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतूपाख्याने नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर और वाणीका संयम करक
श्रीहरिका स्मरण करते हुए इस इतिहासको पढ़ता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है॥४१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

अदिति और दितिकी सन्तानोंकी तथा मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः मावित्र्रीं सावित्र्रीं व्याहृतिं त्रयीम्।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! अदितिक
पाँचवे पुत्र सविताकी पत्नी पृश्निसे सावित्री, व्याहृति और त्रयी—ये तीन कन्याएँ और अग्निहोत्राभिमानी, पशुयागाभिमानी, सोमयागाभिमानी, चातुर्मास्ययागाभिमानी और पञ्चमहायागाभिमानी—ये पाँच पुत्र हुए॥१॥

(छठे स्कन्धक
किया गया था। प्रथम एवं द्वितीय विवस्वान् एवं अर्यमाका वंश
अति संक्षिप्त होनेक
थे—जो निःसन्तान थे। चौथे त्वष्टाका वंश-कीर्त्तन और इन्द्रकृत
विश्वरूप वध, वृत्र-वध एवं चित्रक
सत्रहवे अध्याय तक वर्णित हुए थे।)

सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम्।
आशिषञ्च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम्॥ २॥

हे राजन्! अदितिक
नाम सिद्धि था। उसक
तथा 'आशी' नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। यह कन्या बड़ी सुशील और परम सुन्दरी थी॥२॥

धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा।
सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात्॥ ३॥

अग्नीन् पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः।
चर्षणी वरुणस्यासीद् यस्यां जातो भृगुः पुनः॥ ४॥

अदितिक
राका और अनुमति। इनक
चार पुत्र हुए। अदितिक
नामकी पत्नीक
नवे पुत्र वरुण नामक आदित्यकी पत्नीका नाम था चर्षणी।
ब्रह्माजीक

वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी॥ ५॥

वरुणक
ग्रहण किया। भृगु एवं वाल्मीकि वरुणक
वरुणक
वशिष्ठ ऋषि मित्र-वरुणक

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम्।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात्॥ ६॥

अदितिक
देखा, वैसे ही उनका वीर्य स्खलित हो गया। उन दोनोंने उस
वीर्यको सम्मुखस्थ क
और वशिष्ठजीका जन्म हुआ—ये दोनों साधारण (उभयनिष्ठ) पुत्र
हैं। मित्रकी पत्नी रेवतीक
तीन पुत्र उत्पन्न हुए॥६॥

पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन् पुत्रानिति नः श्रुतम्।
जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः॥ ७॥

हे राजन्! अदितिक
आदित्यकी पत्नी थी पुलोमनन्दिनी शची। उसक
है, तीन पुत्र हुए—जयन्त, ऋषभ और मीढवान्॥७॥

उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः।
कीर्त्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन् सौभगादयः॥ ८॥

जो अपनी स्वरूपभूत नित्य शक्तिक
वामनरूपमें अवतीर्ण हुए, उनकी पत्नीका नाम था कीर्त्ति। उससे
बृहत्-श्लोक (बृहच्छ्लोक) नामक पुत्र हुआ। उसक
बहुत-से पुत्र हुए॥८॥

तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथैवावततार ह॥ ९॥

महात्मा कश्यपक
पगसे तीनों भुवन नाप लिये थे—इन सब उनक
अपने भक्तोंपर अनुग्रहादि गुणोंका, सर्वशक्ति आदि पराक्रमका और
अदितिक
स्कन्धमें) करूँगा॥९॥

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्त्तयामि ते।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च॥ १०॥

राजन्! अब मैं कश्यपजीकी दूसरी पत्नी दितिक
दैत्योंकी पुत्र-परम्पराका वर्णन करूँगा। इनक
श्रीमान् बलि महाराज और प्रह्लादका जन्म हुआ था॥१०॥

दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्त्तितौ॥ ११॥

प्रथमतः दितिक
हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र पैदा हुए (इनक
वर्णन किया गया है।)॥११॥

हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी।
जम्भस्य तनया सा तु सुषुवे चतुरः सुतान्॥ १२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत्॥ १३॥

जम्भासुरकी पुत्री कयाधु नामकी दानवीका विवाह हिरण्यकशिपुसे हुआ था। उसक
पुत्र उत्पन्न हुए। इन चारों पुत्रोंकी एक बहिन थी, जिसका नाम था सिंहिका। सिंहिकाका विवाह विप्रचित नामक दानवसे हुआ। उससे राहु नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ॥१२-१३॥

शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम्।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः॥१४॥

यह वही राहु है, जो देवताओंक
रहा था और भगवान् श्रीहरिने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा इसका सिर काट दिया था। संह्लादकी पत्नीका नाम था मति। उसका पञ्चजन नामक पुत्र हुआ॥१४॥

ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम्।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः॥१५॥

ह्लादकी पत्नीका नाम था धमनि। उसक
और इल्वल। इसी इल्वलने महर्षि अगस्त्यको भोजन कराते हुए (प्राण-नाशक
आतिथ्य किया था॥१५॥

अनुह्लादस्य सूर्यायां बाष्कलो महिषस्तथा।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यां तस्याभवद्बलिः॥१६॥

अनुह्लादकी पत्नीका नाम था सूर्या। सूर्यासे वाष्कल और महिष इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ। प्रह्लादका पुत्र था विरोचन। विरोचनकी पत्नीका नाम था देवी। देवीसे दैत्यराज बलिका जन्म हुआ॥१६॥

बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत्।
तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते॥१७॥

इसक
जन्म हुआ। उनमें बाण सबसे बड़ा था। बलिकी महिमा अतिशय प्रशंसनीय है। जिसे मैं तुम्हें बाद (अष्टम स्कन्ध)में सुनाऊँगा॥१७॥

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम्।
यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः॥ १८॥

बलिका पुत्र बाण भगवान् शिवकी आराधना करक
सर्वश्रेष्ठ बन गया। आज भी भगवान् शिव उसक
रूपमें उसक

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम्॥ १९॥

उनचास मरुद्गण भी दितिक
कोई सन्तान न थी। देवराज इन्द्रने दैत्य होनेपर भी उन्हें देवत्व प्रदान करक

श्रीराजोवाच—

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो।
इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत् साधु कृतं हि तैः॥ २०॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे गुरुदेव! उनचास मरुद्गण जन्मसे ही असुर भावसे युक्त थे। उन्होंने ऐसा क्या सत्कर्म किया था, जिससे देवराज इन्द्रने उनका असुरभाव छुड़ाकर उन्हें देवत्व प्रदान किया था॥ २०॥

इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह।
परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! मेरे साथ यहाँ उपस्थित सभी ऋषिगण इस विषयको जाननेक
रहस्यको विस्तार पूर्वक बतलाइए॥ २१॥

श्रीसूत उवाच—

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-
र्वचो निशम्याद्रृतमल्पमर्थवत्।
सभाजयन् संनिभृतेन चेतसा
जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः॥ २२॥

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! परीक्षित्‌ने बड़े ही आदरक
सर्वज्ञ बादरायणि श्रीशुकदेवजी आनन्दित हुए और उनका अभिनन्दन करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥२२॥

श्रीशुक उवाच—

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना।
मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत्॥ २३॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विष्णुने परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूपसे इन्द्रकी सहायता करनेक
संहार कर दिया था। इसलिए दितिका हृदय शोकाग्निसे प्रदीप्त क्रोधसे जलता रहता था। वह इस प्रकार सोचती रहती थी—॥२३॥

कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम्।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम्॥ २४॥

यह इन्द्र बड़ा ही क्रूर, निर्दय, पापी और परम विषयी है। इसने विष्णुक
कब होगा, जब मैं इसको मरवाकर सुखसे सोऊँगी॥२४॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञासीद्यस्येशाभिहितस्य च।
भूत ध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ २५॥

जो भी लोग राजा नामसे प्रसिद्ध होते हैं, उन सभीका शरीर एक दिन कृमि, विष्ठा या राखका ढेर हो जाता है (मरनेक
देह रखी जानेपर कीड़ा हो जाती है, सुअरों एवं क
जानेपर विष्ठा बन जाती है और अग्निमें जलाये जानेपर भस्म हो जाती है) इस देहकी रक्षाक
क्या वे अपने स्वार्थको भी नहीं जानते? अरे! प्राणियोंक
द्रोह करनेपर तो नरककी प्राप्ति होती है॥२५॥

आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः।
मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद् येन सुतो हि मे॥ २६॥

इन्द्र समझता है कि उसकी देह नित्य काल बनी रहेगी। इसी कारण उसका चित्त उच्छृङ्खल हो गया है। अतः मैं कोई ऐसा उपाय करूँगा, जिससे मेरी कोखसे ऐसा पुत्र हो जो इन्द्रक
चूर्ण-विचूर्ण कर दे॥२६॥

इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत् प्रियम्।
शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च॥ २७॥
भक्त्या परमया राजन् मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः।
मनो जग्राह भावज्ञा सस्मितापाङ्गवीक्षणैः॥ २८॥

परीक्षित्! इस प्रकार सोच विचार करक
पुत्र-प्राप्तिक
कश्यपजी प्रसन्न हो जायें। वह अपने पतिक
सारे प्रिय कार्य करती। उसने अपनी सेवा-शुश्रूषा, अनुराग, विनम्रता, आत्म-संयम, परम भक्ति, मनोरम मधुर वचन, मन्द मुसकान और तिरछी चितवन द्वारा कश्यपजीको वशीभूत कर लिया॥२७-२८॥

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि मनोज्ञया।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति॥ २९॥

कश्यपजी विचारक और विद्वान् थे, तो भी कपट-आचरण करनेमें निपुण स्त्रीकी सेवा-शुश्रूषासे मोहित हो उसक
हो गये। उन्होंने दितिसे कहा—मैं तुम्हारे मनोरथको अवश्य पूर्ण करूँगा। दितिक
कोई बात नहीं है॥२९॥

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता॥ ३०॥

सृष्टिक
एवं विरक्त देखा तो मैथुन धर्मद्वारा सृष्टिकी वृद्धिक
अर्द्धांगसे स्त्रीकी रचना की। स्त्रियाँ पुरुषोंक
लिया करती हैं। इसीसे संसार-प्रवाह अविच्छिन्न गतिसे चलता रहता है॥३०॥

एवं शुश्रूषितस्तात भगवान् कश्यपः स्त्रिया।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च॥ ३१॥

हे तात! इस प्रकार परम सामर्थ्यवान् कश्यपजी दितिकी सेवासे बहुत प्रसन्न हो गये। वे उसकी प्रशंसा करते हुए मधुर मुसकानक साथ कहने लगे॥३१॥

श्रीकश्यप उवाव—

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते।
स्त्रिया भर्त्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः॥ ३२॥

श्रीकश्यपजीने कहा—हे वामोरु! हे अनिन्दिते! मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। अतः तुम मुझसे जो इच्छा हो, वह वर माँग सकती हो। पतिक

सी कामना है, जो पत्नीक

पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः॥ ३३॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः।
इज्यते भगवान् पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक्॥ ३४॥

नारियोंक

प्राणियोंक

प्रकार भिन्न-भिन्न नाम रूपसे विभिन्न देवताओंक

जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही पतिक

पात्र होते हैं॥३३-३४॥

तस्मात् पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम्॥ ३५॥

हे सुमध्यमे! पतिरूपमें भगवान् ही विराजते हैं, इस कारण पतिव्रता नारियाँ अनन्य भावसे अपने पतिक

पूजा करती हैं॥३५॥

सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः।
तत् ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम्॥ ३६॥

हे भद्रे! तुमने भक्ति-भावसे परिपूर्ण होकर मुझ पतिक
भगवान्‌की अर्चना की है। मैं तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण करूँगा, जो असती नारियोंक

श्रीदितिरुवाच—

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ॥ ३७॥

दितिने कहा—हे महात्मन्! मेरे पुत्र मारे गये हैं। इन्द्रने विष्णुकी सहायतासे मेरे दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मार डाला है। यदि आप मुझे वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मुझे एक ऐसा अमर पुत्र दीजिए, जो इन्द्रको मार डाले॥३७॥

निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत।
अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः॥ ३८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दितिक
सुनकर कश्यपजीका मन विषादसे भर गया और वे अनुताप करने लगे—आह! आज तो मेरे जीवनमें इन्द्र-हत्यारूप महान् अधर्म उपस्थित हो गया॥३८॥

अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया।
गृहीतचेताः कृपणाः पतिष्ये नरके ध्रुवम्॥ ३९॥

श्रीकश्यपजीने कहा—अहा! मैं विषय-भोगोंमें नितान्तरूपसे डूब गया हूँ। इस समय भगवान्‌की स्त्रीरूपिणी मायाने मेरे चित्तको वशीभूत कर लिया है। मैं तो अधीर हो पड़ा हूँ। मैं निश्चय ही नरकमें जाऊँगा॥३९॥

कोऽतिक्रमोऽनुवर्त्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः।
धिङ्‌मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः॥ ४०॥

मेरी पत्नीने तो वही किया, जैसा उसका स्वभाव था। इसमें उसका क्या अपराध है? मैं ही अपने स्वार्थको ठीकसे न समझ सका। हाय! हाय! मुझे धिक्कार है! मैं तो बड़ा अजितेन्द्रिय हूँ॥४०॥

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥४१॥

अरे! इन स्त्रियोंक
इनका मुख शरत्कालीन कमलक
वचन अति मधुर, अमृतमय एवं प्रिय होते हैं, पर हृदय क्षुरेकी धारक

न हि कश्चित् प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम्।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च॥४२॥

स्त्रियाँ अपने अभीष्टकी प्राप्तिक
प्रकार व्यवहार करती हैं कि मानो वही उनक
प्रिय है, किन्तु वास्तवमें उनक
ये तो स्वार्थक
डालती हैं अथवा दूसरोंसे मरवा देती हैं॥४२॥

प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत्।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते॥४३॥

अब तो मैं वरदान देकर प्रतिबद्ध हो गया हूँ। इस क्षण मेरा यही कर्त्तव्य है कि मेरा वचन भी मिथ्या न हो और इन्द्रकी भी मृत्यु न हो॥४३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् मारीचः कुरुनन्दन।
उवाच किञ्चित् कुपित आत्मानञ्च विगर्हयन्॥४४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
विचारते भगवान् कश्यप क
कोसते हुए दितिसे कहने लगे॥४४॥

श्रीकश्यप उवाच—

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि॥ ४५॥

श्रीकश्यपने कहा—हे भद्रे! मैं तुम्हें एक व्रत बतला रहा हूँ। यदि तुम इसे एक वर्षतक विधिपूर्वक धारण कर सकोगी, तो इन्द्रको मारनेवाला एक पुत्र होगा और व्रतमें त्रुटि आ गयी तो तुम्हारा वही पुत्र देवताओंका मित्र (इन्द्रका अनुगामी) हो जायगा॥४५॥

श्रीदितिरुवाच—

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन् ब्रूहि कार्याणि यानि मे।
यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यान्युत॥ ४६॥

दितिने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं इस व्रतका पालन अवश्य करूँगी। इसमें ऐसे कौन-से कार्य हैं, जो अवश्य करने चाहिये और कौन-से ऐसे निषिद्ध कार्य हैं, जिन्हें करनेसे व्रतका नाश हो सकता है। आप ये सब मुझे बतलाइए॥४६॥

श्रीकश्यप उवाच—

नहिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत्।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम्॥ ४७॥

श्रीकश्यपने कहा—इस व्रतका पालन करते समय किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, किसीपर क्रोध न करे, झूठ न बोले, शरीरक
(अस्थि आदिका) स्पर्श न करे॥४७॥

नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न संभाषेत दुर्जनैः।
न वसीताधौतवासः स्रजञ्च विधृतां क्वचित्॥ ४८॥

जलमें घुसकर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने, किसीकी पहनी हुई मालाको न पहने॥४८॥

नोच्छिष्टं चण्डिकान्नञ्च सामिषं वृषलाहृतम्।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेन्नाञ्जलिना त्वपः॥ ४९॥

जूठा भोजन न करे, भद्रकालीक
न करे, शूद्रक
देखे गये भोजनको ग्रहण न करे, अञ्जलि द्वारा जल न पिये॥४९॥

नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्द्धजा।
अनर्चितासंयासंयतवाक् नासंवीता बहिश्चरेत्॥ ५०॥

जूठे मुँह, आचमन किये बिना और हाथ-पैर धोये बिना घरसे बाहर कभी न निकले। सन्ध्याकालमें क
आभूषणोंसे सुसज्जित हुए, बिना वाणीका संयम किये और बिना चद्दर ओढ़े घरसे बाहर न निकले॥५०॥

नाधौतपादा प्रयता नार्द्रपादा उदक्शिराः।
शयीत नापराङ् नान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः॥ ५१॥

पैरोंको बिना धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पैरोंसे, उत्तर या पश्चिममें सिर करक
अथवा नग्नावस्थामें कभी नहीं सोये॥५१॥

धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता।
पूजयेत् प्रातराशात् प्राग् गोविप्रान् श्रियमच्युतम्॥ ५२॥

धुले हुए वस्त्र पहनकार सर्वदा पवित्र रहे। हल्दी, चन्दन आदि माङ्गलिक—द्रव्योंको धारण करक
लक्ष्मी और अच्युत भगवान् नारायणकी पूजा करे॥५२॥

स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत् स्रग्गन्धबलिमण्डनैः।
पतिञ्चाच्योर्पतिष्ठेत ध्यायेत् कोष्ठगतञ्च तम्॥ ५३॥

सुहागिन स्त्रियोंकी माला, चन्दन, अलङ्कार तथा अन्य सामग्रियोंसे पूजा करे, पतिकी भलीभाँति अर्चना करक
और इस प्रकारसे गर्भ धारण करे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है॥५३॥

सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम्।
धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः॥ ५४॥

इस प्रकार पुत्रोत्पत्तिकारी इस व्रतको एक वर्ष तक निर्विघ्न रूपसे पालन करोगी, तो तुम्हें इन्द्रको मारनेवाले एक पुत्रकी प्राप्ति होगी। यदि व्रतमें किसी प्रकारका विघ्न पड़ गया, तो तुम्हारा पुत्र इन्द्रका मित्र बन जायगा॥५४॥

वाढमित्यमित्यभ्युपेत्याथ दिती राजन् महामनाः।
कश्यपाद्गर्भमाधत्त व्रतञ्चाञ्जो दधार सा॥ ५५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनस्विनी दितिने "मैं ऐसा ही करूँगी" यह कहकर पतिकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया और प्रफ
बड़े यत्नक

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत् कविः॥ ५६॥

हे मानद! अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले इन्द्रको जब अपनी मौसी दितिका अभिप्राय पता चला तो वे उसक
डालनेक

न्त्यिं वनात् सुमनसः फलमूलसमित्कुशान्।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत्॥ ५७॥

इन्द्र प्रतिदिन वनसे पुष्पफल, मूल, यज्ञक
क
देने लगे॥५७॥

एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः॥ ५८॥

हे राजन्! बहेलिया जिस प्रकार हिरनको मारनेक
उसकी वञ्चना करता हुआ उसकी खाल पहनकर छद्मवेश धारण करता है, वैसे ही देवराज इन्द्र भी अपने हृदयमें क

रखकर और बाहरसे साधुता दिखाते हुए व्रतधारिणी दितिक
भङ्ग करनेकी इच्छासे उसकी सेवा करने लगे॥५८॥

नाध्यगच्छद् व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवन्त्विह॥५९॥

हे महीपिते! दितिक
दे जाय—इसक
कोई त्रुटि दिखायी न दी। तब वे गहरी चिन्तामें डूब गये और
विचार करने लगे कि मेरा कल्याण क

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता॥६०॥

एक दिनकी बात है। दिति व्रतक
गयी थी और क
आचमन किये और बिना हाथ-पैर धोये सायंकालमें जूठे मुँह ही
सो गयी॥६०॥

लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया॥६१॥

इस त्रुटिको पाकर अणिमादि समस्त योग सिद्धियोंक
इन्द्र अपने योगबलसे नींदक
प्रवेश कर गये॥६१॥

चकर्त्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम्।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान् पुनः॥६२॥

इन्द्रने गर्भमें प्रवेश करनेक
गर्भक
रोने लगे, तब इन्द्रने 'मत रोओ' यह कहकर उन टुकडोंमें-से
प्रत्येकको पुनः सात-सात भागोंमें खण्ड-खण्ड कर डाला॥६२॥

ते तमूचुः पाट्यमानास्ते सर्वे प्राञ्जलयो नृप।
किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव॥६३॥

हे राजन्! खण्ड किये गये वे भ्रूण इन्द्र द्वारा पीड़ित होकर हाथ जोड़ते हुए उनसे कहने लगे—हे इन्द्र! हम मरुद्गण हैं, तुम्हारे ही भाई हैं, अतः हमें क्यों मारना चाहते हो॥६३॥

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः।
अनन्यभावान् पार्षदानात्मनो मरुतां गणान्॥ ६४॥

जब गर्भस्थ भ्रूणोंने इस प्रकार कहा, तब इन्द्रने देखा कि वे सब उनसे अनन्य भाव रखते हैं और उनक

तो मनमें विचार करक

तो फिर तुम्हें डरना नहीं चाहिये॥६४॥

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान्॥ ६५॥

हे परीक्षित्! जब आप माताक

ब्रह्मास्त्र द्वारा आपको जला दिया गया था, किन्तु आप मरे नहीं। उसी प्रकार दितिका गर्भ भी वज्रक

भी भगवान्‌की कृपासे मरा नहीं॥६५॥

सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम्।
संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः॥ ६६॥

सजूरिन्द्रेण पञ्चाशत् देवास्ते मरुतोऽभवन्।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाःकृताः॥ ६७॥

जीव जिन आदिपुरुष भगवान्‌की मात्र एक बार भी पूजा कर लेता है, तो भगवान्‌की समानरूपता (सारूप्य मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, फिर दितिने तो लगभग एक वर्ष तक भगवान्‌की पूजा की थी। इसी अर्चनक

गणोंका जन्म हुआ। भगवान् हरिने उनक

दूर कर दिया और उन्हें सोमपायी देवता बना दिया। इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?॥६६–६७॥

दितिरुत्थाय ददृशे कुमारानलप्रभान्।
इन्द्रेण सहितान् देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता॥ ६८॥

भगवत्-व्रत धारण करनेक
शुद्ध हो गया था। जब वह शय्यासे उठी तो देखा कि उसक
अग्निक
कुमारोंका इन्द्रक
प्रसन्न हो गयी॥६८॥

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम्।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत् सुदुष्करम्॥ ६९॥

दितिने इन्द्रसे कहा—हे वत्स! मैं अति दुष्कर व्रतका पालन इसलिये कर रहीं थी, जिससे मेरा ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो बारहों आदित्योंको भयभीत करनेवाला हो॥६९॥

एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन् कथम्।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा॥ ७०॥

मैंने तो एक पुत्रक
क
मत बोलना॥७०॥

श्रीइन्द्र उवाच—

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्य गतोऽन्तिकम्।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मदृक्॥ ७१॥

इन्द्रने कहा—हे माता! मैं स्वार्थमें अन्धा होनेक
को भूल गया। मैं तुम्हारे व्रतक
तुम्हारे पास आया था। जैसे ही तुम्हारे व्रतमें मुझे त्रुटि मिली, मैं गर्भमें प्रवेश कर गया॥७१॥

कृतो मे सप्तधा गर्भ आसन् सप्त कुमारकाः।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे॥ ७२॥

मैंने पहले तो गर्भको सात खण्डोंमें विभक्त किया, जिससे वे सात शिशु बन गये, इसक
खण्ड कर दिये। उनमें-से एक भी मरा नहीं। इसी कारण उनचास क

ततस्तत् परमाश्चर्यं वीक्ष्य व्यवसितं मया।
महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी॥ ७३॥

टुकड़े किये जाने पर भी ये बालक मरे नहीं—यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब मैंने यह निश्चय कर लिया कि यह परम पुरुष भगवान् विष्णुकी आराधनाकी कोई आनुषङ्गिक सिद्धि है॥७३॥

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः॥ ७४॥

जो निष्काम होकर भगवान्‌की आराधना करते हैं, वे अन्य वस्तुकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। ऐसे ही व्यक्तियोंक

आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम्।
को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत्॥ ७५॥

भगवान् जगदीश्वर ही सबक
प्रिय आराध्यदेव हैं। वे निज भक्तोंक
हैं। उनकी आराधना करनेवाला कोई विवेकी पुरुष किस प्रकार विषय भोगोंकी इच्छा कर सकता है—ये विषय-भोग तो नरकमें भी प्राप्त हैं॥७५॥

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि।
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः॥ ७६॥

हे माता! हे महीयसी! मैं अत्यन्त मूर्ख हूँ। मैंने दुर्जनताका काम किया है। आप मुझे क्षमा कीजिए। आपक
गर्भ खण्ड-खण्ड होनेसे एक प्रकारसे मर ही गया था, फिर भी जीवित हो गया॥७६॥

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः॥ ७७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दिति इन्द्रक
सन्तुष्ट हो गयीं। देवराज इन्द्रने दितिको प्रणाम किया और उनसे
आज्ञा लेकर मरुद्-गणोंक

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते॥ ७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीमरुदुत्पत्तिनामाष्टादशोऽध्यायः॥

हे परीक्षित्! तुमने जो मुझसे पुछा था, मरुद्गणोंक
यह मङ्गलमय वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब क्या पूछना
चाहते हो, पूछो, मैं तुम्हें सविस्तार बतलाऊँगा॥७८॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

पुंसवन–व्रतकी विधि

श्रीराजोवाच—

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम्।
तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महात्मन्! आपने जिस पुंसवन–व्रतक विषयमें बतलाया और कहा कि इस व्रतसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं, अब मैं इसकी विधि जानना चाहता हूँ॥१॥

श्रीशुक उवाच—

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः॥ २॥

निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च।
स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यह व्रत सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। स्त्रीको अपने पतिकी आज्ञाक
अग्रहायण (मार्गशीर्ष) मासकी शुक्ल प्रतिपदासे इस व्रतका आरम्भ करना चाहिए। व्रतक
सुने। इसक
आदिसे दाँतोंको साफ करक
वस्त्र धारण करे और बादमें सुसज्जित होकर क
पहले लक्ष्मी–नारायणकी पूजा करे॥२–३॥

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये॥ ४॥

इसक
प्रकारसे ही परिपूर्ण हैं। आपका अन्य किसी वस्तुसे कोई प्रयोजन नहीं है। आपको नमस्कार है। आप महाविभूतिस्वरूपिणी लक्ष्मीदेवीक पति हैं और अणिमादि समस्त सिद्धियाँ आपमें वर्त्तमान हैं। आपको नमस्कार है॥४॥

यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिमौजसा।
जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः॥५॥

हे ईश! आप कृपा, ऐश्वर्य, तेज, महिमा एवं बल आदि अन्यान्य समस्त गुणोंसे विभूषित हैं। इसलिए आपको भगवान् कहा जाता है। आप सर्वशक्तिमान् हैं॥५॥

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे।
प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते॥६॥

इस प्रकार भगवान् विष्णुको नमस्कार करक
करे—हे स्वरूपशक्तिरूपिणी! आप भगवान् विष्णुकी प्रिया हैं! आपमें पुरुषोत्तम भगवान्क
हैं। हे महाभागे! मेरे प्रति प्रसन्न हों। हे जगन्माता! आपको नमस्कार है॥६॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहरामीति। अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहना-र्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासोपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूपदीपो पहाराद्युपचारान् सुसमाहितोपाहरेत्॥७॥

हे पुरुषोत्तम! हे महाप्रभावशाली! हे लक्ष्मीपति! आप ऐश्वर्यादि षड्गुणोंसे परिपूर्ण हैं। आपको नमस्कार है। आपक
पार्षद और विभूतियोंक
इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा समाहित चित्तसे प्रतिदिन विष्णुका आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वास, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, और नैवेद्य समर्पित करे॥७॥

हविःशेषञ्तु जुहुयादनले द्वादशाहुतीः।
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति॥ ८॥

इसक
महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें बारह आहुतियाँ प्रदान करे॥८॥

श्रियं विष्णुञ्च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ।
भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत् सर्वसम्पदः॥ ९॥

यदि कोई सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी इच्छा करता है, तो ऐसा होनेपर वह प्रतिदिन भक्तिभावसे लक्ष्मी-नारायणकी सर्वदा पूजा करे। वे दोनों ही वर प्रदान करनेवाले और समस्त मङ्गलोंक आकर स्वरूप हैं॥९॥

प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा।
दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत्॥ १०॥

तदनन्तर भक्ति-भावसे परिपूर्ण होकर नम्रचित्तसे भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे तथा दस बार उक्त मन्त्रका जप करे और इसक बाद निम्न स्तोत्रका पाठ करे॥१०॥

युवान्तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम्।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया॥ ११॥

हे भगवन् लक्ष्मी-नारायण! आप दोनों ही इस जगत्क
हैं और आप ही इसक
पाना बड़ा कठिन है। इनका पार नहीं पाया जा सकता, क्योंकि ये आपकी चिन्मय शक्ति और अव्यक्त प्रकृति हैं॥११॥

तस्या अधीश्वरः साक्षात् त्वमेव पुरुषः परः।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान्॥ १२॥

हे प्रभो! आप इन महामाया प्रकृतिक
साक्षात् परम पुरुष हैं। ये लक्ष्मीजी इज्या (यज्ञाङ्ग-विशेष) एवं यज्ञ-क्रिया हैं और आप इस यज्ञक

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान्।
त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशयाः।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः॥ १३॥

माता लक्ष्मीदेवी तीनों गुणोंकी प्रकाश-स्वरूपा हैं, आप गुणोंक
प्रकाशक और भोक्ता हैं। आप शरीरधारी जीवोंक
लक्ष्मीजी शरीर और इन्द्रियोंकी आश्रयरूपा हैं। लक्ष्मीजी नाम और
रूप हैं और आप नाम एवं रूपक

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ।
तथा म उत्तमःश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः॥ १४॥

आप दोनों ही त्रिलोकीक
अतएव हे उत्तमश्लोक! आपसे हमारे बड़े-बड़े मनोरथ पूर्ण हों॥१४॥

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह।
तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाचमनमर्चयेत्॥ १५॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् श्रीनिवास और लक्ष्मीदेवीकी स्तुति
करक
जल निवेदित करक

ततस्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा।
यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम्॥ १६॥

इसक
करे और यज्ञावशेषको सूँघकर पुनः श्रीहरिका अर्चन करे॥१६॥

पतिञ्च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा।
प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत् प्रेमशीलः स्वयं पतिः।
बिभृयात् सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च॥ १७॥

पत्नीको चाहिये कि वह ऐकान्तिकी निष्ठाक
ईश्वर बुद्धि रखकर कथित साम्रगियोंक
पतिका भी कर्तव्य है कि वह प्रसन्नताक
कार्योंमें अनुक

कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत् समाहितः॥ १८॥

पति और पत्नीमें-से कोई एक भी इस व्रतका अनुष्ठान करता है, तो दोनों ही फलक
व्रत करनेमें कभी असमर्थ रहे, तो पति अपने चित्तको समाहित करक

विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात् कथञ्चन।
विप्रान् स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः॥ १९॥

उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामसमृद्धये तथा॥ २०॥

जो इस व्रतको धारण करती है, वह (क्रोध आदि किसी भी कारणसे) कभी भी व्रतको भङ्ग न करे। वह ब्राह्मणों एवं पति-पुत्रवाली सुहागिन स्त्रियोंकी माला, गन्ध, उपहार एवं अलङ्कारादिक द्वारा प्रतिदिन पूजा करे। नियमका पालन करते हुए प्रत्येक दिन ही भक्तिपूर्वक भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करे। इसक
शयन करानेक
ही निवेदित वस्तुओंको यथारूप विभाग करक
आत्म-शुद्धि होती है और अभिलाषाओंकी पूर्त्ति होती है॥१९-२०॥

एतेन पूजाविधिना मासान् द्वादश हायनम्।
नीत्वाथोपरमेत् साध्वी कार्त्तिके चरमेऽहनि॥ २१॥

साध्वी स्त्री इस प्रकारकी पूजाविधिक
तक चलनेवाले इस व्रतका पालन करे। जब एक वर्ष बीत जाय, तब कार्त्तिक मासकी पूर्णमासी तिथिक

श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत्।
पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः॥ २२॥

दूसरे दिन प्रभातक
अर्चना करे। इसक
अनुसार घीसे खीर पकाये और इस चरुक
अग्निमें आहुति दे॥२२॥

आशिषः शिरसादाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया॥ २३॥

अनन्तर ब्राह्मण प्रसन्न होकर आशीर्वचन कहें, जिन्हें वह बड़े
आदरक
उनकी अनुमतिक

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः।
दद्यात् पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजस्त्वं सुसौभगम्॥ २४॥

इसक
दे और चरु (घीसे बनी खीर)क
कर दे। इससे सत्पुत्र एवं समस्त सौभाग्यकी प्राप्ति होती है॥२४॥

एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो–
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह।
स्त्री चैतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम्॥ २५॥

इस व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करनेसे इसी जन्ममें ही भगवान्‌से सभी मनोवाञ्छित वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती है। स्त्री यदि इस व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करे तो सौभाग्य, सम्पद्, सन्तान, दीर्घजीवी पति, यश और गृह आदि प्राप्त हो जाते हैं॥२५॥

कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं
पतिं त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम्।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी
सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम्॥ २६॥

विन्देद्विरूपा विरुजा विमुच्यते
य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम्।
एतत् पठन्नभ्युदये च कर्म-
ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम्॥ २७॥

तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्
होमावसाने हुतभुक् श्रीर्हरिश्च।
राजन्महन्मरुतां जन्म पुण्यं
दितेर्व्रतं चाभिहितं महत् ते॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं नामैकोनविंशोऽध्यायः।

परीक्षित्! कन्या इस पुंसवन-व्रतका पालन करे तो समस्त लक्षणोंसे युक्त पति प्राप्त कर सकती है, विधवा इस व्रतका पालन करे तो निर्दोष होकर वैक
बालक मर जाते हैं, ऐसी स्त्री आयुष्मान पुत्र एवं सम्पत्ति प्राप्त करती है। अभागिनीको सौभाग्य प्राप्त होता है और क
सौन्दर्यकी प्राप्ति हो जाती है। रोगी इस व्रतका पालन करनेसे रोगसे मुक्त हो जाता है और इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे युक्त श्रेष्ठ शरीर प्राप्त कर लेता है। जो अपने पितर एवं देवताओंक
श्राद्धकर्मादि करते हुए इस आख्यायिकाका पाठ करते हैं, पितर एवं देवता उनसे अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाते हैं और बड़े प्रसन्न भावसे उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण कर देते हैं। यज्ञकी समाप्तिपर यज्ञभोक्ता विष्णु और लक्ष्मीदेवी भी उसपर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। हे राजन्! मैने तुम्हें मरुद्गणोंका पुण्यदायक जन्म-वृत्तान्त और दितिक
पुंसवन-व्रतका वर्णन यथाशक्ति सुना दिया॥२६-२८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठः स्कन्धः समाप्तः।

सप्तमः स्कन्धः

सप्तम स्कन्धकी कथाका सार

पूर्व स्कन्धमें हिरण्याक्ष-वधके प्रसङ्गमें महाराज परीक्षित्‌ने जब यह श्रवण किया कि समस्त प्राणियोंमें समदर्शी भगवान्‌का ऐसा पक्षपातित्व भी है तो उन्होंने श्रीशुकदेवसे इसके कारणकी जिज्ञासा की। तब श्रीशुकदेवने कहा—निर्गुण श्रीहरिका किसीके प्रति कोई राग-द्वेष नहीं है। त्रिगुण-बद्ध जीवमें त्रिगुणके कार्य—राग, द्वेषादि लक्षित होते हैं। पहले राजा युधिष्ठिरने भी ऐसा ही प्रश्न किया था, तब देवर्षि नारदने शिशुपालकी कथाका उल्लेख करते हुए बतलाया था कि अनुकूलरूपसे अनुशीलनकी तो बात ही क्या है, प्रतिकूल भावसे अनुशीलन करने वालेकी भी अनायास ही मुक्ति हो जाती है।

श्रीवराहदेव द्वारा हिरण्याक्षके मारे जानेपर हिरण्यकशिपु इसके प्रतिशोधके लिए तैयार हो गया। उसने अपने अनुचरोंको आदेश दिया कि वे ब्राह्मणोंको मार डालें। उसकी धारणा यह थी कि विप्रादिका विनाश होनेसे यज्ञ-क्रियाओंका लोप हो जाएगा, इससे यज्ञपुरुष विष्णुका भी मूलोत्पाटन हो जाएगा। ऐसा निश्चय करके हिरण्यकशिपुने भाई-शोकसे कातर माँ एवं भ्रातृवधू (भाभी) को द्विविध उपाख्यानोंके वर्णनके माध्यमसे तत्त्वोपदेश देकर उन्हें शोक-मुक्त कर दिया। इनमें प्रथम था—उशीनर देशके राजाकी मृत्युपर यमराजके द्वारा बालक-वेशमें राजमहिषियोंको प्रदत्त तत्त्वोपदेश और द्वितीय था—व्याधके बाणसे निहत पक्षिणीके लिए शोक प्रकाश करते हुए उसी व्याधके हाथसे विरह-तप्त पक्षीकी मृत्यु।

हिरण्यकशिपुने अजेय एवं अमर होनेकी इच्छासे कठोर तपस्या करके चौदह लोकोंको सन्तप्त कर दिया था। हिरण्यकशिपुकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे वरदान दिया कि जगत्‌में सृष्ट किसी भी प्राणी द्वारा, किसी भी अस्त्रके द्वारा भूमण्डलमें अथवा नभमण्डलमें, दिनमें अथवा रात्रिमें—किसीसे भी उसकी मृत्यु नहीं होगी।

वरदान प्राप्त करके हिरण्यकशिपुने सभी लोकपालोंको अपने वशमें कर लिया और महेन्द्र-भवनमें विहार करते हुए दिव्य-सुख प्राप्त करने लगा। उसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर देवता श्रीहरिके शरणापन्न हुए। भगवान्‌ने उनको अभय प्रदान करते हुए कहा कि यह दुरन्त असुर जिस समय अपने पुत्र प्रह्लादसे विद्वेष करेगा, उसी समय भक्तवत्सल भगवान् इस हिरण्यकशिपुका वध कर डालेंगे।

हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र एवं अन्य असुर-बालकोंको गुरुपुत्र षण्डामर्कके पास अध्ययनके लिए समर्पण कर दिया। दोनों गुरुओंके द्वारा दी गयी राजनीति विषयक शिक्षासे प्रह्लादका मन प्रसन्न नहीं हुआ। एक दिन हिरण्यकशिपु प्रह्लादको गोदमें बिठाकर पूछने लगे, "पुत्र! तुम्हारे विचारसे उत्तम श्रेयः क्या है?" प्रह्लादने कहा, "देहादिमें अहं-ममाभिमान त्याग करके वनमें जाकर श्रीहरिका सब प्रकारसे आश्रय करना ही उत्तम श्रेयः है।" यह सुनकर हिरण्यकशिपुने षण्डामर्कको बुलाकर कहा कि इस बातके लिए विशेष सतर्कता रखी जाय कि प्रह्लादकी बुद्धि सुरजनोचित न होने पाये। षण्डामर्क प्रह्लादका नाना प्रकारसे शासन करके त्रिवर्ग-प्रतिपादक शास्त्रोंका अध्ययन कराने लगे। कुछ दिनोंके बाद प्रह्लादको समस्त शास्त्रोंमें ही अभिज्ञता प्राप्त हो गयी है—यह समझकर गुरुब्रुवोंने इस बातको राजाके समीप निवेदन कर दिया। हिरण्यकशिपुने पुनः प्रह्लादके उत्कृष्ट अध्ययनके विषयमें जानना चाहा, तभी प्रह्लादने कहा—भगवान्‌में आत्मसमर्पण करते हुए भक्तिके नवविध अङ्गोंका अनुष्ठान उत्तम अध्ययनका फल है। यह सुनकर दैत्यराज क्रोधित हो उठा। उसने गुरुपुत्रोंका बहुत तिरस्कार किया। गुरुपुत्रोंने दैत्यराजसे कहा कि प्रह्लादकी मति स्वभावतः ही विपर्यस्त है। दैत्यराजने प्रह्लादसे पूछा कि इसे विष्णु-भक्तिकी प्राप्ति कैसे हो गयी? तब प्रह्लादने कहा, गृहव्रतियोंकी मति स्वयंसे अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में नियुक्त नहीं हो सकती। वे इस क्लेशमय संसारमें पुनः-पुनः गमनागमन करते हुए चर्वितका ही चर्वण कर रहे हैं। वे विषयमोहान्ध गुरुब्रुवोंके हाथोंमें पड़कर एक अन्धा दूसरे अन्धेके द्वारा चालितके समान कर्मकाण्डात्मक वेदशास्त्रके काम्यकर्मसे मोहित होकर और भी आबद्ध

हो जाते हैं। निष्किञ्चन महद्‌गणोंकी पद-रजमें अभिषिक्त न होनेपर भगवान्‌में मति लग नहीं सकती।" इस प्रकार हिरण्यकशिपु प्रह्लादके स्वजन-वचनकी अवहेलना, आत्मीयोंका परित्याग, अपने पितृव्य-हन्ता विष्णुका दासत्व-वरण इत्यादि अपराधोंकी शान्तिके लिए उनको विविध उपायोंसे मारनेकी चेष्टा करने लगा। अनेक चेष्टाएँ करके भी जब प्रह्लादका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, तब शुक्राचार्यके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए उस दैत्यराजने प्रह्लादको वरुण-पाशसे बाँध दिया तथा राजनीतिका उपदेश करने लगा किन्तु प्रह्लादको राजनीति एवं अर्थशास्त्र आदिकी वार्त्ताएँ रुचिकर न लगीं।

एक दिन गुरुपुत्रोंकी अनुपस्थितिमें प्रह्लाद असुर-बालकोंको जीवमात्रकी कौमार-कालसे ही भगवत्-भजनकी कर्त्तव्यता, मूर्ख एवं अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंकी कुटुम्ब-पोषणके लिए आयु-हरणकारी व्यर्थ चेष्टाएँ, आयुकी अल्पता, त्रिवर्गकी निष्कपटता, आत्मेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छाका त्याग करके अधोक्षज श्रीकृष्णके प्रीति-विधानकी चेष्टाएँ इत्यादिके विषयमें बतलाने लगे। उन्होंने श्रीनारदजीकी कृपासे भगवत्-ज्ञान-प्राप्ति इत्यादि प्रसङ्ग भी कहे। "अन्तःपुर-निबद्ध प्रह्लादको किस प्रकार देवर्षि नारदका साक्षात्कार हुआ?" असुर-बालकोंके द्वारा यह पूछे जाने पर प्रह्लादने अपने पिताके तपस्याके लिए जानेके बाद इन्द्रका असुर-पुरीमें आक्रमण, प्रह्लादकी माताको लेकर इन्द्रका प्रस्थान, पथमें नारदकी कृपासे माताकी रक्षा, नारदके आश्रममें उनका अवस्थान, नारदकी कृपासे स्वेच्छा-प्रसव-वर-प्राप्ति एवं प्रह्लादको उद्दिष्ट करके नारदका तत्त्वोपदेश इत्यादि सम्पूर्ण वृत्तान्तका वर्णन किया।

प्रह्लादके उपदेशसे असुर-बालकोंकी भगवत्-निष्ठा देखकर गुरुब्रुवोंने यह बात राजाके समीप निवेदित की। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादका संहार करनेका पूरा मन बना लिया था, तब भी प्रह्लाद निर्भीक रूपसे उनके सामने दण्डवत् अवस्थामें पड़े हुए थे, यह देखकर दैत्यराजने प्रह्लादसे पूछा कि "किसके बलपर इतने बलवान् होकर वह त्रिभुवन-विजयी हिरण्यकशिपुके समक्ष इस प्रकारसे निर्भीक अवस्थामें स्थित है?" प्रह्लादने उत्तर दिया कि जो ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सभीको अपने वशमें किये हुये हैं एवं जो सर्वत्र सर्वव्यापकरूपसे

अवस्थित हैं, वे ही मेरे (प्रह्लादके), आपके (दैत्यराजके) एवं अन्यान्य बलवानोंके बल हैं। प्रह्लादने दैत्यराजसे और भी कहा कि यह असुरराज त्रिभुवन-विजयीके रूपमें अभिमान कर रहा है। जो जितेन्द्रिय होकर आसुरिक स्वभावका परित्याग करके श्रीहरिकी उपासना करते हैं, वास्तवमें तो वे ही विजयी हैं। "श्रीहरि सर्वव्यापक हैं"। प्रह्लादसे पूछा कि "इस निकटस्थ स्तम्भमें श्रीहरि हैं? या नहीं?" प्रह्लादने विज्ञापित किया कि "हाँ! इस स्तम्भमें भी श्रीहरिका अस्तित्व विद्यमान है। हिरण्यकशिपुने बड़े वेगके साथ उस स्तम्भपर मुट्ठीका प्रहार किया, जिससे बड़ा भयङ्कर शब्द सुनाई पड़ा। अगले ही क्षण भक्त-वचनको सत्य करनेके लिये श्रीहरि नृसिंह-मूर्त्तिमें आविर्भूत हो गये और हिरण्यकशिपुपर आक्रमण कर दिया। प्राणरक्षाके लिये हिरण्यकशिपुकी विविध चेष्टाओंको प्रतिहत करके नृसिंहदेवने उसे अपनी जङ्घाके ऊपर रखा तथा दिवा एवं रात्रिके सन्धि-स्थलपर अर्थात् सन्ध्याकालमें नखोंके द्वारा उसके हृदयको विदीर्ण कर डाला। उसके साथ ही अन्य अनेक दैत्योंका भी वध उन्होंने किया। सम्पूर्ण विश्व दैत्य-उत्पीड़नसे निस्तार प्राप्त करके आनन्दपूर्वक श्रीहरिका स्तव-स्तुति करने लगा।

हिरण्यकशिपुके वधके बाद कोपाविष्ट श्रीनृसिंहदेवकी कोप-शान्तिके लिये ब्रह्मादि देवताओंका इतना ही नहीं, लक्ष्मीदेवीका भी साहस नहीं हुआ। तब भक्त प्रह्लाद निर्भय होकर भगवान्के चरणोंके समीप पहुँचे और उन्हें साष्टाङ्ग-दण्डवत् प्रणाम् करके उनकी स्तुति करने लगे। "प्राकृत अभिमानके द्वारा भगवान्को प्रसन्न नहीं किया जा सकता।" द्वादशगुणोंसे युक्त अभक्त विप्रकी अपेक्षा चाण्डाल-कुलमें अवतीर्ण भक्त श्रेष्ठ है। भगवान् आप्तकाम, स्वयंमें परिपूर्ण हैं, निष्कपट भगवत्-दास्य ही निस्तारका एकमात्र उपाय है। भगवान्में भक्ति सद् अथवा असद् वंशमें जन्म ग्रहणकी अपेक्षा नहीं करती। सुर-असुर, उत्तम-अधम सभी पर निर्विशेषरूपसे भगवत्-कृपा वर्षित होती है। जो भक्त भगवान्के गुण-कीर्त्तनमें लगे रहते हैं, वे ही संसार-भयसे रहित होते हैं। भगवद्-भक्तोंकी कृपाके बिना भगवान्की कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती। भगवान् युग-युगमें अवतीर्ण होकर शिष्टजनोंका

पालन एवं दुष्टोंका दमन करते हुए धर्मकी संस्थापना करते हैं। वे कलियुगमें प्रच्छन्नरूपसे अवतीर्ण होते हैं, इसलिये उनका नाम 'त्रियुग' है। प्रह्लादके ऐसे सारगर्भ, रहस्यपूर्ण एवं तात्त्विक वचनोंसे युक्त स्तवनके द्वारा श्रीनृसिंहदेव सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने प्रह्लादको वरदान देना चाहा—इसपर प्रह्लादने विचार करते हुए कहा कि भगवान्के निकटसे आत्मेन्द्रिय-प्रीतिकी कामना वणिक्-वृत्ति मात्र है, यह तो सेवा कभी भी नहीं है। 'काम' (कामनाएँ अथवा एषणाएँ) अतिशय अनिष्टकारी हैं। जब तक व्यक्ति कामनासे रहित नहीं होता, तब तक भगवान्की सेवाकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता"। प्रह्लादके ऐकान्तिक भावसे सन्तुष्ट होकर श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लादकी अनिच्छा होनेपर भी उनको एक मन्वन्तर काल पर्यन्त राजभोग एवं समस्त कर्मोंको भगवदर्पण करते हुए निष्काम भक्तियोगके आश्रयका आदेश दिया। प्रह्लादने भगवान् एवं भक्तोंके समीप हिरण्यकशिपुके अपराध-मोचनके लिए प्रार्थना की। श्रीनृसिंहदेवने वैष्णवके कुल एवं देशपावनत्वके विषयका उल्लेख करके प्रह्लादके वैष्णव-गुणसे हिरण्यकशिपुके पवित्रत्वका ज्ञापन कर दिया।

महाराज युधिष्ठिर प्रह्लादके चरित्रको श्रवण करके अत्यधिक आनन्दित हुए। वे श्रीनारदसे मनुष्य-मात्रके धर्मको जाननेकी इच्छा करने लगे। नारदने कहा कि धर्मके मूल कारण विष्णु हैं। सत्य, दयादि तीस लक्षण मनुष्यमात्रके साधारण धर्म हैं। यह निरूपण करनेके पश्चात् नारदने चार वर्णोंके लक्षणोंके अनुसार वर्णका निर्णय करना शास्त्रीय विधि है अर्थात् जन्मके अनुसार ब्राह्मणादि वर्णका निरूपण करना मुख्य विधि नहीं है—इस तरह और भी बातें बतलायीं।

अनन्तर देवर्षि नारदने आश्रम-धर्मके प्रसङ्गमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चारों आश्रमोंका और प्रत्येक आश्रमके कर्त्तव्योंका स्वतन्त्ररूपसे वर्णन किया।

देवर्षि नारदने मोक्षधर्म-प्रसङ्गमें बतलाया कि—"ब्राह्मणोंमें कोई कर्मनिष्ठ, कोई ज्ञान, कोई योग अथवा कोई तपोनिष्ठ है। मोक्षार्थी कर्मनिष्ठ गृहस्थके देव-पितरादिके उद्देश्यसे देय हव्य-कव्यादिका सुष्ठुरूपसे निर्वाह करनेके लिए ब्राह्मण-बाहुल्यका वर्जन करके एकमात्र ज्ञाननिष्ठ

विप्रगणोंको ही दान करना प्रशस्त है—श्रीहरिके लिए निवेदित अन्नको पितरादिके लिए श्रद्धाके साथ अर्पण करनेका नाम श्राद्ध है—धर्मज्ञ व्यक्तिके लिए छल, धर्मादि पञ्चविध अधर्म अवश्य ही परित्यज्य हैं, स्वभाव-विहित धर्माचरण ही श्रेयः है, काम-क्रोधादि रिपु हैं, त्रिताप एवं त्रिगुणादिको जय करनेका एकमात्र उपाय श्रीगुरुपादपद्ममें आत्म-समर्पण है, गुरु कृष्णसे अभिन्न हैं, उनमें मर्त्त्यबुद्धि करना अधःपतनका हेतु है, कुटुम्बादिके सङ्गदोषसे चित्त विक्षिप्त होता है, अतः गृह-त्याग श्रेयस्कर है। गृहस्थका क्रिया-त्याग, तपस्वीका ग्राममें वास एवं संन्यासीका इन्द्रिय-चाञ्चल्य—ये आश्रमके छलनामात्र हैं। दो ही मार्ग हैं—प्रवृत्ति एवं निवृत्ति। प्रवृत्ति मार्गसे संसार-बन्धन है और निवृति मार्गसे संसार-मोचन है—इत्यादि विषयोंका सुष्ठु रूपसे वर्णन किया है।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

सप्तमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

नारद–युधिष्ठिर संवाद और जय–विजयकी कथा

श्रीराजोवाच—

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! सभी प्राणियोंमें समदर्शी, समस्त भेदभावोंसे रहित एवं सभीक
विष्णुने साधारण लोगोंकी भाँति देवराज इन्द्रका पक्ष लेकर दैत्योंका वध क्यों किया? समदर्शी व्यक्तिक
नहीं है॥१॥

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि॥ २ ॥

भगवान् विष्णु स्वयं परमानन्द–स्वरूप हैं। अतः देवताओंका पक्ष लेनेसे उनका कौन–सा प्रयोजन सिद्ध होगा? और जो स्वयं निर्गुण हैं, उन्हें असुरोंसे क्या भय हो सकता है और क्या उद्वेग! अतः किस कारणसे उन्होंने असुरोंसे द्वेष किया?॥२॥

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति।
संशयः सुमहान् जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति॥ ३ ॥

हे महाभाग! भगवान् नारायणक
सम्बन्धमें हम सभीक
द्वारा हमारे संशयको निर्मूल कीजिए॥३॥

श्रीऋषिरुवाच—

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम्।
यद् भागवतमाहात्म्यं भगवद्–भक्तिवर्द्धनम्॥ ४॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम्॥ ५॥

श्रीशुकदेव ऋषिने कहा—महाराज, आपने अतिशय उत्तम प्रश्न किया है, क्योंकि ऐसे प्रसङ्गोंमें श्रोताओंको आह्लादित करनेवाली और उनक
अद्भुत लीला–कथाओंका वर्णन होता है, जिनका श्रवण करनेसे भगवद्–भक्ति बढ़ती है। यही कारण है कि नारदादि महर्षिगण परम पवित्र तथा भगवद्भक्ति वर्द्धक इस श्रीमद्भागवतक
सदैव गान करते हैं। परीक्षित्! अब मैं महर्षि वेदव्यासको प्रणाम करक

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः॥ ६॥

भगवान् विष्णु प्रकृतिसे अतीत, अजन्मा, निर्गुण एवं राग–द्वेषादिक निमित्त–भौतिक देह एवं इन्द्रियोंसे रहित हैं। ऐसा होनेपर भी वे अपनी स्वरूप शक्तिक
अर्थात् परस्पर द्वेषभावरूपी वैषम्यको स्वीकार करते हैं॥६॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः
न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा॥ ७॥

हे राजन्! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों प्रकृतिक
परमात्माक
साथ घटती–बढ़ती नहीं होती॥७॥

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्॥ ८॥

समय—समयपर इन गुणोंकी वृद्धि एवं क्षय होते हैं। सत्त्वगुण अपने वृद्धिकालमें सतोगुणी देवताओं और ऋषियोंका सेवन करता है। रजोगुण अपनी वृद्धिक
करता है और तमोगुण अपनी वृद्धिक
आदिकी उन्नति करता है॥८॥

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः॥ ९॥

समस्त प्राणियोंमें समदर्शी भगवान् विभिन्न वस्तुओंमें विभिन्न प्रकारसे कम या अधिक रूपमें उसी प्रकार प्रकाशित होते हैं, जिस प्रकार काष्ठ आदिमें अग्नि, पात्र आदिमें जल और घट-पटादिमें आकाश नाना रूपोंमें प्रकाशित होता है। भगवान् सुर-असुर आदि सभीमें समानरूपसे व्याप्त हैं, विवेकीगण आत्मामें स्थित परमात्माका मन्थन करक
हैं कि यह व्यक्ति देवता है या राक्षस॥९॥

यदा सिसृक्षुः पुरः आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ॥ १०॥

भगवान् जिस समय अपनी मायाक
देहोंकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं, तब वे साम्यावस्थामें स्थित रजोगुणकी पृथक्‌रूपसे सृष्टि करते हैं और विचित्र देहोंमें जब वे क्रीड़ा करना चाहते हैं, तो सत्त्वगुणकी पृथक् रचना कर लेते हैं और जब वे इस सबका संहार करना चाहते हैं, तो तमोगुणको प्रेरित करते हैं॥१०॥

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत्॥ ११॥

हे परीक्षित्! चित्-अचित् ईश्वर, अमोघ (सत्यसङ्कल्प) भगवान् जगत्की उत्पत्तिक
एवं आश्रयभूत कालकी स्वयं सृष्टि करते हैं। अतः काल उनकी चेष्टा स्वरूप है, वे स्वयं कालक

य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो
रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः॥ १२॥

हे राजन्! यह काल जब सत्त्वगुणको बढ़ाता है, तब सत्त्वगुण विशिष्ट देवताओंका भी बल बढ़ता है और तभी वे तमोगुणी असुरोंका संहार करते हैं। इस प्रकारसे कालप्रेरक भगवान् विष्णुकी विपुल कीर्त्ति प्रकाशित होती है। वे तो वैषम्य-रहित हैं, वे किसीका पक्ष नहीं लेते॥१२॥

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा।
प्रीत्य महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे॥ १३॥

हे राजन्! जब पाण्डवोंका राजसूय महायज्ञ हो रहा था, उस समय राग-द्वेषादि रहित और समदर्शी भगवान्क
सम्बन्धमें तुम्हारे दादा अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरने देवर्षि नारदसे ऐसा ही प्रश्न किया था। तब नारदजीने एक इतिहास सुनाया था॥१३॥

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः॥ १४॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम्॥ १५॥

हे राजन्! पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने राजसूय नामक महायज्ञमें चेदि—देशाधिपति शिशुपालको भगवान् वासुदेवकी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करते देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे, तब सभीक

युधिष्ठिर महाराजने उस यज्ञसभामें विराजमान देवर्षि नारदसे यही प्रश्न किया था॥१४-१५॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः॥ १६॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि अनन्यचित्त भक्तोंक
प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, इस शिशुपालको उन भगवान् वासुदेवसे विद्वेष करनेपर भी उनकी प्राप्ति क

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने।
भगवन्निन्दया वेणो द्विजैस्तमसि पातितः॥ १७॥

हे मुने! यह शिशुपाल भगवान् वासुदेवका विद्वेषी होकर भी उनको प्राप्त करनेमें क
चाहते हैं। पूर्वकालमें भगवान्की निन्दा करनेक
राजा वेणको नरकमें डाल दिया था, शिशुपालको भी तो नरक मिलना चाहिए॥१७॥

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात्।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः॥ १८॥

दमघोषक
बोलना प्रारम्भ किया था, तभीसे लेकर आजतक वह श्रीकृष्णसे द्वेष करता आ रहा था और इसी प्रकार दुर्मति दन्तवक्र भी चिरकालसे श्रीकृष्णसे द्वेष करता रहा है॥१८॥

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम्।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णक
दोनोंकी जिह्वामें श्वेत क

बाद भी इनको घोर अन्धकारमय नरकको प्राप्ति नहीं हुई, इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है? ॥१९॥

कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राह्यधामनि।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा॥ २०॥

जिन्हें प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, उन भगवान् वासुदेवमें सबक
कारण है? ॥२०॥

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवान् ह्यत्र कारणम्॥ २१॥

यह अत्यन्त आश्चर्यका विषय है, सन्देह नहीं। वायुक
दीपककी लौ जैसे चञ्चल हो उठती है, ऐसे ही इस विषयमें हमारी बुद्धि भी विकल हो रही है। आप तो सर्वज्ञ हैं, इस आश्चर्यमयी घटनाका क्या कारण है, यह आप हमें बतलाइये॥२१॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथा॥ २२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—सर्वसमर्थ देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिरक
सम्बोधित करते हुए कहने लगे। वहाँ सभामें उपस्थित अन्य लोग भी ध्यानपूर्वक श्रवण करने लगे॥२२॥

श्रीनारद उवाच—

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्॥ २३॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! निन्दा एवं स्तुति, सत्कार एवं तिरस्कारका अनुभव प्रकृति एवं पुरुषकी विवेकहीनताक कारण इस शरीरमें कल्पित हुए हैं (ये सब धर्म शरीरक
आत्माक

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव॥ २४॥

राजन्! इस शरीरमें अभिमान रहनेसे ही प्राणियोंमें मैं और मेरा इस प्रकारका विषमताका भाव उत्पन्न होता है। यही वैषम्य-भाव पीड़न, ताड़न, हिंसा और निन्दादिका कारण होता है॥२४॥

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात् प्राणिनां वधः।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।
परस्य दमकर्त्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते॥ २५॥

इस देहमें आत्माभिमान होनेक
शरीर नष्ट हो गया तो जीव भी नष्ट हो गया। भगवान् समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं, वे अद्वितीय परतत्त्व हैं, बद्धजीवक
उनमें मैं-मेरा इस प्रकारका अभिमान नहीं होता। अतः उनमें हिंसा अथवा पर-पीड़नकी कल्पना भी किस प्रकारकी जा सकती है? न वे द्वेष्टा (द्वेष करनेवाले) हैं और न ही उनमें द्वेषका भाव है। अतः वे असुरोंको जो दण्डादि प्रदान करते हैं, वह सब क

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्॥ २६॥

इसलिए क्या वैर भाव, क्या भक्तियोग, क्या भय, क्या स्नेह अथवा क्या काम—इनमें-से किसी भी एक उपाय (अभिधेय) द्वारा अपने मनको सम्पूर्णरूपसे भगवान्में लगा देना चाहिए। किसी भी प्रकारसे भगवान्को पृथक्‌रूपमें न देखें, अपितु अपने-अपने भावोंक

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥ २७॥

शत्रुता करक
है, भक्तियोगसे उनमें उस प्रकार तन्मय नहीं हुआ जा सकता—मेरा तो यही निश्चित मन्तव्य है॥२७॥

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्॥ २८॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥ २९॥

जिस प्रकार भृङ्गी (तैलपायी) एक कीटको पकड़कर उसे दीवारपर बने छिद्रमें बन्द कर देता है और वह कीट भय और द्वेषक
प्राप्त कर लेता है अर्थात् भृङ्गी ही बन जाता है, उसी प्रकार स्वरूप-शक्तिक
श्रीभगवान्का शत्रुभावसे चिन्तन करते हुए उन असुरोंक
धुल गये और उन्होंने भगवान्को प्राप्त कर लिया॥२८-२९॥

कामाद्द्वेषाद्भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥ ३०॥

युधिष्ठिर! अनेक व्यक्तियोंने भगवान् श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित करक
हो, भयसे हो अथवा स्नेहसे हो। राजन्! भगवान् श्रीकृष्णमें मन निवेश करक
साक्षात्काररूपी मुक्ति प्राप्त की है, यह तुम मुझसे श्रवण करो॥३०॥

गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥ ३१॥

हे महाराज! गोपियोंने कामसे, क
राजाओंने शत्रुतासे, यदुवंशियोंने पारिवारिक सम्बन्धसे, तुम लोगोंने स्नेहसे और हम लोगोंने भक्तिसे उन्हें प्राप्त किया है॥३१॥

कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्॥ ३२॥

इन पाँच प्रकारक
हो सकती है, किन्तु राजा वेण तो नास्तिक था। उसने इनमें-से

किसी भी उपायद्वारा भगवान्‌का चिन्तन नहीं किया, इसलिए उसे मोक्षगति प्राप्त नहीं हुई। अतः जिस किसी भी प्रकारसे हो, भगवान् श्रीकृष्णमें मनको लगाना चाहिए॥३२॥

मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात् पदच्युतौ॥३३॥

हे पाण्डव! तुम्हारे मौसेरे भाई—शिशुपाल एवं दन्तवक्र दोनों ही भगवान् विष्णुक
पतित होना पड़ा था॥३३॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः॥३४॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—मुनिवर! जिस शापने भगवान् विष्णुक पार्षदोंको भी प्रभावित कर दिया, वह किसक
था और वह क
वे किस प्रकार प्राकृत जन्म ग्रहण कर सकते हैं—इस असम्भव बातपर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है॥३४॥

देहेन्द्रियासु–हीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि॥३५॥

हे नारदजी! शुद्ध सत्त्वमय देहधारी वैक
प्राकृत देह और प्राणोंक
होता, फिर उनका प्राकृत मनुष्योंक
बन्धन किस प्रकार हो गया? आप यह सब मुझे अवश्य बतलाइए॥३५॥

श्रीनारद उवाच—

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम्॥३६॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! एक बार ब्रह्माक
महर्षि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्द भ्रमण करते हुए संयोगवश विष्णुलोकमें उपस्थित हुए॥३६॥

पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।
दिग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम्॥ ३७॥

ये महर्षि यद्यपि मरीचि आदि ऋषियोंसे भी प्राचीन हैं, तथापि देखनेमें ये पाँच या छह वर्षक
होते हैं। ये वस्त्र धारण नहीं करते। 'जय' और 'विजय' नामक द्वारपालोंने उन्हें साधारण बालक जानकर भीतर आनेसे रोक दिया॥३७॥

अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः॥ ३८॥

भीतर प्रवेश करनेसे रोक
और इन्होंने उन द्वारपालोंको अभिशाप दे दिया—अरे मूर्खो! भगवान् मधुसूदन तो रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित हैं, अतः तुम दोनों उनक
पापपूर्ण आसुरी योनिमें जन्म ग्रहण करो॥३८॥

एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तौ कृपालुभिः।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्॥ ३९॥

राजन्! इस प्रकार शापग्रस्त होकर जय और विजय दोनों द्वारपाल वैक
ऋषियोंने पुनः उनसे कहा—तीन जन्मोंक
समाप्ति हो जायेगी और तुम दोनों पुनः इसी वैक
आ जाओगे॥३९॥

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः॥ ४०॥

इन दोनोंने सर्वप्रथम दितिक
हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था। दैत्य एवं दानव इनका बड़ा सम्मान करते थे॥४०॥

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता शौकरं वपुः॥४१॥

भगवान् श्रीहरिने नृसिंह मूर्त्ति धारण करक
किया था और पृथ्वीका उद्धार करते समय भगवान्ने वराह-मूर्त्ति धारण करक
किया था॥४१॥

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम्।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे॥४२॥

युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र विष्णुभक्त प्रह्लादका वध करनेकी इच्छासे उसे मृत्युकारिणी बहुत-सी यातनाएँ दीं थी॥४२॥

तं सर्वभूतात्मभूतं प्रशान्तं समदर्शनम्।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः॥४३॥

प्रह्लाद सभीक
समस्त प्राणियोंमें समदर्शी तथा भगवान्की शक्तिसे सुरक्षित थे। इसलिए अनेक उपाय करनेपर भी हिरण्यकशिपु उन्हें मारनेमें समर्थ न हो सका॥४३॥

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ॥४४॥

इसक
विश्रवाक
राक्षस हुए। उस समय समस्त जगत् इनसे अत्यन्त दुःखी था॥४४॥

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात् प्रभो॥४५॥

उनको शापसे मुक्त करनेक
श्रीरामचन्द्रक
श्रीमाक
चरित्रको श्रवण करोगे॥४५॥

तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ॥४६॥

जय और विजय नामक इन दोनों द्वारपालोंने ही तीसरे जन्ममें तुम्हारे मौसेरे भाइयोंक
भगवान् श्रीकृष्णक
अभिसम्पातसे मुक्त हो गये॥४६॥

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥४७॥

ये दोनों विष्णु-पार्षद बहुत दिनों तक एकाग्रचित्त होकर निरन्तर वैरभावसे भगवान्का ध्यान करते रहे, इसीलिए उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णक
परमपदको प्राप्त किया और पुनः उनक

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि।
ब्रूहि मे भगवन् येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिर-नारद-संवादो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! हिरण्यकशिपु अपने प्रिय पुत्र महात्मा प्रह्लादसे क्यों विद्वेष करता था? प्रह्लाद किस कारणसे भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय हो गये थे? आप कृपा करक
समस्त वृतान्त बतलाइए॥४८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

हिरण्याक्षका वध होनेपर हिरण्यकशिपुका अपनी माता और क

श्रीनारद उवाच—

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्त्तिना।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्रुषा शुचा॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! जब भगवान् विष्णुने वराह-मूर्त्ति धारणकर हिरण्याक्षका वध कर दिया, तब हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हो गया तथा अपने भाईक
सन्तप्त होकर परिताप करने लगा॥१॥

आह चेदं रुषा पूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन् धूम्रमम्बरम्॥ २॥

उस समय हिरण्यकशिपु क्रोधक
बार-बार भींचने लगा और क्रोधसे उद्दीप्त आँखोंक
धूएँसे धूमिल आकाशकी ओर देखते हुए कहने लगा—॥२॥

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत्॥ ३॥

उसक
क
सभामें त्रिशूल उठाकर अपने साथी दानवोंको सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा—॥३॥

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्द्धंस्त्र्यक्ष शम्बर।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल॥ ४॥

विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन् शकुनादयः।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम्॥ ५॥

हे दैत्य और दानवो! हे द्विमूर्ध! हे त्र्यक्ष! शम्बर! शतबाहो! हयग्रीव! नमुचि! पाक! इल्वल! विप्रचित्ते! पुलोमन्! हे शक
दानवो! तुम सब मेरी बात सुनो और उसक
किये जैसा मैं कहता हूँ, वैसा करो।४-५॥

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत्।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा ममेनाप्युपधावनैः॥ ६॥

हमारे क्षुद्र शत्रुओंने मेरे परमप्रिय और सुहृद् मेरे छोटे भाई हिरण्याक्षका विष्णुसे वध करवा दिया है। यद्यपि वह विष्णु
देवताओं और असुरोंक
शत्रु देवताओंकी उपासनासे प्रसन्न होकर वह उनकी सहायता कर रहा है॥६॥

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः॥ ७॥

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै।
असृक्प्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः॥ ८॥

हे असुरो! विष्णु देवताओं एवं असुरोंक
उसका स्वभाव वैसा नहीं रहा। शुद्ध एवं तेजोमय होनेपर भी उसने
मायाक
बालकोंक
प्रलोभन हो गया है। जो उसकी सेवा करता है, वह उसीपर मुग्ध हो जाता है। मैं अपने शूलसे उस विष्णुका गला काटकर उसक
रुधिरसे अपने रुधिरप्रिय भाईका तर्पण करूँगा, तभी मेरी मनोव्यथा शान्त होगी॥७-८॥

तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः॥ ९॥

वृक्षकी जड़ कट जानेपर जिस प्रकार शाखा-प्रशाखादि स्वयं ही सूख जाते हैं, उसी प्रकार इस कपटी विष्णुक
देवता स्वयं ही मर जायेंगे, क्योंकि विष्णु उनका प्राण-सर्वस्व है॥९॥

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्रसमेधिताम्।
सूदयध्वं तपोयज्ञ-स्वाध्यायव्रतदानिनः॥ १०॥

मैं यहाँ विष्णुका संहार-कार्य सम्पन्न करूँगा तथा तुम लोग ब्राह्मणोंक
वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, वेदाध्ययन, व्रत एवं दानादिमें लगे हुए हैं, उनका संहार कर डालो॥१०॥

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्॥ ११॥

ब्राह्मणोंकी यज्ञादि क्रियाओंका मूल विष्णु है। वही यज्ञरूपी धर्ममय पुरुष है—वही देवता, ऋषि, पितर समस्त प्राणियों एवं धर्मका परम आश्रय है। ब्राह्मणादिक
लोप हो जाएगा और विष्णुकी जड़ ही कट जाएगी॥११॥

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमक्रियाः।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत॥ १२॥

जहाँ-जहाँ गाय, ब्राह्मण, वेद और वेद-विहित वेदाध्ययनादि वर्णाश्रम क्रियाएँ दिखाई पड़ती हों, उन समस्त गाँवों और नगरोंमें जाओ और उन्हें जला डालो। उनक
स्रोत) वृक्षोंको जड़से उखाड़ डालो॥१२॥

इति ते भर्त्तुनिर्द्देशमादाय शिरसादृताः।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः॥ १३॥

युधिष्ठिर! दानव तो संहारप्रिय होते ही हैं। हिरण्यकशिपुक इस प्रकार आदेश दिये जानेपर दानवोंने अपने स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और उसक
आरम्भ कर दिया॥१३॥

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च॥ १४॥

उन्होंने नगर, गाँव, गौओंक
खेत, पुष्प-प्रधान उपवन, स्वाभाविक बने जंगल, ऋषियोंक
रत्नोंकी खान, किसानोंक
ग्राम, अहीरोंकी बस्ती और शासनसे सम्बन्धित बड़े-बड़े क
जला डाला॥१४॥

केचित् खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान्।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित् परशुपाणयः।
प्रादहन् शरणान्येके प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः॥ १५॥

क
तोड़ डाले, क
जीवनोपयोगी वृक्षोंको काट दिया। क
हाथोंमें लेकर प्रजाओंक

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः॥ १६॥

हिरण्यकशिपुक
यज्ञ-भागका अभाव हो गया और इस कारण देवता स्वर्गका परित्याग
करक

हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत्॥ १७॥

इधर भाईकी मृत्युक
क्रियाएँ सम्पन्न कीं और अपने भतीजोंको सान्त्वना देने लगा॥१७॥

शकुनिं शम्बरं धृष्टिं भूतसन्तापनं वृकम्।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम्॥ १८॥
तन्मातरं स्नुषां भानुं दितिञ्च जननीं गिरा।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर॥ १९॥

हे युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रोधित था, किन्तु वह देश और कालको जाननेवाला था। अतः वह मधुर वचनोंसे अपने भतीजों—शक
हरिश्मश्रु और उत्कच तथा उनकी माताओं, भ्रातृवधू भानु और माता दितिको समझाते हुए कहने लगा— ॥१८-१९॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः॥ २०॥

हिरण्यकशिपुने कहा—हे माँ! हे वधू! प्रिय भतीजो! भैया हिरण्याक्षक लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है। वीर पुरुषोंका शत्रुओंका सामना करते हुए देह त्याग करना श्लाघनीय और वांछनीय है॥२०॥

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः॥ २१॥

हे सुव्रते! जिस प्रकार प्याऊपर बहुत-से पथिक मिलते हैं और जलपान करनेक
चले जाते हैं, उसी प्रकार इस संसारमें प्राणियोंका सम्बन्ध भी ऐसा ही है। अपने-अपने पूर्व कर्मोंक
हैं और कभी बिछुड़ते हैं॥२१॥

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्॥ २२॥

आत्मा नित्य, अविनाशी, निर्मल, सर्वगत (समस्त लोकोंमें गमन करनेवाली), सर्वज्ञ एवं देहादिसे पृथक् है। यह अपनी अविद्या द्वारा ही लिङ्ग-देह धारणकर सूक्ष्म शरीरमें सुख-दुःख आदिका भोग करती है। अतः आत्माको मृत, कृश आदि मानकर शोक करना उचित नहीं है॥२२॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः॥ २३॥

जलका प्रवाह हिलनेसे उसक
भी जलमें हिलता हुआ-सा दिखायी देता है और आँखोंक
सारी पृथ्वी घूमती-सी दिखायी देती है॥२३॥

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव॥२४॥

हे भद्रे! उसी प्रकार यह मन भी प्राकृत गुणोंक
रहता है। जीवात्माका स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह शोकादि विकारोंसे रहित है, तथापि पुरुष मनोधर्मी होनेक कारण स्वयंको विकार-ग्रस्त मान लेता है। (मनको आत्मा मानना ही सुख-दुःखका मूल है।)॥२४॥

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः॥२५॥

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च॥२६॥

शरीरमें आत्माभिमान करना ही अज्ञान (अन्यथा-प्रतीति) है। इसीक
होता है और कभी प्रियजनोंक
दुःख होता है। इस प्रिय-अप्रिय की भ्रांतिसे आबद्ध होनेक कारण जीव कर्म करता है और विभिन्न योनियोंमें भटकता हुआ गर्भवासादि यातनाओंको भोगता है। कर्म ही संसारका मूल है। इसीसे जन्म, मृत्यु, विविध प्रकारक
विवेककी विस्मृति होती है। कभी विवेक-ज्ञान हो भी जाय, तो पुनः उसका लोप हो जाता है॥२५-२६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत॥२७॥

इस विषयपर एक पुरातन इतिहास वर्णित है। यह एक मृत-व्यक्तिक
लोग भी इसे श्रवण करो॥२७॥

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत॥ २८॥

उशीनर देशमें सुयज्ञ नामका एक बड़ा प्रसिद्ध राजा था। वह युद्धमें शत्रुओंक
उसकी मृत-देहको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये॥२८॥

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम्।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम्॥ २९॥
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम्।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे॥ ३०॥

उसका रत्नोंसे जड़ाऊ कवच फट गया, आभूषण और मालाएँ आदि बिखर गये, तीक्ष्ण बाणोंसे उसका हृदय बिंध गया और शरीर रक्तसे लथपथ हो गया, क
हो गयीं। क्रोधक
समान मुख रणभूमिकी धूलसे धूसरित हो रहा था, उसक
कहीं और पड़े थे और शस्त्र कहीं और गिरे पड़े थे॥२९-३०॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुखिताः।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन्॥ ३१॥

उशीनराधिपति दुर्दैववश भूमिपर पड़ा हुआ था। उसे इस अवस्थामें देखकर 'हा नाथ! तुम्हारे मारे जानेसे तो हम भी मारी गयीं'—इस प्रकार कहती हुई उसकी पत्नियाँ बार-बार अपने हाथोंसे छाती पीटने लगीं और उसक

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रि-पङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे॥ ३२॥

उनक
होकर अपने प्रियतम पतिक
उनक
हुईं वे ऐसे-ऐसे वचन कहने लगीं कि समस्त प्राणियोंक
भी शोकका सञ्चार हो गया॥३२॥

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान् प्रणीतो दृगगोचरां दशाम्।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्द्धनः॥ ३३॥

अहो! हे प्रभो! विधाता बड़ा निष्ठुर है। उसने आज आपको हमारी आँखोंसे ओझल कर दिया है। पहले जिन उशीनरवासियोंको आप जीविका प्रदान करक
शोकको बढ़ा रहे हैं॥३३॥

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि॥ ३४॥

हे महीपते! हे वीर! आप इतने कृतज्ञ थे कि हमारी थोड़ी-सी भी सेवाको बहुत बड़ा करक
थे, आपक
आप जहाँ जा रहे हैं, हमें भी आदेश कीजिए कि हम भी उसी स्थानपर आपक
सेवा करेंगी॥३४॥

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम्।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत॥ ३५॥

उनक
इसलिए वे पतिक
थीं। इसी बीच सूर्य अस्ताचलकी ओर चले गये॥३५॥

तत्राह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम्।
आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः॥ ३६॥

उसी समय मृत राजाक
यमराज अपनी पुरीसे बालकका वेश धारण करक
उपस्थित हुए और शोकार्त्त बन्धु-बान्धवोंसे कहने लगे॥३६॥

श्रीयम उवाच—

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम्॥ ३७॥

यमराजने कहा—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! ये लोग तो मुझसे आयुमें बड़े हैं, प्रतिदिन ही जीवन-मरण देखते रहते हैं, इन्हें भी तो मरना होगा, फिर इनका यह क
जिस अज्ञात स्थानसे आता है, उसी स्थानपर लौटकर चला जाता है। इस नियमका प्रतिकार असम्भव है। यह जानकर भी ये व्यर्थ ही शोक कर रहे हैं॥३७॥

अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे॥ ३८॥

हम-जैसे बालकमें जो क
है, इनसे तो हम ही अच्छे हैं। माता-पिताने हमें इस संसाररूपी दुःख-सागरमें अक
कृपासे व्याघ्रादि हिंसक पशुओंने हमारा क
तथा जिन्होंने गर्भमें हमारी रक्षा की थी—वे सर्वज्ञ ही हमारी सब समय रक्षा करेंगे!॥३८॥

य इच्छयेषः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः॥ ३९॥

हे अबलाओ! जिन अव्यय परमेश्वरकी इच्छासे इस संसारक सृष्टि, पालन एवं संहार बतलाये जाते हैं, उन अविनाशी ईश्वरक लिए यह चराचरात्मक विश्व साधारण खिलौना मात्र है। वे ही इसका सृजन एवं संहार करनेमें समर्थ हैं॥३९॥

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽभिगुप्तोऽस्य हतो न जीवति॥ ४०॥

पथपर कोई वस्तु गिरनेपर यदि वह ईश्वर द्वारा सुरक्षित है, तो दूसरा कोई भी उसको उठा नहीं सकता और जिसकी वह वस्तु है, उसे ही वह पुनः प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार यदि कोई वस्तु ईश्वर द्वारा सुरक्षित नहीं है, तो उसे तिजोरीमें गोपनीय ढंगसे रखनेपर भी वह विनष्ट हो जाती है। भगवान्‌की कृपासे वनमें भी सुरक्षा हो जाती है, और यदि वे उपेक्षा कर दें, तो घरमें रहनेपर भी अत्यधिक सुरक्षित जीवनकी रक्षा नहीं हो पाती॥४०॥

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो हि बध्यते॥ ४१॥

सभी प्राणियोंको अपने-अपने कर्मोंक
है और कर्मोंक
तो देहसे पृथक् है। विविध स्थूल-सूक्ष्म देहोंमें अवस्थित रहते हुए भी जन्म-मरणसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता॥४१॥

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम्।
यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति॥ ४२॥

गृह गृहस्थसे पृथक् होता है, किन्तु अज्ञानक
इसे अपनेसे अभिन्न मान लेता है, उसी प्रकार मोहक
जीव अपनेको प्राकृत देह मान लेता है। जल, पृथ्वी और तेजक
अंशोंक
क्षय होता है, तब शरीर भी नष्ट हो जाता है, किन्तु आत्माका विनाश कभी नहीं होता॥४२॥

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः॥ ४३॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें रहकर भी दाहक एवं प्रकाशरूपमें काष्ठसे अलग दिखायी देता है, देहगत मुख, नासिकादिमें वायु रहनेपर भी वायुका उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता और आकाश सब जगह एक-सा रहनेपर भी किसीक
होता, उसी प्रकार आत्मा भी देह, इन्द्रियादि सभीका आश्रय होनेपर भी उनसे पृथक् है॥४३॥

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित्॥ ४४॥

अरे मूर्खो! तुम लोग जिसक
सुयज्ञ नामका शरीर तुम्हारी आँखोंक
और नहीं गया है; अतः शोक क्यों कर रहे हो?। अब तक जो तुम्हारी बात सुनता था और उसका उत्तर देता था, वह तुम लोगोंको अब दिखायी नहीं दे रहा, इसलिए शोक कर रहे हो—यह

ठीक नहीं है क्योंकि जो सुनता था और तुम्हारी बातोंका उत्तर देता था, उसे तो तुमने कभी देखा नहीं। जिसे तुम देखते थे, उस देहको तो तुम अब भी देख रहे हो, इसलिए शोक करना व्यर्थ है॥४४॥

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः॥ ४५॥

इस देहमें अवस्थित प्राण इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है तथा इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको संचालित करनेवाला होकर भी वह श्रोता अथवा वक्ता नहीं है क्योंकि वह जड़ है। देह एवं इन्द्रियोंक साथ सम्बन्धयुक्त आत्मा (जीव) ही समस्त विषयोंका द्रष्टा है। चेतनस्वरूप होनेक
सम्बन्ध नहीं है॥४५॥

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा॥ ४६॥

पञ्च भूत, दस इन्द्रियाँ, मन और इन सब अवयवोंसे युक्त मनोमय लिङ्ग-शरीर (सूक्ष्म-देह) का आत्मा उत्कृष्ट-निकृष्ट समस्त शरीरोंक
विवेकादि (तथा भजन) क
देता है। भजन-बल एवं स्वरूप-अनुभूति इसक

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्मनिबन्धनम्।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्त्तते॥ ४७॥

जब तक आत्माका लिङ्ग शरीरसे भ्रामक सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसका कर्मोंसे बन्धन बना रहता है। इस अविद्यारूपी बन्धनक
पीछे लगे रहते हैं॥४७॥

वितथाऽभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा॥ ४८॥

प्रकृतिक

समझना तथा इस विषयमें बातें करना व्यर्थ है। दिवा-स्वप्न देखते हुए मन-ही-मन स्वयंको राजा मानकर सुखका अनुभव करना और स्वप्न-अवस्थामें किसी स्त्रीक

सब मनोरथ जिस प्रकार झूठ (अवास्तव) हैं, उसी प्रकार प्राकृत इन्द्रियोंसे सम्बन्धित सुखादि भी काल्पनिक एवं मिथ्या हैं॥४८॥

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः।
नान्यथा शक्यते कर्त्तुं स्वभावः शोचतामिति॥४९॥

आत्मज्ञ व्यक्ति आत्माको नित्य और देहको अनित्यरूपमें जानते हैं, इसलिए वे शोकक

ज्ञान नहीं हुआ है, वे शोकादिमें मग्न रहते हैं, उनका स्वभाव बदला नहीं जा सकता॥४९॥

लुब्धको विपिने कश्चित् पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः।
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन्॥५०॥

एक बहेलिया था। वह वनमें जहाँ-जहाँ पक्षियोंको देखता, वहाँ-वहाँ जाल फ

लेता, मानो भगवान्ने उसे पक्षियोंक

किया हो॥५०॥

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत् समदृश्यत।
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता॥५१॥

इस व्याधने उसी वनमें विचरण करते हुए कन्दभोजी क (गौरेया) नामक पक्षियोंक

कुलिङ्ग बहेलियेक

सासज्जत सिचस्तन्त्र्यां महिषी कालयन्त्रिता।
कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत्॥५२॥

बाल–वेश धारण किये हुए यमराजने कहा—हे रानियो! क
पक्षीने अपनी पत्नीको दैववश जालमें आबद्ध देखा, जो दुःखक
कारण दीन–हीन और कातर हो रही थी। पक्षिणीकी यह अवस्था
देखकर वह भी अतिशय दुःखी हो गया। उसे बन्धनसे तो वह
छुड़ा नहीं सकता था, परन्तु अत्यधिक स्नेहक
विलाप करने लगा— ॥५२॥

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाकरुणया विभुः।
कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति॥ ५३॥

अहो! विधाता क
असहाय है। ऐसी विषम स्थितिमें भी मेरे लिए शोक करते हुए
कितनी छटपटा रही है। इसक
सिद्ध होगा? ॥५३॥

कामं नयतु मां देवः किमर्द्धेनात्मनो हि मे।
दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा॥ ५४॥

हे निर्दय विधाता! यदि तुम मेरी पत्नीको ले जा रहे हो,
तो मुझे भी ले चलो। पत्नीक
विधुर जीवन लेकर क्या करूँगा? ॥५४॥

कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान् विभर्म्यहम्।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः॥ ५५॥

मेरे अभागे बच्चे घोंसलेमें आहारक
कर रहे होंगे। हाय! अभी तो इनक
मातृहीन बच्चोंका मैं क

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्
प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः॥ ५६॥

अपनी प्रियाक
आँसुओंक
विलाप कर रहा था। इसी समय कालसे प्रेरित होकर बहेलियेने छिपकर दूरसे बाण छोड़ा, जिससे वह वहीं ढेर हो गया॥५६॥

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि॥५७॥

हे अज्ञ रानियो! तुम सब भी इसी प्रकार अज्ञानी हो। क
पक्षीक
वर्षों तक भी तुम इसी प्रकारसे शोक करती रहीं, तो भी तुम अपने पतिको पुनः प्राप्त नहीं कर सकोगी॥५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम्॥५८॥

हिरण्यकशिपुने कहा—जब यमराजने बालक रूपमें इस प्रकारक
उपदेश दिये, तब सुयज्ञक
सोचने लगे—सभी पदार्थ अनित्य एवं मिथ्या हैं। ये इस समय जिस तरह प्रकाशित हो रहे हैं, हमेशा ऐसे नहीं रहेंगे॥५८॥

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत।
ज्ञातयो हि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत् साम्परायिकम्॥५९॥

यमराज यह उपाख्यान सुनाकर उसी स्थानपर अन्तर्धान हो
गये। इसक
क्रिया सम्पन्न की॥५९॥

अतः शोचत मा यूयं परञ्चात्मानमेव वा।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।
स्वपराभिनिवेशेन विनाऽज्ञानेन देहिनाम्॥६०॥

अतः तुम लोगोंको न तो अपने लिए और न ही दूसरोंक
लिए शोक करना चाहिए। मैं कौन हूँ? पराया कौन है? अपना

कौन है? देहधारियोंका इस प्रकारका अभिनिवेश अज्ञानक
और क

श्रीनारद उवाच—

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा।
पुत्रशोकं क्षणात् त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत्॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तम-स्कन्धे श्रीयुधिष्ठिर-नारद-संवादे श्रीदितिशोकापनोयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! दैत्यपति हिरण्यकशिपुकी इन बातोंको सुनकर दितिने अपनी पुत्रवधूक
पुत्र-शोकको त्याग दिया और अपने चित्तको परमात्मारूपी यथार्थ तत्त्वमें निविष्ट कर दिया॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति

श्रीनारद उवाच—

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम्।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महाराज युधिष्ठिर! दैत्यराज हिरण्यकशिपु चाहता था कि मैं अजेय, अजर, अमर और ब्रह्मलोकपर्यन्त तीनों लोकोंका एकछत्र सम्राट बन जाऊँ और मेरे जोड़का कोई दूसरा न हो॥१॥

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्।
ऊद्ध्र्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः॥ २ ॥

इसक
और अति कठोर तपस्या करने लगा। वह अपनी दोनों भुजाएँ उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए पैरक
खड़ा हो गया॥२॥

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे॥ ३ ॥

तपोबलसे उसकी जटाएँ ऐसी दीप्तिमान हो उठीं, मानो प्रलयकालीन सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें हों। हिरण्यकशिपुकी ऐसी प्रखर तपस्या देखकर देवताओंने अब पूर्ववत् अलक्षितरूपसे भ्रमण करना छोड़ दिया और अपने-अपने स्थानोंपर प्रतिष्ठित हो गये॥३॥

तस्य मूद्‌र्ध्नः समुद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः।
तिर्यगूर्ध्वमधो लोकान् प्रातपद्विष्वगीरितः॥ ४॥

बहुत समय तक तपस्या करनेक
मस्तकसे तपोमयी अग्नि धूएँक
समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गयी और उससे अगल-बगलक
एवं अधोलोक सन्तप्त होने लगे॥४॥

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश॥५॥

युधिष्ठिर! उसकी तपस्याक
नदी एवं समुद्र क्षुब्ध होने लगे, पृथ्वी, पर्वत और द्वीपोंक
काँपने लगी, ग्रह-नक्षत्रादि टूट-टूटकर गिरने लगे और दसों दिशाएँ प्रज्वलित हो उठीं॥५॥

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते।
दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः॥६॥

युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुकी तपोमयी आगकी लपटोंसे सन्तप्त होकर देवतागण स्वर्गको छोड़कर ब्रह्मलोक गये और ब्रह्माजीसे प्रार्थना करने लगे—हे देवाधिदेव! हे जगत्पते! दैत्याधिराज हिरण्यकशिपुक तपकी अग्निसे हम जल रहे हैं। अब हम स्वर्गलोकमें और नहीं रह सकते॥६॥

तस्य चोपशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः॥७॥

हे सर्वाधिपते! यदि आपकी इच्छा हो, तो अपनी सेवा करनेवाली प्रजाका नाश होनेक
शान्त कर दें॥७॥

तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितम्॥८॥

क्या आप नहीं जानते हैं कि हिरण्यकशिपुने इस दुष्कर तपस्याका सङ्कल्प क्यों लिया है? आपसे अवश्य ही क

हुआ नहीं है, तो भी हम आपक
कर रहे हैं, आप सुन लीजिए॥८॥

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना।
अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम्॥ ९॥
तदहं वर्द्धमानेन तपोयोगसमाधिना।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात् साधयिष्ये तथात्मनः॥ १०॥

वह सोचता है कि परमेष्ठी ब्रह्मा जिस प्रकार तपस्यादि द्वारा इस चराचरात्मक जगत्‌की सृष्टि करक
श्रेष्ठतर सत्यलोकमें अधिष्ठित हैं तथा सभीक
प्रकार मैं भी तपस्या और योग-समाधिक
प्राप्त करूँगा। यह उपलब्धि चाहे मुझे एक जन्ममें मिले या अनेक जन्मोंमें, क्योंकि काल भी नित्य है और आत्मा भी नित्य है॥९-१०॥

अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः॥ ११॥

तपक
सारे नियम ही पलट दूँगा। वैष्णवोंको प्राप्त ध्रुवादि पदोंसे मेरा क्या प्रयोजन है? कल्पान्तमें ये सब भी नष्ट हो जायेंगे (ध्रुव-पदक
अनित्यत्वकी कल्पना असुर-स्वभावक
तो ब्रह्मलोककी प्राप्तिक

इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर॥ १२॥

हमने यही सुना है कि आपक
हिरण्यकशिपु कठोर तपस्यामें लगा हुआ है। आप तीनों लोकोंक
ईश्वर हैं। आप जैसा उचित समझें, वही करें। विलम्ब न करें॥१२॥

तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च॥ १३॥

हे जगत्पते! आपका यह सर्वोत्कृष्ट परमेष्ठि पद गौ, ब्राह्मणादिक
उद्भव, सुख, ऐश्वर्य एवं कल्याणक
हिरण्यकशिपुने अधिकार जमा लिया तो सर्वनाश हो जाएगा॥१३॥

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप।
परितो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम्॥ १४॥

हे राजन्! देवताओंक
ब्रह्माने भृगु, दक्षादि मुनियोंक
ओर प्रस्थान किया॥१४॥

न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः।
पिपीलिकाभिराचीर्णं मेदस्त्वङ्मांसशोणितम्॥ १५॥
तपन्तं तपसा लोका न् यथाभ्रापिहितं रविम्।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह हसन्तं हंसवाहनः॥ १६॥

वहाँ पहुँचनेपर ब्रह्माजी पहले तो उसे देख ही नहीं पाये, क्योंकि हिरण्यकशिपुका सारा शरीर दीमककी मिट्टी, तृणादि एवं बाँसादिक
व रक्तको खा गयी थीं। बादमें उन्होंने देखा कि समस्त लोकोंको ताप प्रदान करनेवाले मेघाच्छन्न सूर्यकी भाँति वह अपनी तपस्यासे सभी लोकोंको तपा रहा था। यह देखकर ब्रह्मा विस्मित हो उठे और हँसते हुए कहने लगे—॥१५-१६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप।
वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः॥ १७॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे कश्यपनन्दन! तुम उठो, उठो! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम्हारी तपस्याकी सिद्धि हो गयी है। मैं तुम्हें वर देनेक

अद्राक्षमहमेतं ते हृत्सारं महदद्भुतम्।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते॥ १८॥

तुम्हारे असीम धैर्यको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। कीड़ों और चींटियोंने तुम्हारे सारे शरीरको खा लिया है। क
हुए हैं॥१८॥

नैतत् पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
निरम्बुर्धारयेत् प्राणान् को वै दिव्यसमाः शतम्॥ १९॥

पूर्वकालमें भृगु आदि ऋषियोंमें-से कोई भी इतनी कठोर तपस्या नहीं कर सका और आगे भी कोई दूसरा कर नहीं सक
सौ वर्षों तक प्राण धारण नहीं कर सकता॥१९॥

व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम्।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन॥ २०॥

हे दितिनन्दन! बड़े-बड़े ऋषियोंक
कार्य और तपस्यासे मैं तुम्हारे वशीभूत हो गया हूँ॥२०॥

ततस्ते आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव।
मर्त्त्यस्य ते ह्यमर्त्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम॥ २१॥

हे असुरश्रेष्ठ! इसी कारण मैं तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें सारे वरदान देनेक
हूँ। तुमने मेरा दर्शन किया है, यह कभी विफल नहीं होगा। अतः वर माँगो॥२१॥

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्त्वादिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ॥ २२॥

देवर्षि नारदने कहा—आदिदेव ब्रह्माने इतना कहकर चींटियों द्वारा खाये हुए दैत्याधिराज हिरण्यकशिपुक
कमण्डलुसे अमोघ जल छिड़क दिया॥२२॥

स तत्कीचकवल्मीकात् सहओजोबलान्वितः।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः॥ २३॥

कमण्डलुक
अवयवोंसे पूर्ण और वज्रक
उसमें यौवनका सञ्चार हो गया तथा उसक
तप्तकाञ्चनकी प्रभाक
वल्मीकक
आग प्रकट हो गयी हो॥२३॥

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमुपस्थितम्।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः॥ २४॥

हिरण्यकशिपुने आकाश मार्गमें ब्रह्माजीको अपने वाहन हंसपर उपस्थित देखा तो अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे भूमिपर मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥२४॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम्।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात्॥ २५॥

तत्पश्चात् दैत्यराज भूमिसे उठा और ब्रह्माजीको निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए गद्गद् वाणीसे उनकी स्तुति करने लगा। अत्यन्त विनीत भावसे उसने हाथ जोड़ रखे थे, आनन्दक
अश्रु प्रवाहित हो रहे थे और शरीर रोमाञ्चित हो रहा था॥२५॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम्।
अभिव्यनग्जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा॥ २६॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति।
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः॥ २७॥

हिरण्यकशिपुने कहा—दैनन्दिन प्रलयक
काल द्वारा प्रेरित होकर तमोगुणरूपी निविड़ अन्धकारसे ढक जाती

है, तब स्वयंप्रकाश जो अपने प्रकाशसे इस जगत्‌को प्रकाशित करते हैं, एवं जो त्रिगुण द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, उन सत्त्व, रज एवं तमोगुणक
मैं प्रणाम करता हूँ॥२६-२७॥

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्त्तये।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥ २८ ॥

जो ज्ञान और विज्ञानकी मूर्त्ति-स्वरूप और जगत्क
हैं, जो प्राण, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिक
प्रकाशित होते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ॥२८॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।
चित्तस्य चित्तेर्मन-इन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः॥ २९ ॥

आप मुख्यप्राण सूत्रात्माक
आप ही प्रजाक
मन और इन्द्रियोंक
पञ्चभूत एवं उनक
ईश्वर हैं॥२९॥

त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा
त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा॥ ३० ॥

आप वेदत्रयी मूर्त्तिक
इन चारों ऋत्विकोंक
विस्तार कराते हैं। आप आत्मविद् जीवोंक
आप अनादि, देश-काल एवं पात्रसे अतीत, अखण्ड एवं सर्वज्ञ हैं। आप समस्त जीवोंक

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यवयवैः क्षिणोषि।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा॥ ३१॥

आप नित्य सावधान रहकर समस्त पदार्थोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं और क्षण, लव आदि सूक्ष्म कालांश द्वारा प्राणियोंकी आयुका हरण करते हैं, इसपर भी हे ब्रह्मन्! आप निर्विकार रहते हैं। आप क
जीवनक

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
देजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः॥ ३२॥

स्थावर-जङ्गम आदि कोई भी वस्तु आपसे स्वतन्त्र नहीं है। वेद, उपनिषद्, शिक्षा एवं वेदाङ्ग शास्त्र सभी आपक
स्वर्णमय (हिरण्यरूप) प्रकाशमान ब्रह्माण्ड आपक
है। आप इसे अपनेमें-से ही प्रकट करते हैं। त्रिगुणात्मक प्रधानरूप अक्षरसे अतीत परात्पर वस्तु हैं॥३२॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः॥ ३३॥

हे विभो! यह वैराज (विराट्) जगत् (व्यक्त ब्रह्माण्ड) आपका स्थूल शरीर है। इससे आप इन्द्रिय, प्राण एवं मनक
रूप-रसादि विषयोंक
भी आप स्वयं विकृत न होकर अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपमें ही अवस्थित रहते हैं। इसीलिए आप ब्रह्म, अन्तर्यामी एवं पुराण-पुरुष भगवान् हैं॥३३॥

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः॥ ३४॥

आप अनन्त तथा अव्यक्तरूपसे अखिल जगत्में परिव्याप्त हैं। आप चित् शक्ति (अन्तरङ्गा स्वरूपभूतशक्ति), अचित् शक्ति (त्रिगुणमयी बहिरङ्गा मायाशक्ति) एवं मिश्रा शक्तिसे (तटस्थाशक्तिसे) युक्त हैं। हे भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥३४॥

यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो॥ ३५॥

हे प्रभो! आप समस्त वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे मेरा अभीष्ट वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मेरी यह प्रार्थना है कि आपक
न हो॥३५॥

नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि॥ ३६॥

भीतर-बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपक
किसी भी प्राणीसे, अस्त्र-शस्त्रसे, भूमिपर, आकाशमें, मनुष्यक द्वारा अथवा किसी मृगादि पशुसे मेरी मृत्यु सम्भव न हो॥३६॥

व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यञ्च देहिनाम्॥ ३७॥

सर्वेषां लोकपालनां महिमानं यथात्मनः।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे हिरण्यकशिपोर्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः।

प्राणी-अप्राणी, देवता-दैत्य और महासर्प आदिसे मेरी मृत्यु न हो। जिस प्रकार आपका कोई प्रतियोद्धा नहीं है, उसी प्रकार

युद्धमें कोई मेरा सामना न कर सक
प्राणियों एवं लोकपालोंक
एकछत्र सम्राट् हो जाऊँ। जैसी आपकी महिमा है, वैसी ही मेरी भी हो। तपस्वियों एवं योगियोंका कभी विनष्ट न होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्य आप मुझे भी प्रदान कीजिए॥३७–३८॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुक

श्रीनारद उवाच—

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ।
प्रादात् तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान्॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जब हिरण्यकशिपुने ब्रह्मासे ऐसे अत्यन्त दुर्लभ वर माँगे, तो उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे वे सुदुर्लभ वर प्रदान कर दिये॥१॥

श्रीब्रह्मोवाच—

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यद्यपि दुर्लभान्॥ २॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे वत्स! तुमने जो वरदान मुझसे माँगे हैं, वे मनुष्योंक
तुम्हें प्रदान करता हूँ॥२॥

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः॥ ३॥

तदनन्तर अमोघ वरप्रदाता ब्रह्मा असुर-श्रेष्ठ द्वारा पूजित तथा प्रजापति और ऋषियोंक

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन्॥ ४॥

इस प्रकार ब्रह्मासे वर प्राप्त करक
स्वर्णमय हो गया। वह अपने भाई हिरण्याक्षक
करक

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः।
देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥
सिद्धचारणविद्याध्रान् ऋषीन् पितृपतीन् मनून्।
यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनपि ॥ ६ ॥
सर्वसत्त्वपतीन् जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् उस विश्वविजेता महासुरने त्रिलोकी एवं समस्त दिशाओंको जीत लिया। उसने देवता, असुर, राजा, गन्धर्व, गरुड, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, यमादि पितरोंक
मनु, यक्ष, राक्षस पिशाचेश्वर, प्रेतपति, भूताधिपति और अन्यान्य समस्त प्राणियोंको भी पराजित करक
तथा लोकपालोंक
कर लिया ॥५-७॥

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्त स्म त्रिपिष्टपम्।
महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा।
त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥

यह महादैत्य अब नन्दनवनादि देवोद्यानोंकी शोभासे युक्त देवताओंक
गये त्रैलोक्य-ऐश्वर्यक
युक्त महेन्द्रभवनमें विराजमान हो गया ॥८॥

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः।
यत्र स्फटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥ १० ॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्यः इतस्ततः।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥ ११ ॥

तस्मिन् महेन्द्रभवने महाबलो
महामना निर्जितलोक एकराट्।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥

इन्द्र-भवनकी सीढ़ियाँ मूँगेकी बनी हुई थीं, भूमितल (फर्श) मरकत-मणियों (पन्ने) से बने हुए थे, दीवारोंपर स्फटिक सुशोभित हो रहा था, स्तम्भोंकी पंक्तियाँ वैदूर्यमणियोंसे विभूषित थीं, ऊपरकी ओर अद्भुत वितान सजाये हुए थे, सभी प्रकारक
मणियोंसे बने थे, शय्याएँ दुग्धफ
मोतियोंकी लड़ियोंसे मण्डित थीं, अप्सराएँ नूपुरोंकी झंकार-ध्वनि करती हुईं इधर-उधर विचरण कर रही थीं और रत्नमयी भूमिपर प्रतिबिम्बित अपने शरीरक
महेन्द्रभवनमें महामनस्वी और अति कठोर शासन करनेवाला असुर हिरण्यकशिपु समस्त लोकोंको जीतकर एकाधिपत्यक
करता था। उसक
चरणोंकी वन्दना करते थे॥९-१२॥

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम्॥ १३ ॥

हे राजन्! वह अत्यन्त उग्र गन्धवाली सुरा पीकर मतवाला रहता था। उसकी लाल-लाल आँखें सदैव चढ़ी हुई रहती थीं। इतनेपर भी वह तपस्या, योग, बल एवं तेजसे सम्पन्न था। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—इन तीन देवताओंक
हाथोंमें विविध उपहार लेकर उसकी उपासना करते थे॥१३॥

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः ।

गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन् मुहु-
र्विद्याधराश्चाप्सरसश्च पाण्डव॥ १४॥

हे पाण्डु-वंशज महाराज युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपु अपने पराक्रमसे इन्द्रासनपर अधिष्ठित हो गया था। विश्वावसु, तुम्बुरु, सङ्गीतमें निपुण हम सभी (नारदादि) ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर एवं अप्सराएँ सदा-सर्वदा उसका गुणगान करते हुए उसकी स्तुति करते थे॥१४॥

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा॥ १५॥

वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थादि जब बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ करते, तो हिरण्यकशिपु उनक
होकर अपने तेजसे उनक

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही।
तथा कामदुघा गावो नानाश्चर्यपदं नभः॥ १६॥

उस समय उसक
जोते-बोये शस्य-श्यामला हो गयी थी, और स्वर्गस्थ कामदुघा (इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली) गायक
प्रदान करती थी। आकाश-मण्डल भी अद्भुत आश्चर्योंसे सुशोभित रहता था॥१६॥

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७॥

लवण, जल, इक्षु-रस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और अमृत (मीठे जल) से युक्त समुद्र अपनी पत्नी नदियोंकी तरङ्गोंक
रत्नराशिमें-से विविध रत्नोंको उसक

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग् गुणान्॥ १८॥

पर्वतोंकी अन्तवर्ती घाटियाँ उसकी क्रीड़ास्थली बन गयी थीं। वर्षकी सभी छहों ऋतुओंमें वृक्ष समानरूपसे पुष्पों एवं फलोंसे

सुशोभित होते थे। हिरण्यकशिपुने अक
वायु आदि लोकपालोंक
गुणोंको अपने अधीन कर लिया था और उनपर एकछत्र राज्य करने लगा था॥१८॥

स इत्थं निर्जितककुबेकराड् विषयान् प्रियान्।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः॥ १९॥

सम्पूर्ण दिशाओंको वशमें करनेवाले एक
प्रिय लगनेवाले सम्पूर्ण विषयोंका प्रचुर मात्रामें भोग किया, किन्तु उसे सन्तुष्टि न हुई। अन्ततः वह इन्द्रियोंका दास ही तो था॥१९॥

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः।
कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः॥ २०॥

युधिष्ठिर! यह भगवान्‌का वही पार्षद था, जिसे सनकादि नैष्ठिकोंने शाप दिया था। हिरण्यकशिपु ऐश्वर्य मदसे मतवाला होकर इतना गर्वीला हो गया कि उसने शास्त्रोंकी सारी मर्यादाएँ लाँघ दीं। ऐसे ही उच्छृङ्खल भावसे रहते हुए उसका बहुत समय बीत गया॥२०॥

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्॥ २१॥

उसक
और आश्रय न मिला तब वे भगवान् विष्णुकी शरणमें पहुँचे॥२१॥

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥ २२॥
इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः॥ २३॥

(वे मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान करने लगे) हम उस सर्वोत्कृष्ट दिशाको प्रणाम करते हैं, जहाँ स्वयं श्रीहरि विद्यमान हैं और जहाँ जाकर निष्काम संन्यासी पुनः नहीं लौटते। इस भगवत्-धारणासे उन लोकपालोंका मन निष्पाप हो गया। उन्होंने भोजन, शयनादिका

त्याग कर दिया और वायुपर ही आश्रित रहकर समाहित चित्तसे भगवान् हृषीक

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी॥ २४॥

इसी बीच एक दिन मेघकी ध्वनिक
वाणी दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई उनक
हुई। वह साधुओंको अभय प्रदान करनेवाली थी। देवता उसे सुनने लगे॥२४॥

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये॥ २५॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत् प्रतीक्षत॥ २६॥

हे श्रेष्ठ देवगणो! डरो मत! तुम्हारा कल्याण हो! प्राणियोंक लिए मेरा दर्शन समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाला होता है। मुझे इस अधम दैत्य हिरण्यकशिपुक
ज्ञात है। मैं उसका समस्त उपद्रव शान्त कर दूँगा। तुम लोग क

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥ २७॥

जब कोई व्यक्ति देवताओं, वेदों, गौओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों, धर्म और मुझसे विद्वेष करता है, तो उसका शीघ्र ही विनाश हो जाता है॥२७॥

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्॥ २८॥

जिस समय यह दैत्य अपने निर्वैर (शत्रु-रहित), प्रशान्त एवं महात्मा पुत्र प्रह्लादसे द्रोहाचरण करेगा तब ब्रह्माजीक
सुसमृद्ध होनेपर भी मैं इसका विनाश कर दूँगा। यद्यपि मैं

अत्यन्त सहिष्णु हूँ तथापि भक्तोंक
नहीं करता॥२८॥

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्तो लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम्॥ २९॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जगद्गुरु भगवान् विष्णुने जब इस प्रकार कहा, तब स्वर्गमें निवास करनेवाले वे सभी देवता उन्हें प्रणाम करक
ही गया हो। अतः वे आश्वस्त, निश्चिन्त एवं शान्त हो गये॥२९॥

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः॥ ३०॥

दैत्यपति हिरण्यकशिपुक
थे, जिनमें सबसे छोटे प्रह्लाद भगवद्-भक्तोंकी सेवा आदि गुणोंक कारण सर्वश्रेष्ठ थे॥३०॥

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।
आत्मवत् सर्वभूतानामेकप्रियसुहृत्तमः॥ ३१॥

दासवत् सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवत् दीनवत्सलः।
भ्रातृवत् सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः॥ ३२॥

प्रह्लाद ब्रह्मण्य गुणोंसे सम्पन्न, सच्चरित्र, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे। वे परमात्माक
सुहृद् थे। सम्मानीय व्यक्तियोंक
भावसे रहते थे। दीनजनोंक
समानधर्मियोंक
गुरुओं एवं सतीर्थ गुरुओंको भगवान्क
अर्थ, सौन्दर्य एवं क
न था॥३१-३२॥

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक्।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः॥ ३३॥

यद्यपि प्रह्लादका जन्म असुर–वंशमें हुआ था, तथापि भगवान् विष्णु एवं वैष्णवोंक

भाव हैं, उनका उनमें लेशमात्र भी न था। संकट आनेपर उनका चित्त उद्विग्न नहीं होता था। वेदोंमें प्रतिपादित स्वर्गादिकी प्राप्तिक लिए कर्मकाण्डक

लौकिक भोगोंको भी देख रखा था, परन्तु वे उन्हें तुच्छ और निरर्थक मानकर उनसे निःस्पृह रहते थे। जितेन्द्रिय, जितवायु और स्थिर बुद्धि होनेक

होकर पूर्णरूपेण प्रशान्त था॥३३॥

यस्मिन् महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः।
न तेऽधुनापिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे॥ ३४॥

हे राजन्! उनक

वर्णन करते हैं। जिस प्रकार सारे सद्गुण भगवान्‌में नित्य विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भक्त–प्रवर प्रह्लाद महाराजमें भी श्रेष्ठ गुणोंका सदैव निवास रहता था॥३४॥

यं साधुगाथा–सदसि रिपवोऽपि सुरा नृप।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः॥ ३५॥

हे राजन्! यों तो प्रह्लाद देवताओंक

सम्बन्धित हैं, तथापि जब सभाओंमें साधुओं और भक्तोंकी चर्चा होती है, तब देवता प्रह्लाद महाराजक

करते हैं और भक्तोंकी उनसे समानता करते हुए कहते हैं— आप तो प्रह्लाद महाराजक

बात करें॥३५॥

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः॥ ३६॥

भगवान् वासुदेवमें जिनकी स्वाभाविकी रति है, उन प्रह्लाद महाराजक
भगवद्-भक्ति ही उनक
वचनोंसे उनकी महिमाका सङ्क
वर्णन नहीं हो सकता॥३६॥

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥ ३७॥

बाल्यकालसे ही खेलक
हो जाते थे, मानो जड़ हो गये हों। उनका मन कृष्णरूप ग्रहसे ऐसा ग्रस्त हो गया था कि उन्हें संसारमें श्रीकृष्णक
क

आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः॥ ३८॥

भगवान् गोविन्दने उनका आलिङ्गन कर रखा है, इसी अनुभूतिमें डूबे हुए वे हर क्षण उनकी सेवामें तत्पर रहते। उठना-बैठना, घूमना, खाना-पीना, सोना, बातचीत करना आदि प्राकृत भोगोंका उन्हें अनुसन्धान भी न रहता॥३८॥

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥ ३९॥

कृष्ण-प्रेमभावमें उनका चित्त सदैव विह्वल रहता था। श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर कहाँ चले गये, कभी इस भावसे वे जोर-जोरसे रोने लगते, फिर मन-ही-मन उन्हें अपने सामने देखकर आनन्दकी अधिकतासे ठहाका मारकर हँसने लगते और कभी मेरे प्रभुने मुझे दर्शन देकर आनन्दित किया है, इस भावदशामें आनन्दक साथ उच्च स्वरसे गाने लगते॥३९॥

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥ ४० ॥

कभी अन्तःस्फ
चिल्ला पड़ते, कभी आनन्दमें डूबकर लोक-लज्जाका त्याग करक
नाचने लगते और कभी भगवत्-चिन्तनमें इतने डूब जाते कि भाव-विभोर होकर उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लगते ॥४० ॥

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृत्तः।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥ ४१ ॥

कभी भगवान्क
ही भीतर अनुभव करक
उस समय उनक
कारण अर्द्ध-खुले नेत्रोंसे आनन्द-सलिल प्रवाहित होने लगता। वे मौनभाव धारणकर अविचल बैठे रहते ॥४१ ॥

स उत्तमःश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाऽकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर! भगवान् श्रीकृष्णक
प्रभावसे ही उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णक
प्राप्त होती है। प्रह्लाद ऐसी सेवामें स्वयं तो परमानन्दित रहते थे तथा दुःसङ्गसे दुःखी दीन-हीन जनोंक
करते और उन्हें बार-बार शान्ति प्रदान करते ॥४२ ॥

तस्मिन् महाभागवते महाभागे महात्मनि।
हिरण्यकशिपु राजन्नकरोदघमात्मजे ॥ ४३ ॥

हे राजन्! ऐसे महाभागवत, महाभाग्यवान्, महात्मा अपने पुत्रक
कर दिया ॥४३ ॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत।
यदात्मजाय शुद्धाय पितादात् साधवे ह्यघम्॥ ४४॥

श्रीयुधिष्ठिरने कहा—हे देवर्षे! हे सुव्रत! आप अपने अखण्ड व्रतक
हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी निर्मल अन्तःकरणवाले, साधु-हृदय अपने ही पुत्र प्रह्लाद महाराजको दुःख क्यों दिया?॥४४॥

पुत्रान् विप्रतिकूलान् स्वान् पितरः पुत्रवत्सलाः।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा॥ ४५॥

पिता तो पुत्रवत्सल होते हैं। वे अपने पुत्रोंको अपनी आज्ञाका उल्लङ्घनादि प्रतिक
करते हैं, यह सत्य है, किन्तु पुत्रका शत्रुक
अनिष्ट तो नहीं करते॥४५॥

किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदेवतान्।
एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो।
पितुः पुत्राय यद्द्वेषो मरणाय प्रयोजितः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे श्रीप्रह्लादचरितं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

प्रह्लाद महाराज जैसे अनुक
पुत्रक
कर सकता है? हे ब्रह्मन्! हे प्रभो! द्वेषक
वध करनेकी चेष्टा भी कर सकता है, यह तो क
लगता है। हमें यह सुननेक
आख्यान सुनाकर हमारे सन्देहको दूर कीजिए॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुक

श्रीनारद उवाच—

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।
षण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! दैत्योंने परम सामर्थ्यवान् शुक्राचार्यको अपने पुरोहितक
दो पुत्र थे—षण्ड और अमक
राजमहलक

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान्॥ २॥

हिरण्यकशिपुने अपने नीति-निपुण पुत्र प्रह्लादको उन दोनोंक
अध्ययनक
दण्डनीति आदि शास्त्र पढ़ाने लगे॥२॥

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम्॥ ३॥

गुरु जिस तरह दण्ड और नीति-शास्त्रादिकी शिक्षा देते, प्रह्लाद उसे सुनकर उन्हें वैसा सुना भी दिया करते थे, किन्तु ऐसा होनेपर भी यह व्यक्ति शत्रु है और यह मित्र है, इस प्रकारक अपना-पराया रूपी असद् ज्ञानको वे उचित नहीं समझते थे॥३॥

एकदासुरराट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान्॥ ४॥

हे पाण्डुवंशीय युधिष्ठिर! एक बार दैत्यराज हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको अपनी गोदमें बिठाया और बड़े प्रेमसे

पूछा—हे वत्स! तुम्हें कौन-सा विषय अच्छा लगता है, वह मुझे बतलाओ॥४॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥ ५ ॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे असुर-श्रेष्ठ! मैं यही उत्तम मानता हूँ, कि "मैं-मेरा" रूपी मिथ्या आग्रहक
रहता है, वे देहधारी जीव अपने अधःपतनक
समान अमङ्गलकारी गृहका त्याग करक
शरण ग्रहण करें॥५॥

श्रीनारद उवाच—

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः।
जहाय बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः॥ ६ ॥

देवर्षि नारदने कहा—दैत्यराज प्रह्लादक
निष्ठा व्यक्त करने वाले अर्थात् विष्णु-भक्ति सम्बन्धित वचन सुनकर हँसते हुए कहने लगा—बालकोंकी बुद्धि इसी प्रकार दूसरोंकी बुद्धिक
फ

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा॥ ७ ॥

हे दैत्यो! इसे गुरुगृहमें ले जाओ। यह छोटा बालक है। वहाँ इसकी पूर्णतया सुरक्षा की जाय। ध्यान रहे छद्मवेशी (नारदादि) विष्णुपक्षीय कोई व्यक्ति इसकी बुद्धिको उलट न दे। यह उनसे किसी भी प्रकारसे प्रभावित न हो पाये॥७॥

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः॥ ८ ॥

दैत्योंने प्रह्लादजीको गुरुगृहमें पहुँचा दिया। वहाँ षण्ड और अमक दोनों दैत्य-याजकोंने उन्हें बुलाया और उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेममयी कोमल वाणीसे उनसे पूछने लगे॥८॥

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः॥ ९॥

हे वत्स प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। हम तुमसे क
रहे हैं—तुम हमारे प्रश्नोंका सत्य उत्तर देना, झूठ मत बोलना। देखो, तुम्हारे समान कितने ही बालक यहाँ शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, परन्तु अन्य बालकोंकी बुद्धि तो विपरीत नहीं हुई, फिर तुमने यह सब कहाँसे सीख लिया?॥९॥

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत्।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन॥ १०॥

हे क
हुआ है, अथवा अपने-आप आया है? हम तुम्हारे अध्यापक हैं। अतः सत्य जानना चाहते हैं॥१०॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः॥ ११॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—जिनकी माया-शक्तिसे सञ्चालित होकर मूर्ख मनुष्योंका मेरा-पराया आदि मिथ्या विषयोंमें अभिनिवेश देखा जाता है, उन मायाधीश भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥११॥

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती॥ १२॥

'यह मैं हूँ' और 'यह मुझसे भिन्न है'—इस प्रकारकी धारणावाले जीव भगवत्-दास्यरूपी एक सूत्रमें बँधे नहीं होते। जब भगवान् अनुक
जाते हैं—तब यह पशु-बुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव सोचने लगता है, कि हम सभी भगवान् श्रीकृष्णक

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम्॥ १३॥

अपना और पराया आदि भेद-दर्शनरूपी विचारोंसे युक्त क
दूरकी बात है, वेद-तात्पर्यको जाननेवाले शास्त्रज्ञ और भक्तिपथक
सिद्धान्तोंका अनुसरण करने वाले ब्रह्मादि देवता भी जिनक
मोहग्रस्त हो जाते हैं, उन भजनीय भगवान्ने ही मुझे यह भिन्न बुद्धि (कृष्ण-भक्ति) दी है॥१३॥

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥ १४॥

हे ब्रह्मन्! लोहा जिस प्रकार स्वाभाविक ही चुम्बककी ओर आकर्षित हो उसकी ओर खिंचा चला जाता है, उसी प्रकार मेरा चित्त भी चक्रपाणि भगवान् विष्णुकी इच्छासे स्वयं ही उनकी ओर आकृष्ट रहता है। इसमें मेरी कोई स्वतन्त्रता नहीं है॥१४॥

श्रीनारद उवाच—

एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः।
तं सन्निर्भत्स्य कुपितः सुदीनो राजसेवकः॥ १५॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! महामति प्रह्लाद उन दोनों गुरु (ब्रुव-वेशधारी) षण्ड एवं अमक
सुनकर दोनों गुरुओंका अन्तःकरण दुःखी हो गया। वे राज-सेवक थे, अतः पराधीन थे। भयक
झिड़कते हुए कहा— ॥१५॥

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः॥ १६॥

अरे! बेंत लाओ! (यह बेंत हिरण्युकशिपुक
गया था।) इस प्रह्लादक
रही है। यह दुर्बुद्धि दैत्यक
सामादि चार उपाय बतलाये गये हैं, उनमें-से अन्तिम उपाय बेंत
द्वारा दैहिक-दण्ड ही इसक

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः।
यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥ १७ ॥

दैत्यवंशरूपी चन्दनवनमें इस प्रह्लादने काँटेदार बबूल वृक्षक
जन्म लिया है। इस दैत्य वंशको काटनेक
करता है और यह बालक विष्णुका सहायक होकर उस क
(कुठारसे) संश्लिष्ट बेंटका (दण्डका) काम कर रहा है॥१७॥

इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम्॥ १८ ॥

इस प्रकार प्रह्लाद महाराजक
विविध उपायोंसे उनको डराया-धमकाया। इसक
धर्म, अर्थ और कामकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रोंको पढ़ाने लगे॥१८॥

तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम्।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम्॥ १९ ॥

क
राजनीति, क
हैं, तब वे प्रह्लादजीको उनकी माताक
उबटनादि कराक
तब दोनों शिक्षक उन्हें पिताक

पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषाऽसुरः।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृत्तिम्॥ २० ॥

हिरण्यकशिपुने देखा कि उसका पुत्र उसक
प्रणत है, तो अनेकानेक आशीर्वादोंसे अभिनन्दित करते हुए उसने

अपनी भुजाओंसे प्रह्लादको उठाया और उनका आलिङ्गन किया। उस समय दैत्यराजका हृदय आनन्दसे भर गया॥२०॥

आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्द्धन्यश्रुकलाम्बुभिः।
आसिञ्चन् विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर॥ २१॥

युधिष्ठिर! इसक
गोदमें बिठाया और उनका सिर सूँघा, उसकी आँखोंसे अश्रु-वारि गिर-गिरकर प्रह्लादजीको अभिषिक्त करने लगा। अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने प्रह्लादजीसे पूछा॥२१॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।
कालेनैतावतायुष्मन् यदशिक्षद्गुरोर्भवान्॥ २२॥

हिरण्यकशिपुने कहा—प्रह्लाद! प्रिय तात! हे आयुष्मान्! इतने दिनोंमें अपने गुरुओंसे तुमने जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमें-से
क

श्रीप्रह्लाद उवाच—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ २३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ २४॥

श्रीप्रह्लादजीने कहा—भगवान् विष्णुक
परिकरोंकी लीलादिका श्रवण, कीर्त्तन एवं उनका स्मरण करना, उनक
अर्चन करना, दास बन जाना, सख्यभाव स्थापित करना और चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण कर देना—ये भक्तिकी नौ विधियाँ हैं। जो मनुष्य भगवान् विष्णुको समर्पण करक
भक्तिका साक्षात् अनुष्ठान करता है, मेरे विचारसे उसने ही उत्तम शिक्षा प्राप्त की है।

(श्रवणमें महाराज परीक्षित्, कीर्त्तनमें शुकदेव गोस्वामी, स्मरणमें प्रह्लाद महाराज, पादसेवनमें लक्ष्मी देवी, अर्चनमें महाराज पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्यमें हनुमान्, सख्यमें अर्जुन तथा आत्मनिवेदनमें महाराज बलि दक्ष हैं।)॥२३-२४॥

निशम्यैतत् सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः॥ २५॥

बालक प्रह्लादक
होंठ फड़कने लगे। उसने तत्काल गुरुपुत्र षण्डको बुलाया और इस प्रकार कहा॥२५॥

ब्रह्मबन्धो किमेतत् ते विपक्षं श्रयतासता।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते॥ २६॥

हे अधम ब्राह्मण! अरे दुर्मते! मेरी अवज्ञा करक
शत्रुपक्षका आश्रय लेकर बालक प्रह्लादको विष्णु-भजनकी असार शिक्षा दे रहे हो! यह तुम क्या कर रहे हो?॥२६॥

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेशिनः।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव॥ २७॥

इस जगत्में ऐसे बहुतसे छद्म-वेश धारण करनेवाले दुष्ट-स्वभाव धोखेबाज लोग हैं, जो मित्र बन जाते हैं, परन्तु कालवश उनक
उनक
पाप करनेवालोंका पाप रोगक

गुरुपुत्र उवाच—

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः॥ २८॥

गुरुपुत्रोंने कहा—हे इन्द्रशत्रो! हे राजन्! आपक
आपको जो क

और न ही उसने कहीं औरसे सीखा है। आपको प्रह्लादमें जो विष्णु-भक्ति दिखायी दे रही है, वह तो उसकी जन्मजात और स्वाभाविक ही है। अतः आप हमपर क्रोध न करें और न ही हमारे ऊपर दोषारोपण करें॥२८॥

श्रीनारद उवाच—

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम्।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः॥ २९॥

देवर्षि नारदने कहा—जब गुरु-पुत्रने हिरण्यकशिपुको इस प्रकार उत्तर दिया, तब उसने पुनः प्रह्लाद महाराजसे पूछा—रे अभद्र! अरे क
यह बुद्धि तुझमें कहाँसे आयी?॥२९॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥ ३०॥

श्रीप्रह्लादने कहा—गृहासक्त व्यक्ति अपनी असंयमित इन्द्रियोंक कारण संसाररूपी घोर अन्धकारमय नरकमें ही लिप्त रहते हैं। ये देहात्मबुद्धि वाले चबाये हुएको फिरसे चबा रहे हैं। इन गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि न तो दूसरोंक
न ही इन दोनोंक

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-
स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥ ३१॥

जिन्होंने इन्द्रियोंक
बाह्य-विषयोंमें आसक्त कामीजनोंका गुरु-रूपमें वरण किया है,

वे यह नहीं जानते कि जीवनका यथार्थ हित, चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ और एकमात्र गति भगवान् विष्णु और उनका धाम है। अन्धेक
सन्धान नहीं कर पाता और गड्ढेमें गिर जाता है, उसी प्रकार ऐसे गुरुओंक
सुदृढ़ रज्जुमें बँधे हुए हैं॥३१॥

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥ ३२॥

इन्द्रिय-तर्पणमें लगे हुए व्यक्ति जब तक निष्किञ्चन परमहंस महावैष्णवोंकी पदरजमें अभिषिक्त नहीं हो जाते, तब तक उनकी मति भगवान् उरुक्रमक
उनक
यह समझ लेना चाहिए कि भगवद्-चरणोंमें मतिका एकमात्र तात्पर्य है—अनर्थरूपी संसारकी निवृत्ति॥३२॥

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले॥ ३३॥

प्रह्लाद महाराज इतना कहकर शान्त हो गये। हिरण्यकशिपुने क्रोधमें अन्धा होकर उन्हें गोदसे उठाकर भूमिपर फ

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः॥ ३४॥

असहनीय क्रोधक
वह कहने लगा, हे राक्षसो! इस बालकको शीघ्र ही यहाँसे ले जाओ। यह वध कर देने योग्य है, अतः इसे शीघ्र ही मार डालो॥३४॥

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः।
पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्चति॥ ३५॥

यह अधम ही मेरे भाईका हत्यारा है। इसक
ही मेरे घर आया है। यह अपने पिता और आत्मीयजनोंका
परित्याग करक
समान चरण-सेवा करता है॥३५॥

विष्णोर्वा साध्वसौ किन्नु करिष्यत्यसमञ्जसः।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः॥ ३६॥

यह बालक होकर भी कितना कृतघ्न है! पाँच वर्षकी आयुमें
ही इसने दुस्त्यज पिता-माताक
दिया। अतः यह विष्णुक
विश्वास है?॥३६॥

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत् सुतोऽहितः।
छिन्द्यात् तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात्॥ ३७॥

यदि कोई ओषधि हितकारी है, तो वह चाहे वनमें ही उत्पन्न
क्यों न हो, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा की जाती है। इसी प्रकार
दूसरा कोई व्यक्ति अपना हितकारी है, तो उसे अपना पुत्र समझना
चाहिए। विषाक्त रोग जिस प्रकार नष्ट कर देनेक
प्रकार अपना पुत्र यदि अहितकारी है तो उसका परित्याग कर
देना चाहिए। रोगी व्यक्तिक
देनेसे जैसे सारा शरीर सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार यह
बालक हमारा शत्रु है, इसका त्याग करना ही उचित है॥३७॥

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम्॥ ३८॥

असंयमित इन्द्रियाँ जिस प्रकार योगियोंकी शत्रु होती हैं, उसी
प्रकार यह अनियन्त्रित दुष्ट प्रह्लाद सुहृद्का बाना पहने हुए मेरा
परम शत्रु है। अतः खाते-सोते बैठते समय विष-प्रयोगादि किसी
भी प्रकारसे इसका वध कर दिया जाय॥३८॥

नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥ ३९ ॥
नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीतिवादिनः।
आसीनञ्चाहनन् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ ४० ॥

हिरण्यकशिपुक
भयङ्कर मुख, ताँबे जैसे वर्णक
राक्षस हाथोंमें त्रिशूल लेकर "मारो-मारो" इस प्रकारसे भैरव नाद करते हुए श्रीहरिक
करने लगे॥३९-४०॥

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥ ४१ ॥

भगवान् निर्विकार, मन-वाणीसे अगोचर, अखिलात्मा और सर्वेश्वर हैं। प्रह्लाद महाराजका चित्त उनमें ही लगा हुआ था। उनपर राक्षसोंने जितने भी प्रहार किये, वे उसी प्रकार निष्फल हो गये, जिस प्रकार पुण्यरहित व्यक्ति द्वारा किये गये सत्कार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं॥४१॥

प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः।
चकार तद्वधोपायान् निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

हे युधिष्ठिर! प्रह्लादजीक
वे सब व्यर्थ हो गये। इससे हिरण्यकशिपु अत्यन्त शङ्कित हो उठा। अब वह बड़े हठक
चेष्टाएँ करने लगा॥४२॥

दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः ।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥ ४३ ॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्त्तुं नाभ्यपद्यत ॥ ४४ ॥

हिरण्यकशिपुने प्रह्लाद महाराजको बड़े-बड़े हाथियोंक
नीचे क
उत्पन्न कराक
नीचे गिरवाया, शम्बरासुर द्वारा भाँति-भाँतिक
अन्धकारमय गड्ढोंमें बन्द करवाया, विष खिलवाया, भूखा रखवाया, बर्फीली जगहोंपर रखवाया, आँधीमें छुड़वा दिया, अंगारोंपर जलवाया, समुद्रमें डलवा दिया और उनपर प्रस्तर-शिलाएँ फि
वह किसी भी उपायसे अपने निष्पाप पुत्रका क
कर सका। जब किसी भी प्रकारसे प्रह्लादका वध नहीं हुआ, तब वह अत्यन्त चिन्तामें पड़ गया॥४३-४४॥

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा॥ ४५॥

मैंने प्रह्लादको अत्यन्त कड़वी बातें कहीं, इसक
शूल-प्रहारादि बहुत-से उपाय करवाये, किन्तु यह बालक अपने ही प्रभावसे मेरे सम्पूर्ण द्रोहाचरणसे बच गया। इसका क
अनिष्ट नहीं हुआ॥४५॥

वर्त्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम्।
न विस्मरति मेऽनार्यं शुनःशेफ इव प्रभुः॥ ४६॥

यह बालक है, मेरे अत्यन्त निकट है, तो भी निर्भय रहता है। क
नहीं छोड़ती, उसी प्रकार यह मेरे अपकारोंको और विष्णुको कभी नहीं भूलता। शुनःशेफ भी इसी प्रकार अपने पिताका विरोधी हो गया था। (शुनःशेफ अजीगर्त्तका मध्यम पुत्र था। उसक माता-पिताने उसे राजा हरिश्चन्द्रको बेच दिया था। माता-पिताक इस अपकारको शुनःशेफ कभी भूल नहीं पाया और उसने विपक्षी विश्वामित्रका आश्रय लेकर अपना गोत्र बदल लिया था।)॥४६॥

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा॥ ४७॥

इस बालककी शक्ति असीम है। इसे किसीका भी भय नहीं है, यह निश्चय ही अमर है। मुझे ऐसा लगता है, कि इसक साथ विरोध करनेसे मेरी मृत्यु हो सकती है, सम्भव है, नहीं भी हो॥४७॥

इति तच्चिन्त्या किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम्।
शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः॥ ४८॥

इस प्रकार चिन्ता करते-करते हिरण्यकशिपुका मुख मलिन एवं निस्तेज हो गया। वह नीचे मुख करक
तब शुक्राचार्यक
कहने लगे—॥४८॥

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवो-
र्विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।
न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्वहे
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्॥ ४९॥

हे स्वामी! आपकी भ्रू-भङ्गिमा मात्रसे सारे लोकपाल भयभीत होकर काँपते हैं। आपने किसीकी सहायताक
तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की। हमें तो आपकी चिन्ताका कोई कारण दिखायी नहीं दे रहा है। बालकक
विचार करनेका प्रयोजन ही क्या है?॥४९॥

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा
निधेहि भीतो न पलायते यथा।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया
यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति॥ ५०॥

जब तक गुरुदेव शुक्राचार्य आ नहीं जाते, तब तक यह डरकर कहीं भाग न जाय, इसलिए इसे वरुण-पाशसे बाँधकर रखिये। विशेषरूपसे आयु बढ़नेसे (धीरे-धीरे बड़े होनेसे) और गुरु-सेवा करनेसे बुद्धिमें बदलाव आ जाता है॥५०॥

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत्।
धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम्॥ ५१॥

हिरण्यकशिपुने 'ऐसा ही हो' यह कहकर गुरुपुत्रक
स्वीकार कर लिया और कहा—आप लोग इसे गृहस्थ राजाओंक
धर्म और दानक

धर्ममर्थञ्च कामञ्च नितराञ्चानुपूर्वशः।
प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च॥ ५२॥

तदनन्तर षण्ड और अमक
क्रमशः धर्म, अर्थ और कामक
देने लगे॥५२॥

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम्॥ ५३॥

उन्होंने प्रह्लादको शास्त्रोंमें वर्णित धर्म, अर्थ, कामरूपी त्रिवर्गकी शिक्षा दी, किन्तु उन्हें इन शिक्षाओंमें-से कोई भी शिक्षा अच्छी नहीं लगी। षण्ड और अमक
ही आसक्त था, इसलिए उनक
प्रह्लादका चित्त आकर्षित नहीं हो सका॥५३॥

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः॥ ५४॥

एक दिन आचार्यगण गृहस्थीक
अध्यापन-स्थलीसे घर चले गये। इसी बीच प्रह्लादजीक
बालकोंने खेलनेका उपयुक्त अवसर देखकर प्रह्लादजीको पुकारा॥५४॥

अथ तान् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव॥ ५५॥

प्रह्लादजी परम ज्ञानी थे। उन्होंने सभी बालकोंक
वचनोंमें वार्तालाप किया और हँसते-हँसते "इस संसारका अन्त
क्या है"—इस विषयपर कृपापूर्वक उपदेश करने लगे॥५५॥

ते तु तद्गौरवात् सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः।
बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः॥५६॥
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः।
तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादानुचरितं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

हे राजेन्द्र! अभी इन बालकोंका अन्तःकरण सुख-दुःख रूपी द्वन्द्वोंमें आसक्त व्यक्तियोंक
प्रह्लादक
उनक
एकटक देखने लगे। असुर-क
महाभागवत प्रह्लाद असुर-बालकोंको उपदेश देने लगे॥५६-५७॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

प्रह्लादजीका असुर-बालकोंको उपदेश

श्रीप्रह्लाद उवाच—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥ १॥

श्रीप्रह्लादने कहा—बुद्धिमान् व्यक्तिको मनुष्य-जन्म प्राप्त करक बाल्यावस्थासे ही अन्यान्य प्रयासोंको त्यागकर भागवत-धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि इस संसारमें मनुष्य-जन्म अति दुर्लभ और क्षणस्थायी है। क्षणस्थायी होनेपर भी इसकी विशेषता यह है कि क्षणकाल भक्ति करनेपर ही परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥१॥

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत्॥ २॥

इस मनुष्य-जन्ममें श्रीभगवान्क
है, क्योंकि वे ही समस्त जीवोंक
सुहृद् हैं॥२॥

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥ ३॥

हे दैत्य-बालको! प्राणियोंका शरीरसे सम्पक
इन्द्रिय और विषय-सम्बन्धी जो सुख-भोग हैं, वे पूर्व कर्मोंक
(प्रारब्धक
आदि की भी क्यों न हो) उसी प्रकार प्राप्त हो जाते हैं, जिस
प्रकार बिना यत्नक
प्राप्त होते हैं॥३॥

तत्प्रयासो न कर्त्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४॥

अतः सुख–प्राप्तिक
इन प्रयासोंसे मात्र आयु एवं शक्तिका क्षय होता है। भव–बन्धनसे मुक्त करनेवाले भगवान् मुक
आत्यन्तिक श्रेयकी प्राप्ति होती है, वैषयिक सुखोंक
करनेपर उस निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥४॥

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥ ५॥

विवेकी पुरुष संसारक
अतः जब तक यह परिपुष्ट मानव शरीर रोग ग्रस्त होकर कालक गालमें नहीं चला जाता, उससे पहले ही जीवनक
प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए॥५॥

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्द्धञ्चाजितात्मनः।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥ ६॥

मनुष्योंकी आयु सौ वर्ष तक ही सीमित है, इसमें भी जिनकी इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं, उनकी आयु तो इससे भी आधी अर्थात् पचास वर्ष रह जाती है, क्योंकि वे निद्रारूपी गाढ़ तमोगुणसे (अज्ञानसे) ग्रस्त होकर रात्रिमें बारह घंटे चुपचाप सोये रहते हैं। अतः उनकी आधी आयु सोनेमें ही व्यर्थ चली जाती है॥६॥

मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः॥ ७॥

बाल्यकालमें मनुष्य मुग्धावस्थामें रहता है, इसीमें दस वर्ष निकल जाते हैं और कौमारावस्थाक
प्रकार शतायुक
हो जाती है, तब यह सांसारिक कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती है और इस प्रकार जीवनक

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि॥ ८॥

रही बीचकी आयु (दस वर्ष) वह भी इसमें कभी न पूरी होनेवाली असीमित कामनाएँ हैं, बलिष्ठ और दुर्जय मोह है और घर-द्वारक
अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं कर पाता। इस प्रकार उस प्रमत्त जीवक दस वर्ष भी व्यर्थ चले जाते हैं॥८॥

को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम्॥ ९॥

जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जो घर अर्थात् पत्नी-पुत्रादिमें आसक्त हैं तथा जो उनक
कौन-सा मनुष्य है जो इन सबसे मुक्ति प्राप्त करनेमें उत्साहित हो सकता है?॥९॥

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक्॥ १०॥

अर्थ-प्राप्तिकी तृष्णा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होती है, कोई अजितेन्द्रिय पुरुष उसका त्याग किस प्रकार कर सकता है—जिस अर्थोपार्जनका चोर, तस्करादि, नीच सेवक और व्यापारी अपने प्रियतम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी प्रयत्न करते हैं॥१०॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान्।
सुहृत्सु तत्स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदया
भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ।
गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान्॥ १२॥

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहुमन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः॥ १३॥

जिसका चित्त सुहृदोंक
उनकी आसक्तिका परित्याग कर सकता है! स्नेहशीला प्रियाक
निर्जन सङ्गका (कान्तवासका) स्मरण करनेपर कौन उसको छोड़
सकता है? बालकोंकी मधुर एवं मनमोहक तोतली बोली स्मरण
होनेपर कौन उनका त्याग कर सकता है? अपने पुत्र, श्वसुरालय
गयी हुई लाड़ली पुत्री, भाई, बहिन, असमर्थ एवं वृद्ध माँ-बाप,
चित्ताकर्षक विविध साज-सामान और अन्यान्य भोग-सामग्रियोंसे
युक्त घर, क
स्मरण करक
उस रेशमक
अपने लिए गृह-निर्माण करता है और उसीमें बन्दी हो जाता है,
उससे निकल नहीं पाता। इसी प्रकार जीव भी तत्-तत् फलक
लोभक
पूर्णकाम नहीं होता और जननेन्द्रिय-सुखको ही अपना अभीष्ट
मानकर मोहसे अभिभूत हो जाता है और मोह-मायासे कभी
विरक्त नहीं हो पाता॥११-१३॥

कुटुम्बपोषाय वियन्निजायु-
र्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः॥ १४॥

क
पाता कि उसकी आयु क
जा रही है और जो उसक
पुरुषार्थ है, वह नष्ट हुआ जा रहा है। तुच्छ पाई मात्रक

होनेपर भी उसे बहुत कष्ट होता है। इस प्रकार जिसका चित्त अपने क
पर त्रिताप जलाते रहते हैं, किन्तु उसे वैराग्य नहीं होता॥१४॥

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह वाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी॥ १५॥

क
वशमें नहीं कर पाता और धनादि जुटानेमें ही उसका ध्यान लगा रहता है। वह यह जानता है कि दूसरोंका धन हरण करनेपर मृत्युक
प्राप्त होगा, तो भी अपनी अपूर्ण अभिलाषाओंक
अशान्त हो जाता है कि दूसरेका धन चुरा ही लेता है॥१५॥

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः॥ १६॥

हे दैत्य-मित्रो! 'यह मेरा है' और 'यह दूसरेका है'—इस प्रकार अपने-परायेका भेद-भाव रखनेवाले पण्डित भी यदि अत्यधिक आसक्तिक
वे भी आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते और तमोगुणक
वशीभूत होकर मूढ़ और मोहग्रस्त हो जाते हैं, सदैव अज्ञानतामें ही डूबे रहते हैं॥१६॥

यतो न कश्चित् क्व च कुत्रचिद् वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः॥ १७॥

ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं
स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः॥ १८॥

हे दैत्य-बन्धुओ! ज्ञान-रहित एवं भगवद्-विमुख कोई भी व्यक्ति कभी भी स्वयंको मुक्त नहीं कर सकता। इस प्रकारक व्यक्ति तो कामलम्पट होकर अपने विहारादिक
हाथक
घिरे हुए वे भव-बन्धनकी शृङ्खलाओंमें जकड़े रहते हैं। अतः विषयोंमें लिप्त दैत्योंक
आदिदेव श्रीनारायणक
ही आसक्ति-रहित भगवद्-भक्तोंक
अभीष्ट-स्वरूप हैं॥१७-१८॥

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥ १९॥

हे असुर-पुत्रो! भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। उनकी आराधनाक
भी अपेक्षा नहीं है। वे ही इस संसारमें सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं स्वयं-सिद्ध वस्तु हैं। अधिक क्या, उन भगवान् अच्युतको प्रसन्न करनक

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च॥ २०॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः॥ २१॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः॥ २२॥

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया॥ २३॥

देखो! स्थावर पदार्थ तिनक
जीवोंमें, भौतिक विकार अर्थात् पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतोंक
घट-पटादिमें, महत् तत्त्वादिमें, आकाशादि पञ्चभूतोंमें, सत्त्व-रज-तम आदि तीनों गुणोंमें, गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें और गुणोंक वैषम्य अर्थात् अहङ्कारादिमें वही एक परब्रह्म, आत्मा, भगवान् और ईश्वर विराजमान हैं। वे ही अविनाशी, प्राणियोंक
(प्रत्यगात्मा) हैं। उनको व्याप्य-व्यापकरूपमें बतलाया गया है, किन्तु वे अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय एवं (अविभाज्य) भेद-रहित हैं। वे अनुभवात्मक, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप एवं सर्वेश्वर हैं। परम सच्चिदानन्दक
वृत्ति अविद्याक
मिथ्या कल्पित होता है। भक्तिक
परिलक्षित होता जाता है॥२०-२३॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥ २४॥

इसलिए प्रिय दैत्यवंशजो! तुम सब वही करो, जिससे भगवान् अधोक्षज प्रसन्न होते हैं। आसुरी द्वैतभाव अर्थात् द्वेषादिका त्याग कर दो। सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिए सभीपर दया करो और सभीसे मित्रता करो॥२४॥

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः॥ २५॥

भगवान् अनन्त गुणशाली और समस्त कारणोंक
उनक

सत्त्वादि गुणोंक
अर्थादि तो बिना यत्नक
लिये प्रयास करनेसे क्या लाभ? हम तो सारग्राही हैं। उनक
चरण-कमलोंकी सेवामें लगे रहते हैं, उनका गुणगान करते
हैं, स्तुति-स्तवन करते हैं, हमें सायुज्य रूपी मोक्षादिकी क्या
आवश्यकता है?॥२५॥

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥ २६॥

धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको वेदोंमें त्रिवर्ग कहा गया है।
आत्मविद्या, कर्मविद्या, तक
विविध वार्त्ताएँ—ये सभी वेद-प्रतिपाद्य—त्रिगुणात्मक विषय हैं; इसलिए
इन बाह्य विषयोंक
हूँ। नैस्त्रैगुण्य परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुमें आत्मनिवेदन करना ही
यथार्थ सत्य है और ज्ञान, कर्मसे विरत होकर वेदोक्त निर्गुणा
भक्तिमें ही जीवनकी सार्थकता है॥२६॥

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात्॥ २७॥

पहले नर ऋषिक
एवं अमल ज्ञानको देवर्षि नारदको दिया था। जो भगवान्क
ऐकान्तिक भक्त हैं, जो भगवान्क
रहित हैं तथा भगवान्क
हैं, उनमें यह निर्मल ज्ञान उदित हो सकता है। यह ज्ञान क
उत्तम एवं शुद्ध व्यक्तियोंको ही प्राप्त होता हो, ऐसा कोई नियम
नहीं है॥२७॥

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात्॥ २८॥

यह भागवत धर्म अति विशुद्ध–हिंसादिसे रहित, विज्ञानसे युक्त (अनुभव करने योग्य) एवं भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेवाला है। मैंने इसे सबसे पहले भगवान्‌का सदैव दर्शन करनेवाले श्रीनारद मुनिसे सुना था॥२८॥

दैत्यपुत्रा ऊचुः—

प्रह्लाद त्वं वयञ्चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ॥ २९॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।
छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विश्रम्भकारणम्॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः।

दैत्य–सहपाठियोंने कहा—हे प्रह्लाद! न तो तुम और न ही
हमलोग गुरु शुक्राचार्यक
किसी औरको शिक्षकक
सभी बालकोंक
रहनेवाले हो—इन दोनोंक
पास जाना अर्थात् महत्–सङ्ग (नारद–सङ्ग) क
लगता है। हे सौम्य! यदि विश्वासक
उसे बतलाकर हमारा संशय दूर करो॥२९–३०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

प्रह्लाद द्वारा माताक
नारदक

श्रीनारद उवाच—

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।
उवाच स्मयमानस्तान् स्मरन्मदनुभाषितम्॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जब दैत्य-बालकोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब असुर-क
उपदिष्ट वचनोंका स्मरण किया और प्रफ
उनसे कहा॥१॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान् प्रति॥ २॥

श्रीप्रह्लादने कहा—साथियो! जब मेरे पिता हिरण्यकशिपु तपस्याक लिए मन्दराचल पर्वतपर चले गये, तब इन्द्रादि देवताओंने दानवोंका दमन करनेक

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः।
पापेन पापोऽभक्षीति वदन्तो वासवादयः॥ ३॥

अहो! सर्पको जिस प्रकार छोटी-छोटी चींटियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार समस्त लोगोंको सन्तप्त करनेवाले पापी हिरण्यकशिपुको भी उसक
आयोजन करने लगे॥३॥

तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम्॥ ४॥

कलत्रपुत्रवित्ताप्तान् गृहान् पशुपरिच्छदान्।
नावेक्ष्यमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः॥ ५॥

असुर-सेनापतियोंको जब इन्द्रादि देवताओंक
आयोजनका पता चला, तब उनका साहस जाता रहा और जब देवता उन्हें मारने लगे, तब वे भयभीत होकर चारों ओर भागने लगे। अपने प्राणोंकी रक्षामें वे इतने व्यस्त हो गये कि उन्होंने अपनी पत्नी, पुत्र, पशु, घरका साज-सामान और पशु आदिकी ओर पलटकर भी नहीं देखा॥४-५॥

व्यलुम्पन् राजशिबिरममरा जयकाङ्क्षिणः।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत्॥ ६॥

इसक
हिरण्यकशिपुका सर्वस्व अपहरण करक
कर दिया। देवराज इन्द्रने मेरी माता राजमहिषी कयाधुको बन्दी बना लिया॥६॥

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि॥ ७॥

इन्द्र जब क
मेरी माताको ले जा रहे थे, तभी संयोगवश मार्गमें देवर्षि नारद मिल गये और उन्होंने मेरी माताकी यह दयनीय अवस्था देखी॥७॥

प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम्।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम्॥ ८॥

मेरी माताको देखकर देवर्षि नारदने कहा—हे सुरपते! इस निरपराध स्त्रीको इस प्रकार बलपूर्वक ले जाना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, हे महाभाग! इस साध्वी, परस्त्रीको छोड़ दो॥८॥

श्रीइन्द्र उवाच—

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः।
आस्यतां यावत् प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः॥ ९॥

देवराज इन्द्रने कहा—इस दानव-पत्नीक
हिरण्यकशिपुका असह्य वीर्य पनप रहा है। जब तक प्रसव नहीं हो जाता, तब तक यह मेरे कारागारमें रहेगी। बालक उत्पन्न हो जानेपर मैं उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा॥९॥

श्रीनारद उवाच—

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली॥१०॥

देवर्षि नारदने कहा—इसक
निष्पाप और महाप्रभावशाली है। वह भगवान् श्रीअनन्तदेवका परम प्रिय सेवक है। अतः तुम उसे मार नहीं सकोगे॥१०॥

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन् वचः।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ॥११॥

देवर्षि नारदक
करते हुए मेरी माताको छोड़ दिया। मैं भगवान् श्रीअनन्तदेवका प्रिय भक्त हूँ—यह जानकर उन्होंने मेरी माताकी प्रदक्षिणा की और स्वर्गमें चले गये॥११॥

ततो मे मातरमृषिः समानीय निजाश्रमे।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्त्तुरागमः॥१२॥

तदनन्तर देवर्षि नारद मेरी माताको अपने आश्रममें ले आये और उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे—बेटी! जब तक तुम्हारा पति लौटकर नहीं आता, तब तक तुम मेरे आश्रममें ही रहो॥१२॥

तथेत्यवात्सीद्देवर्षेरन्तिके साप्यकुतोभया।
यावद्दैत्यपतिर्घोरात् तपसो न न्यवर्तत॥१३॥

देवर्षिक
संरक्षणको स्वीकार कर लिया। इसक
घोरतम तपस्या करक
नारद मुनिक

ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये॥ १४॥

देवर्षि नारदक
अपने गर्भस्थ शिशुक
आनेक
सेवा-शुश्रूषा करने लगी॥१४॥

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानञ्च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥ १५॥

परम दयालु देवर्षि नारदने मुझे लक्ष्य करक
माताको गर्भक
तदनन्तर उन्होंने हिंसादि (भौतिक-कल्मष रहित) भागवतगण—समस्त विशुद्ध धर्म-तत्त्व—का ज्ञान एवं भागवत धर्मका रहस्य (भक्ति योग)—इन दोनोंका उपदेश दिया॥१५॥

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः॥ १६॥

बहुत समय बीत जानेक
मेरी माता तो उन सब उपदेशोंको भूल गयीं, किन्तु देवर्षिक
विशेष अनुग्रहक
स्मरण है॥१६॥

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानाञ्च मे यथा॥ १७॥

तुमलोग यदि मेरे वचनोंमें श्रद्धा करोगे, तो तुम्हारी भी वैशारदी अर्थात् भगवद्-विषयक बुद्धि हो सकती है। श्रद्धा होनेपर तो स्त्री एवं बालकोंकी बुद्धि भी मेरे समान आत्म-अनात्म विवेकमयी हो सकती है॥१७॥

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्त्तिना॥ १८॥

जिस प्रकार ईश्वरमूर्त्ति कालकी प्रेरणासे वृक्षोंमें फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार देहमें भी जन्म, अस्तित्वकी अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश—ये छः भाव विकार कालक्रमसे देखे जाते हैं किन्तु आत्मामें ऐसे परिवर्तन नहीं होते॥१८॥

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥१९॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥२०॥

इसका कारण यह है कि आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सर्वाश्रय, विकार-रहित, आत्मदर्शी, सर्वकारण-स्वरूप, व्यापक, असङ्ग और आवरण-रहित है—ये आत्माक
हैं। अतः तत्त्वदर्शियोंको चाहिए कि वे इन लक्षणोंक
देहादिसे पृथक् मानकर मोहसे उत्पन्न "मैं और मेरा" इस मिथ्या ज्ञानका त्याग कर दें॥१९-२०॥

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।
क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-
रध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत॥२१॥

स्वर्ण-खानोंकी जानकारी रखनेवाला स्वर्णकार जिस प्रकार अग्नि-संयोगादि विधियोंक
लेता है, उसी प्रकार अध्यात्म-तत्त्वदर्शी व्यक्ति देह-क्षेत्रमें आत्म-योग आदि उपायोंक

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात्॥२२॥

मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्राएँ—इन आठ तत्त्वोंको प्रकृति कहा गया है। इस प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वादि तीन

गुण हैं, और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत सोलह विकार हैं। इन समस्त पदार्थोंमें परमपुरुष आत्मा एकमात्र साक्षी रूपमें वर्त्तमान हैं। इसलिए कपिलादि आचार्योंने इस आत्माको 'एक' कहकर वर्णन किया है॥२२॥

देहस्तु सर्वसंघातो जगत् तस्थुरिति द्विधा।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन्॥ २३॥

इन समस्त पदार्थोंका समुदाय (संघात) शरीर है। यह दो प्रकारका है—मनुष्यादि जङ्गम और वृक्षादि स्थावर। इन दोनों ही प्रकारक

वस्तुओंको 'यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार हेय समझकर अर्थात् उनका त्याग करक

करना चाहिए॥२३॥

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना।
स्वर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥ २४॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति स्थिर-चित्त होकर धैर्य तथा दक्षताक

प्रलयका विवेचन करें। [प्रत्यगात्माक

स्थिति हैं—यह अन्वय है और प्रत्यगात्माक

जाने पर शरीरका विनाश हो जाता है—इस प्रकारसे व्यतिरेकक विवेचनकी प्रक्रिया है।]॥२४॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥ २५॥

बुद्धिकी तीन वृत्तियाँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों वृत्तियोंका जिसक

सबक

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात्॥ २६॥

जिस प्रकार पुष्पादिकी गन्धसे वायुक
होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंसे उत्पन्न जाग्रदादि तीनों
प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त बुद्धिसे आत्माक
जानना होगा (आत्माको बुद्धिक
बुद्धिकी अवस्थाओंका बोध होता है, वस्तुतः ये वृत्तियाँ आत्माकी
अवस्थाएँ नहीं हैं, जिनसे बुद्धि प्रवर्त्तित होती है, वे परमात्मा हैं
और जो बुद्धिसे युक्तहैं, वे जीवात्मा हैं।)॥२६॥

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवार्प्यते॥२७॥

बुद्धिक
प्रवाह रूपी संसार बन्धन होता है। पुरुषक
यह संसार मिथ्या और अज्ञानमूलक है। अतः यह नश्वर एवं
अवास्तव है॥२७॥

तस्माद्भवद्भिः कर्त्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः॥२८॥

अतएव तुम लोग तीनों गुणोंसे उत्पन्न समस्त कर्मोंक
दहन करनेवाले, जाग्रदादि प्राकृत बुद्धिक
भक्तियोगका अनुष्ठान करो। इस योगसे ही परमात्मासे मिलन हो
सकता है॥२८॥

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः॥२९॥

भव-बन्धनसे छूटनेक
आचरण करते हैं, किन्तु उन सभी उपायोंमें जिसक
भगवान्‌में अविचलित आसक्ति (अनपायिनी भक्ति) हो जाय, उसीका
स्वयं भगवान्‌ने श्रेष्ठ मानकर वर्णन किया है॥२९॥

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥३०॥

श्रद्धया तत्कथायाञ्च कीर्त्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥ ३१॥

भक्तियोगका अनुष्ठान करनेक
प्रति भक्ति और श्रद्धा, जो क
परायण भक्तोंका सत्सङ्ग, भगवान्‌की आराधना, भगवत्–कथाओंमें
श्रद्धा, उनक
ध्यान और उनकी श्रीमूर्तिका दर्शन–पूजादि करना चाहिए॥३०–३१॥

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥ ३२॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंक
अन्तर्यामीरूपसे वर्त्तमान हैं—इस भावनासे सभी जीवोंक
स्थितिक

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदवे भगवति यया संलभ्यते रतिः॥ ३३॥

इन सब क्रियाओंका अनुष्ठान करते हुए जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और ईर्ष्या—इन छह विकारोंको जीतकर भगवान्
वासुदेवक
प्रेमा–भक्ति प्राप्त हो जाती है॥३३॥

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायाति रौति नृत्यति॥ ३४॥

ऐसे मुक्तपुरुष जब भगवान्क
अवतारोंमें की गई अलौकिक लीलाएँ (दधि–दुग्ध–चोरी आदि)
तथा रावण–वधादि पराक्रमक
आनन्दित होते हैं। उनका रोम–रोम खिल जाता है, अश्रु–प्रवाहादि

सात्त्विक भावोंक
कण्ठसे गान और कभी आनन्दक

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

कभी वे ग्रह-ग्रस्त मनुष्यक
भगवान्क
लगते हैं, कभी भगवान्क
मनुष्योंको भगवान्का भक्त जानकर उनकी वन्दना करने लगते हैं, बारम्बार दीर्घ निःश्वास छोड़ते हैं, और कभी लोकलाज छोड़कर हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण! आदि भगवान्क
करने लगते हैं॥३५॥

तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥ ३६ ॥

उस समय वे सारे भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। उनक
मन और शरीर भगवान्की लीलाओंका ध्यान करते-करते अप्राकृत सच्चिदानन्दमयताको प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिकी अतिशयताक
उनकी अविद्या आदि अज्ञानता और जागतिक वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे दग्ध हो जाती हैं। इस प्रकार वे मुक्त जीव भलीभाँति भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं॥३६॥

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥ ३७ ॥

यह संसार चक्रक
एक बार भी भगवान् वासुदेवका आश्रय ग्रहण कर लेता है, उसका संसार-चक्र नष्ट हो जाता है। मनक
ही प्रेम-सेवा सुखरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है—पण्डितोंका यही कहना है। इसलिए तुम सब अपने हृदयमें अन्तर्यामी परमेश्वरकी आराधना करो॥३७॥

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥ ३८॥

हे असुर-बालको! भगवान् श्रीहरि हृदयमें आकाशक
वर्त्तमान हैं। वे ही सबकी आत्माक
उपासनामें कोई श्रम भी नहीं करना पड़ता। (उनकी उपासनाक
साधन श्रवण एवं कीर्त्तन हैं और इनक
स्वाभाविकरूपसे विद्यमान हैं) अतः भगवान्‌की उपासना करना ही श्रेयस्कर है। फिर मनुष्य विषय-भोगोंक
उपार्जन करनेमें क्यों व्याक

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोषभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥ ३९॥

मनुष्योंका धन, पत्नी, पुत्रादि, घर, भूमि, हाथी आदि पशु, कोष, ऐश्वर्य, अर्थ, काम और मनुष्योंकी परमायु सभी अत्यन्त क्षणभङ्गुर हैं। तब ये क्षणस्थायी वस्तुएँ भला मनुष्योंका क्या प्रिय कर सकती हैं? पुनः जो दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, वह भी अनित्य है॥३९॥

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्योक्त्येशं भजतात्मलब्धये॥ ४०॥

जिस प्रकार ये लौकिक पदार्थ नाशवान हैं, वैसे ही वैदिक यज्ञ-यागादि द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नश्वर एवं आपेक्षिक हैं—पुण्योंक
रहता है—इसलिए वे विशुद्ध नहीं हैं। परम शुद्ध तो एकमात्र परमात्मा हैं, जिनमें आज तक कोई भी दोष किसीक
अथवा सुना नहीं गया है। तुम लोग स्वरूप-सिद्धिक
परमात्मा श्रीहरिकी सेवा करो॥४०॥

यदर्थ इह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम्॥ ४१॥

स्वयंको विद्वान् माननेवाला पुरुष इस जगत्में विषय-भोगोंक लिए बड़े-बड़े सङ्कल्प करता है और बारम्बार लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करता है किन्तु अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति तो दूर रहे, उसे विपरीत फल ही मिलता है॥४१॥

सुखाय दुःखमोक्षाय संकल्प इह कर्मिणः।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः॥ ४२॥

इस लोकमें कर्मनिष्ठ मनुष्य सुख-प्राप्ति एवं दुःख निवृत्तिक लिए प्रयत्न करते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि जब तक वे कामनाएँ नहीं कर रहे थे, तब तक सुख था, कामनाएँ करनेपर तो सदा-सर्वदा दुःख ही भोगने पड़ते हैं॥४२॥

कामान् कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च॥ ४३॥

जिस शरीरक
विषयोंकी कामना करता है, वह शरीर तो पर-निग्रहयोग्य अर्थात्

सियार–क
शरीर जिस जीवात्माका आलिङ्गन करता है, उसीको छोड़कर चल देता है॥४३॥

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यकोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः॥४४॥

मित्रो! जब शरीरकी ही यह अवस्था है, तो देहसे अलग रहनेवाले पुत्र, पत्नी, गृह, धन, जन, राज्य, खजाना, हाथी, मन्त्री, सेवक और सम्बन्धी आदि ममतास्पद और प्रिय लगनेवाले जितने भी विषय हैं, वे सभी क्षणस्थायी हैं, इस विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है?॥४४॥

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दरसोदधेः॥४५॥

विशेषरूपसे ये तुच्छ पदार्थ देहक
हो जाते हैं। अर्थक
आत्मा नित्यानन्द रसका समुद्र है, अतः इन तुच्छ पदार्थोंसे आत्माका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?॥४५॥

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान् देहभृतोऽसुराः।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः॥४६॥

हे असुरो! तुम लोग स्वयं ही विवेचना करक
संसारमें पूर्वकृत कर्मोंक
सदा–सर्वदा भीषण कष्ट भोगता है और ऐसी अवस्थामें वह जो पुनः–पुनः कर्म करता है, उनसे उसका क्या स्वार्थ पूर्ण होगा?॥४६॥

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्त्तिना।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः॥४७॥

कर्म समाप्त होनेपर भोगोंकी भी समाप्ति हो जाती है, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव सूक्ष्म शरीरको आत्मा मान लेता है। इसी अज्ञानक

रहता है और कर्मोंक
जन्म-मरणकी परम्परासे कभी मुक्ति नहीं मिलती। कर्मसे देह और देहसे कर्म—यही चक्र चलता रहता है॥४७॥

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥ ४८॥

अतः तुम लोग भक्तोंक
भी प्रकारकी कामना मत करो। पूर्णरूपसे निष्काम होकर निरपेक्ष एवं सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी उपासना करो, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम उनकी इच्छापर ही आश्रित हैं॥४८॥

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः॥ ४९॥

भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंक
प्रियतम हैं। उन्हींक
द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। वे सभी जीवोंक
हैं। विविध शरीरोंमें 'जीवात्मा' नामसे कहे जानेवाले समस्त जीव उनकी तटस्था शक्तिक

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्॥ ५०॥

अतएव हे प्रिय दानवो! देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व, जो कोई भी हो—भगवान् श्रीमुक
करनेसे हमारी भाँति सभीका कल्याण हो जाता है॥५०॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ ५१॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥ ५२॥

हे असुरनन्दनो! ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार और बहुज्ञता—इनमें से किसीक

जा सकता और न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शौच और व्रतादि भगवान्‌की प्रीतिक
ही भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। भक्तिक
विडम्बना मात्र है, दिखावा है, छल है॥५१-५२॥

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥५३॥

अतएव हे दानवो! सभीको अपने समान समझना चाहिए और सबसे प्रीति करना चाहिए। सर्वभूतात्मा श्रीहरि सभी स्थानोंमें और सभी पात्रोंमें सदा-सर्वदा विराजमान हैं; इस भावसे उनकी भक्ति करो॥५३॥

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥५४॥

हे दैत्यबालको! यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, गोप, पशु और पक्षी आदि प्राणियोंको और बहुत-से पापियोंको भगवान् श्रीअच्युतक
प्रति भक्तियोगक

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे दैत्यबालानुशासनं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस संसारमें भगवान् श्रीगोविन्दमें ऐकान्तिकी भक्ति और उसक फलस्वरूप समस्त प्राणियोंमें गोविन्द सम्बन्धसे सेवाबुद्धि—यही मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है, और यही समस्त शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय है॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

श्रीनृसिंह भगवान्‌का आविर्भाव, हिरण्यकशिपुका वध एवं ब्रह्मादि देवताओंक

श्रीनारद उवाच—

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम्॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—इसक
वचनोंको सुनकर और उन्हें सर्वोत्कृष्ट समझकर उसी समयसे अपने जीवनमें धारण कर लिया। दैत्याचार्योंक
उपदेश उन्होंने ग्रहण नहीं किये॥१॥

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम्।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा॥ २॥

जब षण्ड और अमक
दैत्य-बालकोंकी बुद्धि भगवान् विष्णुमें अविचलित रूपसे स्थिर हो गयी है, तब वे भयभीत होकर शीघ्र ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुक
पास गये और उसक
कर दिया॥२॥

कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे।
क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम्॥ ३॥

आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा।
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम्।
सर्पः पदाहत इव श्वसन् प्रकृतिदारुणः॥ ४॥

इस अप्रिय समाचारको सुनकर हिरण्यकशिपु अतिशय क्रोधित हो गया। क्रोधकी दुःसहताक

लगा और उसने मन-ही-मन प्रह्लादको अपने ही हाथोंसे मारनेका सङ्कल्प कर लिया। हिरण्यकशिपु अत्यन्त निष्ठुर प्रकृतिका था। वह स्वयंको अपमानित समझकर पैरोंसे क
फ
सामने शान्त एवं अत्यन्त विनीत भावसे हाथ जोड़कर खड़े थे। वे तिरस्कारक
दृष्टिसे उन्हें घूरते हुए एवं कक
हुए कहने लगा॥३-४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

हे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम्॥५॥

हिरण्यकशिपुने कहा—हे दुष्ट! मन्दबुद्धि! क
अधम! तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। मूर्ख! तुझे क
बोध भी है, रे हठी! मैं आज ही तुझे यमालय भेज देता हूँ॥५॥

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः॥६॥

अरे मूर्ख! जब मैं क्रोधित होता हूँ तो तीनों लोक और उनक
लोकपाल थर-थर काँप उठते हैं, फिर तू किसक
निडर होकर मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेका साहस करता है?॥६॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनाञ्चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥७॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे राजन्! मैं जिनक
हूँ, वे क
बलवानोंक

ऊँचे–नीचे तथा तिनक
कर रखा है॥७॥

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा–
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥ ८॥

वे ही परम ईश्वर हैं। वे ही काल स्वरूप हैं। वे अनन्त शक्तिशाली हैं। उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। वे ही सत्त्वादि तीनों गुणोंक
इन्द्रियोंक
स्थिति एवं संहार होते हैं॥८॥

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथेस्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम्॥ ९॥

आप अपने आसुरी–स्वभावका परित्याग कर दीजिए। शत्रु–मित्रका भेद न करक
इस संसारमें अपने वशमें न रहनेवाले क
अपना और कोई शत्रु नहीं है। समस्त प्राणियोंमें समदर्शी होना ही भगवान्‌की सर्वोत्कृष्ट उपासना है॥९॥

दस्यून् पुरा षण्न विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे॥ १०॥

पूर्वकालमें भी आपक
अपने शरीरमें स्थित सर्वस्व लूट लेनेवाले कामादि छः शत्रुओंपर पहले विजय प्राप्त नहीं की और यह दुरभिमान कर बैठे कि “हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है” वे विवेकहीन हैं। वस्तुतः

जो जितेन्द्रिय एवं जितचित्त महात्मा समस्त जीवोंमें समताका भाव प्राप्त कर लेते हैं, उनक
मर जाते हैं। उनक
कल्पित शत्रु कहाँसे आयेंगे?॥१०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

व्यक्तं त्वं मर्त्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विक्लवा गिरः॥ ११॥

हिरण्यकशिपुने कहा—अरे मन्दबुद्धि! तू मेरी निन्दा करक स्वयंको बड़ा भारी जित-शत्रु मानकर अपनी प्रशंसा कर रहा है। मुझे तो निश्चय ही ज्ञात हो रहा है कि तू मरना चाहता है। मृत्युकी इच्छा करनेवाले मनुष्य ही ऐसी निरर्थक बातें किया करते हैं॥११॥

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥ १२॥

अरे हतभागे! तू जो कह रहा था कि मेरे अतिरिक्त जगत्में कोई और ईश्वर है, तो कहाँ है वह? (प्रह्लाद महाराजने कहा—वे सर्वत्र हैं।) यदि वह सर्वत्र है, तब इस खम्भेमें क्यों नहीं दिखायी देता? (किन्तु प्रह्लादको स्तम्भमें भगवान् दिखायी दिये और उन्होंने भगवान्को प्रणाम करते हुए कहा—मुझे तो दिखायी दे रहे हैं।)॥१२॥

सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम्॥ १३॥

अच्छा! इस खम्भेमें भी दिखायी दे रहे हैं। बड़ी डींगें हाँक रहा है। मैं तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। तेरा रक्षक परमाराध्य श्रीहरि यहाँ आकर किस प्रकार तेरी रक्षा करता है, मैं देखता हूँ॥१३॥

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना॥ १४॥

अतिशय क्रोधक
पुत्र महाभागवत प्रह्लादको अत्यन्त कटु वचन कहे और बारम्बार उनका तिरस्कार करता रहा। इसक
लेकर सिंहासनसे क
प्रहार किया॥१४॥

तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे॥ १५॥

उस मुष्टि-प्रहारसे खम्भेमें अति भीषण शब्द हुआ, मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो। हे युधिष्ठिर! यह विकराल ध्वनि जब अपने-अपने धामोंमें ब्रह्मादि देवताओंने सुनी, तब उन्हें लगा कि हमारे लोकोंका विनाश होनेवाला है॥१५॥

स विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः॥ १६॥

अपने पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे हिरण्यकशिपु अपने पराक्रमको प्रदर्शन करने जा रहा था कि उसे यह भयङ्कर ध्वनि सुनायी पड़ी, जो उसने पहले कभी न सुनी थी। इस ध्वनिको सुनकर दैत्य-सेनापति भी भयभीत हो गये और घबराकर देखने लगे कि यह ध्वनि कहाँसे आयी है? पर सभाक
क

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ १७॥

इतने ही में भगवान् श्रीहरि अपने सेवक प्रह्लादक
तथा अपनी सर्वव्यापकताको सत्य करनेक
विकराल श्रीनृसिंहरूप धारण करक
प्रकट हुए। वह रूप न तो पूर्ण रूपसे मनुष्यका था और न ही सिंहका॥१७॥

स सत्त्वमेनं परितो विपश्यन्
स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम्।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र–
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम्॥ १८॥

हिरण्यकशिपु भयङ्कर ध्वनिक
कि उसे खम्भेसे बाहर निकलता हुआ अद्भुत प्राणी दिखायी दिया। वह उसे देखकर कहने लगा—यह प्राणी न तो पशु है और न ही मनुष्य। अहो! यह आश्चर्यमय प्राणी नृसिंहक
अलौकिक जीव है?॥१८॥

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम्॥ १९॥

प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेशरजृम्भिताननम्।
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल–
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम्॥ २०॥

स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत–
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम्।
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर–
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम्॥ २१॥

चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै–
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम्।
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध–
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम्॥ २२॥

हिरण्यकशिपु इस प्रकार सोच ही रहा था कि ठीक उसी समय उसक
अत्यन्त भयङ्कर था। क्रोधित होनेक
हुए सोनेक
लिये हुए था, जँभाई लेनेसे उनक
लहरा रहे थे। भयङ्कर दाढ़ें थीं, तलवारकी तरह लपलपाती हुई जीभ और छुरेकी धारक
कान निश्चल एवं ऊपरकी ओर उठे हुए थे, विशाल मुख और नासिका-रन्ध्र पर्वतकी गुफाक
बड़े भीषण दिखायी दे रहे थे, विशाल शरीर आकाशका स्पर्श कर रहा था। गर्दन अति छोटी एवं मोटी थी, जानु एवं वक्षःस्थल चौड़े थे और कमर बहुत पतली थी, रोमावली चन्द्रमाकी किरणोंक समान श्वेत वर्णकी थी, सारी दिशाओंमें शत-शत भुजाएँ फ
हुई थीं और नख अस्त्रोंक
नृसिंहने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म एवं वज्रादि प्रधान-प्रधान आयुधोंक द्वारा सारे दैत्य-दानवोंको खदेड़ दिया। उनकी विकरालताको देखकर कोई भी उनक

प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधःस्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम्।
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो
नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः॥ २३॥

अत्यधिक योग-शक्तिवाले महामायावी भगवान् हरिने मुझे मार डालनेक
सकता है? दैत्य-कुञ्जर हिरण्यकशिपुने मन-ही-मन यह कहकर गदा धारण की और सिंहनाद करते हुए भगवान् नृसिंहपर झपटा॥२३॥

अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा।
न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत् तमः॥ २४॥

पतङ्गा जिस प्रकार आगमें गिर जानेपर दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार भगवान् नृसिंहक
(ओझल) हो गया। शुद्धसत्त्वक
कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। सृष्टिक
तेजसे प्रलयकालीन प्रगाढ़ तमोगुणरूपका पान कर लिया था॥२४॥

ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया।
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत्॥ २५॥

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपुने क्रोधपूर्वक अपनी गदाको बड़े वेगसे घुमाया और भगवान् नृसिंहपर प्रहार किया। गरुड जिस प्रकार विशाल सर्पको पकड़ लेता है, उसी प्रकार भगवान् गदाधर श्रीहरिने गदासहित हिरण्यकशिपुको पकड़ लिया॥२५॥

स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः।
असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः॥ २६॥

हे युधिष्ठिर! खिलवाड़ करते हुए गरुडक
छूट जाता है, उसी प्रकार जब भगवान् उसक
लगे, तब वह दैत्य भी उनक
भयसे पहलेसे ही स्थान-भ्रष्ट देवतागण इस युद्धको मेघोंक
से छिपकर देख रहे थे। जब वह दैत्य भगवान्क
गया, तब वे देवता अत्यधिक भयभीत हो गये और उन्होंने इसे शुभ नहीं माना॥२६॥

तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन गतश्रमो मृधे॥ २७॥

हिरण्यकशिपु भगवान् नृसिंहदेवक
लगा कि यह विष्णु असुरोंकी शक्तिसे डर गया है। अतः युद्ध-क्षेत्रमें ही उसने क्षण-भरक
होनेपर प्रहार करनेक
और पुनः भगवान् नृसिंहपर पुनः तेजीसे आक्रमण किया॥२७॥

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि-
श्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः॥ २८॥

हिरण्यकशिपु बाज पक्षीक
कभी भूतलपर लौट आता, वह ढाल-तलवारसे इस प्रकार अपनी रक्षा कर रहा था कि उसपर वार करनेका कोई अवसर ही न रहे। तब अत्यन्त शक्तिशाली और महावेगवान् श्रीहरि प्रचण्ड और भयङ्कर अट्टहास करने लगे, जिसक
आँखें मूँद लीं। इतनेमें ही भगवान्ने उसे पकड़ लिया॥२८॥

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम्॥ २९॥

जिस प्रकार साँप चूहेको पकड़ लेता है, वैसे ही भगवान्ने हिरण्यकशिपुको पकड़ रखा था। इन्द्रक
जिसकी त्वचामें वज्रकी चोटसे एक खरोंचतक भी नहीं आई थी, वही आज अति पीड़ाका अनुभव करते हुए भगवान् नृसिंहक
पञ्जोंसे बाहर निकलनेक
सभा-स्थलकी दहलीजपर ले आये और उसे अपनी जाँघोंपर रखकर अपने नखोंसे खेल-ही-खेलमें इस प्रकार चीर डाला, जिस प्रकार गरुड़ महाविषैले साँपको चीर-फाड़ डालता हैं॥२९॥

संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन् स्वजिह्वया।
असृग्लवाक्तारुणकेशराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः॥ ३०॥

उस समय रक्तक
थे, क्रोधसे भरे नेत्रोंकी ओर देखा भी नहीं जाता था, अपने फ
हुए मुखक
थे, हाथीका वध करनेवाले सिंहक
माला पहने हुए उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी॥३०॥

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्।
अहन् समन्तान्नखशस्त्रपाणिभि-
र्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः॥ ३१॥

अनेकानेक भुजाधारी भगवान् नृसिंहदेवने अपने तीखे नखोंक
द्वारा हिरण्यकशिपुक
उसे जमीनपर एक ओर पटक दिया। उस समय हजारों असुर
और उसक
लिए आये, किन्तु भगवान्‌ने उन्हें भी चारों ओर खदेड़-खदेड़कर
अपने नखरूपी शस्त्रोंसे मार डाला॥३१॥

सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः॥ ३२॥

उस समय भगवान् नृसिंहकी गर्दनकी जटाओंक
काँपते हुए इधर-उधर बिखर गये, उनकी जाज्वल्यमान दृष्टिसे
ग्रहोंकी ज्योति फीकी पड़ गयी, श्वासक
समुद्र क्षुब्ध हो गये तथा भीषण गर्जनासे भयभीत होकर दिग्गज
आर्त्तनाद करने लगे॥३२॥

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे॥ ३३॥

भगवान् नृसिंहदेवकी जटाओंसे टकराकर देवताओंक
इधर–उधर बिखर गये, जिससे स्वर्ग डाँवाडोल हो गया, उनक
चरणोंक
गयी, असह्य वेगक
तेजसे आकाश, दिशाएँ आदि तेजस्वियोंका तेज निष्प्रभ हो गया॥३३॥

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम्।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन॥ ३४॥

इसक
विभु, प्रचण्ड–आनन भगवान् श्रीनृसिंहदेव सभा–भवनमें ही अत्यन्त
उत्कृष्ट राज्य–सिंहासनपर विराजमान हो गये, कहीं भी उनका कोई
प्रतिद्वन्द्वी दिखायी नहीं दे रहा था। भयक
व्यजनादि सेवाक
जा सका॥३४॥

निशम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे।
प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः॥ ३५॥

हिरण्यकशिपु तीनों लोकोंक
था। जब स्वर्गलोकमें सुर–पत्नियोंने देखा कि आदिदैत्य हिरण्यकशिपु
भगवान् श्रीनृसिंहदेवक
मुख प्रफ
पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं॥३५॥

तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः॥ ३६॥

उस समय भगवान् नृसिंहक
विमानोंसे सारा आकाशमण्डल भर गया। देवताओंक
नगाड़े बजने लगे, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं॥३६॥

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः॥ ३७॥
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः।
यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सहकिन्नराः॥ ३८॥
तै विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम्।
ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक्॥ ३९॥

हे वत्स युधिष्ठिर! तदनन्तर ब्रह्मा, इन्द्र, महादेव आदि देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर-लोक तथा नागलोकक
प्रजापति, अप्सराएँ, गन्धर्व, चारण, यक्ष, किन्नर, वेताल, किम्पुरुष, सुनन्द तथा क
और सिरपर अञ्जलि बाँधकर उनसे थोड़ी दूरपर खड़े हो गये। वे सिंहासनपर विराजमान एवं अति तीव्र तेजसे प्रकाशवान नरोत्तम भगवान् नृसिंहकी पृथक्-पृथक् भावोंसे इस प्रकार स्तुति करने लगे॥३७-३९॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः
स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने॥ ४०॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप अनन्त हैं, आपकी शक्तिका कोई पार नहीं पा सकता, आपका अद्भुत प्रभाव अनुमानसे परे है। आपक
जाता है) यद्यपि आप सत्त्वादि गुणोंक
इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं—फिर भी इनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। आप अविकारी हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥४०॥

श्रीरुद्र उवाच—

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल॥४१॥

श्रीरुद्रने कहा—आपक
है। यह तुच्छ असुर भी इस समय आपक
है। उसका पुत्र आपकी शरणमें है। हे भक्तवत्सल स्वामिन्! अब आप अपने इस शरणागत भक्तकी (प्रह्लादकी) रक्षा कीजिए॥४१॥

श्रीइन्द्र उवाच—

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्॥४२॥

श्रीइन्द्रने कहा—हे परमेश्वर! आप हमारे रक्षक हैं। आपने इस दैत्यक
असुरक
हो गया है। इस हृदय-कमलमें आप नित्य विराजमान रहते हैं। हे नाथ! आपक
यह ऐश्वर्य अति तुच्छ वस्तु है। इसकी बात ही क्या, परम पुरुषार्थरूपी मुक्तिका भी आपक
नारसिंह! अन्य पुरुषार्थोंक

श्रीऋषय ऊचुः—

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससक्र्थ।
तद्विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः॥ ४३॥

श्रीऋषियोंने कहा—हे आश्रितजन-पालक! हे आदिपुरुष! जिस तपस्या रूपी तेजक
सृष्टि की थी, उसी आत्मतेज'-स्वरूप श्रेष्ठ तपस्याका उपदेश आपने हमारे लिए भी किया था। इस दैत्यक
हो गयी थी, इसी तपस्याकी रक्षाक
करक
पुनः अनुमोदन किया है। हम आपको प्रणाम करते हैं॥४३॥

श्रीपितर ऊचुः—

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत् तिलाम्बु।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्च्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे॥ ४४॥

श्रीपितरोंने कहा—यह दैत्य हमारे पुत्रोंक
पिण्डादिको बलपूर्वक छीनकर खा लेता था और तीर्थ-स्थानोंमें अर्पित तिलाञ्जलिको पी जाता था। आपने अपने नखसे उसक
उदरको फाड़ करक
प्रदान किया है। आप समस्त धर्मोंक
आपको नमस्कार करते हैं॥४४॥

श्रीसिद्धा ऊचुः—

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहारषीद्योगतपोबलेन ।
नानादर्पं तं नखैर्विददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह॥ ४५॥

श्रीसिद्धोंने कहा—हे नृसिंहदेव! इस दुरात्माने अपने योग एवं तपस्याक
था, जिन्हें हमने घोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया था। आपने अपने नखोंसे इस धन, जनादिसे उत्पन्न भाँति-भाँति गर्वोंसे गर्वीले दुष्टको विदीर्ण कर दिया है। हम आपक

श्रीविद्याधरा ऊचुः—

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः।
स येन संख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम्॥ ४६॥

श्रीविद्याधरोंने कहा—हम लोगोंने विविध धारणाओंसे अन्तर्द्धान होना आदि जो विविध विद्याएँ प्राप्त की थीं, इस मूर्खने अपने बल-वीर्यसे उन्मत्त होकर उनपर प्रतिबन्ध लगा दिया था। आपने युद्धमें इस दैत्यको पशुक
रूप धारण करनेवाले आपको हमारा पुनः-पुनः नमस्कार है॥४६॥

श्रीनागा ऊचुः—

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः।
यद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते॥ ४७॥

श्रीनागोंने कहा—हे प्रभो! इस दुष्ट हिरण्यकशिपुने हमारे फणोंपर स्थित रत्नोंका और हमारी स्त्रियोंका हरण कर लिया था। इसका वक्षःस्थल फाड़कर आपने उन स्त्रियोंको बहुत आनन्दित किया है। आपको हमारा नमस्कार है॥४७॥

श्रीमनव ऊचुः—

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान्॥ ४८॥

श्रीमनुओंने कहा—हे देवाधिदेव! हम आपक
हैं। इस दैत्यने हमारी वर्णाश्रमकी मर्यादाको विनष्ट कर दिया था। हे प्रभो! आज आपने इस दुष्टका संहार कर डाला। हम आपक किङ्कर हैं। आदेश दीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें?॥४८॥

श्रीप्रजापतयः ऊचुः—

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः॥४९॥

श्रीप्रजापतियोंने कहा—हे परमेश्वर! (ब्रह्मा एवं शिवक
आराध्य गुरु) आपने हमें सृष्टिक
था किन्तु इस दुष्टक
सृष्टि नहीं कर पाते थे। आज आपने इसका वक्ष विदीर्ण कर दिया है और यह जमीन पर मृत पड़ा है। हे सत्त्वमूर्ते! आपका यह नृसिंह अवतार जगत्क

श्रीगन्धर्वा ऊचुः—

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः।
स एष नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते॥५०॥

श्रीगन्धर्वोंने कहा—हे विभो! हम अभिनय, नृत्य एवं गायन द्वारा आपकी सेवामें लगे रहते थे, किन्तु इस हिरण्यकशिपुने अपने बल और पराक्रमसे हमें अपना बन्दी बना लिया था। आपने इसे मृत्यु-दशामें पहुँचा दिया है। क
कल्याण हो सकता है?॥५०॥

श्रीचारणा ऊचुः—

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः॥५१॥

श्रीचारणोंने कहा—हे हरे! आपने साधु-हृदयोंको आतङ्कित कर देनेवाले इस असुरको मार डाला है। अतः हे ईश! हमने आपक
शरण ली है, जिन्हें प्राप्त करक

श्रीयक्षा ऊचुः—

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम्।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश॥ ५२॥

श्रीयक्षोंने कहा—हे पच्चीस तत्त्वोंक
कर्मोंक
दितिपुत्र हिरण्यकशिपुने हमें अपनी पालकी वहन करनेमें लगा रखा था। हे नरहरे! इसक
ही आपने इसे पञ्चत्वको प्राप्त कराया है॥५२॥

श्रीकिम्पुरुषा ऊचुः—

वयं किम्पुरुषास्त्वन्तु महापुरुष ईश्वरः।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा॥ ५३॥

श्रीकिम्पुरुषोंने कहा—हम तुच्छ प्राणी हैं और आप पुरुषोत्तम सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। हम आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं। जिस समय इस क
इसका विनाश हो गया था। आज आपने इसका वध कर दिया है। हम आपको नमस्कार करते हैं॥५३॥

श्रीवैतालिका ऊचुः—

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे।
यस्तामनैषीद्वशमेष दुर्जनो
दिष्ट्या हतस्ते भगवन् यथामयः॥ ५४॥

श्रीवैतालिकोंने कहा—हे भगवन्! हम लोग सभाओंमें और यज्ञस्थलोंमें आपक

करते थे। इस दैत्यने हमारी वह प्रतिष्ठा अपदस्थ कर हमें अपने अधीन बना लिया था। सौभाग्यवश आपने भयङ्कर रोगक
दुष्टको जड़से उखाड़ दिया है। हम आपको नमस्कार करते हैं॥५४॥

श्रीकिन्नराः ऊचुः—

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिममुनानु कारिताः।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव॥५५॥

श्रीकिन्नरोंने कहा—हे प्रभो! हम आपक
हैं परन्तु यह असुर हमसे बिना मूल्यक
हरे! अब यह दुःखदायी पापी आपक
नृसिंहदेव! हे नाथ! आप हमारी सुख-समृद्धिका संरक्षण करें॥५५॥

श्रीविष्णुपार्षदा ऊचुः—

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे हिरण्यकशिपुवधे श्रीनृसिंहस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः।

श्रीविष्णुपार्षदोंने कहा—हे शरणागतोंक
आपक
किया है। हे भगवन्! यह दैत्य आपका ही सेवक जय है, जो
ब्रह्मशापक
इसका मारा जाना इसपर अनुग्रह करना है॥५६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

प्रह्लादजीक

श्रीनारद उवाच—

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः।
नोपैतुमशकन्मन्यु-संरम्भं सुदुरासदम्॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! भगवान् श्रीनृसिंह क्रोधमें इतने आविष्ट थे कि उनक
रुद्र आदि प्रमुख देवता भी उनतक पहुँचनेका साहस नहीं कर पा रहे थे॥१॥

साक्षात् श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम्।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता॥ २॥

तब देवताओंने उन्हें शान्त करनेक
किन्तु भगवान् नृसिंहका रूप देखकर वे भी इतनी भयभीत हो गयीं कि उनक
इस अद्भुत रूपको न कभी देखा था और न इसक
कभी सुना था॥२॥

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्॥ ३॥

तत्पश्चात् ब्रह्माने पास ही में खड़े प्रह्लाद महाराजको भगवान्क
पितापर ही क्रुद्ध हुए थे, अतः तुम्हीं उनक
शान्त करो॥३॥

तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः।
उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः॥ ४॥

हे राजन्! महाभागवत बालक प्रह्लाद 'जो आज्ञा' कहकर धीरे-धीरे भगवान्क
भूमिपर लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया॥४॥

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्॥ ५॥

भगवान् नृसिंहदेवने जब नन्हे-से बालक प्रह्लादको अपने पैरोंपर गिरते हुए देखा, तो उनका हृदय करुणासे भर आया। भगवान्ने उन्हें उठाया और काल-सर्पसे भयभीत मनुष्योंको अभय प्रदान करनेवाला अपना कर-कमल उनक
रख दिया॥५॥

स तत्करस्पर्शधूताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः॥ ६॥

भगवान्क
गये और उन्हें उसी क्षण परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। प्रेमसे आर्द्र हृदय दिव्य आनन्दसे भर गया, शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। परमानन्दमें निमग्न होकर उन्होंने अपने हृदयमें भगवान्क
धारण किया॥६॥

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः।
प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः॥ ७॥

प्रह्लाद महाराजने पूर्ण समाधिस्थ होकर एकाग्रचित्तसे अपने मन और दृष्टिको भगवान् श्रीनृसिंहमें स्थिर किया और प्रेमसे गद्गद् वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे॥७॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः।
सत्त्वैकतानगतयः वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥८॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे आश्चर्यमय प्रभो! धर्म, ज्ञान एवं तपस्यारूपी सत्त्वगुणमें अनन्य-चित्तवाले ब्रह्मादि देवगण, सनकादि ऋषि एवं सिद्धगण धारा-प्रवाह स्तुतिक
करक
घोर असुर जातिमें उत्पन्न मेरी स्तुति द्वारा आप किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं?॥८॥

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥९॥

मैं समझता हूँ कि धन, सत्क
पाण्डित्य, इन्द्रियोंकी निपुणता, तेज, प्रताप, शारीरिक उद्यम, पौरुष, बुद्धि और यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग—ये सभी गुण परम पुरुष भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं। क
भगवान् गजेन्द्रपर भी प्रसन्न हो गये थे॥९॥

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥१०॥

और मेरा यह भी मानना है कि द्वादश गुणोंसे (ज्ञान, सत्य, दम, वेदाध्ययन, मात्सर्यहीनता, लज्जा, सहनशीलता, ईर्ष्या-रहितता, यज्ञ, दान, धृति एवं शम) विभूषित ब्राह्मण यदि भगवान् पद्मनाभक
विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह क

अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌में अर्पित कर रखा है। ऐसा चाण्डाल अपने सारे क
किन्तु वह दाम्भिक ब्राह्मण स्वयंको भी पवित्र नहीं कर सकता॥१०॥

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥ ११॥

विशेषतः हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप स्वयं निज-लाभसे परिपूर्ण हैं। दयालु भगवान् अज्ञानी जीवोंपर अपनी कृपा प्रकट करनेक लिए ही उनक
स्वयंक
मुखपर रचित तिलकादिका सौन्दर्य दर्पणमें दिखनेवाले प्रतिबिम्बमें भी दिखायी देता है, उसी प्रकार पूजादि जो क
किया जाता है, वास्तवमें उसका फल तो पूजा करनेवालेको ही प्राप्त होता है॥११॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम्।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन॥ १२॥

अतः मैं सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होनेपर भी निःशङ्क होकर अपनी बुद्धिक
वर्णन करूँगा। भगवान्‌की महिमा सुनने अथवा पढ़नेसे अविद्याक कारण उत्पन्न अज्ञानमय संसारमें आसक्त जीवक
दूर हो जाते हैं और वह पवित्र हो जाता है॥१२॥

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः॥ १३॥

हे भगवन्! आप सत्त्वमूर्त्ति हैं। ये भयभीत ब्रह्मादि देवता आपक
हम असुरोंक
विविध अवतार ग्रहण करक
मङ्गल, श्रीवृद्धि (अभ्युदय) एवं आत्म सुखक
किसीमें भी भय उत्पन्न करनेक

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या।
लोकाश्च निर्वृत्तिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति॥ १४॥

जिस असुरको मारनेक
द्वारा उसका वध हो चुका है, इस प्रकार विश्व-मङ्गलका कार्य सम्पन्न हो चुका है। अतः आप अपना क्रोध शान्त कीजिये। जिस प्रकार बिच्छु और साँपक
ही होते हैं, उसी प्रकार इस असुरकी मृत्युसे भी सभी लोग बड़े प्रसन्न हैं और आपक
भगवन्! लोग भयकी निवृत्तिक
स्मरण करेंगे॥१४॥

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात्
आन्त्रस्रजः क्षतजकेशरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ १५॥

हे अजित! आपका मुख अति भयानक है, जीभ लपलपा रही है, सूर्यक
दाढें अतिशय पैनी हैं। आँतोंकी माला, रक्तरञ्जित गरदनक
बर्छे जैसे सीधे-खड़े-तीक्ष्ण कान, दिग्गजोंको भी पलायन करवा देनेवाला सिंहनाद और शत्रुओंका नाश करनेवाले आपक
मैं तनिक भी भयभीत नहीं हूँ॥१५॥

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु॥ १६॥

हे कृपणवत्सल (पतितात्माओं पर दया करने वाले)! हे दीनबन्धो! मैं भयभीत हूँ तो क
अपने कर्मोंक
गया हूँ। हे भगवन्! आप प्रसन्न होकर मुझे कब अपने उन चरणकमलोंमें बुलायेंगे, जो समस्त जीवोंक
मोक्षस्वरूप हैं॥१६॥

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्॥ १७॥

हे भूमन्! मैं सभी योनियोंमें प्रियक
संयोगसे होनेवाली शोकाग्निमें जलता रहा और दुःखोंका प्रतिकार करनेपर अन्य प्रकारक
आत्मा मानकर मैं मायामुग्ध होकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। अब आप कृपा करक
सेवा—भक्ति (दास्य-भक्ति) प्राप्त कर सकूँ ॥१७॥

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥ १८॥

हे नृसिंहदेव! मैं आपका दास हूँ और आपक
रहनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करक
जाऊँगा। आप हमारे प्रिय, अहैतुक सुहृद् और परमाराध्य हैं। मैं, ब्रह्माजी और उनकी साम्प्रदायिक परम्परामें वर्णित आपकी लीला-

कथाओंका श्रवण-कीर्त्तन करते हुए इस संसारकी समस्त बाधाओंको पार कर जाऊँगा॥१८॥

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्त्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥ १९॥

हे नृसिंहदेव! हे सर्वव्यापक भगवान्! दुःखीजनोंक
करनेक
उपेक्षित लोगोंक
जिस प्रकार माता-पिता लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने बालककी, ओषधि रोगीकी और नौका समुद्रमें डूबे हुएकी रक्षा नहीं कर पाते, उसी प्रकार इन उपायोंसे मनुष्योंक
हो सकता॥१९॥

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्-
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम्॥ २०॥

सत्त्वादि पृथक्-पृथक् गुणोंसे सम्पन्न भिन्न-भिन्न स्वभाववाले प्राचीन ब्रह्मादि अथवा अर्वाचीन पितादि आपकी माया-शक्तिक अधीन हैं। वे आपकी प्रेरणासे जिस आधारपर स्थित होकर, जिस समय, जिन साधनोंसे, जिस उद्देश्यसे और जिस विधिसे जो समस्त कार्य करते हैं अथवा रूपान्तरित करते हैं, वह सब आपका ही स्वरूप है। (शक्ति एवं शक्तिमान्में अभेद होनेसे ये सभी आपकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं।)॥२०॥

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः॥ २१॥

हे अज! आपक
एवं कालक
महत् तत्त्व एवं मनः प्रधान लिङ्ग-शरीरका निर्माण करती है। यह लिङ्ग-शरीर अनन्त वासनामय, वैदिक एवं लौकिक कर्मोंसे युक्त और दुर्जय मनवाला है। जो आपक
अविद्या-द्वारा निर्मित इस सोलह विकाररूप शलाकाओंसे (अरोंसे) युक्त संसार-चक्रको पार नहीं कर सकता॥२१॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम्॥ २२॥

हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! आपने अपनी चित्-शक्तिसे बुद्धिक समस्त गुणोंको (सुख-दुःख, रागादिको) नित्यकाल ही पराजित कर रखा है। आप कालस्वरूप हैं, कार्य-कारण शक्तियाँ आपक अधीन हैं। हे अजेय परमेश्वर! मैं इस सोलह अरोंवाले (ग्यारह इंद्रियों एवं पञ्चमहाभूतात्मक विकार-युक्त) संसार-चक्रमें पड़ा हुआ हूँ और आपकी माया मुझे ईखक
मैं आपक
निकट स्थान दीजिए॥२२॥

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति यान् जनोऽयम्।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः॥ २३॥

हे विभो! संसारी लोग स्वर्गमें स्थित लोकपालोंको प्राप्त जिस दीर्घायु, सम्पद् एवं ऐश्वर्यको प्राप्त करनेक
हैं, उन सबको मैंने बहुत देख लिया। जब मेरे पिताजी तनिक क्रोध करक
उनकी भौंहोंको देखकर समस्त सम्पत्तियाँ स्वयं ही बिखर जाया

करती थीं, लुटती फिरती थीं, आपने उन मेरे पिताजीका भी वध कर दिया॥२३॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्॥ २४॥

अतः हे भगवन्! मैंने भोगोंक
है। मुझे इन्द्रिय-भोगकी वस्तुएँ, दीर्घायु, ब्रह्मादिक
काल-रूप धारण करनेवाले अतीव पराक्रमशाली आपक
ग्रसित होनेवाली अणिमादि सिद्धियाँ, सुख-सम्पत्ति क
चाहिए। हे परमेश्वर! मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि आप मुझे क

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥ २५॥

जिस प्रकार मृगतृष्णाका जल मिथ्या होता है, उसी प्रकार सुननेमें अच्छे लगनेवाले समस्त विषयभोग भी वास्तवमें मिथ्या हैं। (मृग-तृष्णा जिस प्रकार देखनेमें ही सुखमय प्रतीत होती है, उसी प्रकार राज्यादि प्रार्थित वस्तुएँ सुननेमें ही अच्छी लगती हैं) यह शरीर ही समस्त रोगोंका उत्पत्ति-स्थान है। अतः कहाँ ये मिथ्या विषयभोग और कहाँ ये रोगयुक्त शरीर। इनकी क्षणभङ्गुरता और असारताको जानकर भी तथाकथित विद्वान् अत्यधिक कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले बिन्दुमात्र सुख-कणिकाओंक
एवं वैधयिक सुखकी लालसाको शान्त करनेका प्रयास करते हैं, विरक्त नहीं होते॥२५॥

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।

न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥ २६॥

हे परमेश्वर! कहाँ तो इस तमोगुणी असुरवंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अहैतुकी अनन्त कृपा। आपने जिस परमप्रसादस्वरूप और सकलसन्तापहारी करकमलको ब्रह्माजी, शिवजी और लक्ष्मीजीक
सिरपर रखा है॥२६॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्॥ २७॥

आप सम्पूर्ण जगत्क
प्राणियोंक
समान आपका अनुग्रह सेवाक
अनुसार ही आपकी कृपा प्राप्त होती है। उसमें उत्तम (ब्रह्मादि देवता) और अधम (असुरादि) का भेदभाव नहीं होता॥२७॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात्।
कृत्वात्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्॥ २८॥

हे भगवन्! यह संसार सर्पोंसे भरा हुआ अन्धक
विषय-भोगोंकी इच्छावाले जीव इसीमें गिरे हुए हैं। मैं भी उन काम्य-वस्तुओंकी आशासे आसक्त होकर इस संसारक
वाला था कि देवर्षि नारदने मुझपर कृपा करक
बना दिया। उन्होंने मुझे मन्त्रोपदेश प्रदान करक
बनाकर अतीव अनुग्रह किया है। तब मैं आपक
सेवाका किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ?॥२८॥

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम्।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि॥ २९॥

हे अनन्त! आपने अपने भक्त देवर्षि नारदक
कयाधु! विद्वेषियोंक
करनेक
किया है—मैं ऐसा मानता हूँ। मेरे पिताने अन्यायपूर्वक मुझे मार डालनेकी इच्छासे खड्ग हाथमें लेकर कहा था—मैं तेरे मस्तकक दो टुकड़े कर डालता हूँ—यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर है, तो वह तेरी रक्षा करे॥२९॥

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः॥ ३०॥

हे सर्वात्मन्! एकमात्र आप ही इस विराट् जगत्क
विद्यमान हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आपका ही स्वरूप है। आप
ही इस जगत्की उत्पत्तिक
ही रहेंगे तथा मध्यमें भी आप ही अपनी मायाक
त्रिगुणात्मक जगत्की सृष्टि करक
प्रवेश करते हैं और उन गुणोंक
एवं हन्ता आदि) रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥३०॥

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वैतदेव वसुकालवदष्टितर्वोः॥ ३१॥

हे परमेश्वर! कार्य-कारणरूपी यह समस्त जगत् आपका ही स्वरूप है, किन्तु आप इस जगत्से भिन्न हैं। अतः अपने-परायेका

जो भेदभाव है, वह मिथ्या माया है। जिससे जिसकी उत्पत्ति, प्रकाश, स्थिति और विनाश होते हैं, वह वस्तु बीज एवं वृक्ष तथा पृथ्वी एवं सूक्ष्मभूतोंक
बीज और वृक्ष कारण और कार्यकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न होते हैं, तो भी पृथ्वी एवं गन्ध-तन्मात्रकी (सूक्ष्मभूतकी) दृष्टिसे दोनों एक ही हैं (कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता)॥३१॥

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्रस्तुर्ये
स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे॥ ३२॥

हे जगदीश्वर! आप अपनी स्वरूपशक्तिमें इस जगत्को समेटकर स्वयंसिद्ध योगक
समय निज स्वरूपक
भावमें (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिसे रहित निज-स्वरूपमें) स्थित होकर आत्म-सुखका अनुभव करते हैं अर्थात् उस समय आप मायिक लीलाक
(कारणार्णव) में अधखुली आँखोंसे (योगनिद्रामें) शयन करते हैं, किन्तु न तो तमोगुणको स्वीकार करते हैं, और न ही विषयोंको। जाग्रत एवं स्वप्नकालमें भी आप विषयोंको नहीं देखते॥३२॥

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदित-प्रकृतिधर्मण आत्मगूढम्।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम्॥ ३३॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपका ही शरीर है। आप अपनी काल-शक्तिसे प्रकृतिक
कारणार्णवमें शेष-शय्यापर शयन करनेवाले आप जब योग-समाधिका त्याग करक
ब्रह्माण्ड-कमल (चौदह भुवनात्मक महालोक पद्म) उसी प्रकार

प्रकट होता है, जिस प्रकार एक छोटेसे बीजसे विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न होता है॥३३॥

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स बहिर्विचिन्त्य।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम्॥ ३४॥

इसी महापद्मसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उन्हें अपने चारों ओर कमलक

उनमें व्याप्त हैं, वे यह जान नहीं पाये, तब आपको अपनेसे बाहर स्थित जानकर वे जलक

वर्षोंतक कमलक

आपका अनुसन्धान नहीं कर पाये। ठीक ही है, अङ्कुरक आनेपर बीज किस प्रकार दिखायी दे सकता है॥३४॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श॥ ३५॥

उस समय आत्मयोनि ब्रह्माजीने अत्यन्त विस्मित होकर कमलका आश्रय लिया और उसपर बैठकर बहुत समय तक तीव्र तपस्या की। जब तपस्यासे उनका हृदय शुद्ध हो गया तब हे परमेश्वर! भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणमय अपने शरीरमें सूक्ष्मरूपमें व्याप्त आपको ब्रह्माने उसी प्रकार देखा, जिस प्रकार पृथ्वीमें अति सूक्ष्म तन्मात्रा—गन्धका अनुभव होता है॥३५॥

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासाद्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम्।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः॥ ३६॥

ब्रह्माजीने देखा कि आपका विराट् शरीर हजारों मुख, चरण, सिर, हाथ, जंघा, नासिका, कर्ण, नयन, आभूषणों और आयुधोंसे सुसज्जित है, आपक
हैं। इस प्रकार चिदानन्द विग्रह, मायामय आपको महापुरुषरूपमें देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आनन्द हुआ॥३६॥

तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं हि बिभ्रद्-
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांश्च रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति॥३७॥

वेद-द्रोही रजोगुण एवं तमोगुण रूपी मधु और क
दो बड़े शक्तिशाली दैत्य थे। जब उन्होंने वेदोंका हरण कर लिया, तब आपने हयग्रीव अवतार धारण करक
कर दिया और वेदोंको ब्रह्माजीको लौटा दिया। इसलिए महर्षिगण आपक

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥३८॥

हे पुरुषोत्तम भगवान्! आप मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार लेकर त्रिभुवनका पालन करते हैं और जगत्-द्रोहियोंका विनाश करते हैं। हे महापुरुष! आप प्रत्येक युगमें उसीक
रूपमें रहते हैं, इसलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' है॥३८॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्त्तं
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः॥३९॥

हे वैक
कलुषित है, दुर्वार कामनाओंसे व्याक
उपभोग करता है और कभी शोकमें डूबा रहता है। कभी विविध भयोंसे भयभीत रहता है और कभी अधिकाधिक धन-प्राप्तिकी चिन्तामें लगा रहता है। आपकी लीला-कथाओंमें तो इसे रस ही नहीं मिलता। अतः ऐसी दयनीय स्थितिमें मैं किस प्रकार आपक स्वरूप एवं तत्त्वका चिन्तन कर सकता हूँ?॥३९॥

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥४०॥

हे अच्युत! जिस प्रकार किसी पुरुषकी बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपनी-अपनी ओर आकर्षित करती हैं, उसी प्रकार मेरी वाक् इन्द्रिय लौकिक मिथ्यादि प्रलापकी ओर, रसनेन्द्रिय मधुरादि रसोंक आस्वादनकी ओर, जननेन्द्रिय स्त्रीकी ओर, त्वचा कोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजनकी ओर, कान ग्राम्य सङ्गीतकी ओर, नासिका सुवासित गन्धकी ओर और चञ्चल आँखें बहिर्मुख मनको आकर्षित करनेवाले सौन्दर्यकी ओर भागती हैं। मेरी कर्मेन्द्रियाँ विषयोंकी ओर आकर्षित करक
विनाश ही हो गया है॥४०॥

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्।
पश्यन् जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य॥४१॥

हे भवार्णव-कर्णधार! हम तो अपने-अपने कर्मोंक
इस संसार-प्रवाहरूपी वैतरणी नदीमें पड़े हुए हैं। एकक
जन्मसे मरण, मरणसे जन्म—इस प्रकारक
होकर भोजन आदिकी व्यवस्थामें ही उलझे रहते हैं। हमारी

मूढ़ता तो देखिये, हम अपने-परायेकी बुद्धिक
वैरभाव ठान लेते हैं और किसीको मित्र बना लेते हैं। हे पारचर!
आप तो वैतरणीक
पहुँचा दीजिए॥४१॥

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन् प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्त्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः॥४२॥

हे प्रभो! हे जगद्गुरो! आप इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति एवं
प्रलयक
क्या परिश्रम है? हे आर्त्तबन्धो! महापुरुषोंको मूर्खोंपर अवश्य ही
अनुग्रह करना चाहिए। जो आपक
करनेवालोंक
प्रभावसे पहले ही उद्धार हो चुका है॥४२॥

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥४३॥

हे सर्वोत्तम! मैं दुस्तरणीय भव-वैतरणी नदीको पार करनेक
लिये किञ्चित्मात्र भी उद्विग्न नहीं हूँ, क्योंकि मेरा चित्त तो
आपक
उन मूढ़ प्राणियोंक
रूपी महामृतसे विमुख होकर इन्द्रियोंक
सुख प्राप्त करनेक
भार ढोते हुये अति क्लान्त हो रहे हैं॥४३॥

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ ४४॥

हे देवाधिदेव! मुनिजन प्रायः अपनी मुक्तिकी कामनासे निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं, वे दूसरोंक
लिए क
अक
इन बहिर्मुख जीवोंका कोई रक्षक दिखायी नहीं देता॥४४॥

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥ ४५॥

गृहस्थियोंको जो स्त्री-सम्भोगादि सुख मिलता है, वह दोनों हाथोंसे खुजली खुजलानेक
है। अत्यन्त दुःख पानेक
होती। जो ज्ञानी एवं धीर हैं, वे ही आपकी कृपासे कण्डू-तुल्य (खुजलीक

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनं स्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्त्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥ ४६॥

हे महापुरुष! मोक्षक
शास्त्र-ज्ञान, तपस्या, वेद-पाठ (स्वाध्याय) स्वधर्म-पालन, युक्तियोंसे सत्-शास्त्रोंकी व्याख्या, निर्जनवास, जप और समाधि। किन्तु हे अन्तर्यामिन्! जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उन लोगोंक
दसों विधियाँ जीविकाक
जबकि दाम्भिकोंको (मिथ्या अहङ्कारियोंको) तो इतनी सफलता भी कभी मिलती है और कभी नहीं॥४६॥

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचक्षन्ते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात्॥ ४७॥

वेदोंमें बीज एवं अङ्कुरक
बतलाये गये हैं। आप ही प्राकृतरूपसे रहित हैं, कोई और नहीं। काष्ठमें मन्थन करनेपर जिस प्रकार अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार विवेकीगण भक्तियोग द्वारा कार्य और कारण दोनोंमें ही आपका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेते हैं। ज्ञानी इससे वञ्चित रह जाते हैं॥४७॥

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥ ४८॥

हे भूमन्! आप ही वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पञ्च तन्मात्रा, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त और अहङ्कार हैं। आप ही गुण कार्यरूपमें स्थूल और अन्तर्यामादि पदार्थरूपमें सूक्ष्म हैं—सब क
अभिव्यक्त वस्तु है, वह आपसे पृथक् नहीं है॥४८॥

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा–
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्॥ ४९॥

सत्त्वादि तीनों गुण, गुणादिक
आदि, देवता अथवा मनुष्य—इनमें-से कोई भी आपक
जाननेमें समर्थ नहीं है क्योंकि ये सब आदि और अन्तवाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ज्ञानीजन इस प्रकार विवेचना

करक
योगमें आपकी उपासना करते हैं)॥४९॥

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत॥ ५०॥

अतएव हे परमपूज्य! नमस्कार, स्तव, समस्त कर्मोंका समर्पण, पूजन, आपक
लीला-कथाओंका श्रवण—इस षडङ्ग (छह अङ्गोंसे युक्त) सेवाक
बिना जगत्में परमहंसों—आपक
गति अर्थात् आपक
सकती है!॥५०॥

श्रीनारद उवाच—

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत॥ ५१॥

देवर्षि नारदने कहा—इस प्रकार भक्त प्रह्लाद द्वारा भक्तिभावसे युक्त और प्राकृत गुणोंसे रहित अपने कारुण्यादि स्वरूपभूत गुणोंका वर्णन किये जानेपर भगवान् श्रीनृसिंहदेवने अपने क्रोधका संवरण कर लिया और वे अपने चरणोंमें प्रणत प्रह्लादसे बड़े प्रेमक
कहने लगे॥५१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्॥ ५२॥

श्रीनृसिंह भगवानने कहा—हे परम कल्याण स्वरूप प्रह्लाद! तुम्हारा मङ्गल हो। हे असुरोत्तम! मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। मैं प्राणियोंकी अभिलाषा पूर्ण करता हूँ। अतः तुम्हारा कोई मनोरथ हो तो तुम मुझसे माँग लो॥५२॥

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति॥ ५३॥

हे आयुष्मन्! मुझे प्रसन्न किये बिना मेरा दर्शन अतिशय दुर्लभ है। मेरा दर्शन हो जानेपर प्राणियोंक
शेष नहीं रह जाता॥५३॥

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः।
श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम्॥ ५४॥

अतएव हे महाभाग! अपने कल्याणकी इच्छा करनेवाले परम ज्ञानी साधुजन अन्तःकरणकी (दास्य, सख्यादि) समस्त वृत्तियोंसे मुझे सन्तुष्ट करनेका प्रयास करते हैं॥५४॥

श्रीनारद उवाच—

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादचरिते श्रीभगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—असुरोंमें श्रेष्ठ प्रह्लादजी भगवान्क ऐकान्तिक भक्त हैं। उन्होंने बड़े-बड़े लोगोंको भी मोहित करनेवाले वरोंक
नहीं की॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

प्रह्लादजीक

श्रीनारद उवाच—

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—प्रह्लाद महाराज उस समय बालक थे, तब भी उन्होंने भगवान् नृसिंह-द्वारा कथित उन सभी वरदानोंको भक्तिक
और कहने लगे॥१॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥ २॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! मैं तो जन्मसे ही विषय-भोगोंमें आसक्त हूँ, अतः आप मुझे इन वरोंका प्रलोभन देकर मत लुभाइये। मैं भोग-विषयोंकी आसक्तिसे बहुत भयभीत हूँ। इन सबसे निर्वेद और मुक्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ही मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥२॥

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत्।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥ ३॥

हे प्रभो! शुद्ध भक्तोंक
वरदान माँगनेक
गाँठको और भी दृढ़ करनेवाले तथा जन्म-मृत्यु रूपी संसारचक्रमें डालनेवाले हैं॥३॥

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ ४॥

हे अखिलगुरो! परीक्षाक
कारण दिखायी नहीं देता; क्योंकि आप सभीक
करनेवाले तथा परम दयालु हैं। हे करुणामय! आप अपने भक्तको अनर्थ-साधनमें प्रेरित नहीं कर सकते। आपकी सेवा-पूजा करक जो व्यक्ति आपसे विषयादि भोगोंकी अभिलाषा करता है, वह आपका सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है॥४॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥ ५॥

जो सेवक सेवाक
प्रार्थना करता है, वह सेवक नहीं है और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकको ऐश्वर्य प्रदान करता है, वह भी स्वामी कहलाने योग्य नहीं है॥५॥

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥ ६॥

मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निरुपाधिक एवं निरपेक्ष स्वामी हैं। हमारे बीच राजा एवं सेवकक
अन्य प्रकारक

यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥ ७॥

हे वरदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ! यदि आप मुझे अभीष्ट वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाका अङ्कुर ही उत्पन्न न हो॥७॥

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥ ८॥

यदि हृदयमें कोई कामना उदित हो जाय तो उससे इन्द्रियाँ, मन, प्राण, देह, धर्म, बुद्धि, लज्जा, सम्पद्, तेज, स्मृति एवं सत्य—ये सब-क

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥ ९॥

हे कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें स्थित कामनाओंका परित्याग कर देता है, उस समय वह आपक ऐश्वर्यको प्राप्त करनेक

ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने॥ १०॥

हे परमपुरुष! हे षडैश्वर्य-सम्पन्न! हे महात्मन्! हे समस्त दुःखोंका नाश करनेवाले! हे अद्‌भुत नृसिंहाकार! हे परब्रह्म-परमात्म-स्वरूप! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१०॥

श्रीनृसिंह उवाच—

नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः।
तथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान्॥ ११॥

श्रीनृसिंह भगवान्‌ने कहा—वत्स प्रह्लाद! तुम्हारे जैसे मेरे ऐकान्तिक भक्त ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा किसी भी प्रकारक कल्याणकी प्रार्थना नहीं करते, तथापि मेरी प्रसन्नताक इस मन्वन्तरकी समाप्तितक इसी लोकमें दैत्योंक सम्पूर्ण विषय-भोगोंका उपभोग करो॥११॥

कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम्।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन्॥ १२॥

मैं यज्ञेश्वर हूँ, समस्त यज्ञोंका भोक्ता हूँ। समस्त प्राणियोंक अन्तःकरणोंमें विद्यमान हूँ। तुम नित्य-निरन्तर इसी रूपमें मेरा ध्यान करना। मेरी लीला-कथाएँ जो तुम्हें अतिशय प्रिय हैं—उनका श्रवण

करते रहना, समस्त सकाम (वैदिक एवं लौकिक) कर्मोंका परित्याग कर देना, जो भी कर्म करो, वह मुझे अर्पण करते हुए मेरी आराधना करना। इससे तुम्हारे सभी प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जाएगा॥१२॥

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा।
कीर्त्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः॥१३॥

भोगक

तुम्हारे पाप नष्ट हो जायेंगे। कालकी गतिसे शरीरका परित्याग करक तुम समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे और देवताओंक

वन्दनीय विशुद्ध कीर्त्तिको प्राप्तकर मेरे निकट आ जाओगे॥१३॥

य एतत् कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते॥१४॥

जो मेरा और तुम्हारा अर्थात् हमारे इस लीला-चरित्रका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करेगा साथ ही मुझे प्रसन्न करनेक

तुम्हारे द्वारा गाये हुए इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह समय आनेपर कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाएगा॥१४॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

वरं वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर।
यदनिन्दत् पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम्॥१५॥
विद्धामर्षाशयः साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम्।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान्॥१६॥
तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात्।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल॥१७॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे महेश्वर! मैं आपसे यही वरदान माँगता हूँ—मेरे पिता आपक

अपने भाईका वध करनेवाला समझकर आपक

(शत्रुतापूर्ण) दृष्टिकोण रखते थे और आपका भक्त होनेक
मुझसे भी बड़ा द्रोह करते थे। क्रोधक
आपकी बड़ी निन्दा की है। हे दीनबन्धो! यद्यपि मृत्युक
आपक
इच्छा है कि वे इन सभी दुस्तर पापोंसे शुद्ध हो जाएँ॥१५-१७॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः॥ १८॥

श्रीनृसिंह भगवान्ने कहा—हे निष्पाप प्रह्लाद! तुम्हारे पिता पवित्र हो गये हैं, इस विषयमें तो कहना क्या, उनक
इक्कीस पीढ़ियोंका भी उद्धार हो गया, क्योंकि इस वंशमें क
पवित्र करनेवाले तुम्हारे जैसे पुत्रका जन्म हुआ है॥१८॥

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटाः॥ १९॥

जिस स्थानपर मेरे प्रशान्त, समदर्शी, साधु, सदाचारी सद्गुणसम्पन्न प्रेमी भक्त निवास करते हैं, वे कीकटादि निकृष्ट देश और देशवासी भी पवित्र हो जाते हैं॥१९॥

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन।
उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावविगतस्पृहाः॥ २०॥

हे दैत्येन्द्र! मेरी भक्तिक
नष्ट हो गयी हैं, वे छोटे-बड़े प्राणियोंमें भेदभाव नहीं रखते। उनक

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥ २१॥

इस जगत्में जो तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे भी मेरे भक्त हो जायेंगे। प्रह्लाद! तुम मेरे भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हो, इसीलिए सभीक
आदर्श हो॥२१॥

कुरु त्वं प्रेतकृत्यानि पितुः पूतस्य सर्वशः।
मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान् यास्यति सुप्रजाः॥ २२॥

हे प्रिय प्रह्लाद! हे अङ्ग! यद्यपि मेरे अङ्गोंक
पिता सब प्रकारसे पवित्र हो गये हैं तथापि तुम अपने पिताकी अन्त्येष्टि एवं श्राद्धादि पारलौकिक क्रियाएँ सम्पन्न करो। तुम्हारे जैसी सन्तान होनेक

पित्र्यञ्च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः।
मयावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः॥ २३॥

तत्पश्चात् तुम अपने पिताक
जाओ। अपना मन मुझमें लगाकर मत्परायण हो जाओ तथा मेरी शरणमें रहकर वेदवादी पण्डितोंकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन न करते हुए समस्त कर्म मेरी प्रसन्नताक

श्रीनारद उवाच—

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत् साम्परायिकम्।
यथाह भगवान् राजन्नभिषिक्तो द्विजातिभिः॥ २४॥

देवर्षि नारदने कहा—हे युधिष्ठिर! भगवान्ने जिस प्रकार प्रह्लादको आज्ञा दी, उसी क
श्राद्धादि कार्योंको सम्पन्न किया। इसक
राज्याभिषेक कर दिया॥२४॥

प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम्।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः॥ २५॥

तदनन्तर देवता एवं ऋषियोंसे घिरे हुए ब्रह्माने श्रीनृसिंहक
रूपमें भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न मुद्रामें देखकर पवित्र वचनोंक
उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा॥२५॥

श्रीब्रह्मोवाच—

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः॥ २६॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओंक
अध्यक्ष! हे समस्त जीवोंक
हिरण्यकशिपु सभी लागोंको बड़ा दुःख दे रहा था। हमारे सौभाग्यसे आपने इसे मार डाला॥२६॥

योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः।
तपोयोगबलोन्नद्धः समस्तनिगमानहन्॥ २७॥

इस असुरने मुझसे वरदान ले लिया था कि सृष्टिका कोई प्राणी इसे मार नहीं सक
कारण अत्यन्त अभिमानी होकर मनमाने ढंगसे वेदविहित धर्मोका उल्लङ्घन किया करता था॥२७॥

दिष्ट्या तत्तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना॥ २८॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने इसी हिरण्यकशिपुक महाभागवत साधु बालकको मृत्युसे बचा लिया। यह बालक है, तो भी पूर्णतया आपकी शरणमें है॥२८॥

एतद्वपुस्ते भगवन् ध्यायतः परमात्मनः।
सर्वतो गोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः॥ २९॥

हे भगवन्! हे परमात्म-स्वरूप! जो भक्त आपक
रूपका एकाग्र चित्तसे ध्यान करेगा, वह समस्त भयोंसे मुक्त हो जायेगा, यहाँ तक कि आसन्न (समीपमें आयी हुई) मृत्युसे भी उसकी रक्षा हो जायेगी॥२९॥

श्रीभगवानुवाच—

मैवं विभोऽसुराणान्ते प्रदेयः पद्मसम्भव।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा॥ ३०॥

श्रीनृसिंह भगवान्ने कहा—हे महापुरुष! हे कमल-पुष्पसे सम्भूत देव! असुरोंका स्वभाव अतिशय क्रूर होता है। आप उन्हें इस प्रकारक
पिलानेक

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्त्वा भगवान् राजंस्ततश्चान्तर्दधे हरिः।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना॥ ३१॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंक
और उनक

ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।
भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत्कलाः॥ ३२॥

तत्पश्चात् प्रह्लाद महाराजने भगवान्क
प्रजापतियों तथा देवताओंकी पूजा की और सिर झुकाकर उनकी वन्दना की॥३२॥

ततः काव्यादिभिः सार्द्धं मुनिभिः कमलासनः।
दैत्यानां दानवानाञ्च प्रह्लादमकरोत् पतिम्॥ ३३॥

इसक
प्रह्लादजीको समस्त दैत्य एवं दानवोंका अधिपति बना दिया॥३३॥

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः।
स्वधामानि ययू राजन् ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः॥ ३४॥

हे राजन्! ब्रह्मादि देवताओंने प्रह्लाद महाराजको आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रह्लादजीक
स्वीकार करक

एवञ्च पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ॥ ३५॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार भगवान् विष्णुक
विजय दितिक
ये सदैव वैर भाव रखते थे। उनक
उनका उद्धार करनेक
उनका वध कर दिया॥३५॥

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः।
कुम्भकर्ण–दशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः॥ ३६॥

ब्राह्मणोंक
और रावण नामक
श्रीरामचन्द्रक

शयानौ युधि निर्भिन्न–हृदयौ रामशायकैः।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि॥ ३७॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रक
रणभूमिमें पड़े–पड़े ही पूर्वजन्मकी भाँति भगवान्का चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी देहका त्याग किया॥३७॥

ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः॥ ३८॥

ये दोनों ही पुनः इस युगमें शिशुपाल एवं दन्तवक्रक रूपमें उत्पन्न हुए। भगवान् श्रीहरिसे वैर–भाव ठान लेनेक कारण तुम्हारे सम्मुख ही भगवान्में समाकर इन्होंने सायुज्य मुक्ति प्राप्त की॥३८॥

एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः।
जहुस्तेऽन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा॥ ३९॥

प्रिय युधिष्ठिर! श्रीकृष्णसे द्वेष रखनेवाले अनेकानेक राजागण अन्त समयमें श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए उनसे तद्रूप होकर अपने पूर्वकृत पापोंसे सदाक
प्रकार भृङ्गी द्वारा पकड़ा हुआ कीट भृङ्गीका चिन्तन करते हुए उसीक

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः॥ ४०॥

जिस प्रकार भगवान्क
भगवान् श्रीहरिका सारूप्य प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार शिशुपाल

आदि राजाओंने भी तीव्र शत्रुताक
चिन्तन करते हुए उनका सारूप्य प्राप्त कर लिया था॥४०॥

आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम्॥४१॥

युधिष्ठिर! तुमने पूछा था कि दमघोष-सुत शिशुपालादिको भगवान्से द्वेष करनेपर भी किस प्रकार भगवत्-सायुज्यकी प्राप्ति हुई। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया॥४१॥

एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः॥४२॥

ब्रह्मण्यदेव परमात्मा श्रीकृष्णका यह परम पवित्र अवतार-चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया। इसमें आदि दैत्यों हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुक वधका वर्णन है॥४२॥

प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथार्थ्यञ्चास्य वै हरेः॥४३॥
सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम्।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान्॥४४॥

इसी वृत्तान्तमें महाभागवत प्रह्लादक
ज्ञान, वैराग्य एवं प्रह्लादक
कारणस्वरूप भगवान् श्रीहरिक
इसमें कालक्रमसे देवताओं तथा असुरोंक
महान् विनाशका भी निरूपण है॥४३-४४॥

धर्मो भागवतानाञ्च भगवान् येन गम्यते।
आख्यानेऽस्मिन् समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः॥४५॥

जिस भागवत धर्म तथा आध्यात्मिक तत्त्वक
प्राप्ति होती है उसका इसमें विशेषरूपसे वर्णन है॥४५॥

य एतत् पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम्।
कीर्त्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते॥४६॥

भगवान् श्रीहरिक
श्रद्धाक
मुक्त हो जाता है॥४६॥

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम्॥ ४७॥

जो व्यक्ति आदिपुरुष भगवान् श्रीहरिकी इस श्रीनृसिंह-लीला, दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध-वृत्तान्त और सन्त-शिरोमणि प्रह्लाद महाराजक
पढ़ता है, वह उस अभयपद वैक
चिन्ताका लेशमात्र भी नहीं है॥४७॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ ४८॥

युधिष्ठिर! इस मनुष्य-लोकमें तुमलोग अतिशय भाग्यवान् हो, क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण मनुष्यरूपमें गुढ़रूपसे निवास करते हैं। इसी कारण जगत्‌को पवित्र करनेवाले मुनिगण उनका दर्शन करनेक
करते हैं॥४८॥

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ ४९॥

बड़े-बड़े साधु पुरुष जिनको निरन्तर ढूँढ़ते रहते हैं, वे निरुपाधिक परमानन्दक

परब्रह्म, परमात्मा तुम लोगोंक
पूजनीय, आज्ञाका पालन करनेवाले और गुरु हैं॥४९॥

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥५०॥

ब्रह्मा, महादेव आदि भी अपनी-अपनी बुद्धिक
श्रीकृष्णक
किस प्रकार कर सकते हैं? हम तो मौन धारण करक
इन्द्रिय-संयमक
भगवान् श्रीकृष्ण हमपर प्रसन्न हों॥५०॥

स एष भगवान् राजन् व्यतनोद्विहतं यशः।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना॥५१॥

हे राजन्! सभीक
कालमें एक अत्यन्त मायावी मयदानवने देवाधिदेव रुद्रदेवक
कलङ्कित करनेका प्रयास किया था, तब भगवान् श्रीकृष्णने पुनः
उनक

श्रीराजोवाच—

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहन् जगदीशितुः।
यथा चोपचिता कीर्त्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम्॥५२॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—देवर्षि! मयदानव जगदीश्वर महादेवक
यशको क्यों नष्ट करना चाहता था? भगवान् श्रीकृष्णने किस
प्रकार उनकी महिमाका विस्तार किया? आप हमें ये दोनों प्रसङ्ग
बतलाइए॥५२॥

श्रीनारद उवाच—

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः॥५३॥

देवर्षि नारदने कहा—एक बार भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे शक्ति प्राप्तकरक
सारे असुर मायावियोंक

स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमी रौप्यायसीर्विभुः।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः॥ ५४॥
ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरान्नृप।
स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः॥ ५५॥

तब मय दानवने विमानोंक
तीन नगर बनाकर असुरोंको प्रदान कर दिये। वे इतने विलक्षण थे कि उनका आवागमन कोई देख नहीं सकता था। उनमें असीमित सामग्रियाँ भरी हुई थीं। हे राजन्! असुरोंका देवताओंक साथ शत्रु-भाव तो था ही। इसी शत्रुताका स्मरण करक असुर-सेनापति अपने अधिपतियोंक
विनाश करने लगे॥५४-५५॥

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं नताः।
त्राहि नस्तावकान् देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः॥ ५६॥

तदनन्तर लोकपालोंक
गये और उनक
रहनेवाले असुर हमारा विनाश कर रहे हैं। हम आपक
हैं, हमारी रक्षा कीजिए॥५६॥

अथानुगृह्य भगवान् मा भैष्टेति सुरान् विभुः।
शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत॥ ५७॥

उनकी विनती सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली एवं परम सामर्थ्यवान् महादेवजीने देवताओंसे कहा 'भय मत करो' और अपने धनुषपर बाण चढ़ाकर पाशुपत अस्त्रको तीनों पुरोंपर छोड़ दिया॥५७॥

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात्।
यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः॥ ५८॥

महादेवजीक
प्रकार निकलने लगे, जिस प्रकार सूर्यमण्डलसे प्रज्वलित किरणें निकलती हैं। इन बाणोंसे तीनों पुर ढक गये और उनका दिखायी देना बन्द हो गया॥५८॥

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः।
तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत्॥ ५९॥

बाणोंक
असुर निष्प्राण होकर गिर पड़े। तब महामायावी मयदानवने उनको उठाकर अपने बनाये हुए अमृतक

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः।
उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः॥ ६०॥

उस सिद्ध अमृत रसका स्पर्श होते ही असुरोंक
सुदृढ़ एवं महान् बलशाली हो गये। इसक
खड़े हुए, जैसे बादलोंको चीरकर बिजली प्रकट हुई हो॥६०॥

विलोक्य भग्नसंकल्पं विमनस्कं वृषध्वजम्।
तदायं भगवान् विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत्॥ ६१॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महादेवजीका सङ्कल्प पूरा न होनेसे वे बड़े उदास हो गये हैं, तब उन्होंने असुरोंपर विजय प्राप्त करनेक

वत्सश्चासीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ॥ ६२॥

भगवान् स्वयं गौ और चतुर्मुख ब्रह्माजी बछड़ा बन गये। तत्पश्चात् ये दोनों मध्याह्न-कालमें त्रिपुरमें गये और अमृतमय
क

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन् विमोहिताः।
तद्विज्ञाय महोयोगी रसपालानिदं जगौ।
स्वयं विशोकः शोकार्त्तान् स्मरन् दैवगतिञ्च ताम्॥ ६३॥

असुरगण उन्हें देख रहे थे, परन्तु भगवान्‌की मायासे मोहित होकर वे उनको रोक नहीं पाये। महामायावी मयासुरको जब यह पता चला, तो वह विस्मित तो अवश्य हुआ, परन्तु उसे शोक नहीं हुआ। वह समझ गया कि विधिक
है। उसने अमृतकी रक्षा करनेवाले शोकार्त्त असुरोंसे कहा॥६३॥

देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन।
आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः॥६४॥

मय दानवने कहा—इस लोकमें अपने-पराये अथवा दोनोंक भाग्यमें दैव द्वारा जो निर्दिष्ट कर दिया है, उसे मिटानेमें देवता, असुर अथवा मनुष्य कोई भी समर्थ नहीं है॥६४॥

अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधनिकं व्यधात्।
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ॥६५॥
रथं सूतं ध्वजं वाहान् धनुर्वर्म शरादि यत्।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे॥६६॥

तदनन्तर भगवान्‌ने अपनी शक्ति—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या एवं क्रिया-शक्ति द्वारा शिवजीको संग्रामक साधन—रथ, सारथि, ध्वज, अश्व, धनु, ढाल, बाणादि प्रस्तुत कर दिये। तत्पश्चात् महादेवजी ढाल आदिसे सुसज्जित होकर रथपर सवार हो गये और धनुष-बाण धारण कर लिये॥६५-६६॥

शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्त्तेऽभिजितीश्वरः।
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप॥६७॥

हे राजन्! इसक
चढ़ाया और मध्याह्न काल (अभिजित् मुहूर्त्त) में दुर्भेद्य उन तीनों असुर-पुरियोंको भस्म कर दिया॥६७॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः।
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः।
अवाकिरन् जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥६८॥

उसी समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। शत-शत आकाश-यानोंमें विराजमान देवर्षि, पितर, सिद्धेश्वरगण जय-जयकार करते हुए फ
नाचने-गाने लगीं॥६८॥

एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्त्रो भगवान् पुरहा नृप।
ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वं धाम प्रत्यपद्यत॥६९॥

हे राजन्! इस प्रकार उन तीनों पुरोंको जलाकर शङ्करजीने त्रिपुरारिकी पदवी प्राप्त की और ब्रह्मादिकृत स्तुति सुनते हुए अपने धाम लौट गये॥६९॥

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकं पुनानान्यपरं वदामि किम्॥७०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादचरितं त्रिपुरविजयश्च नाम दशमोऽध्यायः।

जगद्गुरु परमात्मा श्रीहरि इस प्रकार अपनी मायाक
लीलाएँ करते हैं। ऋषियोंक
लोकपावन और पराक्रममयी चरितावलीक
क्या सुनाऊँ? बतलाओ!॥७०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

मानवधर्म, वर्णधर्म और स्त्रीधर्मका निरूपण

श्रीशुक उवाच—

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदान्वितः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवन्मय दैत्याधिपति श्रीप्रह्लाद महाराजका चरित्र साधु-सभामें परम आदरक
चर्चित एवं कीर्त्तित होता है। इसे सुनकर महापुरुष-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिर अतिशय प्रसन्न हो गये और देवर्षि नारदजीसे पुनः पूछने लगे॥१॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्॥ २॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! जिस धर्मसे मनुष्योंको उनका चरम लक्ष्य भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है, मैं आपसे वर्ण और आश्रमोंक
करना चाहता हूँ॥२॥

भवान् प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! आप साक्षात् प्रजापति ब्रह्माजीक
तपस्या, योग और समाधिक
माने जाते हैं॥३॥

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे॥ ४॥

आपक

साधु ब्राह्मण इस गोपनीय परम धर्मको जिस प्रकार यथार्थरूपसे जानते हैं, वैसा कोई और नहीं जानता॥४॥

श्रीनारद उवाच—

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्मसेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥ ५॥

देवर्षि नारदने कहा—मैं सर्वप्रथम समस्त जीवोंक
कारण और रक्षक भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करक
धर्मका वर्णन करता हूँ, जिसे मैंने नारायण ऋषि आदिक
सुना है॥५॥

योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यान्तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे॥ ६॥

भगवान् श्रीनारायण अपने अंशक

मूर्त्तिक

आज भी बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं॥६॥

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥ ७॥

हे राजन्! सर्ववेदमय भगवान् श्रीहरि ही समस्त धर्मोंक
कारण हैं। इस तत्त्वको जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ भी धर्मकी एकमात्र प्रमाण-स्वरूप हैं। जिस धर्मसे (फलकी कामनासे रहित और विघ्नों द्वारा अबाधित) श्रीकृष्णमें भक्तिका उदय होनेसे मन और चित्त प्रसन्न हो जाते हैं, वही धर्म है॥७॥

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥ ८॥

सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥ ९॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥ १०॥
श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥ ११॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥ १२॥

(मनुष्य-मात्रका साधारण धर्म बतला रहे हैं) सत्य, दया, तपस्या (एकादशी आदिमें उपवास) शौच (स्नान), तितिक्षा, ईक्षा (सद् और असद् अथवा युक्त और अयुक्तका विवेक), शम (मनका संयम) दम (बाह्य इन्द्रियोंका दमन), अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, दान, स्वाध्याय (यथोचित जप), सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, साधुओंकी सेवा, तथाकथित ग्राम्य प्रवृत्तियों (सामाजिक परोपकारादि) से धीरे-धीरे निवृत्त होना, मानव-समाजकी निष्फल क्रियाओंकी पर्यालोचना करना, मौन (व्यर्थ आलापोंका परित्याग), आत्म-विवेक, प्राणियोंमें यथायोग्य अन्नादिका वितरण करना, समस्त जीवोंमें अपना और इष्टका ज्ञान, मनुष्योंमें भी वैसी बुद्धि होना, महत् जनोंक
और लीलाओंका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, उनकी सेवा और पूजा उनको नमस्कार, दास्य, सख्य, आत्मसमर्पण—इन तीस आचरणोंका ऋषियोंने हे राजन्! परम धर्मक
आचरणोंका पालन करनेसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं॥८-१२॥

संस्कारायत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥ १३॥

जिनक
और जिनका अनुमोदन ब्रह्माजीक

एवं कर्ममें परिशुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको यज्ञ, अध्ययन, दान एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें विहित कर्मोंका पालन करना चाहिए॥१३॥

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः॥१४॥

ब्राह्मणोंक

दान देना एवं प्रतिग्रह करना (दान लेना)—ये छह कर्म बतलाये गये हैं, क्षत्रिय जातिक

कर्मोंका विधान है। प्रजाकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय राजा ब्राह्मणक अतिरिक्त अन्य सभीसे कर-ग्रहण (एवं दण्डादि) द्वारा अपनी जीविकाका निर्वाह कर सकते हैं॥१४॥

वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥१५॥

वैश्य जाति सर्वदा ब्राह्मण-वंशक

कृषि-वाणिज्यादि कार्योंक

धर्म द्विजोंकी सेवा करना है। उनकी जीविकाका निर्वाह उनका स्वामी करता है॥१५॥

वार्त्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम्।
विप्रवृत्तिश्चतुर्द्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा॥१६॥

इस सबक

सकता है। बिना माँगे जो क

कर सकता है, प्रतिदिन धानक

सकता है, किसान खेत काटकर जब अन्न घर ले जाते हैं तब पृथ्वी पर दाने गिर जाते हैं, वह इन शस्य-दानोंका संग्रह कर सकता है अथवा धान्य-क्षेत्रादिमें जो शस्य-कण परित्यक्त रहते हैं, वह उनका भी संग्रह कर सकता है—ये चार प्रकारकी ब्राह्मणकी जीविकाकी वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं। इनमें पूर्व-पूर्व वृत्तिकी अपेक्षा पर-पर वृत्ति श्रेष्ठ है॥१६॥

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः॥ १७॥

निम्न वर्णका मनुष्य बिना आपत्तिकालक
अवलम्बन न करे। आपत्तिकाल आनेपर क्षत्रियक
अन्य वर्णोंकी जीविका-वृत्तियों द्वारा निर्वाह कर सकते हैं। क्षत्रिय जाति विपत्तिमें दान लेना छोड़कर सभी वृत्तियाँ ग्रहण कर सकती है॥१७॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ १८॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ १९॥
सत्यानृतञ्च वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्।
वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः॥ २०॥

आपत्तिकालमें ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत अथवा सत्यानृत—सभी वृत्तियोंका आश्रय लिया जा सकता है। इनमें-से किसी भी एक वृत्तिक
श्वान-वृत्तिका कभी भी आश्रय न ले। बाजारमें पड़े हुए अन्न (उञ्छ) तथा खेतोंमें पड़े हुए अन्न (शिल) को बीनकर शिलोञ्छ वृत्तिसे जीविका निर्वाह करना 'ऋत' है, अयाचित वृत्तिसे जीवन निर्वाह करना 'अमृत' है, प्रतिदिन भिक्षा माँगना अर्थात् 'यायावर' वृत्तिक
वृत्तिसे जीवन निर्वाह करना 'प्रमृत' है। वाणिज्य 'सत्यानृत' वृत्ति है एवं निम्न वर्णकी सेवाको श्वान-वृत्ति कहा गया है। ब्राह्मण एवं क्षत्रियको इस निन्दित वृत्तिका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वदेवमय हैं॥१८-२०॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम्॥ २१॥

शम, दम, तपस्या, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवान्में ऐकान्तिक भावसे आत्मसमर्पण और सत्यभाषण—ये सब ब्राह्मणक

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागात्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यश्च क्षत्रलक्षणम्॥ २२॥

युद्ध भूमिमें शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेजस्विता, दान, आत्मजय (क्षुधा, पिपासादि एवं मनोजय) क्षमा, ब्राह्मण-परायणता, प्रसन्नता एवं सत्यनिष्ठता—ये क्षत्रियक

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम्॥ २३॥

देवता, गुरु और भगवान् विष्णुक
और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंका अनुष्ठान, वेद एवं गुरुवचनोंमें विश्वास, अर्थोपार्जनक
वैश्यक

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥ २४॥

उच्चवर्णीय त्रिवर्गको प्रणाम, शौच (शुद्धता), स्वामीकी निष्कपट सेवा, बिना मन्त्र पढ़े नमस्कारादिक
न करना, सत्य बोलना और गौ-ब्राह्मणकी रक्षा—ये सब शूद्रक लक्षण हैं॥२४॥

स्त्रीणाञ्च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥ २५॥

पतिकी सेवा करना, उसक
प्रति आदर-भाव रखना और उसक
चार पतिव्रता स्त्रियोंक

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्त्तनैः।
स्वयञ्च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा॥ २६॥

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्॥ २७॥

साध्वी-स्त्रीको स्वयं शुद्ध रहकर सदैव मनोहर एवं आकर्षक वस्त्रोंसे सुसज्जित और आभूषणोंसे विभूषित रहना चाहिए। उसे अपने घरको लीपना-पोतना चाहिए और घरकी साज-सामग्रियोंको शुद्ध एवं व्यवस्थित रखना चाहिए। घरको सजा-धजाकर सुवासित रखना चाहिए। पतिक
पूर्ण करना चाहिए। विनय, इन्द्रिय-संयम, सत्य, प्रीतिपूर्ण वचन एवं यथोचित अवसरोंपर पतिकी सेवा बड़े प्रेमसे करनी चाहिए॥२६-२७॥

सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥ २८॥

साध्वी स्त्री, जो क
वस्तुक
एवं सत्य बोलनेवाली हो, अपने कार्योंक
पवित्र एवं स्नेहयुक्त रहकर, यदि पति पातकी और पतित न हो तो उसकी सेवा और सङ्ग करे॥२८॥

या पतिं हरिभावेन भजेत् श्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥ २९॥

जो स्त्री लक्ष्मीक
भक्त समझकर उसकी सेवा करती है, तब वह उस हरिपरायण अपने पतिक

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम्॥ ३०॥

जो चोरी तथा अन्यान्य पाप-कर्म नहीं करते, उन अन्त्यज और चाण्डाल आदि अन्तेवसायी वर्णसङ्कर जातियोंकी वृत्तियाँ वही हैं जो उनकी क
वस्त्र परिष्कारादिको अपना सकते हैं॥३०॥

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्॥ ३१॥

हे राजन्! वेदज्ञ-ऋषि-मुनियोंने प्रत्येक युगमें प्रायः मनुष्योंक
स्वभावक
पालन इस लोक और परलोक दोनोंमें कल्याणकारी बतलाया गया है॥३१॥

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्त्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥ ३२॥

अपनी स्वाभाविक वृत्तिक
आचरण करता है, वह धीरे-धीरे अपने स्वभावजात कर्मोंका परित्याग करक
हैं—स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति बहुत जन्मोंक
हैं, उसक
प्रपञ्चसे अतीत वैष्णव-पदको प्राप्त होते हैं॥३२॥

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात्।
न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजञ्च नश्यति॥ ३३॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया।
विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामबिन्दुभिः॥ ३४॥

हे राजन्! किसी खेतमें बारम्बार बीज बोये जानेपर वह खेत शक्तिहीन होकर पुनः अङ्कुर उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है, यहाँ तक कि उसमें बोया बीज भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घीकी बूँदोंक
साथ प्रचुर मात्रामें घी पड़ जाये तो अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार वाञ्छित विषयोंका अतिशय उपभोग करनेसे कामेच्छाओंसे परिपूर्ण चित्त विरक्त हो जाता है॥३३-३४॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम एकादशोऽध्यायः।

ये पुरुषोंक
ये लक्षण किसी अन्य वर्णमें देखे जायें, तो उसका वर्ण उसक लक्षणोंसे ही निर्दिष्ट किया जाना चाहिए॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंक

श्रीनारद उवाच—

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखे, विनीत रहे, गुरुदेवक
गुरुक

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
सन्ध्ये उभे च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहितः॥ २॥

प्रातःकाल और सायंकाल मौन रहकर एकाग्र चित्तसे गायत्रीका जप करे। गुरु, अग्नि, सूर्य एवं भगवान् पुरुषोत्तम विष्णुकी उपासना करे॥२॥

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्॥ ३॥

गुरुजीक
नियमपूर्वक वेदका अध्ययन करे। प्रतिदिन अध्ययनक
अन्तमें सिर झुकाकर उनक

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
बिभृयादुपवीतञ्च दर्भपाणिर्यथोदितम्॥ ४॥

शास्त्रोंक
कमण्डलु और यज्ञोपवीत धारण करे॥४॥

सायं प्रातश्चरेद्भैक्ष्यं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित्॥ ५॥

ब्रह्मचारी प्रातःकाल और सायंकाल भिक्षा माँगकर लाये और भिक्षासे प्राप्त समस्त वस्तुएँ गुरुदेवको समर्पण कर दे। जब वे आज्ञा दें, तभी भोजन करे, अन्यथा उपवास कर ले॥५॥

सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च॥६॥

वह सभीक
आलस्यरहित होकर सभी कार्योंको दक्षतापूर्वक करे, गुरु-वचनोंपर पूर्ण विश्वास रखे, इन्द्रियोंको वशीभूत रखे और स्त्री एवं स्त्रियोंक
वशीभूत रहनेवालोंक
व्यवहार रखे॥६॥

वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः॥७॥

जिस ब्रह्मचारीका घरसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे बृहद्व्रतधारी ब्रह्मचारी स्त्रियोंक
इन्द्रियाँ संयत-चित्तवाले बड़े-बड़े योगियोंक
कर देती हैं॥७॥

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा॥८॥

युवक ब्रह्मचारी युवती गुरु-पत्नीसे क
तेल-मलवाना, गात्र-मर्दन, उबटन और स्नानादि कार्य न करवाये (चाहे वह यह सब कार्य वात्सल्य-भावसे क्यों न करे)॥८॥

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्॥९॥

युवती स्त्री निश्चित ही आगक
घड़ेक
नहीं बैठना चाहिए। यदि एकान्त न हो, (अन्य समयमें भी) तब भी जितना प्रयोजन है, उतना ही उसक

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः।
द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः॥ १०॥

जबतक जीव आत्मसाक्षात्कारक
आभास अर्थात् प्रतीतिमात्ररूपमें स्थिर करक
जाता, तब तक उसका द्वैतबोध (अर्थात् मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है) मिटता नहीं है। ऐसे पुरुष यदि स्त्रियोंक
तो यह निश्चित है कि उनकी उन स्त्रियोंमें भोग्यबुद्धि हो ही जाएगी। द्वैतबोधक
फलस्वरूप नरकादि दुःख भोग अनिवार्य होते हैं।॥१०॥

एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः॥ ११॥

मैंने ब्रह्मचारियोंक
एवं संन्यासियोंक
रहकर गुरुकी सेवा-परिचर्या वैकल्पिक है, क्योंकि ऋतुकालमें उसे गृहमें वास करना पड़ता है॥११॥

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये बृहद्व्रताः॥ १२॥

ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवालोंक
सुरमा लगाना, तेल मलना, शरीरकी मालिश करना, स्त्रीको देखना या उसका चित्र बनाना, मद्य सेवन करना, पुष्पहार धारण करना, इत्र-फ
निषिद्ध है। उसे इन सबका त्याग कर देना चाहिए॥१२॥

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम्॥ १३॥

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः।
गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत्॥ १४॥

द्विज पूर्वोक्त नियमोंक
षडङ्ग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष, उपनिषद्

तथा वेदत्रयीका यथाशक्ति और अपने अधिकारक
करे, साथ ही चिन्तन-मनन करे। समर्थ हो तो गुरु-द्वारा माँगी हुई दक्षिणा दे। तत्पश्चात् उनकी अनुमति लेकर गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम अथवा संन्यासाश्रम स्वीकार करे अथवा ब्रह्मचारीक रूपमें गुरु-आश्रममें ही वास करे॥१३-१४॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम्।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत्॥ १५॥

अतीन्द्रिय भगवान् विष्णु समस्त आश्रमोंमें अग्नि, गुरु, आत्मा और अपने आश्रित जीवोंक
विद्यमान हैं। वे एक ही समय सर्वत्र प्रविष्ट हैं भी और नहीं भी। मनुष्य मात्रको इस तत्त्वकी अनुभूति करनी चाहिए॥१५॥

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही।
चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ १६॥

इस प्रकारक
ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ 'विज्ञेय तत्त्व' को जानकर विज्ञान सम्पन्न हो जाता है और परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है॥१६॥

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान् मुनिसम्मतान्।
यानास्थाय मुनिर्गच्छेदृषिलोकमुहाञ्जसा॥ १७॥

हे राजन्! अब मैं ऋषियोंक
नियम बतलाता हूँ, जिनका आचरण करनेसे वानप्रस्थ-आश्रमी अनायास ही महर्लोकको प्राप्त कर लेते हैं॥१७॥

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टञ्चाप्यकालतः।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत्॥ १८॥

वानप्रस्थ-आश्रमी जोती हुई भूमि अथवा बिना जोती हुई भूमिसे उत्पन्न पक
हुए या कच्चे अन्नको न खाये। उसे क
पक

वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान्।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणञ्च परित्यजेत्॥ १९॥

वह वनमें समयानुसार स्वयं उत्पन्न धान्योंसे चरु और पुरोडाश (पिष्टक) का नित्यकाल हवन करे। जब नये-नये फल, अन्नादि उपलब्ध होने लगें, तो अन्नक

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम्॥ २०॥

वानप्रस्थ आश्रमीका कर्त्तव्य है कि पवित्र अग्निहोत्रादि अग्निक लिए ही घर, पर्णक
किन्तु स्वयं हिम, वायु, अग्नि, वर्षा और सूर्यक
सहन करे॥२०॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत्।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान्॥ २१॥

वह जटाओंको धारण करे, क
शरीरका मैल साफ न करे, कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड और वल्कल वस्त्र धारण करे और अग्नि वर्णक

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥ २२॥

वानप्रस्थी मननशील होकर बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष अथवा एक वर्ष तक वानप्रस्थक
उसे इस प्रकारका आचरण करना चाहिए कि अधिक कष्टसाध्य तपस्यासे उसकी बुद्धि नष्ट न हो जाय॥२२॥

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम्॥ २३॥

जब वह रोग अथवा बुढ़ापेक
न कर सक
अनशनादि व्रत करने चाहिए (जिससे उसका शरीर छूट जाय)॥२३॥

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम्।
कारणेषु न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः॥ २४॥

अनशन व्रत लेनेक
आत्मामें लीन कर ले (भलीभाँति स्थापित कर ले)। देहादिमें अहन्ता-ममताका परित्याग करक
तत्त्वोंमें विलीन कर दे॥२४॥

खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजसूष्माणमात्मवान्।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम्॥ २५॥

धीमान, गम्भीर एवं जितेन्द्रिय व्यक्तिको चाहिए कि शरीरक जिस अङ्गकी जहाँसे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें ही लीन कर दे। देहगत छिद्रोंको आकाशमें, प्राणोंको वायुमें, ऊष्माको अग्निमें, वीर्य, रक्त एवं कफ, पीव आदिको जलमें और अन्तमें हड्डी आदि कठोर वस्तुओंको पृथ्वीमें लीन कर दे॥२५॥

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ॥ २६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्द्दिशेत्।
दिक्षु श्रोत्रं स नादेन स्पर्शेनाध्यात्मनि त्वचम्॥ २७॥
रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत्॥ २८॥

तत्पश्चात् वाक्-इन्द्रियको वाणीक
एवं दोनों हाथोंको इन्द्रमें, चरणों और गतिको विष्णुमें, रति एवं उपस्थको प्रजापतिमें, पायु और मलोत्सर्गको उसक
मृत्युमें विन्यस्त कर दे। शब्दक
साथ त्वक्-इन्द्रियको वायुमें, रूपक
साथ रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को जल (वरुण) में एवं दोनों अश्विनी क
स्थूल-शरीर अथवा लिङ्ग शरीरका लय करना चाहिए॥२६-२८॥

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे॥ २९॥

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम्।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत्॥ ३०॥

मनोरथोंक
समझमें आनेवाले) पदार्थोंको (विषयोंको) बुद्धिक
अहंता-ममतारूपी क्रियाओंक
(भौतिक क्रियाकलापोंक
चित्तको क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) में और गुणाभिमानी (प्रकृतिक
रहकर कर्म करनेवाले) देवताओंक
निर्विकार परब्रह्ममें, पृथ्वीको जलमें, जलको तेज या ज्योतिमें, तेजको वायुमें, वायुको आकाशमें और आकाशको देहात्म-बुद्धिमय क
अहङ्कारमें और अहं तत्त्वको महत् तत्त्वमें, महत् तत्त्वको प्रधानमें और प्रधान (अव्यक्त प्रकृति) को परमात्मामें लीन कर दे॥२९-३०॥

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।
ज्ञात्वाऽद्वयोऽथ विरमेद्दग्धयोनिरिवानलः॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे आश्रमधर्मो नाम द्वादशोऽध्यायः।

इस प्रकार जब समस्त उपाधियोंका लय हो जाय, तब अवशिष्ट चिन्मात्र क्षेत्रज्ञ आत्माको अक्षर स्वरूपमें भलीभाँति जानकर अद्वितीय भावमें स्थित हो जाय। तत्पश्चात् उसी प्रकार उपरत हो जाय, जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रय काष्ठादिक
हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाती है॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

यतिधर्मका निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद संवाद

श्रीनारद उवाच—

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम्॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! यदि वानप्रस्थ-आश्रमीमें ब्रह्म ज्ञानक
अनुशीलनकी सामर्थ्य है तो उसे भी इसी प्रकार मात्र शरीर धारणकर
सब क
समस्त विषयोंकी अभिलाषाओंको छोड़कर एक गाँवमें एक ही रात्रि
ठहरनेका नियम लेकर पृथ्वीपर एकाकी विचरण करना चाहिए॥१॥

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न लिङ्गाद्दण्डादेरन्यत् किञ्चिदनापदि॥ २॥

संन्यास-आश्रमीको शरीर ढकनेक
चाहिए। यदि वह वस्त्र पहने भी, तो क
जिससे उसक
तबतक दण्डादि परिव्राजक-चिह्नोंक
किसी भी वस्तुको ग्रहण न करे। (आपत्तिकालमें वह देह-रक्षाक
लिए परित्यक्त वस्तु कम्बल, औषध और शय्यादिको ग्रहण कर
सकता है।)॥२॥

एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः॥ ३॥

संन्यासी भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करे, अपनी आत्मामें
ही रमण करे, समस्त जीवोंका हितैषी हो, सदैव शान्त तथा
भगवत्-परायण रहे और किसी व्यक्ति अथवा स्थानका आश्रय
लिये बिना एकाकी विचरण करे॥३॥

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानञ्च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये॥ ४॥

(संन्यासीको चाहिए कि) वह इस विश्वको कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चातीत अव्यय परमात्मामें देखे और परब्रह्म स्वरूप आत्माको इस कार्यकारणस्वरूप जगत्में सर्वत्र व्याप्त देखे॥४॥

सुप्तिप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन् बन्धञ्च मोक्षञ्च मायामात्रं न वस्तुतः॥ ५॥

सुषुप्ति और जागरण-काल इन दोनोंक
आत्मामें स्थित रहकर अपने स्वरूपका अनुभव करे। बन्धन और मोक्ष—दोनों ही क
समझकर सर्वत्र परब्रह्मका दर्शन करे॥५॥

नाभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम्॥ ६॥

यति-साधक देहकी मृत्युको निश्चित और जीवनको अनिश्चित जानकर मृत्यु एवं जीवनका अभिनन्दन न करे। वह उस नित्य कालकी प्रतीक्षा करे, जो प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशका कारण है॥६॥

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कञ्च न संश्रयेत्॥ ७॥

अनात्म वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें आसक्त न हो, शास्त्रोंको अपनी जीविकाका साधन न बनाये, क
लिए तक
आश्रय करे॥७॥

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥ ८॥

प्रलोभनवश बहुत शिष्योंका संग्रह न करे, बहुतसे शास्त्रोंका अभ्यास न करे, जीविकोपार्जनक
और बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करे॥८॥

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्॥ ९॥

महात्मा, शान्त और समदर्शी संन्यासीका आश्रमाचार प्रायः धर्मक

कमण्डलुको अपनी इच्छानुसार धारण कर सकता है और चाहे तो छोड़ सकता है॥९॥

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥ १०॥

बाहरसे उसका कोई आश्रम-चिह्न न दिखायी दे परन्तु आत्मानुसन्धानमें मग्न हो। बहुत बड़ा विद्वान् होनेपर भी मानव-समाजमें उसे उन्मत्त अथवा बालकक

वक्ता होनेपर भी साधारण मनुष्योंक

करना चाहिए मानो गूँगा हो॥१०॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥ ११॥

धर्मराज! पण्डित लोग इस विषयमें एक पुरातन इतिहासका दृष्टान्तरूपमें वर्णन करते हैं जो प्रह्लाद एवं अजगर-वृत्तिधारी दत्तात्रेय मुनिका वार्त्तालाप है॥११॥

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥ १२॥

ददर्श लोकान् विचरन् लोकतत्त्वविवित्सया।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः॥ १३॥

एक समय भगवत्-प्रिय प्रह्लाद महाराज लोगोंक

जाननेकी इच्छासे अपने मंत्रियोंक

कर रहे थे। जब वे कावेरी नदीक

देखा कि सह्य नामक पर्वतकी तलहटीपर एक मुनि पृथ्वीपर लेटे हुए हैं, उनका सारा शरीर धूल-धूसरित है, जिसक

विमल तेज आच्छादित हो रहा है॥१२-१३॥

कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च॥ १४॥

उनक
लोग उनक

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन्।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५॥

महाभागवत प्रह्लादने अजगर वृत्ति धारण करनेवाले मुनिकी यथाविधि पूजा-अर्चना की और सिर झुकाकर उनक
स्पर्श किया। तत्पश्चात् तत्त्व-ज्ञानकी इच्छासे वे मुनिसे इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे॥१५॥

विभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान् यथा॥ १६॥
वित्तञ्चेहोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा॥ १७॥

हे देव! उद्यमशील और भोगपरायण व्यक्तिकी भाँति आपका शरीर स्थूल है। इस संसारमें ऐसा नियम है कि जो व्यक्ति उद्यम करता है, उसीक
हैं और भोगी व्यक्तियोंको आपक
हृष्ट-पुष्ट देह प्राप्त होती है॥१६-१७॥

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमञ्चेत्॥ १८॥

हे ब्रह्मन्! आप कोई उद्यम तो करते नहीं, यों ही पड़े रहते हैं। भोग करनेका जो साधन है, वह अर्थ आपक
हे विप्र देवता! बिना भोगोंक
है। यदि हमारी सुननेकी योग्यता है, तो हमें अवश्य बतलाइए और यदि धृष्टता की है, तो क्षमा कर दीजिए॥१८॥

कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा॥ १९॥

आप विद्वान्, दक्ष और चतुर हैं। आप बड़ी अद्भुत, प्रिय लगनेवाली और लोगोंको लुभानेवाली बातें कर सकते हैं। हमें बतलाइये कि कर्मोंमें आसक्त लोगोंको देखकर भी आप निरुद्यमीक समान किसलिए पड़े रहते हैं॥१९॥

श्रीनारद उवाच—

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः॥ २०॥

देवर्षि नारदने कहा—जब प्रह्लादजीने इस प्रकार पूछा, तब उनकी अमृतमयी वाणीक
और प्रह्लाद महाराजसे कहने लगे—॥२०॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा॥ २१॥

मुनि दत्तात्रेयने कहा—हे असुरश्रेष्ठ! ज्ञानीजन आपका बहुत सम्मान करते हैं। आप मनुष्योंक
सकते हैं और मानवोंकी कर्मोंमें प्रवृत्ति एवं निवृत्तिको भी आप भलीभाँति जानते हैं॥२१॥

यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्॥ २२॥

आपकी ऐकान्तिक भक्तिक
हृदयमें ही सदा विराजमान रहते हैं तथा सूर्यक
आपक

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम्।
सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता॥ २३॥

हे राजन्! तो भी जैसा मैंने सुना है, उसीक
प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। आप आत्मशुद्धिक
योग्य हैं, इसलिए मैं आपक

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूर्यया।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः॥ २४॥

हे महाराज प्रह्लाद! तृष्णा ही जन्म-मृत्यु रूपी संसारचक्रका मूल कारण है। इच्छानुसार समस्त भोगोंका उपभोग करनेपर भी यह अपूर्ण ही रहती है। इस तृष्णाने मुझसे अनेक कर्म करवाये और इसीक

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च॥ २५॥

कर्मोंक
यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है, जो स्वर्ग, मोक्ष, पशु-पक्षी एवं पुनः मनुष्य योनिका द्वार-स्वरूप है॥२५॥

तत्रापि दम्पतीनाञ्च सुखायान्यापनुत्तये।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्॥ २६॥

इस मनुष्य-जन्ममें भी स्त्री-पुरुष अपनी सुख-प्राप्ति और दुःखोंकी निवृत्तिक
विपरीत ही होता है और वे अधिक दुःखोंसे घिर जाते हैं। यह देखकर मैं कर्मोंसे उपरत हो गया हूँ॥२६॥

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।
मनःसंस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन्॥ २७॥

आत्माका वास्तविक स्वरूप है—सुख। इस सुखका प्रकाश तभी होता है, जब समस्त क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है। समस्त भोग मनक
हैं। इसलिए मैं उनकी प्राप्तिक
पड़ा रहता हूँ॥२७॥

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्॥ २८॥

मनुष्य अपने–आपमें विद्यमान आत्म–पुरुषार्थरूपी सुखको भूलकर द्वैतमें अभिनिविष्ट होकर अर्थात् दुःखरूपी अनित्य देहादिको सत्य मानकर इस भयङ्कर और विचित्र जन्म–मृत्युरूपी संसार–चक्रको प्राप्त होते हैं॥२८॥

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।
मृगतृष्णामुपाधावेत् तथान्यत्रार्थदृक् स्वतः॥ २९॥

आत्म–स्वरूपसे भिन्न अन्यत्र अर्थात् अपने भीतर विद्यमान सुखको न देखकर अन्य मायिक वस्तुओंमें सुख (पुरुषार्थ) देखनेवाला जीव उन मिथ्या वस्तुओंकी ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार अज्ञानी हिरन जल पीनेकी अभिलाषासे जलमें उत्पन्न तिनक
ओर दौड़ता है। (मरीचिका का अर्थ है—गरमीक
तेज धूपक
देनेवाले कुछ भ्रामक दृश्य। प्रायः ऐसे भ्रामक दृश्य देखकर यात्री या पशु उन तक पहुँचानेक
पर अन्तमें उन्हें थककर निराश ही होना पड़ता है)॥२९॥

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः॥ ३०॥

शरीर तो दैवाधीन है। इस देहसे जो अपने लिए सुख पाना चाहता है और दुःखोंको दूर करना चाहता है, वह कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता। उस निरीश्वरवादीक
उसे न तो सुख प्रदान करते हैं और न ही उसक
मिटाते हैं॥३०॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्॥ ३१॥

मनुष्य सदा ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रितापोंसे घिरा रहता है। मरणशील तो है ही। यदि वह अति श्रम एवं कष्टसाध्य दुःखोंको झेलकर क

कर भी ले, तो क्या लाभ है? उससे कितना सुख प्राप्त हो सकता है?॥३१॥

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्॥ ३२॥

लोभी एवं इन्द्रियोंक

तो मैं देखता ही रहता हूँ, धन अपहरणादिक

नहीं आती और पिता, पुत्रादि सभीपर सन्देह बना रहता है॥३२॥

राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात् पशुपक्षितः।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्॥ ३३॥

बलवान एवं अर्थवान लोगोंको राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु, पक्षी, याचक, काल और अपने आपसे भी सदा भय बना रहता है॥३३॥

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः॥ ३४॥

विवेकी मनुष्योंको चाहिए कि वह शारीरिक बल और धनकी स्पृहाका त्याग कर दें, क्योंकि इससे शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, दैन्य और श्रमादिकी ही प्राप्ति होती है॥३४॥

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ।
वैराग्यं परितोषञ्च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम्॥ ३५॥

इस लोकमें जिनक

सन्तोषकी प्राप्ति होती है, वे मधुमक्खी और अजगर मेरे सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं॥३५॥

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात्।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत् पतिम्॥ ३६॥

मधुमक्खीसे मैंने सभी विषयोंसे विरक्त रहनेकी शिक्षा ग्रहण की, क्योंकि जिस प्रकार मधुमक्खी बहुत कष्टसे मधु-संग्रह करती है, पर बहेलिया उस मधुको ले जाता है, उसी प्रकार मनुष्य बड़े कष्टसे धन-संग्रह करते हैं, परन्तु कोई दूसरा उस धनक
वध करक

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान्॥ ३७॥

अजगरसे शिक्षा प्राप्त करक
जो क
अजगरक

क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा।
क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।
श्रद्धयोपहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवानक्तं यदृच्छया॥ ३८॥

कभी कम, कभी अधिक, कभी सुस्वादु, कभी रसहीन, कभी सुगन्धादि बहुतसे गुणोंसे युक्त और कभी गुणहीन, कभी श्रद्धापूर्वक दिया हुआ और कभी उपेक्षापूर्वक दिये हुए भोजनको खा लेता हूँ, कभी दिनमें खा लेता हूँ तो कभी रातमें खाता हूँ। दैववश जैसा भी मिल जाय, उसीमें निर्वाह कर लेता हूँ॥३८॥

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्॥ ३९॥

मैं अपने प्रारब्धक
सन्तुष्ट रहता हूँ। रेशमी या सूती, मृगचर्म, कौपीन, वल्कल अथवा भाग्यवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसीसे शरीर ढक लेता हूँ॥३९॥

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया॥ ४०॥

कभी मैं धरतीकी गोदमें सो जाता हूँ, तो कभी घास, पत्ते, पत्थर या राखक
इच्छासे महलोंमें पलङ्गोंपर और उत्तम गद्दोंपर सो जाता हूँ॥४०॥

क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो॥४१॥

हे दैत्यराज प्रह्लाद! कभी स्नानादि करक
लेप लगाकर तथा मनोहर वस्त्र, फ
धारणकर हाथी या घोड़ेपर सवार होकर विचरण करता हूँ, तो कभी भूत-प्रेत और पिशाचोंक

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि॥४२॥

व्यक्तियोंक
निन्दा अथवा प्रशंसा नहीं करता। मैं तो बस यही प्रार्थना करता हूँ कि सबका कल्याण हो और महात्मा भगवान् विष्णुक
सबका ऐकात्म्य हो॥४२॥

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे।
मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु॥४३॥

सत्यका अनुसन्धान करनेवालोंको नाना प्रकारक
और मनःकल्पित भेदोंका मनोवृत्तिमें ऐक्य कर लेना चाहिए क्योंकि मनसे ही इन भेदोंकी प्रवृत्ति होती है। इस मनोवृत्तिकी सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनमें आहुति कर देनी चाहिए। इसक
इस मनका अहङ्कारमें, अहङ्कारको महत् तत्त्वमें और महत् तत्त्वको मायामें हवन या विलीन कर देना चाहिए॥४३॥

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः।
ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः॥४४॥

सारे भेद-विभेद और प्रभेदोंका कारण माया ही है—ऐसा विचार करक

ब्रह्ममें विलीन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् सत्यका साक्षात्कार करनेवाले व्यक्तिको आत्मसाक्षात्कारक
होकर निष्क्रिय एवं सभी कार्योंसे उपरत हो जाना चाहिए॥४४॥

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः॥ ४५॥

प्रह्लाद! मेरा यह आत्म-वृत्तान्त अति गोपनीय है, किन्तु आप भगवान्क
परे हैं। इसलिए मैंने अपने आत्म-साक्षात्कारकी बात आपको बतला दी॥४५॥

श्रीनारद उवाच—

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः।
पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम्॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे यतिधर्मस्त्रयोदशोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—धर्मराज! असुरेश्वर प्रह्लादने दत्तात्रेय मुनिसे इस प्रकार पारमंहस्य धर्मकी कथा सुनकर उनकी वन्दना की और उनसे अनुमति लेकर प्रसन्न मनसे अपने भवनकी ओर चल दिये॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

गृहस्थ-सम्बन्धी सदाचार

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा।
यायाद्देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः॥ १॥

युधिष्ठिर महाराजने कहा—हे देवर्षि नारद! मेरे-जैसे गृहासक्त व्यक्तिको जिस विधिसे सहजरूपमें ही यह मोक्ष पदवी प्राप्त हो सकती है, आप कृपा करक

श्रीनारद उचाच—

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् यथोचिता।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥ २॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहकर प्रतिदिन गृहस्थ आश्रमक
निष्काम भावसे भगवान्को समर्पण कर दे और सन्त-महात्माओंकी सेवा करे॥२॥

शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम्।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः॥ ३॥

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥ ४॥

प्रतिदिन अवकाश-कालमें भगवद्-भक्तोंका सङ्ग करे और भगवान्की अमृतस्वरूप अवतार-कथाओंको श्रद्धापूर्वक श्रवण करते-करते इस नाशवान् शरीर एवं स्त्री, पुत्र आदिक
उसी प्रकार छोड़ता चले, जिस प्रकार जागनेपर मनुष्य स्वप्नसे आसक्ति छोड़ देता है॥३-४॥

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥ ५॥

बुद्धिमान् पुरुष जीवन-निर्वाहक
करे, अधिक नहीं। हृदयसे देह और गेहसे विरक्त रहे तथा बाहरसे
आसक्तक

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥ ६॥

भाई-बन्धु, माता-पिता, पुत्र-मित्र, सुहृद्, ज्ञाति-सम्बन्धी और
अन्यान्य व्यक्ति जो क
ममता-आसक्ति न रखकर उनका अनुमोदन करता रहे॥६॥

दिव्यं भौमञ्चान्तरीक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥ ७॥

वर्षा आदिसे उत्पन्न धान्यादि, भूमिसे प्राप्त स्वर्णादि, अकस्मात्
प्राप्त धनादि तथा आशासे परे जो क
भगवान्का ही दिया हुआ है—बुद्धिमान् गृहस्थ ऐसा समझकर प्रारब्धक
अनुसार उनको स्वीकार करक
करे, बाकी वस्तुएँ पूर्वोक्त साधुसेवा आदि कार्योमें लगा दे॥७॥

यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ ८॥

जितने धनसे उदर-पूर्ति हो जाय, उतने धनपर ही देहधारियोंका
अधिकार है। इससे अधिक आकाङ्क्षा करक
बनना चाहता है, वह चोर है और दण्डक

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥ ९॥

हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी और मक्खी आदिको
अपने पुत्रक
अन्तर ही कितना है॥९॥

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम्॥ १०॥

गृहस्थ व्यक्तिको धर्म-अर्थ-काम और मोक्षक
प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु कम परिश्रमसे देश, कालक
अनुसार और भगवत्-कृपासे जो क
जीवनका निर्वाह करते हुए सन्तुष्ट रहना चाहिए॥१०॥

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान् संविभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥ ११॥

अपनी भोग्य वस्तुओंको क
व्यक्तियोंमें यथायोग्य बाँट देना चाहिए। अपनी स्त्रीको भी
जिससे मनुष्य अत्यधिक ममता रखता है, अपनी सेवामें
न लगाकर अतिथिकी निर्दोष सेवामें नियुक्त कर
देना चाहिए॥११॥

जह्याद्यदर्थे स्वान् प्राणान् हन्याद्वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः॥ १२॥

जिस स्त्रीक
और जिसक
हैं, उस स्त्रीक
दिया, उसने स्वयं भगवान्‌को ही जीत लिया॥१२॥

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः॥ १३॥

यह शरीर अन्तमें कीड़ा, विष्ठा या राखकी ढेरीमें बदल जायेगा,
कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और जिसक
आसक्ति होती है, कहाँ उसका शरीर और कहाँ अपनी महिमा
द्वारा सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली अनन्त आत्मा!॥१३॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥ १४॥

जो बुद्धिमान् गृहस्थ दैववश प्राप्त और पञ्च यज्ञादिसे बचे हुए अन्नादिक
अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओंमें 'स्वत्व' का त्याग कर देता है, वह महात्माकी पदवीको प्राप्त कर लेता है॥१४॥

देवानृषीन् नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्या गतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥ १५॥

गृहस्थको चाहिए कि वह अपनी वर्णाश्रमोचित वृत्तिसे उपार्जित धन द्वारा प्रतिदिन पृथक्-पृथक्रूपसे देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत, पितर तथा अपनी आत्माको सन्तुष्ट करे। यह सबक
सर्वान्तर्यामी परमात्माकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें आराधना है॥१५॥

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्॥ १६॥

जिस समय गृहस्थ व्यक्तिको अपने अधिकारक
अर्थादिसे यज्ञ सामग्री उपलब्ध हो जाय, उस समय उसे वैतानिक (प्रामाणिक शास्त्रोंकी) विधिक
उद्देश्यसे अग्निहोत्रादि यज्ञ करने चाहिए॥१६॥

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः॥ १७॥

हे राजन्! समस्त यज्ञोंक
मुखमें हविष्यान्न (घी एवं अन्नसे बने व्यञ्जन) अर्पण करनेसे जिस प्रकार तृप्त होते हैं, उतनी तृप्ति उन्हें यज्ञाग्निक
डाली गयी घी आदिकी आहुतियोंको प्राप्त करक

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु॥ १८॥

अतः सर्वप्रथम ब्राह्मणों एवं देवताओंको भलीभाँति सन्तुष्ट करे। उनक
सामग्रियाँ प्रदान करक
अर्चन करे॥१८॥

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।
श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनाञ्च वित्तवान्॥ १९॥

यदि ब्राह्मणक
भाद्र मासक
महालय पर्व (आश्विन मास क
चान्द्र वर्षका अन्तिम दिन) पर माता-पिताक
श्राद्ध करना चाहिए॥१९॥

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां श्रवणेषु च॥ २०॥
तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्त्तिके।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा॥ २१॥
माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे।
राकया चानुमत्या व मासर्क्षाणि युतान्यपि॥ २२॥
द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः।
तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्॥ २३॥

इसक
अर्थात् मकर संक्रान्ति और कक
एवं मेषकी संक्रान्ति, वे दोनों दिन जिनमें दिन एवं रात समान रहते हैं), व्यतीपात (सूर्य-चन्द्र योगकी सत्रहवीं कोटि), दिनक्षय (त्र्यहस्पर्श—तीन तिथियोंक
चन्द्र ग्रहण या सूर्य ग्रहण, द्वादशीक
उत्तर-फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा और उत्तर भाद्र नक्षत्रमें, अक्षय-तृतीया, कार्त्तिक शुक्ला नवमी (अक्षयनवमी), हेमन्त एवं शिशिर ऋतुकी चारों अष्टिका, अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन—इन चारों महीनोंकी कृष्णाष्टमी, माघमासकी शुक्लपक्षीय सप्तमी और मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा, प्रत्येक महीनेकी वह पूर्णिमा जो अपने महीनेक
नक्षत्र—चित्रा, विशाखा ज्येष्ठा आदिसे युक्त हों, द्वादशी तिथिसे युक्त अनुराधा, श्रवणा, उत्तरफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा और उत्तर भादप्रद

नक्षत्र, उत्तरा नक्षत्रोंसे युक्त एकादशी, (उपवासक
तथा अपने जन्म नक्षत्र अथवा श्रवणा-नक्षत्र योगक
श्राद्ध करना चाहिए॥२०-२३॥

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्द्धनाः।
कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः॥ २४॥

पूर्वोक्त सभी योग क
सभी धर्मानुष्ठानोंक
हैं। इन सभी काल-योगोंमें सम्पूर्ण प्रयत्नक
करने चाहिए। इसीमें जीवनकी सफलता है॥२४॥

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्ध्यनश्वरम्॥ २५॥

इन मङ्गलकारी योगोंमें किया गया स्नान, जप, होम, व्रत, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा एवं पितर, देवता, मनुष्य और अन्यान्य प्राणियोंको जो क
एवं अक्षय होता है॥२५॥

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप॥ २६॥

हे राजन्! इसी प्रकारसे पत्नीक
जातकर्मादि संस्कार, स्वयंकी यज्ञ दीक्षादि, अन्त्येष्टि संस्कार तथा माता-पिताक
कर्मोंक

अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय-आवहान्।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते॥ २७॥
बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपो-विद्या-दयान्वितम्॥ २८॥

अब मैं उन स्थानोंक
श्रेयोंकी वृद्धि करानेवाले हैं। युधिष्ठिर! सर्वाधिक पवित्र देश

वह है, जहाँ वैष्णव निवास करते हों, चर और अचर जगत् जिनमें स्थित है, उन भगवान्‌की प्रतिमा (अर्चाविग्रह) जहाँ-जहाँ स्थापित हों, वे सभी पुण्यतम देश हैं, और जहाँ तप, विद्या एवं दयादिसे युक्त ब्राह्मण-वंश वास करते हों, वे सभी स्थान परम कल्याणकारी हैं॥२७-२८॥

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः॥ २९॥

जिस स्थानपर भगवान्क
पुराण प्रसिद्ध गङ्गादि नदियाँ हैं, वे देश सभी प्रकारक
आश्रय हैं॥२९॥

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः॥ ३०॥
नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा॥ ३१॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः॥ ३२॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।
एतान् देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः॥ ३३॥

पुष्कर आदि सरोवर, उत्तम साधुओं द्वारा सेवित क्षेत्र, क
गया, प्रयाग, पुलहाश्रम (शालग्राम क्षेत्र), नैमिषारण्य, फाल्गुन नदी, सेतुबन्ध, प्रभास, क
बिन्दु-सरोवर, नारायणश्रम (बदरिकाश्रम), अलकनन्दा नदी, भगवान् श्रीराम और सीताक
मलयादि सभी क
अर्चाविग्रह अधिष्ठित हैं—हे राजन्! अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्तियोंको बार-बार इन पवित्र स्थानोंका सेवन करना चाहिए।

मनुष्य इन स्थानोंपर जो पुण्य कर्म करता है, उसका उसे सहस्र गुना अधिक फल प्राप्त होता है॥३०–३३॥

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम्॥ ३४॥

हे पृथ्वीनाथ! श्रेष्ठपात्रक
श्रीहरिको ही सत्पात्र बतलाया है, क्योंकि वे ही चराचर जगत्क
एकमात्र आधार हैं॥३४॥

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः॥ ३५॥

हे राजन्! तुम्हारे राजसूय–यज्ञमें अग्रपूजाक
ऋषियों, तपस्वियों एवं सिद्धजनोंक
श्रीकृष्णको ही एकमात्र सत्पात्र निर्धारित किया गया था॥३५॥

जीवराशिभिराकीर्ण अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्॥ ३६॥

असंख्य जीवोंसे परिपूर्ण इस ब्रह्माण्डकोशरूप सुविशाल संसार–वृक्षक
पूजा करनेसे समस्त जीवोंकी पूजा और अपनी भी तृप्ति हो जाती है॥३६॥

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ॥ ३७॥

भगवान् मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि एवं देवता आदि शरीररूपपुरोंकी रचना करक
हैं, इसीलिये वे 'पुरुष' नामसे प्रसिद्ध हैं॥३७॥

तेष्वेव भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्त्तते।
तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते॥ ३८॥

हे राजन्! भगवान् इन सभी शरीरोंमें न्यूनाधिकरूपसे विराजमान रहते हैं, किन्तु तारतम्य भावसे पशु–पक्षीसे मनुष्य ही श्रेष्ठ पात्र

हैं और मनुष्योंमें भी जिसमें आत्मज्ञानादिका अंश जितना अधिक है, वह उतना ही श्रेष्ठ है॥३८॥

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥ ३९॥

हे राजन्! त्रेतादि युगोंमें जब ऋषियोंने यह देखा कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरेका अपमानादि करते हैं, तब उन्होंने उपासनाकी सिद्धि एवं भगवान्क
करक

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्॥ ४०॥

युधिष्ठिर! तभीसे कितने ही लोग अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रचुर पूजा-सामग्रियोंक
हैं, परन्तु जो व्यक्ति मनुष्योंक
श्रीमूर्त्तिकी सेवा करनेपर भी परमार्थ-सिद्धि प्राप्त नहीं होती॥४०॥

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥ ४१॥

हे राजेन्द्र! मनुष्योंमें भी ब्राह्मणको ही सत्पात्र माना गया है क्योंकि ब्राह्मण अपनी तपस्या, विद्या एवं सन्तोष आदि गुणोंसे भगवान् श्रीहरिक

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् कृष्णस्य जगदात्मनः।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

हे महाराज! जगदीश्वर, सर्वात्मा, ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण भी इन ब्राह्मणोंका बहुत आदर करते हैं, क्योंकि इनकी पद-धूलिसे तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं॥४२॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

गृहस्थोंक

श्रीनारद उवाच—

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः॥ १॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! क
हैं, क
निपुण (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते हैं, क
उपलब्धिमें और क
(यहाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठता दिखाई गई है)॥१॥

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः॥ २॥

जो अपने पितरोंका अथवा अपना मोक्ष चाहते हैं, उन्हें पितरों और देवताओंक
कव्य दान देना चाहिए, यदि ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण न मिले तो ज्ञानक तारतम्यानुसार सकाम कर्मोंमें अनुरक्त (कर्मकाण्डी) ब्राह्मणको दान देना चाहिए॥२॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्॥ ३॥

देवताओंक
किये गये कार्यमें तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए अथवा दोनों ही कार्योंमें एक-एक ब्राह्मणको आमंत्रित करना पर्याप्त है। यदि कोई बहुत समृद्धिवान् है, तो भी श्राद्ध-कर्ममें खर्चका अधिक विस्तार नहीं करना चाहिए॥३॥

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च।
सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात्॥ ४॥

जामाता आदि सगे-सम्बन्धियों अथवा ब्राह्मणोंको विस्तारपूर्वक श्राद्ध अर्पण करनेसे देश-कालोचित श्रद्धा, द्रव्य, पात्र एवं पूजन भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो पाते, त्रुटियाँ रह जाती हैं॥४॥

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम्।
श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम्॥ ५॥

पुण्य स्थान और काल प्राप्त होनेपर ऋषि-मुनियोंक
करने योग्य घी आदिसे बने शुद्ध हविष्यान्नको सर्वप्रथम भगवान् श्रीहरिको प्रेमसे निवेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् श्रद्धापूर्वक विधिवत् सत्पात्रको अर्पण करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे यह सभी मनोरथ प्रदान करनेवाला और अक्षय होता है॥५॥

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत्पुरुषात्मकम्॥ ६॥

देवता, ऋषि, पितर, मित्र, समस्त प्राणियों और आत्मीय-बन्धुओंको
भगवान्क
विभाजन कर देना चाहिए॥६॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥ ७॥

धर्म-तत्त्वको जाननेवाले व्यक्तिको श्राद्धमें मांस अर्पण कभी नहीं करना चाहिए और न ही कभी स्वयं खाना चाहिए। भगवान् एवं पितरोंको नीवारादि हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसासे नहीं होती॥७॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः॥ ८॥

जो लोग सद्धर्म पालन करनेकी अभिलाषा रखते हैं, उनको चाहिए कि वे किसी भी प्राणीको तन, मन और वचनसे कष्ट न दें। इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है॥८॥

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ ९॥

निष्काम धर्मक
जाननेवाले ज्ञानीजन ज्ञानसे उत्पन्न आत्म-संयमरूपी अग्निमें कर्ममय यज्ञोंका हवन कर देते हैं अर्थात् वे सम्पूर्ण कर्म-काण्डसे उपरत हो जाते हैं॥९॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।
एष माऽकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृप् ध्रुवम्॥ १०॥

जब कोई पशु-पुरोडाशादि द्रव्योंसे यज्ञ करता है, तब उस पुरुषको देखकर सारे प्राणी भयभीत होकर सोचने लगते हैं कि यह (धर्म-तत्त्वसे अनभिज्ञ) निर्दयी, मूर्ख और अपने प्राणोंका पोषण करनेवाला यजमान निश्चय ही मुझे मार डालेगा॥१०॥

तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः॥ ११॥

अतः धर्मज्ञ व्यक्तिको किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। प्रारब्धवश मुनिजनोचित जो क
नित्य-नैमेत्तिक कर्मोंका निर्वाह करक

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥ १२॥

अधर्म रूपी वृक्षकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा (उपधर्म—धार्मिक जैसे लगने पर भी वैसे होते नहीं) और छलधर्म। धर्मज्ञ व्यक्तिको इन्हें अधर्मक
त्याग देना चाहिए॥१२॥

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥ १३॥

धर्म-बुद्धिसे किये जानेपर भी जिससे अपने धर्ममें बाधा आती है, उसे 'विधर्म' कहते हैं। जब किसी अन्यक

लिए धार्मिक नियमका प्रारम्भ किया जाता है (जैसा कि आजकल देखा जाता है), वह 'परधर्म' है, स्वयंको धार्मिक दिखानेक
जटा, भस्मादि धारण करना—अर्थात् पाखण्ड और दम्भका प्रदर्शन 'उपधर्म' है और शास्त्रक
'छलधर्म' है॥१३॥

यस्त्विच्छया कृतः पुंभिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥ १४॥

मनुष्य अपने वर्णाश्रमसे भिन्न अपनी-अपनी रुचि एवं स्वभावक अनुसार जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है। अपने-अपने वर्ण और आश्रमानुसार किये जानेवाले धार्मिक कार्य भला किसक दुःखोंका विनाश नहीं करते?॥१४॥

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाऽधनो धनम्।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा॥ १५॥

निर्धन व्यक्ति धर्मक
धन-प्राप्तिकी चेष्टा न करे। जिस प्रकार अजगर कोई चेष्टा न करक भी जीवन धारण करता है, उसी प्रकार धनकी चेष्टासे रहित व्यक्तियोंकी निष्कामता ही उनक

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥ १६॥

किसी भी प्रयाससे रहित, सर्वदा सन्तुष्ट और आत्माराम पुरुषको जो सुख मिलता है, वह सुख विषयादिक
पीछे इधर-उधर भागनेवाले व्यक्तिको कहाँ प्राप्त होता है?॥१६॥

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥ १७॥

जिसक
क
सन्तुष्ट हो, उसका सभी दिशाओंमें मङ्गल ही मङ्गल है॥१७॥

सन्तुष्टः केन वा राजन् न वर्त्तेतापि वारिणा।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः॥ १८॥

हे राजन्! जिसका चित्त सन्तुष्ट है, उसे किसी भी पदार्थसे यहाँ तक कि जलसे भी सन्तोष प्राप्त हो जाता है। जो रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियकी तृप्ति चाहते हैं, वे तो घरेलू क
अति दयनीय दशा वाले होते हैं॥१८॥

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानञ्चैवावकीर्यते॥ १९॥

इन्द्रिय-तृप्तिसे जो ब्राह्मण असन्तुष्ट रहता है, इन्द्रियोंकी चञ्चलताक
जाते हैं और उसका विवेक विनष्ट हो जाता है॥१९॥

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥ २०॥

भूख-प्याससे कातर व्यक्तिको अन्न-जल मिल जानेपर उसकी कामनाका अन्त हो जाता है, क्रोधका फल जो हिंसादि पर-पीड़न है, उस हिंसादिसे क्रोध भी शान्त हो जाता है, किन्तु लोभी व्यक्ति यदि सम्पूर्ण दिशाओंको जीत भी ले और सारी पृथ्वीका उपभोग कर ले तो भी उसक

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥ २१॥

युधिष्ठिर! अनेक विषयोंको जाननेवाले, समस्त शङ्काओंका निराकरण करक
सभाओंक

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥ २२॥

अतः कामनाओंका त्याग करक
त्याग करक

अर्थको अनर्थ समझकर लोभपर और तत्त्व-विचार द्वारा भयको जीत लेना चाहिए॥२२॥

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥ २३॥

आत्म-अनात्म विवेक (ब्रह्मविद्या) द्वारा शोक एवं मोहको, साधुपुरुषोंकी सेवा करक
बाधाओंको और देहकी कामादि चेष्टाओंको छोड़कर हिंसाको जीत लेना चाहिए॥२३॥

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥ २४॥

आधिभौतिक (दूसरे जीवों द्वारा प्रदत्त) दुःखोंका प्रतिकार दयाक द्वारा आधिदैविक (दैववश प्राप्त) कष्टोंका प्रतिकार समाधिसे, एवं आध्यात्मिक (शारीरिक एवं मानसिक) दुःखोंका प्रतिकार योगबलसे करना चाहिये। निद्राको सात्त्विक आहारसे जय कर लेना चाहिए॥२४॥

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥ २५॥

सत्त्वगुणसे रजोगुण एवं तमोगुणपर और उपशमन द्वारा (सुखकी आशा रहित होकर) सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। श्रीगुरुदेवकी भक्तिसे साधक अनायास ही इन सभी दोषोंको जीत लेता है॥२५॥

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥ २६॥

हृदयमें ज्ञान-प्रदीपको प्रज्वलित करनेवाले श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान्क
है, वह दुर्बुद्धि है। उसका समस्त शास्त्र-अध्ययन हाथीक
समान व्यर्थ होता है॥२६॥

एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्॥ २७॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रधान एवं पुरुषक
योगीश्वर उनक
उन्हें भी लोग साधारण मनुष्य समझ लेते हैं। गुरुदेव भी इसी प्रकार भगवान्क

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥ २८॥

शास्त्रोंमें इष्टपूर्त्तादि जितने भी विधि एवं नियम बतलाये गये हैं, उन सबका लक्ष्य—पाँचों इन्द्रियों, मन एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षड् शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना है। ऐसा होनेपर भी यदि समाधि, धारणा, और ध्यानादि नियमोंसे भगवान्का चिन्तन-मनन न हो तो उन्हें व्यर्थका श्रम ही समझना चाहिए॥२८॥

यथा वार्त्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।
अनर्थाय भवेयुः स्म पूर्त्तमिष्टं तथासतः॥ २९॥

जिस प्रकार खेती आदि व्यापार, योग-साधनाक
दे नहीं सकते, उसी प्रकार भगवान्से विमुख व्यक्तिक
इष्ट-पूर्त्तादि कर्म परमार्थ प्रदान नहीं करते, अपितु विपरीत फल ही प्रदान करते हैं (साधकको संसारकी ओर धक

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः॥ ३०॥

जो अपने मनपर विजय प्राप्त करनेकी अभिलाषासे प्रयासरत हैं, उन्हें अपने परिवारकी आसक्ति एवं समस्त प्रकारक
होकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए तथा एकान्तवास करते हुए अपनी देहकी रक्षाक
ही करना चाहिए॥३०॥

देशे शुचौ समे राजन् संस्थाप्यासनमात्मनः।
स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति॥ ३१॥

हे राजन्! पवित्र एवं समतल भूमिपर अपना आसन बिछाये और अपने अङ्गोंको सीधे रखकर स्थिर भावसे सुखकर आसन लगाकर 'ॐ' कारका जप करे॥३१॥

प्राणापानौ संनिरुध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः।
यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः॥ ३२॥

यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः॥ ३३॥

जबतक मनसे सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त न हो जाय, तबतक अपनी नासिकाक
द्वारा प्राण एवं अपान वायुको भलीभाँति रोक
चाहिए कि विषयोंसे आकृष्ट होकर मन उनकी प्राप्तिक
जहाँ-जहाँ जाये, उसे वहाँ-वहाँसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदयमें स्थिर करे॥३२-३३॥

एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत्॥ ३४॥

इस प्रकारसे निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगीका चित्त अल्पकालमें ही उसी प्रकार संयत हो जाता है, जिस प्रकार ईंधनक
अग्नि शान्त हो जाती है॥३४॥

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्॥ ३५॥

विषयोंसे क्षुब्ध न होकर जब समस्त वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्म-सुखक
और वह पुनः कभी बाहरी वृत्तियोंमें नहीं उलझता॥३५॥

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥ ३६॥

यदि कोई संन्यासी धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गक
कारण गृहाश्रमका परित्याग कर देता है और पुनः उसी गृहस्थ-धर्मको भोगने लगता है, तो वह अपने उगले हुएको खानेवाला (बान्ताशी) और निर्लज्ज कहलाता है॥३६॥

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्त्यो विट्कृमिभस्मवत्।
त एनमात्मसात् कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः॥ ३७॥

जिन संन्यासियोंने अपनी देहको अनात्म, मरणशील, विष्ठा, कृमि और राख मान लिया था, वे अजितेन्द्रिय मूर्ख पुनः उस देहको आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं॥३७॥

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता॥ ३८॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बनाः।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९॥

विधि-विधानोंका त्याग करनेवाला गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, ग्राममें वास करनेवाला वानप्रस्थी और इन्द्रिय-लोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रमक
करते, क
समझकर कृपापूर्वक इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए॥३८-३९॥

आत्मानञ्चेद्विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥ ४०॥

आत्मज्ञानक
और जिसने आत्माको देहसे पृथक् जान लिया है, वह मूर्ख और लम्पट किस विषय अभिलाषासे अथवा किस कारणसे और क्या प्राप्त करनेक

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम्॥ ४१॥

बड़े-बड़े मनीषियोंका कहना है कि ईश्वर द्वारा रचित यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका नियामक मन इनकी लगाम है, शब्द, स्पर्शादि इस रथक
है और चित्त इस शरीरको बाँधनेवाली रस्सी है॥४१॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनञ्च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरन्तु जीवं परमेव लक्ष्यम्॥४२॥

इसी प्रकार दस प्राण इस शरीररूपी रथकी धुरी हैं, धर्म और अधर्म इसक
प्रणव (ॐकार) धनुष स्वरूप है, शुद्ध जीव बाण है और परब्रह्म लक्ष्य हैं। जिस प्रकार धनुष द्वारा फ
देता है, उसी प्रकार प्रणवसे जीव परब्रह्मको बींध लेता है अर्थात् उनतक पहुँच जाता है॥४२॥

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित्॥४४॥

राग, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, भय, मद, मान, अपमान, दूसरेक गुणोंमें दोष निकालना, छलावा, हिंसा, ईर्ष्या, अभिनिवेश, प्रमाद, भूख और नींद—ये सब साधकक
एवं तमोगुणकी वृत्तियाँ देखी जाती हैं, जिनसे साधककी धारणाएँ (अज्ञान एवं कामेच्छाक
परोपकारादि सात्त्विक प्रवृत्तियाँ भी शत्रु-स्वरूप हो जाती हैं॥४३-४४॥

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वानन्दतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्॥४५॥

अतः मनुष्योंको चाहिए कि मानव देहरूपी रथक
जो इन्द्रियादि परिकर हैं, उन्हें अपने वशमें करक
धारण करे, तब तक श्रीगुरुदेवादि पूज्यजनोंकी सेवासे प्राप्त तीक्ष्ण धारसे युक्त ज्ञानकी तलवार लेकर भगवत्-बलसे सारे शत्रुओंका नाश करक
प्राप्तिसे सन्तुष्ट होकर इस देहरूपी रथका भी त्याग कर दे॥४५॥

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति॥ ४६ ॥

अन्यथा जरा-सी असावधानीसे दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़े इस देहरूपी रथको उलटे रास्तेमें (प्रवृत्ति मार्गमें) ले जाकर विषयरूपी दस्युओंक
रथक
डाल देंगे, जहाँ वह बार-बार जन्म-मृत्यु की भयावह स्थितिसे व्याक

प्रवृत्तं च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्त्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥ ४७ ॥

वेद विहित कर्म दो प्रकारक
प्रवृत्तिपरक कर्मोंको करनेसे इस संसारमें बार-बार आना-जाना पड़ता है, जबकि निवृत्तिपरक कर्मोंसे अमृत-भोग एवं आत्म-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है॥४७॥

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः॥ ४८ ॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।
पूर्त्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम्॥ ४९ ॥

पशु-बलिसे युक्त श्येनयागादि हिंसामय कर्म, अग्निहोत्र, दर्श नामक यज्ञ, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, पशुओंका वध,

व्रीहि आदि द्रव्योंसे युक्त कर्म, काम्य कर्म, वैश्वदेव, बलिहरण उत्सव आदि 'इष्ट' कर्म कहलाते हैं—और देवालय, उपवन, क खुदवाना, प्याऊ लगवाना आदि जन-साधारणक
किये जानेवाले कर्म 'पूर्त्त' कर्म कहलाते हैं, ये सभी इष्टपूर्त्त कर्म प्रवृत्तिपरक हैं, क्योंकि भौतिक इच्छाओंक
हैं तथा ये कर्म ही जीवनमें अशान्तिक
प्रवृत्तिपरक कर्मोंसे संसारमें अत्यन्त आसक्ति होती है॥४८-४९॥

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः॥५०॥

अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः।
एकैकश्येनानुपूर्व्या भूत्वा भूत्वेह जायते॥५१॥

हे महाराज! प्रवृत्तिपरक कर्मोंको करनेवाला मनुष्य मृत्युक यज्ञादिमें हवन की हुई चरु, पुरोडाशादि द्रव्य-सामग्रियोंक परिणामरूप देहान्तर प्राप्त करक
पास जाता है। वहाँसे वह क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन और चन्द्रलोकादि उच्चसे उच्चतर लोकों तक पहुँचता है। पुण्य समाप्त होनेपर यज्ञकर्त्ता विलीन-देह होकर वृष्टि द्वारा क्रमानुसार ओषधि, लता, वनस्पति, अन्न एवं प्राणियोंक
परिणत होकर पितृयान नामक प्रवृत्ति मार्गसे पुनः इस संसारमें जन्म लेता है॥५०-५१॥

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति॥५२॥

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि तक—ये सब-क
होते हैं, उनको 'द्विज' कहते हैं। (पूर्वोक्त द्विज प्रवृत्तिमार्गका अनुगमन करनेवाले हैं।) निवृत्तिपरायण द्विज इष्टपूर्त्तादि कर्मोंसे होनेवाले समस्त यज्ञोंको विषयोंका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियोंमें हवन कर देता है॥५२॥

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तन्तु प्राणे महत्यमुम्॥ ५३॥

तत्पश्चात् सारी इन्द्रियोंको शोक-मोहादि तरङ्गोंसे युक्त विविध सङ्कल्परूपी मनमें और कर्त्तृत्वादि विकारयुक्त मनको परा वाणीमें, वाणीको वर्ण-समुदायमें, वर्ण-समुदायको अकारादि-अ, उ, म त्रय-स्वरात्मक ॐकारमें, ॐकारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मारूप प्राणमें तथा शेषमें जो जीव बचे, उसे ब्रह्ममें स्थापित कर देता है॥५३॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।
विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्॥ ५४॥

निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी अग्नि, सूर्य, दिवस, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णिमा, उत्तरायणक
प्रवेश करक
जब समाप्त हो जाते हैं, तब उसकी 'विश्व' अर्थात् स्थूलोपाधि हो जाती है। तब वह स्थूलको सूक्ष्ममें लीन करक
'तैजस' हो जाता है। इसक
कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' हो जाता है, फिर सर्वत्र साक्षी-स्वरूपमें अन्वय (अनुगत) होनेक
कराक
साक्षीत्वमें विलीन हो जानेपर वह शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है॥५४॥

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते॥ ५५॥

तत्त्वज्ञानी इस पथको 'देवयान' मार्ग कहते हैं। प्रवृत्ति पथपर चलनेवालोंको उन सभी लोकोंकी प्राप्तिक
लौटना पड़ता है, किन्तु जो रागादि वासनाओंसे रहित परमात्माक

उपासक आत्मज्ञानी जीव हैं, उनको जन्म-मृत्युक
नहीं लौटना पड़ता॥५५॥

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति॥५६॥

इस प्रकार पितृयान एवं देवयान नामक दो पथ हैं। जो शास्त्ररूपी चक्षुओंसे इन्हें भलीभाँति जान लेता है, वह शरीरमें रहते हुए भी मोहित नहीं होता॥५६॥

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचोवाच्यं तमोज्योतिस्त्वयं स्वयम्॥५७॥

देहारम्भसे पहले कारणस्वरूपमें और इसका अन्त होनेपर सीमारूपमें जो सद्वस्तु अर्थात् स्वयं ब्रह्म वर्त्तमान रहते हैं, वे ही बाहरसे भोग्य-मायिक वस्तुक
स्थित हैं, वे ही उत्कृष्ट और निकृष्ट ज्ञान और ज्ञानक
वे ही वाणी आदि इन्द्रिय और शब्दादि वाणीक
वे ही नाम और रूप (अभिलेख और अभिव्यक्ति) हैं, वे ही अन्धकार और प्रकाश हैं—इस प्रकार स्वयं वे तत्त्ववेता ही सब
क
जानकर ज्ञानी कभी मोहित नहीं होता॥५७॥

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम्॥५८॥

दर्पण आदिमें दिखनेवाले प्रतिबिम्बका अस्तित्व सर्वत्र मिथ्या मानकर स्थिर किया गया है, तो भी उसकी यथार्थरूपमें प्रतीति होती है (द्विचन्द्र इत्यादि मिथ्याभूत होनेपर भी बालक वस्तुरूपमें मानते ही हैं), उसी प्रकार इन्द्रिय-समूहात्मक देह एवं तत्सम्बन्धित विषयोंकी पदार्थ (यथार्थ) रूपमें चाहे कल्पना की जाय, किन्तु परमार्थ-विचार, आत्मानुभव, युक्ति-विरुद्धत्वक
नहीं हैं॥५८॥

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा॥ ५९॥

इस लोकमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश—पञ्च महाभूतोंसे ऐक्य-बुद्धिका आश्रय कर देहको उनका प्रतिबिम्ब (छाया) कहा गया है किन्तु यह देह पञ्चभूतोंसे निर्मित नहीं है (अतः देह पञ्चतत्त्वका प्रतिबिंव नहीं है)। देहादिमें संघात (पञ्चभूतोंका संयोग), आरम्भ और परिणाम (रूपान्तर) क
नहीं है। इस प्रकार पञ्चभूतोंका विकार अथवा परिणाम यह देह है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि अवयव (अङ्ग-विशेष) से अवयवी पृथक् नहीं है और न ही वह किसीक
यह देह मिथ्या मात्र है। (यहाँ निर्विशेषवादियोंक
खण्डन है)॥५९॥

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः॥ ६०॥

इसी प्रकार पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंका अवययीत्व है, अतः वे तन्मात्र (सूक्ष्मावयव) रूपी अपने अवयवों—इन्द्रिय विषयोंक
रह नहीं सकते। इसलिए अवयवीक
होनेपर अवयव पृथ्वी आदि भी मिथ्या अथवा क्षणिक सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि अवययी सिद्ध न होनेपर अवयवके सत्यत्वका कोई प्रमाण नहीं है॥६०॥

स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता॥ ६१॥

एक परमात्मामें अनेक वस्तुओंका भेद मानना आरोपसादृश्य भ्रम है। जिस प्रकार सत्य तेजमें, सत्य जलका भ्रान्तिमूलक आरोप मरीचिका जल कहा जाता है, (जल तो है, परन्तु वह रेगिस्तानमें नहीं है) उसी प्रकार सत्य ब्रह्मक

स्थित क्षितिका जागतिक पृथ्वीमें आरोप सादृश्य अज्ञानमूलक भ्रम है। स्वप्न जिस प्रकार जाग्रत एवं निद्रा अवस्थाका अन्तर उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार मिथ्याभूत जगत्में ये विधि-निषेध अज्ञान अविद्याकी अवस्थामें ही हैं। (ज्ञानी वेदोक्त निर्गुण भक्तियोगका अनुष्ठान करें।) ॥६१॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
वर्त्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः॥६२॥

चिन्तन-परायण मुनिगण अपने भाव, क्रिया (कार्य) एवं द्रव्य (भावाद्वैत, कार्याद्वैत और द्रव्याद्वैत) की आलोचना करक आत्मतत्त्वकी अनुभूतिक

बुद्धि, कर्मसाधित फल—द्रष्टा, दर्शन, एवं दृश्य) तीनों अवस्थाओंका त्याग कर देते हैं॥६२॥

कार्यकारणवस्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते॥६३॥

द्वैत अथवा भेद वास्तवमें हैं ही नहीं। जैसे भेदके असत्यत्वके कारण सूत वस्त्र ही होता है (जैसे वस्त्र सूतरूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है, भेद वस्तुतः है ही नहीं), उसी प्रकार जगत् एवं प्रकृतिक

एकताका जो विचार किया जाता है, उस विचारको भावाद्वैत कहते हैं॥६३॥

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते॥६४॥

हे पार्थ! मन, वाणी एवं शरीरसे जो क

है, उसे साक्षात् भावसे परब्रह्मको समर्पण कर देना क्रियाद्वैत कहलाता है॥६४॥

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते॥६५॥

युधिष्ठिर! जो अपना स्वार्थ और काम है, वही पत्नी, पुत्रादि, सम्बन्धी एवं समस्त प्राणियोंका है—इस प्रकार जो अर्थ और भोग मेरा है, वह सबका है, इस स्वार्थ एवं कामके ऐक्यको द्रव्याद्वैत कहते हैं। (प्रत्येक व्यक्तिके स्वार्थ विष्णु हैं (स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्) काम्य अर्थात् प्राप्य वस्तु—विष्णुधाम है)॥६५॥

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि॥ ६६॥

हे राजन्! मनुष्योंको चाहिए वे अपने सारे कार्यकलाप ऐसी वस्तुओं, उपायों एवं प्रयासोंसे सम्पन्न करें, जो शास्त्राज्ञाक
हों, ऐसे स्थानोंपर रहें, जहाँ वास करना निषिद्ध न हो। आपत्तिकालको छोड़कर इसक

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्त्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः॥ ६७॥

महाराज! भगवद्–भक्त इन वेदोक्त विधियों एवं अपने अन्यान्य वृत्तिपरक कार्योंको सम्पन्न करते हुए घरमें रहकर भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त कर सकते हैं॥६७॥

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा–
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा–
नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून्॥ ६८॥

हे नृपदेव युधिष्ठिर! आपने अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे बलशाली राजा एवं देवताओंक
आपत्तियोंपर भी विजय प्राप्त कर ली है और उन्हींकी चरणोंकी सेवासे बड़े–बड़े दिग्गजोंको जीतकर एवं यज्ञ–सामग्रीका आहरण कर बड़े–बड़े राजसूयादि यज्ञ किये हैं॥६८॥

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः॥ ६९॥

पूर्वजन्ममें, इसक
था। अन्य सभी गन्धर्व मेरा बड़ा सम्मान करते थे॥६९॥

रूपपेशलमाधुर्य - सौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तः स्वपुरलम्पटः॥७०॥

मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अत्याकर्षक एवं अनूठी थी। मेरे शरीरसे अपूर्व सुगन्ध निकला करती थी। मैं प्रियदर्शन था। मेरे पुरकी स्त्रियाँ मुझसे बहुत प्रेम करती थीं और मेरी भी उनमें अत्यधिक आसक्ति थी। मैं उन्मत्त और लम्पट था॥७०॥

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने॥७१॥

एक समय देवताओंक
आदि बड़े-बड़े प्रजापति आये थे। उन्होंने हरिलीला-गानक
गन्धर्व एवं अप्सराओंको निमन्त्रित किया था॥७१॥

अहञ्च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः॥७२॥

मैं भी उस निमन्त्रणक
गया और उनकी आज्ञाक
ढंगसे लौकिक गीत गाने लगा। जब प्रजापतियोंने देखा कि यह तो हमारा अपमान कर रहा है, तब उन्होंने अपनी-अपनी शक्तिक प्रभावसे मुझे शाप दे दिया—"तुमने हमारा अनादर किया है, अतः तुम्हारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम शूद्र हो जाओ।"॥७२॥

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम्।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम्॥७३॥

यद्यपि मैंने एक दासीसे शूद्रक
वेदवादी महात्माओंकी सेवा और उनक
पुनः मेरा ब्रह्माक

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः।
गृहस्थो सेन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात्॥ ७४॥

हे युधिष्ठिर! जिसक
प्राप्त होनेवाली परम गति प्राप्त कर सकते हैं, मैंने तुम्हें वही पापनाशक गृहस्थ धर्म बतला दिया॥७४॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ ७५॥

महाराज! इस धराधाममें आपलोग अति भाग्यवान् हैं, क्योंकि साक्षात् परब्रह्म मनुष्यरूप धारण करक
रूपसे निवास करते हैं। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले ऋषि-मुनि आपक

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च॥ ७६॥

अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि बड़े-बड़े साधु जिनका अन्वेषण करते हैं, वे मायाक
अनुभव-स्वरूप परब्रह्म, परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आपक
हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु एवं स्वयं आत्मा हैं॥७६॥

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ ७७॥

साक्षात् शिव, ब्रह्मादि भी अपनी बुद्धिक
वास्तविक वर्णन नहीं कर सकते और जो मौन, भक्ति एवं

उपशमक
हैं, वे सात्वत-पति हमपर प्रसन्न हों॥७७॥

श्रीशुक उवाच—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णञ्च प्रेमविह्वलः॥७८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भरतक
देवर्षि नारदक
हुए। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की॥७८॥

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः॥७९॥

मुनि श्रेष्ठ देवर्षि नारद श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरादिसे सत्कार प्राप्त करक
सुनकर युधिष्ठिरको अत्यन्त विस्मय हुआ॥७९॥

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्त्तिताः।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

इति सप्तमः स्कन्धः समाप्तः॥

प्रिय परीक्षित्! इस प्रकार मैंने दक्ष-पुत्रियोंक
वर्णन तुम्हें सुनाया। उनसे ही देवता, असुर, मनुष्य आदि तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि हुई है॥८०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमः स्कन्धः समाप्तः।

अष्टमः स्कन्धः

अष्टम स्कन्धकी कथाका सार

स्वायम्भुव मनुके वंश-विस्तारको सुनकर महाराज परीक्षित्ने अन्यान्य मनु एवं तत्-तत् मन्वन्तरोंमें भगवान्के आविर्भावोंके विषयमें जिज्ञासा की। तब श्रीशुकदेव गोस्वामीने स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूतिके गर्भसे भगवान् यज्ञके आविर्भावके विषयमें बतलाया। स्वायम्भुव मनु तपस्याके लिए वन चले गये और वहाँ सुनन्दा-नदीके तटपर समाधिस्थ हो गये। वहाँ असुर एवं राक्षस उन्हें भक्षण करनेके लिए पहुँचे। भगवान् यज्ञरूपमें अवतीर्ण हुए और उन असुरों एवं राक्षसोंका वध कर दिया। वे भगवान् ही इन्द्ररूपमें स्वर्गका पालन करने लगे। द्वितीय मनु अग्निपुत्र स्वारोचिष थे। तृतीय मनु उत्तम, चतुर्थ मनु उत्तमके भ्राता तामस थे। इसी मन्वन्तरमें भगवान् 'हरि' ने आविर्भूत होकर ग्राहग्रस्त गजेन्द्रका मोक्ष किया था।

क्षीरोदसागरसे परिवेष्टित 'त्रिकूट' पर्वतके एक सरोवरमें एक गजेन्द्र हथिनीके साथ जलक्रीड़ा कर रहा था, तभी एक कुम्भी (मगरमच्छ) वहाँ आया और उसने गजेन्द्रपर आक्रमण कर दिया। गजेन्द्रने आत्ममोचनके लिये यथासाध्य प्रयत्न किया, परन्तु कुम्भीने उसे प्रबल वेगसे जकड़ रखा था। इसी अवस्थामें हजारों वर्ष बीत गये परन्तु हाथी स्वयं अथवा किसी दूसरेके द्वारा अपनेको मुक्त करनेमें समर्थ नहीं हुआ। क्रमशः बल क्षीण होनेपर एवं कोई अन्य उपाय न देखकर वह पूर्वजन्ममें सीखे हुए स्तव द्वारा श्रीहरिकी स्तुति करने लगा। गजेन्द्रकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् वहाँ अवतीर्ण हुए और चक्रके द्वारा कुम्भीका मस्तक छिन्नकर गजेन्द्रको मुक्त किया।

वह ग्राह अर्थात कुम्भी 'हूहू' नामका एक गन्धर्व था। एक बारकी बात है कि 'हूहू' स्त्रियोंसे परिवेष्टित होकर जलमें क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ देवल ऋषि भी स्नान कर रहे थे। वह ऋषिका चरण खींचने लगा, तब ऋषिने अभिसम्पात दे दिया,

जिससे वह ग्राहत्वको प्राप्त हुआ। श्रीहरिके चक्रसे विनष्ट होकर इसने उसी पूर्व गन्दर्भदेहको प्राप्त किया। गजेन्द्र पूर्वजन्ममें 'इन्द्रद्युम्न' नामका पाण्ड्यदेशीय राजा था। यह मौनव्रत धारण करके मलयाचलपर भगवदाराधनामें रत रहता था। अगस्त्य ऋषिका वहाँ बहुत शिष्योंके साथ आगमन हुआ। राजा ध्यानमग्न था। अतः राजासे ऋषिको किसी भी प्रकारका अभ्यर्थनादि स्वागत प्राप्त नहीं हुआ। ऋषिने राजाको स्तब्धमति गजेन्द्रत्वकी प्राप्तिका अभिशाप दे दिया। ग्राहग्रस्त अवस्थामें उसके हृदयमें पूर्व स्मृतिका उदय हो गया। फल-स्वरूप वह भगवान्‌की स्तुति करने लगा और सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त हुआ। तामसका भ्राता पञ्चम मनु रैवत था। इस मन्वन्तरमें भगवान्‌ने वैकुण्ठमें रमादेवीकी प्रार्थनानुसार 'वैकुण्ठलोक' का निर्माण किया था। चाक्षुष छठे मनु थे। इस मन्वन्तरमें भगवान् अजितने वैराजपत्नी देवसम्भूतिके गर्भसे आविर्भूत होकर समुद्र-मन्थन एवं कूर्मरूपसे मन्दर-धारणादि लीला कीं। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी पराजयसे एवं दुर्वासाके शापसे देवराज इन्द्रके श्रीभ्रष्ट होनेपर देवगण ब्रह्माजीके साथ क्षीरोदशायी विष्णुके समीप पहुँचे और उनकी स्तुति करने लगे। तब भगवान् विष्णुने क्षीरोदसागर-मन्थन करनेका आदेश प्रदान किया। भगवान्‌के आदेशसे देवता दैत्योंके साथ मिलकर मन्दराचलको लेकर चलने लगे, किन्तु गुरु-भार होनेके कारण उसे वहन करनेमें असमर्थ हुए और उसे वहीं छोड़ दिया, जिससे अनेक प्राणी मर गये। तब परम करुण भगवान्‌ने उस पर्वतको एक हाथपर उठाया और उसे समुद्रमें स्थापित कर दिया। भगवान्‌ने विचार किया कि आधार-रहित होनेसे इस पर्वतसे मन्थनमें असुविधा होगी, तब भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया और अपने पृष्ठदेशमें उस पर्वतको स्थापित कर लिया। वासुकि नागको मन्थन-रज्जु बनाया तथा देवता एवं दानवोंनें मिलकर मन्थन आरम्भ किया। मन्थनसे सर्वप्रथम कालकूट-विष उत्पन्न हुआ। इस हलाहल विषके प्रभावको कोई सहन नहीं कर सकता था, इसलिए सब देवता महादेवके शरणापन्न हुए। महादेवने इस विषका पान किया और

अपने कण्ठमें धारण कर लिया। इससे वे 'नीलकण्ठ' नामसे विख्यात हुये। इसी मन्थनसे क्रमशः लक्ष्मीदेवी, सुरभि, पारिजात, उच्चैःश्रवा, ऐरावतादि अनेक वस्तुएँ उत्पन्न हुईं और बादमें विष्णु-अंशसे धन्वन्तरि अमृत-कलशको हाथमें लिए उत्थित हुए। असुर उस कलशको लेकर भागने लगे, तब भगवान् विष्णुने मोहिनीरूप धारण किया। उनके मोहिनी-रूपपर मुग्ध होकर दैत्योंने मोहिनीरूपी भगवान्‌के हाथोंमें अमृत-कलश अर्पण कर दिया। भगवान्‌ने सारा अमृत देवताओंमें बाँट दिया। राहूने छद्मवेशसे अमृतपान कर लिया है—यह जानकर भगवान्‌ने चक्र द्वारा उसका मस्तक काट दिया।

दैत्यगण सुधा-पानसे वञ्चित होनेके कारण देवताओंके साथ युद्ध करने लगे और भगवान्‌के हाथों मारे गये। शुक्राचार्यके द्वारा पुनर्जीवित होकर दैत्य पुनः देवताओंके साथ युद्ध करने लगे। अनन्तर देवर्षि नारदके प्रभावसे दैत्य-देवता युद्धसे निवृत्त हुए और सभी अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

भगवान्‌की मोहिनीरूप धारण-लीलाको जब महादेवजीने सुना, तब वे भी उसके दर्शनके लिए चल दिये। भगवान्‌ने पहले तो महादेवको अपने मोहिनीरूपसे मोहित किया और बादमें अपनी मायाका प्रभाव दिखाया।

सप्तम मनु विवस्वत-पुत्र श्राद्धदेव हैं, अष्टम मनु सावर्णि, नवम मनु दक्षसावर्णि, दशम मनु ब्रह्मसावर्णि, ग्यारहवें मनु धर्मसावर्णि, बारहवें मनु रुद्रसावर्णि, तेरहवें मनु देवसावर्णि और चौदहवें मनु इन्द्रसावर्णि हैं। इन चौदहों मनुसे परिमित काल सहस्र युग अथवा एक कल्पका होता है।

मनु, ऋषि, देवराज इत्यादि सभी भगवान्‌के यज्ञादि अवतारों द्वारा नियोजित होकर जागतिक कार्योंका निर्वाह अर्थात् विश्व-व्यवस्थाका सञ्चालन करते हैं। चतुर्युगीके अन्तमें समयके फेरसे नष्टप्राय श्रुतियोंका उद्धार सप्तर्षिगणोंद्वारा, जगत्‌में चतुष्पाद-धर्मका प्रवर्त्तन मनुगणों द्वारा एवं त्रिलोकीका पालन इन्द्रगणों द्वारा होता है। श्रीहरि प्रत्येक युगमें सनक, दत्तात्रेयादि शक्त्यावेश रूपोंको प्रकट

करके ज्ञान, कर्म एवं योगका उपदेश कराते हैं एवं कालादि रूपमें संहार कराते हैं।

छठे मन्वन्तरमें दैत्यराज बलिने शुक्राचार्यके बलसे बलवान् होकर स्वर्गपुरीपर अधिकार कर लिया था। देवगण जब पदच्युत हो गये तब देवमाता अदिति पुत्रोंके दुःखसे दुःखी होकर कश्यपजीके पास पहुँची और अपने दुःखका अपनोदन करनेके लिए उनसे प्रार्थना करने लगी। तब कश्यपजीने अदितिको बारह दिनोंमें बड़ी कठिनतासे साध्य होने वाले "पयोव्रत" द्वारा भगवान् श्रीहरिकी आराधना करनेका उपदेश दिया।

अदितिकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीहरि देवताओंके दुःख-विमोचनके लिए अदितिके पुत्ररूपमें "जन्म-ग्रहण" करना स्वीकार कर अन्तर्धान हो गये।

शुभ-लग्नमें श्रीहरि अदितिके द्वारपर वामनरूपमें इस प्रपञ्चमें आविर्भूत हुए। जब उनके जातकर्म, उपनयनादि संस्कार सम्पन्न हो गये तब वे बलिके यज्ञमें पहुँचे। बलिने वामनदेवका पाद्य-अर्घ्य द्वारा यथोचित सत्कार किया और उन्हें परम तपस्वी ब्राह्मण जानकर उनसे स्वाभिलषित द्रव्य माँगनेके लिए कहा। भगवान्ने बलिके वंशके गौरवादिका उल्लेख करते हुए उनकी विविधरूपसे प्रशंसा की और उनसे त्रिपाद-भूमिकी प्रार्थना की। बलिने इस याचनाको अकिञ्चित्कर जानकर उसे प्रदान करना अङ्गीकार कर लिया। शुक्राचार्य वामनदेवको पहचान गये और बलिसे त्रिपाद-भूमि-दानके लिये मना करने लगे। 'परिहास, विवाह, विपत्ति आदिमें मिथ्या वचनोंके प्रयोग करने पर प्रत्यवाय नहीं होता'—इस नीतिको दिग्दर्शित करते हुए शुक्राचार्य बलिके प्रतिज्ञा-भङ्ग-जनित भय-अपनोदनका प्रयास करने लगे।

महाराज बलिने विवेचना की कि मिथ्या वचनोंके द्वारा प्रतिश्रुति भङ्ग करनेकी अपेक्षा कीर्त्ति ही एकमात्र वाञ्छनीय है एवं राज्यादि अनित्य वस्तु द्वारा दूसरेका उपकार करना ही अच्छा है—अतः वामनदेवको छद्मवेशी विष्णु जानकर भी उन्होंने त्रिपाद-भूमि दान करना स्वीकार कर लिया। वामनदेवने अपने कलेवरकी वृद्धि करते हुये एक चरणसे भूतल, शरीरसे अन्तरीक्ष एवं द्वितीय पदसे स्वर्गको

आच्छादित कर लिया। तृतीय पद-विन्यासके लिए बलिके पास अणु मात्र भी स्थान नहीं रहा।

बलिके सर्वस्व अपहरण होनेपर दैत्योंने भगवान् विष्णुके विरुद्ध हथियार धारण कर लिये, परन्तु वे सभी विष्णुके पार्षदों द्वारा पराजित हो गये। बलिके आदेशसे सभी लोग पाताल चले गये। प्रतिश्रुति दानमें असमर्थ बलिको गरुडने भगवान्के आदेशसे वरुणपाशमें बाँध लिया और भगवत्-प्रदत्त क्लेशोंको परम श्लाघ्यतम मानकर बलिने तृतीय पद-विन्यासके लिए अपना मस्तक अर्पण कर दिया। इतने ही में बलिके पितामह भक्तवर प्रह्लाद वहाँ उपस्थित हुये और उन्होंने वामनदेवको प्रणाम किया। उन्होंने बलिसे कहा कि छलपूर्वक ऐश्वर्य हरण करके भगवान्ने बलिके प्रति परम अनुग्रह किया है। बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीने कहा कि भगवान्का ही जगत्-कर्त्तृत्व है, जीवका कर्त्तृत्व-अभिमान मूढ़ता है एवं भगवान्के लिए सर्वस्व प्रदान करनेपर बलिका दुःखी होना असम्भव है—यह सब उल्लेख करके उसने भगवान् वामनसे बलिकी बन्धन-मुक्तिके लिए प्रार्थना की। भक्तके अतिरिक्त किसी औरके लिये ऐश्वर्य-प्राप्ति समस्त अनर्थोंका मूल है—यह कहकर भगवान् वामनदेवने बलिको सुतल भेज दिया और नित्यकाल उसके समीप रहनेके लिए वचनबद्ध हो गये।

भगवच्चरणमें शरणागति ही जीवोंका परम प्रयोजन है, यही प्रेम-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—यह जानकर महामति बलि प्रह्लादके साथ सुतल चले गये। इन्द्रको स्वर्गाधिकार प्रदान करके वामनदेवने माताकी कामना पूर्ण की। इन्द्र वामनदेवको विमानपर आरोहण कराके स्वर्ग ले गये।

राजर्षि सत्यदेव श्राद्धदेव नामक सातवें मनुपदपर स्थापित हुए। एक दिन वे नदीमें तर्पण कर ही रहे थे कि एक मत्स्य (शफरी मछली) उनकी अञ्जुलीमें स्थित जलमें प्रवेश कर गया और उनसे आश्रयकी प्रार्थना करने लगा। राजाने उसे ले जाकर कलशमें रख दिया, किन्तु वह मत्स्य अपने कलेवरकी वृद्धि करता रहा। जब राजा उसे आश्रय देनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके स्वरूपकी जिज्ञासा करने लगे। मत्स्यने अपना परिचय प्रदान किया और सात

दिनोंमें ही महाप्रलयकी सम्भावना व्यक्त की। उन्होंने सूचित किया कि समस्त बीज एवं ओषधियोंसे पूर्ण नौकाका वे मत्स्यरूपमें आकर्षण करेंगे और साथ ही सत्यव्रतकी रक्षा करेंगे।

प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सत्यव्रतने मत्स्यदेवकी विविध प्रकारसे स्तुति की। मत्स्यदेवने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हयग्रीव द्वारा अपहृत (चुराये गये) वेदोंका उद्धार किया।

❁ ❁ ❁

श्रीमद्भागवतम्

अष्टमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

मन्वन्तरोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः।
यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान् वदस्व नः॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे गुरुदेव! जिस वंशमें मनुकी कन्याओंसे उत्पन्न मरीचि आदि प्रजापतियोंने पुत्र-पौत्र रूपमें वंश-परम्पराको प्रवर्त्तित किया, उस स्वायम्भुव मनुक
विस्तारपूर्वक सुना। अब आप कृपा करक
वंशोंका वर्णन कीजिए॥१॥

मन्वन्तरे हरेर्जन्मकर्माणि च महीयसः।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम्॥ २॥

हे ब्रह्मन्! जिस-जिस मन्वन्तरमें विवेकी पुरुषोंने महामहिम श्रीहरिक
हमें उन सभी चरितावलियोंको अवश्य सुनाइए, उन्हें सुननेकी हमारी बड़ी आकाङ्क्षा है॥२॥

यद्यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् भगवान् विश्वभावनः।
कृतवान् कुरुते कर्त्ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा॥ ३॥

हे भगवन्! विश्वभावन भगवान्‌ने बीते हुए मन्वन्तरोंमें जो-जो लीलाएँ की हैं, वर्त्तमानमें जो कर रहे हें और आगामी मन्वन्तरोंमें जो लीलाएँ करेंगे, कृपा करक

श्रीऋषिरुवाच—

मनवोऽस्मिन् व्यतीताः षट् कल्पे स्वायम्भुवादयः।
आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनाञ्च सम्भवः॥ ४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छह मन्वन्तर बीत चुक
मन्वन्तरका वर्णन कर दिया, जिसमें देवताओंकी उत्पत्ति हुई थी॥४॥

आकूत्यां देवहूत्याञ्च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः।
धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान् पुत्रतां गतः॥ ५॥

स्वायम्भुव मनुकी दो पुत्रियाँ थीं—आक
यज्ञपुरुषक
रूपमें ज्ञानका उपदेश देनेक
लिया था॥५॥

कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम्।
आख्यास्ये भगवान् यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह॥ ६॥

हे क
तो मैं पहले ही (तृतीय स्कन्धमें) वर्णन कर चुका हूँ, अब मैं भगवान् यज्ञपुरुष द्वारा किये गये कार्योंक

विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः।
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत्॥ ७॥

स्वायम्भुव मनुने समस्त भोगों एवं कामनाओंसे विरक्त होकर राज्य-भोगका त्याग कर दिया और अपनी पत्नी शतरूपाक
तपस्या करनेक

सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन्।
तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत॥ ८॥

हे भारत! वनमें जाकर स्वायम्भुव मनुने सुनन्दा नदीक
पृथ्वीपर एक पैरसे खड़े होकर सौ वर्षों तक घोर तपस्या की।

तपस्या करते हुए वे प्रतिदिन इस प्रकार भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करते थे॥८॥

श्रीमनुरुवाच—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन् नायं तं वेद वेद सः॥९॥

श्रीमनु कहा करते थे—जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व चेतनायुक्त है, परन्तु सम्पूर्ण विश्व जिन्हें चेतनामय करनेमें समर्थ नहीं है, जब सारा विश्व निद्रित, सुषुप्तिमय एवं प्रलयगत रहता है तब जो साक्षी स्वरूपमें जागते रहते हैं तथा जिन्हें कोई जीव जान नहीं सकता, परन्तु जो सब क

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१०॥

यह संसार और इसमें रहनेवाले सभी चर-अचर प्राणी ईश्वरकी सत्ता एवं चेतना द्वारा व्याप्त हैं। अतः संसारक
भी पदार्थमें मोह न रखें क
प्रदत्त विषयोंका उपभोग करें, किसी अन्यक
करें। अरे, यह धन और विषय-भोग भला किसक

यं पश्यति न पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत॥११॥

भगवान् सर्वद्रष्टा हैं, परन्तु उन्हें देखनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। वे सबक
अतः समस्त प्राणियोंक
सखा उन भगवान्‌का ही भजन करना चाहिए॥११॥

न यस्याद्यन्तौ मध्यञ्च स्वः परो नान्तरं बहिः।
विश्वस्यामूनि यद्यस्माद्विश्वञ्च तदृतं महत्॥१२॥

जिनका न आदि है, न अन्त और न ही मध्य। जिनका न कोई अपना है और न कोई पराया, न बाहर है और न भीतर।

जिनक
सम्पूर्ण विश्व जिनसे उत्पन्न होनेक
सत्य एवं परिपूर्ण ब्रह्म हैं॥१२॥

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या
तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते॥ १३॥

यह समग्र ब्रह्माण्ड जिनका शरीर है, उनक
वे अचिन्त्य-सम्पन्न, सत्य, स्वप्रकाश-स्वरूप, अजन्मा, निर्विकार एवं पुराणपुरुष हैं। उन्होंने अनादिसिद्ध अपनी मायाशक्ति द्वारा इस विराट् जगत्‌की सृष्टि की है और स्वयं अपनी चित्‌शक्तिक
प्रभावसे मायाका त्याग करक

अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥ १४॥

इसी कारण ऋषि-मुनि नैष्कर्म्य-स्थितिमें अर्थात् निष्क्रिय होनेसे पहले समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, क्योंकि भगवदर्पण करते हुए कर्म करनेवाला पुरुष ही निष्काम होकर अन्तमें नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त कर सकता है॥१४॥

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विसज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्॥ १५॥

सर्वशक्तिमान् ईश्वर सृष्टि आदि कार्य सम्पन्न करते हैं, किन्तु वे आत्मलाभसे पूर्ण होनेक
जो लोग उनका अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मोंमें नहीं बँधते॥१५॥

तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नॄन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्॥ १६॥

भगवान् कर्म अवश्य करते हैं परन्तु वे ज्ञानस्वरूप हैं, अतः उनमें किञ्चित् मात्र भी अहङ्कार नहीं हैं। वे भौतिक इच्छाओंसे रहित, अखण्ड और पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। अपनी बनायी मर्यादामें स्थित रहकर वे अपने कर्मोंसे मनुष्योंको (आचरणीयगत) शिक्षाएँ देते हैं। समस्त धर्मोंका प्रवर्त्तन उन्हींसे होता है और वे ही सर्वश्रेष्ठ धर्म-भक्तियोगक

श्रीशुक उवाच—

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम्।
दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक समय स्वायम्भुव मनु समाधिस्थ अवस्थामें उपनिषद्क

थे। यह देखकर असुरों और राक्षसोंने सोचा कि वे नींदमें अचेत होकर क

वे सब द्रुत गतिसे दौड़कर उनपर टूट पड़े॥१७॥

तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम्॥ १८॥

जब सर्वसाक्षी भगवान् यज्ञेश्वरने देखा कि असुर एवं राक्षस स्वायम्भुव मनुका भक्षण करनेक

याम नामक पुत्रों एवं अन्यान्य देवताओंक

उनका वध कर डाला। तत्पश्चात् भगवान् स्वयं इन्द्रक

आसीन होकर स्वर्गपर शासन करने लगे॥१८॥

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः॥ १९॥

अग्निक

मनुक

तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद्देवाश्च तुषितादयः।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥ २०॥

स्वारोचिष मन्वन्तरमें यज्ञपुत्र रोचनने इन्द्रका पद सँभाला। उस समय तुषितादि प्रधान देवगण थे और ऊर्जस्तम्भ आदि वेदवादी सप्तर्षि थे॥२०॥

ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः॥२१॥

उस मन्वन्तरमें प्रख्यात वेदशिरा नामक ऋषिकी पत्नीका नाम था 'तुषिता'। इसी तुषिताक
अवतारने जन्म ग्रहण किया॥२१॥

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः।
अन्वशिक्षन् व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः॥२२॥

विभु जीवनपर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने रहे। उनक
यम-नियमादि साधन-सम्पन्न अट्ठासी हजार मुनियोंने व्रत, तपादि आचरण सम्बन्धी शिक्षाएँ ग्रहण कीं॥२२॥

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः।
पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप॥२३॥

हे राजन्! प्रियव्रतक
उत्तम। उत्तमक

वशिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः।
सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित्॥२४॥

इस तीसरे मन्वन्तरमें वशिष्ठ-पुत्र प्रमद आदि सप्तर्षि थे। सत्य, वेदश्रुत, भद्र आदि प्रधान देवगण थे और तत्कालीन इन्द्रका नाम था सत्यजित्॥२४॥

धर्मस्य सूनृतायान्तु भगवन् पुरुषोत्तमः।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह॥२५॥

उस समय भगवान् पुरुषोत्तम धर्मकी पत्नी सुनृतासे सत्यव्रत आदि देवताओंक
प्रसिद्ध हुए॥२५॥

सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान्।
भूतद्रुहो भूतगणांश्चावधीत् सत्यजित्सखः॥ २६॥

तब इन्द्रक
सत्यसेनने उनका सखा बनकर मिथ्यावादी, दुःशील, दुष्ट-स्वभाव और प्राणियोंको उत्पीड़ित करनेवाले जीवद्रोही यक्ष एवं राक्षसोंका वध कर डाला॥२६॥

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः॥ २७॥

चतुर्थ मनु तामस नामसे प्रसिद्ध थे। ये उत्तम नामक तीसरे मनुक
दस पुत्र थे॥२७॥

सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे॥ २८॥

इस तामस मन्वन्तरमें सत्यक, हरि एवं वीर नामक देवगण थे, इन्द्रका नाम था त्रिशिख और ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे॥२८॥

देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा॥ २९॥

हे राजन्! इस मन्वन्तरमें विधृतिक
भी देवता हुए। कालवश जब सारे वेद नष्टप्रायः हो गये थे, तब इन्हीं देवताओंने अपनी शक्तिक

तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात्॥ ३०॥

इसी मन्वन्तरमें भगवान् विष्णुने हरिमेधसकी पत्नी हरिणीक
गर्भसे अवतार लिया और 'हरि' नामसे प्रख्यात हुए। भगवान् श्रीहरिने इसी अवतारमें ग्राहक
की थी॥३०॥

श्रीराजोवाच—

बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत्॥ ३१॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे बादरायणि! भगवान् श्रीहरिने ग्राह द्वारा आक्रान्त गजपतिको किस प्रकार मुक्त किया, वह मैं आपसे विस्तारपूर्वक सुननेक

तत्कथासु महत् पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम्।
यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान् गीयते हरिः॥ ३२॥

समस्त कथा-प्रसङ्गमें वही कथा अतिशय पवित्र, धन्य, शुभ और परममङ्गलकारी है, जिसमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिकी महिमाका गान होता है॥३२॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः
प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम्॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः।

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! परीक्षित् महाराज प्रायोपवेशन (आमरण अनशन) पर बैठे थे। उन्होंने जब श्रीशुकदेव गोस्वामीको इस प्रकारसे भगवत्-कथा कहनेक
तब वे बड़े आनन्दित हुए और उनका अभिनन्दन करते हुए मुनियोंसे भरी सभामें बड़ी प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहने लगे॥३३॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

ग्राहक

श्रीशुक उवाच—

आसीद्गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! क्षीरसमुद्रसे घिरा हुआ अत्यन्त सुन्दर, दस हजार योजन ऊँचा त्रिक
सुविख्यात पर्वत था॥१॥

तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम्।
दिशश्चखं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः॥ २॥

अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३॥

वह अपने चारों ओर भी इतनी ही दूरी तक फ
उस पर्वतक
छटासे समुद्र, आकाश एवं दसों दिशाएँ जगमगाती रहती थीं। उसक
और भी अनेक शिखर थे, जो नाना प्रकारक
और धातुओंसे चित्रित, विविध जातिक
मण्डित तथा झरनोंकी ध्वनिसे गुञ्जित होकर दसों दिशाओंकी शोभा बढ़ाते थे॥२-३॥

स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात् पयऊर्मिभिः।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः॥ ४॥

सभी दिशाओंसे जल-तरङ्गें आकर जब उस पर्वतक
टकरातीं तो ऐसा लगता मानो वे पर्वतक
हों। उस पर्वतकी आठों दिशाओंमें स्थित हरित मरकतकी मणियोंने

अपनी आस-पासकी भूमिको दूबकी घासक
दिया था॥४॥

सिद्धचारणगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः॥५॥

उसकी कन्दराओंमें सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराएँ आदि सदैव विहार करते रहते थे॥५॥

यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया।
अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया॥६॥

जब उनक
बड़े-बड़े पराक्रमी सिंह उस ध्वनिकी गूँजको सह नहीं पाते और वहाँ दूसरे सिंहोंकी आशङ्का करक
गर्जना करने लगते॥६॥

नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥७॥

उस त्रिक ृत
रहती थी। वहाँ अनेक प्रकारक
सुन्दर देवोद्यान था, जिसमें अनेक प्रकारक
किया करते थे॥७॥

सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः॥८॥

वह त्रिक
था, जिनका जल मणियोंक समान निर्मल था और पुलिन मणिमय बालुकासे सुशोभित थे। देवाङ्गनाएँ उनमें स्नान करती थीं। उनकी देहकी सुगन्धसे वह निर्मल जल और वायु अत्यन्त सुगन्धित हो जाते थे॥८॥

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम्॥९॥

सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैर्नित्यपुष्पफलद्रुमैः।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः॥ १० ॥
चूतैः प्रियालैः पनसैराम्रैराम्रातकैरपि।
क्रमुकैर्नारिकेलैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः॥ ११ ॥
मधूकैः शालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः।
अरिष्टोडुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः॥ १२ ॥
पिचुमर्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥ १३ ॥

उस पर्वतराज त्रिक
एक उद्यान था, जिसका नाम था ऋतुमान्। यह देवाङ्गनाओंका क्रीड़ास्थल था। उस उद्यानमें अनेक दिव्य वृक्ष सुशोभित थे, जो सदा-सर्वदा फलों और फ
अशोक, चम्पक, पियाल, कटहल, आम, आमड़ा, सुपारी, नारियल, खजूर, अनार, महुआ, शाल, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, गूलर, पाकर, अश्वत्थ, वट, कि
सरल, देवदारु, द्राक्ष, ईख, क
क

बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः।
तस्मिन् सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम्॥ १४॥
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् ।
मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः॥ १५॥
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि।
जलकक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६॥
मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः ।
कदम्बवेतसनल-नीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥ १७॥
कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः॥ १८॥

मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्त्तुभिरलं द्रुमैः॥ १९॥

त्रिक
था। उसमें सुनहरे रङ्गक
उत्पल, शतपत्र आदि और भी अनेक प्रकारक
सरोवरकी शोभा और अधिक बढ़ रही थी। पुष्पोंका मधुपान करक
मतवाले भौंरे गुञ्जार करते थे, पक्षी-वृन्द सुमधुर क
वह सरोवर हंस, कारण्डव, चक्रवाक एवं सारसोंक
हुआ था। पनडुब्बी, बत्तख और पपीहे चहकते थे। कछुए एवं मछलियाँ जब इधर-उधर तेजीसे चलते, तो कमलोंसे परागकण जलमें गिर जाते, जिससे उस सरोवरका जल और भी अधिक सुन्दर एवं सुगन्धित हो जाता। कदम्ब, बेंत, नल, कदम्बलता, वञ्जुल, क
नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र और माधवी लताओं तथा तटपर स्थित ऐसे अनेक वृक्षोंसे जो सभी ऋतुओंमें हरे-भरे रहते थे, वह सरोवर शोभायमान रहता था॥१४-१९॥

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकं कीचकवेणुवेत्रवद्-
विशालगुल्मं प्ररुजन् वनस्पतीन्॥ २०॥

इस पर्वतक
एक शक्तिशाली गजेन्द्र निवास करता था। एक बार वह गजेन्द्र बहुत-सी हथिनियोंक
और वृक्षोंको रौंदता हुआ विचरण कर रहा था॥२०॥

यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः।
महोरगाश्चापि भयाद् द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः सरभाश्चमर्यः॥ २१॥

उसकी गन्ध मात्रसे ही सिंह, दूसरे गजराज, बाघ, गैंडे आदि हिंसक जन्तु, बड़े-बड़े नाग, काले-गोरे सरभ एवं चमरी मृग डरकर भाग जाया करते थे॥२१॥

वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छशालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण॥ २२॥

उस गजेन्द्रकी कृपासे भेड़िये, सुअर, भैंसे, रीछ, शल्य, लंगूर तथा क
उसक
करते थे॥२२॥

स धर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
र्वृतो मदच्युत्करभैरनुद्रुतः।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन्
निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥ २३॥

सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन् विदूरान्मदविह्वलेक्षणः।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्-
सरोवराभ्यासमथागमद् द्रुतम्॥ २४॥

उस गजराजको घेरे हुए अन्य मदस्रावी हाथी, हथिनियाँ और उनक
गण्डस्थलसे टपकते हुए मदका पान करते हुए उन्मत्त भ्रमर भी उसक
नेत्र विह्वल हो रहे थे। उस हाथीक
पर्वत भी काँप उठता था। चिलचिलाती धूपक
उसक
मकरन्द-कणोंकी सुवासित वायुको सूँघकर वह अपने यूथक
द्रुत गतिसे उस सरोवरक

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुरुषितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः॥ २५॥

गजराजने उस सरोवरमें प्रवेश करक
उठा-उठाकर जी भरकर जल पिया, उसक
इससे उसकी थकान मिट गयी। सरोवरका जल सुनहरे वर्णक
कमलों और उत्पलों (लाल-कमलों) क
पूर्ण निर्मल तथा अमृतक

स पुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभि-
र्निपाययन् संस्नपयन् यथा गृही।
घृणी करेणुः करभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया॥ २६॥

वह गजराज गृहासक्त मनुष्यक
रहा था। भगवान् बड़े कृपालु हैं। उनकी मायासे मोहित होकर वह
अपनी सूँड़से जलकी फ
स्नान कराने लगा और उनक
लगा। इस कार्यमें उसे श्रमसाध्य कष्ट हो रहा था, परन्तु उसने
इसपर ध्यान न दिया॥२६॥

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत्।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे॥ २७॥

राजन्! इसी बीच प्रारब्धवश उस सरोवरमें रहनेवाले किसी
महाबलशाली ग्राहने अत्यन्त क्रोधसे भरकर उस दुर्मद गजराजका
पैर पकड़ लिया। उसने दैववश अपनेको जब विपत्तिमें देखा, तो
वह स्वयंको छुड़ानेक
छुड़ा न सका॥२७॥

तथातुरं यूथपतिं करेणवो
विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन्॥ २८॥

तत्पश्चात् दूसरे हाथी, हथिनियों और उनक
कि महाबलशाली ग्राह उनक
खींचते हुए ले जा रहा है, तब वे दीन-हीन होकर चिंघाड़ने लगे। उन्होंने गजराजको जलसे बाहर निकालनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उसका उद्धार करनेमें समर्थ न हो सक

नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयो -
र्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः।
समाः सहस्रं व्यगमन् महीपते
सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः॥ २९॥

परीक्षित्! इस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता और कभी ग्राह गजेन्द्रको जलक
लेता। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीत गये और दोनों ही जीवित बने रहे। यह देखकर देवता भी आश्चर्यचकित रह गये॥२९॥

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
कालेन दीर्घेण महानभूद्व्ययः।
विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
विपर्यययोऽभूत् सकलं जलौकसः॥ ३०॥

तदनन्तर बहुत लम्बे समय तक जलमें खींचे जानेसे गजेन्द्रक
शिथिल हो गये। वह दुःख और निराशामें डूब गया। उसक
और शारीरिक बल—सब क्षीण हो गये। इसक
होनेक

इत्थं गजेन्द्रः स यदाप सङ्कटं
प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।

अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत॥ ३१ ॥

गजेन्द्र दैववश प्राणोंको सङ्कटमें देखकर विवश हो गया। उसने देखा कि वह ग्राहसे मुक्त होनेमें असमर्थ है। अतः मृत्युसे भयभीत होकर दीर्घकाल तक अपने सङ्कट-मोचनक
करक

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहञ्च तं यामि परं परायणम्॥ ३२ ॥

इस ग्राहक
पाये तो इन हथिनियोंक
पाश-रूप ही है और मैं इसमें पूरी तरह जकड़ गया हूँ। अब मैं सम्पूर्ण जगत्क

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टम स्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने श्रीगजेन्द्रोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः।

भगवान् किसीक
एवं प्रभावसम्पन्न हैं। कालसर्प प्रचण्ड वेगसे मनुष्यको निगलनेक
दौड़ रहा है। उससे भयभीत होकर जो भगवान्क
है, भगवान् उसकी अवश्य ही रक्षा करते हैं, मृत्यु भी जिन भगवान्से भयभीत होकर भाग जाती है, मैं उन्हीं भगवान्की शरण लेता हूँ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

गजेन्द्रक

उसका संकटसे मुक्त होना

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं व्यवसितो बुद्धया समाधाय मनो हृदि।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! तदनन्तर अपने बुद्धि-बलसे इस प्रकार निश्चय करक
किया और अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए अत्यन्त श्रेष्ठ स्तोत्रको जपते हुए भगवान्की स्तुति करने लगा॥१॥

श्रीगजेन्द्र उवाच—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥ २ ॥

गजेन्द्रने कहा—मैं उन परमपुरुषका ध्यान करता हूँ जिनकी कृपासे इस जगतमें चेतनताका विस्तार होता है, जो इसक
बीज-स्वरूप तथा ब्रह्मादिक
कारण-रूपसे विद्यमान हैं, मैं ऐसे भगवान् वासुदेवको नमस्कार करता हूँ॥२॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥ ३ ॥

यह चिद्-अचिद् जगत् जिनमें स्थित है और जिनसे उत्पन्न हुआ है, जो इस जगत्की सृष्टि एवं पालन करते हैं, जो स्वयं विश्व-स्वरूप और सम्पूर्ण जगत्क
और कारण (प्रकृति) से सर्वथा अतीत हैं, मैं उन स्वतःसिद्ध भगवान्का आश्रय ग्रहण करता हूँ॥३॥

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद्विभातं क्व च तत् तिरोहितम्।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः॥ ४॥

यह विश्व-ब्रह्माण्ड उनकी मायासे उनमें ही स्थित है। यह जगत् कभी (सृष्टिकालमें) प्रकट होता है और कभी (प्रलयकालमें) तिरोहित हो जाता है। जो इस सम्पूर्ण जगत्क
आत्मनिर्भर हैं, जो स्वप्रकाश और सबक
कारण दोनों ही अवस्थाओंको अलुप्तदृष्टि एवं सर्वद्रष्टाक
देखते रहते हैं। वे परात्पर प्रकाशक
चक्षु) मेरी रक्षा करें॥४॥

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो
लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु।
तमस्तदासीद्गहनं गभीरं
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः॥ ५॥

कालक
सम्पूर्णरूपसे लय हो जाता है, तब क
अनन्त अन्धकार ही रहता है। उस समय भी इस अन्धकारक
पार जो सर्वव्यापकरूपमें विराजमान रहते हैं, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ॥५॥

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु॥ ६॥

जो नटक द्वारा इस ब्रह्माण्डमें अनेक क्रीड़ाएँ करते हैं, जिनकी लीलाओंका रहस्य कोई नहीं जान सकता, जिनक
ऋषिगण, तब मुझ जैसा अर्वाचीन प्राणी उनक

किस प्रकार जान सकता है और किस प्रकार बतला सकता है? ऐसे दुर्ज्ञेय-चरित भगवान् मेरी रक्षा करें॥६॥

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः॥७॥

जिनक
सांसारिक विषयों एवं परिजनोंकी आसक्तिका त्याग करक
जाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यासादि व्रतोंका पालन करते हैं तथा समस्त प्राणियोंमें समान भाव रखते हैं, वे मुनियोंक सर्वस्व प्रभु ही मेरी एकमात्र गति हों॥७॥

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति॥८॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥९॥

जिनका जन्म-कर्म, नाम-रूप और गुण-दोष क
है, किन्तु जगत्की सृष्टि और विनाशक
युग-युगमें जन्मादिको स्वीकार करते हैं, जो अनन्त शक्तिमान् और परमैश्वर्यशाली हैं, जो प्राकृत रूपरहित होते हुए भी (राम, कृष्णादि) बहुत-से अप्राकृत रूपोंमें विराजमान हैं तथा जिनक
आश्चर्यमय हैं, मैं ऐसे उन भगवान्को नमस्कार करता हूँ॥८-९॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि॥१०॥

जो स्वयंप्रकाश (आत्मतत्त्व-प्रकाशक), प्रत्येक जीवात्माक प्रकाशक एवं प्रत्येक हृदयमें साक्षीरूपमें स्थित हैं और जो मन,

वचन और चित्तवृत्तियोंसे अगोचर हैं, मैं ऐसे उन परमात्माको नमस्कार करता हूँ॥१०॥

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे॥ ११॥

दिव्य सूरीगण (वैष्णवजन) कर्म-संन्यास अर्थात् विशुद्ध भक्तियोगसे जिन्हें प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त करते हैं, जो क
अनुभूति प्रदान करानेवाले हैं और जो शुद्ध प्रेमक
उनको मेरा बार-बार नमस्कार है॥११॥

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च॥ १२॥

जो सत्त्व, रज एवं तम—इन तीन गुणोंका आश्रय लेकर साधुओंक
प्रच्छन्न (मूढ़) अवस्थाएँ धारण करते हैं, जो हेयगुणसे (प्राकृत देह, इन्द्रियादिसे) रहित समभावमें स्थित (भक्तोंमें वैषम्य-रहित) और ज्ञानघन (सच्चिदानन्द-स्वरूप) हैं, उन्हें मेरा प्रणाम है॥१२॥

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः॥ १३॥

आप सबक
नमस्कार है। आप प्रधान और मूल प्रकृतिकी उत्पत्तिक
समस्त क्षेत्रज्ञोंक
आपको नमस्कार करता हूँ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः॥ १४॥

आप समस्त इन्द्रियों और उनक
समस्त (संशय, विपर्ययादि) प्रतीतियोंक
आदि छायारूप असत् वस्तुओंक
है और समस्त विषयोंमें क
होता है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१४॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय॥ १५॥

आप समस्त कारणोंक
कारण नहीं है। समस्त कारण-स्वरूप होनेपर भी आपमें कोई विकार नहीं होता, इसलिए आप अद्भुत कारणस्वरूप (निर्विकार) हैं। आपको मेरा नमस्कार है। जिस प्रकार समस्त नदियों और झरनोंका आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार आप समस्त वेदोंक आश्रयस्थल हैं। आप स्वयं मोक्षस्वरूप और समस्त साधुओंक शरणस्थल हैं। आपको मेरा नमस्कार है॥१५॥

गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि॥ १६॥

हे प्रभो! जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार आपने अपने अगाध ज्ञानको सत्त्वादि त्रिगुणात्मक मायासे ढक रखा है। गुणोंमें क्षोभ होनेपर आप सृष्टिकार्यमें उन्मुख होते हैं। जो आत्म-तत्त्वकी भावनासे वैदिक वाङ्मयमें वर्णित विधि-निषेधका परित्याग कर देते हैं, उनक
हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१६॥

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते॥ १७॥

आप मुझ पशु-जैसे जीवोंक
देते हैं। आप मुझे इस ग्राह (अविद्या) रूपी संसार-पाशसे मुक्त कर दीजिए। आप नित्य मुक्त और परम करुणामय हैं। आपकी

असीम करुणामें किसी प्रकारका लय, निद्रा अथवा आलस्य नहीं है। आप समस्त देहधारियोंक
ज्ञाताक
हैं। हे अपरिच्छिन्न! आपने सम्पूर्ण जगत्को एकांशमात्रमें धारण कर रखा है। आपको मेरा नमस्कार है॥१७॥

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥ १८॥

जो लोग शरीर, पुत्र, घर, धन एवं स्वजनोंमें आसक्त हैं, वे आपको प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि आप प्रकृतिक
आसक्तिसे रहित हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप और परमनियन्ता हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष अपने हृदयोंमें निरन्तर आपका ध्यान करते रहते हैं। मैं आप परमेश्वरको नमस्कार करता हूँ॥१८॥

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किञ्चाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम्॥ १९॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामना करनेवाले मनुष्य जिनकी आराधना करक
सुखोंको प्राप्त कर लेते हैं तथा जो अपने आराधकोंको अपनी देहक
अपार करुणामय भगवान्, मेरा उद्धार करें, मुझे मुक्त करें॥१९॥

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥ २०॥

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥ २१॥

जिनक
लीलाओंका कीर्त्तन करते हुए आनन्द-सागरमें मग्न रहकर उनसे किसी विषयकी कामना नहीं करते, जो सर्वशक्तिमान् नित्य, अव्यक्त, अविनाशी, इन्द्रियातीत, अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त, आद्य, परिपूर्ण स्वरूप परमात्मा हैं, जो निकट रहनेपर भी दूरवत् जान पड़ते हैं और जो आध्यात्मिक योग—भक्तियोगसे प्राप्त होते हैं, उनक
नमस्कार है॥२०-२१॥

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः॥ २२॥

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसन्प्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥ २३॥

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्-
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चास-
न्निषेधशेषो जयतादशेषः॥ २४॥

जिन भगवान्क
होकर ब्रह्मादि देवता, सामादि चतुर्वेद और चराचर लोकोंकी सृष्टि हुई है तथा जैसे अग्निसे लपटें और सूर्यसे किरणें उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर एवं प्रकृतिक
प्रपञ्च जिनसे प्रकट होता है और पुनः जिनमें लीन हो जाता है, जो न देवता हैं और न असुर। जो न मनुष्य हैं और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। जो स्त्री, पुरुष या नपुंसक अथवा कोई जन्तु (प्राणी-

विशेष) नहीं हैं। जो न गुण हैं और न ही सत्-असत् हैं, वे सर्वात्मा भगवान् जययुक्त हों। (भगवान्की कला (अंश) दो प्रकारकी है—फल्गु एवं अफल्गु। इनमें ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्रादि जीव फल्गु अर्थात् अत्यल्प अंशसे एवं मत्स्य, कूर्म इत्यादि अवतार अफल्गु अर्थात् प्रभूत अंशसे प्रकट हैं। समस्त निषेधोंसे जो अवशिष्ट हैं अर्थात् जो नेति-नेति विचारक्रमसे पूर्वोक्त सर्वरूपोंक
रूपमें अवशिष्ट रहते हैं, ऐसे अशेषात्मक भगवान् जययुक्त हों अर्थात् मेरे उद्धारक

जिजीविषे नाहमिहामुया किम्-
अन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम्॥ २५॥

प्रभो! मैं ग्राहक
नहीं चाहता हूँ। यह गज-योनि अन्तर और बाहरमें अविवेक रूपी आवरणसे ढकी हुई है, इस गज जन्मसे क्या प्रयोजन है? मैं तो अज्ञानसे आवृत्त उस आत्मप्रकाशक
हूँ, जो अज्ञान-आवरण काल द्वारा भी विनष्ट नहीं होता॥२५॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्॥ २६॥

जो इस विश्वक
जो विश्वक
ब्रह्म हैं, मैं मुक्तिकामी उन्हें नमस्कार करता हूँ॥२६॥

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥ २७॥

योगीगण भक्तियोगद्वारा अपने कर्मोंको भस्म करक
हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्का साक्षात्कार करते हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ॥२७॥

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने॥ २८॥

आपकी सत्त्वादि तीनों शक्तियोंक
इन्द्रियों और मनक
अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत नहीं कर सक
नहीं कर सकते, आपकी शक्ति अपार है। आप शरणागतोंक
हैं, मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥२८॥

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहंधिया हतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्॥ २९॥

आपकी माया रूपी अहंबुद्धिसे आत्माका स्वरूप ढक जानेसे (देहात्माभिमानसे आवृत्त होकर) जीव अपने स्वरूपको नहीं जान पाता। आपकी महिमा अपार है, उसे समझना बहुत कठिन है। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥२९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥ ३०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गजराज किसी मूर्त्तिविशेषका
वर्णन न करक
रहा। अतः नाना प्रकारक
जब उसकी रक्षाक
सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि प्रकट हुए॥३०॥

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः॥ ३१॥

भगवान् श्रीहरि सर्वत्र निवास करते हैं। वे गजेन्द्रको इस प्रकार आर्त्त जानकर तथा उसकी स्तुति सुनकर इच्छातुल्य वेगवान् गरुडपर सवार होकर तथा चक्र हाथमें लेकर उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ गजेन्द्र विपद्में पड़ा था। उनक
भी वहाँ पधारे॥३१॥

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्त्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥ ३२॥

सरोवरक
जिससे वह अत्यन्त पीड़ित हो रहा था। जब गजराजने देखा कि आकाशमें गरुडक
श्रीहरि आ रहे हैं, तो वह अपनी सूँड़में एक कमल-पुष्प लेकर वेदनाक
अखिल-गुरो! हे भगवन्! आपको नमस्कार है॥३२॥

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम्॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीगजेन्द्रमोक्षणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

तदनन्तर गजराजको इस प्रकार अत्यन्त पीड़ित देखकर भगवान् श्रीहरि गरुडक
उन्होंने शीघ्र ही सरोवरक
भी उद्धार कर दिया। उन्होंने समस्त देवताओंक
ग्राहका मुख विपाटित (फाड़) करक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

गज और ग्राहका पूर्व चरित्र तथा उनका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः।
मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रको मुक्त कर दिया, तब ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवता, ऋषि और गन्धर्वगण भगवान्की प्रशंसा करते हुए उनपर फ
करने लगे॥१॥

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः।
ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्॥ २॥

स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्व नाचने-गाने लगे और ऋषि, चारण एवं सिद्धगण भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥२॥

योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक्।
मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः॥ ३॥

प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमःश्लोकमव्ययम्।
अगायत यशोधाम कीर्त्तन्यगुणसत्कथम्॥ ४॥

ग्राहने भगवान् श्रीहरिकी कृपासे पापमुक्त होकर शीघ्र ही परम आश्चर्यमय दिव्य गन्धर्वरूप धारण कर लिया। वह ग्राह पूर्वजन्ममें हूहू नामक एक श्रेष्ठ गन्धर्व था। देवल मुनिक
ग्राह-योनि प्राप्त हुई थी। उसने भगवान्क
प्रणाम किया और उनकी स्तुति करने लगा। उत्तमश्लोक, अनन्त यशक
करने योग्य हैं। यह गन्धर्व एक बार स्त्रियोंक

कर रहा था। उसी समय देवल ऋषिने भी सरोवरमें स्नानक
लिये प्रवेश किया। यह गन्धर्वराज अपने आमोदक
अन्दर ऋषिक
दिया—अरे दुष्ट! ग्राह बनकर जन्म ले।' इसपर बहुत प्रयासक
बाद उसने मुनिको प्रसन्न कर लिया। तब मुनिने कहा—"तू इसी
तरह जब गजेन्द्रक
साथ तेरा भी उद्धार करेंगे॥३-४॥

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम्।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः॥५॥

भगवान् श्रीहरिकी कृपासे हूहू गन्धर्वक
हो गये। तत्पश्चात् उसने भगवान्‌की प्रदक्षिणा की और ब्रह्मादि
देवताओंक

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥६॥

इधर गजराज भी भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करक
मुक्त हो गया। उसे भगवान्‌की सारूप्य गति प्राप्त हुई। वह चतुर्भुज
और पीताम्बरधारी बन गया॥६॥

स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः॥७॥

गजेन्द्र पूर्वजन्ममें द्रविड़ देशका पाण्ड्यवंशी राजा थे। उनका नाम था इन्द्रद्युम्न। वे विष्णुव्रत-परायण और परम यशस्वी थे॥७॥

स एकदाराधनकाल आत्मवान्
गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं
समर्चयामास कुलाचलाश्रमः॥८॥

एक समय राजा इन्द्रद्युम्न मलयाचल पर्वतपर आश्रम बनाकर रहने लगे। उन्होंने जटाएँ बढ़ा लीं और तपस्वीका वेश धारण कर

लिया। एक बार वे मौनव्रत धारण करक
पूजा कर रहे थे। उनका हृदय भगवत्-प्रेममें निमग्न था॥८॥

यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह॥९॥

उसी समय दैववश महायशस्वी अगस्त्य मुनि अपने शिष्योंक
साथ स्वेच्छापूर्वक राजा इन्द्रद्युम्नक
देखा कि वे मौन साधकर गृहस्थोचित अतिथि सेवादि धर्मका परित्यागकर एकाकी निर्जनमें बैठे हैं, तो वे उनक
हो उठे॥९॥

तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य।
विप्रावमन्ता विशातां तमिस्रं
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव॥१०॥

अगस्त्य ऋषिने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे डाला—यह इन्द्रद्युम्न असाधु, दुरात्मा और अशिक्षित है। ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला यह हाथीक
हाथीकी योनि प्राप्त हो॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान् नृप सानुगः।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्ट तदुपधारयन्॥११॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम्।
हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः॥१२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार इन्द्रद्युम्नको अभिशाप देकर सामर्थ्यवान् अगस्त्य ऋषि अपने शिष्योंक
गये। राजर्षि इन्द्रद्युम्नने इस अभिशापको दैवकी प्रेरणा मान लिया।

तदनन्तर उन्हें परमात्माकी स्मृतिका नाश करानेवाली गज-योनि प्राप्त हुई किन्तु भगवान् श्रीहरिकी अर्चनाक
योनिमें भी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही॥११-१२॥

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात्॥ १३॥

इस प्रकार भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रको मुक्त करक
पार्षद बना लिया। गन्धर्व, सिद्ध एवं देवता भगवान्‌की इस लीलाका गान करने लगे। तत्पश्चात् पद्‌मनाभ भगवान् पार्षदरूप गजेन्द्रको साथ लेकर गरुडपर आसीन होकर अपने अप्राकृत धामको चले गये॥१३॥

एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम्।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम्॥ १४॥

हे महाराज परीक्षित्! यह भगवान्‌की महिमा और गजेन्द्रकी मुक्तिकी कथा मैंने तुम्हें सुनायी। हे क
आख्यानको सुनते हैं, उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होती है, यशकी वृद्धि होती है, कलिकी कलुषता मिट जाती है और सारे दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है॥१४॥

यथानुकीर्त्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये॥ १५॥

इसीलिए अपने कल्याणकी अभिलाषा रखनेवाले ब्राह्मणगण प्रातःकालमें जागते ही पवित्र होकर दुःस्वप्नादि अशुभोंकी निवृत्तिक लिए नियमपूर्वक इस गजेन्द्र-मोक्षका पाठ करते हैं॥१५॥

इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः॥ १६॥

हे परीक्षित्! सर्वात्मा, सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वहाँ उपस्थित समस्त प्राणियोंक गजेन्द्रसे कहा था— ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच—

ये मां त्वाञ्च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम्।
वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान्॥ १७॥
शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च।
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपञ्च भास्वरम्॥ १८॥
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम।
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम्॥ १९॥
शेषञ्च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम्।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च॥ २०॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम्॥ २१॥
प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान् धर्ममव्ययम्।
दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि॥ २२॥
गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम्।
ध्रुवं ब्रह्मऋषीन् सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान्॥ २३॥
उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते तेंऽहसोऽखिलात्॥ २४॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो मनुष्य रात्रिक
संयमपूर्वक एवं एकाग्रचित्तसे मेरा, तुम्हारा और इस सरोवर, पर्वत, कन्दरा, वन, बेंत, कीचक, बाँसक
मेरे, ब्रह्माजी और शिवजीक
दीप्तिशाली श्वेतद्वीप, मेरे श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पक्षीराज गरुड, शेषनाग, और मेरे आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्मा, नारद

ऋषि, महादेव, प्रह्लाद, मत्स्य, क
किये गये अनन्त पुण्यात्मक चरित्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, प्रणव, सत्य, माया, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी सनातन धर्म—भक्ति, सोम, कश्यप, धर्मपत्नी–दक्षकी कन्याओं, गङ्गा, सरस्वती, नन्दा, कालिन्दी, ऐरावत हाथी, ध्रुव, सप्त ब्रह्मर्षि, पवित्रकीर्त्ति (युधिष्ठिर–जनक आदि) महापुरुषोंका स्मरण करते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। ये सब मेरे ही रूप और स्वरूप हैं॥१७–२४॥

ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विपुलां गतिम्॥ २५॥

प्रिय गजराज! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर तुम्हारे द्वारा कीर्त्तित इस स्तोत्रसे मेरी स्तुति करेंगे, मैं मृत्युक
अर्थात् अपना वैक

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्राध्माय जलजोत्तमम्।
हर्षयन् विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम्॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीगजेन्द्रमोक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! हृषीक
इस प्रकार उपदेश देकर अपना सर्वश्रेष्ठ पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया और ब्रह्मादि देवताओंको आनन्दित करते हुए गरुडक
होकर अपने धाम चले गये॥२६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीक
ब्रह्मा द्वारा भगवान्‌की स्तुति

श्रीशुक उवाच—

राजन्नुदितमेतत् ते हरेः कर्माघनाशनम्।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीहरिका यह गजेन्द्र-मोक्षरूप पापनाशक और पुण्यतम चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया। अब रैवत मन्वन्तरकी कथा श्रवण करो॥१॥

पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता हार्जुनपूर्वकाः॥ २॥

चौथे मनु तामसक
नामसे प्रसिद्ध थे। उनक
पुत्र थे॥२॥

विभुरिन्द्रः सुरगणाः राजन् भूतरयादयः।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः॥ ३॥

राजन्! इस रैवत मन्वन्तरमें विभु नामक
आदि देवताओंक
एवं ऊर्ध्वबाहु आदि ब्राह्मण सप्तर्षि थे॥३॥

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्॥ ४॥

इनमें शुभ्र ऋषिकी पत्नीका नाम था विक
गर्भसे वैक
भगवान्‌ने वैक

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया॥ ५॥

लक्ष्मीदेवीकी प्रार्थनासे उन्हें प्रसन्न करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीहरिने समस्त लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ वैक

तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः।
भौमान् रेणून् स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद् गुणान्॥ ६॥

भगवान् वैक

प्रभावका वर्णन तो मैं संक्षेपमें (तृतीय स्कन्धमें) पहले कर ही चुका हूँ। भगवान्क

है, जो भूमिपर स्थित धूलि-कणोंकी गणना कर सकता हो, परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं है॥६॥

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः॥ ७॥

चक्षुक

सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे॥७॥

इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः।
मुनयस्तत्र वै राजन् हर्यस्मद्वीरकादयः॥ ८॥

इस मन्वन्तरक

देवगण थे और हर्यस्मद् एवं वीरक आदि सप्तर्षि थे॥८॥

तत्रापि देवसम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतीपतिः॥ ९॥

इस छठे मन्वन्तरमें भी वैराजकी पत्नी सम्भूतिक

भगवान् विष्णु अपने अंशसे जन्म ग्रहण करक

प्रसिद्ध हुए थे॥९॥

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः॥ १०॥

उन्होंने क्षीरसागरका मन्थन करक
उत्पन्न किया था तथा उन्होंने ही कच्छपरूप धारण करक
सागरक
किया था॥१०॥

श्रीराजोवाच—

यथा भगवता ब्रह्मन् मथितः क्षीरसागरः।
यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना॥ ११॥
यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यदभवत् ततः।
एतद्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम्॥ १२॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! भगवान् विष्णुने किस प्रकार और किस कारणसे समुद्र मन्थन किया था—उन्होंने कच्छपरूप धारण करक
देवताओंको अमृत प्राप्त हुआ था और सागर मन्थनसे क्या-क्या वस्तुएँ उत्पन्न हुई थीं? आप कृपा करक
आश्चर्यमयी लीला हमें अवश्य सुनाइए॥११-१२॥

त्वया संकथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम्॥ १३॥

आपक
त्रितापोंसे तप्त मेरा चित्त परितृप्त नहीं होता, बल्कि इसकी उत्कण्ठा और भी बढ़ती जाती है॥१३॥

श्रीसूत उवाच—

संपृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः।
अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे॥ १४॥

श्रीसूतने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! राजा परीक्षित्क
प्रकार जिज्ञासा करनेपर द्वैपायन-पुत्र श्रीशुकदेवने उनक
अभिनन्दन किया और भगवान् श्रीहरिकी अपार महिमाका वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया॥१४॥

श्रीशुक उवाच—

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः शितोयुधैः।
गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन् स्म भूरिशः॥ १५॥
यदा दुर्वासःशापेन सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप।
निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः॥ १६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जिस समय युद्धमें असुरोंक
अस्त्रोंक
लगे तथा उनमेंसे अधिकांश भूमिसे—जीवित ही नहीं उठ पाये,
उस समय हे राजन्! दुर्वासा मुनिक
स्वयं इन्द्र भी श्रीहीन हो गये थे और यज्ञादि अनुष्ठानोंका होना
ही बन्द हो गया था॥१५-१६॥

निशाम्यैतत् सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः।
नाध्यगच्छन् स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चितम्॥ १७॥
ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्द्धनि सर्वशः।
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने॥ १८॥

जब तीनों लोकोंको श्रीहीन देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवतागण
बहुत सोच-विचार करक
सारे देवता एकत्रित होकर सुमेरु पर्वतक
सभामें पहुँचे। उन्होंने ब्रह्माको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनक
समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर दिया॥१७-१८॥

स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निःसत्त्वान् विगतप्रभान्।
लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः॥ १९॥
समाहितेन मनसा संस्मरन् पुरुषं परम्।
उवाचोत्फुल्लवदनो देवान् स भगवान् परः॥ २०॥

ब्रह्माने देखा कि इन्द्र, वायु आदि देवतागण श्रीहीन एवं
बलहीन हो गये हैं। तीनों लोकोंमें अमङ्गल छा रहा है और
इसक

एकाग्र चित्तसे परमपुरुष श्रीभगवान्‌का स्मरण किया और क
समय पश्चात् उत्फ
हुए कहने लगे—॥१९-२०॥

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः ।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता
व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम्॥२१॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओ! मैं, शङ्करजी, तुम सभी देवतागण, असुर, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज आदि समस्त जीव विराट्
पुरुषक
परमात्माकी शरण ग्रहण करें॥२१॥

न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
तथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले॥२२॥

भगवान्‌क
रक्षाका, उनक
फिर भी वे सृष्टि, स्थिति एवं संहारक
रज एवं तमोगुणको धारण करते हैं॥२२॥

अयञ्च तस्य स्थितिपालनक्षणः
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम्।
तस्माद्व्रजामः शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः॥२३॥

समस्त प्राणियोंकी स्थितिक
स्वीकार कर रखा है। इसलिए यह जगत्‌की स्थिति एवं रक्षाका समय है। अतः हम सब उन जगद्गुरुकी शरण ग्रहण करते हैं। वे
देवताओंक
निजजन हैं, अतः वे हमारा कल्याण अवश्य ही करेंगे॥२३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याभाष्य सुरान् वेधाः सह देवैररिंदम।
अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम्॥ २४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे शत्रुनाशन परीक्षित्! देवताओंसे इस प्रकार कहकर ब्रह्मा देवताओंको साथ लेकर अजित भगवान्क परमधाम श्वेतद्वीप पहुँचे, जो तमोमयी प्रकृतिसे परे है॥२४॥

तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै प्रभुः।
स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः॥ २५॥

ब्रह्मादि देवताओंने भगवान्क
पहलेसे ही बहुत क
क
वेदवाणीसे (वैदिक वाङ्मयमें वर्णित वचनावलीसे) भगवान्की स्तुति करना आरम्भ कर दिया॥२५॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम्॥ २६॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवाधिदेव! आप निर्विकार, सत्यस्वरूप, अतर्क्य, अनन्त-अनादि और सबक
विराजमान रहते हैं। अप्रमेयत्वक
तक मनकी पहुँच है, वहाँ आप पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं। वाणी आपका निरूपण नहीं कर सकती। आप ही सर्वश्रेष्ठ और समस्त देवताओंक

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना-
मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम्।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे॥ २७॥

आप प्राण, मन, बुद्धि और आत्माक
उनक
प्रकाशित नहीं कर सकते। अज्ञान आपका स्पर्श नहीं कर सकता, जीवकी पक्षपातिनी अविद्या और विद्याका आपसे कोई सम्पक नहीं है। आपका शरीर प्राकृत नहीं है, जो पूर्व कर्मका परिणाम होता है। आप नित्य, अविनाशी और सुखस्वरूप हैं, आप
आकाशक
युगोंमें षडैश्वर्यसे परिपूर्ण होकर प्रकट होते हैं। हम सब आपक
शरणागत हैं॥२७॥

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु।
त्रिनाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये॥ २८॥

विवेकीजनोंका कहना है कि जीवका यह संसारचक्र (जन्म-मरण रूपी शरीर) मनोमय है अर्थात् मन इस चक्रका प्रधान अंश है, दस इन्द्रियाँ और पञ्चप्राण इसक
नाभियोंक
चञ्चल गतिवाला है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्रकृति, महत्-तत्त्व एवं अहङ्कार—ये आठ इस चक्रकी नेमि (परिधि) हैं। बहिरङ्गा माया शक्ति द्रुतगतिसे इस देहचक्रको चारों ओर घुमाती है। इस चक्रकी आश्रय-धुरी स्वयं सत्यस्वरूप परमात्मा हैं। हम उन्हींकी शरण ग्रहण करते हैं॥२८॥

य एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-
मुपासते योगरथेन धीराः॥ २९॥

जो एकवर्ण, (ओङ्कार-स्वरूप) शुद्धसत्त्वमय, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, प्रकृति (दृश्य जगत्)से परे, भौतिक नेत्रोंसे अदृश्य, लोकातीत होनेक

कारण अव्यक्त (सबसे अगम्य) हैं, काल और देश तथा शब्द और अर्थक
दिक् या काल द्वारा हमसे पृथक् नहीं होते, सर्वत्र उपस्थित रहते हैं)। जो सिद्ध जीवोंक
और धीरजन प्रणवरूप सुपर्णमें आरूढ़ (गरुडपर आसीन) जिन परमेश्वरको योगरूप रथपर आरोहण कराक
हैं, हम उन्हीं परमेश्वरको प्रणाम करते हैं॥२९॥

न यस्य कश्चातितितर्त्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम्॥ ३०॥

जिस मायासे मोहित होकर जीव आत्मस्वरूपको जान नहीं पाते, वह उन्हींकी माया है। इस मायासे पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। जो प्रभु अपनी माया एवं मायाक
करक
उन्हें प्रणाम करते हैं॥३०॥

इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः॥ ३१॥

हम देवता एवं ऋषिगण उनक
ही उत्पन्न हुए हैं, फिर भी हम बाहर (कालरूपमें) और अन्तरमें (अन्तर्यामीरूपमें) उनकी सत्ता एवं प्रकाश द्वारा प्रकटित उनकी सूक्ष्म गतिको नहीं जान सकते। तब जो रजोगुण एवं तमोगण प्रधान असुर हैं, वे उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं? हम उन्हीं प्रभुको नमस्कार करते हैं॥३१॥

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः॥ ३२॥

जिस पृथ्वीपर जरायुज, स्वेदज, अण्डज एवं उद्भिज्ज—इन चार प्रकारक
भगवान्क
ऐश्वर्यशाली, भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३२॥

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्द्धमानाः।
लोका यतोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३३॥

समस्त लोक एवं उनक
हैं, जिसमें जीवित रहते हैं और जिससे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, वह महाशक्तिवान् जल भगवान्का वीर्य है। ऐसे महाविभूतिशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३३॥

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३४॥

देवताओंक
ईश्वर और प्रजाओंकी उत्पत्तिक
मन कहते हैं, ऐसे महाविभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३४॥

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३५॥

अग्निकी उत्पत्ति वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डको भलीभाँति सम्पन्न करनेक
अन्नादिका एवं समुद्रमें रहकर बड़वानल रूपमें जलादि धातुओंका पाचन करती है और जिससे धनादि समस्त द्रव्योंकी उत्पत्ति हुई है, अनुष्ठेय आहुतियोंको ग्रहण करनेवाली वह अग्नि जिनका मुख है, ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३५॥

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।
द्वारञ्च मुक्तेरमृतञ्च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३६॥

जो अचिरादि मार्गक
वेदोंक
जो मुक्तिका द्वार एवं अमृतस्वरूप हैं, जो कालरूप होनेक
मृत्यु हैं और सूर्य जिनक
भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३६॥

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगाः वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३७॥

समस्त चराचर जगत्को तेज, प्राण, मानसिक बल, शारीरिक बल और इन्द्रिय बल प्रदान करनेवाली वायु जिनक
हुई है, जो चक्रवर्ती सम्राट् हैं और बुद्धि, इन्द्रियादिक
हम देवतागण दासक
ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३७॥

श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ३८॥

जिनकी श्रवणेन्द्रियसे दसों दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक (देहस्थित रन्ध्र) और नाभिमण्डलसे प्राण, इन्द्रिय, मन, वायु एवं शरीरका आश्रय आकाश उत्पन्न हुआ है, वे परमशक्तिशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३८॥

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः।
खेभ्यस्तु छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥३९॥

जिनक
क्रोधसे शङ्कर, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे सम्पूर्ण वेद एवं ऋषि तथा लिङ्गसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, वे महाविभूति भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥३९॥

श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययासन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥४०॥

जिनक
अधर्म, मस्तकसे स्वर्ग और विहारसे अप्सराएँ प्रकट हुईं, वे महाविभूति सम्पन्न भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥४०॥

विप्रो मुखान्ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद्भुजयोर्बलञ्च।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥४१॥

जिनक
बल, जाँघोंसे वैश्य और उनकी वृत्ति, चरणोंसे शूद्र एवं उनकी शुश्रूषा-वृत्ति उत्पन्न हुए हैं, ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥४१॥

लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद्द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४२॥

जिनक
स्पर्शसे पाशविक काम, भौंहोंसे यम और पलकोंसे कालकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे महाविभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों॥४२॥

द्रव्यं वयः कर्म गुणान् विशेषं
यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।
यद्दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥ ४३॥

पृथ्वी आदि पञ्चभूत, काल, कर्म (जीवका अदृष्ट) एवं उसक
हेतुभूत सत्त्वादि प्रकृतिक
द्रव्यादि सम्पूर्ण पदार्थ भगवान्‌की योगमाया (स्वरूपशक्ति) द्वारा रचे गये हैं। विद्वानोंका कहना है कि इन सब पदार्थोंको प्राकृतरूपमें ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ये दुर्ज्ञेय एवं दुस्तर्क्य हैं। (विद्वत्-वर्ग इनक
विभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों। (दुर्ज्ञेय एवं अतर्क्य होनेपर भी उनका सङ्कल्प ज्ञानियों द्वारा बोधगम्य है। तदनुसार उनकी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति योगमाया है, योगमायाकी विभूति सत्त्वादिगुणमयी माया है, उसकी विभूति फल, कर्म, महदादिसे पृथ्वी तकक
इस तत्त्वको जाना जा सकता है।)॥४३॥

नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये॥ ४४॥

जो माया निर्मित शब्द, रूपादि विषयोंकी श्रवण, दर्शन आदि वृत्तियोंमें उसी प्रकार आसक्त नहीं होते, जिस प्रकार नित्य प्रवाहमान वायु सर्वत्र अनासक्त रहता है। जो अपने आत्मानन्दक
परिपूर्ण हैं, जिनमें संवित् इत्यादि समस्त अन्तरङ्ग शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं, जो प्रयास-रहित एवं निष्क्रिय हैं और जिनकी लीला वायुक
प्रसन्न हों॥४४॥

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम्।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्॥ ४५॥

हे भगवन्! हम आपक
इच्छुक हैं। हमारे इन नेत्रोंको आप मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त अपना मुख एवं अपना स्वरूप दिखलाकर हमें कृतार्थ कीजिए॥४५॥

तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत् करोति हि॥ ४६॥

हे प्रभो! आप षडैश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। आप स्वेच्छासे स्वयं ही समय-समयपर मत्स्य, क
हमारे लिए असम्भव है। आप सर्वशक्तिमान् हैं, आपक
अपने स्वरूपका दर्शन कराना कठिन नहीं है—आप अघटनघटन पटीयसी शक्तिसे युक्त हैं॥४६॥

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा।
देहिनां विषयार्त्तानां न तथैवार्पितं त्वयि॥ ४७॥

जो लोग विषयोंक
उनमें परिश्रम और क्लेश तो बहुत हैं, किन्तु फल बहुत कम मिलता है। इसक
कर रखा है, वे कभी निष्फल नहीं होते, अपितु महाफल प्राप्त करते हैं॥४७॥

नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्चरार्पितः।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः॥ ४८॥

भगवान्‌को अर्पित किया हुआ कार्य छोटे–से–छोटा भी क्यों न हो, वह निरर्थक नहीं होता, क्योंकि भगवान् समस्त जीवोंक हितकारी, प्रियतम और आत्मा ही हैं॥४८॥

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥ ४९॥

वृक्षकी जड़को सींचनेसे जिस प्रकार उसक
शाखा–प्रशाखाओंकी स्वयं ही तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी आराधनासे समस्त प्राणियोंकी और अपनी भी आराधना हो जाती है॥४९॥

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम्॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमथने श्रीब्रह्मस्तुतिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः।

जो अनन्त अर्थात् तीनों कालोंसे परे हैं, जिनक
लीलाएँ तक
और जो इस समय सत्त्वगुणमें अधिष्ठित हैं, ऐसे भगवान्‌को हम बार–बार नमस्कार करते हैं॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

देवताओंका दैत्योंसे मिलकर समुद्र-मन्थनक
चेष्टा करना

श्रीशुक उवाच—

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः।
तेषामाविरभूद्राजन् सहस्रार्कोदयद्युतिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब देवताओंने भगवान् श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे ब्रह्मादि देवताओंक
प्रकट हो गये। उनक
एक साथ उदित हो गये हों॥१॥

तेनैव महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः।
नापश्यन् खं दिशः क्षौणीमात्मानं च कुतो विभुम्॥ २॥

भगवान्क
आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी, यहाँ तक कि अपना शरीर भी दिखायी नहीं दे रहा था। तब वे सर्वव्यापक भगवान्का किस प्रकार दर्शन कर सकते थे?॥२॥

विरिञ्चो भगवान् दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम्।
स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम्॥ ३॥

तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम्॥ ४॥

महामणिकिरीटेन केयूराभ्याञ्च भूषिताम्।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥ ५॥

काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम्॥ ६॥

सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्त्तिमद्भिरुपासिताम्।
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम्।
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः॥ ७॥

शिव और ब्रह्माको ही भगवान्‌की वह अनुपम झाँकी दिखायी दे रही थी। मरकत मणिक
श्यामल शरीर, कमलक
तप्तकाञ्चनवत् विशुद्ध एवं उद्दीप्त रेशमी–पीताम्बर, सर्वाङ्ग सुन्दर प्रसन्न छवि, मनोहर मुसकान, सुन्दर मुखश्री, आकर्षक भौंहें, महामणिमय किरीट, बाजूबन्दोंसे सुशोभित भुजाएँ तथा क
कांतिसे युक्त कपोल और मुखकमल अत्यधिक कान्तिमय हो रहे थे। भगवान्‌की कमरमें करधनी, हाथोंमें वलय, गलेमें हार और दोनों चरणोंमें नूपुर सुशोभित थे। कण्ठमें कौस्तुभ मणि झिलमिला रही थी तो वक्षःस्थलमें उन्होंने लक्ष्मीजीको धारण कर रखा था। चारों भुजाओंमें सुदर्शन चक्र, गदादि आयुध विराजमान थे। वनमालाकी शोभा अद्भुत थी। शिव और ब्रह्मा सहित वहाँ उपस्थित सभी देवताओंने भूमिपर लोटकर भगवान्‌को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और उनकी इस प्रकार स्तुति की॥३–७॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अजातजन्मस्थितिसंयमाया–
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
महानुभावाय नमो नमस्ते॥ ८॥

श्रीब्रह्माने कहा—आपक
होता। राम, कृष्ण आदि अवतारोंक
अन्तर्धान निरन्तर चलता रहता है। आप सत्त्वादि प्राकृत गुणोंसे रहित, निर्वाणरूपी सुखक
स्वरूप अनन्त है, आप अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सर्वव्यापक हैं—ऐसे परम ऐश्वर्यशाली आपको हमलोग बार–बार नमस्कार करते हैं॥८॥

रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्त्तौ॥ ९॥

हे पुरुषोत्तम! हे विधाता! अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य वैदिक एवं पाञ्चरात्रिक विधियोंक
पूजा करते हैं। अहो! आपकी इस विश्वमय मूर्त्तिमें मुझे तीनों लोक और हम सब भी दिखायी दे रहे हैं॥९॥

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमामतन्त्रे।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्॥ १०॥

विश्वकी रचनासे पूर्व आप थे, मध्यमें भी आप हैं और विनाशक
मध्य और अन्त सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है, उसी प्रकार इस जगत्क
रहते हैं। आप प्रकृतिक
विश्वरूपमें परिणत होती है, आप नहीं॥१०॥

त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः॥ ११॥

हे विभो! आप अपनेमें आश्रित मायाक
रचना करक
एवं मनीषीगण योगसे परिपक्व हुए शुद्ध अन्तःकरणसे गुणोंक परिणामस्वरूप इस विश्वमें प्रविष्ट होनेपर भी आपक
ही दर्शन करते हैं॥११॥

यथाग्निमेधस्यमृतञ्च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम्।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति॥ १२॥

जिस प्रकार मानव मन्थनादि युक्तियोंक
गौसे दूध, पृथ्वीसे अन्न एवं जल और अपनी कला एवं पुरुषार्थसे अपनी आजीविका प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही विद्वज्जन अपनी शुद्ध बुद्धिसे भक्तियोगक
मनमें मन्थन द्वारा ही) आपका अन्वेषण कर लेते हैं और अपनी-अपनी अनुभूतियोंक

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतमद्य सर्वे
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः॥ १३॥

हे पद्मनाभ! दावाग्निसे पीड़ित हाथी जिस प्रकार गङ्गाजलकी प्राप्ति होनेपर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार परम पुरुषार्थ स्वरूप आपक
प्रभो! हमें दीर्घकालसे आपक

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम्।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्
किंवान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः॥ १४॥

हे स्वामिन्! हम सब लोकपालगण जिस प्रयोजनसे आपक चरणोंकी शरणमें आये हैं, आप कृपा करक
हे अन्तरात्मन्! आप भीतर तथा बाहर समस्त पदार्थोंक
हैं। हमारे प्रयोजनको भी आप स्पष्ट रूपसे जानते हैं, इस विषयमें हम और क्या निवेदन करें?॥१४॥

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता
विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम्॥ १५॥

मैं, शिवजी, अन्यान्य देवता और दक्षादि प्रजापति, हम सब अग्निकी चिनगारियोंक
स्वतन्त्र होकर पृथक्‌रूपसे अपना श्रेय किस प्रकार जान सकते हैं? हे परमेश्वर! हमारे लिए आदेश कीजिए, जिसे करनेसे हम देवताओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो (आप ब्राह्मणोंको मन्त्र प्रदान कीजिए।)॥१५॥

श्रीशुक उवाच—

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्त-
द्विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा
बद्धाञ्जलीन् संवृतसर्वकारकान्॥ १६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! ब्रह्मादि देवता इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करक
सावधान मुद्रामें खड़े हो गये। उनकी स्तुति सुनकर और उनक आगमनक
गम्भीर वाणीमें उनसे बोले॥१६॥

एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः।
विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः॥ १७॥

राजन्! यद्यपि स्वयं भगवान् सुरेश्वर अक
कार्य करनेमें समर्थ थे, तथापि समुद्र मन्थन आदि लीलाओंक द्वारा क्रीड़ा-विहार करनेकी इच्छासे वे देवताओंसे इस प्रकार कहने लगे॥१७॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम्।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद् यथा सुराः॥ १८॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! हे शम्भो! हे देवताओ! जिस प्रकारसे तुम्हारा कल्याण होगा, मैं तुम्हें वही बतला रहा हूँ। तुम सावधान होकर मेरी बात सुनो॥१८॥

यात दानवदैतेयैस्तावत् सन्धिर्विधीयताम्।
काव्येनानुगृहीतैस्तैर्यावद्वो भव आत्मनः॥ १९॥

इस समय काल असुरोंक
समृद्धिका समय नहीं आता, तब तक तुम शुक्राचार्यक
अनुगृहीत दानवोंक

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे।
अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः॥ २०॥

हे देवताओ! जब कोई बड़ा कार्य करना हो, तब शत्रुओंक साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए। प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर तो सर्प और चूहेक
पिटारीमें साँप और चूहा दोनों पकड़ लिये गये। सर्पने पिटारीसे बाहर निकलनेक
जानेपर साँप चूहेको निगलकर पिटारीसे भाग गया)॥२०॥

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम्।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्॥ २१॥

हे देवताओ! तुमलोग बिना कोई विलम्ब किये अमृत निकालनेका प्रयत्न करो, जिसका पान करक
अमर हो जाते हैं॥२१॥

क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्॥ २२॥

सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः॥ २३॥

हे देवताओ! सर्वप्रथम सभी प्रकारकी वनस्पतियाँ, तृण, लताएँ एवं ओषधियाँ क्षीरसागरमें डाल दो, उसक
मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाकर मेरी सहायतासे समुद्रका मन्थन करो। हे देवताओ! न तो यह समय आलस्यका है, और न ही व्याक
क

यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः।
न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥ २४॥

हे देवताओ! शान्तिक
क्रोधसे क
स्वीकार कर लेना॥२४॥

न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसम्भवात्।
लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु॥ २५॥

समुद्रसे कालक
मत होना। मन्थनसे और भी जो वस्तुएँ निकलेंगी, उनक
भी कदापि लोभ और कामना मत करना और यदि असुरगण किसी वस्तुको ले जाएँ, तो भी क्रोध मत करना॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

इति देवान् समादिश्य भगवान् पुरुषोत्तमः।
तेषामन्तर्दधे राजन् स्वच्छन्दगतिरीश्वरः॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरि देवताओंको आदेश देकर उनक
वहाँसे अन्तर्धान हो गये। सर्वशक्तिमान् भगवान् देवताओंक
नियन्ता और परम स्वतन्त्र हैं॥२६॥

अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः।
भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः॥ २७॥

इसक
और शिवजी अपने-अपने धामको चले गये। इधर इन्द्रादि देवता
राजा बलिक

दृष्ट्वारीनप्यसंयत्तान् जातक्षोभान् स्वनायकान्।
न्यषेधद्दैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित्॥ २८॥

दैत्यराज बलिका यश बड़ा प्रशंसनीय था। वे जानते
थे कि कब सन्धि की जाय और कब विरोध किया जाय।
जब उन्होंने देखा कि देवता अस्त्र-शस्त्रक
उन्होंने संहारक
रोक दिया॥२८॥

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तञ्चासुरयूथपैः।
श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन्॥ २९॥

सारे देवता विरोचन-नन्दन राजा बलिक
सेनापतियोंक
राजसिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने अपने बलसे तीनों लोकोंको
जीत लिया था॥२९॥

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः।
अभ्यभाषत तत् सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात्॥ ३०॥

महाबुद्धिमान् देवराज इन्द्रने मृदु एवं मधुर वचनोंसे राजा
बलिको प्रसन्न कर लिया। उन्होंने राजा बलिक
बातें कहीं, जो उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तम श्रीहरिसे सीखी थीं॥३०॥

तत्त्वरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः।
शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः॥ ३१॥

देवराज इन्द्रक
रुचिकर लगीं। उस समय वहाँपर बैठे हुए शम्बर, अरिष्टनेमि आदि

त्रिपुरवासियों और पौलोम, कालक
वह बात उचित लगी॥३१॥

ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परन्तप॥ ३२॥

हे शत्रुनाशन् परीक्षित्! इसक
शपथ लेकर सन्धि कर ली और वे सब मिलकर नियमितरूपसे अमृत निकालनेक

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः।
नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः॥ ३३॥

परमशक्तिशाली, दुरभिमानी और परिघ अस्त्रक
देवता और दानवोंने अपने बलसे मन्दर पर्वतको उखाड़ लिया और सिंहनाद करते हुए क्षीरसागरकी ओर चले॥३३॥

दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः।
अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि॥ ३४॥

परीक्षित्! प्रथम तो मन्दराचल पर्वत बहुत अधिक भारी था और दूसरे क्षीरसागर भी बहुत दूर था। इन्द्र, बलि आदि देवता एवं असुर उसे वहन करते-करते इतने थक गये कि उसे सागर तक नहीं ले जा सक
ही छोड़ दिया॥३४॥

निपतन् स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान्।
चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः॥ ३५॥

यह मन्दराचल पर्वत सोनेका बना हुआ था और अत्यन्त भारी था। उसने गिरते समय बहुत-से देवता और दानवोंको चकनाचूर कर दिया॥३५॥

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान्।
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः॥ ३६॥

पर्वतक
गयी, तो किसीक
साथ ही उनक
भगवान् गरुडध्वज उस स्थानपर प्रकट हो गये॥३६॥

गिरिपातविनिष्पिष्टान् विलोक्यामरदानवान्
ईक्षया जीवयामास नीरुजान्निर्व्रणान् यथा॥ ३७॥

जब भगवान् श्रीहरिने देखा कि पर्वतक
दानव चूर्ण–विचूर्ण हो गये हैं, तो उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे उन्हें इस प्रकार जीवित कर दिया, मानो उन्हें कोई चोट ही न पहुँची हो और न ही कोई दुःख हुआ हो॥३७॥

गिरिञ्चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः॥ ३८॥

इसक
उठाकर अपने वाहन गरुडक
ऊपर सवार हो गये और देवता एवं असुरोंक
तट पर पहुँचे॥३८॥

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमथने मन्दराचलानयनं नाम षष्ठोऽध्यायः।

तदनन्तर गरुडने मन्दर–पर्वतको अपने कन्धेसे उतारकर जलक
चले गये॥३९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

देवताओं और असुरोंका मिलकर समुद्र-मन्थन और शिवजीका विषपान

श्रीशुक उवाच—

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम्।
परिवीय गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः।
आरेभिरे सुरा यत्ता अमृतार्थे कुरूद्वह॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
नागराज वासुकिसे प्रतिज्ञा की कि वे मन्थनसे प्राप्त होनेवाले अमृतमें-से उन्हें भी हिस्सा देंगे और यह कहकर उन्हें रज्जुरूपमें मन्दर पर्वतसे लपेट लिया। अब सबने बड़े आनन्दक
करनेक

हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन्॥ २॥

भगवान् श्रीहरि पहले वासुकिक
देवता भी उनक

तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम्।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम्।
स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः॥ ३॥

भगवान् श्रीहरिकी यह चेष्टा दैत्यपतियोंकी इच्छानुसार न थी। उन्होंने सोचा कि वासुकिका मुख पकड़ना ही मङ्गलमय तथा महापुरुषार्थरूप कार्य है और पूँछ तो सर्पोंका अशुभ अंग है। अतः उन्होंने पूँछ पकड़ना स्वीकार नहीं किया। भगवान् अजितका अनुमोदन न करक
अध्ययन किया है, हम शास्त्रज्ञानसे सम्पन्न हैं, हमारी क

और हमारे कार्य सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात हैं। अतः पूँछ भाग पकड़ना हमारे लिए अमङ्गलस्वरूप है, हम पूँछ नहीं पकड़ेंगे॥३॥

इति तूष्णीं स्थितान् दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः॥४॥

परीक्षित्! इस अभिप्रायसे वे चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। दैत्योंको इस प्रकार खड़े देखकर भगवान् पुरुषोत्तम मन्द-मन्द मुसकराये और उन्होंने मुख-भागको छोड़कर देवताओंक
वासुकिकी पूँछको पकड़ लिया॥४॥

कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः।
ममन्थुः परमं यत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम्॥५॥

इस प्रकार कश्यप-नन्दन देवताओं और दानवोंने स्थानका विभाजन कर लिया और अमृत-प्राप्तिक
समुद्रका मन्थन करने लगे॥५॥

मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत्।
ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात् पाण्डुनन्दन॥६॥

हे पाण्डुनन्दन! जब मन्दर पर्वतका मथानीक
करक
देवताओंक
होनेक

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः।
आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा॥७॥

दैववश अपना-अपना पराक्रम विनष्ट होते देख अतिबलवान् देवताओं एवं दानवोंक
मुखकी कान्ति क

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥८॥

अपारशक्तिवान् एवं सत्यसङ्कल्प भगवान्ने यह विघ्न देखा, तो उन्होंने अति अद्भुत कच्छप शरीर धारण किया और समुद्रक
जलमें प्रवेश करक
उठा लिया॥८॥

तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुद्यता निर्मथितुं सुरासुराः।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान्॥ ९॥

जब देवताओं और दानवोंने देखा कि मन्दर पर्वत तो ऊपर उठ आया है, तब वे पुनः मन्थन करनेक
भगवान् श्रीहरिने जम्बूद्वीपक
अपनी पीठपर मन्दर पर्वतको धारण कर रखा था॥९॥

सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः।
बिभ्रत् तदावर्त्तनमादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥ १०॥

हे राजन्! जब महाबलशाली देवता और असुरोंने अपने भुजबलसे उस पर्वतको घुमाया तब असीम शक्तिवान् आदि-कच्छप
भगवान् श्रीहरिको उसक
कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो॥१०॥

तथाऽसुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन्।
उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णु-
र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः॥ ११॥

तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने देखा कि इन सबमें सामर्थ्यका अभाव है और वासुकि नागको संघर्षक
हो रही है, तब वे बल-वीर्य बढ़ाने और उत्साह प्रदान करनेक

लिए उनमें शक्तिका सञ्चार करने लगे। वे असुरोंमें राजसी शक्तिक
और वासुकि नागमें तमोगुणमयी निद्रारूपमें प्रविष्ट हो गये॥११॥

उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः॥ १२॥

सहस्रबाहु भगवान् श्रीहरि स्वयं द्वितीय पर्वतराजक
मन्दराचल पर विराजमान होकर उसे एक हाथसे दबाकर स्थित हो गये। उस समय आकाशमें ब्रह्मा, शिवजी और इन्द्रादि देवता उनकी स्तुति करते हुए पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥१२॥

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम्॥ १३॥

इस प्रकार भगवान्‌ने पर्वतक
उसक
देवताओं एवं असुरोंमें शक्तिक
प्रविष्ट होकर सबको शक्तिसम्पन्न कर दिया। अब तो वे प्रोत्साहित होकर अपनी शक्तिक
लगे। उस समय समुद्र और उसमें रहनेवाले मगर, मछली आदि जीव विक्षुब्ध हो उठे॥१३॥

अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दावाग्निदग्धाः शरला इवाभवन्॥ १४॥

सर्पराज वासुकिक
आगकी लपटें एवं धुँआ निकलने लगे, जिसक

कालेय, बलि, इल्वल आदि असुर इस प्रकार निस्तेज हो गये, मानो जंगलकी आगसे झुलसे हुए शरलक

देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान्
धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान्।
समभ्यवर्षन् भगवद्वशा घना
ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः॥ १५॥

वासुकिकी श्वासकी ज्वालाओंसे देवताओंकी भी सौन्दर्य-सम्पत्ति क्षीण हो गयी। उसकी दहकती साँसोंक
और मुखादि धूमिल हो गये। इसी समय भगवत्-कृपासे मेघ उनक ऊपर वर्षा करने लगे और समुद्रकी तरङ्गोंसे सिञ्चित होकर सुशीतल वायु प्रवाहित होने लगी॥१५॥

मथ्यमानात् तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः।
यदा सुधा न जायते निर्ममन्थाजितः स्वयम्॥ १६॥

जब बड़े-बड़े देवताओं एवं असुरोंक
भी समुद्रसे अमृत नहीं निकला, तब भगवान् अजितने स्वयं ही मन्थन करना आरम्भ कर दिया॥१६॥

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-
न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः॥ १७॥

मेघक
विद्युत्क
नेत्रोंकी रक्तिम आभासे भगवान्की अद्भुत शोभा हो रही थी। सर्वत्र विजयश्री प्राप्त करनेवाले भगवान् अपनी अभयप्रदायिनी भुजाओंसे वासुकि नागको पकड़कर और कच्छपरूपसे पर्वतको धारणकर जब मन्दराचल रूपी मथानीसे समुद्रका मन्थन करने लगे, तब वे दूसरे प्रतिद्वन्द्वी नीलगिरि पर्वतक

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः।
संभ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात्॥ १८॥

भगवान्क
मच गयी। मत्स्य, मगर, कच्छप और सर्प अतिशय सन्तप्त हो गये। तिमि, द्विप (जलहस्ती), तिमिङ्गिल और ग्राह व्याक
ऊपर निकल आये। अन्ततः उस विक्षुब्ध समुद्रसे सर्वप्रथम अति भयंकर हालाहल नामक विष निकला॥१८॥

तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम्॥ १९॥

हे राजन्! अत्यन्त उग्र वह विष समुद्रक
चारों दिशाओंमें फ
प्रजापति भयभीत होकर और किसीका आश्रय न पाकर सदाशिवकी शरणमें गये॥१९॥

विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम्।
आसीनमद्रावपवर्गहेतो-
स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः॥ २०॥

शिवजी देवी पार्वतीक
लोकोंकी समृद्धिक
मुक्तिकी कामनासे उनकी सेवा कर रहे थे। प्रजापतियोंने उन्हें देखकर प्रणाम किया और उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे॥२०॥

श्रीप्रजापतय ऊचुः—

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात्॥ २१॥

प्रजापतियोंने कहा—हे देवाधिदेव महादेव! आप समस्त प्राणियोंक अन्तरात्मा और पालनकर्त्ता हैं। हम आपकी शरणमें आये हैं। आप कृपा करक
विषसे हमारी रक्षा कीजिए॥२१॥

त्वमेव सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्॥ २२॥

सम्पूर्ण जगत्की मुक्ति और बन्धनक
आप ही सबक
क्योंकि आप शरणागतोंक
करते हैं॥२२॥

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान् विभो।
धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्॥ २३॥

हे विभो! आप स्वयंप्रकाश हैं। हे भूमन्! जब आप अपनी सत्त्वादि गुणमयी स्वांशभूता मायाक
एवं संहार करते हैं, उस समय आप ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव नाम धारण करते हैं॥२३॥

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनम्।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः॥ २४॥

आप सभी देवता, मनुष्य, तिर्यक् आदि समस्त सत् एवं असत् (उत्कृष्ट एवं निकृष्ट स्वभाव वाले) प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। आप परम रहस्यमय ब्रह्म-तत्त्व हैं। विविध ऐश्वर्योंसे युक्त होकर आप इस दृश्य जगत्क

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणः स्वभावः।
कालः क्रतुः सत्यमृतञ्च धर्म-
स्त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति॥ २५॥

आप समस्त वेदोंकी उत्पत्तिक
ज्ञान हैं। आप ही महत्तत्त्व, प्राण, इन्द्रिय, पञ्च महाभूत, द्रव्य
और सत्त्वादि गुणोंक
आदि त्रिविध अहङ्कार, काल और सङ्कल्परूप हैं और आप ही
ऋत एवं सत्य नामक धर्म हैं। वेदवेत्ताओंका कहना है कि आप
'त्रिवृद्' अर्थात् अकार, उकार एवं मकार (अ, उ, म) अक्षरात्मक
प्रणवक

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम्॥ २६॥

हे समस्त लोकोंक
देवमय अग्नि आपका मुख है, पृथ्वी आपक
आपकी गति है, दिशाएँ कान हैं और वरुण रसनेन्द्रिय हैं॥२६॥

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षुंषि जलं स्म रेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवन् शिरस्ते॥ २७॥

हे भगवन्! आकाश आपकी नाभि, वायु निःश्वास, सूर्य आँखें
और जल आपका वीर्य है। आपका अहङ्कार उत्तम एवं अधम
सभी प्रकारक
स्वर्ग मस्तक है॥२७॥

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः॥ २८॥

हे वेदत्रयमूर्त्ते! सातों सागर आपकी कोख एवं पर्वत आपकी
अस्थियाँ है। समस्त प्रकारकी ओषधियाँ एवं लताएँ आपक

रोम हैं। गायत्री आदि छन्द आपकी सातों धातुएँ हैं और समस्त वैदिक धर्म आपका हृदय है॥२८॥

मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमात्मतत्त्वं
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते॥ २९॥

हे स्वामिन्! तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान—ये पाँच प्रकारक
मन्त्रोंक
हैं। हे देव! स्वयं-ज्योतिमान् शिव नामक परमात्म तत्त्वमें आपका अवस्थान अर्थात आश्रय है॥२९॥

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः॥ ३०॥

हे देव! अधर्मकी दमन, लोभ आदि तरङ्गोंमें आपकी छाया है, जिनसे विविध प्रकारकी प्रपञ्चात्मक सृष्टि होती है; सत्त्व, रज, तम—आपक
दृष्टि है। आप ही उन शास्त्रोंमें स्थित हैं और आप ही उनक कर्त्ता हैं॥३०॥

न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम्॥ ३१॥

हे गिरीश! आप ब्रह्म-स्वरूप हैं। आपमें न तो सत्त्व, रज और तम है तथा न देव मनुष्यादि किसी प्रकारका भेदभाव ही। आपकी परम ज्योतिको सम्पूर्ण लोकपाल यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु एवं देवराज इन्द्र भी नहीं जानते॥३१॥

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत् ते।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद॥ ३२॥

प्रलयक
चिंगारियोंकी ज्वालाओंसे भस्म हो जाता है और आपको पता भी नहीं चलता। आपने प्राणियोंको उत्पीड़ित करने वाले कामदेव, दक्ष-यज्ञ, त्रिपुरासुर, कालक
विनाश किया है, परन्तु इन क्षुद्र कार्योंसे आपकी स्तुति नहीं की जा सकती॥३२॥

ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम्।
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः॥ ३३॥

आत्माराम जीवन्मुक्त महापुरुष एवं विश्वक
विद्वज्जन अपने हृदयमें आपक
करते हैं। आप स्वयं अति उग्र तपस्यामें लीन रहते हैं, किन्तु जो देवी उमाक
श्मशानमें भ्रमण करते देखकर आपको उग्र एवं हिंसक कहकर प्रलाप करते हैं, वे निर्लज्ज निश्चितरूपसे आपकी लीलाको जान नहीं सकते॥३३॥

तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयन्तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम्॥ ३४॥

आप स्थावर एवं जङ्गमसे अतीत होनेक
ब्रह्मादि देवता भी आपक
तब हम किस प्रकार आपकी स्तुति करनेमें समर्थ हो सकते

हैं? हम उनकी सृष्टिमें रचे गये मरीचि आदिसे बहुत अर्वाचीन हैं। हम आपक
बल-बुद्धिक
कह नहीं पाये॥३४॥

> **एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर।**
> **मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः॥ ३५॥**

हे महेश्वर! आपक
सकते, हम तो क
होकर भी क

श्रीशुक उवाच—

> **तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः।**
> **सर्वभूतसुहृद्देव इदमाह सतीं प्रियाम्॥ ३६॥**

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् शङ्कर समस्त जीवोंक
कारण उद्विग्न हो रही है, तो वे अत्यन्त दयार्द्र होकर अपनी प्रियतमा सतीसे इस प्रकार कहने लगे॥३६॥

श्रीशिव उवाच—

> **अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।**
> **क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम्॥ ३७॥**

श्रीशिवने कहा—हे भवानी! अहो! देखो तो सही! क्षीरसागरक
मन्थनसे उत्पन्न कालक
आ पड़ी है?॥३७॥

> **आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।**
> **एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम्॥ ३८॥**

ये लोग जीना चाहते हैं। प्रजाका भय निवारण करना मेरा कर्त्तव्य है। जिनक
करनी ही चाहिए॥३८॥

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया॥ ३९॥

हे कल्याणि! भगवान्‌की मायासे मोहित होकर संसारक
एक-दूसरेक
रक्षाक

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे॥ ४०॥

हे साधुशीले! जो मनुष्य दूसरोंपर कृपा करता है, भगवान्
श्रीहरि उनक
जानेपर स्थावर एवं जङ्गम आदि समस्त प्राणियों सहित मैं भी
प्रसन्न हो जाता हूँ। अतः अब मैं इस कालक
करूँगा, जिससे प्रजाका मङ्गल होगा॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

एवमामन्त्र्य भगवान् भवानीं विश्वभावनः।
तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत॥ ४१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—समस्त विश्वक
शङ्कर पार्वतीजीसे इस प्रकार कहकर उस कालक
करनेक
जानती थीं, इसलिए उन्होंने महादेवजीक
अनुमोदन किया॥४१॥

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः॥ ४२॥

तत्पश्चात् लोकहितकारी महादेवजीने कृपापूर्वक विश्वव्यापी उस
कालक

तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम्॥ ४३॥

जलक
प्रभाव प्रकट किया। इस कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया,
परन्तु परम दयालु भगवान् शङ्करक
हो गया॥४३॥

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥ ४४॥

परोपकारी व्यक्ति प्रायः दूसरोंक
जाते हैं, किन्तु दूसरोंक
प्रसन्न होते हैं॥४४॥

निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे॥ ४५॥

सभीको आशीर्वाद देनेवाले, देवताओंक
महादेवजीक
सम्पूर्ण प्रजा, दाक्षायणी, ब्रह्मा एवं स्वयं भगवान् विष्णु भी उनकी प्रशंसा करने लगे॥४५॥

प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमंथने हालाहलपानं नाम सप्तमोऽध्यायः।

जिस समय भगवान् शिव विषपान कर रहे थे, उस समय उनक
लताओं और अन्य दंशीले (जहरीले) जन्तुओंने पी लिया॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

समुद्र-मन्थनसे अमृतका प्रकट होना और भगवान्‌का मोहिनी-अवतार ग्रहण करना

श्रीशुक उवाच—

पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्द्धानी ततोऽभवत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जब महादेवजीने विषपान कर लिया, तब देव और दानव बड़े प्रसन्न हो गये। अब उन्होंने और अधिक बल एवं नवीन उत्साहक
करना आरम्भ कर दिया, तब समुद्रसे (यज्ञीय हविकी आधाररूप) सुरभि गाय प्रकट हुई॥१॥

तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।
यज्ञस्य देवयानस्य मध्याय हविषे नृप॥ २॥

हे राजन्! वह सुरभि गाय यज्ञक
पवित्र सामग्री प्रदान करनेवाली थी। उस सामग्रीसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले अग्निहोत्रादि वैदिक कार्य सम्पन्न किये जा सकते थे अतः ब्रह्मवादी ऋषियोंने उस सुरभि गायको ग्रहण कर लिया॥२॥

तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः।
तस्मिन् बलिः स्पृहाञ्चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया॥ ३॥

तदनन्तर उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा निकला, वह चन्द्रमाक समान श्वेतवर्णका था। दैत्यराज बलिने उस घोड़ेको लेनेकी इच्छा प्रकट की, किन्तु देवराज इन्द्रने भगवान्‌की इच्छानुसार (जिससे दैत्योंका भी मानवर्द्धन हो) उसे प्राप्त करनेकी कामना प्रकट नहीं की॥३॥

तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन् भगवतो महिम्॥ ४॥

इसक
शुभ्र वर्णका था। उसक
श्वेताद्रि क

ऐरावणादयस्त्वष्टौ दिग्गजा अभवंस्ततः।
अभ्रमुप्रभृतयोऽष्टौ च करिण्यस्त्वभवन्नृप॥ ५॥

हे राजन्! तत्पश्चात् ऐरावण, पुण्डरीक, वामन, क
पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीक नामक
आदि आठ हथिनियाँ निकलीं॥५॥

कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन्मणौ स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलङ्करणे हरिः।
ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम्।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान्॥ ६॥

इसक
उत्पन्न हुई। तब भगवान् श्रीहरिने अपने वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ानेक
स्वर्गलोकका भूषण-स्वरूप पारिजात नामका कल्पवृक्ष निकला। हे राजन्! जिस प्रकार आप पृथ्वीपर इच्छित वस्तुएँ प्रदान करक सब लोगोंकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार यह वृक्ष भी सभीको मनचाही वस्तुएँ प्रदान करता है॥६॥

ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः॥ ७॥

तदनन्तर अप्सराएँ प्रकट हुईं। उन्होंने झीने-झीने मनोज्ञ वस्त्र, गलेमें हार एवं स्वर्णाभूषण धारण कर रखे थे। वे अपनी मनोहर गति और विलासभरी चितवनसे स्वर्गलोकक
प्रदान करनेवाली थीं॥७॥

ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा॥ ८॥

इसक
उनकी अङ्गकान्ति स्फटिकमय सुदाम (संगमरमर) पर्वतसे उत्पन्न हुई विद्युत्क

तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः।
रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः॥ ९॥

उनका रूप-सौन्दर्य, औदार्य, वयस (यौवन), वर्ण और महिमा देखकर सबका चित्त आकर्षित हो गया। ये सम्पद्‌की अधिष्ठात्री देवी हैं—यह जानकर देवता, मनुष्यादि सभी लोग उन्हें प्राप्त करनेकी अभिलाषा करने लगे॥९॥

तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम्।
मूर्त्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि॥ १०॥

देवराज इन्द्र स्वयं उनक
ले आये। गङ्गादि नदियाँ साक्षात् मूर्त्तिमती होकर स्वर्ण-कलशोंमें पवित्र जल भर लायीं॥१०॥

आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः।
गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ॥ ११॥

पृथ्वीने भी मूर्त्तिमती होकर उनक
ओषधियाँ प्रदान कीं। गौओंने पञ्चगव्य और वसन्त ऋतुने चैत्र वैशाखमें उत्पन्न होनेवाले फल-फ
कर दिये॥११॥

ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि।
जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः॥ १२॥

ऋषियोंने शास्त्रविधिक
मङ्गलमय गीत गाने लगे और नृत्याङ्गनाओंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया॥१२॥

मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान्।
व्यनादयन् शङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान्॥ १३॥

मेघसमूह मूर्त्तिमन्त होकर मृदङ्ग, डमरू, ढोल, नगारे, गोमुख, शङ्ख, वेणु, वीणा आदि महानिनादयुक्त वाद्योंको उच्च स्वरसे बजाने लगे॥१३॥

ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम्।
दिगिभाः पूर्णकलसैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः॥ १४॥

तदनन्तर सम्पदधिष्ठात्री, पतिपरायणा लक्ष्मी देवी कमल हाथमें लेकर सिंहासनपर विराजमान हो गयीं। ऐरावतादि दिग्गजोंने गङ्गाजलसे भरे हुए कलशोंसे उन्हें स्नान कराया तथा ब्राह्मणोंने मन्त्रोच्चारणक

समुद्रः पीतकौशेय वाससी समुपाहरत्।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम्॥ १५॥

रत्नोंक

एवं परिधेय—ये दोनों युगल वस्त्र प्रदान किये। वरुणदेवने उन्हें उपहारमें वैजयन्ती माला प्रदान की, जिसपर भौंरे गुञ्जार कर रहे थे॥१५॥

भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले॥ १६॥

प्रजापति विश्वकर्माने उन्हें अद्भुत अलङ्कार, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने पद्म और नागोंने क

प्रदान किये॥१६॥

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्द्विरेफां परिगृह्य पाणिना।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम्॥ १७॥

जब स्वस्त्ययन-पाठ एवं अभिषेकादि माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो गये तब लक्ष्मीदेवी अपने हाथोंमें भ्रमरोंसे गुञ्जायमान कमलोंकी

माला लेकर चलीं। उस समय क
मनोहर कपोल और भी सुन्दर लग रहे थे। वे सलज्ज भावसे मन्द-मन्द मुसकरा रही थीं, जिससे उनक
निखार पा रही थी॥१७॥

स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम्।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ॥ १८॥

श्रीलक्ष्मीजीक
और चन्दन, क
पतली थी। जब वे इधर-उधर घूमतीं तो उनक
मधुर झनकार निकलती थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई स्वर्ण-लतिका विहार कर रही हो॥१८॥

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्।
गन्धर्वसिद्धासुरयक्षचारण -
त्रैपिष्टपेयादिषु नान्वविन्दत॥ १९॥

तत्पश्चात् लक्ष्मीजी स्वभावतः नित्यकल्याणयुक्त और हेयगुणरहित अपने आश्रयरूपी वरका अनुसन्धान करने लगीं किन्तु उन्हें गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण एवं स्वर्ग निवासी देवताओंमें-से कोई भी ऐसा न मिला, क्योंकि प्रत्येकमें कोई-न-कोई प्राकृत दोष था ही॥१९॥

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः॥ २०॥

कोई (दुर्वासादि) तपस्वी हैं, परन्तु उन्होंने क्रोधपर विजय प्राप्त नहीं की है, कोई (बृहस्पति आदि) ज्ञानी हैं, किन्तु उनका ज्ञान

फलाकाङ्क्षादिसे रहित नहीं है, कोई (ब्रह्मादि) बड़े महत्त्वशाली हैं, परन्तु कामको नहीं जीत सक
ऐश्वर्यशाली हैं, वे शत्रुओंक
ऐसा ऐश्वर्य किस काम का? जो दूसरों पर आश्रित हो, उनका ऐश्वर्य किसी कामका नहीं है॥२०॥

धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः कवचित् तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
नहि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः॥ २१॥

किसीमें (शुक्राचार्यादिमें) धर्म तो है, किन्तु प्राणियोंक
दया नहीं है, किसीमें (दक्ष आदिमें) त्याग है, किन्तु वह त्याग मुक्तिका कारण नहीं है, किसी पुरुषमें (शुम्भ, निशुम्भमें) महान् बल है, किन्तु वह कालक
प्राकृत एवं अप्राकृत विषयासक्तिका परित्याग कर दिया है, वे (सनकादि) मुनि भी गुण-सङ्गसे रहित नहीं हैं॥२१॥

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्॥ २२॥

कोई-कोई (दैत्यराज बलि) दीर्घजीवी हैं, किन्तु उनमें शील और मङ्गल नहीं है। किसीमें (मनुक
रहे भी, तो उनक
चिरायु हैं, उनमें शील एवं मङ्गल भी हैं, परन्तु वे श्मशानवासक साथ-साथ अमङ्गल वेश धारण करते हैं। रही बात भगवान् विष्णुकी, उनमें समस्त मङ्गलमय गुण नित्य वर्त्तमान हैं, किन्तु वे मुझे चाहते ही नहीं॥२२॥

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयतयाऽगुणाश्रयम्।

वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्॥ २३॥

इस प्रकार सोच-विचार करक
श्रीरमादेवीने चिरकालसे अपने अभीष्ट, निरपेक्षतामें सर्वश्रेष्ठ, प्राकृत गुणोंसे अतीत एवं अणिमादि समस्त सिद्धियोंसे सम्पन्न, भगवान् श्रीमुक

तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम
सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता॥ २४॥

श्रीलक्ष्मीजीने भगवान् मुक
माला पहना दी, जिसक
कर रहे थे। इसक
चितवनसे भगवान्क
आशासे देखती हुईं वे उनक

तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान्॥ २५॥

जगत्पिता भगवान्ने अपने वक्षःस्थलको समस्त ऐश्वर्योंकी स्वामिनी, जगज्जननी लक्ष्मीदेवीका श्रेष्ठ वासस्थान बना दिया। लक्ष्मीजी वहाँ विराजमान होकर अपने कृपावलोकनसे तीनों लोक, लोकपाल और अपनी प्रजाकी वृद्धि करने लगीं॥२५॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत्॥ २६॥

उस समय शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग आदि वाद्ययन्त्र बजने लगे तथा गन्धर्व और अप्सराओंक
होने लगा॥२६॥

ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम्।
ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः॥ २७॥

ब्रह्मा, रुद्र और अङ्गिरादि प्रजापति पुष्पोंकी वर्षा करते हुए भगवान्क
मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे॥२७॥

श्रियावलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम्॥ २८॥

देवता, प्रजापति एवं प्रजावर्ग लक्ष्मीजीकी कृपादृष्टिसे शीलादि गुणोंसे सम्पन्न होकर परम आनन्दित हो गये॥२८॥

निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः॥ २९॥

हे राजन्! इधर लक्ष्मीजीकी उपेक्षासे दैत्य एवं दानव दुर्बल, मोहित, निरुद्यमी, लोलुप और निर्लज्ज हो गये॥२९॥

अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते॥ ३०॥

इसक
समान नेत्रोंवाली वारुणी नामकी कन्या प्रकट हुई। भगवान् श्रीहरिकी अनुमतिसे बलि आदि प्रमुख दानवोंने उसे ग्रहण कर लिया॥३०॥

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः॥ ३१॥

हे महाराज! तदनन्तर अमृत प्राप्तिकी लालसासे कश्यप-सुत देव दानवोंने पुनः समुद्र मन्थन करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय उसमें-से एक अत्यन्त अद्भुत पुरुष उत्थित हुए॥३१॥

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः॥ ३२॥

उनकी भुजाङ्ग मोटी एवं लम्बी थीं। ग्रीवा शङ्खक
रेखाओंसे युक्त, आँखोंमें लालिमा तथा शरीरका वर्ण श्यामल था,

तरुण अवस्था थी, गलेमें वनमाला थी और वह समस्त अलङ्कारोंसे विभूषित था॥३२॥

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तसुभगः सिंहविक्रमः।
अमृतापूर्णकलसं बिभ्रद्वलयभूषितः॥ ३३॥

उन्होंने पीताम्बर पहन रखा था। कानोंमें चमकीले मणिमय क
झिलमिला रहे थे। उनक
अत्यन्त विशाल था। इस प्रकार वे समस्त शुभलक्षणोंसे युक्त थे। सिंहक
अमृतसे परिपूर्ण कलश धारण किये हुए थे॥३३॥

स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः।
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक्॥ ३४॥

परीक्षित्! वे पुरुष साक्षात् भगवान् विष्णुक
उत्पन्न हुए थे, जो धन्वन्तरिक
आयुर्वेद शास्त्रक

तमालोक्यासुराः सर्वे कलसं चामृताभृतम्।
लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलसं तरसाहरन्॥ ३५॥

जब दैत्योंने उन्हें और उनक
देखा, तो समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छासे बलपूर्वक वह अमृत-कलश छीन लिया॥३५॥

नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन् कलसेऽमृतभाजने।
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः॥ ३६॥

जब असुरोंने अमृत-पात्रको छीन लिया, तब देवताओंका मन विषादसे भर गया और वे भगवान् श्रीहरिकी शरणमें पहुँचे॥३६॥

इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत्।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया॥ ३७॥

भक्तोंकी वाञ्छाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान्‌ने देखा कि अमृत-कलश छिन जानेसे देवता अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, तब उन्होंने कहा—हे देवताओ! तुम दुःखी मत हो। मैं अपनी मायासे दानवोंमें परस्पर कलह करवा दूँगा, जिससे तुम लोगोंका काम बन जायगा॥३७॥

मिथः कलिरभूत् तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो॥ ३८॥

हे राजन्! उन असुरोंमें अमृत प्राप्तिक
तृष्णा जाग उठी। वे—"पहले मैं पिऊँगा', 'तुम पहले नहीं पी सकते', 'तुम पहले नहीं पी सकते, मैं पिऊँगा"—कहते हुए परस्पर विवाद करने लगे॥३८॥

देवाः स्वभागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः।
सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः॥ ३९॥

इति स्वान् प्रत्यषेधन् वै दैतेया जातमत्सराः।
दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलसान् मुहुः॥ ४०॥

हे राजन्! जो मात्सर्ययुक्त दुर्बल दैत्य थे, वे अमृत-कलशको छीननेवाले बलवान् दैत्यको बारम्बार अमृत-पान करनेसे रोकते हुए कहने लगे—समुद्र-मन्थनमें देवताओंने समानरूपसे परिश्रम किया है। इस अमृत संग्रहमें उन्हें भी समान भाग मिलना चाहिए। यही सनातन धर्म है॥३९-४०॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम्॥ ४१॥

प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम्।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम्॥ ४२॥

नवयोवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम्।
मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम्॥ ४३॥

बिभ्रत् सुकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम्।
सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम्॥ ४४॥

विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥ ४५ ॥
सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन्मुहुः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमंथने श्रीभगवन्मायोपलम्भनं नामाष्टमोऽध्यायः।

इधर दैत्योंमें आपसी कलह हो रहा था और उधर समस्त उपायोंको जाननेवाले भगवान् विष्णुने परम अद्भुत स्त्रीका रूप धारण किया, जिसकी शोभाका वर्णन करना सम्भव नहीं है। उस रमणीक
अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़े ही सुन्दर एवं आकर्षक थे। दोनों कान समान और कर्णाभूषणोंसे विभूषित थे। ऊँची नासिका, सुन्दर कपोल, रमणीय मुख तथा नव-यौवनक
क्षीण हो गया था। मुख-कमलसे निकलते सौरभसे आसक्त होकर अलि-क
घबराहटसे उसक
क
कर रखी थीं। उसक
बाजुबन्द सुशोभित हो रहे थे। निर्मल वसनसे वेष्टित नितम्बरूपी द्वीपमें करधनी विराजमान थी और चरणोंमें मनोहर एवं चञ्चल नूपुरोंकी खनक शोभा पा रही थी। जब वह अपनी सलज्ज मधुर मुसकान, नाचती हुई भौंहोंरूपी बाणों और कटाक्षमयी चितवनसे दैत्य सेनापतियोंको देखती, तो उनक
बिंध जाते॥४१-४६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

भगवान्क

श्रीशुक उवाच—

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः।
क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! असुर डाक
सौहार्द आदिका परित्याग करक
छीन रहे थे और एक-दूसरेकी निन्दा कर रहे थे। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि एक अति सुन्दर एवं मनमोहिनी स्त्री उनकी ओर चली आ रही है॥१॥

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः।
इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः॥ २॥

उस परम सुन्दरीको देखकर वे सोचने लगे—अहो! यह कितनी सुन्दर है! इसक
क
कामक
कहने लगे॥२॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि।
कस्यासि वद वामोरु मथ्नन्तीव मनांसि नः॥ ३॥

हे पद्मपलाशलोचने! तुम कौन हो? कहाँसे आ रही हो? क्या करना चाहती हो? तुम किसकी कन्या हो? क
तो, तुम्हें देखकर हमारे हृदयमें बहुत उथल-पुथल हो रही है॥३॥

न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः।
नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः॥ ४॥

मनुष्योंकी तो बात ही क्या? हम भलीभाँति जानते हैं कि देवता, दानव, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालोंने भी तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है॥४॥

नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम्।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम्॥ ५॥

अयि सुभ्रू! विधाताने निश्चय ही कृपा करक
शरीरधारियोंकी समस्त इन्द्रियों एवं मनको प्रसन्न करनेक
तुम्हें हमारे पास भेजा है। है न! यह सच है न!॥५॥

सा त्वं नः स्पर्द्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे॥ ६॥

हे सुमध्यमे! हम सब एक ही वस्तुको लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और मत्सरताक
हैं। हम एक ही क
मिटाकर हमारा कल्याण करो॥६॥

वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः।
बिभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत्॥ ७॥

हम सभी देव-दानव प्रजापति कश्यपजीक
सगे भाई हैं, किन्तु हमें समुद्र-मन्थनसे जो अमृत प्राप्त हुआ है, उसक
तुम उस अमृतको हममें समान मात्रामें बाँट दो, जिससे हमारा झगड़ा समाप्त हो जाय॥७॥

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत्॥ ८॥

जब दैत्योंने इस प्रकार प्रार्थना की, तब माया रचित मोहिनी मूर्त्तिधारी भगवान् मन्द-मन्द मुसकाराने लगे। उन्होंने बाँकी चितवनसे उन असुरोंकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा—॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः।
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि॥ ९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे कश्यपतनयो! मैं तो क
तुम लोग महान् ऋषिकी सन्तान हो। तब तुम किसलिए मेरी सङ्गति करना चाहते हो। विज्ञजन कभी भी स्त्रियोंपर विश्वास नहीं करते॥९॥

शालावृकाणां स्त्रीणाञ्च स्वैरिणीनां सुरद्विषः।
सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम्॥ १०॥

हे असुरो! वानर, सियार और क
नये-नये सुहृदोंको (मित्रोंको) ढूँढ़ा करते हैं, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ भी वैसी ही होती हैं। पण्डितोंका अथिमत है कि इनकी मित्रता चिरस्थायी नहीं हुआ करती॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम्॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मोहिनीक
वचनोंसे असुर और भी अधिक आश्वस्त हो गये और उन्होंने गम्भीर भावसे हँसते हुए अमृत-पात्र उसक

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम्॥ १२॥

तदनन्तर भगवान् श्रीहरिने वह अमृत-कलश अपने हाथोंमें ले लिया और मन्द-मन्द हास्यपूर्ण एवं लालित्यमयी वाणीसे कहने लगे—हे दैत्यो! मैं उचित-अनुचित जो भी करूँ, यदि तुम्हें वह स्वीकार है, तो मैं इस अमृतका विभाग कर सकती हूँ॥१२॥

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः।
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत् तथेत्यन्वमंसत॥ १३॥

बड़े बड़े असुर भी विचार-पटुता एवं निर्णय-क्षमतामें दक्ष न थे। उन्होंने मोहिनी भगवान्क
कहा—स्वीकार है, स्वीकार है। मोहिनीक
जाननेक

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम्।
दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः॥ १४॥
यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते।
कुशेषु प्राविशन् सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः॥ १५॥

तदनन्तर देवता और असुर—सभीने उपवास किया तथा स्नानादि करक
और समाजक
पात्रताक
किये और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसक
अपनी-अपनी रुचिक
किये तथा पूर्वकी ओर मुख करक

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः॥ १६॥

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलसपाणिरथाविवेश॥ १७॥

जिस भव्य भवनमें देवता और दानव बैठे थे, उसे दीप-पंक्तियोंको एवं फ
किया गया था। हे राजन्! उसी समय कमनीय साड़ी पहने हुए, विशाल नितम्बोंक

नूपुरोंकी मधुर झङ्कारसे सभा-भवनको मुखरित करते हुए, हाथोंमें अमृत-कलश लिये मोहिनीने प्रवेश किया। उसकी आँखें मदसे विह्वल हो रही थीं, स्तन जलसे भरे कलशक
और जंघाएँ हाथीकी सूँडक

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम्।
संवीक्ष्य संम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम्॥ १८॥

उसने अपने मनोहर कानोंमें दो सुन्दर क
उसकी नासिका, कपोल तथा मुख बड़े ही सुन्दर थे। परमदेवता स्वरूपिणी यह मोहिनी ऐसी लग रही थी, मानो श्रीलक्ष्मीजीकी कोई सहचरी हो। वह किञ्चित् मुसकराते हुए बाँकी चितवनसे दैत्यों और देवताओंको देख रही थी। इसी बीच उसक
किनारा क
सौन्दर्यको देखकर सभी देवता एवं असुर मोहित हो गये॥१८॥

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम्।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः॥ १९॥

असुर स्वभावसे ही बड़े क्रूर होते हैं। उन्हें अमृत पिलाना सर्पको दूध पिलानेक
सोच-विचार करक
भाग नहीं दिया॥१९॥

कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु॥ २०॥

जगत्पति भगवान् श्रीहरिने देवता और दानवोंकी दो अलग-अलग पंक्तियाँ बना दीं और उन्हें अपने-अपने दलमें बिठा दिया॥२०॥

दैत्यान् गृहीतकलसो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः।
दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम्॥ २१॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीहरि अपने हाथोंमें अमृत-कलश लेकर असुरोंक
मुसकान, नूपुर सञ्चालनादि विविध प्रकारक
करक
करनेवाले अमृतका उन्हें पान कराने लगे॥२१॥

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप।
तूष्णीमासन् कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया॥ २२॥

हे राजन्! दैत्यगण उस मोहिनी मूर्त्तिक
होकर अपनी प्रतिज्ञाका पालन कर रहे थे। स्त्रियोंसे विवाद करना अत्यन्त निन्दनीय है—यह सोच विचार कर तथा अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेक

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः।
बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम्॥ २३॥

मोहिनीक
कि यह प्रेम कहीं भङ्ग न हो जाय। उस स्त्रीक
वचनोंसे वे और भी बँध गये थे। इसी कारण असुरोंने उससे कोई कलह-सूचक बात नहीं कही॥२३॥

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्याञ्च सूचितः॥ २४॥

जिस समय भगवान् देवताओंको अमृत पिला रहे थे, उसी समय राहु नामका असुर देवताओंका छद्म वेश धारण करक उनकी पंक्तिमें जा बैठा और देवताओंक
पान कर लिया। इसी बीच सूर्य और चन्द्रमाने अपनी भौहोंसे उसक

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत्॥ २५॥

भगवान् श्रीहरिने अमृत पिलाते-पिलाते ही अपने तीखीधारवाले चक्रसे राहुक
इसक
अमृतने उसकी देहका स्पर्श नहीं किया था॥२५॥

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत्।
यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥ २६॥

परन्तु इस असुरका सिर अमर हो गया। अमर हो जानेक कारण ब्रह्माजीने राहुक
सूर्यका शाश्वत वैरी यह राहु आज भी पूर्णिमा और अमावस्याक दिन उनपर आक्रमण किया करता है॥२६॥

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवान् लोकभावनः।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः॥ २७॥

जब देवताओंका अमृत पान करना प्रायः समाप्त हो गया, तब लोकपावन भगवान् श्रीहरिने उन बड़े-बड़े असुरोंक
मोहिनी रूप त्यागकर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया॥२७॥

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः॥ २८॥

हे राजन्! देश, काल, कारण, प्रयोजन, अर्थ, कर्म और मति एक समान होनेपर भी देवताओं और असुरोंकी फल-प्राप्तिमें कितना अन्तर हो गया। देवताओंने भगवान्क
रेणुका आश्रय लिया था, किन्तु दैत्य भगवान्क
थे, इसलिए इतना कष्टसाध्य परिश्रम करक
प्राप्ति न कर सक

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।

तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्।
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतवण्टनं नाम नवमोऽध्यायः।

मनुष्य अपने धन, प्राण, कर्म, वाणी एवं मन द्वारा शरीर और पुत्रादिक
प्रकार व्यर्थ हो जाते हैं, जिस प्रकार शाखाको मूलसे पृथक् जानकर शाखाकी सिंचाई करनेपर। मूलमें जल देनेसे उसक
टहनी और पत्तोंकी सिंचाई स्वयं ही हो जाती है, उसी प्रकार सारे प्रयास भगवान्क
होकर सभीको मिल जाता है॥२९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

देवासुर संग्राम

श्रीशुक उवाच—

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप।
युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दैत्यों और दानवोंने समुद्र-मन्थनमें देवताओंक
था, किन्तु भगवान्से विमुख होनेक
नहीं हुई॥१॥

साधयित्वामृतं राजन् पाययित्वा स्वकान् सुरान्।
पश्यतां सर्वभूतानां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः॥ २॥

हे राजन्! भगवान् श्रीहरिने समुद्रको मथकर अमृत निकाला और अपने अनुगत देवताओंको उसका पान कराया। तत्पश्चात् सभीक

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान् प्रत्युद्यतायुधाः॥ ३॥

इसक
हुए ऐश्वर्यको देखा तो वे इसे सहन नहीं कर पाये। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये और देवताओंपर आक्रमण कर दिया॥३॥

ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः।
प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः॥ ४॥

देवताओंको भगवान् श्रीहरिक
साथ ही अमृतपान करनेसे उनका बल और भी अधिक बढ़ गया था। अतः उन्होंने भी अपने-अपने शस्त्र उठा लिये और दैत्योंसे युद्ध करनेक

तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः॥ ५॥

राजन्! क्षीरसागरक
हुआ, जिसको सुननेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। देवताओं और दैत्योंका यह युद्ध 'देवासुर संग्राम' क

तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः॥ ६॥

इस युद्धमें दोनों ही दलोंका चित्त क्रोधसे भरा हुआ था, दोनोंमें ही प्रबल शत्रुताका भाव था। अतः वे एक-दूसरेको आमने-सामने पाकर भिड़ गये और तलवार, बाण और नानाविध अस्त्र-शस्त्रोंसे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे॥६॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरिणां महान्।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत्॥ ७॥

उस समय रणक्षेत्र शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग, भेरी और डमरुओंकी तुमुल ध्वनिसे गूँजने लगा। वहाँ हाथियोंकी चिंघाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंकी घरघराहट और पैदल सैनिकोंकी चिल्लाहटसे बड़ा कोहराम मच गया॥७॥

रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे॥ ८॥

इस संग्राममें रथियोंक
सेना, घुड़सवारोंक
अपने विपक्षी सैनिकोंक

उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः।
केचिद्गौरमुखैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः॥ ९॥

उनमें-से कोई-कोई वीर ऊँटोंपर, हाथियोंपर, गदहोंपर चढ़कर युद्ध कर रहे थे, तो कोई लाल मुँहवाले वानरों, बाघों और सिंहोंपर सवार होकर लड़ाई कर रहे थे॥९॥

गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः।
शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः॥ १०॥

शिवाभिराखुभिः केचित् कृकलासैः शशैर्नरैः।
बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च शूकरैः॥ ११॥

अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः।
सेनयोरुभयो राजन् विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः॥ १२॥

महाराज! उन दैत्य वीरोंमें-से क
बगुले, बाज और भास पक्षियोंकी पीठपर बैठकर लड़ रहे थे, तो क
भैंसे, गैंडे, गाय, बैल, नीलगाय और जङ्गली साँड़ोंपर सवार होकर युद्ध कर रहे थे। कोई-कोई सियार-सियारिन, चूहे, छिपकलियों (गिरगिटों) और खरहोंपर सवार हो गये तो क
कृष्णसार मृगों, हंसों और सुअरोंपर सवार होकर लड़ने लगे। इसी प्रकार क
उड़नेवाले खग-विहगोंकी पीठपर सवार हो गये और क
आकृतिवाले प्राणियोंक
रणक्षेत्रमें आगे-आगे घुस गये॥१०-१२॥

चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः।
महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः॥ १३॥

वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः।
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः॥ १४॥

देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन।
रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ॥ १५॥

हे राजन्! हे पाण्डुनन्दन! उस समय देवता और दैत्य—दोनों ही दलोंकी सेनाएँ रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजाओं, पताकाओं, स्फटिक मणिक
महामूल्यवान् छत्रों, मयूरपङ्खोंसे रचित चामरों, पङ्खों, वायुसे ऊपरकी

ओर उड़ते हुए दुपट्टों, पगड़ियों, कलगियों, कवचों, स्वाभाविक दीप्तिमान् और सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त कान्तिमान् आभूषणों, उज्ज्वल शस्त्रों एवं वीरोंकी पंक्तियोंक
ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो जलजन्तुओंसे भरे हुए दो सागर तरङ्गायित हो रहे हों॥१३-१५॥

वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम्॥१६॥
सर्वसांग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम्॥१७॥
आस्थितस्तद्विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः।
बालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये॥१८॥

हे राजन्! इस युद्धमें असुरोंक
महाराज बलि वैहायस नामक विमानपर सवार हुए। मयदानव द्वारा निर्मित वह विमान चालककी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता था। वह अति अद्भुत और युद्धकी सम्पूर्ण सामग्रियोंसे सुसज्जित था। अन्य विमानोंक
वह कभी दिखलायी पड़ता तो कभी अदृश्य हो जाता था। उस श्रेष्ठ विमानको बड़े-बड़े सेनापतियोंने चारों ओरसे घेर रखा था। उसपर श्रेष्ठ चँवर डुलाये जा रहे थे और ऊपर छत्र सुशोभित था। इस प्रकार सब प्रकारसे आश्चर्यमय और सर्वश्रेष्ठ विमानपर विराजमान महाराज बलि इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो उदयगिरि शिखरपर सभी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए चन्द्रमा उदित हो रहा हो॥१६-१८॥

तस्यासन् सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः।
नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः॥१९॥
द्विमूर्द्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः।
शकुनिर्भूतसन्तापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः॥२०॥

हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः।
तारकश्चक्रदृक् शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः॥ २१॥
अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः।
अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः॥ २२॥
अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः॥ २३॥
सिंहनादान् विमुञ्चन्तः शङ्खान् दध्मुर्महारवान्।
दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान् बलभित् कुपितो भृशम्॥ २४॥

बलि महाराजक
सेनापतिगण और अन्यान्य असुर यथास्थान खड़े हुए थे। उनमें—नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शक
शङ्कुशिरा, कपिल, मेघ, दुन्दुभि, तारक, चक्रदृक्, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिप, मय, पौलोम, कालेयगण और निवातकवच प्रधान थे। समुद्र-मन्थनमें ये सभी अमृत-भागसे वञ्चित रह गये थे और इन्हें कष्टसाध्य परिश्रम ही हाथ लगा था। इन सभी असुरोंने रणक्षेत्रमें अपने बलसे अनेक बार देवताओंको पराजित किया था। अतः ये सभी बड़े उत्साहक साथ सिंहनाद करते हुए अति उच्च स्वरसे शङ्ख बजाने लगे। इन्द्रने जब देखा कि उनक
वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे॥१९-२४॥

ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट्।
यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः॥ २५॥

इन्द्र अपने वाहन ऐरावत नामक श्रेष्ठ हाथीपर सवार हो गये। उसक गण्डस्थलसे मदकी धाराएँ निकल रही थीं। ऐरावतपर आसीन होकर इन्द्र इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो सूर्यदेवता उदयगिरिपर आरूढ़ हुए हों और उससे चारों ओर झरने बह रहे हों॥२५॥

तस्यासन् सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः।
लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः॥ २६॥

इन्द्रक
सुसज्जित होकर देवतागण तथा वायु, अग्नि एवं वरुण आदि लोकपालगण उनकी सहायताक
उपस्थित थे॥२६॥

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः॥ २७॥

तत्पश्चात् देवता और दानव एक दूसरेक
मर्मभेदी वचनों द्वारा एक दूसरेको धिक्कारने लगे। वे परस्पर एक-दूसरेका नाम ले-लेकर ललकारते हुए आगे बढ़े और दो-दो की जोड़ियाँ बनाकर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे॥२७॥

युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत।
वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन् प्रहेतिना॥ २८॥

हे राजन्! बलि इन्द्रक
कार्त्तिक तारकासुरक
साथ संग्राम करने लगे॥२८॥

यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै।
शम्बरो युयधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः॥ २९॥

यमराज कालनाभक
शम्बरासुर और सविता विरोचनसे भिड़ गये॥२९॥

अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा।
सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च॥ ३०॥
राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः।
निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी॥ ३१॥

इसी प्रकार अपराजितक
अश्विनीक

सूर्यदेवका युद्ध हुआ। राहुक
वायुका और शुम्भ, निशुम्भक
संग्राम होने लगा॥३०-३१॥

वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः।
इल्वलः सहवातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम॥ ३२॥
कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह।
बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः॥ ३३॥
मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः।
विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह॥ ३४॥

हे अरिन्दम्! जम्भासुरक
अग्निदेव और वातापि तथा इल्वलसे ब्रह्मपुत्र मरीचिकी भिड़न्त
हुई। इसी प्रकार दुर्मर्षक
उत्कल, शुक्राचार्यक
संग्राम हुआ। निवातकवचक
असुरोंक
कर रहे थे॥३२-३४॥

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा
द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा
जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥ ३५॥

इस प्रकार देवता और दानव मिलकर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे।
विजय-प्राप्तिकी इच्छासे वे एक-दूसरेक
खड्ग और भालोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे॥३५॥

भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः
शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः।
सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः॥ ३६॥

भुशुण्डि, चक्र, गदा, परिघ, पट्टिश, ऋष्टि, शक्ति, उल्मूक, क
फरसा, तलवार, भाला, मुद्गर और भिन्दिपाल आदि अस्त्रोंसे वे
अपने-अपने विपक्षियोंक

गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः
सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥ ३७॥

एक-दूसरेपर अस्त्र प्रहार करनेसे हाथी, घोड़े, रथ एवं उनपर
सवार लोग, पैदल सेना एवं अन्य वाहनोंक
छिन्न-भिन्न हो गये। किसीकी बाहु, किसीकी जाँघ, किसीकी गर्दन
और किसीक
भी खण्ड-विखण्ड हो गये॥३७॥

तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिञ्च छादयन्
न्यवर्त्ततासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात्॥ ३८॥

उस समय दैत्य एवं देवताओंक
रगड़से पृथ्वी चूर्ण-विचूर्ण होने लगी। युद्धक्षेत्रसे ऐसी प्रचण्ड धूल
उठी कि सारी दिशाएँ, आकाश और सूर्यदेव भी ढक गये। अगले
ही क्षण रक्तकी धाराएँ इस प्रकारसे प्रवाहित हुईं कि धूलका
नामोनिशान ही न रहा। (रक्तकी बूँदें आकाश तक उड़ीं और
सारी धरती रक्तसे आप्लावित हो गयी।)॥३८॥

शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ॥ ३९॥

तदनन्तर योद्धाओंक
पट गया। किसीकी आँखोंसे रोष प्रकट हो रहा था, किसीने

क्रोधक
हुए थे, तो कहीं आभूषणों और शस्त्रोंसे सुसज्जित विशाल भुजाएँ कटकर गिरी हुई थीं और कहीं हाथीकी सूँड़ोंक
हुई पड़ी थीं। इस प्रकार रणभूमिका दृश्य बड़ा भयङ्कर दिखाई दे रहा था॥३९॥

कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः।
उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान् मृधे॥४०॥

परीक्षित्! उस समय रणक्षेत्रमें अनेक धड़ (कबन्ध) गिरे पड़े थे। युद्धमें अपने-अपने गिरे हुए मुण्डोंक
अपनी भुजाओंसे अस्त्र-शस्त्र उठाने लगे और शत्रु योद्धाओंपर आक्रमण करनेक
गये थे।)॥४०॥

बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः।
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत्॥४१॥

हे राजन्! इसक
तीन बाण उनक
रक्षकोंपर और एक बाण मुख्य महावतपर छोड़ा॥४१॥

स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान् हसन्निव॥४२॥

धनुर्विद्यामें सुनिपुण देवराज इन्द्रने हँसते-हँसते अपनी ओर आनेवाले शस्त्रोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही भल्ल नामक तीखे शस्त्रसे उतने ही बाण चलाकर काट डाला। बलिक
अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सक

तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे।
तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः॥४३॥

जब राजा बलिने इस प्रकार इन्द्रका उत्तम युद्ध कौशल देखा, तो वे अपने बढ़ते क्रोधको रोक न सक

एक विशेष अस्त्र उठा लिया। यह 'शक्ति' नामक हथियार महान्
उल्काक
इसक

ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः।
यद्यच्छस्त्रं समादद्यात् सर्वं तदच्छिनद्विभुः॥ ४४॥

इसक
ऋष्टि आदि जो-जो शस्त्र धारण किये, परम शक्तिवान् देवराज इन्द्रने उन्हें बलिक

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्द्धानगतोऽसुरः।
ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो॥ ४५॥

राजन्! तदनन्तर महाराज बलि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और उन्होंने आसुरी माया रच डाली, जिससे तुरन्त ही देव सेनाक ऊपर एक बड़ा भारी पर्वत प्रकट हुआ॥४५॥

ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना।
शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम्॥ ४६॥

इस पर्वतसे दावानलसे जलते हुए वृक्ष गिरने लगे। उनसे पत्थरोंको विदीर्ण करनेवाली क
शिखरोंक
चूर्ण-विचूर्ण होकर पृथ्वीपर गिरने लगी॥४६॥

महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजाः॥ ४७॥

इसक
महासर्प, अन्य विषैले जन्तु और सिंह, व्याघ्र, वराह और बड़े-बड़े हाथी देवसेनाको चकनाचूर करने लगे॥४७॥

यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः।
छिन्धि भिन्धीतिवादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो॥ ४८॥

महाराज! हाथोंमें शूल लिए बहुत-सी निर्वस्त्र राक्षसियाँ एवं राक्षसगण भी 'मारो, मारो', 'काट डालो' इस प्रकार कहते हुए वहाँ प्रकट हो गये॥४८॥

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः।
अङ्गारान् मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः॥४९॥

क
आपसमें टकरानेसे अति भीषण एवं कक
बिजलियाँ चमकने लगीं। जब प्रचण्ड आँधीने बादलोंको इकझोरा, तब आकाशसे अङ्गार बरसने लगे॥४९॥

सृष्टो दैत्येन सुमहान् वह्निः श्वसनसारथिः।
सांवर्त्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक्॥५०॥

महाराज बलि द्वारा उत्पन्न महाग्नि, सांवर्त्तक नामक प्रलयाग्निके समान अति प्रचण्ड थी। वह वायुकी सहायतासे और भी भयङ्कर होकर देवताओंकी सेनाको जलाने लगी॥५०॥

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत।
प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्त्तभीषणः ॥५१॥

इसक
और भयानक भँवर उठने लगे तथा समुद्र सभीक
मर्यादाका अतिक्रमण करक
घेरने लगा॥५१॥

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीरणे।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः॥५२॥

अन्य महामायावी दानव भी इस प्रकार अलक्षितरूपसे रणक्षेत्रमें विविध प्रकारकी माया रचने लगे, जिसक
अत्यन्त दुःखी हो गये॥५२॥

न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप।
ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र भगवान् विश्वभावनः॥५३॥

हे राजन्! इन्द्रादि देवताओंको जब इस मायाका कोई प्रतिकार दिखायी नहीं दिया, तब उन्होंने पूर्ण मनोयोगक
ध्यान किया और ध्यान करते ही सम्पूर्ण विश्वक
भगवान् वहाँ प्रकट हो गये॥५३॥

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः
पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-
च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥

देवताओंने देखा कि भगवान् श्रीहरि गरुडक
चरणकमल रखकर विराजमान हैं। उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा है, नवीन कमल-दलक
उन्होंने आठ भुजाओंमें आठ आयुध धारण कर रखे हैं। गलेमें कौस्तुभ मणि, मस्तकपर महामूल्यवान मुक
क
मनोहर थी॥५४॥

तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा
माया विनेशुर्महिना महीयसः।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्॥५५॥

स्वप्नमें देखी हुई वस्तुएँ जिस प्रकार जग जानेपर नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार परम पुरुष भगवान्क
मात्रसे ही, उनक
सत्य है, भगवान्का स्मरण समस्त विपत्तियोंका नाशक है॥५५॥

दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाहः
आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद् गृहीत्वा
तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः॥५६॥

हे राजन्! सिंहपर सवार कालनेमि असुरने युद्धक्षेत्रमें गरुडवाहन श्रीहरिको देखते ही अपने शूलको बड़े वेगक
भगवान्पर चला दिया। वह शूल गरुडक
था कि भगवान्ने उसे अनायास ही पकड़ लिया और उसी शूलसे कालनेमि असुर और उसक

माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम्।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाद्यः ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामो नाम दशमोऽध्यायः।

इसक
बलवान् दैत्योंको भी युद्ध-स्थलमें अपने चक्रसे मार डाला। वे निर्जीव होकर भूमिपर गिर पड़े। तदनन्तर माल्यवान् नामक असुर अपनी प्रचण्ड गदासे भगवान् एवं पक्षीराज गरुडपर आक्रमण करनेक
भगवान् श्रीहरिने अपने चक्रसे सिंहक
माल्यवान्क

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

देवर्षि नारदक

श्रीशुक उवाच—

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः
परस्य पुंसः परयानुकम्पया।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय-
स्तांस्तान् रणे यैरभिसंहताः पुरा॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसक
भगवान् श्रीहरिकी कृपासे इन्द्र, वायु आदि देवताओंमें नवीन उत्साहका सञ्चार हो गया। पहले जिन असुरोंसे वे आहत हो रहे थे, अब उन्हींपर पूरी शक्तिसे प्रहार करने लगे॥१॥

वैरोचनाय संरब्धो भगवान् पाकशासनः।
उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः॥ २॥

शक्तिशाली इन्द्रने युद्ध करते-करते जब क्रोधित होकर विरोचन-नन्दन बलिकी हत्या करनेक
हाहाकार करती हुई विलाप करने लगी॥२॥

वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम्।
मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे॥ ३॥

मनस्वी दैत्यराज बलि उस महान् युद्धमें अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर निर्भयतापूर्वक विचरण कर रहे थे। उनको अपने सामने देखकर हाथमें वज्र लिए देवराज इन्द्रने उनका तिरस्कार करते हुए कहा—॥३॥

नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान् नो जिगीषसि।
जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम्॥ ४॥

अरे मूर्ख! कपटी व्यक्ति जिस प्रकार बालकोंकी आँखें बन्द करवाक
उन्हें अपने जादूसे जीतकर उनका सारा धन हर ले जाता है, उसी प्रकार तू भी नटक
है। क्या तू नहीं जानता कि हम लोग मायाक

आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम्।
तान् दस्यून् विधुनोम्यज्ञान् पूर्वस्माच्च पदादधः॥ ५॥

जो लोग मायाक
चाहते हैं अथवा स्वर्गको भी लाँघकर ऊपरक
आधिपत्य जमाना चाहते हैं, मैं उन मूर्ख लुटेरोंको रसातलसे भी नीचेक

सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन् घटस्व ज्ञातिभिः सह॥ ६॥

तूने लोगोंको मोहित करनेवाली दुर्मायाका खेल खूब खेल लिया। अब अत्यन्त शक्तिशाली मैं सौ धारवाले वज्रसे तेरा मस्तक धड़से अलग किये देता हूँ। रे मन्दबुद्धे! तू अपने परिजन तथा मित्रोंक
सहित युद्धक

श्रीबलिरुवाच—

सङ्ग्रामे वर्त्तमानानां कालचोदितकर्मणाम्।
कीर्त्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात्॥ ७॥

दैत्यराज बलिने कहा—इन्द्र! इस युद्धभूमिमें जो भी उपस्थित हैं, वे सभी कालक
सभीको क्रमशः कीर्त्ति, जय, पराजय अथवा मृत्यु प्राप्त होगी॥७॥

तदिदं कालरशनं जगत् पश्यन्ति सूरयः।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः॥ ८॥

विवेकी व्यक्ति इस जगत्को कालक
हैं, अतः इसक
इस यथार्थ तत्त्वसे अनभिज्ञ हो॥८॥

न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम्।
गिरो वः साधु शोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः॥ ९॥

अहङ्कार एवं मूर्खताक
जय-प्राप्तिका कर्त्ता मानते हो। तुम लोगोंकी इसी अज्ञानतापर महात्मा लोग शोक करते हैं। इसीलिए तुम्हारे मर्मभेदी एवं पीड़ादायक वचनोंको हम स्वीकार नहीं करते॥९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः।
आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वीरोंका मानमर्दन करनेवाले राजा बलिने इस प्रकार इन्द्रका तिरस्कार करक
कान तक खींचकर उनपर कई नाराच बाण छोड़े। इसक
पुनः कठोर वचनोंक

एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना।
नामृष्यत् तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः॥ ११॥

महाराज बलि सभी बातें यथार्थ ही कह रहे थे। उनकी प्रताड़नासे अपमानित होकर इन्द्र अङ्कुशसे आहत हाथीक
और भी अधिक व्यथित हो गये। बलिक
नहीं हुए॥११॥

प्राहरत् कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्द्दनः।
सयानो न्यपतद्भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः॥ १२॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका मर्दन करनेवाले इन्द्रने बलिका वध करनेक
होकर बलि अपने विमानक
पृथ्वीपर गिर पड़े॥१२॥

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत्।
अभ्ययात् सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन्॥ १३॥

बलि महाराजका एक मित्र था, जिसका नाम था जम्भासुर। जब उसने अपने मित्रको गिरते हुए देखा तो अपने मित्रक
सौहार्द प्रकट करते हुए वह बदला लेनेक
आ खड़ा हुआ॥१३॥

स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा।
जत्रावताडयच्छक्रं गजञ्च सुमहाबलः॥१४॥

जम्भासुर अत्यन्त बलवान् था। वह अपने वाहन सिंहपर सवार होकर इन्द्रक
गदा घुमायी और उनकी हसलीपर और उनक
प्रहार किया॥१४॥

गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ॥१५॥

जम्भासुरकी गदाक
व्याक
टेक दिये और मूर्च्छित हो गया॥१५॥

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः॥१६॥

यह देखकर इन्द्रका सारथि मातलि सहस्र अश्वोंसे जुता हुआ रथ ले आया। तब इन्द्र ऐरावतको छोड़कर उस रथपर सवार हो गये॥१६॥

तस्य तत् पूजयन् कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः।
शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे॥१७॥

दानवश्रेष्ठ जम्भासुरने इस सेवाकार्यक
प्रशंसा की। बादमें थोड़ा मुसकराकर अग्निक
अपने त्रिशूलसे मातलिपर प्रहार कर दिया॥१७॥

सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः।
इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः॥१८॥

मातलिने धैर्यक

सहन कर लिया, परन्तु इन्द्र अत्यधिक क्रोधित हो उठे। उन्होंने वज्रक

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः।
नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः॥ १९॥

'जम्भासुर मारा गया'—नारद ऋषिसे यह समाचार सुनकर उसक बन्धु-बान्धव नमुचि, बल और पाक नामक तीनों दानव शीघ्र ही युद्धक्षेत्रमें आ गये॥१९॥

वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु।
शरैरवाकिरन् मेघा धाराभिरिव पर्वतम्॥ २०॥

उन्होंने पहले तो अपने कठोर और कर्कश वचनोंसे इन्द्रक मर्मस्थलको बींधते हुए उनसे अनेक कटु वचन कहे। तत्पश्चात् जिस प्रकार मेघ पर्वतपर मूसलाधार पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे देवराज इन्द्रक

हरीन् दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः।
तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान्॥ २१॥

बल नामक असुरने अपने हस्त कौशलसे युद्धक्षेत्रमें एक हजार बाण चलाकर एक साथ ही इन्द्रक

घायल कर दिया॥२१॥

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक्।
सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद्रणे॥ २२॥

पाक नामक दूसरे असुरने एक ही साथ दो-सौ बाण धनुषपर चढ़ाकर छोड़ दिये। सौ बाणोंसे उसने मातलिको और सौ बाणोंसे रथक

अद्भुत घटना घटी॥२२॥

नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः।
आहत्य व्यनदत् संख्ये सतोय इव तोयदः॥ २३॥

इसक
छोड़े और जलसे पूर्ण बादलोंक
करने लगा॥२३॥

सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम्।
छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः॥ २४॥

अन्य असुरोंने भी बाणोंकी वर्षासे इन्द्रको उनक
सारथि सहित चारों ओरसे इस प्रकार ढक दिया, जिस प्रकार वर्षाकालीन मेघ सूर्यको ढक देते हैं॥२४॥

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला
विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः।
अनायकाः शत्रुबलेन विनिर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे॥ २५॥

रणभूमिमें देवराज इन्द्रको न देखकर सारे देवता और उनक अनुचर अत्यन्त विकल हो गये। एक तो वे शत्रुओंसे पहले ही हार गये थे और अब उनका कोई प्रधान सेनापति भी नहीं रह गया था। वे इस प्रकार विलाप करने लगे जिस प्रकार कोई व्यापारी समुद्रक

ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जरा-
द्विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्
स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये॥ २६॥

किन्तु इन्द्र थोड़ी देर बाद ही शत्रुओं द्वारा निर्मित बाणोंसे आबद्ध पिंजरेसे ध्वजा, रथ, अश्व और सारथिक
बाहर निकल आये, जिस प्रकार रात्रिक
तेजसे समस्त दिशाओं, आकाश और पृथ्वीको प्रकाशित करते हुए उदित होते हैं। इन्द्रक

निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे।
उदयच्छद्रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा॥ २७॥

जब वज्रधारी इन्द्रने देखा कि शत्रुओंने उनकी सेनाको रौंद डाला है, तब उन्होंने अत्यन्त क्रोधमें भरकर शत्रुओंको मारनेक लिए अपना वज्र उठा लिया॥२७॥

स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः।
ज्ञातीनां पश्यतां राजन् जहार जनयन् भयम्॥ २८॥

राजन्! इन्द्रने वहाँ उपस्थित दैत्योंक
करते हुए आठ धारोंवाले अपने वज्रसे बल एवं पाक नामक दोनों असुरोंका सिर काट डाला॥२८॥

नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः।
जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम्॥ २९॥

महाराज! बल और पाकको मरा हुआ देखकर नमुचिको बड़ा शोक हुआ। अतिशय द्वेष और क्रोधमें भरकर वह इन्द्रका वध करनेक

अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम्।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन्।
प्राहिणोद्देवराजाय निनदन् मृगराडिव॥ ३०॥

'इन्द्र! अब तुम्हारी मृत्यु निश्चित है'—इस प्रकार सिंहक
गर्जना करते हुए क्रुद्ध नमुचि एक त्रिशूल उठाकर इन्द्रपर टूट पड़ा। वह त्रिशूल लोहेका बना हुआ था और सोनेक
अलङ्कृत था। उसमें घण्टे लगे हुए थे। इन्द्रक
उनकी हत्या करनेक

तदापतद्गगनतले महाजवं
विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा।
तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे
रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन्॥ ३१॥

हे राजन्! देवराज इन्द्रने उस महावेगवान् त्रिशूलको आकाशसे अपनी ओर आते देखकर अपने बाणोंसे उसक

दिये। तत्पश्चात् अत्यन्त क्रोधसे भरकर उन्होंने नमुचिका सिर काट देनेक

न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो
बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्
तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा॥ ३२॥

जिस महाबलवान् वज्रको इन्द्रने अपनी पूरी शक्तिक चलाया था, वह नमुचिकी त्वचा तक भी न भेद सका। यह बड़े आश्चर्यकी बात थी कि जिस वज्रने अति बलवान् वृत्रासुरका वध कर दिया, नमुचिकी गर्दनकी त्वचाने उसका भी तिरस्कार कर दिया। उसे एक खरोंच तक भी न आई॥३२॥

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः।
किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम्॥ ३३॥

शत्रुक
देखकर इन्द्र अत्यन्त भयभीत हो गये। वे विचार करने लगे कि दैवयोगसे सारे संसारकी बुद्धिको विमोहित करनेवाली यह क आश्चर्यमयी घटना घटित हो गयी?॥३३॥

येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये।
कृतो निविशतां भारैः पतत्रैः पततां भुवि॥ ३४॥

पहले पङ्खोंसे युक्त पर्वत जब आकाशमें उड़ते थे और घूमते-फिरते हुए अपने भारक
विनाश करते थे तब प्रजाकी रक्षा करनेक
उनक

तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः।
अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः॥ ३५॥

त्वष्टाकी तपस्याक
मार डाला था। और भी, अनेक बलवान् दैत्योंको जिनका किसी

अस्त्र-शस्त्रसे बाल भी बाँका नहीं होता था, उनको भी मैंने इसी वज्रसे विदीर्ण कर डाला था॥३५॥

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके।
नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम्॥ ३६॥

यही वज्र इस तुच्छ असुरक
आया, अब मैं इसे ग्रहण नहीं करूँगा। यह ब्रह्मतेजसे बना होनेपर भी इस समय तुच्छ डण्डेकी तरह व्यर्थ हो चुका है॥३६॥

इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी।
नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः॥ ३७॥

इन्द्र इस प्रकार विषाद कर ही रहे थे कि तभी एक आकाशवाणीने इन्द्रको सम्बोधन करते हुए कहा—"इस नमुचिका वध न तो सूखी वस्तुसे होगा और न ही गीलीसे"॥३७॥

मयास्मै यद्वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः।
अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन् रिपोः॥ ३८॥

"मैं इसे वरदान दे चुका हूँ कि गीली अथवा सूखी वस्तुसे इसकी मृत्यु नहीं होगी। अतः हे इन्द्र! अपने इस शत्रुका वध करनेक

तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान् सुसमाहितः।
ध्यायन् फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम्॥ ३९॥

इस आकाशवाणीको सुनकर देवराज इन्द्र बड़ी एकाग्रताक
साथ नमुचिक
कि समुद्रका फ
न ही सूखी॥३९॥

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः।
तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन् विभुम्॥ ४०॥

अतः जिसे न सूखा कहा जा सकता है और न गीला, उस समुद्रक

उस समय मुनियोंने देवराज इन्द्रकी स्तुति करते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और उन्हें मालाओंसे पूरी तरह ढककर सन्तुष्ट कर दिया॥४०॥

गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्त्तक्यो ननृतुर्मुदा॥४१॥

गन्धर्व-प्रधान विश्वावसु और परावसु आनन्दक
देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और अप्सराएँ नाचने लगीं॥४१॥

अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान् वाय्वग्निवरुणादयः।
सूदयामासुरसुरान् मृगान् केसरिणो यथा॥४२॥

इसी प्रकार वायु, अग्नि और वरुण आदि देवता भी प्रतिपक्षी असुरोंका उसी प्रकार वध करने लगे, जिस प्रकार सिंह हिरनोंको मार डालता है॥४२॥

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् देवर्षिर्नारदो नृप।
वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम्॥४३॥

हे राजन्! जब ब्रह्माजीने देखा कि दानवोंका तो सर्वनाश हो रहा है, तब उन्होंने देवर्षि नारदको भेजा। उन्होंने रणभूमिमें पहुँचकर देवताओंको दानवोंक

श्रीनारद उवाच—

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात्॥४४॥

देवर्षि नारदने कहा—हे देवताओ! तुम लोगोंने भगवान् श्रीनारायणक
श्रीलक्ष्मीजीकी कृपासे तुम्हारी अत्यन्त वृद्धि हो रही है। अतः अब युद्ध बन्द कर दो॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम्॥४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! देवर्षि नारदक
सम्मान करते हुए सभी देवताओंने उसी क्षण अपने क्रोधका संवरण कर लिया और स्वर्गलोककी ओर चले गये। उस समय देवताओंक

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन्॥ ४६॥

रणक्षेत्रमें जो दानव जीवित बचे रह गये थे, उन्होंने नारदजीकी अनुमतिसे वज्रसे आहत बलिको उठाया और उन्हें अस्ताचलकी ओर ले गये॥४६॥

तत्राविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान्
उशनां जीवयामास सञ्जीविन्या स्वविद्यया॥ ४७॥

जिन दानवोंक
तथा सिर विद्यमान था, उन सबको शुक्राचार्यने अपनी संजीवनी विद्यासे पुनर्जीवित कर दिया॥४७॥

बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः।
पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे देवासुरयुद्धं नाम एकादशोऽध्यायः।

शुक्राचार्यक
लौट आयी। उन्हें स्मृति-शक्ति भी प्राप्त हो गयी। दैत्यराज बलि लोकतत्त्वक
होनेपर भी उन्हें कोई दुःख न हुआ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

भगवान्क

महादेवजीका मोहित होना

श्रीबादरायणिरुवाच—

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान्।
मोहयित्वासुरगणान् हरिः सोममपाययत्॥ १॥
वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः।
सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! महादेवने जब यह सुना कि भगवान् श्रीहरिने स्त्री-रूप धारण करक
है और देवताओंको अमृत-पान कराया है, तब वे पार्वतीक
अपने वाहन बैलपर सवार होकर और समस्त भूतोंको लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ मधुसूदन भगवान् श्रीहरि विराजमान थे। वे भगवान्क उसी मोहिनीरूपको देखना चाहते थे॥१-२॥

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन् हरिम्॥ ३॥

भगवान्ने देवी पार्वतीक
किया। महादेव जब सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये तब वे भगवान्का बहुत अधिक सम्मान करक

श्रीमहादेव उवाच—

देवदेव जगद्व्यापिन् जगदीश जगन्मय।
सर्वेषामपि भावानं त्वमात्मा हेतुरीश्वरः॥ ४॥

श्रीमहादेवने कहा—हे देवाधिदेव! आप विश्वव्यापी जगदीश्वर और जगत्-स्वरूप हैं। आप समस्त चराचर पदार्थोंक

एवं उपादान कारण हैं। आप जड़ प्रधान नहीं हैं, बल्कि समस्त चेतनक

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद्भवान्॥ ५॥

इस जगत्क
अहंता, ममता सब ब्रह्मसे ही हैं, किन्तु अविनाशी ब्रह्ममें जन्म, मृत्यु आदि क
हैं। वे ब्रह्म आप ही हैं॥५॥

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते॥ ६॥

जो चरम कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे निष्काम महात्मा इस लोक और परलोकक
चरण-कमलोंकी उपासनामें निरत रहते हैं॥६॥

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः॥ ७॥

आप विश्वसे विलक्षण-स्वरूप चिन्मय ब्रह्म हैं। आप पूर्ण एवं सूक्ष्म-स्वरूप हैं। आप प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर नित्य आनन्द आदि गुणोंसे युक्त रहते हैं। आपमें शोकका स्थान ही नहीं है। विश्व अचित् (जड़), अपूर्ण, नश्वर, सगुण, सशोक, सुखदुःखात्मक एवं विकार-युक्त हैं। निर्विकार होनेपर भी आप समस्त कारणोंक कारण हैं, इसलिये आपक
दृष्टिसे आप सबसे भिन्न हैं। आप ही इस विश्वक
एवं प्रलयक
कर्मका फल प्रदान करते हैं। कर्म-फलकी प्राप्तिक
सारा जीव-जगत् आपसे अपेक्षाएँ रखता है, परन्तु आपको स्वयं किसीकी भी अपेक्षा नहीं है। आप निरपेक्ष हैं॥७॥

एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयञ्च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद्गुणव्यतिकरो निरुपाधिकस्य॥८॥

स्वामिन्! आप ही कार्य—जगतरूपमें असत् एवं द्वैतभावापन्न एवं कारण—सत् एवं अहंतभावापन्न स्वरूप हैं। आप एक होकर भी दो और दो होकर भी एक हैं। (कार्य एवं कारणरूपमें दो और परमकारणरूपमें एक हैं। जिस प्रकार क
परिणत स्वर्ण और क
प्रकार कारणरूपी आप और आपक
भी भेद नहीं है। लोग अज्ञानताक
कर लेते हैं। आप तो वस्तुतः निरुपाधिक (गुणातीत) स्वरूप हैं और यह जगत् निरुपाधिक आपक
इसलिये आपमें और जगत्में भेदज्ञान प्रतीत होता है किन्तु शुद्ध ज्ञानका उदय होनेपर भगवान्क
सत्ता नहीं रहती। अतः यह जगत् भी आपसे अभिन्न है, कोई भेद नहीं है। (जिस प्रकार सूर्य निरुपाधिक है, उसकी रश्मि, प्रतिच्छदि एवं उसकी विचित्रता सूर्यसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार सूर्य-स्वरूप आपकी प्रतिच्छदिरूप बहिरङ्ग शक्ति और उसक
सत्त्वादि गुणोंका परिणमगत वैचित्र्य आपसे पृथक् नहीं है।)॥८॥

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम्।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥९॥

प्रभो! आपको कोई वैदान्तिक ब्रह्म कहते हैं तो मीमांसक आपको धर्म कहकर वर्णन करते हैं। सेश्वर सांख्यवादी आपको प्रकृति एवं पुरुषसे परे परम पुरुष मानते हैं, कोई आपको पूर्वजोंक पूर्वज ब्रह्मा आदिका भी ईश्वर मानते हैं, जबकि पाञ्चरात्रिकगण

आपको विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञान, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—इन नौ चित् शक्तियोंसे युक्त एवं माया शक्तिसे परे मानते हैं। पातञ्जलगण आपको असमोद्ध्र्व, निर्विकार, परम स्वतन्त्र महापुरुष कहकर वर्णन करते हैं॥९॥

नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः॥१०॥

हे ईश! मैं, बह्मा और मरीचि आदि सत्त्वगुणसे उत्पन्न प्रमुख ऋषि आपकी मायासे मोहित होकर जब आपक
जगत्क
अभद्र-वृत्त हैं अर्थात् सर्वदा रजोगुणी और तमोगुणी कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन दैत्य एवं मनुष्योंकी तो बात ही क्या की जाय?॥१०॥

स त्वं समीहितमदःस्थितिजन्मनाशं
भूतेहितञ्च जगतो भवबन्धमोक्षौ।
वायुर्यथा विशति खञ्च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से॥११॥

हे भगवन्! आप अपने द्वारा रचित इस ब्रह्माण्डकी जन्म, स्थिति, प्रलय, समस्त प्राणियोंकी चेष्टाएँ, भव-बन्धनसे मुक्ति सभी क
वस्तुओं एवं आकाशमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आप भी निज धाम वैकुण्ठमें समासीन होकर भी उन सबक
(आत्मरूपमें) समस्त जगत्में व्याप्त हैं॥११॥

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः।
सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम्॥१२॥

हे भगवन्! आपने सत्त्व आदि गुणोंको स्वीकार करक
करनेक

दर्शन किया है, किन्तु अभी आपने जो नारीका रूप धारण किया है, उसे भी देखनेकी मेरी उत्कट इच्छा हो रही है॥१२॥

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः।
तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः॥१३॥

जिस रूपमें आपने दैत्योंको पूरी तरहसे मोहित करक
अमृत पान कराया था, हम उसी रूपक
यहाँ आये हैं। इस रूपक
कौतूहल है॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवान् शूलपाणिना।
प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत॥१४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—महादेवजीकी इस प्रार्थनापर भगवान् विष्णुको हँसी आ गयी। उन्होंने अतिशय गम्भीर भावयुक्त वाणीमें महादेवजीसे कहा—॥१४॥

श्रीभगवानुवाच—

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया धृतः।
पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने॥१५॥

श्रीभगवान्ने कहा—शङ्करजी! दैत्योंने अमृत-पात्रका बलात्
हरण कर लिया था। मैंने उन्हें सम्मोहित करनेक
और देवताओंका काम बनानेक
किया था॥१५॥

तत् तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम।
कामिनां बहु मन्तव्यं संकल्पप्रभवोदयम्॥१६॥

हे देवशिरोमणे! मेरा यह मोहिनी अवतार कामी पुरुषोंक लिए ही अतीव आदरणीय है क्योंकि वह काम भावको उत्तेजित करनेवाला है। आप इस रूपको देखना चाहते हैं तो मैं आपको यह रूप अवश्य ही दिखलाऊँगा॥१६॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।
सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विष्णु इस प्रकार कहते हुए उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये। महादेव उमादेवीक
चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए वहीं बैठे रहे॥१७॥

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे　　　।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लस-
द्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम्　　॥ १८॥

इतनेमें ही महादेवने देखा कि एक बड़ा ही सुन्दर उपवन है। उसमें विविध प्रकारक
युक्त बहुत वृक्षोंकी बहुत-सी पंक्तियाँ सुशोभित हैं। उसमें एक स्त्री गेंदक
हुआ है और उसपर एक करधनी सुशोभित है॥१८॥

आवर्त्तनोद्वर्त्तनकम्पितस्तन-
प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्-
पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः॥ १९॥

गेंदक
ऊपर-नीचे होती, जिससे उसक
गुरुभार एवं उनपर पड़ी हुई मालाओंक
मानो उसकी कमर टूटते-टूटते बची हो। वह अपने लाल-लाल मूँगोंक
कर रही थी॥१९॥

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं
प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम्　　।

स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम्॥ २०॥

उछलती हुई गेंद प्रत्य
साथ-ही-साथ चञ्चल एवं विस्तृत आँखोंक
भावसे इधर-उधर उद्विग्न होकर घूम रहे थे। उसक
कपोलोंपर कानोंमें पहने हुए क
कभी-कभी घुँघराली एवं श्यामल लटक
जिनसे उसका मुखमण्डल और भी रमणीय लगने लगता था॥२०॥

श्लथद्दुकूलं कबरीञ्च विच्युतां
संनह्यतीं वामकरेण वल्गुना।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया॥ २१॥

गेंद खेलते हुए उसक
कबरी-बन्धन खुलने लगता, जिन्हें वह अपने मनोहर बाएँ हाथसे सँभालती। उस समय भी दाहिने हाथसे गेंदको उछाल-उछालकर खेलती रहती। इस प्रकार अपनी मायाक
जगत्को मोहित कर रहे थे॥२१॥

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्
व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्ष्नणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद॥ २२॥

मुझे कोई पुरुष देख रहा है, यह जानकर वह गेंद खेलते-खेलते ही तनिक सलज्ज भावसे तनिक मुसकारायी और उन्हें तिरछी चितवनसे उन्हें देखने लगी। शिवजीने उसे देखा और उसने भी अति मनोहर भङ्गिमासे उनकी ओर निहारा, इससे शिवजीका चित्त विह्वल एवं उन्मत्त हो गया। उन्हें न तो अपनी सुधि रही और न ही पासमें स्थित पार्वती एवं अपने पार्षदोंकी। वे बेसुध होकर सब
क

तस्याः कराग्रात् स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्-
भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः॥ २३॥

खेलते-खेलते गेंद जब उसक
भी उस गेंदक
रहे थे। उन्हींक
उसका सूक्ष्म वस्त्र भी उड़ा ले चली॥२३॥

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम्।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विसज्जन्त्यां भवः किल॥ २४॥

हे राजन्! इस प्रकार महादेव उस मनोहर-नयना परम सुन्दरीको देखते ही रह गये। उस स्त्रीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़ा ही मनोहर एवं सुगठित था। वह परम सुन्दरी अपनी ओर देखनेवाले महादेवको बाँकी चितवनसे ऐसे देखने लगी मानो वह उनपर अत्यन्त आसक्त हो गयी हो। इस स्थितिमें महादेवका मन पूरी तरहसे उसकी ओर खिंचा चला गया—वे उसक

तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ।
भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ॥ २५॥

शङ्करका विवेक-ज्ञान सब जाता रहा। वे काम-विलासोंसे परिपूर्ण उसक
पार्वतीक
चल पड़े॥२५॥

सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्।
निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत॥ २६॥

वह स्त्री विवस्त्र तो पहले ही हो चुकी थी। महादेवको आते देखकर वह बहुत लज्जित होने लगी और हँसते-हँसते एक वृक्षसे दूसरे वृक्षकी आड़में छिपने लगी। किसी एक स्थानपर खड़ी नहीं रही॥२६॥

तामन्वगच्छद्भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः॥ २७॥

शङ्कर कामक
गयीं। वे उस सुन्दरीक
हथिनीक

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम्।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे॥ २८॥

महादेवने अत्यन्त वेगपूर्वक उसका पीछा किया और उस सुन्दरीक
क
भी महादेवने अपनी भुजाओंमें भरकर उसका आलिङ्गन किया॥२८॥

सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा॥ २९॥
आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात्।
प्राद्रवत् सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता॥ ३०॥

हे राजन्! हाथी जैसे हथिनीका आलिङ्गन करता है उसी प्रकार महादेवने उस मोहिनीका आलिङ्गन किया। वह स्थूल नितम्बोंवाली परम सुन्दरी महादेवक
करने लगी, जिससे उसक
भगवान् द्वारा रची हुई माया थी। उसने जैसे-तैसे शङ्करक
अपनेको छुड़ाया और बड़े वेगक

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः॥ ३१॥

उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो शिवक
कामदेवने उनपर विजय प्राप्त कर ली हो, क्योंकि वे उस मोहिनी रूप धारी, अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुक

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावतः॥ ३२॥

कामोन्मत्त गजराज जिस प्रकार ऋतुमती हस्तिनीक
भागता है, उसी प्रकार शङ्कर उस सुन्दरीक
समय अमोघवीर्य शङ्करका वीर्य पथमें ही क्षरित हो गया॥३२॥

यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते॥ ३३॥

परीक्षित्! महापुरुष रुद्रका वीर्य पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ गिरा, उन सभी स्थानोंपर सोने एवं चाँदीकी खानें बन गयीं॥३३॥

सरित्सरःसु शैलेषु वनेषूपवनेषु च।
यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र सन्निहितो हरः॥ ३४॥

मोहिनीका पीछा करते-करते महादेव नदी, सरोवर, पर्वत, वन और उपवनमें और जहाँ कहीं ऋषि-मुनि रह रहे थे, वहाँ-वहाँ गये॥३४॥

स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया।
जडीकृतं नृपश्रेष्ठ संन्यवर्त्तत कश्मलात्॥ ३५॥

हे नृपश्रेष्ठ! जब शिवका वीर्य सम्पूर्णरूपसे स्खलित हो गया, तो उन्हें अपनी सुधि आयी। उन्होंने देखा कि वे भगवान्‌की मायाक वशीभूत होकर जड़वत् हो गये थे। अतः उन्होंने अपने-आपको और अधिक मुग्ध होनेसे रोका॥३५॥

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदुहाद्भुतम्॥ ३६॥

उसक
जगदात्मास्वरूप एवं असीम शक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी ही यह सारी माया है। उन्हें इसका किञ्चित् भी आश्चर्य न हुआ कि भगवान्‌ने देवमायाका सृजन करक
कर दिया था॥३६॥

तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः।
उवाच परमप्रीतो बिभ्रत् स्वां पौरुषीं तनुम्॥ ३७॥

मधुसूदन भगवान् श्रीहरिने देखा कि महादेवका चित्त व्याक
नहीं है और न ही वे किसी प्रकारकी लज्जा अथवा विषादका अनुभव कर रहे हैं, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और पुरुष-शरीर धारण करक

श्रीभगवानुवाच—

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मनि स्थितः।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया॥ ३८॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवश्रेष्ठ! यह बड़े भाग्यकी बात है कि आप मेरी स्त्री-रूपिणी मायासे मोहित होकर भी अपनी स्वाभाविक स्थितिको (भक्तिसे उत्पन्न दैन्यमयी निरहङ्कारिताको) प्राप्त हो गये हैं। आपका कल्याण हो॥३८॥

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।
तांस्तान् विसृजतीं भावान् दुस्तरामकृतात्मभिः॥ ३९॥

मेरी माया अपार है। इस जगत्में आपक
कौन है, जो विषय-भोगोंमें आसक्त होकर स्वयं ही उससे निकल सक
कठिन है॥३९॥

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति।
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः॥ ४०॥

सृष्टि आदिक
अपने रज आदि अंशक
यह माया आपको मोहित नहीं करेगी॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवता राजन् श्रीवत्साङ्केन सत्कृतः।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ॥ ४१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित् वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न धारण करनेवाले भगवान् द्वारा इस प्रकारसे आदर प्राप्त करक

महादेवने उनकी परिक्रमा की और उनसे अनुमति लेकर अपने गणोंक

आत्मांशाभूतां तां मायां भवानीं भगवान् भवः।
सन्मतामृषिमुख्यानां प्रीत्याचष्टाथ भारत॥ ४२॥

हे भारत! इसक
सभामें देवी भवानीको सम्बोधित करक
मोहिनी रूपका वर्णन किया करते। देवी पार्वती प्रधान-प्रधान महर्षियोंक
जाती हैं॥४२॥

अयि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां
परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभोऽपि मुह्ये
ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः॥ ४३॥

श्रीमहादेव कहते हैं—हे देवि! अजन्मा, परदेवता और परमपुरुष भगवान्‌की माया तुमने देखी? मैं उनक
भी उससे मोहित हो गया। तब जो लोग पूर्णतः इन्द्रियोंक
हैं, यदि वे उनकी मायासे मोहित हो जाएँ, तो इसमें कहना ही क्या है?॥४३॥

यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्
समासहस्रान्त उपारतं वै।
स एष साक्षात् पुरुषः पुराणो
न यत्र कालो विशते न वेदः॥ ४४॥

जब मैं एक हजार वर्षोंक
तब तुमने मुझसे यही पूछा था कि तुम किसकी उपासना करते हो? हे देवि! वे यही साक्षात्—पुराण पुरुष हैं, सर्वत्र प्रभाव व्याप्त करनेवाला काल इन तक नहीं पहुँच सकता और सर्वस्व जाननेवाले वेद भी इनका वर्णन नहीं कर सकते॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः॥ ४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित्! सागर-मन्थनक
जिन्होंने अपनी पीठपर विशाल मन्दर पर्वत धारण किया था, उन्हीं
भगवान् शार्ङ्गधन्वाक

एतन्मुहुः कीर्त्तयतोऽनुशृण्वतो
न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित्।
यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनं
समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥ ४६॥

जो मनुष्य इस समुद्र-मन्थन रूप भगवान्क
कीर्त्तन अथवा श्रवण करता है, उसका उद्यम कभी निष्फल नहीं
होता, क्योंकि उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिका गुणानुकीर्त्तन संसारक
समस्त क्लेशोंको ध्वस्त कर देता है॥४६॥

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नान्
अमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीं-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीशङ्करमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः।

भगवान्क
उपासना करनेवाले शरणागत भक्तोंकी वे समस्त कामनाएँ पूर्ण
करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने छलपूर्वक युवती वेश धारण
करक
पिलाया, जबकि अपने चरणोंसे विमुख दानवोंको वञ्चित कर
दिया। मैं ऐसे महामहिम भगवान्को सादर नमस्कार करता हूँ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

आगामी सात मन्वन्तरोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमो वर्त्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! वर्त्तमान मन्वन्तरमें
सूर्यक
इनक

इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते॥ २॥

तरूषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान् स्मृतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप॥ ३॥

वैवस्वत मनुक
शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग। सातवाँ पुत्र दिष्ट नामसे जाना जाता है। इनक
बाद तरुष और पृषध्र हैं। दसवे पुत्रका नाम वसुमान् है॥२-३॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः॥ ४॥

हे राजन्! इस मन्वन्तरमें आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण,
विश्वेदेवगण, मरुद्‌गण, दोनों अश्विनी क
देवता हैं। पुरन्दर उनका इन्द्र है॥४॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥ ५॥

इस मन्वन्तरमें कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि
और भरद्वाज—ये सप्तर्षि हैं॥५॥

अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक्॥ ६॥

इस मन्वन्तरमें भी कश्यपजीसे अदितिक
आविर्भाव हुआ है। भगवान् विष्णु ही आदित्योंक
वामनरूपमें अवतरित हुए हैं॥६॥

संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च॥ ७॥

महाराज! मैंने संक्षेपमें तुम्हें सात मन्वन्तरोंक
अब भविष्यमें होने वाले भगवान् विष्णुक
मन्वन्तरोंक

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव॥ ८॥

राजेन्द्र! मैंने तुम्हें पहले भी (छठे स्कन्धमें) बतलाया था कि सूर्यकी दो पत्नियाँ थीं—संज्ञा और छाया। ये दोनों ही विश्वकर्माकी पुत्रियाँ थीं॥८॥

तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु॥ ९॥

क
थी। इन सूर्य-पत्नियोंमें-से संज्ञासे तीन सन्तानें हुईं—यम, यमी (यमुना) और श्राद्धदेव। अब मैं तुम्हें छायाकी सन्तानोंक
बतला रहा हूँ॥९॥

सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ॥ १०॥

छायासे सावर्णि नामका एक पुत्र और तपती नामकी एक कन्या हुई। तपती राजा संवरणकी पत्नी बनी। छायाकी तीसरी सन्तानका नाम था शनैश्चर। वडवाने दो पुत्रोंको जन्म दिया, जिनक
अश्विनीक

अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः।
निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप॥ ११॥

हे राजन्! जब आठवाँ मन्वन्तर आवेगा, तब सावर्णि मनु होंगे। इनक

तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति॥ १२॥

उस मन्वन्तरमें देवता होंगे—सुतपा, विरज और अमृतप्रभ। विरोचनक

दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति॥ १३॥

विष्णु भगवान्ने वामनरूपमें इनसे तीन पग भूमि ही माँगी थी, किन्तु इन्होंने सारी पृथ्वीका ही दान कर दिया था। इन्हीं भगवान् विष्णुकी कृपासे ये इन्द्र-पदका भी परित्याग कर देंगे और परम सिद्धिको प्राप्त करेंगे॥१३॥

योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव॥ १४॥

प्रिय तात! भगवान्ने बड़ी प्रीतिक
था और उन्हें स्वर्गसे भी श्रेष्ठ सुतल लोकमें अधिष्ठित कर दिया था। इस समय भी बलि महाराज वहाँ स्वर्ग-अधिपति इन्द्रक समान विराजमान हैं॥१४॥

गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान् बादरायणः॥ १५॥
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः।
इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले॥ १६॥

हे राजन्! उस मन्वन्तरमें गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग और हमारे पिता भगवान् व्यास—ये सप्तर्षि

होंगे। इस समय ये सातों जन योगबलसे अपने-अपने आश्रममें स्थित हैं॥१५-१६॥

देवगुह्यात् सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः॥ १७॥

इस मन्वन्तरमें देवगुह्यकी पत्नी सरस्वतीसे सार्वभौम नामक भगवान्का अवतार होगा। ये पुरन्दरसे स्वर्गका राज्य छीनकर बलिको प्रदान कर देंगे॥१७॥

नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः।
भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप॥ १८॥

परीक्षित्! वरुणक
नाम होंगे—भूतक

पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः॥ १९॥

इस नवे मन्वन्तरमें पारा, मरीचिगर्भ आदि देवता होंगे और अद्भुत नामक
सप्तर्षि होंगे॥१९॥

आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः॥ २०॥

आयुष्मान्की पत्नी अम्बुधाराक
भगवान्क
तीनों लोकोंकी समृद्धिका भोग करायेंगे॥२०॥

दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो मनुः।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः॥ २१॥

उपश्लोकक
होंगे। भूरिषेण आदि उनक
सप्तर्षि होंगे॥२१॥

हविष्मान् सुकृतः सत्यो जयो मूर्त्तिस्तदा द्विजाः।
सुवासनाविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः॥ २२॥

उस समय हविष्मान्, सुकृत, सत्य, जय एवं मूर्त्ति आदि सप्तर्षि होंगे, सुवासन और अविरुद्ध आदि देवता होंगे तथा इनक
होंगे शम्भु॥२२॥

विष्वक्सेनो विसूच्यान्तु शम्भोः सख्यं करिष्यति।
जातः स्वांशेन भगवान् गृहे विश्वसृजो विभुः॥ २३॥

विश्वस्रष्टाकी पत्नी विसूचीक
रूपमें अवतीर्ण होंगे और इन शम्भु नामक इन्द्रक
स्थापित करेंगे॥२३॥

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान्।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश॥ २४॥

ग्यारहवे मन्वन्तरमें आत्म-तत्त्वज्ञ धर्मसावर्णि मनु होंगे। उनक सत्य, धर्म आदि दस पुत्र होंगे॥२४॥

विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः॥ २५॥

इस मन्वन्तरमें विहङ्गमगण कामगमगण, निर्वाणरुचि आदि देवता होंगे और वैधृत नामक
आदि होंगे—॥२५॥

आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति॥ २६॥

आर्यककी पत्नी वैधृताक
अंशावतार होगा और वे इस मन्वन्तरमें तीनों भुवनोंका पालन करेंगे॥२६॥

भविता रुद्रसावर्णी राजन् द्वादशमो मनुः।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः॥ २७॥

हे राजन्! बारहवे मनुका नाम होगा रुद्रसावर्णि। उनक
नाम होंगे—देववान, उपदेव और देवश्रेष्ठ॥२७॥

ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः।
ऋषयश्च तपोमूर्त्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः॥ २८॥

इस मन्वन्तरमें ऋतधामा नामक इन्द्र और हरित आदि देवता होंगे। सप्तर्षियोंक
आग्नीध्रक आदि॥२८॥

स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः।
अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः॥ २९॥

पिता सत्यसहा और माता सुनृताक
भगवान्का अंशावतार होगा। वे ही इस बारहवे मन्वन्तरकी रक्षा करेंगे॥२९॥

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान्।
चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः॥ ३०॥

देवसावर्णि तेरहवे मनु होंगे। ये आत्म-तत्त्वज्ञ एवं जितेन्द्रिय होंगे। इनक

देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा॥ ३१॥

तेरहवे मन्वन्तरमें सुकर्मा और सुत्रामा आदि देवता होंगे और तत्कालीन इन्द्रका नाम होगा दिवस्पति। निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि सप्तर्षि होंगे॥३१॥

देवहोत्रस्य तनय उपहर्त्ता दिवस्पतेः।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति॥ ३२॥

देवहोत्रकी पत्नी बृहतीक
अंशरूपमें आविर्भूत होंगे और दिवस्पति नामक इन्द्रका कल्याण साधित करेंगे॥३२॥

मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति।
उरुगम्भीरबुधाद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः॥ ३३॥

महाराज! चौदहवे मनुका नाम होगा इन्द्रसावर्णि। उरु, गम्भीर, बुध आदि उनक

पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति।
अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः॥ ३४॥

इस मन्वन्तरमें पवित्र, चाक्षुष आदि देवता होंगे और इन्द्रका नाम होगा शुचि। अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागधादि तपस्वी सप्तर्षि होंगे॥३४॥

सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः।
वितानायां महाराज क्रियातन्तून् वितायिता॥ ३५॥

हे महाराज! इस चौदहवे मन्वन्तरमें वितानाक

सत्रायणक

यह अवतार बृहद्भानुक

कार्योंका विस्तार करेंगे॥३५॥

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

हे राजन्! इस प्रकार भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें होनेवाले चौदह मन्वन्तरोंका मैंने वर्णन किया। इन्हींक एक सहस्र-चतुर्युगवाले एक कल्पकी अवधिकी गणना की जाती है। यह कल्प ब्रह्माजीका एक दिन होता है॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

मनु आदिक

श्रीराजोवाच—

मन्वन्तरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे।
यस्मिन् कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे॥ १॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन्! इन मन्वन्तरोंमें ये मनु-देवता, सप्तर्षि आदि क्या-क्या कार्य करते हैं और इन्हें उन-उन कार्योंक लिए कौन नियुक्त करता है। कृपा करक

श्रीऋषिरुवाच—

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते।
इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन! मनु, मनुपुत्र, मुनि, इन्द्र और देवता—सभी परमपुरुष भगवान्क
द्वारा नियोजित किये जाते हैं॥२॥

यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः॥ ३॥

हे नृप! भगवान्क
बतलाया था, उन सबसे ही प्रेरित होकर मनु आदि जगत्की व्यवस्थाका सञ्चालन करते हैं॥३॥

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्तान् श्रुतिगणान् यथा।
तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातनः॥ ४॥

जब चतुर्युगीका अन्त आता है तब समयक
श्रुतियोंका ऋषिगण अपने तपोबलसे पुनः साक्षात्कार करते हैं। इन श्रुतियोंसे सनातन धर्म पुनः प्रतिष्ठित होता है॥४॥

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः।
युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप॥५॥

उसक
कालमें बड़ी सावधानीसे पृथ्वीपर चारों चरणोंसे परिपूर्ण धर्मका प्रवर्त्तन करते हैं॥५॥

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः।
यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः॥६॥

प्रजाओंका पालन करते हुए मनुपुत्र क्रमशः अपने पुत्र-पौत्रोंक
साथ मन्वन्तर कालक
पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मोंमें ऋषि एवं पितरोंक
यज्ञ-भागको प्राप्त करते हैं॥६॥

इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम्।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति॥७॥

इन्द्र भगवान्क
ऐश्वर्यका भोग करते हैं और प्रजाका पालन करते हुए सभी लोकोंमें प्रचुर वर्षा करते हैं॥७॥

ज्ञानञ्चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक्।
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक्॥८॥

भगवान् श्रीहरि युग-युगमें सिद्ध (सनक आदि) पुरुषोंक
ज्ञानका, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंक
आदि योगियोंक

सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून् हन्यात् स्वराड्वपुः।
कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः॥९॥

भगवान् मरीचि आदि प्रजापतियोंक
करते हैं, राजाओंका विग्रह धारण कर लुटेरोंका वध करते हैं और यौवन, बुढ़ापा आदि कालक

हैं। स्थूलता, कृशता, बधिरता अथवा शैत्य, उष्णता आदिको भी भगवान्क

स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते॥ १०॥

नाम एवं रूपकी मायाक
है। वे विविध शोधों एवं दार्शनिक शास्त्रोंक
तत्त्वका निरूपण करनेका प्रयास तो करते हैं, किन्तु भगवान्क

एतत् कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम्।
यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्द्दश पुराविदः॥ ११॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः।

एक कल्पमें अर्थात् ब्रह्माक
कल्पोंका विभाग है, वह एक प्रकारसे मैंने तुम्हें बतला ही दिया। पौराणिक वृत्तान्तक
अवान्तर कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं॥११॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराजा बलिकी स्वर्गपर विजय

श्रीराजोवाच—

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत।
भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम्॥ १॥

एतद्वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः।
याच्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः॥ २॥

राजा परीक्षित्ने कहा—भगवन्! श्रीहरि स्वयं सभीक
हैं, तब उन्होंने बलिसे किसलिए निर्धन व्यक्तिक
पृथ्वी माँगी। वे जो चाहते थे, वह वस्तु मिल गयी तो उन्होंने बलिको बाँधा क्यों? हम सब इस विषयको जानना चाहते हैं, क्योंकि पूर्ण परमेश्वरका माँगना और निरपराध बलिका बन्धन—ये दोनों बड़े आश्चर्यकी बातें हैं। हमें इन्हें जाननेक
कौतूहल हो रहा है॥१-२॥

श्रीशुक उवाच—

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो
हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः।
सर्वात्मना तानभजद्भृगून् बलिः
शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! युद्धमें महाराज बलिका ऐश्वर्य नष्ट हो गया और इन्द्रने उनक
डाला। शुक्राचार्यने उन्हें अपनी सञ्जीवनी विद्यासे पुनर्जीवित कर दिया। इसलिए श्रीशुक्राचार्यक
साथ अपनी सब सम्पत्ति गुरुक
समस्त भृगुवंशीय ब्राह्मणोंकी तन-मनसे सेवा करने लगे॥३॥

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
अयाजयन् विश्वजिता त्रिणाकम्।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
महाभिषेकेण महानुभावाः॥ ४॥

इससे महाप्रभावशाली भृगुवंशीय ब्राह्मण बलिसे बहुत प्रसन्न हो गये। बलिक
ऋग्वेदीय बहवृच ब्राह्मणमें प्रसिद्ध महाभिषेक द्वारा बलिका विधिपूर्वक अभिषेक किया और उनसे विश्वजित् नामक यज्ञ कराया॥४॥

ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
हुताशनादास हविर्भिरिष्टात्॥ ५॥

इस यज्ञाग्निमें जब घीकी आहुति डाली गयी, तब उसमें-से सोनेकी चादरसे मढ़ा हुआ एक रथ, इन्द्रक
रङ्गक

धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
तूणावरिक्तौ कवचञ्च दिव्यम्।
पितामहस्तस्य ददौ च माला-
मम्लानपुष्पां जलजञ्च शुक्रः॥ ६॥

इसक
तरकस और एक दिव्य कवच भी प्रकट हुआ। पितामह प्रह्लादने बलिको अम्लान (कभी न क
शुक्राचार्यने एक शङ्ख प्रदान किया॥६॥

एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान्।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार॥ ७॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंक
प्राप्त हो गयी। स्वस्तिवाचन हो जानेपर बलिने उनकी प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने दादाजी प्रह्लादजीसे भी बातचीत की और उनक

अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः।
सुस्रग्धरोऽथ सन्नह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः॥ ८॥
हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट्॥ ९॥

तत्पश्चात् बलि भृगुवंशियोंक
हुए। उन्होंने शरीरमें कवच बाँध लिया और अपने दादाजी द्वारा दी हुई सुन्दर माला धारण कर ली। उसक
बाण, तलवार-तरकस आदि शस्त्र ग्रहण कर लिये। उनकी दोनों भुजाओंमें सोनेक
क
शोभायमान हो रहे थे, मानो आह्वनीय अग्नि क
अग्नि प्रज्वलित हो॥८-९॥

तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव॥ १०॥
वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः।
ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी॥ ११॥

उन्होंने अपने साथ और भी सेनानायकोंको ले लिया, जो ऐश्वर्य बल और सौन्दर्यमें उनक
गये, तब ऐसा लग रहा था, मानो ये सब सेनापति आकाशको निगल जायेंगे और अपनी क्रोधमयी दृष्टिसे सारी दिशाओंको जला डालेंगे। शक्तिशाली बलिने बहुत बड़ी असुर-सेनाको एकत्रित कर लिया और युद्धोन्मुख होकर पृथ्वीको कँपाते हुए सुसमृद्धिशालिनी इन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान किया॥१०-११॥

रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ।
प्रवालफलपुष्पोरु-भारशाखामरद्रुमैः॥ १२॥

राजा इन्द्रकी राजधानी अमरावती नन्दन-कानन एवं उपवन उद्यानोंसे परिपूर्ण होनेक
पुष्प, प्रवाल एवं फलोंक
पक्षियोंक

हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः॥ १३॥

अमरावतीक
चकवे और जलकाकोंसे (बतखों)से भरे रहते थे। इनमें देवताओं द्वारा सम्मानित देवाङ्गनाएँ जल-क्रीड़ा करती थीं॥१३॥

आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया।
प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च॥ १४॥

यह पुरी आकाश-गङ्गा (मन्दाकिनी) स्वरूप खाई द्वारा चारों ओरसे घिरी हुई है। इसक
उँची चहारदीवारी बनी हुई हैं और इसक
निर्मित हैं॥१४॥

रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम्॥ १५॥

इसी प्रकार घरोंक
स्फटिक मणियों द्वारा रचित हैं। राजमार्गोंका बड़े सुन्दर ढंगसे विभाजन किया गया है। स्वयं विश्वकर्माक

सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यार्बुदैर्युताम्।
शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥ १६॥

अमरावती नगरीक
समृद्धिशाली हैं। इसमें दस करोड़ विमान सदैव विराजमान रहते हैं। यहाँ मणियोंक

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः।
भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः॥ १७॥

यहाँकी स्त्रियोंका तारुण्य एवं सौन्दर्य सदैव स्थिर रहता है। वे सदैव निर्मल वस्त्र धारण करती हैं। श्यामा स्त्रियोंक
अङ्ग शीतकालमें उष्ण एवं ग्रीष्मकालमें सुशीतल रहते हैं) गुणोंसे सम्पन्न ये नारियाँ वहाँ इस प्रकार शोभायमान होती हैं जैसे ज्वालाओंसे अग्नि॥१७॥

सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् ।
यत्रामोदमुपादाय मार्गं आवाति मारुतः॥ १८॥

इन सुर-रमणियोंक
सुगन्धको लेकर वायु वहाँक
रहता है॥१८॥

हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्न-मार्गे यान्ति सुरप्रियाः॥ १९॥

सुनहले झरोखोंसे अगुरुकी सुगन्धसे युक्त श्वेत वर्णक
पुरीक
जाती हैं॥१९॥

मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-
र्नानापताकावलभीभिरावृताम्।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां
वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम्॥ २०॥

यहाँ स्थान-स्थानपर मोतियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित चँदोवे शोभायमान हैं, मणियों और सोनेकी ध्वजाएँ फहरती रहती हैं। अट्टालिकाओंक ृत रहते हैं। यह नगरी यत्र-तत्र-सर्वत्र कोयल, मोर, कबूतर और भ्रमरोंक कलगानसे मुखरित रहती है। विमानपर विचरण करनेवाली देवाङ्गनाओंका सुमधुर गान कानोंको आनन्द प्रदान करनेवाला है। उनक

मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः
सतालवीणामुरजेष्टवेणुभिः ।
नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकै-
र्मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम्॥ २१॥

परीक्षित्! अमरावतीमें मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल, नगारे, स्वर एवं तालसे युक्त वीणा आदि वाद्ययन्त्र, मुरज, वंशी, मँजीरे और ऋष्टियाँ बजती रहती हैं। गन्धर्वोंका गान अतिशय मनोहारी होता है, जिसपर अप्सराएँ नृत्य करती रहती हैं। अमरावती नगरी इतनी दीप्तिमयी है कि इसने अपनी शोभासे कान्तिकी अधिष्ठात्री प्रभादेवीको भी पराभूत कर दिया है॥२१॥

यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः।
मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत्॥ २२॥

इस नगरीमें पापी, दुष्टात्मा, प्राणी-हिंसक (जीव-द्रोही) शठ, घमण्डी, कामी और लोभी व्यक्तियोंका प्रवेश नहीं हो सकता। जो इन दोषोंसे रहित हैं, वे ही वहाँ जाते हैं॥२२॥

तां देवधानीं स वरूथिनीपति-
र्बहिः समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
दध्मौ प्रयुञ्जन् भयमिन्द्रयोषिताम्॥ २३॥

महाराज बलिकी अध्यक्षतामें बहुत बड़ी सेनाने बाहरकी ओर चारों ओरसे इन्द्रपुरीको घेर लिया और इन्द्रकी पत्नियोंक
भय उत्पन्न करते हुए शुक्राचार्यक
स्वरसे बजाया॥२३॥

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम्।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह॥ २४॥

इन्द्रने देखा कि बलि बहुत बड़ी सेनाक
वे सभी देवताओंक
उनसे कहा— ॥२४॥

भगवन्नुद्यमो भूयान् बलेर्नः पूर्ववैरिणः।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत् तेजसोर्जितः॥ २५॥

हे भगवन्! हमारे पूर्व परिचित शत्रुने युद्धकी बड़ी भारी तैयारी की है। मैं सोचता हूँ कि हम उनका सामना नहीं कर पायेंगे। समझमें नहीं आ रहा है कि इस समय बलि किसक
इतना बलवान् हो गया है॥२५॥

नैनं कश्चित् कुतो वापि प्रतिवोढुमधीश्वरः।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः॥ २६॥

हे प्रभो! इस समय कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकारसे इसे रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बलि अपने मुखसे इस विश्वको पी जायेगा, जिह्वासे दसों दिशाओंको चाट लेगा और नेत्रोंकी ज्वालासे प्रलयाग्निक
दिक्मण्डलको भस्म कर डालेगा॥२६॥

ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः।
ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः॥ २७॥

क्या कारण है कि बलिकी शक्ति, साहस, बल और तेज इतने प्रभावपूर्ण हो गये हैं कि उससे इतनी बड़ी तैयारीक
हमारे ऊपर चढ़ाई कर दी है। उसकी इन्द्रियोंमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आ गया? उसका तेज इतना दुःसह क
यह सब मुझे बतलाइए॥२७॥

श्रीगुरुरुवाच—

जानामि मघवन् शत्रोरुन्नतेरस्य कारणम्।
शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इन्द्रक
बृहस्पतिने कहा—हे इन्द्र! मैं तुम्हारे शत्रुकी उन्नतिका कारण जानता हूँ। ब्रह्मज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंने अपने शिष्य बलिको ऐसा अद्वितीय तेज प्रदान किया है॥२८॥

ओजस्विनं बलिं जेतुं न समर्थोऽस्ति कश्चन।
भवद्विधो भवान् वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्।
विजेष्यति न कोऽप्यनं ब्रह्मतेजःसमेधितम्।
नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः॥ २९॥

इस परमशक्तिशाली बलिको न तो तुम और न ही तुम्हारे जैसा कोई जीतनेमें समर्थ हो सकता है। भगवान् श्रीहरिक
किसीमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह उसे जीत सक
इस समय वह ब्रह्मतेजसे प्रदीप्त हो रहा है। जिस तरह यमराजक
समक्ष कोई ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार बलिक
टिक नहीं सकता॥२९॥

तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्।
यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः॥ ३०॥

इसलिए समयोचित परामर्श यही है कि जबतक शत्रुओंका पराभव नहीं होता अथवा उनका भाग्य उनक
जाता, तबतक तुमलोग समयकी प्रतीक्षा करो। इस स्वर्गपुरीको छोड़ दो और अदृश्यरूपसे कहीं छिप जाओ॥३०॥

एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः।
तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति॥ ३१॥

इन्द्र! इस समय तो ब्राह्मणोंक
हो रहा है और वह प्रबल पराक्रमशाली हो गया है। जब यह उन्हीं ब्राह्मणोंका तिरस्कार करेगा, तब स्वयं ही अपने परिजनोंक
साथ नष्ट हो जाएगा॥३१॥

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः॥ ३२॥

बृहस्पति तत्त्वक
परामर्श दिया, तब देवताओंने अपनी-अपनी इच्छानुसार रूप धारण किये और स्वर्गको छोड़कर कहीं और जाकर छिप गये॥३२॥

देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम्।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम्॥ ३३॥

देवताओंक
अपना अधिकार जमा लिया और तीनों भुवनोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया॥ ३३॥

तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन्॥ ३४॥

जब महाराज बलिने तीनों लोक जीत लिये, तब शिष्यवत्सल भृगुवंशी ब्राह्मणोंने अपने अनुगत शिष्यक
निमित्त सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये॥ ३४॥

ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम्।
कीर्त्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव॥ ३५॥

इसक
भी बाहर सभी दिशाओंमें फैल गयी। वे नक्षत्रराज चन्द्रमाक
सुशोभित होने लगे॥ ३५॥

बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्भिताम्।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिविजयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

ब्राह्मणोंक
और राजसम्पद्का भोग करने लगे। इस प्रकार वे परम सन्तुष्ट होकर अपनेको बड़ा कृतकृत्य मानने लगे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

कश्यप-अदिति संवाद और कश्यपक
अदितिको पयोव्रतका उपदेश

श्रीशुक उवाच—

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जब इन्द्र आदि देवता कहीं जाकर छिप गये और दैत्योंने स्वर्गपर अधिकार कर लिया, तब देवमाता अदिति इस तरह रोने-विलपने लगीं, मानो वे अनाथ हो गयी हों॥१॥

एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात्।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात्॥ २॥

एक बार बहुत दिनों बाद जब परमपूज्य कश्यप समाधिसे उठे, तब वे अदितिक
न तो कोई उत्सव, न ही कोई साज-सजावट है, न ही कोई उल्लास अथवा आनन्द है॥२॥

स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह॥ ३॥

हे क
बाद जब कश्यपने आसन ग्रहण कर लिया, तब म्लानमुखी एवं उदासमना अपनी पत्नी अदितिसे वे इस प्रकार कहने लगे—॥३॥

अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनागतम्।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्त्तिनः॥ ४॥

हे भद्रे! इस जगत्में धर्मका कहीं लोप तो नहीं हो गया है? ब्राह्मणोंपर कोई विपद् तो नहीं आयी है? कालक
मनुष्योंका कहीं अमङ्गल तो नहीं हुआ है?॥४॥

अपि वाकुशलं किञ्चिद् गृहेषु गृहमेधिनि।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम्॥ ५॥

हे गृहमेधिनी! (गृहस्थ-जीवनमें अनुरक्तिनी!) गृहस्थाश्रममें तो योगहीनोंको भी अपने धर्मक
उसमें रहते हुए तुम्हारे धर्म, अर्थ, और काम—इन तीनोंक
कोई त्रुटि तो नहीं रह गयी है?॥५॥

अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया।
गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित्॥ ६॥

कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि तुम क
पोषणमें अत्यधिक आसक्त हो गयी हो और घरमें आया हुआ अतिथि तुम्हारी अगवानी आदि द्वारा सत्कार पाये बिना ही लौट गया हो?॥६॥

गृहेषु येश्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः॥ ७॥

जिन घरोंमें अतिथि क
प्राप्त किये बिना लौट जाता है, वह घर अवश्य ही सियारका निवास-स्थान बन जाता है॥७॥

अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित्॥ ८॥

हे सती! हे शुभे! ऐसा तो नहीं कि मेरे दूसरी जगह चले पानेपर तुम्हारा चित्त उद्विग्न हो गया हो और तुमने ठीक समयपर अग्नियोंमें घीकी आहुति न डाली हो॥८॥

यत्पूजया कामदुघान् याति लोकान् गृहान्वितः।
ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम्॥ ९॥

अग्नि एवं ब्राह्मण नियमितरूपसे सर्वदेवतात्मा भगवान्
विष्णुक
उच्च लोकोंको प्राप्त होते हैं, जो सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं॥९॥

अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि।
लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम्॥१०॥

हे मनस्विनि! तुम्हारे सारे पुत्र क
म्लान मुखको देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारा चित्त अस्वस्थ है॥१०॥

श्रीअदितिरुवाच—

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन् धर्मस्यास्य जनस्य च।
त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे॥११॥

अदितिने कहा—हे परमपूज्य! ब्राह्मण, गौ, धर्म तथा अन्य
लोग क
और काम—इन तीनोंका उद्भव स्थान एवं परम सहायक है (यहाँ ये सब भी यथोचित रूपसे विद्यमान हैं।)॥११॥

अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः।
सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति॥१२॥

हे भगवन्! मैने अतिथि, सेवक, याचक और भिक्षुक सभीका भलीभाँति सत्कार किया है। मैं निरन्तर आपका ध्यान-चिन्तन करती रही, इससे धर्मकी हानिकी कोई सम्भावना ही नहीं है॥१२॥

को नु मे भगवन् कामो न सम्पद्येत मानसः।
यस्या भवान् प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान् प्रभाषते॥१३॥

हे स्वामिन्! जब आप जैसे प्रजापति मुझे इस प्रकारसे धर्म-पालनका उपदेश करते हैं, तब भला मेरी कौन-सी ऐसी मनोकामना है, जो अपूर्ण रह जाय?॥१३॥

तवैव मारीच मनःशरीरजाः
प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः।
समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो
तथापि भक्तं भजते महेश्वरः॥ १४॥

हे मरीचि–पुत्र! सत्त्व, रज और तमो गुणोंसे युक्त सभी सुर–असुर आपकी ही सन्तान हैं—क
हैं और क
समान भाव रखते हैं। भगवान् जिस प्रकार सर्वत्र समदर्शी होनेपर भी भक्तोंक
अपने भक्तिमान् पुत्र इन्द्रकी रक्षा करें॥१४॥

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत।
हृतश्रियो हृतस्थानान् सपत्नैः पाहि नः प्रभो॥ १५॥

हे प्रभो! मैं आपकी शरणागता हूँ। आप मेरे हितक
विचार कीजिये। हे सुव्रत! शत्रु दैत्योंने हमारे पुत्रोंका धन, सम्पत्ति एवं राज्य—सब क

परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे।
ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम॥ १६॥

प्रबल शत्रुओंने हमारा ऐश्वर्य, श्री, यश एवं स्थान–सभी क
हर लिया है। उन्होंने हमें घरसे बाहर निकाल दिया है। यह देवमाता दानवोंसे अपमानित होकर दुःखक
रही है॥१६॥

यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम॥ १७॥

हे मङ्गलकृत्तम! आप तो कल्याण करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। हे साधो! आप सोच विचार करक
उपाय बतलाइए, जिससे हमारे पुत्रोंको उनका अपहृत ऐश्वर्य पुनः प्राप्त हो जाय॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव।
अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब अदितिने कश्यपसे प्रार्थना की, तब वे क
भगवान् विष्णुकी मायाकी मोहिनी शक्ति कितनी प्रबल है! इसीक कारण यह सारा जगत् ममता-बन्धनमें आबद्ध है॥१८॥

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥ १९॥

अहो! कहाँ तो यह पञ्चभूतोंसे बना हुआ अनात्म शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे यह आत्मा! कौन किसका पति और कौन किसका पुत्र। मोह ही समस्त स्नेह-बन्धनका कारण है॥१९॥

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम्।
सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम्॥ २०॥

हे भद्रे! समस्त प्राणियोंक
दुःख हरनेवाले, शत्रुओंका दमन करनेवाले विश्वक
वासुदेवकी आराधना करो॥२०॥

स विधास्यति ते कामान् हरिर्दीनानुकम्पनः।
अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम॥ २१॥

श्रीहरि दीनवत्सल हैं। वे तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। भगवद्-भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती, इसक
विधियाँ व्यर्थ हैं—यह मेरी सुदृढ़ धारणा है॥२१॥

श्रीअदितिरुवाच—

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम्।
यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात् स मनोरथम्॥ २२॥

अदितिने कहा—हे भगवन्! मुझे बतलाइये कि मैं किस विधिक अनुसार सम्पूर्ण विश्वक
सत्यसङ्कल्प श्रीहरि मेरा मनोरथ पूर्ण करें॥२२॥

आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम्।
आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः॥ २३॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मैं अपने पुत्रोंक
हूँ। आप मुझे आराधनाकी वह विधि बतलाइए, जिससे भगवान् विष्णु मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जायें॥२३॥

श्रीकश्यप उवाच—

एतन्मे भगवान् पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः।
यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम्॥ २४॥

कश्यपजीने कहा—देवि! जब मुझे सन्तानकी कामना थी, तब मैंने पद्मयोनि ब्रह्माजीसे इसी विषयमें जिज्ञासा की थी। उन्होंने मुझे भगवान् क
था, वही मैं तुम्हें बतलाता हूँ॥२४॥

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतम्।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः॥ २५॥

(व्रतपालनकारी) फाल्गुन मासक
(प्रतिपदासे लेकर द्वादशी तक) दूध पीकर रहे और परम भक्तिक साथ कमललोचन भगवान् श्रीविष्णुका अर्चन करे॥२५॥

सिनीवाल्यां मृदालिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया।
यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्॥ २६॥

यदि सूअर द्वारा खोदी हुई मिट्टी मिल जाय तो अमावस्याक दिन उसको शरीरपर मल ले। इसक
समय इस मन्त्रका जप करे॥२६॥

त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥ २७॥

हे पृथ्वी देवि! प्राणियोंको स्थान देनेकी इच्छासे आदि वराह भगवान्ने आपका रसातलसे उद्धार किया था। आप मेरे समस्त पापोंको नष्ट कर डालिए। आपको मेरा नमस्कार है॥२७॥

निर्वर्त्तितात्मनियमो देवमर्चेत् समाहितः।
अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि॥ २८॥

इसक

चित्तक

वेदी (यज्ञक

रूपमें भगवान्की पूजा करे तथा उनकी इस प्रकार स्तुति करे॥२८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे॥ २९॥

हे भगवन्! हे महानतम! हे समस्त प्राणियोंक

हे सर्वसाक्षीस्वरूप! हे परम पुरुष! हे वासुदेव! आपको मेरा नमस्कार है॥२९॥

नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसङ्ख्यानहेतवे॥ ३०॥

हे ईश! आप अव्यक्त, सूक्ष्म एवं प्रधान पुरुष हैं। हे परम पुरुष! आप वैशेषिक-शास्त्रोक्त चौबीस गुणोंक

तथा गुणोंकी संख्या करनेवाले सांख्ययोगक

नमस्कार है॥३०॥

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥ ३१॥

आप यज्ञस्वरूप हैं—प्रायणीय और उदयनीय (यज्ञक

और समाप्तकालीन कर्म) आपक

सायं—ये तीनों यज्ञकालीनसवन (स्नान) तीन पाद हैं, चारों वेद चार सींग हैं, गायत्री आदि सात छन्द सात हाथ हैं, मन्त्र ब्राह्मण और कल्प (उपासना, कर्म और ज्ञानकाण्डात्मक) तीन प्रकारक

शास्त्र आपका वर्णन करते हैं—ऋग्वेदक
यजुर्वेदक
किया जाता है। आप इस त्रयीविद्याक
यज्ञरूप हैं और आप ही यज्ञोंक
आपको मेरा नमस्कार है॥३१॥

नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः॥ ३२॥

आप ही लोककल्याणकारी शिवरूप और प्रलयकारी रुद्ररूप हैं। आप समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले, समस्त विद्याओंक
नमस्कार है॥३२॥

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे॥ ३३॥

हे हिरण्यगर्भ! आप इस जगत्क
जगत्क
हैं। हे सकल योगोंक

नमस्ते आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः॥ ३४॥

हे आदिदेव! आप सबक
है। आप ही नारायण ऋषि, नर और हरि (दुःखहरणकारी) हैं। आपको मेरा नमस्कार है॥३४॥

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे॥ ३५॥

हे पीताम्बरधारी भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपका शरीर मरकतमणिक
सम्पद् एवं सौन्दर्यकी देवी श्रीलक्ष्मीजी आपकी सेविका हैं। मेरा आपको नमस्कार है॥३५॥

त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते॥ ३६॥

हे वरेण्य! आप परम पूज्य हैं। हे वरदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ! आप समस्त प्राणियोंक
कि धीर विवेकी पुरुष अपने कल्याणक
सेवन करते हैं॥३६॥

अन्ववर्त्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान् मे प्रसीदताम्॥ ३७॥

सारे देवता और स्वयं लक्ष्मीजी जिनक
प्राप्त करनेकी इच्छासे निरन्तर सेवामें लीन रहती हैं—वे भगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों॥३७॥

एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् ।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः॥ ३८॥

इस प्रकार मन्त्रोंक करे
और परम श्रद्धाक
अर्चन-पूजन करे॥३८॥

अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नापयेद्विभुम्।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ३९॥

गन्ध, माल्य आदि अर्पण करक
दूधसे स्नान कराये। इसक
आदि एवं धूप, दीप, गन्ध, माल्य आदि अर्पण करक
उनकी पुनः पूजा करे। सम्पूर्ण अर्चनक
वासुदेवाय' इस प्रकार द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करे॥३९॥

शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति।
ससर्पिः सगुडं दत्वा जुहुयान्मूलविद्यया॥ ४०॥

यदि सामर्थ्य रहे तो दूधमें पकाये हुए तथा घी और गुड़ मिले हुए शालि-चावलका नैवेद्य निवेदन करे और मूलमन्त्रक द्वारा अग्निमें आहुति प्रदान करे॥४०॥

निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम्।
दत्त्वाचमनमर्चित्वा ताम्बूलञ्च निवेदयेत्॥ ४१॥

इस नैवेद्यको वैष्णव भक्तोंको प्रदान करे अथवा स्वयं ग्रहण कर ले। इसक
निवेदन करे॥४१॥

जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम्।
कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्दण्डवन्मुदा॥ ४२॥

तत्पश्चात् एक सौ आठ बार मूलमन्त्रका जप करे और स्तुतियोंक
बाद प्रदक्षिणा करक
प्रणाम करे॥४२॥

कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत् ततः।
द्व्यवरान् भोजयेद्विप्रान् पायसेन यथोचितम्॥ ४३॥

अब निर्माल्य मस्तकपर धारण करक
कम-से-कम दो ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये। (देवता-विसर्जनसे तात्पर्य यह नहीं है कि स्मार्तोंका अनुसरण किया जाय। जल आदिमें जो विष्णु-मूर्त्तिका पूजन है—उसकी समाप्ति ही विसर्जन है, विष्णुक

भुञ्जीत तैरनुज्ञातः सेष्टः शेषं सभाजितैः।
ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि॥ ४४॥
स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः।
पयसा स्नापयित्वार्चेद् यावद्व्रतसमापनम्॥ ४५॥

ब्राह्मणोंक
हुए भोजनको इष्ट बन्धुओंको प्रदान करें और बादमं स्वयं ग्रहण

करे। उस रात्रिमें ब्रह्मचर्यसे रहे और प्रभात होनेपर पूर्वाह्णमें ही स्नान आदि करक
विधिक
जबतक व्रत समाप्त न हो तबतक पहले बतलायी हुई विधियोंक अनुसार प्रतिदिन भगवान्‌की पूजा करे॥४४-४५॥

पयोभक्ष्यो व्रतमिदं चरेद्विष्णवर्चनादृतः।
पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत्॥ ४६॥

श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करे और आहार रूपमें क
हुए पूर्ववत् प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिए और ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए॥४६॥

एवं त्वहरहः कुर्याद्द्वादशाहं पयोव्रतम्।
हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम्॥ ४७॥

इस प्रकार बारह दिनोंतक पयोव्रती रहकर प्रतिदिन भगवान् श्रीहरिकी पूजा आराधना करे, हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन करावे॥४७॥

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशीम्।
ब्रह्मचर्यमधः स्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत्॥ ४८॥

फाल्गुन-शुक्ल प्रतिपदासे लेकर शुक्ल त्रयोदशी तक ब्रह्मचर्यसे रहे, भूमि पर शयन करे और त्रिसन्ध्या स्नान करे। इस प्रकार नियमपूर्वक पयोव्रतका पालन किया जाय॥४८॥

वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः॥ ४९॥

झूठ न बोले, न पापियोंसे बात करे और न पापकी बात करे। सारे विषय भोगोंका त्याग कर दे। किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाये, निर्मत्सर रहे और भगवान् वासुदेवका भजन करे॥४९॥

त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः।
कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः॥५०॥

त्रयोदशीक
भगवान् विष्णुको पञ्चामृतसे स्नान कराये॥५०॥

पूजाञ्च महतीं कुर्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः।
चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे॥५१॥

सूक्तेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः।
नैवेद्यं चातिगुणवद्दद्यात् पुरुषतुष्टिदम्॥५२॥

धनकी क
एवं महती पूजा करे, यज्ञभोक्ता विष्णुक
और घीकी आहुति (हव्य) प्रस्तुत करे और पूर्ण मनोयोगक
पुरुषसूक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए भगवान्‌की आराधना करे। इसक
युक्त नैवेद्य समर्पण करे॥५१-५२॥

आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः।
तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः॥५३॥

तत्पश्चात् ज्ञानसम्पन्न आचार्य (वैदिक साहित्यमें पारङ्गत) और होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्म—इन चारों ऋत्विकोंको वस्त्र, आभूषण एवं गायें प्रदान करक
विष्णुकी आराधना समझना चाहिए॥५३॥

भोजयेत् तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते।
अन्यांश्च ब्राह्मणान् शक्त्या ये च तत्र समागताः॥५४॥

हे देवी! हे शुचिस्मिते! आचार्य, ऋत्विजोंको और उस स्थानपर आये हुए अन्य प्राणियोंको अपनी सामर्थ्यानुसार शुद्ध, सात्त्विक, रस एवं गुण युक्त भोजन करावे॥५४॥

दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः।
अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत् समुपागतान्॥५५॥

गुरु एवं ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा देनी चाहिए और वहाँपर आये हुए चण्डाल आदि सभीको अन्न आदिका प्रसाद वितरित करक

भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणादिषु।
विष्णोस्तत् प्रीणनं विद्वान् भुञ्जीत सह बन्धुभिः॥ ५६॥

दीन, अन्ध, कृपण आदि सभीको भोजन करा देनेसे सर्वात्मा विष्णु प्रसन्न होते हैं—इस प्रकारसे अनुभव करते हुए अपने इष्ट-मित्रोंक

नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः।
कारयेत् तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम्॥ ५७॥

प्रतिदिन (प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशी तक) नृत्य, गीत, वाद्य, स्तुति, स्वस्तिवाचन और भगवान्‌की कथाओंका गान करते हुए भगवान्‌का अर्चन करे॥५७॥

एतत् पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम्।
पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम्॥ ५८॥

प्रिये! यह पयोव्रत नामका प्रसिद्ध व्रत परम पुरुष श्रीहरिकी आराधना है। इसे पितामह ब्रह्माजीने मुसे जिस प्रकार बतलाया था, उसी प्रकार विस्तारक

त्वञ्चानेन महाभागे सम्यक् चीर्णेन केशवम्।
आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम्॥ ५९॥

हे प्रिये! हे सौभाग्यशालिनि! अपने चित्तको स्थिर करो और शुद्ध अन्तःकरणक

अविनाशी भगवान् श्रीक

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम्।
तपःसारमिदं भद्रे दानञ्चेश्वरतर्पणम्॥ ६०॥

कल्याणी! इस यज्ञको सर्वयज्ञ भी कहते हैं अर्थात् मात्र इस यज्ञको करनेसे समस्त यज्ञोंका स्वतः ही अनुष्ठान हो जाता है।

इस 'सर्वव्रत'को करनेसे समस्त व्रतोंक
है। यह सभी तपस्याओंका सार है, सभी प्रकारक
और यह ईश्वरका तर्पण भी है॥६०॥

त एव नियमाः साक्षात् त एव च यमोत्तमाः।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः॥६१॥

जिसक
है, वही उत्तम तपस्या है, वही उत्तम दान है, वही उत्तम व्रत है और वही उत्तम यज्ञ है। उनकी प्रसन्नताक
विफल है॥६१॥

तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर।
भगवान् परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति॥६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीकश्यपादितिसंवादे पयोव्रतकथनं नाम षोडशोऽध्यायः।

अतः हे देवि! तुम अत्यन्त श्रद्धाक
करते हुए इस व्रतका अनुष्ठान करो। इससे परम पुरुष भगवान् तुमपर प्रसन्न होंगे और तुम्हारे मनोरथोंको सफल करेंगे॥६२॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

भगवान् वामनदेवका प्रकट होकर अदितिको वर देना

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्ता सादिती राजन् स्वभर्त्रा कश्यपेन वै।
अन्वतिष्ठद्व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अपने पति कश्यपसे उपदेश प्राप्त करक
व्रतका अनुष्ठान किया॥१॥

चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिम्॥ २॥

मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम्॥ ३॥

अदिति बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मनकी लगाम–द्वारा इन्द्रिय रूप दुष्ट घोड़ोंको वशीभूत करक
ध्यान करती रही। तदनन्तर अखिलात्मा भगवान् वासुदेवमें मनको स्थिर करक
पूर्ण किया॥२–३॥

तस्याः प्रादुरभूत् तात भगवानादिपुरुषः।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः॥ ४॥

हे वत्स! व्रतानुष्ठानमें लगी हुई अदितिक
चतुर्भुजधारी, आदिपुरुष भगवान् आविर्भूत हुए। उनक
चक्र और गदा आदि विराजमान थे॥४॥

तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम्।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत् प्रीतिविह्वला॥ ५॥

जैसे ही अदितिने भगवान्‌को अपनी आँखोंक
रूपसे देखा तो वह आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसने बड़े आदरक
साथ धरतीपर लेटकर भगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम किया॥५॥

सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥

अदिति भगवान्‌की स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो पाई। वह
हाथ जोड़कर मौन खड़ी रही, आँखोंमें प्रेमक
सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। भगवान्‌क
डूबनेक

प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्॥ ७॥

हे क
ऐसे देखने लगी, मानो उन्हें अपनी आँखोंसे पी रही हो। तदनन्तर
बड़े प्रेम और आनन्दक
श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करने लगी॥७॥

श्रीअदितिरुवाच—

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः॥ ८॥

अदितिने कहा—हे यज्ञेश्वर! हे यज्ञपुरुष! हे अच्युत! हे
पूर्णकीर्त्ति! हे श्रवण-मङ्गल नामधारिन्! आप आदिपुरुष हैं। हे
भगवन्! हे ईश! हे तीर्थपाद! (आपक

हुआ है।) आप सभी विपद्ग्रस्त जनोंक
कष्ट हर लेनेक
कल्याण कीजिये॥८॥

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते॥ ९॥

हे प्रभो! आप सर्वव्यापक विश्वरूप हैं। इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयक
स्वीकार करते हैं, तब भी अपने स्वरूपसे कभी पृथक् नहीं होते। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्णज्ञानक
मायाको पार कर लेता है। हे भगवन्! हे श्रीहरि! आपको मेरा नमस्कार है॥९॥

आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
द्योभूरसाः सकल-योगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानञ्च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः॥ १०॥

हे अनन्तदेव! आप जब सन्तुष्ट हो जाते हैं—तब मनुष्योंको ब्रह्माजीक
और पातालका आधिपत्य, अतुल्य धन-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग, क
सुलभ हो जाती हैं, तो शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि छोटी-छोटी कामनाओंक

श्रीशुक उवाच—

अदित्यैवं स्तुतो राजन् भगवान् पुष्करेक्षणः।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! हे भारत! अदितिक
इस प्रकार स्तुति करनेपर समस्त प्राणियोंक
कमललोचन श्रीहरि इस प्रकार कहने लगे॥११॥

श्रीभगवानुवाच—

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम्।
यत् सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः॥ १२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवमाता! शत्रुओंने तुम्हारी सम्पत्तिको छीन लिया है और तुम्हें स्थानसे निर्वासित कर दिया है। पुत्रोंक
ज्ञात है॥१२॥

तान् विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान्।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम्॥ १३॥

हे देवि! तुम्हारी इच्छा है कि युद्धमें बड़े-बड़े उन्मत्त असुरोंको जीतकर तुम्हारे पुत्र विजयश्री प्राप्त करें और तुम उनक
एक ही स्थानपर रहकर मेरी उपासना कर सको॥१३॥

इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम्।
स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः॥ १४॥

तुम चाहती हो कि ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र आदिक
सभी पुत्र समरक्षेत्रमें शत्रुओंको मार डालें, जिससे उनकी पत्नियाँ अपने-अपने पतियोंकी मृत्युपर अत्यधिक दुःखी होकर क्रन्दन विलाप करें और तुम उन्हें ऐसा करते हुए देख सको॥१४॥

आत्मजान् सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि॥ १५॥

तुम्हारी अभिलाषा है कि तुम्हारे पुत्रोंक
हो गये हैं, वे सब उन्हें पुनः प्राप्त हो जाएँ और तुम अपने सुसमृद्ध पुत्रोंको स्वर्गलोकमें विहार करते देख सको॥१५॥

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
अपारणीया इति देवि मे मतिः।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति॥ १६॥

हे देवि! मेरा विचार यह है कि इस समय असुर सेनापतिको जीता नहीं जा सकता क्योंकि ईश्वर उनक
ब्राह्मणोंक
सुख नहीं मिल सकता॥१६॥

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्॥ १७॥

हे देवि! फिर भी मैं तुम्हारे व्रतक
हूँ। अतः तुम्हारे सम्बन्धमें मुझे कोई-न-कोई एक उपाय अवश्य ही सोचना पड़ेगा। मेरी अर्चना कभी विफल नहीं होती। श्रद्धाक अनुसार फलकी प्राप्ति अवश्य ही होती है॥१७॥

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः॥ १८॥

तुमने अपनी सन्तानक
किया है और मेरी पूजा एवं स्तुति भलीभाँति की है। अतएव मैं कश्यपजीकी तपस्यामें अधिष्ठित होकर उनक
जाऊँगा और स्वांशसे तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे सभी पुत्रोंकी रक्षा करूँगा॥१८॥

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम्।
माञ्च भावयती पत्यावेवं रूपमवस्थितम्॥ १९॥

मैं तुम्हारे पति कश्यपजीक
मेरा चिन्तन करते हुए तपस्याक
अपने पतिकी सेवा करो॥१९॥

नैतत् परस्मै आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्॥२०॥

हे देवि! किसीक
मत कहना। देवताओंका विषय परम गोपनीय होता है। जितना गुप्त रहता है, उतना ही फलदायक होता है॥२०॥

श्रीशुक उवाच—

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।
अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः।
उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत्॥२१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। अदिति भगवान्से दुर्लभ वरदान प्राप्त करक
वे उसक
अनुभव करने लगी। उसने अति श्रद्धा एवं भक्तिक
पति कश्यपकी सेवा की॥२१॥

स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत।
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः॥२२॥

कश्यपका ज्ञान अचूक था। उन्होंने समाधि-योगसे यह जान लिया कि भगवान्का अंश उनक

सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम्।
समाहितमना राजन् दारुण्यग्निं यथानिलः॥२३॥

हे राजन्! वायु जिस प्रकार घर्षणक
अग्निको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भगवान्में ऐकान्तिकरूपसे अभिनिविष्ट चित्तवाले कश्यपने अपने अन्दर धारण किये हुए भगवान्क

(प्रकाशित अग्नि जिस प्रकार वायु एवं काष्ठका अंश नहीं है, भगवान् भी उसी प्रकार कश्यप और अदितिक
नहीं हैं।)॥२३॥

अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम्।
हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः॥ २४॥

ब्रह्माको जब यह विदित हुआ कि भगवान् अदितिक
अधिष्ठित हो गये हैं, तब वे उनक
करते हुए उनकी स्तुति करने लगे॥२४॥

श्रीब्रह्मोवाच—

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः॥ २५॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप सभी मनुष्योंक
हैं और समस्त यशोंक
आपको नमस्कार है। हे ब्रह्मण्यदेव। हे त्रिगुणोंक
बारम्बार नमस्कार है॥२५॥

नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे॥ २६॥

जो पहले पृश्निक
वेदोंमें नित्य प्रकाशमान हैं और जिनमें सारे वेद निहित हैं, जो त्रिभुवनक
सृष्टिकर्त्ता हैं और जो समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट हैं, ऐसे सर्वव्यापक विष्णु! आपको मेरा नमस्कार है॥२६॥

त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्य-
मनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं
स्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम्॥ २७॥

हे प्रभो! आप इस त्रिभुवनक
हैं। चारों वेद आपका अनन्तशक्तिमान् पुरुषक
हैं। हे भगवन्! जैसे गहरा स्रोत अपने जलमें डूबे हुए तिनक
आदिको बहा ले जाता है, उसी प्रकार आप भी कालरूपसे इस
ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुको अपनी ओर खींच लेते हैं और इस
प्रकार संसारका धारा-प्रवाह चलता रहता है॥२७॥

त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीभगवदवतारो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

हे देव! आप इस स्थावर और जङ्गम तथा हम सभी प्रजा और
प्रजापतियोंको भी उत्पन्न करनेवाले मूल उत्पादक हैं। हे स्वामिन्!
जिस प्रकार जलमें डूबते हुए व्यक्तिक
सहारा होती है, उसी प्रकार आप स्वर्गसे च्युत देवताओंक
आश्रय हैं। आप उन्हें पुनः स्वर्गमें संस्थापित कर दीजिए॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

भगवान् वामनदेवका प्रकट होना और बलि-वामन संवाद

श्रीशुक उवाच—

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा-परीक्षित्! ब्रह्माने जब भगवान्की लीला एवं पराक्रमकी स्तुति की, तब अदितिक
मरणरहित भगवान् श्रीहरि प्रकट हुए। उनकी चार भुजाएँ थीं, जिनमें उन्होंने शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण कर रखे थे। कमल-पत्रक
परिधान पहन रखा था॥१॥

श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान्।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लसत्-
किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः ॥ २ ॥

उन परम पुरुषका कलेवर श्यामल था एवं चिन्मयत्वक कारण परम विशुद्ध था। मकराकृति क
मुख-कमलपर अपूर्व सौन्दर्य प्रकाशित हो रहा था। उनक वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, हाथोंमें क
किरीट, कमरमें करधनी, वक्षःस्थलपर जनेऊ और चरणोंमें नूपुर शोभायमान हो रहे थे॥२॥

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा
विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः॥ ३॥

भगवान् श्रीहरिक
श्रीवनमाला सुशोभित थी, जिसपर भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। उन्होंने कण्ठमें कौस्तुभमणि पहन रखी थी, जिसकी प्रभासे कश्यपजीक घरका सारा अन्धकार नष्ट हो गया था॥३॥

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः।
द्यौरन्तरीक्षं क्षितिरग्निजिह्वा
गावो द्विजाः सञ्जहृषुर्नगाश्च॥ ४॥

भगवानक
एवं सभी प्राणियोंक
सागरमें हिलोरें लेने लगी। विविध ऋतुएँ अपने-अपने गुणोंसे युक्त होकर अपनी शोभाश्रीका विस्तार करने लगीं। स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, देवता, गौ, ब्राह्मण और पर्वत सभी परमानन्दमें मग्न हो गये॥४॥

श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम्॥ ५॥

हे राजन्! भाद्रपद मासक
थी, चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर स्थित था, अभिजित मुहूर्त था—उसी शुभ लग्नमें भगवान् अवतीर्ण हुए। उस समय सभी ग्रह, नक्षत्र (सूर्यसे शनि तक) अनुक
भगवानक

द्वादश्यां सविताऽतिष्ठन्मध्यन्दिनगतो नृप।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः॥ ६॥

परीक्षित्! जिस द्वादशी तिथिमें भगवान् श्रीहरिका प्राकट्य हुआ, वह विजया-द्वादशीक
आकाशमें स्थित थे। इस बातको सब विद्वान् जानते हैं॥६॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत्॥७॥

शङ्ख, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पणव और नगारे आदि वाद्य-यन्त्र बजने लगे तथा विचित्र एवं विविध वाद्योंकी तुमुल ध्वनि उठने लगी। सर्वत्र कोलाहल छा गया॥७॥

प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन् गन्धर्वप्रवरा जगुः।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः॥८॥

अप्सराएँ आनन्दसे नाचने लगीं, गन्धर्व गान करने लगे तथा मुनि, देव, मनु, पितर और अग्नि स्तुति करने लगे॥८॥

सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः॥९॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः।
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन्॥१०॥

सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, श्रेष्ठ नागगण एवं देवताओंक
गुणगान किया, भूरि-भूरि प्रशंसा की और आनन्दक
किया। इन सभीने इतने पुष्प बरसाये कि अदितिका आश्रम पूरा ढक गया॥९-१०॥

दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता।
गृहीतदेहं निजयोगमायया
प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः॥११॥

अदितिने देखा कि योगमायाक
परम पुरुष उनक

और परमानन्दित हो गयीं। प्रजापति कश्यप भी उन्हें देखकर विस्मित हो गये और 'जय हो, जय हो' कहने लगे॥११॥

यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः
सन्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥१२॥

भगवान्का जो विग्रह आभूषणों और आयुधोंक
प्रकाशमान रहता है, उसी अव्यक्त, चित्स्वरूप, अदृश्य विग्रहको उन्होंने भौतिक जगत्में व्यक्त कर दिया। भगवान्ने अपने माता-पिता अदिति-कश्यपक
कर किया, जिस प्रकार नट अपना वेश बदल लेता है। भगवान् परम योगेश्वर हैं और उनकी लीलाएँ अति अद्भुत हैं॥१२॥

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम्॥१३॥

वामन भगवान्को ब्राह्मण क
प्रसन्न हो गये। उन्होंने कश्यपको आगे करक
आदि अनुष्ठान करवाये॥१३॥

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात्॥१४॥

जब भगवान् वामनका उपनयन-संस्कार होने लगा, तब सूर्यदेवने स्वयं उन्हें गायत्री मन्त्र प्रदान किया, बृहस्पतिने यज्ञोपवीत और कश्यपने मूँजकी मेखला भेंट की॥१४॥

ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः॥१५॥

पृथ्वीने कृष्णमृगका चर्म, वनस्पतियोंक
माता अदितिने कौपीनक
देवताने उन वामनरूपधारी जगत्पतिको छत्र प्रदान किया॥१५॥

कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान् सप्तर्षयो ददुः।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः॥ १६॥

हे महाराज! ब्रह्माने उन अव्यय महापुरुषको कमण्डलु, सप्तर्षियोंने
क

तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात्।
भिक्षां भगवती साक्षदुमादादम्बिका सती॥ १७॥

जब वामनदेवका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका, तब क
उन्हें भिक्षाका पात्र और साक्षात् भगवती, जगन्माता, परम साध्वी भवानी देवीने उन्हें भिक्षा प्रदान की॥१७॥

स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां सम्भावितो वटुः।
ब्रह्मर्षिगणसंजुष्टामत्यरोचत मारिषः॥ १८॥

सर्वपूजनीय वामनदेव सबसे सत्कार प्राप्त कर चुक
ब्रह्मर्षियोंसे युक्त उस सभामें अपने ब्रह्मतेजक
शोभायमान हुए॥१८॥

समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम्।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद्द्विजः॥ १९॥

इसक
अग्निको क
करक
हवन किया॥१९॥

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः।
जगाम तत्राखिलसारसम्भृतो
भारेण गां सन्नमयन् पदे पदे॥ २०॥

जब विवेक, धैर्य, पाण्डित्य आदि समस्त गुणोंसे परिपूर्ण वामनदेवने सुना कि भृगुवंशीय ब्राह्मणोंक
संरक्षणमें समृद्धिशाली यजमान बलि अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं

तब वामनदेव कृपा ऐश्वर्य आदिकी गरिमा प्रकट करनेक
महाराज बलिक
जाती थी॥२०॥

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षताराददुदितं यथा रविम्॥ २१॥

नर्मदा नदीक
सुन्दर क्षेत्र है। यहाँपर भृगुवंशीय पुरोहित ब्राह्मण महाराज बलिसे यज्ञ करा रहे थे। जैसे ही भगवान् वामन उनक
तो उनक
उदय हो रहा हो॥२१॥

ते ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः
सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः॥ २२॥

राजन्! उस समय भगवान् वामनक
बलि एवं सभासद्गण सभी निस्तेज हो गये और विचार-विमर्श करने लगे कि यज्ञोत्सवको देखनेकी इच्छासे स्वयं सूर्य अथवा अग्नि अथवा सनत्क

इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान् स वामनः।
छत्रं सदण्डं सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम्॥ २३॥

भृगुवंशीय ब्राह्मण अपने शिष्योंक
तक
छत्र एवं जलसे भरा कमण्डलु लेकर भगवान् वामनदेवने यज्ञक
मण्डपमें प्रवेश किया॥२३॥

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम्।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम्॥ २४॥
प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः।
प्रत्यगृह्णन् समुत्थाय सङ्क्षिप्तास्तस्य तेजसा॥ २५॥

उनक
उन्होंने उत्तरीयक
और सिरपर जटाजूट बँधा था। यज्ञ-मण्डपमें उपस्थित भृगुवंशी ब्राह्मण और शिष्योंने जब स्वरूपतः ब्रह्मचारी वामनरूप श्रीहरिको वहाँ प्रवेश करते हुए देखा, तो उनक
हो गये। वे पूर्णतः प्रभावित एवं अभिभूत होकर आसनसे उठ खड़े हुए और उनका यथोचित अभिनन्दन किया॥२४-२५॥

यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम्।
रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत्॥ २६॥

भगवान् वामनक
अङ्ग भी छोटे-छोटे, मनोरम और परम सुन्दर थे। दैत्यराज बलि उन्हें देखकर बड़े आनन्दित हुए और उन्हें आसन प्रदान किया॥२६॥

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः।
अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गमनोरमम्॥ २७॥

उसक
आनन्द प्रदान करनेवाले उन परम पुरुषका स्वागतवचनोंसे अभिनन्दन किया और चरण पखारे। इसक

तत्पादशौचं जनकल्मषापहं
स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम्।
यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
र्दधार मूर्द्ध्ना परया च भक्त्या॥ २८॥

देवाधिदेव चन्द्रमौलि महादेवने परम भक्तिक
चरणोदकको गङ्गाक

राजा बलिने भी उसी समस्तक
पाद-प्रक्षालन वारिको अपने सिरपर धारण किया॥२८॥

श्रीबलिरुवाच—

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन् किं करवाम ते।
ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वार्य वपुर्धरम्॥ २९॥

महाराज बलिने कहा—हे ब्रह्मन्! आप सुखपूर्वक तो आये हैं न? मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप बतलाइए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आप ब्रह्मर्षियोंकी तपस्याक

अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान्॥ ३०॥

आज आप मेरे घरपर पधारे हैं, इससे मेरा यह पितृगृह धन्य हुआ है और पितर भी तृप्त हुए हैं। आज मेरा वंश पवित्र हो गया और यह यज्ञानुष्ठान भी यथायथरूपसे सफल हो गया॥३०॥

अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः।
हतांहसो वार्भिरियञ्च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव॥ ३१॥

हे द्विजपुत्र! आपक
हो गये हैं और यह अग्नि भी यथाविधि प्रज्वलित हुई है, इसमें आहुति डालनेसे जो फल मिलता, वह भी मुझे प्राप्त हो गया है। आपक
गयी है॥३१॥

यद्यद्वटो वाञ्छसि तत् प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।
गां काञ्चनं गुणवद्धाम मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम्।

ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिवामनसंवादो नामाष्टादशोऽध्यायः।

हे विप्रनन्दन! मुझे लग रहा है कि आप क
अतः आप मुझसे जो क
गाय, सोना, यथेष्ट सामग्रियोंसे सुसज्जित घर, स्वादिष्ट अन्न-पान आदि, विवाहक
रथ—जो क

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीवामनदेवका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

इति वैरोचनेर्वाक्यधर्मयुक्तं ससूनृतम्।
निशम्य भगवान् प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा बलिक
पूर्ण, मनोरम और यथार्थ थे। इन्हें सुनकर भगवान् बड़े आनन्दित
हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः॥ २॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे राजन्! आपने जो इस प्रकारक
कहे, वे सत्य, धर्मभावसे परिपूर्ण, क
यशको बढ़ानेवाले हैं। लौकिक व्यवहारमें भृगुवंशक
ब्राह्मण आपको परामर्श देनेवाले हैं और पारलौकिक धर्ममें क
शान्त प्रकृति आपक

न ह्येतस्मिन् कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान्।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वाऽदाता द्विजातये॥ ३॥

मैं जानता हूँ कि आपक
नहीं जन्मा है, जो सङ्कीर्ण-मनवाला, धैर्यहीन अथवा कृपण हो।
ऐसा भी कोई नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मण-याचकको दान देनेसे
मना किया हो अथवा किसीको क
हो गया हो॥३॥

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः।
युष्मत्कुले यद्यशसामलेन
प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे॥ ४॥

महाराज! आपक
उत्पन्न नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मण याचकक
युद्धक्षेत्रमें किसी युद्धार्थी क्षत्रिय द्वारा युद्धक
उससे मुख मोड़ लिया हो। आपक
यशसे आज भी उसी प्रकार शोभायमान हो रहे हैं, जिस प्रकार
आकाशमें चन्द्रमा॥४॥

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम्।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः॥ ५॥

आपक
अक
पृथ्वीपर पर्यटन कर आया, परन्तु उसे अपने योग्य कोई योद्धा
नहीं मिला॥५॥

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम्।
आत्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन्॥ ६॥

पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहरूपधारी भगवान् विष्णुक
समक्ष जब वह हिरण्याक्ष आया, तो उन्होंने अत्यधिक कष्टक
उसे मारा। बादमें भगवान् जब-जब उसक
और बलका स्मरण करते हैं, तब-तब अपनेको सचमुच विजयी
नहीं मानते हैं॥६॥

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः॥ ७॥

जब हिरण्यकशिपुको हिरण्याक्षक
तब वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपने भाईक
डालनेक

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत्।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः॥ ८॥

विष्णु मायावियोंमें प्रधान हैं। जब उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपु
हाथोंमें त्रिशूल लेकर साक्षात् कालक
रहा है, तब समयोचित कार्य करनेमें क
सोचने लगे— ॥८॥

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः॥ ९॥

जिस प्रकार मृत्यु जीवोंक
मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, यह हिरण्यकशिपु उस-उस स्थानपर मेरा
अनुसरण करेगा। यह दैत्य बस बाह्य वस्तुएँ ही देखा करता है,
अतः मैं इसक
नहीं सक

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-
माधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-
स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः॥ १०॥

हे दैत्यराज! ऐसा निश्चय करक
झपटते हुए हिरण्यकशिपुको देखा तो अपने शरीरको अत्यन्त
सूक्ष्म बना लिया और भयसे काँपते हुए शत्रुकी नासिकाक
उसक

स तन्निकेतं परिमृश शून्य-
मपश्यमानः कुपितो ननाद।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान् समुद्रान्
विष्णुं विचिन्वन् न ददर्श वीरः॥ ११॥

उसक
स्थान तो खाली पड़ा है, तब वह उन्हें चारों ओर ढूँढ़ने लगा,

परन्तु उनका कहीं भी पता न चला। तब वह क्रोधसे भरकर गरजने लगा। उस वीरने पृथ्वी, स्वर्ग, दसों दिशाएँ, आकाश, पाताल और समुद्र—यत्र-तत्र सर्वत्र भगवान्‌को खोजा, परन्तु वे उसे कहीं भी न मिले॥११॥

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत्।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्त्तते पुमान्॥१२॥

भगवान् विष्णु जब हिरण्यकशिपुको कहीं दिखायी नहीं दिये, तब वह कहने लगा—मैंने सारा जगत् खोज लिया, किन्तु विष्णु कहीं दिखायी नहीं देता। विष्णु निश्चय ही उस स्थानपर पहुँच गया है, जहाँसे कोई लौटता नहीं है॥१२॥

वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः॥१३॥

हिरण्यकशिपुका विष्णुक
मृत्युक
है और अहंकारसे उसकी वृद्धि होती है। इस जगत्‌में अन्यान्य
देहात्माभिमानी मिथ्या अभिमानक
जिससे वीरत्व न रहने पर भी वे अपनेको वीर मान लेते हैं॥१३॥

पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् स याचितः॥१४॥

आपक
जानते थे कि उनक
करक
पिताने अपनी आयु उन्हें प्रदान कर दी॥१४॥

भवानाचरितान् धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः।
ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्त्तिभिः॥१५॥

आपने भी उसी धर्मका आचरण किया है, जिसका शुक्राचार्य
आदि ब्राह्मणोंने, आपक
अन्यान्य वीरोंने निर्वाह किया था॥१५॥

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम॥ १६॥

हे दैत्यराज! ऐसे क
अपने पैरोंसे मापकर मात्र तीन पग भूमिकी प्रार्थना करता हूँ॥१६॥

नान्यत् ते कामये राजन् वदान्याज्जगदीश्वरात्।
नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थप्रतिग्रहः॥ १७॥

हे राजन्! आपका चित्त अत्यन्त उदार है। आप बहुत-सा दान देनेमें समर्थ हैं, तथापि मैं आपसे क
विद्वान् व्यक्तिको जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिए, इससे वह पापका भागी नहीं होता॥१७॥

श्रीबलिरुवाच—

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा॥ १८॥

राजा बलिने कहा—हे ब्राह्मण क
समान आदरणीय हैं किन्तु तुम हो तो बालक ही। तुम्हारी बुद्धि बालकोंक
वस्तुतः क

मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्॥ १९॥

मैं तीनों लोकोंका एकमात्र अधिपति हूँ और सारा जम्बूद्वीप तुम्हें दान दे सकता हूँ। तुमने मुझे अपने वचनोंसे प्रसन्न किया है और माँग रहे हो मात्र तीन पग भूमि। इसीलिए कह रहा हूँ कि तुम बुद्धिमान् नहीं हो॥१९॥

न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे॥ २०॥

हे वटु! जो मुझसे क
दूसरेक

अतः तुम अपनी जीविकाक
माँग सकते हो॥२०॥

श्रीभगवानुवाच—

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप॥ २१॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! अजितेन्द्रिय पुरुषक
लोकोंक
उन द्रव्योंसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसकी कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं हो सकतीं॥२१॥

त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।
नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया॥ २२॥

तीन पग भूमिसे यदि मुझे सन्तोष नहीं हो सकता, तो नौ वर्षोंसे युक्त एक द्वीप भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकता। मुझे इससे बढ़कर सातों द्वीप प्राप्त करनेकी इच्छा होगी और मेरी कामनाएँ कभी पूर्ण न होंगी॥२२॥

सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैण्यगयादयः।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम्॥ २३॥

मैंने सुना है कि पृथु, गय आदि राजागण सातों द्वीपोंक अधिपति थे, परन्तु उनकी अर्थ और कामकी तृष्णाएँ कभी पूर्ण न हुईं। वे अतृप्त ही रहे॥२३॥

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्त्तते सुखम्।
नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः॥ २४॥

प्रारब्ध कर्मवश जो भी वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार सुखपूर्वक रहता है, अजितेन्द्रिय और असन्तुष्ट व्यक्ति तीनों लोकोंको प्राप्त करक
नहीं रह सकता॥२४॥

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः।
यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः॥ २५॥

धन और कामसे असन्तोष होना ही पुरुषक
कारण है और स्वतः प्राप्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट हो जाना मुक्तिका कारण है॥२५॥

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्द्धते।
तत् प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः॥ २६॥

यदृच्छाक्रमसे ब्राह्मणको जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उससे सन्तुष्ट रहनेवालेक
रहनेसे उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार जलसे अग्नि बुझ जाती है॥२६॥

तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्षभात।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत् प्रयोजनम्॥ २७॥

अतएव हे राजन्! दानियोंमें श्रेष्ठ आपसे मैं तीन पग भूमिकी ही प्रार्थना करता हूँ। मैं इसीसे कृतार्थ हो जाऊँगा। इस संसारमें सुखकी विधि यही है कि धनकी जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिये॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम्।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम्॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान्ने जब इस प्रकार कहा तब राजा बलि हँस पड़े और उनसे कहने लगे—बहुत अच्छी बात है, तुम्हारी जितनी इच्छा हो, उतनी ही ले लो। यह कहकर भगवान् वामनको तीन पग भूमि-दानका सङ्कल्प करनेक लिए उन्होंने जल-पात्र उठाया॥२८॥

विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम्।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः॥ २९॥

शुक्राचार्यको सब क
अच्छी प्रकारसे जानते थे, अतः उन्होंने भूमि-दानक
अपने शिष्य असुरपति बलिसे कहा॥२९॥

श्रीशुक्र उवाच—

एष वैरोचने साक्षाद्भगवान् विष्णुरव्ययः।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः॥ ३०॥

शुक्राचार्यजीने कहा—हे विरोचन-नन्दन! ये वटु अविनाशी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेक
ही ये कश्यपजीकी पत्नी अदितिक

प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः॥ ३१॥

तुम यह अनर्थ न जानकर ही इन्हें भूमि दान देनेकी प्रतिज्ञा कर बैठे हो। मैं इसे ठीक नहीं समझता। इससे तो दैत्योंका बहुत भारी अनिष्ट हो जाएगा॥३१॥

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः॥ ३२॥

ये साक्षात् श्रीहरि ब्रह्मचारीक
ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, श्री, तेज, यश और ज्ञान सब क
हरण कर लेंगे और इन्द्रको प्रदान कर देंगे॥३२॥

त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्त्तिष्यसे कथम्॥ ३३॥

सुनो, ये विराट् रूप धारण करक
अधिकार कर लेंगे। हे मूढ़! जब तुम सर्वस्व ही इन विष्णुको प्रदान कर दोगे, तो अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह किस प्रकार करोगे॥३३॥

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।
खञ्च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः॥ ३४॥

ये जिस समय एक पगसे सारी पृथ्वी और दूसरे पगसे स्वर्ग नाप लेंगे तथा अपने विश्वकायसे सम्पूर्ण अन्तरीक्षपर अधिकार कर लेंगे, तब तीसरा पग रखनेक

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान्॥ ३५॥

इस प्रकार तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेमें असमर्थ हो जाओगे। मैं सोचता हूँ कि इस प्रतिज्ञाको पूरी तरह पालन न करनेक कारण निश्चय ही तुम्हें नरक-वास करना पड़ेगा (अतः जागतिक भोगोंकी सिद्धिक

लिए मङ्गलजनक है।)॥३५॥

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥ ३६॥

शास्त्रज्ञ आचार्य ऐसे दानकी प्रशंसा नहीं करते, जिसक स्वयंकी जीविका भी विपत्तिमें पड़ जाय। इस जगत्में जिसकी जीविका ठीक-ठाक चल रही होती है, वही दान, यज्ञ, तपस्या आदि कार्योंको सम्यक् प्रकारसे कर सकता है॥३६॥

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥ ३७॥

अतः जो ज्ञानी है, उसे अपने धनको पाँच भागोंमें विभक्त कर देना चाहिए—धर्म, यश, अर्थ, भोग और स्वजनोंक

लिए। ऐसा करनेसे वह इहलोक और परलोकमें सुखका भागी बन सकता है॥३७॥

अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम।
सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत्॥ ३८॥

(यदि तुम कहो कि तुम पहले ही वचन दे चुक

वचन-भङ्ग क

बृह्वृच (ऋग्वेदकी) श्रुतियोंक

श्रुति कहती है—'ओम्' (हाँ) इस प्रकार किसीको क
बात स्वीकार की जाती है—वह वचन सत्य है और 'न' कहकर जो अस्वीकार किया जाता है, वह असत्य है॥३८॥

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते।
वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः॥ ३९॥

(सत्य भी ईषत् मिथ्याक
आशयसे कहते हैं—) सत्यको देहरूप इस वृक्षका फल-फूल जानो। यदि देहरूपी वृक्ष ही न रहे, तो उसमें फल-फ
सकते। मिथ्या (मुकर जाना, अपनी वस्तु दूसरेको न देना, अपना संग्रह बचाये रखना) ही देह-वृक्षका मूलस्वरूप है—श्रुतियोंने इसी प्रकार बतलाया है। सब प्रकारसे मिथ्याका अभाव होनेपर देह रहेगा भी नहीं अर्थात् जीवन ही धारण नहीं किया जा सकता। (तात्पर्य यह है कि देहरूपी वृक्ष जिससे जीवित रहे, वैसा प्रयत्न करना चाहिए। जीवन-रक्षाक
दोषावह नहीं होता। त्रिपाद भूमिका दान कर दिया है अतः बलि महाराजकी जीविकाका निर्वाह सम्भव नहीं होगा।) शरीर क भरण-पोषणकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये॥३९॥

तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्त्ततेऽचिरात्।
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः॥ ४०॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ उखड़ जाय तो वृक्ष शीघ्र ही सूखकर भूमिपर गिर पड़ेगा, उसी प्रकार मिथ्याका नाश होनेपर शरीर भी शीघ्र ही सूख जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है॥४०॥

पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति।
तद् यत्किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्।
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने॥ ४१॥

अङ्गीकारसूचक 'ओम्' अर्थात् 'हाँ मैं दान दूँगा'—इस प्रकार कहनेवाला धनसे पराक् अर्थात् धन-सम्पत्तिसे दूर हो जाता है।

विशेषरूपसे जो भिक्षुकको 'ओम्' यह कहकर सब क
स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिए क
रख नहीं सकता, उसकी इन्द्रिय-तृप्तिक
रहते। भिक्षुकको सर्वदा 'हाँ' कहनेपर दाता कुछ भी भोगकरनेमें समर्थ नहीं हो सकता॥४१॥

अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः।
सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन् मृतः॥४२॥

(सवर्ताभावसे सत्यवचनका अवलम्बन करक
नहीं हो सकता—इसे स्पष्टरूपसे व्यक्त करनेक
एवं मिथ्यामें गुण बतला रहे हैं—) 'नहीं' इस प्रकार कहना मिथ्या वचन है, तथापि यह पूर्ण है; क्योंकि ऐसा कहनेसे धन नहीं देना पड़ता है, दूसरोंकी सहानुभूति मिलती है और धन एकत्र करनेमें पूरी सुविधा होती है, परन्तु सब वस्तुओंक
देना और सब समय मिथ्या वचनोंका प्रयोग करना, यह भी बड़ा निन्दनीय और अपकीर्त्तिकर है। ऐसा व्यक्ति तो जीवित रहकर भी मृतकक

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीवामनचरितं नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥

किसी स्त्रीको प्रसन्न करक
परिहासमें, विवाहमें, कन्या आदिकी प्रशंसा करनेमें, जीविका रक्षणमें, प्राणोंका सङ्कट उपस्थित होनेपर, गौ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेमें और किसीको मृत्युसे बचानेमें मिथ्या भाषण सर्वथा निन्दनीय नहीं माना जाता॥४३॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीवामनदेव द्वारा विराट्रूप धारण करक
दो ही पगसे पृथ्वी और स्वर्गको नाप लेना

श्रीशुक उवाच—

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः।
तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! क
वचन सुनकर यजमान बलि क्षण भर मौन बैठे रहे और फिर
विचार-विमर्श करक

श्रीबलिरुवाच—

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥ २॥

राजा बलिने कहा—आपने सत्य ही कहा है कि गृहस्थका
धर्म वही है, जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविकाक
किसी प्रकारकी बाधा न पड़े। मैं इससे पूर्ण सहमत हूँ॥२॥

स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥ ३॥

मैं महाराज प्रह्लादका पौत्र हूँ और उन्हें भूमि दानकी प्रतिज्ञा
कर चुका हूँ। अब मैं धनक
किस प्रकार विचलित हो सकता हूँ। एक वञ्चकक
समान किस प्रकार मैं इस ब्राह्मणको मना कर सकता हूँ?॥३॥

न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥ ४॥

असत्यसे बढ़कर दूसरा कोई अधर्म नहीं है। इसलिये पृथ्वीने जो यह कहा है कि—मैं सारे बोझोंको सहन कर सकती हूँ, किन्तु झूठे मनुष्यका भार नहीं सह सकती, वह नितान्त सत्य है॥४॥

नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात्।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात्॥५॥

मैं नरक, दारिद्र्य, दुःख-समुद्र, स्थान-च्युति अथवा मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना किसी ब्राह्मणको ठगनेसे डरता हूँ॥५॥

यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धरादिकम्।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत्॥६॥

और भी देखिये! इस संसारमें राज्य आदि जितने भी ऐश्वर्य हैं, वे उनक
सब वस्तुओंक
तो उसक
आज्ञासे यदि किञ्चित् मात्र प्रदान करुँ तो ये ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं होंगे।)॥६॥

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥७॥

देखिये, दधीचि, शिबि आदि महापुरुषोंने दुस्त्यज प्राणोंकी आहुति देकर भी प्राणियोंका उपकार किया था। तब इस पृथ्वी आदि सामान्य वस्तुको त्यागनेक
आवश्यकता क्यों?॥७॥

यैरियं बुभुजे ब्रह्मन् दैत्येन्द्रैरनिवर्त्तिभिः।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान्न यशोऽधिगतं भुवि॥८॥

हे गुरुदेव! पहले भी युद्ध-क्षेत्रमें विजयका सङ्कल्प करनेवाले बड़े-बड़े दैत्योंने इस पृथ्वीका उपभोग किया है। कालने उनक
लोक एवं परलोकक
उनक

यशक
उपार्जनीय है॥८॥

सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः।
न तथा तीर्थे आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः॥९॥

हे विप्रवर! इस संसारमें ऐसे बहुत-से वीर हैं, जिन्होंने युद्धमें पीठ न दिखलाकर अपने प्राणोंका बलिदान किया है, किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं, जिन्होंने सत्पात्रक
अपने धनका दान दिया हो॥९॥

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां
ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम्॥१०॥

याचककी कामना पूर्ण करनेमें दुर्गति भी सहनी पड़े, तो भी वह कारुणिक और मनस्वी व्यक्तिक
आप जैसे ब्रह्मज्ञ पुरुषकी कामना पूर्ण करनेमें दीन-दारिद्र्य-दशा भोगनी भी पड़ जाय, तो वह शोभाकी ही बात होगी, इसक
क्या कहा जाय? अतः इस ब्राह्मण क
है, मैं उसे अवश्य ही पूर्ण करूँगा॥१०॥

यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने॥११॥

हे मुनिवर! वेदविहित-यज्ञ आदि कर्मोंमें निपुण आप जैसे महात्मा सोमादि यज्ञोंक
हैं, वे विष्णु चाहे यहाँ मुझे वरदान दें और यदि शत्रुक
यहाँ आये हों, तो दण्ड दें, मैं उन्हें उनकी इच्छानुसार पृथ्वी अवश्य दूँगा॥११॥

यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥ १२॥

यदि शत्रुभावसे अधर्मपूर्वक ये मुझ निरपराधको बाँध लेते हैं, तो भी मैं इनका अनिष्ट नहीं करूँगा। निश्चय ही ये मुझसे बहुत डरे हुए हैं क्योंकि साक्षात् विष्णु हा
ब्राह्मण क

एष वा उत्तमःश्लोको न जिहासति यद्यशः।
हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मया॥ १३॥

यदि ये वस्तुतः उत्तमश्लोक विष्णु ही हैं तो अपनी कीर्त्तिका त्याग कभी नहीं करेंगे। युद्धक्षेत्रमें मुझे मारकर इस भूमिको हथिया लेंगे अथवा मेरे-द्वारा मारे जानेपर युद्धभूमिमें ही सदाक
जाएँगे (मेरी चित्त-गुहामें शयन करेंगे।)॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः।
शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्। इसक
देखा कि उनक
और वह उनक
प्रेरणासे शुक्राचार्यने राजा बलिको शाप दे दिया, जबकि वे उदारचरित और सत्यप्रतिज्ञ थे, शापक

दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः॥ १५॥

शुक्राचार्यने कहा—तुम हो तो अज्ञानी, परन्तु अपने-आपको बहुत बड़ा पण्डित मान रहे हो। इतने धृष्ट हो गये हो कि मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहे हो। तुमने मेरी उपेक्षा की है; जाओ, तुम शीघ्र ही अपनी श्रीसे (त्रैलोक्याधिपत्यसे) भ्रष्ट हो जाओ॥१५॥

एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्।
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम्॥ १६॥

महाराज बलि महान् पुरुष थे। अपने गुरुक
अभिशप्त होनेपर भी वे अपनी प्रतिज्ञासे टस-से-मस न हुए। उन्होंने श्रीवामनदेवकी पूजा-अर्चना की। कमण्डलुसे हाथमें जल लिया और उसका स्पर्श करक
पग भूमिका सङ्कल्प कर दिया॥१६॥

विन्ध्यावलिस्तदागत्य पत्नी जालकमालिनी।
आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम्॥ १७॥

उसी समय मोतियोंकी माला पहने हुए महाराज बलिकी पत्नी भी वहाँ आ गयी। भगवान्क
जलसे भरा हुआ सोनेका घड़ा भी अपने साथ ले आयी॥१७॥

यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा।
अवनिज्यावहन् मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः॥ १८॥

यजमान बलिने बड़े आनन्दक
श्रीचरणयुगलोंको पखारा और उस विश्वपावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया॥१८॥

तदाऽसुरेन्द्रं दिवि देवतागणा
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
तत् कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं
प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः ॥ १९॥

उस समय आकाशमें स्थित देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण—सभी मिलकर बड़े आनन्दक
कार्यकी एवं सरलताकी निष्कपटभावसे प्रशंसा करने लगे और दैत्यराज बलिक

नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो
गन्धर्वकिम्पुरुषकिन्नरा जगुः।

मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद् यद्रिपवे जगत् त्रयम्॥ २०॥

उस समय हजारों-हजारों दुन्दुभियाँ एक साथ बजने लगीं। गन्धर्व, किम्पुरुष और किन्नरगण इस प्रकार गान करने लगे— महामना महाराज बलिने आज वह काम किया है, जो दूसरोंक लिए अत्यन्त कठिन है। वे जानते थे कि भगवान् विष्णु उनक शत्रु देवताओंक
दे दिये॥२०॥

तद्वामनं रूपमवर्द्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत॥ २१॥

उस समय अनन्त भगवान् श्रीहरिका वामन शरीर आश्चर्यजनक रूपसे बढ़ने लगा। त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें भगवान् विराजमान हैं। अतः भगवान्क
ब्रह्माण्डक
ऋषिगण सभी समाये हुए हैं॥२१॥

काये बलिस्तस्य महाविभूतेः।
महर्त्विगाचार्यसदस्य एतत्।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥ २२॥

बलि महाराजने ऋत्विज, आचार्य और सभाक
महाविभूतिशाली भगवान्क
आदि इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण और जीवोंक

रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
र्महीं महीध्रान् पुरुषस्य जङ्घयोः।

पतत्त्रिणो जानुनि विश्वमूर्त्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः॥ २३॥

तत्पश्चात् इन्द्रक
महापुरुषक
पृथ्वी, पिंडलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जङ्घाओंमें मरुद्गणोंको देखा॥२३॥

सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीन् जघने आत्ममुख्यान्।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्त सिन्धून्
उरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम्॥ २४॥

उसी प्रकार उन्होंने भगवान्क
प्रजापति, कटिक
प्रमुख असुरगण, नाभिमण्डलमें आकाश, कोखमें लवणादि सातों समुद्र और वक्षःस्थलमें नक्षत्रसमूह देखे॥२४॥

हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
ॠतञ्च सत्यञ्च मनस्यथेन्दुम्।
श्रियञ्च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान्॥ २५॥

इन्द्रप्रधानानमरान् भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि।
केशेषु मेघान् श्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम्॥ २६॥

वाण्याञ्च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधञ्च विधिञ्च पक्ष्मसु।
अहश्च रात्रिञ्च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम्॥ २७॥

स्पर्शे च कामं नृप रेतसाऽम्भः
पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम्।
छायासु मृत्युं हसिते च मायां
तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥ २८ ॥

नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥ २९ ॥

वत्स परीक्षित्! उन लोगोंने भगवान् मुरारीक
स्तनोंमें प्रिय और सत्य वचन, मनमें चन्द्रमा, वक्षःस्थलपर हाथोंमें कमल लिये हुए लक्ष्मीदेवी, कण्ठमें सामवेद और सम्पूर्ण शब्द, भुजाओंमें इन्द्र आदि प्रमुख देवतागण, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, क
अग्निदेवको देखा। उन परमपुरुषकी वाणीमें सारे छन्द, रसनामें वरुणदेव, भौंहोंमें विधि और निषेध, पलकोंका उन्मीलन होनेपर दिन और निमीलन होनेपर रात, ललाटमें क्रोध, अधरमें लोभ दिखायी दिये। हे राजन्! उनक
अधर्म, पद-विन्यासमें यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया और रोमोंमें समस्त प्रकारकी ओषधियाँ वर्त्तमान थीं। उनकी नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ, बुद्धिमें ब्रह्मा, देवता एवं ऋषिगण तथा इन्द्रियों एवं समग्र शरीरमें चराचर समस्त प्राणी वीरवर बलि महाराजको दिखायी दिये ॥२५-२९ ॥

सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥ ३० ॥

प्रिय-परीक्षित्! इस समय जब असुरोंने विश्वरूपी सर्वात्मा भगवान्क

करनेवाला सुदर्शन चक्र, गरजते हुए मेघक
टङ्कार करनेवाला शार्ङ्ग धनुष देखा, तो वे भय और विषादसे भर गये॥३०॥

पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्त-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च॥ ३१॥

उस समय घनघोर मेघोंक
अति वेगवती कौमोदकी गदा, सैकड़ों चन्द्राकृतियोंसे अलङ्कृत ढाल, विद्याधर नामकी तलवार, अक्षय बाणोंसे भरे दो तरकस और लोकपालोंक
लिए तैयार हो गये॥३१॥

सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डलः-
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥ ३२॥

मधुव्रत-स्रग्वनमालया वृतो
रराज राजन् भगवानुरुक्रमः।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः॥ ३३॥

हे राजन्! त्रिविक्रम भगवान्ने उस समय मस्तकपर अत्युज्ज्वल मुक
श्रीवत्स चिह्न, गलेमें दीप्तिशाली कौस्तुभमणि, कमरमें करधनी, कन्धेपर पीताम्बर, गुञ्जार करती हुई भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे परिवेष्टित वनमाला धारण कर रखे थे, जिनसे उनकी अपार शोभा हो रही थी। उन्होंने एक पग बढ़ाया और महाराज बलिकी सारी पृथ्वीको, शरीरसे आकाश-प्रदेशको और भुजाओंसे समस्त दिशाओंको घेर लिया॥३२-३३॥

पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीविश्वरूपदर्शनं नाम विंशोऽध्यायः॥

इसक

लिए बलिक

त्रिविक्रम श्रीहरिका चरण स्वर्गसे क्रमशः ऊपर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपोलोकसे भी परे सत्यलोक तक पहुँच गया॥३४॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

महाराज बलिका बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच—

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि–
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान्का श्रीचरण जब सत्यलोकमें पहुँचा, तब भगवान्क
सत्यलोकका प्रकाश फीका पड़ गया और स्वयं अब्जभव ब्रह्माजीका भी तेज आच्छादित हो गया। वे ब्रह्माजी, मरीचि आदि प्रमुख ऋषि एवं सनन्दन आदि महाव्रत योगी भी वहाँ भगवान्क
(अगवानीक

वेदोपवेदा नियमा यमान्विता–
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपित–
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम्॥ २॥

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो–
रुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम्।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसम्भवः स्वयम्॥ ३॥

वहाँ आये हुए लोगोंमें-से क
इतिहास, शिक्षा, कल्प आदि ग्रन्थ, पुराण, संहिता, वेद, आयुर्वेद

आदि उपवेदक
दीप्तज्ञानरूपी अग्निबलसे कर्मफलको दग्ध कर दिया था। यह सत्यलोक कर्मफलक
इन सभी महात्माओंने और अन्यान्य सत्यलोकवासियोंने भगवान् श्रीहरिक
ब्रह्माजीकी कीर्त्ति बड़ी विमल है, वे भगवान्‌की नाभिसे उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने ऊपरकी ओर पसारे हुए भगवान्क
अर्घ्य प्रदान किया। सभी सत्यलोकवासी भी उनका अर्चन करक स्तव-स्तुति करने लगे॥२-३॥

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्त्तिः॥४॥

हे राजन्! ब्रह्माक
पादपद्मोंक
परिणत हो गया। यह नदी आकाशमें प्रवाहित होकर भगवान् श्रीहरिकी कीर्त्तिक

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः।
सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये॥५॥

जब ब्रह्मा आदि सभी लोकपालोंने अपने अनुचरोंक
कि उनक
ही समान वामनरूपमें अवस्थित हैं, तब वे सब बड़े आदरक साथ अपने स्वामीको भेंटें समर्पित करने लगे॥५॥

तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः॥६॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः॥७॥

वे लोग उस समय सुगन्धि, अर्घ्य आदि जल, माल्य, दिव्य चन्दन आदि अनुलेपन, धूप, दीप, खील, अक्षत, फल, अङ्कुर, भगवान्की महिमाको सूचित करनेवाले स्तव, जयघोष, नृत्य, वाद्य, गान, शङ्खनाद और भेरीकी ध्वनिक
करने लगे॥६-७॥

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्॥८॥

उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् भी वहीं आ गये थे। वे मनकी गतिक
विजय-महोत्सवकी सभी दिशाओंमें घोषणा कर आये॥८॥

महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः॥९॥

असुरोंने देखा कि उनक
कृतसङ्कल्प होकर बैठे हैं और उनसे वामनदेवने तीन पग भूमि-दान रूप कपटभरी प्रार्थनासे उनका सब क
अत्यन्त क्रोधित हो गये और कहने लगे॥९॥

न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति॥१०॥

दैत्योंने कहा—अरे! यह वामन निश्चय ही ब्राह्मण नहीं है, बल्कि यह मायावियोंमें सर्वश्रेष्ठ विष्णु है। यह ब्राह्मणवेशमें अपने स्वरूपको छिपा करक

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि॥११॥

यज्ञमें दीक्षित होनेक
किसीको भी दण्डित नहीं करेंगे। इसी कारण हमारा यह चिरकालीन शत्रु विष्णु पहले तो बाल ब्रह्मचारीक
और अब इसने हमारा सब क

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः।
नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः॥ १२॥

हमारे महाराज तो सर्वदा ही सत्यवादी हैं और इस समय तो वे यज्ञमें विशेषरूपसे दीक्षित हैं। पुनः वे ब्राह्मणोंक
और बहुत दयालु हैं। वे कभी झूठ भी नहीं बोल सकते॥१२॥

तस्मादस्य वधो धर्मो भर्त्तुः शुश्रूषणञ्च नः।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः॥ १३॥

अतः इस समय तो हमारा यही धर्म है कि हम वामनरूपमें आये इस विष्णुका वध कर डालें। इससे हम अपने राजाकी सेवा भी कर सक
भगवान्क

ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः।
अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवन् जातमन्यवः॥ १४॥

हे राजन्! उस समय असुरोंका क्रोध भड़क उठा। वे शूल और पट्टिश हाथमें लेकर बलि महाराजकी इच्छाक
वामनदेवको मारनेक

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः॥ १५॥

महाराज! इधर भगवान् विष्णुक
वध करनेक
अस्त्र उठाये और उन्हें रोकनेका प्रयत्न करने लगे॥१५॥

नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट्॥ १६॥
जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूस्ते जघ्नुरासुरीः॥ १७॥

नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, क
विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत—ये सभी

दस-दस हजार हाथियोंक
पार्षदोंने असुर सैनिकोंका संहार करना प्रारम्भ कर दिया॥१६-१७॥

हन्यमानान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः।
वारयामास संरब्धान् काव्यशापमनुस्मरन्॥ १८॥

जब महाराज बलिने देखा कि भगवान् विष्णुक
असुरोंको मार रहे हैं, तब उन्हें शुक्राचार्यक
उन्होंने असुरोंको युद्ध करनेसे रोक दिया। वे कहने लगे—॥१८॥

हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः।
मा युध्यत निवर्त्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत्॥ १९॥

हे विप्रचित्ते! हे राहु! हे नेमि! देखो, तुम सब मेरी बात सुनो। युद्ध मत करो। तुरन्त रुक जाओ। यह समय हमारे लिए शुभदायी नहीं है॥१९॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं देत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥ २०॥

दैत्यो! जो समस्त प्राणियोंको सुख-दुःख देनेमें समर्थ है, उस कालका कोई भी पुरुष अपने प्रयासोंसे दमन नहीं कर सकता॥२०॥

यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्त्तते तद्विपर्ययम्॥ २१॥

जो कालरूप भगवान् इससे पहले हमारे पक्षमें थे तब वे हमारे लिये अनुक
प्रतिक
हो गये हैं॥२१॥

बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥ २२॥

कोई भी जीव बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, ओषधि और साम आदि अथवा अन्य किसी उपायसे कालरूप भगवान्पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता॥२२॥

भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥ २३॥

इससे पहले जब दैव तुम्हारे साथ था, तब तुमने उसक
बलपर कितनी ही बार विष्णुक
था, दैवक
सिंहनाद कर रहे हैं॥२३॥

एतान् वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥ २४॥

जब विधाता हमारे अनुक
करेंगे। अतः जब काल हमारी कार्य–सिद्धिक
उस समयकी प्रतीक्षा करो॥२४॥

श्रीशुक उवाच—

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः।
रसां निर्विविशू राजन् विष्णुपार्षदताडिताः॥ २५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् विष्णुक
पार्षदोंसे पराजित होकर और महाराज बलिकी आज्ञा प्राप्त
करक
चले गये॥२५॥

अथ ताक्ष्र्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम्।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सूत्येऽहनि क्रतौ॥ २६॥

इसक
तब पक्षीराज गरुडने अपने स्वामीकी अभिलाषा जानकर राजा
बलिको वरुणपाशसे बन्दी बना लिया॥२६॥

हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतो दिशम्।
निगृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना॥ २७॥

सर्वोत्तम प्रभावशाली भगवान् विष्णुने इस प्रकार जब महाराज बलिको बँधवा दिया, तब स्वर्ग और पृथ्वीकी समस्त दिशाओंसे हाहाकारकी महाध्वनि उठी॥२७॥

तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः।
नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप॥ २८॥

हे राजन्! बलि महाराज वरुणपाशोंसे बँधे हुए थे, उनका समस्त ऐश्वर्य छीन लिया गया था, परन्तु उनकी बुद्धिमें स्थिरता थी, चित्तमें क्षोभ न था। सभी लोग उनकी उदार कीर्त्तिका यशोगान कर रहे थे। इसी बीच भगवान् वामनदेवने राजा बलिसे कहा—॥२८॥

पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर।
द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय॥ २९॥

हे दैत्यराज! तुमने मुझे तीन पग भूमि देनेका वचन दिया था। मैंने दो पगमें ही सारी त्रिलोकी नाप ली। अब मुझे वह स्थान बतलाओ, जहाँ मैं तीसरा पग रख सक

यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः।
यावद्वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव॥ ३०॥

जिस स्थान तक सूर्यकी किरणें ताप प्रदान करती हैं, जहाँ तक नक्षत्र और चन्द्रमा अपनी कान्ति बिखेरते हैं और जहाँ तक बादल बरसते हैं, वहाँ तककी समस्त पृथ्वी तुम्हारे अधिकारमें थी॥३०॥

पदैकेन मयाक्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः।
स्वर्लोकस्तु द्विजीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना॥ ३१॥

इसमें-से मैंने अपने एक पगक

द्वारा आकाश और दिशाएँ तथा तुम्हारे देखते-देखते दूसरे पगसे तुम्हारे स्वर्गलोकको माप लिया है॥३१॥

प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते।
विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः॥ ३२॥

तुम प्रतिज्ञा करक
शास्त्रोंकी सम्मतिसे तुम्हें पातालमें वास करना होगा। गुरु शुक्राचार्यने भी इसीका अनुमोदन किया है। अब तुम नरकमें प्रवेश करो॥३२॥

वृथा मनोरथस्तस्य दूरः स्वर्गः पतत्यधः।
प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते॥ ३३॥

जो प्रतिज्ञाबद्ध होकर भी याचकको अभीष्ट वस्तु प्रदान न
करक
जाते हैं। स्वर्गकी बात तो बहुत दूर रहे, उसे अधोलोकोंमें जाना पड़ता है॥३३॥

विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना।
तद्व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिनिग्रहो नाम एकविंशोऽध्यायः॥

तुम्हें बड़ा अभिमान था कि मैं अतिशय धनवान् हूँ और उस मदसे मतवाले होकर तुमने 'मैं दूँगा' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर ली थी और अब मुझे धोखा दे दिया। अपने इन मिथ्या वचनोंका
क

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

महाराज बलिक
भगवान्‌का उनपर प्रसन्न होना

श्रीशुक उवाच—

एवं विप्रकृतो राजन् बलिर्भगवतासुरः।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! लौकिक दृष्टिसे भगवान् वामनदेवने राजा बलिका इस प्रकार तिरस्कार ही किया और उन्हें सत्यसे विचलित करना चाहा, तथापि बलि महाराज तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे अडिग भावसे कहने लगे—॥१॥

श्रीबलिरुवाच—

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्॥ २॥

दैत्यराज बलिने कहा—हे उत्तमश्लोक! यदि आप मेरी प्रतिज्ञाको असत्य मानते हैं, तो मैं अपने वचनोंकी सत्यता स्थापित करूँगा। मेरे वचन झूठे नहीं हो सकते। हे देवताओं द्वारा वन्दनीय पुरुषश्रेष्ठ! आप अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिए॥२॥

बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादादभृशमुद्विजे यथा॥ ३॥

मुझे नरकमें जानेका अथवा राज्यसे च्युत (भ्रष्ट) होनेका भय नहीं है, मैं पाशमें बँधने अथवा अपार दुःखमें पड़नेसे भी

नहीं डरता, मेरे पास फ
घोर दण्ड दें, अर्थाभावजनित-कष्ट मेरे भयका कारण नहीं है। मैं डरता हूँ तो क

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि॥ ४॥

परम हितैषी अपने पूजनीयजनोंक
जैसे जीवोंक
माता, पिता, भाई और सुहृद्जन मोहक
दे पाते॥४॥

त्वं नूनमसुराणां नः परोक्षः परमो गुरुः।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्॥ ५॥

आप निश्चय ही हम असुरोंक
शत्रुरूपमें भी आप परोक्ष भावसे हमारा कल्याण करते हैं। जब हमलोग शौर्य-वीर्य इत्यादिक
श्रेय-पथ नहीं जान पाते, तब हमारी मत्तताका विनाश करनेक लिए आप हमें दिव्य-दृष्टि प्रदान करते हैं॥५॥

यस्मिन् वैरानुबन्धेन व्यूढेन विबुधेतराः।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः॥ ६॥

तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे॥ ७॥

अनन्य भावसे योग करनेवाले योगियोंको जो सिद्धि प्राप्त होती है, वही सिद्धि आपमें दृढ़ एवं अविच्छिन्न शत्रु भावक कारण बहुत-से असुरोंको मिल गयी। आप एक ही कार्यसे बहुत प्रयोजनोंको पूर्ण कर देते हैं। इसीलिए आप मुझे बहुत प्रकारसे दण्डित कर रहे हैं। आपने मुझे वरुण-पाशसे बाँधा है, परन्तु इसक
न ही व्यथाका॥६-७॥

पितामहो मे भवदीयसम्मतः
प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा॥ ८॥

मेरे पितामह प्रह्लाद आपक
सारे जगत्में विख्यात है। उनक
होनेक
चरणोंका आश्रय नहीं छोड़ा और आपमें ही सदैव निरत रहे॥८॥

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः।
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः॥ ९॥

जो शरीर आयुकालका अन्त होनेपर स्वयं ही जीवको छोड़ देता है, मनुष्योंका ऐसे शरीरसे क्या प्रयोजन? जो धन आपकी सेवाक
स्वजनरूप डाक
हो सकता है, जो जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करानेवाली है? जिस घरमें आयु क्षीण होती जाती है, उस घरकी भी क्या आवश्यकता है?॥९॥

इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
नगाधबोधो भवतः पादपद्मम्।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्-
भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तम॥ १०॥

हे सज्जनश्रेष्ठ! यह निश्चय करक
मेरे पितामह प्रह्लादजी सदैव संसारी लोगोंक
थे। वे जानते थे कि आप दैत्योंका संहार करनेवाले हैं, तो भी उन्होंने बड़ी दृढ़ताक
शरण ले रखी थी॥१०॥

अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः।
इदं कृतान्तान्तिकवर्त्ति जीवितं
ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते॥ ११॥

जिस सम्पत्तिक
उसे यह पता नहीं चलता कि इस अनित्य देहकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, विधाताने बलपूर्वक मुझे उसी सम्पत्तिसे विलग करक
पास पहुँचा दिया है। कहनेको आप मेरे शत्रु हैं॥११॥

श्रीशुक उवाच—

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
इस प्रकार कह ही रहे थे कि उसी समय भगवान्क
प्रह्लाद महाराजका वहाँ इस प्रकार पधारना हुआ, मानो पूर्णचन्द्रका उदय हुआ हो॥१२॥

तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
प्रलम्बबाहुं शुभगर्षभमैक्षत॥ १३॥

महाराज बलिने समस्त लोकोंक
पितामहको देखा। उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। सुन्दर ऊँचा शरीर था, लम्बी भुजाएँ थी, अञ्जनक
उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा था। कमलक

तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्।
ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः।
सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह॥ १४॥

बलि वरुणपाशमें बँधे हुए थे। अतः वे पहलेक
पितामह प्रह्लाद महाराजका भलीभाँति सम्मान न कर पाये। उनकी आँखोंमें अश्रु छलक आये और लज्जाक
गया। उन्होंने क

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं
हरिं सुनन्द नन्दाद्यनुगैरुपासितम्।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना
ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः॥ १५॥

महामति प्रह्लादने देखा कि भगवान् विष्णु वहाँ विराजमान हैं और सुनन्द, नन्द आदि अनुचर उनकी आराधना कर रहे हैं। यह देखते ही उनक
भर आये। वे आनन्दातिरेकसे विह्वल हो गये और सिर झुकाये हुए अपने स्वामीक
उन्हें प्रणाम किया॥१५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥ १६॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! आपने इस बलिको महैश्वर्यपूर्ण इन्द्रपद प्रदान किया था और अब आपने इसे छीन लिया। हे प्रभो! जैसा आपका देना सुन्दर, वैसा आपका लेना भी सुन्दर। यह ऐश्वर्य-श्री आत्माको मोहमें डालनेवाली है। आपने इससे बलिको अलग करक
समझता हूँ॥१६॥

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।

तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥ १७ ॥

लक्ष्मीकी प्राप्तिसे विद्वान् और संयमी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इस सम्पत्तिक
जाननेमें समर्थ हो सकता है? अतः सबक
रहनेवाले हे जगदीश्वर भगवान् नारायणदेव! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

तस्यानुशृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः।
हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम्॥ १८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उस समय प्रह्लादजी हाथ जोड़कर वहीं खड़े थे। उन्हें सुनाते हुए ब्रह्माजीने भगवान्से क
कहना चाहा॥१८॥

बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला।
प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप॥ १९ ॥

राजन्! इतनेमें ही बलि महाराजकी परम साध्वी पत्नी भी वहाँ आ गयी। वह अपने पतिको वरुणपाशमें बँधा हुआ देखकर घबरा गयी। उसने भगवान् वामनदेवक
उन्हें प्रणाम किया। वह अपना सिर झुकाकर श्रीहरिसे इस प्रकार कहने लगी॥१९॥

श्रीविन्ध्यावलिरुवाच—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥ २० ॥

विन्ध्यावलीने कहा—हे सर्वेश्वर! आपने अपनी क्रीड़ाक
ही इस जगत्की सृष्टि की है। क

स्वामी मानते हैं। दूसरेकी वस्तुमें निर्लज्ज लोग स्वयंको 'मैं दाता हूँ,' 'मैं भोक्ता हूँ'—इस प्रकार अभिमान कर लेते हैं। आप ही तीनों जगत्क
आपको क्या समर्पण कर सकते हैं? ॥२०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम्॥ २१॥

ब्रह्माजीने कहा—हे भूतभावन! आप समस्त जीवोंक
हे देवाधिदेव! हे जगत्स्वरूप! आपने बलि महाराजका सर्वस्व हरण कर लिया है। अब आप इसे मुक्त कर दीजिये। यह दण्डका पात्र नहीं है॥२१॥

कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये।
निवेदितञ्च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया॥ २२॥

बलिने आपको अपनी सारी भूमि, पुण्यकर्मोंसे उपार्जित सम्पूर्ण लोक, अपनी आत्मा तथा सर्वस्व ही आपको अविचलित भावसे समर्पण कर दिया है॥२२॥

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्त्तिमृच्छेत्॥ २३॥

जो निष्कपट व्यक्ति आपक
चढ़ाता है अथवा क
उसे भी उत्तम गति प्राप्त होती है। इस बलिने तो आपक
श्रीचरणोंमें बड़े धैर्यक
है। यह बन्दी होनेक
सकता है? ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं माञ्चावमन्यते॥ २४॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्माजी! पुरुष अर्थक
एवं जड़बुद्धि होकर तीनों लोकोंमें किसीका सम्मान नहीं करता और यहाँ तक कि मेरी भी अवहेलना करने लगता है। तब मैं उसपर अनुग्रह करनेक
लेता हूँ॥२४॥

यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभिः।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत्॥ २५॥

यह जीवात्मा परंतत्र है और अपने कर्मफलक
योनियोंमें भटकता है। तब कहीं जाकर भाग्यवश कदाचित् उसे मेरी कृपासे मनुष्य जन्म प्राप्त होता है॥२५॥

जन्मकर्मवयोरूप-विद्यैश्वर्यधनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥ २६॥

मनुष्य जन्ममें यदि किसी व्यक्तिको उत्तम जन्म, कर्म, वयस, रूप, विद्या, ऐश्वर्य अथवा धन प्राप्त करक
चाहिए कि उसपर मेरा अनुग्रह है॥२६॥

मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः।
सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः॥ २७॥

(तब मैंने जो ध्रुव आदि ऐकान्तिक भक्तोंको सम्पत्ति प्रदान की है) तो इसका कारण यह है कि उच्च क
एवं ऐश्वर्य आदि अभिमान और अविनम्रताक
तथा सर्वतोभावसे मङ्गलक
वह इन्हें प्राप्त करक

एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्त्तिवर्द्धनः।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति॥ २८॥

राजा बलि दानव और दैत्योंमें अग्रगण्य और परम यशस्वी है। उसने दुर्जय मायाको जीत लिया है। यद्यपि यह समस्त ऐश्वर्योंसे वञ्चित हो गया है, तथापि इसने श्रेय-पथ—'आपक
को छोड़ा नहीं है। यह इतना दुःख प्राप्त करक
हुआ है॥२८॥

क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः॥ २९॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक्॥ ३०॥

यह धनसे हीन हो गया, इसका राज्यपद छिन गया, शत्रुओंने इसका तिरस्कार किया और इसे बाँध लिया, भाई-बन्धुओंने साथ छोड़ दिया, बँधनेकी पीड़ा झेल रहा है, गुरुने इसका तिरस्कार किया और इसे अभिशाप दे दिया, परन्तु इस सुव्रतीने सत्यका परित्याग नहीं किया। मैंने बड़े छलक
उपदेश दिया, किन्तु यह सत्यप्रतिज्ञ बलि अपने धर्मसे विचलित नहीं हुआ॥२९-३०॥

एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥ ३१॥

अतः मैंने इस बलिको वह पद प्रदान किया है जो देवताओंक लिए भी दुर्लभ है। मेरे आश्रित यह भक्त बलि सावर्णि मनुक कालमें स्वर्गका राजा इन्द्र होगा॥३१॥

तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम्।
यदाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः।
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया॥ ३२॥

इन्द्र-पद प्राप्त हो, इसक
सुतल नामक लोकमें रहे। इस लोकका पर्यवेक्षण मैं करता हूँ। अतः वहाँ शारीरिक रोग, मानसिक तनाव, क
और पराजय आदिका अनुभव नहीं होता॥३२॥

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः॥ ३३॥

(बलिको सम्बोधित करते हुए—) हे महाराज इन्द्रसेन! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भाई-बन्धुओंक
जिसकी कामना देवता भी करते हैं॥३३॥

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे।
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति॥ ३४॥

वहाँ बड़े-बड़े लोकपाल भी तुम्हें पराजित नहीं कर सक
दूसरोंकी तो बात ही क्या है? जो दैत्य तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करेगा, मेरा सुदर्शन चक्र उसक

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्॥ ३५॥

हे वीर! मैं तुम्हारे अनुचरों और भोगसामग्रीकी समस्त प्रकारसे रक्षा करूँगा। मुझे भी तुम वहाँ सदैव अपने समीप ही देखोगे॥३५॥

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिमोक्षणं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

वहाँ दानव और दैत्योंक
भाव होगा, वह मेरे प्रभावसे शीघ्र ही विनष्ट हो जाएगा। इसे निश्चित ही जानना॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

महाराज बलिका बन्धनसे छूटकर सुतल लोकको जाना

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युत्कलो गद्गदया गिराब्रवीत्॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब सनातन पुरुष भगवान्ने इस प्रकार कहा, तब समस्त सत्पुरुषोंक
महामति बलिकी आँखोंमें आँसू छलक आये। वे भक्ति-भावक कारण विह्वल चित्तसे गद्गद् वाणीमें हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे॥१॥

श्रीबलिरुवाच—

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

बलि महाराजने कहा—अहो! आपक
महिमा भी क
प्रयास भी करते हैं, तो उन्हें शरणागत भक्तोंका प्रयोजन—प्रेमसिद्धि प्राप्त हो जाती हैं। मैंने इसी प्रकारका उद्यम मात्र किया था और मुझ-जैसे असुरपर आपका पूर्ण अनुग्रह प्रदर्शित हुआ। ऐसा अनुग्रह तो बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओंको नहीं होता॥२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा हरिमानत्य ब्रह्माणं सभवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ऐसा कहते-कहते वे वरुण पाशसे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् बलि महाराजने सबसे पहले भगवान् श्रीहरिको और उसक
प्रणाम किया तथा प्रसन्न होकर अनुचरोंक
प्रवेश किया॥३॥

एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम्।
पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत्॥ ४॥

इस प्रकार भगवान् वामनने इन्द्रको पुनः स्वर्गका राज्य प्रदान कर दिया, देवमाता अदितिकी कामना पूर्ण की और उपेन्द्र बनकर समस्त जगत्पर शासन करने लगे॥४॥

लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम्।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत्॥ ५॥

जब भक्तप्रवर प्रह्लाद महाराजने देखा कि उनका वंशधर बलि बन्धनसे मुक्त हो गया है और उसे भगवान्का कृपाप्रसाद प्राप्त हो गया है, तब वे पूर्ण भक्ति-भावमें विभोर होकर भगवान्की इस प्रकार स्तुति करने लगे॥५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरेऽन्ये।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो
विश्वाभिवन्द्यैरभिवन्दिताङ्घ्रिः॥ ६॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! आप जगत्-वन्दनीय हैं। ब्रह्मा, शिव आदि भी सदैव आपक
हैं। आप हम जैसे असुरोंकी रक्षा करनेक

हुए हैं। ऐसी कृपा तो ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी अथवा शङ्करजीको भी प्राप्त नहीं हुई है। अन्य देवताओंकी बात तो बहुत दूर है॥६॥

यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः।
कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः॥७॥

हे शरणदायक प्रभो। ब्रह्मा आदि देवता आपक
मकरन्दका सेवन करक
हम तो खल जातिमें उत्पन्न दुश्चरित्र असुर हैं। हमपर किस प्रकारसे आपकी कृपादृष्टि प्राप्त हो गयी। यह तो आपकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव हो सका है॥७॥

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥८॥

हे भगवन्! आपकी लीला बड़ी आश्चर्यजनक है। आपकी अचिन्त्य स्वरूपशक्तिकी छायारूपिणी माया शक्तिक
जगत्की सृष्टि हुई है। आप सर्वज्ञ, समस्त प्राणियोंक
और समदर्शी हैं। समदर्शी स्वभाव होनेपर भी आपका भक्तोंक प्रति अत्यन्त वात्सल्य रहता है, परन्तु यह आपका दोष नहीं है, क्योंकि आपका स्वभाव कल्पवृक्षक
प्रकार आश्रितजनोंकी ही कामनाएँ पूर्ण करता है, अनाश्रितकी नहीं, आप भी इसी प्रकार समदर्शी होनेपर भी अपने शरणागत भक्तोंकी ही कामना पूर्ण करते हैं॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम्।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह॥९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—वत्स प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतल लोकमें जाओ। वहाँ पौत्र बलिक
रहकर बन्धु-बान्धवोंको भी प्रसन्न करो॥९॥

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥१०॥

मेरे दर्शनसे दिव्य आनन्द प्राप्त करक
नष्ट हो गये हैं। उस सुतल लोकमें भी तुम मुझे नित्य ही गदा हाथमें लिये देख सकोगे॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

आज्ञां भगवतो राजन् प्रह्लादो बलिना सह।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः॥११॥
परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम्॥१२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! समस्त दैत्योंक
विशुद्ध बुद्धि प्रह्लादजीने हाथ जोड़कर 'ऐसा ही हो' यह कहकर भगवान्‌की आज्ञाको मस्तकपर धारण किया और बलि महाराजक साथ आदिपुरुष भगवान्‌की प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् उन्हें प्रणाम करक और उनकी अनुमति प्राप्त करक

अथाहोशनसं राजन् हरिर्नारायणोऽन्तिके।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम्॥१३॥

परीक्षित्! उसक
वेदज्ञ ऋत्विजों अर्थात् ब्रह्म, होता, उद्गाता और अध्वर्यु आदिकी सभामें विराजित शुक्राचार्यसे कहा॥१३॥

ब्रह्मन् सन्तनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः।
यत्तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्॥१४॥

हे ब्राह्मणवर! आपक
कमी रह गयी है, उसे पूर्ण कर दीजिए। ब्राह्मणोंकी कृपा-दृष्टिसे

कर्मोंकी त्रुटि नहीं रहती, बल्कि वह सुधर जाती है। ब्राह्मणोंकी दृष्टिमें यदि सम्पूर्णता होती है और वे यदि स्वयं ही उसका अनुष्ठान करते हों, तो फिर कहना ही क्या?॥१४॥

श्रीशुक्र उवाच—

कुतस्तत् कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान्।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः॥१५॥

शुक्राचार्यने कहा—आप समस्त कर्मोंक
एवं यज्ञमय पुरुष हैं। जिसने आपकी ही सर्वतोभावसे पूजा की हो, उसक

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसंकीर्त्तनं तव॥१६॥

स्वर-भ्रंश जनित, मन्त्रगत, क्रम विपर्ययगत, तन्त्रगत, देश, काल एवं पात्रगत, यज्ञानुष्ठानमें तो भूलें होती हैं, आपक
वे सब दोष-मुक्त हो जाती हैं। आपक
पूर्ण ही माना जाता है॥१६॥

तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्यनुशासनम्।
एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञानुपालनम्॥१७॥

तथापि हे विभो! मैं आपक
मनुष्योंका यथार्थ कल्याण उसीमें है कि वे आपकी आज्ञाका पालन करें॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

प्रतिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति।
यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह॥१८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—सामर्थ्यवान् शुक्राचार्यने इस प्रकार बड़े सम्मानक
और ब्रह्मज्ञ ऋषियोंक
पूर्ण किया॥१८॥

एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर्हृतम्॥ १९॥

राजन्! इस प्रकार भगवान् वामनने बलिसे भिक्षारूपमें पृथ्वीको माँगकर अपने भाई इन्द्रको स्वर्गका राज्य प्रदान कर दिया, जिसे उनक

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च॥ २०॥
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च।
लोकानां लोकपालानामकरोद्वामनं पतिम्॥ २१॥

तत्पश्चात् दक्षादि प्रजापतियोंक
पितर, मनु, मुनि, दक्ष, भृगु, अङ्गिरा, कार्त्तिक एवं शङ्करक
मिलकर कश्यप एवं अदितिकी प्रसन्नताक
कल्याणक
पालकरूपमें वरण कर लिया॥२०–२१॥

वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः।
मङ्गलानां व्रतानाञ्च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः॥ २२॥
उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप॥ २३॥

हे राजन्! यद्यपि इन्द्र ही लोक एवं लोकपाल आदिक ईश्वर हैं, तथापि ब्रह्मा आदि देवतागणोंने वेद, धर्म, यश, श्री, मङ्गल, व्रत, स्वर्ग एवं अपवर्गक
उपेन्द्रको सर्वैश्वर्ययुक्त मानकर सर्वसम्मतिसे सबक
स्वीकार कर लिया। इस निर्णयसे समस्त प्राणियोंको बहुत आनन्द हुआ॥२२–२३॥

ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम्।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः॥ २४॥

तदनन्तर ब्रह्माजीकी आज्ञासे लोकपालोंक
वामनदेवको आगे किया और उन्हें विमानमें बिठाकर आकाशमार्गसे स्वर्ग ले गये॥२४॥

प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः॥ २५॥

इन्द्रको उपेन्द्र-देवक
त्रिभुवनका आधिपत्य भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार परम सम्पत्तिशाली होकर वे निर्भय हो गये और परम आनन्दसे रहने लगे॥२५॥

ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप।
पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये॥ २६॥
सुमहत् कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम्।
धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिञ्च शशंसिरे॥ २७॥

प्रिय परीक्षित्! ब्रह्मा, महादेव, कार्त्तिक
पितर, समस्त भूत, सिद्ध पुरुष और अन्यान्य जो भी विमानचारी वहाँ उपस्थित थे, वे सब बलिकी यज्ञशालामें हुए भगवान्क
परम अद्भुत एवं महान् कर्मका गान करते हुए अपने-अपने धामकी ओर चले गये। उन सबने भगवती अदितिकी बहुत-बहुत प्रशंसा की॥२६-२७॥

सर्वमेतन्मयाख्यातं भवतः कुलनन्दन।
उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम्॥ २८॥

हे क
तुम्हें सुनाया। इसक

पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य॥ २९॥

अद्भुतकर्मा भगवान्‌की लीलाएँ अनन्त हैं, उनकी महिमा अथाह है। जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वीक
सकता, उसी प्रकार भगवान् विष्णुकी महिमाका पार नहीं पाया जा सकता। मन्त्रद्रष्टा महर्षि वशिष्ठने वेदोंमें कहा है कि जिसने जन्म ग्रहण किया है अथवा जो भविष्यमें उत्पन्न होंगे, कोई भी भगवान्क

य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम्॥ ३०॥

जो व्यक्ति अद्भुत लीलाधारी देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिक इस वामन-अवतार-चरित्रको सुनता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है॥३०॥

क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे।
यत्र यत्रानुकीर्त्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिवामनचरितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

देवता, पितर और मनुष्योंकी प्रसन्नताक
श्राद्ध अथवा दान आदि कर्मोंका अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ उस समय यदि भगवान् उरुक्रमक
अनुष्ठानकारीक
शास्त्रज्ञोंका यही अनुभव है॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान्क

श्रीराजोवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनाम्॥ १॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! अद्भुत चरितवाले श्रीहरिने स्वयं अमायिक होकर भी मायिक मत्स्यक

किया था। मैं उनक

अवतारक

यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम्।
तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः॥ २॥

एतन्नो भगवन् सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि।
उत्तमःश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम्॥ ३॥

भगवान्ने स्वयं जगत्क

जीवक

लोक-निन्दित, तामसी स्वभाव और असह्य परतन्त्रतासे युक्त है। उत्तमश्लोक भगवान्का चरित समस्त लोगोंको आनन्द देनेवाला है। आप यथोचितरूपसे उनका मंगलमय चरित हमें सुनाइए॥२-३॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरायणिः।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत् कृतम्॥ ४॥

श्रीसूतने कहा—शौनक आदि ऋषियो! जब महाराज परीक्षित्ने इस प्रकार पूछा, तब भगवान् शुकदेवने श्रीहरिक

लीलाओंका वर्णन करना आरम्भ किया॥४॥

श्रीशुक उवाच—

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥ ५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् परम स्वतन्त्र होकर भी गाय, ब्राह्मण, देवता, साधुपुरुष, वेद, धर्म और अर्थकी रक्षा करनेक

उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः॥ ६॥

भगवान् प्राकृत गुणोंसे रहित एवं सबक
मनुष्य, तिर्यकादि ऊँचे-नीचे प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपमें विराजमान रहते हैं, किन्तु वे स्वयं उन-उन साधारण प्राणियोंक
गुणोंसे छोटे-बड़े या ऊँचे-नीचे नहीं हो जाते। भगवान् निर्गुण हैं (अप्राकृत रस-विचारसे उनमें उत्कर्षताका तारतम्य है, जो जड़-विचारक

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप॥ ७॥

राजन्! पिछले कल्पक
होनेपर उनकी निद्राक
भूर्लोक आदि समस्त लोक समुद्रमें डूब गये थे॥७॥

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत्॥ ८॥

ब्रह्माजीका दिन समाप्त हो गया था। अतः उन्हें नींद आने लगी थी। शयन करतेही उनक
नामक दैत्य वहीं पासमें ही रहता था। उसने उन वेदोंको चुरा लिया॥८॥

ज्ञात्वा तद्दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः॥ ९॥

जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिने दानवराज हयग्रीवकी यह चेष्टा जान ली। इसीलिए उन्होंने शफरी मत्स्यका रूप धारण किया॥९॥

तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान्।
नारायणपरोऽतपत् तपः स सलिलासनः॥१०॥

परीक्षित्! उस कल्पक
एक महान् राजर्षि थे, जो नारायण-परायण थे। वे मात्र जल पीकर तपस्या कर रहे थे (मत्स्यदेवने अपने प्रथम प्राकट्य-कालमें स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हयग्रीव नामक दैत्यका वध करक
वेदोंको छीन लिया था। इसक
राजा सत्यव्रतने उनकी कृपा प्राप्त की थी।)॥१०॥

योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः॥११॥

वही सत्यव्रत इस महाकल्पमें सूर्यपुत्र श्राद्धदेवक
हुए। भगवान् श्रीहरिने इन्हें मनुक

एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम्।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत॥१२॥

एक दिन वही राजर्षि सत्यव्रत कृतमाला नामकी नदीमे जलसे तर्पण कर रहे थे कि उनकी अञ्जलिक
मछली आ गयी॥१२॥

सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः॥१३॥

हे भरतक
स्थित मछलीको उसी समय नदीक

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम्।
यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल।
कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले॥१४॥

तब उस छोटी मछलीने अतिशय दयावान् राजा सत्यव्रतसे बड़े कातर स्वरमें कहा—हे राजन्! आप दीनवत्सल हैं। जलमें रहनेवाले जन्तु अपने ज्ञाति-बन्धुओंको ही खा डालते हैं। आपने मुझे किसलिए नदीक
रहा है॥१४॥

तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम्।
अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे॥१५॥

महाराज सत्यव्रत नहीं जानते थे कि उनक
विष्णुने ही उनपर अनुग्रह करनेक
किया है। उन्होंने मन-ही-मन मछलीकी रक्षा करनेका निश्चय कर लिया॥१५॥

तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः।
कलसाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्ये आश्रमम्॥१६॥

मछलीक
अपने कमण्डलुमें रख लिया और अपने आश्रममें ले आये॥१६॥

सा तु तत्रैकरात्रेण वर्द्धमाना कमण्डलौ।
अलब्धात्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम्॥१७॥

वह मछली एक रातमें ही इतनी अधिक बढ़ गयी कि उस कमण्डलुमें उसे अपनी रक्षाक
उसने राजासे कहा—॥१७॥

नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम्॥१८॥

महाराज! इस कमण्डलुमें इतने कष्टक
नहीं लगता। मैं इसमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करनेमें समर्थ नहीं हो रही हूँ। अतः आप मुझे सुखपूर्वक रहनेक
स्थान निर्दिष्ट कीजिए॥१८॥

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्त्तेन हस्तत्रयमवर्द्धत॥ १९॥

तब राजाने उसे कमण्डलुसे निकालकर जलसे भरे एक विशाल क
बढ़कर तीन हाथकी हो गयी॥१९॥

न म एतदलं राजन् सुखं वस्तुमुदञ्चनम्।
पृथु देहि पदं मह्यं यत् त्वाहं शरणं गता॥ २०॥

उस मछलीने फिर महाराजसे कहा—राजन्! यह क
मेरे सुखपूर्वक वास करनेक
शरणमें हूँ। मुझे रहनेक
प्रदान कीजिए॥२०॥

तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे।
तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्द्धत॥ २१॥

परीक्षित्! तब राजा सत्यव्रतने उस मछलीको क
उठाकर सरोवरमें डाल दिया। उसक
बढ़ गयी कि उसने महामत्स्यका रूप धारण कर अपने विशाल कलेवरसे सम्पूर्ण सरोवरको घेर लिया। सरोवरका विस्तार भी उसे कम पड़ने लगा॥२१॥

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः।
निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि॥ २२॥

मत्स्यने फिर कहा—हे राजन्! मैं जलचर प्राणी हूँ, इस सरोवरका सीमित जल मेरे सुखपूर्वक रहनेक
अतएव आप मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये और मुझे किसी अक्षय महाह्रदमें रख दीजिए॥२२॥

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि।
जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम्॥ २३॥

मत्स्यकी इस प्रार्थनापर राजा सत्यव्रत उसे अगाध जलाशयमें ले आये, परन्तु वह स्थान भी उसक
मत्स्यको जितने भी अगाध सरोवरोंमें रखते, उसका शरीर और भी विशाल हो जाता। अन्ततः उन्होंने उस अपरिमेय महामत्स्यको महासमुद्रमें डाल दिया॥२३॥

क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः।
अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि॥ २४॥

समुद्रमें डालते समय मत्स्यने सत्यव्रतसे कहा—हे वीर! इस समुद्रमें तो बड़े-बड़े बलशाली मगर आदि जलजन्तु रहते हैं। वे मुझे खा डालेंगे। अतः मुझे यहाँ छोड़ना आपक
नहीं है॥२४॥

एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गु भारतीम्।
तमाह को भवानस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन्॥ २५॥

मत्स्यरूपी भगवान्‌क
और कहने लगे—आप मत्स्य रूप धारण करक
मोहित कर रहे हैं। आप हैं कौन?॥२५॥

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च।
यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः॥ २६॥

एक दिनमें ही आपने सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको आच्छादित कर लिया। मैंने इससे पूर्व ऐसा प्रभावशाली जलचर न तो कहीं देखा है और न इसक

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम्॥ २७॥

निश्चय ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवान् नारायण श्रीहरि हैं। समस्त जीवोंपर कृपा करनेक
आपने जलचरका स्वरूप धारण किया है॥२७॥

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर।
भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो॥ २८॥

हे भगवन् विष्णो! आप जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश करनेवाले हैं। हे पुरुषोत्तम! आप शरणागत भक्तोंक
स्वामी, अन्तरात्मा एवं गतिस्वरूप हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥२८॥

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः।
ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम्॥ २९॥

आपक
तथापि यह जाननेकी इच्छा करता हूँ कि आपने मत्स्यावतार किसलिये धारण किया है?॥२९॥

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं
मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-
मदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः॥ ३०॥

हे पद्मपलाशलोचन प्रभो! देह आदि अनात्म वस्तुओंमें आत्माका बोध करनेवाले देवताओंकी आराधना जिस प्रकार व्यर्थ हो जाती है, उस प्रकारसे समस्त प्राणियोंक
आपक
मत्स्यरूप दिखलाया है, वह बड़ा ही अद्भुत है॥३०॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः
सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये।
विहर्त्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवी-
च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम्॥ ३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब महाराज सत्यव्रतने यह कहा, तब मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीहरिने उनका

कल्याण करने तथा समुद्रक
उनसे कहा॥३१॥

श्रीभगवानुवाच—

सप्तमेह्यद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम ।
निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्॥ ३२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अरिदमन राजन्! आजसे सातवे दिन भूर्लोक, भुवर्लोक आदि तीनों लोक समुद्रमें डूब जायेंगे॥३२॥

त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा।
उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता॥ ३३॥

जब तीनों लोक प्रलय-वारिमें निमग्न होने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे एक विशाल नौका तुम्हारे समीप उपस्थित होगी॥३३॥

त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ३४॥
आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा॥ ३५॥

तब तुम समस्त प्रकारकी ओषधियाँ (धान्य) एवं विविध प्रकारक
बाद सप्तर्षियों एवं समस्त प्रकारक
उस विशाल नौकापर सवार हो जाना और बिना किसी घबराहट एवं क्षोभक
महासागर लहराता होगा, प्रकाश नहीं होगा। ऋषियोंका ब्रह्मतेज ही एकमात्र प्रकाश होगा॥३४-३५॥

दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना॥ ३६॥

इसक
लगेगी, तब मैं वहीं समीपमें ही उपस्थित रहूँगा। तुम वासुकि नामक

अहं त्वामृषिभिः सार्द्धं सहनावमुदन्वति।
विकर्षन् विचरिष्यामि यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो॥ ३७॥

राजन्! नावपर बैठे हुए ऋषियोंक
मैं तबतक प्रलय समुद्रमें विचरण करता रहूँगा, जबतक ब्रह्माकी रात्रि समाप्त नहीं हो जाती (चाक्षुष मन्वन्तरमें ब्रह्माक
प्रलय हो जाना भगवान्‌की इच्छा है।)॥३७॥

मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितम्।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि॥ ३८॥

उस समय तुम मुझसे प्रश्न करोगे और मैं तुम्हें उत्तर दूँगा। इसक
महिमा—मेरा स्वरूप तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो जावेगा और तुम मेरे तत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकोगे॥३८॥

इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत्॥ ३९॥

भगवान् श्रीहरि राजा सत्यव्रतको आदेश देकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये। सत्यव्रत उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे, जिसका आदेश भगवान् दे गये थे॥३९॥

आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्‌मुखः।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः॥ ४०॥

राजर्षिने उस समय क
और स्वयं ईशान दिशा (पूर्व-उत्तर)की ओर मुख करक
गये। इसक
ध्यान करने लगे॥४०॥

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीम्।
वर्द्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत॥ ४१॥

इतनेमें ही प्रलयकालीन महामेघोंने बरसना आरम्भ कर दिया, जिससे समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर ऊपरकी ओर बढ़ने लगा। देखते-ही-देखते सारी पृथ्वी जलमग्न हो गयी॥४१॥

ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम्।
तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः॥ ४२॥

राजा सत्यव्रतको भगवान्‌का आदेश स्मरण हो आया। नौका भी सम्मुख उपस्थित हो गयी। तब वे धान्य, ओषधि-लताओं तथा अन्य बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंक

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम्।
स वै नः सङ्कटादस्मादविता शं विधास्यति॥ ४३॥

सप्तर्षियोंने राजासे प्रसन्न होकर कहा—हे राज्‌न! तुम भगवान्
क
कल्याण करेंगे॥४३॥

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः॥ ४४॥

तब राजर्षि सत्यव्रत अविरल रूपसे भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इतनेमें ही उस प्रलय महासमुद्रमें सुनहरी आभासे देदीप्यमान मत्स्य भगवान् प्रकट हुए। उनक
कोस और शरीरपर एक बड़ा भारी सींग भी था॥४४॥

निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम्॥ ४५॥

जैसा कि भगवान् श्रीहरिने पहले कहा था, उन्हीं वचनोंक अनुसार राजा सत्यव्रतने उस नौकाको वासुकिनागरूप रज्जुक
मत्स्यक
श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥४५॥

श्रीराजोवाच—

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु-
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान्॥ ४६॥

राजा सत्यव्रतने कहा—हे मधुसुदन! इस जगत्में जिनका आत्मज्ञान अनादि अविद्याक
संसारक
सुकृतिवश भक्तिकी ओर उन्मुख होते हैं, वे साधु एवं आचार्योंक द्वारा संरक्षित होकर आपको प्राप्त कर लेते हैं। आप उसी भक्तिक प्रदाता हमारे परम गुरु हैं॥४६॥

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम्।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः॥४७॥

इस संसारमें मूर्ख व्यक्ति कर्मोंक
सुख प्राप्तिकी आशासे सकाम कर्म करते हैं, परन्तु उन्हें दुःख ही प्राप्त होते हैं। अतः जिनकी सेवासे ऐसी क
जाती है, वे ही मेरे परम गुरु आप मेरी असत् हृदय-ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न कर दीजिए॥४७॥

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं
पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो
भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः॥४८॥

जिस प्रकार मलिन स्वर्ण एवं चाँदीको अग्निसे तपाया जाय तो वे मलको छोड़कर स्वाभाविक उज्ज्वल वर्णको प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार आपकी सेवाक
मलका त्याग करक
ऐसे अविनाशी परमेश्वर आप हमारे गुरु हों, क्योंकि आप हमारे गुरुओंक

न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्।

कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये॥ ४९॥

इस जगत्में जितने भी देवता, गुरु और अन्यान्य सभी जीव हैं, वे यदि स्वतन्त्ररूपसे अथवा एक साथ मिलकर कृपा करें, वे आपकी कृपाक
नहीं कर सकते। मैं ऐसे आप परमेश्वरक
करता हूँ॥४९॥

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥ ५०॥

जिस प्रकार एक अन्धा पुरुष अन्धेको ही अपना पथप्रदर्शक मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी अज्ञानी व्यक्तिको ही गुरु पदपर वरण कर लेता है। हम आत्मतत्त्वको जाननेक
इसीलिये सूर्यक
प्रकाशक आपका हमने गुरुक

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं गतिं
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम्॥ ५१॥

प्राकृत ज्ञानसे सम्पन्न गुरु शिष्यको अर्थ, काम आदिरूप बुद्धि प्रदान करता है, जिससे शिष्य दुर्लंघ्य अज्ञानताको अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है परन्तु आप तो अव्यर्थ सनातन ज्ञानका उपदेश करते हैं। इस ज्ञानसे मुमुक्षु व्यक्ति शीघ्र ही अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है॥५१॥

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः।

तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः॥५२॥

आप समस्त लोकोंक
आप ही परम हितका उपदेश करनेवाले गुरु, सत्य-ज्ञानक
और कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले अभीष्ट-सिद्धि-स्वरूप हैं। जिनका चित्त दुर्वासनाओंसे ग्रस्त है, वह मूढ़मति अपने हृदयमें विराजमान आपको जान ही नहीं पाता॥५२॥

तं त्वामहं देववरं वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभिर्ग्रन्थीन्
हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः॥५३॥

हे भगवन्! आप देवताओंक
नियन्ता स्वरूप हैं। मैं आत्मज्ञानकी प्राप्तिक
आया हूँ। आप परमार्थको प्रकाशित करनेवाले अपने उपदेशपरक वचनोंसे मेरे हृदयकी ग्रन्थिको काट डालिए और अपने धाम वैक

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत्॥५४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब सत्यव्रतने इस प्रकार प्रार्थना की, तब मत्स्यरूपधारी आदिपुरुष भगवान्ने उन्हें परब्रह्मका तत्त्वपूर्ण उपदेश दिया॥५४॥

पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः॥५५॥

भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रतक
तथा क्रियाओंका प्रतिपादन करनेवाली पुराण संहिताका वर्णन किया। इसक

भी उपदेश दिया। भगवान्क
उल्लिखित हैं ॥५५॥

अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम्।
नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम्॥ ५६॥

नावमें बैठे हुए राजा सत्यव्रतने ऋषियोंक
द्वारा वर्णित आत्मतत्त्वस्वरूप एवं सनातन ब्रह्मतत्त्वको सुना। अब
उन्हें परब्रह्मतत्त्वक

अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे।
हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः॥ ५७॥

इसक
भगवान् श्रीहरिने हयग्रीव असुरका संहार कर डाला और ब्रह्माक
नींदसे जगनेपर उन वेदोंको उन्हें प्रदान कर दिया ॥५७॥

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः।
विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः॥ ५८॥

भगवान् विष्णुकी कृपासे राजा सत्यव्रतने ज्ञान एवं विज्ञानसे
सम्पन्न होकर इस वर्त्तमान कल्पमें वैवस्वत मनुक
ग्रहण किया है ॥५८॥

सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात्॥ ५९॥

जो अपनी मायासे मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान् विष्णु
और राजर्षि सत्यव्रतक
है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥५९॥

अवतारो हरेर्योऽयं कीर्त्तयेदन्वहं नरः।
संकल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम्॥ ६०॥

जो मनुष्य भगवान् श्रीहरिक
दिन कीर्त्तन करता है, उसक
और वह उत्तम गति प्राप्त करता है ॥६०॥

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीमत्स्यावतारचरितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥

प्रलयकालीन समुद्रमें सो जानेसे ब्रह्माजीकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी। दैत्य हयग्रीव उनक
ले गया था, तब जिन्होंने उस दैत्यका संहार करक
पुनः ब्रह्माजीको दे दिया था और जिन्होंने राजर्षि सत्यव्रत एवं सप्तर्षियोंको परब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले मत्स्यपुराणका उपदेश दिया था, मैं उन समस्तक
श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमः स्कन्धः समाप्तः।

नवमः स्कन्धः

नवम स्कन्धकी कथाका सार

महाराज परीक्षित्के अभिप्रायानुसार मन्वन्तर-वर्णन प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजीने वैवस्वत मनुके वंशके बारेमें बतलाया था। भगवान्के नाभिपद्मसे ब्रह्मा, ब्रह्माके मनसे मरीचि, मरीचिके अधःस्तन सूत्रसे (क्रमिक परम्परासे) श्राद्धदेव मनु हुए। वे ही इस मन्वन्तरमें वैवस्वत मनु हैं। मनुने पुत्रकी कामनासे यज्ञ किया, किन्तु पत्नीकी इच्छा रहनेके कारण इला नामकी कन्या उत्पन्न हुई। मनु इससे प्रसन्न नहीं हुए। वशिष्ठकी कृपासे इलाको सुद्युम्न नामक पुंस्त्वकी प्राप्ति हुई। घटनाक्रमसे सुद्युम्न सुकुमार-वनमें प्रवेश कर गये। महादेवके इस वनमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको अभिशापके कारण स्त्रीत्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः सुद्युम्न अपने अनुचरोंके साथ स्त्रीत्वको प्राप्त हो गये। उन्होंने बुधका पतिके रूपमें वरण किया तथा पुरूरवा नामक पुत्रको प्राप्त किया। पुनः वशिष्ठकी कृपासे प्राप्त महादेवके वरदानसे सुद्युम्न एक मासमें स्त्रीत्व और एक मासमें पुंस्त्व प्राप्त करते रहे। इसी प्रकारसे राज्यका पालन करते हुए उन्हें तीन पुत्रोंकी प्राप्ति हुई। अन्तमें पुरूरवाको राज्य समर्पण करके वे वनमें चले गये।

सुद्युम्नके वनमें जानेके बाद वैवस्वत मनुने भगवदाराधना करके दस पुत्र प्राप्त किये। इनमें पृषध्र गुरु द्वारा नियुक्त होकर रात्रिमें तलवार धारणकर वीरासन लगाये बैठा रहता था। एक दिन एक व्याघ्र गोशालासे एक गायको लेकर भागने लगा। पृषध्र उसके पीछे भागता हुआ व्याघ्रके समीप पहुँचा, किन्तु अन्धकारमें व्याघ्रके भ्रमसे गायका ही वध कर डाला। गुरुके अभिशापसे पृषध्र शूद्रकुलमें उत्पन्न हुआ एवं योगमिश्रा भक्ति द्वारा भगवान्की आराधना करके परमपदको प्राप्त हुआ। मनुके पुत्र करूषसे कारूष नामक क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई। मनुके धार्ष्ट नामके पुत्रसे उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र स्वभावानुसार ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। मनुपुत्र नरिष्यन्तसे शौक्र-परम्परामें उत्पन्न अग्निवेश्यसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई।

मनुपुत्र राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्याके साथ च्यवन मुनिके आश्रममें पहुँचे। सुकन्याने वहाँ वल्मीकके गर्त्तमें दो ज्योतिर्मय पदार्थ देखे। दैव प्रेरणावश उसने उन्हें एक काँटेसे बेध दिया। विद्ध होते ही उनसे रक्त निकलने लगा, साथ ही अनुचरोंके साथ शर्यातिका मल-मूत्र अवरुद्ध हो गया। अन्ततः बहुत स्तव-स्तुति करके उन्होंने मुनिको प्रसन्न किया तथा सुकन्याको उन्हें समर्पित करके विपद्-मुक्त हो गये। वृद्ध च्यवन मुनिने दोनों अश्विनीकुमारोंको सोमरसका पान कराके उनकी कृपासे यौवन प्राप्त किया। शर्यातिके पौत्र रैवतने अपनी पुत्री रेवतीको बलदेवजीके हाथोंमें समर्पण कर दिया।

मनुपुत्र नभगसे उत्पन्न नाभाग दीर्घकाल तक गुरुगृहमें ही रहे, इसलिए उनके भाइयोंने पैतृक धनको आपसमें बाँट लिया और नाभागको उस धनसे सम्पूर्णरूपसे वञ्चित कर दिया। जब नाभाग गुरुगृहसे लौटे, तब पिताके समीप उन्होंने भाइयों द्वारा अपनी प्रतारणाके विषयमें निवेदन किया। पिता नभगने नाभागको आङ्गिरस गोत्रीय मुनियोंके यज्ञमें वैश्वदेव सूक्तका पाठ करनेका उपदेश दिया। ऋषि यज्ञसे अवशिष्ट धनको नाभागको प्रदान करके स्वर्ग चले गये। महादेव नाभागकी परीक्षाके लिए धन-ग्रहण करनेमें बाधा देने लगे, किन्तु नाभागके व्यवहारसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने उनको सारा धन दे दिया, साथ ही ब्रह्मज्ञान भी प्रदान किया। इसके बाद वे अन्तर्धान हो गये।

नाभागसे परम भागवत अम्बरीषका आविर्भाव हुआ। यद्यपि महाराज अम्बरीष अतुल ऐश्वर्यके अधिपति थे, तथापि उन्होंने इसे नश्वर एवं अधोगतिका कारण जानकर युक्तवैराग्यका अवलम्बन किया और भगवदाराधनामें नियुक्त हो गये। वे धन, जन, स्त्री, पुत्रादिमें आसक्तिका परित्याग करके भगवान्के श्रवण-कीर्त्तनादिमें लगे रहते।

एक दिन महाराज अम्बरीष द्वादशी प्रधान एकादशीके उपवासके अन्तमें पारण करनेके लिए उद्यत ही थे कि उसी समय दुर्वासा उनके पास पहुँचे। वहाँ अम्बरीषके घरमें आतिथ्य स्वीकार करके माध्याह्निक कृत्यके समापनके लिए वे कालिन्दी-तट पर चले गये।

वहाँ ब्रह्मके चिन्तनमें निमग्न होनेके कारण दुर्वासा शीघ्र लौटे नहीं। इधर पारणका समय व्यतीत होने लगा। तब ब्राह्मणोंके परामर्शसे अम्बरीषने जलमात्र ग्रहण करके व्रतकी रक्षा की। दुर्वासा योगबलसे यह जान गये। उन्होंने वहाँसे लौटकर अपनी जटा द्वारा कालाग्निके समान एक कृत्या उत्पन्न की और अम्बरीषको भस्मीभूत करनेकी चेष्टा करने लगे। तब भक्तवत्सल भगवान्ने भक्तकी रक्षाके लिए सुदर्शन चक्र भेजा। चक्रने कृत्यानलको ध्वंस कर दिया और फिर दुर्वासा पर आक्रमण किया। दुर्वासा इससे बचनेके लिए पृथ्वीपर सर्वत्र भ्रमण करने लगे। वे ब्रह्मलोक, शिवलोक तक भी पहुँचे, पर कहीं भी उन्हें आश्रय नहीं मिला। अन्तमें वे भगवान् नारायणके शरणापन्न हुए। भगवान् नारायणने अपनी भक्ताधीनताके विषयमें बतलाकर कहा कि वैष्णवापराधीको क्षमा नहीं किया जा सकता। वैष्णवके समीप किये गये अपराधका निस्तार उसी वैष्णवकी कृपासे ही सम्भव हो सकता है। अतः दुर्वासाको अम्बरीषके शरणापन्न होना चाहिए।

दुर्वासा अम्बरीषके चरण-युगलको धारण करके क्षमा माँगना चाहते थे, लेकिन अम्बरीष लज्जित हो गये। उन्होंने सुदर्शनकी स्तुति की, जिससे दुर्वासा विपद्-मुक्त हो गये। दुर्वासाने वैष्णवमें जातिबुद्धिका परित्याग करके अम्बरीषके घरमें भोजन किया। वस्तुतः अम्बरीष दुर्वासाके प्रत्यागमनकी प्रतीक्षा करके संवत्सर-काल पर्यन्त अभुक्तावस्थामें (बिना खाये-पिये) ही रहे। दुर्वासाके भोजन करनेपर अम्बरीषने भोजन किया।

अम्बरीषके तीन पुत्रोंमें-से विरूप-तनय पृषदश्वका पुत्र रथीतर था। रथीतरने निःसन्तान होनेके कारण महर्षि अङ्गिरासे प्रार्थना की। महर्षिने रथीतरकी पत्नीके गर्भसे कुछ पुत्रोंको उत्पन्न किया। मनुपुत्र इक्ष्वाकुके सौ पुत्रोंमें-से विकुक्षिके पुत्र पुरञ्जयने देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता की, इस कारण वे इन्द्रवाह और ककुत्स्थ नामसे भी कहे जाने लगे। पुरञ्जयकी वंश-परम्परामें अनेना, पृथु, विश्वगन्धि, चन्द्र, यमुनाश्व, श्रावस्त, बृहदश्व और कुवलयाश्व हुए। धुन्धु नामक असुरका वध करके कुवलयाश्व 'धुन्धुमार' नामसे विख्यात हुए।

धुन्धुमारकी शौक्र-परम्परामें युवनाश्वने जन्म ग्रहण किया। निःसन्तान होनेके कारण ये अपनी सौ पत्नियोंके साथ वनमें चले गये। उन्होंने वहाँ पुत्रके लिए ऋषियों द्वारा यज्ञ कराया। एक दिन राजाको बड़ी प्यास लगी। तब उन्होंने मुनियों द्वारा रक्षित अपने ही पुत्रोत्पत्तिके कारणोदक (मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल) का पान कर लिया। फलस्वरूप उनकी ही गर्भोत्पत्ति होनेपर यथासमय दक्षिण कुक्षिको भेद करके एक पुत्रका जन्म हुआ। यह बालक दुग्ध-पानके लिए रोने लगा। इन्द्रने अपनी तर्जनी उसके मुँहमें डाल दी। इसीसे इस बालकका नाम मान्धाता हुआ। मान्धाताके प्रतापसे दस्युगण सन्तप्त रहते थे, इसलिए उनका नाम 'त्रसद्दस्यु' हुआ। उनके तीन पुत्र एवं पचास पुत्रियाँ थीं। सभी पुत्रियोंने सौभरि ऋषिको पतिके रूपमें वरण किया। सौभरि यमुनाजलमें निमग्न होकर तपस्यामें लीन थे कि मत्स्यके मैथुनजनित आनन्द पर उनकी दृष्टि पड़ गयी। इससे उनके मनमें मैथुनकी अभिलाषा जाग उठी। उन्होंने मान्धातासे उनकी पुत्रीके लिए प्रार्थना की। अपने योगबलसे उनका रूप अभिनव हो गया। तभी मान्धाताकी सभी पुत्रियोंने उन्हें अपना स्वामी मान लिया। ग्राम्यसुख भोगते हुए जब कुछ समय बीत गया, तब भगवद् विस्मृतिके कारण उनको अनुताप होने लगा। उन्होंने वानप्रस्थका आश्रय लिया। अन्ततः सौभरिने कठोर तपस्या करके आध्यात्मिकी गति प्राप्त की।

मान्धाताके पुत्र पुरुकुत्स थे। उनकी वंश-परम्परामें त्रिशंकु हुए। विप्रकन्या-हरण दोषके कारण वे चण्डालत्वको प्राप्त हो गये थे। विश्वामित्रके प्रभावसे ये सशरीर स्वर्ग चले गये। देवताओंके प्रभावसे उनको अधोपतन होने लगा, किन्तु विश्वामित्र द्वारा आकाशमें स्तम्भित (स्थिर) कर दिये गये। त्रिशंकुके पुत्र हरिश्चन्द्र थे। इनके द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञमें विश्वामित्रने बड़े कौशलसे इनका सर्वस्व हरण कर लिया। इस कारण वशिष्ठके साथ विश्वामित्रका कलह हो गया। हरिश्चन्द्रने वरुणकी कृपासे रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया। वे उसी पुत्र द्वारा वरुणका यज्ञ करेंगे—यह कहकर वरुणके साथ प्रतिश्रुत हो गये। प्रतिश्रुति पालनमें विलम्ब करनेके फलस्वरूप वे उदर-रोग ग्रस्त हो गये। अनन्तर रोहित द्वारा लाये गये अजीगर्त्तके

पुत्र शुनःशेफको नरमेध यज्ञमें वरुणके लिए बलिदान कर दिया और इससे रोगमुक्त हो गये।

रोहितकी वंश-परम्परामें सातवें बाहुक थे। बाहुककी एक पत्नी गर्भवती हुई ही थी कि बाहुककी मृत्यु हो गयी। अन्यान्य सपत्नियोंने गर्भ नष्ट करनेकी इच्छासे उसे अन्नके साथ गर अर्थात् विष प्रदान कर दिया। और्व ऋषिके प्रभावसे गर सहित पुत्र उत्पन्न होनेके कारण बालक सगर नामसे विख्यात हुआ। राजा सगरके यज्ञीय अश्वका अपहरण करके इन्द्र उसे पातालमें कपिलाश्रममें ले गये और उसकी रक्षा की। सागरके पुत्रोंने अश्वानुसन्धान करते हुए पूरी पृथ्वीको खोद डाला। वे अश्वको खोजते हुए पातालमें कपिलदेवके समीप पहुँच गये और उनको ही अश्वापहारक निश्चय कर लिया। इस दुर्बुद्धिके फलस्वरूप वे अपने-अपने शरीरोंके अग्नितेजसे भस्मीभूत हो गये। उनके द्वारा खोदा हुआ स्थान ही बादमें सागरके रूपमें परिणत हो गया। अनन्तर सगरके पौत्र अंशुमान् कपिलके समीप पहुँचे। उनकी कृपासे उन्हें अश्व प्राप्त हुआ, साथ ही सगर-पुत्रोंको सद्‌गति कैसे प्राप्त होगी—इसका उपदेश भी प्राप्त किया। अंशुमान् और उनके पुत्र दिलीपने कपिलके उपदेशसे गङ्गावतरणका प्रयास किया, किन्तु वे असमर्थ रहे। तब दिलीपके पुत्र भगीरथने दीर्घकालपर्यन्त तपस्या करके गङ्गादेवीको सन्तुष्ट किया। भगीरथकी प्रार्थनासे गङ्गादेवीने भूतलमें अवतरण करना स्वीकार कर तो लिया, किन्तु उनका वेग धारण करनेमें कौन समर्थ होगा, मर्त्यलोकमें आने पर पापी उसमें स्नान करके उसमें अपने पापोंका क्षालन करेंगे, तब उन पापोंके प्रक्षालनका क्या उपाय होगा—यह प्रसङ्ग जब उत्थापित हुए, तब भगीरथने देवीके चरणोंमें यह निवेदन किया कि वैष्णवप्रवर महादेव उनके वेगको धारण करेंगे और भगवद् भक्तोंके अङ्ग-स्पर्शसे उनकी पापराशि विदूरित होगी। जिस स्थानपर सगरके पुत्र भस्मीभूत हुए थे, गङ्गादेवीको उसी स्थानपर ले जाया गया। वहाँ उनके पुत्रोंका सारा कल्मष धुल गया और वे स्वर्गको प्राप्त हुए। भगीरथके प्रपौत्र अयुतायुके पुत्र ऋतुपर्ण नलके सखा थे। ऋतुपर्णके प्रपौत्र सौदासने अपने कर्मदोषसे राक्षसत्वको प्राप्त किया था। उन्होंने रतिक्रीड़ामें

आसक्त किसी ब्राह्मणका भक्षण कर लिया था और तब वे उसकी पत्नीके द्वारा अभिशप्त हो गये थे, जिससे मैथुनकालमें उनकी मृत्यु हो गयी। बारह वर्षोंके बाद राक्षसत्वसे मुक्त होकर भी विप्रपत्नीके शापके फलस्वरूप वे निःसन्तान ही रहे। अनन्तर महर्षि वशिष्ठके द्वारा अपनी पत्नीको गर्भाधान कराया, जिससे अश्मक नामक पुत्र हुआ। अश्मकका पुत्र बालिक नारियों द्वारा रक्षित होनेके कारण परशुरामके कोपसे बच गया था। बादमें यही क्षत्रिय वंशका मूल (प्रवर्त्तक) पुरुष हुआ। इसके प्रपौत्र विश्वसहके पुत्र महाराज खट्वाङ्ग थे। इन्होंने देवासुर-संग्राममें देवताओंके पक्षमें युद्ध करके उनको असुरों पर विजय दिलायी थी। देवताओंने इनको वर प्रदान करनेकी अभिलाषा प्रकट की। खट्वाङ्गने प्रदत्त वरकी उपेक्षा करके देवताओंकी कृपासे अपनी परमायु कालको दो घड़ी भर जानकर अनित्य विषयोंकी आसक्तिका परित्याग करते हुए हरिभजनमें चित्त लगा दिया।

खट्वाङ्गके पुत्र दीर्घबाहु हुए, उनके पुत्र रघु और रघुके पौत्र हुए दशरथ। पूर्णब्रह्म भगवान्ने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—इन चार अंशोंसे दशरथका पुत्रत्व अङ्गीकार किया था। रामचन्द्र विश्वामित्र-यज्ञमें मारीच राक्षसका वध, हरधनु-भङ्ग, सीताका पाणिग्रहण, लक्ष्मण एवं सीतादेवीके साथ वनगमन, रावण द्वारा सीतादेवीके अपहरण कर लिये जानेपर समुद्र-बन्धन करते हुए लङ्का-गमन और रावण-वधादि लीलाओंका प्रदर्शन करके अयोध्या लौटे। वहाँ वशिष्ठ द्वारा उनका राज्याभिषेक हुआ।

श्रीरामचन्द्रने यज्ञका अनुष्ठान करके अपना सारा पार्थिव ऐश्वर्य होता एवं आचार्योंको दान कर दिया। आचार्योंने उन समस्त वस्तुओंको लौटा दिया और उनकी स्तुति करते हुए कहा कि जब उन्होंने उनके अज्ञान-तिमिरको दूर कर दिया है, तब उनके लिए और अदेय क्या है? अतःपर भगवान् रामचन्द्र राज्यमें स्थित प्रजाओंकी चित्तवृत्तिको जाननेकी इच्छासे गुप्तरूपसे पर्यटन करते थे। एक बार उन्होंने सीतादेवीके चरित्रके सम्बन्धमें किसीको कटाक्ष करते हुए सुना। तब उन्होंने सीताको लोक-दृष्टिमें त्याग करनेका अभिनय किया। सीतादेवीने बाल्मीकिके आश्रममें आश्रय प्राप्त किया। वहाँ

उन्होंने लव और कुश नामक यमज पुत्रोंको जन्म दिया। बाल्मीकिके पास दोनों पुत्रोंकी रक्षाका भार सौंपकर सीता भू-विवरमें प्रवेश कर गयीं। रामचन्द्र तेरह हजार वर्ष रहे। अग्निहोत्रादि अनुष्ठानोंको करनेके पश्चात् वे प्रपञ्चातीत धाममें चले गये।

इक्ष्वाकुपुत्र निमि यज्ञ आरम्भ करके वशिष्ठको ऋत्विक-कर्ममें वरण करना चाहते थे। वशिष्ठ उससे पहले इन्द्रयज्ञमें वरण हो चुके थे—इस कारण निमिको प्रतीक्षा करनेके लिए कहा। निमिने सोचा—जीवन अनित्य है, अतः उन्होंने इन्द्रयज्ञकी समाप्तितक प्रतीक्षा न करके अन्य ऋत्विक्‌की सहायतासे यज्ञ आरम्भ कर दिया। वशिष्ठने निमिको देहपातका अभिशाप दे दिया। निमिने भी क्रोधित होकर वशिष्ठको उसी प्रकारसे अभिसम्पात दे दिया। इस कारण दोनोंके ही शरीरका पतन हो गया। वशिष्ठने पुनः उर्वशीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया।

ऋत्विकोंने निमिके यज्ञकी समाप्तिके बाद यज्ञस्थलमें समुपस्थित देवताओंके निकट निमिके पुनर्जीवनकी प्रार्थना की। जड़देहका हेयत्व और तुच्छत्व जानकर निमिकी देहधारणमें अनिच्छा रहनेके कारण महर्षियोंने निमिकी देहका मंथन किया। इससे विदेहराज जनककी उत्पत्ति हुई।

ब्रह्माके पुत्र अग्निके तनय सोमने सुरगुरु बृहस्पतिकी पुत्री ताराका अपहरण कर लिया और उसके गर्भसे बुध नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसके परिणामस्वरूप देवताओं एवं असुरोंमें संग्राम छिड़ गया। अन्ततः ब्रह्माने ताराका उद्धार करके उसे बृहस्पतिको लौटा दिया। इससे समरानल शान्त हो गया। बुधसे पुरूरवाकी उत्पत्ति हुई। उर्वशी पुरूरवाके रूपपर आकृष्ट हो गयी। वह उनके साथ कुछ समय तक रही और बादमें अपने लोकमें चली गयी। उर्वशीके चले जानेपर पुरूरवा प्रायः उन्मत्त-से रहते थे। पुनः एक रात्रिके लिए उनका उर्वशीसे साक्षात्कार हुआ। उर्वशीके भावी विरहकी आशङ्का उपस्थित होनेपर उसने पुरूरवाको गन्धर्वोंकी उपासना करनेके लिए कहा। पुरूरवाकी उपासनासे सन्तुष्ट होकर गन्धर्वोंने उनको एक अग्निस्थाली प्रदान कर दी। पुरूरवा इस अग्निस्थालीको उर्वशी

माानने लगे। जब भ्रम दूर हुआ, तब अग्निस्थालीको त्याग करके उर्वशीका ध्यान करने लगे। उनके चित्तमें कर्मकाण्डीय वेद-त्रयीका आविर्भाव हुआ। पुरूरवाने उर्वशीके गर्भसे छह पुत्र उत्पन्न किये। उनमें-से विजय नामक पुत्रके वंशमें जह्नु मुनिने जन्म ग्रहण किया, जो गण्डूष मात्रमें (अञ्जलिमें) ही गङ्गाका पान कर गये। जह्नुके पौत्र कुशाम्बुसे गाधिने जन्म ग्रहण किया। ऋचिक मुनिने गाधिकी पुत्रीसे विवाह किया। उनके पुत्र जमदग्निसे उत्पन्न परशुरामने कामधेनुका अपहरण करनेवाले कार्त्तवीर्यार्जुनका वध कर दिया था और इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था।

जमदग्निकी पत्नी रेणुका जल लानेके लिए गङ्गा गयी थीं। वहाँ वे अप्सराओंके साथ क्रीड़ासक्त गन्धर्वराजके प्रति आसक्त हो गयीं। इसपर जमदग्निके आदेशसे परशुरामने उनका वध कर दिया। बादमें परशुरामके अनुरोधसे तथा जमदग्निके प्रभावसे रेणुकाको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। पिताके विद्वेषीके प्रतिशोध लेनेकी भावनासे कार्त्तवीर्यके पुत्रोंने परशुरामकी अनुपस्थितिके समय ध्यानमग्न जमदग्निको मार डाला। पिताका वध देखकर परशुराम क्रोधित हो गये और कार्त्तवीर्यके पुत्रोंका विनाश कर दिया, इससे रक्तकी नदी प्रवाहित हो गयी। बादमें पिताकी देहमें मस्तक योजित करके परशुरामने विविध यज्ञोंके द्वारा परमात्माकी आराधना की। जमदग्नि स्वशरीर प्राप्त करके सप्तर्षिमण्डलमें सप्तम ऋषित्वको प्राप्त हुए। परशुराम आगामी मन्वन्तरमें वेद-प्रवर्त्तक होंगे।

गाधिके वंशमें विश्वामित्रकी उत्पत्ति हुई। ये तपके प्रभावसे ब्राह्मण हो गये थे। हरिश्चन्द्रके यज्ञमें पशुरूपमें लाये गये शुनःशेफ प्रजापतिगणकी कृपासे शापमुक्त होकर गाधिवंशमें देवरात नामसे विख्यात हुए।

पुरूरवाके वंशमें आयुके पुत्र द्युमान्‌से उत्पन्न अलर्क बहुत दिनोंतक राजसिंहासनपर अधिरूढ़ रहे। अलर्ककी वंश-परम्परामें रजिने देवराज इन्द्रको जीत लिया था।

राजा नहुषने इन्द्रकी पत्नी शचीके प्रति धृष्टतापूर्ण व्यवहार किया था। तब अगस्त्यादि ऋषियोंके अभिसम्पातसे वे सर्पयोनिको

प्राप्त हुए थे। उनके पुत्र ययाति राजा बने। उन्होंने शर्मिष्ठा द्वारा कुँएमें निक्षिप्त शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानीको कूपसे निकाला। तब इस कन्याकी प्रार्थनासे उन्होंने उसका पाणिग्रहण किया। एक बार दैत्यपति वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा अपनी सखियों और देवयानीके साथ जलक्रीड़ा कर रही थी। इसी समय महादेव एवं पार्वतीका आगमन हुआ। सहसा उन्हें देखकर वे सब घाटपर आयीं और अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। शर्मिष्ठाने भ्रमवश देवयानीके वस्त्र परिहित कर लिये। इससे क्रुद्ध होकर देवयानी शर्मिष्ठाको कटु वाक्य सुनाने लगी। शर्मिष्ठा यह सुनकर क्रोधसे तिलमिला उठी और देवयानीको कुँएमें ढकेलकर वहाँसे चली गयी। दैवयोगसे उस स्थानपर ययातिका आगमन हुआ। उन्होंने देवयानीको कुँएमें पड़ा हुआ देखा, तो उसे वहाँसे बाहर निकाल लिया। देवयानीने ययातिको पतिके रूपमें वरण कर लिया। घर लौटकर उसने अपने पिताको शर्मिष्ठाके व्यवहारके विषयमें सब बतलाया। यह सुनकर शुक्राचार्य वृषपर्वाके प्रति क्रोधित हो उठे। वृषपर्वाने स्तव-स्तुतिके द्वारा शुक्राचार्यको सन्तुष्ट किया एवं गुरुके आदेशानुसार शर्मिष्ठाको देवयानीकी दासीके रूपमें समर्पण कर दिया। देवयानी शर्मिष्ठाको लेकर ययातिके घर चली गयी। देवयानीके पुत्रवती होनेपर शर्मिष्ठाने भी पुत्रलिप्सासे ऋतुकालमें ययातिके सङ्गकी प्रार्थना की। शर्मिष्ठाको सपत्नी जानकर देवयानी ईर्ष्यासे भर उठी और पिताके पास जाकर यह वृत्तान्त निवेदन कर दिया। शुक्राचार्यने ययातिको जराग्रस्त होनेका अभिशाप दे दिया। बादमें ययातिके अनुरोधसे शुक्राचार्यने उन्हें अन्यके यौवनके साथ अपने वार्द्धक्यके विनिमयकी शक्ति प्रदान कर दी। ययातिने अपने कनिष्ठ पुत्र पुरूसे यौवन ग्रहण किया और विषय-भोग करने लगे।

बहुत समय तक विषयभोग करके ययतिको भोगके अनित्यत्वकी उपलब्धि हुई। उन्होंने पत्नीको अपने आचरणानुसार बकरेके रूपक-इतिहासका वर्णन किया एवं वैराग्यका आश्रय करके भगवद् भजनमें लगकर परम गतिको प्राप्त किया।

ययाति-तनय पुरुके वंशमें दुष्मन्तका जन्म हुआ। दुष्मन्त शिकारके लिए गये थे कि वहीं विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलासे उन्होंने विवाह

कर लिया। मेनका शकुन्तलाको वनमें ही छोड़कर चली गयी थी। महर्षि कण्वने उसका पालन किया था। राजा दुष्मन्त शकुन्तलाको गर्भवती करके राजधानी लौट गये। यथाकाल शकुन्तलाने एक पुत्र उत्पन्न किया। वह उसे राजाके समीप लायी, परन्तु राजाने उसे स्वीकार करनेसे मना कर दिया। बादमें दैववाणीके आदेशसे दुष्मन्तने उसे अङ्गीकार कर लिया।

दुष्मन्तके पुत्र भरत पितृ-वियोगके पश्चात् राजसिंहासनपर विराजमान हुए। वे भगवान् विष्णुकी आराधना करते थे और ब्राह्मणोंको बहुत दान करते थे। वे निःसन्तान थे, इसलिए उन्होंने बृहस्पति द्वारा अपनी भाभी ममताके गर्भसे उत्पन्न भरद्वाजका पुत्रके रूपमें वरण कर लिया।

भरद्वाजकी वंश-परम्परामें उत्पन्न रन्तिदेव समस्त प्राणियोंमें भगवद्भावका दर्शन करते थे और काय-मनो-वाक्यसे भगवत् सेवामें नियुक्त रहते थे। वे अपना आहार्य दूसरोंको प्रदान करके अनशनमें ही दिन यापन किया करते थे। एक बार उन्होंने मात्र जलपान करके अड़तालीस दिन बिताये। बादमें यदृच्छाक्रमसे प्राप्त भोजन-ग्रहणकालमें कोई अतिथि आया। राजाने अपना आहार अतिथिको प्रदान कर दिया तथा जलपान करनेके लिए तत्पर हुए ही थे कि कोई प्यासा अतिथि भी वहाँ आ गया। उन्होंने उसे जल प्रदान करके भगवद्भक्तकी सहिष्णुताका परिचय प्रदान किया। भगवान्ने भक्तकी महिमा प्रदर्शनके छलसे उस लीलाका अभिनय करके अन्तमें उनको अन्तरङ्ग सेवाका अधिकार प्रदान किया।

भरद्वाजवंशीय गर्ग क्षत्रिय होनेपर भी उनके पुत्र शिनिसे गार्ग्य ब्राह्मण उत्पन्न हुए। उनकी शौक्र परम्परामें मुद्गलसे मौद्गल ब्राह्मण कुलकी उत्पत्ति हुई। मुद्गलकी कन्या अहल्यासे गौतमका विवाह हुआ। गौतमके प्रपौत्र हुए कृप। द्रोणाचार्यने इन्हींकी बहन कृपीसे विवाह किया।

मुद्गलके पुत्र दिवोदासके वंशमें द्रुपदका जन्म हुआ। उनके पुत्र हुए धृष्टद्युम्न और पुत्री हुई द्रौपदी। शिनिके वंशधर अजमीढ़का पौत्र था कुरु। कुरुसे शौक्र-परम्परामें हुए प्रतीप और उनके पुत्र

हुए शान्तनु और देवापि। शान्तनुने कनिष्ठ होकर भी पिताका राज्य ग्रहण कर लिया, जिसके फलस्वरूप बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणोंके परामर्शसे उन्होंने तब बड़े भाई देवापिको राज्य प्रदान करनेकी अभिलाषा व्यक्त की, किन्तु देवापि मन्त्रियोंके षड्यन्त्रसे राज्यपदके अनुपयुक्त प्रमाणित हुए। तब शान्तनु पुनः राजा हुए और अनावृष्टि दूर हुई। शान्तनुके औरससे गङ्गाके गर्भसे बारह महाजनोंमें-से अन्यतम भीष्म एवं दासकन्याके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। दासकन्या सत्यवती और पराशरके पुत्र व्यासदेव थे। उन्होंने परम गुह्य भागवत-रहस्य शुकदेवजीको प्रदान किया था। श्रीव्यासदेवने विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर नामक तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया। धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र और दुःशला नामकी कन्या थी। पाण्डुके युधिष्ठिरादि पाँच पुत्र थे। तृतीय पाण्डव अर्जुनके औरससे अभिमन्युका जन्म हुआ। अभिमन्युपुत्र परीक्षित् श्रीमद्भागवतके श्रोता हैं, उनके जन्मेजयादि चार पुत्र हैं।

ययाति-तनय अनुसे पुत्र-पौत्रादि क्रमसे रोमपाद उत्पन्न हुए। उन्होंने राजा दशरथकी कन्या शान्ताको पालिता पुत्रीके रूपमें ग्रहण किया। ययातिके पुत्रोंसे यादव, माधव एवं वृष्णि वंशकी उत्पत्ति हुई। यदुके वंशमें उत्पन्न विदर्भसे अनमित्रके वृष्णि नामक पुत्र हुए और उनके पुत्र हुए अक्रूर।

विदर्भवंशमें अन्धकके वंशानुक्रममें आहुक हुए। उनके दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन। वसुदेवने देवककी सात पुत्रियोंसे विवाह किया। उग्रसेनका पुत्र था कंस।

यदुपुत्र क्रोष्टाके वंशमें वसुदेव उत्पन्न हुए। वसुदेवकी बहन पृथाका (नामान्तरसे कुन्तीका) विवाह राजा पाण्डुसे हुआ। इनकी कन्यकावस्थामें ही कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वसुदेवकी देवकी नामक पत्नीसे भगवान् वासुदेवने अष्टमपुत्रके रूपमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीका भार हरण किया था। वसुदेवकी एक और पत्नी रोहिणीसे बलदेवका आविर्भाव हुआ।

❀ ❀ ❀

श्रीमद्भागवतम्

नवमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुक

श्रीराजोवाच—

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने सब मन्वन्तरों एवं उन मन्वन्तरोंमें हुए असीम पराक्रमशाली भगवान् श्रीहरिक ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र एवं मधुर लीलाओंका वर्णन किया और मैंने आपसे उन सबका श्रवण भी किया॥१॥

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया॥ २॥

स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्।
त्वत्तस्तस्य सुताः प्रोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः॥ ३॥

मैंने आपसे सुना कि सत्यव्रत नामक
थे। उन्होंने पिछले कल्पक
तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। वे ही इस कल्पमें (परवर्त्तीकालमें)
वैवस्वत मनु (विवस्वान्‌क
राजपुत्रोंका भी वर्णन किया॥२-३॥

तेषां वंशं पृथग् ब्रह्मन् वंशानुचरितानि च।
कीर्त्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः॥ ४॥

हे महाभाग! अब आप उन राजाओंक
वंशजोंक
हृदयमें सदैव ऐसी कथाओंको सुननेकी उत्कण्ठा बनी रहती है॥४॥

ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये।
तेषां नः पुण्यकीर्त्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान्॥ ५॥

अब आप वैवस्वत मनुक
उन पुरुषोंक
उत्पन्न होंगे और इस समय विद्यमान हैं॥५॥

श्रीसूत उवाच—

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम्।
पृष्टः प्रोवाच भगवान् शुकः परमधर्मवित्॥ ६॥

श्रीसूतने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! ब्रह्मवादियोंकी सभामें राजा परीक्षित्ने परमधर्मको जाननेवाले तथा परम पूजनीय श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जब यह पूछा, तब वे इस प्रकार कहने लगे—॥६॥

श्रीशुक उवाच—

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परन्तप (शत्रुओंको) ताप देनेवाले परीक्षित्! तुम मनुक
वर्षोंमें भी उनक
भी जितना सम्भव होगा, मैं कहूँगा॥७॥

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यत्र किञ्चन॥ ८॥

जो उत्कृष्ट-निकृष्ट (अच्छे-बुरे), छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें
आत्माक
कल्पक
देनेवाला जगत् अथवा अन्य क

तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोषो हिरण्मयः।
तस्मिन् जज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः॥ ९॥

महाराज! उन्हीं परमपुरुषकी नाभिसे सुवर्णमय पद्मकोष उत्पन्न हुआ, जिसमें चार मुखवाले ब्रह्माका आविर्भाव हुआ॥९॥

मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः॥ १०॥

ब्रह्माजीक

दाक्षायणीक

विवस्वान् (सूर्य)का जन्म हुआ॥१०॥

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥ ११॥

इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रञ्च नभगञ्च कविं विभुः॥ १२॥

हे भारत! विवस्वान्‌की पत्नी संज्ञासे श्राद्धदेव मनुने जन्म लिया। इन्द्रियोंको जीतनेवाले महामनस्वी मनु और उनकी पत्नी श्रद्धासे दस पुत्र—इक्ष्वाक

पृषध्र, नभग और कवि उत्पन्न हुए॥११-१२॥

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वशिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोद्विभुः॥ १३॥

वैवस्वत मनुकी एक भी सन्तान नहीं थी। अतः तत्त्वको जाननेवाले और महान् ऐश्वर्यशाली वशिष्ठजीने उन्हें सन्तान प्राप्त करानेक

तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता॥ १४॥

यज्ञक

करनेवाली वैवस्वत मनुकी पत्नी श्रद्धा होताक

पास गयी। उसने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनसे एक कन्याक
लिए प्रार्थना की॥१४॥

प्रेषितोऽध्वर्युणा होता व्यचरत् तत्समाहितः।
गृहीते हविषि वाचा वषट्कारं गृणन् द्विजः॥ १५॥

"अरे! यज्ञमें आहुति डालो"—मुख्य पुरोहित अध्वर्युने (यजुर्वेदवित्ने) जब यह आदेश किया, तो होता बने ब्राह्मणने संयत मनसे हवन-सामग्री ली और वह उसे यज्ञकी अग्निमें डालने लगा। तभी उसे महारानी श्रद्धाकी कन्या-प्राप्तिकी प्रार्थना याद आ गयी। अतः उसने मुखसे वषट्कारका उच्चारण किया और मनमें मनु-पत्नीक
प्रार्थित विषयका ध्यान करते हुए यज्ञक

होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत्।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातितुष्टमना गुरुम्॥ १६॥

मनुने तो पुत्रक
होताने मनुकी पत्नीक
इस व्यभिचारक
इस विपरीत फलको देखकर मनु अधिक प्रसन्न नहीं हुए और गुरु वशिष्ठसे कहने लगे—॥१६॥

भगवन् किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम्।
विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया॥ १७॥

हे भगवन्! आप तो ब्रह्मको जाननेवाले हैं अर्थात् वैदिक
मन्त्रोंक
क
प्रकारसे विपर्यय अर्थात् उल्टा फल होना ठीक नहीं है॥१७॥

यूयं ब्रह्मविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः।
कुतः सङ्कल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव॥ १८॥

आप लोग तो ब्रह्मवादी हैं। आपका चित्त संयमित है।
तपस्याक

देवताओंक
भी अन्य (उल्टे) फल देनेवाले नहीं होते। तब किस कारणसे ऐसा हुआ?॥१८॥

निशम्य तद्वचस्तस्य भगवान् प्रपितामहः।
होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम्॥१९॥

मनुक
यज्ञमें होताने व्यतिक्रम अर्थात् विपरीत कार्य किया है। अतः उन्होने सूर्यपुत्र मनुसे कहा—॥१९॥

एतत् सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः।
तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजस्त्वं स्वतेजसा॥२०॥

राजन्! यज्ञमें तुम्हारे होताक
सङ्कल्पक
मैं अपने तपक

एवं व्यवसितो राजन् भगवान् स महायशाः।
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया॥२१॥

परीक्षित्! महायशस्वी भगवान् वशिष्ठने इस प्रकार निश्चय करक
आदिपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी स्तुति की॥२१॥

तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः।
ददाविलाऽभवत् तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः॥२२॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर उन्हें इच्छित फल प्रदान किया, जिससे वह इला नामकी कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुरुषमें परिणत हो (बदल) गयी॥२२॥

स एकदा महाराज विचरन् मृगयां वने।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम्॥२३॥
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान्।
दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम्॥२४॥

महाराज! एक समयकी बात है, वीर सुद्युम्न क
साथ सिंधु देशक
कर रहे थे। उनक
धनुष एवं अद्भुत बाणोंको लेकर वे हिरनोंका पीछा करते-करते उत्तर दिशामें बहुत दूर निकल गये॥२३-२४॥

सुकुमारवनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।
यत्रास्ते भगवान् शर्वो रममाणः सहोमया॥ २५॥

उत्तर दिशामें मेरु पर्वतकी तलहटीमें एक अति सुकुमार वन है। वहाँ भगवान् शिव उमाक
उसी वनमें चले गये॥२५॥

तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वञ्च वडवां नृप॥ २६॥

हे राजन्! शत्रुओंका दमन करनेमें निपुण महाराज सुद्युम्नने उस वनमें प्रवेश करते ही देखा कि वह स्वयं स्त्री हो गये हैं और उनका घोड़ा, घोड़ी बन गया है॥२६॥

तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम्।
दृष्ट्वा विमनासेऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम्॥ २७॥

उनक
हो गया है, वे सब स्त्री हो गये हैं। यह देखकर वे सब बहुत दुःखी हो गये और एक-दूसरेका मुख देखने लगे॥२७॥

श्रीराजोवाच—

कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवन् कृतः।
प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः॥ २८॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! उस स्थानमें ऐसा विचित्र गुण क
दिया था? कृपा करक
कौतूहल हो रहा है॥२८॥

श्रीशुक उवाच—

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः।
दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन्॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—एक बार बड़े-बड़े व्रतधारी ऋषि अपने तेजसे समस्त अन्धकारको (तथा अन्य समस्त दीप्तियोंको) नष्ट करते हुए और सभी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए भगवान् शङ्करका दर्शन करनेक

तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम्।
भर्तुरङ्कात् समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात्॥ ३०॥

उस समय देवी अम्बिका वस्त्रहीन थीं। अचानक ऋषियोंको आया देख वे बहुत ही लज्जित हो गयीं। वे शीघ्र ही अपने पतिकी गोदसे उतरीं और अपने कमरवाले भागको (नीवीको) वस्त्रसे ढक लिया॥३०॥

ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम्॥ ३१॥

ऋषियोंने जब देखा कि भगवान् शिव और पार्वती इस समय विहार कर रहे हैं, तो वे वहाँसे लौटकर भगवान् नर-नारायणक आश्रममें आ गये॥३१॥

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद्भवेदिति॥ ३२॥

तभी भगवान् शिवने अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेक कहा—मेरे अतिरिक्त जो भी पुरुष इस वनमें प्रवेश करेगा, वह स्त्री हो जाएगा॥३२॥

तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयन्ति हि।
सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनम्॥ ३३॥

यही कारण है कि इस वनमें कोई भी पुरुषरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतः राजा सुद्युम्न स्त्री रूपमें ही अपने

स्त्री बने हुए अनुचरोंक
करने लगे॥३३॥

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम्।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः॥ ३४॥

उसी समय चन्द्रमाक
स्त्रियोंसे घिरी हुई एक अति सुन्दर स्त्री उनक
विचरण कर रही है। भगवान् बुधक
स्त्रीक

सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम्।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम्॥ ३५॥

उस सुन्दरीक
चाह उदित हो गई। फलस्वरूप बुधने स्त्री बने हुए सुद्युम्नसे पुरूरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया॥३५॥

एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः।
सस्मार स कुलाचार्यं वशिष्ठमिति शुश्रुम॥ ३६॥

परीक्षित्! इस प्रकार मनुक
हो गये। ऐसा सुना जाता है कि स्त्री अवस्थाको प्राप्त होनेपर सुद्युम्नने क

स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः।
सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम्॥ ३७॥

वशिष्ठजी सुद्युम्नकी इस शोचनीय दशाको देखकर अत्यन्त दुःखी हो गए। कृपा-वश होकर वे उन्हें पुनः पुरुष रूप प्राप्त कराना चाहते थे। अतः उन्होने भगवान् शङ्करकी आराधना की॥३७॥

तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन्।
स्वाञ्च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते॥ ३८॥

मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम्॥ ३९॥

हे राजन्! वशिष्ठजीकी आराधनासे भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट हुए, वे वशिष्ठजीकी इच्छा पूरी करना चाहते थे और अपने वचनोंकी सत्यताकी रक्षा करना चाहते थे, अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—'हे मुने! तुम्हारे गोत्र (परम्परा)में उत्पन्न तुम्हारा यह शिष्य सुद्युम्न एक माह पुरुष और एक माह स्त्री रहेगा। इसी व्यवस्थामें सुद्युम्न अपनी इच्छासे पृथ्वीका पालन करेगा॥३८-३९॥

आचार्यानुग्रहात् कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया।
पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः॥४०॥

आचार्य वशिष्ठकी कृपासे सुद्युम्न शिवजी द्वारा बताई इस व्यवस्थाक

मास स्त्री होनेक

शासन कर रहे थे, परन्तु प्रजा उनसे सन्तुष्ट नहीं थी॥४०॥

तस्योत्कलो गयो राजन् विमलश्च त्रयः सुताः।
दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः॥४१॥

राजन्! सुद्युम्नक

वे सब बहुत धार्मिक थे और सभी दक्षिणापथक

ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः।
पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम्॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवम स्कन्धे इलोपाख्यानं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

बहुत समयक

सुद्युम्नने अपने पुत्र पुरूरवाको राज्य दे दिया और स्वयं तपस्याक लिए वनमें चले गये॥४२॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

पृषध्र आदि मनुक

श्रीशुक उवाच—

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब वैवस्वत मनु श्राद्धदेवक
मनु श्राद्धदेवने पुत्रकी इच्छासे यमुनाजीक
तपस्या की॥१॥

ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम्।
इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्रान् लेभे स्वसदृशान् दश॥ २॥

तपस्याक
श्रीहरिकी आराधना की और अपने ही समान दस पुत्र प्राप्त किये। इनमें सबसे बड़े इक्ष्वाक

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः।
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः॥ ३॥

उन मनुपुत्रोंमेंसे एकका नाम पृषध्र था। गुरु वशिष्ठने उसे गायोंका रक्षक नियुक्त किया था। वह रातक
रहता था अर्थात् खड्ग हाथमें लेकर बड़ी सावधानीसे गायोंकी रक्षा करता था॥३॥

एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे॥ ४॥

एक बार रातमें वर्षा हो रही थी। गायें सोई हुई थीं। अचानक गौशालामें एक बाघ घुस आया। बाघको देखकर गायें भयभीत होकर खड़ी हो गयीं और गौशालामें इधर-उधर भागने लगीं॥४॥

एकां जग्राह बलवान् सा चुक्रोश भयातुरा।
तस्यास्तु क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽनुससार ह॥ ५॥
खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि।
अजानन्नच्छिनोद् बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया॥ ६॥

उस बलवान् बाघने एक गायपर हमला कर दिया। वह गाय अत्यन्त भयभीत हो गयी और आर्त्त स्वरमें रम्भाने लगी। पृषध्रने जैसे ही गायका भयपूर्ण स्वर सुना, वह दौड़कर गायक पास आया। रातका समय था, घनघोर घटाएँ छायी हुई थीं। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, तारे भी दिखायी नहीं देते थे। ऐसे समयमें पृषध्रने शीध्रतासे अपनी तलवार निकाली और बड़ी तेजीसे अनजानेमें बाघक
काट दिया॥ ५-६॥

व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः।
निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन्॥ ७॥

तलवारकी नोकसे बाघका भी कान कट गया। वह अत्यधिक भयक

मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा।
अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः॥ ८॥

शत्रुओंका दमन करनेवाला पृषध्र यही समझ रहा था कि उसने बाघको मार गिराया है, परन्तु रात बीत जानेपर जब सुबह हुई, तब उसने देखा कि उसने तो गायको ही मार दिया है। इससे वह बड़ा ही दुःखी हुआ॥ ८॥

तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भविताऽमुना॥ ९॥

यद्यपि पृषध्रने अनजानेमें यह अपराध किया था, फिर भी क
क्षत्रिय नहीं रहोगे, शूद्र होकर जन्म ग्रहण करोगे'॥ ९॥

एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात् कृताञ्जलिः।
अधारयद्व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम्॥ १०॥

अपने क
कर लिया। इसक
लगनेवाले ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण किया॥१०॥

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः॥ ११॥

विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः॥ १२॥

आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः॥ १३॥

अब तो पृषध्र समस्त आसक्तियोंसे मुक्त हो गया। उसकी इन्द्रियाँ संयमित हो गयीं, चित्त पूरी तरहसे शान्त हो गया। वह निःस्पृह भावसे रहने लगा, उसकी किसी भी वस्तुकी प्राप्ति अथवा संग्रहकी इच्छा समाप्त हो गयी। दैववश उसे जो क
जाता, उसीसे वह अपना जीवन-यापन करता। भक्तियोगक
उसक
गया। बिना किसी कारणक
इस प्रकार उसने सभी प्राणियोंक
भगवान् वासुदेवक
आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट रहकर और अपने संयत चित्तको परमात्मामें लगाकर समाधि अवस्थामें रहता। कभी-कभी तो वह जड़, अन्धे एवं बहरेक

एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम्।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः॥ १४॥

इस प्रकार पृषध्र मुनि बन गया। एक दिन वह वनमें गया। वहाँ उसने देखा कि दावानल धधक रहा है। मुनि पृषध्रने उसी

अग्निमें अपनी देहको भस्म कर दिया और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गया॥१४॥

कविः कनीयान् विषयेषु निस्स्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम्।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं।
विवेश कैशोरवयाः परं गतः॥ १५॥

वैवस्वत मनुका सबसे छोटा पुत्र था कवि। विषयोंमें उसकी तनिक भी रुचि न थी। युवावस्थासे पहले ही उसने राजपाटका परित्याग कर दिया था और अपने बन्धुओंको लेकर वनमें चला गया था। वहाँ उसने स्वयंप्रकाश परमपुरुष परमात्माका हृदयमें चिन्तन करते हुए किशोरावस्थामें ही परमपदको प्राप्त कर लिया॥१५॥

करूषान्मानवादासन् कारूषाः क्षत्रजातयः।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः॥ १६॥

मनुपुत्र करूषसे कारूष नामक
उत्तरापथक
आचरण करनेवाले थे॥१६॥

धृष्टाद्धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः॥ १७॥

मनुपुत्र धृष्टसे धार्ष्ट नामक एक सुविख्यात क्षत्रिय जातिकी उत्पत्ति हुई। धार्ष्ट लोगोंने उन शरीरोंसे ही ब्राह्मणक
लिया था। मनुपुत्र नृगसे सुमति नामका पुत्र हुआ। सुमतिका पुत्र भूतज्योति और भूतज्योतिका पुत्र वसु था॥१७॥

वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम्॥ १८॥

वसुका पुत्र प्रतीक और प्रतीकका पुत्र ओघवान् था। ओघवान्क पुत्रका नाम भी ओघवान् ही था। उनकी ओघवती नामकी एक पुत्री भी थी। ओघवतीका विवाह सुदर्शनसे हुआ॥१८॥

चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत्।
तस्य मीढ्वांस्ततः पूर्ण इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः॥ १९॥

मनुक
नाम था ऋक्ष, ऋक्षसे मीढ्वान्, मीढ्वान्से पूर्ण और पूर्णक
हुए इन्द्रसेन॥१९॥

वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत्।
उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत्॥ २०॥

इन्द्रसेनसे वीतिहोत्र उत्पन्न हुए। वीतिहोत्रक
सत्यश्रवासे उरुश्रवा और उरुश्रवाक

ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः।
कानीन इति विख्यातो जातूकर्णो महानृषिः॥ २१॥

देवदत्तसे अग्निवेश्यका जन्म हुआ, जो साक्षात् स्वयं अग्निदेव ही थे। ये अग्निवेश्य ही बादमें कानीन एवं जातूकर्ण ऋषिक नामसे विख्यात हुए॥२१॥

ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप।
नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु॥ २२॥

राजन्! इन्हीं अग्निवेश्यसे 'अग्निवेश्यायन' नामक ब्राह्मण-क
जन्म हुआ है। यह नरिष्यन्तक
अब दिष्टक

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात्॥ २३॥

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः॥ २४॥

दिष्टक
भिन्न है, जिसकी कथा मैं आगे चलकर कहूँगा। यह दिष्टपुत्र
नाभाग अपने कर्मक

भलन्दन हुआ, भलन्दनका वत्सप्रीति और वत्सप्रीतिका पुत्र था प्रांशु। प्रांशुका पुत्र प्रमति हुआ। प्रमतिका खनित्र, खनित्रका चाक्षुष और चाक्षुषका पुत्र विविंशति हुआ॥२३-२४॥

विविंशतो सुतो रम्भः खनीनेत्रोऽस्य धार्मिकः।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप॥ २५॥

विविंशतिक

रम्भ और खनिनेत्र—दोनों ही अत्यन्त धार्मिक थे। खनीनेत्रक

थे राजा करन्धम॥२५॥

तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।
संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरःसुतः॥ २६॥

करन्धमसे अवीक्षित् और अवीक्षित्से मरुत्त हुए। हे महाराज परीक्षित्! ये अवीक्षित्क

अङ्गिराक

यज्ञ कराया था॥२६॥

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्योऽस्ति कश्चन।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किञ्चास्त्यस्य शोभनम्॥ २७॥

मरुत्त राजाक

हुआ। इस यज्ञक

अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर थे॥२७॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः॥ २८॥

इस यज्ञमें इन्द्रने सोमरसका अधिक मात्रामें पान कर लिया था, जिसक

इतनी अधिक दक्षिणा मिली कि वे पूर्णतः तृप्त हो गए थे। इस यज्ञमें मरुद्गणोंने भोजन परोसा था और विश्वेदेव सभासद् थे॥२८॥

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद्राजवर्द्धनः।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः॥ २९॥

मरुत्तक
सुधृति और सुधृतिसे नर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥२९॥

तत्सुतः केवलस्तस्माद् धुन्धुमान् वेगवांस्ततः।
बुधस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः॥ ३०॥

नरका पुत्र क
वेगवान्से बुध और बुधसे राजा तृणबिन्दुका जन्म हुआ। वे पृथ्वीपर यशस्वी सम्राट् हुए॥३०॥

तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम्।
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेलविलाभवत्॥ ३१॥

तृणबिन्दु सुयोग्य एवं गुणोंक
अलम्बुषा देवीने इनका पतिक
विशाल आदि कई पुत्र और इलविला नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई॥३१॥

यस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम्।
प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरः पितुः॥ ३२॥

महायोगी ऋषि विश्रवाने अपने योगेश्वर पिता ऋषि पुलस्त्यजीसे तत्त्वविद्या प्राप्त करक
क

विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः।
विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्॥ ३३॥

तृणबिन्दुक
धूम्रक
नामकी पुरीको बसाया॥३३॥

हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः।
तत्पुत्रात् संयमादासीत् कृशाश्वः सहदेवजः॥ ३४॥

विशालसे हेमचन्द्र, हेमचन्द्रसे धूम्राक्ष, धूम्राक्षसे संयम और संयमक

कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूद्योऽश्वमेधैरिडस्पतिम्।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रिताम्॥ ३५॥

सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्पुत्रो जनमेजयः।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रेभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे द्वितीयोऽयायः॥

कृशाश्वक
ईश्वर भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना की और उस उत्तम गतिको प्राप्त किया, जो महायोगियोंको प्राप्त होती है। सोमदत्तक
नाम सुमति था। सुमतिसे जनमेजयका जन्म हुआ। इस प्रकार राजा विशालक
कीर्त्तिका विस्तार किया॥३५-३६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

महर्षि च्यवन और सुकन्याका विवाह तथा राजा शर्यातिका वंश

श्रीशुक उवाच—

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः सम्बभूव ह।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमहरूचिवान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनुक
वेदोंमें पारङ्गत थे। उन्होंने अङ्गिरा आदि ऋषियोंको यज्ञमें दूसरे दिनक

सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना।
तया सार्द्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम्॥ २॥

राजा शर्यातिकी एक कमलनयना पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था। एक बार वे अपनी पुत्रीक
च्यवन ऋषिक

सा सखीभिः परिवृता विचिन्वत्यङ्घ्रिपान् वने।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी॥ ३॥

सुकन्या अपनी सखियोंक
फल एकत्र करने लगी, तभी उसने देखा कि बाँबी (दीमकों द्वारा एकत्रित की हुई मिट्टी) क
चमक रही हैं॥३॥

ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै।
अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक् ततो बहिः॥ ४॥

दैवकी क
होकर एक काँटेसे उन दोनों ज्योतिर्मय पदार्थोंको बेध दिया। बेधते ही उनमें-से रक्त बहने लगा॥४॥

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानाञ्च तत्क्षणात्।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत्॥ ५॥

सुकन्याक
मल-मूत्र रुक गया। यह देखकर राजा शर्यातिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने सैनिकोंसे कहने लगे— ॥५॥

अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम्।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम्॥ ६॥

'अहो! कैसी आश्चर्यकी बात है। तुम लोगोंमें-से किसीने भृगुनन्दन च्यवनजीका कोई अनिष्ट तो नहीं कर दिया है? निश्चय ही हममें-से किसी-न-किसीने आश्रमवासियोंक
कर दिया है' ॥६॥

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित् कृतं मया।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै॥ ७॥

तब भयक
'मुझसे क
ज्योतियोंको बेध दिया है' ॥७॥

दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः॥ ८॥

पुत्रीकी बात सुनकर राजा शर्याति अत्यन्त भयभीत हो गये। उन्होंने बाँबीमें छिपे हुए च्यवनऋषिकी विविध प्रकारसे स्तुति की और उन्हें प्रसन्न कर लिया॥८॥

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात् समाहितः॥ ९॥

राजा शर्यातिका चित्त संयमित था। वे इस घटनाक
च्यवनऋषिका अभिप्राय जान गये। अतः उन्होंने अपनी पुत्री सुकन्याका विवाह उनसे कर दिया और इस प्रकार वे उस

कष्टदायक विपत्तिसे मुक्त हो गये। इसक
लेकर वे अपनी नगरीको लौट आये॥९॥

सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम्।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः॥ १०॥

च्यवनमुनिका स्वभाव अत्यन्त उग्र था। उन्हें पतिक
पाकर सुकन्या बड़ी सावधानीसे उनकी सेवा करती और उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास करती। वह उनक
उनक

कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ॥ ११॥

क
आये। च्यवनमुनिने उन दोनोंका विधिपूर्वक आदर-सत्कार किया और कहा कि 'आप दोनों समर्थ हैं, अतः कृपा करक
यौवन प्रदान कीजिए'॥११॥

ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः।
क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम्॥ १२॥

यज्ञमें यद्यपि आप लोग सोमरसक
फिर भी मैं आपको सोमरससे भरा हुआ पात्र यज्ञमें प्रदान करूँगा। आप मुझे स्त्रियोंका प्रिय-रूप एवं यौवन प्रदान करें॥१२॥

बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ।
निमज्जतां भवानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते॥ १३॥

वैद्योंमें श्रेष्ठ दोनों अश्विनीक
सहर्ष स्वीकार कर लिया और उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—'ठीक है, ऐसा ही होगा। यह क
आप इसमें डुबकी लगाइए'॥१३॥

इत्युक्तो जरया ग्रस्त-देहो धमनिसन्ततः।
ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविग्रहः॥ १४॥

च्यवनमुनि बूढ़े हो गये थे। सारे बाल पक गये थे। शरीरमें नसोंका जाल दिखायी देता था। झुर्रियाँ पड़ गयीं थीं। अश्विनीक
क

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीव्या वनिताप्रियाः।
पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः॥ १५॥
तान् निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान् सूर्यवर्चसः।
अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ॥ १६॥

इसक
बहुत ही सुन्दर और युवतियोंको प्रिय लगनेवाले थे। उनक
कमलक
थे और वे सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित थे। तीनोंकी आकृति समान थी। परमसुन्दरी एवं पतिव्रता सुकन्याने जब सूर्यक
और समान आकृतिवाले तीन पुरुषोंको देखा, तो वह समझ न पायी कि उनमें-से कौन-से उसक
उससे कहा—'हम तीनोंमें-से जो तुम्हारा पति है, उसे चुन लो।' तब सुकन्याने कहा—आपमें-से जो दो अश्विनीक
मुझपर कृपा करें और बतलावें कि मेरे पति कौन-से हैं? यह कहकर उसने अश्विनीक

दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ।
ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम्॥ १७॥

सुकन्याक
उन्होंने उसक
अनुमति लेकर विमानसे स्वर्गको चले गये॥१७॥

यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम्॥ १८॥

इधर राजा शर्याति यज्ञ करना चाहते थे। अतः वे च्यवनमुनिक
आश्रमपर आये। वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी पुत्री सुकन्याक
एक सूर्यक

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम्।
आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतिमना इव॥ १९॥

पुत्रीने अपने पिताक
उसे आशीर्वाद नहीं दिया, बल्कि अत्यधिक अप्रसन्न होकर
कहने लगे—॥१९॥

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया
प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः।
यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं
विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम्॥ २०॥

हे क
समस्त जगत्क
गये थे, अतः तुझे प्रिय नहीं थे, इसलिए तूने उनका त्याग कर
दिया और अब तू असत् क
रूपमें सेवा कर रही है?॥२०॥

कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां
कुलप्रसूते कुलदूषणन्त्विदम्।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं
पितुश्च भर्त्तुश्च नयस्यधस्तमः॥ २१॥

अरे! तू तो ऊँचे क
होकर कैसे असत्पथगामिनी हो गयी? तू निर्लज्ज होकर इस जार
पुरुषकी (उपपतिकी) सेवा कैसे कर रही है? ऐसी गर्हित सेवासे
तूने तो क
और पति दोनोंक

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता।
उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः॥ २२॥

अपने सतीत्वपर अभिमान करनेवाली सुकन्या पिताक
वचनोंको सुनकर मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कहने लगी—पिताजी!
जिन्हें आप मेरे पास देख रहे हैं, वे आपक
भृगुनन्दन महर्षि च्यवन ही हैं॥२२॥

शशंस पित्रे तत् सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम्।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे॥ २३॥

इसक
जिससे च्यवनमुनिको रूप-यौवनकी प्राप्ति हुई थी। यह सब सुनकर राजा शर्याति आश्चर्यचकित हो गये और उन्होंने बड़े आनन्द एवं प्रीतिसे अपनी पुत्रीको गलेसे लगा लिया॥२३॥

सोमेन याजयन् वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत्।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा॥ २४॥

च्यवनमुनिने वीर शर्यातिसे सोमयज्ञ सम्पन्न करवाया और
सोमपानक
अश्विनीक

हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः।
स वज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः॥ २५॥

इन्द्र बिना सोचे-विचारे ही क्रोध कर बैठते हैं। उनसे
अश्विनीक
बड़े क्रोधमें आकर च्यवनमुनिको मारनेक
च्यवनमुनिने वज्र सहित इन्द्रक
शून्य) कर दिया॥२५॥

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः।
भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ॥ २६॥

दोनों अश्विनीक
पान करनेक
सभी देवता उन्हें सोमरसका भाग देनेक

उत्तानबर्हिरानर्त्तो भूरिषेण इति त्रयः।
शर्यातेरभवन् पुत्रा आनर्त्ताद्रेवतोऽभवत्॥ २७॥

परीक्षित्! राजा शर्यातिक
और भूरिषेण। आनर्त्तसे रेवतका जन्म हुआ॥२७॥

सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम्।
आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्त्तादीनरिन्दम।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम्॥ २८॥

हे अरिन्दम्! (शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज) हे परीक्षित्! रेवतने समुद्रक
थी। वहीं निवास करते हुए वे आनर्त्त आदि भूखण्डोंपर राज्य करते थे। रेवतक
सबसे बड़े थे॥२८॥

ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः।
पुत्र्या वरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम्॥ २९॥

कक
अतः वे अपनी पुत्री रेवतीको लेकर रज एवं तमो गुणोंक
रहित ब्रह्मलोक गये। उस समय ब्रह्मलोकका रास्ता ऐसे लोगोंक
लिए खुला हुआ था॥२९॥

आवर्त्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम्।
तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत्॥ ३०॥

ब्रह्मलोकमें उस समय गन्धर्वगणोंका गाना-बजाना चल रहा था। अतः कक
गये। उत्सव समाप्त होनेक
और अपने वहाँ आनेका उद्देश्य बताया॥३०॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह।
अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः॥ ३१॥

परम सामर्थ्यशाली ब्रह्माजी कक
और बोले—हे राजन्! तुमने अपने मनमें जिन्हें जामाता बनानेका
निश्चय किया है, वे सब तो कालक्रमसे मर चुक

तत्पुत्रपौत्रनप्तृणां गोत्राणि च न शृण्महे।
कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः ॥ ३२॥

सत्ताईस चतुर्युग बीत चुक
पति बनानेका निश्चय किया था, उनक
बात तो छोड़ ही दें, उनक
नहीं मिलता॥३२॥

तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः।
कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः॥ ३३॥

अतएव हे राजन्! तुम यहाँसे जाओ। देवाधिदेव विष्णु जिनक
अंश हैं, वे महाबलवान् बलदेवजी इस समय पृथ्वीपर विद्यमान
हैं। राजन्! आप अपनी रत्न-रूपी कन्याको उन्हीं नर-रत्नको
समर्पण कर दें॥३३॥

भुवो भारावताराय भगवान् भूतभावनः।
अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्त्तनः॥ ३४॥

पुण्यश्रवणकीर्त्तन अर्थात् जिनक
आदिका श्रवण-कीर्त्तन सबको परम पवित्र कर देने वाला है—वे
ही प्राणियोंक
अपने अंश बलरामजीक

इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः॥ ३५॥

राजा कक
प्रणाम किया और अपनी पुरीको लौट आए। इधर उनक

यक्षक
दिशाओंमें रह रहे थे॥३५॥

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम्॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवम स्कन्धे तृतीयोऽध्यायः॥

अनन्तर राजा कक
बलशाली श्रीबलरामजीको सौंप दिया और स्वयं तपस्याक
वनमें चले गये॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

नाभाग और महाराज अम्बरीषकी कथा

श्रीशुक उवाच—

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम्।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनुपुत्र नभगका पुत्र था नाभाग। नाभाग बहुत समय तक गुरुगृहमें ही वास करता रहा। उसक
धारण कर लिया है, अब वह घर नहीं लौटेगा। अतः उन्होंने पिताकी सारी सम्पत्तिको आपसमें बाँट लिया। नाभागक
धन नहीं छोड़ा। बादमें जब छोटा विद्वान् भाई नाभाग गुरुगृहसे घर लौटा, तो उसने अपना हिस्सा माँगा। उसक
हिस्सेक

भ्रातरोऽभाङ्क्त कि मह्यं भजाम पितरं तव।
त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः॥ २॥

नाभागने अपने भाइयोंसे पूछा—'भाइयो! पिताकी सम्पत्तिसे तुमने मेरे लिए क्या रखा है?' भाइयोंने कहा—'हमने तुम्हारे भागमें पिताको रखा है।' यह सुनकर नाभाग पिताक
बोला—'पिताजी! मेरे बड़े भाइयोंने आपकी सारी सम्पत्तिको आपसमें बाँट लिया है और मुझे हिस्सेक
है।' पिताने कहा—'तुम उनकी इस प्रतारणा-मूलक बातको ठीक मत मानो।' (मैं सम्पत्तिक
मैं तुम्हें जीविका-निर्वाहका उपाय बताता हूँ।)॥२॥

इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि॥ ३॥

इस समय अङ्गिरा गोत्रक
यद्यपि वे सब अत्यधिक बुद्धिमान् हैं, फिर भी यज्ञमें प्रत्येक छठे दिन वे अपना कर्म करते-करते क

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः॥ ४॥
दास्यन्ति तेऽथ तानर्च्छतथा स कृतवान् यथा।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषणम्॥ ५॥

तुम वहाँ जाकर उन महात्माओंको वैश्वदेवसे सम्बन्धित दो सूक्त बतला दो। यज्ञ समाप्त होनेपर जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञसे बचा हुआ सारा धन तुम्हें प्रदान करेंगे। नाभागने पिताकी आज्ञाका पालन किया। अङ्गिरा गोत्रक
यज्ञका बचा हुआ सारा धन नाभागको दे दिया और स्वयं स्वर्गमें चले गये॥४-५॥

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु॥ ६॥

नाभाग जैसे ही उस धनको लेनेक
उसी समय उत्तर दिशासे काले रंगका एक पुरुष आया और उससे कहने लगा 'इस यज्ञभूमिपर जो भी धन है, वह सब मेरा है'॥६॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा॥ ७॥

नाभागने कहा—'यह धन मेरा है, ऋषियोंने यह धन मुझे दिया है।' नाभागक
विवादक
निर्णय करेंगे।' तब नाभागने पिताक
प्रश्न किया॥७॥

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्।
चक्रुर्हि भागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति॥ ८॥

पिताने कहा 'एक बार प्रजापति दक्षक
निश्चित किया था कि यज्ञभूमिमें जो भी वस्तुएँ बचेंगी, उन सबपर रुद्रदेवका ही अधिकार होगा। अतः यह धन रुद्रजीको ही मिलना चाहिए'॥८॥

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम्।
इत्याह मे पिता ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये॥ ९॥

पितासे ऐसा सुनकर नाभागने श्रीरुद्रदेवको प्रणाम किया और कहा—'हे परमपूज्य प्रभो! इस यज्ञभूमिमें बची हुई सभी वस्तुएँ आपकी ही हैं, यह मेरे पिताने मुझसे कहा है। भगवन्! मैंने आपक
कृपाक

यत् ते पितावदद्धर्मं त्वञ्च सत्यं प्रभाषसे।
ददामि ते मन्त्रदृशो ज्ञानं ब्रह्म सनातनम्॥ १०॥

भगवान् रुद्रने कहा—'तुम्हारे पिताने धर्मक
किया है और तुमने भी मुझसे सत्य ही कहा है। मैं मन्त्रोंका ज्ञाता हूँ। अतः मैं तुम्हें सनातन ब्रह्म-तत्त्वका ज्ञान प्रदान करता हूँ॥१०॥

गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रपरिशेषितम्।
इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् धर्मवत्सलः॥ ११॥

यहाँ इस यज्ञभूमिमें बचा हुआ मेरा जो भाग है, वह भी मैं तुम्हें देता हूँ, तुम इसे ग्रहण करो!' यह कहकर धर्मानुरागी (सत्यप्रेमी) भगवान् रुद्र वहाँसे अन्तर्धान हो गये॥११॥

य एतत् संस्मरेत् प्रातः सायञ्च सुसमाहितः।
कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिञ्चैव तथात्मनः॥ १२॥

राजन्! जो मनुष्य प्रातः और सायंकाल एकाग्रचित्त होकर इस कथाका स्मरण करता है, वह विद्वान् और मन्त्रोंक
जाननेवाला होता है। इसक
जान लेता है॥१२॥

नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती।
नास्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित्॥ १३॥

नाभागसे महाराज अम्बरीषने जन्म लिया। अम्बरीष भगवान् श्रीहरिक
धर्मात्मा थे। ब्रह्मशाप कभी भी निष्फल नहीं होता, किन्तु वह महाराज अम्बरीषका स्पर्श भी न कर सका॥१३॥

श्रीराजोवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।
न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः॥ १४॥

राजा परीक्षित्ने कहा—'हे परमपूज्य! मैं परम मेधावी राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ। अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि ब्राह्मणने उनपर क्रोधित होकर ऐसा शाप दिया, जो किसी भी विधिसे टाला नहीं जा सकता था, किन्तु वह अप्रतिहत एवं दुष्परिहार्य ब्रह्मशाप अम्बरीषपर अपना प्रभाव न दिखा सका॥१४॥

श्रीशुक उवाच—

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययाञ्च श्रियं लब्ध्वा विभवञ्चातुलं भुवि॥ १५॥

मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान्॥ १६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—'परीक्षित्! महाराज अम्बरीष अत्यन्त भाग्यवान् थे। उन्हें सातों द्वीपोंक
सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त था। यह सब साधारण जीवोंक लिए अत्यन्त दुर्लभ है तो भी महाराज अम्बरीष इसे स्वप्नक समान तुच्छ समझते थे। वे जानते थे कि समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं। इनका सुख क्षणिक है। इन सब वस्तुओंका लोभ मनुष्यको अन्तमें घोर नरकमें ले जाता है। जीव जब भोग-ऐश्वर्योंमें आसक्त हो जाते हैं, तब वे तमोगुणक
डूब जाते हैं॥१५-१६॥

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ट्रवत् स्मृतम्॥ १७॥

महाराज अम्बरीषकी भगवान् श्रीकृष्ण और उनक
परमभक्त साधुजनोंक
प्राप्त हो जानेपर सारा विश्व मिट्टीक
लगता है॥१७॥

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥ १८॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥ १९॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामञ्च दास्ये नतु कामकाम्यया
यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः॥ २०॥

महाराज अम्बरीषने अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णक
वाणीको वैकुण्ठ-वस्तु भगवान्क
मन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी
मंगलकारिणी सत्कथाओंक
नेत्रोंको भगवान् मुक
अपनी स्पर्श-इन्द्रियको भगवद्-भक्तोंक
भगवान् श्रीहरिक
भगवान्को निवेदित प्रसादको आस्वादन करनेकी सेवामें नियुक्त कर
रखा था। महाराज अम्बरीषक
पर्यटन अर्थात् पद-यात्रामें लगे रहते। मस्तकको उन्होंने भगवान्

श्रीहरिक
प्राप्तिमें लगा रखा था। विषय-भोगोंक
न थी। परीक्षित्! उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंको भगवद्-भक्तिपूर्ण कार्योंमें निविष्ट कर रखा था। उत्तमश्लोक भगवान्क
यथा प्रह्लादादिमें उनकी निष्काम प्रीति थी॥१८-२०॥

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥२१॥

इस प्रकार महाराज अम्बरीषने भगवद्भावनासे युक्त होकर अपने सभी कार्य समस्त यज्ञोंक
श्रीकृष्णको समर्पित कर दिये थे और वे भगवद्भक्त ब्राह्मणोंक
उपदेशानुसार ही पृथ्वीपर शासन करते थे। महाराज अम्बरीषजी भगवान्की सेवाक
उन्होंने अपने प्रतिनिधियोंको सौंप रखा था॥२१॥

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः।
ततैर्वशिष्ठासितगौतमादिभि-
र्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम्॥२२॥

राजन्! 'धन्व' नामका एक मरुस्थलीय देश है, जिसमें सरस्वती नदी प्रवाहित होती है। महाराज अम्बरीषने इस सरस्वती नदीक
प्रवाहक
महान् यज्ञोंक
ये यज्ञ वशिष्ठ, असित, गौतम आदि प्रतिनिधि ऋषियोंने सम्पन्न करवाये थे। (महाराज अम्बरीषका ऐश्वर्य महान् था, इसलिए ये सभी यज्ञ सब प्रकारसे पूर्ण थे। इन यज्ञोंमें ब्राह्मणोंको बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी गयी थीं।) महाराज स्वयं इन यज्ञ आदि कार्योंमें आसक्त नहीं थे। वे स्वयं तो अपनी राजधानीमें एकाग्रचित्तसे

श्रीभगवान्‌की सेवाका काम करते थे और अपने प्रतिनिधियोंसे शासन आदि अन्य कार्य करवाते थे॥२२॥

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः॥ २३॥

महाराज अम्बरीषक
सदस्य, होता, उद्गाता, ब्रह्मा एवं अध्वर्यु इत्यादि ऋत्विजगण बैठे रहते थे। यज्ञमें निर्निमेष भावसे (बिना पलक झपकाए) बैठे हुए वे सब देवताओंक
देखनेकी उत्कण्ठासे वस्तुतः उनकी पलक

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः।
शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमःश्लोकचेष्टितम् ॥ २४॥

महाराज अम्बरीषकी प्रजा भी उत्तमश्लोक भगवान्‌की लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्त्तन करती रहती थी और कभी भी देवताओंको परमप्रिय लगनेवाले स्वर्गकी इच्छा नहीं करती थी॥२४॥

संवर्द्धयन्ति यत्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः॥ २५॥

वे प्रजागण अपने हृदयमें भक्तोंको अनन्त आह्लाद प्रदान करनेवाले मनोहारी मुक
उस दिव्य अनुभूतिकी तुलनामें उन्हें इस जगत्क
भी आनन्दित नहीं कर पाते थे, जो बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंक
भी दुर्लभ हैं॥२५॥

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सर्वान् कामान् शनैर्जहौ॥ २६॥

महाराज अम्बरीषका भक्तियोग भोगत्यागरूप तपस्यासे युक्त था। अनन्त भोग-ऐश्वर्योंक
कार्य स्वयं ही करते थे। साथ ही प्रजापालनक
निर्वाह भी भलीभाँति करते थे। इस प्रकारक

द्वारा वे भगवान्‌को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सभी कामनाओंका त्याग कर दिया॥२६॥

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिवस्तुषु ।
अक्षयरत्नाभरणाम्बरादिषु
अनन्तकोषेष्वकरोदसन्मतिम्॥ २७॥

गृह, पत्नी, पुत्र, बन्धुजन, हाथी, घोड़े, श्रेष्ठ रथ, अक्षय रत्न, वस्त्र-अलङ्कार, आयुध आदि और कभी न समाप्त होनेवाला धन भण्डार—इन सभीक
ये सभी पदार्थ असत्य एवं नश्वर हैं॥२७॥

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम्।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भक्ताभिरक्षणम्॥ २८॥

महाराज अम्बरीषकी ऐकान्तिक प्रेममयी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरिने उनकी रक्षाक
कर दिया था। भगवान्‌का यह सुदर्शनचक्र भगवद्भक्तोकी सर्वदा रक्षा करने वाला तथा भगवद्भक्तिक
करनेवाला है॥२८॥

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम्॥ २९॥

परमवीर महाराज अम्बरीषने भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाक
ही समान धर्मपरायण, विरक्त एवं भक्तिमती अपनी पत्नीक
एक वर्षतक द्वादशी-प्रधान एकादशी व्रत करनेका नियम लिया॥२९॥

व्रतान्ते कार्त्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः।
स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत्॥ ३०॥

कार्त्तिक मासमें व्रतकी समाप्ति होनेपर एक बार महाराज अम्बरीषने तीन रातोंका उपवास किया। बादमें उन्होंने श्रीयमुनाजीमें स्नान करक

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा।
अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः॥ ३१॥
तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम्।
ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः॥ ३२॥

उन्होंने महाभिषेककी विधिक
भगवान् श्रीकृष्णक
भावित होकर भगवान्‌को वस्त्र, अलङ्कार, गन्ध, चन्दन, माला और अर्घ्य आदि अर्पण किये। यद्यपि महाराज अम्बरीषको पूजामें ब्राह्मण–पूजनकी आवश्यकता नहीं थी (वे सिद्ध थे), फिर भी उन्होंने भक्तिभावसे महाभाग्यवान् और सिद्धकाम ब्राह्मणोंका अर्चन किया॥३१–३२॥

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम्।
पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥ ३३॥
प्राहिणोत् साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट्।
भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम्॥ ३४॥
लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षात् दुर्वासा भगवानभूत्॥ ३५॥

पहले उन्होंने ब्राह्मणोंको प्रचुर गुणोंसे युक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। उसक
सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे। सुन्दर वस्त्रोंसे उन्हें ओढ़ाया गया था। वे सभी गौएँ बड़ी सुशील, तरुण, सुन्दर, बछड़ेवाली और प्रचुर दूध देनेवाली थीं। महाराजने दूध दुहनेकी सब सामग्री भी उन्हें प्रदान की। इसक
अनुमति ली और व्रतक
शाप और वरदान देनेमें समर्थ महर्षि दुर्वासा अम्बरीषक
अतिथिक

तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः।
ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः॥ ३६॥

महाराज अम्बरीष दुर्वासाजीको देखते ही उनक
लिये खड़े हो गये। बैठनेक
प्रकारकी सामग्रियोंसे उनकी पूजा की। इसक
प्रणाम करक

प्रतिनन्द्य स तां याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः।
निममज्ज बृहद्ध्यायन् कालिन्दीसलिले शुभे॥ ३७॥

महर्षि दुर्वासाजीने महाराज अम्बरीषकी प्रार्थनाको आनन्दपूर्वक स्वीकार किया और माध्याह्निक कार्योंको सम्पन्न करनेक
वे कालिन्दीक
श्रीयमुनाजीक

मुहूर्त्तार्द्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे॥ ३८॥

इधर द्वादशीमें क
इसी समयमें अम्बरीषजीको पारण करना (व्रत खोलना) आवश्यक था। निर्धारित समयमें पारण न करनेपर एकादशीका व्रत पूर्ण नहीं होता है। धर्मात्मा अम्बरीष ब्राह्मण दुर्वासाजीको भोजन कराये बिना भोजन नहीं कर सकते थे। धर्मको भलीभाँति जाननेवाले महाराज धर्म-संकटमें पड़ गये। इस विषयपर वे ब्राह्मणोंक
विचार-विमर्श करने लगे॥३८॥

ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे।
यत् कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत्॥ ३९॥

राजाने कहा—'हे ब्राह्मण देवताओ! घरमें आये हुए ब्राह्मणको भोजन करानेसे पहले भोजन करना और द्वादशी रहते पारण न करना—ये दोनों ही व्रत-वैगुण्य दोष अर्थात् अपराध हैं। अतः जिससे मेरा मंगल हो और मुझे अधर्म भी स्पर्श न कर सक
ऐसा कार्य मुझे करना चाहिए॥३९॥

अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम्।
आहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितञ्च तत्॥ ४०॥

ब्राह्मणोंक
कि इस समयमें क
ठीक रहेगा, क्योंकि क
और नहीं भी॥४०॥

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम्।
प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः॥ ४१॥

हे क
श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन करते हुए थोड़ा-सा जल पी लिया
और दुर्वासाजीक

दुर्वासा यमुनाकूलात् कृतावश्यक आगतः।
राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया॥ ४२॥

दुर्वासाजी जब माध्याह्निक स्नानादि करक
उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, किन्तु उन्होंने अपने योगबलसे
जान लिया कि राजाने पारण कर लिया है॥४२॥

मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः।
बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत॥ ४३॥

क्रोधक
कारण उनका मुख भयङ्कर हो गया। यद्यपि वे भोजन करना चाहते
थे, फिर भी अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े महाराज अम्बरीषसे
इस प्रकार कहने लगे—॥४३॥

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः॥ ४४॥

'अहो! यह तो बड़े क्रूर स्वभाववाला है। धनक
हो रहा है। देखो तो सही, अपने ऐश्वर्यका इसे कितना अभिमान
है। यह भगवान् विष्णुका भक्त कदापि नहीं है। इसने आज धर्मका
उल्लङ्घन कर डाला है'॥४४॥

यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च।
अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम्॥ ४५॥

'अरे! मैं तुम्हारे यहाँ अतिथि होकर आया। तुमने मुझे अतिथि-सत्कारकी विधिक
भोजन करानेसे पहले ही स्वयं भोजन कर लिया। अच्छा, इस दुष्कर्मका फल मैं तुझे अभी दिखाता हूँ!'॥४५॥

एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषप्रदीपितः।
तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम्॥४६॥

यह कहते-कहते महर्षि दुर्वासाका मुख क्रोधसे उद्दीप्त हो उठा। उन्होंने अपने सिरसे एक जटा उखाड़ी और उससे धर्मात्मा अम्बरीषको मारनेक
उत्पन्न की, जो प्रलयकालकी अग्निक

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम्।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः॥४७॥

आगक
राजा अम्बरीषकी ओर बड़ी तेजीसे दौड़ी। उसक
काँप रही थी, किन्तु उसे देखकर महाराज अम्बरीष अपने स्थानसे तनिक भी विचलित नहीं हुए॥४७॥

प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः॥४८॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिने अपने भक्तकी रक्षाक
सुदर्शनचक्रको पहलेसे ही नियुक्त कर रखा था। दावाग्नि जैसे क्रुद्ध साँपको जलाकर भस्म कर डालती है, वैसे ही सुदर्शनचक्रने उस कृत्याको जलाकर राख कर दिया॥४८॥

तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासञ्च निष्फलम्।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया॥४९॥

दुर्वासाने जब देखा कि उनक
गयी है और चक्र तीव्र गतिसे उनकी ओर चला आ रहा है, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गये और प्राणोंकी रक्षाक

तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं
दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम्।
तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो
गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः॥ ५०॥

भयानक दावानल जिस प्रकार साँपक
उसी प्रकार भगवान्का सुदर्शनचक्र महर्षि दुर्वासाक
लगा। दुर्वासाजीने जब यह देखा कि यह चक्र तो मेरे पीछे ही लग गया है, तब वे सुमेरु पर्वतकी गुफामें प्रवेश करनेक
उस ओर बड़ी तेजीसे दौड़े॥५०॥

दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्रान्
लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श॥ ५१॥

दुर्वासाने अपनी रक्षाक
गुफाओं, समुद्र, लोकपाल और उनक
भुवन और स्वर्गतक भी गये, किन्तु जहाँ-जहाँ भी वे गये, वहाँ-वहाँ असहनीय तेजोमय सुदर्शनचक्रको उन्होंने अपने पीछे-पीछे आते हुए देखा॥५१॥

अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्
संत्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगाद्विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम्॥ ५२॥

दुर्वासा इधर-उधर अपने लिए आश्रय खोजते रहे, परन्तु उन्हें कहीं भी सुरक्षा नहीं मिली। वे बहुत डर गये, अतः अपनी रक्षाक
लगे—हे विधाता! हे ब्रह्मन्! भगवान्क
चक्रसे मेरी रक्षा कीजिए॥५२॥

श्रीब्रह्मोवाच—

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति॥ ५३॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यार्पितं लोकहितं वहामः॥ ५४॥

ब्रह्माने कहा—द्विपरार्द्ध संवत्सर कालक
अन्तमें कालस्वरूप विष्णुकी इच्छासे उनक
ब्रह्माण्डक
दक्ष आदि प्रजापति, भृगु आदि ऋषि, भूतनाथ, श्रेष्ठ देवगण सब उनक
होकर पालन करते हैं। उनक
करनेमें हम समर्थ नहीं हैं॥५३-५४॥

प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः।
दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम्॥ ५५॥

जब ब्रह्माजीने यह कहकर उन्हें निराश कर दिया, तब भगवान् विष्णुक
पर्वतपर निवास करनेवाले शङ्करकी शरणमें गये॥५५॥

श्रीशङ्कर उवाच—

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः॥ ५६॥

श्रीशङ्करने कहा—हे वत्स! जिन महिमावान् परमेश्वरसे ब्रह्मा आदि जैसे अनन्त जीव एवं उनक

ब्रह्माण्ड तथा इसी तरह दृश्यमान् अपरापर समस्त पदार्थ समय आनेपर उदित होते हैं और समय आनेपर लयको प्राप्त होते हैं, जिन ब्रह्माण्डोंमें हम जैसे अपनेको लोकपाल समझकर भ्रान्त होते हैं और सहस्र-सहस्र बार परिभ्रमण करते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्क

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः।
कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः॥ ५७॥
मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः।
विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययावृताः॥ ५८॥
तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति॥ ५९॥

हममें मैं (शिव), सनत्क
व्यासदेव, देवल, यम, महान सन्त आसुरि, मरीचि आदि ऋषिगण आदि यद्यपि सर्वज्ञ हैं, सिद्ध हैं, तब भी उनकी मायाक
ही हैं। हम उनकी मायाका पार नहीं पा सकते। विश्वेश्वर भगवान्क
अतः तुम उन्हीं श्रीहरिकी शरणमें जाओ। वे ही तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल करेंगे॥५७-५९॥

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥ ६०॥

परीक्षित्! इस प्रकार शिवसे भी निराश होकर मुनि दुर्वासा भगवान् श्रीहरिक
लक्ष्मीजीक

संदह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना
तत्पादमूले पतितः सवेपथुः।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो
कृतागसं माव हि विश्वभावन॥ ६१॥

चक्रकी आगसे सन्तप्त होकर (झुलसते हुए) दुर्वासामुनि
भगवान्क
अच्युत! हे अनन्त! हे समस्त ब्रह्माण्डोंक
साधुओंक
किया है। हे प्रभो! मेरी रक्षा कीजिए॥६१॥

अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम्।
विधेहि तस्यापचितिं विधात-
र्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि॥६२॥

हे परमेश्वर! मैं आपक
इसीलिये आपक
इस अपराधसे मुक्त कीजिए। आपक
जीव भी मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं, आपक
असम्भव नहीं है॥६२॥

श्रीभगवानुवाच—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥६३॥

श्रीभगवान्ने कहा—'हे द्विज! हे मुनिवर! मैं तो सदा ही
भक्तोंक
होनेक
भक्तोंक
भी परतन्त्र जैसा ही समझो। मेरे प्यारे भक्तोंको मुझसे अधिक
प्रिय क
की कामनासे रहित मेरे भक्तोंने मेरे चित्तपर सम्पूर्णरूपसे अधिकार
कर रखा है। (उनकी अनुकम्पामें ही मेरी अनुकम्पा है।) भक्तोंकी
तो बात ही क्या, भक्तोंक

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥६४॥

हे ब्रह्मन्! जिनका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, उन साधु–स्वभाववाले भक्तोंक
स्वरूपगत आनन्द एवं नित्य विद्यमान षडैश्वर्य–सम्पत्तिकी अभिलाषा करता हूँ। (भगवान्क
भगवान्को आनन्द प्रदान करते हैं, अतः भक्त–भाव, भगवत्–भावकी अपेक्षा किसी अंशमें न्यून नहीं है। भक्त ही भगवान्क
अभिलषित हैं। चिद्वृत्तिकी विपाकरूप भक्तिकी अनुग्रह नामकी वृत्ति भक्तोंमें अवस्थान करती है।)॥६४॥

ये दारागारपुत्राप्त–प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ ६५॥

जो भक्त घर, पत्नी, पुत्र, भाई–बन्धु, धन, प्राण, इहलोक और परलोक आदि सबका परित्यागकरक
गये हैं, मैं उन्हें किस प्रकार छोड़ सकता हूँ। (अम्बरीष अपनी रक्षाक
ब्रह्माण्डमें भ्रमण कर आये।)॥६५॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ ६६॥

पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं॥६६॥

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥ ६७॥

मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवासे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। मेरी सेवाक
सामने स्वयं ही उपस्थित होती हैं, तथापि वे उनको स्वीकार नहीं करते, फिर कालकी प्रेरणासे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंक
तो कहना ही क्या है॥६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ ६८॥

मेरे प्रेमी भक्त मेरा हृदय हैं और मैं उन प्रेमी भक्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त क
क

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं याहि मा चिरम्।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्त्तुः कुरुतेऽशिवम्॥ ६९॥

हे विप्रवर! मैं आपको आपकी रक्षाका उपाय बताता हूँ, सुनो। जिसक
आप शीघ्र जाइए। साधुओंका अमङ्गल करनेक
प्रयास करता है, वह वास्तवमें अपना ही अमङ्गल करता है॥६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्त्तुरन्यथा॥ ७०॥

ब्राह्मणोंक
हैं, किन्तु ब्राह्मण यदि उद्दण्ड एवं अन्यायी हो जाय, तो वे दोनों ही उलटा फल देने लगते हैं॥७०॥

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीमदम्बरीषचरितं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

हे ब्राह्मणवर! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम नाभाग-पुत्र अम्बरीषक
प्रसन्न करनेमें सफल रहे, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी॥७१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासाकी दुःख-निवृत्ति

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीहरिने दुर्वासाजीको यह आदेश दिया, तब सुदर्शनचक्रकी ज्वालासे पीड़ित महर्षि दुर्वासा लौटकर अम्बरीष महाराजक
बड़े दुःखी होकर उनक

तस्य सोद्यममावीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः।
अस्तावीत् तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम्॥ २॥

दुर्वासा मुनि द्वारा अपने पैरोंका स्पर्श किये जानेसे महाराज अम्बरीष अत्यन्त लज्जित हो गये। जब उन्होंने देखा कि दुर्वासाजी उनकी स्तुति करना चाहते हैं, तब दयासे उनका हृदय व्यथित हो गया और वे भगवान्क

श्रीअम्बरीष उवाच—

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च॥ ३॥

महाराज अम्बरीषने कहा—हे सुदर्शन! आप अग्निस्वरूप हैं। आप परम शक्तिमान् सूर्य हैं। समस्त ग्रह-नक्षत्रोंक
भी आपका ही स्वरूप हैं। आप ही जल हैं, पृथ्वी हैं, आकाश हैं, आप ही वायु, पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) हैं और आप ही इन्द्रियस्वरूप हैं॥३॥

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते॥ ४॥

हे श्रीहरिक
हैं। हे पृथ्वीपते! आप समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको नष्ट कर सकते हैं। आप पृथ्वीक
मङ्गल कीजिए॥४॥

त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम्॥५॥

आप ही धर्म हैं, सत्य आपका स्वरूप है। मधुर एवं सत्य वाणी आप ही हैं। आप ही यज्ञोंक
यज्ञ ही हैं। आप समस्त लोकोंक
रूपमें भी आप ही विद्यमान हैं। हे सुदर्शन! सबकी आत्माक रूपमें विराजमान भगवान् श्रीहरिका परम तेज आप ही हैं। आप परमपुरुष भगवान्की सौन्दर्यमयी शुभ दृष्टि हैं। आपसे ही समग्र मायिक वस्तुकी सृष्टि हुई है॥५॥

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे॥६॥

हे सुनाभ! आप समस्त धर्मोंक
करनेवालोंकी आप रक्षा करते हैं और जो अधर्मका आचरण करते हैं, उनक
आप तीनों लोकोंक
धारण करनेवाले हैं। आपकी गति मनक
है। आपक

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं
तमः प्रकाशश्च दृशो महात्मनाम्।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते
त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम्॥७॥

हे वेदवाणीक
अर्थात् अधर्मका नाश करता है। इस तेजसे ही सूर्य आदि
महात्माओंक
आपक
छोटी–बड़ी, ऊँची–नीची उपाधिवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब
आपका ही रूप हैं और आप ही उन्हें प्रकाशित करते हैं॥७॥

यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम्।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृश्चन्नजस्रं प्रधने विराजसे॥ ८॥

हे सुदर्शनचक्र! आपको कोई नहीं जीत सकता। भगवान्‌की प्रेरणासे जिस समय आप दैत्य एवं दानवोंकी सेनामें प्रवेश करते हैं, तब उनकी भुजाएँ, उदर, जंघा, सिर और पैरोंको निरन्तर काटते हुए आप युद्धक्षेत्रमें अत्यन्त शोभाको प्राप्त करते हैं॥८॥

स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः॥ ९॥

हे विश्वक
भगवान्‌ने दुष्टोंक
सौभाग्यकी रक्षाक
हमपर आपकी बड़ी कृपा होगी॥९॥

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवञ्चेद्द्विजो भवतु विज्वरः॥ १०॥

यदि मैंने सत्पात्रको क
सुकृति रही हो, अपने धर्मका भलीभाँति निर्वाह किया हो अथवा
हमारा परिवार ब्राह्मणोंको अपना क
ब्राह्मणको आपक

यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥ ११॥

भगवान् समस्त गुणोंक
भी नहीं है। सभी प्राणियोंकी आत्माक
हैं। यदि वे मुझपर प्रसन्न हैं, तो ये ब्राह्मण सुदर्शनचक्रकी पीड़ासे अति शीघ्र मुक्त हो जायें॥११॥

श्रीशुक उवाच—

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।
अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद्राजयाच्ञ्या॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब महाराज अम्बरीषने ब्राह्मण दुर्वासाको अत्यधिक पीड़ित करनेवाले भगवान् विष्णुक सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की तब वह शान्त हो गया॥१२॥

स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः।
प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः॥ १३॥

महर्षि दुर्वासा जब सुदर्शनचक्रक
उनका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने राजा अम्बरीषकी प्रशंसा की और उन्हें अनेक उत्तम आशीर्वाद दिये॥१३॥

श्रीदुर्वासा उवाच—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद्राजन् मङ्गलानि समीहसे॥ १४॥

दुर्वासाने कहा—हे राजन्! आज मैंने भगवान्क
महानताको देखा। मैंने आपक
था, फिर भी आपने मेरी मङ्गलकामनाक
प्रार्थना की॥१४॥

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः॥ १५॥

जिन महात्माओंने सात्वतपति (यादव श्रेष्ठ), भक्तवत्सल भगवान्‌क
श्रीचरणकमलोंको अपनी प्रेमाभक्तिसे प्राप्त कर लिया है, उनक
इस जगत्‌में भला कौन-सा कार्य असम्भव है, अपने हृदयकी उदारताक
कारण वे भला किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते?॥१५॥

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते॥ १६॥

जिनक
है, उन तीर्थपाद भगवान्‌क
जिसे वे प्राप्त नहीं कर सकते और कौन-सा ऐसा कर्त्तव्य
है, जिसका करना उनक

राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना।
मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः॥ १७॥

हे राजन्! आप अत्यधिक दयालु हैं। मैंने आपक
घोर अपराध किया, उसकी ओर आपने तनिक भी ध्यान न
देकर मेरे प्राणोंकी ही रक्षा की है। यह आपकी मेरे ऊपर महान्
कृपा है॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया।
चरणावुपसंगृह्य प्रसाद्य समभोजयत्॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दुर्वासाकी प्रतीक्षामें महाराज
अम्बरीषने अभीतक भोजन नहीं किया था। अब उन्होंने दुर्वासाक
चरणोंको पकड़ लिया और उन्हें प्रसन्न करते हुए विधिपूर्वक
भोजन कराया॥१८॥

सोऽशित्वादृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम्।
तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम्॥ १९॥

राजा अम्बरीषने बड़े आदर-सत्कारक
बैठाया और अनेक प्रकारकी उत्तम भोजन सामग्रियोंसे युक्त स्वादिष्ट

भोजन कराया। जब मुनि सन्तुष्ट हो गये, तब उन्होंने बड़े आदरक
साथ राजासे कहा—'अब आप भी भोजन कीजिए'॥१९॥

श्रीदुर्वासा उवाच—

प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥२०॥

(हे राजन!) आप परमभागवत हैं। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ।
आपक
हुई है। आपक
उन्मुख हुआ है। भगवान्‌क
उपकार करनेवाला, संसार-सागरसे तारनेवाला और भक्तिमार्गका
प्रदर्शक बन गया है॥२०॥

कर्मावदातमेतत् ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः।
कीर्त्तिं परमपुण्याञ्च कीर्त्तयिष्यति भूरियम्॥२१॥

स्वर्गलोककी समस्त देवस्त्रियाँ बार-बार आपक
परम पवित्र चरित्रका गान करती रहेंगी। यह पृथ्वी भी आपकी
विमल कीर्त्तिका सदा गुणगान करती रहेगी॥२१॥

श्रीशुक उवाच—

एवं संकीर्त्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः।
ययौ विहायसामन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम्॥२२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दुर्वासाने इस प्रकार परम सन्तुष्ट
होकर राजा अम्बरीषकी बहुत प्रशंसा की और उनकी अनुमति
प्राप्त करक
ब्रह्मलोकमें वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवाले और शुष्क ताकि
कोई स्थान नहीं है॥२२॥

संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता नागतो गतः।
मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाब्भक्षो बभूव ह॥२३॥

दुर्वासा सुदर्शनचक्रक
जानेसे लौटने तक एक वर्षका समय बीत चुका था। इस बीच राजा अम्बरीषने दुर्वासाक
ही जीवन धारण किया था॥२३॥

गतेऽथ दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनञ्च वीक्ष्य
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम्॥ २४॥

एक वर्ष बाद जब दुर्वासाजी लौटे, तब महाराज अम्बरीषने उन्हें भोजन कराया और उनक
पवित्र अन्न आदिका उन्होंने भोजन किया। दुर्वासाजीको भयंकर विपत्तिसे जो मुक्ति मिली, यद्यपि वह अम्बरीषजीकी भक्तिक कारण ही थी, किन्तु महाराज अम्बरीषने उसे भगवान्‌की कृपा ही माना॥२४॥

एवं विधानेकगुणः स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाऽविरिञ्च्यान्निरयांश्चकार ॥ २५॥

महाराज अम्बरीष ऐसे अनेक गुणोंक
सभी कर्मोंसे परब्रह्म परमात्मा श्रीवासुदेवमें अपने भक्तिभावको बढ़ाते रहते थे। यह उनकी भक्तिका ही प्रभाव था कि ब्रह्मलोक तकको भी वे नरकक

श्रीशुक उवाच—

अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधद्ध्वस्तगुणप्रवाहः॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इसक
राज्यका उत्तरदायित्त्व अपने ही समान भक्त पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने मनका पूर्णरूपसे भगवान्में निवेश कर दिया और मायिक गुणोंक
हो गये॥२६॥

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः।
सङ्कीर्त्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत्॥ २७॥

परीक्षित्! जीवमात्रको परम पवित्र कर देनेवाले महाराज अम्बरीषक
कीर्त्तन करता है, वह भगवान्की प्रेमाभक्तिको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है॥२७॥

अम्बरीषस्य चरितं ये शृण्वन्ति महात्मनः।
मुक्तिं प्रयान्ति ते सर्वे भक्त्या विष्णोः प्रसादतः॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीमदम्बरीषोपाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

जो महात्मा अम्बरीषक
वे सभी भगवान् विष्णुक
स्व-स्वरूपमें अवस्थित होते हैं॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

इक्ष्वाक

सौभरि ऋषिकी कथा

श्रीशुक उवाच—

विरूपः केतुमान् शम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः।
विरूपात् पृषदश्वोऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतरः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! महाराज अम्बरीषक
पुत्र हुए—विरूप, क
हुआ और पृषदश्वक

रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः।
अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्॥ २॥

रथीतरकी कोई सन्तान न थी। उन्होंने पुत्र-प्राप्तिक
अङ्गिरासे प्रार्थना की। ऋषि अङ्गिराने उनकी पत्नीसे कई पुत्र
उत्पन्न किये। ये सभी पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे॥२॥

एते क्षेत्रेप्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः।
रथीतराणां प्रवराः क्षेत्रोपेता द्विजातयः॥ ३॥

इन सभी पुत्रोंको रथीतरकी पत्नीसे जन्म लेनेक
गोत्रका होना चाहिए था, किन्तु ऋषि अङ्गिराक
होनेक
पुत्रोंको सर्वश्रेष्ठ पुत्र होनेका गौरव प्राप्त है, क्योंकि ये क्षत्रियत्वसे
युक्त ब्राह्मण थे॥३॥

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः॥ ४॥

मनुक
उनकी नासिकासे इनका जन्म हआ। इक्ष्वाक
विक

तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप।
पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्येऽपरेऽन्यतः॥ ५॥

राजन्! इन सौ पुत्रोंमें-से पच्चीस हिमालय और विन्ध्याचलक
मध्यमें स्थित आर्यावर्त्तक
राजा बने तथा पच्चीस आर्यावर्त्तक
ऊपर बताये गये तीन बड़े पुत्रोंने आर्यावर्त्तक
सँभाला। शेष पुत्र दक्षिण एवं उत्तर प्रान्तोंक

स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्।
मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ मा चिरम्॥ ६॥

(पौष, माघ और फाल्गुन—इन तीन मासोंकी कृष्णाष्टमी 'अष्टका'
नामसे प्रसिद्ध है। अष्टकामें पितरोंक
विधि है।) जब यह श्राद्ध दिवस आया, तब इक्ष्वाक
विक
लेकर आओ'॥६॥

तथेति स वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशञ्चाददपस्मृतिः॥ ७॥

वीर विक
बहुत-से पशुओंका शिकार किया। अधिक श्रमक
गया था। उसे भूख भी लगी थी, जिससे उसका विवेक लुप्त-सा
हो गया था। अतः उसने मृत पशुओंमें-से एक खरगोश खा
लिया, जबकि नियमक
स्वयं नहीं खाना चाहिए॥७॥

शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम्॥ ८॥

इसक
दे दिया। इक्ष्वाक
पास भेज दिया। गुरु वशिष्ठने कहा—'यह मांस दूषित है, अतः श्राद्धक

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं नृपः।
देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा॥ ९॥

गुरु वशिष्ठक
कर्मको जान गये। वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे और विधि-विधानका उल्लङ्घन करनेक
निकाल दिया॥९॥

स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन्।
त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत् परम्॥ १०॥

इसक
संवाद किया। गुरुक
विरक्त होकर योगी बन गये और योगबलसे ही उन्होंने शरीरको त्यागकर परमपदको प्राप्त किया॥१०॥

पितुर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम्।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः॥ ११॥

पिताक
आया और पृथ्वीपर शासन करने लगा। उसने बड़े-बड़े यज्ञोंसे भगवान् श्रीहरिकी आराधना की। बादमें यह विक
नामसे प्रसिद्ध हुआ॥११॥

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः।
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः॥ १२॥

शशादका पुत्र पुरञ्जय था। पुरञ्जयको कोई 'कक
है, तो कोई 'इन्द्रवाह'। जिन कर्मोंक
पुकारा जाता है, उनक

कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः।
पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः॥ १३॥

सत्ययुगक
विनाशक) युद्ध हुआ। उस युद्धमें देवता दानवोंसे पराजित हो गये। तब देवताओंने वीर पुरञ्जयको अपना सहायक बनाया। (पुरञ्जयकी सहायतासे देवताओंने दानवोंपर विजय प्राप्त की थी, अतः दैत्यपुरीको जीतनेक

वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः॥ १४॥

शशादपुत्रने कहा—'इन्द्र यदि मेरे वाहन बन जाएँ, तो मैं दैत्योंका विनाश कर सकता हूँ।' लज्जाक
वाहन बननेसे मना कर दिया, किन्तु बादमें विश्वात्मा, देवाधिदेव भगवान् विष्णुक
लिया। (इस प्रकार इन्द्रको वाहन बनानेक
नाम 'इन्द्रवाह' हो गया।)॥१४॥

स सन्नद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखान् शितान्।
स्तूयमानस्समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः॥ १५॥
तेजसाप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम्॥ १६॥

भगवान्ने पुरञ्जयको अपनी दिव्य शक्तियाँ प्रदान कीं। अपनी सुरक्षाक
तीक्ष्ण बाण धारण कर लिये। देवता उनकी प्रशंसा करने लगे। वे विशाल बैलपर सवार हो गये तथा उसक
ऊपर बैठ गये। (कक
कहा गया) तब परमात्मा परमपुरुष विष्णुक
उन्होंने देवताओंक
ओरससे घेर लिया॥१५-१६॥

तैस्तस्य चाभूत् प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम्।
यमाय भल्लैरनयद्दैत्यानभिययुर्मृधे॥ १७॥

राजन्! वीर पुरञ्जयका दानवोंक
जो भी दानव उनक
बाणोंसे यमलोक पहुँचा दिया॥१७॥

तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम्।
विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम्॥ १८॥

उनक
जो भी दानव उनक
अपने बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर डालते थे। पुरञ्जयका ऐसा अद्भुत साहस देखकर जो दानव बचे थे, उनका भी साहस टूट गया और वे रणभूमि छोड़कर अपनी पुरी पातालकी ओर भाग गये॥१८॥

जित्वा पुरं धनं सर्वं सस्त्रीकं वज्रपाणये।
प्रत्ययच्छत् स राजर्षिरिति नामभिराहृतः॥ १९॥

परीक्षित्! राजर्षि शशादपुत्रने शत्रुओंको जीतकर उनका नगर, धन, पत्नियाँ और ऐश्वर्य आदि जो क
सब वज्रपाणि इन्द्रको प्रदान कर दिया। पुरको जीतनेक
इन्हें पुरञ्जय कहा गया। अपने विविध कार्यकलापोंक
भिन्न-भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुए॥१९॥

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः।
विश्वगन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वस्तु तत्सुतः॥ २०॥

पुरञ्जयक
विश्वगन्धि और विश्वगन्धिसे चन्द्र नामक
चन्द्रक

श्रावस्तस्तत्सुतो येन श्रावस्ती निर्ममे पुरी।
बृहदश्वस्तु श्रावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः॥ २१॥

युवनाश्वक
नामकी पुरीको बसाया था। श्रावस्तक
पुत्र क

यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद् वृतः॥ २२॥

क
लिए इन्होंने अपने इक्कीस हजार पुत्रोंक
नामक

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः॥ २३॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः॥ २४॥

हे भारत! इसीलिए क
क
तीन ही पुत्र जीवित बचे थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और भद्राश्व।
दृढाश्वक

बहुलाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य सेनजित्।
युवनाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः॥ २५॥

निक
पुत्रका नाम सेनजित् तथा सेनजित्क
युवनाश्वक
वह अपनी पत्नियोंक

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः।
इष्टिं स्म वर्तयाञ्चक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः॥ २६॥

युवनाश्व वनमें पत्नियोंक
रहा था। ऋषियोंको युवनाश्व पर बड़ी दया आई और उन्होंने

समाहित चित्तसे युवनाश्वसे सन्तान-प्राप्तिक
अनुष्ठान कराया॥२६॥

राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः।
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम्॥२७॥

एक बार रातक
यज्ञशालामें गया। वहाँ उसने देखा कि सभी ब्राह्मण सोये हुए हैं। तृषासे विवश होकर उसने स्वयं ही वह जल पी लिया, जो उसकी पत्नियोंक

उत्थितास्ते निशम्याथ व्युदकं कलसं प्रभो।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम्॥२८॥

परीक्षित्! ब्राह्मण जब सोकर उठे, तब उन्होंने कलशमें वह अभिमन्त्रित जल न पाकर लोगोंसे पूछा—'पुत्र उत्पन्न करनेक
रखा गया जल किसने पी लिया, यह काम किसका है?'॥२८॥

राज्ञा पीतं विदित्वा वै ईश्वरप्रहितेन ते।
ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम्॥२९॥

अन्तमें जब ब्राह्मणोंको यह पता लगा कि भगवान्‌की प्रेरणासे राजा युवनाश्वने ही वह जल पी लिया है, तब उन्होंने भगवान्‌को सादर प्रणाम करक
बल है, मनुष्यका बल कोई बल नहीं है।'॥२९॥

ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम्।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह॥३०॥

उसक
एक पुत्रने जन्म लिया। यह पुत्र चक्रवर्तीक

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्ये रोरूयते भृशम्।
मान्धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात्॥३१॥

वह बालक स्तनपानक
कहा—'तुम किसका दूध पिओगे?' इतने ही में यज्ञमें पूजित हुए

इन्द्रने उस बालकसे कहा—'हे वत्स! तुम रोओ मत, माम्धाता अर्थात् मुझको पियो।' इतना कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी अङ्गुली शिशुक

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः।
युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात्॥ ३२॥

ब्राह्मणों एवं देवताओंकी कृपासे उस शिशुका पिता युवनाश्व कोखक

तपस्या की और उसी स्थानपर मुक्तिको प्राप्त कर लिया॥३२॥

त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम यस्य वै।
यस्मात् त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः॥ ३३॥
यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः।
सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा॥ ३४॥

हे राजन्! इस युवनाश्वक

(लुटेरे) भयभीत और पीड़ित रहते थे। इसीलिए इन्द्रने उन्हें 'त्रसद्दस्यु' नाम दे दिया था। युवनाश्वक

इतने प्रभावशाली थे कि वे पृथ्वीक

विष्णुक

शासन किया॥३३-३४॥

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्भूरिदक्षिणैः।
सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम्॥ ३५॥
द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः।
धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम्॥ ३६॥

राजा मान्धाता यद्यपि तत्त्वको जाननेवाले थे, फिर भी कर्मकाण्डका आश्रय लेकर उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे उन भगवान्की आराधना की, जो सर्वदेवमय हैं, सबकी आत्मा हैं और इन्द्रियोंसे जिन्हें जाना नहीं जा सकता। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान्का ही स्वरूप है। यज्ञ, यज्ञकी भूमि, यज्ञकी

सामग्री, यजमान, ऋत्विज (पुरोहित), मन्त्र, धर्म, देश, काल, विधि-विधान और यज्ञका फल (अपूर्व), क
अलग नहीं है॥३५-३६॥

यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति।
तत् सर्वं यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ ३७॥

सूर्य जिस स्थानसे उदित होता है और जिस स्थानपर प्रतिष्ठित अर्थात् अस्त होता है, वहाँ तकक
पुत्र मान्धाताका ही अधिकार था॥३७॥

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधान्नृपः।
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दञ्च योगिनम्।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम्॥ ३८॥

मान्धाताका विवाह बिन्दुमतीसे हुआ, जो शशबिन्दुकी कन्या थी। बिन्दुमतीसे राजा मान्धाताक
और महान् योगी मुचुक
थी, जिन्होंने सौभरि ऋषिको अपना पति बनाया॥३८॥

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परं तपः।
निर्वृत्तिं मीनराजस्य दृष्ट्वो मैथुनधर्मिणः॥ ३९॥
जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे॥ ४०॥

सौभरि ऋषि परम तपस्वी थे। एक बार वे यमुनाजीमें डुबकी लगाकर परम तपस्या कर रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल मत्स्यराज अपनी पत्नियोंक
ले रहा है। ऋषि सौभरि इस सुखकी प्राप्तिक
उठे। वे (मथुरामें आकर) राजा मान्धाताक
पचास कन्याओंमें-से एक कन्या माँगी। राजाने कहा—हे ब्रह्मन्! स्वयंवरमें मेरी जो कन्या अपनी इच्छासे आपका वरण कर ले, आप उसे ले लीजिए॥३९-४०॥

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसम्मतः।
वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः॥ ४१॥
साधयिष्ये तथात्मानं सुरस्त्रीणामभीप्सितम्।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः॥ ४२॥

राजासे ऐसा सुनकर सौभरि ऋषिने विचार किया कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरे बाल पक गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं हैं, शरीर सदा काँपता रहता है और फिर मैं तपस्वी भी हूँ, अतः स्त्रियोंकी इच्छाक
मेरा तिरस्कार किया है। कोई बात नहीं, अब मैं स्वयंको ऐसा बनाऊँगा कि राजक
अभिलाषा जाग उठेगी। अब ऋषि सौभरिने तपस्याक
स्वयंको अत्यन्त रूपवान् और तरुण बना लिया॥४१-४२॥

मुनिः प्रवेशितः क्षत्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत्।
वृतः स राजकन्याभिरेकं पञ्चाशता वरः॥ ४३॥

फिर क्या था, अन्तःपुरका रक्षक सौभरि ऋषिको राजक
महलमें ले गया, जो अत्यन्त समृद्धिशाली था। वहाँ उनक
रूप-सौन्दर्यसे अत्यधिक प्रभावित होकर राजा मान्धाताकी पचासों कन्याओंने ही उनको अपने पतिक

तासां कलिरभूद्भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम्।
ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम्॥ ४४॥

सौभरि ऋषिक
यह हुआ कि वे परस्पर स्नेहभावका त्याग करक
लड़ने लगी—'यह वर मेरे लिए योग्य है, तुम्हारे योग्य नहीं।'॥४४॥

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरःसु सौगन्धिककाननेषु॥ ४५॥

महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण-
स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥ ४६ ॥

ऋषि सौभरि ऋग्वेदी थे। अतः वैदिक मन्त्रोंमें निपुण थे। उनकी दुरन्त (कठिन) तपस्याक
सुसज्जित हो गया। सुन्दर वस्त्र-अलङ्कारोंसे विभूषित दास-दासियाँ, विविध प्रकारक
फ
भ्रमर और विरुदावलीका बखान करनेवाले बन्दीजन आदि वहाँ विद्यमान हो गये। सौभरि ऋषिक
वस्त्र-आभूषण, स्नान, चन्दन आदि अनुलेपन, पुष्प-मालिकाएँ एवं स्वादिष्ट भोजन-सामग्री सभी उपलब्ध थे। उस अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्ण वातावरणमें ऋषि अपनी पत्नियोंक

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ।
विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥ ४७ ॥

सात द्वीपोंवाली पृथ्वीक
जामाता सौभरि ऋषिक
आश्चर्यचकित हो गये और उनका यह गर्व 'मैं सारी पृथ्वीकी सम्पत्तिका स्वामी हूँ', दूर हो गया॥४७॥

एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः ।
सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि सौभरि घरमें ही अनेक-अनेक सुखोंक
विषयोंका भोग करने लगे, किन्तु जिस प्रकार घीकी बूँदोंसे आग कभी भी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार ऋषिको भी विषयोंक
सेवनसे आत्म-सन्तुष्टि नहीं हुई॥४८॥

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः ।
ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥ ४९ ॥

मन्त्राचार्य सौभरिमुनि एक दिन एकान्तमें उपासनाक
हुए थे। तभी उनक
सङ्ग-दोषसे मेरी सारी तपस्या नष्ट हो गयी है। इसका कारण मैं स्वयं ही हूँ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥५०॥

अहो! मैं साधुपुरुषों द्वारा किये जानेवाले व्रत आदि विधि-विधानोंका जीवन भर पालन करता रहा। गम्भीर जलक
हुए मैंने जलचर मत्स्यका क
तो दीर्घकालकी तपस्या ही नष्ट हो गयी। मेरा यह अधःपतन तो देखो, जरा॥५०॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतीनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥५१॥

मुमुक्षोंको कर्मियोंक
लिये भी इन्द्रियोंको बहिर्मुख नहीं होने देना चाहिए। अक
निर्जन स्थानपर बैठकर भगवान् श्रीहरिमें अपने चित्तको लगा देना चाहिए। यदि सङ्ग करना ही है, तो भगवान्‌की प्रेमाभक्तिमें लगे हुए साधु-महात्माओंका ही सङ्ग करना चाहिए॥५१॥

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्
पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां
मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥५२॥

पहले मैं एकान्तमें अक
बादमें जलमें मत्स्यका सङ्ग हो जानेसे मैंने विवाह कर लिया

और मैं पचास हो गया। इसक
उत्पन्न किये और मैं पाँच हजार हो गया। असत् विषयोंमें बुद्धि हो जानेसे मायाक
पुरुषार्थ-बुद्धि उत्पन्न हो गयी और अब मुझे इस लोक और परलोकमें मनोरथोंक

एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः।
वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः॥ ५३॥

इस प्रकारक
बीता, किन्तु बादमें वैराग्यको धारण करक
सङ्गका त्याग कर दिया और वनमें चले गये। अपने पतिको ही अपना सब क
करती हुई वनमें चली गयीं॥५३॥

तत्र तप्त्वा तपस्तीव्रमात्मदर्शनमात्मवित्।
सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि॥ ५४॥

तत्त्वको जाननेवाले सौभरिने वनमें जाकर आत्मसाक्षात्कारक लिए कठोर तपस्या की और आहवनीय आदि (गार्हपत्य एवं दक्षिण) अग्नियोंक

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम्।
अन्वीयुस्तत्प्रभावेण शान्तमग्निमिवार्चिषः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसौभर्योपाख्यानं नाम षष्ठोऽध्यायः॥

महाराज परीक्षित्! अपने पतिकी आध्यात्मिक सद्गतिको देखकर ऋषि-पत्नियाँ भी उनक
सहगामिनी हुईं, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्निशिखा शान्त अग्निमें मिल जाती है॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा

श्रीशुक उवाच—

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्त्तितः।
पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वस्तु तत्सुतः।
हारीतस्तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मैं यह वर्णन कर चुका हूँ कि राजा मान्धाताक
अम्बरीषको उनक
लिया था। इनक
हारीत। मान्धाताक
अवान्तर गोत्रोंक

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया॥ २ ॥

नागोंकी (सर्पोंकी) बहन नर्मदा थी। नर्मदाका विवाह उसक
भाइयोंने पुरुक
नर्मदा अपने पतिको रसातलमें ले गयी थी॥२॥

गन्धर्वानवधीत् तत्र वध्यान् वै विष्णुशक्तिधृक्।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम्॥ ३ ॥

रसातलमें पुरुक
गन्धर्वोंको मार डाला, जो वधक
इस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए और उसे वर दे दिया कि जो भी नर्मदाक
करेगा, उसे सर्पोंसे भय नहीं रहेगा॥३॥

त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत्।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मात् प्रारुणोऽथ त्रिबन्धनः॥ ४॥

राजा पुरुक
अनरण्य, अनरण्यका हर्यश्व और हर्यश्वका पुत्र प्रारुण हुआ। प्रारुणसे त्रिबन्धनका जन्म हुआ॥४॥

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद्गुरोः कौशिकतेजसा॥ ५॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्॥ ६॥

त्रिबन्धनक
नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने विवाह-मण्डपसे एक ब्राह्मणकी पुत्रीका अपहरण कर लिया था, जिसक
चाण्डाल बननेका शाप दे दिया था, किन्तु बादमें विश्वामित्रजीक
तेजबलसे ये शरीर सहित ही स्वर्गमें चले गये थे। देवताओंको यह स्वीकार नहीं था, अतः देवताओंने उन्हें वहाँसे धक
वे नीचेकी ओर सिर किये हुए गिरने लगे, परन्तु विश्वामित्रजीने उन्हें नीचे नहीं गिरने दिया और अपनी तपस्याक
वहीं आकाशमें स्थित कर दिया। आज भी उनको आकाशमें सिरक
अनुसार सत्यव्रतने तीन पातक किये थे—पिताको असन्तुष्ट किया, गुरुदेवकी गायका वध किया एवं अभक्ष्यका भक्षण किया इसलिए त्रिशंकु कहलाये।) ॥५-६॥

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभूद्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम्॥ ७॥

त्रिशंक
विश्वामित्र और वशिष्ठने एक-दूसरेको पक्षी बननेका शाप दे डाला और पक्षीरूपमें ही बहुत वर्षोंतक आपसमें युद्ध करते रहे॥७॥

(यह इतिहास इस प्रकार है—एकबार हरिश्चन्द्रने राजसूय यज्ञ किया। अप्रसन्न विश्वामित्रने दक्षिणाक
माँग ली। यह सुनकर वशिष्ठने विश्वामित्रको शाप दिया 'तुम पक्षी हो जाओ' और विश्वामित्रने भी वशिष्ठको शाप दे दिया 'तुम बत्तख हो जाओ'। इस प्रकार वे दोनों पक्षी बनकर बहुत समयतक युद्ध करते रहे।)

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो॥ ८॥

राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन थे। इससे वे बहुत दुःखी रहते थे। एक बार नारदक
उनसे प्रार्थना की कि 'हे प्रभो! मुझे एक पुत्र प्राप्त हो॥८॥

यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति।
नथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः॥ ९॥

हे प्रभो! यदि मुझे एक वीर पुत्र प्राप्त हो जाय, तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा'—राजा हरिश्चन्द्रक
वरुणदेवने उन्हें 'तथास्तु' कहकर वर प्रदान किया। वरदानक फलस्वरूप राजा हरिश्चन्द्रक
रोहित रखा गया॥९॥

जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत्।
यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति॥ १०॥

पुत्र-प्राप्ति क
लगे—'हे हरिश्चन्द्र! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया है, अब इससे मेरा यज्ञ करो।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'यह यज्ञपशु (रोहित) दस दिनक

निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।
दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति॥ ११॥

दस दिनक
'हे हरिश्चन्द्र! यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने उत्तर दिया—'जिस समय

यज्ञपशुक
बनता है'॥११॥

दन्ता जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।
यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति॥१२॥

दाँत उग आनेपर वरुणदेव आये और कहने लगे—'इसक
निकल आये हैं, अब यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसक
दूधक

पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।
यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः॥१३॥

यज्ञपशुक
कहा—'इस यज्ञपशुक
करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसक
यज्ञक

पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।
सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः॥१४॥

दाँतोंक
करो।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'हे देव! क्षत्रिय पशु जिस समय
कवच बाँधता है अर्थात् युद्धक्षेत्रमें अपनी रक्षा करनेमें समर्थ
होता है, तब वह पवित्र माना जाता है'॥१४॥

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा।
कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत॥१५॥

हे राजन्! इस प्रकार हरिश्चन्द्र अपने पुत्रक
आसक्त थे। पुत्रानुरागक
जिस-जिस समयपर आनेक
प्रतीक्षा करते॥१५॥

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम्।
प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत॥१६॥

रोहितको जब यह पता चला कि मेरे पिताजी यज्ञमें मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब उसने अपने प्राणोंकी रक्षाक
धनुष धारण किया और वनमें चला गया॥१६॥

पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम्।
रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत॥१७॥

क
क्रोधक
उनका पेट बहुत अधिक बढ़ गया है, तब वह अपने नगरमें लौटने क
ऐसा करनेसे मना कर दिया॥१७॥

भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः।
रोहितायादिशच्छक्रः सोऽप्यरण्येऽवसत् समाम्॥१८॥

इन्द्रने रोहितको समझाते हुए कहा—यज्ञपशु बनकर बलि देनेसे तो अधिक पुण्य इस बातमें है कि तीर्थस्थानों अथवा पावन क्षेत्रोंमें विचरण किया जाय। उनकी बात मानकर रोहित एक वर्ष और वनमें ही रहा॥१८॥

एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा।
अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाह वृत्रहा॥१९॥

इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे वर्षमें भी जब-जब रोहित अपने पिताक
हर बार बूढ़े ब्राह्मणका रूप धारण करक
और पहले कहे गये वचनोंसे ही उसे रोक देते॥१९॥

षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम्।
उपव्रजन्नजीगर्त्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम्।
शुनःशेफं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत॥२०॥

इस प्रकार रोहित छः वर्षों तक वनमें ही भ्रमण करता रहा। इसक

अजीगर्तसे उनक
यज्ञपशु बनानेक
चरणोंमें प्रणाम किया॥२०॥

ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः।
मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः॥ २१॥

महत्वपूर्ण व्यक्तियोंकी कथाओंमें राजा हरिश्चन्द्रकी यह कथा भी प्रसिद्ध है कि महायशस्वी राजा हरिश्चन्द्रने नरमेध यज्ञसे वरुण आदि देवताओंकी पूजा की और इस प्रकार वह महोदर रोगसे मुक्त हो गये॥२१॥

विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान्।
जमदग्निरभूद्ब्रह्मा वशिष्ठोऽयास्यः सामगः॥ २२॥

इस नरमेध यज्ञमें विश्वामित्रने होताका कार्य किया। आत्म-तत्त्वको जाननेवाले जमदग्नि अध्वर्यु (वेदोंमें बताये गये कर्मोंको करनेवाले) हुए। वशिष्ठ ब्रह्मा बने और अयास्य मुनिने सामवेदक
गायन किया॥२२॥

तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम्।
शुनःशेफस्य माहात्म्यमुपरिष्टात् प्रवक्ष्यते॥ २३॥

इस यज्ञसे प्रसन्न होकर इन्द्रदेवने राजा हरिश्चन्द्रको सोनेका रथ प्रदान किया। आगे चलकर (जब मैं विश्वामित्रक
कथा सुनाऊँगा तब) शुनःशेफकी महिमाका वर्णन करूँगा।॥२३॥

सत्यं सारं धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य स भूपतेः।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम्॥ २४॥

परीक्षित्! राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सहित सत्यमें दृढ़तापूर्वक स्थित थे। यह देखकर विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें उस ज्ञानका उपदेश दिया, जिसका कभी भी नाश नहीं होता॥२४॥

मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत्।
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि॥ २५॥

तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन्।
हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा।
अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीहरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥

उस ज्ञानसे राजा हरिश्चन्द्रने अपने अन्नमय मनको पृथ्वीमें एकाकार कर दिया। पृथ्वीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थित कर दिया। आकाशको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको ज्ञान-अंशमें मिला दिया। इसक ज्ञानांशका आत्म-रूपमें ध्यान किया और निर्वाण-सुखकी अनुभूतिसे युक्त ज्ञानसे अज्ञानको भस्म कर दिया। निर्वाण सुखकी अनुभूति होनेपर ज्ञानका भी परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने उस स्वरूपमें स्थित हो गये, जिसका न तो वर्णन किया जा सकता है और न ही अनुमान॥२५-२६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

महाराज सगरकी कथा

श्रीशुक उवाच—

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता।
चम्पा पुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! रोहितक
नाम था हरित। हरितसे चम्प उत्पन्न हुआ। इन चम्पने ही चम्पापुरीको बसाया था। चम्पसे सुदेवने जन्म लिया और सुदेवका पुत्र विजय था॥१॥

भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्यापि बाहुकः।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत्॥ २॥

विजयका पुत्र भरुक था। भरुकका वृक और वृकसे बाहुकने जन्म लिया। बाहुकका राज्य शत्रुओंने छीन लिया था। इससे वह अपनी पत्नीक

वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती।
और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता॥ ३॥

वृद्धावस्थाक
उनक
कि वह गर्भवती है। अतः उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया॥३॥

आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह।
सह तेनैव सञ्जातः सगराख्यो महायशाः।
सगरश्चक्रवर्त्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः॥ ४॥

बाहुकको पत्नीक
तो उन्होंने उसे भोजनक

कोई भी प्रभाव बालकपर न पड़ा। विषक
ले लिया। इस प्रकार गरक
नाम ‘सगर’ पड़ गया। सगर एक महायशस्वी राजा थे। सगर पूरी
पृथ्वीक
(समुद्र) बनाया था॥४॥

यस्तालजङ्घान् यवनान् शकान् हैहयबर्बरान्।
नावधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेशिनः॥५॥
मुण्डान् श्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्द्धमुण्डितान्।
अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान्॥६॥

राजा सगरने अपने गुरु और्वकी आज्ञा मानकर तालजंघ,
यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिक
किया, बल्कि उन्होंने इन जातिक
दिया। किसी जातिक
रखवा दी, क
दिया। क
और किसी जातिवालोंको बाहरी वस्त्रोंसे शून्य क
अर्थात् लंगोटी धारण करनेको बाध्य किया॥५-६॥

सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम्।
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम्।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः॥७॥

इसक
अश्वमेध यज्ञका आयोजन किया, जिसमें उन्होंने सभी वेदों एवं
देवता आदिक
श्रीहरिकी आराधना की। इस यज्ञमें जिस घोड़ेको छोड़ा गया था,
उसे इन्द्रने चुरा लिया॥७॥

सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः।
हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम्॥८॥

(सगरकी क
सगरक
घोड़ेको ढूँढ़ा और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपनी शक्तिक
पृथ्वीको भी खोद डाला॥८॥

प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके।
एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः॥९॥
हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः।
उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः॥१०॥

उन्हें उत्तर-पूर्व दिशामें कपिल मुनिक
दिया। घोड़ेको देखते ही वे बोल उठे—'इसी व्यक्तिने यज्ञका घोड़ा चुराया है, देखो, अब इसने किस प्रकार आँखें मूँद रखी हैं, यह पापी है, इसे मार डालो! मार डालो!' यह कहकर सगरक
अस्त्र-शस्त्र उठा लिये और कपिल मुनिपर आक्रमण करनेक
दौड़ पड़े। उसी समय कपिल मुनिने अपनी आँखें खोलीं॥९-१०॥

स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः।
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात्॥११॥

देवराज इन्द्रने अपनी शक्तिसे उन राजक
लिया था। इसीलिये उन्होंने कपिल मुनि जैसे महात्माका अपमान किया था। उनक
महाभूतक
और क्षणमात्रमें ही सब-क

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः॥१२॥

परीक्षित्! क
क्रोधकी अग्निसे भस्मीभूत हुए थे, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं

है, क्योंकि कपिल मुनि तो शुद्ध-सत्वकी मूर्त्ति हैं, वे तो सारे जगत्‌को पवित्र करनेवाले हैं। उनमें क्रोध-रूपी तमोगुणकी सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है? भला कभी पृथ्वीकी धूल भी निर्मल आकाशमें रह सकती है?॥१२॥

यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः॥१३॥

यह संसार-सागर एक मृत्युका पथ है, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु कपिल मुनिने इस लोकको सांख्य-शास्त्रक
एक ऐसी सुदृढ़ नौका प्रदान की है, जिसका प्रयोग करक
इच्छा रखनेवाले सरलतासे इस संसार-सागरक
कपिल मुनि सब क
फिर उनमें भला शत्रु और मित्रमें भेद करनेवाली प्राकृत बुद्धि
क

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः।
तस्य पुत्रोंऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः॥१४॥

सगरकी दूसरी पत्नी क
जन्म लिया। असमञ्जसक
अपने दादाक

असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम्।
जातिस्मरः पुरा सङ्गाद्योगी योगाद्विचालितः॥१५॥
आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्।
सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयन् जनम्॥१६॥

क
कारण वे योगसे भ्रष्ट हो गये थे, परन्तु योगक
जातिस्मर थे अर्थात् उन्हें इस जन्ममें भी पूर्व जन्मका स्मरण

बना हुआ था। इसलिये सङ्ग-परिहारक
योग्य ऐसे काम करते थे, जिससे कोई भी उन्हें अपना प्रिय न समझे। कभी-कभी तो वे खेलते हुए बच्चोंको सरयूमे ही डाल देते थे। उनक
गये थे॥१५-१६॥

एवं वृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै।
योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ॥१७॥

असमञ्जसक
पुत्र-मोहको छोड़कर उनका त्याग कर दिया। तब असमञ्जसने अपने योगबलसे उन सभी बालकोंको पुनर्जीवित कर दिया, जिन्हें उसने सरयू नदीमें डुबोकर मार डाला था और उन जीवित किये हुए बालकोंको राजा और उनक
ओर चल पड़े॥१७॥

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान्।
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत॥१८॥

हे राजन्! अयोध्यावासियोंने जब अपने मरे हुए बालकोंको पुनः जीवित देखा तो उनक
राजा सगरको भी पुत्रक
पश्चात्ताप हुआ॥१८॥

अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरगान्वेषणे ययौ।
पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम्॥१९॥

इसक
ढूँढ़नेक
पृथ्वीको खोद डाला था, अंशुमान् उसी पथपर चले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भस्मक

तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम्।
अस्तौत् समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान्॥२०॥

उस यज्ञक
अंशुमान्ने कपिल मुनिमें अधोक्षज भगवान्क
उनक
भगवान्की स्तुति करने लगे॥२०॥

श्रीअंशुमानुवाच—

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः॥ २१॥

अंशुमानने कहा,—'हे भगवन्! आप जीवतत्त्वसे श्रेष्ठ परात्पर तत्त्व हैं। अज ब्रह्मा भी आज तक परात्पर परमेश्वर-स्वरूप आपको समाधि एवं युक्ति द्वारा नहीं जान पाये हैं और न आपका दर्शन कर पाये हैं। इसका कारण यह है कि समाधि द्वारा अपरोक्षको देखा नहीं जा सकता और युक्ति द्वारा परोक्षको भी जाना नहीं जा सकता। इसलिए ब्रह्माक
सृष्ट देव, तिर्यक् एवं मनुष्य आपको कैसे जान सकते हैं? हम तो देवताओंसे भी अधिक अज्ञान (अज्ञानी) हैं, अतएव आपकी महिमाको किस प्रकार समझ सकते हैं?॥२१॥

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च।
यन्मायया मोहितचेतसस्त्वां
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः॥ २२॥

हे प्रभो! यद्यपि आप सब जीवोंमें स्व-स्वरूपसे विद्यमान हैं, तथापि ये देहधारी जीव अपने हृदयमें स्थित आपका दर्शन नहीं कर पाते, क्योंकि वे आपकी मायासे मोहित रहते हैं। बहिर्मुखी होनेसे उनकी बुद्धि सत्त्व, रज एवं तमोगुण प्रधान है, इसलिए वे सर्वत्र क

अवस्थामें वे क
तमोगुण प्रधान पदार्थोंको ही देखते हैं। इन तीनों गुणोंसे परे आप निर्गुण आपको वे नहीं देख पाते॥२२॥

तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं विमूढः परिभावयामि॥ २३॥

हे भगवन्! आप शुद्धज्ञानकी मूर्त्ति हैं। सनन्दन आदि जैसे मुनि जो स्वरूप-अनुभवक
एवं मोहको समाप्त कर चुक
करते रहते हैं, तब मुझ जैसा अज्ञानी भला आपको जाननेमें कैसे समर्थ हो सकता है?॥२३॥

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विमुक्तम्।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम्॥ २४॥

हे प्रशान्त! विश्व-सृष्टि इत्यादि मायिक गुण, सृष्टि इत्यादि कर्म ब्रह्मादि विभिन्न गुणमय रूप आपक
अर्थात् गुण एवं कर्मसे विमुक्त हैं, मायिक नाम-रूपसे रहित हैं। ज्ञानोपदेशक
पुराण (सनातन) पुरुष! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥२४॥

त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः॥ २५॥

हे भगवन्! जिनका चित्त काम, लोभ, ईर्ष्या एवं मोहादिसे भ्रान्त है, वे सब आपकी माया द्वारा सृजित मिथ्या गृह, देह, पुत्र कलत्र आदिको वास्तव मानकर उनमें आसक्ति रखते हैं और इस जगत्में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं॥२५॥

अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात्॥ २६॥

हे सर्वभूतात्मान्तर्यामिन्! हे भगवन्! आज आपक
कामवासनाओं एवं इन्द्रियोंका आश्रय-स्वरूप दुश्छेद्य (जिसका टूटना बहुत कठिन है) मोहरूप मेरा संसार-बन्धन छिन्न हो गया है॥२६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुग्राह्य धिया नृप॥ २७॥

हे राजन्! इस प्रकारसे भगवत्-माहात्म्य-कीर्त्तन करनेपर कपिलमुनिने अंशुमान्पर अनुग्रह किया और उनको ज्ञानोपदेश करने लगे॥२७॥

श्रीभगवानुवाच—

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव।
इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत्॥ २८॥

भगवान् कपिलने कहा—हे अंशुमान्! यह रहा तुम्हारे दादाजीका यज्ञपशु, इस घोड़ेको ले लो! तुम्हारे भस्म हुए पितृव्योंक
उद्धारक
अन्य कोई साधन नहीं॥२८॥

तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत्।
सगरस्तेन पशुना यज्ञशेषं समापयत्॥ २९॥

इसक
सिर झुकाकर उनको प्रणाम किया। इस प्रकारसे उन्हें पूर्णरूपेण सन्तुष्ट करक
अश्वसे यज्ञका अनुष्ठान सम्पन्न किया॥२९॥

राज्यमंशुमते न्यस्य निस्पृहो मुक्तबन्धनः।
और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम्॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसगरोपाख्यानं नामाष्टमोऽध्यायः।

हे राजन्! सगरने अंशुमान्को राज्य सौंप दिया तथा विषय-वासना एवं मोह-पाशसे मुक्त होकर और्वमुनिक
अनुसरण करते हुए परम गतिको प्राप्त किया॥३०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

भगीरथका चरित्र और गङ्गाका पृथ्वीपर अवतरण

श्रीशुक उवाच—

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया।
कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कालेन संस्थितः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जिस प्रकार महाराज सगर अपने पौत्र अंशुमान्‌को राज्यका भार सौंपकर तपस्या करने चले गये थे, उसी प्रकार अंशुमान्‌ने भी अपने पुत्र दिलीपको राज्यका सारा भार सौंप दिया और गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेकी अभिलाषासे बहुत वर्षों तक घोर तपस्या करते रहे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली और समय आनेपर उनकी मृत्यु हो गयी॥१॥

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान्।
भगीरथस्तस्य सुतस्तेपे स सुमहत् तपः॥ २॥

अंशुमान्क

पृथ्वीपर लानेक

असमर्थ ही रहे और कालक्रमसे मृत्युको प्राप्त हो गये। इसक

बाद दिलीपक

तपस्या की॥२॥

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते।
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः॥ ३॥

भगीरथजीकी तपस्यासे गङ्गादेवी प्रसन्न हो गयीं और उन्हें दर्शन देकर कहने लगीं—‘मैं तुम्हारी तपस्यासे प्रसन्न हूँ, मैं तुम्हें वर देनेक

बड़ी विनम्रतासे उनक

कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले।
अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम्॥ ४॥

(गङ्गाजीने कहा—)'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको धारण करनेक
चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हे भगीरथ! मैं (अपने तीव्र वेगक

किञ्चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्।
मृजामि तदघं क्वाहं राजंस्तत्र विचिन्त्यताम्॥ ५॥

हे राजन्! इसक
नहीं है, क्योंकि पृथ्वीपर आनेपर लोग मुझमें अपने पापोंको धोयेंगे, तो फिर मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी? इस बातपर भी तुम विशेषरूपसे विचार कर लो॥५॥

श्रीभगीरथ उवाच—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥ ६॥

श्रीभगीरथने कहा—हे देवी! जो कर्मक
रखते हैं, भोगवासनाओंसे रहित हैं, वेद-विचारमें निपुण हैं, सभी सांसारिक कामनाओंको त्याग करक
विशुद्ध-चित्त, ब्रह्मनिष्ठ, सभी लोकोंको पावन करनेवाले साधुपुरुष आपक
पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि उन साधुओंक
करनेवाले भगवान् सदा निवास करते हैं॥६॥

धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु॥ ७॥

श्रीरुद्रदेव आपक
देहधारियोंक
उसी प्रकारसे ओतप्रोत है, जिस प्रकार साड़ी सूतोंसे (तानेबानोंसे) ओतप्रोत रहती है॥७॥

इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम्।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशश्चाश्वतुष्यत॥ ८॥

गङ्गासे यह सब कहनेक
प्रसन्न करने लगे। हे परीक्षित्! महादेव भगीरथकी तपस्यासे अति शीघ्र सन्तुष्ट हो गये॥८॥

तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः।
दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः॥ ९॥

(जब महाराज भगीरथने शिवसे गङ्गाका वेग धारण करनेक लिए प्रार्थना की) तब शिवने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और बड़ी सावधानीक
अपने सिरपर धारण कर लिया। करें भी क्यों न, भगवान् श्रीहरिक
करनेवाला जो है॥९॥

भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम्।
यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते॥ १०॥

इसक
गङ्गाको उस स्थानपर लेकर गये, जहाँ उनक
हुए पड़े थे॥१०॥

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत् सगरात्मजान्॥ ११॥

भगीरथ वायुकी गतिसे चलनेवाले एक रथपर सवार होकर आगे-आगे चले और गङ्गाजी अपने मार्गमें आनेवाले सभी देशोंको पवित्र करती हुईं उनक
स्थान (गङ्गासागरक
कारण सगरक
शरीरकी उस भस्मको अपने जलमें डुबा दिया॥११॥

यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः॥ १२॥

महापुरुषक
शरीरमें विद्यमान अग्निका ताप बहुत बढ़ गया था, इसलिए उनक
असम्भव था, किन्तु उनक
जलका क
चले गये॥१२॥

भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः।
किं पुनः श्रद्धया देवीं सेवन्ते ये धृतव्रताः॥ १३॥

जब शरीरकी भस्मसे ही गङ्गाजीका स्पर्श मात्र पाकर सगरक
सभी पुत्र स्वर्गमें चले गये, तब जो व्यक्ति श्रद्धाक
करक
कहा जाय?॥१३॥

नह्येतत् परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः॥ १४॥

गङ्गादेवी भगवान् अनन्तदेवक
मनुष्योंका भव-बन्धनसे उद्धार करनेमें पूर्णरूपसे सक्षम हैं। इसलिए उनक
आश्चर्यजनक नहीं है॥१४॥

सन्निवेश्य मनो यस्मिन् श्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥ १५॥

गङ्गा भगवान् श्रीहरिक
श्रद्धाक
भोग-आसक्तिसे रहित होकर परम निर्मल हो जाता है और वे तीन गुणोंसे बने हुए सुदृढ़ देह-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्क तादात्म्यको (ऐकान्तिकत्वको) प्राप्त कर लेते हैं। (तब उनक चरणोंसे निकलनेवाली गङ्गा भव-बन्धनसे मुक्त कर दे, इसमें कौन-सा आश्चर्य है?)॥१५॥

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत्।
सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥ १६ ॥
ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात्।
दत्त्वाक्षहृदयञ्चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः॥ १७ ॥

भगीरथसे श्रुतका जन्म हुआ था और श्रुतका पुत्र था नाभ। यह नाभ पहले बताये गये नाभसे भिन्न है। नाभसे सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपसे अयुतायु उत्पन्न हुआ। अयुतायुसे ऋतुपर्णका जन्म हुआ, जो राजा नलका मित्र था। ऋतुपर्णने राजा नलको द्यूत-क्रीड़ाक
सीखी थी। ऋतुपर्णक

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृपः।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित्।
वशिष्ठशापाद्रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा॥ १८ ॥

महाराज परीक्षित्! सर्वकामक
पुत्र हुआ सौदास। सौदासकी पत्नीका नाम मदयन्ती था। इन सौदासको क
कल्माषपाद भी कहा जाता है। ये वशिष्ठ मुनिक
गये थे और फिर अपने बुरे कर्मोंक

श्रीराजोवाच—

किं निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः।
एतद्वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि॥ १९ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि राजा सौदासको मुनि वशिष्ठने शाप क्यों दे दिया था? इसमें यदि कोई गोपनीय बात न हो, तो हमें बतलाइए॥१९॥

श्रीशुक उवाच—

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह।
मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया॥ २० ॥

स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम्॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—एक बार राजा सौदास शिकारक लिए गये। वहाँ उन्होंने एक राक्षसको मार डाला, किन्तु उसक भाईको छोड़ दिया। इसक
विचारसे राजा सौदासक
दिन गुरु वशिष्ठ राजा सौदासक
उस रसोइये बने राक्षसने मनुष्यका मांस पकाकर वशिष्ठजीको परोस दिया॥२०-२१॥

परिवेक्ष्यमाणं भगवान् विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा।
राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि॥ २२॥

योग-विभूति सम्पन्न मुनि वशिष्ठने अपने दिव्यज्ञानसे जान लिया कि उन्हें अभक्ष्य वस्तु परोसी गयी है। वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे और नर-मांसको परोसनेक
दिया—'जा, तू नरभक्षी राक्षस हो जा'॥२२॥

रक्षःकृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम्।
सोऽप्यपोऽञ्जलिनादाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः॥ २३॥

वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ।
दिशः खमवनीं सर्वं पश्यन् जीवमयं नृपः॥ २४॥

जब मुनि वशिष्ठको यह पता चला कि यह काम राजाका नहीं, राक्षसका है, तब उन्होंने राजाको दिये गये शापकी अवधिको बारह वर्ष कर दिया और स्वयं बारह वर्ष व्रत रखा, जिससे निरपराध राजाको शाप-प्रदानरूप उनका दोष दूर हो जाय। उस समय राजा सौदास भी अञ्जलिमें जल लेकर गुरु वशिष्ठको शाप देनेक लिए तत्पर हुए, परन्तु उनकी पत्नी मदयन्तीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। पत्नीकी बात मान लेनेक
कहा जाता है। जब उन्होंने देखा कि दसों दिशाएँ, आकाश

और पृथ्वी सभी स्थान जीवमय हैं; ये सब दग्ध हो सकते हैं, तब अञ्जलिवाले अभिमन्त्रित जलको उन्होंने अपने ही पैरोंपर डाल लिया॥२३-२४॥

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः।
व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ॥ २५॥

अभिमन्त्रित जलक

थे, इसलिए उन्हें 'कल्माषपाद' भी कहा जाता है। अब वे एक राक्षस (मानवभक्षी स्वभाववाले) हो चुक

है, राक्षस बने हुए कल्माषपादने एक वनवासी ब्राह्मण-दम्पत्तिको सहवासक

क्षुधार्त्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत्।
न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः॥ २६॥
मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्त्तुमर्हसि।
देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम्॥ २७॥

राजा सौदासकी वृत्ति राक्षसी हो गयी थी। उन्हें भूख भी लगी थी। उन्होंने ब्राह्मण-दम्पत्तिमें से ब्राह्मणको पकड़ लिया। तब ब्राह्मणकी पत्नीने बड़े दीन भावसे सौदाससे कहा—हे राजन्! आप राक्षस नहीं हैं। आप इक्ष्वाक

हैं। इस प्रकार अधर्मका आचरण आपको शोभा नहीं देता। मुझे सन्तानकी कामना है और मेरे पतिकी कामना भी अभी पूर्ण नहीं हुई है। अतः आप मेरे ब्राह्मण पतिको लौटा दीजिए॥२६-२७॥

देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते॥ २८॥

हे राजन्! यह मनुष्य शरीर जीवोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—समस्त पुरुषार्थोंको प्रदान करनेमें सक्षम है। अतः हे वीर! मनुष्य-शरीरको नष्ट कर देना समस्त पुरुषार्थोंकी हत्या कही जाती है॥२८॥

एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम्।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः॥ २९॥

पुनः यह ब्राह्मण विद्वान् है, तपस्वी है और सभी गुणोंसे सम्पन्न है। यह पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना करना चाहता है, जो समस्त प्राणियोंमें आत्माक
वस्तुओंमें विद्यमान होते हुए भी भिन्न नाम और रूपक
आवृत्त हैं। प्राकृत सत्त्वादि गुणोंक
वे अदृश्य हैं॥२९॥

सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभो।
कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः॥ ३०॥

हे राजन्! आप धर्मक
पिताक
प्रकार आप जैसे श्रेष्ठ राजर्षिक
किस प्रकार उचित हो सकती है?॥३०॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सौहृदम्।
विद्याविवेकसम्पन्नाः श्रीलमेतद्विदुर्वुधाः॥ ३१॥

विद्वान् एवं विवेकी पण्डित कर्म, मन एवं वचन द्वारा समस्त प्राणियोंक
जाता है॥३१॥

तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान्॥ ३२॥

साधु समाजमें आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। यह ब्राह्मण भी साधु ही है, निरपराध है, श्रोत्रिय है और वेदोंका ज्ञाता है। इसलिए आपक
ठीक नहीं है। इसकी हत्या गायकी हत्या अथवा भ्रूणकी हत्याक
समान है॥३२॥

यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः।
न जीविष्ये विना येन क्षणञ्च मृतकं यथा॥ ३३॥

पतिक
क्षण भी जीवित नहीं रह पाऊँगी। इसलिए यदि आप इन्हें भक्षण करना ही चाहते हैं, तो पहले मेरा भक्षण कीजिए, क्योंकि मैं तो मृततुल्य हूँ॥३३॥

एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत्।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः॥ ३४॥

ब्राह्मणकी पत्नी इस प्रकार करुणापूर्ण वचन कहती हुई अनाथकी तरह विलाप करने लगी, किन्तु मुनि वशिष्ठक
होनेक
दिया और ब्राह्मणको वैसे ही खा गया, जैसे कोई बाघ किसी पशुको खा जाता है॥३४॥

ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम्।
शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत् कुपिता सती॥ ३५॥

जब साध्वी ब्राह्मणीने देखा कि राक्षसने गर्भाधानक
मेरे पतिको खा लिया है, तब वह बहुत शोक करने लगी और क्रोधसे उसने राजाको शाप दे दिया॥३५॥

यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्त्तायाः पतिस्त्वया।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञदर्शितः॥ ३६॥

अरे दुर्मते! जब मैं कामसे पीड़ित हो रही थी और मेरा पति गर्भाधानक
पापी! रे मूर्ख! जब तू स्त्रीसे सहवास करना चाहेगा, तभी तेरी मृत्यु हो जाएगी—यह तू ध्यान रखना॥३६॥

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्त्तुर्गतिं गता॥ ३७॥

इस प्रकार मित्रसह सौदासको शाप देकर ब्राह्मणीने अपने पतिकी अस्थियोंको धधकती हुई अग्निमें डाल दिया और स्वयं भी सती हो गयी। उसे वही गति प्राप्त हुई, जो उसक
मिली थी, क्योंकि वह पतिलोकपरायणा थी, किसी दूसरे लोकमें जाना नहीं चाहती थी॥ ३७॥

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः।
विज्ञाप्य ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः॥ ३८॥

बारह वर्ष बीत जानेपर सौदास वशिष्ठक
गये। जब वे पत्नीक
ब्राह्मणीक
रोक दिया॥ ३८॥

अत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वशिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात्॥ ३९॥

इसक
इस प्रकार अपने कर्मफलक
वशिष्ठने सौदासकी अनुमतिसे मदयन्तीको गर्भ धारण कराया॥ ३९॥

सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते॥ ४०॥

जब सात वर्षों तक गर्भ धारण करनेक
जन्म नहीं हुआ, तब वशिष्ठने मदयन्तीक
किया, जिससे बालक उत्पन्न हो गया। अश्म (पत्थर)क
उत्पन्न होनेक
हुआ॥ ४०॥

अश्मकाद्बालिको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत्॥ ४१॥

अश्मकक
क्षत्रियोंसे रहित कर रहे थे, तब स्त्रियोंसे घिरे होनेक

बालककी रक्षा हो गयी थी। इसलिए यह 'नारीकवच' नामसे प्रसिद्ध हुआ। जब परशुरामने पूरी पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था, तब यही बालक क्षत्रिय वंशका मूल (प्रवर्त्तक) बना। इसलिए इसे 'मूलक'क

ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडिस्ततः।
राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत्॥ ४२॥

मूलक या बालिकक
और ऐडविडिसे राजा विश्वसहका जन्म हुआ। इन्हीं विश्वसहने सुप्रसिद्ध राजा खट्वाङ्गको उत्पन्न किया। खट्वाङ्ग एक चक्रवर्ती सम्राट् हुए॥४२॥

यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद् युधि दुर्जयः।
मुहूर्त्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः॥ ४३॥

युद्धमें उन्हें कोई हरा नहीं सकता था। देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने युद्धमें दैत्योंपर विजय प्राप्त की थी। इसपर देवताओंने प्रसन्न होकर उन्हें वर माँगनेक
पूछा कि उनकी कितनी आयु शेष है। देवताओंने कहा—'मुहूर्त्त भर' (दो घड़ी)। यह जानकर वे देवताओं द्वारा दिये गये विमानसे अपनी राजधानी लौट आये और अपने चित्तको भलीभाँति भगवान्क चरणोंमें लगा दिया॥४३॥

न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवान्न चात्मजाः।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः॥ ४४॥

इस प्रकार साधु-वृत्तिका आश्रय लेकर वे मन-ही-मन सोचने लगे कि मेरे क
भी प्यारे हैं। उनसे बढ़कर मुझे पत्नी, पुत्र, ऐश्वर्य, पृथ्वी, राज्य क

न चाल्पेऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्।
नापश्यमुत्तमःश्लोकादन्यत् किञ्चन वस्त्वहम्॥ ४५॥

बचपनसे ही मेरा मन कभी भी अधर्मकी ओर नहीं गया। उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिक
मुझे सारपूर्ण नहीं दिखायी दी॥४५॥

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः।
न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः॥४६॥

तीनों लोकोंक
वर देना चाहते थे, परन्तु मैंने उनसे भौतिक कामनाओंकी पूर्त्तिक
लिए क
प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीहरिकी भावनाओंमें ही निमग्न था॥४६॥

ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।
न विदन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे॥४७॥

देवताओंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, फिर भी उनक
मन-इन्द्रियाँ विषय-वासनाओंमें ही भटकते रहते हैं, जिससे वे अपने हृदयमें सदा-सर्वदा प्रियतम परमात्माक
अन्तर्यामी भगवान्‌का दर्शन नहीं कर पाते, तो फिर जिनमें रजोगुण और तमोगुण ही अधिक पाया जाता है, उनक
कहा जाय॥४७॥

अथेशमायारचितेषु सङ्गं
गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु।
रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वकर्त्तु-
र्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये॥४८॥

यह जगत् भगवान्‌की बहिरङ्गा मायासे विरचित है, इसलिए यहाँक
जो आकाशमें क
सत्ता नहीं है। मायाक
यहाँक
इस विश्वका सृजन करनेवाले भगवान् श्रीहरिक

आसक्तिका त्याग कर दिया है और भगवान्‌क
ग्रहण कर ली है॥४८॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया।
हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमास्थितः॥४९॥

राजा खट्‌वाङ्गकी बुद्धिको तो भगवान् श्रीनारायणने अपनी ओर ही आकर्षित कर रखा था, इसीलिए उन्होंने ऐसा सुन्दर निश्चय किया था। नारायणक
उस अज्ञानका भी परित्याग कर दिया था, जो देहमें होनेवाली आत्मबुद्धिक
आत्मस्वरूपमें अर्थात् भगवद्‌दास्यरूपमें स्थित हो गये थे॥४९॥

यत्तद्‌ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम्।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीखट्‌वाङ्गचरितं नाम नवमोऽध्यायः॥

वे आत्मस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) जो अतिशय सूक्ष्म अर्थात् दुर्ज्ञेय निर्विशेष–स्वरूप हैं एवं वस्तुतः शून्य न होनेपर भी जो रागादिक अविषय होनेक
परम सत्य हैं, परब्रह्म हैं। इसी स्वरूपको भक्तगण 'वासुदेव'क
रूपमें जानते हैं॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद्दशरथोऽभवत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! खट्वाङ्गक
दीर्घबाहु था। दीर्घबाहुने एक परम यशस्वी पुत्र रघुको जन्म दिया। रघुसे अज और अजसे महाराज दशरथका जन्म हुआ॥१॥

तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।
रामलक्ष्मणभरत-शत्रुघ्न इति संज्ञया॥ २॥

देवताओंकी प्रार्थनापर साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीहरिने अपने अंश और अंशक
पुत्रोंक
लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न॥२॥

तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
श्रुतं हि वर्णितं भुवि त्वया सीतापतेर्मुहुः॥ ३॥

हे राजन्! तत्त्वको जाननेवाले ऋषियोंने सीतापति भगवान् श्रीरामक
चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और तुमने उसे अनेक बार सुना भी है। फिर भी, मैं तुम्हें संक्षेपमें बतला रहा हूँ, सुनो!॥३॥

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्यात् शूर्पणख्याः प्रियविरहरुषारोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः॥ ४॥

भगवान् श्रीराम अपने पिताक
परित्यागकर एक वनसे दूसरे वनमें विचरण करते रहे। उनक
चरणकमल इतने अधिक सुक
सीतादेवीक
मार्गोंपर चलते-चलते जब वे थक जाते, तब वीर हनुमान, सुग्रीव
और छोटे भाई लक्ष्मण उनक
दूर करते। लक्ष्मणने शूर्पणखाक
(विरूप) बना दिया था, जिसक
सीताजीका वियोग सहन करना पड़ा। इससे श्रीराम अत्यन्त क्रोधित
हो गये। क्रोधावेशक
देखकर समुद्र तक भयसे काँपने लगा और उसने श्रीरामको समुद्र
पार लङ्कामें जानेक
समुद्रपर पुल बाँधा और लङ्कामें जाकर रावण आदि दुष्ट राक्षसोंको वैसे ही समाप्त कर दिया, जैसे दावाग्नि समस्त जंगलको जला डालती है। ऐसे कोशलनरेश हमारी रक्षा करें॥४॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः॥५॥

भगवान् श्रीरामने विश्वामित्रक
आदि बड़े-बड़े नामी राक्षसोंका वध कर दिया था, ऐसे कोशलराज रामचन्द्र हमारी रक्षा करें॥५॥

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम्।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं
सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये॥६॥

जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां
सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम्।
मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं
दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम्॥७॥

हे राजन्! भगवान् रामचन्द्रकी लीलाएँ बालगजक
अद्भुत थीं। जनकपुरीमें सीताजीक
राजा आये हुए थे और उनक
हुआ था, जिसे वहाँ तक तीन-सौ वीर बड़ी कठिनाईसे उठाकर लाये थे, किन्तु भगवान् श्रीरामने उसे बात-ही-बातमें उठा लिया और उसपर डोरी चढ़ाकर बीचों-बीचसे उसक
कर डाले, जैसे गज-शावक खेल-ही-खेलमें ईखको तोड़ डालता है। ऐसा करक
श्रीलक्ष्मीजी ही हैं और भगवान् उन्हें उनक
अपने वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान करक
करते हैं। वास्तवमें वे अपने रूप, गुण, शील, अवस्था और शारीरिक-गठन आदि सभी दृष्टियोंसे भगवान् श्रीहरिक
हैं। जब परशुरामजी पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित करक
लौट रहे थे, तब उनका अभिमान बहुत बढ़ गया था। क्षत्रियवंशी भगवान् श्रीरामने उनक

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः॥ ८॥

महाराज दशरथने महारानी क
उन वचनोंक
देनेक
श्रीरामने सत्यक
हुए प्रसन्नतासे वनवासको स्वीकार कर लिया। अपार ऐश्वर्यसे युक्त राजपाट, प्रेमी, हितैषी, बन्धु, मित्र आदि सभीको छोड़कर वे अपनी पत्नीक
मुक्तिको चाहनेवाला योगी दुस्त्यज्य प्राणोंको हँसते-हँसते छोड़ देता है॥ ८॥

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून्।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय-
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम्॥ ९॥

दुष्ट रावणकी बहन शूर्पणखाकी बुद्धि मन्द एवं कामवासनासे अत्यधिक कलुषित थी। अतः भगवान्ने उसक
उसे शोभाहीन (विकृत) कर दिया। इसक
धारण करक
भाइयों और चौदह हजार राक्षसोंका वध कर दिया। भगवान्ने इधर-उधर विचरण करते हुए अत्यधिक कष्टोंसे भरे हुए वनोंमें निवास किया॥९॥

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः॥ १०॥

हे राजन्! रावणने जब अपनी बहन शूर्पणखाक
अद्भुत रूप, गुण, सौन्दर्य आदिका वर्णन सुना, तो उसका चित्त काम भावनासे उत्तेजित हो उठा। उसने सीताजीक
मारीचको वहाँ भेजा, जिससे वह श्रीरामको क
सक
करक
करते हुए क
उसे शीघ्रतापूर्वक उसी प्रकार मार डाला, जिस प्रकार वीरभद्रने हिरनक

रक्षोऽधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्ष्यं
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार॥ ११॥

भेड़िया जिस प्रकार गडरियेकी अनुपस्थितिमें भेड़का हरण करक भाग जाता है, उसी प्रकार अधम राक्षस रावणने भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें विदेहराज जनककी पुत्री सीताजीका हरण कर लिया। इसक
भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणक
समान भ्रमण करने लगे। अपने इस चरित्रसे उन्होंने जगत्को यह शिक्षा दी कि जो स्त्रियोंमें आसक्त रहते हैं, उनकी ऐसी ही दुखःमयी गति होती है॥११॥

दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः।
बुद्ध्वाथ बालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै-
र्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः॥१२॥

(जब रावण सीताजीको हरण करक
जटायुने सीताजीकी रक्षाक
मारा गया) भगवत्-सेवाक
नष्ट हो चुक
दाह-संस्कार किया। फिर भगवान्ने कबन्धका संहार किया, जो अपने हाथ फ
बाद सुग्रीव आदि श्रेष्ठ वानरोंसे मित्रता करक
वध किया। जब वानरोंकी सहायतासे भगवान्को यह पता चला कि सीताजी लङ्कामें हैं, तब सीताजीक
सेनाक
चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर वन्दना करते हैं, वे भगवान् मनुष्यक वेशमें मधुर-लीलाओंका प्रदर्शन कर रहे थे॥१२॥

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-
संभ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत्॥१३॥

(समुद्रक
करते हुए मार्गक
किन्तु समुद्रदेवने उन्हें कोई उत्तर न दिया।) तब भगवान्ने क्रोधकी लीला करते हुए अपने विकट कटाक्षसे जैसे ही समुद्रपर दृष्टि डाली, समुद्रमें रहनेवाले जल-जन्तुओंमें भयक
मच गयी। समुद्रदेव भी इतना अधिक भयभीत हुए कि तुरन्त साक्षात् शरीर धारण करक
चरणकमलोंमें उपस्थित हुए और इस प्रकार कहने लगे—॥१३॥

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम्।
यत् सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः॥ १४॥

हे सर्वव्यापक परमपुरुष! हम जड़बुद्धि, अज्ञ हैं, इसीलिए अब तक आपक
ही एकमात्र स्वामी हैं। आप निर्विकार हैं, आदि पुरुष हैं। (यद्यपि आप गुणातीत है, फिर भी) जब आप सत्त्व गुणको स्वीकार कर लेते हैं, तब आपसे देवताओंकी उत्पत्ति होती है। आपक
रजोगुणक
स्वीकार करनेसे रुद्रकी उत्पत्ति होती है—इस गुणरूप प्रधानक
ही एकमात्र अधीश्वर हैं॥१४॥

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम्।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः॥ १५॥

हे वीरोंमें शिरोमणि! आप जैसे चाहें, मुझे पार करक
प्रवेश कीजिए और वहाँ जाकर मल-मूत्रक
तीनों भुवनोंको पीड़ा पहुँचानेवाले विश्रवाक
करक

मेरा जल आपक
भी मैं आपसे एक निवेदन करता हूँ कि आप अपने यशक
विस्तारक
दिग्विजयी महावीर यहाँ आयेंगे, तब आपक
कार्यको देखकर आपका गुणगान करेंगे॥१५॥

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-
र्लङ्कां विभीषणदृशाऽविशदग्रदग्धाम्॥ १६॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विविध पर्वतोंक
पुलका निर्माण करवाया। जब महाकाय बन्दर अपने हाथोंसे उन विशाल-विशाल पर्वतोंको उठा-उठाकर लाते, तो उनपर स्थित वृक्ष काँपने लगते। इसक
सुग्रीव, नल, नील, हनुमान आदि प्रमुख वानर-वीरों और
वानर-सेनाक
सीताका अन्वेषण करते हुए पहलेसे ही दग्ध कर चुक

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा॥ १७॥

लङ्कामें प्रवेश करते ही वानरराजकी सेनाने वहाँक
अन्नक
सभाभवन और कबूतरोंक
वहाँकी वेदी, पताकाएँ, महलोंक
चौराहोंको तोड़-फोड़कर इधर-उधर बिखेर डाला। उस समय लङ्का ऐसी दिखायी दे रही थी, मानो हाथियोंक
विध्वस्त कर डाला हो अर्थात् मथ डाला हो॥१७॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तकनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन्
सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम्॥ १८॥

वानर-सेनाक
क
तत्पश्चात् प्रहस्त, अतिकाय एवं विकम्पन आदि अपने सभी अनुगत-अनुचरोंको, अपने पुत्र मेघनादको और अन्तमें क
शत्रुओंसे युद्ध करनेक

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखङ्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात्॥ १९॥

भगवान् श्रीरामने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान, गन्ध-मादन, नल, नील, अङ्गद, जाम्बवान्, पनस आदि वीरोंक
त्रिशूल, धनुष, प्रास, शक्ति, ऋष्टि, बाण, तोमर, भाले, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुरक्षित होकर अत्यन्त दुर्गम राक्षसी सेनापर आक्रमण कर दिया॥१९॥

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्षहतमङ्गलरावणेशान्॥ २०॥

रघुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीरामक
एवं सभी वानर सैनिक—हाथी, घोड़ों, पैदल सैनिकों और रथोंसे सुगठित रावणकी चतुरङ्गिणी सेनाक
भिड़ गये और वृक्ष, पत्थर, गदा, बाण आदि फेंक-फेंककर उन राक्षसोंको मारने लगे। वैसे भी उनका मरना निश्चित ही था,

क्योंकि सीताजीके प्रति कहे हुए व्यंगवचनोंसे ही विभीषणका अपमान हुआ था और
अधिपति रावणकी सेना प्रायः नष्ट हो गयी थी॥२०॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम्।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः॥ २१॥

अपनी सेनाका महाविनाश देखकर राक्षसोंका राजा रावण क्रोधसे अति उन्मत्त हो उठा। वह पुष्पक रथपर सवार हुआ और भगवान् श्रीरामपर आक्रमण करनेके लिये चला। तब इन्द्रके सारथि
मातलि भगवान्के लिये स्वर्गका दिव्य रथ लेकर आये।
भगवान् श्रीराम उसपर विराजमान हो गये। रावण अपने तीक्ष्ण बाणोंसे भगवान्पर प्रहार करने लगा॥२१॥

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः
कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः॥ २२॥

भगवान् श्रीरामने रावणसे कहा—तू राक्षसोंमें विष्ठाके समान
है। गृहस्वामीके पीछे कुत्ता जिस प्रकार घरकी वस्तु
लेकर भाग जाता है, वैसे ही मेरी अनुपस्थितिमें तू मेरी पत्नी सीताका हरण कर लाया। अरे निर्लज्ज! तूने तो दुष्टताकी सीमा ही पार कर डाली। जिस प्रकार किसी दुष्ट व्यक्तिको यमराज यथोचित दण्ड दिये बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार मैं अभी तुझे तेरे दुष्कर्मों का फल चखाता हूँ। देख! मेरा वार कभी व्यर्थ नहीं जाता॥२२॥

एवं क्षिपन् धनुषि सन्धितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद।
सोऽसृग्वमन् दशमुखैर्न्यपतद्विमाना–
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः॥ २३॥

इस प्रकार रावणको दुत्कारते हुए भगवान् श्रीरामने धनुषपर बाण चढ़ाया और उसपर छोड़ दिया। उस बाणने रावणक
समान हृदयको विदीर्ण कर डाला। वह अपने दसों मुखोंसे खून उगलता हुआ विमानसे भूमिपर ठीक उसी प्रकार आ गिरा, जिस प्रकार कोई पुण्यवान् व्यक्ति अपने पुण्योंक
पृथ्वीपर आ गिरे। यह देखकर उसक
करक

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः।
मन्दोदर्या समं तत्र प्ररुदन्त्य उपाद्रवन्॥ २४॥

इसक
निकल आयीं और विलाप करते हुए युद्धभूमिमें पड़े हुए रावणक
समीप पहुँचीं॥२४॥

स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान्।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना॥ २५॥

शोकातुर राक्षसियोंने जब देखा कि उनक
लक्ष्मणजीक
वे अपने-अपने परिजनोंको हृदयसे लगाकर, छाती पीट-पीटकर, करुण स्वरसे विलाप करने लगीं॥२५॥

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण।
कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता॥ २६॥

'हे नाथ! हे प्रभो! आप लोगोंक
लोग आपको रावण कहते थे।) हे नाथ! आज हम सब मृत्युक
क्या दुर्दशा कर रहे हैं! अब यह लङ्कापुरी किसकी शरणमें जायेगी?॥२६॥

न वै वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः।
तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम्॥ २७॥

हे महाभाग! (आप सब प्रकारक
भी प्रकारका अभाव आपको न था, परन्तु) आप कामक
हो गये और तेजस्विनी सीताजीकी महिमाको, उनक
जान नहीं पाये। यही कारण है कि आज आपकी यह दुर्दशा
हुई है॥२७॥

कृतैषा विधवा लङ्का वयञ्च कुलनन्दन।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे॥ २८॥

हे क
विधवा हो गयी हैं। आपक
गीधोंका आहार बन गया है। आपने स्वयं ही अपने आपको
नरकका अधिकारी बना लिया॥२८॥

श्रीशुक उवाच—

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोशलेन्द्रानुमोदितः।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम्॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कोशलाधीश भगवान्
श्रीरामकी सम्मतिसे विभीषणने पितृयज्ञकी शास्त्रीय विधिक
अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका साम्परायिक अर्थात् नरक जानेसे बचानेक
लिये अन्त्येष्टि-कर्म सम्पन्न किया॥२९॥

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे।
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमाश्रिताम्॥ ३०॥

इसक
आश्रममें सीताजी शिंशपा (शीशम) वृक्षक
वे विरह-पीड़ासे अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं॥३०॥

रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत।
आत्मसन्दर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥ ३१॥

अपने प्राण-प्रियतम भगवान् श्रीरामक
अत्यन्त दीन और दुःखिता हो गयी थीं। भगवान् श्रीरामका

चित्त अपनी प्राणप्रियाकी ऐसी अवस्थाको देखकर प्रेम और करुणासे द्रवित हो गया। इधर जैसे ही सीताजीने अपने प्रियतम श्रीरामका दर्शन किया, वैसे ही उनका मुख-कमल आनन्दसे खिल उठा॥३१॥

आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः।
विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम्।
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम्॥३२॥

इसक

राक्षसोंका राजा बना दिया। साथ ही उन्होंने उसे एक कल्पकी आयु भी प्रदान की। अब भगवान् श्रीरामका वनवास-व्रत भी समाप्त हो चला था। उन्होंने पुष्पक-रथपर पहले सीताजीको चढ़ाया और फिर भाई लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदिक

हो गये और अयोध्या लौट आये॥३२॥

अवकीर्यमाणः सुकुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि।
उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा॥३३॥

जब भगवान् अयोध्या लौट रहे थे, तब लोकपालोंने प्रेमपूर्वक उनपर और उनक

पूरा शरीर फ

आनन्दसे भगवान्‌की मधुर लीलाओंका गान करने लगे।॥३३॥

गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम्।
महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम्॥३४॥

उधर भगवान्‌को जब यह पता चला कि उनक

गोमूत्रमें पका हुआ क

पहनते हैं, क

बढ़ा रखी हैं, तो वे अत्यन्त दुःखी हो गये॥३४॥

भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः।
पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम्॥३५॥

नन्दिग्रामात् स्वशिबिरात् गीतवादित्रनिःस्वनैः।
ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः॥ ३६॥
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः।
सदश्वैरुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः॥ ३७॥
श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः।
पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च।
पादयोर्न्यपतत् प्रेम्णा विक्लिन्नहृदयेक्षणः॥ ३८॥

भरतको जब यह ज्ञात हुआ कि भगवान् श्रीराम अयोध्या लौट रहे हैं, तब वे अपने (नन्दीग्रामक
निकले। उन्होंने भगवान्‌की पादुकाओंको सिरपर धारण किया तथा नगरक
अगवानीक
उच्च स्वरसे मङ्गलगीत गाते हुए उनक
ब्राह्मणोंक
स्वर्णमण्डित (चारों ओर किनारोंपर स्वर्णसे मढ़ी हुई) पताकाएँ फहरा रही थीं। रंग-बिरंगी ध्वजाओं, परम शोभायमान घोड़ों और स्वर्णिम लगामोंसे युक्त स्वर्णजड़ित अनेक रथोंक
कवच पहने हुए सैनिक चल रहे थे। साथ ही ताम्बूल, सुपारी लिये भृत्यजन, श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ और पदचारी सेवक चल रहे थे। बहुत-से सेवक महाराजाओंक
सभी राजसी वस्तुएँ लेकर सङ्ग-सङ्ग चल रहे थे। भगवान्‌को देखते ही भरतजीका हृदय प्रेमक
आँखे भर आयीं और वे भगवान्क

पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन्नेत्रजैर्जलैः॥ ३९॥

भरतजीने भगवान् श्रीरामक
और उनक
आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी। श्रीरामने भरतको अपनी

भुजाओंमें भर लिया और बहुत देर तक उन्हें अपने हृदयसे लगाये रखा। भगवान्क
रहा था॥३९॥

रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हत्तमाः।
तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः॥४०॥

इसक
सहित ब्राह्मण एवं क
अयोध्यावासियोंने भी भगवान्क

धुन्वन्त उत्तरासङ्गान् पतिं वीक्ष्य चिरागतम्।
उत्तराः कोशला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा॥४१॥

उत्तरकोसल देश (अयोध्या) की समस्त प्रजाने बहुत दिनोंक बाद आये अपने राजा रामको देखकर उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और आनन्दमें विभोर होकर अपने दुपट्टे हिला-हिलाकर नृत्य करने लगे॥४१॥

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे।
विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः॥४२॥
धनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम्।
अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराड्नृप॥४३॥

हे राजन्! भरतजीने भगवान्की पादुकाएँ ले लीं, सुग्रीवने चामर, विभीषणने उत्कृष्ट व्यजन (चँवर) तथा हनुमानने श्वेत छत्र ग्रहण किया। शत्रुघ्नजीने धनुष एवं तरकस, सीताने तीर्थोंक
भरा कमण्डलु, अङ्गदने सोनेका खड्ग और ऋक्षराज जाम्बवान्ने स्वर्णमयी ढाल ले ली॥४२-४३॥

पुष्पकस्थो नुतः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः।
विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः॥४४॥

परीक्षित्! इन सबक
थे। चारों ओर यथास्थान स्त्रियाँ बैठ गयीं। बन्दीजन भगवान्की

स्तुति करने लगे। उन सबक
हो रही थी, जैसे ग्रहोंक

भ्रातृभिनन्दितः सोऽथ सोत्सवां प्राविशत् पुरीम्।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम्॥ ४५॥

गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत्।
वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः॥ ४६॥

अपने भाइयोंका अभिनन्दन स्वीकार करक
भगवान् श्रीरामने अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया। अयोध्यापुरीमें तो उस समय हर कहीं आनन्द-उत्सव मनाये जा रहे थे। राजभवनमें पहुँचकर उन्होंने क
प्रणाम किया। अपने मित्रों और छोटोंको यथोचित सम्मान दिया और उनक
भाँति ही सीता और लक्ष्मणने भी सबक
किया। इसक

पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः।
आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः॥ ४७॥

कौशल्या आदि माताएँ अपने पुत्रोंको देखकर तुरन्त उठ खड़ी हुईं, मानो उनकी मृत देहमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। उन्होंने पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठा लिया और नेत्रोंक
अभिषेक करने लगीं। इस प्रकार पुत्रोंक
सन्ताप दूर हो गया॥ ४७॥

जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः।
अभ्यषिञ्चद्यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः॥ ४८॥

इसक
भगवान् श्रीरामकी जटाएँ उतरवा दीं और चारों समुद्रोंक
आदिसे उनका उसी प्रकार अभिषेक किया, जिस प्रकार बृहस्पतिने इन्द्रका अभिषेक किया था॥ ४८॥

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः।
स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ॥ ४९॥

मस्तक-मुण्डन आदि हो जानेक
किया और सुन्दर वस्त्र अंलकार आदि धारण किये। सभी भाइयों और जानकीजीको भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और अलङ्कारोंसे विभूषित किया गया। उन सबक
शोभायमान हुए॥४९॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।
जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरञ्च तम्॥ ५०॥

भरतकी पूर्ण शरणागतिसे भगवान् श्रीराम अति प्रसन्न हुए और उनक
जिस प्रकार स्नेहपूर्वक अपने पुत्रका पालन करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामने अपने-अपने धर्ममें लगी हुई और वर्ण आश्रमक
नियमोंका पालन करनेवाली अपनी प्रजाका संरक्षण किया। प्रजा भी श्रीरामको अपना पिता ही मानती थी॥५०॥

त्रेतायां वर्त्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥ ५१॥

राजन्! समस्त प्राणियोंका मङ्गल करनेवाले एवं धर्मज्ञ श्रीराम जिस समय राजा थे, उस समय यद्यपि त्रेतायुग था, फिर भी सुख-समृद्धि और धर्म आदिकी दृष्टिसे वह सत्ययुगक
प्रतीत होता था॥५१॥

वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ॥ ५२॥

हे भरतक
नदी, पर्वत, नौ वर्ष, सातों द्वीप और सातों समुद्र सभी प्रजाकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन गये थे॥५२॥

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः　　।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामे राजन्यधोक्षजे॥ ५३॥

भगवान् श्रीरामक
चिन्ता थी और न ही कोई शारीरिक रोग। बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और क्लान्तिका किञ्चित् आभास भी न था। यदि कोई इच्छा न करे तो मृत्यु भी उसक

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥ ५४॥

एक पत्नीका व्रत धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र अत्यन्त पवित्र था। उनका स्वभाव और आचरण राजर्षियोंक
समान राग-द्वेषादि प्राकृत गुणोंसे रहित था। प्रजाकी शिक्षाक
वे स्वयं उस धर्मका आचरण करते थे, जो गृहस्थ आश्रमक
उचित था॥५४॥

प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती।
भिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामचरितं नाम दशमोऽध्यायः॥

परम साध्वी सीता अपने पतिक
जानती थीं। उन्होंने अपने विनम्रता, प्रेम, सेवा, सुन्दर स्वभाव, भय और लज्जा आदि गुणोंसे श्रीरामक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शेष लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः।
सर्वदेवमयं देवमीजेऽथाचार्यवान् मखैः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उसक
श्रीरामने गुरु वशिष्ठको अपना आचार्य स्वीकार किया और
उत्तम-उत्तम सामग्रियोंसे युक्त यज्ञोंक
अर्थात् स्वयंकी ही आराधना की॥१॥

होत्रेऽददाद्दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः।
अध्वर्यवे प्रतीचीं चा उत्तरां सामगाय सः॥ २॥

प्रभु श्रीरामने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्मा रूप पुरोहितको दक्षिण
दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और सामवेदका गान करनेवाले
उद्गाताको उत्तर दिशा दक्षिणाक

आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निस्पृहः॥ ३॥

'सभी प्रकारकी कामनाओंसे रहित, असङ्ग ब्राह्मण ही इस दिखायी
देनेवाले भूमण्डलको ग्रहण करने योग्य हैं' वे ही इसक
होने चाहिये—इस प्रकारका निश्चय करक
बीचकी जो भूमि बच गयी थी, वह आचार्यको दे दी॥३॥

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः।
तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता॥ ४॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंको सारी भूमि दान करनेक
अपने पास क

सीताजीक
चूड़ादि अलङ्कार ही बचे रहे॥४॥

ते तु ब्राह्मणदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम्।
प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे॥५॥

होता, उद्गाता आदि ब्राह्मणोंने जब देखा कि श्रीराम तो ब्राह्मणोंको ही अपना इष्टदेव मानते हैं, उनपर बहुत अधिक स्नेह रखते हैं, तब वे अत्यधिक प्रसन्न हो गये और उनकी बहुत प्रशंसा करने लगे। उनका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया। दक्षिणामें मिली हुई समस्त वस्तुएँ वे भगवान् श्रीरामको ही लौटाते हुए उनसे कहने लगे— ॥५॥

अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा॥६॥

हे भगवन्! आप समस्त लोकोंक
क्या नहीं दिया है। आप हमारे हृदयमें रहकर अपनी कान्तिसे हमारे हृदयमें रहनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करते हैं। हमारे लिये यही सब क
नहीं है॥६॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे।
उत्तमःश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये॥७॥

आप ब्राह्मणोंको अपना देव मानते हैं। आपका ज्ञान अनन्त है। उत्तमश्लोकोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं। अहिंसाका आश्रय लेनेवाले भक्तोंको आपने अपने चरणकमल प्रदान कर रखे हैं, जिनका वे निरन्तर ध्यान करते हैं। हे भगवन् श्रीराम! आपको हमारा नमस्कार है॥७॥

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः।
चरन् वाचोऽश‍ृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित्॥८॥

परीक्षित्! एक बार भगवान् श्रीराम प्रजाकी दशा (चित्तवृत्ति)
जाननेक

तभी उन्होंने अपनी पत्नी सीताक
कहते सुना— ॥८॥

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम्।
स्त्रैणो हि बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः॥९॥

(वह अपनी पत्नीसे कह रहा था) 'अरी! तू पर-पुरुषक
घरमें रहकर आयी है, तू तो क
पालन-पोषण नहीं कर सकता। रामने भले ही पराये घरमें रही सीताको स्वीकार कर लिया है, परन्तु मैं स्त्री-लोभी नहीं हूँ। अब मैं तुझे अपने पास नहीं रख सकता।'॥९॥

इति लोकाद्बहुमुखाद्दुराराध्यादसंविदः।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम्॥१०॥

मूर्ख और दुष्ट स्वभाववाले व्यक्ति ही ऐसी बातें कहा करते हैं। भगवान् श्रीरामने जब बहुतोंक
लोगोंमें होनेवाली निन्दासे भयभीतसे हो गये और अपनी गर्भवती पत्नी सीताजीका परित्याग कर दिया। पति द्वारा त्याग की हुई सीता वाल्मीकि ऋषिक

अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः॥११॥

उपयुक्त समय आनेपर सीतादेवीने दो जुड़वाँ पुत्रोंको जन्म दिया। वे दोनों लव और क
वाल्मीकि ऋषिने उन दोनों बालकोंक
संस्कार किये॥११॥

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते॥१२॥

राजन्! लक्ष्मणजीक
और चित्रक
परिचित हुए॥१२॥

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्॥ १३॥

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत्।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥ १४॥

शत्रुघ्नक

दिग्विजय–यात्रामें करोंड़ों गन्धर्वोंका संहार कर डाला और उनसे प्राप्त सारा धन लाकर अपने बड़े भाई श्रीरामको दे दिया। शत्रुघ्नने मधुवनमें मधु दैत्यक

पुरीको बसाया था॥१३–१४॥

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह॥ १५॥

अपने पति द्वारा निकाली गयी सीताजीने अपने पुत्रोंको वाल्मीकि ऋषिको सौंप दिया और स्वयं अपने पति श्रीरामक

ध्यान करते हुए पृथ्वीक

तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः॥ १६॥

जब भगवान् श्रीरामने यह समाचार सुना, तब उन्होंने बुद्धिबलसे अपने शोकक

न हो सक

था। (हो भी क्यों न, आखिर भगवान् हैं भी तो प्रेमक

रहनेवाले।)॥१६॥

स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः॥ १७॥

परीक्षित्! स्त्री और पुरुषकी यह आसक्ति सभी स्थानों पर इसी प्रकार दुःखका कारण बनी हुई है। ब्रह्मा आदि बड़े–बड़े सामर्थ्यवान् पुरुषोंक

(दुःखदायी) है, फिर घर-गृहस्थीमें आसक्ति रखनेवाले साधारण विषयी पुरुषोंक

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम्॥ १८॥

जब सीताजी पृथ्वीदेवीक
श्रीरामने ब्रह्मचर्य धारण कर लिया और तेरह हजार वर्षों तक अखण्डरूपसे अग्निहोत्र यज्ञ करते रहे॥१८॥

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥ १९॥

इसक
अपने चरणकमलोंको अपने उन भक्तोंक
जो नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करते रहते हैं। इसक
इस प्रपञ्चसे परे अपने धाममें चले गये॥१९॥

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्र पूगैः
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥ २०॥

परीक्षित्! इस प्रकारसे यशोगान करक
नहीं की जा सकती। उनक
नहीं, फिर उनसे बढ़कर होनेका तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। अस्त्र-शस्त्रोंसे राक्षसोंको मारना और समुद्रपर पुल बाँधने जैसे कार्य सर्वसमर्थ भगवान् श्रीरामक
भला, शत्रुओंको मारनेक
थी? (नरलीलाक
भगवान् श्रीराम नित्यलीला विग्रहधारी हैं, देवताओंकी प्रार्थनापर ही उन्होंने यह लीला-विग्रह धारण किया था॥२०॥

यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥ २१ ॥

भगवान् श्रीरामका यश निर्मल है। उसक
समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। दिग्-दिगन्तमें यह यश उसी तरह व्याप्त है, जिस तरह समस्त दिशाओंपर विजय प्राप्त करनेवाले हाथियोंका (लटकता हुआ) झूल अलङ्कृत होता है। आज भी
माक
उनक
स्वर्गक
उनक
रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामकी शरण ग्रहण करता हूँ॥२१॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥ २२ ॥

जिन्होंने प्रणाम आदि दास्यभावसे उनका दर्शन एवं स्पर्श किया अथवा सख्यभावसे उनक
वे सभी अयोध्यावासी उसी परमधामको गये, जहाँ भक्तियोगी अपनी कठिन साधनाक

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते॥ २३ ॥

हे राजन्! जो व्यक्ति अपने कानों द्वारा भगवान् श्रीरामक
चरित्रको आत्मसात् करता है, उसक
आदि गुणोंका समावेश हो जाता है और वह ईर्ष्यारहित हो जाता है। यही नहीं, उसे समस्त कर्म-बन्धनोंसे भी मुक्ति मिल जाती है॥२३॥

श्रीराजोवाच—

कथं स भगवान् रामो भ्रातृन् वा स्वयमात्मनः।
तस्मिन् वा तेऽन्ववर्त्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे॥ २४॥

राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा—हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीराम किस प्रकार रहा करते थे? वे अपने उन भाइयोंक
क
भरत आदि भाई, प्रजाक
क

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथादिशद्दिग्विजये भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वरः।
आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः॥ २५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भरतजीक
राजसिंहासन स्वीकार करनेक
अपने भाइयोंको दिग्विजयक
दर्शन आदिसे कृतार्थ करते हुए अपने सहयोगियोंक
अयोध्यानगरीक

आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव॥ २६॥

भगवान् श्रीरामक
जल और हाथियोंक
सर्वतोभावसे समृद्धिशालिनी हो गयी थी। सभी पुरवासी भी अपने स्वामीकी उपस्थितिको देखकर हर्षसे सराबोर रहते थे॥२६॥

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ।
विन्यस्तहेमकलसैः पताकाभिश्च मण्डिताम्॥ २७॥

अयोध्यापुरीक
विहार और देवालयों आदिमें स्वर्णक
सभी स्थानोंपर पताकाएँ फहरती रहती थीं॥२७॥

पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम्।
आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम्॥ २८॥

वे सभी स्थान डण्ठलों सहित सुपारीक
और विविध प्रकारकी रङ्ग-बिरंगी पताकाओंसे सुसज्जित एवं दर्पण, वस्त्र, पुष्पमालाओं, वन्दनवारों एवं माङ्गलिक वस्तुओंसे सदैव सुशोभित रहते थे॥२८॥

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः।
आशिषो युयुजुर्देवपाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम्॥ २९॥

राजन्! भगवान् श्रीराम जहाँ-जहाँ जाते, पुरवासीगण हाथोंमें विभिन्न प्रकारकी सामग्री लेकर वहाँ-वहाँ पहुँच जाते और उनसे प्रार्थना करते—'हे देव! वराह अवतारमें आपने ही इस पृथ्वीका उद्धार किया था, इस समय भी आप ही इसका पालन कीजिये।' इस प्रकार कह-कहकर वे भगवान्‌का आशीर्वाद प्राप्त करते रहते॥२९॥

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं
दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचन-
मतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन्॥ ३०॥

प्रजाका क
बीत जाता और उनको जब यह पता चलता कि श्रीराम इधर ही पधार रहे हैं, तो प्रजाक
घरोंसे निकल पड़ते तथा उत्सुकतापूर्वकअपने महलोंकी अटारियोंपर चढ़ जाते। अतृप्त नेत्रोंसे वे कमलनयन भगवान्‌का दर्शन करते और उनपर फ

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः।
अनन्ताखिलकोषाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥ ३१॥

अयोध्यापुरीक
आ जाते। ये राजगृह उनक

इसक
परिपूर्ण थे और कभी भी रिक्त नहीं होते थे॥३१॥

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः॥ ३२॥

महलक
वैदूर्यमणिसे निर्मित थे। फर्श अतिसुन्दर मरकत-मणियोंसे बने हुए थे। स्फटिक-मणियोंसे बनी दीवारें सदैव जगमगाती रहती थीं॥३२॥

चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः।
मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः॥ ३३॥

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः।
स्त्रीपुंभिः सुरसङ्काशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः॥ ३४॥

सारा महल अद्भुत मालाओं, पताकाओंसे सुशोभित रहता था एवं चिन्मय तथा उज्ज्वल मोतियोंकी लड़ियों, रत्नों और मणियोंकी छटासे जगमगाता रहता था। अति सुन्दर भोग-सामग्रियोंसे सुसज्जित, धूपसे सुगन्धित, दीप-गन्धसे सुवासित और फ
मण्डित होनेके कारण इसकी शोभा देखते ही बनती थी। आभूषण
ोंको भी सुशोभित करनेवाले देवताओंक
इस महलकी सेवामें लगे रहते थे॥३३-३४॥

तस्मिन् स भगवान् रामः प्रियया स्निग्धयेष्टया।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल॥ ३५॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीराम अपनी आत्मामें रमण करनेवाले हैं। वे इन्द्रियोंको जीतनेवाले पण्डितोंमें अग्रगण्य हैं। इस महलमें वे अपनी प्राणप्रिया सीताजीक

बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन्।
वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामचरित्रेमेकादशोऽध्यायः॥

सभी भक्तगण जिनक

रहते हैं, वे भगवान् श्रीराम सदैव धर्मकी मर्यादाका पालन करते थे। उन्होंने बहुत वर्षोंतक धर्मानुसार यथायोग्यरूपसे अभीष्ट भोग-सामग्रियोंका उपभोग किया॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

इक्ष्वाक

श्रीशुक उवाच—

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीरामक
क
नभ, नभका पुण्डरीक और पुण्डरीकका पुत्र क्षेमधन्वा हुआ॥१॥

देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः।
ततो बलस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसम्भवः॥ २॥

क्षेमधन्वाक
अनीहका पारियात्र और पारियात्रसे बलस्थलका जन्म हुआ। बलस्थलका पुत्र वज्रनाभ था। वज्रनाभ सूर्यक
हुआ था॥२॥

सगणस्तत्सुतस्तस्माद्विधृतिश्चाभवत् सुतः।
ततो हिरण्यनाभोऽभूद्योगाचार्यस्तु जैमिनेः।
शिष्यः कौशल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद्यतः॥ ३॥
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम्॥ ४॥

वज्रनाभका पुत्र सगण था। सगणसे विधृति और विधृतिसे हिरण्यनाभका जन्म हुआ। हिरण्यनाभ जैमिनिका शिष्य होकर योगका आचार्य हो गया था। कोशल देशमें रहनेवाले ऋषि याज्ञवल्क्यने इन्हींसे अध्यात्मयोगका अध्ययन किया था। यह योग हृदयकी भोग-वासनारूपी ग्रन्थिको छेदन कर देनेवाला महती सिद्धिरूप है॥३-४॥

पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत्।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः॥ ५॥

हिरण्यनाभका पुत्र हुआ पुष्य, पुष्यसे ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिसे सुदर्शन और सुदर्शनसे अग्निवर्णका जन्म हुआ। अग्निवर्णका पुत्र शीघ्र और शीघ्रका पुत्र मरु था॥५॥

सोऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः॥ ६॥

मरुने योग-साधनाक
आज भी कलाप नामक
जब सूर्यवंश नष्ट हो जायगा, तब मरु अपने पुत्रसे पुनः इस वंशको चलायेगा॥६॥

तस्मात् प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्विश्वबाहुरजायत ॥ ७॥

मरुसे प्रसुश्रुत उत्पन्न हुआ। प्रसुश्रुतका पुत्र था सन्धि, सन्धिका अमर्षण, अमर्षणका महास्वान् और महास्वान्से विश्ववाहुका जन्म हुआ॥७॥

ततः प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः॥ ८॥

विश्ववाहुक
तक्षकसे बृहद्बलका जन्म हुआ। इसी बृहद्बलको तुम्हारे पिता अभिमन्युने युद्धमें मार दिया था॥८॥

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान्।
बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः॥ ९॥

इस प्रकार इन सब इक्ष्वाक
तुम्हें बतलाया। ये सब तो बीत चुक
उनक
एक पुत्र होगा॥९॥

उरुक्रियः सुतस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति।
प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः॥ १०॥

बृहद्रणसे उरुक्रिय, उरुक्रियसे वत्सवृद्ध और उससे प्रतिव्योमका जन्म होगा। प्रतिव्योमसे भानु और भानुसे सेनापति दिवाक जन्म ग्रहण करेगा॥१०॥

सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान्।
प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः॥ ११॥

दिवाकसे सहदेव, सहदेवसे वीर बृहदश्व और बृहदश्वसे भानुमान् उत्पन्न होगा। भानुमान्से प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वसे सुप्रतीकका जन्म होगा॥११॥

भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः।
तस्यान्तरीक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित्॥ १२॥

सुप्रतीकका पुत्र मरुदेव होगा। मरुदेवसे सुनक्षत्र, सुनक्षत्रसे पुष्कर और पुष्करसे अन्तरीक्षका जन्म होगा। अन्तरीक्षका पुत्र होगा सुतपा और सुतपाका अमित्रजित्॥१२॥

बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात् कृतञ्जयः।
रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः॥ १३॥

अमित्रजित्से बृहद्राजका जन्म होगा। बृहद्राजसे बर्हि और बर्हिसे कृतञ्जय उत्पन्न होगा। कृतञ्जयका पुत्र रणञ्जय और रणञ्जयसे सञ्जय जन्म लेगा॥१३॥

तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः।
ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता ततः॥ १४॥

सञ्जयका पुत्र होगा शाक्य और शाक्यसे शुद्धोदका जन्म होगा। शुद्धोदका पुत्र लाङ्गल नामसे विख्यात होगा। लाङ्गलसे प्रसेनजित् और उससे क्षुद्रक जन्म ग्रहण करेगा॥१४॥

रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः॥ १५॥

क्षुद्रकसे रणक और रणकसे सुरथका जन्म होगा। सुरथक
पुत्रका नाम होगा सुमित्र। सुमित्र इक्ष्वाक
होगा। यहाँ तक बृहद्बलका वंश कहा गया॥१५॥

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामवंशानुकीर्त्तनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥

इक्ष्वाक
होनेपर कलियुगमें यह वंश समाप्त हो जायेगा॥१६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

राजा निमिक

श्रीशुक उवाच—

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वशिष्ठमवृतर्त्विजम्।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इक्ष्वाक
उन्होंने यज्ञका शुभारम्भ करक
करनेका अनुरोध किया। इसपर वशिष्ठ मुनिने निमिसे कहा—'निमि! इन्द्र अपने यज्ञमें मुझे पहलेसे ही ऋत्विज बना चुक

तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय।
तूष्णीमासीद्गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम्॥ २॥

इन्द्रका यज्ञ पूरा करक
तक इन्द्रका यज्ञ समाप्त न हो जाय, तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करो।' वशिष्ठ मुनिक
इन्द्रका यज्ञ करानेक

निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान्।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः॥ ३॥

राजा निमि आत्मतत्त्वक
यह जीवन तो क्षणभङ्गुर है, अतः यज्ञमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। जबतक गुरु वशिष्ठ न लौटें, दूसरा ऋत्विज कर लेना चाहिए। ऐसा विचार करक
यज्ञ करना आरम्भ कर दिया॥३॥

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य तं निर्वर्त्त्यागतो गुरुः।
अशपत् पतताद्देहो निमेः पण्डितमानिनः॥ ४॥

गुरु वशिष्ठजी जब इन्द्रका यज्ञ सम्पन्न करक
उन्होंने देखा कि उनक
करना आरम्भ कर दिया है। इसपर क्रुद्ध होकर ऋषिने निमिको शाप दे दिया—'निमि! तुम्हें अपने पाण्डित्यपर बहुत अभिमान है, तुम्हारा शीघ्र ही देहपात हो जाय'॥४॥

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्त्तिने।
तवापि पतताद्देहो लोभाद्धर्ममजानतः॥ ५॥

निमिक
इसलिये उन्होंने भी गुरु वशिष्ठको शाप दे दिया—'दक्षिणा-प्राप्तिक लोभसे आपका धर्म-ज्ञान लुप्त हो गया है, अतः आपका भी शरीरपात हो जाय'॥५॥

इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः॥ ६॥

यह कहकर अध्यात्म-विद्यामें निपुण निमिने अपनी देहका त्याग कर दिया। हमारे प्रपितामह मुनि वशिष्ठजीने भी अपनी देहका त्याग कर दिया। मुनि वशिष्ठने पुनः मित्रावरुण द्वारा उर्वशीक गर्भसे जन्म लिया॥६॥

गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः।
समाप्ते सत्रयागे च देवानूचुः समागतान्॥ ७॥

राजा निमिका देह-त्याग यज्ञ करते हुए हुआ था। उनक यज्ञमें आये हुए श्रेष्ठ मुनिगणोंने उनकी देहको सुगन्धित वस्तुओंमें रख दिया। जब सत्रयागकी समाप्ति हुई, तो देवतागण वहाँ आये। मुनियोंने देवताओंसे इस प्रकार प्रार्थना की—॥७॥

राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह माभून्मे देहबन्धनम्॥ ८॥

'यदि आप इस यज्ञसे सन्तुष्ट हैं और ऐसा करनेमें समर्थ हैं, तो निमिक

कहा—'ऐसा ही होगा।' तभी राजा निमि बोल उठे—'मेरा देहसे बन्धन कभी न हो'॥८॥

यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः॥ ९॥

जिनकी बुद्धि श्रीहरिमें ही लगी हुई है, वे ऐसा विचारकर कि एक दिन तो देहका वियोग होगा ही—इस भयसे कातर होकर देहगत सुखकी कामना नहीं रखते। वे देहका बन्धन भी नहीं चाहते। वे तो भगवान् श्रीहरिक
पूर्णरूपसे अपने मनको लगा देना चाहते हैं। (यहाँ प्रश्न यह है कि देह न रहनेपर तो श्रीहरिक
है, तो इस प्रसंगमें राजा निमिकी प्रार्थनाका अभिप्राय यह है कि उन्हें भगवत्-पार्षद देह प्राप्त हो।)॥९॥

देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम्।
सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा॥ १०॥

(राजा निमिने आगे कहा—) यह देह शोक, दुःख और भयका मूल कारण है, अतः मैं इस देहको धारण करनेकी इच्छा नहीं रखता। जिस प्रकार जलमें मछलीको दूसरी मछलियोंसे और अन्य जलचर जन्तुओंसे मृत्युका भय सदैव बना ही रहता है, उसी प्रकार हर देहधारी जीवमात्रको देह-ग्रहण-जनित मृत्युका भय हर समय बना रहता है॥१०॥

श्रीदेवा ऊचुः—

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्।
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥ ११॥

('देह जीवित हो'—यह मुनियोंकी प्रार्थना थी, 'जीवित न हो'—यह राजाकी प्रार्थना थी, 'भगवत्-पार्षद-देह हो' यह तृतीय प्रार्थना थी—इस तृतीय प्रार्थनाको पूर्ण करनेमें देवता असमर्थ थे।) इसपर देवताओंने कहा—राजा निमि देहक

देहसे प्राणियोंक
इसी स्थितिमें भगवान्‌का चिन्तन करें। पलकोंक
उनक

अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत॥ १२॥

ऐसी स्थितिमें महान् ऋषियोंको यह भय हुआ कि राजा निमिक
न रहनेसे राज्यमें अराजकताकी सम्भावना हो सकती है। अतः
उन्होंने निमिक
जन्म लिया॥१२॥

जन्मना जनकः सोऽभूद्वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥ १३॥

असामान्य विधिसे जन्म लेनेक
कहलाया, प्राणहीन देहसे उत्पन्न होनेक
जाना गया और मन्थन प्रक्रियासे उत्पन्न होनेक
कहलाया। इस मिथिल द्वारा बसायी हुई पुरी ही मिथिलापुरीक
नामसे जानी जाती है॥१३॥

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्द्धनः।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते॥ १४॥

हे राजन्! मिथिलसे उदावसुका जन्म हुआ। उदावसुका पुत्र
नन्दिवर्धन था। नन्दिवर्धनसे सुक
जन्म हुआ॥१४॥

तस्माद्‌बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः॥ १५॥

देवरातसे बृहद्रथ और बृहद्रथसे महावीर्यने जन्म लिया। महावीर्यक
पुत्रका नाम सुधृति था। सुधृतिका पुत्र धृष्टक
और हर्यश्वका पुत्र मरु हुआ॥१५॥

मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतरथो यतः।
देवमीढस्तस्य पुत्रो विश्रुतोऽथ महाधृतिः॥ १६॥

मरुक

कृतरथका पुत्र देवमीढ़ था। देवमीढ़से विश्रुत और विश्रुतसे महाधृतिने जन्म लिया॥१६॥

कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमा च तत्सुतः।
स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत॥ १७॥

महाधृतिसे कृतिरातका जन्म हुआ। कृतिरातका महारोमा, महारोमाका स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमाका पुत्र था ह्रस्वरोमा॥१७॥

ततः शीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम्।
सीता शीराग्रतो जाता तस्मात् शीरध्वजः स्मृतः॥ १८॥

इन ह्रस्वरोमाक

कहा जाता है। शीरध्वज जब यज्ञक

तब उनक

हुई थीं। इसीसे इनका नाम शीरध्वज पड़ गया था। (शीर अर्थात् हल, जिनका ध्वज है अर्थात् हल ही इनकी कीर्त्तिका चिह्न बन गया है।)॥१८॥

कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ॥ १९॥

शीरध्वजसे क

धर्मध्वज उत्पन्न हुए। धर्मध्वजक

और मितध्वज॥१९॥

कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात्।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः॥ २०॥
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः॥ २१॥

परीक्षित्! कृतध्वजका पुत्र था क
खाण्डिक्य था। कृतध्वजका पुत्र क
था, तो मितध्वजका पुत्र खाण्डिक्य कर्मकाण्डको जाननेवाला हुआ। खाण्डिक्य क
पुत्र भानुमान् और भानुमान्का पुत्र शतद्युम्न था॥२०-२१॥

शुचिस्तु तनयस्तस्मात् सनद्वाजः सुतोऽभवत्।
ऊर्ज्जकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः॥२२॥

शतद्युम्नसे शुचिका जन्म हुआ। शुचिसे सनद्वाज, सनद्वाजसे ऊर्ज्जक
पुरुजित् हुआ॥२२॥

अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः।
ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमाधिर्मिथिलाधिपः॥२३॥

पुरुजित्से अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमिसे श्रुतायु, श्रुतायुसे सुपार्श्वक और सुपार्श्वकसे चित्ररथका जन्म हुआ। चित्ररथसे मिथिलाधिपति क्षेमाधिका आविर्भाव हुआ॥२३॥

तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसम्भवः॥२४॥

क्षेमाधिसे समरथ, समरथसे सत्यरथ और सत्यरथसे उपगुरु उत्पन्न हुआ। इसी उपगुरुसे उपगुप्तका जन्म हुआ था, जो अग्निका अंश था॥२४॥

वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः।
श्रुतस्ततो जयस्तस्माद्विजयोऽस्मादृतः सुतः॥२५॥

उपगुप्तका पुत्र वस्वनन्त था। वस्वनन्तका युयुध, युयुधका सुभाषण, सुभाषणका श्रुत, श्रुतका जय और जयका पुत्र विजय था। इन विजयसे ऋत नामक

शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः।
बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी॥२६॥

ऋतक

वीतहव्यका धृति और धृतिका पुत्र बहुलाश्व था। बहुलाश्वसे कृतिने जन्म लिया और कृतिका पुत्र महावशी हुआ॥२६॥

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः।
योगेश्वर-प्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यवंशकीर्त्तनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा हे राजन्! मिथिल वंशमें उत्पन्न होनेक

आत्मतत्त्वक

सभी गृहस्थ आश्रममें रहते हुए भी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त थे॥२७॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

चन्द्रवंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्त्तयः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! (सूर्यवंशक
लिया) अब मैं परम पवित्र चन्द्रवंशक
हूँ, सुनो! इस चन्द्रवंशमें पुरूरवा आदि पुण्यकीर्त्तिवाले राजाओंकी
महिमाका गुणगान किया जाता है॥१॥

सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः॥ २॥

सहस्र सिरवाले विराट् पुरुषक
उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजीक
समान ही थे॥२॥

तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः॥ ३॥

अत्रिक
पुत्रका आविर्भाव हुआ। ब्रह्माने सोमको ब्राह्मण, ओषधि और
नक्षत्रोंका स्वामी बना दिया॥३॥

सोऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद्बलात्॥ ४॥

सोमने तीनों लोकोंको जीत लिया। उसक
राजसूय यज्ञ किया। इससे उनका अभिमान बहुत बढ़ गया और
उन्होंने बलपूर्वक देवताओंक
हरण कर लिया॥४॥

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः॥ ५॥

देवगुरु बृहस्पतिजीने सोमसे बार-बार अनुरोध किया कि वे ताराको लौटा दें किन्तु सोम अभिमानक
गये थे कि उन्होंने किसी भी प्रकारसे ताराको नहीं लौटाया। अतः ताराक

शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत् सासुरोडुपम्।
हरो गुरुसुतं स्नेहात् सर्वभूतगणावृतः॥ ६॥

देवताओंक
द्वेष सदैव बना ही रहता है। अतः शुक्राचार्यने इस द्वेषक
असुरोंक
अपने समस्त भूतगणोंक
बृहस्पति महादेवक
कहते हैं कि शङ्करने पहले अङ्गिराक
किया था।) ॥६॥

सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात्।
सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः॥ ७॥

देवताओंक
बृहस्पतिका साथ दिया। इस प्रकार ताराक
दैत्योंका विनाश करनेवाला भयङ्कर युद्ध आरम्भ हो गया॥७॥

निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत्।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः॥ ८॥

बृहस्पति ब्रह्माक
तब ब्रह्माजीने सोमको बहुत डाँटा-फटकारा और ताराको लेकर उसक
चला कि उनकी पत्नी तारा तो गर्भवती है, तब उन्होंने कहा— ॥८॥

त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः।
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकोऽसति॥ ९॥

'अयि दुर्बुद्धे! जिस क्षेत्रमें गर्भाधान करानेका क
अधिकार था, उसमें तो किसी औरका गर्भ आ चुका है। तू शीघ्र ही इसका त्याग कर, त्याग कर। डर मत, मैं तुझे भस्मसात् नहीं करूँगा, क्योंकि एक तो तू स्त्री है और दूसरे मुझे भी सन्तानकी कामना है तू दुराचारिणी है, तो भी मैं तुझे दण्ड नहीं दूँगा'॥९॥

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।
स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च॥ १०॥

तारा अपने पतिक
उसने अपने गर्भसे एक स्वर्ण-कान्तिसे युक्त बालकको अलग किया। उस बालकको देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करने लगे॥१०॥

ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।
पप्रच्छुर्मुनयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा॥ ११॥

बालककी प्राप्तिकी इच्छासे दोनोंमें कलह हो गया। दोनों उच्च स्वरसे एक-दूसरेसे कहने लगे—'यह पुत्र तुम्हारा नहीं, मेरा है।' तब देवताओं और ऋषियोंने तारासे पूछा—'यह बालक किसका है?' ताराने लज्जाक

कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया।
किं न वचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे॥ १२॥

इसपर बालक क्रोधित हो गया और अपनी मातासे कहने लगा—'अरी दुराचारिणे! व्यर्थकी लज्जासे क्या होगा? अपना दोष बतलाती क्यों नहीं? मुझे अपना चरित्र शीघ्र बतला'॥१२॥

ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत्॥ १३॥

तब ब्रह्माने ताराको एकान्तमें बुलाया और सान्त्वना देते हुए पूछा—'तारा सत्य बोलो, यह पुत्र किसका है?' ताराने धीरेसे उत्तर दिया—'यह पुत्र सोमका है।' ताराक
बालकको ले लिया॥१३॥

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम्॥ १४॥

हे परीक्षित्! ब्रह्माने बालककी गम्भीर बुद्धिको देखकर उसका नाम 'बुध' रख दिया। इस पुत्रको प्राप्त करक
सोम (चन्द्रमा)को अत्यधिक आनन्द हुआ॥१४॥

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः।
तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान्॥ १५॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणां
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता॥ १६॥

परीक्षित्! इसक
हुआ। पुरूरवाका वर्णन मैं (इसी स्कन्धक
ही कर चुका हूँ। एक दिन देवराज इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारद पुरूरवाक
आदिका बखान कर रहे थे। वहाँ देवाङ्गना उर्वशी भी उपस्थित थी। यह सब सुनकर वह पुरूरवाक
कामपाशमें आबद्ध-सी होकर उनक

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम्।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम्॥ १७॥
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके।
स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः॥ १८॥

उर्वशी यद्यपि मित्र और वरुणक
साथ मृत्युलोकमें रह रही थी, फिर भी पुरुषश्रेष्ठ एवं मूर्त्तिमान्

कामदेवक
धैर्य धारण किया और उनक
ही पुरूरवाक
वे मधुर वाणीमें उर्वशीसे कहने लगे—॥१७-१८॥

राजोवाच—

स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम्।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः॥ १९॥

राजा पुरूरवाने कहा—'हे सुन्दरि! तुम्हारा स्वागत है। बैठो! कहो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ? तुम मेरे साथ विहार करो। हमारा यह विहार अनन्त वर्षोंतक चलता रहे और हम परम सुखका अनुभव करें'॥१९॥

उर्वश्युवाच—

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर।
यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया॥ २०॥

उर्वशीने कहा—'हे सुन्दर! ऐसी कौन स्त्री है, जिसकी दृष्टि और चित्त आपक
प्राप्त करक
कभी भी आपसे दूर नहीं जा सकती॥२०॥

एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस्व मानद।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः॥ २१॥

(अनन्तर शापक
स्वर्ग चली जाएगी, इसी इच्छासे कहने लगी—) हे राजन्! जो पुरुष लोक-समाजमें अपने रूप-गुणक
है, वह स्त्रियोंक
विजातीय हैं, फिर भी आपका वरण करनेमें कोई दोष नहीं है। (किन्तु मेरी एक शर्त है) यदि आप मेरे साथ आये हुए इन दो मेमनोंकी धरोहरक
ही विहार करूँगी॥२१॥

घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात्।
विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः॥ २२॥

हे वीर! घी ही मेरा भोजन होगा। मैथुनक
भी आपको वस्त्रहीन नहीं देख सक
शर्तोंको—'ठीक है'—कहकर स्वीकार कर लिया॥२२॥

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम्।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम्॥ २३॥

(इसक
है। तुम्हारा भाव अलौकिक है। यह सभी मनुष्योंको मुग्ध कर
देनेवाला है। तुम तो स्वयं ही कृपा करनेक
यहाँ आयी हो, फिर भला कौन मनुष्य ऐसा होगा, जो तुम्हारा
सेवन न करेगा'॥२३॥

तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु॥ २४॥

परीक्षित्! पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवा देवाङ्गना उर्वशीक
देवताओंकी चैत्ररथ, नन्दन-कानन आदि विहार-स्थलियोंमें
मुक्तभावसे विहार करने लगे। उर्वशी भी उनक
व्यस्त हो गयी॥२४॥

रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून्॥ २५॥

देवी उर्वशीक
करती थी। उसक
किया। उर्वशीक
आनन्दित होते थे॥२५॥

अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत्।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते॥ २६॥

इधर उर्वशीको अपनी सभामें न देखकर देवराज इन्द्रने कहा—'उर्वशीक
उन्होंने गन्धर्वोंको उर्वशीको लानेक

ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते।
उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया॥ २७॥

मध्यरात्रि थी। अन्धकार बहुत अधिक गहरा था। गन्धर्व मृत्युलोकमें आये और उर्वशीक
जिन्हें उसने राजा पुरूरवाक

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः।
हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना॥ २८॥

उर्वशी इन दोनों मेमनोंको पुत्रक
जब उनको चुराकर ले जा रहे थे, तब दोनों मेमने मिमियाने लगे। मेमनोंका क्रन्दन सुनकर उर्वशी पुरूरवाकी भर्त्सना करने लगी—'अरे! यह तो अपने आपको परमवीर मानता है, किन्तु है बड़ा कायर और नपुंसक। (यह मेरी भेड़ों तककी रक्षा भी न कर पाया) इस कायरको अपना पति बनाकर मैं तो मारी गयी॥२८॥

यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः।
यः शेते निशि सन्त्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान्॥ २९॥

मैंने इसका विश्वास कर लिया और आज लुटेरे मेरे दोनों पुत्रोंका अपहरण करक
दिनमें तो यह पुरुष बना फिरता है और रात्रिमें स्त्रियोंकी तरह डरकर सोया पड़ा है'॥२९॥

इति वाक्शायकैर्विद्धः प्रतोदैरिव कुञ्जरः।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवदद्रुषा॥ ३०॥

परीक्षित्! उर्वशीक
बेध डाला, जैसे कोई अंक

क्रोधसे उन्मत्त हो गये। उन्होंने अपनी तलवार निकाली और नग्नावस्थामें ही गन्धर्वोंक

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम्॥ ३१॥

राजाको आते देख गन्धर्वोंने मेमनोंको वहीं छोड़ दिया और स्वयं बिजलीक
महल जगमगा उठा। उसी समय उर्वशीने देखा कि उसका पति दोनों मेमनोंको लेकर लौट रहा है, परन्तु नग्नावस्थामें है। उर्वशीने राजा पुरूरवाको नग्नावस्थामें देख लिया, तो पुरूरवाकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो गयी और उर्वशी उन्हें वहीं छोड़कर स्वर्ग चली गयी॥३१॥

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव।
तच्चित्तो विक्लवः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम्॥ ३२॥

जब राजा पुरूरवाने अपने शयनकक्षमें अपनी प्राणप्रिया उर्वशीको नहीं देखा, तो वे बहुत उदास हो गये। उनका चित्त तो उर्वशीमें ही रमा हुआ था। उसक
बेसुधसे होकर पृथ्वीपर इधर-उधर भटकने लगे॥३२॥

स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्याञ्च तत्सखीः।
पञ्च प्रहृष्टवदनः प्राह सूक्तं पुरूरवाः॥ ३३॥

क
देखा कि उर्वशी अपनी पाँच सखियोंक
वहाँ पहुँचकर बड़ी मधुर वाणीमें उससे कहा—॥३३॥

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै॥ ३४॥

'प्रिये! जरा ठहरो, जरा ठहरो। हे निष्ठुरे! मैं जानता हूँ कि मैं आजतक भी तुम्हें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो पाया, किन्तु इस कारणसे मेरा परित्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

यदि तुम त्यागका निश्चय कर भी चुकी हो तो भी क
तो बैठो! आओ, हम क

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया।
खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्॥ ३५॥

हे देवि! इस शरीरपर अब तुम्हारी कृपा नहीं रही। इसीलिए तुमने इसे दूर फेंक दिया है। अतः मेरा यह कमनीय और सुन्दर शरीर अभी इसी स्थानपर समाप्त हो जायगा। अब तो गीध और भेड़िये ही इसे खायेंगे'॥३५॥

उर्वश्युवाच—

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मास्म त्वाद्युर्वृका इमे।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥ ३६॥

उर्वशीने कहा—'हे राजन्! अपने आपको सँभालिये। आप पुरुष हैं। इस प्रकारसे अधीर होकर अपने प्राणोंका त्याग मत कीजिए। इन्द्रियोंक
खा न जायें। स्त्रियोंका हृदय भेड़ियोंक
इनकी किसीसे भी मित्रता नहीं होती॥३६॥

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥ ३७॥

राजन्! स्त्रियाँ बड़ी निर्दय और क
वे तो किसीका साधारण-सा दोष भी सहन नहीं कर पातीं। अपने सुखक
लिए ही वे विश्वासपात्र बनकर अपने भाई और पतिकी भी हत्या कर अथवा करवा डालती हैं॥३७॥

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥ ३८॥

ये अपनी इच्छासे आचरण करनेवाली और क
सौहार्द तो इनमें होता ही नहीं। सीधे-साधे लोगोंको अपने झूठे

प्रेममें फँास लेती हैं और सदैव ही नये-नये सङ्गकी कामना करती रहती हैं॥३८॥

संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वरः।
रंस्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः॥ ३९॥

हे राजेन्द्र! धैर्य धारण करो। आप प्रति एक वर्षक
रातक
सन्तानें होंगी'॥३९॥

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरीम्।
पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम्॥ ४०॥

राजा पुरूरवाको पता चला कि उर्वशी गर्भवती है, तो वे अपनी पुरीमें लौट आये। एक वर्ष बीत जानेक
उस समयतक उर्वशी एक वीर पुत्रकी माता बन चुकी थी॥४०॥

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम्।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम्॥ ४१॥

पुरूरवा उर्वशीसे मिलकर बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने एक रात उसक
हृदय अत्यन्त दीनहीन हो गया। तब उर्वशीने उन विरहकातर राजासे कहा—॥४१॥

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने॥ ४२॥

'आप गन्धर्वोंकी शरणमें जाइये, वे मुझे पुनः आपको दे सकते हैं।' राजा पुरूरवाने गन्धर्वोंकी स्तुति की। परीक्षित्! गन्धर्वोंने राजा पुरूरवाकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर उन्हें एक अग्निस्थाली (यज्ञ आदिक
अभिप्राय था कि राजा अग्निस्थालीसे यथोचित कर्म करक
प्राप्त कर लेंगे, किन्तु उर्वशीमें अत्यधिक आसक्तिक

कामान्ध हो गये थे) उन्होंने अग्निस्थालीको ही उर्वशी मान लिया और उसे हृदयसे लगाकर वन-वनमें घूमने लगे॥४२॥

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्त्तत॥४३॥

बादमें जब उन्हें समझ आया कि वह उर्वशी नहीं, अग्निस्थाली है, तो उन्होंने उसे वनमें ही छोड़ दिया और अपने महलमें लौट आये। वे रात-रात भर उर्वशीका ध्यान करते रहते। इसीमें त्रेतायुगका प्रारम्भ हो गया और तब उनक
गये। साथ ही यज्ञ-कर्म करनेकी विधियाँ भी प्रकट हो गयीं॥४३॥

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया॥४४॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत् प्रजननं प्रभुः॥४५॥

अब पुरूरवा वनमें उसी स्थानपर गये, जहाँ उन्होंने अग्निस्थालीको छोड़ा था। वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि शमी वृक्षक
पीपलका वृक्ष उग गया था। तब राजाने उर्वशीका लोक प्राप्त करनेक
लिये लकड़ियोंक
भागमें उर्वशीका, ऊपरी भागमें अपना और मध्यवर्ती अरणिका पुत्र रूपमें चिन्तन करते हुए मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। इस प्रकार उन्होंने अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रोंसे अरणियोंका मन्थन किया॥४४-४५॥

तस्य निर्मथनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत्॥४६॥

उस मन्थनसे 'जातवेदा' नामकी अग्निका प्राकट्य हुआ। (इस अग्निसे यजमानको भोग्य-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है) राजा पुरूरवाने त्रयीविधिसे (शौक्र, सावित्र और याज्ञिक) त्रयीविद्या द्वारा अर्थात्

संस्कृत, गर्भाधान और संस्कार द्वारा अग्नि देवताको आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन रूपोंमें परिणत कर लिया और उन्हें अपने पुत्ररूपमें मान लिया॥४६॥

तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम्॥ ४७॥

राजा पुरूरवाने उर्वशीलोककी प्राप्तिकी कामनासे इस त्रिविध अग्निसे सर्वदेवमय अधोक्षज यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिका यजन किया॥४७॥

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥ ४८॥

परीक्षित्! त्रेतायुगसे पूर्व सत्ययुगमें समस्त वचनोंका बीजस्वरूप प्रणव (ॐकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देव थे—भगवान् नारायण। किसी अन्य देवी-देवताकी सेवाकी रीति ही नहीं थी। उनकी सेव्यरूपमें कल्पना ही नहीं थी अग्नि भी लौकिकरूपमें तीन नहीं, एक ही थी। वर्ण भी एकमात्र 'हंस' ही था॥४८॥

पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीमदैलोपाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

महाराज परीक्षित्! त्रेतायुगक
कर्मकाण्डरूपी वेदत्रयी और अग्नित्रयीका जन्म हुआ। राजा पुरूरवाने अग्निको पुत्ररूपमें स्वीकार किया और इसीसे उनको गन्धर्व लोककी प्राप्ति हुई॥४९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

ऋचिक, जमदग्नि और परशुरामका चरित्र

श्रीबादरायणिरुवाच—

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप।
आयुः श्रुतायुः सत्यायु रयोऽथ विजयो जयः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उर्वशीसे राजा पुरूरवाक छह पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय॥१॥

श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः।
रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः॥ २॥

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत्॥ ३॥

श्रुतायुका पुत्र वसुमान् हुआ। सत्यायुका श्रुतञ्जय, रयका एक, जयका अमित और विजयका पुत्र हुआ भीम। भीमसे काञ्चनका जन्म हुआ। काञ्चनसे होत्रक, होत्रकसे जह्नु उत्पन्न हुए। ये वही जह्नु थे, जो गङ्गाको अपनी अञ्जलिमें लेकर (एक ही घूँटमें) पी गये थे॥२-३॥

जह्नोस्तु पूरुस्तस्याथ बलाकश्चात्मजोऽजकः
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः॥ ४॥

जह्नुक
अजक और अजकसे क
हुए—क
पुत्र उत्पन्न हुआ॥४॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत्॥ ५॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
सहस्रं दीयतो शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम्॥ ६॥

राजन्! गाधिकी एक पुत्री थी, जिसका नाम सत्यवती था। द्विजवर ऋचीकने सत्यवतीसे विवाह करनेक
गाधिसे विनती की, किन्तु गाधिने अपनी पुत्री सत्यवतीक
उन्हें अयोग्य वर माना और उनसे कहा—'हे द्विजवर! हमलोग
क
शुल्कक
दीप्तिमान् श्वेत वर्ण हो और एक कान श्याम वर्णका हो।'॥५-६॥

इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम्।
आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम्॥ ७॥

जब राजा गाधिने इस प्रकार कहा, तब ऋषि ऋचीक उनका अभिप्राय समझ गये। वे वरुणक
वैसे ही घोड़े ले आये, जिनकी गाधिने इच्छा की थी। इन घोड़ोंको गाधिको सौंपकर ऋषि ऋचीकने सुन्दरी सत्यवतीसे विवाह कर लिया॥७॥

स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया।
श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥ ८॥

एक बार ऋचीक ऋषिसे उनकी पत्नी और सास दोनोंने ही पुत्र-प्राप्तिक
उनकी प्रार्थना स्वीकार करक
अभिमन्त्रित और अपनी सासक
दो अलग-अलग चरु पकाये और स्नानक

तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती।
श्रेष्ठं मत्वाऽनयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम्॥ ९॥

अवसरका लाभ उठाकर सत्यवतीकी माँने सत्यवतीसे उसक लिए तैयार किया हुआ चरु माँगा, यह सोचकर कि पत्नीसे अधिक स्नेहक
तैयार किया होगा, वह अवश्य ही श्रेष्ठ होगा। सत्यवतीने अपना चरु माँको दे दिया और स्वयं अपनी माताक
मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित चरुको खा लिया॥९॥

तद्विदित्वा मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः।
घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः॥१०॥

मुनिको जब चरु-विनिमयका पता चला तो उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवतीसे कहा—'तुमने तो यह बड़ा अनर्थ कर डाला। अब तुम्हारा पुत्र तो लोगोंको दण्ड देनेवाला घोर क्षत्रिय स्वभावका होगा और तुम्हारा भाई होगा ब्रह्म-तत्त्वको जाननेवाला।'॥१०॥

प्रसादितः सत्वत्या मैवं भूरिति भार्गवः।
अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत्॥११॥

सत्यवतीने ऋचीक मुनिको विनयपूर्वक प्रसन्न किया और कहा—'मेरा पुत्र ऐसा नहीं होना चाहिए।' इस पर ऋषिने कहा—'ठीक है, यदि तुम्हारा पुत्र ऐसा नहीं होगा, तो उसक
पौत्र क्षत्रिय स्वभाववाला होगा।' समय आनेपर सत्यवतीने एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम जमदग्नि हुआ॥११॥

सा चाभूत् सुमहत्पुण्या कौशिकी लोकपावनी।
रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम्॥१२॥
तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः।
यवीयान् जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः॥१३॥

सत्यवती समस्त लोकोंको पावन करनेवाली परम पुण्यमयी 'कौशिकी' नदी बन गयी। सत्यवतीक
कन्या रेणुकासे विवाह कर लिया। रेणुकासे जमदग्निक
आदि कई पुत्र हुए। इनमें-से सबसे छोटे पुत्रका नाम था—परशुराम, जो सम्पूर्ण जगत्में विख्यात हैं॥१२-१३॥

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम्।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम्॥ १४॥

विद्वानोंका कहना है कि हैहयवंशका नाश करनेक
भगवान् वासुदेवने ही अंशरूपमें परशुराम नामसे जन्म ग्रहण किया था। इन्होंने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था॥१४॥

दृप्तं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत्।
रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेंऽहसि॥ १५॥

क्षत्रिय वंशक
हो गये थे। वे बड़े अभिमानी, ब्राह्मण-विरोधी और अधर्मी हो रहे थे। यद्यपि उनका यह अपराध साधारण ही था, फिर भी वे पृथ्वीपर भार-स्वरूप थे। इसीलिए परशुरामने उनका वध करक पृथ्वीका भार दूर किया था॥१५॥

श्रीराजोवाच—

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः।
कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः॥ १६॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—यह ठीक है कि उस समय क्षत्रिय राजागण भोगोंमें रत हो गये थे, तब उन अजितेन्द्रिय क्षत्रियोंने भगवान्‌का ऐसा कौनसा अपराध कर दिया था कि उन्हें क्षत्रिय-क
बार-बार संहार करना पड़ा?॥१६॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः।
दत्तं नारायणांशांशमाराध्य परिकर्मभिः॥ १७॥
बाहून् दशशतं लेभे दुर्द्धर्षत्वमरातिषु।
अव्याहतेन्द्रियौजः श्रीतेजोवीर्ययशोबलम्॥ १८॥
योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा॥ १९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हैहयवंशक
एक श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा था। उसने विविध प्रकारकी अपनी सेवा-परिचर्यासे दत्तात्रेयजी, जो भगवान् नारायणक
थे, की आराधना करक
एक हजार भुजाएँ और किसीसे भी युद्धमें पराजित न होनेका वरदान प्राप्त कर लिया था और इसक
अतुलनीय सम्पत्ति, तेज, वीरता, कीर्त्ति, शारीरिक बल भी प्राप्त कर लिये थे। वह एक बहुत बड़ा योगेश्वर हो गया था। उसे अणिमा, लघिमा आदि आठों सिद्धियाँ भी प्राप्त हो गयी थीं। इन कारणोंसे वह समस्त लोकोंमें वायुक
करता था॥१७–१९॥

स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद्रुरोध सरितं भुजैः॥२०॥

एक बार गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये हुए सहस्रबाहु अर्जुन अनेक सुन्दर स्त्रियोंक
रहा था। तभी अतिशय मदमें चूर होकर उसने अपनी भुजाओंसे नदीक

विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्त्रोतःसरिज्जलैः।
नामृष्यत् तस्य तद्वीर्यं वीरमानी दशाननः॥२१॥

उधर दिग्विजयक
माहिष्मती पुरीक
प्रवाहको अपनी भुजाओंसे रोक दिया, तब नर्मदा नदीका प्रवाह उल्टा बहने लगा, जिससे रावणका शिविर डूबने लगा। दशानन रावणको अपनी वीरताका अभिमान तो था ही, उससे अर्जुनका यह प्रभाव सहन नहीं हुआ॥२१॥

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।
माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा॥२२॥

सहस्रबाहु अर्जुन जल–क्रीड़ामें व्यस्त था। रावण स्त्रियोंक
ही जब उसका अपमान करने लगा, तब सहस्रबाहुने अपराधी रावणको
अनायास ही पकड़ लिया और उसे बन्दी बनाकर अपनी राजधानी
माहिष्मतीक
पुलस्त्यजीक

स एकदा तु मृगयां विचरन् विजने वने।
यदृच्छयाश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत्॥ २३॥

एक दिन सहस्रबाहु अर्जुन शिकार खेलनेक
गया और दैवप्रेरणासे जमदग्नि ऋषिक

तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत्।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः॥ २४॥

परम तपस्वी मुनि जमदग्निक
थी। मुनिने कामधेनुक
हैहयक
खूब आदर–सत्कार किया॥२४॥

स वै रत्नन्तु तद्दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम्।
तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः सहैहयः॥ २५॥

हैहयाधिपतिने जब देखा कि कामधेनुक
ऐश्वर्य उसक
सत्कारका क
लिये लाभदायक उस श्रेष्ठ कामधेनुको ही हथियाना चाहता था॥२५॥

हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान् हर्त्तुमचोदयत्।
ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात्॥ २६॥

हैहयाधिपतिने अभिमानक
कामधेनुको माँगा नहीं, बल्कि अपने सैनिकोंको आदेश दिया कि
वे कामधेनुका हरण कर लें। सेवक रोती–बिलखती हुई कामधेनुको
उसक

अथ राजनि निर्याते राम आश्रममागतः।
श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः॥ २७॥

सहस्रबाहु जब कामधेनुको लेकर चला गया, तब जमदग्निक सबसे छोटे पुत्र परशुराम आश्रममें लौटे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने जब कामधेनुक
सर्पकी भाँति क्रोधित हो उठे॥२७॥

घोरमादाय परशुं सतूणं वर्म कार्मुकम्।
अन्वधावत दुर्मर्षो मृगेन्द्र इव यूथपम्॥ २८॥

क्रोधसे तिलमिलाये हुए परशुरामजीने भीषण फरसा, ढाल, तरकस और धनुष लिया और बड़े वेगसे सहस्रबाहु अर्जुनक
प्रकार दौड़े, जिस प्रकार हाथीक

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा
धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम्।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-
र्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन्॥ २९॥

सहस्रबाहु अर्जुन कामधेनुको लेकर माहिष्मतीपुरीमें प्रवेश कर ही रहा था कि उसने देखा भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ परशुराम बड़े वेगसे उसपर आक्रमण करनेक
काला मृगचर्म धारण किया है, हाथोंमें धनुषबाण और फरसा है तथा जटाएँ सूर्यकी किरणोंक

अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-
र्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-
स्ता राम एको भगवानसूदयत्॥ ३०॥

परशुरामको देखते ही कार्त्तवीर्य अर्जुन डर गया और उसने तुरन्त ही परशुरामसे युद्ध करनेक
और पैदल सैनिकोंक

खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित थी। भगवान् परशुरामने अक
कर दिया॥३०॥

यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः॥ ३१॥

परशुरामजी विपक्षियोंकी सेनाका संहार करनेमें परम क
थे। उनका वेग मन और वायुक
फरसेसे जिस-जिस ओर प्रहार करते, उस-उस ओर विपक्षी वीरोंकी भुजाएँ, जंघाएँ, कन्धे और धड़ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरते जाते। सारथी मारे जाते और वाहन नष्ट होते जाते॥३१॥

दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे
रणाजिरे रामकुठारशायकैः।
विवृक्णवर्मध्वजचापविग्रहं
निपातितं हैहय आपतद्रुषा॥ ३२॥

हैहयाधिपतिने जब देखा कि परशुरामक
उसकी सेनाक
गिर रहे हैं और रणभूमि उनक
तब वह बड़ा ही क्रोधित हुआ और स्वयं ही युद्धभूमिमें आ खड़ा हुआ॥३२॥

अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभि-
र्धनुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिरच्छिनत् समम्॥ ३३॥

इसक
भुजाओंसे पाँच सौ धनुषोंपर पाँच सौ बाण चढ़ाये और परशुरामजीपर छोड़ दिये। परन्तु परशुराम तो अस्त्रधारियोंक

एक ही धनुषसे इतने बाण छोड़े कि कार्त्तवीर्य अर्जुनक
सारे धनुष तथा बाण कटकर टुकड़े-टुकड़े हो गये॥३३॥

पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपान्
उत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव॥ ३४॥

सहस्रबाहु अर्जुनक
उसने अपने हाथोंसे पर्वतों और वृक्षोंको उखाड़ लिया और युद्धभूमिमें परशुरामजीको मारनेक
परशुरामने अपने तीक्ष्णधारवाले फरसेसे उसकी हजार भुजाओंको उसी प्रकार काट डाला जैसे कोई साँपक

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत्।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात्॥ ३५॥
अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत्॥ ३६॥

इसक
समान ऊँचे और विशाल मस्तकको धड़से अलग कर दिया। पिता कार्त्तवीर्य अर्जुनका वध हो जानेपर उसक
मारे भाग गये। शत्रु वीरोंका नाश करनेवाले परशुरामजी शत्रुका वध करनेक
आश्रमपर लौट आये। कामधेनु विपक्षियोंक
हो गयी थी। उन्होंने धेनुको अपने पिताजीको सौंप दिया॥३५-३६॥

स्वकर्म तत् कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च।
वर्णयामास तत् श्रुत्वा जमदग्निरभाषत॥ ३७॥

अनन्तर युद्धभूमिमें शत्रुक
पिता और भाइयोंको सुनाया। मुनि जमदग्निने पुत्र परशुरामकी बात सुनकर कहा॥३७॥

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा॥ ३८॥

राम! राम! महाबाहो! यह तुमने क्या कर दिया! हे परशुराम! तुमने तो व्यर्थ ही राजाको मार डाला। अरे! राजामें तो समस्त देवताओंका वास होता है। यह तो तुमसे बड़ा पाप हो गया॥३८॥

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम्॥ ३९॥

प्रिय बेटे! हम लोग ब्राह्मण हैं। क्षमाशीलता हमारा गुण है। इसी गुणक
ब्रह्माजीने भी इस क्षमा गुणक
किया है॥३९॥

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः॥ ४०॥

यह क्षमा ही है, जिसक
समान दमक उठती है। जिन पुरुषोंमें क्षमाका गुण होता है, उनसे भगवान् श्रीहरि भी अति शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं॥४०॥

राज्ञो मूर्द्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपरशुरामचरितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

बेटा! सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मण-वधसे भी अधिक पापमय होता है। अब तुम अपने हृदयको अच्युत भगवान् श्रीहरिक
समर्पित कर दो और तीर्थोंका सेवन करक
प्रायश्चित्त करो॥४१॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

परशुरामक

विश्वामित्रक

श्रीशुक उवाच—

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन।
संवत्सरं तीर्थचर्यां चरित्वाश्रममाव्रजत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे क
अपने पुत्र परशुरामको यह आदेश दिया, तब परशुरामने अपने पिताकी आज्ञाको 'ऐसा ही होगा' कहकर स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक वर्ष तक तीर्थ-स्थलोंकी यात्रा की और फिर अपने आश्रमपर लौट आये॥१॥

कदाचिद्रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम्।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत॥ २॥

राजन्! एक दिन जमदग्निकी पत्नी रेणुका जल लानेक
गङ्गा नदीक
पहने हुए गन्धर्वराज चित्ररथको अप्सराओंक
हुए देख लिया॥२॥

विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता।
होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा॥ ३॥

रेणुका गयी तो थी नदीपर जल लानेक
साथ जल-क्रीड़ा करते हुए गन्धर्वराजकी शोभाको निहारती रह गयी। उधर जलक
रहा है, इस बातकी उसे सुध ही न रही। उसका मन चित्ररथकी ओर क

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता।
आगत्य कलसं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः॥ ४॥

क
हवनका समय तो बीत गया है। जमदग्नि मुनिक
होकर शीघ्रतासे वह आश्रमपर पहुँची और जलका कलश मुनिक
सामने रखकर हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी थी॥४॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत्।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे॥ ५॥

जमदग्नि मुनिसे पत्नीका यह व्यभिचार छिपा न रह सका। अत्यन्त क्रोधसे उन्होंने अपने पुत्रोंको आदेश दिया—'हे पुत्रो! इस पापिनीको मार डालो।' कोई भी पुत्र माताक
पालन न कर सका॥५॥

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातृन् मात्रा सहावधीत्।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः॥ ६॥

इसक
आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले सभी भाइयों सहित उनकी माताका वध करनेका आदेश दिया। परशुराम अपने पिताक
प्रभावको भलीभाँति जानते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी माता और भाइयोंका तुरन्त वध कर दिया। (परशुरामजीने विचार किया कि यदि मैं पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता हूँ तो पिताजी क्रुद्ध होकर मुझे शाप प्रदान कर देंगे, पिताकी आज्ञाका पालन करता हूँ तो सन्तुष्ट होकर इन सबको प्राणदान दे सकते हैं।)॥६॥

वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः।
वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितञ्चास्मृतिं वधे॥ ७॥

सत्यवतीक
प्रसन्न हुए और उन्हें वर माँगनेक
आपसे यही वर चाहता हूँ कि मेरी माता और मेरे सभी भाई

पुनः जीवित हो जाएँ और उन सबको इस बातका स्मरण भी न रहे कि मैंने उनका वध किया था'॥७॥

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा।
पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम्॥८॥

परशुरामजीने जब ऐसा वर माँगा तो उनक
इस प्रकारसे उठ बैठे, जैसे कोई सोया व्यक्ति नींद पूरी होनेपर उठकर बैठ जाता है। परीक्षित्! परशुरामजीने अपनी माता और भाइयोंका वध क
तपस्याक

येऽर्जुनस्य सुता राजन् स्मरन्तः स्वपितुर्वधम्।
रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित्॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! युद्धक्षेत्रमें कार्त्तवीर्यार्जुनक
जो पुत्र परशुरामक
चित्तमें पलभरक
वधका स्मरण निरन्तर बना रहता था॥९॥

एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते।
वैरं सिषाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन्॥१०॥

एक बार परशुरामजी वसुमान् आदि अपने भाइयोंक
आश्रमसे बाहर वनकी ओर गये हुए थे। इस अवसरका लाभ उठाकर सहस्रबाहु अर्जुनक
आश्रममें आ पहुँचे॥१०॥

दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम्।
भगवत्युत्तमःश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः॥११॥

उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निहोत्र यज्ञशालामें बैठे हुए थे। वे उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिक
निश्चय करक
ध्यानकी अवस्थामें ही वध कर डाला॥११॥

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः॥ १२॥

परशुरामकी माता रेणुका अत्यन्त भयभीत होकर बड़े दीन भावसे उनसे अपने पतिक
सहस्त्रबाहु अर्जुनक
न सुनी। उन्होंने बलपूर्वक जमदग्नि मुनिका सिर काटा और उसे लेकर चले गये॥१२॥

रेणुका दुःखशोकार्त्ता निघ्नन्त्यात्मानमात्मना।
राम रामेति तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती॥ १३॥

परम साध्वी रेणुका पतिका इस प्रकारसे वध देखकर दुःख और शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो गयी। वह अपने हाथोंसे अपने शरीरको पीटने लगी और जोर-जोरसे 'हे राम! हे राम! प्रिय बेटे राम! शीघ्रतासे आओ!' ऐसा कहते हुए विलाप करने लगी॥१३॥

तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्त्तवत् स्वनम्।
त्वरयाश्रममासाद्य ददृशुः पितरं हतम्॥ १४॥

उस समय जमदग्निक
ही उन्होंने अपनी माताका 'हे राम! हे राम!' का आर्त्तनाद सुना, वे तुरन्त दौड़कर आश्रममें आ गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनक

ते दुःखरोषामर्षार्त्तिशोकवेगविमोहिताः।
हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान् स्वर्गतो भवान्॥ १५॥

यह देखकर सभी भाई अत्यन्त दुःखी हुए। दुःख, शोक, क्रोध, असहिष्णुता और मनकी पीड़ाक
हो गये और यह कहकर विलाप करने लगे—'हा तात! आप तो साधु थे, धर्ममें सदैव निष्ठा रखनेवाले थे। आप हम सबको छोड़कर स्वर्गमें चले गये।'॥१५॥

विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम्।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे॥ १६॥

विलापक
संरक्षणक
(फरसा) लेकर क्षत्रियोंक

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम्।
तेषां स शीर्षभी राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम्॥ १७॥

परीक्षित्! ब्रह्मघाती अधम क्षत्रियोंक
शोभा तो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी थी और अब परशुरामने उस नगरीक
पर्वत बना दिया॥१७॥

तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम्।
हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि॥ १८॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नव॥ १९॥

परशुरामने सहस्रबाहु अर्जुनक
बहा दी। वह नदी ब्राह्मणोंसे द्रोह करनेवालोंक
कँपा देनेवाली थी। परशुरामने जब देखा कि इस समय क्षत्रिय अन्यायपूर्ण कार्योंमें प्रवृत्त हो रहे हैं, तब उन्होंने अपने पिताक वधको निमित्त बनाकर पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया और क
भरे हुए पाँच सरोवर बना दिये॥१८–१९॥

पितुः कायेन सन्धाय शिर आधाय बर्हिषि।
सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः॥ २०॥

परशुरामने अपने पिता जमदग्निक
जोड़ दिया और उन्हें क
सर्वदेवमय और सबक

ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्॥ २१॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्त्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥ २२॥

यज्ञोंक
होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और सामगान करनेवाले उद्गाताको उत्तर दिशा प्रदान की। ऋत्विकोंको ईशान (उत्तर-पूर्व), अग्नि (दक्षिण-पूर्व), नैऋत (उत्तर-पश्चिम), और वायु (दक्षिण-पश्चिम) विदिशाएँ प्रदान कर दी। मध्यकी भूमि उन्होंने कश्यपको दे दी। आर्यावर्त्त (हिमालय तथा विन्ध्याचलक
उपद्रष्टाको दिया और शेष भागको सहयोगी पुरोहितोंमें बाँट दिया॥२१-२२॥

ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ।
सरस्वत्यां महानद्यां रेजे व्यब्भ्र इवांशुमान्॥ २३॥

परशुरामने यज्ञ-अनुष्ठान पूरा करक
अन्तमें किया जानेवाला स्नान) किया और समस्त पापोंसे मुक्त हो गये। वे ब्रह्मनदी सरस्वतीक
रहे थे, जैसे बादलोंसे रहित आकाशमें सूर्य विराजमान हों॥२३॥

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम्।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः॥ २४॥

परशुरामक
जमदग्निको स्मृतिचिह्नरूप सङ्कल्पमय शरीर प्राप्त हो गया और सप्त-ऋषियोंक
जमदग्नि) क

जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः।
आगामिन्यन्तरे राजन् वर्त्तयिष्यति वै बृहत्॥ २५॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! परम सामर्थ्यशाली जमदग्निक कमलनयन भगवान् परशुराम आगामी मन्वन्तरमें वेदोंका विस्तार करनेवाले सात ऋषियोंमें से एक होंगे॥२५॥

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः॥ २६॥

परशुराम क्षत्रिय-वधादि सभी प्रकारक
करक
हैं। वहाँ सिद्ध, चारण और गन्धर्व निरन्तर बड़े सम्मानक
मधुर स्वरसे उनक

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान्॥ २७॥

इस प्रकार सर्वशक्तिमान्, विश्वात्मा, सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिने भृगुवंशमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीक
बार संहार किया॥२७॥

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम्॥ २८॥

महाराज गाधिक
समान महातेजस्वी थे। इन्होंने अपनी तपस्याक
परित्याग करक

विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप।
मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते॥ २९॥

हे राजन्! विश्वामित्रक
देवरात) पुत्र थे। इनमें मध्यम पुत्रका नाम मधुच्छन्दा था। इस सम्बन्धसे अन्यान्य पुत्र भी इसी नामसे कहलाये॥२९॥

पुत्रं कृत्वा शुनःशेफं देवरातञ्च भार्गवम्।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम्॥ ३०॥

विश्वामित्रजीने भृगुवंशमें उत्पन्न अजीगर्तक
शुनःशेफको, जिसका दूसरा नाम देवरात भी था, पुत्रक
स्वीकार कर लिया और अपने औरस पुत्रोंसे कहा—'तुम सब इसे अपना सबसे बड़ा भाई मानो'॥३०॥

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः।
स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात्॥ ३१॥

परीक्षित्! यह वही शुनःशेफ है, जिसे रोहितने अपने पिता हरिश्चन्द्रक
लिया था। (पिताका कनिष्ठ एवं ज्येष्ठ पुत्रपर स्नेह अधिक था, इसलिए उन्होंने इसे बेच दिया था) जब शुनःशेफको नरबलिक
लिए यज्ञशालामें लाया गया, तब विश्वामित्रक
ब्रह्मा आदि देवताओंकी स्तुति की और उनक
पाश-बन्धनसे मुक्त हो गया॥३१॥

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेफस्तु भार्गवः॥ ३२॥

शुनःशेफ भृगुवंशमें उत्पन्न हुआ था। यज्ञमें देवताओंने इसकी रक्षा करक
देवताओं द्वारा दिये जानेक
(देवताओं द्वारा प्रदत) भी पड़ गया था। बादमें यह गाधिवंशमें तपस्वी देवरातक

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत्।
अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः॥ ३३॥

विश्वामित्रक
उन्हें शुनःशेफको बड़ा भाई मानना अच्छा नहीं लगा। इसपर विश्वामित्रको क्रोध आ गया और उन्होंने उन बड़े भाइयोंको शाप दे दिया, 'अरे, तुम सब बड़े दुष्ट हो। जाओ, म्लेच्छ हो जाओ।'॥३३॥

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्द्धं पञ्चाशता ततः।
यन्नो भवान् सञ्जानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम्॥ ३४॥

बड़े भाइयोंक
मधुच्छन्दा अपने छोटे पचास भाइयोंक
और कहने लगा—'आप हमारे पिता हैं। आपक
पालन करनेक
भी कहेंगे, हम मान लेंगे॥३४॥

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि।
विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त्त माम्॥ ३५॥

यह कहकर उन्होंने मन्त्रद्रष्टा शुनःशेफको अपने बड़े भाईक
रूपमें स्वीकार कर लिया और उससे कहा—'हम सब आपक
भाई हैं, हम आपक
बहुत प्रसन्न हुए और कहा—'तुम सबने मुझे पूजनीय मानकर मेरे मान-सम्मानकी रक्षा की है। तुम जैसे योग्य पुत्रोंको पाकर मैं धन्य हो गया। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम सब भी सुपुत्रोंक

एष वः कुशिको वीरो देवरातस्तमन्वित।
अन्ये चाष्टकहारीत-जयक्रतुमदादयः॥ ३६॥

हे क
इसलिए यह वीर मेरा पुत्र है। तुम सब इसक
करना।' परीक्षित्! इसक
जय और क्रतुमान् आदि और भी कई पुत्र थे॥३६॥

एवं कौशिकगोत्रन्तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम्।
प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम्॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपरशुरामचरितं नाम षोडशोऽध्यायः॥

परीक्षित्! इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंसे कौशिक गोत्रमें कई प्रकारकी विविधता आ गयी। कुछ विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त हुए, कुछ अनुगृहीत हुए और कोई एक पुत्ररूपमें अङ्गीकृत हुआ। देवरात सारे भाइयोंमें सबसे बड़ा था, इसलिए वह देवरात-प्रवरक नामसे विख्यात हुआ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

क्षत्रवृद्ध, रजि आदि राजाओंक

श्रीबादरायणिरुवाच—

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी राभश्च वीर्यवान्॥ १॥

अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम्।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः॥ २॥

काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत्।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्! राजेन्द्र पुरूरवाका जो आयु नामका पुत्र था, उसक
हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध रजि, राभ या रम्भ और अनेना। हे महाराज परीक्षित्! अब मैं क्षत्रवृद्धक
क्षत्रवृद्धक
और गृत्समद। गृत्समदसे शुनकका जन्म हुआ। इन्हीं शुनकक पुत्र बह-ऋच-प्रवर (ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ) मुनिवर शौनक हुए॥१-३॥

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमः पिता।
धन्वन्तरिर्दीर्घतमस आयुर्वेदप्रवर्त्तकः।
यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः॥ ४॥

काश्यका पुत्र काशि था। काशिका राष्ट्र और राष्ट्रका पुत्र दीर्घतमा था। दीर्घतमाक
आयुर्वेद-शास्त्रक
और यज्ञभागक
मिट जाती हैं॥४॥

तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः।
दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्द्दन इति स्मृतः॥५॥

धन्वन्तरिक
भीमरथ। भीमरथसे दिवोदास उत्पन्न हुआ। दिवोदासका पुत्र द्युमान् था। द्युमान्का एक नाम प्रतर्दन भी है॥५॥

स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः॥६॥

परीक्षित्! इस द्युमान्को शत्रुजित्, वत्स, ऋतध्वज और क
कई पुत्रोंने जन्म लिया॥६॥

षष्टिंवर्षसहस्राणि षष्टिंवर्षशतानि च।
नालर्कादपरो राजन् बुभुजे मेदिनीं युवा॥७॥

राजन्! द्युमान्क
समय तक युवक रहकर ही पृथ्वीपर शासन किया। अलक
अतिरिक्त किसी अन्यने युवकक
राज्य नहीं भोगा॥७॥

अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ निकेतनः।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत॥८॥

अलक
निक
जन्म ग्रहण किया॥८॥

धृष्टकेतुस्ततस्तस्मात् सुकुमारः क्षितीश्वरः।
वीतिहोत्रोऽस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः॥९॥

हे राजन्! सत्यक
सुक
भर्ग और भर्गसे भार्गभूमिका जन्म हुआ॥९॥

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः।
राभस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः॥ १०॥

राजन्! मैंने काशिवंशमें उत्पन्न जिन राजाओंक
किया है, वे सब काशिक
जाते हैं। राभक
गम्भीरका पुत्र अक्रिय हुआ॥१०॥

तद्गोत्रं ब्रह्मविज्जज्ञे शृणु वंशमनेनसः।
शुद्धस्ततः शुचिस्तस्माच्चित्रकृद्धर्मसारथिः॥ ११॥

अक्रियका ब्रह्मवित् नामका एक पुत्र था। परीक्षित्! अब तुम अनेनाक
शुद्धसे शुचि और शुचिसे चित्रकृत्ने जन्म लिया। चित्रकृत्को धर्मसारथि भी कहते हैं॥११॥

ततः शान्तरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान्।
रजेः पञ्चशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम्॥ १२॥

धर्मसारथिसे शान्तरायने जन्म ग्रहण किया। शान्तराय आत्मज्ञानी होनेक
कर्मोंका अनुष्ठान किया था। इसलिये इन्हें पुत्र-प्राप्तिकी कामना ही न थी। आयुक

देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद्दिवम्।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः।
आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः॥ १३॥

देवताओंकी प्रार्थनापर रजिने दैत्योंका वध किया और इन्द्रको स्वर्गका राज्य प्रदान किया। इन्द्र अपने प्रह्लाद आदि अपने शत्रुओंसे भयभीत रहते थे, इसलिए उन्होंने वह राज्य रजिको पुनः लौटा दिया और रजिक

पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः।
त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः॥ १४॥

कालक्रमसे जब रजिकी मृत्यु हो गयी, तब इन्द्रने रजिक
पुत्रोंसे अपनी स्वर्ग-पुरीका राज्य लौटानेक
पुत्रोंने राज्य तो नहीं लौटाया, किन्तु यज्ञ-भाग लौटानेक
तैयार हो गये॥१४॥

गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः।
अवधीद्भ्रंशितान् मार्गान्न कश्चिदवशेषितः॥ १५॥

इन्द्रकी प्रार्थनापर देवगुरु बृहस्पतिने रजिक
भ्रष्ट करनेक
वे नैतिकतापूर्ण मार्गसे भ्रष्ट हो गये। बलवान् इन्द्रने उसी समय
अनायास ही उनका वध कर डाला। रजिक
एक भी न बचा॥१५॥

कुशात् प्रतिः क्षात्रवृद्धात् सञ्जयस्तत्सुतो जयः।
ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यबलो नृपः॥ १६॥

क्षत्रवृद्धका पौत्र कौश था। कौशसे प्रतिका जन्म हुआ। प्रतिसे सञ्जयने और सञ्जयसे जयका जन्म हुआ। जयसे कृत और कृतसे राजा हर्यबलका जन्म हुआ।॥१६॥

सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः।
सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपा इमे शृण्वथ नाहुषान्॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे आयुवंशवर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

हर्यबलसे सहदेव, सहदेवसे हीन, हीनसे जयसेन और जयसेनसे संकृतिने जन्म लिया। संकृतिका पुत्र क्षात्रधर्म-परायण वीर-शिरोमणि जय था। क्षत्रवृद्धक
अब नहुषक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

राजा ययातिका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जिस प्रकार देहधारी जीवोंकी छहः इन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार राजा नहुषक
और कृति॥१॥

राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित्।
यत्र प्रविष्टः पुरुषः आत्मानं नावबुध्यते॥ २॥

राजा नहुष अपने सबसे बड़े पुत्र यतिको राज्य देना चाहते थे, किन्तु उसने राज्य लेनेसे मना कर दिया, क्योंकि वह राज्य भोगनेका परिणाम जानता था। वह जानता था कि जो व्यक्ति एक बार राज्य-अधिकारमें प्रवेश कर जाता है, वह आत्म-स्वरूपको नहीं जान सकता॥२॥

पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद्द्विजैः।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः॥ ३॥

राजा नहुषने जब देवराज इन्द्रकी पत्नी शचीक
व्यवहार किया, तब अगस्त्य आदि ऋषियोंक
पतित हो गये और अजगर योनिको प्राप्त हुए। ऐसेमें राजा नहुषका पदभार उनक

चतसृष्वादिशद्दिक्षु भ्रातृन् भ्राता यवीयसः।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः॥ ४॥

ययातिने अपने छोटे चारों भाइयोंको चार दिशाओंक
संरक्षणक
देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे विवाह करक
पृथ्वीपर शासन करने लगे॥४॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मर्षिर्भगवान् काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः।
राजन्यविप्रयोः कस्माद्विवाहः प्रातिलौमिकः॥५॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! शुक्राचार्य तो अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मण थे और नहुष-पुत्र ययाति क्षत्रिय क
और क्षत्रियक

श्रीशुक उवाच—

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी॥६॥
देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले।
व्यचरत् कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला॥७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा बड़ी अभिमानी एवं क्रोधी स्वभावकी थी। एक दिन वह अपने गुरुकी पुत्री देवयानी और हजारों सखियोंक
अन्तःपुरक
पुष्पोंसे लदी हुई थी। वहाँ एक सरोवर भी था, जिसमें कमल खिले हुए थे। उनपर भ्रमर मधुर स्वरसे गुञ्जार कर रहे थे। उनक

ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रुः सिञ्चतीर्मिथः॥८॥

सरोवरको देखकर कमलनयना कन्याओंने अपने वस्त्र तो
उतारकर नदीक
हुईं जलविहार अर्थात् जलमें क्रीड़ा करने लगीं॥८॥

वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम्।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः॥ ९॥

कन्याएँ जल-विहार कर ही रही थीं कि उन्हें पार्वतीक
बैलपर सवार होकर शिव जाते हुए दिखायी दिये। उन्हें देखकर सभी कन्याएँ लज्जासे सिमट गयीं और उन सबने तुरन्त जलसे बाहर निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये॥९॥

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत्।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत्॥ १०॥

शर्मिष्ठाने अनजानेमें गुरुपुत्री देवयानीक
पहन लिया। इसपर देवयानी क्रोधसे अभिभूत हो गयी और कहने लगी॥१०॥

अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम्।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे॥ ११॥

'अहो! जरा इस दासीकी करतूतको तो देखो! इसने क
अनुचित कार्य किया है। सारे शिष्टाचार ताकपर रख डाले। क
जैसे यज्ञक
वस्त्र पहन लिये हैं॥११॥

यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाः प्रदर्शितः॥ १२॥

यान् वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः॥ १३॥

वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती॥ १४॥

जो ब्राह्मण अपनी तपस्याक
सृष्टि करते हैं, जो परम पुरुष भगवान्क
हृदयमें ज्योतिर्मय परमात्माको धारण किये रहते हैं और जिन्होंने सभीक

है, बड़े-बड़े लोकपालों, देवराज इन्द्र, ब्रह्मा, यहाँतक कि लक्ष्मीक
भी एकमात्र आश्रय परमपावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी
वन्दना-पूजा करते हैं—वे ब्राह्मण ही सभीक
और उन्हीं ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ हम भृगुवंशी ब्राह्मण हैं। इस
दासीका पिता वृषपर्वा पहले तो असुर है और दूसरे मेरे पिताका
शिष्य है, तब भी इस दुष्टाने मेरे वस्त्र वैसे ही पहन लिये, जैसे
कोई शूद्र वेदोंको धारण कर ले'॥१२-१४॥

एवं क्षिपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत।
रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा॥ १५॥

देवयानीक
पहुँचा। क्रोधाविष्ट होकर वह आहत सर्पिणीकी भाँति बार-बार
गहरी साँसे छोड़ने लगी और अपने दाँतोंसे निचले होठको दबाती
हुई बड़े तिरस्कारक

आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि।
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा॥ १६॥

'अरी भिखारिन्! अपने चरित्रोंको जाने-बूझे बिना व्यर्थ ही
इतना क्यों बोल रही हो। बिना कारणक
किये जा रही हो। कौए और क
लिये हमारे घरक
तुम भी अपनी जीविकाक
ताकती रहतीं?'॥१६॥

एवम्विधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाचार्यसुतां सतीम्।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वासश्चादाय मन्युना॥ १७॥

शर्मिष्ठाने भी इसी प्रकार कठोर एवं अप्रिय वचनोंसे गुरुपुत्री
देवयानीका तिरस्कार किया। साथ ही क्रोधसे उत्तेजित होकर उसक
वस्त्र छीन लिये और उसे क

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन्।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह॥ १८॥

देवयानीको क
इधर राजा ययाति शिकार खेलते-खेलते प्यासससे व्याक
संयोगवश इसी क
उन्होंने क

दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः॥ १९॥

देवयानी निर्वस्त्र थी। राजा ययातिने देवयानीको अपना उत्तरीय वस्त्र दे दिया और दयावश उसका हाथ पकड़कर उसे क
बाहर निकाल लिया॥१९॥

तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा।
राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरंजय॥ २०॥

हस्तग्राहोऽपरो माभूद् गृहीतायास्त्वया हि मे।
एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः॥ २१॥

देवयानीने प्रेमभरे वचनोंसे राजा ययातिसे कहा—हे शत्रुओंकी पुरियोंको जीतनेवाले राजन्! मैं शुक्राचार्यकी पुत्री हूँ। आपने आज जो मेरा यह हाथ पकड़ा है, तो हे वीर! अब इस हाथको कोई और न पकड़े अर्थात् पति-पत्नीक
प्रकार सम्बन्ध हुआ है, इसे ईश्वरकी कृपा ही समझिए। इस सम्बन्धक
कोई हाथ नहीं है॥२०-२१॥

यदिदं कूपमग्नाया भवतो दर्शनं मम।
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्यमशपं पुरा॥ २२॥

मैं तो कुएँमें गिरी पड़ी थी और इस अवस्थामें मेरा आपक
साथ मिलन हुआ है, यह विधिका विधान ही है। हे महाभुज!

देवगुरु बृहस्पतिक
मेरा पति नहीं हो सकता। (बृहस्पतिक
पितासे मृतसञ्जीवनी विद्या सीखा करते थे। शिक्षा पूरी होनेपर
देवयानीने कचक
पूज्य हैं'—ऐसा विचार कर कचने उस विवाह-प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। तब देवयानीने कचको उसकी प्राप्त की हुई विद्याक निष्फल होनेका शाप दे दिया। इसपर कचने भी उसे शाप दे दिया कि उसका पति कभी भी ब्राह्मण नहीं हो सकता।)॥२२॥

ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः।
मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः॥ २३॥

शास्त्र-विरुद्ध (प्रतिलोम विवाह—उच्च कुलकी कन्याका निम्न
कुल-जातक
सम्बन्ध ठीक नहीं लगा, फिर भी दैवका उपहार समझकर उन्होंने उस सम्बन्धको अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। वैसे भी उनका चित्त देवयानीकी और आकर्षित हो गया था॥२३॥

गते राजनि सा धीरे तत्र स्म रुदती पितुः।
न्यवेदयत् ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम्॥ २४॥

इसक
हुई अपने घर आयी और अपने पिता शुक्राचार्यसे शर्मिष्ठाक कृत्यका सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥२४॥

दुर्मना भगवान् काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन्।
स्तुवन् वृत्तिञ्च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात्॥ २५॥

यह सब सुनकर शुक्राचार्य बहुत उदास हो गये। वे पुरोहित-कार्यकी निन्दा करने लगे, वे सोचने लगे कि इस कामसे
तो कबूतरक
अच्छा है। अतः वे अपनी कन्या देवयानीको साथ लेकर नगरसे निकल चले॥२५॥

वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम्।
गुरुं प्रसादयन् मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि॥ २६॥

वृषपर्वाको जब यह सब पता चला, तो उन्हें आशङ्का हुई कि गुरुदेव कहीं उन्हें शाप न दे दें या कहीं शत्रुओंको जीत न दिलवा दें। ऐसा सोचकर वे बाहर आ गये तथा गुरुकी प्रसन्नताक लिए रास्तेक

क्षणार्द्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः।
कामोऽस्याः क्रियतां राजन्नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे॥ २७॥

शुक्राचार्यका क्रोध तो आधे ही क्षणका था। उन्होंने वृषपर्वासे कहा—'हे राजन्! मैं अपनी पुत्री देवयानीको इस संसारमें अक नहीं छोड़ सकता और न ही उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ। इसलिए यदि तुम चाहते हो कि मैं लौट चलूँ, तो मेरी पुत्री देवयानी जैसा चाहती है, वैसा ही तुम करो।'॥२७॥

तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम्।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु॥ २८॥

शुक्राचार्यकी बात सुनकर वृषपर्वा देवयानीकी मनोकामना पूरी करनेक

अपने मनकी बात कहने लगी—'मेरे पिता जिससे भी मेरा विवाह करें और जहाँ भी मैं जाऊँ, सखी शर्मिष्ठा अपनी सखियोंक

वहीं मेरी दासीक

पित्रा दत्ता देवयान्यै शर्मिष्ठा सानुगा तदा।
स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम्।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत्॥ २९॥

शुक्राचार्य यदि क

आ जाएगा और यदि प्रसन्न होते हैं, तो मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा—इस प्रकार विचार करक

स्वीकार कर लिया और दासक

उन्होंने अपनी कन्या शर्मिष्ठाको देवयानीको सौंप दिया। पिताक
आदेशानुसार शर्मिष्ठा भी अपनी हजार सखियोंक
सेवा करने लगी॥२९॥

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना।
तमाह राजन् शर्मिष्ठामधास्तल्पे न कर्हिचित्॥ ३०॥

शुक्राचार्यने देवयानीका विवाह राजा ययातिक
और ययातिसे कहा—'राजन्! आप इस शर्मिष्ठाको कभी भी अपनी शय्यापर मत आने देना।'॥३०॥

विलोक्यौशनसीं राजन् शर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित्।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती॥ ३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! क
देवयानीने एक सुन्दर पुत्रकी प्राप्ति की, तब उसे पुत्रवती देखकर एक दिन शर्मिष्ठा अपने ॠतुकालमें सखी देवयानीक
और एकान्तमें उनसे पुत्र-प्राप्तिक

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मञ्चावेक्ष्य धर्मवित्।
स्मरन् शुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत॥ ३२॥

जब राजक
धर्मवित् राजा ययातिने शर्मिष्ठाकी प्रार्थनाको धर्मसङ्गत माना, परन्तु साथ ही उन्हें शुक्राचार्यक
ईश्वरकी ही प्रेरणा है, जो होना होगा, हो जायगा।'—यह सोचकर उन्होंने शर्मिष्ठाक

यदुञ्च तुर्वसुञ्चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युञ्चानुञ्च पूरुञ्च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥ ३३॥

देवयानीक
शर्मिष्ठाक

गर्भसम्भवमासुर्या भर्त्तुर्विज्ञाय मानिनी।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता॥ ३४॥

पुत्रोंक
ब्राह्मणोंसे यह पता चला कि शर्मिष्ठाको पुत्रोंकी प्राप्ति उसक
ही हुई है, तब वह क्रोधसे मूर्च्छित-सी होकर अपने पिताक
चली गयी॥३४॥

प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः॥ ३५॥

राजा ययाति अत्यन्त विषयी थे। वे पत्नीक
चले गये। उन्होंने देवयानीको मीठी-मीठी बातोंसे, अनुनय-विनयसे और यहाँतक कि चरण दबाकर भी मनानेका प्रयास किया, परन्तु मना न सक

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपुरुष।
त्वां जराविशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम्॥ ३६॥

शुक्राचार्यने भी क्रोधमें भरकर ययातिसे कहा—'अरे मूर्ख! मिथ्यावादी, स्त्रीकामी! तूने बड़ा अनीतिपूर्ण काम किया है। जा! तेरे शरीरमें वह बुढ़ापा प्रवेश कर जाय, जो मनुष्योंको क
बना देता है।'॥३६॥

श्रीययातिरुवाच—

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति॥ ३७॥

राजा ययातिने कहा—'हे परमपूज्य! हे ब्राह्मणदेव! आपकी पुत्रीक
साथ मेरी विषय-भोगकी कामना अभी तृप्त नहीं हुई है। यह अभिशाप आपकी पुत्रीक
इन वचनोंसे शुक्राचार्यजी क
अपनी इच्छासे तुम्हें अपना यौवन देनेक
उससे अपना बुढ़ापा बदल लो।'॥३७॥

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत।
यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः॥ ३८॥

शुक्राचार्यने जब यौवन और बुढ़ापेक
कर दी, तब राजा ययाति अपनी राजधानी लौट आये और अपने सबसे बड़े पुत्र यदुसे कहने लगे—'प्रिय पुत्र! तुम अपना यौवन मुझे प्रदान कर दो और मुझसे मेरा बुढ़ापा ले लो॥३८॥

मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम्।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः॥ ३९॥

बेटा! मैं विषय-भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ। अतः तुम मेरे प्रति दया करक
लो और मुझे अपनी युवावस्था प्रदान कर दो, जिससे मैं क
और वर्षोंतक सुख-भोग कर सक

श्रीयदुरुवाच—

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव।
अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः॥ ४०॥

यदुने कहा—'पिताजी! यौवनकालमें ही आपको जो बुढ़ापा प्राप्त हुआ है, उसे लेकर जीनेका कोई उत्साह मेरे मनमें नहीं है, क्योंकि जबतक विषय-भोगोंका सुख प्राप्त न हो जाय, तबतक किसीको भी उनसे वैराग्य नहीं होता।' [परम धर्मकी अपेक्षासे यदुने सनकादिक
आदेश) का त्याग कर दिया था। इस स्थलपर यदुका उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करना था, जिससे उनका प्राकट्य शीघ्रातिशीघ्र हो सक

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानदुश्च भारत।
प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः॥ ४१॥

परीक्षित्! पिता ययातिने इसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे भी अपनी वृद्धावस्थाक
धर्म-ज्ञानसे शून्य थे। उन्हें यह अनित्य यौवन ही नित्य प्रतीत हो रहा था, इसलिए उन्होंने पिताकी प्रार्थना माननेसे मना कर दिया॥४१॥

अपृच्छत् तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम्।
न त्वमग्रजवद्वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि॥ ४२॥

शर्मिष्ठासे उत्पन्न ययातिका सबसे छोटा पुत्र पूरु गुणोंकी दृष्टिसे सबसे श्रेष्ठ था। राजा ययातिने उसे बुलाकर कहा—'प्रिय पुत्र! अपने बड़े भाइयोंक
नहीं है। तुम मेरी आज्ञा मत टालना।'॥४२॥

श्रीपूरुरुवाच—

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम्॥ ४३॥

पुरुने कहा—'हे नरश्रेष्ठ! पिताकी कृपासे जीवको वह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, जिससे वह भगवान्‌को भी प्राप्त कर सकता है। इस संसारमें भला ऐसा कौन होगा, जो ऐसी देहको उत्पन्न करनेवाले पितासे उऋण हो सक
प्राप्ति हो सकती है॥४३॥

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः॥ ४४॥

जो पुत्र पिताक
वही तो उत्तम पुत्र होता है। कहनेपर श्रद्धाक
करनेवाला मध्यम पुत्र होता है। कहे जानेक
श्रद्धासे कार्यको करनेवाला पुत्र अधम पुत्र कहलाता है और जो अपने पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह तो पुत्र नहीं मल-मूत्र ही है।'॥४४॥

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप॥ ४५॥

परीक्षित्! इस प्रकार कहकर पुरुने बड़े हर्षक
पिताकी जरावस्थाको ले लिया और अपना यौवन उन्हें दे दिया।

राजा ययाति अपने पुत्रसे यौवनको प्राप्त करक
ही विषयोंका भोग करने लगे॥४५॥

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत् पालयन् प्रजाः।
यथोपजोषं विषयान् जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः॥४६॥

राजा ययाति सातों द्वीपोंक
वे अपनी प्रजाका पालन एक पिताकी भाँति करते थे। अपनी सशक्त इन्द्रियोंसे समयपर प्राप्त भोगोंका वे बिना किसी बाधाक इच्छानुसार भोग करते थे, पुत्रका यौवन ग्रहण करनेसे उनकी इन्द्रियाँ विकल नहीं होती थीं अर्थात् अक्षत रहती थीं॥४६॥

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः।
प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः॥४७॥

उनकी परम-प्रियतमा देवयानी भी सर्वदा अपने मन, वाणी, शरीर और अन्यान्य वस्तुओंसे अपने पतिको एकान्तमें आनन्दित करने लगी॥४७॥

अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम्॥४८॥

राजा ययातिने प्रचुर दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे सभी वेदोंक सार, सर्वदेवस्वरूप, यज्ञेश्वर, परमपुरुष भगवान् श्रीहरिकी आराधना की॥४८॥

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः॥४९॥

जिस प्रकार आकाशमें कभी तो अधिक बादल दिखायी देते हैं और कभी क
वासुदेव द्वारा रचित यह जगत् (स्थितिकालमें) नानारूपोंमें प्रतिभात होता है। (वस्तुतः नानात्व नहीं है, क्योंकि प्रलयकालमें सर्वस्व ही कारणरूपी भगवान्‌में प्रवेश हो जाता है। यह जगत् स्वप्न, माया एवं मनोरथ (मनोराज्य) क

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुः॥ ५०॥

भगवान् वासुदेव सभी प्राणियोंक
हैं। वे सूक्ष्म एवं निर्लेप होनेक
आश्रय-स्वरूप हैं। उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् वासुदेवको अपने हृदयमें धारण करक
वासनाओंसे रहित हो गये और इस प्रकार निष्काम भावसे उन्होंने भगवान्की आराधना की। वे दास्य-भावक

एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम्।
विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीययातिचरितं नाम अष्टादशोऽध्यायः॥

इस प्रकार ययातिने पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन—इन छह बहिर्मुख इन्द्रियोंसे अपनी इच्छानुसार एक हजार वर्षोंतक विषय भोग किया, किन्तु फिर भी पृथ्वीक
हो सकी॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

राजा ययातिका गृहत्याग

श्रीशुक उवाच—

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा ययाति इस प्रकार स्त्रीक
उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनका तो बहुत अनिष्ट हो चुका है। तब परम वैराग्यसे युक्त होकर वे अपनी प्रिय पत्नी देवयानीसे एक कथा कहने लगे॥१॥

शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः॥ २॥

(ययातिने कहा—) हे भृगुनन्दिनी! पृथ्वीपर अपने ही जैसे एक विषयीकी सत्य जीवन-गाथा मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो! ऐसे ग्राम्य विषयी लोगोंक
वनवासी पुरुष बड़े दुःखक

बस्त एको वने कश्चिद्विचिन्वन् प्रियमात्मनः।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम्॥ ३॥

एक बकरा था। वह वनमें अक
वस्तुएँ खोजता हुआ घूम रहा था। तभी उसने देखा कि अपने कर्मोंक
पड़ी है॥३॥

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन्।
व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसि॥ ४॥

बकरा बड़ा कामुक था। वह बकरीको क
उपाय सोचने लगा। उसने अपने सींगोंक
मिट्टी खोद डाली और उस बकरीक

सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः॥ ५॥
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठ मीढ्वांसं याभकोविदम्।
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्द्धनः।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत॥ ६॥

सुन्दर नितम्बोंवाली बकरी जब क
उस बकरेका ही पति रूपमें वरण करना चाहा। बकरा अति हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर दाढ़ी-मूँछोंवाला, सम्भोग-कलामें निपुण, बड़ा प्यारा क
उसे अपना पति बना लिया, तब अन्य बकरियाँ भी उसे ही अपना पति बनानेकी इच्छा करने लगीं। पतिकी खोजमें तो वे पहलेसे ही थीं। इधर वह श्रेष्ठ बकरा भी कामरूपी पिशाचसे ग्रस्त था। उसने अक
हुए उनक
खो बैठा और अपने स्वरूपकी उपलब्धि न कर सका॥५-६॥

तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया।
विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद्बस्तकर्म तत्॥ ७॥

क
अपनी दूसरी प्रियतमा बकरियोंक
उससे उसका यह कृत्य सहन नहीं हुआ॥७॥

तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम्।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ॥ ८॥

बकरी अपने पतिक
उसने विचार किया कि मेरा पति तो मित्रक

शत्रुका ही काम कर रहा है। इन्द्रियोंकी सेवा करनेवाले इस पतिका भरोसा करना ठीक नहीं है। इसका बन्धुत्व तो क
क्षणोंका ही है और वह बकरी अपने कामी पतिका त्याग करक
अपने पालनेवालेक

सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम्।
कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत् पथि सन्धितुम्॥ ९॥

वह स्त्री-कामी बकरा अत्यन्त दुःखी होकर उस बकरीको प्रसन्न करनेक
बहुत प्रयासक

तस्य तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद्रुषा।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित्॥ १०॥

वह बकरी अपने पालनेवालेक
था। बेटीकी व्यथा सुनकर उस ब्राह्मणने क्रोधमें आकर बकरेक लटकते हुए लम्बे अण्डकोषको काट दिया। ब्राह्मण ऐसे नाना प्रकारक
हितकी दुहाई देकर बहुत अनुरोध किया, तब उसने अपनी पुत्रीक हितक

संबद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया।
कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति॥ ११॥

भद्रे! जब उसका अण्डकोष जुड़ गया, तब वह बकरा क
निकली प्रियतमा बकरीक
गया। इसी प्रकार बहुत समय बीत गया, तब भी कामभोगसे उसकी आज तक सन्तुष्टि न हुई॥११॥

तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः।
आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया॥ १२॥

हे सुन्दर भौहोंवाली! हे प्रिये! मेरी दशा भी उस बकरेक समान ही है। तुम्हारे प्रेम-पाशमें बँधा हुआ मैं, अत्यन्त दीन-हीन

हो गया हूँ। तुम्हारी मायासे मोहित होकर मैं आत्मस्वरूपको भी भूल गया हूँ॥१२॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥१३॥

इस पृथ्वीपर जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब मिलकर भी उस व्यक्तिक
जो कामनाओंक

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्द्धते॥१४॥

जिस प्रकार अग्निमें घी डालनेपर वह बुझती नहीं, अपितु और अधिक बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार काम्य वस्तुओंका भोग करते रहनेसे भोगोंकी वासना शान्त नहीं होती, बल्कि और भी बढ़ती जाती है॥१४॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥१५॥

जब मनुष्य किसी भी प्राणी या वस्तुक
वैषम्यकी भावना नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है और समदर्शियोंक
जाती हैं॥१५॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यति।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥१६॥

बुरी बुद्धिवाले लोगोंक
ही कठिन काम है। व्यक्तिका शरीर जरा-जीर्ण हो जाता है, किन्तु तृष्णा सदैव नवीन बनी रहती है। इस विषयमें मेरा तो अनुभव यही है कि यदि कोई अपने कल्याणकी कामना रखता है, तो वह शीघ्र-अति-शीघ्र भोगोंकी कामनाका त्याग कर दे। (विषय-तृष्णा सारे दुःखोंकी जड़ है)॥१६॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ १७॥

यहाँतक कि अपनी माता, बहिन और पुत्रीक
आसनपर सटकर न बैठे। ये इन्द्रियाँ इतनी अधिक बलवान् होती हैं कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी विचलित कर डालती हैं॥१७॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥ १८॥

विषयोंका बार-बार भोग करते हुए यद्यपि मुझे एक हजार वर्ष हो गये हैं, फिर भी हर क्षण मेरे हृदयमें उन भोगोंकी लालसा बढ़ती ही जाती है॥१८॥

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह॥ १९॥

अतः मैं अब इन सब भोग-वासनाओंका त्याग करक
चित्तको परब्रह्म परमात्मामें लगा दूँगा और इस प्रकार सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वोंसे तथा मिथ्या अहङ्कारसे पूर्णतः मुक्त हो जाऊँगा। अब मैं हिरनोंक
ही जिनक
होकर नृत्य करुँगा।)॥१९॥

दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न सन्दिशेत्।
संसृतिञ्चात्मनाशञ्च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥ २०॥

सभी मनुष्योंको यह जान लेना चाहिए कि लोक और परलोक दोनोंक
तो भोग करना चाहिये और न चिन्तन ही। इनका चिन्तन और भोग न क
आत्माका नाश ही कर देता है। जो मनुष्य इन रहस्योंको जान जाता है, वही वास्तवमें आत्मज्ञानी है॥२०॥

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पुरवे वयः।
दत्त्वा स्वजरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः॥ २१॥

हे राजन्! राजा ययातिने देवयानीसे इस प्रकार कहकर अपने सबसे छोटे पुत्र पुरुको उसकी युवावस्था लौटा दी और उससे अपना बुढ़ापा वापिस ले लिया, क्योंकि अब उनक
विषय-वासनाओंक

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम्।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्रे उदीच्यामनुमीश्वरम्॥ २२॥

तब राजा ययातिने दक्षिण-पूर्व दिशाका राज्य द्रुह्युको, दक्षिण दिशाका राज्य यदुको, पश्चिमका तुर्वसुको और उत्तर दिशाका आधिपत्य अनुको दे दिया॥२२॥

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम्।
अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ॥ २३॥

राजा ययातिने सारे भूमण्डलकी समस्त धन-सम्पत्तिक
रूपमें सबसे छोटे पुत्र पूरुको ही योग्य पात्र माना और उसे राज्य पदपर अभिषिक्त कर दिया। सभी बड़े भाइयोंको उसक
करक

आसेवितं वर्षपूगान् षड्वर्गं विषयेषु सः।
क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः॥ २४॥

हे राजन्! यद्यपि राजा ययातिने बहुत वर्षोंतक विषयोंका भोग किया था, किन्तु पंखोंक
अपना घोंसला छोड़ देता है, उसी प्रकार ययातिने भी क्षणभरमें विषय-भोगोंका त्याग कर दिया॥२४॥

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग
आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः॥ २५॥

वनमें रहकर राजा ययाति समस्त प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो गये। आत्म-साक्षात्कारक
समाप्त हो गया और वे प्रकृतिक
परमब्रह्म वासुदेवमें भागवती गति प्राप्त हुई अर्थात् भगवद्-धाममें उन्हें भगवान्क

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः।
स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात् परिहासमिवेरितम्॥ २६॥

बकरे-बकरीकी गाथाको सुनकर देवयानीने अपने मनमें विचार किया कि राजा ययातिने यह सोचकर कि स्त्री-पुरुषमें परस्पर आसक्तिक
इसलिए उन्होंने हास-परिहासमें ही मुझे यह कथा सुनायी थी। इस कथाक
ओर ही अग्रसर करना चाहते थे॥२६॥

सा सन्निवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम्।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः॥ २७॥
सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः॥ २८॥

स्वजन-सम्बन्धियों आदिका मिलन ईश्वरक
सबका एक स्थानपर मिलना उतना ही क्षणिक है, जितना प्याऊपर पथिकोंका मिलना। सारा संसार भगवान्की मायाका खेल ही तो है। ऐसा विचारकर देवयानीने स्वप्नक
जानकर तथा सभी प्राणियों एवं पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णमें अपने मनका समावेश करक
छोड़ दिया॥२७-२८॥

नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीयायातं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥

देवयानी भगवान्‌को नमस्कार करक
लगी—'हे भगवन्! आप समस्त जगत्क
अन्तःकरणमें आप परमात्मारूपसे वास करते हैं। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होते हुए भी आप बृहद्‌से भी बृहद् हैं। आप सभी ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण, परम शान्त और अनन्त हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।'॥२९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

पूरुक

श्रीबादरायणिरुवाच—

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! अब मैं पूरु-वंशका वर्णन करूँगा। तुम्हारा जन्म इसी वंशमें हुआ है। इस वंशमें बहुत-से राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंका आविर्भाव हुआ है॥१॥

जनमेजयो ह्यभूत् पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः।
प्रवीरोऽथ मनस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत्॥ २॥

जनमेजय इसी पुरुवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे पूरुक
जनमेजयसे प्रचिन्वान्, प्रचिन्वान्से प्रवीर, प्रवीरसे मनस्यु और मनस्युसे चारुपदका जन्म हुआ॥२॥

तस्य सुद्युरभूत् पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः।
संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः॥ ३॥

चारुपदका पुत्र सुद्यु था। सुद्युका पुत्र बहुगव और बहुगवसे संयातिका जन्म हुआ। संयातिका पुत्र अहंयाति और अहंयातिका पुत्र रौद्राश्व था॥३॥

ऋतेयुस्तस्य कक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः।
जलेयुः सन्नतेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः॥ ४॥

दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः॥ ५॥

रौद्राश्वने घृताची अप्सराक
कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्नतेयु, धर्मेयु, सत्येयु और

व्रतेयु। ये सभी पुत्र रौद्राश्वक
दस इन्द्रियाँ विश्वात्मासे उत्पन्न एक प्रधान प्राणक
काम करती हैं॥४–५॥

ऋतेयोरन्तिनावोऽभूत् त्रयस्तस्यात्मजा नृप।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः॥ ६॥

महाराज परीक्षित्! उन दस पुत्रोंमें–से जो ऋतेयु नामका पुत्र था, उससे रन्तिनावका जन्म हुआ। रन्तिनावक
ध्रुव और अप्रतिरथ। अप्रतिरथक

तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कन्नाद्या द्विजातयः।
पुत्रोऽभूत् सुमतेरेभिर्दुष्मन्तस्तत्सुतो मतः॥ ७॥

कण्वसे मेधातिथिका जन्म हुआ। इन मेधातिथिसे ही प्रस्कन्न आदि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई। रन्तिनावक
जन्म हुआ। यह वे ही रेभि हैं, जिनसे प्रसिद्ध राजा दुष्मन्तने जन्म ग्रहण किया॥७॥

दुष्मन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव॥ ८॥
विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम्।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः॥ ९॥

एक बारकी बात है कि राजा दुष्मन्त शिकार खेलते हुए कण्व मुनिक
समान अपनी अङ्गकान्तिसे सारा आश्रम प्रकाशित करनेवाली देवमायारूपिणी एक रमणीको अवस्थित देखा। उसक
ही दुष्मन्त मोहित हो गये। वे उस परम–सुन्दरीक
और उससे वार्त्तालाप करने लगे॥८–९॥

तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः।
पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा॥ १०॥

राजन्! उस सुन्दरीको देखकर राजाको बहुत आनन्द हुआ। उनकी सारी थकावट दूर हो गयी। कामभाव उन्हें पीड़ित करने लगा। उन्होंने हँसते हुए मधुर वाणीमें उस स्त्रीसे पूछा—॥१०॥

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे।
किंस्विच्चिकीर्षितं तत्र भवत्या निर्जने वने॥ ११॥

'हे कमलनयनि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? मेरे मनको हरण करनेवाली हे परम सुन्दरी! इस निर्जन वनमें तुम क्या कर रही हो? क्या करना चाहती हो?॥११॥

व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।
नहि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित्॥ १२॥

हे अतीव सुन्दरी! मैं यह निश्चित ही कह सकता हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो, वरना हम पुरुवंशियोंका चित्त कभी भी अधर्मकी ओर नहीं जाता।'॥१२॥

श्रीशकुन्तलोवाच—

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने।
वेदैतद्भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते॥ १३॥

शक

पुत्री हूँ। मेनका अप्सरा मुझे वनमें छोड़कर चली गयी थी। परम सामर्थ्यशाली कण्व ऋषि ही इस विषयमें सब क

हे वीर! कहो, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥१३॥

आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणञ्च नः।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते॥ १४॥

हे कमललोचन! आप बैठिये! हमारे यथासम्भव आतिथ्यको स्वीकार कीजिये। यहाँ वनमें नीवार तण्डुल (तिन्नीका भात) है, आप उसे ग्रहण कर सकते हैं। यदि आपको ठीक लगे, तो आप यहाँ ठहर भी सकते हैं॥१४॥

श्रीदुष्मन्त उवाच—

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये।
स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम्॥ १५॥

राजा दुष्मन्तने कहा—'हे सुन्दर भौहोंवाली! तुम महर्षि विश्वामित्रक
वंशमें उत्पन्न हुई हो। इसलिये तुम जिस आतिथ्य-सत्कारका
प्रदर्शन कर रही हो, वह तुम्हारे अनुक
राजकन्याएँ अपने लिए योग्य पतिका वरण स्वयं ही कर लिया
करती हैं।'॥१५॥

ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम्।
गन्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित्॥ १६॥

शक
प्रदान कर दी। दुष्मन्त देश, काल और शास्त्र आदिक
थे। अतः उन्होंने धर्मक
विवाह कर लिया॥१६॥

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम्॥ १७॥

अमोघ वीर्यवाले राजर्षि दुष्यन्तने रात्रिमें वहीं रहकर महारानी
शक
अपनी राजधानीमें चले गये। उपयुक्त समयपर शक
पुत्रको जन्म दिया॥१७॥

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः।
बद्ध्वा मृगेन्द्रं तरसा क्रीडति स्म स बालकः॥ १८॥

कण्वमुनिने वनमें ही शक
संस्कार सम्पन्न किये। वह बालक बलपूर्वक सिंहोंको पकड़ कर
उन्हींसे खेलता था॥१८॥

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्त्तुरन्तिकमागमत्॥ १९॥

परीक्षित्! यह बालक भगवान् श्रीहरिक
इसलिए इस बालकका पराक्रम अपरिमित और प्रचण्ड था। रमणी-
रत्न शक

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी॥ २०॥

किन्तु जब राजाने अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्रको (लोक-निन्दाक भयसे) स्वीकार करनेसे मना कर दिया, तब एक ऐसी आकाशवाणी हुई, जिसे कहनेवाला दिखायी नहीं दे रहा था, परन्तु उसे वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने सुना॥२०॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्मन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्॥ २१॥

(आकाशवाणीने कहा—) 'अरे दुष्मन्त! पुत्र तो पिताका ही होता है। उसको उत्पन्न करनेमें माताकी भूमिका तो क
समान आधारमात्र ही है। जन्मदाता पिता ही पुत्रक
ग्रहण करता है। अतः तुम शक
अपने पुत्रका भरण-पोषण करो॥२१॥

रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वञ्चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला॥ २२॥

हे राजन! जो व्यक्ति वीर्य स्थापित करता है, पुत्र उसका ही यमराजसे (पुत् नामक नरकसे) उद्धार करता है। शक
ही कह रही है। आपने ही इसे गर्भ धारण कराया था।'॥२२॥

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि॥ २३॥

पिता दुष्मन्तकी मृत्युक
सम्राट् (सप्तद्वीपाधिपति) बना। राजर्षि भरत भगवान्क
अंशसे उत्पन्न हुए थे। आज भी पृथ्वीपर लोग उनकी महिमाका गान किया करते हैं॥२३॥

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोषोऽस्य पादयोः।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः॥ २४॥
पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः।
मामतेयं पुरोधाय यमुना मनु च प्रभुः॥ २५॥
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद्वसु।
भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे॥ २६॥

दुष्मन्तपुत्र भरतक
चिह्न विद्यमान था। महाभिषेककी विधिक
किया गया था। पृथ्वीक
पुत्र भृगुको पुरोहित बनाकर गङ्गासागरक
गङ्गोत्री तकक
पूजा की थी। इसी तरह इन्होंने यमुना नदीक
लेकर यमुनोत्री तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ कराये और
बहुत धन वितरण किया। दुष्मन्तक
यज्ञीय अग्निकी स्थापना सर्वोत्तम गुणवाले स्थानपर की गयी थी। उन स्थानोंमें राजा भरतने अग्नि-चयन कालमें एक हजार ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको एक-एक बद्व (१३०८४) गायें प्रदान की थीं॥२५-२६॥

त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान्।
दौष्मन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ॥ २७॥

इस प्रकार दुष्मन्ततनय भरतने इन यज्ञोंमें तैंतीस सौ (३३००) घोड़े बँधवा कर अन्य सभी नरपतियोंको आश्चर्यचकित कर दिया था। उन्होंने जगद्गुरु श्रीहरिकी प्राप्ति करक
भी परम वैभवको जीत लिया था॥२७॥

मृगान् शुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान्।
अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश॥ २८॥

भरतने किसी महान् कर्मक
सम्पन्न किया था। इस यज्ञमें अथवा 'मष्णार' तीर्थमें उन्होंने

स्वर्णसे मढ़े हुए, श्वेत दाँतोंवाले चौदह लाख काले रंगक हाथी दानमें दिये थे॥२८॥

भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा॥ २९ ॥

जिस प्रकार कोई अपनी भुजाओंसे स्वर्गको नहीं छू सकता, उसी प्रकार राजा भरत द्वारा किये गये अद्भुत कार्योंको न तो कोई राजा कर सका है और न भविष्यमें कोई राजा कर पाएगा॥२९॥

किरातहूणान् यवनान् पौण्ड्रान् कङ्कान् खशाञ्छकान्।
अब्रह्मण्यानृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजयेऽखिलान्॥ ३० ॥

महाराज भरतने अपनी दिग्विजय यात्रामें किरात, हूण, यवन, पौण्ड्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण-विरोधी राजाओंका वध कर दिया था॥३०॥

जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत्॥ ३१ ॥

एक बार असुरोंने देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली और रसातलमें जाकर रहने लगे। वहाँ वे देवताओंकी स्त्रियोंको भी अपने साथ ले गये। तब महाराज भरतने देव-स्त्रियोंको असुरोंक चंगुलसे छुड़ाकर पुनः देवताओंको लौटा दिया था॥३१॥

सर्वान् कामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी।
समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु　　　चक्रमवर्त्तयत्॥ ३२ ॥

राजा भरतक

सारी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करते थे। उन्होंने सत्ताईस हजार वर्षों तक पूरी पृथ्वीपर एकछत्र शासन किया॥३२॥

स सम्राड्लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम्।
चक्रञ्चास्खलितं　प्राणान्मृषेत्युपरराम　ह॥ ३३ ॥

अन्तमें चक्रवर्ती सम्राट् भरतने भी यही अनुभव किया कि लोकपालोंसे भी अधिक ख्याति एवं ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति,

अलङ्घनीय साम्राज्य, प्रचण्ड सैन्यबल, अखण्ड शासन और प्राणोंक
समान प्रिय लगनेवाले पुत्र आदि सब क
इस प्रकारक
हो गया॥३३॥

तस्यासन्नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः।
जघ्नुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते॥ ३४॥

हे राजन्! विदर्भराजकी अत्यन्त मनोहर और योग्य तीन कन्याएँ सम्राट् भरतकी पत्नियाँ बनीं। पुत्र उत्पन्न होनेपर राजाने जब उन्हें देखा, तो पत्नियोंसे कह दिया कि तुम्हारे पुत्र मेरे अनुरूप नहीं हैं (मेरे औरस जात नहीं हैं), तब इस आशङ्कासे कि राजा भरत व्यभिचारिणी जानकर कहीं हमारा त्याग न कर दें, रानियोंने अपने बालकोंको मार डाला॥३४॥

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम्।
मरुत्सोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः॥ ३५॥

ऐसेमें भरतजीका वंश जब विच्छिन्न होने लगा, तब वंशकी रक्षाक
करवाया, जिससे सन्तुष्ट होकर मरुद्गणोंने उन्हें भरद्वाज नामक एक पुत्र प्रदान किया॥३५॥

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमुपासृजत्॥ ३६॥

राजन्! भरद्वाजकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग इस प्रकार है कि एक बार बृहस्पतिने अपने भाईकी गर्भवती पत्नी ममताक
करना चाहा, परन्तु गर्भक
करनेसे मना किया। इसपर बृहस्पतिने उस गर्भस्थ शिशुको शाप दे दिया—'जा, तू अन्धा हो जा' और उसकी बातको अनसुना करक

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तुस्त्यागविशङ्किताम्।
नामनिर्वाचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः॥ ३७॥

उतथ्यपत्नी ममता इस बातसे डर गयी कि कहीं मेरा पति मुझे व्यभिचारिणी जानकर मेरा परित्याग न कर दे। अतः उसने भयभीत होकर बृहस्पतिक
देवताओंने उस गर्भक
हुए इस प्रकार कहा—॥३७॥

मूढे भरद्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्॥ ३८॥

बृहस्पतिने ममतासे कहा—'हे मूर्खे! तुम्हारे पतिक
मेरे वीर्य द्वारा उत्पन्न होनेसे यह हम दोनोंका पुत्र (द्वाज) है। इसलिए तू अपने पतिसे डर मत। इसका भरण-पोषण कर (भर)।' इसपर ममताने कहा—'हे बृहस्पते! यह हम दोनोंक
सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ है। मेरे पतिका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए तुम इसका पालन-पोषण करो।' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए दोनों ही उस बालकको छोड़कर वहाँसे चले गये। यही बालक भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध हुआ॥३८॥

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्।
व्यसृजन्मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपूरुवंशकीर्त्तनं नाम विंशोऽध्यायः॥

देवताओंक
जानेपर भी ममताने यही समझा कि व्यभिचारसे उत्पन्न होनेक
कारण यह बालक निरर्थक ही है। अतः उसने उस बालकको छोड़ दिया। तब मरुद्गणोंने इसका पोषण किया। राजा भरतक
वंशमें कोई वंशधर न रहनेपर मरुत् देवताओंने उस बालकको भरतको दे दिया। इस प्रकार अवैध सम्बन्धसे उत्पन्न भरद्वाज भरतक

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

महाराज भरतक

राजा रन्तिदेवकी कथा

श्रीशुक उवाच—

वितथस्य सुतान्मन्योर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः।
महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज परीक्षित्! मरुद्गणों-द्वारा दिये जानेक

अथवा भरद्वाजक

हुआ—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग। इनमें-से नरका पुत्र था संकृति॥१॥

गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन।
रन्तिदेवस्य महिमा इहामुत्र च गीयते॥ २॥

हे पाण्डुनन्दन! संकृतिक

रन्तिदेव इस लोक और परलोक दोनोंमें ही विख्यात हैं। उनका यशोगान न क

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः॥ ३॥

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्॥ ४॥

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥ ५॥

रन्तिदेव किसी वस्तुकी प्राप्तिक

थे। दैववश उन्हें जो क

ही वे उपभोग करते थे। उसमें भी संग्रह-परिग्रहका उनका कोई भाव न था। जो भी मिलता, सारा दान कर देते। भूख-प्याससे उनका शरीर काँपता रहता। इस प्रकार अपने परिवारक
बड़े कष्टक
वे बड़े धैर्यक
एक बार तो अड़तालीस दिनोंतक उन्हें पानीतक पीनेको न मिला। उनचासवे दिन उन्हें प्रातःकालमें क
मिला। भूख और प्याससे उनका परिवार काँप रहा था। किन्तु जैसे ही वे भोजनक
वहाँ आ पहुँचा॥३-५॥

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः।
हरिं सर्वत्र संपश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः॥ ६॥

रन्तिदेव तो सर्वत्र समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌का ही दर्शन करते थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा और आदरसे उसी अन्नमें-से घी, खीर आदिका विभाग करक
ब्राह्मण वहाँसे चले गये॥६॥

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपतेः।
विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन्॥ ७॥

बचे हुए अन्नको रन्तिदेवने सभी परिवारजनोंमें बाँट दिया। जैसे ही वे उसे खानेक
वहाँ आ गया। उसे देखकर भी राजाने भगवान्‌का स्मरण किया और बचे हुए अन्नमें-से क

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः।
राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते॥ ८॥

शूद्र अतिथिक
वहाँ आ गया और कहने लगा—'हे राजन्! मैं और मेरे ये क
भूखसे अत्यन्त व्याक

स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम्।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥ ९॥

रन्तिदेवने उनका भी सम्मान किया और बचा हुआ सारा अन्न बड़े आदरक
उनक

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम्।
पास्यतः पुक्कशोऽभ्यागादपो देह्यशुभाय मे॥ १०॥

अब तो रन्तिदेवक
इतना कि एक ही जनकी प्यास बुझ सक
ही चाहते थे कि एक चाण्डाल अतिथि वहाँ आकर कहने लगा—'हे राजन्! मैं अतिशय नीच हूँ। मुझे थोड़ा जल पिला दीजिए।'॥१०॥

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम्।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः॥ ११॥

चाण्डालक
सुनकर महाराज रन्तिदेवका हृदय कृपावश अत्यधिक सन्तापसे भर गया और वे अमृतक

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥ १२॥

'मैं भगवान्से अणिमा आदि आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गतिकी प्रार्थना नहीं करता और न ही जन्म-मरणक
पानेकी इच्छा रखता हूँ। मेरी चाह तो क
जीवोंक
मैं ही सहन करूँ, जिससे सभी जीव दुःखसे रहित हो जाएँ॥१२॥

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।

सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥

यह बेचारा जल पीकर जीवन धारण करना चाहता था। जल देनेसे इसक
(भोजनक
विषाद, मोह सब चले गये और मैं अत्यन्त सुखी हो गया।'॥१३॥

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया।
पुक्कशायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः॥ १४॥

यह कहकर राजा रन्तिदेवने बचा हुआ जल भी उस चाण्डालको दे दिया। यद्यपि प्यासक
भी उनकी स्वाभाविक करुणा और धैर्यकी सीमाक
कहा जाय, जिसक
रोक न पाये॥१४॥

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम्।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः॥ १५॥

हे परीक्षित्! ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल आदिक
और नहीं, बल्कि विष्णु-रचित मायाक
परीक्षाक
जब रन्तिदेव इस परीक्षामें सफल हो गये, तब भक्तोंक
पूर्ण करनेवाले ये त्रिभुवनपति उनक

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम्॥ १६॥

राजा रन्तिदेव भगवान्‌की कृपासे सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित हो गये थे। उन्हें विषय-भोगोंकी भी कोई कामना नहीं थी, तो फिर भला भगवान्‌से वे क्या माँगते। अतः उन्होंने उन त्रिभुवनपतियोंक
चरणोंमें प्रणाम किया और अपने परमप्रेममयी भक्तिभाववाले सुन्दर मनको भगवान् वासुदेवमें निहित कर दिया॥१६॥

ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः।
माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत॥ १७॥

हे महाराज परीक्षित्! राजा रन्तिदेव पूर्णरूपसे निष्काम थे। उन्हें भगवान्क
उन्होंने अन्य सभी अभिलाषाओंसे रहित अपने मनको भगवान्क
श्रीचरणोंमें तन्मय कर दिया। जिस प्रकार जागनेपर स्वप्न स्वतः ही लयको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अब यह त्रिगुणमयी माया उनक

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्त्तिनः।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः॥ १८॥

जिन्होंने महाराज रन्तिदेवक
उनकी कृपाशक्तिक
योगी बन गये॥१८॥

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद्ब्रह्म ह्यवर्त्तत।
दुरितक्षयो महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः॥ १९॥
पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः।
बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम्॥ २०॥

मन्युपुत्र गर्गक
गार्ग्य यद्यपि क्षत्रियक
चला। महावीर्य (भरद्वाजक
दुरितक्षयक
सभी पुत्रोंने क्षत्रियवंशमें जन्म लेनेपर भी ब्राह्मण पदको प्राप्त किया। बृहत्क्षत्रका पुत्र हस्ती था। इन्होंने हस्तिनापुरको बसाया था॥१९-२०॥

अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः।
अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः॥ २१॥

हस्तीक
वंशमें प्रियमेध आदिने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया॥२१॥

अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः।
बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः॥ २२॥

इन अजमीढक
बृहद्धनुसे बृहत्काय और बृहत्कायसे जयद्रथका जन्म हुआ॥२२॥

तत्सुतो विशदस्तस्य स्येनजित् समजायत।
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः॥ २३॥

जयद्रथका पुत्र था विशद और विशदका स्येनजित्। स्येनजित्क
चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढ़हनु, काश्य और वत्स॥२३॥

रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः।
पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्॥ २४॥

रुचिराश्वक
और नीप। नीपक

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्।
योगी स गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम्॥ २५॥

इसी नीपने शुक(छाया-शुक) कन्या कृत्वीक
उत्पन्न किया, जिसका नाम ब्रह्मदत्त था। यह ब्रह्मदत्त एक महान्
योगी था। उनकी पत्नीका नाम था सरस्वती, जिसने विष्वक्सेनको
जन्म दिया था॥२५॥

जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह।
उदक्सेनस्ततस्तस्माद्भल्लाटो बार्हदीषवाः॥ २६॥

इन्हीं विष्वक्सेनने जैगीषव्य ऋषिक
रचना की थी। विष्वक्सेनसे उदक्सेनका जन्म हुआ और उदक्सेनसे
भल्लाटकी उत्पत्ति हुई। ये सभी बृहदिषुक

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः।
नाम्ना सत्यधृतिस्तस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत्॥ २७॥

द्विमीढका पुत्र यवीनर था और यवीनरका कृतिमान्। कृतिमान्से सत्यधृति, सत्यधृतिसे दृढनेमि और दृढनेमिसे सुपार्श्वका जन्म हुआ॥२७॥

सुपार्श्वात् सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः।
कृती हिरण्यनाभाद्यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट्॥ २८॥

संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युदग्रायुधस्ततः।
तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः॥ २९॥

सुपार्श्वसे सुमति, सुमतिसे सन्नतिमान् और सन्नतिमान्से कृतिने जन्म ग्रहण किया। इन कृतिने हिरण्यनाभ (ब्रह्माजी)से योगविद्या प्राप्त की और 'प्राच्यसाम' नामक सामवेदीय ऋचाओंकी छह संहिताओंको पढ़ाया था। कृतिका पुत्र नीप था और नीपसे उद्ग्रायुधका जन्म हुआ। उदग्रायुधसे क्षेम्य, क्षेम्यसे सुवीर और सुवीरसे रिपुञ्जय उत्पन्न हुआ॥२८–२९॥

ततो बहुरथो नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत्।
नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिस्तु तत्सुतः॥ ३०॥

रिपुञ्जयक
सन्तान नहीं थी। अजमीढकी दूसरी पत्नीका नाम था नलिनी।
नलिनीक

शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत्।
भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन् मुद्गलादयः॥ ३१॥

यवीनरो बृहद्विश्वः काम्पिल्लः सञ्जयः सुताः।
भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि॥ ३२॥

विषयाणामलमिमे इति पाञ्चालसंज्ञिताः।
मुद्गलाद्ब्रह्मनिर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम्॥ ३३॥

शान्तिसे सुशान्ति, सुशान्तिसे पुरुज और पुरुजसे अक
अक
यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और सञ्जय। भर्म्याश्वने अपने पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! तुम मेरे पाँच देशोंका संरक्षण करनेक
अलम्) हो।' इसी कारण ये पाँचों पुत्र 'पाञ्चाल' कहलाये। इनमें

मुद्गल नामका जो पुत्र था, उससे मौद्गल्य नामक ब्राह्मण गोत्रकी उत्पत्ति हुई॥३१-३३॥

मिथुनं मुद्गलाद्भार्म्याद्दिवोदासः पुमानभूत्।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात्॥ ३४॥

भर्म्याश्वक
था और एक बालिका। बालकका नाम रखा गया दिवोदास और कन्याका नाम अहल्या। अहल्याका विवाह गौतम ऋषिसे हुआ। गौतम ऋषिक

तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल।
शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूत् शुभम्॥ ३५॥

शतानन्दक
था। सत्यधृतिका पुत्र था शरद्वान्। एक बार उर्वशीको देखनेसे उसका वीर्य स्खलित हो गया और शर नामक घास (झाड़)पर गिर पड़ा। इससे शुभ लक्षणवाले दो शिशु उत्पन्न हुए, जिनमें एक क

तद्दृष्ट्वा कृपयागृह्णात् शान्तनुर्मृगयां चरन्।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीभरतवंशानुवर्णने नाम एकविंशोऽध्यायः॥

महाराज शान्तनु वहाँ शिकार खेलने आये हुए थे। उनकी दृष्टि उन बालकोंपर पड़ी। उन्हें उनपर दया आ गयी। उन्होंने बालकोंको उठा लिया और घरपर ले आये। कृपावश ग्रहण किये जानेक
कृपी। यही कृपी द्रोणाचार्यकी पत्नी बनी॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

पाञ्चाल, कौरव मगधदेशीय राजाओंक

श्रीशुक उवाच—

मित्रायुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप।
सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्! दिवोदासक
नाम मित्रेयु था। मित्रेयुक
और सोमक। सोमकसे जो पुत्र हुआ उसका नाम जन्तु था॥१॥

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषतः सुतः।
स तस्माद्द्रुपदो जज्ञे सर्वसम्पत्समन्वितः॥ २॥

सोमकक
छोटा था। इन्हीं पृषतसे द्रुपदका जन्म हुआ द्रुपद सर्वसम्पत्तिवान्
राजा थे॥२॥

द्रुपदाद्द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः।
धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पाञ्चालका इमे॥ ३॥

द्रुपदसे द्रौपदीका जन्म हुआ था। इनक
पुत्र भी थे। धृष्टद्युम्नसे धृष्टक
वंशमें उत्पन्न हुए ये सभी राजा 'पाञ्चाल' कहलाये॥३॥

योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः।
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः॥ ४॥
परीक्षिः सुधनुर्जह्नुर्निषधश्च कुरोः सुताः।
सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती॥ ५॥

अजमीढक
लिया। संवरणका विवाह सूर्य-पुत्री तपतीसे हुआ। तपतीक

ही उन क
पुत्र थे—परीक्षि, सुधनु, जह्नु और निषध। सुधनुका पुत्र था सुहोत्र और सुहोत्रका च्यवन। च्यवनसे कृतीका जन्म हुआ॥४–५॥

वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः।
कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रश्चेदिपाद्याश्च चेदिपाः॥६॥

कृतीका पुत्र उपरिचर वसु था। उपरिचर वसुसे बृहद्रथ आदि कई पुत्र हुए। उपरिचर वसुक
मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि) चेदिदेशक

बृहद्रथात् कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः।
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः॥७॥

बृहद्रथसे क
सत्यहित, सत्यहितसे पुष्पवान् और पुष्पवान्से जहुका जन्म हुआ॥७॥

अन्यस्यामपि भार्यायां सकले द्वे बृहद्रथात्।
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत् सुतः॥८॥

बृहद्रथकी दूसरी पत्नीक
माताने जब बालकको दो खण्डोंमें देखा, तब उसे बाहर फ
दिया, परन्तु जरा नामकी राक्षसीने 'जीवित हो जाओ', 'जीवित हो जाओ'—यह कहकर खेल-ही-खेलमें उन दोनों खण्डोंको एक साथ जोड़ दिया। दो खण्डोंसे जुड़े हुए इस बालकका नाम पड़ा—'जरासंध'॥८॥

ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापिर्यत् श्रुतश्रवाः।
परीक्षिरनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः॥९॥

जरासन्धसे सहदेवका जन्म हुआ। सहदेवका सोमापि और सोमापिका पुत्र हुआ श्रुतश्रवा। क
ही रह गये। क

ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत्।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुताय्वभूत्॥१०॥

सुरथसे विदूरथ, विदूरथसे सार्वभौम, सार्वभौमससे जयसेन और जयसेनसे राधिक हुए। राधिकक

ततश्चाक्रोधनस्तस्माद्देवातिथिरमुष्य च।
ऋक्षस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः॥ ११॥

अयुतायुसे अक्रोध और अक्रोधसे देवातिथिका जन्म हुआ। देवातिथिका पुत्र ऋक्ष, ऋक्षका दिलीप और दिलीपका पुत्र था प्रतीप॥११॥

देवापिः शान्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः॥ १२॥

अभवच्छान्तनु राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः॥ १३॥

प्रतीपक

अपने पिताका राज्य त्याग करक

शान्तनुको राजपद प्राप्त हो गया। शान्तनु अपने पूर्वजन्ममें महाभिष नामसे प्रसिद्ध थे। शान्तनु जिस भी वृद्धको अपने दोनों हाथोंसे स्पर्श कर देते, वह युवा हो जाता था॥१२–१३॥

शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शान्तनुः।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः॥ १४॥

शान्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्ताऽयमग्रभुक्।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये॥ १५॥

उसक

कारण था कि इनका नाम 'शान्तनु' पड़ा। एक बार शान्तनुक राज्यमें बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। राजाने ब्राह्मणोंसे जब इसका कारण पूछा, तब ब्राह्मणोंने उन्हें बतलाया—'हे राजन्! इसका कारण आप स्वयं हैं। आपने अपने बड़े भाई देवापिसे पहले विवाह, अग्निहोत्र यज्ञ और राजपदको स्वीकार कर लिया है। जो ऐसा करता है वह 'परिवेत्ता' दोषका अपराधी होता है। (जो पुरुष अपने बड़े भाईसे पहले विवाह और अग्निहोत्र-यज्ञ आदि कर ले,

उसे 'परिवेत्ता' कहा जाता है और उसक
इसीलिये आपक
नगर और राष्ट्रक
अपने बड़े भाईको राजपद लौटा दीजिये।'॥१४-१५॥

एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत्।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा॥ १६॥
वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः॥ १७॥

ब्राह्मणोंक
गये और अपने बड़े भाई देवापिसे कहने लगे—'प्रजाका पालन ही राजाका परम धर्म है, अतएव आप राजाका पद सँभालिये,'
परन्तु इसक
देवापिक
पाखण्डमें लगा दें और वे राजा होनेक
अश्ववार द्वारा प्रेरित ब्राह्मणोंने वेद-विरोधी मतका समर्थन करनेवाले अपने वचनोंसे देवापिको वेद-मार्गसे भ्रष्ट कर दिया। फलस्वरूप
देवापिने शान्तनुक
किया, उल्टा उनक
वेद-निन्दाक
वे राजा बननेक
ही राजा बने रहे और इन्द्रने भी प्रसन्न होकर यथाकाल अर्थात्
शान्तनुमें कोई दोष न रहनेक
देवापि योगियोंक
आश्रयकर आज भी साधना कर रहे हैं॥१६-१७॥

सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति।
बाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूद्भूरिर्भूरिश्रवास्ततः॥ १८॥
शलश्च शान्तनोरासीद्गङ्गायां भीष्म आत्मवान्।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः॥ १९॥

कलियुगमें जब सोमवंश (चन्द्रवंश) समाप्त हो जायेगा, तब
सत्ययुगक
स्थापना करेंगे। शान्तनुक
हुआ। सोमदत्तक
महाराज शान्तनुकी दूसरी पत्नी गङ्गादेवीक
हुआ, जो आत्मतत्त्ववित्त्, धर्मज्ञ-शिरोमणि, परमभागवत और परम
विद्वान् थे॥१८-१९॥

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः।
शान्तनोर्दासकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः॥२०॥

भीष्मदेव पृथ्वीपर सभी योद्धाओंमें अग्रगण्य थे। उन्होंने तो
अपने गुरु परशुरामको भी युद्धमें परास्त करक
दिया था। महाराज शान्तनुने दासराजकी कन्या (सत्यवती)क
चित्राङ्गदको उत्पन्न किया। (सत्यवतीका जन्म उपरिचर वसुक
द्वारा मछलीक
(क

विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः।
यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला॥२१॥
वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम्।
हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः॥२२॥
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात्॥२३॥
स्वयम्वरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः॥२४॥

चित्राङ्गदका छोटा भाई था विचित्रवीर्य। चित्राङ्गदको चित्राङ्गद
नामक
(विवाहसे पूर्व) पराशरजीक
व्यासका आविर्भाव हुआ। राजन्! इन्हीं व्यासजीसे मैं शुकदेव

उत्पन्न हुआ। अपने पिता व्यासदेवसे ही मैंने श्रीमद्भागवत शास्त्रका अध्ययन किया था। वेदरक्षक भगवान् वेदव्यासने अपने पैल आदि शिष्योंको छोड़कर मुझे ही इस परम-गोपनीय शास्त्रका अध्ययन कराया था, क्योंकि मैं निस्पृह एवं शान्तादि गुणोंसे युक्त था। शान्तनुक

और अम्बालिकासे विवाह किया, जिन्हें भीष्मजी बलपूर्वक स्वयंवरसे अपहरण करक

इतने आसक्त हो गये थे कि उन्हें 'राजयक्ष्मा' नामक रोग हो गया और अन्ततः उनकी मृत्यु हो गई॥२१-२४॥

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः।
धृतराष्ट्रञ्च पाण्डुञ्च विदुरञ्चाप्यजीजनत्॥ २५॥

बादरायण श्रीवेदव्यासने अपनी माता सत्यवतीक

अपने निःसन्तान भाई विचित्रवीर्यकी पत्नियों अम्बिकासे धृतराष्ट्र अम्बालिकासे दूसरे पुत्र पाण्डुको और उनकी दासीसे तीसरे पुत्र विदुरको उत्पन्न किया॥२५॥

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका॥ २६॥

हे राजन्! धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी थी। उसने एक सौ पुत्र और एक पुत्री दुःशलाको जन्म दिया। सौ पुत्रोंमें दुर्योधन सबसे बड़ा पुत्र था॥२६॥

शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः।
जाता धर्म्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः॥ २७॥
नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः।
द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन्॥ २८॥

पाण्डुकी पत्नी क

स्त्री सहवास नहीं कर सकते थे। (शिकार खेलते समय वनमें मृगरूपमें सम्भोगरत मुनिका वध कर देनेसे उन मुनिने राजा

पाण्डुको शाप दिया कि वे भी जब स्त्रीसे सहवास करेंगे, उनकी मृत्यु हो जायेगी) इसीलिए उनकी पत्नी क
इन्द्र द्वारा क्रमशः युधिष्ठर, भीम और अर्जुन—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया। ये तीनों ही बड़े महारथी थे। पाण्डुकी दूसरी पत्नी माद्री थी। इन्होंने दोनों अश्विनीक
सहदेवको जन्म दिया। इन पाँच पाण्डवों द्वारा द्रौपदीक
पुत्र हुए। ये ही पाँच पुत्र तुम्हारे (परीक्षित्क

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्त्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः॥ २९॥

इनमें-से युधिष्ठरक
भीमसे श्रुतसेन, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति और नक
जन्म हुआ॥२९॥

सहदेवसुतो राजन् श्रुतकर्मा तथाऽपरे।
युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः॥ ३०॥
भीमसेनात् हिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः।
सहदेवात् सुहोत्रन्तु विजयासूत पार्वती॥ ३१॥

राजन्! सहदेवक
युधिष्ठिर आदि भाइयोंकी अन्य पत्नियोंसे और भी पुत्र उत्पन्न हुए। युधिष्ठरकी पत्नी पौरवीक
गर्भसे घटोत्कच और कालीसे सर्वगतका जन्म हुआ। सहदेव द्वारा पर्वत-पुत्री विजयासे सुहोत्रका जन्म हुआ॥३०-३१॥

करेणुमत्यां नकुलो नरमित्रं तथार्जुनः।
इरावन्तमुलुप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम्।
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः॥ ३२॥

नक
अर्जुनने नागकन्या उलूपीक
पुत्री चित्राङ्गदासे बभ्रुवाहनको प्राप्त किया। बभ्रुवाहनको मणिपुरक

राजा अर्थात् अपने नानाका ही पुत्र माना गया। पुत्रिका-धर्मक अनुसार इस बातको पहलेसे ही तय कर लिया गया था॥३२॥

तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत।
सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भवान्॥ ३३॥

अर्जुन द्वारा सुभद्राक

हुआ। उस महावीरने सभी अतिरथियों (एक हजार रथवानोंसे युद्ध करनेकी क्षमता रखनेवालों) को जीत लिया था। अभिमन्यु द्वारा विराट् राजाकी पुत्री उत्तराक

परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा।
त्वञ्च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात्॥ ३४॥

क

था और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामाक

ही चुक

बचा लिया॥३४॥

तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥ ३५॥

प्रिय तात! तुम्हारे ये चारों ही पुत्र—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन महावीर्यशाली हैं। इनमें सबसे बड़ा जनमेजय है॥३५॥

जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम्।
सर्पान् वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः॥ ३६॥

तुम्हारे पुत्र जनमेजयको जब यह पता चलेगा कि तक्षक सर्प द्वारा काटे जानेसे तुम्हारी मृत्यु हो गयी है, तब यह अत्यन्त क्रोधित हो उठेगा और सर्प-यज्ञकी अग्निमें सारे सर्पोंका हवन करेगा॥३६॥

कालषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधषाट्।
समन्तात् पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः॥ ३७॥

कलष–पुत्र तुरको अपना पुरोहित बनाकर जनमेजय अश्वमेध एवं अन्यान्य यज्ञोंसे भगवान्‌की आराधना करेगा और सब ओरसे सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करक
पर वरण करक
करनेवाले) क

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥ ३८॥

जनमेजयका पुत्र शतानीक याज्ञवल्क्य ऋषिसे त्रयीविद्या(ऋग्वेद आदि तीनों वेद) और कर्मकाण्डकी शिक्षा तथा कृपाचार्यसे अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करेगा। शौनकादि ऋषियोंसे यह आत्मतत्त्वका ज्ञान ग्रहण करेगा॥३८॥

सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।
असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः॥ ३९॥

शतानीकका पुत्र होगा सहस्रानीक। सहस्रानीकसे अश्वमेधज, अश्वमेधजसे असीमकृष्ण और उससे नेमिचक्रका जन्म होगा॥३९॥

गजाह्वये ह्रते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति।
उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्माच्छुचिरथः सुतः॥ ४०॥

जब हस्तिनापुर गङ्गा नदीकी बाढ़में डूब जायगा, तब नेमिचक्र कौशाम्बी नामकी पुरीमें वास करेगा। नेमिचक्रका पुत्र चित्ररथ नामसे विख्यात होगा। चित्ररथक

तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः।
सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत् सुखीनलः॥ ४१॥

शुचिरथसे वृष्टिमान्, वृष्टिमान्‌से सुषेणका जन्म होगा, जो एक चक्रवर्ती राजा होगा। सुषेणसे सुनीथ, सुनीथसे नृचक्षु और नृचक्षुसे सुखीनलका जन्म होगा॥४१॥

परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः।
नृपञ्जयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति॥ ४२॥

सुखीनलका पुत्र परिप्लव, परिप्लवका सुनय, सुनयका मेधावी, मेधावीका नृपञ्जय, नृपञ्जयका दूर्व और दूर्वका पुत्र तिमि होगा॥४२॥

तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः।
शतानीकाद्दुर्दमनस्तस्यापत्यं महीनरः॥४३॥

तिमिसे बृहद्रथ और बृहद्रथसे सुदासका जन्म होगा। सुदाससे शतानीक, शतानीकसे दुर्दमन और दुर्दमनसे महीनरका जन्म होगा॥४३॥

दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता यतः।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः॥४४॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ।
अथ मागधराजानो भाविनो ये वदामि ते॥४५॥

महीनरसे दण्डपाणि, दण्डपाणिसे निमि और निमिसे क्षेमकका जन्म होगा। राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें सोमवंश (चन्द्रवंश)क विषयमें बतलाया। इस सोमवंशसे ही क्षत्रिय और ब्राह्मण-दोनों वंशोंकी उत्पत्ति हुई है। बड़े-बड़े देवता एवं ऋषि-मुनिगण इस वंशका आदर-सत्कार करते हैं। यह वंश कलियुगमें राजा क्षेमकक साथ ही समाप्त हो जायगा। अब मैं उन मागध राजाओंका वर्णन करता हूँ, जो भविष्यमें होनेवाले हैं॥४४-४५॥

भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यत् श्रुतश्रवाः।
ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः॥४६॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद्बृहत्सेनोऽथ कर्मजित्।
ततः सुतञ्जयाद्विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति॥४७॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद्धर्मसूत्रः समस्ततः।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः॥४८॥

जरासन्ध-पुत्र सहदेवसे मार्जारिका जन्म होगा। मार्जारिका पुत्र श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवाका युतायु और युतायुका पुत्र निरमित्र होगा।

निरमित्रसे सुनक्षत्र, सुनक्षत्रसे बृहत्सेन, बृहत्सेनसे कर्मजित् और कर्मजित्से सुतञ्जयका जन्म होगा। सुतञ्जयका पुत्र विप्र होगा और विप्रका पुत्र होगा शुचि। शुचिसे क्षेम, क्षेमसे सुव्रत, सुव्रतसे धर्मसूत्र और धर्मसूत्रसे शम जन्म ग्रहण करेगा। शमका पुत्र द्युमत्सेन, द्युमत्सेनका सुमति और सुमतिका पुत्र सुबल होगा॥४६–४८॥

सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद्यद्रिपुञ्जयः।
बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीशान्तनुवंशकीर्त्तनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

सुबलसे सुनीथ, सुनीथसे सत्यजित्, सत्यजित्से विश्वजित् और उससे रिपुञ्जयका जन्म होगा। ये सभी बृहद्रथवंशक
इन राजाओंका शासनकाल एक हजार वर्ष तक रहेगा॥४९॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुक

श्रीशुक उवाच—

अनोः सभानरश्चक्षुः परेक्षुश्च त्रयः सुताः।
सभानरात् कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! ययातिक
तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परेक्षु। सभानरसे कालनर और कालनरसे सृञ्जयका जन्म हुआ॥१॥

जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशालो महामनाः।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ॥ २॥

सृञ्जयसे जनमेजय, जनमेजयसे महाशाल और महाशालसे महामनाने जन्म लिया। महामनाक

शिबिर्वरः कृमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः।
वृषादर्भः सुधीरश्च मद्रः केकय आत्मवान्॥ ३॥

शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुषद्रथः।
ततो होमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत्॥ ४॥

उशीनरसे चार पुत्रोंका जन्म हुआ—शिबि, वर, कृमि और दक्ष। शिबिसे वृषादर्भ, सुधीर, मद्र और आत्मतत्त्वविद् क
पुत्रोंका जन्म हुआ। उशीनरक
रुशद्रथसे होम, होमसे सुतपा और सुतपासे बलिका जन्म हुआ॥३–४॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः शुह्मपुण्ड्रोड्रसंज्ञिताः।
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः॥ ५॥

राजा बलिकी पत्नीक
दिया—अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुह्म, पुण्ड्र और ओड्र॥५॥

चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च ते।
खलपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद्दिविरथस्ततः॥ ६॥

इन छहों पुत्रोंने अपने-अपने नामोंसे भारतवर्षक
बसाये। अङ्गसे खलपान और खलपानसे दिविरथका जन्म हुआ॥६॥

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा॥ ७॥

शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह याम्।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम्॥ ८॥

नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वते॥ ९॥

प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः।
चतुरङ्गो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः॥ १०॥

दिविरथसे धर्मरथ और धर्मरथसे चित्ररथने जन्म ग्रहण किया। चित्ररथ रोमपादक
थे। रोमपादक
कन्या शान्ता इन्हें गोद दे दी। शान्ताका विवाह ऋष्यशृङ्ग मुनिसे हुआ। ऋष्यशृङ्ग विभाण्डक ऋषि द्वारा हरिणीक
हुए थे। एक बार रोमपादक
वर्षा नहीं की। तब वारांगनाओंने अपने नृत्य, संगीत, वाद्य, नाना प्रकारक
आकर्षित कर लिया और उन्हें वहाँ ले आयीं। उनक
राज्यमें वर्षा हाने लगी। रोमपादने इन्द्रयज्ञ करनेक
ही पुरोहित नियुक्त किया था, जिससे रोमपादको पुत्रकी प्राप्ति हुई। इसक
लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, जिससे महाराज दशरथको चार पुत्र प्राप्त हुए। रोमपादक
पृथुलाक्षका जन्म हुआ॥७-१०॥

बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः।
आद्याद्बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः॥ ११॥

पृथुलाक्षक
बृहद्रथसे बृहन्मना और बृहन्मनासे जयद्रथका जन्म हुआ॥११॥

विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत।
ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः॥ १२॥

जयद्रथकी पत्नी सम्भूतिक
धृति, धृतिसे धृतव्रत, धृतव्रतसे सत्कर्मा और सत्कर्मासे अधिरथका जन्म हुआ॥१२॥

योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम्।
कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम्॥ १३॥

एक बार अधिरथ गङ्गाक
उसने देखा कि पिटारीमें एक नवजात शिशु बहता चला आ रहा है। इस नवजात शिशुको क
गङ्गामें बहा दिया था। अधिरथ निःसन्तान था। अतः उसने उस शिशुको पुत्रक
करने लगा। यह बालक कर्णक

वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपते।
द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः॥ १४॥

हे राजन्! कर्णका वृषसेन नामका एक पुत्र हुआ। राजा ययातिक
तीसरे पुत्र द्रुह्युसे बभ्रुका जन्म हुआ। बभ्रुका पुत्र सेतु था॥१४॥

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः।
धृतस्य दुर्मदस्तस्मात् प्रचेताः प्राचेतसः शतम्॥ १५॥

सेतुका पुत्र आरब्ध हुआ। आरब्धका पुत्र गान्धार, गान्धारका धर्म, धर्मका धृत, धृतका दुर्मद और दुर्मदसे प्रचेताका जन्म हुआ। प्रचेताक

म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः।
तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान्॥ १६॥

प्रचेताक
लोगोंपर शासन किया। ययातिक
किया। वह्निसे भर्ग और भर्गसे भानुमान्‌का जन्म हुआ॥१६॥

त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः।
मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत्॥ १७॥

भानुमान्‌का पुत्र त्रिभानु था और त्रिभानुका पुत्र करन्धम। करन्धम अत्यन्त उदारचित्त था। उसक
मरुत सन्तानहीन था, इसलिये उसने पूरुवंशमें उत्पन्न दुष्मन्तको पुत्ररूपमें ग्रहण कर लिया था॥१७॥

दुष्मन्तः स पुनर्भेजे स्ववंशं राज्यकामुकः।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ॥ १८॥

वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम्।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १९॥

मरुत्-वंशक
वंश पुरुवंशमें लौट आये। हे राजश्रेष्ठ! अब मैं राजा ययातिक
पुत्र यदुक
और मनुष्यक
वर्णन सुननेवाले मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं॥१८-१९॥

यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः।
यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलोरिपुरिति श्रुताः॥ २०॥

चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित् प्रथमात्मजः।
महाहयो रेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः॥ २१॥

इस यदुवंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी स्वयंरूप नित्य नराकृतिको (नरदेहको) प्रकट करक
पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु। पहले पुत्र सहस्रजित्‌का

पुत्र शतजित् था। शतजित्से तीन पुत्रोंका जन्म हुआ—महाहय, वेणुहय और हैहय। (आकृति शब्दका अर्थ स्वरूपवाची एवं जातिवाची होनेपर भी परमात्माका ताटस्थत्व नहीं है किन्तु स्वरूपत्व ही है। भगवान्का नित्य स्वरूप नराकृति है, इसी रूपमें वे प्रकट हुए थे।)॥२०-२१॥

धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः।
सोहञ्जिरभवत् कुन्तेर्महिष्मान् भद्रसेनकः॥ २२॥

हैहयका पुत्र धर्म, धर्मका नेत्र, नेत्रका क
सोहञ्जिका महिष्मान् और महिष्मान्का पुत्र भद्रसेनक हुआ॥२२॥

दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः॥ २३॥

भद्रसेनकसे दो पुत्रोंका जन्म हुआ—दुर्मद और धनक। धनकक चार पुत्र थे—कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा॥२३॥

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत्।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः॥ २४॥

कृतवीर्यसे जन्म हुआ अर्जुन का। यह जम्बू, प्लक्षादि सातों द्वीपोंका अधीश्वर बना। इन्होंने भगवान्क
सीखी तथा अणिमा-लघिमा आदि आठों सिद्धियोंको प्राप्त किया॥२४॥

न नूनं कार्त्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञदानतपोयागैः श्रुतवीर्यदयादिभिः॥ २५॥

इस पृथ्वीपर कोई भी राजा यज्ञ, दान, तपस्या, योगबल, शास्त्रज्ञान, पराक्रम और दया आदि गुणोंमें कार्त्तवीर्य अर्जुनकी बराबरी नहीं कर सकता है॥२५॥

पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः।
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु॥ २६॥

सहस्रबाहु अर्जुन पिचासी हजार वर्षों तक अपनी छहों इन्द्रियोंसे अक्षय विषयोंको भोगता रहा, तब भी न तो उसका शारीरिक बल

क्षीण हुआ, न उसक
शक्ति ही कम हुई। यहाँ तक कि यदि कोई कार्त्तवीर्य अर्जुनका नाम भी स्मरण कर लेता था, तो उसका धन नष्ट नहीं होता था॥२६॥

तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे।
जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः॥ २७॥

कार्त्तवीर्य अर्जुनक
करते समय क
ग्रास हो गये। इन पाँच पुत्रोंक
मधु और ऊर्जित॥२७॥

जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्।
क्षत्रं यत्तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोऽपसंहृतम्॥ २८॥

जयध्वजसे तालजङ्घका जन्म हुआ। तालजङ्घक
सभी तालजङ्घ क्षत्रिय कहलाये। बलशाली महाराज सगरने और्व ऋषिसे
शक्ति प्राप्त करक
प्राणोंका वध न करक

तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः।
तस्य पुत्रशतं त्वासीद्वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम्॥ २९॥

तालजङ्घक
वीतिहोत्रका पुत्र मधु था। मधुक
वृष्णि था॥२९॥

माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति संज्ञिताः।
यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः॥ ३०॥
स्वाहिताऽतो विशद्गुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः।
शशबिन्दुर्महायोगी महाभोगो महानभूत्।
चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्त्यपराजितः ॥ ३१॥

राजन्! इन्हीं यदु, मधु और वृष्णिसे यादव, माधव और वार्ष्णेय वंशोंकी परम्परा चली। यदुपुत्र क्रोष्टुका पुत्र वृजिनवान् था। वृजिनवान्से

स्वाहित, स्वाहितसे विषद्गु, विषद्गुसे चित्ररथ और चित्ररथसे शशबिन्दुका जन्म हुआ। शशबिन्दु महान् योगी, महाभाग्यवान् और परम ऐश्वर्यशाली था। वह चौदह महान् रत्नों (हाथी, घोड़े, रथ, स्त्री, बाण, निधि, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान)का अधिकारी, सर्वविजयी और चक्रवर्ती सम्राट् था॥३०-३१॥

तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः
दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत्॥ ३२॥

शशबिन्दुकी दस हजार पत्नियाँ थीं। उनमें-से प्रत्येकक
लाख सन्तान हुईं। इस प्रकार शशबिन्दुक
अरब थी॥३२॥

तेषान्तु षट् प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः।
धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट्॥ ३३॥

इन सभी पुत्रोंमें पृथुश्रवा और पृथुकीर्ति आदि छह पुत्र प्रधान थे। पृथुश्रवाक
उशना। उशनाने सौ अश्वमेध यज्ञ किये॥३३॥

तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चासन्नात्मजाः शृणु।
पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ॥ ३४॥

उशनाका पुत्र था रुचक। रुचकक
भी सुनो! रुचकक
पृथु और ज्यामघ॥३४॥

ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात्।
नाविन्दच्छत्रुभवनाद्भोज्यां कन्यामहारषीत्।
रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता॥ ३५॥
केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै।
स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत्॥ ३६॥

ज्यामघकी पत्नीका नाम शैब्या था। उनकी कोई सन्तान न थी। ज्यामघने अपनी पत्नीक

विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रु राजाक
भोज्या नामकी कन्याको हर लाया। शैब्याने जब अपने पतिक
रथपर उस कन्याको बैठे हुए देखा, तब वह क्रोधसे भर गयी
और अपने पतिसे कहने लगी—'अरे छली, कपटी, धोखेबाज!
मेरे बैठनेक
उत्तर दिया—'यह कन्या तुम्हारी पुत्रवधू होगी।' यह बात सुनकर
शैब्या मुस्करायी और कहने लगी— ॥३५-३६॥

अहं वन्ध्याऽसपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्।
जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते॥ ३७॥

शैब्याने कहा—'मैं तो बाँझ हूँ और मेरी कोई सौत भी नहीं है, फिर यह कन्या किस प्रकारसे मेरी पुत्रवधू हो सकती है? जरा, बतलाओ तो!' ज्यामघने कहा—'प्रिय रानी! तुम्हें जो पुत्र होगा, यह उसकी वधू बनेगी।' ॥३७॥

अन्वमोदन्त तद्विश्वेदेवाः पितरो एव च।
शैब्या गर्भमधात् काले कुमारं सुषुवे शुभम्।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीयदुवंशकथने त्रयोविंशोऽध्यायः॥

बहुत समय पहले ज्यामघने विश्वेदेव और पितरोंकी आराधना
करक
अनुमोदनसे ज्यामघक
रजोविहीनी होनेपर भी देवताओंकी कृपासे गर्भ धारण किया और
उपयुक्त समय आनेपर एक सुन्दर बालकको जन्म दिया। इस शिशुका
नाम रखा गया विदर्भ। विदर्भक
कन्याको पुत्रीरूपमें स्वीकार कर लिया था, उसी सद्स्वभाववाली
कन्यासे बड़े होनेपर विदर्भका विवाह हो गया॥३८॥

इति श्रीमद्भागवतक

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

विदर्भक

श्रीशुक उवाच—

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ।
तृतीयं रोमपादञ्च विदर्भकुलनन्दनम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा विदर्भने उस भोज्यासे दो पुत्र उत्पन्न किये—क
उनक

रोमपादसुतो बभ्रुर्वभ्रोः कृतिरजायत।
उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः॥ २॥

रोमपादका पुत्र था बभ्रु। बभ्रुका कृति, कृतिका उशिक, उशिकका पुत्र चेदि हुआ। चेदिसे दमघोष आदि चैद्य राजा हुए॥२॥

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद्वृष्णिस्तस्याथ निर्वृतिः।
ततो दशार्हो नाम्नाभूत् तस्य व्योमः सुतस्ततः॥ ३॥

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः॥ ४॥

क्रथक
निर्वृतिका जन्म हुआ। निर्वृतिसे दशार्ह और दशार्हसे व्योम हुए। व्योमका पुत्र जीमूत था। जीमूतका विकृति, विकृतिका भीमरथ, भीमरथका नवरथ और नवरथका पुत्र दशरथ हुआ॥३-४॥

करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः॥ ५॥

दशरथका पुत्र था शक
देवरातका देवक्षत्र और देवक्षत्रका पुत्र मधु था। मधुसे क
और क

पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः॥ ६॥

सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष।
भजमानस्य निम्लोचिः किङ्कणो धृष्टिरेव च॥ ७॥

एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्याञ्च त्रयः सुताः।
शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो॥ ८॥

अनुसे पुरुहोत्र, पुरुहोत्रसे आयु और आयुसे सात्वतका जन्म हुआ। हे आर्यश्रेष्ठ! सात्वतक
वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज। भजमानकी एक पत्नीसे निम्लोचि, किङ्कण ओर धृष्टि—ये तीन पुत्र हुए और दूसरी पत्नीसे भी तीन पुत्र हुए—शतजित्, सहस्रजित् और अयुताजित्॥६-८॥

बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू।
यथैव शृणुमो दूरात् संपश्यामस्तथान्तिकात्॥ ९॥

सात्वत-पुत्र देवावृधक
देवावृध और बभ्रुकी महिमाको सूचित करनेवाले दो श्लोक निरन्तर गाते रहते हैं। इनकी मान्यता है कि हमने देवावृध और बभ्रुकी गुणावलीको जैसा सुना है, उसे साक्षात् देखा भी है॥९॥

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः।
पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट्सहस्राणि चाष्ट च॥ १०॥

येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि।
महाभोजोऽतिधर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये॥ ११॥

मनुष्योंमें बभ्रु श्रेष्ठ हैं, तो देवावृध देवतुल्य हैं। यह इस बातसे सिद्ध होता है कि बभ्रु और देवावृधसे ज्ञान प्राप्त करक
उनक

सात्वत–पुत्र राजा महाभोज भी अत्यन्त धार्मिक थे। उनक
ही राजा भोज उत्पन्न हुए थे॥१०–११॥

वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद् युधाजिच्च परन्तप।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निघ्नोऽभूदनमित्रतः॥ १२॥

हे परन्तप! वृष्णिक
युधाजित्‌क
नाम था निघ्न॥१२॥

सत्राजितः प्रसेनश्च निघ्नस्याथासतुः सुतौ।
अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्य च सत्यकः॥ १३॥

निघ्नक
हुए। अनमित्रका एक पुत्र और था, जिसका नाम शिनि था।
शिनिसे सत्यकका जन्म हुआ॥१३॥

युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः।
युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः॥ १४॥

सत्यकक
जाता था। सात्यकिसे जय, जयसे क
जन्म हुआ। युधजित्–पुत्र अनमित्रका एक और पुत्र भी था,
जिसका नाम वृष्णि था॥१४॥

श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यान्तु श्वफल्कतः।
अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः॥ १५॥

वृष्णिक
पत्नीका नाम गान्दिनी था। गान्दिनीक
और अन्य बारह पुत्र हुए॥१५॥

आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद्‌गिरिः।
धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः॥ १६॥
शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश।
तेषां स्वसा सुचाराख्या द्वावक्रूरसुतावपि॥ १७॥

देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः॥ १८॥

इनक
सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद और प्रतिबाहु। ये सभी विख्यात थे। इनकी एक सुचारा नामकी बहिन भी थी। अक्रूरक दो पुत्र हुए—देववान् और उपदेव। श्वफल्कक
पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए। ये सभी वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं॥१६-१८॥

कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः॥ १९॥

सात्वत-पुत्र अन्धकक
कम्बलबर्हिष। क
हुआ॥१९॥

कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः।
अन्धकाद्दुन्दुभिस्तस्मादविद्योतः पुनर्वसुः॥ २०॥

विलोमाक
अनु हुआ। तुम्बुरु नामक
थी। अनुसे अन्धक, अन्धकसे दुन्दुभि और दुन्दुभिसे अविद्योतका जन्म हुआ। अविद्योतका पुत्र था पुनर्वसु॥२०॥

तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः॥ २१॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्द्धनः।
तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप॥ २२॥
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः॥ २३॥

पुनर्वसुसे एक पुत्र आहुक और एक कन्या आहुकीने जन्म लिया। आहुकक

पुत्र थे—देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन। इनकी सात बहिनें भी थीं, जिनक
देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी। इनमें घृतदेवा सबसे बड़ी थीं। वसुदेवजीने इन सभीक

कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा।
राष्ट्रपालोऽथ धृष्टिश्च तुष्टिमानोग्रसेनयः॥ २४॥

उग्रसेनक
राष्ट्रपाल, धृष्टि और तुष्टिमान्॥२४॥

कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका।
उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः॥ २५॥

उग्रसेनकी पाँच पुत्रियाँ भी हुईं—क
और राष्ट्रपालिका। इन सभीका विवाह वसुदेवक
देवभाग आदिसे हुआ॥२५॥

शूरो विदूरथादासीद्भजमानस्तु तत्सुतः।
शिनिस्तस्मात् स्वयं भोजो हृदिकस्तस्तुतो मतः॥ २६॥

चित्ररथका पुत्र था विदूरथ। विदूरथका शूर, शूरका भजमान, भजमानका शिनि और शिनिका पुत्र हुआ स्वयम्भोज। स्वयम्भोजसे हृदिकका जन्म हुआ॥२६॥

देवमीढः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्॥ २७॥

हृदिकक
और कृतवर्मा। देवमीढक
मारिषा थी॥२७॥

तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्॥ २८॥

सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि॥ २९॥

वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः॥ ३०॥
राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः।
कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात्॥ ३१॥

शूरसेनने अपनी पत्नी मारिषासे दस पुत्र उत्पन्न किये—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक। ये सभी पुत्र निष्पाप थे। वसुदेवक
देवताओंक
(भगवान् श्रीकृष्णक
विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह) श्रीवसुदेवको 'आनकदुन्दुभि' नामसे भी जाना जाता है। शूरसेनक
जिनक
राजाधिदेवी। शूरसेनक
वसुदेवक
दे दिया। इसीलिये पृथा 'क

साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतिं प्रतोषितात्।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिः॥ ३२॥

एक बार जब दुर्वासा ऋषि क
पुत्री क
उनसे 'देवहूति' अर्थात् देवताओंको बुलानेकी मन्त्रविद्या सीख ली। अपनी सीखी हुई विद्याकी परीक्षाक
द्वारा सूर्यदेवका आह्वान किया॥३२॥

तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा।
प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे॥ ३३॥

सूर्यदेवका आह्वान करते ही सूर्यदेव वहाँ उपस्थित हो गये। सूर्यदेवको वहाँ आया देखकर क
सूर्यदेवसे कहा—'हे सूर्यदेव! मैंने दुर्वासा ऋषिसे जो विद्या (देवहूति

नामकी एक विद्या अर्थात् देवताओंका आह्वान करनेक
मन्त्र-विशेष) सीखी थी, उसीकी परीक्षाक
किया था। अब आप लौट जाइये। आह्वानक
अपराध बन गया है, उसक
तो कन्या हूँ।'॥३३॥

अमोघं देवसन्दर्शमादधे त्वयि चात्मजम्।
योनिर्यथा न दुष्येत कर्त्ताहं ते सुमध्यमे॥ ३४॥

सूर्यदेवने कहा—'हे देवि! देवताओंका दर्शन कभी भी व्यर्थ नहीं होता। हे सुमध्यमे! अब मैं तुम्हारे गर्भमें अपना वीर्य स्थापित करूँगा, जिससे तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा। तुम एक कन्या हो, अविवाहिता हो। अतः तुम्हारी योनि दूषित न हो, इसकी व्यवस्था भी मैं कर दूँगा।'॥३४॥

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः।
सद्यः कुमारः सञ्जज्ञे द्वितीय इव भास्करः॥ ३५॥

यह कहकर सूर्यदेवने पृथाक
दिया और स्वर्ग चले गये। उसक
सुन्दर और परम तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया, जो दूसरे सूर्यक
समान ही जान पड़ता था॥३५॥

तं सात्यजन् नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डवै सत्यविक्रमः॥ ३६॥

क
यद्यपि उसे उस बालकका त्याग करनेमें बड़ा कष्ट हुआ, फिर भी उसने शिशुको एक पेटीमें बन्द करक
दिया। परीक्षित्! तुम्हारे प्रपितामाह (परदादा) पाण्डुका विवाह इन्हीं
क

श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत्।
यस्यामभूद्दन्तवक्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः॥ ३७॥

राजन्! क
राजा वृद्धशर्मासे हुआ था। श्रुतदेवाने ही दन्तवक्रको जन्म दिया था। यह दन्तवक्र पूर्व जन्ममें भगवान्का द्वारपाल विजय था और सनकादि ऋषियोंक
हुआ था। (वही हिरण्याक्ष इस समय दन्तवक्र है।)॥३७॥

कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्त्तिमविन्दत।
सन्तर्द्दनादयस्तस्यां पञ्चासन् कैकयाः सुताः॥ ३८॥

क
श्रुतकीर्तिक

राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत्॥ ३९॥

राजाधिदेवीका विवाह जयसेनसे हुआ और उसक
हुए—विन्द और अनुविन्द। ये दोनों अवन्तीक
दमघोषने श्रुतश्रवासे विवाह किया॥३९॥

शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः।
देवभागस्य कंसायां चित्रकेतु–बृहद्बलौ॥ ४०॥

श्रुतश्रवाका पुत्र शिशुपाल था। इसक
ही (सप्तम स्कन्धमें) बतला दिया है। देवभाग, जो वसुदेवजीक
भाइयोंमें–से एक थे, उनकी पत्नी क
दिया—चित्रक

कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा।
बकः कङ्कात् तु कङ्कायां सत्यजित् पुरुजित् तथा॥ ४१॥

वसुदेवजीक
था। क
या आनकने अपनी पत्नी क
सत्यजित् और पुरुजित्॥४१॥

सृञ्जयो राष्ट्रपाल्याञ्च वृषदुर्मर्षणादिकान्।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्याञ्च श्यामकः॥ ४२॥

राजा सृञ्जयने अपनी पत्नी राष्ट्रपालिकासे वृष, दुर्मर्षण आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। श्यामकने शूरभूमि (शूरभू)क
पुत्रोंको जन्म दिया—हरिक

मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सकस्तथा।
तक्षपुष्करशालादीन् दूर्वाक्ष्यां वृक आदधे॥ ४३॥

राजा वत्सकने मिश्रक
पुत्रोंको उत्पन्न किया। वृकने अपनी पत्नी दुर्वाक्ष्यासे तक्ष, पुष्कर और शाल आदि कई पुत्रोंको जन्म दिया॥४३॥

सुमित्रार्जुनपालादीन् समीकात् सुदामनी।
आनकः कर्णिकायां वै ऋतधामाजयावपि॥ ४४॥

समीककी पत्नी सुदामनीने सुमित्र, अर्जुनपाल आदि पुत्रोंको जन्म दिया। आनक द्वारा कर्णिकासे दो पुत्र हुए—ऋतधामा और जय॥४४॥

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला।
देवकी-प्रमुखाश्चासन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः॥ ४५॥

देवकी, पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना और इला आदि आनकदुन्दुभी वसुदेवजीकी पत्नियाँ थीं। इन सबमें देवकीजी प्रमुख थीं॥४५॥

बलं गदं सारणञ्च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम्।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादिनुदपादयत्॥ ४६॥

वसुदेवजीने रोहिणीसे बलराम, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्रोंको जन्म दिया॥४६॥

सुभद्रो भद्रबाहुश्च दुर्मदो भद्र एव च।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन्॥ ४७॥

नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः।
कौशल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम्॥ ४८॥

पौरवीने भूत, सुभद्र, भद्रबाहु, दुर्मद और भद्र आदि बारह पुत्रोंको उत्पन्न किया। मदिराक
आदि पुत्र हुए। कौशल्या(भद्रा)ने क
ही पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम था क

रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादयः।
इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत्॥ ४९॥

वसुदेवजीने अपनी पत्नी रोचनासे हस्त और हेमाङ्गद आदि तथा इलासे उरुवल्क आदि प्रधान यदुवंशी पुत्रोंको उत्पन्न किया॥४९॥

विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः।
शान्तिदेवात्मजा राजन् प्रशमप्रसितादयः॥ ५०॥

हे राजन्! आनकदुन्दुभि वसुदेवजीक
एक ही पुत्र हुआ, जिसका नाम था विपृष्ठ और उनकी शान्ति नामकी पत्नीसे प्रशम या श्रम और प्रसित या प्रतिश्रुत आदि कई पुत्र हुए॥५०॥

राजन्यकल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः॥ ५१॥

वसुदेवजीकी पत्नी उपदेवासे राजन्य, कल्प, वर्ष या कल्पवर्ष आदि दस पुत्र हुए और श्रीदेवासे वसु, हंस और सुवंश आदि छह पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया॥५१॥

देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया॥ ५२॥

वसुदेवजी द्वारा देवरक्षिताक
लिया। जैसे धर्मने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था, वैसे ही साक्षात् धर्मस्वरूप श्रीवसुदेवजीने सहदेवा नामकी अपनी पत्नीसे श्रुत, प्रवर आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये॥५२॥

प्रवरश्रुतमुख्यांश्च साक्षाद्धर्मो वसूनिव।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत्॥ ५३॥
कीर्त्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः।
ऋजुं सम्मर्द्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम्॥ ५४॥
अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल।
सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही॥ ५५॥

उदारचित्त वसुदेवजीने अपनी प्रमुख पत्नी देवकीसे भी आठ पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनक
सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र। सातवे पुत्रक
सङ्कर्षण(बलरामजी)का आविर्भाव हुआ और उनक
स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। हे राजन्! तुम्हारी परम सौभाग्यवती दादी सुभद्रा भी देवकीकी ही पुत्री थीं॥५३-५५॥

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥ ५६॥

जब-जब इस संसारमें धर्मका क्षय और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब सर्वनियन्ता भगवान् श्रीहरि दुष्ट व्यक्तियोंक
और साधुओंक

न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः॥ ५७॥

हे महीपते! माया-नियन्ता, परतत्त्व, संसाररूप दुःख-समुद्रमें पतित जीवोंक
जन्म और कर्मादि प्राकृत जीवोंक
जन्मोंक
अभिन्न विग्रहक
साधुओंक

यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते॥ ५८॥

आद्यपुरुषावतार कारणार्णवशायी भगवान् श्रीहरिकी मायाक
प्रति दृष्टि-शक्ति-सञ्चाररूप जो चेष्टा है, वह जीवोंकी सृष्टि,
स्थिति और प्रलयका कारण बनती है। भगवान्‌की जीवोंक
इस चेष्टाको उनका जीवोंपर अनुग्रह ही कहा जायेगा। उनकी
यह चेष्टा जन्म-मृत्युसे निवृत्ति करानेवाली और भगवत्-प्राप्ति
करानेवाली है॥५८॥

अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः।
भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः॥५९॥
कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरैः।
सहसङ्कर्षणश्चक्रे भगवान् मधुसूदनः॥६०॥

राजाओंक
अक्षौहिणी सेना एकत्रित करक
पृथ्वीका भार दूर करनेक
साथ अवतीर्ण होकर ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य किये, जिनक
ब्रह्मादि देवता अपने मनसे अनुमान भी नहीं कर सकते अर्थात्
ये कार्य उनकी भी समझ एवं तर्कसे परे हैं। भगवान् असुरोंका
वध करक
इस प्रकार वास्तवमें वे उनपर भी कृपा ही करते हैं॥५९-६०॥

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः॥६१॥

भगवान्‌ने अपने प्रकट-कालमें तो भक्तोंका उद्धार किया ही,
साथ ही कलियुगमें जन्म लेनेवाले जीवोंपर अनुग्रह करनेक
ऐसी तमोनाशिनी परमपवित्र कीर्त्तिका विस्तार किया, जिसका गान
एवं श्रवण करनेसे उनक
विनष्ट हो जाते हैं॥६१॥

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत्।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम्॥६२॥

भगवान् श्रीहरिका यश साधुओंक
लिये श्रेष्ठ तीर्थ यही है। एक बार भी यदि कान-रूपी अञ्जलिसे उसका पान कर लिया जाय अथवा उसका कर्णेन्द्रियसे एक बार भी स्पर्श हो जाय तो मनुष्य समस्त प्रकारकी कर्म-वासनाओं या बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥६२॥

भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।
श्लाघनीयेहितः शश्वत् कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः॥६३॥
स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ।
नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया॥६४॥

भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, क
पाण्डुक
करते थे। भगवान्ने अपनी प्रेमभरी मन्द-मन्द मुस्कान, स्निग्ध एवं सरस चितवन, प्रसादपूर्ण वचन, गोवर्धनधारण आदि वीररस एवं शौर्यकी प्रकाशक लीलाओंसे तथा अपने सर्वाङ्गसुन्दर विग्रहसे मनुष्यमात्रको आनन्द-सिन्धुमें आप्लावित कर दिया था॥६३-६४॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥६५॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णक
रहती थी। मकराकृत क
मनोहर लगते थे। इन क
हो उठते थे। औत्सुक्य, चापल्य आदि विलासक
हँसते तो नित्य-उत्सव-प्राकट्यकारी उनक
आनन्दकी सीमा ही न रहती। सभी नर-नारी बड़े आनन्दक
अपनी दृष्टि-रूपी-अञ्जलिसे उनकी माधुरीका निरन्तर पान करते, किन्तु अघाते न थे। भगवान्की

डालनेवाली पलकोंक
इस निमेष-क्रियाक

जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयन् जनेषु॥ ६६॥

लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेवजीक
परन्तु वहाँसे वे नन्दबाबाक
भक्तोंक
किया, जो समस्त पुरुषार्थोंकी शिरोमणि है। यहाँ पूतनादि शत्रुओंका संहार करनेक
मथुरा और द्वारका गये। द्वारकामें रहकर उन्होंने लोक-समाजमें बहुत-सी स्त्रियोंक
किये। ऐसा करक
किया। लोगोंमें अपनी वाणी-रूप श्रुतियोंकी मर्यादा स्थापित करनेक लिए उन्होंने कोई अन्य इज्यमान न रहनेक
द्वारा अपनी ही आराधना की॥६६॥

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्त्तने यदुवंशानुकीर्त्तनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।

भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-पाण्डवोंक
पृथ्वीक
दृष्टिसे ही युद्ध-स्थलमें स्थित आसुरी-सेनाका संहार कर दिया था,

तथापि सम्पूर्ण जगत्में ‘अर्जुनकी जय हो’ इस प्रकारका विजय घोष कर दिया। इसक
वैराग्य)का उपदेश देकर वे अपने स्वरूपसे ही अपने परमधाममें चले गये॥६७॥

इति श्रीमद्भागवतक
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमः स्कन्धः समाप्तः।

श्रीमद्भागवतम्

(तृतीय-खण्ड — दशम-स्कन्ध)

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास–प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(तृतीय–खण्ड — दशम–स्कन्ध)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य–केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीमद्भागवतम् (तृतीय-खण्ड — दशम-स्कन्ध)

रचयिता — श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास

सम्पादक — श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

प्रकाशक — गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, वृन्दावन, (उ॰प्र॰)

मुद्रक — फ़र्स्ट वर्ल्ड प्रिंट पैक एल॰एल॰पी॰, फरीदाबाद

प्रथम संस्करण — श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज एवं
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव-तिथि
७ नवम्बर, २०२१

ISBN: 978-81-950106-2-2

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ॰प्र॰) ९७१९०७०९३९
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ॰प्र॰) ९२१९४७८००१
३. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, गोवर्धन (उ॰प्र॰) (०५६५)२८१५६६८
४. श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ, जनकपुरी, नई दिल्ली ९५०१६५८२५७
५. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, नवद्वीप (प॰बं॰) ९०६४८५१२५८
६. श्रीगोपीनाथ-भवन, वृन्दावन (उ॰प्र॰) ९६३४५६३७३९
७. जयश्रीदामोदर गौड़ीय मठ, पुरी (ओड़िशा) ९७७६२३८३२८
८. श्रीराधे-कुञ्ज, वृन्दावन (उ॰प्र॰) ८७९१५५७२८०
९. श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ, फरीदाबाद (हरियाणा) ९९११२८३८६९

Please visit us at www.purebhakti.com & www.harikatha.com

समर्पण

भक्त–भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ–भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक–कामिनी–प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करनेवालोंके लिए पाषण्ड–गजैकसिंह–स्वरूप और शुद्ध–भागवत–परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप–उप–छलादि धर्मरूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत–अर्ककी प्रभा–राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुदेवकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादिका

श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्या'
एम॰ए॰ (संस्कृत) पी–एच॰डी॰

टंकण

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज
श्रीमान् अच्युतानन्द दासाधिकारी
श्रीमान् कमलाकान्त दासाधिकारी
श्रीमती वृन्दा देवी दासी

संयोजना

श्रीपाद भक्तिवेदान्त नारसिंह महाराज
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
डा॰ मधु खण्डेलवाल

विशेष सहयोग

श्रीमान् सुबलसखा दासाधिकारी
सुश्री राधिका खण्डेलवाल

प्रच्छद एवं अन्य चित्र

श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

ले–आउट

श्रीमती शान्ति दासी

कवर डिजाइन

श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा

श्रीमती सपना रमेश खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती ललिता अग्रवाल (मुम्बई), श्रीमती सुचित्रा देवी दासी (मुम्बई), श्रीमती विशाखा देवी दासी (मुम्बई), श्रीमती बरखा मयंक रावत (सिङ्गापुर) एवं धर्मेश पटेल इस गन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा–योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपा–भाजन हुए हैं।

विषय-सूची

❁ ❁ ❁

दशमः स्कन्धः

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
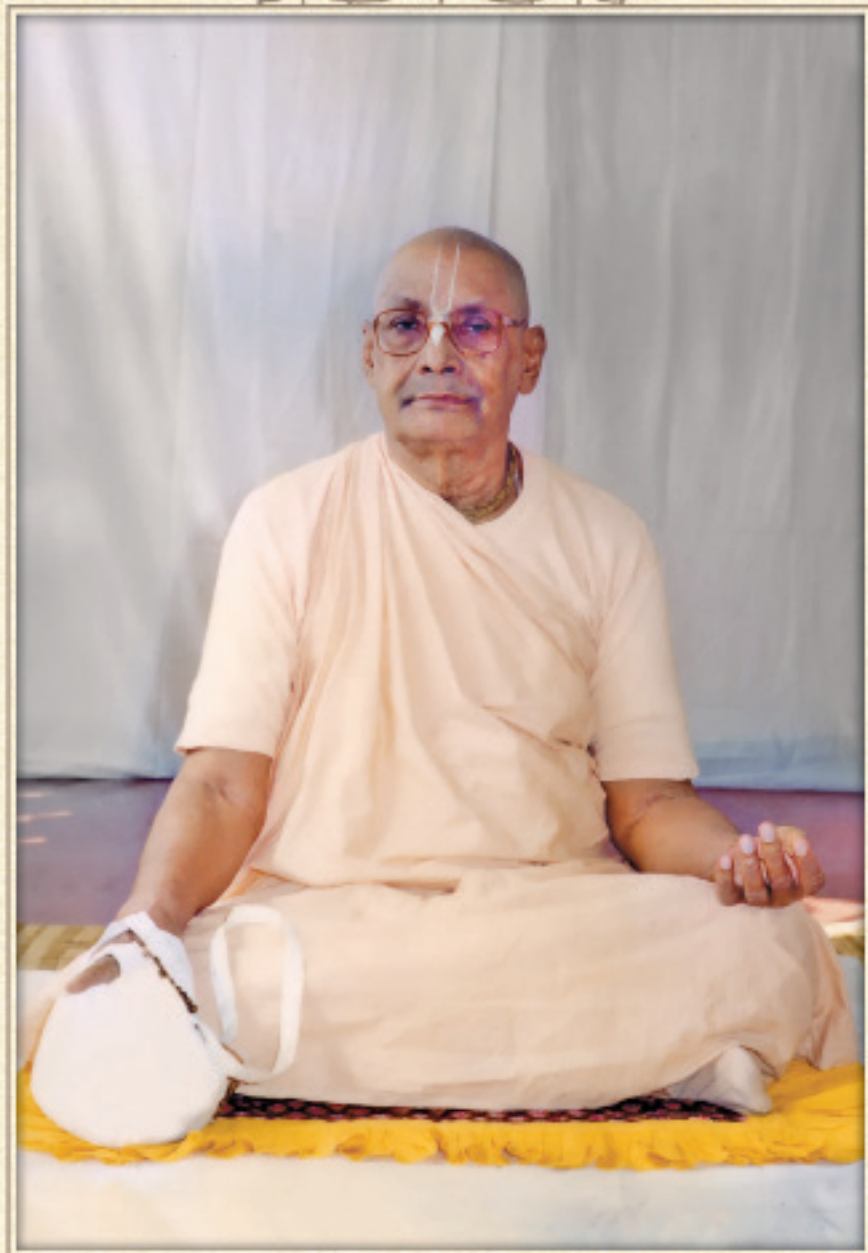
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज
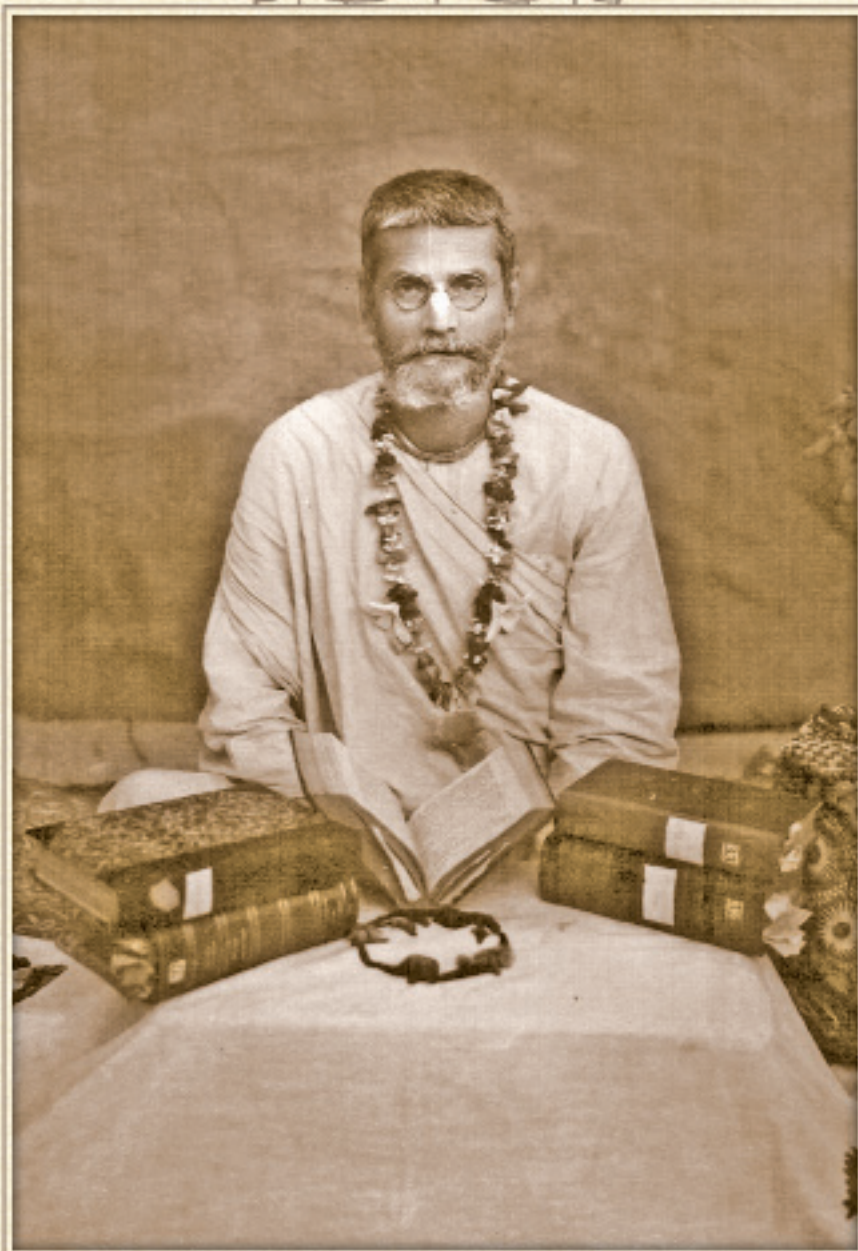
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज
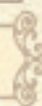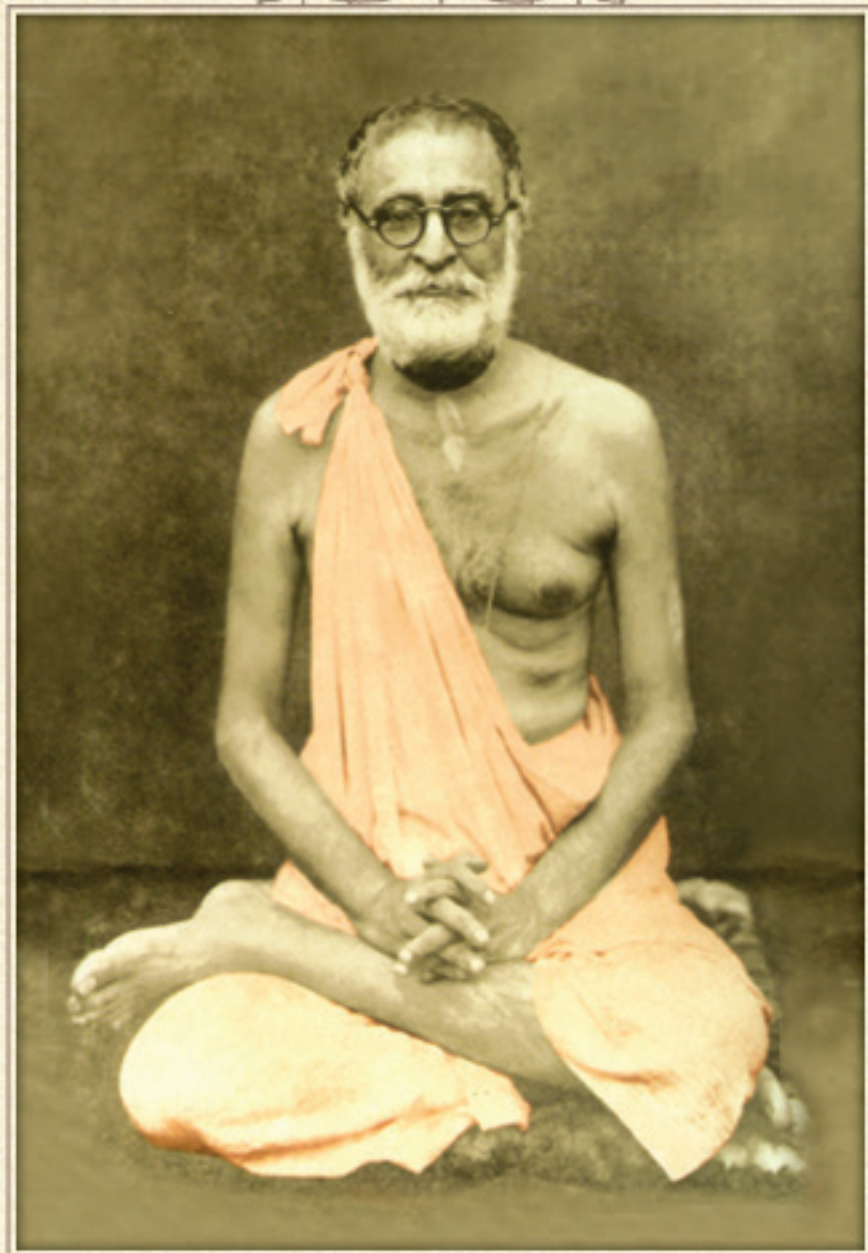
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

रसिककुल चूड़ामणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर

शिशु कृष्ण द्वारा शकटासुरका वध

श्रीगर्गाचार्य द्वारा कृष्ण–बलरामका नामकरण

श्रीवृन्दावनके निकुञ्जमें सखियों सहित श्रीश्रीराधाकृष्ण

दशम स्कन्धका कथासार

श्रीशुकदेव नवम स्कन्धमें चन्द्र-सूर्यवंशके विस्तृत विवरण-प्रसङ्गमें यदुवंश-परम्पराका वर्णन कर रहे थे कि महाराज परीक्षित् शुकदेवसे यदुकुलमें प्रकटित रामकृष्णकी भौम-लीलाको सुनानेका अनुरोध करने लगे। परीक्षित्‌ने बलदेव एवं कृष्णका जन्म-रहस्य, कृष्ण द्वारा कंस-वध, द्वारका-वासका काल-परिमाण एवं महिषियोंकी संख्या इत्यादि विषयमें बहुत-से प्रश्न किये। श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित्‌के प्रश्नोंकी प्रशंसा की। वे बतलाने लगे कि पृथ्वी दैत्योंके भारसे कातर होकर ब्रह्माके शरणागत हुई। ब्रह्मा देवताओंके साथ क्षीरसागरके तटपर जाकर विष्णुकी आराधना करने लगे। ब्रह्माने समाधिमें विष्णुकी आकाशवाणी सुनी कि मायाके साथ देवताओंको भी भगवान्‌के अवतरणके विषयमें बता दिया गया है तथा भगवान्‌के सन्तोष-विधानके लिए उन देवताओंको पत्नियोंके साथ यादव एवं पाण्डव-कुलमें जन्म लेनेका आदेश प्रदान कर दिया गया है।

वसुदेव देवकीके साथ विवाह करके लौट रहे थे, उस समय कंस अपनी बहन देवकीको प्रसन्न करनेके लिए वसुदेवके रथका सारथि बनकर रथ चलाने लगा। इसी अवसर पर आकाशवाणीसे देवकीके अष्टम गर्भजात पुत्रके द्वारा अपनी मृत्युकी भविष्यवाणी सुनकर कंस देवकीके वधके लिए उद्यत हो गया। वसुदेव कंसको नानाविध वचनोंसे सान्त्वना देनेमें असमर्थ रहे। तब उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे देवकीके पुत्रोंका जन्म होते ही उन्हें उसके हाथोंमें सौंप देंगे। इस प्रतिज्ञासे उन्होंने देवकीके प्राणोंकी रक्षा की। यथाकाल देवकीके प्रथम पुत्रने जन्म-ग्रहण किया। वसुदेव उसे कंसके हाथोंमें समर्पण करनेके लिए प्रस्तुत हुए। कंसने वसुदेवको उनका पुत्र लौटा दिया। तभी नारदजीने आकर कंसके निकट व्रजवासी

एवं वृष्णिवंशियोंके स्वरूपका परिचय दिया। कंस भी अपने पूर्वजन्मकी कथाको जानता था। अतः उसने वसुदेव और देवकीको कारागारमें बन्द कर दिया एवं क्रमशः देवकीके छह पुत्रोंको मार दिया। अपने पिता उग्रसेनको भी उसने कारागारमें आबद्ध कर दिया तथा यादवोंके साथ विरोध ठान लिया।

कंस जरासन्ध, अघ एवं बकादि असुरोंकी सहायतासे यादवोंकी हत्या करता रहा। वे भयभीत होकर विभिन्न राज्योंमें पलायन कर गये। भगवान् योगमायाको यशोदाके गर्भसे जन्म लेनेका एवं देवकीके सप्तम गर्भजात बलदेवको रोहिणीके गर्भमें स्थापन करनेका आदेश देकर स्वयं वसुदेवके चित्तसे देवकीके हृदयमें प्रविष्ट हो गये। माया द्वारा देवकीका गर्भ आकर्षित होनेपर नष्ट हो गया। देवकी इस कारण विलाप करने लगीं। भगवत्-उपस्थितिके कारण देवकीका तेजोमय रूप देखकर कंसने अपने विनाशकर्त्ता श्रीहरिके आविर्भावके विषयमें निश्चय कर लिया। वह हर क्षण शत्रुभावसे भगवत्-चिन्तनमें रत रहकर सम्पूर्ण जगत्को कृष्णमय देखने लगा। देवता देवकी गृहमें आकर विविध रहस्यपूर्ण वचनोंसे श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे।

भगवान् श्रीहरि देवकीके गर्भसे चतुर्भुज मूर्त्तिमें प्रकट हुए। वसुदेव एवं देवकी भगवान्की स्तुति करके उनसे अपने ऐश्वरिक रूपको गोपन करनेकी प्रार्थना करने लगे। भगवान्ने अपने स्वाभाविक द्विभुज रूपको प्रकट करके वसुदेव देवकीके पूर्वजन्मकी कथाका वर्णन किया। अनन्तर वसुदेव भगवत्-इच्छासे बन्धनसे मुक्त होकर कृष्णको नन्दव्रजमें यशोदाकी शय्यापर स्थापन करके यशोदाकी पुत्रीको लेकर लौट आये एवं पूर्ववत् बँध गये। भगवान्की मायाके प्रभावसे सोये हुए प्रहरीगण जाग गये और कन्याकी क्रन्दन-ध्वनि सुनकर देवकीके प्रसवका समाचार उन्होंने कंसके समीप ज्ञापन किया। कंस तत्क्षण ही सूतिकागृहमें आया और देवकीके अनुनय-विनयकी उपेक्षा करके उसने उस कन्याको उठा लिया। कंस कन्याको शिलापर फेंकना ही चाहता था कि

कन्या उसके हाथसे छूटकर अष्टभुजा मूर्त्तिमें प्रकाशित हो गयी एवं कंस–अन्तक (कंस–हन्ता) के अन्यत्र जन्मकी सूचना दे दी। कंस दैववाणीकी असत्यतासे विस्मित रह गया। उसने वसुदेव–देवकीको बन्धन मुक्त किया और देवकीकी सन्तति–नाशके लिए उनसे क्षमाकी प्रार्थना की। अनन्तर मन्त्रियोंके साथ परामर्श करके समस्त देवताओंके मूल—विष्णुके विरोधके उद्देश्यसे देव, ऋषि, गो, विप्र एवं नवजात शिशुओंकी हत्याके लिए अपने अनुचरोंको आदेश दे दिया।

महाराज नन्दने पुत्रके दर्शनसे आनन्दित होकर जातकर्मादि संस्कार सम्पादन किये। गोपोंको गोकुलकी रक्षाके लिए नियुक्त करके कंसको वार्षिक कर प्रदान करनेके लिए वे मथुरा पहुँचे। वसुदेवने नन्दका साक्षात् करके उनके सौभाग्यकी प्रशंसा की और व्रजकी कुशल–वार्त्ता पूछने लगे। नन्दने कुशलता बताकर देवकीके पुत्रोंके विनाशके लिए दुःख प्रकट किया और वसुदेवको सान्त्वना प्रदान की। वसुदेवने गोकुलमें उत्पातकी सम्भावना जानकर नन्दसे गोकुल लौट जानेके लिए कहा। नन्द महाराज वसुदेवसे विदा लेकर गोकुलकी ओर चल पड़े।

कंस द्वारा प्रेरित पूतना पुर, ग्राम, व्रजादिमें शिशुओंकी हत्या करती हुई भ्रमण किया करती थी। एक दिन पूतना परम सुन्दरी स्त्रीकी मूर्त्ति धारण करके भगवान्के समीप आयी और उन्हें गोदमें बिठाकर विष–ग्रसित (विषसे लेप किया हुआ) स्तन्य–पान कराने लगी। भगवान् जोर–से स्तनोंको दबाकर स्तन्य सहित पूतनाके प्राणोंका पान करने लगे। पूतनाने निजरूप धारण किया और प्राणहीन होकर गोष्ठके बाहर भूमिपर जा गिरी। गोपियोंने मृत राक्षसीके वक्षसे कृष्णको उठाया और रक्षाबन्धन करके यशोदाको अर्पण कर दिया। यशोदाने उस समय कृष्णको स्तन्य पान कराके सुला दिया। इसी अवसरपर नन्दादि गोप मथुरासे लौटे। पूतना–निधन एवं शिशुका कुशल–संवाद सुनकर वे आनन्दित हुए।

कृष्णकी तीन मासकी अवस्थामें यशोदाने पुरस्त्रियोंके साथ मिलकर विविध माङ्गलिक अनुष्ठानोंके साथ कृष्णका अभिषेक किया। तदनन्तर शिशुको निद्रित देखकर उन्होंने उसे शकटके नीचे सुला दिया और स्वयं उत्सव-कार्योंमें नियुक्त हो गयीं। कृष्णने रोदनके छलसे अपना एक पग ऊपर उछालकर शकटको विध्वस्त कर दिया। बालकोंसे शकट-भञ्जनकी बात सुनकर यशोदा आयीं और पुत्रको स्तन्य-पान कराने लगीं। उन्होंने ग्रह-शान्तिके लिए ब्राह्मणोंके द्वारा हवन आदिके अनुष्ठान एवं आशीर्वचनोंके उच्चारण करवाये।

जब कृष्ण एक वर्षके थे, तब यशोदाने अपनी गोदमें बैठे पुत्रको अत्यन्त भारी जानकर भूमिपर रख दिया और 'नारायण' का स्मरण करने लगीं। कंसके अनुचर तृणावर्त्तने चक्रवातके रूपमें आकर सम्पूर्ण गोकुलको धूलसे आच्छादित किया और शिशुका हरण कर लिया। अति दूर तक वहन करनेके कारण वह बालकको छोड़ना चाहता था, परन्तु कृष्णने उसे इस प्रकारसे गृहीत कर लिया कि वह मायावी असुर भूमिपर गिर पड़ा और पञ्चत्वको प्राप्त हो गया। यशोदादि व्रजाङ्गनाएँ दैत्यके वक्षःस्थलपर कृष्णको अक्षत देखकर अत्यन्त आनन्दसे विस्मित रह गयीं।

एक बार यशोदा कृष्णको स्तन्य-पान करा रही थीं कि इसी समय कृष्णने जँभाई ली। तब यशोदाको कृष्णके मुखमें आकाश, स्वर्ग इत्यादि चराचर सभी प्राणी दिखायी दिये। इससे उनका शरीर काँपने लगा। वे आँखें मूँदकर आश्चर्यचकित रह गयीं।

एक दिन वसुदेव द्वारा प्रेरित गर्गमुनि नन्दालय आये और उन्होंने कंसके भयके कारण गोपनरूपमें रामकृष्णका नामकरण किया। इस प्रसङ्गमें बलदेव, सङ्कर्षण, कृष्ण इत्यादि नामोंका तात्पर्य एवं कृष्णके चतुर्युगोचित वर्ण एवं गुण-कर्मके अनुसार अनन्त नामोंका उल्लेख करते हुए गर्गाचार्यने नन्दरायजीसे पुत्रका पालन सावधानीसे करनेके लिए कहा और उनसे विदा ली। तदनन्तर शुकदेवने कृष्ण-बलदेवका घुटनोंके बल चलना, माखन-

चोरी, दधिकी मटकी फोड़ना, गोपियोंका यशोदाके समीप अभियोग, यशोदाका डाँटना, कृष्णका मिट्टी खाना, मुखके अन्दर यशोदाको विश्वरूप-प्रदर्शन, उसे देखकर यशोदामें ऐश्वर्य-भावोदयके कारण सम्भ्रम-बुद्धि एवं योगमायाके प्रभावसे पुनः वात्सल्य-भावका प्रकाश, नन्द-यशोदाका द्रोण-धरा रूपमें जन्म एवं ब्रह्म-वरसे पुत्ररूपमें भगवान्‌की प्राप्ति इत्यादि प्रसङ्ग कहे।

एक दिवस यशोदा दधि-मन्थनमें लगी हुई थीं कि कृष्ण स्तन्य-पानके लिए आये और माताके कार्यमें बाधा देने लगे। माता स्नेहसे ओतप्रोत होकर कृष्णको स्तन्य-पान कराने लगीं, किन्तु दूधमें उफान आता देखकर कृष्णको भूमिपर बिठाकर दुग्ध-रक्षण हेतु चली गयीं। स्तन्य-पानसे अतृप्त रहनेके कारण कृष्णने क्रोधित होकर दधि-पात्रको तोड़ दिया और नवनीत (ताजा माखन) खाने लगे। लौटनेपर माताने दधि-पात्रको टूटा हुआ देखा, तो यह पुत्रका ही कार्य है—ऐसा अनुमान करके गृहमें प्रवेश किया। वहाँ कृष्णको उलटे ऊखलपर खड़े होकर चौकन्ने नेत्रोंसे इधर-उधर ताकते हुए एवं वानरोंको माखन बाँटते हुए देखने लगीं। माताको देखते ही कृष्ण ओखलीसे कूदकर भागने लगे। माता उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगीं और उन्हें पकड़ लिया। वे कृष्णको ऊखलसे बाँधनेके लिए उद्यत हुईं, परन्तु रस्सी दो अङ्गुल कम पड़ गयी। पुनः और रस्सियाँ लाकर उसमें जोड़ने लगीं, परन्तु हर बार वे रस्सियाँ दो अङ्गुल कम पड़ती गयीं। इस प्रकार जितनी बार रस्सी लातीं, उतनी बार दो अङ्गुल कम पड़ जाती। अन्तमें माताको थकी हुई देखकर कृष्ण स्वयं बन्धनमें आ गये। अनन्तर माता घरके कार्योंमें व्यस्त हो गयीं। इधर नारद-शापसे यमलार्जुनके रूपमें परिणत कुबेरके दोनों पुत्रोंके प्रति कृष्णकी दृष्टि पड़ी।

ऐश्वर्य-मदसे मत्त कुबेरके दोनों पुत्र मन्दाकिनीमें विवस्त्र होकर स्त्रियोंके साथ विहार कर रहे थे, उसी समय वहाँ देवर्षि नारदका आगमन हुआ, किन्तु नारदजीको देखकर भी कामासक्त

इन दोनोंमें चेतनाका उदय नहीं हुआ। देवर्षि नारदने उनका ऐश्वर्याभिमान दूर करनेके लिए उन्हें आच्छादित-चेतन स्थावर-देह-प्राप्तिका अभिसम्पात दे दिया। इस कारण वे गोकुलमें यमलार्जुन वृक्षरूपमें परिणत हो गये। "देवताओंके सौ वर्ष बाद वे पापसे मुक्त हो जायेंगे"—नारदके इस वचनको सत्य करनेके लिए निर्दिष्ट कालके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण ऊखलको खींचते हुए वहाँ पहुँचे और ऊखलसे (वृक्षोंके बीचमें अटक जानेसे ऊखल टेढ़ा हो गया था) दोनों वृक्ष उखाड़ दिये। कुबेरके दोनों पुत्रोंने दिव्य देह प्राप्त करके कृष्णकी स्तुति एवं परिक्रमा की और उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान कर गये।

यमलार्जुनके गिरनेसे जो शब्द हुआ, उसे सुनकर नन्दादि गोपोंको लगा कि कहीं बिजली तो नहीं गिर गयी, अतः नन्दादि गोप वहाँ पहुँचे। उन्होंने वहाँ श्रीकृष्णको ऊखलसे बँधे हुए देखा। गोपबालकोंसे (यमलार्जुन-भञ्जनकी) पूरी बात सुनकर भी नन्दादि गोपोंको कृष्णके ऐश्वर्य-ज्ञानसे रहित होनेके कारण उसपर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कृष्णको बन्धनसे मुक्त कर दिया।

एक दिन एक फल बेचनेवाली आयी। तब कृष्ण अपने छोटे-छोटे हाथोंमें धान्य लेकर उसके पास पहुँचे तथा फलकी प्रार्थना करने लगे। उसने कृष्णके दोनों हाथोंको फलोंसे भर दिया और कृष्णने उसके फलकी टोकरीको रत्नोंसे पूर्ण कर दिया।

गोकुलमें नाना प्रकारके उत्पात देखकर नन्दादि गोपगण गोकुलका परित्याग करके वृन्दावनमें पहुँचे। एक दिन राम-कृष्ण यमुनाके किनारे गोचारणमें संलग्न थे कि उन्हें मारनेके लिए वत्सासुर बछड़ोंके झुण्डमें प्रवेश कर गया। कृष्णने उसके दोनों पैरोंके साथ उसकी पूँछको पकड़ा और उसे घुमाते-घुमाते उसके प्राण निकाल दिये। एक दिन बछड़ोंको जलपान करानेके लिए कृष्ण जलाशयमें गये और बकरूपी असुरको देखा। बकासुर

कृष्णको देखते ही उन्हें निगल गया। कृष्ण उसके उदरस्थ होकर उसके तालू-मूलको आगसे जलाने लगे। बक इस तापको सहन नहीं कर पाया। उसने कृष्णको उगल दिया। भगवान् श्रीकृष्णने उसे चोंचसे पकड़कर चीर डाला।

एक बार कृष्ण वन-भोजनकी आशासे बालकोंके साथ वनमें पहुँचे। वे वन-विहारमें तल्लीन हो गये कि अघासुरने वहाँ उपस्थित होकर अजगरकी देह धारण की और मुख खोलकर सो गया। कृष्णके सङ्गी-बालक गोवत्सोंके साथ असुरके मुखमें घुस गये। कृष्ण उनके उद्धारके लिए अजगरके पेटमें घुसकर अपने शरीरको बढ़ाने लगे, जिससे उसका वायु-निर्गमन पथ बन्द हो गया और असुरकी मृत्यु हो गयी।

अघासुरके वधके बाद भगवान् श्रीकृष्ण बालकोंके साथ यमुना-पुलिनपर आये और भोजन करनेमें व्यस्त हो गये। बछड़े घास चरते-चरते दूर स्थानपर चले गये। श्रीकृष्ण साथियोंकी व्याकुलता देखकर बछड़ोंको खोजनेके लिए चल दिये। ब्रह्माने भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखनेकी इच्छासे जैसे बछड़ोंको दूसरे स्थानपर रख दिया था, उसी प्रकार बालकोंको भी स्थानान्तरित कर दिया। कृष्ण जान गये कि यह ब्रह्माका कार्य है। अतः वे स्वयं वत्स एवं बालकरूपमें पूर्ववत् लीला करने लगे। प्रायः एक वर्ष होनेको आया कि बलदेवने गोवत्स एवं बालकोंको कृष्णरूपमें देखा, तो उसका कारण पूछने लगे। कृष्णने उन्हें सम्पूर्ण रहस्य बतला दिया। ब्रह्माके अपने काल-परिमाणसे एक त्रुटि समय ही व्यतीत हुआ था (मानव परिमाणसे एक वर्ष बीता था) कि वे पुनः वहाँ आये। उन्होंने भगवान् श्रीहरिको गोवत्स एवं गोपबालकोंके साथ क्रीड़ारत देखा एवं निज अपहृत बालकोंको उसी पूर्व स्थानमें अवस्थित देखा, तो सत्यका निर्धारण करनेमें असमर्थ हो गये। इसी समय अपने सम्मुख गोवत्स एवं बालकोंको चतुर्भुज श्यामसुन्दररूपमें देखनेपर ब्रह्मा मोहग्रस्त हो गये। कृष्णने यह जानकर अपनी मायाको गोपन कर लिया। ब्रह्मा बाह्य-चेतनाको

प्राप्त हुए, तो कृष्णको पूर्ववत् भोजनरत देखा। तब वे कृष्णके चरणकमलोंमें प्रणत हो गये और उनकी स्तुति करने लगे। अनन्तर कृष्णके अनुमोदनसे अपने धामको चले गये।

राम-कृष्णकी पौगण्ड-लीला-कालमें एक दिन श्रीदामादि गोप-बालकोंने उन दोनोंको सुस्वादु तालफलसे पूर्ण तालवन एवं वहाँ स्थित कंसके अनुचर धेनुकासुरके बारेमें बताया। राम-कृष्ण उस स्थानपर उपस्थित हुए। बलदेवने तालवृक्षको बहुत जोरसे हिलाया, जिससे उसके बहुत सारे फल नीचे गिर गये। तभी गधा-रूपधारी धेनुकने बलदेवपर आक्रमण कर दिया। बलदेवने धेनुकासुरके पीछेवाले दोनों पैरोंको पकड़कर घुमाते हुए उसे तालवृक्षके ऊपर पटक दिया, इससे असुरने अपने प्राण त्याग दिये। धेनुकके भाई-बन्धुओंने क्रोधमें भरकर बलदेवपर आक्रमण किया। बलदेवने उन सबको मार गिराया।

एक दिन कृष्ण-बलदेवके बिना ही अपने सखाओंको लेकर गोचारणके लिए यमुना तट पहुँचे। गायोंके साथ गोपालगण यमुनाके विषैले जलका पान करके मूर्च्छित होकर नदीके तटपर ही गिर पड़े। कृष्णने अमृत-वर्षिणी दृष्टि द्वारा सभीको जीवन-दान दिया एवं विषैले जलको शुद्ध करनेके लिए ह्रदमें कूद पड़े। कालिन्दी-ह्रदमें वे निर्भय होकर विहार करने लगे। कालियने जब अपने भवनपर आक्रमण देखा, तो वह कृष्णपर टूट पड़ा। कृष्ण कालियके फनके ऊपर नृत्य करते-करते उसके सहस्र फनोंको निपीड़ित करने लगे। इससे कालिय अचेतनप्राय हो गया। नागपत्नियाँ स्तुति करने लगीं। उनकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने कालियको प्राणोंकी भिक्षा दी तथा यमुना छोड़कर रमणकद्वीप जानेका आदेश दिया।

रमणकद्वीपस्थ नागगण आत्म-रक्षाके लिए गरुडजीको प्रत्येक मासकी अमावस्या एवं पूर्णिमाको बलि प्रदान करते थे, किन्तु कालिय गरुडजीको वह बलि न देकर उसे स्वयं खा लेता था। गरुडजीको जब यह पता चला, तब उन्होंने कालियपर आक्रमण

कर दिया। कालिय गरुडजीके प्रहारोंसे आहत होकर उनके द्वारा अगम्य यमुनामें प्रवेश कर गया। एक दिन गरुडजीने सौभरि मुनिके निषेध करनेपर भी यमुनामें मत्स्यका भक्षण कर लिया, तब उन्होंने गरुडको अभिशाप प्रदान किया कि गरुड यमुनाका जल स्पर्श करते ही मृत्युको प्राप्त हो जायेंगे। कालिय यह बात जानता था, इसलिए निर्भय होकर वहाँ रहने लगा। श्रीकृष्ण कालियको यमुनासे निकाल कर स्वयं ह्रदसे बाहर आ गये। भूखे और प्यासे व्रजवासियोंने वह रात्रि कालिन्दीके तटपर ही बितायी। मध्यरात्रिमें दावानल प्रज्वलित हो उठा और उसने व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। कृष्णने उस दावानलका पान कर लिया।

एक दिन राम–कृष्ण एवं गोपगण क्रीड़ामें प्रमत्त हो रहे थे कि प्रलम्बासुर गोपवेशमें वहाँ प्रवेश कर गया। कृष्ण यह जान गये और उन्होंने यूथ–क्रीड़ाका प्रस्ताव रखा। इसमें पण (बाजी) इस प्रकार रखा गया कि हारनेवाला व्यक्ति जीतनेवालेको अपने कन्धेपर वहन करेगा। प्रलम्बासुर पराजित होकर बलदेवको अपने कन्धेपर वहन करते हुए लक्ष्यस्थलसे बहुत दूर ले गया और कृष्णके बहुत दूर रहते उसने अपना स्वरूप प्रकट कर दिया। बलदेवने उसे देखकर मुट्ठियोंसे उसके मस्तकपर बहुत प्रहार किये, इससे वह मृत्युको प्राप्त हो गया।

और एक बार गोपबालक खेलनेमें लीन हो गये, उधर गौएँ बहुत दूर एक गहन एवं दुर्गम वनमें घुस गयीं। वनमें दावानल फैल गया और गौएँ उससे सन्तप्त होकर इषिकावनमें घुस गयीं। गोपबालक उन्हें खोजते हुए शरवन पहुँचे। गोधनका उद्धार करनेके लिए एवं दावानलसे सन्तप्त होनेके कारण वे अपनी रक्षाके लिए कृष्णके शरणागत हुए। भगवान्ने उन्हें आँखें बन्द करनेका आदेश दिया और क्षणभरमें दावानल पान कर लिया।

श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ गोचारणके लिए अरण्यमें जाते और वंशीनाद करते। कामभाव जाग्रत करनेवाले वेणुगीतको

सुनकर गोपियाँ सखियोंके साथ कृष्णकी लीलाओंका कीर्त्तन करतीं।

गोपियाँ कृष्ण-गुण-गान करते-करते यमुना-तटपर जातीं और स्नानके बाद कृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेकी आशासे कात्यायनीका अर्चन करतीं। इस प्रकार उन्होंने एक मास तक व्रतका अनुष्ठान किया। वे नदीके किनारे वस्त्र रखतीं और यमुनामें विहार करने लगतीं। इसी अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण आये और उनके समस्त वस्त्रोंको लेकर यमुना-तटपर स्थित कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये। कन्याओंको व्रतकी सफलताके लिए उत्कण्ठित जानकर कृष्णने किनारेपर आकर उन्हें वस्त्र ग्रहण करनेका आदेश दिया। कुमारियोंने कपट क्रोध करके राजभयका प्रदर्शन किया और वस्त्रोंकी प्रार्थना की। कृष्णने ऐसी बातोंपर ध्यान न देकर किनारे पर आनेका आदेश दिया। तब कुमारियाँ अपनी लज्जाकी रक्षा करती हुईं जलसे निकलीं। इसपर कृष्णने उन्हें व्रत-भङ्गका डर दिखाया और उसके निवारण हेतु हाथ जोड़कर प्रणाम करनेका आदेश दिया। गोपियोंने सर्वकर्मफलदाता कृष्णको प्रणाम किया। श्रीकृष्णने उन्हें सभी वस्त्र प्रदान कर दिये। उस स्थानका परित्याग करनेकी गोपियोंकी इच्छा नहीं थी। भगवान्ने उन्हें अभीष्ट-सिद्धिका वर प्रदान किया। गोपियोंके मनोरथ पूर्ण हुए और वे व्रजमें लौट आयीं। अनन्तर कृष्ण सखाओंके साथ गोचारणके लिए दूर स्थानपर चले गये। ग्रीष्मसे सन्तप्त होकर उन सबने वृक्षके नीचे आश्रय लिया। छाया-फलादि-प्रदान द्वारा श्रीकृष्णने वृक्षोंकी परोपकार-वृत्तिका दृष्टान्त देते हुए शिक्षा दी कि देही मात्रको प्राण, अर्थ, बुद्धि एवं वचनों द्वारा सबका कल्याण अर्थात् श्रेय-आचरण करना चाहिये।

गोचारणरत गोपालोंने श्रीकृष्णके निकट भोज्यकी प्रार्थना की। उन्होंने गोपालोंको याज्ञिक विप्रोंके पास अन्नकी प्रार्थनाके लिए भेजा। याज्ञिक विप्रोंके द्वारा प्रत्याख्यात होनेपर उन्होंने उन्हें विप्र-पत्नियोंके पास भेजा। कृष्ण-गुणोंसे आकर्षित विप्र-पत्नियाँ

कृष्णके भोज्य-प्रार्थना-वचनोंको सुनते ही चार प्रकारके अन्नको लेकर उनके समीप उपस्थित हुईं। कृष्णके आदेशसे वे पुनः लौट आयीं। विप्रोंने अनुशोचना करके अपने-अपने त्रिविध-संस्कार-युक्त विप्रजन्मसे संस्कार-विहीन पत्नियोंकी अधिक श्रेष्ठता स्थापित करते हुए कृष्णके उद्देश्यसे उनको प्रणाम किया।

एक बार श्रीकृष्णने गोपोंका इन्द्र-यज्ञके लिए उद्यम देखकर इन्द्र-पूजाकी निष्फलता एवं इन्द्रकी असमर्थता दिखाकर गोवर्द्धन-पूजाकी व्यवस्था की। उन्होंने इन्द्र-याग हेतु संग्रहीत द्रव्योंके द्वारा गोवर्द्धनकी पूजा कराके और स्वयं अभिनव रूप धारण करके गोवर्द्धनको निवेदित नैवेद्य आदिका भोजन किया।

यज्ञ-भङ्गसे क्रोधित देवराज वारि-वर्षण एवं शिला-वृष्टि द्वारा व्रजवासियोंको उत्पीड़ित करने लगे। तब कृष्णने वामहस्तपर गोवर्द्धन-गिरिको उठा लिया और उसके गर्त्तमें पशुओंके साथ गोपोंको आश्रय प्रदान किया। एक सप्ताह तक कृष्ण गिरिराजको धारण किये रहे। अब इन्द्रको कृष्णका प्रभाव ज्ञात हुआ। उसने मेघोंको निरस्त कर दिया। गोपादि सभी गिरि-गर्भसे बाहर आये।

गोपगण कृष्णकी अद्भुत लीलाओं एवं गोप-गोपियोंके कृष्णानुरागको देखकर कृष्णके 'सामान्य गोपबालक' मात्र परिचयपर सन्देह करने लगे। उन लोगोंने नन्दबाबासे कहा कि वे गर्ग मुनि द्वारा कथित सम्पूर्ण विषयोंका उनके समीप वर्णन करें। कृष्णमें नारायणकी शक्तिका आवेश जानकर नन्दके साथ उन सबने कृष्णकी पूजा की।

गोवर्द्धन-धारणसे कृष्णको क्लान्ति हुई होगी—ऐसा सोचकर इन्द्र सिर झुकाये कृष्णके समीप आये और अपराध-क्षमाके लिए प्रणाम एवं स्तुति करने लगे। कृष्णने इन्द्रको अपने पदपर अभिमान-रहित होकर अधिष्ठित रहनेके लिए कहा। इन्द्रने सुरभिके साथ आकर आकाशगङ्गाके जल एवं सुरभि-दुग्ध द्वारा कृष्णका अभिषेक करके उन्हें 'गोविन्द' नाम प्रदान किया।

एक बार गोपराज नन्दने एकादशी तिथिपर उपवास किया। रात्रि समाप्त हुई जानकर वे आसुरी बेलामें ही स्नानके लिए यमुनामें प्रविष्ट हो गये। वरुणके भृत्य उन्हें वरुणालय ले गये। कृष्ण जान गये कि यह वरुणका कार्य है, तो वे वहाँ पहुँचे। वरुण श्रीकृष्णकी पूजा करके भृत्यकृत अपराधके लिए क्षमा प्रार्थना करने लगे। गोपराज नन्द कृष्णके प्रभावको देखकर आश्चर्यचकित हो गये और अपने सगे-सम्बन्धियोंको इस विषयमें बताने लगे। उन्होंने कृष्णको 'स्वयं-भगवान्' जानकर परमपद-दर्शनकी अभिलाषा की। कृष्णने उन्हें ब्रह्म-ह्रदमें स्नान कराके ब्रह्मलोकका दर्शन करा दिया।

भगवान् श्रीकृष्णने शारदीय रात्रिमें रासक्रीड़ाकी इच्छासे वंशी-ध्वनि की। गोपियाँ अपने-अपने कार्योंको छोड़कर कृष्णके समीप उपस्थित हो गयीं। कृष्णने उपहास करते हुए उन्हें लौटनेका आदेश दिया। वे लौटीं तो नहीं, अपने विरह-सन्तापको दूर करनेके लिए कातरतापूर्वक कृष्णसे अनुरोध करने लगीं। कृष्णने विविध-क्रीड़ाओं द्वारा उनका आनन्द विधान किया, जिससे उन्हें गर्व हो आया। तब कृष्ण उनका गर्व दूर करनेके लिए रासस्थलीसे अदृश्य हो गये।

रासस्थलीसे कृष्णके अन्तर्धान होनेपर गोपियाँ उनके चिन्तनमें डूबकर गान करती हुईं स्थावर, जङ्गम सभीसे कृष्णके विषयमें पूछने लगीं। कृष्णको खोजतीं-खोजतीं वे अति विह्वल एवं कातर हो पड़ीं तथा कृष्ण-लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। वन-प्रदेशमें भ्रमण करती हुईं उन्होंने भूमिपर कृष्णके साथ श्रीराधाके पदचिह्नोंका दर्शन किया और श्रीराधाजीके सौभाग्यकी प्रशंसा करने लगीं। इधर श्रीराधाजीने अकेले ही कृष्ण-सङ्गकी प्राप्तिसे अपनेको अधिक सौभाग्यवती मानकर आगे चलनेकी असमर्थता कृष्णको बतायी। श्रीकृष्णके स्कन्धपर आरोहण करनेकी इच्छा प्रकट करनेपर कृष्ण अदृश्य हो गये। उस समय श्रीराधा-कृष्णके अनुसन्धानमें रत सखियोंके साथ मिलकर स्वयं भी कृष्णको ढूँढ़ने

लगीं, किन्तु उसमें असफल होनेके कारण यमुना-तटपर लौट आयीं और कृष्णका गुणगान करने लगीं।

कृष्णगतप्राण गोपियाँ विविध आर्त्ति-वचनोंसे कृष्ण-कृपाकी प्रार्थना करने लगीं, तब कृष्ण उनके निकट आविर्भूत हो गये। कृष्ण-दर्शनसे अत्यन्त आनन्दपूर्वक गोपियाँ विविध प्रकारसे कृष्णकी सेवा करने लगीं। कृष्णने उनके साथ रासक्रीड़ा प्रारम्भ कर दी तथा गोपियोंके साथ प्रश्नोत्तरमें अपनी भक्तवश्यता प्रकाशित की।

यमुना-तटपर श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके मध्य एक-एक मूर्त्ति प्रकट करके रासक्रीड़ा करने लगे। कृष्णगतप्राणा गोपियाँ नृत्य, गीतादिके द्वारा कृष्णको प्रसन्न करनेमें लग गयीं। जब वे नृत्यादिसे क्लान्त हो गयीं, तब कृष्णने अङ्ग-आलिङ्गन आदि द्वारा उनकी श्रान्तिको दूर किया। जैसे बालक निज प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार कृष्णने भी अपनेसे अभिन्न गोपियोंके साथ क्रीड़ा की। गोपियोंके साथ कृष्णकी लम्पटोचित कामक्रीड़ाकी कथा सुनकर परीक्षित्‌को सन्देह हुआ, तो श्रीशुकदेवने बताया कि सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णकी यह क्रीड़ा दोषजनक नहीं है। यदि कोई इन लीलाओंका अनुकरण करेगा, तो उसका अमङ्गल अवश्यम्भावी है। गोपियोंकी कृष्णानुरक्तिके विषयमें श्रवणसे जीवकी भोग-वासना नष्ट हो जाती है और सेवा-प्रवृत्ति उदित हो जाती है।

नन्दप्रमुख गोपवृन्द शिवपूजाके उपलक्ष्यमें अम्बिकावन पहुँचे। शिव-पूजा करनेके बाद उन्होंने रात्रि वहीं व्यतीत कर दी। एक क्षुधातुर सर्पने आकर नन्दको ग्रस लिया। गोपगण सर्पको भगानेमें असमर्थ होकर कृष्णके शरणागत हो गये। कृष्णने अपने चरणसे सर्पका स्पर्श किया। सर्पने तत्क्षण ही अपनी देहको छोड़कर विद्याधर देहको प्राप्त किया। कृष्णके पूछनेपर उसने अङ्गिरा-गोत्रमें उत्पन्न ऋषियोंकी अवज्ञाके फलस्वरूप सर्प-योनि-प्राप्तिके विषयमें वर्णन करते हुए सुदर्शन नामक विद्याधरके रूपमें अपना परिचय

प्रदान किया एवं कृष्णकी अनुमति प्राप्त करके अपने स्थानपर प्रस्थान किया।

दोल पूर्णिमाके दिवसपर राम एवं कृष्ण व्रजनारियोंके साथ वनमें विहार करने लगे। कुबेरका अनुचर शंखचूड़ गोपियोंको लेकर उत्तर दिशाकी ओर भाग चला। गोपियाँ कातरतापूर्वक विलाप करने लगीं, तब राम-कृष्ण उसके समीप पहुँचे। उस समय शंखचूड़ प्राण-भयसे पलायन करने लगा। श्रीकृष्णने उसका अनुसरण करते हुए उसका वध कर दिया और उसके मस्तकसे मणि निकालकर बलदेवको अर्पण कर दी।

श्रीकृष्ण जब गोचारणके लिए जाते, तब उनके ध्यानमें मग्न गोपियाँ कृष्णलीलाका गान करती हुईं कृष्ण-विरहमें अति कष्टसे दिन यापन करती थीं।

अरिष्टासुर रामकृष्णको मारनेके लिए कृष्णरूप धारण करके गोष्ठमें आया। कृष्णने उसके दोनों सींगोंको पकड़ा और उसे भूमिपर गिरा दिया, जिससे वह मर गया। उसके बाद देवर्षि नारदने कंसके समीप राम-कृष्णका वास्तविक परिचय प्रदान किया। कंसने राम-कृष्णको बुलानेके लिए अक्रूरजीको भेजा।

कंस द्वारा प्रेरित केशी दानव अश्व-मूर्त्ति धारण करके कृष्णके समीप पहुँचा। कृष्णने उसके दोनों पिछले पैरोंको पकड़कर बहुत दूर फेंक दिया और उसके मुखके भीतर अपना हाथ डालकर उसके साँसके आने-जानेके मार्गको रोककर उस दैत्यका वध कर दिया। इसके बाद देवर्षि नारद कृष्णके समीप गये और उनकी स्तुति करके तथा उन्हें प्रणाम करके वहाँसे चले गये। राम-कृष्ण गोप-बालकोंके साथ लुका-छिपी खेलने लगे। इस खेलमें कोई भेड़, कोई उन भेड़ोंका चरवाहा तथा कोई चोर बन गया और भेड़-चोरी आदि खेलोंमें रम गये। इतनेमें ही व्योमासुर गोपालवेशमें चोरोंके दलमें मिल गया और गोपालोंका अपहरण करके उन्हें पर्वतकी गुफामें बन्द कर दिया। श्रीकृष्ण

व्योमासुरके दुष्कर्मको जान गये और उन्होंने पशुके समान उसका गला घोंटकर उसे मार दिया।

राम-कृष्णको लानेके लिए कंस द्वारा प्रेरित होकर अक्रूरने गोकुलकी यात्रा की। कृष्ण-दर्शन होंगे या नहीं—इस विषयमें वे सन्दिग्धभावसे चलते जा रहे थे। सूर्यास्तके समय वे गोष्ठपर पहुँचे और अभिभूत होकर व्रजकी रजपर लोटने लगे। अनन्तर व्रजमें प्रवेश किया। राम-कृष्णने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। अक्रूरने राम-कृष्ण एवं नन्द द्वारा विविध प्रकारसे सत्कार प्राप्त किया।

सान्ध्य-भोजनके बाद श्रीकृष्णने अक्रूरजीसे कुशल-मङ्गल पूछा तथा आत्मीयोंके प्रति कंसके व्यवहारके विषयमें जानना चाहा। उन्होंने अक्रूरके आगमनका कारण भी पूछा। अक्रूरने कंसके सभी कलुषित अभिप्राय कृष्णके समीप प्रकाशित कर दिये। राम-कृष्ण पिताके समीप आये और हँसते हुए कंसका आदेश बतलाया। गोपराज नन्दने गोकुलवासियोंको भेंट सामग्रीके साथ कंसके पास जानेकी घोषणा कर दी। गोपियाँ कृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर अत्यन्त व्यथित हो गयीं। वे विधाता एवं अक्रूरजीकी निन्दा करने लगीं और कृष्णका नाम ले-लेकर रोने लगीं।

गोपियाँ रोती रहीं और अक्रूर रथ चलाते रहे। गोकुलवासी शकटपर चढ़कर रथके पीछे-पीछे आने लगे। गोपवधुओंने कुछ दूर तक रथका अनुगमन किया। श्रीकृष्णने शीघ्र ही लौट आनेकी बात कहकर उन्हें सान्त्वना प्रदान की। जहाँ तक रथकी ध्वजा दिखायी दी, वे मूर्त्तियोंके समान खड़ी रहीं। अनन्तर घर लौट आयीं।

अक्रूरने कालिन्दीके किनारेपर रथ रोका। राम-कृष्णने यमुना-जलका पान एवं आचमनादि सम्पन्न किये। अक्रूरने राम-कृष्णकी आज्ञासे कालिन्दी-ह्रदमें स्नान किया और प्रणवका जाप करते हुए जलके मध्य राम-कृष्णके दर्शन किये। इससे

विस्मित होकर अक्रूर जलसे ऊपर उठे तथा रथके ऊपर राम-कृष्णको देखकर पुनः जलमग्न हुए। अनन्तदेवकी क्रोड़में पार्षदोंसे वेष्टित वासुदेवका दर्शन करके अक्रूर बड़े प्रेमके साथ उनकी स्तुति करने लगे।

श्रीकृष्णने अक्रूरको स्वमूर्त्ति दिखाकर उसे गोपन कर लिया। अक्रूर सविस्मय कृष्णके समीप आये और कृष्ण-दर्शन-विषयमें कृष्णके प्रश्नके उत्तरमें बताया कि स्थावर-जङ्गम सभीमें कृष्ण विद्यमान हैं। इसके बाद वे रथ चलाते हुए अपराह्णमें मथुरा पहुँचे। उनसे पहले ही मथुरा पहुँचे हुए नन्दादिसे वे मिलने गये। तदनन्तर गोपोंके साथ मथुरापुरीकी शोभा देखनेके लिए निकले। पुर-स्त्रियाँ अपने-अपने कार्यों एवं वेश-विन्यास आदिका परित्याग करके कृष्ण-दर्शनके लिए अटारियों पर चढ़ गयीं। कोई-कोई द्वारके बाहर आकर राम-कृष्णके ऊपर पुष्प-वर्षा करने लगीं तथा अन्य राम-कृष्णके निरन्तर दर्शनकी प्राप्तिके सौभाग्यके कारण गोपियोंकी प्रशंसा करने लगीं। कृष्णने कंसके धोबीसे वस्त्रोंकी प्रार्थना की, परन्तु उसके निषेध एवं भर्त्सना करनेपर भगवान्ने उसका संहार कर दिया। भगवान्ने अपने उपयोगी वस्त्रोंको ग्रहण कर लिया। एक दर्जीके द्वारा अनुरूप वेशके निर्माण करनेपर रामकृष्णने उसे वर प्रदान किया। सुदामा मालीके घरमें जाकर उसके द्वारा पुष्प-मालाओंसे अलङ्कृत होकर उसे भी मनोभीष्ट वर प्रदान किया और वहाँसे आगे चल पड़े।

पथमें राम-कृष्णने कुब्जाको देखा, तो उसे अङ्गराग देनेके लिए कहा। कुब्जाने उनके रूपसे आकर्षित होकर उन्हें पर्याप्त अङ्गराग प्रदान किया। श्रीकृष्णने अपने दर्शनके साक्षात् फलस्वरूप त्रिवक्रा कुब्जाको सुन्दर युवती बना दिया। कुब्जा श्रीकृष्णसे अपने घर चलनेका निवेदन करने लगी। कृष्णने उसकी अभिलाषाको कुछ समय बाद पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की। अनन्तर व्यापारियोंसे आदर प्राप्त करते हुए धनुर्यज्ञ-स्थानपर प्रवेश करके वहाँ उन्होंने धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ायी और उसे तोड़ दिया। धनुर्भङ्गसे कंसके

हृदयमें भय उत्पन्न होने लगा। रक्षकोंने आक्रमण किया, तो कृष्णने उन्हें धनुषके टुकड़ोंसे मार डाला। अब वे गोपोंके छकड़ोंके डेरेपर पहुँचे और वहाँ रात्रि बितायी। रात्रिके बीतनेपर मल्लक्रीड़ा आरम्भ होनेपर पुरवासी एवं जनपदवासी वहाँ उपस्थित हुए। कंसने नन्दादि गोपोंका आह्वान किया। गोपोंने उसे भेंट-सामग्री प्रदान की और रङ्ग-भूमि स्थलपर अपना स्थान ग्रहण किया।

राम-कृष्ण उत्सव देखने पहुँचे, तो कुवलयापीड़ हाथी उनका मार्ग रोकने लगा। तब भगवान्ने हाथीके साथ उसके महावतको भी मार दिया। उनका सर्वाङ्ग हाथीके रक्तकी बूँदोंसे सुशोभित होने लगा। वे स्कन्धपर हाथीके दोनों दाँत धारण कर रङ्गस्थलपर प्रविष्ट हुए। वहाँ उपस्थित विभिन्न स्वभावके व्यक्तियोंने कृष्णको विभिन्न रूपोंमें देखा। इसके बाद चाणूर एवं मुष्टिक नामक दोनों मल्ल राम-कृष्णको मल्ल-क्रीड़ाके लिए ललकारने लगे।

राम-कृष्ण जैसे दो सुकुमार बालकोंको चाणूर और मुष्टिकके साथ मल्ल-क्रीड़ा करते देख सभी स्त्रियाँ राजा एवं सभासदोंकी निन्दा करने लगीं। उन दोनोंकी लीलाओंका स्मरण करते हुए वे व्रजभूमिकी प्रशंसा करने लग गयीं। पुत्रस्नेहके कारण वसुदेव एवं देवकी शोकार्त्त हो गये। राम-कृष्णने चाणूर, मुष्टिक एवं अन्यान्य मल्लोंका संहार कर दिया। कंसने रण-वाद्य बन्द करवा दिये। वसुदेव, नन्द इत्यादिको मार डालनेका और राम-कृष्णको नगरसे बाहर करनेका आदेश दे दिया। वह यह सब प्रलाप कर ही रहा था कि कृष्ण फुर्तीसे उछले एवं मञ्चके ऊपर उपस्थित हो गये। उन्होंने कंसके केश पकड़े और उसे भूमिपर गिरा दिया। कृष्ण कंसके ऊपर कूदे और उनके कूदते ही उसकी मृत्यु हो गयी। कंसके आठ भाइयोंने कृष्णपर आक्रमण किया। बलदेवने उन आठोंको मार डाला। अब राम-कृष्णने अपने माता-पिताको बन्धनसे मुक्त किया। उनके चरणोंकी वन्दना की। वसुदेव एवं देवकी उन्हें जगदीश्वर जानकर उन्हें हृदयसे लगा न सके।

उत्तरार्द्ध

कृष्ण योगमायाके प्रभावसे माता-पिताके ऐश्वर्य भावको दूर करते हुए उनके समीप गये और इतने समय तक उनकी सेवा-शुश्रूषा न कर सकनेके कारण उनसे क्षमा प्रार्थना की। वसुदेव एवं देवकीने राम-कृष्णका आलिङ्गन किया। उन्होंने अपने प्रेमाश्रुओंसे उन दोनोंका अभिषेक किया। कृष्णने उग्रसेनको राज्य प्रदान करके कंस-भयसे भागे हुए आत्मीयोंको बुलाया और वहीं वास कराया। उन्होंने नन्द महाराजको विविध उपहार प्रदान करके व्रजमें लौटनेका अनुरोध किया। नन्दने राम-कृष्णका आलिङ्गन किया और अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे व्रजमें लौट गये। अनन्तर राम-कृष्ण द्विजाति संस्कारसे संस्कृत होकर गुरुकुलमें वासकी इच्छासे अवन्तीपुर-स्थित सान्दीपनि मुनिके आश्रममें पहुँचे। चौंसठ दिनोंमें चौंसठ कलाओं (विद्याओं) की शिक्षा ग्रहण करके उन्होंने गुरु-दक्षिणा प्रदान करनेकी इच्छा की। तब सान्दीपनि मुनिने उनसे मृत पुत्रको लानेकी प्रार्थना की। राम-कृष्ण समुद्रके समीप गये। अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्री लेकर समुद्र उनके समीप उपस्थित हुए। समुद्रको गुरुदेवके निर्देशसे अवगत कराके राम-कृष्णने समुद्रमें प्रवेश किया और 'पञ्चजन' नामक असुरका विनाश करके उसके अङ्गजात शङ्खको ग्रहण किया। उसके उदरमें गुरुपुत्र दिखायी न देनेपर वे यमलोक पहुँचे और यमराजके द्वारा आदर-सत्कार प्राप्त किया। यमराज द्वारा प्रत्यर्पित गुरुपुत्रको लेकर गुरुको प्रदान किया और अपने घर लौट आये।

श्रीकृष्णके प्रिय सखा उद्धव वृष्णियोंके मन्त्री थे। एक दिन कृष्णने उद्धवको व्रजमें भेजकर व्रजवासियोंकी मनःपीड़ाको निवारण करनेका आदेश दिया। व्रज पहुँचनेपर गोपराज नन्दने उनका अर्चन किया और कृष्णकी कुशलता पूछी। वे कृष्णके गुणोंका गान करने लगे। नन्द-यशोदाका कृष्णमें परम अनुराग देखकर उद्धवने उनके निकट कृष्णकी बातें कीं। नन्दके साथ कृष्णालापमें ही उनकी रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल गोपियाँ व्रज-द्वारमें

रथ देखकर अक्रूरके पुनः आगमनकी बात सोचकर विलाप करने लगीं। इतनेमें ही उद्धव प्रातः कृत्य समापन करके वहाँ उपस्थित हुए।

गोपियोंने उद्धवके पीताम्बर एवं कमलसम नेत्रोंको देखा, तो उनका परिचय जाननेके लिए उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं। उन्हें कृष्ण-प्रेरित जानकर एकान्तमें ले गयीं। वे कृष्णकी पूर्व लीलाओंका स्मरण करके लोक-लाज त्यागकर रोने लगीं। कोई गोपी भ्रमरको देखकर प्रिय-सङ्गका स्मरण करके विविध प्रकारके जल्प करने लगी। उद्धवने गोपियोंको सान्त्वना प्रदान की। उनके अनुरोधसे उद्धव तीन महीनों तक व्रजमें रहे और गोप-गोपियोंकी अनुमतिसे मथुरा लौट आये।

श्रीकृष्णने उद्धवसे व्रजके समस्त संवादको सुना। इसके बाद वे उद्धवके साथ कुब्जाके घर गये। वहाँ कुब्जाकी अभिलाषाके अनुसार कुछ समय तक उसके घरमें रहे और अपने भवनमें लौट आये। तदनन्तर बलदेव एवं उद्धवके साथ अक्रूरके घर पहुँचे।

अक्रूर राम-कृष्णका यथोचित अर्चन करके उनका स्तव करने लगे। कृष्णने प्रसन्न होकर अक्रूरकी प्रशंसा की। उन्होंने अक्रूरको पाण्डवोंका संवाद लेनेके लिए हस्तिनापुर भेजा।

अक्रूरने हस्तिनापुरमें जाकर पाण्डवोंका कुशल-क्षेम पूछा। धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं—यह जाननेके लिए वे कुछ महीने वहाँ रहे। धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जो असत्-व्यवहार किया था, विदुर एवं कुन्तीने वह सब अक्रूरको निवेदन कर दिया। कुन्तीने अक्रूरसे माता-पिता आदि यादवोंका संवाद पूछा तथा कृष्ण-शरणागति सूचक वचनोंका उच्चारण करने लगीं। अक्रूरने उन्हें सान्त्वना प्रदान की। धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्होंने राम-कृष्णका आदेश एवं विविध तत्त्वपूर्ण वाक्योंको ज्ञापन किया और उनसे समदर्शी होकर प्रजा एवं आत्मीयोंका पालन करनेके लिए कहा। पुत्रस्नेहग्रस्त धृतराष्ट्रके

यथायोग्य उत्तरोंको सुनकर अक्रूर मथुरा लौट आये और राम–कृष्णके समीप समस्त संवाद निवेदन कर दिया।

कंसकी मृत्युके पश्चात् कंसकी दोनों पत्नियोंने पिता जरासन्धको विधवा होनेका कारण बतलाया। तब जरासन्धने पृथ्वीको यादवोंसे रहित करनेकी इच्छासे मथुरापर आक्रमण किया। भू–भारहारी श्रीकृष्णने बलदेवके साथ जरासन्धके असीमित सैन्यका विनाश कर दिया। बलदेवने जरासन्धको बन्दी बना दिया। कृष्णने भू–भार–हरणकी इच्छासे पुनः सैन्य–संग्रहके लिए जरासन्धको मुक्त कर दिया। जरासन्ध राम–कृष्णसे वैर साधनेके उद्देश्यसे तपस्यामें लग गया। अन्य राजाओंने उपदेशोंके द्वारा उसे तपस्या करनेसे रोका। तब जरासन्ध तपस्यासे विरत होकर अपने स्थानपर लौट आया।

जरासन्धने पुनः–पुनः पराजित होकर भी सत्रह बार यादवोंके साथ युद्ध किया। अठारहवीं बार जब युद्धकी प्रस्तुतिका समय आया, उस समय कालयवन नामक एक वीर अपने समान योद्धाका अनुसन्धान कर रहा था। देवर्षि नारदने उसे यादवोंके समीप भेज दिया। कालयवनने तीन करोड़ सैनिकोंके साथ यदुपुरीपर आक्रमण कर दिया। श्रीकृष्णने यादवोंपर विपद्‌की आशङ्कासे समुद्रमें एक पुरीकी रचना की एवं योगबलसे सभी आत्मीयोंको वहाँ ले आये। सभी आत्मीयोंको सुरक्षित देखकर वे बलदेवकी आज्ञासे पुरद्वारसे निरस्त्र ही निकल गये।

कालयवनने नारद–वर्णित लक्षणोंके द्वारा कृष्णको पहचान लिया। उसने कृष्णको निरस्त्र देखकर युद्धकी इच्छासे निरस्त्र ही उनका अनुकरण किया। कृष्ण कालयवनके हस्तगत होनेका अभिनय करते हुए दूरवर्त्ती पर्वतके गह्वरमें प्रवेश कर गये। कालयवन भी उसी गिरिकी गुफामें घुस गया और एक सोये हुए व्यक्तिको कृष्ण समझकर उनपर पदाघात किया। पद–प्रहारसे वे उठ बैठे और उन्होंने कालयवनको अपनी प्रखर दृष्टिसे भस्म कर दिया। सोये हुए पुरुष मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्द थे। उन्होंने

असुरोंसे भयभीत देवताओंकी रक्षा की थी। तदर्थ देवताओंसे निद्राका वर प्राप्त करके वे सो गये थे। मुचुकुन्द कृष्णके अतुलनीय रूपको देखकर अभिभूत हो गये और उनसे परिचय पूछा। कृष्णने अपना परिचय प्रदान किया। मुचुकुन्द उन्हें प्रणाम करके स्तव करने लगे। भगवान् वासुदेवने मुचुकुन्दको दूसरे जन्ममें कृष्ण-प्राप्तिका वर प्रदान किया। मुचुकुन्दने मुकुन्दको प्रणाम किया एवं परिक्रमा करके बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ वे श्रीहरिकी आराधनामें निमग्न हो गये।

श्रीकृष्ण यवन-सैन्यसे परिवेष्टित होकर द्वारका लौटे। वहाँ उन्होंने सेनाका विनाश किया और उनके धनादिको द्वारका ले आये। इसके बाद जरासन्ध युद्धके लिए पुनः आया। राम-कृष्ण भयार्त्तके समान अभिनय करते हुए दूरदेश पलायन कर गये और वहाँ स्थित प्रवर्षण नामक पर्वतपर चढ़ गये। जरासन्ध उन्हें खोजने लगा। जब वे कहीं दिखायी नहीं दिये, तो उसने पर्वतके चारों ओर आग लगा दी। राम-कृष्ण ग्यारह योजन ऊँचे पर्वतसे छलाङ्ग लगाकर द्वारकामें प्रविष्ट हो गये। जरासन्ध राम-कृष्णको अग्नि-दग्ध जानकर अपने देशमें लौट गया।

विदर्भराज भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीने कृष्णकी गुणावलीको सुनकर श्रीकृष्णको अपने अनुरूप पतिके रूपमें निश्चय कर लिया। रुक्मिणीके भाई रुक्मीने शिशुपालको रुक्मिणीके वरके रूपमें निर्णय कर रखा था। यह जानकर रुक्मिणीने एक विश्वस्त ब्राह्मणके द्वारा कृष्णके समीप एक पत्र भेजा और शिशुपाल उनसे विवाह करे, इससे पहले उन्हें ग्रहण करनेका अनुरोध करते हुए अपने हरणके उपायको भी सूचित कर दिया।

कृष्ण ब्राह्मण-प्रमुखसे रुक्मिणीके पत्रके विषयमें सुनकर रुक्मिणीके उद्धारके लिए कृत-सङ्कल्प हो गये और विवाहके निर्दिष्ट दिनके पूर्व ही रथके द्वारा विदर्भ देश पहुँच गये।

विदर्भजात भीष्मक शिशुपालसे अपनी पुत्रीका विवाह करनेकी इच्छासे विवाहोचित अनुष्ठानोंको सम्पन्न करनेमें लगे थे। चेदिराज

दमघोष भी पुत्रके माङ्गलिक कार्योंको सम्पन्न करके विदर्भनगर पहुँच गया था। भीष्मकने उनकी ससम्मान अगवानी करते हुए उन्हें वास-स्थान प्रदान कर दिया। कृष्ण-विद्वेषी राजागण शिशुपालकी सहायताके लिए उसके साथ आये थे। बलदेव श्रीकृष्णको अकेले ही जाते देख चतुरङ्ग-सेनाके साथ विदर्भकी ओर चल दिये। भीष्मकने राम-कृष्णकी अगवानी एवं अर्चन करके उन्हें समुचित वास-स्थानका निर्देश कर दिया था।

विवाहके दिन रुक्मिणी रक्षकोंसे परिवृत होकर कुल-प्रथाके अनुसार अम्बिकाके मन्दिरमें पहुँचीं। वहाँ उन्होंने अम्बिकाका अर्चन एवं वन्दना की। कृष्णको पतिरूपमें प्राप्त होनेकी प्रार्थना करके वे मन्दिरके बाहर आयीं कि तभी श्रीकृष्णने सभीके समक्ष उन्हें रथपर आरोहण कराया और वहाँसे प्रस्थान करने लगे। विपक्षी राजा कृष्णके पीछे दौड़े, तो बलदेव विपक्ष-सैन्यको ध्वंस करने लगे। उस समय राजागण विमुख होकर चले गये। रुक्मिणीका भाई रुक्मी अपनी बहिनके ऐसे विवाहको सहन नहीं कर पाया और श्रीकृष्णपर आक्रमण कर दिया। कृष्णने रुक्मिणीके अनुरोधसे उसका वध न करके उसे विरूप कर दिया। रुक्मी व्यर्थ-मनोरथ हो गया और कृष्णके निधनकी कामनासे भोजकट-नामक नगरका निर्माण करके वहाँ रहने लगा। भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीको अपने पुरमें ले गये और वहाँ उनके साथ विधिपूर्वक विवाह किया।

कामदेवने शिवजीके कोपानलसे दग्ध होकर पुनः रुक्मिणीके गर्भसे 'प्रद्युम्न' नामसे जन्म-ग्रहण किया। शम्बरासुरने अपना शत्रु जानकर उनका अपहरण करके उन्हें समुद्रमें डाल दिया। एक मत्स्यने उनका भक्षण कर लिया। यह मत्स्य धीवरके जालमें फँस गया और शम्बरगृहमें पुनः आ गया। रसोइया भोजनके लिए उसका छेदन कर रहा था कि उसके उदरमें बालक दिखायी दिया। उसने वह बालक मायावतीको अर्पण कर दिया। कामदेवकी पत्नी रतिदेवी पतिके पुनः शरीर धारण करनेकी प्रतीक्षामें

शम्बरके घरमें मायावती नामसे पाचिका रूपसे रह रही थीं। उन्हें बालकका परिचय प्राप्त हुआ। यौवन प्राप्त होनेपर रतिदेवीने प्रद्युम्नको उनके सम्यक् परिचयसे अवगत कराया और उन्हें 'महामाया' नामकी विद्या प्रदान करके शम्बरासुरको मारनेके लिए कहा। कामदेवने युद्धके लिए शम्बरका आह्वान किया तथा 'महामाया' विद्याके प्रभावसे उसकी समस्त मायाको विनष्ट करके उसका संहार कर दिया। आकाशचारिणी भार्या रतिदेवी उन्हें द्वारका ले आयीं। प्रद्युम्नको देख करके रुक्मिणीका दुग्ध क्षरण होने लगा। उन्हें प्रद्युम्नका परिचय जाननेकी इच्छा हुई। वसुदेव, देवकी आदि भी वहाँ आ गये। नारदने आकर सस्त्रीक प्रद्युम्नका पूर्व परिचय प्रदान किया। प्रद्युम्नका परिचय प्राप्त करके उन सबने उनका आलिङ्गन किया।

राजा सत्राजित्ने सूर्यकी आराधना करके 'स्यमन्तक' मणिको प्राप्त किया था। यह मणि प्रतिदिन आठ भार स्वर्ण प्रसव करती थी। जिस स्थलपर यह सुपूजित होकर विद्यमान रहती थी, वहाँ किसी प्रकारका अमङ्गल नहीं होता था। श्रीकृष्णने उस मणिको यदुराज उग्रसेनके लिए माँगा, परन्तु सत्राजित्ने मना कर दिया। एक दिन सत्राजित्का भाई प्रसेन उस मणिको कण्ठमें धारणकर अश्वपर सवार होकर शिकारके लिए वनमें भ्रमण कर रहा था। एक सिंहने अश्वके साथ प्रसेनका भी वध कर दिया और मणि लेकर पर्वतकी गुफामें चला गया। भल्लूकराज जाम्बवान्ने उस शेरको मार दिया और वह मणि पुत्रको खिलौनेके रूपमें दे दी।

सत्राजित्ने भाईके दिखायी न देनेपर सोचा कि श्रीकृष्णने ही मणि-प्राप्त करनेके लिए प्रसेनकी हत्या की होगी। श्रीकृष्णने उस कलङ्कको दूर करनेके लिए प्रसेन जिस मार्गसे गया था, उसका अनुसरण किया और क्रमशः जाम्बवान्की गुफामें पहुँच गये। वहाँ उन्होंने जाम्बवान्के पुत्रके हाथमें इसे देखा। श्रीकृष्णको देखकर बालककी धात्री डरकर रोने लगी। जाम्बवान् कृष्णको देखते ही उनके साथ युद्ध करने लगे। अट्ठाईस दिनों तक युद्ध करनेके

बाद उन्हें बोध हुआ कि वे स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं। उन्होंने स्तव-स्तुति द्वारा श्रीकृष्णको प्रसन्न किया एवं स्यमन्तकके साथ अपनी कन्या जाम्बवतीको भी कृष्णके हाथोंमें समर्पण कर दिया। कृष्ण मणि लेकर सत्राजित्की सभामें आये और सम्पूर्ण प्रसङ्ग सम्यक्रूपसे वर्णन किया। मणिको लौटानेपर सत्राजितने स्वयंको श्रीकृष्णके चरणोंमें अपराधी जानकर अपराधके मार्जनके लिए अपनी पुत्री सत्यभामाको श्रीकृष्णके लिए समर्पण कर दिया। यौतुक (दहेज) रूपमें प्रदान करनेपर कृष्णने उस मणिको लौटा दिया। श्रीकृष्ण एवं बलदेव पाण्डवोंके अग्नि-दाहका विवरण सुनकर हस्तिनापुर पहुँचे। इधर शतधन्वाने अक्रूर एवं कृतवर्माके परामर्शसे सत्राजितको निद्रितावस्थामें ही मार डाला और मणिको लेकर वहाँसे चला गया। पिताके शोकसे व्याकुल सत्यभामाने स्वयं हस्तिनापुर जाकर कृष्णके समीप पिताके निधनका समाचार ज्ञापन किया। कृष्ण-बलदेव द्वारकामें लौट आये। शतधन्वा अक्रूरके समीप मणि रखकर चला गया। कृष्ण-बलदेव उसके पीछे दौड़े और उसे मार भी डाला, किन्तु मणि उसके पास नहीं मिली। अक्रूर शतधन्वाके निधनके विषयमें सुनकर मणि लेकर पलायन कर गये। अब द्वारकामें विविध प्रकारके अमङ्गल दिखायी दिये। श्रीकृष्ण अनुमान करने लगे कि मणि अक्रूरके पास ही होनी चाहिये। इस सन्दर्भमें वास्तव रहस्यका निरूपण करते हुए उन्होंने मणिको स्वजनोंको दिखाया और बादमें यह मणि पुनः अक्रूरजीको लौटा दी।

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके अज्ञातवासके बाद उनके दर्शन करनेकी इच्छासे हस्तिनापुर गये और कई महीनों तक इन्द्रप्रस्थमें रहे। एक दिन कृष्ण एवं अर्जुन वन-गमनकी इच्छासे निकले। उन्होंने यमुनाके समीप एक अतीव सुन्दरी एवं मनोरमा कन्याको देखा। वह कृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिए तपस्या कर रही थी। भगवान् उसे रथपर आरोहण कराके हस्तिनापुर ले आये।

श्रीकृष्णने विश्वकर्मा द्वारा पाण्डवोंके लिए एक रमणीय नगरका निर्माण करवाया। खाण्डव–दहनके समय मयदानवने अर्जुन द्वारा रक्षित होनेके कारण एक विचित्र सभाकी रचना करके उसे अर्जुनको प्रदान किया। उस सभामें दुर्योधनको दृष्टि–भ्रम हुआ था। श्रीकृष्णको जब यह ज्ञात हुआ कि अवन्तीके राजाकी बहन मित्रविन्दा उनमें आसक्त है, तो उन्होंने उसे सभासे बलपूर्वक हरण कर लिया। इसके बाद नग्नजितकी पुत्रीके विवाहमें पण (बाजी) लगा था, जिसके अनुसार श्रीकृष्णने सात बैलोंको पराजित करके उन्हें एक साथ ही नथ लिया और नाग्नजितीसे विवाह कर लिया। विवाहके बाद श्रीकृष्ण नाग्नजितीको लेकर द्वारका लौट आये। इस अवसर पर उक्त वृषभों द्वारा पराजित राजाओंने पथमें कृष्णके ऊपर आक्रमण कर दिया। अर्जुनने उन सबको पराजित कर दिया। अनन्तर श्रीकृष्णने बुआ श्रुतकीर्त्तिकी पुत्री भद्रासे एवं स्वयंवर–सभासे हरण करके मद्रराजकी पुत्री लक्ष्मणासे भी विवाह किया।

इन्द्रने कृष्णको बतलाया कि नरकासुर देवताओंपर अत्याचार कर रहा है। श्रीकृष्ण सत्यभामाके साथ नरकके राज्यमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने ताम्रादि पुत्रोंके साथ मुरासुर एवं नरकासुरका संहार किया और उसके द्वारा अपहृत सोलह हजार रानियोंको द्वारका भेज दिया। इसके बाद वे इन्द्रालय पहुँचे। वहाँ इन्द्र एवं उनकी पत्नी शचीने भगवान्‌का आदर सत्कार किया। सत्यभामाके अनुरोधसे स्वर्गसे पारिजात उखाड़कर उसे सत्यभामाके घरसे संलग्न उद्यानमें स्थापित कर दिया। उसके बाद श्रीकृष्णने सोलह हजार मूर्त्तियोंमें प्रकाशित होकर पूर्वोक्त सोलह हजार स्त्रियोंसे एक साथ ही विवाह किया।

एक बार श्रीकृष्ण रुक्मिणीकी शय्यापर विराजमान थे। रुक्मिणी सखियोंके साथ श्रीकृष्णकी सेवा कर रही थीं। श्रीकृष्णने परिहासमें रुक्मिणीके पति होनेके लिए अपनेको अयोग्य बताते हुए रुक्मिणीसे ऐसे अप्रिय वचन कहे कि वे रोने लगीं। शोक

एवं भयके कारण वे मूर्च्छित हो गयीं। प्रियतमाकी ऐसी अवस्था देखकर श्रीकृष्णने रुक्मिणीको उठाया और उन्हें सान्त्वना देकर अपने परिहासकी बात बतायी। रुक्मिणीने शान्त होकर श्रीकृष्णके स्तुतिसूचक विविध वचनोंके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया।

कृष्णतत्त्वसे अनभिज्ञ उनकी पत्नियाँ श्रीकृष्णको सर्वदा अपने गृहमें ही देखकर अपनेको ही पतिकी अत्यधिक प्रियतमा मानती थीं। उनमें सभीको दस-दस पुत्र प्राप्त हुए थे। कृष्ण-पुत्रोंके भी बहुत-से पुत्र, पौत्रादि हुए थे। रुक्मीने कृष्ण द्वारा अपमानित होकर भी बहिनकी प्रसन्नताके लिए प्रद्युम्नको अपनी पुत्री एवं अनिरुद्धको पौत्री प्रदान कर दी। अनिरुद्धके विवाहके समय रुक्मी बलदेवके साथ पासा खेलने लगा, परन्तु पराजित होनेपर भी उसने अपनी हार नहीं मानी। वह बलदेवको 'ग्वाला' कहकर अपमानित करने लगा। बलदेवने क्रोधित होकर रुक्मीका वध कर दिया। उस समय कलिङ्गराज दाँत दिखाकर हँस रहा था। बलदेवने उसे पकड़कर उसके दाँत उखाड़ डाले। इसके बाद नवविवाहिता वधू रोचनाके साथ अनिरुद्धको लेकर बलदेवके साथ यादवोंने भोजकटसे द्वारकाकी ओर प्रस्थान किया।

बलिका ज्येष्ठ पुत्र बाणासुर शिव-कृपासे इन्द्रादि देवताओंको अपने भृत्यके समान मानता था। उसकी पुत्री उषाने स्वप्न देखा कि एक सुन्दर युवकके साथ उसका समागम हो रहा है, तब वह अत्यन्त विचलित होकर उठ बैठी। उसने चित्रलेखाको स्वप्नके विषयमें बतलाया। चित्रलेखाने देव, गन्धर्व, वृष्णिवंशी इत्यादि पुरुषोंका चित्र अङ्कन करके उषाके निकट उसके द्वारा स्वप्नमें देखे पुरुषको निर्देश करनेके लिए कहा। उषाने अनिरुद्धको निर्देश कर दिया। तब चित्रलेखा योगबलसे द्वारका गयी और अनिरुद्धको लाकर उसने उषाके निकट उपस्थित कर दिया। उषा अनिरुद्धकी सेवा करने लगी। अन्तःपुरके रक्षकोंने उषाके शरीरमें रतिचिह्न देखे, तो बाणासुरको यह समाचार दिया। बाणासुर पुत्रीके गृहमें

अनिरुद्धको देखकर उनके साथ युद्ध करने लगा। अनन्तर अनिरुद्धको युद्धमें पराजित करके उन्हें नागपाशमें बाँध दिया।

अनिरुद्ध कहीं दिखायी नहीं दे रहे थे, इस कारण उनके आत्मीयगण चार महीनोंसे शोकाकुल हो रहे थे, तब नारदने आकर अनिरुद्धके बन्धनका समाचार दिया। तब श्रीकृष्णने यदुवीरोंको लेकर बाणासुरकी पुरीको घेर लिया और उसके साथ युद्ध करने लगे। महादेव आकर अपने भक्त बाणासुरके पक्षमें योगदान करने लगे। श्रीकृष्णने शङ्करको मोहित करते हुए बाणासुरकी सहस्र भुजाओंसे मात्र चार भुजाएँ शेष रखकर सबको काट डाला। रुद्रके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसके प्राणोंकी रक्षा की। बाणासुरने स्तुति द्वारा श्रीकृष्णको प्रसन्न किया। श्रीकृष्णने बाणासुरको अभय प्रदान किया। वे वधूके साथ अनिरुद्धको लेकर द्वारकाकी ओर चल दिये।

एक बार यदुकुमार खेलनेके बाद जल ढूँढ़ते–ढूँढ़ते जल–रहित एक कुएँके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक गिरगिटको देखा। वे उसे निकालनेकी चेष्टा करने लगे। जब वे असमर्थ हो गये, तो यह समाचार श्रीकृष्णको निवेदन किया। श्रीकृष्णने बायें हाथसे पकड़कर कुएँसे उसका उद्धार किया। इस गिरगिटको देवतनु प्राप्त हुआ। श्रीकृष्णने जब उससे उसका परिचय जानना चाहा, तो उसने नृग–नामक इक्ष्वाकुपुत्रके रूपमें अपना परिचय दिया। दान–धर्ममें दोषके कारण उसे गिरगिट योनि प्राप्त हुई—यह बतलाकर वह श्रीकृष्णका स्तव करने लगा और स्वर्गलोककी ओर चला गया। श्रीकृष्णने इस प्रसङ्गमें ब्रह्मस्व–हरणका फल कितना विषमय होता है—यदुकुमारोंको यह शिक्षा प्रदान करके ब्राह्मणोत्पीड़नसे सदैव विरत रहनेका उपदेश दिया।

एक दिन बलदेव सुहृदोंके दर्शनके लिए गोकुलकी ओर चल दिये। नन्द, यशोदा आदिने उनका आनन्दपूर्वक आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिया। बलदेवने पूजनीयोंको प्रणाम किया और मित्रोंके साथ मिलकर परस्पर कुशल समाचार पूछा। उन्होंने

कृष्ण-विरहसे कातर गोपियोंको कृष्णका समाचार प्रदान करके उन्हें सान्त्वना दी। अनन्तर दो महीने तक गोकुलमें रहकर बलरामने अपनी अनुरक्ता गोपियोंके साथ यमुना-पुलिनपर विहार किया। वरुण द्वारा प्रेरित दिव्य वारुणी पान करके बलरामने जल-क्रीड़ाके लिए यमुनाका आह्वान किया। यमुनाने बलदेवको मत्त जानकर उनकी उपेक्षा कर दी। तब बलदेव हलके अग्रभाग द्वारा यमुनाका आकर्षण करने लगे। इससे भयभीत यमुना श्रीबलदेवके चरणोंमें शरणागत हुईं और उनसे क्षमा-प्रार्थना करने लगीं। अनन्तर श्रीबलदेव प्रसन्न होकर गोपियोंके साथ यमुनामें जल-क्रीड़ा करने लगे।

बलदेवके नन्दव्रज जानेपर करुषाधिपति पौण्ड्रकने स्वयंको 'वासुदेव' मानकर अपनी ख्याति करने हेतु कृष्णके समीप संवाद भेजा कि वही वासुदेव है। कृष्ण अपने वासुदेव चिह्नादिका परित्याग करें एवं पौण्ड्रककी शरण ग्रहण करें, अन्यथा उसके साथ युद्ध करें। भगवान् श्रीकृष्ण उसके सोऽहंवाद अथवा मायावाद-विमूढ़तारूप पाखण्डताको समुचित दण्ड देनेके लिए काशीपुरी गये। वहाँ कृत्रिम वासुदेवचिह्नधारी पौण्ड्रक एवं उसके मित्र काशीराजका मस्तक काटकर द्वारका लौट आये। अनन्तर काशीराजके पुत्र सुदक्षिणने पितृ-हन्ताको मारनेके लिए महादेवकी आराधना की तथा उनके उपदेशसे अभिचार-यज्ञानुष्ठान किया। उस यज्ञकुण्डसे शूल हाथमें लिये एक अग्निमूर्त्ति निकली और द्वारकाकी ओर चल दी, परन्तु सुदर्शनके प्रभावसे प्रतिहत होकर वाराणसीपुरी लौट आयी। उसने पुरोहितोंके साथ सुदक्षिणको भस्म कर दिया। बादमें सुदर्शन चक्रने भी उसके पीछे-पीछे काशीपुरीमें प्रस्थान किया और राजपुरी (काशीपुरी) के साथ समग्र वाराणसीको ही जला दिया।

नरकासुरके मित्र मैन्द वानरका भाई द्विविद मित्रके वधके प्रतिशोधकी कामनासे गोकुलमें उत्पीड़न तथा रैवतक पर्वतपर

बलदेवके साथ विहारमें रत स्त्रियोंका अपमान करने लगा। बलदेवने अपने हल–मुसलसे उसके प्राणोंका संहार कर दिया।

जाम्बवती–नन्दन साम्बने दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाका स्वयंवर–सभासे हरण कर लिया। कौरवोंने एकत्र मिलित होकर साम्बको युद्धमें परास्त कर दिया और उन्हें बाँधकर हस्तिनापुर ले गये। नारदके द्वारा यह संवाद जानकर बलदेव हस्तिनापुर आये और कौरवोंको साम्बको लौटानेका आदेश दिया, पर उन्होंने अनसुना कर दिया। इस पर बलदेव क्रोधित होकर हलके अग्रभागसे हस्तिनापुरको खींचने लगे। तब कौरव डर गये और बलदेवकी स्तुति करने लगे। उन्होंने उपहारोंके साथ साम्ब एवं लक्ष्मणाको उन्हें प्रदान किया। बलदेव उन्हें लेकर द्वारका लौट गये।

श्रीकृष्णके एक ही समय पृथक्‌रूपसे सोलह सहस्र स्त्रियोंके साथ पाणिग्रहणको अति विचित्र जानकर देवर्षि नारद उसके दर्शनके लिए द्वारकामें आये। श्रीकृष्ण एक ही समय विभिन्न पत्नियोंके गृहोंमें विभिन्न कार्य–कलापोंमें लीन थे—उनके इस ऐश्वर्यको देखकर नारद अति मुग्ध हो गये। तब श्रीकृष्णने उनकी मुग्धताको दूर करके उन्हें निजावतारका कारण बतलाया। इसके बाद नारद कृष्ण द्वारा यथाविधि सम्मान प्राप्त करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए प्रस्थान कर गये।

एक दिन श्रीकृष्ण प्रातः कृत्य समापन करके सभामें प्रविष्ट हुए। जरासन्ध द्वारा काराबद्ध राजाओंने अपने उद्धारके लिए दूत द्वारा श्रीकृष्णके समीप संवाद भेजा। इसी अवसर पर देवर्षि नारदने आकर बतलाया कि महाराज युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञानुष्ठानके लिए श्रीकृष्णके अनुमोदनकी प्रार्थना की है। इन दोनों कार्योंमें कौन–सा कार्य पहले करना चाहिये—इस विषयमें श्रीकृष्णने मन्त्री उद्धवसे परामर्श माँगा। उद्धवने राजसूयके अनुष्ठान द्वारा दोनों कार्योंको सम्पन्न करनेका परामर्श प्रदान किया। श्रीकृष्णने तदनुसार अविलम्ब जरासन्धका संहार करेंगे—यह कहकर राजाओंके पास संवाद भिजवा दिया और महिषियोंके साथ इन्द्रप्रस्थ चले गये।

युधिष्ठिरने कृष्णके समीप राजसूय-अनुष्ठानके अनुमोदनकी प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने उसमें अपनी सहमति प्रदान की। तदर्थ उन्होंने यज्ञीय उपकरणोंके संग्रहके लिए पृथ्वीके राजाओंको पराजित एवं वशीभूत करनेकी आवश्यकता भी बतलायी। युधिष्ठिरने तदनुसार भाइयोंको दिग्विजयके लिए भेजा तथा कहा कि दिग्विजयके अन्तमें वे प्रभूत धन संग्रह करके लायें। इसके बाद जरासन्धको अपराजेय जानकर श्रीकृष्ण, भीम एवं अर्जुन ब्राह्मणवेशमें जरासन्धके निकट जाकर अपनी प्रार्थनीय वस्तु देनेके लिए उससे अनुरोध करने लगे। जरासन्धने उनके अङ्गोंपर धनुष एवं प्रत्यंचाके चिह्न देखकर उन्हें क्षत्रिय जान लिया, तो भी उनकी याचना-पूर्त्तिके लिए सहमत हो गया। श्रीकृष्णने अपना परिचय देते हुए उसके निकट द्वन्द्व-युद्धकी प्रार्थना की। जरासन्ध भीमके साथ युद्धका इच्छुक होकर गदा हाथमें लेकर युद्धके लिए प्रस्तुत हो गया। इसके बाद दोनोंको समान योद्धा मानकर श्रीकृष्णने वृक्षकी एक शाखाको चीरकर भीमको जरासन्धके वधके उपायका सङ्केत दिया। भीमने जरासन्धको भूमिपर गिराकर चीर डाला। श्रीकृष्णने जरासन्ध-पुत्र सहदेवको राजपदपर अभिषिक्त करके जरासन्ध द्वारा कारावासमें बन्द सभी राजाओंको मुक्त कर दिया।

जरासन्ध द्वारा बन्द बीस हजार आठ सौ राजा कृष्ण-कृपासे कारागारसे मुक्त होकर कृष्णको प्रणाम करके स्तुति करने लगे। श्रीकृष्णने उन्हें राजयोग्य भूषणोंसे विभूषित करके अपने-अपने राज्यमें भेज दिया। अनन्तर वे भीम एवं अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

युधिष्ठिरने जरासन्धके निधनका समाचार सुनकर श्रीकृष्णका स्तव करते हुए उनकी महिमाका कीर्त्तन किया। भरद्वाज, वशिष्ठ इत्यादिका उन्होंने होताके रूपमें वरण किया। अब "सर्वप्रथम पूजा-प्राप्तिके योग्य कौन है" इस विषयपर प्रश्न उठा। सहदेवने "श्रीकृष्णकी पूजासे सबकी पूजा हो जाती है" यह कहकर

श्रीकृष्णकी अग्र–पूजाका प्रस्ताव रखा। सभास्थ सभी सदस्योंने इस प्रस्तावका अनुमोदन किया। युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी पूजा करनेके बाद उनके पद–धौत जलको अमात्य और आत्मीयोंके साथ मस्तकपर धारण किया। शिशुपाल श्रीकृष्णकी पूजासे असहिष्णु होकर सभास्थ सभी लोगोंकी एवं श्रीकृष्णकी निन्दा करने लगा। इससे सभासद कानोंपर हाथ ढककर वहाँसे प्रस्थान कर गये। पाण्डव एवं अन्यान्य राजाओंने कृष्णके निन्दा करनेवालोंको शान्त करनेके लिए अस्त्र उठा लिये। श्रीकृष्णने उन्हें रोका और सुदर्शनसे शिशुपालका सिर काट डाला। इसके बाद विधिपूर्वक यज्ञको पूर्ण किया गया और श्रीकृष्ण महिषियोंके साथ द्वारका चले गये। राजा दुर्योधनके अतिरिक्त सभामें उपस्थित सभीने राजसूय यज्ञ एवं यज्ञेश्वर श्रीकृष्णकी प्रशंसा की।

युधिष्ठिरका अन्तःपुर मय दानव द्वारा विविध ऐश्वर्यके साथ निर्मित हुआ था। राजा दुर्योधन ईर्ष्यावश इस निर्माणको सहन न कर सका। एक दिन युधिष्ठिर सभामें बन्धुवर्ग एवं श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए थे कि दुर्योधन भी उस सभामें चला आया। सभास्थलमें उसे स्थलभागपर 'जल' और जलभागपर 'स्थल' का भ्रम होने लगा। इस पर भीमसेन एवं स्त्रियाँ हँसने लगे और दुर्योधनने लज्जावश उस स्थानका त्याग कर दिया।

रुक्मिणी विवाहके समय पराजित राजाओंमेंसे एक शाल्वने पृथ्वीको यादवोंसे रहित करनेकी प्रतिज्ञा कर रखी थी। प्रतिदिन मात्र एक मुट्ठी धूल खाकर वह महादेवकी आराधना करता था। आशुतोषके प्रसादसे मयदानव निर्मित इच्छानुरूप गतिशील 'सौभ' नामक यानको प्राप्त करके शाल्वने द्वारकापुरी पर चढ़ाई कर दी और विमानसे वृक्ष, पत्थर आदि फेंकने लगा। प्रद्युम्न, सात्यकि आदि यदुवीर शाल्वके साथ युद्ध करने लगे। शाल्वका कोई अनुचर प्रद्युम्नको युद्धक्षेत्रसे दूर ले गया। संज्ञा प्राप्त होनेपर प्रद्युम्नने रणक्षेत्रसे पलायन करनेके लिए सारथीको बहुत डाँटा और पुनः रणक्षेत्रकी ओर बढ़ गये। शाल्वका यादवोंके साथ

सत्ताईस दिन-रात तक युद्ध चलता रहा। श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे लौट आये और रणक्षेत्रमें उपस्थित हुए। शाल्व 'सौभ' में बैठकर विविध प्रकारसे मायाका प्रदर्शन करता रहा। श्रीकृष्णने गदा द्वारा सौभको तोड़कर शाल्वका मस्तक काट डाला।

शाल्वका मित्र दन्तवक्र शत्रु-पीड़नकी कामनासे युद्धस्थलपर उपस्थित होकर कर्कश वचनोंसे श्रीकृष्णका तिरस्कार करने लगा। श्रीकृष्णने गदासे उसके वक्षपर प्रहार करके उसके प्राणोंका संहार कर दिया। इसके बाद उसका भाई विदूरथ हाथमें तलवार लेकर युद्ध स्थलपर आया। श्रीकृष्णने सुदर्शन द्वारा उसका भी सिर काट डाला। कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी तैयारीके विषयमें सुनकर स्वयं युद्धसे पृथक् रहनेकी इच्छासे श्रीबलदेव तीर्थयात्राके छलसे द्वारका त्याग करके विविध तीर्थस्थानोंपर गमन करते हुए नैमिषारण्यमें मुनियोंके यज्ञस्थलपर उपस्थित हुए। वहाँ प्रत्युत्थान (सम्मान प्रदर्शन) आदि क्रियाओंसे रहित होकर उच्चासनपर विराजमान रोमहर्षणको देखकर उन्होंने कुशके अग्रभागसे उसका वध कर दिया। इससे मुनिगण दुःखी हो गये। उन्होंने बलदेवको बतलाया कि यज्ञ-समाप्ति तक उन सबने रोमहर्षणको परमायु प्रदान की थी। यह जानकर बलदेवने उसके पुत्र उग्रश्रवाको इच्छानुरूप आयु प्रदान करके उसका पुराण-वक्ताके रूपमें निर्देश कर दिया तथा मुनियोंके अनुरोधसे यज्ञ नष्ट करनेवाले बल्वल नामक दानवको मार दिया। तत्पश्चात् मुनियोंके विधानका निर्वाह करनेके लिए प्राकृत मनुष्यका अनुकरण करते हुए रोमहर्षण-वधका प्रायश्चित्त करनेके लिए वे बारह महीनों तक व्रतके अनुष्ठान एवं तीर्थ-स्नानके लिए चल पड़े।

श्रीबलदेव विविध तीर्थोंमें पर्यटन कर रहे थे कि उन्हें कौरव-पाण्डवोंके युद्धका संवाद ज्ञात हुआ। भीम एवं दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे थे। उनके युद्धको रोकनेकी इच्छासे बलदेव कुरुक्षेत्र पहुँचे। उन्होंने भीम एवं दुर्योधनको संग्राम बन्द करनेका आदेश दिया। उन दोनोंने युद्धको विराम नहीं दिया। तब यह युद्ध

दैवकृत है—यह जानकर वे द्वारका लौट आये। अनन्तर वे पुनः नैमिषारण्य गये और ऋषियोंके अनुरोधसे बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया तथा ऋषियोंको उनके अपने स्वरूपका ज्ञान प्रदान किया।

श्रीकृष्णके सखा सुदामा विप्र अनायास ही प्राप्त द्रव्यों द्वारा जीविकाका निर्वाह करते थे। एक दिन पत्नीके अनुरोधसे उन्होंने अपने दारिद्र्य-मोचनके लिए श्रीकृष्णके समीप जानेकी इच्छा की। वे अपनी पत्नीसे कृष्णके लिए कुछ भेंट देनेके लिए कहने लगे। उनकी पत्नी पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके पास गयी तथा चार मुट्ठी चिउड़ा माँगकर ले आयी। उसने चिउड़ोंको एक फटे-पुराने वस्त्रमें बाँधकर अपने स्वामीके हाथमें रख दिया। सुदामा रुक्मिणीके महलमें श्रीकृष्णके समीप उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण उन्हें देखते ही खड़े हो गये और सुदामा ब्राह्मणको यथोचित सम्मान प्रदान किया। वे अपने सखा सुदामाका हाथ पकड़कर गुरुकुल-वासके समयके चरितोंकी चर्चा करने लगे। अनन्तर श्रीकृष्णने सखासे भेंट माँगी। तब सुदामा लज्जाके कारण नगण्य भेंट चिउड़ोंको प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हुए। तब भक्तवत्सल भगवान्‌ने सुदामाके वस्त्रमें बँधे हुए चिउड़ोंसे एक मुट्ठी चिउड़ा भक्षण कर लिया। दूसरी मुट्ठी लेना ही चाहते थे कि रुक्मिणीदेवीने उन्हें रोक दिया और कहा कि एक मुट्ठी चिउड़ा भक्षण करके ही श्रीकृष्णने ब्राह्मणको अतुल ऐश्वर्य प्रदान कर दिया है। द्विजवर सुदामा दूसरे दिन निजालय चले गये। वहाँ जब वे अपने आश्रमके समीप उपस्थित हुए, तब उस स्थानपर एक विचित्र प्रासाद देखकर विस्मित रह गये। उन्हें देखते ही दासियोंसे परिवेष्टित उनकी पत्नी घरसे बाहर आयी और ब्राह्मणको भीतर ले गयी। सुदामाने पत्नीके साथ अनासक्त भावसे विषयोंका भोग किया तथा शीघ्र ही वैकुण्ठधाममें प्रस्थान किया।

राम-कृष्णकी द्वारका-लीला-कालमें एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण पड़ा था। इस कारण पुण्यार्जनकी इच्छासे भारतवर्षीय मनुष्य

कुरुक्षेत्रमें सम्मिलित हुए थे। यादव, गोप, गोपियाँ सभी परस्पर आलिङ्गनादि करते हुए सम्भाषण कर रहे थे। समागत राजागण अपनी पत्नियोंके साथ श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए कृष्ण-सङ्ग-प्राप्तिके कारण यादवोंकी प्रशंसा कर रहे थे। नन्द-यशोदा राम-कृष्णको गोदमें रखकर प्रेमाश्रुओंसे सराबोर हो रहे थे। देवकी एवं रोहिणी यशोदाको आलिङ्गन करके राम-कृष्णके लालन-पालनके लिए कृतज्ञता प्रकाश करने लगीं। श्रीकृष्णने विरह-सन्तप्त गोपियोंके प्रीति-विधानके लिए तत्त्वपूर्ण विविध वचनोंसे सान्त्वना देते हुए निज-स्वरूपका भी ज्ञान प्रदान किया। गोपियाँ निरन्तर कृष्णके ध्यानमें लगी रहती थीं, इसलिए अन्तमें उन्होंने उन्हें ही प्राप्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा युधिष्ठिर आदिसे कुशल-प्रश्न करनेके बाद द्रौपदीने कृष्ण-पत्नियोंको सम्बोधन करते हुए उनके विवाहके विषयमें जाननेकी इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्णकी महिषियोंने अपने-अपने विवाहकी कहानियाँ बतायीं। द्रौपदी, सुभद्रा एवं अन्यान्य राजपत्नियाँ श्रीकृष्णके प्रति कृष्ण-महिषियोंके अत्यन्त प्रणय-भावको देखकर विस्मित रह गयीं। अनन्तर व्यासदेव-नारदादि मुनि कृष्ण-दर्शनके लिए यहाँ आये। ऋषियोंको देखकर पहलेसे ही बैठे राजागण, युधिष्ठिरादि पाण्डव उठ खड़े हुए और उन्होंने प्रणाम, आसन, पाद्य, अर्घ्य अदि द्वारा उनकी विधिपूर्वक पूजा की। इसके बाद श्रीकृष्णने विविध वचनोंसे उनकी प्रशंसा की। उन्होंने भी श्रीकृष्णका स्तव किया और उनसे प्रस्थानकी अनुमति माँगी। उस समय वसुदेवने मुनियोंसे कर्मबन्धनके खण्डनका उपाय पूछा। उन्होंने यज्ञके द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिकी आराधनाका उपदेश दिया। वसुदेवने उनका ऋत्विक्‌रूपमें वरण करके बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया। तत्पश्चात् सभी अपने-अपने स्थानोंपर चले गये।

मुनियोंसे अपने दोनों पुत्रोंके प्रभावको जानकर वसुदेवने राम-कृष्णकी स्तुति करके उनके प्रति पुत्र-बुद्धिको दूर करनेकी

प्रार्थना की। श्रीकृष्णने वसुदेवको भगवत्-तत्त्वका उपदेश प्रदान किया। देवकीने राम-कृष्ण द्वारा श्रीसान्दीपनि मुनिके मृत पुत्रोंको लौटा लानेका समाचार सुना, तो अपने मृत पुत्रोंको लौटानेके लिए राम-कृष्णसे अनुरोध किया। वे सुतलपुरमें राजा बलिके निकट गये। बलिकी पूजा ग्रहण करके वहाँ उपस्थित देवकीके मृत पुत्रोंको लौटा लाये। पुत्रोंको देखकर देवकीके स्तनोंसे दुग्ध क्षरित होने लगा। देवकीने अपने पुत्रोंको श्रीकृष्ण द्वारा पीत-उच्छिष्ट स्तन्य पान कराया। इस अमृत-पानसे पुत्रोंको अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ और वे देवलोक चले गये।

महाराज परीक्षित्ने शुकदेवसे अपनी पितामही सुभद्रादेवीके विवाहके विषयमें जाननेकी अभिलाषा प्रकट की, तब शुकदेव कहने लगे—अर्जुन तीर्थ-यात्राके समय पृथ्वीपर पर्यटन करते हुए प्रभासक्षेत्रमें उपस्थित हुए। वहाँ सुभद्राके विवाहका समाचार सुनकर सुभद्रा-हरणका निश्चय किया और त्रिदण्डिस्वामीका वेश धारण करके द्वारका पहुँचे। वे वहाँ कुछ मास (चातुर्मास) रहे और एक दिन देवोत्सवके उपलक्षमें बाहर आयी हुई सुभद्राका उन्होंने वसुदेव आदिकी इच्छाके अनुसार हरण कर लिया। इसपर बलदेव क्रोधित हो गये, किन्तु श्रीकृष्ण और बन्धु-बान्धवों द्वारा सान्त्वना प्राप्त करके उन्होंने वर-वधूको दहेज आदि देकर विदा किया।

बहुलाश्व और श्रुतदेव नामक दो कृष्ण-भक्त मिथिलामें वास करते थे। श्रीकृष्ण नारदादि मुनियोंके साथ दोनोंके घर पहुँचे। उन्होंने सानुचर श्रीकृष्णकी पूजा एवं स्तव किया। श्रीकृष्णने मुनियोंके माहात्म्यका वर्णन किया और दोनों भक्तोंको सन्मार्गका उपदेश प्रदान करके द्वारकामें लौट आये।

ब्रह्मवस्तु गुणातीत होनेके कारण अनिर्देश्य है, अतः त्रिगुण विषयक वेद अभिधा वृत्ति द्वारा किस प्रकारसे ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश कर सकते हैं—इस विषयपर परीक्षित्का प्रश्न होनेपर श्रीशुकदेवने नारायण-नारद संवादका उल्लेख करते हुए 'जनलोक'

में ब्रह्माके मानस-पुत्रोंके मध्य सनन्दन द्वारा कीर्त्तित श्रुति-स्तवका कीर्त्तन किया।

जो भोगरहित शङ्करके उपासक हैं, वे प्रायः धनाढ्य और जो सर्वभोगाश्रय श्रीहरिके सेवक हैं, वे भोगहीन हैं—ऐसा क्यों? इस विषयपर महाराज परीक्षित्‌ने प्रश्न उत्थापित किया। तब शुकदेवने कहा कि शङ्कर त्रिगुणमय होनेके कारण अपने उपासकोंको त्रिगुणोंके अन्तर्गत सभी वैकारिक पदार्थोंको प्राप्त करा देते हैं, किन्तु श्रीहरि निर्गुण होनेके कारण अपने भक्तोंको भी निर्गुण बना देते हैं। इसी विषयपर युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने बतलाया कि वे जिनके प्रति अनुग्रह करते हैं, उनका धन हरण कर लेते हैं, इसलिए उनके आत्मीयगण उस निर्धन पुरुषका त्याग कर देते हैं। वह निर्धन व्यक्ति धन-संग्रहके लिए पुनः यत्न करता है, परन्तु कृष्ण-कृपासे उसके सारे मनोरथ विफल हो जाते हैं। इससे निवृत्त-चित्त वह व्यक्ति साधुओंका सङ्ग प्राप्त करके कृष्ण-कृपासे वैकुण्ठको प्राप्त होता है। जब कि विषयासक्त व्यक्ति श्रीकृष्णकी आराधना दुष्कर जानकर आशुतोष देवताओंकी उपासनासे राज्य, स्त्री इत्यादि प्राप्त करके गर्वसे भरकर वरदाताओंका ही अपमान करता है। इस प्रसङ्गमें वृकासुरकी आख्यायिका सुनी जाती है। वृकासुरने "कौन-से देवता आशुतोष हैं"—इस विषयमें नारदसे प्रश्न किया। नारदके उपदेशसे उसने शङ्करकी आराधना की। शङ्कर उससे सन्तुष्ट हो गये और उसे वर माँगनेके लिए कहा। तब वृकासुरने "जिसके मस्तकपर हाथ रखूँ, उसकी मृत्यु हो जाए"—यह वर माँगा। इस प्रकारसे वर माँगकर वरकी सत्यताकी परीक्षाके लिए शिवके मस्तकपर हाथ रखनेके लिए उद्यत हुआ, तब शङ्कर भयभीत होकर चारों दिशाओंमें दौड़े। अन्तमें श्रीकृष्ण बाल-ब्रह्मचारीका वेश धारण करके वृकासुरके समीप आये और छलपूर्वक उसके अपने ही मस्तकपर हाथ रखवाकर उसका विनाश कर दिया।

गुणावतार-त्रयके मध्य कौन श्रेष्ठ हैं—इस विषयपर सरस्वतीके किनारे स्थित मुनियोंमें तर्क हुआ, तो उन्होंने इसके निर्णयके लिए भृगुको भेजा। भृगु ब्रह्माके समीप गये, परन्तु प्रणाम आदि नहीं किया। इसपर ब्रह्मा क्षुब्ध हो गये। अब वे शङ्करके समीप गये, उन्हें 'विपथगामी' कहकर सम्बोधन किया, तब शङ्कर त्रिशूल हाथमें लेकर भृगुका वध करनेके लिए तत्पर हो गये। अनन्तर वे नारायणके समीप पहुँचे और उनके वक्षःस्थलपर पदाघात किया। लक्ष्मीके साथ नारायणने भृगुका सम्मान किया। "आपके आनेका समाचार पहले जान नहीं सका" यह कहकर सम्मान-प्रदर्शनमें त्रुटि होनेके कारण क्षमा-प्रार्थना की। भृगुने मुनियोंके समीप लौटकर क्रमपूर्वक समस्त प्रसङ्ग बतलाया। मुनियोंने विष्णुको ही 'सर्वश्रेष्ठ' निश्चय करके उनकी आराधना द्वारा मुक्ति प्राप्त की।

एक बार द्वारकामें एक ब्राह्मणके पुत्र भूमिष्ठ होते ही मृत्युको प्राप्त हो जाते थे। तब ब्राह्मण राजद्वारमें गया और राजाके विकर्मको ही अपने पुत्रोंकी मृत्युके कारणरूपमें निश्चित किया। इस ब्राह्मणके नवम पुत्रकी मृत्युके समय अर्जुनने ब्राह्मणकी सन्तानकी रक्षाके लिए प्रतिज्ञा की, किन्तु ब्राह्मण-पत्नीके प्रसवके समय सम्पूर्ण यत्न करके भी उसकी रक्षामें विफल रहे। तब प्रतिज्ञा भङ्ग होनेके कारण उन्होंने प्राणोंका त्याग कर देना चाहा, किन्तु श्रीकृष्ण उन्हें महाकालपुर ले गये। वहाँ उन्होंने सहस्र फणोंसे युक्त अनन्तदेवको एवं उनके शरीरमें अवस्थित सर्वव्यापक विराट् पुरुषको देखा। विराट् पुरुषने कृष्ण और अर्जुनको बतलाया कि उन दोनोंके दर्शनके लिए ही विप्र पुत्रोंको यहाँ बुलवा लिया था। बादमें बहुत प्रकारसे उनकी स्तुति की। कृष्ण-अर्जुन वहाँसे विप्र-पुत्रोंको लेकर लौट आये और उन्हें ब्राह्मणको सौंप दिया। उस समय अर्जुन श्रीकृष्णके प्रभावको देखकर अतिशय विस्मित रह गये।

श्रीकृष्ण द्वारकामें यादवों एवं महिषियोंसे परिवृत होकर रहते थे। वे महिषियोंके साथ विविध क्रीड़ाओंमें रत रहते थे। गन्धर्व उनके चरित्रका कीर्त्तन करते थे एवं बन्दीगण उनकी स्तुति करते थे। उनकी प्रत्येक महिषीसे दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें अठारह महारथी थे। यदुवंशियोंकी संख्याका निर्णय करना तो दूरकी बात है, उनमेंसे प्रसिद्ध चरित्रोंकी संख्या करना भी असम्भव है। यदुवंशके बच्चोंको शिक्षादानके लिए तीन करोड़ आठ हजार आठ सौ अध्यापकोंकी बात सुनी जाती है। असुर मनुष्योंका उत्पीड़न कर रहे थे, इसलिए भगवत्-आदेशसे देवतागण यदुकुलमें उत्पन्न हुए थे। वे श्रीकृष्णको ईश्वरके रूपमें जानते थे एवं हर क्षण कृष्णके समीप रहते हुए दिव्यानन्दमें अपने शरीरका ज्ञान खो बैठते थे।

अन्तमें श्रीशुकदेव गोस्वामी कृष्ण-कथाके श्रवण-कीर्त्तनके फलका वर्णन करके स्कन्धका समापन करते हैं।

❁ ❁ ❁

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

दशमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

आकाशवाणीसे अपनी मृत्युकी संभावना सुनकर कंस द्वारा देवकीके छह पुत्रोंका वध

श्रीराजोवाच—

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्॥ १ ॥

महाराज परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे कहा—भगवन्! आपने चन्द्रवंश एवं सूर्यवंशके पुत्र-पौत्रादिका क्रमपूर्वक वर्णन किया एवं दोनों वंशोंके राजाओंके अत्यन्त आश्चर्यजनक दिग्विजय आदि चरित्रोंका भी कीर्त्तन किया है॥ १ ॥

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः॥ २ ॥

हे यतीश्वर! आपने जिस अत्यन्त सद्धर्मपरायण यदुवंशका वर्णन किया, इस समय उस यदुवंशमें भगवान् विष्णु श्रीबलदेवके साथ इस जगत्में अवतीर्ण हुए हैं। उन्हीं विष्णुकी विक्रमपूर्ण लीलाओंका हमारे निकट कीर्त्तन कीजिये॥ २ ॥

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंको प्रेममय बनानेके कारण भूतभावन (जीवोंके पालनकर्त्ता) कहे जाते हैं तथा विश्वके

प्राणीमात्रकी चेतनादि शक्तिके प्रेरक होनेके कारण विश्वात्मा (अन्तर्यामी) कहे जाते हैं। वे ही सबके हितकारी एवं प्रेमास्पद हैं। उन्होंने यादव-कुलमें प्रकटित होकर जिन-जिन लीलाओंका प्रकाश किया, उस लीला-चरितावलीका हमारे लिए क्रमपूर्वक वर्णन कीजिये॥ ३॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्-
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमःश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥ ४॥

उत्तमश्लोक श्रीहरिका गुणानुकीर्त्तन श्रौत-परम्परासे साधित होता रहा है अर्थात् कृष्णानुशीलनके अतिरिक्त अन्य विषय वासनाओंसे रहित मुक्त जनोंके द्वारा श्रीकृष्णके गुण श्रीगुरुमुखसे श्रवणकर बादमें उत्तमरूपसे कीर्तित होते रहते हैं। यह सङ्कीर्त्तन मुमुक्षुओंके लिए भव-रोगकी अचूक ओषधि-स्वरूप है तथा रुचिपरायण भक्तोंके हृदय और कर्णोंको आनन्द प्रदान करनेवाला है। तब पशुघाती व्याध अथवा आत्मघाती अपराधियोंके अतिरिक्त और कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति है, जो इस हरिकीर्त्तनसे क्षणभरके लिए भी विरत हो जाय?॥ ४॥

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयै-
र्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं
कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः॥ ५॥

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥ ६॥

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।

प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥ ७॥

मेरे पितामह युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डवोंको भगवान्‌के चरण 'तरण-साधन' अर्थात् नौकाके रूपमें प्राप्त हुए थे अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णकी पद-पल्लव-तरणीका सम्यक्‌रूपसे आश्रय लेकर कुरुक्षेत्र युद्धमें बड़े-बड़े तिमिङ्गिल जैसे मच्छोंको भी निगल जानेवाले देव-विजयी अर्थात् भीष्मादिरूप अतिरथोंसे (महायोद्धाओंसे) भरे हुए दुष्पार—अति विशाल कुरु-वाहिनी-रूप समुद्रको पाण्डवोंने सहजतासे उसी प्रकार पार कर लिया, जिस प्रकार कोई पथिक रास्तेके गोष्पदको (बछड़ेके खुरसे बने गड्ढेको) अनायास ही पार कर जाय। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जब मेरा शरीर पीड़ित हो रहा था, तब मेरी माता उनके शरणागत होकर रक्षाके लिए उन्हें पुकारने लगी। इसपर श्रीकृष्ण सुदर्शन चक्रको धारण करके मेरी माताके गर्भमें प्रवेश कर गये और कुरु एवं पाण्डव कुलकी उत्तर-पीढ़ीके बीजस्वरूप मेरे (तर्जनीके द्वारा वक्षःस्थलका स्पर्श करते हुए) इस शरीरकी रक्षा की। हे विद्वन् श्रीशुकदेव! जो अपनी इच्छा-शक्तिसे स्वरूपगत नर-शरीर प्रकटकारी हैं, जो समस्त देहोंके अन्तरमें पुरुष एवं बाहरसे कालके रूपमें विराजित होकर संसार एवं मुक्ति प्रदान करते हैं, उन श्रीहरिकी चरितावलीका वर्णन कीजिये॥ ५-७॥

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना॥ ८॥

हे शुकदेव गोस्वामी! आपने पहले कहा था कि द्वितीय-व्यूहमें आद्य नारायण सङ्कर्षणदेव बलराम रोहिणीके पुत्र हैं। यदि देहान्तर स्वीकार न किया जाय, तो रोहिणीके गर्भसे प्रकटित बलदेव पुनः देवकीके गर्भसे प्रकटित हुए हैं—यह सङ्गति किस प्रकार सम्भव है?॥ ८॥

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्द्धं कृतवान् सात्वतां पतिः॥ ९॥

मुक्तिप्रदाता भगवान् श्रीकृष्ण किस कारणसे पितृगृह (वसुदेव-भवन, मथुरा) से व्रज (नन्दालय, महावन) गये थे? सात्वत-पति यदुवंश-शिरोमणि भक्तवत्सल प्रभुने नन्द आदि गोप-बन्धुओंके साथ कहाँ निवास किया था?॥ ९॥

व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः।
भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम्॥ १०॥

ब्रह्मा और शङ्करको भी वशीभूत करनेवाले भगवान् श्रीकेशवने व्रजमें एवं मधुपुरी मथुरामें निवास करते हुए किन-किन लीलाओंका विस्तार किया था और किस कारणसे वधके अयोग्य मामा कंसका स्वयं ही वध कर दिया था?॥ १०॥

देहं मानुषमाश्रित्य कतिवर्षाणि वृष्णिभिः।
यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः॥ ११॥

उन्होंने सच्चिदानन्दविग्रह नित्यस्वरूप मनुष्य शरीरको प्रकटित करके वृष्णिजनोंके साथ द्वारकामें कितने वर्षों तक वास किया था एवं सर्वशक्तिमान् प्रभु श्रीकृष्णकी कितनी रानियाँ थीं?॥ ११॥

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम्॥ १२॥

हे सर्वज्ञ मुनिवर! इन समस्त प्रश्नोंका एवं इनके अतिरिक्त अन्यान्य जो मैंने नहीं पूछा है, उन समस्त कृष्ण-चरितोंका कृपा करके क्रमपूर्वक विस्तारसे वर्णन कीजिये। मैं श्रद्धाके साथ उन्हें सुननेके लिए आतुर हूँ॥ १२॥

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥ १३॥

यद्यपि मैंने (प्रायोपवेशनके लिए) जल-पान तक भी त्याग कर दिया है, तथापि आपके मुख-पद्मसे निःसृत सर्वदुःखहारी

कृष्ण-लीलाकी पीयूष-धाराका पान करनेके कारण अत्यन्त असहनीय यह क्षुधा मेरे श्रवणमें किसी भी प्रकारकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो रही है॥ १३॥

श्रीसूत उवाच—

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं,
वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम्।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं,
व्याहर्त्तुमारभत भागवतप्रधानः॥ १४॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—हे भृगुनन्दन शौनकजी! अनन्तर परमपूज्य, महाभागवत, सर्वज्ञ-शिरोमणि व्यासनन्दन श्रील शुकदेवने इन समस्त साधु एवं युक्तिसङ्गत प्रश्नोंको श्रवण करके परीक्षित् महाराजको साधुवाद प्रदान करते हुए उनका अभिनन्दन किया एवं कलि-कलुष-नाशिनी हरि-लीला कथाको कहना प्रारम्भ किया॥ १४॥

श्रीशुक उवाच—

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः॥ १५॥

श्रील शुकदेवने कहा—हे उत्तम राजर्षे! आपकी बुद्धि भलीभाँति स्थिर एवं निश्चित हो गयी है अर्थात् अत्यन्त उपयुक्त विषयमें लग गयी है, क्योंकि श्रीवासुदेवकी लीला-कथामें आपकी सहज, सुदृढ़ एवं अव्यभिचारिणी (नैष्ठिकी) रति उदित हुई है॥ १५॥

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं प्रच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा॥ १६॥

विष्णुपाद-सम्भूता गङ्गा अथवा श्रीविष्णु (शालग्राम) चरणोदक जिस प्रकारसे ऊर्ध्व (स्वर्ग), मध्य (मर्त्त्य) एवं अधः (पाताल) लोकोंको (त्रिभुवनको) पवित्र करता है, उसी प्रकार वासुदेव-चरित्र विषयक प्रश्न वक्ता, प्रश्नकर्त्ता और श्रोता—इन तीनोंको पवित्र करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ १६॥

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ॥ १७॥

हे परीक्षित्! उस समय शास्त्रमर्यादाका लङ्घन करनेवाले तथा छलपूर्वक अहङ्कारी राजाओंका रूप धारण करनेवाले दैत्य एवं उनकी शत-अयुत (असंख्य) सेनाके भारी भारसे आक्रान्त एवं पीड़ित होकर पृथ्वीदेवी ब्रह्माके शरणापन्न हुई थीं॥ १७॥

गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत॥ १८॥

दुःखसे कातर पृथ्वी गौका रूप धारण करके करुण स्वरसे क्रन्दन करते-करते ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुईं। उनका मुख अश्रुओंसे व्याप्त था। उन्होंने अपने दुर्भाग्यकी सारी बात ब्रह्माजीको कह सुनायी॥ १८॥

ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः॥ १९॥

पृथ्वीकी दुःखभरी कथाको सुनकर ब्रह्माजी मन-ही-मन विचार करने लगे कि विश्वकी रचना करना मेरा कार्य है और पालन करना भगवान् विष्णुका कार्य है। भगवान् विष्णु क्षीरसागरमें रह रहे हैं—अतः वहीं चलकर उन्हें सारी बात निवेदित करना ठीक रहेगा। (इस समय दो कार्य उपस्थित हो गये हैं—पृथ्वीका पालन एवं दैत्योंका संहार। पहले कार्यकी आज्ञा देवेन्द्रको दी जा सकती है और दैत्य-विनाशके लिए श्रीरुद्रको कहा जा सकता है। अतः ब्रह्माजी देवताओंके साथ त्रिलोचनको भी साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर पहुँचे)॥ १९॥

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥ २०॥

वे उस स्थानपर उपस्थित होकर स्थिर चित्तसे वाञ्छाकल्पतरु (समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले), विश्व-रक्षक, देवताओंके

भी देवता, सर्वकष्टहारी, विघ्नविनाशन क्षीरोदकशायी, पुरुषावतार, जगत्के नाथकी पुरुषसूक्तके द्वारा उपासना करते हुए समाधिस्थ हो गये॥ २०॥

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥ २१॥

ब्रह्माने समाधि अवस्थामें ही क्षीरोदकशायी भगवान् द्वारा समुच्चारित आकाशवाणीको सुनकर देवताओंको सम्बोधित करते हुए कहा, "हे देवताओ! आपलोग मुझसे क्षीरोदशायी महापुरुषकी वाणी श्रवण करें और अविलम्ब प्रयत्नपूर्वक उसका पालन करें॥"२१॥

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि॥ २२॥

मेरे निवेदन करनेसे पहले ही भगवान् धरणीदेवीके दुःखको जान गये हैं। वे निखिलेश्वरपति अपनी कालशक्ति द्वारा भू-भार हरण करनेके लिए जितने दिन भूमण्डल पर विचरण करते हुए लीला करेंगे, तब तक आपलोग भी भगवान्के अंशजात पार्षदवर्ग (उद्धव, सात्यकि आदि) के साथ-साथ यदुकुलमें (पाण्डवादियोंके भी) पुत्र-पौत्र आदिके रूपमें जन्म लेकर उनके निकट ही अवस्थित रहें॥ २२॥

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥ २३॥

समस्त ऐश्वर्योंसे युक्त पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव वसुदेवजीके घरमें स्वयं ही प्रकट होंगे। देवपत्नियाँ (उपेन्द्र इत्यादि मन्वन्तरोंकी

पत्नियाँ) उनकी और उनकी प्रियतमा (श्रीराधा) की सेवाके लिए (गोपाङ्गनाओंके रूपमें) व्रजमें जन्म-ग्रहण करें॥ २३॥

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥ २४॥

चतुर्व्यूह-प्रधान भगवान् वासुदेवके प्रथम अंश (प्रकाश-विग्रह) श्रीसङ्कर्षण देश, काल एवं सीमादिसे रहित होनेके कारण 'अनन्त' कहे जाते हैं। विभिन्न अवतार प्रकट करनेके कारण वे अंशरूपमें 'शेष' नामक सहस्रवदन (हजारों मुखवाले) हैं। ये मूलसङ्कर्षण स्वयं प्रकाशित हैं—ये भगवान् श्रीकृष्णकी सेवाकी इच्छासे उनसे पहले प्रकट होंगे॥ २४॥

विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्य्यार्थे सम्भविष्यति॥ २५॥

(अद्वयज्ञानतत्त्व भगवान्की एक ही मायाशक्ति स्वरूपभेदसे उन्मुखमोहिनी और विमुखमोहिनी दो प्रकारकी है। उन्मुखमोहिनी माया गोकुलेश्वरी, अन्तरङ्गा शक्ति एवं योगमायाके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा विमुखमोहिनी माया अखिलेश्वरी बहिरङ्गा जड़मायाके नामसे कीर्त्तित हैं। एक ही माया इन दो प्रकारके स्वरूपोंके द्वारा अप्राकृत एवं प्राकृत दोनों ही जगत्को सम्मोहित करती हैं।) जिस माया द्वारा अप्राकृत एवं प्राकृत—ये दो प्रकारके जगत् मुग्ध होते हैं, वे ही भगवत्-शक्ति—विष्णुमाया भगवान्के आदेशसे स्वांशसे प्रकट बहिरङ्गा मायाशक्तिके साथ कार्य करनेके लिए अर्थात् उन्मुखमोहिनी योगमाया-स्वरूपके द्वारा देवकीके सप्तमगर्भका आकर्षण, यशोदाको निद्राके आवेशमें पहुँचाना आदि कार्य एवं विमुखमोहिनी जड़माया-स्वरूपके द्वारा कंसादिकी वञ्चना इत्यादि कार्योंको साधनेके लिए प्रकट होंगी॥ २५॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दक्षादि प्रजापतियोंके पति ऐश्वर्यशाली ब्रह्माने देवताओंको इस प्रकार आदेश दिया एवं धरणी (पृथ्वी) देवीको विविध वचनोंके द्वारा सान्त्वना देकर अपने परमधाम ब्रह्मलोकको चले गये॥ २६॥

शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा॥ २७॥

प्राचीन कालमें यादवोंके राजा शूरसेन मथुरापुरीमें वास करते हुए माथुरमण्डल एवं शूरसेन-मण्डल नामक प्रदेशोंपर शासन करते थे॥ २७॥

राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः॥ २८॥

उस समयसे वह मथुरा नगरी यदुवंशीय राजाओंकी राजधानी नामसे प्रसिद्ध हुई। उस मधुपुरीमें भगवान् श्रीकृष्ण नित्य विराजमान रहते हैं॥ २८॥

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्॥ २९॥

एक बार शूरवंशीय वसुदेवने उसी मथुरा नगरीमें विवाह किया एवं दूसरे दिन अपनी नव विवाहिता पत्नी देवकीके साथ अपने घर जानेके लिए रथपर आरोहण किया॥ २९॥

उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः॥ ३०॥

उग्रसेन राजाका पुत्र कंस अपनी बहनको प्रसन्न करनेकी इच्छासे घोड़ोंकी रास पकड़कर उस रथको स्वयं ही हाँकने लगा। शत-शत स्वर्णमय रथ उसे घेरे हुए थे॥ ३०॥

चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।
अश्वानामयुतं सार्द्धं रथानाञ्च त्रिषट्शतम्॥ ३१॥

दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते।
दुहित्रे देवकः प्रादाद् याने दुहितृवत्सलः॥ ३२॥

देवकीके पिता कन्या-वत्सल देवक पुत्रीसे अत्यन्त प्रेम करते थे। इसलिए उन्होंने कन्या एवं जामाताको विदा करते समय सुवर्ण-मालाओंसे विभूषित चार-सौ हाथी, दस हजार घोड़े, अठारह सौ रथ एवं इन सबके साथ सुन्दर वस्त्र एवं विविध अलङ्कारोंसे समलङ्कृत दो सौ नव-यौवना दासियाँ दहेजके रूपमें प्रदान कीं॥ ३१-३२॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम्।
प्रयाणप्रक्रमे तात वरवध्वोः सुमङ्गलम्॥ ३३॥

हे वत्स परीक्षित्! वर-वधूकी यात्राके प्रारम्भमें शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग और दुन्दुभि आदि सभीकी एक साथ मङ्गल-ध्वनि होने लगी॥ ३३॥

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध॥ ३४॥

कंस घोड़ोंकी लगाम पकड़कर रथ हाँक ही रहा था कि उसी समय पथमें दैववाणी (आकाशवाणी) उसे सम्बोधित करते हुए कहने लगी—रे मूर्ख! तू जिसे रथमें बिठाकर ले जा रहा है, उसीका आठवाँ गर्भ तेरे प्राणोंका संहार करेगा ('गर्भ' कहा, क्योंकि कन्या दर्शनसे कंसको सन्देह न हो)॥ ३४॥

इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत्॥ ३५॥

भोजकुलका कलङ्क वह पापात्मा क्रूरमति कंस दैववाणीको सुनते ही बहिन देवकीका वध करनेके लिए उद्यत हो गया। उसने एक हाथमें तलवार उठा ली और दूसरे हाथसे उसके केशबन्धन (चोटी) को पकड़ लिया॥ ३५॥

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन्॥ ३६॥

उसी समय धैर्य, गम्भीरता, क्षमा एवं चतुरता आदि गुणोंके महासमुद्र महात्मा वसुदेवजी स्त्री-वध-रूप निन्दित कर्ममें उद्यत, नृशंस, निर्लज्ज, क्रूर कंसको (स्तुति आदि साम मार्गके द्वारा) सान्त्वना देते हुए कहने लगे॥ ३६॥

श्रीवसुदेव उवाच—

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः।
स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि॥ ३७॥

श्रीवसुदेवने कहा—हे कंस! तुम भोजराजवंशके भूषण-स्वरूप हो। वीर तुम्हारी गुणावलीकी प्रशंसा करते रहते हैं। जो ऐसा गुणवान्, महायशस्वी व्यक्ति है, वह विवाहोत्सवके अवसरपर क्या अबला स्त्री-जातिकी—अपनी छोटी बहिनका वध कर सकता है?॥ ३७॥

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥ ३८॥

(यदि तुम कहो कि मृत्युके भयसे बहिनके वधके लिए प्रवृत्त हुए हो, तो भी यह उचित नहीं है।) हे वीर! जो जन्म-ग्रहण करते हैं, उनकी देहके साथ अलक्षितरूपसे मृत्युकी भी उत्पत्ति होती है। आज ही हो अथवा सौ वर्षोंके बाद, देहधारियोंकी मृत्यु निश्चित है—यह अन्यथा नहीं हो सकता। अतः इस निश्चित विषयमें तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है॥ ३८॥

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥ ३९॥

देहकी प्राप्ति एवं त्याग ही जीवके जीवन एवं मृत्यु हैं। जब देह पञ्चत्वको प्राप्त करता है, तब जीव अपने-अपने कर्मके अनुसार अनायास ही दूसरी देहको प्राप्त होता है और पहली देहका त्याग कर देता है॥ ३९॥

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ ४०॥

जिस प्रकार पुरुष चलते समय एक पैर भूमिपर स्थापित करता है और दूसरे पदसे भूमिका त्याग कर देता है एवं जिस प्रकार जोंक एक तृणका आश्रय करके पूर्वाश्रित तृणका त्याग कर देती है, उसी प्रकार देहाभिमानी जीव भी कर्मके अनुसार शुभाशुभ देहको ग्रहण करके पूर्वदेहका परित्याग कर देता है॥ ४०॥

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः॥ ४१॥

संसारमें लोग विभिन्न मनोरथ किया करते हैं। जब वे इस लोकके राजादिको देखते हैं या पारलौकिक इन्द्रादिके ऐश्वर्यके विषयमें सुनते हैं, तो उन्हीं दृष्ट एवं श्रुत विषयोंमें उनका चित्त तल्लीन हो जाता है। इन्द्रादि एवं राजादिके रूप, भोगादिका मनन करते हुए सांसारिक मनुष्य इतने भावुक हो जाते हैं कि जाग्रत अवस्थामें ही सुधबुध खोकर अपनी स्वाभाविक देहको (दरिद्रावस्थाको) भूल जाते हैं। स्वप्न देखते समय भी राजारूपमें अपने शरीरको प्रत्यक्ष मानते हैं और इन्द्रादि रूपोंमें स्वयंको देखा करते हैं। उसी प्रकार जीव भी अपने कर्मोंके वशीभूत होनेके कारण दूसरी देहको प्राप्त करके पहली देहको भूल जाता है॥ ४१॥

यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते॥ ४२॥

मन अति चञ्चल एवं विकार-ग्रस्त है। पञ्चत्व-प्राप्तिकालमें फलाभिमुखी कर्मोंसे प्रेरित होकर अविवेकी जीवका मन मायाके द्वारा रचित विभिन्न पाञ्चभौतिक देहोंमेंसे जिस किसी देहके चिन्तनमें तन्मय हो जाता है अथवा आविष्ट रहता है, तो उसी

मनोधर्मके वशीभूत होकर वह उसी देहमें 'मैं' बुद्धि कर लेता है और उसी विकारग्रस्त मनके साथ दूसरा जन्म-ग्रहण करता है॥ ४२॥

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्,
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति॥ ४३॥

सूर्य, चन्द्रादि ज्योतिर्मय पदार्थ जिस प्रकारसे जलसे भरे हुए मृण्मय घट (मिट्टीके घड़े) अथवा तेल, घी आदि तरल वस्तुओंमें प्रतिबिम्बित होते हैं तथा वायुके प्रवाहसे जलादिमें कम्पनके कारण बड़े या छोटे प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार जीव अपनी अविद्याके कारण कल्पित देह एवं मन आदिमें आसक्त हो जाता है तथा भोगवासनाके कारण मोहित होकर वह शरीरके कृशत्व (दुबला-पतला होना) आदि धर्मको और मनके चिद्-आभास धर्मको आत्मामें आरोपित कर लेता है॥ ४३॥

तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहमाचरेत् स तथाविधः।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥ ४४॥

अतएव जब असत् कर्म ही अशुभ देहका कारण है, तो जो शुभ-अशुभ बुद्धियुक्त पुरुष अपने मङ्गलकी कामना करता है, वह किसीकी हिंसा नहीं करेगा। परद्रोही व्यक्तिको इस लोकमें शत्रुसे एवं परलोकमें यमादिसे निश्चय ही भयकी सम्भावना बनी रहती है॥ ४४॥

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः॥ ४५॥

यह तो अभी छोटी बालिका है और अति दीन है, तुम्हारी छोटी बहन भी है, इसलिए तुम्हारी कन्याके समान ही तुम्हारे स्नेहकी पात्री है। भयसे कातर होकर यह कठपुतलीके समान

अचेतन हो रही है। तुम दीनवत्सल हो, इसलिए इस वत्सलाका वध करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है॥ ४५॥

श्रीशुक उवाच—

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि दारुणः।
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः॥ ४६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुकुलभूषण! कंस अतिशय निष्ठुर और निर्दयी था और उसमें भी वह सर्वदा दैत्योंके परामर्शके अनुसार ही कार्य करता था। अतः वसुदेवने पूर्वोक्त प्रकारसे सामनीतिका प्रयोग करते हुए शान्त वचनोंके द्वारा मित्रताके भावसे उसे समझाया और पारलौकिक भयप्रद वचनोंके द्वारा भय दिखलाया, परन्तु कंस बहिनका वध करनेसे विरत नहीं हुआ॥ ४६॥

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत॥ ४७॥

वसुदेव समझ गये कि यह मन्दबुद्धि कंस बहिनका वध किये बिना माननेवाला नहीं है। वे विचार करने लगे कि इस विकट परिस्थितिका प्रतिकार कैसे किया जाय, कैसे देवकीकी रक्षा की जाय। उन्होंने निश्चय किया कि यह समय तो टाल देना चाहिये॥ ४७॥

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद् बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥ ४८॥

बुद्धिमान् व्यक्तिको, जहाँ तक बुद्धि एवं बल हैं, तब तक मृत्युसे बचनेका उपाय करना चाहिये। (इसके सम्मुख मेरा बल तो विफल ही है, बुद्धि-कौशलसे ही मृत्युके निवारणका प्रयत्न करता हूँ।) यदि प्रयत्न करनेपर भी मृत्युका निवारण नहीं कर सके, तो फिर शरीरधारी जीवका कोई अपराध नहीं होता॥ ४८॥

प्रदाय मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम्।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्॥ ४९॥

विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्॥ ५०॥

कंस साक्षात् मृत्यु-स्वरूप है, अपने सारे पुत्रोंको उसे समर्पित करनेकी प्रतिज्ञा करके इस दीन पत्नीकी रक्षा कर लेता हूँ। (यदि मेरी पत्नीके पुत्र उत्पन्न होनेके पहले ही कंसकी मृत्यु हो जाती है, तो सब प्रकारसे मङ्गल ही होगा।) यदि मेरे पुत्रका जन्म हो जाय और कंसकी स्वतः मृत्यु नहीं होती है, तो मेरा पुत्र क्या उसका विनाश नहीं कर पायेगा? हो सकता है, मेरा पुत्र ही इसे मार डाले। विधाताके विधानको कोई भी टाल नहीं सकता। अभी 'अपने पुत्रको तुम्हें दे दूँगा', इस प्रकार प्रतिज्ञा करके उपस्थित मृत्युसे देवकीको बचा सकता हूँ। बादमें यदि मृत्यु होती है, तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं होगा॥ ४९-५०॥

अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयो-
रदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः
शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१॥

जिस प्रकार लकड़ियोंमें आग लगने एवं बुझनेके लिए दैवके अतिरिक्त कोई अन्य कारण प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता (अर्थात् वन अथवा गाँवमें आग लगनेपर वह अग्नि कभी-कभी समीप स्थित लकड़ी अथवा गृह आदिका परित्याग करके दूर स्थित गृह अथवा लकड़ी आदिको जला देती है, उसका कारण जिस प्रकारसे दैवके [अदृष्टके] अतिरिक्त और कुछ नहीं होता), उसी प्रकार देहधारीके देहसे संयोग एवं वियोगका अदृष्टके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण स्थिर करना दुःसाध्य है॥ ५१॥

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम्॥ ५२॥

वसुदेवका जहाँ तक अपना ज्ञान था, उसके अनुसार उन्होंने इस प्रकार विचार किया। इसके बाद अपने मनको स्थिर करते

हुए उन्होंने कंसके प्रति बहुत सम्मान प्रदर्शित किया और उस पापात्माका अत्यधिक आदर किया॥ ५२॥

प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत्॥ ५३॥

वसुदेवका हृदय दुःखानलसे जला जा रहा था। उन्हें अत्यन्त विषाद हो रहा था, परन्तु कंस अति निर्लज्ज एवं निष्ठुर था। वसुदेव बाह्यरूपसे उसे विश्वास दिलानेके लिए विकसित कमलके समान प्रफुल्लित मुखकमलसे मुस्कुराते हुए इस प्रकार कहने लगे॥ ५३॥

श्रीवसुदेव उवाच—

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद्वै साहाशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥ ५४॥

श्रीवसुदेवने कहा—हे सौम्य! अभी आपने जो दैववाणी सुनी है, उसके अनुसार तो इस देवकीसे आपको कोई भय नहीं है। भय तो आपको इसके आठवें पुत्रसे है। मैं इसके आठवें पुत्रको अथवा आठों ही पुत्रोंको आपके हाथोंमें सौंप दूँगा॥ ५४॥

श्रीशुक उवाच—

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम्॥ ५५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—वसुदेवके यथार्थ वचनोंको सुनकर उसने देवकीका वध करनेका विचार छोड़ दिया। वह यह भी जानता था कि वसुदेवके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। इससे वसुदेवजी सन्तुष्ट हो गये और कंसकी प्रशंसा करते हुए (कि 'तुम्हारी धर्मशीलताका यश सम्पूर्ण संसारमें फैलेगा') अपने घर चले आये॥ ५५॥

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्याञ्चैवानुवत्सरम्॥ ५६॥

सारे देवता देवकीके शरीरमें निवास करते थे, प्रसूतिकाल उपस्थित हानेपर सर्वदेवतामयी देवकीने प्रति वर्ष एक-एक करके आठ पुत्र एवं एक कन्याको (सुभद्राको) जन्म दिया॥ ५६॥

कीर्त्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः।
अप्रयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः॥ ५७॥

प्रतिज्ञा-भङ्गरूप असत्यके भयसे अत्यन्त विह्वल होकर वसुदेवजीने अतिशय मानसिक कष्टके साथ कीर्त्तिमान् नामक प्रथम पुत्रको कंसके हाथोंमें सौंप दिया॥ ५७॥

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥ ५८॥

सत्य-प्रतिज्ञ साधुओंके लिए क्या कोई कार्य कठिन होता है? (अर्थात् नहीं।) जिन्होंने भगवान्को ही एकमात्र वास्तव वस्तु जान लिया है, उन्हें अन्य किसी विषयकी क्या अपेक्षा रहती है? जिनका स्वभाव निन्दित है, उसके लिए कुछ भी अकरणीय नहीं है और जो भगवान्को अपनी आत्मा समर्पण कर चुके हैं, वे किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते?॥ ५८॥

दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ५९॥

हे महाराज परीक्षित्! जब कंसने देखा कि शत्रु और मित्रको समानरूपसे देखनेवाले वसुदेवका अपने पुत्रके जीवन और मृत्युमें समान भाव है और उनकी सत्यमें पूर्ण निष्ठा भी है, तब वह सन्तुष्ट हो गया तथा हँसते-हँसते उनसे कहने लगा॥ ५९॥

प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम्।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल॥ ६०॥

हे वसुदेव! आप इस नन्हे-से सुकुमार पुत्रको ले जाइये, मुझे आपके इस प्रथम पुत्रसे कोई भय नहीं है। दैववाणीके अनुसार आपके आठवें पुत्रसे ही मेरी मृत्यु निर्दिष्ट हुई है॥ ६०॥

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः॥ ६१॥

वसुदेव 'तथास्तु' कहकर पुत्रको लेकर अपने भवनमें चले आये, किन्तु वे उस अजितेन्द्रिय, क्रूर कंसके वचनोंपर विश्वास नहीं कर सके॥ ६१॥

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषाञ्च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥ ६२॥

सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः॥ ६३॥

एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानाञ्च वधोद्यमम्॥ ६४॥

हे भरतवंशके अवतंस (दायाद) परीक्षित्! इधर भगवत्-अभिन्नविग्रह भक्तवर देवर्षि नारद कंसके पास आये और कहने लगे—व्रजवासी नन्द आदि गोपकुल और उन समस्त गोपोंकी पत्नियाँ, वसुदेव आदि प्रमुख वृष्णिवंशीगण, देवकी आदि यदुकुलकी ललनाएँ, नन्द और वसुदेवके ज्ञाति, सजातीय बन्धु और सुहृद्वर्ग एवं जो बाह्यरूपसे तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, वे सब-के-सब देवता हैं, भगवान्के पार्षद हैं। उन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया कि पृथ्वीके भारस्वरूप दैत्योंके संहारकी प्रस्तुति प्रारम्भ हो रही है॥ ६२-६४॥

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुञ्च स्ववधं प्रति॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवञ्च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया॥ ६६॥

देवर्षि नारद जब चले गये, तब कंसको निश्चय हो गया कि सभी यादवलोग देवता हैं। उसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान मात्रको अपनी मृत्युका कारण विष्णु मानकर देवकी और वसुदेवको शृङ्खलाओं (जञ्जीरों) से बाँधकर कारागारमें डाल

दिया। अजन्मा विष्णुसे अपनी मृत्युकी आशङ्का करके जैसे-जैसे उनकी (वसुदेव और देवकीकी) एक-एक सन्तान उत्पन्न होती गयी, वैसे-वैसे वह (कंस) एक-एक करके उनका वध करता गया। (वह प्राकृत जन्म-रहित विष्णुके प्राकट्यको प्राकृत जीवके जन्मके समान समझ रहा था।)॥ ६५-६६॥

मातरं पितरं भ्रातृन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि॥ ६७॥

हे परीक्षित्! इस पृथ्वीपर प्रायः यह बात देखी जाती है कि अपनी इन्द्रियोंका ही पोषण करनेमें सर्वदा व्यस्त रहनेवाले भोगी एवं लोभी राजालोग अपने स्वार्थकी पूर्त्तिके लिए अपनी जननी, जनक, सहोदर, भ्राता, आत्मीयों एवं सुहृदोंका वध कर डालते हैं॥ ६७॥

आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग्विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत॥ ६८॥

पहले (पूर्व जन्ममें) जब कंस इस पृथ्वीपर कालनेमि नामक दुर्दान्त असुरके रूपमें उत्पन्न हुआ था, तब विष्णुने उसका संहार किया था। इस बातको (देवर्षि नारदसे) जानकर कंसने यदुवंशियोंसे घोर विरोध ठान लिया तथा उनके साथ विरुद्धाचरण करने लगा॥ ६८॥

उग्रसेनञ्च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशम स्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

यदु, भोज एवं अन्धकादि वंशोंके अधिपति अपने पिता उग्रसेनको कारागारमें कैदकर महाबली क्रूर कंस 'शूरसेन' नामक राज्यपर स्वयं शासन करने लगा॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके प्रथम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

योगमाया द्वारा सङ्कर्षण-आकर्षण एवं ब्रह्मादि देवताओं द्वारा गर्भगत श्रीहरिका वन्दन

श्रीशुक उवाच—

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्त्तमहाशनैः ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे महाराज परीक्षित्! कंस बड़ा पराक्रमी था, उसे मगध राजा जरासन्धका भी ऐकान्तिक आश्रय था। कंसने प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशी, धेनुक, बाणासुर, नरकासुर एवं अन्यान्य असुर राजाओंके साथ मिलकर यादवोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया॥ १-२ ॥

ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि॥ ३ ॥

इन असुरोंके उत्पातोंसे भयभीत होकर यादवगण कुरु, पाञ्चाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह एवं कोशल आदि प्रदेशोंकी ओर चले गये और वहीं बस गये॥ ३ ॥

एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना॥ ४ ॥

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः॥ ५ ॥

कुछ लोग (अक्रूर इत्यादि) ऊपर-ऊपरसे कंसके मनके अनुसार काम करते हुए उसकी सेवा करने लगे। जब उग्रसेन-पुत्र कंसने एक-एक करके देवकीके छह पुत्रोंको मार डाला, तब

देवकीके हर्ष और शोकको बढ़ानेवाला सप्तम गर्भ प्रकाशित हुआ। यह गर्भ श्रीकृष्णका अंश (अथवा श्रीकृष्णमय धाम) है। विद्वान् व्यक्ति इसका द्वितीय चतुर्व्यूहके सङ्कर्षणके रूपमें वर्णन करते हैं॥ ४-५॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्॥ ६॥

सबके अंशी विश्वात्मा भगवान्ने देखा कि मेरे आश्रित, मेरे अनुगत मेरे निजजन यादव कंससे भयभीत हो रहे हैं, तब उन्होंने अपनी विमलादि चित्-शक्तियोंकी वृत्तियोंमें पञ्चमी वृत्तिविशेषको (ब्रह्मादिको भी मोहित करनेवाली जगत्की कारण-शक्ति योगमायाको) आदेश दिया॥ ६॥

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोप-गोभिरलङ्कृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥ ७॥

हे जगत्पूज्ये! सर्वमङ्गले! तुम गोप, गोपी और गायोंसे अतिशय सुशोभित व्रजमें गमन करो। हे भद्रे! हे देवि! उस नन्द-गोकुलमें वसुदेव-महिषी—रोहिणीदेवी वास कर रही हैं। वसुदेवकी अन्य पत्नियाँ भी कंससे भयभीत होकर वहाँके गोपनीय स्थानोंमें निवास कर रही हैं॥ ७॥

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥ ८॥

(तुम वहाँ जाकर) देवकीके उदरसे गर्भरूपमें स्थित मेरे अंशजात, मेरे द्वितीय स्वरूप अथवा आश्रय सङ्कर्षण जो 'शेष' भी कहे जाते हैं, उन्हें बिना किसी कष्टके आकर्षणकर गोपन रूपसे रोहिणीके उदरमें संस्थापित करो॥ ८॥

अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥ ९॥

हे कल्याणि! इसके बाद मैं भी ज्ञान, बल आदि ऐश्वर्योंके साथ परिपूर्णरूपमें देवकीका पुत्रत्व अङ्गीकार करूँगा और तुम नन्दराज-महिषी यशोदाके गर्भसे जन्म लेना। (तुम्हें यशोदाका वात्सल्य प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि व्रजमें तुम गोपनीयरूपमें रहोगी।) ॥ ९ ॥

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्॥ १०॥

प्राकृत मनुष्य (आत्म-अनात्म-परमात्म तत्त्वको न जाननेवाले) तुम्हें (तुम्हारे विमुखमोहनकारी स्वरूपको) अपनी समस्त प्राकृत (जड़) अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली, समस्त भोग एवं वर प्रदान करनेवाली एवं वरोंकी अधीश्वरी जानकर धूप-दीप, नैवेद्य तथा अन्यान्य उपहारोंसे पूजा करेंगे॥ १०॥

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानाानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥ ११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च॥ १२॥

भूतलपर मनुष्य तुम्हारे लिए बहुत-से स्थान (मन्दिर) बनायेंगे एवं दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका आदि नामोंसे पुकारेंगे। (कृष्णके नाम नित्य होते हैं। वे लोगों द्वारा प्रदत्त अथवा रचित नहीं होते, परन्तु कृष्णकी छाया-शक्तिको लोग विविध नाम प्रदान करते हैं—काशीमें दुर्गा, अवन्तीमें भद्रकाली, उत्कलमें विजया, कोल्हापुरमें वैष्णवी अर्थात् महालक्ष्मी, कामरूप देशमें चण्डिका, उत्तरदेशमें माया एवं शारदा, अम्बिकावनमें अम्बिका तथा कन्याकुमारीमें कन्यका—इस प्रकार अन्यान्य योगपीठोंमें मायादेवी विभिन्न नामोंसे परिचित हैं।) ॥ ११-१२ ॥

गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणाद्बलभद्रं बलोच्छ्रयात्॥ १३॥

देवकीके गर्भसे आकर्षण किये जानेके कारण रोहिणीनन्दन इस भूतलपर 'सङ्कर्षण' नामसे प्रसिद्ध होंगे। गोकुलवासियोंका आनन्द विधान करनेके कारण 'राम' एवं बलकी अधिकताके कारण (अर्थात् सन्धिनी शक्तिके शक्तिमान् विग्रह होनेके कारण) 'बलभद्र' कहे जायेंगे॥ १३॥

सन्दिष्टैवं भगवता तथ्येत्योमिति तद्वचः।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्॥ १४॥

भगवान्का इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर 'वैसा ही करूँगी' यह कहकर योगमायाने भगवान्के वचनोंको सिरोधार्यकर उनकी परिक्रमा की। तत्पश्चात् नन्दगोकुलमें आकर भगवत् निर्देशके अनुसार उन्होंने देवकीके गर्भका आकर्षणकर उसे रोहिणीके गर्भमें स्थापन कर दिया॥ १४॥

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः॥ १५॥

जब योगमायाने देवकीके गर्भका आकर्षणकर उसे रोहिणीके उदरमें स्थापन कर दिया, तब नगरवासी अति उच्च स्वरसे विलाप करने लगे—हाय! हाय! देवकीका गर्भ नष्ट हो गया। लगता है कि कंसने देवकीपर कोई मन्त्र फूँक दिया है अथवा उसे कोई ओषधि दे दी है॥ १५॥

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः॥ १६॥

(इधर) भक्तोंके भय-विनाशक, विश्वात्मा, सर्व-प्रेमास्पद, सर्वैश्वर्य-पूर्ण, भगवान् भी अपने पूर्णस्वरूप अर्थात् पुरुषावतारादि अंश एवं अपनी समस्त कलाओंके साथ वसुदेवजीके मनमें उदित हुए॥ १६॥

स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोऽतिदुर्द्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥ १७॥

वसुदेवजी भगवत्-सम्बन्धी तेजको धारणकर सूर्यके समान दीप्तिमान् हो गये। वे ऐसे दुर्गम हो गये कि कंस आदि किसी भी जीवकी उनके पास जानेकी सामर्थ्य नहीं होती थी। उनकी दुर्द्धर्षता (प्रचण्डता) कंस आदि जीवोंके लिए असहनीय थी॥ १७॥

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं
समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥ १८॥

इसके बाद पूर्व दिशा जिस प्रकार आनन्दप्रद चन्द्रको धारण करती है, उसी प्रकार देवकीने भी वसुदेवके द्वारा विधिपूर्वक दीक्षा विधानसे समर्पित, जगत्-मङ्गलकारी, अक्षय ऐश्वर्यसे युक्त सर्वमूलस्वरूप सर्वात्मा विष्णुको मनके द्वारा धारण किया॥ १८॥

सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥ १९॥

समस्त जगत्के आश्रय-स्वरूप भगवान्की आश्रय-स्वरूपिणी होकर भी देवकी सबको आनन्दित नहीं कर पा रही थीं। कलशमें अवरुद्ध (बन्द) दीपककी शिखा और ज्ञान-खल (ज्ञान-वञ्चक) के द्वारा आबद्ध विद्यादेवीके समान कंसके कारागृहमें बन्द देवकीका तेज उतनी शोभा नहीं पा रहा था॥ १९॥

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी॥ २०॥

देवकीदेवीके अन्तरमें अजित भगवान्के विराजमान होनेके कारण उनकी प्रभासे कारागृह आलोकित रहता था एवं उनके

मुखपर भगवत् आनन्दके कारण सदैव पवित्र एवं मन्द हास्य छाया रहता था। ऐसी देवकीको देखकर कंस मन-ही-मन विचार करने लगा—अबकी बार मेरा प्राण-संहारक हरि निश्चय ही देवकीके गर्भमें प्रविष्ट हो गया है, क्योंकि यह देवकी इससे पूर्व कभी ऐसी दीप्तिमती नहीं थी॥ २०॥

किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे
यदर्थतन्त्रो विहन्ति विक्रमम्।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः॥ २१॥

अब शीघ्र-से-शीघ्र मुझे क्या करना चाहिये? देवताओंका कार्य पूर्ण करनेके लिए प्रकटित श्रीहरि अपना विक्रम त्याग देगा, ऐसा तो हो ही नहीं सकता; स्वार्थपरायण व्यक्ति भी अपने पराक्रमको कलङ्कित नहीं करते। गर्भ-वध करनेसे तो देवकीका वध भी निश्चित है। फिर देवकी स्त्रीजातिकी है, मेरी बहिन है, उसमें भी गर्भवती है, इसका वध करनेसे तत्काल ही मेरी कीर्त्ति, लक्ष्मी और आयु नष्ट हो जायेंगे॥ २१॥

स एष जीवन् खलु सम्परेतो
वर्त्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति
गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्॥ २२॥

जो व्यक्ति क्रूरकर्म करते हुए जीवित रहता है, वह जीवन धारण करते हुए भी मृतकके समान है; क्योंकि सभी लोग उस क्रूर व्यक्तिको अभिशाप देते रहते हैं। मृत्युके बाद उस देहात्म-अभिमानीकी (शरीरको आत्मा मानकर अनिष्ट कर्मोंसे देहका पोषण करनेवालेकी) गति निश्चय ही अन्धतम नरकमें होती है॥ २२॥

इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृतः स्वयं प्रभुः।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत्॥ २३॥

इस प्रकार विविध प्रकारसे विचार करके कंस स्वयं ही गर्भनाशरूप घोरतम क्रूर कार्यसे विरत हो गया, परन्तु हृदयमें भगवान्‌के प्रति नित्य विद्वेषका भाव पोषण करता हुआ उनके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा॥ २३॥

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥ २४॥

कंस जब सिंहासनपर विराजमान होता, शय्यापर सोता, भोजन-पान करता तथा पृथ्वीपर चलता-फिरता—सब समय शत्रुभावसे श्रीहरिका चिन्तन करता रहता। वह चिन्तनमें इतना तन्मय हो गया कि सम्पूर्ण जगत् उसे हरिमय दिखायी देने लगा॥ २४॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन्॥ २५॥

हे परीक्षित्! चतुर्मुख ब्रह्मा और शिव, नारदादि मुनिगणों तथा अपने अनुचर देवताओंके साथ कंसके बन्दीगृहमें आये और सुमधुर वचनोंसे देवकीके गर्भमें विराजमान समस्त-काम-वर्षणकारी (समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले) श्रीहरिका इस प्रकार स्तव करने लगे।

(श्लोकस्थ 'वृषण' से तात्पर्य है—लीलामृतवर्षी 'कृष्ण-मेघ'। आकाशमें घने बादलोंको देखकर जिस प्रकार किसान, मोर, चातक एवं संतप्त प्राणियोंको आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार यहाँ भी कृष्णरूप नवजलधरको देखकर ब्रह्मादिको उल्लास हुआ है। ब्रह्मा चौदह भुवनरूप क्षेत्रके कृषकके समान हैं, शिव उल्लसित साधुओंके पक्षधर नृत्यविनोदी मयूरके समान हैं, नारदादि कृष्णैकजीवन होनेसे उत्कण्ठित चातकके समान हैं और देवतागण कंस, जरासन्धादिरूप दावानलसे आवृत हाथियोंके लिए सिंहके समान हैं)॥ २५॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥ २६॥

हे भगवन्! आप सत्यसङ्कल्प हैं (आप जो सङ्कल्प करते हैं, उसकी सत्यताका संरक्षण करते हैं), आप सत्यव्रत (सत्यकालवर्त्ती, सर्वदेशवर्त्ती एवं सर्वश्रेष्ठ) हैं। सत्य ही आपको प्राप्त करनेका श्रेष्ठ उपाय है, इसलिए आप सत्यपरायण, सत्य परमेश्वर हैं। सृष्टि, स्थिति एवं लय—इन तीनों कालोंमें समानरूपसे वर्त्तमान रहनेके कारण आप त्रिसत्य हैं। आप पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) की उत्पत्तिके मूल कारण हैं, पञ्चभूतकी उत्पत्तिके पश्चात् भी आप उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं एवं प्रलयकालमें (पञ्चभूतोंके विनाशकालमें) भी आप ही एकमात्र अवशिष्ट रहते हैं। आप ऋत (सत्यवचन) एवं समदर्शन—दोनोंके प्रवर्तक हैं। अतः हम सत्यात्मक आपके शरणागत हो रहे हैं॥ २६॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
श्चतुरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥ २७॥

यह समष्टि-व्यष्टि देहात्मक प्रपञ्च ही मूल वृक्षस्वरूप है। एकमात्र प्रकृति ही इस संसाररूप वृक्षका मूल आश्रय है। सुख-दुःख इसके दो फल हैं; सत्त्व, रज और तम—ये तीन इसके मूल हैं; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार इसके रस हैं; पाँच इन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका) इस वृक्षको जाननेके उपाय हैं; शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा (प्यास)—ये छह इसके स्वभाव हैं; त्वक् (चर्म), रुधिर (रक्त), मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—ये सात इस वृक्षकी छाल

हैं एवं मिट्टी, जल, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ इसकी शाखाएँ हैं; मुख आदि नौ द्वार इसके खोडर (छिद्र) हैं एवं दस प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय) इसके पत्र हैं, इसमें जीवात्मा और परमात्मा नामके दो पक्षी विराजमान हैं॥ २७॥

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति-
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये॥ २८॥

हे भगवन्! इस संसाररूप आदिवृक्षके आप ही एकमात्र मूल (उपादान) कारण हैं, आप ही इसके एकमात्र विलय-स्थान हैं, आप ही इसके एकमात्र पालक हैं, किन्तु आपकी माया द्वारा जिनका चित्त आवृत है, वे अज्ञ लोग आपको बहुत रूपोंमें देखते हैं, पण्डित लोग ऐसा नहीं देखते। (तात्पर्य यह है कि सृष्टि, संहार आदि कार्योंके कर्त्तृत्वके मूलमें विष्णु ही एकमात्र स्वतन्त्र कर्त्ता हैं, ब्रह्मा-रुद्रादिका स्वतन्त्र कर्त्तृत्व न रहनेके कारण उन्हें सृष्टि आदि कार्योंका कर्त्ता नहीं कहा जाता। अज्ञ व्यक्ति विष्णुतत्त्वको न जानकर ऐसा सोच लेते हैं कि सृष्टि और संहारके कर्त्ता गुणावतार ब्रह्मा और शिव हैं।)॥ २८॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥ २९॥

आप चिद्घनविग्रह अर्थात् ज्ञानैकस्वरूप हैं। आप स्थावर और जङ्गमात्मक सभी जीवोंका पालन करते हैं। आप इस जगत्के कल्याणके लिए मङ्गलदायक, धार्मिक लोगोंके लिए सुखदायक और दुष्टोंके लिए विनाशक विशुद्धसत्त्वमय मत्स्य आदि रूपोंको

पुनः-पुनः प्रकटित करते हैं। इन रूपोंके द्वारा आप धार्मिक सन्तोंको बहुत सुख देते हैं और दुष्टोंको उनकी दुष्टताके कारण दण्डित भी करते हैं॥ २९॥

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनावेशितचेतसैके　　।
त्वत्पादपोतेन　　महत्कृतेन
कुर्वन्ति　गोवत्सपदं　भवाब्धिम्॥ ३०॥

हे कमलनयन! कुछ प्रधान विवेकी लोग ही आपको विशुद्ध सत्त्वगुणके आश्रयके रूपमें जानते हैं। अतः वे समाधिस्थ होकर पृथ्वीपर प्रकटित आपके शरीर, गुण एवं लीलादिके अतिशय ध्यानमें अपने चित्तको आविष्ट कर देते हैं। ऐसा करके वे महत् लोगोंके आदरणीय आपके चरणकमलरूपी जहाजका अवलम्बन कर भवसागरको बछड़ेके खुरसे बने गड्ढेके समान अनायास ही पार कर जाते हैं॥ ३०॥

स्वयं　समुत्तीर्य　सुदुस्तरं　द्युमन्
भवार्णवं　　भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र　　ते
निधाय　याताः　सदनुग्रहो　भवान्॥ ३१॥

हे स्वप्रकाश! आप भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। आपके चरणाश्रित महाजन इस भीषण एवं सुदुस्तर भव-सागरको स्वयं पार करके आपकी पादपद्म-तरणीको इस लोकमें गुरु-परम्परामें अथवा श्रौतपन्थमें रख गये हैं, क्योंकि ये महाजन सभी प्राणियोंसे अतिशय प्रेम करते हैं।

(आप जिनके अतःकरणोंमें उदित नहीं होते, उनके लिए ही तमःपुञ्जरूप यह संसार समुद्र-तुल्य भयानक एवं दुष्पार होता है, किन्तु प्रेमाभक्तिरूप उदयपर्वतपर आपके उदित होनेपर समस्त अन्धकार स्वयं ही विलीन हो जाता है और संसार-तरण अनायास ही हो जाता है)॥ ३१॥

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२ ॥

यदि कोई कहे कि भगवत्-चरणाश्रयकी क्या आवश्यकता है? शुष्कज्ञानके द्वारा भी तो भवसागर पार किया जा सकता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—हे कमललोचन! जो व्यक्ति अपनेको मिथ्या ही 'जीवन्मुक्त' अभिमान करते हैं, वस्तुतः वे बद्ध ही हैं, क्योंकि आपमें उनकी प्रीति न रहनेके कारण उन लोगोंका चित्त मलिन रहता है। वे सब व्यक्ति कठोर तपस्या और साधनके कष्ट उठाकर किसी प्रकार मोक्षके सन्निकट प्रदेशमें आरोहण करनेपर भी आपके चरणकमलोंका अनादर करनेके कारण वहींसे गिर जाते हैं। भक्ति बिना ज्ञानका प्रयास मरीचिकाके जलके समान है॥ ३२ ॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्-
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥

हे माधव! हे प्रभो! जिन्होंने आपसे प्रीतिका सम्बन्ध जोड़ रखा है, सौहार्द बाँध रखा है, जिनका आपमें दृढ़ विश्वास है, वे परम भक्त अर्थात् आपके निजजन ज्ञानके अभिमान रखनेवालोंके समान कभी भी शुद्ध भक्ति-पथसे भ्रष्ट नहीं होते, बल्कि वे आपके द्वारा सब प्रकारसे सुरक्षित होकर विघ्न डालनेवालोंके सिरपर पैर रखकर निर्भयतापूर्वक विचरण करते हैं॥ ३३ ॥

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥ ३४ ॥

हे भगवन्! आप जगत्‌की स्थितिके लिए समस्त जीवोंके परम मङ्गलसाधक, विशुद्धसत्त्वमय, सच्चिदानन्दमय अपने परम दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं। इस शुद्ध मायातीत, चिन्मय विग्रहके माध्यमसे ही लोग वेदाध्ययनरूप ब्रह्मचारीका धर्म, क्रियायोगरूप गृहस्थका धर्म, वनवास आादि तपस्यारूप वानप्रस्थका धर्म, समाधिरूप यतिका धर्म—इन चार प्रकारके स्वधर्मों द्वारा आपकी पूजा करते हैं। यदि आप शरीर धारण न करें, तो मनुष्योंका कर्मफल सिद्ध नहीं हो सकता॥ ३४॥

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥ ३५॥

हे विधाता! यदि आपका यह विशुद्ध-सत्त्वमय शरीर प्रकटित नहीं होता, तो अज्ञान और अज्ञानकृत भेदको नष्ट करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कारात्मक विज्ञान) सम्भव ही नहीं होता। (श्रीविग्रहके विज्ञानसे ही संसार-बन्धनका क्षय होता है।) जगत्‌में दिखनेवाले तीनों गुण आपके हैं और आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, यह सत्य है, परन्तु इन गुणोंकी प्रकाशक वृत्तियोंसे आपके जड़ बुद्धि आदि गुणोंके अधिष्ठाता ईश्वर-स्वरूपका केवल अनुमान ही होता है, वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु जो आपके विशुद्ध-सत्त्वमय विग्रहके उपासक हैं, आपके पादारविन्दोंके सेवक हैं, वे उपासना-सेवा द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं॥ ३५॥

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-
र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि॥ ३६॥

(देवता लोग अनेक रूपोंमें प्रकाशमान् भगवान्‌को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—) हे देव! हे भक्तवत्सल! श्यामसुन्दर (नाम) अथवा कृपार्द्र-लोचन आदि नामोंके द्वारा, वसुदेव गृहमें प्राकट्य, नन्दगृहमें जन्मादि अथवा भू-भार-हरण, गोवर्धन-धारण, त्रिभङ्गललित आदि लीलाओं द्वारा आपके नाम, गुण, जन्म एवं क्रियादिका निरूपण नहीं हो सकता। यदि ये किसी प्रकारसे वाच्य अथवा ध्येय हो जाएँ, परन्तु विषयोन्मुखी जीवको इनके माधुर्यका साक्षात्‌रूपसे अनुभव नहीं होता। आप अनुमान द्वारा निर्णय लेनेवाले साधकोंके मन एवं वाणीके अगोचर हैं एवं उनके भी साक्षीस्वरूप हैं। श्रवण, कीर्त्तनरूप आदि सेवाभावोंसे अर्थात् भक्तियोगसे भक्तगण आपका साक्षात्कार प्राप्त करते हैं॥ ३६॥

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥ ३७॥

हे भगवन्! आपके चरणकमलोंमें आविष्ट भक्तगण समस्त कार्योंमें आपके परम मङ्गलमय नामों एवं रूपोंका श्रीगुरुमुखसे श्रवणकर कीर्त्तन एवं स्मरण करते हैं तथा दूसरोंको भी स्मरण एवं चिन्तन कराते हैं। वे आपके अनुभवकी प्राप्तिके योग्य हो जाते हैं और उन्हें इस जन्म-मरण-प्रवाहरूप संसारमें आना नहीं पड़ता॥ ३७॥

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्याञ्च तवानुकम्पिताम्॥ ३८॥

हे हरे! (हे सर्वदुःखहारिन्!) आप सर्वेश्वर हैं! आपके चरणकमलोंसे उत्पन्न इस धरतीका गुरुतर भार आपके प्रकट होनेसे ही दूर हो गया, यह हमारा परम सौभाग्य है, परन्तु हमारा

और अधिक सौभाग्य यह होगा कि हम आपके ध्वज, वज्र, अंकुश आदि सुशोभन चरणचिह्नोंसे अङ्कित पृथ्वीको और आपकी कृपासे अलंकृत देवलोकको भी देख सकेंगे॥ ३८॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥ ३९॥

हे ईश! आप असंसारी, अजन्मा होकर भी अपने स्वरूपानन्दके आस्वादनके लिए अर्थात् लीला-विनोदके (क्रीड़ाकौतुकके) लिए जन्म-ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई कारण दिखायी नहीं देता। (कर्मफलबाध्य जीवके समान आपके जन्मादिका कोई कारण नहीं है।) हे नित्यमुक्त! हे अभयाश्रय! आप सर्वाधिष्ठान-स्वरूप हैं। जीवात्माके जन्म, अवस्थान एवं ध्वंस अथवा जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय—ये सब अपाश्रिता (जिसने आपका आश्रय नहीं लिया है) अविद्या द्वारा आपमें आरोपित हैं॥ ३९॥

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनञ्च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥ ४०॥

हे ईश। आपने (पहले भी) मत्स्य, हयग्रीव (अश्व), कूर्म, नृसिंह, वराह, हंस, क्षत्रिय (रामचन्द्र), विप्र (परशुराम) एवं देवताओंके (उपेन्द्र-वामन आदिके) रूपोंमें अवतार धारणकर हम लोगोंका तथा त्रिभुवनका जिस प्रकारसे पालन-परित्राण किया है, इसी प्रकार अब भी आप पृथ्वीका भार हरण कीजिये और हमारी रक्षा कीजिये। हे यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! हम आपकी वन्दना करते हैं॥ ४०॥

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा-
नंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः।

माभूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-
र्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः॥ ४१ ॥

(भगवान्‌की स्तुति करते हुए देवतागण देवकीसे कहने लगे) हे माता देवकी! सौभाग्यसे हमारे मङ्गलके लिए साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीबलदेवके साथ आपके गर्भमें पधारे हैं। अतः मृत्युके अभिलाषी कंससे आपको कोई भय नहीं है। वह स्वयं ही मरना चाहता है। आपके नित्य पुत्र श्रीकृष्ण यदुवंशके रक्षक होंगे॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २ ॥

श्रीशुकदेवने कहा—चिन्मय एवं प्रपञ्चातीत पुरुषोत्तम श्रीविष्णुका इस प्रकार स्तव कर देवता ब्रह्मा और शिवको आगे करते हुए देवलोकमें चले गये॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके द्वितीय अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

भगवान्‌का आविर्भाव, पिता-माता द्वारा स्तुति और वसुदेव द्वारा भगवान्‌को गोकुलमें ले जाना

श्रीशुक उवाच—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥ १॥

दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा॥ २॥

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
द्विजालिकुलसन्नादस्तवका वनराजयः॥ ३॥

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत॥ ४॥

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो समम्॥ ५॥

श्रीशुकदेवने कहा—परीक्षित्! अब समस्त गुणोंसे सम्पन्न अतीव रमणीय काल समुपस्थित हुआ। आकाश स्थित अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि ग्रह एवं अन्यान्य तारागण शान्त हो गये। रोहिणी नक्षत्रका आगमन हुआ। वर्षाकालके बाद शरत्‌कालीन गुणोंसे युक्त होनेके कारण दिशाएँ स्वच्छ एवं प्रसन्न थीं। निर्मल आकाश-मण्डल उज्ज्वल तारोंसे विभूषित था। पृथ्वीपर स्थित बड़े-बड़े नगर, गाँव, गोष्ठ (अहीरोंकी बस्तियाँ), हीरे इत्यादिकी खानें अति मङ्गलमय थे, नदियाँ निर्मल वारिसे परिपूर्ण थीं। सरोवरोंमें कमल खिल रहे थे, रात्रिमें भी दिनकी शोभा उजागर हो रही थी। वनराजियाँ कोकिलादि पक्षियोंके श्रुतिमधुर (कर्णप्रिय) कलरव एवं भ्रमरोंके मनोहारी गुञ्जारसे झङ्कृत हो रही थीं, वृक्षावली रङ्ग-बिरङ्गे पत्र-पुष्पोंसे सुरम्य हो रही थी। परम पवित्र,

शीतल धीर सुगन्धित समीर अपने कोमल स्पर्शसे लोगोंको सुख प्रदान करता हुआ प्रवाहित हो रहा था, जिससे वर्षाकालमें वसन्त-ऋतुका स्मरण हो रहा था। साग्निक अथवा याज्ञिक ब्राह्मणोंकी (कंसके अत्याचारसे) बुझी हुई होम-अग्नियाँ स्वयं ही प्रज्वलित हो उठीं। इसी समय अजन्मा भगवान् विष्णुके अवतरणका क्षण उपस्थित हो गया। असुर-द्वेषी साधुओंके चित्त प्रसन्न हो गये। स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बजने लगीं॥ १-५॥

जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्य्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा॥ ६॥

किन्नर एवं गन्धर्व हर्षोल्लाससे मङ्गलगान करने लगे, सिद्ध एवं चारण भगवान्‌का गुणगान करते हुए स्तव करने लगे एवं विद्याधरियाँ अप्सराओंके साथ आनन्दसे सराबोर होकर नृत्य करने लगीं॥ ६॥

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्॥ ७॥

निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्द्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥ ८॥

देवता एवं ऋषि-मुनि आनन्दसे भरकर पुष्प-वृष्टि करने लगे। जलसे भरे मेघ समुद्रके स्वरका अनुकरण करते हुए मन्द-मन्द गर्जन करने लगे। भाद्र मासकी अष्टमीकी रात्रिका समय था। जन्म-मृत्युके चक्रसे मोचन करनेवाले भगवान् जनार्दन प्रकट होनेवाले थे। चारों ओर घोर अन्धकारका साम्राज्य था। उसी समय पूर्व दिशामें उदित सोलह कलाओंसे पूर्ण चन्द्रके समान सभी जीवोंके हृदय-गुफामें विराजमान् श्रीकृष्ण देवरूपिणी, सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी देवकीदेवीके गर्भसे प्रकट हुए। (कंसादि असुरोंको विमोहित करनेके लिए भगवान् आठवें महीनेमें ही मेघोंके बीच चन्द्रमाके समान प्रकट हो गये, सामान्य बालकके

समान भूमिष्ठ नहीं हुए। ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार चन्द्रमा, मङ्गल, बुध एवं शनि उस समय उच्चस्थ थे, वृष लग्न थी, बुधवार था।) ॥ ७-८ ॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥ ९ ॥

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥ १० ॥

वसुदेवने देखा कि यह बालक तो बड़ा अद्भुत है, इसके दोनों नयन नीलकमलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं, चार कोमल हाथ शङ्ख, गदा, चक्र एवं कमलसे सुशोभित हैं, वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्न-सुवर्णमयी रेखासे अलङ्कृत है, गलेमें कौस्तुभ मणि विराजित है, सुरम्य अङ्गकान्तियुक्त नवीन जलधरके समान श्यामल सुन्दर शरीरपर मनोहर पीताम्बर फहरा रहा है, महामूल्यवान श्रेष्ठ वैदूर्यमणिसे शोभित नील एवं पीत छविसे युक्त त्रिकोण पत्रावलीरूप मुकुट धारण किये हुए है, कुण्डल-युगलकी कान्तिसे सुन्दर-सुन्दर घुँघराले बाल अंशुमालीकी किरणोंके समान चमक रहे हैं। कमरमें दीप्तिमयी करधनी, बाहोंमें सुन्दर बाजूबन्द और कलाइयोंमें आकर्षक कंगन आदि आभूषणोंसे सुशोभित बालकका अङ्ग-अङ्ग अद्भुत छटासे शोभायमान हो रहा है। वसुदेव नवजात शिशुका आपाद निरीक्षण करने लगे॥ ९-१० ॥

स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृश-
न्मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम्॥ ११ ॥

उस समय श्रीहरिका पुत्ररूपमें दर्शन करके वसुदेवके नयन विस्मयसे प्रफुल्लित हो उठे। वे श्रीकृष्ण-जन्म-महोत्सवके अनुष्ठानमें विशेष श्रद्धाके साथ संलग्न हो गये और आनन्दसे ओतप्रोत होकर उन्होंने मन-ही-मन तत्काल ब्राह्मणोंको दस हजार गायें दान करनेका सङ्कल्प कर लिया॥ ११॥

अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं
परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं
विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्॥ १२॥

हे भरतकुलनन्दन! वसुदेवजीके मनमें भगवान्‌के प्रति पुत्रका भाव एवं अपने इष्टदेवकी स्फूर्त्ति दोनों एक साथ जाग उठे। उन्हें निश्चय हो गया कि यह बालक परमपुरुष नारायण है। वे भगवत्-प्रभावको जानते थे, इसलिए निर्भय हो गये। भगवान्‌की अङ्ग-कान्तिसे सूतिका-गृह प्रकाशित हो रहा था। वसुदेवजीने भगवान्‌के चरणोंमें सिर झुकाया और हाथ जोड़कर शुद्ध बुद्धिके साथ उस बालककी स्तुति करने लगे॥ १२॥

श्रीवसुदेव उवाच—

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥ १३॥

श्रीवसुदेवजीने कहा—आप प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता हैं। प्रकृतिके गुणोंसे परे साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, सर्वान्तर्यामी (सबकी बुद्धियोंके साक्षी) एवं विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप साक्षात् भगवान् हैं, यह मैंने जान लिया है॥ १३॥

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥ १४॥

हे आनन्दघनस्वरूप! सृष्टिके प्रारम्भमें आप अपनी विक्षेपात्मिका नामकी माया-शक्तिके द्वारा पहले तो त्रिगुणात्मक विश्वकी सृष्टि करते हैं। अनन्तर इसका स्पर्श मात्र भी किये बिना अन्तर्यामीरूपमें

आप इसमें प्रविष्टके समान लक्षित होते हैं। आप सर्वमय होकर भी आज मेरे सम्मुख इस सूतिका-गृहमें विराजमान हैं॥ १४॥

यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि॥ १५॥

सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः॥ १६॥

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणै-
र्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते
सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥ १७॥

महत्-तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व एवं पञ्च-तन्मात्र इत्यादि अविकारी (अविभाज्य) पदार्थ जिस प्रकार असमान (भिन्न-भिन्न भौतिक) गुणोंसे युक्त एवं पृथक्-पृथक् होकर भी चैतन्यकी प्रेरणा द्वारा (कालवशात्) विकारी (पञ्च महाभूत एवं इन्द्रियादि) सोलह भौतिक पदार्थोंके साथ मिलित होकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं एवं सृष्टिके पश्चात् उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं—ब्रह्माण्डकी सृष्टिके पूर्व ये महत्-तत्त्व आदि कारणरूपमें विद्यमान रहते हैं, अतः ब्रह्माण्डकी सृष्टिके बाद उनका प्रवेश सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सभी पदार्थ आपकी मायाके गुणोंसे लिप्त हो जाते हैं, किन्तु कारणत्वरूपमें प्रविष्ट होनेपर भी आप निर्लिप्त ही रहते हैं। आप रूपादि ज्ञानके द्वारा तो अनुमेय हैं, परन्तु इन्द्रियग्राह्य प्रकृतिके गुणोंके साथ विद्यमान रहकर भी उनके द्वारा गृहीत नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि चक्षु द्वारा जिस प्रकार रूप ग्रहण किया जाता है, किन्तु रसका आस्वादन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु इन्द्रियातीत होनेके कारण आपको ग्रहण नहीं किया जा सकता। (प्रकृतिके गुण तो बन्धनमें डालनेवाले एवं दुःखात्मक हैं, परन्तु आप हैं आनन्दस्वरूप।) आप सभी लोगोंके आत्मस्वरूप

परमात्मा अर्थात् सर्वमय व्यापक वस्तु हैं, इसलिए अखण्ड एवं अनावृत (आवरणरहित) हैं (व्यापक वस्तुका आवरण नहीं हो सकता)। बाह्य एवं अन्तर भेद-रहित आपका गर्भादिमें प्रवेश असम्भव है। आपमें कुछ भी बाहरी या भीतरी नहीं है। आपने कभी भी देवकीके गृहमें प्रवेश नहीं किया, आप पहलेसे ही वहाँ उपस्थित हैं॥ १५-१७॥

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति
व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं
सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥ १८॥

जो व्यक्ति परिदृश्यमान (प्रकृतिके तीन गुणोंसे निर्मित) शरीर आदि (अर्थात् भोग्यमाला, चन्दन, वनिता इत्यादि) पदार्थोंको आत्मासे पृथक् वास्तव (स्वतन्त्र) सत्तायुक्त समझता है, वह वस्तुतः मूर्ख है। विचार करनेपर देखा जाता है कि ये देहादि पदार्थ वाक्-चातुर्य एवं पाण्डित्यके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, प्रवाद मात्र हैं। सर्वदा विद्यमान न रहनेके कारण ये शोक, मोहादि दुःख तथा संसार-प्रवाहको देनेवाले हैं। यथार्थ मनीषी इन पदार्थोंको अवास्तव एवं घृणास्पद मानकर परित्याग कर देते हैं। परित्यज्य वस्तु (देह-गृहादि) को सत्य समझकर ग्रहण करनेवाला किस प्रकार बुद्धिमान् हो सकता है?॥ १८॥

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥ १९॥

हे विभो! विद्वान् व्यक्ति निष्क्रिय, निर्गुण एवं निर्विकार आपसे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं संहार बतलाते हैं। ब्रह्म एवं ईश्वर-स्वरूप आपमें कुछ भी विरुद्ध अथवा असङ्गत नहीं है। सत्त्वादि गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य होते हैं, किन्तु आप

समस्त गुणोंके आश्रय हैं, इसलिए सृष्टि-कर्त्तृत्व आदि आपमें आरोपित होते हैं। (वस्तुतः भगवान् ब्रह्म एवं ईश्वर दोनोंके आश्रय हैं—अतः ब्रह्मस्वरूपका निर्विकारत्व एवं ईश्वर-स्वरूपका सृष्टि-कर्त्तृत्व इन दोनों परस्पर विरुद्ध गुणोंका सामञ्जस्य भगवान्में लक्षित होता है।)॥ १९॥

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया
बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये॥ २०॥

आप गुणातीत होकर भी अपनी मायासे तीनों भुवनोंकी स्थितिके लिए स्व-स्वरूपमें शुद्धसत्त्वमय शुक्ल वर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप), सृष्टिके लिए रजोगुण प्रधान रक्त वर्ण (सृजनकारी ब्रह्मारूप) एवं प्रलयकालमें तमोगुण प्रधान कृष्णवर्ण (संहारकारी रुद्ररूप) धारण करते हैं। (त्रिविध वर्णोंके उल्लेखसे चक्षु द्वारा दृश्य वर्ण नहीं, अपितु सत्त्वादि गुणोंको जानना चाहिये। बक परम तामसी धर्मसे युक्त होकर भी शुक्लवर्ण है, परम सात्त्विक श्रीव्यास एवं शुकादिका वर्ण कृष्ण है। क्षीरोदशायी विष्णुका श्यामवर्ण प्रसिद्ध है, रुद्रका शुक्ल वर्ण है—इसलिए ब्रह्माके रक्तवर्णत्वका इस स्थलपर तात्पर्य नहीं है। ब्रह्मा एवं रुद्रमें जिस प्रकार रजोगुण एवं तमोगुणका योग है, उस प्रकार विष्णुमें सत्त्वगुणको कोई योग नहीं है, क्योंकि सत्त्वगुणमें आवरण एवं विक्षेप नहीं होते। विष्णु उदासीनरूपसे सत्त्वगुणमें अवस्थान करते हैं)॥ २०॥

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु-
र्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-
र्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः॥ २१॥

हे विभो! आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। इस मर्त्यलोककी रक्षाकी अभिलाषासे आप मेरे घरमें अवतीर्ण हुए हैं। कोटि-कोटि असुर क्षत्रिय राजाओंका नाम धारण करके सेनाका अपने सङ्केतोंपर परिचालन करते हैं। अब आप इनका संहार कर डालेंगे॥ २१॥

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे
श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत् सुरेश्वर।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ २२॥

हे देवाधिपते! इस दुष्ट कंसने 'मेरे गृहमें आपका जन्म होगा'—यह सुनकर आपके बड़े भाइयोंका वध कर दिया। अब उसके दूत आपके अवतारका समाचार उसे प्रदान कर देंगे और वह किसी भी क्षण अस्त्र धारण करके यहाँ उपस्थित हो जायेगा। आप अपने इस रूपका संवरण कर लीजिये, मैं काँप रहा हूँ॥ २२॥

श्रीशुक उवाच—

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम्।
देवकी तमुपाधावत् कंसाद्भीता शुचिस्मिता॥ २३॥

श्रीशुकदेवने कहा—अनन्तर कंसके भयसे डरी हुई देवकी महापुरुषके लक्षणोंसे युक्त पुत्रके दर्शनकर अत्यन्त विस्मयके साथ उनकी स्तुति करने लगीं॥ २३॥

श्रीदेवक्युवाच—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥ २४॥

माता देवकीने कहा—हे देव! वेदोंने जिस अव्यक्त (काय, वाक्, मनसे अगोचर) वस्तुको जगत्का कारण बतलाया है,

जिसका ब्रह्म (सर्वापेक्षा बृहत्), ज्योतिर्मय (चेतनमय स्वप्रकाश वस्तु), मायारहित, निर्विकार (शोक, मोहके वशीभूत नहीं), निर्विशेष (साधारण एवं विशेष दोनों भेदोंसे रहित), केवल धर्म-स्वरूप कहकर वर्णन किया है, आप इसी आध्यात्मिक बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं (निराकार, निर्विशेष, ज्योतिर्मय ब्रह्म विष्णुसे पृथक् नहीं हैं, बल्कि उनकी अङ्गकान्ति मात्र हैं)॥ २४॥

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः॥ २५॥

महाप्रलय अर्थात् ब्रह्माकी पूरी आयु—दो परार्द्ध समाप्त होनेपर कालशक्तिके प्रभावसे जब चराचर सारे लोक (चौदह भुवन) नष्ट अर्थात् विलीन हो जाते हैं, तब पृथ्वी इत्यादि पाँचों स्थूल-भूत सूक्ष्म तन्मात्राओंको प्राप्त हो जाते हैं। सभी व्यक्त पदार्थ अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं। आदिभूत अहङ्कार प्रकृति तत्त्वमें लीन हो जाता है। उस समय अनन्त संज्ञक एकमात्र आप ही शेष रहते हैं, इसलिए आपका एक नाम 'शेष' भी है॥ २५॥

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये॥ २६॥

हे प्रकृतिके प्रवर्त्तक! यह सारा विश्व जिस कालके अधीन होकर चलता है, जो निमेषसे वर्ष तक अनेक विभागोंमें विभाजित है, उस सर्वसंहारक महान् कालको सारे वेद विष्णुस्वरूप आपकी लीलामात्र कहकर वर्णन करते हैं। आप सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं एवं परम कल्याणके आश्रय हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ। मुझे अभय प्रदान कीजिये॥ २६॥

मर्त्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
सुस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥ २७॥

यह मर्त्त्यलोक मृत्युरूप कालसर्पसे अत्यन्त भयभीत है। यह रक्षा एवं आश्रय हेतु ब्रह्मादि सभी लोकोंमें भ्रमण करता रहता है, परन्तु कालरूप सर्प उसके पीछे-पीछे भागता है—इसे कहीं भी निर्भय स्थान नहीं मिलता। आज सौभाग्यसे—आपकी महत् कृपासे प्राप्त शक्तिके बलसे आपके चरण-कमलोंका आश्रय प्राप्त करके यह (मर्त्त्यलोक) स्वस्थ होकर सुखपूर्वक सो रहा है। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इस मर्त्त्यलोकसे दूर भाग गयी है (कंसके भयसे केवल मैं ही विह्वल हूँ)॥ २७॥

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न-
स्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि।
रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं
मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः॥ २८॥

आप भक्तोंके भयहारी हैं। हम दोनों महाभयङ्कर, दुर्दान्त कंससे बहुत ही डरे हुए हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये। आप अपने इस ध्यानगम्य, अलौकिक, अप्राकृत, चतुर्भुज, विष्णुरूपको स्थूल देहाभिमानियोंके चर्मचक्षुओंके समक्ष प्रकट न करें। (वे इसके दर्शनकी योग्यता नहीं रखते।)॥ २८॥

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥ २९॥

हे मधुसूदन! चञ्चलमति मैं आपके लिए कंससे उद्विग्न (अधीर) हो रही हूँ। अतएव मेरे गर्भसे आपके जन्म-ग्रहणका समाचार वह पापी कंस जिस प्रकार जान नहीं पाये, ऐसा उपाय कीजिये॥ २९॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥ ३०॥

हे विश्वात्मन्! शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित आप अपना यह अलौकिक चतुर्भुजरूप छिपा लीजिये॥ ३०॥

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्त्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥ ३१॥

आपसे ऐसा अलौकिक रूप गोपन करनेके लिए क्यों कह रही हूँ, सुनिये। आप परमपुरुष हैं, प्रलयकालमें चराचरात्मक इस ब्रह्माण्डको आप स्व-तनु-मन्दिरमें (अपने श्रीविग्रहमें) स्वाभाविक रूपसे धारण करते हैं, वही ब्रह्माण्ड-विग्रह विष्णुरूपी आप आज मेरे गर्भवासी हुए हैं। यह आपकी अद्भुत मनुष्यलीला नहीं तो और क्या है? अहो! यह मनुष्योंके लिए असम्भव होनेके कारण अत्यन्त उपहासका विषय है। (लोग कहेंगे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके आधारस्वरूप भगवान् मेरे गर्भसे प्रकट हुए हैं, कैसी विडम्बना है?)॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः॥ ३२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पतिव्रता-शिरोमणे! मैं केवल इसी जन्ममें तुम्हारे गर्भमें आया हूँ, ऐसा नहीं है। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पूर्वजन्ममें तुम पृश्नि नामसे उत्पन्न हुई थीं एवं शुद्धचित्त ये वसुदेव सुतपा नामके प्रजापति थे॥ ३२॥

युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः॥ ३३॥

अनन्तर तुम दोनोंने ब्रह्माके आदेशसे प्रजाकी सृष्टिके लिए इन्द्रियोंका संयम करके कठोर तपस्या आरम्भ कर दी॥ ३३॥

वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोध-विनिर्धूतमनोमलौ ॥ ३४ ॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥ ३५ ॥

तुम दोनोंने वर्षा, वायु, धूप, शीत और उष्ण आदि कालके समस्त गुणोंको निरन्तर सहन किया, क्रमशः प्राणायाम आदि द्वारा तुम्हारे चित्तकी मलिनता दूर हो गयी। जो पत्ते वृक्षसे गिर जाते थे, उन सूखे पत्तोंको ही तुम दोनों खा लिया करते थे और कभी तो मात्र वायुका ही सेवन करके रह जाते थे। इससे तुम्हारा चित्त अत्यन्त शान्त हो गया था। अभीष्ट फल प्राप्तिकी आशासे तुम दोनोंने मेरी सम्यक् आराधना की थी॥ ३४-३५॥

एवं वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम्।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥ ३६ ॥

तुमने मुझमें ही अपने चित्तको आविष्ट कर दिया था। इस प्रकार अत्यन्त दुःसाध्य घोर तपस्या करते-करते बारह हजार दैव-वर्ष बीत गये॥ ३६॥

तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥ ३७ ॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥ ३८ ॥

हे पुण्यमयी देवि! उस समय तुम्हारी निरन्तर कठोर तपस्या, तपस्यासे उत्पन्न साधनभक्ति-विषयक श्रद्धा और श्रद्धासे उत्पन्न भक्तिसे आराधित एवं सन्तुष्ट होकर वरदाताओंमें श्रेष्ठ मैं तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करनेकी इच्छासे इसी रूपसे (इसी देहसे) तुम्हारे सम्मुख प्रकट हुआ था एवं मेरे 'अभीष्ट वर माँगो'—यह कहनेपर तुम दोनोंने मुझ-जैसा आकृति-विशिष्ट पुत्र माँगा था॥ ३७-३८॥

अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ देवमायया॥ ३९॥

चिरकालसे तुम्हारा ग्राम्य विषयों (मैथुनादि) से कोई सम्बन्ध न था और न ही तुम्हारी कोई सन्तान थी। उस समय पुत्रस्नेहमयी मेरी वैष्णवी मायासे मोहित होकर (वात्सल्य रसास्वादनके आनन्दके कारण) तुम लोगोंने मुक्तिकी प्रार्थना नहीं की॥ ३९॥

गते मयि युवां लब्ध्वा वरं सत्सदृशं सुतम्।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ॥ ४०॥

तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हुए, तुम्हें मेरे समान पुत्र-प्राप्तिरूप वर प्राप्त हुआ। अभीष्ट वर प्रदान करके मैं वहाँसे अदृश्य हो गया। अनन्तर पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे तुम विषयादिका भोग करने लगे॥ ४०॥

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥ ४१॥

मैंने देखा कि इस लोकमें सच्चरित्र, सरलता, उदारता तथा अन्य गुणोंमें तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है, इसलिए त्रेतायुगमें मैं तुम दोनोंका पुत्र हुआ और 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ॥ ४१॥

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥ ४२॥

पुनः दूसरे जन्ममें तुम हुईं अदिति और वसुदेव हुए कश्यप। उस समय भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ। मेरा नाम 'उपेन्द्र' हुआ। शरीर छोटा होनेके कारण लोग मुझे 'वामन' भी कहते थे॥ ४२॥

तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥ ४३॥

अयि पतिव्रता-शिरोमणे! अब इस तीसरे जन्ममें भी वही रूप धारणकर मैं तुम्हारे पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ हूँ। तुम दोनों वही पृश्नि एवं सुतपा तथा अदिति एवं कश्यप हो। मेरी इस वाणीको सत्य समझना॥ ४३॥

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥ ४४॥

मैंने पूर्व जन्मका स्मरण करानेके लिए ही तुम दोनोंके समक्ष इस अलौकिक चतुर्भुज रूपको प्रकट किया; अन्यथा केवल मनुष्य शरीरसे मेरे अवतारका अर्थात् मेरे स्वरूपका (विष्णु-आविर्भावका) ज्ञान नहीं हो सकता था। (मेरा परिपूर्णस्वरूप मनुष्याकार द्विभुज ही है।)॥ ४४॥

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥ ४५॥

तुम दोनों निरन्तर मेरे प्रति पुत्र-भाव एवं भगवत्-भाव रखना। अनुरागमय वात्सल्य-भाव और भगवद्भावसे चिन्तन करते-करते तुम्हारा चित्त मुझमें आसक्त हो जायेगा और तुम परमगतिको प्राप्त करोगे॥ ४५॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥ ४६॥

श्रीशुकदेवने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीहरि यह कहकर मौन हो गये एवं माता-पिताके देखते-ही-देखते अपनी योगमाया शक्तिसे उसी समय साधारण शिशु बन गये अर्थात् स्वभावसिद्ध अपने नित्यरूपको धारण कर लिया॥ ४६॥

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया॥ ४७॥

अनन्तर भगवान्‌की प्रेरणासे वसुदेव जिस समय बालकको गोदमें धारण करके सूतिका-गृहसे बाहर निकलनेकी अभिलाषा कर रहे थे, उसी समय यशोदाने भगवान्‌की आत्मशक्तिरूपिणी अजन्मा योगमायाको प्रसव किया॥ ४७॥

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ।
द्वारश्च सर्वाः पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥ ४८ ॥

ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः
शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन् फणैः॥ ४९ ॥

योगमायाने अपने प्रभावसे द्वारपाल एवं पुरवासी सभीकी चेतनाको हर लिया। इससे उन सबकी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गयीं और वे निद्रित हो गये। सूर्यका उदय होनेपर जिस प्रकार अन्धकार स्वयं ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार बालकृष्णको लेकर वसुदेवजी बाहर जानेके लिए जैसे ही तत्पर हुए, वैसे ही विशाल लौह-कपाटोंमें लोहेकी कीलोंसे युक्त एवं लौह-शृङ्खलाओं (जञ्जीरों) द्वारा बँधे हुए सुदृढ़ ताले अपने-आप खुल गये। मेघ मन्द-मन्द गर्जनके साथ वर्षा कर रहे थे, अतः छत्राकारमें अनन्तनाग द्वारदेशसे आरम्भ करके अपने फनोंसे वर्षाको रोकते हुए महाभाग्यशाली कृष्णवाहक वसुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे। (शय्या, आसन, परिधान, पादुका, छत्र, चामर इत्यादि रूपोंमें अनन्तदेव श्रीकृष्णकी क्या सेवा नहीं करते?)॥ ४८-४९ ॥

मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्त्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः॥ ५० ॥

इन्द्रदेव निरन्तर जल-वर्षण कर रहे थे, जिससे यमुना नदीका जल और भी गहरा हो गया तथा उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त होकर वेगपूर्वक प्रवाहित होने लगा। चारों ओर तरल फेन-ही-फेन परिलक्षित हो रहे थे। सैकड़ों भीषण आवर्त्त (भँवर) व्याकुलता उत्पन्न कर रहे थे। समुद्रने जिस प्रकार रामचन्द्रको पथ प्रदान कर दिया था, यमुनाने भी उसी प्रकार वसुदेवजीको मार्ग दे दिया॥ ५०॥

नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान् सुषुप्तानुपलभ्य निद्रया।
सुतं यशोदाशयने निधाय तत्-
सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥ ५१॥

तदनन्तर वसुदेव नन्दरायके गोकुलमें गये एवं वहाँ सभी गोपोंको योगनिद्राके प्रभावसे नींदमें बेसुध (अचेत) देखा। उन्होंने अपने पुत्रको महानिधिके समान गूढ़ भावसे यशोदाकी शय्यापर सुलाकर कन्याको (योगमायाको) कंसकी वञ्चनाके लिए ग्रहण कर लिया और पुनः कंस-कारागारमें उपस्थित हो गये॥ ५१॥

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः॥ ५२॥

कारागारमें पहुँचकर वसुदेवने उस कन्याको देवकीकी शय्यापर रख दिया। बादमें अपने पैरोंको लोहेकी बेड़ियोंसे बाँधकर वे पहलेके समान ही आबद्ध होकर बन्दीगृहमें स्थित हो गये॥ ५२॥

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

सद्यः प्रसूता होनेके कारण यशोदा परिश्रमसे क्लान्त थीं। योगमायाने उनकी स्मरण-शक्तिको हर लिया था। वह इतना ही

जान पायीं कि सन्तान उत्पन्न हुई है—वह पुत्र है या कन्या—यह भलीभाँति जान न पायीं॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तृतीय अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

देवी चण्डिकाके वचनोंको सुनकर कंस द्वारा दुष्ट मन्त्रियोंके बाल-हिंसारूप परामर्शको अपने हितमें मान लेना

श्रीशुक उवाच—

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! इसके बाद नगरके सारे द्वार पहलेके ही समान भीतर एवं बाहर दोनों ओरसे स्वयं ही बन्द हो गये। तब नवजात शिशुकी रोदन-ध्वनिको सुनकर द्वारपालोंकी नींद टूटी और घरमें पाले हुए कुत्तेके समान वे उठ खड़े हुए॥ १॥

ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते॥ २॥

उन्होंने अविलम्ब ही कंसके समीप उपस्थित होकर उसे देवकीके सन्तानके जन्मका समाचार निवेदन किया, जिसका कंस बड़ी उत्कण्ठासे प्रतीक्षा कर रहा था॥ २॥

स तल्पात् तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन्मुक्तमूर्द्धजः॥ ३॥

समाचार सुनते ही कंस हड़बड़ाते हुए शीघ्र उठ बैठा तथा 'यह शिशु मेरा कालस्वरूप है'—यह सोचकर व्याकुल हो गया। वह उसी क्षण सूतिका-गृहकी ओर झपटा। उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि उसके बाल बिखरे हैं। रास्तेमें कई स्थलोंपर लड़खड़ानेके कारण वह गिरते-गिरते बचा॥ ३॥

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि॥ ४॥

कारागारमें कंसके पहुँचनेपर सती देवकी अत्यन्त दुःख और कातर (दीन) भावसे (लोभ उदित करानेके लिए) उससे कहने लगीं—हे कल्याण (हे मङ्गलबुद्धे)! यह कन्या तो आपकी भावी पुत्रवधू होगी। (बलपूर्वक कन्याको छीनते देखकर कहा) यह स्त्री-जातिकी है, अबला है—इस कन्याकी हत्या करना आपके लिए उचित नहीं है॥४॥

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम्॥५॥

भैया! आपने दैवकी प्रेरणासे मेरे अग्नितुल्य तेजस्वी बहुत-से पुत्रोंको मार डाला है। आपका क्या दोष है? मेरा ही दुर्दैव है। अब केवल यही एक कन्या बची है, इसे तो मुझे दे दो। मेरी गोद सूनी न करो॥५॥

नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम्॥६॥

हे प्रभो! हे भाई! मेरे बहुत-से पुत्र मर गये हैं। मैं अत्यन्त दीना एवं निःसहाया हूँ। आपकी छोटी बहिन हूँ; अतएव मुझ मन्दभागिनीकी बची हुई एकमात्र अन्तिम सन्तानको प्रदान करना आपके लिए उचित है॥६॥

श्रीशुक उवाच—

उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत्।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः॥७॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—देवकीने कन्याको अपनी ही कन्याके समान वक्षःस्थलपर दोनों हाथोंसे छिपा लिया और अतिशय दीनतापूर्वक क्रन्दन करती हुई कंससे प्रार्थना करने लगीं, परन्तु दुरात्मा कंसने देवकीको डाँट-डपटकर उनके हाथोंसे उस कन्याको बलपूर्वक छीन लिया॥७॥

तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम्।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः॥८॥

कंसने नवजात भाँजीके दोनों पैरोंको पकड़कर वेगपूर्वक पत्थरकी चट्टान पर पटक दिया। स्वार्थबुद्धिने उसके हृदयसे सौहार्दको समूल नष्ट कर दिया था। आत्मीयताका भाव उसमें रह ही नहीं गया था॥ ८॥

सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णकी अनुजा (छोटी बहिन) योगमायादेवी कंसके हाथोंसे नीचे पटके जानेपर भी आकाशकी ओर उछलीं और कंसके मस्तकपर पदाघात करती हुईं आकाशमें चली गयीं। वहाँ वे शूल आदि अस्त्रोंसे युक्त अष्टभुजामूर्त्तिके रूपमें दिखायी दीं॥ ९॥

दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुःशूलेषुचर्मासि-शङ्खचक्रगदाधरा॥ १०॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्॥ ११॥

वे देवी दिव्यमाला, वस्त्र, अङ्ग-विलेपन (चन्दन आदि) और रत्न आभूषणोंसे विभूषिता थीं। वे अपनी महाभुजाओंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र, गदा धारण किये हुई थीं। अप्सरा, किन्नर, नाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि उनकी पूजा हेतु बहुमूल्य सामग्री प्रदानकर उनकी वन्दना कर रहे थे। वे कंससे कहने लगीं—॥ १०-११॥

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा॥ १२॥

रे मूढ़! मेरा वध करके तुझे क्या फल प्राप्त होगा? तेरे पूर्वजन्मका शत्रु एवं तेरा संहारक किसी अन्य स्थानपर जन्म-ग्रहण कर चुका है। इसलिए व्यर्थ ही निर्दोष शिशुओंकी हत्या मत कर॥ १२॥

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह॥ १३॥

भगवती योगमाया कंससे इस प्रकार कहकर वहाँसे अदृश्य हो गयीं और भूतलपर अर्थात् वाराणसी आदि विभिन्न स्थानोंपर अन्नपूर्णादि विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध और पूजित हुईं॥ १३॥

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।
देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्॥ १४॥

देवीकी बात सुनकर कंस स्तम्भित रह गया। मानुषी देवकीसे दुर्गादेवी कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? दैववाणी किस प्रकार मिथ्या हो सकती है? कंसने देवकी एवं वसुदेवको बन्धनसे मुक्त कर दिया और अति विनीत भावसे उनसे कहने लगा—॥ १४॥

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः॥ १५॥

मेरी प्यारी बहन! प्यारे बहनोई! जिस प्रकार राक्षस निर्दयतापूर्वक अपनी सन्तानकी हिंसा करते हैं, हाय-हाय! उसी प्रकार मुझ पापात्माने तुम्हारी अनेक सन्तानोंकी हत्या कर दी॥ १५॥

स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः।
काँल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन्॥ १६॥

मैं अतिशय निर्दय एवं क्रूर हूँ। मैंने अपने ही भाई-बन्धुओं और सुहृदोंका त्याग कर दिया। अब तो मैं ब्रह्मघातीके समान सदा (जीवनभर) अनुताप ही करता रहूँगा। मैं नहीं जानता, इस देहके छूटनेके बाद मुझे किस नरकमें जाना पड़ेगा?॥ १६॥

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्त्या एव केवलम्।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवान् शिशून्॥ १७॥

हाय! केवल मनुष्य ही मिथ्या नहीं बोलते, देवता भी मिथ्या कहते हैं। मैंने उनके वचनोंपर विश्वास करके अपनी ही बहिनके बालकोंको मार डाला। ओह! मैं कैसा घोर पापी हूँ!॥ १७॥

मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतं भुजः।
जान्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते॥ १८॥

हे महाभाग! तुम दोनों बड़े महात्मा हो। दुर्गादेवी तुम्हारी कन्याके रूपमें उत्पन्न हुई हैं। उन शिशुओंको तो अपने प्रारब्धके अनुसार फल मिला है। अतः उनके लिए शोक मत करो। प्राणी दैवके वशमें होनेके कारण सर्वदा एकत्र नहीं रह पाते॥ १८॥

भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः॥ १९॥

जिस प्रकार इस लोकमें मिट्टी आदिसे निर्मित वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, उसी प्रकार आत्मासे पाञ्चभौतिक देह उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है। कलश आदिके नष्ट होनेपर मिट्टी जिस प्रकार नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार इस पाञ्चभौतिक शरीरके जन्म-मरण होनेपर भी जीवात्मा स्वयं विकृत अथवा नष्ट नहीं होती॥ १९॥

यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्त्तते॥ २०॥

जो लोग इस तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानते, वे नाशवान् शरीरको आत्मा मान बैठते हैं अथवा पृथक्-पृथक् शरीरको ही पृथक्-पृथक् आत्मा समझ लेते हैं और इसी भेद-ज्ञानसे देहके जन्म-मरणको आत्माका जन्म-मरण मान बैठते हैं। बहिन! इसी भेद-ज्ञानसे पुत्रादिका देहके साथ संयोग सुखका कारण और उस देहका वियोग उनके लिए दुःखका कारण होता है। जब तक यह अज्ञान रहता है, तब तक संसार-जनित सुख-दुःखका अन्त नहीं हो सकता॥ २०॥

तस्माद्भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः॥ २१॥

मेरी कल्याणमयी बहिन! जिस प्रकार सारे जीव ही दैववश अपने किये हुए कर्मोंका फल भोग करते हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा

मारे गये अपने पुत्रोंके लिए शोक मत करो। इच्छा न रहनेपर भी अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़ता है॥ २१॥

यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्।
तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्॥ २२॥

जीव जब तक अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं जानता, तब तक आत्म-ज्ञानसे रहित होकर "मैं मर गया हूँ, मैंने मार दिया है" इस प्रकारसे आत्मापर विनाश्य-विनाशक भावकी कल्पना कर लेता है। देहादिमें आत्माभिमान रखनेवाले मूर्ख लोग आत्माके बाध्य-बाधक भाव अर्थात् यह वध्य है, यह घातक है—इस प्रकार कर्म-कर्त्तृत्व भावको प्राप्तकर उसके फल सुख-दुःखादिको प्राप्त करते हैं॥ २२॥

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः।
इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत्॥ २३॥

सत्य है, सत्य है, मैं महादुष्ट तथा पापी हूँ। मैंने जान-बूझकर अति घोर पाप किया है। आप महानुभाव हैं, दीनोंके प्रति दयावान हैं। आप मेरी दुष्टताको क्षमा कीजिये। यह कहकर कंसने अपनी बहन एवं बहनोईके चरण पकड़ लिये। उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे॥ २३॥

मोचयामास निगडाद् विश्रब्धः कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवञ्च दर्शयन्नात्मसौहृदम्॥ २४॥

तदनन्तर योगमायाके वचनोंपर विश्वासकर कंसने आत्मीयता दिखाते हुए देवकी एवं वसुदेवको लोहेकी बेड़ियोंसे मुक्त कर दिया॥ २४॥

भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्तरोषा च देवकी।
व्यसृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह॥ २५॥

देवकीने जब भाईको इतना अनुताप करते देखा, तो उसके प्रति क्रोधका परित्याग कर दिया। सन्तानके लिए जिस शोकसे

वे सन्तप्त हो रही थीं, उस शोकका भी त्याग करते हुए उन्होंने कंसके अपराधोंको क्षमा कर दिया। तत्पश्चात् वसुदेव हँसते हुए कंससे कहने लगे॥ २५॥

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः॥ २६॥

हे महाभाग! आपने जो कहा, वह वस्तुतः सत्य ही है, क्योंकि जीव आत्मविषयक अज्ञानके कारण ही शरीर आदिको 'मैं' मान बैठते हैं और इसी अहं बुद्धिसे अपने-परायेका भेद कर लेते हैं॥ २६॥

शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः॥ २७॥

ये भेद-बुद्धिपरायण जीव शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मदमें इतने डूबे रहते हैं कि वस्तुओंके वास्तविक विनाशकर्त्ता परमेश्वर ही हैं—यह नहीं जान पाते। उनकी समझमें मनुष्य, गौ, अश्व इत्यादिके विनाशके कारण राजा, व्याघ्र, रोगादि ही हैं। कोई अहङ्कारविमूढ़ तो स्वयंको कर्त्ता मानकर ईश्वरका कर्त्तृत्व देख ही नहीं पाता, जबकि वास्तवमें ईश्वर ही प्रेरक होकर एक भावसे दूसरे भावका अर्थात् एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नाश करा रहे हैं॥ २७॥

श्रीशुक उवाच—

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद् गृहम्॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं—परीक्षित्! देवकी एवं वसुदेवने प्रसन्न होकर इस प्रकार निष्कपट वचनोंसे कंसको सान्त्वना दी और कंस उनकी अनुमति लेकर अपने भवनमें चला गया॥ २८॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।
तेभ्य आचष्ट तत् सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया॥ २९॥

अनन्तर जब रात्रि बीत गयी, तब कंसने मन्त्रियोंको बुलाया और 'तेरा संहारक किसी अन्य स्थानपर जन्म ले चुका है' इत्यादि योगमायाने जो कुछ कहा था, वह सब उन मन्त्रियोंको बतलाने लगा॥ २९॥

आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥ ३०॥

कंसके असुर मन्त्री स्वभावतः देवताओंसे द्वेष करते थे। दुष्ट विषयोंमें तो वे निपुण थे, किन्तु यथार्थ विषयोंमें अनिपुण थे। स्वामी कंसकी बातें सुनकर वे देवताओंसे और भी अधिक चिढ़ गये और कहने लगे—॥ ३०॥

एवं चेत् तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।
अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्॥ ३१॥

हे भोजराज! यदि वस्तुतः ऐसा ही है, तो हम आज ही नगर, ग्राम एवं जनपदमें जन्मे हुए, चाहे वे दस दिनोंसे कम हों या अधिक, इस वयके सारे शिशुओंको मार डालेंगे॥ ३१॥

किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव॥ ३२॥

देवता लोग तो युद्ध-भीरु, डरपोक हैं, वे सर्वदा आपके धनुषकी टंकारसे बेचैन रहते हैं। अतः वे युद्धके लिए प्रयास भी करें, तो आपका क्या अनिष्ट कर लेंगे?॥ ३२॥

अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः॥ ३३॥

युद्ध-भूमिमें जैसे ही आप देवताओंपर बाण चलाते हैं, उनमेंसे कुछ तो आपके बाणोंकी वर्षासे घायल हो जाते हैं और जान बचाते हुए समर-भूमिको छोड़कर चारों ओर भागने लगते हैं॥ ३३॥

केचित् प्राञ्जलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद्भीताः स्म इति वादिनः॥ ३४॥

कुछ देवता तो इतने दुर्बल हैं कि भयभीत होकर अस्त्र-शस्त्र त्यागकर आपके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं, तो कुछ अन्य देवता इतने डरे हुए हैं कि अपनी चोटीके बाल तथा कच्छ खोलकर आपकी शरणमें आकर कहते हैं, 'हम आपसे भयभीत हैं। हमारी रक्षा करें॥'३४॥

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसंवृतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः॥ ३५॥

हे स्वामी! आप उन देवताओंका वध नहीं करते, जिनके पास रथ नहीं होता, जो अस्त्र-शस्त्र भूल आते हैं, जो आपसे डरते हैं, विषयासक्तिके कारण युद्धसे विमुख रहते हैं, जिनका धनुष टूट जाता है, जो युद्धसे विराम ले लेते हैं। अतः अब यह धर्मका समय नहीं है, आप धार्मिकताको छोड़ दें॥ ३५॥

किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा।
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता॥ ३६॥

देवता युद्धक्षेत्रमें तो नहीं, हाँ युद्धक्षेत्रसे अन्यत्र (जहाँ कोई लड़ाई-झगड़ा न हो) निर्भय स्थानपर बड़ी-बड़ी बातें करते हुए अपनी वीरताका प्रदर्शन करते हैं; अपनी स्त्रियोंके समीप ही अपने शौर्य-बलको प्रकट करते हैं, ऐसे देवताओंसे हमें क्या भय है? विष्णु अथवा शम्भुका पराक्रम हमारे समान है ही नहीं, हमें उनसे डरनेका कोई कारण नहीं है। आपके भयसे विष्णु तो सर्वदा लोगोंके हृदयमें एकान्तमें वास करता है, उसमें बल होता तो हमारे समक्ष आकर युद्ध न करता? शम्भु आपसे डरकर इलावृत नामक वनमें रहता है। (जहाँ पुरुष यदि प्रवेश करें, तो वे स्त्री बन जाते हैं।) इन्द्र तो नितान्त शक्तिहीन है और ब्रह्मा सदैव तपस्यामें लीन रहता है। अतः जो आपसे डरकर

इधर-उधर छिपे हुए हैं, उनसे हमें क्या डर हो सकता है?॥ ३६॥

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान्॥ ३७॥

तथापि देवताओंकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, यह हमारा परामर्श है, क्योंकि अन्ततः वे हमारे शत्रु ही हैं। नीति-शास्त्रकी रीति है कि क्षुद्र शत्रुको भी छोटा न समझे। अतः उन्हें जड़से उखाड़नेके लिए हम जैसे विश्वासपात्र सेवकोंको नियुक्त कीजिये॥ ३७॥

यथामयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभि-
र्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते॥ ३८॥

जब मनुष्यके शरीरमें कोई रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा नहीं की जाती—उसकी उपेक्षा कर दी जाती है, तब वह रोग अपनी जड़ें जमा लेता है और शरीरमें पूरी तरह समा जाता है, इस प्रकार वह रोग असाध्य हो जाता है अथवा जिस प्रकार प्रथम अवस्थामें इन्द्रियोंकी उपेक्षा कर दी जाय, तब उनका दमन असम्भव हो जाता है, उसी प्रकार यदि शत्रुको दुर्बल जानकर उसकी उपेक्षा कर दी जाय, तब वह अधिक शक्ति सञ्चय करके प्रबल हो जाता है और फिर उसे पराजित करना असाध्य हो जाता है॥ ३८॥

मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः॥ ३९॥

विष्णु ही देवताओंका मूल है। जहाँ अनादि-सिद्ध, वेद-प्रसिद्ध सनातन धर्म होता है, वह वहीं निवास करता है। वेद, गौ, ब्राह्मण, तपस्या एवं दक्षिणासे युक्त यज्ञादि उस (सनातन) धर्मके मूलस्वरूप हैं॥ ३९॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः॥ ४०॥

हे राजन्! इसलिए हमलोग सब प्रकारसे वेदज्ञ ब्राह्मण, याज्ञिक तपस्वी एवं यज्ञके लिए घी आदि, हवि-प्रदायिनी गायोंका सम्पूर्णरूपसे विनाश कर डालेंगे॥ ४०॥

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः॥ ४१॥

ब्राह्मण, गाय, वेद, तपस्या, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, सहिष्णुता एवं यज्ञ—ये सब विष्णुके शरीर हैं॥ ४१॥

स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड्गुहाशयः।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्॥ ४२॥

सबकी हृदय-गुफामें छिपकर रहनेवाला वह विष्णु ही दैत्योंका प्रधान शत्रु है एवं वही समस्त देवताओंका प्रधान नायक है। शिव एवं ब्रह्माके साथ सभी देवता उसी विष्णुका आश्रय करके रहते हैं। उस विष्णुके मूल हैं—ब्रह्मवादी ऋषि-मुनि। इन ऋषि-मुनियोंको (तपस्वियोंको) मार डालना ही उस विष्णुके वधका उपाय है। इनके मर जानेपर यज्ञादि नहीं होंगे और यज्ञोंके न रहनेसे विष्णुकी भी सत्ता नहीं रहेगी॥ ४२॥

श्रीशुक उवाच—

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह संमन्त्र्य दुर्मतिः।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः॥ ४३॥

श्रीशुकदेवने कहा—काल-पाशमें बँधे हुए दुर्मति दैत्य कंसने दुष्ट मन्त्रियोंके साथ इस प्रकार परामर्श करके स्थिर किया कि याज्ञिक ब्राह्मणोंका वध ही उसके मङ्गल-साधनका उपाय है॥ ४३॥

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥ ४४॥

इसके बाद कंसने पर-पीड़न-प्रिय (जिन्हें दूसरोंको दुःख देना अच्छा लगता है) एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ दानवोंको सर्वत्र सज्जनोंका उत्पीड़न एवं वध करनेका आदेश दिया और अपने महलमें प्रवेश कर गया॥ ४४॥

ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः॥ ४५॥

परीक्षित्! वे असुर तमोगुणी थे, इसलिए उन्हें हित-अहितका कोई विवेक न था। रजः-प्रकृति कंसके अनुचरोंने साधुओंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया। हे राजन्! जो सत्पुरुषोंसे विद्वेष करते हैं, उनकी मृत्यु उनके सिरपर सवार रहती है॥ ४५॥

आयुः श्रियं यशोधर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

हे राजन्! साधुओंको कष्ट देनेसे व्यक्तिकी आयु, सौभाग्य, यश, धर्म, लोक-परलोक, समस्त मङ्गल एवं सारे शुभ विषय विनष्ट हो जाते हैं॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चतुर्थ अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

गोकुलमें भगवान् श्रीकृष्णका जन्मोत्सव एवं मथुरामें वसुदेवके साथ मिलनोत्सव

श्रीशुक उवाच—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः॥ १॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा॥ २॥

श्रीशुकदेवने कहा—महामना नन्दरायका हृदय बड़ा उदार था। पुत्रका जन्म होनेपर वे आनन्द-सागरमें डूब गये। उन्होंने स्नान किया एवं पवित्र होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा अलङ्कार धारण कर लिये। वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलाकर उनसे स्वस्तिवाचन एवं पुत्रका जातकर्म अदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न करवाये। देवताओं एवं पितरोंका भी अर्चन करवाया॥ १-२॥

धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलङ्कृते।
तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान्॥ ३॥

नन्दमहाराजने ब्राह्मणोंको वस्त्र-रत्नादि आभूषणोंसे विभूषित बीस लाख गायें एवं रत्नों तथा सुनहरे (सोनेके तारोंसे जड़े हुए) वस्त्रोंसे आवृत तिलके सात पर्वत प्रदान किये॥ ३॥

कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया।
शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया॥ ४॥

(आवश्यक विविध दानादि एवं जातकर्म संस्कार द्वारा बालककी गर्भ-शुद्धि होती है—इन्हीं शोधक तत्त्वोंको बतलाते हैं)—हे राजन्! कालके द्वारा भूमि, स्नानसे देह, प्रक्षालनसे वस्त्र, संस्कारोंसे गर्भ, शौचसे (स्वच्छतासे) अपवित्र वस्तुओंसे लिप्त

द्रव्यादि, तपस्यासे इन्द्रियादि, यज्ञसे ब्राह्मण, दानसे धनादि द्रव्य, सन्तोषसे मन एवं आत्मविद्यासे (परमात्माके स्वरूप-ज्ञानसे) अथवा भगवत्-भक्तिसे जीवात्माकी शुद्धि होती है॥ ४॥

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः॥ ५॥

उस समय ब्राह्मणगण स्वस्तिवाचन करने लगे (मङ्गलमय आशीर्वाद वचन कहने लगे), सूत (पौराणिक आख्यान कहनेवाले), मागध (राजाओंके वंशका वर्णन करनेवाले) और बन्दीजन (समयानुसार प्रस्तावित विषयका वर्णन करनेवाले चारण) स्तुति करने लगे। गायक मङ्गल-गीत गाने लगे। भेरी एवं दुन्दुभियाँ बार-बार बजने लगीं॥ ५॥

व्रजः संमृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६॥

व्रजपुरमें स्थित सभी घरोंके द्वार, आङ्गन, मध्यभाग एवं भीतरी भागोंको झाड़-बुहारकर सुमार्जित एवं चन्दन, पुष्पादिके रस (इत्र) द्वारा छिड़काव करके सुसिक्त कर दिया गया। सम्पूर्ण व्रजमण्डलको यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाओं, पुष्प-मालाओं, रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्रों एवं नव पल्लवोंकी विविध तोरणों (वन्दनवारों) से सजा दिया गया॥ ६॥

गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः।
विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७॥

गाय, बैल एवं बछड़ेके अङ्गोंमें हल्दी और तेलका छाप लगाया गया तथा उन्हें गैरिकादि विचित्र रङ्गीन धातुओं, मयूर-पुच्छों, फूलोंके हारों, आकर्षक वस्त्रों एवं स्वर्णाभूषणोंसे सजाया गया॥ ७॥

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः॥ ८॥

हे राजन्! सभी गोप बहुमूल्य वसन, आभूषण, अङ्गरखे (कञ्चुक), उत्तरीयवस्त्रों एवं पगड़ियोंसे सुशोभित होकर विविध प्रकारके उपहारकी सामग्रियाँ हाथोंमें ले-लेकर नन्द बाबाके घर पधारे॥ ८॥

गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः॥ ९॥

गोपियाँ भी यशोदाके पुत्र-जन्मका समाचार सुनकर अति आनन्दित हो गयीं। उन्होंने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, अलङ्कार एवं अञ्जन इत्यादिके द्वारा अपना शृङ्गार किया॥ ९॥

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः ।
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः॥ १०॥

उनके मुखपर लगा हुआ नवीन कुङ्कुम ऐसा प्रतीत होता था, मानो कमलपर केसर सुशोभित हो रही हो। विशाल नितम्बवाली इन गोपियोंने अपने-अपने हाथोंमें स्वर्ण-रससे रञ्जित वस्त्रोंसे ढके हुए सोनेसे निर्मित पात्रोंमें रत्नोंके हार, बहुमूल्य वसन, नारियल आदि फल, तण्डुल, दुर्वा, चन्दन एवं पुष्पमालादि धारण कर रखे थे। परम हर्ष और उत्सुकताके कारण वे द्रुत गतिसे नन्द-गृहकी ओर चली जा रही थीं, जिससे उनके कुच-युगल (स्तन) हिल रहे थे॥ १०॥

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११॥

जिस समय गोपियाँ नन्दालयकी ओर जा रही थीं, उस समय उनके कानोंमें अत्युज्ज्वल मणियोंके कुण्डल झिलमिला रहे थे। कण्ठमें स्वर्ण हार एवं दोनों हाथोंमें स्वर्ण-खचित मणि-जड़ित (जड़ाऊ) कङ्गन सुशोभित हो रहे थे। उन्होंने रङ्ग-बिरङ्गे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहन रखे थे। मार्गमें उनकी चोटियोंमें बँधी

पुष्पमालाओंसे पुष्प झड़ रहे थे, मानो वे पथमें ही पुष्प-वर्षण कर रही हों। दोलायमान कुण्डल, हार एवं पयोधरोंसे शोभित होकर वे मार्ग पर चल रही थीं॥ ११॥

ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः॥ १२॥

नन्द-गृह पहुँचकर सभी गोपियाँ सीधे सूतिका-गृहमें पहुँचीं और नवजात बालकको आशीर्वाद प्रदान करने लगीं—'हे लाल! चिरञ्जीव रहो, चिरकाल तक राजा बनकर प्रजाका पालन करो', 'भगवान् इसकी रक्षा करें' इसके बाद वहाँसे बाहर आकर हल्दी, तेल एवं दहीसे मिश्रित जलसे एक-दूसरेपर छिड़काव करने लगीं और उच्च स्वरसे मङ्गल गीत गाने लगीं॥ १२॥

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते॥ १३॥

विश्वेश्वर, अनन्त श्रीकृष्णके नन्दगृहमें शुभागमनके महोत्सवपर तीनों भुवनोंमें अद्भुत वाद्य बजने लगे। (अखण्ड ऐश्वर्य, माधुर्य, वात्सल्य आदि गुणोंसे युक्त श्रीकृष्णका जन्मोत्सव धूमधामसे मनाया गया। अनन्तका स्वागत अनन्त वाद्य यन्त्रोंसे हुआ)॥ १३॥

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः॥ १४॥

सभी गोप आनन्दमें ऐसे मतवाले हो गये कि दही, दूध, घी एवं जलादि द्रव्य या तो एक-दूसरेपर उलीचने लगे या आनन्दपूर्वक इधर-उधर फेंकने लगे। वे मक्खनको भी एक दूसरेके मुख एवं अङ्गोंमें मलने लगे और नन्द-आङ्गनकी फिसलनभरी कीचड़में कभी छिपने लगे और कभी एक-दूसरेको बलपूर्वक गिराने लगे। इस प्रकार व्रजवासी अनूठी रीतिसे नन्दरायजीके पुत्रका जन्मोत्सव मनाने लगे॥ १४॥

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम्।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः॥ १५॥

तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत्।
विष्णोराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च॥ १६॥

श्रीनन्दमहाराज महा-उदारमना थे। उन्होंने गोप-गोपियोंके लिए एवं नृत्य-गीत-वाद्य-शस्त्र-शास्त्रादि अन्यान्य विद्याओंसे जीविकाका निर्वाह करनेवाले सूत, मागध, बन्दीजन आदिको वस्त्र, आभूषण एवं गौएँ प्रदान कीं। समागत लोगोंको विद्या, वयस एवं गौरवादिके अनुसार माला, चन्दन, ताम्बूलादि दिये और उत्साहप्रद वचन भी कहे। जिसने जो माँगा, वदान्यवर नन्दरायने उसे वही देकर उसका यथोचित सत्कार किया। विष्णुकी आराधना एवं उनके लिए दानादि करनेसे विष्णु सन्तुष्ट होते हैं—अतः अपने पुत्रके समस्त प्रकारके मङ्गलके उद्देश्यसे नन्दजीने दानादिके द्वारा भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट किया। उन्होंने नवग्रह एवं दिक्पालोंका भी अर्चन किया॥ १५-१६॥

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता।
व्यचरद्दिव्यवासस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥ १७॥

श्रीनन्दराजने महाभाग्यवती (कृष्णकी वात्सल्य-लीलाका दर्शन प्राप्त होनेसे वे महाभागा कही गयी हैं) रोहिणीदेवीका अभिनन्दन करते हुए कहा, 'आपके शुभागमनसे ही यह पुत्र हुआ है।' यह कहकर उन्होंने उन्हें भी दिव्य वसन और कण्ठहार आदि आभूषणोंसे विभूषित किया। रोहिणीजी वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित होकर वहाँ आयी हुईं स्त्रियोंके सम्मानके लिए इधर-उधर विचरण कर रही थीं। इस समय उन्हें न तो पतिके बन्धनके कष्टका स्मरण रहा और न ही अपने विरह-दुःखका॥ १७॥

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप॥ १८॥

हे राजन्! उसी दिनसे (श्रीकृष्णके प्रकटकालसे) नन्दव्रज सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियोंसे अत्यन्त समृद्ध हो गया। भगवान्के नित्य निवास और अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण वह लक्ष्मीजीका

विहार-स्थल (समस्त सम्पत्तियोंका क्रीड़ा-स्थल) बन गया। ('रमाक्रीडम्' पद श्रीकृष्णके आविर्भावके पश्चात् सर्वलक्ष्मीमयी श्रीराधिकाके आविर्भावको सूचित करता है। नन्दबाबाके भर-भर हाथ लुटाने पर भी वहाँ कोई कमी नहीं रह सकती थी।)॥ १८॥

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह॥ १९॥

हे कुरुकुलरक्षक! नन्दरायको चिर-प्रतीक्षित पुत्र-महानिधि प्राप्त हुई थी। शुभ कार्यमें बहुत विघ्न आते हैं, इसलिए उन्होंने देवताओं, पितरों, दिक्पालों, ग्रहों—सभीको प्रसन्न किया था। अब देशाध्यक्ष दुष्ट राजा कंसको स्वर्णमुद्रा, रत्न एवं वस्त्रादि देकर प्रसन्न करना चाहिये। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। यह सोचकर वार्षिक कर प्रदान करनेके छलसे नन्दमहाराज मथुरा चले गये। गोकुलकी रक्षाके लिए उन्होंने बलिष्ठ गोपोंको नियुक्त कर रखा था॥ १९॥

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम्।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्॥ २०॥

परम मित्र एवं भाई नन्दमहाराज मथुरामें आये हैं और उन्होंने कंसको कर प्रदान कर दिया है—जब वसुदेवजीको यह ज्ञात हुआ, तो वे उस स्थानपर गये, जहाँ नन्दबाबा ठहरे हुए थे॥ २०॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम्।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः॥ २१॥

अचानक आये हुए प्रियतम वसुदेवको देखकर नन्दबाबा अत्यन्त आनन्दित और प्रेमविभोर हो गये, मानो मूर्च्छित देहमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। वे आसनसे तुरन्त उठ खड़े हुए और उन्होंने वसुदेवको दोनों भुजाओंमें भरकर अपने हृदयसे लगा लिया॥ २१॥

पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः।
प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते॥ २२॥

हे महाराज परीक्षित्! वसुदेव नन्दबाबाके द्वारा पूजित एवं समादृत होकर आसन पर बैठ गये। अपने दोनों पुत्रोंके प्रति स्नेह-आसक्तिके कारण वसुदेवजीका चित्त उनमें ही लगा हुआ था। वे नन्दबाबासे कुशल-मङ्गल पूछते हुए इस प्रकार कहने लगे— ॥ २२॥

दिष्ट्या भातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत॥ २३॥

वसुदेवने कहा—हे भाई! इतने वर्षों तक सन्तानहीन होनेके कारण तुमने परिणत वयस (ढलती उम्र) में सन्तानकी आशा भी छोड़ दी थी, परन्तु यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि अब तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई है॥ २३॥

दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः।
उपलब्धो भवानद्य दुर्ल्लभं प्रियदर्शनम्॥ २४॥

बड़े भाग्यसे आज तुम्हें पाकर मैंने मानो पुनर्जन्म प्राप्त किया है, क्योंकि इस संसार-चक्रमें अपने प्रियजनोंका दर्शन अति दुर्लभ है। (अथवा इस संसार-चक्रमें रहते हुए भी जैसे पुत्ररूपमें तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है, इसीको मैं परम सौभाग्य मानता हूँ। इतने दिनों तक तुम्हारा दर्शन प्राप्त न होनेके कारण मैं मर-सा रहा था।)॥ २४॥

नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम्।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा॥ २५॥

जैसे नदीके प्रबल प्रवाहमें तरङ्गोंसे परिचालित तिनके, लकड़ी आदिका एक स्थानपर मिलन दुर्लभ है, वैसे ही भाग्यकी विचित्रतासे सगे-सम्बन्धी और प्रेमियोंका भी एक स्थानपर रहना सम्भव नहीं, जबकि वह सबको प्रिय लगता है। वस्तुतः सबका प्रारब्ध अलग-अलग होता है॥ २५॥

कच्चित् पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम्।
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः॥ २६॥

आजकल तुम बन्धु-बान्धवों एवं स्वजनोंके साथ मिलकर जिस महावनमें (बृहद्वनमें) रह रहे हो, वह पशुओंके लिए हितकर तो है न? वहाँ कोई रोग तो नहीं है? वह स्थान प्रचुर जल, घास, लता-पत्र आदिसे परिपूर्ण है न?॥ २६॥

भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः॥ २७॥

भाई! मेरा पुत्र (बलदेव) अपनी माँ (रोहिणी) के साथ तुम्हारे व्रजमें रहता है। यशोदादेवी एवं तुम अपने पुत्रके समान ही उसका लालन-पालन करते हो। यह तो तुम दोनोंको ही माता-पिता मानता होगा। वह तुम्हारे व्रजपुरमें अपनी माँके साथ सकुशल रह रहा है न?॥ २७॥

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥ २८॥

शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम मनुष्योंके लिए इसलिए बतलाये गये हैं, जिनसे स्त्री, पुत्र और स्वजनोंको सुख मिले। सुहृदोंको कष्ट प्राप्त हो—ऐसे धर्म, अर्थ और काम हितकारी अथवा सुखदायक नहीं हो सकते। (स्त्री-पुत्रके विच्छेदसे मैं पुत्रादि-पालनका सुख प्राप्त नहीं कर सकता—अतः मेरा गृहस्थाश्रम किसी कामका नहीं है)॥ २८॥

श्रीनन्द उवाच—

अहो ते देवकी पुत्राः कंसेन बहवो हताः।
एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता॥ २९॥

श्रीनन्दमहाराजने कहा—तुम जिस व्रजकी कुशल-क्षेम पूछ रहे हो, मैं इस विषयमें क्या कहूँ? तुम्हारे दुःखसे मैं महादुःखी हो रहा हूँ। हाय! कंसने देवकीसे उत्पन्न तुम्हारे बहुत-से पुत्रोंको मार

डाला। मात्र एक कन्या बची थी, वह भी आकाशमें अदृश्य हो गयी। (यह सुनकर वसुदेवजी बड़े निःशङ्क और आनन्दित हो गये कि नन्दजी कन्याके विषयमें कुछ भी नहीं जानते)॥ २९॥

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति॥ ३०॥

संसारमें जीव निश्चय ही अदृष्ट (भाग्य) पर निर्भर है। पुत्रादिका सुख जब भाग्यमें लिखा नहीं होता, तो पुत्रादि रहते नहीं। भाग्य परम पदार्थ है। यद्यपि पुत्रादिका वियोग होता है, तथापि भाग्यवश उनके साथ पुनर्मिलन भी होता है। जो यह जान लेता है कि सुख-दुःखका कारण भाग्य ही है, वह उन सुख-दुःखसे मोहित नहीं होता॥ ३०॥

श्रीवसुदेव उवाच—

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः।
नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले॥ ३१॥

श्रीवसुदेवने कहा—भाई! तुमने राजा कंसको वार्षिक कर प्रदान कर दिया है एवं मुझसे भी तुम्हारा मिलना हो गया है। अब अधिक समय तक तुम्हारा इस स्थानपर रहना उचित नहीं है, क्योंकि गोकुलमें शत्रुओंके द्वारा अनेक उत्पातोंकी सम्भावना है॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः।
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम्॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे नन्दवसुदेवसङ्गमो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीशुकदेवने कहा—वसुदेवके यह कहनेपर नन्दबाबा आदि गोपोंने उनसे अनुमति ली तथा बैलोंसे जोते हुए छकड़ोंपर सवार होकर गोकुलकी ओर चल दिये॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पञ्चम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

व्रज लौटते समय मृत राक्षसी पूतनाको देखकर नन्दका विस्मित रह जाना

श्रीशुक उवाच—

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन्।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! नन्दबाबा रास्तेमें सोचने लगे कि वसुदेवजीके वचन कभी भी मिथ्या नहीं हो सकते। सम्भवतः गोकुलमें कोई उत्पात हुआ हो, ऐसी आशङ्कासे वे मन-ही-मन अपने मनोहर पुत्र श्रीकृष्णके रक्षणके लिए सर्वभयनाशक अपने इष्टदेव श्रीहरिके शरणागत हो गये॥ १॥

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती-पुरग्रामव्रजादिषु॥ २॥

इधर भीषण स्वभाववाली बालघातिनी (बच्चोंको मारनेवाली) पूतना नामकी राक्षसी कंस द्वारा नियुक्त होकर नगर, जनपद (ग्राम), गोष्ठ (अहीरोंकी बस्तियों) आदि स्थानोंपर शिशुओंकी हत्या करती हुई भ्रमण कर रही थी॥ २॥

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्त्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि॥ ३॥

(यह सुनते ही राजा परीक्षित् श्रीकृष्णके लिए चिन्तित हो गये। तब श्रीशुकदेव कहने लगे—) हे राजन्! जिस स्थलपर मानव अपने इस लोक और परलोकके कार्योंमें सात्वतपति भक्तवत्सल श्रीकृष्णकी राक्षस-विनाशक लीलाओं और नामोंका श्रवण-कीर्त्तन आदि नहीं करते, उसी स्थलपर राक्षस-राक्षसियोंका प्रभाव बढ़ जाता है, किन्तु जिस स्थानपर श्रीकृष्णका प्रीतिपूर्वक

स्मरण रहता है, वहाँ श्रीकृष्ण स्वयं विद्यमान रहते हैं। उस स्थानपर भयकी आशङ्का किस प्रकार हो सकती है? (सर्वमङ्गल-निधान श्रीगोविन्द स्वयं नन्दालयमें विराजमान हैं।)॥ ३॥

सा खेचर्येकदोत्पत्य पूतना नन्दगोकुलम्।
योषित्वा माययात्मानं प्राविशत् कामचारिणी॥ ४॥

पूतना स्वेच्छाविहारिणी, आकाशचारिणी और कामरूपधारिणी (इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली) थी। कृष्णजन्मसे छठवें दिन रात्रिकालमें उस राक्षसीने मायासे सुन्दरी नारीका वेश धारण किया और आकाश-मार्गसे विचरण करते हुए नन्द-गोकुलमें प्रवेश कर गयी॥ ४॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कल्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्॥ ५॥

वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम्॥ ६॥

उसकी चोटीमें मल्लिकाके पुष्प गुँथे हुए थे, विशाल नितम्ब एवं ऊँचे-ऊँचे स्तनयुगलके भारसे उसकी कमर पतली हो गयी थी, उसके वस्त्र अतिशय सुन्दर थे। कुण्डलोंकी चमक और घुँघराले केशोंकी दमकसे उसका मुखमण्डल अतिशय शोभायमान हो रहा था। वह अपनी मधुर मुसकान और चञ्चल चितवनसे व्रजवासियोंके मनोंको आकर्षित कर रही थी। सभी सोच रहे थे—अहो! कैसा रूप है? कैसा अनुराग है? गोपियाँ उस रूपवती रमणीको देखकर यह विचार कर रही थीं कि अपने हाथमें कमल लिये साक्षात् लक्ष्मीदेवी अपने पति श्रीकृष्णके दर्शनके लिए ही आयी हैं॥ ५-६॥

बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्
यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं
ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि॥७॥

नन्दगोकुलमें वह बालघातिनी पूतना (हत्या करनेके लिए) शिशुओंको इधर-उधर ढूँढ़ती हुई अनायास ही अर्थात् भगवत्-लीलाशक्तिकी प्रेरणासे अन्यत्र (कहीं दूसरी जगह) न जाकर नन्दबाबाके महलमें प्रवेश कर गयी। वहाँ उसने शय्यापर भस्मसे आच्छादित अग्निके समान अपने भगवत्-तेजको छिपाये हुए दुष्ट-विनाशक-बालकरूपी-श्रीकृष्णको एक सामान्य बालकके रूपमें देखा॥७॥

विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं
चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः।
अनन्तमारोपयदङ्कमन्तकं
यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः॥८॥

भगवान् श्रीकृष्ण स्थावर और जङ्गम सभीकी आत्मा हैं। उन्होंने जान लिया कि यह पूतना 'शिशु-विनाशक ग्रहरूपिणी' है। तब (उसका विनाश करनेकी इच्छासे भीरुके समान) उन्होंने अपने दोनों नेत्रोंको मूँद लिया। जैसे सर्पको रज्जु समझकर कोई मूर्ख उसे उठा लेता है, उसी प्रकार पूतनाने अपने कालस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको अपनी गोदमें उठा लिया।

[श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने भगवान् द्वारा नेत्र मूँदनेके पाँच कारण बतलाये हैं—(१) बाल-माधुर्यके कारण अपरिचित पूतनाको देखनेसे भय-प्रदर्शन। (२) अमङ्गलकारी दुष्टका अदर्शन। (३) अपनी दृष्टिके सम्मुख कोई कपट-मूर्त्ति न रह पानेके कारण। (४) मातृवेशधारिणी स्त्रीका वध करनेमें लज्जाके कारण। (५) पूतनाकी मरणकालीन यन्त्रणाको देखनेकी अनिच्छाके कारण]॥८॥

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां
वीक्ष्यान्तरा कोषपरिच्छदासिवत्।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते
निरीक्ष्यमाणे जननी ह्यतिष्ठताम्॥ ९॥

उस राक्षसी (पूतना) का चित्त सुकोमल मखमली म्यानमें रखी तीक्ष्ण तलवारके समान कुटिल था। बाहरसे वह अपनी मधुर चेष्टाओं एवं वात्सल्यभावसे माताके समान प्रतीत हो रही थी। यशोदा एवं रोहिणी देवी उसके स्नेह-प्राकट्य तथा सौन्दर्य-प्रभासे इतनी प्रभावित हो गयीं कि उसे एकटक निहारती रहीं। वे मन-ही-मन सोचती रहीं कि क्या यह अम्बिका देवी है अथवा इन्द्राणी है अथवा मूर्त्तिमती त्रैलोक्य-सम्पत्ति है? यही कारण था कि घरमें आयी उस सुन्दरीको किसीने रोका-टोका नहीं॥ ९॥

तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्-
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत्॥ १०॥

उस भयङ्कर राक्षसी पूतनाने उसी स्थानपर बालक श्रीकृष्णको गोदमें झटसे उठा लिया और भयङ्कर एवं दुर्जर (जो किसी भी प्रकारसे पच न सके) विष लगे हुए स्तनको उसके मुखमें दे दिया। भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधपूर्वक अपने दोनों हाथोंसे स्तनोंको जोरसे दबाया तथा उनकी दुष्ट-संहारिका शक्ति उस राक्षसीके स्तन्य-पानके साथ-साथ उसके अपवित्र प्राणोंका भी पान करने लगी॥ १०॥

सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी
निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह॥ ११॥

उस समय उस राक्षसीके प्राणोंके आश्रय समस्त मार्मिक स्थानोंपर तीव्र पीड़ा होने लगी। असह्य पीड़ाके कारण वह पुकारने लगी—'अरे छोड़ दे, छोड़ दे, अब बस कर!' इस प्रकार कहते हुए वह अपने हाथ-पैर बार-बार इधर-उधर पटक-पटककर रोने लगी। उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया और दोनों नेत्र विस्फारित हो गये (अर्थात् आँखें फट गयीं)॥ ११॥

तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा
साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः
पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया॥ १२॥

उस पूतना राक्षसीके चिल्लानेका वेग अति भयङ्कर एवं गम्भीर था। उसकी भयङ्कर ध्वनिके प्रभावसे पर्वतोंके साथ पृथ्वी और ग्रह-नक्षत्रोंके साथ आकाश विचलित होने लगे। रसातलादि सप्तपाताल, पृथ्वी और सारी दिशाएँ गूँज उठीं। बहुत-से लोग वज्रपातकी आशङ्कासे पृथ्वीपर गिरने लगे॥ १२॥

निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसु-
र्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि।
प्रसार्य्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता
वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप॥ १३॥

हे राजन्! इस प्रकार उस निशाचरी पूतनाके स्तनोंमें इतनी पीड़ा हुई कि वह अपने मायाकृत सुन्दर रूपको रख न सकी। उसका भयङ्कर राक्षसी रूप प्रकट हो गया। उसके शरीरसे प्राण निकल गये, मुख खुला रह गया, बाल बिखर गये और हाथ-पैर फैल गये। इन्द्रके वज्रसे आहत हुए वृत्रासुरकी भाँति वह निष्प्राण होकर बाहर गोष्ठमें जाकर गिर पड़ी॥ १३॥

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तदद्भुतम्॥ १४॥

हे महाराज! उस पूतनाके शरीरने (भूमिपर) गिरते-गिरते छह कोसकी सीमा तकके भूभागमें स्थित (कंसके उद्यानमें स्थित कंसके द्वारा भक्षण किये जानेवाले फलोंसे युक्त) वृक्षोंको चूर्ण विचूर्ण कर डाला। उसका वह शरीर अत्यन्त विशाल एवं आश्चर्यजनक था। (गायोंके उपभोगकी वस्तु होनेके कारण तृणादिको कोई क्षति नहीं हुई थी—उनकी स्थिति यथावत् थी।)॥ १४॥

ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम्।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्द्धजम्॥ १५॥

अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम्।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम्॥ १६॥

सन्तत्रसुः स्म तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम्।
पूर्वन्तु तन्निःस्वनित-भिन्नहृत्कर्णमस्तकाः॥ १७॥

उसका शरीर बड़ा ही भयानक था। मुख हलके दण्डके समान तीक्ष्ण भयङ्कर दाढ़ोंसे युक्त था, नासिकाके छिद्र पर्वतकी गुफाके समान गहरे थे, दोनों स्तन पर्वतके शिखरोंसे गिरे हुए शिलाखण्डोंके समान विशाल थे, ताम्र (लाल) वर्णके बाल बिखरे पड़े थे। उसकी आँखें अन्धे कुएँके समान गहरी एवं नितम्ब नदीके तटके समान भीषण थे। दोनों भुजाएँ, दोनों जाँघें और दोनों पैर नदीके बाँधोंके समान थे एवं पेट जलरहित सूखे सरोवरके समान था। पहले तो उसके भीषण शब्दसे गोप एवं गोपाङ्गनाओंके हृदय, कर्ण और मस्तक विदीर्ण-से हो गये थे, पुनः उसके इस प्रकारके भयङ्कर शरीरको देखकर वे लोग और भी अधिक भयभीत हो गये॥ १५-१७॥

बालञ्च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्।
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८॥

गोपियाँ अत्यन्त घबरायी हुई थीं, परन्तु जैसे ही उन्होंने उस मृत राक्षसीके वक्षःस्थलपर निर्भय होकर खेलते हुए बालगोपाल

श्रीकृष्णको देखा, तो विस्मयसे हर्षित हो उठीं। वे हड़बड़ाती हुईं शीघ्रतापूर्वक दौड़ीं तथा पूतनाके पास पहुँचकर बालक श्रीकृष्णको उठा लिया॥ १८॥

यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः।
रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः॥ १९॥

यशोदा एवं रोहिणीदेवी अब भी अतिशय विकल हो रही थीं। उन्होंने अन्यान्य गोपियोंके साथ समस्त विपत्तियोंसे बालक श्रीकृष्णकी भलीभाँति रक्षाके लिए उसके सभी अङ्गोंपर गायकी पूँछ घुमाना, सूपका स्पर्श कराना आदि माङ्गलिक कार्य किये और करवाये॥ १९॥

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम्।
रक्षाञ्चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः॥ २०॥

गोपियोंने गोमूत्र एवं गोरज द्वारा शिशुको स्नान कराके उसके अङ्गोंमें गोबर लगाया। अनन्तर उसके ललाट आदि बारह अङ्गोंमें केशव, नारायण, माधव इत्यादि भगवान्के भिन्न-भिन्न नामोंका अङ्कन करके बालककी रक्षा की॥ २०॥

गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक्।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत॥ २१॥

किञ्चित् आश्वासन प्राप्त करके गोपियाँ अब विधिपूर्वक बालकका रक्षाविधान करने लगीं। सर्वप्रथम उन्होंने आचमन किया और अपने अङ्गोंमें दोनों हाथोंसे अङ्गन्यास तथा करन्यास किये। बादमें बालकके पैरोंसे लेकर सारे अङ्गोंमें अनुस्वार युक्त अजादि नामका प्रथम अक्षर 'अं' और बादमें 'नमः' से युक्त करके 'अं नमः' (अज नामक भगवान् तुम्हारी रक्षा करें), 'मं नमः' (अर्थात् मणिमान् नामक भगवान् तुम्हारी रक्षा करें) इस प्रकार बालकके अङ्गोंमें बीजन्यास किया॥ २१॥

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तवजान्वथोरू
यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः।

हृत्केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं
विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम्॥ २२॥
चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्
तत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाऽजनश्च।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र-
स्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात्॥ २३॥

हे महाराज! गोपियोंने इन मन्त्रोंसे बीजन्यास किया था—भगवान् अज तुम्हारे दोनों पैरोंकी रक्षा करें, मणिमान् घुटनोंकी, यज्ञपुरुष दोनों जाँघोंकी, अच्युत कटिप्रदेशकी, हयग्रीव जठरकी, केशव हृदयकी, ईश वक्षःस्थलकी, सूर्य कण्ठकी, विष्णु भुजाओंकी, ऊरुक्रम मुखमण्डलकी, ईश्वर मस्तककी, चक्री सम्मुख भागकी, गदाधारी श्रीहरि पश्चात् भागकी, धनुर्धारी मधुसूदन एवं खड्गधारी अजन तुम्हारी दोनों बगलोंकी रक्षा करें। शङ्खधारी उरुगाय चारों कोनोंमें, उपेन्द्र ऊपरके भागमें, गरुड भूतलमें एवं परम पुरुष हलधर चारों दिशाओंमें तुम्हारी रक्षा करें॥ २२-२३॥

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु॥ २४॥

भगवान् हृषीकेश समस्त इन्द्रियोंकी, नारायण प्राणोंकी, श्वेतद्वीपके अधिपति चित्तकी एवं योगेश्वर तुम्हारे मनकी रक्षा करें॥ २४॥

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः॥ २५॥
व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः।
भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः॥ २६॥

पृश्निगर्भ तुम्हारी बुद्धिकी एवं परमेश्वर तुम्हारी आत्माकी रक्षा करें। गोविन्द क्रीड़ा करते समय, माधव शयनकालमें, भगवान् वैकुण्ठ जाते समय, श्रीपति बैठते समय एवं सर्वग्रह विनाशन भगवान् यज्ञभुक् भोजनके समय तुम्हारी रक्षा करें॥ २५-२६॥

डाकिन्यो यातुधान्यश्च कुष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः॥ २७॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः॥ २८॥
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धा बालग्रहाश्च ये।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः॥ २९॥

डाकिनी, यातुधानी (राक्षसी) एवं कुष्माण्डा नामक शिशु-विघ्नकारिणी समस्त ग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना, मातृका इत्यादि, मिर्गी (अपस्मार) और उन्माद (पागलपन) आदि रोग, स्वप्नमें देखे हुए समस्त महा-उत्पात, सभी वृद्धग्रह और बालग्रह, देह-प्राण एवं इन्द्रियोंकी हिंसा करनेवाले—ये सभी विष्णुका नाम लेते ही भयभीत होकर विनष्ट हो जाएँ॥ २७-२९॥

श्रीशुक उवाच—

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम्।
पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम्॥ ३०॥

श्रीशुकदेवने कहा—प्रेमपाशमें बँधी हुई गोपियोंने इस प्रकार बालक श्रीकृष्णकी रक्षा-मङ्गल-क्रिया सम्पादित की। तदनन्तर यशोदादेवीने अपने पुत्रको स्तन-पान कराकर उसे पालनेपर सुला दिया। (बालकका स्तन-पान करना उसकी आरोग्यताका लक्षण है।)॥ ३०॥

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः॥ ३१॥

उसी समय नन्दमहाराज और उनके साथी सभी गोप मथुरासे व्रजमें लौटे। उन्होंने जब पूतनाका भयङ्कर शरीर देखा, तब वे अतिशय आश्चर्यचकित हो गये। वे सोचने लगे—क्या देवराज इन्द्रने किसी पर्वतके पंख काट डाले हैं, जो आकाशमें व्याप्त

होता हुआ वह यहाँ भूमिपर गिर पड़ा है? अथवा हमारी ही स्वाभाविक भ्रान्तिके कारण कोई योगिनी हमें दूसरे स्थानपर ले आयी है? अथवा यह कोई ऐन्द्रजालिक कार्य है?॥ ३१॥

नूनं बतर्षिः सञ्जातो योगेशो वा समास सः।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः॥ ३२॥

वे विचार करने लगे कि हमारे वंशमें वसुदेव महाशय निश्चय ही ऋषि, तपस्वी या योगी हैं। प्रतीत होता है कि वे अष्टाङ्गयोगाभ्यासी हैं, क्योंकि उन्होंने अपने योगचक्षुओंसे मथुरामें ही भावी घटनाको देख लिया था। जिस उत्पातके विषयमें वे बतला रहे थे, व्रजमें आकर हम वही उत्पात देख रहे हैं॥ ३२॥

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः।
दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन् काष्ठवेष्टितम्॥ ३३॥

तब तक व्रजवासियोंने उपानन्द आदिके आदेशसे कुल्हाड़ीसे उस राक्षसीके अङ्गोंके टुकड़े-टुकड़े करके गोकुलसे दूर ले जाकर लकड़ियोंसे भलीभाँति जला दिया। (विषधर प्राणियोंकी उपशान्ति दहनके द्वारा होती है।)॥ ३३॥

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः॥ ३४॥

भगवान् श्रीकृष्णने उस राक्षसीका स्तन-पान किया था, उससे उसके सारे पाप तत्काल ही नष्ट हो गये थे, इसलिए उसे जलाते समय उसके शरीरसे अगुरुके समान सुगन्धित धुआँ उठने लगा॥ ३४॥

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम्॥ ३५॥

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं किन्नुरक्तास्तन्मातरो यथा॥ ३६॥

पूतना अपनी जातिमें प्रसिद्ध राक्षसी थी। बालकोंकी हत्या करना और उनका खून पी जाना उसका स्वभाव था। उसने श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे उन्हें विषलिप्त स्तन-पान कराया, फिर भी उसे सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली परम गति प्राप्त हुई। जब कृष्ण-हननकी इच्छासे ऐसी गति प्राप्त होती है, तो जो उदासीन भावसे, उससे बढ़कर विश्वासपूर्वक, उससे भी अधिक श्रद्धा और भक्ति अथवा प्रीतिपूर्वक भगवान्‌को कोई वस्तु प्रदान करते हैं—इस विषयमें कहना ही क्या है? वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णको कृष्णैकजीवन माताओंकी भाँति कोई अतिशय प्रिय वस्तु अतिशय प्रीतिके साथ प्रदान करे, तो उसे जो सद्‌गति प्राप्त होगी, वह अनिर्वचनीय है। (शुकदेवने यहाँ यशोदा देवीके नामका उल्लेख न करके उन्हें दूरसे प्रणाम करके उनकी महिमा स्थापित की है।)॥ ३५-३६॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम्॥ ३७॥
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावोऽनुमातरः॥ ३८॥

भक्तोंके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके चरणयुगल सदैव विद्यमान रहते हैं। वे चरणयुगल जगत्-पूज्य एवं ब्रह्मा, शिव आदि द्वारा भी वन्दित हैं। (उन्हें भी साक्षात् सेवा प्राप्त नहीं है।) उन्हीं श्रीचरणयुगलसे भगवान्‌ने जिसके अङ्गको दबाकर स्तन्यपान किया था, वह पूतना यद्यपि राक्षसी थी, तथापि उसने माताओं द्वारा प्राप्य स्थानके समान स्वर्ग (वैकुण्ठ-सालोक्य) अर्थात् परम सुखानुभव एवं ऐश्वर्यसे युक्त स्थान प्राप्त किया था। तब श्रीकृष्णने जिनके स्तनोंका दूध बड़े प्रेमसे पान किया है, वे सभी माताके समान गौएँ और माताएँ उससे भी बढ़कर उत्तमा गति प्राप्त करेंगी, इस विषयमें और क्या कहा जाय?॥ ३७-३८॥

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः॥ ३९॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥ ४०॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण मुमुक्षुओंको कैवल्य आदि समस्त प्रकारकी मुक्तियाँ एवं समस्त अभिलषित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। तब जो श्रीकृष्णको नित्यकाल पुत्ररूपमें ही देखती हैं, अत्यन्त पुत्र-स्नेहवश झरते हुए स्तन्यामृतको बालगोपालको प्रदान करती हैं और बालकृष्ण स्वयं नित्य-निरन्तर उस दुग्धामृतका पर्याप्त रूपसे पान करते हैं, ऐसी सभी गोपियों एवं गायोंका अज्ञान-जनित जन्म एवं मृत्युरूप संसार कदापि सम्भव नहीं हो सकता॥ ३९-४०॥

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः॥ ४१॥

नन्दमहाराजके साथ मथुरासे आनेवाले व्रजवासी चिताके धुएँसे उठी सुगन्धको सूँघकर कहने लगे—अरे! यह क्या है? यह सुगन्ध कहाँसे आ रही है? बड़ा आश्चर्य है? यह अगुरुकी धूप-धूम क्या इन्द्रपुरीसे निकलकर पृथ्वीको भेदते हुए सुतलमें जा रही है? अथवा बलिके महलसे निकलकर देवलोकमें जा रही है? अथवा उत्तर दिशामें स्थित कुबेरपुरीसे आ रही है? अथवा पश्चिम दिशामें स्थित वरुणालयसे आ रही है? व्रजवासी इस प्रकार परस्पर बातचीत करते हुए व्रजमें पहुँचे॥ ४१॥

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम्।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन् सुविस्मिताः॥ ४२॥

प्रत्यक्षदर्शियोंने नन्दबाबा आदि गोपोंको पूतना राक्षसीके आनेसे लेकर मरनेतककी सम्पूर्ण घटनाओं तथा श्रीकृष्णकी कुशलताका समाचार बतलाया, तो वे विस्मयसे सन्न रह गये। नन्दराय

मन-ही-मन विचार करने लगे कि वसुदेव धन्य हैं। उन्होंने ठीक ही कहा था कि व्रजमें कोई विपत्ति आ सकती है। बालक निरापद (स्वस्थ) है। अच्छा हुआ! यह अनुग्रह श्रीनारायणके अतिरिक्त और कौन कर सकता है?॥ ४२॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह॥ ४३॥

हे कुरुवंशरक्षक! उदार-शिरोमणि नन्दबाबा मृत्युके मुखसे लौटे अपने पुत्रको गोदमें लेकर एवं उसका मस्तक सूँघकर परम आनन्दित हुए। वे मन-ही-मन कहते जाते थे—हाय! मैं प्रवासमें चला गया, इसलिए यह अनर्थ हो गया। मैं मथुरा गया ही क्यों? द्वारपालोंने उसे (पूतनाको) पुरीमें प्रवेश करने ही क्यों दिया?॥ ४३॥

य एतत्पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूतनामोक्षणं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

जो मनुष्य पूतना-मोक्षरूप श्रीकृष्णकी इस अद्भुत बाल-लीलाका श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेम (परम आसक्ति) प्राप्त करते हैं॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके षष्ठ अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

शकट-भञ्जन, तृणावर्त्त-उद्धार एवं माताको विश्व-दर्शन

श्रीराजोवाच—

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो॥ १॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा
सत्त्वञ्च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं
तदेव हारं वद मन्यसे चेत्॥ २॥

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—प्रभो! परमेश्वर भगवान् श्रीहरि मत्स्यादि अवतार लेकर जो सब लीलाएँ करते हैं, वे मेरे कानोंको अति तृप्त करती हैं और मेरे मनको भी अति प्रीतिकर लगती हैं, तथापि जिन्हें सुननेमात्रसे ही जीवोंके मनकी ग्लानि अर्थात् भगवत्-कथा-श्रवणमें अरुचि उत्पन्न करनेवाली नाना प्रकारकी भोग-वासनाएँ एवं तृष्णाएँ दूर हो जाती हैं तथा चित्त शीघ्र ही शुद्ध होकर भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति कर लेता है, श्रीकृष्णके भक्तोंके प्रति मैत्री और सख्य-भाव स्थापित हो जाता है, ऐसी मधुर एवं मनोहारिणी भगवान्‌की कथाओंको सुननेका मुझे यदि अधिकारी समझते हैं, तो मुझपर अनुग्रहपूर्वक उनका वर्णन कीजिये॥ १-२॥

अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्य-लोकमें अवतार लेकर मनुष्य-जातिके स्वभावका अनुकरण करते हुए पूतना-वधके अतिरिक्त जो दूसरी-दूसरी परम अद्भुत और मनोहर बाल्य-लीलाएँ की हैं, उनका भी वर्णन कीजिये॥ ३॥

श्रीशुक उवाच—

कदाचिदौत्थानिक कौतुकाप्लवे
जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम्।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती॥ ४॥

श्रीशुकदेवने कहा—परीक्षित्! अङ्ग परिवर्तन अथवा तिर्यक् भावसे शयन करनेकी चेष्टा अर्थात् करवट बदलनेको 'उत्थान' (श्रीकृष्णके संदर्भमें 'औत्थानिक महोत्सव') कहा जाता है। कोई शिशुके 'गृहनिष्क्रमणरूप संस्कार' को उत्थान कहते हैं। इस दिन यथा-विधि स्नानादि द्वारा पुत्रका अभिषेक करना चाहिये। अतः श्रीकृष्णके जन्मके तीन माह पश्चात् उत्थान सम्बन्धित अभिषेक-उत्सवका आयोजन हुआ। उस उत्सव-दिवसपर भी वही जन्मवाला रोहिणी नक्षत्र था। सती साध्वी यशोदादेवीने पुर-स्त्रियोंको न्योता दिया था। वे वाद्यादि यन्त्रोंके साथ मङ्गल गीत गा रही थीं। ब्राह्मणादि मन्त्रोच्चारणपूर्वक बालकको आशीर्वाद प्रदान कर रहे थे। इस प्रकार यशोदाजीने अपने पुत्रका 'अभिषेक-कर्म' सम्पन्न किया॥ ४॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं
विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः।
अन्नाद्यवासः स्रगभीष्टधेनुभिः
सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५॥

इसके बाद यशोदाने बालककी स्नानादि क्रियाएँ सम्पन्न कीं और स्वादिष्ट अन्न, सुन्दर वसन, मनोहर माल्य और उत्तम गौ-दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजाकर उनके द्वारा 'स्वस्त्ययन' (स्वस्ति वाचन) आदि माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करवाये। तदनन्तर नींदके कारण बालककी आँखें मुँदने लगीं, तब यशोदाने चुपचापसे उसे गोदमें ले जाकर अपने भवनके विशाल प्राङ्गणके एक कोनेमें छकड़ेके नीचे शय्यापर धीरेसे सुला दिया॥ ५॥

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी
समागतान् पूजयती व्रजौकसः।
नैवाशृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा
रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत्॥ ६॥

इधर यशोदा देवी 'उत्थान-उत्सव' में बड़ी उत्कण्ठाके साथ व्यस्त थीं। उनका हृदय भी बड़ा उदार था। मनस्विनी यशोदा महोत्सवमें आयी हुईं सभी स्त्रियोंका वस्त्र, अलङ्कार, माला, गन्ध, चन्दन, तेल, सिन्दूर आदिसे स्वागत करनेमें तन्मय थीं। इधर श्यामसुन्दरकी आँखें खुलीं, तो वे स्तन्य-पानके लिए रोने लगे, किन्तु यशोदाजी व्रजवासियोंके स्वागत आदि कार्य तथा सम्मानपूर्ण वार्त्तालापमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें पुत्रका रोना सुनायी नहीं पड़ा। तब बालगोपाल श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने चरणोंको ऊपरकी ओर उछालने लगे॥ ६॥

अथःशयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्त्तत।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७॥

बाल श्रीकृष्ण जिस छकड़ेके नीचे सोये हुए थे, वह छकड़ा श्रीकृष्णके अत्यन्त छोटे एवं कोंपलके समान कोमल चरण (वामनावतारके समान बृहत् नहीं, नृसिंहावतारके समान कठोर नहीं) के आघातसे विपरीत दिशामें उलटकर गिर गया। उसके चक्र (पहिये), अक्ष (धुरे) अस्त-व्यस्त होकर चूर्ण-विचूर्ण हो गये। युगन्धर (जुआ) टूट गया और उसमें रखे हुए विविध रसोंसे भरे हुए काँसे आदिके बर्तन इधर-उधर बिखरकर टूट-फूट गये॥ ७॥

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय
औत्थानिके कर्मणि याः समागताः।

नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः
कथा स्वयं वै शकटं विपर्यगात्॥ ८॥

यशोदा, रोहिणी आदि प्रधान व्रजनारियाँ एवं उस उत्थान उत्सवके उपलक्ष्यमें भिन्न स्थानोंसे समागत अन्यान्य स्त्रियाँ, कुलाङ्गनाएँ, नन्दबाबा आदि गोप और वहाँ समुपस्थित सभी व्रजवासी इस अद्भुत घटनाको (शकट-भञ्जनको) देखकर विस्मित रह गये और कहने लगे—अरे! यह क्या हुआ? यह छकड़ा अपने-आप कैसे उलट गया?॥ ८॥

ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः।
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेत् न संशयः॥ ९॥

सभी लोग संशयग्रस्त हो रहे थे—यह किसी दैत्यादिका कर्म है या किसी ग्रह इत्यादिका उत्पात है? तब वहाँ खेलते हुए बालकोंने गोप-गोपियोंसे कहा कि इस कृष्णने ही रोते-रोते अपने पदाघातसे (पैरकी ठोकरसे) इस छकड़ेको पलट दिया है—इसमें सन्देहकी बात नहीं है॥ ९॥

न ते श्रद्दधिरे गोपाः बालभाषितमित्युत।
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः॥ १०॥

नन्दादि गोपगण वात्सल्यप्रेमके मोहके कारण बालकके अप्रमेय बल (अनन्त शक्ति) के विषयमें कुछ नहीं जानते थे। इसलिए उन्होंने 'यह बालकोंका कहना है' ऐसा मानकर उन बालकोंकी बातोंपर विश्वास नहीं किया॥ १०॥

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता।
कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत्॥ ११॥

यशोदाजीको आशङ्का हुई कि बालकपर किसी ग्रह आदिका उत्पात है। अतः उन्होंने अपने रोते हुए लालको गोदमें ले लिया। ब्राह्मणोंसे बालककी रक्षाके लिए माङ्गलिक वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करवाकर स्वस्त्ययन कर्म (शान्ति पाठ) करवाये। इसके बाद वे अपने लाड़लेको स्तन्य-पान कराने लगीं॥ ११॥

पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम्।
विप्रा हुत्वार्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः॥ १२॥

अनन्तर बलवान् गोपोंने एक साथ मिलकर उस विशाल छकड़ेको उठाकर सीधा कर दिया एवं उसी स्थानपर उसे पूर्ववत् स्थापित कर दिया। उसके ऊपर सारी सामग्री भी यथावत् रख दी। ब्राह्मणोंने ग्रह-शान्तिके लिए पहले हवन किया और बादमें दहीसे युक्त अक्षत एवं कुशसे युक्त जल द्वारा छकड़ेकी पूजा की। छकड़ा ही गोपजातिका प्रधान आश्रय, सञ्चित धनका आस्पद और लक्ष्मीका अधिष्ठान है॥ १२॥

येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः ।
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः॥ १३॥

इति बालकमादाय सामग्र्यजुरुपाकृतैः।
जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः॥ १४॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः।
हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम्॥ १५॥

नन्दबाबा जानते थे कि ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे ही मेरे बालककी कुशलता है। जो ब्राह्मण असत्य, असूया, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा, अभिमान इत्यादि दोषोंसे रहित हैं, उन सत्यशील ब्राह्मणोंके आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होते। इस अभिप्रायसे नन्दरायजीने अपने चित्तको स्थिरकर बालक कृष्णको गोदमें उठा लिया। उन्होंने उत्तम ब्राह्मणों द्वारा साम, ऋक् एवं यजुः वेदादि मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एवं पुण्य सर्वोषधिसे युक्त जलसे अपने वत्सका अभिषेक करवाया। तदुपरान्त ब्राह्मणोंने स्वस्त्ययन पाठ करके हवन किया। नन्दगोपने ब्राह्मणोंको उत्कृष्ट एवं सुस्वादु अन्नका भोजन कराया॥ १३-१५॥

गावः सर्वगुणोपेता वासः स्रग्रुक्ममालिनीः।
आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुञ्जत॥ १६॥

श्रीनन्दने अपने पुत्रके कल्याणके लिए दुधारू एवं सर्वगुणसम्पन्न बहुत-सी गौएँ ब्राह्मणोंको प्रदान कीं। वे सभी गौएँ वस्त्र, पुष्पमाल्य एवं सुवर्ण मालाओंसे विभूषित थीं। ब्राह्मण आशीर्वाद देने लगे और दान ग्रहण करने लगे॥ १६॥

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्॥ १७॥

मन्त्रज्ञ ब्राह्मण, योगी अर्थात् भगवद्भक्त और सदाचारी ब्राह्मण जो आशीर्वचन कहते हैं, वे कभी भी निष्फल नहीं होते, यह सुनिश्चित है॥ १७॥

एकदारोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥ १८॥

जब श्रीकृष्णकी उम्र एक वर्षकी हो गयी थी, तब किसी एक दिन यशोदा अपने लाड़ले लालको गोदमें लेकर दुलार कर रही थीं। वे कभी मुखका चुम्बन करतीं, कभी उसे हिलातीं-डुलातीं और कभी ऊपरकी ओर उछालतीं। इतनेमें ही बालक पर्वतके शिखरके समान भारी हो गया। माँ यशोदा उसके भारको सहन करनेमें असमर्थ हो गयीं। (ज्ञातव्य है कि तृणावर्त्त आकर माताके साथ ही बालकका हरण करेगा—यह जानकर श्रीभगवान्की ऐश्वर्य-शक्तिने उसे माताकी गोदसे हटानेके लिए चट्टानके समान भारी बना दिया।) भगवान्की भी इच्छा थी कि "मैं पक्षियोंकी भाँति आकाशमें विहार करूँ।" अतः श्रीहरिके इस अभिप्रायको जानकर उनकी सत्यकामता शक्ति ही घूर्णिवात (आँधी) के रूपमें तृणावर्त्त असुरको ले आयी॥ १८॥

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता।
महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु॥ १९॥

यशोदादेवी बालकके भारसे आक्रान्त होनेपर अत्यन्त विस्मित हो गयीं। वे बालक कृष्णको भूमिपर रखकर महापुरुष नारायणका

स्मरण करने लगीं। इसके बाद पुत्र-स्वस्त्ययनके लिए ब्राह्मणोंको बुलवाने आदि कार्योंमें तत्पर हो गयीं। बादमें व्यग्र-सी होकर पुत्रके उद्देश्यसे गृहस्थीके कार्योंमें लग गयीं। उन्हें बालकके भारका कारण समझमें नहीं आ रहा था—वे सोच रही थीं कि किसी बालग्रहके आवेशसे ही मेरा पुत्र भारी हो गया है अथवा कोई उत्पात तो नहीं होनेवाला है। इस आशङ्कासे वे भगवान् नारायणसे प्रार्थना करने लगीं—आपने यह बालक दिया है, आप ही रक्षा करें। प्रेमोन्मादके कारण वे यह नहीं जान सकीं कि कृष्णमें ही सारा जगत् निवास करता है॥ १९॥

दैत्यो नाम्ना तृणावर्त्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम्॥ २०॥

उसी समय कंसका अनुचर तृणावर्त्त नामका दैत्य अपने स्वामी कंससे प्रेरित होकर नन्द-गोष्ठमें घूर्णिवात (बवण्डर) के रूपमें आया और वहाँ बैठे हुए बालक श्रीकृष्णको उड़ाकर आकाशमें ले गया। (भगवान्के हरण-कालमें उनकी ऐश्वर्य-शक्तिने बालकके भारको हल्का कर दिया।)॥ २०॥

गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षुंषि रेणुभिः।
ईरयन् सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः॥ २१॥

उस दैत्यने व्रजकी धूलिसे सारे गोकुलको समाच्छादित कर दिया और वहाँके निवासियोंकी दृष्टि-शक्तिका भी अपहरण कर लिया। आँखोंमें धूल भर जानेसे वे कुछ भी देखनेमें समर्थ नहीं हुए। उसके भयङ्कर शब्दसे दशों दिशाएँ काँप उठीं॥ २१॥

मुहूर्त्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसावृतम्।
सुतं यशोदा नापश्यत् तस्मिन् न्यस्तवती यतः॥ २२॥

सम्पूर्ण व्रज-गोष्ठमें दो घड़ी तक धूलि और अन्धकार छाया रहा। भाराक्रान्त होकर यशोदाने अपने पुत्रको जहाँ बिठाया था, अब वह वहाँ दिखायी नहीं दे रहा था॥ २२॥

नापश्यत् कश्चनात्मानं परञ्चापि विमोहितः।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः॥ २३॥

उस समय तृणावर्त्तने बवण्डर रूप धारण करके सर्वत्र बालूका ऐसा साम्राज्य बिछा दिया था कि सभी लोग बेचैन और बेसुध-से होकर मोहग्रस्त हो गये। उन्हें अपना-पराया कुछ भी समझमें नहीं आ रहा था॥ २३॥

इति खरपवनचक्रपांशुवर्षे
सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोच-
द्भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥ २४॥

उस जोरकी आँधी और धूलकी वर्षामें यशोदाजीको अपने पुत्रका चिह्नमात्र भी दिखायी नहीं दे रहा था। ढूँढ़नेसे भी बालक जब कहीं नहीं मिला, तो वे पृथ्वीपर इस प्रकार गिर पड़ीं, जिस प्रकार बछड़ेके मरनेपर गायकी दशा हो जाती है। वे अपने पुत्रको पुकारते हुए ऐसा विलाप करने लगीं, जिसे सुनकर लकड़ी, पत्थर और वज्र आदि भी चकनाचूर हो जाएँ॥ २४॥

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो
भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं
पवन उपारतपांशुवर्षवेगे॥ २५॥

बवण्डरके शान्त होनेपर जब धूलि-वर्षणका वेग शान्त हो गया, तब गोपियाँ यशोदाके रोनेकी आवाज सुनकर वहाँ दौड़ी-दौड़ी आयीं। जब उन्होंने भी श्रीकृष्णको वहाँ नहीं देखा, तब उनका भी चित्त अतिशय दुःखी हो गया। आँसुओंकी धाराएँ बह चलीं। वे भी फूट-फूटकर रोने लगीं॥ २५॥

तृणावर्त्तः शान्तरयोवात्यारूपधरो हरन्।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद्भूरिभारभृत्॥ २६॥

इधर चक्रवातरूपधारी तृणावर्त्त पहले तो श्रीकृष्णको सामान्य बालकके समान आकाशमें उठा ले गया और अत्यधिक ऊँचाई पर चला गया, किन्तु उनके अत्यधिक भारको सह न सका। भाराक्रान्तके कारण शिथिल होनेसे उसकी गति धीमी पड़ गयी और अब तो वह चलनेमें भी असमर्थ हो गया॥ २६॥

तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम्॥ २७॥

श्रीकृष्णका भार इतना अधिक था कि तृणावर्त्तको प्रतीत हुआ मानो यह समुद्रकी शिला है अथवा नीलगिरिकी चट्टान। वह उन्हें अपनेसे अलग करना चाहता था, पर अलग न कर सका। जैसे कोई व्यक्ति बालकको उछाले, तो बालक भयसे उछालनेवालेके कण्ठको दोनों हाथोंसे पकड़ लेता है, उसी प्रकार लोकातीत श्रीकृष्णने लौकिक-बाललीलाका अनुकरण करते हुए अपने गिरनेके भयसे तृणावर्त्तके गलेको दोनों हाथोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया॥ २७॥

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः।
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे॥ २८॥

भगवान् श्यामसुन्दरने उस दैत्यके गलेको इतनी जोरसे पकड़ रखा था कि वह असुर निष्क्रिय हो गया। उसका हाथ-पैर चलाना बन्द हो गया, दोनों आँखें बाहर निकल आयीं। मुखसे शब्द निकलने बन्द हो गये। अन्ततः उसके प्राण-पखेरु उड़ गये और वह बालक श्रीकृष्णके साथ ही व्रज-भूमिमें गिर पड़ा॥ २८॥

तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां
विशीर्णसर्वावयवं करालम्।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं
स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः॥ २९॥

उस समय सारी गोपियाँ एकत्र मिलकर जोर-जोरसे क्रन्दन कर रही थीं, तभी उन्होंने देखा कि तृणावर्त्तका विकराल शरीर

आकाशसे प्रस्तर-शिलापर गिर पड़ा है और उसके सारे अङ्ग इस प्रकार विध्वस्त (चकनाचूर) हो गये हैं, जिस प्रकार शिवजीके बाणोंसे आहत होनेपर त्रिपुरासुरके हो गये थे॥ २९॥

प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः
कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम्।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं
विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम्॥ ३०॥

बालक श्रीकृष्ण उस असुरके वक्षःस्थलपर लटके हुए थे। गोपियोंने अविलम्ब वहाँ जाकर बालकको उठा लिया और माताकी गोदमें दे दिया। बालकपर किसी भी प्रकारके कोई अमङ्गलका चिह्न न देखकर गोपियाँ विस्मित रह गयीं। आकाश-मार्गसे राक्षस आया था और बालकका हरण कर ले गया था। अहा! बालक मृत्यु-मुखसे सकुशल लौट आया। नन्द आदि प्रमुख गोप एवं गोपियाँ बालकृष्णको प्राप्त करके अति आनन्दित हो गये॥ ३०॥

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते॥ ३१॥

वे कहने लगे—अहो! यह सचमुच बड़े आश्चर्यकी बात है—यह बालक राक्षसके द्वारा मृत्युके मुखमें डाल दिया गया था, किन्तु यह सुप्तावस्थामें ही सकुशल लौट आया है। बड़ी अद्भुत घटना घटी है। हिंसक, दुष्ट व्यक्ति अपने पापके द्वारा ही नष्ट हो जाते हैं, जब कि साधु व्यक्ति सर्वत्र समदर्शनके कारण समस्त प्रकारके भयोंसे मुक्त रहते हैं। यह दैत्य निरपराध शिशुके हरणरूप अपने पापसे ही नष्ट हो गया है और साधु बालक

श्रीकृष्ण जो बालपनके कारण शत्रु और मित्र आदिमें समबुद्धि रखता है, समस्त आपदाओंसे बच गया॥ ३१ ॥

किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं
पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम्।
यत् संपरेतः पुनरेव बालको
दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः॥ ३२ ॥

अहो! हमारा बड़ा सौभाग्य है! हमने ऐसी कौन-सी कठोर तपस्या अथवा भगवत्-आराधना की थी, प्राणियोंके हितके लिए बाबड़ी-निर्माण, कूप-खनन आदि पूर्त्त कर्म किये थे, यज्ञ, हवन, दान आदि इष्ट कर्म किये थे, जीवोंका उपकार किया था, जिसके फलस्वरूप यह बालक मृत्युके मुखसे निकलकर आत्मीयोंको एवं सुहृदोंको आनन्दित करनेके लिए लौट आया? इसके बिना तो हम मर ही जाते॥ ३२ ॥

दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने।
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः॥ ३३ ॥

जब नन्दबाबाने देखा कि बृहद्वन (महावन) में बड़ी अद्भुत-अद्भुत घटनाएँ घट रही हैं और बालकके कार्य (लीला-चरित) भी बड़े अद्भुत हैं, तब वे आश्चर्यके साथ वसुदेवजीके वचनोंका बार-बार स्मरण करने लगे॥ ३३ ॥

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता॥ ३४ ॥

एक दिन यशोदादेवी अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्णको अपनी गोदमें बिठाकर स्नेह-सिक्त होकर स्तन्य-पान करा रही थीं। पुत्रके प्रति वात्सल्यसे उनका हृदय इतना पिघल रहा था कि दूध स्वतः ही क्षरित हो रहा था॥ ३४॥

पीतप्रायस्य जननी सुतस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम्॥ ३५ ॥

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि॥ ३६॥

हे राजन्! बाल–कृष्णका स्तन्य–पान प्रायः पूर्ण हो चला था। यशोदा उसके मनोहर, मन्द–मुसकानसे युक्त मुखकमलका चुम्बन आदि करती हुईं उसे लाड़ लड़ा रही थीं, तभी श्रीकृष्णने आलस्यवश जँभाई ली। (भगवान्‌की माया–शक्तिने माँके समीप अहैतुकी ऐश्वर्य–शक्तिका प्रदर्शन किया।) इस जृम्भण–लीलामें यशोदादेवीने उसके मुखमें आकाश, स्वर्ग, मर्त्त्यलोक, ज्योतिर्मण्डल, सम्पूर्ण दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदी, वन एवं स्थावर–जङ्गमात्मक समस्त प्राणियोंको विद्यमान देखा॥ ३५–३६॥

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः।
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे तृणावर्त्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

हे राजन्! मृगशावाक्षी यशोदादेवीने शिशुके मुखमें सम्पूर्ण विश्वका दर्शन किया, तो उनका सारा शरीर काँपने लगा। उन्होंने आँखें मूँद लीं और आश्चर्यमें डूब गयीं। (भगवान्‌की ऐश्वर्य–शक्तिके प्रदर्शनसे यशोदाका वात्सल्य सङ्कुचित अथवा शिथिल नहीं होता।)॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सप्तम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

नामकरण-संस्कार और बाल-लीलाएँ

श्रीशुक उवाच—

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! परम तपस्वी श्रीगर्गाचार्य यदुवंशियोंके कुल-पुरोहित थे। वसुदेवकी प्रेरणासे वे एक दिन नन्दगोकुलमें पधारे।

(ज्ञातव्य—श्रीशुकदेव मुनि असुरोंकी सङ्गतिके क्रममें तृणावर्त्त-वध-लीलाका वर्णन कर ही रहे थे कि उन्हें प्राचीन नामकरणादि चरितोंका स्मरण हो गया।)॥ १॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम्॥ २॥

महाराज नन्द उन्हें देखकर परम आनन्दित हुए। वे उन्हें देखकर उठ खड़े हुए। उन्होंने भगवत्-बुद्धिसे श्रीगर्गमुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और बादमें अर्चन आदि किये॥ २॥

सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सुनृतया मुनिम्।
नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम्॥ ३॥

मुनिवर विधिपूर्वक आतिथ्य सत्कार प्राप्त करके जब सुखपूर्वक आसीन हो गये, तब नन्द महाराजने अतिशय विनीत वचनोंसे उनका अभिनन्दन करते हए कहा—हे मुनिवर! भगवत्-भक्तिके प्रभावसे आप पूर्णकाम हैं, इसलिए आपकी प्रीतिके लिए मैं क्या करूँ—यह समझ नहीं पा रहा हूँ॥ ३॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥ ४॥

हे भगवन्! आपके जैसे महापुरुष अपने स्वार्थके लिए अपने आश्रमका परित्याग करके कहीं नहीं जाते, बल्कि हमारे जैसे दीन चित्तवाले गृहस्थ मनुष्योंके परम मङ्गलके लिए ही आपलोगोंका आगमन होता है। दीन-हीन जनोंपर ही आप जैसे महत्-जनोंकी अधिक कृपा होती है। इसके अतिरिक्त आपके आगमनका और कोई कारण नहीं है॥ ४॥

ज्योतिषामयनं साक्षाद् यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम्।
प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम्॥ ५॥

हे मुनिवर! ज्योतिषशास्त्रके द्वारा इन्द्रियातीत वस्तुका ज्ञान हो जाता है और यह शास्त्र आपके द्वारा ही प्रणीत है। मनुष्य इस ज्योतिषशास्त्रके आधारपर पूर्वजन्मकृत कर्म एवं वर्त्तमान जन्ममें उन कर्मोंके भावी फलको जान सकते हैं। (वार्द्धक्य अवस्थामें मुझे पुत्र प्राप्त हुआ है। पुत्रके जन्म-लग्नादिका विचार करके एवं हाथ-पैरोंके चिह्न देखकर शुभाशुभ बतलाइये।)॥ ५॥

त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्त्तुमर्हसि।
बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः॥ ६॥

आप जैसे महानुभावका आगमन मेरे परम कल्याणके लिए है। आप ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ एवं मन्त्रवित् हैं। अपने ऐहिक एवं पारलौकिक मङ्गलोंमें आज एक ऐहिक मङ्गलका विषय आपके श्रीचरणोंमें निवेदन कर रहा हूँ—आप मेरे इन दोनों पुत्रोंका नामकरणादि संस्कार कर दीजिये, क्योंकि ब्राह्मण जन्ममात्रसे ही मनुष्योंके गुरु होते हैं॥ ६॥

श्रीगर्ग उवाच—

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वदा।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम्॥ ७॥

श्रीगर्गाचार्यने कहा—हे नन्द! मैं यदुकुलका पुरोहित हूँ—यह जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है। यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार करूँगा,

तो कंस समझेगा कि यह देवकीका पुत्र है और यह बात छिपी भी न रह पायेगी॥ ७॥

कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति॥ ८॥

इति सञ्चिन्तयन् श्रुत्वा देवक्या दारिकावचः।
अपि हन्तागताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत्॥ ९॥

कंस बड़ा पापी है। उसने जबसे देवकीकी कन्यारूपिणी योगमाया द्वारा कहे गये "तुम्हें मारनेवाला कहीं और जन्म ले चुका है"—ये वचन सुने हैं, तबसे दिन-रात यही सोचा करता है कि देवकीके आठवें गर्भसे कन्याका जन्म नहीं हो सकता है। वसुदेवके साथ तुम्हारी बड़ी घनिष्ठ मित्रता है—वह पापमति इसका भी ध्यान रखता है। वसुदेव-द्रोही होनेसे वह आपके साथ भी द्रोह कर सकता है। मेरे द्वारा किये गये पुत्रके नामकरण-संस्कारके चिह्नोंको देखकर उसकी शङ्का और भी अधिक दृढ़ हो जायेगी, तब वह इस बालकको वसुदेवका पुत्र समझकर यदि वध कर दे, तो मुझसे महा अनिष्ट हो जायेगा॥ ८-९॥

श्रीनन्द उवाच—

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम्॥ १०॥

(श्रीनन्दने मन-ही-मन विचार किया आज भाग्यसे ऐसे आचार्य आये हैं, फिर कब आना होगा? वाद्य आदि तो फिर बज जायेंगे, अभी केवल शास्त्रीय आवश्यक कृत्य करा लेता हूँ।) श्रीनन्दमहाराजने गर्गमुनिसे कहा—आचार्यवर! यदि आपको कंससे इस बालकके अनिष्टकी आशङ्का है, तो स्थान-संस्कारकी कोई आवश्यकता नहीं है। गोशालामें एकान्त स्थान है—गोपालक दिनमें अपनी गायोंको वनमें ले जाते हैं। मेरे भाई आदि आत्मीय, स्वजन कोई भी इस बातको जान नहीं पायेगा। आप स्वस्तिवाचन

करके इन दोनों बालकोंका द्विजाति-जनोचित (क्षत्रिय एवं वैश्यके अनुरूप) नामकरण संस्कार मात्र कर दीजिये॥ १०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत्।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—गर्गाचार्यको यही अभिलषित था कि निर्जनमें ही नामकरण-संस्कार होना चाहिये। जब नन्दमहाराजने प्रार्थना की, तब उन्होंने उन दोनों बालकोंका एकान्त निर्जन स्थानमें अति गोपनरूपसे नामकरण संस्कार कर दिया॥ ११॥

श्रीगर्ग उवाच—

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः।
यदूनामपृथग् भावात् सङ्कर्षणमुशन्त्यपि॥ १२॥

श्रीगर्गाचार्यने कहा—यह रोहिणीनन्दन अपने गुणोंसे स्वजनों एवं आत्मीयोंको रमण (आनन्दित) करनेके कारण 'राम' नामसे प्रसिद्ध होगा। अनन्त शारीरिक बलके कारण लोग इसे 'बल' के नामसे भी जानेंगे। यह यदुवंशीय वसुदेवादि और आपमें कोई पृथक् भाव नहीं रखेगा, कभी यादवोंके साथ विरोध भी हुआ, तो यह दोनोंका मिलन करायेगा, इसीलिए इसका एक नाम 'सङ्कर्षण' भी होगा। यह सभीकी प्रीतिका पात्र होगा। (यहाँ यह प्रकट नहीं किया गया है कि गर्भके आकर्षणके कारण उसका नाम सङ्कर्षण है।)॥ १२॥

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १३॥

और हे नन्दमहाराज! तुम्हारा यह पुत्र प्रत्येक युगमें अपनी श्रीमूर्त्तिको प्रकट करता है। पूर्व युगोंमें इसके शुक्ल, रक्त एवं पीत—तीन वर्ण प्रकटित हुए थे। (ये तीन वर्ण सत्य, त्रेता एवं कलिके हैं।) अब कृष्णवर्णमें प्रकटित हुआ है। अन्य द्वापर

युगमें यद्यपि इसने शुक पक्षीके समान वर्ण धारण किया है, तथापि ये सभी युगावतार अब कृष्णताको प्राप्त हो गये हैं, अर्थात् ये सब जगत्-मोहनकारी श्रीकृष्ण-विग्रहमें (अंशीमें) समा गये हैं, इसलिए इसका नाम कृष्ण होगा॥ १३॥

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ १४॥

तुम्हारा यह परम सौन्दर्यमय पुत्र किसी कारणसे पहले कभी वसुदेवके पुत्रके रूपमें भी प्रकटित हुआ था। इस तत्त्वको जाननेवाले इसे 'श्रीमान् वासुदेव' भी कहेंगे। (तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण-नन्दके ही नित्य पुत्र हैं। किसी कारणसे नन्द-नन्दन ही वसुदेव-नन्दन रूपमें प्रकटित हुए थे।)॥ १४॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १५॥

तुम्हारे इस पुत्रके बहुत-से गुण और कर्म हैं, जिनके अनुसार इसके बहुत-से नाम और रूप हैं—उन्हें मैं भलीभाँति जानता हूँ, पर साधारण लोग यह सब नहीं जानते॥ १५॥

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ॥ १६॥

हे नन्दमहाराज! तुम्हारा यह बालक अनेक मङ्गलोंको साधित करेगा और गोपों एवं गायोंके कुलको आनन्दित करेगा। जब-जब तुमलोगोंके ऊपर विपत्तियाँ आवेंगी, तब-तब तुम्हारा यह पुत्र अपने प्रसादसे उन सब विपत्तियोंसे तुमलोगोंको सुगमतासे बचा लेगा। (इसमें तुम्हारे इष्टदेव नारायणका आवेश रहेगा।)॥ १६॥

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥ १७॥

व्रजराज! प्राचीन कालकी बात है। एक बार दैत्यों द्वारा इन्द्र पराजित हो गये थे। तब किसी भी राजाके न रहनेके कारण

अराजकता फैल गयी थी। इन्द्रकी पद-च्युतिके कारण दैत्य साधुजनोंको पीड़ित कर रहे थे। तब इसी बालक कृष्णने उन साधुओंकी रक्षा की थी। इससे ही बल प्राप्त करके साधुओंने उन दानवोंको पराजित कर दिया था॥ १७॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥ १८॥

वे मनुष्य परम भाग्यवान् हैं, जो इस शिशुके साथ प्रीति करते हैं। असुर जिस प्रकार विष्णुपरायण भक्तोंको पराजित नहीं कर सकते, उसी प्रकार इससे प्रेम करनेवालोंको कंसादिके समान बाहरके शत्रु और अन्तर्मनके कामादि शत्रुओंको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ १८॥

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥ १९॥

हे नन्द! (तुम्हारे इष्टदेव श्रीनारायणने ही परम सन्तुष्ट होकर तुम्हें अपने ही समान पुत्र प्रदान किया है।) चाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुण, श्री (सम्पत्ति), कीर्त्ति एवं प्रभावमें यह श्रीनारायणके ही समान है। (श्लोकस्थ 'नारायण सम' कहनेसे गर्ग मुनिका तात्पर्य है कि इसमें दैत्योंको मोक्षप्रदत्व, भक्तजनोंको महाभाव-प्रदत्व, लक्ष्मीदेवीको दुर्लभ श्रीवक्ष-विहारीत्व आदि आत्यन्तिक सर्वोत्कृष्टता श्रीनारायणसे भी अधिक है।) अतः बड़े सावधान-चित्त और तत्परतासे इस शिशुका पालन करें॥ १९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम्॥ २०॥

श्रीशुकदेवने कहा—इस प्रकार नन्दको अच्छी तरह समझा-बुझाकर एवं आदेश देकर गर्गमुनि अपने आश्रमको लौट गये। उनकी बात सुनकर नन्दबाबा परम आनन्दित हुए और अपनेको समस्त मङ्गल आशिषोंसे परिपूर्ण अनुभव करने लगे॥ २०॥

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः॥ २१॥

इसके कुछ समय बाद राम और कृष्ण दोनों ही घुटनों और हाथोंका सहारा लेकर रेंगते हुए व्रजमें विहार करने लगे॥ २१॥

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोष-प्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ २२॥

कृष्ण-बलराम व्रजकी कीचड़में घुटुअन चला करते थे। इस अपरूप रिङ्गण-लीलाका ध्यान-नेत्रसे दर्शन करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी बतला रहे हैं—परीक्षित्! देखो! दोनों शिशु किस प्रकार चरणोंको घसीटते हुए सरीसृपके समान वक्रगतिसे चल रहे हैं। व्रजका सारा आङ्गन गोदुग्ध एवं गोवत्सके मूत्रादिसे सना पड़ा है। गोप-गोपियाँ हो-हो-हो—इस प्रकार मुखसे एवं ताली बजाकर आनन्द ध्वनि कर रहे हैं, जिससे कृष्ण-राम प्रसन्न हो रहे हैं। दोनों बालकोंके कटिभूषण, करभूषण एवं चरण-भूषणकी ध्वनिसे व्रज मुखरित हो रहा है—इस ध्वनिको सुनकर और भी बहुत-से लोग वहाँ आ गये हैं। उनमेंसे कोई "हे राम, हे कृष्ण!" पुकारता है, तो दोनों उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं। कभी व्रज-गोपियोंको माता मानकर कुछ दूर तक उनके पास जाते हैं, पर जब मुख परिचित दिखायी नहीं देता, तब डरे हुए-से और मोहित-से होकर अपनी माताओं—रोहिणी एवं यशोदाके समीप आ जाते हैं॥ २२॥

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगृह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥ २३॥

इन सब बाल्य-लीलाओंको देखकर अत्यन्त स्नेहमें निमग्न (सराबोर) यशोदा एवं रोहिणीदेवीके पयोधरोंसे दुग्ध स्वतः क्षरित

होने लगता। जब दोनों कीचड़रूप अङ्गरागसे लिपे हुए लौटते, तो उनकी शोभा और भी बढ़ जाती। माताएँ उन सुशोभन पुत्रोंको अपनी भुजाओंमें उठाकर गोदमें लेकर स्तन्य-पान कराने लगतीं। स्तन्य-पान करते समय दोनों बालक मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए जब माताओंकी ओर निहारते, तब माताएँ भी उनकी मधुर मुसकान, छोटी-छोटी दँतुलियों और भोली-भाली मुखाकृतिको देखकर अतिशय आनन्दित हो जातीं॥ २३॥

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः॥ २४॥

राम और श्याम कुछ अधिक बड़े हुए, तो वे व्रजाङ्गनाओंके चित्तको आकर्षित करनेवाली व्रजके अन्तःपुरमें कौमार-लीला प्रकट करने लगे। व्रजाङ्गनाएँ इन दोनोंकी कौमार-क्रीड़ाको देखतीं, तो बस देखती ही रह जातीं और घरके कार्योंको भूलकर परम आनन्दमें ओतप्रोत रहतीं। कभी वे दोनों सोये हए बछड़ेकी पूँछ पकड़ लेते, तो बछड़े डरे हुए-से इधर-उधर भागने लगते। जब वे बछड़ोंकी पूँछ और जोरसे पकड़ते, तो बछड़े उन्हें ही घसीटते हुए दौड़ने लगते॥ २४॥

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥ २५॥

क्रमशः कृष्ण-बलराम अति चञ्चल होते जा रहे थे। विचित्र-विचित्र खेल उन्हें सूझा करते थे। कभी वे हिरन, गाय और बैल आदि सींगवाले पशुओंके पास दौड़ पड़ते, कभी धधकती आगके समीप पहुँच जाते, तो कभी दाँतोंसे काटनेवाले कुत्ते, बिल्ली आदिके सम्मुख आकर खड़े हो जाते, कभी कुएँ

या पोखरमें झाँकने लगते, तो कभी साँप आदिको पकड़नेके लिए दौड़ते, कभी पक्षियोंके पीछे-पीछे उड़नेकी कोशिश करते, तो कभी काँटोंकी झाड़ीमें उलझ जाते। यशोदा एवं रोहिणी उन्हें बहुत रोकतीं, पर वे उनकी पकड़में नहीं आते। उन दोनोंकी विपत्तियोंसे रक्षा करना तथा घरका काम करना—दोनों एक साथ सम्भव नहीं हो पाता था। अतः वे बड़ी अस्थिर हो जाती थीं और वात्सल्य-रस-पोषक 'चापल्य' नामक सञ्चारी भावको प्राप्त हो जाती थीं॥ २५॥

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा॥ २६॥

हे राजर्षे! अल्पकालमें ही बलराम-कृष्णने घुटनुओंसे रिङ्गना छोड़कर अब चरणोंके द्वारा ही व्रज-गोष्ठमें विचरण करना प्रारम्भ कर दिया॥ २६॥

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥ २७॥

भगवान् श्रीकृष्ण-बलराम एवं अन्यान्य सखा गोपबालकोंके साथ व्रजमें विचरण करते और ऐसे खेल खेला करते, जो व्रजरमणियोंके हृदयोंको आनन्दसे सराबोर कर देते थे। वे महाभाग्यवती उनके क्रीड़ा-कौशलका अनुभव कर निहाल हो जाया करती थीं॥ २७॥

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः॥ २८॥

श्रीकृष्णकी बाल्य-चपलता इतनी मनोहर एवं अद्भुत थी कि समस्त गोपियोंका चित्त उनकी इन चञ्चलताओंमें ही लगा रहता था। एक दिन सब इकट्ठी होकर नन्दभवन जा पहुँचीं और वहाँ यशोदादेवीको उलाहने देती हुईं उनके लाड़लेकी चपलताएँ (करतूत) कहने लगीं। (उपालम्भ-दानसे गोपियोंने यशोदाको परमानन्दित किया है।)॥ २८॥

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥ २९॥

अरी सखि यशोदे! जरा अपने पुत्रकी चौर्य-चातुरीकी कथा तो सुनो। यह अपने मनमें पहलेसे ही निश्चित कर लेता है कि किस घरमें चोरी करनी है—इसके लिए यह असमय ही (गोदोहनके पहले ही) बछड़ोंको खोल देता है। जब गृहस्वामी उन बछड़ोंको पकड़नेके लिए इधर-उधर भागते हैं, तब यह अवसर पाकर सूने घरमें घुस जाता है और दधिकी चोरी करके भाग जाता है। घरमें घुस आनेपर जब हम पुकारती हैं कि—“अरे दधिचोर आया है, इसे बाँध लो”, तो यह सुनकर तुम्हारा लाड़ला ठठा-ठठाकर हँसता है। तब इसके महामादक हास्यको देखकर हम जड़ीभूत-सी हो जाती हैं। यह हमारे सामने ही दही-दूध खाता रहता है। इस दधि-लम्पटको चोरीसे अर्जित दधि ही रुचिकर लगता है, प्रदत्त वस्तु नहीं। (बछड़े खोलकर तो प्रत्यक्ष चोरी करता है और हँसकर परोक्ष।) कभी ढेला फेंककर मटका फोड़ता है और चोरीके नये-नये उपाय सोच लेता है। चोरी करके केवल स्वयं ही खाता हो, ऐसा नहीं है, वानरोंको भी खिलाता है। स्वयं भोजन करनेसे पहले वानरोंसे कहता है, यह तुम्हारा भाग है, यह तुम्हारा भाग है—इस प्रकार उन्हें बाँटता फिरता है। यदि पेट भरा होनेके कारण वानरोंकी खानेकी इच्छा नहीं होती, तो कहता है—“तुम्हारे बिना मेरा भोजन करनेका क्या प्रयोजन, मैं भी नहीं खाऊँगा”, और इस दुःखसे हमारे दधिसे भरे बर्तनोंको फोड़ डालता है। यदि किसी दिन सूने घरमें प्रवेश करनेपर दही-दूध नहीं मिलता, तो क्रोधित होकर घरमें पर्यङ्कपर सोते हुए बच्चोंको नखसे आघात करके रुलाकर भाग जाता है। गृहस्वामीके क्रोधित होनेपर जोर-जोरसे हँसता है। गाली तो इसे कोई लगती नहीं है॥ २९॥

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु व्यग्रचित्ताः॥ ३०॥

किसी दूसरे घरमें प्रवेश करनेपर जब तुम्हारे पुत्रको दुग्ध-दधिके भाण्ड छींकेपर रखे दिखायी देते हैं, तो वहाँ तक हाथ न पहुँचनेके कारण यह विविध चतुराईका सहारा लेता है। एक चौकीके ऊपर दो-तीन चौकी और रखकर उनपर चढ़ जाता है अथवा उलूखलपर चढ़ जाता है अथवा बालकोंके कन्धेपर चढ़कर उन बर्तनोंको गिरा देता है। उच्च स्थानपर रखे होनेपर भी भाण्डकी चिकनाई देखकर ही समझ जाता है कि उसमें क्या रखा है? इससे कुछ छिप नहीं सकता। यदि भाण्ड इसकी पहुँचसे बाहर होता है, तो छड़ीसे उसमें छिद्र कर देता है। छिद्रसे जैसे ही धारा नीचे गिरती है, तब यह 'हो' करके मुख फाड़ता है और स्वयं खाता है एवं दूसरे बालकोंको भी खिलाता है। अन्धकारमें भी चोरी करनेसे इसे कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि इसकी श्यामल अङ्ग-कान्ति तो दीपकका कार्य करती है और तुमने जो इसे अत्युज्ज्वल चन्द्रकान्ति मणिमय अलङ्कार पहना रखे हैं, उनके प्रकाशसे इसके लिए सब उजागर हो जाता है। हम जब घरके कार्योंमें उलझी रहती हैं, तब तुम्हारा पुत्र नाना कौशलोंसे चोरी करके अपना कार्य साध लेता है। तुम्हारे पुत्रमें मन्द मुसकान, मधुर बोली, आकर्षक चलन, शरीरकी सुन्दरता आदि चोरी-विद्याएँ (हमारे चित्तको चुरानेवाली विद्याएँ) भरपूर हैं। कौन-सी वस्तु किस स्थानपर रखी है—यह जाननेके लिए अपने बाल-सखाओंको भेजकर क्षण-क्षण पूरी खोज-खबर रखता है॥ ३०॥

एवं धाष्ट्र्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते।

इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥ ३१॥

इसकी ढिठाई देखो। यदि गृहस्थ इसके प्रति 'रे चोर' कहकर आक्रोश जताते हैं, तो तुम्हारा यह लाल "तुम ही चोर हो, मैं स्वयं गृहका स्वामी हूँ"—इस प्रकार गृहस्वामीसे कहकर बाचालता प्रकाशित करता है। हे यशस्विनी यशोदे! देवपूजाके लिए जब हम भूमिको परिष्कृत करती हैं, तो यह वहाँ आकर मल-मूत्रका त्याग कर देता है। न जाने कैसे-कैसे उपद्रव करता है—पुरन्ध्रियोंकी तो वेणी एवं उत्तरीय वस्त्रोंको खींच लेता है, उनके साथ विवाह करनेकी इच्छा व्यक्त करता है। देखो! चोरी करके अपना कार्य साधनेके बाद यह तुम्हारे सामने कैसे साधुके समान बैठा है? अरे! वाह रे! भोले-भाले साधु! श्रीकृष्णने सोचा कि अब माता मेरी प्रताड़ना करेगी—यह सोचकर उनके नेत्र भयसे विह्वल हो गये, जिससे उनका मुख अति शोभायमान हो गया—गोपियाँ तो उनके इन्हीं भावोंसे युक्त मुखकमलका दर्शन करना चाहती थीं। अपनी चपलताके विषयमें सुनकर श्रीकृष्णके मुखपर कैसे भाव प्रकट होते हैं—माँ यशोदा भी यही देखना चाहती थीं। उन्होंने अपने पुत्रको डाँटनेकी बात भी नहीं सोची। बालकृष्ण गोपियोंकी बात सुनकर माताके पास दौड़े चले आये और भयसे चकित उनके नेत्रोंसे आँसू छलछला आये। श्रीकृष्णके इस भाव-सौन्दर्यको देखकर सभीको परम हर्ष हुआ॥ ३१॥

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥ ३२॥

एक दिन बलराम आदि ग्वालबाल श्रीकृष्णके साथ खेल रहे थे। तभी उन्होंने यशोदाके समीप आकर सूचित किया—"अरी मैया! श्रीकृष्णने मिट्टी खायी है॥"३२॥

सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत॥ ३३॥

पुत्रका हित चाहनेवाली माता यशोदाने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया (कि कहीं यह भाग न जाय) और उसे डाँटने लगीं। उस समय श्रीकृष्णकी आँखें भयसे चकित होकर इधर-उधर देख रही थीं। (परमेश्वरकी भय-विह्वलता उनका भूषण है।)॥ ३३॥

श्रीयशोदा उवाच—

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्॥ ३४॥

मैयाने डाँटते हुए पूछा—क्यों रे नटखट! ओ चञ्चल-चित्त! तुमने मुझसे छिपकर एकान्तमें मिट्टी क्यों खायी? हमारे घरमें मिश्री-खण्डोंकी कमी है क्या? तुम बहुत ढीठ हो गये हो। तुम्हारे सभी सखा यही कह रहे हैं। अच्छा, यदि वे तुम्हारे शत्रु हैं, तो तुम्हारे बड़े भैया बलदाऊ भी तो यही कह रहे हैं?॥ ३४॥

श्रीकृष्ण उवाच—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे! मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥ ३५॥

श्रीकृष्णने कहा—अरी मैया! मैने मिट्टी नहीं खायी। ये सब मिथ्यावादी हैं। यदि तुम इन्हींकी बात सत्य मानती हो, तो अपनी आँखोंसे ही साक्षात् मेरा मुख देख लो॥ ३५॥

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥ ३६॥

यशोदाने कहा—यदि मिट्टी नहीं खायी है, तो मुख खोलो। माता यशोदाके इस प्रकार कहनेपर मनुष्य-बालकरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णने अपना मुख खोल दिया। परीक्षित्! भगवान्का ऐश्वर्य अबाध एवं अनन्त है। वे केवल लीलाके लिए ही मनुष्यके बालक जैसे बने हुए हैं। माधुर्य-लीलामें ऐश्वर्यका आदर न होनेपर भी यह ऐश्वर्य उपयुक्त कालमें स्वतः ही प्रकाशित होता है॥ ३६॥

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्॥ ३७॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥ ३८॥

एतद्विचित्रं सह जीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्॥ ३९॥

यशोदादेवीके कहनेसे कृष्णने मुख खोला, तो उन्हें कृष्णके जठरमें सम्पूर्ण विश्व दिखायी दिया। उसमें स्थावर, जङ्गम, अन्तरीक्ष लोक, दिशाएँ, पर्वत, द्वीप, समुद्र, भूतल, वायुका प्रवाह, अग्नि, चन्द्रमा, तारे, ज्योतिष्चक्र, जल, तेज, पवन, आकाश, अहङ्कारसे उत्पन्न समस्त भूत, समस्त इन्द्रियाँ, मन, तन्मात्राएँ, सत्त्व, रज, तम एवं जीव, काल, स्वभाव, कर्म, संस्कार और आशयकृत चराचर शरीर भेदसे युक्त यह विचित्र विश्व एक ही साथ मुखमें दिखायी दिये। उन्होंने स्वयंको, अपने पतिको एवं अपने पुत्रादिके साथ सम्पूर्ण व्रजमण्डलको एक साथ देखा। माँ यशोदाजी यह सब देखकर पुत्रके अनिष्टकी आशङ्कासे डर गयीं॥ ३७-३९॥

किं स्वप्न एतदुत देवमाया
किंवा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिकः आत्मयोगः॥ ४०॥

वे मन-ही-मन वितर्क करने लगीं कि यह स्वप्न है अथवा देवमाया? अथवा मेरी ही बुद्धिमें कोई भ्रम तो नहीं हो गया है? अथवा मेरे पुत्रमें ही कोई जन्मजात (स्वाभाविक) अचिन्त्य योगसिद्धि है?॥ ४०॥

अथो यथावन्नवितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥ ४१॥

चित्त, मन, कर्म एवं वाणीके द्वारा यथार्थरूपसे जो तर्कके विषय नहीं होते, जो सम्पूर्ण जगत्के आश्रय हैं, जो इस जगत्के प्रेरक हैं और जिनकी सत्तासे इस जगत्के अस्तित्वकी प्रतीति अनायास ही होती है, मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ। मैं उनका स्मरण, चिन्तन तथा ध्यान करनेमें असमर्थ हूँ, वे सम्पूर्ण रूपसे चिन्तनके परे हैं, सर्वथा अचिन्त्य हैं। वे मेरे पुत्रके अनिष्टको समस्त प्रकारसे प्रशमित करें॥ ४१॥

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः॥ ४२॥

"नन्द महाराज मेरे पति हैं, सम्पूर्ण व्रजमण्डलका प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण मेरा पुत्र है, मैं व्रजराजकी समस्त सम्पदाओंकी अधिष्ठात्री महिषी और रक्षाकर्त्री हूँ, गोधन-सहित गोपी, गोप, सब मेरे अनुगत हैं", जिनकी मायासे मेरी ऐसी कुमति हो गयी है, वे ही भगवान् मेरे एकमात्र आश्रय हों॥ ४२॥

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥ ४३॥

अब यशोदा श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपके विषयमें जान गयीं। पारमार्थिक प्रसङ्गवश उनमें पुत्रके प्रति ममत्व-त्यागकी भावना जाग उठी। (श्रीकृष्ण सोचने लगे—मेरा लालन-पालन कौन करेगा?) तब उन्होंने स्वरूपशक्ति योगमाया द्वारा पुत्रस्नेहमयी यशोदाके हृदयमें पुत्र-मोहका सञ्चार करा दिया। यशोदा वात्सल्य-प्रेम-सागरमें डूबने-उतरने लगीं॥ ४३॥

सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीत् यथा पुरा॥ ४४॥

वे वैष्णवी मायाके सञ्चरित होनेपर तत्क्षण ही विश्वरूप-दर्शनकी घटनाको ऐसे भूल गयीं, जैसे कोई स्वप्नमें देखी वस्तुको भूल जाता है। उनके हृदय-सागरमें पहलेके ही समान अतिशय स्नेहकी तरङ्गें हिलोरें लेने लगीं। उन्होंने अपने लाड़ले लालको गोदमें उठा लिया॥ ४४॥

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥ ४५॥

तीनों वेद यज्ञपुरुषके रूपमें, उपनिषद् ब्रह्मके रूपमें, सांख्य पुरुष-रूपमें, योग परमात्मा-रूपमें और सात्वत शास्त्र अर्थात् नारद पञ्चरात्र आदि भक्तियोगपरक शास्त्र भगवत्-रूपमें जिन श्रीहरिके माहात्म्यका वर्णन करते हैं, यशोदा उन श्रीहरिको अपना पुत्र मानती थीं। उनके मनमें यही विचार आता था कि मेरे व्रत, नियम एवं निरन्तर पूजनादिसे तथा मेरे श्वसुर पर्जन्य महाराजकी तपस्यासे परम सन्तुष्ट होकर श्रीनारायणने मुझे ऐसा लोकोत्तर पुत्र प्रदान किया है॥ ४५॥

श्रीराजोवाच—

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥ ४६॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! नन्दबाबाने ऐसा कौन-सा मङ्गलमय साधन किया था, जिससे प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण उन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त हुए थे और महाभाग्यवती यशोदादेवीने भी ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिसके कारण स्वयं भगवान्ने अपने मुखसे उनका स्तन्य-पान किया? ॥ ४६॥

पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥ ४७॥

श्रीकृष्णका यह बाल-चरित कलि-कल्मषका नाश करनेवाला है। यह इतना पवित्र है कि त्रिकालदर्शी ज्ञानी पुरुष आज तक उसका श्रवण-कीर्त्तन करते रहते हैं। देवकी एवं वसुदेवजी भी श्रीकृष्णकी जिन उदार बाल्य-लीलाओंको देख तक न पाये, उसीका आस्वादन करके नन्द-यशोदा परम आनन्दको प्राप्त कर रहे हैं। यशोदाजी और नन्द महाराजने ऐसे कौन-से शुभ आचरण किये थे, जिनसे प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए थे? ॥ ४७ ॥

श्रीशुक उवाच—

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया भार्यया सह।
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह॥ ४८॥

श्रीशुकदेवने कहा—नन्दबाबा पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ वसु थे, उनका नाम द्रोण था और उनकी भार्याका नाम धरा था। उन्होंने ब्रह्माजीके आदेशका पालन करनेकी इच्छासे उनसे कहा— ॥ ४८ ॥

जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत्॥ ४९॥

हे देव! परवर्त्ती कालमें जब हम पृथ्वीपर जन्म-ग्रहण करें, तो समस्त ईश्वरोंके अधीश्वर, विश्वेश्वर, देवाधिदेव श्रीहरिके चरणोंमें हमें परमा भक्ति प्राप्त हो, जिस भक्तिके प्रभावसे जीव पृथ्वीपर अनायास ही समस्त दुःखोंको पार कर जाते हैं। (ऐसा वरदान दीजिये।) ॥ ४९ ॥

अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत्॥ ५०॥

इसके बाद ब्रह्माने 'तथास्तु' कहकर वर प्रदान किया। महाभाग्यवान् द्रोण व्रजपुरमें महायशस्वी नन्दके रूपमें प्रसिद्ध हुए और उनकी पत्नी धराने यशोदादेवीके रूपमें जन्म लिया। (साधनसिद्ध धरा एवं द्रोण नित्यसिद्ध यशोदा एवं नन्दमें प्रविष्ट हो गये थे।) ॥ ५० ॥

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्द्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारत॥ ५१॥

हे भरतकुल-तिलक परीक्षित्! तदनन्तर नन्द और यशोदाके पुत्रके रूपमें भगवान् जनार्दन प्रकट हुए। समस्त गोप-गोपियोंमें नन्द-यशोदाकी उनके प्रति अधिक भक्ति थी। वस्तुके स्वभावके कारण अन्यान्य सभी गोप एवं गोपियोंकी भी उनके प्रति भक्ति नन्द-यशोदाके आनुगत्यमें थी॥ ५१॥

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्त्तुं व्रजे विभुः।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये
पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे
विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

ब्रह्माजीके वरदानको सत्य करनेके लिए सर्वव्यापक स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ व्रजमें वासकर अपनी विविध मनोहर बाल-लीलाओंसे समस्त व्रजवासियोंको परम आनन्द प्रदान किया॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके आठवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी दाम-बन्धन लीला

श्रीशुक उवाच—

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥ १॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दीपमालिका महोत्सव था। जिनका एक कान श्याम रङ्गका था—अश्वके समान ऐसी दुष्प्राप्य व्रजराज नन्दमहाराजकी असंख्य गायोंमें अति सुस्वादु दूध देनेवाली पयस्विनी तथा पद्मगन्धिनी सात-आठ गायें थीं। इनका दूध मेरे पुत्रको रुचिकर लगेगा (दूसरोंके घर चोरी नहीं करेगा)—यह विचार करके घरकी दासियोंको दूसरे कामोंमें नियुक्त करके नन्दरानी यशोदादेवी स्वयं दधि-मन्थन करने लगीं और मन्थन करती हुई श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंका स्मरणपूर्वक गान करने लगीं॥ १-२॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥ ३॥

सुन्दर भौंहोंवाली यशोदादेवी अपने स्थूल कटिभागमें काञ्चीसे (सूतसे) बँधा हुआ सूक्ष्म पीले रङ्गका रेशमी लहङ्गा पहने हुए थीं। विशाल नितम्ब प्रान्तपर करधनी सजी हुई थी। दधिमन्थन करते हुए मन्थन-दण्डकी (मथानीकी) रस्सी खींचनेके कारण दोनों भुजाएँ थकी-सी हो रही थीं, जिनमें सुशोभित कङ्गनोंके परस्पर टकरानेसे खनखनाहटकी सुमधुर ध्वनि उत्पन्न हो रही थी। सर्वाङ्ग चालित होनेके कारण कानोंमें धारण किये हुए दोनों कुण्डल

दोलायमान हो रहे थे। पुत्र स्नेहकी अधिकतासे स्तनोंसे दूध स्वतः क्षरित हो रहा था। मुख-मण्डलपर पसीनेकी बूँदें झिलमिला रही थीं और चोटीमें गुँथे हुए मालतीके सुन्दर पुष्प ऐसे झड़ रहे थे, मानो जलकी बूँदें गिर रही हों॥ ३॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥ ४॥

उसी दिवसके प्रातःकालमें कृष्ण शय्यासे उठे और स्तन्य-पानकी अभिलाषासे दधि-मन्थनमें व्यस्त माताके समीप आये। प्रेम एवं आनन्दको बढ़ानेके लिए उन्होंने यशोदाजीकी मथानीको पकड़ लिया और उन्हें दधि-मन्थनसे रोक दिया॥ ४॥

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते॥ ५॥

श्रीकृष्ण माता यशोदाकी गोदीमें चढ़ गये। वात्सल्य स्नेहातिशयके कारण यशोदा मैयाके स्तनोंसे दूध स्वतः ही झर रहा था। वे उन्हें स्तन्य-पान कराने लगीं और मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त उनका मुख निहारने लगीं। इसी समय चूल्हेके ऊपर रखा हुआ दूध आगके तापके कारण उफनकर नीचे गिरने लगा। यह देखकर यशोदाजीने कृष्णको गोदीसे उतार दिया और दूध सँभालनेके लिए जल्दीसे दौड़ पड़ीं। श्रीकृष्ण अतृप्त ही रह गये॥ ५॥

सञ्जातकोपः स्फुरितारुणाधरं
सन्दश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः॥ ६॥

इससे श्रीकृष्णको कुछ क्रोध आ गया। उनके लाल-लाल होंठ फड़कने लगे, जिन्हें दाँतोंसे दबाकर श्रीकृष्णने समीपस्थ लोढ़ेको उठाया और दधिके मटकेके निचले भागमें मारकर छेद कर

डाला, जिससे शब्द न हो। उन्होंने बनावटी आँसू आँखोंमें भर लिये तथा दूसरे कक्षमें जाकर अकेले ही नवनीत (ताजा माखन) खाने लगे॥ ६॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः
प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त-
ज्जहास तञ्चापि न तत्र पश्यती॥ ७॥

इधर यशोदादेवीने उफनते हुए दूधको चूल्हेसे नीचे उतारा और उसी मन्थन-स्थलीपर चली आयीं। उन्होंने देखा कि दधि-भाण्ड फूट गया है, और कृष्ण भी इधर दिखायी नहीं दे रहा है। तब वे बायें हाथकी तर्जनीको नाकके अग्रभागपर रखकर यह अनुमान करके हँसने लगीं कि यह मेरे लालाका ही कर्म है॥ ७॥

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥ ८॥

वे कृष्णको इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं। जैसे ही उन्हें कृष्णके दधिसे संलग्न (सने) चरण-चिन्ह दिखायी दिये और उनकी किङ्किणीकी झङ्कार सुनायी दी, तब वे उस घरमें पहुँचीं, जहाँ श्रीकृष्ण उलटे रखे ऊखलपर खड़े थे और छींकेपर स्थित नवनीतको बन्दरोंके उद्देश्यसे भर-भर हाथ लुटा रहे थे। माखन-चोरी करनेके कारण कहीं कोई देख न ले, इस आशङ्कासे वे चौकन्ने होकर इधर-उधर ताकते भी जा रहे थे। उन्हें यह सब करते देख यशोदा पीछेसे धीरे-धीरे, चुप-चाप उनके समीप जा पहुँचीं॥ ८॥

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥ ९॥

श्रीकृष्णने माताको हाथमें छड़ी लिये वहाँ उपस्थित देखा, तो शीघ्र ही ऊखलसे कूद पड़े और भयभीतकी भाँति वहाँसे भागने लगे। हे परीक्षित्! समाधियुक्त योगीगण तपोबलसे प्रेरित चित्तमें ब्रह्ममें लीन होनेकी योग्यता होनेपर भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, उन्हीं पुत्र कृष्णको पकड़नेके लिए यशोदादेवी उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ीं॥ ९॥

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥ १०॥

वे श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़ती जा रही थीं। नितम्बोंकी स्थूलताके कारण सुमध्यमा (पतली कमरवाली) यशोदाकी गति धीमी पड़ गयी। वेगसे दौड़नेके कारण उनकी वेणीकी गाँठ भी ढीली पड़ गयी। वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जातीं, त्यों-त्यों वेणीमें गूँथे हुए पुष्प झड़ते हुए उनका अनुगमन करते जाते थे। दौड़ते-दौड़ते अन्ततः उन्होंने कृष्णको पकड़ ही लिया॥ १०॥

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी
कषन्तमञ्जन्मसिनी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं
हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥ ११॥

माँ यशोदाने अपराधी बालकका दायाँ हाथ पकड़ लिया, तो वह बायें हाथके पीछेके भागसे आँखोंको रगड़ने लगा। उसके नेत्रोंमें लगा हुआ अञ्जन आँसुओंके साथ मुखपर सर्वत्र फैल गया। यशोदाको देखकर उसके दोनों नेत्र भयसे विह्वल हो गये। यशोदाने उसका हाथ पकड़े हुए भय दिखानेके लिए छड़ी ऊपर उठायी और डाँटने लगीं—अरे नटखट! वानरबन्धो! मटकी फोड़नेवाले! अब तू मक्खन कहाँसे लेगा? आज तुझे ऐसा बाँधूँगी कि न तू ग्वाल-बालोंके साथ खेल पायेगा और न ही माखन चुरा सकेगा॥ ११॥

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा॥ १२॥

कृष्णने कहा, "माँ, मुझे मत मार।" यशोदा बोलीं—"यदि पिटनेका इतना ही डर है, तो आज दधि-मटकी क्यों फोड़ी?" कृष्णने उत्तर दिया, "माँ, ऐसा कभी नहीं करूँगा, अपने हाथसे इस छड़ीको फेंक दे।" पुत्रके कातर वचनोंसे माताका हृदय विकल हो गया। "कहीं यह दुःखी मनके कारण वनमें चला गया तो..."—यह सोचकर उन्हें अटकाकर रखनेका कोई उपाय सोचने लगीं। पुत्र-वात्सल्यके कारण एवं उन्हें डरा हुआ देखकर माँने छड़ी फेंक दी और उन्हें रस्सीसे बाँधनेकी इच्छा करने लगीं। यशोदा-पुत्रके असीम प्रभावसे अज्ञात थीं। माधुर्य भावकी अतिशयताके सम्मुख कृष्णके ऐश्वर्यकी स्फूर्ति व्रजमें इसी प्रकार अदृश्य होती रहती थी॥ १२॥

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥ १३॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥ १४॥

सर्वव्यापक होनेके कारण जिनमें न बाहर है, न भीतर। रस्सीके द्वारा सीमायुक्त वस्तुका बन्धन सम्भव है, किन्तु जो सर्वव्यापक हैं, उनपर कहाँ रस्सी रहेगी और कहाँ उनका आवरण होगा? पूर्व-पश्चात् कालका भी व्यवधान जिनमें नहीं है अर्थात् जो सर्वकाल (नित्य) विराजमान रहते हैं, जो जगत्के कार्य और कारण हैं—कार्य और कारणके अभेदसे जो जगत्स्वरूप हैं, अतः जगत्की अंशांशरूप सामान्य रस्सी उन्हें किस प्रकार बाँध सकती है? जो अव्यक्त हैं—प्रेमवश्यत्वके कारण जिनका महान् ऐश्वर्य प्रच्छन्न रहता है—उन्हीं अव्यक्त मनुष्याकृति श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानकर यशोदा साधारण बालकके समान ऊखलसे बाँधना चाहती हैं! चित्-पुञ्जका बन्धन—अहो! माँ यशोदाका प्रेम!॥ १३-१४॥

तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत् तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥ १५॥

जब यशोदा मैया अपने नटखट और उपद्रवी (ऊधमी) पुत्रको बाँधने लगीं, तब बाँधनेकी रस्सी दो अङ्गुल परिमाणमें छोटी हो गयी। तब यशोदा उसके साथ दूसरी रस्सी जोड़ने लगीं। तभी श्रीकृष्णकी सत्यसङ्कल्पता शक्तिसे प्रेरित विभुता शक्ति शीघ्र ही उनकी देहमें प्रकट हो गयी॥ १५॥

यदाऽसीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥ १६॥

वह रस्सी भी दो अङ्गुल छोटी पड़ गयी, तब उन्होंने पुनः उसके साथ दूसरी रस्सी जोड़ी, लेकिन वह भी छोटी पड़ गयी। इस प्रकार वे जितनी भी रस्सियाँ लेती गयीं और जोड़ती गयीं, वे सभी-की-सभी दो-दो अङ्गुल छोटी पड़ती गयीं॥ १६॥

एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत्॥ १७॥

यशोदाने अपने घरकी सारी रस्सियाँ जोड़ लीं और उन्हें बाँधनेका भरपूर प्रयास कर लिया, तब भी वे भगवान् श्रीकृष्णको बाँध न सकीं। यह देख पड़ोसिन गोपियाँ हँसने लगीं और यशोदाजी भी हँसती हुई आश्चर्यचकित हो गयीं। इसका मुट्ठी भरका उदर और सौ हाथ लम्बी रस्सीसे बँधता नहीं! हर बार रस्सी दो अङ्गुल ही कम क्यों रह जाती है?॥ १७॥

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥ १८॥

अत्यधिक श्रमके कारण यशोदाका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। पड़ोसिन गोपी उनसे कहने लगी कि मणिमय छोटी-सी करधनीसे तो इसकी कमर बँधी हुई है, पर घरकी सारी रस्सियाँ छोटी पड़ रही हैं? लगता है यशोदे! विधाताने इसके ललाटमें बन्धन लिखा ही नहीं है। यह तुम्हारे बालकका शुभलक्षण है।

यशोदा बोलीं—प्रातःकालसे सन्ध्याकाल तक गाँवकी समस्त रस्सियाँ जोड़कर इसके उदरकी सीमा जानना चाहती हूँ। अन्ततः भक्तके हठकी विजय हुई। भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि माता शिथिल हो रही है, चोटीमें संलग्न समस्त पुष्प भी झड़ रहे हैं, तो उन्होंने उनके प्रति अत्युज्ज्वल कृपा-वर्षण किया। विभुता ऐश्वर्यशक्ति वहाँसे अन्तर्धान हो गयी और श्रीकृष्ण पहली वाली रस्सीसे ही अर्थात् यशोदाकी केश-वेणीकी डोरीसे ही बँध गये॥ १८॥

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥ १९॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र हैं। ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदिके साथ यह सम्पूर्ण जगत् उनके वशीभूत है, तथापि इस प्रकार बँधकर उन्होंने संसारको यह दिखला दिया कि वे अपने प्रेमी भक्तोंके वशीभूत हैं। (चित्-शक्तिके सार प्रेमके द्वारा कृष्णको अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। परम ऐश्वर्य विद्यमान रहनेपर भी प्रेमवश्यता भूषण है, दूषण नहीं। इस लीलामें बन्धनकी चमत्कारिता दिखलायी गयी है। आत्माराम होनेपर भी क्षुधा, पूर्णकाम होनेपर भी अतृप्ति, शुद्धसत्त्व होनेपर भी कोप, सर्वेश्वर्यसे पूर्ण होनेपर भी चौर्य, महाकाल एवं यमादिको भयप्रद होनेपर भी भय एवं पलायन, मनसे वेगवान होकर भी माता द्वारा बलपूर्वक ग्रहण, आनन्दमय होनेपर भी दुःखसे रोदन और सर्वव्यापक होनेपर भी बन्धन। दामोदर-लीला अद्भुत है।)॥ १९॥

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥ २०॥

ग्वालिनी यशोदाने जगत्के मुक्तिदाता श्रीकृष्णसे जिस प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया था, ब्रह्माजीने पुत्र और भक्तोंके आदिगुरु होकर भी, महेश्वरने परम आत्मीय एवं सर्वश्रेष्ठ वैष्णव होनेपर भी एवं भगवान्के वक्षःस्थलपर सर्वदा विलास करनेवाली अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवीने भी ऐसा कृपा-प्रसाद प्राप्त नहीं किया था॥ २०॥

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥ २१॥

गोपिकासुत (यशोदा-दुलाल) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए जिस प्रकारसे सुलभ हैं, देहाभिमानी तपस्वियों अथवा ज्ञानियोंके लिए भी वे उस प्रकार सुलभ नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि तपस्वी अथवा ज्ञानी अति कष्टसे भगवान्‌को प्राप्त कर भी लें, परन्तु वे उनका असम्यक् अथवा आंशिक प्रभाव ही जान पाते हैं॥ २१॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥ २२॥

इसके बाद नन्दरानी यशोदा तो घरके कामोंमें व्यस्त हो गयीं। तब मुक्तिप्रदाता, ब्रह्माण्डभाण्डोदर भगवान् श्यामसुन्दरने स्वयं बन्धनमें रहकर भी इस जन्ममें यमल-अर्जुन वृक्षमें परिणत यक्षराज कुबेरके पूर्वजन्मके दोनों पुत्रोंको बन्धनसे मुक्त करनेका विचार किया। देव-योनिविशेषमें जन्म लेनेके कारण इन्हें गुह्यक कहा गया है॥ २२॥

पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे उलूखलबन्धनं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

कुबेरके ये दोनों पुत्र पूर्वजन्ममें नलकूबर एवं मणिग्रीव नामसे विख्यात थे और बड़े सौभाग्यवान् थे। इनके पास धन, सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यकी पूर्णता थी। बादमें घमण्डके कारण इन्हें नारद मुनिने अभिशाप दे दिया था और ये वृक्ष हो गये थे॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके नवम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

यमलार्जुनका उद्धार

श्रीराजोवाच—

कथ्यतां भगवन्नेतत् तयोः शापस्य कारणम्।
यत् तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः॥ १॥

महाराज परीक्षित्‌ने पूछा—हे परमाराध्य मुनिवर! आप यह बतलाइये कि देवर्षि नारदने इन दोनों कुबेर-पुत्रोंको किस कारणसे शाप दिया? उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दित कर्म किया था, जिससे परम शान्त देवर्षि नारदजीको भी क्रोध आ गया?॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ॥ २॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने॥ ३॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! ये दोनों धनाध्यक्ष कुबेरके बड़े लाड़ले पुत्र थे और रुद्रके अनुचरोंमें भी माने-जाने लगे थे, जिससे इन्हें बड़ा अभिमान हो गया था। ये अत्यन्त मदमस्त हो गये थे। एक दिन ये दोनों कैलाश पर्वतपर स्थित सुरम्य उपवनमें मन्दाकिनीके किनारे वारुणी मदिरा पीकर उन्मत्त-से होकर विचरण कर रहे थे, मदसे उनकी आँखें घूम रही थीं। वहींपर पुष्पोंसे सुशोभित वन था। बहुत-सी स्त्रियाँ भी वहाँपर गा-बजा रही थीं। ये भी उनके साथ गा रहे थे और उच्छृंखल होकर उनके साथ विहार कर रहे थे॥ २-३॥

अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः॥ ४॥

वहाँ भगवती गङ्गाजी पद्मवनसे सुशोभित हो रही थीं। पद्मवनमें कमल-पुष्पोंकी क्यारियाँ उत्फुल्ल हो रही थीं अर्थात् पाँत-के-पाँत कमल खिले हुए थे। वे उन नवयुवतियोंको साथ लेकर गङ्गाजीके जलमें प्रवेश कर गये और उनके साथ तरह-तरहकी क्रीड़ा करते हुए इस प्रकार विहार करने लगे, जैसे उन्मत्त हाथी हथिनियोंके साथ क्रीड़ा करता है॥ ४॥

यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव।
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत॥ ५॥

हे परीक्षित्! उसी समय परमपूज्य देवर्षि नारद संयोगवश उन दोनोंकी भक्ति-उन्मुखी किसी प्रकारकी सुकृतिके फलसे उधर ही आ निकले। वे इन दोनों यक्ष-कुमारोंको देखकर ही समझ गये कि मदिरापानके कारण ये उन्मत्त हैं। मदमत्त अवस्थामें मेरी कृपाका फल प्राप्त नहीं होगा, पहले मुझे इनकी मदमत्तता दूर करनी चाहिये॥ ५॥

तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः।
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ॥ ६॥

हे परीक्षित्! उस समय जैसे ही वस्त्रहीन देवकन्याओंने परम समर्थ नारदको देखा, तो वे लज्जित हो गयीं और अभिशापसे भयभीत होकर झटपट अपने-अपने कपड़े पहन लिये, किन्तु इन दोनों यक्षोंने नग्नावस्था होनेपर भी वस्त्र धारण नहीं किये॥ ६॥

तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ।
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ॥ ७॥

जब देवर्षि नारदने देखा कि यक्षराज कुबेरके ये दोनों पुत्र ऐश्वर्य-मदसे अन्ध एवं मदिरासे मत्त हो रहे हैं, तब उन्होंने उनपर कृपा करनेके लिए शाप देते हुए उच्च स्वरसे कहा—॥ ७॥

श्रीनारद उवाच—

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः॥ ८॥

श्रीनारदने कहा—जो पुरुष अपने प्रिय विषयोंके सेवनमें आसक्त रहते हैं, उनका धन-गर्व उनकी बुद्धिको नष्ट कर देता है। धन-सम्पत्तिका मद जिस प्रकार बुद्धिको भ्रष्ट करता है, कुलीनता, विद्या, नृत्य-गीत आदिसे बुद्धि उस प्रकार भ्रष्ट नहीं होती। धनका मद उत्पन्न होनेपर स्त्री-सम्भोग, जुआ एवं मद्यपानादि पाप-कृत्य निरन्तर चलते ही रहते हैं॥ ८॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥ ९॥

जिन्हें ऐश्वर्यमद और श्रीमद हो जाता है, ऐसे अपनी इन्द्रियोंके वशीभूत, अजितात्मा, निर्दय, क्रूर व्यक्ति इस नश्वर देहको जरा एवं मृत्युसे रहित अजर-अमर मान लेते हैं तथा उपभोग एवं चित्त-विनोदनके लिए अपने ही जैसे शरीरवाले पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ९॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड् भस्मसंज्ञितम्।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ १०॥

जीवित रहते समय जिस शरीरको देव, नरदेव, भूदेव इत्यादि देवता नामोंसे कहा जाता है, वही मृत्युके पश्चात् कृमि, विष्ठा अथवा भस्मरूपमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार नाशवान् शरीरकी तृप्तिके लिए जो व्यक्ति प्राणियोंकी हिंसा करते हैं अथवा उनसे द्रोह करते हैं, इससे उनका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होता है? प्राणी-हिंसाके कारण तो अन्तिम कालमें नरककी ही प्राप्ति होती है॥ १०॥

देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा॥ ११॥

जरा बतलाओ तो सही, यह शरीर किसकी सम्पत्ति है? अन्न देकर पालन-पोषण करनेवालेकी या गर्भाधान करनेवाले पिताकी? उसे नौ महीने गर्भमें धारण करनेवाली माताकी या विवाहके अवसर पर कन्यादान करनेवाले माताके भी जन्मदाता नानाकी,

मूल्य देकर बन्धक बना लेनेवाले खरीददारकी या बलपूर्वक ग्रहण करके अपना दास बना लेनेवालेकी, प्राणोंके अन्तमें जला देनेवाली अग्निकी या खा जानेवाले कुत्ते-सियारोंकी अथवा स्वयंकी—यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतएव इस विषयमें अनेक संशय रहनेसे देहमें मैं-मेरा—इस प्रकारका अभिमान नहीं करना चाहिये॥ ११॥

एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम्।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः॥ १२॥

अव्यक्त अथवा प्रकृतिसे इस देहकी उत्पत्ति होती है एवं प्रकृतिमें ही इसका लय हो जाता है। यह देह अति साधारण भोग्य वस्तु है। इस जड़-देहको 'मैं' मानकर उसकी प्रीतिके लिए जीव-हिंसा करना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि कार्य क्या दुर्जनों और पशुओंके अतिरिक्त कोई बुद्धिमान व्यक्ति कर सकता है?॥ १२॥

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥ १३॥

धनके मदसे अन्ध दुर्जन व्यक्तिके लिए दरिद्रता ही सर्वश्रेष्ठ अञ्जन-स्वरूप है, क्योंकि दरिद्रता लोगोंके गर्वान्धभावको दूरकर आँखोंमें ज्योति (ऐश्वर्य-गर्व-रूप रोगके प्रतिकारके लिए यथार्थ दृष्टि) प्रदान करती है। दरिद्र व्यक्ति ही अच्छी तरहसे यह देख सकता है कि दूसरे प्राणी भी मेरे जैसे ही हैं॥ १३॥

यथा कण्टक विद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः॥ १४॥

जिसका शरीर स्वयं कभी काँटेसे बिद्ध हुआ हो, वही व्यक्ति दूसरेके मुखपर उदासी एवं मलिनताकी छाया देखकर समझ सकता है कि यह व्यक्ति भी उसी पीड़ासे व्यथित है। पूर्वानुभूत स्वयंकी व्यथाके अनुमानसे ही दूसरोंकी वेदनाको समझा जा सकता है। अतः काँटेसे बिंध जानेसे उत्पन्न व्यथा दूसरोंको भी

हो, वे ऐसी दुर्भावना कभी नहीं रखते। जिसे कभी काँटा गड़ा ही नहीं, वह दूसरेकी पीड़ाका अनुमान भी नहीं कर सकता। वस्तुतः दुःखकी पीड़ा सभीको समान होती है॥ १४॥

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥ १५॥

अहङ्कार-रहित, समस्त प्रकारके उद्दण्डतापूर्ण भावोंसे मुक्त दरिद्र व्यक्ति इस लोकमें आहार एवं वस्त्रादिका स्वभावतः अभाव होनेके कारण कष्टका अनुभव करता है। उसकी इसी दारिद्र्य-दशामें मोक्ष-साधन-तपस्यादि स्वाभाविकरूपसे होते रहते हैं—उनके कष्ट ही परम तपस्या-स्वरूप हैं। सभीके द्वारा अपमानित होनेके कारण दरिद्रका सत्कुल, विद्या आदिका अभिमान नष्ट होता जाता है॥ १५॥

नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्त्तते॥ १६॥

दरिद्र व्यक्तिको सदैव अन्नकी इच्छा बनी रहती है, भूखके कारण उसका शरीर क्षीण होता जाता है, उसकी सारी इन्द्रियाँ उत्तेजनासे रहित होती हैं, कोई विषय-भोगकी इच्छा न होनेके कारण वे स्थिर हो जाती हैं। अतः वह अपने इन्द्रिय-तर्पणके लिए किसीकी भी हिंसा नहीं करता। (इसलिए दारिद्र्य वस्तुतः तपस्या-स्वरूप है।)॥ १६॥

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद्विशुध्यति॥ १७॥

यद्यपि साधु समदर्शी होते हैं, फिर भी उनका मिलना दरिद्रके लिए सहज सुलभ है। दरिद्रताके कारण विषय-भोग तो पहलेसे ही छूटे हुए होते हैं। साधु-सङ्गसे, उनके साथ सम्भाषण आदिसे उसकी विषय-तृष्णाका भी क्षय हो जाता है तथा चित्त भी शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है॥ १७॥

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥ १८॥

जिनका चित्त एकमात्र भगवान्‌के चरणकमलोंके मकरन्द रस-पानके लिए अभिलषित रहता है, ऐसे समदर्शी साधुओंको धनके गर्वीले, दुराचारियोंके साथ रहनेवाले, दुर्गुणोंकी खान, असत् धनवानोंसे क्या प्रयोजन है? धनिक तो साधुओंकी उपेक्षाके ही पात्र हैं॥ १८॥

तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः।
तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः॥ १९॥

इन दोनों यक्षोंने माध्वी वारुणी मदिराका पान कर रखा है। ये धनके गर्वसे अन्धे और मदिरा-पानसे मतवाले हो रहे हैं। विषयोंसे मदान्ध, स्त्री-लम्पट, इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले इन दोनोंके अज्ञान-जनित मदको मैं अभी चूर्ण-विचूर्ण कर देता हूँ॥ १९॥

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ॥ २०॥
अतोऽर्हतः स्थावरतां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥ २१॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥ २२॥

ये दोनों लोकपाल कुबेरके पुत्र होकर भी मदिरा-पान करके उन्मादित हो रहे हैं, गर्वकी अधिकता इतनी है कि इन्हें अपने शरीरकी नग्नताका भी भान नहीं हो रहा है। इस अपराधके कारण इन्हें निरावरणत्व एवं स्थावरत्व प्राप्त करना ही उपयुक्त है। स्थावरत्वकी प्राप्तिके पश्चात् ये दोनों पुनः ऐसे अपराध न करें; इसलिए मेरे अनुग्रहसे इनकी पूर्व स्मृति भी बनी रहेगी। दोनोंको वृक्षयोनि प्राप्त होनेपर शत दैव-वर्षोंकी आयुके पश्चात्

इन्हें श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त होगा। तब ये पुनः देवत्वको प्राप्त होंगे और कृष्ण-भक्तिपरायण होकर अपने लोकमें चले जायेंगे॥ २०-२२॥

श्रीशुक उवाच—

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम्।
नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—देवर्षि नारद इस प्रकार कहकर नर-नारायणके आश्रमकी ओर चले गये और नलकूबर एवं मणिग्रीव दोनों एक साथ ही निरावरणरूपसे स्थावरत्वको प्राप्त करके यमलार्जुन वृक्ष बन गये॥ २३॥

ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्त्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥ २४॥

भगवान् श्रीकृष्ण परम-भागवत श्रीनारद मुनिके वचनको सत्य करनेके लिए जिस स्थानपर यमलार्जुन वृक्ष थे, उधर ही ऊखल घसीटते हुए धीरे-धीरे चले॥ २४॥

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत् तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥ २५॥

देवर्षि नारद मेरे परम प्रिय भक्त हैं एवं ये दोनों भी मेरे ही भक्त कुबेरके पुत्र हैं। महामना नारदने पहले जैसा कहा था, मैं तदनुसार इनका उद्धार साधित करूँगा॥ २५॥

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥ २६॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन वृक्षोंके मध्यमें प्रविष्ट हो गये और दूसरी ओर निकल गये। उनके प्रवेश मात्रसे ही ऊखल टेढ़ा होकर वहीं अटक गया॥ २६॥

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।

निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥ २७॥

दामोदर भगवान्‌का उदर (कमर) तो रस्सीसे बँधा हुआ था। बालक श्रीकृष्णने जैसे ही अपने पीछे लुढ़कते हुए और दोनों वृक्षोंके मध्यमें अटके हुए ऊखलको तनिक बलके साथ खींचा, वैसे ही दोनों वृक्षोंकी जड़ें उखड़ गयीं। परम पुरुषके किञ्चित् विक्रमसे दोनों वृक्षोंके तने, शाखाएँ, पल्लव जोरसे काँप उठे और प्रचण्ड शब्द करते हुए भूमिपर गिर पड़े॥ २७॥

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥ २८॥

तदनन्तर उसी समय दोनों वृक्षोंके अन्दर स्थित मूर्त्तिमान अग्नितुल्य दो उज्ज्वल सिद्ध-पुरुष निकले। उनकी परम शोभासे दिक्‌मण्डल प्रकाशित हो उठा। उन्होंने मस्तक झुकाकर अखिल लोकोंके स्वामी श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया एवं हाथ जोड़कर तथा अहङ्कार-रहित होकर शुद्ध हृदयसे भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति की॥ २८॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्य पुरुषः परः।
व्यक्providedाव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥ २९॥

उन्होंने कहा—हे श्रीकृष्ण! हे परम योगेश्वर श्रीकृष्ण! आपका प्रभाव अचिन्त्य है। (हमारे मोचनकर्त्ता आपके बन्धनका कारण तर्कातीत है।) आप परमपुरुष एवं जगत्‌के मूल निमित्त एवं उपादान कारण हैं। ब्रह्मविद्‌जन वेद-वाक्योंके आश्रयसे इस व्यक्त-अव्यक्त (स्थूल-सूक्ष्मात्मक) जगत्‌को आपके ही (प्राकृत) स्वरूपमें देखते हैं॥ २९॥

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥ ३०॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥ ३१॥

हे भगवन्! सभी प्राणियोंकी देह, प्राण, अहङ्कार एवं इन्द्रियोंके नियन्ता एकमात्र आप ही हैं। आप ही सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अविनाशी ईश्वर-स्वरूप हैं। आप ही काल (निमित्त कारण) एवं त्रिगुणात्मिका सूक्ष्म प्रकृति (उपादान कारण) हैं। आप ही महत्-तत्त्व (कार्य-स्वरूप) हैं। आप ही अन्तर्यामी होनेसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणके ज्ञाता एवं पुरुष स्वरूप हैं। (तात्पर्य यह है कि वस्तु—भगवान्, वस्तुशक्ति—प्रकृति, वस्तुका अंश—पुरुष, वस्तुका कार्य—महत्—ये सभी शुद्धाद्वैत विचारसे वास्तव-वस्तु हैं। अतः वस्तु-तत्त्वके विचारसे ये सब अभिन्न हैं। गौड़ीय वैष्णवोंके विचारमें स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव एवं प्रधान—परतत्त्वसे स्वतन्त्र नहीं हैं।)॥ ३०-३१॥

गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः॥ ३२॥

("मैं ही सर्वस्व हूँ"—इससे घटादि प्राकृत-वस्तु-ज्ञानसे मद्विषयक ज्ञान होता है क्या? यदि होता, तो सभी ब्रह्मविद् हो जाते—इसी तत्त्वको परिपुष्ट करनेके उद्देश्यसे ही इस श्लोककी अवतारणा की गयी है) यदि आप दृष्ट-स्वरूप होते हो तो अपनी कृपासे ही, वास्तविकरूपसे तो आप अदृश्य ही हैं (आपका दर्शन सम्भव नहीं है)। दृश्य-स्वरूपमें वर्त्तमान रहनेपर भी आप प्रकृतिसे उत्पन्न बुद्धि, अहङ्कार एवं इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। इस संसारमें देहाश्रित गुणोंसे आबद्ध कोई जीव देह-उत्पत्तिके पहलेसे भी स्वतःप्रकाश एकरसस्वरूपमें विद्यमान आपको जाननेमें समर्थ हो सकता है क्या? स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरके आवरणसे ढका हुआ जीव आपकी तटस्था-शक्तिका विलास है—आप उस जीवके मूल कारण हैं। जीव आपकी भक्तिसे ही आपको जान सकता है॥ ३२॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥

हे भगवन्! आपके स्वतः प्रकाशित गुणोंसे आपकी महिमा उसी प्रकारसे प्रच्छन्न रहती है, जिस प्रकार मेघोंसे सूर्य आच्छादित रहता है। आप प्राकृत सृष्टिके कर्त्ता—विश्वविधाता सङ्कर्षणस्वरूप स्वयं-भगवान्, वासुदेव (चतुर्व्यूहादि) एवं सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप हैं। आपको बार-बार नमस्कार है॥ ३३॥

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४॥

स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोऽंशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥ ३५॥

आपका प्राकृत शरीर नहीं है, प्राकृत शरीरधारियोंके लिए यह समस्त अतुलनीय पराक्रम असम्भव है। कूर्म, मत्स्यादि विग्रहधारी प्राणियोंमें उन समस्त अनुपम गुणोंसे युक्त पराक्रमको देखकर आपके अवतारोंका ज्ञान हो जाता है। आप तो निश्चितरूपसे अवतारी हैं, क्योंकि सहस्र हाथियोंके द्वारा भी कठिनाईसे उखाड़े जाने योग्य, अर्जुनके समान तेजको धारण करनेवाले इन अर्जुन वृक्षोंको अपनी बाल्य-लीलामें प्रकटित सामान्य बलसे ही आपने उखाड़ डाला तथा रस्सी एवं ऊखलको भी वैसी सामर्थ्य दे दी। प्राकृत शरीररहित महापुरुषके आविर्भावका अनुमान ऐसे पराक्रमसे ही होता है। प्रभो! आप समस्त प्रकारकी उत्पत्ति एवं कल्याणोंके प्रदाता महापुरुष हैं। इस समय समस्त जीवोंको सम्पद् एवं मोक्ष प्रदान करनेके लिए आप पूर्णरूपसे अवतरित हुए हैं॥ ३४-३५॥

नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥ ३६॥

हे परम कल्याण (साध्य) स्वरूप! आपको नमस्कार है। हे परम मङ्गल (साधन) स्वरूप! आपको हमारा बार-बार प्रणाम है।

हे परम शान्तस्वरूप! आपको नमस्कार है। सभीके हृदयमें विहार करनेवाले यदुवंश-शिरोमणि वासुदेव! आपको नमस्कार है॥ ३६॥

अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात्॥ ३७॥

हे विश्वस्वरूप! हम आपके अनुचर महादेवजीके सेवक हैं। अब हमें जानेकी अनुमति प्रदान कीजिये। महर्षि नारदके अनुग्रहसे हमने आपके साक्षात् दर्शन प्राप्त किये हैं॥ ३७॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥ ३८॥

हे जगन्निवास! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणगानमें, कर्ण-युगल आपकी रसमयी कथाके श्रवणमें, दोनों हाथ आपकी प्रीतिपूर्वक सेवामें, मन आपके चरणकमलोंके स्मरणमें, मस्तक आपके द्वारा अधिष्ठित इस निखिल ब्रह्माण्ड विशेषतः नारदादि भक्तोंके प्रणाममें एवं नेत्र आपके मूर्त्ति-स्वरूप साक्षात् विग्रहोंमें और आपके प्रत्यक्ष शरीर-स्वरूप सन्तोंके दर्शनमें रत रहें॥ ३८॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं संकीर्त्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ॥ ३९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं—उनके द्वारा इस प्रकारसे स्तुति किये जानेपर सौन्दर्य-माधुर्य-निधि गोकुलेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जो स्वयं ऊखलसे बँधे हुए थे, मुस्कुराते हुए उन कुबेरके दोनों पुत्रों—नलकूबर और मणिग्रीवसे कहा—॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः॥ ४०॥

श्रीदामोदर भगवान्‌ने कहा—तुम दोनों ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त हो रहे थे। परम कारुणिक देवर्षि नारदने शापसे तुम्हें श्री एवं स्वर्गसे भ्रष्ट करके तुम्हारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया है। यह मैं पहलेसे ही जानता था॥ ४०॥

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥ ४१॥

सूर्यके दर्शनसे जिस प्रकार अन्धकार—आच्छन्नता दूर हो जाती है, उसी प्रकार जो मेरे प्रति एकान्त भक्ति-भावसे आसक्त हैं, जिनकी बुद्धि समभावसे युक्त है, जिनका हृदय मेरे प्रति समर्पित है और जो भागवत महापुरुषोंका साक्षात् दर्शन करते हैं, उन जीवोंका कोई बन्धन रहता नहीं॥ ४१॥

तद्गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥ ४२॥

हे नलकूबर! हे मणिग्रीव! मद्गतचित्त (मेरे परायण) तुम दोनों अपने-अपने घर जाओ। तुम दोनोंमें मेरे प्रति परम वाञ्छित और अभीष्ट भक्तिभावका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है—इससे अब तुम दोनों कभी भी संसार-दशाको प्राप्त नहीं होओगे॥ ४२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे यमलार्जुनभञ्जनं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीशुकदेवने कहा—जब भगवान्‌ने इस प्रकार कहा, तब उन दोनोंने ऊखलसे बँधे हुए श्रीकृष्णकी परिक्रमा की। उनसे अनुमति

माँगी, उन्हें पुनः-पुनः प्रणाम किया एवं संभाषण करते हुए उत्तर दिशाकी ओर चले गये॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके दशम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दामबन्धन मोचन, फलक्रय-कथा, श्रीवृन्दावन आगमन, वत्सपालन, वत्सासुर और बकासुरका विनाश

श्रीशुक उवाच—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! जब दोनों वृक्ष गिरे, तब ऐसा प्रचण्ड शब्द हुआ, जिसे सुनकर नन्द आदि गोपोंके मनमें आशङ्का हुई कि कहीं वज्रपात तो नहीं हो गया है। यह सोचकर सब-के-सब वृक्षोंके गिरनेके स्थानपर चले आये॥ १॥

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम्॥ २॥

वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि दोनों अर्जुनके वृक्ष भूमिपर गिरे पड़े हैं। यद्यपि वृक्षोंके गिरनेका कारण सामने स्पष्ट दिखायी दे रहा था कि रस्सीमें बँधा हुआ बालक श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित है, परन्तु प्रेमातिशयताके कारण वे कुछ भी समझ नहीं पाये और भ्रमित हो गये॥ २॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धञ्च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः॥ ३॥

श्यामसुन्दर रस्सीमें बँधे हुए ऊखलको खींच रहे थे, फिर भी नन्द आदि गोपोंको सन्देह हुआ—किसने यह आश्चर्यजनक कार्य कर डाला? कहाँसे, किस कारणसे यह उत्पात उपस्थित हुआ है? भाग्यसे विधाताने इस बालककी रक्षा कर ली। वे अतिशय व्याकुल होकर इस प्रकार कहने लगे॥ ३॥

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि॥ ४॥

वहींपर खेलते हुए प्रत्यक्षदर्शी कुछ गोपबालकोंने कहा—अरे, यह इसी कृष्णका तो काम है। यह दोनों वृक्षोंके बीचमें ऊखलको टेढ़ा करके खींच रहा था, इतनेमें ही ये वृक्ष गिर पड़े। इनमेंसे दो दिव्य पुरुष प्रकट हुए, यह हमने अपनी आँखोंसे देखा है। (सम्भ्रमके कारण यह नहीं कह पाये कि इसीसे दोनों वृक्ष उखड़े हैं।)॥ ४॥

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः॥ ५॥

श्रीकृष्णके प्रति अत्यधिक ममताके कारण स्निग्धचित्त नन्द आदि प्रमुख गोपोंने नन्हे-से बालकके द्वारा इस वृक्षोत्पाटन कार्यको असम्भव मानकर बालकोंकी बातोंपर विश्वास नहीं किया। वृक्षोंके उखड़नेके कारणको वे सत्य नहीं मान सके। उनमेंसे कोई-कोई 'नारायण समोगुणः' अर्थात् "यह बालक नारायणके समान गुणोंसे युक्त होगा"—इन वचनोंका स्मरण करके "ऐसा हो भी सकता है"—इस प्रकारसे सन्देह करने लगे॥ ५॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह॥ ६॥

नन्द महाराजने रस्सीसे बँधे हुए ऊखलको खींचनेवाले अपने प्राणोंसे प्यारे पुत्रके अङ्ग-प्रत्यङ्गको देखकर "मेरी गोदसे भी जिसकी गोदको तुम अति प्रिय मानते हो, उस तुम्हारी माताने आज अल्प अपराधके कारण ही तुम्हारा बन्धन कर दिया। मैं तुम्हें मुक्त कैसे करूँ?"—इस प्रकार उपालम्भ-द्योतक (उलाहना-सूचक) मुसकानके साथ उन्हें बन्धनसे मुक्त कर दिया॥ ६॥

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत् क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ ७॥

कृष्ण! यदि तुम नृत्य करोगे, तो तुम्हें खाँड़का लड्डू दूँगी—आदि बातोंसे और कभी ताली बजाकर गोपियाँ श्रीकृष्णको उत्साहित करती थीं अर्थात् उन्हें फुसलाया करती थीं। तब वे अखिल ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् साधारण बालकके समान मुग्ध होकर नृत्य करने लगते थे। कभी भोले-भाले अनजान बालकके समान गाने लगते थे। इस प्रकार सूत्रमें ग्रथित कठपुतलीकी भाँति वे गोपियोंके वशीभूत होकर नाचते और गाते थे॥ ७॥

बिभर्त्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।
बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानाञ्च प्रीतिमावहन्॥ ८॥

कभी-कभी गोपियाँ आदेश देतीं—"कृष्ण! वह पादुका लाओ, कृष्ण! बटखरा (चावलादि मापनेका पात्र) लाओ। कृष्ण! पादुका-पीठ (पीढ़ी) लाओ।" कृष्ण उन वस्तुओंको हाथमें ही रखकर बैठ जाते या कभी अपने कोमल पेटके ऊपर रख लेते, जिससे यह प्रकाशित हो जाय कि वे इन सब वस्तुओंको लानेमें समर्थ नहीं हैं। कभी प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करनेके लिए वे दोनों भुजाओंको उठाकर पुनः-पुनः पहलवानोंकी भाँति अपने पराक्रमका प्रदर्शन करते॥ ८॥

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ९॥

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् जगत्में अपनी बालकोचित लीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित किया करते तथा ऐश्वर्यज्ञान-परक ब्रह्मा आदि देवताओं और भक्तोंको अपना भृत्याधीन भाव (मैं अपने भक्तोंके अधीन हूँ) दिखलाते॥ ९॥

क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्त्वरमच्युतः।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ १०॥

एक दिन कोई फल बेचनेवाली गोकुलमें आकर ऊँचे स्वरसे पुकार रही थी—"हे व्रजजन! फल ले लो, फल ले लो।" यह सुनते ही सर्वफल-प्रदाता और सर्वार्थ-परिपूर्ण होकर भी अच्युत

बालक श्रीकृष्ण फल खरीदनेकी इच्छासे उसके मूल्य-स्वरूप अपनी छोटी-सी अञ्जुलिमें धान्य लेकर शीघ्र ही उसकी ओर दौड़ पड़े॥ १०॥

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यकरद्वयम्।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥ ११॥

शीघ्र चलनेके कारण श्रीकृष्णके हाथोंसे प्रायः सारा अनाज पथमें ही गिर गया। तब भी फल-विक्रयिणीने उनके दोनों हाथोंको फलोंसे भर दिया और इधर साथ-ही-साथ इस फल-विक्रयिणीका फल-भाण्ड (टोकरी) भी रत्नोंसे पूर्ण हो गया॥ ११॥

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्।
रामञ्च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्॥ १२॥

इसके बाद एक दिन यमलार्जुन वृक्षोंके उत्पाटक (उखाड़नेवाले) श्रीकृष्ण एवं बलराम ग्वालबालोंके साथ खेलते-खेलते यमुना किनारे चले गये और वहाँ खेलमें ही मग्न हो गये, तब रोहिणीदेवी उन्हें पुकारने लगीं—"ओ कृष्ण! ओ बलराम! शीघ्र आओ॥ "१२॥

नोपेयातां यदाहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम्॥ १३॥

वे दोनों खेलनेमें इतने रम गये थे कि रोहिणीदेवीके पुकारनेपर भी नहीं आये। तब पुत्रवत्सला रोहिणीदेवीने अति वात्सल्यमयी यशोदाको उन्हें बुलानेके लिए भेजा॥ १३॥

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाऽजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी॥ १४॥

वात्सल्य स्नेहकी अधिकताके कारण यशोदादेवीके स्तनोंसे दूध क्षरित हो रहा था। श्रीकृष्ण और बलराम ग्वालबालोंके साथ बहुत देरसे खेल रहे थे। समीपमें जानेसे दोनों इधर-उधर भागेंगे,

इसलिए यशोदा जोर-जोरसे पुकारने लगीं—हे प्यारे कृष्ण! हे प्यारे बलराम!॥ १४॥

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिव।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥ १५॥

हे नीलकमललोचन! हे प्यारे कन्हैया! हे पुत्र! हे प्रिय! मेरे पास आओ और माँका दूध पी लो। हे वत्स! अब तुम खेलनेसे थक गये होंगे, भूख लग रही होगी। देखो तो! भूखसे दुबले हो रहे हो। अब बस करो। और खेलनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १५॥

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति॥ १६॥

प्यारे बेटा बलदेव! हे कुलनन्दन (कुलके आनन्द-स्वरूप)! अपने छोटे भाईको साथ लेकर शीघ्र आ जाओ। आज तुमने बहुत सबेरे कलेवा कर लिया था, अब तो तुम्हें भोजन करना चाहिये॥ १६॥

प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥ १७॥

हे बेटा बलराम! व्रजेश्वर भोजनके लिए बैठ गये हैं। वे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आओ और हम सबको आनन्दित करो। हे बालको! तुम सभी अपने-अपने घर जाओ॥ १७॥

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षं तेऽद्य भवति विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥ १८॥

तदनन्तर श्रीकृष्णसे कहा—पुत्र, देखो तो, तुम्हारे सारे अङ्ग धूलमें निमज्जित हो गये हैं। आओ, जल्दी-जल्दी स्नान कर लो। आज तुम्हारा जन्म-नक्षत्र है, अतः पवित्र हो जाओ और ब्राह्मणोंको गायें दान करो। (क्रीड़ाका उत्साह रोकनेके लिए दानका उत्साह दिया गया है।)॥ १८॥

पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलङ्कृतान्।
त्वञ्च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः॥ १९॥

देखो, देखो, श्यामसुन्दर! तुम्हारे सखाओंको देखो। उनकी माताओंने उन्हें स्नान करा दिया है और सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित कर दिया है। अब तुम भी स्नान कर लो, भोजन कर लो, अच्छे-अच्छे अलङ्कार पहन लो। उसके बाद खूब खेलो॥ १९॥

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥ २०॥

हे राजन्! श्रीकृष्ण निखिल लोकोंके चूड़ामणि स्वयं-भगवान् हैं; यशोदा मैया उन्हें पुत्र समझकर उनके प्रति सर्वदा स्नेहसिक्त रहती थीं। उनके मन-प्राण-बुद्धि कृष्ण-प्रेम-बन्धनमें निरन्तर आबद्ध रहते थे। उन्होंने एक हाथसे बलरामको पकड़ा और दूसरे हाथसे श्रीकृष्णको पकड़कर अपने घर ले आयीं। तब उन्होंने उन्हें स्नान कराया, भोजन कराया और अलङ्करण आदि पहनाकर सारे माङ्गलिक कार्य सम्पन्न किये॥ २०॥

श्रीशुक उवाच—

गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने।
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन्॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अनन्तर नन्द आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने अनुभव किया कि महावनमें विविध प्रकारके उत्पात हो रहे हैं। एक दिन सब एकत्रित हुए और अब व्रजवासियोंका क्या कर्त्तव्य है, इस विषयपर परामर्श करने लगे॥ २१॥

तत्रोपानन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्रामकृष्णयोः॥ २२॥

नन्दमहाराजके ज्येष्ठ भ्राता उपानन्द उम्रमें तो बड़े थे ही, ज्ञानमें भी बड़े थे। वे राम-कृष्णका सदैव कल्याण चाहते थे।

उन्हें इस तत्त्वका भी ज्ञान था कि कब एवं किस स्थानपर कैसा व्यवहार करना चाहिये। वे व्रजवासियोंसे कहने लगे—॥ २२॥

उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः॥ २३॥

हे गोपभाइयो! इस स्थानपर अब हमारा रहना गोकुलके हितकी दृष्टिसे उचित नहीं है। यहाँ सर्वदा ऐसे-ऐसे भयङ्कर उत्पात होते हैं, जो हमारे बलराम, कृष्ण आदि बालकोंके लिए प्राणोंका सङ्कट उत्पन्न कर देते हैं। मेरा विचार यह है कि जितनी जल्दी हो सके, हमें यहाँसे अन्यत्र चले जाना चाहिये॥ २३॥

मुक्तः कथञ्चिद्राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत्॥ २४॥

देखो! यह बालक श्रीकृष्ण भाग्यवश जैसे-तैसे बालघातिनी, कालस्वरूपिणी राक्षसी पूतनाके चङ्गुलसे बचा। इसके बाद एक दिन छकड़ा गिरा, परन्तु भगवान्‌की कृपासे इसका बाल भी बाँका न हुआ॥ २४॥

चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः॥ २५॥

चक्रवातरूपधारी तृणावर्त्त नामका दैत्य जिस समय इसे आकाशमें ले गया था और यह मृत्युके मुखमें ही पड़ा था, तब भी अनायास ही वह वहाँसे एक बड़ी शिलाके ऊपर गिरा। उस समय हमारे कुलदेवता अच्युत विष्णु द्वारा प्रेरित पार्षदोंने अथवा स्वयं विष्णुने इसकी रक्षा की थी॥ २५॥

यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम्॥ २६॥

उस दिन भी श्रीकृष्ण और कई बालक यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें आ गये थे, तथापि उनके गिरते समय कोई भी मरा नहीं। अतः यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपासे बालकोंकी रक्षा होती रही॥ २६॥

यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः।
तावद्बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥ २७॥

अब इसके बाद दूसरा कोई अरिष्ट (मृत्युका कारण) आकर उपस्थित हो जाय, हमें और हमारे व्रजको उत्पीड़ित कर डाले, उसके पहले ही हमें अपने बालकों और सहचरोंके साथ अन्यत्र चले जाना चाहिये॥ २७॥

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्॥ २८॥

नन्दीश्वर एवं महावनके मध्य वृन्दावन नामका एक वन है। वह वासके लिए उपयुक्त स्थान है। वह स्थान तृणादिसे समन्वित है, अतः गौ इत्यादि पशुओंके लिए हितकारी है। उस स्थानपर सुरम्य एवं नवीन वनराजियाँ (हरे-भरे वन) वर्त्तमान हैं। वह वन पवित्र पर्वत, हरी-भरी घास एवं लता-वनस्पति आदिसे भरपूर है। अतः गोप, गोपी एवं गायोंके लिए भी सुखदायक है॥ २८॥

तत् तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त मा चिरम्।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥ २९॥

इसलिए यदि तुम्हारी सम्मति है, तो हम आज ही वहाँ चल पड़ेंगे। अब और विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तभी शीघ्र ही अपने-अपने छकड़ोंको जोत लें और हमारी एकमात्र सम्पत्ति गायोंको सबसे पहले वहाँ भेज दिया जाय॥ २९॥

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्वितिवादिनः।
व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययुरूढपरिच्छदाः॥ ३०॥

उपानन्दके ये वचन सुनकर सभी गोपोंने एकमत होकर उनका समर्थन किया और एक साथ कहने लगे—साधु! साधु! सबने अपनी-अपनी गायों और इधर-उधर बिखरे द्रव्योंको इकट्ठा किया तथा उन्हें छकड़ोंपर लादकर वृन्दावनकी ओर प्रस्थान किया॥ ३०॥

वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च।
अनःस्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः॥ ३१॥
गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः॥ ३२॥

हे राजन्! ग्वालोंने यत्नपूर्वक बूढ़ों, बालकों, स्त्रियों एवं सब सामग्रियोंको छकड़ोंपर चढ़ा दिया तथा गायों एवं बछड़ोंको आगे कर दिया। धनुष-बाण धारणकर वे बड़ी सावधानीके साथ वृन्दावनकी यात्रापर चल दिये। पुरोहित उनके साथ-साथ चल रहे थे। उनकी भेरी एवं सींगीकी उच्च ध्वनिसे चारों दिशाएँ गूँज उठीं॥ ३१-३२॥

गोप्यो रूढरथा नूत्न कुचकुङ्कुमकान्तयः।
कृष्णलीला जगुः प्रीत्या निष्ककण्ठ्यः सुवाससः॥ ३३॥

गोपियोंने अपने कुचोंपर नवीन कुङ्कुम (केसर) लगा रखा था, गलोंमें स्वर्ण हार धारण कर रखे थे और अत्यन्त सुन्दर एवं मनोरम वस्त्र पहन रखे थे। रथपर सवार हुईं वे बड़ी प्रीतिके साथ कृष्ण-लीलाके गीत गाती जाती थीं॥ ३३॥

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णारामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके॥ ३४॥

यशोदादेवी एवं रोहिणीदेवी भी वैसे ही सज-धजकर एक ही रथपर सवार हो गयीं। बलराम और कृष्णके साथ उनकी अत्यधिक शोभा हो रही थी। दोनों अपने बालकोंकी सुमधुर, अस्फुट तोतली बोली सुनकर अघाती न थीं॥ ३४॥

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्द्धचन्द्रवत्॥ ३५॥

वृन्दावनधाम बड़ा ही सुहावना एवं सर्वकाल सुखावह है, वहाँ सभी ऋतुओंमें आनन्द-ही-आनन्द है। उन्होंने वहाँ प्रवेश करके उस स्थानपर छकड़ोंको अर्द्ध-चन्द्राकार मण्डलके रूपमें बाँधकर

स्थित कर दिया तथा गायों और व्रजवासियोंके रहनेयोग्य सुन्दर निवास-मण्डल बना लिया॥ ३५॥

वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीति राममाधवयोर्नृप॥ ३६॥

हे राजन्! वृन्दावनके सुरम्य वन, अद्भुत छटासे युक्त गोवर्द्धन पर्वत एवं यमुनाके सुन्दर-सुन्दर पुलिनोंको देखकर कृष्ण एवं बलरामके मनमें अति प्रीतिका उदय हुआ॥ ३६॥

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥ ३७॥

बलराम एवं कृष्ण दोनों अपनी बालकोचित क्रीड़ाओं एवं मधुर तोतली बोलीसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते रहते। समय आनेपर बलराम एवं कृष्ण बछड़ोंको चराने ले जानेमें (वत्स-पालनमें) समर्थ हो गये॥ ३७॥

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥ ३८॥

घरसे वे खेलनेके लिए अनेक प्रकारकी सामग्री ले लेते और दूसरे ग्वालबालोंके साथ मिलकर व्रजभूमिके पास ही (गोष्ठके समीप ही) बछड़े चराया करते॥ ३८॥

क्वचिद्वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित्पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः॥ ३९॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥ ४०॥

किसी स्थानपर वे वंशी अथवा सींगा बजाते, कहींपर क्षेपण-यन्त्र अर्थात् ढेलवाँस या गुलेलसे ढेले या गोलियाँ फेंकते, कभी चरणोंके नूपुर बजाते हुए वे बेल और आँवलेके फलोंको फेंका करते, कहींपर बनावटी बैल और गायका रूप धारणकर क्रीड़ा करते और कहीं गोपबालकोंके साथ साँड़की तरह

ऊँचे शब्दके साथ हकड़ते हुए परस्पर बनावटी युद्ध करने लगते, तो कहीं कोयल, मोर और बन्दर आदि पशु-पक्षियोंकी बोलीका अनुकरण करते। परीक्षित्! इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् साधारण बालकोंके समान खेल खेला करते थे॥ ३९-४०॥

कदाचिद्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥ ४१॥

एक दिनकी बात है, बलराम और कृष्ण अपने सखाओंके साथ यमुनाके तटपर वत्स-चारण कर रहे थे। उसी समय उन्हें मारनेकी इच्छासे एक दैत्य वहाँ आ पहुँचा॥ ४१॥

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत्॥ ४२॥

श्रीहरिने देखा कि वह दैत्य बनावटी बछड़ेका रूप धारणकर बछड़ोंके झुण्डमें मिल गया है। उन्होंने बलरामको भी नेत्रोंके सङ्केतसे यह दृश्य दिखाया और धीरे-धीरे उस असुरके समीप इस प्रकार पहुँचे, मानो वे दैत्यको पहचानते नहीं हों और उस सुन्दर सुडौल बछड़ेपर मुग्ध हो गये हों॥ ४२॥

गृहीत्वापरपादाभ्यां सह लाङ्गुलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितम्।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह॥ ४३॥

श्रीकृष्णने उस वत्सरूपधारी असुरके पिछले दोनों पैरोंके साथ उसकी पूँछ पकड़कर उसे आकाशमें घुमाया, बादमें उसके प्राण निकल जानेपर उसे कैथके वृक्षपर पटक दिया। (कैथके फल हमारे खिलौने हैं—उन्हींको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे असुर-देहको कैथके वृक्षपर फेंका है।) इस प्रकार उस विशालकाय दैत्यकी देह अपने भारसे बहुत-से कैथके वृक्षोंको गिराकर स्वयं भी भूमिपर गिर पड़ी॥ ४३॥

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति।
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः॥ ४४॥

गोपबालक उस विशालकाय दैत्यको मरा हुआ देखकर 'वाह, वाह' कहकर श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे। देवता भी परम आनन्दित होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ ४४॥

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
स प्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः॥ ४५॥

हे राजन्! जो सारे जगत्के रक्षक हैं, वे ही राम और कृष्ण इस समय वत्सपालक (चरवाहे) बने हुए हैं। वे प्रातःकाल ही कलेवा कर लेते (अथवा कलेवेकी सामग्री साथ ले लेते) और बछड़ोंको चराते हुए एक वनसे दूसरे वनमें घूमते॥ ४५॥

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥ ४६॥

एक दिन सभी ग्वाल-बाल अपने-अपने बछड़ोंके झुण्डोंको जल-पान करानेके लिए जलाशयके तटपर ले गये और वहाँ पहले उन्हें जल पिलाया। इसके बाद स्वयं भी जलपान किया॥ ४६॥

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः श‍ृङ्गमिव च्युतम्॥ ४७॥

ग्वालबालोंने देखा कि उस जलाशयके समीप एक भीषण प्राणी बैठा है। उसे देखकर बालक डर गये। फिर ऐसा लग रहा था मानो इन्द्रके वज्रके आघातसे टूटकर अथवा पर्वतकी चोटीसे गिरकर कोई चट्टान पड़ी हुई हो॥ ४७॥

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली॥ ४८॥

वस्तुतः वह एक 'बक' नामका महादैत्य था, जो बगुलेका रूप धारण करके आया था। उसकी चोंच बड़ी तीखी थी और वह बड़ा बलवान् था। उसने तुरन्त ही श्रीकृष्णको निगल लिया॥ ४८॥

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥ ४९॥

जब बलराम आदि बालकोंने देखा कि उस महाबकने श्रीकृष्णको निगल लिया है, तो उनकी दशा वैसी ही हो गयी, जैसी प्राणोंसे रहित इन्द्रियोंकी होती है। वे सब अचेत हो गये॥ ४९॥

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्-
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥ ५०॥

राजन्! श्रीकृष्ण तो जगद्गुरु ब्रह्माजीके भी पिता हैं। इस समय वे क्रीड़ा हेतु गोपबालक बने हुए हैं। जब बकासुरने उन्हें निगल लिया, तब वे उसके उदरस्थ होकर तालुके मूलमें अग्निके समान दाह उत्पन्न करने लगे, जिससे उस दैत्यने उसी क्षण श्रीकृष्णको उगल दिया। जब असुरने देखा कि श्रीकृष्ण अक्षत हैं (उनके अङ्गोंपर एक भी घाव नहीं है), तो वह अत्यन्त क्रोधित होकर अपनी कठोर चोंचसे उन्हें मार डालनेके लिए पुनः उद्यत हो गया॥ ५०॥

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम्॥ ५१॥

भगवान् कृष्ण भक्तोंके रक्षक हैं। कंसका अनुचर वह बकासुर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णपर झपट ही रहा था कि उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसकी चोंचके दोनों भागों (ठोरों) को पकड़ लिया तथा गोपबालकोंके देखते-देखते खेल-ही-खेलमें उसे वैसे ही चीर डाला, जैसे कोई बालक ग्रन्थिशून्य वीरण-तृणको

(घासकी डण्ठलको) चीर डालता है। इससे देवताओंको भी बड़ा आनन्द हुआ॥ ५१॥

तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥ ५२॥

स्वर्गसे देवता लोग बक-विनाशक भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर नन्दन-वनजात मल्लिका, चमेली आदि पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा नगारे, दुन्दुभि एवं शङ्खकी ध्वनि करते हुए स्तोत्र-गानके द्वारा उनकी स्तुति करने लगे। यह देखकर गोपबालक विस्मित रह गये॥ ५२॥

मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः॥ ५३॥

जिस प्रकार प्राणोंके सञ्चार होनेपर इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वरूप भावको प्राप्त होकर सचेतन एवं आनन्दमय हो जाती हैं, उसी प्रकार बकासुरके मुखसे निकलकर अपने समीप आये हुए श्रीकृष्णको देखकर बलराम आदि सभी ग्वालबाल परम आनन्दित हुए। उन्होंने श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया। तदनन्तर प्रसन्नचित्तसे बछड़ोंको एकत्र किया और उन्हें हाँकते हुए व्रजमें आये। वहाँ उन बालकोंने बकासुरके वधकी कथा सबको गा-गाकर सुनायी॥ ५३॥

श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥ ५४॥

परीक्षित्! व्रजमें सभी गोप एवं गोपियाँ बकासुरके वधकी कथा सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। वे श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रीतिके साथ देखने लगे। उन्हें प्रतीत हुआ मानो वे यमालयसे

लौटे हों। श्रीकृष्णको देख-देखकर उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे, हृदयकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी, उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती थी, श्रीकृष्णने भी दर्शन देकर उनका यथोचित समादर किया॥ ५४॥

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।
अप्यासीद्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥ ५५॥

उस समय नन्द आदि गोपगण आपसमें कहने लगे—अरे! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आज तक इस बालकके लिए कितने ही मृत्युके कारण उपस्थित हुए, परन्तु जिन्होंने इसका अनिष्ट करना चाहा, उन्हींका अनिष्ट हुआ। अनिष्ट करनेवाले वे हिंसक हम निरपराधी लोगोंके लिए और हमारे बालकोंके लिए भय उत्पन्न करते हैं, बादमें वे ही विनष्ट होते हैं॥ ५५॥

अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ५६॥

इन सभी दैत्योंकी आकृति बड़ी भयङ्कर थी, परन्तु वे बालकका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर पाये। वे मार डालनेकी कामनासे कृष्णके समीप आये, परन्तु इसके तेजसे उनके प्राणोंका अन्त उसी प्रकार हो गया, जिस प्रकार अग्निके तेजसे जलकर पतिङ्गे स्वयं ही भस्म हो जाते हैं॥ ५६॥

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित्।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत्॥ ५७॥

अरे भाई! सत्य ही है! ब्रह्मवेत्ताके वचन किसी भी प्रकारसे मिथ्या नहीं हो सकते। बड़े आश्चर्यकी बात है—महात्मा गर्गमुनिने पहले जैसा कहा था, इस समय हमें उसीका अनुभव हो रहा है॥ ५७॥

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥ ५८॥

इस प्रकार नन्द आदि प्रमुख गोपगण बड़े आनन्दके साथ बलराम–कृष्णकी बातें करते रहते और इन बातोंमें इतने आसक्त हो जाते कि संसारके दुःख–सङ्कटोंकी उन्हें कुछ सुध ही न रहती॥ ५८॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धेवत्सबकवधो नाम एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इसी प्रकार बलराम–कृष्ण कभी निलायन (लुका–छिपीका) खेल खेलते, कभी सेतु–निर्माण करते, कभी वानरोंके समान उछलते–कूदते और कभी किसी दूसरे विचित्र खेलमें रम जाते। इस प्रकार कुमार–अवस्थाकी क्रीड़ाओंमें मग्न रहते हुए बलराम–कृष्णने व्रजमें कौमार–काल व्यतीत किया॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

अघासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

क्वचिद्वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—महाराज परीक्षित्! एक दिन श्रीकृष्ण वनमें ही कलेवा (प्रातःकालीन भोजन) करनेकी अभिलाषासे प्रातःकाल ही जग गये और सींगीकी मधुर-मनोहर ध्वनिसे अपने साथी गोपबालकोंको भी नींदसे जगाया। उन्हें अपने मनकी बात बतलायी। सबने मिलकर बछड़ोंको आगे किया और व्रजसे निकल गये॥ १॥

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥ २॥

श्रीकृष्णके सहस्रों प्रेमी सखा उस समय अपने सुरम्य छींके, बेंत, सींगी तथा वंशी लेकर और अपने-अपने सहस्राधिक बछड़ोंको आगे करके आनन्दपूर्वक श्रीकृष्णके साथ व्रजमण्डलसे बाहर चल पड़े॥ २॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।
चारयन्तोऽर्भलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह॥ ३॥

बाल सखाओंने अपने-अपने बछड़ोंको श्रीकृष्णके अगणित बछड़ोंके साथ मिला दिया और सबके बछड़े चरने लगे। सभी

ग्वालबाल वन-प्रदेशमें यहाँ-वहाँ बालकोचित क्रीड़ाएँ करते हुए विहार करने लगे॥ ३॥

फलप्रवालस्तवक सुमनःपिच्छधातुभिः।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन्॥ ४॥

सभी बालकोंको यद्यपि उनकी माताओंने काँच (एक प्रकारकी मणि), गुञ्जा, मणि एवं स्वर्ण निर्मित आभूषणोंसे सुसज्जित किया था, तथापि उन बालकोंने पुनः अपने शरीरोंको लाल-पीले-हरे फलों, नवपल्लवों, गुच्छों, सुवर्ण पुष्पों, मोर-पंखों एवं गैरिक आदि धातुओंसे अलङ्कृत कर लिया॥ ४॥

मुष्णन्तोऽन्योन्योशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः॥ ५॥

ग्वालबाल एक-दूसरेके छींके, छड़ी, वंशी आदि चुरा लेते। यदि किसी वस्तुका स्वामी अपनी अपहृत वस्तुको जान लेता, तो उसके ग्रहण करनेसे पहले ही कोई दूसरा सखा उस वस्तुको उठाकर उसे दूर फेंक देता। जहाँ वह द्रव्य गिरता, वहाँसे कोई और उसे उठा लेता तथा अधिक दूर फेंक देता। इस प्रकार अपना द्रव्य प्राप्त न होनेपर द्रव्यका स्वामी बालक रोने लगता, तब बालक हँसते हुए उसे उसकी वस्तु प्रदान कर देते॥ ५॥

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥ ६॥

यदि कभी श्रीकृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिए कुछ दूर चले जाते, तो “मैं पहले उसे छुऊँगा, मैं पहले उसे छुऊँगा” इस प्रकार होड़ लगाकर सब-के-सब सखा दौड़ पड़ते और उनका स्पर्श करके परम आनन्दित हो जाते॥ ६॥

केचिद्वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद्भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥ ७॥

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥ ८॥
विकर्षन्तः कीशबालान् आरोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु॥ ९॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरितः स्रवसंप्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥ १०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥ ११॥

उन बालकोंमेंसे कोई वंशी बजाता, तो कोई सींगीको बजाता, कोई भ्रमरोंके साथ गुनगुनाता और कोई कोयलके कुहू-कुहू स्वरके साथ स्वर मिलाकर कूजन करता, कोई आकाशमें उड़ते पक्षियोंकी छायाके साथ द्रुत गतिसे दौड़ लगाता, तो कोई हंसोंकी चालका अनुकरण करते हुए मनोरम भङ्गिमापूर्वक चलने लगता। कोई बगुलेका अनुकरण करके आँखें मूँदकर उसके पास बैठ जाता, तो कोई मोरोंके साथ उन्हींकी तरह नृत्य करने लगता, कोई वृक्षपर बैठे वानर-शिशुओंकी पूँछ खींच लेता, तो कोई उनके साथ इस वृक्षसे उस वृक्षपर चढ़ जाता और बन्दरोंकी भाँति मुख-भङ्गिमा बनाता तथा कोई उनके साथ एक शाखासे दूसरी शाखापर छलाङ्ग लगाता, कोई मेंढकके साथ झरनेकी छोटी जलधारा (कछार) में छपका खेल खेलता हुआ उछलता-कूदता, कोई जलमें अपना ही प्रतिविम्ब देखकर उसका उपहास करता, तो कोई अपनी ही प्रतिध्वनिको बुरा-भला कहता। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके लिए ब्रह्मसुखकी साक्षात् अनुभूति हैं, दास्य भावसे युक्त भक्तोंके लिए परम ऐश्वर्यशाली हैं एवं माया-मोहित विषयान्धोंके लिए वे मनुष्य-बालक हैं—इन्हीं भगवान्के साथ वे महान् पुण्यात्मा गोपबालक विविध प्रकारसे विहार किया करते।

इन गोपबालकोंने प्रचुर पुण्य किया है अन्यथा श्रीकृष्णके साथ इनका विहार सम्भव नहीं है॥ ७-११॥

यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥ १२॥

बहुत जन्मों तक यम-नियमादि कष्टमय साधनोंसे जिन्होंने अपनी इन्द्रियों एवं अन्तःकरणको वशीभूत कर लिया है, वे योगी लोग भी भगवान्‌की चरण-रेणु प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सके हैं। अब वे ही भगवान् स्वयं व्रजवासियोंकी आँखोंके सामने क्रीड़ाएँ कर रहे हैं, इनके अहोभाग्यका कहाँ तक वर्णन किया जाय?॥ १२॥

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥ १३॥

हे राजन्! इसी समय 'अघ' नामक एक बड़ा असुर वहाँ उपस्थित हुआ। वह इतना भयङ्कर था कि अमृत पान करके अमर हुए देवता भी उससे भयभीत रहते थे तथा अपने जीवनकी रक्षाके लिए उसकी मृत्युकी कामना करते थे। उस ईर्ष्यालुसे श्रीकृष्ण और उनके सखाओंकी सुखमयी क्रीड़ा देखी नहीं गयी। उसके हृदयमें जलन होने लगी॥ १३॥

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः।
अयन्तु मे सोदरनाशकृत् तयो-
र्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये॥ १४॥

कंसकी आज्ञासे आया हुआ यह अघासुर पूतना एवं बकासुरका छोटा भाई था। वह श्रीकृष्ण, श्रीदामा आदि बालकोंको

देखकर मन-ही-मन सोचने लगा कि इसी कृष्णने ही मेरे सगे भाई एवं बहिनकी हत्या की है। अतः आज मैं अपने भाई एवं बहिनकी सन्तुष्टिके लिए इसे इसके सखाओंके साथ ही मार डालूँगा॥ १४॥

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते॥ १५॥

इन्हें मारकर परलोकगत अपने भाई-बहिनकी तृप्तिके लिए यदि मैं इन्हें तिलाञ्जलिरूपमें प्रस्तुत करूँगा, तो व्रजवासी स्वतः ही मृतवत् हो जायेंगे। प्राणोंके नष्ट होनेपर शरीरके नाशके लिए सोचना नहीं पड़ता। जीवलोकमें सन्तान ही प्राणोंके समान है। (सन्तानरूपी प्राणोंका विनाश होनेपर उनके विरहमें देहरूपी व्रजवासी अपने आप मर जायेंगे)॥ १५॥

इति व्यवस्याजगरं बृहद्वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥ १६॥

ऐसा निश्चित करके वह दुष्ट असुर अजगरका रूप धारण करके मार्गमें ही लेट गया। वह बड़ा ही अद्भुत लग रहा था। उसका यह अजगर शरीर एक योजन लम्बे पर्वतके समान स्थूल एवं विशाल था। उसने गह्वर (गुफा) के समान मुख फाड़ रखा था, जिससे वह श्रीकृष्ण आदि बालकोंको ग्रास कर सके॥ १६॥

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७॥

अघासुरका निचला होठ पृथ्वीसे एवं ऊपरी होठ आकाशसे संलग्न था। मुखके दोनों जबड़े पर्वतकी कन्दराके समान विशाल थे और मध्यके भागमें अन्धकार व्याप्त था। उसकी जिह्वा एक चौड़े एवं लाल पथके समान, साँसें प्रखर वायु (आँधी) के समान और दोनों आँखें दावानलके समान दहक रही थीं॥ १७॥

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्।
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया॥ १८॥

बालकोंने उस अजगररूपी दैत्यको देखकर ऐसा मान लिया कि यह वृन्दावनका कोई विशेष 'ऐश्वर्य' है। वे निर्भय होकर खेल-ही-खेलमें अनेक कल्पनाएँ करने लगे कि यह गुफा तो महासर्प (अजगर) के फैले हुए मुखके समान दिखायी देती है, "यह ठीक ऐसी ही दिखती है, इसी प्रकारकी ही है॥"१८॥

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।
अस्मत् संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥ १९॥

किसी बालकने कहा—हे बन्धुओ! जरा देखो तो सही, यह सामने पड़ी वस्तु किसी निश्चल प्राणीके समान दिख रही है या नहीं! इसने हमें निगल जानेके लिए ही किसी विशाल अजगरके समान मुख फाड़ रखा है या नहीं?॥ १९॥

सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवदघनम् ।
अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २०॥

दूसरे बालकने अनुमोदन किया—हाँ, ठीक कह रहे हो। यह हमें ग्रास करनेके लिए ही यहाँ स्थित हो गया है। सूर्यकी किरणोंसे अनुरञ्जित रक्तिम मेघमण्डल इसके ऊपरके होंठके समान प्रतीत हो रहा है और इन मेघोंकी परछाईंसे लाल रङ्गकी भूमि इसके निचले ओष्ठके समान दिखायी दे रही है॥ २०॥

प्रतिस्पर्धेते सृक्काभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥ २१॥

किसी अन्य गोपबालकने भी सहमत होकर कहा—हाँ, हाँ, इसकी बायीं एवं दायीं ओरकी दोनों गिरि-कन्दराएँ इसके दोनों होंठ-प्रान्त (जबड़ों) के समान लग रही हैं और उन्नत पर्वतकी ये ऊँची चोटियाँ इसकी तीक्ष्ण दाढ़ोंके समान प्रतीत हो रही हैं॥ २१॥

आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम्॥ २२॥

किसी अन्य बालकने कहा—यह लम्बा-चौड़ा लाल पथ भी अजगरकी जिह्वाके समान दीख रहा है और ऊँचे-ऊँचे पर्वतके शिखरके मध्य व्याप्त अन्धकार उसके मुखके गह्वरसे स्पर्धा कर रहा है (अर्थात् इसका मुख गह्वरके समान ही है)॥ २२॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति पश्यत।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥ २३॥

एक और बालकने कहा—देखो, इसकी साँसोंमें अजगरकी साँसोंके समान इतनी दाहकता है कि मानो वनमें आग लगी हो। इस दावानलसे दग्ध प्राणियोंकी दुर्गन्ध ऐसी जान पड़ रही है मानो अजगरके उदरमें स्थित प्राणियोंके मांसकी दुर्गन्ध हो॥ २३॥

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टान्
अयं तथा चेद् बकवद्विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं
वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥ २४॥

उनमेंसे एकने कहा—इसके मुखमें प्रवेश करें, तो क्या यह हमें निगल लेगा? अरे! यदि निगलेगा तो उसका बचाव नहीं है, कृष्णने जिस प्रकार बकासुरको मार डाला था, उसी प्रकार इसे भी वह क्षणभरमें ही मार डालेगा। इस प्रकार वे ग्वालबाल बकारि श्रीकृष्णके कमनीय मुखका दर्शन करते हुए और उच्च हास्यके साथ ताली पीटते-पीटते उस अजगरके मुखमें प्रवेश कर गये॥ २४॥

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे॥ २५॥

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं। वे बालकोंकी एक-दूसरेके साथ ऐसी भ्रमपूर्ण बातोंको सुनकर सोचने लगे—"यह तो वास्तवमें राक्षस है, परन्तु सर्पके समान व्यवहार कर रहा है। मेरे ग्वाल-सखा इस तथ्यसे अनभिज्ञ हैं।" ऐसा निश्चय करके वे अपने सखाओंको उसके मुँहमें जानेसे मना करना चाहते थे॥ २५॥

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं
परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं
हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥ २६॥

श्रीकृष्ण निषेध करते, इससे पहले ही सारे ग्वालबाल बछड़ोंके साथ असुरके उदरमें चले गये, किन्तु इस राक्षसने उस समय अपने भाई बकासुर और बहिन पूतनाके वधका स्मरण करके उन्हें निगला नहीं, (गलेसे नीचे नहीं उतारा) वह श्रीकृष्णके प्रवेशकी प्रतीक्षा करने लगा॥ २६॥

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान्।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥ २७॥

सारे ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्णके ऐकान्तिक भक्त थे। वे उनके हाथसे दूर निकलकर मृत्यु-तुल्य अघासुरकी जठराग्निके ग्रास बन इस प्रकार जलने लगे, जैसे तिनका बाह्य-अग्निमें गिरकर जलने लगता है। दुरवस्थामें पड़े दीन बालकोंको देखकर

उनके एकमात्र रक्षक, अभयप्रदाता श्रीकृष्ण लीला-शक्तिके अनुकूल कालके विचित्र प्रभावको देखकर अत्यधिक आश्चर्यान्वित हो गये और कृपावश उनका हृदय द्रवीभूत हो गया॥ २७॥

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषाञ्च सतां विहिंसनम्।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य
ज्ञात्वाविशत् तुण्डमशेषदृग्धरिः॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्ण सोचने लगे कि इस सङ्कटमें अब मुझे क्या करना चाहिये? ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे इस दुष्टकी मृत्यु भी हो जाय और साधु-स्वभाववाले भोले-भाले बालकोंकी रक्षा भी हो जाय? पर ये दोनों कार्य एक ही साथ किस प्रकारसे साधित हों? अनन्तदर्शी अर्थात् भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानको प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने इस विषयपर विचारकर एक युक्ति निश्चित की और तदनुसार उस असुरके मुखमें स्वयं प्रवेश कर गये॥ २८॥

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥ २९॥

उस समय श्रीकृष्णका अघासुरके मुखमें प्रवेश देखकर मेघोंकी आड़में छिपे हुए देवता भयसे हाहाकार कर उठे एवं अघासुरके बान्धव कंसादि राक्षस आनन्दित हो उठे॥ २९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम्।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले॥ ३०॥

अघासुर बछड़ों एवं ग्वालबालोंके साथ भगवान् श्यामसुन्दरको अपनी दाढ़ोंसे चबाकर चूर्ण-विचूर्ण करना चाहता था, किन्तु उसी समय देवताओंका हाहाकार सुनकर साक्षात् अविनाशी भगवान् श्रीकृष्ण उस असुरके गलेमें अटककर बड़े वेगसे अपने शरीरको बढ़ाने लगे॥ ३०॥

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्द्धन् विनिर्भिद्य विनिर्गतो बहिः॥ ३१॥

श्रीकृष्णका शरीर बढ़ जानेके कारण उस विशालकाय दैत्यके कण्ठ आदि सारे रास्ते रुँध गये, आँखें बाहर निकल आयीं। वह व्याकुल होकर इधर-उधर छटपटाने लगा। उसके शरीरके सभी द्वारोंके रुक जानेसे श्वास-वायु परिपूर्ण होकर सारे शरीरमें भर गयी एवं ब्रह्मरन्ध्रको भेद करके बाहर निकल गयी॥ ३१॥

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ॥ ३२॥

मस्तकके उसी छिद्र-पथसे प्राणोंके साथ-साथ समस्त इन्द्रियाँ भी बाहर निकल आयीं। उसी समय भगवान् मुकुन्दने समस्त मृत गोवत्स एवं ग्वालबालोंको अपनी अमृतमयी दृष्टिसे पुनः जीवित कर दिया और स्वयं उन्हें साथ लेकर असुरके मुखसे बाहर निकल आये॥ ३२॥

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥ ३३॥

उस विशाल सर्पकी देहसे एक अद्भुत महान् ज्योति निकली। उस समय उस महाज्योतिके प्रकाशसे दसों दिशाएँ दीप्त हो उठीं। वह श्रीकृष्णके बाहर आनेकी प्रतीक्षा करती हुई आकाशमें ही स्थित रही। थोड़ी ही देरमें जब श्रीकृष्ण बाहर निकल आये, तब देवताओंके सम्मुख ही वह ज्योति श्रीकृष्णके शरीरमें समा गयी॥ ३३॥

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्त्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥ ३४॥

उस समय अत्यधिक आनन्दसे ओतप्रोत होकर देवता पुष्पवर्षण करने लगे, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, सुगायक गन्धर्व आदि गान करने लगे, विद्याधरादि वादक वाद्य बजाने लगे, ब्राह्मण स्तुति करने लगे और जनदेवता (पार्षद) जय-जयकार करके भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करने लगे। भगवान्ने अघासुरको मारकर उन सबकी इच्छाको पूर्ण किया॥ ३४॥

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्-
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥ ३५॥

अद्भुत स्तोत्रों, सुरम्य वाद्यों, स्वस्ति-गीतियों, जय-जयकार और आनन्दोत्सवोंकी मङ्गल-ध्वनि ब्रह्माजीके निजधाम ब्रह्मलोक तक पहुँची। उस मङ्गल-ध्वनिको सुनकर वे शीघ्र ही अपने वाहनपर वहाँ आये और श्रीकृष्णकी महिमाका दर्शन करके विस्मित हो गये॥ ३५॥

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥ ३६॥

हे राजन्! उस अजगरका शुष्क, अद्भुत चर्म बहुत समय तक वृन्दावनमें व्रजवासियोंके लिए खेलनेकी एक अद्भुत गुफाके रूपमें व्यवहृत होता रहा॥ ३६॥

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥ ३७॥

श्रीहरिने कौमारावस्था (पाँचवें वर्षकी अवस्था) में उस मृत्युरूप अघासुरसे स्वयंको एवं ग्वालबालकोंको बचाया था तथा

सर्पको संसार-दशासे मुक्त किया था। ग्वालबाल यह देखकर विस्मित रह गये थे, परन्तु उन्होंने पौगण्ड अर्थात् छठवें वर्षकी अवस्थामें (पौगण्ड-लीला प्राकट्यके बाद) व्रजमें प्रवेश करनेपर इस आश्चर्यजनक घटनाका इस प्रकार वर्णन किया, जैसे यह घटना आज ही हुई हो॥ ३७॥

नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यन्त्वसतां सुदुर्लभम्॥ ३८॥

कार्य-कारण, व्यक्त-अव्यक्त, उच्च-नीच जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे उन सबके अर्थात् समस्त जगत्के विधातास्वरूप हैं। नर-लीलामें अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यको प्रकट करनेवाले, परम दयालु, परमपुरुष नन्दनन्दनके लिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अघासुर मूर्त्तिमान अघ (पाप) ही था। उसने भगवान्के संस्पर्शसे निष्पाप होकर दुष्टोंके लिए दुर्लभ सारूप्य मुक्तिको प्राप्त किया था॥ ३८॥

सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥ ३९॥

मात्र एक बार भी जिनकी मनोमयी (मनश्चिन्तित) अङ्ग-छविको अथवा उनकी भावनिर्मित प्रतिमाके किसी भी एक अङ्गको हृदयमें स्थापित कर लिया जाय, तो उसीसे वे जीवको परम गति प्रदान करते हैं। हे अङ्ग! भगवान् आत्मानन्दके नित्य साक्षात्कार स्वरूप हैं, उनसे ही समस्त जीवोंको सुखानुभूति होती है। माया जिनसे सम्पूर्णरूपसे दूर रहती है, उनके पास फटक तक नहीं पाती, ऐसे स्वयं अवतारी भगवान् जिस अघासुरके शरीरमें प्रवेश कर गये, क्या अब भी उसकी (अघासुरकी) सद्गतिके विषयमें सन्देह रह जाता है?॥ ३९॥

श्रीसूत उवाच—

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः
श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं
वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः॥ ४०॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने विष्णुरात परीक्षित्को प्राण-दान दिया था। इसलिए महाराज परीक्षित् अपने रक्षक श्रीकृष्णकी इस विचित्र बाल्य-लीलाको सुनकर अत्यन्त विस्मित हो गये और उनके पुण्य-चरितके विषयमें पुनः प्रश्न करने लगे। भगवान्की अमृतमयी पावन लीलाओंने उनके चित्तको वशीभूत एवं संयत कर रखा था॥ ४०॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत्।
यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः॥ ४१॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—मुनिवर! आप कृपा करके यह बतलाइये कि किसी एक समयकी अनुष्ठित लीला किसी दूसरे समयमें कैसे हो सकती है? श्रीहरिने कौमारावस्थामें—पाँचवें वर्षमें जिस लीलाको प्रकट किया था, बालकोंने उसे पौगण्डलीलामें—छठे वर्षमें व्यक्त किया। उन्होंने उस लीलाका सद्य-घटितके रूपमें कैसे वर्णन किया? ॥ ४१॥

तद्ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो।
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा॥ ४२॥

हे महायोगीवर गुरुदेव! आप इस विषयको मुझे बतलाइये, क्योंकि मुझे इसे जाननेके लिए अत्यन्त कौतूहल हो रहा है। निश्चितरूपसे यह हरिकी मायाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उनकी माया कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्-अन्यथाकर्त्तुम्में (करणीय-अकरणीय

और उन दोनोंके भी अतिरिक्त अन्यथा-करणीयमें) समर्थ अर्थात् विचित्र घटनाओंको घटित करनमें समर्थ है॥ ४२॥

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
वयं पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥ ४३॥

हे गुरुवर! मैं अधम क्षत्रिय हूँ, तथापि अत्यन्त धन्य हूँ कि निरन्तर आपके मुखारविन्दसे झरते हुए परम पवित्र मधुमय हरिकथामृतका पान कर रहा हूँ॥ ४३॥

श्रीसूत उवाच—

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे अघासुरवधोनाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

श्रीसूतजीने कहा—हे भगवत्-भक्तवर शौनक! जब राजा परीक्षित्‌ने इस प्रकार प्रश्न किया, तब मुनिवर श्रीशुकदेवके हृदयमें श्रीकृष्ण-विषयक लीलाओंका स्मरण हो आया तथा उनकी समस्त इन्द्रियाँ एवं उनके अन्तःकरण अपहृत-से होकर भगवान्‌की नित्य लीलाओंकी ओर आकर्षित हो गये। कुछ समयके बाद धीरे-धीरे अति कष्टपूर्वक बाह्य ज्ञान होनेपर वे परीक्षित्‌से भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन करने लगे॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्माजीका मोह और उसका नाश

श्रीशुक उवाच—

साधुपृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे महाभाग परीक्षित्! तुम प्रेमी भक्तोंमें श्रेष्ठ हो। तुमने अति उत्तम प्रश्न किया है। यों तो तुम निरन्तर हरिकथा सुन रहे हो, फिर भी तुम उसके सम्बन्धमें प्रश्नकर उन्हें नव-नवायमान और सरसरूपमें अनुभव भी कर रहे हो॥ १॥

सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्
स्त्रियां विटानामिव साधु वार्त्ता॥ २॥

जिनके वाणी, अर्थ, कान एवं चित्तके विषय एकमात्र कृष्ण हैं, उन सब सारग्राही साधुओंका स्वभाव इसी प्रकारका होता है। इन रसिक साधुओंको भगवान् कृष्णकी कथाएँ क्षण-प्रतिक्षण नित्य-नूतनरूपमें ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे स्त्रैण व्यक्तिको स्त्री-सम्बन्धित चर्चा सदैव रसमयी प्रतीत होती है॥ २॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ३॥

हे परीक्षित्! तुम एकाग्र चित्तसे सुनो। यह भगवान्‌की लीला अति रहस्यपूर्ण होनेपर भी मैं तुम्हारे लिए कह रहा हूँ, क्योंकि करुणामय गुरुजन अपने अनुगत प्रिय शिष्योंको अति रहस्यमय (गोपनीय) तत्त्व भी बतला दिया करते हैं॥ ३॥

तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान्।
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत्॥ ४॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण मृत्युस्वरूप अघासुरके मुखसे बछड़ों एवं ग्वालबालोंकी रक्षा करके उन्हें यमुनाके पुलिनपर ले आये और उनसे कहने लगे—॥ ४॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनि प्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम्॥ ५॥

हे प्रिय सखाओ! देखो, यह यमुना-पुलिन अतिशय रमणीय है। यहाँपर विकसित कमलोंकी गन्धसे आकृष्ट होकर समागत भ्रमरोंके गुञ्जार और पक्षियोंके कलरवकी प्रतिध्वनिसे तटपर स्थित समस्त वृक्ष प्रतिध्वनित हो रहे हैं। उन वृक्षोंकी सुन्दरता देखते ही बनती है। यह स्थल कोमल एवं निर्मल बालुकासे परिपूर्ण है। अतएव यह स्थान हमारी क्रीड़ाके लिए समस्त प्रकारके उपकरणोंसे (सामग्रियोंसे) भरपूर है॥ ५॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥ ६॥

यह स्थान हमारे भोजन करनेकी दृष्टिसे भी उचित है। इधर दिन भी बहुत चढ़ आया है और हम भूखसे कातर हो रहे हैं। बछड़े पानी पीकर निकट रहें और धीरे-धीरे घास चरते रहें॥ ६॥

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्यशाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा॥ ७॥

ग्वालबालोंने श्रीकृष्णकी बात स्वीकार करते हुए एक स्वरसे कहा—"ठीक है, ठीक है।" उन्होंने बछड़ोंको जल पिलाकर हरी-भरी घासके मैदानमें छोड़ दिया (जिससे घासके लोभमें वे कहीं और न जा सकें)। तब वृक्षोंपर बँधे हुए अपने छींकोंको (जिन्हें अघके मुखमें प्रवेशके पहले ही खेलनेकी सुविधासे बाँध दिया था) खोलकर वे भगवान्‌के साथ आनन्दपूर्वक भोजन करने लगे॥ ७॥

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥ ८॥

कमलके मध्यमें स्थित कर्णिकाके चारों ओर जिस प्रकार छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित होती हैं, ठीक उसी प्रकार वनभोजनके समय व्रजबालक वनमें श्रीकृष्णके चारों ओर बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बनाकर अविच्छेद्यरूपसे (एक-दूसरेसे सटकर) श्रीकृष्णके सम्मुख बैठ गये। "कृष्ण मेरी ओर ही दृष्टिपात कर रहे हैं"—इस कारण सभीके नेत्र आनन्दसे उत्फुल्ल हो रहे थे॥ ८॥

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥ ९॥

बालकोंमेंसे किसीने पुष्प, किसीने पत्ते, किसीने पल्लव, किसीने अङ्कुर, किसीने फल, किसीने छींका, किसीने वृक्षोंकी छाल और किसीने पत्थरको ही भोजनका पात्र बनाकर भोजन करना आरम्भ कर दिया॥ ९॥

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः॥ १०॥

श्रीकृष्णके साथ सारे ग्वालबाल अपने-अपने घरोंसे लाये हुए अन्न-व्यञ्जन आदिके रुचिपूर्ण स्वादको परस्पर पृथक्-पृथक् रूपसे दिखाते हुए अर्थात् "हे कृष्ण! हे सुबल! देखो! इस व्यञ्जनका स्वाद कितना मधुर है"—इस प्रकार एक-दूसरेको आस्वादन कराके स्वयं हँसते और दूसरेको भी हँसाते हुए भोजन करने लगे॥ १०॥

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥ ११॥

जो समस्त यज्ञोंके भोक्ता हैं, उन श्रीकृष्णने बालकके समान क्रीड़ा करते हुए कमरके फेंटेमें वंशी खोंस रखी थी, सींगीं एवं बेंत बगलमें दबा लिये थे, बायें हाथमें स्निग्ध एवं मधुर दधिमिश्रित भातका कौर ले रखा था, समस्त अङ्गुलियोंकी सन्धियोंमें रुचिवर्द्धक फलोंके टुकड़े, अदरक, नींबू, टेंटी आदिके अचार-मुरब्बे रखे हुए थे। कमलकी कर्णिकाके समान कृष्ण सब ग्वालबालोंके मध्यमें बैठे हुए थे। वे अपने विनोदपूर्ण परिहास वचनोंसे अपने चारों ओर बैठे हुए मित्रोंको हँसाते हुए भोजन कर रहे थे। उस समय स्वर्गके देवता आकाशमें उनकी लीलाको देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे॥ ११ ॥

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥ १२ ॥

हे भरतवंश-शिरोमणि परीक्षित्! इस प्रकार भोजन करते-करते गोवत्सपालगण भगवान्‌की इस रसमयी लीलामें पूर्णरूपसे विभोर हो गये और उधर बछड़े हरी-हरी घासके लोभसे सघन वनमें बहुत दूर निकल गये॥ १२ ॥

तान् दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तान् उचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥ १३ ॥

जब ग्वालबालोंने यह देखा, तब हिंसक जन्तुओं द्वारा अनिष्टकी आशङ्कासे वे बहुत डर गये। भगवान् श्रीकृष्ण विश्वके भी भयस्वरूप और मृत्युको भी भय प्रदान करनेवाले हैं। भोजनरत उन ग्वालोंके भयका निवारण करते हुए श्रीकृष्णने कहा—"हे प्यारे मित्रो! तुमलोग भोजनका परित्याग मत करो। मैं अभी बछड़ोंको यहाँ ले आता हूँ॥"१३ ॥

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ॥ १४॥

ग्वालबालोंसे यह कहकर भगवान् श्रीकृष्ण दधि एवं भातसे मिश्रित कौरको हाथमें लिये हुए ही अपने तथा सहचरोंके

बछड़ोंको पर्वत, कन्दरा, गह्वर, कुञ्ज आदिमें सर्वत्र ढूँढ़ने लगे॥ १४॥

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥ १५॥

हे कुरुश्रेष्ठ! जो पहलेसे ही आकाशमें उपस्थित होकर प्रभावशाली श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित अघासुरकी मोक्ष-लीलाका दर्शन करके परम विस्मित हो रहे थे, वे कमल-योनि ब्रह्मा इस समय उसी स्थानपर आये और बाल्य-लीला-परायण, स्व-ऐश्वर्यको प्रकट करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी कोई और मनोहर महिमामयी लीला देखनेकी इच्छासे पहले तो उन्होंने बछड़ोंको और बादमें वहाँसे भगवान् श्रीकृष्णके वत्स-अन्वेषणके लिए चले जानेपर गो-पालकोंको भी अन्यत्र ले जाकर छिपा दिया और स्वयं भी अदृश्य हो गये॥ १५॥

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥ १६॥

इसके बाद जब श्रीकृष्णको कहीं भी बछड़े दिखायी नहीं दिये, तो वे वहीं यमुनाके पुलिनपर लौट आये और देखा कि गोपबालक भी वहाँ नहीं हैं। तब तो वे वनमें यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करते हुए बछड़ों और ग्वालबालोंको ढूँढ़ने लगे॥ १६॥

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह॥ १७॥

जब वनमें कहीं भी गोपबालक और बछड़े दिखायी नहीं दिये, तो भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त ही जान गये कि यह सारा कार्य ब्रह्माका है, क्योंकि वे (कृष्ण) विश्ववित् अर्थात् विश्वका सर्वस्व जाननेवाले हैं॥ १७॥

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणाञ्च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥ १८॥

सम्पूर्ण विश्वके कर्त्ता, सर्वशक्तिमान, परमेश्वर श्रीकृष्ण ब्रह्माजी, बछड़ों और ग्वालबालोंकी माताओंके हृदयको आनन्दित करनेके लिए स्वयं ही गोपालक एवं गोवत्स बन गये॥ १८॥

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥ १९॥

परीक्षित्! वे ग्वालबाल और बछड़े जितनी संख्यामें थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, जैसे उनके सुकोमल अङ्ग और हाथ-पैर आदि उपाङ्ग थे, जैसे उनके यष्टि (छड़ियाँ), सींगी, वेणु और छींके थे, जैसे वस्त्र एवं अलङ्कार थे, जैसा शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति एवं अवस्थाएँ थीं, जैसी क्रीड़ा, भङ्गी, आहार-विहार एवं चलन था, उन्होंने ठीक वैसे ही रूपों एवं भावोंको धारण कर लिया, जिससे "यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है"—यह वेद-वाणी साक्षात् मूर्त्तिमान् विग्रह-स्वरूपमें प्रकट हो गयी॥ १९॥

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद्व्रजम्॥ २०॥

सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े बन गये और स्वयं ही ग्वालबाल। आत्म-स्वरूप वत्सपालोंके द्वारा आत्म-स्वरूप बछड़ोंसे आवृत होकर आत्म-स्वरूप बालकोंके साथ वेणुवादन आदि नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें प्रवेश किया॥ २०॥

तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः।
तत्तदात्माभवद्राजंस्तत्तत् सद्म प्रविष्टवान्॥ २१॥

हे राजन्! उस समय श्रीकृष्णने प्रत्येक गोपालकके जो-जो बछड़े थे, उन्हें विभाजित करके यथानिर्दिष्ट गोष्ठोंमें (गोशालाओंमें) प्रवेश कराके स्वयं उन-उन गोपालोंके रूपमें उनके भिन्न-भिन्न घरोंमें प्रवेश कर गये॥ २१॥

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्॥ २२॥

वंशीका स्वर सुनते ही उन गोपालोंकी माताएँ शीघ्र ही दौड़ी चली आयीं तथा ग्वालबाल बने हुए परब्रह्मरूपी श्रीकृष्णको अपना ही पुत्र जानकर उन्हें अपनी भुजाओंसे उठाकर एवं गोदीमें बिठाकर गाढ़ आलिङ्गन करने लगीं। अत्यन्त वात्सल्य-स्नेहसे उनके स्तनोंसे अमृतसे भी मधुर तथा मदिरासे भी मादक दूध झरने लगा, जिसे वे अपने बालकोंको पिलाने लगीं॥ २२॥

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः॥ २३॥

हे राजन्! इसके बाद प्रतिदिन पहले जिस समय जो-जो क्रीड़ा होती, उसका उसी प्रकारसे निर्वाह करते हुए सन्ध्याकालमें श्रीकृष्ण उस-उस ग्वालबालके रूपमें वनसे लौट आते और पूर्व बालकोंके समान आचरण एवं वैसी ही बालसुलभ क्रीड़ाओं द्वारा माताओंको आनन्दित करते। वे माताएँ भी उन्हें तैल-मर्दन करतीं, उबटन लगातीं, स्नानादि करातीं, चन्दनादिका लेप करतीं, अच्छे-अच्छे वस्त्र एवं आभूषण पहनातीं, रक्षा-मन्त्र पढ़तीं, तिलकादि लगातीं, दोनों भौंहोंके मध्य काजलका डिठौना लगातीं, उन्हें भोजन करातीं तथा बड़े लाड़-प्यारसे उनका (वस्तुतः श्रीकृष्णका) लालन-पालन करतीं॥ २३॥

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान्।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः॥ २४॥

ग्वालबालोंकी माताओंकी भाँति गौएँ भी जङ्गलोंसे चरकर शीघ्र ही गोष्ठमें आ जातीं और अपनी हुङ्कारसे बछड़ोंको पुकारतीं। उनकी हुङ्कार सुनकर बछड़े भी अपनी माताओंके समीप आ जाते। तब वे गौएँ अपने बछड़ोंको बार-बार जीभसे चाटतीं और स्नेहकी अधिकताके कारण थनोंसे स्वयं झरती हुई दूग्ध-धाराओंका पान कराने लगतीं॥ २४॥

गोगोपीनां मातृतास्मिन्नासीत् स्नेहर्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना॥ २५॥

इन गोपियों और गायोंका मातृभाव पहले जैसा ही ऐश्वर्यज्ञानरहित और विशुद्ध था। पहले वे गोपियाँ अपने पुत्रोंसे अधिक श्रीकृष्णसे स्नेह करती थीं, किन्तु अब वैसा नहीं रहा अर्थात् अपने पुत्रों एवं श्रीकृष्णमें स्नेह समान हो गया। गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका मातृभाव पूर्ववत् ही रहा। पूर्वमें "यह मेरी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ"—कृष्णका ऐसा भाव (ममत्व) नहीं था, किन्तु अब उनका भाव यथोचित हो गया था अर्थात् अब वे श्रीदाम, सुबल आदि असंख्य मूर्त्तियोंमें असंख्य गोपियोंके वात्सल्य-प्रेमोचित मुख-चुम्बन आदि ग्रहण करते थे—यही विशेषता थी। (कृष्ण सर्वदा प्रेमके अधीन रहते हैं, परन्तु प्रेम उनके अधीन नहीं होता। प्रेमके ऊपर अपना अधिकार न रहनेसे कृष्ण प्रेमको सङ्कुचित करनेमें असमर्थ हैं। प्रेमकी यह पराधीनता क्षण-क्षण कृष्णका आनन्द वर्द्धन करती है।)॥ २५॥

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥ २६॥

व्रजवासी गोप एवं गोपियोंका यशोदानन्दन श्रीकृष्णके प्रति पहले अपने पुत्रोंसे अधिक स्नेह था, किन्तु अब कृष्ण बने हुए

अपने पुत्रोंके (श्रीदाम-सुबल आदिके) प्रति वही स्नेह-लतिका असीमितरूपसे एक वर्ष तक दिन-दुगुनी रात-चौगुनी बढ़ती रही॥ २६॥

इत्थमात्माऽऽत्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥ २७॥

इस प्रकार सर्वात्मा श्रीकृष्ण गोपालक होकर वत्सपालकोंके मध्य रहकर स्वयं ही स्वयंका परिपालन करते हुए एक वर्ष तक वनमें और व्रजमें अभिनव लीला (क्रीड़ा) विलास करते रहे॥ २७॥

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः॥ २८॥

जब एक वर्ष पूर्ण होनेमें पाँच-छह रात्रियाँ बची हुई थीं, तब एक दिन श्रीकृष्ण बलदेवके साथ बछड़ोंको चराते हुए वनमें गये॥ २८॥

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥ २९॥

उस समय गायें गिरि गोवर्धनके उन्नत प्रदेशमें (शिखरपर) घास चर रही थीं। वहाँसे उन्होंने व्रजके समीप ही चरते हुए बहुत-से बछड़ोंको देखा॥ २९॥

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन॥ ३०॥

बछड़ोंको देखते ही स्नेहातिशयताके कारण गायें अपनी सुध-बुध खो बैठीं। उनमें वात्सल्य भाव जाग उठा। उनके पालक ग्वालोंने उन्हें रोकनेका प्रयत्न किया, परन्तु वे उनकी उपेक्षा करके दुर्गम पथ इत्यादिको पार करती हुई वेगपूर्वक दौड़ पड़ीं।

उनकी गर्दन ककुद-स्थान (डील) पर सिकुड़कर स्कन्धसे लग गयी थी। वे मुख एवं पूँछको ऊपर उठाये हुंकार करती हुई इतनी तेजीसे दौड़ीं कि शीघ्र ही व्रजके समीप आ गयीं। उन्हें दौड़ते देखकर ऐसा लग रहा था, मानो उनके दो ही पैर हों। उस समय उनके स्तनोंसे दूध प्रचुर मात्रामें बह रहा था॥ ३०॥

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥ ३१॥

यद्यपि इस सुदीर्घकालमें गायोंने और भी बछड़ोंको जन्म दिया था, तथापि गोवर्धन पर्वतके नीचे बैठकर वात्सल्य स्नेहसे वे अपने पहले बछड़ोंके शरीरोंको चाटने लगीं और स्वयं ही बहते हुए दूधको पिलाने लगीं। उनकी उत्कण्ठा देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे बछड़ोंको निगलकर पुनः उदरमें रख लेना चाहती हों॥ ३१॥

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान्॥ ३२॥

गोपोंने इन गायोंको रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया। उन्हें अपनी असफलतापर लज्जाका अनुभव हुआ एवं गायोंपर क्रोध आ गया। वे भी उस दुर्गम पथको पार करके वहाँ आ गये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि उनके बछड़ोंके साथ-साथ उनके बालक भी वहींपर हैं॥ ३२॥

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते॥ ३३॥

अपने पुत्रोंको देखते ही गोपोंका हृदय स्नेह-रसमें प्लावित हो गया। उनके हृदयमें अपने पुत्रोंके प्रति अनुरागका प्लावन होने लगा। पहले जो रोष उनमें व्याप्त था, वह दूर हो गया। उन्होंने अपने-अपने पुत्रोंको गोदमें उठाया और दोनों भुजाओंमें भरकर

अपने हृदयसे लगा लिया। उनका मस्तक सूँघकर वे परम हर्षित हुए॥ ३३॥

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४॥

वयस्क गोप निज पुत्रोंका आलिङ्गन कर-करके परम आनन्दित हुए। अति कष्टसे आलिङ्गनादि वात्सल्यमयी चेष्टाओंसे वे धीरे-धीरे निवृत्त हुए। उस समय पुत्र-स्मृतिवश उनके नेत्रोंसे अश्रु-जल प्रवाहित हो रहा था॥ ३४॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्द्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम्।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५॥

उस समय बलदेवने देखा कि वयस अधिक हो जानेके कारण जिन्होंने अपनी माँका स्तन्य-पान करना छोड़ दिया है, उन बछड़ों और गोपबालकोंके प्रति गायों, व्रजवासी गोपों और ग्वालिनोंके स्नेह एवं उत्कण्ठा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ते जा रहे हैं, वे इसका कारण समझ नहीं पाये और विचार करने लगे॥ ३५॥

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्द्धते॥ ३६॥

यह बड़े आश्चर्यका विषय है कि सर्वात्मस्वरूप (अखिलात्मा) श्रीकृष्णके प्रति मेरा और व्रजवासियोंका जैसा अपूर्व प्रेम रहता था, आज इन गोपबालकों एवं बछड़ोंके प्रति भी इनका वैसा ही अपूर्व अनुराग संवर्द्धित हो रहा है॥ ३६॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥ ३७॥

यह कैसी माया है? यह कहाँसे आयी है? देव, मनुष्य अथवा असुर—यह कृत्य किसका है? परन्तु क्या ऐसा हो सकता है? नहीं, नहीं, सम्भवतः यह मेरे अधीश्वर श्रीकृष्णकी ही माया है? अन्य किसीकी माया तो मुझे मोहित करनेमें समर्थ नहीं हो सकती॥ ३७॥

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥ ३८॥

बलदेवने इस प्रकार विचार करते हुए ज्ञान-दृष्टिके द्वारा देखा कि ये सभी सखा एवं गोवत्सगण श्रीकृष्णरूपमें ही प्रकाशित हो रहे हैं॥ ३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक् त्वं निगमात् कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥ ३९॥

तब बलदेवने श्रीकृष्णसे कहा—हे प्रभो! श्रीकृष्ण! मैं पहले सोच रहा था कि ये सभी गोपाल देवश्रेष्ठ गरुड इत्यादिके स्वरूप हैं एवं गोवत्सगण नारदादि ऋषिस्वरूप हैं, परन्तु इस समय मुझे ऐसा दिखायी नहीं दे रहा है, ये सब पृथक्‌रूपमें प्रतीयमान हो रहे हैं—ग्वालबाल, वत्स, सींग, रज्जु सभी रूपोंमें मैं तुम्हें ही प्रकाशित देख रहा हूँ। अतः तुम इस विषयका विश्लेषण करते हुए सम्पूर्ण कथाको संक्षेपमें बतलाओ। बलदेवके इस प्रकार जिज्ञासा करनेपर श्रीकृष्णने सारा विवरण निरूपित कर दिया। (ब्रह्माजी कृष्ण-लीलाकी अवधि-दर्शन करना चाहते थे।)॥ ३९॥

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पुरोवदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्॥ ४०॥

परीक्षित्! तब तक ब्रह्मा ब्रह्मलोकसे व्रजमें लौट आये। उनके अपने काल परिमाणमें त्रुटिमात्र समय (जितनी देरमें तीक्ष्ण सुईसे कमलपत्रमें छिद्र हो जाय) व्यतीत हुआ था, जब कि मानवके काल-परिमाणमें एक वर्ष व्यतीत हो गया था। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने अंशरूपी ग्वालबाल और बछड़ोंके साथ एक वर्षसे पहलेकी भाँति ही क्रीड़ा कर रहे हैं॥ ४०॥

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥ ४१॥

ब्रह्मा विचार करने लगे कि गोकुलमें जितने भी बालक थे, उन्हें तो मैं बछड़ोंके साथ माया-शय्यापर सुलाकर आया था। उस समय उन्हें मैंने अपनी मायासे उन्हें अचेत कर दिया था, तबसे वे आज तक उठे ही नहीं हैं॥ ४१॥

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥ ४२॥

तब मेरी मायासे मोहित बछड़ों एवं ग्वालबालोंके अतिरिक्त उनके ही समान संख्यामें ये सब ग्वालबाल और बछड़े यहाँ कहाँसे आ गये, जो एक वर्षसे श्रीकृष्णके साथ विहार कर रहे हैं? ॥ ४२॥

एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन॥ ४३॥

ब्रह्माने गायों एवं बछड़ोंको एक ही साथ दोनों स्थानोंपर देखकर बहुत समय तक ध्यान करते हुए अपनी ज्ञान-दृष्टिसे इस रहस्यको उद्घाटित करना चाहा, परन्तु इन दोनोंमें कौन-से पहलेवाले (प्रकृत) ग्वालबाल हैं और कौन-से बादमें कृष्ण-रचित हैं, इनमें कौन सच्चे हैं और कौन बनावटी (असत्य)—यह बात वे किसी भी प्रकारसे समझ नहीं सके॥ ४३॥

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥ ४४॥

भगवान्‌को माया स्पर्श नहीं कर सकती, उनकी मायासे ही सब मोहित हो रहे हैं। ग्वालबालोंको चुराकर ब्रह्मा भुवन-मोहन श्रीकृष्णको मोहित करने और उनपर अपनी मायाका विस्तार करने चले, परन्तु उन मायाधीशको मोहित करना तो दूर रहे, स्वयं-भगवान्‌की मायासे वे स्वयं मोहित हो गये। ब्रह्माने भगवान्‌के समक्ष अपना ऐश्वर्य प्रकट करनेकी इच्छा की, परन्तु वे स्वयं ही भ्रष्टतेज हो गये॥ ४४॥

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥ ४५॥

हिम (कुहरा) जनित अन्धकार जिस प्रकार तमोमयी रात्रिके घोर अन्धकारका विनाश न कर उसे और भी गाढ़ करता हुआ उसीमें लीन हो जाता है तथा जिस प्रकार दिनमें जुगनूका प्रकाश सूर्यके प्रकाशके सम्मुख तिरस्कृत हो जाता है, उसी प्रकार तुच्छ मायाका प्रयोग यदि महापुरुषोंपर किया जाय, तो वह उनकी तो कुछ क्षति नहीं कर पाती, बल्कि उनके ऐश्वर्यकी वृद्धि करते हुए प्रयोग करनेवालेकी सामर्थ्यका ही नाश कर डालती है॥ ४५॥

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥ ४६॥

ब्रह्माजी सोच-विचार कर ही रहे थे कि उनके देखते-ही-देखते उसी क्षण समस्त बछड़े एवं गोपबालक उन्हें श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़े। सब-के-सब नवीन जलधरके समान श्यामवर्णके थे तथा पीताम्बर धारण किये हुए थे॥ ४६॥

चतुर्भुजाः शङ्खचक्र गदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥ ४७॥

श्रीवत्साङ्गददोरत्न-कम्बुकङ्कणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुरीयकैः॥ ४८॥

वे सभी चतुर्भुज थे। उनकी भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित थे। मस्तकपर किरीट, कानोंमें कुण्डल, वक्षःस्थलपर हार एवं गलेमें मनोहर वनमालाएँ विराजित थीं। सभीके वक्षःस्थलोंके दक्षिण भागके (स्तनके) ऊपर दक्षिणावर्त्त रोमावलियाँ थीं अर्थात् श्रीवत्स चिह्न थे। कलाइयाँ त्रिरेखाङ्कित थीं, उनमें शङ्खाकार रत्नोंसे जड़े कङ्गन थे, कण्ठोंमें कौस्तुभ मणि झिलमिला रही थीं। चरणोंमें नूपुर एवं पादवलय, कमरमें करधनी तथा अङ्गुलियोंमें अङ्गुठियाँ सुशोभित थीं॥ ४७-४८॥

आङ्‌घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसी नवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥ ४९॥

उन्होंने नखसे लेकर शिख तक समस्त अङ्गोंमें प्रचुर पुण्यशील जनों (भजनपरायण भक्तों) द्वारा अर्पित सुकोमल एवं नवीन तुलसी-मालाओंको धारण कर रखा था॥ ४९॥

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥ ५०॥

ज्योत्स्नाके समान निर्मल एवं शुभ्र मुसकानरूप सत्त्वगुणके द्वारा एवं अरुणवर्णके (रतनारे) नेत्रोंकी कटाक्षपूर्ण चितवनरूप रजोगुणके द्वारा वे अपने भक्तजनोंमें मनोवाञ्छाओंका सृजनकर उन्हें पूर्ण कर रहे थे॥ ५०॥

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्त्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥ ५१॥

ब्रह्मा यह भी देख रहे थे कि उनके जैसे दूसरे ब्रह्मादिसे लेकर तृण (स्तम्ब) पर्यन्त स्थावर-जङ्गम सभी जीव मूर्त्तिमान् होकर नृत्य-गीत-वाद्य आदि बहुत प्रकारके पूजा-उपचारोंके द्वारा पृथक्-पृथक् भावसे उन सभी रूपोंकी उपासना कर रहे थे॥ ५१॥

अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥ ५२॥

अणिमा-महिमा आदि ऐश्वर्यपरक सिद्धियाँ, माया-विद्या आदि विभूतियाँ एवं महत्-तत्त्व आदि चौबीस तत्त्व उन्हें चारों ओरसे घेरे हुए थे॥ ५२॥

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्त्तिमद्भिरुपासिताः॥ ५३॥

भगवान्‌की महिमाके सम्मुख जिनकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्ता अदृश्य हो चुकी थी (खो गयी थी), वे सभी काल, स्वभाव,

संस्कार, कामनाएँ, कर्म एवं गुण आदि पदार्थ मूर्त्तिमान् होकर भगवान्के प्रत्येक रूपकी उपासना कर रहे थे॥ ५३॥

सत्यज्ञानानन्तानन्द-मात्रैकरसमूर्त्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥ ५४॥

ब्रह्माने यह भी देखा कि वे सभी अखण्ड, त्रिकालातीत, सत्य, स्वयं-प्रकाश-ज्ञान-स्वरूप, अनन्त, आनन्दमय एवं अद्वितीय विग्रह हैं। उनमें जड़ता अथवा चेतनताका भेदभाव नहीं है। वे सब-के-सब एकरस, एकरूप हैं। उपनिषद्वेत्ता और तत्त्वदर्शी उनकी अनन्त महिमाका स्पर्श भी नहीं कर सकते॥ ५४॥

एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्॥ ५५॥

जिनके प्रकाशसे यह समस्त चराचर विश्व प्रकाशित हो रहा है, ब्रह्माने उन्हीं परब्रह्म श्रीकृष्णका दर्शन किया और तदात्मक समस्त गायों, बछड़ों एवं गोपालोंमें भी एक साथ उनका ही दर्शन किया॥ ५५॥

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्त्यस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका॥ ५६॥

अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्यको देखकर ब्रह्माजीका चित्त आन्दोलित होने लगा। आनन्दके कारण उनकी समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति स्तम्भित हो गयी। वे उन सब बछड़ों एवं बालकोंके तेजके प्रभावसे इस प्रकार निःशब्द होकर खड़े-से रह गये, जिस प्रकार बहुत लोगोंके द्वारा ग्रामके अधिष्ठातृ पूजनीय देवताके समीप मृत्तिका-निर्मित एक अपूज्या पुतली खड़ी हो॥ ५६॥

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम्॥ ५७॥

परीक्षित्! भगवान् तर्कसे परे हैं, वे अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हैं, वे स्वप्रकाश, आनन्द-स्वरूप और मायासे अतीत हैं। अस्थूल, अनणु, अह्रस्व आदि श्रुति-वाक्यों द्वारा वे 'अतत्' हैं अर्थात् वेदान्त भी उनकी असाधारण महिमाको साक्षात्रूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ है। जड़-ज्ञानके निरस्त होनेपर वेदान्त उनसे भिन्नका निषेध करते हुए उनके सम्बन्धमें किञ्चित् ज्ञान-प्राप्तिका सङ्केत करता है, परन्तु साक्षात्रूपसे वर्णन नहीं कर सकता। सरस्वती-अधिपति ब्रह्मा प्रकृतिसे अतीत परमतत्त्व परब्रह्म श्रीकृष्णके दिव्य-स्वरूपके विषयमें 'यह क्या है' समझनेमें असमर्थ होकर मोहग्रस्त हो गये। उनके महिमामय स्वरूपके विषयमें कुछ भी नहीं जान पाये। उनकी आँखें मुँद गयीं। तब परमपुरुष श्रीकृष्णने ब्रह्माके मोह और असमर्थताको (अयोग्यताको) जानकर अपनी माया अथवा ऐश्वर्यका संवरण कर लिया॥ ५७॥

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टिराचष्टेदं सहात्मना॥ ५८॥

अब ब्रह्माको बाह्य-ज्ञान हुआ। वे मृत-व्यक्तिके समान मानो मरकर पुनः जी उठे। सचेत होकर बड़े कष्टसे उन्होंने अपनी मुँदी हुई आँखोंको खोला, तब कहीं वे स्वयंको (अहङ्कारास्पद स्वदेहको) और इस विश्वको देख सके॥ ५८॥

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम्।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥ ५९॥

उस समय जब वे चारों ओर दृष्टिपात कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि सम्मुख ही वृन्दावन धाम है, जहाँ जीविकाके साधन-स्वरूप फल-फूलों एवं हरित पल्लवोंसे परिपूरित वृक्षावलियाँ हैं। वृन्दावनस्थ तरु-कुल सभी ऋतुओंमें सुखदायक हैं और सभीको एक समान प्रिय हैं॥ ५९॥

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥ ६०॥

इस वृन्दावन धाममें स्वाभाविकरूपसे परस्पर शत्रुतासे युक्त मनुष्य एवं सिंह आदि प्राणी भी स्नेहशील मित्रके समान मिलजुलकर एक साथ रह रहे हैं। यह भूमि श्रीकृष्णकी लीला-विहारस्थली है, अतः क्रोध, लोभ आदि विकार यहाँसे पलायन कर गये हैं॥ ६०॥

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥ ६१॥

रमणीय वृन्दावन धामका दर्शन करनेके बाद परमेष्ठी ब्रह्माने देखा कि सर्वमूल-स्वरूप-अद्वितीय-परब्रह्म गोप-वंश बालकके समान अभिनय कर रहे हैं। अद्वितीय, अनन्त, नित्य, पूर्णज्ञानमय एवं श्रीबलदेवादि अवतारोंके लिए भी दुर्बोध्य वे परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें दधि-मिश्रित भातका कौर लिये उस हरित भूमिमें पूर्ववत् अपने सहचर वत्सपालों एवं गोवत्सोंका सर्वत्र अन्वेषण कर रहे हैं॥ ६१॥

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥ ६२॥

भगवान्को देखते ही स्वर्णवपु ब्रह्मा शीघ्र ही अपने वाहन हंससे उतरे और स्वर्ण-दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े। अपने मस्तकोंपर स्थित अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरण-युगलका स्पर्श करके उन्हें प्रणाम किया तथा आनन्दसे छलक आये आँसुओंसे उन पद-युगलका अभिषेक किया॥ ६२॥

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन्।
आस्ते महित्वं प्रागदृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनःपुनः॥ ६३॥

वे भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्वदृष्ट महिमाका पुनः-पुनः स्मरण करते और उनके चरण-कमलोंमें गिर जाते। वे पुनः-पुनः उठते और गिरते। दीर्घकालतक इस प्रकार वे भगवान्‌के पादारविन्दोंमें ही पड़े रहे॥ ६३॥

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अनन्तर वे धीरे-धीरे उठे एवं आँखोंसे आँसू पोंछे, भगवान् मुकुन्दको देखकर वे नतमस्तक हो गये। उनका शरीर काँपने लगा। उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़ लिये तथा अत्यधिक विनीत भाव और स्थिर चित्तसे गद्गद वाणीमें उनकी स्तुति करने लगे॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तेरहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति

श्रीब्रह्मोवाच—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १॥

श्रीब्रह्माने स्तुति करते हुए कहा—हे जगत्-पूज्य! हे प्रभो! आपका श्रीविग्रह घनश्याम अर्थात् वर्षाकालीन नवीन मेघके समान श्यामल एवं कान्तिमय है, इसपर आपने स्थिर विद्युतके समान ज्योतिर्मय पीताम्बर धारण कर रखा है। आपका श्रीमुखमण्डल गुञ्जा-विरचित कर्णभूषणसे एवं मस्तक मोरपंखके मुकुटसे शोभित हो रहा है। आपके गलेमें वृन्दावनके रङ्ग-विरङ्गे पत्र-पुष्पादिसे रचित वनमाला सुशोभित हो रही है, हाथोंमें दधिमिश्रित भातका कौर है, बगलमें बेंत, सिंगी (विषाण) और कमरकी फेंटमें वेणु सुशोभित हैं। आपके श्रीचरणयुगल कमलके समान अतिशय कोमल हैं। आप गोपराज नन्दके नित्य पुत्र हैं। मैं आपको स्तुति निवेदन (अर्थात् यशोगान) करता हूँ॥ १॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥ २॥

हे स्वयं-प्रकाश परमात्मन्! भक्तोंकी वाञ्छाकी पूर्त्ति करनेवाले इस श्रीविग्रहको आपने स्वेच्छासे प्रकट किया है। हे कृपामय! यह मुझपर भी आपका अनुग्रह है। आपकी चिन्मयी इच्छाके मूर्त्तिमान-स्वरूप इस शुद्ध-सत्त्वात्मक नारायण नामक आपके

विग्रहकी महिमाको साक्षात् जाननेमें मैं तो क्या, कोई अन्य भी समर्थ नहीं हो सकता। चित्तवृत्तिका निरोध करके एवं समाधि लगाकर भी कोई आपके विराट् विग्रहकी महिमाको नहीं जान सकता, उसका वर्णन करना तो दूरकी बात है। भला स्वयं-रूप, आत्मसुखानुभव-स्वरूप, मूल-अवतारी, सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं-भगवान् आपकी महिमाको कोई कैसे जान सकता है? ॥ २ ॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ ३ ॥

इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा भगवत्-स्वरूप, भगवत्-ऐश्वर्य एवं भगवत्-महिमाके चिन्तनके प्रयासका सब प्रकारसे परित्याग करके अपने-अपने आश्रममें रहकर अथवा साधुओंके निकट रहकर उन साधुओंके मुखसे स्वतः विगलित एवं उनके सान्निध्य मात्रसे स्वयं ही श्रवण-पथमें प्रविष्ट आपके नाम, रूप, गुण एवं लीलामय वचनोंका स्थिर चित्तसे श्रवण करते हैं अर्थात् जो तन, मन एवं वचनसे विनीत होकर आपके लीला-चरितोंका सेवन करते हुए जीवन धारण करते हैं, वे आपको ही अपना जीवन-सर्वस्व मानकर आपके बिना जी नहीं सकते। वस्तुतः वे आपकी कथाके श्रवण-कीर्त्तनके अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य नहीं करते। त्रिलोकीमें अन्यान्य व्यक्तियों द्वारा अजित होनेपर भी आप इन भक्तोंके द्वारा जीत लिये जाते हैं (अर्थात् इनके प्रेमके वशीभूत हो जाते हैं)॥ ३ ॥

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ ४॥

हे प्रभो! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूल-स्रोत है। ज्ञान-मार्गपर चलनेवाले जो व्यक्ति अपनी मङ्गल-प्रातिके पथ-स्वरूप भगवत्-भक्तिका परित्याग करके भक्ति-रहित केवल ज्ञानकी प्राप्ति हेतु कष्ट स्वीकार करते हैं, उन्हें अन्तःसार (धान्य कणों) से रहित थोथी भूसीको कूटनेवाले मनुष्यकी भाँति मात्र श्रमरूप क्लेश ही प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता (तात्पर्य है कि जब आप सत्सङ्ग द्वारा श्रवणमात्रसे ही प्राप्त हो जाते हैं, तब ज्ञान हेतु श्रम करनेसे क्या लाभ?)॥ ४॥

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥ ५॥

हे अखण्ड-स्वरूप! हे अच्युत! पूर्वकालमें भी इस लोकमें बहुत-से योगी पुरुष थे, किन्तु योगमार्गके द्वारा फल प्राप्त करनेमें अर्थात् आपको प्राप्त करनेमें वे असमर्थ रहे। तब उन्होंने अपने-अपने लौकिक एवं वैदिक कर्म आपको समर्पण कर दिये। इन कर्मोंके समर्पणके परिणाम-स्वरूप उन्हें आपकी लीला-कथा-श्रवणरूपी भक्ति प्राप्त हुई। भक्तिदेवीके प्रभावसे आत्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ और तब उन्होंने अनायास ही आपके परमपद (सामीप्यरूप उत्कृष्ट गति) को प्राप्त कर लिया॥ ५॥

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥ ६॥

(पूर्व श्लोकमें ज्ञानके प्रयासोंका परित्याग करके भगवत्-गुणानुवादके श्रवणके द्वारा ही भगवत्-प्राप्ति होती है, भगवत्-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है—यह कहा गया और इस कथनके द्वारा

भगवान्‌के निर्गुण एवं सगुण—दोनों स्वरूपोंका ही दुर्ज्ञेयत्व निरूपित हुआ। भगवान्‌का स्वरूप दुर्ज्ञेय होनेसे निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि कभी हो भी जाय, किन्तु अचिन्त्यगुणसम्पन्न सगुण स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती—इसी सिद्धान्तकी विवेचनाके लिए इस श्लोककी अवतारणा की गयी है।) हे भूमन्! (हे मधुररूप प्रकाशकारी!) आपके गुणातीत स्वरूपकी महिमा इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त निर्मल अन्तःकरणसे ज्ञात हो सकती है, क्योंकि भगवत्-महिमा अर्थात् ब्रह्म-तत्त्वका साक्षात्कार "यह ब्रह्म है", "मैं ब्रह्मको जानता हूँ", "यह वही है", "यह वही हो सकता है" इस प्रकारसे नहीं होता, किन्तु स्वतः-प्रकाश भावके द्वारा होता है। रूप, रस आदिसे रहित केवल निर्विशेष ब्रह्मका निर्मल हृदयमें ज्ञान-स्वरूपमें अनुभव होता है, परन्तु भक्तोंके हृदयमें अप्राकृत रूप, गुण, रस आदिसे युक्त सगुण ब्रह्म—भगवान् स्वयं प्रकट होते हैं। भक्त भगवान्‌के उस स्वरूपको देखते हुए तथा सेवा करते हुए आनन्दित होते हैं॥ ६॥

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईश्वरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः॥ ७॥

हे देव! आप इस विश्वके मङ्गलके लिए अवतरित हुए हैं। आप महाश्चर्यजनक अप्राकृत गुणोंके अधिष्ठाता हैं। जो अति निपुण व्यक्ति हैं, वे बहुत जन्मों तक घोर परिश्रम करके पृथ्वीके धूलि-कणों, आकाशमें हिम-कणों (ओसकी बूँदों), नक्षत्र (तारों) आदिकी और सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुओंकी गणना कर सकते हैं, परन्तु आपके गुणोंको (माखन चोरी आदि अप्राकृत रसमयी लीलाओंको) गिननेमें समर्थ नहीं हो सकते, उनकी मधुरिमाका अनुभव होना तो दूरकी बात है॥ ७॥

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ ८॥

जो अपने किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखका निर्विकार एवं अनासक्त भावसे भोग कर लेता है, जो क्षण-क्षण आपकी करुणाकी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करता है, इसी प्रतीक्षामें जो पुलकित शरीर, प्रेमपूर्ण हृदय और गद्गद वाणीसे आपके चरणोंमें प्रणत होकर जीवन धारण करता है, वह व्यक्ति मुक्ति-पदका अधिकारी अर्थात् आपके चरणोंकी सेवाका वैसे ही अधिकारी हो जाता है, जैसे पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिका अधिकारी हो जाता है। पुत्रके पालन-पोषणके दायित्त्ववश पिताके जीवन-धारणका प्रयोजन है, उसी प्रकार भक्तिके वर्द्धन हेतु भक्तका जीवन होता है। हे भगवन्! आप विश्व-पिता हैं, जगत्के सभी जीव आपके पुत्र हैं। जो आपके चरणारविन्दके भजनमें अनुरक्त हैं, वे ही आपके चरणाश्रयरूप महासम्पद्की प्राप्तिके अधिकारी हैं। भक्ति-विमुख जीव मृत, पतित एवं माया द्वारा पोष्य होनेके कारण पितृ-सम्पद्—यथार्थ मुक्तिका (आपके चरणोंकी भक्तिका) अधिकारी नहीं है॥ ८॥

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥ ९॥

हे प्रभो! कुटिलतासे भरपूर मेरे अन्यान्य आचरण तो देखिये, क्योंकि बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहमें डालनेवाले अनन्त आदिपुरुष परमात्मारूपी आपके प्रति मैं अपनी मायाका विस्तार करके आपके ऐश्वर्यको देखनेकी इच्छा कर रहा था। अहो! अग्निसे उत्पन्न चिनगारियाँ जिस प्रकार अग्निके प्रति अपने प्रभावका विस्तार नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार आपसे उत्पन्न मैं भी चिनगारीके समान आपके प्रति अपने प्रभावका विस्तार करनेमें तनिक भी समर्थ नहीं हुआ॥ ९॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥ १०॥

हे अच्युत! मैं रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण स्वाभाविकरूपसे अज्ञानी हूँ और आपके स्वरूपको न जाननेके कारण स्वयंको स्वतन्त्र ईश्वर मान बैठा हूँ। मैं अजन्मा जगत्का सृष्टिकर्त्ता हूँ—इस मायाकृत मोहके घने अहङ्कारमें मैं अन्धा हो रहा था। अब आप "यह ब्रह्मा मेरी आज्ञाके अधीन है, मेरा सेवक होनेके कारण मेरी दयाका पात्र है"—यह मानकर मुझे क्षमा कर दीजिये॥ १०॥

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥ ११॥

हे भगवन्! प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं भूमिरूप आवरणोंके द्वारा परिवेष्टित ब्रह्माण्डरूपी घटमें रहनेवाला यह साढ़े तीन हाथके परिमाणका शरीरधारी ब्रह्मा कहाँ ठहर सकता है? आपके रोमकूपरूप गवाक्ष-पथमें अनगिनत ब्रह्माण्ड परमाणुके समान विचरण करते हैं अर्थात् झरोखेकी जालीमेंसे जैसे सूर्यकी किरणोंमें रजके छोटे-छोटे अनगिनत परमाणु उड़ते-पड़ते रहते हैं, वैसे ही आपके एक-एक रोमके छिद्रमें असंख्य ब्रह्माण्ड विद्यमान रहते हैं। कहाँ ऐसी आपकी महिमा और कहाँ मैं! अतः इस तुच्छका अपराध क्षमा करें॥ ११॥

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥ १२॥

हे अधोक्षज (प्राकृत ज्ञानके अतीत)! गर्भगत सन्तान जिस प्रकार माताके उदरमें रहकर अज्ञानतावश अपने हाथ-पैरोंको ऊपर फेंक-फेंककर उसे ताड़ित करती है, तो क्या माता उसे अपराध मानती है? उसी प्रकार हे अनन्त-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर! अपनी कोखमें चराचरको धारण करनेवाले आप माता-स्वरूप हैं। मैं आपकी सन्तानके समान हूँ, मेरे अपराधको ग्रहण मत कीजिये। इस ब्रह्माण्डमें भाव-अभाव, अस्ति-नास्ति (है, नहीं है), स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि शब्दोंके द्वारा वाच्य (कहा गया) कोई भी पदार्थ आपके जठर (उदर या कोख) के बाहर है क्या? ॥ १२ ॥

जगत् त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विवति वाङ् न वै मृषा
किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥ १३॥

जिस समय प्रलयकालीन जलमें तीनों लोक डूब गये थे, उस समय उस प्रलय-सलिलमें अवस्थित नारायणके उदरस्थ नाभि-नालसे ब्रह्मा प्रकट हुआ था—पुराण-कर्त्ता ऋषियोंने ऐसा वर्णन किया है। उनका यह कथन वास्तवमें मिथ्या नहीं हो सकता। तो हे ईश्वर! क्या मैं आपसे बाहर (पृथक्) हूँ, आपका पुत्र नहीं हूँ? ॥ १३ ॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्
तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥ १४॥

(वस्तुतः मैं आपसे ही उत्पन्न हुआ हूँ) क्या आप नारायण नहीं हैं? आप ही नारायण हैं, क्योंकि आप ही समस्त जगत्के और सभी देहधारी जीवोंके आत्म-स्वरूप हैं। नार शब्दका अर्थ है जीवसमूह, उनका अयन (आश्रय) जो हैं—वे नारायण आप

ही हैं। हे अधीश! (आपके नारायण होनेके और भी कारण हैं कि) आप समस्त लोकोंके साक्षी हैं, इस प्रकार जो लोकोंको जानते हैं, वे ही नारायण हैं। नार अर्थात् जीव और अयन अर्थात् जाननेवाला। त्रिकालज्ञ नारायण भी आप ही हैं। नरसे उत्पन्न महदादि चौबीस तत्त्व और उनसे उत्पन्न नार—जल जिनका अयन—निवासस्थान है, वे नारायण भी आपके अङ्ग अर्थात् विलासमूर्त्ति हैं। (आप अखण्ड—अपरिच्छिन्न-स्वरूप हैं—जल आपका आश्रय किस प्रकारसे हो सकता है—इसके उत्तरमें कहते हैं—) आपका परिच्छिन्नत्व (सीमितत्व) सत्य नहीं है, परन्तु यह आपकी माया अर्थात् अचिन्त्यशक्तिका परिचय है कि आप असीम होते हुए भी सीमितके समान अवस्थित हैं। परम सत्य इस विराट् स्वरूपकी भाँति आपका नारायणरूप भी मायिक नहीं है॥ १४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किंवा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि॥ १५॥

हे भगवन्! जगत्का आश्रय-स्वरूप आपका यह विराट् शरीर प्रलयकालमें जलमें अवस्थित रहता है। यदि यह सत्य है, तो उस समय कमल-नालके अन्दर प्रवेशकर जब आपको मैं सौ वर्षों तक खोजता रहा, तो आपको क्यों देख नहीं सका? यदि कहा जाय कि आप अन्तःकरणके द्वारा देखे जाते हैं, तो मैं आपको अपने अन्तःकरणमें क्यों देख नहीं सका? फिर जब मैंने तपस्या की, तब उसी क्षण आपका भलीभाँति दर्शन किया। इसके बाद फिर कुछ ही क्षणोंमें वह रूप पुनः क्यों नहीं दिखायी दिया, अदृश्य (अन्तर्द्धान) क्यों हो गया? इसे आपकी माया ही तो कहा जायेगा। (आपकी इच्छासे ही यथासमय दर्शन एवं अदर्शन दोनों ही सम्भव होते हैं।)॥ १५॥

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥ १६॥

हे माया-निवारक प्रभो! इस अवतारमें भी आपने माता यशोदादेवीको इस समग्र दृश्यमान् जगत्‌को अपने उदरमें दिखलाया था और इस प्रकार आपने यह सम्पूर्ण विश्व केवल माया-ही-माया है—अपनी उस अचिन्त्यशक्तिको प्रकाशित किया था॥ १६॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।
तत् त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना॥ १७॥

हे भगवन्! आपके उदरमें आपके साथ परिदृश्यमान (आपकी माता द्वारा देखा गया) यह सम्पूर्ण जगत् जिस प्रकारसे प्रकाशित हो रहा था, बाहर दृश्यमान् जगत् भी उसी प्रकारसे प्रकाशित हो रहा था। यह आपकी माया अर्थात् आपके अचिन्त्य ऐश्वर्यके बिना क्या सम्भव है? उदरस्थ जगत्‌को बाह्य जगत्‌का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिबिम्बमें तो पदार्थ विपरीत (उलटे) दिखायी पड़ते हैं। दर्पणमें जिस प्रकार दर्पण प्रतिबिम्बित नहीं होता, उसी प्रकार दर्पण (आदर्श) स्थानीय आपमें आपका प्रतिबिम्ब दिखायी नहीं देता। (आपके उदरमें यह विश्व एवं आपकी मैया जैसे प्रकाश पा रहे थे, वैसे ही बाहरमें भी प्रकाशित थे। इसी प्रकार इस मायिक जगत्‌के मध्य मैं आपके उदरमें ही हूँ। इस सन्दर्भमें आपकी माताका अनुभव एवं मेरा अनुभव प्रमाण है।)॥ १७॥

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥ १८॥

हे भगवन्! क्या आपने केवल माताको ही इस प्रकारसे दिखलाया था, जो आज मुझे भी दिखलाया है? आज आपने अपने अतिरिक्त इस जगत्‌की भी अचिन्त्यता मेरे सामने प्रदर्शित की है। प्रथमतः मैंने एकमात्र आपके दर्शन किये थे। इसके बाद आप मुझे व्रजबालक, बछड़ों, वेणुओं, छड़ियों और छींकोंके रूपमें दिखायी दिये। ये बछड़े एवं व्रजबालक सभी चतुर्भुज थे और मेरे सहित अखिल तत्त्वादि इन सब रूपोंकी (चतुर्भुज स्वरूप बछड़ों एवे व्रजबालकोंकी) उपासना कर रहे थे। जितनी संख्यामें चतुर्भुज बछड़े एवं गोपबालक थे, आपने उतनी ही संख्यामें अलग-अलग ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण किया था। अब आप अखण्ड अद्वय ब्रह्मरूपमें अवस्थान कर रहे हैं अर्थात् अब मेरे भाग्यवश योगमायाके द्वारा मेरी दृष्टि अनावृत होनेके कारण मात्र आप ही अवशेषरूपमें दिखायी दे रहे हैं॥ १८॥

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः॥ १९॥

(गुणावतारके मूल श्रीविष्णुका इस श्लोकमें वर्णन हो रहा है) जो अज्ञानवश आपके स्वरूपसे अवगत नहीं हैं, उनके मतमें आत्म-स्वरूप आप ही प्रकृतिमें स्थित होकर स्वतन्त्ररूपसे मायाका विस्तार करके सृष्टि-कार्यमें ब्रह्माके समान, पालन कार्यमें विष्णुके समान और संहार कार्यमें शिवके समान प्रकाशित होते हैं॥ १९॥

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादःस्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥ २०॥

हे ईश! आप समस्त जगत्‌के विधाता और स्वामी हैं। आप वस्तुतः जन्मरहित हैं, तथापि देवता (वामनरूप), ऋषि (परशुरामरूप),

मनुष्य (रामचन्द्ररूप), तिर्यक् (गरुडरूप), कूर्म एवं मत्स्यादि जल-जन्तु रूपोंमें आपका आविर्भाव मात्र दुरात्माओंके गर्वका नाश करनेके लिए और साधुओंपर अनुग्रह करनेके लिए होता है॥ २०॥

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥ २१॥

हे भूमन्! आप अनन्त, परमात्मा और योगेश्वर हैं। आप योगमायाका विस्तार करके कब, कहाँ, किस भावमें, किस प्रकार, किसलिए और कितने प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, अहो, त्रिभुवनमें ऐसा कौन है, जो आपकी समस्त लीलाओंको जान सके?॥ २१॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥ २२॥

यह सम्पूर्ण जगत् अनित्य (सार्वकालिक सत्तारहित) है, इसलिए स्वप्नवत् अनित्य, ज्ञान-रहित, जड़ एवं अतीव दुःखप्रद है। आप सच्चिदानन्द-स्वरूप, परम ज्ञान-स्वरूप एवं अनन्त हैं। आपमें आश्रित अचिन्त्यशक्तिसे ही इसकी उत्पत्ति एवं विनाश होते हैं, तथापि आपकी सत्तासे यह आपमें सत्यके समान प्रतीत होता है। (अविद्याके द्वारा बुद्धिका लोप होनेसे यह जगत् अशेष दुःखप्रद एवं अमङ्गलमय प्रतीत होनेपर भी सत्यकी भाँति प्रतीत होता है।)॥ २२॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥ २३॥

आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप ही सबके आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस दृश्यमान जगत्‌से पृथक् हैं। आप जगत्‌के जन्मादिके मूल-कारण, त्रैकालिक सत्तायुक्त पुराण-पुरुष एवं सनातन हैं। आप पूर्ण, नित्यानन्दमय, कूटस्थ, विनाशरहित होनेके कारण अमृत-स्वरूप, विद्या एवं अविद्यारूप उपाधियोंसे मुक्त, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित, विशुद्ध, अनन्त (अखण्ड), अनुपम, देश कालसे परे और अद्वय हैं॥ २३॥

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥ २४॥

जो महाजन गुरुरूपी सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्य-ज्ञानको (सुचक्षुओंको) प्राप्त करके समस्त जीवोंके आत्म-स्वरूप आपके परमात्मरूपका साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस 'मैं' और 'मेरा' मिथ्याभिमानरूप भवसागरसे पार हो जाते हैं॥ २४॥

आत्मानमेवात्मतयाऽविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥ २५॥

जिस प्रकार अज्ञानतासे उत्पन्न भ्रमके कारण रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है और ज्ञानोदय होनेपर यह भ्रम विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार परमात्म-स्वरूप आपको जो ज्ञानानन्द-स्वरूपमें नहीं जानते, उन्हें अज्ञानताके कारण ही नामरूपात्मक संसार-दशा प्राप्त होती है और ज्ञानका उदय हो जानेपर उसकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है॥ २५॥

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ २६॥

वस्तुतः अज्ञानके दो नाम हैं—भव-बन्धन एवं उससे मोक्ष। ये दोनों ही संज्ञाएँ अज्ञानसे कल्पित हैं, इसलिए सत्यका ज्ञान इनसे भिन्न है। विचार करनेपर ज्ञात होता है कि सूर्यमें जिस प्रकार दिन और रात्रिका अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार माया-सम्बन्ध-रहित, अखण्ड-अनुभव-स्वरूप आत्म-तत्त्वमें ये दोनों ही (बन्धन एवं मोक्ष) नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि अनात्म धारणाके कारण ही इन दोनोंकी उत्पत्ति है और आत्म-ज्ञान-सम्बन्ध होनेपर ये दोनों मिथ्या हैं। नित्यशुद्ध, नित्यसिद्ध जीवात्माका न बन्धन है और न मोक्ष॥ २६॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता॥ २७॥

कैसा आश्चर्य है कि अज्ञ व्यक्ति आत्म-स्वरूप आपको अनात्म मानते हैं अर्थात् आपके श्रीविग्रहको मायिक देह एवं आपसे भिन्न जो अनात्म वस्तु है, उसे परमात्मा मानकर आपके चरणकमलोंका परित्याग करके पुनः कहीं और बाहरी विषयोंमें आत्म-तत्त्वरूप आपको ढूँढ़ने लगते हैं। अहो! अज्ञ (मूर्ख) व्यक्तियोंकी यह कैसी मूर्खता है? ये मूर्ख व्यक्ति परमात्म-स्वरूप आपको शुद्ध जीव मानकर पुनः अन्यत्र आत्मतत्त्वका अनुसन्धान करते हैं। तात्पर्य यह है कि विवर्त्तवाद और परिणामवाद इस मायिक जगत्में प्रवर्त्तित हैं, किन्तु पूर्णचित्-स्वरूप ब्रह्ममें इनका स्थान नहीं है। (इन दोनों वादियोंका विचार अति शोचनीय है, इसलिए ब्रह्माजीने विस्मय व्यक्त किया है कि श्रुति-स्मृति-दर्शनके अभावमें अन्धे होकर अन्ध-परम्पराका आश्रय लेनेवाले विवर्त्तवादियोंका सृजन मैंने क्यों किया?)॥ २७॥

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।

असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥ २८॥

रस्सीमें प्रतीयमान मिथ्या सर्प-बुद्धिका परित्याग न करनेपर क्या रज्जु-बुद्धि अर्थात् यथार्थ-ज्ञान हो सकता है? इसीसे हे अनन्त! साधु पुरुष आपसे भिन्न प्रतीयमान जड़-विषयोंका परित्याग करके अपने हृदयमें ही आपको ढूँढ़ते रहते हैं। आप सभीके हृदयमें विराजमान हैं॥ २८॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ २९॥

हे स्वामिन्! आप भक्तोंके हृदयमें स्वयं ही प्रकाशित होते हैं। आपके ज्ञानके स्वरूप और माहात्म्यके प्रभावसे अज्ञान-कल्पित जगत्का नाश हो जाता है। हे देव! जो आपके चरणकमलोंकी करुणा-कण-मात्र प्राप्त कर लेता है, केवल वही आपके यथार्थ सच्चिदानन्दमय माहात्म्यको जान सकता है। इसके अतिरिक्त दीर्घकालतक शास्त्राभ्यासके द्वारा अथवा योग-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नसे कोई भी आपकी महिमाको तत्त्वतः नहीं जान सकता॥ २९॥

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ ३०॥

अतएव हे नाथ! इसी ब्रह्मा-जन्ममें हो, किसी दूसरे जन्ममें हो अथवा पशु-पक्षी आदिके रूपमें ही जन्म हो, मैं आपके अन्यतम भक्तके रूपमें जन्म-ग्रहणकर आपके पद-पल्लवोंकी सेवा कर सकूँ—ऐसा सौभाग्य मुझे प्राप्त हो॥ ३०॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।

यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्याप्यथ न चालमध्वराः॥ ३१॥

हे विभो! सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आज तक अनुष्ठित बड़े-बड़े यज्ञ जिन्हें पूर्णतः तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सके, अहो! वही आपने बछड़े एवं गोपबालक बनकर जिनके स्तनोंका दूध आनन्दपूर्वक प्रचुररूपसे पान किया है, वे व्रजकी गायें एवं गोपियाँ अतीव धन्य हैं॥ ३१॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ ३२॥

परमानन्द-स्वरूप, पूर्णब्रह्म, सनातन आप जिनके सुहृद और सगे-सम्बन्धी हैं, उन नन्द गोपादि प्रमुख व्रजवासियोंका अहो कितना महाभाग्य है! कितना धन्यभाग्य है॥ ३२॥

एषान्तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥ ३३॥

हे अच्युत! इस व्रजके गोप, गोपी एवं गायोंके सौभाग्यकी महिमाका वर्णन करना तो दूरकी बात है, ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता चन्द्र आदि और मैं महाभाग्यवान हैं; क्योंकि हम व्रजवासियोंके चक्षु, मन आदि ग्यारह इन्द्रियरूप पान-पात्रोंके द्वारा निरन्तर आपके चरणकमलोंके मधु-स्वरूप सर्वविस्मृति-कारक अमृतका (मधुर मकरन्द-तुल्य अमृतका) पान करते रहते हैं। जब हम एक-एक इन्द्रियसे पान करके धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे उसका सेवन करनेवाले व्रजवासियोंकी तो बात ही क्या है?॥ ३३॥

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।

यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ ३४॥

हे देवताओंके भी उपास्यदेव प्रभो! अनादिकालसे आज तक श्रुतियाँ जिनकी पदरजका अन्वेषण कर रही हैं, वे ही भगवान् मुकुन्द जिनके जीवन-प्राण एवं सर्वस्व हैं, उन गोकुलवासियोंमेंसे किसी एककी भी पदधूलि द्वारा मैं अभिषेकके योग्य बन सकूँ (किसी एककी भी पदरजसे मेरा मस्तक अभिषिक्त हो जाय) अथवा इस भौम-व्रजके वनमें अथवा विशेषरूपसे गोकुलमें किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो जाय, तो यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी॥ ३४॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५॥

हे देव! हृदयसे महान्-क्रूर पूतनाने साध्वी वेश धारण करके एवं साधुजनोंका अनुकरण करके, अघासुर, बकासुर आदि सगे-सम्बन्धियोंके साथ आपको प्राप्त किया है, किन्तु जिनके गृह, धन, सुहृद्, अपने प्रिय द्रव्य, देह, प्राण, मन, पुत्र सर्वस्व आपकी प्रीतिके लिए आपके चरणोंमें समर्पित हैं, उन व्रजवासियोंको आप इनकी सेवाके बदलेमें क्या प्रदान करेंगे, उनसे कैसे उऋण होंगे? आप सर्वफलात्मक अर्थात् समस्त फलोंके फल हैं, आपसे उत्कृष्ट फल कौन-सा है? यह विचार करके मेरा चित्त मोहग्रस्त हो रहा है॥ ३५॥

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥ ३६॥

हे सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण! जब तक मनुष्य आपके प्रति अनुरागी नहीं होते, तभी तक रागादि चोरोंके समान, घर एवं सम्बन्धी कारागारके समान और मोह पैरोंकी बेड़ियोंके रूपमें उन्हें जकड़े रहते हैं॥ ३६॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥ ३७॥

हे विभो! आप इस प्रपञ्चसे परे हैं, तथापि अपने शरणागत भक्तोंका आनन्द बढ़ानेके लिए आप भौम-व्रजमें प्रकट होकर प्रापञ्चिक लीला-विलासका अभिनय करते हैं॥ ३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥ ३८॥

मेरे स्वामी! वाक्-आडम्बरकी आवश्यकता ही क्या है! पण्डिताभिमानी व्यक्ति मानते हैं कि वे आपकी महिमासे अवगत हैं—वे ऐसा समझते रहें, किन्तु आपका वैभव मेरे तन, मन एवं वचनके अगोचर है—वस्तुतः मैं आपकी महिमा जाननेमें असमर्थ हूँ॥ ३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम्॥ ३९॥

हे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण! आप सर्वद्रष्टा हैं। आप सब कुछ जानते हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च आपमें ही स्थित है। आप सम्पूर्ण चराचर जगत्के एकमात्र ईश्वर हैं। अतः इस क्षुद्रका यह ममतास्पद विश्व और यह शरीर आपके प्रति समर्पित है। आप इन्हें स्वीकार कीजिये। और हे नाथ! मुझे अपने लोकमें जानेकी अनुमति दीजिये॥ ३९॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्ज्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुग्-
आकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते॥ ४०॥

(स्तुतिको विश्राम देते हुए कहते हैं) सभीके हृदयोंको अपने रूप-माधुर्यसे आकर्षित करनेवाले श्रीकृष्ण! (सूर्य-स्वरूप दक्षिण नेत्रको लक्ष्य करके) आप यदुवंशरूप कमलको आनन्द प्रदान करनेवाले सूर्य हैं। (चन्द्र-स्वरूप वामनेत्रको लक्ष्य करके) आप

भूमि, देव, ब्राह्मण एवं धेनु—पशुसमूहरूपी समुद्रको बढ़ानेवाले चन्द्र हैं, पाखण्ड-धर्मरूपी रात्रिके अन्धकारको नाश करनेवाले आप सूर्य एवं चन्द्र दोनों हैं। पृथ्वीपर स्थित राक्षस जैसे लोग आपसे विद्वेष रखते हैं, इसलिए आप उनका नाश कर देते हैं। सूर्यादि समस्त देवताओंके पूजनीय हे भगवान्! आपको मैं महाकल्प तक अर्थात् जब तक जीवित रहूँ, तब तक प्रणाम करता रहूँ। (अर्कका पुष्प भगवत् सेवामें प्रयुक्त नहीं होता, अतः वैष्णवोंमें सम्माननीय नहीं है। परन्तु व्रजस्थ होनेके कारण अर्क जैसी क्षुद्र वस्तुको भी ब्रह्माने प्रणाम किया है)॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥४१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माने इस प्रकारसे अपने अभीष्टदेव अखण्ड (अपरिच्छिन्न) भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की एवं तीन बार परिक्रमा करके भगवान्के चरण-युगलोंमें प्रणाम किया तथा निज धाम सत्यलोकको चले गये॥४१॥

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥४२॥

भगवान्ने ब्रह्माको अपने लोकमें जानेकी अनुमति प्रदान कर दी। ब्रह्माके द्वारा एक वर्ष पूर्व चुराये गये बछड़े जो पूर्ववत् तृणादि-भक्षणमें रत थे, कृष्ण उन्हें उसी अपने भोजन-स्थान यमुना-पुलिनपर ले आये, जहाँ वे अपने सखाओंको बिठा गये थे॥४२॥

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः।
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्द्धं मेनिरेऽर्भकाः॥४३॥

हे राजन्! ग्वालबालोंने अपने प्राणेश्वर, अपने जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णके बिना रहते हुए यद्यपि एक वर्ष बिता दिया था, किन्तु श्रीकृष्णकी विश्वमोहिनी मायासे मोहित होकर उन्हें वह समय आधे क्षणके समान ही प्रतीत हुआ॥४३॥

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।
यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम्॥ ४४॥

मायासे मुग्ध व्यक्ति पुनः-पुनः शास्त्राचार्योंके द्वारा अपने स्वरूपके विषयमें समझाये जानेपर भी इस जगत्में कौन-सी वस्तुको भूल नहीं सकते? वे मायाके प्रभावसे मोहित होकर इस जगत्के व्यवहार और यहाँ तक कि अपने स्वरूपको भी बार-बार भूल जाते हैं। (गोपबालक योगमायाके प्रभावसे एक वर्षके कृष्ण-विरह-दुःखको भूल गये।)॥ ४४॥

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम्॥ ४५॥

हे राजन्! श्रीकृष्णको आते देखकर सखाओंने उनसे बड़ी उत्कण्ठासे कहा—अरे भाई! तुम तो बहुत शीघ्र ही लौट आये। कृष्ण! तुम ठीकसे तो आ गये न! स्वागत है बन्धु, स्वागत है। देखो! हमने तो इस बीच एक ग्रास भी ग्रहण नहीं किया। अब यहाँ आओ और आनन्दसे भोजन करो॥ ४५॥

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्त्तत वनाद्व्रजम्॥ ४६॥

तब हँसते हुए हृषीकेश श्रीकृष्णने बालकोंके साथ भोजन किया और सायंकालको उन्हें अघासुररूप अजगरका चर्म दिखाते हुए वनसे व्रजमें लौट आये॥ ४६॥

बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः,
प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्त्ति-
र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥ ४७॥

उस समय श्रीकृष्णकी अद्भुत छटा हो रही थी। मस्तकपर मनोहर मोर-पंख तथा घुँघराले केशोंमें सुगन्धित वन्य पुष्प गूँथे हुए थे। श्यामल श्रीअङ्गोंमें नवीन गैरिकादि धातुओंसे चित्रकारी

रचित थी। परम उत्साहरूप समृद्धिसे सम्पन्न होकर वे पथपर वेणु, सींगी आदिकी अत्युच्च ध्वनि करते हुए वाद्योत्सवमें मग्न थे। श्रीकृष्ण गोपियोंके नयनोंके उत्सव-स्वरूप थे, मार्गके दोनों ओर खड़ी गोपियाँ उन्हें देखते ही आनन्द-मुग्ध हो रही थीं। सखा उनकी निर्मल एवं लोकपावन कीर्त्तिका गान करते हुए पीछे-पीछे आ रहे थे। इस तरह वे गोपबालक आदरपूर्वक नाम ले-लेकर बछड़ोंको पुकारते हुए गोष्ठमें प्रवेश कर गये॥ ४७॥

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना।
हतोऽविता वयञ्चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥ ४८॥

परीक्षित्! गोपबालक उस दिन व्रजमें आकर सबसे कहने लगे कि श्रीकृष्णने आज एक भीषण अजगरका वध करके उससे हमारे प्राणोंकी रक्षा की है॥ ४८॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्॥ ४९॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! व्रजवासियोंके लिए श्रीकृष्ण अपने पुत्र नहीं थे, दूसरेके पुत्र थे। फिर भी उनका श्रीकृष्णके प्रति वैसा विपुल प्रेम किस प्रकार हो गया? ऐसा प्रेम तो उनका अपने पुत्रोंपर भी पहले कभी नहीं हुआ था। कृपा करके यह बतलाइये कि इसका कारण क्या है॥ ४९॥

श्रीशुक उवाच—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥ ५०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अपनी आत्मा ही समस्त प्राणियोंको प्रिय होती है। आत्माके अतिरिक्त पुत्र, धन आदि पदार्थ आत्माको प्रिय तो होते हैं, किन्तु गौणरूपसे, साक्षात् प्रिय नहीं होते॥ ५०॥

तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥ ५१ ॥

अतः हे राजेन्द्र! यही कारण है कि सभी प्राणियोंका अपनी आत्माके प्रति जैसा स्नेह होता है, ममताके विषयास्पद अपने पुत्र, धन एवं गृहादिमें वैसा नहीं होता। अपनी अहङ्कारात्मक देहमें ही अधिक स्नेह रहता है॥ ५१॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥ ५२॥

हे क्षत्रियश्रेष्ठ! देहमें आत्म-बुद्धि रखनेवाले पुरुषोंको देह जिस प्रकारसे प्रिय होती है, देह सम्बन्धी गृह, स्त्री अथवा पुत्रादि उस प्रकारसे प्रिय नहीं होते॥ ५२॥

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥ ५३ ॥

यद्यपि यह देह ममतास्पद होती है, तथापि यह आत्माके समान प्रिय नहीं होती। देहके जराग्रस्त होनेपर भी जीवनकी आशा अधिक बलवती होती जाती है। देहत्याग करनेमें आत्माको अतिशय कष्ट होता है। इसलिए कोई देहत्याग करना ही नहीं चाहता। आत्माके प्रति अधिक स्नेहके कारण जीवित रहनेकी आशा बनी रहती है॥ ५३॥

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥ ५४॥

अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त प्राणियोंको अपनी ही आत्मा सर्वाधिक प्रियतम होती है। यह निखिल चराचर जगत् आत्माके सुखका कारण है॥ ५४॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥ ५५॥

परीक्षित्! तुम श्रीकृष्णको समस्त जीवोंका आत्मा-स्वरूप जानो। वे योगमायाका आश्रय लेकर जगत्के मङ्गलके लिए

अवतरित होते हैं और मायिक उपाधि अथवा भौतिक देहधारी रूपमें प्रतीत होते हैं। वे अधोक्षज भगवान् शरीर, वाणी और मनके अगोचर हैं, परन्तु साधारण मनुष्योंको कृपा करनेके लिए वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य स्थूल-देहधारीरूपमें प्रतीत होते हैं॥ ५५॥

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन॥ ५६॥

वस्तुतः जो कृष्ण-तत्त्वसे यथार्थरूपसे अवगत हैं, उनके मतमें स्थावर-जङ्गमात्मक और उससे परे परमात्मा, ब्रह्म, नारायण आदि जो भगवत्-स्वरूप हैं, सभी श्रीकृष्ण-स्वरूप ही हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कृष्णरूप है। श्रीकृष्ण समस्त कारणोंके कारण हैं। कार्य एवं कारणसे अभिन्न श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृत-अप्राकृत वस्तु है ही नहीं॥ ५६॥

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥ ५७॥

सभी वस्तुओंकी अन्तिम सत्ता (जो भावरूपसे अनुभवमें आती है) अर्थात् अस्तित्व तत्-सत्ताशय उपादान आदि कारणमें ही स्थित है, अतः प्रधानरूपसे यही निर्णय किया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही उन कारणोंके कारण-स्वरूप हैं। कृष्ण-सम्बन्धसे रहित इस ब्रह्माण्डमें स्वतन्त्र सत्ताधारी कुछ है—यह नहीं कहा जा सकता॥ ५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥ ५८॥

जो व्यक्ति सत्पुरुषोंके सर्वस्व एवं शिव, ब्रह्मादि महत्-जनोंके आश्रय पुण्यकीर्त्ति मुकुन्द, मुरारि श्रीकृष्णकी पाद-पद्म-तरणी (नौका) का आश्रय ले लेते हैं, वे इस भव-समुद्रको गोष्पदके (बछड़ेके खुरसे बने गड्ढेके) समान अनायास ही पार कर लेते

हैं। उन्हें उस परमपदकी (वैकुण्ठकी) प्राप्ति हो जाती है, जहाँ किसी भी प्रकारकी विपत्ति नहीं है॥ ५८॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
यत् कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्त्तितम्॥ ५९॥

हे राजन्! पाँचवें वर्षमें श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की थीं, बालकोंने उसे छठे वर्षमें कहा। इसका तुमने जो कारण पूछा था, उसका सारा रहस्य मैंने तुम्हारे लिए स्पष्ट कर दिया॥ ५९॥

एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारे-
रघार्द्दनं शाद्वलजेमनञ्च।
व्यक्तेतरद्रूपमजोर्वभिष्टवं
शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान्॥ ६०॥

श्रीकृष्णकी सखाओंके साथ वन-क्रीड़ा, अघासुर विनाश, वनमें हरी-भरी घाससे युक्त भूमिके ऊपर भोजन करना, जड़-प्रपञ्चातीत अर्थात् शुद्धानन्दात्मक बछड़ों और ग्वालबालोंका प्रकट होना और ब्रह्मा-कृत महत्-स्तोत्र आदिका जो श्रवण और कीर्त्तन करता है, वह मनुष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि सारे अभीष्टोंको प्राप्त कर लेता है॥ ६०॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्द्दशोऽध्यायः॥ १४॥

श्रीबलराम और श्रीकृष्णने इस प्रकार आँख-मिचौली, सेतुबन्धन एवं वानरोंके समान उछलना-कूदना आदि कौमारकालोचित क्रीड़ा-विहार करते हुए कौमार अवस्थाको व्रजमें बिता दिया॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौदहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

धेनुकासुरका उद्धार, ग्वालबालोंको कालियनागके विषसे बचाना

श्रीशुक उवाच—

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! इसके बाद छठे वर्षमें प्रवेश करनेपर बलराम और श्रीकृष्णने बाल्यलीलासे अधिक रस प्रकटकारी पौगण्ड अवस्थामें प्रवेश किया (पौगण्ड वयसने उनकी सेवा प्रारम्भ की)। कार्त्तिक मासकी अष्टमीको उन्हें गायोंको चरानेकी स्वीकृति मिल गयी। वे दोनों समवयस्क सखाओंके साथ गोचारण करते हुए वृन्दावन जाने लगे और अपने ध्वज, वज्रादि पद-चिह्नोंसे समग्र वृन्दावनको सुशोभित करने लगे॥ १॥

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्-
विहर्त्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥ २॥

वृन्दावन पशुओंके लिए हितकारी था। यह हरी-हरी घाससे समृद्ध एवं विविध रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पोंसे सुशोभित था। श्रीकृष्णने बलदेवके साथ वेणु वादन करते हुए तथा अपने पशुओंको (गायोंको) आगे करते हुए विहारकी कामनासे उस वनमें इस प्रकारसे प्रवेश किया, जिस प्रकार वसन्त चारों दिशाओंसे प्रवेश करता है। गोपबालक उनका यशोगान करते हुए उन्हें घेरकर पीछे-पीछे चल रहे थे॥ २॥

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥ ३॥

भगवान्‌ने देखा कि इस मनोहर वनमें कहीं भ्रमर मधुर गुञ्जार कर रहे हैं, कहीं झुण्ड-के-झुण्ड हिरन चौकड़ी भर रहे हैं तथा कहीं आकर्षक पंखोंसे युक्त पक्षी मधुर कलरव कर रहे हैं। महत्-जनोंके हृदयके समान अत्यन्त पावन सलिलमय अभिराम सरोवरोंमें विकसित कमलोंके सौरभसे सुवासित होकर शीतल, मन्द और सुगन्धित वायुसे वन सेवित हो रहा है। परीक्षित्! वह वन इतना रमणीक था कि उसे देखते ही भगवान् माधवने उस वनमें विहार करनेकी अभिलाषा की॥ ३॥

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपुरुषः ॥ ४॥

वन-प्रदेशमें सर्वत्र ही अरुणवर्णीय (नवीन कोंपलके लालिमामय) सौन्दर्यसे अलङ्कृत वनस्पतियाँ (छोटे-बड़े वृक्ष) भगवान्‌के चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिए फल एवं फूलोंके अधिक भारसे अपनी शाखाओंको अधोमुख होकर झुका रही थीं। यह देखकर आदिपुरुष श्रीकृष्ण आनन्दसे परिपूर्ण हो गये। वे सख्यभाव-जनित ईषत् मुसकानके साथ अग्रज बलदेवसे कहने लगे— ॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच—

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे देवशिरोमणे! ये समस्त वृक्ष अपनी वृक्ष-योनिके मूल-कारण अपने अज्ञानके विनाश, आपके दर्शन एवं आपके यश-श्रवणके लिए अपनी-अपनी डालियोंमें पुष्प एवं फलरूप पूजाकी सामग्री धारण करके देवताओंके द्वारा पूजनीय आपके चरणकमलोंमें प्रणत हो रहे हैं। वस्तुतः इन वृक्षोंका जीवन धन्य है। (ब्रह्मादि देवताओं द्वारा प्रार्थनीय श्रीवृन्दावनीय तरु-जन्म किसी अपराधका फल नहीं है।)॥ ५॥

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥ ६॥

हे आदिपुरुष! हे अनघ (निष्पाप)! ये भ्रमर सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले आपका यशोगान करते हुए आपका अनुगमन कर रहे हैं। ये निश्चय ही आपके उपासकोंमेंसे श्रेष्ठ मुनिगण होंगे—मैं ऐसा समझता हूँ। ये अपने आराध्यदेव आपको वनमें एक क्षणके लिए भी छोड़ना नहीं चाहते। ये (भ्रमर) वनमें रहस्यपूर्ण लीलाके लिए (सुरभियुक्त माधुर्यके रसास्वादनके लिए) गोपनीय स्थान जो सखाओंके लिए भी अगम्य है, वहाँ भी आपका पीछा नहीं छोड़ते। (आप जिस प्रकार अपना ऐश्वर्य छिपाकर चरवाहेका वेश ग्रहण करके बाल-लीला करते हुए वनमें आये हैं, उसी प्रकार ये आपके उपासक मुनि भी भ्रमरका रूप धारण करके यहाँ चले आये हैं।) अन्य उपायकोंके लिए आपका यह रूप दुर्बोध्य है॥ ६॥

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥ ७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! आप ही परम स्तवनीय हैं। देखिये! वनमें आपके आगमनसे प्रसन्न होकर मयूर आनन्दपूर्वक नृत्य कर रहे हैं। हिरनियाँ गोपरमणियोंके समान तिरछी चितवनसे आपके प्रति प्रेम अभिव्यक्त कर रही हैं, कोयलें सुमधुर कुहू-कुहूकी मनोरम ध्वनिसे प्रसन्नता प्रकट करती हुईं आपका स्वागत कर रही हैं। ये सभी वनवासी धन्य हैं—जो आपको अपनी प्रिय वस्तुएँ भेंट कर रहे हैं। घर आये अतिथिकी प्रसन्नताके लिए अपनी प्रियसे प्रियवस्तु भेंट करना ही सज्जनोंका स्वभाव है॥ ७॥

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥ ८॥

इस पृथ्वीने पहले भी विविध अवतारोंमें (वराहादि) चरण-स्पर्श प्राप्त करके सौभाग्यको प्राप्त किया था और अब आपके स्वयंरूप अवतारके चरण-स्पर्शसे परम सौभाग्यवती हो गयी है। यहाँके तृण, वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ सभी आपकी अङ्गुलियोंके नखोंका स्पर्श प्राप्तकर अपना अहोभाग्य मान रही हैं। नदी, पर्वत एवं पशु-पक्षी आपका सकरुण कटाक्ष प्राप्तकर कृतार्थ हो रहे हैं और श्रीदेवी जिस वक्षःस्थलकी प्राप्तिके लिए लालायित रहती हैं, उसी वक्षःस्थलका स्पर्श प्राप्त करके यहाँकी गोपियाँ (श्यामलता आदि गोपियाँ) धन्य हो रही हैं॥ ८॥

श्रीशुक उवाच—

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधःसु सानुगः॥ ९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीकृष्ण परम सुन्दर वृन्दावन-धामका अवलोकन करके बहुत आनन्दित हुए और प्रसन्न-चित्तसे गोवर्धनकी तराईमें, यमुना नदीके किनारेपर अपने

सखाओंके साथ गो-चारण करते हुए अनेक प्रकारसे लीला-विहार करने लगे॥ ९॥

क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः पथि सङ्कर्षणान्वितः॥ १०॥

अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित्
क्वचित् सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्।
क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥ ११॥

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥ १२॥

उस समय एक ओर ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्णके लीला-चरित्रोंका मधुर स्वरसे गान करते, दूसरी ओर वनमाली श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ पथपर कहीं तो मदमस्त भ्रमरके सुमधुर गुञ्जार करनेपर स्वयं भी मधुर स्वरसे गुनगुनाने लगते, कहीं मधुर नादकारी तोतेकी अस्पष्ट मधुर ध्वनिका अनुकरण करते, कहीं सुमधुर कूजनपरायण कोयलके अनुरूप ही कूकने लगते, कहीं कलहंसके सुरीले कूजनका अनुकरण करते और कहीं अनुचरोंको हँसानेके लिए नृत्यशील मोरोंके साथ ठुमक-ठुमककर नृत्य करके मयूरोंको उपहासका पात्र बना देते, कहीं दूर गयीं गायोंको मेघके समान गम्भीर एवं आनन्ददायिनी वाणीसे श्यामली, धवली आदि नामोंसे अतिशय प्रीतिके साथ पुकारते। उनके कण्ठकी मधुर-ध्वनि सुनकर गायों और ग्वालबालोंका चित्त अपने वशमें नहीं रहता॥ १०-१२॥

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः॥ १३॥

किसी स्थानपर चकोर (तीतर), क्रौञ्च (सारस), चक्रवाक (चकवा) एवं भारद्वाज (भरदूल या बगेरी) आदि पक्षियोंकी बोलीका अनुकरण करते हुए उनके जैसी बोली बोलते और कहीं

व्याघ्र तथा सिंहके समान गर्जना करते हुए हिरन आदि प्राणियोंको डराते और स्वयं भी भयभीत-से होकर पलायन करनेकी लीला करते॥ १३॥

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः॥ १४॥

जब बलदेव खेलकर थक जाते, तब किसी गोपकी गोदरूप तकिये पर सिर रखकर लेट जाते, तब श्रीकृष्ण स्वयं पद-संवाहन (पैरोंको दबाना), व्यजन (पंखेसे हवा करना) आदि सेवाओंके द्वारा बड़े भाईकी थकावट दूर करते॥ १४॥

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥ १५॥

कभी ग्वालबाल नाचते-गाते, ताल ठोंकते और परस्पर कुश्ती लड़ते। तब बलराम एवं कृष्ण दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर 'वाह-वाह' करते हुए उनकी प्रशंसा करते एवं हँसने लगते॥ १५॥

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्ध श्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः॥ १६॥

कभी स्वयं श्रीकृष्ण भी ग्वालबालके साथ मल्ल-क्रीड़ा करते हुए क्लान्त हो जाते, तब किसी रमणीय वृक्षके नीचे पल्लव-रचित शय्यापर गोपबालकोंकी गोदरूप तकिये पर मस्तक रखकर लेट जाते॥ १६॥

पादसंवाहनं चक्रुः केचित् तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥ १७॥

परीक्षित्! उस समय पुण्यके मूर्त्तिमान-स्वरूप ग्वालबाल महात्मा श्रीकृष्णके पाद-संवाहन करते और सेवा-विघ्नरूप पापसे नित्य मुक्त (ये गोपबालक अनादि कालसे ही कृष्णसेवाके अधिकारी हैं। उनकी कृष्णसेवामें कभी भी विघ्न नहीं आते हैं) कुछ बाल-सखा बड़े-बड़े पत्तों अथवा अँगोछियोंसे उनपर पंखा झलने लगते॥ १७॥

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥ १८॥

हे महाराज! किसी-किसीका चित्त स्नेहसे आर्द्र हो उठता, तब वह मधुर-मद्धिम स्वरमें उदार-शिरोमणि और परम मनस्वी श्रीकृष्णकी लीलाओंके अनुरूप तत्कालोचित, प्रीतिदायक एवं मनोहर गीतोंका गान करने लगता॥ १८॥

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥ १९॥

लक्ष्मीदेवी जिनके सुकोमल चरण-युगलकी आराधना करती हैं, वे ही भगवान् अपनी शक्ति—योगमायाके प्रभावसे अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपको छिपाकर अपने आचरण द्वारा गोपबालकोंके समान माधुर्यमय भावको प्रकटित करते और प्राकृत बालकोंके समान बड़े प्रेमसे ग्रामीण खेल खेलते हुए विहार करते, तथापि बीच-बीचमें उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ एवं भाव लक्षित हो ही जाते अर्थात् दिखायी दे ही जाते॥ १९॥

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥ २०॥

तदनन्तर एक दिन बलराम और श्रीकृष्णके प्रधान सखा श्रीदाम नामक गोपाल, सुबल, स्तोककृष्ण आदि अन्यान्य गोप-बालकोंने श्याम और रामसे अति सौहार्द-प्रेमसे इस प्रकार कहा—॥ २०॥

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसंकुलम्॥ २१॥

हम सबको सर्वदा प्रसन्न करनेवाले हे बलराम! आपकी भुजाओंका पराक्रम असीम है। हे महाबाहो श्रीकृष्ण! दुष्टोंका दमन करना तो आपका स्वभाव ही है। इस स्थानसे थोड़ी दूरपर

ही (गोवर्द्धनकी तलहटीसे चार कोसकी दूरीपर) तालवृक्षोंसे परिपूर्ण एक महावन (एक बड़ा भारी वन) है॥ २१॥

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥ २२॥

वहाँ बहुत-से ताल-फल पककर गिरते रहते हैं और बहुत-से पहलेके भी गिरे हुए होंगे, परन्तु वहाँ एक धेनुक नामका दुरात्मा असुर रहता है, जिसने उन फलोंके बीनने अथवा तोड़नेपर रोक लगा रखी है॥ २२॥

सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ २३॥

भैया दाऊ और भैया कृष्ण! वह दैत्य गधेके रूपमें वहाँ रहता है और उसके अनेक बान्धव भी गधेके रूपमें उससे मिलकर वहीं रहते हैं। वह स्वयं तो अतिशय बलवान् है ही, उसके साथी भी उसके जैसे ही बलवान् हैं॥ २३॥

तस्मात् कृतनराहाराद्भीतैर्नृभिरमित्रहन्।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम्॥ २४॥

हे शत्रुविनाशन श्रीकृष्ण! वह दैत्य मनुष्योंका मांस खाता है, उसने अब तक न जाने कितने मनुष्योंको मारकर खा डाला है। उससे भयभीत होकर मनुष्य, पशु और पक्षी—सभीने उस वनका परित्याग कर दिया है, कोई भी उस वनमें नहीं जाता॥ २४॥

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते॥ २५॥

उस वनमें ताल फल हैं तो अतिशय सुगन्धित, परन्तु हमने उन्हें कभी खाया नहीं है। इन फलोंकी सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त हो रही है। किञ्चित् मात्र भी ध्यान देनेसे उस सुगन्धका अनुभव होने लगता है॥ २५॥

प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम्।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥ २६॥

हे कृष्ण! हमारे मनमें इस सुगन्धके प्रति बड़ा लोभ हो रहा है। अतः हमें ये फल अवश्य प्रदान करो। इन फलोंकी प्राप्तिकी हमें अत्यधिक लालसा हो रही है। हे बलराम! यदि तुम्हारी रुचि हो, तो वहाँ चला जाय॥ २६॥

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥ २७॥

बलराम और कृष्ण अपने मित्रोंके इन वचनोंको सुनकर हँसे और उनकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेकी इच्छासे उन ग्वालबालोंको साथ लेकर हँसते हुए तालवनकी ओर चल दिये॥ २७॥

बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥ २८॥

बलदेवने तालवनमें प्रवेश करते ही मदमस्त हाथीके बच्चेके समान अपनी भुजाओंके महाबलसे ताल-वृक्षोंको पकड़ लिया और उन्हें बड़े जोर-जोरसे हिलाकर बहुत-से फल भूमिपर गिरा दिये॥ २८॥

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥ २९॥

फल जब भूमिपर गिरने लगे, तब उसका शब्द सुनकर गधेके रूपमें वह असुर पर्वतोंके साथ-साथ भूतलको भी कम्पित करता हुआ द्रुत गतिसे उनकी ओर दौड़ा॥ २९॥

समेत्य तरसा प्रत्यग्द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः॥ ३०॥

वह असुर बड़ा ही बलवान् तथा क्रूर स्वभाववाला था। वह बड़े वेगसे बलरामजीके निकट आया और उसने अपने पिछले पैरोंसे उनके वक्षःस्थलपर दुलत्ती मारी। उसके बाद वह दुष्ट

गधेके समान कर्कश शब्दसे रेंकता हुआ चारों ओर दौड़ने लगा॥ ३०॥

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद्रुषा॥ ३१॥

राजन्! गर्दभाकृति वह असुर अति क्रोधित होकर पुनः रेंकता हुआ बलरामके पास पहुँचा और उनकी ओर पीठ करके बड़े क्रोधसे अपने पिछले पैरोंसे उनपर दुलत्ती चलायी॥ ३१॥

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥ ३२॥

इस बार बलदेवने अपने एक ही हाथसे उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे आकाशमें घुमाने लगे। घुमानेके वेगसे ही उस असुरके प्राण-पखेरु उड़ गये। अनन्तर बलदेवने उसे तालवृक्षके ऊपर ही फेंक दिया॥ ३२॥

तेनाहतो महातालो वेपमानो महच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥ ३३॥

उस असुरके शरीरके गिरनेके आघातसे वह महान् ताड़का वृक्ष—जिसका ऊपरी भाग बहुत विशाल था—स्वयं तो तड़तड़ाता हुआ गिर पड़ा, साथ ही पासमें सटे हुए दूसरे ताल-वृक्षोंको भी उसने कँपा दिया। एक कम्पमान वृक्षसे दूसरा वृक्ष गिरा, दूसरेसे तीसरा, तीसरेसे चौथा—इस प्रकार एक-दूसरेको गिराते हुए बहुत-से ताल-वृक्ष गिर पड़े॥ ३३॥

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥ ३४॥

बलरामके द्वारा खेल-ही-खेलमें फेंके हुए गर्दभाकार असुरके शरीरके प्रहारसे आहत होकर सारे ताल-वृक्ष क्रमपूर्वक इस प्रकार कम्पित होने लगे, मानो किसी प्रबल झंझावातने उन्हें प्रचण्डरूपसे झकझोर दिया हो॥ ३४॥

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥ ३५॥

हे राजन्! तन्तुओंमें (सूतोंमें) जिस प्रकार वस्त्र ओतप्रोत रहता है, उसी प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड जिनमें अनुस्यूत अथवा ओतप्रोत रहता है—ऐसे जगदीश्वर भगवान् अनन्तदेवके लिए ये वन-प्रकम्पनादि कार्य कुछ अद्भुत नहीं हैं॥ ३५॥

ततः कृष्णञ्च रामञ्च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः॥ ३६॥

इसके बाद जो धेनुकासुरके बन्धु-बान्धव थे, वे अपने बान्धवोंकी मृत्युसे बड़े ही क्रोधित हो गये और क्रोधावेशमें आकर सभी-के-सभी बड़े वेगके साथ बलराम और कृष्णपर टूट पड़े॥ ३६॥

तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत् तृणराजसु॥ ३७॥

हे राजन्! तब कृष्ण एवं बलराम दोनोंने ही अपने समीपमें आये हुए असुरोंके पिछले पैरोंको पकड़कर खेल-ही-खेलमें ताल-वृक्षोंके ऊपर फेंककर मार डाला॥ ३७॥

फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम्॥ ३८॥

उस समय सारी भूमि टूटे हुए ताल-वृक्षों, ताल-फलोंके ढेरों एवं ताल-वृक्षोंके अग्रभागोंपर अटके प्राणहीन दैत्योंके शरीरोंसे पट गयी। उस समय उस भूमिकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो मेघमालाओंसे आकाश व्याप्त हो गया हो। (ताल-फल स्वाभाविक रूपसे काले होते हैं।)॥ ३८॥

तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशम्य विबुधादयः।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः॥ ३९॥

बलराम और श्रीकृष्णकी इस सुमहती एवं मङ्गलमयी लीलाको सुनकर देवगण पुष्प-वर्षण, वाद्य-वादन और स्तुति-स्तवन करने लगे॥ ३९॥

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने॥ ४०॥

इसके पश्चात् उस वनमें जिस दिन धेनुकासुरका वध हुआ था, उसी दिनसे मनुष्य निर्भय होकर उस वनके स्वादिष्ट तालफल खाने लगे एवं गाय आदि पशु भी स्वच्छन्दतापूर्वक घास चरने लगे (ताल-फल-भक्षण पुलिन्द जाति द्वारा हुआ है, गर्दभके रक्तसे लिप्त होनेके कारण गोपबालकोंकी उसमें कोई रुचि न थी)॥ ४०॥

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत्॥ ४१॥

जिनके वेणुगीतका श्रवण करनेसे कर्णपुट पवित्र हो जाते हैं, उन पुण्य-श्रवण-कीर्त्तन, कमलनयन श्रीकृष्णने अपने अग्रजके साथ व्रजमें प्रवेश किया। उस समय उनके पीछे-पीछे चलती हुई गोपाल-मण्डली उनकी स्तुति कर रही थी॥ ४१॥

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्य प्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्त्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥ ४२॥

उस समय गायोंके खुरोंसे धूलिकणोंके उड़नेसे श्रीकृष्णके घुँघराले केश रञ्जित हो रहे थे। उन केशोंमें सुन्दर-सुन्दर वन्य-कुसुम गुँथे हुए थे और सिरपर मयूरपिच्छ था। उनके मुखपर सुरम्य मुसकान एवं नेत्रोंमें मनोहर चितवन थी। वे मधुर-मधुर वेणु बजाते हुए चले आ रहे थे। उनके अनुगमनकारी साथी ग्वालबाल उनके मधुर एवं लालित्यपूर्ण यशका गान कर

रहे थे। वंशीकी ध्वनि सुनते ही गोपियाँ उन्हें देखनेकी इच्छासे दल बनाकर आयी हुई थीं, न जाने कबसे श्रीकृष्णके दर्शनके लिए उनके नयन उत्सुक हो रहे थे॥ ४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत् सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥ ४३॥

व्रजाङ्गनाओंने व्रजमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णके मुख-कमलके मकरन्द-रसका (स्मितहास्यरूप मधुका) अपने भ्रमर-तुल्य नेत्रोंके द्वारा पान किया और सम्पूर्ण दिवसके विरह-जनित तापको शान्त किया। श्रीकृष्णने भी उनके सलज्ज हास्य एवं विनययुक्त कटाक्ष-दृष्टिरूप सत्कारको स्वीकार करते हुए गोष्ठमें प्रवेश किया (जब श्रीकृष्णने गोपियोंको देखा, तो गोपियाँ हँस पड़ीं और अपनी हँसीको छिपानेके लिए बायें हाथसे मुखको घूँघटसे ढक लिया, जिससे उनका विनय भाव प्रकाशित होने लगा)॥ ४३॥

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः॥ ४४॥

माँ यशोदा और रोहिणीदेवीका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे उमड़ रहा था। जैसे ही कृष्ण एवं बलराम घर पहुँचे, उसके पहलेसे ही उन्होंने प्रदोषकालोचित तथा पुत्रोंकी रुचिके अनुसार सोच-सँजोकर रखे हुए उत्तम-उत्तम भोज्य पदार्थोंका उन्हें भोजन कराया और यथासमय ही वसन एवं अलङ्कार धारण करा दिये॥ ४४॥

गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्द्दनादिभिः।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ॥ ४५॥

माताओंने तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया। इससे वन-भ्रमणसे होनेवाली उनकी दिनभरकी थकावटको दूर किया, उन्हें सुन्दर वस्त्र पहनाये, दिव्य पुष्पोंसे निर्मित माला पहनायी तथा सुगन्धादिसे विभूषित किया॥ ४५॥

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे॥ ४६॥

उसके बाद बलराम और श्रीकृष्णने माताओंके द्वारा परोसा हुआ स्वादिष्ट भोजन किया। ताम्बूल-अर्पण आदि द्वारा लाड़-प्यार करते हुए माताओंने दोनों भाइयोंको मनोरम शय्यापर सुलाया। राम और श्याम व्रजमें सुखपूर्वक सो गये॥ ४६॥

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित्।
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः॥ ४७॥

हे राजन्! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें विचरण करते हुए अनेक लीलाएँ करते। एक दिन वे अपने सखा ग्वालबालोंसे परिवेष्टित होकर यमुना-पुलिनपर गये, परन्तु उस दिन बलराम उनके साथ नहीं आये थे॥ ४७॥

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्त्ता विषदूषितम्॥ ४८॥

वहाँ ज्येष्ठ-आषाढ़ मासके अत्यधिक तापसे गौएँ एवं ग्वालबाल अति पीड़ित हो रहे थे। प्याससे उनका कण्ठ सूखा जा रहा था। तृषासे आर्त्त होकर उन्होंने कालिन्दीका विषैला जल पी लिया॥ ४८॥

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह॥ ४९॥

हे कुरुवंशधर परीक्षित्! भगवान्‌की लीला-शक्तिके वैभवके द्वारा गोपों एवं गायोंकी बुद्धि लुप्त हो गयी थी। उन्हें ह्रदके विष-दोषका ध्यान ही नहीं रहा था। अतः गोप एवं गायें सभी विषाक्त जलका स्पर्श करते ही प्राणहीन होकर यमुनाजीके तटपर गिर पड़े॥ ४९॥

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥ ५०॥

व्रजस्थ प्राणियोंके स्वामी और सर्वस्व तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही थे। योगेश्वरोंके ईश्वर श्रीकृष्णने जब अपने आश्रितोंको इस प्रकारसे मृत देखा, तो अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिके द्वारा उन्हें पुनः जीवित कर दिया॥५०॥

ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात्।
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्॥५१॥

वे यमुनाके तटपर उठ खड़े हुए। जैसे ही उन्हें पूर्वस्मृति प्राप्त हुई, वे अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरेका मुख देखने लगे—"अरे! हम तो मर गये थे, अब जीवित कैसे हो गये! हमें किसने किस ओषधि या मन्त्रसे जीवित कर दिया!"—वे इसी चिन्तनमें निमग्न हो गये॥५१॥

अन्वमंसत तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

हे राजन्! तब उन्होंने यही निश्चय किया कि विषैला जल पीनेसे हमलोग मर चुके थे, परन्तु श्रीकृष्णकी ही अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे हमलोग पुनः जीवित हो गये हैं॥५२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

कालिय-दमन और नागपत्नियोंकी स्तुतिसे श्रीकृष्णकी कालिय नागपर कृपा

श्रीशुक उवाच—

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत्॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापक हैं। उन्होंने देखा कि कालिय नामक सर्पके विषके स्पर्शसे यमुनाका जल दूषित हो गया है, अतः उसकी शुद्धिकी कामनासे उन्होंने उस सर्पको वहाँसे निर्वासित कर दिया॥ १॥

श्रीराजोवाच—

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासां यथासीद्विप्र कथ्यताम्॥ २॥

श्रीपरीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकारसे अगाध जलमें कालिय नागका दमन किया? जलचर जीव न होते हुए भी वह नाग किस प्रकार अनेक युगों तक वहाँ रहा? इसका कारण क्या था? कृपया यह सब आप मुझे बतलाइये॥ २॥

ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्त्तिनः।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन्॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वतन्त्र एवं अनन्त हैं। वे स्वेच्छापूर्वक लीला-विहार करते हैं। उनकी गो-गोप-गोपियोंकी रक्षारूप लीला अमृत-तुल्य सुखदायक है, उस लीला चरितके सेवनसे भला कौन तृप्त हो सकता है? बल्कि इन लीलाओंके सेवनकी इच्छा बढ़ती रहती है॥ ३॥

श्रीशुक उवाच—

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ह्रदः कश्चिद्विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवने कहा—परीक्षित्! उस यमुना जलके बीचमें एक ह्रद था। कालियके विषाग्निकी ज्वालासे निरन्तर उसका जल खौलता रहता था। यहाँ तक कि उस ह्रदके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी उस विषके आकर्षणसे उसमें गिर जाते और प्राणोंको खो बैठते ॥ ४ ॥

विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

उस ह्रदके विषैले जलकी उच्च तरङ्गोंका स्पर्श करके तथा उनके नन्हे-नन्हे जल-कणोंको लेकर वायु बाहर आती, तो उस ह्रदके तटपर स्थित घास-पात, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी उस विषाक्त वायुके स्पर्शसे झुलस जाते और उसी समय प्राणोंका त्याग कर देते ॥ ५ ॥

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीञ्च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण दुष्टोंका निग्रह करनेके लिए अवतरित होते हैं। जब श्रीकृष्णने विषके प्रचण्ड वेगसे युक्त कालियको एवं उसके द्वारा दूषित यमुना-जलको देखा, तो उन्होंने अपने कटिभूषण (फेंटे) को कमरमें कसकर बाँध लिया एवं तट-स्थित अति विशाल एवं उच्च कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये। उसी ऊँचे वृक्षसे भुजाओंसे ताल ठोकते हुए विषमय ह्रदमें कूद पड़े। (भविष्यमें श्रीकृष्णके चरण-कमलका स्पर्श प्राप्त करनेके लिए दहके किनारे यही वृक्ष हरा-भरा रह गया था। इसपर विषकी ज्वालाओंका असर नहीं हुआ था, क्योंकि गरुड अमृत-कलश ले

जाते समय इसी वृक्षपर बैठे थे। इसलिए भी यह सूखा नहीं था)॥ ६॥

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
सङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक् प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत्॥ ७॥

हे धीमन्! उस समय भगवान् किञ्चित् बल प्रकट करते हुए ह्रदमें कूदे। उनके इसी वेगसे क्षुब्ध सर्पोंकी विषराशिसे कषायित (रक्त-पीत वर्णीय अर्थात् लाल-पीले रङ्गकी) एवं भयङ्कर तरङ्गोंसे युक्त यह ह्रद-जल उछलता हुआ शत धनुष (चार सौ हाथ) तक फैल गया। अचिन्त्य, असीम विक्रमशाली भगवान्के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है॥ ७॥

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत् स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत् तदमृष्यमाणः॥ ८॥

हे राजन्! जिस समय भगवान् कूदे, उस समय कालिय नाग ह्रदमें विहार कर रहा था। विक्रमशाली श्रीकृष्ण मत्त मातङ्गके समान उस ह्रद-जलमें क्रीड़ा करते हुए अपने हस्त-सञ्चालनसे उत्थित तरङ्गोंसे विचित्र जलवाद्यका महाशब्द करने लगे। अपने आवास-स्थलका ऐसा तिरस्कार चक्षुःश्रवा (आँखसे सुननेवाले) कालियको सहन नहीं हुआ और वह श्रीकृष्णके समीप उपस्थित हो गया॥ ८॥

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चच्छाद॥ ९॥

कालियने देखा कि उसके समक्ष मनोहर, सुकुमार वर्षाकालीन जलदके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त एक साँवला-सलोना श्यामल बालक है। उसने पीत-वसन धारण कर रखे हैं और वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिन्ह है। उसके सुरम्य मुखपर मन्द-मन्द, मनोरम मुसकान अठखेलियाँ करती हुई अत्यधिक सुशोभित हो रही है। उनके सुकोमल चरण कमल-तुल्य हैं। वह बिना किसी भयके उस विषाक्त जलमें आनन्दपूर्वक विहार कर रहा है। यह देखकर कालिय नागने क्रोधित होकर श्रीकृष्णके मर्मस्थानोंपर दन्ताघात करते हुए उन्हें अपने बन्धनमें जकड़ लिया॥ ९॥

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्त्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः॥ १०॥

प्रिय परीक्षित्! जिन सखाओंने अपना शरीर, आत्मा, आत्मीय जन, धन, पत्नी, काम आदि सर्वस्व ही श्रीकृष्णको समर्पण कर रखे थे—वे सभी ग्वालबाल अपने प्यारे सखा श्रीकृष्णको नाग-पाशमें बँधा हुआ एवं निश्चेष्ट देखकर अतिशय आर्त्त हो गये। दुःख, पश्चात्ताप तथा भयसे हतबुद्धि होकर वे विह्वल हो गये और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। (मूर्च्छित न होनेपर तो सब-के-सब कालिय-ह्रदमें प्रवेश कर जाते। कृष्णका निश्चेष्ट होना कालियके उत्साह-वर्द्धनके लिए जानना चाहिये)॥ १०॥

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदन्त्य इव तस्थिरे॥ ११॥

गाय, बैल, बछड़े एवं बछिया अत्यन्त दुःखके कारण हाम्बा-रवसे आर्त्तनाद करने लगे। वे अपलक दृष्टिसे श्रीकृष्णको देखते रहे और अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए निस्पन्द-से खड़े रहे॥ ११॥

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः॥ १२॥

उस समय व्रजभूमि काँपने लगी, आकाशमें उल्कापात होने लगे, प्राणियोंके शरीरोंके वाम भाग फड़कने लगे। इस प्रकारसे ये तीनों प्रकारके अति भयानक महा उत्पात निकटस्थ किसी अशुभ घटनाकी सूचना दे रहे थे॥ १२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥ १३॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥ १४॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥ १५॥

जब नन्द आदि गोपोंने अचानक इन अमङ्गलसूचक उत्पातोंको देखा और बादमें यह पता चला कि "कृष्ण बलदेवको लिये बिना ही गोचारणके लिए चला गया है", तब भयसे (यह आज कोई दुःसाहसपूर्ण कार्य करके विपत्तिमें फँस गया है) अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्हें सब प्रकारके अमङ्गलोंका हरण करनेवाले श्रीकृष्णके असीमित ऐश्वर्यका ज्ञान कहाँ था? वे तो (कृष्णके प्रति) माधुर्य-परायण, कृष्णगत-प्राण एवं कृष्णगत-चित्त थे। उन अशुभ लक्षणोंको देखकर उन्होंने कृष्णकी सम्भावित मृत्युका निश्चय कर लिया तथा दुःख, भय एवं शोकसे कातर हो गये। कृष्ण ही उनके प्राण-सर्वस्व थे। व्रजके बाल, वृद्ध, वनिताएँ—सभीका अपने प्राणवल्लभ कृष्णके प्रति अगाध वात्सल्य था। सभी कृष्णको देखनेकी उत्कट लालसासे अपने-अपने घरसे निकलकर गिरते-पड़ते ह्रदकी ओर दौड़ पड़े॥ १३-१५॥

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥ १६॥

मायाधीश श्रीबलराम अनुज कृष्णके प्रभाव अर्थात् उनके लीला-ऐश्वर्यको अच्छी तरहसे जानते थे। व्रजवासियोंकी कातरता देखकर वे मन्द-मन्द मुसकराने लगे (कि कृष्णको मेरे स्वरूपभूत शेषनागके साथ क्रीड़ा करना रुचिकर नहीं लगता, किन्तु प्राकृत, क्षुद्र, अधम सर्पके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं—कैसी उनकी नरलीला है), परन्तु मुखसे कुछ बोले नहीं, मौन ही रहे॥ १६॥

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥ १७॥

व्रजवासी अपने प्रिय कृष्णको खोजने लगे। मार्गमें जहाँ भी यव, कमल, अङ्कुश, शङ्ख, चक्रादि चिह्नोंसे युक्त चरणोंकी छाप दिखायी देती, उनसे कृष्णके गन्तव्यकी सूचना मिलती जाती, वे उन्हीं चिह्नोंका अनुसरण करते हुए यमुना तटकी ओर जाने लगे॥ १७॥

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्ष्यमाणा ययुरङ्ग सत्वराः॥ १८॥

हे राजन्! गन्तव्य मार्गमें गौओंके पद-चिन्होंके बीच-बीचमें श्रीकृष्णके पद्म, यव, अङ्कुश, वज्र एवं ध्वजाके चिह्न दिखायी पड़ जाते थे, जिन्हें देखकर व्रजवासीगण शीघ्रातिशीघ्र चलने लगते थे॥ १८॥

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्त्ताः॥ १९॥

उन्होंने दूरसे ही देखा कि कालिय दहमें कालिय सर्पकी देहसे लपेटे हुए कृष्ण अचेतन-से पड़े थे और दहके पास ही हतबुद्धि

ग्वालबाल भी अचेत पड़े थे। गोपोंका क्रन्दन चारों दिशाओंमें शब्दायमान हो रहा था। गायें, बैल, बछड़े आदि पशु भी अतिशय पीड़ित एवं मोहग्रस्त हो रहे थे। [ग्वालबालोंको हतबुद्धि कहा गया है, क्योंकि वे कृष्ण-विषयक किसी भी प्रश्नका (कृष्ण ह्रदमें क्यों गया, उसे ह्रदमें क्या कोई ले गया आदिका) उत्तर नहीं दे पा रहे थे।]॥ १९॥

गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृद स्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥ २०॥

गोपियोंका चित्त परम सुन्दर, अनन्त गुणगणनिलय, प्रियतम श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुरक्त रहता था। गोपियाँ अपने प्रति कृष्णके स्निग्ध प्रेम, मधुर स्मित, प्रणयात्मक अवलोकन एवं एकान्तमें रहस्यपूर्ण वार्त्तालापका क्षण-क्षण स्मरण करती रहती थीं। आज जैसे ही उन्होंने प्राण-प्रियतम कृष्णको इस अवस्थामें देखा, तो उनका हृदय पुत्रशोकसे सन्तप्त हो गया और उसके विरहमें उन्हें तीनों ही लोक सूने दिखायी देने लगे॥ २०॥

तां कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥ २१॥

अनन्तर वात्सल्य-भावमयी यशोदाकी व्यथामें समान व्यथावाली सभी मातृभावमयी (रोहिणी आदि) गोपियाँ पुत्र-शोकसे आतुर यशोदादेवीके समीप जाकर शोक व्यक्त करने लगी, व्रजमें कृष्ण द्वारा किये गये ऐश्वर्यपरक अति प्रिय वृत्तान्तोंका (पूतना-वध, तृणावर्त्त-वध आदिका) वर्णन कर सान्त्वना देने लगीं। सभीकी अपलक दृष्टि श्रीकृष्णकी ओर ही लगी हुई थी। अधिकांश तो मृतवत् (निर्जीव) पड़ी हुई थीं॥ २१॥

कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम्।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित्॥ २२॥

कृष्णैकजीवन नन्दबाबा आदि गोप भी श्रीकृष्णके लिए कालिय ह्रदमें प्रवेश करनेके लिए उद्यत हो गये। बलदेव कृष्णके पराक्रमसे अभिज्ञ थे। अतः उन्होंने किसीको मधुर वचनोंसे (आप इस कृष्णके द्वारा नाना प्रकारकी विपत्तियोंको पार कर जायेंगे— श्रीगर्गाचार्यकी यह वाणी कैसे भूल गये), किसीको अन्तःप्रेरणासे (कृष्णके निर्विघ्नरूपसे दहसे निकल आनेपर उसका पालन-पोषण कौन करेगा) तथा किसीको बलपूर्वक हाथोंसे पकड़कर (वस्तुतः सैकड़ों रूप धारण करके) रोक दिया॥ २२॥

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्त्यपदवीमनुवर्त्तमानः
स्थित्वा मुहूर्त्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्॥ २३॥

कृष्णने जब देखा कि 'गोकुलवासियोंकी मैं ही एकमात्र गति हूँ, मैं ही इनका रक्षक हूँ, मेरे अतिरिक्त इनका कोई दूसरा नहीं है, ये सभी स्त्री एवं पुत्रादिके साथ अति दुःखी होकर क्रन्दन कर रहे हैं', तब वे मर्त्त्यलीलाका अनुकरण करते हुए क्षणभरके लिए उसी अवस्थामें (सर्प-शरीरके बन्धनमें अचेतन अवस्थामें) रहकर कालियके फेंटेसे बाहर निकल आये (क्षणभर रहनेका कारण था कि उन्होंने कालियसे कहा—तूने अपना सारा पराक्रम मुझे दिखाया है, अब इस गोपबालकका किञ्चित् मात्र परिश्रम देखना।)॥ २३॥

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्ग।
तस्थौ श्वसन् श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥ २४॥

अनन्तर भगवान् अपने शरीरके भारको क्रमशः बढ़ाने लगे, तो कालियका शरीर पीड़ासे अत्यन्त ढीला पड़ गया और उसने श्रीकृष्णको छोड़ दिया। क्रोधावेशसे अपने फन ऊँचे करके वह लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगा तथा टकटकी बाँधकर श्रीकृष्णको देखते हुए स्थिर खड़ा रहा। उसके नासारन्ध्रोंसे विषमयी उत्तप्त साँसें निकल रही थीं, उसकी आँखें भट्टीपर रखे पात्रके (घड़ेके) समान तप्त हो रही थी एवं दृष्टि स्तब्ध थी। उसका मुख अङ्गारके (प्रज्वलित अग्निकणोंके) समान दहक रहा था॥ २४॥

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं
द्वे सृक्वणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम्।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः॥ २५॥

कालिय नाग प्रत्येक मुखमें दो-दो भागोंमें विभक्त अपनी जीभोंको लपलपाता हुआ अपने होठोंके दोनों किनारोंको चाट रहा था और अति उग्र विषानल-युक्त दृष्टिसे आग उगल रहा था। श्रीकृष्ण गरुडके समान क्रीड़ापूर्वक पैंतरा बदलते हुए कालियके चारों ओर भ्रमण कर रहे थे। वह साँप भी उन्हें डँसनेकी प्रतीक्षासे पैंतरे बदल रहा था। श्रीकृष्णके फुर्तीले वेगके कारण कालियको घातका अवसर ही नहीं मिल रहा था॥ २५॥

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः।
तन्मूर्द्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त्त ॥ २६॥

पुनः-पुनः पैंतरा बदलते रहनेसे कालिय शिथिल एवं निस्तेज हो गया। उसका बल क्रमशः क्षीण हो गया। उन्नत फणवाले उस सर्पके फणको बायें हाथसे किञ्चित् झुकाकर भगवान् उसके विशाल मस्तकपर चढ़ गये। श्रीकृष्ण समस्त कारणोंके कारण हैं।

वे विभिन्न नृत्य-गीत-कलादिके आदि प्रवर्त्तक (गुरु) हैं। कालिय नागके फणोंपर बहुत-सी मणियाँ थीं, जिनके कठोर स्पर्शसे उनके सुकुमार चरणकमलोंकी स्वाभाविक लालिमा और भी बढ़ गयी॥ २६॥

तं नर्त्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः॥ २७॥

उस समय श्रीकृष्णको नृत्य करनेके लिए उद्यत देखकर उनके अनुरागी भक्त, गन्धर्व, सिद्ध, मुनि, चारण और अप्सराएँ बड़े आनन्दके साथ मृदङ्ग, ढोल, दुन्दुभि, नगारे आदि बाजे बजाते हुए मनोहर गीत गाने लगे। पुष्प-वर्षण एवं स्तव-पाठ करते हुए तथा अपने आपको समर्पण करते हुए वे उपहारोंके साथ कृष्णके समीप आ गये॥ २७॥

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्-
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः॥ २८॥

हे राजन्! मृतप्राय होकर भी शतशीर्ष (सौ प्रधान मस्तकधारी) कालिय पैंतरे बदल ही रहा था। वह सहस्रफणधारी जिस भी मस्तकको नहीं झुकाता था, प्रचण्ड-दण्डधारी, दुष्टदमनकारी श्रीकृष्ण नृत्य-छलसे चरणाघात करके उस मस्तकका मर्दन कर देते। इससे आहत होकर कालिय मुख एवं नासिकासे प्रचुर रक्त उगलने लगा और मूर्च्छितप्राय हो गया॥ २८॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरःसु
यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः।
नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः॥ २९॥

कालिय क्रोधपूर्वक लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहा था और नेत्रोंसे विष उगल रहा था। वह अपने जिस-जिस भी फनको ऊपर करता, कृष्ण उस-उसे अपने चरणाघातसे रौंद डालते। इसी अवसर पर गन्धर्वादि देवताओंने पुराण-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी पुष्पों द्वारा पूजा की। कृष्ण उस समय शेषशायी नारायणके समान सुशोभित हो रहे थे। भगवान्ने सभीके हितके लिए कालियके गर्वको चूर्ण-विचूर्ण किया था (भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर जो रक्तकी बूँदें पड़ रही थीं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो लाल पुष्पों द्वारा उनकी पूजा हो रही हो)॥ २९॥

तच्चित्रताण्डवविरुग्नफणासहस्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥ ३०॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके इस विचित्र ताण्डव-नृत्यके वेगसे उसके सभी एक हजार फण कुचलकर टूट गये। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले पड़ गये। वह अपने सभी मुखोंसे प्रचुर मात्रामें रक्त उगलने लगा। उसने मन-ही-मन चराचरके आदि-गुरु पुराण-पुरुष भगवान् नारायणका स्मरण किया (मेरे मस्तकपर आपने श्रीचरण अर्पण किये हैं—इस प्रकार गुरुके रूपमें मुझपर कृपा की है) और उनके शरणागत हो गया॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं
पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्नफणातपत्रम्।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य
आर्त्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने उदरमें धारण करते हैं। इसलिए उनके अत्यधिक भारसे कालिय अवसादको प्राप्त हो रहा था। कृष्णकी एड़ियोंके प्रहारसे उसके छत्रके समान फण क्षत-विक्षत हो गये थे। यह देखकर कालियकी पत्नियाँ अत्यधिक

दुःखी हो गयीं और अति विकल भावसे पुराण-पुरुष भगवान्‌की शरणमें आयीं। भयके कारण उनके वसन, आभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और केश-बन्धन ढीले पड़ गये थे॥ ३१॥

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः॥ ३२॥

उस समय उन साध्वी नागपत्नियोंका चित्त बड़ा विचलित हो रहा था। उन्होंने अपने बालकोंको आगे किया और हाथ जोड़ते हुए श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुईं। भगवान् समस्त प्राणियोंके एकमात्र स्वामी एवं शरणागत-वत्सल हैं—यह जानकर अपने पापी पतिकी मुक्तिकी कामनासे वे भगवान्‌के शरणागत हो गयीं और उन्हें दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ३२॥

नागपत्न्य ऊचुः—

न्यायो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टि-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्॥ ३३॥

नागपत्नियोंने कहा—हे देव! दुष्टोंके दमनके लिए ही आप इस पृथ्वीपर अवतरित हुए हैं। इसलिए हमारे इस पापाचारी पतिके लिए यह दण्ड सर्वथा उचित ही है। आप तो शत्रु एवं पुत्र—दोनोंके प्रति समदर्शी हैं। आप तो पापोंका प्रायश्चित्त कराने और भविष्यमें परम मङ्गलका विचार करके ही दण्ड विधान करते हैं॥ ३३॥

अनुग्रहोऽयं भवताः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः।
यद्द्वन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥ ३४॥

यह निश्चित है कि पापियोंके पापोंके नाशके लिए ही आपकी दण्ड व्यवस्था है, दण्डरूपमें यह आपका हमपर अनुग्रह अर्थात् कृपा-प्रसाद है। विशेषतः हमारा यह पति जो पापके कारण सर्पयोनिको प्राप्त हुआ है, उसके पापोंका नाश करनेके लिए आपका यह क्रोध हमपर अनुग्रह ही है—हम तो ऐसा समझती हैं॥ ३४॥

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन।
धर्मोऽथवा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः॥ ३५॥

आप समस्त जीवोंके जीवन-स्वरूप हैं। (अब इस कालियको चरणोंके प्रहारसे रक्ताक्त मत कीजिये) जो सम्मानादि प्रदान करके दूसरोंको सन्तुष्ट करते हैं, उनसे आप प्रसन्न होते हैं। हमारे इस स्वामीने अवश्य ही अपने पूर्व जन्ममें विनीत (मानरहित) रहकर दूसरोंका सम्मान करते हुए कोई बहुत बड़ी तपस्या की होगी अथवा इसने समस्त जीवोंके कल्याणकी कामनासे किसी धर्मका आचरण किया होगा, जिसके कारण आप इसके प्रति सन्तुष्ट हुए हैं॥ ३५॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥ ३६॥

हे देव! जिस पद-रेणुकी प्राप्तिकी आशासे आपकी अर्द्धाङ्गिनी परम सुन्दरी लक्ष्मीजीने समस्त विषय-भोगका परित्याग करके बहुत दिनों तक व्रत-नियमोंका धारण करते हुए तपस्या की थी, यह कालिय आपकी उसी चरण-रेणुका अधिकारी किस प्रकार बन गया? हमारी समझमें नहीं आ रहा कि उसने कौन-सा पुण्य किया है—जिसके प्रभावसे उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है

(लक्ष्मीजी आपकी नारायण-मूर्त्तिकी तो सेवा करती हैं, किन्तु गोपाल-विग्रहके चरण-स्पर्शका अधिकार उन्हें नहीं है)॥ ३६॥

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥ ३७॥

जिन्होंने आपकी चरण-रजकी प्रप्ति कर ली है, वे स्वर्गलोकका राज्य, पृथ्वीका चक्रवर्त्ती साम्राज्य, ब्रह्मपद, रसातलका आधिपत्य, असीम वर्चस्व अणिमादि योगसिद्धि अथवा मोक्ष (अपुनर्भव)—इनमेंसे किसीकी भी कामना नहीं करते॥ ३७॥

तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद्विभवः समक्षः॥ ३८॥

हे प्रभो! जिस पद-रजकी कामनामात्रसे ही संसारचक्रमें भ्रमणशील भौतिक इच्छाओंवाले जीव वाञ्छित सम्पद्‌की तो बात ही क्या, मोक्ष जैसे उत्कृष्ट फलकी भी प्राप्ति कर लेते हैं, वह परम पवित्र पद-रज इस क्रोधी और तमोगुणी योनिमें उत्पन्न सर्पराज कालियको किस प्रकार प्राप्त हो गयी? यह तो ब्रह्मादिके लिए भी दुर्लभ है॥ ३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
भूतवासाय भूताय पराय परमात्मने॥ ३९॥

हे स्वामी! आप अनन्त एवं अचिन्त्य ऐश्वर्यादि समस्त गुणोंके आधार हैं। आप सभी जीवोंके अन्तर्यामी, सर्वव्यापक एवं आकाशादि समस्त पदार्थों एवं सभी जीवोंके आश्रय-स्वरूप हैं। आप आकाशादि पञ्च महाभूतोंकी सृष्टिसे पहलेसे ही विद्यमान हैं। आप सर्वकारण-स्वरूप होकर भी समस्त कारणोंसे अतीत

तुरीय वस्तु अर्थात् स्वयं परमात्मा हैं। आपको हमारा नमस्कार है॥ ३९॥

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च॥ ४०॥

आप प्राकृत गुणोंसे रहित निर्गुण हैं, आपमें प्राकृत कोई विकार न होनेके कारण आप निर्विकार हैं। आप भौतिक प्रकृतिके आदि प्रवर्त्तक एवं चिन्मात्र ब्रह्म-स्वरूप हैं। आप अनन्त महिमा एवं अचिन्त्यशक्तिसे युक्त हैं। आप परमात्मा-स्वरूप और ज्ञान-विज्ञानकी निधि हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं॥ ४०॥

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥ ४१॥

अनन्त शक्तित्वके कारण आप काल-स्वरूप, सृष्टि आदिके कारण एवं काल-शक्तिके आश्रय हैं। आप ही कालके क्षण, कल्प आदि समस्त अङ्गोंके साक्षी हैं। आप विश्वरूप होनेपर भी उससे अलग इस दृश्य विश्वके द्रष्टा हैं। द्रष्टा ही नहीं, अपितु कर्त्ता भी हैं। हे प्रभो! आप ही समस्त कारणोंके कारण हैं॥ ४१॥

भूतमात्रेन्द्रियप्राण मनोबुद्ध्याशयात्मने।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥ ४२॥
नमोनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥ ४३॥

हे भगवन्! पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, दस अथवा पञ्च प्राण, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन सब स्थूल एवं जड़-वस्तुओंको चैतन्य प्रदान करनेवाले अर्थात् उनका प्रवर्त्तन करनेवाले भी आप ही हैं। त्रिगुणात्मक अभिमानके द्वारा आप स्वांशभूत चेतन जीवोंके लिए अपने स्वरूपकी अनुभूतिको

आच्छादित करके रखते हैं। आप देश, काल एवं वस्तुओंकी सीमासे अतीत, अनन्त एवं अखण्ड हैं। आप दृश्य वस्तुओंमेंसे अन्यतम न होनेके कारण 'दुर्ज्ञेय' हैं और विकार-रहित होनेके कारण कूटस्थ, एकरस और सर्वज्ञ हैं। आप अपनी बहिरङ्गा माया शक्तिके द्वारा 'अस्ति'—'ईश्वर' हैं और 'नास्ति'—ईश्वर नहीं है—आदि अनेक प्रकारके सत् एवं असत् सिद्धान्तोंके प्रकाशक हैं, आप नाना मतभेदोंके अनुसार उन मतवादियोंको उन-उन रूपोंमे दर्शन देते हैं। शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही और शब्दोंके रूपमें भी आप ही हैं। आप शब्द एवं अर्थका संयोग करानेवाली विविध प्रकारकी अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जनाके मूलकारणरूपमें भी प्रतीयमान होते रहते हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं॥४२-४३॥

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥४४॥

आप चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके इन्द्रिय-स्वरूप एवं स्वतःसिद्ध ज्ञान-स्वरूप हैं। आप ही आधिकारिक प्रमाणके लिए श्रीमद्भागवत-स्वरूप एवं भागवत-प्रकाशक वेदव्यास-स्वरूप हैं। आपसे सम्पूर्ण शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है। आप ही शास्त्रयोनि अर्थात् समस्त शास्त्रोंके मूल उद्गम स्थान हैं। आप ही भौतिक जगत्में प्रेरित करनेवाले और उससे विराग उत्पन्न करनेवाले प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमूलक निगम शास्त्र-स्वरूप हैं। शास्त्रोंके मूल वेद भी आप हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करती हैं॥४४॥

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥४५॥

आप शुद्धसत्त्वमय वसुदेवके पुत्र वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इस प्रकार चतुर्व्यूहके रूपमें भक्तों और यादवोंके (पर्जन्य आदिके) स्वामी सात्वतपति हैं। हे श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करती हैं॥४५॥

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥ ४६॥

आप बुद्धि आदिके अधिष्ठातृ देवता-स्वरूप, सङ्कर्षण आदि चार मूर्त्तियोंमें चित्त आदि और उनकी वृत्तियोंके प्रकाशक हैं। आप उपासकोंकी प्रतीतिके अनुसार अनेक प्रकारके फल प्रदान करनेके लिए स्व-स्वरूपको आच्छादित करके नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। चित्तादिकी चेतना, अध्यवसाय आदि वृत्तियोंके द्वारा ही आपके स्वरूपका कुछ-कुछ अनुमान होता है। आप उन गुणोंके साक्षी, प्रत्यक्षादि ज्ञानके अगोचर एवं स्वयंप्रकाश हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं॥ ४६॥

अव्याकृत विहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥ ४७॥

आपकी महिमा (लीला-माधुरी) तर्कसे परे है। जगत्के समस्त कार्योंकी उत्पत्ति एवं प्रकाशके हेतुके रूपमें आपका केवल अनुमान मात्र किया जाता है (साक्षात्कार नहीं)। हे हृषीकेश! आप भक्ति-तत्त्वसे रहित मुनियोंके लिए मौन-स्वरूप एवं आत्माराम हैं। आपको नमस्कार है (ऐसे मुनियोंको आप न तो सुख प्रदान करते हैं और न ही उनका दुःख दूर करते हैं)॥ ४७॥

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्टेऽस्य च हेतवे॥ ४८॥

आप स्थूल-सूक्ष्म सभी प्राणियोंकी गतियोंको जाननेवाले (अतः सबसे अनासक्त रहनेवाले) तथा सबके साक्षी हैं। आप नामरूपात्मक विश्व-प्रपञ्चके निषेधकी अवधि 'अविश्व' अर्थात् विश्वके तत्त्वोंसे न बने होनेपर भी सर्वाधिष्ठाता (मूलाधार) होनेके कारण 'विश्वरूप' हैं। पण्डित 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर 'अतत्' को निरस्त करते हुए अवशेषमें 'तत्-स्वरूप' में आपको प्राप्त करते हैं। आप विश्वके 'अध्यास' (अवस्तुमें वस्तुका आरोप यथा रज्जुमें सर्पका आरोप) तथा 'अपवाद' (अनित्य

मानकर कार्यका मिथ्यात्व एवं कारणका नित्यत्व) के साक्षी-स्वरूप हैं। अज्ञानके द्वारा इस विश्वके सत्यत्वकी भ्रान्ति एवं स्वरूप-ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी आत्यन्तिक निवृत्तिके आप ही कारण-स्वरूप हैं। आपको हमारा नमस्कार है। पुनः *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* यह परिदृश्यमान विश्व ही ब्रह्म है—इस प्रकार विवर्त्तवादियोंके द्वारा अतत्-स्वरूप विश्वको तत्स्वरूप ब्रह्म मान लेना (अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उसीको वही मानकर सिद्धान्त बना लेना) विवर्त्त है। भगवान् इसी अज्ञानकी निवृत्तिके कारण-स्वरूप हैं॥ ४८॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक्।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे॥ ४९॥

प्रभो! आप वस्तुतः निरीह (सृष्टि, स्थिति और संहार आदिके अकर्त्तृत्वकी अपेक्षासे रहित) एवं निष्क्रिय हैं। गुणोंका कर्त्तृत्व आपमें न होनेके कारण आप कोई भी कर्म नहीं करते, तथापि अनादिसिद्धा कालशक्तिको स्वीकार करके प्रधान (प्रकृति) के प्रति ईक्षणकर गुणोंके द्वारा पूर्व कल्पान्तमें लयको प्राप्त विश्वगत जीवोंके शान्त, घोर, मूढ़ आदि पूर्व संस्काररूपसे आच्छादित स्वभावोंको अपनी दृष्टिसे जाग्रत करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारादि करते हैं। प्रकृति-ईक्षणरूप आपकी लीला अव्यर्थ एवं अमोघ है॥ ४९॥

तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥ ५०॥

त्रिलोकीमें वर्त्तमान ये शान्त, अशान्त एवं मूढ़ आदि सभी (सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक) योनियाँ आपके ही शरीरके

अंशके रूपमें विद्यमान हैं। इनमें आपको शान्त स्वभाववाले मनुष्य ही प्रिय होते हैं। (यह घोर स्वभाव कालिय अपनी स्वाभाविक क्रूरताका त्याग कैसे कर सकता है? अभी तो यह आपके शरणागत प्रतीत हो रहा है) इस समय आप धर्मकी रक्षा एवं विस्तारके लिए चेष्टारहित तथा सज्जनोंके पालनके लिए अवतरित होकर अपनी लीलाएँ कर रहे हैं॥ ५०॥

अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥ ५१॥

हे शान्तात्मन्! आप हमारे पालक हैं और यह आपके पुत्रके समान आपका पाल्य है। इस सर्पने जो अपराध किया है, उसे एक बार सहन कर लीजिये। यह मूढ़ (तमोस्वभावके कारण ज्ञानहीन) आपके प्रभावको जानता नहीं है, इसके अपराधको क्षमा कीजिये॥ ५१॥

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥ ५२॥

हे भगवन्! अनुग्रह कीजिये। आपके भारसे निपीड़ित होकर यह सर्प मरने ही वाला है। साधु पुरुष सदैव अबलाओंपर अनुकम्पा करते हैं। अतः आप हमें हमारे प्राण-स्वरूप पतिको प्राणदान दे दीजिये (यह अब परम वैष्णव हो जानेके कारण हमारे लिए प्राणोंके समान प्रिय हो गया है)॥ ५२॥

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतो भयात्॥ ५३॥

आपके आदेशसे जीव श्रद्धापूर्वक जिस कर्मका अनुष्ठानकर सारे भयोंसे मुक्त हो जाता है, आपकी दासी-स्वरूप हमें वैसा कर्म करनेकी आज्ञा प्रदान कीजिये॥ ५३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः॥ ५४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित्! भगवान्‌ने अपने पाद-प्रहारोंसे कालिय नागके फणोंको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला था, वह मूर्च्छित-सा हो रहा था। उसकी पत्नियोंने जब भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब श्रीकृष्णने दया करके उसे छोड़ दिया॥ ५४॥

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम्।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः॥ ५५॥

कालिय अति दुर्बलताका अनुभव कर रहा था। अब क्रमशः उसकी इन्द्रियों एवं प्राणोंमें कुछ-कुछ शक्तिका सञ्चार होने लगा, जिससे उसमें कुछ चेतना आ गयी। उसने बड़े कष्टसे निःश्वास छोड़ते हुए हाथ जोड़े और श्रीकृष्णसे अति दीनतापूर्वक कहने लगा— ॥ ५५॥

कालिय उवाच—

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥ ५६॥

हे नाथ! हम सर्प जाति हैं। हम जन्मसे ही दुष्ट, तमोप्रकृति एवं क्रोधपरायण होते हैं। हमारे जैसे प्राणियोंका आग्रह असत्-वस्तुओंमें होता है, अतः हमारे लिए उसे छोड़ना अत्यन्त कठिन होता है॥ ५६॥

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम्।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥ ५७॥

हे विधाता! आपने ही इस जगत्‌में गुणजात विभिन्न स्वभाव (शान्त, उग्र आदि), वीर्य (देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति), बल, योनि (मातृशक्ति, पितृशक्ति), आशय (वासना) एवं आकृतियोंकी सृष्टि की है॥ ५७॥

वयञ्च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम्॥ ५८॥

हे भगवन्! आपकी इस विचित्र सृष्टिमें हमारी जो सर्पजाति है, वह जन्मसे ही अतिशय क्रोधी स्वभावकी होती है। हे सर्वमय! हमारा चित्त तो वैसे ही मायासे मोहित रहता है, फिर हम अपने प्रयत्नसे किस प्रकार इस दुस्त्यज मायाका परित्याग कर सकते हैं?॥ ५८॥

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः॥ ५९॥

माया-मोह छूटनेके विषयमें भी आप ही एकमात्र कारण हैं, आपकी कृपाके बिना हम कभी भी मायाको छोड़नेमें समर्थ नहीं हो सकते। अतः अब आप हमारे प्रति अनुग्रह या निग्रह जो भी ठीक समझें, वैसा कीजिये॥ ५९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यते नदी॥ ६०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! नर-लीलाके द्वारा मनुष्यरूपमें प्रतीयमान भगवान् श्रीकृष्णने कालिय नागकी बात सुनकर कहा—हे सर्प! अब तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिये, तुम शीघ्र ही अपने जाति-भाई, स्त्री, पुत्रोंके साथ समुद्रमें चले जाओ। अबसे गौएँ एवं मनुष्य इस यमुना-जलका उपभोग सदा-सदाके लिए करें। नदीके किनारे तृण, पत्र, फल आदि उनका भोजन हैं॥ ६०॥

य एतत् संस्मरेन्मर्त्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्त्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥ ६१॥

जो मनुष्य प्रातःकाल एवं सायंकाल तुम्हारे प्रति दिये गये मेरे इस आदेश-वचनका स्मरण एवं कीर्त्तन करेगा, वह सर्प-जातिसे कभी भी भयभीत नहीं होगा॥ ६१॥

योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६२॥

यह कालिय दह मेरा विहार-स्थान हो गया है। जो इस ह्रदमें स्नान करके इसके जलसे देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करेगा और उपवास रखकर मेरा स्मरण एवं पूजन करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायेगा (तुम्हारे यहाँ रहनेसे यह सब सम्भव न हो सकेगा)॥ ६२॥

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यन्मत्पादलाञ्छितम्॥ ६३॥

जिन गरुडके भयसे तुमने रमणक द्वीपको छोड़ करके इस दहमें आश्रय लिया था, वे गरुड तुम्हारे मस्तकपर अङ्कित मेरे पद-चिह्नोंको देखकर न तो तुमसे शत्रुता रखेंगे और न ही तुम्हारा भक्षण करेंगे॥ ६३॥

श्रीऋषिरुवाच—

मुक्तो भगवता राजन् कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम्॥ ६४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार बड़ी अद्भुत लीलाएँ किया करते हैं। (इस लीलामें उन्होंने हिंस्य और हिंसक अर्थात् व्रजस्थित जीवों एवं हिंसक कालियका कल्याण किया है। नाग-पत्नियोंके अनुरोधसे कालियके अपराधको दूर करके उसे वैष्णव बनाया है।) भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर उनके द्वारा मुक्त कालिय नाग एवं उसकी पत्नियोंने बड़े आदरपूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की॥ ६४॥

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्द्ध्यैरपि भूषणैः।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥ ६५॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्यतम्॥ ६६॥

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्।
अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे कालियनिर्याणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

उन्होंने दिव्य वस्त्र, पुष्प-माला, मणि, उत्तम आभूषण, दिव्य गन्ध, चन्दन एवं उत्तम नीलकमलोंकी माला द्वारा गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्णका अर्चन करके उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद बड़ी प्रीति और आनन्दसे उनकी परिक्रमा की, वन्दना की एवं आदेश प्राप्त किया। इसके बाद वह अपनी पत्नियों, मित्रों तथा पुत्रोंको साथ लेकर समुद्रके मध्य स्थित रमणक द्वीपकी ओर चला गया। लीला-मनुष्य-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहसे यमुनाजीका जल विषहीन ही नहीं हुआ, बल्कि अमृतके समान मधुर एवं सुस्वादु हो गया।

इस प्रसङ्गमें जानने योग्य तथ्य यह है कि 'मणि' शब्दसे यहाँ कौस्तुभ मणिको जानना होगा। नरलीलामें ऐश्वर्य-भावका गोपन करनेके लिए भगवान्की इच्छासे यह मणि कालियके कोषागारमें थी। नाग-पत्नियाँ यह नहीं जानती थीं, उन्होंने इसे रत्नके रूपमें श्रीकृष्णको प्रदान कर दिया॥ ६५-६७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सोलहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

रमणक द्वीपको छोड़कर कालियके यमुना-दहमें आनेकी कथा तथा भगवान्‌के द्वारा व्रजवासियोंकी दावानलसे रक्षा

श्रीराजोवाच—

नागालयं रमणकं कथं तत्याज कालियः।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम्॥ १॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मुनिवर! कालिय नागने किस कारणसे सर्पोंके निवासस्थान रमणक द्वीपका परित्याग किया था और उसने अकेले ही गरुडका कौन-सा अप्रिय कार्य (अपराध) कर दिया था, यह बतलाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः॥ २॥

स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि।
गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाबाहो! पूर्वकालमें रमणक द्वीपमें गरुड द्वारा भक्षण किये जानेसे बचनेके लिए सर्पोंने उनसे एक समझौता कर लिया था। तदनुसार प्रत्येक मासमें अश्वत्थ (पीपल) आदि निर्दिष्ट वृक्षोंके नीचे गरुडको एक सर्पकी भेंट दी जाती थी। इस नियमके अनुसार नाग आत्म-रक्षणके लिए अपने-अपने अंशको प्रत्येक पूर्णिमा अथवा अमावस्याको महात्मा गरुडको प्रदान कर दिया करते थे॥ २-३॥

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम्॥ ४॥

उन नागोंमेंसे कद्रुका पुत्र कालिय अपने विष एवं पराक्रमके बलसे बड़ा गर्वीला (मतवाला) हो रहा था। वह गरुडका तिरस्कार करके स्वयं बलि देना तो दूर रहे—दूसरे सर्प जो गरुडको बलि (भक्ष्योपहार) देते थे, उसे भी खा लिया करता था॥ ४॥

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत्॥ ५॥

हे राजन्! भगवान्के प्रिय पार्षद महाशक्तिशाली गरुडने जब यह सुना, तो वे बड़े क्रोधित हो उठे और कालिय नागको मार डालनेकी इच्छासे अति वेगपूर्वक दौड़ पड़े॥ ५॥

तमापतन्तं तरसा विषायुधः
प्रत्यभ्ययादुत्थितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद्ददायुधः
करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६॥

गरुडको आक्रमण करनेके लिए वेगपूर्वक आते देखकर महाविषधर कालियने बड़ी तीव्रतासे अपने सहस्र फण ऊपर कर लिये तथा कराल जिह्वासे गहरी-गहरी निःश्वास छोड़ने लगा। उसके उग्र लोचन और भी विकराल हो गये। वह गरुडके पास पहुँचा और क्रूर दृष्टिसे उन्हें देखते हुए अपने विषायुध अर्थात् दन्तरूप अस्त्रसे उन्हें डँसने लगा॥ ६॥

तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्
प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा
जघान कद्रुसुतमुग्रविक्रमः॥ ७॥

महाविक्रमशाली कश्यपनन्दन गरुड भगवान् मधुसूदनके वाहन हैं। (उनके पृष्ठदेशपर भगवान्का आसन अवस्थित है।) क्रोधाविष्ट होकर उन्होंने कद्रुपुत्र कालियके वारको निरस्त कर दिया और

स्वर्णकान्तिमय अपने बायें पंखके द्वारा उसपर अति पराक्रमयुक्त प्रहार किया॥ ७॥

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः।
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम्॥ ८॥

कालिय गरुडके पंखके प्रहारसे आहत होकर अत्यन्त व्याकुल हो उठा और वहाँसे भागकर यमुनाके इस कुण्डमें चला आया। यमुनाका यह ह्रद गरुडके लिए अगम्य एवं दुर्प्रवेश्य था। (जल अगाध था, अतः दूसरे प्राणी भी प्रवेश नहीं कर सकते थे।)॥ ८॥

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम्।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत्॥ ९॥

एक बार गरुड क्षुधासे आतुर हो रहे थे। उन्होंने इसी यमुना-ह्रदमें सौभरि मुनिके द्वारा मना किये जानेपर भी अपने अभीष्ट प्रधान मत्स्योंमेंसे किसी एकको बलपूर्वक पकड़ लिया और भक्षण कर लिया॥ ९॥

मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हृते।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन्॥ १०॥

अपने स्वामी मत्स्यराजका गरुड द्वारा अपहरण एवं भक्षण कर लिये जानेपर अन्यान्य दुर्बल मत्स्य अतिशय दुःखी एवं विकल हो गये। यह देखकर सौभरि मुनिको बड़ी दया आयी और उन्होंने उस ह्रदवासी जलचरोंके मङ्गलके आशयसे गरुडको शाप देते हुए कहा—॥ १०॥

उत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम्॥ ११॥

सौभरि मुनिने कहा—गरुड यदि किसी समय पुनः इस ह्रदमें प्रवेश करके मछलियोंका भक्षण करेंगे, तो उसी समय उन्हें अपने प्राणोंका त्याग करना पड़ेगा—मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ।

(भगवान्‌के प्रिय भक्त गरुडको शाप देनेसे सौभरि मुनिका अपराध हुआ, जिसके फलस्वरूप मत्स्य-सङ्गसे उनकी दुर्वासना जाग उठी और नारकीय विषयानन्दमें डूबकर चिरकालीन तपस्यासे प्राप्त ब्रह्मानन्दको लुप्त कर बैठे। अपराधका भोगकाल समाप्त होनेपर ऋषिको पुनः वृन्दावन-वास मिला)॥ ११॥

तत् कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः।
अवात्सीद्‌गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः॥ १२॥

परीक्षित्! मुनिके इस शापके विषयमें केवल कालिय ही जानता था, अन्य कोई सर्प नहीं। इसलिए वह गरुडके भयसे इस स्थानपर आकर रहने लगा था। अब भगवान्‌ने उसे निर्भयकर वहाँसे निकाल दिया॥ १२॥

कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम्।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बुनदपरिष्कृतम्॥ १३॥

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥ १४॥

प्रिय परीक्षित्! इधर भगवान् श्रीकृष्ण दिव्यमाला, गन्ध, वस्त्र, महामूल्यवान मणियों एवं स्वर्णिम आभूषणोंसे विभूषित होकर उस ह्रदसे बाहर निकल आये। गोप उन्हें देखकर ऐसे उठ खड़े हुए, मानो निर्जीव इन्द्रियोंमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। अत्यधिक हर्षसे ओतप्रोत होकर वे प्रेममें सराबोर हो गये और परम आनन्दित चित्तसे श्रीकृष्णका आलिङ्गन करने लगे। (ज्ञात होता है कि कृष्ण कालियके किसी सेवकके ऊपर चढ़कर आये, क्योंकि उनके वस्त्र, भूषण आदि भीगे नहीं थे।)॥ १३-१४॥

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् शुष्का नगा अपि॥ १५॥

हे कुरुवंशी! माता यशोदा, रोहिणी, नन्द, गोपियाँ, गोप और यहाँ तक कि सूखे वृक्ष भी श्रीकृष्णको प्राप्त करके पुनर्जीवित

हो उठे। सबके मनोरथ सफल हुए (यमुना तटके दूर स्थित वृक्ष कृष्णको न देखनेके कारण शुष्क हो गये थे, परन्तु कृष्णको देखनेके बाद अङ्कुर, पल्लव एवं पुष्पोंसे युक्त होकर पुनः हरे-भरे हो गये थे)॥ १५॥

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।
प्रेम्णातमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत।
गावोवृषावत्सतर्यो लेभिरे परमां मुदम्॥ १६॥

बलदेव तो अच्युत श्रीकृष्णके प्रभावको जानते थे। वे अपने भैया श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर हँसने लगे। उन्होंने अनुरागवश श्रीकृष्णको अपनी गोदमें बिठा लिया और बार-बार उनके मुखमण्डलको देखने लगे (कि कहीं कृष्ण क्षत-विक्षत तो नहीं हैं)। गाय, बैल, बछड़े-बछिया सभी परमानन्दित हो रहे थे॥ १६॥

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥ १७॥

गोपोंके कुलगुरु और ब्राह्मण अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आये और नन्दमहाराजको बधाई देने लगे—तुम्हारे पुत्रको कालियने ग्रस लिया था, परन्तु दैव-कृपासे अब वह मुक्त हो गया है—यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ १७॥

देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्॥ १८॥

कृष्णकी नागसे मुक्तिके उपलक्ष्यमें आप ब्राह्मणोंको धनादि दान करें। हे राजन्! ब्राह्मणोंकी इन बातोंको सुनकर नन्दराज परम सन्तुष्ट हुए और उन्होंने ब्राह्मणोंको स्वर्ण, धेनु एवं भूमि भेंट-स्वरूप प्रदान किये॥ १८॥

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥ १९॥

महाभाग्यवती यशोदादेवीने अपने नष्टप्राय (मृत्युके मुखसे लौट आये) पुत्रको पुनः प्राप्त करके उसे अपने हृदयसे लगा लिया और गोदीमें बिठाकर बार-बार आलिङ्गन करने लगीं। अत्यन्त आनन्दके कारण उन साध्वीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग रही थी॥ १९॥

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥ २०॥

हे नृपश्रेष्ठ! व्रजवासी और गौएँ सब क्लान्त थे, साथ ही भूख-प्याससे कातर हो रहे थे। अतः व्रजमें न जाकर वहीं कालिन्दीसे कुछ दूर वनमें जाकर उन्होंने वह रात बितायी (सबने यह भी सोचा कि एकत्र रहनेसे कृष्ण-दर्शनमें व्यवधान नहीं आएगा और कालिय यदि आया भी, तो उसे लाठियोंसे मार डालेंगे)॥ २०॥

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम्।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे॥ २१॥

हे राजेन्द्र! उस समय ग्रीष्मकाल था। प्रचण्ड गर्मीके भीषण प्रभावसे वन सूख गये थे। मध्य रात्रिमें उस शुष्क वनमें दावाग्नि भड़क उठी। उसने सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया और उन्हें जलाने लगी॥ २१॥

तत उत्थाय संभ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम्॥ २२॥

उस विशाल अग्निसे सन्तप्त होनेपर व्रजवासी उठ खड़े हुए और माया-मानव-विग्रह (लीला-मनुष्य) भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आ गये (कृष्ण 'माया' नामक अपनी स्वरूपशक्तिसे सदा युक्त रहते हैं, इनमें नारायणका आवेश रहता है, ये हमें बचायेंगे ही। गर्गाचार्यजीने भी यही कहा है)॥ २२॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः॥ २३॥

व्रजवासी कहने लगे—हे महाभाग श्रीकृष्ण! हे प्यारे श्यामसुन्दर! देखो! हे अनन्त-विक्रम बलराम! देखो! यह भयङ्कर दावानल तुम्हारे स्वजनों और सम्बन्धियोंको ग्रस लेना चाहता है॥ २३॥

सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम्॥ २४॥

हे प्रभो! तुमलोग सर्व-समर्थ हो। इस दुरतिक्रम कालाग्निसे अपने सुहृदोंकी रक्षा करो। हम तुम्हारे अभय-चरणारविन्दका त्याग करनेमें असमर्थ हैं अर्थात् मृत्यु हो जानेपर हमें तुम्हारे चरणोंसे अलग होना पड़ेगा, जो हमारे लिए असह्य है। अतः इस भयङ्कर अग्निसे हमें बचाओ॥ २४॥

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः।
तमग्निमपिबत् तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त शक्तियोंको धारण करनेवाले हैं। सर्वत्र स्वतः-प्रकाशमान्-विग्रह भगवान् जगदीश्वरने (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामीने) आत्मीय जनोंके इस प्रकारके कातर भावको देखकर उस भयङ्कर दावाग्निका पान कर लिया॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सत्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

प्रलम्बासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इसके बाद आनन्दित चित्तसे बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी श्रीकृष्णका यशोगान करने लगे। उन सबसे परिवेष्टित होकर और अपनी कीर्त्तिका गान सुनते हुए श्रीकृष्णने गोकुल (गायोंके झुण्ड) से परिशोभित गोष्ठ (व्रज) में प्रवेश किया॥ १॥

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयान् शरीरिणाम्॥ २॥

इस प्रकार बलराम एवं श्रीकृष्ण योगमायाका आश्रय लेकर ग्वालबाल-सा वेष बनाकर गो-पालनके छलसे लोक-वञ्चना करते हुए व्रजमें आनन्दपूर्वक विहार (गेंद, कुश्ती आदि खेल तथा गिरि-कन्दराओं और कुञ्जोंमें व्रजाङ्गनाओंके साथ क्रीड़ा-विलास) कर रहे थे कि तभी ग्रीष्म ऋतुका आगमन हुआ, जो प्राणियोंको किञ्चित् भी प्रिय नहीं होती॥ २॥

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः॥ ३॥

वृन्दावनमें श्रीकृष्ण बड़े भाई बलदेवके साथ साक्षात्‌रूपसे वास कर रहे थे। अतः वृन्दावनके स्वाभाविक दिव्य गुणोंके प्रभावसे ग्रीष्मकाल भी वसन्तकालके समान सुहावना लगने लगा॥ ३॥

यत्र निर्झरनिर्ह्राद निवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरर्ज्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४॥

उस समय वहाँ झरनोंकी मधुर 'झर-झर' ध्वनिसे कठोरभाषी झींगुरोंकी तीखी झङ्कार भी आच्छन्न हो गयी थी (अर्थात् दब गयी थी)। उन झरनोंसे शीतल जलकण सदा-सर्वदा फुहारोंके रूपमें उड़ा करते थे, जिनके संस्पर्शसे तरुमण्डल स्निग्ध हो रहे थे। इन हरे-भरे तरुओंके कारण चहुँ दिशि व्याप्त हरियाली वृन्दावन-भूमिको मण्डित कर रही थी॥ ४॥

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥ ५ ॥

जिधर देखो, वृन्दावनकी भूमि अतिशय हरित वर्णकी घाससे हरी-भरी हो रही थी। सरोवरोंकी लहरों, नदियोंकी तरङ्गों एवं झरनोंकी फुहारोंका स्पर्श प्राप्त करती हुई तथा लाल-पीले-नीले, सद्यः विकसित और देरके खिले हुए कल्हार, पद्म, उत्पल आदि कमल एवं कमलिनियोंके पराग-कणोंको वहन करती हुई वायु वृन्दावनको सुगन्धित एवं सुशीतल कर रही थी। अतः वृन्दावन-वासियोंको ग्रीष्मकालीन सूर्यके प्रचण्ड निदाघ (भीषण गर्मी) और ऋतु सम्बन्धित दावाग्निके तापको नहीं सहना पड़ता था॥ ५ ॥

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितञ्च गृह्णते॥ ६ ॥

वृन्दावनकी नदियों एवं तालाबोंमें अगाध जल भरा हुआ था। उनकी उच्छलित तरङ्गें तटोंका स्पर्श करती हुई पुलिनोंसे टकरातीं और उस स्थानकी पङ्कस्थलीको आर्द्र (गीली) कर जातीं। अतः निदाघकालीन सूर्यकी विषके समान अत्यन्त उग्र एवं तीक्ष्ण रश्मियाँ भी वहाँकी भूमि एवं हरी-भरी घासकी शीतलताको सुखा

नहीं सकती थीं और न ही उस हरियालीके रसत्वका हरण कर सकती थीं॥ ६॥

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥ ७॥

उस समय वृन्दावनकी वनराजियाँ कुसुमोंसे परिपूरित वृक्षावलियोंसे अतिशय शोभायमान हो रही थीं। रङ्ग-बिरङ्गे पंखोंसे युक्त पक्षी मधुर कलरव कर रहे थे, मयूर अपनी केकाध्वनिसे और भ्रमर अपने अनुपम गुञ्जारसे वातावरणको सङ्गीतमय बना रहे थे। कोयलका कूजन तो निराला था ही, सारस भी अपना राग अलाप रहे थे। हिरनोंका चौकड़ी भरना भी अत्यधिक आकर्षक था॥ ७॥

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥ ८॥

हरियाली और सौन्दर्यके इस साम्राज्यमें श्रीकृष्ण और बलरामकी क्रीड़ा-विहार करनेकी इच्छा हुई। अतः श्रीकृष्णने आगे-पीछे गायों और ग्वालबालोंसे परिवेष्टित होकर बड़े भाई बलरामके साथ वेणु-वादन करते हुए वृन्दावनकी वनस्थलीमें प्रवेश किया॥ ८॥

प्रवालबर्हस्तवक स्रग्धातुकृतभूषणाः।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः॥ ९॥

वहाँ बलराम, श्रीकृष्ण और उनके ग्वालबाल मित्रोंने प्रवालों (नव-पल्लवों), मयूर-पिच्छों, पुष्पोंके गुच्छों, पुष्प-मालाओं एवं गैरिक आदि धातुओंके द्वारा अपनेको सजा लिया। इस प्रकार वे कभी आनन्दमें मग्न होकर नृत्य करते, कभी ताल ठोककर परस्पर मल्ल युद्ध करते और कभी मधुर राग अलापने लगते॥ ९॥

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे॥ १०॥

जब श्रीकृष्ण नाचते, तब कुछ गोपबालक गाने लगते और कुछ बाँसुरी और सींगी बजाने लगते, कोई करताल बजाते तो कोई 'साधु! साधु!' कहकर उनकी प्रशंसा कर उनका उत्साह-वर्द्धन करते॥ १०॥

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणम्।
ईडिरे कृष्णरामं च नटा इव नटं नृप॥ ११॥

हे राजन्! उस समय नट जिस प्रकार अपने नायककी प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार ग्वालबालोंका रूप धारण करके देवतागण वहाँ आते और गोपजातिमें अवतरित (जन्म लेकर छिपे) हुए श्रीकृष्ण एवं बलरामकी स्तुति करते हैं (शङ्कर, नारद आदि भक्त भी उनकी लीलाका आस्वादन करनेके लिए गोपरूप धारण करते थे और प्रशंसा भी करते थे)॥ ११॥

भ्रमणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥ १२॥

बलराम एवं श्रीकृष्ण कभी-कभी घुँघराले केशोंसे युक्त वेणी धारण करते, कभी कुम्भकारके चाककी तरह एक-दूसरेका हाथ पकड़कर भ्रमण करते (घूमरी-परेता खेलते), कभी लङ्घन करते (एक-दूसरेसे अधिक फाँद जानेकी इच्छासे कूदते), कभी क्षेपण करते (गेंद या ढेले-कंकरी जैसी वस्तुओंको स्पर्धा करते हुए उछालते), कभी आस्फोटन करते (ताल ठोकते), नियुद्ध करते (एक-दूसरेको भुजाओंमें जकड़कर दूर पटक देते) और कभी आकर्षण करते (एक-दूसरेको घसीटते अथवा एक-दूसरेके विपरीत रस्सी पकड़कर खींचते)॥ १२॥

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्वितिवादिनौ॥ १३॥

हे महाराज! कभी-कभी अन्य गोपबालक नाचने लगते, तो श्रीकृष्ण और बलराम गायक बन जाते और कभी वादक बनकर

बाँसुरी, सींगी आदि वाद्योंको बजाते और कभी-कभी वे दोनों भाई साधु-साधु शब्दोंके द्वारा उनकी प्रशंसा भी करते॥ १३॥

क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्वचामलकमुष्टिभिः।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥ १४॥

कभी दोनों भाई बेल फल, कभी जायफल (कुम्भफल) अथवा आँवलेके फलोंको मुट्ठीमें लेकर परस्पर आघात कराते हुए दूर फेंक देते, कभी अस्पृश्यत्व अर्थात् एक-दूसरेको छू न पायें—इसलिए दूर-दूर तक दौड़े चले जाते, छू लेनेपर जय और न छू सकनेपर पराजय होती, कभी छलपूर्वक आँख-मिचौली खेलते, आँख बन्द करनेवाले सखाको पहचाननेपर जय और न पहचाननेपर पराजय होती और कभी बैलोंका युद्ध देखकर परस्पर सिरसे सिर भिड़ाकर युद्ध करते, तो कभी तोते-कोयल आदि पक्षियोंकी मधुर ध्वनियोंका अनुकरण करते। सभी खेलोंमें मुरली, लकुटि आदिको दाँवपर लगाया जाता॥ १४॥

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥ १५॥

कभी मेंढकोंके समान फुदक-फुदक कर चलते, तो कभी अनेक प्रकारकी मुखाकृतियाँ बनाकर एक-दूसरेका परिहास करते, कभी (श्रावण मासमें) वृक्षोंपर रस्सियाँ डालकर झूला करते, कभी दो बालकोंको खड़ा करके उनकी बाहोंपर ही झूलने लगते और कभी किसी राजाके समान (दानघाटी आदि) लीलाओंका अभिनय करते हुए घूमा-फिरा करते॥ १५॥

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरःसु च॥ १६॥

इस प्रकारसे बलराम एवं श्रीकृष्ण साधारण बालकोंके समान लौकिक खेलोंमें निमग्न रहते और वृन्दावनके नदी, पर्वत, गह्वर (घाटी), कुञ्जवन एवं सरोवर सभी स्थानोंपर विहार करते॥ १६॥

पशूंश्चारयतो गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया॥ १७॥

एक बार बलराम एवं श्रीकृष्ण अपने सखा ग्वालबालोंके साथ उसी वनमें गौएँ चरा रहे थे, तभी उन दोनोंका अपहरण करनेकी इच्छासे प्रलम्ब नामका असुर गोप-वेश धारण करके उनके बीचमें घुस आया (जो गोप उस दिन नहीं आया था, प्रलम्बासुरने उसीका रूप धारण किया था)॥ १७॥

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥ १८॥

दशार्ह-वंशज यादव-श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदर्शन हैं। वे उस असुरको देखते ही पहचान गये और उसका उद्देश्य भी जान गये। उन्होंने उसका वध करनेकी इच्छासे उसके बन्धुत्वके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया॥ १८॥

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित्।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम्॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्रीड़ा-रसज्ञ (खेलोंके आचार्य) हैं। उन्होंने ग्वालबालोंको बुलाकर कहा—हे प्रिय गोपसखाओ! हम दो दलोंमें बँट जाते हैं और यथोचितरूपसे खेल खेलते हैं॥ १९॥

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ।
कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे॥ २०॥

इसपर ग्वाल-सखाओंने क्रीड़ाके लिए बलराम एवं श्रीकृष्णको दोनों पक्षोंके नायकके रूपमें चुन लिया। कुछ मित्र बलरामके पक्षमें और कुछ श्रीकृष्णके पक्षमें हो गये॥ २०॥

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः॥ २१॥

बालकोंने वाह्य-वाहकरूपमें तरह-तरहके ऐसे खेल खेले, जिस खेलमें विजेता पराजितोंके कन्धोंपर चढ़ जाते थे और पराजित उन्हें वहन करते हुए एक निर्दिष्ट स्थानपर ले जाते थे॥ २१॥

वहन्तो बाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥ २२॥

इस प्रकारसे कृष्णके पक्षके गोपोंमेंसे कुछ वाहक रूपमें और कुछ अन्यों द्वारा वाहित होकर अर्थात् एक दूसरेकी पीठपर चढ़ते-चढ़ाते तथा गायोंको चराते हुए भाण्डीर नामक सर्वमङ्गलमय वट-वृक्षके मूल तक पहुँच गये॥ २२॥

रामसङ्घट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप॥ २३॥

हे राजन्! एक बार बलरामजीके पक्षवाले श्रीदाम, वृषभ आदि ग्वालबाल खेलमें जीत गये। तब श्रीकृष्ण आदि गोपबालक विजयी खिलाड़ियोंको वहन करने लगे॥ २३॥

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥ २४॥

खेलमें पराजित भगवान् श्रीकृष्ण श्रीदामाको, भद्रसेन वृषभको और प्रलम्बासुर रोहिणीसुत बलरामको पीठपर चढ़ाकर वहन करने लगे॥ २४॥

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम्॥ २५॥

दानवश्रेष्ठ प्रलम्ब श्रीकृष्णको दुःसह (अपराजेय) मानकर उनके ही पक्षमें हो गया। वह बलदेवजीको वहन करते हुए द्रुतगतिसे भागा और निर्दिष्ट स्थानसे आगे बहुत दूर ले जाने लगा, जहाँ किसीकी दृष्टि न जा सके॥ २५॥

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः।
सः आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥ २६ ॥

परन्तु वह बड़ा बलवान् दैत्य सुमेरु पर्वतके समान भारी बोझवाले धरणी-धरण बलदेवको अधिक दूरतक वहन नहीं कर सका, उसकी चाल थम गयी। उसने अपना स्वाभाविक दैत्यरूप धारण कर लिया। उसका काला शरीर सोनेके आभूषणोंसे दीप्त हो रहा था। बलदेवजीको धारण करनेके कारण उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजलीसे चमकता काला बादल चन्द्रमाको धारण किये हुए हो॥ २६॥

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग्भ्रूकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥ २७॥

उस समय उसके दोनों नेत्र अङ्गारके समान दहक रहे थे, उग्र दाढ़ें भौंहों तक फैली हुई थीं और लाल-लाल बाल जलती हुई आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे। उसके हाथ एवं पैरोंमें कड़े, सिरपर किरीट और कानोंमें कुण्डलोंकी प्रभा भी आश्चर्य-जनक थी। उस आकाशचारी भयानक दैत्यको वेगपूर्वक आकाशमें जाते देखकर बलदेवजी कुछ भयभीत-से हो गये (कृष्ण अपने बड़े भैया बलरामको प्रलम्बके कन्धेपर बैठकर चन्द्रलोक जाते देखना चाहते थे—इसी कौतुक सिद्धिके लिए उन्होंने अपनी योगमायाके द्वारा बलदेवजीके ऐश्वर्य-ज्ञानको आवृत कर दिया)॥ २७॥

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मनः।

रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥ २८॥

परन्तु तत्क्षण ही बलदेवजीको अपने स्वरूपका स्मरण हो आया कि मेरा अवतार तो दैत्योंके वधके लिए ही हुआ है। इन्द्र जिस प्रकार वज्रके वेगसे पर्वतपर प्रहार करते हैं, इसी प्रकार बिना किसी भय एवं शङ्काके उन्होंने अपने अपहरणकारी असुरके मस्तकपर मुष्टिकासे दृढ़तापूर्वक प्रहार किया॥ २८॥

स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥ २९॥

उस मुष्टिका-आघातसे असुरका सिर एक क्षणमें ही चकनाचूर हो गया। उसकी स्मृति (चेतना) लुप्त हो गयी। वह मुखसे रक्त उगलने लगा। महा भयङ्कर शब्द करते हुए वह प्राणरहित हो गया तथा पृथ्वीपर ऐसे गिर पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रसे आहत होकर कोई पर्वत धराशायी हुआ हो॥ २९॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना।
गोपाः सुविस्मिता आसन् साधु साध्वितिवादिनः॥ ३०॥

ग्वालबाल परम बलशाली बलरामके द्वारा प्रलम्बासुरको मरा हुआ देखकर बड़े आश्चर्यचकित हो गये और 'वाह-वाह' कहकर प्रसन्नतासे चिल्ला उठे॥ ३०॥

आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम्।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः॥ ३१॥

ग्वालबालोंका चित्त प्रेमसे विभोर हो गया। बलदेवने प्रशंसनीय कार्य किया था, अतः सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। सबने उन्हें हृदयसे इस प्रकार लगाया, मानो वे यमालयसे लौटे हों। ग्वालबालोंने बलरामजीको प्रचुर आशीर्वाद दिये॥ ३१॥

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः।
अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे प्रलम्बवधोनामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

प्रलम्बासुर मूर्त्तिमान् पाप था। उसकी मृत्युसे देवताओंका चित्त स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गया। वे नन्दनवनसे बलरामजी पर पुष्प-मालाओंकी बरसात करने लगे। देवतागण “वाह, वाह, बहुत-बहुत अच्छा किया”—कहकर बलदेवका हार्दिक अभिनन्दन कर रहे थे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अट्ठारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

गायों और ग्वालबालोंको दावानलसे बचाना

श्रीशुक उवाच—

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! एक दिन ग्वालबाल खेलनेमें इतने आसक्त हो गये कि उनकी गायें स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करती हुईं बहुत दूर एक सघन वनमें प्रवेश कर गयीं। अधिक घासका लोभ तो उन्हें था ही और कोई रोकनेवाला भी न था॥ १॥

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम्।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः॥ २॥

उनकी बकरियाँ, गायें और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करती हुईं मूँजसे आच्छादित (सरकण्डोंके) वनमें घुस गयीं। वे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त होकर क्रन्दन कर रही थीं॥ २॥

तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम्॥ ३॥

जब श्रीकृष्ण, बलराम आदि अन्यान्य ग्वालबालोंने अपने पशुओंको आस-पास कहीं नहीं देखा, वे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। वे दुःखी मनसे उन्हें चारों ओर खोजते रहे, पर उनका कहीं कोई पता न लगा (गायोंमें अति आसक्तिके कारण उनकी यह दशा हो गयी थी अर्थात् उनकी समझनेकी शक्ति क्षीण हो गयी थी)॥ ३॥

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम्।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः॥ ४॥

अपनी जीविकाके साधन-स्वरूप पशुओंके विनष्ट होनेकी आशङ्कासे सारे गोपबालक बड़े व्याकुल हो गये। वे उन पशुओंके खुरों एवं दाँतोंसे कटे घासके तिनकों तथा भूमिपर अङ्कित खुरोंके चिह्नोंको देखते हुए उनके मार्गका अनुसरण करने लगे॥ ४॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम्।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्त्तयन्॥ ५॥

अन्ततः गोपोंने देखा कि गौएँ रास्ता भूलकर मुञ्जाटवीमें आर्त्तनाद कर रही हैं। अपनी गो-सम्पत्ति प्राप्त करके वे उसे लौटानेकी चेष्टा करने लगे। उस समय वे भी भ्रमण-श्रमके कारण श्रान्त, क्लान्त एवं तृषार्त्त (थके-प्यासे) हो रहे थे॥ ५॥

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥ ६॥

गायोंकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण मेघके समान गम्भीर वाणीसे नाम ले-लेकर उन्हें पुकारने लगे। अपने-अपने नामोंकी ध्वनि सुनकर गायें अत्यधिक हर्षित हो गयीं और स्वयं भी प्रत्युत्तरमें रँभाने एवं हुँकारने लगीं॥ ६॥

ततः समन्ताद्दवधूमकेतु-
र्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद्वनौकसाम्।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकै-
र्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान्॥ ७॥

श्रीकृष्ण इन गायोंको पुकार ही रहे थे कि वनवासियोंका विनाश करनेवाली कालस्वरूप विशाल दावाग्नि प्रकट हो गयी। सारथिके समान वायुके द्वारा सञ्चालित होकर यह प्रचण्ड दावाग्नि उल्काओंके समान अपनी भयङ्कर ज्वालाओंसे स्थावर-जङ्गम (चर-अचर) सभी प्राणियोंको दग्ध (जलाकर भस्म) करती हुई

चारों दिशाओंमें प्रज्ज्वलित हो उठी। (कुछ विद्वान् इस दावानलको प्रलम्बासुरके सखाकी माया मानते हैं।)॥ ७॥

तमापतन्तं परितो दावाग्निं
गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः॥ ८॥

परीक्षित्! मृत्युके भयसे आक्रान्त व्यक्ति जिस प्रकार श्रीहरिके शरणागत होता है, उसी प्रकार चारों दिशाओंसे प्रज्ज्वलित भीषण दावानलको देखकर भयभीत गाय आदि पशु कृष्ण-बलरामकी शरणमें पहुँचे और इस प्रकार कहने लगे—॥ ८॥

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामोघविक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥ ९॥

"हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महावीर! हे अमोघविक्रम बलराम! हम आपके शरणगात हैं। इस दावाग्निसे हम जल ही जायेंगे! अपने आश्रितोंकी रक्षा करो॥ ९॥

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसादितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥ १०॥

हे सर्वधर्मोंके ज्ञाता श्रीकृष्ण! हम तुम्हारे ही बन्धु-बान्धव हैं। अतः हम किसी भी प्रकारसे विनााशके योग्य नहीं हैं। केवल तुम्हीं हमारे रक्षक एवं प्रभु हो। तुम्हारे अतिरिक्त हमारा कोई अन्य आश्रय नहीं है॥"१०॥

श्रीशुक उवाच—

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत॥ ११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अपने ग्वालबाल सखाओंके करुणार्द्र वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे ग्वालबाल सखाओ!

डरो मत! सभी अपनी आँखें बन्द कर लो (स्नेहपरायण सखा कृष्ण द्वारा दावानलका पान नहीं देख सकते थे)॥ ११॥

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत्॥ १२॥

ग्वालबालोंने श्रीकृष्णके कथनानुसार 'बहुत अच्छा' कहकर अपनी आँखें बन्द कर लीं। महायोगेश्वर महैश्वर्यशक्तिसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखके द्वारा उस उग्र दावानलको पान कर लिया और इस प्रकार भीषण सङ्कटसे गायों और ग्वालबालोंकी रक्षा की (ग्वालबालोंके आँखे मूँदते ही यह दावाग्नि उनसे भयभीत होकर उसी क्षण शीतल, सुगन्धित, मधुर-रसके रूपमें श्रीकृष्णके करकमलोंमें मात्र चुल्लूभर रह गयी, जिसे योगमायाने बलपूर्वक लेकर स्वयं ही पान कर लिया था)॥ १२॥

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः।
निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥ १३॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्षणभरमें ही उन सबको पुनः भाण्डीरवट वृक्षके नीचे ले आये। जब ग्वालबालोंने अपनी आँखें खोलीं, तो अपने आपको एवं गायोंको दावानलसे मुक्त और भाण्डीरवटकी सुशीतल छायामें अवस्थित देखा, तो अतिशय चमत्कृत हो उठे॥ १३॥

कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥ १४॥

ग्वालबाल श्रीकृष्णकी योगमायाके प्रभावका अनुभवकर बड़े विस्मित हुए। उनकी योगसिद्धि एवं दावानलसे अपनी रक्षा देखकर उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं (वे ही उन्हें भाण्डीरवटके नीचे ले आये हैं)॥ १४॥

गाः सन्निवर्त्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुतः॥ १५॥

इसके बाद सायंकालमें बलरामके साथ श्रीकृष्णने गौएँ लौटायीं और उन्हें अपने आगे किया। स्वयं उनके पीछे-पीछे वंशीको विशेष रीतिसे वादन करते हुए व्रजकी ओर चले। उस समय चारों दिशाओंसे ग्वालबाल उनकी स्तुति कर रहे थे॥ १५॥

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

उधर व्रजमें कृष्ण-विरहमें गोप-गोपियोंको क्षणमात्रका समय भी शत-शत युगके समान प्रतीत होता था। जब गोविन्द व्रजमें लौटे, तब उनका दर्शन करके वे परमानन्दित हो गयीं॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

वर्षा और शरद् ऋतुका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इसके बाद समस्त ग्वालबालोंने घर पहुँचकर दावानलसे अपने रक्षण एवं प्रलम्बासुर-वधरूप कृष्ण एवं बलरामकी अद्भुत लीलाओंके विषयमें व्रजकी गोपियोंको (अपनी माताओं और बहनोंको) बतलाया॥ १॥

गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ॥ २॥

वृद्ध गोप एवं गोपियोंने भी जब यह वर्णन सुना, तो वे भी विस्मित-से रह गये। उन सबने यह निर्णय कर लिया कि बलराम एवं श्रीकृष्णके रूपमें दो प्रधान देवता व्रजमें अवतरित हुए हैं॥ २॥

ततः प्रावर्त्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३॥

हे राजन्! ग्रीष्म ऋतुके समाप्त होनेपर समस्त प्राणियोंके उत्सव तथा जीवन-स्वरूप वर्षा ऋतुका शुभागमन हुआ। इस ऋतुमें समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होने लगती है। नभमण्डलमें मेघ गर्जन करने लगते हैं। दिशाएँ विद्युत्-मालाओंसे सुशोभित होने लगती हैं और सूर्य एवं चन्द्रमा पर आलोकमय मण्डल बनने लगते हैं॥ ३॥

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥ ४॥

आकाश घने एवं नीले मेघोंसे समाच्छादित रहने लगा, बिजली कौंधने लगी एवं बार-बार गर्जनाएँ होने लगीं। बादलोंसे ढके रहनेके कारण सूर्य, चन्द्रमा और तारोंका प्रकाश धूमिल रहने लगा। अतः आकाश और उसकी प्राकृतिक ज्योति उसी प्रकार ढक गयी, जिस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति समष्टि सगुण ब्रह्मको (ब्रह्मके अंश जीव चैतन्यको) आवृत कर लेती है। (प्रस्तुत प्रसङ्गमें आकाशकी तुलना निर्लेप ब्रह्मसे, विद्युत्-ज्योतिकी तुलना सत्त्व गुणसे, मेघ गर्जनकी तुलना रजोगुणसे एवं मेघों द्वारा आच्छादित होनेकी तुलना तमोगुणसे की गयी है)॥ ४॥

अष्टौ मासान् निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥ ५॥

सूर्यदेवने अपनी किरणोंसे आठ मास पर्यन्त पृथ्वीरूप प्रजासे जलरूपमें जिस धनको करके रूपमें ग्रहण किया था, अब उचित समय अर्थात् वर्षाकाल आनेपर उस सञ्चित सम्पत्तिको वे अपने किरणरूपी करोंसे भूतलवासियोंके उपकारके लिए वितरित करने लगे॥ ५॥

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव॥ ६॥

परदुःखकातर साधु (रन्तिदेव, दधीचि आदि) जिस प्रकार आर्त्त जनोंके दुःखोंको देखकर दयार्द्र हो जाते हैं और उनके उपकारके लिए अपने प्राणोंका विसर्जन तक करनेको तत्पर हो जाते हैं, उसी प्रकार घनघोर मेघमण्डल भी विद्युत्‌रूप नेत्रोंके द्वारा जगत्‌के तापको देखकर दयार्द्र हो जाते हैं और प्रबल वायुके द्वारा सञ्चालित होकर जगत्‌के उपकारके लिए सबके जीवन-स्वरूप जल-धाराओंकी वृष्टि करते हैं॥ ६॥

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम्॥ ७॥

सकाम तपस्वीका शरीर जिस प्रकार तपस्याके कारण क्षीण हो जाता है और काम्य फलकी प्राप्ति हो जानेपर पुनः हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ग्रीष्मकालके कारण कृश-काया पृथ्वी भी मेघ-वर्षणके सिञ्चनसे सिक्त हो गयी और पुनः हरी-भरी होकर पुष्ट होने लगी॥ ७॥

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥ ८॥

वर्षाकालमें सन्ध्याके समय बादलोंमें घना अन्धकार छा जानेपर जुगनुओंकी तो शोभा होती है, परन्तु चन्द्र-नक्षत्रादि ग्रह प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार कलियुगमें पापोंकी प्रबलता होनेपर पाखण्ड मत एवं नास्तिक शास्त्र छा जाते हैं और वेदोंके यथार्थ ज्ञानकी शोभा लुप्त हो जाती है॥ ८॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका ससृजुर्गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥ ९॥

जो मेंढ़क चुपचाप सो रहे थे, अब वे मेघोंकी गड़गड़ाहटको सुनते ही टर्राना आरम्भ कर देते हैं, जिस प्रकारसे नित्य-कर्मोंकी समाप्तिपर ब्राह्मण-विद्यार्थी अपने गुरुका आह्वान-शब्द ("वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करो") श्रवण करते ही वेद-पाठ करना आरम्भ कर देते हैं॥ ९॥

आसन्नुत्पथगामिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥ १०॥

ग्रीष्म ऋतुके कारण शुष्क छोटी-छोटी नदियाँ वर्षाकालमें वर्षाके जलसे उमड़ती-घुमड़ती अपने मर्यादित मार्गको छोड़कर उसी प्रकार उत्पथगामिनी हो जाती हैं, जिस प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुषोंके शरीर एवं धनसम्पत्तिका असत्-कार्योंमें दुरुपयोग होने लगता है॥ १०॥

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥ ११॥

उस समय पृथ्वी कोमल हरी-भरी घास द्वारा मरकत-बिसातके समान प्रतीत हो रही थी। यत्र तत्र इन्द्रगोप कीटों (लाल रङ्गके बरसाती कीट अर्थात् बीरबहूटियों) की लालिमामयी और कहीं कहीं छत्राकार उद्भिदों (बरसाती छत्ते अथवा सफेद कुकुरमुत्तों) के द्वारा श्वेताभ एवं छायामयी होकर राजाकी रङ्ग-बिरङ्गी (लाल, नीली, हरी, सफेद ध्वजाओं एवं वस्त्रोंसे युक्त) सेनाके समान प्रतीत हो रही थी॥ ११॥

क्षेत्राणि शस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
मानिनामनुतापं वै दैवाधीनमजानताम्॥ १२॥

वर्षाकालमें वसुधापर शस्य-सम्पत्ति एवं लहलहाते खेत किसानोंको अतिशय आनन्द प्रदान कर रहे थे, किन्तु जो कृषि-कार्यको तुच्छ (निकृष्ट) तथा स्वयंको प्रतिष्ठित मानकर कृषि-कार्यसे विरत हो गये थे—ऐसे धनाभिमानी इन भरे-पूरे खेतोंको देखकर अनुताप करने लगे (हाय! यदि हम भी कृषि-कार्य करते, तो ऐसा अनाज हमें भी प्राप्त होता)। आनन्द और अनुताप सभी दैवाधीन हैं—वे यह नहीं जानते थे॥ १२॥

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रन् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥ १३॥

जल और स्थलके सभी प्राणी वर्षाके नवीन जलके सेवनसे उसी प्रकार मनोज्ञ (सुन्दर, निर्दोष एवं आकर्षक) रूप प्राप्त करने लगे, जिस प्रकार हरिकी सेवा करनेसे आन्तरिक (परमसुख) एवं बाह्य रूपसे (रुचिर शोभासे युक्त) उत्तम फल प्राप्त होते हैं॥ १३॥

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षोभ श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा॥ १४॥

वर्षाकालमें वायुके वेगसे उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त उच्छलित नदियोंके यहाँ-वहाँसे समुद्रमें मिलित होनेके कारण समुद्र उसी प्रकार क्षुब्ध होने लगता है, जिस प्रकार अपरिपक्व योगीका

कामासक्त (भोगवासनायुक्त) चित्त कामसे अनुरञ्जित विषयोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण चञ्चल हो जाता है॥ १४॥

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥ १५॥

वर्षाकी प्रचण्ड धाराओंकी मारसे आहत होनेपर भी पर्वत उसी प्रकार तनिक भी व्यथित नहीं होते थे, जिस प्रकार भगवत्-भक्त विपत्तियोंके द्वारा बार-बार आक्रान्त होनेपर किञ्चित् मात्र भी व्यथित नहीं होते॥ १५॥

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालेन चाहताः॥ १६॥

वर्षाकालमें सारे पथ घास-पत्तोंसे आच्छादित एवं अपरिष्कृत हो जानेसे लोगोंके लिए सन्देहास्पद हो गये कि "पथ ठीक है या नहीं", जैसे कि द्विजोंके द्वारा अभ्यास न किये जानेपर कालक्रमसे श्रुतियाँ लुप्तप्रायः हो जाती हैं और लोकमें संशय होने लगता है कि "वेद हैं अथवा नहीं"॥ १६॥

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥ १७॥

चपला-विद्युत् लोक-बन्धु (जन-हितैषी अथवा लोकप्रिय) बादलोंमें उसी प्रकारसे स्थिर भावसे नहीं रह रही थी (एक मेघसमूहसे दूसरे मेघमण्डलमें जा रही थी), जिस प्रकारसे वार-वनिताओंका चञ्चल चित्त गुणवान् पुरुषोंके प्रति स्थिरभावसे आसक्त नहीं रहता॥ १७॥

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणञ्च गुणिन्यभात्।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा॥ १८॥

गुणहीन (प्रत्यञ्चासे रहित) इन्द्रधनुष गुणयुक्त (गर्जन आदि शब्दोंसे युक्त) आकाशमें उसी प्रकारसे प्रकाशित होने लगे, जिस प्रकार निर्गुण मायातीत पुरुष सत्त्व, रजादि गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न विश्व-प्रपञ्चमें प्रकाशित होते हैं॥ १८॥

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥ १९॥

चन्द्रमा जिन तुषारमय मेघोंको अपनी ज्योत्स्नासे प्रकाशित करता है, वर्षाकालमें उन्हीं मेघोंसे आच्छन्न होकर वह वैसे ही प्रकाशित नहीं हो रहा था, जैसे शुद्ध जीवात्मा स्व-चैतन्यसे प्रकाशित होनेपर भी मिथ्या अहङ्कारके आवरणसे आच्छन्न होनेके कारण अप्रकाशित रहती है॥ १९॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्तनिर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥ २०॥

मयूर मेघोंके शुभागमनरूप महोत्सवसे आनन्दित होकर उनका अभिनन्दन करते हुए अपनी मनोरम 'के-का' ध्वनि एवं नृत्यके द्वारा अपना हर्ष वैसे ही प्रकट कर रहे थे, जिस प्रकार संसारके तापसे सन्तप्त हुए जीव भागवत-जनोंके शुभागमनपर हर्षोल्लसित हो उठते हैं॥ २०॥

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्त्तयः।
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया॥ २१॥

पूर्व ग्रीष्मकालमें जो वृक्ष प्रायः क्षीणकाय एवं श्रान्त हो गये थे, अब वे वर्षाकालमें अपनी जड़ोंसे जल-पान करके नवाङ्कुर, पत्र, पुष्प एवं पल्लवादि नाना रूपोंसे उसी प्रकार विभूषित हो गये, जैसे पूर्वकालमें सकामभावसे तपस्या करनेवाला क्षीण एवं श्रान्त योगसाधक योगैश्वर्य प्राप्त होनेपर काय-व्यूह-रचनाके बलसे अभिलषित भोजन, रमण आदिके द्वारा नानाविध स्वभावयुक्त सुन्दर रूप धारण करता है॥ २१॥

सरः स्वशान्तरोधःसु न्यूषुरङ्गापि सारसाः।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः॥ २२॥

हे राजन्! कीचड़-कण्टकमय तटोंसे युक्त सरोवरोंके किनारे चक्रवाक (सारस) पक्षी आसक्तिपूर्वक वैसे ही निवास करने लगे,

जैसे दुर्वासनाओंसे ग्रस्त विषयी पुरुष शान्ति-रहित अनेक प्रकारके कर्मकाण्डके उत्पत्ति-स्थान घरोंमें ही पड़े रहते हैं॥ २२॥

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥ २३॥

वर्षा ऋतुमें इन्द्रके द्वारा प्रेरित मेघोंके अतिशय वर्षणरूप उपद्रवके (मूसलाधार वर्षाके) फलस्वरूप जल-प्लावनके वेगसे नदियोंके बाँध और खेतोंकी मेड़ें उसी प्रकार टूट गये हैं, जिस प्रकार कलियुगमें नास्तिकोंके कुतर्कोंसे वैदिक मार्गकी मर्यादाएँ अनेक मतवादोंमें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं॥ २३॥

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्नाभूतेभ्यश्चामृतं घनाः।
यथाशिषो विट्पतयः काले काले द्विजेरिताः॥ २४॥

इस वर्षा ऋतुमें वायु द्वारा परिचालित होकर मेघ-पुञ्ज प्राणियोंके मङ्गलके लिए अमृतमय जलका उसी प्रकार वर्षण करने लगे, जिस प्रकार पुरोहितोंके उपदेशोंसे परिचालित होकर राजा समय-समयपर दानादिके द्वारा प्रजाकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते हैं॥ २४॥

एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्वखर्जुरजम्बुमत्।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः॥ २५॥

इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्यका अधिष्ठाता वृन्दावन वर्षाके प्रभावसे समृद्ध एवं पके हुए जामुन तथा खजूर आदि फलोंसे और भी शोभायमान हो उठा। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी गौओं और ग्वाल-बालोंसे घिरकर एवं श्रीबलरामके साथ उस वनमें बिहार करनेके लिए प्रविष्ट हुए॥ २५॥

धेनवो मन्दगामिन्य उधोभारेण भूयसा।
ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनाः॥ २६॥

अपने थनोंके भारसे मन्द-गतिसे चलनेवाली पयस्विनी गौएँ भगवान्‌के द्वारा नाम ले-लेकर पुकारे जानेसे द्रुत गतिसे दौड़ने

लगीं। उस समय अत्यन्त आनन्दके कारण उनके थनोंसे दूधकी धाराएँ गिरती जाती थीं॥ २६॥

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादादासन्ना ददृशे गुहाः॥ २७॥

उस वनमें प्रवेशकर श्रीकृष्णने देखा कि पुलिन्द (भील और भीलनियाँ) आदि वनवासी वहाँ आनन्दपूर्वक रह रहे हैं, वनराजियाँ (वृक्षोंकी पंक्तियाँ) मधु-धाराएँ क्षरण कर रही हैं, पर्वतोंसे झर-झरका निनाद करते हुए स्रोत (झरने) प्रवाहित हो रहे हैं, इन जल-धाराओंकी प्रतिध्वनिसे यह भी सूचित हो रहा था कि समीपमें बहुत-सी कन्दराएँ भी हैं, जिनमें वर्षा होनेपर छिपा जा सकता है॥ २७॥

क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायाञ्चाभिवर्षति।
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः॥ २८॥

जब भी वर्षा आरम्भ होती, श्रीकृष्ण किसी वृक्षकी कोटर या खोड़रमें छिप जाते अथवा पर्वतोंकी गुफाओंमें घुस जाते। वनमें वे कन्दमूल भोजन करते और अपने ग्वालबाल-सखाओंके साथ क्रीड़ा किया करते॥ २८॥

दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः॥ २९॥

कभी श्रीकृष्ण और बलराम स्वजातीय ग्वालबालोंके साथ सरोवर आदिके जलके पास ही किसी विशाल शिलापर बैठ जाते और घरसे अपने बन्धु-बान्धवोंके द्वारा लाये हुए दधि-मिश्रित भातका अचार, मुरब्बा आदिके साथ भोजन करते॥ २९॥

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान्।
तृप्तान् वृषान् वत्सतरान्गाश्च स्वोधोभरश्रमाः॥ ३०॥
प्रावृट् श्रियञ्च तां वीक्ष्य सर्वकालसुखावहाम्।
भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम्॥ ३१॥

भगवान् हरी-भरी घासके ऊपर बैठे हुए तृप्त बैल, बछड़ों एवं स्तन-भारसे आक्रान्त गौओंको देखते कि वे नयन मूँदकर तृणादि चर रहे हैं (जुगाली कर रहे हैं)। बादमें उन्होंने अपनी अन्तरङ्गा-शक्ति द्वारा परिवर्धित आनन्दके शाश्वत स्रोत वृन्दावनमें सर्व-काल सुखजनक वर्षाके सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यका दर्शनकर उसका अभिनन्दन किया (कृष्णकी वर्षा-विहारकी इच्छाको जानकर उनकी लीलाशक्ति श्रीवृन्दावनकी भूमिको सुसज्जित एवं विभावित कर देती है)॥ ३०-३१॥

एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे।
शरत् समभवद्व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला॥ ३२॥

व्रजमें बलराम और श्रीकृष्ण बड़े आनन्दसे वास कर रहे थे कि वर्षा-ऋतु बीत गयी और शरत्-ऋतुका आगमन हो गया। अब जल निर्मल हो गया, वायु धीरे-धीरे प्रवाहित होने लगी और आकाश मेघ-रहित हो गया॥ ३२॥

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया॥ ३३॥

वर्षाकालीन कलुषित (मटमैला) जल शरत्-कालमें जल-पद्मोंकी पुनः उत्पत्तिके कारण स्व-भाव-सम्पत्ति अर्थात् अपनी स्वाभाविक निर्मलताको उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार योगभ्रष्ट मनुष्योंका चित्त भक्तियोगचर्या द्वारा रजोगुणसे रहित होकर पुनः शान्त हो जाता है॥ ३३॥

व्योम्नोऽब्भ्रं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम्।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम्॥ ३४॥

जैसे कृष्ण-भक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके समस्त प्रकारके अशुभोंको (महाकष्टमय फल देनेवाले कर्मोंको) एवं व्याधियोंको शीघ्र ही हर लेती है, उसी प्रकार शरत्-ऋतुने उपस्थित होकर आकाशके मेघोंकी सघनताको, पशुओंकी बहुलताको,

प्राणियोंकी सङ्कीर्णताको (वर्षाकालमें विचलित होकर झुण्डके रूपमें ठसठसकर बैठनेवाले जीव-जन्तु अपने-अपने स्थानोंपर चले जाते हैं), पृथ्वीकी पंकिलता (कीचड़) को एवं जलकी मलिनताको दूर कर दिया॥ ३४॥

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्च्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः॥ ३५॥

बादल इस कालमें अपनी जल-सम्पत्तिरूप सर्वस्वका परित्याग करके उसी प्रकार शुभ्रवर्णीय उज्ज्वल-कान्ति-विशिष्ट हो गये, जिस प्रकार निष्पाप मुनि पुत्र, वित्त एवं परलोककी वासनाओंका त्याग करके परम शान्त भावसे रहते हैं॥ ३५॥

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥ ३६॥

इस कालमें पर्वत किसी स्थानपर झरनोंके रूपमें कल्याणकारी जल प्रवाहित करते हैं और किसी स्थानपर नहीं भी करते, जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष योग्य शिष्यको भगवत्-तत्त्वोपदेशरूप ज्ञानामृतका दान करते हैं, अयोग्य शिष्यको नहीं॥ ३६॥

नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः।
यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः॥ ३७॥

छोटे-छोटे गड्ढों और पोखरोंमें अत्यल्प जल रहता है, इसमें रहनेवाले मत्स्यादि जलचर क्रमशः सूखते जा रहे उस जलके विषयमें उसी प्रकार नहीं जान पाते, जिस प्रकार पुत्र-कलत्रादिके भरण-पोषणमें आसक्त मूर्ख मानव क्षण-क्षण क्षीण होनेवाली आयुके विषयमें नहीं जान पाते॥ ३७॥

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥ ३८॥

अल्प जलमें स्थित प्राणी शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे उत्पन्न प्रखर तापका वैसे ही अनुभव कर रहे थे, जैसे कुटुम्बका

पालन-पोषण करनेवाला अजितेन्द्रिय (इन्द्रियोंके वशीभूत), दीन (कृपण), दुःखी एवं दरिद्र व्यक्ति धनोपार्जनके लिए संसारमें विविध प्रकारके कष्टोंका अनुभव करता रहता है॥ ३८॥

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामञ्च वीरुधः।
यथाहं ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु॥ ३९॥

स्थलोंके विभिन्न भागोंने क्रमशः अपनी पङ्किलताका (कीचड़का) एवं लताओंने अपनी अपक्वताका (कच्ची अवस्थाका) वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे भक्तजन आत्मासे पृथक् शरीरादि बाह्य अनात्म विषयोंमें अहं-मम भावका क्रमशः परित्याग कर देते हैं॥ ३९॥

निश्चलाम्बुरभूत् तूष्णीं समुद्रः शरदागमे।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः॥ ४०॥

शरत्-कालके आगमनसे समुद्रका जल सम्यक्रूपेण स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया, जिस प्रकार आत्माके (मनके) सम्पूर्णरूपेण भौतिक कार्योंसे विरत एवं निष्क्रिय हो जानेपर मुनिजन कर्मकाण्डपरक वैदिक पाठसे निवृत्त हो जाते हैं (श्रीवृन्दावन धाममें समुद्रके न रहनेपर भी श्रीमथुरा-मण्डलकी पश्चिम सीमामें वर्त्तमान मानस-गङ्गासे उत्पन्न 'कोटर' नामका महासरोवर विद्यमान है)॥ ४०॥

केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः॥ ४१॥

किसान शालिक्षेत्रोंसे (धान्यके खेतोंसे) बहते जलको दृढ़ सेतु-बन्धन (खेतकी मेड़) द्वारा उसी प्रकार रोकने लगे, जिस प्रकार योगी इन्द्रियोंके क्षोभसे विषयोंकी ओर विगलित होते ज्ञानको योग द्वारा प्रत्याहार करके अन्तर्मुखताकी ओर आकर्षित करते हैं॥ ४१॥

शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्॥ ४२॥

शरत्-कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे दिनके समय प्राणियोंको बहुत सन्ताप होता है, परन्तु रात्रिके समय चन्द्रमा उस सारे सन्तापको उसी प्रकार हर लेता है, जिस प्रकार आत्मज्ञान देहाभिमान-जनित तापको और श्रीकृष्ण व्रज-सुन्दरियोंके भगवत्-विरहरूप सन्तापको हरण कर लेते हैं॥ ४२॥

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥ ४३॥

शरद्कालीन मेघोंके आवरणसे रहित एवं विमल तारका-मालाओंकी दीप्तिसे विभूषित आकाश उसी प्रकार शोभा प्राप्त करने लगा, जिस प्रकार जैमिनिकृत पूर्व-मीमांसा एवं व्यासदेवकृत उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त-दर्शन आदि निर्णीत तत्त्वोंका प्रदर्शक सत्त्वगुण-युक्त मन आध्यात्मिक प्रकाशसे सुशोभित होता है॥ ४३॥

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि॥ ४४॥

परीक्षित्! जिस प्रकार पृथ्वीतलपर वृष्णिवंशीय जनोंसे परिवृत होकर यदुपति श्रीकृष्ण शोभा प्राप्त कर रहे थे, उसी प्रकार इस शरत् ऋतुमें पूर्ण चन्द्रमा भी आकाशमें तारोंसे वेष्टित होकर शोभा प्राप्त करने लगे॥ ४४॥

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥ ४५॥

पुष्प-वनमें सञ्चरित होनेवाली समशीतोष्ण (न अधिक गर्म और न अधिक शीतल) वायुके स्पर्शसे मनुष्य रवि-जनित सन्ताप तो दूर करने लगे, परन्तु कृष्णगतप्राणा (कृष्णहृतचेता) विरहिणी गोपियोंका चित्त उस वायुके संस्पर्शसे और भी सन्तप्त होने लगा। उनका हृदय तो चित्तचोर श्रीकृष्णके पास था (जिसे वे आलिङ्गन द्वारा भी लौटा नहीं पाती थीं)॥ ४५॥

गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन्।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव॥ ४६॥

हे राजन्! निष्काम भगवत्-उपासना जिस प्रकार वैकुण्ठ-प्राप्ति आदि विशेष फलोंसे युक्त होकर समस्त भोग एवं सम्पद्को देनेवाली होती है, उसी प्रकार शरत् ऋतुमें गौ, मृगी, पक्षिणी एवं नारियाँ ऋतुमती हो गयीं और अपनी इच्छा न रहने पर भी अपने-अपने पतियोंसे मिलित होकर गर्भधारण करने लगीं॥ ४६॥

उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद्विना।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप॥ ४७॥

हे राजन्! सुयोग्य राजाके रहनेपर जिस प्रकार चोर-डाकुओंके अतिरिक्त दूसरे सभी निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार शरत्-कालीन सूर्यके उदित होनेपर कुमुदिनीके अतिरिक्त कमल आदि सभी प्रकारके जलज पुष्प खिल गये॥ ४७॥

पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः।
बभौ भूः पक्वशस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः॥ ४८॥

उस समय पुर (बड़े-बड़े शहर) और ग्राम—सभी स्थानोंपर (नवान्नका स्वागत करनेके लिए) वैदिक अग्नि-यज्ञ एवं स्थानीय परम्पराओंकी लीकपर लौकिक महोत्सव (इन्द्रयागादि, अन्नप्राशनादि) सम्पन्न होने लगे। खेतोंमें अनाज पक गये। पृथ्वी शस्य-श्यामला दिखने लगी। बलराम एवं श्रीकृष्णकी विद्यमानताके कारण उनके अंशसे उत्पन्न पृथ्वी और भी सुशोभित होने लगी॥ ४८॥

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे शरद्वर्णन नाम विंशोध्यायः॥ २०॥

सिद्धि-काल प्राप्त होनेपर भक्तादि सिद्धजन (भक्ति-साधना करके सिद्ध हुए जन) जिस प्रकार पार्षदादि देहको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार वर्षाकालमें एक स्थानपर रुके हुए वणिक्, मुनि, राजा एवं स्नातक अपने-अपने स्थानसे (घरोंसे) बाहर निकल आये और वाणिज्य, स्वाच्छन्द्य (स्वतन्त्र विचरण), दिग्विजय एवं विद्या आदि अपने-अपने अभीष्ट कार्योंमें लग गये॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

शरत्–ऋतुमें श्रीकृष्णका रम्य वृन्दावनमें प्रवेश एवं वेणुगीत

श्रीशुक उवाच—

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! सुहावनी शरत्–ऋतुकी छटासे वन रमणीयताको प्राप्त हो रहा था। सरोवरोंका जल निर्मल था और उनमें विकसित कमलोंकी सुगन्धसे सुवासित, सुशीतल समीर मन्द–मन्द प्रवाहित हो रहा था। अच्युत भगवान् श्रीकृष्णने गायों और ग्वालोंके साथ उस वृन्दारण्यमें प्रवेश किया॥ १॥

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग–
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥ २॥

वृन्दावन सरोवरों, नदियों और पर्वतोंसे परिपूर्ण था। वहाँकी हरी–भरी वृक्षावलियाँ सुन्दर–सुन्दर पुष्पोंसे लदी हुई थीं, जिनपर उन्मत्त भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। विविध पक्षियोंका सुमधुर कलरव चहुँ दिशि गूँज रहा था और उसकी गूँजसे सरोवर, नदियाँ और पर्वत सब–के–सब निनादित एवं प्रतिध्वनित हो रहे थे। मधुपति श्रीकृष्णने बलदेव एवं ग्वालबालोंके साथ गोचारण करते हुए इस वनमें प्रवेश किया एवं अपनी वंशीपर हृदयाकर्षक मधुर तान छेड़ दी। (ज्ञातव्य है कि गोचारणके समय बलदेव साथ थे, वंशीवादनके समयमें नहीं, अन्यथा लीला असङ्गत हो जाती)॥ २॥

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥ ३॥

श्रीकृष्णकी उस मधुर वंशीध्वनिको सुनते ही व्रजवनिताओंके हृदयमें प्रेमभावका उदय हो गया अर्थात् श्रीकृष्णसे मिलनेकी आकाङ्क्षा जाग उठी। वे एकान्तमें (श्रीकृष्णके अगोचर होकर) अपनी-अपनी सखियोंसे उनके रूप, गुण और वंशीध्वनिके प्रभावका वर्णन करने लगीं॥ ३॥

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥ ४॥

हे राजन्! जैसे ही व्रजवनिताओंने वंशीध्वनिके माधुर्यका आपसमें वर्णन करना आरम्भ किया, वैसे ही उनके स्मृति-पटलपर श्रीकृष्णकी मधुर चेष्टाएँ, प्रेमपूर्ण चितवन, भौहोंके सङ्केत तथा मधुर मुसकान आदि भाव-भङ्गिमाएँ उदित हो गयीं, उनका चित्त कन्दर्पवेगसे अर्थात् श्रीकृष्णसे मिलनेकी अत्यधिक उत्कण्ठासे व्याकुल हो गया और वे कुछ भी वर्णन नहीं कर पायीं॥ ४॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः॥ ५॥

श्रीकृष्णकी जिस रूप-स्मृतिने उन्हें कामोन्मत्ता कर दिया था, वह उनके हृदय-पटलपर अङ्कित थी, वे भावपूर्ण नेत्रोंसे देखती हुईं वर्णन करने लगीं—श्रीकृष्णका मस्तक मोर-पंखके मुकुटसे मण्डित है, कानोंमें पीत वर्णका कनेर पुष्प विभूषित है, श्यामल विग्रहपर सुनहरे वर्णके वसन सुशोभित हैं, गलेमें पाँच वर्णोंके सुगन्धित वन्य-पुष्पोंसे ग्रथित वैजयन्ती-माला अलङ्कृत है। इस प्रकार नटवर वेशमें अपने अधरामृत द्वारा वंशीके छिद्रोंको पूर्ण करते हुए वे शङ्ख, चक्रादि चिह्नधारी चरण-कमलोंसे रास-लास्य करते हुए स्वपदाङ्कित रमणीय वृन्दावनमें ग्वालबालोंके साथ

प्रवेश कर रहे हैं। ग्वालबाल उनकी पवित्र कीर्त्तिका गान करते हुए उनका अनुगमन कर रहे हैं॥ ५॥

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥ ६॥

हे राजन्! व्रजवनिताओंने जड़, चेतन समस्त प्राणियोंके मनोंको हरण करनेवाली वंशीकी ध्वनिको सुना और सुननेके बाद उसके प्रभावका वर्णन करने लगीं। वर्णन करते-करते वे इतनी तन्मय हो गयीं कि मन-ही-मन परमानन्द-विग्रह श्रीकृष्णका आलिङ्गन करने लगीं। सभी व्रजतरुणियोंको समान अनुभव हो रहा था, इसलिए वे परस्पर भी उसी भावसे आलिङ्गन कर रही थीं कि तुम जो कह रही हो, वही मेरे हृदयकी भी दशा है, मैं भी वही कहना चाहती थी॥ ६॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ ७॥

गोपियाँ एक दूसरेसे वार्त्तालाप करती हुईं कहने लगीं—अरी सखियो! हम तो ऐसा मानती हैं कि नेत्रवान् व्यक्तियोंके नेत्रोंका यह प्रिय-दर्शन ही यथार्थ फल है कि नन्दमहाराजके दोनों पुत्र बलराम एवं श्रीकृष्ण ग्वालोंके साथ गौओंको आगे करके उन्हें चरानेके लिए वन ले जा रहे हों अथवा वहाँसे उन्हें लौटाकर व्रजमें ला रहे हों, उस समय वे अधरोंपर मुरली धारणकर उसे बजा रहे हों, अनुरागमय, स्निग्ध कटाक्षोंका अपने अनुरक्त जनोंपर वर्षण कर रहे हों—सखी! इसी मुखारविन्दकी माधुरीका दर्शन करनेसे नेत्रोंकी सार्थकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा फल हम नहीं जानती हैं॥ ७॥

चूतप्रवालबर्हस्तवकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानाविचित्रवेशौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥ ८॥

अन्य अनुरागवती गोपियोंने कहा—एक दिन इन बलराम एवं श्रीकृष्णने सुबल, श्रीदामा आदि सखाओंकी गोष्ठीमें त्रिभुवन, अभिनव, मनमोहक नटवर वेश धारण कर रखा था। बलरामने अपने गोरे शरीरपर सुरम्य नीलाम्बर और कृष्णने अपने श्यामल शरीरपर रमणीय पीताम्बर पहन रखा था। उन्होंने परिधानके बीच-बीचमें आम्रके नूतन पल्लव, सिरपर मोरपंख एवं पुष्प-गुच्छोंके द्वारा रचित मुकुट, कानोंमें उत्पल-रचित कुण्डल, दाहिने हस्तमें लीला कमल एवं गलेमें पुष्पोंकी कलियोंकी बनी आकर्षक मालाएँ धारण कर रखी थीं। रङ्ग-स्थलपर जिस प्रकार श्रेष्ठ नटवर-युगल गान-नर्त्तन करते हुए शोभा पाते हैं, उसी प्रकार सखाओंके द्वारा गीत गाने और वाद्य बजानेपर वे कभी नृत्य कर रहे थे और कभी स्वयं गा रहे थे। हम तो दूरसे ही सौन्दर्यामृत एवं गीतामृतका आस्वादन कर रही थीं॥ ८॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥ ९॥

दूसरी गोपियोंने कहा—अरी सखियो! पुरुष (स्थावर) जातिमें उत्पन्न होनेपर भी इस वेणुने पूर्व जन्मोंमें न जाने कौन-सा पुण्याचरण किया था, जिसके कारण आज यह केवल हम गोपियोंकी अपनी सम्पत्ति (गोपियों द्वारा उपभोग्य)—श्रीकृष्णके अधरामृतका प्रचुररूपमें स्वतन्त्रभावसे इस प्रकार पान कर रहा है कि अब इस वेणुमें नाममात्रका ही रस बचा होगा। और देखो, जिनका रस पान करके यह वेणु वृक्ष पुष्ट हुआ था—मातृ-तुल्य

वे ही नदियाँ आज इसके सौभाग्यको देखकर कितनी रोमाञ्चित हो रही हैं—उनमें आनन्दके कारण कमल-कमलिनियाँ विकसित हो रही हैं। प्रिय सखि! और भी देखो, कुलके वृद्धजन जिस प्रकार अपने वंशमें भगवत्-भक्त-सन्तानको देखकर रोमाञ्चित होकर आनन्दपूर्वक अश्रु विसर्जित करते हैं, उसी प्रकार जिनके वंशमें इस वेणुने जन्म-ग्रहण किया है, वे ही वृक्ष आज मधु-धारा-वर्षणके छलसे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं॥ ९॥

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

कोई दूसरी व्रजरमणी कहने लगी—अरी सखी! यह वृन्दावन इस समय श्रीकृष्णके पाद-पद्म-युगलके चिह्नोंसे चिह्नित होकर परम शोभाको प्राप्त हो रहा है। जब गोविन्द अपनी मुनिजनमोहिनी बाँसुरी बजाते हैं, तब उसे मेघ-गर्जन समझकर मोर मतवाले हो जाते हैं और उस वंशीकी ध्वनिके लय-तालपर नृत्य करने लगते हैं। इस अद्भुत दृश्यको देखकर पर्वतकी चोटियोंपर विचरण करनेवाले कृष्णसार मृग इत्यादि पशु एवं कपोतादि सारे पक्षी आनन्दके कारण खड़े-के-खड़े रह जाते हैं। प्रिय सखी! इस समय तो यह वृन्दावन वैकुण्ठसे भी अधिक पृथ्वीकी कीर्त्तिका विस्तार कर रहा है॥ १०॥

धन्याः स्म मूढगतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥ ११ ॥

दूसरी व्रजनारियोंने कहा—अहो! वनमें विचरनेवाली ये मूढ़मति हरिणियाँ निम्न योनिकी होनेपर भी धन्य हैं। जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेश धारणकर बाँसुरी बजाते हैं, तब ये उस

वंशीकी तान सुनकर अपने पतियों कृष्णसार मृगोंके साथ मनोहरवेशधारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दौड़ी चली आती हैं और प्रणयमयी दृष्टिसे उन्हें निहारा करती हैं। अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखोंके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पूजा अर्पण करती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेममयी चितवनको अपने अभिनन्दनके रूपमें स्वीकार करती हैं॥ ११॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविविक्तगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥ १२॥

अन्य गोपियोंने कहा—अरी सखियो! आकाशचारिणी देवाङ्गनाएँ भी जब कामिनियोंको आकर्षित करनेवाले और उनके नयनोत्सव-स्वरूप मोहन-रूप एवं स्वभावसे सम्पन्न श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं, तथा उनके द्वारा निनादित वेणुका मधुर एवं असङ्कीर्ण सङ्गीत (चित्र-विचित्र-आलाप) सुनती हैं, तब विमानपर ही उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र लालसा जाग उठती है। मिलन-इच्छासे ही उनका धैर्य टूट जाता है और वे मोहित-सी होकर अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं। उस समय उनके वेणी-बन्धनमें गुँथे हुए पुष्प गिरने लगते हैं और कटि-प्रदेशसे वस्त्र-ग्रन्थियाँ भी खिसकने लगती हैं॥ १२॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥ १३॥

दूसरी गोपियोंने कहा—अरी सखियो! इधर देखो! गौओं एवं मातृ-स्तनोंसे क्षरित दुग्ध-पानमें रत बछड़ोंको तो देखो! ये बछड़े अपने कानोंके दोनोंको खड़ा करके श्रीकृष्णके मुखसे निर्गत वंशी-सङ्गीत-सुधाका पान कर रहे हैं। गायोंके थनोंसे दूध अपने

आप क्षरित हो रहा है, परन्तु सङ्गीत-परायण ये बछड़े मुखमें लिये दूधके घूँटको न तो उगल पा रहे हैं और न ही निगल पा रहे हैं। गौएँ एवं वत्स—दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि द्वारा श्रीकृष्णको अपने हृदयमें उतारकर मन-ही-मन आलिङ्गन कर रहे हैं। अत्यन्त आनन्दसे उनके नेत्रोंसे आँसू छलछला रहे हैं॥ १३॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥ १४॥

दूसरी गोपियोंने कहा—ओ माँ! हे अम्ब! इस वनमें ये जो पक्षी वास कर रहे हैं, वे सम्भवतः ऋषि-मुनि ही हैं। मुनि जैसे ही श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, वैसे ही वेदोक्त कर्म-फलोंका त्याग कर देते हैं और वेद-तरुकी शाखाओंपर आरूढ़ होकर सुरम्य एवं रुचिर प्रवालरूप-कोंपलरूप (सुन्दर पल्लवों द्वारा मण्डित वृक्षकी शाखाओंमें भी वेणुनाद-श्रवणसे अङ्कुर आदि विकासरूप दर्शन हो रहा है) समस्त स्थानीय कर्मोंको (सेवा-कर्मोंको) ग्रहण करके सुखपूर्वक मात्र श्रीकृष्ण-गीतका (वंशीके त्रिभुवनमोहन सङ्गीतका) श्रवण करते हैं। इसी प्रकार ये सारे पक्षी भी कृष्णका दर्शन करने हेतु वृक्षोंकी शाखाओंपर आरूढ़ हो गये हैं। अन्य ध्वनियोंसे विमुख होकर इन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये हैं और मात्र कृष्ण-कृत वेणु-सङ्गीत ही सुन रहे हैं और उन्हें ही अपलक दृष्टिसे देख रहे हैं। इस समय वेणुनादकी तरङ्गोंसे वृक्षोंकी टहनियाँ भी भाव-विभोर हो रही हैं (पक्षियोंका वनवास, नेत्र मूँदना, मौन एवं स्थैर्य आदि गुण महामुनियोंके ही समान हैं)॥ १४॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।

आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥ १५॥

दूसरी गोपियोंने कहा—अरी सखी! चेतन हरिनियों, गौओं और पक्षियोंकी तो बात ही जाने दो, ये अचेतन नदियाँ जब श्रीकृष्णकी वंशीका सङ्गीत सुनती हैं, तो कामवेगसे इनका जल क्षुब्ध (भङ्ग-प्रवाह) हो जाता है और तरङ्गोंके भँवरके रूपमें इनके हृदयमें प्यारे श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र लालसा (कामकी तीव्रता) स्पष्ट ही लक्षित हो रही है। कामके वशीभूत हो जानेके कारण इनका प्रवाह खण्डित हो रहा है। ये अपनी तरङ्गोंरूप भुजाओं द्वारा कमलोंको उपहाररूपमें धारण करके श्रीकृष्णके श्रीचरण-युगलमें समर्पण कर रही हैं और इस तरह हे सखी! मानो ये अपना हृदय ही समर्पण कर रही हैं अथवा ये भगवान्‌के पदयुगलका आलिङ्गन कर रही हैं। देखो! श्रीकृष्णके चरण-कमलोंको इन्होंने पुष्पोंसे समाच्छादित कर रखा है॥ १५॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्॥ १६॥

अन्य गोपियोंने कहा—यह देखो! इस मेघमण्डलको देखो! सखि! जब व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण बलदेवजी एवं ग्वालबालोंके साथ चिलचिलाती धूपमें व्रज-पशुओंको चराते हुए क्षण-क्षण वंशीवादनमें रत रहते हैं, तब उन्हें देखकर इन मेघोंके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ता है; और ये आकाशमें उदित होकर उनके ऊपर मँडराने लगते हैं। इतना ही नहीं, नन्हे-नन्हे श्वेत कुसुमोंके समान हिम-वर्षणके रूपमें नन्ही-नन्ही फुहारें बरसाते हैं तथा अपने सखा घनश्यामपर छाया करनेके लिए वे श्यामरङ्गके मेघ अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं। इस तरह ये बादल श्रीकृष्णका सम्पूर्णरूपसे सुख विधान करते हैं॥ १६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १७॥

(राधाजीका मादन भाव—) प्यारी भटू! वस्तुतः वृन्दावनकी भीलनियाँ अथवा पुलिन्द कन्याएँ (शबर कामिनियाँ) ही आज धन्य और कृतार्थ हुई हैं। हमारे प्रियतम श्रीकृष्णकी प्रियाओंके वक्षःस्थलपर अनुरञ्जित कुङ्कुम रतिकालमें उनके पद-युगलका स्पर्शकर वैसा ही सौन्दर्य प्राप्त करता है, जैसे श्रीकृष्णके चरण-तलकी अरुणिमा। जब कृष्ण वृन्दावनमें भ्रमण करते हैं, तब यह कुङ्कुम-केसर तृणोंमें संलिप्त हो जाता है। इसे देखकर पुलिन्द-कन्याओंमें काम-व्यथा उदित हो जाती है। तब वे सौभाग्यवती पुलिन्द कन्याएँ इस कुङ्कुमको तृण-तृणसे छुड़ाकर अपने मुख एवं स्तनोंपर लेपन करके अपने हृदयकी काम-व्यथाको शान्त करती हैं॥ १७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८॥

अरी अबलाओ! आहा! यह गिरिराज गोवर्धन धन्यातिधन्य है। यह हरिभक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ है। इसकी क्या प्रशंसा की जाय! यह गोवर्धन पर्वत नयनाभिराम बलराम और प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके अति आनन्दित हो रहा है। (इसकी शिलाएँ शीतकालमें उष्ण एवं ग्रीष्मकालमें शीतल होकर अति सुखदायी हो जाती हैं) यह उन्हें पानीय (झरनोंका जल), उनकी गौओंके लिए हरित, पुलकित एवं उत्तम तृण (घास), उनके विश्रामके लिए कन्दराएँ और भोजनके लिए कन्द-मूल आदि अर्पण करता है तथा बलराम, गौओं एवं ग्वालबालोंके साथ

श्रीकृष्णका बड़ा ही पूजा-सत्कार करता है। यथार्थमें यही अतिशय धन्य है!॥ १८॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्　॥ १९॥

अरी सखियो! क्या कहूँ! ये बलराम (गौरसुन्दर) और श्यामसुन्दर जब अपने गोपाल-सखाओंके साथ गायोंके पैरोंको बाँधनेवाली रस्सी—नोवनाको (इस रस्सीके दोनों अग्रभागोंमें मुक्ताकी लड़ियाँ लटकी होती हैं, जो पगड़ीकी भाँति प्रतीत होती है) सिरपर लपेटकर एवं पाशको (फंदा—भागनेवाली गौओंको पकड़नेके लिए रस्सी) कन्धोंपर धारणकर एक वनसे दूसरे वनमें गोचारण कराते हुए मधुर पदोंसे युक्त उदार (सभी जीवोंके लिए परमानन्ददायी) वंशीकी मधुरातिमधुर तान छेड़ते हैं, तब व्रजवासियोंकी बात तो दूर रहे, शरीरधारियोंमें जो चेतन पशु-पक्षी आदि गतिवान हैं, वे निस्पन्द होकर (चित्र लिखित-से होकर) निश्चलत्व (स्थावर-धर्म) को धारण कर लेते हैं एवं जो स्थावर—पर्वत, तरु, नद-नदियाँ इत्यादि हैं, उनमें रोमाञ्च हो आनेके कारण जङ्गम (चलन) धर्म उपस्थित हो जाता है अर्थात् वृक्षोंमें पुलक आदि उत्पन्न हो जाते हैं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ १९॥

एवम्विधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे वेणुगीतं नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

परीक्षित्! गोपियाँ इस प्रकार एक वनसे दूसरे वनमें विचरण करनेवाले वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्णकी विहार-क्रीड़ाओं एवं

अन्यान्य लीलाओंका वर्णन करतीं और तन्मय हो जातीं (परम प्रेमवती गोपियोंका यह पूर्वराग अतीव विचित्र एवं परम मधुर है)॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

गोप-कन्याओंका कात्यायनी-व्रत, श्रीकृष्ण द्वारा उनका चीर-हरण तथा वरदान

श्रीशुक उवाच—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अब हेमन्त ऋतुका आगमन हुआ। इस ऋतुके प्रथम मासमें अर्थात् अग्रहायणमें नन्द-गोकुलकी गोपकुमारियोंने कात्यायनी देवीकी विधिवत् पूजा एवं व्रत किये। इन दिनों वे केवल हविष्यान्न (बिना हल्दीकी खिचड़ी) ही भोजन करती थीं (कात्यायनी देवी भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तिसे सम्पन्न शक्ति-विशेष हैं। इस स्थलपर गोपकुमारियोंके पूर्वरागका वर्णन किया जा रहा है)॥ १॥

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्॥ २॥
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः॥ ३॥

हे राजन्! वे अरुणोदय-कालमें ही यमुना-स्नान कर लेतीं और जलके समीप तट-प्रान्तमें बालुकामयी कात्यायनीकी प्रतिमाका निर्माण करके सुगन्धित चन्दन, पुष्प-माल्य, धूप, दीप, पूजाके विविध प्रकारके उपकरण, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, पल्लव, फल, तण्डुल एवं नाना प्रकारके उपहारों (वस्त्राभूषण) द्वारा देवीकी पूजा करतीं॥ २-३॥

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः॥ ४॥

ये कुमारियाँ कात्यायनी देवीको (भगवान्‌की पराशक्ति योगमायाको) सम्बोधन करते हुए कहतीं—"हे महामाये (भगवान्‌की महाशक्तिस्वरूपा)! हे महायोगिनी (दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिके समाधानमें परम-समर्था)! हे अधीश्वरी (आपसे बढ़कर अन्य कोई देवता नहीं है)! हे कात्यायनी देवी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये। आपके चरणोंमें हमारा नमस्कार है।" अपनी आराधनामें वे इसी मन्त्रका जप करती थीं॥ ४॥

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः॥ ५॥

इन कुमारियोंका चित्त सदा-सर्वदा श्रीकृष्णमें ही लीन रहता था। उन्होंने इस सङ्कल्पके साथ कि "नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही हमारे पति हों" एक महीने तक व्रत रखा और वृन्दादेवी द्वारा निर्दिष्ट विधिके अनुसार कार्त्तिक पूर्णिमाके दूसरे दिनसे ही भद्रकालीकी (गोकुलेश्वरी दुर्गाकी) भलीभाँति पूजा की॥ ५॥

ऊषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥ ६॥

ये कुमारियाँ प्रतिदिन उषाकालमें (सूर्योदयके चार दण्ड पहले) ही शय्या त्याग कर देतीं और एक-दूसरेका नाम ले-लेकर पुकारते हुए यमुना-स्नानके लिए चल देतीं। जाते समय रास्तेमें परस्पर हाथ पकड़कर उच्च स्वरसे श्रीकृष्णकी लीला-कथाओं और नामोंका सङ्कीर्त्तन करतीं॥ ६॥

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा॥ ७॥

एक बार मासके अन्तिम दिन पूर्णिमापर उन्होंने अन्यान्य दिवसोंके समान अपने पहने हुए वस्त्रोंको उतारा और यमुना नदीके किनारे रखा। अनन्तर कृष्ण-चरितका गान करती हुईं वे बड़े आनन्दपूर्वक जलमें विहार करने लगीं॥ ७॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥ ८॥

परीक्षित्! नारद, शङ्करादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इन व्रजकुमारियोंकी अभिलाषाओंको अच्छी तरह जानते थे। वे अपने सखा (दाम, सुदाम, वसुदाम और किङ्किणी नामक) ग्वालबालोंके साथ उनकी साधनाका फल प्रदान करनेके अभिप्रायसे यमुना-तटपर पहुँचे। (यद्यपि गोपकुमारियोंने श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिए कात्यायनी देवीकी अर्चना की थी एवं कात्यायनी देवी ही उनकी पूजाकी फलदात्री हैं, तथापि समस्त कर्मोंके फलदाता एवं उनकी पूजाके प्रत्यक्ष फलस्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं ही उन्हें फल प्रदान करनेके लिए उनके निकट उपस्थित हुए।)॥ ८॥

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥ ९॥

उन्होंने इन कुमारियोंके सारे वस्त्रोंको उठा लिया और बड़ी फुर्तीके साथ तटपर स्थित एक कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये। यह देख सखा जोर-जोरसे हँसने लगे और वे स्वयं भी हँसते हुए उन कुमारियोंसे परिहासपूर्ण वचन कहने लगे—(बाल्य स्वभाववश अकारण हास्यके द्वारा गोपियोंको अपनी उपस्थितिका ज्ञान कराया है) हे अबलाओ! इस कदम्बकी शाखाओंपर कौन इन वस्त्रोंको बाँध गया है? क्या तुम उसे जानती हो? मुझे दूरसे प्रतीत हुआ कि कदम्बवृक्षपर विचित्र फल लगे हैं, इसलिए मैं देखने यहाँ चला आया॥ ९॥

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः॥ १०॥

अरी कुमारियो! तुम यहाँ आकर इच्छा हो, तो अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। तुम व्रत करनेके कारण परिश्रान्त एवं कृश

(दुबली) हो गयी हो। मैं इसलिए तुम सबसे सत्य बात कह रहा हूँ, परिहास नहीं कर रहा (तुम्हारे यहाँ आनेपर मैं तुम्हारे वस्त्र दे दूँगा)॥ १०॥

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवेति सुमध्यमाः॥ ११॥

हे क्षीण-कटिवाली तरुणियो! मैंने पहले कभी झूठी बात नहीं कही है और अभी भी झूठ नहीं कह रहा हूँ। मेरे ये सखा ग्वालबाल भी यह जानते हैं कि मैं कभी झूठ नहीं बोलता। इसलिए अकेली एक-एक करके आओ अथवा सब मिलकर यहाँ आओ और अपने वस्त्र ले जाओ, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है॥ ११॥

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः॥ १२॥

रसिक-चूड़ामणि श्रीकृष्णके इस परिहासको देखकर गोप-कुमारियोंका हृदय प्रेम-रसमें सराबोर हो गया। वे लज्जासे सकुचाती हुई एक-दूसरीकी ओर देखने और मुसकराने लगीं, परन्तु जलसे बाहर नहीं निकलीं॥ १२॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन्॥ १३॥

जब श्रीकृष्णने इस प्रकार विनोदपूर्ण रीतिसे (हँसी-हँसीमें) बार-बार यही बात कही, तब उनके परिहासमय वचनोंसे कुमारियोंका मन उनकी ओर और भी मुग्ध हो गया। वे शीतल जलमें आकण्ठ निमग्न थीं और शैत्यके कारण थर-थर काँप रही थीं। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—॥ १३॥

माऽनयं भोः कृथास्त्वान्तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥ १४॥

हे प्यारे श्रीकृष्ण! ऐसा अनुचित आचरण करना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। हम जानती हैं कि तुम नन्दबाबाके लाड़ले पुत्र हो, बड़े विख्यात हो। व्रजमण्डलमें सभी तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। तुम हमें भी बहुत प्रिय हो। हमें हमारे वस्त्र दे दो। देखो, हम शीतसे काँप रही हैं॥ १४॥

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे॥ १५॥

प्यारे श्यामसुन्दर! हम तुम्हारी दासी हैं। अतः तुम जो भी कहोगे, हम उन वचनोंका पालन करेंगी। तुम तो धर्मको भलीभाँति जाननेवाले हो। हमें हमारे वस्त्र दे दो, कष्ट मत दो। अन्यथा नन्दबाबाके पास जाकर तुम्हारे इस अनीतिपूर्ण व्यवहारके (स्त्रीधन-हरण) विषयमें हम सब बतला देंगी॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत शुचिस्मिताः।
नोचेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अबलाओ! तुम्हारी मुसकान शुभ, पवित्र और प्रेमसे भरी है। (धर्म परीक्षामें मुख मलिन होता देखकर) सुनो, यदि तुमलोग मेरी दासी हो और मेरी आज्ञाओंका पालन करती हो, तो यहाँ प्रसन्नचित्तसे आओ और अपने-अपने वस्त्र ग्रहण करो, अन्यथा मैं इन वस्त्रोंको दूँगा नहीं। महाराज नन्द क्रोधित हो भी जाएँ, तो मेरा क्या कर लेंगे? (प्रेमवश कुछ भी नहीं कहेंगे।)॥ १६॥

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७॥

परीक्षित्! गोपियाँ ठण्डसे ठिठुर रही थीं। व्रतके कारण उनकी काया भी क्षीण (कमजोर) हो गयी थी। भगवान्‌के वचन सुनकर

वे दोनों हाथोंसे अपने गुप्त अङ्गोंका आच्छादन करती हुईं यमुना-जलसे बाहर निकलीं॥ १७॥

भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्॥ १८॥

गोपियोंके इस प्रकारके शुद्ध-भावको देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हो गये। लज्जाके कारण उन्हें मृतप्राय देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उनके वस्त्रोंको अपने कन्धेपर रख लिया और हँसते हुए प्रेमपूर्वक बोले॥ १८॥

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽंहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥

हे कुमारियो! तुमने व्रतका अवलम्बन करके जो वैदिक अनुष्ठान किया है, उसे तो ठीकसे निभाया है, किन्तु विवस्त्र होकर स्नान करनेके कारण देव-अवज्ञारूप अपराध अर्थात् जलके देवता वरुण एवं यमुनाजीके प्रति अपराध कर बैठी हो। इस पापके निवारणके लिए मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करो, तत्पश्चात् तुम अपने-अपने परिधेय वस्त्रोंको ले सकती हो॥ १९॥

इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रजच्युतिम्।
तत्पूर्त्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः॥ २०॥

श्रीकृष्णकी बात सुनकर व्रजकुमारियोंने मान लिया कि वस्तुतः नग्न-स्नानके कारण हमारे व्रतमें त्रुटि हुई है। अतः मनोकामनाकी पूर्णताके लिए और व्रतकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए उन्होंने उस व्रतके तथा समस्त पुण्य कर्मोंके साक्षात् फलस्वरूप

श्रीकृष्णको ही प्रणाम कर लिया क्योंकि श्रीकृष्ण ही समस्त त्रुटियों, अपराधों एवं पापोंका मार्जन करनेवाले हैं॥ २०॥

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः॥ २१॥

यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आज्ञानुसार कुमारियोंको प्रणाम करते देखकर बड़े सन्तुष्ट हुए। उनके हृदयमें उन व्रजकुमारियोंके प्रति करुणाका उद्रेक हो गया और उन्होंने उनके परिधेय वस्त्रोंको उन्हें प्रदान कर दिया॥ २१॥

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥ २२॥

प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने "हे कुमारियो! निर्वस्त्र होकर स्नान करना अपराध है" आदि वचनोंसे उन्हें छला, "यहाँ आकर निज-निज वस्त्र ग्रहण करो" द्वारा उनकी शील-लज्जाका अपनोदन (विदूरित) किया, "मैं सत्य बोलता हूँ, परिहास नहीं करता" आदि वचनोंसे उनका उपहास किया, "हाथ जोड़कर प्रणाम करो" आदि वचनोंसे उन्हें कठपुतलियोंके समान नचाया, यहाँ तक कि उनके वस्त्र भी हरण कर लिये। इस प्रकारका आचरण किये जानेपर भी गोपियोंने उनके प्रति किञ्चित् भी दोष-दृष्टि नहीं रखी, न ही रुष्ट हुईं, बल्कि अपने प्रियतमके सङ्गका अवसर प्राप्त करके वे और भी प्रसन्न हुईं। उन्होंने उन्हें न तो दोष दृष्टिसे देखा और न ही कोई असूया व्यक्त की॥ २२॥

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः॥ २३॥

परीक्षित्! प्रियतमके सङ्गसे वशीभूत कुमारियोंने वस्त्र तो पहन लिये, परन्तु उनके चित्त श्रीकृष्णके द्वारा सम्पूर्णरूपसे आकृष्ट कर लिये गये थे। अतः वे वहाँसे एक पग भी नहीं चल सकीं। अपनी लजीली-रसीली चितवनसे श्रीकृष्णको निहारती हुई वहीं-की-वहीं खड़ी रह गयीं॥ २३॥

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः॥ २४॥

कुमारियोंने पत्नीके रूपमें श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शकी कामनासे ही कात्यायनी व्रत किया था—भगवान् दामोदर श्रीकृष्ण उनके इस सङ्कल्पको भलीभाँति जानते थे। अतः उनसे कहने लगे—॥ २४॥

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥ २५॥

हे साध्वियो! तुम सबने जो अर्चनरूप सङ्कल्प किया था, वह मेरी पूजाके लिए ही था, उसे तुम लज्जाके कारण कह नहीं रही हो—यह मैं जानता हूँ। मैं तुम्हारे इस सङ्कल्पका अनुमोदन करता हूँ। यह सङ्कल्प अवश्य ही सत्य होगा॥ २५॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेशते॥ २६॥

हे कुमारियो! भुने हुए एवं उबाले हुए जौ आदि धान्य जिस प्रकार पुनः अङ्कुर उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, उसी प्रकार जिन्होंने मेरे प्रति अपने प्राण और चित्त समर्पित कर रखे हैं, उनमें वासना एवं काम सांसारिक भोगोंके लिए नहीं हुआ करते (उनका चित्त तो मुझमें आविष्ट रहता है)॥ २६॥

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥ २७॥

हे अबलाओ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया है। अब तुम व्रजमें लौट जाओ। हे सतियो! तुम सबने जिस फलके उद्देश्यसे

इस कात्यायनी-पूजा-व्रतका पालन किया था, उसीकी सिद्धिके लिए आगामी शरत्-ऋतुकी रात्रियोंमें तुम सब मेरे साथ विहार करोगी॥ २७॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम्॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकारसे आदेश दिया, तब पूर्णकामा कुमारियाँ श्रीकृष्णके पादपद्म-युगलका ध्यान करती हुईं जानेकी इच्छा न होनेपर भी बड़े कष्टसे व्रजमें चली गयीं॥ २८॥

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः॥ २९॥

प्रिय परीक्षित्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण बलराम और ग्वालबालोंसे परिवेष्टित होकर गोचारण कराते हुए वृन्दावनसे बहुत दूर चले गये॥ २९॥

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥ ३०॥

उस समय ग्रीष्म ऋतु थी। सूर्यकी किरणें प्रखर हो रही थीं, वृक्ष अपनी छाया प्रदानकर छत्रका काम कर रहे थे। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने ग्वालबालोंसे कहा—॥ ३०॥

हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालवृषभौजस्विन् देवप्रस्था वरूथप॥ ३१॥
पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान्।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः॥ ३२॥

हे स्तोककृष्ण! हे अंशु! हे श्रीदाम! हे सुबल! हे अर्जुन! हे विशाल! हे ऋषभ! हे तेजस्विन्! हे देवश्रेष्ठ! हे वरूथप! तुमलोग इन वृक्षोंको देखो। ये महाभाग्यवान् हैं। एकमात्र

परोपकारके लिए ही ये जीवन धारण करते हैं। ये स्वयं आँधी, वर्षा, धूप एवं पाला सहन करते हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे हमारी रक्षा करते हैं॥ ३१-३२॥

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः॥ ३३॥

सुनो! ये वृक्ष समस्त जीवोंके ही जीविका-स्वरूप हैं, इसलिए इनका जीवन अति धन्य है। सत्पुरुषोंके पाससे याचक जिस प्रकार कभी खाली हाथ नहीं लौटते, उसी प्रकार इन वृक्षोंके पाससे भी कोई निराश नहीं लौटता॥ ३३॥

पत्रपुष्पफलच्छाया मूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते॥ ३४॥

प्रिय सखाओ! ये पत्र, पुष्प, फल, छाया, जड़, वल्कल (छाल), लकड़ी, पुष्पादिकी गन्ध, निर्यास (गोंद), राख, कोयला, पल्लव आदिके अङ्कुर (कोंपल) प्रदान करके सभीकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं॥ ३४॥

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥ ३५॥

प्यारे सखाओ! इस लोकमें अपने प्राण, धन, बुद्धि एवं वाणी द्वारा सदैव प्राणियोंका मङ्गल करना चाहिये। इसीमें मनुष्यके जन्मकी सफलता मानी जाती है॥ ३५॥

इति प्रवालस्तबक फलपुष्पदलोत्करैः।
तरूणां नम्रशाखानां मध्यतो यमुनां गतः॥ ३६॥

परीक्षित्! इस प्रकार वृक्षोंका अभिनन्दन करते हुए श्रीकृष्ण नयी-नयी कोंपलों, गुच्छों, फल, पुष्प एवं पत्तोंके कारण झुकी हुई शाखाओंसे युक्त वृक्षोंके इधर-उधर विचरण करते रहे और उन्हींके बीचमेंसे निकलकर यमुनाकी ओर निकल आये॥ ३६॥

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः।
ततो नृपः स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम्॥ ३७॥

हे राजन्! यमुनाका जल सुपरिष्कृत, शीतल एवं हितकारी था। उन्होंने पहले गौओंको जल-पान कराया और बादमें स्वयं भी उस जलको पिया। साथमें गोपोंने भी प्रचुर मात्रामें उस सुस्वादु-जलका पान किया॥ ३७॥

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्त्ता इदमब्रुवन्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे यमुनागमनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

हे राजन्! जिस समय श्रीकृष्ण और बलरामके सखा ग्वालबाल यमुनाके समीपस्थ वनमें स्वच्छन्दरूपसे पशुओंको चरा रहे थे, तभी उन्हें भूख लग गयी। अतः वे बलराम और श्रीकृष्णके पास आये और कहने लगे—॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बाईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

यज्ञपत्नियोंपर कृपा

श्रीगोपा ऊचुः—

राम राम महावाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्त्तुमर्हथः॥ १॥

ग्वालबालोंने कहा—हे महाबाहो बलराम! हे दुष्टदमन श्रीकृष्ण! हम भूखसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं, तुमलोग इसकी शान्तिका कुछ उपाय करो॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत्॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने जब ग्वालबालोंकी इस प्रार्थनाको सुना, तो वे मथुराकी भक्तिमती ब्राह्मण-पत्नियोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे इस प्रकार कहने लगे— ॥ २॥

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय ग्वालबालो! समीपमें ही वेदज्ञ ब्राह्मण स्वर्गकी कामनासे आङ्गिरस नामक यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हैं। तुम उसी यज्ञस्थलीपर चले जाओ॥ ३॥

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः।
कीर्त्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम्॥ ४॥

हे गोपसखाओ! मैं ही तुमलोगोंको वहाँ जानेके लिए प्रेरित कर रहा हूँ। अतः तुम्हारे लिए लज्जाका कोई भी कारण नहीं है। मेरे बड़े भाई पूज्यपाद भगवान् बलदेवजीका एवं मेरा नाम

कहनेपर वे तुम्हें दानके अयोग्य नहीं समझेंगे। तुमलोग वहाँ जाओ और उनसे भोजनकी प्रार्थना करो॥ ४॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि॥ ५॥

ग्वालबाल भगवान्‌के आदेशसे उस यज्ञस्थलीपर पहुँचे और बलराम और श्रीकृष्णका नाम लेकर अन्नके लिए निवेदन किया। पहले उन्होंने पृथ्वीपर गिरकर दण्डवत्-प्रणाम किया और हाथ जोड़कर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार प्रार्थना की—(ये याज्ञिक ब्राह्मण हमारे व्रजस्थित ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ हो सकते हैं। इसलिए विनय भाव प्रकाश किया है)॥ ५॥

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः।
प्राप्तान् जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान्॥ ६॥

हे पृथ्वीके मूर्त्तिमान देवताओ! कृपया हमारी बात ध्यानसे सुनें। हम ग्वालबाल हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा और बलदेवजीकी प्रेरणासे हम यहाँ आपके पास आये हैं। यह जान लीजिये। आपका मङ्गल हो॥ ६॥

गाश्चारयन्ताववि‌दूर ओदनं
रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः॥ ७॥

हे ब्राह्मणो! भगवान् बलराम और श्रीकृष्ण गौएँ चराते हुए समीपमें ही आये हैं। उन्हें इस समय भूख लगी है, इसलिए आपसे कुछ अन्न चाहते हैं। आप धर्मका रहस्य जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। उन अन्नप्रार्थी बलराम-कृष्णके प्रति यदि आपकी श्रद्धा हो, तो कुछ अन्न दान करें॥ ७॥

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति॥ ८॥

(दीक्षितोंका अन्न नहीं खाना चाहिये—अतः हमारा अन्न ग्रहण करनेसे दोष होगा—ब्राह्मणोंको यह संशय हो सकता था, इसलिए स्वयं ही कहने लगे—) हे सज्जनश्रेष्ठ ब्राह्मणो! यज्ञ-दीक्षा आरम्भ करके अग्निसोमीय यज्ञमें पशु-वधसे पूर्व दीक्षितका अन्न ग्रहण करनेमें दोष होता है। आपके यज्ञमें यह कार्य पूर्ण हो चुका है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रोंमें और इन्द्र देवताके सौत्रामणि यज्ञ (इन्द्र देवताको प्रसन्न करनेवाला यज्ञ) के अतिरिक्त अन्य यज्ञमें दीक्षित व्यक्तिका अन्न भोजन करनेसे निश्चय ही दोष नहीं होता, इसलिए उन्होंने आपसे अन्नके लिए प्रार्थना की है॥ ८॥

इति ते भगवद् याच्ञां शृण्वन्तोऽपि शुश्रुवुः।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः॥ ९॥

परन्तु इन ब्राह्मणोंने ग्वालबालोंके मुखसे भगवान्‌के लिए अन्नकी प्रार्थनाको सुनकर भी अनसुना कर दिया। वे स्वर्गादि क्षुद्र फलोंकी आशासे बड़े कष्टमय यज्ञादि विस्तृत अनुष्ठानोंमें उलझे हुए थे। वस्तुतः वे ज्ञानकी दृष्टिसे निरे बालक (मूर्ख) ही थे, परन्तु अपनेको बड़ा बुद्धिमान पण्डित समझ रहे थे॥ ९॥

देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः॥ १०॥
तं ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम्।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे॥ ११॥

परीक्षित्! देश, काल, चरु, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ, पुरोडाश आदि (आहुतिके) द्रव्य, विभिन्न कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, तन्त्र (अनुष्ठानकी पद्धति), पुरोहित, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ एवं धर्म—ये सभी जिन भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, दुर्बुद्धि ब्राह्मणोंने उन परब्रह्मरूपी साक्षात् भगवत्-विग्रह अधोक्षज वस्तु श्रीकृष्णको साधारण ग्वाल-बालक समझा और उनका सम्मान नहीं किया॥ १०-११॥

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः॥ १२॥

हे शत्रुदमन राजन्! जब उन ब्राह्मणोंने अन्न-दानके लिए स्वीकार सूचक 'हाँ' या अस्वीकार सूचक 'ना' कुछ भी नहीं कहा, तब ग्वालबाल निराश होकर लौट गये और बलराम-कृष्णके पास जाकर उन्हें सब कुछ बतला दिया॥ १२॥

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयन् लौकिकीं गतिम्॥ १३॥

उनकी बात सुनकर सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे और उन्हें लौकिक रीतिसे समझाने लगे—"इस संसारमें किसी कार्यको साधनेके इच्छुक व्यक्तिको कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। यदि असफलता मिले, तो भी याचकको निरुत्साहित न होकर पुनः प्रयत्न करना चाहिये।" उन्होंने आगे कहा— ॥ १३ ॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम्।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया॥ १४॥

हे गोपगण! तुमलोग एक बार पुनः वहाँ जाकर उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंसे निवेदन करो कि बलदेव और श्रीकृष्ण गोचारणके लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं और कुछ भोज्य-सामग्रीके लिए प्रार्थना कर रहे हैं। ब्राह्मणपत्नियोंका मन सदैव मुझमें ही स्थित रहता है और मेरे प्रति उनका स्वभावतः स्नेहपूर्ण भाव है। अतएव तुम जितना चाहोगे, वे उतना अन्न प्रदान कर देंगी॥ १४॥

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन्॥ १५॥

अतः इस बार ग्वालबाल ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके घर गये और देखा कि वे वस्त्र एवं आभूषणोंसे समलङ्कृत होकर बैठी हैं। (वे सभी कृष्णचर्चामें निरत थीं) उन्होंने उन द्विजपत्नियोंको

प्रणाम किया और उन्हें सम्बोधन करते हुए विनयपूर्वक कहने लगे— ॥ १५ ॥

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम्॥ १६॥

हे विप्रपत्नियो! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप कृपया हमारी बात सुनें। श्रीकृष्ण भ्रमण करते हुए इस स्थानके समीप ही पहुँचे हैं और उन्होंने हमें आपके पास भेजा है॥ १६॥

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥ १७॥

श्रीकृष्ण एवं बलदेव ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए व्रजसे बहुत दूर (यमुना तट स्थित अशोक-काननमें) चले आये हैं। उन्हें और उनके सखाओंको थकानके कारण बड़ी भूख लगी है। आप उनके लिए कुछ भोजन प्रदान कीजिये॥ १७॥

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८॥

परीक्षित्! वे ब्राह्मणपत्नियाँ बहुत दिनोंसे श्रीकृष्णकी मनोहर लीलाओंको सुनती रहती थीं। अतः उनका मन कृष्ण-लीलाओंमें ही आसक्त रहता था। उन्हें उनके दर्शनकी सदैव तीव्र उत्कण्ठा रहती थी। श्रीकृष्णके समीप आनेकी बात सुनते ही वे अति व्यग्र हो गयीं॥ १८॥

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः॥ १९॥

इन विप्र-पत्नियोंने स्वादिष्ट, हितकारी आदि बहुत-से गुणोंसे युक्त चर्व्य, चोष्य, लेह्य एवं पेय—चारों प्रकारकी भोजन-सामग्री पात्रोंमें रख ली और प्रियतम श्रीकृष्णके पास जानेके लिए एक साथ मिलकर ठीक उसी प्रकार निकल पड़ीं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्रसे मिलनेके लिए उसकी ओर प्रवाहित होती हैं॥ १९॥

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः।
भगवत्युत्तमःश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः॥ २०॥
यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते।
विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः॥ २१॥

अहो! ऐसा क्यों न हो; वे बहुत समयसे पवित्रकीर्त्ति श्रीकृष्णके रूप, गुण, लीला, सौन्दर्य आदि दिव्य गुणोंके विषयमें सुनती आ रही थीं, जिसके कारण उनका हृदय श्रीकृष्णके प्रति पूर्णरूपेण आसक्त था। उनके पति, पिता, भाइयों एवं बन्धुओंने उन्हें जानेसे बहुत रोका, परन्तु वे वहाँसे चली ही गयीं। वहाँ जाकर विप्रपत्नियोंने देखा कि अशोक वृक्षके नव पल्लवोंसे सुशोभित यमुनाके उपवनमें बलरामके साथ श्रीकृष्ण ग्वालबालोंसे परिवेष्टित होकर इधर-उधर विचरण कर रहे हैं॥ २०-२१॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥ २२॥

द्विजपत्नियोंने देखा कि श्रीकृष्णके साँवले सलोने शरीरपर सुनहरा पीताम्बर सुवर्णजड़ित नीलमणिकी शोभाको भी पराजित कर रहा है। वक्षःस्थलपर वनमाला दोलायमान हो रही है। उन्होंने मस्तकपर मोरपंख धारण कर रखा है, अङ्ग-प्रत्यङ्गपर खनिज धातुओंकी चित्रकारी कर रखी है और शरीरपर नये-नये प्रवालोंके गुच्छे लगा रखे हैं। इस तरह उन्होंने नटवरका-सा वेश बना रखा है। उनका एक हाथ सखाके कन्धेपर रखा हुआ है और दूसरे हाथसे लीला-कमलको घुमा रहे हैं। कानोंमें कमलके कुण्डल, नीलमणिके दर्पणको भी तुच्छ करनेवाले दोनों कपोलोंपर घुँघराली अलकावली लटक रही है एवं मुखकमल सुमधुर मन्द-मन्द हास्य-रेखासे सुशोभित हो रहा है॥ २२॥

प्रायःश्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै–
र्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं
प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र॥ २३॥

द्विजपत्नियोंने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण और लीला–माधुरी आदिकी उत्कर्षताका बार–बार श्रवणकर अपनी श्रवणेन्द्रियोंको सार्थक कर लिया था। श्रवणमात्रसे ही वे कृष्ण–प्रेममें सराबोर हो चुकी थीं और उनका चित्त श्रीकृष्णमें आविष्ट हो गया था। अब इस समय उन्हें अपने समक्ष पाकर नयन–पथसे उनको हृदयमें प्रवेश कराके मन–ही–मन बहुत देर तक उनका आलिङ्गन करती रहीं। उन्होंने अपने हृदयके तापको इस प्रकार शान्त किया, जिस प्रकार जाग्रत एवं स्वप्नकी 'मैं' और 'मेरी' आदि अहम् वृत्तियाँ सुषुप्ति अवस्थामें तदभिमानी प्राज्ञका (सुषुप्तिके साक्षी जीवात्माका) आलिङ्गन करके उसमें लीन हो जाती हैं, उस समय अहङ्कारादि बाह्य ज्ञान नहीं रहते हैं। *'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त न बाह्य किञ्चन वेद'* अर्थात् परमात्मा द्वारा आलिङ्गित होनेपर आनन्दमयी जीवात्माको बाहरकी कोई सुध–बुध नहीं रहती। (श्रीजीव गोस्वामी पाद कहते हैं कि बद्ध जीव जब किसी परमभागवत प्राज्ञका अपने नेत्रों द्वारा आलिङ्गन करते हैं, तो उनके भी समस्त पाप दूर हो जाते हैं)॥ २३॥

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः॥ २४॥

प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सभीकी बुद्धियोंकी वृत्तियोंके साक्षी हैं तथा सबके हृदयकी बात जानते हैं। भगवान् जानते थे कि ये ब्राह्मणपत्नियाँ सभी विषयोंकी लालसाका परित्याग करके (पति, पिता, पुत्रादि परिजनोंके द्वारा रोके जानेपर भी) मेरे दर्शनकी अभिलाषासे मेरे अनुरागके प्रबल स्रोतमें बहती हुई यहाँ आयी हैं। देववन्दित श्रीकृष्णके मुखपर स्मित–किरणें विकीर्ण हो

रही थीं। वे अपना मनोरथ पूर्ण करनेके लिए उनसे कुछ कहने लगे— ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः॥ २५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे महाभाग्यवती देवियो! तुमलोग सुखपूर्वक आयी हो न! तुम्हारा स्वागत है! तुमलोग आओ, अब तुम्हारे लिए क्या करें, यहाँ कुछ समय तक बैठो। आदेश करो—हम तुम्हारा क्या स्वागत करें? तुमलोग जो शत-शत विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरे दर्शनके लिए यहाँ उपस्थित हुई हो—वह तुम्हारे जैसे स्नेहपूर्ण हृदयवालोंके लिए उचित ही है॥ २५॥

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥ २६॥

निश्चय ही जो कुशल एवं विवेकी पुरुष अपना स्वार्थ ठीकसे देख सकते हैं, वे अपनी आत्माके समान मुझे साक्षात् अपना प्रियतम मानते हैं। उनकी मेरे प्रति सांसारिक कामना-वासना रहित अहैतुकी (फलाभिसन्धान-रहित) और नैरन्तर्यमयी (अविच्छिन्न) निर्मल भक्ति होती है॥ २६॥

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोऽन्वपरः प्रियः॥ २७॥

आत्माके सम्बन्धके कारण ही प्राण, बुद्धि, मन, आत्मीय, देह, स्त्री, पुत्र, धन, स्वजन आदि समस्त सांसारिक वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। उस आत्माके भी आत्मा—परमात्मा मुझ श्रीकृष्णसे अधिक प्रिय वस्तु और क्या हो सकती है? (इस जगत्में सभी अपना हित चाहते हैं, किन्तु वे विविध कामना-वासनाओंके जालमें फँसकर स्त्री, पुत्र, परिजन तथा विषय-वैभवमें आसक्त

होकर जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःखके अधीन हो जाते हैं। अतः जगत्‌के सभी जीव आत्म-हिताकाङ्क्षी होनेपर भी यथार्थ हितके स्थानपर अहितको ही हित समझते हैं। जो हिताहित विचार करनेमें समर्थ हैं, वे मनमोहक विषयोंका भोग परित्यागकर मुझसे ही प्रेम करते हैं)॥ २७॥

तद्यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः॥ २८॥

इसलिए तुम्हारा यहाँ आना यथार्थ ही है। तुमलोग मेरा दर्शन करके कृतार्थ हो गयी हो। अतः अब यज्ञस्थानपर लौट जाओ। तुम्हारे पति ब्राह्मण हैं, गृहस्थ-परायण हैं। तुम्हारे साथ ही वे अपने-अपने यज्ञका सम्पादन कर सकेंगे। अतः उनपर अनुग्रह करनेके लिए अब तुम्हारा लौटना उपयुक्त है। (यह ठीक है कि मुझसे प्रेम करनेवालोंकी घरमें आसक्ति नहीं रहती, परन्तु अब यज्ञानुष्ठानका समय प्रायः व्यतीत हो रहा है। यज्ञमें पूर्णाहुति देनेके लिए तुम्हारा यज्ञस्थलीमें शीघ्र पहुँचना आवश्यक है)॥ २८॥

श्रीपत्न्य ऊचुः—
मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं
केशैर्निर्वोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून्॥ २९॥

विप्रपत्नियोंने कहा—हे विभो! आपको इस प्रकार निष्ठुर बातें नहीं कहनी चाहिये। अब तो आप "जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसे पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता", इन सब श्रुतिवचनों एवं "मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता" आदि अपनी प्रतिज्ञाओंको सत्य कीजिये। हम तो पति, पुत्रादि सभी बन्धु-बान्धवोंको छोड़ करके आपके चरणकमलोंमें इसलिए उपस्थित हुई हैं कि आपके इन पदारविन्दोंमें अवज्ञापूर्वक भी अर्पित

(प्रेयसियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर शय्याके नीचे गिरी हुई) तुलसी-मालाको आपकी दासी बननेके लिए अपने केशोंपर धारण कर सकें॥ २९॥

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद्गतिररिन्दम तद्विधेहि॥ ३०॥

प्रभो! विशेषतः अब हमारे पति, पिता, माता, पुत्र, भाई, जाति, बान्धव कोई भी हमें अङ्गीकार नहीं करेगा, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या कहें! हे अरिन्दम! (हे शत्रुदमन! आपकी प्राप्तिके प्रतिबन्धकके रूपमें जितने भी अनर्थरूपी शत्रु हैं—आप उनका विनाश करें) हम आपके चरणोंमें आ पड़ी हैं, हमारी अन्य कोई गति नहीं है। आप हमें अपना आश्रय दीजिये, अपना दास्य प्रदान कीजिये। हम किसी दूसरेकी शरणमें न जाएँ, ऐसी व्यवस्था कीजिये॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच—

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे विप्रपत्नियो! मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पति, पिता, भ्राता, पुत्र आदि कोई भी बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेंगे, साधारण व्यक्ति भी तुम्हारे ऊपर दोषारोपण नहीं करेगा। उनकी तो बात ही क्या, मेरी कृपा-पात्री होनेसे सारा जगत् तुम्हारा सम्मान करेगा, क्योंकि अब तुम मुझसे युक्त हो गयी हो। देखो, मेरी सर्वेश्वरताके कारण देवता भी मेरा अनुमोदन करेंगे। इसमें किसीकी भी असहमति नहीं होगी॥ ३१॥

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥ ३२॥

देवियो! इस लोकमें मात्र मेरा अङ्ग-सङ्ग ही मानवोंमें सुख अथवा मेरे प्रति अनुरागकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता। (मेरे प्रति विरहजनित उत्कण्ठासे ही मेरे प्रति अतिशय अनुराग बढ़ता है) अतः अब तुम लौट जाओ और अपना मन मुझमें निविष्ट कर दो। इस प्रकार तुम शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर सकोगी॥ ३२॥

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥ ३३॥

और भी देखो, मेरे गुणोंके विषयमें सुननेसे, मेरे श्रीअर्चा-विग्रहका दर्शन करनेसे, मेरे रूपका चिन्तन करनेसे एवं मेरे नाम-गुण-कीर्त्तनसे जिस प्रकारसे मुझमें आसक्ति होती है, निकटमें रहनेसे वैसी नहीं होती। अतः घर लौट जाओ॥ ३३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः।
ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन्॥ ३४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर द्विजपत्नियाँ पुनः यज्ञशालामें लौट आयीं। उनके पतियोंने उनपर किञ्चित् मात्र भी दोष-दृष्टि नहीं रखी और अपनी इन पत्नियोंके साथ यज्ञको सम्पूर्ण किया॥ ३४॥

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥ ३५॥

वहाँ द्विजालयमें एक ब्राह्मणी अपने पति द्वारा घरमें ही बलपूर्वक रोक लिये जानेके कारण श्रीकृष्णके समीप नहीं जा सकी। उसने कृष्णकी जिस रूप-माधुरीके विषयमें श्रवण किया था, उसीका ध्यान करते हुए मन-ही-मन आलिङ्गन किया और कर्मबन्धन-स्वरूप देहका परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने शुद्धसत्त्वमय अप्राकृत शरीरसे (प्रेमानुबन्धन-रूप चिन्मय देहसे) उसने भगवान्के सान्निध्यको प्राप्त कर लिया॥ ३५॥

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान्।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयञ्च बुभुजे प्रभुः॥ ३६॥

इधर प्रभु (भगवान्) गोविन्दने उन ब्राह्मणियोंके द्वारा लाये हुए चारों प्रकारके स्वादिष्ट अन्नसे पहले ग्वालबालोंको भोजन कराया (ग्वालबालोंकी संख्या बहुत थी एवं भोजन कम था, परन्तु श्रीकृष्ण प्रभु हैं अर्थात् सर्वसमर्थ हैं—इसलिए श्रीकृष्णने उस अन्नके द्वारा ही सबका पेट भर दिया) और फिर स्वयं भी भोजन किया॥ ३६॥

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः॥ ३७॥

परीक्षित्! लीलामय नराकृति भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारसे मनुष्योंके समान अभिनय करते हुए अपने निरुपम सौन्दर्य, माधुर्य, मधुरवचन एवं अद्भुत कार्योंके द्वारा गौओं, ग्वालबालों, गोपियों एवं गोपोंको आनन्द प्रदान करते हुए और स्वयं भी अलौकिक प्रेमरसका आस्वादन करते हुए विहार करने लगे॥ ३७॥

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः।
यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः॥ ३८॥

परीक्षित्! जब इन ब्राह्मणोंको अन्तःचेतना हुई, तब वे बहुत अनुताप करने लगे—अरे! हमसे यह क्या हो गया? लौकिक लीला-विस्तारकारी विश्वेश्वर स्वयंविग्रह बलराम और कृष्ण तो छद्म-मनुष्यके रूप धारण किये हुए हैं। उनके अन्न-प्रार्थनाकी रक्षा न कर पानेके कारण हम बड़े अपराधी हो गये हैं। अरे! हमने भगवान्‌की ही आज्ञाका उल्लङ्घन कर डाला॥ ३८॥

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्।
आत्मानञ्च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन्॥ ३९॥

ये ब्राह्मण अपनी पत्नियोंकी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अलौकिक भक्ति एवं स्वयंकी भक्ति-हीनता देखकर बहुत पछताने लगे।

अपनेको धिक्कारते हुए अपनी निन्दा करने लगे—ओह! कृष्ण-भक्ति जगत्में अति विरल या असम्भव है॥ ३९॥

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् यत्तद्धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ ४०॥

वे कहने लगे—हाय! हाय! हम अधोक्षज भगवान्से ही विमुख हैं। हाय! हाय! हमें धिक्कार है। हमारे शौक्र (ऊँचे कुलमें जन्म लेना), सावित्र्य (ब्राह्मण-दीक्षा) तथा दैक्ष्य (वैदिक यज्ञ करते समय दीक्षा) तीनों ही प्रकारके जन्मोंको धिक्कार है। हमारे ब्रह्मचर्यादि व्रत, बहुत-से शास्त्रोंका ज्ञान, कुलीनता और कर्म-काण्डोंमें निपुणताको हाय! धिक्कार है! धिक्कार है! ये स्त्रियाँ कृष्णानुरागिणी होनेके कारण सदैव आदरणीया हैं, हमारी गुरु हैं। हम तो अन्धकूपके समान संसारमें ही पड़े रह गये। इन्हें तो मनके द्वारा भी भार्या या पत्नी समझना उचित नहीं है॥ ४०॥

नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः॥ ४१॥

अरे भाई! भगवान्की माया बड़े-बड़े योगियोंको भी मोहमें डाल देती है। यही कारण है कि हम मनुष्य-लोकमें श्रेष्ठ-जाति ब्राह्मण और लोगोंके गुरु होकर भी अपने परमार्थ-विषयमें मोहित हो गये। अपना सच्चा स्वार्थ ही भूल बैठे॥ ४१॥

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्॥ ४२॥

अहो! जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णमें जिस अगाध प्रेम और अखण्ड अनुरागका उदय होनेपर 'गृह' नामक मृत्युपाश छिन्न-भिन्न हो जाता है, कितने आश्चर्यकी बात है कि इन स्त्रियोंकी उनके प्रति वैसी भक्ति है, वैसा ही प्रेम है—देखो तो सही॥ ४२॥

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः॥ ४३॥

तथापि ह्युत्तमःश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि॥ ४४॥

इन स्त्रियोंका न तो द्विज-योग्य कोई उपनयन संस्कार हुआ है, न ही उन्होंने गुरु-गृहमें वास किया है, न ही तपस्या की है और न ही आत्म-मीमांसा, न इन्होंने शौचका अनुष्ठान किया है और न ही मङ्गलदायक सन्ध्या-वन्दनादि कुछ भी किया है, तथापि उत्तमश्लोक महायोगी श्रीकृष्णके प्रति इनमें दृढ़ भक्तिका उदय हुआ है। और हम, हमारे तो उपनयनादि समस्त संस्कार हुए हैं, हमने सारी विधियाँ और अनुष्ठान यथारीति सम्पन्न किये हैं, तब भी हममें ऐसी भक्तिका उदय नहीं हुआ॥ ४३-४४॥

ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः॥ ४५॥

हाय! हम आसक्तिके कारण सदा-सर्वदा घरके कार्योंमें ही उलझे रहे और परमार्थसे नितान्त विमुख होकर विपथ हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण सज्जनोंके आश्रय हैं। अहो, उन्होंने गोपोंके मुखसे अन्न-प्रार्थनाके द्वारा हमें परमार्थका स्मरण कराया! देखो, कैसा आश्चर्य है? भक्तवत्सल भगवान्‌की कैसी अद्भुत कृपा है!॥ ४५॥

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद्विडम्बनम्॥ ४६॥

कैवल्यादि सम्पूर्ण मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले पूर्णकाम, सर्वमङ्गल-विधाता भगवान्‌को हम जैसे मनुष्योंसे—जो सम्पूर्णतः उनके वशीभूत हैं—प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता थी? हमपर अहैतुकी दया करनेके उद्देश्यसे ही उन्होंने याचनाका लीलाभिनय मात्र किया था। (अपने अधीन जनोंसे अन्नकी भिक्षा करना अतिशय विडम्बना मात्र है।)॥ ४६॥

हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत्।
स्वात्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी॥ ४७॥

स्वयं लक्ष्मीजी भी जिनके चरण-कमलोंके स्पर्शकी कामनासे अन्य देवताओंका परित्याग करके गर्व, चञ्चलता आदि दोषोंका परिहार करके स्थिर भावसे नित्य-निरन्तर उनकी सेवा करती रहती हैं—ऐसे उन भगवान्का हमलोगोंसे अन्न माँगना हम लोगोंको मोहित करनेके अतिरिक्त और किसलिए हो सकता था?॥ ४७॥

देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः॥ ४८॥

स एव भगवान् साक्षाद्विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः।
जातो यदुष्वित्याश्रृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे॥ ४९॥

यज्ञसे सम्बन्धित शुभ स्थान एवं मुहूर्त्त, विविध द्रव्य, उन-उन कर्मोंसे नियुक्त वैदिक मन्त्र, पुरोहित, यज्ञ-अग्नियाँ, देवता, यजमान, यज्ञ, हवि एवं यज्ञसे उत्पन्न शुभ फल जिनके स्वरूपभूत हैं, जो महायोगियोंके भी अधिपति हैं, वे विष्णुरूपी साक्षात् भगवान् ही यदुकुलमें अवतरित हुए हैं—इस विषयमें सुनकर भी अपनी अज्ञानताके कारण हम उन्हें पहचान नहीं पाये॥ ४८-४९॥

तस्मै नमो भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥ ५०॥

भगवान् अचिन्त्य और अनन्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं। उनकी माया-शक्तिसे हमारा चित्त मोहित हो गया है और हम इन यज्ञ-यागादि कर्म-मार्गमें भटक रहे हैं। जिनका ज्ञान कदापि नष्ट नहीं होता, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको हम पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं॥ ५०॥

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम्॥ ५१॥

हमें धिक्कार है! हम उनकी ही मायासे मुग्ध होकर उनके भगवत्-प्रभावको जान नहीं पाये। वे आदि-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण निश्चय ही हमारे इस अपराधको क्षमा कर देंगे॥ ५१॥

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः।
दिदृक्षवो व्रजमथ कंसाद्भीता न चाचलन्॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीयज्ञपत्न्युपचर्याग्रहणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

परीक्षित्! श्रीकृष्णकी अवज्ञा करनेवाले ये ब्राह्मण अपने पूर्वोक्त अपराधका स्मरण कर-करके बहुत पछताते रहे। उनके हृदयमें भगवान्‌के दर्शनकी अभिलाषा हो रही थी, परन्तु कंससे भयभीत होनेके कारण व्रजमें जानेका साहस न कर सके। कहा जाता है कि कंसके भयसे उन्होंने अपने घरोंमें ही श्रीकृष्णकी पूजा की। भक्त-चूड़ामणि ब्राह्मणियोंकी कृपासे याज्ञिक ब्राह्मणोंका महागर्वरूपी पर्वत चूर्ण हो गया और वे भक्ति-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तेईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

इन्द्रयज्ञका निवारण और गोवर्धन-यज्ञका प्रवर्त्तन

श्रीशुक उवाच—

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवके साथ वृन्दावनमें रहते हुए अनेक लीलाएँ कर रहे थे। एक दिन उन्होंने देखा कि सारे गोप इन्द्र-यज्ञका आयोजन कर रहे हैं॥ १॥

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद्वृद्धान् नन्दपुरोगमान्॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वान्तर्यामी एवं सर्वसाक्षी हैं। वे सब जानते थे, तब भी इन्द्र-यज्ञकी प्रस्तुतियाँ (तैयारियाँ) देखकर नन्द बाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंके पास गये और नम्रतापूर्वक पूछने लगे॥ २॥

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः।
किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः॥ ३॥

पिताजी! यह सब प्रस्तुति किसलिए हो रही है? कोई बड़ा भारी यज्ञ या महोत्सव आ पहुँचा है क्या? आप यदि यज्ञ कर रहे हैं, तो किस उद्देश्यसे कर रहे हैं, इस यज्ञका फल क्या है? इसका देवता कौन है और कौन इसका अधिकारी है? इन सामग्रियोंके द्वारा यज्ञ कौन करेगा? ये सारी बातें मुझे बतलाइये॥ ३॥

एतद्ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः।
नहि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह।
अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम्॥ ४॥

इस विषयको जाननेके लिए मुझमें परम कौतूहल हो रहा है। मैं सब सुनना चाहता हूँ। इसके बाद भी जब उन्होंने देखा कि पिताजी मौन धारण किये हुए हैं, तो वे पुनः कहने लगे—जो सर्वत्र आत्मदृष्टिसे सम्पन्न रहते हैं, अपने-परायेका भेद नहीं रखते, सभीको अपना मानते हैं, मैत्री, उदासीनता अथवा विद्वेषके भावसे रहित हैं—ऐसे साधुस्वभाववाले मनुष्य जगत्में किसी बातको छिपाते नहीं है॥४॥

उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते॥५॥

जो भेददृष्टिसे युक्त हैं, वे यद्यपि उदासीन पुरुषोंका शत्रुकी भाँति वर्जन करते हैं, अर्थात् उन्हें मन्त्र आदि रहस्यकी बातें नहीं बतलाते, तथापि वे सुहृद् जनोंको अपना मानकर उनपर विश्वास करते हैं और उन्हें रहस्यपूर्ण बातें भी बतला दिया करते हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ, सुहृद् हूँ, आत्मतुल्य हूँ, विश्वसनीय हूँ, अतः मुझसे रहस्य छिपाना उचित नहीं॥५॥

ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत्॥६॥

जगत्में कुछ लोग अपने कर्त्तव्य कर्म और उसके फलादि जितने भी विषय हैं, उन्हें तो जानते हैं, परन्तु उन कर्मोंका अनुष्ठान किस प्रकार किया जाय—इस तत्त्वको भली भाँति नहीं जानते। जो सम्पूर्णरूपसे समझ-बूझकर कर्म करते हैं, उनके कर्म जिस प्रकारसे सुसम्पन्न होते हैं, बिना सोच-विचारकर कर्म करनेवालोंकी उस प्रकारसे फलकी सिद्धि नहीं होती। आपको भी गतानुगतिक (लौकिक परम्पराके) मार्गपर न चलकर सुहृदोंके साथ विचार-विमर्शकर कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये॥६॥

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः।
अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम्॥७॥

मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप इस यज्ञ-कार्यका अनुष्ठान शास्त्र-सम्मत विचारसे कर रहे हैं अथवा केवल लौकिक-विचार-परिपाटी मात्रसे कर रहे हैं। मुझे स्पष्टरूपसे युक्तिके साथ बतलाइए॥ ७॥

श्रीनन्द उवाच—

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्त्तयः।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः॥ ८॥

श्रीनन्दमहाराजने कहा—वत्स! भगवान् इन्द्रदेव पर्जन्यरूप (वर्षा-रूप) हैं और मेघ उनकी अपनी प्रिय मूर्त्ति-स्वरूप हैं। वे मेघोंके द्वारा स्थावर-जङ्गमादि सभी प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं मृतप्रायः तृणादिमें प्राणोंका सञ्चार करनेवाला जल बरसाते हैं॥ ८॥

तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम्।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः॥ ९॥

हे वत्स! हम और दूसरे लोग भी मेघाधिपति ईश्वर इन्द्रदेवकी यज्ञोंके द्वारा आराधना करते हैं और इन यज्ञोंके लिए जिन धान्यादि द्रव्योंका उपयोग किया जाता है, वे उनके द्वारा की गयी शक्तिशाली वृष्टिसे ही उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे।
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः॥ १०॥

इन यज्ञोंका सम्पादन करनेके बाद जो अन्न अवशिष्ट रहता है, उसीके द्वारा ही हम सब जीवन धारण करते हैं और त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म एवं काम) की सिद्धि कर पानेमें सक्षम होते हैं। यदि कहो कि खेती आदि संसारकी जीविकाके साधन हैं, तो भी मेघ ही इन खेती आदि कर्मोंका फल प्रदान करते हैं॥ १०॥

य एनं विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।
कामाद्द्वेषाद्भयाल्लोभात् स वै नाप्नोति शोभनम्॥ ११॥

प्रिय तात! जो व्यक्ति कामवश (स्वेच्छासे), लोभ (द्रव्य-व्यय होनेके डरसे), भय (विरोधी लोगोंके भयसे) अथवा द्वेष-वश (देवता-विषयक द्वेष) के कारण कुलपरम्पराके वृद्ध जनों द्वारा प्रवर्त्तित इन धर्मोंका परित्याग कर देता है, उसका निश्चय ही लोकमें अथवा परलोकमें कभी मङ्गल नहीं होता॥ ११॥

श्रीशुक उवाच—

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम्।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् केशवने नन्दमहाराज एवं अन्यान्य व्रजवासियोंकी इस प्रकारकी बातें सुनकर इन्द्रको क्रोधित करने एवं उसके गर्वको धराशायी करनेके उद्देश्यसे नन्द महाराजसे कहा॥ १२॥

श्रीभगवानुवाच—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥ १३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पिताजी! इस लोकमें जीव कर्मोंके अधीन होकर जन्म-ग्रहण करते हैं और कर्मोंके आधारपर ही उनकी मृत्यु होती है। कर्मोंसे ही वे सुख-दुःख, भय एवं शुभोंके साधनोंको (निमित्तोंको) प्राप्त करते हैं॥ १३॥

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्त्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्त्तुः प्रभुर्हि सः॥ १४॥

यद्यपि सभीको कर्मोंका फल प्रदान करनेवाले एक ईश्वर ही सबके नियन्ता हैं, तो भी जिन्होंने कर्म आदिका अवलम्बन किया है, ईश्वरको उन कर्म करनेवालों पर आश्रित रहना पड़ेगा, तभी वे उन्हें कर्मोंका फल प्रदान कर सकते हैं। कर्मरहित अर्थात् अकर्त्ता व्यक्तिको फल-दान कदापि नहीं देखा जाता॥ १४॥

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्त्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्त्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥ १५॥

इस लोकमें जीवमात्र अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहा है। उनके पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये हुए संस्कारोंसे उत्पन्न भाग्यको बदलनेमें इन्द्र भी समर्थ नहीं है। अतः इन्द्रसे तब क्या प्रयोजन है?॥ १५॥

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्त्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १६॥

जीवमात्र ही स्वभाव (पूर्व-संस्कारों) के अधीन है और वह अपने उसी स्वभावका अनुसरण करता है। देव, असुर और मनुष्य आदिके साथ निखिल ब्रह्माण्ड ही स्वभावमें अवस्थित है। (अपने-अपने स्वभावके अनुसार जीव कर्ममें स्वयं ही प्रवर्त्तित होता है, इसमें अन्तर्यामीकी क्या आवश्यकता है?)॥ १६॥

देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥ १७॥

जीव अपने कर्मोंके अनुसार ही देव, तिर्यक् आदि विविध देहोंको प्राप्त होता है और कर्मोंकी अधीनतासे ही पुनः उनका त्याग कर देता है। कर्मोंके अनुसार ही जीव किसीको शत्रु, किसीको मित्र और किसीको उदासीन मानता है। कर्म ही साक्षी है, कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर है। (ईश्वर मानकर इन्द्र आदि भिन्न-भिन्न देव-देवियोंकी उपासना निरर्थक है। जो कर्म-परतन्त्र नहीं हैं और निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ स्वतन्त्र भगवान् हैं, उन्हींकी सेवा, पूजा या आराधना सर्वशास्त्र-सम्मत है।)॥ १७॥

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्त्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥ १८॥

इसलिए हे पिताजी! पूर्व संस्कारोंके अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें रहता हुआ मनुष्य अपने-अपने वर्णों और आश्रमोंमें विहित धर्मोंका पालन करता हुआ कर्मकी ही आराधना करे। जिसके आश्रयसे सुखपूर्वक जीविकाका निर्वाह होता है, वही मनुष्योंका इष्ट-देवता है (प्रत्येक व्यक्तिको

अपने-अपने स्वभावके अनुसार कर्म करते हुए कर्मको सम्मान देना चाहिये)॥ १८॥

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति।
न तस्माद्विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा॥ १९॥

असती (व्यभिचारिणी) नारी जिस प्रकार अपने पतिके आश्रयमें रहकर भी गोपनरूपसे पर-पुरुषकी सेवा करके कभी भी कल्याणको प्राप्त नहीं करती, उसी प्रकार मानव भी एक वस्तुको जीवनके निर्वाह-स्वरूपमें स्वीकारकर किसी दूसरी वस्तुकी सेवा करता है, तो वह कल्याणका भागी नहीं बनता। (एक देवकी आराधनासे तृप्त न होनेपर दूसरे देवकी आराधनासे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। पिता द्वारा इन्द्रकी आराधना शास्त्र-सम्मत न होनेके कारण श्रीकृष्ण क्रोधाविष्ट हुए हैं)॥ १९॥

वर्त्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्त्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥ २०॥

ब्राह्मण वेदोंके पठन-पाठन द्वारा, क्षत्रिय पृथ्वी-पालनके द्वारा, वैश्य कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन द्वारा और शूद्र द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) की सेवाके द्वारा जीवन निर्वाह करें। (कोई भी विपत्ति आनेपर हम कृषि या वाणिज्य आदि वृत्तियोंको स्वीकार नहीं करते हैं। ब्राह्मणोंके देवता वेदशास्त्र हैं, क्षत्रियोंके लिए पृथ्वी देवता है, वैश्योंके देवता कृषि, वाणिज्य इत्यादि हैं तथा शूद्रके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ही देवता हैं)॥ २०॥

कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्त्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ २१॥

कृषि, वाणिज्य, गो-रक्षा एवं व्याज लेना—ये चार वैश्योंकी जीविका होनेपर भी हमलोग उनमेंसे सर्वदा केवल गोपालनको ही अपनी जीविकाका साधन बनाते चले आये हैं (हमारे लिए गायें ही देवता होनेके कारण हमारी पूज्या हैं)॥ २१॥

सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥ २२॥

सत्त्व, रज एवं तमोगुण जगत्की स्थिति, सृष्टि एवं विनाशके कारण हैं। रजोगुणसे यह विश्व उत्पन्न होता है और स्त्री-पुरुषके संयोगसे विविध प्राणियोंकी सृष्टि होती है॥ २२॥

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति॥ २३॥

इसी रजोगुणसे मेघ सञ्चालित होकर सर्वत्र जल वर्षण करते हैं और इसी जल द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है और इस अन्नसे ही प्रजा जीवन धारण करती है। प्रजा-रक्षणमें इन्द्रका क्या लेना-देना? वह तो प्रजाकी रक्षाके लिए कुछ भी (उपकार या अपकार) नहीं करता है॥ २३॥

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः॥ २४॥

हे पिताजी! हमारे लिए नगर, जनपद, गाँव अथवा घर कुछ भी तो मङ्गलदायी नहीं है। वन-वनमें गोचारण करानेके कारण हम वनवासी हैं, इसलिए सदा-सर्वदा ही वन एवं पर्वतोंमें ही रहते आये हैं। गायोंकी वृद्धि गोवर्द्धनके अधीन है, इसलिए हमारे लिए गिरिराज गोवर्द्धन (पर्वत) ही पूज्य हैं॥ २४॥

तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः॥ २५॥

अतः हम गाय (जीविकाके लिए प्रधान उपाय-स्वरूप), ब्राह्मण (इनका आशीर्वाद हमारे लिए प्रत्यक्ष फल देनेवाला) एवं पर्वतोंके (गायोंके लिए तृण, जल आदि प्रदान करनेके कारण परम उपकारी) उद्देश्यसे यज्ञ आरम्भ करें। इन्द्र-यज्ञके लिए जो सामग्रियाँ एकत्रित की गयी हैं, उन्हींके द्वारा इस यज्ञका अनुष्ठान किया जाय॥ २५॥

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥ २६॥

खीरसे आरम्भ करके मूँगकी दाल तक, गेहूँसे प्रस्तुत पीठे, पुआ, पूरी, पापड़ आदि पकवान बनवाये जायँ एवं समस्त व्रजवासी गायोंका दोहन करके दूध, दही आदि संग्रह करके यहाँ ले आयें (खीर शीतल होनेपर ही स्वादिष्ट होती है। इसलिए सर्वप्रथम खीर ही बनायी जाए)॥ २६॥

हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुगुणं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः॥ २७॥

वेदपारङ्गत ब्राह्मण यज्ञ-अग्निमें यथोचितरूपसे होम करें। इन ब्राह्मणोंको बहुत-से गुणोंसे युक्त उत्तम अन्न एवं धेनुएँ दक्षिणामें दी जायँ॥ २७॥

अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डाल-पतितेभ्यो यथार्हतः।
यवसञ्च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः॥ २८॥

कुत्ते, चाण्डाल और पतित व्यक्तियोंको भी यथायोग्य दान दिया जाय। गायोंको चारा दिया जाय और तब गिरिराज गोवर्धनकी बड़े आदरपूर्वक पूजा करते हुए नैवेद्यकी सामग्री समर्पण कर भोग लगाया जाए॥ २८॥

स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः।
प्रदक्षिणाञ्च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान्॥ २९॥

तदनन्तर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने जायँ, मनोरम अलङ्कार धारण किये जायँ, चन्दनादिका अनुलेपन किया जाय और तब गायों, ब्राह्मणों, अग्नियों एवं गोवर्धन पर्वतकी प्रदक्षिणा की जाय॥ २९॥

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यञ्च दयितो मखः॥ ३०॥

पिताजी! मेरा यह विचार यदि आपलोगोंको रुचिकर लगे, तो इसी प्रकारसे अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाय। ऐसा यज्ञ गो, ब्राह्मणादि एवं गिरिराजको अत्यन्त प्रिय होगा और मेरे लिए भी प्रीतिजनक होगा (प्रत्यक्षरूपसे उपकार करनेवाले इन सबका परित्याग करके स्वर्गवासी देवराज इन्द्रकी पूजा करना मेरे बाल-मतमें किसी भी प्रकारसे युक्ति-युक्त नहीं है। अब आप जैसा उचित समझें, वैसा ही अनुष्ठान करें)॥ ३०॥

श्रीशुक उवाच—

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसया।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः॥ ३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—कालस्वरूप भगवान्‌ने इन्द्रके मिथ्या गर्वको खण्डित करनेकी इच्छासे जब इस प्रकारसे कहा, तो नन्द बाबा आदि गोपोंने उनके प्रस्तावको "यह उत्तम है, यह उत्तम है" कहकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया॥ ३१॥

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान्॥ ३२॥

उपहृत्य बलीन् सम्यगादृता यवसं गवाम्।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम्॥ ३३॥

मधुसूदन श्रीकृष्णने जैसा कहा था, उसीके अनुसार गोपोंने सारा अनुष्ठान किया। सर्वप्रथम ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्तिवाचन कराया गया। तत्पश्चात् इन्द्रके उद्देश्यसे प्रस्तुत सामग्रियोंको गिरिराज गोवर्धनको अर्पण किया गया और उसी सामग्रीमेंसे ब्राह्मणोंकी पूजाकर उन्हें भेंटें दी गयीं। गायोंको बड़े आदरके साथ हरी-भरी घासका चारा दिया गया। स्वयं भी प्रसाद ग्रहण करके गाय-बछड़े एवं बैलोंको आगे करके नन्दबाबा आदि सभी गोपोंने गिरिराज गोवर्धनकी परिक्रमा की॥ ३२-३३॥

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः॥ ३४॥

ब्राह्मणोंका प्रचुर शुभाशीर्वाद प्राप्तकर गोपोंने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और उत्तम अलङ्कार पहन लिये और गोपियाँ भी भली भाँति सजधजकर वृषभ-वाहित शकटों पर (बैल-गाड़ियोंपर) आरूढ़ होकर भगवान् श्रीकृष्णका माहात्म्य एवं गोवर्धन-धारण आदि लीलाओंका गान करती हुईं परिक्रमा देने लगीं॥ ३४॥

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरिबलिमादद्बृहद्वपुः॥ ३५॥

उस समय श्रीकृष्ण गोपोंको विश्वास दिलानेके लिए गिरिराज पर्वतके ऊपर एक और विशाल आकार धारण करके प्रकट हो गये तथा 'मैं गिरिराज पर्वत हूँ', 'मैं इस देशका अधिपति हूँ', 'तुम लोगोंकी भक्तिसे प्रसन्न होकर आज मैं प्रकट हो गया हूँ', 'मुझसे वर माँगो'—इस प्रकार कहते हुए समर्पित नैवेद्यको सहस्र हाथोंसे प्रचुर मात्रामें ग्रहण करने लगे॥ ३५॥

तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रे आत्मनात्मने।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात्॥ ३६॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने व्रजवासियोंके साथ अपने उस दूसरे विशाल स्वरूपको (स्वयंको) प्रणाम किया और फिर वे गोपोंसे कहने लगे—यह देखो! गिरिराज गोवर्धनका हमारे ऊपर कितना अनुग्रह है! ये तो साक्षात्रूपमें प्रकट हो रहे हैं। कैसा आश्चर्य है!॥ ३६॥

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम्॥ ३७॥

ये गोवर्धन अपनी इच्छानुसार गाय, मयूर, सर्पादि विविध रूप धारण कर सकते हैं। जो वनवासी जीव इनका अनादर करते हैं, ये उनका विनाश कर डालते हैं। आओ, हम सब अपने एवं गायोंके कल्याणके लिए इन्हें प्रणाम करें॥ ३७॥

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रचोदिताः।
यथा विधाय ते गोपा सहकृष्णा व्रजं ययुः॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे इन्द्रमखभङ्गो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

श्रीकृष्णकी प्रेरणासे नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने इस प्रकार गोवर्धन पर्वत, गौओं एवं ब्राह्मणोंके पूजन-यज्ञको सम्यक्‌रूपेण सम्पन्न किया और श्रीकृष्णके साथ व्रजमें लौट आये (इस प्रसङ्गमें मीमांसा-मत ग्रहण करके कर्मका जो प्राधान्य दिखाया गया है—वह इन्द्रका क्षोभ बढ़ानेके लिए है, यथार्थतः यह अभीष्ट नहीं है। गोवर्धन-यागके प्रवर्त्तनके लिए ही कृष्णने इन मतोंकी अवतारणा की है। श्रीगोवर्धन पर्वत कृष्णदासवर्य हैं। जिन वैष्णवोंके लिए कार्त्तिक मासकी शुक्ल-प्रतिपदामें गोवर्धनकी पूजा-अर्चना सम्भव नहीं हो पाती, वे गोबर द्वारा गोवर्धन गिरिका स्वरूप निर्माण करके उनका महा-अर्चन—महाभिषेक करें)॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौबीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चविंशोऽध्यायः

क्रोधित इन्द्रका मुसलाधार वारि-वर्षण एवं वज्रपात तथा श्रीकृष्णका गोवर्धनधारण

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रस्तदाऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप ह॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इन्द्रको जब यह पता चला कि "मेरी परम्परागत पूजा कहीं और समर्पित हो गयी है", तब वे श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व एवं रक्षक माननेवाले नन्दबाबा आदि गोपोंके प्रति क्रोधित हो गये॥ १॥

गणं सांवर्त्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम्।
इन्द्रः प्राचोदयत् क्रुद्धो वाक्यञ्चाहेशमान्युत॥ २॥

इन्द्रको मिथ्याभिमान था कि "मैं ही त्रिलोकीका ईश्वर हूँ।" उन्होंने अत्यन्त क्रोधित होकर सांवर्त्तक नामक प्रलयकारी मेघोंको व्रजपर आक्रमण करनेकी आज्ञा देते हुए कहा—॥ २॥

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम्।
कृष्णं मर्त्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम्॥ ३॥

अहो! इन वनवासी गोपोंमें यह कैसा धनका गर्व जन्मा है? अहे! इन्होंने साधारण-से मनुष्य श्रीकृष्णके बलपर मेरे यज्ञका वर्जन कर दिया। भला देखो तो! मुझ देवराजके प्रति ही अपराध कर डाला॥ ३॥

यथाऽदृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्॥ ४॥

इस जगत्में बहुत-से अज्ञ व्यक्ति जिस प्रकारसे आत्मानुसन्धानरूप आत्मविद्याको छोड़कर अदृढ़ (टूटी-फूटी), कर्मजात नाममात्रकी

यज्ञरूप नौका द्वारा भवसागरको पार करनेकी इच्छा करते हैं, उसी प्रकारसे ये गोप भी ब्रह्मविद्याका परित्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय लेकर कर्ममय यज्ञोंके द्वारा भव-समुद्रको पार करना चाहते हैं॥ ४॥

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥ ५॥

अरे! यह कृष्ण वाचाल, शिशु-स्वभाव, अभिमानी, अविनीत, और मूर्ख है; तो भी अपने-आपको पण्डित मानता है। इन गोपोंने ऐसे साधारण-से कृष्णके बलपर मुझ देवदलनकी अवहेलना की है॥ ५॥

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मापितात्मनाम्।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत सङ्क्षयम्॥ ६॥

ये गोप धनके गर्वसे बड़े मतवाले हो रहे हैं और दूसरा कृष्णसे इन्हें और बढ़ावा मिल रहा है। अतः तुम सब जाओ और इनके धनके घमण्डको ध्वस्त कर दो, इनके पशुओंका विनाश कर डालो और इनकी ठसक (हेकड़ी) को धूलिसात् कर दो॥ ६॥

अहञ्चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम्।
मरुद्गणैर्महावेगैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥ ७॥

और मैं भी नन्दगोपके गोष्ठको विध्वंस करनेके लिए ऐरावत हाथीपर चढ़कर प्रचण्ड वेगशाली और महापराक्रमी मरुद्गणोंके साथ तुम्हारे पीछे-पीछे ही आ रहा हूँ॥ ७॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा॥ ८॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—इन्द्रने मेघोंको इस प्रकार आदेश दिया तथा क्रोधवश विवेकशून्य होकर प्रलयङ्कारी मेघोंके बन्धन खोल

दिये (सांवर्त्तक मेघोंका बन्धन प्रलय-कालमें ही खोला जाता है)। तब वे बड़े वेगके साथ मूसलाधार वर्षाके द्वारा नन्दगोपके गोकुलको उत्पीड़ित करने लगे॥ ८॥

विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः॥ ९॥

इन बादलोंके बीच-बीचमें बिजलियाँ चमकने लगीं, बादल स्वयं आपसमें टकराकर वज्रपात करते हुए भयङ्कर गर्जनाएँ करने लगे। महाप्रचण्ड आँधीकी प्रेरणासे वे बादल व्रज-प्रदेशमें शिलाखण्डों (ओलों) की बरसात करने लगे॥ ९॥

स्थूणास्थूलावर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वमीक्ष्णशः।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम्॥ १०॥

इस प्रकार दल-के-दल मेघ लगातार खम्भोंके समान मोटी-मोटी जल-धाराओंके द्वारा वर्षा करने लगे। सम्पूर्ण व्रज-भूमि जलसे प्लावित हो गयी। भूमि कहाँ ऊँची है, कहाँ नीची है—कुछ दिखायी नहीं दे रहा था॥ १०॥

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः।
गोपा गोप्यश्च शीतार्त्ता गोविन्दं शरणं ययुः॥ ११॥

इस प्रकार विकट जलधाराओं एवं प्रचण्ड झञ्झावातके असह्य वेगसे पशु ठिठुरने और काँपने लगे तथा गोप-गोपियाँ भी प्रचण्ड शीतसे आर्त्त एवं व्याकुल हो गये। तब वे सब श्रीकृष्णकी शरणमें पहुँचे॥ ११॥

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः॥ १२॥

मूसलाधार वर्षासे पीड़ित एवं कम्पित पशुओंने अपने सिरों एवं अपने बच्चोंको अपने शरीरोंसे यत्नपूर्वक आच्छादित कर रखा था और वे भी काँपते-काँपते भगवान्के चरणोंमें उपस्थित हुए॥ १२॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल॥ १३॥

गोप, गोपी सभी व्रजवासी श्रीकृष्णसे कहने लगे—हे महाभाग श्रीकृष्ण! यह समस्त गोकुल-धाम और हम सभी तुम्हारे ही अधीन हैं। हे भक्तवत्सल! अब तो इन्द्रके कोपसे तुम ही हमारी रक्षा कर सकते हो॥ १३॥

शिलावर्षातिवातेन हन्यमानमचेतनम्।
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः॥ १४॥

व्रजवासियोंके इस निवेदनसे पहले ही भगवान्‌ने देख लिया था कि ओलोंकी बरसात एवं प्रबल आँधीके प्रहारोंसे सब गोकुलवासी अचेत हो रहे हैं। तभी उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि यह समस्त कार्य (उपद्रव) इन्द्रका ही है। उन्होंने ही क्रोधवश ऐसा किया है॥ १४॥

अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम्।
स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति॥ १५॥

श्रीकृष्ण मन-ही-मन कहने लगे—हमने इन्द्रका यज्ञ बन्द कर दिया है, इसीसे वे हमारे विनाशके लिए असमयमें (बिना ऋतुके ही) प्रचण्ड झञ्झावातों और ओलोंके साथ मूसलाधार वर्षा कर रहे हैं॥ १५॥

तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धनिष्ये श्रीमदं तमः॥ १६॥

अच्छी बात है, मैं अपनी सामर्थ्यके अनुसार (योगमायाके द्वारा) इसका यथोचित प्रतिकार करूँगा। मूर्खताके कारण ये इन्द्रादि लोकपाल स्वयंको ईश्वर मान लेते हैं। अब मैं इनके ऐश्वर्य-मद और तमोगुणको (अज्ञानको) धराशायी कर डालूँगा॥ १६॥

नहि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते॥ १७॥

देवताओंको सात्त्विक होना चाहिये। उनके लिए इस प्रकारसे ऐश्वर्य एवं पदका मिथ्या अभिमान करना उचित नहीं है। अतः अब मैं ही इन सत्त्वगुण-रहित दुर्बुद्धियोंके मदको चूर्ण-विचूर्ण करूँगा। इससे अन्तमें उन्हें भी शान्ति प्राप्त होगी (देवताओंके गर्वको चूर्ण करना ही उनके इस गर्वरूपी रोगकी उपशान्ति अर्थात् ओषधि है)॥ १७॥

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥ १८॥

ये सारे व्रजवासी मेरे अधीनस्थ होकर मेरे संरक्षणमें हैं। मैं ही इनका एकमात्र रक्षक हूँ। व्रज मेरा गोष्ठ है और यहीं मेरे प्रेयजन (राधा, ललिता) निवास करते हैं। सभी व्रजवासी मेरे परिवारीजन (माता, पिता) हैं। मैं अपनी अलौकिक शक्तिसे इनकी रक्षा करूँगा। भक्तोंकी रक्षा करना तो मेरा व्रत है॥ १८॥

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया विष्णुश्छत्राकमिव बालकः॥ १९॥

श्रीकृष्णने यह विचारकर अनायास ही एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्धन पर्वतको उठाकर इस प्रकार धारण कर लिया, जिस प्रकार बालक खेल-ही-खेलमें छत्राक (बरसाती छत्तेके पुष्प) को उखाड़कर हाथमें धारण कर लेता है (श्रीकृष्ण गिरिराज उठानेके लिए जब घरसे तीव्र गतिसे निकले, उस समय योगमायाकी अंशस्वरूपा संहारिका शक्तिने आकाशमें वर्षणका ऐसा शोषण कर लिया था कि कृष्णके वस्त्र किञ्चित् मात्र भी नहीं भीगे थे)॥ १९॥

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्त्तं सगोधनाः॥ २०॥

तब भगवान्ने गोपोंसे कहा—हे माताजी! हे पिताजी! हे व्रजवासियो! तुमलोग समस्त गोधन और सभी सामग्रियोंके साथ

इस पर्वतके गह्वरमें (गड्ढेमें) प्रवेश करो और सुखपूर्वक आसीन हो जाओ (गोवर्धन पर्वतको वज्रपात पुष्प-वर्षणकी भाँति प्रतीत हो रहा था। इसका विस्तार इतना अधिक हो गया था कि व्रज तो क्या त्रिलोकीकी भी रक्षा की जा सकती थी। वर्षण इसके नितम्ब-प्रदेश पर हो रहा था। अतः इसके ऊपर विचरनेवाले हिरण, वराह आदि पशु एवं पक्षी इसके शिखर पर सुखपूर्वक पहुँच गये थे)॥ २०॥

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात्।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः॥ २१॥

देखो, मेरे हाथसे यह पर्वत गिर जायेगा—ऐसी आशङ्का मत करना। इस पर्वतके गह्वरमें प्रवेश करनेपर तुमलोगोंको आँधी अथवा वर्षाजनित कोई भय नहीं रहेगा। तुम्हारी रक्षाके लिए ही मैंने यह उपाय किया है॥ २१॥

तथा निर्विविशुर्गर्त्तं कृष्णाश्वासितमानसः।
यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः॥ २२॥

भगवान् श्रीकृष्णने जब सबको इस प्रकारसे सान्त्वना दी, तब सब-के-सब गोप आश्वस्त-चित्त होकर उनके आदेशानुसार अपने-अपने गोधन, छकड़ों, आश्रितों, भृत्यों एवं पुरोहित आदिके साथ गिरिराज गोवर्धनके गह्वरमें सुखपूर्वक प्रवेश कर गये॥ २२॥

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः।
वीक्ष्यमाणो दधाराद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात्॥ २३॥

श्रीकृष्ण भूख-प्यासकी यन्त्रणा एवं अपने समस्त प्रकारके सुखोंको भुलाकर सात दिनों तक लगातार गोवर्धन पर्वतको धारण किये रहे, अपने स्थानसे किञ्चित् मात्र भी इधर-उधर नहीं हुए। व्रजवासी विस्मयके साथ यह सब देख रहे थे॥ २३॥

कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत्॥ २४॥

श्रीकृष्णकी योगमाया शक्तिके स्वाभाविक प्रभावको देखकर इन्द्र अतिशय विस्मित रह गये। उनका सारा सङ्कल्प भ्रष्ट हो गया और मिथ्या घमण्ड भी धरा-का-धरा रह गया तथा आश्चर्य एवं भयके कारण वे विस्मित-से रह गये। इसके बाद उन्होंने स्वयं ही मेघोंको रुक जानेका आदेश दे दिया॥ २४॥

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षञ्च दारुणम्।
निशम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्॥ २५॥

जब गोवर्धनधारी श्रीकृष्णने देखा कि आकाश मेघ-रहित हो गया है, वहाँ सूर्य उदित हो रहा है, भयङ्कर आँधी, विकराल तूफान और घनघोर वर्षा सब शान्त हो गये हैं, तब उन्होंने गोपोंसे कहा—॥ २५॥

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥ २६॥

हे मेरे प्यारे गोपजनो! अब अपने स्त्री, पुत्र, धन, गोधन आदि लेकर तुमलोग गिरि-कन्दरासे बाहर निकल आओ। अब और भय करनेकी आवश्यकता नहीं है। आँधी वर्षा सब रुक गये हैं। बाढ़-ग्रस्त नदियोंका जल भी अब उतर गया है॥ २६॥

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम्।
शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः॥ २७॥

श्रीकृष्णके आदेशानुसार गोपोंने सारी सामग्रियोंको छकड़ोंपर लाद दिया और अपनी गौएँ समेटकर बाहर निकलने लगे। बादमें उनके पीछे स्त्रियाँ, बालक एवं वृद्धगण भी धीरे-धीरे बाहर आने लगे॥ २७॥

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥ २८॥

सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णने सभी लोगोंके देखते-ही-देखते अनायास ही गिरिराज गोवर्धनको उसी स्थानपर स्थापित कर दिया, जहाँ वह पहले विराजमान थे॥ २८॥

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः॥ २९॥

उस समय व्रजवासियोंका हृदय प्रेमके आवेगसे अभिभूत हो रहा था। पर्वतको रखते ही वे भगवान् श्रीकृष्णके समीप दौड़कर आ गये और अपने-अपने सम्बन्धोंके अनुसार आलिङ्गन आदिसे उनका अभिनन्दन करने लगे। बड़ी-बूढ़ी गोपियोंने स्नेहसे परिपूर्ण होकर बड़े आनन्दसे दही, अक्षत (अखण्डित कच्चे चावल) और जल आदिसे उनका मङ्गल-तिलक किया और उन्हें प्रचुर आशीर्वाद (तुम दुष्टोंका दमन करो, भक्तोंकी रक्षा करो, माता-पिताको आनन्द प्रदान करो, धन-वैभवसे समृद्ध रहो) प्रदान किये॥ २९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः॥ ३०॥

मैया यशोदा, रोहिणी, नन्द बाबा एवं महाबलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम भी उस समय स्नेहातिशयताके कारण विह्वल हो रहे थे। उन्होंने भी श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया और प्रचुर आशीर्वाद दिये॥ ३०॥

दिवि देवगणाः सिद्धाः साध्या गन्धर्वचारणाः।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव॥ ३१॥

परीक्षित्! उस समय स्वर्गस्थ देव, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व एवं चारण भी बड़े आनन्दित हो रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका यशोगान करते हुए स्तुति की और उनपर पुष्पोंकी वर्षा की॥ ३१॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रचोदिताः।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप॥ ३२॥

हे राजन्! देवतागण स्वर्गमें शङ्खनाद एवं दुन्दुभि-नाद करने लगे। तुम्बुरु आदि गन्धर्वराजने कृष्ण-लीलाका गान आरम्भ कर दिया॥ ३२॥

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो
राजन् स्वगोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका
गायन्त्य ईयुर्मुदिताहृदिस्पृशः॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गोवर्धन-धारणं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

हे राजन्! इसके बाद श्रीकृष्ण बलराम एवं प्रेमी ग्वालबालोंसे घिरकर निज गोष्ठकी ओर चल दिये। गोपिकाएँ भी हृदयको आकर्षित करनेवाले श्रीकृष्णकी उस आश्चर्यजनक गोवर्धन धारण आदि लीलाओंका गान करती हुईं आनन्दपूर्वक व्रजमें लौट आयीं॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पच्चीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षड्विंशोऽध्यायः

नन्दबाबाका श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको देखकर उसका गोपोंसे वर्णन

श्रीशुक उवाच—

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! व्रजके गोप भगवान् श्रीकृष्णके इस अद्भुत पराक्रमको नहीं जानते थे। अतः गोवर्धन-धारणादि उनके अद्भुत कार्योंको देखकर वे अतीव विस्मित हो गये। वे सब एकत्रित हुए और नन्दगोपके सभा-भवनमें पहुँचकर उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ १॥

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम्॥ २॥

गोपोंने कहा—हे व्रजराज! हमें तो तुम्हारे पुत्रके बड़े-बड़े अलौकिक कार्य दिखायी दे रहे हैं। अतः हमारी समझमें यह नहीं आ रहा है कि इस बालकने हमारे जैसे गँवार गोपवंशमें ग्वालेके रूपमें जन्म क्यों ग्रहण किया? यह तो बड़ी निन्दास्पद बात है। भला यह इस वंशके योग्य कैसे हो सकता है?॥ २॥

यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया।
कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव॥ ३॥

अरे! इस नन्हेसे सात वर्षके बालकने न जाने किस शक्तिके बलसे अनायास ही गोवर्धन पर्वतको उखाड़कर एक हाथमें ऐसे धारण कर लिया, जैसे महागजराज कमलको सूँड़से उखाड़कर उसे अपने ऊपर धारण कर लेता है॥ ३॥

तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः॥ ४॥

इसने जन्म लिया ही था कि महाबलशालिनी भयङ्कर पूतना राक्षसी आयी। यह अपनी आँखे मूँदे ही रहा और उस राक्षसीका स्तन्य-पान करते हुए उसने उसके प्राण वैसे ही पी लिये, जैसे काल प्राणियोंके शरीरसे उनकी आयु एवं यौवनका पान करता रहता है॥ ४॥

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक्।
अनोऽपतद्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम्॥ ५॥

तुम्हारा यह बालक उस समय मात्र तीन मासका रहा होगा, तब यह छकड़ेके नीचे सोया हुआ था। इसने रोते-रोते पाँवोंको ऊपरकी ओर इस प्रकार उछाला कि इसके पाँवोंके अग्रभाग—अँगूठेकी ठोकरसे वह बड़ा भारी छकड़ा उलटकर गिर गया॥ ५॥

एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा।
दैत्येन यस्तृणावर्त्तमहन् कण्ठग्रहातुरम्॥ ६॥

जब इसकी आयु मात्र एक वर्षकी ही रही होगी, यह चुपचाप बैठा था कि तभी आकाशचारी तृणावर्त्त नामका राक्षस बवण्डरके रूपमें आया और इसे आकाशमें उड़ा ले गया। तब इसने उस राक्षसके गलेको ऐसे दबाया कि भयङ्कर पीड़ासे उस असुरने अपने प्राण छोड़ दिये॥ ६॥

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उदूखले।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत्॥ ७॥

एक बार जब इसने माखनकी चोरी की, तब माता यशोदाने इसे ऊखलसे बाँध दिया था। उस समय भी यह घुटनोंके बल रेंगता हुआ यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें घुस गया और उन्हें उखाड़ दिया। भला देखो तो, इसकी भुजाओंके आघात मात्रसे ही वे दोनों अर्जुन वृक्ष भूमिपर गिर पड़े॥ ७॥

वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत्॥ ८॥

जब यह बलराम और ग्वालबालोंके साथ वनमें बछड़ोंको चरा रहा था, उसी समय इसे मार डालनेकी इच्छासे बकासुर नामका दैत्य बगुलेके रूपमें आया। तब भी तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्णने उस शत्रुकी चोंचके दोनों ठोरोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर मुखसे लेकर पूँछ तकके सारे शरीरको तिनकेकी भाँति विदीर्ण कर (चीर) डाला॥ ८॥

वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया।
हत्वा न्यपातयत् तेन कपित्थानि च लीलया॥ ९॥

वत्सासुर भी इसे मारनेकी इच्छासे बछड़ेका वेश बनाकर आया और बछड़ोंके झुण्डमें मिल गया, तब इसने (श्रीकृष्णने) उस असुरका वध कर डाला और उसकी देहको उठाकर अनायास ही इस प्रकारसे कैथके वृक्षोंपर पटक दिया कि वनमें स्थित कैथके सारे वृक्ष नीचे भूमिपर गिर गये॥ ९॥

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्॥ १०॥

और फिर बलदेवके साथ मिलकर इसने गधेके रूपमें रहनेवाले धेनुकासुर एवं उसके भाई-बान्धवोंको मार डाला और पके हुए फलोंसे युक्त तालवनको सबके लिए उपयोगी, सुरक्षित, निर्भय और मङ्गलमय बना दिया॥ १०॥

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।
अमोचयद्व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः॥ ११॥

इसीने ही बलशाली बलदेवके द्वारा अति उग्र प्रलम्ब नामक असुरको मरवा डाला तथा व्रजके पशुओं और ग्वालबालोंकी दावानलसे रक्षा की॥ ११॥

आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात्।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम्॥ १२॥

क्रूर कालियनाग अत्युग्र विष धारण करनेवाला था। कृष्णने उसके भी गर्वको चूर्ण-विचूर्ण करते हुए उसके फनोंको रौंद डाला और अपने बलके प्रभावसे उसे ह्रदसे निकाल करके यमुनाके जलको सदाके लिए विषरहित कर दिया॥ १२॥

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्॥ १३॥

हे नन्द! तुम्हारे इस पुत्रके प्रति हम सभी व्रजजनोंके हृदयमें दुस्त्यज्य अनुराग है (हम इस अनुरागका कभी त्याग नहीं कर सकते)। हम सभी देख रहे हैं कि हमारे प्रति भी इसका स्वाभाविक (औत्पत्तिक) स्नेह है। इसका क्या कारण हो सकता है? (परमात्मा होनेपर हम सभी वनवासी व्रजवासियोंके प्रति इसका वैसा अनुराग कैसे सम्भव है? आत्माराम होनेके कारण परमात्मा तो सर्वत्र उदासीन रहते हैं) महाराज! क्या यह बालक सभीका आत्मस्वरूप है?॥ १३॥

क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे॥ १४॥

हे व्रजेश्वर! कहाँ तो यह सात वर्षका छोटा-सा बालक और कहाँ गोवर्द्धन जैसे विशाल पर्वतको सात दिनों तक एक हाथपर धारण करना? हमें तो तुम्हारे इस पुत्रके सम्बन्धमें शङ्का हो रही है॥ १४॥

श्रीनन्द उवाच—

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह॥ १५॥

श्रीनन्द महाराजने कहा—हे गोपजनो! महामुनि गर्गने इस बालकके विषयमें जो पहले मुझसे कहा था, उसे सावधानीपूर्वक सुनो, जिससे तुम सब सबकी शङ्का अवश्य ही दूर हो जायेगी॥ १५॥

वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १६॥

गर्गाचार्यने कहा था—तुम्हारा पुत्र प्रत्येक युगमें विविध शरीर धारण करता है। अब तक यह विभिन्न युगोंमें शुक्ल, रक्त एवं पीत वर्ण धारण कर चुका है। अब द्वापरमें यह कृष्ण वर्णको प्राप्त हुआ है॥ १६॥

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ १७॥

नन्द! तुम्हारे इस पुत्रने पहले कभी वसुदेवके घरमें भी जन्म लिया था। इसीलिए इस तत्त्वको जाननेवाले इसे वासुदेव भी कहते हैं॥ १७॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १८॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारे इस पुत्रके गुण एवं कर्मोंके अनुरूप बहुत-से नाम एवं रूप हैं। यह सब मैं तो जानता हूँ, परन्तु साधारण लोग इस बातको नहीं जानते॥ १८॥

एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ॥ १९॥

तुम्हारा यह पुत्र गौओं एवं गोपोंको अतीव आनन्द प्रदान करेगा और तुमलोगोंका भी परम कल्याण करेगा। तुमलोग इसकी सहायतासे समस्त विपत्तियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे॥ १९॥

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥ २०॥

हे व्रजराज! पहले भी एक बार अराजकताकी स्थिति आ गयी थी। कोई राजाके न रहनेपर चोर-डाकुओंका उत्पीड़न बढ़ चला था। तब भी इसने साधुजनोंकी रक्षा की थी और उन सत्पुरुषोंने इसके बलसे उद्दीप्त होकर दस्युओंको पराजित किया था॥ २०॥

य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥ २१॥

हे नन्द महाराज! वे सभी मनुष्य बड़े भाग्यशाली हैं, जो इस सर्वमङ्गलमय तुम्हारे श्यामल पुत्रसे अनुराग रखते हैं। जिस प्रकार आन्तरिक एवं बाहरी असुर विष्णुपरायण भक्तोंको पराजित नहीं कर सकते (विष्णुके करकमलोंकी छत्र-छायामें रहनेवाले देवताओंको असुर पराजित नहीं कर सकते), उसी प्रकार शत्रु भी उन कृष्णानुरागियोंको परास्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ २१॥

तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः॥ २२॥

अतः नन्दजी! आपका यह बालक श्रीकृष्ण कीर्त्ति, प्रभाव एवं अन्यान्य गुणोंमें भगवान् नारायणके ही समान है। अतएव इसके अद्भुत कर्मोंको देखकर किसी भी प्रकारका विस्मय नहीं करना चाहिये। (यह नारायणके समान है, नारायण नहीं। अतः इस बालकको अपने वात्सल्य एवं आशीर्वादोंसे वञ्चित मत करना। पूर्वजन्मकृत किसी सुकृतिशाली महापुरुषने हमारे गोकुलके भूषणके रूपमें जन्म लिया है।)॥ २२॥

इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्॥ २३॥

हे गोपजनो! इस प्रकार गर्गमुनि साक्षात्‌रूपसे मुझे इस प्रकार बतलाकर अपने घर चले गये। अब मैंने यह निश्चय कर लिया है कि हम सबको क्लेशोंसे मुक्त रखनेवाले अलौकिक एवं परमसुखदायी इस मेरे बालकमें नारायणकी शक्तिका आवेश है॥ २३॥

इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णञ्च गतविस्मयाः॥ २४॥

नन्द महाराजके मुखसे गर्गमुनिके इन वचनोंको सुनकर व्रजवासी गोप परम आनन्दित हुए। उनका सारा विस्मय दूर हो

गया। वे नन्द महाराज एवं श्रीकृष्णका आनन्दपूर्वक वस्त्र, रत्नादि उपहारोंसे अभिनन्दन करने लगे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ २४॥

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीनन्दगोपसंवादो नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

तदनन्तर वे सब स्तुति करते हुए कहने लगे—अपना यज्ञ भङ्ग हो जानेपर क्रोधाविष्ट देवराज इन्द्र मुसलाधार वर्षा, वज्रपात, प्रचण्ड आँधी और ओलोंकी बौछार करने लगे। उस समय अपने आश्रित गोष्ठके पशु, पशुपालक एवं अबलाओंको उससे अत्यन्त पीड़ित देखकर जिनका हृदय करुणासे द्रवित हो गया और जिन्होंने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए खेल-ही-खेलमें गोवर्धन पर्वतको उखाड़कर एक हाथसे इस प्रकार धारण कर लिया, जिस प्रकार एक नन्हा-सा बालक उच्छिलीन्ध्र अर्थात् बरसाती छत्रक (कुकुरमुत्ते) को उखाड़कर धारण कर लेता है और इन्होंने इस प्रकार समस्त व्रजवासियोंकी रक्षा की। ऐसे इन्द्रके गर्वको हरण करनेवाले, गौओंके स्वामी गवेन्द्र—गोविन्द हम सबपर प्रसन्न हों॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तविंशोऽध्यायः

सुरभि और इन्द्रदेवके द्वारा श्रीकृष्णका अभिषेक

श्रीशुक उवाच—

गोवर्द्धने धृते शैल आसाराद्रक्षिते व्रजे।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने गिरिराज गोवर्द्धनको धारण करके घनघोर वृष्टिपातसे व्रजमण्डलको बचा लिया, तब (प्राकृत) गोलोकसे गो–माता सुरभि और स्वर्गसे देवराज इन्द्र श्रीकृष्णके समीप आये। [श्रीकृष्णके प्रति किये गये अपने अपराधसे भयभीत होकर इन्द्र ब्रह्माजीके निकट गये थे एवं ब्रह्माजीके आदेशानुसार भौम गोलोकसे (सुरभि लोकसे) सुरभिको साथ लेकर श्रीकृष्णके समीप आये थे। अप्राकृत गोलोकमें निवास करनेवाली सुरभिका सङ्ग लाभ करना भौतिक जगत्के इन्द्रके लिए सम्भव नहीं है।]॥ १॥

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण इन्द्र बहुत लज्जित हो रहे थे। इसलिए जब भगवान् श्रीकृष्ण गोवर्द्धन पर्वतके निकट एकान्तमें बैठे थे, वे उनके समीप आये और सूर्यके समान तेजस्वी अपने मुकुटसे भगवान्के पादारविन्दोंका स्पर्श किया॥ २॥

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः।
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः॥ ३॥

इन्द्रने परम तेजस्वी श्रीकृष्णके प्रभावको ब्रह्माजीके मुखसे सुन रखा था, लेकिन जब उन्हें गोवर्द्धन धारण करते हुए प्रत्यक्ष ही देख लिया, तो "मैं ही त्रिलोकीका अधिपति हूँ" इस प्रकारका

उनका सारा गर्व विदूरित हो गया। वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥ ३॥

श्रीइन्द्र उवाच—

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः॥ ४॥

इन्द्रने कहा—हे देव! आपका स्वरूप अपरिवर्तनशील, ज्ञानमय, रजो एवं तमोगुणके सम्पर्कसे रहित, विशुद्ध एवं अप्राकृत सत्त्वमय है। गुणोंके प्रवाहके रूपमें प्रतीत होनेवाला यह प्रपञ्च मायामय है। अज्ञानानुबन्धके कारण अर्थात् आपका स्वरूप न जाननेके कारण ही यह संसार आपमें विद्यमान प्रतीत होता है, पर है नहीं॥ ४॥

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता
लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्त्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय॥ ५॥

हे प्रभो! जब आपका अज्ञान एवं इससे उत्पन्न होनेवाली देहसे कोई सम्बन्ध है ही नहीं, तो देहसे सम्बन्धित प्राणियों और दूसरी देहोंकी उत्पत्तिके मूल कारणस्वरूप लोभादि दोषोंकी सम्भावना आपमें किस प्रकारसे हो सकती है? लोभ, काम, क्राध एवं ईर्ष्यादि तो अज्ञानियोंके लक्षण हैं। इसपर भी हे परमेश्वर! आप धर्मकी रक्षा एवं दुष्टोंके दमनके लिए दण्डका विधान करते हैं (आपके द्वारा मेरे प्रति दण्ड-विधान आपकी कृपा ही है)॥ ५॥

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।

हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वन् जगदीशमानिनाम्॥ ६॥

आप जगत्के पिता, गुरु, परम नियन्ता एवं अधीश्वर भी हैं। आप दुर्लंघ्य कालके रूपमें शासनभार स्वीकार कर दण्ड धारण करते हैं और स्वेच्छाचारियोंको नियन्त्रित करते हैं। जो हमारी तरह अपनेको ईश्वर मान बैठते हैं, आप उनके गर्वके विनाश एवं अपने भक्तोंके मङ्गल तथा उनकी अभिलाषाओंकी पूर्त्तिके लिए अनेक लीलावतार प्रकट करते हैं॥ ६॥

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन-
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम्।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम्॥ ७॥

हे प्रभो! मेरे जैसे मूर्ख अपनेको ईश्वर मानकर अभिमान करते हैं, पर जब वे भयके अवसरोंमें भी आपको निर्भय देखते हैं, तो अपना अभिमान त्याग देते हैं और निरहङ्कार होकर आर्यजनोंके द्वारा सेवित भक्तिपथका आश्रयकर आपके भक्त बन जाते हैं। आपकी यह गोवर्द्धन-धारणादि लीला खल व्यक्तियोंके लिए शिक्षा-स्वरूप है॥ ७॥

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य
कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती॥ ८॥

हे प्रभो! मैं आपकी अलौकिक शक्ति एवं आपके दिव्य प्रभावको नहीं जानता था, इसलिए ऐश्वर्य-मदमें डूबा हुआ मैं आपके प्रति अपराध कर बैठा। मेरे इस अज्ञान-जनित दोषको आप क्षमा कीजिये। हे परमेश्वर! ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी इस प्रकारकी दुर्मति पुनः कभी न हो॥ ८॥

तवावतारोऽयमधोक्षजेह
भुवोभराणामुरुभारजन्मनाम्   ।
चमूपतीनामभवाय   देव
भवाय युष्मच्चरणानुवर्त्तिनाम्॥ ९ ॥

हे देव! हे स्वयंप्रकाश! हे इन्द्रियातीत परमात्मन्! दैत्य-सेनाके सेनापतिगण पृथ्वीके लिए बड़े भारी भारका कारण बन रहे हैं और अनेक उत्पात मचा रहे हैं। आपने इनका विनाश करके उन्हें मोक्ष प्रदान करनेके लिए और अपने चरणाश्रित भक्तोंके मङ्गलविधानके लिए इस मर्त्त्यधाममें अवतार लिया है। (राजन्यवर्ग एवं भक्त—इन दोनोंमेंसे मैं कोई भी नहीं हूँ। अतएव मेरा विनाश भी नहीं है और मङ्गल भी नहीं है। आप मेरे प्रति उदासीन ही बने हुए हैं। अतएव मुझे धिक्कार है।) आप इस सेवकके अपराधको क्षमा कर दीजिये॥ ९ ॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः॥ १० ॥

हे भगवन्! हे श्रीकृष्ण (सबके चित्तका आकर्षण करके परमानन्द प्रदान करनेवाले)! आपको नमस्कार है। आप सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक हैं। आप सभीके हृदयोंमें निवास करनेवाले हैं। हे वासुदेव! आप सात्वतोंके (यदुवंशियोंके) एकमात्र अधिपति (स्वामी) हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ १० ॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ११ ॥

आपने अपने भक्तोंकी इच्छासे ही अपनी श्रीमूर्त्तिको स्वयं ही इस प्रपञ्चमें प्रकट किया है। आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। आपका यह श्रीविग्रह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण इस जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। आप ही सर्वरूप, समस्त पदार्थोंके मूल कारण और समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ११ ॥

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥ १२॥

हे भगवन्! आपने मेरे यज्ञका (पूजा-अर्चनका) जब निवारण किया, तो मुझे भयङ्कर क्रोध आ गया। मुझे अपने ईश्वर होनेका मिथ्या अभिमान तो था ही, अतः घनघोर वर्षा एवं प्रचण्ड आँधीके द्वारा सारे व्रजका विनाश करनेकी कुचेष्टा करने लगा॥ १२॥

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥ १३॥

परन्तु हे ईश! आपने मेरा सारा प्रयास व्यर्थ करके मुझपर बड़ा अनुग्रह किया है। इससे मेरा मिथ्या घमण्ड भी चकनाचूर हो गया। अब तो आप ही मेरे ईश्वर, मेरे गुरु और मेरी आत्मा हैं। मैं आपके शरणागत हूँ। इस महापराधी जीवाधमको चिर-कृतार्थ करें॥ १३॥

श्रीशुक उवाच—

एवं सङ्कीर्त्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इन्द्रने जब भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने मन्द-मन्द हास्यके साथ मेघके समान गम्भीर वाणीसे इन्द्रको सम्बोधन करके कहा॥ १४॥

श्रीभगवानुवाच—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम्॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे मघवन्! स्वर्गके आधिपत्यको प्राप्त करके तुम ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे अत्यन्त मतवाले हो रहे थे। अतः तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही मैंने तुम्हारे यज्ञका निवारण किया है। अब तुम्हें विशेषरूपसे मद्विषयक स्मृति बनी रह सकती है॥ १५॥

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥ १६॥

जो अपने ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिसे मदान्ध हो जाता है, वह मुझे देख नहीं पाता कि मैं कालरूप परमेश्वर हाथमें दण्ड लेकर सब समय उसके सिरपर सवार हूँ। मैं जिसपर अनुग्रह करता हूँ, उसे ऐश्वर्य एवं धन-सम्पत्तिसे भ्रष्ट कर देता हूँ॥ १६॥

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः॥ १७॥

हे इन्द्र! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम अब अपने स्थानपर (अपनी राजधानी अमरावतीमें) जाओ और मेरे आदेशका पालन करो। अब कभी गर्व मत करना। अपने अधिकारमें ही रहकर उचित रीतिसे मर्यादाका पालन करना॥ १७॥

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम्॥ १८॥

हे परीक्षित्! उसी समय मनस्विनी (प्रशान्तचित्तवाली) कामधेनु सुरभिने अपनी सन्तानों—गौओंके साथ गोपवेशधारी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और उन्हें सम्बोधनकर कहने लगी॥ १८॥

श्रीसुरभिरुवाच—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत॥ १९॥

कामधेनु सुरभिने कहा—हे महायोगी! हे विश्वान्तर्यामी! हे विश्वसम्भव! हे अच्युत! हे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! हे जगत्पति! आपके द्वारा ही हम सब गौएँ संरक्षित हैं। अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे गिरिराजको उठाकर आपने मेरी सन्तानों—गायोंकी रक्षा की है, जिससे हम सनाथ हुई हैं अर्थात् हम आपकी आश्रिता हैं। मेरी सन्तानोंका विनाश करनेकी इच्छा रखनेवाले इन्द्रके प्रभुत्वकी हमें आवश्यकता नहीं है॥ १९॥

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः॥ २०॥

हे जगत्-स्वामिन्! आप हमारे परमपूज्य आराध्य देवता हैं। आप ही साधुओं, गौओं, ब्राह्मणों एवं देवताओंके मङ्गलके लिए इन्द्र बन जाइये (इन्द्र त्रिलोकीके भले ही इन्द्र हुआ करें, परन्तु हमारे इन्द्र तो आप ही हैं)॥ २०॥

इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता वयम्।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये॥ २१॥

हे विश्वात्मन्! आप पृथ्वीका भार उतारनेके लिए ही अवतरित हुए हैं। ब्रह्माके द्वारा प्रेरित होकर हम गौएँ आज आपका राज्याभिषेक करेंगी, क्योंकि हे गोपराजनन्दन! आप ही हमारे स्वामी (इन्द्र) हैं॥ २१॥

श्रीशुक उवाच—

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः॥ २२॥

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं चोदितो देवमातृभिः।
अभ्यसिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कामधेनु सुरभिने इस प्रकार कहकर अपने दूधसे एवं अदिति आदि देवमाताओंकी प्रेरणासे स्वयं देवराज इन्द्रने ऐरावतकी सूँड़ द्वारा लाये हुए रत्नकलशमें भरे हुए मन्दाकिनीके (आकाश-गङ्गाके) जलसे देवता एवं देवर्षियोंके साथ दशार्ह वंशज यदुनाथ भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक किया एवं उनका 'गोविन्द'—यह नामकरण किया॥ २२-२३॥

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः
सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः॥ २४॥

तुम्बुरु, नारद आदि देवर्षि तथा गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध एवं चारण वहाँ पहलेसे ही विद्यमान थे। वे भगवान् श्रीहरिके पाप-ताप-भञ्जक (संसारके समस्त पापको मिटा देनेवाले) एवं लोककल्मषापह (सभी लोकोंके कल्मषको विदूरित करनेवाले) यशका गान करने लगे। अप्सराएँ अति प्रसन्नतासे उनके साथ नृत्य करने लगीं॥ २४॥

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो
ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो
गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम्॥ २५॥

प्रमुख-प्रमुख देवता श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए नन्दनवनके पारिजात पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। उस समय तीनों लोकोंमें शान्ति एवं आनन्दका साम्राज्य व्याप्त हो गया। गौओंके थनोंसे अपने आप इतना दूध झरने लगा कि उससे सम्पूर्ण पृथ्वी अभिसिञ्चित हो गयी॥ २५॥

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रनुन्मणीन्॥ २६॥

नदियाँ क्षीरवाहिनी हो गयीं अर्थात् नदियोंमें दूध आदि विविध स्वादिष्ट रस प्रवाहित होने लगे, वृक्षोंसे मधुधाराएँ बरसने लगीं, बोये-जोते बिना ही पृथ्वी परिपक्व अन्न एवं ओषधियोंसे परिपूर्ण हो गयी और पर्वतोंके गर्भगत हुए मणि-माणिक्य स्वयं ही बाहर प्रकाशित होने लगे॥ २६॥

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः॥ २७॥

हे वत्स परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक होनेपर स्वभावतः हिंस्र स्वभावको धारण करनेवाले समस्त प्राणी शत्रु भावको भूल गये। उनमें परस्पर मित्रता हो गयी, क्योंकि वह स्थान परमानन्दकी रङ्गभूमि बन गया था॥ २७॥

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम्॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां श्रीकृष्णाभिषेको नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

इन्द्रने इस प्रकार गौ और गोकुलपति गोविन्दका अभिषेक करके उनकी आज्ञा प्राप्त की तथा देवता, गन्धर्वों आदिसे परिवेष्टित होकर स्वर्गकी ओर प्रस्थान किया॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सत्ताईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टाविंशोऽध्यायः

वरुणलोकसे नन्दजीको मुक्त करना और गोपोंको वैकुण्ठ दर्शन कराना

श्रीबादरायणि उवाच—

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्द्दनम्।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्यां द्वादश्यां जलमाविशत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! एक बार परमभागवतोंमें अग्रणी श्रीनन्दमहाराजने कार्त्तिक शुक्लपक्षकी एकादशीका उपवासकर भगवान् जनार्दनकी सम्यक्‌रूपेण अर्चना की एवं अर्द्धकलामात्र (तीन पल) अवशिष्ट द्वादशीमें अपने उपवासका पारण करनेके लिए अरुणोदयसे पहले ही [शास्त्रोंकी आज्ञानुसार निशिथकाल (मध्यरात्रि) के पूर्व भी मध्याह्नपर्यन्तकी सभी क्रियाओंको किया जा सकता है] स्नान करनेके लिए यमुना-जलमें प्रवेश किया॥ १॥

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम्।
अवज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि॥ २॥

परन्तु उस समय आसुरी बेला थी—शास्त्र निषिद्ध समय था। नन्दबाबा इस समयको ठीकसे समझ नहीं पाये थे, अतः रात्रिमें ही जलमें प्रवेश करनेके कारण वरुणका सेवक कोई एक असुर उन्हें पकड़कर अपने शासक जलाधिपति वरुणके समीप ले गया। वस्तुतः वरुणका यह असुर-सेवक भगवत् धर्म (शास्त्राज्ञा) से अवगत न था। अतः श्रीनन्दमहाराजकी अवज्ञा कर बैठा॥ २॥

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः॥ ३॥

नन्द बाबाके साथ गये हुए उनकी रक्षामें नियुक्त गोपोंने देखा कि वे जलसे बाहर नहीं निकले हैं, तब वे "हे कृष्ण! हे बलराम!" अब तुम्हीं लोग अपने पिताको ला सकते हो, इस प्रकार ऊँचे स्वरसे उन्हें पुकारने लगे। परीक्षित्! भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले सर्वव्यापक श्रीहरि कोस भर दूर शयन कर रहे थे, तब भी उनकी पुकारको ऐसे सुना, जैसे वे लोग समीपमें ही हों। सारी स्थिति देखकर वे समझ गये कि वरुणके किसी सेवकने ही उनके पिताका अपहरण किया है। अतः श्रीकृष्णने छलाङ्ग लगायी और जलमग्न होकर शीघ्र ही वरुणके समीप पहुँच गये॥ ३॥

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः॥ ४॥

लोकपाल वरुणने हृषीकेश श्रीकृष्णको अपने लोकमें देखा, तो वे उनके दर्शन-महोत्सवसे अतीव आनन्दित हो गये और उनकी विशेष पूजा सामग्रियोंसे अर्चना करने लगे। इसके बाद वरुणने भगवान्‌से निवेदन किया। (वरुण स्वयं अपने मस्तकपर स्वर्ण-सिंहासन उठाकर लाये एवं उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णको उसपर बिठाकर अपने हाथोंसे उनके चरण धोये एवं चरणोदकका पानकर उसे अपने मस्तकपर धारण किया। इसके बाद वरुणने गद्‌गद कण्ठसे उनकी स्तुति की।)॥ ४॥

श्रीवरुण उवाच—

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
त्वत्पादभाजो भगवान्नवापुः पारमध्वनः॥ ५॥

वरुणने कहा—हे प्रभो! आज मेरा देह धारण करना सार्थक हुआ। आज मैंने परम धन (पुरुषार्थ) प्राप्त कर लिया है। समस्त रत्नाकरोंका अधीश्वर होनेपर भी मैंने पहले इतना धन कभी प्राप्त नहीं किया है। आज मुझे आपके श्रीचरणोंकी सेवाका सुअवसर प्राप्त हुआ है। आपके श्रीचरणोंकी सेवा करनेवाले

सहज ही भवसागर पार कर लिया करते हैं। अतएव मुझे भी अपना सेवक समझिये। मैं भी आपके चरणकमलोंकी कृपासे वैसी ही गतिकी आकाङ्क्षा करता हूँ॥ ५॥

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥ ६॥

हे देव! आप परम ऐश्वर्यशाली, जीव-नियन्ता एवं परिपूर्ण-स्वरूप हैं। भक्तिके द्वारा भगवान्‌के रूपमें, ज्ञानके द्वारा ब्रह्मके रूपमें एवं योगके द्वारा आप परमात्मा स्वरूपमें प्राप्य हैं। श्रुतियाँ कहती हैं कि देवता, मनुष्य आदि लोकसृष्टि-विधायिनी माया आपका स्पर्श भी नहीं कर सकती। आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है॥ ६॥

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद्भवान् क्षन्तुमर्हति॥ ७॥

यह मेरा मूर्ख सेवक बिना समझे-बूझे ही आपके पिताजीको यहाँ ले आया है। यह अपने कर्त्तव्य-विषयसे अनभिज्ञ है। आप इसके अपराधको क्षमा कर दीजिये। (द्वादशीका समय अति अल्प रहनेपर अरुणोदयसे पहले ही जलमें प्रवेश करना चाहिये— भक्तिशास्त्रके इन नियमोंको न जानकर मेरे दासने जो अपराध किया है, वह यथार्थतः मेरा ही अपराध है।)॥ ७॥

ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्त्तुमर्हस्यशेषदृक्।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल॥ ८॥

हे सर्वान्तर्यामी! हे सर्वदर्शिन् (सबके साक्षी)! हे गोविन्द! मैं जानता हूँ कि आप अपने पिताके प्रति बड़ा प्रेम रखते हैं। ये आपके पिताजी अपने इष्टदेवताका स्मरण करते हुए रत्नमय पर्यङ्कपर विराजमान हैं। आप इन्हें ले जाइये। परन्तु हे विश्व-मोहन! श्रीकृष्ण! हे कृपासिन्धु! आप मुझ दासपर भी कृपा कीजिये॥ ८॥

श्रीशुक उवाच—

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः।
आदायागात् स्वपितरं बन्धूनाञ्चावहन् मुदम्॥ ९॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—श्रीकृष्ण ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। वे वरुणदेवकी स्तुति सुनकर अतीव प्रसन्न हुए और पिता नन्दजीको लेकर व्रजमें चले आये। उन्हें देखकर उनके सभी व्रजवासी एवं आत्मीय बन्धु परम आनन्दित हुए। वरुणदेव भी श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपाका स्मरण करते हुए अपने लोकमें अवस्थान करने लगे॥ ९॥

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ १०॥

लोकपाल वरुणका ऐसा अदृष्टपूर्व एवं अलौकिक ऐश्वर्य तथा अपने पुत्र श्रीकृष्णके प्रति उन वरुणलोकवासियोंका विनयपूर्वक झुक-झुककर नमस्कार करना—आदि देखकर नन्दबाबा विस्मित रह गये। उन्होंने व्रजमें आकर अपने बन्धुओंको सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥ १०॥

ते चौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः॥ ११॥

हे राजन्! यह सब वृत्तान्त सुनकर श्रीकृष्णके प्रेमी गोपोंका चित्त उत्सुकतासे ओतप्रोत हो गया। उन्होंने यह समझ लिया कि कृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। तब वे मन-ही-मन चिन्तन-मनन करने लगे कि क्या हमारे अधीश्वर श्रीकृष्ण हमारे लिए दुर्बोध्य एवं दुर्ज्ञेय हैं? क्या वे हमें भी अपना वह मायातीत स्वधाम, जहाँ केवल इनके प्रेमी भक्त ही पहुँच सकते हैं, दर्शन करायेंगे?॥ ११॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्॥ १२॥

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वदर्शी हैं। वे स्वयं ही गोपोंकी यह अभिलाषा जान गये। उनके मनोभीष्टकी पूर्त्तिके लिए और उनपर अपना अनुग्रह करनेके लिए वे इस प्रकार विचार करने लगे॥ १२॥

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ १३॥

ये सब व्रजवासी मेरे निज जन हैं। ये प्रपञ्चमें अवतीर्ण होकर मेरी माधुर्यमयी लीलामें आविष्ट हो गये हैं और आत्मस्वरूपको भूल गये हैं। इस संसारमें अविद्याजनित काम्य कर्मके फलस्वरूप सभी जीवोंका देव, तिर्यक् आदि उच्च-नीच योनियोंमे जन्म होता है, उसी प्रकार ये मेरे आत्मीय बन्धु उन-उन जन्मोंको प्राप्त जीवोंके समान स्वयंको भी मान बैठे हैं और अपनी गतिको जानते नहीं हैं। दूसरोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ अपनी पदवीको पहचान नहीं पा रहे हैं। वरुणलोककी सम्पदा देखकर (तथा मनुष्योंकी ऐश्वर्य-हीनता एवं तिर्यक् आदि प्राणियोंका दुःख देखकर) स्वयंको सामान्य संसारी व्यक्ति मान बैठे हैं। ब्रह्मा आदि देवताओंके लिए भी पूज्य होनेपर मेरे पिता स्वयंको अति सामान्य वरुणदेवसे भी निकृष्ट समझ रहे हैं। ये मुक्ति एवं वैकुण्ठ लोकको अधिक श्रेष्ठ समझ रहे हैं—अरे! ये जानते ही नहीं हैं कि मुक्ति एवं वैकुण्ठ मेरे अधीन हैं और मैं केवल प्रेमाधीन हूँ॥ १३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ १४॥

इस प्रकार विचार करके परम करुणामय विभु श्रीकृष्णने उन गोपोंको प्रकृतिसे (भौतिक अहङ्कारसे) अतीत ब्रह्मस्वरूप अपने वैकुण्ठ लोकका दर्शन कराके उनकी उत्कण्ठा दूर की॥ १४॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ १५॥

भगवान्‌ने पहले उन गोपोंको अपने त्रैकालिक सत्य, चिन्मय, अखण्ड, स्वप्रकाश, नित्य और ज्योतिस्वरूप ब्रह्मका (ब्रह्मधामका) दर्शन कराया, जिसका मुनिगण गुणातीत होनेपर समाधिमें दर्शन कर पाते हैं अथवा ब्रह्म-ज्योतिका दर्शन कर पाते हैं॥ १५॥

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा॥ १६॥

प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने पहले अक्रूरको जिस जलाशयमें (अक्रूर-तीर्थमें) डुबकी लगवाकर ब्रह्मरूपका दर्शन करवाया था, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म-ह्रदमें वे नन्दादि गोपोंको भी ले आये। इन गोपोंने इसी स्थानपर डुबकी लगाकर ब्रह्मके स्वरूपका दर्शन किया। इसके बाद नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण उन्हें वहाँसे निकाल लाये और उन सभीको अपने गोलोक नामक परम धामका दर्शन करवाया॥ १६॥

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीनन्दमोक्षणं नाम अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

नन्द महाराज एवं अन्य गोपोंने उस दिव्य भगवत्स्वरूप गोलोक-धाममें देखा कि वेद मूर्त्तिमान होकर श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर वे अतिशय विस्मित हो गये और परमानन्दमें निमग्न हो गये। वृन्दावन (गोकुलके एक प्रकाश-विशेष) से बढ़कर कोई रमणीय स्थान नहीं है, अतः प्रभु अपने वन्धु-वर्गको भौम-गोकुलमें (वृन्दावनमें) ले आये॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

रास-विहारार्थ गोपियोंके साथ उक्ति-प्रत्युक्ति एवं रासारम्भमें अन्तर्धानरूप कौतुक

श्रीबादरायणिरुवाच—

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! श्रीकृष्णने वस्त्र-हरणके समय व्रजकुमारियोंके निकट स्वीकार किया था कि "हे अबलाओ! तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो गयी है। अब अपने-अपने घर जाओ। आगामी रात्रियोंमें तुम सब मेरे साथ विहार करोगी।" सम्प्रति शरद्-ऋतु समुपस्थित है। मल्लिका, बेला आदि सुगन्धित कुसुमोंसे विभूषित इन सङ्केतित रात्रियोंने पुञ्जीभूत होकर पदार्पण किया है। इन समुल्लसित रात्रियोंको परिव्याप्त होते देखकर स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अघटन-घटन-पटीयसी (माया) शक्तिका आश्रय लेकर रसमय रास-विहार करनेकी इच्छा की॥ १॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥ २॥

दीर्घ प्रतीक्षाके बाद समागत पति जिस प्रकार अपने हाथोंसे कुङ्कुम राग द्वारा प्रियाके मुखको अनुरञ्जित कर देता है, उसी प्रकार चन्द्रदेव पूर्व-दिशा-स्वरूपिणी प्रियाके मुखमण्डलपर अपनी शीतल एवं सुखद कररूपी किरणों द्वारा अरुण रागसे (लालरङ्गसे) अनुलेपन करने लगे। जो प्राणी इन चन्द्रमाके उदयका दर्शन करते हैं, उनका शरद्-कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे उत्पन्न सन्ताप दूर हो जाता है॥ २॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥ ३॥

उस समय पूर्णिमा थी। गगनमें चन्द्रका मण्डल भी परिपूर्ण एवं अखण्ड (सोलह कलाओंसे युक्त) था। जिस प्रकार रमादेवीका मुखमण्डल नव-कुङ्कुम-रागसे सुरञ्जित रहता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी उदयकालीन अरुणछटासे आरक्तिम दिखायी दे रहे थे। कुमुद-श्रेणीको विकसित करनेमें निपुण चन्द्रमाने अपनी स्निग्ध एवं पीयूषवर्षिणी किरणोंसे वनभूमिको अनुरागमयी बना दिया था। इस प्रकार दिव्य उन्नतोज्ज्वल रसके उद्दीपक पदार्थोंको चहुँ ओर व्याप्त देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी नित्य सङ्गिनी वंशीपर गोपाङ्गनाओंके मनोंको आकर्षित करने वाली 'क्लीँ' की सङ्गीतमयी, मधुर एवं अस्पष्ट ध्वनि छेड़ दी॥ ३॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥ ४॥

गोपाङ्गनाओंने जब वंशीका अनङ्गवर्द्धक सुमधुर सङ्गीत सुना, तो उनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति पहलेसे ही विद्यमान काम उद्दीप्त हो उठा। उनका मन तो पहले ही श्रीकृष्णके द्वारा वशीभूत कर लिया गया था और अब वंशीनादरूपी महाचोरके द्वारा उनके कपाट-रहित कर्णोंमें प्रवेश कर लेनेपर उनकी धैर्य, लज्जा, भय, विवेकादि महानिधि भी अपहृत कर ली गयी। गोपियाँ अपनी मिलनकी चेष्टाओंको छिपाती हुईं वहाँ चल दीं, जहाँ (रासौलीमें) उनके प्रिय कान्त श्रीकृष्ण खड़े थे। प्रिय परीक्षित्! उनकी गति इतनी तीव्र थी कि उनके कुण्डल, कङ्कण, किङ्किणी सब आभूषण आन्दोलित होने लगे॥ ४॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥ ५॥

उस समय जो गोपिकाएँ दुग्ध-दोहन कर-करा रही थीं, वे कृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर परमोत्कण्ठावश उस दोहन-कार्यका परित्याग करके चल पड़ीं। कुछने चूल्होंपर दूध रखा था, वे दूध उतारनेकी प्रतीक्षा किये बिना ही चल पड़ीं और जो गेहूँका दलिया या लपसी बना रही थीं, वे उसे चूल्हेपर ही छोड़कर चल दीं॥ ५ ॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥ ६॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥ ७॥

कोई गोपाङ्गना बन्धु-बान्धवोंके लिए भोजन परोस रही थी, कोई शिशुको स्तन्य-पान करा रही थी, कोई पतिकी सेवा कर रही थी (अर्थात् पानी गरम करना इत्यादि), तो कोई अपने शरीरपर कुङ्कुम आदि अङ्गराग लगा रही थी, कोई उबटन-चन्दनसे अपने शरीरका मार्जन कर रही थी तो कोई आँखोंमें अञ्जन लगा रही थी। किसीने विशेष अनुरागवशतः वस्त्र एवं आभूषणोंको उलटे-सीधे धारण कर रखा था। जो जिस अवस्थामें थी, उसी अवस्थामें ही श्रीकृष्णके समीप चल पड़ी॥ ६-७॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥ ८॥

उनके पति, पिता, भाई एवं बन्धु आदि सम्बन्धियोंने जानेसे उनका विरोध किया, पर वे लौटी नहीं। उनके तो मन, प्राण, यहाँ तक कि आत्मा सब श्रीगोविन्दके द्वारा अपहृत हो चुके थे। वे तो मोहित-सी, उन्मादिता-सी एवं सूत्र-सञ्चालित पुतली-सी कृष्ण-आवेशमें विभोर होकर चली गयीं। (इन गोकुलकन्याओंके साथ श्रीकृष्णका रमण अनादि कालसे चल रहा है। श्री अष्टादशाक्षर मन्त्रमें 'गोपीजनवल्लभ' पदसे इन गोपियोंका ही निर्देश किया गया है)॥ ८॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥ ९॥

कोई-कोई गोपाङ्गनाएँ घर पर ही रह गयीं, वे बाहर निकलनेकी कोई युक्ति न निकाल सकीं। उनका चित्त कृष्णके सौन्दर्य-माधुर्य एवं लीलाओंके चिन्तनमें सर्वदा आसक्त रहता था। अतः उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये और कृष्ण-ध्यानमें डूब गयीं। (आचार्यगण कहते हैं कि इन गोपियोंको नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्गरूप सौभाग्य-प्राप्तिके अभावसे सम्पूर्ण प्रेम प्राप्त न होनेके कारण अदग्ध कषाय अवस्थामें रहना पड़ा अर्थात् उनकी गुणमयता सम्पूर्णरूपसे तिरोहित नहीं हुई।)॥ ९॥

दुःसहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥ १०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ ११॥

हे राजन्! गृहोंमें आबद्ध इन गोपाङ्गनाओंके प्रियतमकी दुःसह विरह-व्यथाके तीव्र ताप द्वारा सभी अशुभ विनष्ट हो गये और साथ ही उनके ध्यानमें प्रकट होनेवाले अच्युत भगवान् श्रीकृष्णके आलिङ्गनके सुख-भोगसे मङ्गल-बन्धन भी क्षीण हो गये। अतः पूर्व सञ्चित शुभाशुभ बन्धनोंका नाश हो जानेपर उन्होंने जार (औपपत्य) बुद्धिसे श्रीकृष्णका ध्यान किया और उसी समय अभिमानरहित होकर त्रिगुणमयी देहका परित्याग कर दिया। उन्हें अब चिन्मय शरीरकी प्राप्ति हो गयी॥ १०-११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥ १२॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मुनिवर! ये गोपियाँ तो श्रीकृष्णको अपने परम प्रियतमके रूपमें जानती थीं, उन्हें श्रीकृष्णके ब्रह्मरूपका पता ही नहीं था। उनका चित्त तो गुणमय

विषयोंमें ही आसक्त था, फिर उन्हें गुणोंके प्रवाहरूप इस संसारमें मुक्तिकी प्राप्ति किस प्रकार हुई? [कहा गया है 'आत्मानमात्मात्मतया विचक्षते' अर्थात् सभी जीवोंके आत्मस्वरूप आपको जो परमात्माके रूपमें दर्शन करते हैं, वे मुक्त होते हैं। (श्रीमद्भा॰ १०/१४/२४)]॥ १२॥

श्रीशुक उवाच—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥ १३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! चेदिराज शिशुपाल श्रीकृष्णके प्रति शत्रुताका भाव रखता था, तो भी उसे परमपद प्राप्त हुआ था; यह मैंने तुम्हें पहले भी बतलाया था। पुनः जिनकी श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रीति है, यदि उन अप्राकृत इन्द्रियमयी कृष्णवल्लभाओंको सिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है, उसमें सन्देह क्या है?॥ १३॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण अचिन्त्य, अनन्त, प्राकृतगुणरहित चिदानन्दमय गुणोंके समुद्र हैं। अतः वे अव्यय (वृद्धि-विनाशसे रहित), अप्रमेय (प्रमाण-प्रमेयसे रहित) हैं अर्थात् उन्हें कोई परिच्छिन्न अथवा परिमित नहीं कर सकता। वे अखिल-कल्याण-गुणमय हैं—षडैश्वर्यादि अप्राकृत गुण उनके स्वरूपभूत हैं। मनुष्योंके मङ्गलके लिए ही उनका आविर्भाव होता है॥ १४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५॥

इस प्रकार जो अच्युत श्रीकृष्णके साथ सदा-सर्वदा काम (गोपियोंका), क्रोध (शिशुपालका), भय (कंसका), स्नेह (श्रीनन्दादिका), निर्विशेष ऐक्य (आत्मारामगणोंका), सौहार्द (वृष्णिजन एवं पाण्डवोंका)

और भक्ति (सभी शुद्धसत्त्वविशेष भक्तों) मेंसे किसी एक भी भाव-सम्बन्धका अवलम्बन कर लेता है, वह निश्चितरूपसे तन्मयता (भगवन्मयता) को प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥ १६॥

हे राजन्! तुम्हें योगेश्वरोंके भी ईश्वर, महायोगीवर, षडैश्वर्यशाली, अजन्मा श्रीकृष्णके विषयमें और उनके अद्भुत कार्योंके सम्बन्धमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। (आप जब माताके गर्भमें थे, तभीसे आप श्रीकृष्णकी महिमाको जानते हैं। गोचारण करनेपर भी वे भगवान् हैं, देवकी पुत्र होनेपर भी अजन्मा हैं, गोपस्त्रियोंके लम्पट होनेपर भी योगेश्वरोंके ईश्वर हैं। अतः शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है।) अरे, मनुष्य तो बहुत दूरकी बात है, वे स्थावरादि पदार्थोंको भी मुक्ति प्रदान करते हैं॥ १६॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥ १७॥

वाग्मि-प्रवर (परम रसिक वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ) श्रीकृष्णने जैसे ही गोपियोंको अपने सम्मुख उपस्थित देखा, वैसे ही अपने वाणी-विलाससे विनोदपूर्ण अभिव्यक्तिके साथ उन्हें मोहित करते हुए कहने लगे॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे महाभाग्यवतियो! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारा यहाँ आगमन सुखपूर्वक हुआ है न? मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिए क्या प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें सब कुशलसे तो हैं न? तुम्हारे यहाँ आगमनका क्या कारण है, बतलाओ तो?॥ १८॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥ १९॥

हे सुमध्यमाओ! यह रात्रि है, अति भयङ्कर समय है, क्योंकि लताओंके मूल एवं पल्लव आदिमें सर्प, बिच्छू वास करते हैं। इसमें बाघ आदि भीषण हिंसक प्राणी विचरण करते रहते हैं। तुम्हारे जैसी स्त्रियोंका इस स्थानमें रहना उचित नहीं है। जाओ, तुम सब व्रजमें शीघ्र ही लौट जाओ॥ १९॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥ २०॥

तुम्हारी माताएँ, पिता, पति एवं पुत्र तुम्हें यथास्थान न देखकर निश्चय ही खोज रहे होंगे। अतएव यहाँ रहकर स्व-बन्धुओंमें, स्वयंमें और मुझमें भी भय उत्पन्न मत करो।

यह श्रीकृष्णकी परिहासोक्ति है। इसका तात्पर्य है कि तुम सब बन्धु-बान्धवोंसे भयभीत मत होना, क्योंकि वे इस गभीर वनमें तुम्हें खोजनेपर भी देख नहीं पायेंगे। अतः स्वच्छन्दतापूर्वक मेरे साथ रात्रिमें यहाँ विहार करो॥ २०॥

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१॥
तद्यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥ २२॥

हे रमणियो! यमुनाकी तरङ्गोंके स्पर्शसे युक्त शीतल वायुकी मन्द-मन्द गतिसे विकम्पित तरुके पल्लवों एवं पुष्पोंसे यह वन कुसुमित एवं सुगन्धित हो रहा है, पूर्णचन्द्रकी स्निग्ध किरण-मालाएँ अपने ही करोंसे इसे सुरञ्जित कर रही हैं, इस प्रकार तुम सबने वनकी अभिलषित सुन्दरताको देख ही लिया है। अतः हे सतियो! अब शीघ्र ही व्रज लौट जाओ। वहाँ जाकर अपने पतियोंकी शुश्रूषा करो। बछड़े और तुम्हारे बच्चे वहाँ क्रन्दन कर रहे होंगे।

अतः जाओ, उन्हें दुग्धपान कराओ और गायोंका दोहन करो॥ २१-२२॥

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥ २३॥

अथवा यदि मेरे प्रति अनुरागके कारण तुम सबका चित्त मेरे वशीभूत हो गया है, तो यह भी युक्तिसङ्गत ही है, क्योंकि इस संसारमें सभी जीव सहज भावसे मेरे प्रति प्रीतियुक्त रहते हैं। तुम तो परम भाववती हो॥ २३॥

भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥ २४॥

हे कल्याणियो! स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे निष्कपट भावसे पतिकी एवं उसके बान्धवोंकी सेवा करें तथा सन्तानका भलीभाँति पालन करें। (वस्तुतः जो वर्णाश्रम आदि समस्त धर्मोंका त्यागकर मेरा भजन करता है, वही उत्तम भक्त है)॥ २४॥

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥ २५॥

पति यदि चोरी आदि अवैध कार्योंमें रत हो, बुरे-स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, कर्मशक्तिरहित, महारोगग्रस्त अथवा निर्धन ही क्यों न हो, यदि वह पापी (भजन-मार्गसे पतित) नहीं है, तो इस लोक और परलोककी (पतिलोककी) आकाङ्क्षा करनेवाली स्त्रियोंको उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। (गोपियाँ तो पहलेसे दोनों लोकोंको जलाञ्जलि देकर कृष्णके माधुर्य-समुद्रमें निमग्न हो रही थीं। अभिप्राय यह है कि पतियोंका त्याग उन्होंने पहलेसे ही कर रखा था।)॥ २५॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौ औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥ २६॥

कुलीन स्त्रियोंके लिए उपपतिका सेवा-सुख स्वर्गका विरोधी, नरकको प्राप्ति करानेवाला, यशको नष्ट करनेवाला, तुच्छ, दुःखोंका हेतु, भयप्रद एवं सर्वत्र निन्दनीय माना गया है। श्रीगर्गाचार्य मुनिके अनुसार 'मैं नारायणके समान हूँ', तो ऐसा होनेपर तुम लोगोंका मेरे प्रति औपपत्य भाव किसी भी प्रकारसे निन्दनीय नहीं, अपितु प्रशंसनीय ही है॥ २६॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥ २७॥

विशेषरूपसे मेरी कथा सुननेसे, मेरे श्रीविग्रहके दर्शनसे, मेरे ध्यानसे एवं नित्य-निरन्तर नाम सङ्कीर्त्तनसे मेरे प्रति जैसा अमिट प्रेम उत्पन्न होता है, मेरे समीपमें रहनेसे वैसा नहीं होता। अतः तुम अपने-अपने घरोंको लौट जाओ। (इस प्रकार परम कौतुकी रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्णने नर्म रसालापके छलसे व्रजरमणियोंके समक्ष भङ्गिपूर्वक ऐसे अभिनव भावोंका प्रकाश किया, जिसमें कभी उनके सान्निध्यकी श्रेष्ठता और कभी श्रवण-कीर्त्तनकी श्रेष्ठता दिखायी दी।)॥ २७॥

श्रीशुक उवाच—
इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—गोपियोंने जब श्रीकृष्णके ऐसे अप्रिय वचन सुने, तो वे सभी विषाद-ग्रस्त और खिन्न हो गयीं। उनके सारे मनोरथ ध्वस्त हो गये। वे अथाह एवं अपार चिन्ताके सागरमें डूब गयीं कि क्या सचमुच ही हम कृष्ण-सेवाके लिए अयोग्य हैं अथवा उन्होंने हमारी उपेक्षा कर दी है॥ २८॥

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमसिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥ २९॥

प्रचुर दुःखके कारण निकलनेवाले गहरे निःश्वासोंसे उनके बिम्बफलके समान लाल-लाल अधर सूख गये, वे मुख नीचे झुकाकर अपने पैरोंके अँगूठेके नखसे भूमिको कुरेदने लगीं। काजलसे संश्लिष्ट अश्रुधाराओंके प्लावनसे उनके वक्षःस्थलपर अङ्कित कुङ्कुम (केसर) धुलने लगा। अत्यधिक दुःखके भारसे वे आक्रान्त हो गयीं। कुछ बोल नहीं पायीं, मौन होकर पुतलीकी भाँति खड़ी रह गयीं॥ २९॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्-
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३०॥

इन कामिनियोंका हृदय तो सम्पूर्णरूपेण श्रीकृष्णके प्रति अनन्य अनुरागमें आसक्त था एवं कृष्ण-प्राप्तिके लिए ही वे सम्पूर्ण इच्छाओंका परित्याग करके यहाँ आयी थीं। भगवान् श्रीकृष्णके निष्ठुर एवं अप्रिय वचनोंको सुनकर वे रोने लगीं। थोड़ी देर बाद धीरे-धीरे धैर्य धारण किया और रोते-रोते अपने हाथोंसे अपनी लाल-लाल अन्धप्राय आँखोंसे आँसू पोंछने लगीं। ईषत् प्रणय-कोपके आवेशसे उनकी वाणी गद्गद हो गयी। वे प्रियतम श्रीकृष्णसे क्षोभ-युक्त वचन कहने लगीं॥ ३०॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१॥

गोपियोंने कहा—हे विभो (आप सर्वव्यापी हैं और हमारे हृदयकी बात जानते हैं)! प्यारे श्रीकृष्ण! आपके लिए इस प्रकारके निष्ठुर वचन कहना उचित नहीं है। समस्त विषय-कामनाओंका त्याग करके हम केवल आपके चरणोंकी ही सेवा

करती हैं, अतः हमें अङ्गीकार कीजिये। हे कृपा-पराङ्मुख! हमारा परित्याग मत कीजिये। आदिपुरुष भगवान् नारायण जिस प्रकार मुमुक्षु व्यक्तियों पर अनुग्रह-वर्षण करते हैं, आप भी उस प्रकारसे हमारे ऊपर अनुग्रहकी वृष्टि कीजिये। हे दुरवग्रह (हठीले)! हमें स्वीकार कीजिये। हे दुरवग्रह! (हे विषवर्षणकारी स्वेच्छाचारिण मेघ!) हमलोग चातकियाँ हैं और आप मेघस्वरूप हैं। चातकियोंसे दूर रहनेपर भी मेघ ही उनकी प्यास बुझानेके कारण उनके बन्धुस्वरूप होते हैं। हम विषका पान करके मृत्युको भले ही स्वीकार कर लें, परन्तु निकटस्थ पतिरूप जलाशयका जल पान नहीं करेंगी॥ ३१॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२॥

हे प्रिय कृष्ण! आप धर्मज्ञ हैं। आपने जो हमें उपदेश दिया कि पति, पुत्र एवं बन्धुओंकी निष्ठापूर्वक सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है, तो हे श्यामसुन्दर! आप ही समस्त उपदेशोंके चरम विषय हैं और आप ही साक्षात् ईश्वर हैं। आपके इन वचनोंसे तो आपकी सेवा ही प्रमाणित होती है। आप ही समस्त प्राणियोंके घनिष्ठतम प्रियतम, आत्मा एवं बन्धुस्वरूप हैं। (स्वयं ईश्वर जब उपदेष्टा अथवा गुरु हो, तब उनका भजन करनेपर अन्य किसी पतिकी अपेक्षा रह जाती है क्या?)॥ ३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥ ३३॥

हे आत्मरूपिन्! आत्म-हितमें निपुण व्यक्ति आपकी ही भक्ति करते हैं, क्योंकि आप ही सच्चिदानन्दमय एवं शाश्वत प्रियतम

हैं। अनित्य पति, पुत्र इत्यादिकी सेवासे क्या प्रयोजन? वे तो सेवित होनेपर भी नित्य-निरन्तर विविध पीड़ाएँ प्रदान करते हैं। हे कमललोचन! हे वरद! हे ईश्वर! आपका सान्निध्य प्राप्त करनेके लिए हम चिरकालसे आशाका पोषण करती आ रही हैं। आप हमारी इस आशारूप कल्पलताका छेदन मत कीजिये। हे अरविन्दलोचन! आपने ही हमारे हृत्-क्षेत्रमें कमलनयन-दृष्टिके द्वारा इस आशा-लताका रोपण किया है। कोई भी सदाचारयुक्त व्यक्ति अपने हाथोंसे रोपित वृक्षका छेदन नहीं करता॥ ३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥ ३४॥

हे चित्त-मोहन! आपके वेणुनाद द्वारा जो अपहृत हमारा चित्त है, वह अब तक सुखपूर्वक घरके कार्योंमें ही मग्न रहता था। अब तो गृहस्थीके कर्मोंमें संलग्न हमारे हाथोंका भी आपने हरण कर लिया है। अब ये दोनों हाथ घरकी सेवामें नियुक्त नहीं होते। हे भुवनमोहन! हमारे दोनों पैर किसी मोहन-मन्त्रसे बँधे हुए-से आपके ही चरणारविन्दोंकी ओर उन्मुख होकर गति करते हैं, वहाँसे किसी अन्य स्थानपर चलना नहीं चाहते। बतलाइये! चित्तके बिना अब हम किस प्रकारसे व्रजमें जाएँ और वहाँ जाकर क्या करें?॥ ३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥ ३५॥

हे श्रीकृष्ण! आपकी मधुर-मदिर मुसकान, प्रणय-पूर्ण चितवन एवं मनोहर सङ्गीतसे हमारे हृदयोंमें कामाग्नि प्रज्वलित हो गयी है, अब तो यह आपकी अधरामृत-धारा द्वारा ही बुझायी जा

सकती है। हे सखे! यदि यह सम्भव नहीं है, तो हम विरहानलमें इन शरीरोंको दग्ध कर डालेंगी और हे अपरिणामदर्शिन्! योगियोंके समान आपके चरण-युगलोंका ध्यान करती हुईं आपके समीप ही उपस्थित हो जायेंगी। (आपने ही अवलोकनरूप घी एवं हास्यरूप मधु डालकर कलगीतरूप वायुके द्वारा इस कामको उद्दीप्त किया है और आपके अधरोंकी रसधारा ही इसे बुझा सकती है। ये दोनों ही वस्तुएँ आपके श्रीमुखचन्द्रमें वर्त्तमान हैं।)॥ ३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥ ३६॥

हे अम्बुजाक्ष! आप वनवासियों (गोपों) से बड़ी प्रीति रखते हैं और उनके भी आप अत्यन्त प्रिय हैं। (हम भी गोप जातिकी हैं, इसलिए आपकी चरणधूलि प्राप्त करनेकी योग्यता हममें भी है) आपके चरण-तलकी सेवा लक्ष्मीदेवीको भी उत्सव प्रदान करती है। (आपके चरण रमादेवीके वाञ्छित होनेपर भी वृन्दावनवासियोंकी अपनी निजस्व सम्पदा हैं) हमने जिस समयसे क्षणकालके लिए भी इन चरण-तलका साक्षात् स्पर्श किया है, उस समयसे ही उस आनन्दमें निमग्न रहती हुईं पति इत्यादि किसीके भी सामने ठहरनेमें असमर्थ हो गयी हैं॥ ३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षण उतान्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥ ३७॥

ब्रह्मादि देवता जिनकी वात्सल्यरसमयी कृपा-दृष्टिकी प्राप्तिके लिए प्रयास करते रहते हैं, वे ही लक्ष्मीदेवी श्रीनारायणके वक्षःस्थलपर अनुपम (प्रतिद्वन्द्विता-रहित) स्थान प्राप्त करके भी आपके चरणयुगलकी रज-प्राप्तिके लिए प्रार्थना करती हैं। हे

स्वामी! आपके चरणकमलोंकी इसी रजकी प्राप्तिके लिए तुलसीदेवी भी सदैव लालायित रहती हैं और सभी भक्त भी इसीकी लालसासे आपके इन चरणारविन्दोंकी सेवा करते हैं। हम भी इसी तरह आपकी चरणरेणुकी प्राप्तिके लिए आपकी शरणमें आयी हैं॥ ३७॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥ ३८॥

हे दुःखहारिन्! आप तो अपने शरणागत भक्तोंके सब कष्टोंको हर लेते हैं। अतः हम भी घर-कुटुम्बका परित्याग करके आपके शरणापन्न हुई हैं। आपकी सेवाकी ही अपेक्षा रखती हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! हमारे प्रति प्रसन्न हो जाइये। हे पुरुषरत्न! आपके सुन्दर हास्ययुक्त कटाक्ष भ्रू-भङ्गीसे हम कामसे सन्तप्त हो रही हैं। अतः हे पुरुषभूषण! हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कीजिये तथा अपनी सेवाका अवसर प्रदान कीजिये। (हे परममोहन शिरोमणे! हम गौराङ्गी हैं तथा आप हमारे समस्त अङ्गोंके इन्द्रनीलमणिमय अलङ्कारस्वरूप हैं।)॥ ३८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥ ३९॥

हे प्रभो! आपकी घुँघराली अलकावलियोंसे आवृत परमसुन्दर मुखमण्डल, कुण्डल-द्वयके सौन्दर्यसे विभूषित कमनीय कपोल, साक्षात् सुधाको भी तिरस्कृत करनेवाला आपका मधुर अधरामृत, मन्द-मुसकानसे युक्त नयन-कमल, मनोहारी अनुपम चितवन, भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाली विशाल भुजाएँ एवं लक्ष्मीजीके एकमात्र रमण-स्थल आपके वक्षःस्थलका दर्शन करके हे धार्मिक-चूड़ामणि! हमने आपके दास्यका आश्रय लिया है॥ ३९॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ४०॥

हे कृष्ण! आपके सुमधुर पद एवं आरोह-अवरोह क्रमसे विविध एवं दीर्घ मूर्च्छनाओंसे युक्त वेणुके अमृतमय सङ्गीतको सुनकर तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी कामिनी है, जो मोहित होकर अपने आर्य-धर्मसे, नारी-धर्मसे तथा लोक-लज्जासे विचलित न हो जाय। तीनों लोकोंके मनोंको मोहित करनेवाले और उन्हें मङ्गलमय बनानेवाले आपके रूपका दर्शन करके गाय, पशु, पक्षी एवं वृक्ष भी पुलकित एवं रोमाञ्चित हो जाते हैं। (तीनों लोक एवं वैकुण्ठादि लोकोंमें जो सौन्दर्य है, वह कृष्णके सौन्दर्य-सिन्धुका कणमात्र है।)॥ ४०॥

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरःसु च किङ्करीणाम्॥ ४१॥

आदिपुरुष विष्णु जिस प्रकार सुरलोकमें देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चितरूपसे व्रजके भय एवं दुःखोंके विनाशके लिए आविर्भूत हुए हैं। अतः हे आर्त्तजनशरण! अपनी इन दासियोंके काम-सन्तप्त वक्षःस्थल एवं मस्तक पर अपना कोमल कर-कमल स्थापित कर उनमें प्राण-शक्तिका सञ्चार कीजिये॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥ ४२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण सनक एवं शिवादि महायोगियोंके भी अधीश्वर हैं। श्रीकृष्णने जब

गोपियोंके इस प्रकारकी विलाप-व्यथा और आकुल-वाणीको सुना, तो उनका हृदय दयासे आर्द्र हो गया। वे हँसने लगे और स्वयं नित्य-तृप्त (आत्माराम) होकर भी उन गोपियोंके साथ रमण-क्रीड़ा (रास-विहार) करने लगे। श्रीकृष्णने अनुरागवती व्रजदेवियोंके प्रेमके प्रभावसे अपनी आत्मारामताको छिपाया और प्रेमकी अधीनताको स्वीकार करते हुए उस प्रेमकी विजय-वार्त्ताकी घोषणा की। गोपियाँ श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण भगवान्‌की आत्मस्वरूपा हैं॥ ४२॥

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥ ४३॥

उस समय अच्युत (अपने स्वरूपमें एकरस रहनेवाले) भगवान् श्रीकृष्णने अपनी भाव-भङ्गिमाओं एवं चेष्टाओंको गोपियोंके लिए अनुकूल बना दिया, परन्तु वे अपने सच्चिदानन्द स्वभावसे क्षुब्ध नहीं हुए। जब वे खुलकर हँसे, तब कुन्द-कुसुमके समान शुभ्र एवं उज्ज्वल दन्त-पंक्ति और अनुरागपूर्ण चितवनको देखकर गोपियोंके मुखकमल प्रफुल्लित हो गये। गोपियोंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया। उत्फुल्ल तारिकाओंसे घिरा चन्द्रमा जिस प्रकार शोभा प्राप्त करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रफुल्लित मुखवाली गोपियोंसे घिरकर सुशोभित होने लगे॥ ४३॥

उपगीयमान उद्‌गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥ ४४॥

शत-शत रमणियोंके यूथपति श्रीकृष्ण पञ्चवर्णीय पुष्पोंसे ग्रथित वैजयन्ती माला पहनकर वन भूमिको विभूषित करते हुए विचरने लगे। वे रास-क्रीड़ा करते हुए गोपियोंके प्रेम एवं सौन्दर्यका प्रतिपादन करनेवाले गीत गाने लगे—"*वदनं मधुरिमसदनं चलनं दलनं करीन्द्रकीर्त्तिनाम्। हसितं सुदृगभिलषितं तव सवयः*

पातु मामनिशम्॥" (अर्थात् जिनका मुख समस्त माधुर्यका निकेतन है, श्रेष्ठ हाथीकी कीर्त्तिको भी चूर्णित करनेवाला है। जिनका हास्य सुलोचनाओंका अभिलषित है, तुम्हारा वह कैशोर वयस मेरी निरन्तर रक्षा करे)। श्रीराधा, चन्द्रावली आदि कामिनियाँ भी श्रीकृष्णके माहात्म्यके गीत गाने लगीं—*"कान्ते त्व दास्योदयदत्तमिन्दुर्भृगच्छलस्दुर्यश एव धत्ते। जनोपहासा सह नोऽथवा किं द्विजोऽपि मूढ़ो गरलं जघास"* इति। (अर्थात् आपके मुख-चन्द्रके उदयसे आकाशका चन्द्र मृगलाञ्छनके दुर्यशको प्राप्त होकर हमारे साथ अन्य लोगोंके लिए भी उपहासका पात्र हो रहा है अथवा हे कान्त! मूढ़ चन्द्रने भी क्या गरल पान किया है?) इत्यादि॥ ४४॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
जुष्टं तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना॥ ४५॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥ ४६॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ यमुना-पुलिनकी ओर पदार्पण किया, जो पावन यमुनाकी तरङ्गोंका स्पर्श करनेके कारण, शैत्य एवं मन्दताके गुणोंसे युक्त, विकसित कुमुद पुष्पकी सुगन्धसे युक्त समीरसे सेवित होकर अति आनन्दप्रद हो रहा था। उसके शीतल बालुकाके कण कपूरके समान दीप्त हो रहे थे। वहाँ भगवान्ने भुजा प्रसारण, आलिङ्गन, हस्त निपीड़न, अलकावली-उरु-नीवी-स्तन-स्पर्शन, नखाघात, क्रीड़ामयी चितवन एवं मनोहर स्मितके द्वारा गोपियोंके काम भावको उद्दीप्त करते हुए उनके साथ रमण करते हुए महारासोत्सव मनाया। श्रीभगवत्-मूर्त्तिकी भाँति श्रीवृन्दावन भूमि भी विभु वस्तु है। इसी विभुताके कारण तिलमात्र सीमित स्थानका विस्तार एवं लीलाके अन्तमें सङ्कुचन

संभव होता है, भगवान्‌ने अकेले ही शत कोटि गोपियोंके साथ योगमाया द्वारा रचित विविध कुञ्जोंमें विहार किया॥ ४५-४६ ॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽधिकं भुवि॥ ४७॥

उदारचेता, महात्मा भगवान् श्रीकृष्णने जब गोपियोंके मनोरथोंको इस प्रकारसे पूर्ण किया, तब प्रत्येक गोपीके मनमें अभिमान हो आया और हर कोई गोपी यही सोचने लगी कि पृथ्वीपर समस्त कामिनियोंमें वही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीकृष्णके द्वारा सम्मान प्राप्त करके हरेक गोपी श्रीकृष्णके प्रति मानिनी एवं अन्यान्य रमणियोंके प्रति गर्विता हो गयी॥ ४७॥

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमानञ्च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

श्रीकृष्णने भी जब इनका सौभाग्यजनित गर्व एवं (राधाजीका) मान देखा, तो वे उसके निवारणके लिए एवं उनपर कृपा करनेके लिए यमुना-पुलिनमें उनके मध्यमें ही अदृश्य हो गये अर्थात् व्रजसुन्दरियोंके सौभाग्य-मद एवं श्रीवृषभानुकुमारी श्रीराधिकाके मान-प्रसादनके लिए भगवान् केशव अन्तर्धान हो गये॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

श्रीशुक उवाच—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण जब इस प्रकारसे अचानक अदृश्य (अन्तर्धान) हो गये, तब उन्हें वहाँ न देखकर व्रजनारियाँ उस प्रकार विरह-सन्तापसे ग्रस्त हो गयीं, जिस प्रकार यूथपति गजराजको न देखकर हथिनियाँ सन्तप्त हो जाती हैं। (गोपियोंके हृदयमें विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो गयी)॥ १॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥ २॥

ये रमणियाँ श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी-सी गति-भङ्गिमा, अनुरागमयी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन, मनोरम प्रेमालाप, विहार एवं शृङ्गार-रसमयी कौतुक-क्रीड़ाओंसे अत्यन्त आकृष्ट एवं अभिभूत हो गयी थीं। कृष्ण-विरहमें वे सब कृष्णगतहृदय हो गयीं और उनके द्वारा विहित लीला-चेष्टाओं (कार्यकलापों) का अनुकरण करने लगीं॥ २॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥ ३॥

उस समय कृष्ण-प्रिया गोपियोंने श्रीकृष्णके समान मूर्त्ति धारण कर ली और उनके समान ही विहार करने लगीं—वही सुललित पद-विन्यास (चाल-ढाल), वही मन्द मुस्कान, वही वक्रिम चितवन, वही प्रेमालाप, वही मति, वही भाव-भङ्गिमा। विभ्रम-दशाको प्राप्त होकर वे स्वयंको सर्वथा भूल गयीं और कृष्णात्मिका भावसे लीलाभावका अनुकरण करती हुईं परस्पर इस प्रकार कहने लगीं—"मैं ही वही कृष्ण हूँ॥"३॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥४॥

विशेषरूपसे वे सभी मिलकर उच्च स्वरसे कृष्णके नाम एवं गुणोंका गान करने लगीं और उन्मत्त-सी होकर एक वनसे दूसरे वनमें उन्हें ढूँढ़ने लगीं। जो आकाशके समान चराचर, अन्तर एवं बाहर सर्वत्र स्थित हैं, उन्हीं श्रीकृष्णका समाचार वृक्षादि वनस्पतियोंसे पूछने लगीं। (श्रीकृष्ण सर्वमुख्यतमा नायिका श्रीराधिकाके साथ रमणमें रत रहनेपर भी समस्त भूतोंके भीतर एवं बाहर अपनी विद्यमानताके कारण उन-उन स्थानोंमें भी अलक्षितरूपसे गोपियोंके उन्माद-युक्त प्रश्नोंको श्रवण कर रहे थे।)॥४॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥५॥

(गोपियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे पूछा—) हे अश्वत्थ! हे प्लक्ष (पीलू वृक्ष)! हे बरगद! श्रीकृष्ण अपनी प्रेममयी मुसकानसे विलसित महामोहन चितवनके द्वारा हमारे चित्तरूपी रत्नको चुराकर भाग गये हैं, तुमने उन्हें जाते हुए देखा है क्या? (अहो! अशुद्ध अन्तःकरणवाले क्षुद्रफलधारी ये वृक्ष परोपकार-धर्मको नहीं जानते, अतः इन वृक्षोंसे पूछनेकी कोई आवश्यकता नहीं है)॥५॥

कच्चित् कुरुवकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः॥ ६॥

(अनन्तर उद्यानमें प्रवेश करके पूछने लगीं—) हे कुरुवक (सदाबहार), अशोक, नाग, पुन्नाग, चम्पक! अपनी सुनिपुण एवं विलक्षण मुसकानसे मानिनियोंके दर्पको हर लेनेवाले बलरामके छोटे भाई श्रीकृष्ण यहाँसे होकर गये थे क्या? (इन कठोर पुरुष जातिके वृक्षोंसे पूछनेपर हमें फल प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है। अतः आगे चल पड़ीं)॥ ६॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥ ७॥

(बड़े-बड़े वृक्षोंसे उत्तर न मिलनेपर वे दयाकी आकाङ्क्षासे स्त्री जातिके वृक्षोंसे पूछने लगीं—) हे गोविन्दचरण-प्रिये तुलसी! श्रीकृष्ण तुमसे भी तो बहुत स्नेह रखते हैं, हे कल्याणी! तुम दयालु हो, सभीका मङ्गल विधान करती हो। हे तुलसीदेवी! भ्रमर जिसपर मँडराते रहते हैं, ऐसी तुम्हें वे सदा धारण करते हैं, क्या तुमने उन अतिशय प्रियतम श्रीकृष्णको इधरसे जाते देखा है क्या? (तुलसीका श्रीकृष्णके साथ कभी विच्छेद नहीं है। इसीसे उसका सौभाग्य अधिक है। शत-शत भ्रमरोंके उद्वेगको सहन करके भी वे उसे अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं। तुलसीमें सौरभ भी अधिक है)॥ ७॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥ ८॥

हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! अपने कोमल करारविन्दके स्पर्शसे तुम्हें पुलकित करते हुए हमारे प्यारे माधवको तुमने कदाचित् यहाँसे जाते देखा है क्या?॥ ८॥

चूतपियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।

येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥ ९॥

हे रसाल! हे पियाल (शाल)! हे पनस (कटहल)! हे आसन (पीतशाल)! हे कोविदार (कचनार)! हे जम्बू (जामुन)! हे आक! हे बिल्व (बेल)! हे बकुल (मौलसिरी)! हे आम्र! हे कदम्ब! हे नीप (धूलिकदम्ब)! हे परहितके लिए अपना जीवन अर्पण करनेवाले यमुनातटके अन्यान्य वृक्षो! हमें वह मार्ग बतला दो, जहाँसे कृष्ण गये हैं। कृष्ण-विरहमें हमारा चित्त शून्य होकर मूर्च्छित-सा हो रहा है। यमुनाके तटपर वास करनेके कारण तुम सब तीर्थवासी हो। परहितके लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम अवश्य ही बतलाओगे॥ ९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥ १०॥

हे पृथ्वीदेवी! तुमने कौन-सी तपस्या की थी, जिसके कारण श्रीकृष्णके चरण-स्पर्श-जनित आनन्दसे तुम्हारा रोम-रोम (तृण, लतादिके रूपमें) पुलकायमान होकर सुशोभित हो रहा है। तुम्हारा यह आनन्दोत्सव अभी-अभी उनके चरण-स्पर्शके कारण है या पहले त्रिविक्रम (वामन) के रूपमें जब उन्होंने तुम्हें अपने चरणोंसे परिमित किया था, उस कारणसे है अथवा वराह अवतारमें उनके आलिङ्गनके कारण उत्पन्न हो रहा है? हे भगवत्-प्रेयसी! जिस किसी भी रूपमें तुमने निश्चित ही उनका दर्शन किया हो, हमें भी उनके मार्गका कुछ निदर्शन करो। (गोपियोंने निश्चय किया कि वृक्ष विष्णुकी समाधिमें मग्न होनेके कारण हमारा प्रश्न सुन नहीं रहे हैं और फिर ये तीर्थवासी कठोर स्वभावके होते हैं। अतः पृथ्वीसे ही पूछना चाहिये कि वह किस

तपश्चर्याके कारण श्रीकृष्णके विरहको प्राप्त नहीं होती और स्वाधीन-भर्त्तृका बनी रहती है)॥ १०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥ ११॥

तत्पश्चात् हरिणियोंकी प्रसन्न दृष्टिको देखकर "इन्होंने कृष्णका दर्शन किया है"—इस संभावनासे कहने लगीं—हे सखियो! हे हरिणियो! श्रीकृष्ण अपने सुन्दर मुख, बाहु इत्यादि अङ्गोंके द्वारा तुम्हारे नयनोंको आनन्दित करते हुए अपनी प्रियाके साथ यहाँ आये थे क्या? देखो तो, गोपी-कुल-पति श्रीकृष्णके कण्ठमें स्थित उसी कुन्द-पुष्पोंसे ग्रथित मालाकी सुगन्ध आ रही है जो कान्ताके अङ्ग-सङ्ग कालमें उसके कुच-कुङ्कुमसे रञ्जित रहती है। (अपने नयनोंके आनन्दके लोभसे हिरनियाँ श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चलती हैं, इसलिए इनकी दृष्टिसे कृष्ण कभी विच्युत नहीं होते।)॥ ११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किंवाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥ १२॥

पुनः फलोंके भारसे अवनत वृक्षोंको देखकर ऐसा मानने लगीं कि श्रीकृष्णको देखकर ये वृक्ष प्रणामकी मुद्रामें स्थित हैं। अतः वे इन वृक्षोंसे पूछने लगीं—हे तरुवरो! अपनी प्रेयसीके कन्धेपर एक हाथ रखे और दूसरे हाथमें लीला-कमलको धारण किये हुए बलरामके छोटे भाई श्रीकृष्ण इधरसे गये थे क्या? उनके गलेमें स्थित तुलसी-मालाकी अप्रतिम सुगन्धसे मतवाले होकर गन्धके लोभी भ्रमर उस पर मँडराते रहते हैं, उन श्रीकृष्णने जहाँसे विचरण करते हुए अपनी प्रणयमयी चितवनसे तुम्हारे वन्दनका

अभिनन्दन किया था या नहीं? (वृक्ष तो सात्त्विक साधु हैं—इनके प्रति प्रीतिपूर्वक अवलोकन करनेका उन्हें अवकाश ही नहीं मिला होगा। वे तो लीला-कमलके द्वारा प्रियाके मुखके सौरभसे आकृष्ट होकर मँडराते भ्रमरोंको दूर करनेमें रत होंगे)॥ १२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥ १३॥

कोई-कोई व्रजाङ्गना कहने लगी—हे सखियो! इन लताओंने निश्चय ही कृष्णका सङ्ग प्राप्त किया है—इसलिए उनके पास ही चलकर पूछते हैं। अहो! इनका कितना सौभाग्य है कि ये अपने पति-वृक्षोंको भुजपाशमें आलिङ्गन किये हुए हैं, पर तो भी क्या, इनमें जो रोमाञ्च और पुलक दिखायी दे रहे हैं, वे तो निश्चय ही अच्युत श्रीकृष्णके नख-स्पर्शके कारण ही हैं॥ १३॥

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥ १४॥

कृष्णको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती उन्मत्त वचन बोलती हुईं मतवाली गोपियाँ किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी, कातर-सी होकर उनकी प्रसिद्ध लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। गाढ़ आवेशके कारण वे कृष्णात्मभावको प्राप्त हो गयी थीं और उनकी बाह्य दृष्टि लुप्त हो गयी थी॥ १४॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्॥ १५॥

एक गोपी कृष्णके समान लीला करती हुई पूतनाके समान बन गयी और दूसरी बाल-कृष्णके समान गोपीका स्तन-पान करने लगी। अन्य कोई गोपी शकटासुर बन गयी, तो दूसरी कृष्णके बाल-भावको धारण कर रोदन करने लगी और पैरोंके प्रहारसे शकटासुरको ठोकर मारने लगी॥ १५॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥ १६॥

कोई गोपी स्वयं तृणावर्त्त दैत्यके समान बन गयी और कृष्णके बाल्य-रूपका अनुकरण करते हुए दूसरी गोपीको हर ले गयी। कोई गोपी भूमिपर घुटनेके बल रेंगने लगी और पायजेबोंकी रुनझुन ध्वनि करते हुए क्रीड़ा करने लगी॥ १६॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥ १७॥

एक गोपी बन गयी बलराम और दूसरी बन गयी कृष्ण। अन्य कुछ व्रजाङ्गनाओंने गोपोंके भावोंको धारण कर लिया। वत्सासुर वध लीलाका अभिनय करते हुए एक गोपी बन गयी वत्सासुर और दूसरीने कृष्ण बनकर वध करनेका अभिनय किया। इसी प्रकार एक व्रजसुन्दरी बकासुरके रूपमें प्रस्तुत हो गयी और दूसरी कृष्णके समान वध लीलाका अनुकरण करने लगी॥ १७॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति॥ १८॥

एक अन्य गोपी कृष्णके समान वनमें जाकर दूर गयी हुई गायोंको बुलानेके लिए कृष्णका अनुकरण करते हुए वंशी बजाने लगी तथा क्रीड़ा-विहारमें निरत दूसरी गोपीकी 'साधु-साधु' कहकर प्रशंसा करने लगी॥ १८॥

कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥ १९॥

एक व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णको अपने मनमें स्थिर कर कृष्णमयी होकर दूसरीके कन्धेपर अपनी भुजा रखकर श्रीकृष्णकी भाँति मधुर गतिसे चलती हुई कहने लगी—हे गोपियो! मैं कृष्ण हूँ! यह देखो, मेरी मनोरम गति-भङ्गिमा॥ १९॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥ २०॥

एक गोपीने कहा—हे व्रजजन! इन्द्र द्वारा की हुई आँधी एवं वर्षासे तुमलोग भय मत करो। मैं इससे तुम्हारी रक्षाका उपाय करता हूँ। यह कहकर उसने गोवर्धन-धारण लीलाका अभिनय करते हुए बड़े यत्नके साथ अपनी ओढ़नीको ऊपरकी ओर ताना मानो गोवर्धन धारण कर रही हो॥ २०॥

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥ २१॥

अन्य एक गोपी कालिय नाग बनी दूसरी व्रजाङ्गनाके कन्धेके ऊपर चढ़कर उसे दण्डित करनेके लिए उसके मस्तक पर पदाघात करते हुए कहने लगी, "हे दुष्टनाग! कालिय! इस ह्रदसे कहीं और प्रस्थान कर जा। मैं दुष्टोंको दण्ड देनेके लिए ही अवतरित हुआ हूँ॥"२१॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा॥ २२॥

इतने ही में उन्मादकी प्रबलतासे एक गोपीने कहा—"हे प्रिय ग्वालबालो! जङ्गलमें लगे इस अति उग्र दावानलको देखो! तुम शीघ्र ही अपनी-अपनी आँखें मूँद लो। मैं सत्य ही तुम्हारे कल्याणका उपाय करता हूँ॥"२२॥

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले।
वध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमुषन्त्विति।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्॥ २३॥

एक गोपी यशोदा बन गयी और "इस भाण्डभेदीने मक्खनका भाण्ड तोड़ डाला है, इस नवनीत-चोरको आज बाँध देती हूँ"—यह कहकर एक उलूखल बनी गोपीसे उस कृष्ण बनी गोपीको पुष्पोंकी मालाके द्वारा बाँध दिया। जिस गोपीको बाँधा

गया, वह कृशाङ्गी, सुलोचना भयके कारण मुख ढककर डरे हुए कृष्णका अभिनय करने लगी॥ २३॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥ २४॥

प्रिय परीक्षित्! इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण-लीलाका अनुकरण करती रहीं और वृन्दावनके तरुवरों एवं लताओंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछती रहीं कि तभी उन्हें वन-प्रदेशमें एक कोणमें श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखायी दिये॥ २४॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः॥ २५॥

उन पदचिह्नोंको देखकर वे कहने लगीं—ये पदचिह्न तो निश्चय ही महात्मा नन्द-तनयके ही हैं, क्योंकि इनमें ध्वज, पद्म, वज्र, अंकुश और यव आदिके चिह्न स्पष्टरूपसे दिखायी दे रहे हैं। (तन्मयताकी उन्माद दशा शिथिल होनेपर गोपियोंको कुछ आत्मानुसंधान हुआ और वे पुनः श्रीकृष्णका अन्वेषण करने लगीं)॥ २५॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्॥ २६॥

तत्पश्चात् उन पदचिह्नोंका पीछा करती हुई वे अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके जानेका मार्ग अन्वेषण कर ही रही थीं कि उन्होंने देखा—उदार-शिरोमणि व्रजवल्लभ श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके साथ किसी व्रजवधूके चरणचिह्न संयुक्त प्रतीत हो रहे हैं। इन चरणचिह्नोंको देखकर वे अत्यन्त आर्त्त हो गयीं और परस्पर कहने लगीं॥ २६॥

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा॥ २७॥

गजराजके साथ जिस प्रकार हथिनी चलती है, उसी प्रकार इस बड़भागिनीकी भुजाको अपने कन्धेपर रखकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दर

चले होंगे। उसके चरणचिह्नोंकी झलक स्पष्ट दिखायी दे रही है॥ २७॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥ २८॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण निश्चय ही उस भाग्यवतीके (श्रीवृषभानु-नन्दिनीके) द्वारा भली-भाँति आराधित हुए होंगे, क्योंकि उन्होंने इससे सन्तुष्ट होकर हमारा परित्याग कर दिया है और उसे एकान्तमें ले गये हैं। (श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा यत्नपूर्वक राधाका नाम गोपन रखे जानेपर भी श्रीराधाकी कृपासे सौभाग्यरूपी दुन्दुभि बजानेके लिए उनके मुखचन्द्रसे श्रीराधाका नाम स्वयं ही निकल गया)॥ २८॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥ २९॥

हे सखियो! श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका स्पर्श करके रज भी अतिशय पवित्र एवं धन्य हो जाती है। ब्रह्मा, महादेव एवं लक्ष्मी देवी भी अपने अशुभोंके नाशके लिए इस रजको अपने मस्तकोंपर धारण करते हैं। श्रीकृष्णके सहचर गोपबालकोंने अपनी आँखोंसे देखा कि श्रीकृष्ण जब गोष्ठमें आगमन करते हैं, तब मार्गमें ब्रह्मादि देवगण उनके चरणोंकी वन्दना करते हैं और इस चरण-रजको मस्तकपर धारणकर विरह-दुःखको दूर करते हैं॥ २९॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्।
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसी प्रियः॥ ३०॥

सखी! उस सौभाग्यशालिनीके पदचिह्न तो हमें बड़ा विचलित कर रहे हैं। वह सुभगा समस्त गोपियोंके धनस्वरूप श्रीकृष्णकी

अधर-सुधाको अपहृत कर अकेले ही पान कर रही है। तत्पश्चात् थोड़ी दूर चलनेपर उसके पदचिह्न दिखायी नहीं दिये, तो वे फिर कहने लगीं—हे सखियो! यहाँ अब उस प्रेयसीके पदचिह्न दिखायी नहीं दे रहे। निश्चय ही तृणांकुरों (घासकी नोकों) से उसके सुकोमल चरणतल व्यथित हो रहे होंगे, इसलिए श्रीकृष्णने अपनी उस प्रेमिकाको अपने कन्धेपर धारण कर लिया होगा॥ ३०॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना॥ ३१॥

अरी गोपियो! इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं है। जरा देखो! इस स्थानपर प्रियतमाको कन्धेपर वहन करनेके कारण भारी बोझसे दबे-दबे कामी श्रीकृष्णके चरणचिह्न इस बालुकामयी भूमिपर और भी अधिक धँसे हुए दिखायी दे रहे हैं। थोड़ी दूर और चलनेपर कहने लगीं—यहीं अति चतुर परमप्रेमी श्रीकृष्णने पुष्पचयनके लिए अपनी प्रियाको भूमिपर उतारा होगा॥ ३१॥

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे॥ ३२॥

यहींपर अशोक वृक्षकी शाखासे ही व्रजराजनन्दन प्रिय श्रीकृष्णने प्रियाके प्रसाधन हेतु पुष्प-चयन किये होंगे (यहाँकी शाखाओंमें खिले हुए पुष्प नहीं दीख रहे हैं), क्योंकि यह देखो! उस समय पैरोंके अग्रभाग—पञ्जों द्वारा वे विदग्ध-शिरोमणि उचक-उचक कर फूलों तक पहुँचे होंगे, तभी उन महात्माके पञ्जोंके चिह्न तो दिखायी दे रहे हैं, पर एड़ीके चिह्न दिखायी नहीं दे रहे॥ ३२॥

केशप्रसाधनं ह्यत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥ ३३॥

तत्पश्चात् भूमिपर श्रीकृष्णकी जानु (घुटने) के ऊपर प्रियाके बैठे जानेके चिह्नोंको देखकर बोलीं—इस स्थानपर निश्चय ही कामी श्रीकृष्णने उस कामिनीके केश सँवारे होंगे और यहीं पर अपनी कान्ताकी वेणीमें चयन किये हुए फूलोंको ग्रथित करनेके लिए बैठे रहे होंगे॥ ३३॥

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥ ३४॥

परीक्षित्! श्रीकृष्ण स्वयंमें ही सन्तुष्ट एवं पूर्ण (अखण्ड) हैं। वे स्वयंमें ही क्रीड़ापरायण (आत्माराम) हैं एवं स्त्री-विभ्रममें (स्त्रियोंके सौन्दर्य एवं विलासमें) उनका कोई आकर्षण न होते हुए भी कामियोंकी दीनता (स्त्री-परवशता) एवं स्त्रियोंका दौरात्म्य (कुटिलता) प्रदर्शन करनेके लिए ही उन्होंने उस कामिनीके साथ निर्जनमें विहार किया था॥ ३४॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥ ३५॥

सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥ ३६॥

इस प्रकार गोपियाँ विवेकरहित होकर एक-दूसरेको भगवान्‌के चरणचिह्न दिखलाती हुई वन-वन भटक रही थीं। इधर, श्रीकृष्ण अन्य गोपियोंका परित्याग करके जिस भाग्यवती गोपीको निर्जन वनमें ले गये थे—उसे मान हो गया था, वह अपने मनमें सोचने लगी कि श्रीकृष्ण केवल मुझसे ही प्रेम करते हैं। तभी तो वे कामवेगसे पधारीं गोपियोंका परित्याग करके मुझे इतना सम्मान दे रहे हैं। इस प्रकार उसने निर्धारण कर लिया कि वही सर्वश्रेष्ठ गोपी है॥ ३५-३६॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥ ३७॥

जब वे दोनों वृन्दावनमें एक प्रान्तमें विचरण कर रहे थे, तब सौभाग्य–गर्वसे मतवाली–सी होकर वह श्रीकृष्णसे कहने लगी— “हे प्रिय कान्त! मुझसे अब और चला नहीं जाता। मेरे सुकोमल चरण थक गये हैं। अतः तुम मुझे अपनी इच्छासे जहाँ चाहो, वहाँ पहलेकी ही भाँति अपने कन्धेपर चढ़ाकर ले चलो॥ ”३७॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥ ३८॥

तब भगवान् केशव (शङ्कर, ब्रह्मा आदिके भी शासक) ने अपनी प्रियासे कहा—हे प्रियतमे! तुम मेरे कन्धेपर चढ़ो। वह सौभाग्यशालिनी गोपी जैसे ही भगवान्‌के कन्धेपर चढ़नेके लिए उद्यत हुई, वे स्वयं वहाँसे अन्तर्हित हो गये। उनके विलुप्त होनेपर वह व्रजाङ्गना विरह–तप्त होकर पश्चात्ताप करने लगी॥ ३८॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥ ३९॥

हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो! कहाँ हो! हे सखे! मैं तुम्हारी दीन–हीन दासी हूँ। इस बेचारीको अपने सान्निध्यकी अनुभूति कराओ, अपने दर्शन दो। मैंने जो तुमसे स्कन्धपर आरूढ़ कराके ले चलनेके लिए कहा था, वह इसलिए कि मैं वन–भ्रमणसे क्लान्त, विलास–श्रमसे निद्राभिभूत एवं आलस्यसे शिथिल हो गयी थी, अतः इस सुदीना दासीको क्षमा करो॥ ३९॥

श्रीशुक उवाच—

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्॥ ४०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! उसी समय गोपियाँ भगवान्‌के चरणचिह्नोंसे अङ्कित मार्गका अनुसरण करते–करते वहाँ

पहुँचीं, जहाँ विद्युत् तुल्य उज्ज्वल-कान्तिसे युक्त उनकी प्रिय सखी प्रियतम-विरहसे मोहग्रस्त होकर अचेत-सी हो रही थी॥ ४०॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।
अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः॥ ४१॥

जब गोपियाँ उस सखीके समीप पहुँचीं, तब उसने कृष्णके द्वारा प्राप्त विशिष्ट प्रेम एवं मान-प्राप्तिकी बातें बतलायीं और अभिमानके कारण अपने व्यवहारकी कुटिलताका भी वर्णन किया, जिससे उसे यह अपमान झेलना पड़ा। गोपियाँ यह सुनकर अतिशय आश्चर्यचकित हो गयीं। (सखियोंके विस्मयका कारण है कि महारसिकशेखर महाप्रेमिक दयानिधि राधाजीको इस प्रकार छोड़कर अन्तर्धान हो गये। यहाँ दौरात्म्यका अर्थ कृष्ण-विच्छेद है, क्योंकि आत्मा-प्राण-कृष्ण दूर हैं)॥ ४१॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः॥ ४२॥

अब वनमें जहाँ तक चन्द्र-ज्योत्स्ना फैली हुई थी, गोपियाँ उतनी दूर तक कृष्णको खोजनेके लिए प्रवेश कर गयीं। आगे जानेपर उन्होंने देखा कि वनमें घोर अन्धकार व्याप्त है, तब वे वहाँसे लौट आयीं। (गोपियाँ जहाँ-जहाँ जातीं, वहाँ-वहाँसे कृष्ण चले जाते, अतः उन्हें और श्रम न देनेके कारण गोपियाँ लौट आयीं)॥ ४२॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥ ४३॥

परीक्षित्! गोपियाँ कृष्णगतप्राणा थीं। उनके विरहमें उनके ही विचारोंमें लीन होकर उनके ही विषयमें वार्त्तालाप कर रही थीं, कोई और चर्चा नहीं थी। वे रोम-रोमसे तदात्मिका हो उनके ही गुण एवं लीलाओंका उच्च स्वरसे गान कर रही थीं। वे इतनी तन्मय हो गयी थीं कि अपने घरके सम्बन्धमें सब कुछ भूल

गयीं, अपना भी ध्यान न रहा। वस्तुतः उन्हें कृष्णके अतिरिक्त और कोई सुध-बुध न थी॥ ४३॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

तत्पश्चात् वे कालिन्दीके पावन पुलिन—रमणरेती पर आ गयीं और कृष्ण-ध्यानमें निमग्न हो गयीं। वहाँ बैठकर ये विरहिणियाँ उनके आगमनकी बलवती आशासे एक साथ मिलकर उच्च स्वरसे कृष्णके गुणोंका गान करने लगीं। (भगवान्‌की करुणा उनके नाम-सङ्कीर्त्तनसे ही प्राप्त होती है)॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकत्रिंशोऽध्यायः

गोपीगीत

श्रीगोप्य ऊचुः—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ १ ॥

(प्रस्तुत अध्याय श्रीकृष्णरूप भ्रमरको भी आकर्षित करनेवाला प्रेमरूपी मधुसे परिपूर्ण एवं स्वर-तालादिरूपी सौरभसे युक्त गोपी-गीत रूपी कमल-श्रेणीसे सुशोभित हुआ है। गोपियाँ निराश होकर पुनः यमुना-पुलिन पर लौट आयीं तथा श्रीकृष्णके आगमनके लिए उनका प्रार्थनामूलक गुणगान करने लगीं।)

गोपियाँ गाने लगीं—हे दयित! आपके आविर्भावसे यह व्रजमण्डल वैकुण्ठसे भी अधिक जययुक्त हो गया है। स्वयं महालक्ष्मी वैकुण्ठधामका परित्याग करके इस स्थानको अलङ्कृत करती हुईं यहाँ सदैव विराजमान रहती हैं। यह व्रजधाम महा-आनन्दसे परिपूर्ण हो रहा है और यहाँ हम आपकी प्रेयसियाँ आपके ही निमित्त प्राण धारण किये हुए हैं, चारों दिशाओंमें आपको खोजती हुईं अतीव कातर हो पड़ी हैं। अब तो दर्शन दीजिये॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातसत्-
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥ २ ॥

हे प्रेमरसाधीश्वर श्रीकृष्ण! हम आपकी बिना मोलकी दासी हैं। (आपने न तो हमें मूल्य देकर खरीदा है और न ही विवाह

करके हमें स्वीकार किया है।) आप शरद्‌कालीन जलाशयमें सुजात एवं सुविकसित कमल-गर्भ (कमलकी कर्णिका) के सौन्दर्यके गर्वको हरण करनेवाले अपने नेत्रोंसे हमारा वध कर चुके हो। [वरद दृष्टिसे अभीष्ट सुख भी दे रहे हो और उसी अनिवर्चनीय मोहक-उन्मादक दृष्टिसे प्रेमानल-पुञ्जमें (प्रेमकी आगकी लपटोंमें) प्रक्षेपित करके क्या हमारा वध नहीं कर रहे हो?] हे अभीष्टोंको प्रदान करनेवाले प्राण-वल्लभ! जरा बतलाओ तो, क्या शस्त्रके द्वारा वध करना ही वध है, नेत्रोंसे वध करना वध नहीं होता?॥ २॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥ ३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! कालिय-ह्रदके विषैले जलका पान करके समस्त प्राणी मृतप्राय हो गये थे। आपने हम व्रजवासियोंका उससे, मनुष्यभक्षी भयङ्कर अघासुरसे, इन्द्रके कोप-वर्षण—आँधी-बिजलीसे, तृणावर्त्तसे, अरिष्टासुर, व्योमासुरसे एवं विश्वगत विभिन्न भीतियोंसे पुनः-पुनः रक्षा की है। प्यारे! जिनकी रक्षा की जाय, क्या उनका वध करना उचित है? (अरिष्टासुर एवं व्योमासुरका वध भविष्यकी घटनाएँ होनेपर भी व्रजदेवियोंने गर्गाचार्य एवं भागुरि मुनिके मुखसे निःसृत इस वृत्तान्तको परम्परा-क्रमसे सुन रखा था।)॥ ३॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ ४॥

हे सखे! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, अपितु समस्त विश्वके प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं। (विश्व-पालक होनेके कारण आप विश्वके अन्तर्गत हमारा भी पालन करें।) ब्रह्माजीकी

प्रार्थनासे विश्वकी रक्षा करनेके लिए आप सात्वत-कुलमें अवतरित हुए हैं। सर्वान्तर्यामी होनेपर भी आप जीवोंका दुःख देखकर सुखपूर्वक बैठे हैं॥ ४॥

विरचिताभयं वृष्णिधूर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥ ५॥

हे यदुकुल-शिरोमणे! संसार-भयसे डरकर समस्त प्राणी आपके चरणकमलोंके शरणागत होते हैं और आप अपने हस्त-कमलोंकी छत्र-छायासे उन्हें अभय प्रदान करते हैं। हे प्रिय! आपने अपने इन्हीं करकमलों द्वारा लक्ष्मीके कर-द्वयको ग्रहण किया है। अतः हे अभीष्टप्रद! इन्हीं कर-पद्मोंको हमारे सिर पर भी रख दीजिये॥ ५॥

व्रजजनार्त्तिहन् वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय॥ ६॥

हे वीर-शिरोमणे! आप व्रजजनोंकी विरह-जनित आर्त्तिका विनाश करनेवाले हैं। आपके निज-जनोंमें जो सौभाग्य-प्राप्तिसे उत्पन्न गर्व और तज्जनित वाम्य लक्षणयुक्त मान है, वह तो आपकी मुसकान मात्रसे नष्ट हो जायेगा। हे प्रिय सखा! हम तो आपकी किङ्करियाँ हैं। अपने मनोरम एवं सुखवासस्वरूप मुख-कमलका हमें एक बार दर्शन तो दीजिये। अपने चरणोंकी सेवा प्रदानकर हमारे सभी मनोरथोंको पूर्ण कीजिये॥ ६॥

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ ७॥

(हे प्रणतजनोंके पापनाशन! आपके चरणकमल शरणागत देहधारियोंके पापोंका नाश करनेवाले हैं।) आपके ये चरणकमल तृणचर पशुओंका अनुगमन करते हैं, ये ही चरणकमल लक्ष्मीदेवीके दिव्य निकेतन (आश्रय) स्वरूप हैं, इन्हीं चरणोंको आपने कालिय सर्पके फणोंपर अर्पण किया था। हे प्रेयस्! इन्हीं पदारविन्दोंको आज आप हमारे वक्षःस्थलपर रखकर हमारी काम-व्यथाको (हृदयकी ज्वालाको) प्रशमित कीजिये॥ ७॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-
रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥ ८॥

हे पद्मलोचन! मनोहर शब्दोंसे युक्त आपकी पदावली द्वारा बड़े-बड़े विदग्ध (रसिक) पण्डितोंके चित्त आकर्षित हो जाते हैं। आपकी उसी विचित्र-अर्थ-प्रकाशिनी सुमधुर वाणीसे हम भी मोहित हो गयी हैं। हे दानवीर! हम आपकी किङ्करी हैं। हमें भी अपना अधरामृत प्रदान कर सञ्जीवित कीजिये, हमें जीवन-दान दीजिये॥ ८॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ ९॥

हे स्वामी! आपकी लीला-कथाएँ अमृतस्वरूप हैं। ये आपके विरहसे व्यथित लोगोंके लिए जीवनस्वरूप हैं। प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि विज्ञ भक्त इन कथाओंका गान करके आपका स्तव करते रहते हैं। इस कथामृतसे प्रारब्ध एवं अप्रारब्ध समस्त पापोंका विनाश हो जाता है। यह कथामृत श्रवणमात्रसे ही मङ्गल प्रदान करनेवाला, प्रेमकी अतुल सम्पत्तिको देनेवाला और कीर्त्तनकारियोंके द्वारा विस्तारको प्राप्त होनेवाला है। अतः जो व्यक्ति इस भूलोकमें कथामृतका कीर्त्तन करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ प्रचुर-दाता हैं॥ ९॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥ १०॥

हे कपटी! आपकी मधुर-मन्द-मुसकान, प्रीतिपूर्ण कटाक्ष, हम सखियोंके साथ विविध क्रीड़ाएँ, वंशीनादके माध्यमसे एकान्तमें किया जानेवाला हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक प्रेमालाप—इनका ध्यान परम मङ्गलप्रदायक तो है, परन्तु हे प्रिय! वही आज हमारे हृदयमें क्षोभ उत्पन्न कर रहा है॥ १०॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ ११॥

हे नाथ! हे कान्त! जब आप पशु चरानेके लिए व्रजसे गमन करते हो, तब आपके कमलके समान सुकोमल चरण धान्य-कणिश अर्थात् शस्यके सूक्ष्म अग्रभागोंकी चुभनसे, तृण-कुश-काँटोंसे, अङ्कुरित पौधों और कङ्कड़ोंसे अति कष्ट पाते होंगे—यह सोच-सोचकर हमारा हृदय अति व्यथित होता है॥ ११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहु-
र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥ १२॥

हे प्रणय-वीर! सन्ध्याकालमें वनसे लौटते समय गोधूलिसे धूसरित एवं नीलकुन्तलोंसे आच्छादित मुख-कमलकी माधुरीको पुनः-पुनः दिखाकर आप हमारे मनमें मदन-पीड़ाका सञ्चार करते हो। उन्मादित करके और वनमें लाकर अब हमें इस प्रकार रुला रहे हो?॥ १२॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥ १३॥

हे मनोदुःखविनाशन (मनकी आधिका हरण करनेवाले)! पद्मयोनि ब्रह्मा आपके चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर अर्चना करते रहते हैं। इन चरणोंके ध्यानमात्रसे ही आपत्तियोंका निवारण हो जाता है। हे सर्वसुखप्रद! इनकी सेवासे परम सुखकी प्राप्ति होती है और सम्पूर्ण मनोकामनाओंकी पूर्ति होती है। हे रमण! आपके चरणकमल पृथ्वीके भूषणस्वरूप हैं। आप इन चरणकमलोंको हमारे वक्षःस्थलपर रख दीजिये॥ १३॥

सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १४॥

हे वीर! आपका अधरामृत सम्भोग-रसकी आकाङ्क्षाका वर्धन करनेवाला एवं विरहके दुःख-तापका नाश करनेवाला है। आपके द्वारा ध्वनित वेणु द्वारा सुष्ठुरूपसे चुम्बित यह अधरामृत मनुष्यमात्रकी अन्यान्य आसक्तियोंको विस्मृत करानेवाला है। आप इस अधरामृतका वितरण कीजिये और हमें भी इसका पान कराइये। (कृष्णके रमणोत्सवमें धन-जन-कुटुम्बादिके प्रति आसक्ति कुपथ्य स्वरूप है—ऐसे कुपथ्यसेवीको अधरामृत देना वृथा है, इस सुरत-पुष्टिकारक महौषधिको तो हमें प्रदान कीजिये)॥ १४॥

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटि युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ १५॥

हे प्रिय! दिनके समय जब आप व्रजसे वनमें विहार करनेके लिए चले जाते हैं, तब आपको न देखकर एक क्षणका समय भी हमारे लिए एक युगके समान प्रतीत होता है और जब दिनके अन्तमें (सन्ध्याकालमें) आप गोष्ठकी ओर लौटते हैं, तब हम घुँघराली अलकावलियोंसे युक्त आपके श्रीमुखमण्डलको देखती हैं, तो पलक गिरनेमात्रका व्यवधान भी हम सहन नहीं कर पातीं। हमें तो वह विधाता विवेकहीन (मूर्ख) ही प्रतीत होता है, जिसने इन पलकोंको बनाया है॥ १५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्
अतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ १६॥

हे अच्युत! हम अपने पति, पुत्र, आत्मीय, स्वजन, पुत्र, भाई-बन्धुओंकी आज्ञाओं एवं इच्छाओंका अतिक्रमण करके आपके पास आयी हैं। हे कितव (कपटी)! आप अच्छी तरहसे जानते हैं कि हम आपकी वंशीके उच्च गीतसे मोहित-सी तथा विवेकशून्य-सी होकर यहाँ आयी हैं। हे अच्युत! यह सब जानकर भी आपके अतिरिक्त कौन ऐसा निष्ठुर एवं कपटी होगा, जो अर्धरात्रिमें आयी नवयौवनाओंका इस प्रकारसे परित्याग करेगा?॥ १६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥ १७॥

हे नाथ! आपका एकान्तमें किया गया सम्भाषण, कामको उद्दीप्त करनेवाली ठिठोलियाँ, मधुर मुसकानसे युक्त मुखमण्डल, प्रेमपूर्ण चितवन एवं लक्ष्मीके निकेतन—समस्त शोभाके आश्रयस्वरूप आपके विशाल वक्षःस्थलका बार-बार स्मरण करके हमारे हृदयमें

मिलनकी अतिशय गहन स्पृहा उत्पन्न हो रही है तथा हमारा चित्त अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है॥ १७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्॥ १८॥

हे कृष्ण! आपका प्राकट्य व्रजवासियोंके दुःखोंका नाश करनेवाला एवं विश्वका मङ्गल-विधायक है। हे बन्धु! आपके सान्निध्यके लिए हमारी अत्यन्त लालसा हो रही है। हे नाथ! कृपणताका परित्यागकर हमें किञ्चित् ऐसी ओषधि दे दीजिये, जो आपके इन निज-जनोंके हृद्रोग (काम-व्यथा) का विनाश कर सके॥ १८॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गोपीगीतं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

हे प्रिय! हम बहुत डरती हुई आपके जिन सुकुमार पाद-पद्मोंको अपने कर्कश स्तनोंपर धीरे-धीरे स्थापित करती हैं, उन्हीं कोमल चरणोंसे आप इस रात्रिकालमें वन-वनमें भटक रहे हैं। इन चरणकमलोंको तीक्ष्ण एवं नुकीले पत्थरोंसे कष्ट नहीं होता है? आप हमारे जीवनस्वरूप हैं, आपके विषयमें सोच-सोचकर तो हमारा चित्त अत्यधिक व्यथित हो रहा है। हे प्राण! हम आपकी दासी हैं और आप हमारे जीवन-स्वरूप हैं।

व्रजगोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति अनुराग किसी कामके वशीभूत नहीं, अपितु विशुद्ध प्रेमके वशीभूत है, जिसका एकमात्र प्रयोजन

केवल श्रीकृष्णको सुख प्रदान करना है। इसलिए गोपीगीतके अन्तमें वे कहती हैं कि हम आपकी दासी हैं, अतः अपनी आयु आपको अर्पण करते हैं, आप इस आयुके द्वारा चिरकाल तक व्रजमें क्रीड़ा करें। गोपियोंके ये भाव सहृदय तदेकप्राण रसिक भक्तोंके लिए स्वानुभव-गम्य हैं॥ १९॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके इकतीसवें
अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना

श्रीशुक उवाच—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गोपियाँ कृष्ण-दर्शनकी लालसासे बड़ी व्याकुल थीं। वे अपने हृदयकी भावनाओंको अत्याकर्षक ढंगसे (स्वर-आरोहण एवं मूर्च्छना तथा ताल आदिके द्वारा) गा रही थीं। विरहावेशके कारण प्रलाप तो कर ही रही थीं, दर्शन न मिलनेपर सुमधुर स्वरमें फूट-फूटकर रोने लगीं। (भक्तोंका दैन्य ही श्रीहरिकी प्रसन्नताका साधन है)॥ १॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥ २॥

गोपियाँ रोदन कर रही थीं कि उनके मध्य श्रीकृष्ण आविर्भूत हो गये। उनके मुखमण्डलपर (गोपियोंको प्रसन्न करनेवाली) मधुर मुसकान थी, पीताम्बरके अग्रभागको कन्धेके ऊपरी भागसे दोनों ओर लटकाकर अपने हाथोंमें धारण किये हुए थे, गलेमें गोपियों द्वारा पहनायी हुई वही वनमाला सुशोभित हो रही थी। अपने पुष्पशरसे सभीके मनोंको मथनेवाले साक्षात् कामदेवको भी मोहित करनेके लिए उनका महामोहन स्वरूप प्रकट हो रहा था॥ २॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥ ३॥

सर्वप्रिय प्राणवल्लभ परम प्रियतम कृष्णको देखकर गोपियोंके चक्षु प्रेम एवं आनन्दसे उत्फुल्ल हो गये। वे सब एक ही साथ एक ही समय ऐसे उठ खड़ी हुईं, मानो उनकी अचेतन देहोंमें

प्राणोंका सञ्चार हो गया हो और उनके हाथ-पैर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गमें सहसा नवीन स्फूर्ति आ गयी हो॥ ३॥

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनभूषितम्॥ ४॥

किसी गोपीने (चन्द्रावलीने) प्रेम एवं आनन्दके साथ अपनी अञ्जलिमें श्रीकृष्णके दाहिने करकमलको धारण कर लिया और किसीने (श्यामलाने) चन्दनलेपसे अलङ्कृत उनकी भुजाको (विशाल बायीं भुजाको) अपने कन्धेपर रख लिया॥ ४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्॥ ५॥

किसी तन्वीने (शैव्याने) अपनी कराञ्जलिमें कृष्ण द्वारा चर्वित ताम्बूलको ले लिया, तो किसी रमणीने (पद्माने) विरहानलमें दग्ध होनेके कारण कृष्णके पदकमलोंको अपने वक्षःस्थलपर रख लिया॥ ५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा॥ ६॥

और कोई एक गोपी (राधाजी) प्रणय-कोपसे विह्वल होकर भ्रुकुटिको तानती हुई तथा दाँतोंसे होठोंको दबाती हुई अपने कटाक्ष-बाणोंसे श्रीकृष्णको घायल-सी करती हुई उनकी ओर देखने लगी॥ ६॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥ ७॥

एकमात्र प्रीतिभक्तिनिष्ठ भक्तगण जिस प्रकार श्रीकृष्णके चरणोंकी बार-बार सेवा करके भी कभी सन्तुष्टिको प्राप्त नहीं करते, उसी प्रकार कोई एक गोपी (ललिता) निर्निमेष नेत्रोंसे भगवान् कृष्णके मुख-कमलके मधुर मकरन्दका सम्यक्रूपसे पान करती हुई तृप्त नहीं हो रही थी॥ ७॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥ ८॥

कोई एक गोपी (विशाखा) अपनी आँखोंके रन्ध्रोंके द्वारा श्रीकृष्णको हृदयमें ले गयी और वहाँ उन्हें स्थापित कर उसने आँखें मूँद लीं। अब हृदयमें ही उनका आलिङ्गन करने लगी, जिससे उसका शरीर पुलकित होने लगा। इस प्रकार वह सिद्ध योगीके समान परमानन्दमें निमग्न हो गयी॥ ८॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः॥ ९॥

[इन आठों (चन्द्रावली, श्यामला, शैव्या, पद्मा, श्रीराधा, ललिता और विशाखा एवं भद्रा) के अतिरिक्त अन्य] सभी गोपियाँ भगवान् केशवकी झलक मात्र प्राप्त करके ही उसी प्रकार परमोत्सवमें मत्त हो गयीं, जिस प्रकार मुमुक्षु जीव ईश्वरके द्वारा आलिङ्गित होनेपर सांसारिक कष्टोंसे अव्याहति (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है। हे तात! कृष्ण-दर्शनसे गोपियोंका विरह-जनित ताप दूर होने लगा॥ ९॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥ १०॥

हे प्रिय परीक्षित्! परमात्मा ज्ञान, बल और ऐश्वर्यादि स्वरूपशक्तियोंसे परिवृत होकर जिस प्रकार सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण भी विगत-शोक (विरह-शोकसे मुक्त) गोपियोंसे परिवेष्टित होकर और भी शोभायमान हो रहे थे॥ १०॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११॥
शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥ १२॥

तत्पश्चात् सर्वव्यापी भगवान् एक होकर भी सबके हाथ पकड़कर कालिन्दीके पुलिनकी ओर चल दिये। यमुनाजीने अपने हस्तरूपी तरङ्गोंसे पुलिनकी बालूको विस्तृत, कोमल, समतल एवं शीतलताके गुणोंसे युक्त सुखप्रद बना रखा था। वहाँ विकसित कुन्द एवं मन्दार पुष्पोंके सौरभसे सुवासित और शीतल पवन प्रवाहित हो रहा था, जिससे आकर्षित होकर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। शरत्कालीन चन्द्रदेव अपनी उज्ज्वल ज्योत्स्नाका विस्तार करते हुए अन्धकारका चिह्न मात्र भी दूर कर रहे थे। सर्वत्र माङ्गलिक वातावरण था। इस प्रकार यमुना-पुलिन रासक्रीड़ाके लिए सब प्रकारसे सुन्दर (उपयुक्त) हो गया था॥ ११-१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ १३ ॥

प्रिय राजन्! श्रुतियाँ (महा उपनिषद्गण) जिस प्रकार तपस्या करके गोपी-भावको प्राप्त होकर पूर्ण-मनोरथ हो गयी थीं और कृष्ण-दर्शन-जनित आनन्द एवं उल्लाससे उनके मनकी समस्त व्यथा दूर हो गयी थी, उसी प्रकार आज भी समस्त गोपियाँ पूर्ण-काम हो रही थीं। आनन्दोल्लाससे उन्होंने कुच-कुङ्कुमसे चिह्नित अपने उत्तरीय वसन (ओढ़नी) को स्वयंसे भी अधिक प्रियतम आत्मबन्धु श्यामसुन्दरके विराजनेके लिए आसन बनाकर बिछा दिया॥ १३॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥ १४॥

सिद्ध योगी साधनभूत हृदय-पुण्डरीकमें जिनके आसनकी कल्पना करते हैं, वे सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके

सौन्दर्यके आश्रयास्पद कलेवरको विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकटित करते हुए गोपियों द्वारा प्रदत्त उत्तरीयासनोंपर अलक्षितरूपसे युगपत् बहुसंख्यक रूपोंमें विराजित हो गये। गोपी-परिषद्में प्रेमोपकरणोंसे पूजित भगवान् परम शोभायमान हो रहे थे॥ १४॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्णका सौन्दर्यामृत अनङ्गको दीप्त करनेवाला है। गोपियाँ अपनी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन और विभ्रमसे सुशोभित वक्रिम भौंहों द्वारा उनका सम्मान करने लगीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें रख लिया, तो किसीने उनके हाथोंको। वे पुनः-पुनः उनका स्पर्श करतीं और संस्पर्श-सुखके अनुभवमें निमग्न हो जातीं। तत्पश्चात् श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके कारण उनके प्रति क्रोध अभिव्यक्त करते हुए गोपियाँ कहने लगीं—॥ १५॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥ १६॥

गोपियोंने कहा—प्रिय कृष्ण! एक श्रेणीके व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो स्नेह करनेवालोंके प्रति स्नेहवान् होते हैं अर्थात् जो जैसा प्रेम करता है, वे भी उसीके अनुसार प्रेम करते हैं। इसके विपरीत दूसरी श्रेणीके व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो प्रेमकी अपेक्षा किये बिना ही प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं और एक अन्य प्रकारके व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो प्रेम करें अथवा प्रेम न करें—दोनोंमेंसे किसीको भी प्रेम नहीं करते। श्यामसुन्दर! इनमेंसे कौन श्रेष्ठ है और कौन नहीं—आप हमें यह बतलाइये॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय सखियो! जो प्रत्युपकारकी आशासे परस्पर प्रेम करते हैं, उनका सारा उद्यम तो एकमात्र स्वार्थसे ही बँधा हुआ है। वे तो वस्तुतः लाभकी आशासे ही प्रेम करते हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कुछ लेना-देना नहीं है। इस तथाकथित प्रेममें न सच्चा भाव होता है और न ही धर्मकी परिपाटीका पालन होता है॥ १७॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥ १८॥

हे सुमध्यमाओ! माता-पिता और दयालु सज्जन जिस प्रकार प्रेम न करनेवाले पुत्रादिसे भी प्रेम करते हैं, इसी प्रकार जो प्रेम न करनेवालोंसे प्रेम करते हैं, वे निश्चय ही करुणापूर्ण हैं। इस प्रकारके निःस्वार्थ प्रेममें त्रुटिरहित धर्मके सिद्धान्तका पालन भी है और सौहार्द भी। ऐसे निरपेक्षजनोंका ही प्रेम सत्य एवं हितैषितासे पूर्ण है (वस्तुतः तुमलोग ही इसका उदाहरण हो)॥ १८॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥ १९॥

प्रिय गोपियो! कोई-कोई तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम न करनेवालोंकी बात तो बहुत दूर रहे, प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते। इनका स्वभाव चार भागोंमें विभाजित है—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ एवं गुरुद्रोही। [जो आत्माराम हैं, वे परमात्माके साथ ही क्रीड़ारत रहते हैं। ये बाह्य प्रवृत्तिसे रहित और अन्तर्मुखी होते हैं। आप्तकाम व्यक्ति विषय दिखायी देनेपर भी पूर्णकामत्वके कारण भोगेच्छाओंसे दूर रहते हैं। अकृतज्ञ दूसरोंसे उपकारकी आशा तो करते हैं, किन्तु किये हुए

उपकारको भुला देते हैं और जो गुरुसे (माता, पिता, जीविका वृत्तिके विधाता, प्राणदाता, एवं ज्ञानदातासे) द्रोह करनेवाले हैं, वे पातकी अथवा पाषण्डी बिना किसी हेतुके विश्वासघात किया करते हैं। इस प्रकार चतुर-शिरोमणि, वचन-कलाकुशल श्रीकृष्णने गोपियोंके वाक्-जालकी तीनों ग्रन्थियोंसे अपनेको मुक्त कर लिया। मानव प्रकृतिके साथ उनका कोई सादृश्य है भी नहीं]॥ १९॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥ २०॥

सुनो सखियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे वैसा ही प्रेम प्रकट नहीं करता। देखो, जिस प्रकार निर्धन पुरुष प्राप्त धनके नष्ट हो जानेपर उसकी चिन्तामें ही सर्वदा व्यथित रहता है, उसे भूख-प्यास कुछ भी नहीं लगती, उसी प्रकार मैं भी ध्यानकी निरन्तरता बनाये रखनेके लिए और उनकी (साधकोंकी) चित्तवृत्तिको अपनेमें लगाये रखनेके लिए तत्क्षण स्नेहका अभिव्यञ्जन नहीं करता। जो व्यक्ति प्रेम-अनुरागकी कठोरतम परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं, वे ही मुझे चिरकालके लिए प्राप्त करते हैं॥ २०॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥ २१॥

हे अबलाओ! तुम सब मेरे लिए लौकिक (उचित-अनुचितकी पर्यालोचना न कर) एवं वैदिक धर्म (धर्म-अधर्मकी विवेचना न कर) तथा आत्मीयोंके साथ सम्बन्ध छोड़-छाड़कर चली आयी हो, किन्तु मैं तुम सबके ध्यानकी निरन्तरताको बनाये रखनेके लिए ही तिरोहित (अन्तर्धान) हो गया था और परोक्षरूपसे

तुम्हारे प्रेमालापोंका श्रवण कर रहा था। मैं तुम्हारा प्रिय हूँ और तुम सब मेरी प्रिय हो। अतः मेरे प्रति किसी प्रकारकी दोष-दृष्टि अथवा दुर्भावना मत रखो॥ २१॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥ २२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

हे वल्लभाओ! मेरे साथ तुम्हारा जो संयोग है, वह निर्मल, निर्दोष एवं विशुद्ध प्रेममय है। तुमलोगोंने दुर्जय गृह-शृंखलाका छेदनकर मुझसे प्रेम किया है; इसके लिए मैं देवताओंके समान दीर्घायु प्राप्त करके भी उसका प्रत्युपकार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। तुम्हारे साधु-कृत्य एवं सौम्य स्वभाव मुझे उऋण कर सकते हैं, पर मैं तो तुम्हारे इस प्रेमका सर्वदा ऋणी ही हूँ। (इस प्रकार जो मेरा जैसा भजन करता है, मैं भी उसका वैसा ही भजन करता हूँ—ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने व्रजगोपियोंके प्रेमके निकट अपनी पराजय स्वीकार कर ली। गोपियोंकी भजन-परिपाटीके सम्मुख वे ऋणी बनकर ही रह गये)॥ २२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके बत्तीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका गोपियोंके साथ महारास

श्रीशुक उवाच—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः॥ १॥

[श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके पाँचों अध्यायोंके (२९-३३) प्रारम्भमें 'श्रीबादरायणिरुवाच' कहकर श्रीरासलीलाके वक्ता श्रीशुकदेव गोस्वामीका परिचय प्रदान किया है, किन्तु प्रस्तुत अध्यायके प्रारम्भमें जो 'श्रीशुक उवाच' कहा, उसका कारण इस प्रकार है—श्रीनारायण अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने बदरिकाश्रममें रहकर श्रीगोविन्दके चरणारविन्दका ध्यान करते हुए समय व्यतीत किया, इसलिए वे बादरायण नामसे प्रसिद्ध हुए। सर्वश्रेष्ठ तीर्थ इस बदरिका आश्रममें ही निवास करते हुए उन्होंने श्रीभगवान्‌की अपार करुणास्वरूप परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवको पुत्ररूपमें प्राप्त किया था। इसलिए श्रीशुकदेव बादरायणि नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीशुकदेव अर्थात् श्रीबादरायणिका हृदय स्वाभाविकरूपसे ही श्रीकृष्ण-प्रेममें रत रहता है, वे श्रीगोविन्दलीलाके तत्त्वज्ञानियोंके शिरोमणिके स्वरूपमें सुशोभित हैं। अतएव इस परम रहस्यमयी सर्वलीला-शिरोमणि रासलीलाके वर्णनका अधिकार एक मात्र उन्हींके पास सुरक्षित है।]

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सौन्दर्य-माधुर्य-निधि श्रीकृष्णके इस प्रकारके मनोरम एवं सुमधुर वचनोंको सुनकर तथा उनके कर-चरणादिके स्पर्श और आलिङ्गनादि प्राप्त करके गोपियाँ पूर्ण-मनोरथ हो गयीं। उनका कृष्ण-विरह-जनित ताप भी दूर हो गया॥ १॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥ २॥

तत्पश्चात् रसिक-शिरोमणि भगवान् गोविन्दने यमुनाके तटपर अत्यन्त प्रीतिवश एक-दूसरेके हाथोंकी शृंखलामें आबद्ध होकर अर्थात् एक-दूसरेकी बाँहमें बाँह डाले स्त्री-रत्नों एवं अपने ही समान रसज्ञा गोपियोंके साथ रासक्रीड़ा आरम्भ कर दी। (नृत्य, गीत-चुम्बन-आलिङ्गनादि रससमूह ही 'रास' है तथा 'तन्मयी' अर्थात् जिस क्रीड़ामें यह रससमूह प्रचुररूपसे वर्त्तमान रहता है, उसीका नाम रासक्रीड़ा है)॥ २॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः।
यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसङ्कुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम्॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अचिन्त्यशक्तिसे दो-दो गोपियोंके बीचमें अपनी एक-एक मूर्त्ति प्रकट कर दी एवं उनके बीचमें प्रवेश करते हुए उनके कण्ठदेशमें अपने हाथ रख दिये। सभी गोपियाँ मनमें यही सोचने लगीं कि कृष्ण उसके ही पास हैं। जिस समय गोपियोंके गोलाकार मण्डलमें स्वयं भी मण्डित होकर कृष्ण रासोत्सवमें प्रविष्ट हुए [श्रीकृष्णकी गति या वेग अलातचक्र (किसी जलती हुई लकड़ीको अत्यधिक वेगपूर्वक घुमानेसे बन जाने वाला घेरा अलातचक्र कहलाता है) से और भी अधिक है, क्योंकि उस समय समस्त गोपियोंने श्रीकृष्णको एक ही समयमें मण्डलीके मध्यमें एवं मण्डलस्थ प्रत्येक गोपीके बीचमें दर्शन किया था], उसी समय चित्तमें अति उत्कण्ठा होनेपर पत्नियोंके साथ देवतादि (जो स्वभावसे ही आकाशमें भ्रमण करते रहते हैं) भी आ गये और आकाश शत-शत विमानोंसे भर गया। (रासलीलामें स्वर्गके पुरुष देवता केवल श्रीकृष्णका ही

दर्शन कर रहे थे, उन्हें गोपियोंका दर्शन नहीं हुआ। योगमायाने गोपियोंको देवताओंकी दृष्टिसे आच्छादित करके रखा था, इसलिए गोपियाँ देवताओंको दृष्टिगोचर नहीं हुईं)॥ ३॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम्॥ ४॥

आकाशमें दुन्दुभियाँ अपने आप बज उठीं और फूलोंकी वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ आनन्दघनमूर्त्ति श्रीकृष्णके निर्मल यशका गान करने लगे॥ ४॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥ ५॥

अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ रासमण्डलमें गोपियाँ नृत्य करने लगीं, जिससे उन असंख्य गोपियोंके कङ्कन, नूपुर एवं करधनीके छोटे-छोटे घुँघरु एक साथ तुमुल (ऊँची) ध्वनि करने लगे (रासलीला-यज्ञके अङ्गके रूपमें इस मङ्गलमय ध्वनिकी भी सार्थकता है)॥ ५॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥ ६॥

रासमण्डलमें गोपियोंसे घिरे हुए यशोदानन्दन श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो असंख्य स्वर्ण-मणियोंके मध्य महामरकत नीलमणि शोभित हो रही हो (गोपियोंके द्वारा रचित रासमण्डलीके केन्द्रस्थलमें भी श्रीकृष्ण राधालिङ्गित विग्रहरूपमें विराजमान हैं। प्रेमभक्ति-भावित चित्तमें ही इस अद्भुत छटाका दर्शन हो सकता है। विषयासक्त बहिर्मुख व्यक्ति इस अप्राकृत आनन्दकी अनुभूति नहीं कर सकते। श्लोकस्थ *'देवकीसुतः'* से तात्पर्य है 'यशोदानन्दन'। पद्मपुराणमें उल्लिखित है *'द्वे नाम्नी नन्दभार्यायाः यशोदा देवकीति च'* अर्थात् नन्दकी पत्नीके दो नाम थे—एक यशोदा और दूसरा देवकी)॥ ६॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररसनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥ ७॥

गोपियाँ कलात्मकता तथा शालीनताके साथ बहुत ही आकर्षक ढंगसे पगोंको आगे-पीछे धरतीं, गानकी लय-तालके अनुसार कभी धीमी गतिसे, कभी तीव्र वेगसे और कभी चाकके समान घूम जातीं, विशिष्ट भावोंको अभिव्यक्त करनेके लिए विभिन्न मुद्राएँ बनाते हुए कर सञ्चालित करतीं, कभी सुमधुर मुसकानके साथ भौहोंको विलासपूर्ण नर्त्तन करातीं। नृत्य करते समय स्वाभाविक कृशताके कारण उनकी कमर ऐसी लचकती मानो ईषत् (थोड़ी) टूट गयी हो। नृत्यकी विविध गतियोंके कारण उनके स्तनोंमें कम्पन होता और वस्त्र इधर-उधर फहराने लगते, दोलायमान कुण्डलोंसे उनके कपोलोंपर विशेष कान्ति दीप्त हो उठती और इस प्रकार नाचनेके परिश्रमसे उन परमकला-निपुणा कृष्ण-कामिनियोंके मुख-कमलपर स्वेद-कण (पसीनेकी बूँदें) कुहरेकी बिन्दुओंके समान प्रकाशित होने लगते। नर्त्तन करते हुए उनके केशोंकी वेणियाँ और नीवीकी गाँठें शिथिल होने लगतीं। वे नृत्यके साथ-साथ प्राणगोविन्द श्रीकृष्णका गुणगान करती हुईं ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो मेघचक्र (बहुत-से श्यामल श्रीकृष्णोंके मेघमण्डल) में बिजलियाँ चमक रही हों॥ ७॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम्॥ ८॥

परीक्षित्! गोपियाँ रासरसिक नटनागर श्रीकृष्णके प्रति सम्पूर्ण रूपसे अनुरक्त थीं। उनके कण्ठ भी विविध राग-रागिनियोंसे अनुरञ्जित थे। भगवान् श्रीकृष्णके अङ्ग-संस्पर्शसे अत्यधिक आनन्दित होकर वे नृत्य करती हुई नाना रागोंको उच्च एवं मधुर स्वरसे गा रही थीं। उनके गानसे सारा ब्रह्माण्ड ही परिव्याप्त एवं

प्रेमसिक्त हो गया था (श्लोकस्थ 'यद्गीतेनेदमावृतम्' पदसे यह भी सूचित होता है कि आज भी सारे विश्वमें भक्तगण गोपियोंका अनुकरण करते हुए कृष्णकी महिमाका गान कर रहे हैं। गोपियों द्वारा गायी हुई राग-रागिनियोंकी संख्या १६००० बतलायी जाती है)॥ ८॥

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात्॥ ९॥

कोई गोपी परमानन्द-निकेतन रासबिहारी भगवान् मुकुन्दके साथ स्वर-से-स्वर मिलाकर गा रही थी कि उनके साथ स्वर मिलाना छोड़कर वह और भी ऊँचे षडजादि स्वरसे रमण-रस उद्दीपक सङ्गीतका आलाप करने लगी। उसके उत्तमोत्तम एवं विलक्षण आलापसे प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण 'साधु, साधु' कहकर उसकी प्रशंसा करने लगे। दूसरी एक गोपीने उसी स्वरालापको ध्रुपद अथवा ध्रुव तालमें परिणत करके गाया। श्रीकृष्णने रत्नमाला, पदक आदि प्रदान करके उसका भी बहुत सम्मान किया (इन दोनों गोपियोंको विशाखा एवं ललिता जानना चाहिये। ध्रुपद सङ्गीतमें ललिताजीने विशाखाजीसे भी अधिक पारदर्शिता प्राप्त की है, इसलिए श्रीकृष्णने उनका अधिक सम्मान किया है)॥ ९॥

काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका॥ १०॥

कोई गोपी रास-नृत्य-गीतादिके परिश्रमसे अत्यन्त थक गयी। उसके केशोंकी वेणीमें लगे मल्लिका (बेला) के फूल एवं कलाइयोंके कङ्गन ढीले होकर खिसकने लगे। उसने पासमें ही खड़े भगवान् गदाधर (गदाकी भाँति लठिया या वंशी धारण करनेवाले) श्रीकृष्णके कन्धेपर अपनी बाहुको रखकर उनका आलिङ्गन किया॥ १०॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह॥ ११॥

उनमेंसे कोई एक गोपी (श्यामला) अपने कन्धेपर रखे हुए प्राणप्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णकी नीलकमलकी सुगन्ध और चन्दन-चर्चित बाहुका आघ्राण करती हुई अर्थात् उनके भुज-स्पर्श एवं दिव्य-अङ्ग गन्धसे अत्यन्त पुलकित हो गयी और उसने उस बाँहका चुम्बन कर लिया॥ ११॥

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्याः प्रादात्ताम्बूलचर्वितम्॥ १२॥

कोई नाट्यकला-विशारदा गोपी नृत्य कर रही थी। नृत्य-विलासके कारण उसके कुण्डल हिल रहे थे, जिनकी कान्तिसे एवं चन्द्रदेवके प्रतिबिम्बसे उसके कपोल सुशोभित हो रहे थे। उसने (शैव्याने) अपने कपोलको भगवान् श्रीकृष्णके कान्तिमय कपोलसे संयुक्त कर दिया। श्रीकृष्णने उसके मुखमें चर्वित, अधरराग-रञ्जित ताम्बूल प्रदान किया (यह ताम्बूल-प्रदान लीला लोकोत्तर घनीभूत प्रेमविलासकी आनुषङ्गिक अभिव्यक्ति है)॥ १२॥

नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्॥ १३॥

कोई गोपी (भद्रा) नाचते-गाते अपने नूपुर एवं करधनीके घुँघरुओंकी झङ्कार कर रही थी। अन्ततः जैसे ही वह क्लान्त हो गयी, उसने बगलमें खड़े श्रीकृष्णके कर-कमलोंको अपने स्तनोंके ऊपर धारण कर लिया॥ १३॥

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे॥ १४॥

परीक्षित्! अन्यान्य गोपियाँ लक्ष्मीजीके परम प्रियतम नवकिशोर, रसिकशेखर श्रीकृष्णको अपने प्रिय कान्तके रूपमें प्राप्त करके आनन्दपूर्वक विहार करने लगीं। अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण अपनी

दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किये हुए थे और वे कृष्ण-कीर्त्तन कर रही थीं॥ १४॥

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्॥ १५॥

हे वत्स! रासस्थलीमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ जब गोपियाँ समवेतरूपसे नृत्य कर रही थीं, तब उनके कङ्गन, किङ्किणी एवं नूपुर मधुरिम सङ्गीत-ध्वनि उत्पन्न कर रहे थे और भौंरे ताल-सुरमें स्वर मिलाकर गायककी भूमिका सम्पन्न कर रहे थे। उस समय गोपियोंके कानोंके उत्पल, अलकावलियोंसे अलङ्कृत कपोल, पसीनेकी झिलमिलाती बूँदोंसे मण्डित उनका मुख-मण्डल और वेणियोंसे झड़ते पुष्प एक अपूर्व एवं विलक्षण शोभाको धारण कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे श्रीकृष्णके चरणोंमें पुष्प-वर्षण कर रहे हों। इस रास-सभामें भ्रमर भी गुञ्जार कर रहे थे॥ १५॥

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥ १६॥

बालक जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार लक्ष्मीके अधिपति रमारमण श्रीकृष्ण गोपियोंका आलिङ्गन करते, कभी हाथोंसे उनका अङ्ग-स्पर्श अथवा कर-मर्दन करते, कभी स्निग्ध दृष्टिसे देखते, कभी उद्दाम विलास करते और कभी उन्मुक्तरूपसे हँसते। इस प्रकार भगवान् व्रजगोपियोंके (अपनी ही स्वरूपशक्तिके) साथ आनन्दपूर्वक विहार कर रहे थे॥ १६॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान् दुकुलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुवंशावतंस महाराज परीक्षित्! आनन्दके महाजलधिस्वरूप कृष्णके अङ्ग-सङ्गजनित परमानन्दसे गोपियोंकी समस्त इन्द्रियों विह्वल एवं अभिभूत हो गयीं। उनके केशोंमें गूँथे हुए फूल झड़ने लगे, केश भी खुलने लगे। वे अपने पहननेके वस्त्र कञ्चुकी, ओढ़नी आदि उत्तरीय वस्त्रोंको यथोचित रीतिसे धारण करनेमें समर्थ नहीं हुईं॥ १७॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥ १८॥

कृष्णकी रास-क्रीड़ाके दर्शनसे स्वर्गमें देवाङ्गनाएँ काम-बाणोंसे पीड़ित होकर मोहित हो गयीं (पुरुष भावसे रासलीलाका दर्शन करना असम्भव है, अतः देवताओंकी दृष्टि योगमाया द्वारा आच्छादित थी) नक्षत्रों एवं तारागणोंके साथ चन्द्रमा भी इस क्रीड़ाको देखकर विस्मित हो गये। (जो चन्द्रदेव गुरु-पत्नी ताराको देखकर कामके प्रभावसे अपनेमें खो गये थे, वे निशानाथ चन्द्रदेव भी कामकी गन्धसे ही इस पवित्र रासलीलामें मदनको विमोहित देखकर परम विस्मयमें आविष्ट हो गये। अपनी गतिको भूलकर वहीं स्थित हो गये)॥ १८॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥ १९॥

अचिन्त्य परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। तो भी उन्होंने गोपियोंकी जितनी संख्या थी, खेल-ही-खेलमें उतनी ही संख्यामें रूप धारण करके उन गोपियोंके साथ विहार किया (भगवान् श्रीकृष्णने प्रत्येक गोपीके साथ पृथक्-पृथक् कुञ्जमें रासलीला की)॥ १९॥

तासाम् रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना॥ २०॥

हे राजन्! जब गोपियाँ नृत्य, गान एवं माधुर्यमयी क्रीड़ा-विहारसे परिश्रान्त हो गयीं, तब परम कृपामय भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुखकारी हस्तकमलोंसे उनके मुखमण्डल पर उदित पसीनेकी बूँदोंको बड़े प्रेमके साथ पोंछा। (भक्तोंके दुःख, कष्ट एवं श्रमको दूर करनेके लिए भगवान् अपने हाथोंसे सेवा करनेमें दुविधाका बोध नहीं करते। पसीना पोंछकर उन्होंने अपनी भक्ताधीनताका प्रकाश किया है, इसीसे वे भक्ताधीन एवं भक्तवत्सल कहे जाते हैं)॥ २०॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः॥ २१॥

श्रीकृष्णके कर एवं नखोंके स्पर्शसे गोपियोंको परमानन्द हुआ। उन्होंने हिलते हुए सोनेके कुण्डलोंकी आभासे, कुन्तलोंकी कान्तिसे दीप्तिमान कपोलोंके सौन्दर्यसे तथा अमृतसे भी अधिक मधुर मुसकानपूर्ण चितवनसे जगत्पति श्रीकृष्णका सम्मान किया और उनकी परम पवित्र लीलाओंका गान करने लगीं। (वे समस्त स्वाधीनकान्ता व्रजसुन्दरियाँ अपने प्राणकान्त श्रीकृष्णके द्वारा पहनाये हुए रत्न अलङ्कारोंसे अलङ्कृत होकर अपने-अपने निकुञ्जसे बाहर निकलकर एक स्थानपर एकत्र हुईं और रासोत्सवकी समाप्तिसूचक मङ्गलगान करने लगीं)॥ २१॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः॥ २२॥

गजराज जिस प्रकार थकान मिटानेके लिए किनारोंको (अथवा पत्थरके सेतुको) तोड़ता हुआ श्रान्त एवं परिक्लान्त हथिनियोंसे घिरा हुआ जलमें प्रवेशकर क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार लोक एवं वेदकी मर्यादाका अतिक्रमण करते हुए गोपियोंके साथ भगवान्ने जल-विहारके लिए यमुनामें प्रवेश किया। भगवान्के वक्षःस्थलपर गोपियोंके कुच-कुङ्कुमसे रञ्जित एवं उनके अङ्ग-सङ्गसे मर्दित माला सुशोभित हो रही थी। भ्रमर मालाके चारों ओर मण्डराते हुए इस प्रकार भगवान्का अनुगमन कर रहे थे, जिस प्रकार श्रेष्ठ गन्धर्वराज भगवान्की कीर्त्तिका गान करते हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे हों॥ २२॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः॥ २३॥

हे राजन्! प्रेमपूर्ण चितवनसे भगवान्को देखती हुई गोपियाँ हास-परिहासके साथ उनके ऊपर चारों ओरसे जलकी फुहारें बरसाने लगीं। इस कामगन्धविहीन एवं निर्दोष जलविहारको देखकर विमानोंपर विराजमान देवता फूलोंकी वर्षा करते हुए कृष्णकी स्तुति करने लगे। प्रिय तात! आत्माराम होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णने गजराजके समान उन प्रमदा गोपियोंके साथ जलविहार किया॥ २३॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः॥ २४॥

(जल-विहार समाप्त होनेपर वनदेवताके द्वारा लाये हुए तत्कालोचित वस्त्र एवं अलङ्कारोंसे विभूषित होकर भगवान् यमुना-तट पर स्थित सहस्र कुञ्जोंसे युक्त कृष्ण-उपवनमें गये।

इस उपवनमें सर्वत्र जल एवं स्थल पर उगनेवाले सुगन्धित पुष्प खिल रहे थे। इन फूलोंकी सुगन्धको वहन करते हुए मन्द समीर प्रवाहित हो रहा था।) भगवान् गीति-कुशल गन्धर्वपतिकी भाँति कर्ण-रसायन सङ्गीतकी रचना करनेवाले मधुकर-गणों और व्रज-तरुणियोंसे घिरकर उस उपवनमें इस प्रकार विहार करने लगे, जिस प्रकार मदस्त्रावी (मदोन्मत्त) हाथी प्रमदा हथिनियोंके साथ वनमें विचरण करता है। (अनन्तर श्रीवृन्दादेवी श्रीराधागोविन्दको भोजन-आनन्द-कुटीरमें ले आयीं। सखियों द्वारा आनीत रस, मधु, फलादि विविध सामग्रीको मधुरभाषिणी ललिताजीने परोसा। भोजनके पश्चात् श्रीराधा एवं गोविन्द दोनोंने कर्पूर-सुवासित जल पान किया। अन्तमें ताम्बूल-वीटिकाकों विभागकर दोनों आधा-आधा भोजन करने लगे)॥ २४॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः॥ २५॥

(गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थीं। शरद्की इस पूर्णिमाकी रात्रिमें समस्त रात्रियाँ पुञ्जीभूत थीं। काव्यमें इस शरत्कालीन ऋतुकी जितनी भी रस-सामग्रीका वर्णन मिलता है, यह रात्रि उन-सबकी आश्रयीभूता थी।) भगवान् श्रीकृष्ण सत्यकाम (जिनका काम विलास प्राकृत नहीं होता, उन्हें सत्यकाम कहते हैं) और सत्यसङ्कल्प हैं। उन्होंने हृदयमें सुरत (प्रेम) सम्बन्धित हाव, भाव (विव्वोक, किलकिञ्चित्) स्थापनकर चन्द्रकिरणोंसे सुशोभित इस रात्रिका स्वकीय चिन्मय विलासके लिए सेवन अर्थात् उपभोग किया। (परीक्षित्! भगवान्के चिन्मय स्वरूपके समान ही भगवान्की रासलीला भी चिन्मयी है। कामभाव एवं कामचेष्टाएँ साक्षात् मन्मथमन्मथ भगवान्के सर्वथा अधीन हैं)॥ २५॥

श्रीराजोवाच—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥ २६॥

स कथं धर्मसेतुनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥ २७॥

महाराज परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन्! भगवान् जगदीश्वर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। उन्होंने धर्मकी पुनर्स्थापना एवं अधर्मके विनाशके लिए स्वांश बलरामके साथ अवतार लिया था। हे भगवन्! भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं ही धर्म-मर्यादाके संरक्षक, वक्ता और स्वयं ही उसका अनुष्ठान (पालन) करनेवाले हैं, तब किस प्रकार उन्होंने नैतिक नियमोंका उल्लंघन करते हुए परदारा (परायी स्त्री) आदिका आलिङ्गन आदि विपरीत आचरण किया? परीक्षित्-सभामें तार्किक, मीमांसक एवं शुष्क-ज्ञानयोगी आदि बैठे थे तथा बादमें सामान्य बुद्धिवाले अनादि बहिर्मुखजनोंके हृदयमें अज्ञानतावश यह प्रश्न उठ सकता है, इसी कारण महाराज परीक्षित्‌ने सभीकी जिज्ञासा-प्रशमन हेतु यह प्रश्न प्रतिध्वनित किया है। दूसरी बात यह भी है कि परीक्षित्‌की रक्षाके लिए भगवान्‌ने उनकी माताके गर्भमें प्रवेश किया है, अतः हो सकता है पुनः उनकी रक्षाके लिए भगवान् स्वयं आविर्भूत हों। उनका दर्शनकर हम कृतकृतार्थ होंगे, इस आशासे अनगिनत व्यक्ति उस सभामें एकत्रित हुए थे॥ २६-२७॥

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतत् नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥ २८॥

हे सुव्रत! यदुपति भगवान् कृष्ण पूर्णकाम हैं। तब उनके मनमें ऐसा क्या अभिप्राय था, जिसके कारण उन्होंने ऐसा लोक-निन्दित आचरण किया? इस विषयमें मुझे सन्देह हो रहा है, आप कृपा करके मेरा यह संशय मिटाइये॥ २८॥

श्रीशुक उवाच—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अग्नि सर्वभोक्ता है, सब कुछ खा जाता है, फिर भी वह किसी पदार्थके दोषका भागी नहीं होता। उसी प्रकार सामर्थ्यवान तेजस्वी पुरुषोंका इस प्रकारसे धर्म-मर्यादाका साहसपूर्ण उल्लङ्घन एवं स्त्री-सन्दर्शन आदि देखा जाता है, परन्तु वे कभी दोषके योग्य नहीं होते॥ २९॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥ ३०॥

परीक्षित्! ईश्वरके अतिरिक्त इस प्रकारका शास्त्र-विरुद्ध आचरण किसीको कभी भी मनके द्वारा भी नहीं करना चाहिये। रुद्र भगवान्के अतिरिक्त यदि कोई समुद्रसे उठता हुआ हलाहल विषपान करे, तो अवश्य ही उसका विनाश हो जायेगा। उसी प्रकार अपनी मूर्खतावश यदि कोई ईश्वर-लीलाका अनुकरण करनेका प्रयास भी करे, तो उसका विनाश अनिवार्य है। (गोपियाँ अपनी निर्मल प्रेम-साधनासे उस वेगवान् प्रेमधारामें बह गयी थीं, जिसमें लौकिक धर्मादि विलीन हो जाया करते हैं। उन्होंने साधनाके उस स्तरको प्राप्त कर लिया था, जिसमें लौकिक धर्म, कर्त्तव्यादि तुच्छ हो जाते हैं। सत्य यही है कि पाप-पुण्यसे परे और वेदातीत श्रीभगवान्को वेदातीत होकर ही प्राप्त किया जा सकता है, जो गोपियोंने किया है। वेदातीतका अभिप्राय वेदोंका उल्लङ्घन नहीं, अपितु वेद-मर्यादाओंसे भी ऊपरके आचरणको प्राप्त करना है)॥ ३०॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥ ३१॥

जिस प्रकार ज्ञान-वैराग्यसे युक्त सामर्थ्यवान पुरुषोंके वचन सत्य होते हैं, उसीके अनुरूप उनके आचरण भी सत्यस्वरूप होते हैं। अतः जो कार्य उनके वचनोंके अविरुद्ध है अर्थात् जो उनके उपदेशके अनुकूल है, बुद्धिमान् व्यक्ति उन्हें ही अपना आदर्श मानकर उनका पालन करें। (बुद्धिमान् व्यक्ति विशेष विचार करके देखेंगे कि ईश्वर (महत् पुरुषों द्वारा) आचरित कर्म, उनकी उपदेश-वाणीके अनुकूल है या नहीं। यदि उनकी वाणीके अनुकूल है, तब उसका अनुसरण करेंगे, किन्तु जहाँ ईश्वरका (महत् पुरुषोंका) आचरण उनकी उपदेश-वाणीका विरोधी है, तब उसका आचरण वर्जित है। अतः जो विचारपूर्वक आचरण नहीं करते, उनका विनाश अवश्यम्भावी है)॥ ३१॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो॥ ३२॥

परीक्षित्! ऐसे सामर्थ्यवान् पुरुष अहङ्कारसे रहित होते हैं। वे लोकसंग्रहके लिए जो धर्मानुष्ठान आदि शुभ कर्म करते हैं, उनके द्वारा वे कोई स्वार्थ नहीं साधा करते। यदि वे धर्म-विपर्यय अर्थात् धर्म-मर्यादाका उल्लङ्घन भी करते हैं, तो उनका किसी प्रकारसे अनर्थ या अशुभ नहीं होता (जो अहङ्कारसे रहित हैं, उन्हें पाप-पुण्यका फल भोगना नहीं पड़ता। इन भावोंके अभावमें उनका चित्त कर्मोंमें लिप्त नहीं होता। तब उनके नरकादि गमनकी क्या बात की जाय? मनुष्यमात्रको ही कर्मसे स्वतन्त्र होना चाहिये)॥ ३२॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥ ३३॥

जब ईश्वरके अधीन रहनेवाले निरहङ्कारी (अहंभाव-रहित) जीवोंका पाप-पुण्यसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो पक्षी, मनुष्य,

देवता एवं समस्त प्राणियोंके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें क्या कहा जा सकता है? भला, उनका पाप-पुण्यसे क्या सम्बन्ध है?॥ ३३॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥ ३४॥

जिनके पादपद्मोंकी रजके निरन्तर सेवनसे भक्त परम तृप्त रहते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके योगी योगशक्तिके आधार पर सम्पूर्ण कर्म-बन्धनोंके फलोंसे मुक्त हो जाते हैं और जिनका तत्त्व प्राप्त करके ज्ञानी बन्धनको प्राप्त नहीं होते, वे भगवान् स्वेच्छासे अप्राकृत श्रीविग्रहको प्रकट करते हैं। परीक्षित्! स्वतन्त्र लीलापरायण स्वयं-भगवान् कृष्णमें कर्म-बन्धनकी कल्पना किस प्रकार की जा सकती है? भगवान्में उत्कट काम, मोह, श्रम आदि अठारह दोष नहीं होते। प्राकृतके अनुकरणमें अप्राकृत मोह, तन्द्राके द्वारा उनकी लीला-परिपाटी प्रकाशित होती है (भगवान्के चरणकमलोंकी कान्ति-परमाणुके एकान्त सेवनके द्वारा अर्थात् निरन्तर ध्यानरूप अनुशीलनके द्वारा भक्त भक्तियोगके प्रभावसे अखिल कर्मबन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विहार करते हैं और अपने दर्शनकारियोंके कर्म-बन्धनका खण्डन करते हैं। निरङ्कुश स्वेच्छासे श्रीलीलाविग्रह धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अपने स्वरूपमें ही यह समस्त कृष्णात्मा-परस्त्री-शरीर स्वीकृत हैं)॥ ३४॥

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ ३५॥

गोपियोंके, उनके पतियोंके और समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें जो अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान हैं, जो सबकी बुद्धि आदिके साक्षी हैं,

उन्हीं श्रीकृष्णने व्रजवधुओंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए अपने चिन्मय कलेवरको प्रकट किया है। रासलीला भगवान् श्रीकृष्णका अपने साथ अपना ही लीलाविलास है॥ ३५॥

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ ३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए ही स्वयंको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं। उन्होंने ही मणि-मन्त्र महौषधिकी भाँति मधुररसमयी गोलोकगत रासलीलाको प्रपञ्चमें प्रकट किया है, जिससे आकृष्ट होकर देहधारी जीवमात्र ही भगवत् सेवापरायण हो जाएँ॥ ३६॥

नासूयन् खलु कृष्णाय
मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥ ३७॥

कृष्णकी अघटन-घटन-पटीयसी मायासे मोहित होकर व्रजगोपियोंके पति, पिता आदि आत्मीयोंने अपनी-अपनी पत्नियों, कन्याओंको अपने-अपने पास ही स्थित माना। श्रीकृष्णके प्रति उनका किञ्चित् मात्र भी असूया—दोष-दृष्टिका भाव न था (गोपगण श्रीकृष्णकान्ताओंके समान गोपीमूर्त्तियोंके साथ—अपनी अपनी पत्नियोंके साथ ही भोजन, पानादि करते थे, इसलिए श्रीकृष्णके विषयमें दोष-दर्शनका उन्हें अवकाश नहीं था)॥ ३७॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः॥ ३८॥

ब्रह्माकी रात्रिके बराबर वह रात्रि भी बीत गयी। ब्राह्ममुहूर्त्त उपस्थित होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्रेयसियोंको घर जानेका आदेश दिया। प्रियतमका विरह असहनीय होनेपर भी गोपियाँ अनिच्छाके साथ अपने-अपने घर चली गयीं॥ ३८॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

परीक्षित्! जो धैर्यवान् व्यक्ति व्रजयुवतियोंके साथ श्रीकृष्णकी रासलीलाको श्रद्धापूर्वक सुनकर निरन्तर उसका गान अथवा श्रवण करता रहता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌की पराभक्तिको प्राप्त करके हृद्रोग कामसे अविलम्ब मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

[द्रष्टव्य है कि जिस लीलाकथाके ज्ञान-विज्ञानके प्रदीप्त भास्कर श्रीवेदव्यास जैसे रचयिता, आजन्म वैरागी, ब्रह्मानन्द निमग्न हृदय, भक्तयोगी परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी जैसे वक्ता, विप्र-अभिशप्त अनुतप्त-चित्त आसन्न-मृत्यु भगवत्-सेवा-अभिलाषी परीक्षित् एवं समस्त लोकोंसे आये हुए अनगिनत राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि जैसे श्रोतागण विद्यमान हैं—ऐसे परिवेशमें परिवेशित अप्राकृत परमतत्त्व रसिकेन्द्र-चूड़ामणि, आनन्द एवं प्रेमके अधिनायक भगवान् श्रीकृष्णकी श्रीरासलीला प्रेमी एवं रसिक भक्तोंके अनुसन्धान एवं ग्रहणका विषय है।

विभिन्न पुराणोंमें शृङ्गाररसमयी इस लीलाकथाके श्रवण एवं कीर्त्तनके निम्नलिखित फल बतलाये हैं—

(१) यह लीला सर्वविस्मारिणी श्रीकृष्ण-विषयिणी प्रेमाभक्तिका एक उज्ज्वल उदाहरण है।

(२) इसके चिन्तनसे समस्त संशय दूरीभूत हो जाते हैं।

(३) हृदय युगल-उपासनाके लिए श्रद्धासे परिपूर्ण हो जाता है।

(४) कोटि-कोटि कर्णयुक्त होकर उस लीलाकथाके श्रवणकी अभिलाषा चित्तमें उदित हो उठती है।

(५) वेदरूप विशाल ज्ञान-भण्डारका द्वार उन्मुक्त हो जाता है।

(६) पुराणरूपी किरण मञ्जुषाका विस्तार प्राप्त होता है।

(७) जीव आधि-व्याधि आदि दुःखमय संसार-चक्रसे मुक्त हो जाता है।

(८) यह ब्रह्मज्ञानरूप अमोघ अस्त्रका सन्धान है।

(९) आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने जगत्के कल्याणके लिए एवं विशेषकर अपने प्रेमी रसिक भक्तजनोंके परम आनन्द वर्द्धनके लिए स्वयं आत्माराम होकर भी इस धराधाममें इस लीलाको प्रकटित किया है। अतः इससे भक्तोंका कल्याण एवं आनन्द वर्द्धन होता है।

(१०) इस लीलामें प्रवृत्तिके आवरणमें निवृत्तिका अद्भुत अलौकिक नन्दनकानन सुशोभित है। अतः भक्त निवृत्तिपरायण आनन्दको प्राप्त होते हैं।

(११) उसमें भगवत्-प्रेमकी परमास्वादनीय अमृत-धारा प्रवाहित हो रही है। इसे श्रवणकर भक्त अभयत्व, अशोकत्व एवं अमृतत्वको प्राप्त कर लेते हैं।

(१२) इस लीलाके पुनः-पुनः श्रवणसे धीरत्वकी प्राप्ति एवं हृदयकी निष्ठुर काम-व्याधि चिरकालके लिए समाप्त हो जाती है। यह परम पवित्र कथा कामहत जीवोंके लिए कामजय करनेका सिद्धमन्त्र है।

(१३) इस रासलीलाके कीर्त्तन एवं श्रवणसे जीव अप्राकृत कामदेव मदनमोहनके विलाससे आकर्षित होकर परमानन्दमें निमग्न होनेका सौभाग्य प्राप्त करता है।

संक्षेपतः श्रीरासलीलाकथाके उत्स (उत्पत्ति-स्थल) से जिस भक्ति सुरधुनी (गङ्गा) का प्रवाह होता है, उसकी पुण्य पावन धारामें जीवका समस्त कलिकल्मष चिरकालके लिए विधौत हो जाता है। भक्तके परम विशुद्ध अन्तःकरणमें भक्ति लहरीका स्पर्श प्राप्त होनेपर उसका हृदय अनन्त अपार लीला विलास

माधुरीसे परिपूर्ण हो जाता है। वह उस आनन्दमें विभोर होकर श्रीराधामाधव माधुरीके आस्वादनसे, सेवानन्दसे नित्य तृप्त हो जाता है।] ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तैंतीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा सुदर्शन और शङ्खचूड़का उद्धार

श्रीशुक उवाच—

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक समय देवयात्रा अर्थात् शिव-रात्रिके उपलक्ष्यमें नन्दादि गोप बड़े आनन्द एवं कौतूहलके साथ भगवान् शिवकी पूजाके लिए वृषभचालित शकटोंपर सवार होकर अम्बिकावनमें गये॥ १॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम्।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीञ्च नृपतेऽम्बिकाम्॥ २॥

हे राजन्! उन सबने वहाँ सरस्वती नदीमें स्नान किया और बड़े भक्तिभावसे सदाशिव (विष्णु-तत्त्व गोपेश्वर शिव) एवं अम्बिका देवीकी विविध सामग्रियों द्वारा आराधना की॥ २॥

गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति॥ ३॥

तत्पश्चात् गोपोंने 'देवाधिदेव महादेव हमपर प्रसन्न हों' इस प्रकारकी कामना रखकर आदरके साथ ब्राह्मणोंको गौएँ, सुवर्ण, वस्त्र, मधु एवं मधुमिश्रित स्वादिष्ट पकवान प्रदान किये॥ ३॥

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य यतव्रताः।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः॥ ४॥

इस अवसरपर महाभाग्यवान् नन्द, सुनन्द आदि गोपोंने उपवास कर रखा था। इसलिए रात्रिको मात्र जल पीकर वे सब वही सरस्वती नदीके किनारे सो गये॥ ४॥

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः।
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत्॥ ५॥

उस अम्बिकावनमें एक बड़ा भारी अजगर रहता था। वह भूखसे अत्यधिक व्याकुल हो रहा था। उस रात दैववश वह सबसे अलक्षित होकर उस वनमें उधर ही आ गया और निद्रामग्न नन्द महाराजको निगलने लगा॥ ५॥

स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय॥ ६॥

उस विशाल अजगरके द्वारा पकड़ लिये जानेपर (श्रीकृष्ण तुमलोगोंका समस्त विपदाओंसे उद्धार करेंगे—गर्गाचार्यजीके इस वचनका स्मरणकर) नन्द महाराज चिल्लाने लगे—"हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे पुत्र! दौड़ो, दौड़ो! मुझे यह भयङ्कर सर्प निगल रहा है। मैं तुम्हारे शरणागत हूँ। मुझे इस सङ्कटसे बचाओ॥"६॥

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः।
ग्रस्तञ्च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः॥ ७॥

नन्दजीकी चीत्कार ध्वनिको सुनकर सारे गोप शीघ्र ही उठ खड़े हुए और उन्हें अजगरसे ग्रस्त देखा। यह देखकर वे सब बड़े व्याकुल हो गये और उन्होंने जलती हुई लकड़ियोंसे उस अजगरको (पूँछकी ओरसे) मारना आरम्भ कर दिया (शीत-निवारणके लिए लकड़ियाँ पहलेसे जलाकर रखी गयी थीं)॥ ७॥

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत् तमुरङ्गमः।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः॥ ८॥

अधजली लकड़ियों द्वारा आहत किये जानेपर भी अजगरने नन्द महाराजको छोड़ा नहीं। तब भक्तवत्सल यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण उनके समीप गये एवं अपने चरणोंसे उस अजगरका स्पर्श किया॥ ८॥

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम्॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही अजगरके सारे अशुभ नष्ट हो गये और वह उसी क्षण सर्प-देह छोड़कर विद्याधरोंके द्वारा पूजित परम रूपवान् शरीरके रूपमें प्रकट हो गया॥ ९॥

तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम्।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम्॥ १०॥

उस पुरुषके गलेमें स्वर्ण-माला थी और उसके शरीरसे उज्ज्वल ज्योति प्रकट हो रही थी। वह भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख हाथ जोड़कर प्रणत भावसे खड़ा हो गया। तब भगवान् हृषीकेशने उससे पूछा॥ १०॥

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः॥ ११॥

भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—देखनेमें बड़े अद्भुत परम सौन्दर्यवान् आप कौन हैं? किस कारणसे आप इच्छा न रहनेपर भी इस निन्दनीय सर्पगतिको प्राप्त हुए हैं?॥ ११॥

सर्प उवाच—

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन् दिशः॥ १२॥

ऋषीन् विरूपानङ्गिरसः प्राहसे रूपदर्पितः।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना॥ १३॥

तब अजगरके शरीरसे निकले दिव्य पुरुषने कहा—मैं सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध एक विद्याधर हूँ। मैं अतिशय रूपवान् और प्रचुर सम्पत्तिवान् था। एक बार मैं विमानमें चढ़कर दिग्दिगन्तमें भ्रमण कर रहा था कि मैंने अङ्गिरा गोत्रमें उत्पन्न कुरूप ऋषियोंको देखा। अपने सौन्दर्यसे मदोन्मत्त होकर मैं उनका उपहास करने

लगा। मेरे इस उपहासरूप अपराधके फलस्वरूप उन ऋषियोंने मुझे सर्पयोनि-प्राप्तिका शाप दे दिया॥ १२-१३॥

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः॥ १४॥

अब देख रहा हूँ कि वे ऋषि वस्तुतः बड़े कृपालु थे। मुझपर अनुग्रह करनेके लिए ही उन्होंने इस प्रकारका शाप मुझे प्रदान किया, जिसके कारण आज तीनों लोकोंके गुरु आपने अपने श्रीचरणोंके स्पर्शसे मुझे पाप-मुक्त किया है॥ १४॥

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन्॥ १५॥

हे दुःखविनाशन! जो इस संसारसे भयभीत होकर आपकी शरण ग्रहण करते हैं, आप उन्हें सम्पूर्ण भयोंसे मुक्त कर देते हैं। हे प्रभो! आपके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके मैं शापसे मुक्त हो गया हूँ। अब अपने लोकमें जानेके लिए आपसे अनुमतिकी प्रार्थना करता हूँ॥ १५॥

प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर॥ १६॥

हे महायोगेश्वर (अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न) महापुरुष! हे सत्पते! (हे भक्तोंके स्वामी)! मैं आपकी शरणमें हूँ। हे इन्द्रादि समस्त लोकाधिपतियोंके ईश्वर! हे परमात्मन्! आप मुझे अनुमति प्रदान करें॥ १६॥

ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युतदर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥ १७॥

हे अच्युत! मैं आपके दर्शन करके ब्रह्मशापसे अविलम्ब ही मुक्त हो गया हूँ। मनुष्य जिनके नामके उच्चारणसे स्वयं पवित्र होते हैं और समस्त श्रोताओंको पवित्र करते हैं—ऐसे आपके

श्रीपदारविन्दोंका स्पर्श प्राप्त करके आज मैं जो पवित्र हुआ हूँ—इस विषयमें कहना ही क्या है!॥ १७॥

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः॥ १८॥

हे राजन्! इस प्रकार परम सुन्दर सुदर्शन नामक इस विद्याधरने भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना की, तत्पश्चात् उनकी परिक्रमा करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया, उनसे अनुमति ली और स्वर्गकी ओर चला गया। महाराज नन्द भी श्रीकृष्णके द्वारा इस सङ्कटसे मुक्त हो गये॥ १८॥

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं
व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं
नृपाययुस्तत् कथयन्त आदृताः॥ १९॥

हे राजन्! व्रजवासी गोप श्रीकृष्णके इस अद्भुत प्रभावको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने उसी अम्बिकावनमें 'त्रिरात्रवास' आदि नियमोंका पालन करते हुए व्रत समाप्त किया। इसके बाद वे सभी आदरके साथ श्रीकृष्णकी महिमाका गान करते हुए पुनः व्रजमें लौट आये॥ १९॥

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम्॥ २०॥

हे राजन्! एक बार अद्भुत विक्रमशाली भगवान् श्रीगोविन्द एवं बलराम होलीकी पूर्णिमा तिथिमें रात्रिकालमें व्रजसुन्दरियोंके साथ वनविहार कर रहे थे॥ २०॥

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ॥ २१॥

उस समय श्रीकृष्ण एवं श्रीबलराम दोनों अति अपूर्व सौन्दर्यसे सुशोभित हो रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने पीताम्बर और श्रीबलरामजीने

नीलाम्बर धारण कर रखा था। दोनोंके परम रमणीय श्रीविग्रह चन्दन और सुगन्धित अङ्गरागसे चर्चित तथा विभिन्न अलङ्कारोंसे विभूषित थे। कण्ठ सुवासित पुष्पहारोंसे सुसज्जित थे। रसिकशिरोमणि श्रीगोविन्द एवं अद्भुतविक्रम श्रीबलरामजीकी प्रेयसियाँ सुमधुर स्वरसे लालित्यमय सङ्गीतके द्वारा (होली-लीलाकी प्रचलित रीतिके अनुसार) गुणगान करते हुए उन दोनोंका आनन्दवर्द्धन करने लगीं। कृष्ण एवं बलराम दोनोंका ही प्रेयसी-वर्ग पृथक्-पृथक् विभाजित था, जिनसे परिवेष्टित होकर कृष्ण एवं रामने रङ्ग-क्रीड़ा क्षेत्रमें लीला-विलास करना प्रारम्भ कर दिया॥ २१॥

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम्।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना॥ २२॥

पूर्णिमाके प्रदोषकालमें असंख्य तारोंसे परिवेष्टित पूर्णचन्द्र अपनी अपूर्व शोभासे युक्त होकर आकाशमण्डलमें उदीयमान हो रहे थे। मधुलोभी भ्रमर-कुल मल्लिकाके कुसुमोंकी सुगन्धसे मतवाला हो रहा था। कुमुदिनीकी सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द समीर प्रवाहित हो रहा था। इस प्रकार श्रीवृन्दावनके कुञ्ज-निकुञ्जमें एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य शोभा प्रस्फुटित हो रही थी। श्रीकृष्ण एवं बलरामजी दोनोंने ही इस कालकी प्रशंसा करते हुए इसका सम्मान किया॥ २२॥

जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम्।
तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम्॥ २३॥

इसके बाद कृष्ण एवं बलराम दोनों एक समयमें ही एक साथ स्वरोंकी मूर्च्छना अर्थात् आरोहण एवं अवरोहणकी युगपत् (एक ही साथ) सृष्टि करते हुए इस प्रकार गान करने लगे, जिसकी कल्पना करना भी असम्भव है। उनका गान सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए हृत्-कर्ण-रसायन एवं मङ्गल-विधायक था॥ २३॥

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन्नृप।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः॥ २४॥

हे राजन्! श्रीबलराम और श्रीकृष्णकी प्रेयसियाँ उक्त सङ्गीतको सुनकर मूर्च्छित हो गयीं। उनके शरीरसे जो वस्त्र खिसक गये थे एवं केशपाशसे जो पुष्पमालाएँ गिर गयी थीं—वे इस विषयमें कुछ जान ही नहीं पायीं॥ २४॥

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत्।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात्॥ २५॥

श्रीकृष्ण एवं बलरामजी स्वाधीन भावसे क्रीड़ा-विहार कर रहे थे और उन्मत्तकी भाँति गान कर रहे थे। उसी अवसरपर शङ्खचूड़ नामका एक प्रसिद्ध यक्ष असत् अभिप्रायसे वहाँ उपस्थित हो गया। वह कुबेरका अनुचर था॥ २५॥

तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम्।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः॥ २६॥

हे राजन्! बलरामजी एवं श्रीकृष्ण दोनों उसे देख ही रहे थे कि उनके सम्मुख ही शङ्खचूड़ निःशङ्क होकर उनके द्वारा संरक्षित गोपाङ्गनाओंको (लाठी दिखाकर डराते हुए) उत्तर दिशाकी ओर ले जाने लगा। श्रीकृष्ण और बलरामजी जिनके स्वामी हैं, वे गोपियाँ उस समय उन्हें पुकार-पुकारकर रोने लगीं॥ २६॥

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम्॥ २७॥

दोनों भाइयोंने देखा कि उनकी प्रेयसियाँ "हे कृष्ण! हे राम!" कहती हुई विलाप कर रही हैं, तो वे उनके पीछे इस प्रकारसे दौड़ने लगे, जिस प्रकार गोरक्षक दस्यु द्वारा अपहृत गौओंको मुक्त करानेके लिए उसके पीछे-पीछे दौड़ता है॥ २७॥

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम्॥ २८॥

तत्पश्चात् 'डरो मत, डरो मत' इस प्रकार अभयवाणी कहते हुए दोनों भाई शाल-वृक्षोंको हाथमें लेकर अति वेगसे दौड़ते हुए पल भरमें ही उस अधम यक्षके पास पहुँच गये॥ २८॥

स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन्।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया॥ २९॥

साक्षात् काल एवं काल प्रेरित मृत्युके समान दोनों भाइयोंको समीपस्थ यमके समान देखकर शङ्खचूड़ भयभीत हो गया। वह मूर्ख स्त्रियोंको वहीं छोड़कर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए भागा॥ २९॥

तमन्वधावद्गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः॥ ३०॥

बलदेवजी तो स्त्रियोंकी रक्षाके लिए वहीं रह गये, आगे नहीं बढ़े, परन्तु जहाँ-जहाँ शङ्खचूड़ भागा, श्रीकृष्णने उसके सिरकी मणिको निकालनेकी उत्सुकतासे वहाँ-वहाँ उसका पीछा किया॥ ३०॥

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः॥ ३१॥

हे राजन्! थोड़ी ही दूर जानेपर श्रीकृष्णने उसे पकड़ लिया और उस असुरके मस्तकपर मुष्टिकासे प्रहार किया तथा उसके चूड़ेमें स्थित मणिके साथ उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया॥ ३१॥

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्।
अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनाञ्च योषिताम्॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

भगवान् श्रीकृष्ण शङ्खचूड़का वध करके उस दीप्तिशाली मणिको लेकर लौट आये और गोपियोंके सामने ही प्रसन्नतापूर्वक इस मणिको बड़े भाई बलरामजीको प्रदान कर दिया॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौंतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

युगलगीत

श्रीशुक उवाच—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! श्रीकृष्ण दिनमें गोचारणके लिए प्रतिदिन वनमें चले जाते थे। गोपियोंका चित्त भी श्रीकृष्णका अनुगमन करता हुआ उनके साथ वनमें ही चला जाता था। वे कृष्ण-चिन्तनमें डूबी हुई कृष्णलीलाका गान करतीं और बड़े कष्टसे दिन बिताया करतीं॥ १॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

वामबाहुकृतवामकपोलो
वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं
गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥ २॥

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-
र्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः
कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥ ३॥

गोपियाँ दूसरी गोपियोंसे कहतीं—अरी सखियो! मुकुन्द श्रीकृष्ण जिस समय अपनी बायीं भुजाके मूलपर वाम कपोलको स्थापितकर अपनी भौंहोंको नचाते हुए एवं अपनी कोमल अँगुलियोंको छिद्रोंपर रोक-रोककर अपने अधरोंसे स्पर्श कराकर जब वंशी बजाते हैं, तब गगन-विहारिणी सिद्ध वनिताएँ अपने-अपने देवपतियोंके साथ होनेपर भी पहले तो वे उस वंशीकी ध्वनि सुनकर चकित और विस्मित हो जाती हैं, बादमें उनका चित्त

ऐसा वशीभूत हो जाता है कि उन्हें अपने (कटि-प्रदेशके) वस्त्रोंकी गाँठें खुल जानेकी भी सुधि नहीं रहती और न ही अपने केश-बन्धन शिथिल होने की। पतियोंके पास रहनेसे उन्हें लज्जा तो आती है, पर काम-बाणोंसे बिंधी हुईं-सी वे मोहित हो पड़ती हैं। वे यही सोचती रहती हैं कि त्रिभङ्ग-ललित श्रीकृष्णका विरह हम किस प्रकार सहन कर पायेंगी?॥ २-३॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं
हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्त्तजनानां
नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः॥ ४॥

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो
वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा
निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥ ५॥

हे अबलाओ! एक और आश्चर्यकी बात सुनो! श्रीकृष्णका शुभ्र हास्य समुज्ज्वल मुक्ताहारके समान दीप्त प्रतीत होता है और उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सकी विशिष्ट सुनहरी रेखा श्याम मेघपर स्थिर विद्युत्के समान जान पड़ती है। जिस समय ये नन्दजीके पुत्र विरहिणियोंको सुख प्रदान करनके लिए वंशी बजाते हैं, तब उस भुवनविमोहनकारी वंशीनादसे आकर्षित होकर व्रजके बैल, गाय, हिरण एवं अन्यान्य पशु झण्ड-के-झुण्ड दौड़कर उनके समीप आ जाते हैं और वंशीकी स्वरलहरियोंसे ऐसे मोहित हो जाते हैं कि दाँतोंसे दबाये हुए घासके कौरको केवल मुखमें ही रखे रहते हैं; न निगल पाते हैं और न उगल पाते हैं। सखी, ये पशु कानोंको ऊँचा करके इस प्रकार स्थिर खड़े हो जाते हैं कि मानो सो गये हों अथवा किसी अद्भुत चित्रकारने आकाशपटलमें चित्र अङ्कित कर दिया हो॥ ४-५॥

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-
र्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपै-
र्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः॥ ६॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः॥ ७॥

अरी भटू! जिस समय श्यामसुन्दर अपनी घुँघराली अलकावलियोंमें फूलोंके गुच्छे खोंस लेते हैं, सिरपर मयूरपङ्खको मुकुटके रूपमें धारण करते हैं, गैरिकादि रङ्ग-बिरङ्गी धातुओं एवं नवीन पल्लवोंसे अपने अङ्गोंको सुसज्जितकर मल्लवेशका अनुकरण करते हुए जिस स्थानपर बलरामजी तथा ग्वालबालोंके साथ वंशीके नादसे 'हिही', यमुने, कालिन्दी, गङ्गे, सरस्वती आदि नामोंसे गायोंको पुकारते हैं, तब वंशीकी ध्वनि सुनकर गायोंके आह्वानको अपने लिए समझकर अचेतन नदियोंकी गति भी स्तम्भित हो जाती है। ये नदियाँ चाहती हैं कि श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंकी रज अनुकूल पवन द्वारा उड़कर हमें प्राप्त हो जाये, परन्तु वे भी हमारे ही समान अल्पपुण्यवती (मन्दभागिनी) हैं, क्योंकि उन्हें अपना वाञ्छित श्रीकृष्णका पादपद्मराग पुनः-पुनः प्राप्त नहीं हो पाता। प्रेमसे सराबोर होनेके कारण इन नदियोंकी तरङ्गरूपी भुजाएँ कम्पित तो होती हैं, किन्तु इनकी जलराशि अतिशय आनन्दके कारण ज्यों-की-त्यों निश्चल रहती है अर्थात् जड़ता धारण किये रहती है॥ ६-७॥

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि॥ ८॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥ ९॥

दर्शनीयतिलको वनमाला–
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्ट–
माद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः॥ १०॥

सरसि सारसहंसविहङ्गा–
श्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥ ११॥

प्रिय सखीगण! जिस प्रकार देवता आदिपुरुष नारायणकी शक्तियों एवं विक्रमका निरन्तर वर्णन करते हैं, उसी प्रकार कृष्णभक्त गोपगण भगवान् श्रीकृष्णकी अचिन्त्य, अनन्त एवं अचल श्री–सम्पत्ति एवं शक्ति आदिका अनुक्षण निरूपण करते हैं। अरी भटू! वनवासी वेशमें माधुर्यघनतम श्रीकृष्ण जब गिरिराज गोवर्द्धनकी तराईमें विहार करते हुए वंशीके सुमधुर स्वरसे गौओंको धवली, श्यामली, पिङ्गला, अरुणी, चित्रिता, मल्लिका, मालती आदि पृथक्–पृथक् नाम ले–लेकर पुकारते हैं, तब वनके वृक्ष तो पल्लव–फल–फूलोंसे भरकर आत्मस्थित हो जाते हैं और भारवाही शाखाओंसे युक्त वनलताएँ धरतीकी ओर झुक जाती हैं, मानो उन्हें दण्डवत्–प्रणाम कर रही हों। यह देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्ष एवं लताएँ अपने भीतर अन्तर्यामीरूपसे विराजमान विष्णु–तत्त्वको सूचित करते हुए प्रेमसे पुलकित हो रहे हैं, उनका रोम–रोम प्रसन्नता व्यक्त कर रहा है और वे अश्रुधाराओंके समान मधुधाराओंका वर्षण करके श्रीकृष्णका अभिषेक कर रहे हैं। हे सखियो! सुरम्य पुरुषोंमें दर्शनीय तिलक

अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हमारे मनमोहन श्रीकृष्णके साँवले ललाटपर केसरका तिलक कितना सुन्दर लगता है? जब वे घुटनों तक लटकी हुई वनमाला पहनते हैं, तब उसमें पिरोयी हुई तुलसीकी दिव्य गन्ध एवं मधुर मधुपानसे मतवाले भ्रमर मनोहर एवं उच्च स्वरसे गुञ्जार करते हैं, तब उन ब्राह्मणोंके कलगानको (मिलित झंकारको) बड़े आदरके साथ स्वीकार करके श्रीकृष्ण उन्हींके स्वरमें स्वर मिलाकर अपनी बाँसुरी बजाने लगते हैं। सखी, यह कैसा आश्चर्य है कि उस सुमधुर वंशीकी मुनिजनमोहिनी ध्वनिसे आकृष्ट होकर सरोवरमें अवस्थित सारस, हंस आदि पक्षियोंका झुण्ड उनके समीप चला आता है और वे जलचर उनके ही समीप बैठकर, चित्तको एकाग्र करके, मौन धारण करके एवं आँखोंको निमीलित (आधी मूँदी) करके उनकी आराधना करने लगते हैं, मानो वे जलचर नहीं, परमहंस मुनि ही हों॥ ८-११ ॥

सहबलः स्रगवतंसविलासः
सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण
जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्॥ १२॥

महदतिक्रमणशङ्कितचेता
मन्दमन्दमनु गर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभि-
श्छायया च विदधत् प्रतपत्रम्॥ १३॥

हे व्रज-ललनाओ! श्रीकृष्ण जब पुष्पोंसे बने कर्णाभूषणोंसे (कुण्डलोंसे) कानोंको विभूषित कर बलदेवके साथ गिरिराज पर्वतकी तलहटी पर खड़े होकर प्रसन्नचित्तसे अपनी वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे विश्वको आनन्दसे परिपूर्ण करते हैं, तब मेघ-मालाएँ इस आशङ्कासे अग्रसर नहीं होतीं कि कहीं श्रीकृष्णका अतिक्रमण न हो जाय अथवा सुर कहीं वंशीध्वनिके विपरीत न हो जाय। प्रिय सखी! आकाश भी उच्च स्वरसे गर्जना नहीं

करता, अपितु वहीं स्थिर होकर जलदगम्भीर वेणु-रवसे ध्वनित मल्हार रागका अनुसरण करता हुआ अपनी मन्द-मन्द गर्जनासे जगत्‌के तापको हरता है। वह श्रीकृष्णको अपना सुहृद्-सखा (परम-बान्धव) मानकर धूपसे उनकी रक्षाके लिए छत्रकी रचना करके उनके प्रीति-विधान हेतु छाया करता है और कभी तो नन्हे-नन्हे हिमकणोंके रूपमें ऐसे बरसता है, मानो पुष्प-वर्षण कर रहा हो॥ १२-१३॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो
वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥ १४॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥ १५॥

(अनन्तर अपराह्नमें कुछ गोपियाँ किसी बहानेसे श्रीव्रजेश्वरीके घरमें उपस्थित हुईं और कहने लगीं—) हे यशोदे! गोपगणोचित गोचारण (एवं गौओंका दोहन, वशीकरण) आदि नानाविध कलाओंमें निपुण तुम्हारा लाड़ला जब बिम्बफलके समान अपने लाल-लाल अधरोंपर वंशी धारणकर बिना किसीसे शिक्षण प्राप्त किये ही, स्वयं ही उच्च-मध्यम-निम्न आरोह-अवरोह आदि आलापोंसे सङ्गीतकी ऋषभ, निषाद आदि स्वरोंकी विविध राग-रागिनियाँ बजाते हुए, कई शैलियोंका आविष्कार कर लेता है, तब इन्द्र, शिव, ब्रह्मा, चतुःसन, रुद्र सहित कात्यायनी, नारद आदि मन्द-मध्यम-तार भेदसे अपूर्व निपुणताके साथ बजाये गये इसके स्वरालापोंको सुनते तो हैं, परन्तु पण्डित होनेपर भी उनका सार नहीं निकाल पाते अर्थात् वंशीके राग, ताल और स्वरूप आदिका निश्चय करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। वे मुग्ध-से होकर अपनी

ग्रीवा एवं चित्तको झुकाकर श्रवणमें ही तन्मय हो जाते हैं॥ १४-१५॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-
नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं
वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥ १६ ॥

व्रजति तेन वयं सविलास-
वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः
कश्मलेन कबरं वसनं वा॥ १७॥

अरी सखी! श्रीकृष्णके रमणीय पदकमल ध्वज, वज्र, अङ्कुश एवं पद्म आदि विचित्र तथा सुन्दर चिन्होंसे युक्त हैं। जब व्रजभूमि गौओंके खुरोंके खुदनेसे पीड़ित होने लगती है, तब उसकी वेदनाको शान्त करनेके लिए वे वेणुध्वनि करते हुए गजराज-सी मन्थर एवं मदमस्त गतिसे चलते हैं। अरी वीर! उस समय उनकी वह वंशीध्वनि, वह मदमस्त गति, वह विलासभरी चितवन हमारे चित्तमें कामवेगको और बढ़ा देती है। हम उस समय मोहित-सी होकर वृक्षके समान जड़-दशाको प्राप्त हो जाती हैं। हमें यह आभास तक भी नहीं होता कि हमारे केशबन्धन खुल रहे हैं और परिधेय वसन स्खलित हो रहे हैं॥ १६-१७॥

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा
मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे
प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥ १८॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥ १९॥

अरी भटू! श्रीकृष्णके गलेमें लड़ियोंकी बनी हुई माला बहुत ही सुन्दर लगती है। अतिशय प्रिय गन्धमयी तुलसीकी माला भी उनके वक्षःस्थलपर सदैव विभूषित रहती है, क्योंकि इसमें उनकी प्रियाकी भी दिव्य सुगन्ध बसती है। जब वे मालामें पिरोयी हुईं मणियोंके द्वारा गौओंके अरुणि, गङ्गे, हंसी, मुक्ते, चन्दनी, श्यामले, यमुने, चित्रतिलके, कुङ्कुमी, सरस्वती, धवले, गीते, पिङ्गले, दीर्घतिलके, मृदङ्गमुखी और सिंहमुखी आदि नामोंको ले-लेकर गिनती करते हुए किसी प्रेमी सखाके कन्धेपर अपनी भुजा रखकर भावोंको व्यक्त करते हुए वेणुनाद करते हैं, तब उस वेणुकी सुर-झङ्कारको (स्वर-मूर्च्छनाको) श्रवण करके कृष्णसार-रमणी हरिणियोंका चित्त अपहृत हो जाता है। जिस प्रकार हम गोपियाँ घर-बारकी आशाको छोड़कर गुणसिन्धु नन्दनन्दनको घेरे रहती हैं, उसी प्रकार वे भी उनके मार्गका अनुसन्धान करती हैं और वहाँसे लौटनेका नाम भी नहीं लेतीं॥ १८-१९॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो
गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिनां विजहार॥ २०॥

मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन् मलयजस्पर्शेन।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः॥ २१॥

(श्रीकृष्णके आगमनमें विलम्ब होनेके कारण चिन्तित यशोदाको गोपियाँ सान्त्वना देते हुए कहती हैं—) हे शुद्धशीले (पुण्यचरिते)! यशोदे! तुम्हारे लाड़लेलाल निज वयस्य सखाओंके साथ परिहास क्रीड़ा इत्यादिके द्वारा सुखदायी खण्डन-मण्डन करते हुए उनका मनोरञ्जन करते हैं। जब नन्दनन्दन कुन्द-कुसुमकी माला धारणकर कौतुकमय नटनागर आदि वेशोंमें सजते हैं और गौओं एवं

ग्वालबालोंसे परिवेष्टित प्रेमीजनोंको आनन्दित करते हुए यमुनातट स्थित उपवनमें विहार करनेके लिए चल देते हैं, तब वहाँ मन्द-मन्द बहता हुआ समीर मलय-चन्दनके समान सुरभित एवं सुशीतल स्पर्शसे तुम्हारे पुत्रका अभिनन्दन करते हुए अनुकूल भावसे वीजन-सञ्चालन करता है। गन्धर्वादि उपदेवता गायन, वादन, यशोगान आदि उपहारोंसे उसको सन्तुष्ट करते हुए उस पवनकी आराधना करते हैं॥ २०-२१॥

वत्सलो व्रजगवां पदगध्रो,
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्त्तिः ॥ २२॥

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक्।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३॥

(माता यशोदाके द्वारा प्रेरित वृन्दावनकी अटारीपर खड़ी हुई गोपियाँ श्रीकृष्णको आते हुए देखकर परमानन्दसे ओतप्रोत होकर कहने लगती हैं—) सखी! श्यामसुन्दरने गोवर्द्धन धारण क्यों किया था, इसलिए कि वे गोपोंके (एवं अनुकम्पा योग्य हमारे भी) बड़े हितैषी हैं। वे गायोंसे भी बड़ा प्रेम करते हैं। देखो, अब सायंकाल हो चला है। वे समस्त गौओंको एकत्रित करके वंशीका सङ्गीत छेड़ते हुए उनके पीछे-पीछे आते ही होंगे। (गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त सम्मानमें उनका इतना आकर्षण नहीं है—गायोंकी ही चिन्ता है) अरी वीर! देखो, देखो! सुहृदोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिए वे व्रजकी ओर ही चले आ रहे हैं। मार्गमें ब्रह्मादि वयोवृद्ध और शङ्कर आदि ज्ञानवृद्ध उनकी चरण-वन्दना कर रहे हैं, ग्वालबाल उनके गुणोंका गान कर रहे हैं—इसीलिए उनके आनेमें विलम्ब हो रहा है। देखो वे आ ही गये! उनके गलेकी वनमाला गौओंके

खुरोंसे उठी धूलिकी परतोंसे अनुरञ्जित हो रही है। प्रिय वीर! यशोदाकी कोखसे उत्पन्न गोकुलचन्द्र यद्यपि इस समय परिश्रान्त (थक गये) हैं, फिर भी अपनी श्रमयुक्त आभाके द्वारा हम सभीके नयनानन्दोत्सवको वर्द्धित कर रहे हैं॥ २२-२३॥

मदविघूर्णितलोचन ईषत्
मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या॥ २४॥

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्॥ २५॥

व्रज-विभूषण श्रीकृष्णको समीपमें आते देखकर किसी गोपीने सम्भ्रमपूर्वक कहा—हे सखियो! यह देखो, प्यारे आ ही गये। नवतारुण्यमयी चञ्चलताके कारण आँखें कुछ चढ़ी हुई हैं और कुछ ऐसे घूर्णित हो रही हैं, जैसे मदोन्मत्त हों, गलेमें वनमाला धारण किये हुए हैं, सुवर्ण-कुण्डलोंकी कान्ति सुकोमल कपोलोंको और भी अलंकृत कर रही है, मुखमण्डल बदरी-फलके समान पाण्डु (सफेद-पीले) वर्णके सौन्दर्यसे और भी निखर आया है। यदुपति श्रीकृष्ण सायंकालमें समुदित चन्द्रमाके समान अपने सुहृदोंको सम्मान देने हेतु तथा व्रजमें रहनेवाली गौओंका और हमलोगोंके दिनभरका दुरन्त एवं असह्य विरह-ताप मिटाने हेतु गजेन्द्रके समान मन्थर मदभरी चालसे हमारे ही समीप आ रहे हैं॥ २४-२५॥

श्रीशुक उवाच—

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानु गायतीः।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीवृन्दावनक्रीडायां श्रीयुगलगीतवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! इन अति सौभाग्यशालिनी गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे कृष्णमयी हो गयी थीं। दिनके समय ये स्त्रियाँ श्रीकृष्णके विरह-दुःखमें तन्मनस्का होकर कृष्ण-लीलाका गान किया करतीं और उन्हींके चिन्तनमें अवगाहन करती हुईं तन्मय भावसे उनमें रमण किया करती थीं॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पैंतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षट्‌त्रिंशोऽध्यायः

अरिष्टासुरका उद्धार और कंसका अक्रूरजीको व्रजमें भेजना

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! प्रदोषका समय था। श्रीकृष्ण भोजनादि समाप्तकर रासके लिए शयनगृहसे बाहर गोष्ठमें आ ही रहे थे कि महाभयानक विशालकाय वृषाकृति अरिष्ट नामक असुर महाप्रमत्त होकर खुरोंसे भूमिको खोदता हुआ तथा वज्रके समान उच्च गर्जनसे आकाशको कँपाता हुआ व्रजभूमिमें उपस्थित हुआ॥ १॥

रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महीम्।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन्।
किञ्चित् किञ्चित् शकृन्मुञ्चन् मूत्रयंस्तब्धलोचनः॥ २॥

अरिष्टासुर वृषभके समान कर्कश शब्द करता हुआ बड़े जोरसे हँकड़ रहा था। अपने पदाघातसे व्रजभूमिको जर्जरित करता हुआ वह अपनी तीक्ष्ण पूँछको क्रोधवश ऊपरकी ओर उछाल रहा था तथा सींगोंके अग्रभागसे पर्वतके शिखरों, खेतोंकी मेंडों, बाँधों एवं दीवारोंको तोड़ता जा रहा था। पैरोंसे धूल उछालता हुआ वह बीच-बीचमें मल-मूत्र भी त्यागता जाता था। अपनी कराल आँखें फाड़ते हुए वह इधर-उधर दौड़ रहा था॥ २॥

यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम्।
पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै॥ ३॥

निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया।
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः॥ ४॥

हे राजन्! उस असुरके जोरसे हँकड़नेसे (निष्ठुर गर्जनसे) डरकर असमयमें ही गौओं एवं नारियोंके गर्भपात होने लगे। मेघ उसके ककुदको पर्वत समझकर वहीं ठहरने लगे। गोप-गोपियाँ उस असुरके डरावने सींगोंको देखकर अति भयभीत हो गये॥ ३-४॥

पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् सन्त्यज्य गोकुलम्।
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः॥ ५॥

हे राजन्! गाय, बैल आदि पशु उस अरिष्टासुरको देखकर भयभीत हो गये और गोकुलभूमिका त्याग करके भागने लगे। अनन्तर वे सभी "हे कृष्ण! हे कृष्ण! हमारी रक्षा करो"—यह कहते हुए भगवान् श्रीकृष्णके शरणागत हो गये॥ ५॥

भगवानपि तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम्।
मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत्॥ ६॥

भगवान्ने सम्पूर्ण गोकुलको भयविह्वल देखा, तो "तुमलोगोंको भयभीत होनेकी कोई बात नहीं है"—इस प्रकारसे अभयवाणी द्वारा सभीको आश्वस्त किया और वृषभासुरको ललकारते हुए कहा॥ ६॥

गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम।
मयि शास्तरि दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम्॥ ७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे दुरात्मा! हे दुष्टाग्रगण्य! हे मूर्ख! इन ग्वालबालों एवं पशुओंको डराकर तुझे क्या मिलेगा? देख, तेरे जैसे दुष्टों एवं दुरात्माओंके बलका घमण्ड चूर्ण-विचूर्ण कर देनेवाला मैं यहाँ हूँ॥ ७॥

इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन्।
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अक्षर हैं, पर दूसरोंका संहार करनेवाले हैं। वे अपनी बाहुसे आस्फोट करते (ताल ठोकते) हुए उस असुरको अधिक क्रोधित करनेके लिए सुबलसखाके कन्धेपर अपनी सर्पाकार भुजा रखकर खड़े हो गये॥ ८॥

सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन्।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत्॥ ९॥

तब अरिष्टासुर श्रीकृष्णकी इस चुनौतीसे आग-बबूला हो उठा और अपने खुरोंसे भूमिको जोर-जोरसे खोदने लगा। तत्पश्चात् अपनी पूँछको उठाकर मेघोंको तितर-बितर करते हुए वह भगवान् श्रीकृष्णकी ओर झपटा॥ ९॥

अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम्।
कटाक्षिप्याद्रवत् तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा॥ १०॥

उस समय वह अपने दोनों सींगोंके अग्रभागको सम्मुख रखे था, उसकी दोनों आँखें स्तब्ध एवं रक्तवर्णकी थीं। तिरछी दृष्टिसे अच्युत श्रीकृष्णको देखते हुए वह इन्द्रके द्वारा चलाये वज्रकी भाँति उनकी ओर दौड़ने लगा। (वृषभासुरका आक्रमण देखकर श्रीकृष्ण किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए, इसलिए शुकदेव गोस्वामीने उन्हें अच्युत कहा है)॥ १०॥

गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः।
प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा॥ ११॥

तब श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों सीङ्गोंको पकड़ लिया और उसे अठारह पग पीछे विपरीत दिशाकी ओर इस प्रकार धकेलकर गिरा दिया, जिस प्रकार हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी हाथीको पीछेकी ओर ठेलकर गिरा देता है॥ ११॥

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः।
आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः॥ १२॥

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकारसे आहत किये जानेपर भी वह पुनः उठ खड़ा हुआ। उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था और वह क्रोधसे अचेत-सा होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहा था। वृषभासुर पुनः भगवान् पर झपटा॥ १२॥

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले।
निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं
कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत्॥ १३॥

जैसे ही वह श्रीकृष्णके समीप आया, उन्होंने उसके दोनों सींगोंको पकड़ लिया और लात मारकर भूमिपर गिरा दिया। इसके बाद पैरोंसे दबाकर उसे इस प्रकार कुचल दिया, जिस प्रकार कोई गीले वस्त्रोंको निचोड़ता है। तत्पश्चात् उसका सींग उखाड़ लिया और उसीसे उस असुर पर अतिशय प्रहार किये, जिससे वह भूमिपर गिर गया॥ १३॥

असृग्वमन् मूत्रशकृत् समुत्सृजन्
क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं
पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः॥ १४॥

हे परीक्षित्! भूमिपर गिरते ही वह मुँहसे रक्त उगलने लगा और विष्ठा एवं मूत्रको त्यागते हुए पैरोंको इधर-उधर पटकता रहा, उसकी आँखें उलट गयीं। बड़े ही कष्टके साथ उसने प्राणवायुका त्याग किया। उसके यमालय पहुँचनेपर देवतालोग हर्षपूर्वक पुष्प-वर्षण करते हुए दुष्टदलनकारी एवं शिष्टजन-पालनकारी भगवान् श्रीकृष्णकी बार-बार स्तुति करने लगे॥ १४॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥ १५॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार वृषभके रूपमें आये हुए अरिष्टासुरका वध किया। सभी ग्वालबाल उनकी प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने बलदेवके साथ गोपियोंके नयनानन्द-उत्सवके रूपमें गोष्ठमें प्रवेश किया (पुराणोंमें अरिष्टासुर वधके उपरान्त राधा-कृष्णके नर्म-परिहासमें ही राधाकुण्ड और श्यामकुण्डके प्राकट्यका वर्णन हुआ है)॥ १५॥

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः॥ १६॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र बड़े अद्भुत हैं। जब श्रीकृष्णने अरिष्टासुरका वध कर दिया, तब एक दिन भगवान्‌का दर्शन करा देनेवाले 'देवदर्शन' देवर्षि नारद कंसके पास आये और उससे कहने लगे॥ १६॥

यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च।
रामञ्च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता।
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः॥ १७॥

नारद मुनिने कंससे कहा—राजन्! देवकीके अष्टम-गर्भके रूपमें जो कन्या प्रसिद्ध है, वह तो यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई थी और जो यशोदाके पुत्ररूपमें है, वस्तुतः वह देवकीका पुत्र है। जो रोहिणीका पुत्र राम नामसे प्रसिद्ध है, वह देवकीकी सप्तम सन्तान है। वसुदेवने तुम्हारे भयसे अपने दोनों पुत्रोंको नन्दको सौंप रखा है। वे ही दोनों तुम्हारे द्वारा भेजे हुए अनुचर दैत्योंका वध कर रहे हैं॥ १७॥

निशम्य तद्भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः।
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया॥ १८॥

नारदके इन वचनोंको सुनते ही भोजपति कंस अत्यन्त क्रोधित हो उठा। उसकी एक-एक इन्द्रिय विचलित होने लगी। वसुदेवको मार डालनेके लिए उसने तीक्ष्ण तलवार उठा ली (दुराचारी कंसके अत्याचारसे यादव-गण अतिशय उत्पीड़ित हैं एवं देवता भी उद्विग्न हैं। इस अत्याचारी कंसका शीघ्र ही विनाश हो और पृथ्वीदेवी भार-मुक्त हो—इस उद्देश्यसे त्रिकालज्ञ ऋषि नारदजीने इस निगूढ़ संवादको कंसके निकट पहुँचाया है)॥ १८॥

निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया॥ १९॥

तब नारदने कहा—हे भोजपति! आप यदि इस समय वसुदेवकी हत्या करेंगे, तो 'राम-कृष्ण' कहीं भाग जायेंगे। अतः इस समय वसुदेवका वध युक्तियुक्त नहीं है। (कारागारमें डालना उचित है) परीक्षित्! यह कहकर नारदने कंसको रोक लिया। जब कंसको यह ज्ञात हो गया कि वसुदेवके पुत्र ही मेरी मृत्युके कारण हैं, तब उसने वसुदेव और देवकी दोनोंको ही लोहेकी हथकड़ियों और बेड़ियोंसे जकड़कर पुनः कारागारमें बन्द कर दिया (नारदकी यह प्रेरणा वसुदेव-देवकीकी प्रसन्नताके लिए है, क्योंकि शीघ्र ही पुत्रका दर्शन होगा—नारदको अनेक आशीर्वाद प्राप्त होंगे)॥ १९॥

प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम्।
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ॥ २०॥

जब देवर्षि नारद वहाँसे चले गये, तब कंसने केशी नामक दैत्यको बुलाया और 'तुम व्रजमें जाकर राम-कृष्णका वध कर डालो'—यह कहकर उसे व्रजमें भेज दिया॥ २०॥

ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान्।
अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट्॥ २१॥

तत्पश्चात् कंसने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोषल आदि पहलवानों, मन्त्रियों एवं हस्तिपालकों (महावतों) को बुलाया और इस प्रकार कहा—॥ २१॥

भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूरमुष्टिकौ।
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः॥ २२॥
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः।
भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया॥ २३॥

कंसने कहा—हे वीरवर चाणूर! हे महावीर मुष्टिक! तुम मेरी बात सुनो। वसुदेवके पुत्र राम-कृष्ण नन्दव्रजमें वास कर रहे हैं। उनके ही द्वारा मेरी मृत्युका सङ्केत हुआ है। अतः

जब वे यहाँ आयें, तब मल्लयुद्धके छलसे तुम उन्हें मार डालना॥ २२-२३॥

मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम्॥ २४॥

अब तुमलोग मल्लयुद्धके लिए चारोंओर विविध मञ्चोंका निर्माण करा दो, जिससे पुरवासी एवं दूसरे ग्रामवासी सभी बैठकर इस स्वच्छन्द (खुले) दङ्गलको (अखाड़ेको) देखें। मल्लयुद्धमें यथार्थ बाहुबल और युद्ध कौशलकी परीक्षा होगी। तुम्हारे समान शक्तिशाली वीरोंके बाहुबलके सामने उन दोनों बालकोंका पराभव सुनिश्चित है। मल्लयुद्धमें उनके निहत होनेपर कोई भी हमपर दोषारोपण नहीं कर सकेगा॥ २४॥

महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम्।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ॥ २५॥

इसके बाद कंसने हस्तिपाल अर्थात् महावतसे कहा—हे भद्र! तुम तो बहुत चतुर हो, बड़े योग्यपात्र हो। तुम इस रङ्ग-भूमिके (दङ्गल क्षेत्रके) द्वारदेशपर ही कुवलयापीड़ नामक मतवाले हाथीको रखना। जैसे ही मेरे शत्रु वहाँ आवें, तुम उसके द्वारा उन दोनोंको मरवा डालना॥ २५॥

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि।
विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे॥ २६॥

इसी चतुर्दशी तिथिको विधिपूर्वक धनुष-यज्ञका शुभारम्भ कर दो एवं वरदाता भूतनाथ (भूतेश्वर) की प्रीतिके लिए बहुत-से पवित्र पशुओंकी बलि चढ़ाओ॥ २६॥

इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह॥ २७॥

कंस राजनीति-विशारद था। (वह द्वितीय पुरुषार्थ अर्थशास्त्रमें ही निपुण था, धर्म एवं मोक्षको नहीं जानता था।) वह अपना

स्वार्थ-साधन अच्छी प्रकारसे जानता था। अपने मन्त्रियों, पहलवानों, महावतों आदिको आदेश देकर उसने यदुश्रेष्ठ अक्रूरको बुलवाया और अपने हाथोंमें उनका हाथ लेकर कहने लगा॥ २७॥

भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु॥ २८॥

हे अक्रूरजी! हे वदान्यप्रवर दानपते! मैं आपका बड़ा आदर करता हूँ। आपको मेरे लिए मित्रोचित कुछ कार्य करना होगा। भोजवंश एवं वृष्णिवंशमें आपके अतिरिक्त न तो कोई मेरा हितकारी है और न ही कोई मुझसे अनुराग रखता है॥ २८॥

अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम्।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः॥ २९॥

अतएव हे सौम्य! अपने बड़े भारी प्रयोजनके उद्देश्यसे मैं आपका आश्रय उसी प्रकार ले रहा हूँ, जिस प्रकार इन्द्र समर्थ होनेपर भी विष्णुका आश्रय लेकर असुरोंका विनाश एवं राज्य-प्राप्ति आदि अपने स्वार्थोंको साधा करता है॥ २९॥

गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम्॥ ३०॥

आप अभी नन्दरायके गोकुलमें जाइये। वहाँ वसुदेवके दोनों पुत्र हैं। उन दोनोंको इसी (अङ्गुलीके द्वारा कोई नया विचित्र अलङ्कारोंसे सुसज्जित रथ दिखाते हुए) रथमें ले आइये। इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये॥ ३०॥

निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः।
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः॥ ३१॥

विष्णुके संरक्षणमें रहनेवाले देवताओंने उन दोनों बालकोंका मेरी मृत्युके रूपमें सृजन किया है। आप उन दोनों बालकोंको यहाँ ले आइये, साथ ही नन्दादि गोपोंको भी उपहारोंके साथ इसी स्थानपर ले आइये (धनुषयज्ञमें प्रचुर मात्रामें दूध, दही, घी आदि

सामग्रीकी आवश्यकता थी, इसलिए कंसने करके रूपमें लानेके लिए नन्दादि गोपगणोंको बुलानेका आदेश दिया है)॥ ३१॥

घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः॥ ३२॥

जब वे दोनों बालक यहाँ आ जायेंगे, तब साक्षात् यमके समान कुवलयापीड़ हाथीसे मैं उन्हें मरवा डालूँगा। भाग्यसे कहीं वे उस हाथीसे बच भी गये, तो वज्रके समान अपने चाणूर, मुष्टिकादि पहलवानोंसे (मल्लोंसे) उन्हें मरवा दूँगा॥ ३२॥

तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान्।
तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान्॥ ३३॥

जब वे दोनों मर जायेंगे, तब वसुदेवादि प्रमुख वृष्णि, भोज एवं दाशार्ह वंशमें उत्पन्न उनके सभी बन्धु शोकसन्तप्त हो जायेंगे, मैं उनका भी वध कर डालूँगा॥ ३३॥

उग्रसेनञ्च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम्।
तद्भ्रातरं देवकञ्च ये चान्ये विद्विषो मम॥ ३४॥

मेरे पिता यद्यपि वृद्ध हैं, तो भी उन्हें राज्यकी चाह अभी भी बनी हुई है। उनका, उनके भाई देवकका और जो भी मेरे शत्रु हैं, मैं उन सबका भी वध कर दूँगा॥ ३४॥

ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा॥ ३५॥

इसके बाद हे बन्धुवर! यह पृथ्वी शत्रुओंसे रहित हो जायेगी, मेरा साम्राज्य निष्कण्टक हो जायेगा। प्रबल पराक्रमी जरासन्ध मेरे श्वसुर (पितृतुल्य) हैं और वानरराज द्विविद मेरा प्यारा सखा है, दोनों मेरे शुभचिन्तक हैं॥ ३५॥

शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः।
तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान्॥ ३६॥

शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर आदि राजा मेरे सुहृद् हैं, मुझसे बड़ी मित्रताका भाव रखते हैं। मैं इन सबकी सहायतासे उन सभी राजाओंको भी मार दूँगा, जो देवताओंके पक्षधर हैं। यह सब करनेके बाद मैं सम्पूर्ण पृथ्वीका भोग करूँगा॥ ३६॥

एतज्ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम्॥ ३७॥

अक्रूर! अब तो मैंने सभी गोपनीय बातें आपको बतला दी हैं। आप भी मेरे आन्तरिक प्रयोजनको जान गये हैं। (इस रहस्य तत्त्वको आप बाहर प्रकाश मत करना) अब आप शीघ्र-से-शीघ्र उन दोनों बालकोंको धनुष-यज्ञ एवं यदुओंकी राजधानी-यदुपुरकी शोभा दिखानेके छलसे यहाँ ले आइये॥ ३७॥

श्रीअक्रूर उवाच—

राजन् मनीषितं सध्र्यक् तव स्वावद्यमार्जनम्।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनम्॥ ३८॥

श्रीअक्रूरने कहा—हे महाराज! आपने अपनी मृत्युके निवारणका उपाय ठीक ही सोच-विचार लिया है। मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि वह अभीष्टकी सफलता और असफलताके विषयमें समान भाव रखकर अपना कार्य करता रहे। फल तो दैवके हाथोंमें ही निहित है॥ ३८॥

मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते॥ ३९॥

मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथ रखता है और उनकी पूर्तिके लिए बहुत प्रयत्न भी करता है, परन्तु दैवने उन्हें पहलेसे ही नष्ट कर रखा है। इसीलिए इन मनोरथोंको पूरा होते देख कभी वह प्रसन्न होता है और पूरा न होनेपर दुःखी। तो भी, मैं आपके आदेशका निश्चित ही पालन करूँगा (परमानन्द-स्वरूप भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन प्राप्त होगा एवं भगवान्‌को भी कंस-वध करनेका अवसर

प्राप्त होगा—अतः आज्ञा-पालनकी बात कही गयी है—इस प्रकार यह दैववाणी भी फलीभूत होगी। अतः अक्रूर आज्ञा-पालनके लिए उद्यत हो गये)॥ ३९॥

श्रीशुक उवाच—

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम्॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरसम्प्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अक्रूरको इस प्रकार आदेश देकर कंसने मन्त्रियोंको विदा किया। इसके बाद वह स्वयं महलमें चला गया और अक्रूर भी अपने भवनकी ओर लौट आये॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छत्तीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

केशी दैत्य एवं व्योमासुरका उद्धार तथा देवर्षि नादरजीके द्वारा स्तुति

श्रीशुक उवाच—

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन् मनोजवः।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं
कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः॥ १॥

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं
तद्धेषितेर्वालविघूर्णिताम्बुदम्।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणी-
रुपाह्वयत् स व्यनदन्मृगेन्द्रवत्॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जिस केशी नामक दैत्यको कंसने (राम एवं कृष्णका वध करनेके लिए) भेजा था, वह विशाल घोड़ेकी मूर्त्ति धारणकर मनकी गतिके समान वेगपूर्वक दौड़ता हुआ व्रजमें गोपपल्ली अर्थात् गोपोंके गाँवकी ओर दौड़ता हुआ आ रहा था। वह अपने खुरोंके आघातसे व्रजधराके ऊपरी भागको चूर्ण-विचूर्ण करता आ रहा था। उसकी कर्कश हिनहिनाहटसे समस्त प्राणी भयभीत होकर काँप रहे थे। गर्दनके बालोंके सञ्चालनसे आकाश स्थित मेघमालाएँ एवं विमान तितर-बितर हो रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि यह असुर अपनी हिनहिनाहटकी भीषण ध्वनिसे सारे गोकुलको भयभीत कर रहा है, पूँछको घुमा-घुमाकर बादलोंको तितर-बितर किये दे रहा है और युद्धके लिए उन्हें ढूँढ़ रहा है, तो वे स्वयं ही अग्रसर होकर उसके समक्ष खड़े हो गये। भगवान् ललकारते हुए जब उसका आह्वान करने लगे, तब उत्तरमें वह सिंहके समान गर्जना करने लगा॥ १-२॥

स तं निशाम्याभिमुखो मुखेन खं
पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं
दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः॥ ३॥

भगवान्‌को अपने सामने देखते ही वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और उसने अपने मुँहको विशालरूपसे इतना फैलाया मानो आकाशको निगल ही लेगा। परीक्षित्! केशी असुर अपराजेय एवं दुर्धर्ष था। प्रचण्ड वेगसे दौड़ते हुए उसने कमलनयन भगवान् पर अपने पीछेके दोनों पैरोंसे दुलत्ती झाड़नेका प्रयास किया॥ ३॥

तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा
प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे
यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः॥ ४॥

तब अधोक्षज (इन्द्रियातीत) भगवान् श्रीकृष्णने उसके द्वारा किये गये पद–प्रहारोंसे अपने आपको बचा लिया और क्रोधाविष्ट होकर अपने दोनों हाथोंसे उसके फैले हुए पिछले दोनों पैरोंको पकड़ लिया। उसके बाद आकाशमें उसे घुमाते हुए बड़े तिरस्कारके साथ चार सौ हाथकी दूरीपर इस प्रकार फेंक दिया, जिस प्रकार गरुड सर्पको खेल–ही–खेलमें दूर फेंक डालते हैं। परीक्षित्! भगवान् स्वयं स्थिर खड़े रहे॥ ४॥

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा
व्यादाय केशी तरसापतद्धरिम्।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्
प्रवेशयामास यथोरगं बिले॥ ५॥

थोड़ी देरके बाद केशीको जब चेतना आयी, तब वह पुनः उठ खड़ा हुआ। क्रोधसे तिलमिलाते हुए उसने अपना मुख फैलाया और आक्रमण करनेके लिए बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर झपटा। श्रीकृष्ण उसे देख मुसकराते हुए कहने लगे—“अरे दुष्ट!

मुझे खानेके लिए आया है"—यह कहकर उन्होंने उसके मुखके गह्वरमें अपने बायें हाथको ऐसे डाल दिया, जैसे सर्प निडर होकर दूसरेके बिलमें घुस जाता है॥ ५॥

दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृश-
स्ते केशिनस्तप्तमयस्पृशो यथा।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो
यथामयः संववृधे उपेक्षितः॥ ६॥

केशी दैत्य भगवान्‌की सुकोमल भुजाको अपने दाँतोंमें चबा डालना चाहता था, पर जैसे ही उसने अपने दाँतोंसे भगवान्‌की भुजाका स्पर्श किया, वह तो मानो तपे हुए लोहेकी छड़ीको ही छू बैठा। उसके सारे दाँत टूट-टूटकर गिर पड़े। जिस प्रकार उपेक्षा कर देनेसे जलोदर रोग असाध्य हो उठता है, उसी प्रकार केशी दैत्यके मुखके अन्दर भगवान्‌का हाथ उपेक्षित जलोदर रोगकी भाँति तीव्रतासे बढ़ने लगा (श्रीभगवान्‌की भुजा नीलकमलकी भाँति सुकुमार-सुशीतल होनेपर भी केशीने दाँतोंके स्पर्शसे उसे अत्यन्त तपे हुए वज्रकी भाँति अनुभव किया था, क्योंकि पित्त रोग होनेपर जिह्वा कड़वी होनेसे मधुर मिश्री भी कड़वी लगती है)॥ ६॥

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः॥ ७॥

जैसे-जैसे अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णका हाथ फैलता गया, वैसे-वैसे केशीकी प्राणादि वायुका सञ्चार-मार्ग भी अवरुद्ध होने लगा। मृत्यु यन्त्रणासे व्याकुल होकर वह इधर-उधर पैर पटकने लगा। उसका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। आँखें फट गयीं। मल-मूत्र त्याग करने लगा। अन्ततः निष्प्राण होकर वह भूमिपर गिर पड़ा॥ ७॥

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्
व्यसोरमाकृष्य भुजं महाभुजः।
अविस्मितोऽयत्नहतारिकः सुरैः
प्रसूनवर्षैर्विवर्षद्भिरीडितः ॥ ८ ॥

केशी दैत्यका शरीर फूला हुआ तो था ही, गिरते ही पकी ककड़ीके समान विदीर्ण हो गया। तब महाभुज श्रीकृष्णने अपनी बाँहको उसके मुखसे बाहर खींच लिया। परीक्षित्! यद्यपि शत्रुका वध अनायास (मुहूर्तभरमें) ही हुआ था, तथापि भगवान्‌को अपने इस कार्यपर किसी प्रकारका गर्व नहीं हुआ। देवता अवश्य ही आश्चर्यचकित होकर उनके ऊपर पुष्प बरसाने लगे और उनकी स्तुति करने लगे (केशीका वध किसी कल्पमें व्रजभूमिके गोप-गाँवमें हुआ है और किसी कल्पमें यमुनाके किनारे)॥ ८॥

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरे नृप।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत॥ ९ ॥

हे राजन्! इसके बाद भागवत-प्रवर, भक्ति-रसिक, भक्तितत्त्वके प्रचारक देवर्षि नारद कंससे बातें करके बिना प्रयासके अद्भुत लीला करनेवाले अक्लिष्टकर्मा भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और उनसे एकान्तमें इस प्रकार कहने लगे॥ ९॥

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो॥ १०॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम्।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः॥ ११॥

हे अखण्ड-स्वरूप! हे अचिन्त्यप्रभाव! हे समस्त ब्रह्माण्डोंके ईश्वर! हे वासुदेव! हे समस्त जगत्‌के आधार! हे यदुश्रेष्ठ! हे श्रीकृष्ण! हे प्रभो! जिस प्रकार एक ही अग्नि समस्त लकड़ियोंमें गूढ़रूपसे विद्यमान रहती है, उसी प्रकार आप सभी प्राणियोंके हृदयोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित रहते है। आप आत्मस्वरूप हैं—आत्मस्वरूप होनेपर भी आप अतिशय गूढ़ हैं, क्योंकि

गुहाशयके रूपमें आप अन्तःकरणरूप गुफाके भीतर स्थित रहते हैं। हे स्वामी! आप बुद्धिसे परे, सर्वसाक्षी, सर्वनियन्ता और अप्रतिहत योगबलके कारण महापुरुष (पुरुषोत्तम) स्वरूप हैं॥ १०-११॥

आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान्।
तैरिदं सत्यसंकल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः॥ १२॥

आप सबकी आत्माके आश्रय परन्तु स्वयं अधिष्ठान-रहित स्वतन्त्र पुरुष हैं। आपने सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी मायाशक्तिके द्वारा महदादि गुणोंकी सृष्टि की और पुनः उन्हीं गुणोंके द्वारा आप इस परिदृश्यमान् विश्वकी सृष्टि, संहार एवं पालन करते हैं। जगत्के लोग आपकी ही प्रेरणासे अपना-अपना कार्य करते हैं। (आपकी प्रेरणासे ही मैं आपके निकट निवेदन कर रहा हूँ) आप सत्यसङ्कल्प (आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं होता) और सर्वशक्तिमान् हैं॥ १२॥

स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम्।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च॥ १३॥

वही आप इस पृथ्वीपर राजाओंका वेश धारण करनेवाले दैत्यों, प्रमथों एवं राक्षसोंके विनाशके लिए तथा साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिए इस धरा-धाममें, यदुवंशमें अवतरित हुए हैं॥ १३॥

दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयाऽयं हयाकृतिः।
यस्य हेषितसन्त्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम्॥ १४॥

भयानक घोड़ेका रूप धारण करनेवाले जिस केशी दैत्यकी हिनहिनाहटसे भयभीत होकर देवता भी स्वर्गका राज्य छोड़कर भाग जाते थे, हमारे सौभाग्यसे आपने खेल-ही-खेलमें उस असुरको मार डाला॥ १४॥

चाणूरं मुष्टिकञ्चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्।
कंसञ्च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो॥ १५॥

तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम्॥ १६॥

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम्।
नृगस्य मोक्षणं शापाद्द्वाराकायां जगत्पते॥ १७॥

स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया।
मृतपुत्रप्रदानञ्च ब्राह्मणस्य स्वधामतः॥ १८॥

पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् काशिपुर्याश्च दीपनम्।
दन्तवक्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ॥ १९॥

यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान्।
कर्त्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि॥ २०॥

हे सर्वव्यापक प्रभो! अब मैं परसों आपके द्वारा चाणूर, मुष्टिक एवं दूसरे पहलवानोंको तथा साथ ही कुवलयापीड़ हाथी और स्वयं कंसको भी मरते देखूँगा। हे जगन्नाथ! तत्पश्चात् शङ्खासुर, कालयवन, मुर एवं नरकासुरका वध, स्वर्गसे बलपूर्वक पारिजात वृक्षका हरण, इन्द्रकी पराजय, वीरतारूप शुल्कादिके विनिमयमें वीर राजाओंकी कन्याओंके साथ विवाह, द्वारकामें विप्र-गो-हरणके कारण विप्रोंके शापसे नृगराजाका उद्धार, जाम्बवतीके साथ-साथ स्यमन्तक मणिको ग्रहण करना, यमपुरसे ब्राह्मणके मृतपुत्रको लौटा लाना, पौण्ड्रकासुरका वध, काशीपुरीका दहन, दन्तवक्र वध, राजसूय यज्ञमें शिशुपाल वध आदि लीलाएँ देखूँगा। अनन्तर द्वारकामें रहकर आप अन्यान्य जो भी अद्भुत कर्म करेंगे, उन सबको भी मैं देखूँगा। कविगण इस भूतलपर आपके इन समस्त लीला-आख्यानोंका गुणगान करेंगे॥ १५-२०॥

अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः॥ २१॥

इसके पश्चात् विश्व-विनाशक कालरूपी आप अर्जुनके सारथिके रूपमें कुरुक्षेत्रकी अनेक अक्षौहिणी सेनाओंका वध करेंगे। इन लीलाओंको भी मैं देखूँगा॥ २१॥

विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया
समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया-
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि॥ २२॥

हे भगवन्! आप विशुद्ध-ज्ञानमूर्त्ति-स्वरूप हैं। आप अपने मूलस्वरूप परमानन्दमें सम्यक्‌रूपसे स्थित रहते हैं। आपको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ नित्य प्राप्त हैं। आपकी वाञ्छाएँ अमोघ हैं—उन्हें व्यर्थ नहीं किया जा सकता। आपके भक्तोंके अभिलषित विषय कभी व्यर्थ नहीं होते। आपकी चित्-शक्तिके द्वारा मायिक गुणोंका प्रवाह यह संसार-चक्र आपके सम्मुख नित्य ही निरस्त रहता है। आप अतुलनीय ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। मैं आपके शरणागत हूँ॥ २२॥

त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया
विनिर्म्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम्॥ २३॥

आप सबके ही नियन्ता हैं, इसलिए परम स्वतन्त्र हैं। जीव, काल, कर्म कोई भी आपको वशीभूत नहीं कर सकता। इस प्रपञ्चमें जो भाव-अभाव, भेद-विभेद आदि असंख्य वैचित्र्य कल्पित होते हैं अथवा चित्-शक्तिगत वैकुण्ठादि वैचित्र्य हैं—यह सब व्यवस्था आपकी शक्तिके प्रभावसे रचित है। आप यदु, वृष्णि एवं सात्वत कुलोंके वीरोंमें परम शिरोमणि हैं। आपने अपनी लीला प्राकट्यके लिए अपना नर-वपु प्रकट किया है। अब आप कंसादिके साथ नरोचित युद्ध-क्रीड़ाको स्वीकार कीजिये। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ २३॥

श्रीशुक उवाच—

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः॥ २४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भक्त-प्रवर देवर्षि नारदने यदुपति श्रीकृष्णकी इस प्रकारसे स्तुति की और सिर झुकाकर प्रणाम किया। भगवान्‌के दर्शनसे वे परम आनन्दित हो रहे थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अनुमति प्राप्त की और अपने धाममें चले गये॥ २४॥

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे।
पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः॥ २५॥

इधर व्रजसुखप्रद भगवान् श्रीगोविन्द युद्धमें केशी दैत्यका वध करके प्रसन्न मनके साथ अपने सखाओं ग्वालबालोंके साथ पशुपालनमें लग गये। इस प्रकार उन्होंने व्रजवासियोंको परम आनन्द प्रदान किया॥ २५॥

एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः॥ २६॥

परीक्षित्! एक बार ग्वालबाल पर्वतकी चोटियोंपर गोचारण करते हुए चोर एवं रक्षकका अभिनय करते हुए 'निलायन' (चौर्य वस्तुका संगोपनरूप) अर्थात् लुका-छिपीका खेल खेल रहे थे॥ २६॥

तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः॥ २७॥

हे राजन्! इस लुका-छिपीके खेलमें कुछ ग्वालबाल चोर, कुछ रक्षक और अन्यान्य भेड़ बन गये तथा निर्भय होकर (सभी सखा ही हैं, इस विश्वाससे) खेल खेलनेमें रम गये॥ २७॥

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून्॥ २८॥

उसी समय मायावियोंके आचार्य मय नामक दैत्यका पुत्र जो स्वयं भी अतिशय माया-निपुण था, ग्वालबालका वेश धारण करके वहाँ आ गया। व्योमासुर नामका यह असुर बार-बार

चोरका अभिनय करता और भेड़का आचरण करनेवाले बहुत-से बालकोंको उठा-उठा कर दूर ले जाकर छिपा आता॥ २८॥

गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः॥ २९॥

यह महादैत्य व्योमासुर द्वारा चुराये हुए गोपबालकोंको एक पर्वतकी गुफामें रख देता और बड़े शिलाखण्डसे उस गुफाके मुखको ढक देता। इस प्रकार क्रीड़ा-स्थलपर भेड़ बने हुए केवल चार-पाँच बालक ही बचे रह गये॥ २९॥

तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा॥ ३०॥

साधुओंके आश्रयदाता भक्तवत्सल भगवान् श्रीश्यामसुन्दर उस असुरके इस कृत्यको समझ गये। जब वह ग्वालबालोंका अपहरण कर उन्हें ले जा रहा था, तभी भगवान् श्रीहरिने बलपूर्वक उसे इस प्रकार धर दबोचा, जैसे सिंह भेड़ियेको आसानीसे दबोच लेता है॥ ३०॥

स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद्ग्रहणातुरः॥ ३१॥

उस समय महाबली व्योमासुर गोपवेशका परित्याग करके अपना असली रूप प्रकटकर एक बलवान् विशाल पर्वतके समान बन गया। वह स्वयंको छुड़ानेके लिए भरसक चेष्टा करने लगा, परन्तु श्रीकृष्णकी मजबूत पकड़से वह दुर्बल पड़ गया और अपनेको छुड़ा न पाया॥ ३१॥

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत्॥ ३२॥

तब भगवान् अच्युत श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उस दैत्यको जकड़कर पृथ्वीपर गिरा दिया और पशुके समान उसका गला घोंटकर उसका वध कर डाला। स्वर्गस्थ देवता विमानोंपर

चढ़कर भगवान्‌की इस अद्भुत लीलाको देखकर आनन्दित हो रहे थे॥ ३२॥

गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम्॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥ ३७॥

इसके बाद पर्वतकी गुफाके मुखपर स्थित शिला-आच्छादनको चूर्ण-विचूर्ण करके भगवान्‌ने उस कष्टदायक स्थानसे ग्वालबालोंको बाहर निकाला और गोकुल लौट आये। उस समय भूतलपर अनुचर ग्वालबाल और आकाशमें अनुचर देवतागण भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सैंतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

अक्रूरकी व्रजयात्रा तथा राम-कृष्णके द्वारा उनका सत्कार

श्रीशुक उवाच—

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! महामति अक्रूरने वह रात्रि मथुरामें ही बितायी। दूसरे दिन प्रभात होते ही रथपर सवार होकर वे नन्दके गोकुलकी ओर चल दिये॥ १॥

गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत्॥ २॥

परम भाग्यवान् अक्रूरजी मार्गमें जाते समय पद्मलोचन भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम भक्तिसे पूर्ण हो गये। वे इस प्रकार सोचने लगे॥ २॥

किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ ३॥

मैंने ऐसे कौन-से सत्कर्म किये हैं, ऐसी कौन-सी कठिन तपस्या की है, ऐसी किस पूजाका अनुष्ठान किया है अथवा किसी सत्पात्रको ऐसा कौन-सा विशेष दान दिया है, जिससे आज मुझे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन होगा?॥ ३॥

ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमःश्लोकदर्शनम्।
विषयात्मनो यथा ब्रह्म-कीर्त्तनं शूद्रजन्मनः॥ ४॥

मेरा चित्त तो सदैव विषय-भोगोंमें मग्न रहता है, मेरे लिए उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन उसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ है, जिस प्रकार शूद्रोंके लिए वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण॥ ४॥

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित् तरति कश्चन॥ ५॥

अधम होनेपर भी श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त करना मेरे लिए असम्भव नहीं है, क्योंकि नदीके प्रवाहमें बहते हुए तृणोंमेंसे कोई एक तृण जिस प्रकार एक किनारेसे दूसरे किनारेपर लग ही जाता है, उसी प्रकार कर्मवश कालके द्वारा प्रेरित बद्ध जीवोंमेंसे कोई एक जन संसार-समुद्रसे पार हो सकता है (भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे उनके श्रीचरणोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है)॥ ५॥

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्॥ ६॥

अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ (अमङ्गल) नष्ट हो गये। आज मेरा जन्म लेना सार्थक हो गया। आहा, आज मैं भगवान् श्रीकृष्णके उन चरणकमलोंमें प्रणत हो सकूँगा, जिनका बड़े-बड़े योगी ध्यान किया करते हैं॥ ६॥

कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा॥ ७॥

कितने आश्चर्यकी बात है कि अतिशय दुष्ट होनेपर भी कंसने आज मेरा परम उपकार किया है, क्योंकि उसके द्वारा ही प्रेरित होकर मैं धराधामपर अवतीर्ण भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंका दर्शन कर सकूँगा। अम्बरीष आदि पूर्ववर्त्ती महापुरुषोंने केवल एक बार ही इन पादपद्मोंकी नख-किरणकी छटाकी स्फूर्ति प्राप्त की थी और दुस्तर संसार-सागरको पार कर लिया था॥ ७॥

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः।

गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्॥ ८॥

जिन पादपद्मोंकी परम ऐश्वर्यशाली ब्रह्मा, महेश्वर आदि देवता, परम सौभाग्यवती लक्ष्मीजी और परम-पुरुषार्थस्वरूप प्रेमी भक्तोंके साथ मुनिगण सेवा करते हैं, वही सुर-मुनि-वन्दित परम करुणामय (कृपालु) चरणकमल गोचारणके लिए वनमें विचरण करते हैं, उस समय उनके अनुचर ग्वालबाल उनकी सेवा करते हैं। और भी, प्रेम-मात्रसे सुलभ ये ही चरणकमल गोपियोंके कुच-कुङ्कुम द्वारा अनुरञ्जित रहते हैं (दास्य-रसके भक्त होनेपर भी अक्रूरजी अपने ही हृदयमें त्रिभुवन-मोहनकारी श्रीकृष्ण विषयक शृङ्गार-रसका आस्वादन कर रहे हैं)॥ ८॥

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः॥ ९॥

निश्चितरूपसे मैं मुक्ति और प्रेमप्रदाता भगवान् श्रीकृष्णके मुखमण्डलका दर्शन कर सकूँगा। उनके कपोल सुरम्य और नासिका सुघड़ है। दोनों नेत्र अरुण कमलके समान रतनारे हैं, प्रेमभरी चितवन मन्द हास्यसे विभूषित है, कपोलोंपर घुँघराली अलकें समाच्छन्न हैं। तभी उन्हें शुभ-सूचक लक्षण दिखायी दिये—हिरन उनकी परिक्रमा करके उनकी दायीं ओरसे निकल रहे थे। अब तो वे अतिशय प्रसन्न हो गये और मन-ही-मन कहने लगे—मेरे मनोरथ अवश्य ही सफल होंगे॥ ९॥

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः॥ १०॥

आहा, भगवान् विष्णु विशेषरूपसे पृथ्वीका भार उतारनेके लिए स्वेच्छासे हमारे वैवस्वत मनुके वंशमें आविर्भूत हुए हैं। वे लावण्यकी मूर्त्तिमान् निधि हैं। आज श्रीहरिका साक्षात् दर्शन प्राप्त होगा। अतः आज मुझे नेत्रोंका यथार्थ फल अवश्य प्राप्त होगा या नहीं? अवश्य ही होगा॥ १०॥

य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः
स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययात्मन् रचितैस्तदीक्षया
प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते॥ ११॥

जो कार्य एवं कारणके द्रष्टास्वरूप होकर भी अहङ्काररहित हैं, जो चित्-शक्तिके प्रभावसे अज्ञान एवं उसके द्वारा किये गये भेद एवं भ्रमके अन्धकारको दूर करते हैं, जो अपनी माया-शक्तिके प्रभावसे भ्रूविलास (ईक्षण) द्वारा जीवोंकी रचना करते हैं और जीव जिनका अपने प्राण, इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा अनुमान मात्र ही करते हैं, साक्षात्कार नहीं। (तात्पर्य यह है कि दृश्य वस्तु द्वारा द्रष्टाका अनुमान मात्र किया जाता है, साक्षात् नहीं किया जाता। जड़-जगत्, जीव-देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार इत्यादिके द्वारा इन सबके परिचालकरूपमें एकमात्र चेतन वस्तुका अनुमान ही किया जाता है। क्षुद्र चेतनकी अनुभूतिमें बृहत् चैतन्यकी अनुमिति अवश्यम्भावी है। इस प्रकार व्याप्ति (सर्वत्र अवस्थिति) के ज्ञान द्वारा परतत्त्वका अनुमान होता है, साक्षात्कार नहीं)॥ ११॥

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत्
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः॥ १२॥

वे समस्त पापोंके नाशक एवं सुमङ्गलदायक हैं। उनके गुण, अवतार एवं लीलादिकी कथाओंसे युक्त वाणियाँ सम्पूर्ण जगत्को

सञ्जीवित, शोभित और पवित्र करती हैं, परन्तु जो वाणियाँ छन्द और अलङ्कारोंसे युक्त होनेपर भी भगवान्‌के गुणादिसे रहित हैं, वे तो वस्त्रादिसे अलंकृत शवतुल्य ही हैं—यही सज्जनोंका मत है॥ १२॥

स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये
स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत्।
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो
गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम्॥ १३॥

जो श्रीहरि अपने द्वारा रचित वर्णाश्रमादि धर्मकी मर्यादाओंके पालन एवं देवताओंके सुख तथा कल्याणके लिए यदुवंशमें अवतरित हुए हैं, वे व्रजमें रहकर ईश्वरीय यशका विस्तार कर रहे हैं। भगवान्‌का यश सम्पूर्णरूपसे मङ्गलकारी है। देवता सर्वदा इसका गान किया करते हैं॥ १३॥

तन्त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥ १४॥

आज मैं निश्चय ही उन्हें देखूँगा। वे साधु-महात्माओंके आश्रयदाता और गुरुस्वरूप हैं। उनके रूपकी रमणीयता तीनों लोकोंको मोहित करनेवाली है। जिनके नेत्र हैं, उनके लिए वे महोत्सवरूप हैं अर्थात् उन्हें महानन्द देनेवाले हैं। विष्णुके वक्षःस्थलपर विलास करनेवाली लक्ष्मीजीके भी वे अभिलषित आश्रय मूर्त्तिमान्-स्वरूप हैं। आज तो प्रभात कालसे ही मुझे मङ्गल शकुन दिखायी दे रहे हैं॥ १४॥

अथावरूढः सपदीशयो रथात्
प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्याञ्च सखीन् वनौकसः॥ १५॥

जैसे ही वे मुझे दिखायी देंगे, मैं उसी समय रथसे उतर जाऊँगा। आत्म-साक्षात्कारके लिए पुरुषश्रेष्ठ बलराम और कृष्णके जिन चरणकमलोंको बड़े-बड़े योगी हृदयमें धारण करते हैं, मैं उन चरणोंको साक्षात् प्राप्त करके उनपर निश्चय ही प्रणत हो जाऊँगा। मैं उन दोनों महात्माओंके साथ वनमें विहार करनेवाले एक-एक गोपबालकोंको भी प्रणाम करूँगा॥ १५॥

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः
शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्॥ १६॥

जब श्रीकृष्ण मुझे अपने श्रीचरणकमलोंमें प्रणत होते हुए देखेंगे, तब वे सर्वशक्तिमान् प्रभु मेरे सिरपर अपना करकमल रख देंगे। इन्हीं करकमलोंसे वे कालसर्पके अत्यधिक वेगसे उद्विग्न एवं भयभीत शरणागत मनुष्योंको अभय प्रदान करते हैं॥ १६॥

समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-
स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम्।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत्॥ १७॥

इन्द्र एवं राजा बलिने भगवान् श्रीकृष्णके इन करकमलोंमें पूजाकी सामग्री (दान-सङ्कल्प-जल) भेंट करके तीनों लोकोंका आधिपत्य—इन्द्र-पद प्राप्त कर लिया था तथा इन्हीं दिव्य (मानसरोवरमें खिलनेवाले) सुवासित पुष्पके समान अपने सुगन्धित करकमलोंके स्पर्शसे उन्होंने रासविहार करते हुए व्रजकामिनियोंकी विहार-जनित थकानको दूर किया था॥ १७॥

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥ १८॥

यद्यपि मैं कंसका दूत हूँ और उसीके द्वारा भेजा जा रहा हूँ, तथापि अच्युत भगवान् मुझे अपना शत्रु नहीं समझेंगे, क्योंकि वे समदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं, चित्तके अन्दर भी हैं और बाहर भी हैं। वे सभीके अन्तर्यामी हैं। क्षेत्रज्ञरूपमें वे अपनी निर्मल दृष्टिके द्वारा सभीके कार्योंको प्रत्यक्षरूपसे देखा करते हैं (बाहरसे कंसके अनुसार चलनेपर भी हृदयमें तो मैं श्रीकृष्णका ही अनुवर्त्तन करता हूँ। अतएव हृदयमें स्थित भगवान् श्रीकृष्ण मेरे समस्त कार्यकलापोंको जानते हैं)॥ १८॥

अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्॥ १९॥

जब वे अपने चरणोंमें पड़े हुए और हाथ जोड़े हुए मुझे देखेंगे, तब वे कृपामृतसिक्त चितवनसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए देखेंगे, उसी समय मेरे समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे और मैं निर्भय हो जाऊँगा। निर्भय होकर सदैवके लिए परमानन्दमें निमग्न जाऊँगा॥ १९॥

सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः॥ २०॥

तत्पश्चात् जब वे बान्धव-श्रेष्ठ (घनिष्ठ मित्र) स्व-कुटुम्बी और एकमात्र अपने ही सेवकके रूपमें मुझे पहचानकर अपनी विशाल भुजाओंसे मेरा आलिङ्गन करेंगे, उसी क्षण मेरी देह अत्यन्त पवित्र हो जायेगी और मेरे कर्मजनित समस्त बन्धन शिथिल पड़ जायेंगे॥ २०॥

लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।

तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत्॥ २१॥

विपुलकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णका यश सर्वत्र व्यापक है। जब वे मेरा आलिङ्गन कर चुके होंगे, तब मैं उनके समक्ष हाथ जोड़कर प्रणत होकर खड़ा हो जाऊँगा। उस समय वे 'हे अक्रूर! हे चाचा! हे तात!' इस प्रकारसे मुझे सम्बोधित करेंगे, तब मेरा जन्म सार्थक हो जायेगा। मैं अहोभाग्य हो जाऊँगा। भगवान् श्रीकृष्णने जिसे अपनाया नहीं, आदर नहीं दिया, सम्भाषण नहीं किया, उसका तो जन्म निष्फल ही है, उसके जीवनको धिक्कार है॥ २१॥

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥ २२॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णके लिए न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय, न उनका कोई सुहृद् है और न शत्रु, उनके लिए कोई भी तिरस्कार अथवा उपेक्षाके योग्य नहीं है, तथापि जो कल्प-वृक्षसे जिस प्रकारकी कामना करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको जो जिस प्रकारसे भजता है, उसी रूपमें वे उन्हें प्राप्त होते हैं॥ २२॥

किञ्चाग्रजो मावनतं यदूत्तमः
स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं
सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु॥ २३॥

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णके बड़े भाई बलदेव भी जब मुझे विनीत भावसे हाथ जोड़कर खड़ा हुआ देखेंगे, तब मन्द-मन्द मुसकानके साथ मुझे हृदयसे लगा लेंगे और मेरे जुड़े हुए हाथोंको पकड़कर घरके भीतर ले जायेंगे। घरमें आसनादि प्रदानकर सब प्रकारसे

मेरा सत्कार करेंगे। इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि "हमारे आत्मीय वसुदेवजी आदिके साथ कंस किस प्रकारका व्यवहार करता है?"॥ २३॥

श्रीशुक उवाच—

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप॥ २४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! रथारूढ़ श्वफल्क-पुत्र अक्रूर मार्गमें इस प्रकार श्रीकृष्णका गहन चिन्तन करते-करते गोधूलिकी शुभ लग्नमें नन्दगाँव पहुँचे। उस समय सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर जा रहे थे॥ २४॥

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥ २५॥

हे राजन्! जिनके चरणकमलोंकी विमल रेणुको सभी लोकपाल अपने-अपने किरीटोंके द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजीने गोष्ठमें (व्रजमें) श्रीकृष्णके पद्म-यव-अङ्कुश आदि चिह्नोंसे युक्त चरणोंसे अङ्कित उस रेणुको देखा। इन विलक्षण चिह्नोंको देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पृथ्वीने आभूषण धारण किये हों अथवा मानो व्रज पृथ्वीकी सर्वश्रेष्ठ शोभाका आश्रय हो॥ २५॥

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोदूर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥ २६॥

इन चरणचिह्नोंके दर्शनसे अक्रूरजीके हृदयमें आनन्द इतना अधिक बढ़ गया कि उनमें सम्भ्रम उपस्थित हो गया अर्थात् वे अपनेको सँभाल न सके। प्रेमके कारण उन्हें रोमाञ्च हो आया

और विह्वलतावश आँखोंसे आँसू प्रवाहित होने लगे। वे उसी समय रथसे कूदकर भूमिपर उतर आये और "अहो! यह वही मेरे प्रभुके श्रीपादपद्मोंसे स्पृष्ट धूलि-रेणु है"—गद्‌गद्‌स्वरसे यह कहकर उस चरण-धूलिमें बार-बार लोटने लगे॥ २६॥

देहं भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥ २७॥

हे राजन्! कंसके आदेशसे आरम्भ करके भगवान् कृष्णके श्रवण एवं दर्शन पर्यन्त अक्रूरजीके चित्तकी जैसी अवस्था रही है, यही जीवोंके देह-धारणका परम लाभ है। जिस प्रकारसे वे दम्भ, भय और शोकका त्याग करके श्रीचरण-चिह्नित व्रज-रजमें लोटपोट हुए हैं, वही जीवमात्रका परम पुरुषार्थ है॥ २७॥

ददर्श कृष्णं रामञ्च व्रजे गोदोहनं गतौ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ॥ २८॥

किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ॥ २९॥

ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम्।
शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ॥ ३०॥

उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ॥ ३१॥

प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ॥ ३२॥

दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ॥ ३३॥

इसके बाद अक्रूरजीने व्रजमें पहुँचकर गोदोहनके स्थानपर निखिल सौन्दर्यके आश्रय श्रीकृष्ण एवं बलरामको देखा। भगवान् श्रीकृष्णने पीताम्बर धारण कर रखे थे और बलरामने नीलाम्बर। उनके नेत्र शरत्कालीन प्रस्फुटित कमलके समान थे। दोनोंने

अभी किशोरावस्थामें प्रवेश किया था। एक श्यामसुन्दर थे तो दूसरे गौरसुन्दर। दोनों ही परम सौन्दर्यके आधार थे। उनकी भुजाएँ घुटनोंका स्पर्श कर रही थीं, मुखमण्डलपर प्रसन्नताकी छटा थी। उनकी गति गज-शावकके समान मदमस्त थी। वे ध्वज, वज्र, अङ्कुश एवं पद्मसे चिह्नित श्रीचरणोंके द्वारा व्रजभूमिको सुशोभित कर रहे थे। दोनों ही महापुरुष थे और उनकी चितवन भी कृपा बरसा रही थी। मन्द-मन्द मुसकान उनके अधरोंपर सुशोभित हो रही थी। दोनों ही परम उदार एवं मनोरम विलासोंसे परिपूर्ण थे। उनके गलेमें वनमालाएँ और मणिजड़ित रत्नमालाएँ विभूषित हो रही थीं। दोनोंके ही श्रीअङ्ग पवित्र चन्दन, अङ्गराग आदि द्रव्योंसे अनुलिप्त थे। उन्होंने अभी-अभी स्नानकर निर्मल वस्त्र पहने थे। वे जगत्के आदिकारणस्वरूप एवं समस्त ब्रह्माण्डोंके अधिपति तथा प्रधान पुरुष थे। मात्र पृथ्वीके भार हरणके लिए वे मूर्त्तिभेदसे श्रीबलदेव एवं श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। हे राजन्! उस समय दोनों अपनी अद्भुत कान्तिसे दिग्मण्डलके अन्धकारको दूर करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो सुवर्णसे परिव्याप्त मरकत पर्वत और रौप्य पर्वत प्रकाशित हो रहे हों॥ २८-३३॥

रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः॥ ३४॥

बलरामजी और श्रीकृष्णको देखते ही अक्रूरजी स्नेहसे विह्वल हो गये और रथसे शीघ्र ही नीचे कूद पड़े। उन्होंने उन दोनोंके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ३४॥

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः।
पुलकाचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप॥ ३५॥

हे राजन्! भगवान्के दर्शनसे अक्रूरजीको इतना आनन्द हुआ कि उनके दोनों नेत्र आँसुओंसे भर गये। उनका रोम-रोम खिल उठा। उत्कण्ठासे अभिभूत होनेके कारण वे अपने नामतकका भी

उल्लेख नहीं कर पाये अर्थात् "मैं अक्रूर आपको प्रणाम करता हूँ"—इस प्रकारसे कहनेमें समर्थ नहीं हो पाये॥ ३५॥

भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः॥ ३६॥

प्रसन्न एवं प्रणतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरके मनके भावको जान गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे चक्र-चिह्नित अपने हाथोंसे उन्हें उठाया और उन्हें आलिङ्गन-पाशमें बाँध लिया॥ ३६॥

सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः।
गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत् सानुजो गृहम्॥ ३७॥
पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम्।
प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत्॥ ३८॥

तदनन्तर जब महामति अक्रूर विनीत भावसे परम मनस्वी बलरामके सम्मुख प्रणत होकर एवं अपने दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये, तब बलरामने उन्हें अपने हृदयसे लगाया। इसके बाद दोनों भाई उनके दोनों हाथोंको पकड़कर उन्हें घरके अन्दर ले गये। घरमें ले जाकर उनका स्वागत किया, उनसे सम्भाषण किया, कुशल-क्षेम पूछा। उत्तम आसन प्रदान किया और शास्त्रोचित (सर्वदेवमयोऽतिथिः) विधिके अनुसार पाद-प्रक्षालन करके उन्हें मधुपर्क (शहदमिश्रित दही) प्रदान किया॥ ३७-३८॥

निवेद्य गाञ्चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः॥ ३९॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने अतिथि अक्रूरको बड़े आदरके साथ एक गाय प्रदान की तथा पाद-संवाहन आदि कार्योंके द्वारा उनकी थकानको दूर किया। इसके बाद परम श्रद्धाके साथ उत्तम गुणोंसे युक्त पवित्र और स्वादिष्ट अन्नका भोजन कराया॥ ३९॥

तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित्।
मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः॥ ४०॥

जब अक्रूर भोजन कर चुके, तब परम धर्मज्ञ बलदेवने उन्हें प्रीतिके साथ ताम्बूल, इलायची आदि सुगन्धित मुखवास और गन्धमाला आदि द्रव्य प्रदान किये। इस सत्कारसे अक्रूर परम आनन्दित हुए॥ ४०॥

पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे।
कंसे जीवति दाशार्ह शौनपाला इवावयः॥ ४१॥

आतिथ्य सत्कार हो जानेके बाद नन्दबाबाने अक्रूरसे पूछा—हे दशार्ह-वंशज अक्रूर! आप क्रूर कंसके जीवित रहते हुए वहाँ कैसे रह पाते हैं? आपकी दशा तो पशुघातक (कसाई) के संरक्षणमें पालित भेड़ जैसी है (न जाने वह किस दिन आपकी हत्या कर देगा)॥ ४१॥

योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः।
किन्नु स्वित् तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे॥ ४२॥

आत्मतृप्तिमें ही लगे हुए उस दुष्ट स्वार्थी और पापीने अपनी रोती-बिलखती बहनकी उपस्थितिमें ही उसके बच्चोंको मार डाला, आप उसीकी प्रजा हैं। आपके कुशल-मङ्गलकी सम्भावना भी कैसे की जा सकती है—मैं यही विचार कर रहा हूँ॥ ४२॥

इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरागमनं नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

महाराज नन्दरायके इस प्रकारके आतिथ्य, मधुर वाणी द्वारा सत्कार एवं कुशल-मङ्गलके प्रश्नालापोंसे अक्रूरके पथकी सारी थकान दूर हो गयी॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अड़तीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी मथुरा-यात्राके समय गोपियोंकी खेदोक्ति और कालिन्दी जलमें अक्रूरका विष्णुलोक दर्शन

श्रीशुक उवाच—

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः।
लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! तदनन्तर अक्रूरने बलराम तथा श्रीकृष्ण द्वारा भी यथेष्ट सम्मान प्राप्त किया। इसके बाद वे सुखपूर्वक पर्यङ्कपर बैठ गये। मार्गमें आते समय उन्होंने जो भी मनोरथ किये थे, वे सब पूर्ण हो गये॥ १॥

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥ २॥

हे महाराज! निखिल सम्पत्तियोंके निधान-स्वरूप भगवान्के स्वयं प्रसन्न हो जानेपर लोकमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त न हो सके? तथापि उनके ऐकान्तिक प्रेमी भक्त उनसे कुछ भी कामना नहीं करते (अक्रूरने भगवान्से अनन्य भक्तिकी कामना की)॥ २॥

सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम्॥ ३॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सायंकालीन भोजन समाप्त किया और बादमें अक्रूरके पास गये। उन्होंने अपने बन्धु-बान्धवों तथा सुहृदोंके प्रति कंसके व्यवहार एवं उसकी आगेकी योजनाओंके सम्बन्धमें पूछताछ की॥ ३॥

श्रीभगवानुवाच—

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम्॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—हे तात! आप कुशलतापूर्वक तो आये न? मार्गमें आपकी यात्रा सुखद रही न? मैं आपके लिए मङ्गल-कामना करता हूँ। हे सौम्य! हमारे आत्मीय सुहृद्, बन्धु-बान्धव एवं कुटुम्बी सुखी एवं स्वस्थ तो हैं न?॥ ४॥

किन्नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च॥ ५॥

इस विषयमें आपसे और प्रश्न पूछना मेरे लिए युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि हे अक्रूर चाचा! कंस तो हमारा नामके लिए मामा है। वह हमारे वंशके लिए भयङ्कर व्याधि-स्वरूप कुलाङ्गार ही है। इस समय तो उसकी अति वृद्धि हो रही है। उसके रहते अपने वंशवालों (जातीय) बन्धुओं, आपकी और प्रजाओंके मङ्गलकी क्या बात पूछें?॥ ५॥

अहो अस्मदभूद्भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः॥ ६॥

अहो! मेरे कारण निरपराध मेरे पूज्य पिताजी एवं माताजीको अनेक दुःख भोगने पड़े। मेरे ही कारण उनके पुत्रोंकी अकाल मृत्यु हुई और मेरे ही कारण शृंखलाओं (जञ्जीरों) से बँधकर उन्हें कारागारमें बन्द होना पड़ा॥ ६॥

दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम्।
सञ्जातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम्॥ ७॥

हे चाचा! मैं बहुत दिनोंसे अपने किसी आत्मीय-सुहृद्से साक्षात् मिलना चाहता था। सौभाग्यसे आज मेरा अभीष्ट पूर्ण हुआ। अब आप यह बतलाइये कि आपका यहाँ शुभागमन किस कारण हुआ?॥ ७॥

श्रीशुक उवाच—

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम्॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर मधुवंशी अक्रूरने निष्कपटरूपसे समस्त वृत्तान्त निवेदन किया कि किस प्रकार कंस यदुवंशियोंके प्रति सदैव शत्रु-भाव ठाने रहता है और किस प्रकार वसुदेवजीको मार डालनेकी चेष्टामें लगा रहता है॥ ८॥

यत्सन्देशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम्।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः॥ ९॥

अक्रूरने निवेदन किया कि धनुर्यज्ञके निमन्त्रणरूप कपट-संवादको देनेके लिए कंसने उन्हें दूत बनाकर भेजा है। चाणूर, मुष्टिक आदि योद्धागण यद्यपि धनुर्यज्ञ सभामें मल्ल-क्रीड़ाके छलसे सम्मिलित होंगे, किन्तु उद्देश्य होगा श्रीकृष्ण एवं बलरामका वध—इस कूटचक्रको भी अक्रूरने श्रीकृष्णके समक्ष प्रकाशित कर दिया। देवर्षि नारदने वसुदेवसे बलराम एवं श्रीकृष्णके जन्मका विवरण कंसको बतलाया था, उसका भी श्रीकृष्णके निकट यथारूप उल्लेख कर दिया॥ ९॥

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञा दिष्टं विजज्ञतुः॥ १०॥

अक्रूरके इन वचनोंको सुनकर महाबलशाली शत्रुविनाशन श्रीकृष्ण और बलराम हँसने लगे। उन्होंने अपने पिता नन्द महाराजको राजा कंसके आदेशके बारेमें बतला दिया (परन्तु उसके दुष्ट अभिप्रायको उनके समक्ष व्यक्त नहीं किया)॥ १०॥

गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च॥ ११॥

तब नन्द महाराजने गोपोंको आदेश दिया—तुमलोग दूध, दही और घृत एकत्र करो, उत्तम भेंटोंकी विविध सामग्रियाँ भी ले लो और अपने-अपने छकड़े जोत लो॥ ११॥

यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान्।
द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल।
एवमाघोषयत् क्षत्रा नन्दगोपः स्वगोकुले॥ १२॥

हम कल मथुरा जायेंगे। वहाँ घृतादि द्रव्योंको कर-स्वरूप राजा कंसको प्रदान करेंगे। इसके बाद वहाँ होनेवाले धनुर्यज्ञ महोत्सवको देखेंगे। देशकी सारी प्रजा उस महोत्सवको देखने जा रही है। इस प्रकार महाराज नन्दने अपने गाँवके कोतवालके (रक्षक पुरुषोंके) द्वारा सारे व्रजमें यह घोषणा करा दी॥ १२॥

गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम्।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम्॥ १३॥

जब कृष्णगतप्राणा गोपियोंने यह समाचार सुना कि राम-कृष्णको मथुरा ले जानेके लिए अक्रूर व्रजमें आये हैं, तब वे अतिशय सन्तप्त हो गयीं (गोपियाँ श्रीकृष्ण एवं श्रीबलरामके किसी अनिष्टकी आशङ्कासे भयभीत नहीं हैं, उनका सन्ताप कृष्ण विरहके कारण है)॥ १३॥

काश्चित् तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन॥ १४॥

इस समाचारसे भद्रा आदि गोपियोंके हृदयमें इतना ताप हुआ कि वे जोर-जोरसे निःश्वास छोड़ने लगीं। उनकी मुखश्री मलिन हो गयी। श्यामला आदि गोपियाँ इतनी शोकविह्वल हो गयीं कि उनके वस्त्र, कङ्गन, जूड़े सभी शिथिल पड़ गये और उन्हें इसका पता भी नहीं चला॥ १४॥

अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव॥ १५॥

चन्द्रावली आदि गोपियों द्वारा श्रीकृष्णका स्मरण (निरन्तर ध्यान) होनेके कारण उनकी चित्तवृत्तियाँ एवं चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्योंसे निवृत्त हो गयीं। उन्हें मुक्तजनोंके समान इस

संसारका अथवा देहका कुछ भी ज्ञान न रहा। वे जैसे समाधिस्थ हो गयी थीं॥ १५॥

स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः॥ १६॥

राधा आदि गोपियोंको श्रीकृष्णका अनुराग, उनका मन्द मधुर हास्य, उस हास्यसे प्रकाशित स्नेह, प्रेमभरी चित्तवन, विचित्र पदोंसे अलंकृत वाणी, हृदयको स्पर्श करनेवाले वचनोंका स्मरण होने लगा, जिसके कारण वे मुग्ध-सी होकर अचेत हो गयीं॥ १६॥

गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम्।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च॥ १७॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः।
समेताः सङ्घशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः॥ १८॥

कृष्णगत हृदयवाली दूसरी गोपियाँ मन-ही-मन भगवान्‌की सुललित गति, भाव-भङ्गिमा, स्निग्ध हास्यके साथ मधुर चितवन, शोक-सन्तापको दूर करनेवाले परिहासपूर्ण वचन, हँसी-ठिठोलियाँ, उदार आचरण और वीरतापूर्ण कार्य आदिका स्मरण करती हुईं श्रीकृष्णके विरहके भयसे कातर हो गयीं। विरह-व्यथासे भयभीत होनेके कारण उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। उनका मन सदैव भगवान् अच्युतमें ही लीन रहता था। वे दल-की-दल बाँधकर नन्दबाबाके गृहमें उपस्थित होकर एक साथ मिलकर इस प्रकार कहने लगीं॥ १७-१८॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा॥ १९॥

गोपियोंने कहा—हाय विधाता! तुम्हारे हृदयमें दयाका लेश भी नहीं है। पहले तो तुम मित्रता एवं स्नेहके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंको परस्पर मिला देते हो, परन्तु अभी उनकी इच्छाएँ पूर्ण भी नहीं हो पातीं, वे तृप्त भी नहीं हो पाते कि आप व्यर्थ ही उनका वियोग करवा देते हो। तुम्हारा यह भ्रमपूर्ण खेल बालकोंकी चेष्टाके समान निरर्थक ही है। भला, ऐसे विच्छेदसे तुम्हारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है?॥ १९॥

यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं
मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम्।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं
करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम्॥ २०॥

हे विधाता! तुमने सुरम्य कपोल, काले घुँघराले केश, सुघड़ एवं उन्नत नासिका और मन्द-मन्द हास्यसे विभूषित मुकुन्द श्रीकृष्णका सर्वसन्तापहारी मुखकमल हमें एक बार दिखलाया और अब उसे हमारी आँखोंसे ओझल करना चाहते हो। अरे विधना! तुम्हारा यह कार्य अतिशय निन्दनीय नहीं तो और क्या है?॥ २०॥

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न-
श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत्।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं
त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः॥ २१॥

अरे विधाता! यह कितने दुःखकी बात है, हम तो इन आँखोंसे मधुसूदनके शरीरके एक-एक अङ्गमें—चाहे वे नेत्र हों या मुखमण्डल—तुम्हारी सृष्टिकी निपुणता देखा करती थीं। आज अतिशय क्रूर तुम ही 'अक्रूर' इस छद्म नामको धारणकर यहाँ आये हो। तुमने हमें जो आँखें दीं, उन्हें ही दत्तापहारीके (दान देकर वापस लेनेवालेके) समान हर लेना चाहते हो। तुम महाविज्ञ हो, हमारे सारे रहस्योंको जानते हो, फिर भी कृष्णसे वियोग करवाकर अज्ञके (मूर्खके) समान हमें नेत्रहीन बनाना चाहते हो।

उनके अतिरिक्त हम और क्या देखेंगी? अतएव हम निश्चय ही अन्धी हो जायेंगी॥ २१॥

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः
समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत।
विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीं-
स्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः॥ २२॥

विधाताको उलाहना देना छोड़कर परस्पर कहने लगीं—हे सखियो! हमलोग तो अपने घर-द्वार, स्वजन, पुत्र, पति सब कुछ छोड़कर उनकी दासी बनीं और इन्हींके लिए आज हम शोकातुर हो रही हैं। हाय! वे नन्दनन्दन जिन्होंने हमारे हृदयोंको अपनी मधुर मुस्कान आदिसे वशीभूत कर लिया था, आज हमारी ओर देखना भी नहीं चाहते। सखी! उनका सौहार्द ऐसा ही था, जो क्षणभरमें नष्ट हो गया। अथवा उन नन्दपुत्रके लिए ऐसा करना विचित्र बात नहीं है, क्योंकि वे तो नित्य नूतन प्रेमियोंसे ही नेह लगाया करते हैं। हाय! हम तो अब दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो गयीं॥ २२॥

सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः
सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः
पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥ २३॥

वे ईर्ष्या भावसे कहने लगीं—सखियो! आजकी रात्रिका प्रातःकाल मथुराकी रमणियोंके लिए निश्चितरूपसे बड़ा ही मङ्गलमय होगा। उनके प्रति ब्राह्मणोंका आशीर्वाद आज सत्य और सफल हो जायेगा। जब हमारे व्रजराज नन्दनन्दन कृष्ण अपनी तिरछी चितवन और मन्द-मधुर मुसकानसे युक्त मुखारविन्दका उत्कलित आसव अर्थात् निःसृत मादकमधु वितरण करते हुए मथुरापुरीमें प्रवेश करेंगे, तब वे उसका पानकर धन्य-धन्य हो जायेंगी॥ २३॥

तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै-
र्गृहीतचित्तः परवान् मनस्वी अपि।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला
ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन्॥ २४॥

देखो मुग्धा सखियो! श्रीकृष्ण यद्यपि पिता नन्दबाबा आदि गुरुजनोंके अनुगत हैं और धीर स्वभावसे युक्त हैं, तथापि मथुरापुरीकी नारियाँ अपने सुकोमल एवं मधुरसे भी मधुरतर मनोहर वचनोंसे उनके चित्तको वशमें कर लेंगी और अपनी आकर्षक एवं सलज्ज हास्य-विलाससे उन्हें मुग्ध (विभ्रान्त) कर लेंगी। तब वे हमारी जैसी कला-विलास एवं छल-भङ्गिमासे रहित गँवार ग्वालिनोंके पास क्यों लौटने लगे? वे वहाँ जाकर सब कुछ भूल जायेंगे॥ २४॥

अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते
दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं
द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम्॥ २५॥

आज मथुरामें समस्त दाशार्ह, भोज, अन्धक एवं यदुवंशी (सात्वतगण) देवकीनन्दन श्रीकृष्णका दर्शन कर धन्य एवं कृतकृतार्थ हो जायेंगे। मार्गमें जाते समय अन्यान्य जो लोग रमारमण (सौभाग्यकी अधिष्ठात्री स्वयं लक्ष्मीजीके प्रिय), गुणसागर, नटनागर, श्यामसुन्दरका दर्शन करेंगे, उनके भी नेत्रोंके लिए निश्चय ही आज बड़ा महोत्सव होगा॥ २५॥

मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भू-
दक्रूर इत्येतदतीवदारुणः।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं
प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः॥ २६॥

व्रजगोपियाँ अक्रूरके प्रति आक्रोश भावसे कहने लगीं—जो व्यक्ति ऐसा निष्ठुर हो, 'अक्रूर' नाम उसे शोभा नहीं देता। जिसके

हृदयमें तनिक भी दया न हो, वह तो निश्चय ही क्रूर है। अरे! यह अकरुण है कि हम अबलाओंके प्रति कोमलतापूर्ण आश्वासन वचन भी नहीं कहता। यह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हमारे प्राणनाथ श्यामसुन्दरको हरणकर बहुत दूर अगम्य स्थानपर ले जा रहा है। जो निष्ठुर कंसका दूत है, वह तो अवश्य ही निष्ठुर होगा—इसमें क्या आश्चर्य है?॥ २६॥

अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं,
तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं
दैवञ्च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते॥ २७॥

तदनन्तर अपने जीवनको धिक्कारती हुई कहने लगीं—हाय! हाय! श्रीकृष्णका चित्त भी बड़ा निष्ठुर है। हमें रोते हुए देखकर भी ये रथपर चढ़ ही गये। ये दुर्मद (मूर्ख) श्रीदाम आदि गोपगण भी छकड़ोंपर चढ़कर उनके साथ चलनेके लिए कितने आतुर हो रहे हैं! हमारे बड़े-बूढ़े भी इन्हें जानेसे न रोककर—इस विषयकी उपेक्षा कर रहे हैं। भाग्य भी हमारे प्रतिकूल ही आचरण कर रहा है। दैव यदि हमारे अनुकूल होता, तो किसी-न-किसी विघ्नके द्वारा इनके जानेमें बाधा उत्पन्न करता॥ २७॥

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्द्धदुस्त्यजाद्-
दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्॥ २८॥

पुनः परस्पर परामर्शकर साहसका अवलम्बन करके कहने लगीं—सखी, चलो, हम स्वयं ही हस्त, चरण अथवा वस्त्रोंको पकड़कर प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको रोकेंगी। कुलके बड़े-बूढ़े एवं बान्धव भला हमारा क्या कर लेंगे? हमलोग आधे क्षणके लिए भी प्राण-प्रियतम नन्दनन्दनका सङ्ग छोड़नेमें असमर्थ थीं, किन्तु दैवने हमारे चित्तको प्राणवल्लभसे वियोग करवाके हमें नितान्त

दीन बना दिया है। व्रजजीवन श्रीकृष्णके बिना हमें मृत्युसे भी क्या भय है! ॥ २८ ॥

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥ २९ ॥

हे गोपियो! श्रीकृष्णकी अनुरागभरी मन्द-मधुर मुसकान, विलासपूर्ण तिरछी चितवन, सङ्केतकी मधुर-मदिर वार्त्ताओंसे युक्त राससभाकी वे आलिङ्गनमयी विशाल रात्रियाँ—जिन्हें हमने उनके साथ क्षणभरके समान ही बिता दी थीं, अब उनके बिना इस दुष्पार विरह-व्यथाको हम एक क्षणके लिए भी किस प्रकार सह पायेंगी? ॥ २९ ॥

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्त्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥ ३० ॥

जो प्रतिदिन सायंकालमें अनन्त भगवान् बलदेवके साथ गायोंके खुरोंसे उठी, धूलि-रञ्जित अलकावलियों एवं वनमालासे अलंकृत होकर तथा ग्वालबालोंसे घिरकर मधुरातिमधुर वेणु-ध्वनि करते हुए व्रजमें प्रवेश करते थे, तब मन्दहास्यपूर्ण मनमोहक कटाक्षोंसे हमारे हृदयोंको चुरा लेते थे। अब उन प्राण-प्रियतमके बिना हम कैसे जीवन धारण कर सकेंगी? ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच—

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ३१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकारसे परस्पर वार्त्तालाप करनेके बाद गोपियाँ आसन्न विरहसे अत्यधिक आतुर हो गयीं। इन व्रजनारियोंके मन, प्राण और हृदय सभी कृष्णगत थे। वे लोकलज्जाको परित्यागकर "हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव"—इस प्रकार जोर-जोरसे सुललित स्वरसे पुकारती हुई रोने लगीं॥ ३१॥

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम्॥ ३२॥

इस प्रकार गोपियाँ रातभर रोती-कराहती रहीं। अनन्तर सूर्योदय हुआ। अक्रूर सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्मके उपरान्त रथपर सवार हुए और रोती बिलखती गोपियोंकी ओर किञ्चित् मात्र भी दृष्टि न डालकर रथको हाँक ले चले। (गोपियोंके इसी अनादरके कारण अक्रूरको स्यमन्तक मणिके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णसे विच्छेद दुःख, द्वारका त्याग, अप-यश एवं वाराणसी-वास आदि भोगने पड़े थे। यशोदाको बताया गया था कि कृष्ण एक दिनमें लौट आयेंगे—इसलिए उनके किसी कष्टका वर्णन नहीं हुआ है)॥ ३२॥

गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्भृतान्॥ ३३॥

नन्दादि गोपोंने घृतादिसे भरे हुए बहुत-से कुम्भोंको (कलशोंको) राजा कंसके लिए उपहारस्वरूप ले लिया और उन्हें छकड़ोंपर डालकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल दिये॥ ३३॥

गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे॥ ३४॥

गोपियाँ भी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके रथके पीछे-पीछे चलती हुई उनके पास पहुँचीं। वे उनकी चितवन एवं अनुरागपूर्ण मुसकानसे तनिक-सी आनन्दित हुईं और उनके प्रत्यादेश (सन्देश) की आकाङ्क्षा करती हुई वहीं खड़ी हो गयीं, हिली-डुली नहीं

(गोपियोंको नयनोंसे तो आश्वासन प्राप्त हुआ है कि “मैं तुम्हारे समीप जल्दी ही चला आऊँगा”, परन्तु वचनकृत प्रत्युत्तर नहीं प्राप्त हुआ है)॥ ३४॥

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः॥ ३५॥

यदुवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णने देखा कि गोपियाँ उनके मथुरा-प्रस्थानसे अतिशय सन्तप्त हो रही हैं। तब प्रेमपूर्ण वचनरूपी दूतके द्वारा “मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा”—इस प्रकार प्रेममय सन्देश देकर उन्हें सान्त्वना देनेका प्रयास किया। श्रीकृष्णको भी तीव्र विरह-वेदना हो रही थी, परन्तु उन्होंने उसे अपने गाम्भीर्यगुणसे छिपा लिया॥ ३५॥

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः॥ ३६॥

गोपियोंको जब तक रथकी ध्वजा और रथके पहियेसे उठी धूल दीखती रही, तब तक वे चित्रलिखित-सी कठपुतलीके समान उसी स्थानपर ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं, परन्तु श्रीकृष्णके अनुरागमें रङ्गा हुआ उनका मन तो प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके साथ ही चला गया॥ ३६॥

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्त्तने।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्॥ ३७॥

अभी भी उनके मनमें आशा थी कि शायद श्रीकृष्ण कुछ दूर जाकर लौट आयें, किन्तु जब नहीं लौटे, तब वे निराश हो गयीं और अपने-अपने घर चली आयीं। अब गोपियाँ सदा सर्वदा रात-दिन शोक-सन्तप्त रहा करती थीं। वे नन्दगाँवके निकट स्थित उद्धव-क्यारी नामक वनमें विरह-सन्तापग्रस्त होकर प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई किसी प्रकार अपने शोक-सन्तापको हलका करती थीं॥ ३७॥

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्॥ ३८॥

हे राजन्! इधर बलरामजी एवं अक्रूरके साथ श्रीकृष्ण वायुके समान चलनेवाले रथसे शीघ्र ही पापनाशिनी यमुनाजीके किनारे पहुँचे॥ ३८॥

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम्।
वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत्॥ ३९॥

वहाँ उन्होंने यमुनाके जलसे आचमन किया और स्फटिक मणि एवं अमृतके समान स्वच्छ, स्वादु, अमृतोपम जलका पान किया। बादमें वृक्षोंके झुरमुटके निकट स्थित रथपर पुनः बलदेवजीके साथ सवार हो गये॥ ३९॥

अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत्॥ ४०॥

अक्रूरका हृदय शत्रु-भयसे आशङ्कित हो रहा था। उन्होंने बलराम एवं श्रीकृष्णको रथमें बिठाकर उनसे आज्ञा ली और ब्रह्मह्रदमें (यमुना-कुण्डमें) जाकर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार स्नान करने लगे॥ ४०॥

निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम्।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ॥ ४१॥

उस कुण्डमें स्नान-आचमनके पश्चात् वे जलमें डुबकी लगाकर सनातन वेद-मन्त्रोंका (गायत्रीका) जाप करने लगे। वे जप कर ही रहे थे कि उन्होंने उस यमुनाके जलके भीतर राम-कृष्णको मिलित विग्रहके रूपमें अर्थात् एक-साथ बैठे हुए देखा (व्रजमें अपने मन्त्रके ध्येयरूप [श्रीनारायण] से भी अति अद्भुत श्रीकृष्णके रूपका दर्शनकर अक्रूरकी उनके उस रूपमें ही निष्ठा हो गयी थी, किन्तु अब श्रीकृष्णने व्रजवासियोंके मनःक्षोभके कारण अपने उस रूपको विस्मृत कराकर पुरातन श्रीनारायणरूपमें

ही निष्ठा स्थापितकर उन्हें ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठका दर्शन कराया)॥ ४१॥

तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः।
तर्हि स्वित् स्यन्दने नस्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः॥ ४२॥
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः।
न्यमज्जद्दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः॥ ४३॥

आनकदुन्दुभि वसुदेवजीके दोनों पुत्र तो रथके ऊपर बैठे थे, फिर वे यहाँ कहाँसे आ गये! क्या वे रथपर नहीं बैठे हैं? यह क्या हो गया! इस प्रकार शङ्कित-चित्तसे अक्रूरजी जलसे ऊपर उठे, तो देखा कि वे तो पूर्ववत् रथमें ही बैठे हुए हैं। वे सोचने लगे कि जलमें जो मैंने देखा था, क्या वह मिथ्या है अथवा मेरा भ्रम है। अतः पुनः निश्चय करनके लिए उन्होंने जलमें डुबकी लगायी (इस बार वे श्रीकृष्ण एवं बलरामकी माधुर्यमयी युगलमूर्त्ति नहीं देख पाये। गोपियोंके प्रति अवज्ञारूप अपराधके कारण उन्हें श्रीकृष्णके मधुर स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई है)॥ ४२-४३॥

भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम्।
सिद्ध-चारण-गन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः॥ ४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम्।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम्॥ ४५॥

पुनः ब्रह्महृदमें डुबकी लगानेपर अक्रूरने फिर देखा कि सिद्ध, चारण, गन्धर्व एवं असुरगण सिर झुकाकार स्तुति कर रहे हैं, उनके सम्मुख अनन्त शेष विराजमान हैं। उनके सहस्र सिर—सहस्र फण हैं, प्रत्येक फणपर किरीट सुशोभित हो रहे हैं। उनका कमलनालके समान श्वेत वर्ण है और उज्ज्वल देहपर नीलाम्बर धारण कर रखा है। उन्हें (अनन्तको) देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो सहस्रों शिखरोंसे युक्त श्वेतगिरि कैलाश हो॥ ४४-४५॥

तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम्॥ ४६॥

चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम्।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम्॥ ४७॥

प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम्।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम्॥ ४८॥

बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम्।
चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम्॥ ४९॥

तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम्।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम्॥ ५०॥

सुमहार्हमणिव्रात-किरीटकटकाङ्गदैः।
कटिसूत्र-ब्रह्मसूत्र-हार-नूपुर-कुण्डलैः॥ ५१॥

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ५२॥

सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः॥ ५३॥

प्रह्लादनारदवसु-प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः॥ ५४॥

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥ ५५॥

विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः॥ ५६॥

गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः।
प्रणम्य मूर्द्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरप्रतियानं नाम एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९॥

प्रिय परीक्षित्! अक्रूरने देखा कि उन सर्पराज अनन्त शेषकी गोदमें एक चतुर्भुज पुरुष विराजमान हैं। उनकी कान्ति नवीन जलधरके समान है। उन्होंने पीतवर्णके रेशमी वस्त्रोंको धारण कर रखा है। उनके नेत्र कमलपत्रके समान अरुण वर्णके हैं और स्वभाव अतिशय सौम्य एवं शान्त है। उनका मुखमण्डल अतीव मनोरम एवं आह्लादमय है। चितवनसे मधुर मुसकान झलक रही है, भ्रू-युगल अति सुन्दर हैं, नासिका सुघड़ एवं उन्नत है, दोनों कान सुचारुरूपसे गठित हैं, कपोलोंकी छटा निराली है, अधरोंपर अरुणिमा छा रही है। भुजाएँ घुटनों तक लम्बी एवं स्थूल हैं। स्कन्ध उन्नत एवं अत्याकर्षक हैं। वक्षःस्थल लक्ष्मीजीका निवास-स्थान है। कंठ शङ्खके समान त्रिवलीसे विभूषित हो रहा है। नाभि सुगभीर एवं त्रिवलीसे युक्त तथा उदर अश्वत्थ-पत्रके समान शोभायमान है। उन चतुर्भुज पुरुषका कटि-प्रदेश स्थूल एवं श्रोणिदेश (नितम्ब) विशाल है। दोनों जंघाएँ हाथीकी सूँडके समान सुगठित एवं बृहत् हैं, पिंडलियाँ एवं घुटने बड़े रमणीय हैं। दोनों पद-पङ्कज समुन्नत, गुल्फ (एड़ीके ऊपरकी गाँठें) और अरुण वर्णकी नखोंकी ज्योतिर्मय किरणोंसे समावृत हैं। चरणोंकी कोमल अङ्गुलियाँ और अङ्गुष्ठ नवीन और कोमल पंखुड़ियोंकी शोभाका तिरस्कार कर रहे हैं। उनके श्रीविग्रहपर महामूल्य मणियोंसे जड़ित किरीट, बाजुबन्द, वलय, करधनी, हार, नूपुर एवं कुण्डल तथा यज्ञोपवीत अनुपम शोभाको प्राप्त कर रहे हैं। उन्होंने श्रीकरकमलोंमें पद्म, शङ्ख, चक्र एवं गदा धारण कर रखे हैं। विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्स मणि एवं कण्ठ कौस्तुभ मणिसे समलंकृत हैं। उन्होंने मणियोंसे पिरोयी हुई माला धारण कर रखी है। सुनन्द, नन्दादि प्रमुख पार्षद, सनकादि ब्रह्मर्षि, ब्रह्मा, रुद्र आदि सुरेश्वर, मरीचि आदि नवसंख्यक ब्राह्मण-श्रेष्ठ-प्रजापति, प्रह्लाद, नारद आदि भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त, आठों वसु आदि उत्तम भक्तजन भिन्न-भिन्न भावोंसे निर्दोष एवं उत्तम वेद वाणी सम्मत रचनावलियों द्वारा उनकी स्तुति कर रहे हैं। श्री, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति,

कीर्ति, तुष्टि (अर्थात् ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, श्री, यश एवं वैराग्य—ये षडैश्वर्यरूप शक्तियाँ), इला (सन्धिनीरूप पृथ्वी शक्ति), ऊर्जा (अन्तरङ्ग लीलाशक्ति), विद्या-अविद्या (जीवोंकी मुक्ति और बन्धनमें कारणरूपा बहिरङ्गाशक्ति), ह्लादिनीशक्ति (अन्तरङ्गाशक्ति), तटस्था जीवशक्ति एवं माया आदि शक्तियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। भगवान्‌की इस अलौकिक झाँकीको देखकर अक्रूर परमानन्दमें निमग्न हो गये। उनके हृदयमें परम भक्तिका उद्रेक हो आया। शरीर रोमाञ्चित हो उठा, उनके समस्त अङ्ग कदम्ब-केशरकी भाँति पुलकित हो गये। भावाभिभूत होनेके कारण आर्द्र आँखोंसे आँसू प्रवाहित होने लगे, बड़ी सावधानीसे अर्थात् सत्त्वगुणका आश्रय लेकर (अथवा सात्त्विक भावोंके उदय होनेसे) वे सिर झुकाकर एवं हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उन्होंने प्रणाम किया और धीरे-धीरे गद्‌गद वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

भक्तके प्रति अनुग्रह भावसे भक्ताधीन भगवान् श्रीकृष्णने ऐसी अद्भुत लीला की कि यमुनाके जलमें अक्रूरने अति ऐश्वर्यमय वैकुण्ठका दर्शन किया, जिससे यह घाट 'अक्रूर तीर्थ' के रूपमें चिरकालके लिए प्रसिद्ध हो गया। अक्रूरने विचार किया कि जो श्रीकृष्ण हैं, वही नारायण हैं और जो नारायण हैं, वही श्रीकृष्ण हैं॥ ४६-५७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनतालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चत्वारिंशोऽध्यायः

अक्रूरके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

श्रीअक्रूर उवाच—

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम्।
यन्नाभिजातादरविन्दकोषाद्–
ब्रह्माविरासीद्यत एष लोकः॥ १॥

श्रीअक्रूरने कहा—हे प्रभो! आप चराचर समस्त जगत्के एकमात्र कारण हैं। आप सभीके आदि, अविनाशी, महापुरुष, नारायण–स्वरूप (परव्योमके अधिपतिरूपमें विराजमान) हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपके नाभिस्थानसे उत्पन्न पद्मकोषसे सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए थे और उन्हींसे इस दृश्यमान् जगत्की रचना हुई है॥ १॥

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि–
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥ २॥

हे देव! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्–तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, दस इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और इनके अधिष्ठातृ देवता, जो चराचर विराट् जगत्के कारणस्वरूप हैं, वे सभी पदार्थ आपके ही चिदानन्दमय श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम्॥ ३॥

हे भगवन्! प्रधान, काल, कर्म आदि मायिक वस्तुएँ जड़-इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य होती हैं, अतः अनात्मवस्तु होनेके कारण इन जड़-इन्द्रियोंके द्वारा आत्मस्वरूप आपको जाना नहीं जा सकता। यद्यपि ब्रह्मा जड़ेन्द्रिय-ग्राह्य अनात्म वस्तु नहीं हैं, तथापि मायाके रजस् गुणसे युक्त होनके कारण आपके प्रकृति एवं गुणोंसे परे गुणातीत स्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। ब्रह्मा स्वयं प्रकृतिके गुणों (रजोगुण) के द्वारा आच्छादित हैं, फिर अन्य क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या!॥ ३॥

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम्।
साध्यात्मं साधिभूतञ्च साधिदैवञ्च साधवः॥ ४॥

पहले सांख्य एवं योग मार्गका वर्णन कर रहे हैं—हे प्रभो! ब्रह्मादि (हैरण्यगर्भ आदि), साधु योगीगण आपकी महापुरुषकी ईश्वररूपमें, आध्यात्मिकरूपमें (अर्थात् हृदय आदिमें अवस्थितरूपमें), आधिभौतिक (समस्त शरीरोंमें वर्त्तमानरूपमें) एवं आधिदैविक (समस्त पदार्थोंके साक्षीरूपमें) तथा आदित्य आदि देवताओंके अन्तर्यामी स्वरूपमें निश्चितरूपसे आपकी आराधना करते हैं। आप ही सर्वदेवमय एवं सर्वेश्वरेश्वर हैं॥ ४॥

त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया॥ ५॥

(कर्ममार्गका निरूपण करते हैं) बहुत-से कर्मयोगी ब्राह्मण कर्मकाण्डमयी वेदविद्या द्वारा विविध रूपोंमें विस्तृत यज्ञोंके द्वारा वज्र, हस्त, सप्तार्चि आदि अनेक रूपधारी तथा इन्द्र, अग्नि एवं वरुण आदि विभिन्न नामधारी देवताओंके नामोंसे जो यज्ञाराधना करते हैं, उन नाम एवं रूपोंके द्वारा वस्तुतः आपकी ही उपासना की जाती है। कर्मकाण्डमयी वेदत्रयीमें ऐन्द्र-वारुणादि सूक्तके द्वारा इन्द्रादि देवताओंको सर्वेश्वर कहा गया है, किन्तु सर्वेश्वर बहुत नहीं हो सकते॥ ५॥

एके त्वाऽखिलकर्माणि सन्न्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम्॥ ६॥

(ज्ञानमार्गका वर्णन करते हैं—) जो समस्त कर्मोंका विधिपूर्वक परिहार करके शान्त एवं विरक्त हो गये हैं, ऐसे ज्ञानी ज्ञानयोगसे (सम्प्रदाय एवं समाधि योगसे) चिन्मात्र ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वह उपासना भी वस्तुतः आपकी ही आराधना है॥ ६॥

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्॥ ७॥

(वैष्णवमार्गका वर्णन करते हैं—) कोई-कोई पाशुपत (संस्कार-रहित) दीक्षाका अतिक्रमण करके संस्कार-सम्पन्न होकर विशुद्ध चित्तसे आपके द्वारा बतलायी हुई पाञ्चरात्रिक (वैष्णव शास्त्रीय) विधिके अनुसार आपमें पूर्णरूपेण तन्मय होकर (बाहर भीतर सर्वत्र स्फूर्ति प्राप्त होकर) आपकी वासुदेवादि चतुर्व्यूहात्मक एवं मत्स्यादि श्रीमूर्त्तियाँ अनेक होनेपर भी आपकी परमव्योमाधिपति महानारायण-रूप एकमूर्त्ति स्वरूपमें उपासना करते हैं। आप एक होकर भी अनेक रूपोंमें प्रकाशित हैं॥ ७॥

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते॥ ८॥

(शैवमार्गका वर्णन करते हैं—) दूसरे कोई महादेवजी द्वारा उपदिष्ट शैव, पाशुपतादि अनेक विधियोंके अनुसार—जिनके आचार्य भेदसे (विविध व्याख्याओंके अनुसार) अवान्तर भेद भी हैं, आपके शिवरूपकी उपासना करते हैं—वह भी आपकी ही उसापना-अर्चना है अर्थात् शिव-कथित मार्गके अनुसार शिवरूपी आपकी ही उपासना करते हैं॥ ८॥

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥ ९॥

हे सर्वदेवमय प्रभो! कुछ मनुष्योंकी बुद्धि अन्यत्र आसक्त है। वे दूसरे देवताओंको आपसे भिन्न समझकर उनकी उपासना करते हैं, परन्तु उनकी यह उपासना समस्त देवताओंके अन्तर्यामी होनेके कारण आपकी ही आराधना कही जाती है। आप ही सर्वेश्वर हैं। (जो सूर्यादिकी आराधना यह सोचकर करते हैं कि भगवान् नारायण ही सूर्यादिके रूपमें आराधित होते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—"सूर्यादि विभूतियोंकी पूजा मेरे विभूति ज्ञानसे करना ही कर्त्तव्य है, अन्य प्रकारसे नहीं।" वस्तुतः शिव, सूर्य, गणेशकी अर्चनासे आपकी ही अर्चना होती है, किन्तु अर्चन करनेवाले स्वयं आपको प्राप्त नहीं होते। जो देवताओंको भगवान्‌के गुणावतारके रूपमें भजते हैं, उनका भजन विधिपूर्वक है। जो देवताओंको नित्य मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे अविधिपूर्वक आराधना करते हैं, उन्हें नित्य फल प्राप्त नहीं होता)॥ ९॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥ १०॥

हे प्रभो! समस्त नदियाँ पर्वतसे उत्पन्न होती हैं। जब ये नदियाँ वर्षाके जलसे भर जाती हैं, तब अनेक स्रोतोंसे बहती हुईं विशिष्टरूप धारण कर लेती हैं और इधर-उधर विभिन्न दिशाओंसे घूमती हुई अन्तमें जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान आदि मार्गोंसे की गयी उपासनाएँ चरम-स्वरूप आपमें ही पर्यवसित हो जाती हैं। (तात्पर्य यह है कि समस्त वेद पर्वत सदृश हैं। वेदोंसे ही विभिन्न मार्ग उत्पन्न हुए हैं। मुनिगण वृष्टि-स्वरूप हैं। वे इन मार्गोंको विभिन्न स्थानोंसे प्रवाहित करते हैं। वेदोंके एक देश दर्शनके लिए विभिन्न मुनियोंके विभिन्न मत हैं। समस्त वेदशास्त्रका विचार करने पर *'वेदैरहमेव वेद्यः'*, *'नारायणपरा वेदाः'* इत्यादि वचनोंके अनुसार जितने भी खण्ड विचार हैं, वे सब एकमात्र नारायणमें ही पर्यवसित होते हैं। नारायण ही एकमात्र मूल लक्ष्यवस्तुके रूपमें विचारित हैं)॥ १०॥

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः॥ ११॥

सत्त्व, रज एवं तम—ये तीन आपकी मायाशक्तिरूपा प्रकृतिके गुण हैं। ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सारे जीव इन गुणोंसे उसी प्रकार आबद्ध हैं, जिस प्रकार वस्त्र सूत्रोंसे ओतप्रोत होता है। (यही कारण है कि प्राणी इस मायासे मोहित हो जाते हैं और निर्गुण-स्वरूप आपका साक्षात्‌रूपसे भजन नहीं कर पाते। अपने भोगोंके लिए ही निरन्तर कर्म करनेके कारण कर्मबन्धनसे उनकी निवृत्ति नहीं होती और परिणामस्वरूप उनकी संसार-गति भी दूर नहीं होती)॥ ११॥

तुभ्यं नमस्ते त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्त्तते देवनृतिर्यगात्मसु॥ १२॥

आप समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप होनेपर भी किसीसे लिप्त नहीं हैं। आपके अतिरिक्त किसी अन्यकी सत्ता न होनेके कारण आप सभीकी बुद्धिके (चेतनाके) साक्षीस्वरूप हैं। आपके अविद्याकृत भौतिक गुणोंसे प्रवाह होनेवाली सृष्टि अज्ञानमूलक है और वह देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् (पशु आदि) देहाभिमानी सभी जीवोंमें प्रबलरूपसे व्याप्त है, परन्तु आप उससे परे हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। (देवता जब स्वयं गुणोंके प्रवाहसे पतित हैं, तो वे अपने उपासकोंका उद्धार कैसे कर सकते हैं?)॥ १२॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं,
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम्॥ १३॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।

निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते॥ १४॥

हे भगवन्! उपासनाकी दृष्टिसे अग्नि आपका मुख, पृथ्वी आपके चरण, सूर्य आपके चक्षु और आकाश आपकी नाभि है। दिशाएँ आपके कर्ण, स्वर्ग आपका मस्तक, श्रेष्ठ देवगण आपकी बाहु, समुद्र आपकी कोख, वायु आपकी प्राणवायु एवं शारीरिक बलके रूपमें कल्पित है। वृक्ष एवं ओषधियाँ आपके रोम, मेघमाला आपके केश, पर्वत हड्डियाँ एवं नख, पलकोंका खोलना और मींचना दिन एवं रात, प्रजापति जननेन्द्रिय एवं वृष्टि आपके वीर्य रूपमें कल्पित हैं। इन्द्र आदि देवतागण आपके विराट स्वरूपके अङ्ग हैं, अतएव उन-उन देवताओंकी पूजा आपकी ही पूजा है॥ १३-१४॥

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽ-
प्युदुम्बरे वा मशका मनोमये॥ १५॥

हे सच्चिदानन्द-विग्रह! जिस प्रकार जलमें सूक्ष्म जीव-जन्तु और गूलरके फूलोंकी केसरमें (परस्पर वार्त्ताओंसे अनभिज्ञ) नन्हे-नन्हे कीट-मच्छर घूमा करते हैं, उसी प्रकार उपासनाके लिए मन आदि सोलह सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधारस्वरूप आपके कारण-विग्रहमें (विराट् शरीरमें) बहुत-से जीव-जन्तुओंसे भरे हुए लोक अपने-अपने लोकपालोंके साथ कल्पितरूपमें विचरण करते हैं अर्थात् ये कल्पितरूपमें ही हैं (आपके विराट स्वरूपमें अनेक जीवोंके साथ अवस्थित इन्द्रादि देवगण सभी नश्वर प्रकृतिके हैं। आप सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। आपका स्वरूप अविनाशी होनेके कारण आपके पूजक भी अविनाशी हो जाते हैं। देवता विनाशशील हैं, अतः उनके पूजक भी विनाश-गतिको प्राप्त करते हैं)॥ १५॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः॥ १६॥

हे प्रभो! मधु-कैटभ वध आदि प्रापञ्चिक लीलाओं एवं भक्तोंके प्रति अपने प्रेम-प्रकटनके लिए आप हयग्रीवादि जितने भी नित्य-सिद्ध स्वरूप प्रकट करते हैं, उनकी (उन सब रूपों एवं चरितोंकी) महिमाका गान करनेसे लोगोंके सब प्रकारके शोक-मोहादि सम्पूर्णरूपसे धुल जाते हैं। इसलिए वे लोग परमानन्दित होकर आपके निर्मल यशका गान करते हैं॥ १६॥

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे॥ १७॥

अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्त्तये॥ १८॥

हे भगवन्! मैं समस्तके कारण-स्वरूप आपके मत्स्यरूपको नमस्कार करता हूँ, इस रूपमें आप प्रलय-समुद्रमें इधर-उधर स्वच्छन्दरूपसे विचरण कर रहे थे। हे प्रभो! मैं आपके मधु-कैटभ विनाशन हयशीर्ष अवतारको, मन्दराचल धारण करनेवाले विशाल कच्छप अवतारको और प्रलय-सलिलमें पृथ्वीके उद्धारके लिए आपके वराहरूपको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ॥ १७-१८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च॥ १९॥

हे प्रह्लादादि सज्जनोंके भयविनाशन! आपके अद्भुत नृसिंहरूपको मेरा नमस्कार है। आपने वामनरूप धारणकर अपने पगोंको प्रसारित करते हुए तीनों लोकोंको नाप लिया था। मैं आपके वामनरूपको नमस्कार करता हूँ॥ १९॥

नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च॥ २०॥

हे देव! धर्मका लङ्घन करनेवाले घमण्डी क्षत्रियरूप जङ्गलका छेदन कर देनेवाले आपके परशुराम रूपको मैं प्रणाम करता हूँ। हे! राक्षसराज रावणका संहार करनेवाले रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामचन्द्ररूप! आपको मेरा बार-बार नमस्कार है॥ २०॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥ २१॥

हे प्रभो! वैष्णवों तथा यदुवंशियोंके अधिपति आपको मेरा प्रणाम है। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूपोंमें आपके द्वारा प्रकटित चतुर्व्यूह-स्वरूपको मेरा नमस्कार है॥ २१॥

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे॥ २२॥

हे भगवन्! वेदविरुद्ध शास्त्रोंका प्रणयन कर दैत्य-दानवोंको मोहित करनेवाले हे निर्दोषस्वभाव बुद्धरूप! आपको मेरा नमस्कार है। क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय होने लगेंगे, तब आप कल्किरूप धारणकर म्लेच्छोंका संहार करेंगे, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २२॥

भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु॥ २३॥

हे भगवन्! आपकी मायासे मोहित इस संसारमें समस्त प्राणी नश्वर देहादिमें मैं-मेरा इस प्रकारकी मिथ्या धारणा कर लेते हैं और देहाभिमानी होकर सकाम कर्म-मार्गोंमें भटकते रहते हैं॥ २३॥

अहञ्चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो॥ २४॥

हे प्रभो! आत्म-तत्त्व-ज्ञानसे अनभिज्ञ मैं भी स्वप्नके समान अस्थिर देह, पुत्र, पत्नी, धन एवं स्वजनादि विषयोंको सत्य समझ रहा हूँ और उनमें आसक्त होकर भटक रहा हूँ॥ २४॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम्।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम्॥ २५॥

हे प्रभो! कैसा अनर्थ हो गया! मैं अनित्यको (अनित्य कर्मफलोंको) नित्य, अनात्म-देहको आत्मा एवं दुःखस्वरूप गृह आदिको ही सुख मान बैठा। इस प्रकार सुख-दुःखादि द्वन्द्व भावोंमें ही रमता रहा और तमोगुणसे आवृत होकर आत्माके परम प्रेमास्पदस्वरूप आपको नहीं जान पाया॥ २५॥

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत् त्वाहं पराङ्मुखः॥ २६॥

जैसे कोई अनजान मनुष्य जलके लिए सरोवरपर जाये और उसे उसी जलसे उत्पन्न काई (शैवाल) आदि तृणोंसे ढका हुआ देखकर ऐसा समझ ले कि यहाँ जल नहीं है तथा जैसे सूर्यकी किरणोंमें तप्त बालूमें मिथ्या प्रतीत होनेवाले जलके लिए मृगतृष्णाकी (मरीचिकाकी) ओर दौड़ पड़े, वैसे ही आपका स्वरूप मुझे मायावृत प्रतीत होनेके कारण मैं आपका त्यागकर देहाभिमुखी विषयोंमें भटकता रहा॥ २६॥

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः॥ २७॥

मेरी बुद्धि तो विषय-वासनासे कलुषित हो गयी है। मुझे अविनाशी अक्षर वस्तुका किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है। मेरा मन सकाम कामनाओं और उनकी पूर्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोंसे क्षुब्ध हो गया है। ये दुर्दमनीय बलवान् इन्द्रियाँ मुझे विषय-वासनाओंकी ओर खींचती हैं और चञ्चल मन भी उन्हीं विषयोंकी ओर घसीटता जाता है, मैं इसे नियन्त्रण करनेमें समर्थ नहीं हो पाता हूँ। दीनताको प्राप्त ऐसी बुद्धिके द्वारा मनका प्रतिरोध करनेका उत्साह भी मुझमें नहीं रह गया है॥ २७॥

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥ २८॥

हे स्वामी! आज मैंने आपके उन चरणकमलोंका आश्रय कर लिया, जो दुष्टोंके लिए दुष्प्राप्य है। मैं तो इसे आपका अनुग्रह ही मानता हूँ। हे कमलनाभ! जिस समय जीवके संसार-दशासे मुक्त होनेका समय आता है, उसी समय शुद्ध भक्तोंकी सेवा द्वारा उनकी चित्तवृत्ति आपमें लग जाती है। (भगवान्‌की कृपा नहीं होनेसे साधु-सेवाका सुयोग एवं श्रीभगवान्‌में अनुराग प्राप्त नहीं होता)॥ २८॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये॥ २९॥

हे देव! आप समस्त ज्ञानके कारण-स्वरूप विज्ञानमय विग्रह हैं। जीवको सुख-दुःखादि प्राप्त करानेवाले जो भी काल, कर्म, स्वभाव, प्रकृति आदि हैं, आप उन सबके अधीश्वर हैं। आप परिपूर्णस्वरूप हैं। आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं। अपनी भक्ति प्रदानकर जीवोंको आप ही कृतार्थ करते हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ २९॥

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४०॥

हे वासुदेव (चित्ताधिष्ठाता)! आप ही मेरे सेव्य हैं। हे सर्वभूताश्रय! (अहङ्कारादिके अधिष्ठाता सङ्कर्षणरूप) आप दुष्ट भूपतियोंका क्षय करके समसत प्राणियोंके आश्रयरूपमें विराजित

होकर मुझमें ही निवास कीजिये। हे हृषीकेश! (बुद्धि एवं मनके अधिष्ठाता प्रद्युम्न एवं अनरुिद्ध दोनोंको एकीकृत करके मेरी मनादि इन्द्रियोंका संयमन कीजिये) मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो! इस शरणागतकी रक्षा कीजिये। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्तीने अक्रूरकी आकुल प्रार्थनाको इस प्रकार व्यक्त किया है—हे वसुदेवनन्दन! आप ही एकमात्र मेरे उपास्य बनकर मुझे सेवाका अधिकार प्रदान करें, जिससे मुझे दुष्ट कंसकी सेवारूप दुर्भाग्यकी ग्लानि सहन न करनी पड़े। आप समस्त प्राणियोंके निवास-स्थल हैं। आपके आश्रयमें ही मुझे स्थान मिले। विषय-वासनाके नागपाशमें आबद्ध होकर गृहान्धकूपमें मुझे पतित न होना पड़े। हे प्रभो! मुझ शरणागतकी रक्षा करें। इस दुस्तर संसार समुद्रसे मेरा उद्धार करें)॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका मथुरामें प्रवेशकर धोबीका वध, दर्जी और सुदामा मालीको वरदान

श्रीशुक उवाच—

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! अक्रूर अभी इस प्रकार स्तुति कर ही रहे थे कि भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपने जिस रूपको जलमें अक्रूरके दृष्टिपथपर प्रकट किया था, उसका उसी तरह परिवर्तन कर लिया, जिस प्रकार नाट्य दिखलानेवाला अभिनेता अभिनयके उपरान्त अपने अभिनेय रूपको परिवर्तित कर लेता है॥ १॥

सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्य सत्वरः।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत्॥ २॥

अक्रूरने भगवान्‌के उस दिव्यरूपको अन्तर्धान होते देखा, तो वे जलसे बाहर निकल आये। उन्होंने अपने सभी नित्य आवश्यक कार्योंको शीघ्र ही सम्पन्न किया और रथपर चले आये। उस समय वे बड़े ही आश्चर्यचकित हो रहे थे॥ २॥

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम्।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरसे पूछा—हे चाचाजी! क्या आपने इस भूमि, आकाश अथवा जलमें किसी विचित्र वस्तुको देखा है? आपके सजल एवं प्रफुल्लित नेत्रोंको देखकर ऐसा ही लग रहा है॥ ३॥

श्रीअक्रूर उवाच—

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥ ४॥

श्रीअक्रूरने कहा—हे विश्वरूप! इस पृथ्वी, आकाश अथवा जलमें जितनी भी विचित्र वस्तुएँ हैं, वे सभी विश्वरूपी आपमें ही विद्यमान हैं। अतः जब मैं आपको ही देख रहा हूँ, तब और कौन-सी वस्तु देखनेके लिए बची रह जाती है॥ ४॥

यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वामपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम्॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! आपमें ही सारे अद्भुत पदार्थ वर्त्तमान हैं, तो फिर भूमि, आकाश अथवा जलमें और क्या अद्भुत वस्तु देखूँगा? आपके बिना कहीं कुछ भी तो अद्भुत नहीं है॥ ५॥

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।
मथुरामनयद्रामं कृष्णञ्चैव दिनात्यये॥ ६॥

गान्दिनीनन्दन अक्रूर यह कहकर रथ हाँकने लगे। वे दिनके समाप्त होते-होते बलराम एवं श्रीकृष्णको लेकर मथुरापुरी जा पहुँचे॥ ६॥

मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसङ्गताः।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः॥ ७॥

हे राजन्! पथमें वे जहाँ-जहाँसे निकलते, ग्रामवासी उनके समीप आते। वे वसुदेवके पुत्र बलराम एवं श्रीकृष्णको देखकर बहुत आनन्दित होते। ये ग्रामीण उनसे अपनी दृष्टि हटा नहीं पाते, बस निर्निमेष (अपलक) नेत्रोंसे उन्हें देखते ही रह जाते॥ ७॥

तावद्व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे॥ ८॥

नन्द बाबा और व्रजवासियोंने रथका मार्ग छोड़कर सीधा-सरल मार्ग पकड़ लिया। अतः वे रथके पहुँचनेके पहलेसे ही नगरके समीप पहुँच गये थे और वहीं अर्थात् मथुरापुरीसे बाहर एक उद्यानमें उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे॥ ८॥

तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव॥ ९॥

नन्दबाबा तथा अन्य व्रजवासियोंके समीप पहुँचनेपर जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण समीप ही विनीत भावसे खड़े हुए अक्रूरके हाथोंको अपने हाथोंमें लेकर मुसकराते हुए कहने लगे (अक्रूरकी प्रसन्नताके लिए ही भगवान् मुसकराये हैं, हृदयमें व्रज-परित्यागका स्मरण हो आनेके कारण विषादका उदय हुआ है)॥ ९॥

भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम्।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम्॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अक्रूर! आप रथ लेकर पहले मथुरापुरीमें प्रवेश कीजिये और उसके बाद अपने घर चले जाइये। हमलोग यहीं उतरकर कुछ समय तक विश्राम करेंगे और फिर नगर देखने आयेंगे॥ १०॥

श्रीअक्रूर उवाच—

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल॥ ११॥

श्रीअक्रूरने कहा—हे प्रभो! मैं आप दोनोंको छोड़कर मथुरामें प्रवेश नहीं कर सकता। हे स्वामी! आप भक्तवत्सल हैं। अपने इस भक्तका त्याग मत कीजिये॥ ११॥

आगच्छ याम गेहान् नः सनाथन् कुर्वधोक्षज।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम॥ १२॥

हे अधोक्षज! आप आइये। पहले मेरे घर चलिये। हे सुहृद्वर! आप, बड़े भाई बलराम, नन्दबाबा आदि गोपजन तथा

अपने सङ्गी-साथियोंके साथ आइये और हमारे घरको कृतार्थ कीजिये (जो कंस कल मरने ही वाला है, वह मेरा क्या कर सकता, अतः पहले उन्हें अपने घर ले जाना चाहते हैं)॥ १२॥

पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः॥ १३॥

हे भगवन्! आपके चरण-धौत जल (गङ्गाजल या चरणामृत) घरके आँगनमें पड़नेसे गृहस्थोंके पितर, अग्नि एवं देवता सभी तृप्त हो जाते हैं। हम भी गृहस्थ हैं। आप इन चरणोंकी धूलिसे हमारे घरको भी पवित्र कीजिये॥ १३॥

अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीत् श्लोक्यो बलिर्महान्।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिञ्चैकान्तिनान्तु या॥ १४॥

हे प्रभो! महात्मा राजा बलि आपके चरणकमलोंको पखारकर पुण्य यशके योग्य बने थे। उन्होंने यश ही नहीं, ऐकान्तिक तथा शुद्ध भक्तोचित गति एवं अतुल्य ऐश्वर्यको भी प्राप्त किया था॥ १४॥

आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकान् शुचयोऽपुनन्।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः॥ १५॥

हे देव! आपके पादपद्मोंके पखारे हुए अप्राकृत जल—गङ्गाजीने तीनों भुवनोंको पवित्र किया है। स्वयं महादेवने इसे अपने मस्तकपर धारण किया है और महाराज सगरके मरे हुए पुत्रोंने इसका स्पर्श करके सद्गतिको प्राप्त किया है॥ १५॥

देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्त्तन।
यदूत्तमोत्तमःश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते॥ १६॥

हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे पुण्यश्रवण-कीर्त्तन! आपके यशका श्रवण एवं कीर्त्तन अत्यन्त पवित्र तथा मङ्गलकारी है। हे यदुवंश-शिरोमणे! हे नारायण! उत्तम पुरुष आपके गुणोंका कीर्त्तन करते रहते हैं, इसलिए आप उत्तमश्लोक कहलाते हैं। हे

भगवान् नारायण! मैं आपको नमस्कार करता हूँ (मेरे घर आयें और मुझ पतितके घरको पवित्र करें)॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच—

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम्॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—चाचाजी! मैं आर्य बलदेवके (दाऊ भैयाके) साथ आपके घर बादमें आऊँगा, सर्वप्रथम मेरा कर्त्तव्य है—यदुवंशियोंके परम द्रोही कंसका वध करके अपने बान्धवों एवं सुहृदोंको आनन्द प्रदान करना॥ १७॥

श्रीशुक उवाच—

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान्के इस प्रकार कहनेपर दुःखी एवं निराश होकर अक्रूरने मथुरामें प्रवेश किया और कंसको बलराम एवं श्रीकृष्णके आनेका समाचार प्रदान करके अपने घर चले गये॥ १८॥

अथापराह्ने भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः।
मथुरां प्राविशद्गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः॥ १९॥

अनन्तर अपराह्नमें (तृतीय प्रहरमें) भगवान् श्रीकृष्णने दाऊ भैया और ग्वालबालोंको अपने साथ लेकर मथुरापुरीके दर्शनकी इच्छासे नगरमें प्रवेश किया॥ १९॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम्॥ २०॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम्।

वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रूमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥ २१ ॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥ २२ ॥
आपूर्णकुभैदधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥ २३ ॥

मथुरापुरीमें प्रवेश करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि पुरीके ऊँचे-ऊँचे प्रवेश-द्वार—गोपुर स्फटिक मणियोंसे बनाये गये हैं। घरोंके द्वारों—गोपुरोंको भी स्फटिकसे रचित किया गया है। पुरीके कपाट एवं तोरण (मेहराब) बृहत् एवं स्वर्ण-निर्मित हैं। धान्यादि शस्यके भण्डार ताँबे और पीतलसे बने हुए हैं। दुर्गम खाईके कारण नगरमें प्रवेश करना आसान नहीं है। स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर उद्यान एवं उपवन नगरीकी शोभा बढ़ा रहे हैं। पुरीमें सुवर्णसे सजे चौराहे, धनियोंकी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, निष्कुट (घरमें बने निजी विश्राम-उद्यान), शिलोपजीवियोंके (कारीगरोंके) बैठनेके स्थान या नगरवासियोंके लिए सभा-भवन एवं अन्यान्य निवासगृह नगरीकी सुन्दरता बढ़ा रहे थे। वैदूर्य, वज्र (हीरे), स्फटिक, नीलम, मूँगा, मोती एवं मरकतसे जड़े हुए छज्जे, वक्र काष्ठसे आच्छादित चबूतरे, जालीदार झरोखे आदि जगमगा रहे थे। रत्नजटित चन्द्रशालिकाओंपर बैठे हुए कबूतर, मोर आदि पक्षी कलरव कर रहे थे। मुख्य राजपथों, पण्य-गलियों (व्यापारिक गलियों), अवान्तर-मार्गों, चौराहों और आँगनोंमें पानीका छिड़काव किया गया था। स्थान-स्थानपर मालाएँ, नवाङ्कुरित जौ, खील एवं चावल बिखरे हुए थे। घरोंके द्वारों एवं प्रवेश मार्गोंपर तण्डुलोंके

ऊपर दही एवं चन्दनसे लीपे हुए तथा चित्रकारियोंसे अङ्कित जलपूर्ण कलश रखे गये थे, जिन्हें चारों ओर फूलों एवं स्वर्ण दीपोंकी पंक्तियोंसे सजाया गया था। नवीन आम्रपल्लव एवं फूलोंके गुच्छे उनके ऊपर विराजित थे। केले एवं सुपारीके वृक्षोंसे उनके समीपके (पीछेके) स्थानोंको भी अलंकृत किया गया था। इनके ऊपर ध्वजा एवं रेशमी वस्त्रोंसे बनी पताकाएँ उड़ रही थीं॥ २०-२३॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो
हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः॥ २४॥

हे राजन्! वसुदेवनन्दन बलराम और श्रीकृष्णने ग्वालबालोंके साथ राजपथसे पुरीमें प्रवेश किया। उन्हें देखनेके लिए पुरकी नारियाँ अति शीघ्रतासे आयीं और कोई-कोई तो उत्सुकताके साथ अटारियोंपर चढ़ गयीं॥ २४॥

काश्चिद्विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा
नाङ्क्त्वा द्वितीयन्त्वपराश्च लोचनम्॥ २५॥

उत्सुकताके कारण पुरस्त्रियोंमेंसे किसी-किसी स्त्रीने शीघ्रताके कारण अपने वस्त्र एवं आभूषण उल्टे ही पहन लिये। किसीने कङ्गनों एवं कुण्डलोंके जोड़ेमेंसे एक ही पहना और दूसरा पहनना भूलकर ऐसे ही आ गयी। किसीने तो बायीं आँखमें अञ्जन लगाया और दायीं आँखोंको बिना आँजे ही चल पड़ी। किसीने कानोंमेंसे एकमें ही पत्र नामक आभूषण धारण कर रखा था और कोई पैरोंमेंसे एकमें ही पायजेब पहनकर दौड़ी चली आयी॥ २५॥

अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः॥ २६॥

सबके हृदयमें आनन्द और उत्साह समाया हुआ था। किसीने भोजन करना आरम्भ ही किया था, वह उसे छोड़कर ऐसे ही दौड़ पड़ी, किसीने सखियोंके द्वारा वैवाहिक कर्मके लिए तेल-उबटन लगवाया था, वह बिना स्नान किये ही उसी अवस्थामें चल पड़ी और कोई नव-विवाहिता पति-परिक्रमा अर्थात् फेरे पूरे किये बिना ही चल पड़ी। कोई कोलाहल सुनकर निद्रासे उठ बैठी और चल पड़ी और कोई नवजात शिशुको स्तन-पान करा रही थी, वह उसे गोदीसे उतारकर भगवान्को देखनेके लिए चल पड़ी॥ २६॥

मनांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम्॥ २७॥

कमललोचन पराक्रमशाली भगवान् श्रीरमण मतवाले गजराजके समान सुललित गतिसे चल रहे थे। उनका श्री अर्थात् लक्ष्मी-विमोहन रूप एवं श्यामसुन्दर-विग्रह कामिनियोंके नेत्रोंको चाक्षुष मिलन द्वारा आनन्दोत्सव प्रदान कर रहा था और श्रीकृष्ण विलासपूर्ण प्रगल्भ-हास्य एवं प्रेमभरी चितवनसे वे उनके हृदयोंको चुरा रहे थे। वे नयनानन्द-वितरणके साथ चित्त-रत्नका भी हरण कर रहे थे॥ २७॥

दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं
तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्त्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं
हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम्॥ २८॥

हे शत्रुदमन! श्रीकृष्णकी अद्भुत लीलाओंके विषयमें बहुत दिनोंसे सुननेके कारण मथुरापुरीकी स्त्रियोंके हृदय तद्गत (कृष्णगत) हो गये थे। आज श्रीकृष्णको साक्षात् देखकर उनके चित्त द्रवित हो गये। भगवान् श्रीकृष्णने भी उन्हें अपनी अनुरागमयी चितवन एवं उत्तम हास्यरूप अमृतसे अभिसिञ्चनकर उनका सम्मान किया। उस समय उन पुररमणियोंने नेत्रोंके पथसे अपने हृदयमें स्फुरित आनन्दमयविग्रह श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया। इससे उनके शरीर रोमाञ्चित हो गये तथा बहुत दिनोंसे श्रीकृष्णको न देखनेके कारण विरह-व्यथा शान्त हो गयी॥ २८॥

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः।
अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ॥ २९॥

परीक्षित्! मथुराकी वे नारियाँ भवनोंके शिखरोंपर चढ़ी हुई थीं, प्रीतिके आधिक्यसे उनके मुख कमलके समान प्रफुल्लित हो रहे थे। श्रीकृष्ण एवं बलरामको देखते ही वे उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगीं॥ २९॥

दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः॥ ३०॥

राजमार्गमें स्थान-स्थानपर ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंने बड़े प्रसन्न मनसे दधि, अक्षत, जल भरे कलश, फूलोंके हार, सुगन्धित द्रव्य, चन्दन एवं अन्यान्य विविध उपहारोंसे उनकी अर्चना की॥ ३०॥

ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत्।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ॥ ३१॥

उस समय पुर-स्त्रियाँ कहने लगीं—अहो! गोपियोंने न जाने कौन-सी महान् तपस्या की है, जिससे वे मनुष्य मात्रके लिए महा-उत्सव-स्वरूप इन बलराम एवं श्रीकृष्णके नित्य-निरन्तर दर्शन करती रहती हैं॥ ३१॥

रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च॥ ३२॥

इसी समय श्रीकृष्णने देखा कि वस्त्रोंको रङ्गनेवाला कोई धोबी उनकी ओर चला आ रहा है, तो वे उसके समीप गये और उससे धुले हुए उत्तम वस्त्र माँगे (रजक दो प्रकारका होता है—एक केवल मल-शोधक होता है और दूसरा वस्त्रको रङ्गनेवाला। वह रजक वस्त्रपर चित्रकारी भी करता है। इस स्थलपर इसी रङ्गकारको रजक कहा गया है)॥ ३२॥

देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः॥ ३३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भाई रजक! हमें पहननेके लिए उपयुक्त वस्त्र दे दो। वास्तवमें हम दोनों इस वस्त्र-दानके योग्य अधिकारी हैं। यदि तुम हमें वस्त्र प्रदान करोगे, तो तुम्हारा परम कल्याण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ३३॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः॥ ३४॥

परीक्षित्! रजक राजा कंसका सेवक था, इसीलिए वह दुरभिमानसे मतवाला हो रहा था। भगवान् तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तथापि उन्होंने इस प्रकार याचना-लीला की, परन्तु वह मूर्ख देना तो दूर रहे, अत्यन्त क्रोधित हो उठा और उन्हें अपमानित-सा करता हुआ कहने लगा॥ ३४॥

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ॥ ३५॥

अरे उद्दण्ड बालको! तुमलोग पर्वतों और जङ्गलोंमें विचरण करते रहते हो। वहाँ ऐसे ही वस्त्र पहना करते हो क्या? तो अब राज-द्रव्य लेनेकी बात क्यों सोच रहे हो?॥ ३५॥

याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै॥ ३६॥

अरे मूर्खो! यहाँसे शीघ्र भाग जाओ। यदि कुछ दिन और जीना चाहते हो, तो फिर कभी भी ऐसी अनुचित माँग मत करना। राजपुरुष तुम्हारे जैसे अहङ्कारियों एवं उद्दण्डोंको बाँध लेते हैं, उनका सब कुछ छीन लेते हैं और उनका वध कर डालते हैं॥ ३६॥

एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत्॥ ३७॥

धोबी इस तरह अहङ्कारपूर्वक आत्मप्रशंसा करते हुए बहकी-बहकी बातें करने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधित हो उठे और उन्होंने धोबीको अपने हाथके अग्रभागसे ऐसा तमाचा मारा कि उसका सिर धड़से अलग हो गया॥ ३७॥

तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान् विसृज्य वै।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः॥ ३८॥

धोबीके अनुचरोंने जब इस दृश्यको देखा, तो वे वस्त्रोंके गट्ठर वहीं छोड़-छाड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये। भगवान् श्रीकृष्णने उन वस्त्रोंको ले लिया॥ ३८॥

वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित्॥ ३९॥

परीक्षित्! श्रीकृष्ण और बलदेवजीने उनमेंसे अपने प्रियकर, रुचिकर, मनोरम वस्त्र लेकर स्वयं पहन लिये और कुछ ग्वालबालोंको भी दे दिये। वे बचे कपड़ोंको वहीं पृथ्वीपर फेंककर चल पड़े॥ ३९॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत्।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥ ४०॥

तत्पश्चात् एक दर्जी (बुनकर) श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर अतिशय आनन्दित हो गया। उसने विचित्र-वर्णोंके सुन्दर वस्त्रोंसे बने हुए वस्त्राभूषणोंसे उन दोनोंका यथायोग्य (मल्लोचित) सम्यक् वेश-विन्यास किया। (मल्ल-क्रीड़ामें वस्त्र खण्डोंको ही अलङ्कार रूपमें निर्मित करना उचित है, क्योंकि शरीरमें पीड़ाकी सम्भावना हो सकती है) उसने दोनों भाइयोंको अपने-अपने वर्णोंके अनुरूप वस्त्रोंसे निर्मित कङ्गन-कुण्डलोंसे ऐसे सुसज्जित किया कि वे वस्त्र-आभूषण मणियों जैसी शोभाको प्राप्त हो रहे थे॥ ४०॥

नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ॥ ४१॥

अद्भुत रीतिसे वस्त्राभरणोंसे विभूषित बलरामजी और श्रीकृष्ण इस प्रकार सुशोभित होने लगे, मानो उत्सव-क्षेत्रमें शुक्ल एवं कृष्ण-वर्णके दो किशोर गजशावक शोभायमान हो रहे हों॥ ४१॥

तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः।
श्रियञ्च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम्॥ ४२॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस दर्जीपर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे इस लोककी परम सम्पत्ति, शारीरिक बल, प्रभाव, स्मृति एवं इन्द्रियोंसे सम्बन्धित नैपुण्य इत्यादि प्रदान कर दिये और मृत्युके बाद सारूप्य-मुक्तिका भी वरदान दे दिया॥ ४२॥

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि॥ ४३॥

प्रिय तात! इसके बाद दोनों भाई वहाँसे सुदामा नामक मालीपर अनुग्रह करनेके लिए उसके घर गये। वह उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और पृथ्वीपर सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करने लगा॥ ४३॥

तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः॥ ४४॥

उसने बलराम और श्रीकृष्णको आसनपर बिठाया और पाद-प्रक्षालन योग्य जलसे उनके चरण पखारे। अर्घ्य (हाथ धोनेके लिए जल) प्रदान किया। तत्पश्चात् गन्ध आदि आठों द्रव्य, धूप, दीप, नैवेद्य, चामर बीजन, नीराजन (आरती), ताम्बूल, चन्दनादिके अनुलेपन आदिसे उनकी और उनके साथियोंकी विधिपूर्वक पूजा की॥ ४४॥

प्राह नः सार्थकं जन्म पावितञ्च कुलं प्रभो।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम्॥ ४५॥

तदनन्तर सुदामा श्रीकृष्णसे कहने लगा—हे प्रभो! आप दोनोंके आगमनेसे मेरा जन्म सार्थक हो गया और मेरा कुल भी पवित्र हो गया। आज तो आपके शुभागमनसे हमारे देव, ऋषि एवं पितर सभी बड़े सन्तुष्ट हो गये हैं॥ ४५॥

भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम्।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च॥ ४६॥

आप दोनों इस विश्वके परम कारण हैं। आप इस जगत्के उत्थान और कल्याणके लिए ही अपने अंशोंके साथ अवतीर्ण हुए हैं॥ ४६॥

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि॥ ४७॥

हे प्रभो! आप दोनों जगत्के परम सुहृद् एवं आत्म-स्वरूप हैं। आप सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रखते हैं, तो भी आपका अपने भक्तोंके प्रति विशेषरूपसे प्रेम एवं अनुग्रह रहता है, परन्तु इसे आपका वैषम्य भाव नहीं कहा जा सकता (ब्राह्मण एवं चाण्डाल आदि सत्कर्म एवं कुकर्मकारीमेंसे जो कोई आपका भजन करता है, उसीसे आप प्रेम करते हो—आपमें कोई जाति आदि वैषम्य नहीं है—क्योंकि भजनकारी बुनकर और मुझ मालीको अपनाकर आपने कृतकृत्य किया है)॥ ४७॥

तावाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम्।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते॥ ४८॥

हे नाथ! जब आप दोनों किसी भृत्यको आज्ञा देकर किसी कार्यमें नियुक्त करते हैं, तो यह उस व्यक्तिपर आपका महान् अनुग्रह होता है। अब आप दोनों अपने इस सेवकको आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥ ४८॥

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ॥ ४९॥

हे राजेन्द्र! सुदामा मालीने अत्यन्त आनन्दपूर्वक जब अपनी प्रार्थना भगवान्‌को निवेदित की, तो वह भगवान्‌की इच्छाको स्वयं ही समझ गया। उसने प्रेम एवं आनन्दमें भरकर श्रीकृष्ण एवं बलरामको अति सुन्दर सुगन्धित, सुकुमार, शीतल एवं शोभन वर्णोंके पुष्पोंके हार पहनाये॥ ४९॥

ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान्॥ ५०॥

बलराम, श्रीकृष्ण एवं उनके सङ्गी ग्वालबाल उन मालाओंसे विभूषित होकर अति प्रसन्न हुए। तब भगवान्‌ने विनीत भावसे प्रणत एवं शरणागत सुदामाको वर प्रदान करनेकी अभिलाषा की॥ ५०॥

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम्॥ ५१॥

सुदामाने उनसे यही वर माँगा कि—हे भगवन्! समस्त प्राणियोंके आत्मा आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल भक्ति हो, आपके भक्तोंके प्रति मेरा सौहार्द एवं मैत्री हो और सभी प्राणियोंके प्रति अहैतुक दयाका भाव बना रहे॥ ५१॥

इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियञ्चान्वयवर्द्धिनीम्।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमथुरापुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभीष्ट वर प्रदान किये। साथ ही, उसके द्वारा अप्रार्थित वंशपरम्पराके साथ बढ़ता हुआ ऐश्वर्य, बल, आयु एवं कान्तिके भी वर दिये और बड़े भैया बलराम आदिके साथ वहाँसे निकलकर आगे चले (उनका भक्त-वात्सल्य ही ऐसा है कि भक्तके न चाहनेपर भी वे उसे सब कुछ प्रदान कर देते हैं)॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इकतालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

कुब्जापर कृपा, धनुष-भङ्ग, कंसके रक्षकोंका विनाश तथा कंसकी आतुरता

श्रीशुक उवाच—

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् माधव सुदामा मालीके घरसे निकलकर राजपथकी ओर अग्रसर हुए। उस समय उसी मार्गपर चन्दनादि अङ्ग-विलेपनका पात्र लेकर एक कुब्ज-देह-वाली त्रिवक्रा सुन्दरी युवती जा रही थी, जिसका नाम 'सैरिन्ध्री' था। रसस्वरूप श्रीकृष्ण अपने भक्तोंको सुख प्रदान करनेवाले हैं। वे उसे देखकर हँसते हुए कहने लगे (सत्यभामा भगवान्की अन्तरङ्गा शक्ति हैं और वे भू-शक्ति भी कहलाती हैं। इसी भू-शक्तिकी अंशरूपा है—कुब्जा। कुब्जाके साथ की गयी कृष्णकी गतिविधियाँ उनके अपने सखाओंके मनोरञ्जनके उद्देश्यसे भी थीं)॥ १॥

का त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं
कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते न चिराद्भविष्यति॥ २॥

हे सुन्दरी! तुम कौन हो? ओह! अङ्गराग! हे वरोरु! यह किसके लिए ले जा रही हो? सच-सच बतलाओ! हे कल्याणि! यह उत्तम चन्दन और अङ्गराग हमें भी दो। इस दानसे तुम्हारा शीघ्र ही कल्याण होगा (कंसका भय मत करो)॥ २॥

श्रीसैरन्ध्र्युवाच—

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता
त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्म्मणि।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति॥ ३॥

तब साध्वी कुब्जाने कहा—हे परम सुन्दर! (ग्रीवा, वक्षः एवं कटिप्रदेश वक्र होनेके कारण) मेरा नाम त्रिवक्रा है। मैं कंसकी दासी हूँ। (मैं आपकी दासी हूँ—इस स्थलपर यह भी द्योतित हो रहा है) चन्दनादि-अनुलेपनमें मैं अति निपुण हूँ। इसी कारणसे कंस मेरा विशेष सम्मान करते हैं। मेरा यह अनुलेपन कंसको बहुत प्रिय है, तथापि आप दोनोंके अतिरिक्त इसे धारण करनेके लिए और कौन योग्यपात्र हो सकता है?॥ ३॥

रूपपेशलमाधुर्य्यहसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम्॥ ४॥

परीक्षित्! वह कुब्जा तो भगवान् श्रीकृष्णके रूप, सौन्दर्य, सौकुमार्य, रसिकता, दक्षता (सम्मोहन कर्ममें), मुसकान, प्रेमालाप एवं चारु चितवनसे मोहित हो गयी। उसने दोनों भाइयोंको सुन्दर और गाढ़ अङ्गराग प्रचुर मात्रामें 'कृपया इसे लें' यह कहते हुए दे दिया॥ ४॥

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ॥ ५॥

श्रीकृष्ण एवं बलरामने अपने-अपने वर्णोंसे भिन्न-भिन्न अर्थात् श्रीकृष्णने श्यामल वपुपर पीले रङ्गका और बलरामने अपने गौरवपु पर लाल रङ्गका अङ्गराग लगाया। अपने-अपने ऊर्ध्व अङ्गोंपर अनुलिप्त सर्वोत्तम अङ्गरागसे अनुरञ्जित होकर वे दोनों अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे॥ ५॥

प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्।
ऋज्वीं कर्त्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम्॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्ण सैरिन्ध्री कुब्जासे प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने दर्शनके अव्यर्थ फलको दिखलानेके लिए उस सुन्दर मुखवाली त्रिवक्राकी कुब्ज देहको सीधा करनेकी अभिलाषा की॥ ६॥

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना।
प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः॥ ७॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों चरणोंसे कुब्जाके दोनों पैरोंके पञ्जोंको दबा दिया और हाथ ऊँचा करके ऊपरकी ओर उठी दो अङ्गुलियोंसे उसकी ठोड़ीको पकड़ा और उसकी देहको तनिक ऊपरकी ओर उचका दिया। दो अङ्गुलियोंसे अर्थात् उसके प्रारब्ध कर्मको जो उसके कूबड़का कारण था, मिटा दिया और दूसरी अङ्गुलीसे उसकी शारीरिक वक्रताको दूर कर दिया॥ ७॥

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा॥ ८॥

मुकुन्द श्रीकृष्णके स्पर्शसे कुब्जा तत्काल ही सीधी खड़ी हो गयी। उसके अङ्ग सीधे एवं सम-अनुपातवाले हो गये। वह विशाल नितम्ब एवं पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम रमणीरूपमें परिणत हो गयी॥ ८॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया॥ ९॥

इस प्रकार कुब्जा उसी समय रूप, गुण एवं उदारतासे सम्पन्न हो गयी। भगवान् केशवके प्रति उसके मनमें काम वासना जाग उठी। अतः वह मृदु-मन्द मुसकानके साथ उनके उत्तरीयके छोरको पकड़कर कहने लगी—॥ ९॥

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ॥ १०॥

हे वीर शिरोमणे! मेरे साथ घर आइये। यहाँ आपको छोड़कर मेरी जानेकी इच्छा नहीं हो रही है, क्योंकि हे पुरुषवर! आपने

मेरे चित्तको उन्मथित कर डाला है। आपके स्पर्शसे मैं उन्मत्त-सी हो रही हूँ। अतः इस दासीपर आप प्रसन्न होइये॥ १०॥

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः।
मुखं वीक्ष्यानु गोपानां प्रहसंस्तामुवाच ह॥ ११॥

कुब्जाके द्वारा इस प्रकार अनुनय-विनय करनेपर श्रीकृष्ण बलदेवकी ओर देखने लगे, जो यहाँ घटित होनेवाले समस्त क्रियाकलापोंको साक्षात् देख रहे थे। तत्पश्चात् भगवान्‌ने गोपोंके मुखोंकी ओर भी दृष्टि डाली। तब मन्द-मन्द मुसकराते हुए वे उस रमणीसे कहने लगे॥ ११॥

एष्यामि ते गृहं सुभ्रुः पुंसामाधिविकर्शनम्।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम्॥ १२॥

हे सुभ्रु! तुम्हारा घर संसारी पुरुषोंकी मानसिक व्यथाको दूर करनेका साधन है। तुम हमारे जैसे पथिकोंकी परम आश्रय हो। अपना कार्य सम्पन्न होनेपर मैं तुम्हारे घर अवश्य ही आऊँगा (भगवान् श्रीरामके कोटि-काम-विनिन्दित सौन्दर्यपर जो शूर्पणखा मोहित हो गयी थी, वही अब त्रिवक्रा कुब्जा बनी है। रावणको अपने नाक-कान कटनेका समाचार देकर वह पुष्कर तीर्थ चली गयी और जलमें खड़े होकर भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगी। दस हजार वर्ष तपस्या करनेके बाद भगवान् शङ्करके वरदानसे उसे इस जन्ममें श्रीकृष्ण प्राप्त हुए हैं। आचार्योंने इसकी रतिको साधारण कहा है)॥ १२॥

विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिक्पथैः।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्च्चितः॥ १३॥

श्रीकृष्णने इस प्रकार मीठी-मधुर बातें करके उसे विदा कर दिया। अब श्रीकृष्ण बड़े भैयाके साथ व्यापारियोंके बाजारकी ओर अग्रसर हुए। पथपर व्यापारियोंने ताम्बूल, माला और चन्दनादि विविध प्रकारके उपहारोंसे सम्मान करते हुए दोनों भाइयोंकी पूजा की॥ १३॥

तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः।
विस्रस्तवासःकबर-वलयालेख्यमूर्त्तयः ॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनमात्रसे ही मथुराकी स्त्रियोंमें मिलनकी वासना जाग उठी। वे अपनी सुध-बुध खो बैठीं। (कृशताके कारण) उनके वसन, कबरी-बन्धन और वलयादि स्खलित होने लगे। नवमी दशाके उद्भवके कारण ये चित्रलिखित-सी मूर्त्तियोंके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयीं (इन वणिकोंकी पत्नियाँ परम भक्त थीं। कन्दर्पकी दस दशाओं—नयन-सम्मिलन-जनित अनुराग, चित्तासक्ति, किङ्कर्त्तव्य इत्यादि सङ्कल्प, निद्रा-लोप, कृशता, विषय-निवृत्ति, लज्जा-राहित्य, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृति—मेंसे ये दर्शनमात्रसे ही नवम दशा तक पहुँच गयी थीं, जब कि ये दशाएँ कालक्रमसे उदित होती हैं)॥ १४॥

ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः।
तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम्॥ १५॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने स्थानीय पुरवासियोंसे धनुष-यज्ञका स्थान पूछा तथा धनुषके रक्षकों एवं कंसके सेवकोंको मोहित-से करते हुए और पूछते हुए रङ्गशालामें प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने इन्द्रधनुषके समान एक अद्भुत धनुष देखा॥ १५॥

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्च्चितं परमर्द्धिमत्।
वार्य्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे॥ १६॥

बहुमूल्य अलङ्कारोंसे युक्त होनेके कारण वह धनुष परम समृद्धिवान् था। उसकी बहुत पूजा की गयी थी। बहुत-से सैनिक उसकी रक्षा कर रहे थे। श्रीकृष्ण आगे बढ़े, रक्षकोंने उन्हें रोका, फिर भी उन्होंने बलपूर्वक धनुषको उठा ही लिया॥ १६॥

करेण वामेन सलीलमुद्धृतं,
सज्यञ्च कृत्व निमिषेण पश्यताम्।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो,
यथेक्षुदण्डं मदकर्य्युरुक्रमः॥ १७॥

महाबलशाली श्रीकृष्णने खेल-ही-खेलमें बायें हाथसे धनुषको उठाया और पलक झपकते ही उसपर डोरीका सन्धान किया। तत्पश्चात् सबके देखते-ही-देखते धनुषकी डोरी खींची और बीचों-बीचसे उसे इस प्रकार तोड़ डाला, जिस प्रकार मदमस्त हाथी ईखको तोड़ डालता है॥ १७॥

धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः।
पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत्॥ १८॥

धनुषके टूटनेपर उससे महाशब्द निकला, जिससे आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी एवं दिशाएँ गूँज उठीं। कंस भी उसे सुनकर भयभीत हो गया॥ १८॥

तद्रक्षिणः सानुचरं कुपिता आततायिनः।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति॥ १९॥

उस समय हिंसक स्वभाववाले धनुषके आततायी रक्षक क्रोधित हो उठे। उन्होंने अनुचरों सहित श्रीकृष्णको पकड़ लेनेकी इच्छासे उन्हें घेर लिया। इसके बाद 'इसे पकड़ लो, बाँध लो, भाग न जाय, इसे मार डालो, जाने न पावे' इस प्रकार चिल्लाने लगे॥ १९॥

अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः॥ २०॥

बलराम और श्रीकृष्ण भी उन आततायियोंके दुरभिप्रायको जानकर किञ्चित् क्रोधित हो गये और टूटे धनुषके दोनों खण्डोंको हाथोंमें लेकर उनसे ही उन असुरोंका संहार कर दिया॥ २०॥

बलञ्च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात् ततः।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः॥ २१॥

तत्पश्चात् कंसके द्वारा सहायताके लिए भेजी हुई सैन्य टुकड़ियोंका भी उन्हीं धनुषखण्डोंसे वध कर डाला। वे यज्ञ-गृहके

प्रधान द्वारसे बाहर निकले और मधुपुरीके सुखप्रद ऐश्वर्यका अवलोकन करते हुए बड़े आनन्दके साथ विचरण करने लगे॥ २१॥

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपञ्च मेनिरे विबुधोत्तमौ॥ २२॥

जब पुरवासियोंने बलरामजी और श्रीकृष्णके उस अद्भुत पराक्रमकी बात सुनी और वीर्य, तेज, धीरता, साहस एवं सौन्दर्यकी अतिशयता एवं विचित्रताको देखा, तो यह निश्चय कर लिया कि हो-न-हो ये कोई श्रेष्ठ देवता हैं या तो विष्णु हैं अथवा रुद्र हैं॥ २२॥

तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान्।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः॥ २३॥

इस प्रकार दोनों भाई स्वेच्छासे स्वच्छन्दतापूर्वक नगरीमें विचरण करने लगे। जब सूर्यास्त होने लगा, तब वे ग्वालबालोंके साथ उसी स्थानपर लौट आये, जहाँ उनके छकड़े रखे हुए थे। इस समय व्रजराजका वही निवासस्थान था। श्रीकृष्ण-बलरामने इसी गोपोंके डेरेमें भोजन एवं विश्राम किया था॥ २३॥

गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या
आशासताशिष ऋता मधुपुर्य्यभूवन्।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं
हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः॥ २४॥

स्वयं लक्ष्मीदेवी तीनों लोकोंके ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवताओंका परित्याग करके जिनकी अङ्ग-कान्तिके आश्रयकी कामना करती हैं, मधुपुरमें स्थित लोग उन्हीं पुरुषभूषण श्रीकृष्णकी अङ्ग-कान्तिका दर्शन कर रहे हैं। विरहातुर गोपियोंने समस्त शोभाके आश्रयणीय श्रीकृष्णके मथुरा-आगमनपर 'आज मधुपुरवासियोंका सुप्रभात होगा'— इत्यादि जो-जो बातें कही थीं, वे अक्षर-अक्षर सत्य हुईं॥ २४॥

अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम्।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम्॥ २५॥

सेवकोंने जब श्रीकृष्ण और बलरामके हाथ पैर धो दिये, तब उन्होंने दूधसे बनी खीर आदिका भोजन किया, जिसे यशोदाने बनाकर छकड़ेपर रख दिया था। यद्यपि कंसका हिंसारूप अभिप्राय उन्हें ज्ञात हो गया था, तब भी वे उस रातको सुखपूर्वक वहीं सो गये। नन्द महाराज भयभीत होकर दोनोंसे कह रहे थे—आज तुमने क्या कर डाला! पूजित धनुषको क्यों तोड़ा? रक्षकोंको क्यों मारा? हाय! हाय! मैं तुम दोनोंको गोष्ठसे क्यों लाया? गहरी निद्राके कारण उन्होंने कुछ नहीं सुना, परन्तु नन्द बाबा नहीं सोये॥ २५॥

कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम्॥ २६॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्म्मतिः।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च॥ २७॥

इधर, श्रीकृष्ण और बलरामने खेल-ही-खेलमें अनायास ही धनुषको तोड़ डाला है और सहायताके लिए भेजी हुई उसकी सेनाओंका वध कर दिया है—यह सुनकर दुर्बुद्धि कंस चिन्तित और भयभीत हो गया। उसे बहुत देर तक नींद नहीं आयी। स्वप्न और जागरण दोनों ही अवस्थाओंमें वह मृत्युको सूचित करनेवाले विविध अपशकुनोंको देखने लगा॥ २६-२७॥

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा॥ २८॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम्॥ २९॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम्।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः॥ ३०॥

अन्यानि चेत्थन्भूतानि स्वप्नजागरितानि च।
पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया॥ ३१॥

कंसने देखा कि जलादिमें उसका प्रतिबिम्ब तो दिखायी दे रहा है, पर मस्तक दिखायी नहीं देता। नेत्रोंमें बाधा पहुँचानेवाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है, तो भी सूर्यादि ज्योतिष्क दो-दो रूपोंमें दिखायी दे रहे हैं। छायामें छिद्र दिखायी पड़ रहे हैं, कानोंके छिद्रोंको अङ्गुलीसे ढक देनेपर भी अन्तःस्थित प्राणवायुकी जो घूँ-घूँ ध्वनि सुनायी पड़नी चाहिये, वह भी सुनायी नहीं देती, वृक्षोंका वर्ण सुनहरा दिखायी देता है, बालू अथवा कीचड़में अपने पैरोंके चिह्न दिखायी नहीं देते—इस प्रकार जाग्रतावस्थामें उसे बहुत-से अशुभ लक्षण दिखायी दे रहे थे। इसी प्रकारसे स्वप्नावस्थामें भी प्रेतोंका आलिङ्गन, गर्दभ-आरोहण, विषका खाना, जवा कुसुम (अड़हुल) की माला धारण करना, तेलसे सिक्त देह और किसी नग्न पुरुषका जाना एवं अन्यान्य बहुत-से अपशकुनोंको देखकर उसे मृत्युका भय लगने लगा और वह दुश्चिन्ताके कारण सो भी न सका॥ २८-३१॥

व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्य्ये चाद्भ्यः समुत्थिते।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम्॥ ३२॥

हे कुरुनन्दन! इसी प्रकार रात्रि बीत गयी और प्रभात हो गया। सूर्यदेव समुद्र-सलिलसे ऊपरकी ओर उठे और तभी कंसने मल्ल-क्रीड़ा महोत्सव आरम्भ करनेका आदेश दे दिया॥ ३२॥

आनर्च्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्य्यभेर्य्यश्च जघ्निरे।
मञ्चश्चालङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः॥ ३३॥

कंसके कर्मचारियोंने मङ्गल-कलश स्थापनादिके द्वारा रङ्गभूमिकी पूजा की। भेरी, तुरही आदि बाजे बजने लगे। लोगोंके बैठनेके मञ्च एवं दीर्घाएँ फूलोंकी मालाओं पताकाओं, वस्त्रों, झण्डियों एवं वन्दनवारोंसे सुसज्जित कर दिये गये॥ ३३॥

तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः॥ ३४॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पुरवासी तथा ग्रामवासी सभी दीर्घादि यथास्थानोंपर बैठ गये। समस्त राजालोग भी रङ्गमञ्चपर अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानोंपर सुखपूर्वक आसीन हो गये॥ ३४॥

कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत्।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता॥ ३५॥

राजा कंस भी उस समय सर्वश्रेष्ठ राजसिंहासन पर बैठ गया। यद्यपि वह मन्त्रियों और मण्डलेश्वरोंसे घिरा हुआ था, तथापि उसका हृदय अपशकुन एवं चिन्ताओंसे घबरा रहा था॥ ३५॥

वाद्यमानेषु तूर्य्येषु मल्लतालोत्तरेषु च।
मल्लाः स्वलङ्कृताः दृप्ताः सोपाध्यायाः समासत॥ ३६॥

उस समय भेरी, तुरही आदि वाद्ययन्त्रोंकी ध्वनिसे उत्साहित मल्लोंकी भी उच्च ताल ठोकनेकी आवाज सुनायी पड़ने लगी। इस ध्वनिके बीच ही मल्लाचार्योंके (उस्तादोंके) साथ सजे-धजे गर्वीले मल्लोंने बाहु-स्फोटन ध्वनिके साथ रङ्गमञ्चमें प्रवेश किया और अपने-अपने अखाड़ोंके साथ हो लिये॥ ३६॥

चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः॥ ३७॥

चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि प्रधान-प्रधान मल्ल भी आनन्ददायक एवं अनुकूल तुरही आदि वाद्योंकी सुमधुर सङ्गीत-ध्वनिसे उत्साहित होकर मल्लरङ्गक्षेत्रमें (अखाड़ेमें) आ डटे॥ ३७॥

नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः।
निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२॥

इसी समय भोजराज कंसने नन्द आदि गोपोंको बुलवाया। उन्होंने व्रजसे लाये हुए नाना प्रकारके उपहार कंसको भेंट किये और फिर वे सभी गोप एक मञ्चपर जाकर बैठ गये॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बयालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

कुवलयापीड़ हाथीका वध करनेके पश्चात् श्रीकृष्ण और बलरामका अखाड़ेमें प्रवेश तथा उनका चाणूरके साथ वार्त्तालाप

श्रीशुक उवाच—

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परन्तप! बलदेव एवं श्रीकृष्ण शौचादि नित्यकर्मोंसे निवृत्त हो गये। तभी उन्हें अखाड़ेसे मल्लोंकी ताल ठोकनेकी ध्वनिसे समन्वित नगाड़ेका घोष सुनायी पड़ा। अतः वे सखाओंके साथ रङ्गक्रीड़ाको देखनेके लिए रङ्गशालाकी ओर चल पड़े॥ १॥

रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन्नागमवस्थितम्।
अपश्यत् कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम्॥ २॥

श्रीकृष्ण रङ्गभूमिके द्वारपर पहुँचे ही थे कि उन्होंने श्रीकृष्णके वधके लिए महावतकी प्रेरणासे प्रवेश-द्वारको रोककर खड़े हुए कुवलयापीड नामके गजराजको देखा॥ २॥

बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान्।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया॥ ३॥

उसे देखते ही भगवान् श्रीकृष्णने युद्धोचित रीतिसे कमरको वस्त्रसे कसकर बाँध लिया और घुँघराली अलकावलियोंको उत्तरीयके द्वारा यथास्थान दृढ़तापूर्वक समेट लिया। इसके बाद वे मेघके समान गम्भीर वाणीसे महावतको ललकारकर कहने लगे॥ ३॥

अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम मा चिरम्।
नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम्॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महावत! अरे ओ महावत! हमें प्रवेश करनेके लिए रास्ता दे दो। द्वारसे हट जाओ! देर मत करो, नहीं तो हाथीके साथ तुम्हें भी यमालय भेज देंगे॥ ४॥

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम्।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम्॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे तिरस्कारपूर्ण वचनोंसे महावत क्रोधित हो उठा। उसने कालान्तक (मृत्यु) और यमराजके समान मतवाले कुवलयापीडको अंकुशकी मारसे उत्तेजित किया और उसे श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाया॥ ५॥

करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत्।
कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत॥ ६॥

उन्मत्त हस्तीराज कुवलयापीड श्रीकृष्णकी ओर बढ़ा और उसने अपनी सूँड़से श्रीकृष्णको लपेट लिया। तब श्रीकृष्णने वाम मुष्टिकासे (घूँसेसे) हाथीकी सूँड़पर प्रहार किया और वहाँसे निकलकर उसके बड़े मोटे पैरोंके मध्य जाकर छिप गये। इस प्रकार प्रसन्नवदन परम कौतुकी भगवान् श्रीकृष्णने हाथीकी बहुत प्रकारसे वञ्चना करते हुए अपनी अद्भुत क्रीड़ाका लोगोंको दर्शन कराया॥ ६॥

संक्रुद्धस्तमचक्षणो घ्राणदृष्टिः स केशवम्।
परामृशत् पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः॥ ७॥

भगवान् केशव पहले उसके एक पैरके पीछे छिप गये, जब गजराज सूँघकर उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ, तब वे दूसरे पैरके पीछे छिप गये। अब पुनः गजराजको वे सम्मुख दिखायी नहीं दिये, तो वह थोड़ा इधर-उधर चला और उन्हें खोज निकाला। उसने भगवान्को पुनः सूँड़में धारण कर लिया (करिराजके

उत्साह वर्द्धन एवं लोगोंको एक और खेल दिखानेके लिए भगवान् स्वयं ही उसकी पकड़में आ गये) अनन्तर श्रीकृष्णने 'अरे! क्या बल दिखा रहा है' यह कहकर बलपूर्वक उसकी सूँड़से बाहर निकल आये॥ ७॥

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम्।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया॥ ८॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण महाबलशाली हाथीकी पूँछ पकड़कर खेल-ही-खेलमें उसे सौ हाथ पर्यन्त उसी प्रकार घसीट लाये, जिस प्रकार गरुड़ साँपको अनायास ही घसीट लाता है॥ ८॥

स पर्यावर्त्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः॥ ९॥

श्रीकृष्ण हाथीकी पूँछ पकड़कर उसे दायें और बायें खींचते रहे। बलवान् बालक जिस प्रकार बछड़ेकी पूँछ पकड़कर उसके साथ ही घूमा करता है, उसी प्रकार उसके साथ भ्रमण करते हुए श्रीकृष्ण उसके साथ खिलवाड़ करने लगे। वह हाथी जब दायीं ओर घूमता, तो वे बायीं ओर घूम जाते और जब वह बायीं ओर घूमता, तब वे दायीं ओर घूम जाते॥ ९॥

ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम्।
प्राद्रवन् पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे॥ १०॥

अब अन्य क्रीड़ा दिखानेके लिए श्रीकृष्णने गजराजकी पूँछ छोड़ दी अर्थात् भ्रामण-लीलाका त्याग कर दिया अब उन्होंने सम्मुख आकर गजराजपर एक हल्का-सा घूँसा जमाया और ऐसी द्रुत गतिसे दौड़े कि वह उतना दौड़ ही नहीं सकता था। इसके बाद उसे दिखाते हुए उसके सामनेसे उसे उत्साहित करते हुए इस प्रकार भागे, मानो उन्हें वह अब छू लेगा, तब छू लेगा। और, जब वह कुवलयापीड उनका स्पर्श करने ही वाला था कि श्रीकृष्ण वहाँसे उसे झाँसा देकर इस प्रकार भागे कि चारों ओर दौड़-दौड़कर अन्तमें वह हाथी पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १०॥

स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः।
तं मत्वापतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत् क्षितिम्॥ ११॥

भगवान् श्रीकृष्ण उस कुवलयापीडको खेल खिलाते हुए (शिलामय भूमिपर उसे प्रताड़ित करते हुए) कभी दौड़ते, कभी पृथ्वीपर गिर जाते और फिर उठकर दौड़ने लगते। कुवलयापीड भी खेलते हुए उनके पीछे दौड़ता और गिर पड़ता। क्रुद्ध हाथीने इस बार भगवान्‌को पृथ्वीपर गिरा देखा, तो वह पृथ्वीपरसे उठा। भगवान् झटसे वहाँसे उठकर भाग खड़े हुए। उस समय वह उन्हें गिरा समझकर अपने दोनों दाँतोंके द्वारा पृथ्वीपर जोर-जोरसे मारने लगा॥ ११॥

स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा॥ १२॥

असहिष्णु गजराज अपने पराक्रमको विफल देखकर अत्यधिक चिढ़ गया। प्रधान महावतोंने अङ्कुश लगाकर उसे पुनः क्रोधित किया और इस बार वह अधिक क्रोधके साथ श्रीकृष्णकी ओर झपटा॥ १२॥

तमापतन्तमासाद्य भगवान् मधुसूदनः।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले॥ १३॥

भगवान् श्रीकृष्ण अब खेल समाप्त करना चाहते थे, अतः उन्होंने उसे अपनी ओर झपटते देखकर स्वयं उस हाथीके समीप पहुँच गये और अपने एक ही हाथसे उसकी सूँड़ पकड़कर उसे पृथ्वीपर पटक दिया॥ १३॥

पतितस्य पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः॥ १४॥

शक्तिशाली सिंहके समान भगवान् श्रीहरिने भूमिपर गिरे हुए हाथीको खेल-ही-खेलमें पैरोंसे दबाया और उसके दाँत उखाड़ लिये। उन दाँतोंसे ही भगवान्‌ने उस हाथीको और उसके महावतोंको मार डाला॥ १४॥

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत्।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ॥ १५॥

मरे हुए हाथीको वहीं छोड़कर और उस हाथीके दाँतको हाथमें ही लेकर भगवान् श्रीकृष्णने रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। उस समय भगवान्‌की अद्भुत शोभा हो रही थी। स्कन्धपर स्थापित-गज-दन्त, श्रीविग्रहपर हाथीके रक्तकी बूँदों एवं मद-कणोंका छिड़काव तथा श्रमसे निःसृत नीहार-बिन्दुओंकी भाँति स्वेद-कणिकाओंसे (परिश्रमके कारण पसीनेकी बूँदोंसे) झिलमिलाता मुखकमल—मानो वीर-रस साक्षात् मूर्त्तिमान् होकर सुशोभित हो रहा हो॥ १५॥

वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्द्दनौ।
रङ्गं विविशतु राजन् गजदन्तवरायुधौ॥ १६॥

हे राजन्! भगवान् बलराम और भगवान् जनार्दन—दोनों ही हाथोंमें कुवलयापीडके दाँतको शस्त्रके रूपमें लेकर रङ्गभूमिमें प्रवेश कर रहे थे और कुछ ग्वालबाल भी उनके साथ चल रहे थे॥ १६॥

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः साग्रजः॥ १७॥

परीक्षित्! उस समय बलदेवजीके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश करते हुए शृङ्गारादिसर्वरस-कदम्बमूर्त्ति श्रीकृष्ण मल्लोंको वज्रके समान कठोर, साधारण नरोंको नरोत्तम स्वरूप, कामिनियोंको मूर्त्तिमान् कामदेव, गोपोंको बान्धव, दुष्ट राजाओंको शासन-कर्त्ता, माता-पिताके

समान वृद्धजनोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञ जनोंको विराट् पुरुष, योगियोंको परम तत्त्व एवं भक्त वृष्णियोंको परम आराध्यके रूपमें प्रतीत हो रहे थे (सबने अपने-अपने भावोंके अनुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत शृङ्गार, सख्य, हास्य, वीर, वात्सल्य, करुण, भयानक, वीभत्स, शान्त और दास्य—इस प्रकार द्वादश रसोंसे युक्त देखा)॥ १७॥

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ।
कंसो मनस्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप॥ १८॥

नरपति कंसने यह देखा कि कृष्ण और बलरामने कुवलयापीड हाथीको मार डाला है। अतः इन्हें जीतना बड़ा कठिन है। यह सोचकर वह अतिशय उद्विग्न (बेचैन) हो गया॥ १८॥

तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ
विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम्॥ १९॥

श्रीकृष्ण और बलरामजीका वेश अतिशय अद्भुत लग रहा था। उन्होंने पुष्पोंकी मालाएँ, नाना प्रकारके वस्त्र एवं आभूषण पहन रखे थे। उनकी दोनों विशाल भुजाएँ भी सुसज्जित एवं अलंकृत थीं। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उत्तम वेश धारण करके दो नट अभिनय करनेके लिए रङ्गभूमिमें प्रवेश कर रहे हों। वे अपनी कान्तिसे सभी दर्शकोंके चित्तको अभिभूत करते हुए रङ्गभूमिके मध्य अतिशय शोभायमान हो रहे थे॥ १९॥

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम्॥ २०॥

हे राजन्! मञ्च एवं दीर्घाओंमें बैठे हुए नागरिक और जनपदवासियोंने जैसे ही पुरुषोत्तम बलराम और श्रीकृष्णका दर्शन

किया, तो उनके नेत्र एवं मुख-मण्डल हर्षसे खिल उठे। मन प्रफुल्लित हो गये। वहाँ उपस्थित सभी दर्शक अपने-अपने नेत्रोंसे उन दोनोंके मुख-माधुर्यका (वदनामृतका) पान कर रहे थे, परन्तु उनकी तृप्ति नहीं हो रही थी॥ २०॥

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥ २१॥
ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव॥ २२॥

परीक्षित्! ऐसा जान पड़ता था मानो दर्शक अपने नेत्रोंसे उनके सौन्दर्यका पान कर रहे हों, जिह्वासे उन्हें चाट रहे हों, सौरभ्य-लालसासे नाकसे उन्हें सूँघ रहे हों और बाहोंके द्वारा उनका आलिङ्गन कर रहे हों। इस प्रकारसे उनके रूप, गुण, माधुर्य एवं निर्भयताने लोगोंको उनकी लीलाओंका स्मरण करा दिया। वे आपसमें उन दोनोंके द्वारा की गयी धनुर्भङ्ग एवं गोवर्धन-धारण आदि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षरूपसे देखी-सुनी (धनुर्भङ्गादि दर्शन एवं गोवर्धन-धारण आदि श्रवण) लीलाओंका वर्णन करने लगे॥ २१-२२॥

एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥ २३॥

सभी अपनी-अपनी प्रतीतिके अनुसार कह-सुन रहे थे—ये बलराम-कृष्ण साक्षात् श्रीहरि नारायणके अंश हैं और पृथ्वीपर वसुदेवके घरमें अवतीर्ण हुए हैं॥ २३॥

एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्।
कालमेतं वसन् गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि॥ २४॥

(अङ्गुली दिखलाकर) ये साँवले-सलोने कुमार पहले देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जन्मते ही वसुदेवजीने इन्हें गोकुल पहुँचा दिया था, इतने दिनों तक ये नन्दगोपके ही घरमें छिपकर रहे और वहीं इतने बड़े हुए हैं॥ २४॥

पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः॥ २५॥

इन्हीं श्रीकृष्णने पूतना राक्षसी, चक्रवात असुर (तृणावर्त्त), शङ्खचूड, केशी, और धेनुक आदि अन्यान्य असुरोंका वध किया है। इन्होंने ही यमलार्जुन वृक्षोंका उद्धार किया है॥ २५॥

गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः।
कलियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः॥ २६॥

इन्होंने ही दावानलसे ग्वालबालों तथा गायोंकी रक्षा की है। इन्होंने ही कालिय नागका दमन और इन्द्रका मान-मर्दन किया है॥ २६॥

सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातञ्च गोकुलम्॥ २७॥

इन्होंने ही सात दिनों तक एक ही हाथपर गिरिराज गोवर्धनको धारण करके वर्षा, आँधी एवं वज्रपातसे गोकुलकी रक्षा की है॥ २७॥

गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम्।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा॥ २८॥

सदैव प्रफुल्लित एवं अक्लान्त, मन्द-मधुर मुसकान तथा तिरछी चितवनसे युक्त इनके मुखको देखकर गोपियाँ प्रसन्नतापूर्वक अनायास ही अपने पति, सास आदि आत्मीयोंकी ताड़ना एवं भर्त्सनाको सह लिया करती थीं। उन्हें दुःखकी गन्धमात्रका भी अनुभव नहीं होता था॥ २८॥

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः।
श्रियं यशो महत्त्वञ्च लप्स्यते परिरक्षितः॥ २९॥

ज्योतिषविद् कहते हैं कि इन्हीं श्रीकृष्णके संरक्षणमें यदुवंश विस्तृत रूपसे ख्याति, ऐश्वर्य, यश एवं गौरवको प्राप्त करेगा॥ २९॥

अयञ्चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः॥ ३०॥

ये जो दूसरे कमल-लोचन श्रीबलदेवजी हैं, इन्हीं श्रीकृष्णके ज्येष्ठ भ्राता हैं। ये समस्त दिव्य ऐश्वर्योंके स्वामी हैं। सुनते हैं कि इन्होंने ही प्रलम्ब, वत्स, बक इत्यादि असुरोंका संहार किया है (जैसा सुना है, वैसा ही वर्णन कर रहे हैं)॥ ३०॥

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत्॥ ३१॥

दर्शकगण जब इस प्रकारसे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे एवं अखाड़ेमें तुरही आदिकी ध्वनि तूल पकड़ रही थी, तभी चाणूर नामका महामल्लयोद्धा बलरामजी और श्रीकृष्णको सम्बोधनकर कहने लगा—॥ ३१॥

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसम्मतौ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा॥ ३२॥

चाणूरने कहा—हे नन्दपुत्र श्रीकृष्ण! हे बलराम! तुम दोनों कुश्ती लड़नेमें बड़े निपुण हो—सभी वीर पुरुष इस बातका अनुमोदन करते हैं, इसलिए तुम्हारा बड़ा आदर करते हैं। यह सुनकर हमारे महाराज कंसने तुम्हारे बाहु-युद्ध-कौशलको स्वयं देखनेके लिए ही तुम दोनोंको यहाँ बुलवाया है॥ ३२॥

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा॥ ३३॥

देखो भाई! जो प्रजा सदैव अपने मन, वचन और कर्मसे अपने राजाका अभीष्ट पूर्ण करनेका प्रयास करती है, उसका मङ्गल होता है और जो इसके विपरीत आचरण करती है—उसका अमङ्गल हो जाता है, उसे हानि उठानी पड़ती है॥ ३३॥

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम्।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः॥ ३४॥

यह सर्वविदित है कि गाय और बछड़े चरानेवाले गोप प्रतिदिन बड़े आनन्दके साथ विविध जङ्गलोंमें अपनी गायोंको चराते हैं और खेल-खेलमें मल्लयुद्ध क्रीड़ा भी करते रहते हैं॥ ३४॥

तस्माद् राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवाम हे।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः॥ ३५॥

अतः हे कृष्ण! हे बलराम! आओ, तुम और हम मिलकर राजाकी प्रसन्नताके लिए कुश्ती लड़ें, जिससे समस्त प्राणी हमसे प्रसन्न हो जायेंगे। राजा सर्वभूतमय होता है, सारी प्रजाका प्रतीक होता है—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है॥ ३५॥

तन्निशम्याब्रवीत् कृष्णो देशकालोचितं वचः।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च॥ ३६॥

परीक्षित्! उसकी बातें सुनकर श्रीकृष्णने सोचा कि 'कुश्ती तो मेरा भी अभीष्ट है' अतः उन्होंने चाणूरका अभिनन्दन (अनुमोदन) किया एवं स्थान, समयके अनुसार वे उससे यह कहने लगे॥ ३६॥

प्रजा भोजपतेरस्य वयञ्चापि वनेचराः।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः॥ ३७॥

चाणूर! हम तो वनमें विचरण किया करते हैं, फिर भी इन्हीं भोजराज कंसकी प्रजा हैं। हमें वही कार्य करने चाहिये, जो हमारे राजाको प्रिय हों। ऐसा करनेमें ही हमारा कल्याण है॥ ३७॥

बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम्।
भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः॥ ३८॥

परन्तु चाणूर! हम तो अभी बालक हैं, अतः समान बलवाले बालकोंके साथ ही कुश्ती लड़नेका खेल खेलेंगे। यही न्यायसङ्गत कुश्ती मानी जायेगी। इससे सम्मानीय सभासदोंको अधर्म (अन्यायका समर्थन) भी स्पर्श नहीं करेगा। वे भी पापके भागी नहीं होंगे॥ ३८॥

चाणूर उवाच—

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत्॥ ३९॥

चाणूरने कहा—अजी! तुम और बलराम न तो बालक हो और न ही किशोर। तुम दोनों तो महाबलवान् हो। तुमने तो सहस्र हाथियोंके बलको धारण करनेवाले कुवलयापीड नामके गजराजको खेल-ही-खेलमें मार डाला॥ ३९॥

तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे कुवलयापीडवधो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

इसलिए तुम दोनोंको महाबलशाली मल्लोंके साथ युद्ध करना चाहिये। इसमें अधर्मकी कोई बात नहीं है। इसलिए हे वार्ष्णेय (वृष्णिवंशी कृष्ण)! तुम मेरे साथ अपना पराक्रम प्रदर्शन करो और बलराम मुष्टिकके साथ मल्लयुद्ध करते हुए अपना पराक्रम दिखलाओ॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तैंतालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानों तथा कंसका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! चाणूरके द्वारा इस प्रकारसे कहे जानेपर भगवान्ने चाणूर आदिका वध करनेका अपना सङ्कल्प स्थिर कर लिया। भगवान् स्वयं चाणूरसे और बलराम मुष्टिकसे भिड़ गये॥ १॥

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया॥ २॥

श्रीकृष्ण एवं चाणूर, बलदेवजी एवं मुष्टिक दोनों हाथोंसे हाथ बाँधकर और पैरोंसे पैर अड़ाकर विजयकी अभिलाषासे एक-दूसरेको अपनी-अपनी ओर बलपूर्वक खींचने लगे॥ २॥

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्याञ्चैव जानुनी।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ ३॥

इस प्रकार वे दाँव-पेंच करते-करते अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वीसे घूसोंसे घूसे, घुटनोंसे घुटने, सिरसे सिर एवं छातीसे छाती भिड़ाकर परस्पर प्रहार करने लगे। कनिष्ठाङ्गुलिको छोड़कर बनायी गयी मुष्टिकाको 'अरत्नि' कहते हैं। यद्यपि मल्लयुद्धमें यह दुष्कर है, परन्तु श्रीकृष्णको ऐसा करते देखकर चाणूरने भी बड़े कष्टसे इसका प्रयास किया॥ ३॥

परिभ्रामणविक्षेपपरिम्भावपातनैः।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम्॥ ४॥

वे कभी एक दूसरेको हाथ आदि पकड़कर इधर-उधर घुमाते, कभी दूर धकेल देते, कभी भुजाओंसे जोरसे जकड़ लेते, लिपट जाते, कभी उठाकर नीचे पटक देते, कभी छूटकर निकल भागते, कभी आगे जाते, कभी छोड़कर पीछे हट जाते—इस प्रकार इन सभी दाँव-पेंचोंसे विपक्षीको रोकनेका प्रयास करते॥ ४॥

उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः॥ ५॥

परीक्षित्! कृष्ण एवं चाणूर एक-दूसरेको हरा देनेकी महती अभिलाषासे 'उत्थापन' अर्थात् घुटनों एवं पैरोंको पिण्डी जैसा बना करके गिरे हुए को हाथोंसे ऊपर उठाते, 'उन्नयन' अर्थात् दोनों हाथोंसे उठाकर ऊपर ले जाते, 'चालन' अर्थात् गलेमें लिपट जानेपर धकेल देते, 'स्थापन' अर्थात् हाथ-पैर आदिकी गाँठ बाँध देते और इस प्रकार देहोंमें चोट पहुँचाकर एक-दूसरेका अपकार कर बैठते। (भगवान्की देहादिका कोई अपकार न होनेपर भी दर्शकोंके मतानुसार ऐसा कहा गया है)॥ ५॥

तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः॥ ६॥

हे राजन्! उस समय इस दङ्गलको देखनेके लिए नगरकी बहुत-सी स्त्रियाँ भी आयी हुई थीं। महाबलवान् एवं दुर्बलोंके बीचमें होनेवाली यह लड़ाई उन्हें अनुचित, वैषम्यभावयुक्त और पक्षपातपूर्ण लगी। उनका हृदय दयासे आर्द्र हो गया। अपनी-अपनी पंक्तियोंमेंसे टोलियाँ बनाकर वे बड़ी दुःखी होकर एक-दूसरसे बातचीत करने लगीं॥ ६॥

महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम्।
ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः॥ ७॥

अहो! राजाके सभासदोंका यह बड़ा अन्याय और अधर्म है। यह युद्ध महाबलवान् और दुर्बलोंमें चल रहा है। यह देखकर भी

ये सभासद राजाको रोक नहीं रहे हैं, बल्कि उसका अनुमोदन ही कर रहे हैं॥ ७॥

क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ॥ ८॥

देखो तो सही! लोहेके वज्रके समान कठोर शरीरवाले पर्वतोंके समान कहाँ तो ये दोनों जाने-माने पहलवान और कहाँ अति सुकुमार, अल्पवयस्क, किशोरावस्थावाले ये बलराम और कृष्ण—अभी तो इनका यौवन भी नहीं आया है॥ ८॥

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत्।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित्॥ ९॥

ऐसे अन्यायपूर्ण युद्धमें अनुमोदनके कारण निश्चय ही इस सभाको अधर्मका पाप लगेगा। सखी! जिस सभामें धर्मका उल्लङ्घन हो चुका हो, वहाँ एक क्षण भी रहना शास्त्र और युक्तिसङ्गत नहीं है, अवश्य ही वहाँसे चले जाना चाहिये॥ ९॥

न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।
अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते॥ १०॥

दूसरी टोलीकी स्त्रियाँ कहने लगीं—जो धर्मज्ञ व्यक्ति सभामें अधर्मके होनेपर भी मौन धारण कर लेते हैं, अथवा धर्मके विपरीत मिथ्या भाषण करते हैं अथवा इस सम्बन्धमें 'मैं नहीं जानता' ऐसी अपनी अज्ञानताका दिखावा करते हैं, वे तीनों ही पापके भागीदार होते हैं। शास्त्रोंका कहना है कि बुद्धिमान् पुरुषोंको यदि सभासदोंके इन दोषोंके विषयमें पता चल जाय, तो उन्हें उस सभामें प्रवेश भी नहीं करना चाहिये॥ १०॥

वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम्।
वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः॥ ११॥

यह देखो! शत्रुके चारों ओर पैंतरा बदलनेके कारण श्रीकृष्णका मुख-कमल पसीनेकी बूँदोंसे इस प्रकार पूरा ढक गया

है, जिस प्रकार कमल-कोश ओसकी बूँदोंसे आच्छादित हो जाता है॥ ११॥

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम्।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम्॥ १२॥

अन्य टोलीकी स्त्रियाँ कहने लगीं—तुम बलदेवका मुख देख रही हो कि नहीं? मुष्टिकके प्रति क्रोधके कारण ताँबेके समान कुछ-कुछ लाल हुए उनके नेत्र-युगल कितने सुन्दर लग रहे हैं! उसपर स्फुरित सहास्य युद्धावेश उनकी शोभा कितनी बढ़ा रहा है!॥ १२॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं,
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥ १३॥

अन्य नारियाँ कहने लगीं—सखी! सच पूछो तो व्रजभूमि ही परम पवित्र और धन्य है, क्योंकि वहाँ ये सनातन पुरुष श्रीकृष्ण मनुष्य-वेशमें छिपकर रहते हैं। देवदेव महादेव शङ्कर और लक्ष्मीजी जिनके श्रीचरणकमलोंकी पूजा करती हैं, वे ही प्रभु व्रजमें रङ्ग-बिरङ्गे विचित्र वन्य पुष्पोंकी माला धारणकर बलदेवजी और ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए, गौएँ चराते हुए और विभिन्न प्रकारके खेल खेलते हुए आनन्दसे विचरण करते हैं॥ १३॥

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोद्ध्र्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥ १४॥

(अपनेको अल्पपुण्यवती और गोपियोंको अतिशय पुण्यवती मानकर कहने लगीं) अरी सखी! नहीं जानतीं, गोपियोंने ऐसी कौन-सी अनिर्वचनीय तपस्या की है कि वे नित्य-निरन्तर अपने

नेत्रोंके द्वारा श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं। (हम भी वही तपस्या करके व्रजभूमिमें जन्म लेंगी) श्रीकृष्णका सौन्दर्य समस्त लावण्यका सार है, असमोर्ध्व है, स्वभावसिद्ध है, यश, श्री एवं ऐश्वर्यका एकमात्र आधार है, नित्य-नूतन सौन्दर्यका स्रोत है, परन्तु इनका दर्शन गोपियोंके अतिरिक्त औरोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ है॥ १४॥

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्ज्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ १५॥

सखी! व्रजकी गोपियाँ बड़ी धन्य हैं। इनका चित्त पूर्णतया श्रीकृष्णमें ही आविष्ट रहता है, नित्य-निरन्तर रुदनके कारण इनका कण्ठ अवरुद्ध रहता है और मन उन्हींमें लगा रहता है। विशेषरूपसे ये गोपियाँ गायोंको दुहती हुईं, धान्यादि कूटती हुईं, दधि मन्थन करती हुईं, लेपन-प्रोक्षण करती हुईं, बालकोंको झूला-झुलाती हुईं, रोते शिशुओंको चुप कराती हुईं, उन्हें नहलाती-धुलाती हुईं और घरोंको झाड़ती-बुहारती हुईं—इस प्रकार सारे काम-काजोंमें लगी हुईं उनकी ही लीलाओंका गान करनेमें एवं उनके नवनवायमान रूपके माधुर्यके पानमें रत रहती हैं॥ १५॥

प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समः क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥ १६॥

जब श्रीकृष्ण प्रातःकाल गौओंको चरानेके लिए व्रजसे बाहर जाते हैं और सायंकाल उन्हें लेकर व्रजमें प्रवेश करते हैं, तब वे मधुर स्वरसे बाँसुरी बजाते हैं। उस समय उनकी बाँसुरीकी ध्वनि सुनते ही गोपियाँ घरका काम-काज छोड़कर शीघ्र ही रास्तेमें (गौओंको लौटनेके मार्गके समीप किसी उपवनादि तक)

दौड़ आती हैं और उनकी करुण चितवन एवं मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त मुखकमलको निहारती रहती हैं। सखी! ये गोपियाँ अतिशय पुण्यशालिनी हैं! हम तो कितने विषम समयमें उन्हें देख रही हैं॥ १६॥

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ॥ १७॥

हे भरतकुल शिरोमणे! इधर नारियाँ परस्पर इस प्रकारसे वार्त्तालाप कर रही थीं और उधर अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण चाणूरका वध करनेका सङ्कल्प कर रहे थे॥ १७॥

सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचातुरौ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम्॥ १८॥

देवकी एवं वसुदेव भी (तथा नन्दबाबा भी) इन स्त्रियोंके भयपूर्ण वचनोंको सुन रहे थे। पुत्रके स्नेहवश वे शोकविह्वल हो गये। उनके हृदयमें अनुताप होने लगा, क्योंकि वे अपने पुत्रोंकी सामर्थ्यको नहीं जानते थे (नन्दबाबा तो पछता रहे हैं कि यदि अक्रूरसे पूछ लिया होता, तो इन्हें यहाँ लाता ही क्यों?)॥ १८॥

तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ॥ १९॥

श्रीकृष्ण एवं चाणूर पूर्वोक्त मल्लयुद्धके विविध दाँवपेंचोंका प्रयोग करते हुए परस्पर जिस प्रकार लड़ रहे थे, बलदेव एवं मुष्टिक भी उसी प्रकारसे कुश्तीका कुशलतापूर्वक प्रदर्शन कर रहे थे॥ १९॥

भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह॥ २०॥

भगवान् श्रीकृष्णके कठोर अङ्गोंके दुःसह प्रहार चाणूरको वज्रकी रगड़के समान जान पड़ रहे थे, जिससे उसके शरीरका

अङ्ग-अङ्ग क्रमशः शिथिल हो गया। चाणूर अत्यधिक कष्ट एवं थकानका अनुभव कर रहा था॥ २०॥

स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत॥ २१॥

वह क्रोधित होकर बाजपक्षीके समान वेगपूर्वक झपटा और दोनों हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर उसने भगवान् श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर प्रहार किया॥ २१॥

नाचलत् तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः॥ २२॥
भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम्।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत्॥ २३॥

भगवान् उसके प्रहारोंसे उसी प्रकार अविचलित रहे, जिस प्रकार फूलोंके हारकी मारसे गजराज। इसके बाद स्वयं ही उन्होंने चाणूरकी दोनों भुजाएँ पकड़कर उसे उत्पीड़ित करते हुए अन्तरीक्षमें वेगपूर्वक चारों ओर कई बार घुमाकर मृतप्राय अवस्थामें बड़े वेगसे पृथ्वीपर पटक दिया। उस समय चाणूरके वस्त्र, केशपाश और माल्यबन्धन बिखर गये। वह पृथ्वीपर ऐसे गिरा, मानो इन्द्रध्वज (ध्वजा एवं पताकादि द्वारा अलंकृत पुरुषाकृति विशाल विजय स्तम्भ) गिर पड़ा हो॥ २२-२३॥

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम्॥ २४॥
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन् मुखतोऽर्द्दितः।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः॥ २५॥

इसी प्रकार मुष्टिकने पहले बलभद्रपर घूसेसे प्रहार किया, तब इसके उत्तरमें उन्होंने भी उसे एक जोरदार थप्पड़ मारा। प्रहारसे व्यथित होनेसे मुष्टिकका शरीर काँपने लगा, वह मुखसे रक्त उगलने लगा और क्रमशः निष्प्राण होकर अन्तमें पृथ्वीपर इस

प्रकार गिर पड़ा, मानो आँधीसे वृक्ष उखड़कर गिर गया हो॥ २४-२५॥

ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः।
अवधील्लीलया राजन् सावज्ञं वाममुष्टिना॥ २६॥

हे राजन्! मुष्टिक-वधके पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलदेवने युद्धके लिए सम्मुख आये कूट नामक दैत्य-मल्लको देखा, तो खेल-ही-खेलमें बड़े ही तिरस्कारके साथ बाँये हाथकी मुष्टिकासे उसका वध कर डाला॥ २६॥

तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः।
द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः॥ २७॥

इधर श्रीकृष्णने शल नामक मल्लके मस्तकपर अपने पैरकी ठोकरसे प्रहार किया, जिससे उसका सिर धड़से अलग हो गया और तोषलको भी इसी प्रकार तिनकेकी भाँति दो भागोंमें खण्डित करके धराशायी कर दिया॥ २७॥

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः॥ २८॥

बचे हुए मल्लोंने जब चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल एवं तोषलको मरा हुआ देखा, तो अपने-अपने प्राणोंको बचाकर वहाँसे भाग निकले॥ २८॥

गोपान् वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः।
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ॥ २९॥

सारे मल्लोंके भाग जानेपर बलराम और कृष्णने अपने गोपसखाओंको खींच-खींचकर अखाड़ेमें बुलाया और नाचते हुए खेलने लगे। उस समय भेरी बज ही रही थी और ये सभी समवयस्य ग्वाल उसकी ध्वनिसे अपने पैरोंके नूपुरोंकी झनकारको मिलाकर प्रमोदपूर्वक नृत्य कर रहे थे॥ २९॥

जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधु साध्विति॥ ३०॥

बलराम और कृष्णकी इन अद्भुत लीलाओंको देखकर कंसके अतिरिक्त सभी आनन्दित हो रहे थे। प्रमुख ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुष 'धन्य है, धन्य है' कहकर प्रशंसा कर रहे थे। कंस-पुरोहित विप्राधम 'हाय! हाय!' कर रहे थे॥ ३०॥

हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट्।
न्यवारयत् स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह॥ ३१॥

कंसने देखा कि उसके सभी श्रेष्ठ पहलवान मारे जा चुके हैं और जो बचे थे, वे भी भाग गये हैं, तब महाराज कंसने तुरही आदि वाद्य-यन्त्रोंका बजना बन्द करवा दिया (जिन्हें बजानेकी उसने स्वयं आज्ञा दी थी)। अब उसने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी—॥ ३१॥

निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात्।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम्॥ ३२॥

'अरे, वसुदेवके इन दोनों दुश्चरित्र पुत्रोंको पुरीसे बाहर निकाल दो। गोपोंका सारा धन अपहरण कर लो और दुर्मति नन्दको बाँध लो।' सरस्वती पक्षमें इन पंक्तियोंका अभिप्राय है 'दुश्चरित्र' अर्थात् जिनका चरित दुर्बोध्य है, उनके द्वारा मथुरा पुरीको प्रकाशित करो। गोपोंके धन श्रीकृष्णकी रक्षा करो और दुर्गममति नन्दजीको प्रेम-रसनासे बाँध लो॥ ३२॥

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः॥ ३३॥

वसुदेव अत्यन्त दुर्बुद्धि और बड़ा ही दुष्ट है। उसे भी शीघ्र मार डालो। उग्रसेन मेरे पिता होनेपर भी अपने अनुयायियोंके साथ शत्रुओंपर बड़ा अनुराग रखता है। उनसे बड़ा मिला हुआ है, इसलिए उन सबको भी मार डालो॥ ३३॥

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत्॥ ३४॥

महाराज कंस बढ़-चढ़कर बकवाद कर ही रहा था कि भगवान् अच्युत श्रीकृष्ण क्रोधित हो उठे और बड़ी फुर्तीके साथ वेगपूर्वक कंसाधिष्ठित ऊँचे मञ्चपर अनायास ही उछलकर चढ़ गये॥ ३४॥

तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात्।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥ ३५॥

अपनी मृत्युरूपी श्रीकृष्णको मञ्चपर आया देखकर बुद्धिमान् मनस्वी कंस सहसा ही सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ और उनका वध करनके लिए उसने ढाल एवं तलवार उठा लिये॥ ३५॥

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा
यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य॥ ३६॥

हे राजन्! कंस हाथमें तलवार लेकर आकाशमें उड़ते हुए बाज पक्षीके समान भगवान्के दायें और बायें भागमें पैंतरा बदलते हुए घूमने लगा। भगवान् श्रीकृष्णका विक्रम अतिशय प्रचण्ड एवं दुःसह है। गरुड जिस प्रकार बलपूर्वक साँपको पकड़ लेता है, श्रीकृष्णने भी उसे शीघ्र ही पकड़ लिया॥ ३६॥

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात्।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः॥ ३७॥

इसी समय कंसके मस्तकसे मुकुट नीचे गिर पड़ा। इसी अवस्थामें भगवान्ने उसके केश खींचे और उसे ऊँचे मञ्चसे रङ्गभूमिपर गिरा दिया। इसके बाद वे पद्मनाभ-निखिलाधार-

स्वतन्त्रपुरुष-श्रीकृष्ण स्वयं उसके ऊपर कूद पड़े। उन्होंने अपने ही भारसे उसका विनाश कर दिया॥ ३७॥

तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः।
हा हेतिशब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र॥ ३८॥

हे राजन्! उस समय सारे दर्शक विस्मित होकर इस घटनाको देख रहे थे। भगवान्के कूदते ही मथुरेश्वर कंस निष्प्राण हो गया। सिंह जिस प्रकार मृत हाथीको घसीटता है, उसी प्रकार भगवान् भी मृत कंसको भूमिपर घसीटने लगे (जिससे उसकी मृत्युका सबको विश्वास हो जाय)। उस समय अखाड़ेमें विराजित सम्पूर्ण जनमण्डलके मुखसे कंसकी ऐसी अवज्ञापूर्ण मृत्युके कारण हाय-हायकी चीत्कार ध्वनि गूँज उठी॥ ३८॥

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन्नदन् वा विचरन् स्वपन् श्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप॥ ३९॥

राजा कंस नित्य-निरन्तर उत्कण्ठित एवं विचलित होकर चक्रधारी श्रीकृष्णको ही देखा करता था। खाते-पीते, घूमते, सोते हुए, यहाँ तक कि प्रत्येक निःश्वासपर वही चक्रधारी रूप उसकी आँखोंके सामने रहता था। अतः मरणोपरान्त इस निरन्तर चिन्तनके फलस्वरूप—वह चाहे द्वेष भावसे ही क्यों न किया गया था—उसे श्रीकृष्णके दुर्लभ चक्रधारी रूपके दर्शन हुए। उसे भगवान् जैसा रूप (सारूप्य) प्राप्त हुआ, जो योगियोंके लिए भी दुर्लभ है॥ ३९॥

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः।
अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः॥ ४०॥

कंसके मर जानेपर कङ्क, न्यग्रोध आदि कंसके आठों भाई अत्यन्त क्रोधित होकर बड़े भाईका बदला चुकानेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीकी ओर झपटे॥ ४०॥

तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान् रोहिणीसुतः।
अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः॥ ४१॥

कंसके भाइयोंको युद्धके लिए अत्यन्त वेगसे आते देखकर रोहिणीसुत बलदेवजीने परिघ (गदा) उठाकर, जिस प्रकार सिंह पशुओंको मार डालता है, उसी प्रकार कंसके भाइयोंको अनायास ही मार डाला॥ ४१॥

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः॥ ४२॥

हे नरेन्द्र! उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बज उठीं। भगवान्के विभूति-स्वरूप ब्रह्मा, शङ्कर और अन्यान्य देवता आनन्दसे पुष्प बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे। अप्सराओंने नृत्य करना आरम्भ कर दिया॥ ४२॥

तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः।
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः॥ ४३॥

हे महाराज! कंस और उसके भाइयोंकी पत्नियाँ अपने सुहृत् स्वामियोंके वियोगके कारण शोकसन्तप्त हो गयीं। वे अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे अपना सिर पीटती हुई वहाँ आ गयीं॥ ४३॥

शयानान् वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः।
विलपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः॥ ४४॥

ये स्त्रियाँ युद्ध-क्षेत्रमें वीरोंकी शय्यापर सोये हुए अपने-अपने पतियोंका आलिङ्गनकर बार-बार आँसू बहाने लगीं और शोकसे भरकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगीं॥ ४४॥

हा नाथ प्रिय धर्म्मज्ञ करुणानाथवत्सल।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः॥ ४५॥

हे धर्मज्ञ! हे करुणामय! हे अनाथवत्सल! हे स्नेहपरायण! हे प्रियतम! हे प्रभो! हे नाथ! आपकी मृत्युसे हमारे घर उजड़ गये, हमारी सन्तान अनाथ हो गयी, हम भी आज मर गयीं॥ ४५॥

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला॥ ४६॥

हे पुरुषप्रवर! आज हमारे समान यह मधुपुरी भी अपने स्वामीके विरहमें सूनी हो गयी है, न तो इसमें अब कोई उत्सव रहा और न ही कोई माङ्गलिक चिह्न! अब हमारी ही तरह विधवा होकर यह भी शोभाहीन हो गयी॥ ४६॥

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम्॥ ४७॥

हे प्रिय! आपने निरपराध प्राणियोंको बहुत सताया था, उनके साथ बड़ा अन्याय किया था। इसीलिए आपकी यह दशा हुई है। जगत्‌के प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले भला किस व्यक्तिका मङ्गल हो सकता है?॥ ४७॥

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते॥ ४८॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत्‌में समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं और वे ही उनका संहार भी करते हैं। इस जगत्‌के पालनकर्त्ता भी वे ही हैं। उनकी अवज्ञा करनेवालेका किसी भी प्रकारसे कल्याण नहीं हो सकता। वह इस लोक या उस लोकमें कभी भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता॥ ४८॥

श्रीशुक उवाच—

राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत्॥ ४९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके पालक हैं। (अतः वे कंसकी राज-महिषियोंके भी

पालक हैं।) उन्होंने उस समय रानियोंको ढाढस बँधाया तथा लोकरीतिके अनुसार दाहसंस्कार आदि जो अन्तिम क्रिया-कलाप होते हैं, उन सबकी व्यवस्था कराके समस्त क्रियाएँ सम्पन्न करा दीं॥ ४९॥

मातरं पितरञ्चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसास्पृश्य पादयोः॥ ५०॥

इसके बाद श्रीकृष्ण एवं बलरामने अपने माता-पिताको बन्धनसे मुक्त किया तथा सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श करके उनकी वन्दना की॥ ५०॥

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

देवकी एवं वसुदेवने उस समय दोनों पुत्रोंके प्रणाम करनेपर भी, उन्हें हृदयसे नहीं लगाया, बल्कि उन्हें जगदीश्वर समझकर शङ्कित हो गये और हाथ जोड़कर उनके सामने मौन खड़े रहे। जन्म-समयकी स्मृति एवं कंस-वध आदि ऐश्वर्य देखकर उनकी दृष्टि परमार्थमयी हो गयी थी॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौवालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण तथा बलरामका यज्ञोपवीत-धारण और गुरुकुलमें अध्ययन

श्रीशुक उवाच—

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण समझ गये कि इस समय माता-पिता देवकी एवं वसुदेवजीको उनके प्रति भगवत्-ज्ञान हो रहा है, परन्तु इनका ऐसा ऐश्वर्य-भाव होना ठीक नहीं है, इसे शिथिल किया जाना चाहिये। अतः वसुदेव-देवकीको ऐश्वर्य-ज्ञानसे उत्कृष्ट माधुर्य-प्रेमका आस्वादन करानेके लिए भगवान्ने उन्मुखमोहिनी योगमायाका विस्तार किया॥ १॥

उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम्॥ २॥

यह सोचकर यदुवंश शिरोमणि (सात्वतर्षभ) श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामके साथ अपने माता-पिताके समीप पहुँचे और विनीत एवं नम्र भावसे 'हे माता! हे पिता!' इस प्रकार प्रीतिके साथ उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ २॥

नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित्॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पिताजी! हम आपके पुत्र हैं। आप दोनों हमारे लिए बहुत समय तक अत्यन्त उद्विग्न रहे। पुत्रके बाल्य, पौगण्ड एवं कैशोरावस्थाको देखनेसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह भी आपको कभी प्राप्त न हो सका (श्रीकृष्ण बाल्यकालमें गोकुलमें थे, छह वर्ष आठ महीने तक पौगण्ड

अवस्थामें गोकुल-महावनमें रहे और दस वर्ष सात महीने तक कैशोर वयसमें नन्दगाँवमें रहे। तत्पश्चात् चैत्र-त्रयोदशीके दिन मथुरा आये एवं चतुर्दशीके दिन कंसका वध किया। पौगण्ड अवस्थामें ही उनकी किशोर अवस्था प्रारम्भ हो गयी थी। कैशोर अवस्था पन्द्रह वर्ष तक रहती है। कृष्ण सार्वकालिक कैशोर वयस हैं)॥ ३॥

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥ ४॥

हमारे लिए भी दैवकी बड़ी विडम्बना यह रही कि आपके समीप रहना सम्भव न हो सका। पिताके घरमें रहकर बालकोंको जो सुख प्राप्त होता है, हमें उस सुखकी प्राप्तिका सौभाग्य न मिल सका॥ ४॥

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्त्यः शतायुषा॥ ५॥

माता-पिता इस शरीरको जन्म देते हैं और उनके ही द्वारा इस शरीरका पालन-पोषण होता है, तब कहीं जाकर यह शरीर धर्म, अर्थादि जितने भी पुरुषार्थ हैं, उनकी प्राप्तिका साधन बनता है। मनुष्य सौ वर्षों तकके जीवनमें सेवा करके भी पिता-माताके इस ऋणसे मुक्त होनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकता॥ ५॥

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥ ६॥

जो पुत्र सामर्थ्य होनेपर भी शरीर अथवा धनसे बूढ़े माता-पिताकी सेवा नहीं करता, तो मरनेपर परलोकमें यमदूत उसे उसके शरीरका ही मांस बलपूर्वक खिलाते हैं॥ ६॥

मातरं पितरं वृद्धं भार्य्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नञ्च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥ ७॥

जो समर्थ पुरुष शास्त्र-सम्मत माता-पिता, कुलवृद्ध, साध्वी स्त्री, शिशु-बालक, गुरु, ब्राह्मण एवं आश्रितजनोंका पालन नहीं करता, वह जीवित होते हुए भी मृतकके समान है॥ ७॥

तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥ ८॥

पिता! हम दोनों भाई भी इतने दिनों तक कंसके भयसे उद्विग्न रहे। अतः सामर्थ्य रहनेपर भी आपकी सेवा नहीं कर पाये। हमारे ये सारे दिन व्यर्थ ही बीत गये॥ ८॥

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातनौं परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥ ९॥

हे पिता! हे माता! दुष्ट कंसने आपको इतने कष्ट दिये, परन्तु हम पराधीन रहे और शत्रुओंसे बड़े त्रस्त रहे। आपकी सेवा करनेका सौभाग्य हमें मिल नहीं सका। आप हमारे इस अपराधको क्षमा करें॥ ९॥

श्रीशुक उवाच—

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम्॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! सर्वान्तर्यामी माया-मनुष्य विग्रह अर्थात् कारुण्यमय नराकृति परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंसे मोहित होकर वसुदेव एवं देवकीने उन्हें गोदमें बिठा लिया और उन्हें हृदयसे लगाकर परम आनन्द प्राप्त किया॥ १०॥

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ।
न किञ्चिदूचतू राजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ॥ ११॥

हे राजन्! उस समय देवकी-वसुदेव अपनी अश्रुधाराओंसे दोनों पुत्रोंका अभिषेक करने लगे। स्नेहकी डोरीके बन्धन एवं आँसुओंके कारण उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे इतने

भाव-विभोर हो गये कि कुछ भी कहनेमें समर्थ न हो सके॥ ११॥

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः।
मातामहन्तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम्॥ १२॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने माता-पिताको आश्वासन दिया तथा अपने नाना उग्रसेनको यदुओंका राजा बना दिया (देवकी-वसुदेव कृष्ण-बलरामको अन्तःपुरमें ले गये थे, उन्होंने सोचा कि आह्निक-कार्य सम्पन्न करके दोनोंको भोजन करायेंगे। श्रीनन्दबाबा यहाँ नहीं थे)॥ १२॥

आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि।
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने॥ १३॥

भगवान् श्रीकृष्णने महाराज उग्रसेनसे कहा—हे महाराज! हम आपकी प्रजा हैं, आप हमें यथेच्छ आज्ञा प्रदान कर सकते हैं। ययातिके शापसे यादवोंका सिंहासनपर बैठना निषिद्ध है, इसलिए सिंहासनपर हमारा अधिकार नहीं है। आप भी यद्यपि यादव हैं, तथापि मेरे आदेशके कारण आपको कोई दोष नहीं लगेगा॥ १३॥

मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः॥ १४॥

मैं स्वयं आपकी निजी सेवामें उपस्थित रहकर आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। (अपनी वृद्धावस्थाके विषयमें न सोचें) सारे देवता भी सिर झुकाकर आपको उपहार प्रदान करेंगे, फिर अन्य राजाओंके विषयमें तो कहना ही क्या है?॥ १४॥

सर्वान् स्वान् ज्ञातिसंबन्धान् दिग्भ्यः कंसभयाकुलान्।
यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान् ॥ १५॥
सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान्।
न्यवासयत् स्वगेहेषु वित्तैः सन्तर्प्य विश्वकृत्॥ १६॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह, कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न समस्त सजातीय और आत्मीयोंको विभिन्न स्थानोंसे बुलवाया, जो कंसके भयसे भागकर प्रवासमें रह रहे थे और इस कारण उन्हें बड़े कष्ट हो रहे थे। अपने सम्बन्धियोंका भगवान्ने बहुत सम्मान किया, उन्हें सान्त्वना प्रदान की तथा बहुत धन-सम्पत्ति देकर उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद उन्हें अपने-अपने घरोंमें बसा दिया॥ १५-१६॥

कृष्णसङ्कर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः॥ १७॥
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मितवीक्षणम्॥ १८॥

अब सारे यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलदेवके बाहुबलसे सुरक्षित थे। उनके सम्पूर्ण अभीष्ट सफल हो रहे थे और वे परिपूर्ण-काम हो गये थे। बलराम-कृष्णने उनके सारे दुःख-क्लेशोंको दूर कर दिया था। अब तो वे प्रतिदिन भगवान् मुकुन्द श्रीकृष्णके कमलके समान नित्य प्रफुल्लित मुखारविन्दका दर्शन करते हुए गृह-सुख भोग करने लगे। भगवान्का श्रीमुखपद्म सदय मुसकान, अद्भुत चितवन, अपार सौन्दर्य एवं प्रमुदित कान्तिसे युक्त है॥ १७-१८॥

तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः॥ १९॥

उनमें जो वृद्ध थे, वे नित्य निरन्तर अपने नेत्रोंके द्वारा श्रीकृष्णकी मुखकमल-सुधा (अमृत-माधुरी) का पान किया करते थे। इसी कारण वे भी युवकोंके समान अत्यन्त बलशाली और ओजवान् (उत्साही) होकर मानो तरुण ही हो गये थे॥ १९॥

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः।
सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः॥ २०॥

हे महाराज! इसके बाद देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलदेव नन्द महाराजके पास गये। उन्होंने उनका आलिङ्गन किया और इस प्रकार कहने लगे (नन्दबाबाने भी अपनी विशाल भुजाएँ फैलाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया था)॥ २०॥

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥ २१॥

(श्रीबलरामने कहा—) पिताजी! आपने एवं माता यशोदाने बहुत स्नेह और लाड़-प्यारसे हमारा पालन-पोषण किया है। माता-पिता अपनी सन्तानसे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रीति रखते हैं। आपने जो हमें इतना दुलार दिया—यह आश्चर्यकी बात नहीं है (मैं तो कृष्णके बिना मथुरामें रह भी नहीं सकता था)॥ २१॥

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोष-रक्षणे॥ २२॥

पिता आदि आत्मीयजन बालकके भरण-पोषणमें असमर्थ होकर जब उसका परित्याग कर देते हैं, तब जो उस बालकका अपने पुत्रके समान पोषण करते हैं, वे ही वास्तविकरूपसे उसके माता-पिता होते हैं (आप मुझे छोड़कर कृष्णको मत ले जाना। कृष्ण-विच्छेदरूप दावानलमें दग्ध होकर मथुरामें रहना मेरे लिए कभी सम्भव नहीं है)॥ २२॥

यात यूयं व्रजं तात वयञ्च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥ २३॥

(श्रीकृष्ण सान्त्वना प्रदान करते हुए कहने लगे—) हे पिता! अब आप व्रजमें जाइये। हम यहाँ वसुदेव आदि आपके सुहृद्-सम्बन्धियोंके द्वारा अभिलषित सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करके उन्हें सन्तुष्ट करेंगे और शीघ्र ही विरह दुःखसे कातर आपसे और प्रियजनोंसे (मधुमङ्गलादिसे) मिलनेके लिए आयेंगे॥ २३॥

एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दं सव्रजमच्युतः।
वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम्॥ २४॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार नन्द बाबा आदि प्रमुख व्रजवासियोंको सान्त्वना प्रदान की और उन्हें वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण तथा रजत आदि अन्यान्य धातुओंके बने हुए बरतन आदि प्रदान कर उनका बड़े आदरके साथ सत्कार किया॥ २४॥

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ॥ २५॥

नन्द बाबा श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर प्रेमसे अधीर हो गये। उन्होंने उन दोनोंको हृदयसे लगाया एवं आँसुओंसे भरे हुए नेत्रोंसे गोपोंके साथ व्रजकी ओर प्रस्थान किया (भगवान् श्रीकृष्णकी अतर्क्य ऐश्वर्यशाली लीलाशक्ति योगमायाने इस लीलाका समाधान इस प्रकार किया कि इसी क्षण श्रीकृष्ण, बलराम एवं श्रीनन्दादि गोपोंके दो-दो प्रकाश आविर्भूत हो गये। लीलानुरोधसे प्रकटित वे प्रकाश अपनेसे अतिरिक्त दूसरे प्रकाशके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते थे। नन्दव्रजमें श्रीकृष्णका नित्यवास एवं वियोग—दोनों लीलाएँ एक साथ घटित होती हैं)॥ २५॥

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत्।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम्॥ २६॥

हे राजन्! तदनन्तर वसुदेवने पुरोहित गर्गाचार्य एवं अन्यान्य ब्राह्मणोंको बुलाया और विधिपूर्वक दोनों बालकोंका द्विजाति-उचित उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करवाया॥ २६॥

तेभ्योऽदाद्दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः।
स्वलङ्कृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः॥ २७॥

इसके बाद वसुदेवने वस्त्र एवं आभूषण आदिके द्वारा ब्राह्मणोंकी विधिवत् पूजा की। पूजा करनके बाद उन्हें अलङ्कार,

सुवर्ण, पुष्पहार, रेशमी वस्त्र एवं मालाओंको धारण करनेवाली बछड़ोंसे युक्त गौओंको दक्षिणारूपमें दिया॥ २७॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः॥ २८॥

बलराम और श्रीकृष्णके जन्मके अवसरपर ब्राह्मणोंको दान देनेके लिए महामति वसुदेवने मनमें जितनी गायोंका सङ्कल्प किया था, उन सब गायोंको पहले राजा कंसने अन्यायसे अपहरण करवा लिया था। उसी घटनाका स्मरण करके वसुदेवने राज–गोष्ठसे दस हजार गायोंको मँगवाया और ब्राह्मणोंको प्रदान किया॥ २८॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ॥ २९॥

यदुकुलाचार्य गर्गमुनिसे उपनयन संस्कार करवाकर बलराम और कृष्ण दोनों द्विजत्वको प्राप्त हुए। उनका ब्रह्मचर्य अखण्ड तो था ही, अब वे इसका आश्रयकर नियमपूर्वक रहने लगे॥ २९॥

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलं ज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥ ३०॥
अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तिपुरवासिनम्॥ ३१॥

कृष्ण और बलराम सम्पूर्ण विद्याओंके स्रोत एवं आकरस्वरूप, सर्वज्ञ एवं जगदीश्वर हैं। इन्होंने मनुष्योचित कर्म करते हुए अपने स्वतःसिद्ध विमल ज्ञानको छिपा रखा था। उन्होंने गुरुकुल–वास करनेकी इच्छा की। अतः वे काशी देशमें उत्पन्न काश्यगोत्री अवन्तीपुरवासी सान्दीपनि नामक गुरुके समीप पहुँचे॥ ३०–३१॥

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम्।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ही जितेन्द्रिय एवं आत्मसंयत थे। दोनों भाइयोंने अपने गुरुभक्ति इत्यादि विधिपूर्वक आचरणसे और दूसरोंको भी वैसे ही आचरणकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे बड़े यत्न एवं भक्तिके साथ इष्टदेवताके समान (आचार्य देवो भव) अपने गुरुकी सेवा करना आरम्भ कर दिया॥ ३२॥

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः॥ ३३॥

गुरुवर सान्दीपनि मुनि भी उनके शुद्ध भावोंसे युक्त सेवासे (शिष्यत्वसे) परम सन्तुष्ट हुए। उन्होंने छहों अङ्ग एवं समस्त उपनिषदोंके साथ सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा प्रदान की॥ ३३॥

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिञ्च षड्विधाम्॥ ३४॥

इसके साथ ही मन्त्र-देवताओंका ज्ञान, धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि ग्रन्थ, तर्क विद्या (न्यायशास्त्र) और षड्विध राजनीति (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध एवं द्विविध आश्रय) की शिक्षा दी॥ ३४॥

सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्त्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप॥ ३५॥
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप॥ ३६॥

हे राजन्! नरवरोंमें श्रेष्ठ, संयमी-शिरोमणि बलराम एवं श्रीकृष्ण समस्त विद्याओंके आदि-प्रवर्त्तक हैं। मात्र एक बार ही सिखा देनेसे वे समस्त विद्याओंको सीख लेते थे। उन्होंने चौंसठ दिनोंमें ही चौसठ कला-विद्याओंका अभ्यास प्राप्त कर लिया। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने गुरु-दक्षिणाके लिए आचार्यसे आग्रह किया॥ ३५-३६॥

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥ ३७॥

हे महाराज! सान्दीपनि मुनिने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिकी बुद्धिको परख लिया था। उन्होंने अपनी पत्नीके साथ परामर्श किया। तब प्रभास क्षेत्रमें बालस्वभाववश जलक्रीड़ा करते हुए महासमुद्रमें डूबे अपने मृतक पुत्रको दक्षिणाके रूपमें लानेके लिए कहा॥ ३७॥

तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत् तयोः॥ ३८॥

परीक्षित्! बलराम और श्रीकृष्ण महारथी हैं। उन दोनोंका पराक्रम असीमित है। गुरुकी आज्ञा सुनकर उन्होंने 'तथास्तु' (ऐसा ही हो) कहकर रथपर सवार होकर प्रभासक्षेत्रकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ महासमुद्रके किनारेपर वे क्षणकाल तक रुके रहे। समुद्र उनके आगमन-वृत्तान्तसे जैसे ही अवगत हुआ, वैसे ही पूजाकी सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित हो गया॥ ३८॥

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम्।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा॥ ३९॥

तब भगवान्ने समुद्रसे कहा—समुद्र! तुमने इस प्रभास क्षेत्रमें अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गों द्वारा हमारे गुरुके पुत्रको लील लिया है, अब शीघ्र ही उसे हमें लौटा दो॥ ३९॥

श्रीसमुद्र उवाच—

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान्।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः॥ ४०॥

श्रीसमुद्रदेवने कहा—हे देवाधिदेव! हे श्रीकृष्ण! मैंने आपके गुरुपुत्रका हरण नहीं किया। मेरे जलकी गहराईमें आसुरीभावमय पञ्चजन नामक एक महादैत्य शङ्खका रूप धारण करके विचरण किया करता है, उसे पकड़ना असाध्य है॥ ४०॥

आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम्॥ ४१॥

हे प्रभो! आपके गुरुपुत्रका निश्चितरूपसे उसीने अपहरण किया होगा। श्रीकृष्ण समुद्रके इन वचनोंको सुनते ही शीघ्र ही जलमें घुस गये और उस असुरका संहार कर दिया, परन्तु उसके उदरमें वह बालक (गुरुपुत्र) नहीं मिला॥ ४१॥

तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत्।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम्॥ ४२॥

गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः।
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः॥ ४३॥

तयोः सपर्य्यां महतीं चकक्रे भक्त्युपबृंहिताम्।
उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम्।
लीलामनुष्योर्विष्णो युवयोः करवाम किम्॥ ४४॥

श्रीकृष्णने उस असुरके शरीरसे उत्पन्न शङ्खको ले लिया और रथपर लौट आये। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवके साथ यमराजकी प्रिय राजधानी संयमनी पुरीमें उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने तुमुल स्वरसे (बड़े जोरसे) शङ्खध्वनि की। प्रजाके शासक यमराजने जब शङ्खकी गूँजती ध्वनिको सुना, तब श्रीकृष्ण और बलरामका विविध उपहारोंसे युक्त, समृद्धिशालिनी एवं भक्तिभावमयी महापूजासे सत्कार किया। इसके बाद विनीत भावसे सर्वभूतहृदयगत भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—हे विष्णो! आप दोनोंने लीलासे ही मनुष्य विग्रह धारण किया है। मैं आपकी क्या सेवा करूँ, मुझे आदेश दीजिये। (गुरुपुत्रको लानेका श्रीकृष्णका एक उद्देश्य

पाञ्चजन्य शङ्खकी प्राप्ति भी था। चक्र, गदा, पद्म उपाङ्गोंके समान इसका उद्भव भी श्रीकृष्णके तेजसे हुआ है। इसकी कान्ति राजहंसके समान अति सुन्दर है। भगवान्‌के करकमलोंमें विराजमान होकर यह उनके अधरामृतका पान करता है, इसलिए उसे श्रेष्ठ उपाङ्गकी पदवी प्राप्त है। इसके मनमें गर्व था कि मेरे बजनेपर श्रीहरि युद्धमें विजय प्राप्त करते हैं। एक दिन यह श्रीलक्ष्मीजीके समक्ष अपनी श्रेष्ठताका बखान करने लगा। तब उन्होंने इसे दैत्य बननेका शाप दे दिया—तभीसे यह समुद्रमें रहता था। वस्तुतः पाञ्चजन्य शङ्ख चिन्मय है, भगवान्‌का नित्य उपाङ्ग है। इसका शापित दैत्य शरीर दूसरा है, जिसे भगवान्‌ने मार दिया और उसके उदरमें अवस्थित शङ्खको निकालकर अपने नित्य शङ्खमें लीन कर दिया। जय-विजयकी भाँति शापवश इसकी पृथक् देहमें असुरत्व था। संयमनी पुरीमें कृपासिन्धु श्रीकृष्णके द्वारा शङ्ख बजाये जानेपर सभी नरक प्राणियोंसे शून्य हो गये, क्योंकि श्रीकृष्णके दर्शनमात्रसे ही सब अक्षयधाम—वैकुण्ठ चले गये)॥ ४२–४४॥

श्रीभगवानुवाच—

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः॥ ४५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—यमराज! मेरे गुरुका पुत्र अपने कर्मोंके बन्धनके कारण आपके पास यमपुरी लाया गया है। मेरी आज्ञाका पालन करो और गुरुपुत्रको अविलम्ब मेरे पास ले आओ॥ ४५॥

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः॥ ४६॥

यमराजने 'जो आज्ञा' कहकर गुरुपुत्रको उसी शरीरसे उनके समीप ला दिया। इसके बाद यदुप्रवर बलराम और श्रीकृष्णने उस

बालकको लाकर अपने गुरुको सौंपते हुए कहा—“हे गुरुदेव! आप पुनः और जो कुछ चाहें, माँग लें॥”४६॥

श्रीगुरुरुवाच—

सम्यक् सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते॥ ४७॥

श्रीगुरुने कहा—वत्स! तुम दोनोंने भलीभाँति गुरुदक्षिणा दे दी है। जो तुम्हारे जैसे शिष्योंका गुरु हो, उसका कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है?॥ ४७॥

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्त्तिर्वामस्तु पावनी।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥ ४८॥

हे वीरो! अब तुम दोनों अपने घर जाओ। तुम्हें लोकपावनी कीर्त्ति प्राप्त हो। इस लोक एवं परलोकमें भी सारे वेदशास्त्र तुम्हारे हृदयमें प्रकाशित रहें, उनकी कभी भी विस्मृति न हो॥ ४८॥

गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै॥ ४९॥

हे तात परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम अपने गुरुसे इस प्रकार आज्ञा प्राप्त करके मेघके समान गम्भीर ध्वनिसे युक्त और वायुके समान वेगवाले रथपर सवार होकर मथुरा-पुरी लौट आये॥ ४९॥

समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा राम-जनार्द्दनौ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५॥

राजन्! मथुराकी प्रजा बहुत समय तक श्रीकृष्ण और बलरामको न देखनेके कारण विरह-सन्तप्त हो रही थी, अब उन्हें

आया देख इस प्रकार परमानन्दित हो गयी, जिस प्रकार लोग नष्ट धनको पुनः प्राप्त करके आनन्दित हो जाते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पैंतालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षट्चत्वारिंऽशोध्यायः

उद्धवकी व्रजयात्रा एवं नन्दबाबा तथा यशोदा मैयाको सान्त्वना देना

श्रीशुक उवाच—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! वृष्णिवंशियोंमें उद्धव (साक्षात् मूर्त्तिमान् आनन्द-उत्सव) प्रमुख बुद्धिमान् व्यक्ति थे। उन्हें साक्षात् बृहस्पतिके शिष्यके रूपमें जाना जाता था। वे कृष्णके प्रिय सखा एवं मन्त्री भी थे। अपनी वाणी एवं आचरणके द्वारा वे सभी यदुवंशियोंके माननीय थे। श्रीकृष्ण इनके द्वारा व्रजवासियोंके सर्वोत्कृष्ट प्रेमका जगत्में प्रचार करवाना चाहते थे। (उद्धव श्रीकृष्णके दयित अर्थात् वल्लभ हैं, अतः व्रजप्रेम-सुधाका पान कर सकते हैं। श्रीकृष्णके सखा सुबलके समान मधुररसमें संलाप भी कर सकते हैं। बुद्धिमें कृष्ण-तुल्य होनेसे कृष्णका दौत्य-कार्य उत्तम रूपसे सम्पन्न कर सकेंगे। इनकी बुद्धिकी अतिशय तीक्ष्णता देखकर देवगुरु बृहस्पतिने इन्हें समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कराया था। एक ही शास्त्र—जिसका बृहस्पतिको भी ज्ञान न था, सर्वमुकुटोत्तम कृष्णवशीकारक प्रेमशास्त्र—उसका वे उद्धवको अध्ययन न करा पाये। कृष्णने इसी पाठके लिए उन्हें गोपियोंके पास भेजा)॥ १॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्त्तिहरो हरिः॥ २॥

भगवान् श्रीहरि शरणागतोंके सन्तापको हरनेवाले हैं। एक बार वे एकान्तमें अनन्यचित्त प्रियभक्त उद्धवका हाथ अपने हाथोंमें पकड़कर कहने लगे (पितरों एवं देवताओंका परित्याग करके

उत्तम निष्ठाके साथ जो श्रीकृष्णसे प्रेम करता है—वही ऐकान्तिक भक्त कहलाता है)॥ २॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं सत्सन्देशैर्विमोचय॥ ३॥

हे सौम्य! हे उद्धव! तुम व्रजमें जाओ। वहाँ मेरे पिता नन्द बाबा और मेरी मैया यशोदाको आनन्दित करो। गोपियाँ वहाँ सदैव मेरे विरहसे व्यथित रहती हैं—उन्हें मेरे सन्देश सुनाकर उस विरह-वेदनासे मुक्त करो (एक-दो सन्देश तो व्रजगोपियोंकी प्रेम-प्रलयाग्निकी ज्वालामें भस्म हो जायेंगे—कई आश्वास-सन्देश देनेसे ही विरहका निवारण होगा)॥ ३॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥ ४॥

हे प्यारे उद्धव! गोपियोंने अपना चित्त मुझमें समर्पण कर रखा है। मैं उनका जीवन-स्वरूप हूँ। मैं ही उनका सर्वस्व हूँ। उन्होंने मेरे लिए पति-पुत्रादि सभी सगे-सम्बन्धियोंका त्याग कर दिया है और अपने हृदयोंमें मुझे ही अपना प्रेष्ठ, अपना प्रियतम और क्या कहूँ—अपनी आत्मा भी मान रखा है। उद्धव! जो मेरे लिए समस्त लौकिक एवं पारलौकिक धर्मोंका परित्याग कर देते हैं, सभी स्थितियोंमें उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ (गोपियाँ मेरी नित्यसिद्धा स्वरूपशक्ति हैं, उनका पोषण, संवर्द्धन एवं सुखदान मैं ही करता हूँ)॥ ४॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौतकण्ठ्यविह्वलाः॥ ५॥

हे प्यारे उद्धव! उन गोपियोंको जितनी भी वस्तुएँ प्रिय हैं, उन सबमें मैं उनका सर्वाधिक प्रियतम हूँ। अब मैं उनसे दूर रह रहा हूँ, इस कारण वे गोपरमणियाँ मेरा स्मरण करती हुई

विरह-जनित उत्कण्ठासे अत्यन्त विह्वल रहती हैं और मूर्च्छित हो जाती हैं॥ ५॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ ६॥

गोपियाँ मेरी स्वरूपशक्तिभूता एवं मदात्मिका हैं (अर्थात् मैं ही उनकी आत्मा हूँ)। गोकुलसे आते समय मैंने उनसे कहा था कि 'मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।' वे इस समय इसी आश्वासनसे किसी-न-किसी प्रकारसे अत्यधिक कष्टके साथ जीवन धारण कर रही हैं॥ ६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्त्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर उद्धवने बड़े आदरके साथ अपने प्रभुका आदेश स्वीकार किया और रथपर सवार होकर नन्दगाँवके लिए चल पड़े॥ ७॥

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८॥

उस समय सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर जा रहे थे कि श्रीमान् उद्धव नन्दगाँवमें पहुँचे। उस समय गायें जङ्गलसे गोष्ठकी ओर लौट रही थीं, उनके खुरोंसे धूल उड़ रही थी, जिससे उनका रथ पूरी तरहसे ढक गया था। इसलिए गोपियोंको इस बातका पता ही नहीं चला कि उद्धव नन्द महाराजके पास पहुँच गये हैं॥ ८॥

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान्॥ ९॥

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च॥ १०॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥ १३॥

व्रजमें उस समय ऋतुमती गायोंके लिए उन्मत्त वृषभ परस्पर लड़ रहे थे। उनकी गर्जना एवं अपने-अपने बछड़ोंकी ओर दौड़ती थनोंके भारसे दबी गायोंके उच्च स्वरसे रम्भानेकी ध्वनिसे नन्द-व्रज गूँज रहा था। इधर-उधर कूद-फाँद करते हुए शुभ्रवर्णके बछड़ोंकी अम्ब-अम्ब ध्वनि एवं वंशीकी सुमधुर टेरसे व्रजमण्डल कूजित हो रहा था। विभिन्न स्थानोंसे गोदोहनकी 'घर्घर' ध्वनिके साथ 'इसे छोड़ दो', 'उसे ले आओ', 'जल्दी करो', 'जल्दी मत करो', 'दोहन पात्र दो', 'दोहन पात्र लो' आदि विविध शब्द गुंजायमान हो रहे थे। गोप-गोपियाँ सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और अलङ्कारोंसे सज-धजकर ललित-स्वरसे श्रीकृष्ण और बलरामके पावन चरित्रोंका कीर्त्तन कर रहे थे, इस प्रकार व्रजकी अनुपम शोभा हो रही थी। गोपोंके गृहोंमें यज्ञ-अग्नि, सूर्य, अतिथि, गाय, ब्राह्मण, पितर एवं देवताओंका अर्चन हो रहा था। सर्वत्र धूपकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी, दीपककी ज्योति जगमगा रही थी और उन्हें पुष्पमालाओंके द्वारा सुसज्जित किया गया था। इन रमणीय घरोंसे गोकुल अतीव मनोरम लग रहा था। चारों दिशाएँ पुष्पित वनोंसे महक रही थीं तथा भ्रमरोंके गुञ्जार और पक्षियोंके कलरवसे निनादित हो रही थीं। हंस और कारण्डव (जलकाक) से परिपूर्ण कमल-कुञ्जोंसे स्थल और जल दोनों ही प्रकारके सरोवरोंकी अत्यधिक शोभा हो रही थी (भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे योगमायाने गोकुलके कृष्ण-विरह-व्यथित प्रकाशको आच्छादित कर दिया)॥ ९-१३॥

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥ १४॥

श्रीकृष्णके प्रिय अनुचर उद्धवके नन्दालयमें आगमनके विषयमें जानकर नन्दबाबा शीघ्र ही उनके रथके पास पहुँचे और बड़े प्रेमके साथ उनका आलिङ्गन किया। परीक्षित्! नन्दबाबाने उद्धवका इस प्रकार सम्मान किया, मानो उनके प्राणप्रिय श्रीकृष्ण ही आ गये हों (उद्धवने नन्दभवनमें श्रीकृष्ण विच्छेद-प्रकट-प्रकाश देखा। उनकी वेषभूषाको अपने पुत्रके समान देखकर नन्दमहाराज आनन्दित हुए। उनके दर्शन करके नन्दबाबामें बोलनेकी सामर्थ्य आ गयी। उन्होंने पाद्यादिके द्वारा उद्धवकी अर्चना की)॥ १४॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्य्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः॥ १५॥

इसके बाद पड़ोसी ब्राह्मण द्वारा लाये गये उत्कृष्ट अन्नका उन्हें भोजन कराया। भोजनके बाद वे शय्यापर सुखपूर्वक विराजमान हो गये। सेवकोंने पादसंवाहन, वीजन-आन्दोलन (पङ्खा झलना) आदि क्रियाओं द्वारा उनकी थकावटको दूर किया। इसके बाद नन्दबाबा उनसे पूछने लगे (मथुरा गमनके दिनसे ही व्रजवासियोंके रन्धन-गृह अमार्जित, अलिप्त, तृण-पत्र-धूलिसे भरे हुए थे। मकड़ियोंने भी अपने जाल फैला रखे थे। पास-पड़ोसियोंके द्वारा दिये दूध-दही-छाछ आदिसे सब जीवन धारण कर रहे थे)॥ १५॥

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६॥

नन्दबाबाने उनसे कहा—हे परम सौभाग्यवान् उद्धव! अब तो हमारे सखा वसुदेव कंसके कारागारसे मुक्त हो गये हैं। इस समय वे अपने सुहृदों एवं पुत्रों आदिके साथ ही हैं न? आजकल वे कुशलपूर्वक तो हैं न? (कृष्णके विषयमें पूछनेमें असमर्थ रहे—कण्ठ अवरुद्ध हो गया था)॥ १६॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा॥ १७॥

पापात्मा कंस धर्मपरायण साधुओं एवं यदुवंशियोंके प्रति सदैव द्वेष करता था, वह अब अपने पापोंके कारण अपने भाइयों और अनुचरोंके साथ मारा गया है, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्यकी बात है॥ १७॥

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजञ्चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥ १८॥

उद्धव! कृष्ण क्या कभी मुझे, माता यशोदाको (तर्जनी अङ्गुली द्वारा दिखाते हुए), गोपालादि सुहृदोंको स्मरण करता है? उसे अपने श्रीदामादि सखाओंकी, अन्यान्य गोपोंकी और निज रक्षित (शोभाहीन) व्रजमण्डलकी (जिनके वे स्वयं ही स्वामी हैं) कभी याद आती है क्या? उसे वृन्दावन, गायों और गिरि गोवर्द्धनका स्मरण तो होता होगा?॥ १८॥

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥ १९॥

उद्धव! आप यह तो बतलाइये कि हमारा कृष्ण अपने इन आत्मीय-स्वजनोंको देखनेके लिए एक बार भी यहाँ आयेगा क्या? यदि वह यहाँ आता, तो हम सब उसकी सुघड़ सुरम्य नासिका, अमृतोपम मधुर-मृद-मुसकान एवं सुदीर्घ तथा मनोरम कमलवत् नयनद्वयसे युक्त मुखमण्डलको देख लेते। (उद्धव! हमें सान्त्वना देना तो दूर रहे, व्रजमें स्थायी वास न हो, किन्तु उसके एक बार दर्शनकी प्रार्थना करते हैं। हम विरह-महाज्वरसे पीड़ित होकर आज अथवा कल मर ही जायेंगे। परार्द्धसे भी अधिक गायें, कोटि-कोटि स्वर्णमुद्राएँ, मुक्ता, हीरे, रत्न, रौप्य, स्वर्णपात्र, विविध वस्त्र, अलङ्कार, चन्दन, अगुरु, कुङ्कुम—इन सबको तो वह स्वयं आकर ले जाय, हम माता-पिताके मरनेके बाद कौन इनका सत्त्वाधिकारी होगा? एक बार यहाँ आकर ये सब वस्तुएँ ले

जाय, फिर जहाँ उसके रहनेकी इच्छा हो, वहाँ रहे। हाय! कब आयेगा? कब उसे देखूँगा?)॥ १९॥

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २०॥

भैया उद्धव! श्रीकृष्ण महात्मा एवं अत्यन्त उदार हैं। उनकी शक्ति अनन्त है। उन्होंने दावानल, इन्द्रकृत आँधी-वर्षा, वृषभासुर, अजगर और कालियनाग आदि अलंघ्य मृत्युके कारणोंसे एक बार नहीं, कई-कई बार हमारी रक्षा की है। हम अब इस महा-उग्र विरह-प्रलयाग्निसे सन्तप्त हो रहे हैं॥ २०॥

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितञ्चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१॥

उद्धव! हमलोग श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावशाली चरित्र, उनकी विलासपूर्ण तिरछी चितवन, लीलामय उन्मुक्त मुसकान, मधुर संभाषण आदिका स्मरणकर इतने तन्मय हो जाते हैं कि हमारे भोजनादि जितने भी कार्य हैं, उनमें शिथिलता आ जाती है, हम सब कुछ भूल जाते हैं। अब किसी भी काममें मन नहीं लगता॥ २१॥

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥

हे उद्धव! जब हम श्रीकृष्णके पदचिह्नोंसे सुशोभित स्थानोंको देखते हैं कि यह वही यमुना नदी है, जहाँ वह जल-क्रीड़ा करता था, यह वही पर्वत है, जिसे उसने एक हाथपर धारण कर लिया था, ये वे ही वन हैं, जहाँ उसकी वंशीकी ध्वनि गूँजती रहती थी और ये वही स्थान हैं, जहाँ वह सखाओंके साथ गौओंको चराते हुए अनेकों प्रकारके खेल खेलता था, तब उसे देखकर हमारा चित्त उसमें पूर्णरूपसे तन्मय (कृष्णमय) हो जाता है॥ २२॥

मन्ये कृष्णञ्च रामञ्च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥

महात्मा गर्गमुनिके महत्-वचनोंके अनुसार मैंने यह निश्चित्‌रूपसे मान लिया है कि श्रीकृष्ण और बलदेव कोई श्रेष्ठ देवता हैं, जो इस भूतलपर देवताओंका बहुत बड़ा प्रयोजन (कंस-वधादि) सिद्ध करनेके लिए ही मेरे घरमें आये हुए थे॥ २३॥

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं यथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४॥

उद्धव! उनके प्रत्यक्ष कार्योंको देखकर भी ऐसी ही प्रतीति होती है, क्योंकि सिंह जिस प्रकार अनायास ही छोटे-छोटे प्राणियोंका संहार कर डालता है, उसी प्रकार उन दोनोंने भी दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले राजा कंस, चाणूर, मुष्टिक नामक दोनों अजेय मल्लों एवं कुवलयापीड़ नामक उन्मत्त गजराजको अनायास ही मार डाला॥ २४॥

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
वभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम्॥ २५॥

देखिये! गजराज जिस प्रकार खेल-ही-खेलमें किसी छड़ीके दो टुकड़े कर डालता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी लोहेके समान, अत्यन्त सुदृढ़ एवं तीन तालके समान लम्बे धनुषके दो टुकड़े कर दिये। ऐसे ही एक सप्ताह तक एक ही हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया॥ २५॥

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्त्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया॥ २६॥

इसी वृन्दावनमें श्रीकृष्ण और बलरामने प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त्त, बक आदि दैत्योंको खेल-ही-खेलमें मार डाला, जब कि इन सबने देवताओं एवं अन्य असुरोंको पराजित कर दिया था॥ २६॥

श्रीशुक उवाच—

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत् तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! नन्दबाबाका हृदय यों ही श्रीकृष्णके प्रति विशुद्ध अनुरागसे युक्त था, इन सब लीलाओंका स्मरण करके उनके हृदयमें श्रीकृष्णके एक-एक चरित्र स्फुरित होते जाते थे और वे उनका स्मरण कर-करके प्रेमसे विह्वल एवं उत्कण्ठित होते जाते थे। भाव-विभोर होनेके कारण उनका गला रुँध गया और कुछ भी न बोल सके, बस मौन हो गये (नन्द बाबाके हृदयमें वसुदेवके समान ऐश्वर्यका भाव कभी भी उदित नहीं हुआ। पारापारहीन समुद्रका ऐश्वर्य जिस प्रकार अगस्त्य मुनिके लिए कुछ भी नहीं था, उसी प्रकार कृष्णका ऐश्वर्य भी नन्दमहाराजके लिए अकिञ्चित्कर है)॥ २७॥

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥ २८॥

यशोदादेवी भी वहीं बैठकर नन्दबाबाकी बातें सुन रही थीं। श्रीकृष्णकी एक-एक लीला सुनकर उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह रही थी। उस समय पुत्र स्नेह-प्लावनसे उनके स्तनोंसे दुग्ध स्वतः ही क्षरित हो रहा था (माँ यशोदा तो वात्सल्य स्नेहके आधिक्यवश कुछ भी न बोलीं, अपने वस्त्रसे आँसू पोंछती रहीं)॥ २८॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥ २९॥

परीक्षित्! उद्धवने भगवान् श्रीकृष्णके प्रति नन्दबाबा एवं यशोदा मैयाके परम अनुरागको देखा, तो वे बड़े आनन्दित हो गये और नन्दबाबासे कहने लगे॥ २९॥

श्रीउद्धव उवाच—

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत् कृता मतिरीदृशी॥ ३०॥

श्रीउद्धवने कहा—हे मानद! इसमें सन्देह नहीं कि आप दोनों जन इस जगत्‌के प्राणियोंमें महाभाग्यवान्, प्रशंसनीय एवं पूज्यतम हैं (वसुदेव-देवकी पूज्यतर हैं और भक्तगण पूज्य हैं), क्योंकि समस्त चराचरके बनानेवाले और उन्हें ज्ञान देनेवाले नारायण—श्रीकृष्णमें आपकी ऐसी अनुरागमयी वात्सल्य बुद्धि—पुत्र-बुद्धि है (नन्दबाबाको सान्त्वना देनेके लिए कृष्णके ऐश्वर्य ज्ञानका निष्फल प्रयास किया गया है)॥ ३०॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१॥

बलदेव एवं श्रीकृष्ण इस विश्वके निमित्त एवं उपादानस्वरूप हैं। वे दोनों ही पुराणपुरुष हैं और वे दोनों प्रकृति भी हैं। ये दोनों पुराण-पुरुष समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें अणुरूपसे प्रविष्ट होकर भी जीवोंसे विलक्षण अन्तर्यामी, परमात्मा एवं चिन्मात्र ब्रह्मके रूपमें विराजित हैं। ये ही अपने स्वरूपको कभी प्रकट एवं कभी अप्रकट करते हैं॥ ३१॥

यस्मिन् जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२॥

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्त्यमूर्त्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किंवावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥ ३३॥

मृत्युकालमें जो जीव अपने विशुद्ध चित्तको क्षणकालके लिए भी उनमें आविष्ट कर लेता है, तब उसकी कर्मवासनाएँ दग्ध हो जाती हैं। वह स्व-पर प्रकाशक सूर्यके समान तेजस्वी एवं अपने ब्रह्ममय चिन्मय-स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। आप दोनोंने उन विश्वात्मा, विश्वके कारण-स्वरूप एवं समस्त कारणोंके मूल कारण नराकृति परब्रह्म-स्वरूप नारायणमें निरतिशय भक्तिभावका पोषण किया है। अतः आपके लिए और कौन-सा शुभ कर्म करना शेष रह जाता है? ॥ ३२-३३ ॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥

हे महाभाग! भक्तवत्सल यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र ही व्रजमें लौटेंगे और अपने माता-पिता दोनोंको आनन्दित करेंगे ॥ ३४ ॥

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥

रङ्गभूमिमें समस्त यादवोंके शत्रु कंसको मारनेके पश्चात् श्रीकृष्णने आपके पास आकर जो कुछ भी कहा था, उस कथनका पालन वे अवश्य ही करेंगे। (श्लोकमें 'करोति' वर्त्तमानकालमें प्रयोग यह सूचित करता है कि श्रीकृष्ण नन्द-यशोदा द्वारा उस समयमें भी व्रजमें लालित हो रहे हैं, जिसे उद्धव देख नहीं पा रहे हैं। अन्य प्रकाशके द्वारा श्रीकृष्ण उस समयमें भी व्रजमें विद्यमान हैं) ॥ ३५ ॥

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥

हे महाभाग नन्दमहाराज एवं महाभागा माता यशोदा! आप किसी भी प्रकारका खेद न करें। आप यहाँ श्रीकृष्णको अपने निकट ही देख सकेंगे। जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि सदैव

विराजमान रहती है, उसी प्रकार वे भी समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें सर्वदा विराजमान रहते हैं॥ ३६॥

नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वाऽस्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो वापि समानस्यासमोऽपि वा॥ ३७॥

उनकी किसीके प्रति ममता-बुद्धि नहीं है। उनके लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय, न कोई उत्तम है और न कोई अधम। वे सर्वत्र समदर्शी हैं, तथापि उनके लिए सब प्रकारसे समान भी कोई नहीं है। विषमताका भाव रखनेवाला भी उनके लिए विषम नहीं है॥ ३७॥

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च॥ ३८॥

उनकी न कोई माता है और न ही पिता। न ही कोई भार्या है और न ही कोई पुत्रादि। न ही कोई अपना है और न ही कोई पराया। उनका न तो जन्म है और न ही प्राकृत देह॥ ३८॥

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९॥

उनके जन्मका मूलकारण कोई कर्म नहीं है। तब भी उनका जो देव, मनुष्य, कूर्म, मत्स्य, वराह आदि रूपोंमें आविर्भाव है, वह साधुओंको अपने विरह दुःखसे परित्राण करनेके लिए और उनके साथ लीला-रसके आस्वादनके लिए है। सत् या असत् अथवा मिश्रित किसी भी योनिमें जन्म लेनेके लिए उन्हें कोई बाध्य नहीं कर सकता॥ ३९॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽपि गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४०॥

वे अजन्मा एवं निर्गुण हैं, तो भी अपनी अचिन्त्यशक्तिसे सत्त्व, रज एवं तमोगुणको अङ्गीकार करते हैं। (सुख-दुःखादि प्रकृतिकृत है, ब्रह्मकृत नहीं) क्रीड़ातीत होनेपर भी साधुओंके

लिए विरह दुःखसे परित्राणरूप क्रीड़ा करते हुए वे प्राकृत गुणोंके द्वारा सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं॥ ४०॥

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्त्तरि तत्रात्मा कर्त्तेवाहंधिया स्मृतः॥ ४१॥

वायु, पित्त एवं कफ—इन तीन धातुओंके वैषम्यके कारण जिनका मस्तिष्क घूमता रहता है, उसकी दृष्टिमें जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् कुम्हारके चक्रके समान घूमता-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्तमें अहं बुद्धिके कारण ही जीव अपनेको जन्मका कर्त्ता मान लेता है॥ ४१॥

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥ ४२॥

भगवान् श्रीकृष्ण केवल आप दोनोंके ही पुत्र नहीं हैं, परन्तु वे समस्त जीवोंके ही पुत्र, परमात्मा, पिता, माता एवं स्वामी स्वरूप हैं। वे सभीको आत्मवत् प्रिय हैं॥ ४२॥

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकञ्च ।
विनाच्युताद्वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमात्मभूतः॥ ४३॥

हे व्रजराज! भूत, भविष्य, वर्त्तमानमें स्थितिशील, गतिशील, बृहत्, क्षुद्र, दृष्ट, श्रुत आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी अनिर्वाच्य हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कहा जा सके। वे ही समस्त वस्तुओंके मूलस्वरूप हैं और वे ही 'सर्व' शब्द वाच्य हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं। अच्युत भगवान्से किसी भी वस्तुका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है॥ ४३॥

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥ ४४॥

हे राजन्! नन्दबाबा एवं श्रीकृष्णके सखा उद्धवके इसी प्रकारके कथा-प्रसङ्गोंमें सारी रात बीत गयी। (उद्धवके प्रबोध-वाक्योंको नन्द महाराजने ग्रहण नहीं किया है। नन्दबाबा कृष्णकी दामोदर लीलादिका ही चिन्तन करते रहे।) इसी बीच गोपियाँ भी शय्या त्याग करके उठ बैठीं। उन्होंने दीपक प्रज्वलित किया और गन्धादिके द्वारा वास्तुभूमिका पूजन किया। इसके बाद वे दधि-मन्थन करने लग गयीं॥ ४४॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू
रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥ ४५ ॥

गोपाङ्गनाओंने हाथोंमें कङ्गन पहन रखे थे, जो बड़े सुशोभित हो रहे थे। जब वे मथानीमें लगी रस्सीको खींचती थीं, तब उनके नितम्ब, स्तन एवं हार हिलते जाते थे। हिलते कुण्डलोंकी प्रभासे उनके कपोल दीप्त हो रहे थे। उनका मुखमण्डल लाल रङ्गके कुङ्कुम रागसे रङ्गा हुआ था। आभूषणोंमें जड़ित रत्न दीपककी लौसे और भी झलमला रहे थे, जिससे उनकी शोभा और भी बढ़ गयी थी (यह दृश्य भी कृष्णसंयुक्त व्रजका प्रकाश करता है)॥ ४५॥

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६ ॥

उस समय गोपियाँ उच्च स्वरसे पद्म-पलाश-लोचन श्रीकृष्णके मङ्गलमय चरित्रोंका गुणगान कर रही थीं। उनकी वह कीर्त्तन-ध्वनि दधि-मन्थनके शब्दके साथ मिलकर गगनको स्पर्श कर रही थी। इससे दिशाओंके जितने भी अमङ्गल थे, सभी दूर हो गये॥ ४६॥

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥ ४७॥

इतनेमें ही परम पूज्य सूर्यदेव उदित हो गये, तभी गोपाङ्गनाओंने (व्रजवासियोंने) देखा कि नन्दबाबाके द्वारपर एक सोनेका रथ खड़ा है। रथको देखकर वे आपसमें पूछने लगीं—"यह रथ किसका है?"॥ ४७॥

अक्रूर आगतः किंवा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः॥ ४८॥

रथको देखकर विरहिणी गोपियाँ क्रोधाविष्ट हो गयीं। किसीने कहा—"जो कमललोचन श्रीकृष्णको यहाँसे मधुपुरी ले गया था, कंसका कार्य सिद्ध करनेवाला वही अक्रूर क्या फिरसे तो यहाँ नहीं आ गया?"॥ ४८॥

किं साधयिष्यत्यस्माभिभर्त्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम्।
ततः स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीनन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६॥

किसी दूसरी गोपीने कहा—(उस समय जब यह श्रीकृष्णको ले गया था, तब कंस इससे अति सन्तुष्ट हो गया था) "अब क्या यह हमारे हृत्पिण्डसे अपने मृत स्वामी कंसका पिण्डदान करनेके लिए पुनः यहाँ आया है?" गोपियाँ आपसमें इस प्रकारसे कह-सुन रही थीं कि तभी उद्धव स्नानादि प्रातःकालीन नित्य कर्मोंसे निवृत्त होकर वहाँ आ पहुँचे॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छियालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

उद्धव एवं गोपियोंका वार्त्तालाप
तथा भ्रमरगीत

श्रीशुक उवाच—

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लस-
न्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥ १॥

शुचिस्मिताः कोऽयमपीव्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमःश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! गोपियोंने देखा कि इस पुरुषकी आकृति और वेशभूषा हमारे श्यामसुन्दरसे मिलती-जुलती है। (वेश देखकर गोपियाँ आनन्दसे खिल उठीं) इसकी दोनों भुजाएँ घुटनों तक लम्बी हैं, नवीन प्रस्फुटित कमल-दलके समान नेत्र हैं, शरीरपर श्रीकृष्णका ही पीताम्बर एवं वक्षःस्थलपर उनकी ही कमल-पुष्पोंकी माला धारण कर रखी है, मुखकमल अतीव मनोहर है। कानोंमें झिलमलाते रत्न-जटित दोनों कुण्डल उनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं और मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है। हो या न हो, यह व्यक्ति श्यामसुन्दरका अनुचर है। गोपियाँ उन्हें देखकर अत्यधिक विस्मित हो गयीं। शुचि मुसकानसे युक्त गोपियाँ आपसमें कहने लगीं—इस पुरुषकी कान्ति तो अति सुरम्य है, परन्तु यह है कौन? इसने श्रीकृष्णके समान वेशभूषा क्यों धारण कर रखी है? यह कहाँसे आया है, किसका परिजन है? किसीका दूत है क्या? गोपियाँ इस प्रकार कहती हुईं बड़ी

उत्सुकताके साथ उत्तमश्लोक श्रीकृष्णके चरणकमलोंके आश्रित उद्धवको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं॥ १-२॥

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥ ३॥

गोपियोंने विनयपूर्वक अपना शीश झुकाया, (सिरपर वस्त्रको थोड़ा-सा ढक लिया) लजीली रसीली चितवन एवं मधुर वचनोंसे उद्धवका पाद्यादिके द्वारा सत्कार किया। इसी बीच उन्हें पता चला कि वे रमापति श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, तब वे उन्हें एकान्तमें (विजातीय जनोंसे अगोचर) ले गयीं। गोपियोंने उद्धवको सुखपूर्वक बिठाया और उनसे इस प्रकार कहने लगीं॥ ३॥

जानीमस्त्वां यदुपते पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

हे महात्मन्! हम अनुमान कर रही हैं कि आप हमारे प्यारे श्यामसुन्दरके पार्षद हैं और अपने श्रेष्ठ स्वामीके आदेशसे आप व्रजमें आये हैं। यदुनाथ श्रीकृष्णने अपने पिता नन्दबाबा एवं माता यशोदा देवीको आनन्दित करनेके लिए ही आपको यहाँ भेजा है (उन्हें लोकनिन्दाका भी डर है कि यशोदा एवं नन्दबाबा तो रो-रोकर मर रहे हैं और कृष्ण यहाँ राज कर रहा है। वे चतुर-चूड़ामणि हैं और तुम अतिशय बुद्धिमान् हो। कृष्ण सोचते हैं कि तुम्हारे यहाँ रहनेसे माता-पिता कृष्णको भूल जायेंगे)॥ ४॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥ ५॥

यह व्रजमण्डल तो गायोंके रहनेके स्थानोंसे ही भरा हुआ है। अतः इस व्रजमें नन्द-यशोदाके अतिरिक्त अन्य कोई हमें दिखायी नहीं देता, जो उनके द्वारा स्मरण किये जाने योग्य हो।

माता-पिता इत्यादि स्वजनोंके स्नेहानुबन्धनका त्याग करना तो मुनियोंके लिए भी बड़ा कठिन होता है। अन्य स्त्रियोंके साथ विलास करनेपर भी कृष्ण हमारे लिए दुस्त्यज्य हैं और दूसरी ओर, अहो! कृष्णके वैराग्यकी तीव्रता!॥५॥

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुंभिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः॥६॥

पुरुष स्त्रियोंसे जिस प्रकार सख्यता स्थापित करते हैं, भ्रमर जिस प्रकार पुष्पोंके प्रति आसक्ति प्रदर्शित करते हैं, अपने स्वजन-सम्बन्धियोंसे अतिरिक्त अन्योंके साथ जो बन्धुता स्थापित होती है, वह भी ऐसी स्वार्थमयी होती है। ऐसी मित्रताएँ स्वाभाविक नहीं होतीं, क्योंकि जिस दिन तक स्वार्थ-सिद्धि होती है, उसी दिन तक इस मित्रताका दिखावा होता है। भ्रमर सौरभ, सौकुमार्य एवं माधुर्यादि गुणोंसे युक्त पुष्पोंका एक बार मधुपान करके अपने चाञ्चल्य दोषसे जिस प्रकार उन पुष्पोंका त्याग कर देता है, उसी प्रकार पुरुष भी अपना स्वार्थ सिद्ध होनेपर एकनिष्ठ स्त्रियोंका त्याग कर देते हैं॥६॥

निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥७॥

वेश्याएँ निर्धन पुरुषको, प्रजाएँ असमर्थ राजाको, विद्याओंका अध्ययन कर लेनेपर शिष्य अध्यापकको एवं पुरोहित दक्षिणाके बाद यजमानको त्याग दिया करते हैं॥७॥

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥८॥

वृक्षोंपर फल नहीं रहते, तब पक्षी उन वृक्षोंका त्याग करके कहीं और उड़ जाते हैं, अतिथि भोजन कर लेनेके बाद गृहस्थके घरकी ओर कहाँ देखते हैं? वन दावानलसे दग्ध हुआ कि पशु वहाँसे खिसक लेते हैं और स्त्रीके हृदयमें चाहे जितना भी

अनुराग क्यों न हो, जार-पुरुष उस स्त्रीका भोग करनेके बाद उसे छोड़ देते हैं॥ ८॥

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते समायाते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥ ९॥
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोर-बाल्ययोः॥ १०॥

परीक्षित्! गोपियाँ काय, मन और वचनोंसे श्रीकृष्णके प्रति पूर्णतया समर्पित थीं, उन्हींमें तन्मय थीं। श्रीकृष्णके दूत उद्धवके आगमनसे न तो उन्हें अपने नित्य कार्योंकी सुधि रही और न ही लौकिक मर्यादाकी (लज्जादि व्यवहारकी)। वे स्त्री-सुलभ लज्जा आदिको भूल बैठीं, यहाँ तक कि उन्हें अपनी भी सुधि न रही। वे श्रीकृष्णकी बचपनसे लेकर किशोरावस्थातककी समस्त हृदयाकर्षिणी लीलाओंका स्मरण करते हुए गान करने लगीं और निरुपाधिक प्रीतिवश फूट-फूट कर रो पड़ीं॥ ९-१०॥

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥ ११॥

कोई एक गोपाङ्गना (दिव्योन्मादवती, महाभाववती, ह्लादिनी-शक्तिकी सारवृत्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी) मथुराकी परमसुन्दरी एक रमणीके साथ श्रीकृष्णके संगम-विहारका ध्यान कर रही थी, तभी पास ही उसे एक गुनगुनाता हुआ भौंरा दिखायी पड़ा। उसे काला देखकर कल्पना करने लगी कि हो-न-हो यह हमारे काले (साँवले) प्रियतमका ही भेजा गया दूत है। उन्होंने ही मुझे प्रसन्न करनेके लिए इसे यहाँ भेजा है। वह गोपी उस भ्रमरको (उद्धवको ही भ्रमर मानकर) सम्बोधन करते हुए इस प्रकार कहने लगी॥ ११॥

श्रीगोप्युवाच—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥ १२॥

(वह भौंरा वृषभानुनन्दिनीके श्रीचरणोंको कमल समझकर उनका मकरन्द पान करनेके लिए उनके चारों ओर गुनगुनाता हुआ मँडरा रहा था, मानो वह उनके चरणोंमें सिर रखकर उन्हें मनाना चाहता हो। उसे देखकर उनका मान और भी अधिक बढ़ गया, वे प्रजल्प करने लगीं—) हे मधुकर! हे धूर्तबन्धो! मुझे प्रसन्न करनेके लिए तू मेरे पैरोंका स्पर्श मत कर! मेरी सपत्नियोंके कुचोंसे श्रीकृष्णकी जो वनमाला विमर्दित हुई है, तेरी मूँछोंपर उसीके चिह्न दिखायी दे रहे हैं। जैसे तेरे स्वामी मधुपति, वैसा ही तू उनका दूत मधुप। अतः हे मद्यप! सुन! मधुपति मथुराकी उन मानिनियोंको सन्तुष्ट किया करें, परन्तु तुमने जिनका दूत बनकर ये जो रति-चिह्न धारण किये हैं—उन कृष्णका यह आचरण यदुसभामें निश्चय ही उपहासास्पद होगा॥ १२॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता ह्युत्तमःश्लोकजल्पैः॥ १३॥

(यह सुनकर मानो भौंरा कहता है—स्वामिनी! हम भौंरे हैं। स्वाभाविकरूपसे हमारी मूँछें पीली होती हैं। यह सुरत-कुङ्कुम नहीं है। श्रीकृष्ण ऐकान्तिकरूपमें आपमें ही अनुरक्त हैं। वे मथुरापुरीकी किसी भी रमणीको स्वप्नमें भी नहीं देखते। अतः आप वृथा ही मान क्यों कर रही हैं? भौंरेकी मानो बात सुनकर वे पुनः परिजल्प करने लगीं—) हे भ्रमर! जिस प्रकार पुष्पोंका परित्याग करके तू अन्यत्र (कहीं और) चला जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी लालसा बढ़ानेवाले अपने मोहक एवं मादक अधरामृतका मात्र एक ही बार पान कराया था और पुष्प-तुल्य कोमल हृदयवाली हम कामिनियोंका सदाके लिए परित्याग कर

दिया। हम नहीं जानतीं, सुकुमारी लक्ष्मीदेवी किस कारणसे ऐसे पुरुषके चरणकमलोंकी सेवा करती हैं? हम तो मानती हैं कि उनका चित्त निश्चय ही श्रीकृष्णके मिथ्या एवं कपटपूर्ण वचनोंसे आकृष्ट हो गया है, परन्तु हम लक्ष्मीजीके समान विदग्ध (भोली-भाली) नहीं हैं, हम उस चित्तचोरकी रस-सिक्त वाणीसे मुग्ध होनेवाली नहीं हैं॥ १३॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥ १४॥

(भौंरेको वहीं गुनगुनाते देखकर राधाजीने समझा कि मैंने इस दूतका इतना तिरस्कार किया, फिर भी यह अपने प्रभुका ही गुणगान कर रहा है। यह देखकर वे और भी क्रोधित होकर विजल्प करने लगीं—) अरे भ्रमर! दो पैरवाले मनुष्य चतुर होते हैं, पशुके चार पैर होते हैं और तू छह पैरोंवाला अर्द्ध पशु नितान्त (पशुसे भी डेढ़ गुना अधिक) मूर्ख है। हमारा तो कोई घर-द्वार नहीं है, उन्हींके कारण हम घर-बार छोड़कर वनवासिनियाँ बनी हैं—हमारे सामने उस यदुवंशशिरोमणि धूर्तकी वही जानी-पहचानी पुरानी बातोंको किसलिए कह रहा है? श्रीकृष्णकी जो नयी सखियाँ हैं, उनके पास जाकर ही काम-युद्धमें सदा विजयी रहनेवाले कृष्णका गुणगान कर, वे उनके व्यवहारसे चिर-परिचित नहीं हैं। श्रीकृष्णके आलिङ्गनसे ही उन मधुपुरवासिनियोंके हृदयकी पीड़ा शान्त होती है। जा, वे ही कृष्ण-कामिनियाँ तेरी चाटुकारितासे प्रसन्न होकर तुझे मन-वाञ्छित प्रदान करेंगी॥ १४॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहास-भ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमःश्लोकशब्दः॥ १५॥

(अपने समीप भौंरेको गुनगुनाते हुए देखकर उन्होंने समझा कि मानो वह कह रहा है कि हे कृष्ण-प्रेयसी-शिरोमणे! हे स्वामिनी! इस प्रकारसे मत कहो! वे मथुरामें आपका ही स्मरण करते रहते हैं। आपके वियोगमें वे बड़े कातर हो रहे हैं। आपको ही प्रसन्न करनेके लिए उन्होंने मुझे आदेश दिया है—इन वचनोंकी कल्पना करके उस गोपाङ्गनाने पुनः उज्जल्प करते हुए कहा—) स्वर्गलोक, मर्त्त्यलोक अथवा रसातलमें कोई भी स्त्री उनके लिए दुर्लभ है क्या? स्वयं लक्ष्मीदेवी भी उन कपटपूर्ण मुसकानवाले तथा भौंहोंसे सङ्केत करनेवाले श्रीकृष्णकी चरण-धूलिकी सेवा करती हैं, फिर हम गँवार ग्वालिनियोंकी तो बिसात ही क्या है—हम उनके योग्य नहीं हो सकतीं। जो सन्तप्त, दीन-हीन जनोंपर दया करता है, उसे उत्तमश्लोक कहा जाता है। अतः दीन-हीन-सन्तप्त यदि उनकी अनुकम्पा (दया) प्राप्त कर लें, तो वे 'उत्तमश्लोक' विशेषण-पदके द्वारा उनकी कीर्त्तिका गान कर सकते हैं, परन्तु हमें तो उनकी दया प्राप्त नहीं है, अतः हम उन्हें उत्तमश्लोक नहीं कह सकतीं। हम पर दया न होनेके कारण हमारे लिए उनका यह नाम निरर्थक एवं मिथ्या है॥ १५॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्॥ १६॥

तदनन्तर उस गोपाङ्गनाको प्रतीत हुआ कि भ्रमर उनका पदस्पर्श करके अनुनय-विनय एवं क्षमा-प्रार्थना कर रहा है—तो वह कहने लगी—हे भ्रमर! तु मेरे पैरोंपर अपना सिर मत टेक, मेरे पैरोंको छोड़। (फिर भी, वह उनके पैरोंको छोड़ नहीं रहा है—ऐसा मानकर संजल्प करती हैं) रे मधुकर! मानिनियोंको मनानेके लिए मुकुन्द श्रीकृष्णसे तू दक्षताके साथ सारी सीख लेकर आया है। दूतोचित चाटुकारितासे परिपूर्ण प्रिय वचनोंकी

रचना करना तुझे खूब आता है, अनुनय-विनय करनेमें भी तू पण्डित होकर आया है। तेरी सारी बातोंको मैं अच्छी तरहसे जानती हूँ। अरे! हमने उनके लिए पति, पुत्र, परलोक, लोक-लाज सभीका त्याग कर दिया, परन्तु वे इतने बड़े निष्ठुर, निर्मोही तथा असंयमी निकले कि हमें इस दशामें छोड़कर चले गये। तू ही बता, ऐसे अकृतज्ञ-चूड़ामणिके साथ कोई किस प्रकार सन्धि कर सकता है? ॥ १६ ॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७ ॥

भ्रमर मानो कह रहा है—हे स्वामिनी! श्रीकृष्णका हृदय नवनीतसे भी अधिक कोमल है, वे सर्वदा आपको ही स्मरण करते हैं—अपने भाव-कर्णोंसे यह सुनकर श्रीवृषभानुनन्दिनी अवजल्प करने लगीं—हे रे मधुप! नृशंस स्वभाव श्रीकृष्णने रामावतारमें वानरराज बालिका वृक्षकी ओटमें छिपकर व्याधके समान वध कर दिया था तथा एक स्त्रीके वशीभूत होकर उन्होंने काम-पीड़ा-वश आयी दूसरी स्त्री शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कुरूप कर दिया था। ऐसे ही एक और काले थे वामन देव। राजा बलिने उन्हें विविध पूजोपहार प्रदान कर उन्हें उनकी इच्छित वस्तु भी प्रदान की। उन्होंने उसे ग्रहण कर लिया और बादमें राजा बलिको वरुणपाशमें उसी प्रकार बाँधकर पातालमें डाल दिया, जिस प्रकार कौआ बलि देनेवालेको ही अपने साथियोंके साथ घेर लेता है। ऐसे धूर्त्त कालेके साथ सख्यतासे भला हमारा क्या प्रयोजन है? जो बाहरसे काला है, क्या वह अन्दरसे शुभ्र हो सकता है? जो त्रिभङ्ग है, क्या उसका अन्तःकरण कभी सरल हो सकता है? कृष्ण ही क्यों, किसी भी काली वस्तुसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी काले ऐसे ही निष्ठुर, निर्मोही, निर्दयी, छली, कपटी, धूर्त्त

एवं कामुक होते हैं, परन्तु सुन! कृष्ण-चर्चाका त्याग करना हमारे लिए अति दुष्कर है॥ १७॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥ १८॥

(वे सोचने लगीं कि हमलोग साक्षात् रूपसे उनसे प्रेमकर जो दुःख पा रही हैं, इसमें आश्चर्यकी तो बात ही क्या है? उनकी लीला-कथाओंका श्रवण करना भी कितना सन्तापदायक है। इसीको वे दूतसे अभिजल्प करते हुए कहने लगीं—) भौंरे! हम चाहनेपर भी कृष्णकथाओंका त्याग नहीं कर पातीं। उनकी लीलाकथाओंका रसास्वादन जिन्हें लग जाता है, उनकी भी हमलोगोंके जैसी दशा हो जाती है। जो अपने कर्णपुटोंसे उनके लीलारूप कर्णामृतके एक कणका भी पान कर लेता है, वह राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है। इन कथाओंके श्रवणसे कुछ लोग तो ऐसे निष्ठुर, निर्मोही हो जाते हैं कि अपने वृद्ध माता-पिताको, अपनी प्रियतमा पत्नीको, छोटे-छोटे बालकोंको असहाय छोड़कर (भागवत-पोथी बगलमें दबाकर) यहाँ वृन्दावन चले आते हैं। हे मधुकर! वे ऐसे निःस्पृह एवं अकिञ्चन हो जाते हैं कि कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं करते और भिक्षावृत्तिका आश्रय ले लेते हैं। प्राण धारण करनेके लिए वे पक्षियोंके समान इधर-उधर विचरण करते हैं। उस धूर्तके वियोगमें वे सारग्राही परमहंस दिन-रात रोते-तड़पते हैं। आज हमारी भी यही दशा हो रही है और हम वन-वनमें भटक रही हैं॥ १८॥

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेत् तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्त्ता॥ १९॥

(यदि भ्रमर यह कह रहा है कि हे देवियो! आप श्रीकृष्णको इतना धूर्त एवं कपटी समझती हो, तो उनसे सख्यभाव स्थापन क्यों किया? यह सुनकर वह गोपाङ्गना आजल्प करने लगी—) सुन, श्रीकृष्णके प्यारे दूत! हम ठहरी भोली-भाली गोपियाँ! उस छलिया श्रीकृष्णकी कपट भरी मीठी-मीठी बातोंमें आ गयीं और उन बातोंको सत्य मान बैठीं। उनके नख-क्षत-जनित तीव्र काम-व्याधिका उसी प्रकार बार-बार अनुभव करती रहीं, जिस प्रकार कृष्णसार मृगकी पत्नियाँ—भोली-भाली हिरनियाँ व्याधके सुमधुर गान या उनकी वंशीकी तान सुनकर उसपर आसक्त हो जाती हैं। वे उसके जालमें फँसकर अथवा उसके तीरसे घायल होकर शत-प्रहार-जनित व्यथाका अनुभव करके छटपटाती रहती हैं। अतः हे श्रीकृष्णके दूत भौंरे! अब तुझे कुछ कहना है तो कुछ और प्रसङ्ग कह। कृष्णकी बात मत कर॥ १९॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥ २०॥

भ्रमर कुछ देरके लिए उड़कर कहीं चला गया और पुनः किशोरीजीके चरणोंके समीप मंडराने लगा। उसे देखकर किशोरीजी प्रतिजल्प करने लगीं—) हे प्रिय कृष्णबन्धो! जान पड़ता है कि तुम एक बार मथुरा जाकर पुनः लौट आये हो। अवश्य ही हमारे प्रियतमने हमें मनानेके लिए तुम्हें फिरसे भेजा होगा। प्रिय भ्रमर! तुम सब प्रकारसे हमारे लिए माननीय हो। तुम अपनी प्रार्थनीय वस्तुको हमसे पुनः माँग सकते हो। बतलाओ! तुम्हारा क्या अभीष्ट है? हमें मधुपुरी ले जाना चाहते हो? तो हे भद्र भ्रमर! देखो! हम वहाँ जाकर करेंगी क्या? लक्ष्मीदेवी जिनकी सहचरी होकर सर्वदा जिनके वक्षःस्थलपर विराजमान रहती हैं, ऐसे दुष्परिहार्य युग्म-भावको प्राप्त पुरुषके समीप हमें किसलिए ले

जाना चाहते हो? वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा? मत कहो कि वे वहाँ अकेले अवस्थान कर रहे हैं॥ २०॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥ २१॥

(श्रीवृषभानुनन्दिनी मन-ही-मन कहने लगीं—हाय! हाय! मैंने उन्मत्त होकर न जाने क्या-क्या प्रलाप किया, किन्तु मुझे इस दूतसे जो पूछना था, वह तो पूछा ही नहीं। इस प्रकार खेद करती हुई आदरके साथ सुजल्प करने लगीं—) हे सौम्य! हे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! यह तो बतलाओ, प्रेमसागर-सर्वगुण-मुकुटमणि आर्यपुत्र श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर आजकल क्या मधुपुरीमें ही रह रहे हैं (कहीं और जानेकी इच्छा तो नहीं कर रहे हैं)? (यदुवंशियोंने छलपूर्वक उन्हें बुला लिया और अब यहाँ उन्हें व्रजमें आने नहीं दे रहे हैं—यह विचार करके कहने लगीं—) वे कभी नन्दालय अथवा गोप-सखाओंका स्मरण करते हैं क्या? प्रिय भ्रमर! कभी हम दासियोंके विषयमें भी वे बातें करते हैं क्या? प्यारे भौंरे! हमें यह भी बतलाओ कि वे फिर कभी अगुरुके समान सुगन्धित अपनी भुजाओंको हमारे मस्तक पर रखेंगे क्या? (यह कहकर किशोरीजु मूर्च्छित हो गयीं) उद्धव प्रेम-ठगेसे होकर व्रजमें कई मास रह आये॥ २१॥

श्रीशुक उवाच—

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत॥ २२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गोपियाँ श्रीकृष्णके दर्शनके लिए बड़ी लालायित हो रही थीं। उद्धवने गोपियोंकी सारी बातोंको सुना। इसके बाद उन्हें उनके प्रियतमका सन्देश सुनाकर सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २२॥

श्रीउद्धव उवाच—

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥ २३॥

श्रीउद्धवने कहा—अहो गोपियो! तुमलोगोंने अपना हृदय, अपना सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्णको समर्पित कर दिया है। देवियो! तुम्हारा जीवन कृतकृत्य (सार्थक) है और तुम सारे संसारके लिए पूजनीया हो (क्योंकि अन्य भक्तोंका मन इस सीमातक समर्पित नहीं होता)॥ २३॥

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ २४॥

इस संसारमें मनुष्य विष्णु-प्राप्तिके लिए एकादशी आदि व्रत, वैष्णवोंके लिए दान, कृष्णके लिए भोग-त्यागरूप तपस्या, विष्णु-सम्बन्धी वैष्णव होम, विष्णु मन्त्रोंका जप, गोपालतापनी आदिका स्वाध्याय, संयम एवं अन्यान्य विविध मङ्गलानुष्ठानोंके द्वारा कृष्णभक्तिकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। भक्ति-अङ्गोंके अतिरिक्त मात्र दान-व्रत-तपादिसे कृष्णभक्तिकी प्राप्ति नहीं होती॥ २४॥

भगवत्युत्तमःश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्त्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५॥

यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंने उत्तमश्लोक श्रीकृष्णमें ऐसी अत्युत्तम प्रेमाभक्ति प्राप्त कर ली है और ऐसा आदर्श स्थापित किया है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिए भी परम दुर्लभ है। आपकी रागात्मिका भक्तिका अनुसरण करके ही लोग रागानुगा भक्तिका आचरण करते हुए प्रचार करेंगे॥ २५॥

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वाऽवृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ २६॥

यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंने पुत्र, पति, देह, स्वजन, घर-गृहस्थी, देह, दैहिक सुविधाएँ इत्यादिका त्याग करके

उन परम पुरुषको अपने प्रियतमके रूपमें वरण किया है, जो कृष्ण-नामसे जाने जाते हैं॥ २६॥

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ २७॥

हे महाभाग्यवती गोपियो! तुमने अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसी ऐकान्तिकी प्रेममयी भक्तिको प्राप्त कर लिया है, जो ऋषि-मुनियोंके लिए भी अतीव दुर्लभ है। इस भक्तिसे सभी पदार्थोंमें सर्वात्मभावका दर्शन किया जा सकता है। श्रीकृष्णके विरहमें तुमलोगोंने दिव्योन्माद, चित्रजल्प आदि महाभावोंका (भगवत्-प्रेम-सुखका) दर्शन कराकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है। (जब अनुराग स्वसंवेद्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होता है एवं स्थावर-जङ्गम सभी वस्तुओंमें व्याप्त होता है, उसीको भाव कहा जाता है। यह महाभाव प्रेमका सप्तम विलास है, जिसका उद्धवने दर्शन किया है)॥ २७॥

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्त्तूरहस्करः॥ २८॥

हे कल्याणियो! मैं अपने स्वामी श्रीकृष्णके गोपनीय कार्योंका निर्वाह किया करता हूँ। तुमलोगोंको सुख देनेके लिए उन्होंने जो प्रिय सन्देश भेजा है, मैं उसे लेकर तुमलोगोंके पास उपस्थित हुआ हूँ। अब अपने प्रियतमके उस सन्देशको सुनो॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहञ्च मनः प्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—हे गोपियो! मैं सर्वात्मा (सभीकी आत्माओंकी भी आत्मा) हूँ। इसलिए मेरे साथ तुम्हारा कभी भी वियोग नहीं हो सकता। इस जगत्के चराचर सभी पदार्थोंमें जिस

प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी अवस्थित हैं, उसी प्रकारसे मैं ही सभीके मन, प्राण, पञ्चभूत और इन्द्रियोंमें एवं भौतिक तत्त्वोंके भीतर तथा प्रकृतिके सभी गुणोंमें आश्रयरूपमें वर्त्तमान हूँ। उद्धवने श्रीकृष्ण-सन्देशके रूपमें ज्ञानामृत सुनाया, जिससे गोपियोंकी प्रेमाग्नि बुझ सके। प्रेमकी प्रबलता ऐसी रही कि प्रेमाग्नि तो शान्त नहीं हुई, ज्ञानामृत उसमें दग्ध हो गया॥ २९ ॥

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥ ३० ॥

मैं अपनी मायाशक्तिसे अपने ही भीतर भूत, इन्द्रिय एवं गुण स्वरूप बन जाता हूँ अर्थात् इन्द्रियोंका विषय बनकर उनका आश्रय हो जाता हूँ (मेरी बहिरङ्गाशक्तिके कार्यरूपमें इस जगत्‌को मेरा एक रूप कहा जाता है, मेरा स्वरूप नहीं) और स्वयं निमित्त बनकर अपने आपको रचता हूँ, पालता हूँ और स्वयं ही समेट लेता हूँ अर्थात् स्वयंको अन्तर्धान कर लेता हूँ॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रद्भिर्मनोवृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥

आत्मा (परमात्मा) ज्ञानमय (चेतनामय) एवं गुणातीत है। वह जड़-प्रकृति आदि भौतिक पदार्थोंसे पृथक् है। वस्तुतः भौतिक गुण उसका (परम चेतनामय आत्माका) स्पर्श नहीं कर सकते, इसलिए वह शुद्ध स्वरूप है। (मथुराङ्गनाओंके सङ्ग रहनेसे भी दोष-रहित हूँ—तुमलोगोंके वियोगसे कातर हूँ) जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूपोंमें मायिक मनोवृत्ति (भौतिक प्रकृतिके तीन कार्यों) के कारण विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ रूपोंमें प्रतीयमान होता है। स्वभावतः उसका वैसा स्वरूप नहीं है (निद्राकालमें मेरे गुणादिका अनुभव करो, स्वप्नमें मुझे विशेषरूपसे देखो एवं जागरण कालमें हास्य-नृत्यादिसे परिपूर्ण मेरे माधुर्यका अनुभव करो)॥ ३१ ॥

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत॥ ३२॥

जिस प्रकार तुरन्त जगा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे विषयोंका स्मरण करता है—यद्यपि वे मिथ्या एवं भ्रामक होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य मनके द्वारा शब्दादि विषयोंका चिन्तन करता है, जो बादमें उन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य होने लगते हैं। (मनको एकाग्र करनेकी विधि बतलायी गयी है) अतः अनलस भावसे पूर्णतया सतर्क रहकर मनका निग्रह करना चाहिये॥ ३२॥

एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥ ३३॥

जिस प्रकार सभी नदियोंकी सीमा समुद्र पर्यन्त निर्दिष्ट है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्योंका वेद आदि शास्त्राभ्यास, अष्टाङ्गयोग, संन्यास, स्वधर्म, इन्द्रिय-दमन एवं सत्यकी परमावधि मनका निरोध ही है। मनका निरोध होनेपर मेरे स्वरूपका साक्षात्कार हो सकता है अर्थात् मेरी प्राप्ति हो सकती है (श्रीकृष्णमें दृढ़तापूर्वक मनका निरोध होनेपर वियोगमें भी स्फूर्ति, अनुभूति एवं साक्षात्कार प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्ण विरहीको नानारूपोंमें संयोग कराते हैं, परन्तु उत्कण्ठावश विचारहीन होनेके कारण वह महाविरही उस संयोगको मिथ्या मान लेता है)॥ ३३॥

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥ ३४॥

मैं जो तुम सबकी आँखोंका अत्यन्त प्रिय होकर भी तुम्हारी दृष्टिसे अदृश्य होकर दूर रह रहा हूँ, वह इसलिए कि मेरे प्रति तुम सबका ध्यान क्षण-प्रतिक्षण प्रगाढ़ होता रहे। इस प्रकारके ध्यानसे मानसिक निकटता और भी बढ़ती है। (व्रजदेवियाँ कह रही हैं—) अहे उद्धव! तुम्हारे इस सन्देशसे हमारा विरहताप और दुगुना बढ़ रहा है। देश-काल-पात्रसे अनभिज्ञ वह तुम्हारा सन्देश-प्रेरक (श्रीकृष्ण) और वैसे ही विचार-रहित तुम। इस

व्रजभूमिमें तुम्हारे इस ब्रह्मज्ञानको कौन खरीदेगा, जिसका भार तुम इतनी दूरसे ढोकर लाये हो? जिन गोपियोंने जन्मसे लेकर श्रीकृष्णके सौन्दर्यरस अमृतका पान किया है, वे अब क्या नीमके रस जैसे ब्रह्मज्ञानका पान करेंगी? महादुर्भिक्ष होनेपर हम प्राणोंका त्याग कर सकती हैं, परन्तु घास नहीं खा सकतीं। अरे महामूर्ख! सुन रे सुन! यह ब्रह्मज्ञान तो संसार-रोगकी औषध हो सकता है, जो महामुनिरूपी चिकित्सकोंके हृदयरूपी पर्ण-कुटीरमें रहता है। यह कृष्णप्रेमरूप महारोगकी औषध कैसे हो सकता है? वे मुनिगणरूपी चिकित्सक क्या कभी इस रोगका निर्णय कर सकेंगे? हे उद्धव! हो सकता है, सान्दीपनि मुनिसे चिकित्सा शास्त्रका अध्ययन करके उन्होंने तुम्हें पढ़ा-सिखाकर हमारी प्रेमज्वालाको शान्त करनेके लिए यह औषध (ब्रह्मज्ञान) तुम्हारे साथ भेजी होगी। जाओ, जाओ, जो औषध हमारे लिए भेजी है, उसे वापस ले जाओ और उन्हें ही इसका पान करा दो, हमें इस औषधको स्पर्श करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अरे उद्धव! दावानलके निवारणके लिए जलराशिके बदलेमें वज्राग्नि प्रेमज्वालाको बुझा सकती है क्या? उद्धवने उन्हें बतलाया—कृष्णने कहा है कि दूर रहते हुए भी मनके समीप रहना मेरा वाञ्छित है, वही आपका भी मनोभीष्ट होना चाहिये॥ ३४॥

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्त्तते।
स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥ ३५॥

प्रियतमके दूर रहनेपर स्त्रियोंका मन जिस प्रकारसे अपने प्रियतममें ही पूर्णरूपसे तन्मय रहता है, उस प्रकारसे अपने प्रियतमके साक्षात् निकट रहनेपर उनमें आविष्ट नहीं रहता॥ ३५॥

मय्यावेश्य सनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥ ३६॥

अतः तुम्हारे मनकी जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उनका परित्याग करके तुम सब अपने मनको मेरे प्रति समर्पण करके नित्य-निरन्तर

मेरा ही स्मरण करो। इससे तुम सब अति शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर सकोगी॥ ३६॥

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया॥ ३७॥

हे कल्याणियो! जिन व्रजरमणियोंको उनके पतियोंने घरपर ही रोक लिया था, वे शारदीय रात्रिको वन-विहारमें रत मेरे साथ रासक्रीड़ाका उपभोग नहीं कर पायी थीं। उन्होंने व्रजमें रहकर ही मेरे प्रभावका चिन्तनकर मुझे प्राप्त कर लिया था। उस रात्रिके बाद अन्य रात्रियोंमें यमुना-पुलिनमें उन्होंने मेरे साथ रास किया था॥ ३७॥

श्रीशुक उवाच—

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः॥ ३८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उद्धव द्वारा कहे हुए प्रियतमके सन्देशको सुनकर पति द्वारा रोकी गयी व्रजनारियाँ अतीव प्रसन्न हो गयीं। इस सन्देशके पग-पगपर उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप एवं लीलाओंकी स्फूर्त्ति होने लगी। वे बड़े आनन्दसे उद्धवसे कहने लगीं॥ ३८॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥ ३९॥

गोपियोंने कहा—यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि यदुओंको उत्पीड़ित करनेवाला कंस अपने अनुचरोंके साथ मारा गया है। यह भी बड़े आनन्दकी बात है कि प्यारे श्यामसुन्दरके बन्धु-बान्धव और आप्त (गुरु) जनोंके भी मनोरथ पूर्ण हुए हैं तथा अब हमारे प्राण प्रियतम श्यामसुन्दर अपने सम्बन्धियोंके साथ सकुशल रह रहे हैं॥ ३९॥

कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥ ४०॥

हे सौम्य! आप एक बात हमें बतलाइये कि हम व्रजरमणियाँ जिस प्रकार अपनी स्निग्ध लजीली मुसकान और विलासमयी चितवनसे गदाग्रज श्रीकृष्णकी पूजा करती थीं और वे भी हमसे वैसा ही प्यार करते थे, अब पुरनारियोंके (मथुराकी स्त्रियोंके) स्निग्ध, सलज्ज एवं उदार चितवनसे अर्चित होनेपर उनके प्रति वे वैसा ही प्रीति भाव प्रकट करते हैं क्या? (वसुदेवकी एक अन्य पत्नीका नाम 'देवरक्षिता' था। उसका प्रथम पुत्र गद स्वयंको देवकीका पुत्र ही मानता था। कृष्ण उसके अग्रज होनेके कारण 'गदाग्रज' कहे जाते हैं, गदका गोकुलसे विशेष सम्बन्ध नहीं रहा)॥ ४०॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च पुरयोषिताम्।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः॥ ४१॥

तभी दूसरी गोपीने कहा—अरी सखी! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर तो प्रेमकी कलाके विशेषज्ञ हैं और सभी नारियाँ उनसे प्रेम करती हैं। फिर भला, उन मथुराकी स्त्रियोंकी रहस्यपूर्ण वार्त्ताओं और काम-कला-विलाससे पूजित एवं सेवित होकर वे उनपर क्यों नहीं आसक्त होंगे?॥ ४१॥

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठि-मध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥ ४२॥

अन्य गोपाङ्गनाने कहा—हे साधो उद्धव! हमारे प्यारे गोविन्द श्रीकृष्ण पुरनारियोंकी मण्डलीमें स्वच्छन्दरूपसे (बिना किसी संकोचके) जब प्रेमकी बातें करते हैं, तब वे किसी प्रसङ्गमें हम गँवार (ग्रामीण) ग्वालिनियोंका स्मरण करते हैं क्या? कभी हमारी बात चलाते हैं क्या? हम तो त्यागके ही योग्य थीं, तभी हम कृष्ण द्वारा त्यक्त हुई हैं॥ ४२॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥ ४३॥

अन्य गोपाङ्गनाएँ कहने लगीं—हे उद्धव! क्या कभी वे उन रात्रियोंका स्मरण करते हैं, जब कुमुदिनी और कुन्दके पुष्प खिले हुए थे, चन्द्रमा अपनी रमणीक छटा बिखेर रहा था और सुरम्य एवं शुभ्र वृन्दावनकी अति शोभा हो रही थी। उन रात्रियोंकी रास-गोष्ठी चरणोंके नूपुरोंकी ध्वनिसे ध्वनित हो रही थीं, उनकी प्रिय गोपाङ्गनाएँ उनकी मनोज्ञ लीलाओंका गुणगान कर रही थीं, वे सारी रात हम प्रेयसियोंके साथ विहार कर रहे थे (वृन्दावनके समान यमुना-पुलिन कहीं और है भी क्या?)॥ ४३॥

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।
सञ्जीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः॥ ४४॥

अन्य गोपीने कहा—उद्धव! इन्द्र जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण मेघोंको बरसा करके सन्तप्त हुए वनको पुनः जीवन प्रदान कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण, जिनके कारणसे हम सब विरह-शोकसे सन्तप्त हो रही हैं, अपने कर-स्पर्श द्वारा हमें सञ्जीवित करनेके लिए व्रजमें फिरसे आयेंगे क्या?॥ ४४॥

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्व्वसुहृद्वृतः॥ ४५॥

इतनेमें ही अन्य गोपनारी कह उठी—अरे! अब तो उन्होंने शत्रुका विनाशकर राज्य पा लिया है। यहाँ तो गोचारणसे बड़ा कष्ट हो रहा था। अब वे राजकन्याओंसे विवाह करेंगे और सुहृदों-स्वजनोंसे घिरकर बड़े आनन्दसे वहाँ वास करेंगे। अब वे किसलिए यहाँ आयेंगे?॥ ४५॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः॥ ४६॥

अन्य गोपी यथार्थ तत्त्व कहने लगी—नहीं सखी! महात्मा श्रीकृष्ण तो स्वयं समस्त सम्पदाओंकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवीके अधीश्वर हैं। वे आत्माराम, आप्तकाम, धीर-स्वभाव एवं परिपूर्ण-स्वरूप हैं। उन्हें हम वनवासिनी गोपियोंकी अथवा दूसरी राजकन्याओंकी क्या आवश्यकता है?॥ ४६॥

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥ ४७॥

समस्त आशाओंका त्याग करनेमें ही सुख है, नैराश्यका भाव ही परम सुखकारी है। वेश्या होनेपर भी पिङ्गलाने यह ठीक ही कहा है। हम इस उपदेशको जानती तो हैं, फिर भी कृष्ण-मिलनकी आशा छोड़ना हमारे लिए बड़ा दुष्कर है॥ ४७॥

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमःश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥ ४८॥

प्यारे साधो! बड़े-बड़े महात्मा जिनकी कीर्त्तिका गान करते रहते हैं, वे उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण एकान्तमें जिस प्रकार हमसे मादकता भरी मधुर-मधुर बातें किया करते थे, तीनों लोकोंमें ऐसा कौन है, जो उनकी सौन्दर्य-माधुरीकी उपलब्धिका त्याग कर सके? देखो तो, उनकी (श्रीकृष्णकी) इच्छा न रहनेपर भी लक्ष्मीदेवी उनके वक्षःस्थलसे क्षणकालके लिए भी अलग होती हैं क्या?॥ ४८॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो॥ ४९॥

हे प्रभो उद्धव! यह वही नदी है, वही पर्वत है, वही वन है, जहाँ श्यामसुन्दर बलदेवजीके साथ गायोंको लेकर वंशी बजाते हुए विचरण किया करते थे। बतलाओ! इन सब उद्दीपनोंको देखकर हम उन्हें भूल सकती हैं क्या? (नदीमें हमारे साथ विहार करते थे, पर्वतके शिखरपर हमें रिझानेके लिए वंशीकी तान छेड़ते थे एवं वनमें रात्रिमें हमारे साथ रास-नृत्य करते थे) उनकी वंशीकी ध्वनि नित्य हमारे कानोंमें गूँजती रहती है॥ ४९॥

पुनःपुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्त्तुं नैव शक्नुमः॥ ५० ॥

अहो! यहाँकी भूमि, नदी आदि सभी पदार्थ उनके ध्वज, वज्र आदि चिह्नोंसे युक्त उनके सुन्दर चरणोंसे अङ्कित हैं। इन्हें देख-देखकर आज भी हमारे चित्तमें उनकी स्मृति उदित हो जाती है। उद्धव! अब तो हमारे हृदय उनकी लीला-कथाओंको विस्मृत करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ ५० ॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मराम हे॥ ५१ ॥

हे उद्धव! उनकी वह मनोज्ञ गति-भङ्गिमा, उदार हास्य, विलासपूर्ण चितवन, मधुमयी वाणी—इन सबने हमारे हृदयको चुरा लिया है। आह! हम उन्हें भूलनेका प्रयास करें भी तो किस तरह? हमारा चित्त भी तो हमारे पास नहीं है॥ ५१ ॥

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥ ५२ ॥

गोपियाँ मथुराकी ओर मुख करके दैन्यके साथ पुकारने लगीं—हे प्यारे श्रीकृष्ण! हे हमारे प्राण-सर्वस्व! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःख-विनाशन! हे गोविन्द! आपके पिता-माता, ग्वालबाल, गौएँ, हम गोपियाँ—सारा व्रजमण्डल दुःखके अपार सागरमें डूब रहा है। हे नाथ! आप आएँ, हमें बचाएँ और गोकुलका उद्धार करें (दूत भेजनेसे क्या प्रयोजन है?)॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच—

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्॥ ५३ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित्! उद्धवने जो अन्तिम कृष्ण-सन्देश गोपियोंको सुनाया था, इससे उनकी विरह-व्यथा शान्त हो गयी। वे समझ चुकी थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण

इन्द्रियातीत हैं और सबके आत्मस्वरूप हैं। अब वे बड़े प्रेम और आदरसे उद्धवको श्रीकृष्णसे अभिन्न जानकर उनका सत्कार करने लगीं। (कृष्णकथित अन्तिम सन्देश था—हे प्राण प्रेयसियो! तुम मेरे द्वारा प्रेरित उद्धवके सम्मुख अपनी आँखें मूँद लेना। जिस प्रकार मुञ्जाटवीके दावानलसे मैंने ग्वालबालोंका उद्धार किया था, वैसे ही विरहानलसे तुम्हारा उद्धार करूँगा। मेरा योगबल देखो। यह सन्देश सुनकर जैसे ही व्रजदेवियोंने अपनी आँखें बन्द कीं, वैसे ही योगमायाने शत कोटि वर्षों तक चलनेवाली रासलीला, वृन्दावन-विहार, जलकेलि, हिण्डोलादि विलासमयी लीलाओंको प्रकट कर दिया और गोपियोंने इन सभी लीलाओंके दर्शन किये, जिससे उनकी विरह-पीड़ा सम्पूर्णरूपसे विस्मृत हो गयी। हृदयमें आनन्द समा गया। अधोक्षज श्रीकृष्णको देखनेके कारण सहस्राधिक गुना आनन्द प्राप्त करके मानो उनका पुनर्जन्म हो गया। कृष्णको भी अपने ही समान विरह-ज्वालामें जर्जरित देखकर—हमारे प्राण एवं कृष्णके प्राण एक हैं, यह जानकर उनका विरह-ज्वर दूर हो गया। वे उद्धवका सम्मान करने लगीं)॥ ५३॥

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम्॥ ५४॥

इस प्रकारसे उद्धव गोपियोंकी विरह-व्यथाको दूर करते हुए कुछ महीने वहीं व्रजमें रहे। वे श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंका गान करते हुए सारे व्रजवासियोंको आनन्दित करते रहते॥ ५४॥

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्त्तया॥ ५५॥

उद्धव जब तक व्रजमें रहे, नित्य-निरन्तर कृष्ण-कथाका ही गान करते रहे—व्रजमें मानो आनन्दोल्लास छा गया। व्रजवासियोंके लिए यह समय क्षणभर जैसा प्रतीत होता था॥ ५५॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्॥ ५६॥

श्रीकृष्णके परम प्रेमी सेवक उद्धवका नाम ही यथार्थ आनन्द-स्वरूप है एवं भगवान् कृष्णने भी अपनी आनन्ददातृत्व-शक्ति उन्हें अर्पण की है। वे कभी यमुना-पुलिनपर गमन करते, कभी वनमें विहार करते और कभी गिरिराजकी तलहटीमें विचरण करते। कभी गह्वर वनकी शोभा देखते और कभी विचित्र एवं मनोरम पुष्पोंसे शोभित वृक्षोंके सौन्दर्यमें मुग्ध हो जाते। हर एक स्थलपर श्रीकृष्णकी लीलाओंसे सम्बन्धित प्रश्न पूछते। इन उत्कण्ठाओंसे व्रजवासियोंके हृदयमें कृष्णकी स्मृतिका उद्‌बोधन होता और वे उनकी लीलाओंमें तन्मय हो जाते। उद्धव स्वयं भी अनुप्राणित होकर आनन्दित हो जाते॥ ५६॥

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ॥ ५७॥

परीक्षित्! व्रजमें रहकर उद्धवने गोपियोंकी कृष्णाविष्टता, प्रेम-विकलता और प्रेम-चेष्टाओंका अनुभव किया। उनकी श्रीकृष्णमें अद्भुत तन्मयताको देखकर वे परम आनन्दित होते। वे उन गोपियोंको नमस्कार करके इस प्रकार उनका गुणगान करने लगे॥ ५७॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥ ५८॥

अहो! जो अखिल जीवोंके आत्मस्वरूप हैं, उन श्रीकृष्णमें इन गोपियोंका अनन्य प्रेममय दिव्य महाभाव समुदित हो गया है। अतएव पृथ्वीपर इन्होंने ही जन्मकी सार्थकता प्राप्त की है। संसारके भयसे भीत मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मुनिगण, मुक्तपुरुष और हम जैसे भक्तगण सदा-सर्वदा ऐसे प्रेमकी प्रार्थना किया करते हैं, पर प्राप्त नहीं कर पाते। जो श्रीकृष्ण-कथा-रसिक हैं, उन्हें शौक्र (कुलीनता), सावित्र (द्विजाति संस्कार) और

याज्ञिक (यज्ञोंमें दीक्षित) होनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा यदि भगवान्‌की कथामें रस उत्पन्न नहीं हुआ, उसमें रुचि नहीं हुई, तो चतुर्मुख ब्रह्माके रूपमें बार-बार महाकल्पों तक जन्म-ग्रहण करनेकी भी क्या आवश्यकता है? कृष्ण-कथा-रसिक जिस किसी भी योनिमें जन्म-ग्रहण करें, उनके लिए वही (योनि ही) सर्वोत्तम है। कृष्ण-कथामें अनुरागका अभाव समस्त गुणोंकी विफलताका प्रतिपादक है॥ ५८॥

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥ ५९॥

कहाँ ये लोकदृष्टिसे व्यभिचार-दोषसे ग्रस्त अर्थात् आचार-विचार, ज्ञान, जातिसे हीन वनवासिनी गोपियाँ और कहाँ परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णमें इनका यह परम-प्रेम? अहो! यदि कोई व्यक्ति अमृतके स्वरूपको न जानकर भी उसका सेवन करता है, तो अमृत अपने सेवन करनेवालेका कल्याण ही करता है, उसे अमर बना देता है। उसी प्रकार श्रीकृष्णके स्वरूपको न जानकर भी यदि कोई नित्य निरन्तर उनका भजन करता है, तो वे अपने भजनेवालेको साक्षात्‌रूपसे अभीष्ट प्रदान करते हैं (महाश्रेष्ठताका कारण भक्ति है, ज्ञान, जाति आदि नहीं)॥ ५९॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुन्तोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उद्‌गाद् व्रजवल्लवीनाम्॥ ६०॥

रासलीलामें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बाँह गोपियोंके कण्ठोंमें डालकर उनका आलिङ्गन करते हुए उनका मनोरथ पूर्ण करके जैसा अनुग्रह उनपर प्रकट किया था, वैसा अनुग्रह तो वक्षःस्थलपर एकान्तरूपसे विलास करनेवाली, नित्य सङ्गिनी, परम प्रेमवती

लक्ष्मीदेवीको भी प्राप्त नहीं हुआ और न ही कमलकी सुगन्धके समान अङ्ग-सौरभ एवं कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको प्राप्त हुआ, फिर अन्य स्त्रियोंकी तो बात ही क्या?॥ ६०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥ ६१॥

जिन्होंने दुस्त्यज्य पति, पुत्रादि आत्मीय स्वजन, वैदिक मर्यादा एवं लोक-लज्जा—सबका परित्याग करके श्रुतियोंके द्वारा अन्वेषणीय मुकुन्द श्रीकृष्णकी पदवीका अनुसन्धान किया है, अहो! मैं इस वृन्दावनमें उन गोपियोंकी चरणरेणुसे सिक्त गुल्म, लता अथवा ओषधिमेंसे किसी भी एक स्वरूपमें जन्म प्राप्त करूँ, तो मेरे लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी। कोटि-कोटि बार सकातर प्रार्थना करनेपर भी व्रजदेवियोंने अपने चरणोंमें मुझे सिर रखने नहीं दिया। अतः गुल्म-लताके रूपमें ही जन्म-ग्रहण करूँ॥ ६१॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥ ६२॥

स्वयं लक्ष्मीदेवी जिन श्रीकृष्णकी पदसेवा करती हैं, पूर्णकाम और आत्माराम बड़े-बड़े योगेश्वर तथा ब्रह्मा, शङ्कर आदि परम समर्थ देवता, जिन श्रीकृष्णके पादारविन्दोंकी सेवा करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको रासलीलाके समय साक्षात्‌रूपसे अपने-अपने स्तनमण्डलोंपर रखकर और उनका आलिङ्गन करते हुए इन गोपियोंने अपने हृदयकी विरह-व्यथाको शान्त किया था (चञ्चला होनेपर भी लक्ष्मीदेवी व्रजमें बहुत समयसे तपस्या कर रही हैं)॥ ६२॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ ६३॥

मैं नन्दव्रजमें स्थित उन गोपियोंकी चरणरेणुकी बार-बार वन्दना करता हूँ, विशेषरूपसे श्रीराधाकी—जिन्होंने श्रीकृष्णविषयक गान किया था। अहो! इन गोपियोंने श्रीकृष्णके लीलाचरित्रके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, उससे तीनों लोक पवित्र हो गये हैं और भविष्यमें भी सदा-सर्वदा पवित्र होते रहेंगे॥ ६३॥

श्रीशुक उवाच—

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम्॥ ६४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार कई महीनों तक व्रजमें रहकर दशार्हवंशी उद्धवने गोपियोंसे, यशोदा मैयासे एवं नन्दबाबासे जानेके लिए अनुमति माँगी। सारे गोपोंसे भी विदा ली और गोपबालकोंके अङ्गोंका स्पर्श करते हुए वे प्रस्थान करनेकी अभिलाषासे रथपर सवार हो गये॥ ६४॥

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ ६५॥

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥ ६६॥

उद्धव प्रस्थानके लिए जैसे ही आगे बढ़े, नन्दबाबा आदि गोप विविध उपहारोंको और श्रीकृष्ण द्वारा परिधान योग्य सञ्चित द्रव्योंको हाथोंमें लेकर उनके समीप पहुँचे। प्रेमके कारण अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे वे सब कहने लगे—हे महाभाग! बस, हम यही चाहते हैं कि हमारी मनोवृत्ति श्रीकृष्णके पादपद्मोंका आश्रय किये रहे, हमारी जिह्वापर श्रीकृष्णके नामोंका ही सङ्कीर्त्तन होता रहे, शरीर उन्हें ही प्रणामादि करता रहे और उनकी सेवादि क्रियाओंमें नियुक्त रहे॥ ६५-६६॥

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥ ६७॥

उद्धव! हम सच कहते हैं, हमें मोक्षकी किञ्चित् भी इच्छा नहीं है। हम भगवान्की इच्छासे अपने कर्मोंके फलस्वरूप जिस भी स्थान या योनिमें जन्म-ग्रहण करें, सर्वत्र ही मङ्गलानुष्ठान करते रहें, दान देते रहें और अपने सम्पूर्ण कर्मोंके फलस्वरूप उत्तरोत्तर बढ़नेवाली श्रीकृष्ण-विषयक आसक्तिको प्राप्त करते रहें। नन्दबाबाने उद्धवसे कहा—हमने बहुत स्नेहसे उसका लालन-पालन किया, पर वह कृत्रिम ही था, यह समझमें आ रहा है, क्योंकि उसके विरहमें हम अब भी जीवित हैं। दशरथ ही जगत्में एकमात्र पिता थे, जिन्होंने पुत्र श्रीरामचन्द्रके दूरदेश जाते ही प्राणोंका त्याग कर दिया। हम दोनोंमें तो कृष्णके लिए प्रेमकी गन्ध भी नहीं है। अतः अभिज्ञ-चूड़ामणि मेरे पुत्रने हमारे जैसे माता-पिताका त्याग करके परमेश्वरताके अनुरूप देवकी-वसुदेवको अपना माता-पिता बना लिया है। दुर्भाग्यशील नन्द-यशोदाको धिक्कार है। अतः कोई भी जन्म मिले, उसीके पादपद्म ही हमारा आश्रय रहें॥ ६७॥

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम्॥ ६८॥

हे राजन्! नन्दबाबा आदि गोपोंने इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रति भक्तिको प्रकट करते हुए उद्धवका सम्मान किया। वे पुनः श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित एवं पालित मथुरापुरीकी ओर लौट गये। उद्धवको प्रतीत हुआ कि अत्यधिक अनुराग रहनेपर भी व्रजभूमि इस समय कृष्ण द्वारा पालित नहीं है॥ ६८॥

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वासुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदुद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७॥

प्रिय परीक्षित्! वहाँ पहुँचकर उन्होंने अन्तःपुरमें स्थित श्रीकृष्णको प्रणाम किया एवं उनके समीप व्रजवासियोंकी अतिशय प्रेममयी भक्तिको—जैसा उन्होंने देखा था, वैसा ही कह सुनाया। उसके बाद वसुदेव, बलदेव एवं महाराज उग्रसेनको भी यथायोग्य समाचार कह सुनाये। जो उपहारादि नन्दबाबा आदि गोपोंने दिये थे, उन सबको भी राजा उग्रसेनको समर्पित कर दिया।

उद्धवने श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—हे प्रभु! हे कृष्ण! तुम भक्तिके वशमें हो, भक्तिके द्वारा प्राप्य हो, भक्ति द्वारा दृश्य हो—मैंने वहाँ तुम्हारे सभी भक्तोंमें भक्तिका उद्रेक देखा है। इस समय तुम्हारे विरहमें वृन्दावनके सभी लोग श्वेत वर्णके हो रहे हैं। हे कृष्ण! देवर्षि नारदने इसी कारण गोकुलमें श्वेतद्वीपका भ्रम किया था। महानुरागी तुम्हारे पिताने कहा है कि 'मेरे मनकी समस्त वृत्तियाँ कृष्णपादपद्ममें आश्रय करें', किन्तु गद्गद् स्वरसे कण्ठ अवरुद्ध होनेके कारण तुम्हारी माता कुछ बोल न सकी। यह सुनकर कृष्णका धैर्य स्थिर न रह सका, वे भरी सभामें ही उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगे। उद्धवने कृष्ण-प्रेयसियोंके प्रेम-बडवानलका रात्रिमें निर्जन स्थलपर ही उद्घाटन किया। उनकी प्रेयसी-शिरोमणि श्रीराधिकाके दिव्योन्माद चित्रजल्प आदिका तो किञ्चित्मात्र ही आविष्कार किया। उस दिन कृष्ण पूरी रात विरह-तापमें सन्तप्त रहे॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सैंतालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुब्जा और अक्रूरके घर जाना

श्रीशुक उवाच—

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
सैरिन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उद्धवसे व्रजके संवादको जानकर सर्वान्तर्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण अपनेसे मिलनकी आकाङ्क्षासे व्याकुल सैरिन्ध्री (कुब्जा) को प्रसन्न करनेके लिए उसके घर गये। श्रीकृष्ण उद्धवको निदर्शन करना चाहते थे कि व्रजगोपियोंकी बात तो दूर रहे, वे साधारणी रति रखनेवाली कुब्जाकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते। कुब्जा मथुरा-लीलाकी परिकर है और साक्षात् भू-शक्ति सत्यभामाकी विभूति पृथ्वीरूपा है॥ १॥

महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम्।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम्॥ २॥

कुब्जाका घर बहुमूल्य सामग्रियोंसे समृद्ध एवं कामोद्दीपक शृङ्गारिक वस्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें मोतीकी लड़ियाँ और झंडियाँ लगी हुई थीं। चँदोवे तने थे, शय्या बिछायी हुई थी, बैठनेके लिए सुन्दर-सुन्दर आसन सजे थे। पूरा घर सुगन्धित धूप, दीपक एवं सुगन्धित फूलोंके हारोंसे मण्डित था॥ २॥

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्
सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः॥ ३॥

सैरिन्ध्रीने जैसे ही अच्युत भगवान् श्रीकृष्णको अपने घर आया देखा, तो वह हड़बड़ाते हुए तुरन्त ही आसनसे उठ बैठी। सखियोंके साथ आगे बढ़कर उसने भगवान्‌की अगवानी अर्थात् स्वागत-सत्कार किया, उन्हें उत्तम आसन आदि सामग्री प्रदान की और विविध उपचारोंसे उनकी यथोचित पूजा की॥ ३॥

तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम्।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः॥ ४॥

कुब्जाने उद्धवका भी उत्तम रीतिसे सम्मान करते हुए उन्हें आसन प्रदान किया जिसका उन्होंने भक्तिपूर्वक स्पर्श किया और भूमिपर ही बैठ गये। (अपने स्वामीके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए उद्धव आसनपर नहीं बैठे। वे सोचने लगे कि कुब्जा तो कृष्णप्रिया है, परन्तु मैं उनका दास हूँ।) भगवान् श्रीकृष्ण लोकाचारका पालन करते हुए घरके भीतरी कक्षमें स्थित बहुमूल्य शय्यापर विराजमान हो गये॥ ४॥

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्ध-ताम्बूल-सुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५॥

इसके बाद सैरिन्ध्रीने स्नान किया, गन्धादि अनुलेपन द्रव्योंसे शरीरको सुगन्धित किया, मनोहर वस्त्र, आभूषण एवं माल्य धारण किये, इत्रादि गन्ध लगाये, ताम्बूल चबाया, सुधासव (सुगन्धित पेय) का पान किया। इस प्रकार सजधजकर लजीली-सी लीलामयी मुसकान और विभ्रमयुक्त चितवनसे श्रीकृष्णको निहारती हुई उनके पास आयी॥ ५॥

आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया
विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे।

प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥

नव-सङ्गमके कारण होनेवाली लज्जासे कुब्जा शङ्कित-सङ्कुचित हो रही थी। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने पास बुलाया और कङ्गनसे सुशोभित उसके हाथको पकड़कर अपने समीप शय्यापर बिठाकर उसके साथ रमण-क्रीड़ा करने लगे। परीक्षित्! उस सैरिन्ध्रीने भगवान् श्रीकृष्णको केवल अङ्गराग प्रदान किया था, उसी एक शुभकर्मके फलस्वरूप उसे ऐसा अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसके अतिरिक्त व्रजस्त्रियोंके समान उसकी कोई पुण्यराशि नहीं थी॥ ६ ॥

सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्दमूर्त्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥

कुब्जाने अनन्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने कामसन्तप्त स्तन, वक्षःस्थल एवं नेत्रोंपर रखकर अपनी पीड़ाको दूर किया और उन चरणोंकी दिव्य सुगन्धको सूँघती रही। तत्पश्चात् उसने अपनी भुजाओंके द्वारा वक्षःस्थलसे सटे आनन्दस्वरूप प्रिय श्रीकृष्णका गाढ़ आलिङ्गनकर दीर्घकालसे सञ्चित हृदयकी विरह-व्यथाको दूर किया॥ ७ ॥

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्राप्यमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥ ८ ॥

परीक्षित्! कुब्जाने केवल अङ्गरागका अर्पण करके तद्-जनित पुण्य-बलसे कैवल्यनाथ (मुक्तिके नियन्ता) भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त तो कर लिया, परन्तु अपने दुर्भाग्यके कारण गोपियोंके समान कृष्ण-सेवाकी इच्छा न करके उसने प्राकृत दृष्टिसे कामकी ही प्रार्थना की॥ ८ ॥

सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण॥ ९॥

कुब्जाने कहा—हे प्रियतम! आप कुछ दिनों तक यहीं रहकर मेरे साथ विहार कीजिये। हे कमलनयन! मैं आपका साथ छोड़नेकी इच्छा भी नहीं कर सकती॥ ९॥

तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदृद्धिमत्॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जीवोंके स्वामी हैं और सबका मान रखनेवाले सर्वेश्वर हैं। उन्होंने कुब्जाको उसका मनोवाञ्छित वर प्रदान किया और महासाधु-शिरोमणि उद्धवके साथ सम्भाषण करते हुए ऋद्धि-सिद्धिसे भरे हुए अपने वास-भवनमें लौट आये॥ १०॥

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥ ११॥

परीक्षित्! जो ब्रह्मा, शङ्कर आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं और जिन्हें प्रसन्न करना जीवोंके लिए अति कठिन है, उन सर्वेश्वर विष्णुको अपनी आराधनासे प्रसन्न करके भी यदि कोई विषय-सुखकी प्रार्थना करे, तो ऐसा व्यक्ति निश्चय ही दुर्बुद्धि है॥ ११॥

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः।
किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया॥ १२॥

इसके बाद सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरकी अभिलाषा पूर्ण करनके लिए एवं उनके द्वारा कोई कार्य सम्पन्न करवानेकी इच्छासे बलदेव एवं उद्धवके साथ उनके घर पहुँचे॥ १२॥

स तान् नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान्।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिनन्द्य च॥ १३॥
ननाम कृष्णं रामञ्च स तैरप्यभिवादितः।
पूजयामास विधिवत् कृतासनपरिग्रहान्॥ १४॥

अक्रूरने दूरसे ही पुरुष-शिरोमणि श्रीकृष्णको अपने बान्धवोंके साथ आते हुए देखा, तो हर्षके साथ शीघ्र ही खड़े हो गये और उनका आलिङ्गन एवं अभिनन्दन किया। अक्रूरने श्रीकृष्ण एवं बलदेवको प्रणाम किया तथा उन दोनोंने भी अक्रूरको नमस्कार किया। इसके बाद अक्रूरने शास्त्रीय नियमोंके अनुसार उन दोनोंको आसन प्रदान किये। जब श्रीकृष्ण और बलदेव आसनपर विराजमान हो गये, तब अक्रूरने उन दोनोंकी पूजा की॥ १३-१४॥

पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥ १५ ॥

अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत॥ १६ ॥

हे राजन्! अक्रूरने भगवान् श्रीकृष्ण और बलदेवके चरण धोये और उनके पाद-प्रक्षालन-वारिको (चरणामृतको) अपने मस्तकपर धारण किया। इसके बाद दिव्य वस्त्र, गन्ध, माल्य, उत्तम अलङ्कार एवं विविध पूजोपहारोंके द्वारा उनका अर्चन किया। अक्रूरने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया एवं उनके चरणोंको गोदमें रखकर संवाहन करते हुए वे दीनतावश सिर झुकाकर बलराम एवं श्रीकृष्णसे कहने लगे॥ १५-१६॥

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम्।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम्॥ १७॥

यह हमारे लिए बड़े आनन्द और सौभाग्यकी बात है कि दुराचारी कंस अपने अनुयायियों सहित मारा गया। आप दोनों भाइयोंने उसे मारकर यदुकुलको भयावह सङ्कटसे बचाया है और अब आप अपने संरक्षणमें उसे उन्नत और समृद्ध कर रहे हैं॥ १७॥

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतु जगन्मयौ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित् परमस्ति न चापरम्॥ १८॥

आप दोनों पुरुषोत्तम हैं। आप ही जगत्‌के कारण एवं जगन्मय हैं। आप दोनोंकी सत्ताके अतिरिक्त अन्य कोई न तो कारण ही है और न कार्य। आप ही प्रधान अर्थात् प्रकृति हैं और आप ही पुरुष हैं। आप ही कारण हैं, आप ही कार्य हैं॥ १८॥

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुत-प्रत्यक्षगोचरम्॥ १९॥

हे ब्रह्मन्! आप अपनी शक्तिसे इस जगत्‌की रचनाकर इसमें प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं। जो कुछ भी सुनायी अथवा दिखायी पड़ रहा है, उनमें विविध रूपोंमें (देव, गन्धर्व, मनुष्य, गौ आदिमें) आप ही प्रतीत हो रहे हैं॥ १९॥

यथाहि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना।
एवं भवान् केवल आत्मयोनि-
ष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति॥ २०॥

जिस प्रकार क्षिति इत्यादि महाभूतरूप कारणतत्त्व अपने रूपान्तरमें परिणत होकर कार्यरूप स्थावर-जङ्गमात्मक भौतिक पदार्थोंमें अर्थात् विविध रूपोंमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार एक ही आप निरवच्छिन्न, स्वतन्त्र एवं सर्वान्तर्यामी होकर लीला हेतु अपनी अभिव्यक्ति करते हैं अर्थात् निज सृष्ट मृगादि शरीरोंमें, बाल्य-यौवनादि अवस्थाओंमें, विभिन्न अवतारोंमें—विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥ २०॥

सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्‌गुणकर्मभिर्वा
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः॥ २१॥

आप अपनी शक्तिस्वरूप रज, तम एवं सत्त्वगुण द्वारा विश्वका सृजन, संहार एवं पालन करते हैं, परन्तु स्वयं इन गुणों

अथवा कर्मोंमें आबद्ध नहीं होते। आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, अतः जीवके बन्धनकी कारणभूत अविद्याका प्रवेश आपमें किस प्रकार सम्भव हो सकता है?॥ २१॥

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्-
भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः
स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः॥ २२॥

आपकी सूक्ष्म देह, स्थूल देहादि शारीरिक उपाधियाँ अविद्याकी हेतुभूत है—आपका ऐसा निरूपण आज तक किसी भी शास्त्रज्ञने नहीं किया है। अतएव जीवके समान आपको संसार अथवा जन्म-प्राप्ति नहीं होते। आपमें देह-उपाधित्व भाव न होनेके कारण आपके पैतृक धातुसे जन्मादि नहीं होते, किन्तु आविर्भाव-तिरोभाव होते हैं। आपके देह-देहीमें पार्थक्य नहीं है, अतएव आपका न बन्धन है और न ही मुक्ति॥ २२॥

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय
यदा यदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भि-
स्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति॥ २३॥

आपने जगत्‌के कल्याणके लिए वेदके मार्गको प्रकट किया है, वह मार्ग जब-जब पाखण्डमार्गके अनुयायी असद् व्यक्तियों द्वारा दूषित हो जाता है, तब-तब गुणातीत-स्वरूप लीलामय होकर भी आप शिष्ट जनोंके पालनके लिए शुद्ध सत्त्वमें आविर्भूत होते हैं॥ २३॥

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः।
अक्षौहिणी-शतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन्॥ २४॥

हे विभो! आप वसुदेवके घरमें स्वांश बलदेवके साथ अवतीर्ण हुए हैं। आप देवताओंके शत्रु असुर राजाओंके एवं उनकी शत अक्षौहिणी सेनाओंके विनाशके द्वारा पृथ्वीके भारको उतारकर यदुकुलके यशका विस्तार कर रहे हैं॥ २४॥

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्त्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत् पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः॥ २५॥

हे अधोक्षज! आप देव, ऋषि, पितर, भूत एवं मनुष्य (राजा) इस पञ्चयज्ञोंके रूपोंमें देवमूर्त्ति हैं। हे परमात्मन्! आपके चरणोंकी धोवन सलिल-रूपिणी गङ्गादेवी तीनों भुवनोंको पवित्र कर रही हैं। आप इस जगत्‌के गुरु हैं। आज आपने मेरे घरमें पदार्पण करके मेरे घरको अति पवित्र कर दिया है॥ २५॥

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्-
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य॥ २६॥

हे देव! आप अपने प्रेमी भक्तोंके प्रिय, सत्यवक्ता, सुहृद् एवं कृतज्ञ हैं। भला कौन बुद्धिमान् व्यक्ति आपको छोड़कर अन्य देवताकी शरणमें जायेगा? किसी भी समय किसी भी भक्तने आपका थोड़ा भी भजन किया है, आप उसके बदलेमें उसे समस्त भोग प्रदान कर देते हैं। आप केवल उतना ही देकर सन्तुष्ट नहीं होते, क्षय-वृद्धि रहित एकरस अपने आपको भी दान कर देते हैं (अपने आपको दान करनेपर भी न तो आपका क्षय होता है और न ही वृद्धि)॥ २६॥

दिष्ट्या जनार्द्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः।

छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम्॥ २७॥

हे जनार्दन! सनकादि योगीन्द्र एवं ब्रह्मादि देवेन्द्र भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते। बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने आज मुझ जैसे अधम जनके घरमें स्वयं आकर दर्शन दिया है। हे प्रभो! आप अपनी मायासे उत्पन्न पुत्र, कलत्र, धन, स्वजन, गृह, देहादिके मेरे प्रगाढ़ मोह बन्धनका शीघ्र ही छेदन कर दीजिये॥ २७॥

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान् हरिः।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भक्त अक्रूरके द्वारा इस प्रकार अर्चन एवं स्तव कर लिये जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपनी मधुर वाणीसे उन्हें मोहित करते हुए कहने लगे॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।
वयन्तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अक्रूर! आप हमारे गुरु, चाचा एवं अति प्रशंसनीय मित्र हैं। हम तो सदा ही आपके बालक हैं। अतः सदा ही आपके द्वारा रक्षणीय, पोषणीय एवं अनुकम्पाके पात्र हैं॥ २९॥

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥ ३०॥

जो मनुष्य अपना परम कल्याण चाहते हैं, उन्हें आप जैसे पूजनीय एवं महाभाग्यवान् साधुओंकी सदा-सर्वदा सेवा करनी चाहिये। देवता तो अपना कार्य साधनेके लिए उद्यत रहा करते हैं, किन्तु साधु तो निरन्तर दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिए सदा-सर्वदा तत्पर रहते हैं॥ ३०॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ ३१॥

जलमय सारे तीर्थ, मृत्तिका और शिला-निर्मित देवता भी पूज्य हैं—ठीक है, पर वे तो दीर्घकालतक सेवा किये जानेपर ही चित्तका शोधन कर पाते हैं, किन्तु आप तो दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं॥ ३१॥

स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम्॥ ३२॥

आप निश्चय ही हमारे शुभचिन्तक सुहृदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। हमारे कल्याणकी कामनासे आप हस्तिनापुरमें पाण्डवोंके पास जाइये। वे धृतराष्ट्रके आश्रयमें किस प्रकारसे रह रहे हैं—उनसे पूछकर आइये॥ ३२॥

पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम॥ ३३॥

हमने सुना है कि अपने पिता पाण्डुके परलोक-गमनके बाद उनके पाँचों पुत्र बड़े दुःखी हो गये थे। धृतराष्ट्र उन्हें माता कुन्तीके साथ हस्तिनापुर ले आये थे और अब वे वहीं रह रहे हैं॥ ३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्त्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक्॥ ३४॥

अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रका मनोबल अति दुर्बल है और दूसरे वे अन्धे हैं। उनके पुत्र बड़े दुष्ट स्वभावके हैं और वे अपने पुत्रोंके वशीभूत हैं। अतः वे निश्चय ही अपने भाईके युधिष्ठिरादि पुत्रोंके साथ अपने पुत्रोंके जैसा अर्थात् समान व्यवहार नहीं कर पाते॥ ३४॥

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत्॥ ३५॥

अतः आप अभी वहाँ जाइये और इसका पता लगाइये कि उनके प्रति धृतराष्ट्रका व्यवहार ठीक है या नहीं! मैं यह जानकर कुछ इस प्रकारकी व्यवस्था करूँगा, जिससे हमारे सुहृद् पाण्डवोंका कल्याण हो॥ ३५॥

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरगृहगमनं नाम अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

प्रिय परीक्षित्! सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरको इस प्रकार आदेश प्रदान करके सङ्कर्षण एवं उद्धवके साथ वहाँसे अपने भवनमें लौट आये॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अड़तालीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अक्रूरका हस्तिनापुर जाना और पाण्डवोंके प्रति धृतराष्ट्रका पक्षपातपूर्ण व्यवहार देखकर मथुरा लौटना

श्रीशुक उवाच—

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम्।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम्॥ १॥

सहपुत्रञ्च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम्।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान्॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! तदनन्तर अक्रूर भगवान्की आज्ञानुसार हस्तिनापुर पहुँचे, जो स्थान-स्थानपर देव-मन्दिरों तथा ब्राह्मण-गृहोंसे सुशोभित एवं पुरुवंशी आदि राजाओंके कीर्त्ति-चिह्नों अर्थात् उनकी अमरकीर्त्तिसे अङ्कित था। वे वहाँ भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक राजा और उनके पुत्र सोमदत्तादि, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाँचों पाण्डुपुत्र एवं अन्यान्य आत्मीय-स्वजनों-सुहृदोंसे मिले॥ १-२॥

यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः।
सम्पृष्टस्तैः सुहृद्वार्त्तां स्वयञ्चापृच्छदव्ययम्॥ ३॥

जब गान्दिनीसुत अक्रूर यथाविधि सब इष्ट-मित्रों एवं सम्बन्धियोंसे मिल चुके, तब उन लोगोंने अक्रूरसे अपने मथुरावासी बन्धुओंके कुशल-समाचार पूछे। अक्रूरने भी स्वयं उनके कुशल-मङ्गलके सम्बन्धमें पूछताछ की॥ ३॥

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्त्तिनः॥ ४॥

परीक्षित्! दुष्ट-स्वभाववाले दुर्योधन आदि पुत्रोंके वशीभूत और उनके दुर्व्यवहारोंके अनुमोदनकारी शकुनि, कर्ण आदि दुष्ट

परामर्शदाताओंकी इच्छानुसार कार्य करनेवाले मन्दबुद्धि राजा धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति व्यवहार कैसा है—यह जाननेके लिए अक्रूर कुछ महीनों तक वहीं रहे॥ ४॥

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान्।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम्॥ ५॥
कृतञ्च धार्त्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम्।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च॥ ६॥

विदुर एवं कुन्तीने अक्रूरको बतलाया कि धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि पाण्डु-पुत्रोंके प्रभाव, शस्त्रादि नैपुण्य, बल, वीर्य, विनय आदि सद्गुणोंको सहन नहीं कर पाते। साथ ही प्रजा जो उनसे विशेष अनुराग रखती है, इससे भी उन्हें बड़ी ईर्ष्या होती है। यही कारण है कि दुर्योधनादि पाण्डवोंके साथ असद् एवं अशोभन व्यवहार करते हैं, उन्होंने पाण्डवोंके लिए पहले विष-दान आदि अनिष्टकारी कार्य किये थे और अब भी उनके विरुद्ध कोई-न-कोई षडयन्त्र रचते ही रहते हैं॥ ५-६॥

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा॥ ७॥

कुन्तीदेवी घर आये हुए अपने भाई वृष्णि-पौत्र अक्रूरके पास आ बैठीं और अपनी जन्मभूमि (मायके) का स्मरण करके नेत्रोंमें आँसू भरकर कहने लगीं॥ ७॥

अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे।
भगिन्यौ भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च॥ ८॥

हे सौम्य! हे मेरे प्यारे भाई! मेरे माता-पिता, भाई-बहन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ एवं सखियाँ मेरा कभी स्मरण करते हैं क्या?॥ ८॥

भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः।
पैतृष्वस्रेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥ ९॥

मैंने सुना है कि हमारे भतीजे श्रीकृष्ण और बलराम बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागत रक्षक हैं। मेरे आश्रयस्वरूप वे दोनों कमलनयन कभी अपने इन फुफेरे भाइयोंकी याद करते हैं क्या? ॥ ९ ॥

सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान्॥ १० ॥

भैया, इस समय तो मैं यहाँ ऐसे रह रही हूँ, जैसे भेड़ियोंके बीच हिरनी रहती है। शत्रुओंसे त्रस्त होकर हर समय शोकमें डूबी रहती हूँ, मेरे पुत्र पितृ-विहीन असहाय हैं। क्या श्रीकृष्ण यहाँ आकर मुझे और मेरे अनाथ बालकोंको अपने वचनोंके द्वारा सान्त्वना प्रदान करेंगे? ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ ११ ॥

परीक्षित्! श्रीकृष्णको अपने सम्मुख समझकर कुन्ती पुकारने लगीं—हे महायोगिन्! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे विश्वपालक! हे गोविन्द! हे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण! मैं अपने छोटे-छोटे पुत्रोंके साथ दुःखमें पड़ी हुई हूँ, मेरी रक्षा करो। हे विश्वभावन! मैं आपकी शरणमें हूँ, मेरे बालकोंको बचाओ। मेरे नयनगोचर होओ! (मेरे सम्मुख प्रकट हो जाओ)॥ ११ ॥

नान्यत् तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम्।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात्॥ १२ ॥

हे देव! आपके चरणारविन्द मोक्ष देनेवाले हैं। आप ईश्वर-स्वरूप हैं। जन्म-मरणके भयसे ग्रस्त मनुष्योंके लिए आपके चरण-कमलोंकी शरणके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई आश्रय दिखायी नहीं पड़ता॥ १२ ॥

नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता॥ १३ ॥

हे देव! श्रीकृष्ण! आप शुद्धस्वरूप हैं, दृश्य होकर भी मायातीत हैं, असीम हैं, ब्रह्म-ज्ञानियोंके उपास्य परब्रह्म परमात्मा हैं, भक्तियोग आदि सभीके उपायस्वरूप (साधनस्वरूप) हैं, आप स्वयं ही योग हैं, योगेश्वर हैं, ज्ञानके उद्‌गमस्वरूप हैं, मैं आपकी शरणमें पड़ी हूँ। आप मेरी रक्षा करें॥ १३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णञ्च जगदीश्वरम्।
प्रारुदद्दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकारसे अपने परिवारीजनोंका एवं जगदीश्वर श्रीकृष्णका स्मरण करती हुई आपकी परदादी कुन्ती बहुत दुःखी हो गयीं और बहुत जोरसे रोने लगीं॥ १४॥

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः॥ १५॥

समसुखदुःखभागी अक्रूर एवं महायशस्वी विदुर उन्हें सान्त्वना देते हुए समझाने लगे कि उनके पुत्रोंके जन्मदाता धर्म, वायु और इन्द्र आदि देवता हैं; वे साधारण नहीं हैं। इस कारण उनका कुछ भी अशुभ हो नहीं सकता, बल्कि शीघ्र ही उनके परम मङ्गलकी सम्भावना है॥ १५॥

यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम्।
अवदत् सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम्॥ १६॥

अपने पुत्रोंके प्रति मोह-ममताके कारण धृतराष्ट्रका अपने भतीजोंके साथ बड़ा पक्षपातपूर्ण व्यवहार था। अक्रूर मथुरा लौटना चाहते थे, अतः वे धृतराष्ट्रके पासे गये, जो अपने हितैषियोंके साथ बैठे हुए थे। श्रीकृष्ण और बलराम आदिने सौहार्दसे भरे जिन सन्देश-वचनोंको कहा था, अक्रूरने उन सबको धृतराष्ट्रको कह सुनाया॥ १६॥

श्रीअक्रूर उवाच—

भो भो विचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्त्तिवर्द्धन।
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः॥ १७॥

अक्रूरने सौहार्द प्रकट करते हुए कहा—हे विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्र! हे कुरुवंशकी कीर्त्तिको बढ़ानेवाले! आप अपने भाईके दिवंगत हो जानेके बाद राजसिंहासनके अधिकारी हो गये हैं॥ १७॥

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन्।
वर्त्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्त्तिमवाप्स्यसि॥ १८॥

आप राजधर्मके अनुसार पृथ्वीका पालन कीजिये। अपने सद्व्यवहारसे प्रजाको प्रसन्न रखिये और आत्मीयोंके साथ समानताका व्यवहार कीजिये। इसीसे आपका कल्याण होगा और आपको यशकी प्राप्ति होगी॥ १८॥

अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात् समत्वे वर्त्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च॥ १९॥

यदि आप इसके विपरीत आचरण करेंगे, तो इस लोकमें आपकी निन्दा होगी और परलोकमें भी आपको तमःलोक अर्थात् नरकमें जाना पड़ेगा। अतः पाण्डुपुत्र एवं अपने पुत्रोंके प्रति समानताका व्यवहार करना ही उचित है॥ १९॥

नेह चात्यन्तसंवासः कस्यचित् केनचत् सह।
राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः॥ २०॥

हे राजन्! इस लोक अथवा परलोकमें किसीके साथ सर्वदा एक जैसा स्थायी सम्बन्ध नहीं रहता। इसकी तो बात ही क्या, अपनी देहके साथ भी बहुत समय तक नहीं रह सकते। तब स्त्री-पुत्रादिके विषयमें तो कहना ही क्या?॥ २०॥

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ २१॥

इस जगत्में जीव अकेला ही जन्म-ग्रहण करता है और अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता है। अपने पाप-पुण्यका फल भी अकेला ही भोगता है॥ २१॥

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।
सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः॥ २२॥

मत्स्य-पुत्र (मछली) अथवा जलमें रहनेवाले जीव-जन्तु जिस प्रकार अपने ही माता-पिताके जीवन-स्वरूप जलका हरण अथवा पान कर लेते हैं, उसी प्रकार पुत्रादि भी 'हमारा पोषण करना तुम्हारा कर्त्तव्य है'—इस प्रकारसे अधर्मपूर्वक कमाये हुए मूर्खके धनका बलपूर्वक हरण कर लेते हैं॥ २२॥

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम्।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः॥ २३॥

मनुष्य जिन प्राण, धन एवं पुत्रादिका अधर्म करके भी पालन-पोषण करते हैं, वे ही प्राण, धन एवं पुत्रादि उस बुद्धिहीनको बिना भोगकी प्राप्ति कराये असन्तुष्ट ही छोड़कर चले जाते हैं॥ २३॥

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः॥ २४॥

जीवन एवं धर्मके तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ मनुष्य प्राण, पुत्र एवं धनादिसे परित्यक्त तो हो ही जाता है, उसके मनोरथ भी मनमें ही रह जाते हैं, पूर्ण नहीं होते। अपने धर्मसे भी वह विमुख ही रहता है—केवल कर्मफलोंको साथ लिये वह पापके पाथेयरूप नर्कको प्राप्त होता है॥ २४॥

तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो॥ २५॥

इसलिए हे महाराज! इस संसारको स्वप्नकी माया, जादूके खिलवाड़ और मनोराज्यके समान अस्थिर समझिये। आप समर्थ

हैं। अपने प्रयत्नसे अपनी आत्माको संयत करके शान्त एवं समदर्शी बनिये॥ २५॥

श्रीधृतराष्ट्र उवाच—

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम्॥ २६॥

धृतराष्ट्रने बाहरसे महागाम्भीर्य प्रकाश करते हुए कहा—हे दानपते अक्रूर! आपने बड़ी ही हितकारी बातें कही हैं। मनुष्य अमृतको प्राप्त करके भी जिस प्रकार तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं आपके इन वचनोंसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ (अक्रूर मथुरापुरीमें याचकोंको अन्नदान दिया करते थे)॥ २६॥

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत् सौदामनी यथा॥ २७॥

हे सौम्य! आपके वचन अतिशय हितकारी हैं। पुत्र-स्नेहसे वशीभूत मेरा हृदय अति चञ्चल और पक्षपातपूर्ण है। मेघोंमें स्थित विद्युत् जिस प्रकार ठहरती नहीं है, उसी प्रकार आपके वचन भी मेरे हृदयमें स्थिर नहीं रह पा रहे हैं॥ २७॥

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ २८॥

जो भू-भार हरण करनके लिए यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णके विधानको अन्यथा करनेकी सामर्थ्य किसमें हो सकती है? (वे मेरे हृदयमें जैसी प्रेरणा करेंगे, वैसा ही होगा)॥ २८॥

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥ २९॥

भगवान्‌की मायाका मार्ग अचिन्त्य है। जो भगवान् अपनी मायासे इस विश्वकी रचना करके इसमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान रहते हैं, जो कर्म एवं उसके फलोंके विभाजन आदिकी यथायथ व्यवस्था करते हैं, जिनकी लीलाका रहस्य अगाध है और जिनकी दुर्ज्ञेय क्रीड़ा संसार-चक्रका एकमात्र कारण है, मैं उन परमैश्वर्यशाली प्रभुको प्रणाम करता हूँ (मेरी भी भावी गति जो होगी, सो होगी)॥ २९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः।
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात्॥ ३०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके अभिप्रायको जानकर यदुवंशी अक्रूर अपने हितैषी सुहृदों एवं सम्बन्धियोंसे अनुमति लेकर यदुपुरी मथुरा लौट आये॥ ३०॥

शशंस राम-कृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम्।
पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम्॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदक्रूरगृहगमनं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

हे कुरुवंशी परीक्षित्! अक्रूर जिस वृत्तान्तको जाननेके अभिप्रायसे हस्तिनापुर भेजे गये थे, उन्होंने वहाँसे लौटकर भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलदेवके सम्मुख सम्पूर्ण वर्णन यथारूप सूचित कर दिया कि धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार है॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनचासवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जरासन्धसे युद्ध और द्वारकापुरीका निर्माण

श्रीशुक उवाच—

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ।
मृते भर्त्तरि दुःखार्त्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भरतकुलश्रेष्ठ परीक्षित्! कंसकी दो रानियाँ थीं—अस्ति एवं प्राप्ति। अपने पतिकी मृत्युके पश्चात् वे दोनों दुःखसे व्याकुल हो गयीं और पिता जरासन्धके घर चली आयीं॥ १॥

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम्॥ २॥

अस्ति एवं प्राप्तिने पिता मगधराज जरासन्धको अति दुःखी होकर अपने वैधव्यके कारणोंको बतलाया॥ २॥

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप।
अयादवीं महीं कर्त्तुं चक्रे परममुद्यमम्॥ ३॥

हे राजन्! राजा जरासन्ध पहले तो यह वृत्तान्त सुनकर शोकसे भर गया, किन्तु बादमें क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने निश्चय कर लिया कि वह पृथ्वीको यादवोंसे रहित कर देगा और इसी अभिप्रायसे वह प्रस्तुतिमें (तैयारियोंमें) जुट गया॥ ३॥

अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुधत् सर्वतो दिशम्॥ ४॥

उसने तेईस अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्रित की तथा यदुओंकी राजधानी मथुराको चारों ओरसे घेर लिया॥ ४॥

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम्।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनञ्च भयाकुलम्॥ ५॥

चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम्॥ ६॥

जिस तरह उमड़ता हुआ सागर अपनी सीमाको लाँघकर बहने लगता है, उसी प्रकार जरासन्धकी सेनाओंने मधुपुरीको चारों ओरसे घेर लिया है, स्वजन और पुरवासी भयसे आतुर हो रहे हैं। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण अपने अवतारके प्रयोजनपर विचार करने लगे कि इस अवसरपर देश, कालके अनुसार क्या करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण इस संसारके आदि कारण हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिए ही वे मनुष्यका-सा वेष धारण किये हुए हैं॥ ५-६॥

हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम्।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम्॥ ७॥
अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्त्ता बलोद्यमम्॥ ८॥

भगवान्ने निश्चय किया कि अच्छा ही हुआ कि जरासन्ध अपने अधीन राजाओंके हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदलरूप कई अक्षौहिणी सेनाओंको एकत्रितकर पृथ्वीका भार ही यहाँ ले आया है, मैं आज इस भारस्वरूप सैन्यमण्डलका विनाश कर डालूँगा, परन्तु जरासन्धको नहीं मारूँगा, क्योंकि जीवित रहनेसे वह पुनः बहुत-सी सेनाओंको एकत्र करनेका यत्न करेगा॥ ७-८॥

एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च॥ ९॥

भू-भार-हरण, साधुजनोंका संरक्षण और असाधुओंका विनाशन—इन तीन प्रयोजनोंके उद्देश्यसे ही मेरा यह अवतार है॥ ९॥

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित्॥ १०॥

धर्मकी रक्षा एवं अधर्मके बढ़ते प्रभावको रोकनेके लिए मैं इस अवतारके अतिरिक्त वराहादि अनेक शरीर भी धारण करता हूँ॥ १०॥

एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ॥ ११॥

परीक्षित्! श्रीकृष्ण इस प्रकारसे सोच-विचार कर ही रहे थे कि उसी समय आकाशसे सूर्यके समान दीप्तिशाली दो रथ आ पहुँचे। दोनों रथ युद्धकी सामग्रियोंसे सुसज्जित थे और दोनोंमें ही सारथि बैठे हुए थे॥ ११॥

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया।
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत्॥ १२॥

उसी समय संयोगसे भगवान्‌के दिव्य और सनातन अस्त्र-शस्त्र भी वहाँ उपस्थित हो गये। इन्हें देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवसे कहने लगे॥ १२॥

पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो।
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च॥ १३॥

यानमास्थाय जह्येतद्व्यसनात् स्वान् समुद्धर।
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत्।
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पूज्य बड़े भैया! आपके द्वारा रक्षित और आपके ही आश्रित यदुओंपर जरासन्ध द्वारा जो सङ्कट आ पड़ा है, उसे देखिये। यह सम्मुख ही आपका रथ और आपके प्रिय अस्त्र हल-मुसल उपस्थित हो गये हैं, यह भी देखिये। अब आप रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार कीजिये और विपत्तिसे यादवोंका उद्धार कीजिये। हे प्रभो! इन दुर्जनोंके विनाश एवं साधुओंके कल्याणके लिए ही हमारा अवतार हुआ

है। इस तेईस अक्षौहिणी सेनारूप पृथ्वीके बड़े भारी भारका हरण कीजिये॥ १३-१४॥

एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात्।
निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसा वृतौ॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने इस प्रकार परामर्श करके कवच बाँध लिये और उत्तम अस्त्रोंको धारण कर लिया। इसके बाद वे रथपर सवार हो गये और सेनाकी एक छोटी-सी टुकड़ीको लेकर युद्धके लिए पुरीसे बाहर निकले॥ १५॥

शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः।
ततोऽभूत् परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः॥ १६॥

सारथि दारुक भगवान् श्रीकृष्णके रथको पुरीसे बाहर ले आये। भगवान्ने यहाँ अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। इस शङ्खनादसे शत्रुओंका हृदय दहल उठा और वे डरसे काँपने लगे॥ १६॥

तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम।
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया।
गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन्॥ १७॥

मगधराज जरासन्धने बलराम और श्रीकृष्णको अपने सम्मुख देखकर कहा—हे पुरुषाधम कृष्ण! तू अभी निरा बालक है, अतः तुझ अकेलेके साथ युद्ध करनेमें मुझे लज्जा आती है। मैं तेरे साथ युद्ध करना नहीं चाहता। हे बन्धुघातिन्! तू तो अपने मामाका हत्यारा है, तू प्राणोंके भयसे वैसे ही छिपा फिरता है, मैं तेरे साथ युद्ध नहीं करूँगा। जा, तू अपने स्थानपर ही चला जा॥ १७॥

तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि॥ १८॥

हे बलराम! यदि तेरी इच्छा हो, तो तू युद्धके लिए प्रस्तुत हो जा और इसके लिए धैर्यपूर्वक साहस जुटा। युद्धमें या तो

मेरे बाणोंसे खण्ड-खण्ड हुई देहको छोड़कर स्वर्ग चला जा अथवा तुझमें शक्ति हो तो मुझे मार डाल॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वचो राजन् आतुरस्य मुमूर्षतः॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजन्! जो सच्चे वीर होते हैं, वे आत्म-प्रशंसा नहीं करते, अपितु अपना पराक्रम दिखलाते हैं। तुम दुर्बल हो और मरना चाहते हो। इसी कारण तुम्हारे वचनोंमें इतनी विकृति हो रही है। मैं ऐसी वचन-विकृति (व्यर्थ बकवाद) पर ध्यान नहीं देता॥ १९॥

श्रीशुक उवाच—

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ
महाबलौघेन बलीयसावृणोत्।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी
सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः॥ २०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मगधराज जरासन्ध मधुवंशोत्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके सामने आ गया और उसने अपनी बलशाली विशाल सेनाओंके द्वारा उन दोनोंको एवं उनकी सेना, रथ, ध्वज, घोड़े तथा सारथियोंको चारों ओरसे वैसे ही घेर लिया, जैसे वायु मेघमालाको और धूलिके कण सूर्य एवं अग्निको ढक लेते हैं॥ २०॥

सुपर्ण-तालध्वजचिह्नितौ रथा-
वलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं
समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्दिताः॥ २१॥

उस समय दुर्गके ऊपर बने हुए उच्च भवनों, ऊँचे-ऊँचे महलों और पुरद्वारोंपर यहाँ-वहाँ खड़ी पुरनारियाँ युद्धक्षेत्रके दृश्योंको देख रही थीं। जब उन्हें श्रीकृष्ण एवं बलरामके

गरुड-ध्वज एवं ताल-वृक्ष-ध्वजसे चिह्नित रथ दिखायी नहीं पड़े, तो वे शोकसे मूर्च्छित हो गयीं॥ २१॥

हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम्।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम्॥ २२॥

परीक्षित्! शत्रुसेनारूप मेघोंके द्वारा बार-बार भयानक एवं अति उग्र नोंकवाले बाणोंकी वर्षासे अपनी सेनाको पीड़ित देखकर भगवान् श्रीहरि देवता और असुरों दोनोंके ही द्वारा वन्दित शार्ङ्ग नामक अपने उत्तम धनुषपर टङ्कार करने लगे॥ २२॥

गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान्
विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान्।
निघ्नन् रथान् कुञ्जरवाजिपत्तीन्
निरन्तरं यद्वदलातचक्रम्॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्णने तरकससे अविरलरूपसे बाण निकाले, शार्ङ्गधनुषकी डोरीपर उन्हें चढ़ाया, डोरी खींची और क्षणार्द्धमें ही शत कोटि तीक्ष्ण बाणोंकी झड़ी लगा दी। इस प्रकारसे श्रीकृष्ण शत्रु जरासन्धके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करने लगे। भगवान् बाणोंको इतनी फुर्तीसे बरसा रहे थे, जैसे कोई अलातचक्र (लुकारी अथवा जलती लकड़ी) को घुमा रहा हो॥ २३॥

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु-
रनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः
पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः॥ २४॥

भगवान्‌के द्वारा उस तरह बाण चलानेसे हाथियोंके कुम्भ (मस्तक) धड़से अलग हो गये, घोड़ोंकी गर्दनें अलग होने लगीं और वे मर-मर कर गिरने लगे। घोड़े, ध्वजा, सारथि एवं स्वामी

समेत रथ खण्ड-खण्ड होकर धराशायी होने लगे और जो पैदल सेना थी, उनकी भुजाएँ, जंघाएँ, सिर, गर्दन आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग दो भागोंमें खण्डित होकर भूमिसात् होने लगे॥ २४॥

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना-
मङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा
हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः ॥ २५ ॥

करोरुमीना नरकेशशैवला
धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः ।
अच्छूरिकावर्त्तभयानका महा-
मणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥ २६ ॥

प्रवर्त्तिता भीरुभयावहा मृधे
मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम्।
विनिघ्नतारीन् मुषलेन दुर्मदान्
सङ्कर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥ २७ ॥

बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं
दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम्।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो-
र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्॥ २८ ॥

युद्धक्षेत्रमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके खण्डित-विखण्डित हो जानेसे रक्तकी शत-शत नदियाँ बहने लगीं। इन नदियोंमें भुजाएँ सर्पके समान, पुरुषोंके सिर कछुएके समान, मरे हाथी द्वीपोंके समान, घोड़े ग्राहके समान, हाथ एवं जंघाएँ मछलियोंके समान, मनुष्योंके बाल सेवारके समान, धनुष तरङ्गोंके समान, अस्त्र-शस्त्र गुल्म अर्थात् लता एवं तिनकोंके समान, ढाल भँवरोंके समान और उत्तम महामणियाँ एवं आभूषण पत्थर एवं बालूके कणोंके समान दिखायी दे रहे थे। इन नदियोंको देखकर भीरु भयसे थर्रा रहे थे और बुद्धिमानोंमें हर्षका सञ्चार हो रहा

था। हे राजन्! जरासन्ध द्वारा संरक्षित सेना समुद्रके समान दुर्गम, दुष्पार, दुर्मदान्ध (बड़ी कठिनाईसे जीती जाने योग्य) और अति भयङ्कर थी। भगवान् श्रीबलरामका बल असीम है। उन्होंने अपने मुषलायुधके द्वारा इस भारी सैन्यशक्तिका विनाश कर डाला। वस्तुतः वसुदेवके दोनों पुत्रों भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीसङ्कर्षणके युद्धादि कार्योंको खिलवाड़ मात्र समझना चाहिये (यह खिलवाड़ उनके पराक्रमका परिचायक नहीं है)॥ २५-२८॥

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥ २९॥

परीक्षित्! अनन्त गुणोंसे विभूषित जो भगवान् अपनी लीलामात्रके आश्रयसे तीनों भुवनोंकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, उनके द्वारा क्षुद्रातिक्षुद्र शत्रुओंका इस प्रकारसे विनाश किया जाना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। फिर भी, जब भगवान् मनुष्य-लीलाका अभिनय करते हुए ऐसा आचरण करते हैं, तब साधुजनोंके द्वारा इसका वर्णन किया ही जाता है॥ २९॥

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम्।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा॥ ३०॥

प्रौढ़वयस्क मगधराज जरासन्धका रथ नष्ट हो गया था, उसकी सारी सेना मारी गयी थी और उसके बस केवल प्राण ही शेष रह गये थे, तब सिंह जिस प्रकार दूसरे सिंहको झपटकर पकड़ लेता है, उसी प्रकार बलरामने उस महाबली जरासन्धको बलपूर्वक पकड़ लिया॥ ३०॥

बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया॥ ३१॥

जरासन्धने पहले बहुत-से शत्रुओंका वध किया था, परन्तु आज बलदेवने उसे वारुण-पाश एवं मानुषी-पाशसे (रस्सियोंके

फंदोंसे) बाँधना आरम्भ कर दिया, परन्तु भगवान् गोविन्दने जरासन्धको बलरामसे यह कहकर मुक्त करा दिया कि वह पुनः बहुत-सी सेना इकट्ठी करके लायेगा, जिससे हमें भू-भार-हरणरूप अपने कार्यका सहज सुयोग प्राप्त होगा॥ ३१॥

स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसम्मतः।
तपसे कृतसङ्कल्पो वारितः पथि राजभिः॥ ३२॥
वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि।
स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः॥ ३३॥

दोनों लोकनाथ—श्रीकृष्ण और बलरामने जब जरासन्धको छोड़ दिया, तब योद्धाओंके द्वारा सम्मानित, वीराग्रगण्य वह मगधराज अतिशय लज्जित हो गया। (वह इस बातके लिए विशेष लज्जित हुआ कि मुझे कृष्ण और बलराम जैसे निरे बालकोंने दया करके दीनकी भाँति छोड़ दिया है।) उसने तपस्या करनेका सङ्कल्प कर लिया, किन्तु मार्गमें उसके साथी अन्यान्य राजाओंने धर्मोपदेशों और लौकिक नीतियोंके द्वारा उसे रोक लिया। यथा—'राजन्! इस प्रकारकी पराजय केवल अपने कर्मोंके प्रारब्धवश है, इसमें लज्जाकी क्या बात है?', 'यादव अल्पसंख्यक और दुर्बल हैं', 'वे आपको पुनः पराजित नहीं कर पायेंगे', 'आपको तपस्याकी आवश्यकता नहीं है'। 'आप आत्मोत्सर्ग क्यों करते हैं?' आदि-आदि॥ ३२-३३॥

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान् दुर्मना ययौ॥ ३४॥

परीक्षित्! उस समय मगधराजकी सारी सेना मारी जा चुकी थी, भगवान् श्रीकृष्णने उपेक्षापूर्वक उसे छोड़ दिया था। अतः वह बृहद्रथ-पुत्र राजा जरासन्ध बड़े दुःखी मनसे उदास होकर अपने मगध राज्यको लौट गया॥ ३४॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः॥ ३५॥

माथुरैरुपसङ्गम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः।
उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः॥ ३६॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी सेना अक्षत थी और उन्होंने जरासन्धकी तेईस अक्षौहिणी विशाल सेनापर, जो दुस्तर समुद्रकी भाँति अथाह-असीम थी, सहज ही विजय प्राप्त कर ली। उस समय देवता उनपर नन्दनवनके फूलोंकी वर्षा करते हुए उनका अभिनन्दन करने लगे। सूत, मागध एवं बन्दीगण उनका विजय-गान करने लगे। जरासन्धके पराभवसे मथुरावासियोंकी भी चिन्ता दूर हो गयी। वे बड़े प्रसन्न हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण भी आकर उनसे मिले॥ ३५-३६॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः।
वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ॥ ३७॥
सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम्।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम्॥ ३८॥

जरासन्धकी सेनाके पराजयसे मथुरावासी भयरहित हो गये थे और भगवान् श्रीकृष्णकी विजयसे उनका हृदय आनन्दसे भर रहा था। वहाँके राजपथोंको जलसे सींचा गया था, स्थान-स्थानपर ध्वजा-पताकाएँ अलंकृत हो रही थीं, चारों ओर प्रवेशद्वारोंको वन्दनवारोंसे सजाया गया था, चारों दिशाएँ वेदमन्त्रोंसे गूँज उठीं, नागरिक उत्साहसे भरकर इधर-उधर चल-फिर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने जैसे ही पुरीमें प्रवेश किया, वैसे ही वीणा, वेणु, मृदङ्ग, शङ्ख, दुन्दुभि, भेरी एवं तुरही आदि वाद्य बजने लगे॥ ३७-३८॥

निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः॥ ३९॥

श्रीकृष्णके पुरीके भीतर प्रवेश करनेपर, पुरकी स्त्रियाँ उनके ऊपर माल्य, दधि, अक्षत एवं जौ आदि अङ्कुरोंकी वर्षा कर रही थीं और प्रेमसे प्रफुल्लित नेत्रोंसे उन्हें निहार रही थीं एवं उनका हृदय स्नेहसे सराबोर हो रहा था॥ ३९॥

आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम्।
यदुराजाय तत् सर्वमाहृतं प्रादिशत् प्रभुः॥४०॥

श्रीकृष्ण रणभूमिसे योद्धाओंके आभूषण और अपार धन ले आये थे, जिसे उन्होंने राजा उग्रसेनको उपहारके रूपमें प्रदान कर दिया॥४०॥

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः॥४१॥

परीक्षित्! इस प्रकार सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर राजा जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशकी सेनाओंके साथ युद्ध किया और पराजित हुआ॥४१॥

अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽगादरिभिर्नृपः॥४२॥

यादव-सेना श्रीकृष्णकी शक्तिसे उसकी समस्त सेनाओंका विनाश कर डालती। अपनी सेनाके विनष्ट होनेपर जरासन्ध शत्रुओं द्वारा उपेक्षित एवं त्यक्त होकर अपनी राजधानी लौट जाता॥४२॥

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत॥४३॥

अठारहवीं बार संग्राम प्रारम्भ होने ही वाला था कि उसी समय देवर्षि नारदजीके द्वारा भेजा हुआ कालयवन नामका वीर युद्धकी कामनासे वहाँ आ पहुँचा (किसी समय कालयवन महाकालके समान उन्मत्त होकर पृथ्वीपर विचरण कर रहा था कि नारदको देखकर पूछने लगा, 'पृथ्वीपर कोई बलवान् राजा है?' नारद असुर-संहार करानेमें बड़े निपुण हैं, उन्होंने यदुवीरोंको सर्वश्रेष्ठ बलवान् बता दिया और कालयवन मथुरा पहुँच गया)॥४३॥

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः।
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसम्मितान्॥४४॥

इस मर्त्यलोकमें उसके समान दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। उसने जब यह सुना कि यादव उसके जैसे ही बलवान् हैं, तब वह मथुरा चला आया और तीन करोड़ म्लेच्छोंकी सहायतासे उसने मथुरा नगरीको घेर लिया॥ ४४॥

तं दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान्।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत्॥ ४५॥

भगवान् श्रीकृष्णने जब कालयवनको देखा, तो वे इस स्थितिपर बलरामके साथ विचार करने लगे कि 'ओह! यह क्या! यादवोंपर तो दोनों दिशाओंसे महासङ्कट आ पड़ा है'॥ ४५॥

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति॥ ४६॥

आज इधर इस महाबली कालयवनने हमें घेर लिया है और उधर मगधका राजा जरासन्ध आज, कल अथवा परसों आ ही जायेगा॥ ४६॥

आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः।
बन्धून् हनिष्यत्यथ वा नेष्यते स्वपुरं बली॥ ४७॥

हम दोनों कालयवनके साथ युद्ध करनेमें लग गये और यदि जरासन्ध आ पहुँचा, तो निश्चय ही वह बलवान् शत्रु हमारे असहाय बन्धुओंको मार डालेगा अथवा उन्हें पकड़कर अपनी नगरीमें ले जायेगा॥ ४७॥

तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम्।
तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे॥ ४८॥

अतः आज ही हम एक द्विपद-दुर्गम किलेका निर्माण करायेंगे, जहाँ किसी भी मनुष्यका प्रवेश करना अत्यन्त कठिन होगा, और उसमें अपने स्वजन-सम्बन्धियोंको पहुँचाकर, बादमें उस म्लेच्छराजका वध करेंगे॥ ४८॥

इति सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम्।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत्॥ ४९॥

इस प्रकार बलरामसे मन्त्रणा करनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने समुद्रके भीतर बारह योजन परिधिवाला एक विशाल दुर्ग बनवाया। इस दुर्गके भीतर एक नगर बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ आश्चर्यचकित कर देनेवाली थीं॥ ४९॥

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम्॥ ५०॥

सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फटिकाट्टालगोपुरैः॥ ५१॥

राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलङ्कृतैः।
रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः ॥ ५२॥

वास्तोष्पतीनाञ्च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम्।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत्॥ ५३॥

इस नगरमें विश्वकर्मामें जितनी भी वैज्ञानिक क्षमता और शिल्प-निपुणता थी, उसे देखा जा सकता था। विस्तृत भू-खण्डको आधार बनाकर वास्तु-विज्ञानके अनुसार यथायथरूपसे राजपथ, व्यावसायिक सड़कें एवं चौराहे बनाये गये थे, सुन्दर-सुन्दर उद्यान और रमणीक उपवन थे, जिनमें देव-तरु एवं लहलहाती लताएँ नगरीको सुशोभित कर रही थीं। अटारियाँ बड़ी ऊँची थीं, जिन्हें स्फटिक मणियोंसे खचित किया गया था एवं ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंके शिखर (बुर्ज) सोनेके बनाये गये थे। महलोंको भी स्वर्ण-पत्रोंसे आच्छादित किया गया था। इनके फर्श महामरकत मणिसे बने हुए थे और शिखरोंको पद्मरागादि मणियोंसे सुसज्जित किया गया था। उनमें सोनेसे बने हुए कामदार कलश रखे थे। कोषागार, भण्डार-घर और अस्तबल आदि रजत, पीतल एवं लोहेके बने हुए थे। प्रत्येक महलमें देव मन्दिर एवं चन्द्रशालाओंसे (छज्जों,

बुर्जियोंसे) नगर जगमगा रहा था। इस नगरमें ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके लोग भरे हुए थे और सर्वोपरि श्रीकृष्ण आदिके राजभवनोंके कारण नगर अत्यधिक अद्भुत दिखायी दे रहा था॥ ५०-५३॥

सुधर्मां पारिजातञ्च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते॥ ५४॥

देवराज इन्द्रने सुधर्मा नामकी देवसभा एवं पारिजात वृक्षको श्रीकृष्णके पास उपहार-स्वरूपमें भेज दिया। इस नगरमें रहनेवाले लोगोंकी यह विशेषता थी कि वे भूख-प्यास आदि मर्त्त्य-धर्मसे अभिभूत नहीं होते थे॥ ५४॥

श्यामैककर्णान् वरुणो हयान् शुक्लान् मनोजवान्।
अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालो निजोदयान्॥ ५५॥

वरुणदेवने मनकी गतिके समान अतिवेगवान् शुक्ल वर्णके घोड़े भिजवा दिये। इन घोड़ोंका एक कान काले रङ्गका था। निधिपति कुबेरने आठों निधियाँ (पद्म, महापद्म, मत्स्य, कूर्म, औदक, नील, मुकुन्द तथा शङ्ख) भेज दीं। अन्यान्य लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विभूतियोंको श्रीकृष्णके लिए उपहाररूपमें भेज दिया॥ ५५॥

यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये।
सर्वं प्रत्यप्रयामासुर्हरौ भूमिगते नृप॥ ५६॥

अन्यान्य सिद्धगणोंने भगवान् श्रीहरिसे अपने-अपने अधिकारोंकी सिद्धिके लिए पहले जो समस्त आधिपत्य प्राप्त किये थे, श्रीहरिके पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेपर उन्होंने उन सब शक्तियों और सिद्धियोंको भगवान्के श्रीचरणोंमें अर्पण कर दिया॥ ५६॥

तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं हरिः।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अचिन्त्य महाशक्ति-योगके बलसे अपने समस्त आत्मीय बन्धुओंको उस नवनिर्मित नगर द्वारकामें पहुँचा दिया। अवशिष्ट प्रजाके पालनके लिए बलदेव मथुरामें रहे। बलदेवकी अनुमति लेकर श्रीकृष्ण गलेमें पद्ममालासे विभूषित होकर एवं बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये पुर-द्वारसे बाहर आ गये ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पचासवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनका भस्म होना तथा राजा मुचुकुन्दकी कथा

श्रीशुक उवाच—

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम्॥ १॥

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम्॥ २॥

नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम्।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३॥

वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः॥ ४॥

लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति।
निरायुधश्चलन् पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः॥ ५॥

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम्।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम्॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित्! जब श्रीकृष्ण मथुराके मुख्य-द्वारसे बाहर निकले, तब वे पूर्व दिशामें उदीयमान चन्द्रमाके समान अतीव सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनके अत्युज्ज्वल श्यामल श्रीअङ्गपर रेशमी पीताम्बर अपनी निराली छटा बिखेर रहा था, वक्षःस्थल श्रीवत्समणिसे अलंकृत था, गलेमें आबद्ध कौस्तुभ मणि जगमगा रही थी, चारों भुजाएँ पुष्ट एवं दीर्घ थीं। नेत्र नवीन कमलके समान स्निग्ध एवं रतनारे थे, श्रीविग्रह आनन्दसे तरङ्गायित था, मुखपर विशुद्ध एवं मन्द-मन्द मुसकान थी, कपोलोंकी शोभा अत्याकर्षक थी, कानोंमें देदीप्यमान मकराकृति कुण्डल विभूषित हो रहे थे, मुखमण्डल कमलके

समान प्रफुल्लित था। उन्हें देखकर कालयवनने निश्चय कर लिया कि हो-न-हो यही सुपुरुष श्रीकृष्ण है। नारदजीने जैसा वर्णन किया था, वैसे ही सारे लक्षण दिखायी दे रहे हैं—चतुर्भुज, कमललोचन, वनमाली और सुन्दरताकी सीमा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा श्रीकृष्ण हो नहीं सकता। जो भी हो, इस समय यह निरस्त्र है, अतः मैं भी पैदल (रथ-रहित) और निरस्त्र होकर इसके साथ युद्ध करूँगा। इस प्रकार निर्धारण करके म्लेच्छराज कालयवन भी बिना अस्त्र-शस्त्रके उनकी ओर चला, परन्तु उसे आते देखकर श्रीकृष्ण पराङ्मुख होकर (अर्थात् दूसरी ओर मुँह करके) रणभूमिसे पलायन करने लगे। कालयवन उन्हें पकड़नेके लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ा, जो योगियोंके लिए मनसे भी दुर्लभ हैं॥ १-६ ॥

हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम्॥ ७॥

श्रीकृष्ण पग-पगपर मानो उसकी पकड़में आ गये हों—अब पकड़े गये, तब पकड़े गये इस प्रकार भगवान् रणछोड़-लीलाका अभिनय करते हुए कालयवनको दूर स्थित पर्वतकी गुफामें ले गये॥ ७॥

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम्।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः॥ ८॥

उस समय कालयवन, पीछेसे बार-बार आक्षेप कर रहा था कि 'हे कृष्ण! तुम परम कीर्त्तिशाली यदुवंशमें उत्पन्न हुए हो, तुम्हारे लिए पलायन उचित नहीं है'—भर्त्सना करके भी वह किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णके समीप तक न पहुँच सका, क्योंकि तब भी उसके अशुभ कर्मबन्धन नष्ट नहीं हुए थे॥ ८॥

एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् प्राविशद्गिरिकन्दरम्।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम्॥ ९॥

वह भगवान्‌के प्रति तिरस्कारपूर्ण वचन कहता जा रहा था, परन्तु भगवान् उस पर्वतकी गुफामें प्रवेश कर गये। कालयवन भी उनके पीछे-पीछे पर्वतकी गुफामें घुस गया। वहाँ उसने सोये हुए एक पुरुषको देखा॥ ९॥

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत्।
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत्॥ १०॥

कालयवनने सोचा कि श्रीकृष्ण मुझे इतनी दूर पर्वतकी गुफामें ले आया है और अब देखो, स्वयं साधुके समान सोया हुआ है। इस प्रकारसे उस मूर्ख यवनने सोये हुए पुरुषको श्रीकृष्ण मानकर उनपर बड़ी जोरसे पाद-प्रहार किया॥ १०॥

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने।
दिशो विलोकयन् पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम्॥ ११॥

परीक्षित्! वे पुरुष बहुत दिनोंसे सोये हुए थे। पदाघातके कारण वे उठ बैठे और उन्होंने धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं। वे चारों ओर देखने लगे। देखते-देखते उन्हें पास ही खड़ा कालयवन दिखायी पड़ा॥ ११॥

स तावत् तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात्॥ १२॥

हे राजन्! इस तरहसे जगाये हुए पुरुष क्रुद्ध तो थे ही। उनके दृष्टिपातसे कालयवनकी देहमें अग्नि उत्पन्न हो गयी। देहजात इस अग्निसे वह दग्ध होने लगा और क्षणभरमें ही राखके ढेरमें परिणत हो गया॥ १२॥

श्रीराजोवाच—

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव च।
कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किं तेजो यवनार्दनः॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन्! इस यवनका विनाश करनेवाले वे पुरुष कौन थे? किस वंशमें उत्पन्न हुए थे? किसके पुत्र थे?

उनकी शक्ति किस प्रकारकी थी? वे किसलिए गिरिकी कन्दरामें सोये थे? आप समस्त वृत्तान्त मुझे बतलाइये॥ १३॥

श्रीशुक उवाच—

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान्।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! ये महापुरुष इक्ष्वाकु-वंशमें उत्पन्न महाराजा मान्धाताके पुत्र थे और मुचुकुन्द नामसे विख्यात थे। इन्हें सत्यप्रतिज्ञ एवं ब्रह्मपरायणके रूपमें जाना जाता है॥ १४॥

स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम्॥ १५॥

प्राचीन समयमें एक बार असुरोंके त्राससे भयभीत होकर इन्द्रादि देवताओंने राजा मुचुकुन्दसे अपनी रक्षाकी प्रार्थना की थी। तब इन्होंने उन देवताओंकी दीर्घकालपर्यन्त रक्षा की थी॥ १५॥

लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन्।
राजन् विरमतां कृच्छ्राद्भवान् नः परिपालनात्॥ १६॥

जब स्वर्गकी रक्षाके लिए देवताओंको सेनापतिके रूपमें कार्त्तिकेय उपलब्ध हो गये, तब उन्होंने मुचुकुन्दसे कहा—हे राजन्! आपने हमारी रक्षाके लिए बहुत कष्टसाध्य श्रम किया है, अब आप विश्राम कीजिये॥ १६॥

नरलोकं परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम्।
अस्मान् पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः॥ १७॥

हे वीर-शिरोमणे! आपने मृत्युलोकके निष्कण्टक राज्यका परित्याग करके हमारे पालनका व्रत धारण कर लिया और हमारी रक्षाके लिए अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओं एवं विषय-भोगोंका भी परिहार कर दिया॥ १७॥

सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः।
प्रजाश्च तुल्यकालीताः नाधुना सन्ति कालिताः॥ १८॥

विशेषरूपसे आपके समकालीन पुत्र, रानियाँ, ज्ञाति, सम्बन्धी, अमात्य, मन्त्री और प्रजाओंमेंसे अब कोई भी जीवित नहीं बचा है। वे सब-के-सब कालके द्वारा ग्रस्त होकर विभिन्न स्थानोंपर चले गये हैं॥ १८॥

कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः।
प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून्॥ १९॥

काल प्राणियोंका नियन्ता, बलवानोंमें भी महाबलवान्, अविनाशी और भगवत्स्वरूप है। पशुपालक (ग्वारिया) जिस प्रकार पशुओंको इधर-उधर परिचालित करता है, उसी प्रकार काल भी खेल-खेलता हुआ-सा प्रजाओंको अपने अधीन रखकर यहाँ-वहाँ घुमाया करता है॥ १९॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥ २०॥

हे राजन्! आपका कल्याण हो। आप आज मुक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वरदान माँग लें। हममें तो एकमात्र अविनाशी भगवान् विष्णु ही हैं, जो मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ हैं॥ २०॥

एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः।
(निद्रामेव ततो वव्रे स राजा श्रमकर्षितः
यः कश्चिन्मम निद्राया भङ्गं कुर्य्यात् सुरोत्तमाः।
स हि भस्मीभवेदाशु तथोक्तश्च सुरैस्तदा।
स्वापं यातं यो मध्येस्तु बोधयेत् त्वामचेतनः।
स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात्॥)
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया॥ २१॥

देवताओंने जब इस प्रकार कहा, तब महाकीर्त्तिसम्पन्न महाराज मुचुकुन्दने देवताओंकी वन्दना की एवं उनसे निद्राका वरदान ग्रहण किया। वे पर्वतकी गुफाके अन्दर जाकर सो गये।

प्रभुपादजी द्वारा श्लोक मध्यगत प्रक्षिप्त पंक्तियोंका अर्थ है—राजा मुचुकुन्द परिश्रान्त थे, अतः उन्होंने निद्राको ही वरण कर लिया। उन्होंने कहा—हे देवता-श्रेष्ठ, जो कोई भी मेरी निद्राको भङ्ग करे, वह तुरन्त ही भस्मीभूत हो जाय। देवताओंने उत्तर दिया 'ऐसा ही हो'। जो मूर्ख व्यक्ति आपको निद्रासे जगायेगा, वह आपकी दृष्टिमात्रसे तत्क्षण ही भस्म हो जायेगा। इन्द्र भी इस वरदानके अभिलक्ष्य थे कि शत्रु-वधके लिए वे उन्हें पुनः न जगा दें॥ २१॥

यवने भस्मसान्नीते भगवान् सात्वतर्षभः।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते॥ २२॥

जब कालयवन जलकर भस्म हो गया, तब भगवान् श्रीकृष्णने परम बुद्धिमान् मुचुकुन्दको अपने स्वरूपका दर्शन कराया॥ २२॥

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम्॥ २३॥
चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ २४॥
प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम्।
अपीव्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम्॥ २५॥
पर्य्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्द्धर्षमिव तेजसा॥ २६॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह वर्षाकालीन नूतन जलधरके समान श्यामल था, वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए थे, उनका वक्षःस्थल श्रीवत्ससे विभूषित, कौस्तुभ मणिसे सुशोभित तथा ग्रीवा देश वैजयन्तीमालासे मण्डित था। वे चतुर्भुज-विशिष्ट

थे। सुन्दर मुखमण्डल प्रसन्नतासे खिला हुआ था, दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल देदीप्यमान हो रहे थे, सम्पूर्ण मर्त्यलोकमें उनके समान दर्शनीय कोई न था, अधरों पर अनुरागसे पूर्ण मन्दहास्य था। नेत्रोंकी चितवन आह्लादकी वर्षा कर रही थी, सुसमृद्धिमान् नवतारुण्य था। वे उन्मत्त सिंहके समान सुरम्य एवं प्रभावशाली दिखायी दे रहे थे। राजा मुचुकुन्दने उनके अद्भुत, दिव्य एवं ज्योतिर्मय रूपको देखा, तो वे उनके तेजसे अभिभूत हो गये। महाराज मुचुकुन्द महाबुद्धिमान् थे, फिर भी भगवान्के दुर्धर्ष-तेजके प्रभावसे हतप्रभ रह गये और श्रीकृष्णसे शङ्काके साथ धीरे-धीरे पूछने लगे॥ २३-२६॥

श्रीमुचुकुन्द उवाच—

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके॥ २७॥

राजा मुचुकुन्दने कहा—यह अरण्य काँटोंसे भरा हुआ है। आपके चरण सुकोमल कमलकी पंखुड़ियोंके समान हैं। आप इस पर्वतकी गुफामें किसलिए विचरण कर रहे हैं?॥ २७॥

किंस्वित् तेजस्विनां तेजो भगवान् वा विभावसुः।
सूर्य्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालो परोऽपि वा॥ २८॥

क्या आप समस्त तेजस्वियोंके साक्षात् मूर्त्तिमान् स्वरूप हैं? क्या आप भगवान् अग्निदेव, सूर्य, चन्द्र, स्वर्गके राजा इन्द्र अथवा किसी दूसरे लोकके शासक हैं?॥ २८॥

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम्।
यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा॥ २९॥

मैं तो आपको ब्रह्मा-विष्णु महेश तीनों देवाधिपतियोंमेंसे पुरुषोत्तम विष्णु ही समझता हूँ। जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभासे अँधेरेको दूर कर देता है, उसी प्रकार आपका दिव्य तेज गुफाके अन्धकारको दूर कर रहा है॥ २९॥

शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव।
स्वजन्म कर्म्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते॥ ३०॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं आपकी उत्पत्ति, कर्म एवं गोत्रके विषयमें जानना चाहता हूँ। यदि आपकी इच्छा हो, वे इस श्रवणेच्छुको निष्कपटरूपसे बतलाइये॥ ३०॥

वयन्तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः।
मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो॥ ३१॥

हे पुरुषोत्तम! जहाँ तक मेरी बात है, मैं इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ। मैं युवनाश्व नामके राजाका पौत्र एवं मान्धाता नामके राजाका पुत्र हूँ। हे प्रभो! मुझे मुचुकुन्द नामसे जाना जाता है। (अपना अपकर्ष एवं वंशका श्रेष्ठत्व बतलाया गया है)॥ ३१॥

चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयापहतेन्द्रियः।
शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना॥ ३२॥

बहुत दिनों तक जगे रहनेके कारण बहुत क्लान्त हो गया था। बादमें निद्राके आवेगने मेरी इन्द्रियोंकी शक्तिका अपहरण कर लिया था। इसीसे मैं इस निर्जन गिरि गह्वरमें स्वेच्छापूर्वक निर्द्वन्द्व सोया था, अभी-अभी मुझे किसी अज्ञान व्यक्तिने जगा दिया॥ ३२॥

सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना।
अनन्तरं भवान् श्रीमान् लक्षितोऽमित्रशातनः॥ ३३॥

मेरी निद्राको भङ्ग करनेवाला वह व्यक्ति निश्चय ही अपने पापोंसे भस्मीभूत हो गया। इसके बाद शत्रुओंका विनाश करनेवाला आपका यशस्वी स्वरूप मुझे दिखलायी पड़ा॥ ३३॥

तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः।
हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम्॥ ३४॥

हे महाभाग! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके पूजनीय हैं। आपके असह्य तेजके प्रभावसे मैं हतप्रभ हुआ जा रहा हूँ और आपको

बार-बार देखनेके लिए मेरी दृष्टि असमर्थ होनेके कारण स्थिर नहीं हो पा रही है॥ ३४॥

एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः।
प्रत्याह प्रहसन् वाण्या मेघनादगभीरया॥ ३५॥

जब राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार कहा, तब भूतभावन (समस्त प्राणियाके संरक्षक) भगवान् श्रीकृष्णने मन्द-मन्द मुसकराते हुए मेघध्वनिके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर दिया॥ ३५॥

श्रीभगवानुवाच—

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥ ३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजन्! मेरे जन्म, कर्म एवं नाम सहस्र-सहस्र हैं। असंख्य होनेके कारण मैं भी इसका निर्णय करनेमें समर्थ नहीं हूँ॥ ३६॥

क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३७॥

कोई व्यक्ति कितने ही जन्म लेकर पृथ्वीपर स्थित धूलिकणोंकी भले ही गिनती कर ले, लेकिन बहुत जन्म लेकर भी मेरे जन्म, गुण, कर्म एवं नामोंकी गणना नहीं कर सकता॥ ३७॥

कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्म्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥ ३८॥

हे राजन्! सनकादि परम महर्षियोंने मेरे त्रैकालिक सिद्धजन्मों एवं कर्मोंकी क्रमशः धीरे-धीरे गणना करना आरम्भ तो किया, पर उनकी सीमा आज तक नहीं पा सके॥ ३८॥

तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्म्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च॥ ३९॥

अवतीर्णो यदुकुले गृहे आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्॥ ४०॥

हे राजन्! फिर भी, मैं तुम्हारे लिए अपने वर्त्तमान जन्मादिका वर्णन कर रहा हूँ, इसे ध्यानसे सुनो। पहले ब्रह्माजीने धर्मकी रक्षा एवं पृथ्वीके भार-स्वरूप असुरोंके विनाशके लिए मुझसे निवेदन किया था। उनकी प्रार्थनासे मैं यदुवंशमें आनकदुन्दुभि वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुआ हूँ। इसलिए लोग मुझे वसुदेवका पुत्र मानकर 'वासुदेव' नामसे कहा करते हैं॥ ३९-४०॥

कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः।
अयञ्च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा॥ ४१॥

मैं इससे पहले कालनेमि असुर जो कंसके रूपमें उत्पन्न हुआ था, उसका और सज्जन-द्रोही प्रलम्ब आदि असुरोंका संहार कर चुका हूँ। हे राजन्! इस समय भी मेरी प्रेरणासे यह कालयवन भी तुम्हारे तीक्ष्ण दृष्टिपातके कारण भस्म हो गया॥ ४१॥

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः॥ ४२॥

वही विष्णुरूपमें तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही इस गुफामें उपस्थित हुआ हूँ। मैं भक्तवत्सल हूँ। पूर्वकालमें तुमने मुझसे प्रचुर कृपाकी प्रार्थना की थी॥ ४२॥

वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्॥ ४३॥

हे राजर्षे! तुम अभीष्ट वर माँगो। मैं तुम्हें तुम्हारी सभी मनोभीष्ट (प्रार्थित) वस्तुएँ प्रदान करूँगा। मेरी शरणमें आये हुए व्यक्तियोंको पुनः कभी शोक नहीं करना पड़ता॥ ४३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन्॥ ४४॥

भगवान् श्रीकृष्णके यह कहनेपर महाराज मुचुकुन्द अत्यन्त आनन्दित हुए। उन्हें महर्षि गर्गके वचनोंका स्मरण हो आया कि अट्ठाईसवें द्वापर युगमें यदुवंशमें भगवान् अवतीर्ण होनेवाले हैं, तुम्हें उनका दर्शन होगा। उन्हें निश्चय हो गया कि वे ही देवोंके देव नारायण हैं। राजा मुचुकुन्द भगवान् श्रीकृष्णको (नारायण-ज्ञानसे) प्रणाम करके कहने लगे॥ ४४॥

श्रीमुचुकुन्द उवाच—

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः॥ ४५॥

राजा मुचुकुन्दने कहा—हे ईश! शूकरके समान काममें आसक्त होकर स्त्री एवं पुरुष दोनों ही इस कर्म भूमिमय संसारमें आपकी मायासे विमोहित हो रहे हैं। आपसे विमुख होकर अनर्थोंमें ही उनका ध्यान केन्द्रित रहता है और वे आपका भजन नहीं कर पाते। मानुषत्व प्राप्त करके भी परस्पर ठगे जाते हुए वे लोग सुखकी इच्छासे दुःखोंके मूल कारण घरमें ही आसक्त रहते हैं॥ ४५॥

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥ ४६॥

हे अनघ! मनुष्य इस कर्मभूमिमें दुर्लभ अविकलाङ्ग एवं सुन्दर सुदृढ़ मानव-देहको अपने परम सौभाग्य और भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे अनायास प्राप्त तो कर लेते हैं, परन्तु आपके पाद-पद्मोंका भजन नहीं करते। वे तुच्छ-तृणके लोभी पशुओंके समान विषय-सुखकी वासनासे गृहरूप अन्धकूपमें पड़े रहते हैं॥ ४६॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।

मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया॥ ४७॥

हे अजित्! मैं भी देहको ही आत्मा मानता रहा और पुत्र, स्त्री, कोष एवं राज्यमें अत्यन्त आसक्त रहा। राज-सम्पदाके मदमें इतना मतवाला रहा कि दुरन्त और अनन्त चिन्ताओंमें ही जीवन निष्फल बिता दिया। मेरा तो सारा जीवन ही निरर्थक चला गया॥ ४७॥

कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम्।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः॥ ४८॥

हे प्रभो! यह शरीर घट एवं भित्तिके (घड़े और भीतके) समान मिट्टीका है, इसी अनात्म पदार्थ शरीरको मैं इतने दिनों तक "मैं नरदेव हूँ" "मैं मानवोंका अधिपति हूँ"—यही अपना स्वरूप समझ बैठा था। इस प्रकार राजमदसे अभिमानी होकर रथ, हाथी, घोड़े, पैदल सेना एवं सेनापतियोंसे घिरा हुआ पृथ्वीपर इधर-उधर विचरण किया करता था। अतिशय मदमत्तताके कारण आपका कभी चिन्तन ही नहीं कर सका॥ ४८॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे,
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ४९॥

हे भगवन्! "इस कार्यके बाद अमुक कार्य करूँगा"—इस प्रकार मनुष्य वृथा ही मनोरथोंकी परम्परामें व्यर्थ ही व्यस्त रहकर नितान्त असावधान रहते हैं। विषय-भोगकी लालसाओंके कारण विषय प्राप्त होनेपर भी वे और अधिक लोभी होकर उनमें उत्तरोत्तर फँसते ही चले जाते हैं, परन्तु काल (रूपी यम) सदा सतर्क रहता है। वह ऐसे लोगोंपर सहसा ही इस प्रकार आक्रमण करता है, जिस प्रकार क्षुधातुर सर्प सहसा ही चूहेको धर-दबोचता है॥ ४९॥

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्
मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः॥ ५०॥

पहले जो यह देह सुवर्णमण्डित रथ अथवा हाथियोंपर भ्रमण किया करती थी और जिसे राजा नामसे सम्बोधन किया जाता था, वही देह आपकी अजेय एवं अबाध काल-गतिका ग्रास बनकर विष्ठा, कीड़ा अथवा भस्म नामोंसे घृणित अवस्थाओंको प्राप्त होती है॥ ५०॥

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते॥ ५१॥

हे भगवन्! जिसने सम्पूर्ण दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ली है, जिसके साथ संग्रामके लिए अब कोई रह ही नहीं गया है, जो भव्य सिंहासनपर विराजमान है, जो अब उन राजाओंके द्वारा सम्मानित होता है, जिन्हें पहले उसके समान माना जाता था, वही दिग्विजयी, महापराक्रमशाली पुरुष कामिनियोंके साथ विषय-सुख भोगनेके लिए जब घरमें घुसता है, तो वहाँ उनका ही क्रीड़ा-मृग (हाथकी कठपुतली) बनकर उनके सङ्केतोंपर इधर-उधर नाचता है॥ ५१॥

करोति कर्म्माणि तपःसुनिष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत्।
पुनश्च भूयायमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते॥ ५२॥

जो पहलेसे ही प्राप्त होनेपर भी और अधिक विषय भोग-लालसासे ग्रस्त हैं, वे व्यक्ति “मैं जन्मान्तरमें इन्द्र बनूँगा, मैं स्वतन्त्र, सर्वोच्च सम्राट् बनूँगा”—इस प्रकारके सङ्कल्पोंके अधीन रहकर ऐहिक भोगोंको छोड़कर भूमिशयन, ब्रह्मचर्य-पालन आदि

तपस्याएँ करने लग जाते हैं, इस प्रकार निरन्तर बढ़ती तृष्णाओंके कारण उन्हें सुखानुभूतिके अवसर कभी भी प्राप्त नहीं होते॥ ५२॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्‌गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥ ५३॥

हे अच्युत! इस प्रकार प्रपञ्चमें भटकते जीवका सौभाग्यसे जिस समय सांसारिक बन्धन छूटनेका समय आता है, उस समय उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है और जिस समय सत्सङ्ग (सत्-समागम) अर्थात् अनुग्रहकारी सन्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय साधुओंके परमाश्रय-स्वरूप, समस्त कार्य-कारणोंके नियन्ता आपके प्रति सर्वदुःखविनाशिनी एवं परमसुखमयी भक्ति उत्पन्न होती है और उसीसे सांसारिक प्रपञ्चोंसे मुक्ति हो जाती है। साधु अपनी भक्तिसे भव-समुद्रको पार कर जाते हैं और परवर्त्ती लोगोंके लिए अपनी चरणतरीको (चरणनौकाको) भवसमुद्रके इस पार रख जाते हैं॥ ५३॥

मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो
राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया
वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः॥ ५४॥

हे भगवन्! मेरा यह जो राज्यादि-बन्धन संयोगसे स्वयं ही विच्छिन्न हो गया है, वह आपके अनुग्रहका ही फल है—मैं ऐसा मानता हूँ, जब कि तपस्याके लिए वन जानेकी अभिलाषा करनेवाले विवेकी चक्रवर्ती राजा ऐकान्तिकी निष्ठाके साथ ध्यान-भक्तिकी सिद्धिके लिए आपसे राज्यादिके ममता-बन्धनसे मुक्त होनेके लिए प्रार्थना करते रह जाते हैं। वस्तुतः भगवत्-कृपा एकमात्र निष्किञ्चन भगवत्-भक्तोंका ही अभिलक्ष्य है, विषयाविष्ट-चित्तवाले व्यक्तियोंके लिए तो यह दुर्लभ है॥ ५४॥

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्य्यो वरमात्मबन्धनम्॥ ५५॥

हे विभो! आपके चरणकमल जो अकिञ्चनोंके सर्वोत्तम प्रार्थनीय हैं, मैं इन्हीं चरणकमलोंके भजनके अतिरिक्त दूसरे किसी वरदानकी प्रार्थना करना नहीं चाहता। हे हरि! भला ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा, जो मुक्तिको (भक्तियोगको) प्रदान करनेवाले आपकी आराधना करके उन सांसारिक-विषयोंको माँगेगा—जो उसके ही बन्धनके कारण होते हैं॥ ५५॥

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्॥ ५६॥

अतः हे भगवन्! मैं सर्वतोभावसे सत्त्व, रज एवं तमो-गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली एवं बन्धनकारी कामनाओंका त्याग करके अद्वय, अक्षर, निर्गुण, निरञ्जन (निरुपाधिक), सच्चिदानन्दविग्रह, परमपुरुष आपकी शरणमें आया हूँ॥ ५६॥

चिरमिह वृजिनार्त्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रो लब्धशान्तिः कथञ्चित्।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्
अभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश॥ ५७॥

हे ईश! मैं इस लोकमें दीर्घकालसे कर्मोंके फलका भोग करते-करते पीड़ित हो रहा था, दिन-रात अनुतापसे सन्तप्त रहा करता था, इन्द्रियाँ तृष्णाओंसे आर्त्त रहती थीं, काम, क्रोधादि छहों शत्रुओंसे मिलनेवाली भर्त्सना एवं ताड़नासे मुझे कभी शान्ति नहीं मिलती थी। अब दैववश आपके पादपद्मोंके शरणापन्न हुआ

हूँ। हे सत्य-स्वरूप! हे अभय-प्रदाता! हे शोक-रहित! हे अमृत-स्वरूप! हे शरणदायक! हे परमात्मन्! इस आपद्-ग्रस्तकी रक्षा कीजिये (मनुष्यलोककी सम्पत्ति-भोगमें रोग एवं विपक्षी शत्रुओंका भय रहता है, देवलोककी सम्पत्ति क्षणस्थायी होनेके कारण मिथ्या है और ब्रह्म-सम्पत्ति आपकी चरण सेवासे वञ्चित करके शोकग्रस्त कर देती है। अतः अभय-अमृत-अशोक आपके पादपद्म ही मनुष्योंके आश्रय-स्वरूप हैं)॥ ५७॥

श्रीभगवानुवाच—

सार्व्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्ज्जिता।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः॥ ५८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे सार्वभौम (सम्राट्)! हे महाराज! तुम्हारी बुद्धि सर्वतोभावसे पवित्र एवं शक्तिशाली है। मेरे द्वारा वरदान दिये जानेका बार-बार प्रलोभन दिये जानेपर भी तुम्हारी बुद्धि विषय-वासनाओंसे आक्रान्त नहीं हुई॥ ५८॥

प्रलोभितो वरैर्यत् त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।
न धीरेकान्तभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित्॥ ५९॥

मैंने जो तुम्हें वरदान देनेका प्रलोभन दिया, वह केवल तुम्हारी सावधानीकी परीक्षाके लिए—इसमें मुझे कहीं भी प्रमादकी संभावना दिखायी नहीं दी। अनन्य (ऐकान्तिक) भक्तोंकी मति कभी भी विपथगामी अथवा विचलित नहीं होती और न ही विषयोंकी प्राप्तिके लिए आसक्त होती है। वे निश्चल होते हैं॥ ५९॥

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥ ६०॥

हे राजन्! जिनमें भक्तिका प्रवेश नहीं है, ऐसे अभक्त योगियों एवं ज्ञानियोंका मन प्राणायामादिका अनुष्ठान करनेसे भी कभी वासना-रहित नहीं होता। देखा जाता है कि वे कभी-न-कभी भौतिक विषयोंकी ओर उन्मुख हो ही जाते हैं॥ ६०॥

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।
अस्त्वेवं नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी॥ ६१॥

अतः हे नृपति! तुम अपना मन मुझमें समर्पण कर दो और इच्छानुसार पृथ्वीपर विहार करो। तुम्हारी विषय-वासनाओंके सम्पर्कसे रहित शुद्ध एवं निर्मल भक्ति मेरे प्रति सर्वदा ही बनी रहेगी॥ ६१॥

क्षात्रधर्म्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत् तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥ ६२॥

राजन्! पहले तुमने क्षत्रिय-धर्मका पालन करते समय शिकारादि एवं अन्य कार्योंके द्वारा भी बहुत-से प्राणियोंका वध किया था। अब मेरे शरणागत होकर सावधानीपूर्वक एकाग्रचितसे तपस्या करते हुए अपने पापोंको धो डालो।

वस्तुतः भगवान्के दर्शनके बाद कोई पाप रहता नहीं, परन्तु भगवान्ने अपनी चातुरीसे उन्हें अपने परिकरके रूपमें आगामी जन्मकी बात कही। अभी क्षत्रियत्व होनेके कारण उनमें सौहार्द भी नहीं है, अतः ब्राह्मण जन्मकी अपेक्षा रखी। इस जन्ममें यदि उन्हें वे साथ रखते तो इस मन्वन्तरके प्रथम चरणमें उत्पन्न होनेसे वे अति प्राचीन, अति स्थूल एवं अति दीर्घ थे, जिन्हें देखकर उद्धव, अक्रूर एवं युधिष्ठिरादि हँसने लगते कि ये कहाँसे आ गये हैं। और भी, जरासन्ध, रुक्मी, शाल्व इत्यादिको वे (मुचुकुन्द) संग्राममें अपनी हथेली पर मच्छरकी तरह घर्षित कर देते। यह सब विचार करके भगवान्ने उनके लिए ऐसी व्यवस्था की है॥ ६२॥

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्व्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्॥ ६३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमुचुकुन्दस्तुतिर्नाम एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५१॥

हे राजन्! अगले जन्ममें तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण-स्वरूपको प्राप्त करोगे और समस्त प्राणियोंके सच्चे हितैषी-प्रवर और परम सुहृद रहोगे। किसी ऐश्वर्यमें तुम्हारी आसक्ति नहीं होगी (अर्थात् दानादि ग्रहण न करके वैराग्य ही ग्रहण करोगे) और केवलमात्र मुझको ही प्राप्त करोगे॥ ६३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इक्यावनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और बलरामजीका द्वारकागमन, बलरामजीका विवाह तथा रुक्मिणीजीका सन्देश लेकर ब्राह्मणका श्रीकृष्णके पास आना

श्रीशुक उवाच—

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार इक्ष्वाकु-नन्दन राजा मुचुकुन्द श्रीकृष्णके द्वारा अनुगृहीत हुए। उन्होंने भगवान्‌की परिक्रमाकी एवं उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे गुफाके मुखसे बाहर निकले॥ १॥

संवीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून् वीरुद्वनस्पतीन्।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम्॥ २॥

बाहर आकर उन्होंने देखा कि मनुष्य, पशु, वृक्ष और लताएँ इत्यादिका आकार बहुत छोटा हो गया है। वे समझ गये कि कलियुग अब निकट आ ही गया है। अतः वे (सांसारिक सुखोंका मोह त्यागकर) उत्तर दिशाकी ओर चले गये॥ २॥

तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्‌गन्धमादनम्॥ ३॥

महाराज मुचुकुन्द विवेक, श्रद्धा तथा तपस्यासे युक्त थे। उनमें सन्देह-संशय नहीं थे। वे विषयोंसे अनासक्त तो थे ही। उन्होंने अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णमें लगाया और सर्वकाल-सुगन्धमय-गन्धमादन पर्वतपर पहुँचे॥ ३॥

बदर्य्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम्।
सर्व्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम्॥ ४॥

वहाँ वे नर-नारायण ऋषियोंके नित्य निवासस्थान बदरिकाश्रममें पहुँचे। शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहते हुए मुचुकुन्द बड़े शान्त भावसे तपस्याके द्वारा श्रीहरिकी आराधनामें लग गये॥ ४॥

भगवान् पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम्।
हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम्॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्ण पुनः मथुरा नगरीकी ओर लौटे, जो यवन-सेनासे घिरी हुई थी। भगवान्ने उस यवन-सेनाका संहार किया और उनकी धन-सम्पत्तिको द्वारका ले चले॥ ५॥

नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः॥ ६॥

जब इस धन-सम्पत्तिको भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार मनुष्यों और बैलोंके द्वारा ले जाना आरम्भ हुआ ही था कि, तभी मगधपति जरासन्ध तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर युद्धके लिए पुनः आ धमका॥ ६॥

विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतुर्द्रुतम्॥ ७॥

हे राजन्! श्रीकृष्ण और बलरामजीने उस समय शत्रु-सेनाका प्रबल वेग देखा, तो मनुष्य-लीलाका-सा अभिनय करते हुए बड़ी द्रुत (तीव्र) गतिसे दौड़ पड़े॥ ७॥

विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत्।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेलतुर्बहुयोजनम्॥ ८॥

राजन्! श्रीकृष्ण और बलरामजी स्वभावतः निर्भीक हैं, तो भी उन्होंने मनुष्य-जैसा आचरण करते हुए अर्थात् भयभीतकी भाँति अभिनय करते हुए, उस सारी-की-सारी धन-सम्पत्तिको वहीं छोड़ दिया और अपने कमलदलके समान सुकोमल चरणोंसे अनेक योजन दूर तक भागते चले गये॥ ८॥

पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन् बली।
अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥ ९ ॥

महाबलशाली जरासन्धने बलराम और श्रीकृष्णको भागते हुए देखा, तो हँस पड़ा और सारथियों एवं पैदल-सेनाके साथ उनका पीछा करने लगा। वह भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामके प्रभावादिसे अनभिज्ञ था॥ ९ ॥

प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम्।
प्रवर्षणाख्यं भगवान् नित्यदा यत्र वर्षति॥ १० ॥

बहुत दूर तक दौड़ते-दौड़ते बलराम और श्रीकृष्ण परिश्रान्त हो गये। तब वे अति ऊँचे 'प्रवर्षण' नामक पर्वतपर चढ़ गये, जहाँ इन्द्रदेव निरन्तर जलकी वर्षा करते रहते हैं॥ १० ॥

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन्॥ ११ ॥

हे राजन्! उस समय जरासन्धने सोचा कि बलराम-कृष्ण इस ऊँचे पर्वतपर छिप गये हैं। अतः वह उन्हें खोजने लगा, पर उन दोनोंके छिपनेके स्थानका पता ही नहीं लगा सका। तब उसने प्रवर्षण पर्वतकी चारों दिशाओंमें प्रचुर ईंधन द्वारा आग लगवाकर उस पर्वतको जलवा दिया॥ ११ ॥

तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ।
दशैकयोजनोत्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि॥ १२ ॥

पर्वतके छोर जैसे ही जलने लगे, वैसे ही बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई जरासन्धकी सेनाके घेरेको लाँघते हुए उस ग्यारह योजन (नब्बे मील) ऊँचे पर्वतसे बड़ी फुर्तीसे पृथ्वीपर कूद पड़े॥ १२ ॥

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ।
स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप॥ १३ ॥

हे राजन्! यदुश्रेष्ठ ये दोनों भाई वहाँसे चलकर समुद्ररूप सुरक्षा-खाईसे घिरी हुई द्वारकापुरीमें चले आये। प्रतिद्वन्द्वी जरासन्ध और उसके अनुयायी सैनिक उन दोनोंको देख ही न सके॥ १३॥

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान् मागधो ययौ॥ १४॥

परीक्षित्! जरासन्धने झूठको ही सत्य मान लिया कि बलराम-कृष्ण आगमें जल गये हैं। उसने अपनी विशाल सेनाको इकट्ठा किया और उसके साथ पुनः अपने राज्य मगधदेशको लौट गया॥ १४॥

आनर्त्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम्।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलायेति पुरोदितम्॥ १५॥

हे राजन्! आनर्त्त देशके वैभवशाली राजा श्रीमान् रैवतने (रेवत पुत्र ककुद्मी) ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलदेवके साथ कर दिया था—यह मैं पहले ही (नवम स्कन्धमें) बतला चुका हूँ॥ १५॥

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयम्वरे॥ १६॥
प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान्।
पश्यतां सर्व्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव॥ १७॥

हे कुरुवंशपालक महाराज परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंवरमें आये हुए शिशुपाल एवं उसके पक्षधर शाल्व आदि राजाओंको परास्त करके सभी लोगोंके सामने भीष्मककी राजकन्या रुक्मिणीको उसी प्रकार हर लिया, जिस प्रकार गरुडने सुधाका हरण कर लिया था। जिन रुक्मिणीसे भगवान् गोविन्दने विवाह किया, वे स्वयं भगवती लक्ष्मीके अंशसे उत्पन्न हुई थीं॥ १६-१७॥

श्रीराजोवाच—

भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम्।
राक्षसेन विधानेन उपयेमे इति श्रुतम्॥ १८॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुनिवर! भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मक-नन्दिनी रुचिरानना (परमसुन्दरी) रुक्मिणी देवीको बलपूर्वक हरण करके राक्षस-विधिके अनुसार विवाह किया था—यह हमने पहले भी सुना है॥ १८॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः।
यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत्॥ १९॥

हे भगवन्! श्रीकृष्णने किस प्रकार जरासन्ध, शाल्व आदि पराक्रमी राजाओंको पराजित करके रुक्मिणीका हरण किया था? असीमित तेजसे युक्त श्रीकृष्णके इस वृत्तान्तको मैं विशेष रूपसे सुनना चाहता हूँ॥ १९॥

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः।
को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः॥ २०॥

ब्रह्मर्षे! भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके विषयमें क्या कहा जाय! वे महाफलदायक, श्रुतिसुखकर (कानोंको सुख देनेवाली), जगत्‌के समस्त पापोंका विनाश करनेवाली एवं नित्य नूतन रस प्रदान करनेवाली हैं। हे मुनिवर! कोई भी श्रुतिसारवित् इन्हें सुनकर तृप्त नहीं हो सकता बल्कि उसके श्रवणकी स्पृहा और भी बढ़ती जाती है॥ २०॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।
तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भीष्मक नामके महाराज बड़े शक्तिशाली थे। वे विदर्भ देशके अधिपति थे। उनके पाँच पुत्र और एक सुन्दरी कन्या थी॥ २१॥

रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः।
रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती॥ २२॥

उनमें सबसे बड़े पुत्रका नाम था रुक्मी। इसके बाद क्रमशः रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। रूप एवं गुणोंमें अति श्रेष्ठ रुक्मिणी इनकी बहन थी॥ २२॥

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्य्यगुणश्रियः।
गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम्॥ २३॥

पिताके महलमें आनेवाले अतिथिगण प्रायः भगवान् मुकुन्दके सौन्दर्य, पराक्रम, गुण एवं वैभवकी प्रशंसा किया करते थे। रुक्मिणी इन वार्त्ताओंको सुना करती थी। उसने मन-ही-मन श्रीकृष्णको अपना पति बनानेका निश्चय कर लिया॥ २३॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्य्यरूपशीलगुणाश्रयाम्।
कृष्णश्च सदृशीं भार्य्यां समुद्वोढुं मनो दधे॥ २४॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी जानते थे कि रुक्मिणी अति सुन्दर लक्षणोंसे युक्त है। वह परम बुद्धिमती, शील-स्वभावसे सम्पन्न, औदार्य, सौन्दर्य तथा सौकुमार्यकी निधि है। अतः उन्होंने भी उस गुणशालिनीको अपने अनुरूप पत्नी मानकर उससे विवाह करनेका निश्चय कर लिया॥ २४॥

बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।
ततो निवार्य्य कृष्णद्विड्रुक्मी चैद्यममन्यत॥ २५॥

हे राजन्! उसके अन्य भाई भी वैदर्भीका विवाह श्रीकृष्णसे करना चाहते थे, परन्तु बड़ा भाई रुक्मी श्रीकृष्णसे बड़ा द्वेष रखता था। अतः उसने अपने परिवारीजनोंको रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्णके साथ करनेसे रोक दिया और सभीकी इच्छाके विपरीत चेदिराज शिशुपालको योग्य वरके रूपमें निश्चय कर लिया॥ २५॥

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्म्मना भृशम्।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम्॥ २६॥

विदर्भकी राजकुमारी रुक्मिणी बहुत सुन्दर थी। उसकी चितवन नीलिमासे युक्त थी। जब उसने शिशुपालको अपना वर बनानेकी बात सुनी, तो वह अतिशय दुःखी हो गयी। अब मुझे क्या करना चाहिये—इस विषयपर उसने बहुत सोचा-विचारा। तब किसी विश्वासपात्र ब्राह्मणको शीघ्र ही श्रीकृष्णको बुलानेके लिए भेज दिया॥ २६॥

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने॥ २७॥

ब्राह्मण देवता जब द्वारकापुरी पहुँचे, तो द्वारपाल उन्हें राज-महलके भीतर ले गये। वहाँ ब्राह्मणदेवताने आदिपुरुष श्रीकृष्णको सोनेके सिंहासनपर विराजमान देखा॥ २७॥

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात्।
उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे यथात्मानं दिवौकसः॥ २८॥

ब्राह्मणोंके परमभक्त श्रीकृष्ण उन ब्राह्मणदेवताको देखते ही अपने सिंहासनसे उतर गये और उन्हें अपने आसनपर बिठाया। देवता जिस प्रकारसे श्रीकृष्णकी पूजा-अर्चना करते हैं, वैसे ही उन्होंने उन (रुक्मिणी-प्रेरित) ब्राह्मण देवताका पूजा-सत्कार किया॥ २८॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः।
पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत॥ २९॥

आदर-सत्कार, कुशल-प्रश्नके पश्चात् जब ब्राह्मण देवता भोजन एवं विश्राम कर चुके, तब सन्तोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास पहुँचे और अपने हाथोंसे उनके पैरोंको धीरे-धीरे दबाते हुए बड़े शान्त भावसे पूछने लगे॥ २९॥

कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्म्मस्ते वृद्धसम्मतः।
वर्त्तते नातिकृच्छ्रेण सन्तुष्टमनसः सदा॥ ३०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे द्विजवर! आपका चित्त-निरन्तर सन्तुष्ट तो रहता है न! आपको प्राचीन पुरुषोंके द्वारा अनुमोदित धर्मका पालन करनेमें कोई कष्ट तो नहीं होता? उसे सहजरूपसे सम्पन्न कर लेते हैं न?॥ ३०॥

सन्तुष्टो यर्हि वर्त्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्।
अहीयमानः स्वाद्धर्म्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक्॥ ३१॥

ब्राह्मण यदि अपने धर्मसे पतित न हो और जो कुछ भी प्राप्त हो, उससे ही सन्तुष्ट रहे, तो यही धार्मिक सिद्धान्त उसके समस्त मनोभीष्टको पूर्ण करनेवाला कामधेनु बन जाता है॥ ३१॥

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः शेते सर्व्वाङ्गविज्वरः॥ ३२॥

असन्तुष्ट ब्राह्मणको यदि इन्द्रत्व भी प्राप्त हो जाय, तो भी कामना-ज्वररूप-व्यथाके कारण वह निरन्तर केवल एक लोकसे दूसरे लोकमें ही भटकता रहता है, परन्तु जो सन्तुष्ट है, वह ब्राह्मण अकिञ्चन होकर भी समस्त प्रकारके सन्तापसे रहित होकर सुखपूर्वक सोता है॥ ३२॥

विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसासकृत्॥ ३३॥

जो ब्राह्मण स्वयं प्राप्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट रहते हैं, (लोभार्थीके समान किसीसे कुछ माँगते नहीं) स्वधर्ममें निष्ठा रखते हैं, सदा-सर्वदा प्राणियोंके हितमें लगे रहते हैं, निरहङ्कार एवं शान्त-चित्त रहते हैं, मैं ऐसे ब्राह्मणोंको नित्य-निरन्तर सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ॥ ३३॥

कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥ ३४॥

हे विप्रवर! राजाकी ओरसे तो आपलोगोंको धर्मादिकी रक्षाके लिए सब प्रकारकी सुविधाएँ प्राप्त होती रहती हैं न? जिस

राजाके राज्यमें प्रजा सुखी एवं सुरक्षित रहती है, वैसा राजा मुझे बहुत ही प्रिय है॥ ३४॥

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्य्येह यदिच्छया।
सर्व्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्य्यं करवाम ते॥ ३५॥

हे ब्राह्मणदेवता! आप जहाँसे, जिस हेतुसे, जिस इच्छासे इस कठिन समुद्र-दुर्गको पार करके इस पुरीमें आये हैं, यदि यह गोपनीय न हो तो मुझे बतलाइये। मुझे कहिये कि मैं आपके किस कार्यको सम्पूर्ण करूँ॥ ३५॥

एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्व्वमवर्णयत्॥ ३६॥

लीलासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार प्रश्न करनेपर ब्राह्मणदेवताने उन्हें सारा वृत्तान्त सुना दिया। तदनन्तर वे भगवान् श्रीकृष्णसे रुक्मिणीका सन्देश कहने लगे॥ ३६॥

श्रीरुक्मिण्युवाच—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥ ३७॥

रुक्मिणी द्वारा दिये गये प्रेमचिह्नरूप पत्रके आवरणको खोलकर ब्राह्मणने उस पत्रको श्रीकृष्णको दिखाया और उनसे अनुमति प्राप्त करके उस पत्रको पढ़ना आरम्भ किया। इस पत्रमें रुक्मिणीने इस प्रकारसे लिखा था—हे भुवनसुन्दर (त्रैलोक्यसुन्दर) अच्युत! आपके गुण श्रोताओंके कानोंके रन्ध्रोंके द्वारा हृदयमें प्रवेशकर उनके समस्त अङ्गोंके सन्तापको हर लेते हैं—लोगोंसे आपके गुणोंके विषयमें इस प्रकार सुना है। जो दृष्टि-शक्तिसे सम्पन्न हैं, उनके नेत्रोंको आप अखिलार्थ अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति करानेवाले हैं। हे प्रियतम! नीलमणि, नीलपद्म, कनक-कुङ्कुम, पद्मराग, चन्द्रकान्त एवं चन्द्रमादिके महामाधुर्यसे भी अधिक

आपका सौन्दर्य है—यह भी मैंने सुना है। अतः मेरा हृदय लोकलज्जाका त्याग करके आपके प्रति आसक्त हो गया है॥ ३७॥

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या,
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम्॥ ३८॥

हे मुकुन्द! हे नरोत्तम! आप इस प्रकारके आचरणको धृष्टता मत समझ लेना, क्योंकि हे पुरुषभूषण! सद्वंशमें उत्पन्न, उदारतादि महान् गुणोंसे युक्त और धैर्यसे सम्पन्न ऐसी कौन कन्या है, जो कुल, शील, सौन्दर्य, विद्या, वयस, ऐश्वर्य एवं पराक्रममें निरुपम, असमोर्ध्व, अतुलनीय, मनुष्योंके हृदयोंके अभिराम-स्वरूप आपको विवाहके योग्य समय आनेपर अपने पतिके रूपमें प्राप्त करनेकी अभिलाषा नहीं करेगी?॥ ३८॥

तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्-
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष॥ ३९॥

इसीलिए हे विभो! हे कमललोचन! मैंने आपका पतिरूपमें वरण कर लिया है और आपको आत्मसमर्पण कर दिया है। आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं हैं। हे प्राणवल्लभ! आप यहाँ पधारें और मुझे पत्नीके रूपमें स्वीकार करें। अब मैं आपकी हो चुकी हूँ। हे श्रीकृष्ण! सियार जैसे सिंहका आहार्य ग्रहण करनेका प्रयास करे, वैसे ही आपके द्वारा भोग्या मुझे शिशुपाल शीघ्रतापूर्वक आकर कहीं स्पर्श न कर ले॥ ३९॥

पूर्त्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्व्वर्च्चनादिभिरलं भगवान् परेशः।

आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥ ४०॥

मैंने यदि पूर्व जन्मोंमें कुआँ खुदवाना इत्यादि पूर्त्तकर्म, अग्निहोत्रादि इष्टकर्म, स्वर्णादि दान, तीर्थ-पर्यटनादि नियम, व्रत एवं देव, ब्राह्मण और गुरुजनोंकी अर्चना-पूजा द्वारा भगवान् श्रीहरिकी आराधना की हो, तो हे श्रीकृष्ण! आप मुझपर प्रसन्न हों और यहाँ आकर मेरा पाणिग्रहण करें। हे गदाग्रज! दमघोषका पुत्र शिशुपालादि अन्य कोई पुरुष मेरा स्पर्श न कर पाये॥ ४०॥

श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्य्यशुल्काम्॥ ४१॥

हे अजित्! आगामी दिवस मेरे विवाहोत्सवके लिए निश्चित किया गया है। सर्वप्रथम आप गोपनीयरूपसे यहाँ विदर्भ आइये। इसके बाद सेनापतियोंसे घिरे शिशुपाल (चैद्य) एवं जरासन्धको (मगधेन्द्रको) और उनकी सेनाको पराजित करके बलपूर्वक राक्षस-विधिके अनुसार वीरतारूप शुल्क दान देकर मेरा हरण करके पाणिग्रहण कीजिये॥ ४१॥

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्व्वेद्युरस्ति महती कुलदेवयात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिजामुपेयात्॥ ४२॥

आप यदि ऐसा सोचें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहोगी, फिर तुम्हारे सम्बन्धियोंका वध किये बिना मैं किस प्रकारसे तुम्हें प्राप्त करूँगा, तो मैं इसका भी उपाय बतला रही हूँ—विवाहके एक दिन पहले महासमारोहके साथ नगरसे बाहर कुलदेवीके स्थानपर जानेकी हमारे कुलकी प्रथा है। नववधुएँ इस कुलदेवता-अर्चनके

उपलक्षमें शोभायात्राके साथ पुरीसे बाहर अम्बिका-मन्दिरमें गिरिजादेवीका दर्शन करने जाती हैं॥ ४२॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्॥ ४३॥

हे कमलनयन! उमापति शङ्करजीके समान साधु-महात्मा भी अपने तमोगुणके विनाशके लिए आपके पादपद्मोंके प्रक्षालन वारि (धौत जल) में स्नानकी प्रार्थना करते हैं, यदि मैं आपके उस कृपा-प्रसादको प्राप्त न कर सकी, तो व्रत-उपवासादिके द्वारा कृश-कृशायित हो-होकर अर्थात् शरीरको सुखाकर अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगी। हे प्राणनाथ! आपके अनुग्रहकी प्राप्तिके लिए मुझे भले ही सैकड़ों जन्म ही क्यों न लेने पड़ें, मुझे कभी-न-कभी वह कृपा-प्रसाद अवश्य ही प्राप्त होगा॥ ४३॥

ब्राह्मण उवाच—

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽहृताः।
विमृश्य कर्त्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिमण्युद्वाहेत्र द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

ब्राह्मण देवताने कहा—हे यदुवंश शिरोमणे! मैं रुक्मिणीका यह गुप्त संवाद लेकर आया था। अब आप इस स्थितिपर स्वयं ही सोच-विचार कीजिये और यदुवंशियोंसे बिना मन्त्रणा किये जो आपको करना है, आप उसे तुरन्त ही कीजिये॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बावनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका विदर्भ नगरमें जाना तथा रुक्मिणी–हरण

श्रीशुक उवाच—

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! विदर्भ राजकुमारी रुक्मिणीके गुप्त सन्देशको सुननेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपने हाथोंसे ब्राह्मणका हाथ पकड़ा और हँसते हुए कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

तथाहमपि तच्चित्तो निद्राञ्च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे द्विजवर! जैसे विदर्भ राजकुमारीका मन मुझमें लग गया है, मेरा चित्त भी उनकी ओर आसक्त हो गया है। रात्रिमें नींद भी नहीं आती है। रुक्मीके विद्वेषके कारण इस विवाहमें मेरे लिए जो रोक लगायी गयी है, वह मैं जानता हूँ॥ २॥

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे।
मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३॥

परन्तु हे ब्राह्मणदेवता! मनुष्य जिस प्रकार लकड़ियोंको परस्पर रगड़कर उसमेंसे अग्नि निकाल ही लेते हैं, उसी प्रकार मैं भी संग्राममें अधम राजाओंको रौंद करके मुझमें समर्पित अनवद्य सुन्दरी रुक्मिणीको ले आऊँगा (स्वयं रुक्मिणीका तेज ही अपने तेजसे उन दुष्ट राजाओंको जला डालेगा, मैं तो निमित्त मात्र हूँ)॥ ३॥

श्रीशुक उवाच—

उद्वाहर्क्षञ्च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।
रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम्॥ ४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मधुसूदन श्रीकृष्णने 'परसों रात्रिमें ही रुक्मिणीका विवाह-नक्षत्र है'—यह जानकर अपने सारथिको आदेश दिया—"हे दारुक! शीघ्र ही मेरा रथ तैयार करो॥"४॥

स चाश्वैः शैव्यसुग्रीव-मेघपुष्पबलाहकैः।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः॥५॥

दारुक शैव्य (शुकपक्षीके पङ्खके समान हरे वर्ण), सुग्रीव (स्वर्ण-पिङ्गल वर्ण), मेघपुष्प (मेघके समान वर्ण) और बलाहक (पाण्डुर अर्थात् पीत वर्ण) नामके चार घोड़ोंको रथमें जोतकर उस रथको ले आया और श्रीकृष्णके सम्मुख हाथ जोड़कर उपस्थित हो गया॥५॥

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः।
आनर्त्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः॥६॥

शूरनन्दन श्रीकृष्ण उस रथपर सवार हो गये और ब्राह्मण देवताको भी उसपर चढ़ा लिया। द्रुतगामी घोड़ोंके द्वारा वे एक ही रातमें आनर्त्त देशसे विदर्भ देशमें (कुण्डिन नगरमें) जा पहुँचे॥६॥

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशानुगः।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्म्माण्यकारयत्॥७॥

इधर विदर्भराज भीष्मक अपने बड़े पुत्रके स्नेहके वशीभूत होकर अपनी पुत्रीका विवाह शिशुपालसे करानेके लिए तैयार हो गये। वे विवाहोत्सवके लिए आनुषङ्गिक पितृ-देवार्चनादि कृत्योंमें जुट गये॥७॥

पुरं संमृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम्।
चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम्॥८॥

स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः॥९॥

कुण्डिन नगरके मार्गों, गलियों एवं चौराहोंको झाड़-बुहारकर सुमार्जित करवा दिया गया। उनपर जलसे छिड़काव भी करवाया गया। सम्पूर्ण नगरको विचित्र रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजा पताकाओंसे विभूषित करवा दिया, यहाँ-वहाँ विजय-तोरण लगवा दिये। स्त्री-पुरुषोंने सुगन्धित फूलोंके हार, मालाएँ, रत्नजड़ित आभूषण धारण कर लिये, इत्र आदि सुगन्धित लेपोंसे अपनी देहोंको अनुरञ्जित कर लिया और निर्मल वस्त्र पहन लिये। उनके भव्य घरोंसे अगर-धूपकी मनोरम सुगन्ध निकल रही थी॥ ८-९॥

पितृन् देवान् समभ्यर्च्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप।
भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम्॥ १०॥

हे राजन्! महाराज भीष्मकने पितरों, देवताओं एवं ब्राह्मणोंका यथाविधि अर्चन करके उन्हें भोजन कराया। अन्यान्य लोगोंके लिए भी इसी प्रकारकी व्यवस्था की गयी। तत्पश्चात् पुत्रीके लिए ब्राह्मणोंके द्वारा परम्परागत मन्त्रोंसे स्वस्ति वाचन करवाया॥ १०॥

सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम्।
आहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥ ११॥

सुरम्य दन्तावलीसे सुशोभित परम सुन्दरी राजकुमारी रुक्मिणीको सम्यक्‌रूपेण स्नान कराया गया, माङ्गलिक (रक्षा) सूत्र एवं कङ्कण पहनाये गये, कोरे वस्त्रोंका जोड़ा पहनाया गया, कोहबर बनाया गया, और उत्तम-उत्तम आभूषणोंसे उन्हें अलंकृत कर दिया गया॥ ११॥

चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः।
पुरोहितोऽथर्व्वविद्वै जुहाव ग्रहशान्तये॥ १२॥

उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने साम, ऋक् एवं यजुर्वेदोक्त मन्त्रोंसे वधूकी रक्षाके लिए एवं अथर्ववेदज्ञ पुरोहितोंने प्रतिकूल ग्रहोंकी शान्तिके लिए हवन किये॥ १२॥

हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान्।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः॥ १३॥

राजा भीष्मक विधि-विधानके ज्ञाता और कुल-परम्पराओंके (रीति-रिवाजोंके) ज्ञानमें बड़े जानकार थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको स्वर्ण, चाँदी, वस्त्र, गुड़से मिले तिल एवं गायें प्रदान की॥ १३॥

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्व्वमभ्युदयोचितम्॥ १४॥

इसी प्रकार चेदिराज दमघोषने भी अपने पुत्र शिशुपालके लिए मन्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंके द्वारा शुभकर्मोचित सभी मङ्गल अनुष्ठान सम्पन्न करवाये॥ १४॥

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ॥ १५॥

इसके बाद राजा दमघोष मद-वर्षण करनेवाले हाथियों, सुवर्ण मालाओंसे युक्त रथों, पैदल सैनिकों तथा घुड़सवारोंकी चतुरङ्गिणी सेना लेकर विदर्भ राज्यकी राजधानी कुण्डिनपुर जा पहुँचा॥ १५॥

तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने॥ १६॥

विदर्भराज भीष्मक उस समय दमघोषकी अगवानीके लिए आगे बढ़े। उन्होंने उसका यथाविधि स्वागत-सत्कार एवं प्रथाके अनुसार अर्चन-पूजन किया। इसके बाद अतिथियोंके लिए जिस जनवासेका निर्माण करवाया गया था, वहाँ ले जाकर उन्हें आदरपूर्वक ठहरा दिया॥ १६॥

तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्रो विदूरथः।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः॥ १७॥

उस समय विदर्भ नगरमें शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र, विदूरथ, पौण्ड्रक आदि शिशुपालके पक्षके अन्यान्य सहस्त्रों राजा भी विवाहोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिए आये थे॥ १७॥

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम्।
यद्यागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः॥ १८॥

योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः।
आजग्मुर्भूभुजः सर्व्वे समग्रबलवाहनाः॥ १९॥

परीक्षित्! इन सभी राजाओंके आगमनका कारण यही था कि नववधू शिशुपालको ही मिले। यदि श्रीकृष्ण-बलराम यदुवंशियोंके साथ आकर कन्याको हरण करनेका प्रयास करते हैं, तो हम सब मिलकर उनके साथ युद्ध करेंगे। हे राजन्! इस प्रकारका सङ्कल्प करके बलरामजी और श्रीकृष्णके विरोधी सारे राजा अपनी सेनाओं एवं वाहनोंके साथ युद्धके लिए सुसज्जित होकर आये थे॥ १८-१९॥

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्।
कृष्णञ्चैकं गतं हर्त्तुं कन्यां कलहशङ्कितः॥ २०॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः॥ २१॥

जब बलदेवने विपक्षी राजाओंके इस प्रकारके आयोजन एवं नववधूका हरण करनेके लिए श्रीकृष्णके अकेले ही कुण्डिननगर-प्रस्थानके विषयमें सुना, तो उन्हें शङ्का हो गयी कि वहाँ कहीं कलह-विवाद न हो जाय। अपने छोटे भाईके प्रति स्नेहसे उनका हृदय विगलित हो गया। उन्होंने हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी भारी चतुरङ्गिणी सेनाको एकत्र किया एवं कुण्डिनपुर आ पहुँचे। (नीति-शास्त्रमें वर्णन है कि बन्धुओंका हृदय सर्वदा ही अनिष्टकी आशङ्कासे युक्त होता है। यहाँ भी प्रबल स्नेहवश बलरामजीकी सर्वज्ञता-शक्तिका आवरण हुआ है)॥ २०-२१॥

भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत् तदा॥ २२॥

इधर वरारोहा (सुन्दर नितम्बोंवाली) परम सुन्दरी रुक्मिणी श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने देखा श्रीकृष्णकी तो कौन कहे, ब्राह्मण देवता भी अभी तक लौटकर

नहीं आये। यद्यपि सूर्यका उदय नहीं हुआ था, तब भी वे चिन्ता करने लगीं॥ २२॥

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम्।
सोऽपि नावर्त्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः॥ २३॥

अहो! रात बीत जानेपर मुझ अभागिनीका विवाह काल आ जायेगा। कमललोचन श्रीकृष्ण अभी तक नहीं आये, इसका कारण क्या हो सकता है, कुछ समझमें नहीं आ रहा है। मेरे सन्देशवाहक ब्राह्मण देवता भी अब तक लौटे नहीं॥ २३॥

अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम्।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः॥ २४॥

श्रीकृष्ण अनिन्द्य-कान्ति हैं, निर्दोष हैं। वे सम्भवतः यहाँ आनेके लिए तत्पर हुए होंगे, परन्तु उन्होंने मुझमें कुछ-न-कुछ धृष्टता आदि दोष देखे होंगे, तभी तो वे मुझसे विवाह करना नहीं चाहते। इसीलिए वे यहाँ नहीं पधार रहे हैं। ब्राह्मणको भी अपने साथ लानेके लिए यहाँ पहले नहीं भेजा है॥ २४॥

दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः।
देवी वा विमुखी गौरी रुद्राणी गिरिजा सती॥ २५॥

हाय! मैं बड़ी दुर्भागा हूँ। विधाता (स्रष्टा) मेरे अनुकूल नहीं हैं और न ही भगवान् शङ्कर मेरे अनुकूल हैं। हो सकता है, महेश्वरी दक्षसुता पार्वती गौरीदेवी भी मुझसे प्रसन्न न हों। उनकी अर्चनामें मुझसे कोई अपराध हो गया होगा॥ २५॥

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले॥ २६॥

परीक्षित्! तरुण बाला रुक्मिणीका मन तो भगवान् श्रीगोविन्दने चुरा लिया था। वे इस प्रकारसे मन्थन कर ही रही थीं कि उनके मनमें विचार आया कि श्रीकृष्णके आगमनका समय अभी बीता

तो नहीं है। ऐसा सोचकर वे कुछ आश्वस्त हो गयीं और आँसुओंसे भरी अपनी आँखोंको बन्द कर लिया॥ २६॥

एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः॥ २७॥

हे राजन्! रुक्मिणी इस प्रकार श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षामें विकल-सी बैठी हुई थीं कि किसी प्रिय संवादको सूचित करते हुए उनकी बायीं जाँघ, बाहु एवं नेत्र स्पन्दित होने (फड़कने) लगे॥ २७॥

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह॥ २८॥

इतनेमें ही श्रीकृष्णसे आज्ञा-प्राप्त करके वे ही ब्राह्मणदेवता अन्तःपुरमें आ पहुँचे, जहाँ रुक्मिणी देवी विराजमान थीं (श्रीकृष्ण नगरके बाहर बगीचेमें आ चुके थे और उन्होंने ब्राह्मणको आदेश दिया था कि वह जाकर उनके आगमनका समाचार दे) ध्यानमें श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त करके रुक्मिणी देवी आनन्दसे दीप्त हो रही थीं॥ २८॥

सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता॥ २९॥

ब्राह्मणदेवता सुनन्दका मुख प्रफुल्लित था, वे शान्त गतिसे चले आ रहे थे। उन्हें देखते ही दूतके लक्षणोंको जाननेमें दक्ष— रुक्मिणीके मुख-कमलपर विशुद्ध मुसकान छा गयी एवं मनकी व्यग्रता शान्त हो गयी॥ २९॥

तस्या आवेदयत् प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम्।
उक्तञ्च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति॥ ३०॥

तब ब्राह्मणदेवताने उन्हें निवेदन किया कि यदुनन्दन श्रीकृष्णका यहाँ आगमन हो चुका है। ब्राह्मणवरने श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीकृष्णने उनके साथ विवाह करनेकी जो सत्य-प्रतिज्ञा

की है—उसके सम्बन्धमें भी ब्राह्मणने रुक्मिणीको सूचित कर दिया॥ ३०॥

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा॥ ३१॥

श्रीकृष्णके पधारनेकी बात सुनते ही रुक्मिणी परम प्रसन्न हो गयीं। ब्राह्मणको देनके लिए किसी प्रिय वस्तुका निर्णय नहीं कर पा रही थीं, इसलिए केवल प्रणाम ही किया। रुक्मिणीको श्रीकृष्णके अतिरिक्त और क्या प्रिय हो सकता था? (इस समयके बादसे ही विप्रका गृह सार्वकालिक सम्पत्तिसे पूर्ण हो गया था)॥ ३१॥

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।
अभ्ययात् तूर्य्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः॥ ३२॥

महाराज भीष्मकने सुना कि उनकी कन्याके परिणयोत्सवको देखनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण एवं बलराम आये हैं, तो वे तुरही, भेरी आदि बाजे बजवाते हुए और विविध प्रकारकी पूजाकी सामग्री लेकर उनकी अगवानीके लिए चल दिये॥ ३२॥

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः।
उपायनान्यभीष्टानि विधिवत् समपूजयत्॥ ३३॥

राजा भीष्मकने मधुपर्क, निर्मल वस्त्र एवं उत्तम उपहार प्रदान करके उन दोनोंका विधि-विधानपूर्वक अर्चन किया॥ ३३॥

तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः।
ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा॥ ३४॥

महाराज भीष्मक बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको उनकी सेना तथा सेवकोंके साथ अति मनोरम निवासस्थानमें ठहराया। इस प्रकार राजा भीष्मकने उनका यथाविधि आतिथ्य सत्कार किया॥ ३४॥

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः।
यथाबलं यथावित्तं सर्व्वैः कामैः समर्हयत्॥ ३५॥

इसी प्रकार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंके पराक्रम, वयस, बल एवं धनके अनुसार राजा भीष्मकने प्रत्येकको अभिलषित वस्तुएँ प्रदान करके उनका भी यथोचित स्वागत-सत्कार किया॥ ३५॥

कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखप ङ्कजम्॥ ३६॥

विदर्भपुरवासियोंने जब श्रीकृष्णके आगमनका समाचार सुना, तो वे उनके निवासस्थानपर आये और अतिशय अनुरागके साथ अपनी आँखोंकी अञ्जुलिमें भर-भरकर उनके वदन-कमलके मकरन्दका आस्वादन करने लगे। श्रीकृष्णमें माधुर्यका इतना प्राचुर्य है कि बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा इसका पान किये जानेपर भी वह कभी समाप्त नहीं होता॥ ३६॥

अस्यैव भार्य्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः॥ ३७॥

राजन्! उस समय पुरवासी परस्पर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे कि रुक्मिणी इन्हीं श्रीकृष्णकी अर्द्धाङ्गिनी होनेके योग्य है, कोई और इसके लिए समर्थ नहीं, हाँ, परम सुन्दर एवं अनवद्य श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीके सुयोग्य पति हो सकते हैं, दूसरा कोई नहीं॥ ३७॥

किञ्चित् सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत्।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः॥ ३८॥

यदि हमने अपने पूर्व जन्ममें या इस जन्ममें अल्प भी पुण्य किया है, तो त्रिलोक-विधाता अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण हमपर प्रसन्न हों, और ऐसी कृपा करें कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही विदर्भराजकुमारीका पाणिग्रहण करें॥ ३८॥

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः।
कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद्भटैर्गुप्ताम्बिकालयम्॥ ३९॥

परीक्षित्! जिस समय उमड़ते प्रेमकी डोरीसे बँधे पुरवासी इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि अन्तःपुरसे निकलकर रुक्मिणी सैन्य-संरक्षणमें अम्बिका-मन्दिरकी ओर चलीं॥ ३९॥

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्।
सा चानुध्यायती सम्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४०॥

यतवाङ्मातृभिः सार्द्धं सखीभिः परिवारिता।
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः।
मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्य्यभेर्य्यश्च जघ्निरे॥ ४१॥

रुक्मिणी अम्बिकादेवीके पाद-पल्लवोंके दर्शनोंकी कामनासे पैदल ही पुरीसे बाहर आयीं। मौन भाव धारण किये हुए वे श्रीकृष्णके पादपद्मोंका निरन्तर चिन्तन करते हुए चल रही थीं। माताओं और सखियोंने उन्हें चारों ओरसे संभाल रखा था। रक्षा करनेवाले वीर राज सैनिकोंने कवच पहन रखे थे, अस्त्रोंको ऊपर उठाये हुए वे किसी भी अप्रिय घटनाके लिए प्रस्तुत थे। उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, तुरही, भेरी आदि बाजे बज रहे थे॥ ४०-४१॥

नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः॥ ४२॥

गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।
परिवार्य्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥ ४३॥

उत्तम वाराङ्गनाएँ विविध उपहार एवं भेंटें हाथोंमें लेकर एवं ब्राह्मण-पत्नियाँ माला, चन्दन, वस्त्र एवं अलङ्कारोंसे विभूषित होकर साथ-साथ चल रही थीं। गायक गीत गा रहे थे, स्तुति-पाठक स्तव-गान कर रहे थे। वादक वाद्य बजा रहे थे, सूत, मागध एवं बन्दीजन अपने-अपने कर्त्तव्योंका अनुष्ठान करते हुए नववधूके चारों ओर विरद बखानते जा रहे थे॥ ४२-४३॥

आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्॥ ४४॥

रुक्मिणीने देवी अम्बिकाके मन्दिरमें प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने कमलके समान सुकोमल अपने हाथ-पैर धोये, शुद्धिके लिए आचमन किया। शास्त्रीय विधिके अनुसार शुद्ध एवं शान्त भावसे युक्त होकर वे मणिमण्डपमें देवीके निकट पहुँचीं॥ ४४॥

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम्॥ ४५॥

मन्दिरमें साथ आयी हुई ब्राह्मण-पत्नियाँ विधि-विधानमें निपुण थीं। उन्होंने रुक्मिणीसे भगवान् शङ्करको एवं उनकी अर्द्धाङ्गिनी अम्बिकाको प्रणाम करवाया॥ ४५॥

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम्।
भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम्॥ ४६॥

रुक्मिणीने भगवतीसे प्रार्थना की—हे अम्बिके! आप मङ्गलदायिनी हैं। मैं आपको और आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रिय पुत्र गणेशजीको बार-बार प्रणाम करती हूँ। आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरे सारे विघ्नोंका खण्डन हो एवं भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों॥ ४६॥

अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः ।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक्॥ ४७॥
विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत्।
लवणापूपताम्बूल-कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥ ४८॥

अनन्तर रुक्मिणीने जल, गन्ध, अक्षत, तण्डुल, धूप, वस्त्र, रत्नमाला, पुष्पमाला, अलङ्कार, विविध प्रकारके नैवेद्य, प्रदीपावली एवं नानाविध पूजोपकरणों द्वारा स्वयं ही पृथक्‌रूपसे अम्बिकादेवीकी पूजा की। इसके बाद उन सधवा ब्राह्मण-पत्नियोंने उस समस्त पूजाकी सामग्री द्वारा एवं लवण-पदार्थ (नमकीन), यव-पिष्टक

(पूए), ताम्बूल, कण्ठसूत्र, अनेक प्रकारके फल तथा इक्षु द्वारा देवीकी पूजा की॥ ४७-४८॥

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषाञ्च जगृहे वधूः॥ ४९॥

तब ब्राह्मण-पत्नियोंने रुक्मिणीको भगवतीका निर्माल्य दिया एवं आशीर्वाद प्रदान किये। रुक्मिणीने भी देवीको प्रणाम किया और प्रसादी मालाको ग्रहण किया॥ ४९॥

मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात्।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना॥ ५०॥

पूजाकी विधि पूर्ण हो जानेपर रुक्मिणीने मौनव्रत तोड़ दिया। रत्नजड़ित अङ्गूठीसे विभूषित करकमलसे एक सखीका हाथ पकड़कर वे गिरिजा मन्दिरसे बाहर निकलीं॥ ५०॥

तां देवमायामिव धीरमोहिनीं,
सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरन्तमेखलां,
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम्॥ ५१॥

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमान-द्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं,
सिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना॥ ५२॥

विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता,
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः।
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः॥ ५३॥

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्।
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा॥ ५४॥

उत्सार्य्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतञ्च।
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्॥ ५५॥

परीक्षित्! उस समय वहाँ उपस्थित बड़े-बड़े धीर-वीर व्यक्तियोंको रुक्मिणी विष्णु-मायाके समान दिखायी पड़ीं, जिससे उनके चित्तमें मोह उत्पन्न हो गया। रुक्मिणीका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और कृश था, मुखपर कुण्डलोंकी शोभा झिलमिला रही थी, नितम्बोंपर रत्नजड़ित मेखला बँधी थी, वे किशोर और तरुण अवस्थाके बीचकी सन्धिमें स्थित थीं, स्तन कुछ-कुछ प्रकाशमान थे, मुखपर लटकती हुई अलकावलियोंके कारण नेत्र कुछ शङ्कित-से होकर चञ्चल हो रहे थे, होठोंपर विशुद्ध, मनोहर एवं मन्द-मधुर मुसकान थी, कुन्द कुसुमकी कलिकाके समान शुभ्र दाँतोंकी उज्ज्वल पाँत थी, बिम्बफलके समान अधरोंपर लालिमा छिटक रही थी, उनकी गति-भङ्गिमा कलहंस (राजहंस) के समान थी। उनके पाँवोंके पायजेब दीप्त हो रहे थे और उनमें लगे हुए छोटे-छोटे घुँघरु रुनझुन-रुनझुन बज रहे थे। परीक्षित्! वहाँ समागत यशस्वी पुरुष भी उनके चरणकमलोंकी गति-भङ्गिमा एवं शब्दायमान नूपुरोंकी छविका अवलोकन करके ऐसे मोहित हो गये मानो कामदेवने अपने बाणोंसे उन्हें जर्जरित कर दिया हो। वे उत्सव-यात्राके छलसे मन्द गतिसे पैदल ही चलती हुईं श्रीकृष्णपर अपना अपार सौन्दर्य निछावर कर रही थीं। उनके उदार हास्य एवं लजीली चितवनको देखकर हाथियों, रथों और अश्वोंपर विराजित राजाओंका हृदय अपहृत-सा हो गया। वे अस्त्रोंको छोड़-छाड़कर मुग्ध-से होकर भूमिपर गिर गये। रुक्मिणी इस प्रकार चञ्चल कमल-कोशके समान सुकुमार चरणोंको मद्धिम गतिसे रखती हुई श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा करती हुई चल रही थीं। रुक्मिणीने बाएँ करकमलकी अङ्गुलियोंसे अपने मुखपर लहराती लटकनोंको हटाया और लजीली चितवनसे

राजाओंको देखने लगीं। इतनेमें ही उन्हें श्रीकृष्ण दिखायी पड़े। उस समय रुक्मिणी रथपर चढ़नेके लिए प्रस्तुत हो रही थीं कि श्रीकृष्णने शत्रुओंके देखते-ही-देखते उनके घेरेमेंसे रुक्मिणीको उठा लिया॥ ५१-५५॥

रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः॥ ५६॥

रुक्मिणीका हरण करनेके पश्चात् भगवान् माधवने उन्हें अपने उस रथपर बिठाया, जिसकी ध्वजापर गरुडका चिह्न अङ्कित था। तत्पश्चात् राजाओंको पराजित करते हुए श्रीकृष्ण बलरामादि प्रमुख यदुओंके साथ धीरे-धीरे वहाँ-से उस प्रकार चल पड़े, जिस प्रकार सिंह सियारोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाये॥ ५६॥

तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं
परे जरासन्धमुखा न सेहिरे।
अहो धिगस्मान् यश आत्तधन्वनां
गोपैर्हृतं केशरिणां मृगैरिव॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

जरासन्ध और उसके वशवर्ती अभिमानी राजाओंको अपना यह भारी अपमान और कीर्त्तिका क्षय सहन नहीं हुआ। क्रोधसे अभिभूत हो वे कहने लगे—ओह! हमें धिक्कार है। आज इस ग्वारियाने हमारे-जैसे धनुषधारियोंके यशका उसी प्रकार हरण कर लिया, जिस प्रकार हिरन सिंहके भागको लेकर चला जाय॥ ५७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तिरपनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शिशुपालपक्षीय राजाओं एवं रुक्मीकी हार तथा श्रीकृष्ण–रुक्मिणीका विवाह

श्रीशुक उवाच—

इति सर्व्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्म्मुकाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वहाँ आये सभी राजागण क्रोधसे उद्दीप्त हो उठे। उन्होंने कवच पहन लिये और धनुष धारण कर लिये। वे अपनी–अपनी सेनाको साथ लेकर घोड़े आदि वाहनोंपर सवार हो गये और श्रीकृष्णके पीछे–पीछे दौड़ पड़े॥ १॥

तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः।
तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन् विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते॥ २॥

हे राजन्! बलदेवजीके साथ समागत यादव–सेनाके सेनापतियोंने शत्रुओंको आते हुए देखा, तो उन्होंने भी अपने–अपने धनुषोंपर टङ्कार की। वे शत्रुओंकी ओर मुड़े और उनके समक्ष डट गये॥ २॥

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थेऽस्त्रकोविदाः।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा॥ ३॥

जरासन्ध आदि वीर अस्त्र–विद्यामें अति पारङ्गत थे। इन वीरोंमें कुछ घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर एवं कुछ रथोंपर सवार थे। उन्होंने बाणोंकी ऐसी वर्षा आरम्भ कर दी, जैसे बादलोंके दल पर्वतोंपर मूसलाधार जल बरसा रहे हों॥ ३॥

पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीडमैक्षत् तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना॥ ४॥

सुमध्यमा, परम सुन्दरी रुक्मिणीने जब अपने पति श्रीकृष्णकी सेनाको बाणोंकी वर्षासे आच्छादित देखा, तो वे लज्जित हो गयीं और भयविह्वल नेत्रोंसे श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखने लगीं॥ ४॥

प्रहस्य भगवानाह मास्म भैर्वामलोचने।
विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत् तावकैः शात्रवं बलम्॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने तब हँसते हुए उनसे कहा—हे वामलोचने! तुम डरो मत! तुम्हारी सेना शीघ्र ही शत्रुओंकी सेनाका संहार कर डालेगी। परम प्रणयके कारण श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे 'तुम्हारी सेना' कहा है॥ ५॥

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान्॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णकी सेनामें गद, सङ्कर्षण आदि वीर शत्रुओंके इस पराक्रमको और अधिक सहन नहीं कर सके। उन्होंने नाराच नामक (लोहेके बने) तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुओंके हाथी, घोड़े एवं रथोंको धराशायी कर दिया॥ ६॥

पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः॥ ७॥

रथों, घोड़ों एवं हाथियोंपर सवार योद्धाओंके कुण्डल, किरीट एवं पगड़ियोंसे युक्त असंख्य मस्तक यदुवीरोंके अस्त्रोंके प्रहारोंसे छिन्न-भिन्न होकर रणभूमिमें गिरने लगे॥ ७॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च॥ ८॥

चारों ओर तलवार, गदा एवं धनुषोंसे युक्त हाथ, करभा (अङ्गुलियोंसे विहीन हाथ), जाँघें और पैर कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने लगे। इसी प्रकार घोड़े, खच्चर, हाथी, गदहे एवं पैदल सेनानियोंके सिर भी कट-कट कर धराशायी होने लगे॥ ८॥

हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः॥ ९॥

अन्तमें विजयकी महत्त्वाकाङ्क्षा लिये यादवोंने शत्रु-सेनाका बुरी तरहसे विध्वंस कर दिया। जरासन्ध आदि राजा युद्धक्षेत्रसे पलायन करने लगे॥ ९॥

शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम्।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन्॥ १०॥

शिशुपाल तो ऐसा व्याकुल हो गया, मानो उसकी पत्नी छिन गयी हो। उसका सारा उत्साह जाता रहा, शरीर कान्तिहीन हो गया एवं मुख सूख गया। राजागण शिशुपालके पास आये और कहने लगे॥ १०॥

भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्म्मनस्यमिदं त्यज।
न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते॥ ११॥

जरासन्धने कहा—शिशुपालजी! आप तो एक श्रेष्ठ पुरुष हैं। आप इस विषयमें दुश्चिन्ता छोड़ दीजिये। हे राजन्! प्राणियोंमें सुख-दुःखके विषयमें कभी स्थिरता नहीं देखी जाती॥ ११॥

यथा दारुमयी योषित् नृत्यते कुहकेच्छया।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः॥ १२॥

कठपुतली जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) की इच्छाके अनुसार नृत्य करती है, उसी प्रकार ईश्वरकी इच्छाके अधीन जीव भी सुख-दुःखके सम्बन्धमें यथाशक्ति चेष्टा करते रहते हैं॥ १२॥

शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्ये एकमहं परम्॥ १३॥

देखिये, श्रीकृष्णने मुझे भी तेईस-तेईस अक्षौहणी सेनाओंके साथ सत्रह बार हरा दिया, अन्तमें अठारहवीं बार मैंने एक बार उसपर विजय प्राप्त की॥ १३॥

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित्।
कालेन दैवयुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत्॥ १४॥

इस प्रकार जय एवं पराजय प्राप्त करता हुआ मैं यह जान गया हूँ कि यह जगत् अदृष्ट कालके द्वारा विप्लावित अर्थात् क्षोभित होता रहता है। अतः अब मुझे उसके लिए शोक अथवा हर्ष नहीं होता॥ १४॥

अधुनापि वयं सर्व्वे वीरयूथपयूथपाः।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः॥ १५॥

कहनेको तो हम वीर सेनापतियोंके अधिनायक हैं, लेकिन आज हमें श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित अल्पसंख्यक सेनानियोंने हरा दिया है॥ १५॥

रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः॥ १६॥

वर्त्तमान काल शत्रुओंके अनुकूल है, इसलिए आज उन्हें विजय प्राप्त हुई है, जिस समय काल हमारे अनुकूल होगा, तब हम भी उनपर विजय प्राप्त करेंगे॥ १६॥

एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात् सानुगः पुरम्।
हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः॥ १७॥

इस प्रकार जरासन्धादि मित्रोंके द्वारा समझाये-बुझाये जानेपर शिशुपाल अपने अनुयायियोंके साथ अपने पुरकी ओर लौट गया। जो अन्यान्य राजा मरनेसे बचे थे, वे भी अपने-अपने स्थानोंकी ओर चल दिये॥ १७॥

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन् स्वसुः।
पृष्ठतोऽन्वगमत् कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली॥ १८॥

परीक्षित्! इधर रुक्मिणीका बड़ा भाई रुक्मी भगवान्से बड़ा द्वेष रखता था। श्रीकृष्णके द्वारा इस तरहसे अपनी बहिनको हर

लेना और राक्षस–रीतिसे विवाह कर लेना उसे सहन नहीं हुआ। वह अपनी सेनाको साथ लेकर श्रीकृष्णके पीछे दौड़ पड़ा॥ १८॥

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्व्वभूभुजाम्।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः॥ १९॥

अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः॥ २०॥

असहिष्णु, अतिक्रोधी, कवचबद्ध, महाबाहु रुक्मीने धनुष धारण करके सभी राजाओंको सुनाते हुए यह प्रतिज्ञा की "इस समरमें यदि मैं कृष्णको मार न सका और बहिनका उद्धार न कर सका, तो कुण्डिन–नगरमें लौटकर नहीं आऊँगा—आप सबके सामने यह मैं सत्य कहता हूँ॥"१९–२०॥

इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः।
चोदयाश्वान् यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्॥ २१॥

यह कहकर रुक्मी रथपर सवार हो गया और सारथिसे कहा—कृष्ण जहाँ पर है, वहाँ मेरा रथ शीघ्रतापूर्वक हाँक ले चलो। घोड़ोंको भगाओ—आज उसके साथ मेरा युद्ध होना है॥ २१॥

अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्म्मतेः।
नेष्ये वीर्य्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता॥ २२॥

वह ग्वाला बलपूर्वक मेरी बहनका अपहरण करके ले गया है। कैसी दुर्बुद्धि है इसकी! उसे अपनी वीरतापर बड़ा गर्व है। आज मैं अपने तीक्ष्ण बाणोंसे इसके घमण्डको चकनाचूर कर डालूँगा॥ २२॥

विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित्।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत्॥ २३॥

रुक्मीकी बुद्धि विकृत हो गयी थी। वह श्रीकृष्णके बल, वीर्य और प्रभावको किञ्चित् भी जानता नहीं था। वह एक ही रथकी

सहायतासे श्रीगोविन्दके पास पहुँच गया और उन्हें ललकारते हुए कहने लगा—'ठहर! ठहर!'॥ २३॥

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः।
आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन॥ २४॥

रुक्मीने बड़ी दृढ़ताके साथ धनुषकी डोरीको खींचा और तीन बाणोंसे श्रीकृष्णपर प्रहार करते हुए कहा—हे यदुकुलकलङ्क! क्षणभर मेरे सामने रुक तो सही॥ २४॥

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः॥ २५॥

रे मूर्ख! कौआ जिस प्रकार यज्ञकी सामग्रीका (घी, काष्ट आदिका) अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार मेरी बहिनका हरण करके कहाँ भागा जा रहा है? अरे कपटी! तू बड़ा मायावी है। कपट-युद्ध बहुत अच्छी तरहसे जानता है। मैं तेरे घमण्डको अभी चूर-चूर किये देता हूँ॥ २५॥

यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम्।
स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम्॥ २६॥

"देख! जब तक मेरे बाणोंसे मरकर तू धराशायी हो जाय, उसके पहले ही इस बालिकाको छोडकर भाग जा।" भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मीकी बात सुनकर मुसकराये और छह बाण चलाकर उसके धनुषको खण्ड-खण्ड कर डाला और उसपर बाणोंसे भी प्रहार किया॥ २६॥

अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः।
स चान्यद्धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः॥ २७॥

इसके बाद आठ बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको, दो बाणोंसे सारथिको एवं तीन बाणोंसे रथकी ध्वजाको भी काट डाला। तब रुक्मीने दूसरा धनुष उठाया और पाँच बाणोंसे श्रीकृष्णपर प्रहार किया॥ २७॥

तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः॥ २८॥

श्रीकृष्णने इन बाणोंसे विद्ध होनेपर उसके धनुषको ही काट डाला। तब रुक्मीने एक और धनुष उठाया, किन्तु अच्युत अविनाशी भगवान्‌ने उसे भी खण्ड-विखण्ड कर डाला॥ २८॥

परिघं पट्टिशं शूलं चर्म्मासी शक्तितोमरौ।
यद्यदायुधमादत्त तत्सर्व्वं सोऽच्छिनद्धरिः॥ २९॥

इस प्रकार रुक्मी परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार, शक्ति एवं तोमर आदि जो-जो अस्त्र-शस्त्र उठाता गया, उन सबको श्रीकृष्ण प्रहार करनेसे पहले ही काटते गये॥ २९॥

ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया।
कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम्॥ ३०॥

अब रुक्मीने क्रोधसे भरकर हाथमें तलवार उठायी और रथसे पृथ्वीपर कूद पड़ा। पतङ्गा जिस प्रकार आगकी ओर दौड़ने लगता है, उसी प्रकार रुक्मी श्रीकृष्णका वध करनेके लिए उनकी ओर दौड़ा॥ ३०॥

तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म्म चेषुभिः।
छित्त्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने जब रुक्मीको अपनी ओर दौड़ते देखा, तो अपने बाणोंके प्रहारसे उसकी ढाल-तलवारके तिल-तिल करके टुकड़े कर दिये। इसके बाद उसका वध करनेके लिए हाथमें तीक्ष्ण तलवार धारण कर ली॥ ३१॥

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला।
पतित्वा पादयोर्भर्त्तुरुवाच करुणं सती॥ ३२॥

साध्वी रुक्मिणीने देखा कि श्रीकृष्ण उसके भाईका वध करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं, तो वे भयसे विह्वल हो गयीं और

अपने पतिके चरणोंमें गिर पड़ीं। वे बड़े कातर स्वरसे श्रीकृष्णसे कहने लगीं (रुक्मिणीका भय स्नेह-परवश नहीं अपितु समस्त पुरनारियोंके लोकधर्मकी अपेक्षाके कारण है कि बहिनके सम्मुख ही भाईका वध हो रहा है—अतः सब लोग क्या कहेंगे। इन्हीं सब कारणोंसे रुक्मिणीकी रतिको 'समञ्जसा' कहा गया है)॥ ३२॥

श्रीरुक्मिण्युवाच—

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते।
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज॥ ३३॥

श्रीरुक्मिणीने कहा—हे योगेश्वर! हे अप्रमेयात्मन् (आपके स्वरूप एवं शिक्षाओंको कोई नहीं जान सकता)! हे अविज्ञेय स्वरूप! हे देवाधिदेव! हे जगत्पते! हे मङ्गलमय! हे महाबाहो! मेरे भैयाका वध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ३३॥

श्रीशुक उवाच—

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया,
शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्य्यविस्रंसितहेममालया,
गृहीतपादः करुणो न्यवर्त्तत॥ ३४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—उस समय भयके कारण रुक्मिणीका अङ्ग-अङ्ग काँपने लगा, शोकके कारण मुख सूख गया, कण्ठ रुँध गया। कातरता-वश उनके गलेसे सुवर्ण हार गिर पड़ा। इसी अवस्थामें वे श्रीकृष्णके चरणयुगलको पकड़े हुए रहीं। भगवान् करुणासे द्रवित हो गये और उन्होंने रुक्मीके वधका विचार छोड़ दिया॥ ३४॥

चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं,
सश्मश्रु केशं प्रवपन् व्यरूपयत्।
तावन्ममर्द्दुः परसैन्यमद्भुतं,
यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः॥ ३५॥

अहितकारी रुक्मी भगवान्‌के प्रतिकूल आचरण न करे अतः श्रीकृष्णने उसकी ग्रीवाको उसीके दुपट्टेसे बाँध दिया। इसके बाद बायें हाथसे उस दुपट्टेके दोनों छोरोंको पकड़कर दायें भागमें धारण की हुई अपनी तलवारसे उसकी पगड़ीको हटा दिया तथा उसी तलवारसे ही स्थान-स्थानपर थोड़े-थोड़े दाढ़ी-मूँछ एवं केशोंको रखकर हास्यास्पदरूपसे मुण्डन कर उसे विरूप कर दिया। इधर हाथी जिस प्रकार कमल वनको रौंद डालता है, उसी प्रकार यदुवीरोंने शत्रु सेनाको अद्भुत रीतिसे रौंद डाला॥ ३५॥

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम्।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान् कृष्णमब्रवीत्॥ ३६॥

वहाँसे लौटकर सभी यदुवीर श्रीकृष्णके समीप आये और रुक्मीकी ऐसी दुर्दशा देखी। वह मृतप्राय हो रहा था। सर्वशक्तिमान् बलरामको उसकी इस शोचनीय अवस्थापर दया आ गयी और उन्होंने कृष्णके वाम हस्तसे दुपट्टेके दोनों सिरे गिराकर उसके सारे बन्धन खोल दिये। वे रुक्मीको सान्त्वना देते हुए और श्रीकृष्णको उलाहना देते हुए हँसते हुए-से कहने लगे॥ ३६॥

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम्।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः॥ ३७॥

हे कृष्ण! तुमने इसके दाढ़ी-केशोंके जो मुण्डन आदि कार्य किये है, वे यादवोंके लिए निन्दित एवं असङ्गत हैं, क्योंकि सुहृदोंको इस तरहसे विरूप करना एक प्रकारसे उनके वधके ही समान है॥ ३७॥

नैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥ ३८॥

इसके बाद रुक्मिणीको सान्त्वना देनेके लिए कहा—हे साध्वी! तुम भाईकी विरूपताके विषयमें सोचकर हमलोगोंपर दोषारोपण

मत करना। इस लोकमें मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगा करते हैं। उनके सुख-दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है॥ ३८॥

बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति।
त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः॥ ३९॥

पुनः श्रीकृष्णसे कहने लगे—प्रिय कृष्ण! यदि अपना सगा-सम्बन्धी वध करने योग्य कोई गम्भीर अपराध करता है, तो भी वह अपने सगे-सम्बन्धियोंसे वधका दण्ड प्राप्त करनेके योग्य नहीं होता। उसे छोड़ ही देना चाहिये। श्यालक (साला) भग्नि-पति (बहनोई) के द्वारा नहीं मारा जाना चाहिये। जो अपने अपराधके कारण स्वयं ही मृतप्राय है, पुनः उसे मारनेसे क्या प्रयोजन!॥ ३९॥

क्षत्रियाणामयं धर्म्मः प्रजापतिविनिर्मितः।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतरस्ततः॥ ४०॥

इसके बाद रुक्मिणीको सम्बोधन करते हुए कहने लगे—विधाताके द्वारा सृष्ट क्षत्रिय अपने धर्मका पालन करते हैं। इस धर्मकी संहिताके अनुसार एक भाई दूसरे भाईके प्राणोंका वध कर सकता है। (प्रजापतिने क्षत्रियोंके लिए ऐसा ही धर्म बनाया है) अतः यह क्षात्र धर्म अतिशय दारुण है॥ ४०॥

राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः।
मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि॥ ४१॥

इसके बाद बलरामजी श्रीकृष्णको सम्बोधन करते हुए कहने लगे—"भाई कृष्ण! यह ठीक है कि राजत्व, भूमि, धन, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी अन्य कारणसे ऐश्वर्य मदमें अन्धे हुए अभिमानी व्यक्तियोंका हृदय विक्षिप्त हो जाता है, तथापि हमारे लिए उनका तिरस्कार करना उचित नहीं है॥"४१॥

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत्॥ ४२॥

इसके बाद रुक्मिणीकी ओर उन्मुख होते हुए कहा—मङ्गलस्वरूप कृष्णकृत मुण्डनको अभद्र मानना तुम्हारी बुद्धिकी विषमता एवं अज्ञता ही है। देवी! तुम अपने उस भाईके हितकी कामना कर रही हो, जो सभी प्राणियोंका अनिष्ट चाहता है। इससे तो सुहृदोंका अमङ्गल हो सकता है न!॥ ४२॥

आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम्॥ ४३॥

यह मेरा मित्र है, यह शत्रु है, यह उदासीन है—देहको ही आत्मा माननेवालोंकी ऐसी धारणा होती है। यही उनका आत्म-मोह है। भगवान्‌की मायाके प्रभावसे उनका वास्तविक स्वरूप न जाननेके कारण वे ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ कर लेते हैं॥ ४३॥

एक एव परो ह्यात्मा सर्व्वेषामपि देहिनाम्।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः॥ ४४॥

समस्त जीवोंके अन्तर्यामी परमात्मा एक ही हैं, परन्तु एक ही चन्द्रमा जिस प्रकार जलाशयोंके भेदसे अनेक रूपोंमें दिखायी देता है, एक ही आकाश घटादि उपाधियोंके भेदसे अनेक रूपोंमें अनुभूत होता है और एक ही अग्नि विभिन्न लकड़ियोंमें पृथक्-पृथक् दिखायी देती है, उसी प्रकार परमात्मा भी मायाग्रस्त जीवोंकी दृष्टियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे परिदृश्यमान् होते हैं। मूर्ख शरीरोंके भेदसे आत्माका भी भेद मान लेते हैं॥ ४४॥

देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम्॥ ४५॥

यह शरीर आदि एवं अन्तसे युक्त है तथा पञ्चभूतों, इन्द्रियों एवं सत्त्वादि तीन गुणोंसे बना हुआ है। अविद्याके द्वारा मोहित जीव इस देहको मैं मानकर देहाभिमानी हो जाते हैं और सांसारिक प्रपञ्चोंमें (बन्धनोंमें) पड़े रहते हैं॥ ४५॥

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति।
तद्धेतुत्वात् तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः॥ ४६॥

हे सती! सूर्यसे प्रकाशित चक्षु इन्द्रिय एवं उससे प्रकाशित श्यामादि रूपका जिस प्रकार सूर्यके साथ संयोग अथवा वियोग नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्माका दूसरे जड़ पदार्थोंके साथ संयोग अथवा वियोग नहीं होता है। इसका कारण यह है कि समस्त भौतिक पदार्थोंकी सत्ता न होनेपर भी उनके प्रकाश एवं उद्गमका कारण जीवात्मा ही है। (इस श्लोकमें परमात्मा सूर्यस्थानीय, जीव नेत्र स्थानीय और देह रूपस्थानीय है। आकाशस्थ सूर्य अपने द्वारा प्रकाशित चक्षु एवं रूपसे लिप्त नहीं होते)॥ ४६॥

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव॥ ४७॥

हे सती! जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, क्षय होना और मरना—ये समस्त विकार शरीरके ही होते हैं, आत्मामें ऐसे विकार कभी जन्मते नहीं (भ्रमवश लोग इन्हें आत्माका मान लिया करते हैं) चन्द्रमाकी कलाओंके ही जन्मादि होते हैं, चन्द्रमाका कभी नहीं, ऐसे ही नवचान्द्रदिवसको (अमावस्याको) ही कलाओंका क्षय होता है, चन्द्रमाका क्षय (मृत्यु) नहीं। (साधारण जीव देहके विनाशको जीवका मरण मान लिया करते हैं।)॥ ४७॥

यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम्॥ ४८॥

जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नकी वस्तुओंको भोग्य विषय, स्वयंको भोक्ता एवं भोगजन्य सुख-दुःखादिको फलके रूपमें अनुभव करता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ व्यक्ति संसार-दशाको प्राप्त हुआ करते हैं (दृष्टान्तस्वरूप—कोई वस्तुके न होनेपर भी निद्रित व्यक्ति स्वयंको चतुरङ्ग सेना युक्त राज्यको जय करनेके फलस्वरूप माल्य, चन्दन, स्त्री आदि सुखोंका भोग करता है और कभी पराजयके कारण बन्धन, ताड़न, तिरस्कार आदिका भी अनुभव

करता है, इसी प्रकार अज्ञ व्यक्ति संसार न रहनेपर भी देह-सम्बन्ध-जात सुख-दुःखात्मक संसारका भोग करते हैं)॥ ४८॥

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम्।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते॥ ४९॥

इसलिए हे शुचिस्मिते! तुम अपने अन्तःकरणमें पुष्ट होनेवाले शोषक एवं मोहजनक अज्ञानके कारण उत्पन्न शोकका तत्त्वज्ञानके द्वारा त्याग कर दो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ (मुखसे प्रफुल्लता प्रकाशित करो, तुम प्राकृत संसारी व्यक्तिकी वधू नहीं हो)॥ ४९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे॥ ५०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् बलरामने रुक्मिणीको समझाया, तब क्षीण-कटि रुक्मिणीने अपने मनका वैमनस्य ('लोग मुझे क्या कहेंगे') मिटाकर विवेक बुद्धिसे उसका समाधान कर लिया। यथार्थ ज्ञानसे भरे हुए वचनोंको सुनकर उनके दुःखका परिहार हो गया और चित्त स्थिर हो गया॥ ५०॥

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः।
स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः॥ ५१॥
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम्।

रुक्मीकी सेना और उसका सम्पूर्ण बल नष्ट हो चुका था, वह निस्तेज हो गया था, शत्रुओंने उसे अपमानित करके उसे छोड़ दिया था। उसके प्राण मात्र ही बचे थे, सारे मनोरथ विफल हो गये थे। वह रह-रहकर स्मरण करता था कि किस प्रकार उसे विरूप किया गया था। अतः उसने अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार प्रवासके लिए 'भोजकट' नामक एक विशाल नगरका निर्माण कर लिया॥ ५१॥

अहत्वा दुर्म्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा॥ ५२॥

"दुर्मति कृष्णको मारे बिना एवं छोटी बहिनका उद्धार किये बिना मैं कुण्डिन नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा"—अपनी इस पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार वह क्षुब्धचित्त एवं क्रोधपूर्ण मनके साथ भोजकट नगरमें (निज विरूपीकरण प्रदेशमें) ही रहने लगा॥ ५२॥

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्ज्जित्य भूमिपान्।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह॥ ५३॥

हे कुरुवंशपालक! भगवान् श्रीकृष्ण सब राजाओंको पराजित करके भीष्मक-पुत्री रुक्मिणीको अपनी द्वारका पुरीमें ले आये और वैदिक मन्त्रोंके द्वारा उनके साथ विधि-विधानपूर्वक विवाह किया॥ ५३॥

तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप॥ ५४॥

हे राजन्! विवाहके अवसर पर द्वारकापुरीमें हर घरमें महोत्सव मनाया गया, क्योंकि सभीके हृदयोंमें यदुपति श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम था॥ ५४॥

नरा नार्य्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः॥ ५५॥

नर-नारियोंने सुविमल मणियोंसे जड़ित कुण्डलोंको धारण कर लिया। वे आनन्दसे भरकर विविध उपहार ले आये और उन उपहारोंको विचित्र (रङ्ग-बिरङ्गे) वस्त्रोंसे सुसज्जित वर-वधूको प्रदान कर दिया॥ ५५॥

सा वृष्णिपुर्य्युत्तभितेन्द्रकेतुभि-
र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः।
बभौ प्रतिद्वार्य्युपक्लृप्तमङ्गलै-
रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः॥ ५६॥

विवाहके अवसरपर द्वारका नगरीमें ऊँचे-ऊँचे माङ्गलिक खम्भोंपर इन्द्र-केतु ध्वजाविशेष (इन्द्रपुरस्पर्शी) फहरा रही थीं, चित्र-विचित्र मालाओं, वस्त्रों एवं रत्नोंकी बनी हुई वन्दनवारों एवं तोरणोंसे नगरी विभूषित हो रही थी। प्रत्येक द्वारपर जलसे भरे हुए मङ्गल कलश रखे हुए थे। अगुरुसे युक्त सुगन्धित धूप एवं दीपादि माङ्गलिक द्रव्योंसे पुरीकी शोभा निराली लग रही थी॥ ५६॥

सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।
गजैर्द्वाःसु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता॥ ५७॥

बहुत-से मित्र-राजाओंको आमन्त्रित किया गया था, जिनके हाथियोंकी मदधारासे नगरीके पथ सींचे गये थे। नगरीका हरेक द्वार सुपारीके वृक्षों एवं केलोंके खम्भोंसे सुशोभित हो रहा था॥ ५७॥

कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन् संभ्रमात् परिधावताम्॥ ५८॥

बन्धुवर्गोंमें कुरु, सृञ्जय, कैकय, विदर्भ, यदु और कुन्ती आदि वंशोंके राजा कौतूहलवश इधर-उधर दौड़ रहे थे और परस्पर मिलकर आनन्द मना रहे थे॥ ५८॥

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः॥ ५९॥

जहाँ-तहाँ सर्वत्र लोगोंके मुखसे रुक्मिणी-हरणकी ही वार्त्ता कीर्त्तित हो रही थी, जिसे सुनकर राजा एवं राजकन्याएँ अति विस्मित हो रहे थे॥ ५९॥

द्वारकायामभूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम्॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिण्युद्वाहोत्सवे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

हे राजन्! द्वारकामें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपा रुक्मिणीका परस्पर मिलन देखकर द्वारकाके नर-नारियोंको परम आनन्द प्राप्त हुआ॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौवनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्रद्युम्नका जन्म और शम्बरासुरका बध

श्रीशुक उवाच—

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वासुदेवके अंशरूप कामदेव प्राचीन कालमें भगवान् महादेवकी कोपाग्निसे दग्ध हो गये थे। अब पुनः शरीर धारण करनेके लिए उन्होंने अपने अंशी वासुदेवका ही आश्रय ग्रहण किया॥ १॥

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्य्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्व्वतोऽनवमः पितुः॥ २॥

वे ही कामदेव अबकी बार रुक्मिणीके गर्भसे श्रीकृष्णके द्वारा उत्पन्न हुए और प्रद्युम्नके नामसे विख्यात हुए। सौन्दर्य, वीर्य, सौशील्य आदि सद्गुण उन्हें सर्वतोभावसे पिताके समान ही प्राप्त हुए थे।

लोक-प्रथामें यही कामदेव प्रद्युम्न नामसे विख्यात हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्द विग्रह प्रद्युम्न ही तृतीय व्यूह हैं, कामदेव तो केवल जीव विशेष है। प्रद्युम्नकी अपनी इच्छासे ही कामदेव उनमें प्रविष्ट है। श्रीप्रद्युम्नमें प्रविष्ट प्राकृत कामदेवसे प्राकृत रतिदेवीका संयोग हुआ है। ईश्वरतत्त्व श्रीप्रद्युम्नसे जीवतत्त्व रतिदेवीका संसर्ग कभी भी सम्भव नहीं है। द्वारका लीलामें श्रीप्रद्युम्नके आविर्भूत होनेपर प्राकृत कामदेव अपने अंशीमें प्रविष्ट होता है। द्वारकामें श्रीकृष्ण अपनी शक्तियोंके—बलदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं रुक्मिणीके साथ अवस्थित रहते हैं॥ २॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम्।
स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहम्॥ ३॥

शम्बर नामका एक असुर इच्छानुरूप शरीर धारण कर सकता था। वह नारदजीके कहनेसे कामदेवको अपना शत्रु समझता था। प्रद्युम्न दस दिनके भी नहीं हुए थे कि शम्बरासुरने वेष बदलकर (जन्मसे छठे दिन ही) सूतिकागृहसे उनका हरण कर लिया और समुद्रमें उन्हें फेंककर अपने घर चला गया॥ ३॥

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरैः सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः॥ ४॥

समुद्रमें एक महाबलवान् मच्छने उस शिशुको निगल लिया। तदनन्तर मछुआरोंने दूसरी मछलियोंके साथ उस बली मच्छको भी अपने बहुत बड़े जालमें फँसाकर पकड़ लिया॥ ४॥

तं शम्बराय कैवर्त्ता उपाजह्रुरुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वावद्यन् सुधितिनाद्भुतम्॥ ५॥

मछुआरोंने उस महामच्छको अद्भुत उपहारके रूपमें शम्बरासुरको भेंट कर दिया। रसोइये उसे पाकगृहमें ले आये और उसे कसाइयोंके चाकूसे काटने लगे॥ ५॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथयत् सर्व्वं तस्याः शङ्कितचेतसः।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम्॥ ६॥

रसोइयोंने जैसे ही उस विशाल मच्छको काटा, उसके उदरमें एक बालक दिखायी दिया। उन्होंने उस बालकको मायावती (शम्बरासुरकी दासी) को सौंप दिया। इस बालकको देखकर मायावतीके हृदयमें बड़ी शङ्का हुई। तभी देवर्षि नारद प्रकट हुए और उन्होंने मायावतीको बालकका परिचय, जन्म और मच्छके उदरमें प्रवेशका कारण इत्यादि सारा वृत्तान्त बतला दिया॥ ६॥

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती॥ ७॥

निरूपिता शम्बरेण सा सूदौदनसाधने।
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके॥ ८॥

यह मायावती कामदेवकी सुप्रसिद्ध पतिव्रता पत्नी रतिदेवी ही थी। वह जलकर भस्म हुए अपने पति कामदेवके पुनः शरीर धारण करनेकी प्रतीक्षामें शम्बरासुर द्वारा पाचिकाके रूपमें नियुक्त होकर रह रही थी। उसे दाल-भात और तरकारियाँ पकानेका कार्य सौंपा गया था। अब महर्षि नारदसे यह जान लेनेपर कि शिशुके रूपमें मेरे पति कामदेव ही हैं, उनसे बहुत प्रेम करने लगी॥ ७-८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णि रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम्॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नजी थोड़े ही दिनोंमें युवावस्थाको प्राप्त हो गये। वे इतने आकर्षक थे कि उन्हें देखकर स्त्रियाँ मोहित हो जाया करती थीं।

महादेवकी क्रोधाग्निसे कामदेवकी देह भस्मीभूत हो गयी थी। तब रतिने उस देहकी प्राप्तिके लिए शिवकी आराधना की। शम्बरासुरने भी वहाँ आकर अन्य वरदानके लिए शिवजीको प्रसन्न कर लिया था। वहाँ रतिको देखकर वह कामार्त्त हो गया था। अतः उसीको वरदानमें माँगने लगा। रति क्रन्दन करने लगी। तब शिवजीने उससे कहा—तुम शम्बरासुरके साथ जाओ, वहीं तुम्हारी कामना (कामदेवको शरीरकी प्राप्ति) सिद्ध होगी। वही रतिने अपनी मायाका ऐसा जाल रचा कि शम्बर उसे कभी स्पर्श भी न कर सका। महामाया विद्याको जाननेके कारण ही इसका मायादेवी नाम प्रसिद्ध हुआ॥ ९ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं,
प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती
प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्गसौरतैः॥ १० ॥

हे राजन्! एक दिन मायावती (रतिदेवी) पद्म-पलाश-लोचन, घुटनों तक लम्बी भुजाओंवाले, भुवन-मनोहर अपने पतिके पास सलज्ज हास्य एवं भ्रू-भङ्गिमाके साथ प्रेमसे भरकर तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धी दाम्पत्य भाव व्यक्त करती हुई उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थी॥ १०॥

तामाह भगवान् कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा।
मातृभावमतिक्रम्य वर्त्तसे कामिनी यथा॥ ११॥

श्रीकृष्णनन्दन भगवान् प्रद्युम्नने अपने सर्वज्ञताके गुणको छिपाते हुए उससे कहा—माता! इस समय तुम्हारी बुद्धि कुछ अन्य प्रकारकी दिखायी दे रही है। तुम माताके भावोंका उल्लङ्घन करके प्रेयसीके समान आचरण कर रही हो॥ ११॥

श्रीरतिरुवाच—

भवान् नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात्।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो॥ १२॥

रतिने कहा—हे प्रभो! आप भगवान् नारायण श्रीकृष्णके पुत्र हैं। शम्बरासुरने आपका आपके ही घरसे अपहरण कर लिया था। मैं आपके अधीन आपकी धर्मपत्नी रति हूँ एवं आप स्वयं कामदेव हैं॥ १२॥

एष त्वानिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छम्बरोऽसुरः।
मत्स्योऽग्रसीत् तदुदरादितः प्राप्तो भवान् प्रभो॥ १३॥

हे प्रभो! आपका जन्म हुए दस दिन भी पूरे नहीं हुए थे कि शम्बरासुरने आपको समुद्रमें फेंक दिया। वहाँ किसी एक मच्छने आपको निगल गया। बादमें यहाँ मैंने उस मच्छके उदरमेंसे आपको प्राप्त किया है॥ १३॥

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्ज्जयं शत्रुमात्मनः।
मायाशतविदं तञ्च मायाभिर्मोहनादिभिः॥ १४॥

शम्बरासुर दुर्धर्ष, दुर्जय और सैकड़ों प्रकारकी माया जाननेवाला है। अब आप अपनी मोहनादि मायाके बलसे अपने शत्रुरूपी इस शम्बरासुरका विनाश कर डालिये॥ १४॥

परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा॥ १५॥

आपके रूपमें अपना पुत्र खो जानेसे आपकी माता नित्य-निरन्तर पुत्र-स्नेहसे व्याकुल रहती हैं और शोकके कारण इस प्रकार रोती रहती हैं, जिस प्रकार बच्चा खो जानेपर कुररी पक्षी अति दीन हो जाती है और बछड़ा खो जानेपर गाय अति कातर हो जाती है॥ १५॥

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामायां सर्व्वमायाविनाशिनीम्॥ १६॥

परीक्षित्! मायावतीने यह कहकर महात्मा प्रद्युम्नको महामाया नामक योगविद्या प्रदान की, जो अन्य समस्त मोहिनी शक्तियोंको विनष्ट कर डालती है॥ १६॥

स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम्॥ १७॥

तब प्रद्युम्नजी शम्बरासुरके समीप गये और असहनीय कटु-वचनोंके द्वारा उसका तिरस्कार करने लगे। वे चाहते थे कि इससे विवाद उठ खड़ा हो। उन्होंने शम्बरको युद्धके लिए कठोर शब्दोंमें स्पष्ट रूपसे चुनौती दी॥ १७॥

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात् ताम्रलोचनः॥ १८॥

प्रद्युम्नके कटु आक्षेपोंसे अपमानित हुआ शम्बरासुर उसी प्रकार क्रोधसे तिलमिला उठा, जिस प्रकार पैरोंसे आहत होनेपर सर्प बिलबिला उठता है। क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयीं और वह गदा हाथमें लेकर बाहर निकल आया॥ १८॥

गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ १९॥

गदाको इधर-उधर चलाता हुआ वह बड़ी फुर्तीके साथ महात्मा प्रद्युम्नकी ओर झपटा और उनपर गदासे प्रहार किया। उस समय उसने ऐसा कर्कश निनाद किया मानो कहीं बिजली कड़क रही हो॥ १९॥

तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम्।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत् स्वगदां नृप॥ २०॥

हे राजन्! भगवान् प्रद्युम्नने अपने सामने आती हुई शत्रुकी गदाको अपनी गदासे रोक दिया। तत्पश्चात् उन्होंने क्रोधपूर्वक बड़े वेगके साथ अपनी गदा शत्रुपर चलायी॥ २०॥

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २१॥

तब वह असुर आकाशमें चला गया और मयदानव द्वारा बतलायी हुई दानवी मायाका आश्रय लेकर प्रद्युम्नके ऊपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा॥ २१॥

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्व्वमायोपमर्द्दिनीम्॥ २२॥

अस्त्रोंकी वर्षासे पीड़ित होकर महारथी प्रद्युम्नने महामाया नामक योगविद्याका प्रयोग किया, जो समस्त मायिक शक्तियोंका विनाश करनेवाली एवं सत्त्वगुणमयी है॥ २२॥

ततो गौह्यकगान्धर्व्वपैशाचोरगराक्षसीः।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः॥ २३॥

इसपर शम्बरासुरने गुह्यक, गन्धर्व, पिशाच, नाग एवं राक्षसोंकी सैकड़ों मायाओंका प्रयोग किया। कृष्णनन्दन प्रद्युम्नने उन सभीका नाश कर दिया॥ २३॥

निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः कायात् ताम्रश्मश्रुवोजसाहरत्॥ २४॥

अब प्रद्युम्नने तीक्ष्ण तलवार उठायी और किरीट, कुण्डल एवं ताम्रवर्णकी दाढ़ीसे युक्त शम्बरके मस्तकको बलपूर्वक एवं अति तीव्रतासे धड़से काटकर भूमिपर गिरा दिया॥ २४॥

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्य्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २५॥

तभी देवताओंने उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की और उनकी स्तुति करना आरम्भ कर दिया। आकाश-चारिणी उनकी पत्नी मायावती रति प्रद्युम्नको आकाशमार्गसे द्वारकापुरी ले आयीं॥ २५॥

अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशतसङ्कुलम्।
विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः॥ २६॥

हे राजन्! गौरवर्णा पत्नीके साथ श्यामलवर्ण प्रद्युम्न उस समय विद्युतसे सुशोभित मेघके समान प्रतीत हो रहे थे। आकाश-मार्गसे ही उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें प्रवेश किया, जो शत-शत कामिनियोंसे भरा हुआ था॥ २६॥

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ २७॥
स्वलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह॥ २८॥

अन्तःपुरकी स्त्रियोंने जब नूतन जलधरके समान श्यामल, रेशमी पीताम्बरसे विभूषित, घुटनों तक लम्बी भुजाओंसे युक्त मनोरम हास्यसे मण्डित, नीली एवं घुँघराली अलकावलियोंसे समलंकृत, सुरम्य मुख कमलसे सुशोभित प्रद्युम्नको देखा तो समझ बैठीं कि ये श्रीकृष्ण हैं। अतः वे लज्जाके कारण इधर-उधर छिप गयीं॥ २७-२८॥

अवधार्य्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः॥ २९॥

कुछ क्षणोंके बाद इन स्त्रियोंको इन पुरुषमें श्रीकृष्णसे कुछ विलक्षणता दिखलायी पड़ी। तब उन्होंने निश्चय किया कि ये श्रीकृष्ण नहीं, कोई और हैं। अतः वे अत्यधिक आनन्द और विस्मयसे भर गयीं तथा स्त्री-रत्न, परम सुन्दरी रतिदेवीके साथ विद्यमान कामदेवके समीप आ गयीं॥ २९॥

अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।
अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा॥ ३०॥

इसी समय सुनीलनयना रुक्मिणी भी वहाँ आ गयीं। उनके नेत्र कजरारे थे और वे मधुरभाषिणी थीं। प्रद्युम्नको देखकर उन्हें अपने खोये हुए पुत्रका स्मरण हो आया। पुत्र-स्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूध झरने लगा॥ ३०॥

को न्वयं नरवैदूर्य्यः कस्य वा कमलेक्षणः।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा॥ ३१॥

रुक्मिणी विचार करने लगीं कि यह नरश्रेष्ठ कौन है? यह कमलनयन पुरुष किस महाभागका पुत्र है? किस महाभाग्यवतीने इसे गर्भमें धारण किया है? पत्नीरूपमें इसे यह कौन सौभाग्यवती प्राप्त हुई है?॥ ३१॥

मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात्।
एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३२॥

मेरा भी एक नन्हा-सा शिशु खो गया था। उसे सूतिकागृहसे न जाने कौन उठा ले गया था। यदि किसी स्थानपर वह जीवित रहता, तो उसकी अवस्था तथा रूप इसके ही समान होते!॥ ३२॥

कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३३॥

परन्तु यह क्या! इस नरश्रेष्ठकी आकृति, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, चाल-भङ्गी, स्वर, मन्द-मन्द मुसकान एवं हास्यसे पूर्ण चितवन सभी कुछ शार्ङ्गधर श्रीकृष्णके ही समान हैं॥ ३३॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३४॥

हो-न-हो यह वही बालक हो, जिसे मैंने अपने गर्भमें धारण किया था। हाँ, निश्चित ही यह वही है, क्योंकि इसके प्रति मेरा निरतिशय पुत्र-स्नेह उमड़ रहा है। मेरी बाईं भुजा भी फड़क रही है॥ ३४॥

एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमःश्लोक आगमत्॥ ३५॥

जिस समय रुक्मिणी देवी इस प्रकारसे सोच-विचार (मीमांसा) कर ही रही थीं कि पवित्रकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी एवं वसुदेवके साथ वहाँ आ पहुँचे॥ ३५॥

विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्द्दनः।
नारदोऽकथयत् सर्व्वं शम्बराहरणादिकम्॥ ३६॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण तो सब कुछ जानते थे, पर वे मौन भाव धारण किये रहे, कुछ बोले नहीं। इतने ही में नारद वहाँ उपस्थित हुए और शम्बरासुर द्वारा किये गये अपहरणसे आरम्भ करके सारा वृत्तान्त उन्हें बतला दिया॥ ३६॥

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्य्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः।
अभ्यनन्दन् बहूनब्दान् नष्टं मृतमिवागतम्॥ ३७॥

श्रीकृष्णके अन्तःपुरकी सभी स्त्रियाँ इस अद्भुत वृत्तान्तको सुनकर परम विस्मित हुईं। उन्होंने प्रद्युम्नका इस प्रकारसे अभिनन्दन किया, मानो कोई मृतके समान अगोचर रहा हो और अब सकुशल लौट आया हो॥ ३७॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम्॥ ३८॥

देवकी, वसुदेव, श्रीकृष्ण, बलदेव, अन्तःपुरकी सभी स्त्रियाँ एवं रुक्मिणी—सभी उस समय पत्नीके साथ प्रद्युम्नका आलिङ्गन करके अतिशय आनन्दित हुए॥ ३८॥

नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन्॥ ३९॥

द्वारकावासियोंने जब यह सुना कि हम सबके लोक-लोचनोंसे अगोचर प्रद्युम्नजी लौट आये हैं, तब वे कहने लगे—अहो! यह बालक तो मृतकके समान अदृश्य हो ही गया था। हमारा सौभाग्य है कि अब यह लौट आया है॥ ३९॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः।
चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्य्यः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीप्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५॥

कामावतार प्रद्युम्नका रूप सौन्दर्य श्रीकृष्णके अनुरूप ही था। अतः रुक्मिणीके अतिरिक्त अन्यान्य माताएँ उन्हें देखकर दाम्पत्य भावसे आकर्षित हो जाया करती थीं और बार-बार एकान्तमें चली जाया करती थीं। वे वहाँसे उन्हें निहारा करती थीं। रमास्पद, सर्वशोभा-निकेतन जिन श्रीकृष्णके स्मरणसे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है, उनकी ही मूर्त्तिका प्रतिबिम्ब चक्षुके सम्मुख विराजमान हो, तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है! इनके अतिरिक्त अन्य स्त्रियाँ उन्हें कान्त भावसे

देखा करती थीं, तो इसमें भी कहना ही क्या है! त्रिभुवनमें ऐसा सौन्दर्य है भी कहाँ?॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पचपनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तक मणिकी कथा, जाम्बवती और सत्यभामाके साथ श्रीकृष्णका विवाह

श्रीशुक उवाच—

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! राजा सत्राजित्ने श्रीकृष्णके चरणोंमें अपराध किया था। (उनपर झूठा कलङ्क लगाया था) बादमें स्वयं ही उस अपराधका मार्जन करनेके लिए उसने स्वयं श्रीकृष्णको स्यमन्तक मणिके साथ अपनी कन्या भी सौंप दी॥ १॥

श्रीराजोवाच—

सत्राजितः किमकरोद् ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम्।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः॥ २॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे मुनिवर! सत्राजित्ने श्रीकृष्णके प्रति क्या अपराध किया था? उसे वह स्यमन्तक मणि कहाँसे प्राप्त हुई थी? उसने श्रीकृष्णको मणिके साथ कन्याका भी दान क्यों कर दिया? इसका वर्णन कीजिये॥ २॥

श्रीशुक उवाच—

आसीत् सत्राजितः सूर्य्यो भक्तस्य परमः सखा।
प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् स च तुष्टः स्यमन्तकम्॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सत्राजित् सूर्यदेवका परम भक्त था, सूर्यदेव अपने परम भक्त सत्राजित्की भक्तिसे प्रसन्न होकर प्रीतिवश उसके मित्र बन गये थे। सत्राजित्से परम प्रसन्न होकर उन्होंने उसे स्यमन्तक मणि प्रदान कर दी थी॥ ३॥

स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।
प्रविष्टो द्वारकां राजन् तेजसा नोपलक्षितः॥ ४॥

हे राजन्! सत्राजित्ने एक बार मणिको अपने कण्ठमें धारण कर लिया, जिससे वह सूर्यके समान प्रकाशमान् होने लगा। मणिको पहनकर ही वह द्वारका चला गया। मणिकी तेजस्विताके कारण द्वारकावासी उसे पहचान नहीं पाये॥ ४॥

तं विलोक्य जना दूरात् तेजसा मुष्टदृष्टयः।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्य्यशङ्किताः॥ ५॥

पुरवासियोंने जब उसे दूरसे आते देखा, तो उसके तेजके प्रभावसे उन लोगोंकी दृष्टि चकाचौंध हो गयी। वे सत्राजित्को सूर्य ही समझ बैठे और यह समाचार देनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। श्रीकृष्ण उस समय चौसर खेल रहे थे॥ ५॥

नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन॥ ६॥

लोगोंने कहा—हे शङ्ख-चक्र-गदा-धर! हे दामोदर! हे कमललोचन! हे गोविन्द! हे यदुनन्दन! हे नारायण! हम आपको प्रणाम करते हैं॥ ६॥

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्ज्जगत्पते।
मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः॥ ७॥

हे जगन्नाथ! देखिये! प्रचण्ड रश्मिशाली सूर्यदेव अपनी प्रखर तेजोमय किरणोंसे सभीकी दृष्टि शक्तिको अभिभूत करते हुए आपके दर्शनके लिए पधार रहे हैं॥ ७॥

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो॥ ८॥

हे प्रभो! तीनों भुवनोंमें ब्रह्मादि सभी श्रेष्ठ देवता आपकी प्राप्तिका मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं, परन्तु प्राप्त नहीं कर पाते। यह

जानकर ही आज अजन्मा सूर्यदेव यदुवंशमें छिपे हुए आपको देखनेके लिए चले आ रहे हैं॥ ८॥

श्रीशुक उवाच—

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन्॥ ९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण भोले-भाले मनुष्योंकी यह बात सुनकर हँसने लगे। उन्होंने कहा कि यह आया हुआ पुरुष सूर्यदेव नहीं है, बल्कि यह तो राजा सत्राजित् है, जो स्यमन्तक मणि पहननेके कारण इतना तेजस्वी दिखायी दे रहा है॥ ९॥

सत्राजित् स्वगृहं श्रीमत् कृतकौतुकमङ्गलम्।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत्॥ १०॥

इधर सत्राजित्ने अपने आगमनके उपलक्ष्यमें मनाये जा रहे मङ्गलोत्सवोंसे युक्त, सुरम्य एवं श्रीमत्से सम्पन्न अपने घरमें प्रवेश किया और देवमन्दिरमें ब्राह्मणोंके द्वारा स्यमन्तक मणिको स्थापित करवा दिया॥ १०॥

दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो।
दुर्भिक्षमार्य्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्च्चितो मणिः॥ ११॥

हे राजन्! यह मणि प्रतिदिन आठ भार सोना उत्पन्न किया करती थी। जिस स्थानपर इसकी पूजा होती थी, वहाँ दुर्भिक्ष, अकाल-मृत्यु, उपद्रव, अशुभ, सर्पभय, शारीरिक अथवा मानसिक आधि-व्याधि एवं मायावी शक्तियाँ ठहर नहीं सकती थीं, वहाँ कोई भी अशुभ नहीं हो सकता था॥ ११॥

(श्रीधर गोस्वामीने भारका परिमाण बतलाते हुए कहा है—

चतुर्भिर्व्रीहिर्भिर्गुञ्जां गुञ्जाः पञ्च पणं पणान्।
अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम्॥

तुलां पलशतं प्राहुर्भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः।

अर्थात् चार व्रीहि (धान) का एक गुञ्जा, पाँच गुञ्जाका एक पण, आठ पणका एक धरण, आठ धरणका एक कर्ष, चार कर्षका एक पल, सौ पलकी एक तुला और बीस तुलाका एक भार कहलाता है।)

स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा।
नैवार्थकामुकः प्रादाद्याच्ञाभङ्गमतर्कयन्॥ १२॥

एक बार किसी अवसरपर श्रीकृष्णने प्रसङ्गवश सत्राजित्से अनुरोध किया कि वह यह मणि यदुराज उग्रसेनको प्रदान कर दे, परन्तु वह अर्थका इतना लोभी था कि श्रीकृष्णकी याचनाका उल्लङ्घन करना एक गम्भीर अपराध हो सकता है—जो वस्तु सब अनिष्टका नाश कर सकती है, वह वस्तु सब प्रकारके अनिष्टका कारण भी हो सकती है—इसका विचार न करते हुए उसने मणि देना अस्वीकार कर दिया॥ १२॥

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम्।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने॥ १३॥

एक बार सत्राजित्के भाई प्रसेनने महादीप्तिमयी मणिको कण्ठमें धारण कर लिया और घोड़ेपर सवार होकर शिकार खेलने वनमें चला गया॥ १३॥

प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केशरी।
गिरिं विशन् जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता॥ १४॥

वहाँ एक सिंहने घोड़ेके साथ प्रसेनको भी मार डाला और उसकी मणि ले ली। सिंह मणि लेकर पर्वतकी गुफामें प्रवेश कर ही रहा था कि भल्लूकराज जाम्बवान्ने मणि हड़प लेनेकी इच्छासे उस सिंहको मार डाला॥ १४॥

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले।
अपश्यन् भ्रातरं भ्राता सत्राजित् पर्य्यतप्यत॥ १५॥

जाम्बवान्‌ने गुफामें जाकर उस मणिको अपने पुत्रको खिलौनेके रूपमें खेलनेके लिए दे दिया। इधर सत्राजित्‌ने देखा कि उनका भाई प्रसेन लौटा नहीं है, तब वह बड़ा दुःखी हो गया॥ १५॥

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपन् जनाः॥ १६॥

वह विचार करने लगा—मेरा भाई अपने गलेमें मणि धारण करके वनमें गया हुआ था। सम्भवतः श्रीकृष्णने ही उसका वध कर दिया होगा। सत्राजित्‌की इस आशङ्कापर लोग गुप्तरूपसे काना-फूसी करने लगे (सत्राजित्‌के समान दूसरे लोग भी कर्ण-परम्परासे इस प्रकार प्रचार करने लगे कि कृष्णने ही इसके भाईको मारकर मणि ले ली है)॥ १६॥

भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्णने जब यह सुना कि उनके ऊपर मिथ्या कलङ्क लगाया गया है, तो वे अपने ऊपर आरोपित कलङ्कको धो डालनेके लिए कुछ शिष्टजनोंको अपने साथ लेकर उस ओर गये, जिस ओर प्रसेन गया था॥ १७॥

हतं प्रसेनमश्वञ्च वीक्ष्य केशरिणा वने।
तञ्चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः॥ १८॥

वनमें पहुँचकर उन्होंने देखा कि सिंहके द्वारा प्रसेन और उसका घोड़ा भी मार दिया गया था। वे लोग सिंहके पैरोंका चिह्न देखते हुए कुछ और आगे बढ़े तो देखा कि पर्वतके ऊपर किसी ऋक्ष (रीछने) उस सिंहको भी मार डाला है॥ १८॥

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम्।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः॥ १९॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने साथियोंको गुफाके बाहर बिठा दिया एवं अकेले ही ऋक्षराज जाम्बवान्‌की भयानक अन्धकारमयी निवास-गुफामें सुरङ्गके माध्यमसे प्रवेश कर गये॥ १९॥

तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम्।
हर्त्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके॥ २०॥

भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ जाकर देखा कि बहुमूल्य स्यमन्तक मणि तो बच्चोंका खिलौना बनी हुई है। श्रीकृष्ण उस मणिको हर लेनेकी इच्छासे वहीं बालकके निकट खड़े हो गये॥ २०॥

तमपूर्व्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत्।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत् क्रुद्धो जाम्बवान् बलिनां वरः॥ २१॥

बालककी वृद्धा धात्री गुफामें एक अपरिचित मनुष्यको देखकर एवं मणि लेनेके उसके भावको जानकर भयातुर होकर चीत्कार करने लगी। उसकी चीत्कार सुनकर बलवानोंमें भी महाबलवान् जाम्बवान् बड़े क्रोधके साथ वहाँ दौड़े चले आये॥ २१॥

स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित्॥ २२॥

ऋक्षराज जाम्बवान् भगवान्के प्रभावसे अनभिज्ञ थे। क्रोधके वशीभूत होकर वे श्रीकृष्णको साधारण मनुष्य समझ रहे थे और इस प्रकार अपने ही प्रभु भगवान्के साथ युद्ध करनेके लिए तत्पर हो गये (अल्पबलवान् केशी, चाणूर, कंस, जरासन्ध आदिके साथ भगवान्को युद्ध-सुख पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं हुआ था। अतः अपने समान बलवाले अपने भृत्य जाम्बवान्के साथ युद्ध करनेकी उनकी इच्छा—युद्ध-सुखकी सिद्धि तथा भक्त जाम्बवान्को भी पूर्वकालमें रावण-सैन्यके साथ परिपूर्ण वीर रससुखकी अप्राप्ति और जाम्बवान्के उसी युद्ध-सुखकी पूर्त्तिके लिए श्रीकृष्णकी लीलाशक्ति योगमायाने भक्त जाम्बवान्के माधुर्यका एवं भगवान्के ऐश्वर्यका आवरण कर दिया)॥ २२॥

द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव॥ २३॥

विजयके लिए कृतसङ्कल्प होकर जाम्बवान् और श्रीकृष्ण दोनों ही मैदानमें डट गये। मांसकी इच्छासे दो श्येन पक्षी जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों जय-प्राप्तिकी इच्छासे आपसमें घमासान युद्ध करने लगे। पहले तो दोनोंने विविध अस्त्र-शस्त्र चलाये, इसके बाद एक-दूसरे पर पत्थरोंसे प्रहार किया। तत्पश्चात् वृक्षोंको उखाड़-उखाड़ कर एक-दूसरे पर फेंका और अन्तमें निःशस्त्र बाहुओंसे अतिमहत् द्वन्द्व-युद्ध (बाहुयुद्ध) करने लगे॥ २३॥

आसीत् तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः।
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥ २४॥

परीक्षित्! इस प्रकार परस्पर वज्र-प्रहारके समान कठोर मुट्ठियोंके प्रहारोंसे अट्ठाईस दिनों तक दोनोंमें बिना विश्राम किये रात-दिन युद्ध चलता रहा॥ २४॥

कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः॥ २५॥

अन्तमें, भगवान् श्रीकृष्णके घूँसोंके प्रहारोंसे जाम्बवान्के शरीरकी एक-एक गाँठ शिथिल पड़ती गयी। उनमें दुर्बलता आ गयी। सारा उत्साह जाता रहा और उनकी देह पसीनेसे लथपथ हो गयी। वे अति विस्मय (मुझसे अधिक बलशाली मेरे प्रभु श्रीरामके अतिरिक्त और कौन हो सकता है?) के साथ श्रीकृष्णसे कहने लगे॥ २५॥

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम्।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम्॥ २६॥

ऋक्षराज जाम्बवान्ने कहा—प्रभो! मैं समझ गया कि आप वे ही हैं, जो समस्त प्राणियोंके (अनन्त कोटि ब्रह्माण्डवासियोंके) प्राणस्वरूप हैं। इन प्राणियोंमें जो इन्द्रिय-बल, हृदय-बल और देह-बल है—आप ही उसके स्वरूपभूत हैं। आप ही पुराणपुरुष,

सर्वान्तर्यामी और विष्णु (सर्वव्यापक) हैं (तथा मैं आधुनिक, शासनाधीन एवं प्रभावहीन हूँ)॥ २६॥

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृष्टानामपि यच्च सत्।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम्॥ २७॥

आप सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मादिसे लेकर इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेवाले हैं। जितनी भी सृष्ट वस्तुओंके मध्य जो सत् है, इसके भी कारण आप ही हैं। इसलिए आप पुराण-पुरुष तथा यम इत्यादि संहारकर्त्ताओंके भी काल अर्थात् महाकाल कहलाते हैं। आप ही प्रभावशाली परमेश्वरके रूप हैं और समस्त जीवोंके शरीर-भेदसे प्रतीत होनेवाले अन्तरात्माओंके परम आत्मा भी आप ही हैं (मैं यम द्वारा संहारके योग्य एक साधारण जीव हूँ)॥ २७॥

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि॥ २८॥

प्रभो! मुझे स्मरण है कि आपके किञ्चित् क्रोधपूर्ण दृष्टिपातसे समुद्रमें मगर, ग्राह, तिमिङ्गिल इत्यादि क्षुब्ध हो गये थे और समुद्रने उसी समय आपको पथ प्रदान कर दिया था, तथापि आपने उसके ऊपर अपनी कीर्त्तिके प्रतीकरूपमें सेतु बाँध दिया था। बादमें लङ्काका विध्वंस करके आपने बाणोंके प्रहारसे रावणके सिरोंको पृथ्वीपर गिरा दिया था। अब मैं समझ गया कि श्रीकृष्णके रूपमें श्रीरामचन्द्र ही यहाँ आये हैं॥ २८॥

इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः॥ २९॥

अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शङ्करेण तम्।
कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा॥ ३०॥

परीक्षित्! जाम्बवान् स्वयं ही इस प्रकार भगवत्-तत्त्वको जान गये थे। तब कमलनयन देवकीनन्दन अच्युत भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्तका अपने मङ्गलदायक हाथोंसे स्पर्श करके उनकी अङ्ग-व्यथाको शान्त किया। इसके बाद परम कृपासे भरकर भगवान् श्रीकृष्ण मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहने लगे॥ २९-३०॥

मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम्।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना॥ ३१॥

हे ऋक्षराज! इस स्यमन्तक मणिके लिए मेरे साथ बहुत-से नागरिक गुफाके द्वार तक आये थे। मैं इस मणिके द्वारा उन सबके सामने अपने मिथ्या कलङ्कको धो डालना चाहता था, इसीलिए मैंने गुफाके अन्दर प्रवेश किया था॥ ३१॥

इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह॥ ३२॥

भगवान्‌के द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर जाम्बवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने भगवान्‌की पूजा की और मणिको श्रीकृष्णके कण्ठमें धारण कराके अपनी अपरिणिता दुहिता कुमारी जाम्बवतीको भी श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पण कर दिया॥ ३२॥

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः॥ ३३॥

श्रीकृष्ण गुफाके द्वारपर जिन शिष्टजनोंको छोड़ गये थे, उन्होंने बारह दिनों तक तो प्रतीक्षा की। जब उन्होंने देखा कि गुफामें जानेके बाद श्रीकृष्ण बाहर नहीं निकले हैं, तब वे बड़े दुःखी मनसे द्वारका लौट गये॥ ३३॥

निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् बिलात् कृष्णमनिर्गतम्॥ ३४॥

देवेकी, रुक्मिणी, वसुदेव तथा अन्य सम्बन्धियों एवं कुटुम्बियोंने जब यह सुना कि श्रीकृष्ण गुफासे बाहर नहीं निकले हैं, तब वे शोकमें डूब गये॥ ३४॥

सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थुश्चन्द्रभागां दुर्गां कृष्णोपलब्धये॥ ३५॥

सभी द्वारकावासी सत्राजित्‌की निन्दा करने लगे और दुःखी चित्तसे चन्द्रभागा नामकी दुर्गादेवीकी शरणमें गये और श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए उनकी आराधना करने लगे॥ ३५॥

तेषान्तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा स च।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन् हरिः॥ ३६॥

उनकी उपासनासे प्रसन्न होकर दुर्गादेवीने उन्हें कृष्ण-दर्शनका आशीर्वाद दिया कि 'श्रीकृष्ण प्रायः आ ही गये हैं' और उसी समय श्रीकृष्ण नवविवाहिता पत्नी जाम्बवतीके साथ सफल मनोरथ होकर सभीको परमानन्दित करते हुए उपस्थित हो गये॥ ३६॥

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम्।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः॥ ३७॥

द्वारकावासी कण्ठमें मणि धारण किये हुए श्रीकृष्णको नव-परिणिता पत्नीके साथ देखकर ऐसे हर्षित हो उठे, मानो उनका कोई बन्धु मरकर फिरसे लौट आया हो। सबके हृदयमें महोत्सवका सञ्चार हो गया॥ ३७॥

सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ।
प्राप्तिञ्चाख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत्॥ ३८॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने सत्राजित्‌को राजसभामें बुलवाया और राजा उग्रसेनकी उपस्थितिमें मणि-प्राप्तिका सम्पूर्ण वर्णन कह सुनाया। अनन्तर बड़ी ही औपचारिक रीतिसे वह मणि सत्राजित्‌को प्रदान कर दी गयी॥ ३८॥

स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः।
अनुतप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्मना॥ ३९॥

इससे सत्राजित् अत्यन्त लज्जित हो गया और उसका मुख नीचे हो गया। उसने मणि ले तो ली, पर अपने अपराधके कारण पश्चाताप करता हुआ सभासे अपने घर चला गया॥ ३९॥

सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः।
कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम्॥ ४०॥
किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा।
अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम्॥ ४१॥
दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च।
उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा॥ ४२॥

श्रीकृष्ण-पक्षके लोग बड़े बलवान् थे—उनसे विरोध हो जानेके कारण सत्राजित् भयभीत हो गया। वह हर पल, हर क्षण अपने अपराधके विषयमें ही सोचा करता था—किस प्रकारसे अपने अपराधका मार्जन किया जाय, अच्युत श्रीकृष्ण किस प्रकार प्रसन्न होंगे, क्या करनेसे उसका कल्याण होगा, ऐसा क्या किया जाय कि लोग उसे अदूरदर्शी, कृपण, मूर्ख, धनलोभी इत्यादि कहकर तिरस्कार न करें। इस प्रकार निरन्तर विचार करके उसने निश्चय किया कि वह स्त्री-रत्न-स्वरूपा अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तक मणिको श्रीकृष्णको प्रदान कर देगा। यही उपाय समीचीन (ठीक) है, अन्यथा इस अपराधका मार्जन नहीं हो सकता। इसीसे मुझे सौभाग्यकी पुनः प्राप्ति हो सकती है; इसीसे सारा विरोध शान्त हो सकता है॥ ४०-४२॥

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वसुतां शुभाम्।
मणिञ्च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह॥ ४३॥

सत्राजित्ने विवेकके द्वारा मन-ही-मन इस प्रकारसे निश्चय किया और इस कार्यकी सिद्धिके लिए स्वयं ही उद्यम किया।

उन्होंने शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न अपनी गौरवर्ण कन्या सत्यभामा एवं स्यमन्तक मणिको श्रीकृष्णके लिए उपहार-स्वरूप प्रदान कर दिये ॥ ४३ ॥

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्य्यगुणान्विताम् ॥ ४४ ॥

कृतवर्मा इत्यादि बहुत-से राजाओंने पहले भी सत्राजित्से सत्यभामाके साथ विवाह करनेकी प्रार्थना की थी। सत्यभामा स्वभाव, सौन्दर्य, स्निग्धता, सरलता एवं अन्यान्य विविध सद्गुणोंसे सम्पन्न थीं। भगवान् श्रीकृष्णने उनके साथ विधि-विधानपूर्वक विवाह कर लिया ॥ ४४ ॥

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप।
तवास्तां देवभक्तस्य वयञ्च फलभागिनः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे स्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

श्रीकृष्णने सत्राजित्से कहा—हे राजन्! हमें इस मणिकी आवश्यकता नहीं है। आप सूर्यके भक्त हैं, यह आपके ही पास रहे, क्योंकि आप अपुत्रक हैं, अतः हम तो इसके फलके ही भागीदार हैं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छप्पनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तकमणि-हरण, शतधन्वाका उद्धार तथा अक्रूरजीको पुनः द्वारका बुलाना

श्रीबादरायणिरुवाच—

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान्।
कुन्तीञ्च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने जब सुना कि कुन्ती एवं पाण्डव लाक्षागृहमें अग्निसे जल गये हैं, तो वे कुल-परम्पराकी रक्षाके लिए बलदेवके साथ कुरुओंसे मिलने हस्तिनापुर गये। यद्यपि श्रीकृष्ण इस सत्यको जानते थे कि पाण्डव सुरङ्ग पथके द्वारा लाक्षागृहसे (विदुरजीकी प्रेरणासे) सुरक्षित निकलकर अन्यत्र चले गये हैं॥ १॥

भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च।
तुल्यदुःखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतुः॥ २॥

हस्तिनापुर पहुँचनेपर श्रीकृष्णने भीष्म, विदुर, कृपाचार्य, गान्धारी एवं द्रोणाचार्यके साथ संवेदना व्यक्त करते हुए 'हाय! हाय! यह बड़े ही दुःखकी बात हुई है' इत्यादि शोकाभिव्यञ्जक अनेक वचन कहे॥ २॥

लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः।
अक्रूरकृतवर्म्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते॥ ३॥

हे राजन्! इधर अवसर प्राप्त करके अक्रूर एवं कृतवर्माने शतधन्वासे कहा कि तुम सत्राजित्को मारकर उससे मणि क्यों नहीं ले लेते?॥ ३॥

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः।
कृष्णायादान्न सत्राजित् कस्माद्भ्रातरमन्वियात्॥ ४॥

सत्राजित् हमें कन्या-रत्न प्रदान करनके लिए वचनबद्ध था। अब इसने हमारा तिरस्कार करके श्रीकृष्णके साथ उसका विवाह कर दिया है। अब यह भी क्यों न अपने मरे हुए भाईका अनुगामी बने। इसे भी यमपुरी भेज दिया जाना चाहिये॥ ४॥

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः।
शयानमवधील्लोभात् स पापः क्षीणजीवितः॥ ५॥

शतधन्वा दुर्जन, हतायु और पापी तो था ही, अक्रूर और कृतवर्माकी बातें सुनकर भेद-बुद्धिवाला वह पापी उनसे प्रभावित हो गया और मणिके लोभसे उसने सोते हुए सत्राजित्को मार डाला। (भगवान्पर मिथ्यापवादका यह फल सत्राजित्को प्राप्त हुआ था)॥ ५॥

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत्।
हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान्॥ ६॥

सत्राजित्के मारे जानेपर अन्तःपुरकी स्त्रियाँ विलाप करने लगीं एवं अनाथके समान क्रन्दन करने लगीं, परन्तु शतधन्वा वहाँसे मणि लेकर इस प्रकार चल दिया, जिस प्रकार मांस बेचनेवाला कसाई पशुओंको मारकर चल देता है॥ ६॥

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्पिता।
व्यलपत् तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती॥ ७॥

सत्यभामा अपने मृत पिताको देखकर शोकसे व्याकुल हो गयीं और "हाय! मैं मारी गयी।" कहकर मूर्च्छित हो गयीं। पुनः चेतना प्राप्त होनेपर 'हा पिताजी! हा पिताजी' कहते हुए विलाप करने लगीं॥ ७॥

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम्।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽचख्यौ पितुर्वधम्॥ ८॥

उन्होंने तेलसे भरे हुए पात्रमें पिताके शवको रखवा दिया और स्वयं हस्तिनापुर चल दीं। वहाँ उन्होंने बड़े दुःखी मनसे

श्रीकृष्णको अपने पिताके वधका समाचार सुनाया—यद्यपि श्रीकृष्ण इस बातको पहलेसे ही जानते थे॥ ८॥

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम्।
अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः॥ ९॥

हे राजन्! बलराम और श्रीकृष्ण यह समाचार सुनकर मनुष्योचित व्यवहार करते हुए शोकके साथ कहने लगे—अहो! यह तो हमारे ऊपर महान् दुःख आ पड़ा है, यह कहकर (लोगोंके समाधानके लिए) अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे विलाप करने लगे॥ ९॥

आगत्य भगवांस्तस्मात् सभार्य्यः साग्रजः पुरम्।
शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्त्तुं मणिं ततः॥ १०॥

तदनन्तर भाई बलराम और सत्यभामाके साथ श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे द्वारका लौट आये और शतधन्वाका वध एवं उससे मणि प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगे॥ १०॥

सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।
साहाय्ये कृतवर्म्माणमयाचत स चाब्रवीत्॥ ११॥

जब शतधन्वाको इस बातका पता चला कि श्रीकृष्ण मुझे मारनेका उद्योग कर रहे हैं, तब वह भयभीत हो गया और प्राणोंकी रक्षाके लिए उसने कृतवर्मासे सहायता माँगी। कृतवर्माने उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया॥ ११॥

नाहमीश्वरयोः कुर्य्यां हेलनं रामकृष्णयोः।
को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन्॥ १२॥
कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया।
जरासन्धः सप्तदशसंयुगाद्विरथो गतः॥ १३॥

कृतवर्माने कहा—शतधन्वा! बलराम एवं श्रीकृष्ण ईश्वर-स्वरूप हैं, उनसे वैर मोल लेनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। जिनके साथ विद्वेष करनेसे राजा कंस श्रीभ्रष्ट हो गया था और अपने अनुचरोंके साथ मारा गया था, इतना बड़ा शूरवीर राजा जरासन्ध

भी सत्रह बार युद्ध करके अन्तमें रथहीन होकर लौट गया था, उनके प्रति अपराध करके भला किसीका मङ्गल हो सकता है?॥ १२-१३॥

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम्॥ १४॥

जब कृतवर्माने शतधन्वाको टका-सा उत्तर दे दिया, तब शतधन्वाने अक्रूरजीसे सहायताके लिए अनुनय-विनय की। अक्रूरने कहा—भाई! जो बलराम और श्रीकृष्णके प्रभावको जानता है, वह भला उनसे वैर-विरोध ठान सकता है?॥ १४॥

य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया॥ १५॥

वे परमेश्वर हैं, खेल-ही-खेलमें इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं तथा उनकी मायाके प्रभावसे विश्व-स्रष्टा ब्रह्मादि भी मोहित-से रहते हैं और यह नहीं जान पाते कि उनकी लीलाका प्रयोजन क्या है॥ १५॥

यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः॥ १६॥

सात वर्षकी अवस्थामें जिन्होंने अनायास ही गोवर्द्धन पर्वतको उठाकर एक ही हाथमें इस प्रकार धारण कर लिया, जिस प्रकार नन्हे-नन्हे शिशु बरसाती छत्तेको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं॥ १६॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः॥ १७॥

मैं तो ऐसे अद्भुतकर्मा भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ। वे अनन्त, अनादि, निर्विकार और सर्वान्तर्यामी हैं॥ १७॥

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम्।
तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ॥ १८॥

परीक्षित्! जब अक्रूरने भी उसके अनुरोधपर अपनी सहमति नहीं जताई, तब शतधन्वाने वह मणि अक्रूरको समर्पणकर उनके संरक्षणमें रख दी और सौ योजन तक भाग सकनेवाले घोड़ेपर सवार होकर बड़ी फुर्तीसे भाग गया॥ १८॥

गरुडध्वजमारुह्य रथं राम-जनार्दनौ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम्॥ १९॥

हे राजन्! बलराम एवं श्रीकृष्ण भी रथपर सवार हो गये और गुरुद्रोही (सत्राजित्की हत्या करनेवाले) शतधन्वाका पीछा करने लगे। भगवान्के रथमें महावेगशाली घोड़े जुते हुए थे और गरुड-चिन्हसे अङ्कित ध्वजा फहरा रही थी॥ १९॥

मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम्।
पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा॥ २०॥

शतधन्वाका घोड़ा सौ योजन दूर मिथिला नगरीके उपवनमें पहुँच गया और अशक्त होकर भूमिपर गिर पड़ा। भयभीत शतधन्वा घोड़ेको वहीं छोड़कर पैदल ही भागने लगा। क्रोधाविष्ट श्रीकृष्ण भी उसका पीछा करने लगे॥ २०॥

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम्॥ २१॥

पैदल दौड़नेवाले शतधन्वाके पीछे भगवान् श्रीकृष्ण भी पैदल ही दौड़े और तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका मस्तक उतार दिया। इसके बाद उसके वस्त्रोंमें मणि खोजने लगे॥ २१॥

अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम्।
वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते॥ २२॥

जब उसके पास मणि नहीं मिली, तब श्रीकृष्ण बलदेवके पास आये और बोले—मैंने व्यर्थ ही शतधन्वाको मार डाला, उसके पास मणि तो थी ही नहीं॥ २२॥

तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना।
कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज॥ २३॥

इसपर भगवान् बलरामजीने कहा—निस्सन्देह, शतधन्वाने इस मणिको किसी-न-किसीके पास छिपा रखा होगा। तुम द्वारकापुरी लौट जाओ और मणि-रक्षकका पता लगाओ॥ २३॥

अहं वैदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः॥ २४॥

मैं यहाँ मिथिलापुरीमें विदेहराजसे मिलना चाहता हूँ, वे मेरे अति प्रिय भक्त हैं। परीक्षित्! यह कहकर यदुनन्दन बलदेवने मिथिलापुरीमें प्रवेश किया॥ २४॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः॥ २५॥

मिथिलानरेश जनकजी बलदेवको देखकर सहसा ही उठ खड़े हुए। उन्होंने बड़े आनन्दके साथ अपने परमाराध्य प्रभु बलरामकी शास्त्रीय विधि एवं विविध उपहारोंसे पूजा की॥ २५॥

उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः॥ २६॥

अपने प्रिय भक्त महात्मा जनकके द्वारा प्रीतिपूर्वक सम्मानित होकर सर्वशक्तिमान् बलदेव कुछ वर्षों तक वहीं रहे। धृतराष्ट-पुत्र दुर्योधनने बलदेवको श्रीकृष्णसे दूर देखा, तो अवसरका लाभ उठाते हुए उनसे गदायुद्धके दाव-पेंच सीख लिये॥ २६॥

केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः।
अप्राप्तिञ्च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद्विभुः॥ २७॥

इधर अपनी प्रियतमा सत्यभामाका प्रिय कार्य करके सर्वव्यापक भगवान् केशव द्वारका लौट आये। उन्होंने सत्यभामाको बतला

दिया कि तुम्हारे पिताका वध करनेवाले शतधन्वाको मार डाला गया है, परन्तु मणि उसके पास नहीं मिली॥ २७॥

ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै।
साकं सुहृद्भिर्भगवान् या याः स्युः साम्परायिकीः॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्णने बान्धवोंके साथ मिलकर अपने श्वसुर सत्राजित्की शास्त्रविहित सम्पूर्ण पारलौकिक क्रियाएँ सम्पन्न करवायीं॥ २८॥

अक्रूरः कृतवर्म्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम्।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ॥ २९॥

परीक्षित्! अक्रूर एवं कृतवर्मा मणि-हरणके मुख्य प्रयोजक थे। उन्होंने ही सत्राजित्के वधके लिए शतधन्वाको उकसाया था। जैसे ही उन दोनोंने शतधन्वाके निधनका समाचार सुना, वे भयविह्वल होकर द्वारकापुरीसे भाग गये॥ २९॥

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन् वै द्वारकौकसाम्।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः॥ ३०॥

परीक्षित्! अक्रूरके द्वारकासे चले जानेपर पुरवासियोंमें शारीरिक, मानसिक, आधिदैविक (भूकम्प, समुद्री लहरोंका उद्वेलन एवं मौसम सम्बन्धित उत्पात), आधिभौतिक (पशु, कीट एवं मनुष्योंके द्वारा किये गये उत्पात) सन्तापके रूपमें विविध दुःख पुनः-पुनः उत्पन्न होने लगे॥ ३०॥

इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम्॥ ३१॥

जो लोग ऐसा कहते हैं, वे पहले स्वयं ही कहे हुए श्रीकृष्णके माहात्म्यको भूल जाते हैं। कुछ लोग अक्रूरके प्रवास-गमनको अमङ्गलका कारण मानने लगे। जहाँ मुनिजनोंके शरण श्रीकृष्ण स्वयं विराजमान हों, वहाँ अक्रूरके न रहनेसे क्या कोई अमङ्गल

हो सकता है? यदि उस स्थानपर विपत्तियाँ आती हैं, तो वे सब भगवान्‌की इच्छापर ही आधारित हैं॥ ३१॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात्ततोऽवर्षत् स्म काशिषु॥ ३२॥

एक समय काशीमें इन्द्रदेवने वर्षा नहीं की, सूखा पड़ गया। उन्हीं दिनों अक्रूरके पिता श्वफल्क काशी आये। काशी पुरीके राजाने अपनी पुत्री गान्दिनीका विवाह श्वफल्कके साथ कर दिया। ठीक इसके बाद उस नगरमें वर्षा होने लगी॥ ३२॥

तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः॥ ३३॥

वृद्धजनोंका कहना था कि पिताके समान ही प्रभावशाली ये अक्रूर भी जहाँ-जहाँ रहते हैं, वहाँ-वहाँ सम्यक्‌रूपेण वर्षा होती है और विभिन्न प्रकारके सन्तापों, उपद्रवों एवं महामारियोंका भय नहीं रहता है॥ ३३॥

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम्।
इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः॥ ३४॥

बड़े-बूढ़े इस प्रकारसे अक्रूरकी महिमाका बखान कर रहे थे। उनके वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने काशीमें 'दानपति' नामसे विख्यात अक्रूरको बुलवा लिया। परीक्षित्! भगवान् जानते थे कि अक्रूरका न होना पुरीमें होनेवाले अमङ्गलों एवं उत्पातोंका कारण नहीं है, अपितु मणिको लेकर उनका भागना ही प्रधान कारण है॥ ३४॥

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः।
विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह॥ ३५॥

ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना।
स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्व्वमेव नः॥ ३६॥

अक्रूरके आनेपर श्रीकृष्णने उनका सत्कार किया और विविध प्रकारसे मधुर एवं प्रियकर वचनोंसे उनके साथ संभाषण किया। भगवान् अखिल तत्त्व और सभीके हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। वे हँसते हुए अक्रूरसे कहने लगे—हे दानपति अक्रूर! शतधन्वाने तुम्हारे पास जिस प्रकाशमान् मणिको धरोहरके रूपमें रखा है, वह मैं भली-भाँति जानता हूँ। मुझे यह भी ज्ञात है कि वह अब भी तुम्हारे पास है॥ ३५-३६॥

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः।
दायं निनीयापः पिण्डान् विमुच्यर्णञ्च शेषितम्॥ ३७॥

देखो! सत्राजित्‌का कोई पुत्र नहीं था। अतः उनकी पुत्री सत्यभामाके पुत्र ही उन्हें तिलाञ्जलि एवं पिण्डदान प्रदान करेंगे। वे ही उनका ऋण चुकायेंगे और बचे हुए धनके उत्तराधिकारी होंगे—यही शास्त्रोंका विधान है॥ ३७॥

तथापि दुर्द्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।
किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति॥ ३८॥
दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह।
अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्त्तन्ते रुक्मवेदयः॥ ३९॥

हे विश्वसनीय अक्रूर चाचाजी! इस मणिको दूसरा कोई कठिनाईसे ही रख पायेगा, आप बड़े व्रतनिष्ठ हैं इसलिए यह आपके पास ही रहे, परन्तु इस मणिके विषयमें मेरे बड़े भाई बलदेव मुझपर विश्वास नहीं करते, हमेशा सन्देह बनाये रखते हैं। अतः हे महाभाग! आप इस मणिको बस दिखा भर दें, जिससे मेरे बन्धु-बान्धवोंका हृदय शान्त हो जाय। आपके पास यह मणि नहीं है, ऐसा तो आप कह ही नहीं सकते, क्योंकि इस समय आपके घरमें लगातार स्वर्ण वेदियोंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान हो रहा है॥ ३८-३९॥

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम्।
आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्य्यसमप्रभम्॥ ४०॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकारसे समन्वयात्मक वचनोंसे (साम्यभावसे) अक्रूरका तिरस्कार ही किया। अक्रूरने वस्त्रोंमें छिपी हुई दीप्तिमयी मणि निकालकर श्रीकृष्णको प्रदान कर दी। मणि सूर्यके समान जगमगा रही थी॥ ४०॥

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः॥ ४१॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने इस मणिको अपने जाति भाइयोंको दिखाया और अपने ऊपर लगे मिथ्या कलङ्क आदि आक्षेपोंको दूर किया। भगवान्‌ने इस मणिको पुनः अक्रूरको दे दिया॥ ४१॥

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो–
र्वीर्य्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलञ्च।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा,
दुष्कीर्त्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५७॥

परीक्षित्! यह आख्यान जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी वीरतासे परिपूर्ण, मङ्गल–दायक एवं पाप–विनाशक है। जो इस चरितका पठन, श्रवण अथवा स्मरण करते हैं, उनके मिथ्या कलङ्क एवं पापोंका परिहार हो जाता है और वे परम शान्ति प्राप्त करते हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सत्तावनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके साथ कालिन्दी आदि पाँच कन्याओंका विवाह तथा पाण्डवोंसे मिलनेके लिए इन्द्रप्रस्थ गमन

श्रीशुक उवाच—

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको जब यह पता चला कि पाण्डव लाक्षाभवनमें जले नहीं है, तब वे उनसे मिलनेके लिए सात्यकि (युयुधान) आदि यादवोंको लेकर इन्द्रप्रस्थ गये॥ १॥

दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम्।
उत्तस्थुर्युगपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम्॥ २॥

कुन्तीके वीर पुत्र पाण्डवोंने देखा कि अखिलेश्वर भगवान् मुकुन्द पधार रहे हैं, तो वे सब-के-सब एक साथ एक ही समय आसनसे इस प्रकार उठ खड़े हुए जिस प्रकार प्राणोंका सञ्चार हो जानेसे इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं॥ २॥

परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः॥ ३॥

वीर पाण्डवोंने श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया, तो उनके अङ्ग-स्पर्शसे वे निष्पाप हो गये। भगवान्की प्रेमभरी मुसकान-श्रीसे सुशोभित मुख-पद्मका दर्शन करके पाण्डव परम आनन्दित हुए॥ ३॥

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः॥ ४॥

श्रीकृष्णने युधिष्ठिर एवं भीमके चरणोंमें प्रणाम किया तथा अर्जुनको हृदयसे लगाया। जुड़वाँ भाई नकुल और सहदेवने श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रणाम किया॥ ४॥

परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता।
नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत॥ ५॥

जब श्रीकृष्ण उत्तम सिंहासनपर विराजमान हो गये, तब सद्‌चरित्रशीला (परमसाध्वी), नवविवाहिता, परम सुन्दरी द्रौपदी कुछ लजाती हुई धीरे-धीरे श्रीकृष्णके समीप आयी और उन्हें प्रणाम किया॥ ५॥

तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः।
निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्य्युपासत॥ ६॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने सात्यकिका भी स्वागत-सत्कार और अभिवन्दन किया। वे एक आसनपर बैठ गये। श्रीकृष्णके अन्यान्य साथी भी समुचित सत्कार प्राप्त करके उनके चारों ओर विविध आसनोंपर बैठ गये॥ ६॥

पृथां समागत्य कृताभिवादन-
स्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः ।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां,
पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः॥ ७॥

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीके समीप गये और झुककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। कुन्तीके नेत्र स्नेहसे आर्द्र हो उठे। भीगे नयनोंसे उन्होंने श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते हुए कहा, “तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभापर मेरे कोटि-कोटि प्राण निछावर हैं।” तत्पश्चात् कुन्तीने उनसे बन्धु-बान्धवोंकी कुशल-क्षेम पूछी और श्रीकृष्णने भी उनका एवं द्रौपदीका कुशल-समाचार पूछा॥ ७॥

तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना।
स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्॥ ८॥

प्रेम-विह्वलताके कारण महारानी कुन्तीका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उनकी आँखोंसे भर-भर आँसू बह रहे थे। उन्हें दुर्योधनके द्वारा दिये गये विविध कष्टोंका स्मरण हो रहा था। क्लेशोंकी समाप्तिपर जीव आत्मामें जिनका दर्शन करता है, उन्हीं श्रीकृष्णसे वे कहने लगीं॥ ८॥

तदैव कुशलं नोऽभूत् सनाथास्ते कृता वयम्।
ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया॥ ९॥

महारानी कुन्तीने कहा—श्रीकृष्ण! जिस समय तुमने हमें अपना बान्धव मानकर हमारा स्मरण किया और भैया अक्रूरको भेजा, उसी समय ही हमारा समस्त कुशल-मङ्गल हो गया था। हम तुम्हारे संरक्षणमें सनाथ हुए हैं॥ ९॥

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः॥ १०॥

यद्यपि तुम इस सम्पूर्ण जगत्‌के ही परम हितैषी, सुहृद और अपने-परायेके भेदसे रहित हो तथापि जो तुम्हारा सदैव ध्यान करते हैं, उनके हृदयमें विराजित होकर तुम उनके कष्टोंका समूल नाश कर देते हो॥ १०॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर।
योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥ ११॥

युधिष्ठिरने कहा—हे अधीश्वर श्रीकृष्ण! हमने ऐसा कौन-सा मङ्गल आचरण किया था, यह समझमें नहीं आता। योगेश्वरोंको भी जिनके दर्शन दुर्लभ हैं, ऐसे आप हम-जैसे विषयासक्तोंको दर्शन दे रहे हैं॥ ११॥

इति वै वार्षिकान् मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम्।
जनयन् नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः॥ १२॥

परीक्षित्! इस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भगवान्‌का अतिशय स्वागत-सत्कार किया और उनसे इन्द्रप्रस्थमें रहनेका अनुरोध किया। अतः भगवान् श्रीकृष्ण वहाँके निवासियोंके नेत्रोंको अपनी रूप माधुरीसे आनन्द प्रदान करते हुए वर्षाकालीन कुछ महीनों तक सुखपूर्वक रहे॥ १२॥

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम्।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ॥ १३॥
साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्त्तुं विपिनं महत्।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा॥ १४॥

हे राजन्! एक बार महाबलशाली, शत्रुओंके संहारक अर्जुन कपि-चिह्नसे चिह्नित ध्वजासे युक्त रथपर सवार होकर गाण्डीव नामक धनुष एवं अक्षय बाणोंसे परिपूर्ण दो तरकस लेकर और कवच पहनकर श्रीकृष्णके साथ विपिन-विहारके लिए गये। वहाँ उन्होंने ऐसे महारण्यमें प्रवेश किया, जो हिंसक पशुओंसे भरा हुआ था॥ १३-१४॥

तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् शूकरान् महिषान् रुरून्।
शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणान् शशशल्लकान्॥ १५॥

उस वनमें अर्जुनने बाणोंका लक्ष्य (निशाना) साधकर बहुत-से बाघ, सूअर, भैंसे, रुरु (काले हिरन), शरभ, गवय (नीलापन लिये हुए भूरे रङ्गके हिरन), गैंडे, हरिण, खरगोश एवं सजारु (साही) इत्यादि जानवरोंको बींध डाला॥ १५॥

तान् निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान् पर्व्वण्युपागते।
तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात्॥ १६॥

जिन पशुओंका मांस विशुद्ध था, उन्हें सेवकगण 'पर्वकाल' जानकर यज्ञकी आहुतिके लिए महाराज युधिष्ठिरके पास

क्रिया-व्यवहारके लिए ले आये। इधर थके हुए अर्जुन प्याससे व्याकुल होनेके कारण यमुनाकी ओर चले आये॥ १६॥

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्॥ १७॥

महारथी वासुदेव एवं अर्जुनने यमुनामें स्नान किया और उसके निर्मल जलका पान किया। वहीं उन्होंने इधर-उधर विचरण करती हुई एक सुन्दरी कन्याको देखा॥ १७॥

तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम्।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम्॥ १८॥

रमणीकुल-उत्तमा वह कन्या सुशोभन दन्त-पंक्ति, सुरम्य वदन एवं चारु नितम्बसे युक्त थी। सखा श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुन उसके पास गये और पूछने लगे॥ १८॥

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने॥ १९॥

अर्जुनने उससे कहा—हे क्षीणमध्ये! हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? यहाँपर कहाँसे आयी हो? क्या करना चाहती हो? तुम्हें देखकर ऐसा लग रहा है कि तुम मनचाहे पतिकी कामना कर रही हो। हे शोभने! तुम सारी बातें हमें बतलाओ॥ १९॥

श्रीकालिन्द्युवाच—

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता॥ २०॥

श्रीकालिन्दीने कहा—मैं सूर्यदेवकी पुत्री हूँ। मैं सर्वश्रेष्ठ वर-प्रदाता एवं वरेण्य विष्णुको ही पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती हूँ। इसी अभिलाषासे कठिन तपस्या कर रही हूँ॥ २०॥

नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम्।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः॥ २१॥

हे वीर! मैं लक्ष्मीके परम आश्रय (श्रीनिवास) विष्णुके अतिरिक्त अन्य किसीको पति नहीं बना सकती। अनाथोंके शरण्य एवं स्वभक्तोंके रक्षक वे भगवान् मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों॥ २१॥

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।
निर्म्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम्॥ २२॥

मुझे कालिन्दी नामसे जाना जाता है। इस यमुना जलके भीतर मेरे पिता सूर्यदेवने मेरे लिए भवन निर्माण करा दिया है। जब तक भगवान् अच्युत श्रीहरिके दर्शन नहीं होंगे, तब तक मैं यही रहूँगी॥ २२॥

तथावदद्‌गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम्।
रथमारोप्य तद्विद्वान् धर्म्मराजमुपागमत्॥ २३॥

परीक्षित्! अर्जुन श्रीकृष्णके समीप गये और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। भगवान् वासुदेव तो कालिन्दीके मनोगत भावको पहलेसे ही जानते थे। उन्होंने कालिन्दीको रथ पर बिठाया और युधिष्ठिरके पास पहुँचे। (अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्ण कालिन्दीके समीप आये और कहा—"अयि सुन्दरि! वरणीय विष्णु मैं ही हूँ। अपने पिताके द्वारा बतलाये गये मेरे ध्यानके एवं अपने शुद्ध हृदयमें उदित भावके प्रमाणरूपमें तुम मुझे पहचान सकती हो।" तब कालिन्दीका अभिमत जानकर कृष्णने उन्हें रथपर चढ़ाया और युधिष्ठिरके भवनमें प्रवेश किया)॥ २३॥

यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा॥ २४॥

हे राजन्! उसी समय एक बार पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णसे नगर-निर्माण करवानेका अनुरोध किया। भगवान्‌ने उसी समय विश्वकर्माके द्वारा विविध प्रकारसे चित्र-विचित्र एवं अद्भुत एक आश्चर्यजनक नगर तैयार करवा दिया॥ २४॥

भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियचिकीर्षया।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः॥ २५॥

भगवान् अपने सम्बन्धी पाण्डवोंको आनन्द देने और उनका हित करनेके लिए वहाँ बहुत दिनों तक रहे। एक बार अग्निदेवको भोजनके लिए खाण्डववन प्रदान करने हेतु वे अर्जुनके सारथि भी बने॥ २५॥

सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयान् श्वेतान् रथं नृप।
अर्ज्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः॥ २६॥

हे राजन्! खाण्डववनका भोजन मिल जानेसे अग्निदेवने प्रसन्न होकर अर्जुनको गाण्डीव नामक धनुष, श्वेत वर्णके चार घोड़े, रथ एवं अक्षय बााणोंसे परिपूर्ण दो तरकस प्रदान किये। अग्निदेवने ऐसा कवच भी प्रदान किया, जिसे कोई भी अस्त्रधारी किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं सकता था॥ २६॥

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत्।
यस्मिन् दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशि भ्रमः॥ २७॥

अर्जुनने श्रीकृष्णके कहनेसे मय नामक दानवको खाण्डव-दाहके समय जलनेसे बचा लिया था। इसलिए उसने अर्जुनके साथ मित्रता कर उनके लिए एक विचित्र सभाका निर्माण कर दिया। इसी सभामें दुर्योधनको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हुआ था॥ २७॥

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः॥ २८॥

कुछ दिनोंके बाद श्रीकृष्ण अर्जुन एवं अन्यान्य बान्धवोंका अनुमोदन प्राप्त करके सात्यकि आदि साथियोंके साथ पुनः द्वारका लौट आये॥ २८॥

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्ज्जिते।
वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममङ्गलः॥ २९॥

यहाँ आकर परम मङ्गलमय श्रीकृष्णने रवि-शुद्धि आदि सम्पद्युक्त नक्षत्र, विवाहयोग्य सुपुष्य ऋतु, प्रशंसित पवित्र चन्द्र लग्न इत्यादि अन्य ग्रहोंकी शुभ स्थितिमें कालिन्दीके साथ विवाह कर लिया। इससे उनके स्वजन-सम्बन्धियोंको परम मङ्गल और परमानन्दकी प्राप्ति हुई॥ २९॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्य्योधनवशानुगौ।
स्वयंवरे स्व-भगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम्॥ ३०॥

परीक्षित्! विन्द और अनुविन्द—दोनों अवन्ती देशके राजा थे। ये दोनों दुर्योधनके अनुयायी और उसीके वशवर्ती थे। इनकी बहिन थी मित्रविन्दा, जो भगवान् श्रीकृष्णमें परम आसक्त थी। वह स्वयंवरमें भगवान्‌को अपना पति बनाना चाहती थी, पर उन दोनोंने उसे श्रीकृष्णका वरण करनेसे रोक दिया॥ ३०॥

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः।
प्रसह्य हृतवान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम्॥ ३१॥

हे राजन्! यह मित्रविन्दा श्रीकृष्णकी बुआ राजाधिदेवीकी पुत्री थी। श्रीकृष्ण स्वयंवर सभासे प्रतिद्वन्द्वी राजाओंके समक्ष ही मित्रविन्दाका बलपूर्वक हरण कर लाये॥ ३१॥

नग्नजिन्नाम कौशल्य आसीद्राजातिधार्म्मिकः।
तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप॥ ३२॥

राजेन्द्र! अयोध्याके नग्नजित् नामके एक अति धार्मिक राजा थे। उनकी एक परम सुन्दरी पुत्री थी, जिसका नाम था सत्या। पिताके नामके अनुसार इस कन्याको नाग्नजिती भी कहा जाता था॥ ३२॥

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान्।
तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्द्धर्षान् वीरगन्धासहान् खलान्॥ ३३॥

महाराज नग्नजित्‌ने प्रतिज्ञा की थी कि जो राजा तीक्ष्ण सींगोंसे युक्त, अति दुर्धर्ष, वीरोंकी गन्धको न सह सकनेवाले, क्रूर

स्वभाव गो-जातीय सात बैलोंको पराजित कर पायेगा, वही इस कन्यासे विवाह कर सकेगा, किन्तु अब तक कोई भी राजा उस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था। अतः राजकुमारीका भी विवाह नहीं हुआ था॥ ३३॥

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान् सात्वतां पतिः।
जगाम कौशल्यपुरं सैन्येन महता वृतः॥ ३४॥

जब सात्वत-पति भगवान् श्रीकृष्णने सुना कि दुर्दान्त बैलोंको पराजित करनेवाला वृषजयी पुरुष ही सत्याको प्राप्त कर सकता है, तब वे बड़ी सेनाको साथ लेकर अयोध्या पहुँचे॥ ३४॥

स कोशलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रतिनन्दितः॥ ३५॥

कोशलाधिपति नग्नजित्ने बड़े प्रेमके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी की। उन्हें आसनादि प्रदान किये तथा महापूजाकी अन्यान्य सामग्रियोंके साथ उनका सत्कार एवं अभिनन्दन किया। श्रीकृष्णने भी नग्नजित्का अभिवादन किया॥ ३५॥

वरं विलोक्याभिमतं समागतं,
नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम्।
भूयादयं मे पतिराशिषोऽनलाः,
करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतः॥ ३६॥

नाग्नजितीने जब चन्द्रशालाकी खिड़कीके छिद्र-पथसे अपने सर्वाभीष्ट श्रीकृष्णको वरके रूपमें आया देखा, तो अभिलाषा करने लगी कि "रमापति श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों। यदि मैंने यत्नके साथ अग्निदेवके व्रतका प्रालन किया हो, तो अग्निदेव मेरा मनोरथ पूर्ण करें॥"३६॥

यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्त्ति
श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सया यः
कालेऽदधत् स भगवान् मम केन तुष्येत्॥ ३७॥

सत्या मन-ही-मन विचार करने लगी कि लक्ष्मी, शिव, इन्द्रादि लोकपाल एवं ब्रह्मा जिनके पादपद्मोंकी रजको मस्तकपर धारण करते हैं और जो अपनी बनायी हुई धर्म-मर्यादाके परिपालनके लिए समय-समय पर (अवतार लेकर) विचित्र लीला-विग्रह धारण करते हैं, वे भगवान् मेरे प्रति किस प्रकार प्रसन्न होंगे, मैं इसका निर्णय नहीं कर सकती॥ ३७॥

अर्च्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥ ३८॥

राजा नग्नजित्ने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की और उन्हें सम्बोधन करते हुए पुनः कहा—हे जगत्पते! हे नारायण! आप आत्मानन्दसे परिपूर्ण हैं। हम जैसे तुच्छ प्राणी आपका कौन-सा प्रिय कार्य करनेमें समर्थ हो सकते हैं?॥ ३८॥

श्रीशुक उवाच—

तमाह भगवान् हृष्टः कृतासनपरिग्रहः।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन॥ ३९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—कुरुनन्दन! भगवान् श्रीकृष्ण उस समय आसनपर विराजमान थे। श्रीकृष्ण नग्नजित्से प्रसन्न हो गये और मेघके समान गम्भीर वाणीमें हँसते हुए कहने लगे॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच—

नरेन्द्र-याच्ञा कविभिर्विगर्हिता
राजन्यबन्धोर्निजधर्म्मवर्त्तिनः।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया
कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्॥ ४०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजन्! जो क्षत्रिय अपने धर्ममें स्थित है, यदि वह दरिद्र हो जाय, तो भी उसका दूसरोंसे कुछ भी माँगना ठीक नहीं है। प्राचीन पण्डितोंने भी शास्त्रोंमें इसकी

निन्दा की है, तथापि मैं आपके साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता हूँ। इसी उद्देश्यसे आपकी पुत्रीके साथ विवाहकी प्रार्थना करता हूँ। हमारे यहाँ विवाहमें किसी प्रकारका शुल्क प्रदान करनेकी रीति नहीं है॥ ४०॥

श्रीराजोवाच—

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः।
गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी॥ ४१॥

राजा नग्नजित्‌ने कहा—हे प्रभो! आप समस्त सद्गुणोंके एकमात्र आधार हैं। स्वयं लक्ष्मीजी आपके श्रीअङ्गोंमें स्थिर (अचञ्चला) होकर नित्य-निरन्तर वास करती हैं। मेरी पुत्रीके लिए आपकी अपेक्षा अधिक गुणशाली अभीष्ट वर इस मर्त्यलोकमें दूसरा कौन हो सकता है?॥ ४१॥

किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ।
पुंसां वीर्य्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया॥ ४२॥

हे यादवोत्तम! फिर भी मैंने अपनी पुत्रीके लिए सुयोग्य वर-प्राप्तिकी इच्छासे आनेवाले राजाओंके पराक्रमकी परीक्षाके लिए पहलेसे ही एक प्रण कर लिया है॥ ४२॥

सप्तैते गोवृषा वीर दुर्द्दान्ता दुरवग्रहाः।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः॥ ४३॥

हे वीरश्रेष्ठ! ये सात दुर्दान्त, दुरवग्रह (कठिनाईसे वशमें आनेवाले) बैल हैं। इनके सींगोंके प्रहारोंसे बहुत-से राजपुत्रोंके अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये हैं और उनका उत्साह भी भङ्ग हो गया है॥ ४३॥

यदिमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते॥ ४४॥

हे यदुनन्दन! यदि आप इन सात बैलोंका दमन कर सकेंगे, तो हे श्रीपते! आप ही मेरी पुत्रीके अभिलषित वर होंगे॥ ४४॥

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान्॥ ४५॥

जब श्रीकृष्णने यह नियम (प्रण) सुना, तब कमरमें वस्त्रको कसकर बाँध लिया। इसके बाद सात मूर्त्तियाँ प्रकट कीं और खेल-ही-खेलमें सातों बैलोंको नाथ लिया॥ ४५॥

बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा॥ ४६॥

श्रीकृष्णसे पराजित होनेपर इन बैलोंका घमण्ड टूट गया और उनका पराक्रम धरा-का-धरा रह गया। भगवान्‌ने सातों बैलोंको रस्सीसे एक साथ ही बाँध लिया। बालक जिस प्रकार रस्सी आदिसे बँधे हुए काठके बैलोंको खींचता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उन बैलोंको सहज ही खींचने लगे॥ ४६॥

ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः॥ ४७॥

यह देखकर नग्नजित् विस्मित हो गये और प्रसन्न होकर श्रीकृष्णको अपनी कन्याको अर्पण कर दिया। सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णने राजकुमारी सत्याका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया, जो सर्वथा उनके अनुरूप थी॥ ४७॥

राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः॥ ४८॥

राजा नग्नजित्‌की रानियोंने कन्याके अभिलषित पतिके रूपमें श्रीकृष्णको देखा, तो वे परम आनन्दित हो गयीं। उस समय अतीव उत्साहके कारण वहाँ महान उत्सव मनाया जाने लगा॥ ४८॥

शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः॥ ४९॥

शङ्ख, भेरी, नगारे इत्यादि बाजे बजने लगे। चारों ओर गाना-बजाना होने लगा और ब्राह्मण आशीर्वचन कहने लगे।

नर-नारियोंने सुन्दर परिधान पहन लिये तथा फूलोंके हार और अलङ्कारोंसे सज-धजकर मोद मनाने लगे। अयोध्यामें सर्वत्र आनन्द छा गया॥ ४९॥

दश धेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद्विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम्॥ ५०॥
नव नागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान्।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान्॥ ५१॥

कोशल-नरेश राजा नग्नजित्ने दस हजार गायें, गलोंमें हारोंसे विभूषित तथा उत्तम वस्त्रोंसे सुशोभित तीन हजार नव यौवना दासियाँ, नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ अरब सेवक दहेजके रूपमें प्रदान किये॥ ५०-५१॥

दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोशलः॥ ५२॥

इसके बाद राजा नग्नजित्ने वर-वधूको रथपर चढ़ा दिया और विशाल सैनिकोंसे परिवेष्टित कराके उन्हें विदा किया। राजाका हृदय पुत्री-स्नेहसे आर्द्र हो रहा था॥ ५२॥

श्रुत्वैतद्रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम्।
भग्नवीर्य्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा॥ ५३॥

इन सात बैलोंने पहले जिन राजाओंके पराक्रमको ध्वस्त किया था, वे सब-के-सब भगवान् श्रीकृष्णके साथ नाग्नजितीके विवाहका समाचार सुनकर चिढ़ गये। इन असहिष्णु राजाओंने यादवी सेनाके साथ राजकुमारी सत्याको ले जानेवाले श्रीकृष्णपर मार्गके बीचों-बीच आक्रमण कर दिया॥ ५३॥

तानस्यतः शरव्रातान् बन्धुप्रियकृदर्ज्जुनः।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥ ५४॥

गाण्डीवधारी-पाण्डववीर अर्जुन सदैव अपने सखा भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिए उत्साहित रहते हैं। सिंह जिस

प्रकार छोटे–छोटे जन्तुओंको खदेड़ देता है, उसी प्रकार अर्जुनने बाणोंकी वर्षा करके उन राजाओंको अनायास ही कालका ग्रास बना दिया॥ ५४॥

पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया।
रेमे यदूनामृषभो भगवान् देवकीसुतः॥ ५५॥

यादवश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने श्वसुर द्वारा दिये गये उपहारोंको बड़े आदरके साथ ग्रहण किया। वे नाग्नजिती एवं दहेजके साथ द्वारका आ गये और वहाँ सुखपूर्वक विहार करने लगे॥ ५५॥

श्रुतकीर्त्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः।
कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः॥ ५६॥

भद्रा कैकय देशकी राजकुमारी थी। वह श्रीकृष्णकी बुआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री थी। उसके सन्तर्दन आदि भाइयोंने स्वयं ही उसे श्रीकृष्णको दे दिया तो श्रीकृष्णने उसका पाणिग्रहण कर लिया॥ ५६॥

सुताञ्च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम्।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव॥ ५७॥

मद्रप्रदेशका राजा था मद्रराज। उसकी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न एक पुत्री थी, जिसका नाम था लक्ष्मणा। श्रीकृष्ण लक्ष्मणाको अकेले ही स्वयंवरसे बलपूर्वक उसी प्रकार हरण कर लाये थे, जिस प्रकार गरुडने बलपूर्वक स्वर्गसे अमृत हरण कर लिया था। भगवान्ने लक्ष्मणासे विवाह सम्पन्न किया॥ ५७॥

अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धेअष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८॥

परीक्षित्! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण नरकासुरका विनाश करके उसके अन्तःपुरमेंसे सुरम्य-दर्शना कई हजार बन्दी स्त्रियोंको ले आये और उन्हें अपनी भार्या बनाया॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अट्ठावनवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भौमासुरका उद्धार और उसके द्वारा बन्दी सोलह हजार एक सौ राजकन्याओंके साथ श्रीकृष्णका विवाह

श्रीराजोवाच—

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः॥ १॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मुनिवर! जैसा कि आप कह रहे थे कि भूमिपुत्र भौमासुर (नरकासुर) ने सोलह हजार सुन्दर स्त्रियोंको बन्दीगृहमें बन्दी कर रखा था। शार्ङ्ग-धनुषधारी भगवान् श्रीकृष्णने उसे क्यों और किस प्रकारसे मारा? हमें उनका यह अद्भुत चरित्र सुनाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्।
सभार्य्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषुपुरं ययौ॥ २॥

गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्व्वत आवृतम्॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—नरकासुरने वरुणदेवका (वारिवर्षी) छत्र, अदितिके (अमृतस्रावी) कुण्डल एवं मन्दर पर्वतपर स्थित मणिपर्वत नामक देव-विहार-स्थलीको छीन लिया था। देवराज इन्द्र द्वारका आये और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको नरकासुरके अत्याचारोंके विषयमें बतलाया। यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिय पत्नी सत्यभामाके साथ गरुडपर सवार होकर नरकासुरकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचे। प्राग्ज्योतिषपुर चारों ओर भयङ्कर एवं सुदृढ़ दस हजार मुर-पाशों (तारोंके बने हुए

जालों) के अवरोधोंसे पटा पड़ा था। उसके बाद चारों ओर पहाड़ोंके बने हुए किले थे और उसके बाद शस्त्रोंके घेरे थे। इसी प्रकार क्रमशः जल-दुर्ग, अग्नि-दुर्ग और वायु-दुर्ग बने हुए थे, जिनके कारण वहाँ पहुँचना अति दुष्कर था।

भगवान् वराह जब अतल लोकमें डूबी पृथ्वीको निकालने गये थे, उस समय पृथ्वीके संयोगसे भौमासुर नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे नरकासुर भी कहा जाता है। असुर बालकको देखकर भगवान् उसे मारना चाहते थे, परन्तु पृथ्वीदेवीने उनसे प्रार्थनाकी कि आप इसे उसी समय मारना, जब मैं आपसे कहूँ। भगवान्ने स्वीकृति प्रदान कर दी। भौमासुर अति बलवान् था, उसे इन्द्र भी नहीं मार सकते थे।

प्राग्ज्योतिषपुर जाते समय भगवान्ने अपनी पत्नी सत्यभामाको भी साथ ले लिया। भूदेवी सत्यभामाकी विभूति हैं। सत्यभामा एवं भूदेवीकी एकात्मकता है। उनकी आज्ञासे ही पुत्रका वध किया जायेगा। अतः नरकासुरके साथ महायुद्धरूप सङ्कटमें सत्यभामा ही आदेश करेंगी कि इस दुष्टको मार डालो।

एक दिन देवर्षि नारदने पारिजात पुष्प लाकर रुक्मिणीको प्रदान किया तो सत्यभामा रुष्ट हो गयीं। उनका मान शान्त करनेके लिए श्रीकृष्णने कहा, "मैं पारिजात वृक्ष ही तुम्हें लाकर दे दूँगा।" इस प्रतिश्रुतिकी रक्षाके लिए एवं अपना पराक्रम दिखानेके लिए भी श्रीकृष्णने सत्यभामाको साथ ले लिया था॥ २-३॥

गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः।
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्णने गदाके द्वारा चट्टानी किलेबन्दी एवं बाणों द्वारा शस्त्रोंकी मोरचेबन्दीको ध्वस्त कर दिया। सुदर्शन चक्रसे उन्होंने अग्निकी नाकेबन्दी, वायुकी किलेबन्दी और जलकी चहारदीवारीको भी तहस-नहस कर डाला॥ ४॥

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम्।
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः॥ ५॥

गदाधर भगवान् श्रीकृष्णके शङ्खनादने दुर्गमें स्थापित लौह-गोलक आदि निक्षेपक यन्त्रोंको एवं उसके रक्षक विपक्षी वीरोंके हृदयोंको भेद डाला। उन्होंने अपनी गदासे किलेकी मिट्टीसे बनी प्राचीरको (परकोटेको) तोड़ दिया॥ ५॥

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात्॥ ६॥

पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि प्रलयकालीन वज्रके समान भयङ्कर थी। इस ध्वनिको सुनकर जलके भीतर सोये हुए मुर दैत्यकी नींद टूटी और वह जलके बाहर निकल आया। मुरके पाँच सिर थे॥ ६॥

त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो,
युगान्तसूर्य्यानलरोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखै-
रभ्यद्रवत् तार्क्ष्यसुतं यथोरगः॥ ७॥

मुर नामका यह दैत्य प्रलयकालीन सूर्य एवं अग्निके समान प्रचण्ड, तेजस्वी, दुर्धर्ष और भयङ्कर था। वह त्रिशूल लेकर श्रीकृष्णकी ओर ऐसे झपटा, जैसे सर्प गरुडकी ओर मुख करके आगे बढ़ता हो। उसका प्रयास ऐसा लग रहा था, मानो वह अपने पाँचों मुखोंसे तीनों लोकोंको निगल लेगा॥ ७॥

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते,
निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः।
स रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महान्-
आपूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८॥

इसके बाद उसने त्रिशूल घुमाया और भयङ्कर वेगसे गरुडजीकी ओर चलाया तथा अपने पाँचों मुखोंसे भयङ्कर गर्जना करने लगा।

इस घोर गर्जनने स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, समस्त दिशाओं एवं आकाशको भर दिया। यहाँ तक कि सारे ब्रह्माण्डमें उसकी प्रतिध्वनि होने लगी॥ ८॥

तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते,
हरिः शराभ्यामभिनत् त्रिधौजसा।
मुखेषु तञ्चापि शरैरताडयत्,
तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि भयङ्कर त्रिशूल गरुडकी ओर चला आ रहा है, तब उन्होंने उस त्रिशूलको दो बाणोंके द्वारा तीन खण्डोंमें काट डाला। इसके बाद उन्होंने मुरासुरके पाँचों मुखोंपर बाणोंसे प्रहार किया, जिससे उसका क्रोध और भी भड़क उठा। प्रत्युत्तरमें मुरने भगवान्पर गदा चलायी॥ ९॥

तामापतन्तीं गदया गदां मृधे,
गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः,
शिरांसि चक्रेण जहार लीलया॥ १०॥

अजित भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ओर आती हुई उस गदाको अपनी गदासे रोक दिया और युद्धभूमिमें ही उसके हजारों टुकड़े कर डाले। अब मुर अपनी भुजाओंको फैलाकर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा, तब गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही चक्रसे सहज ही उसके पाँचों मस्तकोंको छिन्न कर डाला॥ १०॥

व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो,
निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः,
प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः॥ ११॥

मुरासुर सिर कटते ही निष्प्राण होकर जलमें उसी प्रकार गिर पड़ा, जिस प्रकार इन्द्रके वज्रके आघातसे पर्वतके शिखर

छिन्न-भिन्न होकर समुद्रमें गिर जाते हैं। पिताके वधसे उसके सातों पुत्र शोकातुर हो गये और क्रोधसे भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रतिकार हेतु युद्धके लिए तैयार हो गये॥ ११॥

ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसु-
र्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे,
भौमप्रयुक्ता निरगन् धृतायुधाः॥ १२॥

ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण—इन सात मुर-पुत्रोंने अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये तथा 'पीठ' नामक असुर-सेनापतिको अग्रवर्त्ती करके भौमासुरके आदेशसे युद्धक्षेत्रमें बाहर आये॥ १२॥

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः,
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणै-
रमोघवीर्य्यैस्तिलशश्चकर्त्त ह॥ १३॥

ये भयङ्कर असुर क्रोधसे तिलमिला रहे थे। वे श्रीकृष्णके समीप आये और उनपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और शूल आदि प्रचण्ड शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। भगवान्ने अपने अमोघ बाणोंसे शत्रुओंके शस्त्रोंको तिल-तिल करके जीर्ण-शीर्ण कर डाला॥ १३॥

तान् पीठमुख्याननयद् यमक्षयं,
निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्म्मणः।
स्वानीकपानच्युतचक्रसायकै-
स्तथा निरस्तान्नरको धरासुतः।
निरीक्ष्य दुर्मर्षण् आस्रवन्मदै-
र्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्॥ १४॥

इस प्रकार भगवान्ने पीठ आदि सभी शत्रुओंके मस्तक, जाँघ, बाहु, पैर और कवच आदिको काट डाला और उन्हें यमालय

पहुँचा दिया। नरकासुरने देखा कि श्रीकृष्णने बाणों और चक्रके प्रहारोंसे उसके सारे सेनापतियोंका संहार कर डाला है, तब वह इस विनाशको सह नहीं पाया और समुद्र-तटपर उत्पन्न हुए बहुत-से मदवाले हाथियोंको लेकर पुरसे बाहर निकला॥ १४॥

दृष्ट्वा सभार्य्यं गरुडोपरि स्थितं,
सूर्य्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं,
योधाश्च सर्व्वे युगपत् स्म विव्यधुः॥ १५॥

नगरसे बाहर आकर नरकासुरने देखा कि गरुडके ऊपर महारानी सत्यभामाके साथ श्रीकृष्ण इस प्रकार विराजमान हैं, जिस प्रकार सूर्यमण्डलके ऊपर विद्युत्के साथ श्यामल मेघ विराजमान हो। यह देखते ही नरकासुरने उनपर शतघ्नी (भाला) नामक शक्ति चलायी और उसके सैनिकोंने भी अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र एक साथ छोड़े॥ १५॥

तद्भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो,
विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं,
चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम्॥ १६॥

तब भगवान्ने तत्क्षण ही चित्र-विचित्र पङ्खोंसे युक्त तीक्ष्ण बाण चलाये और नरकासुरकी सेनाके वीरोंकी भुजाओं, जंघाओं, ग्रीवाओं और धड़ोंको काट-काट कर गिरा दिया। भगवान्ने उसके हाथियों एवं घोड़ोंको भी मार डाला॥ १६॥

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह।
हरिस्तान्यच्छिनत तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः॥ १७॥

उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान्।
गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः॥ १८॥

हे कुरुवंशपालक! उस समय गरुड अपने पङ्खोंसे सारे हाथियोंका विध्वंस कर डाला। भगवान्ने उसकी पीठ पर बैठे हुए

ही नरकासुरके सैनिकोंको पहले तो मारा और बादमें उनके द्वारा चलाये हुए जो खड्गादि अस्त्र एवं शरादि शस्त्र अपनी ओर आ रहे थे, उनमेंसे प्रत्येकको अपने तीन-तीन तीखे बाणोंसे काट डाला। गरुडकी चोंच, पङ्ख और पञ्जोंके प्रहारोंसे हाथियोंको बड़ी-भारी पीड़ा हुई और वे युद्धक्षेत्रको छोड़कर नगरके भीतर प्रवेश करने लगे। नरकासुर अकेला ही युद्ध करता रहा॥ १७-१८॥

पुरमेवाविशन्नार्त्ता नरको युध्ययुध्यत।
दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्द्दितं स्वकम्॥ १९॥
तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः।
नाकम्पत तया विद्धो मालाहत उव द्विपः॥ २०॥

नरकासुरने देखा कि उसकी सेना और हाथी गरुडकी मारसे पीड़ित होकर भाग रहे हैं, तो उन्होंने गरुडपर उस शक्तिसे प्रहार किया जिसने वज्रको भी प्रतिरुद्ध अर्थात् असफल कर दिया था। गरुड उस शक्तिसे तनिक भी विचलित नहीं हुए और निर्विकार भावसे ऐसे खड़े रहे मानो हाथीपर पुष्प-मालाओंसे किसीने प्रहार किया हो॥ १९-२०॥

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः।
तद्विसर्गात् पूर्व्वमेव नरकस्य शिरो हरिः।
अपाहरद्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना॥ २१॥

नरकासुरके जब सारे प्रयत्न विफल हो गये, तब उसने श्रीकृष्णका संहार करनेके लिए अमोघ त्रिशूल धारण कर लिया। वह इसे छोड़ता, इसके पहले ही 'इसे शीघ्र ही मार दीजिये'—सत्यभामाके ये वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने छुरेकी धारके समान तीखी धारवाले चक्रके द्वारा हाथीपर बैठे हुए नरकासुरका सिर काट डाला॥ २१॥

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं,
बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलम्।

हा हेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा,
माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे॥ २२॥

नरकासुरका सिर कुण्डलों एवं सुनहले मुकुटसे विभूषित होनेके कारण जगमगा रहा था और भूमिपर गिरकर भी भलीभाँति सुशोभित हो रहा था। उसके मरते ही उसके सगे-सम्बधी 'हाय-हाय' करने लगे और ऋषिगण 'साधु-साधु' 'हे पापिष्ट नरक! तु जो मर गया, तो बहुत अच्छा हुआ' आदि वाक्य कहने लगे। देवगण आकाशसे श्रीकृष्णके ऊपर पुष्प-मालाओंकी वर्षा करने लगे और स्तव-स्तुति करने लगे॥ २२॥

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले,
प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्,
प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम्॥ २३॥

इसके बाद पृथ्वीदेवी श्रीकृष्णके पास आयीं। उन्होंने भगवान्को अदितिके सुवर्णमण्डित, रत्नजड़ित और प्रतप्त (जगमगाते हुए) दो कुण्डल, वरुणका छत्र एवं मणि-पर्वत लौटा दिये। इनके साथ ही उन्हें वैजयन्ती एवं वनमाला भी प्रदान कीं॥ २३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम्।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया॥ २४॥

हे राजन्! तत्पश्चात् पृथ्वीदेवीने भक्तिभावसे परिपूर्ण हृदयसे भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा पूजित विश्वेश्वर श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगीं॥ २४॥

श्रीभूमिरुवाच—

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २५॥

पृथ्वीदेवीने कहा—हे देव-देवेश! हे शङ्ख-चक्र-गदाधर! आप भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए अपने विविध स्वरूप प्रकट

करते हैं। हे देव! मैं आपको प्रणाम करती हूँ (आपका पुत्र तो विद्वेषी है, परन्तु मेरे अन्तःकरणको तो आप जानते हैं)॥ २५॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २६॥

आप जगत्के कारणस्वरूप कमल-नाभ हैं, आप सत्कीर्त्तिरूप कमलोंकी मालासे विभूषित रहते हैं। आपके नेत्र खिले हुए कमलोंके समान प्रफुल्लित एवं सन्ताप-विनाशक हैं और कमलके समान ही आपके श्रीचरण सुसेव्य हैं। मैं आपको बार-बार प्रणाम करती हूँ॥ २६॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः॥ २७॥

हे भगवन्! आप निरतिशय ऐश्वर्यशाली हैं। हे वासुदेव! आप समस्त प्राणियोंके आश्रय हैं। हे विष्णो! आप सर्व-व्यापक हैं। हे महापुरुष! आप समस्त कारणोंके कारण हैं। हे आदिबीज! आप समस्त कार्योंकी पूर्वावस्थामें विद्यमान हैं। हे पूर्णबोध! आप स्वानन्दानुभवपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं। मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ २७॥

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २८॥

हे अचिदन्तरात्मन्! आप स्वरूपतः अजन्मा एवं अव्यय हैं। हे उत्कृष्ट-अपकृष्ट जीवोंके परमात्मन्! आप अज अर्थात् स्वतःसिद्ध होते हुए भी जगत्के जन्मदाता हैं! हे भूतात्मन्! आप अनन्तशक्तिमय ब्रह्म हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करती हूँ।

पृथ्वीदेवीकी स्तुतिका तात्पर्य इस प्रकार है—

हे भगवान्! आप अद्वितीय ऐश्वर्यवान् भगवान् होकर भी वासुदेव हैं। वसुदेव-पुत्र होनेपर भी विष्णु हैं। विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक होकर भी पुरुषवत् परिच्छिन्न हैं। पुरुषवत् परिच्छिन्न होकर भी आदि बीज हैं—सभीके आदिस्वरूप श्रीनारायणके भी

आविर्भावके प्रेरक एवं पूर्णबोध तथा पूर्णज्ञानस्वरूप हैं। अप्राकृत अनन्त विशेषणोंसे युक्त होकर भी आप निर्विशेष ब्रह्म हैं। आप अज होकर भी इस विश्वके जनक हैं, जनक होनेपर भी आप निर्विशेषस्वरूप हैं, निर्विशेषस्वरूप होकर भी आप अनन्तशक्ति सविशेषस्वरूप हैं, अनन्तशक्ति होनेपर भी आपकी तटस्था, बहिरङ्गा और अन्तरङ्गा शक्तियाँ प्रधान हैं—ये भी त्वदात्मक ही हैं। उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट आप सभी की आत्मा हैं। आप ही भूतात्मा अर्थात् पञ्चभूतमय देह हैं, आप ही परमात्मा हैं, आप ही अन्तर्यामी हैं—आपको बारम्बार नमस्कार है॥ २८॥

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो,
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते,
कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः॥ २९॥

हे अजन्मा प्रभो! आप जगत्की सृष्टिकी इच्छासे कार्योन्मुख उत्कट रजो गुणको स्वीकार करते हैं। जगत्के संहारके लिए तमोगुणको एवं जगत्की स्थितिके लिए सत्त्वगुणको धारण करते हैं। आप स्वयं इन गुणोंसे कभी आवृत नहीं होते, इनसे लिप्त नहीं होते। हे जगत्पति! आप काल, प्रकृति एवं पुरुष हैं, तथापि अपनी स्वरूपशक्ति द्वारा इन तीनोंसे परे भी हैं॥ २९॥

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो,
मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि च।
कर्त्ता महानित्यखिलं चराचरं,
त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः॥ ३०॥

हे भगवन्! मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ, मन, इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, अहङ्कार एवं महत्-तत्त्व (चित्त) आदि समस्त समष्टिभूत चराचर जगत् आपमें ही विद्यमान है। हे स्वामिन्! कहाँ तक कहूँ, भ्रमके कारण ही

चराचर जगत्की पृथक् अथवा स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होती है। जो आपमें भौतिक इन्द्रियादिका निरूपण करते हैं, वे भ्रान्त हैं; आपकी देह एवं इन्द्रियाँ सभी आपके समान चिदानन्दस्वरूप हैं॥ ३०॥

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं,
भीतः प्रपन्नार्त्तिहरोपसादितः।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं,
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ ३१॥

हे शरणागत दुःखविनाशन! नरकासुरका यह पुत्र भगदत्त बहुत डरा हुआ है, उसे मैं आपके चरणकमलोंमें ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा कीजिये। मेरे इस पौत्रके मस्तकपर आप अपना सर्वपाप-भञ्जक कर-कमल रख दीजिये॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

इति भूम्यर्थितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया।
दत्त्वाभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत्॥ ३२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! पृथ्वी देवीने जब भक्ति-भावसे अति विनम्र होकर इस प्रकारके स्तुति-वचनोंसे भगवान्से प्रार्थना की, तब भगवान्से भगदत्तको अभय प्रदान कर दिया। इसके बाद उन्होंने समस्त समृद्धियोंसे सम्पन्न नरकासुरके भवनमें प्रवेश किया॥ ३२॥

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥ ३३॥

श्रीकृष्ण जब नरकासुरके भवनमें विचरण कर रहे थे, तब उन्होंने सोलह सहस्र राजकन्याओंको देखा, जिन्हें नरकासुर राजाओं एवं सिद्धोंसे छीन लाया था॥ ३३॥

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्॥ ३४॥

इन राजकन्याओंने जब अन्तःपुरमें प्रविष्ट नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णको देखा, तो वे मोहित हो गयीं और मन-ही-मन अपना सौभाग्य मानने लगीं। उन सभी राजकन्याओंने अपने-अपने हृदयोंमें उन्हें दैव-प्रेरित परम प्रियतम पतिके रूपमें वरण कर लिया॥ ३४॥

भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम्।
इति सर्व्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः॥ ३५॥

ये नरश्रेष्ठ मेरे पति हों, विधाता मेरी मनोकामना सफल करे—इस प्रकारसे सभी राजकन्याओंने पृथक्-पृथक्‌रूपसे अपने हृदयको श्रीकृष्णके प्रति निछावर कर दिया॥ ३५॥

ताः प्राहिणोद्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः।
नरयानैर्महाकोशान् रथाश्वान् द्रविणं महत्॥ ३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने इन राजकन्याओंको निर्मल वस्त्रोंसे सुशोभित करवाया और उन्हें रथ, घोड़े, श्रेष्ठ धन और महानिधिके साथ मनुष्य-वाहित पालकियोंमें बिठाकर द्वारका भिजवा दिया॥ ३६॥

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्द्दन्तांस्तरस्विनः।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः॥ ३७॥

ऐरावत वंशमें उत्पन्न चार-चार दाँतोंवाले महावेगशाली धवल वर्णके चौंसठ हाथियोंको भी भगवान्‌ने द्वारका भिजवा दिया॥ ३७॥

गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण महेन्द्राण्या च सप्रियः॥ ३८॥
चोदितो भार्य्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति।
आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत् पुरम्॥ ३९॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण महारानी सत्यभामाके साथ स्वर्गमें इन्द्रके महलमें गये और अदितिको दोनों कुण्डल प्रदान किये। वहाँ इन्द्र एवं उनकी पत्नी शची देवीने भगवान्‌का बहुत सत्कार किया। वहाँसे लौटते हुए भगवान्‌ने सत्यभामाके अनुरोध पर पारिजात वृक्षको उखाड़कर गरुडके ऊपर रख लिया तथा इन्द्रके

साथ अन्यान्य देवताओंको पराजित कर उस वृक्षको द्वारका ले आये॥ ३८-३९॥

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः॥ ४०॥

भगवान्ने उस वृक्षको सत्यभामाके भवनसे संलग्न पुष्पोद्यानमें लगवा दिया, जिससे उस उपवनकी शोभा और भी बढ़ गयी। पारिजातकी सुगन्ध एवं मकरन्द-रसके आसक्त भौंरे स्वर्गसे पीछा करते हुए द्वारकापुरी तक आ गये॥ ४०॥

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः,
पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महान्,
अहो सुराणाञ्च तमो धिगाढ्यताम्॥ ४१॥

परीक्षित्! देखो तो सही, देवतालोग कैसे स्वार्थी होते हैं, इन्द्रने अपना काम बनानेके लिए पहले तो मुकुटके अग्रभागसे श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। नरकासुर-वधके रूपमें अपने कार्यकी उनसे प्रार्थना की, परन्तु जब काम सिद्ध हो गया, तब वे ज्ञानी होकर भी भगवान् श्रीकृष्णके ही विरोधी हो गये। अहो! देवताओंमें कैसा तमोगुण (क्रोध) होता है? इसका एक मात्र कारण है ऐश्वर्य। अहो! ऐसे ऐश्वर्यको धिक्कार है। यह असम्भव अनर्थोंको उत्पन्नकर देता है॥ ४१॥

अथो मुहूर्त्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवान् तावद्रूपधरोऽव्ययः॥ ४२॥

इसके बाद भगवान्ने अपनी अचिन्त्यशक्तिसे एक ही साथ सोलह हजार रूपोंको प्रकट किया और एक ही समय विभिन्न महलोंमें उन राजकन्याओंके साथ पृथक्-पृथक्रूपसे (मूलरूपसे पृथक् नहीं बल्कि एक ही विग्रहके प्रकाश-भेदसे) विवाह किया (सभी विग्रह पूर्ण थे, अंशरूप नहीं थे। न ही कायव्यूह था।

देवकी आदि पिता-माता एवं बन्धुगण भी प्रत्येक गृहमें एक ही समयमें उपस्थित थे)॥ ४२॥

गृहेषु तासामनपाय्यतर्ककृत्-
निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो,
यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन्॥ ४३॥

परीक्षित्! अचिन्त्यचरित श्रीकृष्ण अपनी उन परम सुन्दरी पत्नियोंके साथ असमोर्ध्व (अतुलनीय) महलोंमें सुस्थिर भावसे विहार करने लगे। भगवान्‌की पत्नियोंके महलोंमें ऐसी दिव्य सामग्रियाँ भरी हुई थीं, जिनकी तुलना और कहीं भी नहीं हो सकती थी, तब अधिककी तो बात ही क्या है! भगवान् तो सदैव आत्मानन्दमें सराबोर रहते हैं, तथापि लक्ष्मी देवीकी अंशस्वरूपा उन कामिनियोंके साथ भगवान्‌ने इस प्रकार विहार किया, जिस प्रकार सांसारिक लोग गृहस्थ धर्मका आचरण करते हैं (वैकुण्ठमें एकमात्र लक्ष्मीके साथ श्रीकृष्णके अंश नारायण लीला करते हैं। अतएव वैकुण्ठसे भी द्वारकाका ऐश्वर्य अधिक है। गृहमेधीके समान वे धर्मका आचरण करते हैं, इसलिए माधुर्य भी अधिक है। श्रीकृष्ण 'चन्द्र' हैं तथा उनकी महिषियाँ उनकी 'कलाएँ' हैं। पद्मपुराणमें कहा गया है कि कैशोरमें जो गोपकन्याएँ थीं, वे ही यौवनमें द्वारकामें राजकन्याएँ हुई हैं। पूर्णतम श्रीवृन्दावननाथके पूर्णप्रकाश द्वारकानाथ हैं। गोपियोंका पूर्णप्रकाश पट्टमहिषियाँ हैं)॥ ४३॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोक नवसङ्गमजल्पलज्जाः॥ ४४॥

ब्रह्मादि देवता भी जिनकी प्राप्तिका उपाय नहीं जानते, उन्हीं रमापति भगवान्‌को पतिके रूपमें प्राप्त करके वे कामिनियाँ

निरन्तर अभिवर्द्धित अनुरागका अनुभव करती थीं। वे मधुर मुसकानसे परिपूर्ण, प्रेममयी चितवनके आदान-प्रदान, नव सङ्गम एवं उससे घटित प्रसङ्गोंसे उदित प्रेमालाप करती हुईं सलज्ज भावसे भगवान्‌की सेवा करती रहती थीं॥ ४४॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजन गन्धमाल्यैः।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पारिजातहरण-नरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

उन रमणियोंमेंसे प्रत्येककी सौ-सौ दासियाँ रहनेपर भी वे स्वयं ही आगे जाकर श्रीकृष्णको आदरपूर्वक लिवा लाना, उत्तम आसन प्रदान करना, सम्यक्‌रूपसे अर्चन करना, चरण पखारना, भोजन कराना, ताम्बूल प्रदान करना, पाद-संवाहन करना, पंखा झलना, चन्दनादि लगाना, माला पहनाना, केश संवारना, शय्या रचना करना, शयन कराना एवं विविध उपहार-सामग्रियोंका संग्रह करना आदि सेवाएँ स्वयं अपने हाथोंसे करती थीं॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनसठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और रुक्मिणीजीका संवाद

श्रीशुक उवाच—

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्य्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक दिनकी बात है कि समस्त जगत्के परमपिता और ज्ञानदाता जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीकी शय्यापर सुखपूर्वक विराजमान थे। रुक्मिणी अपनी सखियोंके साथ अपने पतिदेव श्रीकृष्णकी सेवा करते हुए उन्हें स्वयं पंखा झल रही थीं॥ १॥

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः॥ २॥

जो जगदीश्वर खेल-ही-खेलमें विश्वकी सृष्टि-स्थिति एवं संहार करते हैं, वे भगवान् स्वयं अजन्मा होकर भी अपनी बनाई हुई धर्म-मर्यादाओंकी रक्षाके लिए ही यदुवंशमें अवतीर्ण हुए थे (वक्ष्यमाण प्रसङ्गकी भूमिकाके लिए श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं कि जैसे सृष्टि आदि भगवान्की विनोद-लीला है, उसी प्रकार रुक्मिणीके प्रेमसेवा-रस-भङ्ग-विषयमें कृष्णकी विनोदप्रियता ही कारण है, साथ ही धर्म-मर्यादाके समान प्रेम-मर्यादाकी दृढ़ता भी उनका अभीष्ट है)॥ २॥

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि॥ ३॥

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः॥ ४॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।
धूपैरगुरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः॥ ५॥

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्य्यङ्के कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम्॥ ६॥

हे राजन्! महारानी रुक्मिणी देवीका भवन अद्भुत था। इसमें चारों ओर चन्द्रातप (चँदोवे) टँगे हुए थे, जिनमें देदीप्यमान मोतियोंकी लड़ियाँ लटकी हुई थीं। मणिमय दीप जगमगा रहे थे। मल्लिकाके पुष्पों, हारों तथा अन्य विविध कुसुमोंकी गन्धके लोभी भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे, सुन्दर-सुन्दर झरोखोंकी जालियोंसे निर्मल चन्द्रकी समुज्ज्वल किरणें छिटक रही थीं। पुष्पोद्यानसे पारिजातकी सुगन्ध लेकर वायु प्रवाहित हो रही थी। गवाक्षोंके रन्ध्रोंसे जो वायु बाहर आ रही थी, वह अगरकी धूपसे सुवासित थी। इस भवनमें दूधके फेनके समान कोमल, श्वेत, श्रेष्ठ एवं उज्ज्वल बिछौनों और तकियोंसे युक्त पलङ्गपर त्रिलोकीके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे। रुक्मिणी अपने पतिकी सेवा कर रही थीं॥ ३-६॥

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम्॥ ७॥

रुक्मिणीदेवीने सखीके हाथसे रत्नमण्डित दण्डसे युक्त चामर अपने हाथमें ले लिया और स्वयं उससे वायु सञ्चालन करते हुए जगदीश्वर श्रीकृष्णकी सेवा करने लगीं॥ ७॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां,
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता ।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार-
भासा नितम्बधृतया च पराद्ध्‍र्यकाञ्च्या॥ ८॥

रुक्मिणी श्रीकृष्णके समीप विराजमान थीं। उनके हाथोंमें अङ्गुठियाँ, कङ्गन और चँवर सुशोभित हो रहे थे तथा चरणोंमें सुशोभित मणिमय नूपुर सुमधुर ध्वनि कर रहे थे। नितम्ब-प्रान्तपर बहुमूल्य करधनीकी लड़ियाँ लटक रही थीं। कुङ्कुम-रागसे सुरञ्जित

स्तन वस्त्राञ्चलसे ढके हुए थे। रत्न-हारकी प्रभासे उनकी शोभा और भी बढ़ रही थी॥ ८॥

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य,
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे॥ ९॥

रुक्मिणीका मुखमण्डल अलकावलियों एवं कुण्डल-द्वयसे सुशोभित हो रहा था, कण्ठ स्वर्णहार एवं पदकसे अलंकृत होकर चारों दिशाओंको आलोकित कर रहा था। उनके अधरों पर मुसकराहटकी अमृत-वर्षा उल्लसित थी। वे सर्वतोभावसे लीला-विग्रहधारी भगवान्के ही अनुरूप थीं। श्रीकृष्ण लक्ष्मी-स्वरूपिणी, अनन्यगति, परम सुन्दरी (वैकुण्ठ स्थित लक्ष्मीसे भी बहुत अधिक सौन्दर्यशालिनी) रुक्मिणीको देखकर परम सन्तुष्ट हुए और मन्द-मन्द मुसकराते हुए उनसे कहने लगे।

(श्रीकृष्ण जब देवरूप धारण करते हैं, लक्ष्मीदेवी भी देवरूपा हो जाती हैं, श्रीकृष्ण जिस समय मनुष्य-लीला करते हैं, लक्ष्मी देवी भी उस समय मानुषी हो जाती हैं। श्रीकृष्णने विचार किया कि पारिजात-प्रसङ्गमें तो सत्यभामाने कोप-वचनोंकी वर्षा की थी, रुक्मिणी शान्त रही थीं, रुक्मिके विरूप करने पर भी यह कुपित नहीं हुई, अतः आज परिहास करके इनके रोषोक्ति-माध्वीका आस्वादन किया जाय कि ये कैसी प्रतिक्रिया करती हैं)॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्य्यबलोर्ज्जितैः॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजनन्दिनी! बहुत-से नरपति जो लोकपालोंके समान ऐश्वर्यवान् और महाप्रभावशाली थे, रूप, औदार्य एवं बलमें भी बढ़े-चढ़े थे, बड़े धनवान् थे—वे पहले तुम्हें अपनी पत्नी बनाना चाहते थे॥ १०॥

तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्म्मदान्।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान्॥ ११॥

तुम्हारे पिता और भाईकी भी इच्छा थी कि तुम्हारा हाथ उनके हाथमें दे दिया जाय; फिर तुमने किसलिए अपने भवनमें स्वयं ही आये हुए कामोन्मत्त शिशुपाल इत्यादि राजाओंका त्याग कर दिया और मैं जो तुम्हारे अनुरूप किञ्चित् मात्र भी नहीं हूँ, उसका वरण कर लिया?॥ ११॥

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रू समुद्रं शरणं गतान्।
बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान्॥ १२॥

हे सुन्दरी! हमने तो जरासन्ध आदि राजाओंके डरसे समुद्रकी शरण ली है और छिपकर इसके गर्भमें (बीचों-बीच) आ बसे हैं। महाबलशाली राजाओंसे हमारा व्यवहार शत्रुतापूर्ण है और राजसिंहासनका मैंने प्रायः त्याग ही कर रखा है॥ १२॥

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम्।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः॥ १३॥

हे सुन्दरी! हमारे आचरणके विषयमें भी लोग अच्छी तरहसे कुछ भी नहीं जानते। (कभी हम परदारा-ग्रहण करते हैं तो कभी वैदिक आचारसे सम्पन्न रहते हैं, कभी धार्मिक रहते हैं और कभी अधार्मिक—कुछ भी स्पष्ट नहीं है) हमें लौकिक व्यवहार भी ठीकसे आता नहीं है। स्त्रीके वशीभूत होकर हम उन्हें रिझाते भी नहीं। हम जैसे पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करनेसे स्त्रियाँ प्रायः कष्ट-ही-कष्ट पाती हैं (और यदि कोई नहीं पाती तो यह उसका गुण है)॥ १३॥

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चन जनप्रियाः।
तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे॥ १४॥

हे सुन्दरी! मैं तो निष्किञ्चन हूँ और चिरकालसे अपने जैसे अकिञ्चनोंका ही आदर करता रहा हूँ। इसीसे धनी लोग प्रायः मेरी सेवा नहीं करते॥ १४॥

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥ १५॥

जब दोनोंके ही कुल, जाति, ऐश्वर्य, सौन्दर्य परस्पर समान हों, तभी विवाह अथवा मित्रता करनी चाहिये। अपनेसे उत्तम अथवा अधमके बीच विवाह अथवा मित्रता उचित नहीं होते (तुम्हारे पिता-दादा बहुत धनवान् एवं बहुत विद्वान् हैं, परन्तु मेरे पिता वसुदेवके पास तो वित्तका अभाव है और मैंने तो मात्र यत्किञ्चित् उपार्जन किया है। तुम महान् कुलमें उत्पन्न हुई हो और मैं यादव होनेके कारण अकुलीन ही हूँ। तुम विदर्भ देशके कुण्डिनादि बहुत-से नगरकी अधिकारिणी हो, मैं तो आनर्त्त-देश-स्थित मात्र एक द्वारकानगरीमें वास करता हूँ और प्रिये! तुम गोरी हो, मैं काला हूँ। इस प्रकार हम दोनोंका विवाह युक्तियुक्त नहीं है)॥ १५॥

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा॥ १६॥

हे विदर्भराजकुमारी! तुमने अदूरदर्शिताके कारण इन विषयोंपर अच्छी प्रकारसे विचार-मन्थन नहीं किया। मुग्ध भिक्षुकोंसे मेरी झूठी प्रशंसा सुनकर बिना सोचे-विचारे मुझ गुणहीनको अपने पतिके रूपमें वरण कर लिया॥ १६॥

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे॥ १७॥

अब तुम्हें ऐसा करना चाहिये कि जो सब प्रकारसे तुम्हारे अनुकूल हो, ऐसे किसी श्रेष्ठ क्षत्रिय राजाको पतिके रूपमें स्वीकार कर लो। इससे तुम इस लोकमें और परलोकमें उत्तम विषय-सुखोंको प्राप्त कर सकोगी॥ १७॥

चैद्य-शाल्व-जरासन्ध-दन्तवक्रादयो नृपाः।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः॥ १८॥

हे वामोरु! हे सुन्दरी! शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि राजा मुझसे बड़ा विद्वेष रखते हैं। तुम्हारा बड़ा भाई भी मुझसे वैर भाव रखता है॥ १८॥

तेषां वीर्य्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम्॥ १९॥

हे कल्याणी! दुर्जनोंके बल–पौरुषको हर लेना मेरा स्वभाव है। ये समस्त राजा अपनी वीरताके कारण मदान्ध हो रहे थे। उनके गर्वको ध्वस्त करनेके लिए ही मैंने तुम्हारा हरण किया था, और कोई कारण नहीं था॥ १९॥

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥ २०॥

हम तो देह–गेह आदि विषयोंसे उदासीन हैं। स्त्री, पुत्र धनादिकी कामनाओंसे रहित होकर निष्क्रियरूपसे आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं। दीपककी शिखाके समान केवल साक्षी मात्र रहते हैं॥ २०॥

श्रीशुक उवाच—

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव।
मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत्॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! रुक्मिणी सोचा करती थीं कि उनके पति श्रीकृष्ण सदा–सर्वदा उनके साथ रहते हैं, क्षणभरके लिए भी अलग नहीं होते। अतः वे अपनेको श्रीकृष्णकी अन्यान्य पत्नियोंकी अपेक्षा अधिक विशिष्ट मानती थीं। उनके इसी दर्पको (कि मेरे पतिने मुझे सर्वाधिक सौभाग्यवती बनाया है) चूर्ण करनेके लिए भगवान् इतना ही कहकर चुप हो गये॥ २१॥

इति त्रिलोकेशपतेस्तदाऽऽत्मनः,
प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्व्वमप्रियम्।

आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथु-
श्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह॥ २२॥

ब्रह्मादि तीनों लोकोंके अधिपतियोंके अधिपति अपने प्रियतमके इन अश्रुतपूर्व एवं अप्रिय वचनोंको सुनकर रुक्मिणीका हृदय काँप उठा। ऐसे वचन उन्होंने पहले कभी नहीं सुने थे। उन्हें पति द्वारा परित्यक्त किये जानेका भय हो गया। वे रोते-रोते अगाध चिन्ताके समुद्रमें डूब गयीं॥ २२॥

पदा सुजोतेन नखारुणश्रिया,
भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ,
तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्॥ २३॥

उस समय वे लाल रङ्गके नखोंके सौन्दर्यसे सुशोभित सुकोमल कमलके समान चरणोंसे भूमिको कुरेदने लगीं। कज्जल-रागसे मिले हुए कृष्ण-वर्णके आँसुओंसे कुङ्कुम-राग-रञ्जित वक्षःस्थल आर्द्र होने लगा। उन्हें अपार दुःख हुआ। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और वे मुख नीचा किये हुए ठिठकी-सी रह गयीं॥ २३॥

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्तात् श्लथद्वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्,
रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य्य केशान्॥ २४॥

अतिशय दुःख, भय एवं शोकके कारण उनकी बुद्धि भ्रमित होने लगी। कलाईका कङ्गन गिर पड़ा। चामर भी धरतीपर आ गिरा। केश बिखर गये। चित्तकी दुर्बलता एवं बुद्धिकी विकलताके कारण देह पृथ्वीपर इस प्रकार गिर पड़ी, जिस प्रकार वायु-वेगसे उखड़ा हुआ केलेका वृक्ष विध्वस्त होकर गिर पड़ा हो (बुद्धि-लोप होनेपर चेतनाहीन हुईं, उसके बाद मोहरूप नवमी दशाको प्राप्त हुईं और अन्ततः स्तम्भ आदि अन्तिम प्रलयरूप सात्विक दशाको प्राप्त हुईं हैं)॥ २४॥

तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत॥ २५॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उनकी प्रियतमा रुक्मिणी हास-परिहासके गम्भीर अभिप्रायको समझनेमें असमर्थ है। उसका प्रेम-बन्धन इतना दृढ़ है कि इसका वर्णन करना भी सम्भव नहीं है, यह जानकर उनका हृदय करुणासे भर गया॥ २५॥

पर्य्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।
केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना॥ २६॥

भगवान् शीघ्र ही शय्यासे भूमिपर उतरे और अपना चतुर्भुज स्वरूप प्रकट किया। उन्होंने रुक्मिणीको धरतीसे उठा लिया। इसके बाद उनके बिखरे केशोंको सँवारा और अपने करकमलोंसे उनके मुखको पोंछा॥ २६॥

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।
आश्लिष्य बाहुना राजन् अनन्यविषयां सतीम्॥ २७॥
सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः॥ २८॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण सान्त्वना देनेकी कलामें अति निपुण हैं। वे सज्जनोंके एकमात्र आश्रय हैं। श्रीकृष्णने रुक्मिणीके आँसुओंसे सुशोभित नेत्रों एवं शोकाश्रुओंके वेगपूर्वक प्रवाहसे सिक्त वक्षःस्थलको भी पोंछा। अपनी भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया। तदनन्तर अनन्य गति एवं अति दयनीय अपनी पत्नीको मृदु वचनोंसे सान्त्वना देने लगे। भगवान्के चातुरीपूर्ण हास-परिहाससे रुक्मिणीका हृदय विकल हो गया था। वस्तुतः वे इस प्रकारके परिहासके योग्य ही न थीं॥ २७-२८॥

श्रीभगवानुवाच—

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय सहचरी! तुम मुझमें कोई दोष मत देखो! इस तरह रुठो मत। हे विदर्भ-नन्दिनी! तुम्हारा हृदय जो मेरे प्रति इतना आसक्त है—यह मैं अच्छी तरहसे जानता हूँ। हे सुन्दरि! मैंने तो केवल तुम्हारी प्रेमभरी बात सुननेके लिए ही हास-परिहास किया था कि तुम क्या-क्या कहोगी?॥ २९॥

मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम्॥ ३०॥

मुझे यह देखनेकी विशेष लालसा थी कि प्रणय-कोपके कारण फड़कते हुए तुम्हारे लाल अधर कैसे सुन्दर लगते हैं? कटाक्ष-विक्षेपसे तुम्हारे नेत्रोंमें छायी हुई लालिमा कितनी मनमोहक लगती है? क्रोधसे तनी हुई सुन्दर भौंहोंसे युक्त तुम्हारा मुखकमल कैसा मनोहर लगता है? यह सब देखनेके लिए ही मैंने तुमसे परिहास किया था (यदि कहो, सत्यकाम भगवान्की यदि ऐसी ही इच्छा थी तो रुक्मिणी कोपके साथ कुटिल कटाक्षवती क्यों नहीं हुईं। इसका उत्तर श्रील चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि इच्छाशक्ति भगवान्के अधीन है, किन्तु प्रेम भगवान्को भी अपने अधीन कर लेता है। प्रेमके निकट इच्छाशक्तिका कोई प्रभुत्व नहीं है। प्रेम आनन्दरूप भगवान्को अतिशय आनन्द प्रदान करनेके लिए उनकी इच्छाशक्तिको कभी-कभी अन्य प्रकारसे कर देता है। घृतस्नेहवती रुक्मिणीमें मान-कौटिल्यका उदय ही नहीं होता, किन्तु मधुस्नेहवती सत्यभामाका मान, अधर-कम्पन, कुटिल कटाक्षादिका श्रीकृष्ण भोग करते हैं)॥ ३०॥

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यन्नर्म्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि॥ ३१॥

हे भयशीले! हे कान्ते! गृहस्थोंके लिए यह परम लाभ है कि वे गृहस्थाश्रममें अपनी प्रणयिनी (प्रेयसी) के साथ हास-परिहास द्वारा कुछ समय बिता लेते हैं (वे सोच रही हैं कि मेरी व्यजनादि परिचर्यासे इन्हें दुःख प्राप्त हो रहा है, किन्तु कठोर

कोप उक्तियोंसे इन्हें सुख प्राप्त होता है, हर्षसे प्रफुल्लित मुख इन्हें रुचिकर नहीं लगता किन्तु अति दुःख, रुक्षता, कोप, विवर्णता एवं इसके प्रतिकूल दोनों भौंहोंसे युक्त भीषण मुख रुचिकर लगता है—अहो कैसा स्वभाव है! इसी पर कृष्णका उत्तर था कि गृहस्थ होनेका परम लाभ है)॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ॥ ३२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान्के इन सान्त्वनापूर्ण वचनोंसे महारानी वैदर्भी आश्वस्त हो गयीं। उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान्ने सभी बातें परिहासमें कही थीं। अब उनका भय जाता रहा कि पति उनका परित्याग कर देंगे॥ ३२॥

बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम्।
सव्रीडहासरुचिर स्निग्धापाङ्गेन भारत॥ ३३॥

हे भरतकुलनन्दन! अब वे सलज्ज मुसकान एवं स्निग्ध तथा अनुरागमयी चितवनसे श्रीकृष्णके मुखारविन्दको निहारती हुई उन पुरुष-भूषणसे कहने लगीं॥ ३३॥

श्रीरुक्मिण्युवाच—

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह
यद्वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा॥ ३४॥

(भगवान् श्रीकृष्णने जो अपना अपकर्ष एवं रुक्मिणीका उत्कर्ष बतलाया, रुक्मिणी उन्हीं वचनोंके विपरीत व्याख्या करने लगीं—) रुक्मिणीने कहा—हे अरविन्दलोचन! हे अनन्त! आप अद्भुत माहात्म्य, गुण एवं सौन्दर्यादिसे परिपूर्ण हैं—अतः मैं आपके अनुरूप नहीं हूँ—यह जो आपने कहा, वह वस्तुतः ठीक ही है। आप षडैश्वर्यस्वरूप अपनी महिमामें प्रतिष्ठित त्र्यधीश हैं

(अर्थात् ब्रह्मादि तीनों देवताओंके अधीश्वर हैं, सर्वैश्वर्यशाली हैं। अतएव आप कहाँ! और कामनाओंके पीछे भटकनेवाले मूर्खोंके द्वारा वन्दित और तीनों गुणोंके अनुसार स्वभाव रखनेवाली कहाँ मैं! अर्थात् गुण-प्रकृति बहिरङ्गा स्वरूपकी अङ्गरूपा प्रकृति)॥ ३४॥

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम्॥ ३५॥

हे महापराक्रमशाली! आपने जो यह कहा कि आप राजाओंके भयसे समुद्रकी ओर पलायन कर आये हैं—यह कथन यथार्थ ही है, क्योंकि आप परमचैतन्यमय हैं। विषयासक्त राजाओंके भयसे ही मानो आप जीवोंके हृदयरूप अथाह समुद्रमें परमात्मरूपसे शयन करते हैं। आपने कहा कि महाबलशाली शत्रुओंके साथ आप सर्वदा विद्वेष रखते हैं—यह भी सत्य ही कहा है, परन्तु वे बलशाली हैं कौन? यही तो अपनी दुष्ट इन्द्रियाँ। अतः जो लोग बहिर्मुख इन्द्रियपरायण हैं—उनसे आपका विरोध रहता ही है। आपके भक्त जब इन्द्रियोंको जय कर लेते हैं, तब उनकी विषयासक्ति चली जाती है और आप उन्हें अपने माधुर्यका साक्षात् अनुभव कराते हैं। आपने कहा है कि आपने राजसिंहासनका प्रायः त्याग ही कर दिया है—यह कथन भी सुसङ्गत ही है, क्योंकि घोर अन्धकार समझकर अविवेक-बहुल राजपदोंका तो आपके सेवकोंने भी परित्याग कर रखा है॥ ३५॥

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां,
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य,
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम्॥ ३६॥

हे प्रभो! आपने कहा कि आपने अज्ञात एवं अस्पष्ट आचरण धारण किया है; आप किसी भी प्रकारके लौकिक

आचरण नहीं करते—यह भी निस्सन्देह सत्य है, क्योंकि जो आपके चरणकमलोंके मकरन्दका सेवन करते हैं—उन मुनियोंके लिए भी आपका आचरण अस्पष्ट एवं अप्रकाशित रहता है। जो विषयलोलुप नरपशु हैं, उनके लिए तो आप दुर्बोध्य हैं ही, वे आपका अनुमान तक भी नहीं कर सकते। विशेषरूपसे हे भूमन्! जो भक्त आपका अनुसरण करते हैं, उनका आचरण भी अलौकिक प्रतीत होता है, तो समस्त जगत्के अधीश्वर आपका आचरण अलौकिक क्यों नहीं होगा? जब लोकातीत पथ आपका इष्ट है तो पथके अनुसरण करनेवालेका वही पथ काम्य क्यों नहीं होगा॥ ३६॥

निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चिद्-
यस्मै बलिंभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।
न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः
प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम्॥ ३७॥

हे भगवन्! आपने "मैं निष्किञ्चन हूँ" इत्यादि जो वचन कहे, वे भी सत्यसे परे नहीं हैं। (सबका अंशी होनेके कारण जो सम्पूर्ण हैं, वे ही निष्किञ्चन हैं) दूसरोंके द्वारा जिन्हें पूजा प्राप्त है, वे ब्रह्मादि भी विविध भेंटोंके द्वारा आपकी पूजा करते हैं। आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं, आप ही सब कुछ हैं, इसलिए आप निष्किञ्चन स्वरूप हैं। आप ब्रह्मादि देवताओंके प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। अतः आपने जो स्वयंको 'निष्किञ्चनजनप्रिय' कहा—वह आपने अपनी ही विवेचना की है। (आप सकाम ब्रह्मादिके भी प्रियतम हैं और निष्किञ्चन अर्थात् निष्काम भक्तोंके भी प्रियतम हैं) आपने जो यह कहा कि धनी प्रायः मेरी पूजा-सेवा नहीं करते, वह भी निर्विवाद सत्य है। धनी धनमदसे अन्धे होकर इन्द्रिय-तर्पणमें ही लगे रहते हैं और वे जान नहीं पाते कि सर्वसंहारक कालके रूपमें आप उनके सिरपर सवार हैं॥ ३७॥

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम्।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न॥ ३८॥

हे सर्वेश्वर! आप समस्त धर्मादि पुरुषार्थोंके फलस्वरूप हैं। समस्त सिद्धियोंके भी आप ही फलात्मस्वरूप हैं। सद्बुद्धि सम्पन्न पुरुष आपकी प्राप्तिके लिए सब कुछ त्याग कर देते हैं—उन्हीं पुरुषोंका आपके साथ सम्बन्ध सुसङ्गत ही है, परन्तु परस्पर आसक्त सुख-दुःखके वशीभूत पुरुषों एवं स्त्रियोंका आपके साथ सम्बन्ध उचित नहीं हो सकता। अतः आपने जो यह कहा कि विवाह तथा मैत्री दो समान व्यक्तियोंमें होनी चाहिये, वह यथार्थ ही है (समाज अर्थात् लक्ष्मीनारायणका जो सेव्य-सेवक सम्बन्ध है, वही मेरा और आपका है)॥ ३८॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभव नाकपतीन् कुतोऽन्ये॥ ३९॥

आपने कहा कि भिक्षुकगण आपकी प्रंशसा करते हैं—यह भी ठीक है, परन्तु वे भिक्षुक हैं कौन? जिन्होंने संन्यास-दण्डका परित्याग कर रखा है, ऐसे नारदादि मुनिगण—जो अपराधी-से-अपराधीको भी दण्ड नहीं देते, इसी प्रकारके भिक्षु आपके माहात्म्यको जानते हैं। आप जगत्के अन्तर्यामी हैं एवं अपना भजन करनेवालोंको आप स्वयंको ही प्रदान कर देते हैं—इसी दूरदर्शिताके आधारपर मैंने आपका वरण किया है! ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवता तो आपकी भौहोंके सङ्केतसे उत्पन्न कालके वेगके द्वारा ही विनष्ट हो जाते हैं, तब शिशुपाल, दन्तवक्रके विषयमें वक्तव्य क्या है?॥ ३९॥

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं
तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः॥ ४०॥

अब रुक्मिणीमें अकस्मात् ही मान नामक स्थायी भावका उदय हो गया। कृष्णके द्वारा अन्य पुरुषका गुण वर्णन होनेपर वे कुपित हो गयीं और श्रीकृष्णको वक्र दृष्टिसे देखती हुईं कहने लगीं—हे गदाग्रज! आपने कहा कि आप राजाओंके भयसे समुद्रमें आ छिपे हैं—यह कथन किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता है; यह कथन जाड्यका ही प्रकाशक है क्योंकि सिंह जिस प्रकार दूसरे प्राणियोंको पराभूत करके अपना भोज्य हर ही लेता है, उसी प्रकार हे ईश! आपने भी शार्ङ्गधनुषकी टङ्कारसे वहाँ एकत्रित राजाओंको परास्त करके अपने चरणोंमें समर्पित मुझ दासीका हरण कर लिया है॥ ४०॥

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैण्य-
जायन्तनाहुष-गयादय ऐक्यपत्यम्।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्॥ ४१॥

आप यह कैसे कहते हैं कि जो मेरा अनुसरण करता है, उसे प्रायः कष्ट उठाना पड़ता है, प्राचीन कालमें आपके भजनकी कामनासे अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति एवं गय आदि उत्तम राजाओंने एकछत्र साम्राज्यका परित्याग कर दिया और वनमें चले गये। हे कमल-लोचन! यह बतलाइये, आपके मार्गका अनुसरण करनेवाले इन राजाओंको किसी प्रकारके कष्टकी प्राप्ति हुई थी क्या? ॥ ४१॥

कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-
माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम्।

लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य
मर्त्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः॥ ४२॥

अब आप कहते हैं कि तुम अपने योग्य किसी दूसरे राजकुमारका वरण कर लो, हे भगवन्! आप समस्त गुणोंके आश्रय हैं। बड़े-बड़े आत्माराम पुरुष आपके पादपद्मोंके सौरभकी प्रशंसा करते हैं। आप स्वयं लक्ष्मीदेवीके द्वारा सेव्य हैं। आपका आश्रय मनुष्योंके लिए मोक्षस्वरूप है। मनुष्यलोकमें कोई भी बुद्धिमती स्त्री इन चरणकमलोंकी सुगन्धका आस्वादन कर ले, तो क्या अर्थकी कामनासे वह इनकी उपेक्षा करके निरन्तर जरा, मृत्यु आदि महान् भयोंसे ग्रस्त रहनेवाले मरणशील किसी दूसरे पुरुषका आश्रय ले सकती है?॥ ४२॥

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-
मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम्।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः॥ ४३॥

हे प्रभो! आप सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं। सभीके हृदयोंमें रहनेवाले हैं। हे सर्वाभीष्ट प्रदाता! आप इस लोक और परलोकमें सभीकी मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। आप सर्वतोभावसे मेरे अनुकूल हैं। आप अपने भक्तोंके संसार-बन्धनका विनाश करके उन्हें अपना स्वरूप तक दे देते हैं। इसी कारणसे आपके ये पादपद्म जन्म-जन्मान्तरमें मेरी शरण हों॥ ४३॥

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद्-
युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता॥ ४४॥

हे शत्रुविनाशन! हे अच्युत! ब्रह्मा, शिवजी आदि देवेश्वरोंकी सभामें निरन्तर गायी जानेवाली आपकी लीलाकथा जिन नारियोंके

कर्णोंमें प्रवेश नहीं करती, उन्हीं अभागिन नारियोंके घरोंमें गृहस्थीका बोझ ढोनेवाले गधों, व्यापार सम्बन्धी कार्योंके कारण जुते रहनेवाले बैलों, सदैव तिरस्कार सहनेवाले कुत्तों, स्वार्थी एवं क्रूर विडाल और क्रीतदासोंके समान पूर्वकथित शिशुपालादि राजा ही उन्हें पतिके रूपमें प्राप्त होते हैं॥ ४४॥

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥ ४५॥

जिन स्त्रियोंने कभी भी आपके चरणकमल-मकरन्दका आघ्राण नहीं किया है, वे ही स्त्रियाँ चर्म-दाढ़ी-मूँछ-रोम-नख एवं केशोंसे ढके हुए एवं भीतरसे मांस, हड्डी, रक्त, कीड़े-विष्ठा-कफ-पित्त-वायुमय जीवित शवके समान शरीरधारी अधम पुरुषको स्वामी मानकर उनकी सेवा करती हैं॥ ४५॥

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा॥ ४६॥

हे कमललोचन! आप आत्माराम हैं। आप इसीसे परितृप्त रहते हैं। अन्य लोगोंके समान आप मुझसे भी उदासीन रहते हैं, तथापि आपके श्रीपादपद्मोंकी आसक्ति ही मेरा परम लाभ है और यही मेरी अभिलाषा है। विशेषरूपसे जिस समय इस विश्वकी वृद्धिके लिए उत्कट रजोगुणका आश्रय लेकर आप मेरी ओर देखते हैं, उस समय वही मेरे लिए आपका परम अनुग्रह होता है॥ ४६॥

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन।
अम्बाया एव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित्॥ ४७॥

हे मधुसूदन! आपने जो मुझे अपने योग्य दूसरे किसीको वरण करनेके लिए कहा है—वह भी मिथ्या नहीं है, कन्याओंका विवाहके पहले किसी-न-किसी पुरुषके प्रति अनुराग हो ही जाता है, जिस प्रकार काशीराजकन्या अम्बाका शाल्वके प्रति आकर्षण था॥ ४७॥

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः॥ ४८॥

कुलटा स्त्री विवाहिता होनेपर भी नवीन-नवीन पुरुषोंकी आकाङ्क्षा करती रहती है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको ऐसी कुलटा स्त्रीसे विवाह नहीं करना चाहिये। ऐसी स्त्रियोंसे विवाह करनेसे पुरुष इस लोक और परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ४८॥

श्रीभगवानुवाच—

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्व्वं तत् सत्यमेव हि॥ ४९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे साध्वी! इन्हीं वचनोंको सुननेकी अभिलाषासे ही मैंने तुम्हारे साथ परिहास किया था। हे राजपुत्री! तुमने मेरे वचनोंका जो विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः यथार्थ ही है॥ ४९॥

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥ ५०॥

हे कल्याणी! तुमने सांसारिक कामनाओंकी निवृत्तिके लिए ही जिन आशीर्वादोंकी प्रार्थना की है, हे प्रियतमे! वह सब मेरे एकान्त भक्तोंको सहजरूपसे सदा-सर्वदा प्राप्त है॥ ५०॥

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यञ्च तेऽनघे।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता॥ ५१॥

हे शुद्धचरिते! मैं हास-परिहाससे तुम्हें विचलित करना चाहता था, परन्तु तुम तनिक भी विचलित नहीं हुईं। इस प्रकार मैंने तुम्हारा पति-प्रेम और पातिव्रत्य धर्म विशेषरूपसे जान लिया

(शास्त्रोंमें प्रेमका स्वरूप बतलाया गया है कि ध्वंसका कारण विद्यमान रहनेपर भी उससे अप्रभावित रहकर नायक-नायिकाका जो परस्पर भाव-बन्धन है, वही प्रेम है)॥ ५१॥

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्य्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥ ५२॥

प्रिये! मैं मोक्ष-प्रदाता हूँ। प्रेमा-भक्तिको देनेवाला हूँ। जिनका चित्त विषय-भोगोंमें आसक्त है, वे साधारण दाम्पत्य सुखकी अभिलाषासे तपस्या एवं व्रतोंके द्वारा मेरी पूजा करते हैं। ऐसे लोग मेरी मायाशक्तिके द्वारा मोहित रहते हैं!॥ ५२॥

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं,
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां,
मात्रात्मकत्वात् निरयः सुसङ्गमः॥ ५३॥

हे मानिनि! मैं अपवर्ग एवं समस्त सम्पत्तियोंका अधीश्वर हूँ। मुझे प्राप्त करके भी मनुष्य उन विषय-सुखोंकी प्रार्थना करते हैं, जो नरकमें तथा सूकर-कूकर आदि निकृष्ट योनियोंमें सहज सुलभ हैं। ये बड़े मन्द-भागी हैं। ये समस्त पुरुष इन्द्रिय-सुख-भोग ही चाहते हैं, अतः विषयात्मक अर्थात् स्त्री-सङ्गादि सुख-साधक निकृष्ट योनियाँ ही उन्हें उपयुक्त जान पड़ती हैं॥ ५३॥

दिष्ट्या गृहेश्वर्य्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुम्भराया निकृतिं जुषः स्त्रियाः॥ ५४॥

हे गृहस्वामिनी! तुमने निष्काम रहकर जिस प्रकार मेरा अनुसरण करते हुए मेरी सेवा की है, वह दूषित मनोभावोंसे युक्त, इन्द्रिय-तर्पणमें लगी रहनेवाली, छल-छद्मकी रचना करनेवाली और सांसारिक बन्धनोंमे पड़ी हुई स्त्रियोंके लिए दुष्कर है। हे प्रिये! तुम्हारा मेरे प्रति यह भाव अति मङ्गलकारी है॥ ५४॥

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान् नृपान् न विगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य॥ ५५॥

हे भामिनि! तुम्हारे समान प्रणयिनी पत्नी मुझे अपने किसी घरमें दिखायी नहीं देती। तुमने नारदादिसे मात्र मेरी कीर्त्तिको सुना भर था और इतने पर ही अपने विवाहके समय आये हुए राजाओंकी उपेक्षा करके बड़े अनुरागके साथ संवाद-वाहक ब्राह्मणको गोपनीय रूपसे मेरे पास भेज दिया था॥ ५५॥

भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्व्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते॥ ५६॥

प्रिये! युद्ध करते समय मैंने तुम्हारे भाईको विरूप कर दिया और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें बलरामजीने चौसर खेलते समय तुम्हारे भाईका वध कर दिया। मुझसे तुम्हारा वियोग न हो जाय—इस भयसे तुम इन सारे दुःखोंको सहती रहीं—परन्तु एक शब्द भी नहीं कहा। अपने इन्हीं सहिष्णुता आदि गुणोंसे तुमने मुझे वशमें कर रखा है॥ ५६॥

दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत् त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥ ५७॥

हे देवी! तुमने मुझे प्राप्त करनेके लिए रहस्यको गुप्त रखनेवाले एक ब्राह्मणको विश्वस्त दूतके रूपमें भेजा। जब तुमने देखा कि मेरी उपस्थितिमें विलम्ब हो रहा है, तो तुम्हें यह सारा संसार ही शून्य दिखायी देने लगा। अपने शरीरको किसी औरके लिए योग्य न समझकर तुमने उसके ही त्याग करनेका सङ्कल्प

कर लिया। मैं केवल तुम्हारे प्रति आनन्द प्रकाश कर सकता हूँ। तुम्हारे प्रेमके प्रतिदानकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। प्रिये! मैं तुम्हारे प्रेमका अभिनन्दन करता हूँ॥ ५७॥

श्रीशुक उवाच—

एवं सौरतसंलापैर्भगवान् जगदीश्वरः।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्॥ ५८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जगदीश्वर श्रीकृष्ण स्वयं आत्माराम हैं। वे मनुष्य लीलाका अनुकरण करते हुए प्रेम-विषयक परिहासमय वचनोंके द्वारा लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीसे वार्त्तालाप करते और उनके साथ विहार किया करते॥ ५८॥

तथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव।
आस्थितो गृहमेधीयान् धर्म्मान् लोकगुरुर्हरिः॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-संवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

भगवान् श्रीहरि निखिल प्रभाव-सम्पन्न और सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं। वे इसी प्रकारसे अन्यान्य भार्याओंके महलोंमें भी गृहस्थ जनोंके समान रहते और पारम्परिक गृहस्थोचित धर्मोंका पालन करते॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके साठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पुत्र-पौत्र आदि सन्ततिका वर्णन तथा अनिरुद्धके विवाहमें रुक्मीका मारा जाना

श्रीशुक उवाच—

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः।
अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्व्वात्मसम्पदा॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीकृष्णकी सभी पत्नियोंके गर्भसे दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपने पिताके समान समस्त गुणोंसे सम्पन्न थे॥ १॥

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम्।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ उनकी यथार्थ महिमाको नहीं जानती थीं। उनमेंसे हर कोई यही समझती थी कि उसके पति भगवान् अच्युत उसके अनुरोधके कारण कभी महलसे बाहर नहीं जाते, वे सर्वदा उसके भवनमें उसीके पास रहते हैं। इसलिए वही अपने पतिकी सर्वाधिक प्रियतमा है॥ २॥

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्र-
सप्रेमहास रसवीक्षितवल्गुजल्पैः।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं
स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभून्मः॥ ३॥

वे सुन्दर रमणियाँ भगवान्के मनोहर कमल-कोशके समान मुख-मण्डल, सुविशाल बाहु, सुविस्तृत नेत्र, प्रेम एवं मधुर मुसकान तथा रसमयी चितवन और प्रेमपूर्ण आलापोंसे सदा-सर्वदा सम्मोहित रहती थीं, परन्तु वे अपने शृङ्गारपरक भाव-विलासोंसे भगवान्के चित्तको वशीभूत करनेमें समर्थ न थीं॥ ३॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरत मन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः॥ ४॥

श्रीकृष्णकी पत्नियाँ सोलह हजारसे अधिक थीं। उनमेंसे कोई भी अपनी रहस्यपूर्ण मुसकान, मधुर चितवन, मनोहर भ्रू-भङ्गिमाओं द्वारा सङ्केतित प्रेम-मन्त्रों, निपुणतायुक्त कामबाणों एवं काम विलाससे परिपूर्ण हाव-भावों तथा कामकलाके अन्यान्य प्रसिद्ध उपायोंके द्वारा श्रीकृष्णके चित्तको तनिक भी विक्षुब्ध (चलायमान) न कर सकी॥ ४॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोक-नवसङ्गम-लालसाद्यम् ॥ ५॥

ब्रह्मादि देवता भी जिनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते, उन रमापतिको इन स्त्रियोंने पतिके रूपमें प्राप्त किया था। नित्य-निरन्तर प्रेममें सराबोर रहनेके कारण उन रानियोंके हर्ष एवं आनन्दकी वृद्धि होती रहती थी। वे अनुरागमयी मुसकराहट, मधुर चितवन और नव सङ्गमकी लालसासे भगवान्‌की सेवामें उत्सुक रहती थीं॥ ५॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्य्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्॥ ६॥

हे राजन्! उनमेंसे सभी पत्नियोंके पास सैकड़ों दासियाँ रहती थीं, परन्तु जब भगवान् पधारते, तब स्वयं ही विनयपूर्वक उनकी अगवानी करना, उत्तम आसन प्रदान करना, उत्तम द्रव्योंसे उनका पूजा-सत्कार करना, चरण पखारना, ताम्बूल प्रदान करना, पैर

दबाना, चँवर डुलाना, सुगन्धित पुष्प-हार प्रदान करना, इत्र-फुलेल चन्दनादि लगाना, केश सँवारना, स्नान कराना, भोजन कराना, शयन कराना आदि कार्योंके द्वारा स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्णकी दास्य भावसे सेवा करतीं॥ ६॥

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते॥ ७॥

श्रीकृष्णकी सोलह हजारसे अधिक पत्नियाँ थीं और उनमेंसे सभीके दस-दस पुत्र थे। इनमेंसे पहले मैंने जिन आठ पटरानियोंका वर्णन किया था—अब उनके ही प्रद्युम्न आदि पुत्रोंके नाम बतलाता हूँ॥ ७॥

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्य्यवान्।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः॥ ८॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः॥ ९॥

रुक्मिणी देवीके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न हुए थे—जिनके नाम हैं—प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु एवं चारु। ये सभी गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे कम न थे॥ ८-९॥

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः॥ १०॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश।
साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित्॥ ११॥
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसम्मताः॥ १२॥

सत्यभामाके दस पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतापभानु। जाम्बवतीके गर्भसे साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्,

शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड और क्रतु—इन दस पुत्रोंने जन्म-ग्रहण किया था। ये सभी अपने पिताके बड़े प्रिय थे॥ १०-१२॥

वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान् वृषः।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः॥ १३॥

नाग्नजिती सत्याके दस पुत्र थे—वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शङ्कु, वसु और कुन्ति॥ १३॥

श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः॥ १४॥

कालिन्दीके दस पुत्रोंके नाम थे—श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सोमक॥ १४॥

प्रघोषो गात्रवान् सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः॥ १५॥

लक्ष्मणाके पुत्रोंके नाम थे—प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजित॥ १५॥

वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्द्धनोऽन्नाद एव च।
महांसः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः॥ १६॥

मित्रविन्दाके दस पुत्र थे—वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, अन्नाद, महांस, पावन, वह्नि और क्षुधि॥ १६॥

संग्रामजिद्बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित्।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः॥ १७॥

भद्राके पुत्र थे—संग्रामजित्, वृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक॥ १७॥

दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः।
प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः।
पुत्र्यान्तु रुक्मिणो राजन् नाम्ना भोजकटे पुरे॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नने रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीके गर्भसे महाबलशाली अनिरुद्धको जन्म दिया। (यह उनकी रतिके अतिरिक्त दूसरी पत्नी है) इस समय प्रद्युम्न भोजकट नगरमें थे। रोहिणी आदि श्रीकृष्णकी और भी सौ-से अधिक पत्नियाँ थीं। उनके दस-दस पुत्र हुए थे। इनमें रोहिणी प्रधान थी उसके दीप्तिमान् एवं ताम्रतप्त आदि दस पुत्र थे॥ १८॥

एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश॥ १९॥

परीक्षित्! इस प्रकार श्रीकृष्णके पुत्रोंकी माताओंकी संख्या सोलह हजार एक सौ-से भी अधिक थी। इन पुत्रोंके भी पुत्र हुए और तब पौत्रोंकी संख्या करोड़ों तक पहुँच गयी। इस प्रकार ये पुत्र-पौत्रादि भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वात्म-सम्पदा है। [रुक्मिणी आदि समस्त महिषियाँ उनकी स्वरूपभूता अथवा स्वरूपशक्तिरूपा हैं और उनकी सन्तति (पुत्र-पौत्रादि) उनकी आत्म-सम्पदा है। महिषीके प्रेमके परिमाणसे ही कृष्ण उसकी वशीभूतता स्वीकार करते थे। आत्माराम भगवान्के साथ उनकी महिषियोंके विहारका आधार था उनकी प्रेममयी दास्य भावना]॥ १९॥

श्रीराजोवाच—

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते।
एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः॥ २०॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने पूछा—हे सर्वज्ञ मुनिवर! रुक्मी तो संग्राममें श्रीकृष्णसे पराजित हो गया था और सदा-सर्वदा उनके वधका उपाय खोजा करता था, फिर उस रुक्मीने किसलिए शत्रु-पुत्र प्रद्युम्नके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया? दोनों शत्रुओंके बीच वैवाहिक सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हुआ, यह बतलाइये॥ २०॥

अनागतमतीतञ्च वर्त्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगितः॥ २१॥

योगीजन भूत, भविष्य, वर्त्तमान, इन्द्रियोंसे अगोचर, सुदूर स्थित एवं भौतिक अवरोधोंके कारण दिखायी न देनेवाले पदार्थोंको भी भलीभाँति देख लेते हैं, अतः आप इस विषयका वर्णन करनेमें पूर्ण समर्थ हैं॥ २१॥

श्रीशुक उवाच—

वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया।
राज्ञः समेतान् निर्ज्जित्य जहारैकरथो युधि॥ २२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! प्रद्युम्न साक्षात् कामदेव ही थे। रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीने स्वयंवरमें उन्हें पति रूपमें वरण कर लिया। प्रद्युम्नने युद्धमें आये हुए राजाओंको अकेले ही पराजित कर दिया और उस कन्याका हरण कर लिया॥ २२॥

यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्व्वन् स्वसुः प्रियम्॥ २३॥

यद्यपि पहले श्रीकृष्णसे अपमानित होनेके कारण रुक्मी श्रीकृष्णसे सदा-सर्वदा वैर भाव रखता था, फिर भी अपने प्राणोंकी रक्षा करनेवाली अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिए उसने भानजेके साथ रुक्मवतीका विवाह कर दिया (रुक्मी शत्रुके पुत्रके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेका इच्छुक था किन्तु लोकमें अपयशके भयसे उसने अपनी पुत्रीके लिए स्वयंवर सभा बुला ली थी)॥ २३॥

रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्म्मसुतो बली।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल॥ २४॥

हे राजन्! रुक्मिणीकी एक पुत्री थी, जिसका नाम था चारुमती। उसके नेत्र बड़े-बड़े थे, वह परम सुन्दरी थी। कृतवर्माके पुत्र बलीने चारुमतीसे विवाह कर लिया॥ २४॥

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
जानन्नधर्म्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः॥ २५॥

परीक्षित्! रुक्मी श्रीकृष्णके साथ सदैव शत्रुताका भाव रखता था, परन्तु अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे उसने अपनी पौत्री रोचनाका विवाह अपने दौहित्र (नाती) अनिरुद्धसे कर दिया। शत्रुके साथ इस तरहका वैवाहिक सम्बन्ध धर्म विरुद्ध है, यह जानकर भी रुक्मीने अपनी बहिन रुक्मिणीके स्नेह-बन्धनसे बँधे होनेके कारण यह वैवाहिक सम्बन्ध बनाया॥ २५॥

तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ।
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्ब-प्रद्युम्नकादयः॥ २६॥

हे राजन्! अनिरुद्धके विवाहमें सम्मिलित होनेके लिए श्रीबलदेव, श्रीकृष्ण, साम्ब, प्रद्युम्न आदि सभी रुक्मीपुर—भोजकट नगर पधारे थे॥ २६॥

तस्मिन् निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय॥ २७॥

अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत्।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षैः रुक्म्यदीव्यत॥ २८॥

परीक्षित्! जब विवाहोत्सव समाप्त हो गया, तब कालिङ्ग आदि घमण्डी राजाओंने रुक्मीसे कहा—'हे राजन्! बलदेव पासोंका खेल खेलना नहीं जानता, पर इस खेलमें उसकी आसक्ति बहुत है। अतः तुम इस अक्ष-क्रीड़ामें (चौसरमें) उसे पराजित कर सकते हो।' राजाओंकी बात सुनकर रुक्मीने उसी समय बलदेवको चुनौती दी और उनके साथ चौसर खेलने लगा (कृष्णको अक्ष-क्रीड़ामें जीतना सम्भव न था)॥ २७-२८॥

शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम्।
तं तु रुक्म्यजयत् तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम्।
दन्तान् सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत् तद्धलायुधः॥ २९॥

चौसरमें बलदेवने पहले सौ, फिर हजार और इसके बाद दस हजार संख्याकी मुहरें दाँवपर लगाना स्वीकार कर लिया। इस बाजीपर रुक्मीने बलदेवजीको हरा दिया। इसपर वह कलिङ्गका राजा दाँत दिखा-दिखाकर बलदेवजीका उपहास करने लगा। बलदेवजीसे उसका हँसना सहन नहीं हुआ। भीतरसे वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे॥ २९॥

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद्ग्लहं तत्राजयद् बलः।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः॥ ३०॥

इसके बाद रुक्मीने एक लाख मुहरें दाँवपर लगायीं। अबकी बार इस बाजीको बलदेवने जीत लिया, किन्तु रुक्मी कपटताके साथ कहने लगा कि यह बाजी उसने जीती है॥ ३०॥

मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्व्वणि।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे॥ ३१॥

इसपर बलदेवको अत्यन्त रोष आ गया। वे इस प्रकार क्षुब्ध हो उठे, मानो पूर्णिमाके दिन समुद्रमें ज्वार आ गया हो। उनके नेत्र तो स्वाभाविक ही लाल हैं, अब अत्यन्त क्रोधके कारण अङ्गारोंके समान दहक उठे। उन्होंने दस करोड़ मुद्राएँ दाँवपर लगा दीं॥ ३१॥

तञ्चापि जितवान् रामो धर्म्मेणच्छलमाश्रितः।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति॥ ३२॥

इस बार भी द्यूत-नियमानुसार बलदेवकी जीत हुई, परन्तु रुक्मी पुनः कपटताके साथ कहने लगा—यह दाँव मैंने जीता है। इस विषयमें प्रत्यक्षदर्शी ये सभासद ही सत्य बात कहें॥ ३२॥

तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः।
धर्म्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा॥ ३३॥

तभी आकाशवाणी हुई कि धर्मसे तो बलदेवकी ही जीत हुई है। रुक्मी निश्चितरूपसे असत्य कह रहा है॥ ३३॥

तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः।
सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः॥ ३४॥

दुष्ट राजा रुक्मीको उत्साहित कर रहे थे, इसलिए उसने आकाशवाणीकी उपेक्षा की। दूसरी ओर मृत्यु उन राजाओंको प्रेरित कर रही थी, जिसके कारण वे राजागण बलदेवका उपहास करने लगे॥ ३४॥

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः॥ ३५॥

रुक्मीने कहा—तुम बस गो-पालनमें ही निपुण हो सकते हो, सर्वदा वन-वनमें भटकते रहते हो। तुम पासेका खेल खेलना क्या जानो? राजागण ही पासों एवं बाणोंसे खेला करते हैं। तुम्हारे जैसे गायोंको चरानेवाले ग्वारिया ये खेल खेलना भला क्या जाने?॥ ३५॥

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि॥ ३६॥

रुक्मीके द्वारा अवज्ञा और दुष्ट राजाओंके द्वारा उपहास किये जानेपर बलदेव क्रोधसे तिलमिला उठे। उन्होंने मुद्गर (परिघ) उठाया और उस मङ्गलसभामें ही रुक्मीपर दे मारा। रुक्मी तत्काल मर गया॥ ३६॥

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे।
दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद्विवृतैर्द्विजैः॥ ३७॥

विशेषरूपसे कलिङ्गका राजा जो ठठा-ठठाकर बलदेवका उपहास कर रहा था, वह वहाँसे भागनेके लिए दस कदमभर चला ही था कि बलदेवने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया और क्रोधमें उसके दाँतोंको ही उखाड़ डाला॥ ३७॥

अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः॥ ३८॥

परीक्षित्! बलदेवने अपने मुद्गरकी चोटसे अन्यान्य राजाओंके भी बाहु, जाँघ एवं सिरोंको तोड़-फोड़ डाला। वे बुरी तरहसे डर गये और रक्तसे लथपथ शरीरोंसे इधर-उधर भागने लगे॥ ३८॥

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा।
रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद्धरिः॥ ३९॥

हे राजन्! अपने श्यालक रुक्मीके मर जानेपर श्रीकृष्ण निरपेक्ष भावसे मौन ही रहे। रुक्मीका मारा जाना न्यायसङ्गत था या अन्यायपूर्ण—इसपर उन्होंने यह विचार किया कि बलरामका समर्थन करनेसे रुक्मिणी अप्रसन्न होंगी और रुक्मीके वधको बुरा बतलानेसे बलराम रुष्ट होंगे। इसलिए स्नेह-भङ्गकी आशङ्कासे वे चुप रहे। न बलदेवसे कुछ कहा और न ही रुक्मिणीसे॥ ३९॥

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्य्यया वरं,
रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम्।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः,
सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदनिरुद्ध-विवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः॥ ६१॥

इसके बाद अनिरुद्धका विवाह और शत्रुका वध दोनों प्रयोजन सिद्ध हो गये। अतः श्रीकृष्णके आश्रित बलराम आदि यदुवंशी नवविवाहिता वधू रोचनाके साथ अनिरुद्धको श्रेष्ठ रथपर चढ़ाकर भोजकट नगरसे द्वारकापुरी चले आये॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इकसठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

बाणासुरकी कन्या उषा एवं अनिरुद्धका मिलन

श्रीराजोवाच—

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः।
तत्र युद्धमभूद्घोरं हरि–शङ्करयोर्महत्।
एतत् सर्व्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे योगीवर! मैंने सुना है कि यदुश्रेष्ठ अनिरुद्धने बाणासुरकी कन्या उषासे भी तो विवाह किया था और उस अवसरपर हरि–हरका परस्पर महाभयङ्कर युद्ध हुआ था। आप इस वृत्तान्तको विस्तारपूर्वक सुनाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः।
(येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी।
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः।
शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत् पुरा।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः।)
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम्॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—महात्मा राजा बलिके सौ पुत्र थे—उनमें सबसे ज्येष्ठ पुत्रका नाम था बाणासुर। परीक्षित्! ये वही राजा बलि थे, जिन्होंने वामन–रूप–धारी श्रीहरिको समस्त पृथ्वी प्रदान कर दी थी। बाणासुर सर्वदा शिव–भक्तिमें तल्लीन रहता था। वह उदार, बुद्धिमान्, सत्यसङ्कल्प और दृढ़व्रत था। सभी लोग उसका सम्मान करते थे। शोणितपुर बहुत रमणीय देश था। उन दिनों बाणासुर यहीं राज्य करता था। शिवजीका कृपा–पात्र होनेसे इन्द्रादि देवता उसके राज्यमें चाकरी किया करते थे।

हे राजन्! जब शिवजीने ताण्डव नृत्य किया था, तब बाणासुरने अपने हजार हाथोंसे बाजे बजाकर उन्हें प्रसन्न कर लिया था॥ २॥

भगवान् सर्व्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः।
वरेणच्छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम्॥ ३॥

भगवान् श्रीमहादेव समस्त प्राणियोंके अधीश्वर, शरणागत-वत्सल और अपने भक्तोंपर कृपा करनेवाले हैं। जब भगवान् महादेवने बाणासुरसे वर माँगनेके लिए कहा, तब उसने यही वरदान माँगा कि महादेव उसकी पुरीके संरक्षकके रूपमें वहीं रहें॥ ५॥

स एकदाऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम्॥ ४॥

एक बार बाणासुर अपने बल-पौरुषके कारण बड़ा उन्मत्त हो रहा था। वह पासमें ही विराजित महादेवजीके पास गया और सूर्यके समान जाज्वल्यमान मुकुटके द्वारा उनके चरणकमलोंका स्पर्श करके कहने लगा॥ ६॥

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम्।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम्॥ ५॥

हे देवाधिदेव! आप असफल मनोरथवालोंकी कामना पूर्ण करनेवाले कल्पतरु-स्वरूप हैं। आप समस्त चराचर जगत्के गुरु एवं ईश्वर-स्वरूप हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत्।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम्॥ ६॥

हे प्रभो! आपने मुझे हजार भुजाएँ दी हैं, परन्तु मैं उन्हें केवल भार-स्वरूप ही वहन कर रहा हूँ। तीनों लोकोंमें आपके अतिरिक्त मुझे कोई ऐसा प्रतिपक्षी योद्धा दिखायी नहीं देता, जो मुझसे बराबरी कर सके (आप मेरे साथ युद्ध करें, तो युद्ध करनेकी खुजलाहट दूर हो और आपको जय करके मैं सर्वदिग्-विजयीके रूपमें यश प्राप्त कर सकूँ)॥ ६॥

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम्।
आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः॥ ७॥

हे आदिदेव! एक बार मेरी भुजाओंमें युद्धके लिए बड़ी खुजलाहट हो रही थी, तब मैं युद्धकी कामनासे पर्वतोंको अपनी सहस्त्र भुजाओंसे चूर्ण-विदीर्ण करता हुआ दिशाओंका शासन करनेवाले दिग्गजोंकी ओर दौड़ा था, परन्तु वे भी डरकर भाग गये॥ ७॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते॥ ८॥

जब महादेवजीने बाणासुरके ये वचन सुने, तो उन्हें तनिक क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—रे मूर्ख! जिस समय तेरा ध्वज टूटकर गिर जायेगा, उसी समय समझ लेना मेरे समान किसी योद्धासे तेरा युद्ध होगा और वही तेरे दर्पको चकनाचूर करेगा॥ ८॥

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्य्यनशनं कुधीः॥ ९॥

हे राजन्! वह कुबुद्धि बाणासुर महादेवजीके वचनोंसे अति प्रसन्न हो गया। महादेवजीके आदेशानुसार ध्वज-भङ्ग और अपने बल-पराक्रमके नाश करनेवाले योद्धाकी प्रतीक्षा करता हुआ वह घर चला गया॥ ९॥

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम्।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा॥ १०॥

परीक्षित्! बाणासुरकी एक पुत्री थी, जिसका नाम था ऊषा। ऊषाने एक बार स्वप्नमें अनिरुद्धके साथ अपना समागम देखा, जब कि उसने पहले न तो अनिरुद्धको कभी देखा था और न उनके विषयमें कभी सुना था।

विष्णुपुराणमें वर्णन है कि एक बार बाणराजाकी पुत्रीने महादेवजीके साथ पार्वतीका क्रीड़ा-विलास देख लिया था, तो

उसके मनमें भी यही इच्छा जाग उठी। सबके चित्तको जाननेवाली देवी गौरीने उससे कहा—अनुताप मत करो, वैशाखमासके शुक्लपक्षकी द्वादशीको स्वप्नमें जो पुरुष आयेंगे, हे राजपुत्रि! वे ही तुम्हारे पति होंगे॥ १०॥

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति-वादिनी।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम्॥ ११॥

जब ऊषाने स्वप्नमें उन्हीं अनिरुद्धको नहीं देखा, तो 'हे प्राणप्रिय! तुम कहाँ हो?' कहती हुई बड़ी विह्वल होकर उठ बैठी। जब उसने अपनेको सखियोंके बीच देखा, तो लज्जित हो गयी॥ ११॥

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता।
सख्यपृच्छत् सखीमूषां कौतूहलसमन्विता॥ १२॥

बाणासुरका एक मन्त्री था जिसका नाम था कुम्भाण्ड। उसकी पुत्री थी चित्रलेखा, जो ऊषाकी सखी थी। चित्रलेखाने उसी समय बड़े कौतूहलके साथ ऊषासे पूछा॥ १२॥

कं त्वं मृगयसे सुभ्रू कीदृशस्ते मनोरथः।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये॥ १३॥

चित्रलेखाने कहा—हे सुन्दरी! तुम किसे ढूँढ़ रही हो? हे राजनन्दिनी! मैंने तो आज तक तुम्हारा कोई पति देखा नहीं है? तुम्हारा विवाह भी तो नहीं हुआ है, फिर तुम्हारी इस व्याकुलताका अभिप्राय क्या है?॥ १३॥

श्रीऊषोवाच—

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः॥ १४॥

ऊषाने कहा—हे सखि चित्रलेखे! मैंने स्वप्नमें एक बहुत ही सुन्दर पुरुषको देखा, जिसका श्याम वर्ण था, नेत्र कमलके समान

थे। बलिष्ठ भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं, पीले वस्त्र पहन रखे थे और वह स्त्रियोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला था॥ १४॥

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे॥ १५॥

सखि, मैं अपने उसी प्रियतमको खोज रही हूँ। वह मुझे अधरामृतका पान कराके कहीं चला गया और मुझे अतृप्त स्थितिमें ही दुःखके सागरमें डाल गया॥ १५॥

चित्रलेखोवाच—

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते।
तमानेष्ये वरं यस्ते मनोहर्त्ता तमादिश॥ १६॥

चित्रलेखाने कहा—सखि! मैं तुम्हारा दुःख अवश्य दूर करूँगी। तुम्हारे चित्तको चुरा लेनेवाला पुरुष इस त्रिभुवनमें कहीं भी हो, मैं उसे यहाँ अवश्य ही ले आऊँगी। मैं चित्र बनाती हूँ—तुम बस चित्र देखकर सङ्केत कर दो कि यह वही तुम्हारा प्रियतम है॥ १६॥

इत्युक्त्वा देव-गन्धर्व-सिद्धचारण-पन्नगान्।
दैत्यविद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत्॥ १७॥

चित्रलेखाने यह कहकर देव, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष एवं मानवोंके यथायथ चित्र बना दिये॥ १७॥

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम्।
व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता॥ १८॥

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते॥ १९॥

महाराज परीक्षित्! चित्रलेखाने मनुष्योंमें वृष्णिवंशीय पुरुषोंमें वसुदेवके पिता शूर, वसुदेव, बलराम एवं श्रीकृष्णके चित्रोंको अङ्कित किया। ऊषाने जब प्रद्युम्नका चित्र देखा तो श्वसुर-भावके

कारण लज्जित हो गयी। जैसे ही उसने अनिरुद्धका चित्र देखा, तो लज्जासे अपना मुख नीचे कर लिया और मुसकराती हुई कहने लगी "यही हैं, यही हैं—वे मेरे प्राणवल्लभ॥"१८-१९॥

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी।
ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम्॥ २०॥

हे राजन्! चित्रलेखा योगिनी थी। वह समझ गयी कि उसकी सखी द्वारा निर्दिष्ट पुरुष श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्ध हैं। तब वह आकाश-मार्गसे द्वारकापुरी पहुँच गयी, जो श्रीकृष्ण द्वारा संरक्षित थी॥ २०॥

तत्र सुप्तं सुपर्य्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत्॥ २१॥

द्वारकाके महलमें अति सुरम्य पलङ्ग था, जिसपर अनिरुद्ध सोये हुए थे। चित्रलेखाने अपने योगबलसे उन्हें उठा लिया और उन्हें लेकर शोणितपुर लौट आयी। वहाँ आकर उसने अपनी सखी ऊषाको उसके प्राणवल्लभ अनिरुद्धके दर्शन करा दिये।

चित्रलेखा द्वारकामें प्रवेश करनेमें अशक्त थी, किन्तु श्रीनारदके उपदेशसे चित्रलेखाने 'योगविद्या' को प्राप्त कर लिया था। जब चित्रलेखा द्वारका पहुँची, तब उन्होंने वहाँ नारदको ध्यान-अवस्थामें देखा, सारा वृत्तान्त जानकर नारदने उसे सर्वलोकोंको मोहित करनेवाली विद्या दान की। इसे प्राप्त करके चित्रलेखाने अलक्षित भावसे अनिरुद्धजीको ऊषाके स्वप्न एवं उसके अनुरागके विषयमें बताया तथा पार्वतीके वरदानके बारेमें भी बता दिया॥ २१॥

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुंभी रेमे प्राद्युम्निना समम्॥ २२॥

अनिरुद्ध मनुष्य-श्रेष्ठ थे। वे सभी मनुष्योंमें सर्वाधिक सुन्दर थे। उन्हें देखते ही ऊषाका मुख प्रफुल्लित हो उठा, वह प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्धको अपने उस निजी-भवनमें ले गयी, जहाँ

पुरुषोंका प्रवेश दुर्लभ था। वहाँ वह उनके साथ विहार करने लगी।

अनिरुद्ध श्रीकृष्णके नित्य चतुर्व्यूहके अन्तर्गत हैं, वे ईश्वरतत्त्व हैं। वेद-शास्त्रोंमें इन्हींको आदिकारण कहा गया है। इन्हें ही 'शब्द योनि' कहा जाता है। अन्तःकरण-चतुष्टयमें इन्हें मनका अधिष्ठाता बताया गया है। अनिरुद्धको 'तुरीय' कहा गया है। ये ही चारों युगोंके विधायक एवं जरायुज, स्वेदजादि चारों प्रकारके जीवोंके एकमात्र आत्मा हैं। महाप्रलयके समुद्रमें वटपत्रपर शयन करनेवाले बाल मुकुन्द इन्हीं के अंश है। जिस प्रकार मूल सङ्कर्षणके साथ कारणार्णवशायीका अभेद है, उसी प्रकार—मूल अनिरुद्धके साथ क्षीरसमुद्रशायी विष्णुका अभेद है। बाणासुरका बन्धन इनकी इच्छामयी लीला है॥ २२॥

पराद्ध्यर्वासःस्रग्गन्ध-धूप-दीपासनादिभिः ।
पानभोजन-भक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषणार्चितः॥ २३॥

गूढः कन्यापुरे शश्वत् प्रवृद्धस्नेहया तया।
नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः॥ २४॥

ऊषा अन्तःपुरमें अनिरुद्धका अमूल्य वस्त्र, पुष्प-हार, इत्रादि गन्ध, धूप, दीप, आसन, पेय पदार्थ, भोजन एवं भक्ष्य सामग्रियों तथा प्रिय वचनोंसे पूजा-सत्कार करती। अनिरुद्ध उस अन्तःपुरमें गुप्तरूपसे छिपे रहते थे। ऊषाका अनुराग दिन-दूना-रात-चौगुना बढ़ता जा रहा था, जिससे अनिरुद्धका चित्त उनके वशमें न रहा, जहाँ तक कि वे यह भी भूल गये कि उन्हें यहाँ आये हुए कितने दिन बीत गये हैं॥ २३-२४॥

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम्।
हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुराप्रीतां दुरवच्छदैः॥ २५॥

भटा आवेदयाञ्चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम्।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम्॥ २६॥

यदुवीर अनिरुद्धके साथ समागमसे ऊषा बहुत अधिक प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रहने लगी। उसके शरीरमें अङ्कित रति-चिह्नोंको स्पष्टरूपसे देखा जा सकता था। ऊषाके रङ्ग-ढङ्गको देखकर अन्तःपुरके सैनिकोंकी पत्नियाँ समझ गयीं कि ऊषाका अब कन्या-नियम नहीं रहा है, उसका कौमार्य नष्ट हो चुका है। उन्होंने यह बात अपने पतियोंको बतला दी, तब वे बाणासुरके पास गये और निवेदन किया कि—हे राजन्! आपकी पुत्रीमें कुछ ऐसे अनुचित आचरण दिखायी दे रहे हैं जिनसे कुलपर कलङ्क लग सकता है॥ २५-२६॥

अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो।
कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे॥ २७॥

हे स्वामी! हम अन्तःपुरमें आपकी पुत्रीकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करते हैं। रात-दिनकी हमारी पहरेदारीसे कोई पुरुष उसे देख भी नहीं सकता है। तब वह किस प्रकार किसी पुरुषके द्वारा दूषित हो गयी है—इसका कारण समझमें नहीं आता॥ २७॥

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्‌यदूद्वहम्॥ २८॥

पुत्रीके कलङ्ककी बात सुनकर बाणासुरका हृदय व्यथित हो गया। वह शीघ्र ही अन्तःपुरमें ऊषाके महलमें चला गया और वहाँ उसने यदुश्रेष्ठ अनिरुद्धको बैठे हुए देखा॥ २८॥

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं,
श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम्।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा,
स्मितावलोकेन च मण्डिताननम्॥ २९॥

दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया,
तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम्।

बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां,
तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः॥ ३०॥

प्रिय परीक्षित्! कामावतार प्रद्युम्नजीके पुत्र अनिरुद्धके समान तीनों भुवनोंमें कोई पुरुष न था। उनका श्यामल वर्ण था, वे पीताम्बर पहने हुए थे। उनके नेत्र कमल-दलके समान स्निग्ध एवं विशाल थे। घुँघराली अलकावलियों, कुण्डलोंकी झिलमिलाती हुई ज्योति, सुमधुर मुसकान एवं प्रेमभरी चितवनसे उनका मुखमण्डल सुशोभित हो रहा था। उनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं। ऊषाके स्तनोंके कुङ्कुम-रागसे अनुरञ्जित वसन्तकालीन मल्लिका पुष्पोंकी माला खिसककर दोनों बाहुओंके मध्य कन्धेपर विभूषित थी। ऊषा समस्त माङ्गलिक लक्षणोंसे अलंकृत होकर विराजमान थी। अनिरुद्ध उसके सम्मुख बैठकर उसके साथ पासा खेल रहे थे, बाणासुर उन्हें देखकर विस्मित हो गया॥ २९-३०॥

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि-
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्व्वं परिघं व्यवस्थितो,
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया॥ ३१॥

अनिरुद्धने देखा कि उनका वध करनके लिए उद्यत बाणासुर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत-से वीर सैनिकोंके साथ प्रवेश कर रहा है, तो उन्होंने मुरु नामक विशेष लोहेके बने हुए मुद्गरको उठा लिया और दण्ड धारण करनेवाले यमराजके समान उन सबका संहार कर डालनेकी इच्छासे वहाँ डट गये॥ ३१॥

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः,
शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत्।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता,
निर्भिन्नमूर्द्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः॥ ३२॥

बाणासुरके सैनिक चारों दिशाओंसे अनिरुद्धपर वार करनेके लिए दौड़े, परन्तु उन्होंने उन सबपर इस प्रकारसे प्रहार किया, जिस प्रकार सूकर-यूथाधिपति कुत्तोंपर प्रहार करता है। प्रहारके कारण उन सैनिकोंके मस्तक, बाहु एवं जाँघ विदीर्ण हो गये और वे जान बचाकर भवनसे निकल भागे॥ ३२॥

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली,
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला
बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौत्सीत्॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमदनिरुद्ध-बन्धो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः॥ ६२॥

जब अनिरुद्ध बाणासुरकी सारी सेनाका संहार करने लगे, तब बाणासुर अतिशय क्रोधित हो उठा और उसने अनिरुद्धको नागपाशमें बाँध लिया। ऊषाने जब अनिरुद्धके बाँधे जानेके विषयमें सुना, तब वह शोक एवं विषादसे विह्वल हो गयी। उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह बहुत रोने लगी॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बासठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके साथ बाणासुरका युद्ध

श्रीशुक उवाच—

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनाञ्च भारत।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! इधर अनिरुद्धका कहीं पता न लगनेके कारण उनके आत्मीयगण शोकाकुल हो गये और इसी प्रकार वर्षाके चार मास बीत गये॥ १॥

नारदात् तदुपाकर्ण्य वार्त्तां बद्धस्य कर्म्म च।
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ २॥

तब नारदका द्वारकामें पदार्पण हुआ और उन्होंने अनिरुद्धके शोणितपुर ले जानेसे उनके बँध जाने तक जो भी घटित हुआ था, वह सब वृत्तान्त सुना दिया। इस समाचारको सुनते ही श्रीकृष्णको अपना सर्वाराध्य माननेवाले वृष्णिवंशी उनके संरक्षणमें शोणितपुरकी ओर चल दिये॥ २॥

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्त्तिनः॥ ३॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम्।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः॥ ४॥

सात्वत-प्रमुख श्रीकृष्ण और बलरामके नेतृत्वमें उनके अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, नन्द, उपनन्द, भद्र आदि यादव-श्रेष्ठ वीरोंने बारह अक्षौहिणी सेनाओंको एकत्र किया और बिना अन्तरालके व्यूह बनाकर बाणासुरकी पुरीका चारों ओरसे घिराव कर लिया॥ ३-४॥

भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् ।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ॥ ५॥

बाणासुरने देखा कि यदुवंशियोंकी सेना उसकी पुरीके उद्यान, प्राचीर, बुर्ज और पुरीके सिंहद्वार आदिको ध्वस्त कर रही है, तो वह क्रोधसे भर गया। उसने भी यादवोंके ही समान बारह अक्षौहिणी सेनाओंको एकत्र किया और नगरसे बाहर आ गया॥ ५॥

बाणार्थे भगवान् रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः॥ ६॥

इधर देवाधिदेव शङ्करने बाणासुरकी सहायताके लिए कार्त्तिकेयको तथा अपने अनुचर प्रमथोंको साथ लिया और नन्दी नामक बैल पर सवार होकर युद्धभूमिमें आ गये। वे बलराम और श्रीकृष्णके साथ युद्ध करने लगे॥ ६॥

आसीत् सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम्।
कृष्ण-शङ्करयो राजन् प्रद्युम्न-गुहयोरपि॥ ७॥

हे राजन्! श्रीकृष्ण एवं शङ्कर तथा प्रद्युम्न एवं कार्त्तिकेयके बीच ऐसा अद्भुत और घमासान युद्ध आरम्भ हो गया कि जिसे देखकर या सुनकर आश्चर्यसे रोंगटे खड़े हो जाते थे॥ ७॥

कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः॥ ८॥

बलरामजीका कुम्भाण्ड और कूपकर्णके साथ, साम्बका बाणासुरके पुत्रके साथ एवं सात्यकिका बाणासुरके साथ युद्ध होने लगा॥ ८॥

ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः।
गन्धर्व्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन्॥ ९॥

ब्रह्मादि प्रमुख देवता, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ और यक्ष युद्ध देखनेके लिए अपने दिव्य विमानोंपर सवार होकर आ गये॥ ९॥

शङ्करानुचरान् शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान्।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान् सविनायकान्॥ १०॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान्।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः॥ ११॥

परीक्षित्! शौरि श्रीकृष्णने शार्ङ्ग नामक अपने दिव्य धनुषके तीखी नोंकवाले बाणोंके सन्धानसे शङ्करके अनुचरों—भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, जातुधान, विनायक, वेताल, प्रेत, मातृका, पिशाच, कुष्माण्ड एवं ब्रह्मराक्षसोंको मार-मारकर भगा दिया॥ १०-११॥

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः॥ १२॥

पिनाक-पाणि शङ्करने शार्ङ्गधारी भगवान् श्रीकृष्णपर विविध अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग किया, परन्तु श्रीकृष्णको किञ्चित् मात्र भी विस्मय नहीं हुआ। श्रीकृष्णने शङ्करके सभी शस्त्रास्त्रोंको प्रतिकूल अस्त्रोंके द्वारा प्रभावहीन कर दिया (भगवान् रुद्रने अपनी पराजयको निश्चित जानकर भी बाण एवं अन्य सभीको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा दिखानेके लिए कृष्णके विरुद्ध युद्ध यात्राकी है)॥ १२॥

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्व्वतम्।
आग्नेयस्य च पार्ज्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च॥ १३॥

भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मास्त्रके निवारणके लिए ब्रह्मास्त्रका, वायव्यास्त्रके निवारणके लिए पर्वतास्त्रका, आग्नेयास्त्रके निवारणके लिए पार्जन्यास्त्रका एवं पाशुपतास्त्रके विरोधमें नारायणास्त्रका प्रयोग किया॥ १३॥

मोहयित्वा तु गिरीशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः॥ १४॥

इसके बाद श्रीकृष्णने जृम्भणास्त्र चलाकर शङ्करजीको जृम्भित एवं मोहित कर लिया जिससे वे युद्ध छोड़कर जँभाई लेने लगे।

तब शौरि श्रीकृष्णने तलवार, गदा एवं बाणों द्वारा बाणासुरकी सेनाका विनाश कर दिया॥ १४॥

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः।
असृग्विमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद्रणात्॥ १५॥

कार्त्तिकेय प्रद्युम्नके बाणोंसे व्यथित हो रहे थे। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे रक्तकी धारा बह रही थी। वे अपने वाहन मयूरपर सवार हुए और रण-क्षेत्रसे भाग गये॥ १५॥

कुम्भाण्ड कूपकर्णश्च पेततुर्मुषलार्दितौ।
दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः॥ १६॥

कुष्माण्ड एवं कूपकर्ण बलदेवके मुसलोंके प्रहारोंसे रणभूमिपर ही गिर पड़े। उनके सैनिक अपने सेनापतियोंको धराशायी देखकर अनाथ-सा अनुभव करने लगे और चारों दिशाओंमें भाग गये॥ १६॥

विशीर्य्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षितः।
कृष्णमभ्यद्रवत् संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम्॥ १७॥

अपनी सेनाको तितर-बितर देखकर बाणासुर अत्यन्त क्रोधित हो गया। वह सात्यकिको छोड़कर रथपर सवार हुआ और श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेके लिए उनकी ओर दौड़ पड़ा॥ १७॥

धनूंष्याकृष्य युगपद्बाणः पञ्चशतानि वै।
एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्म्मदः॥ १८॥

रणदुर्मद बाणासुरने एक ही साथ अपने पाँच सौ धनुषोंकी डोरियोंको खींचकर प्रत्येक धनुषपर दो-दो बाण चलाये॥ १८॥

तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत्॥ १९॥

इसपर अनन्त ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्णने तत्क्षण ही बाणासुरके पाँच सौ धनुषोंको काट डाला। उसके सारथी, रथ एवं घोड़ोंको

भी ध्वस्त कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पाञ्चजन्य शङ्खसे ध्वनि-नाद किया॥ १९॥

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया॥ २०॥

उसी समय बाणासुरकी धर्म-माता कोटरा बाल बिखेरकर और बिना एक भी वस्त्र पहने नङ्ग-धड़ङ्ग होकर अपने उपासक पुत्रके प्राणोंकी रक्षाके लिए श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयी (कोटरा पार्वतीकी ही एक मूर्त्ति है, जो दैत्योंकी उपास्या है)॥ २०॥

ततस्तिर्य्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः।
बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत् पुरम्॥ २१॥

गदाग्रज श्रीकृष्ण उस नग्नमूर्त्तिको देखना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपना मुख फेर लिया। बाणासुरका धनुष तो टूट ही गया था, रथ भी विदीर्ण हो गया था, उसने इस अवसरका लाभ उठाया और अपने नगरमें प्रवेश कर गया॥ २१॥

विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात्।
अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश॥ २२॥

इधर श्रीकृष्णने शिवजीके भूतादि गणोंको तो भगा ही दिया था, किन्तु शिवजीका छोड़ा हुआ तीन मस्तक, नौ चक्षु एवं तीन पैरोंवाला, भग्नास्त्र, क्रोधकी प्रतिमूर्त्ति, कालान्तक-सम रौद्र-ज्वर अङ्गारके समान जलाता हुआ-सा श्रीकृष्णपर आक्रमण करनेके लिए इस प्रकार दौड़ा, मानो दसों दिशाओंको जला डालेगा॥ २२॥

अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम्।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ॥ २३॥

भगवान् नारायणने शैव-ज्वरको आते हुए देखकर उसका प्रतिकार करनेके लिए शैत्य प्रभाववाला अपना वैष्णव-ज्वर

छोड़ा। तब अतीव उष्ण (गर्म) शिव-ज्वर और अतीव शीतल वैष्णव-ज्वर दोनोंके मध्य युद्ध आरम्भ हो गया॥ २३॥

माहेश्वरः समाक्रन्दन् वैष्णवेन बलार्द्दितः।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः॥ २४॥

अन्तमें वैष्णव-ज्वरके तेजसे (बलसे) पीड़ित होकर माहेश्वर-ज्वर अति भयभीत हो गया और ऊँचे स्वरसे चिल्लाने लगा। जब किसी भी स्थानपर उसे अभय नहीं मिला, तब वह अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर श्रीकृष्णसे शरणमें रहनेके लिए प्रार्थना करने लगा॥ २४॥

ज्वर उवाच—

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं,
सर्व्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम्।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं,
यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम्॥ २५॥

माहेश्वर-ज्वरने स्तवन करते हुए कहा—हे भगवन्! आप अनन्त शक्तिसे युक्त हैं, ब्रह्मादि देवताओंके ईश्वर हैं, सर्वान्तर्यामी (आप शम्भुकी भी आत्मा हैं) एवं सर्वस्वरूप हैं। आप शुद्ध (मायामुक्त तथा मेरे प्रभु मायायुक्त) और चिद्घन हैं। वेदोंके द्वारा आपका उल्लेख किया जाता है, आप विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारके कारण हैं (मेरे प्रभु तो मात्र संहारकर्त्ता हैं), आप प्रशान्त और स्वयं ब्रह्म हैं (मेरे प्रभु उग्र ब्रह्म हैं), मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ २५॥

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो,
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये॥ २६॥

हे भगवन्! काल, कर्म, दैव, स्वभाव, जीव, सूक्ष्म भूत, भौतिक शरीर, प्राणवायु, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ एवं लिङ्गदेह इनका बीजाङ्कुर-प्रवाह आपकी माया ही है। बीज-रोह-प्रवाह अथवा बीजाङ्कुर-न्यायके अनुसार लिङ्ग-शरीर, उससे कर्म और कर्मसे लिङ्ग-शरीरकी उत्पत्ति होती है। ये सब बहिरङ्गा-शक्तिकी विभूति मात्र हैं। हे मायातीत! मैं आपकी शरण लेता हूँ॥ २६॥

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै-
र्देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्त्तमानान्,
जन्मैतत् ते भारहाराय भूमेः॥ २७॥

आप लीलासे ही मत्स्यादि अनेक रूप धारण करते हैं और देवताओं, साधुओं और वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करते हैं। आप विपथगामियों और हिंसापरायण दैत्योंका विनाश करते हैं। इस समय पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए ही आपका इस श्रीकृष्ण रूपमें अवतार हुआ है॥ २७॥

तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन,
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं,
नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः॥ २८॥

आपके तेजसे उत्पन्न वैष्णव-ज्वर अति उग्र, प्रवृद्ध और दुःसह है। यद्यपि यह शीतल है, तो भी मैं इससे जल रहा हूँ। जब तक प्राणी आशाओंसे अनुबन्धित रहते हैं और आपके चरणकमलोंकी सेवा नहीं करते, तभी तक वे विविध सन्तापोंसे त्रस्त रहते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम्।
यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम्॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे त्रिशिरा (तीन सिरोंवाले)! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब मेरे वैष्णव-ज्वरसे तुम्हारा भय दूर हो। जो कोई भी हमारे इस संवादका स्मरण करेगा, उसे ज्वरका भय नहीं होगा॥ २९॥

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यन् जनार्दनम्॥ ३०॥

परीक्षित्! जब भगवान्ने इस प्रकार कहा, तब माहेश्वर-ज्वरने उन्हें प्रणाम किया और वहाँसे चला गया। तभी बाणासुर पुनः युद्धकी कामनासे रथपर सवार हुआ और श्रीकृष्णके समीप पहुँचा॥ ३०॥

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप॥ ३१॥

हे राजन्! बाणासुरको अतिशय क्रोध आ ही रहा था, उसने सहस्रों हाथोंमें विविध अस्त्र धारण कर लिये और चक्रधारी श्रीकृष्णके समीप आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ ३१॥

तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना।
चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः॥ ३२॥

निरन्तर अस्त्रोंकी झड़ी लगानेवाले बाणासुरकी भुजाओंको भगवान् श्रीकृष्णने छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शन-चक्रसे इस प्रकार काट डाला, मानो वे वृक्षकी शाखाएँ हों॥ ३२॥

बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत॥ ३३॥

बाणासुरकी भुजाएँ कटते देखकर भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर चक्रधारी श्रीकृष्णके समीप आये और उनसे कहने लगे—॥ ३३॥

श्रीरुद्र उवाच—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्॥ ३४॥

श्रीरुद्रने कहा—हे देव! आप सम्पूर्ण ज्योतियोंके प्रकाशक हैं और स्वयं परमज्योति-स्वरूप हैं। आप वेदमन्त्रोंमें (शब्द-ब्रह्ममें) गूढ़रूपसे छिपे हुए परब्रह्म हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे भक्त ही निर्मल आकाशके समान शुद्धस्वरूप आपको साक्षात् रूपसे देख सकते हैं (मैं तो तमोगुणमय हूँ, मैं आपको साक्षात् रूपसे किस प्रकार देख सकता हूँ)॥ ३४॥

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो,
द्यौः शीर्षमाशाः श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा,
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः॥ ३५॥

रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्म्मः,
स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः॥ ३६॥

यह आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख और जल वीर्य है। स्वर्ग आपका मस्तक, दिशाएँ कान और पृथ्वी चरण हैं। चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र और मैं अर्थात् शिव आपका अहङ्कार हूँ। समुद्र, उदर, इन्द्रादि लोकपाल आपकी भुजाएँ और ओषधियाँ रोमस्वरूप हैं। मेघ केश हैं तथा ब्रह्मा बुद्धि हैं। प्रजापति लिङ्ग एवं धर्म आपके हृदय-स्वरूप हैं। (आकाशादि जो कुछ प्रत्यक्ष दिख रहा है, वह सब आपके सच्चिदानन्द विग्रहके नाभि आदि अवयवोंकी विभूतियाँ हैं अर्थात् आपके चिन्मय मुख, नाभि आदि प्राकृत मुख, नाभि आदिका सृजन करते हैं) आप कार्य-कारणात्मक चौदह भुवनोंके अवयवी पुरुषरूपमें कल्पित हुए हैं। आप ही लोकोंके स्रष्टा आदिपुरुष हैं॥ ३५-३६॥

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्,
धर्म्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय।
वयञ्च सर्व्वे भवतानुभाविता,
विभावयामो भुवनानि सप्त॥ ३७॥

हे अकुण्ठधामन् (आपके प्रभावको कुण्ठित करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है)! हे अखण्ड ज्योतिस्वरूप (हे अप्रच्युतस्वरूप)! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षा एवं संसारके अभ्युदयके लिए है। हम सब लोकपाल आपकी कृपा द्वारा पालित होकर ही सातों भुवनोंका पालन करते हैं (आपके आविर्भावका प्रयोजन इन कार्योंके लिए नहीं होता)॥ ३७॥

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय-
स्तुर्य्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं,
स्वमायया सर्व्वगुणप्रसिद्ध्यै॥ ३८॥

आप स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदरहित, तुरीय-स्वरूप, अद्वितीय आदिपुरुष हैं। आप स्व-प्रकाश (आप ही आपना दर्शन करानेवाले हैं), कारणरहित होकर भी समस्त कारणोंके कारण एवं सर्वान्तर्यामी आदि पुरुष हैं, विषयोंके प्रकाशके लिए अपनी मायासे तद्वत् विकारोंके अनुरूप प्रतीत होते हैं। उन-उन शरीरोंमें यदि आप अन्तर्यामीत्वको स्वीकार नहीं करते, तो मायिक गुणोंके प्रकाशकी सामर्थ्य नहीं रहती, वे व्यर्थ हो जाते। (अभिप्राय यह है कि ऐश्वर्यवान् होनेपर भी आपने अति तुच्छ मायिक गुणोंका उपकार किया है—आप अपनी माया द्वारा प्रत्येक शरीरमें—बुद्धि, इन्द्रिय एवं गुणोंकी प्रकृष्ट सिद्धिके लिए अन्तर्यामीरूपमें अनुभूत होते हैं। आपके अन्तर्यामी होनेके कारण ही मायाके गुणोंका प्रकाश सम्भव होता है)॥ ३८॥

यथैव सूर्य्यः पिहितश्छायया स्वया,
छायाञ्च रूपाणि च सञ्चकास्ति।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व-,
मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन्॥ ३९॥

हे भूमन् (अपरिच्छिन्न-स्वरूप)! सूर्य जिस प्रकार लोगोंके नेत्रोंके समक्ष ही अपनी छाया-स्वरूप मेघोंसे आवृत (ढके-से)

प्रतीत होकर उन बादलों एवं घटादि अनेक दृश्य पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार आप तो स्वयं प्रकाश हैं (आत्म-प्रदीप अर्थात् परमात्मा—यह प्रदीप अर्थात् प्रकाशक भी आप हैं), परन्तु स्वकार्यभूत अहङ्कार आदिके द्वारा आच्छादितके समान प्रतीत होनेपर भी आप अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, स्वदृक् होनेसे दूसरा कोई आपको प्रकाशित नहीं कर सकता। आप ही सत्त्वादि समस्त गुणों एवं गुणी जीवोंको प्रकाशित करते हैं॥ ३९॥

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे॥ ४०॥

जीवोंके चित्त आपकी मायासे मोहित रहते हैं। वे पुत्र-पत्नी-गृहादि विषयोंमें अत्यासक्त रहते हैं और भौतिक दुःखोंके सागरमें डूबते-उतरते रहते हैं। आप कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर जीवोंका उद्धार करते हैं॥ ४०॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः॥ ४१॥

जो जीव इन्द्रियोंके वशीभूत होकर आपके द्वारा कृपापूर्वक दिये गये इस मनुष्य-देहको पाकर भी आपके चरणकमलोंकी सेवासे विमुख रहता है, भजन नहीं करता उसकी अवस्था बड़ी शोचनीय है, क्योंकि वह तो स्वयं आत्म-वञ्चना अर्थात् अपने आपको ही धोखा दे रहा है॥ ४१॥

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम्।
विपर्य्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन्॥ ४२॥

प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, प्रियतम एवं ईश्वर हैं। मृत्युका ग्रास जो मनुष्य आपको छोड़कर अनात्म, अप्रिय एवं अनीश्वर (इन्द्रिय-सुखके उपकरण—) पुत्रादि विषयोंमें आसक्त रहता है, वह मानो अमृत त्याग करके विष पान कर रहा है (अनीश्वर राजा बाणकी कार्य-सिद्धिके लिए जो मैंने आपसे युद्ध

किया, वह तो मानो मैंने अमृतका त्याग करके विष-भक्षण किया है)॥४२॥

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्व्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्॥४३॥

हे देव! मैं, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता, विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुनि—हम सबने सर्वतोभावसे आपकी शरण ली है। आप हमारे अन्तर्यामी, प्रियतम एवं ईश्वर हैं॥४३॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं,
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम्।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं,
भवापवर्गाय भजाम देवम्॥४४॥

हे भगवन्! आप जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं संहारके कारण हैं। (ब्रह्मा और मैं तो आपके द्वारा उत्पत्ति एवं प्रलयके लिए नियुक्त हुए अधिकृत दास हैं) आप शान्त, वैषम्य-बुद्धिरहित, परम-प्रेष्ठ, सभीके आत्म-स्वरूप, ईश्वर तथा स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद-रहित हैं। आप ही जगत् एवं जीवोंके आधार एवं अधिष्ठान-स्वरूप हैं। जन्म-जन्मातर तक भक्तियोगकी प्राप्तिके लिए हम आपकी आराधना करते हैं। (विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हैं, परन्तु सत्त्वगुण उन्हें स्पर्श नहीं करता, जब कि ब्रह्मा एवं शिव रजोगुण एवं तमोगुणसे लिप्त रहते हैं; इसी कारण त्रिगुणातीत भगवान्‌की मायासे कभी-कभी मोहित हो जाते हैं)॥४४॥

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्त्ती,
मयाभयं दत्तममुष्य देव।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो,
यथाहि ते दैत्यपतौ प्रसादः॥४५॥

हे देव! यह बाणासुर मेरा सखा, कृपा-पात्र एवं प्रिय सेवक है। मैंने इसे पहले अभय दान दिया था। हे ईश! दैत्यराज

प्रह्लादके प्रति आपका जैसा अनुग्रह है, इसके प्रति भी वैसा ही अनुग्रह कीजिये। अन्तर्यामीत्व गुण न होनेसे ब्रह्मा एवं मैं अपने उपासकोंके मनके भावको जान नहीं पाते, अतः वरदान माँगनेपर उन्हें मनचाहा वर प्रदान कर देते हैं, जिससे कभी-कभी हम स्वयं भी मुश्किलमें पड़ जाते हैं। [भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें उन विपद्से बचा लेते हैं। शिवको वैष्णवाग्रगण्य इसीलिए कहा जाता है कि वे भगवान् श्रीकृष्णकी असुर-संहार लीलाकी पूर्व भूमिका (असुरोंको वरदान देना आदि) निभाकर उनकी सेवा सम्पादन कर उनके मनोभीष्टकी पूर्ति करते हैं]॥ ४५॥

श्रीभगवानुवाच—

यदात्थ भगवंस्त्वन्नः करवाम प्रियं तव।
भवतो यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्॥ ४६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे शङ्करजी! आपने मुझसे जैसा कहा, मैं आपका वैसा ही प्रिय कार्य अवश्य करूँगा—मैं इसे अभय प्रदान करूँगा। आपने इसके विषयमें जो निर्णय किया है, मैंने तो इसकी भुजाएँ काटकर उसीका भलीभाँति अनुमोदन किया है॥ ४६॥

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः॥ ४७॥

मैं जानता हूँ कि यह बाणासुर मेरे भक्त राजा बलिका पुत्र है। मैंने प्रह्लादको वरदान दिया था कि मैं उसके वंशमें उत्पन्न किसी भी दैत्यका वध नहीं करूँगा। अतः मैं बाणासुरको नहीं मार सकता॥ ४७॥

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया।
सूदितञ्च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः॥ ४८॥

मैंने केवल इसके दर्पको चकनाचूर करनेके लिए इसकी भुजाओंको काटा है और इसकी इतनी बड़ी सेना पृथ्वीके लिए भार-स्वरूप हो रही थी, इसीलिए उसका विनाश किया है॥ ४८॥

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यत्यजरामरः।
पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः॥ ४९॥

अब इसकी चार भुजाएँ बची हैं। यह असुर अजर-अमर रहेगा। इसे किसीका भय नहीं होगा। आपके पार्षदोंमें यह प्रधान स्थान प्राप्त करेगा॥ ४९॥

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य स वध्वा समुपानयत्॥ ५०॥

परीक्षित्! इस प्रकार अभय प्राप्त करनेके बाद बाणासुरने पृथ्वीपर मस्तक टेका और श्रीकृष्णको प्रणाम किया। इसके बाद उसने ऊषाके साथ अनिरुद्धको रथपर आरूढ़ कराया और उन दोनोंको श्रीकृष्णके समीप ले आया॥ ५०॥

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम्।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः॥ ५१॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने शङ्करजीकी सम्मतिसे सुरम्य वस्त्रों एवं आभूषणोंसे विभूषित ऊषा एवं अनिरुद्धको एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आगे किया और द्वारकाकी ओर प्रस्थान किया॥ ५१॥

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः,
सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनै-
रभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः॥ ५२॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया, जिसे तोरण एवं ध्वजाओंसे सजाया गया था, उसके मार्गों और चौराहोंको जलके छिड़कावसे सींचा गया था। भगवान्‌के नगरीमें प्रवेश करते ही सारे बन्धु-बान्धव, विप्र एवं नागरिक आगे बढ़े और शङ्ख, नगारे, दुन्दुभि आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ध्वनिके साथ उनका स्वागत किया॥ ५२॥

य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम्।
संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः॥५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीकृष्णविजयो नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥६३॥

राजन्! जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णके विजय-संवाद एवं शङ्करजीके साथ उनके युद्धका स्मरण करता है, उसकी कभी भी पराजय नहीं होती॥५३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तिरसठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

महाराजा नृगकी कथा

श्रीबादरायणिरुवाच—

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः।
विहर्त्तुं साम्ब-प्रद्युम्न-चारुभानुगदादयः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक बारकी बात है—साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु और गद आदि यदुकुलके राजकुमार भ्रमणके लिए एक उपवनमें गये॥ १॥

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम्॥ २॥

वहाँ वे बहुत समय तक खेलते रहे, जिससे उन्हें प्यास लग आयी। अतः वे इधर-उधर जल खोजने लगे। खोज करते-करते उन्हें एक कुआँ दिखायी पड़ा, जिसमें जल तो नहीं था, पर एक अद्भुत जीव दिखायी पड़ा॥ २॥

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः॥ ३॥

यह जीव पर्वतके समान विशाल एक गिरगिट था। उन्हें बड़ा विस्मय हो रहा था। उन्हें उसपर दया भी आयी और वे उसे निकालनेके लिए प्रयत्न करने लगे॥ ३॥

चर्म्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः।
नाशक्नुवन् समुद्धर्त्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः॥ ४॥

उन्होंने कुएँमें पड़े हुए उस गिरगिटको चमड़े एवं सूतकी बनी रस्सियोंसे बाँधकर ऊपर उठानेका प्रयत्न किया, परन्तु वे उसे निकाल न सके। इसपर उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ। वे श्रीकृष्णके पास गये और यह समाचार कह सुनाया॥ ४॥

तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया॥ ५॥

परीक्षित्! कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके पालनकर्त्ता हैं। वे यह समाचार सुनकर कुएँके समीप पहुँचे और वहाँ उस जीवको देखा। उसे देखते ही भगवान् श्रीकृष्णने अनायास ही बाएँ हाथसे उसे कुएँसे बाहर निकाल लिया॥ ५॥

स उत्तमःश्लोककराभिमृष्टो,
विहाय सद्यः कृकलासरूपम्।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः
स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥ ६॥

श्रीकृष्णके कर-कमलोंका स्पर्श प्राप्त करते ही उसका गिरगिट शरीर छूट गया और वह दीप्तिमान्-सुवर्ण-कान्ति-युक्त स्वर्गीय देवताके रूपमें परिणत हो गया। विचित्र रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र, माल्य और अलङ्कार धारण करनेसे उसकी बहुत शोभा हो रही थी॥ ६॥

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं,
जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो,
देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम्॥ ७॥

भगवान् श्रीकृष्ण इसके विषयमें सब कुछ जानते थे, फिर भी वे चाहते थे कि उसके गिरगिट रूपकी प्राप्तिका कारण सभी लोगोंको ज्ञात हो जाय। इसी अभिप्रायसे वे पूछने लगे—हे महाभाग! इतना सुन्दर रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं? आप निश्चय ही कोई श्रेष्ठ देवता हैं, मैं ऐसा मानता हूँ॥ ७॥

दशामिमां वा कतमेन कर्म्मणा
सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो,
यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम्॥ ८॥

हे सुभद्र! आप ऐसी हीन दशाके योग्य नहीं हैं, फिर आपसे कौन-सा ऐसा कर्म बन गया, जिसके परिणामस्वरूप यह तुच्छ गिरगिट स्वरूप आपको प्राप्त हुआ है। यदि हमलोगोंको बतलाना आप उचित समझते हैं तो यह वृत्तान्त अवश्य सुनाइये। हमें आपका परिचय प्राप्त करनेकी बड़ी इच्छा हो रही है॥ ८॥

श्रीशुक उवाच—

इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्त्तिना।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्च्चसा॥ ९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अनन्तमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके पूछनेपर राजा नृगने सूर्यके समान जाज्वल्यमान मुकुटको झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और कहने लगे॥ ९॥

श्रीनृग उवाच—

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम्॥ १०॥

राजा नृगने कहा—हे प्रभो! मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र हूँ और राजा नृगके नामसे प्रसिद्ध हूँ। जब दानशील पुरुषोंकी गणनाका प्रसङ्ग चला होगा, तब मेरा नाम आपको अवश्य सुनायी पड़ा होगा॥ १०॥

किं नु तेऽविदितं नाथ सर्व्वभूतात्मसाक्षिणः।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया॥ ११॥

हे नाथ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं। आपकी दृष्टि काल द्वारा बाधित नहीं होती। आपके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है। फिर भी आपकी आज्ञाके अनुसार मैं अपने विषयमें बतलाता हूँ॥ ११॥

यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः॥ १२॥

पृथ्वीपर जितने धूलिकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षामें जितनी धाराएँ हैं—मैंने पहले उतनी ही संख्यामें गौएँ दान की थीं (अर्थात् असंख्य गौएँ दानमें दी थीं)। कुरुक्षेत्रादि प्रदेशोंमें सूर्यग्रहणादिके अवसरोंपर एक ही गायका दान किया जाय, तो वह कोटि-कोटि संख्याके बराबर गण्य होती है॥ १२॥

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप-
गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा
दुकूलमालाभरणा ददावहम्॥ १३॥

भगवन्! मैंने जितनी भी गायोंका दान किया था, वे सभी दुधारु, तरुणवयस्का, सद्स्वभावा, सौन्दर्य एवं गुणोंसे युक्त कपिलाजातीय गायें थीं। मैंने उन्हें न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे प्राप्त किया था। उनके खुर चाँदीसे और सींग स्वर्णसे मढ़े हुए थे। उन कपिला गायोंको वस्त्र-मालाओंसे समलंकृत किया था और वे सभी बछड़ोंसे युक्त थीं॥ १३॥

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः
सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः
प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः॥ १४॥

गो-भू-हिरण्यायतनाश्वहस्तिनः
कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथा-
निष्टञ्च यज्ञैश्चरितञ्च पूर्त्तम्॥ १५॥

मैंने पहले दम्भाचरणसे रहित, ऋतवान् (सत्यपरायण), गुणवान्, शीलसम्पन्न, कष्टोंमें पड़े हुए कुटुम्बवाले, तपस्याके लिए विख्यात, वेद शास्त्रोंमें सुनिपुण, सच्चरित्र, तरुण, उत्तम ब्राह्मणोंको वस्त्रालङ्कार आदिसे विभूषित किया। इसके बाद उन्हें गाय, भूमि, सुवर्ण, गृह,

हाथी, घोड़े, दासियोंके साथ ब्राह्मण-कन्याएँ, तिल, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, गृहसामग्री एवं रथ दिये। प्रभो! मैं बहुत प्रकारके सद् अनुष्ठान करता था और बावली, कुएँ आदि खुदवानेमें लगा रहता था॥ १४-१५॥

कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने।
संपृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये॥ १६॥

एक दिन किसी एक अप्रतिग्रही (दान न लेनेवाले) तपस्वी ब्राह्मणको पहले जो गायें मैंने दी थी, उनमेंसे एक गाय भागकर मेरी गायोंमें मिल गयी और मुझे इस बातका पता न चल सका। एक दिन अज्ञातवश मैंने उसी गायको दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया॥ १६॥

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम्।
ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति॥ १७॥

दूसरा ब्राह्मण जब उस गायको ले जा रहा था, तब उस गायके पहले स्वामीने उसे देख लिया और कहने लगा—'यह मेरी गाय है।' तब दूसरा ब्राह्मण जिसे गाय प्राप्त हुई थी, उसने भी कहा—'यह गाय मेरी है। राजा नृगने इसे मुझे दानमें दिया है॥ '१७॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ।
भवान् दातापहर्त्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः॥ १८॥

वे दोनों ही ब्राह्मण स्वार्थ-साधक एवं विवाद करनेवाले थे। वे दोनों कलह करते हुए मेरे पास आये। गायका पूर्व स्वामी कहता था कि आपने मेरी गायका अपहरण किया है और जो दूसरा प्रतिग्राही था, वह कहता था 'यह गाय आपने मुझे दी है।' दोनोंका कलह सुनकर मैं व्याकुल हो गया॥ १८॥

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्म्मकृच्छ्रगतेन वै।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम्॥ १९॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ॥ २०॥

मैं उस स्थितिमें धर्मसङ्कटमें पड़कर दोनों ब्राह्मणोंसे अनुनय-विनय करने लगा। मैंने कहा—मैं आपको एक लाख अत्युत्तम गौएँ दूँगा। इसके बदलेमें आप मुझे यह गाय लौटा दीजिये। मैं इस विषयमें कुछ नहीं जानता था, इसलिए अपराध कर बैठा। अतः आप मुझपर कृपा कीजिये और अशुचि (घोर) नरक-पातरूप सङ्कटसे बचा लीजिये॥ १९-२०॥

नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत्।
नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ॥ २१॥

तब गायके पूर्व स्वामीने मुझे सम्बोधन करते हुए कहा—'हे राजन्! मेरी दान लेनेकी कोई इच्छा नहीं है।' यह कहकर वह वहाँसे चला गया। इसके बाद दूसरा ब्राह्मण भी 'आप एक लाखसे ऊपर और दस हजार गौएँ देंगे, तो भी मैं लेना नहीं चाहता'—यह कहकर वह भी चला गया॥ २१॥

एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम्।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते॥ २२॥

हे देवाधिदेव! हे जगन्नाथ! इसी अवसरपर मेरा मृत्युकाल उपस्थित हो गया और यमदूत वहाँ आ गये और मुझे यमराजकी संयमनी पुरी ले गये। वहाँ यमराजने मुझसे पूछा॥ २२॥

पूर्व्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम्।
नान्तं दानस्य धर्म्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः॥ २३॥

हे राजन्! यह बताओ कि पहले तुम पापोंका फल भोगना चाहते हो या पुण्योंका? मुझे तो निश्चितरूपसे आपके दान-धर्मका कोई अन्त दिखायी नहीं देता और न ही दिव्यलोकमें आपको प्राप्त होनेवाले भोगोंका?॥ २३॥

पूर्व्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो॥ २४॥

तब मैंने कहा—हे धर्मराज! मैं पहले अशुभ फलोंका ही भोग करना चाहता हूँ। ऐसा कहते ही 'तुम यहाँसे गिर जाओ' यमराजने इस प्रकार आदेश दिया। मैं उसी समय गिर गया और गिरते ही मैंने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ॥ २४॥

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः॥ २५॥

हे केशव! मैं ब्रह्मण्य गुणसे युक्त ब्राह्मणोंके सेवक एवं महावदान्य (उदार) आपके दर्शनका अभिलाषी था। आपका भक्त (दास) था, इसी कारण आज तक मेरी पूर्व स्मृति नष्ट नहीं हुई। राजा नृगकी भक्ति कर्ममिश्रा होनेके कारण गुणीभूता थी। (मिश्रा भक्तिके कारण राजा नृगने भगवान्‌से कहा कि आपका दास होनेके कारण मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई—यह कथन विनय-प्रकाशक है। उन्होंने स्वयंको दर्शनाभिलाषी बताया, इसका कारण है कि उन्होंने अति सुन्दर श्रीभगवद्-विग्रहके लिए अथवा उनके मन्दिरमें गौ-दान किया होगा अथवा भागवत आदि शास्त्र-श्रवणके लिए उनकी उत्कण्ठा देखकर किसी महाभागवतने उसे आशीर्वाद दिया होगा कि 'तुम्हें भगवत्-दर्शन होगा।' इसीलिए उन्हें भगवत्-दर्शनकी इच्छा हुई थी)॥ २५॥

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः॥ २६॥

हे विभो! बड़े-बड़े योगेश्वर उपनिषद्-रूप नेत्रोंके द्वारा अपने निर्मल अन्तःकरणमें आपका चिन्तन करते रहते हैं। हे परमात्मन्! आप तो इन्द्रियातीत हैं, तब किस प्रकारसे साक्षात्‌रूपसे मेरी आँखोंके सम्मुख प्रकट हुए हैं—मुझे समझमें नहीं आ रहा है!

हे भगवन्! इस जगत्में जिनकी संसार-दशा नष्ट होनेवाली होती है, आप उन्हें ही दर्शन देते हैं, किन्तु मैं तो प्रचुर विपद्में पड़ा था, व्यसनोंमें फँसकर अन्धा हो रहा था, गिरगिट होनेके कारण मेरी बुद्धि विकृत हो रही थी। मेरे-जैसोंके लिए आपका दर्शन अति आश्चर्यजनक है॥ २६॥

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय॥ २७॥
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम्॥ २८॥

भगवान्की कृपासे राजा नृगमें दास्यभाव उत्पन्न हुआ है, अतः वे भगवान्के नामोंका कीर्त्तन करने लगे—हे देवाधिदेव (आप सभी देवताओंके द्वारा पूजनीय हैं)! हे जगन्नाथ (आप समस्त संसारके नाथ हैं, मेरे भी नाथ हैं)! हे गोविन्द (गायोंकी कृपा-दृष्टिसे ही मैंने आपको प्राप्त किया है)! हे पुरुषोत्तम (ब्रह्मा, विष्णु आदिमें आप ही उत्तम पुरुष हैं)! हे नारायण (आप जीवोंके अयन-आश्रय हैं, मुझ जैसे दुष्ट जीवके भी आप ही अधिष्ठान हैं)! हे हृषीकेश (मेरी इन्द्रियोंको आत्मसात् करें)! हे पुण्यश्लोक (नृग-मोचनी अपनी कीर्त्तिमें अवस्थान करें)! हे अच्युत (मेरे अन्तःकरणसे विच्युत न हों)! हे अव्यय (इससे आपका कुछ भी क्षय न होगा)! हे प्रभो! हे श्रीकृष्ण! अब आप देवलोक जानेके लिए मुझे अनुमति प्रदान करें। हे देव! मैं जहाँ भी रहूँ, वहीं मेरा चित्त आपके पाद-पद्मोंके चिन्तनमें ही आसक्त रहे॥ २७-२८॥

नमस्ते सर्व्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः॥ २९॥

मेरा आपमें दास्यभाव ही रहे, परन्तु आप सभी भावोंके आश्रय हैं। हे परब्रह्म! आप समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण भी निर्विकार हैं (दास्यभाव), आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं, मैं

आपको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ (शान्तभाव), हे श्रीकृष्ण! अर्जुनादिको सदा आनन्द देनेवाले (सखाभाव) हैं, हे वासुदेव! (वसुदेव नन्दन—माता पिताको वात्सल्य-सुख प्रदानकारी (वात्सल्यभाव) हैं, हे योगपति! आप भक्तियोगमयी रुक्मिणी आदिके स्वामी हैं (उज्ज्वल शृङ्गारभाव)। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ २९॥

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम्॥ ३०॥

यह कहकर राजा नृगने श्रीकृष्णकी प्रदक्षिणा की और अपने मुकुटके अग्रभागसे उनके चरणकमलोंका स्पर्श किया। इसके बाद भगवान्‌की अनुमति लेकर वहाँ उपस्थित प्रत्यक्षदर्शियोंके समक्ष ही वे श्रेष्ठ विमानपर सवार हो गये (भगवान्‌ने उनसे कहा, 'तुम कर्मफल भोगकी समाप्तिपर मुझे प्राप्त करोगे')॥ ३०॥

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः।
ब्रह्मण्यदेवो धर्म्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन्॥ ३१॥

राजा नृगके चले जानेपर ब्राह्मणोंके अनुरागी, धर्मके सार-स्वरूप, भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण क्षत्रिय राजाओंको शिक्षा देनेके लिए राजा नृगके दृष्टान्तको दिग्दर्शित करते हुए अपने परिजनोंसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३१॥

दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम्॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जो लोग अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी हैं, वे भी यदि थोड़ा-सा भी ब्राह्मणके धनका भोग कर लें, तो उनका कल्याण नहीं हो सकता। तब जो अपनेको मिथ्या अभिमान वश राजा मानते हैं, उनकी तो बात ही क्या कही जाय॥ ३२॥

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि॥ ३३॥

मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि इसका प्रतिकार किया जा सकता है, परन्तु ब्राह्मणोंके धनका भोग करना ही भयानक विष है, क्योंकि पृथ्वीपर उसका कोई उपचार नहीं है॥ ३३॥

हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः॥ ३४॥

विष तो केवल खानेवालेको ही मारता है और आग भी जल द्वारा शान्त हो जाती है परन्तु ब्राह्मणके धन-रूप अरणिसे उत्पन्न आग पूरे वंशको ही समूल नष्ट कर डालती है॥ ३४॥

ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम्।
प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्व्वान् दशापरान्॥ ३५॥

यदि कोई व्यक्ति भलीभाँति अनुमति प्राप्त न करके ब्राह्मणके धनका भोग करता है, तो उसकी तीन पीढ़ियाँ (वह स्वयं, उसका पुत्र और पौत्र) नष्ट हो जाती हैं, और यदि उस ब्राह्मणके धनका बलपूर्वक भोग किया जाय, तो पूर्व पुरुषोंकी दस पीढ़ियाँ और परवर्त्ती उत्तराधिकारियोंकी भी दस पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं॥ ३५॥

राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः॥ ३६॥

जो राजा राज्य-सम्पदाके मदमें अन्धे होकर ब्राह्मणका धन लेना उचित मानते हैं, वे तो वास्तवमें नरक-प्राप्तिकी ही प्रार्थना कर रहे होते हैं। वे मूर्ख अपनी अधोगतिके विषयमें विचार ही नहीं करते हैं॥ ३६॥

गृह्णन्ति यावतः पांशून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम्॥ ३७॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान् निरङ्कुशाः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः॥ ३८॥

जो उदार-हृदय ब्राह्मण बड़े कुटुम्बके पोषण और सत्कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन ब्राह्मणोंके आँसुओंकी बूँदें जितनी संख्यामें धूलि-कणोंका स्पर्श करती हैं, उन ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करनेवाले स्वेच्छाचारी राजा एवं उनके वंशज उतने ही वर्षों तक कुम्भीपाक नरकका भोग करते हैं॥ ३७-३८॥

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥ ३९॥

अपना दिया दान हो अथवा दूसरेके द्वारा दिया गया हो, जो ब्राह्मणके धनका हरण करता है, वह साठ हजार वर्षों तक विष्ठामें कीड़ा बनकर जन्म लेता रहेगा॥ ३९॥

न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृद्ध्वाल्पायुषो नराः।
पराजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः॥ ४०॥

जो मानव ब्राह्मणोंके धनकी आकाङ्क्षा करते हैं, वे अल्पायु, शत्रुओंके द्वारा पराजित एवं राज्यसे भ्रष्ट हो जाते हैं तथा मृत्युके बाद दूसरोंको कष्ट देनेवाले साँप बन जाते हैं। अतः हमें ब्राह्मणोंके धनकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अभिलाषा करने मात्रसे अल्पायु हो जाते हैं, तब हरण करने पर क्या कहा जा सकता है?॥ ४०॥

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥ ४१॥

हे मेरे आत्मीयो! यदि कोई ब्राह्मण अपराधी भी हो, तो भी उससे द्रोह मत करना अर्थात् उसे कभी उत्पीड़ित मत करना। ब्राह्मण यदि किसीको मारे अथवा अभिशाप ही दे, तो भी सदा उसे प्रणाम करना॥ ४१॥

यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः।
तथा नमत यूयञ्च योऽन्यथा मे स दण्डभाक्॥ ४२॥

जिस प्रकारसे मैं सदा सावधान रहकर ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, उसी प्रकार तुमलोग भी सदा सतर्क रहना। जो इसके विरुद्ध आचरण करेंगे, वे मेरे द्वारा अवश्य ही दण्डित होंगे॥ ४२॥

ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्त्तारं पातयत्यधः।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव॥ ४३॥

ब्राह्मणोंकी गायने इस नृगराजाकी जिस प्रकारसे अधोगति की है, उसी प्रकारसे अज्ञनवश ही चुरायी गयी ब्राह्मणकी सम्पत्ति चुरानेवालेका अधःपतन करवा देती है॥ ४३॥

एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः।
पावनः सर्व्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीनृगोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

अखिल-लोकपावन भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकावासियोंको इस प्रकार विशेषरूपसे उपदेश प्रदान करके अपने भवनमें चले गये॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौंसठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

श्रीबलरामजीका व्रजगमन

श्रीशुक उवाच—

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे श्रीकुरुश्रेष्ठ! नित्यानन्द-स्वरूप होकर भी एक बार भगवान् बलदेवको नन्दबाबा आदि सुहृदोंसे मिलनेकी बड़ी अभिलाषा और उत्कण्ठा हो रही थी। वे धैर्य एवं विवेककी रक्षा न करके चुम्बकीय आकर्षणकी भाँति कृष्णको भी द्वारकामें छोड़कर रथपर सवार हुए और नन्द-गोकुल पहुँचे॥ १॥

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः॥ २॥

वहाँ गोप-गोपियाँ चिरकालसे उनसे मिलनके लिए अतिशय उत्कण्ठित हो रहे थे। बलरामको देखते ही सबने उन्हें गले लगाया। बलरामने नन्दबाबा और यशोदा मैयाको प्रणाम किया और उन दोनोंने आशीर्वचनोंसे उनका अभिनन्दन किया॥ २॥

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः॥ ३॥

'हे दशार्ह वंशज! हे जगदीश्वर बलदेव! छोटे भाई श्रीकृष्णके साथ तुम हमारी चिरकाल तक रक्षा करो।' यह कहकर नन्दबाबा और यशोदा मैयाने उन्हें गोदमें बिठाकर आलिङ्गन किया और प्रेमाश्रुओंसे उन्हें अभिषिक्त कर दिया॥ ३॥

गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्ठैरभिवन्दितः।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः॥ ४॥

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्य्युपागताः॥५॥
पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः॥६॥

इसके बाद बलरामने वृद्ध गोपोंका यथायोग्य अभिवादन किया और जो उनसे छोटे थे, उन्होंने बलरामका अभिनन्दन किया। इस प्रकार बलराम वयस, बन्धुत्व एवं पारिवारिक सम्बन्धके अनुसार किसी गोपसे मुसकराकर, किसीके साथ हाथ मिलाकर और किसीसे गले लगेकर मिले। किसीके साथ हँस-हँसकर मधुर वार्त्तालाप किया। इसके बाद उन्होंने विश्राम किया। गोपोंने देखा कि बलराम आरामसे बैठ गये हैं, तो वे उनके समीप आ गये और उन्हें चारों ओरसे घेर लिया। प्रेमकी अतिशयतासे उनकी वाणी गद्गद हो रही थी। उन गोपोंने कमलनयन श्रीकृष्णको ही भोजन, शयनादि सारे विषय अर्पण कर रखे थे। वे अपने-अपने यादव-बान्धवोंकी कुशल-क्षेम पूछने लगे। बलरामने भी गोपोंकी कुशलताके समाचार पूछे॥४-६॥

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते।
कच्चित् स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः॥७॥

गोपोंने पूछा—हे बलराम! हमारे सभी बान्धव यादवगण कुशलसे तो हैं न! आपलोग तो अब स्त्री-पुत्रोंके साथ रहते हैं। आप कभी हमारा स्मरण करते हैं क्या?॥७॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः।
निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः॥८॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि दुराचारी कंसको आपलोगोंने मार डाला और हमारे सुहृदोंको उससे मुक्ति मिल गयी है। अब तो आपलोगोंने सारे ही शत्रुओंको मार डाला है और विशाल एवं सुरक्षित किलेमें निवास कर रहे हैं॥८॥

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः॥ ९॥

बलदेवके दर्शनसे गोपियाँ गौरवान्वित हो गयीं। वे उनसे हँसती हुईं आदरपूर्वक पूछने लगीं—हे बलराम! पुरनारियोंके प्रियतम श्रीकृष्ण कुशलसे तो हैं न? द्वारकावासिनी सुन्दरियोंको प्राप्त करके हम गँवारिनोंका विरह-दुःखका उन्हें अनुभव कैसे हो सकता है? अतएव सुखी ही होंगे॥ ९॥

कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरञ्च सः।
अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः॥ १०॥

वे कभी माता-पिता और अपने बन्धुओंका (चाचा, ताऊ, मामाओंका) स्मरण करते हैं क्या? क्या वे अपनी मैयासे मिलने एक बार व्रजमें आयेंगे? वे पुरस्त्रियाँ मधुररस-विलासमें हमसे भी अधिक प्रेमवती हैं, तथापि वे महाबाहु श्रीकृष्ण हमारे द्वारा सदा-सर्वदा की जानेवाली वनमाला-रचना, चन्दन-लेपन, पुष्प-पल्लव-ग्रथित व्यजन-करण (चामर ढुलाना), शय्या-निर्माण आदि सेवाओंका स्मरण करते हैं क्या?॥ १०॥

मातरं पितां भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो॥ ११॥
ता नः सद्यः परित्यज्य गतः सञ्छिन्नसौहृदः।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम्॥ १२॥

हे दाशार्ह! स्वजन-सम्बन्धियोंको छोड़ना कितना कठिन होता है, पर हमने उनके लिए अपने माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पति आदि सबका त्याग कर दिया। हे बलदेव! कितना सौहार्द और स्नेहका दृढ़-बन्धन था और उन्होंने इसे तिनके-पत्तेके समान झटकेसे तोड़ डाला। हम अनन्यशरणाओंसे नाता तोड़कर वे व्रज छोड़कर चले गये। उन्होंने कहा था—'पुनः आऊँगा', अतः हमने

उनका विश्वास कर लिया और उनके जानेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली। भला ऐसी कौन सरल-बुद्धि स्त्री होगी, जो उनके मधुर एवं शपथपूर्ण वचनोंपर विश्वास नहीं करेगी?॥ ११-१२॥

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो,
वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-
स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥ १३ ॥

अन्य गोपियोंने कहा—बलदेवजी! हम तो गाँवकी गँवार ग्वालिनें ठहरीं, उनकी बातोंमें आ गयीं। परन्तु! पुरकी नारियाँ तो बहुत चतुर और बुद्धिमती होती हैं। तब वे नागरीगण उन अस्थिर-चित्त एवं अकृतज्ञकी बातोंपर किस प्रकार विश्वास कर लेती हैं?—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। इस बातपर दूसरी गोपियोंने कहा—निश्चितरूपसे पुरकी नारियाँ भी उनकी सुमधुर मुसकान एवं अनुरागमयी चितवनके कारण प्रेमावेशसे अभिभूत हो जाती होंगी और कामवेगसे विक्षुब्ध और उच्छ्वसित (जीवन्त) होकर उनकी विचित्र रसमयी (रङ्ग-बिरङ्गी) बातोंपर विश्वास कर लेती होंगी। वे भी कथारस-आस्वाद-त्यागमें असमर्थ होती होंगी॥ १३ ॥

किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः॥ १४॥

अन्य किसी गोपीने कहा—हे गोपियो! उनकी बातोंके अतिरिक्त क्या और कोई काम नहीं है? दूसरी कोई बात करो। यदि हमारे विरहमें उन निष्ठुरके दिन व्यतीत हो जाते हैं, तो उनके विरहमें हमारे भी दिन बीत ही जायेंगे। उनसे मिलकर भला कौन स्त्री जीवित रह पाती है, अरे कई तो उनके विरहमें मर ही गयी हैं। हम तो न जी पा रही हैं और न ही मर पा रही हैं—विधाताने हमारे भाग्यमें यही लिखा है॥ १४॥

इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम्।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः॥ १५॥

इस प्रकारसे ये गोपियाँ शौरि भगवान् श्रीकृष्णके प्रकृष्ट-सुधारसमय स्मित (मुसकान), मनोहर वार्त्तालाप, चारु-चितवन, अनूठी चाल-भङ्गिमा और प्रेमालिङ्गनोंका स्मरण करके विह्वल हो विलाप करने लगीं॥ १५॥

सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः॥ १६॥

परीक्षित्! परम आकर्षक बलराम विविध प्रकारके अनुनय-विनय करनेमें परम निपुण थे। उन्होंने श्रीकृष्णके मनोज्ञ (मनोहर), गोपनीय एवं हृदयस्पर्शी सन्देशोंको सुनाकर विरह-सन्तप्त गोपियोंको सान्त्वना प्रदान की कि मैं उद्धवके समान कृष्णके अधीन नहीं हूँ, मैं द्वारका जाकर बलपूर्वक उसे यहाँ ले आऊँगा। (उद्धवजीका दास्यभाव है और बलदेवजीका वात्सल्यभाव है—कृष्णने इसे महत्त्व न देकर दोनोंके ही साथ सन्देश भेजा है)॥ १६॥

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्॥ १७॥

भगवान् बलराम वहाँ मधु और माधव (चैत्र एवं वैशाख) दो महीने तक रहे। रात्रिकालमें वे अपनी गोपियोंके साथ रहकर उनके प्रेमकी अभिवृद्धि करते थे॥ १७॥

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः॥ १८॥

यमुना-पुलिनके निकट रामघाटपर एक उद्यान था, जो पूर्णचन्द्रकी शुभ्र ज्योत्स्ना छिटकनेसे उज्ज्वल रहता था, जहाँ रातमें विकसित कुमुदनियोंका सौरभ चारों ओर बिखरा रहता था—इस सुगन्धको वहन करता हुआ सुशीतल, मन्द, सुगन्धित समीर प्रवाहित होता रहता था। भगवान् बलराम वहीं गोपियोंके साथ विहार करते॥ १८॥

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात्।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्॥ १९॥

उसी समय वरुणदेवने अपनी कन्या मदिराकी अधिष्ठात्री वारुणी देवीको भेजा। वह एक वृक्षके खोड़रसे (खोखले छिद्रसे) निकली। उसने अपनी गन्धसे सारे वनको आमोदित कर दिया॥ १९॥

तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ॥ २०॥

वायुके द्वारा उस मधुर पेय वारुणीकी धाराकी सुगन्ध बलरामके समीप पहुँची। बलदेव उससे आकृष्ट होकर वहाँ वृक्षके समीप चले आये और गोपियोंके साथ उस वारुणीका पान करने लगे॥ २०॥

उपगीयमानो गन्धर्वैर्वनिताशोभिमण्डले।
नेमे करेणुयूथेशो माहेन्द्र इव वारणः॥ २१॥

बलदेव गोपियोंसे परिशोभित मण्डलमें विहार करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो हथिनियोंके यूथका अधिपति ऐरावत हथिनियोंके झुण्डमें रमण कर रहा हो। गन्धर्वगण उनके चरितका गान कर रहे थे॥ २१॥

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ववृषुः कुसुमैर्मुदा।
गन्धर्वा मुनयो रामं तद्वीर्यैरीडिरे तदा॥ २२॥

उस समय आकाशमें दुन्दुभिका नाद होने लगा। गन्धर्वगण हर्षसे ओतप्रोत होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। मुनिजन उनके पराक्रमका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे॥ २२॥

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः।
वनेषु व्यचरत् क्षीवो मदविह्वललोचनः॥ २३॥

गोपियाँ भी उस समय हलायुध बलरामके चरितका गान कर रही थीं। आनन्द-मदसे बलरामके नेत्र विह्वल हो रहे थे, वे

उन्मत्तसे होकर अपनी प्रेयसियोंके साथ वनमें विचरण कर रहे थे॥ २३॥

स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम्॥ २४॥
स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह॥ २५॥

बलदेव आनन्दोन्मत्त हो रहे थे। उन्होंने एक ही कानमें कुण्डल पहन रखा था। वक्षःस्थल रत्नमाला एवं वैजयन्तीमालासे विभूषित हो रहा था। मुखकमलपर मन्द-मन्द मुसकान थी। उसपर स्वेद-बिन्दु इस प्रकार चमक रहे थे, मानो ओसकी बूँदें हों। उस समय सर्वशक्तिमान् बलरामने जलक्रीड़ाके लिए यमुनाको बुलाया किन्तु यमुनाने सोचा कि बलराम मदोन्मत्त हो रहे हैं। इसलिए उन्होंने बलरामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया। वे वहाँ नहीं आयीं। यमुना नदीने सोचा कि मत्तके वाक्य प्रमाणित नहीं होते। यदि मेरे जलमें विहार करनेकी उनकी इच्छा है, तो स्वयं ही आकर मेरे जलमें विहार करें। तब बलराम क्रोधित हो गये और हलकी नोकसे उन्हें खींच लाये और कहने लगे॥ २४-२५॥

पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम्॥ २६॥

श्रीबलरामने कहा—हे दुःशीले! तुम मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रही हो और मेरे बुलानेपर भी यहाँ नहीं आ रही हो। अपनी स्वेच्छाचारिताके कारण ही तुम ऐसा अपराध कर रही हो। मैं हलकी नोकसे अभी तुम्हारे सौ टुकड़े कर देता हूँ॥ २६॥

एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम्।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब यदुनन्दन बलरामने इस प्रकारसे यमुनादेवीको डाँटा-फटकारा, तब वे चकित-सी होकर काँपने लगीं। वे आयीं और उनके चरणोंमें गिरकर प्रार्थना करने लगीं॥ २७॥

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम्।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते॥ २८॥

यमुनादेवीने कहा—हे जगन्नाथ! हे महाबाहो! हे बलराम! मैं आपके पराक्रमको नहीं जानती थी। आप अत्यन्त प्रभावशाली हैं। आपके एक अंशमात्र शेषजी इस पृथ्वीको धारण किये हुए हैं॥ २८॥

परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम्।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल॥ २९॥

हे प्रभो! आप परम ऐश्वर्यशाली हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी-स्वरूप हैं। मैं आपके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थी, इसलिए अपराध कर बैठी। हे भक्तवत्सल भगवान्! अब मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मुझे क्षमा कीजिये॥ २९॥

ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान् बलः।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट्॥ ३०॥

परीक्षित्! जब यमुनाने इस प्रकारसे प्रार्थना की, तब भगवान् बलदेवने यमुनाको छोड़ दिया। गजराज जिस प्रकार हथिनियोंके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार उन्होंने गोपियोंके साथ यमुना-जलमें प्रवेश किया और जलक्रीड़ा करने लगे॥ ३०॥

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम्॥ ३१॥

जब बलराम स्वेच्छापूर्वक जलक्रीड़ा कर चुके, तब जलसे बाहर निकले। उस समय वरुणदेव द्वारा प्रेरित कान्तिदेवी

(लक्ष्मीकी एक मूर्त्ति—वैकुण्ठके द्वितीय व्यूहमें श्रीसङ्कर्षणकी पत्नी) ने उन्हें समुद्रजात—नीले वस्त्रका जोड़ा, बहुमूल्य आभूषण एवं दीप्तिमान् मनोरम गलेका हार प्रदान किया॥ ३१॥

वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनीम्।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः॥ ३२॥

बलदेवने नीले वस्त्रोंको पहन लिया और गलेमें सुनहरी माला धारण कर ली। वे सुन्दर आभूषणोंसे अलंकृत होकर और चन्दनादि अङ्गराग लगाकर ऐसे सुशोभित हुए मानो इन्द्रका ऐरावत हाथी हो॥ ३२॥

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना।
बलस्यानन्तवीर्य्यस्य वीर्य्यं सूचयतीव हि॥ ३३॥

हे राजन्! आज भी यह देखा जाता है कि यमुना बलरामके हलके द्वारा खींचे हुए चिह्नसे युक्त होकर अनेक धाराओंमें ऐसे बह रही हैं, मानो महापराक्रमशाली बलदेवके पराक्रमका यश–गानकर रही हों॥ ३३॥

एवं सर्व्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम्॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीबलदेवविजये श्रीयमुनाकर्षणं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५॥

व्रजमण्डलमें गोपियोंके साथ विहार करते हुए बलदेवका चित्त उनके माधुर्यमय–विलासोंसे ऐसा आकृष्ट हो गया कि उन्हें समयकी सुधि ही न रही। गोपियोंके साथ बितायी गयीं बहुत–सी रात्रियाँ उन्हें एक ही रातके समान प्रतीत हुईं।

(श्रीहरिवंशपुराणके विष्णुपर्वमें उल्लेख है कि श्रीबलरामकी कृपासे समुद्र–भार्या यमुना नदी कालिन्दीके अंशरूपसे कालिन्दीके प्रवाहके साथ प्रवाहित होती हुई व्रजवास करने लगी थीं। इसी

नदीका श्रीबलरामने आह्वान किया था और इसी अर्थात् समुद्रकी भार्या यमुनानदीमें ही जल विहार किया था। श्रीकालिन्दी नित्य ही श्रीकृष्णकी प्रिया हैं)॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पैंसठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

पौण्ड्रक और काशीराजका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जब बलदेव नन्द-गोकुलमें गये हुए थे, तब करुष देशके बुद्धिहीन राजा पौण्ड्रकने श्रीकृष्णके पास अपने एक दूतको यह घोषणा करवानेके लिए भेजा कि 'मैं ही एकमात्र वासुदेव हूँ॥'१॥

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम्॥ २॥

परीक्षित्! कुछ मूर्ख व्यक्ति उसे यह कहकर उत्साहित किया करते थे कि 'आप स्वयं ही जगत्पति हैं और भगवान् वासुदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।' इस तरह वास्तवमें वह अपनेको ही भगवान् अच्युत समझने लगा॥ २॥

दूतञ्च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः॥ ३॥

बालक आपसमें क्रीड़ा करते समय जिस प्रकार किसी एक बालकको राजाके रूपमें कल्पना कर लेते हैं और वह बालक भी राजाके समान व्यवहार करने लगता है, उसी प्रकार अज्ञ बालकके समान बुद्धिहीन, अधम पौण्ड्रकने अव्यक्तवर्म (अचिन्त्यगति) श्रीकृष्णके लीला-रहस्यको जाने बिना ही द्वारकामें उनके पास एक दूत भेज दिया॥ ३॥

दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम्।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत्॥ ४॥

पौण्ड्रकका दूत द्वारका पहुँचा और राजसभामें विराजमान कमल-लोचन भगवान् कमलपत्राक्ष श्रीकृष्णको अपने राजा पौण्ड्रकका यह सन्देश सुनाया॥ ४॥

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज॥ ५॥

दूतने सन्देश सुनाते हुए कहा—'हे श्रीकृष्ण! प्राणियोंके कल्याणके लिए उनपर कृपा करके मैं ही वासुदेवरूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ, दूसरा और कोई वासुदेव नहीं है। अतः अब तुम अपने मिथ्या वासुदेवके नामका त्याग कर दो॥'५॥

यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम्॥ ६॥

हे यदुवंशी! तुमने मूर्खताके कारण ये सब वासुदेवके चिह्न धारण कर रखे हैं। तुम इन समस्त चिह्नोंको छोड़ दो और मेरे शरणागत हो जाओ। यदि ऐसा नहीं करते, तो मेरे साथ युद्ध करो॥ ६॥

श्रीशुक उवाच—

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मन्दबुद्धि पौण्ड्रककी आत्म-प्रशंसा सुनकर वहाँ उपस्थित उग्रसेन आदि सभासद जोर-जोरसे हँसने लगे॥ ७॥

उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे॥ ८॥

जब उन लोगोंका परिहास समाप्त हो गया, तब भगवान् श्रीकृष्णने दूतसे कहा—'तुम जाकर अपने राजासे यह कहना कि हे मूढ़! तू जो इन कृत्रिम सुदर्शन आदि चिह्नोंको पहनकर अपनी

बड़ी-बड़ी डींगें हाँक रहा है, मैं तेरे सारे चिह्नोंको तुझपर ही छुड़वाऊँगा, बहक मत॥'८॥

मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम्॥ ९॥

रे अज्ञ! जब मेरे द्वारा तेरी मृत्यु होगी, तब तू अपना मुख छिपाकर चील, गीध, बटेर इत्यादि पक्षियोंसे घिरकर रणक्षेत्रमें सो जायेगा, तब कुत्ते तेरी शरण लेने आयेंगे॥ ९॥

इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत्।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह॥ १०॥

हे परीक्षित्! दूत वहाँसे चला गया और उसने श्रीकृष्ण द्वारा कथित अपमान-सूचक वचनोंको अपने स्वामी पौण्ड्रकको कह सुनाया। इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी रथपर सवार हुए और काशीके समीप पहुँचे। (उस समय करूषराज पौण्ड्रक काशीमें अपने मित्र काशीराजके पास ठहरा हुआ था)॥ १०॥

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम्॥ ११॥

महारथी पौण्ड्रकको जब यह पता चला कि श्रीकृष्ण काशीपर आक्रमणकी तैयारीसे आये हैं, तब वह भी दो अक्षौहिणी सेनाके साथ द्रुत गतिसे पुरीसे बाहर निकल आया॥ ११॥

तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः॥ १२॥

शङ्खार्य्यसिगदाशार्ङ्ग-श्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम्॥ १३॥

कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम्।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ १४॥

परीक्षित्! पौण्ड्रकका मित्र काशीराज भी उसकी सहायताके लिए रक्षकके रूपमें उसका अनुसरण करते हुए चला। उसने तीन

अक्षौहिणी सेनाओंका नेतृत्व सँभाला हुआ था। युद्धक्षेत्रमें श्रीकृष्णने देखा कि पौण्ड्रकने शङ्ख, चक्र, गदा, तलवार और शार्ङ्ग नामक धनुष धारण कर रखे हैं, उसके वक्षःस्थलपर कौस्तुभ मणि लटक रही है और श्रीवत्सका चिह्न भी अङ्कित है। गलेमें वनमाला पहन रखी है। शरीरपर पीले रेशमी वस्त्र हैं। जगमगाते मकराकृत कुण्डल, अमूल्य (अल्पमूल्य कृत्रिम) मुकुट एवं आभूषणोंसे वह अलंकृत हो रहा है। उसके रथकी ध्वजापर गरुडका चिह्न भी है॥ १२-१४॥

दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम्।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः॥ १५॥

नट जिस प्रकार कृत्रिम वेश धारण करके रङ्गमञ्चपर अभिनय करने आता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपने समान वेशभूषा धारण किये हुए पौण्ड्रकको देखा। उसे देखकर भगवान् श्रीकृष्णको हँसी आ गयी। वे जोर-जोरसे हँसने लगे॥ १५॥

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम्॥ १६॥

अब शत्रुओंने भगवान् श्रीकृष्णपर शूल, गदा, परिघ, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, तलवार, पट्टिश और बाणों द्वारा प्रहार किया॥ १६॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशीराजयो-
र्बलं गजस्यन्दन-वाजिपत्तिमत्।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद्भृशं,
यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक् प्रजाः॥ १७॥

प्रलयकालके समय प्रलयाग्नि जिस प्रकार चारों प्रकारके प्राणियोंको जला डालती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी गदा, तलवार, चक्र, बाण आदि शस्त्रास्त्रोंसे पौण्ड्रक एवं काशीराजके हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे युक्त चतुरङ्गिणी सेनापर

भीषण प्रहार किये और उसे बुरी तरहसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया॥ १७॥

आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर-
द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विना-
माक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम्॥ १८॥

युद्धक्षेत्र श्रीकृष्णके चक्रसे छिन्न-भिन्न हुए रथों, घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, गधों एवं ऊँटोंसे ऐसे व्याप्त हो गया, मानो रुद्रदेवका प्रलयकालीन क्रीड़ाक्षेत्र हो। यह युद्धक्षेत्र किसी दूसरे लोकके समान बड़ा भयङ्कर दिखायी दे रहा था। शूरवीर इस दृश्यको देखकर बड़े उत्साहित हो रहे थे॥ १८॥

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भो पौण्ड्रक यद्भवान्।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—रे पौण्ड्रक! तूने अपने दूतके मुखसे मुझसे कहलवाया था कि अपने शस्त्रास्त्र छोड़ दो, देख, मैं इन सभी शस्त्रास्त्रोंको तुझपर ही छोड़ रहा हूँ॥ १९॥

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत् त्वयाज्ञ मृषा धृतम्।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम्॥ २०॥

रे मूर्ख! जो तूने मिथ्या ही अपना नाम वासुदेव रख लिया है, मैं आज ही तुझसे उन नामोंको भी छुड़वा दूँगा। जहाँ तक तेरे शरणागत होनेकी बात है, तो यदि तुझसे युद्ध करनेकी मेरी इच्छा नहीं रही, तो मैं तेरी शरणमें अवश्य आऊँगा॥ २०॥

इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम्।
शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः॥ २१॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकका तिरस्कार कर अपने तीखे बाणोंसे उसके रथको तोड़-फोड़ डाला। इसके बाद अपने

सुदर्शन चक्रसे उसके सिरको इस प्रकार काट दिया, जिस प्रकार इन्द्रने वज्रसे पर्वतकी चोटियोंको विदीर्ण कर दिया था॥ २१॥

तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
न्यपातयत् काशीपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः॥ २२॥

परीक्षित्! तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने अपने बाणोंसे काशीराजके सिरको धड़से अलग करके काशीपुरीमें इस प्रकार फेंक दिया, जिस प्रकार वायु कमलपुष्पके कोश (पराग) को उड़ाकर गिरा देती है। (काशीमें मस्तक निक्षेपका कारण था कि काशीराजने काशीवासियोंसे कहा था कि अहे! आज शत्रुका मस्तक लेकर ही काशीमें लौटूँगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है—ऐसी प्रतिज्ञा करके ही वह युद्धमें गया था। उसकी पापिनी स्त्रियाँ भी गर्वपूर्वक उच्चस्वरसे अपनी सखियोंके निकट यही गल्प कर रही थीं—"हमारे पति द्वारकापतिके मस्तकको आज अवश्य ही लायेंगे।" इसी हेतुसे कौतुकी भगवान्ने काशीवासियोंको विस्मयमें डालनेके लिए काशीराजके मस्तकको काशीमें प्रवेश कराया)॥ २२॥

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः॥ २३॥

श्रीकृष्ण इस प्रकार ईर्ष्यालु पौण्ड्रकके साथ-साथ काशीनरेशको भी मारकर द्वारकापुरी लौट आये। वहाँ उस समय सिद्धगण उनकी अमृतमयी कथाका गान कर रहे थे॥ २३॥

स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः।
बिभ्राणश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत्॥ २४॥

परीक्षित्! पौण्ड्रक सदा-सर्वदा श्रीहरिके अनुरूप ही वेश धारण करता था और उन्हींके चिन्तनमें लगा रहता था। इसलिए उसके सारे भौतिक बन्धन कट गये। उसका वध भी श्रीकृष्णके हाथों हुआ था। अतः मृत्युके बाद पौण्ड्रकको सारूप्य मोक्षकी (श्रीहरिके चतुर्भुज स्वरूपकी) प्राप्ति हुई॥ २४॥

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम्।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिश्यिरे जनाः॥ २५॥

काशीपुरके लोगोंने जब राजमहलके द्वारपर कुण्डलोंसे विभूषित मस्तकको गिरा हुआ देखा, तो वे तरह-तरहके संशय करने लगे कि—अरे! यह क्या है? यह किसका सिर है?॥ २५॥

राज्ञः काशीपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौराश्च हा हता राजन् नाथ नाथेति प्रारुदन्॥ २६॥

जब उन्हें यह पता चला कि यह सिर काशीनरेशका है, तो उसकी रानियाँ, पुत्र, बान्धव एवं पुरवासी उच्चस्वरसे रोते हुए विलाप करने लगे—"हे राजन्! हे नाथ! हे नाथ! आज तो हम सब प्रकारसे मारे गये॥"२६॥

सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः॥ २७॥
इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्च्चयामास परमेण समाधिना॥ २८॥

हे राजन्! काशीनरेशका सुदक्षिण नामका पुत्र था, जिसने अपने पिताकी समस्त पारलौकिक क्रियाओंको सम्पन्न किया और मन-ही-मन यह सङ्कल्प कर लिया कि पिताके हन्ताको (हत्यारेको) मारकर ही पितु-ऋणसे मुक्त हो सकूँगा। अतः वह कुल-पुरोहितों और आचार्योंके साथ एकाग्र चित्तसे कठोर समाधि द्वारा महादेवकी आराधना करने लगा॥ २७-२८॥

प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्भवः।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम्॥ २९॥

अविमुक्त-स्थलीमें (काशी नगरीके पवित्र स्थानमें) उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर महादेवजीने उसे अभीष्ट वर माँगनेके लिए कहा। राजकुमार सुदक्षिणने अपना मनोभीष्ट वर माँगा कि 'मुझे पितृघातीके वधका उपाय (साधन) बताइये॥'२९॥

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम्।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः॥ ३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः।
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती॥ ३१॥

तब महादेवजीने कहा—तुम ब्राह्मणोंके साथ मिलकर अभिचार विधि (अनुष्ठान) के अनुसार यज्ञके देवता—ऋत्विक्‌भूत दक्षिणाग्निकी आराधना करो। जब तुम इस अग्निका ब्राह्मण-विरोधी व्यक्तिके प्रति प्रयोग करोगे, तो प्रमथगणों (इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले शिवके गण) के साथ यह अग्नि तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करेगा। जब महादेवने इस प्रकार आज्ञा प्रदान की, तब सुदक्षिणने अनुष्ठानके (शत्रुओंको मारनेके लिए किये गये अभिचारके) उपयुक्त नियमोंको ग्रहण करके श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अभिचारका आह्वान किया और अनुष्ठान (मारणका पुरश्चरण) करने लगा (मूर्ख सुदक्षिणने सोचा कृष्णमें ब्रह्मण्यता नहीं है, इसलिए उसे विपरीत फल प्राप्त हुआ और यही श्रीरुद्रका अभिप्राय था)॥ ३०-३१॥

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्त्तिमानतिभीषणः।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्‌गारिलोचनः॥ ३२॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया।
आलिहन् सृक्कणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलत्॥ ३३॥

जैसे ही अभिचार-कृत्य (दक्षिणाग्नि यज्ञानुष्ठान) समाप्त हुआ, उसी समय यज्ञ-कुण्डसे अति भयङ्कर मूर्त्तिमान् अग्नि प्रकट हुआ। उसके केश एवं दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल-लाल थे। आँखोंसे अङ्गारे निकल रहे थे। उग्र दाढ़ों एवं टेढ़ी भृकुटियोंके कारण उसके मुखसे क्रूरता झलक रही थी। वह नङ्ग-धड़ङ्ग था। उसने हाथोंमें त्रिशूल ले रखा था, जिसे वह बार-बार घुमा रहा था और उसमेंसे आगकी लपटें निकल रही थीं। वह अपनी जीभसे होठोंके दोनों कोनोंको चाट रहा था॥ ३२-३३॥

पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम्।
सोऽभ्यधावद्वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः॥ ३४॥

यह अभिचार-अग्निरूप-असुर प्रमथोंके साथ ताड़-वृक्षके समान अपनी लम्बे-लम्बे पैरोंसे पृथ्वीको कँपाते हुए और ज्वालाओंसे दिशाओंको दग्ध करते हुए बड़े वेगसे द्वारकाकी ओर उन्मुख हुआ और अति शीघ्र द्वारकाके समीप पहुँच गया॥ ३४॥

तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा॥ ३५॥

जब द्वारकावासियोंने अभिचार-अनुष्ठानसे उत्पन्न इस भयङ्कर अनलरूप असुरको द्वारकाकी ओर आते देखा, तो वे इस प्रकार डर गये, जिस प्रकार वनमें आग लग जानेपर हिरन आदि जीव-जन्तु डर जाते हैं॥ ३५॥

अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम्॥ ३६॥

भयातुर लोग श्रीकृष्णके पास पहुँचे, भगवान् उस समय राजसभामें बैठकर चौसर खेल रहे थे। द्वारकावासियोंने भगवान्से कहा—हे त्रिलोकेश्वर! इस भयङ्कर आगसे हमारी रक्षा कीजिये! रक्षा कीजिये! यह तो द्वारका नगरीको भस्म कर डालना चाहती है॥ ३६॥

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम्।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम्॥ ३७॥

शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने जब पुरवासियोंके इस प्रकारके कातर वचन सुने और अपने स्वजनोंको विक्षुब्ध देखा, तो वे मुसकराने लगे। उन्होंने उन लोगोंसे कहा—तुम्हें डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा॥ ३७॥

सर्व्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्॥ ३८॥

समस्त जीवोंके बाह्य एवं अन्तरको प्रत्यक्ष जाननेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण समझ गये कि यह अग्नि काशीसे चली हुई माहेश्वरी कृत्या है। उन्होंने उसके विनाशके लिए समीपमें ही विराजित सुदर्शनचक्रको आदेश दिया (क्योंकि इस क्षुद्र कार्यके लिए अपने अक्ष-क्रीड़ा-सुखको वे भङ्ग नहीं करना चाहते थे)॥ ३८॥

तत् सूर्य्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं,
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी,
चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्द्दयत्॥ ३९॥

भगवान् मुकुन्दका वह सुदर्शनचक्र कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी था। वह प्रलयाग्निके समान अपने तेजके द्वारा आकाश, दिशाओं, स्वर्ग एवं मृत्युलोकको प्रकाशित करता हुआ अभिचार अग्निको उत्पीड़ित करने लगा॥ ३९॥

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः॥ ४०॥

हे राजन्! श्रीकृष्णके अस्त्र—सुदर्शनचक्रके प्रभावसे आभिचारिक कृत्यारूप अग्निका तेज नष्ट हो गया और वह कृत्या वहाँसे लौटकर वाराणसी आ गयी। वहाँ उसने पुरोहितों और आचार्योंके साथ अपनेको उत्पन्न करनेवाले सुदक्षिणको भी जलाकर भस्म कर डाला। इस प्रकार सुदक्षिणका अभिचार उसीके विनाशका कारण बना॥ ४०॥

चक्रञ्च विष्णोस्तदनु प्रविष्टं
वाराणसीं साट्टसभालयापणाम्।
सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां
सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालिनीम् ॥ ४१॥

अनन्तर भगवान्‌का सुदर्शनचक्र भी उस कृत्याग्निके पीछे-पीछे वाराणसी पुरीमें घुस गया। वहाँ उसने बड़ी-बड़ी अटारियों, सभा-गृह, मञ्च, पण्यशाला (बाजार), पुरद्वार, अट्टालिका, प्रकोष्ठ, खजाने (कोशागार), हस्तीशाला, अश्वशाला, रथशाला एवं अन्नोंके गोदामोंके साथ समस्त वाराणसी पुरीको ही जलाकर भस्म कर दिया॥ ४१ ॥

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृषस्याक्लिष्टकर्म्मणः॥ ४२ ॥

श्रीकृष्णके सुदर्शनचक्रने इस प्रकारसे सम्पूर्ण वाराणसी पुरीको जलाकर भस्म कर दिया और पुनः अक्लान्तकर्मा (बिना किसी थकानके कार्य करनेवाले) परमानन्दमयी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास लौट आया॥ ४२ ॥

य एनं श्रावयेन्मर्त्त्य उत्तमःश्लोकविक्रमम्।
समाहितो वा शृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पौण्ड्रकादिवधो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६६ ॥

जो मानव एकाग्रचित्तसे श्रीकृष्णके इस पराक्रमपूर्ण चरितको सुनता है अथवा दूसरोंको सुनाता है, वह समस्त पापोंसे प्रकृष्ट रूपसे मुक्त हो जाता है॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छियासठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

श्रीबलरामजीके द्वारा द्विविदका उद्धार

श्रीराजेवाच—

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः॥ १॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मुनिवर! सर्वशक्तिमान् बलदेवके चरित विचित्र एवं अनन्त हैं (अपने स्नानके लिए कोई नदीको खींचकर ला सकता है क्या?)। वे अविज्ञेय तत्त्व हैं (उनके स्वरूप एवं लीलाएँ वाणी, मन तथा बुद्धिसे अतीत हैं)। यमुनाकर्षणके अतिरिक्त उन्होंने जो भी अद्भुत एवं अलौकिक लीलाएँ कीं, मैं उन सबको सुनना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान्॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—द्विविद नामका एक महाबलशाली वानर था, जो नरकासुरका सखा, मैन्द वानरका भाई और सुग्रीवका मन्त्री था (यह अङ्गदका श्वसुर भी था)। इसका दुःसङ्ग-दोष था। श्रीराम-पूजामें मैन्द एवं द्विविद नित्य आवरण सिद्ध देवता माने जाते हैं। (द्विविदका लक्ष्मणके प्रति महा अपराध हुआ था। इसी कारण इसे नरकासुरका दुःसङ्ग प्राप्त हुआ और वह कृष्ण-बलरामसे द्वेष करने लगा था। द्वारकापुरीके निकट सौराष्ट्र आदि प्रान्तोंमें यह महा उपद्रव करने लगा था। इस समय मधुर सङ्गीत सुनकर यह रैवतक पर्वतपर आ गया था)॥ २॥

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम्।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन्॥ ३॥

श्रीकृष्णने नरकासुरको मार डाला है—यह सुनकर वानर अपने मित्रके ऋणका परिशोध करनेके लिए तत्पर हो गया। वह बड़े-बड़े नगरों, ग्रामों, खानों एवं गोपोंकी बस्तियोंमें आग लगाने लगा और इस प्रकारसे राष्ट्र-विप्लवके लिए तत्पर हो गया॥ ३॥

क्वचित् स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत्।
आनर्त्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः॥ ४॥

एक दिन वह बलवान् बन्दर बड़े-बड़े पर्वतोंको उखाड़कर उनसे विशेषरूपसे आनर्त्त (काठियाबाड़) देशको चकनाचूर करने लगा, क्योंकि उसके मित्रके संहारक श्रीकृष्ण वहीं वास करते थे॥ ४॥

क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम्।
देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूले न्यमज्जयत्॥ ५॥

दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाला वह वानर एक बार समुद्रके बीचमें घुस गया और जलको उलीचते हुए उसने किनारेपर स्थित देशोंको डुबो दिया॥ ५॥

आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन्।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः॥ ६॥

कभी वह दुष्ट बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियोंके आश्रमोंके लता-वृक्षोंको तोड़-मरोड़कर नष्ट कर देता और कभी यज्ञ-सम्बन्धी अग्नि-कुण्डोंमें मल-मूत्र फेंककर अग्नियोंको दूषित कर देता॥ ६॥

पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशष्कारीव कीटकम्॥ ७॥

भृङ्गी नामक कीड़ा जिस प्रकार आहारके लिए दूसरे कीड़ोंको संग्रह करके उन्हें अपने बिलमें बन्द कर लेता है, उसी प्रकार वह घमण्डी वानर नर-नारियोंको पकड़कर उन्हें पर्वतकी कन्दराओंमें डाल देता और बड़ी-बड़ी चट्टानोंसे ढक देता॥ ७॥

एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ॥ ८॥

द्विविद विविध प्रान्तोंको तो विध्वस्त करता ही, कुलरमणियोंको भी दूषित कर देता। एक बार जब उसे सुमधुर सङ्गीत ध्वनि सुनायी पड़ी, तो वह रैवतक पर्वतपर चढ़ गया॥ ८॥

तत्रापश्यद्यदुपतिं राम पुष्करमालिनम्।
सुदर्शनीयसर्व्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम्॥ ९॥
गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम्॥ १०॥

उसने देखा कि उस पर्वतपर यदुपति बलदेव सुन्दर-सुन्दर युवतियोंसे परिवेष्टित होकर विराजमान हैं। उनका श्रीविग्रह अत्यन्त सुरम्य और आकर्षक है। उन्होंने कमलकी मालाको धारण कर रखा है। वारुणी मदिराका पान करनेसे उनके नेत्र मदसे विह्वल हो रहे हैं और दीप्तमान् कलेवर एवं व्यवहार कामोन्मत्त हाथीके समान दिखायी दे रहा है॥ ९-१०॥

दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान्।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन्॥ ११॥

वह दुष्ट वानर वहाँके वृक्षोंकी शाखाओंपर चढ़ गया और उन वृक्षोंको जोर-जोरसे हिलाने लगा। कभी-कभी स्त्रियोंके सामने अपनी देहको दिखाकर किल-किल शब्द करके किटकिटाने लगा॥ ११॥

तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः॥ १२॥

तरुण युवतियाँ स्वाभाविकरूपसे परिहास-प्रिय और चञ्चल होती हैं। अतः बलदेवकी प्रेयसियोंने जब वानरकी धृष्टता देखी, तो वे हँसने लगीं॥ १२॥

ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः॥ १३॥

अब वह वानर बलदेवके सम्मुख ही उनकी अवहेलना करता हुआ उन युवतियोंको अपना मलद्वार दिखाने लगा। वह उनके ही सामने बैठकर कभी भौहें मटकाता, कभी घुड़की देता और कभी उन तरुणियोंपर मूत्र फेंक देता॥ १३॥

तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः॥ १४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्त्तस्तं कोपयन् हसन्।
निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद्बलम्
कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः॥ १५॥

प्रहारकर्त्ता-शिरोमणि बलभद्र उसकी ऐसी कुचेष्टाओंको देखकर क्रोधित हो गये तथा उसपर एक शिलाखण्डसे प्रहार किया, किन्तु उस धूर्त्त वानरने उस शिलाखण्डसे अपनेको बचा लिया और बलदेवके मधु-कलशको उठाकर उनकी अवहेलना करने लगा। इसके बाद महाबलशाली एवं गर्वोन्मत्त दुष्ट वानरने उस मधु-कलशको फोड़ डाला और बलदेवका तिरस्कार करते हुए उनकी प्रेयसियोंके वस्त्रोंको खींचकर उन तरुणियोंका भी अपमान करने लगा। वह जोर-जोरसे हँसकर बलदेवको और अधिक क्रुद्ध होनेके लिए उकसाने लगा॥ १४-१५॥

तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान्।
क्रुद्धो मुषलमादत्त हलञ्चारिजिघांसया॥ १६॥

परीक्षित्! बलदेव उसकी धृष्टताको देखकर और उसके द्वारा उत्पीड़ित देशोंकी दुर्दशापर विचार करके क्रोधित हो गये। उन्होंने इस शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे हल एवं मुसल उठा लिये॥ १६॥

द्विविदोऽपि महावीर्य्यः शालमुद्यम्य पाणिना।
अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्द्धन्यताडयत्॥ १७॥

उधर महापराक्रमी द्विविदने भी अपने एक हाथसे शालका वृक्ष उखाड़ लिया और वेगपूर्वक बलदेवकी ओर दौड़कर उनके सिरपर प्रहार किया॥ १७॥

तन्तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा।
प्रतिजग्रहा बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम्॥ १८॥

महाविक्रमी सङ्कर्षण पर्वतके समान अविचल रहे। सिरके ऊपर वह वृक्ष गिरता, इसके पहले ही उन्होंने शाल-वृक्षको अपने एक हाथसे पकड़ लिया और दूसरे हाथसे सुनन्द नामक मुसलसे उसपर प्रहार किया॥ १८॥

मुषलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया।
गिरिर्यथा गौरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन्॥ १९॥

पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा।
तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत्॥ २०॥

ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तञ्चापि शतधाच्छिनत्॥ २१॥

मुसलके प्रहारसे द्विविदका मस्तक फट गया और उससे खूनकी धारा बहने लगी। उस समय ऐसा सुन्दर दृश्य उपस्थित हुआ मानो किसी गैरिक-रञ्जित पर्वतसे गेरुएका सोता (स्रोत) फूट पड़ा हो। वानरने उस प्रहारको कुछ भी नहीं माना और दूसरे एक और वृक्षको उखाड़ लिया। उसने बलपूर्वक उस वृक्षको पत्रहीन करके उससे पुनः बलदेवपर प्रहार किया। इसपर बलदेव अतिशय क्रोधित हो गये और उन्होंने उस वृक्षको सौ भागोंमें टुकड़े-टुकड़े कर डाला। द्विविदने पुनः बड़े रोषमें भरकर एक और वृक्ष उखाड़ा और बलदेवने पुनः उस वृक्षको भी खण्ड-खण्ड कर डाला॥ १९-२१॥

एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनःपुनः।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निर्वृक्षमकरोद्वनम्॥ २२॥

इस प्रकार भगवान् बलदेवके साथ युद्ध करता हुआ वानर चारों ओरसे बारम्बार वृक्षोंको उखाड़ता रहा और देखते-ही-देखते उसरे सारे वृक्षोंको उखाड़कर वनको वृक्षोंसे रहित कर दिया॥ २२॥

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्य्यमर्षितः।
तत् सर्व्वं चूर्णयामास लीलया मुषलायुधः॥ २३॥

द्विविद अब और भी चिढ़ गया। उसने बलदेवके ऊपर पत्थरोंकी वर्षा करना आरम्भ कर दिया, परन्तु गदाधारी बलदेवने बड़ी आसानीसे सारे पत्थरोंको चकनाचूर कर दिया॥ २३॥

स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत्॥ २४॥

तत्पश्चात् वानरेन्द्र द्विविदने ताल-वृक्षके समान अपनी दोनों भुजाओंसे मुट्ठी बाँधी और बलदेवके सामने आकर उनके वक्षःस्थलपर प्रहार किया॥ २४॥

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुषललाङ्गले।
जत्रावभ्यर्द्दयत् क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन्॥ २५॥

अब यादवेन्द्र बलदेव अत्यन्त क्रोधित हो उठे। उन्होंने दोनों भुजाओंसे हल और मुसलको एक ओर फेंक दिया और उसकी हसलीपर (बाहुके मूलपर) जोरका प्रहार किया, जिससे वह वानर रक्त उगलता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २५॥

चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः।
पर्व्वतः कुरुशार्द्दूल वायुना नौरिवाम्भसि॥ २६॥

हे कुरु-शार्दूल! आँधीके वेगसे जिस प्रकार जलमें नौका डाँवाडोल होती है, उसी प्रकार उस वानरके गिरनेसे जलसे पूर्ण गड्ढों एवं वृक्षोंसे परिपूर्ण रैवतक पर्वत काँपने लगा॥ २६॥

जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत् कुसुमवर्षिणाम्॥ २७॥

उस समय आकाशमें चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा करते हुए देवताओं द्वारा उच्चारित 'जय, जय' ध्वनि, सिद्धों द्वारा उच्चारित 'नमो नमः,' प्रणाम वाच्य ध्वनि और बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों द्वारा 'साधु-साधु' रूप प्रशंसा ध्वनि गूँजने लगी॥ २७॥

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम्।
संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत्॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे द्विविद-वधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् बलदेव जगत्में विप्लव मचा देनेवाले द्विविद वानरको मारकर द्वारकापुरी लौट आये। पुरजन-परिजन सभी उस समय बलरामकी प्रशंसा कर रहे थे॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सड़सठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

कौरवोंपर बलरामका क्रोध और साम्बका विवाह

श्रीशुक उवाच—

दुर्य्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः।
स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! समर-विजयी जाम्बवती-नन्दन साम्ब, अकेले ही बड़े-बड़े वीरोंपर विजय प्राप्त करनेवाले ही नहीं थे बल्कि सभी युद्धोंको जीत लेते थे, वे स्वयंवर सभासे दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाको हर लाये॥ १॥

कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्व्विनीतोऽयमर्भकः।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्‌बलात्॥ २॥

इस बातसे कौरव बड़े क्रोधित हो गये और कहने लगे—अरे! यह दुष्ट बालक हमारा अपमान करके बलपूर्वक हमारी कन्याको हर ले गया, जब कि हमारी पुत्री इसे चाहती भी न थी॥ २॥

बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करष्यिन्ति वृष्णयः।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम्॥ ३॥

अरे, इस दुर्विनीत (ढीठ) बालकको बाँध लो! ये यादव हमारा क्या कर लेंगे? ये तो हमारे ही अनुग्रहसे पुष्ट हो रहे हैं और हमारे ही द्वारा दिये गये राजत्वका उपभोग कर रहे हैं॥ ३॥

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राण इव सुसंयताः॥ ४॥

यदि वृष्णिगण पुत्र-बन्धनका समाचार सुनकर यहाँ युद्धके लिए आते हैं, तो उनका सारा दर्प ही भग्न हो जायेगा। वे निश्चित ही इस तरह शान्त हो जायेंगे, जिस प्रकार संयमी व्यक्ति साधना (प्राणयामादि) के द्वारा इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें कर लेता है॥ ४॥

इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः॥ ५॥

इस प्रकार परामर्श करके कर्ण, शल्य, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु एवं दुर्योधन एकत्रित हो गये और कुरुवृद्ध भीष्मदेव आदिसे अनुमति प्राप्त करके साम्बको पकड़नेके लिए उद्यत हो गये (भीष्मके अनुमोदनका कारण था कि साम्बने कन्याका स्पर्श कर लिया है, अब अन्य वरको दान करना सम्भव नहीं है। साम्ब अपने वीरत्वका प्रदर्शन करके कन्याको लेकर चला गया है। अतएव इसका बन्धन करना चाहिये। वह वधके योग्य नहीं है)॥ ५॥

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्त्तराष्ट्रान् महारथः।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः॥ ६॥

महारथी साम्बने देखा कि धृतराष्ट्र पक्षके दुर्योधनादि वीर उनके पीछे दौड़े चले आ रहे हैं, तो वे एक-सुन्दर धनुष धारण करके सिंहके समान उनके सामने अकेले ही डट गये॥ ६॥

तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन्॥ ७॥

इधर कर्ण आदि धनुर्धारी साम्बको बाँधनेके लिए कृतसङ्कल्प थे। वे इसी अभिप्रायसे कहने लगे—जरा क्षण भर ठहर! भाग मत! यह कहते हुए सब उनके समीप पहुँच गये और उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ७॥

सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः।
नामृष्यत् तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव॥ ८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! अचिन्त्य पुरुष श्रीकृष्णके प्रिय पुत्र साम्ब कौरवोंके द्वारा किये गये अनीतिपूर्ण आक्रमणको उसी प्रकार सहन नहीं कर पाये, जिस प्रकार सिंह क्षुद्र प्राणियोंके आक्रमणको सहन नहीं कर पाता॥ ८॥

विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्व्वान् विव्याध सायकैः।
कर्णादीन् षड्रथान् वीरास्तावद्भिर्युगपत् पृथक्॥ ९॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन्।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत् तेऽभ्यपूजयन्॥ १०॥

वीर साम्बने अपने सुन्दर धनुषकी टंकार करके एक ही समय कर्ण आदि छह योद्धाओंपर बाणोंसे पृथक्-पृथक् प्रहार किया, इसके बाद इसी प्रकार (पृथक्-पृथक्रूपसे) उनके छहों रथोंको भी बेध डाला। उन्होंने चार-चार बाणों द्वारा प्रत्येक योद्धाके चार-चार अश्वोंपर, एक-एक बाण द्वारा प्रत्येक सारथिपर एवं एक-एक बाण द्वारा उन धनुर्धर महारथियों पर प्रहार किया, जो रथोंकी बागडोर सँभाले हुए थे। उस समय विपक्षी योद्धा भी अचिन्त्यशक्ति-पुत्र साम्बकी वीरताकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करने लगे॥ ९-१०॥

तन्तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान्।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम्॥ ११॥

इसके बाद उन छह वीरोंने एक साथ मिलकर साम्बको रथहीन कर दिया। उनमेंसे चार वीरोंने उनके चार अश्वोंको, एकने उनके सारथीको और अन्य एकने उनके धनुषको काट डाला॥ ११॥

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि।
कुमारं स्वस्य कन्याञ्च स्वपुरं जयिनोऽविशन्॥ १२॥

कौरवोंने इस प्रकार युद्धमें विजय प्राप्तकर साम्बको रथ-शून्य कर दिया और बड़े कष्टके साथ उन्हें बाँध लिया। तत्पश्चात् उन्हें और अपनी पुत्री लक्ष्मणाको लेकर हस्तिनापुर लौट आये॥ १२॥

तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन् सञ्जातमन्यवः।
कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः॥ १३॥

हे राजन्! जब यादवोंने देवर्षि नारदसे कौरवोंके इस व्यवहारके विषयमें सुना, तो वे राजा उग्रसेनसे प्रेरणा प्राप्त करके कौरवोंके साथ युद्धके लिए प्रस्तुत हो गये॥ १३॥

सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान् वृष्णिपुङ्गवान्।
नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः॥ १४॥
जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्च्चसा।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः॥ १५॥

कलि-कलुष-नाशन बलदेवने कवच इत्यादि पहने हुए युद्धके लिए तत्पर वृष्णिवंशी वीरोंको शान्त किया। वे चाहते थे कि कौरवों और यादवोंमें किसी प्रकारका कलह-विवाद न हो। उद्धव, ब्राह्मण एवं कुलके बड़े-बूढ़ोंके साथ बलराम रथपर सवार होकर हस्तिनापुर गये। बलरामका रथ सूर्यके समान दीप्तिमान् था। मार्गमें जाते समय वे इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जिस प्रकार प्रमुख ग्रहोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है॥ १४-१५॥

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्र बुभुत्सया॥ १६॥

हस्तिनापुर पहुँचनेपर बलदेव नगरके बाहर ही एक उद्यानमें ठहर गये और धृतराष्ट्रका अभिप्राय जाननेके लिए उद्धवको भेजा॥ १६॥

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणञ्च बाह्लिकम्।
दुर्य्योधनञ्च विधिवद्राममागतमब्रवीत्॥ १७॥

उद्धवने कुरुसभामें उपस्थित होकर अम्बिका-पुत्र धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, बाह्लीक एवं दुर्योधनकी विधिपूर्वक अभ्यर्थना की और बलदेवके पधारनेका समाचार निवेदन किया (इस समय युधिष्ठिरादि इन्द्रप्रस्थमें थे, हस्तिनापुरमें नहीं)॥ १७॥

तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम्।
तमर्च्चयित्वाभिययुः सर्व्वे मङ्गलपाणयः॥ १८॥

कौरव बान्धव-प्रवर और प्रियतम मित्र बलदेवके आगमनका समाचार सुनकर अतीव प्रसन्न हुए। उन्होंने उद्धवका विधिपूर्वक स्वागत किया और हाथोंमें माङ्गलिक सामग्रियाँ धारण करके और उनके साथ ही बलदेवकी अगवानी करने चले॥ १८॥

तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यञ्च न्यवेदयन्।
तेषां य तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम्॥ १९॥

कौरवोंने अपनी-अपनी अवस्था और सम्बन्धके अनुसार बलदेवका यथायोग्य सत्कार करते हुए उनका आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिये। उनके स्वरूपको जाननेवाले भीष्म इत्यादिने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया तथा उनके समीप आकर उन्हें आसन एवं अर्घ्य प्रदान किये॥ १९॥

बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम्।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः॥ २०॥

उन लोगोंने परस्पर कुशल-मङ्गल एवं स्वास्थ्यके समाचार पूछे। सबकी कुशलता सुनकर बलराम बड़े प्रसन्न हुए और गाम्भीर्य, दैन्य-राहित्य एवं धैर्यके साथ स्पष्ट शब्दोंमें उनसे कहने लगे॥ २०॥

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत् प्रभुः।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वमविलम्बितम्॥ २१॥

सर्वसमर्थ नृपति-प्रवर यादवेन्द्र महाराजधिराज उग्रसेनने तुम लोगोंको जो आदेश दिया है, उसे सावधानीपूर्वक सुनो और तदनुसार अविलम्ब उनकी आज्ञाका पालन करो (इन्द्र जिन उग्रसेनके आज्ञाकारी हैं, उनके लिए आप लोग कौन हैं? अति क्षुद्र)॥ २१॥

यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्म्मेण धार्म्मिकम्।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया॥ २२॥

(महाराज उग्रसेनने कहा है—) आपमेंसे बहुत-से लोगोंने एक साथ मिलकर अन्यायपूर्वक अकेले साम्बके साथ युद्ध किया है और उस निस्सहाय धर्मात्माको हराकर बन्दी बना लिया है। हमें यह पता चला, तो हमने इस अन्यायपूर्ण आचरणको इसलिए सह लिया कि हम सब बन्धुओंमें परस्पर एकता बनी रहे। अब साम्बको उसकी नववधूके साथ हमारे हाथोंमें समर्पण कर दो॥ २२॥

वीर्य्यशौर्य्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः॥ २३॥

परीक्षित्! बलदेवके प्रभावशाली, उत्साहवर्द्धक, बल और शक्तिसे परिपूर्ण वचनोंको सुनकर कुरुवंशी बड़े क्रोधित हो गये और कहने लगे (बलदेव वाक्य पूर्ण भी नहीं कर पाये कि बीचमें ही बोल उठे—)॥ २३॥

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया।
आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम्॥ २४॥

कौरवोंने कहा—अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है! आज यादव कौरवोंको आदेश दे रहे हैं! कालकी गति वास्तवमें दुर्लंघ्य है! आज चरण-पादुका मुकुट द्वारा सेवित सिरोंपर सवार होनेके लिए आग्रह कर रही है (पैरोंकी जूती उनके सिरपर चढ़ना चाहती है)॥ २४॥

एते यौनेन संबद्धाः सहशय्यासनाशनाः।
वृष्णयस्तुल्पतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः॥ २५॥

ये वृष्णिगण पहले तो कुन्तीके विवाह द्वारा हमारे आत्मीय बन गये। इसके बाद धीरे-धीरे एक साथ सोने, बैठने एवं भोजन करने लगे। हम लोगोंने ही इन्हें राजसिंहासन दे करके राजा बनाया। अब ये हमारे ही समान बननेका अभिमान करने लगे हैं॥ २५॥

चामरव्यजने शङ्खमातपत्रञ्च पाण्डुरम्।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया॥ २६॥

हमलोग कुछ विशेष ध्यान नहीं दे रहे हैं, इसीलिए वे चामर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत राजछत्र, सिंहासन, राजमुकुट, शय्या इत्यादिका उपभोग कर पा रहे हैं॥ २६॥

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै-
र्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम्।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा,
आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत॥ २७॥

हाय! हाय! साँप जिस प्रकार दूध पिलाकर अपने ही पालन करनेवालेके विपरीत आचरण करता है, उसी प्रकार इन यादवोंकी हमारी ही कृपासे बढ़ोत्तरी हुई है और अब निर्लज्ज भावसे अपनेको स्वामी समझकर हमें आदेश दे रहे हैं। अब इन यादवोंके पास राजचिन्ह बनाये रखनेका कोई औचित्य नहीं है, इनका उच्छेद कर दो॥ २७॥

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्ज्जुनादिभिः।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः॥ २८॥

भेड़िया जिस प्रकार सिंह द्वारा प्राप्य वस्तुको अपने अधिकारमें करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, वैसे ही भीष्म, द्रोण, अर्जुन इत्यादि कौरव पक्षके वीर यदि प्रदान न करें, तो स्वयं देवराज इन्द्र भी किसी वस्तुका उपभोग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ २८॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन्॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भरतकुलश्रेष्ठ! कुलीनता, जाति, भीष्मादि बन्धु-बान्धवोंके बल एवं सम्पदाके उत्कर्षके कारण दुर्जन कौरव अति घमण्डी हो रहे थे। वे बलदेवसे इस प्रकारके दुर्वचन कहकर हस्तिनापुर लौट आये॥ २९॥

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वावाच्यानि चाच्युतः।
अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् मुहुः॥ ३०॥

अच्युत भगवान् बलदेव कौरवोंकी दुष्टता और अभद्रता देखकर एवं उनके दुर्वचन सुनकर बड़े क्रोधित हुए। उस समय उनकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था। वे बार-बार जोर-जोरसे हँसते हुए कहने लगे (इस समय बलदेव मौन ही रहे और सोचते रहे कि ये लोग क्या बोल रहे हैं और क्या कर रहे हैं। जब सब पुरवासीगण चले गये, तब कोप-प्रकाशक-हास्यके साथ वे वक्रोक्तियाँ कहने लगे)॥ ३०॥

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा॥ ३१॥

भगवान् बलरामने कहा—जो धनादि विविध वस्तुओंकी प्राप्तिके कारण गर्वोन्मत्त हो रहे हैं, ऐसे दुर्जन कभी भी शान्ति नहीं चाहते। जैसे उद्दण्ड पशुओंके दमनके लिए लाठीका प्रयोग न्याय-सङ्गत होता है, उसी प्रकार दुष्टोंको शान्त करनेके लिए शारीरिक दण्ड देना ही एकमात्र उपाय होता है॥ ३१॥

अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णञ्च कुपितं शनैः।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः॥ ३२॥

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रुवन्॥ ३३॥

भला देखो तो! कितने आश्चर्यकी बात है! यदुवंशी और श्रीकृष्ण क्रोधवश युद्धके लिए तत्पर थे, परन्तु मैंने ही उन्हें धैर्यपूर्वक समझा-बुझाकर शान्त किया और शान्ति बनाये रखनेकी कामनासे ही यहाँ आया। ओह! ये दुर्बुद्धि, दुष्टस्वभाव और अहङ्कारी कौरव मेरा ही तिरस्कार कर रहे हैं। उन्हें शान्ति नहीं, कलह प्यारा है। ये इतने घमण्डी हैं कि अवाच्य वचनोंको (गालियोंको) कहते हुए ही यहाँसे चले गये॥ ३२-३३॥

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्त्तिनः॥ ३४॥

अरे! इन्द्रादि लोकपाल जिनकी आज्ञाके पालनमें तत्पर रहते हैं, वे भोज, वृष्णि एवं अन्धकोंके अधिपति उग्रसेन इनके मतसे आज्ञा प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ ३४॥

सुधर्म्माऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः॥ ३५॥

जो सुधर्मा-सभाको अधिकृत करके उसमें विराजमान हो रहे हैं, जो देवताओंको भी पराजितकर देवलोकसे पारिजात वृक्षको उखाड़ लाये हैं और उसका उपभोग कर रहे हैं, वे श्रीकृष्ण इनके विचारमें राजसिंहासनके योग्य नहीं हैं॥ ३५॥

यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान्॥ ३६॥

समस्त सम्पदाओंकी अधिष्ठात्री साक्षात् लक्ष्मीदेवी जिनके चरणयुगलकी निरन्तर सेवा करती हैं, वे श्रीश श्रीकृष्ण इनके विचारसे छत्र, चँवर, आदि राजोचित सामग्रियोंके योग्य नहीं हैं॥ ३६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौंल्युत्तमैर्धृतमुपासित-तीर्थतीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व॥ ३७॥

जो समस्त तीर्थोंके भी परमतीर्थ-स्वरूप हैं, इन्द्रादि सारे लोकपाल जिनके पाद-पङ्कजकी रजको अपने श्रेष्ठ मुकुटोंपर धारण करते हैं, ब्रह्मा, शिव, मैं और स्वयं उनकी स्वरूपभूता लक्ष्मीदेवी जिनमेंसे कोई उनका अंश है और कोई उनके अंशका अंश है—हम सब उनकी चरण-रजको मस्तकपर निरन्तर धारण करते हैं—ऐसे उन श्रीकृष्णके लिए भला उस साधारण-से राजसिंहासनका क्या महत्त्व है?॥ ३७॥

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल।
उपानहः किल वयं स्वयन्तु कुरवः शिरः॥ ३८॥

अरे! बेचारे यादव कौरवोंके द्वारा दिये गये छोटे-से भू-भागके राजत्वका भोग कर रहे हैं! वाह! हम तो पैरकी जूती हैं और कौरव स्वयं मस्तक हैं॥ ३८॥

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम्।
असंबद्धा गिरो रुक्षाः कः सहेतानुशासिता॥ ३९॥

अहो! ये लोग धन-ऐश्वर्यसे उन्मत्त, तथाकथित अधिकारोंसे मदमत्त और बड़े गर्वीले हो रहे हैं। इनकी एक-एक बात कितनी कर्कश और अनर्थक (बेसिर-पैरकी) है? मेरे जैसा पुरुष—जो स्वयं इन्हें दण्ड देकर उनपर शासन कर सकता है—वह भला इनकी व्यर्थ बातोंको कैसे सहन कर सकता है?॥ ३९॥

अद्य निष्कौरवां पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम्॥ ४०॥

अतएव "आज मैं सारी पृथ्वीको कौरवोंसे रहित कर दूँगा"—यह सब कहते-कहते बलराम अतिशय क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपना सुनन्द हल उठा लिया और इस प्रकार उपक्रम करने लगे, मानो तीनों लोकोंको दहन कर देना चाहते हों॥ ४०॥

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम्।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः॥ ४१॥

क्रुद्ध बलदेवने दक्षिण दिशाकी प्राचीरके मूलमें हलकी नोकसे बार-बार प्रहार करके हस्तिनापुरको उखाड़ लिया और साम्बके अतिरिक्त सम्पूर्ण नगरको ही पृथ्वीसे अलग करके गङ्गाजीमें डुबानेकी इच्छा की। अतः वे उसे हलके अग्रभागसे जलकी ओर खींचने लगे (इसी बीच गङ्गाको आदेश प्रदान किया कि साम्बको छोड़कर सम्पूर्ण नगरको डुबो दे)॥ ४१॥

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत्।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः॥ ४२॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम्॥ ४३॥

बलदेवके हलकी नोंकसे खिंचा हुआ हस्तिनापुर ऐसे घूर्णित होने लगा, मानो समुद्रमें नौका डगमगा रही हो। हस्तिनापुरको गङ्गामें डूबते देखकर कौरव भयभीत हो उठे। तब वे जीवनकी रक्षाकी इच्छासे हाथ जोड़कर लक्ष्मणा एवं साम्बको आगे करके सर्वशक्तिमान् प्रभु बलरामके शरणापन्न हो गये॥ ४२-४३॥

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम्॥ ४४॥

और कहने लगे—हे सम्पूर्ण जगत्के आश्रय राम! हे बलराम! हम आपके प्रभावके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। हम तत्त्व-ज्ञानसे रहित मूढ़ और अज्ञानी हैं। अतः आप हमारा अपराध क्षमा कर दीजिये॥ ४४॥

स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः।
लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि॥ ४५

हे प्रभो! आप स्वयं निराधार हैं, आपका कोई कारण या आधार नहीं है। आप स्वयं अकेले ही सृष्टि, स्थिति एवं संहार कार्योंके कारणरूपमें विराजमान रहते हैं। हे लीलापरायण स्वरूप! तत्त्वज्ञानीजन तीनों भुवनोंका आपके क्रीड़ा-पदार्थके (खिलौनेके) रूपमें वर्णन करते हैं॥ ४५॥

त्वमेव मूर्द्ध्नीदमनन्त लीलया
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्द्धन्।
अन्ते च यः स्वात्मनिरुद्धविश्वः
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः॥ ४६॥

हे सहस्र-मस्तक अनन्त! आप इस भूमण्डलको खेल-ही-खेलमें अपने मस्तकपर धारण करते हैं, प्रलयकाल आनेपर समस्त विश्वका संहार करके सारे ब्रह्माण्डको अपनी देहमें लीन कर लेते हैं और अद्वितीयरूपसे (अर्थात् अकेले ही) शेष-शय्यापर शयन करते हैं (प्रलयकालमें आपके अतिरिक्त और कोई शयन नहीं करता)॥ ४६॥

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात्।
बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः॥ ४७॥

हे भगवन्! आप सत्त्वगुण धारण करते हैं। यह जो आपमें क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह समस्त प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिए और वास्तविकरूपसे जगत्की स्थिति एवं पालन करनेके लिए ही हुआ है। हे प्रभो! विद्वेष एवं मात्सर्यके कारण आपमें क्रोधकी सम्भावना कदापि नहीं है॥ ४७॥

नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय।
विश्वकर्म्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः॥ ४८॥

हे सर्वभूतान्तर्यामिन्! हे सर्वशक्तिधर! हे ब्रह्माण्डके अव्यय (अक्षरस्वरूप) स्रष्टा! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त कारणोंके कारण हैं। आप ही हमें जीवित रख सकते हैं। आपको हमारा नमस्कार है। हम आज आपके शरणागत हैं॥ ४८॥

श्रीशुक उवाच—

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः।
प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ॥ ४९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कौरवोंका नगर हस्तिनापुर डगमगा रहा था, जिससे कौरव भयार्त्त हो गये थे। वे बलदेवके शरणागत होकर उनका अनुग्रह प्राप्त करनके लिए प्रार्थना-स्तुति

करने लगे। तब बलदेव प्रसन्न हो गये और उन्हें अभय प्रदान करते हुए कहा—तुमलोग डरो मत॥ ४९॥

दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान्।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान्॥ ५०॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्य्यवर्च्चसाम्।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः॥ ५१॥

दुर्योधनका अपनी पुत्री लक्ष्मणाके प्रति बड़ा वात्सल्य था। उसने उपहारके रूपमें साठ-साठ वर्षके बारह सौ तरुण हाथी, दस सहस्र घोड़े, सूर्यके समान चमकते हुए छह सहस्र सुवर्णमय रथ और कण्ठोंमें रत्नजड़ित हारोंसे विभूषित एक सहस्र दासियाँ दीं॥ ५०-५१॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्व्वं भगवान् सात्वतर्षभः।
ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिरभिनन्दितः॥ ५२॥

यदुवंश-शिरोमणि भगवान् बलरामने समस्त उपहार-सामग्रियोंको स्वीकार कर लिया और कौरव-बान्धवोंके द्वारा अभिवन्दित होकर पुत्र साम्ब एवं पुत्र-वधू लक्ष्मणाको साथ लेकर द्वारकाके लिए चल दिये॥ ५२॥

ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः
समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां
मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम्॥ ५३॥

भगवान् हलायुधने द्वारकामें प्रवेश किया और अपने बान्धवोंसे मिले। इन बान्धवोंके हृदयमें बलरामके प्रति अपार अनुराग था। इसके बाद उन्होंने सभाभवनमें विराजित श्रेष्ठ यादवोंको कौरवोंके साथ घटित समस्त वृत्तान्त कह सुनाया॥ ५३॥

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद्रामविक्रमम्।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते॥ ५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे हास्तिनपुरकर्षणरूप-श्रीसङ्कर्षणविजयो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

हे राजन्! आज भी हस्तिनापुर दक्षिण भागमें ऊपर उठा हुआ और गङ्गाजीकी ओर कुछ झुका हुआ देखा जाता है। यह आज भी भगवान् बलरामके पराक्रमको सूचित कर रहा है॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अड़सठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

देवर्षि नारदजी द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी गृहचर्या देखना

श्रीशुक उवाच—

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहञ्च योषिताम्।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः॥ १॥

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥ २॥

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत्।
पुष्पितोपवनाराम द्विजालिकुलनादिताम्॥ ३॥

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज–कह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरःसूच्चैः कूजितां हंस–सारसैः॥ ४॥

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः॥ ५॥

विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः
शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः।
संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं
पतत्पताकध्वजवारितातपाम् ॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब देवर्षि नारदने सुना कि श्रीकृष्णने नरकासुरका वध करके एक ही समयमें अकेले ही अलग–अलग सोलह हजार भवनोंमें सोलह हजार राजकुमारियोंके साथ विवाह किया है, तो उन्हें यह बात अतिशय विचित्र लगी। वे कौतूहलवश उस अद्भुत लीलाको देखनेकी इच्छासे द्वारका पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि द्वारकापुरीमें उपवन एवं उद्यान मनोहर पुष्पों एवं घने वृक्षोंसे पुष्पित–पल्लवित हो रहे हैं। पक्षियोंका कलरव एवं भ्रमरोंका गुञ्जार ध्वनित हो रहा है।

सरोवरमें खिले हुए इन्दीवर, पद्म, कह्लार, कुमुद, उत्पल इत्यादि विविध नवजात कमलोंसे परिपूर्ण दीर्घिकाओंमें हंस एवं सारस उच्च स्वरसे कूजन कर रहे हैं। वहाँ स्फटिक एवं चाँदीके बने हुए नौ लाख राजभवन हैं, जो महामरकत मणियोंकी प्रभासे जाज्वल्यमान हो रहे हैं। उसमें स्वर्ण एवं रत्नोंसे जड़ित राजचिह्न विराजमान हैं, जो द्वारका नगरीकी शोभाको बढ़ा रहे हैं। उसमें राजमार्ग, क्षुद्रपथ (छोटी-छोटी गलियाँ), चौराहे एवं बाजार यथायथरूपसे व्यवस्थित हैं। इस अद्भुत नगरीमें निर्मित सभागृह और देवालय उसके सौन्दर्यको और भी निखार रहे हैं। राजमार्गों, चौराहों, गलियों और भवनोंके द्वारोंपर और उनके अग्रभागोंपर भलीभाँति जलका छिड़काव किया गया है। फहराती हुई पताकाओं और ध्वजाओंसे सूर्यके तापका निवारण हो रहा है॥ १-६॥

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्च्चितं सर्वधिष्ण्यपैः।
हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कात्स्न्र्येन दर्शितम्॥ ७॥

तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम्।
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत्॥ ८॥

महर्षि नारदने देखा कि उस द्वारका नगरीमें एक बहुत ही सुन्दर अन्तःपुर था। उस अन्तःपुरमें विश्वकर्माका समस्त शिल्प-नैपुण्य एवं विचित्र कौशल (कारीगरी) प्रदर्शित हो रहे थे। समस्त लोकपाल इस अन्तःपुरकी वन्दना कर रहे थे। देवर्षि नारदने यहाँ प्रवेश किया। इसमें सोलह हजार भवन सुशोभित हो रहे थे, जिनमें श्रीकृष्णकी सोलह हजार महारानियाँ रहती थीं। इन्हीं भवनोंमेंसे एक भवन जो अति विशाल एवं श्रीमत्से सम्पन्न था, नारदने उसमें प्रवेश किया॥ ७-८॥

विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्य्यफलकोत्तमैः।
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा॥ ९॥

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः।
दान्तैरासनपर्य्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः॥ १०॥

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम्।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष-सुवस्त्रमणिकुण्डलैः॥ ११॥

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः॥ १२॥

उस भवनमें मूँगेके बने हुए खम्भे थे, जिनपर मणियाँ जड़ी हुई थीं, वैदूर्यके मणिमय उत्तम छज्जे एवं इन्द्रनीलमणियोंसे बनी दीवारें थीं। फर्श भी नील-मणियोंसे बने हुए थे, जिनकी प्रभा कभी धूमिल नहीं होती थी, नित्य दीप्त रहती थी। विश्वकर्माके द्वारा प्रतिभापूर्वक एवं अनुपम कारीगरीसे बनाये गये मोतियोंकी लड़ियोंसे युक्त चँदोवे, उत्तम मणियोंसे जड़ित हाथी-दाँतके बने हुए आसन और अभिराम पलङ्ग उस महलकी शोभाको और भी बढ़ा रहे थे। सुन्दर वस्त्रों और अलङ्कारोंसे सुशोभित सहस्रों दासियोंने अपने गलोंमें सोनेके हार पहन रखे थे, पुरुष-सेवकोंने भी अङ्गरखे-पगड़ी सुन्दर-सुन्दर उत्तरीय वस्त्र एवं मणियोंके बने हुए कुण्डल धारण कर रखे थे। रत्नोंसे जड़ित दीपकोंकी प्रभासे उस महलका अन्धकार दूर हो रहा था। इस भवनके मणिमय विचित्र छज्जोंपर मोर विराजित थे, जो झरोखोंसे निकलते हुए सुगन्धित अगरु धूपके धूएँको देखकर बादलोंके भ्रमसे के-का ध्वनि करते हुए नाच रहे थे॥ ९-१२॥

तस्मिन् समानगुणरूपवयःसुवेष-
दासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या॥ १३॥

देवर्षि श्रीनारदने उस राजप्रासादमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन किये। उनकी पटरानी रुक्मिणी देवी स्वयं ही स्वर्ण-दण्डको धारण किये हुए चँवर डुलाते हुए भगवान्‌की सेवा कर रही थीं।

यद्यपि वहाँ रुक्मिणी देवीके ही समान ही रूप, गुण, आयु एवं सुन्दर वेषभूषासे सुसज्जित सोलह हजार दासियाँ हर समय रहा करती थीं॥ १३॥

तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्री-
पर्य्यङ्कतः सकलधर्म्मभृतां वरिष्ठः।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे॥ १४॥

भगवान् समस्त धार्मिकोंके शिरोमणि हैं। भगवान् श्रीकृष्णने जैसे ही मुनिश्रेष्ठ नारदको देखा, तो रुक्मिणी देवीके पलङ्गसे उठ खड़े हुए एवं मुकुटसे सुशोभित अपने मस्तकको झुकाकर और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् उन्हें अपने आसनपर बिठलाया॥ १४॥

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूद्ध्र्ना-
विभ्रज्जगद्गुरुतमोऽपि सतां पतिर्हि।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम्॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्ण सन्त-महात्माओंके स्वामी एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके आराध्य हैं, तब भी उन भगवान्ने अपने हाथोंसे मुनिवर नारदके चरण पखारकर उस चरणामृतको अपने मस्तकपर धारण किया, जिनके चरणोंकी धोवनसे उत्पन्न गङ्गाजल समस्त संसारमें तीर्थरूपमें विराजमान है। जिन्होंने स्वयंको 'ब्रह्मण्यदेव' (ब्राह्मणोंको ही अपना आराध्यदेव माननेवाले) इस नामकी सार्थकतासे परिचय कराया है, उनके लिए इस प्रकारका आचरण सङ्गत (युक्तियुक्त) ही है॥ १५॥

सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवाम हे किम्॥ १६॥

नरके सखा नारायण, सनातन ऋषिवर भगवान् श्रीकृष्णने देवर्षि नारदकी शास्त्रोक्त विधिसे पूजा की तथा अमृतसे अधिक मधुर स्वर और अल्प शब्दोंमें उनका स्वागत करते हुए उनसे इस प्रकार सम्भाषण करने लगे—हे प्रभो! आप तो समग्र ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं, हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?॥ १६॥

श्रीनारद उवाच—

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम्।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु॥ १७॥

देवर्षि नारदने कहा—हे विभो! आप समस्त लोकोंके एकमात्र अधिपति हैं। आप सज्जनोंके प्रति सौहार्द भाव रखते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। हे जगत्-वन्द्य! हे विश्वकीर्ति! हमलोग यह भलीभाँति जानते हैं कि जगत्की स्थिति और रक्षाके द्वारा समस्त जीवोंका परम कल्याण करनेके लिए ही आपने स्वेच्छासे अवतार लिया है॥ १७॥

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात्॥ १८॥

हे प्रभो! आपके श्रीपादपद्म भक्तोंके लिए अपवर्ग स्वरूप हैं। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज आपके इन श्रीचरणोंके दर्शन हुए हैं। मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। असीम ज्ञानसे युक्त ब्रह्मादि योगेश्वर अपने हृदयमें इन चरणकमलोंका निरन्तर ध्यान करते रहते हैं। संसार-कूपमें गिरे हुए लोगोंको उद्धार करनेके लिए आपके श्रीचरण ही एकमात्र आश्रय हैं। मुझपर ऐसा अनुग्रह कीजिये, उन चरणकमलोंकी स्मृति सदा-सर्वदा बनी रहे और मैं उनका ध्यान करते हुए जगत्में विचरण करता रहूँ॥ १८॥

ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया॥ १९॥

हे राजन्! देवर्षि नारदने ब्रह्मादि योगेश्वरोंके भी अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका रहस्य जाननेके लिए उस भवनसे निकलकर भगवान्की दूसरी पटरानीके महलमें प्रवेश किया॥ १९॥

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः॥ २०॥
पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः॥ २१॥
अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु।
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम्॥ २२॥

उस भवनमें नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पटरानी एवं उद्धवके साथ चौसर खेल रहे हैं। उन्होंने जैसे ही नारदको देखा, वैसे ही खड़े होकर उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद परम श्रद्धाके साथ विविध सामग्रियोंसे उनका पूजा-सत्कार किया और उनसे ऐसे बात करने लगे, जैसे कुछ भी जानते ही न हों। भगवान्ने कहा—"हे देव! आप कब पधारे? आप द्वारकामें किस कारणसे उपस्थित हुए हैं? आप तो स्वयं पूर्णकाम हैं और हम हैं अपूर्णकाम। आपका कोई भी कार्य पूर्ण करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, फिर भी आप किसी भी कार्यके लिए आदेश प्रदान करके हमारा जन्म सार्थक करें।" यह सब देख-सुनकर नारद विस्मित हो गये और चुपचाप वहाँसे उठकर दूसरे भवनमें चले गये॥ २०-२२॥

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून्।
ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम्॥ २३॥

अब उस भवनमें नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण वात्सल्यमय पिताके समान शिशु पुत्रोंको लाड़-प्यार कर रहे हैं। वहाँसे वे

जब एक और भवनमें गये, तो देखा कि श्रीकृष्ण स्नानकी तैयारी कर रहे हैं।

इस स्थलपर नारदने एक ही कृष्ण-विग्रहका बहु-प्रकाश अभिमान-भेद, कार्य-भेद सहित देखा, देवकी, वसुदेव एवं उद्धवादि विग्रहोंका भी बहु-प्रकाश देखा, सोलह हजार गृहोंमें मनकी गतिसे जाते हुए साठ घड़ीमें पृथक्-पृथक् काल-भेद भी देखा—इसीको 'प्राभव प्रकाश' कहा जाता है, जो भगवान् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके प्रकाशसे सम्भव होता है। नारदजीके आश्चर्यका विषय यही है कि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न सम्पन्न हो रही हैं, परन्तु शरीर पृथक्-पृथक् नहीं हैं। एक ही विग्रहसे एक ही समयमें विविध काल-भेद एवं क्रिया-भेद प्रकाशित हो रहे है॥ २३॥

जुह्वन्तञ्च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः।
भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानमवशेषितम्॥ २४॥

तदनन्तर देवर्षिने अन्य किसी भवनमें देखा कि श्रीकृष्ण यज्ञ-कुण्डमें होम कर रहे हैं, कहीं पञ्चमहायज्ञोंसे देवता आदिकी आराधनाकर रहे हैं (पञ्चसूना क्रिया कर रहे हैं), तो कहीं ब्राह्मणोंको भोजन करा रहे हैं, तो कहीं मध्याह्नकालमें यज्ञका अवशेष स्वयं आरोग रहे हैं (इस प्रकार श्रीकृष्ण पाठ, होम, अतिथि-सेवा, तर्पण एवं प्राणियोंको आहार-दान—इन पञ्चमहायज्ञका याजन करते थे)॥ २४॥

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम्।
एकत्र चासिचर्म्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु॥ २५॥

किसी भवनमें मध्याह्न-कालमें भगवान् श्रीकृष्ण सन्ध्यामें लीन हो रहे हैं, तो कहीं मौन भावसे गायत्रीका जप कर रहे हैं, तो किसी भवनमें 'तलवार-सञ्चालन-विद्या-अभ्यास-स्थानपर' ढाल-तलवार लेकर पैंतरे बदलनेका अभ्यास कर रहे हैं॥ २५॥

अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम्।
क्वचिच्छयानं पर्य्यङ्के स्तूयमानञ्च वन्दिभिः॥ २६॥

कहीं देखा कि भगवान् गदाग्रज श्रीकृष्ण घोड़े, हाथी एवं रथोंपर सवार होकर विचरण कर रहे हैं और कहीं किसी महलमें पलङ्गपर सो रहे हैं और बन्दीजन उनकी महिमा-सूचक स्तुति कर रहे हैं॥ २६॥

मन्त्रयन्तञ्च कस्मिंश्चित् मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम्॥ २७॥

किसी भवनमें देवर्षि नारदने देखा कि वे उद्धवादि राजमन्त्रियोंके साथ परामर्श कर रहे हैं, तो कहीं वे उत्तम वाराङ्गनाओं और अन्यान्य तरुणियोंके साथ जलक्रीड़ा कर रहे हैं॥ २७॥

कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः।
इतिहास-पुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च॥ २८॥

अन्य भवनमें नारदने देखा कि वे उत्तम ब्राह्मणोंको वस्त्र एवं अलङ्कारोंसे विभूषित गायें दान कर रहे हैं तो कहीं मङ्गलमय इतिहास एवं पुराण-पाठका श्रवण कर रहे हैं (स्मृति-शास्त्रमें कहा है अपराह्णमें छठी एवं सातवीं घटिकामें इतिहास एवं पुराणोंका श्रवण करे। गायोंका दान श्रीकृष्ण पूर्वाह्णमें करते थे)॥ २८॥

हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे।
क्वापि धर्म्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित्॥ २९॥

अन्य राजप्रासादमें वे अपनी प्रियाके साथ रात्रिके प्रथम प्रहारमें हास्य-विनोदके प्रसङ्गोंमें हँस रहे हैं, तो दिवस-कालमें किसी महलमें धार्मिक अनुष्ठानोंमें तो कहीं अर्थ-वृद्धिकी चर्चामें व्यस्त हैं और कहीं रात्रिकालमें शास्त्रोक्त रीतिसे गृहस्थ जीवनका उपभोग कर रहे हैं॥ २९॥

ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम्।
शुश्रूषन्तं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्य्यया॥ ३०॥

अन्य किसी महलमें देखा कि श्रीकृष्ण प्रकृतिसे अतीत अद्वितीय परमात्माका (स्वयंका) ध्यान कर रहे हैं, तो किसी भवनमें गुरुजनोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करके पूजा कर रहे हैं और उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं॥ ३०॥

कुर्व्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिञ्चान्यत्र केशवम्।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम्॥ ३१॥

किसी भवनमें देखा कि वे कुछ लोगोंके साथ युद्धकी बातें कर रहे हैं, तो दूसरे एक स्थानपर किसीके साथ सन्धिके वार्त्तालापमें व्यस्त हैं। कहीं वे बलदेवके साथ साधुपुरुषोंके कल्याणकी चिन्तामें मग्न हैं॥ ३१॥

पुत्राणां दुहितृणाञ्च काले विध्युपयापनम्।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः॥ ३२॥

किसी भवनमें देखा कि उचित समयपर रूप, गुणादिसे सम्पन्न पुत्रोंके लिए अनुरूप कन्याओं और कन्याओंका उनके योग्य वरोंके साथ बड़ी धूमधामसे विधिवत् वैवाहिक कार्य सम्पन्न कर रहे हैं॥ ३२॥

प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान्।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे॥ ३३॥

किसी भवनमें देखा कि श्रीकृष्ण अपनी पुत्री एवं जामाताको विदा कर रहे हैं, कहीं उन्हें बुलानेकी व्यवस्था कर रहे हैं और कहीं उनके स्वागत समारोहकी तैयारीमें लगे हुए हैं। नगरके सभी लोग उनके विशद महोत्सवोंको देखकर विस्मित हो रहे हैं॥ ३३॥

यजन्तं सकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्ज्जितैः।
पूर्त्तयन्तं क्वचिद्धर्म्मं कूपाराम-मठादिभिः॥ ३४॥

अन्य भवनमें देखा कि चैत्रमासमें और कहीं चातुर्मासमें वे समृद्धिशाली यज्ञोंका आयोजन करके देवताओंका यजन-पूजन

कर रहे हैं, तो कहीं वे जनकल्याणार्थ कूप, बगीचे और मठोंकी प्रतिष्ठारूप इष्टापूर्त धार्मिक कार्योंमें लगे हुए हैं॥ ३४॥

चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम्।
घ्नन्तं तत्र पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुङ्गवैः॥ ३५॥

किसी स्थानपर देखा कि वे यदुवीरोंसे घिरकर सिन्धुदेशीय घोड़ेपर सवार होकर यज्ञके लिए पवित्र मेध्य पशुओंका ही शिकार कर रहे हैं॥ ३५॥

अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया॥ ३६॥

कहीं पर देखा कि योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रजाजनोंका मनोभाव (अभिप्राय) जाननेके लिए मन्त्रियोंके गृहोंमें एवं अपने अन्तःपुरमें पटरानियोंके महलोंमें छद्मवेष धारण करके विचरण कर रहे हैं (वे सर्वज्ञ एवं योगेश्वर होनेपर भी प्रेममयी शक्तिके द्वारा सर्वज्ञ-शक्तिका आच्छादन कर लेते हैं)॥ ३६॥

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम्॥ ३७॥

परीक्षित्! इस प्रकार मनुष्य-विग्रहका आश्रय लेकर मनुष्यकी-सी लीला करनेवाले हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका वैभव-विलास देखकर नारद हँसते हुए उनसे कहने लगे॥ ३७॥

विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम्।
योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया॥ ३८॥

देवर्षि नारदने कहा—हे योगेश्वर! हे आत्मदेव! आपकी योगमायाका रहस्य ब्रह्मा, शिवादि बड़े-बड़े योगश्वरों एवं मायामुग्ध जीवोंके लिए अगम्य है। हे परमात्मन्! आपके पादपद्मोंकी सेवा करनेसे मेरे हृदयमें आपकी योगमायाका स्वरूप प्रकट हो रहा है—ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है॥ ३८॥

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाप्लुतान्।
पर्य्यटामि तवोद्गायन् लीला भुवनपावनीः॥ ३९॥

हे देवताओंके भी आराध्यदेव भगवान्! चौदहों भुवन आपके यशसे परिपूर्ण हो रहे हैं। मुझे अनुमति दीजिये कि मैं आपकी त्रिलोकपावनी लीलाओंका उच्च स्वरसे गान करते हुए सम्पूर्ण भुवनमण्डलमें पर्यटन करूँ॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्त्ता तदनुमोदिता।
तच्छिक्षयन् लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः॥ ४०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे नारदजी! मैं ही धर्मका वक्ता, कर्त्ता और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका समर्थक भी हूँ। मैं अपने आचरण द्वारा लोगोंको शिक्षा देनेके लिए ही पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ हूँ। प्रिय पुत्र! तुम मेरा ऐश्वर्य देखकर मोहित मत होना॥ ४०॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥ ४१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार देवर्षि नारदने एक ही श्रीकृष्णको सभी भवनोंमें पूर्वोक्त क्रमसे अलग-अलग रूपोंमें देखा। द्वारकामें भगवान् गृहस्थोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ धर्मोंका आचरण कर रहे थे॥ ४१॥

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम्।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः॥ ४२॥

भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। नारदजी उनकी योगमायाके वैभवको पुनः-पुनः देखकर विस्मित एवं कौतूहलसे परिपूर्ण हो रहे थे। योगमायाकी शक्ति अघटन-घटन-पटीयसी है। महिषियाँ यह नहीं जानती थीं ठीक इसी समय कृष्ण दूसरे भवनमें भी विद्यमान हैं॥ ४२॥

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन् ययौ॥ ४३॥

द्वारकाके महलोंमें भगवान् श्रीकृष्ण एक साधारण गृहस्थके समान इस प्रकार आचरण करते थे, मानो उनकी धर्म, अर्थ एवं काम आदि विषयोंमें बहुत श्रद्धा हो। भगवान्ने देवर्षिकी यथाविधि पूजा की और वे परम सन्तुष्ट होकर भगवान्का ध्यान करते हुए वहाँसे चले गये (कृष्ण द्वारा नारदकी पूजा ब्राह्मण-पूजन एवं आतिथ्य-परम्परारूप लोकाचरणके लिए है)॥ ४३॥

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्त्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥ ४४॥

हे वत्स! भगवान् नारायणने सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिए अपनी कृपा नामक शक्तिको स्वीकार किया और मनुष्य-पदवीका अनुसरण किया। वे विविध मूर्त्ति धारणकर सोलह हजारसे भी अधिक सुन्दर पत्नियोंके सलज्ज, अनुरागपूर्ण चितवन एवं स्निग्ध मुसकान आदि सेवाओंसे प्रसन्न होकर उनके साथ विहार किया करते थे॥ ४४॥

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्म्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीकृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नाम एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९॥

हे वत्स! भगवान् श्रीकृष्ण विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारके कारण हैं। उन्होंने इस मनुष्य लोकमें जो-जो लीलाएँ की हैं, वे

किसी औरके लिए असाध्य हैं। जो इन समस्त लीलाओंका गान, श्रवण अथवा अनुमोदन करता है, उसके हृदयमें निश्चय ही मोक्षफल-प्रदायक भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें प्रेममयी भक्तिका उदय होता है (इस प्रकार श्रीकृष्ण-लीला केवल संसार-मुक्तिके लिए ही नहीं, अपितु प्रेमभक्ति प्रदान करनेके लिए होती है। श्रीकृष्ण लीला-कथामें प्रवृत्त होनेके आरम्भमें ही संसार-बन्धनका ध्वंस हो जाता है)॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी दैनन्दिन नित्यचर्या और जरासन्धके कैदी राजाओंके दूतका आना

श्रीशुक उवाच—

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जैसे ही प्रभात होने लगता, वैसे ही भगवान् माधवके कण्ठसे आलिङ्गित उनकी पत्नियाँ विरहकी आशङ्कासे विकल हो जातीं और रात्रिके समाप्त होनेपर बाँग देनेवाले मुर्गोंको कोसने लगतीं। हे कुक्कुटो! तुम शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो जाओ॥ १॥

वयांस्यरोरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः॥ २॥

उस समय पारिजात-उद्यानकी सुगन्धसे सुवासित भीनी-भीनी वायु प्रवाहित होने लगती और भ्रमर गुञ्जार करना आरम्भ कर देते। उनकी गुनगुनाहटको सुनकर पक्षी नींदसे जाग जाते और उच्च स्वरसे चहचहाने लगते। ऐसा लगता था मानो वे अपने कलरव-कूजनके छलसे बन्दीजनोंकी भाँति श्रीकृष्णको जगानेके लिए जागरण-गान प्रस्तुत कर रहे हों॥ २॥

मुहूर्त्तं तन्तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम्।
परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता॥ ३॥

प्रियतम श्रीकृष्णकी भुजाओंमें आबद्ध रुक्मिणी एवं अन्यान्य महिषियाँ मनोरम एवं शुभ ब्राह्ममुहूर्त्त बेलाको प्रियतमके आलिङ्गन-विच्छेदका काल जानकर उसे सहन नहीं कर पाती थीं॥ ३॥

ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय वार्य्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥ ४॥

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही शय्यासे उठ जाते और आचमन करके पवित्र चित्तसे अपने अखण्ड (सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदसे रहित) निरुपाधिक, नित्य (कालकी सीमासे परे सदा-सर्वदा एक रस रहनेवाले) अविद्याके सम्पर्कसे शून्य (समस्त कल्मषको दूर करनेवाले), स्वप्रकाश (किसी दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं) चिद्घन स्वरूपमें स्थित सृष्टि, स्थिति और संहारके मूल कारण, अपनी शक्ति द्वारा समस्त प्राणियोंको सभी अवस्थाओंमें सुख देनेवाले, आनन्दमय-स्वरूप, तमोगुणसे अतीत, ब्रह्मसंज्ञक-निजस्वरूपभूत-परमात्म-तत्त्वका ध्यान करने लगते॥ ४-५॥

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥ ६॥

तत्पश्चात् साधुजनोंके शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण निर्मल एवं पवित्र जलमें स्नान करते और वस्त्र-युगल अर्थात् शुद्ध धोती तथा दुपट्टा ओढ़कर विधिपूर्वक सन्ध्या-वन्दनादि क्रिया-कलाप नियमितरूपसे सम्पन्न करते। इसके बाद शास्त्रोक्त विधिके अनुसार अग्निमें आहुति प्रदान करके मौन होकर गायत्रीका जप करते॥ ६॥

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यच्चर्य चात्मवान्॥ ७॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥ ८॥

ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वम् बद्वम् दिने दिने॥ ९॥

सूर्यदेवके उदित होनेपर विवेकीगणोंमें अग्रगण्य भगवान् श्रीकृष्ण सूर्यपूजा करते और अपने कलारूप (अंशभूत) देव, ऋषि, पितरों एवं वृद्धोंके लिए तर्पण करते। इसके बाद आत्म-समृद्ध (परम मनस्वी) भगवान् ब्राह्मणों एवं कुलके बड़े-बूढ़ोंकी विधिवत् पूजा करते। श्रीकृष्ण बड़ी सावधानीसे ब्राह्मणोंको वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित करके उन्हें रेशमी वस्त्र, मृगचर्म एवं तिलके साथ प्रतिदिन तेरह हजार चौरासी दुधारु एवं प्रथम प्रसूता अर्थात् पहले-पहले ब्याही हुई बछड़ोंवाली सीधी-शान्त गायें दान करते। इन गायोंको सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित किया जाता, उनके सींग स्वर्णसे और खुरोंके अग्रभाग चाँदीसे खचित होते॥ ७-९॥

गोविप्रदेवतावृद्ध गुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत्॥ १०॥

तदनन्तर वे अपनी विभूति-स्वरूप मङ्गल-पदार्थों अर्थात् कपिलादि गाय, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध एवं गुरुजनोंको तथा अन्यान्य प्राणियोंको नमस्कार करके माङ्गलिक द्रव्योंका स्पर्श करते॥ १०॥

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम्।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः॥ ११॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य लोकके विभूषण-स्वरूप हैं, तथापि वे अपनी सहज-सुन्दर देहको पीताम्बरादि दिव्य वस्त्रों, कौस्तुभमणि आदि अलङ्कारों, दिव्य मालाओं और चन्दनादि अङ्गरागोंसे सुशोभित करते॥ ११॥

अवेक्ष्याज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विजदेवताः।
कामांश्च सर्व्ववर्णानां पौरन्तःपुरचारिणाम्।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत॥ १२॥

इसके बाद श्रीकृष्ण घी और दर्पणमें अपना मुखारविन्द देखते, तत्पश्चात् गाय, बैल, ब्राह्मण एवं देव प्रतिमाओंका दर्शन करते। तब पुरवासी, अन्तःपुरवासी और ब्राह्मणादि चारों वर्णोंमें उत्पन्न सभी लोगोंको मनचाही वस्तुएँ प्रदान करते और ग्रामीण प्रजाओंकी भी कामनाओंकी पूर्ति करके उन्हें प्रसन्न करते। इस प्रकार सबको प्रसन्न देखकर स्वयं भी आनन्दित होते॥ १२॥

संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम्॥ १३॥

वे पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन, अङ्गराग आदि वस्तुओंको पहले ब्राह्मणों, बन्धु-बान्धवों, मन्त्रियों, सन्तानों एवं पत्नियोंको प्रदान करते, बादमें जो शेष रहता, उसे स्वयं ग्रहण कर लेते॥ १३॥

तावत् सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम्।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः॥ १४॥

इसी बीच उनका दारुक नामका सारथि सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए अति अद्भुत रथको ले आता और प्रणाम करके उनके सम्मुख खड़ा हो जाता॥ १४॥

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत्।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः॥ १५॥

तब भगवान् अपने हाथसे सारथिका हाथ पकड़कर सात्यकि एवं उद्धवके साथ रथपर इस प्रकार सवार होते, मानो सूर्यदेव उदयाचलपर आरूढ़ हो रहे हों॥ १५॥

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन् मनः॥ १६॥

अन्तःपुरकी नारियाँ सलज्ज भाव एवं प्रेममयी चितवनसे उन्हें निहारती रहतीं और उन्हें बड़े कष्टसे विदा करतीं। श्रीकृष्ण मधुर मुसकानसे उनका चित्त चुराते हुए महलसे बाहर निकल जाते॥ १६॥

सुधर्म्माख्यां सभां सर्व्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्म्मयः॥ १७॥

हे वत्स! तदनन्तर श्रीकृष्ण यादवोंसे परिवेष्टित होकर सुधर्मा नामकी सभामें प्रवेश करते। इस सभामें जो भी प्रवेश करता था, उसे भूख-प्यास, शोक-मोह, बुढ़ापा और मृत्यु—इस प्रकारसे दैहिक जीवनके छहों कष्टोंकी अनुभूति नहीं होती थी॥ १७॥

तत्रोपविष्टः परमासने विभु-
र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन्।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो,
यथोडुराजो दिवि तारकागणैः॥ १८॥

उस सुधर्मा-सभामें सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण जब नरश्रेष्ठ यादवोंसे घिरकर उत्तम सिंहासनपर विराजमान होते, तब अपनी कान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंको उसी प्रकार उज्ज्वल कर देते, जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्रोंसे घिरकर अपनी ज्योत्स्ना द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित करते हुए आकाशमें सुशोभित होते हैं। दानवोंके विश्वकर्मा मय दानवने खाण्डव वनको जला देनेके बदलेमें सुधर्मा-सभाको श्रीकृष्णको प्रदान किया था॥ १८॥

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्व्विभुम्।
उपतस्थुर्नटाचार्य्या नर्त्तक्यस्ताण्डवैः पृथक्॥ १९॥

परीक्षित्! उस समय सभामें विदूषक लोग विविध प्रकारके हास-परिहाससे, नटाचार्य अपने अभिनयसे और नर्त्तकियाँ अपने कलापूर्ण नृत्यसे उनकी सेवा करते॥ १९॥

मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः॥ २०॥

उस समय मृदङ्ग, वीणा, वेणु, करताल और शङ्ख-ध्वनिके साथ सूत, मागध एवं बन्दीगण नृत्य, गीत एवं स्तव किया करते॥ २०॥

तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः।
पूर्व्वेषां पुण्ययशसां राज्ञाञ्चाकथयन् कथाः॥ २१॥

उस सभामें विराजमान ब्रह्मवादी ब्राह्मण उस समय वेदमन्त्रोंको सस्वर गाकर उनकी व्याख्या किया करते और कुछ वाणी-विदग्धगण प्राचीन पवित्रकीर्त्ति राजाओंके चरितोंको सुनाया करते॥ २१॥

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्व्वदर्शनः।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः॥ २२॥

हे राजन्! एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें राजसभाके द्वारपर एक अपरिचित पुरुष आया। द्वारपालोंने यह समाचार भगवान् श्रीकृष्णको निवेदन किया और उनकी अनुमति प्राप्त करके उस पुरुषको सभाभवनमें प्रवेश कराया॥ २२॥

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम्॥ २३॥

नवागत पुरुषने परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। इसके बाद जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओंके विषयमें बतलाया कि वे बड़े दुःखी हैं॥ २३॥

ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे॥ २४॥

हे प्रभो! जब जरासन्ध दिग्विजयके लिए भ्रमण कर रहा था, तब इन राजाओंने कर-दानादिके द्वारा उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। अतः जरासन्धने इन बीस हजार राजाओंको बलपूर्वक गिरिव्रज नामक दुर्गमें कैद कर रखा था॥ २४॥

राजान ऊचुः—

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः॥ २५॥

उस नवागत पुरुषने निवेदन किया कि उन राजाओंने कहा है—हे प्रभो! हे अप्रमेय-स्वरूप! हे शरणागत-भयहर! हे मन

और वाणीसे अगोचर सच्चिदानन्द-स्वरूप! हे श्रीकृष्ण! हे श्रीकृष्ण! हमारी विषयोंमें बड़ी आसक्ति है, हम जन्म-मृत्युरूप संसार-दावानलसे डरे हुए हैं! हम आपकी शरणमें हैं (इन आपकी भक्तिकी प्रार्थना न करके अपने ही दुःखसे परित्राण चाहते है)॥ २५॥

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥ २६॥

हे देव! प्रायः सभी जीव निषिद्ध एवं काम्यकर्मोंमें लगे हुए हैं। ये लोग पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें आपके द्वारा वर्णित आपकी सेवारूप अपने मङ्गलकारी कार्योंसे विमुख एवं प्रमत्त (असावधान) रहते हैं। हे प्रभो! आप महाबलवान् हैं। आप कालस्वरूपसे इस लोकमें ऐसे मानवोंके दीर्घायु जीवनकी आशा-लताका तुरन्त ही उच्छेद कर डालते हैं। हम आपके उस कालरूपको नमस्कार करते हैं (आपका अर्चन एवं आपका भजन—यही मनुष्योंका वास्तव निज-धन है, आप ही संसार-दुःखके निवर्त्तक एवं प्रेम सुखभोग प्रदायक है। मनुष्य विकर्ममें अर्थात् स्त्री-पुत्रादि-वैषयिक-सुख-साधक कर्मोंमें निरत रहते हैं और वह सुख भी दुर्भागे जीवोंको प्राप्त नहीं होता)॥ २६॥

लोके भवान् जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः॥ २७॥

हे प्रभो! आप जगत्के अधीश्वर हैं। आप साधुओंकी रक्षा एवं दुर्जनोंके निग्रहके लिए ही इस धराधाममें अपने अंश (बलराम) के साथ अवतीर्ण हुए हैं। तब आपके शासनका उल्लङ्घन करते हुए जरासन्ध आदि दुष्ट राजा हमें दुःख प्रदान

कर रहे हैं? अथवा हम अपने ही कर्मोंके कारण दुःख भोग रहे हैं? यह बात हमारी समझमें नहीं आती। आप कृपा करके हमें इस कष्टसे अवश्य ही मुक्त करें॥ २७॥

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह॥ २८॥

हे भगवन्! राज-सुख हमारा विषय-साध्य था, किन्तु अब वह स्वप्नके समान समाप्त हो गया है। भयके कारण निरन्तर व्याकुलता बनी रहती है। शरीर मृतकके समान हो जाता है और इसी शरीरसे केवल स्त्री-पुत्रादिकी विभिन्न चिन्ताओंरूपी भारको ढोते रहते हैं। आपकी मायासे मोहित होकर इस लोकमें हम दीन-हीन भावसे रहते हैं। निष्काम जनोंको जो सुख स्वतःसिद्ध प्राप्त होते हैं, उन्हें छोड़-छाड़कर हम मात्र कष्ट-ही-कष्ट भोग रहे हैं॥ २८॥

तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्म्मपाशात्।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्य्यमेको
विभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः॥ २९॥

हे देव! आपके चरणकमल शरणागत भक्तोंके सभी प्रकारके सन्ताप हरण करनेमें समर्थ हैं। अतः हे नाथ! आप मगधराज जरासन्धरूप कर्मबन्धनसे हमें छुटकारा दिलवाइये। इस जरासन्धका बल दस हजार उन्मत्त हाथियोंके बलके समान है। सिंह जिस प्रकार भेड़ोंको बाँधकर रखता है, उसी प्रकार जरासन्धने अकेले ही हम दस हजार राजाओंको बन्दी बना रखा है॥ २९॥

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्य्यम्।

जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि॥ ३०॥

हे उद्यत सुदर्शनधारिन्! इस जरासन्धने आपके साथ अठारह बार युद्ध किया था, जिसमेंसे सत्रह बार वह पराजित हुआ और अन्तमें अठारहवीं बार इसने अनन्त वीर्यशाली मनुष्यों-जैसा आचरण करनेवाले आपको पराजित-सा मान लिया और तभी-से बड़ा घमण्डी हो गया है। हमें आपकी प्रजा (भक्त) मानकर हमारे ऊपर शोषण अत्याचार करता है। अतः हे अजित्! इस विषयमें आप जो ठीक समझें, वही करें॥ ३०॥

श्रीदूत उवाच—

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम्॥ ३१॥

दूतने कहा—जरासन्धके कैदी राजाओंने आपसे इस प्रकार प्रार्थना की है। वे आपके शरणागत हैं। आपके दर्शनकी उन्हें उत्कट अभिलाषा है। अतः आप उन आर्त्त राजाओंको दुःखसे मुक्ति दिलाइये॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः।
बिभ्रत् पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः॥ ३२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजदूत इन वचनोंको निवेदन कर ही रहा था कि परम तेजस्वी देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हुए। वे पिङ्गल-वर्णकी (सुनहरी) जटाओंको धारण किये हुए थे। उनकी दिव्य-कान्तिको देखकर ऐसा मालूम हो रहा था, मानो साक्षात् सूर्यदेव ही उदित हो रहे हों॥ ३२॥

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्व्वलोकेश्वरेश्वरः।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा॥ ३३॥

ब्रह्मादि समस्त लोकपालोंके एकमात्र अधिपति भगवान् श्रीकृष्णने जैसे ही देवर्षि नारदके दर्शन किये, वैसे ही वे परम हर्षित होकर उठ खड़े हुए। उनके साथ उनके मन्त्री, सभासद और अनुचर भी खड़े हो गये। सभीने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ३३॥

सभाजयित्वा विधिवत् कृतासनपरिग्रहम्।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम्॥ ३४॥

जब देवर्षि नारद संनिदर्शित आसनपर बैठ गये, तब भगवान्ने उनका विधिपूर्वक सत्कार किया। इसके बाद श्रीकृष्ण बड़ी श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रसन्न करते हुए सुमधुर वाणीसे कहने लगे॥ ३४॥

अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम्।
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षे! मैं तो मानता हूँ इस समय तीनों लोकोंमें आपका ही सर्वतोभावसे कुशल-मङ्गल है। आप समस्त लोकोंमें पर्यटन करते रहते हैं। इससे हमें बड़ा लाभ यह होता है कि घर बैठे आपके द्वारा उन सब लोकोंका वृत्तान्त पता चल जाता है॥ ३५॥

न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीष्वरकर्त्तृषु।
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम्॥ ३६॥

हे मुनिवर! ईश्वर-रचित इस भुवनमण्डलमें कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि इस समय पाण्डव क्या कर रहे हैं?॥ ३६॥

श्रीनारद उवाच—

दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-
र्वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम्॥ ३७॥

देवर्षि नारदने कहा—हे सर्वव्यापक प्रभो! आप सम्पूर्ण विश्वके कर्त्ता हैं। जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार आप अपने प्रकाशको गुप्त रखकर अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा समस्त प्राणियोंमें विराजमान रहते हैं। आप परम मायावी हैं। मैंने बहुत बार आपकी दुर्लंघ्य मायाके प्रभावको साक्षात् देखा है। अतः आप पाण्डवादिके विषयमें इस प्रकारसे प्रश्न कर रहे हैं, यह मेरे लिए आश्चर्यकी बात नहीं है॥ ३७॥

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः।
यद्विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने॥ ३८॥

यह जगत् असत् होते हुए भी आपकी मायाके अचिन्त्य प्रभावसे सत्यके समान प्रतीत होता है। आप ही अपनी मायासे इस जगत्की कभी निर्माण-क्रिया एवं कभी पालन-प्रक्रिया तथा कभी संहार-क्रिया सम्पन्न करते हैं। हे अचिन्त्यपुरुष! आपका स्वरूप अति विलक्षण है, कोई भी आपकी लीलाको—कि आप कब क्या करना चाहते हैं, भलीभाँति नहीं जानता। मैं तो केवल आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ॥ ३८॥

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं
प्राज्वालयत् त्वा तमहं प्रपद्ये॥ ३९॥

हे भगवन्! जीव अनादिकालसे अनर्थोंके मूल एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकते रहते हैं, परन्तु इस देह-बन्धनसे मुक्तिका उपाय नहीं जानते। आप उन जीवोंकी मुक्तिके लिए विविध लीलावतारोंके द्वारा अपने यशरूप दीपकको प्रज्वलित कर उनके मार्गको आलोकित करते हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ; मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ३९॥

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम्।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम्॥ ४०॥

हे प्रभो! हे ब्रह्मन्! आप सर्वज्ञ हैं। पाण्डवोंकी क्या अभिलाषा है, उसे आप पहलेसे ही जानते हैं। तो भी, मनुष्य लीलाका अनुकरण करनेवाले हे परम सत्य! मैं आपके आदेशका पालन करता हूँ और आपकी बुआ कुन्ती देवीके पुत्र एवं आपके प्रेमी भक्त राजा युधिष्ठिरका जो मनोवाञ्छित है, उसे आपको बतलाता हूँ॥ ४०॥

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम्॥ ४१॥

हे देव! राजा युधिष्ठिरकी एक छत्र साम्राज्यकी अभिलाषा है, इसलिए राजसूय नामक महायज्ञके अनुष्ठान द्वारा आपकी पूजा करना चाहते हैं। आप उसका अनुमोदन करनेकी कृपा करें॥ ४१॥

तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः॥ ४२॥

हे देव! इस महायज्ञमें आपके दर्शनकी इच्छासे देवता इत्यादि दिव्यलोकवासी एवं बड़े-बड़े यशस्वी राजा एकत्रित हो रहे हैं॥ ४२॥

श्रवणात् कीर्त्तनाद्ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः।
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः॥ ४३॥

हे ईश! आप स्वयं ब्रह्मघनमूर्त्तिमय हैं। आपका श्रवण, कीर्त्तन एवं ध्यान करनेसे चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं। तब जो आपका दर्शन अथवा स्पर्श करते हैं, उनके विषयमें क्या कहा जाय?॥ ४३॥

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम्।

मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम्॥ ४४॥

हे भुवनमङ्गलकर! हे दिक्‌मण्डलके भूषणस्वरूप! आपका यश स्वर्ग, मर्त्यलोक एवं रसातलमें सुविस्तृतरूपसे उसी प्रकार व्याप्त हो रहा है, जिस प्रकार आपके पादपद्मोंका प्रक्षालन-वारि (चरणामृत) स्वर्गमें 'मन्दाकिनी', पातालमें 'भोगवती', और पृथ्वीमें 'गङ्गा' नामसे प्रसिद्ध होकर सम्पूर्ण जगत्‌को पवित्र कर रहा है॥ ४४॥

श्रीशुक उवाच—

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृणत्सु विजिगीषया।
वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः॥ ४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उस समय सभामें उपस्थित सभी यादव यह चाहते थे कि पहले जरासन्धको पराजित किया जाय। अतः देवर्षि नारदकी बातका उन्होंने सम्यक्‌रूपसे सम्मान नहीं किया। तब भगवान् केशवने तनिक मुसकराकर सुमधुर वाणीमें उद्धवसे कहा॥ ४५॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित्।
तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत्॥ ४६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! तुम हमारे बान्धव और परम हितैषी हो। तुम मन्त्रणा सम्बन्धी विषयोंके परिणामको भलीभाँति जानते हो एवं हमारे उत्तम चक्षुःस्वरूप हो। अतः जरासन्ध-विजय और राजसूय यज्ञ—इन दोनों कार्योंके मध्य हमारा प्रथम कर्त्तव्य क्या है? तुम्हारे प्रति हमारी बड़ी श्रद्धा है। इसलिए तुम जैसा परामर्श दोगे, हम उसीके अनुसार कार्य करेंगे॥ ४६॥

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत्।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीभगवद् याम-विचार नामे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७० ॥

परीक्षित्! श्रीकृष्णने स्वयं सर्वज्ञ होकर भी अनजानके समान उद्धवसे जब इस प्रकार अनुरोध किया, तब उद्धव उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर प्रत्युत्तरमें कहने लगे॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

उद्धवके परामर्शसे श्रीकृष्णका इन्द्रप्रस्थ पधारना एवं पाण्डवोंका परमोत्सव

श्रीशुक उवाच—

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत्।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! उद्धव बड़े बुद्धिमान थे। उन्होंने देवर्षि नारदके पूर्वोक्त वचन भी सुने और वहाँ उपस्थित सभासद और भगवान् श्रीकृष्णके हृद्गत अभिप्रायको भी भलीभाँति समझा। वे इस प्रकार कहने लगे॥ १॥

श्रीउद्धव उवाच—

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया।
कार्य्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम्॥ २॥

श्रीउद्धवने कहा—हे प्रभो! देवर्षि नारदने जो भी कहा है, तदनुसार यज्ञके अभिलाषी आपकी बुआके पुत्र युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें सम्मिलित होकर उनकी सहायता करना जिस प्रकारसे आपका कर्त्तव्य है, उसी प्रकार जरासन्धके द्वारा बन्दी बनाये गये अपने शरणागत राजाओंको मुक्त करना भी आपका कर्त्तव्य है॥ २॥

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम॥ ३॥

हे विभो! समस्त दिशाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही राजा युधिष्ठिरको राजसूय यज्ञ करना होगा। जरासन्धके वधके बिना दिग्विजय सम्भव नहीं है। अतः इस दिग्विजयके उपलक्षमें जरासन्धकी पराजय हो जाय, तो दोनों ही प्रयोजन सिद्ध हो

जायेंगे। शरणागत राजाओंकी भी रक्षा हो जायेगी और राजसूय यज्ञ भी सम्पन्न हो जायेगा। मुझे तो यही समुचित जान पड़ता है और यही मेरा अभिप्रेत भी है॥ ३॥

अस्माकञ्च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान् विमुञ्चतः॥ ४॥

हे गोविन्द! इस प्रसङ्गमें जरासन्धकी पराजय होनेपर हम-यादवोंका प्रबल शत्रु-दमनरूप महाप्रयोजन पूर्ण हो जायेगा और बद्ध राजाओंको भी मुक्ति मिल जायेगी। इससे आपको प्रचुर यश भी प्राप्त होगा॥ ४॥

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना॥ ५॥

हे देव! राजा जरासन्धमें दस हजार हाथियोंके बराबर बल है। अतः इसके समान ही बलशाली भीमसेनके साथ इसका युद्ध हो, तो इसकी मृत्यु निश्चित है। भीमसेनके अतिरिक्त चाहे कोई कितना भी बलशाली वीर हो, उसके समक्ष जरासन्ध दुर्जेय ही रहेगा॥ ५॥

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित्॥ ६॥

हे भगवन्! द्वन्द्व-युद्ध होनेसे भीमसेन उसे पराजित कर सकते हैं, परन्तु यदि वह सौ अक्षौहिणी सेना लेकर आ गया, तो उसे हराना सम्भव नहीं है। जरासन्ध ब्राह्मण-भक्त है, सदा-सर्वदा ब्राह्मणोंके हितके लिए तत्पर रहता है। ब्राह्मण किसी वस्तुके लिए याचना करें, तो वह मना नहीं करता॥ ६॥

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ॥ ७॥

अतः वृकोदर भीम ब्राह्मण-वेशमें उसके पास जायें और द्वन्द्व-युद्धकी भिक्षा माँगें। भगवन्! यदि यह द्वन्द्व-युद्ध आपके

सम्मुख हो, तो भीमसेन जरासन्धको युद्धमें अवश्य ही मार डालेंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ७॥

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव॥ ८॥

हे भगवन्! आप सर्वशक्तिमान, अप्राकृतरूप एवं कालस्वरूप हैं। विश्व-सृष्टि एवं विश्व-संहारके कार्योंके लिए ब्रह्मा एवं शङ्कर तो निमित्त हैं, वास्तवमें आपके द्वारा ही दोनों कार्य किये जाते हैं। इसी प्रकारसे यहाँ भी जरासन्धका आप ही वध करनेवाले हैं, भीमसेन तो केवल निमित्तमात्र बनेंगे (आपकी उपस्थितिसे ही जरासन्धका वध हो जायेगा। आप भीमसेनको यश प्रदान करना चाहते हैं)॥ ८॥

गायन्ति ते विशदकर्म्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशुत्रुवधमात्मविमोक्षणञ्च।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयञ्च॥ ९॥

हे प्रभो! गोपियाँ जिस प्रकारसे आपके द्वारा किये गये शङ्खचूड़-वधसे अपना रक्षण, मगरसे गजराजका विमोचन, रावणसे देवी सीताका उद्धार एवं कंससे देवकी-वसुदेवजीका मोचन आदि आपके पवित्र चरित्रका गुणगान करती हैं एवं आपके शरणागत मुनिगण तथा हम लोग जिस प्रकार आपके द्वारा प्रदत्त मुक्ति-विषयक चरितोंका गान करते हैं, उसी प्रकार नारद द्वारा प्रबोधित होकर जरासन्ध द्वारा आबद्ध राजाओंकी पत्नियाँ अपने-अपने महलोंमें बालकोंका लालन-पालन आदि कार्य करते हुए आपके विमल यशका गान करेंगी तथा अपने रोते हुए शिशुओंको चुप करानेके लिए कहेंगी—हे वत्स! रोओ मत! कृष्ण जरासन्धको मारकर तुम्हारे पिताको मुक्त कर हमारा परित्राण करेंगे॥ ९॥

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्य्यर्थायोपकल्पते।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः॥ १०॥

हे श्रीकृष्ण! इस जरासन्धका वध होनेसे हमारे शिशुपाल-वधादि बहुत-से महाप्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे। राजसूय-यज्ञका होना बन्दी राजाओंके पुण्यकर्मोंका एवं जरासन्धके पापकर्मोंका परिणाम होगा और यह आपके द्वारा भी सम्मत है—मैं ऐसा मानता हूँ। इसलिए आप पहले इन्द्रप्रस्थ ही पधारिये॥ १०॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम्।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन्॥ ११॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—हे राजन्! उद्धवजीकी मन्त्रणा युक्तियुक्त एवं सब प्रकारसे मङ्गलजनक थी। देवर्षि नारद, यादव-कुलके बड़े-बूढ़े एवं भगवान् श्रीकृष्णने भी उनकी इन बातोंका समर्थन एवं अभिनन्दन किया॥ ११॥

अथादिशत् प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः।
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः॥ १२॥

इसके बाद सर्वसमर्थ प्रभु देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेव आदि गुरुजनोंकी आज्ञा लेकर इन्द्रप्रस्थ जानेकी तैयारीके लिए दारुक, जैत्र आदि सेवकोंको आदेश प्रदान किया॥ १२॥

निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान्।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजञ्च शत्रुहन्।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजम्॥ १३॥

हे रिपुविनाशन! हे राजन्! श्रीकृष्णने पहले तो अपनी रानियोंको बाल-बच्चों एवं सामानके साथ पहले भेजनेकी व्यवस्था की, उसके बाद यदुराज उग्रसेन एवं बलदेवजीसे अनुमति लेकर दारुक द्वारा लाये गये गरुडध्वज रथपर सवार हुए (कृष्णपत्नियाँ भी इस यज्ञमें निमन्त्रित थीं, अतः वे जानेके लिए अति उत्सुक थीं)॥ १३॥

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः,
करालया परिवृत आत्मसेनया।
मृदङ्गभेर्य्यानकशङ्खगोमुखैः,
प्रघोषघोषित ककुभो निरक्रमत्॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णने रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदलोंकी भारी सेनाओंके प्रमुख अधिकारियों एवं अपनी अति भयङ्कर सेनाके साथ नगरसे बाहर प्रस्थान किया। उस समय मृदङ्ग, भेरी, दुन्दुभि, शङ्ख तथा गोमुखकी अत्युच्च ध्वनि-तरङ्गोंसे सारी दिशाएँ गूँज रही थीं॥ १४॥

नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं,
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः,
सुसंवृता नृभिरसिचर्म्मपाणिभिः॥ १५॥

भगवान् अच्युतकी सती-साध्वी (पति-परायणा) पत्नियाँ उत्तम वस्त्रों, अलङ्कारों, चन्दनादि अङ्गरागों एवं फूलोंकी मालाओंसे विभूषित थीं। वे अपने शिशुओंके साथ डोलियों (नरयानों), रथों (अश्वयानों) और सोनेकी बनी पालकियोंपर विराजमान होकर अपने पति श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चलीं। पैदल सिपाही हाथोंमें ढाल-तलवार लेकर उन सबकी रक्षा करते हुए चल रहे थे॥ १५॥

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्य्यनः-
करेणुभिः परिजनवारयोषितः।
स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा-
द्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः॥ १६॥

हे राजन्! महलोंकी सेविकाओं (अनुचरोंकी स्त्रियों) एवं वारवनिताओंने भलीभाँति शृङ्गार करके खस (उशीर) आदि घासकी बनी झोंपड़ियों, भाँति-भाँतिके तम्बुओं, कनातों, कम्बलों आदि ओढ़ने-बिछानेकी सामग्रियोंको बैलों, भैसों, गधों और

खच्चरोंपर लाद दिया (कसकर बाँध दिया)। वे स्वयं डोलियों, ऊँटों, छकड़ों एवं हथिनियोंपर सवार होकर सम्पूर्ण दिशाओंको व्याप्त करती हुई चल रही थीं॥ १६॥

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-
र्वरायुधाभरणकिरीटवर्म्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-
र्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः॥ १७॥

ऊँची-ऊँची फहराती हुई बृहदाकृति ध्वजाओं, पताकाओं, राजछत्रों, ध्वजदण्डों, चँवरों, उत्तम वस्त्रों, अलङ्कारों, मुकुटों एवं कवचोंसे सुशोभित एवं जयजयकार तथा कोलाहल करती हुई भगवान् श्रीकृष्णकी सेना दिनके समय सूर्यकी विकीर्ण किरणोंसे उसी प्रकार सुशोभित हो रही थीं, जिस प्रकार मगरमच्छों एवं तरङ्गोंसे आलोड़ित होनेवाले समुद्रकी शोभा होती है॥ १७॥

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः
प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो
मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥ १८॥

यदु-प्रधान मुकुन्द भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा विविध सामग्रियोंसे सम्मानित होकर देवर्षि नारद भगवान्के अभिप्रायको जानकर बड़े प्रसन्न हो गये। श्रीकृष्णके दर्शनसे उनका चित्त एवं इन्द्रियाँ शान्त हो गयीं। नारदने भगवान्को मन-ही-मन प्रणाम किया और हृदयमें उनका ही दृढ़तापूर्वक ध्यान करते हुए आकाश-मार्गसे चले गये॥ १८॥

राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम्॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णने राजाओं द्वारा भेजे हुए दूतको मधुर वचनोंसे प्रसन्न करते हुए कहा—"हे दूत! उन राजाओंसे कहना—डरना मत। तुम्हारा मङ्गल होगा। मैं जरासन्धका वध करवा दूँगा॥"१९॥

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान्।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन् यन्मुमुक्षवः॥ २०॥

श्रीकृष्णसे आदेश प्राप्त करके राजदूत गिरिव्रज लौट गया और राजाओंको श्रीकृष्णका सन्देश ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। वे राजा भी कारागारसे मुक्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रीकृष्णके शीघ्रातिशीघ्र दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगे॥ २०॥

आनर्त्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः।
गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान्॥ २१॥

हे परीक्षित्! अब भगवान् श्रीकृष्ण आनर्त्त, सौवीर, मरुदेश, कुरुक्षेत्र आदि जनपदोंसे यात्रा करते हुए पर्वत, नदी, नगर, ग्राम एवं गोपोंकी बस्तियों तथा खानोंको पार करके आगे बढ़े॥ २१॥

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम्।
पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत्॥ २२॥

इसके बाद भगवान् मुकुन्दने क्रमशः दृषद्वती और सरस्वती नामकी दोनों नदियोंको पार किया तथा पाञ्चाल एवं मत्स्य देशोंसे आगे बढ़कर इन्द्रप्रस्थ पहुँचे॥ २२॥

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम्।
अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद् वृतः॥ २३॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। जब अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने यह सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण समीप ही आ गये हैं, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने आचार्यों एवं बन्धु-बान्धवोंको साथ लिया और उनकी अगवानी करनेके लिए नगरसे बाहर निकले॥ २३॥

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा।
अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः॥ २४॥

इन्द्रियाँ जिस प्रकार मुख्य प्राणोंसे मिलनके लिए उनकी ओर प्रवृत्त होती हैं, उसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर मङ्गल-गीतों, वाद्यों

एवं वेदध्वनिके साथ हृषीकेश श्रीकृष्णका स्वागत करनेके लिए चल दिये॥ २४॥

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः॥ २५॥

श्रीकृष्णके दर्शनसे महाराज युधिष्ठिरका चित्त स्नेहसे द्रवीभूत हो उठा। उन्हें बहुत दिनोंके बाद अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः वे उनका बार-बार आलिङ्गन करने लगे॥ २५॥

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः॥ २६॥

भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह लक्ष्मीका पवित्र एवं सनातन निवास-स्थान-स्वरूप है। महाराज युधिष्ठिर अपनी भुजाओंसे उनका आलिङ्गन करके परम शान्त एवं परम आनन्दित हुए। उनका सारा पाप-ताप (दुर्दैव) नष्ट हो गया। आँखोंसे आँसू उमड़ आये, शरीर रोमाञ्चित हो गया; उन्हें किसी लौकिक व्यवहारकी सुधि न रही॥ २६॥

तं मातुलेयः परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन् प्रेमजलाकुलेन्द्रियः।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम्॥ २७॥

इसके बाद भीमसेनने खिलखिलाकर हँसते हुए अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया। भीमसेनकी आँखोंसे प्रेमकी धारा बहने लगी, वे परम आनन्दित हो रहे थे। तब अर्जुन, नकुल एवं सहदेवने भी परम हर्षके साथ अपने घनिष्ठ, परम प्रिय और हितैषी अच्युत भगवान् श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया। उनकी भी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग रही थी॥ २७॥

अर्ज्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः।
मानिनो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान्॥ २८॥

अर्जुनने भगवान्का पुनः आलिङ्गन किया और नकुल एवं सहदेवने उन्हें नमस्कार किया। भगवान् श्रीकृष्णने भी ब्राह्मणों एवं कुलके बड़े-बूढ़ोंको विधिवत् प्रणाम करके माननीय कुरु, सृञ्जय एवं कैकय वंशीयजनोंका भी यथोचित सम्मान किया॥ २८॥

सूतमागधगन्धर्व्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः।
मृदङ्गशङ्खपटह-वीणापणवगोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः॥ २९॥

उस समय सूत, मागध, बन्दीजन, उपहासक और ब्राह्मण श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे तथा गन्धर्व, नट विदूषक आदि मृदङ्ग, शङ्ख, पटह (दुन्दुभि), वीणा, पणव (ढोल), गोमुख आदि वाद्य-यन्त्रोंको बजाकर श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए नाचने-गाने लगे॥ २९॥

एवं सुहृद्भिः पर्य्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः।
संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम्॥ ३०॥

इस प्रकार यशस्वी-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने भव्यरूपसे सुसज्जित इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय बन्धु-बान्धव उनके साथ-साथ चल रहे थे। चारों ओर उनकी प्रंशसा हो रही थी। सूत आदि उनकी स्तुति-स्तवन कर रहे थे॥ ३०॥

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्रग्-
गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम्॥ ३१॥

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्मजाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम्।

मूर्द्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै–
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्ण कुरुराज युधिष्ठिरकी राजधानी इन्द्रप्रस्थको देखने लगे। यह राजसी नगर रङ्ग–बिरङ्गी ध्वजा–पताकाओं, स्वर्ण–तोरणों और जलसे पूर्ण कुम्भ–कलशोंसे सुसज्जित अत्यन्त दिव्य एवं भव्य दिखायी दे रहा था। सभी युवक एवं युवतियाँ उत्तम एवं नवीन वस्त्रों, आभूषणों और पुष्पहारोंसे अलंकृत थे। उन्होंने गन्ध–इत्र–फुलेल आदिसे अपने शरीरोंको सुगन्धित कर रखा था। राजपथको मत्त हाथियोंके मस्तकसे निःसृत मद–द्रवसे सुवासित किये गये जलसे सींचा गया था। प्रत्येक घर प्रज्वलित दीप–मालाओं एवं पुष्पादि पूजाकी सामग्रीसे मनोरम एवं अलौकिक लग रहा था। झरोखोंसे निकलती हुई सुगन्धित धूपसे सारा नगर ही सुरम्य प्रतीत हो रहा था। इधर–उधर फहराती पताकाओंसे उसका सौन्दर्य और भी बढ़ रहा था। भवनोंके शिखरोंपर चाँदीके आधारपर स्वर्ण–कलश स्थापित किये गये थे और ऊँचे–ऊँचे शिखरोंको रत्नोंसे जड़ा गया था। ऐसे महलोंसे परिपूर्ण पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरके अपार सौन्दर्यको देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण आगे बढ़े॥ ३१–३२॥

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र–
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे॥ ३३॥

मानव–लोचनोंके एकमात्र दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण राजपथ पर पधार रहे हैं—यह सुनकर नगरकी स्त्रियाँ घरके सारे काम–काज और शय्यापर सोये हुए अपने पतियोंको छोड़–छाड़कर भगवान्‌को देखनेके लिए राजपथ पर दौड़ी चली आयीं। उत्सुकताके कारण उनके केश–बन्धन एवं वस्त्रोंकी गाँठें ढीली पड़ गयीं॥ ३३॥

तस्मिन् सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णं सभार्य्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः।
नार्य्यो विकीर्य्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन॥ ३४॥

राजपथपर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी भीड़ लग रही थी। ये पुरनारियाँ घरकी अटारियोंपर चढ़ गयीं। वहाँसे उन्होंने श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियोंको देखा। उन स्त्रियोंने भगवान्पर पुष्पोंकी वर्षा की, हृदयसे उनका आलिङ्गन किया और मुसकान भरी चितवनसे उनका स्वागत करती हुईं मन-ही-मन उनसे संभाषण करने लगीं॥ ३४॥

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्य्यमूभिः।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोक कलयोत्सवमातनोति॥ ३५॥

राजपथपर श्रीकृष्णकी महिषियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं, मानो चन्द्रकी सहचरी तारिकाएँ हों। उन रानियोंको देखकर वे परस्पर कहने लगीं कि इन श्रीकृष्णकी पत्नियोंने पूर्व जन्मोंमें न जाने कौन-से महत् एवं पुण्य कर्म किये होंगे जो पुरुषशिरोमणि श्रीकृष्ण अपने उन्मुक्त हास्य एवं विलासपूर्ण कटाक्षोंके द्वारा उनके नेत्रोंको आनन्दमय उत्सव प्रदान करते हैं॥ ३५॥

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः।
चक्रुः सपर्य्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः॥ ३६॥

राजपथपर स्थान-स्थानपर श्रीकृष्णके दर्शनसे निष्पाप हुए धनी-मानी व्यापारियों एवं शिल्पी सम्प्रदायके प्रधान पुरुषों तथा पुरवासियोंने अपने हाथोंमें माङ्गलिक उपहार ला-लाकर भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की और उनका स्वागत-सत्कार किया॥ ३६॥

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम्॥ ३७॥

अन्तःपुरके सदस्य भी आनन्दसे प्रफुल्लित नेत्रों एवं विह्वल हृदयसे आगे बढ़े और मुकुन्द भगवान्‌का प्रेमपूर्वक स्वागत किया। श्रीकृष्ण उनसे मिलकर राजमहलमें पधारे॥ ३७॥

पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रीतात्मोत्थाय पर्य्यङ्कात् सस्नुषा परिषस्वजे॥ ३८॥

महलमें अपने भतीजे त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णको देखकर कुन्तीका हृदय आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। वे अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके साथ पर्यङ्कसे उठकर आगे आयीं और श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया॥ ३८॥

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः॥ ३९॥

राजा युधिष्ठिर देवदेवाधिपति गोविन्दको अपने निजी भवनमें ले आये। आदर-भाव एवं आनन्दके कारण उनका (युधिष्ठिरका) चित्त अभिभूत हो रहा था। वे कुछ निर्णय ही नहीं कर पा रहे थे कि उनकी पूजाका अनुष्ठान किस प्रकारसे किया जाय॥ ३९॥

पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम्।
स्वयञ्च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः॥ ४०॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी बुआ कुन्ती देवी, गुरुजनोंकी पत्नियों एवं अन्यान्य बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम किया। इसके बाद वहाँ खड़ी द्रौपदी एवं बहन सुभद्राने उन्हें प्रणाम किया॥ ४०॥

श्वश्र्वा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्व्वशः।
आनर्च्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा॥ ४१॥
कालिन्दीं मित्रविन्दाञ्च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम्।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः॥ ४२॥

अपनी सास कुन्तीदेवीके आदेशसे द्रौपदीने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, शैब्या, परम साध्वी नाग्नजिती

एवं वहाँ आयीं अन्यान्य श्रीकृष्ण-महिषियोंका वस्त्र, पुष्पहारों एवं रत्नादि आभूषणोंसे यथायोग्य सत्कार किया॥ ४१-४२॥

सुखं निवासयामास धर्म्मराजो जनार्द्दनम्।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्य्यञ्च नवं नवम्॥ ४३॥

धर्मराज युधिष्ठिरने जनार्दन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियों, सेवकों, मन्त्रियों एवं सेनाओंको इन्द्रप्रस्थमें ठहराया और ऐसी व्यव्यस्था की कि उन्हें हर दिन नव-नव आतिथ्य-सुखका आनन्द मिले॥ ४३॥

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता॥ ४४॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमवश्यताके कारण सदा सर्वदा अर्जुनके साथ रहे। भगवान्‌ने उनके द्वारा पहले भी खाण्डव-वनका दाह करवाकर अग्निको सन्तुष्ट कराके मयदानवकी रक्षा करवायी थी। उसी दानवने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाराज युधिष्ठिरके लिए दिव्य सभा बना दी थी॥ ४४॥

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया।
विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीकृष्णस्येन्द्रप्रस्थगमनं नाम एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

परीक्षित्! इन्द्रप्रस्थमें रहते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन एवं अन्यान्य योद्धाओंसे घिरकर रथपर सवार होकर मृगया आदिके लिए यहाँ-वहाँ विहार करते। युधिष्ठिरको आनन्द प्रदान करनेकी अभिलाषासे वे वहीं कुछ महीने ठहर गये।

अतः कथाओंका क्रम इस प्रकारसे है—इन्द्रप्रस्थमें खाण्डव-दाह, अर्जुनको गाण्डीव आदि अस्त्रोंकी प्राप्ति, मृगयाके समय कालिन्दीकी प्राप्ति, वर्षाकालमें चातुर्मास्य वास, वहाँसे द्वारका गमन, कालिन्दी

भद्रादि विवाह, नरक वध इत्यादि बहुत-सी लीलाओंके उपरान्त राजसूय-निमन्त्रण प्रसङ्ग हुआ है॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इकहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

पाण्डवोंके राजसूय यज्ञका आयोजन तथा जरासन्धका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

एकदा तु सभामध्ये आस्थितो मुनिभिर्वृतः।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः॥ १॥
आचार्य्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक बार महाराज युधिष्ठिर सभामें मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, भाइयों, आचार्यों, कुल-वृद्धों, जाति-बन्धुओं, सगे-सम्बन्धियों, श्वसुरालयवालों और कुटुम्बियोंके साथ राजसिंहासन पर बैठे हुए थे। तब वे सभीके समक्ष ही भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधन करते हुए कहने लगे॥ १-२॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो॥ ३॥

श्रीयुधिष्ठिरने कहा—हे गोविन्द! मैं राजसूय नामक उत्तम यज्ञके द्वारा आपकी और आपके लोकपावन अंश-स्वरूप देवताओंकी आराधना करना चाहता हूँ। हे प्रभो! आप कृपा करके मेरा यह सङ्कल्प पूर्ण कीजिये। 'पावनी' अर्थात् देवता (आपके शक्ति-प्रदत्त प्रतिनिधि) यहाँ आपके दर्शन करके पवित्र होंगे। देवताओं एवं राजाओंको कृतार्थ करनेके लिए यह राजसूय यज्ञ है॥ ३॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति।

विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये॥ ४॥

हे पद्मनाभ! आपकी चरण-पादुकाएँ निरन्तर सभी अमङ्गलोंका नाश करनेवाली हैं। जो शरीरसे इनकी सेवा करते हैं, विशुद्ध चित्तसे ध्यान करते हैं और स्तुति-स्तवन द्वारा गान करते हैं, वे भव-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यदि कोई काम्य वस्तुकी अभिलाषासे इनकी सेवा करता है, तो उसे राजचक्रवर्त्तियोंके द्वारा अलभ्य विषयोंकी प्राप्ति हो जाती है और जो इनकी शरण ग्रहण नहीं करते, उन्हें न तो मुक्ति मिलती है और न ही सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति होती है।

हे भगवन्! आपने अपनी अपार कृपा द्वारा हमें आत्मसात् किया है, जिससे हमें आपके चरणकमलोंका दर्शन प्राप्त हो रहा है। इस राजसूययज्ञके लिए हमारा कोई आग्रह नहीं है, परन्तु जो दुष्ट आपको परमेश्वर नहीं मानते—वे लोग मेरे हृदयमें शूल-से चुभते हैं। राजसूययज्ञके छलसे ब्रह्मा, शिवादि सर्वज्ञोंको, चतुःसनादि ब्रह्मचारियोंको, देवतागणोंको एवं चौदह लोकोंके वासियोंको बुलाकरके कोई एक सभा करनी चाहिये, उस सभामें वे सर्वप्रथम पूजाके लिए जिसकी व्यवस्था करेंगे—वे ही आपको साक्षात्‌रूपसे परमेश्वर सिद्ध करेंगे तो मेरे हृदयका शूल निकल जायेगा—मैं बस यही चाहता हूँ। आपकी चरण-पादुकाओंकी जो सर्वक्षण परिचर्या करते हैं, उनके सम्पूर्ण अमङ्गल एवं अविद्या नष्ट हो जाते हैं। आपके दर्शन करनेसे हमारी कोई कामना ही नहीं बची है॥ ४॥

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम्॥ ५॥

हे देवाधिदेव! इस राजसूय यज्ञमें संसारी लोग आपके पादपद्मोंकी सेवाके प्रभावको देखें। कुरुवंश और सृञ्जयवंशमें जो

लोग आपका भजन करते हैं और जो कर्मप्रधान लोग आपकी भक्तिसे विमुख हैं, उनके मोहकी निवृत्तिके लिए आप भक्तोंका उत्कर्ष (सद्गति) और अभक्तोंका अपकर्ष (अधोगति) जनताको दिखलाकर दोनोंके बीचका अन्तर स्पष्ट कर दें॥ ५॥

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्व्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्य्ययोऽत्र॥ ६॥

हे प्रभो! आप निरुपाधिक, सर्वान्तर्यामी, (अनादि कर्म-प्रवाहमें पतित सभीको अपने-अपने कर्ममें प्रेरित करनेवाले) एवं समदर्शी हैं। आप अपने स्वयंके आनन्दानुभवमें तृप्त रहते हैं। आपमें अपना-पराया भेद न रहनेपर भी जो आपकी सेवा करते हैं, उन भक्तोंको सेवाके न्यूनाधिक तारतम्य भेदके अनुरूप फलकी प्राप्ति ठीक वैसे ही हो जाती है, जैसे कल्पतरुकी सेवा करनेवालोंको। इस विषयमें किसी भी प्रकारकी विषमता आपमें दिखायी नहीं देती (अवैषम्य रहनेपर भी अपने भक्तोंके प्रति वात्सल्यके कारण आपका पक्षपातित्व रहता है। अतः उनके अनुकूल एवं प्रतिकूलमें आपका भी आनुकूल्य एवं प्रातिकूल्य हो जाता है)॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच—

सम्यग् व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन।
कल्याणी येन ते कीर्त्तिर्लोकाननुभविष्यति॥ ७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे रिपुविनाशन महाराज! (इस सम्बोधनसे युधिष्ठिरने सर्वराज-विजय-शक्तिका सञ्चार किया है) आपने जो निर्णय लिया है, वह अतीव उत्तम है। इस यज्ञके अनुष्ठानसे आपकी पवित्र कीर्ति समस्त लोकोंमें व्याप्त होगी॥ ७॥

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो।
सर्व्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम्॥ ८॥

हे राजन्! मेरे महिमा-रसका महामेघस्वरूप आपका यह राजसूय नामक महायज्ञ देवताओं, ऋषियों, पितरों, आपके कुटुम्बियों और हमें ही नहीं, समस्त प्राणियोंके लिए वाञ्छनीय है॥ ८॥

विजित्य नृपतीन् सर्व्वान् कृत्वा च जगतीं वशे।
सम्भृत्य सर्व्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम्॥ ९॥

महाराज! आपके लिए सुख-साध्य यही है कि आप पृथ्वीके समस्त राजाओंको पराजित करें एवं सारी पृथ्वीको अपने अधीन करें। अनन्तर यज्ञीय द्रव्योंका संग्रह करके महायज्ञको सम्पन्न करें॥ ९॥

एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः॥ १०॥

हे राजन्! आपके वीर भाई लोकपालोंके (वायु, इन्द्र, अश्विनी कुमारोंके) अंशसे उत्पन्न हुए हैं। आप अपनी जितेन्द्रियताके कारण उन पुरुषोंके लिए दुर्जयस्वरूप हैं, जिनका अपनी इन्द्रियोंपर संयम नहीं है। इसीसे आप मुझे भी वशीभूत करनेमें समर्थ हैं। जो अपने मन एवं इन्द्रियोंका संयम नहीं कर पाते, मैं उन लोगोंके लिए दुर्जय हूँ॥ १०॥

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः॥ ११॥

हे राजन्! इस जगत्में जिनका चित्त मेरे प्रति आसक्त रहता है, उन्हें देवता भी अपने तेज, यश, सौन्दर्य अथवा ऐश्वर्य द्वारा अभिभूत नहीं कर सकते, मनुष्योंकी तो बात ही क्या? (अरे! विपक्षियोंसे अपने पराजयकी आशङ्का भी मत करना)॥ ११॥

श्रीशुक उवाच—

निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः।
भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान्॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार राजा युधिष्ठिर भगवान्के वचनोंको सुनकर अतीव प्रसन्न हो गये और उनका मुख कमलके समान खिल गया। उन्होंने अपने सभी भाइयोंको दिग्विजयके लिए आदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंमें अपनी शक्तिका सञ्चार करके उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया॥ १२॥

सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत् सह सृञ्जयैः।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम्।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः॥ १३॥

उन्होंने सृञ्जयवंशीय वीरोंके साथ सहदेवको दक्षिण दिशामें, मत्स्यदेशीय वीरोंके साथ नकुलको पश्चिम दिशामें, कैकयदेशीय वीरोंके साथ अर्जुनको उत्तर दिशामें, मद्रदेशीय वीरोंके साथ भीमसेनको पूर्व दिशामें विजय-प्राप्तिका आदेश दिया॥ १३॥

ते विजित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते॥ १४॥

हे राजन्! सहदेव आदि वीरोंने अपने-अपने प्रभावसे विभिन्न देशोंके राजाओंको पराजित कर दिया और उनसे बहुत-सा धन संग्रह करके यज्ञ करनेके अभिलाषी अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको दे दिया॥ १४॥

श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह॥ १५॥

दिग्विजयके अन्तमें राजा युधिष्ठिरने जब यह सुना कि जरासन्धको पराजित नहीं किया जा सका है, तो वे उसकी पराजयके लिए उपाय सोचने लगे। सनातन भगवान् श्रीहरिने उन्हें वही उपाय बतलाया, जो उद्धवने बतलाया था॥ १५॥

भीमसेनोऽर्ज्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः॥ १६॥

हे वत्स! इसके बाद भीमसेन, अर्जुन एवं श्रीकृष्ण—ये तीनों ब्राह्मणका वेश धारण करके गिरिव्रजमें पहुँचे, जहाँ बृहद्रथका पुत्र जरासन्ध रहता था॥ १६॥

ते गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम्।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः॥ १७॥

जरासन्ध ब्राह्मण-भक्त, गृहस्थ-धर्मका पालन करनेवाला और कर्त्तव्यनिष्ठ था। ये तीनों राजवंशीय क्षत्रिय ब्राह्मणका वेश बनाकर उसी निश्चित समय पर पहुँचे, जब वह अपने घरमें अतिथियोंका सत्कार करता था। वे तीनों उससे इस प्रकार याचना करने लगे॥ १७॥

राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान्।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे॥ १८॥

(उन तीनोंने कहा—) हे राजन्! आपका कल्याण हो। हम बहुत दूरसे आ रहे हैं और आपके यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए हैं। आप हमें याचक समझ सकते हैं; इसलिए हम जो आपसे माँगना चाहते हैं; उसे हमें अवश्य प्रदान कीजिये। आपका सब प्रकारसे मङ्गल होगा॥ १८॥

किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्य्यमसाधुभिः।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम्॥ १९॥

इस लोकमें जो सहिष्णु हैं, उनके लिए असहनीय कुछ भी नहीं है। समदर्शियोंके लिए पराया कोई नहीं है, दुष्ट व्यक्ति बुरे-से-बुरा क्या नहीं कर सकते और उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते?

अतिशय ममतास्पद पुत्रका विच्छेदरूप दुःख असहनीय होता है, परन्तु देखा जाता है कि विश्वामित्र दशरथसे उनके अति प्रिय पुत्रको माँग ले गये थे। श्रेष्ठ दाताओंके लिए क्या अदेय है—देखिये! दधीचि ऋषिने देवताओंकी प्रार्थनापर अपने शरीरका

दान दे दिया था। आप समदर्शी ज्ञानी हैं, आपमें विषम-दर्शनरूप अज्ञान सम्भव नहीं है॥ १९॥

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम्।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः॥ २०॥

जो सामर्थ्य रहनेपर भी नाशवान् शरीरसे साधुओंके द्वारा कीर्त्तनीय अविनाशी यशका संग्रह नहीं करते, वे जगत्में निन्दनीय एवं शोचनीय ही हुआ करते हैं॥ २०॥

हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः॥ २१॥

हे राजन्! हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उञ्छवृत्ति (फसल कटनेके बाद दाने बीन-बीनकर निर्वाह करनेवाले महात्मा), मुद्गल, शिबि, बलि, व्याध, कपोत इत्यादि अनेकोंने पहले भी इस अनित्य शरीरके द्वारा अविनाशी पदको प्राप्त किया है।

हरिश्चन्द्रने विश्वामित्रका ऋण शोधन करनेके लिए अपनी पत्नी एवं पुत्रको बेच दिया था। उन्होंने चाण्डाल वृत्तिको अपनाया था और अन्तमें बिना किसी खेदके अयोध्यावासियोंके साथ स्वर्ग चले गये थे। रन्तिदेव अपने कुटुम्बके साथ अड़तालीस दिनों तक भूखे-प्यासे रहे थे। अगले दिन जब यत्किञ्चित (जो कुछ भी) प्राप्त हुआ, उसे वे याचकोंको देकर ब्रह्मलोक चले गये थे। उच्छवृत्ति मुद्गल भी छह मासतक अतिथियोंको (दुर्वासादिको) दान करते हुए बड़े कष्टपूर्वक अपने परिवारके साथ रहे और अन्तमें ब्रह्मलोकको चले गये। शिबिराजने शरणागत कपोतकी रक्षा करनेके लिए अपने शरीरका मांस श्येन पक्षीको दिया और स्वर्ग प्राप्त किया। बलि महाराजने विप्र-वेशधारी श्रीहरिको सर्वस्व देकर अपने वशमें कर लिया। कपोतने भी कपोतीके साथ अतिथि व्याधको अपना मांस दिया और विमानपर चढ़कर स्वर्ग चला गया था। व्याध कपोत-कपोतीके सत्त्वगुणको देखकर स्वयं भी विरक्त हो गया था। उसने भी अपने

महाप्रस्थान-कालमें वन-अग्निमें अपनी देहको भस्म करके स्वर्गके लिए आरोहण किया था॥ २१॥

श्रीशुक उवाच—

स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि।
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्व्वानचिन्तयत्॥ २२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा जरासन्ध विचार करने लगा कि उसने इन्हें पहले भी (द्रौपदी-स्वयंवर आदि स्थानोंपर) कहीं-न-कहीं देखा है। अब इनके गम्भीर कण्ठस्वर, सुदृढ़ शारीरिक बनावट और हाथोंमें पड़ी धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़के चिह्नोंको देखकर उसने जान लिया कि ये ब्राह्मण नहीं, बल्कि क्षत्रिय हैं॥ २२॥

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति।
ददानि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम्॥ २३॥

उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि ये क्षत्रिय ही हैं, परन्तु कपटताके कारण इन्होंने ब्राह्मण वेश एवं चिह्नोंको धारण कर रखा है। जब ये भिक्षा माँग रहे हैं, तब ये जो कुछ भी माँगेंगे, जहाँ तक कि दुस्त्यज्य शरीर भी माँगेंगे—मैं इन्हें दे दूँगा॥ २३॥

बलेर्नु श्रूयते कीर्त्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना॥ २४॥
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे।
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्य्यमाणोऽपि दैत्यराट्॥ २५॥

दैत्यराज बलिका विस्तृत विमल यश आज भी दिग्दिगन्तमें सुनायी पड़ता है। वामनावतारमें श्रीहरिने विप्रवेश धारण करके इन्द्रकी राज्यलक्ष्मीके उद्धारके लिए बलिका धन, ऐश्वर्य—सब कुछ छीनकर उन्हें राज्यसे पतित कर दिया। वे जानते थे कि वामनाकृति ब्राह्मण बालकरूपमें विष्णु ही हैं, शुक्राचार्यने भी उन्हें

रोका था, तो भी उन्होंने उन विप्ररूपी विष्णुको पृथ्वीका दान कर दिया॥ २४-२५॥

जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः॥ २६॥

जो इस नश्वर देहसे चहुँ-दिशि-व्यापी विप्र-हितरूप यश अर्जित नहीं करता, जो ब्राह्मणको उसकी मनचाही वस्तु प्रदान नहीं कर सकता, उस अधम क्षत्रियका प्राण धारण करनेसे क्या लाभ?॥ २६॥

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्ज्जुनवृकोदरान्।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः॥ २७॥

परीक्षित्! जरासन्धकी बुद्धि बड़ी उदार थी। उसने इस प्रकार सोच-विचार करके श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनसे कहा—हे ब्राह्मणो! आप लोग अपनी अभीष्ट वस्तु माँग लें, आप यदि मेरा सिर भी माँगेंगे, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ॥ २७॥

श्रीभगवानुवाच—

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्यकाङ्‌क्षिणः॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजेन्द्र! हमलोग अन्नके इच्छुक ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं और युद्धकी अभिलाषासे आपके पास आये हैं। युद्धरूप द्रव्यके अतिरिक्त हमें अन्य किसी वस्तुकी कामना नहीं है। यदि हमारी याचनाको सुसङ्गत मानते हैं, तो हमारे साथ द्वन्द्व-युद्ध करें॥ २८॥

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्ज्जुनो ह्ययम्।
अनयोर्म्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम्॥ २९॥

देखिये, ये कुन्तीपुत्र भीमसेन हैं, यह उनका भाई अर्जुन है और मैं उन दोनोंका ममेरा भाई और आपका चिर-शत्रु कृष्ण हूँ॥ २९॥

एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः॥ ३०॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकारसे परिचय कराये जानेपर राजा जरासन्ध बहुत जोरसे हँसा और असहिष्णु होकर बड़ी उपेक्षासे कहने लगा—रे मूर्खो! यदि तुमलोग युद्ध ही चाहते हो, तो लो, मैं तुम्हें वही देता हूँ॥ ३०॥

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः॥ ३१॥

कृष्ण! तुम तो युद्ध-भीरु हो, रणभूमिसे पीठ दिखाकर भाग जाते हो। मेरे डरसे तुम अपनी मथुरापुरीका त्याग करके समुद्रका आश्रय लेकर जा छिपे, तुम्हारे बलने तुम्हारा बीचमें ही साथ छोड़ दिया। मैं तुम जैसे कायरके साथ युद्ध करना नहीं चाहता॥ ३१॥

अयन्तु वयसातुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः।
अर्ज्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम॥ ३२॥

यह अल्पबलशाली अर्जुन भी मेरी जोड़का योद्धा नहीं है। न तो यह आयुमें मेरे बराबर है और न ही शारीरिक बलमें। अतः युद्ध करनेके लिए मैं इसे सक्षम नहीं मानता। मैं समझता हूँ कि भीमसेन ही मेरे समान बलवान् योद्धा है॥ ३२॥

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम्।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः॥ ३३॥

यह कहकर जरासन्धने भीमसेनको एक बड़ी गदा प्रदान की और स्वयं दूसरी गदा लेकर नगरसे बाहर निकल आया (जरासन्धने भीमके हाथमें विशाल गदा देते हुए कहा—तुम अतिथि हो, तुमें प्रसन्न करना मेरा कर्त्तव्य है, अतएव बड़ी गदा तुम ग्रहण करो—मेरी गदा जैसी-तैसी है—मैं इसीसे युद्ध कर लूँगा। जरासन्धकी उक्तिमें गर्व प्रकाशित हो रहा है)॥ ३३॥

ततः समेखले वीरौ संयुक्ताावितरेतरम्।
जघ्नतुर्व्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्म्मदौ॥ ३४॥

इस प्रकार दोनों रणोन्मत्त वीर मैदानमें आ डटे और एक-दूसरेसे भिड़ गये। वे वज्रके समान सुदृढ़ गदाओंसे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे॥ ३४॥

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः॥ ३५॥

रङ्गक्षेत्रमें जैसे दो नट अपनी युद्ध-कलाका प्रदर्शन करते हों, उसी प्रकार वे दोनों दाएँ-बाएँ पैतरे बदलते हुए मण्डलाकाररूपमें निर्भयतापूर्वक घूम रहे थे। इस प्रकार वहाँ एक अद्भुत एवं भव्य दृश्य उपस्थित हो गया था॥ ३५॥

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः।
गदयोः क्षिप्तयो राजन् दन्तयोरिव दन्तिनोः॥ ३६॥

हे राजन्! रणमत्त दो हाथियोंके दाँतोंकी परस्पर टकराहटसे जिस प्रकार चटचटानेकी ध्वनि उठती है, उसी प्रकार जब ये वीर एक-दूसरे पर गदासे प्रहार करते, तब दोनोंकी गदाओंकी टकराहटसे ऐसी तुमुल ध्वनि उठती, मानो वर्षाके समय बड़े जोरसे बिजली कड़क रही हो॥ ३६॥

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोंऽसकटिपादकरोरुजत्रूम् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः॥ ३७॥

अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए जैसे दो हाथी जब आक-वृक्षकी शाखाओंको तोड़-तोड़कर एक-दूसरेपर प्रहार करते हैं और वे शाखाएँ एक-दूसरेकी चोटसे चकनाचूर हो जाती हैं, उसी प्रकार ये दोनों वीर अपनी भुजाओंके बल एवं वेगसे एक दूसरेपर गदा चला-चलाकर कन्धों, कमरों, पाँवों, हाथों, जाँघों और हसलियोंपर

चोट करने लगे, तब उनकी दोनों ही गदाएँ उनके अङ्गोंसे टकराकर चूर्ण-विचूर्ण होने लगीं॥ ३७॥

इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टाम्।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी-
न्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥ ३८ ॥

गदाओंके नष्ट होनेपर दोनों वीर क्षुब्ध हो गये और बड़े क्रोधके साथ घूसों एवं थप्पड़ोंसे एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। इन प्रहारोंकी मार लोहेके हथौड़ोंकी चोटके समान थी और ध्वनि बिजलीकी कड़कड़ाहट जैसी कर्कश थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो दो हाथी एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे हों॥ ३८॥

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः।
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥ ३९ ॥

हे राजन्! दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियोंके गदा-प्रहार कुशलता, बल एवं उत्साहमें समान थे। युद्ध करते हुए दोनोंमेंसे कोई किसीसे कम नहीं पड़ रहा था। परस्पर प्रहार करते रहनेपर भी किसीकी जीत या हार नहीं हुई। युद्धकी समाप्ति होती दिखायी नहीं देती थी॥ ३९॥

(एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः।
दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः॥
एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः।
न शक्तोहं जरासन्धं निर्ज्जेतुं युधि माधव॥)

शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवितञ्च जराकृतम्।
पार्थमाप्याययन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः॥ ४०॥

(इस प्रकार हे महाराज! उन दोनोंको युद्ध करते हुए सत्ताईस दिन बीत गये। दिनमें वे परस्पर प्रहार करते और रातको मित्रके

समान रहते थे। तब हे राजन्! अट्ठाईसवें दिन वृकोदर भीमने अपने ममेरे भाईसे कहा—माधव! मैं जरासन्धको युद्धमें हरा नहीं सकता।)

भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धके जन्म, मृत्यु एवं जीवन-तत्त्वका रहस्य जानते थे। वे अवगत थे कि किस प्रकार जरा नामक राक्षसीने इसके शरीरके दो टुकड़ोंको जोड़कर इसे जीवन दान दिया है। अतः वे भीमसेनमें अपनी शक्तिका सञ्चार करनेके साथ ही उसके वधका उपाय सोचने लगे॥ ४०॥

सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया॥ ४१॥

परीक्षित्! श्रीकृष्णका ज्ञान अबाध है। अब उन्होंने शत्रुके वधका उपाय भलीभाँति विचार किया और एक वृक्षकी शाखाको बीचमेंसे चीरकर सङ्केतके द्वारा भीमको उपाय बतला दिया॥ ४१॥

तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले॥ ४२॥

वीर-शिरोमणि और परम शक्तिशाली भीमसेनने श्रीकृष्णके सङ्केतका अभिप्राय जानकर जरासन्धके दोनों पैरोंको पकड़कर उसे भूमिपर गिरा दिया॥ ४२॥

एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः॥ ४३॥

इसके बाद भीमसेनने अपने एक पैरसे जरासन्धके एक पैरको दबाया तथा दोनों भुजाओंसे उसका दूसरा पैर पकड़ लिया और उसकी गुदाके भागसे क्रमशः ऊपरकी ओर ऐसे चीर डाला, जैसे मत्त हाथी वृक्षकी शाखाको चीर डालता है॥ ४३॥

एकपादोरुवृषण कटिपृष्ठस्तनांसके।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः॥ ४४॥

प्रजाजनोंने जरासन्धके शरीरको दो खण्डोंमें विभक्त देखा। प्रत्येक खण्डमें एक पैर, जङ्घा, अण्डकोश, कमर, पीठ, स्तन, कन्धा, भुजा, नेत्र, भौंह और कान थे॥ ४४॥

हाहाकारे महानासीन्निहते मगधेश्वरे।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ॥ ४५॥

मगधराज जरासन्धके मर जानेपर उसकी प्रजा एवं बन्धु-बान्धव उच्च स्वरसे हाहाकार करने लगे। इधर श्रीकृष्ण एवं अर्जुनने भीमसेनका आलिङ्गन किया और उनका अभिनन्दन करने लगे॥ ४५॥

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे जरासन्धवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण समस्त मनुष्योंके पालनकर्त्ता हैं। वे अप्रमेय-स्वरूप हैं अर्थात् उनके कार्य एवं विचारोंको कोई समझ नहीं सकता। उन्होंने जरासन्धके पुत्र सहदेवका राजसिंहासनपर मगधके अधिपतिरूपमें अभिषेक कर दिया और बन्दी राजाओंको कारागारसे मुक्त कर दिया॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

जरासन्धके कारागारसे मुक्त राजाओंका प्रस्थान तथा श्रीकृष्णका इन्द्रप्रस्थ प्रत्यावर्त्तन

श्रीशुक उवाच—

अयुते द्वे शतान्यष्टौ निरुद्धा युधि निर्जिताः।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः॥ १॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्॥ २॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्ब्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३॥

पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम्।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाञ्चितम् ॥ ४॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया॥ ५॥

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्द्धभिः पादयोर्हरेः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जरासन्धने युद्धमें पराजित हुए बीस हजार आठ सौ राजाओंको पहाड़की घाटीमें एक किलेके भीतर बन्दी बना रखा था। श्रीकृष्णके द्वारा मुक्त होनेपर जब वे बाहर निकले, तब इन राजाओंके शरीरका वर्ण धूमिल हो गया था, वस्त्र मलिन हो गये, भूखसे पीड़ित होनेके कारण मुख सूख गये थे और दीर्घ-बन्धनके कारण वे बड़े दुर्बल हो गये थे। जैसे ही ये राजागण गिरिव्रज दुर्गसे बाहर आये, तो देखा कि सम्मुख ही श्रीकृष्ण खड़े हैं। वर्षाकालीन मेघके समान उन्होंने श्यामल शरीरपर पीले रङ्गके रेशमी वस्त्र धारण कर रखे

हैं, वक्षःस्थल पर श्रीवत्सका चिह्न है, चार भुजाएँ हैं, कमलकोशके समान रतनारे नेत्र हैं, सुन्दर एवं प्रफुल्ल मुखकमल है, कानोंमें दीप्तिमान् मकराकृति कुण्डल हैं और चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म हैं, मस्तकपर मुकुट विराजमान है, कण्ठमें रत्नजड़ित हार, कौस्तुभ मणि एवं वनमाला सुशोभित हैं, हस्त-कमल सोनेके कङ्गन, सोनेकी करधनी और बाजूबन्दसे विभूषित हैं। सभी राजाओंने सिर झुकाकर भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें प्रणाम किया। वे सभी श्रीकृष्णके दर्शनसे निष्पाप हो गये थे। हे राजन्! वे अपनी दोनों आँखोंसे भगवान्‌को इस प्रकार देखने लगे, मानो उनके सौन्दर्यका पान कर रहे हों, जीभ द्वारा उनके श्रीविग्रहको चाट रहे हों, नासिकासे उनके श्रीअङ्गके सौरभका घ्राणास्वादन कर रहे हों और भुजाओंके द्वारा मानो उनका आलिङ्गन कर रहे हों॥ १-६॥

कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः॥ ७॥

श्रीकृष्णका दर्शनकर उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनके कारागार-बन्धनका सारा कष्ट दूर हो गया। वे हाथ जोड़कर विनम्र वाणीसे हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे॥ ७॥

श्रीराजान ऊचुः—

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्त्तिहराव्यय।
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः॥ ८॥

राजाओंने कहा—हे देवदेवेश! हे शरणागतोंके दुःखोंको हरनेवाले! हे अविनाशी! हम आपको प्रणाम करते हैं। हे श्रीकृष्ण! हमने अति क्लेश पाकर बड़े कष्टपूर्ण हृदयसे आपकी शरण ग्रहण की है। इस घोर सांसारिक बन्धनसे हम निराश हो चुके हैं। हे नाथ! हमारी रक्षा कीजिये॥ ८॥

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो॥ ९॥

हे प्रभो! हम इस मगधराज जरासन्धके ऊपर कोई दोषारोपण नहीं करते। हे मधुसूदन! हमलोग जो राज्यलक्ष्मीसे च्युत (भ्रष्ट) कर दिये गये हैं, वह तो हमपर आपका परम अनुग्रह है॥ ९॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः।
तन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः॥ १०॥

राजा शासन-शक्ति एवं राजैश्वर्यके मदसे मत्त होकर उच्छृङ्खल हो जाते हैं और उन्हें सच्चे सुखकी—कल्याणकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती। वे आपकी मायासे मुग्ध होकर अनित्य राज-सम्पत्तिको ही नित्य एवं अचल मान लेते हैं॥ १०॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम्।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते॥ ११॥

मूर्ख लोग जिस प्रकार मृगतृष्णाके जलको (सूर्यकी किरणोंको) जलाशय मानकर उसीको सत्य निर्धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय-लोलुप और अविवेकी व्यक्ति भी परिवर्तनशील (विकारग्रस्त) मायाको ही सद्वस्तु मान लेते हैं तथा भोगसम्पत्तिरूप दुःखको ही सुख मानते हैं॥ ११॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्म्मदाः॥ १२॥

त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते॥ १३॥

हे प्रभो! पहले हम ऐश्वर्यके कारण मदान्ध हो रहे थे। इतने दुरभिमानी थे कि आप मृत्युरूपमें हमारे सम्मुख सदा उपस्थित रहते हैं, इसका भी तनिक विचार नहीं करते थे। पृथ्वीको जीत

लेनेकी कामनासे एक-दूसरेसे स्पर्धा करते थे। अतिशय निर्दयताके कारण अपनी प्रजाओंपर अत्याचार करते थे। हे श्रीकृष्ण! अब वे हम ही आज राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। कालकी गति गहन, अलक्ष्य एवं दुर्लंघ्य है। इसी कालकी प्रेरणासे हमारे राज्य भ्रष्ट हुए हैं तथा अब आपकी अहैतुकी कृपासे हमारा गर्व चूर-चूर हो गया है। आपसे यही प्रार्थना है कि आपके श्रीचरणकमलोंका स्मरण करते रहें॥ १२-१३॥

अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम्॥ १४॥

हे विभो! यह शरीर रोगोंका निधान है, क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। इस मर्त्त्य शरीरसे भोगे जानावाला यह राज्य भी मरीचिकाके समान मिथ्या है, अब हम इसके लिए लालायित नहीं हैं। हे भगवन्! पुण्य कर्मोंके (अश्वमेधादि यज्ञोंके) फलसे मिलनेवाले पारलौकिक स्वर्गादि सुख भी हमें नहीं चाहिये। ये तो बस सुननेमें ही आकर्षक हैं और कानोंके लिए झूठे बहलावा मात्र हैं (स्वर्गमें स्पर्धा रहती है, वहाँ सुख नहीं रहता)॥ १४॥

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह॥ १५॥

अतः ऐसा उपाय बतलाइये कि सदा-सदा हमारे हृदयोंमें आपके चरणकमलोंकी स्मृति बनी रहे। हमें इस संसारमें किसी भी योनिमें क्यों न भ्रमण करना पड़े, किसी भी कालमें आपकी विस्मृति न हो (वस्तुतः इन राजाओंमें अपनी मुक्तिकी अभिलाषासे भी अधिक कृष्ण-दर्शनकी अभिलाषा है)॥ १५॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥ १६॥

हे प्रभो! आप हमारे जैसे प्रणाम करनेवालोंके भक्ति प्रतिबन्धकोंका (क्लेशोंका) नाश करनेवाले हैं। हे गोविन्द! हे परमात्मस्वरूप (शान्त एवं दास भक्तोंके परम प्रेमास्पद)! हे वासुदेव (समस्त जीवोंके अन्तरमें रहकर भी कृपापूर्वक वसुदेवसे प्रकट होनेवाले)! हे श्रीहरि (दैत्योंके भी संसार-दुःखको हरनेवाले)! हे कृष्ण! हम आपको प्रणाम करते हैं। निज अङ्ग-गन्ध आदि सुख प्रदानके लिए आप हमारे निकट उपस्थित हुए हैं॥ १६॥

श्रीशुक उवाच—

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा॥ १७॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे वत्स परीक्षित्! कारागारसे मुक्त राजाओंने जब निखिलजन-शरण करुणामय भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान्‌ने बड़े मधुर वचनोंसे उन्हें सम्बोधन करते हुए कहा॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच—

अद्य प्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजागण! तुमलोगोंने जैसी प्रार्थना की है, तुम्हें वैसी ही सिद्धि प्राप्त होगी। आजसे समस्त जगत्के अधीश्वर एवं अन्तर्यामीस्वरूप मेरे प्रति तुम्हारी अचला भक्ति होगी। अनन्तर क्रमशः प्रेमाभक्ति, अनुभवयुक्त भक्ति एवं नवनवायमान भक्तिकी वृद्धि होगी॥ १८॥

दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम्॥ १९॥

हे नरपतियो! तुम लोगोंने जो सङ्कल्प किया है, वह अतिशय कल्याणजनक है। तुमने जो कुछ भी कहा है, वह भी अतीव सत्य एवं यथार्थ है। मैं स्वयं देखता हूँ कि आत्म-संयमके

अभावके कारण बहुत-से लोग धन-सम्पत्तिके मदसे उच्छृङ्खल और उन्मत हो जाते हैं॥ १९॥

हैहयो नहुषो वेणो रावणो नरकोऽपरे।
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः॥ २०॥

पहले भी देखा गया है कि कार्त्तवीर्य, नहुष, बेन, रावण, नरकासुर एवं अन्यान्य अनेक देवता, दैत्य एवं राजा अपने धन-ऐश्वर्यसे उत्पन्न गर्वके कारण अपने पदसे भ्रष्ट हुए हैं॥ २०॥

भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत्।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्ष्यथ॥ २१॥

तुमलोग देह और देहसे उत्पन्न पदार्थ मात्रको ही नश्वर जानो। अतः उनमें आसक्त मत होओ। यज्ञोंके द्वारा मेरी आराधना करो। बड़ी सावधानीसे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर धर्मका रक्षण करते हुए प्रजाका पालन करनेके लिए सन्तान उत्पन्न करनेका सङ्कल्प ग्रहण करो, भोगके लिए कदापि नहीं॥ २१॥

सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ।
प्राप्तं प्राप्तञ्च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ॥ २२॥

अपने चित्तको सदा-सर्वदा मुझमें लगाकर पुत्रादि वंश-परम्पराकी रक्षाके लिए, भोगके लिए नहीं, सन्तान उत्पन्न करो। प्रारब्धसे सुख-दुःख, भव-अभव (जन्म-मृत्यु) जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, सबके प्रति समान भाव रखकर अपना जीवन बिताओ॥ २२॥

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ॥ २३॥

इस प्रकार देह एवं देहादिसे सम्बन्धित विषयोंसे उदासीन रहकर एवं आत्मानन्दानुभवमें परितृप्त रहकर अपने नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करो। चित्तको भलीभाँति मेरे प्रति समर्पण कर लेनेपर अन्तमें तुमलोग ब्रह्मरूप मुझे ही प्राप्त होओगे॥ २३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि॥ २४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! त्रिलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंको आदेश देकर उन्हें स्नानादि करानेके लिए बहुत-से पुरुषों और स्त्रियोंको सहदेव द्वारा नियुक्त करा दिया॥ २४॥

सपर्य्यां कारयामास सहदेवेन भारत।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः॥ २५॥

हे भरतकुलनन्दन! तत्पश्चात् श्रीकृष्णने जरासन्धके पुत्र सहदेवके द्वारा राजोचित वस्त्र, अलङ्कार, माल्य एवं चन्दनादि सामग्रियोंसे उन राजाओंका स्वागत करवाया॥ २५॥

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान्।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः॥ २६॥

इसके बाद जब राजाओंने अच्छी तरहसे स्नान करके अलङ्कार धारण कर लिये, तब भगवान्ने उन्हें उत्तम भोज्य पदार्थोंसे युक्त भोजन कराया। अनन्तर राजोचित ताम्बूलादि विविध भोगद्रव्योंके द्वारा सहदेवसे पुनः सत्कार करवाया॥ २६॥

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः॥ २७॥

परीक्षित्! भगवान् मुकुन्दने इस प्रकार उन बन्दी राजाओंको बन्धन-कष्टसे मुक्त किया, सहदेव द्वारा सुमार्जित-सम्मानित करवाया। झिलमिलाते कुण्डल धारणकर ये राजा ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे वर्षाकालकी समाप्ति पर मेघोंसे मुक्त चन्द्र, तारे आदि ग्रह शोभा पाते हैं॥ २७॥

रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान्।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत्॥ २८॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने उन्हें स्वर्ण एवं मणियोंसे विभूषित एवं उत्तम घोड़ोंसे युक्त रथोंपर चढ़ाया और मधुर वचनोंसे उन्हें सन्तुष्ट किया। इसके बाद उन्हें अपने-अपने राज्यमें भेज दिया॥ २८॥

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः॥ २९॥

उदार-शिरोमणि श्रीकृष्णने उन राजाओंको कष्टोंसे मुक्त किया। अब वे अपने-अपने हृदयोंमें जगत्पति श्रीकृष्ण एवं उनकी अद्भुत लीलाओंका चिन्तन करते हुए अपने-अपने राज्यमें चले गये॥ २९॥

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम्।
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः॥ ३०॥

राजाओंने अपने-अपने राज्यमें पहुँचकर मन्त्रियों एवं प्रजाओंको परम-पुरुष श्रीकृष्णकी अद्भुत लीला और कृपाके विषयमें कह सुनाया। इसके बाद उनके आदेशानुसार ही अपने कर्त्तव्योंका सावधानीपूर्वक पालन करने लगे॥ ३०॥

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः॥ ३१॥

राजन्! भीमसेन द्वारा जरासन्धका वध करवाकर और सहदेवके द्वारा सम्मानित होकर भगवान् श्रीकृष्ण भीम एवं अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट गये॥ ३१॥

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदाञ्चासुखावहाः॥ ३२॥

शत्रुजन-दुःखावह, शत्रुविजयी तीनों वीरोंने इन्द्रप्रस्थमें उपस्थित होकर शङ्खनाद किया, जिससे उनके बान्धवोंको हर्ष और शत्रुओंको दुःख हुआ॥ ३२॥

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः॥ ३३॥

शङ्ख-निनादको सुनकर इन्द्रप्रस्थके निवासियोंका चित्त हर्षित हो गया। वे समझ गये कि मगधराज जरासन्ध मर गया है और अब राजा युधिष्ठिरके मनोरथ मानो पूर्ण हो ही गये हैं॥ ३३॥

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम्॥ ३४॥

तत्पश्चात् भीम, अर्जुन और श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको प्रणाम किया और अपने-अपने द्वारा किये गये कार्योंका वर्णन किया॥ ३४॥

निशम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम्।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीराजमोक्षणं नाम त्रिसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७३॥

परीक्षित्! धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णकी अनुकम्पासे सम्पन्न हुए इस सारे वृत्तान्तको सुनकर प्रेमसे भर गये। आनन्दसे उनके आँसू प्रवाहित होने लगे और वे हर्षाधिक्यके कारण कुछ भी नहीं कह पाये॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तिहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

राजसूय यज्ञके आरम्भमें श्रीकृष्णकी अग्र-पूजा एवं शिशुपालका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! धर्मराज युधिष्ठिर जरासन्धके वध एवं सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णके उस अद्भुत प्रभावको सुनकर अति हर्षित हुए और प्रसन्न मनसे भगवान्से कहने लगे॥ १॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्व्वे लोकाः महेश्वराः।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम्॥ २॥

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—हे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण! त्रिलोकीके स्वामी ब्रह्मा और शङ्कर, तीनों लोकोंके गुरु सनकादि, इन्द्रादि लोकपाल तथा समस्त जीव भी आपका आदेश पानेके लिए विकल रहते हैं, यदि यह मिल जाता है तो अपना सौभाग्य मानकर उसे शिरोधार्य करते हैं और ये वचन कहते रहते हैं॥ २॥

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम्।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम्॥ ३॥

हे भूमन्! हे अनन्त! ऐसे सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर, कमललोचन कहाँ आप और कहाँ हम जैसे शासकाभिमानी, परन्तु वास्तवमें अति दीन-हीन। आप हमारे आदेशोंका पालन करते हैं—यह कैसी विडम्बना (विरोधी बात) है! यह मनुष्य-लीलाका आपके लिए अभिनय नहीं तो और क्या है?॥ ३॥

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
कर्म्मभिर्वर्द्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः॥ ४॥

हे देव! उदय तथा अस्त होनेसे जिस प्रकार सूर्यके तेजकी वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होते, उसी प्रकार दूसरोंपर अनुग्रह आदि कर्मोंके द्वारा आपके प्रभावमें भी वृद्धि अथवा ह्रास (क्षय) नहीं होते, क्योंकि आप 'एक' (अन्य कोई ईश्वर न रहनेके कारण) एवं 'अद्वितीय' हैं। अर्थात् आप सजातीय अर्थात् अवतार एवं अवतारी भेदसे रहित तथा विजातीय भेदसे भी रहित हैं, क्योंकि माया शक्ति और जीव शक्ति—दोनों आपकी ही हैं। 'सर्वनियन्ता' (परन्तु भक्तवत्सल) एवं 'ब्रह्मरूप' (सर्वव्यापक होनेके कारण आपका आच्छादन अर्थात् आप सीमा-विशिष्ट नहीं) हैं॥ ४॥

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृती॥ ५॥

हे अजित! हे माधव! 'यह मैं हूँ और यह मेरा है तथा यह तू है और यह तेरा'—दैहिक विषयोंमें इस प्रकारकी विविध भेद-बुद्धि तो पशुओंकी (मूर्खोंकी) होती है। आपके अनन्य-भक्तोंमें ऐसी विकृत भेद-बुद्धि नहीं होती। उनकी बुद्धि तो चिन्मय होती है॥ ५॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार कहकर श्रीकृष्णकी अनुमतिसे यज्ञोचित समय आनेपर यज्ञकर्मोंमें निपुण वेदज्ञ ब्राह्मणोंको होता (ऋत्विज/आचार्य/पुरोहित) के रूपमें वरण कर लिया॥ ६॥

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः॥ ७॥

विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च॥ ८॥
अथर्व्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः॥ ९॥

इस यज्ञमें श्रीव्यासदेव, भारद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, वीतिहोत्र, मधुश्छन्दा, वीरसेन एवं अकृतव्रण—ये सब ऋषि-महर्षि पधारे थे॥ ७-९॥

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः॥ १०॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः।
तत्रेयुः सर्व्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप॥ ११॥

हे राजन्! उस समय निमन्त्रित लोगोंमें पुत्रोंके साथ धृतराष्ट्र, महामति विदुर, द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह एवं कृपाचार्य आदि अन्यान्य अतिथिगण भी वहाँ पधारे। देशके सभी राजा, उनके अधीन मन्त्री, प्रजा तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि भी यज्ञ देखनेके लिए उत्सुक होकर उस स्थानपर उपस्थित हुए॥ १०-११॥

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम्॥ १२॥

इसके बाद वरण किये हुए ऋत्विज ब्राह्मणोंने यज्ञभूमिको सोनेके हलसे जुतवाया और वहीं पर राजा युधिष्ठिरको शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञमें दीक्षित कर दिया॥ १२॥

हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चभवसंयुताः॥ १३॥
सगणाः सिद्धगन्धर्व्वा विद्याधरमहोरगाः।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः॥ १४॥

राजानश्च समाहूता राजन्यश्च सर्वशः।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै।
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः॥ १५॥

प्राचीन कालमें वरुणदेवके राजसूय यज्ञमें जिस प्रकार यज्ञके सभी पात्र सोनेके बने हुए थे, उसी प्रकार महाराज युधिष्ठिरके यज्ञमें भी स्वर्ण-पात्रोंका ही प्रयोग किया गया था। ब्रह्मा, महेश्वर, इन्द्रादि लोकपाल, सपरिवार सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानागगण, मुनिगण, यक्ष राक्षस, खग, किन्नर, चारण, बड़े-बड़े राजाओं एवं राजपत्नियोंको निमन्त्रित किया गया था, अतः वे सभी राजा युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें पधारे। वहाँ अनुष्ठानकी तैयारियाँ देखकर कोई भी किञ्चित् मात्र भी विस्मित नहीं हुआ, क्योंकि कृष्ण-भक्तोंके लिए इस प्रकारका समृद्ध अनुष्ठान युक्ति-सङ्गत एवं सम्भवपर ही है॥ १३-१५॥

अयाजयन् महाराजं याजका देववर्च्चसः।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः॥ १६॥

हे राजन्! पूर्वकालमें देवताओंने जिस प्रकार वरुणदेवके द्वारा यज्ञ करवाया था, उसी प्रकार देवताओंके समान तेजस्वी याजकोंने वैदिक रीतिसे राजा युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ सम्पन्न करवाया॥ १६॥

सूत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन्।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः॥ १७॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिरने सोमाभिसव अर्थात् सोमलतासे रस निकालनवाले दिनपर सुसमाहित चित्तसे सभाके श्रेष्ठ सदस्योंका एवं याजकोंका (ऋत्विकोंका) विधिपूर्वक पूजन किया (वैदिक पद्धतिके अनुसार यज्ञमें भाग लेनेवालोंको सोम नामक लताका रस पिलाया जाता है)॥ १७॥

सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत्॥ १८॥

अब सभा-स्थित सभासद परस्पर यह विचार करने लगे कि सदस्योंमें सबसे पहले किसकी पूजा—अग्रपूजा होनी चाहिये। योग्य पुरुषोंकी बहुलताके कारण किसी एक विशिष्ट व्यक्तिके लिए सर्वसम्मतिसे कोई निर्णय न हो सका। तब सहदेवने इस प्रकार कहा—(सहदेव परिस्थितिके अनुकूल सठीक परामर्श देनेके लिए विख्यात थे)॥ १८॥

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः॥ १९॥

सहदेवने कहा—हे सभासदो! इस सभा-स्थलपर यदुवंश-शिरोमणि (सात्वतपति) अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण ही पूजनीय पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ और अग्रपूजाके पात्र हैं; क्योंकि वे ही सर्वदेवमय हैं और वे ही देश, काल एवं द्रव्यादि स्वरूपोंमें वर्त्तमान हैं॥ १९॥

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः॥ २०॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत्।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ २१॥

हे सभासदो! यह विश्व उनका ही रूप है और उनके ही अधीन है, समस्त यज्ञ जिनकी उपासनाके उपाय स्वरूप हैं तथा अग्नि, आहुति, मन्त्र आदि सब उन्हींके रूप हैं। सांख्य, योग आदि भी एकमात्र उन्हींको लक्ष्य करते हैं। वे ही एक अद्वितीय, स्वप्रतिष्ठ एवं अजन्मा हैं। वे परमेश्वर हैं और अन्तर्यामीरूपमें अपनी मायाशक्तिसे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं॥ २०–२१॥

विविधानीह कर्म्माणि जनयन् यदवेक्षया।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्म्मादिलक्षणम्॥ २२॥

मानव उन्हींकी कृपासे इस जगत्में तप, योग आदि विविध कर्मोंका अनुष्ठान करके धर्म, अर्थ काम एवं मोक्षादि शुभ फलोंको प्राप्त करते हैं॥ २२॥

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्।
एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत्॥ २३॥

अतः पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही अग्रपूजा (श्रेष्ठतमरूपमें पूजा) करना उचित है। ऐसा किये जानेसे समस्त प्राणियोंकी और अपनी भी पूजा हो जाती है॥ २३॥

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता॥ २४॥

जो चाहते हैं कि पूजा-सम्मानरूपी उनके दानका फल अक्षय बना रहे, उन्हें समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, भेदबुद्धिरहित, शान्त एवं अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित श्रीकृष्णको ही उद्देश्य करके दान करना चाहिये। यही विधि सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक है। इस विषयमें यदि किसीका विमत है, तो वह अपना मत स्थापन करे। मैं उसका समाधान करूँगा॥ २४॥

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित्।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः॥ २५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सहदेव श्रीकृष्णके माहात्म्य एवं प्रभावको जानते थे। यह कहकर वे शान्त हो गये। उस समय धर्मराज युधिष्ठिरकी सभामें उपस्थित सभी सज्जनगण एक स्वरसे 'साधु साधु', 'बहुत ठीक' कहकर सहदेवकी बातका समर्थन करके उन्हें धन्यवाद देने लगे॥ २५॥

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम्।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः॥ २६॥

धर्मराज युधिष्ठिरका हृदय समुपस्थित ब्राह्मणोंकी आज्ञा एवं साधु, साधु सुनकर अभिभूत हो गया। उन्होंने समझ लिया कि श्रीकृष्णका अग्रपूजन ही सभासदोंका अभिप्राय है। उन्होंने अति प्रीति एवं प्रणयसे विभोर होकर श्रीकृष्णकी सम्यक् प्रकारसे पूजा की॥ २६॥

तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः।
सभार्य्यः सानुजामात्यः सकुटुम्बो वहन् मुदा॥ २७॥
वासोभिः पीतकौषेयैर्भूषणैश्च महाधनैः।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम्॥ २८॥

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको पखारा और उस त्रिलोकपावन चरणोदकको अतीव हर्षके साथ अपने, अपनी पत्नी, मन्त्रियों एवं कुटुम्बियोंके सिरोंपर छिड़का। युधिष्ठिर जब पीतवर्णके रेशमी वस्त्र एवं महामूल्य आभूषण भगवान्‌को समर्पण कर रहे थे, तब उनकी आँखें आनन्दाश्रुओंसे भर गयीं। वे अपने सेव्य भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति देख भी नहीं पा रहे थे॥ २७-२८॥

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्व्वे प्राञ्जलयो जनाः।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः॥ २९॥

उस समय वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने श्रीकृष्णके इस प्रकारके पूजा-अर्चनको देखकर हाथ जोड़े और 'नमस्कार है, नमस्कार है, जय हो, जय हो' शब्दोंको उच्च स्वरसे कहते हुए सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा स्वयं ही होने लगी॥ २९॥

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी,
संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः॥ ३०॥

इधर सहदेवके द्वारा किये गये श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन सुनकर अपने आसनपर बैठे शिशुपालका चित्त क्षुब्ध हो रहा था। अन्यान्य लोग भी उनकी प्रशंसा कर रहे थे तो वह और भी सहन नहीं कर सका। शिशुपाल भरी सभामें अपने आसनसे उठा और निर्भयतापूर्वक हाथ उठाकर भगवान् श्रीकृष्णको सुना-सुनाकर बड़ी कठोर बातें कहने लगा॥ ३०॥

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते॥ ३१॥

आज यह लोक-प्रवाद वास्तवमें यथार्थ ही सिद्ध हुआ है कि दुर्लंघ्य काल ही समस्त विषयोंका ईश्वर है, क्योंकि आज बालकके वचनोंसे बड़े-बूढ़े ज्ञानियोंकी मति भी भ्रमित हुई है।

शिशुपालने पूजाके आरम्भमें कुछ न कहकर पूजोपरान्त जो कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि यदि मैं इस समय विनत होकर बहुत व्यक्तियोंको साथ लेकर कृष्णके अपूज्यत्वका प्रतिपादन करता हूँ तो मेरी बातको कोई निरस्त नहीं कर पायेगा, परन्तु वे किसी अन्य व्यक्तिकी अग्रपूजाके लिए व्यवस्था कर लेंगे और यज्ञ भी भलीभाँति सम्पन्न हो जायेगा। अतः यज्ञ नष्ट करानेके लिए इस समय मुझे मौन ही रहना पड़ेगा। कृष्णकी पूजा होनेके बाद शास्त्र-वचनोंसे मैं उसका अपूज्यत्व स्थापित करूँगा कि जिस स्थलपर अपूज्योंकी पूजाकी जाती है एवं पूज्योंका व्यतिक्रम किया जाता है, वहाँ मङ्गल कार्योंमें विघ्न आते हैं। तब मेरी बात सुनकर मेरे सङ्गी राजागण, युधिष्ठिरके अन्य भाई-बन्धु, दुर्योधनादि एवं ब्राह्मण (वेद-अविद्) वहाँसे चले जायेंगे। इसके बाद हाहाकार आरम्भ होगा और मेरा मनोरथ पूर्ण होगा॥ ३१॥

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम्।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे॥ ३२॥

हे सभासदो! आप लोग अग्रपूजाके योग्य पात्रका निर्णय करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। अतः "श्रीकृष्ण अग्रपूजाके लिए सर्वोपयुक्त हैं"—बालक सहदेवकी इस बातको ठीक मानकर ग्रहण न करें॥ ३२॥

तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान्।
परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान्॥ ३३॥

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति॥ ३४॥

यहाँ इस सभामें बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान्, तत्त्वज्ञ, निष्पाप, व्रतनिष्ठ, परमर्षि एवं लोकपालोंके द्वारा पूजित सभापति व्यक्ति विराजमान हैं, उनका अतिक्रमण करके किस प्रकार यह कुलको कलङ्कित करनेवाला ग्वाला भला अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है? कौआ क्या देवलभ्य यज्ञके भागका पुरोडाश ग्रहण करनेके योग्य हो सकता है?॥ ३३-३४॥

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः।
स्वैरवर्त्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति॥ ३५॥

न तो यह किसी वर्णका पालन करता दिखायी देता है और न ही किसी आश्रमका। सारे धार्मिक कृत्योंसे यहे बहिष्कृत है और इसका कुल भी ऊँचा नहीं है। कोई भी गुण इसमें दिखायी नहीं देता, यह वेद और लोक-मर्यादाओंका उल्लङ्घन करके स्वेच्छापूर्वक आचरण करनेवाला किस प्रकारसे प्रथमपूजाका पात्र हो सकता है?॥ ३५॥

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम्।
वृथापानरतं शश्वत् सपर्य्यां कथमर्हति॥ ३६॥

आप सभी लोग यह जानते हैं कि राजा ययातिने इसके वंशको शाप दे रखा है और सज्जनोंने भी इस वंशका समाजसे बहिष्कार कर रखा है। विशेषरूपसे ये लोग सदा-सर्वदा ही मधुपानमें आसक्त रहते हैं। अतः यह यदुवंशी श्रीकृष्ण किस प्रकार अग्रपूजा प्राप्त कर सकता है?॥ ३६॥

ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वैतेऽब्रह्मवर्च्चसम्।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः॥ ३७॥

ये यादव ब्रह्मर्षियोंके द्वारा सेवित मथुरा आदि पुण्य भू-भागका परित्याग करके वेद-चर्चासे रहित समुद्रमें दुर्ग बनाकर द्वारकामें

रहने लगे हैं और डाकुओंकी तरह सारी प्रजाको सताते रहते हैं॥ ३७॥

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः।
नोवाच किञ्चिद्भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम्॥ ३८॥

परीक्षित्! शिशुपालका सारा शुभ नष्ट हो गया था। इसीसे वह श्रीकृष्णको लक्ष्य करके दुर्वचन कहता रहा। सिंह जिस प्रकार सियारकी 'हुँआ हुँआ' पर ध्यान नहीं देता, भगवान्ने भी उसकी अनर्गल बातोंका कोई उत्तर नहीं दिया, मौन रहे॥ ३८॥

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा॥ ३९॥

परन्तु सभासद श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकारके निन्दापरक वचन सह न सके। उन्होंने अपने कानोंको ढक लिया और क्रोधपूर्वक चेदि-नरेश शिशुपालकी भर्त्सना की। "हे शिशुपाल! तेरे प्राण निकल जायें!"—यह कहते हुए वे सभासे निकल गये॥ ३९॥

निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्युतः॥ ४०॥

जो लोग भगवान् अथवा तत्परायण भक्तोंकी निन्दा सुनकर उस स्थानसे शीघ्र ही दूर नहीं चले जाते, वे निन्दक व्यक्तिके समान पुण्य-भ्रष्ट एवं नरक-गामी होते हैं॥ ४०॥

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकय-सृञ्जयाः।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः॥ ४१॥

हे राजन्! श्रीकृष्णकी निन्दा सुनकर क्रोधसे भरे हुए पाण्डुपुत्र तथा मत्स्य, कैकय और सृञ्जय आदि वीर शिशुपालको मार डालने लिए अपने अस्त्रोंको लेकर आसनसे उठ खड़े हुए॥ ४१॥

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत॥ ४२॥

हे भरतकुलनन्दन! शिशुपाल वहीं निर्भयतापूर्वक डटा रहा तथा बिना किसी सोच-विचारके सभास्थलपर ही कृष्णपक्षीय राजाओंको ललकारते हुए उसने ढाल-तलवार निकाल ली और युद्धके लिए तैयार हो गया॥ ४२॥

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहार पततो रिपोः॥ ४३॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय आसनसे खड़े हो गये और स्वपक्षीय वीरोंको रोक दिया। क्रोधसे भरे हुए उन्होंने छुरेके समान तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शन चक्रसे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शिशुपालका सिर काट दिया॥ ४३॥

शब्दः कोलाहलोऽथासीच्छिशुपाले हते महान्।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः॥ ४४॥

शिशुपालके मरते ही सभाके बीचमें महा कोलाहल मच गया। उसके समर्थक राजागण अपने जीवनकी रक्षाके लिए सभास्थल छोड़कर इधर-उधर भाग गये॥ ४४॥

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥ ४५॥

आकाशसे टूटा हुआ तारा जिस प्रकार भूमिमें समा जाता है, उसी प्रकार सभी प्राणियोंके सामने ही शिशुपालकी देहसे एक तेजोमयी ज्योति निकली और श्रीकृष्णके विग्रहमें प्रवेश कर गयी।

(शिशुपालकी आत्म-ज्योति ऊपर वैकुण्ठ जाकर और वहाँसे लौटकर श्रीकृष्णके चरणोंमें लीन होकर स्थित रही। वैकुण्ठका पार्षद-शरीर अनश्वर है, इसलिए आकाशसे गिरे उल्काके समान ऐक्य धारण करके वह ज्योति कृष्णमें ही प्रवेश कर गयी। कृष्ण-विग्रहमें प्रवेश करके अपने प्रभु वैकुण्ठनाथके पासमें ही रही। कृष्ण-लीलाके अन्तमें अपने प्रभु वैकुण्ठनाथके साथ ही

प्रभास क्षेत्रसे वैकुण्ठ चली गयी। लोक-प्रसिद्धि है कि राजसूय यज्ञके समय शिशुपाल सायुज्य प्राप्त करके श्रीकृष्णके विग्रहमें ही रहा)॥ ४५॥

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥ ४६॥

परीक्षित्! यह शिशुपाल भगवान्के प्रति तीन जन्मोंसे वैर भाव रख रहा था और अभिवृद्धित विद्वेष-बुद्धिसे ही उनका निरन्तर चिन्तन करता रहता था। इसीसे देहावसानके समय वह भगवान्के साथ तन्मय हो गया—उनका पार्षद हो गया। प्रति क्षण ध्यान करनेसे जीवको ध्येय वस्तुका सारूप्य प्राप्त हो ही जाता है॥ ४६॥

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात्।
सर्व्वान् सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट्॥ ४७॥

हे राजन्! शिशुपालकी सद्गति होनेके बाद चक्रवर्ती-सम्राट् युधिष्ठिरने सभासदों एवं ऋत्विकोंको प्रचुर दक्षिणा दी और सभीकी शास्त्रोक्त रीतिसे पूजा-अर्चना की। तत्पश्चात् दीक्षान्त कर्म अर्थात् प्रायश्चितादि हवनका समापन हुआ और धर्मराज युधिष्ठिरने यज्ञान्त अवभृथ स्नान किया॥ ४७॥

साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः॥ ४८॥

परीक्षित्! इस प्रकार परम योगेश्वर श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न कराया। इसके बाद बन्धु-बान्धवोंकी प्रार्थनासे वे और भी कुछ महीने इन्द्रप्रस्थमें रह गये॥ ४८॥

ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः।
ययौ सभार्य्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः॥ ४९॥

राजा युधिष्ठिरकी इच्छा न रहनेपर भी देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने गमनके विषयमें उनसे किसी भी प्रकारसे

अनुमति ले ली और अपनी पटरानियों एवं मन्त्रियोंके साथ द्वारका पुरीकी यात्रा की॥ ४९॥

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम्।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनःपुनः॥ ५०॥

हे राजन्! वैकुण्ठवासी जय-विजयको विप्र-शापके कारण तीन बार पृथ्वीपर जन्म-ग्रहण करना पड़ा था। इस उपाख्यानको आपको विस्तारपूर्वक मैं पहले ही (सप्तम स्कन्धमें) सुना चुका हूँ॥ ५०॥

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव॥ ५१॥

महाराज युधिष्ठिर राजसूययज्ञ समाप्त करके दीक्षान्त विधिके अनुसार अवभृथ स्नानादि सम्पन्न करके ब्राह्मणों एवं क्षत्रियोंकी सभामें इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो देवताओंकी सभामें साक्षात् देवराज इन्द्र हों॥ ५१॥

राज्ञा सभाजिताः सर्व्वे सुरमानवखेचराः।
कृष्णं क्रतुञ्च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा॥ ५२॥

राजा युधिष्ठिरने देवता, मानव एवं आकाशचारियोंका (शिवजीके साथ रहनेवाले योगी आदिका) भी बड़े सम्मानके साथ सत्कार किया। वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण एवं राजसूययज्ञकी प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे अपने-अपने लोकोंको चले गये॥ ५२॥

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम्।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम्॥ ५३॥

दुर्योधन तो कलिके अंशसे उत्पन्न, धर्म-द्वेषी और कुरुकुल-व्याधि था। वह राजा युधिष्ठिरकी इस समृद्धिको सहन नहीं कर पाया। उसके अतिरिक्त अन्यान्य सभीने श्रीकृष्ण एवं यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ ५३॥

य इदं कीर्त्तयेद्विष्णोः कर्म्म चैद्यवधादिकम्।
राजमोक्षं वितानञ्च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः॥७४॥

परीक्षित्! जो मनुष्य बन्दी राजाओंकी मुक्ति, राजसूययज्ञका अनुष्ठान एवं जरासन्ध, शिशुपाल वध आदि श्रीकृष्णकी लीलाओंका कीर्त्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजसूय यज्ञकी पूर्त्ति और दुर्योधनका अपमान

श्रीराजोवाच—

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम्।
सर्व्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृदेवा ये समागताः॥ १॥

दुर्योधनं वर्ज्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम्॥ २॥

श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे भगवन्! हे ब्रह्मन्! अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें आये देवताओं, ऋषियों एवं राजाओंमें दुर्योधनके अतिरिक्त अन्य सभी परम आनन्दित थे—यह मैंने आपके मुखसे श्रवण किया। आप यह बतलाइये कि दुर्योधनके असन्तोषका कारण क्या था? राजसूय यज्ञके परिशिष्ट भागका भी सिंहावलोकन-न्यायसे वर्णन करें॥ १-२॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः।
बान्धवाः परिचर्य्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः॥ ३॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन्! आपके दादा युधिष्ठिर महात्मा थे। राजसूययज्ञमें उनके प्रेम-बन्धनमें बँधे हुए अनेक बन्धु-बान्धव विभिन्न प्रकारकी सेवा-परिचर्याके लिए नियुक्त थे॥ ३॥

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने॥ ४॥

सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः॥ ५॥

युयुधानो विकर्णश्च हार्द्दिक्यो विदुरादयः।
बाह्लीकपुत्रा भूर्य्याद्या ये च सन्तर्द्दनादयः॥ ६॥

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्म्मसु ते तदा।
प्रवर्त्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः॥ ७॥

भीमसेन पाकशालाकी देखरेखके लिए अध्यक्ष पदपर, दुर्योधन कोषाध्यक्ष पदपर, सहदेव समागत अतिथियोंके स्वागत–सत्कारके लिए, नकुल विविध वस्तुओंके संग्रहके लिए, अर्जुन गुरुजनोंकी सेवा–शुश्रूषाके लिए, श्रीकृष्ण आये हुए अतिथियोंके पाद–प्रक्षालनके लिए (अभिमानी व्यक्ति पाद–द्यौत कार्यमें असमर्थ होते हैं, इसलिए परम करुण कृष्ण इस कार्यमें स्वयं ही नियुक्त हो गये), द्रौपदी परिवेषणके लिए, प्रशस्तचेता कर्ण दान कार्यमें जुट गये। युयुधान, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर आदि महात्मा, भूरिश्रवा आदि बाह्लीकके पुत्रगण, सन्तर्दन आदि अन्यान्य समागत राजा उस महायज्ञके अवसरपर विभिन्न प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त हो गये। हे राजश्रेष्ठ! ये सभी स्वेच्छासे राजा युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिए सेवा–कार्यमें संलग्न थे॥ ४–७॥

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम्॥ ८॥

हे राजन्! चेदिराज शिशुपाल देहान्त होनेपर जब श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रविष्ट हो गया एवं युधिष्ठिरके द्वारा सभी ऋत्विकों, प्रमुख सदसत्पतियों (सभामें सहयोग करनेवाले सदस्यों), बहुशास्त्रज्ञ विद्वानों तथा बान्धवोंका प्रिय एवं मधुर वचनों, बहुमूल्य अलङ्कारों और विविध दक्षिणादिके द्वारा अच्छी प्रकारसे सत्कार हो गया, तब धर्मराज युधिष्ठिर सबके साथ दीक्षान्त स्नानके लिए गङ्गाजी गये॥ ८॥

मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्य्यानकगोमुखाः ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे॥ ९॥

उस स्नान-महोत्सवके समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल (पणव), नौबत (धुन्धुरी), नगारे (आनक) एवं अन्यान्य विचित्र वाद्ययन्त्र बजाये गये॥ ९॥

नर्त्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत्॥ १०॥

नर्त्तकियाँ आनन्दसे भरकर नृत्य करने लगीं और गायक समूह बनाकर गाने लगे। उनकी वीणा, वेणु एवं झाँझ-मञ्जीरेसे उठी तुमुल ध्वनि स्वर्गलोकका स्पर्श करने लगी॥ १०॥

चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्व्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः॥ ११॥

उस समय स्वर्ण हारोंसे विभूषित सारे राजा जब गङ्गाकी ओर जा रहे थे तब चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे युक्त उत्तम हाथियों, रथों एवं अश्वों पर सुसज्जित सिपाही तथा पदचारी सैनिक भी उनके साथ चल रहे थे॥ ११॥

यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोशलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः॥ १२॥

यदु, सृञ्जय, काम्बोज, कुरु, केकय एवं कोशलवंशीय राजागण यजमान धर्मराज युधिष्ठिरको आगे करके अपनी-अपनी सेनाओंके साथ भूमिको कम्पित करते हुए नगरसे बाहर निकल रहे थे॥ १२॥

सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः॥ १३॥

उस समय यज्ञके सदस्य, ऋत्विज आदि उत्तम विप्रगण तुमुल स्वरमें वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए चल रहे थे। देवता, पितर एवं गन्धर्व भी पुष्प-वर्षण करते हुए यशोगान कर रहे थे॥ १३॥

स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः।
विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः॥ १४॥

चन्दनादि गन्ध, पुष्प-मालाओं, आभूषणों एवं सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित इन्द्रप्रस्थके नर-नारी जल, तेल, दूध, मक्खन आदि विविध रसमय द्रव्योंको एक दूसरेपर डालकर भिगो देते तथा एक-दूसरेके शरीरपर मल देते। इस प्रकार वे क्रीड़ा करते हुए चल रहे थे॥ १४॥

तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः॥ १५॥

पुरुष वाराङ्गनाओंको तेल, गोरस (दधि आदि गव्य वस्तुएँ), गोरोचन, सुगन्धित जल, हरिद्रा, गाढ़ कुङ्कुम आदि द्रव्योंसे सराबोर कर देते और वाराङ्गनाएँ भी इन्हीं वस्तुओंसे पुरुषोंके शरीरोंपर लेपन कर देतीं—इस प्रकार वे परस्पर विहार करते हुए चल रहे थे॥ १५॥

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्-
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः॥ १६॥

उस महोत्सवको देखनेके लिए जिस प्रकार देवाङ्गनाएँ आकाश मार्गसे व्योमयानपर चढ़कर आयी थीं, उसी प्रकार इन्द्रप्रस्थकी राजमहिलाएँ भी अङ्गरक्षकोंके द्वारा सुरक्षित होकर सुन्दर-सुन्दर पालकियोंपर विराजित होकर आयी थीं। उस समय उनके पतियोंके ममेरे भाई श्रीकृष्ण और उनके भाई गद, सारण, भीम एवं अर्जुन आदि बन्धु (देवर) भी उन रानियोंको तरह-तरहके गन्धमय जलके सेचन द्वारा अभिषिक्त कर रहे थे, जिससे वे लजाकर मुसकराने लगतीं और उनका मुखकमल प्रफुल्लित हो जाता। श्रीकृष्ण, गद आदिका उनके पतियोंके साथ मातुलेय

(ममेरे) भाईका सम्बन्ध था, अतः देवरोंके साथ हास-परिहास हो रहा था। ऐसा हास-परिहास पतिके भागिनेय (ननदोई) के साथ भी किया जा सकता है॥ १६॥

ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः।
औत्सुक्यमुक्तकबराच्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः॥ १७॥

उन लोगोंके द्वारा रङ्गीन जल आदि डालनेसे रानियोंके वस्त्र गीले हो गये। वस्त्रोंके शरीरसे संलग्न होनेके कारण उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, स्तन, जङ्घाएँ एवं कटि भाग कुछ झलकने लगे। उत्सुकतावश उनके केश-बन्धन ढीले पड़ गये, उनपर बँधी हुई मालाएँ भी गिरने लगीं। वे भी दृति अर्थात् चर्म निर्मित जल-निक्षेप यन्त्रों (पिचकारियों) और पात्रोंमें रङ्ग एवं गन्धोदकादि भर-भरकर अपने देवरों एवं उनके सखाओंपर डालने लगीं। उस अवसरपर उनकी मनोरम अङ्ग-भङ्गिमाके साथ उन्हें इधर-उधर विचरते देखकर कामियोंके (दुर्योधनादिके) चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होने लगा॥ १७॥

स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम्।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव॥ १८॥

चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर उस समय उत्तम अश्वोंसे योजित एवं स्वर्णिम मालाओंसे सुसज्जित रथपर सवार होकर अपनी रानियोंके साथ विराजित होकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो स्वयं यज्ञराज—राजसूययज्ञ अपनी प्रयाज आदि क्रियाओंके साथ मूर्त्तिमान होकर सुशोभित हो रहा हो॥ १८॥

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः।
आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया॥ १९॥

तदनन्तर याज्ञिक विप्रोंने पत्नी-संयाज (यज्ञ विशेष क्रिया) नामक दीक्षान्त कृत्यका अनुष्ठान कराया और बादमें आचमनके

द्वारा शुद्धि करवाकर राजा युधिष्ठिरको महारानी द्रौपदीके साथ गङ्गा-स्नानके लिए कहा॥ १९॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम्।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः॥ २०॥

उस समय मनुष्यों द्वारा बजायी गयी दुन्दुभियोंके साथ देव-दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं। देवता, ऋषि, पितर एवं मानव सभी पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ २०॥

सस्नुस्तत्र ततः सर्व्वे वर्णाश्रमयुता नराः।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात्॥ २१॥

महाराज युधिष्ठिरके स्नान कर लेनेपर सभी वर्णों एवं आश्रमोंसे सम्बन्धित धर्मावलम्बी मनुष्योंने भी स्नान किया। गङ्गा-स्नान करनेसे महापापी भी तत्काल पापोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ २१॥

अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥ २२॥

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिरने नवीन रेशमी धोती एवं उत्तरीय वस्त्र धारण किये और विविध प्रकारके अलङ्कारोंसे अपनेको अलंकृत किया। इसके बाद उन्होंने याजकों, सदस्यों, विद्वान् ब्राह्मणों एवं अतिथियोंको वस्त्र तथा अलङ्कार प्रदान करके सम्मान किया॥ २२॥

बन्धुन् ज्ञातीन् नृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः॥ २३॥

श्रीकृष्ण-परायण महाराज युधिष्ठिर अपने बन्धुओं, कुटुम्बियों, मित्रों, सुहृदों, अन्य राजाओं—सभीका पुनः-पुनः सम्मान किया करते थे॥ २३॥

सर्व्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र-
गुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।

नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः॥ २४॥

वहाँ उपस्थित सभी पुरुष उस समय मणियोंसे जड़े कुण्डल, पुष्पोंके हार, पगड़ी, अङ्गरखा, सुन्दर वस्त्र एवं महामूल्यवान् हार पहनकर देवताओंके समान दिव्य प्रतीत हो रहे थे। स्त्रियोंकी मुख-कान्ति भी कानोंके दोनों कुण्डलों एवं घुँघराली अलकावलियोंसे अति सुशोभित हो रही थी। सोनेकी करधनी पहननेके कारण वे और भी सुन्दर लग रही थीं॥ २४॥

अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः॥ २५॥
देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप॥ २६॥

हे राजन्! तदनन्तर महाराज युधिष्ठिरने परम शीलवान् पुरोहित, महान वेदज्ञ, याजक, सदस्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, देव, ऋषि, पितर, भूत-प्रेत और अपने अनुयायियोंके साथ लोकपाल आदि सभीकी भलीभाँति पूजा की। उसके बाद वे लोग महाराज युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर अपने-अपने स्थानपर चले गये॥ २५-२६॥

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्।
नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा॥ २७॥

हे राजन्! मनुष्य जिस प्रकार अमृतका आस्वादन करके कभी तृप्त नहीं होते, बल्कि अमृत पान करनेकी उनकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार देवता आदि समस्त लोग महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते हुए पूरी तरहसे अघा नहीं रहे थे बल्कि प्रशंसा कर-करके बड़े ही आनन्दित हो रहे थे॥ २७॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
प्रेम्णा निवारयामास कृष्णञ्च त्यागकातरः॥ २८॥

सुहृदोंके चले जानेपर विरह पीड़ाकी कल्पनासे राजा युधिष्ठिरका चित्त विकल हो रहा था, अतः उन्होंने बड़े प्रेमपूर्ण अनुरोधके साथ सुहृद, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धवों एवं श्रीकृष्णको रोक लिया और अपने पास इन्द्रप्रस्थमें ही ठहरा दिया॥ २८॥

भगवानपि तत्राङ्ग न्यवात्सीत् तत्प्रियङ्करः।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम्॥ २९॥

हे वत्स! युधिष्ठिरको आनन्दित करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने साम्ब आदि यदुवीरोंको तो द्वारका भेज दिया और स्वयं इन्द्रप्रस्थमें ही रह गये॥ २९॥

इत्थं राजा धर्म्मसुतो मनोरथमहार्णवम्।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः॥ ३०॥

महाराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी अनुकम्पासे अपने मनोरथरूप विशाल एवं दुस्तर महासमुद्रको भलीभाँति पार कर लिया और उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी॥ ३०॥

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्य्योधनः श्रियम्।
अतप्यद् राजसूयस्य महित्वञ्चाच्युतात्मनः॥ ३१॥

परीक्षित्! एक दिनकी बात है कि अच्युत भगवान् श्रीकृष्णके प्रति आसक्तचित्तवाले राजा युधिष्ठिरकी अन्तःपुरकी समृद्धि एवं राजसूय यज्ञकी महिमाको देखकर दुर्योधनका चित्त ईर्ष्यासे सन्तप्त होने लगा॥ ३१॥

यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
र्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत्॥ ३२॥

इस अन्तःपुरमें विश्वके सर्वश्रेष्ठ कलाकार मय दानवने जो महल बनाये थे, उनमें नरेन्द्र, दानवेन्द्र एवं देवेन्द्रोंकी विविध विभूतियों और श्रेष्ठ सौन्दर्यको स्थान-स्थानपर प्रकटित किया गया

था। महारानी द्रौपदी समस्त ऐश्वर्योंसे अपने पतियोंकी सेवा करती थीं। इस विचित्र ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके हृदयमें बड़ी ईर्ष्या होती थी। एक बात और थी, वह यह कि दुर्योधनका चित्त द्रौपदीमें अत्यासक्त था और यही उसकी जलन एवं सन्तापका प्रधान कारण भी था॥ ३२॥

यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम्
मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम्॥ ३३॥

उस समय उस अन्तःपुरमें भगवान् श्रीकृष्णकी हजारों महिषियाँ निवास कर रही थीं। उनका कटिभाग अति सुरम्य था। उनके गलोंके मोतियोंके सुन्दर हार कुचोंपर लगे कुङ्कुम रागसे रञ्जित होनेके कारण लाल-लाल दिखायी दे रहे थे। चञ्चल कुण्डलों एवं केशोंसे उनका मुखमण्डल अत्यधिक शोभायमान हो रहा था। नितम्बके भारसे वे मन्द गतिसे चला करती थीं, जिसके कारण उनके नूपुरकी मृदु ध्वनिसे उनके चरणोंकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी॥ ३३॥

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा॥ ३४॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः॥ ३५॥

एक बार धर्मपुत्र महाराजाधिराज युधिष्ठिर मय द्वारा बनाये हुए सभा-भवनमें अपने भाइयों, बान्धवों, अनुचरों एवं अपने हिताहित-निर्देशक और नेत्र-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके साथ विराजमान थे। ब्रह्माके समान ऐश्वर्यमयी साम्राज्य-लक्ष्मीसे समन्वित होकर वे स्वर्णसिंहासनपर विराजित इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे थे। बन्दीगण उनकी स्तुति कर रहे थे (श्रीकृष्ण आँखोंके सङ्केतसे

ही युधिष्ठिरादिको हित-अहितका निर्देश कर दिया करते थे)॥ ३४-३५॥

तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा॥ ३६॥

हे राजन्! उसी समय दुःशासन आदि भाइयोंके साथ अभिमानी दुर्योधनने मुकुट एवं हार पहने हुए और हाथमें तलवार लिये द्वारपालोंको तिरस्कृत करते हुए उस सभाभवनमें प्रवेश किया॥ ३६॥

स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत्।
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः॥ ३७॥

वहाँ वह मयदानवकी मायासे रचित कौशलसे विमोहित हो गया। कहीं-कहीं वह स्थलको जल समझकर अपने वस्त्रके प्रान्त (छोर) को उठा लेता और कहीं-कहीं जल भागको स्थल समझकर ज्यों ही आगे बढ़ता, वह उस जलमें गिर पड़ता॥ ३७॥

जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राजा कृष्णानुमोदिताः॥ ३७॥

हे वत्स! उस समय दुर्योधनको गिरता हुआ देखकर भीमसेन, राजरानियाँ, राजा एवं अन्यान्य लोगोंको हँसी आ जाती। राजा युधिष्ठिर उन्हें रोक रहे थे, पर उन्हें सङ्केतसे श्रीकृष्णका अनुमोदन प्राप्त था (श्रीकृष्ण पृथ्वीका भार हरण करनेके इच्छुक थे। कलह-बीजका आरोपण करने हेतु ही भीमादिके लिए उनका अनुमोदन था। मय दानवकी माया तो निमित्तमात्र थी)॥ ३८॥

स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम्।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत्।
बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा॥ ३९॥

इससे राजा दुर्योधनका मुख लज्जासे झुक गया और क्रोधसे उसका चित्त उद्दीप्त हो उठा। वह मौन रहा और सभाभवनसे निकलकर हस्तिनापुर चला गया। उस समय सत्पुरुषोंके मध्यसे खेदको सूचित करनेवाली हाहाकारकी ध्वनि उठी। अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरका चित्त भी दुःखी हो गया। वे अनमने-से (अन्यमनस्क) बैठे रहे, परन्तु जिनके दृष्टिपातसे दुर्योधनको भ्रम हुआ था, पृथ्वीके भार-हरण करनेके इच्छुक वे भगवान् श्रीकृष्ण भी मौन ही रहे॥ ३९॥

एतत् तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे दुर्योधनमानभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

हे राजन्! तुमने मुझसे यह पूछा था कि उस महान राजसूय यज्ञमें दुर्योधनने ईर्ष्यावश दुर्व्यवहार क्यों किया? उसका सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें सुना दिया॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पिचहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

शाल्वके साथ यादवोंका युद्ध

श्रीशुक उवाच—

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनुष्यकी-सी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी उस अद्भुत लीलाको सुनो, किस प्रकारसे उन्होंने सौभ नामक विमानके अधिपति शाल्वका वध किया था॥ १॥

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः।
यदुभिर्निर्जितः सङ्ख्ये जरासन्धादयस्तथा॥ २॥

शाल्व शिशुपालका मित्र था। रुक्मिणी देवीके विवाहके अवसर पर विदर्भ नगरमें जरासन्ध आदि अन्यान्य वीरोंके साथ शाल्व भी शिशुपाल-पक्षसे वहाँ उपस्थित था। उस समय यादव वीरोंने युद्धमें जरासन्ध आदिके साथ शाल्वको भी पराजित कर दिया था॥ २॥

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
अयादवां क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत॥ ३॥

शाल्वने समस्त राजाओंके समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि मैं इस पृथ्वीको यादवोंसे रहित कर दूँगा, आपलोग मेरे बल-पराक्रमको देखना॥ ३॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम्।
आराधयामास नृपः पांशुमुष्टिं सकृद्ग्रसन्॥ ४॥

परीक्षित्! मूर्ख शाल्व यह प्रतिज्ञा करनेके बाद दिनमें केवल एक बार ही एक मुट्ठी धूल फाँककर देवाधिदेव पशुपति महेश्वरकी आराधना करता था॥ ४॥

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः।
वरेण च्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम्॥ ५॥

उमापति भगवान् आशुतोष शङ्करका यह स्वभाव है कि वे अपने आराधकोंकी उपासनासे बहुत ही शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। शाल्वकी आराधनासे प्रसन्न होनेपर भी इस आशङ्कासे कि कृष्ण-विद्वेषीको दिया हुआ वरदान अवश्य ही विफल होगा; उन्होंने उसे शीघ्र दर्शन नहीं दिया। शरणागत शाल्व द्वारा अत्यन्त आग्रह करनेपर अन्ततः उन्होंने एक वर्ष बाद दर्शन दिया और शाल्वसे वर माँगनेके लिए कहा॥ ५॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम्॥ ६॥

तब शाल्वने वर माँगा कि वे उसे ऐसा विमान प्रदान करें, जो उसकी इच्छानुरूप गतिशील हो, यादवोंके लिए अति भयङ्कर हो और असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग एवं राक्षस आदि किसीके भी द्वारा अभेद्य हो (अर्थात् उसे तोड़ा न जा सके)॥ ६॥

तथेति गिरीशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात् सौभमयस्मयम्॥ ७॥

तब महादेवने कहा, 'तथास्तु।' तदनन्तर उन्हींके आदेशसे शत्रुपुर-विजयी मयदानवने लोहेका सौभ नामक विमान बनाकर शाल्वको दे दिया। वह विमान एक नगरके रूपमें था॥ ७॥

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम्।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्॥ ८॥

शाल्व इस स्वेच्छागामी, अन्धकारसे भरे हुए और किसीकी भी पहुँचसे बाहर दुर्धर्ष यानको प्राप्त करके यादवोंके वैर भावको स्मरण करता हुआ द्वारकापर आक्रमण करनेके लिए चल दिया॥ ८॥

निरुद्ध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः॥ ९॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः।
विहारान् स विमानाग्र्ययान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः॥ १०॥
शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः॥ ११॥

हे भरतकुल-प्रवर! वहाँ पहुँचकर शाल्वने अपनी विशाल सेनाके द्वारा द्वारकाको चारों ओरसे घेर लिया और फल-फूलसे लदी हुईं वहाँकी वाटिकाओं एवं उद्यानोंको उजाड़ने लगा तथा पुरद्वारों, फाटकों, प्रासादों अट्टालिकाओं, चारदीवारियों (प्रान्त-भित्तियों) एवं सार्वजनिक मनोरञ्जनके स्थलोंको तोड़-फोड़ने लगा। उसने छिपकर लौह-विमानके अग्रभागसे शस्त्रोंकी बौछार लगा दी। उससे बड़े-बड़े पत्थर, वृक्ष, वज्र, सर्प और ओलोंकी बरसात होने लगी। भयङ्कर बवण्डर उठ खड़ा हुआ, सारी दिशाओंमें धूल-ही-धूल छा गयी॥ ९-११॥

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम्।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही॥ १२॥

हे राजन्! पुराकालमें त्रिपुरासुरने जिस प्रकार पृथ्वीको पीड़ित कर रखा था, उसी प्रकार शाल्वके सौभ विमानने भी द्वारका नगरीको इतना उत्पीड़ित कर दिया था कि वहाँके निवासियोंको क्षणभरके लिए कहीं भी शान्ति नहीं मिल रही थी॥ १२॥

प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः।
मा भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः॥ १३॥

महायशस्वी वीरवर प्रद्युम्नने अपनी प्रजाको इस प्रकार उत्पीड़ित देखकर कहा 'डरो मत' (तुमलोग रुको, मैं शाल्वको मारकर अभी यहाँ आता हूँ) और रथपर सवार होकर शाल्वके विमानकी ओर चल पड़े॥ १३॥

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ॥ १४॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः॥ १५॥

उस समय सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, छोटे भाइयोंके साथ अक्रूर, हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, सारण एवं अन्यान्य धनुर्धारी प्रधान-प्रधान यादव-वीर रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल आदि चतुरङ्गिणी सैन्य मण्डलसे संरक्षित होकर तथा कवच आदि धारण करके उनके पीछे-पीछे चल दिये॥ १४-१५॥

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम्॥ १६॥

तब जैसे पुराकालमें देवताओंके साथ दानवोंका घमासान युद्ध हुआ था, उसी प्रकार यादवोंके साथ शाल्वपक्षीय वीरोंका रोमाञ्चित कर देनेवाला घमासान युद्ध आरम्भ हुआ॥ १६॥

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः॥ १७॥

सूर्यदेव जिस प्रकार प्रातःकाल होनेपर क्षणमात्रमें ही रात्रिकालीन अन्धकारको क्षणभरमें ही नष्ट कर डालते हैं, उसी प्रकार प्रद्युम्नने भी दिव्यास्त्रोंके द्वारा शाल्वकी सम्पूर्ण सेनाका क्षणकालमें ही संहार कर डाला॥ १७॥

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः॥ १८॥
शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान्।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः॥ १९॥

प्रद्युम्नके बाणोंमें सोनेके पंख (पुच्छले) लगे थे, फल (बाणका अग्रभाग) लोहेसे बना था तथा समतल भाग गाँठोंसे युक्त था। उन्होंने पच्चीस बाणोंसे शाल्वके प्रधान सेनापति

द्युमान्‌को घायल कर दिया और सौ बाणोंसे शाल्वपर प्रहार किया। इसके बाद एक-एक बाणसे प्रत्येक सैनिकपर, दस-दस बाणोंसे प्रत्येक सारथिपर एवं तीन-तीन बाणोंसे उनके वाहनोंपर प्रहार किया॥ १८-१९॥

तदद्भुतं महत् कर्म्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः॥ २०॥

महात्मा प्रद्युम्नके इस प्रकारके अतिशय अद्भुत और महान कार्यको देखकर स्वपक्ष और परपक्षके समस्त वीर हृदयसे उनकी प्रशंसा करने लगे॥ २०॥

बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत्॥ २१॥

मय दानव द्वारा रचित मायामय वह सौभ विमान कभी तो बहुत-से रूपोंको प्रकट करता और कभी एक रूप धारण कर लेता। कभी दिखायी देता तो कभी अदृश्य होकर यादवोंको कहीं भी दिखायी नहीं देता। यादवगण निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि वह है कहाँ?॥ २१॥

क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित्।
अलातचक्रवद्भ्राम्यत् सौभं तद् दुरवस्थितम्॥ २२॥

शाल्व इस सौभ विमानको एक क्षणमें भूमिपर तो दूसरे ही क्षण आकाशमें ले जाता, कभी पर्वतके शिखरोंके ऊपर पहुँचा देता तो कभी जलमें तैराता। कभी उसे अलातचक्रकी भाँति (प्रज्वलित काष्ठ यन्त्रके समान) घुमाता। एक क्षणके लिए भी वह उस विमानको कहीं भी स्थिर नहीं करता था॥ २२॥

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् सात्वतयूथपाः॥ २३॥

यादव-वीर जिस समय, जिस स्थानपर सौभ एवं सैनिकोंके साथ शाल्वको देखते; वे उसी समय, उस स्थानपर, उसे लक्ष्यकर बाणोंकी वर्षा करने लगते॥ २३॥

शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः॥ २४॥

शाल्व-शत्रु यदुओंके बाण विषैले सर्पके विषके समान असह्य एवं सूर्य तथा अग्निके संस्पर्शके समान तेजस्वी थे, जिनसे सौभ और शाल्व-सेना उत्पीड़ित हो रही थी और स्वयं शाल्व भी मूर्च्छित हो गया था॥ २४॥

शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः॥ २५॥

वृष्णिवंशी यादव वीर ऐहिक-पारलौकिक दोनों लोकोंकी विजयके अभिलाषी थे। यही कारण था कि शाल्वके सेनापतियों द्वारा चलाये गये हथियारोंकी वर्षासे पीड़ित होनेपर भी रणभूमिमें उन्होंने अपने-अपने नियत स्थानोंका परित्याग नहीं किया॥ २५॥

शाल्वामात्यो द्युमान् नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः।
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली॥ २६॥

परीक्षित्! शाल्वका द्युमान् नामक एक महाबलशाली मन्त्री था, जिसे पहले प्रद्युम्नजीने पच्चीस बाण मारकर घायल कर दिया था। वह स्वयं प्रद्युम्नजीके सम्मुख आया और कृष्ण-लौहसे (फौलादसे) बनी गदासे उनपर प्रहार करके जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा॥ २६॥

प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थलमरिन्दमम्।
अपोवाह रणात् सूतो धर्म्मविद्दारुकात्मजः॥ २७॥

इस गदाघातसे रिपुदमन प्रद्युम्नका वक्षःस्थल विदीर्ण-सा हो गया। उनका सारथि था दारुक-पुत्र, जो बड़ा धर्मज्ञ था, वह रथ चलाते हुए अपने स्वामीको युद्धक्षेत्रसे हटाकर अन्यत्र ले गया।

(चिदानन्दमय प्रद्युम्नके वक्षःस्थलका प्राकृत द्युमान्के गदाघात द्वारा शीर्ण होना सम्भव नहीं है। यह तो लीला-शक्ति द्वारा युद्धमें उसके उत्साह-रस-वर्द्धनके लिए आवेगका उत्पादन मात्र है। यह

भी परिलक्षित होता है कि दारुक-पुत्र प्रद्युम्नके प्रति महास्नेहवान् है)॥ २७॥

लब्धसंज्ञो मुहूर्त्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत्।
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम्॥ २८॥

क्षणकालमें ही प्रद्युम्नको चेतना प्राप्त हो गयी। वे सारथिसे कहने लगे—हे सूत! तूने यह बहुत अनुचित किया। तू रणक्षेत्रसे मुझे इस प्रकार क्यों हटा लाया? यह तो मेरा पलायन हुआ न॥ २८॥

न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः।
विना मत् क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात्॥ २९॥

सूत! तू कायर है, नपुंसक है। आज तेरे दुर्बल-चित्तके कारण मेरी ख्याति कलङ्कित हो गयी। मैं पापग्रस्त हो गया हूँ, अन्यथा यदुकुलमें उत्पन्न अन्य किसीका भी युद्धका इस प्रकारसे परित्याग (पलायन) सुनायी नहीं देता॥ २९॥

किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ।
युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम्॥ ३०॥

तू बतला तो सही, अब अपने ताऊ बलरामजी और पिता श्रीकृष्णके समक्ष जाकर क्या कहूँगा? उनके प्रश्नोंका उत्तर मैं किस प्रकार दूँगा? सभी लोग कहेंगे कि मैं युद्धसे पलायन कर आया। अपनी प्रतिष्ठाके अनुरूप कहनेके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं॥ ३०॥

व्यक्तं मे कथयिषन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे॥ ३१॥

मेरी भाभियाँ निश्चय ही मुझपर हँसेंगी और मुझसे कहेंगी—हे वीर! कहो—शत्रुसे युद्ध करते हुए युद्धभूमिसे भाग कैसे आये? जरा बतलाओ तो! तुम तो ऐसे कायर कभी न थे! तुममें दुर्बलता कैसे उत्पन्न हो गयी? मूढ़! तुझे धिक्कार है। सूत! तू मुझे जानता ही नहीं॥ ३१॥

सारथिरुवाच—

धर्मं विजानतायुष्मन् कृतमेतन्मया विभो।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी॥ ३२॥

सारथिने कहा—हे आयुष्मान्! हे स्वामी! विपत्ति आनेपर सारथि रथीकी एवं रथी भी विपदग्रस्त होनेपर सारथिकी रक्षा करते हैं—यह नियम जाननेके कारण ही मैंने यह धर्म-संस्तुत कार्य किया है॥ ३२॥

एतद्विदित्वा तु भवान् मयापोवाहितो रणात्।
उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे शाल्वयुद्धं नाम षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

आप युद्धस्थलपर शत्रुके गदाघातसे मूर्च्छित हो गये थे, अतः सारथि-धर्मको समझते हुए आपको युद्धसे हटाकर यहाँ ले आया॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छिहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शाल्वका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

स उपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्म्मुकः।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसके बाद क्षात्र-धर्म प्रवीण प्रद्युम्नजीने जलमें स्नान किया और युद्ध-विच्युतिरूप विपत्ति परिहारके लिए आचमनपूर्वक कवच धारण कर लिया। धनुष हाथमें लेकर उन्होंने सारथिसे कहा—हे सूत! तू युद्धके लिए वीर द्युमान्‌के समीप मुझे पुनः ले चल॥ १॥

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन्॥ २॥

सारथि उन्हें वहाँ ले आया। द्युमान् यदु-सैनिकोंको विध्वंस किये जा रहा था। रुक्मिणी-सुत प्रद्युम्न उसपर उलटकर वार करने लगे। उन्होंने हँसते हुए उससे कहा 'जितनी सामर्थ्य है, प्रहार कर' और यह कहकर आठ नाराच (लोहेके बने) बाणोंके प्रहारसे उसे घायल कर दिया॥ २॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत्।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुञ्च शरेणान्येन वै शिरः॥ ३॥

इन बाणोंमेंसे उन्होंने चार बाणोंसे उसके चार घोड़ोंको, एक बाणसे उसके सारथिको, दो बाणोंसे उसके धनुष एवं पताकाको छिन्न कर दिया और एक अन्य बाणसे द्युमान्‌के मस्तकपर प्रहार किया॥ ३॥

गदसात्यकि साम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम्।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः॥ ४॥

इधर गद, सात्यकि, साम्ब आदि यादव वीर भी शाल्वकी सेनाका संहार करने लगे। सौभ विमानमें स्थित वीरोंकी गर्दनें कटने लगीं और वे इसी स्थितिमें समुद्रमें गिरने लगे॥ ४॥

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम्।
युद्धं त्रिनवरात्रं तदभूत् तुमुलमुल्बणम्॥ ५॥

यदुवंशी वीर और शाल्व सैनिक एक-दूसरे पर प्रहार करते रहे। यह घनघोर एवं तुमुल (भयानक) युद्ध सत्ताईस दिन और रात तक चलता रहा॥ ५॥

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना।
राजसूयेऽथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते॥ ६॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम्।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ॥ ७॥

उन दिनों धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आमन्त्रणपर श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। राजसूय यज्ञ सम्पन्न हो चुका था और शिशुपालका निधन भी हो चुका था। वहाँ श्रीकृष्णको अति घोर अपशकुन दिखायी देने लगे। अतः उन्होंने कुरुवंशी बड़े-बूढ़ों, ऋषि-मुनियों, बुआ कुन्ती एवं उनके पुत्रोंसे अनुमति ली और द्वारका लौट आये॥ ६-७॥

आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम॥ ८॥

मार्गमें वे मन-ही-मन विचार करने लगे—मैं बड़े भइया पूज्य बलरामजीके साथ इन्द्रप्रस्थ आ गया। शिशुपालपक्षीय क्षत्रिय मेरी इस अनुपस्थितिका लाभ उठाकर हमारी पुरीका निश्चय ही विनाश कर रहे होंगे॥ ८॥

वीक्ष्य तत् कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम्।
सौभञ्च शाल्वराजञ्च दारुकं प्राह केशवः॥ ९॥

द्वारका पहुँचकर भगवान् केशवने स्वजनोंका ऐसा उत्पीड़न देखा, तो पुरीकी रक्षाके लिए उन्होंने बलदेवको नियुक्त कर दिया तथा अन्तःपुर-स्थित सभी पट्टमहिषियोंको विशिष्ट सैनिकों द्वारा गुप्त पथसे द्वारकाके भीतर सुरक्षित स्थानोंपर प्रवेश करा दिया। अनन्तर सौभ-यान एवं शाल्वको देखकर दारुकको इस प्रकार आदेश दिया— ॥ ९ ॥

रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै।
सम्भ्रमस्ते न कर्त्तव्यो मायावी सौभराडयम्॥ १०॥

दारुक! तुम शीघ्र ही मेरे रथको शाल्वके समीप ले चलो। यह सौभपति शाल्व बड़ा मायावी है, पर तुम विचलित मत होना॥ १० ॥

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम्॥ ११॥

भगवान्का आदेश पाकर दारुक रथपर सवार हो गया और उसे शाल्वकी ओर ले चला। जैसे ही यह रथ रणक्षेत्रमें प्रविष्ट हुआ, ध्वजाके अग्रभागपर अङ्कित अरुण-अनुज-गरुड-चिह्नको देखते ही यदुवंशी एवं शाल्व सैनिक—दोनोंने ही पहचान लिया कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं॥ ११ ॥

शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः।
प्राहरत् कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे॥ १२॥

अब तक शाल्वकी सेना प्रायः नष्ट हो चुकी थी। शत्रुसेनाके अधीश्वर शाल्वने श्रीकृष्णको युद्धक्षेत्रमें उपस्थित देखते ही दारुकको लक्ष्य करके एक महाशक्ति छोड़ी। यह शक्ति भयङ्कर ध्वनि करती हुई तीव्रतापूर्वक चली॥ १२ ॥

तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत्॥ १३॥

शौरि भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि यह शक्ति दिशाओंको उल्काके समान प्रकाशित करती हुई आकाश-मार्गसे वेगपूर्वक चली आ रही है, तो उन्होंने बाणोंके प्रहारसे उसे सैकड़ों भागोंमें खण्ड-खण्ड कर दिया॥ १३॥

तञ्च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभञ्च खे भ्रमत्।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः॥ १४॥

इसके बाद भगवान्ने सोलह बाणोंसे शाल्वपर प्रहार किया। तत्पश्चात् आकाशमें इधर-उधर घूमते हुए सौभको बाणोंकी मुसलाधार वर्षासे इस प्रकार भेद डाला, जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियोंसे आकाशको भेद देते हैं। (प्रस्तुत स्थलपर श्यामवर्ण एवं शीघ्रगति सौभविमानकी उपमा आकाश एवं सूर्यके साथ, असंख्य शरोंकी उपमा ताप-दानकारी सूर्यकी रश्मियोंके साथ एवं कृष्णकी उपमा सर्वतेजपराभवकारी सूर्यके साथ दी गयी है)॥ १४॥

शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत् तदद्भुतम्॥ १५॥

तभी शाल्वने शार्ङ्गधनुषधारी श्रीकृष्णकी बायीं भुजामें इस प्रकारसे बाण मारा कि उनके हाथसे शार्ङ्ग धनुष गिर पड़ा और यह एक अद्भुत घटना घट गयी॥ १५॥

हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम्।
निनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम्॥ १६॥

युद्धदर्शी देवता एवं सभी प्राणी तुमुल ध्वनिसे हाहाकार करने लगे। सौभपति शाल्व उच्च स्वरसे गर्जना करता हुआ श्रीकृष्णको लक्ष्य करके इस प्रकार कहने लगा—॥ १६॥

यत् त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम्।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा॥ १७॥

तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम्।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः॥ १८॥

शाल्वने कहा—रे मूढ़! तूने देखते-देखते ही मेरे मित्र एवं अपनी बुआके पुत्र अपने भाई शिशुपालकी होनेवाली भार्याका अपहरण कर लिया और राजसूय सभामें जब वह असावधान था, तूने उसे मार डाला। मैं देखता हूँ, आज मेरे सम्मुख तू कितनी देर ठहरता है। अपनेको अपराजेय माननेवाले अभिमानी! अब मैं तीखे बाणोंके प्रहारसे तुझे उस यमालयमें भेज रहा हूँ, जहाँसे लौटना सम्भव नहीं॥ १७-१८॥

श्रीभगवानुवाच—

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम्।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे मूर्ख! तू व्यर्थ ही आत्म-प्रशंसा किये जा रहा है, तेरे सिरपर सवार मृत्यु तुझे दिखायी नहीं दे रही। वीर अपनी वीरता दिखाते हैं, कभी भी वाचालता (बकवाद) का प्रकाशन नहीं करते॥ १९॥

इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक्॥ २०॥

भगवान्ने इस प्रकार कहकर क्रोधपूर्वक अपनी भयङ्कर एवं वेगवती गदासे शाल्वके कन्धे एवं वक्षःस्थलके सन्धि-देशपर (हँसलीपर) प्रहार किया, जिससे वह रक्त उगलता हुआ काँपने लगा॥ २०॥

गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत।
ततो मुहूर्त्ते आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम्।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन्॥ २१॥

इधर जब गदा भगवान् अच्युतके पास लौट आयी, तब शाल्व अन्तर्हित हो गया। एक क्षण बाद ही कोई एक पुरुष वहाँ आया। उसने नतमस्तक होकर श्रीकृष्णको प्रणाम किया और कहा—“मुझे देवकीजीने भेजा है।” वह रोते हुए और भी कहने लगा— ॥ २१॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः॥ २२॥

हे श्रीकृष्ण! हे श्रीकृष्ण! हे पितृवत्सल! हे महाबाहो! कसाई जिस प्रकार किसी पशुको बाँधकर ले जाता है, उसी प्रकार शाल्व भी तुम्हारे पिताको बाँधकर ले गया है॥ २२॥

निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः।
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा॥ २३॥

यह अशुभ समाचार सुनते ही श्रीकृष्णका हृदय दुःखी हो गया। वे मनुष्य-स्वभावका आश्रय लेते हुए करुणा एवं खेद व्यक्त करने लगे तथा पितृ-स्नेहके वशीभूत हो प्राकृत जीवके समान कहने लगे॥ २३॥

कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः॥ २४॥

अहो! वास्तवमें दैव बड़ा बलवान है, अन्यथा अल्प बल-पौरुष वाला यह शाल्व देव और असुरोंके लिए अजेय एवं सदा-सर्वदा सजग रहनेवाले बलदेव भइयाको पराजित करके पिताजीको किस प्रकार हर लाता?॥ २४॥

इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः॥ २५॥

जब भगवान् गोविन्द इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उसी समय सौभपति शाल्व वसुदेवके समान मायारचित एक मूर्त्तिको ले आया और इस प्रकार कहने लगा—॥ २५॥

एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत् पाहि बालिश॥ २६॥

शाल्वने कहा—रे मूर्ख! तूने जिसके अनुग्रहसे इस पृथ्वीपर शरीर धारण किया है, वह यही तेरा पिता वसुदेव है और जिसके

लिए तू जी रहा है, मैं तेरे समक्ष ही इसका वध कर रहा हूँ, तुझमें सामर्थ्य है, तो इसकी रक्षा कर॥ २६॥

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत्॥ २७॥

मायावी शाल्वने श्रीकृष्णकी भर्त्सना करते हुए तलवारसे वसुदेवका सिर काट दिया और उसे लेकर आकाश-स्थित सौभयानमें प्रवेश कर गया॥ २७॥

ततो मुहूर्त्तं प्रकृतावुपप्लुतः
स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः।
महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं
मायां स शाल्वप्रसृतो मयोदिताम्॥ २८॥

महाप्रभावशाली श्रीकृष्ण स्वतःसिद्ध ज्ञानसे परिपूर्ण एवं अनुभवकी असीम शक्तिसे सम्पन्न हैं। तब भी वे स्वजन स्नेहके वशीभूत हो क्षण भरके लिए मनुष्योचित मोहसे ग्रस्त-से हो गये। पल भरके बाद ही वे समझ गये कि यह तो मय दानव द्वारा बतलायी हुई एवं शाल्व द्वारा विस्तारित माया है॥ २८॥

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः॥ २९॥

स्वप्नसे जागा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंको पुनः नहीं देखता, उसी प्रकार प्रबुद्ध भगवान् श्रीकृष्णको भी युद्धक्षेत्रमें न तो दूत और न ही पिताका शरीर—कुछ भी दिखायी नहीं दिया। अब तो वे सौभ विमानमें स्थित आकाशचारी शाल्वको देखकर उसका वध करनेके लिए उद्यत हो गये॥ २९॥

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत॥ ३०॥

हे राजर्षे! इस स्थलपर श्रीकृष्णके मोह आदि असम्भव वृत्तान्तरूप जिस अंशका वर्णन किया गया है, वह पूर्वापरका विचार न करनेवाले किसी-किसी ऋषिके मतको आधार बनाकर कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा कहना उन्हींके वचनोंके विपरीत है—यह बात वे भूल जाते हैं।

[जैसा कि पहले बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण सङ्कर्षणकी आज्ञा लेकर स्वयं इन्द्रप्रस्थ चले गये थे और यहाँ पर वर्णित अंशको देखा जाय तो जिन श्रीकृष्णने अपशकुनोंको देखकर द्वारका आते समय विचार किया था—मैं पूजनीय बलदेवके साथ इन्द्रप्रस्थ चला आया, शत्रु निश्चय ही इस अवसरपर मेरी पुरीको विनष्ट कर रहे होंगे। अतः पहले ग्रन्थमें (वाक्यमें) श्रीकृष्णका एकाकी गमनका वर्णन हुआ और इस अंशमें बलदेवके साथ गमन इत्यादि जो मनोकल्पित वर्णित हुआ, वह विरुद्ध होनेके कारण असत्य ही माना जायेगा। अतः यह विचार शुकदेव-सम्मत नहीं हैं। सुर एवं असुरों द्वारा अजेय कृष्णके विषयमें प्राकृत वृत्तियाँ किस प्रकार सम्भव हो सकती हैं? शाल्वकी माया द्वारा कृष्णका मोह सम्भव नहीं है, न ही उसके भयसे शार्ङ्ग धनुषका गिरना सम्भव है। कभी-कभी कोई-कोई वैशम्पायनादि ऋषि मायामलिन चित्तवाने लोगोंके अनुरूप कोई बात कह देते हैं। जिन्हें वे पहले भगवान् कहते हैं, अपने ही वचनोंको भूलकर श्रीकृष्णके शोक-मोहका वर्णन करने लगते हैं]॥ ३०॥

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः॥ ३१॥

कहाँ अज्ञानियोंमें रहनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय आदि तथा कहाँ अखण्ड ज्ञान, अखण्ड विज्ञान और अखण्ड ऐश्वर्यशाली पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण! भला उनमें शोकादि भावोंकी सम्भावना ही कहाँ है?

(शोक दो प्रकारके होते हैं—अज्ञजात एवं विज्ञजात। अज्ञ अर्थात् असर्वज्ञजन, वे अविद्या-अधीन होनेके कारण भौतिक शोक, मोहादिसे ग्रस्त रहते हैं, जब कि विज्ञ अर्थात् मायातीतजन—इनके शोक, मोहादि चिन्मय होते हैं। भगवान्के चरणकमलोंके सेवनसे आत्मविद्या प्राप्त महापुरुषों एवं सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्में अविद्या-जनित दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है। अखिलरसामृत-स्वरूप भगवान्में ये सभी सञ्चारीभाव रसके अङ्गरूपमें रहते हैं)॥ ३१॥

यत्पादसेवोर्ज्जितयात्मविद्यया,
हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं,
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः॥ ३२॥

विशेषरूपसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एवं विशुद्ध सन्त जिनके चरणकमलोंके सेवनसे संवर्द्धनशील आत्मज्ञानके द्वारा अनादि कालसे ही देहादिमें आत्मबुद्धिरूप अज्ञानको (आत्म-विपर्ययको) निरस्त कर डालते हैं तथा भगवद्-दास्यरूप नित्य-स्वरूपको प्राप्त करते हैं, उन विशुद्ध सन्तोंके गति-स्वरूप (शरण्य-स्वरूप) श्रीकृष्णमें मोह किस प्रकारसे सम्भव है?॥ ३२॥

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः।
विद्ध्वाच्छिनद्वर्म्म धनुः शिरोमणिं
सौभञ्च शत्रोर्गदया रुरोज ह॥ ३३॥

शाल्व बड़े उत्साह और वेगसे बाणोंकी वर्षासे यादव सैनिकोंका उत्पीड़न कर रहा था। अमोघ-पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णने भी बाणोंसे शाल्वपर प्रहार करके उसे घायल कर दिया और उसके कवच, धनुष एवं शिरोमणिको छिन्न-भिन्न कर डाला। उन्होंने गदाके आघातोंसे सौभ विमानको भी तोड़ डाला॥ ३३॥

तत् कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
पपात तोये गदया सहस्रधा।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदा-
मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम्॥ ३४॥

श्रीकृष्णके हाथोंसे चलाई हुई गदाके आघातसे सौभ विमान सहस्रों भागोंमें चूर्ण-विचूर्ण होकर समुद्रके जलमें गिर पड़ा। गिरनेके पहले ही शाल्व हाथमें गदा लेकर पृथ्वीपर कूद पड़ा और अच्युत भगवान् श्रीकृष्णकी ओर झपटा॥ ३४॥

आधावतः सगदं तस्य बाहुं
भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम्।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ओर द्रुतगतिसे दौड़कर आते हुए शाल्वके हाथको गदा सहित ही भालेसे काट दिया और उसे मार डालनेके लिए प्रलयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी सुदर्शन चक्र धारण कर लिया। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण शिखरपर भास्करसे युक्त उदयाचलके समान सुशोभित हो रहे थे (उदयाचल उदय होते हुए सूर्यको शिखरपर धारण करता है)॥ ३५॥

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम्॥ ३६॥

परीक्षित्! इन्द्रने जिस प्रकार वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट डाला था, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुदर्शन चक्रसे मायावी शाल्वके मुकुट एवं कुण्डल सहित सिरको काट दिया। उस समय शाल्वके अनुयायी उच्च स्वरसे हाहाकार करने लगे॥ ३६॥

तस्मिन् निपतिते पापे सौभे च गदया हते।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्रो रुषाभ्यगात्॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७७॥

हे राजन्! इस प्रकार दुराचारी शाल्व मारा गया एवं गदाके प्रहारोंसे उसका सौभ विमान भी चूर्ण-विचूर्ण हो गया। देवता दुन्दुभियाँ बजाने लगे, जिससे आकाश गूँज उठा। इस ध्वनिको सुनते ही दन्तवक्र, शाल्व, शिशुपालादि अपने मृत बन्धुओंके वैर-प्रतिशोधरूप अन्त्येष्टि-कृत्य सम्पन्न करनेकी अभिलाषासे बड़े रोषके साथ श्रीकृष्णकी ओर दौड़े॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सतहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

दन्तवक्र और विदूरथका उद्धार तथा तीर्थयात्रामें बलरामके हाथसे रोमहर्षण सूतका वध

श्रीशुक उवाच—

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः।
परलोकगतानाञ्च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्॥ १॥

एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन्।
पद्भ्यामिमां महाराज माहसत्त्वो व्यदृश्यत॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! महाबलशाली, मूर्ख दन्तवक्र परलोकगत मित्र शिशुपाल, शाल्व एवं पौण्ड्रककी मित्रताका परोक्षरूपसे (कृष्ण-वधरूप) ऋण चुकानेके लिए गदा हाथमें लेकर रणक्षेत्रकी ओर अकेले ही पैदल चल पड़ा। क्रोधपूर्वक चलनेसे उसके पदाघातसे धरती कम्पित हो रही थी॥ १-२॥

तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः।
अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्॥ ३॥

श्रीकृष्णने दन्तवक्रको गदा हाथमें लेकर सामने आते हुए देखा, तो वे भी गदा हाथमें लेकर रथसे शीघ्र ही कूद पड़े। समुद्रके तटकी भूमि जिस प्रकार सम्मुख आती हुई सिन्धु-तरङ्गों (ज्वार-भाटा) को रोक देती है, उसी प्रकार भगवान्ने उसे रोक दिया॥ ३॥

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः॥ ४॥

करूष-नरेश दुरभिमानी दन्तवक्र गदा लेकर उद्यत हो गया और भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगा—हे कृष्ण! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज तुम मेरी आँखोंके सामने आ गये। यह बड़ी

उत्तम बात है। (सरस्वती पक्षमें अर्थ है—अपने तृतीय जन्ममें मुक्तिदानके लिए आये कृष्णसे दन्तवक्रने कहा—आज तृतीय जन्ममें ब्रह्म-शापकी समाप्तिपर मोक्ष-प्रदाता प्रभु दृष्टिपथपर आये हैं, भाग्यवशतः यह मेरा मङ्गल-ही-मङ्गल है)॥ ४॥

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि।
अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया॥ ५॥

कृष्ण! तुम मेरे मामाके पुत्र हो, इसलिए तुम्हें मारना उचित नहीं है, परन्तु तुमने मेरे मित्रोंको मारा है और मुझे भी मारना चाहते हो। इसलिए रे मूर्ख! आज वज्र-तुल्य गदाके प्रहारसे मैं तुम्हें मार डालूँगा (वसुदेवजीकी बहिन श्रुतश्रवा दन्तवक्रकी माँ है)॥ ५॥

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा॥ ६॥

रे मूर्ख! मैं मित्र-वत्सल हूँ, उनका कृतज्ञ हूँ। शरीरमें रहनेवाले रोगके समान यद्यपि तुम्हारा परिचय मेरे ममेरे भाईके रूपमें है, तब भी हो तो शत्रु ही। तुम्हारा वध करके मैं परलोकगत मित्रोंके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा॥ ६॥

एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम्।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः॥ ७॥

परीक्षित्! दन्तवक्रने पहले तो कर्कश वचनोंसे श्रीकृष्णको व्यथित किया, बादमें जिस प्रकार महावत अङ्कुशसे हाथीके मस्तकपर आघात करता है, उसी प्रकार वह गदासे भगवान्‌के सिरपर प्रहार करके सिंहके समान गरजने लगा॥ ७॥

गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः।
कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे॥ ८॥

युद्धस्थलमें अपने सिरपर गदाके द्वारा प्रहार किये जानेपर भी यदुकुल-उद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण किञ्चित् मात्र भी विचलित

नहीं हुए, बल्कि उन्होंने कौमोदकी नामक अपनी विशाल गदासे दन्तवक्रके वक्षःस्थलपर बहुत जोरसे प्रहार किया॥ ८॥

गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात्।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतद्व्यसुः॥ ९॥

गदाके उग्र प्रहारसे दन्तवक्रका हृदय विदीर्ण हो गया। वह मुखसे रक्त उगलने लगा। उसके केश बिखर गये। दोनों हाथ और दोनों पैर फैल गये। निष्प्राण होकर वह भूमिपर गिर पड़ा॥ ९॥

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप॥ १०॥

हे नृप! शिशुपालके वधके समान ही दन्तवक्रका वध हो गया। उसकी देहसे अति सूक्ष्म एवं विचित्र ज्योति निकली और सभी प्राणियोंके सामने ही (शिशुपालके समान) श्रीकृष्णके विग्रहमें समा गयी॥ १०॥

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः।
आगच्छदसिचर्म्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११॥

दन्तवक्रका भाई था विदूरथ। भाईकी मृत्युके कारण वह शोकसे विह्वल हो गया। चित्तकी विकलताके कारण वह लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा और श्रीकृष्णका वध करनेकी इच्छासे ढाल-तलवार हाथमें लेकर उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ॥ ११॥

तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम्॥ १२॥

हे राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्णने जैसे ही विदुरथको प्रहार करनेके लिए आते हुए देखा, तभी छुरेके समान तीखी धारवाले अपने सुदर्शनसे उसके किरीट एवं कुण्डलसे युक्त सिरको काट दिया॥ १२॥

एवं सौभञ्च शाल्वञ्च दन्तवक्त्रं सहानुजम्।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः॥ १३॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः॥ १४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम्॥ १५॥

हे राजन्! श्रीकृष्णने शाल्व, उसके विमान सौभ, दन्तवक्र, विदूरथ आदि जिन्हें मारना दूसरोंके लिए असम्भव था, उन सबका संहार कर दिया। इसके बाद उन्होंने अपने स्वागतमें सजी-धजी द्वारकापुरीमें प्रवेश किया। वृष्णिवंशीय श्रेष्ठ यादव उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। देवता एवं मानव उनकी स्तुति कर रहे थे। मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, अप्सरा, पितर, यक्ष, किन्नर एवं चारण पुष्प-वर्षण करते हुए विजय-गीत गा रहे थे॥ १३-१५॥

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्ज्जितो जयतीति सः॥ १६॥

महायोगी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदा ही महाबलशाली शत्रुओंको पराजित करते रहते हैं परन्तु पशुबुद्धिवाले मूर्ख जरासन्धादि उन्हें कभी-कभी अपने चर्म-चक्षुओंसे पराजित भी देखते हैं। वे सदैव विजयी ही हैं।

[जब दन्तवक्रने सुना कि शिशुपाल मारा गया है, तब वह कृष्णके विरुद्ध लड़ने मथुरा गया। कृष्ण भी मनकी गतिके समान चलनेवाले अपने रथपर सवार होकर क्षणभरमें ही मथुरा पहुँच गये। मथुराके द्वारपर दन्तवक्र एवं वासुदेवका युद्ध पूरे दिन एवं पूरी रात चला। अन्ततः कृष्णने अपनी गदासे उसका वध कर दिया। दन्तवक्र सारूप्य मुक्तिको प्राप्त हुआ। आज इस स्थलको दन्तवक्र-हा अर्थात् दतिहा कहा जाता है। (यह ग्राम आज भी द्वारकाकी ओर अभिमुख होकर स्थित है।) इस ग्रामकी स्थापना कृष्णके प्रपौत्र वज्रके द्वारा की गयी थी। विदूरथको मारनेके बाद

कृष्णने यमुना नदीको पार किया और नन्द-गोकुलमें आ गये। यहाँ वे दो मास तक रहे। अनन्तर श्रीकृष्णने नन्दगोप आदि व्रजवासियोंको अपने दिव्य धाममें पहुँचा दिया और रथसे आकाश मार्गसे यात्रा करते हुए अकेले ही द्वारका लौट आये।

श्रील सनातन गोस्वामीपादने लीलाओंका क्रम इस प्रकार बताया है—सूर्यग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्र-यात्रा, राजसूय-यज्ञ, द्यूत-क्रीड़ा, द्रौपदी चीरहरणका प्रयास, पाण्डवोंका वनवास, शाल्व एवं दन्तवक्रका वध, कृष्णका वृन्दावन-गमन एवं वृन्दावनीय लीलाओंका समापन]॥ १६॥

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल॥ १७॥

हे राजन्! इधर बलदेवने सुना कि पाण्डवोंके साथ कौरवोंके युद्धकी तैयारी चल रही है, वे इस विषयमें निर्लिप्त एवं निरपेक्ष रहनेकी इच्छासे तीर्थ-स्नानके छलसे द्वारकासे प्रयाण कर गये।

(भगवान् श्रीहरिने विदूरथ पर्यन्त असत्-जनोंका वध करके अस्त्र त्याग दिये थे और बलदेवने सूत एवं बल्वलका वध-करनेके बाद अस्त्र त्याग दिये थे। बलदेव पाण्डवोंके साथ कौरवोंके युद्धका आरम्भ सुनकर सोचने लगे—दुर्योधन मुझे प्रिय है और युधिष्ठिर भी मुझे प्रिय है—दोनों ही पक्षोंसे निमन्त्रण आयेगा—मैं किसका पक्ष लूँगा? अतः तीर्थस्थानके छलसे द्वारकासे प्रस्थान कर गये)॥ १७॥

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान्।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः॥ १८॥

वहाँ उन्होंने ब्राह्मणोंके साथ प्रभास तीर्थमें स्नान किया एवं देव, ऋषि, पितर एवं मानवोंको सलिलोदक-अञ्जलि आदि प्रदान करके उनका तर्पण किया तथा प्रतिलोमगामिनी (पश्चिमसे समुद्रकी ओर प्रवाहित होती हुई) सरस्वतीके तटपर पहुँचे॥ १८॥

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम्।
विशालं ब्रह्मतीर्थञ्च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्॥ १९॥
यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते॥ २०॥

हे भरतकुलनन्दन! तदनन्तर वे पृथूदक, बिन्दुसरोवर, त्रितकूप, सुदर्शन तीर्थ, विशालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, प्राची सरस्वती तीर्थ (पूर्व दिशाकी ओर प्रवाहित) एवं गङ्गा-यमुनाके तटोंपर वर्त्तमान जितने भी तीर्थ हैं, उन सभी स्थानोंपर गये। इसके बाद वे नैमिषारण्य भी गये, जहाँ बड़े-बड़े ऋषि सत्सङ्गरूप महान् सत्र (द्वादश वार्षिक बृहद्-यज्ञका अनुष्ठान) कर रहे थे॥ १९-२०॥

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन्॥ २१॥

दीर्घ कालतक सत्सङ्ग सत्रका नियम लेकर बैठे हुए दीक्षित मुनियोंने जब बलदेवजीको आते हुए देखा, तो अपने-अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए और उन्हें प्रणाम करके उनका अभिनन्दन किया तथा यथाविधि उनकी पूजा-अर्चना की॥ २१॥

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत॥ २२॥

पूजा-सम्मान प्राप्त करके बलदेव अपने अनुयायियोंके साथ आसन पर विराजमान हुए ही थे कि उन्होंने महर्षि व्यासदेवके शिष्य रोमहर्षणको व्यास-गद्दीपर बैठे हुए ही देखा॥ २२॥

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम्।
अध्यासीनञ्च तान् विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः॥ २३॥

सूत-जातिमें उत्पन्न (प्रतिलोम जातिमें—अर्थात् क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मण माताके सङ्कर विवाहसे उत्पन्न) रोमहर्षण न तो उठकर मेरी अगवानी करता है, न नमस्कारादि करता है, विनय तो इसमें है ही नहीं और इसपर भी अपनेसे श्रेष्ठ ऋषियोंकी

अपेक्षा ऊँचे आसनपर बैठा है—यह सब देखकर बलदेव अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे॥ २३॥

कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः।
धर्म्मपालांस्तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः॥ २४॥

वे कहने लगे—यह रोमहर्षण प्रतिलोम (निम्न) जातिका होनेपर भी इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों एवं धर्मके रक्षक हम लोगोंका अतिक्रमण करके उच्च आसनपर विराजित है—इस अपराधके कारण यह दुर्बुद्धि निश्चय ही वधके योग्य है॥ २४॥

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च।
सेतिहासपुराणानि धर्म्मशास्त्राणि सर्वशः॥ २५॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः॥ २६॥

भगवान् व्यासदेवका शिष्य होनेसे इसने बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया है—इसी कारण यह व्यर्थ ही पाण्डित्याभिमानसे ग्रस्त हो गया है। इसमें न आत्म-संयम है, न विनय ही। जितेन्द्रियता भी इसमें दिखायी नहीं देती। इसने इतिहास, पुराण, धर्म-शास्त्र आदिका जो अध्ययन किया है—वे सब नटके द्वारा अधीत (अध्ययन किये हुए) शास्त्रके समान अभिनय मात्र है। इससे न अपना लाभ है और न दूसरेका। (इस प्रकारका अध्ययन किसी प्रकारके गुणोंका उत्पादक न होकर जीविका-निर्वाहका निमित्त मात्र ही है)॥ २५-२६॥

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः।
वध्या मे धर्म्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः॥ २७॥

मैं ऐसे धर्म-ध्वजियों (कपटपूर्ण धार्मिक वेशधारियों) के दमनके लिए ही इस लोकमें अवतीर्ण हुआ हूँ। यह तो विशेष रूपसे मेरे द्वारा वध करने योग्य है, क्योंकि पापी व्यक्तिकी भी अपेक्षा यह साक्षात्‌रूपसे अधिक पाप कर रहा है (ये धर्मध्वजी धर्महीनों पर ही अपनी धर्मवत्ताका प्रदर्शन करते हैं)॥ २७॥

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि।
भावित्वात् तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः॥ २८॥

परीक्षित्! तीर्थयात्रा-नियमके कारण बलदेवजी यद्यपि उस समय दुष्टोंके वधसे विरत हो गये थे, किन्तु होनहारवश उन्होंने पूर्वोक्त वचन कहनेके साथ ही हाथमें स्थित कुशकी नोकसे (कुशके तिनकेके अग्रभागसे) रोमहर्षणका स्पर्श कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी॥ २८॥

हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्म्मस्ते कृतः प्रभो॥ २९॥

यह देखकर वहाँ उपस्थित ऋषि-मुनि हाय-हाय करने लगे, वे सभी अत्यन्त दुःखी हो गये। उन्होंने भगवान् बलदेवसे कहा—हे प्रभो! आपने यह बहुत ही अनुचित कार्य किया है॥ २९॥

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन।
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत् सत्रं समाप्यते॥ ३०॥

हे यदुनन्दन! जिस समय तक यज्ञ-सत्र सम्पन्न हो, उस समय तकके लिए हमने सूतजीको ब्रह्मासन दिया था। पुराणकी व्याख्या करते समय इन्हें दैहिक क्लान्ति (शारीरिक कष्ट) का अनुभव न हो, इसलिए इन्हें उत्तम आयु भी दे रखी थी॥ ३०॥

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः॥ ३१॥

यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन।
चरिष्यति भवान् लोकसंग्रहोऽनन्यचोदितः॥ ३२॥

यह सब वृत्तान्त न जाननेके कारण अनजानेमें ही किया गया आपका यह कार्य ब्रह्म-हत्याके समान है। यद्यपि योगेश्वर होनेके कारण वेद भी आपपर शासन नहीं कर सकते, तथापि हे लोक-पावन! यदि आप अपनी इच्छासे इस ब्रह्म-हत्याका प्रायश्चित्त करेंगे, तो इससे लोकशिक्षाके उदाहरणका प्रसार होगा॥ ३१–३२॥

श्रीभगवानुवाच—

करिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम्॥ ३३॥

श्रीबलदेवने कहा—हे मुनियो! लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए तथा लोकशिक्षाके लिए मैं इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा। अतः इसके लिए इस कल्पमें जो नियम-अनुष्ठान प्रथम पालनीय है, आपलोग उसीका विधान कीजिये॥ ३३॥

दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च।
आशासितं यत् तद्ब्रूत साधये योगमायया॥ ३४॥

आपलोग इस रोमहर्षणके लिए विशेषरूपसे जो दीर्घायु, बल, इन्द्रिय-पटुता एवं अन्यान्य गुण, जो कुछ देना चाहते हैं, मुझे बतला दीजिये, मैं योगमायाके बलसे सबको साधित करूँगा॥ ३४॥

ऋषय ऊचुः—

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च।
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम्॥ ३५॥

ऋषियोंने कहा—हे बलराम! आप ऐसा कीजिये, जिससे आपके कुश-अस्त्रका पराक्रम बना रहे और इनकी मृत्युकी सत्यता भी बनी रहे। हमने जो इन्हें वरदान दिये हैं, वे सब भी सत्य हो जायें॥ ३५॥

श्रीभगवानुवाच—

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम्।
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान्॥ ३६॥

भगवान् बलदेवने कहा—ऋषियो! वेदोंमें ऐसा कहा गया है कि आत्मा (जीव) स्वयं ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है। अतः इस रोमहर्षणके स्थानपर उसका पुत्र उग्रश्रवा आप लोगोंको पुराण सुनायेगा एवं आपकी इच्छानुसार उसे मैं अपनी शक्तिसे दीर्घायु, इन्द्रिय-पटुता, बल आदि गुण दिये देता हूँ (रोमहर्षण साक्षात् जीवित नहीं रहेगा, परन्तु अस्त्र, मृत्युकी सत्यता एवं पुत्ररूपमें

यह जीवित रहेगा तथा आयु इत्यादि गुणोंसे युक्त होनेपर आपके वचनोंकी सत्यता भी सिद्ध होगी)॥ ३६॥

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः॥ ३७॥

हे ऋषिश्रेष्ठगणो! इसके अतिरिक्त और किसी विषयमें आपकी अभिलाषा हो, तो वह भी बतला दीजिये—मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा। अनजानेमें मुझसे जो पाप हो गया है, उसके निराकरणसे मैं अनभिज्ञ हूँ। अतः हे विद्वज्जनो! आप लोग भलीभाँति निर्धारण करके इसके प्रायश्चित्तका समुचित उपाय भी मुझे बतला दीजिये॥ ३७॥

श्रीऋषय ऊचुः—

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि॥ ३८॥

ऋषियोंने कहा—हे बलदेवजी! इल्वलका पुत्र बल्वल नामक एक भयङ्कर दानव प्रत्येक पर्व-दिवसपर (प्रत्येक मासकी अमावस्यापर) यहाँ आ जाता है और मलादि फेंककर हमारे सत्रको दूषित कर देता है॥ ३८॥

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्।
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम्॥ ३९॥

हे यादव-प्रवर! यहाँ आकर वह पीव, रक्त, मल, मूत्र, मद्य और मांसादि फेंकता है। यदि आप इस दुराचारीका वध कर दें, तो यही हमारी उत्तम सेवा होगी॥ ३९॥

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः।
चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसि॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे बलदेवचरित्रे बल्वल-वधोपक्रमो नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७८॥

इसके बाद आप सुसमाहित (एकाग्र) चित्तसे (क्रोधादिसे रहित होकर) बारह महीनों तक भारतवर्षकी परिक्रमा कीजिये तथा कृच्छ्र-व्रतका (कष्टसाध्य व्रतका) अनुष्ठान करते हुए तीर्थोंमें स्नान कीजिये। इसीसे आपकी शुद्धि होगी॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अठहत्तरवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

बल्वलका उद्धार और श्रीबलरामकी विभिन्न तीर्थोंकी यात्रा

श्रीशुक उवाच—

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः।
भीमो वायुरभूद्राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इसके बाद जैसे ही पर्वकाल उपस्थित हुआ, अति भयङ्कर आँधी चलने लगी, धूलकी वर्षा होने लगी और सर्वत्र पीवकी दुर्गन्ध फैल गयी॥ १॥

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम्।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक्॥ २॥

तत्पश्चात् यज्ञशालामें बल्वल दैत्य अपवित्र पदार्थोंकी वर्षा करने लगा और फिर हाथमें शूल लिये हुए साक्षात् दिखायी पड़ा॥ २॥

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम्।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम्॥ ३॥
सस्मार मुषलं रामः परसैन्यविदारणम्।
हलञ्च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः॥ ४॥

बलदेवने देखा कि उसकी देह अति विशाल है। रङ्ग इतना अधिक काला है, मानो काजलका ढेर विकीर्ण हो गया हो। उसकी दाढ़ी-मूँछ तपे ताँबेकी कान्तिके समान लाल हैं। बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे युक्त होनेके कारण उसका मुख बड़ा भयङ्कर है। उसे देखकर बलदेवने शत्रु-सेनाको खण्ड-विखण्ड कर देनेवाले मुसलका एवं दैत्योंको चीर-फाड़ कर देनेवाले हलका स्मरण किया। दोनों अस्त्र शीघ्र ही उनके सम्मुख उपस्थित हो गये॥ ३-४॥

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम्।
मुषलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्द्धिन ब्रह्मद्रुहं बलः॥ ५॥

बलदेवने हलकी नोकसे आकाशमें विचरनेवाले ब्रह्मद्रोही बल्वलको खींचा और क्रोधसे उसके सिरपर मुसलसे प्रहार किया॥ ५॥

सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन्।
मुञ्चन्नार्त्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः॥ ६॥

मुसलके प्रहारसे बल्वलका ललाट फट गया। उसके रक्तरञ्जित शरीरसे रुधिर-स्राव होने लगा। वह आर्त्तनाद करता हुआ इस प्रकार भूमिपर गिर पड़ा, जिस प्रकार इन्द्रके वज्राघातसे आहत होकर धातुरागसे (गेरुसे) लाल हुआ कोई पर्वत गिर पड़ा हो॥ ६॥

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः।
अभ्यषिञ्चन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा॥ ७॥

प्राचीन कालमें देवताओंने जिस प्रकार वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रदेवकी स्तुति करते हुए उनका अभिषेक किया था, उसी प्रकार महाभाग ऋषियोंने बलदेवकी स्तुति करते हुए उनका अभिषेक किया और उन्हें अमोघ आशीर्वचन दिये॥ ७॥

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम्।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च॥ ८॥

इसके बाद उन ऋषियोंने बलदेवको लक्ष्मीके निवासस्थान-स्वरूप अम्लान (कभी न मुरझानेवाले) कमलोंसे युक्त वैजयन्ती माला, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभूषण प्रदान किये॥ ८॥

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्रवत्॥ ९॥

तत्पश्चात् बलदेवने नैमिषारण्यके मुनियोंसे विदा ली और उनकी आज्ञानुसार ब्राह्मणोंके साथ कौशिकी नदीके तटपर पहुँचे।

वहाँ स्नान करके वे उस सरोवरपर गये, जहाँसे सरयू नदी निकलती है॥ ९॥

अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् जगाम पुलहाश्रमम्॥ १०॥

वहाँसे वे सरयूकी अनुलोम गतिसे अर्थात् सरयू नदीकी धाराका अनुकरण करते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्नान किया और ऋषि, पितर एवं देवता आदिके लिए तर्पण किया। वहाँसे वे पुलहाश्रम चले गये (पुलहाश्रम हरिक्षेत्रके नामसे भी विख्यात है)॥ १०॥

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमे॥ ११॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः॥ १२॥
स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम्।
द्रविडषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः॥ १३॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीञ्च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः॥ १४॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा।
सामुद्रं सेतुमगमत् महापातकनाशनम्॥ १५॥

पुलहाश्रमसे गोमती, गण्डकी, विपाशा एवं शोण-नदियोंमें स्नान करके गया पहुँचे। गयामें पितरोंकी आराधना करके गङ्गासागरके सङ्गम पर पहुँचे और वहाँ शुद्धिके लिए स्नानादि अनुष्ठान किये। वहाँसे वे महेन्द्र पर्वतपर पहुँचे। यहाँ उन्होंने परशुरामजीका दर्शन एवं अभिवादन किया। तदनन्तर सप्त-गोदावरी (गोदावरीकी सात शाखाओंमें), वेणा, पम्पा एवं भीमरथी तीर्थ आदिमें स्नान करते हुए उन्होंने कार्त्तिकेयजीके दर्शन किये और बादमें भगवान् महादेवकी आवास-भूमि श्रीशैलपर उपस्थित हुए। प्रभु बलदेव वहाँसे द्रविड़ देश (दक्षिण प्रान्त) में स्थित परम पवित्र वेंकट

पर्वत (बालाजी), कामकोष्णी (कामाक्षी-शिवकाञ्ची), काञ्ची नगरी (विष्णु-काञ्ची) होते हुए श्रेष्ठ नदी कावेरीमें स्नान करके श्रीरङ्गम् नामक परम पवित्र क्षेत्रमें पहुँचे, जहाँ श्रीहरि सदा साक्षात् रूपसे वर्त्तमान रहते हैं। इस श्रीरङ्गम् नामक पवित्र स्थानके समीप ही श्रीहरिका क्षेत्र ऋषभ पर्वत है। वहाँसे वे दक्षिण मथुरा (मदुराई देवी मीनाक्षीका धाम) गये और वहाँसे बड़े-बड़े महापातकोंको नष्ट करनेवाले समुद्र-सेतुबन्ध (रामेश्वरम्) पहुँचे॥ ११-१५॥

तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयञ्च कुलाचलम्॥ १६॥

तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम्।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः॥ १७॥

बलदेवने सेतुबन्धपर ब्राह्मणोंको दस हजार गायें दान कीं। वहाँसे कृतमाला एवं ताम्रपर्णी नदियोंमें स्नान करके वे सात-कुलाचलोंमेंसे एक मलय पर्वतपर पहुँचे। मलयाचलपर अगस्त्य ऋषि विराजमान थे। बलदेवने उन्हें नमस्कार एवं अभिवादन करके उनकी स्तुति की और उनका आशीर्वाद प्राप्त करके आगे बढ़नेके लिए अनुमति प्राप्त की। वहाँसे दक्षिण समुद्रमें पहुँचकर उन्होंने कन्याकुमारी नामक दुर्गा देवीका दर्शन किया॥ १६-१७॥

ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम्।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम्॥ १८॥

इसके बाद वे विष्णुके साक्षात् निवासस्थान फाल्गुन तीर्थ अनन्तशयन (अनन्तपुर) पहुँचे। यहाँ पञ्चाप्सरस नामक उत्तम तीर्थमें स्नान किया (यहाँपर भगवान् विष्णु साक्षात्‌रूपमें प्रकट हुए थे)। उन्होंने यहाँ भी ब्राह्मणोंको दस हजार गायें प्रदान कीं॥ १८॥

ततोऽभिव्रज्य भगवान् केरलांस्तु त्रिगर्तकान्।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्ज्जटेः॥ १९॥
आर्य्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम्॥ २०॥
प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत्॥ २१॥

भगवान् बलदेव वहाँसे क्रमशः केरल, त्रिगर्त एवं भगवान् शिवके साक्षात् आवास स्थान परम पावन गोकर्ण क्षेत्रमें पहुँचे (यहाँ साक्षात् भगवान् धूर्जटि अर्थात् शिव प्रकट हुए थे)। वहाँ उन्होंने द्वीपवासिनी पूज्या दुर्गादेवीके दर्शन किये और वहाँसे शूर्पारक क्षेत्र पहुँचे। इसके बाद तापी, पयोष्णी एवं निर्विन्ध्या नदियोंमें स्नान किया और तब दण्डकारण्य पहुँचे। वहाँसे वे नर्मदा (रेवा) नदीके तटपर पहुँचे। इसी पवित्र नदीके तटपर ही माहिष्मती पुरी है। बादमें मनुतीर्थ गये और स्नान करके पुनः प्रभास क्षेत्रमें उपस्थित हुए॥ १९-२१॥

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे।
सर्व्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः॥ २२॥

यहाँ उन्होंने ब्राह्मणोंसे सुना कि कौरवों एवं पाण्डवोंके युद्धमें समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो गया है। यह सुनकर उन्होंने निर्णय कर लिया कि पृथ्वीका बहुत-सा भार उतर गया है॥ २२॥

स भीमदुर्य्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे।
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः॥ २३॥

उस समय कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें भीमसेन एवं दुर्योधन गदा-युद्ध कर रहे थे। बलदेव उस संग्रामको रोकनेके अभिप्रायसे वहाँ जा पहुँचे॥ २३॥

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्ज्जुनावपि।
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः॥ २४॥

महाराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण एवं अर्जुन—सभीने जैसे ही इन्हें देखा, वैसे ही उन्हें प्रणाम किया, परन्तु इस आशङ्कासे मौन रहे कि "ये न जाने क्या कहनेकी इच्छासे यहाँ आये हैं?"॥ २४॥

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत्॥ २५॥

बलदेवने देखा कि भीम एवं दुर्योधन बड़े क्रोधके साथ एक-दूसरेको परास्त करनेके लिए हाथमें गदा लेकर भाँति-भाँतिके पैंतरे बदल रहे थे। उन्हें सम्बोधनकर बलरामने कहा—॥ २५॥

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम्॥ २६॥

हे राजा दुर्योधन! हे वृकोदर! तुम दोनों ही महावीर हो। तुम दोनोंमें बल-पौरुष भी समान है। तुम दोनोंमेंसे भीम देहबलमें अधिक और दुर्योधन गदा-युद्धके कौशलमें अधिक है॥ २६॥

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः॥ २७॥

अतः समान पराक्रमी तुम दोनोंमेंसे किसी एककी युद्धमें जय अथवा पराजय दिखायी नहीं देती, इसलिए इस व्यर्थके युद्धको रोक दो॥ २७॥

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत्।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च॥ २८॥

परीक्षित्! बलदेवकी बात यथार्थ थी, दोनोंके लिए हितकर थी, परन्तु दोनों उनकी बात माननेको तैयार नहीं हुए। दोनों ही एक-दूसरेके प्रति कहे गये दुर्वचनों एवं पूर्वकृत दुर्व्यवहारोंका स्मरण कर रहे थे, जिससे उनका वैर-भाव और भी सुदृढ़ हो रहा था॥ २८॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः॥ २९॥

अतः बलदेवने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि युद्ध दैव-कृत है। अतः वे द्वारका लौट आये। वहाँ उग्रसेन आदि गुरुजनों और बन्धु-बान्धवोंने उन्हें देखा, तो वे अतीव आनन्द एवं प्रेमसे उनसे मिले॥ २९॥

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम्॥ ३०॥

इसके बाद वे पुनः नैमिषारण्य लौट आये। वे युद्ध आदि समस्त विरुद्ध भावोंसे निवृत्त हो चुके थे। वस्तुतः वे साक्षात् यज्ञमूर्त्ति-स्वरूप थे, तो भी ऋषियोंने अति प्रसन्नताके साथ उनके द्वारा बहुत-से वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान करवाया (बलदेव स्वयं यज्ञ-भोक्ता हैं, परन्तु लोगोंको वैदिक आदेशों एवं अनुष्ठानोंका पालन करनेकी शिक्षा देनेके लिए वे इन कार्योंमें प्रवृत्त हो गये)॥ ३०॥

तेभ्यो विशुद्धं विज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः॥ ३१॥

सर्वशक्तिमान् बलदेवने ऋषियोंको वह अप्राकृत स्वरूप-ज्ञान प्रदान किया, जिससे इस ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर वे लोग निखिल प्राणियोंमें भगवान्‌का एवं भगवान्‌में निखिल प्राणियोंके अधिष्ठानका अनुभव कर सकें॥ ३१॥

स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्‌वृतः।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः॥ ३२॥

इसके बाद बलदेवने यज्ञके अन्तमें अपनी पत्नी रेवतीके साथ अवभृथ स्नान किया। स्नानके बाद सुन्दर वस्त्र एवं सुन्दर आभूषण धारण किये। अनन्तर अपने भाई-बन्धुओं एवं सुहृदोंके

साथ मिलकर वे इस प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार तारों और चाँदनीसे अलंकृत होकर चन्द्रमा सुशोभित होता है॥ ३२॥

ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि॥ ३३॥

परीक्षित्! अनन्त माहात्म्यशाली, अप्रमेय-स्वरूप, मायामनुष्य-विग्रह एवं महाबलवान् बलदेवके चरित्र असंख्य हैं। श्रुतिमें कहा गया है कि बलदेव निजस्वरूपभूता-निजशक्ति-मायासे नित्य युक्त रहते हैं॥ ३३॥

योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत्॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीबलदेव-तीर्थयात्रानिरूपणं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ ७९॥

हे राजन्! जो अद्भुत-कर्मा, बलदेवके इन चरित्रोंका निरन्तर प्रातःकाल एवं सायंकाल स्मरण करता है—वह श्रीहरिका प्रीतिभाजन हो जाता है॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उन्यासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अशीतितमोऽध्यायः

सुदामाका द्वारकापुरी आना तथा श्रीकृष्णके द्वारा उनका स्वागत

श्रीराजोवाच—

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो॥ १॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे प्रभो! प्रेम और मुक्तिके दाता, अनन्तवीर्यशाली, परमब्रह्म, परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्णकी और भी जो अनन्त माधुर्यपूर्ण एवं शौर्यपूर्ण लीलाएँ हैं, उनका श्रवण करना चाहता हूँ॥ १॥

को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन् उत्तमःश्लोकसत्कथाः।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः॥ २॥

हे ब्रह्मन्! विषय-सुखोंके लिए निरन्तर प्रयास करते हुए जिस मानवका चित्त खिन्न हो गया हो, कर्म-मार्गके दुःखरूपी बाण जिसके चित्तमें चुभते रहते हों, ऐसी स्थितिमें यदि कोई रस-विशेषज्ञ उत्तमश्लोक (पुण्यकीर्त्ति) श्रीकृष्णकी मङ्गलमयी लीलाओंका एक बार भी श्रवण कर ले तथा उसके सार-वैशिष्ट्यसे अवगत हो जाए, तो क्या वह इन लीलाओंसे विमुख रह सकता है?॥ २॥

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥ ३॥

जो वाणी (वागिन्द्रिय) भगवान्के गुणोंका गान करती है, वास्तवमें वही वाणी सार्थक है। जिन हाथोंसे निरन्तर भगवान्की

सेवा होती है, वस्तुतः वे ही हाथ हैं, जिस मनके द्वारा समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी श्रीकृष्णका स्मरण होता है, वही मन वास्तवमें मन है और जिन कानोंके द्वारा भगवान्‌के पुण्य-चरित्रोंका श्रवण होता है, यथार्थमें उन्हें ही कान कहा जा सकता है॥ ३॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्
तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥ ४॥

जो सिर चल-अचल दोनों पदार्थोंमें ही भगवान्‌का अस्तित्व जानकर उन्हें प्रणाम करता है, वही सिर वास्तवमें सिर है, जो चक्षु जड़-चेतन सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करते हैं, वे ही वास्तवमें चक्षु हैं एवं जो अङ्ग निरन्तर भगवान् एवं उनके भक्तोंके चरणोदकका सेवन करते हैं, वे ही वास्तवमें अङ्ग पद वाच्य हैं॥ ४॥

श्रीसूत उवाच—

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान् बादरायणिः।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत्॥ ५॥

श्रीसूतने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! जब महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे ये सब प्रश्न पूछे, तब श्रीशुकदेव, जिनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर निमग्न रहता था, वे परीक्षित्‌से इस प्रकार कहने लगे—॥ ५॥

श्रीशुक उवाच—

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! सुदामा नामके एक ब्राह्मण श्रीकृष्णके परम सखा थे, वे विषयोंसे विरक्त, जितेन्द्रिय, प्रशान्तचित्त एवं वेदोंके श्रेष्ठ ज्ञाता थे॥ ६॥

यदृच्छयोपपन्नेन वर्त्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्य्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥ ७॥

वे गृहस्थ होनेपर भी किसी प्रकारका संग्रह न करके प्रारब्धके अनुसार स्वयं ही प्राप्त द्रव्योंसे जीविकाका निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते थे। उनके वस्त्र सदैव जीर्ण-मलिन रहते थे। उन ब्राह्मणकी पत्नी भी उसी प्रकार फटे-पुराने, मैले-कुचेले कपड़े पहनती थी। भूखे रहनेके कारण वह भी पतिके समान ही दुबली-पतली हो गयी थी (जो थोड़ा-बहुत अन्न होता था, वह उसे पतिको ही परोस देती थी, स्वयं तो भूखी ही रहती थी)॥ ७॥

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा।
दरिद्रा सीदमाना वै वेपमानाभिगम्य च॥ ८॥

एक दिन वह पतिव्रता ब्राह्मणी अपने पतिके लिए भोजन जुटानेमें असमर्थ होनेके कारण बड़ी दुःखी हो गयी। वह भयसे (भगवान्से भक्तिके अतिरिक्त अन्य प्रार्थना अनुचित है, इसलिए) काँपती हुई मुरझाये मुखसे अपने दरिद्र पतिके पास आयी और कहने लगी—॥ ८॥

ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः॥ ९॥

हे ब्रह्मन्! साक्षात् लक्ष्मीपति, यादव-श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आपके सखा हैं। वे भक्तवत्सल, ब्राह्मण-भक्त और शरणागतवत्सल हैं॥ ९॥

तमुपैहि महाभाग साधूनाञ्च परायणम्।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने॥ १०॥

हे महाभाग! हे आर्यपुत्र! श्रीकृष्ण साधुओंकी परमगति-स्वरूप हैं। आप उनके समीप जाइये। जब वे कुटुम्बके पालनमें असमर्थ होनेके कारण आपको दुःखी देखेंगे तो बहुत-सा धन प्रदान करेंगे॥ १०॥

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः॥ ११॥

आजकल भोज, वृष्णि एवं अन्धकोंके अधिपति श्रीकृष्ण द्वारकामें ही निवास कर रहे हैं। (असुर-मारणके लिए कहीं नहीं गये हैं) जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण इतने उदार हैं कि स्मरण मात्रसे ही प्रेमी भक्तोंको अपने चरणकमल, यहाँ तक कि अपने-आपको भी दान कर देते हैं। अतः आप जैसे निष्ठावान् भक्तको यदि धन-सम्पत्ति और विषय-भोग वाञ्छनीय न होनेपर भी प्रदान कर दें, तो इस विषयमें आश्चर्यकी बात ही क्या है? आप मौन भी रहेंगे, तो भी वे सर्व-हितकारी धनके साथ ही अपने चरणकमलका माधुर्य भी दे देंगे॥ ११॥

स एवं भार्य्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः।
अयं हि परमो लाभ उत्तमःश्लोकदर्शनम्॥ १२॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम्॥ १३॥

जब उन ब्राह्मणदेवताकी पत्नीने बार-बार अनुरोध किया तो ब्राह्मणने अपने मनमें सोचा—"धनकी तो कोई बात नहीं है; किन्तु उत्तमःश्लोक श्रीकृष्णका दर्शन हो जायेगा, यही तो जीवनका परम लाभ है।" अतः उन्होंने जानेके लिए सङ्कल्प कर लिया और पत्नीसे कहा—हे कल्याणी! घरमें क्या कोई उपहार योग्य वस्तु है, यदि हो तो, उसे ले आओ॥ १२-१३॥

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान्।
चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम्॥ १४॥

तब ब्राह्मणी अपने पड़ोसी ब्राह्मणोंके पास गयी और चार मुट्ठी चिउड़े भिक्षामें माँग लायी। उसने उन्हें फटे वस्त्रके टुकड़ेमें (पोटलीमें) बाँधा और श्रीकृष्णको उपहार-स्वरूप भेंट करनेके लिए उसे अपने पतिके हाथमें दे दिया॥ १४॥

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्॥ १५॥

विप्रवर सुदामाने उन चिउड़ोंको ले लिया और मार्गमें यह सोचते हुए चले जा रहे थे कि मुझे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कैसे प्राप्त होंगे? यही विचार करते-करते वे द्वारका पहुँच गये॥ १५॥

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः।
विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम्॥ १६॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा॥ १७॥

परीक्षित्! द्वारकापुरी पहुँचने पर विप्र सुदामा अन्तःपुरचारी ब्राह्मणोंके साथ तीन गुल्म अर्थात् रक्षकोंके आवास-स्थानों (छावनियों) एवं तीन ड्योढियोंको पार करके श्रीकृष्णके आज्ञाकारी, कृष्णासक्त—अन्धक एवं वृष्णियोंके महलोंमें पहुँचे, जहाँ पहुँचना बड़ा कठिन है। वहाँसे श्रीकृष्णके सोलह हजार महलोंमेंसे एक प्रधान एवं रमणीय महलमें (रुक्मिणी मन्दिरमें) प्रवेश किया। वहाँ उन्हें ऐसा जान पड़ा कि मानो वे ब्रह्मानन्द-समुद्रमें डुबकी लगा रहे हों (वे महलके द्वारपर क्षणभर मौन रहे और सब कुछ भूल गये। इसके बाद आगे बढ़े)॥ १६-१७॥

तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा॥ १८॥

उस समय अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण प्रियतमा रुक्मिणीके पर्यङ्कपर विराजमान थे। ब्राह्मणदेवताको दूरसे ही देखकर वे सहसा उठ खड़े हुए और उनके समीप पहुँच गये। श्रीकृष्णने बड़े आनन्दसे विभोर होकर उनका आलिङ्गन किया॥ १८॥

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥ १९॥

अपने प्रिय सखा विप्रवर सुदामाके अङ्ग-संस्पर्शसे कमल-लोचन श्रीकृष्णको अत्यधिक आनन्द हुआ। हर्षके कारण उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंका वर्षण होने लगा॥ १९॥

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥ २०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवान् लोकपावनः।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः॥ २१॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गाञ्च स्वागतमब्रवीत्॥ २२॥

हे राजन्! इसके बाद त्रिलोकपावन श्रीकृष्णने उन्हें पर्यङ्कपर बिठाया और स्वयं ही पूजोपहार समर्पण करके उनका पूजन किया। भगवान् श्रीकृष्णने उनके चरणकमलोंको स्वयं पखारा और उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया। इसके बाद सुगन्धित चन्दन, अगुरु, कुङ्कुम एवं अन्यान्य गन्ध-द्रव्योंका उन ब्राह्मणदेवताके शरीरमें लेपन करके सुगन्धित धूप एवं प्रदीपावली द्वारा अति आनन्दके साथ आरती उतारी। तदनन्तर ताम्बूल एवं गाय प्रदान किये तथा 'भले पधारे' आदि स्वागतपरक एवं मधुर वचनोंका भी उच्चारण किया॥ २०-२२॥

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम्।
देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै॥ २३॥

ब्राह्मणदेवता फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। शिराओंके जाल फैलनेके कारण देहकी नस-नस दिखायी देती थी। स्वयं महारानी रुक्मिणीदेवी चँवर डुलाते हुए उनकी सेवा करने लगीं॥ २३॥

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्त्तिना।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम्॥ २४॥

अन्तःपुरवासी स्त्रियाँ पुण्यश्लोक श्रीकृष्ण द्वारा एक मलिनकाय ब्राह्मणका इस प्रकार अति प्रीतिके साथ स्वागत-सत्कार करते हुए देखकर आश्चर्यमें पड़ गयीं और सोचने लगीं। (इसी स्थलपर भगवान्‌का नाम 'सुदामा-दारिद्र्य-भञ्जन' हुआ है)॥ २४॥

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च॥ २५॥
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः।
पर्य्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा॥ २६॥

वे स्त्रियाँ परस्पर कहने लगीं—त्रिलोकीके गुरु, श्रीनिवास-श्रीकृष्ण पर्यङ्कपर विराजमान लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीदेवीको छोड़ करके बलदेवके समान जिसका इतना सम्मान एवं आलिङ्गन कर रहे हैं, इस मैले-कुचैले, निर्धन, लोकनिन्दित और अधम भिक्षुकने ऐसे कौन-से पुण्यका उपार्जन किया है?॥ २५-२६॥

कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः।
आत्मनोर्ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम्॥ २७॥

हे राजन्! इसके बाद श्रीकृष्ण एवं विप्र सुदामा दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर गुरु-गृहमें निवास-कालीन अपनी प्राचीन एवं मनोहर घटनाओंका स्मरण करते हुए उनका बड़े आनन्दसे वर्णन करने लगे॥ २७॥

श्रीभगवानुवाच—

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात्।
समावृत्तेन धर्म्मज्ञ भार्य्योढा सदृशी न वा॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे धर्मज्ञ! हे विप्रवर! आप गुरु-दक्षिणा देकर जब पाठशालासे अपने घर लौट आये, तब आपने अपने अनुरूप स्त्रीके साथ विवाह किया या नहीं?॥ २८॥

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा।
नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे॥ २९॥

हे विद्वन्! मैं यह निश्चित ही जानता हूँ कि गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर भी आपका चित्त न तो सांसारिक विषयोंमें आसक्त है और न ही भौतिक इच्छाओंसे बाधित। धन, वस्त्र आदि काम्य-वस्तुओंमें भी आपकी कोई प्रीति नहीं है। (द्वारकामें सुदामाके प्रतिष्ठा-प्रचारके लिए कृष्णने उनकी सकामताका प्रकाश नहीं किया है। उन्होंने विचार किया कि—भार्याके अनुरोधसे यदि धनमें इसकी प्रीति है, तो वह मैं बादमें दूँगा। प्रकटमें कुछ भी नहीं दूँगा। पुरवासियोंके समक्ष उन्होंने यही व्यक्त किया कि यह गृहस्थ अति निस्पृह है, दूसरोंसे कुछ भी कामना नहीं करता, बलपूर्वक देनेपर भी कुछ ग्रहण नहीं करता)॥ २९॥

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम्॥ ३०॥

हे विप्रवर! मैं जिस प्रकार स्वयं ईश्वर होकर भी लोकशिक्षाके लिए कर्म करता हूँ, उसी प्रकार विषयोंसे अनासक्त चित्तवाले कुछ लोग ही ईश्वरकी मायासे रचित विषय-वासनाओंका परित्याग करके कर्मोंको अपना कर्त्तव्य मात्र समझकर करते रहते हैं (विषय-विरक्त आप भी कर्म करते रहे, संन्यास ग्रहण नहीं किया)॥ ३०॥

कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते॥ ३१॥

हे ब्रह्मन्! गुरुकुलमें द्विज-विद्यार्थी ज्ञातव्य-वस्तु परमात्म तत्त्वको जानकर अज्ञानरूप संसार-सागरको पार कर लेते हैं, हमारे उस गुरुकुलकी बातें आपको याद हैं क्या, किस तरह हम वहाँ एक साथ निवास करते थे?॥ ३१॥

स वै सत्कर्म्मणां साक्षाद्द्विजातेरिह सम्भवः।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः॥ ३२॥

इस लोकमें वर्णाश्रमियोंके तीन गुरु होते हैं। पहला—जन्मदाता पिता। दूसरा—उपनयन संस्कार कराकर जो वेदशास्त्रका—सावित्री-

गायत्रीका उपदेश प्रदान करते हैं (वे दीक्षागुरु मेरे समान ही पूजनीय हैं)। तीसरा—चारों प्रकारके आश्रमियोंको दिव्य-ज्ञान प्रदान कर जो परमात्माको प्राप्त करा देते हैं; वे सर्वोत्तम गुरु हैं और मेरे ही स्वरूप हैं॥ ३२॥

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! मेरे प्यारे सखा! गुरुके रूपमें मैं स्वयं हूँ। इस लोकमें वर्णाश्रमियोंमें जो मेरे उपदेशोंका आश्रय लेकर अनायास ही इस संसार-सागरसे तर जाते हैं, वे ही वस्तुतः परमार्थके विषयमें सम्यक् पाण्डित्य रखते हैं॥ ३३॥

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्व्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥ ३४॥

प्रिय मित्र! समस्त प्राणियोंका आत्मा-स्वरूप मैं सबके हृदयोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहता हूँ। मैं जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक की गयी गुरु-सेवा-शुश्रूषासे सन्तुष्ट होता हूँ, उस प्रकार ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययनादि), गार्हस्थ्य (पञ्चमहायज्ञादि), वानप्रस्थ (तपस्या) और संन्यास (सर्वतोभावेन उपरति) से सन्तुष्ट नहीं होता॥ ३४॥

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित्॥ ३५॥
प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज।
वातवर्षमभूत् तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः॥ ३६॥

हे ब्रह्मन्! जब हम गुरुकुलमें रहा करते थे, तब एक दिन गुरु-पत्नीने हमें सूखी लकड़ियोंका संग्रह करनेके लिए भेजा था। इसके लिए जब हमने एक घोर जङ्गलमें प्रवेश किया, उस समय जो कुछ घटित हुआ, क्या वह आपको याद है? उस दिन बिना ऋतुके ही अत्यन्त प्रचण्ड आँधी आ गयी, जोरोंसे वर्षा होने

लगी और आकाशमें विद्युत्की कर्कश गर्जनाके साथ तूफान आ गया था॥ ३५-३६॥

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन॥ ३७॥

उस समय सूर्यदेव भी अस्ताचलको चले गये थे। सारी दिशाओंमें अन्धकार छा गया था। धरतीपर चारों ओर जल-ही-जल दिखायी दे रहा था, भूमि कहाँ ऊँची है और कहाँ नीची, कुछ भी ज्ञात नहीं होता था॥ ३७॥

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभि-
र्निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः॥ ३८॥

उस दिन जङ्गलमें प्रचण्ड आँधीके प्रहारों और वर्षाकी बौछारोंसे हम लोगोंको अतिशय पीड़ा हो रही थी, बड़े कातर होकर एक दूसरेका हाथ पकड़कर हम लकड़ियोंका गट्ठर सिरपर ढोते हुए उस महारण्यमें इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। गन्तव्य-पथका निर्णय नहीं कर पा रहे थे। हमने वह सारी रात्रि ऐसे ही बिता दी॥ ३८॥

एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान्॥ ३९॥

प्रातःकाल होनेपर जब परम सदाचारसम्पन्न गुरु सान्दीपनि मुनिको यह पता चला कि हम आश्रममें नहीं लौटे हैं, तब वे हमें ढूँढ़ते हुए उस जङ्गलमें आये और हमारी कातर अवस्थाको देखा॥ ३९॥

अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः॥ ४०॥

उस समय उन्होंने हमसे कहा—हे पुत्रो! आश्चर्य है, आश्चर्य है! यह शरीर समस्त प्राणियोंको अतिशय प्रिय है। तुम दोनोंने मेरे प्रति समर्पित होकर अपने शरीरकी भी उपेक्षा कर दी और मेरी सेवाके लिए इतना कष्ट उठाया॥ ४०॥

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्त्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ॥ ४१॥

उत्तम शिष्यका कर्त्तव्य यही है कि वे गुरुके ऋणसे मुक्त होनेके लिए इस सर्वार्थ-साधक शरीरको तथा अपना सब कुछ श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवामें समर्पण कर दे॥ ४१॥

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥ ४२॥

हे द्विजश्रेष्ठो! मैं तुम दोनोंसे अति प्रसन्न हूँ। तुम्हारे सारे मनोरथ सफल हों। तुम दोनोंने जिन वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया है—वे सदा तुम्हें कण्ठस्थ रहें तथा इस लोक और परलोकमें सर्वदा सारयुक्त होकर तुममें अवस्थित रहें, कभी भी निष्फल न हों॥ ४२॥

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मनि।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये॥ ४३॥

हे प्रिय मित्र! गुरु-गृहमें निवास करते हुए इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ घटित हुई थीं। विप्रवर! मनुष्य गुरुके अनुग्रहसे परिपूर्ण होकर प्रकृष्ट शान्तिको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है॥ ४३॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥ ४४॥

श्रीब्राह्मणदेवताने कहा—हे जगद्गुरो! हे देवताओंके भी आराध्यदेव! आपके समान भक्तोंके मनोरथोंको परिपूर्ण करनेवाले परम ब्रह्म

परमात्माके साथ गुरुकुलमें मैंने एक साथ निवास किया। अतः मेरे लिए भला क्या करना शेष रह सकता है? (आपके भयसे तो वायु प्रवाहित होती है; आपके साथ मेरा गुरुकुल-वास मेरे सौभाग्यका फल है)॥ ४४॥

यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम्॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीदामचरितेऽशीतितमोऽध्यायः॥ ८०॥

हे विभो! जिनके श्रीविग्रहसे सम्पूर्ण मङ्गलोंके आकर-स्वरूप वेदशास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे आप विद्याभ्यासके लिए गुरुकुलमें निवास करें, यह विडम्बना मात्र है। यह मनुष्य-लीलाका अभिनय (अतिशय विषमतामय अनुकरण) नहीं तो और क्या है?॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अस्सीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकाशीतितमोऽध्यायः

सुदामा विप्रको ऐश्वर्यकी प्राप्ति

श्रीशुक उवाच—

स इत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम्॥ १॥

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम्।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयकी बात जाननेवाले, ब्राह्मणोंके हितैषी तथा सन्तोंके एकमात्र आश्रय हैं। वे विप्रदेवताके साथ बहुत देर तक प्रेमालाप करते रहे और इन प्रसङ्गोंसे बड़े आनन्दित होते रहे। अब उन्होंने अपने बन्धुवरको अतिशय स्नेहसे देखा और कुछ विनोद करते हुए कहने लगे—॥ १-२॥

श्रीभगवानुवाच—

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्य्येव मे भवेत्।
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे ब्रह्मन्! आप घरसे मेरे लिए क्या उपहार लाये हैं? प्रेमी भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये गये छोटे-से-छोटे उपहारको भी मैं बहुत मानता हूँ, परन्तु अभक्तोंके द्वारा दी गयी बहुत बड़ी भेंटसे भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता॥ ३॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ४॥

(अल्प मात्र लानेके कारण सुदामाको लज्जा आ सकती है, इसलिए कहने लगे—) मत्परायण भक्त प्रेममयी भक्तिके साथ मुझे

पत्र, पुष्प, फल अथवा जलादि जो कुछ भी वस्तु प्रदान करता है, मैं भक्तिके साथ लायी गयी उस-उस वस्तुको बड़े आदरसे ग्रहण करता हूँ (मेरी भक्तिके कारण मेरे भक्तोंका हृदय शुद्ध होता है, अतः उस वस्तुके स्वादु-अस्वादुका भी विचार मैं नहीं करता)॥ ४॥

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः।
पृथुकप्रसृतिं राजन् न प्रायच्छदवाङ्मुखः॥ ५॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर भी उन ब्राह्मण देवताने लज्जासे मुख नीचा कर लिया। साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीकृष्णको वे नगण्य चार मुट्ठी चिउड़े दे नहीं पा रहे थे (घरसे निकलते वक्त सोचा ही नहीं—यह वस्तु श्रीकृष्णके लिए अभक्ष्य है, अतः सुदामा देनेसे हिचक रहे थे)॥ ५॥

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम्।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत् पुरा॥ ६॥
पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः॥ ७॥

समस्त जीवोंके हृदयको जाननेवाले, प्रत्यक्ष साक्षीस्वरूप श्रीहरि अपने प्रिय सखाके आगमनका उद्देश्य भलीभाँति जानते थे। वे विचार करने लगे—मेरे इस प्रिय सखाने पहले कभी भी सम्पत्तिकी अभिलाषासे मेरा भजन नहीं किया है, (इसे तो भोगोंसे सदैव ही द्वेष रहा है तथा इसके दारिद्रयका कारण भी यही है) परन्तु इस समय यह केवल अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रसन्नताके लिए उसीके आग्रहसे ही यहाँ आया है। अतः मैं इसे वह सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिए भी दुर्लभ है॥ ६-७॥

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान्॥ ८॥

इस प्रकार विचार करके भगवान्‌ने स्वयं ही 'यह क्या है' ऐसा कहकर विप्रदेवताके पहने हुए वस्त्रोंमेंसे मलिन कपड़ेके चीथड़ेमें

बँधे हुए तण्डुल जैसे चिउड़ोंको स्वयं ही छीन लिया और कहा— ॥ ८ ॥

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे सखे! यह तो तुम मेरे लिए अत्यन्त प्रसन्नतादायक एवं प्रियताप्रदायक उपहार लाये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, बल्कि सारे विश्वको भी तृप्त करनेमें यथेष्ट हैं ॥ ९ ॥

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥ १० ॥

भगवान्ने यह कहकर उनमेंसे एक मुट्ठी चिउड़े खा लिये, दूसरी मुट्ठी ज्योंही उठायी, त्योंही पतिव्रता रुक्मिणीदेवीने उनका हाथ पकड़ लिया। रुक्मिणीजी कहने लगीं, "नाथ! इस अद्भुत वस्तुका स्वयं ही भोजन करोगे तो मैं अपनी सखियोंको, सपत्नियोंको, दासियोंको और स्वयं अपने लिए भी कैसे वितरण करूँगी"—सुदामाके अभिप्रायसे यह कहा और अपना अभिप्राय सखियोंको बतलाया कि श्रीकृष्ण महासुकुमार हैं, इन शुष्क तण्डुलोंसे श्रीकृष्णका स्वास्थ्य न बिगड़ जाय ॥ १० ॥

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये।
अस्मिन् लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥

रुक्मिणीदेवीने कहा—हे सर्वान्तर्यामिन्! बस, बस! आपकी प्रसन्नताके लिए इतना ही पर्याप्त है। एक मुट्ठी ग्रहण करनेसे ही इस विप्रवरको इस लोकमें और परलोकमें मेरी कटाक्ष-विलासभूत जितनी भी सम्पत्तियाँ है, इस विप्रवरको प्राप्त हो गयी हैं। अब दूसरी मुट्ठी खाकर हमें इनके अधीन मत बनाइये (अन्तिम वाक्य मनोगत है, स्पष्ट नहीं कहा है) ॥ ११ ॥

ब्राह्मणस्तान्तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा॥ १२॥

परीक्षित्! ब्राह्मण देवता उस रात्रिको अच्युत भगवान् श्रीकृष्णके महलमें ही रहे। वहाँ उन्होंने सुखपूर्वक भोजन-पान आदि सम्पन्न किये। उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था, मानो वे वैकुण्ठलोकमें ही वास कर रहे हों॥ १२॥

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः॥ १३॥

दूसरे दिन वे द्विजश्रेष्ठ सुदामा अपने घरकी ओर चल दिये। स्वानन्दपूर्ण, विश्वभावन श्रीकृष्ण कुछ देर तक पथपर उनके पीछे-पीछे चले। अनन्तर प्रणाम करके विनयपूर्वक मधुर वचनोंसे उन्हें आनन्दित किया (जो विश्वभावन श्रीकृष्ण सङ्कल्पमात्रसे ही इस विश्वकी सृष्टि कर लेते हैं, उन्हें महासम्पत्तिमय सुदामापुरीकी सृष्टि करनेमें क्या कष्ट है!)॥ १३॥

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम्।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः॥ १४॥

उन विप्र सुदामाको श्रीकृष्णने प्रत्यक्षरूपसे कुछ भी नहीं दिया और न ही उन ब्राह्मणदेवताने लज्जाके कारण कुछ माँगा। वे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनको ही परम उपलब्धि मानकर आनन्द-सागरमें डूबते-उतरते अपने घरकी ओर चल पड़े॥ १४॥

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि॥ १५॥

मार्गमें चलते-चलते वे मन-ही-मन सोचते जाते थे—अहो! कितने आनन्द और आश्चर्यकी बात है! आज मैंने ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णकी सुविख्यात ब्राह्मण-भक्ति अपनी आँखोंसे प्रत्यक्ष देख ली! धन्य है! जिनके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजी नित्य ही विराजमान रहती हैं, उन्होंने उसी वक्षःस्थलसे मुझ सर्वाधिक दरिद्रका आलिङ्गन किया॥ १५॥

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥ १६॥

कहाँ तो मैं दरिद्र एवं पापी और कहाँ श्री-निकेतन श्रीकृष्ण! तब भी, अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा उन्होंने मुझ-जैसे अधम, दरिद्र ब्राह्मणका आलिङ्गन किया॥ १६॥

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया॥ १७॥

और तो और, जिस पर्यङ्कपर स्वयं रुक्मिणीदेवी शयन करती हैं, उसपर मुझे इस प्रकार बिठाया, मानो मैं उनका सगा भाई हूँ। मुझे थका देखकर स्वयं उनकी पटरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथोंसे मुझपर चँवर डुलाते हुए मेरी सेवा की॥ १७॥

शुश्रुषया परमया पादसंवाहनादिभिः।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत्॥ १८॥

अहो! देवाधिदेव और ब्राह्मणोंके इष्टदेव श्रीकृष्णने मेरे पाँवोंका संवाहन किया। अपने ही हाथोंसे खिला-पिलाकर मेरी सेवा-शुश्रूषा की और ऐसे सत्कार किया, मानो मैं देवता हूँ॥ १८॥

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥ १९॥

मनुष्योंके लिए स्वर्गलोक, मर्त्यलोक एवं पाताललोकके सम्पूर्ण ऐश्वर्यों तथा समस्त प्रकारकी सिद्धियों और मुक्तिकी प्राप्तिका मूलकारण श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा ही है॥ १९॥

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥ २०॥

परम कारुणिक श्रीकृष्णने मुझे यही सोचकर तनिक भी धन नहीं दिया कि यह निर्धन व्यक्ति धन प्राप्त करके कहीं उन्मत्त न हो जाय और उन्हें भूल जाय (अतः प्रचुर धन ही दिया है)॥ २०॥

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम्।
सूर्यानलेन्दुसङ्काशैर्विमानैः सर्वतो वृतम्॥ २१॥
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः।
प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोज-कह्लारोत्पलवारिभिः ॥ २२॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत्॥ २३॥

परीक्षित्! विप्र सुदामा इस प्रकार विचार करते-करते अपने घरके पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि चारों दिशाओंमें सूर्य, अग्नि एवं चन्द्रमाके समान चमकते हुए तथा रत्नोंसे बने हुए ऊँचे-ऊँचे महल विराजमान हैं। स्थान-स्थान पर जलाशय बने हुए हैं, जिनमें कुमुद, कमल, कह्लार एवं उत्पल आदि पुष्प खिले हुए हैं, उपवन और उद्यान वहाँके सौन्दर्यको द्विगुणित कर रहे हैं, रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी सुमधुर कूजन कर रहे हैं, उत्तम आभूषणोंसे विभूषित पुरुष एवं हिरणी जैसी आँखोंवाली सुलोचना स्त्रियाँ यहाँ-वहाँ विचरण कर रही हैं। यह सब देखकर ब्राह्मण देवता सोचने लगे—यह क्या! ये महल किसके हैं! यह स्थान इस प्रकार कैसे हो गया! (सुदामाने वहाँ पहले तेज-पुञ्ज देखा कि यह क्या है? उसके बाद विमान देखे तो सोचने लगे कि ये विमान किसके हैं और जब यह निश्चय हो गया कि ये सब उनके ही हैं तब विचारमें पड़ गये कि यह सब कैसे हो गया?)॥ २१-२३॥

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः।
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा॥ २४॥

ब्राह्मण सोच-विचारमें डूबे हुए ही थे कि उसी समय देवताओंके समान आभासे युक्त सुन्दर-सुन्दर पुरुष एवं स्त्रियाँ वाद्ययन्त्रोंके साथ ऊँचे स्वरसे गीत गाते हुए महाभाग सुदामाकी अगवानी करने आये॥ २४॥

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा।
निश्चक्राम गृहात् तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात्॥ २५॥

पतिदेवके आगमनका समाचार सुनकर ब्राह्मणी हर्षातिरेकसे भर गयी और पतिको सम्पूर्ण चमत्कार बतानेके लिए अपने भवनसे हड़बड़ाते हुए बाहर निकली। ऐसा लगता था, मानो साक्षात् लक्ष्मीदेवी कमलवनसे पधार रही हों॥ २५॥

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे॥ २६॥

पतिव्रता ब्राह्मणीने जैसे ही अपने पतिदेवको देखा, तो उसके हृदयमें प्रेम एवं उत्कण्ठाका आवेग हो आया, आँखोंसे आँसू बहने लगे। उसने अपने नेत्र बन्दकर उन्हें प्रणाम किया और मन-ही-मन उनका आलिङ्गन किया (भगवान्ने नस-नस दिख रही सुदामाकी देहमें कोई परिवर्तन नहीं किया ताकि उनकी पत्नी उन्हें आसानीसे पहचान सके)॥ २६॥

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः॥ २७॥

प्रिय परीक्षित्! गलेमें सोनेके हारादि अलङ्कार पहनकर सजी-धजी दासियोंसे मण्डित ब्राह्मणी अति देदीप्यमान प्रतीत हो रही थी। लगता था मानो कोई विमानचारिणी देवाङ्गना हो। विप्र सुदामा उसे देखकर विस्मित रह गये॥ २७॥

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा॥ २८॥

वे पत्नीसे मिलकर बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने अतिशय प्रीतिपूर्वक अपनी पत्नीके साथ महलमें प्रवेश किया, जो सहस्रों मणिमय स्तम्भोंसे युक्त इन्द्रालयके समान था। कृष्णकी कृपासे इन्द्रका सारा वैभव पृथ्वीपर ही आ गया था॥ २८॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च॥ २९॥

आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च॥ ३०॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नदीपान् भ्राजमानान् ललना रत्न-संयुताः॥ ३१॥
विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम्।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम्॥ ३२॥

प्रिय परीक्षित्! उस महलमें स्वर्ण-निर्मित पायोंसे युक्त हाथी-दाँतके बने पर्यङ्क थे, जिनपर दुग्धके फेनके समान कोमल एवं धवल बिछौने बिछे हुए थे, सोनेकी डण्डियोंसे युक्त बहुत-से चँवर-व्यजन रखे हुए थे, सोनेके सिंहासन थे—जिनके ऊपर सुकोमल आस्तरण (गद्दे) सजे थे तथा अत्युज्ज्वल (चमचमाते हुए) चँदोवे लगे थे। चँदोवोंपर मुक्तामालाएँ लटकी हुई थीं। स्वच्छ स्फटिक मणियोंसे बनी हुई दीवारोंपर महामरकतसे नक्काशी की गयी थी, रत्नोंसे जड़ी हुई स्त्रीमूर्त्तियोंके हाथोंमें दीपमालाएँ जगमगा रही थीं। सुदामा विप्रने जब समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धिको देखा और उसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं देखा, तब बड़े गम्भीर एवं शान्त भावसे चिन्तन करने लगे कि अनायास ही यह अहैतुकी समृद्धि कहाँसे आयी? ॥ २९-३२ ॥

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य॥ ३३॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे—मैं तो सदैव ही दारिद्र्य-दुःखसे पीड़ित रहा हूँ। मेरे जैसे दुर्भागेके पास इस प्रकारका विलासमय ऐश्वर्य कहाँसे आ सकता है? महाविभूतिशाली यदुवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णके साक्षात्कार एवं उनकी कृपाके अतिरिक्त और कोई कारण सङ्गत अथवा युक्तियुक्त नहीं हो सकता॥ ३३॥

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः।
पर्जन्यवत् तत् स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे॥ ३४॥

दाशार्ह–श्रेष्ठ (दाशार्ह राजागण अपनी उदारताके लिए विख्यात थे) श्रीकृष्ण अनन्त सम्पदाओंसे सम्पन्न हैं। मेरे सखा यदु–प्रवर श्रीकृष्ण याचक भक्तोंका अभाव देखकर उन्हें स्वयं ही बहुत कुछ प्रदान करके उसे थोड़ा ही समझते हैं। वे साक्षात् दानकी बात नहीं करते। वे तो मेघके समान परोक्षरूपसे प्रार्थित वस्तुको प्रचुर मात्रामें दे दिया करते हैं (मेघ समुद्रको प्लावित कर देनेकी सामर्थ्य रखने पर भी किसानके सामने न बरसकर उसके सो जानेपर रातमें बरसता है और बहुत बरसने पर उसे थोड़ा ही समझता है।) श्रीकृष्ण मेघसे भी अधिक वदान्य (महा उदार) हैं॥ ३४॥

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फलवपि भूरिकारी।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा॥ ३५॥

मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण भक्तोंको भूरि–भूरि देकर उसे थोड़ा–सा मानते हैं और प्रेमी भक्तोंके द्वारा प्रदत्त अति तुच्छ भेंटको भी बहुत मानते हैं। देखो तो सही उनकी उदारता! मेरे द्वारा लाये गये एक मुट्ठी चिउड़ेको भी उन्होंने कितने प्रेमसे स्वीकार कर लिया॥ ३५॥

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री–
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६॥

मुझे तो जन्म-जन्मान्तरोंमें अपने सखाका भक्त-वात्सल्य, स्नेह, सख्य, एक साथ अवस्थान, प्रणय, मैत्री एवं दास्य इसी प्रकारसे प्राप्त होता रहे। मैं उनका सेवक बना रहूँ। महानुभाव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण समस्त गुणोंके आकर हैं। मुझे उनके प्रेमी भक्तोंका उत्तम सङ्ग प्राप्त हो और उनके श्रीचरणोंमें दृढ़ अनुरक्ति बनी रहे॥ ३६॥

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम्॥ ३७॥

अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण परम विवेकी हैं। वे जानते हैं कि धनवान् धन-मदके कारण पतित हो जाता है। अतः वे अपने अदूरदर्शी (आध्यात्मिक सम्यक् दृष्टिसे रहित) सेवकको सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पुत्र-कलत्र आदि कुछ भी नहीं देते, बल्कि दृढ़ (अनपायिनी) भक्ति ही देते हैं॥ ३७॥

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्द्दने।
विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजे नातिलम्पटः॥ ३८॥

परीक्षित्! विप्र सुदामा मन-ही-मन बुद्धिपूर्वक निश्चय करके विषयोंको प्रभुकी कृपा जानकर अपनी पत्नीके साथ अनासक्त भावसे भोग करने लगे, लम्पट भावसे नहीं। क्रमशः वे विषय-भोगोंके त्यागका अभ्यास करते रहे। भगवान् जनार्दनमें दिनोंदिन उनका अनुराग अतिशय बढ़ता गया॥ ३८॥

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम्॥ ३९॥

हे राजन्! देवताओंके भी आराध्यदेव, भक्तवत्सल प्रभु, यज्ञेश्वर श्रीहरि ब्राह्मणोंको अपना प्रभु-स्वरूप, अपना इष्टदेव मानते हैं। अतः उन ब्राह्मणोंकी अपेक्षा जगत्में परम देवता और कोई नहीं है॥ ३९॥

एवं स विप्रो भगवत्सुहृत् तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम्।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम्॥ ४०॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय सखा विप्र सुदामाने देखा कि यद्यपि भगवान् अजित हैं, तथापि अपने सेवकोंसे पराजित हो जाते हैं; तब वे उन्हींके ध्यानमें तन्मय हो गये। ध्यानके वेग-बलसे उनकी जड़-अहङ्कार-स्वरूप आत्म-ग्रन्थिका छेदन हो गया और उन्होंने भक्तोंके एकमात्र आश्रय वैकुण्ठधामको प्राप्त कर लिया॥ ४०॥

एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पृथुकोपाख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

परीक्षित्! ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णकी ब्राह्मण-भक्तिसे परिपूर्ण इस उपाख्यानको जो सुनता है, वह भगवद्-भक्तिको प्राप्त करके संसारके कर्म-बन्धनसे छूट जाता है॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इक्यासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

सूर्य–ग्रहणके उपलक्षमें कुरुक्षेत्रमें कृष्ण और बलरामके साथ गोप–गोपियोंका मिलन

श्रीशुक उवाच—

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब कृष्ण एवं बलदेव द्वारकामें वास कर रहे थे, तब एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण लगा, जैसा कि प्रलयकालमें लगा करता है। बलदेव द्वारा व्रजगमनके बाद तथा राजसूय यज्ञसे पहले कुरुक्षेत्र यात्रा सम्पन्न हुई है॥ १॥

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः।
समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया॥ २॥

हे राजन्! लोग पहलेसे ही ज्योतिषियोंसे सूर्य–ग्रहणके विषयमें जान चुके थे। अतः पुण्य उपार्जनके लिए लोग विभिन्न स्थानोंसे समन्त–पञ्चक तीर्थ कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये। यह क्षेत्र पुण्यप्रद है॥ २॥

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान्॥ ३॥

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा।
लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये॥ ४॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारतीः प्रजाः।
वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादयः॥ ५॥

ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः।
गदप्रद्युम्न–साम्बाद्याः सुचन्द्र–शुकसारणैः।
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः॥ ६॥

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भगवान् परशुरामने पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेके लिए इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओंका वध कर दिया था और उनके रक्तकी धारासे पाँच बड़े-बड़े सरोवर बना दिये थे। यद्यपि वे स्वयं क्षत्रिय-वध-जनित-पापसे स्पृष्ट नहीं थे, तथापि लोक-मर्यादा एवं लोक-शिक्षाके लिए उन्होंने उस स्थानपर इस प्रकार यज्ञ किये, जिस प्रकार कोई साधारण व्यक्ति अपने पापकी निवृत्तिके लिए प्रायश्चित्त करता है। हे परीक्षित्! उस सूर्यग्रहणके अवसरपर महातीर्थ-यात्राके उद्देश्यसे भारतवासी बड़ी संख्यामें कुरुक्षेत्रमें आये थे। इन लोगोंमें अनेक वृष्णिजन भी उपस्थित थे—जिनमें अक्रूर, वसुदेव एवं उग्रसेन आदि बड़े-बूढ़े तथा गद, प्रद्युम्न और साम्ब आदि यादव भी अपने-अपने पापोंका नाश करने आये थे। उस समय द्वारकाकी रक्षाके लिए सुचन्द्र, शुक एवं सारणके साथ प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्ध एवं सेनापति कृतवर्माको नियुक्त कर दिया गया था (अनिरुद्ध श्वेतद्वीप पालनकर्त्ता विष्णुरूपमें प्रसिद्ध हैं)॥ ३-६॥

ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः।
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ॥ ७॥

व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः।
दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव॥ ८॥

महातेजस्वी यादवोंने दिव्य मालाएँ, सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, स्वर्णमालाएँ एवं कवच धारण कर रखे थे। वे तीर्थयात्राके पथपर विमानोंके समान रथों, समुद्रकी तरङ्गोंके समान चञ्चल घोड़ों, बादलोंके समान विशालकाय एवं चिंघाड़ते हुए हाथियों एवं विद्याधरोंकी द्युतिके समान पैदल सैनिकों द्वारा ढोयी जानेवाली पालकियोंपर अपनी पत्नियोंके साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो आकाशमें स्वर्गके देवता ही विचरण कर रहे हों॥ ७-८॥

तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः॥ ९॥

महाभाग यादवोंने कुरुक्षेत्र पहुँचकर एकाग्रचित्तसे अर्थात् संयमपूर्वक स्नान किया एवं ग्रहणके अवसरपर उपवास रखा। ग्रहणके समय उन्होंने ब्राह्मणोंको उत्तम वस्त्र, पुष्पमालाओं तथा स्वर्णहारोंसे विभूषित गायें दान कीं॥ ९॥

रामह्रदेषु विधिवत् पुनराप्लुत्य वृष्णयः।
ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति॥ १०॥

ग्रहणका मोक्ष हो जानेपर उन्होंने परशुरामके बनाये हुए कुण्डोंमें (रामह्रदोंमें) शास्त्रीय विधिके अनुसार स्नान किया। तत्पश्चात् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम भोज्य प्रदान किये और उनसे प्रार्थना की कि "श्रीकृष्ण-चरणोंमें हमारी भक्ति हो।" (चिरकाल पूर्व परशुरामजीने स्वकृत हत्याओंके प्रायश्चितके लिए कुरुक्षेत्रमें तपस्याकी थी। उन्होंने वहाँ जो पाँच तालाब खोदे थे, वे द्वापर-युगमें भी थे और आज भी हैं)॥ १०॥

स्वयञ्च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः।
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु॥ ११॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही जिनके इष्ट-देवता हैं, उन वृष्णियोंने श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर स्वयं भोजन किया तथा सुशीतल और घनी छायासे युक्त वृक्षोंके नीचे सुखपूर्वक बैठ गये॥ ११॥

तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान्।
मत्स्योशीनरकौशल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान्॥ १२॥

काम्बोजकैकयान् मद्रान् कुन्तीनानर्त्तकेरलान्।
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप।
नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम्॥ १३॥

हे नरेन्द्र! यदुवंशियोंने देखा कि सुहृद-सम्बन्धियोंके साथ मत्स्य, उशीनर, कोशल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ती, आनर्त्त एवं केरल आदि अनेक देशोंके भी राजा यहाँ आये हुए हैं। स्वपक्षीय एवं शत्रुपक्षीय अन्यान्य सैकड़ों राजा

भी वहाँ उपस्थित हैं। इनके अतिरिक्त हे राजा परीक्षित्! यदुवंशियोंके परम हितैषी बन्धु नन्दरायादि गोप और चिरकालसे श्रीकृष्णके दर्शनके लिए उत्कण्ठित गोपियाँ भी वहाँ पधारी हैं॥ १२-१३॥

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम्॥ १४॥

एक-दूसरेके देखते ही हर्षके आवेगसे उनके हृदय-कमल प्रफुल्लित हो गये एवं मुख-कमल प्रसन्नताकी आभासे सुशोभित होने लगे। परस्पर गाढ़ आलिङ्गनके द्वारा वे परम आनन्दित हुए, आँखोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। शरीर पुलकित हो उठा और प्रेमातिशयताके कारण वाणी अवरुद्ध हो गयी॥ १४॥

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः॥ १५॥

पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी प्रेमाश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रों, मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त विमल चितवन एवं अतिशय सौहार्दसे एक दूसरेको देखने लगीं। वे एक-दूसरीको अपनी भुजाओंमें भरकर अपने स्तनोंसे दूसरेके कुङ्कुमरागसे रञ्जित उज्ज्वल स्तनोंको दबाती हुई आलिङ्गन करते हुए आनन्दका अनुभव करने लगीं॥ १५॥

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः॥ १६॥

छोटोंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया और बड़े-बूढ़ोंने छोटोंको आशीर्वाद दिया। एक दूसरेसे सुखपूर्वक आगमन एवं कुशल-मङ्गल

पूछनेके उपरान्त सभी श्रीकृष्णकी मधुर लीलाएँ आपसमें कहने-सुनने लगे॥ १६॥

पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दञ्च जहौ सङ्कथया शुचः॥ १७॥

परीक्षित्! महारानी कुन्तीदेवी अपने माता-पिता, वसुदेवादि भाइयों, बहनों, भतीजे-भतीजियों, भांजे-भांजियों, भाभियों एवं श्रीकृष्णको देखकर उनके साथ बड़े प्रेमसे संभाषण करने लगीं, जिनसे उनके सारे शोक दूर हो गये॥ १७॥

श्रीकुन्त्युवाच—

आर्य्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम्।
यद्वा आपत्सु मद्वार्त्तां नानुस्मरथ सत्तमाः॥ १८॥

कुन्तीने वसुदेवसे कहा—"हे पूजनीय भैया! मैं तो अपनेको अतिशय विफल मनोरथ मानती हूँ क्योंकि आप-जैसे साधु-स्वभाव भाईने विपत्कालमें मेरी कोई खोज-खबर नहीं ली॥"१८॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम्॥ १९॥

भैया! विधाता ही जिसके प्रतिकूल हो, उसे स्वजन, सुहृद, ज्ञाति, पुत्र, भाई एवं पिता-माता सभी भूल जाते हैं। इसमें आप लोगोंका कोई दोष नहीं है॥ १९॥

श्रीवसुदेव उवाच—

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान् नरान्।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथ वा॥ २०॥

श्रीवसुदेवने कहा—बहिन! हमारे ऊपर दोषारोपण मत करो, क्योंकि हम सभी दैवके खिलौने मात्र हैं। मनुष्य चाहे स्वतन्त्र भावसे कार्य करे अथवा दूसरोंके द्वारा कार्य करनेको बाध्य हो, सभी लोग जगदीश्वर भगवान्के वशीभूत हैं॥ २०॥

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम्।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः॥ २१॥

हे बहिन! कंसके उत्पीड़नके कारण हम सब भी विभिन्न दिशाओंमें भाग गये थे। अब दैवकी कृपासे अपने-अपने घरोंमें पहुँच पाये हैं॥ २१॥

श्रीशुक उवाच—

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः।
आसन्नच्युतसन्दर्श-परमानन्दनिर्वृताः ॥ २२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! वहाँ आये हुए समस्त राजाओंका वसुदेव, उग्रसेन आदि यादवोंने स्वागत-सत्कार किया और वे सब अच्युत भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके परमानन्द और परम शान्तिका अनुभव करने लगे॥ २२॥

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः॥ २३॥

कुन्तीभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान्।
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः स काशिराट्॥ २४॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः॥ २५॥

राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः।
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः॥ २६॥

हे राजेन्द्र! उस समय भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, पुत्रोंके साथ गान्धारी, पत्नियोंके साथ पाण्डव, कुन्ती, सञ्जय, विदुर, कृपाचार्य, कुन्तीभोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीराज, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिला-नरेश, मद्र-नरेश, केकय-नरेश, युधामन्यु, सुशर्मा, अपने पुत्रोंके साथ बाह्लीक आदि राजा एवं युधिष्ठिरके अनुयायी (अब तक युधिष्ठिरको आधा राज्य प्राप्त हो चुका था, ये सभी राजा उनके

अधीन थे) अन्य राजागण आदि सभी परम सुन्दर, श्रीनिकेतन-विग्रह एवं अपनी पत्नियोंके साथ विराजमान श्रीकृष्णको अपने सम्मुख देखकर आश्चर्यचकित हो गये॥ २३-२६॥

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक् प्राप्तसमर्हणाः।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान्॥ २७॥

ये राजागण बलराम तथा श्रीकृष्णसे यथायथ सम्मान प्राप्त करके अतीव सन्तुष्ट हो गये और बड़े प्रसन्न मनसे वृष्णिवंशी कृष्णाश्रित यादवोंकी प्रशंसा करने लगे॥ २७॥

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह।
यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम्॥ २८॥

राजाओंने कहा—हे भोजराज उग्रसेन! मानवोंमें आपलोगोंका ही जन्म इस पृथ्वीपर सार्थक है, आप धन्य हैं! धन्य हैं! क्योंकि योगियोंके लिए भी जिनके दर्शन दुर्लभ हैं, आप उन्हें नित्य-निरन्तर देखते रहते हैं॥ २८॥

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम्।
भूः कालभर्ज्जितभगापि यदङ्घ्रि पद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान्॥ २९॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्त्ततां वः।
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः॥ ३०॥

श्रुतियाँ जिनकी विमल कीर्त्तिका गान करती हैं, जिनके पाद-प्रक्षालन-वारि-स्वरूप गङ्गादेवी एवं वाणी-स्वरूप वेदशास्त्र इस विश्व-ब्रह्माण्डको अत्यन्त पवित्र कर रहे हैं, जिस कालके प्रभावसे पृथ्वीका सारा सौभाग्य नष्ट हो चुका था, परन्तु अब जिनके चरणकमलोंका स्पर्श पाकर वे पुनः शक्तिमती होकर

हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाओंकी पूर्त्ति कर रही हैं, उन्हीं श्रीकृष्णके साथ आपका वैवाहिक एवं सपिण्ड (दैहिक) सम्बन्ध है। इसीलिए आप उन्हें नित्य-निरन्तर देखते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ चलते हैं, उनसे प्रेमालाप करते हैं, उनके साथ सोते-बैठते हैं और भोजन करते हैं। यों तो आप लोग घर-गृहस्थीमें उलझे हुए हैं, तो भी आप लोगोंकी स्वर्ग-अपवर्गकी वितृष्णाको नष्ट करके भक्ति प्रदान करनेवाले श्रीकृष्ण आपके घरोंमें निवास करते हैं। वस्तुतः आपका जीवन ही सार्थक है॥ २९-३०॥

श्रीशुक उवाच—

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान्।
तत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया॥ ३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब नन्द महाराजको यह पता चला कि श्रीकृष्ण आदि प्रमुख यादव कुरुक्षेत्रमें आये हुए हैं, तब वे गोप-गोपियोंको साथ लेकर तथा अपने छकड़ोंपर धन आदि विविध सामग्री लादकर श्रीकृष्ण-बलराम आदिको देखनेके लिए वहाँ पहुँचे॥ ३१॥

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः॥ ३२॥

नन्द महाराजको देखकर सारे वृष्णिजन इस प्रकार उठ खड़े हुए मानो मृत शरीरोंमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। वे सब उनसे मिलनेके लिए दीर्घकालसे विह्वल हो रहे थे। अतएव सभी यादवोंने बड़े प्रेमके साथ नन्दरायका गाढ़ आलिङ्गन किया॥ ३२॥

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासञ्च गोकुले॥ ३३॥

वसुदेवको कंस द्वारा किये गये अत्याचारोंका स्मरण हो आया, जिसके कारण उन्हें अपने पुत्रोंको संरक्षणके लिए नन्दके

घरमें रखनेको बाध्य होना पड़ा था। वे नन्दका आलिङ्गन करके परम सन्तुष्ट हुए। आनन्द और प्रेमकी अधिकतासे वसुदेव भावविभोर हो गये॥ ३३॥

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह॥ ३४॥

हे कुरुनन्दन! श्रीकृष्ण एवं बलदेवने नन्द बाबा और यशोदा मैयाको हृदयसे लगाकर उनका आलिङ्गन एवं अभिवादन किया। प्रेमके उद्रेकसे उनका गला रुँध गया और वे दोनों भी कुछ नहीं बोल पाये (बहुत देर तक आलिङ्गनके बाद अवकाश मिलनेपर प्रणामका अवसर मिला था)॥ ३४॥

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
यशोदा च महाभागा सुतो विजहतुः शुचः॥ ३५॥

महाभाग नन्द एवं महाभाग्यवती यशोदादेवीने अपने दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बिठाकर और दोनों भुजाओंमें भरकर दृढ़ आलिङ्गन किया, जिससे दीर्घ विरहके कारण उनका जितना भी शोक-दुःख था, वह दूर हो गया (नन्दबाबा एवं यशोदा अपने स्वाभाविक वात्सल्यके कारण उन दोनोंको आठ वर्षका ही देख रहे थे, वे दोनों भी इस समय पूर्णतम गोप जातिके हो गये थे)॥ ३५॥

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम्।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः॥ ३६॥

रोहिणी एवं देवकी दोनोंने व्रजेश्वरी यशोदाका आलिङ्गन किया। उन दोनोंको यशोदाकी मैत्रीका स्मरण हो आया, जिससे उनकी आँखोंमें आँसू आ गये और कण्ठ रुँध गया। वे कहने लगीं—॥ ३६॥

का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया॥ ३७॥

रोहिणी एवं देवकीने कहा—हे व्रजेश्वरी यशोदे! इन्द्रके समान ऐश्वर्य पाकर भी हम आपकी मित्रताका ऋण नहीं चुका सकतीं। आपका एवं नन्द महाराजका नित्य-निरन्तर मित्रताका जैसा भाव बना रहता है, भला कौन स्त्री उसे विस्मृत कर सकती है॥ ३७॥

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः॥ ३८॥

(रोहिणी एवं देवकी विचार कर रही हैं कि हमारे दोनों पुत्र प्रेमान्ध एवं मत्त होकर यशोदाके वात्सल्य-सागरमें ऐसे डूब गये हैं कि हमारी ओर देख-भर भी नहीं रहे। यशोदा भी अविवेकी तथा प्रेमान्धकी भाँति इनपर हमारी अपेक्षा लाख-गुना अधिक मातृ-स्नेह बरसा रही है तथा हमें तो अनजानके जैसी ताक भर रही है। अतः इससे स्नेहपूर्ण शब्दोंमें बात करते हैं। देवकी कहने लगीं—)

हे देवि! पलकें जिस प्रकार आँखोंकी भलीभाँति रक्षा करती हैं, उसी प्रकार आपने इन दोनों बालकोंकी रक्षा की। शैशवास्थाके कारण ये दोनों तो अपने माता-पिताको जानते भी न थे, इसके पहले ही इन्हें हमने आपके एवं नन्दमहाराजके हाथोंमें समर्पित कर दिया था। इन्हें आपके पाससे परम प्रीति, पोषण (प्यार-दुलार) और सम्यक् सुरक्षा-प्रबन्ध प्राप्त थे। अतः हे माननीया! आपकी देख-रेखमें ये सर्वथा निर्भय रहे। आप लोगोंके लिए ऐसा आचरण युक्तिसङ्गत ही है, क्योंकि सज्जनोंमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं रहता।

(यशोदाने जब कोई उत्तर नहीं दिया तब रोहिणीने कहा—देवकी! यशोदाको भाव-समाधिसे निकालना असम्भव है। यह तो हमारा अरण्य-रोदन है। हमारे दोनों पुत्र इसके साथ स्नेह-रज्जुसे दृढ़ आबद्ध हैं। अतः बाहर चलकर कुन्ती, द्रौपदी आदिसे मिलने चलें)॥ ३८॥

श्रीशुक उवाच—

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥ ३९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दीर्घ-विछोहके बाद जब गोपियोंको श्रीकृष्णका चिरवाञ्छित दर्शन प्राप्त हुआ, तो वे उन्हें निर्निमेष नेत्रोंसे (टकटकी बाँधकर) देखने लगीं। देखते समय आँखोंकी पलकोंके गिरनेके कारण पलकोंके सृष्टिकर्त्ता विधाताकी वे निन्दा करने लगीं। अनन्तर नेत्र-पथसे प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर उन्होंने उनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया और उस तन्मयताको प्राप्त किया, जो योगका निरन्तर अभ्यास करनेवाले आत्माराम-शिरोमणि महायोगेश्वर श्रीरुद्रादिके लिए भी अतीव दुर्लभ है॥ ३९॥

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ४०॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें तादात्म्यावस्था (आनन्द-मूर्च्छावस्था) में देखा तो वे एकान्तमें (निर्जनमें) उनके समीप पहुँचे और अपनी विभूति-शक्ति द्वारा प्रत्येक गोपीका पृथक्-पृथक्‌रूपसे आलिङ्गन किया। उन्होंने हरेकसे कुशल-क्षेमके विषयमें पूछा तथा सुरम्य मुसकानके साथ कहने लगे—(श्रीकृष्णने अपना विस्तार करते हुए हर गोपीकी समाधिको भङ्ग किया और उनसे पूछा, 'मेरा विरहरूप महारोग अब शान्त हो गया न?' उन्हें हँसानेके लिए स्वयं भी उच्च-स्वरसे हँसे)॥ ४०॥

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः॥ ४१॥

हे सखियो! स्वजन-सम्बन्धियोंका प्रयोजन साधनेके लिए ही मैं वहाँसे चला आया। इतने दिनों तक शत्रुओंका वध करनेमें ही लगा रहा। बहुत समयसे तुमलोगोंने मुझे देखा नहीं, अतः कहीं

मुझे भुला तो नहीं दिया। व्रजमें आनेका मुझे अवसर ही नहीं मिला॥ ४१॥

अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च॥ ४२॥

मेरी प्यारी सखियो! अथवा तुम्हें यह आशङ्का तो नहीं है कि मैं अकृतज्ञ हूँ और इसीलिए मेरी अवज्ञा कर रही हो। वास्तवमें तो भगवान् ही समस्त प्राणियोंको एकत्रित करते हैं और वे ही उन्हें वियुक्त कर देते हैं! इसमें हमारा कोई दोष नहीं है॥ ४२॥

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत्॥ ४३॥

वायु जिस प्रकार बादलों, तिनकों, रूईके फाहों एवं धूलिके कणोंको एक-दूसरेसे मिला देती है और पुनः उन्हें पृथक्-पृथक् कर देती है, उसी प्रकार सृष्टिकर्त्ता भगवान् भी समस्त प्राणियोंका संयोग एवं वियोग करा देते हैं॥ ४३॥

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥ ४४॥

(गोपियोंने कहा, हे वक्ता शिरोमणि! आप जिनपर दोषका आरोपण कर रहे हैं, वे भगवान् आप ही समस्त लोकोंमें विख्यात हैं, यह हम जानती हैं। तब श्रीकृष्णने कहा—) गोपियो! मेरे प्रति भक्तिका अभ्युदय होनेसे ही प्राणिमात्रको अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंको मेरा वह परम स्नेह (परिपक्व प्रेम) भी प्राप्त हो चुका है, जो मेरी प्राप्तिका कारण-स्वरूप है। अधिक क्या कहूँ! यह अतिशय कल्याणजनक है। तुम्हारा मेरे प्रति जो स्नेह है, वह मुझे बलपूर्वक आकर्षितकर तुम्हारे पास ले ही आता है॥ ४४॥

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥ ४५॥

हे प्रियतमाओ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश—ये पञ्च महाभूत जिस प्रकार सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंके आदि, अन्त, मध्य तथा भीतर-बाहर आदि विविध रूपोंमें वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी सभीके भीतर एवं बाहर विराजमान रहता हूँ। मैं ही जरायुजादि सभी प्राणियोंका सृष्टिकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता हूँ। इसलिए तुम लोगोंसे मेरा कभी वियोग नहीं है (यदि मुझे भगवान् मानती हो, तो मैं सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त हूँ, तब मेरे वियोगका अनुभव होना ही नहीं चाहिये। उद्धवने जो कहा, वही मेरा उपदेश है पर उससे तुम्हारा दुःख नष्ट ही नहीं हुआ। हे अबलाओ! तुम ज्ञानवती-प्रेमवती हो। मेरे तत्त्वको समझो)॥ ४५॥

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥ ४६॥

घट-पट आदि भौतिक (उत्पन्न किये गये) पदार्थ जिस प्रकार अपने मूलभूत-कारण पञ्च महाभूतोंमें (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीमें) वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार पञ्चमहाभूत भी अपने कारण सूक्ष्मभूतोंमें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पञ्च-तन्मात्राओंमें) विराजमान रहते हैं, आत्मामें नहीं। आत्मा भी भोक्तृसूत्रके रूपमें ही प्राणियोंमें विराजमान है, कारण सूत्रमें नहीं। आत्मा समस्त सृष्टिमें व्याप्त रहती है। भूतादि एवं भौतिकरूप—भोग्य-पदार्थ (भौतिक तत्त्वोंसे बने पदार्थ एवं समस्त जीव) एवं भोक्ता-आत्मा—ये दोनों ही परिपूर्ण परमात्मारूपी मुझसे प्रकाशित होते हैं। तुम्हारी देह एवं आत्मा मुझमें ही सर्वदा विद्यमान हैं। अतः मेरा जो विरह-दुःख है, वह अविवेक-कल्पित है॥ ४६॥

श्रीशुक उवाच—

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्॥ ४७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीकृष्णसे इस प्रकार अध्यात्म-शिक्षाके द्वारा स्व-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके गोपियाँ

प्रतिक्षण उनका ही ध्यान करने लगीं, जिससे उनके जीवन-कुमुदका अन्तर्भाग—आत्माका सूक्ष्म आवरण-मिथ्या अहङ्कार ध्वस्त हो गया। श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी आशासे (क्योंकि श्रीकृष्णने मथुरा आते समय यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अवश्य-अवश्य ही आवेंगे) वे अपने जीवनकी रक्षाके लिए किञ्चित् मात्र ही प्रयास करती थीं अर्थात् किसी प्रकारसे जीवन धारण करती थीं। जीवनकी समाप्तिपर वे उन्हें ही प्राप्त हो गयीं [कृष्ण द्वारा प्रदत्त ज्ञान-प्राप्त गोपियोंने कहा कि हमारी जिज्ञासा न रहनेपर भी ये कृष्ण प्रथम तो रासलीलामें धर्मके उपदेष्टा बने, बादमें उद्धव द्वारा ज्ञानके उपदेष्टा बने और अब पुनः ज्ञानका ही उपदेश कर रहे हैं—यह ज्ञान देनेका स्वभाव इनके लिए दुस्त्यज्य ही है (अर्थात् ज्ञान देना छोड़ ही नहीं सकते)। नित्य सिद्ध साधुओंका लिङ्ग-देह नहीं होता, तब प्रेमधन-सम्पन्न हमारा (हम गोपियोंका) जीवकोश (मिथ्या अहङ्कार द्वारा प्राकृत बन्धन) सम्भव ही नहीं है]॥ ४७॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीवृष्णि-गोपसङ्गमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८२॥

उस समय गोपियोंने प्रार्थना की—हे कमलनाभ! अगाध ज्ञानसे सम्पन्न ब्रह्मादि योगेश्वर आपके जिन चरणकमलोंका सदा सर्वदा हृदयमें ध्यान करते हैं तथा जो चरणकमल संसारमें रत मनुष्योंके लिए एकमात्र आश्रय हैं; हे प्रभो! हम बस यही अभिलाषा करती हैं कि आपके वे चरणकमल हमारे हृदयमें सदा आविर्भूत रहें।

गोपियोंने वक्रोक्तिसे कहा कि हे तत्त्वज्ञान-अध्यापक-शिरोमणि! हे परमेश्वर! हे साक्षात् मूर्त्त परमात्मा! आप हमारी कुटुम्बासक्तिसे अवगत हैं—इसलिए हमारा चित्त निर्मल करनेके लिए आपने उद्धवको भेजा, लेकिन हमारी तो बुद्धि दुष्ट है। आप भी अब जो ज्ञान दे रहे हो, वह भी हमारे हृदयमें ठहरता नहीं है। हमारा हृदय तो कर्मफलसे सन्तापित है, परन्तु हे प्राणप्रेष्ठ! आपके प्रति जो हमारा शुद्ध स्नेह है, उससे हमारा हृदय अवश्य सराबोर रहता है।

सर्व-भक्त-चूड़ामणि गोपियोंने निवेदन किया—हे अज्ञानरूप-अन्धकार-ध्वंसकारी-सूर्य! आपके तत्त्वज्ञानरूप तापके द्वारा तो हम जलकर ही मर जायेंगी। चकोरीके समान आपके मुख-चन्द्रकी ज्योत्स्नासे ही जीवित रह सकेंगी, द्वारकामें हम तो न रह सकेंगी। हम तो वृन्दावन-सेविनी हैं, हमारे लिए वृन्दावन-त्याग करना असम्भव है, वृन्दावनमें ही शिखिपुच्छचूड़ामणि आपके मुरलीमनोहर गानरूप माधुर्यमें ही हमारी रुचि है, अतएव आपके चरणकमल हमारे वृन्दावनमें ही उदित हों अर्थात् पधारें। जब व्रजभूमिमें आपका दर्शन होगा, तभी हमारे सन्तापका उपशम होगा, आपके स्मरणसे कदापि नहीं। तब आपके द्वारा उपदिष्ट आत्म-ज्ञानसे तो कुछ भी सम्भव नहीं है (अर्थात् यह ज्ञान हमारे किसी कामका नहीं है)॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके बयासीवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी रुक्मिणी आदि पत्नियोंके साथ द्रौपदीका वार्त्तालाप

श्रीशुक उवाच—

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गोपियोंके अध्यात्म-विषयक गुरु (गन्तव्य) और उनके एकमात्र आश्रय (महती गति) भगवान् श्रीकृष्णने पूर्वोक्तरूपसे गोपियोंपर महान् अनुग्रह किया। तत्पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर एवं अन्यान्य सुहृदोंसे कुशल-मङ्गल पूछा॥ १॥

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २॥

श्रीकृष्णके चरणकमलोंके दर्शनसे वे सभी पापोंसे मुक्त हो चुके थे। उनके द्वारा कुशल-क्षेम पूछे जानेपर युधिष्ठिरादि सभी बान्धव सम्मानका अनुभव कर रहे थे। अतः वे बड़े ही आनन्दित होकर उत्तर देने लगे—॥ २॥

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहं भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम्॥ ३॥

हे प्रभो! आपकी लीला-कथाएँ महापुरुषोंके मुख-कमलसे निःसृत होकर (बाहर निकलकर) जीवोंके संसारकी हेतुभूत अविद्याका समूल नाश कर देती हैं, ऐसे आपके श्रीपादपद्मोंके चरित-मधु-मकरन्दका जो एक बार भी कर्णपुटों द्वारा पान कर लेते हैं, उनका अमङ्गल किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इस

दिव्य कथारसका पान देहधारी जीवात्माओंको जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाली भगवत्-विस्मृतिका उच्छेद (समूल नाश) कर डालता है॥ ३॥

हि त्वात्मधामविधुतात्मकृतत्र्यवस्था-
मानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम्।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म॥ ४॥

हे प्रभो! आपके स्वरूपके (निज विग्रहके) प्रकाशसे आपके सम्मुख बुद्धिकी तीनों अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तथा सतो, रजो और तमोमयी अवस्थाएँ निरस्त हो जाती हैं। आप स्वयं सर्वानन्दरूप, अखण्ड एवं अकुण्ठित चित्-शक्तिसे सम्पन्न हैं। कालके प्रभावसे लुप्तप्राय वेदोंकी रक्षाके लिए आप अपनी योगमायासे अपना सर्वश्रेष्ठ नर वपु स्वीकार करके दुष्ट-निग्रह एवं शिष्ट-पालन करते हैं। आप परमहंसोंकी एकमात्र गति हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ४॥

श्रीऋषिरुवाच—

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते॥ ५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इधर अन्यान्य लोग पुण्यश्लोक-चूड़ामणि श्रीकृष्णकी प्रशंसा कर रहे थे और उधर यादव-कौरववंशकी स्त्रियाँ सम्मिलित होकर त्रिलोकीमें विख्यात गोविन्दकी लीला-कथाओंकी परस्पर चर्चा कर रही थीं। उन कथाओंको मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो॥ ५॥

श्रीद्रौपद्युवाच—

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौशले।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे॥ ६॥

हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम्।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया॥ ७॥

श्रीद्रौपदीने कृष्णमहिषियोंको सम्बोधन करते हुए कहा—हे रुक्मिणी! हे भद्रे! हे जाम्बवती! हे सत्ये! हे सत्यभामे! हे कालिन्दी! हे शैब्ये! हे रोहिणि! हे लक्ष्मणे! हे अन्यान्य कृष्णकी पत्नियो! अच्युत भगवान् श्रीकृष्णने अपनी मायाके योगसे मनुष्य-लीलाका अनुकरण करते हुए तुमलोगोंसे जिस प्रकार विवाह किया, वह हमें निष्कपटरूपसे बतलाओ॥ ६-७॥

श्रीरुक्मिण्युवाच—

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्म्मुकेषु
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय॥ ८॥

श्रीरुक्मिणीने कहा—द्रौपदीजी! जरासन्ध आदि राजा शिशुपालके साथ मेरा विवाह करवानेकी अभिलाषासे धनुष आदि धारण करके युद्धके लिए प्रस्तुत थे, परन्तु बकरियों एवं भेड़ोंके झुण्डमेंसे सिंह जिस प्रकार बलपूर्वक अपना भाग छीन लेता है, उसी प्रकार वे मुझे हर लाये। अजेय वीर योद्धा जिनकी पदधूलिको मुकुटोंपर आदरपूर्वक धारण करते हैं, उन समस्त सम्पत्ति और सौन्दर्यके आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमल ही जन्म-जन्मान्तरोंमें मेरे एकमात्र सेव्य हों—मैं उनके चरणोंकी सेवा-अर्चना करती रहूँ॥ ८॥

श्रीसत्यभामोवाच—

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात् स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम्॥ ९॥

श्रीसत्यभामाने कहा—द्रौपदीजी! एक सिंहने मेरे चाचाजी प्रसेनको वनमें मार दिया था। भाईके वधके कारण मेरे पिताका हृदय बड़ा दुःखी रहता था। उन्होंने श्रीकृष्णके ऊपर ही हत्याका मिथ्या कलङ्क लगा दिया। तब श्रीकृष्ण अपने ऊपर लगे कलङ्कको दूर करनेके लिए वनमें गये तथा ऋक्षराज जाम्बवान्को पराजित करके उनसे स्यमन्तक मणि ले आये और उसे मेरे पिताके हाथोंमें दे दिया। तब पिताजीने श्रीकृष्णके प्रति मिथ्या कलङ्क लगानेके अपराधसे डरकर उनके साथ मेरा विवाह कर दिया, यद्यपि वे पहले अक्रूरके साथ मेरा विवाह करनेके लिए वाग्दान कर चुके थे॥ ९॥

श्रीजाम्बवत्युवाच—

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाभ्ययुध्यत्।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी॥ १०॥

श्रीजाम्बवतीने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिता ऋक्षराज जाम्बवान् पहले तो समझ ही नहीं पाये कि ये ही उनके आराध्यदेव सीतापति श्रीरामचन्द्र हैं, अतः उनके साथ सत्ताईस दिनों तक युद्ध करते रहे। बादमें, जब परीक्षा पूरी हुई, तब उन्होंने जान लिया कि ये ही उनके प्रभु श्रीरामचन्द्र हैं, तब उनके चरणोंको पकड़ लिया और स्यमन्तक मणिके साथ मुझे भी उनके चरणोंमें उपहार-स्वरूप प्रदान कर दिया। मैं अब यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्मान्तरोंमें उन्हींकी दासी बनी रहूँ। मेरे पिताजी रामावतारमें भी उनके साथ मेरा विवाह करना चाहते थे, परन्तु उस समय वे एक पत्नीव्रतधारी थे, अतः मुझे स्वीकार नहीं किया था॥ १०॥

श्रीकालिन्द्युवाच—

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।
सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी॥ ११॥

श्रीकालिन्दीने कहा—द्रौपदीजी! जब भगवान्‌को यह विदित हुआ कि मैं उनके चरणकमलोंके स्पर्शकी अभिलाषासे यमुना-तटपर तपस्या कर रही हूँ, तब वे अपने सखा अर्जुनके साथ उस स्थानपर आये और मेरा पाणिग्रहण किया। मैं अब श्रीकृष्णके महलमें बुहारनेवाली दासीके रूपमें रहती हूँ॥ ११॥

श्रीमित्रविन्दोवाच—

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः।
भ्रातृश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम्॥ १२॥

श्रीमित्रविन्दाने कहा—द्रौपदीजी! मेरा स्वयंवर हो रहा था, समस्त सम्पत्तियोंके आश्रय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ उपस्थित हुए। कुत्तोंके बीचमेंसे सिंह जिस प्रकार अपना शिकार उठा ले जाता है, उसी प्रकार प्रतिपक्षी राजाओं एवं प्रतिकूल रहनेवाले मेरे भाइयोंको पराजित करके श्रीकृष्ण मुझे अपनी द्वारकापुरी ले आये। मुझे जन्म-जन्ममें उनके पाँव पखारनेका सौभाग्य (प्रक्षालन-सेवाका अधिकार) प्राप्त होता रहे—यही मेरी अभिलाषा है॥ १२॥

श्रीसत्योवाच—

सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान्॥ १३॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।
पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे॥ १४॥

श्रीसत्याने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिताजीने मेरे स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके बल-पौरुषकी परीक्षाके लिए बड़े-बड़े वीरोंके मिथ्या दर्पको खण्डित करनेवाले और तीखे सींगवाले, महाबलशाली

सात बैलोंको रख छोड़ा था। बालक जिस प्रकार बकरियोंके शावकोंको अनायास ही वशमें करके उन्हें बाँध लेते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णने बिना प्रयासके ही उन सात बैलोंको नाथकर इन्हें बाँध लिया और अपनी वीरतारूपी शुल्कके द्वारा दासियोंके साथ मुझे मोल ले आये। आते समय रास्तेमें विरोध करनेवाले विपक्षी राजाओंकी चतुरङ्गिणी सेनाको पराजित करके उसे भी अपनी राजधानीमें ले आये। मेरी भी यही कामना है कि मुझे उनकी दास्य-सेवाका अवसर सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे॥ १३-१४॥

श्रीभद्रोवाच—

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान्।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः॥ १५॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः॥ १६॥

श्रीभद्राने कहा—हे द्रौपदीजी! श्रीकृष्ण मेरे मामाके पुत्र हैं। जब मेरे पिताको पता चला कि मेरा हृदय उनके प्रति अनुरक्त हो गया है, तो उन्होंने स्वयं ही श्रीकृष्णको बुलाया एवं अक्षौहिणी सेना और बहुत-सी सखियोंके साथ तद्गतचित्त मुझे उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। मैं अपना परम कल्याण इसीमें समझती हूँ कि कर्मफलके बन्धनके अनुसार संसारमें मुझे जहाँ भी जन्म लेना पड़े, प्रत्येक जन्ममें उनके ही चरणकमलोंके संस्पर्शकी अनुगति प्राप्त होती रहे॥ १५-१६॥

श्रीलक्ष्मणोवाच—

ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान्॥ १७॥

श्रीलक्ष्मणाने कहा—हे रानीजी! मैंने देवर्षि नारदके मुखसे अच्युत भगवान् श्रीकृष्णके जीवन-चरितके विषयमें बार-बार सुना

था और स्वयं पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीने विशेषरूपसे विचार करके ब्रह्मादि लोकपालोंका त्याग करके इनका ही वरण किया था—यह सब मनन करके मेरा चित्त मित्रविन्दाकी भाँति श्रीकृष्णके प्रति आसक्त हो गया॥ १७॥

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः।
वृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत्॥ १८॥

हे साध्वी! मेरे पिता वृहत्सेन मुझपर बहुत प्रेम रखते थे। उन्होंने मेरी इच्छा जानकर उसकी पूर्तिके लिए एक उपाय सोचा॥ १८॥

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः।
अयन्तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम्॥ १९॥

हे रानीजी! जिस प्रकार आपके पिताने स्वयंवरमें अर्जुनको वररूपमें प्राप्त करनेके लिए मत्स्य-बेधका आयोजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिताने भी लक्ष्यभेदके लिए एक मत्स्यका निर्माण करवाया। आपके पिता द्वारा निर्मित मत्स्य मात्र बाहरसे ढका हुआ था एवं स्तम्भसे लगा हुआ था, जिसे ऊपरकी ओर देखकर लक्ष्य साधा जा सकता था, परन्तु उस मत्स्यको तो स्तम्भके नीचे रखा गया था। कुण्डके जलमें पड़े उसके प्रतिबिम्बपर लक्ष्य साधना था। नीचे जल-कलशकी ओर देखकर ऊपर लक्ष्य भेद करना श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी अन्यके लिए साध्य न था॥ १९॥

श्रुत्वैतत् सर्व्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम्।
सर्व्वास्त्र-शस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः॥ २०॥

यह समाचार सुनकर अस्त्र-शस्त्र-विशारद बहुत-से राजा अपने-अपने आचार्योंके साथ पिताजीकी राजधानीमें उपस्थित हुए॥ २०॥

पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः॥ २१॥

मेरे पिताजीने पराक्रम और वरिष्ठताके आधारपर हरेकका यथोचित सम्मान किया। उन राजाओंने मुझे प्राप्त करनेकी कामनासे वहाँ रखे धनुष-बाण धारण किये और स्वयंवर सभामें मत्स्य भेदना आरम्भ किया॥ २१॥

आदाय व्यसृजन् केचित् सज्यं कर्त्तुमनीश्वराः।
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुनाहताः॥ २२॥

उनमेंसे कुछ राजाओंने धनुष तो उठा लिया, परन्तु उसकी प्रत्यञ्चा भी नहीं चढ़ा सके। उन्होंने धनुषको ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछने धनुषकी डोरीको एक सिरेसे बाँधकर दूसरे सिरे (हाथकी कलाई) तक खींच तो लिया, परन्तु स्वयं धनुषके झटकेसे आहत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २२॥

सज्यं कृत्वापरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितिम्॥ २३॥

द्रौपदीजी! बड़े-बड़े प्रसिद्ध वीर—मगधराज जरासन्ध, अम्बष्ठ देशाधिपति चेदिराज शिशुपाल, भीम, दुर्योधन और कर्णने धनुष पर प्रत्यञ्चाको चढ़ा तो दिया, किन्तु उन्हें मत्स्यकी स्थितिका पता तक भी नहीं चला॥ २३॥

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम्।
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत् पस्पृशे परम्॥ २४॥

पाण्डव वीर अर्जुनने कुण्डमें स्थित मत्स्यकी परछाईंको देखकर उसकी स्थितिका निर्धारण भी कर लिया कि मत्स्य कहाँ है और बड़े यत्नके साथ बाण चलाया भी, किन्तु यह बाण लक्ष्यको भेद न सका और मत्स्यका स्पर्श मात्र करके निकल गया॥ २४॥

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु।
भगवान् धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया॥ २५॥
तस्मिन् सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले।
छित्त्वेषुणापातयत् तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते॥ २६॥

महारानीजी! इस प्रकार जब सारे अभिमानी राजाओंका गर्व चूर हो गया, तब उन्होंने उससे विमुख होकर लक्ष्य-भेदका प्रयास ही छोड़ दिया। उस समय मध्याह्न-काल था, सर्वार्थ-साधक अभिजित नक्षत्र था, सूर्यदेव आकाशमें अवस्थित थे। तभी भगवान् श्रीकृष्णने अनायास ही धनुष उठा लिया, उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी तथा जलमें मत्स्यकी परछाईंको मात्र एक बार देखकर शरसे उस मत्स्यको भेदकर भूमिपर गिरा दिया॥ २५-२६॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः॥ २७॥

रानीजी! मत्स्यके गिरते ही पृथ्वीपर जय-जयकार ध्वनि होने लगी और आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। बड़े-बड़े देवता आनन्दसे विभोर होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ २७॥

तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम्।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक्॥ २८॥

अनन्तर मैंने नये-नये रेशमी उत्तरीय इत्यादि वस्त्र पहने और उनपर करधनी बाँधी, केशोंपर पुष्प-मालाएँ धारण कीं, स्वर्ण-निर्मित दीप्तिशाली रत्न-जड़ित हार पहने। अपने पैरोंमें बँधे नूपुरोंकी रुनझुन-रुनझुन मधुर ध्वनि करती हुई लजीली मुसकानके साथ स्वयंवर स्थलमें प्रवेश किया॥ २८॥

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम्॥ २९॥

सुविशाल तथा घनी अलकावलियों और कुण्डलोंकी कान्तिसे मेरा कपोल-प्रदेश विशिष्ट आभामय हो रहा था। मैंने अपने परम सुन्दर मुख-मण्डलको ऊपर उठाया और सुशीतल मुस्कान

तथा तिरछी चितवनसे धीर-धीरे चारों ओर बैठे हुए राजाओंकी ओर देखा। मेरा हृदय तो श्रीकृष्णके प्रति ही आकृष्ट था, अतः अपने हाथोंमें धारण की हुई वरमाला मैंने श्रीकृष्णके गलेमें अर्पित कर दी॥ २९॥

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्य्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्त्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः॥ ३०॥

मैंने ज्यों ही वरमाला पहनायी, त्यों ही मृदङ्ग, पखावज, भेरी, शङ्ख, ढोल, नगाड़े आदि वाद्य-यन्त्र बजने लगे, नट एवं नर्त्तकियाँ नाचने लगे और गायकोंने गाना आरम्भ कर दिया॥ ३०॥

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्द्धन्तो हृच्छयातुराः॥ ३१॥

हे याज्ञसेनि! जब मैंने श्रीकृष्णका वरण कर लिया, तब कामातुर राजा यह सहन नहीं कर पाये और बहुत ही क्रोधित हो गये। हे द्रौपदीजी! स्पर्द्धाके कारण वे परस्पर लड़ने लगे॥ ३१॥

मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम्।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः॥ ३२॥

इसके बाद चतुर्भुज श्रीकृष्णने मुझे उत्तम चार घोड़ोंवाले रथपर चढ़ा लिया। उन्होंने स्वयं कवचादि धारण किये। दो हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दो हाथोंमें शार्ङ्ग धनुष धारण करके संग्राम-क्षेत्रमें युद्धके लिए अपने रथपर डटकर खड़े हो गये॥ ३२॥

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम्।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव॥ ३३॥

हे रानीजी! सिंह जिस प्रकार अन्यान्य छोटे-छोटे पशुओंका तिरस्कार कर अपना भाग लेकर चला जाता है, उसी प्रकार सारथि दारुक भी राजाओंके देखते-देखते उनकी अवहेलना करते हुए सुवर्ण-सामग्रियोंसे विभूषित रथको हाँक ले चला॥ ३३॥

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्॥ ३४॥

कुत्ते जिस प्रकार सिंहको बाधित करनेके लिए उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं, उसी प्रकार कुछ राजा भी श्रीकृष्णके मार्गको रोकनेके लिए धनुषको ऊँचा उठाये उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे, परन्तु उनके मनोरथ विफल हुए॥ ३४॥

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रि-कन्धराः।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः॥ ३५॥

श्रीकृष्णके शार्ङ्ग धनुषके बाणोंके प्रहारसे कुछ वीरोंके तो हाथ, पैर और गर्दन आदि अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये। कुछ रणक्षेत्रमें निष्प्राण होकर गिर पड़े और जो शेष बचे थे, वे युद्धस्थलीसे भाग गये॥ ३५॥

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वज-पटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत् तरणिरिव स्वकेतनम्॥ ३६॥

कुशस्थली (द्वारका नगरी) स्वर्गलोक, मर्त्यलोक आदि सभी स्थानोंमें सर्वत्र प्रशंसित है। यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्यदेव अपने निवासस्थानमें प्रवेश करते हैं। उस समय द्वारका नगरीको सुन्दर-सुन्दर वन्दनवारोंसे सुसज्जित किया गया था, वहाँ इतनी ध्वजा पताकाएँ लगायी गयी थीं कि उनके कारण सूर्यका ताप धरती तक नहीं आ पा रहा था॥ ३६॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः॥ ३७॥

मेरी इच्छा पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त प्रसन्न होकर मेरे पिताजीने अपने सगे-सम्बन्धियों एवं बान्धवोंका महामूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन एवं बहुत-सी सामग्रियोंसे सत्कार किया॥ ३७॥

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः॥ ३८॥

भगवान् श्रीकृष्ण यद्यपि आप्तकाम एवं सर्वकामपरिपूर्ण हैं, तथापि मेरे पिताजीने प्रेमवश उन्हें विविध प्रकारकी सम्पत्ति, हाथी, रथ एवं घुड़सवार तथा पैदल योद्धारूपमें चतुरङ्गिणी सेना, महामूल्यवान् अस्त्र-शस्त्र एवं बहुत-सी दासियाँ प्रदान की॥ ३८॥

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम॥ ३९॥

इस प्रकार हम आठों रानियाँ सभी प्रकारकी आसक्तियोंको परित्यागकर निज धर्मका पालन (तपस्या) करती हुई आत्माराम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी गृह-दासियाँ बनकर रह रही हैं।

(लक्ष्मणा आवेशपूर्वक अपने विषयमें बहुत कुछ कह गयी, तब अन्तमें सभीको सन्तुष्ट करनेके लिए उसने ये वचन कहे। वह कहना चाहती है कि हम आठों श्रेष्ठ होनेपर भी श्रीकृष्णको कभी वशीभूत नहीं कर सकीं। वस्तुतः ये सब महिषियाँ भी श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-शक्तिकी अंशभूता हैं और आत्मस्वरूप प्रेम द्वारा उन्हें वशमें भी किये हुए हैं)॥ ३९॥

श्रीमहिष्य ऊचुः—

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः।
निर्म्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः॥ ४०॥

अन्यान्य सोलह हजार महिषियोंकी ओरसे रोहिणीदेवीने कहा— नरकासुरने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंको पराजित करके उनकी कन्याओं अर्थात् हम सबको बन्दी बना लिया। आप्तकाम श्रीकृष्णने यह जानकर नरकासुरको और उसकी सेनाको युद्धमें

मार गिराया और वहाँसे हमें मुक्त कर लाये। उनके चरणकमल संसारसे मुक्ति-प्राप्तिके परम स्रोत हैं—हम उनका ही ध्यान किया करती थीं। इसी कारण उन्होंने हमलोगोंको वहाँसे छुड़ाया और हमारा पाणिग्रहण करके अपनी दासी बना लिया॥ ४०॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यञ्च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥ ४१॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूद्‌ध्र्ना वोढुं गदाभृतः॥ ४२॥

हे साध्वि! हमें सार्वभौमपद, इन्द्रपद, इन दोनोंके भोग, अणिमादि आठ सिद्धियाँ, ब्रह्मपद, मुक्तिपद आदिकी बात तो दूर रहे, श्रीहरिके सालोक्य आदि पदोंकी भी कामना नहीं है। एकमात्र यही इच्छा है कि लक्ष्मीजीके कुच-कुङ्कुमकी सुगन्धसे युक्त गदाधृत श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी श्रीरज सदैव अपने मस्तकपर धारण करती रहें।

साम्राज्य, सार्वभौमपद (सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन), स्वराट्‌का भाव, स्वाराज्य-इन्द्रपद (स्वर्गपर शासन), भौज्य (सभी विषयोंका यथेच्छ भोग करनेकी क्षमता), वैराज्य (विराट्-अणिमादि विशिष्ट ऐश्वर्योंका भोग), पारमेष्ठ्य (ब्रह्मापद), आनन्त्य (मोक्ष-प्राप्ति), श्रीहरिके पद (सालोक्यादि मुक्ति-चतुष्टय) की कामना गोपियोंने भी नहीं की है। साम्राज्य पूर्वके लिए, भौज्य दक्षिणके लिए, स्वाराज्य पश्चिमके लिए और वैराज्य उत्तर दिशाके लिए बतलाये गये हैं। महिषियोंकी एकमात्र कामना श्रीकृष्णकी श्रीदेवीके (राधारानीके) कुच-कुङ्कुमगन्ध युक्त पद-रजकी प्राप्ति है। इसीके लिए उनकी तपस्या है। श्रीउद्धवने कहा है कि लक्ष्मीदेवी श्रीकृष्णका यह श्रेष्ठ प्रसाद प्राप्त नहीं कर पायी हैं। अतः भगवान्‌की अन्तरङ्गा-शक्ति श्रीराधाजीकी पद-रज ही सभीके लिए काम्य वस्तु है॥ ४१-४२॥

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८३॥

गोचारण करते समय उदार-शिरोमणि श्रीकृष्णकी चरण-धूलिका स्पर्श व्रजरमणियों, गोपगणों, तृण-लताओं एवं पुलिन्द-रमणियोंको भी प्राप्त हुआ था। अन्योंके द्वारा दुर्लभ होनेपर भी यह चरण-रज उन सबको सुलभ हो सकती है, जिनका चित्त उनमें लगा हुआ है। हमें भी इस रज-प्राप्तिकी अभिलाषा है।

गोपियोंकी रुक्मिणीके साथ सम्बन्ध-गति नहीं है, इसलिए वे उनकी वाञ्छा कभी नहीं करेंगी। रुक्मिणीके प्रति व्रजदेवियोंको सपत्नी-भावके कारण असूया अवश्य दिखायी देती है, जैसा कि उन्होंने कहा है—कृष्ण किसलिए व्रजमें आयेंगे! मथुरामें राज्य प्राप्त किया है, शत्रुओंको मारा है, राजकन्याओंसे विवाह किया है।

बृहत्-गौतमीयतन्त्रके अनुसार इस प्रसङ्गमें 'श्री' पद कृष्णमयी देवी, परदेवता, सर्वलक्ष्मी, सर्वकान्ति, कृष्ण-सम्मोहिनी, सर्वश्रेष्ठ श्रीराधिकाको ही अभिलक्ष्य करता है। व्रजदेवियाँ राधाकी सखी सुहृद् हैं, इसलिए वे राधाजीके कुच-कुङ्कुमगन्धसे युक्त श्रीकृष्णकी पदरजकी वाञ्छा करती हैं। श्रीराधाजीका जो कुच-कुङ्कुम तृणमें लगा है—पुलिन्द रमणियाँ उस स्थानकी वाञ्छा करती हैं। गोचारण-कालमें पुलिन्द रमणियाँ ही परिपूर्ण भाग्यवती मानी गयी हैं। श्रीकृष्णके प्रियनर्म सखा गोपगणोंमें सुबलादि कोई-कोई तो सखी भावितमति हैं। वे भी उनके चरण-रजकी वाञ्छा करते हैं, इतना ही नहीं उनके चरणकमल-स्पर्शकी भी अभिलाषा करते हैं।

इस स्थलपर यह स्पष्टकर देना आवश्यक है कि सोलह हजार एक सौ महिषियोंमें इस कामनाका उदय उस दिनसे हुआ है, जब

उद्धवने स्त्रियोंकी महासभामें एकान्तमें श्रीकृष्णके निकट श्रीराधिकाके रूप, गुण, प्रेम, सौभाग्यका एवं माधुर्यके परमोत्कर्षका वर्णन किया था, जिससे श्रीकृष्ण उनके वशमें रहते हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि रुक्मिणी आदि अष्ट महिषियाँ स्वयंके सौभाग्यका उत्कर्ष मानती हैं, इसलिए उनमें ऐसी (श्रीराधाके पदरजकी) कामना उत्पन्न नहीं होती। सोलह हजार एक सौ आठ महिषियोंका सौभाग्य इन आठोंसे अल्प है, इसलिए उनमें श्रीराधिकाजीकी पद-रजकी वाञ्छा उदित हुई है। यही कारण था कि प्रभासक्षेत्रमें मौसल-लीलाके अन्तमें श्रीकृष्ण सोलह हजार एक सौ गोप-वेश धारण करके पथमें इन महिषियोंको अर्जुनसे छीनकर गोकुल ले आये थे—कोई-कोई ऐसा कहते हैं॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तिरासीवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुरशीतितमोऽध्यायः

वसुदेवका यज्ञ–महोत्सव

श्रीशुक उवाच—

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्व्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उस समय कुन्तीदेवी, सुबल–पुत्री गान्धारी, याज्ञसेनी (द्रौपदी), माधवी (सुभद्रा), अन्यान्य राजपत्नियों एवं कृष्ण–भक्त श्रीकृष्णकी प्रियतमा गोपियोंने सर्वेश्वर, सर्वात्मा श्रीकृष्णके प्रति महिषियोंका कितना प्रेम है—यह देखा तो उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये। वे अत्यन्त मुग्ध एवं अत्यन्त विस्मित हो गयीं।

गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा आदिने द्रौपदीके प्रश्नोंके उत्तरमें पट्टमहिषियोंकी विवाह–कथाको सुना, किन्तु गान्धारी एवं कुन्तीने इन प्रसङ्गोंको वयोवृद्धावस्थाके कारण साक्षात्‌रूपसे नहीं, परम्परा क्रमसे सुना। कुन्ती, गान्धारीके सम्मुख द्रौपदी एवं पट्टमहिषियोंकी यह विनोद–वार्त्ता स्वतन्त्ररूपसे अनुचित भी है। द्रौपदी एवं सुभद्राका कृष्णपत्नियोंके साथ सख्य भाव है, अतः साक्षात् श्रवण उचित है। गोपियोंकी महिषियोंके साथ सजातीयता अथवा संवेदनात्मकता नहीं है और न ही साथमें अवस्थान है। इन गोपियोंको विस्मय श्रीकृष्णके तत्–तत्–चरित्रको सुनकर हुआ है, कुछ–कुछ सजातीय भाव–दर्शनके कारण नेत्रोंसे आँसू भी छलछलाये हैं अर्थात् उन्हें श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका स्मरण हो आया है। रानियोंके प्रति इन गोपियोंका कोई अनुराग नहीं है। कृष्ण–कथा सुनकर कुन्ती, गान्धारीको विस्मय हुआ है, सुभद्राका विस्मय स्नेहके कारण है

और समवयस्क होनेके कारण सुभद्रा एवं द्रौपदीमें भी कौतुकका भाव है॥ १॥

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णराम-दिदृक्षया॥ २॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः॥ ३॥

रामः सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः॥ ४॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे॥ ५॥

स्त्रियोंके साथ स्त्रियाँ और पुरुषोंके साथ पुरुष परस्पर संभाषण कर ही रहे थे कि व्यासदेव, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भारद्वाज, गौतम, शिष्योंके साथ भृगुराम, वशिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनकादि ब्रह्मपुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव आदि बहुत-से ऋषि-मुनि श्रीकृष्ण और बलरामका दर्शन करनेके लिए वहाँ पधारे॥ २-५॥

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान्॥ ६॥

वहाँ पहलेसे ही सम्मुख बैठे हुए राजादि एवं अन्य लोग, पाण्डव, बलराम और श्रीकृष्ण उन विश्ववन्दित मुनियोंको देखकर सहसा उठ खड़े हुए और उन्हें प्रणाम किया॥ ६॥

तानानर्च्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत्।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७॥

इसके बाद अन्यान्य सभी राजाओंके समान बलरामके साथ श्रीकृष्णने भी स्वागत-प्रश्नों, आसन, पाद्य (पैर धोनेका जल),

अर्घ्य (पीनेके लिए जल) पुष्प-माला, अगुरु, धूप एवं चन्दनादि अर्पण करके उन मुनियोंकी विधिपूर्वक पूजा की॥ ७॥

उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुप्तनुः।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः॥ ८॥

जब सारे ऋषि-मुनि सुखपूर्वक बैठ गये, तब धर्मकी रक्षा करनेके लिए अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने उस विशाल सभाको सम्बोधित किया। सभी लोग अपनी वाणीको संयत करके उनके वचनोंको मनोयोगपूर्वक सुनने लगे॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम्॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अहो! धन्य है! आज निश्चय ही हमारा जन्म सार्थक हो गया। हमें इस जन्मका सर्वतोभावसे चरम फल आज प्राप्त हुआ है, क्योंकि हमें उन योगेश्वरोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त हो रहा है, जिनके दर्शन देवताओंके लिए भी दुर्लभ हैं॥ ९॥

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शन-प्रश्न-प्रह्वपादार्चनादिकम्॥ १०॥

विशेषरूपसे उनकी तपस्या अल्प है, जो लोग अपने इष्टदेवको समस्त प्राणियोंके हृदयमें न देखकर केवल अर्चा-विग्रहमें ही दर्शन करते हैं, उनके भाग्यमें इन योगेश्वरोंका दर्शन, स्पर्श, कुशल-प्रश्न, प्रणाम और पाद-अर्चन क्या कभी सम्भव हो सकता है? यह वस्तुतः असम्भव ही है। आप लोगोंके दर्शन सुदुर्लभ होनेपर भी आपके कृपा-विलाससे हमें प्राप्त हो रहे हैं। (साधारण मनुष्योंकी प्रतिमामें ही देवबुद्धि होती है, आपके प्रति देवबुद्धि नहीं होती)॥ १०॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ ११॥

इस लोकमें जलमय स्थान ही 'तीर्थ' एवं मिट्टी तथा शिलासे निर्मित विग्रह ही 'देव' कहे जाते हैं, वस्तुतः ये तीर्थ एवं स्थान देव पदवाच्य नहीं हैं, क्योंकि वे अपनी सेवा करनेवालोंको दीर्घकालके बाद पवित्र करते हैं, परन्तु आपके जैसे साधु तो दर्शन मात्रसे ही मनुष्योंको पवित्र कर देते हैं। अतः आप ही 'तीर्थ' हैं और आप ही 'देव' हैं॥ ११॥

नाग्निर्न सूर्य्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त्तसेवया॥ १२॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठातृ देवताओंकी उपासना करनेसे भेद-बुद्धिसे युक्त मनुष्योंके पाप पूर्णरूपसे नष्ट नहीं होते, किन्तु जो भेद-ज्ञान यथा अवज्ञा, उपेक्षा एवं मात्सर्य आदिसे रहित हैं, उन तत्त्वज्ञानियोंकी क्षणभरकी सेवासे ही सेवकोंके सम्पूर्ण पाप विनष्ट होते हैं॥ १२॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३॥

महात्माओ और सभासदो! जो लोग वात, पित्त और कफ— इन तीन धातुओंसे बनी शव-तुल्य देहको प्रेमास्पद आत्मा अर्थात् मैं, स्त्री-पुत्रादिको आत्मीय अर्थात् मेरा, पार्थिव मूर्त्तियोंको देवता तथा नदी आदिके जलको तीर्थ मानते हैं, किन्तु भगवत्-तत्त्वज्ञ साधुओंमें आदर-भावना नहीं रखते, वे मनुष्य होनेपर भी गाय

एवं गधेके धर्मकी समानताके कारण गाय एवं गधा हैं अथवा गायके लिए तृणादि भार ढोनेवाले गधा हैं॥ १३॥

श्रीशुक उवाच—

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः॥ १४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—उस समय अगाध-(अप्रतिहत अथवा अकुण्ठित)ज्ञान-सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकारके गूढ़ वचनोंको सुनकर ऋषि-मुनियोंकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। वे समझ न सके कि भगवान् श्रीकृष्ण क्या कहना चाहते हैं, अतः वे मौन बैठे रहे॥ १४॥

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम्।
जनसंग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम्॥ १५॥

कुछ देर तक विचार करनेके बाद उन्होंने यह निश्चय किया कि जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके ये वचन अनीश्वर भावसे युक्त कर्मके अधीन साधारण मानवके आचरणके समान हैं। अतः उनकी यह वाणी लोक-संग्रहके लिए ही प्रकट हुई है। वे मुसकराते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे॥ १५॥

श्रीमुनय ऊचुः—

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्॥ १६॥

मुनियोंने कहा—हे भगवन्! आप स्वयं भगवान् होकर भी मनुष्य-लीला करते हुए निज स्वरूपको आच्छादित करके अनीश्वर (जैसे कि आप ईश्वर नहीं हैं) के समान आचरण कर रहे हैं। हम मरीचि इत्यादि प्रमुख स्रष्टाओंके (प्रजापतियोंके) आप अधीश्वर हैं। आप परम तत्त्वको जाननेवाले हैं। हम आपकी

मायासे मोहित हो रहे हैं। अहो! आपका लीला-चरित चिन्तनसे अतिशय परे, अति विचित्र है॥ १६॥

अनीह एतद्बहुधैक आत्मना
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ १७॥

भूमि स्वरूपतः एक होनेपर भी वृक्ष, पत्थर, घटादि विकार-भेदोंसे जिस प्रकार अनेक नाम एवं आकृति धारण करती है, उसी प्रकार आप स्वरूपतः एक एवं निष्क्रिय होकर भी अपने स्वरूपके द्वारा बहुत प्रकारसे इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं संहार करते हैं। आप अपने कर्म-फलोंसे बँधे हुए नहीं हैं। यह विडम्बना ही है कि परिपूर्ण काम होकर भी आप जन्मादि-चरितोंका अनुकरण करते हैं। धन्य है यह आपकी लीला॥ १७॥

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान्॥ १८॥

हे भगवन्! यद्यपि आप प्रकृतिसे परे, स्वयं ब्रह्म, वर्णाश्रम धर्मके एकमात्र रक्षक, परम पुरुष कहे जाते हैं, तो भी भक्तोंकी रक्षा एवं दुष्टोंके दमनके लिए आप समय-समय पर शुद्ध सत्त्वमय विग्रह धारण करते हैं। आप अपनी लीलाओंसे सनातन-वैदिक-पथका पालन करते हैं॥ १८॥

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तञ्च ततः परम्॥ १९॥

हे ब्रह्मन्! मानव जिन वेदशास्त्रोंमें तपस्या, अध्ययन एवं आत्मसंयम द्वारा व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारण) और इन दोनोंसे परे सत्-स्वरूप ब्रह्म-वस्तुका सन्धान करते हैं—वे वेदशास्त्र आपके विशुद्ध अन्तरङ्ग-स्वरूप हृदय ही हैं॥ १९॥

तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्॥ २०॥

हे परब्रह्म! ये वेदशास्त्र ही आपकी उपलब्धिके विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं और ये ब्राह्मण ही इन वेदशास्त्रोंके एकमात्र प्रचारक हैं। अतः हे शास्त्रयोनि! आप अपनी उपलब्धिके साक्ष्य-स्वरूप (वेदोंके आधारभूत आपके स्वरूपकी उपलब्धिके स्थान) इन ब्राह्मणोंका सम्मान करते हैं और इसी कारण आप ब्राह्मण-भक्तोंमें अग्रगण्य भी हैं॥ २०॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः॥ २१॥

आज हमने साधुओंकी शरणरूप आपका सान्निध्य प्राप्त करके अपनी विद्या, तपस्या, चक्षु एवं जन्मको सफल कर लिया है। वास्तवमें आप ही समस्त मङ्गलोंकी पराकाष्ठा हैं॥ २१॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्नेपरमात्मने॥ २२॥

हे प्रभो! श्रीकृष्ण! आप अपनी अचिन्त्य-शक्ति—योगमायाके बलसे गूढ़ महिमावाले, असीम ज्ञान-सम्पन्न, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द-स्वरूप परम पुरुष स्वयं भगवान् हैं। हम इष्ट-बुद्धिसे आपको प्रणाम करते हैं (आप लोक-संग्रहके लिए ही हमारी स्तुति एवं प्रणाम कर रहे हैं)॥ २२॥

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम्॥ २३॥

हे भगवन्! आपने लोगोंकी आँखोंपर मायाका ऐसा पर्दा डाल रखा है कि इस सभामें बैठे हुए राजागण और दूसरोंकी तो बात ही क्या, आपके साथ सर्वदा आहार-विहार करनेवाले ये यादव भी सर्वान्तर्यामी और कालरूपी आपको वास्तविकरूपसे नहीं जान पाते। ये वृष्णिगण आपके परम प्रेमास्पद हैं। ये आपके साथ

एक ही शय्या, आसन आदिपर बैठकर आपकी सङ्गतिका आनन्द लेते हैं। ये आपको ईश्वररूपमें नहीं जानते। ये असाधु राजा भी अपने संहर्ता कालस्वरूप आपको ईश्वररूपमें नहीं जानते। माया-यवनिका इनके ज्ञानकी आवरणकारिका है। इन राजाओंमें माया अविद्या रूपमें है और यादवोंमें योगमाया उनके ज्ञानकी (आपके ईश्वरत्वकी) आवरिका रूपमें है॥ २३॥

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक्।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम्॥ २४॥
एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात्॥ २५॥

हे भगवन्! निद्रित पुरुष जिस प्रकार प्रकृतिके गुणोंके कार्य यथा स्वप्न-दृष्ट-विषयोंमें तत्त्व-बुद्धि अथवा सत्य-बुद्धि करता है और अज्ञानाच्छन्न पुरुष जिस प्रकार प्रकृतिके गुणोंके कार्य यथा देहमें तत्त्व-बुद्धि अथवा आत्म-दृष्टि करके देहाभिमानी हो जाता है (मनः कल्पित एवं अयथार्थ सिंह-व्याघ्रादिके नाम एवं रूपोंमें देखकर स्वयंको उसी रूपमें सत्य मान लेता है और देवदत्तादि अपने वास्तविक स्वरूप एवं नामको भूल जाता है), उसी प्रकार जिन मनुष्योंका चित्त मायाके द्वारा विमोहित हो गया है और जिनकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति स्वप्न-तुल्य विषयोंमें लग गयी है, वे अपनी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेसे आपके यथार्थ (प्रकृत) स्वरूपको नहीं जान पाते॥ २४-२५॥

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथानुगृहाण भक्तान्॥ २६॥

हे भगवन्! आपके चरणकमल पापोंको नाश करनेवाली गङ्गादेवीके आश्रय हैं। सुपरिपक्व भक्ति योगबलसे सम्पन्न महापुरुष इन्हीं चरणकमलोंका अपने हृदयमें ध्यान करते हैं, आज हमें भी

सौभाग्यसे इन चरणकमलोंका दर्शन प्राप्त हुआ है। अतः आप हमें अपना भक्त जानकर अनुग्रहीत करें। आपके उत्कृष्ट भक्ति-बलसे जिनका अन्तःकरणरूप जीव-कोष (लिङ्ग-शरीर) विध्वस्त हो गया था, उन महापुरुषोंने पहले भी वैकुण्ठ धाम प्राप्त किया है, अन्य कोई उसकी प्राप्तिके लिए समर्थ नहीं है (भक्तिके बिना आपका दर्शन युक्तियुक्त है भी नहीं)॥ २६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम्।
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजर्षे! मुनियोंने श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकार अपनी स्तुति ज्ञापित करके धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर एवं भगवान् श्रीकृष्णसे अनुमति ली और अपने-अपने आश्रमोंमें जानेका निश्चय किया॥ २७॥

तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः।
प्रणम्य चोपसंगृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः॥ २८॥

पुण्यश्लोक महायशस्वी वसुदेव ऋषि-मुनियोंको जाते देखकर उनके समीप आ गये और उन्हें प्रणाम किया। अति संयमित चित्तसे मुनियोंके चरण पकड़कर वे बड़ी विनम्रतासे कहने लगे॥ २८॥

श्रीवसुदेव उवाच—

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ।
कर्म्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम्॥ २९॥

श्रीवसुदेवने कहा—हे ऋषियो! आप लोग सर्वदेवस्वरूप हैं। मैं आप सबको प्रणाम करता हूँ। आप कृपा करके मेरी एक प्रार्थना सुनिये। आप मुझे यह उपदेश दीजिये कि किन कर्मोंके अनुष्ठानके द्वारा कर्मफलोंका आत्यन्तिक नाश हो सकता है। (श्रीवसुदेव नित्य-मुक्त विशुद्ध-सत्त्वमूर्त्ति हैं। उनका यह प्रश्न सांसारिक लोगोंके लिए है। वसुदेवने ऋषियोंको 'समस्त देवताका

निवास' कहा है यथा—'सर्वदेवेभ्यो नमः'—आप सभी देवता-स्वरूप हैं। श्रुतिमें है—'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' अर्थात् जो भी देवता है, वे सभी वेदविद् ब्राह्मणमें वास करते हैं। वसुदेव कहते हैं—मेरा भक्तिमें अधिकार नहीं है, क्योंकि गृह, पुत्र, कलत्र आदिमें मेरी महा-आसक्ति है)॥ २९॥

श्रीनारद उवाच—

नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभूत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः॥ ३०॥

श्रीनारदने कहा—हे मुनियो! आप आश्चर्यचकित न हों। वसुदेव श्रीकृष्णको अपना बालक ही मानते हैं। अतः तत्त्व-ज्ञानके अभिप्रायसे ही उनसे न पूछकर हम लोगोंसे प्रश्न कर रहे हैं।

नारद कहते हैं—आश्चर्य है कि भगवान्‌के पिता होकर भी स्वयंको संसारी जीव मान बैठे हैं। वसुदेवकी यह जिज्ञासा दूसरोंके लिए है, तथापि कृष्णको छोड़कर दूसरोंसे पूछ रहे हैं। अतः नारदने कहा हे विप्रगण! वसुदेव अपना मङ्गल जाननेके इच्छुक हैं। वे कृष्णके ऐश्वर्यको पुत्र-भावकी प्रधानताके कारण भूल-से गये हैं॥ ३०॥

सन्निकर्षोऽत्र मर्त्त्यानामनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये॥ ३१॥

इस लोकमें मनुष्य महद् व्यक्तियोंके समीप होनेपर उनका अनादर करते हैं। यथा गङ्गाके किनारे रहनेवाले लोग गङ्गाजलको छोड़कर पुण्य अर्जित करनेके लिए अन्य तीर्थका सेवन करते हैं॥ ३१॥

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति॥ ३२॥

तं क्लेशकर्म-परिपाक-गुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।

प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्य्यमिव मेघहिमोपरागैः॥ ३३॥

हे ब्रह्मज्ञ पूज्यपादगणो! (केवल वसुदेव ही कृष्ण-तत्त्वसे अनभिज्ञ हैं, ऐसा नहीं है—यहाँ सभी कृष्णके ईश्वरत्वके विषयमें अज्ञानी हैं; इसलिए नारदने आगे कहा—) श्रीकृष्णकी अनुभूति कर्कटिका (ककड़ी) इत्यादि फलकी भाँति कालके फेरसे, इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति, संहार एवं प्रलयसे, विद्युत् इत्यादिके समान मुद्गर (गदा) इत्यादि बाह्य कारणोंसे स्वतः विनष्ट होती दिखायी देनेपर भी क्षीण (विनष्ट) नहीं होती, न ही घटादिके समान, न ही कारणान्तर द्वारा देहादिके समान अथवा रूपान्तरोत्पत्ति द्वारा विनष्ट होती है। भगवान् श्रीकृष्ण अव्याहत (निर्बाध) ज्ञानयुक्त, सर्वान्तर्यामी एवं अद्वितीय परम पुरुष हैं। जिस प्रकार सूर्यदेव अपने वैभव यथा बादल, कुहासा अथवा ग्रहणसे ढक जाते हैं, उसी प्रकार प्राकृत लोग भगवान् श्रीकृष्णको उनके ही वैभव-स्वरूप प्राणादि पदार्थ, अविद्या, राग-द्वेष आदि क्लेश, पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दुःख आदि उन कर्मोंके परिणाम तथा सत्त्वादि तीनों गुणोंके प्रभावसे आच्छादित मान लेते हैं (भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप-ज्ञान अखण्ड है, उसे कोई उसी प्रकार ढक नहीं सकता, जैसे सूर्यको बादल नहीं ढक सकते। अज्ञानके कारण मनुष्य भगवान्‌को सामान्य मनुष्य समझ लेता है॥ ३२-३३॥

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम्।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः॥ ३४॥

परीक्षित्! महर्षि नारदके कहनेके उपरान्त मुनियोंने श्रीकृष्ण, बलराम एवं अन्यान्य राजाओंके सामने वसुदेवसे संभाषण करते हुए कहा— ॥ ३४॥

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः॥ ३५॥

हे वसुदेव! कर्मों द्वारा होनेवाले कर्म-बन्धनके आत्यन्तिक नाशके लिए यज्ञोंके द्वारा सर्वयज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना करें—शास्त्रोंका यही विधान है। साधुओं द्वारा भी यही उत्कृष्ट उपाय निर्णीत हुआ है। विष्णु-आराधनरूप यज्ञके बिना कर्म नष्ट नहीं होते॥ ३५॥

चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा।
दर्शितः सुगमो योगो धर्म्मश्चात्ममुदावहः॥ ३६॥

त्रिकालदर्शी तत्त्वज्ञ पण्डितोंने शास्त्र-दृष्टि द्वारा हिताहितका भलीभाँति विचार करके विष्णु-जनोंके चित्तकी शान्तिके लिए विष्णु-यज्ञको ही सुलभ-उपाय, मोक्ष-साधक, आत्मप्रीति-दायक और अवश्य-करणीय धर्मके रूपमें निर्देश किया है॥ ३६॥

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥ ३७॥

अपने न्यायार्जित धनसे जगदीश्वर श्रीहरिकी निष्कामभावसे आराधना करनी चाहिये। धार्मिक गृहस्थोंके लिए यही परम कल्याणका मार्ग है॥ ३७॥

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम्।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम्॥ ३८॥

हे वसुदेव! आत्मकल्याणपरायण विद्वान् यज्ञ एवं दान द्वारा धनकी कामनाका, गृहस्थोचित भोगों द्वारा स्त्री-पुत्रकी कामनाका और परिणाममें कालक्रमसे उच्चसे उच्चतर लोक भी नष्ट हो जाते हैं—इस विचारसे स्वर्गादि-लोकोंकी प्राप्तिकी कामनाका परित्याग करें (अर्थात् वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणाका परित्याग कर देना चाहिये)। पहले भी आत्म-संयमी एवं धीर-पुरुष तीनों प्रकारकी एषणाओंसे (इच्छाओंसे) मुक्त होकर तपोवनमें चले जाया करते थे। निष्कामताके बिना कर्मका नाश

नहीं होता। आत्माकी स्वर्गादिलोककी भोग-वासना भी कालक्रमसे क्षय हो जाती है॥ ३८॥

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥ ३९॥

हे प्रभो! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही देवता, ऋषि एवं पितरोंका ऋण लेकर जन्म-ग्रहण करते हैं। अतः यथाक्रमसे यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पत्तिके द्वारा—इन तीनों ऋणोंसे उऋण हुए बिना यदि कोई गृहस्थाश्रमका त्याग करता है, तो उसका अधोपतन हो जाता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषिऋण, यज्ञ द्वारा देवऋण तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋणका शोधन होता है। ऋणके शोधन होनेपर ऋणमुक्त होकर वनमें चले जाना चाहिये॥ ३९॥

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव॥ ४०॥

हे परम बुद्धिमान् वसुदेवजी! आप अध्ययन एवं सन्तानोत्पत्तिके द्वारा ऋषि एवं पितरोंके ऋणसे मुक्त हो गये हैं। अब वैदिक यज्ञोंके द्वारा देवताओंके ऋणका परिशोधन करें। सबसे उऋण होकर गृहाश्रम त्यागकर वानप्रस्थका आश्रय करें और भगवान्‌की आराधना करें॥ ४०॥

वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम्।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः॥ ४१॥

हे वसुदेव! आपने निश्चय ही परम भक्तिके साथ जगदीश्वर श्रीहरिकी उत्कृष्ट आराधना की है, तभी तो वे इस समय आप दोनोंके पुत्र हुए हैं (मुनियोंने वसुदेवसे कहा—आपने लोक-रीतिके अनुसार प्रश्न किये, हमने लोक-रीति एवं शास्त्र-रीतिके अनुसार उत्तर दिये। वस्तुतः आप भगवान्‌के नित्यसिद्ध पिता हैं—आप भगवान्‌के ही समान हैं—लोकशास्त्रमें आपका अधिकार नहीं है। आपका अधिकार तो अत्युन्नत है)। यदि आप स्वयंको शास्त्रोक्त

धर्मका अधिकारी मानते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि सर्वधन-श्रेष्ठ भक्तियोग ही आपमें प्रकाशित हुआ है। अतएव हे वसुदेव! परमभक्ति द्वारा ही आप भगवान्‌की अर्चना करें। नित्यसिद्ध होनेसे अति-निकृष्ट कर्म-अधिकारमें आप क्यों पतित होंगे? तो भी यदि कर्म करनेकी आपकी इच्छा है, वह लोक-शिक्षाके लिए ही है॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच—

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च॥ ४२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! महामति वसुदेवने मुनियोंकी यह बात सुनकर उनके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्हें भलीभाँति प्रसन्न करके उन्हें यज्ञके ऋत्विजोंके रूपमें वरण कर लिया॥ ४२॥

त एनमृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।
तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः॥ ४३॥

हे राजन्! शास्त्रीय विधानके अनुसार वरण किये गये ऋषियोंने उसी पुण्यस्थली कुरुक्षेत्रमें परम धार्मिक वसुदेवके द्वारा व्यवस्थित उत्तम सामग्रियोंसे यज्ञ सम्पन्न कराये॥ ४३॥

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः॥ ४४॥

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः॥ ४५॥

हे राजन्! यज्ञके दीक्षाकालमें वृष्णिजनोंने स्नान करके सुन्दर वस्त्र, कमल-मालाएँ एवं (सुरम्य) आभूषण धारण किये। अन्य राजागण भी सुष्ठुरूपसे अलंकृत और सुसज्जित हो गये। उनकी महिषियोंने अति सुन्दर वस्त्र एवं गलोंमें हार पहन लिये तथा अपने शरीरोंको चन्दनादिसे अनुलिप्त कर लिया। इसके बाद बड़े

आनन्दके साथ माङ्गलिक सामग्रियोंको हाथमें लेकर यज्ञशालामें (दीक्षाशालामें) प्रवेश किया॥ ४४-४५॥

नेदुर्मृदङ्गपटह-शङ्खभेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्त्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्त्तृकाः॥ ४६॥

उस समय मृदङ्ग, पखावज, शङ्ख, भेरी, नगाड़े आदि बज रहे थे, नर्त्तक एवं नर्त्तकियाँ नृत्य कर रहे थे, सूत, मागध आदि स्तुतिपाठ कर रहे थे और पतियोंके साथ गन्धर्व रमणियाँ मधुर स्वरमें गान कर रही थीं॥ ४६॥

तमभ्यषिञ्चन् विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः॥ ४७॥

वसुदेवजीके नेत्रोंमें काजल लगानेके बाद उनके शरीरमें मक्खन (अभ्यङ्ग) लगाकर ऋत्विजोंने उनका देवकी आदि अठारह पत्नियोंके साथ शास्त्रीय विधिके अनुसार महाभिषेक किया। वे अपनी अठारह रानियोंके साथ इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जैसे तारोंके बीच चन्द्रमा॥ ४७॥

ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः॥ ४८॥

उस समय यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण वसुदेव मृगचर्म धारण किये हुए थे, जिसके कारण वे अतिशय शोभाशाली दिख रहे थे। उनकी पत्नियाँ सुरम्य वस्त्र, कङ्गन, हार, पायजेब, एवं कर्णफूलादि आभूषणोंसे विभूषित थीं॥ ४८॥

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे॥ ४९॥

हे महाराज परीक्षित्! वसुदेवके यज्ञमें सदस्यों एवं ऋत्विजोंने रत्नोंसे जड़ित आभूषण एवं पीतवर्णके कौशेय वस्त्र धारण कर

रखे थे। वे इतने तेजस्वी दिख रहे थे, जैसे पहले वृत्र-हन्ता देवराज इन्द्रके यज्ञमें दिखायी दिये थे॥ ४९॥

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः॥ ५०॥

उस समय सम्पूर्ण प्राणियोंके अधिपति बलराम और श्रीकृष्ण अपने-अपने पुत्रों, पत्नियों, बन्धु-बान्धवों आदि अपनी विभूतियोंके साथ विराजमान होकर अति शोभायमान हो रहे थे॥ ५०॥

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम्॥ ५१॥

वसुदेवने प्रत्येक यज्ञ यथा—ज्योतिष्टोम, दर्श, पूर्णमास आदि प्राकृत यज्ञ, सौरसत्रादि वैकृत यज्ञ और अग्निहोत्रादि अन्यान्य यज्ञोंमें होनेवाले शास्त्रोक्त विधि-विधानके अनुसार सम्पूर्ण द्रव्यों, मन्त्रों एवं अनुष्ठानोंके अधीश्वर श्रीहरिकी आराधना की॥ ५१॥

अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले यथाम्नातं स दक्षिणाः।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनाः॥ ५२॥

यज्ञ समाप्त होनेपर उन्होंने सुन्दर आभूषणोंसे युक्त ऋत्विजोंको पुनः अलंकृत किया, शास्त्रविधिके अनुसार उन्हें दक्षिणा दी एवं गौएँ, भूमि और विप्र-कन्याएँ प्रदान कीं॥ ५२॥

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः॥ ५३॥

तत्पश्चात् महर्षियोंने पत्नी-संयाज नामक याग-विशेष एवं अवभृथ सम्बन्धित स्नानादि अनुष्ठानोंको सम्पन्न करवाया तथा यजमान वसुदेवजीको आगे करके रामह्रद (परशुराम सरोवर) में दीक्षान्त स्नान करवाया और स्वयं भी स्नान किया॥ ५३॥

स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदात् तथा स्त्रियः।
ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत्॥ ५४॥

यज्ञान्त स्नान समाप्त होनेपर वसुदेवजी एवं उनकी महिषियोंने सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण धारण किये और अपने (पूर्व) सारे वस्त्र एवं अलङ्कार स्तुति-पाठ करनेवाले बन्दीजनोंको प्रदान कर दिये। उन्होंने समस्त वर्णोंमें उत्पन्न व्यक्तियोंसे लेकर कुत्तोंतकको भोजन कराके सम्मानित एवं सन्तुष्ट किया॥ ५४॥

बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोशलकुरून् काशिकेकयसृञ्जयान्॥ ५५॥
सदस्यर्त्विक्सुरगणान् नृभूतपितृचारणान्।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम्॥ ५६॥

तत्पश्चात् वसुदेवने स्त्री-पुत्रोंके साथ सभी भाई-बान्धवों, विदर्भ, कोशल, कुरु, काशी, केकय, सृञ्जय आदि राज्योंके राजाओं, यज्ञ सभाके सदस्यों, ऋत्विजों, देवताओं, मनुष्यों, भूतों, पितरों और चारणोंका बड़े-बड़े उपहारोंसे सम्मान किया। बादमें उन लोगोंने श्रीधाम श्रीकृष्णसे अनुमति ली और यज्ञकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थानोंकी ओर चले गये॥ ५५-५६॥

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ।
नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः॥ ५७॥
बन्धून् परिष्वज्य यदून् सौहृदाक्लिन्नचेतसः।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः॥ ५८॥

हे परीक्षित्! धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, भीष्म पितामह, द्रोण, कुन्ती, नकुल, सहदेव, नारद, व्यासदेव अन्यान्य सगे-सम्बन्धी, बान्धव सभीने यदुओंका आलिङ्गन किया। सौहार्दवश सभीका चित्त द्रवीभूत हो गया। वे अपने हितैषी बन्धु यादवोंको छोड़कर जानेमें विरह-व्यथाका अनुभव करने लगे और अति कठिनाईसे किसी प्रकार अपने-अपने स्थानोंकी ओर प्रस्थान कर गये॥ ५७-५८॥

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद् बन्धुवत्सलः॥ ५९॥

हे परीक्षित्! बन्धुवत्सल नन्दबाबा और अन्य सब गोप प्रेमवश वहाँ बहुत दिनों तक रहे। श्रीकृष्ण, बलराम, उग्रसेन आदि यादवोंने ऐश्वर्यमयी पूजा-सामग्रियोंसे पूजा-अर्चन करके उनका सत्कार किया (बन्धुवत्सल नन्दमहाराजने गोपगणोंके साथ विशेष अर्थात् पञ्च-पाण्डवोंसे भी अधिक सम्मान प्राप्त किया)॥ ५९॥

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य्य मनोरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन्॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीवसुदेव अपने बहुत बड़े मनोरथ—यज्ञरूप महासमुद्रको अनायास ही पार कर गये। वे बड़े आनन्दित हो रहे थे। सुहृदजन उनके चारों ओर बैठे थे। वे नन्द महाराजका हाथ पकड़कर कहने लगे—॥ ६०॥

श्रीवसुदेव उवाच—

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम्॥ ६१॥

श्रीवसुदेवने कहा—हे भाईजी! भगवान्‌ने मनुष्योंके लिए स्नेह नामक एक बहुत बड़ा बन्धन बना दिया है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि इस स्नेह-बन्धनको बड़े-बड़े शूरवीर बलके द्वारा और योगी-यति भी ज्ञानके द्वारा भङ्ग करनेमें नितान्त असमर्थ हैं॥ ६१॥

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत् कृताज्ञेषु सत्तमैः।
मैत्र्यर्पिताफला चापि न निवर्त्तेत कर्हिचित्॥ ६२॥

आप जैसे सज्जन-श्रेष्ठने हम जैसे अकृतज्ञोंके प्रति जो अनुपम मित्रताका व्यवहार स्थापित किया है, वह अतुलनीय है। आप इसके प्रत्युपकारकी इच्छा नहीं करते और न ही उसके फलकी। यह मैत्री सम्बन्ध कभी विरत नहीं हो सकता, आप इस स्नेह-पाशको ईश्वरकृत मानकर सदा निभाते रहेंगे॥ ६२॥

प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः॥ ६३॥

हे भाई! पहले तो हम (कंस वध न होने तक) बन्दीगृहमें बन्द रहनेके कारण आपके लिए कुछ भी प्रिय या हितकारी कार्य नहीं कर पाये। अब धन-मदसे हम अन्धे हो गये हैं, जो आप सम्मुख स्थित हैं और हम आपको देख तक नहीं पा रहे हैं॥ ६३॥

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक्॥ ६४॥

हे मानद! राजलक्ष्मीके कारण पुरुष अन्धे होकर बन्धु-बान्धवों यहाँ तक कि स्वजनोंको भी भूल जाते हैं। अतः जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन पुरुषोंको ऐसी राजलक्ष्मीका प्राप्त न होना ही अच्छा है। (इस प्रकार महादैन्यरूप समुद्रमें वसुदेव तो आप्लावित हो रहे हैं। उन्होंने नन्दमहाराजको भी सराबोर कर दिया है)॥ ६४॥

श्रीशुक उवाच—

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः॥ ६५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार कहते-कहते वसुदेवजीका हृदय प्रेम-विह्वल हो गया। उन्हें नन्द महाराजकी मित्रता और उपकारका स्मरण हो आया। उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये और वे रोने लगे॥ ६५॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत्॥ ६६॥

नन्दबाबा अपने सखा वसुदेवको प्रसन्न करना चाहते थे तथा श्रीकृष्ण और बलरामके प्रेम-पाशमें भी बँधे थे। अतः प्रतिदिन प्रातःकाल होनेपर कहते 'दोपहरको चला जाऊँगा' और दोपहर बीत जानेपर कहते 'कल सुबह चला जाऊँगा'—इस प्रकार आजकल करते-करते तीन महीने वहीं रह गये। यदुवंशियोंने

उनका बहुत सम्मान किया। श्रीशुकदेव गोस्वामी नन्दमहाराजका उपक्रम बता रहे हैं कि उन्होंने वसुदेवके सम्मुख यह प्रकट नहीं होने दिया कि मेरे पुत्र श्रीकृष्णमें जो तुम्हें अपना पुत्ररूप अभिमान है, मैं उसे नष्ट करके अपने पुत्रको व्रजमें ले जाऊँगा। (नन्दमहाराज कुरुक्षेत्रमें कृष्ण एवं बलरामके साथ ही सोते-बैठते और तद्विषयक प्रेमानन्द प्राप्त करते। वे वसुदेवके भी प्रियकारी बनकर रहे)॥ ६६॥

ततः कामैः पूर्य्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्द्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७॥

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ॥ ६८॥

इसके बाद यदुओंने नन्दरायजीको तथा उनके व्रजवासी सङ्गी गोपों एवं बन्धु-बान्धवोंको बहुमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, विविध मूल्यवान् सामग्री एवं अन्यान्य भोग-वस्तुओंसे सन्तुष्ट किया। वसुदेव, महाराज उग्रसेन, श्रीकृष्ण, उद्धव और बलदेवने उन्हें उत्तम उपहार दिये। नन्दमहाराजने इन उपहारोंको लेकर उनसे विदा ली और गोप-गोपी, व्रज-स्थित पशु एवं महासैन्य मण्डलीके साथ व्रज-गोकुलकी ओर चले गये।

नन्दमहाराजने तीन मासके बाद श्रीकृष्णसे कहा—हे प्राणकोटि सर्वस्व श्रीकृष्ण! आपके पसीनेकी एक बूँदपर मैं करोड़ों जीवन निछावर कर सकता हूँ, अब व्रज चलो। अब यहाँ और रहा नहीं जाता। वसुदेवके पास जाकर उन्होंने कहा, "हे सखा वसुदेव! श्रीकृष्णको व्रजमें भेज दो।" उग्रसेनसे भी कहा—"हे महाराज उग्रसेन! आप वसुदेवको आदेश करें, यदि ऐसा न हुआ तो मैं आपकी आँखोंके समक्ष ही रामह्रदमें (परशुराम सरोवरमें) डूब जाऊँगा। हम सूर्यग्रहणके पर्वपर पुण्य अर्जित करने नहीं आये थे। हम कृष्णको न पानेपर मरनेके लिए और कृष्णको पा लेनेपर जीनेके लिए आये हैं।"

तब वसुदेवने देश, काल, पात्र विषयोंके जानकार अपने बन्धुओंसे परामर्श करके निश्चय किया और नन्दमहाराजसे कहा, "हे सखे व्रजराज! सत्य ही कह रहे हो। अपने बन्धुओंकी मृत्यु तो हमें भी सम्मत नहीं है। हम कृष्णको व्रज अवश्य भेजेंगे। अभी तो हमें बन्धु-बान्धवों, सम्बन्धियों, स्त्रियोंके साथ द्वारका जाना है। हम कृष्णके साथ आये हैं, अब कृष्णको छोड़कर घर कैसे जायेंगे? लोग क्या कहेंगे? अतः क्षमा कीजिये। हम शपथ लेकर कहते हैं कि हम द्वारका पहुँचकर दूसरे ही दिन उसे व्रज भेज देंगे।" श्रीउग्रसेनने कहा, "हे व्रजेश्वर! मैं इसके लिए साक्षी हूँ। मैं कृष्णको बलपूर्वक भिजवाऊँगा ही।"

इधर श्रीकृष्ण उद्धव एवं बलरामके साथ श्रीनन्दमहाराजको एकान्तमें ले गये और उनसे कहा—"हे पिताजी! यदि आज मैं इन्हें छोड़कर व्रजमें जाता हूँ, तो ये मेरे विरहमें मरनेके लिए तैयार हो जायेंगे। केशी, अरिष्टासुर आदिसे हजारों गुना बलशाली शत्रु इन्हें मार देंगे। मैं सर्वज्ञ हूँ। मैं जो बतला रहा हूँ, उसे सुनो! मैं यहाँसे (कुरुक्षेत्रसे) द्वारका जाकर युधिष्ठिर महाराजके राजसूय-यज्ञमें निमन्त्रण प्राप्त करके इन्द्रप्रस्थ जाऊँगा। यज्ञमें शिशुपालका वध करके पुनः द्वारका पहुँचकर शाल्वका वध करूँगा। बादमें दन्तवक्रके वधके लिए मथुराके दक्षिण द्वारमें जाकर वहीं उसका वध करूँगा। वहाँसे व्रजमें प्रवेश करके बन्धु-बान्धवोंसे मिलूँगा और आपकी गोदमें खेलते हुए शेष जीवन व्यतीत करूँगा। तबतक भाग्यमें लिखे विरह-दुःखको सहन कर लेना चाहिये। इस समय हठ छोड़ो, व्रज चले जाओ। बस इतनी-सी बात है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब-जब आप मुझे याद करोगे, मैं तब-तब आविर्भूत होकर आपकी सारी विघ्न-बाधाओंको दूर करके आपके सारे मनोरथ पूर्ण करूँगा।" तत्पश्चात् वसुदेवने उन्हें बहुमूल्य अलङ्कार एवं रत्नादि दिये, जिन्हें स्वीकार करके नन्दमहाराज व्रज चले गये॥ ६७-६८॥

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्त्तुमनीशा मथुरां ययुः॥ ६९॥

नन्दबाबा, गोप एवं गोपियोंका चित्त भगवान् गोविन्दके चरण-कमलोंमें इस प्रकार समर्पित था कि अब वे प्रयत्न करनेपर भी उसे वहाँसे दूसरे विषयोंकी ओर आकर्षित नहीं कर पा रहे थे। अतः बिना मनके ही मथुराकी ओर चल पड़े॥ ६९॥

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नात् ययुर्द्वारवतीं पुनः॥ ७०॥

नन्दबाबा आदि बन्धु-बान्धव जब वहाँसे विदा हो गये, तब श्रीकृष्णको ही एकमात्र अभीष्ट माननेवाले यादवगण वर्षाकाल समीप आया देखकर द्वारकाके लिए प्रस्थान कर गये॥ ७०॥

जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम्।
यदासीत् तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम्॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

परीक्षित्! द्वारका पहुँचकर उन्होंने वहाँके लोगोंको तीर्थयात्रामें घटित सुहृद्-मिलन इत्यादि जितने भी प्रसङ्ग थे, वे सब सुनाये, साथ ही वसुदेवके यज्ञ-महोत्सव वृत्तान्तको भी कह-सुनाया॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके चौरासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीवसुदेवकी प्रार्थनासे श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें ज्ञानका उपदेश देना तथा देवकीके छह मृत पुत्रोंको सुतल-लोकसे लाना

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक बार बलराम और श्रीकृष्ण प्रातःकाल अपने पिताके समीप गये और उन्हें प्रणाम किया। वसुदेवने अपने दोनों पुत्रोंका बड़े प्रेमके साथ अभिनन्दन किया और कहने लगे॥ १॥

मुनीना स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्द्धामसूचकम्।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत॥ २॥

हे राजन्! वसुदेवने पहले भी ऋषियोंके मुखसे अपने दोनों पुत्रोंकी महिमा सुनी थी और उनके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोंको देखा था, जिससे उन्हें इस बातका दृढ़ विश्वास हो गया था कि ये साधारण मनुष्य नहीं स्वयं भगवान् हैं। इसलिए वे बलराम और श्रीकृष्णको प्रेमपूर्वक सम्बोधन करते हुए कहने लगे—॥ २॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ॥ ३॥

वसुदेवने कहा—हे महायोगीश्वर सङ्कर्षण! हे सनातनस्वरूप श्रीकृष्ण! इस विश्वके साक्षात् कारणस्वरूप जो प्रकृति एवं पुरुष हैं—आप उन दोनोंके नियामक-स्वरूप परमेश्वर हैं, यह मैं जानता हूँ॥ ३॥

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥ ४॥

घट-पट आदि समस्त पदार्थ जिस देशमें, जिस कालमें, जिस रूपमें, जिनके द्वारा, जिनसे, जिनके सम्बन्धसे और जिनके उद्देश्यसे निर्मित हुए हैं, उन प्रकृति एवं पुरुषके स्रष्टा (महाविष्णु) आप ही हैं। आप ही साक्षात् उन समस्तके स्वरूप हैं अर्थात् ये घटपट आदि सब आपके ही कार्य हैं।

[अभिप्राय यह है कि विश्वके सभी पदार्थ (वस्तुएँ), जिस देशमें हों, जिस कारणके द्वारा हों, जिस उपादानसे हों, जिनके सम्बन्धसे हों, जिसे दान दी जाती हों, जो वस्तु दी जाती हो, जो वस्तु, जिस प्रकारसे, जिस कालमें होती हो—समस्त आपकी ही शक्तिके (मायाके) कार्य हैं। यह जगत् एवं इस जगत्में समस्त पदार्थ आपके ही रूप हैं। आप दोनों समस्त विश्वके मूल कारण हैं। आप ही कारणार्णवशायी महाविष्णुरूपसे प्रधानमें अर्थात् साम्यावस्था प्राप्त मायामें अपनी शक्तिका सञ्चार करते हैं]॥ ४॥

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यज॥ ५॥

हे अधोक्षज! हे परमात्मन्! हे अज! आप ही प्राण (क्रिया-शक्तिमय एवं तत्त्व-स्वरूप) एवं जीव (ज्ञान-शक्तिमय चेतनातत्त्व-स्वरूप) के रूपमें अपनी मायाके द्वारा रचित इस चित्र-विचित्र विश्वमें अन्तर्यामी सूत्रके रूपमें प्रवेश करके इसका पालन-पोषण करते हैं अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मारूपमें प्रवेश करके उनमें प्राण, बुद्धि, कर्म एवं चेतनाके रूपमें व्याप्त रहकर इस जगत्का पालन करते हैं॥ ५॥

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥ ६॥

बाणमें जो भेदन-शक्ति देखी जाती है, वह जैसे बाण-चलानेवाले पुरुषकी ही होती है, वैसे ही विश्वके कारणभूत प्राणादि पदार्थ भी पराधीन हैं—उनके अन्तर्गत जो शक्ति देखी जाती है—वह परम कारण-स्वरूप परमेश्वरकी (आपकी) है।

चेतन (परमात्मा) एवं अचेतन (प्राणादि) पदार्थोंमें परस्पर विषमताके कारण अचेतन पदार्थ चेतन पदार्थोंके समान स्वतन्त्र नहीं हैं अर्थात् ये प्राणादि उनके अधीन हैं। वायुकी शक्तिके द्वारा जिस प्रकार तिनके आदि उड़ा करते हैं और पुरुषकी शक्तिके द्वारा जैसे बाणकी गति देखी जाती है, उसी प्रकार परमेश्वरकी शक्तिसे ही प्राणादि पदार्थोंकी केवल चेष्टा ही देखी जाती है, उनकी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती॥ ६॥

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्॥ ७॥

हे प्रभो! चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, विद्युत् एवं तारोंकी स्फुरणरूप सत्ता (टिमटिमाना), पर्वतोंकी स्थिरता एवं भूमिकी आधार शक्ति और गन्ध-वृत्ति—ये समस्त वस्तुतः आपकी ही शक्तियाँ हैं॥ ७॥

तर्पणं प्राणनमपां देव त्वं ताश्च तद्रसः।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर॥ ८॥

हे देव! हे ईश्वर! आप ही जल हैं और आप ही जलकी तृप्तिकारिणी-शक्ति, जीवन-शक्ति एवं रस-स्वरूप शक्ति हैं। वायुका तेज (इन्द्रिय-शक्ति), सह (अन्तःकरणकी शक्ति), बल (शारीरिक शक्ति), चेष्टा एवं गति—समस्त आपकी ही शक्तियाँ हैं॥ ८॥

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः॥ ९॥

उपाधिकृत दिशाओंके आकाश-प्रदेशोंके अवकाश आप ही हैं। आकाश और उसके आश्रयभूत स्फोट (शब्द तन्मात्रा अर्थात् ध्वनि) या परावस्था-वाणी आप ही हैं, नाद—पश्यन्ती (अप्रकट ध्वनि), ॐकार—वर्ण-मध्यमा (प्रथम अक्षर) एवं पदार्थोंके पृथक्-पृथक् नाम-निर्देशक पद अर्थात् वर्ण (अक्षर), वैखरी

वाणी (श्रव्य वाणी)—ये समस्त आप ही हैं। मनीषी ब्राह्मण कहते हैं कि वाक्यके चार पद अर्थात् चार क्रमिक अवस्थाएँ हैं—उनमेंसे तीन हृदय-गुहामें ही रहती हैं अर्थात् हृदयके भीतर अश्रव्य स्पन्दनोंके रूपमें रहती हैं—बाहर नहीं आतीं, जो चौथा 'वाक्' है, उसीको मनुष्य वाणीके रूपमें जानते हैं॥ ९॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती॥ १०॥

इन्द्रियाँ, उनकी विषय-प्रकाशिका (वस्तुओंको प्रकट करनेवाली) शक्ति, उनके अधिष्ठातृ देवता, उन इन्द्रियोंकी अधिष्ठान शक्ति (उन-उन इन्द्रियोंके देवता-विशेष द्वारा उन-उन इन्द्रियोंके कार्य करनेकी अधिकार-शक्ति), बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति (अर्थात् बुद्धिके द्वारा निर्णय लेनेकी क्षमता) और जीवोंकी यथार्थ-स्मरण (प्रतिधान अथवा सही-सही स्मरण) शक्ति ये समस्त आपकी ही स्वरूप-शक्तियाँ हैं॥ १०॥

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणाञ्च तैजसः।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम्॥ ११॥

भूतोंमें उनका कारण तामस अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण राजस अहङ्कार, वैकल्पिक (इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ) देवताओंका कारणीभूत सात्त्विक अहङ्कार एवं जीवोंके संसारकी मूलाधार प्रकृति (माया)—ये समस्त आप ही हैं॥ ११॥

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम्।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम्॥ १२॥

मृत्तिका, स्वर्ण, आदि वस्तुओंके विकारोंसे उत्पन्न घट, कुण्डल आदि नाशवान् पदार्थोंमें जिस प्रकार मिट्टी, सोना आदि वस्तुएँ अपने मूलरूपमें अविनश्वर निर्णीत हुई हैं, उसी प्रकार जगत्में विनाशशाली पदार्थोंमें एकमात्र आप ही अविनाशी हैं॥ १२॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया॥ १३॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ—महत्तत्त्वादि सभी साक्षात् परब्रह्मस्वरूप आपमें योगमायाके द्वारा कल्पित हैं॥ १३॥

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः।
त्वञ्चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः॥ १४॥

इसलिए हे देव! पूर्वोक्त जन्म, अस्ति, वृद्धि आदि भावोंकी जिस समय आपमें कल्पना कर ली जाती है, यद्यपि वे भाव आपमें सर्वथा नहीं हैं, उस समय मात्र आपमें इनकी प्रतीति होती है, क्योंकि आप कारणरूपमें उन सभी विकृत पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट-से जान पड़ते हैं। कल्पनाकी निवृत्ति हो जानेपर तो उन जन्मादिकी कोई सत्ता भी नहीं रहती और निर्विकल्प परमार्थ-स्वरूप आप अकेले ही रहते हैं।

[महाप्रलयमें सभी जड़-पदार्थोंका—सारे जीव-शरीरोंका—सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका ही आपकी इच्छाशक्ति (योगमाया) के द्वारा वियोग हो जाता है—उस समय इन जागतिक विकार-कार्योंमें आपका कोई संसर्ग नहीं रहता। सृष्टि एवं स्थितिकालमें आप उनमें व्यवहार-कार्यके नियामकरूपमें होते हैं और हम सबकी व्यवहार सिद्धिके लिए अन्तर्यामीत्व (अणु-अणुमें प्रवेश) आदि अंश स्वीकार करते हैं। वस्तुतः भगवान् किसी पदार्थके भीतर नहीं रहते, वे ब्रह्मरूपमें सर्वत्र एवं सभीमें व्याप्त रहते हैं]॥ १४॥

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः॥ १५॥

सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंके प्रवाहके सम्बन्धमें सर्वान्तर्यामी आपकी सूक्ष्मगतिसे जो अनभिज्ञ हैं, वे देहाभिमान(अज्ञान)-जनित कर्मोंके कारण बाध्य होकर संसार-दशाको प्राप्त होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़े रहते हैं॥ १५॥

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम्।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर॥ १६॥

हे परमेश्वर! इस लोकमें किसी भी कारणसे मुझे इन्द्रिय शक्तिसे युक्त यह दुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त हुआ, पर आपकी मायाके प्रभावसे परम स्वार्थ-विषय—परमार्थमें असावधानीके कारण मेरी आयु व्यर्थ ही बीत गयी—इस प्रकारका ज्ञान आपकी भक्ति द्वारा मनुष्य जन्ममें सम्भव होता है, जिसे नहीं होता, वही शोक प्राप्त करता है॥ १६॥

असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत्॥ १७॥

हे भगवन्! आपने ही इन जीवोंको देहमें अहं बुद्धिरूपसे 'यह मैं हूँ' और पुत्रादि विषयमें ममत्व बुद्धिरूप 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके स्नेह-पाशसे बाँध रखा है॥ १७॥

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ।
भूभार-क्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह॥ १८॥

मैं जानता हूँ कि आप दोनों वस्तुतः मेरे पुत्र नहीं हैं, आप प्रकृति एवं पुरुष (महाविष्णु) के ईश्वर हैं। आपने जन्मके समय मुझसे कहा था कि पृथ्वीके भार-स्वरूप क्षत्रियोंके विनाशके लिए आप मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं। हमारी तो देहमें अहं बुद्धि है और पुत्रादिमें ममता बुद्धि है। आप पुत्र नहीं हो परन्तु पुत्र-बुद्धिसे आपके प्रति ममता है॥ १८॥

तत् ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्त्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः॥ १९॥

हे शरणागत-वत्सल दीनबन्धो! इसलिए आज मैंने शरणागत-जनोंके संसार-भय-नाशक आपके चरणकमलोंका आश्रय लिया है। इस

मर्त्त्य-शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेसे मैं इन्द्रियोंकी तृष्णाओंके वशीभूत हो गया। आपमें भी मैंने पुत्र-बुद्धि कर ली। अब तो बस मेरी इस इन्द्रिय-तृष्णाकी निवृत्ति हो॥ १९॥

सूतीगृहे ननु जगाद् भवानजो नौ
संजज्ञे इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम्॥ २०॥

हे महाकीर्त्तिशालिन् प्रभो! आपने सूतिका-गृहमें हमसे (मुझसे एवं देवकीसे) कहा था कि वस्तुतः आप अजन्मा होकर भी अपनी बनायी धर्मकी मर्यादाकी रक्षाके लिए प्रत्येक युगमें जन्म-ग्रहण करनेकी लीलाका अभिनय करते हैं। हे भगवन्! आप घट-पटादि महाकाशके समान प्रत्येक युगमें विविध श्रीविग्रहोंको स्वीकार करते हैं और फिर उन रूपोंमें ही अन्तर्द्धान हो जाते हैं। हे भूमन्! आपकी विभूतिरूप मायाको जाननेमें कोई समर्थ नहीं है। जैसा कि आपने बताया हमने पृश्नि-सुतपा, कश्यप-अदिति एवं वसुदेव-देवकीके रूपोंमें जन्म लिया है परन्तु आप तो पुत्र होकर भी आकाशके समान अलिप्त रहे॥ २०॥

श्रीशुक उवाच—

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा॥ २१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यदुवंश-शिरोमणि, भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण पिताके इस प्रकारके वचनोंको सुनकर जोरसे हँस पड़े। वे विनयके साथ सिर झुकाकर नम्रतापूर्वक मधुर वचनोंसे कहने लगे (श्रीकृष्णने वसुदेवके ऐश्वर्य भावको पुत्र भावमें परिवर्त्तित कर दिया था, परन्तु मुनियोंके वचनोंसे उनमें दोनों पुत्रोंके प्रति पुनः ईश्वर भाव जाग उठा और वे वन्दना करने लगे। यह रसाभास दोष नहीं रहना चाहिये, इसलिए कृष्ण हँसने लगे)॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच—

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे।
यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः॥ २२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पिताजी! हम आपके पुत्र ही हैं। हमें लक्ष्य करके यथार्थ तत्त्वोंका आपने जो भलीभाँति उपदेश दिया है—हम आपकी एक-एक बातको उपयुक्त एवं युक्तिसङ्गत मानते हैं॥ २२॥

अहं यूयमसावार्य्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृग्याः सचराचरम्॥ २३॥

पिताजी! मैं, पूजनीय बलदेव भैया, आप सारे द्वारकावासी एवं यह चराचर जगत्—जैसा आपने बतलाया—इन सबको ब्रह्म-सम्बन्धसे ही समझना उचित है। आप मुझे पुत्ररूपमें ही नहीं, अपितु परमात्मारूपमें भी देखें, परन्तु अपनी शिक्षा द्वारा पुत्ररूपमें मुझे कृतज्ञ भी करें। मेरे प्रति आत्मदृष्टि रखें॥ २३॥

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥ २४॥

परमात्मा स्वप्रकाश, नित्य, प्राकृत गुणोंके सम्पर्कसे सर्वथा रहित एवं प्रकृतिसे अतीत हैं। वे एक होनेपर भी आत्म-सृष्ट (स्वरचित) गुणोंके द्वारा देहोंकी सृष्टि करके अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं। परमात्मा श्रीकृष्ण विविध रूपोंमें प्रकाशित होकर भी अपने स्वरूप एवं स्वरूपानुबन्धी गुणोंका त्याग नहीं करते (प्रस्तुत पंक्तियोंमें द्वारकाके परिकरोंकी भगवत्-सदृशताका निरूपण हुआ है)॥ २४॥

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि॥ २५॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत जिस प्रकारसे अपने द्वारा ही रचित घट, कुण्डलादि उपाधिके अनुसार

प्रकट-अप्रकट (दृश्य-अदृश्य), लघु-विशाल एवं एक और अनेक रूपोंको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार एक परमात्मा भी आविर्भाव-तिरोभावके कारण विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक ही है॥ २५॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतः।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत्॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर वसुदेव भेद-बुद्धिसे (नाना प्रकारके विचारोंसे) मुक्त हो गये। हृदयमें अति आनन्दका अनुभव करते हुए वे मौन होकर स्थित रहे।

वसुदेवने निर्धारण कर लिया कि जगत् एवं जीव श्रीकृष्णकी शक्तिके विलास हैं तथा कृष्ण स्वयं साधारण जीव नहीं हैं। श्रीकृष्ण एवं बलराम उनके ही पुत्र हैं—इस ज्ञानसे उनमें सहज वात्सल्य उदित हो आया और वे आनन्दसे अभिभूत गये॥ २६॥

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता।
श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता॥ २७॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना॥ २८॥

हे कुरुवर! उस समय वहाँ समस्त लोकोंकी पूजनीय देवकी देवी (जो भगवान्की अन्तरङ्गा-शक्ति द्वारा मोहित थीं) भी बैठी हुई थीं। वे बहुत पहलेसे ही यह बात सुनकर अत्यन्त विस्मित थीं कि श्रीकृष्ण और बलराम अपने ही द्वारा रचित यमालयसे गुरु सान्दीपनि मुनिके मृतपुत्रको लौटा लाये थे। उन्हें कंस द्वारा मारे गये अपने पुत्रोंका स्मरण हो आया। उनका हृदय आतुर हो गया और आँखोंसे आँसू बहने लगे। उन्होंने अत्यन्त करुण स्वरसे श्रीकृष्ण एवं बलरामसे कहा॥ २७-२८॥

श्रीदेवक्युवाच—

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ॥ २९॥

हे अप्रमेयस्वरूप बलराम! हे योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण! मैं समझती हूँ कि तुम दोनों इस विश्वकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मादियोंके भी नियन्ता सनातन पुरुष हो॥ २९॥

कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्त्तिनाम्।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे॥ ३०॥

मैं यह भी निश्चितरूपसे जानती हूँ कि तुम दोनों जगदीश्वर हो। जिन राजाओंने काल-क्रमसे अपना धैर्य, संयम और सत्त्वगुण (साधुत्व) खो दिया है एवं जो शास्त्र-मार्गका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारी हो रहे हैं, उन पृथ्वीके भार-स्वरूप राजाओंका वध करनेके लिए तुम दोनों मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हो॥ ३०॥

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥ ३१॥

हे निखिलान्तर्यामिन्! हे आदिपुरुष! जिनके अंश महावैकुण्ठनाथ हैं और जिनके भी अंशभूत महाविष्णु हैं और जिनकी भी अंशभूता प्रकृतिके अंश—परमाणु अर्थात् रज आदि गुणोंसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार होते हैं—आज मैं उन आपकी शरणमें हूँ॥ ३१॥

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा काल चोदितौ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम्॥ ३२॥
तथा मे कुरु तं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान्॥ ३३॥

मैंने सुना है कि आपके गुरु सान्दिपनी मुनिका पुत्र बहुत समय पहले मर गया था, जब उन्होंने गुरुदक्षिणाके रूपमें पुत्रको माँगा, तब कालकी प्रेरणासे तुम दोनों यमालय जाकर उसे वापस

ले आये और गुरु-दक्षिणाके रूपमें उसे प्रदान कर दिया। उसी प्रकार हे योगेश्वराधिपति! तुम दानों कंसके द्वारा मारे गये मेरे पुत्रोंको भी फिरसे ला दो। उन्हें देखनेकी मेरी बड़ी इच्छा है। तुम लोग मेरी इस अभिलाषाको पूर्ण करो॥ ३२-३३॥

श्रीऋषिरुवाच—

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ॥ ३४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भरतकुलनन्दन! माता देवकी द्वारा इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर श्रीकृष्ण और बलराम—दोनोंने योगमायाका आश्रय लेकर सुतल लोकमें प्रवेश किया॥ ३४॥

तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्-
विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः॥ ३५॥

वहाँ दैत्यराज बलिने विश्वात्मा, विश्वाराध्य, निज अभीष्टदेव बलराम और श्रीकृष्णको सुतल लोकमें प्रवेश करते देखा, तो उनका हृदय आनन्दसे भर गया। वे अपने परिवारके साथ आसनसे शीघ्र ही उठे और सपरिवार झुककर उन्हें प्रणाम किया॥ ३५॥

तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनद् यदम्बु ह॥ ३६॥

राजा बलिने बड़े ही आनन्दके साथ उन्हें उत्तम सिंहासनपर बिठाया। सिंहासनपर विराजमान हो जानेके बाद उन्होंने कृष्ण-बलरामके चरण पखारे और ब्रह्मासे लेकर सारे जगत्‌को पवित्र करनेवाले उस पादोदकको मस्तकपर धारण किया॥ ३६॥

समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः
स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च॥ ३७॥

इसके बाद दैत्यराज बलिने महामूल्यवान् वस्त्र, अलङ्कार, सुगन्धित चन्दन, ताम्बूल, प्रदीप, अमृतके समान भोज्य आदि द्रव्योंसे उन दोनोंकी पूजा की तथा अपना समस्त परिवार, सम्पत्ति और अपने-आपको भी उनके चरणोंमें समर्पण कर दिया॥ ३७॥

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम्॥ ३८॥

हे राजन्! उस समय इन्द्रकी सेनाको जीतनेवाले दैत्यराज बलिका चित्त प्रेमसे द्रवित हो गया। वे बार-बार श्रीकृष्ण और बलरामके चरणकमलोंको कभी अपने वक्षपर और कभी अपने मस्तकपर धारण करने लगे। उनके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु उमड़ आये, उनका रोम-रोम खिल उठा और वे बड़े गद्गद स्वरसे उनकी स्तुति करने लगे॥ ३८॥

श्रीबलिरुवाच—

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने॥ ३९॥

राजा बलिने कहा—जो अनन्तरूपसे अपने विशाल फणके एक भागमें विश्वको धारण करते हैं, मैं उन महान् बलदेवको नमस्कार करता हूँ। ब्रह्माण्डके स्रष्टा, भाग्यके विधाता, सांख्य (ज्ञान-शास्त्र) और योगका विस्तार करनेवाले परम ब्रह्म, परमात्मा, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३९॥

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापञ्चाप्यदुर्लभम्।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया॥ ४०॥

भगवन्! आपके दर्शन तो योगेश्वरोंके लिए भी दुर्लभ हैं, तथापि हमारे जैसे रज एवं तमोमय स्वभाववालोंके सम्मुख जो आप सुलभ हुए हैं, वह आपकी अहैतुकी कृपा ही है॥ ४०॥

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः॥ ४१॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयञ्चान्ये च तादृशाः॥ ४२॥

केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः॥ ४३॥

प्रभो! दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ-नायक (प्रेत), हम और हमारे जैसे लोगोंने चिरकालसे आपसे वैर-भाव बना रखा है। विशुद्ध-सत्त्वाश्रय भक्तिशास्त्रोंमें कहा गया है कि आपका श्रीविग्रह (शास्त्र-विग्रह) सच्चिदानन्दमय है। हममें एवं अन्यान्य लोगोंमेंसे शिशुपाल आदि किसी-किसीने आपके प्रति दृढ़ वैर-भावसे और गोपियों आदिने अनुरागयुक्त भक्तिसे (काम भावसे) जिस प्रकार आपका सान्निध्य प्राप्त किया है, सत्त्वप्रधान देवताओंको वैसा सान्निध्य प्राप्त नहीं हो सकता।

हिरण्यकशिपु-वंशजात मैं अपने बाण आदि पुत्रोंके साथ सदा ही आपका विद्वेषी और दैत्योंका पक्षपाती रहा हूँ। दैत्य आपसे नित्य वैर भाव रखते हैं। (स्वयंमें दोषारोपण करना परम भक्तका स्वभाव होता है।) दानव, राक्षसादि आपके भक्तोंसे द्वेष करते हैं। गन्धर्व आदि (सिद्ध, विद्याधर एवं चारण आदि) सकाम भक्तगणोंको मेरे द्वारपर रखकर कृपापूर्वक मुझे दर्शन प्रदान करते हैं (हम दुष्ट स्वभाववालोंको तो आपका दर्शन दुर्लभ है)। शिशुपालादि कितने ही दैत्योंको मारकर आप मुक्ति प्रदान करते हैं, गन्धर्वोंको

निज यशोगान आदि गुण प्रदान करते हैं, इस गानको स्वयं भी श्रवण करते हैं और अपने भक्तोंको भी कराते हैं तथा कभी तो देवताओंको भी अपना स्वरूप विस्मृत कराकर विषय-भोग दे देते हैं, वे आपके समीप रहकर भी आपको प्राप्त नहीं कर सकते॥ ४१-४३॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्॥ ४४॥

हे योगेश्वरेश्वर! ब्रह्मादि बड़े-बड़े योगीन्द्र भी आपकी योगमायाको स्वरूपतः अथवा विशेषतः नहीं जान सकते कि "यह इस प्रकारसे है या ऐसी है" फिर हम तो किस प्रकारसे जान सकते हैं? ॥ ४४॥

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात्।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि॥ ४५॥

इसलिए हे प्रभो! पूर्णकाम, परमहंस, महाजन जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, उन आपके चरणकमलोंके आश्रयसे दूर रहकर मैं गृहान्ध कूपमें पड़ा हुआ हूँ। आप मुझपर अनुग्रह कीजिये कि मैं यहाँसे निकलकर समस्त विश्वके आश्रय वृक्षोंके नीचे रहकर स्वयं ही गिरे हुए फलों द्वारा जीवन धारणकर शान्त भावसे अकेला रहूँ अथवा सभीके सच्चे बान्धव महान् सन्तोंके साथ पर्यटन करता रहूँ॥ ४५॥

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो।
पुमान् यच्छ्रद्धयातिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते॥ ४६॥

(यदि कोई कहे कि मेरे जैसे अल्प पुण्यवाले व्यक्तिके लिए यह किस प्रकारसे सम्भव है? इसलिए कहता हूँ) हे जीवेश, हे प्रभो! आप समस्त चराचर जगत्‌के नियन्ता और स्वामी हैं। जो श्रद्धाके साथ आपकी आज्ञाका पालन करता है, वह विधि-निषेधरूप

वैदिक अनुष्ठानोंसे मुक्त हो जाता है। मुझे वही आज्ञा—वही शिक्षा प्रदानकर निष्पाप कर दीजिये॥ ४६॥

श्रीभगवानुवाच—

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम्॥ ४७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे दैत्यराज! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें प्रजापति मरीचिकी पत्नी ऊर्णादेवीके गर्भसे छह पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवता थे। प्रजापति ब्रह्माको अपनी ही पुत्रीके साथ रमण करनेके लिए उद्यत देखकर इन छहों पुत्रोंको हँसी आ गयी॥ ४७॥

तेनासुरीमगन् योनिमधुनावद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया॥ ४८॥
देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः।
सा तान् शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके॥ ४९॥

इस परिहासरूप अपराधके कारण ब्रह्माजीने उन्हें आसुरी योनिमें जन्म लेनेका अभिशाप दे दिया, जिससे उन्हें हिरण्यकशिपुके पुत्रोंके रूपमें जन्म लेना पड़ा। वहाँसे योगमाया उन्हें ले आयी एवं उन्हें देवकीके गर्भमें रख दिया, जिससे उनका जन्म देवकी-पुत्रोंके रूपमें हुआ, जिन्हें कंसने मार डाला। हे दैत्यराज! मेरी माँ देवकीदेवी उन्हें ही अपना पुत्र समझकर शोकातुर हो रही हैं। मरीचिके वे छहों पुत्र आपके पास हैं॥ ४८-४९॥

इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।
ततः शापाद्विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥ ५०॥

हम माता देवकीका शोक दूर करनके लिए वहाँसे इस स्थानपर आये हैं और इन्हें माताके पास ले जाना चाहते हैं। इसके बाद ये शापसे मुक्त होकर सन्ताप-रहित हो जायेंगे और अपने स्थान देवलोकमें चले जायेंगे—॥ ५०॥

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्घृणी।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्॥ ५१॥

स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत् और घृणी नामक ये छह पुत्र हमारे अनुग्रहसे पुनः सद्गतिको प्राप्त करेंगे॥ ५१॥

इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम्॥ ५२॥

परीक्षित्! यह कहकर भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये। दैत्यराज बलिने उन दोनोंका भलीभाँति पूजन किया; तदनन्तर बलराम और श्रीकृष्ण उन छहों बालकोंको लेकर पुनः द्वारका आ गये और उन्हें अपनी माताको सौंप दिया॥ ५२॥

तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्द्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः॥ ५३॥

उन बालकोंको देखते ही वात्सल्य स्नेहके उद्रेकसे देवकी माताके स्तनोंसे दूध झरने लगा। वे उनका आलिङ्गन करने लगीं और उन्हें गोदमें बिठाकर बार-बार मस्तक सूँघने लगीं॥ ५३॥

अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम्।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्त्तते॥ ५४॥

भगवान्ने जिस योगमायाके बलसे अप्राकृत सृष्टिका प्रवर्त्तन किया है, तल्लीलापरिकरको प्रादुर्भूत करनेवाली उस योगमायासे देवकी मोहित हो गयीं और पुत्र-स्पर्शसे उत्पन्न वात्सल्य-स्नेहसे सराबोर होनेके कारण स्वतः क्षरित दुग्धका उन्हें बड़े आनन्दके साथ पान कराने लगीं॥ ५४॥

पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्श-प्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥ ५५॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम्॥ ५६॥

भगवान् श्रीकृष्णने पहले देवकी माताका स्तन्य-पान किया था। अतएव उनका उच्छिष्ट देवकीके स्तनोंका दूध साक्षात् अमृत ही था; उन बालकोंने वही अमृतमय दूध पिया। उस दुग्धामृतके पीनेसे तथा श्रीकृष्णके दिव्य अङ्गोंके स्पर्शके कारण उन्हें अपने मूल-स्वरूप अर्थात् देवस्वरूपका ज्ञान हो गया। उन्होंने भगवान् गोविन्द, देवकी, अपने पिता वसुदेव और बलदेवको प्रणाम किया तथा समस्त प्राणियोंके देखते-ही-देखते वे देवलोकको चले गये॥ ५५-५६ ॥

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥ ५७॥

हे राजन्! पूजनीया देवकीदेवी मृतक पुत्रोंके पुनः आगमन एवं पुनः देवलोकमें प्रस्थान देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं। तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि यह भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा रची हुई माया है॥ ५७॥

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥ ५८॥

हे भरतकुलनन्दन! अनन्त प्रभावशाली परमात्मा श्रीकृष्णके ऐसे ही आश्चर्यजनक बहुत-से पराक्रममय लीला-चरित्र हैं॥ ५८॥

श्रीसूत उवाच—

य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्त्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥ ८५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्त्ति अक्षय है, अमृतमयी है। उनका चरितामृत जगत्के सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला तथा भक्तोंके कर्ण-कुहरोंमें परम अमृतको प्रवाहित करनेवाला दिव्य कर्णाभूषण-स्वरूप है। जो व्यासपुत्र द्वारा सुनायी गयी इन कथाओंको निरन्तर सुनता है अथवा दूसरोंको सुनाता है, उसका चित्त भगवान्में स्थिर हो जाता है और वह कालादिके भयसे रहित होकर भगवान्के मङ्गलमय धामको प्राप्त होता है॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके पिचासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षडशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा सुभद्रा–हरण और श्रीकृष्णका मिथिलापुरीमें राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मणके घर एक ही समय जाना

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही॥ १॥

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! (आपने बलदेवसे अनिरुद्ध पर्यन्त सभीके विवाहोत्सवका वर्णन किया। अब) मेरी दादी सुभद्रादेवी जो बलराम और श्रीकृष्णकी बहिन थीं, अर्जुनके साथ उनका विवाह किस प्रकार हुआ—यह मैं आपसे सुनना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः।
गतः प्रभासमश्रृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः॥ २॥

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात्॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक बार शक्तिशाली अर्जुन तीर्थयात्राके लिए पृथ्वीपर पर्यटन करते हुए प्रभास क्षेत्र पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुना कि बलदेव उनके (अर्जुनके) मामाकी पुत्री सुभद्राका विवाह दुर्योधनके साथ करना चाहते हैं, किन्तु वसुदेव और श्रीकृष्ण आदि आत्मीयगण इस विषयमें सहमत नहीं हैं। तब अर्जुनके मनमें उसके साथ विवाह करनेकी अभिलाषा जग गयी और वे बलदेवादिकी वञ्चनाके लिए त्रिदण्डी संन्यासीका वेश धारण करके द्वारका पहुँचे॥ २–३॥

तत्र वै वार्षिकान् मासानवात्सीत् स्वार्थसाधकः।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः॥ ४॥

अर्जुन सुभद्राको प्राप्त करनेके लिए वर्षाकालीन चार महीने वहीं रहे। पुरवासी एवं बलदेव कोई भी अर्जुनको उस वेशमें पहचान न सका। उन लोगोंने उन्हें त्रिदण्डी संन्यासी जानकर उनका अच्छी प्रकारसे सम्मान किया॥ ४॥

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम्।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल॥ ५॥

एक बार बलदेवने आतिथ्यके लिए अर्जुनको अपने घरमें निमन्त्रित किया और सत्कार-धर्म एवं श्रद्धाके साथ उनके लिए भोजन परोसा। अर्जुन उन दिनों भिक्षासे प्राप्त अन्न ही ग्रहण किया करते थे॥ ५॥

सोऽपश्यत् तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम्।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे॥ ६॥

उसी समय अर्जुनने विवाह-योग्य, अद्भुत-सुन्दरी वीर-धीर-मनोहारिणी बालाको देखा। उसे देखकर उनके नेत्र प्रीतिसे प्रफुल्लित हो गये और चित्त उसकी प्राप्तिकी कामनासे विचलित हो गया॥ ६॥

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम्।
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा॥ ७॥

अर्जुनका सौन्दर्य भी स्त्रियोंके मनोंको आकर्षित करनेवाला था। सुभद्रा तनिक मुसकराती हुई लजीली चितवनसे अति मनोरम अर्जुनको निहारने लगी और अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया॥ ७॥

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः।
न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा॥ ८॥

अर्जुन सर्वदा सुभद्राका चिन्तन करते रहते थे। वे उसका हरण करनेका कोई अवसर ढूँढ़ने लगे। सुभद्राको प्राप्त करनेकी प्रबल अभिलाषासे उनका चित्त भ्रमित हो रहा था। बलदेवसे सम्मान प्राप्त करके भी उन्हें किसी भी प्रकारसे शान्ति नहीं मिल रही थी॥ ८॥

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम्।
जहारानुमतः पित्रो कृष्णस्य च महारथः॥ ९॥

एक दिन वह कन्या किसी देवोत्सवके उपलक्षमें (चातुर्मासके अन्तमें श्रीभगवान्के उत्थानके अवसरपर) रथपर आरूढ़ होकर द्वारका-दुर्गसे बाहर निकली ही थी कि महारथी अर्जुनने देवकी, वसुदेव एवं श्रीकृष्णकी अनुमति प्राप्त करके उनका हरण कर लिया॥ ९॥

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान्।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव॥ १०॥

सिंह जिस प्रकार अन्यान्य पशुओंमेंसे अपना भाग हर ले जाता है, उसी प्रकार उच्च स्वरसे आर्त्तनाद करती हुई सुभद्राकी सखियोंकी उपेक्षा करके महारथी अर्जुनने सुभद्राको रथपर चढ़ा लिया एवं धनुष धारण करके स्वयं ही चारों दिशाओंमें रुकावट डालनेवाले यादव-वीरोंको एवं पैदल-योद्धाओंको पराजित करके रथको लेकर आगे बढ़ चले॥ १०॥

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चानुसान्त्वितः॥ ११॥

उत्सव दिवस पर इस अपहरणके समाचारको सुनकर बलदेव इस प्रकार विचलित हो उठे, जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन समुद्र क्षुब्ध हो जाता है। तब श्रीकृष्ण और उनके बान्धवोंने उनके चरण पकड़े और समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया॥ ११॥

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥ १२ ॥

इसके बाद तो बलदेवने अति प्रसन्नताके साथ वर-वधूको दहेजमें बहुमूल्य सामग्रियाँ, हाथी, घोड़े, रथ, सैनिक एवं दासियाँ उपहार-स्वरूप भिजवाये॥ १२॥

श्रीशुक उवाच—

कृष्णस्यासीद्द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः॥ १३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! श्रीकृष्णकी अनन्य-भक्तिके कारण पूर्ण-मनोरथ, परम-शान्त एवं विषयोंसे विरक्त श्रुतदेव नामसे प्रसिद्ध एक विवेकी ब्राह्मण थे॥ १३॥

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी।
अनीहयागताहार्यनिर्वर्त्तितनिजक्रियः ॥ १४॥

वे गृहस्थ ब्राह्मण थे और विदेहराजकी राजधानी मिथिला नगरीमें वास करते थे। सहजरूपसे जो कुछ भोज्य पदार्थ मिल जाता, उसीसे सन्तुष्ट रहकर वे अपनी जीविकाका निर्वाह कर लेते थे॥ १४॥

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः॥ १५॥

प्रारब्ध-वश प्रतिदिन उन्हें जीवन-निर्वाहके लिए उपयोगी सामग्री मात्र ही प्राप्त हो पाती थी, अधिक नहीं। वे उससे ही सन्तुष्ट होकर वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार अपने कर्त्तव्योंका पालन किया करते थे॥ १५॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ॥ १६॥

हे वत्स परीक्षित्! श्रुतदेवके समान ही राजत्व-अहङ्कारसे रहित बहुलाश्व नामके राजा थे, जो महाराज जनकके प्रतिष्ठित वंशमें उत्पन्न हुए थे। वे ही उस समय विदेह राज्यके अधिपति थे। वे दोनों ही श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे॥ १६॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम्।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनोंसे बहुत प्रसन्न होकर दारुकसे रथ मँगवाया और उसपर विराजमान होकर मुनियोंके साथ द्वारकासे विदेह-राज्यकी यात्रा की।

श्रुतदेव एवं बहुलाश्व दोनों ही अपने इष्टदेवके श्रीविग्रहकी सेवा-पूजामें लगे रहते थे। उन दोनोंको ही भगवान्का दर्शन करनेकी तीव्र उत्कण्ठा थी। तब श्रीकृष्ण स्वयं ही उन दोनोंको दर्शन देनेके लिए मुनियोंके साथ मिथिलापुरी चल दिये। मुनियोंको श्रम (थकावट) न हो इसलिए उन्होंने उन्हें भी अपने रथपर बिठा लिया॥ १७॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः॥ १८॥

उस समय नारद, व्यासदेव, अत्रि, वामदेव, भार्गव, असित, आरुणि, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन आदि मुनि और स्वयं मैं (शुकदेव) भी उनके साथ था॥ १८॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम्॥ १९॥

हे राजेन्द्र! वे जिस भी नगर अथवा ग्रामसे गुजरते, वहाँके नागरिक एवं ग्रामवासी अपने हाथोंमें पूजाकी सामग्री लेकर उनके गमन-पथपर आ जाते और उनका अभिनन्दन करते। उस समय मुनियोंसे परिवेष्टित श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभा पाते जैसे ग्रहोंके साथ सूर्यका उदय हुआ हो॥ १९॥

आनर्त्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोशलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्य्यः॥ २०॥

हे राजन्! उस समय आनर्त्त, धन्व, कुरु-जाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल, अर्ण आदि राज्यों एवं अन्यान्य देशोंमें रहनेवाले स्त्री-पुरुषोंने अपने-अपने नेत्ररूपी प्यालेसे सानुराग उनकी उदार मुस्कान और प्रेमभरी चितवनसे युक्त मुख-कमलके अमृतमय मकरन्द रसका पान करने लगे॥ २०॥

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशञ्च यच्छन्।
शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान्॥ २१॥

त्रिलोक-गुरु भगवान् श्रीकृष्णके कृपा-कटाक्षको प्राप्त करके उन लोगोंकी दृष्टि अज्ञान-अन्धकारसे मुक्त हो गयी। श्रीकृष्ण दर्शकोंको अभय-दान एवं तत्त्व-ज्ञानका वितरण करते हुए चल रहे थे। देवता, मानव उनके अशुभ-विनाशक एवं दिग्मण्डल-प्रकाशक यशका गान कर रहे थे, जिसे सुनते हुए वे धीरे-धीरे विदेह-राज्यमें पहुँचे।

प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन प्रजाओंको निज नेत्रों द्वारा किस प्रकारसे सम्भव है, तो इसका उत्तर है कि वे दर्शनार्थियोंके अज्ञान-अन्धकारको दूर करके परमार्थ-अनुभव योग्य—निज भक्तियोग एवं निज माधुर्य विशेषको अनुभव करनेकी शक्ति देते हैं और इस उक्तिको सार्थक करते है—'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' अर्थात् एकमात्र भक्ति द्वारा ही मैं अनुभव-योग्य हूँ॥ २१॥

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप।
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः॥ २२॥

हे राजन्! विदेहराज्यके पुरवासियों एवं ग्रामवासियोंने जब श्रीकृष्णके शुभागमनके विषयमें सुना, तो वे बड़े आनन्दित हो गये और अपने-अपने हाथोंमें उपहार लेकर उनकी अगवानीके लिए चल दिये॥ २२॥

दृष्ट्वा त उत्तमःश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन्॥ २३॥

पुण्यश्लोक-शिरोमणि श्रीकृष्णका दर्शन करके दर्शनार्थियोंका हृदय प्रीतिसे प्रफुल्लित हो गया। उन्होंने सिरोंके ऊपर अञ्जलि बाँधकर भगवान् श्रीकृष्णको और साथ आये मुनियोंको प्रणाम किया। उन लोगोंने उन मुनियोंके केवल नाम सुने थे, उन्हें देखा नहीं था॥ २३॥

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम्।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः॥ २४॥

मिथिला-नरेश बहुलाश्व एवं ब्राह्मण श्रुतदेव दोनों ही यह निश्चय करके कि जगद्गुरु श्रीकृष्णका आगमन उनपर ही अनुग्रह करनेके लिए हुआ है, अतः उनके श्रीचरणोंमें झुककर बार-बार प्रणाम करने लगे॥ २४॥

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली॥ २५॥

दोनोंने एक साथ एक ही समयमें हाथ जोड़कर मुनियोंके साथ यदुवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिए निमन्त्रित किया॥ २५॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः॥ २६॥

भगवान् श्रीकृष्णने दोनोंका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और दोनोंपर प्रीतिपूर्वक अनुग्रह करनेके लिए एक ही समय पृथक्-पृथक्रूपसे दोनोंके घर पधारे। दोनोंमेंसे किसीको यह पता

नहीं चला कि जैसे श्रीकृष्ण उसके घर आये हैं, वैसे दूसरेके घर भी गये हैं।

भगवान्‌ने दोनोंकी मनोवाञ्छा जानकर दोनोंके घरोंमें प्रवेश किया और अपना एवं मुनियोंका वैभव-प्रकाश आविर्भूत किया। इस समय वे दोनोंसे अलक्षित रहे अर्थात् श्रुतदेवने सोचा कि मेरा निमन्त्रण स्वीकार करके कृपालु प्रभु मेरे ही घर आये हैं और राजा बहुलाश्वने भी इसी प्रकारसे विचार किया। भगवान्‌के दो प्रकाश प्रकट हुए—एकके लिए कृष्ण-संयुक्त एवं आनन्दित एवं दूसरा कृष्ण-वियुक्त एवं विषण्णचित्त। कृष्णसे युक्त राजाके प्रतिवेशियोंने श्रुतदेवको कृष्ण-वियुक्त एवं विषण्णचित्त देखा और उसी प्रकारसे श्रुतदेवके प्रतिवेशियोंने राजाको कृष्ण-वियुक्त एवं विषण्णचित्त देखा॥ २६॥

श्रान्तानप्यथ तान् दूराज्जनकः स्वगृहागतान्।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः॥ २७॥

प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः।
नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः॥ २८॥

सकुटुम्बो वहन् मूद्‌र्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान्।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः॥ २९॥

महामति विदेहराज बहुलाश्वने दूरसे देखा कि उनके भवनमें भगवान् श्रीकृष्ण मुनियोंके साथ प्रवेश कर रहे हैं। वे कुछ थके-से लग रहे हैं। राजा बहुलाश्वने उत्तम-उत्तम आसन प्रदान किये और उन्हें बिठाया। जब वे सुखपूर्वक आसीन हो गये, तब राजाने उन सबको अतिशय श्रद्धाके साथ प्रणाम किया। अत्यधिक आनन्दके कारण उनकी आँखें आँसुओंसे भीग गयीं। बहुलाश्वने अपने अतिथियोंके चरण पखारे और उस लोकपावन चरणामृतको अपने परिवारके साथ अपने मस्तकपर धारण किया। इसके बाद गन्ध, माल्य, वस्त्र अलङ्कार, धूप, दीप अर्घ्य, गौ एवं

वृषभ प्रदान करके भगवान् एवं भगवत्-स्वरूप मुनियोंका भलीभाँति अर्चन किया॥ २७-२९॥

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान्।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा॥ ३०॥

जब वे सभी भोजन करके सन्तुष्ट हो गये, तब राजा बहुलाश्वने अति प्रफुल्लित मनसे भगवान्के चरणकमलोंको गोदमें धारणकर लिया एवं सुखपूर्वक संवाहन करने लगे तथा भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए मधुर वाणीसे धीरे-धीरे उनकी स्तुति करने लगे॥ ३०॥

श्रीबहुलाश्व उवाच—

भवान् हि सर्व्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः॥ ३१॥

राजा बहुलाश्वने कहा—हे सर्वशक्तिमान् प्रभु! आप समस्त प्राणियोंके चेतनकर्त्ता (कृपापूर्वक अपनी भक्ति देनेवाले), प्रकाशक (मङ्गल एवं अमङ्गल कर्मके द्रष्टा) एवं स्वयं-प्रकाश-स्वरूप (किसी भी बाह्य साधनसे प्रकाशित न होनेवाले) हैं। हम आपके चरणकमलोंका सदा-सर्वदा ध्यान करते रहते हैं, जिससे आपने हमें दर्शन देकर कृतार्थ किया है॥ ३१॥

स्ववचस्तदृतं कर्त्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान्।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः॥ ३२॥

हे भगवन्! आपने कहा है, मुझे अपना एकान्त प्रेमी भक्त भैया बलराम, पत्नी लक्ष्मी एवं पुत्र अजन्मा ब्रह्मासे भी अधिक प्रिय है। इसी कथनको सत्य करनेके लिए ही आप हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी द्वारकासे इतनी दूर आये हैं॥ ३२॥

को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान्।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः॥ ३३॥

हे भगवन्! आप निष्किञ्चन एवं शान्तचित्त मुनियोंको अपने-आपको भी दानकर अनुगृहीत करते हैं, यह जानकर ऐसा कौन-सा पुरुष होगा, जो आपके चरणकमलोंका परित्याग कर सकेगा? ॥ ३३ ॥

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम्॥ ३४॥

हे देव! आपने यदुवंशमें अवतीर्ण होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़े हुए मनुष्योंकी संसार-निवृत्तिके लिए ही इस लोकमें त्रिलोकके पाप-ताप विनाशन अपने यशका विस्तार किया है॥ ३४॥

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे॥ ३५॥

हे प्रभो! आप हिंसादि धर्मोंसे रहित, शान्त एवं असीम ज्ञानी हैं तथा लोकशिक्षाके लिए आप ही नारायण ऋषिके रूपमें बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं। हे भगवान् श्रीकृष्ण! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

बहुलाश्व अपने घरमें श्रीकृष्णको रोकनेके लिए उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—जिस प्रकार ऋषि नारायण भारतभूमिके मङ्गल हेतु बदरिका आश्रममें वास कर रहे हैं, उसी प्रकार आप मिथिला भूमिमें कुछ दिनों तक रहकर इसका भी सौभाग्य उदित करें। आप सुशान्त तपके इच्छुक हैं, इसलिए द्वारका जैसी ऐश्वर्यपरक भूमिको त्याग करके इस गृहमें रहकर अपनी तपस्या करें॥ ३५॥

दिनानि कतिचिद्भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम्॥ ३६॥

हे भूमन्! (हे सर्वव्यापिन्!) आप इन मुनियोंके साथ कुछ दिनों तक हमारे घरमें ठहरें और अपनी चरण-धूलिसे राजा जनकके इस निमि-वंशको पवित्र करें॥ ३६॥

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवान् लोकभावनः।
उवास कुर्व्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम्॥ ३७॥

राजा बहुलाश्वने जब भगवान्से आदर सहित यह प्रार्थना की, तब लोकपावन भगवान् श्रीकृष्णने मिथिलावासी नर-नारियोंके कल्याणके लिए और कुछ दिनों तक ठहरनेकी स्वीकृति दे दी॥ ३७॥

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहान् जनको यथा।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त्त ह॥ ३८॥

हे राजन्! बहुलाश्वके समान श्रुतदेवने भी अपने घरमें आये हुए अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण एवं मुनियोंको प्रणाम किया तथा अतिशय आनन्दके साथ अपने सिरके ऊपर अपने उत्तरीय वस्त्रको उछाल-उछालकर नृत्य करने लगे॥ ३८॥

तृणपीठबृषीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा॥ ३९॥

उन्होंने अपने घरकी एवं दूसरेके घरसे लायी हुई तृणमयी चटाइयों, पीढ़ों एवं कुशासनोंपर अपने अतिथियोंको बिठाया और स्वागतपरक वचनोंसे उनका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् उन्होंने और उनकी पत्नीने बड़े आनन्दसे उनके पाँव पखारे॥ ३९॥

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम्।
स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः॥ ४०॥

परीक्षित्! महासौभाग्यशाली श्रुतदेवने अत्यन्त हर्षपूर्वक भगवान्के चरणोदकसे अपने घर, अपने कुटुम्बियों और अपना अभिसिञ्चन किया। अब तो वे पूर्णमनोरथ होकर आनन्द-विह्वल हो रहे थे॥ ४०॥

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
र्मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः।

आराधयामास यथोपपन्नया,
सपर्य्यया सत्त्वविवर्द्धनान्धसा॥ ४१॥

उन्होंने आमलकी (आँवला) इत्यादि फल, उशीर नामक तृणमूल, सुवासित, अमृत-तुल्य, स्वादिष्ट, उत्तम पानीय-जल, कस्तूरी इत्यादि सुगन्धित पदार्थ, मृत्तिका, तुलसी-दल, कुश, पद्म-प्रसून एवं भूत-द्रोहसे रहित अनायास उपलब्ध अन्यान्य उपहारोंसे एवं सत्त्वगुण-वर्धक अन्नसे उनकी आराधना की॥ ४१॥

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्-
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः॥ ४२॥

श्रुतदेव मन-ही-मन आश्चर्य करते हुए विचार करने लगे—मुनियोंका हृदय भगवान् श्रीकृष्णका निवासस्थान-स्वरूप है और उनकी पदरेणु समस्त तीर्थोंका आश्रय-स्वरूप है। मेरे-जैसे गृहान्ध-कूपमें पड़े हुए अभागेके लिए भगवान् श्रीकृष्णका एवं महा-माहात्म्यशाली मुनियोंका समागम कैसे हो गया! यह समझमें नहीं आ रहा है॥ ४२॥

सूपविष्टान् कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः।
सभार्य्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः॥ ४३॥

जब अतिथिगण आतिथ्यसे सम्मानित होकर आरामसे बैठ गये, तब श्रुतदेव अपने आश्रित स्त्री-पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुए और मुनियोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका संवाहन करते हुए इस प्रकार कहने लगे— ॥ ४३॥

श्रीश्रुतदेव उवाच—

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया॥ ४४॥

श्रीश्रुतदेवने कहा—हे प्रभो! हे परमपुरुष! आपने जिस समय अपनी सत्त्व इत्यादि गुणात्मक शक्ति द्वारा इस ब्रह्माण्डकी रचना की और आत्मसत्तारूपमें उसमें प्रवेश किया, उसी समयसे आप हमें प्राप्त हो गये थे, परन्तु आज हम आपका साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

ब्राह्मण श्रुतदेवने अपने पाण्डित्य एवं रसालपूर्ण वचनोंसे कहा—हमारा परस्पर दर्शन आज ही हुआ है, ऐसा नहीं है। इस जगत्‌की सृष्टि करके जबसे आपने इस विश्वमें प्रवेश किया है, तबसे आरम्भ करके आपकी तटस्था शक्तिकी वृत्तियाँ—हम जीव अपने कर्मफलका भोग करते हुए आपकी दृष्टिसे जी रहे हैं, किन्तु दर्शन तो आज ही हुआ है॥ ४४॥

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते॥ ४५॥

सोया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार मन-ही-मन अविद्या द्वारा स्वप्न रचित लोककी सृष्टिमें प्रवेशकर तद्-तद् वस्तुओंको (नगर, ग्रामादि को) देखता है, उसी प्रकार आप सृष्टिके आरम्भसे आज तक हमें देखते रहे हैं, पर हमें तो आपके अनुभवकी गन्ध भी नहीं है। आज आप कृपा करके हमें साक्षात् दर्शन दे रहे हैं॥ ४५॥

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम्।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम्॥ ४६॥

हे भगवन्! आप उन्हींके हृदयमें प्रकाशित होते हैं, जो निरन्तर आपका श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन एवं वन्दन करते हैं, एक-दूसरेके साथ आपकी लीला-कथाओंकी चर्चामें निमग्न रहते हैं और मत्सरादि मालिन्यसे रहित निर्मल अन्तःकरणवाले हैं॥ ४६॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्॥ ४७॥

आप समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान रहते हैं, किन्तु कर्मोंमें उलझे चित्तवाले पुरुषोंकी अहङ्कार आदि चित्तवृत्तियोंसे आप ग्राह्य (अनुभूत) नहीं हो सकते, बल्कि बहुत दूर ही रहते हैं। श्रवण, कीर्त्तनादि आपके गुणगानसे जिसका चित्त सुसंस्कृत एवं शुद्ध हो गया है—आप उनके ही हृदयोंमें सदा विराजमान रहते हैं॥ ४७॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८ ॥

हे प्रभो! आप देहादि अहङ्कारसे रहित—अध्यात्मविद् पुरुषोंके लिए परमात्म-स्वरूपमें मोक्षप्रद हैं, किन्तु देहादि अहङ्कारसे युक्त अनात्म अर्थात् बद्ध मनुष्योंके लिए मृत्युका (जन्म-मृत्युरूप संसारका) विधान करते हैं। आप अभक्तोंके लिए विराड्-रूपा प्राकृती मूर्त्ति हैं अर्थात् विराट् रूपमें प्रकट होते हैं तथा भक्तोंके लिए अहैतुक सच्चिदानन्दमयी अप्राकृती मूर्त्ति युक्त हैं अर्थात् भक्तोंके लिए साक्षात् श्रीविग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। इस प्रकार आप दोनों ही प्रकारकी मूर्त्तियोंसे युक्त हैं। आपने अपनी माया द्वारा निज दृष्टिको अप्रतिहत (अबाधित) कर रखा है, वह आपपर पर्दा नहीं डाल सकती, किन्तु उसने दूसरोंकी (निराकार एवं निर्विशेषवादियोंकी) दृष्टिको ढक रखा है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ४८॥

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवाम हे।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः॥ ४९ ॥

हे स्वयंप्रकाश प्रभो! हम आपके सेवक हैं। हम आपकी प्रसन्नताके लिए क्या करें? आप इसकी शिक्षा हमें प्रदान करें। आप जैसे ही मानवोंकी दृष्टिके सम्मुख होते हैं, उसी समय उनके सांसारिक कष्टोंका अन्त हो जाता है॥ ४९॥

श्रीशुक उवाच—

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्त्तिहा।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह॥ ५०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण शरणागतोंके दुःखोंको हरनेवाले हैं। जब भगवान्ने श्रुतदेवके इन वचनोंको सुना, तो वे मुक्तकण्ठसे हँसने लगे। उन्होंने श्रुतदेवका हाथ अपने हाथोंमें लिया और उन्हें सख्यरसमें सराबोरकर मुसकराते हुए कहने लगे। मेरे तत्त्वको तुम जानते हो और तुम्हारे तत्त्वको मैं जानता हूँ। अतएव मैं आपको और क्या उपदेश दूँ?॥ ५०॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मंस्तेऽनुग्राहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन्।
सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः॥ ५१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय द्विजवर! ये बड़े-बड़े मुनिगण अपनी चरण-धूलि द्वारा त्रिभुवनको पवित्र करते हुए मेरे साथ भ्रमण कर रहे हैं। अब ये तुमपर अनुग्रह करनके लिए ही यहाँ पधारे हैं। ऐसा समझो॥ ५१॥

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥ ५२॥

देवता, पुण्यक्षेत्र एवं गङ्गादि तीर्थ अर्चन, दर्शन एवं स्पर्शसे धीरे-धीरे अर्थात् बहुत समय बाद अपने सेवकोंको पवित्र करते हैं और उनकी वह कृपा भी उन्हें पूज्यतम सन्तोंकी शुभदृष्टिसे ही प्राप्त होती है, किन्तु इन ऋषि-मुनियोंका तो दर्शन ही समस्त मानव-जातिको पवित्र कर देता है और इनका विचरण भी तीर्थोंको पवित्र करनेकी इच्छासे होता है॥ ५२॥

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥ ५३॥

ब्राह्मण शौक्रादि दो जन्मोंके कारण जन्मसे ही इस लोकमें समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ है। यदि वह ब्राह्मण तपस्या, ज्ञान, तुष्टि, मेरी उपासना—मेरी भक्तिसे युक्त हो, तो इस विषयमें कहना ही क्या है?॥ ५३॥

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥ ५४॥

श्रुतदेव! मुझे अपना यह चतुर्भुजरूप ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं भी सर्वदेवमय होनेके कारण सर्वेश्वर हूँ। मेरा स्वरूप उनके द्वारा ही निर्णीत हुआ है॥ ५४॥

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः॥ ५५॥

प्रतिमा आदि (अर्चाविग्रह) में ही पूज्य बुद्धि रखनेवाले असूयाग्रस्त एवं दुर्मतिपरायण विप्र-तत्त्वको समझ नहीं पाते और मेरे भक्त तथा मेरे निवास-स्वरूप मुझसे अभिन्न गुरुओं एवं ब्राह्मणोंका अपमान करते हैं॥ ५५॥

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया॥ ५६॥

मेरा साक्षात्कार (अनुभव) करनेके कारण ब्राह्मण (श्रीनारदादि) सदा-सर्वदा यह जानते हैं कि यह चराचर विश्व एवं उसका मूल कारणरूपी महत्-तत्त्व आदि सब मेरे ईक्षणसे विस्तार प्राप्त करनेके कारण मेरे ही रूप हैं। मेरा ईक्षण ही विश्वका कारण है॥ ५६॥

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय।
एवञ्चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः॥ ५७॥

हे विप्रवर! तुम जिस प्रकार श्रद्धाके साथ मेरी पूजा करते हो, उसी श्रद्धाके साथ तुम इन ब्रह्मर्षियोंकी भी अर्चना-पूजा करो। उनकी पूजा होनेसे साक्षात् मेरी भी पूजा हो जाती है, अन्यथा प्रभूत वैभवसे (बहुमूल्य सामग्रियोंसे) भी मेरी पूजा सिद्ध नहीं होती॥ ५७॥

श्रीशुक उवाच—

स इत्थं प्रभुनादिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान्।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम्॥ ५८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! अपने प्रभु श्रीकृष्णके आदेशके अनुसार श्रुतदेव एवं बहुलाश्व दोनोंने ही ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ ऋषि-मुनियोंकी भी ऐकान्तिक भावसे आराधना करके सद्गतिको प्राप्त किया॥ ५८॥

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीश्रुतदेवानुग्रहो नाम षडशीतितमोऽध्यायः॥ ८६॥

हे राजन्! जैसे भक्तिमान् भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण मिथिलापुरीमें अपने दोनों भक्तोंके घरोंमें कुछ दिन रहे और साधु पुरुषोंके मार्गका उपदेश प्रदान करके पुनः द्वारका लौट आये॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके छियासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

श्रीनारायण-नारद-संवादमें श्रुति-स्तव (वेद-स्तुति)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुनिवर! ब्रह्म-वस्तु कार्यकारणात्मक इस जगत् एवं तीनों गुणोंसे (सत्त्व, रज एवं तमसे) अतीत है। अतः मन, वाणी आदि किसी भी प्रकारसे उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। इसलिए त्रिगुणविषयक वेदवाक्य अभिधावृत्ति (साक्षात्‌रूपसे) द्वारा किस प्रकारसे उस ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन कर सकते हैं, यह बतलाइये।

पूर्व अध्यायके अन्तमें कहा गया था कि भगवान् सन्मार्गका उपदेश करके द्वारका चले गये। इससे स्पष्ट होता है कि साधु भक्तोंका पथ भगवत्-विषयक भक्तियोग है। ज्ञानी साधुओंका पथ ब्रह्म-विषयक ज्ञानयोग है, किन्तु त्रिगुणात्मक श्रुतियों द्वारा परब्रह्मका प्रतिपादन किस प्रकार सम्भव है? वेद जाति, द्रव्य, क्रिया एवं गुणका वर्णन करते हैं, ब्रह्म तो निर्गुण हैं, अतः गुणोंका वर्णन करनेवाले वेद-वाक्य निर्गुण एवं अनिर्देश्य ब्रह्मका अभिधादि वृत्तियोंसे किस प्रकार निष्पादन कर सकते हैं?॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च॥ २॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जगदीश्वरने जीवोंके लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणरूप उपाधियोंकी सृष्टि की है, जिससे वे रूप-रसादि विषयोंको ग्रहणकर इन्द्रिय-तृप्ति कर सकें, उत्कृष्ट जन्म प्राप्तिके लिए उपयोगी कर्मोंका आचरण कर सकें,

पारलौकिक सुख–भोग प्राप्त कर सकें और मुक्ति–लाभ कर सकें।

(इस प्रकार जीवकी उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाका वर्णन करते हुए स्पष्ट करना चाहते हैं कि बद्ध जीवोंके लिए बुद्धि आदिका सृजन करनेवालेको निर्गुण अथवा निर्विशेष कैसे कहा जा सकता है?)॥ २॥

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्व्वेषां पूर्व्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः॥ ३॥

इस ब्रह्म–विषयिणी उपनिषद् विद्याको नारदादि मुनियोंसे भी पहले सनकादि ब्रह्मर्षियोंने अपने हृदयमें धारण किया था। हम उसी सनातनी विद्याका अब मात्र प्रकाश कर रहे हैं। जो व्यक्ति कुतर्क–बुद्धिसे (वितण्डासे) रहित होकर श्रद्धायुक्त चित्तसे श्रवण–कीर्त्तनादि द्वारा इस विद्याको धारण करते हैं, वे देहादि समस्त उपाधियोंसे (अनात्म पदार्थोंसे) रहित होकर परम–पदको प्राप्त करते हैं॥ ३॥

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च॥ ४॥

इस विषयमें मैं तुम्हारे लिए नारायण ऋषि और देवर्षि नारदके संवादरूपमें नारायण ऋषि द्वारा वर्णित प्राचीन इतिहासका वर्णन कर रहा हूँ॥ ४॥

एकदा नारदो लोकान् पर्य्यटन् भगवत्प्रियः।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम्॥ ५॥

एक बार भगवद्–भक्त देवर्षि नारद तीनों लोकोंमें भ्रमण करते–करते सनातन ऋषि नारायणके दर्शन करनके लिए उनके बदरिकाश्रममें पहुँचे॥ ५॥

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्।
धर्म्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६॥

नारायण ऋषि इस कर्मक्षेत्र भारतवर्षमें मनुष्योंके लौकिक मङ्गल एवं पारलौकिक स्वस्ति (कल्याण) के लिए कल्पके प्रारम्भसे ही वर्णाश्रम धर्म, ब्रह्म-ज्ञान, भगवत्-निष्ठा और आत्म-संयमके साथ आज भी महान तपस्या करते हुए आदर्शरूपमें स्थित हैं॥ ६॥

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह॥ ७॥

हे कुरुवंशधर! नारद उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ कलाप ग्रामके रहनेवाले ऋषियोंसे परिवेष्टित नारायण ऋषि विराजमान थे। नारदने उन्हें प्रणाम किया और तुमने जो मुझसे पूछा है, यही प्रश्न बड़ी नम्रतासे उन्होंने नारायण ऋषिसे पूछा था॥ ७॥

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम्।
यो ब्रह्मवादः पूर्व्वेषां जनलोकनिवासिनाम्॥ ८॥

जनलोक निवासियोंमें पहले वेदोंके तात्पर्यरूपमें ब्रह्म-विषयक विचार-मन्थन हुआ था। उस सभामें भगवान् नारायण ऋषिने ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें जो बतलाया था, उन्हीं विचारोंको वे उन ऋषियोंकी उपस्थितिमें नारदसे कहने लगे॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूद्‌र्ध्वरेतसाम्॥ ९॥

नारायण ऋषिने कहा—हे ब्रह्मा-सुत नारद! प्राचीन कालकी बात है, ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी—ब्रह्माके मानसपुत्र जनलोक निवासी सनकादि मुनियोंका एक ब्रह्मसत्र हुआ था, जिसमें ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें विचार-विवेचन हुआ था॥ ९॥

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम्।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि॥ १०॥

प्रलयके समय श्रुतियाँ जहाँ मौनरूपसे अवस्थित रहती हैं, वहीं श्वेतद्वीप अधिपति मेरी अनिरुद्धमूर्त्तिके (क्षीरोदकशायी विष्णुके) दर्शन करनेकी इच्छासे तुम श्वेतद्वीप चले गये थे। वहाँ जन-लोकमें परब्रह्म-विषयक गोष्ठीका बड़े उत्साहके साथ आरम्भ हुआ था। इस समय तुम जो मुझसे पूछ रहे हो, वहाँ भी इसी विषयमें प्रश्न किये गये थे॥ १०॥

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे॥ ११॥

सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारों भाइयोंका एवं जनलोकके सभी मुनियोंका शास्त्र-ज्ञान, वेदाध्ययन, तपस्या और शील-स्वभाव सभी समान थे। वे शत्रु-मित्रके प्रति उदासीन और सभीके प्रति समभावसे युक्त थे। उनमेंसे प्रत्येक ही प्रवचन करनेमें पारङ्गत था। तब भी उन्होंने सनन्दनको ही वक्ता (व्याख्याकर्त्ता) बना लिया और अन्य सभी सुननेकी अभिलाषासे उत्सुक होकर बैठ गये॥ ११॥

श्रीसनन्दन उवाच—

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥ १२॥
यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥ १३॥

श्रीसनन्दनने कहा—हे मुनियो! प्रातःकाल होनेपर सम्राट्के अनुजीवी बन्दीजन (दरबारी कवि) उसके समीप आकर जिस प्रकार उसके सुयशपरक एवं पराक्रमसूचक कार्योंका उल्लेख करते हुए स्तुति गान करके उसे जगाते हैं, उसी प्रकार प्रलयके समय परमेश्वर भी स्वरचित ब्रह्माण्डको निज योगबलसे अपनेमें लीन करके सोये-से रहते हैं, उनकी शक्तियाँ भी उस समय सुप्त रहती हैं। प्रलयके अन्तमें जब अगली सृष्टिका समय आता है,

तब उनके प्रथम निःश्वाससे प्रकट श्रुतियाँ उनके माहात्म्य-प्रतिपादक वचनोंके द्वारा उन्हें जगाती हैं॥ १२-१३॥

श्रीश्रुतय ऊचुः—

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥ १४॥

श्रुतियोंने कहा—जिस प्राणमयी मायाके द्वारा सत्त्व-रज-तमोगुण दोषके कारण जीवोंके शुद्ध-स्वरूपका आच्छादन हो जाता है, आप उस अजाका (मायाका) विनाश कीजिये—आपकी जय हो, जय हो! आप अपनी शक्तिसे ही मायातीत समस्त ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण हैं—आप इस मायाको दूर कीजिये। आप ही जगत्के समस्त चर तथा अचर प्राणियोंकी शक्तिको जगानेवाले हैं। जब आप अपनी शक्तियोंके साथ विशाल चित्-जगत्में लीला करते हैं और जब किसी कारणवश अपनी छायाशक्ति मायाके प्रति ईक्षण करके उससे स्वयं निर्लिप्त रहकर सृष्टि आदि लीला करते हैं—हम श्रुतियाँ आपकी इन दोनों प्रकारकी लीलाओंका प्रतिपादन करती हैं (जैसे—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वेदाश्च प्रहिणोति, तस्मै य आत्मनि तिष्ठन्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, ब्रह्मज्योतिः सनातम्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं)॥ १४॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥ १५॥

हे प्रभो। घट, शराव (मिट्टीका प्याला) आदि सभी विकृत पदार्थोंकी उत्पत्ति मिट्टीसे होती है, और अन्तमें वे मिट्टीमें ही मिल जाते हैं, परन्तु मिट्टी अविकृत तथा अपरिवर्तनशील रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु भी अविकृत है—यद्यपि उससे सम्पूर्ण

विश्वकी उत्पत्ति एवं प्रलयादि होते हैं तो भी सभी कालों और स्थितियोंमें एकमात्र वह ब्रह्मवस्तु (आप) अवशिष्ट रहती है। आप निर्विकार हैं, इसलिए यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है। यही कारण है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने समस्त मनोवाक्यचरित (विचार-वचन-कर्म) अर्थात् मन्त्रोंका तात्पर्य आपमें ही निहित किया है और इन्द्र-वरुणादि नामोंको आपके ही नामोंके रूपमें निर्णीत किया है। मनुष्य मिट्टी, पत्थर आदि जहाँ भी अपना पैर रखे—वह पृथ्वीपर ही होगा, क्योंकि मूल रूपमें वे सब पृथ्वी-स्वरूप ही हैं। उसी प्रकार वेदोंके किसी-किसी स्थलपर विकारी देवताओंका माहात्म्य वर्णित तो हुआ है, पर वस्तुतः वह माहात्म्य सर्वकारणकारणस्वरूप आपका ही है॥ १५॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधूताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम्॥ १६॥

हे त्रिगुणात्मक माया-मृगीको नचानेवाले प्रभो! विवेकी महापुरुषोंने पहले कहे गये कारणोंके आधारपर आपके अखिल-लोक-पापविनाशन-कीर्त्ति-सुधाके समुद्रमें गहन डुबकी लगाकर सम्पूर्ण पाप-सन्तापोंसे छुटकारा पाया है, इसलिए हे परमपुरुष! जो लोग अपनी स्वरूप-स्फूर्तिके (आत्म-ज्ञानके) कारण अन्तःकरणके रागादि धर्मोंका और शरीरके जरा-व्याधि आदि कालकृत धर्मोंका परित्याग करके अखण्ड आनन्द-स्वरूप आपकी सेवा करते हैं—वे सम्पूर्ण पाप-ताप एवं क्लेशोंसे मुक्त हो जायेंगे—इसमें कहना ही क्या है?॥ १६॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्॥ १७॥

हे स्वामिन्! आपके प्रति भक्तियुक्त होनेपर ही प्राणियोंका जीवन धारण करना सार्थक होता है, अन्यथा वे लुहारकी धौंकनीकी भाँति व्यर्थ ही साँस ले रहे हैं। हे देव! महत्-तत्त्व, अहङ्कार आदि तत्त्वोंके अभिमानी देवताओंने आपके प्रवेशसे ही सामर्थ्य प्राप्तकर समष्टि-व्यष्टिरूप (ब्रह्माण्ड-व्यक्तिगत) देहोंकी सृष्टि की है। आप ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पञ्चकोशोंमें प्रवेशकर उन-उन स्वरूपोंमें परिलक्षित होते हैं, तथा सर्वान्तमें (समस्त प्राधिकृत—'रसो वै सः' अर्थात् वे रसस्वरूप और रसमय हैं—जीव इस रसस्वरूपकी अनुभूति कर परम आनन्दमय हो जाता है) पञ्चकोशोंके आश्रय आप 'पुच्छ'—आनन्दमयरूपमें उपदिष्ट हुए हैं। आप स्वरूपतः स्थूल-सूक्ष्म अन्नमय सभी पदार्थोंसे अतीत हैं तथा पञ्चकोशोंमें 'नेति, नेति' के द्वारा इन सबका निषेध हो जानेपर एकमात्र आप ही अवशिष्ट रहते हैं—इस प्रकार आप परम सत्य, परम उत्कृष्ट, घनीभूत आनन्दस्वरूप हैं तथा इसी सत्य-पदार्थरूपमें अर्थात् अप्रच्युत स्वभावके रूपमें आपका गान होता है॥ १७॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥ १८॥

हे अनन्त! हे परमाराध्य भगवन्! ऋषि-मुनियोंने बहुत-से मार्ग बतलाये हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे अपरिच्छिन्न ब्रह्म अथवा उदरस्थ मणिपुरचक्रमें स्थित ब्रह्म (अग्नि-वैश्वानर) की उपासना करते हैं, आरुणि सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण (१०१) नाड़ियोंके मार्गस्वरूप हृदयमें स्थित (ज्ञानशक्तिदायक) परम सूक्ष्म वस्तु—दहर नामक हृदयावच्छिन्न ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इस हृदयमें आपकी उपलब्धिका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, जो परम-ज्योतिर्मय ब्रह्मरन्ध (मस्तककी ओर) तक गयी है। इस स्थानको

प्राप्त कर लेनेपर मनुष्योंको मृत्युमुखमें (संसारमें) पतित नहीं होना पड़ता॥ १८॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम्॥ १९॥

हे सर्वान्तर्यामिन्! आप समस्त वस्तुओंके उपादान कारण हैं, इसलिए समस्त पदार्थोंमें आप सृष्टिकालसे ही विद्यमान हैं। किसी भी वस्तुमें आपका मुख्यरूपसे नूतन प्रवेश सम्भव नहीं है, तथापि आप स्व-शक्तिके द्वारा रचित ब्रह्मादिसे स्थावर पर्यन्त नानाविध योनियोंमें प्रवेश करके निज-सृष्ट योनियोंका अनुकरण करते हैं। जिस प्रकार अग्नि स्वयंमें न्यून-अधिक रूपोंसे रहित होनेपर भी दाह्य काष्ठके आकारके अनुसार न्यूनाधिक रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार आप स्वयं स्वरूपतः न्यून-अधिक रूपोंसे रहित होनेपर भी तद्-तद् योनिके अनुरूप विविध आकारोंमें प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि विशुद्धसत्त्व, निर्मलचित्त एवं लोकव्यवहारातीत—अर्थात् समस्त विषयोंमें निर्वेदको प्राप्त विवेकी ज्ञानी पुरुष इन सभी उच्च (देवता), मध्यम (मनुष्य) एवं निम्न (पशु) आदि योनियोंमें विद्यमान अविनश्वर, सर्वत्र समभाव एवं समत्व बुद्धिसे युक्त, नित्य, निर्विकार, अव्यय तथा एकरस आपको ही सत्य जानकर आपके स्वरूपको प्राप्त होते हैं॥ १९॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥ २०॥

हे प्रभो! सभी शास्त्रोंने दिग्दर्शन किया है कि जीव जिन मनुष्यादि विभिन्न शरीरोंमें रहते हैं, वे सभी उसके कर्मों द्वारा निर्मित होते हैं, परन्तु जीवात्मा इन देहोंमें बाह्य एवं आन्तर

सम्बन्धादिसे अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म आवरणसे रहित है। आप अखिल शक्तिधर एवं परिपूर्ण स्वरूप हैं और जीव आपका ही कार्य तथा अंश (चित्कण अथवा विभिन्नांश) है। जीवका स्वरूप देहादिसे विलक्षण (पृथक्) एवं परमात्मासे भिन्नाभिन्न रूपमें है। मनीषीगण इस प्रकार जीव-तत्त्वकी आलोचना करते हुए बड़े विश्वासके साथ आपके उन श्रीचरणकमलोंकी उपासना करते हैं, जो समस्त वैदिक-कर्मोंके समर्पण-स्थल, जीवके संसार-भयके निवर्त्तक एवं सकल पुरुषार्थके साधक हैं॥ २०॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्मतनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

हे ईश्वर! परमात्व-तत्त्वका ज्ञान अत्यन्त कठिन है। उसी आत्म-तत्त्वको (अपने निज-स्वरूपको) ज्ञापित करनके लिए आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण (मूर्त्तियोंका प्राकट्य) करते हैं—जो आनन्दके अथाह सागर हैं। आपके इन अवतारोंके लीला-कथारूप महामृत-समुद्रमें जो लोग अवगाहन करते हैं (जो आपके लीला-कथाके श्रवण-मननादिमें अभिनिविष्ट रहते हैं), उन लोगोंकी समस्त सांसारिक थकावट (अन्य साधनादिकी चेष्टा) दूर हो जाती है, और वे भगवत्-सेवारूप परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं। ये लोग आपके चरणकमलोंमें हंसकी भाँति विचरण करनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करके गृहादिका परित्याग कर देते हैं, इन महापुरुषोंको मुक्तिपदकी भी कामना नहीं रहती, तब धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गके विषयमें क्या कहा जाय॥ २१॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः॥ २२॥

हे प्रभो! पृथ्वीमें लीन होनेवाली यह नश्वर देह जब आपके भक्तिमार्गकी अनुगामिनी और आपकी सेवाके लिए उपयोगी साधन बन जाती है, तब आत्मा, सुहृद एवं प्रियके समान स्वाधीनतापूर्वक आचरण करते हुए भजन आदिमें प्रवृत्त होती है। आप जीवोंके प्रिय, हितकारी, निरन्तर कृपा प्रदान करनेके लिए उन्मुख रहते हैं, तो भी ये जीव सख्यादि भावोंसे आपकी उपासना नहीं करते। आत्मघाती ये जीव असत्-उपासना (आपकी माया द्वारा रचित ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंकी उपासना) में मतवाले होकर अपने शरीर और शरीरसे सम्बन्धित पदार्थोंमें रमे रहते हैं, और निम्नसे निम्नतर (नीच-से-नीच) शूकर, राक्षस आदि देहोंको धारणकर महाभयोंसे परिपूर्ण इस जन्म-मरण-प्रवाहरूप भयानक संसारमें भटकते रहते हैं॥ २२॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥ २३॥

हे प्रभो! चिन्तनशील मुनियोंने प्राण, मन, इन्द्रिय आदिको वशमें (संयममें) करके दृढ़ भक्तियोगसे युक्त होकर हृदयमें जिस तत्त्वकी उपासना करके जिस परम सत्यको प्राप्त किया है, शत्रुओंने (पौण्ड्रक, शिशुपाल आदिने) भी आपके नित्य-निरन्तर स्मरणके कारण उसी तत्त्वको प्राप्त किया है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। हे देव! जो रमणियाँ (व्रजाङ्गनाएँ) सर्पराजके शरीरके समान आपके विशाल भुजदण्डोंके प्रति लालसाके कारण आपको परिच्छिन्न मानती हैं और आपकी उन सुकुमार भुजाओंके प्रति काम-भावसे आसक्त रहती हैं, वे जिस परम पदको प्राप्त करती हैं, वही परम पद हम श्रुतियोंको (श्रुति अभिमानी देवताओंको) भी उन गोप-रमणियोंका अनुगमन करनेसे प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि अपरिच्छिन्न दृष्टिसे युक्त हम भी उन गोपियोंकी तरह आपकी कृपा-पात्री हैं। आपके चरणकमलोंको

सुष्ठुरूपसे धारण कर हम उनके मकरन्दामृतका पान करती हैं। समदर्शिताके कारण आपमें परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न दृष्टिका कोई भेद नहीं है। सभी अधिकारी उपासक आपके निकट समान हैं (आपका ध्यान किसी भी रूपमें क्यों न हो, वह संसारकी निवृत्ति कराता ही है, साथ ही आपको भी प्राप्त कराता है। आपकी प्राप्तिका एवं मोक्षानन्दका अधिकार सभीको समान है॥ २३॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥ २४॥

हे भगवन्! आपसे ब्रह्मा और ब्रह्माजीसे निवृत्तिपरायण (आध्यात्मिक) सनकादि और प्रवृत्तिपरायण (आधिदैविक) मरीचि आदि छोटे-बड़े देवता उत्पन्न हुए हैं ऐसे पूर्वसिद्ध अर्थात् सृष्टिके पूर्व ही स्वतःसिद्ध अनादि, अनन्त, सर्वेश्वर, देवाधिदेव, सनातन पुरुषोत्तम आपको इस जगत्में अभी उत्पन्न होनेवाले तथा परवर्त्तीकालमें विनष्ट होनेवाले और बादमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य किस प्रकार जान सकते हैं? हे देव! आप जिस समय समस्त सृष्ट पदार्थोंका उपसंहारकर योगनिद्राका आश्रय लेते हैं, उस समय आकाशादि स्थूल पदार्थ, महत्-तत्त्वादि सूक्ष्म पदार्थ और इन दोनोंके द्वारा निर्मित स्थूलशरीर, काल-वैषम्य, वेग, इन्द्रिय, प्राण एवं उनके ज्ञापक पदार्थ अर्थात् शास्त्र—कुछ भी नहीं रहते। जीवोंके लिए किसी भी प्रकारके ज्ञानका साधन नहीं रहता। कालक्रमसे मलिनचित्त जीव तो आपको जान भी नहीं सकते। ऐसी अवस्थामें आपके श्रीचरणोंमें श्रवण-कीर्त्तनरूप भक्ति ही वरेण्य है॥ २४॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।

त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥ २५॥

हे देव! वैशेषिकादि मतावलम्बी परमाणुओंसे जगत्‌की उत्पत्तिको स्वीकार करते है (परन्तु परमाणुओंके संयोगसे पूर्व पाप तथा पुण्य अर्जित नहीं किये जा सकते। परमाणुओंके आदि संयोगकी विवेचना जीवोंके शेष कर्मफलके प्रतिफलके रूपमें नहीं की जा सकती। ये कर्मके फल जीवके स्वयं होते हैं और वे दूसरे जीवमें स्थानान्तरित नहीं हो सकते, तब निष्क्रिय परमाणुओंकी बात ही क्या?) पातञ्जलादि योगादि असत् विधियोंके द्वारा ब्रह्मत्वकी प्राप्तिकी धारणा करते हैं (इस दर्शनमें भक्तिके अनिवार्य पक्ष—परम पुरुषके प्रति आत्मसमर्पणकी उपेक्षा की गयी है, बिना श्रद्धाके आसन, ध्यान, धारणा सब व्यर्थ होते हैं), गौतम ऋषि आदि नैयायिकगण इक्कीस प्रकारके दुःखोंके नाशको ही 'मुक्ति' कहते हैं (मोक्षका मूल साधन है—भक्ति, भगवान्‌की अर्चना मुक्तावस्थामें भी की जाती है। नैयायिकोंकी यह धारणा सर्वथा गलत है कि मुक्तावस्थामें कोई चेतना नहीं रहती, जब कि जीवात्माको सदैव ज्ञाता कहा गया है), कपिल आदि सांख्यकारगण चेतनाको आत्मासे तथा सक्रियताको प्रकृतिसे जोड़ते हुए आत्मवस्तुमें भेद करते हैं (जब कि जीव कर्त्ता है न कि प्रकृतिका गुण। शास्त्रोंके आदेशोंका पालन चेतन कर्त्ताके बिना सम्भव नहीं। अचेतन गुणमें सक्रियताकी प्रवृत्तिको जाग्रत नहीं किया जा सकता)। और जैमिनि आदि मीमांसक कर्मफलको (व्यवहारको) ही ईश्वर मानते हैं तथा कर्मफलसे उत्पन्न स्वर्गादिको ही सत्य और परमपुरुषार्थ मानते हैं (जब कि शास्त्रके वचन हैं कि मुक्तात्मा इस जगत्‌में नहीं लौटते, भक्तिसे समस्त कर्मफल नष्ट हो चुके होते हैं)—अतः इन सबकी ये धारणाएँ भ्रान्त ही हैं, तत्त्वदृष्टिपरक नहीं। पुरुषको त्रिगुणमय मानकर उसमें जो भेद-भाव (सत्त्व, तम एवं रजोगुणके अनुसार भेद-भाव) रहता है, वह अज्ञानका ही विलास है और हे ईश! आप अज्ञानसे

अतीत, अनासक्त एवं चिद्घनस्वरूप हैं—आपमें अज्ञानसे उत्पन्न भेद रह नहीं सकता॥ २५॥

सदिव मनस्त्रिवृत् त्वयि विभात्यसदा मनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

त्रिगुणात्मक यह जगत् वस्तुतः मनकी कल्पना मात्र एवं असत्-स्वरूप है, तब भी आपमें अधिष्ठित होनेके कारण यह मनुष्य पर्यन्त समस्त जीवोंको सत्यकी ही भाँति प्रतीत हो रहा है। आत्मतत्त्वज्ञ पण्डित भोक्ता-भोग्य-स्वरूप इस सम्पूर्ण विश्वको परमात्म-रूप सद्वस्तुका कार्य होनेके कारण सत्‌रूपमें देखते हैं, परन्तु परमात्म-सम्बन्धके बिना इसकी पृथक् सत्ताका ज्ञान नहीं करते, जिस प्रकार स्वर्णको चाहनेवाले व्यक्ति कुण्डलादि वस्तुओंका त्याग नहीं करते, क्योंकि वे स्वर्णके ही कार्य हैं, स्वर्णसे निर्मित हैं, अतः ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए यह निश्चित हुआ है कि आपके द्वारा रचित यह जगत् और इसमें अनुप्रविष्ट पुरुष या जीवात्मा एक प्रकारसे आपके ही स्वरूप हैं॥ २६॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥ २७॥

जो लोग समस्त जीवोंके आश्रय-रूप आपको जानकर आपकी सेवा करते हैं, वे ही निःशङ्क होकर मृत्युके सिरपर पैर रखते हुए उसे जीत लेते हैं, परन्तु जो भक्तिसे शून्य हैं—वे कितने ही प्रकाण्ड पण्डित क्यों न हों—आप कर्मकाण्डीय स्वर्गादि फलश्रुतिपरक वचनोंके द्वारा उन लोगोंको पशुओंकी भाँति कर्ममार्गमें बाँध देते हैं। जो आपसे अत्यन्त प्रेम करते हैं, वे ही स्वयंको और दूसरोंको पवित्र करते हैं, अन्य किसीमें यह सामर्थ्य नहीं है॥ २७॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥ २८॥

हे प्रभो! प्राकृत इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित और स्वतन्त्र-ईश्वर होनेपर भी आप समस्त प्राणियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्तिको परिचालित करते हैं। खण्ड राज्योंके अधिपति जिस प्रकार महामण्डलेश्वरको उपहार प्रदान करते हैं और स्वयं अपनी-अपनी प्रजा द्वारा दिये गये उपहारोंका भोग करते हैं, उसी प्रकार अजा (मायादि) सहित ब्रह्मादि सभी देवता विश्वकर्त्ता आपके उद्देश्यसे ही मनुष्योंके द्वारा दिये गये हव्य-कव्य आदि उपहारोंका भोग करते हैं और आपसे भयभीत होकर आपके द्वारा नियुक्त अपने-अपने अधिकारोचित कर्मोंको सम्पन्न कर आपका पूजन करते हैं॥ २८॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्-
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः॥ २९॥

हे नित्यमुक्त! हे मायासङ्गरहित! आपके ईक्षण मात्रसे जब मायाके साथ आपकी क्रीड़ा होती है, तब चराचर जीवोंका आविर्भाव होता है, इसके साथ ही उनके निमित्त कारण एवं सुप्त कर्म भी जग जाते हैं। आप परम कारुणिक हैं। आकाशकी भाँति सर्वत्र समभावसे व्याप्त होनेके कारण आप आकाशके समान निर्लेप भी हैं। न आपका कोई अपना है, और न पराया। आपमें कोई वैषम्य नहीं है॥ २९॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्व्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥ ३०॥

हे नित्यस्वरूप! अनन्त जीव यदि स्वरूपतः आपसे उत्पन्न न होकर नित्य एवं सर्वव्यापक होते, तो वे आपके द्वारा शासित (नियन्त्रित) नहीं हो सकते थे। आपसे उत्पन्न होनेपर ही उनका शासन एवं नियमन सम्भव है। आप अग्नि स्थानीय हैं और जीव आपसे विस्फुलिङ्गके (चिनगारीके) रूपमें उत्पन्न होते हैं। अतः आप उनके अपरित्यज्य कारण हैं, नियन्ता हैं और सर्वत्र अन्तर्यामीरूपमें समान भावसे अवस्थित हैं। आपका वह स्वरूप कैसा है, मत-वैषम्यके (एक मतके साथ दूसरे मतके विरोधके) कारण उसे जानना अत्यन्त कठिन है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि मैंने जान लिया है, वे अज्ञानी हैं। उन्होंने आपको यथार्थ रूपमें न जानकर अपनी बुद्धिके विषयको ही जाना है, आप तो उससे परे हैं। बुद्धिकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न मति होती हैं; आपका स्वरूप समस्त मतवादोंसे परे है॥ ३०॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥ ३१॥

हे स्वामिन्! (स्वप्रकाश आनन्दात्म जीवकी अविद्याकृत अनर्थ-निवृत्ति मात्र ही उसकी मोक्ष-प्राप्ति है और उपाधिके द्वारा जन्म ही उसका जन्म है, स्वतः नहीं! इसलिए कह रहे हैं—) प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही जन्म एवं रूपके विकारोंसे रहित हैं। इसलिए वे दोनों जीवके रूपमें उत्पन्न नहीं हो सकते। केवल जल या केवल वायु द्वारा जिस प्रकार बुलबुलेकी सृष्टि नहीं होती, बल्कि उपादान कारण जल और निमित्त कारण वायुके संयोगसे वह उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुष दोनोंके परस्पर संयोग (प्रकृतिमें पुरुषके ईक्षणके प्रभाव) से प्राणियोंकी (स्थूल-

शरीरोंकी) सृष्टि होती है—अतः जीवोंका जन्म वास्तव नहीं है, उपाधिका ग्रहण अथवा उपस्थित होना ही जीवोंका जन्म या उत्पत्ति है। जिस प्रकार मधु (शहद) में समस्त पुष्पोंका रस पृथक्-पृथक् प्रतीत न होकर (परिलक्षित अवस्थामें सामान्यरूपसे) लीन रहता है, उसी प्रकार सुषुप्ति एवं प्रलयकालमें जीव कारणात्मकरूपी आपमें लीन हो जाते हैं। (उस समय कार्य-उपाधिका केवलमात्र लय होता है अर्थात् वे उपाधिरहित होकर आपमें समा जाते हैं।) मुक्ति-कालमें कारणात्माका भी आत्यन्तिक लय होनेके कारण जीव निरुपाधिक आपमें उसी प्रकार लीन हो जाते हैं, जिस प्रकार समुद्रमें नदियाँ (मुक्तावस्थामें जीवका नित्य पृथक् अस्तित्व रहता है, जीव कभी ब्रह्म नहीं बन सकता॥ ३१॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्त्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम्॥ ३२॥

विवेकी पुरुष इन जीवोंमें उत्तरोत्तर (श्रेष्ठसे श्रेष्ठतर) योनियोंमें जन्म-ग्रहण करनेके कारण और आपकी मायाके प्रभावसे जीवोंको भ्रमित देखकर इस संसार-बन्धनसे कैसे छुटकारा मिले—उसके लिए आपके प्रति चित्तको निविष्ट करके उत्कट प्रेमाभक्ति करते हैं। शीत-ग्रीष्म-वर्षारूप तीन परिच्छेदोंसे (भागोंसे) युक्त संवत्सरात्मक काल आपकी भ्रू-भङ्गिमाका विलास मात्र है। जिन्होंने आपके चरणोंका आश्रय नहीं लिया है, भूत-भविष्य-वर्त्तमानसे युक्त वह त्रिनेमि काल ही उनके लिए पुनः-पुनः जन्म, मरण, रोग तथा नरक-यातना-रूप भय उत्पन्न करता है, आपके शरणागतोंको संसारका भय नहीं होता॥ ३२॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥ ३३॥

हे अज! जिन लोगोंने इन्द्रियों एवं प्राणोंका तो संयम कर लिया है, उनके लिए भी जिनका दमन करना सम्भव नहीं है—उस अति चञ्चल एवं उच्छृङ्खल मनरूपी तुरङ्गको (घोड़ेको) जो गुरु-चरणाश्रयके बिना दूसरे उपायोंसे संयत करनेका प्रयास करते हैं—वे विविध दुःखदायी उपायोंकी चेष्टा करते-करते विफल रहते हैं, उन्हें अति कष्ट उठाना पड़ता है और शत-शत विघ्नोंसे व्याकुल रहना पड़ता है। इस प्रकार गुरु-पदाश्रय किये बिना इस संसार-समुद्रमें वे केवल दुःखोंका उसी प्रकार भोग करते हैं, जिस प्रकार समुद्री-यात्रामें कर्णधारके बिना व्यापारी सैकड़ों बाधाओंको झेलता है॥ ३३॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे॥ ३४॥

हे प्रभो! आप सबके शरण्य, परमानन्दमय, परमात्मा हैं। आपके रहते हुए मनुष्योंको पुत्र, आत्मा, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि, रथ (वाहनादि), प्राण एवं प्रतिष्ठा आदिसे भला क्या प्रयोजन! जो परमार्थ-तत्त्वसे अनभिज्ञ होकर मैथुन-रतिरूप मायाजन्य भ्रमपूर्ण सुखोंमें निमग्न रहते हैं, उन मनुष्योंको स्वभावतः ये विनाशी एवं सारहीन पदार्थ संसारमें किसी भी प्रकारसे यथार्थ आनन्द नहीं दे सकते॥ ३४॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्॥ ३५॥

हे देव! (अतः वे बुद्धिमान पुरुष स्वजन, पुत्र, स्त्री और गृहादिको त्यागकर भजनके अनुकूल तीर्थोंमें रहते हैं।) आपके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेके कारण जिनका चरण-धौत-जल

समस्त पापोंको विनष्ट कर देता है—ऐसे विगत-अहङ्कार मुनि भी पृथ्वीमें बहुत-से पुण्यतीर्थों, पुण्यक्षेत्रों (आपकी आविर्भाव एवं लीला-स्थलियों) की सेवा करते हैं। वहीं उनका महत् सङ्ग होता है। जिन्होंने केवल एक बार भी नित्य एवं सुखमय परमात्मारूपी आपके प्रति अपने चित्तको समर्पित कर दिया है, उन्हें पुनः उन गृह (घरों) की उलझनोंमें नहीं फँसना पड़ता, जो मनुष्योंके विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि सारतत्त्वोंको हर लेती हैं॥ ३५॥

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥ ३६॥

हे देव! इस जगत्को सत्-वस्तुका कार्य अर्थात् सत्-वस्तुसे उत्पन्न होनेके कारण सद् कहा जाय तो यह सिद्धान्त तर्क द्वारा बाधित हो जाता है, क्योंकि सत्य—ऐन्द्रजालिक (जादूगर) के कार्यको ऐन्द्रजालिक विद्याके कारण मिथ्या ही देखा जाता है। अतः इस स्थानपर पूर्वोक्त सिद्धान्तका (सत्से सत् कार्यकी उत्पत्तिका) व्यभिचार (नियमका उल्लङ्घन) होता है। ऐन्द्रजालिक कार्य (जगत्) ऐन्द्रजालिक विद्याका (उपादानका) निमित्त कारण है; निमित्त कारणके स्थानपर पूर्वोक्त सिद्धान्तका व्यभिचार (भटकाव) हो सकता है, किन्तु उपादान कारणके (सत् पदार्थके) स्थानपर उस प्रकारसे व्यभिचार नहीं होता। अतः सत् पदार्थको जगत्का उपादान कारण कहा जाय तो वहाँ सिद्धान्तकी कोई हानि नहीं होती। तब वहाँ वक्तव्य यह है कि उपादान कारणके स्थानपर भी उक्त सिद्धान्तका व्यभिचार दिखायी देता है, जैसे मरीचिकामें मिथ्या जलकी प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि मरीचिकासे उत्पन्न (सूर्यकी प्रखर किरणोंमें), जलके देखे जानेसे अज्ञान ही कारण है, तो वहाँ मिथ्यात्व सिद्ध होता है—तो इसका

उत्तर यह है कि इस स्थानपर भी सत् पदार्थ ही जगत्का कारण होनेसे जगत्का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि मरीचिकाके जलके स्थानपर कार्य-कारणका सारूप्य देखा जाता है, इसलिए वहाँ कार्य-कारण भाव स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह जगत् विविध वैचित्र्य युक्त है—इसके सत्-वस्तुसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण ही दोनोंके कार्य-कारण-भावको स्वीकार नहीं किया जा सकता। सोनेसे बने कुण्डल, मिट्टीसे उत्पन्न घट आदिके स्थानपर सर्वत्र उपादान कारण एवं कार्यका सारूप्य ही देखा जाता है, तो कहना यह है, कि जगत्का वैचित्र्य केवल अन्ध-परम्परा द्वारा कल्पित मात्र है, वास्तवमें कोई वैचित्र्य ही नहीं है। यदि कहा जाय कि अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा अपनायी हुई इस काल्पनिक व्यवस्थामें पण्डितोंकी भी आसक्ति देखी जाती है, तो इसका उत्तर यह है कि कर्मफलको सत्य बतलानेवाली आपकी वाणीरूपा श्रुतियाँ (गौणी, लक्षणा रूप आदि वाक्य वृत्तियाँ) केवल उन्हीं लोगोंको भ्रममें डालती हैं, जिन्हें कर्ममें अतिशय श्रद्धा है। (जो मन्द बुद्धि कर्ममें जड़ हो रहे हैं और यह नहीं जानते कि इन वेद-वाणियोंका तात्पर्य कर्मफलकी सत्यता बतलानेमें नहीं, बल्कि उनकी प्रशंसा करके उन्हें कर्मोंमें लगानेमें है)॥ ३६॥

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७॥

यह जगत् सृष्टिके पहले नहीं था, प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, इसलिए मध्यावधि अर्थात् वर्त्तमान समयमें जो केवल एकरस (अपरिवर्त्तनशील आनन्दरूप) आपमें मिथ्या ही विविध रूपसे प्रतीत हो रहा है, इसका अनुमान किया जा सकता है। इसलिए घटादि विकारी वस्तुएँ जिस प्रकार केवल नाम मात्रके ही

आधार पर मृत्तिकादिसे भिन्न हैं, जब कि वे वास्तवमें भिन्न नहीं हैं। आकाशादि कार्य वस्तुकी भी केवल नाममात्रकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती है, वास्तवमें ब्रह्मसे (आपसे) अतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता या सत्तावान् नहीं है। जो अज्ञानी हैं, केवल वे ही इस मनःकल्पित मिथ्या वस्तुको सत्यरूपमें मानते हैं॥ ३७॥

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥ ३८॥

(संसारका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर जीव एवं ईश्वरका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा जा रहा है) यह जीव मायासे मोहित होकर जब अविद्याको अपना लेता है, तब देह, इन्द्रियादि और गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियोंको अपना मानकर उनके मोहमें फँस जाता है। उसके स्वाभाविक आनन्दादि गुण ढक जाते हैं और वह बार-बार जन्म-मृत्यु भोगता है। आप सदा-सर्वदा नित्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं। जिस प्रकार सर्प केंचुलका त्याग करता है, आप भी उसी प्रकार अविद्याकी उपेक्षा करके अपरिमित ऐश्वर्यके अधिकारी रूपमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त परम ऐश्वर्य पदपर विराजमान रहते हैं॥ ३८॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृप्योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः॥ ३९॥

हे भगवन्! आप यति-योगियोंके हृदयोंमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित रहते हैं, परन्तु जब तक उनके हृदयसे काम-वासना जड़से निर्मूल नहीं हो जाती, तब तक आप उनके लिए उसी प्रकार दुष्प्राप्य रहते हैं, जिस प्रकार लोकमें कोई अपने गलेमें मणि पहने हुए हैं, परन्तु वह इस बातको भूलकर उसे इधर-उधर

ढूँढ़ता है और उसे दुष्प्राप्य मान लेता है। कपट-योगी मरण-धर्मको नहीं जानते और वे लोकाराधन (लोगोंसे प्रतिष्ठा प्राप्त करनेका प्रयास) एवं धनार्जनादि क्लेश उठाते रहते हैं। आपके स्वरूपसे अवगत न होनेके कारण तथा अपने धर्मका उल्लङ्घन करनेके कारण इस समय तो भोग-वैभव सम्बन्धी भय-दुःख बना रहता है तथा परवर्त्तीकालमें अर्थात् मृत्युके बाद भी आपके द्वारा निर्धारित दण्ड अर्थात् नरक-प्राप्ति सम्बन्धी भय-दुःख बना रहता है॥ ३९॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृताञ्च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः॥ ४०॥

हे षडैश्वर्यशालिन्! जिनका चित्त आपमें निमग्न हो गया है, ऐसे मनुष्य कर्मफल प्रदाता आपके द्वारा रचित पुण्य एवं पाप कर्मोंके फलसे उदित होनेवाले शुभ-अशुभ, गुण-विगुणका चिन्तन नहीं करते। ऐसे मनुष्य देहाभिमानसे रहित होकर देहाभिमानियोंके द्वारा कहे गये विधि-निषेधपरक वचनोंकी भी उपेक्षा कर देते हैं। इसका कारण यह है कि युगों-युगोंसे निरन्तर आपके कथागायकोंसे आपके गुणों एवं यशको सूचित करनेवाली लीला-कथाओं एवं माधुर्य और ऐश्वर्यपूर्ण चरितोंको वे श्रवण-परम्परासे हृदयमें धारण कर लेते हैं और चरम पुरुषार्थ—मोक्षस्वरूप आपको ही एकमात्र आश्रय मानते हैं॥ ४०॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥ ४१॥

हे भगवन्! आपके प्रत्येक रोमकूपमें उत्तरोतर दसगुना अधिक सात आवरणोंसे युक्त असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो आकाशमें धूलके

कणोंके समान एक ही समयमें कालचक्रकी भाँति परिभ्रमण करते हैं। आपका कोई अन्त दिखायी नहीं देता, इसलिए ब्रह्मादि लोकपाल भी आपकी सीमाको जान नहीं सकते, यहाँ तक कि आप स्वयं भी अपनी सीमाका पार नहीं पा सकते क्योंकि जब उसका अन्त ही नहीं है, तब कोई भी उसकी अवधि कैसे पा सकता है? अतः हम श्रुतियाँ भी अस्थूल, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् इत्यादि शब्दोंसे निषेध करती-करती तात्पर्य वृत्तिके द्वारा आपका निर्देश करती हैं अर्थात् निरसन विधि द्वारा आपके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर लेती हैं और आपमें ही अपनी सत्ताका लय करके सफल हो जाती हैं। 'आप इस प्रकारके हैं'—इस प्रकार साक्षात् भावसे आपका प्रतिपादन नहीं कर पातीं॥ ४१॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनमथानर्च्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम्॥ ४२॥

भगवान् श्रीनारायण ऋषिने कहा—हे देवर्षि नारद! जनलोकमें स्थित मुनियोंने सनकादि मुनियोंसे इस प्रकार ब्रह्मविद्या विषयक उपदेश सुनकर आत्मज्ञान प्राप्त किया और स्वयंको पूर्णमनोरथ किया। उन्होंने सनन्दनकी पूजा करके उनका सम्मान किया॥ ४२॥

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः॥ ४३॥

देवर्षे! सनकादि ऋषि सृष्टिमें सबसे प्राचीन हैं। अतः वे सबके पूर्वज एवं पूज्यतम हैं। उन आकाशचारी महात्माओंने इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों एवं पुराणोंके रहस्यके सार-सर्वस्व आत्मज्ञानका संग्रह किया है॥ ४३॥

त्वञ्चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम्।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम्॥ ४४॥

हे ब्रह्मा-सुत! तुम भी उनकी ज्ञान-सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो। तुम भी परम श्रद्धाके साथ इस परमात्म विद्याको धारण करो और स्वेच्छापूर्वक पृथ्वीपर विचरण करो। यह ब्रह्मविद्या मनुष्योंकी भौतिक कामनाओंको भस्म कर देनेवाली है॥ ४४॥

श्रीशुक उवाच—

एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान्।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः॥ ४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! देवर्षि नारद उदारमति एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। उन्होंने श्रुति-विषयक उपदेशोंको कृत-कृत्य भावसे हृदयमें धारण कर लिया। उस समय भी नारद मुनिको जब श्रीनारायण ऋषिने पूर्वोक्त रूपसे आत्मतत्त्व सम्बन्धी उपदेश दिया, तब उन्होंने उसे बड़ी श्रद्धासे ग्रहण किया और कहा— ॥ ४५ ॥

श्रीनारद उवाच—

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः॥ ४६॥

देवर्षि नारदने कहा—जो समस्त प्राणियोंकी संसार निवृत्तिके लिए इस जगत्में मङ्गलप्रद अनेक सर्वाकर्षक कमनीय कलावतार धारण करते हैं, उन पुण्यश्लोक परम पवित्र कीर्त्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ४६॥

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपानयस्य मे॥ ४७॥

परीक्षित्! इस प्रकार महात्मा देवर्षि नारद सनातन भगवान् नारायण ऋषि एवं उनके महाप्रभावशाली शिष्योंको प्रणाम करके वहाँसे बदरीकाश्रममें मेरे पिता श्रीव्यासदेवके आश्रमपर चले गये॥ ४७॥

सभाजितो भगवता कृतासन परिग्रहः।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥ ४८॥

वहाँ भगवान् व्यासदेवने उनका यथोचित सम्मान किया। वे आसनको स्वीकार कर उसपर बैठ गये। उन्होंने भगवान् नारायणके मुखसे जो कुछ सुना था, वह सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान तत्त्व मेरे पिताजीको सुना दिया॥ ४८॥

इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत्॥ ४९॥

हे राजन्! ब्रह्म प्राकृत गुणोंसे रहित निर्गुण एवं मन-वाणीसे अगोचर हैं। इन अनिर्देश्य परब्रह्म-तत्त्वमें मनका प्रवेश कैसे होता है—इस विषयमें तुमने जो प्रश्न किये थे—उसके उत्तरमें मैंने यह आख्यान सुनाया॥ ४९॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीनारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

परीक्षित्! जो जीवोंकी समस्त प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए सृष्टि-स्थिति-प्रलयादि कार्योंके निमित्तरूपमें वर्त्तमान हैं, वे जगत्के कारणरूपमें माने जानेवाले प्रकृति एवं पुरुष दोनोंके स्वामी हैं। उन्होंने ही इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके भोक्ता जीवके साथ इसमें प्रवेश किया है। वे ही जीवके भोगायतन शरीरोंकी रचना करते हैं, और भोग-सम्पादनके लिए उसका पालन करते हैं। गाढ़ निद्रामें सोया व्यक्ति जिस प्रकार अपने शरीरके सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्के प्राप्त होनेपर जीव

अविद्याका परित्याग कर देता है। अतः जो अपने अच्युत स्वरूपमें रहते हुए मूलकारण मायाका तिरस्कार करते हैं, उन भयहारी श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके सत्तासीवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

शिवजीका सङ्कटमोचन

श्रीराजोवाच—

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन्! देवता, असुर एवं मनुष्योंमें जो लोग भोगोंसे रहित, परम विरक्त शङ्करजीकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनाढ्य, भोगसम्पन्न एवं इन्द्रियपरायण होते हैं और जो समस्त भोगोंके आश्रय लक्ष्मीपति श्रीहरिके सेवक हैं, वे प्रायः भोगैश्वर्यसे रहित देखे जाते हैं॥ १॥

एतद्वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः॥ २॥

विपरीत स्वभावसे युक्त दोनों ईश्वरोंके सेवकोंमें इस प्रकारका गति-विपर्यय (सर्वभोगास्पद श्रीहरिके सेवकोंकी ऐश्वर्यहीनता और भोगरहित शिवके भक्तोंके ऐश्वर्य) को देखकर विषम सन्देह हो रहा है। आपसे इसका कारण जानना चाहता हूँ॥ २॥

श्रीशुक उवाच—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! शङ्कर नित्य ही निजी शक्ति अर्थात् मायाके सम्बन्धसे युक्त हैं एवं मायाके तीनों गुणों द्वारा सम्यक्‌रूपसे परिवृत होकर त्रिगुणमयरूपमें अवस्थित रहते हैं। वे अहङ्काराधिष्ठाता हैं और सात्त्विक, राजस एवं तामस—तीन प्रकारके अहङ्कार रूपोंमें विद्यमान हैं॥ ३॥

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन।
उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम्॥ ४॥

इस अहङ्कारसे सोलह विकार उत्पन्न हुए हैं—मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत। इन विकारोंमेंसे जो सुन्दर स्त्री और भोगकी लालसासे (उपस्थ्य, जैह्व एवं मानस सुखोंके उद्देश्यसे) शिवजीकी आराधना करता है, वह अपनी प्रार्थनानुसार उसी प्रकारकी विभूति अथवा ऐश्वर्यको प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥ ५॥

श्रीहरि सर्वद्रष्टा, प्रकृतिसे अतीत, अन्तःकरणके नित्य साक्षी और साक्षात् गुणातीत पुरुषोत्तम हैं। उनकी आराधना करनेपर मनुष्य भी उनके ही समान गुणातीत हो जाता है।

भगवान् श्रीहरि प्रकृतिसे परे निर्गुण हैं। वे स्वभावतः गुणोंको अतिक्रमण करके अवस्थित हैं। अतः गुणातीत विष्णुका भजन करके किसीको भी गुणमयी सम्पद् किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? जिनसे शिवादिको भी ज्ञान प्राप्त होता है, उन श्रीहरिका भजन करने पर तो ज्ञान-चक्षु प्राप्त होते हैं। उन्हें सम्पद्से उद्भूत (उत्पन्न) अज्ञान-अन्धकार प्राप्त नहीं होता। श्रीहरि उपद्रष्टा (साक्षी) मात्र हैं और गुण-अलिप्तताके कारण उदासीन हैं। अतः उनका भजन एवं परिणाम भी निर्गुण ही होगा॥ ५॥

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः।
शृण्वन् भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम्॥ ६॥

तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञकी समाप्तिके बाद भगवान् श्रीकृष्णसे धर्मकी व्याख्या सुन रहे थे। तब उन्होंने भी वही प्रश्न किया था, जो तुमने किया है॥ ६॥

स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ ७॥

भगवान् श्रीकृष्ण जगदीश्वर हैं और वे मनुष्योंके मङ्गल-विधानके लिए यदुकुलमें अवतीर्ण हुए थे। राजा युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर और उनकी उत्सुकता देखकर भगवान्ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया था॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे राजन्! मैं जिनपर अनुग्रह करता हूँ, धीरे-धीरे उनका समस्त धन छीन लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके पुत्र, सगे सम्बन्धी दुःखीके समान प्रतीत होनेवाले उस निर्धन व्यक्तिको छोड़ देते हैं। युधिष्ठिर! जो व्यक्ति विषयोंके परित्यागकी इच्छा करता है, पर किसी प्रसङ्गवश उनमें लिप्त होकर क्लेशग्रस्त रहता है, तो मैं उन विषयोंका भी हरण कर लेता हूँ। इन विषयोंका हरण ही मेरा अनुग्रह है।

धन नष्ट होनेपर स्वजनों द्वारा त्यागरूप दुःख भगवत्-प्रदत्त है, वह कर्मफल नहीं है। इसी प्रकार सुख भी भक्तोंका कर्मफल नहीं है, भक्तिका आनुषङ्गिक फल है। भक्तिशास्त्रके अनुसार भक्तिमें प्रवृत्ति मात्रसे ही भक्तोंके अप्रारब्ध (जिनका भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है), कूट (जो प्रारम्भ होनेकी दिशामें हैं), बीज (जो प्रकट हो रहे हैं) और प्रारब्ध (जो प्रकट हो चुके हैं) कर्मोंका क्रम उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है जिस प्रकार सहस्रदल पद्मकी पंखुडियाँ धीरे-धीरे बिद्ध हो जाती है। श्रीकृष्णका भजन ही भक्ति है। लौकिक, पारलौकिक भोगोंकी आशासे रहित श्रीकृष्णमें मनका अभिनिवेश होना निष्कर्म-भाव है। उपाधि-निरास द्वारा अर्थात् कामना-रहित होकर श्रीकृष्णमें मन आदि समस्त इन्द्रियोंको आविष्ट करना भजन है; इसी भजनसे निष्काम हुआ जा सकता है। भजनमें प्रवृत्त होते ही भक्तोंके सर्वकर्मोंका ध्वंस हो जाता है। भगवान्की अचिन्त्य-शक्तिसे भजन-आधिक्यका फल

प्राप्त होता है। प्रारब्ध-फलके रूपमें जो सुख-दुःख देखे जाते हैं, वे सभी भगवत्-दत्त हैं। शुभ-अशुभ सभी भगवान् द्वारा प्रदत्त है, परन्तु भगवान् भक्तोंको ही दुःख क्यों देते हैं। इसका उत्तर यही है कि पुत्रवत्सल पिता पुत्रका भोग दूर करनेके लिए उन्हें अध्ययनादिका कष्ट देता है—यह पिता का वात्सल्य है, परन्तु पुत्र इस बातको नहीं जानता है। प्रह्लाद, ध्रुवादिको भोग-सम्पत्तिका सुख दिया है, जब कि 'सिद्ध-शिरोमणि युधिष्ठिरादिको सुहृद कृष्णकी उपस्थितिमें भी विपत्ति आयी है' भीष्मदेवकी उक्तिमें यह सुना जाता है। अतएव भगवान्का अभिप्राय मनुष्योंके लिए दुरधिगम्य है। भीष्मदेवके कथनमें यही सिद्धान्त है—भक्तवत्सल श्रीकृष्णका जो विधान है, वह वे ही जानते हैं।

प्रश्न है कि निजकर्म-जात तथा भगवत्-प्रदत्त सुख एवं दुःखके भोग्य फल समान प्रतीत होनेपर भी उनमें क्या वैशिष्ट्य है। इसका उत्तर है कि निज कर्मफलजात सुख-दुःखोंके भोगके बाद भी उसकी बीजरूप वासना रह ही जाती है। ऐसे वासनायुक्त व्यक्त्यिोंकी नरक-पात, कर्म-तारतम्य (देह बन्धनका बीज) एवं सुख-दुःख तारतम्य—ये तीन स्थितियाँ रहती हैं। भगवत्-प्रदत्त कर्मफलका बीज भगवत्-इच्छासे होता है, वह भी प्रयोजन तक रहता है, उसके बाद नहीं। जो जिह्वा भगवान्के गुणोंका नाम-सङ्कीर्त्तन नहीं करती—उसी का नरक-पात है। यह यमराजका कथन है।

भगवान्के प्रिय पात्र भगवत्-प्रदत्त कष्टोंको दुःखका कारण नहीं मानते। कर्मजात-भगवत्-प्रदत्त एवं शत्रुकृत-ताड़न और भ्रातृकृत-ताड़न जात दुःख समान होनेपर भी उनकी विष एवं अमृतके समान तुलना नहीं हो सकती।

प्रश्न है कि यदि सर्वसमर्थ भगवान् भक्तोंको दुःख न दें तो क्या उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—तो इसका उत्तर है कि लीलानिधि भगवान् भक्तियोगके रहस्यकी गोपनीयताकी रक्षाके लिए, मत-मतान्तरोंको रोकनेके लिए, भक्तकी भक्तिकी उत्कण्ठा-

वृद्धिके लिए भक्तोंको यह दुःख प्रदान करते हैं, परन्तु यह दुःख भी उनके सुखके लिए होता है, जिस प्रकार आँखोंमें कटु-रसके अञ्जनसे आँखोंकी ज्योतिको बढ़ाया जाता है।

और भी, यदि विष्णु भक्त सर्वदा सुखी रहते तो साधुओंका परित्राण एवं दुष्टोंका विनाश करनेके लिए इस जगत्में कृष्ण एवं राम आदि अवतारोंका प्रयोजन नहीं रहता। यदि उनका अवतार न होता तो रासादि लीलामृत-सिन्धुमें भक्तोंकी क्रीड़ा किस प्रकार होती। प्रश्न है कि साधुओंका दुःखसे त्राणरूप निमित्तके बिना इस जगत्में अवतार होनेपर क्या दोष है, तो इसका उत्तर श्रीचक्रवर्ती ठाकुर देते हैं—सत्य है, मेरे भाई! तुम रसविषयमें अभिज्ञ नहीं हो, इसलिए सुनो, रात्रि होनेके बाद सूर्योदयकी शोभा होती है, ग्रीष्मकाल रहे तभी शीतलजल सुखप्रद होता है, शीतकाल रहे, तभी उष्णजल सुखकारी होता है, अन्धकारमें ही प्रदीप शोभा पाता है, दिनमें नहीं। भूखकी पीड़ा रहनेपर ही अन्न सुस्वादिष्ट होता है। अलम् विस्तरेण!॥ ८॥

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥ ९॥

जो निर्धन व्यक्ति अपने बन्धुओंके आग्रहसे पुनः अर्थका उपार्जन करनेमें प्रवृत्त होते भी हैं, तब मैं उसका वह प्रयत्न भी विफल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण उनका मन विरक्त हो जाता है और वे मेरे भक्तोंके साथ मित्रता स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार उनके प्रति मेरा असाधारण (कष्ट सन्तापरूप प्रथम अनुग्रहके बाद दूसरा) अनुग्रह ही होता है॥ ९॥

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
विज्ञायात्मतया धीरः संसारात् परिमुच्यते॥ १०॥

उस समय मेरी कृपासे युक्त होकर वह धीर और विवेकी व्यक्ति सत्य, चिन्मय, अनन्त, परम अव्यक्त, ब्रह्मवस्तुको आत्म

रूपसे अनुभव करता है और इस सांसारिक बन्धनसे छूट जाता है। इस प्रकार मेरी आराधना बड़ी कठिन है। यही कारण है कि साधारण लोग मुझे छोड़कर दूसरे देवताओंकी ही आराधना करते हैं॥ १०॥

अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः।
ततस्तु आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते॥ ११॥

जो विषयोंमें आसक्त हैं तथा जिन्हें मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं है ऐसे अत्यासक्त पुरुष मेरी आराधना एवं मेरे अनुग्रहको दुस्तर जानकर मेरा परित्याग कर देते हैं और अन्यान्य देवताओंकी आराधना करने लगते हैं। इस आराधनासे शीघ्र ही सन्तुष्ट हुए देवताओंसे उन्हें राज्यश्री प्राप्त हो जाती है और वे उद्धत, गर्वित एवं असावधान होकर अपने वरप्रदाता देवताओंको भूलकर उनका तिरस्कार करने लगते हैं॥ ११॥

श्रीशुक उवाच—
शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—ये तीनों किसीको भी शाप एवं वरदान देनेमें समर्थ हैं, परन्तु ब्रह्मा एवं शङ्कर जिस प्रकार शीघ्र ही सन्तुष्ट अथवा शीघ्र ही रुष्ट होकर वरदान या शाप दे देते हैं, अच्युत श्रीहरि वैसे नहीं हैं॥ १२॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वृकासुराय गिरीशो वरं दत्त्वाप सङ्कटम्॥ १३॥

कैलाशपति शङ्कर एक बार वृक नामक असुरको वर देकर सङ्कटमें पड़ गये थे, पौराणिक लोग इस प्रस्तावित विषयपर उदाहरणस्वरूप एक प्राचीन इतिहासका उल्लेख करते हैं॥ १३॥

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम्।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्म्मतिः॥ १४॥

एक बार शकुनिके पुत्र दुर्बुद्धिपरायण वृकासुरकी कहीं जाते समय रास्तेमें नारदसे भेंट हो गयी, तब वह उनसे पूछने लगा— ब्रह्मादि तीनों देवताओंमेंसे कौन देवता सेवकोंसे शीघ्र प्रसन्न हो जाता है? ॥ १४॥

स आह देवं गिरीशमुपाधावाशु सिध्यसि।
योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति॥ १५॥

तब नारदने कहा—तुम शङ्करकी आराधना करो। उनसे शीघ्र ही तुम्हारी मनोकामना सिद्ध हो सकती है। वे अल्प गुणोंसे ही शीघ्र-से-शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं और रञ्चमात्र भी दोष देखकर कुपित हो जाते हैं॥ १५॥

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव।
ऐश्वर्य्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम्॥ १६॥

दशानन रावण और बाणासुरने राज दरबारके बन्दियोंके समान उनके यशका गान करते हुए स्तवन किया, जिससे प्रसन्न होकर शिवने उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य प्रदान कर दिया था, परन्तु बादमें कैलाश-उत्पाटन (रावणके द्वारा कैलाश पर्वतको जड़से उखाड़ने) और बाणासुरके पुर-रक्षण (नगरकी रक्षाका भार लेनेसे) उनके लिए महासङ्कट उत्पन्न हो गया था॥ १६॥

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत् स्वगात्रतः।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम्॥ १७॥

परीक्षित्! नारदसे उपदेश पाकर वृकासुर केदारक्षेत्र चला गया, वहाँ वह अग्निको महादेवका मुख मानकर अपने शरीरसे अपने ही अस्त्रसे मांस काट-काट कर आहुतियाँ प्रदान करते हुए उनकी आराधना करने लगा॥ १७॥

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि।
शिरोऽवृश्चत् सुधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्द्धजम्॥ १८॥

तदा महाकारुणिकः स धूर्ज्जटि-
र्यथा वयञ्चाग्निरिवोत्थितोऽनलात्।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्,
तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः॥ १९॥

छह दिनों तक आराधना करनेपर भी जब महादेव शङ्करका दर्शन नहीं हुआ, तो वह बड़ा दुःखी हो गया। तब वृकासुरने सातवें दिन केदार तीर्थके पवित्र जलमें सिरके केशोंको भिगोया और तलवारसे अपने सिरको काटनेके लिए प्रस्तुत हो गया। उसी समय परम कारुणिक शङ्कर अग्निकुण्डसे (यज्ञानलसे) अग्निदेवके समान प्रकट हो गये। उन्होंने अपने हाथोंमें उसके दोनों हाथोंको पकड़ लिया। हमलोग जिस प्रकार गम्भीर दुःखके कारण मृत्युकी कामना करनेवाले व्यक्तिको आत्महत्याकी चेष्टासे रोकते हैं, उसी प्रकार शङ्करने भी वृकासुरको सिर काटनेके प्रयाससे रोक दिया। उस समय शङ्करका स्पर्श प्राप्त करते ही वृकासुरके अङ्ग ज्यों-के-त्यों पूर्ण हो गये॥ १८-१९॥

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे,
यथाभिकामं वितरामि ते वरम्।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा॥ २०॥

शङ्करने उसे सम्बोधन करते हुए कहा—हे वत्स वृकासुर! बस करो। मस्तक काटनेसे भला क्या लाभ? तुम मुझसे मनचाहा वर माँग लो, मैं तुम्हें वही वर प्रदान करूँगा। मैं तो शरणागत जनोंके जल चढ़ाने मात्रसे ही सन्तुष्ट हो जाता हूँ, तब तुम व्यर्थ ही अपने शरीरको क्यों कष्ट दे रहे हो। अहो! ऐसी कष्टकारी तपस्या करके शरीरको पीड़ित करनेकी अब आवश्यकता नहीं है॥ २०॥

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति॥ २१॥

इसके बाद हे परीक्षित्! पापात्मा असुरने शिवसे ऐसा वरदान माँगा, जो समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। वृकासुरने यह वरदान माँगा कि "मैं जिसके सिरपर अपना हाथ रख दूँ, वही मृत्युको प्राप्त हो जाय॥"२१॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्म्मना इव भारत।
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा॥ २२॥

हे भरतकुलनन्दन! वृकासुरकी इस प्रार्थनाको सुनकर भगवान् शिव क्षणभरके लिए दुःखीचित्त होकर खड़े-से रह गये, परन्तु बादमें हँसते हुए 'तथास्तु' कहकर उसे अभीष्ट वर दे दिया, मानो सर्पको अमृत पिला दिया॥ २२॥

(इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः।)
स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्द्धि्न किलासुरः।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः॥ २३॥

शङ्करके वरदान देनेपर वृकासुरके मनमें यह लालसा हो आयी कि मैं पार्वतीको ही हर लूँ। अब वह दुष्ट असुर वरकी सत्यताकी परीक्षाके लिए महादेवके सिरपर ही अपना हाथ रखनेके लिए उद्यत हो गया। अब तो महादेव अपने द्वारा दिये गये उस वरके कारण भयभीत हो गये॥ २३॥

तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः पराधावत् सवेपथुः।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक्॥ २४॥

वह असुर उनका पीछा ते हुए दौड़ने लगा और वे उससे डरकर भयसे अतिशय काँपते हुए पराङ्मुख होकर भागने लगे। शिव उत्तर दिशासे आरम्भ करके स्वर्गलोक, मर्त्यलोक एवं दिशाओंके अन्तिम छोरों तक भागते रहे॥ २४॥

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः।
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम्॥ २५॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्त्तते गतः॥ २६॥

इन सभी स्थलोंपर ब्रह्मादि समस्त देवता इस सङ्कटके निराकरणका कोई उपाय न देखकर मौन रह गये। तब शङ्कर तमोगुणातीत, शुद्धसत्त्वाश्रित एवं तेजस्वी वैकुण्ठ धाममें पहुँचे। यहाँ साक्षात् नारायण निवास करते हैं। वे शान्तचित्त, समस्त प्राणियोंके प्रति राग-द्वेषसे रहित, परम भक्त साधुओंकी परम-गति हैं। इस वैकुण्ठमें जाकर जीवको पुनः संसार-दशामें लौटना नहीं पड़ता॥ २५-२६॥

तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्द्दनः।
दूरात् प्रत्युदियाद्भूत्वा वटुको योगमायया॥ २७॥
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन्।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत्॥ २८॥

अपने भक्तोंके समस्त दुःखोंको हरनेवाले भगवान् श्रीहरिने दूरसे ही देख लिया कि शिव सङ्कटमें हैं। उन्होंने योगमायासे बाल-ब्रह्मचारीका वेश धारण कर लिया। उन्होंने मूँजकी मेखला, अजिन (काला मृगचर्म), दण्ड एवं रुद्राक्षकी माला धारण कर ली और हाथमें कुश ले लिया। ब्रह्मतेजसे युक्त होनेके कारण उनका श्रीविग्रह अग्निके समान दीप्त हो रहा था। उन्होंने वृकासुरके सम्मुख आकर शिष्यके समान बड़ी नम्रतासे उसका अभिवादन करते हुए कहा—हम ब्रह्मदर्शी हैं; समस्त प्राणियोंके नमस्य हैं, किन्तु तुम शकुनिपुत्र हो, ज्ञानी, तपस्वी हो। मैं ब्रह्मचारी तुम्हारे आशीर्वादके योग्य हूँ॥ २७-२८॥

श्रीभगवानुवाच—

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक्॥ २९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे शकुनिनन्दन! वृकासुरजी! आपको देखकर स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है कि आप अत्यन्त थके हुए हैं। आप इतनी दूरसे किसलिए चले आ रहे हैं, यह तो बतलाइये। आप क्षणभरके लिए इस स्थानपर विश्राम कीजिये। मनुष्योंकी सारी कामनाएँ इसी शरीरसे पूर्ण होती हैं, यह शरीर ही सारे सुखोंका मूल है। अतः इस शरीरकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये॥ २९॥

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान् समीहते॥ ३०॥

हे प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं। आप यदि मुझे श्रवणके योग्य समझते हों, तो मुझे बतलाइये—इस समय आप क्या करना चाहते हैं? क्योंकि प्रायः मनुष्य दूसरोंकी सहायता लेकर अपने-अपने कार्योंको सिद्ध कर लिया करते हैं। मैं ब्रह्मतेजके बलपर आपकी सहायता कर सकता हूँ॥ ३०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा।
गतक्लमोऽब्रवीत् तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम्॥ ३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीहरिके सुमधुर, अमृतवर्षी वचनोंसे वृकासुरकी सारी थकावट दूर हो गयी। उसने क्रमशः अपनी तपस्या, वरदान-प्राप्ति तथा शङ्करके पीछे दौड़नेकी बात आरम्भसे क्रमपूर्वक कह सुनायी॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं चेत् तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि।
यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट्॥ ३२॥

श्रीभगवान्ने कहा—जिन्होंने दक्षके शापके कारण पिशाच-वृत्तिको प्राप्त कर लिया है और केवल भूत-पिशाचोंके ही अधिपति हैं, उन शिवने यदि आपको ऐसा वरदान दिया भी है, तो मैं उन वचनों पर विश्वास नहीं कर सकता॥ ३२॥

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम्॥ ३३॥

हे दानवराज! यदि आप अब भी शङ्करको जगत्का गुरु मानते हैं और उनके वचनोंपर विश्वास करते हैं, तो अभी ही अपने सिरपर हाथ रखकर इसकी परीक्षा कर लीजिये॥ ३३॥

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः॥ ३४॥

हे दैत्यराज! यदि किसी प्रकार शङ्करकी बात किञ्चित् मात्र भी असत्य हो, तो उस मिथ्यावादीको मार ही डालिये, जिससे वह पुनः कभी मिथ्या वचन न कह सके॥ ३४॥

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात्॥ ३५॥

परीक्षित्! भगवान्के ऐसे मनमोहक, अद्भुत वचन-विन्यास एवं मीठे वचनोंको सुनकर दुर्बुद्धि वृकासुरकी विवेक-बुद्धि जाती रही और वह शङ्करके वरदानको भूलकर बिना सोच-समझे अपने ही सिरपर अपना हाथ धर बैठा॥ ३५॥

अथापतद्भिन्नशिराः वज्राहत इव क्षणात्।
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद्दिवि॥ ३६॥

उससे असुरका तत्क्षण ही सिर फट गया। वह वज्रके प्रहारसे आहतके समान भूमिपर गिर पड़ा। आकाशमें 'जय हो, जय हो'—जयध्वनि, 'नमो नमः, नमो नमः' प्रणामसूचक ध्वनि एवं 'साधु-साधु' की प्रशंसासूचक ध्वनि गूँजने लगी॥ ३६॥

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः॥ ३७॥

दुराचारी वृकासुरके मर जानेसे देवता, ऋषि, पितर एवं गन्धर्व बड़ी प्रसन्नताके साथ पुष्पोंकी वर्षा करने लगे और इधर देवाधिदेव शिव भी उस विकट सङ्कटसे मुक्त हो गये॥ ३७॥

मुक्तं गिरीशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः।
आहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना॥ ३८॥
हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ॥ ३९॥

हे राजन्! तब भगवान् पुरुषोत्तम श्रीहरि सङ्कटसे मुक्त हुए गिरीश शङ्करके समीप गये और बोले—हे जगद्गुरु महादेव! यह दुराचारी असुर अपने ही पापोंके कारण मारा गया। अहो! यदि कोई महापुरुषोंके प्रति अपराध करता है, तो उसका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। इसने विश्व-ब्रह्माण्डके गुरु आपके प्रति अपराध किया है, तो इसका कल्याण किस प्रकार सम्भव है?॥ ३८-३९॥

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः,
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः।
गिरित्रमोक्षं कथयेत् शृणोति वा,
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीरुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः॥ ८८॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरि परमात्मा हैं, वे प्रपञ्चातीत-स्वरूप शक्तियोंके असीम सागर हैं। जो इस शिव-मोचनरूप चरितको सुनते हैं अथवा दूसरोंको सुनाते हैं, वे जन्म-मृत्युरूप संसार-प्रवाह एवं शत्रुओंके भयसे मुक्त हो जाते हैं॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अट्ठासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोननवतितमोऽध्यायः

देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है—इस विषयमें संशयग्रस्त ऋषियोंके कहनेसे महर्षि भृगुके द्वारा त्रिदेवोंकी परीक्षा और भगवान्‌का मरे हुए ब्राह्मण-बालकोंको वापस लाना

श्रीशुक उवाच—

सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासत।
वितर्कः समभूत् तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! प्राचीन कालमें सरस्वती नदीके पावन तटपर ऋषियोंने एक वैदिक यज्ञका अनुष्ठान किया था। उस समय एक वाद-विवाद उपस्थित हो गया कि ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—इन तीनोंमें सर्वश्रेष्ठ देवता कौन है?॥ १॥

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम्॥ २॥

हे राजन्! उस समय ऋषियोंने इस विषयमें यथार्थ तत्त्व जाननेकी इच्छासे ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी परीक्षा लेनेके लिए ब्रह्माके पुत्र महर्षि भृगुको उनके पास भेजा। भृगु सर्वप्रथम ब्रह्माकी सभामें पहुँचे॥ २॥

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया।
तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा॥ ३॥

भृगुने उस समय ब्रह्माके सतोगुणके प्रभाव अर्थात् धैर्यादिकी परीक्षाके उद्देश्यसे न तो उन्हें प्रणाम किया और न ही उनकी स्तुति की। तब ब्रह्मा अपने तेजसे प्रज्वलित हो उठे और भृगु पर बड़े क्रोधित हुए॥ ३॥

स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः।
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः॥४॥

यद्यपि ब्रह्मा अतिशय क्रोधाभिभूत होकर भृगुका वध करनेके लिए उद्यत हो रहे थे, तथापि उन्होंने देखा कि भृगु मेरा ही पुत्र है, तो स्वयं ही उस क्रोधको इस प्रकार शान्त कर लिया, जिस प्रकार आग, जो जलकी उत्पत्तिका कारण है, उसी जलसे शान्त की जाती है॥४॥

ततः कैलासमगमत् स तं देवो महेश्वरः।
परिरब्धुं समारेभे उत्थाय भ्रातरं मुदा॥५॥

अब भृगु वहाँसे कैलाश धाम पहुँचे, उन्हें देखते ही शङ्कर आसनसे उठ खड़े हुए और बड़े आनन्दके साथ अपने भाईका आलिङ्गन करनेके लिए भुजाएँ फैला दीं।

भृगु ब्रह्माका अवज्ञारूप 'मानस' अपराध कर बैठे, परन्तु उनकी परीक्षा करके उनमें रजोगुण देखकर सफल भी हुए हैं। अब उनसे श्रेष्ठ शिवके निकट 'मानस' से भी अधिक 'वाचिक' अपराध करने जा रहे हैं॥५॥

नैच्छत् त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः॥६॥
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्द्दनः॥७॥

महर्षि भृगुने महादेवसे कहा—"तुम वेद मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले हो।" यह कहकर आलिङ्गन करनेसे मना कर दिया। भृगुकी बात सुनकर क्रोधावेशके कारण महादेवकी आँखें लाल हो उठीं। वे हाथमें त्रिशूल लेकर भृगुका वध करनेके लिए तत्पर हो गये। तभी पार्वती उनके चरणोंमें गिर पड़ीं और विनयपूर्ण रीतिसे उन्हें समझाने-बुझाने लगी। इसके बाद महर्षि भृगु भगवान् श्रीविष्णुके आवास-स्थान वैकुण्ठधाममें पहुँचे।

शङ्करमें तमोगुण देखकर और उनकी अर्द्धाङ्गिनी पार्वतीमें सत्त्वगुण देखकर उनकी भी परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हैं और अब भृगु उनसे भी श्रेष्ठ विष्णुके समीप 'वाचिक' से भी अधिक 'कायिक' अपराध करेंगे॥ ६-७॥

शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत्।
तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः॥ ८॥

स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम्।
आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो॥ ९॥

वहाँ भगवान् पुष्प-शय्यापर लक्ष्मीदेवीकी गोदमें सिर रखकर लेटे हुए थे। महर्षि भृगुने उनके वक्षःस्थलपर जोरसे लात मारी। तब साधुओंके शरण्य भगवान् श्रीहरि लक्ष्मीदेवीके साथ शय्यासे उठ खड़े हुए और मस्तक झुकाकर मुनिको प्रणाम किया। भगवान्ने कहा—हे मुनिवर! आप सुखपूर्वक तो आये हैं न! हे ब्रह्मन्! इस आसनपर क्षणकालके लिए बैठिये तो सही! हे प्रभो! मुझे आपके शुभागमनका पता ही नहीं चला, इसलिए आपके प्रति अपराध कर बैठा। आप मुझे क्षमा कीजिये।

भृगुने श्रीविष्णुमें सत्त्वगुणकी परीक्षाके लिए यह अपराध किया है। वस्तुतः विष्णुमें उन्होंने शुद्ध सत्त्वगुण देखा है, साधारण सत्त्वगुण विष्णुको स्पर्श नहीं कर सकता। लक्ष्मी प्रियतम कान्त विष्णुका अभिप्राय जानती थीं, अतः भृगु मुनि द्वारा अपने पतिका तिरस्कार देखकर उनके हृदयमें क्रोध नहीं हुआ—यही शुद्ध सत्त्वगुण धर्म है। (कहा जाता है कि इस घटनाके समयसे ही लक्ष्मी ब्राह्मणोंके अनुकूल नहीं रहतीं)॥ ८-९॥

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा॥ १०॥

अद्याहं भगवन् लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः॥ ११॥

(तब मुनिने कहा—मैंने आपको और आपकी प्रिया लक्ष्मीको अति दुःख पहुँचाया है, अतः कल्प पर्यन्त मेरा नरकमें वास होगा। मुझ महापापी ब्राह्मणका पैर आपके वक्षःस्थलपर लगा है। अनुतापसे जर्जरित मुनिको सम्बोधन करते हुए भगवान् कहने लगे—)

हे महर्षे! हे महामुने! आपके श्रीचरणकमल अत्यन्त सुकुमार हैं—यह कहकर भगवान् विष्णु भृगुजीके चरणोंको अपने हाथोंसे सहलाने लगे और बोले—आपके चरणोंका जल तीर्थोंको भी विशुद्ध करनेवाला है। आप इस पादोदकके द्वारा मुझे, इस वैकुण्ठधामको (श्वेतद्वीपको) तथा मेरे आश्रित लोकपालों और उनके धामोंको पवित्र कीजिये। भगवन्! आपके चरण-कमलोंके स्पर्शसे मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मीका एकमात्र आश्रय हो गया। अब आपके श्रीचरणोंसे अङ्कित मेरे वक्षःस्थलपर लक्ष्मीदेवी निश्चल होकर सदा सर्वदा निवास करेंगी॥ १०-११॥

श्रीशुक उवाच—

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् द्वारा कहे गये इन गम्भीर वचनोंसे भृगु अत्यन्त सन्तुष्ट एवं आनन्दित हो गये। भक्तिभावसे उनका चित्त अभिभूत हो उठा। उनका गला भर आया, आँखोंसे आँसू उमड़ आये और वे मौन खड़े रहे (भृगु आनन्दातिशयताके कारण भगवान्‌की स्तुति न कर सके। वस्तुतः इस समस्त कर्ममें भृगुजीका अपराध होगा नहीं क्योंकि परीक्षा कार्यमें उनकी भूमिका भगवत् लीला-विनोदरूप सूत्रधार द्वारा नियोजित है)॥ १२॥

पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।
स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत्॥ १३॥

हे राजन्! भृगु वहाँसे पुनः ब्रह्मवादी मुनियोंके उसी सत्सङ्ग-सत्रमें लौट आये और उन्होंने वहाँ जो कुछ भी अनुभव किया, वह सब कह सुनाया॥ १३॥

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥ १४॥

धर्म्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यञ्च तदन्वितम्।
ऐश्वर्यञ्चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम्।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम्॥ १५॥

मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम्।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम्॥ १६॥

सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्त्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः॥ १७॥

भृगुके वचनोंको सुनकर मुनिगण बड़े विस्मित हो गये। उनका संशय दूर हो गया। उन्होंने निर्णय कर लिया कि विष्णु ही तीनों देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे ही शान्ति और अभयके स्रोत हैं। उनसे ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, अणिमादि आठ प्रकारके ऐश्वर्य और समस्त पापोंको धो डालनेवाला यश साक्षात् प्राप्त होता है। सारे शास्त्र उनका ही यशोगान करते हैं कि वे राग-द्वेषादिसे रहित, समबुद्धिसे युक्त, शान्तचित्त, मुनि-धर्मसे युक्त, अकिञ्चन और साधुओंकी परम-गति-स्वरूप हैं। विष्णुका श्रीविग्रह विशुद्ध सत्त्वमय है। ब्राह्मण उनके प्रिय हैं, इसलिए वे उन्हें इष्टदेवके समान आदरणीय मानते हैं। निष्काम, शान्त, निपुण, शास्त्रचक्षु और विवेकीगण विष्णुकी सेवा करते हैं॥ १४-१७॥

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत् तीर्थसाधनम्॥ १८॥

यद्यपि उन भगवान्की त्रिगुणमयी मायाने राक्षस, असुर एवं सुर—ये तीन प्रकारकी मूर्त्तियाँ बना दी हैं, तथापि जीवनमें परम

पुरुषार्थका साधन सत्त्वगुण ही है। भगवान् इन त्रिविध गुणोंसे उदासीन ही रहते हैं॥ १८॥

श्रीशुक उवाच—

एत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये।
पुरुषस्य पदाम्भोज-सेवया तद्गतिं गताः॥ १९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सरस्वती तटपर रहनेवाले मुनियोंने अपने लिए नहीं, मनुष्योंके संशयका निवारण करनेके लिए एवं पूर्वोक्त सिद्धान्तके स्थापनके लिए ही ऐसी युक्ति रची थी। उन्होंने भगवान् विष्णुके चरणकमलोंकी भक्ति (सेवा) की और उनका परमपद प्राप्त किया॥ १९॥

श्रीसूत उवाच—

इत्येतन्मुनितनयास्य-पद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं
पान्थोऽध्वभ्रमण-परिश्रमं जहाति॥ २०॥

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! श्रीव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखकमलसे यह सुरभित पीयूषधारा प्रवाहित हुई है, जो भगवान् पुरुषोत्तम श्रीहरिकी उदार कीर्त्तिसे युक्त है और जन्म-मृत्युरूप संसारके भयका नाश करनेवाली है। इस संसार यात्राका जो पथिक (विष्णु पद्म-गन्ध-मधुकर) अपने कर्णपुटोंसे कथा-पीयूषका निरन्तर पान करता रहता है, वह संसार-मार्गमें भ्रमणसे उत्पन्न क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है॥ २०॥

श्रीशुक उवाच—

एकदा द्वारवत्यान्तु विप्रपत्न्याः कुमारकः।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत॥ २१॥

(श्रीकृष्णका सर्वमहोत्कर्षत्व बतलानेके लिए उनका एक और चरित्र कहते हैं—) श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भरतकुल-नन्दन! एक बारकी बात है कि द्वारकामें एक ब्राह्मणी-पत्नीने

पुत्रको जन्म दिया, परन्तु भूमिका स्पर्श होते ही वह मर गया॥ २१॥

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः॥ २२॥

वह ब्राह्मण अपने मृत शिशुको लेकर राजा उग्रसेनके राज-द्वारपर पहुँचा और शिशुको वहाँ रख कर अत्यन्त कातर एवं दुःखी हृदयसे विलाप करते-करते कहने लगा॥ २२॥

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः।
क्षत्रबन्धोः कर्म्मदोषात् पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः॥ २३॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण-द्रोही, कुटिलमति (धूर्त), लोभी एवं विषयी राजाके पाप कर्मोंके (राज-दोषके) कारण ही मेरे इस बालककी मृत्यु हुई है। इसमें मेरा कोई दोष नहीं है॥ २३॥

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम्।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः॥ २४॥

जो राजा हिंसापरायण, अजितेन्द्रिय एवं दुःस्वभाव होता है, उसके आश्रयमें रहनेवाली प्रजा दरिद्र, नित्य ही दुःखी एवं क्लेशग्रस्त होती है॥ २४॥

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयन्त्वेवमेव च।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत॥ २५॥

परीक्षित्! दूसरे एवं तीसरे पुत्रोंके भी भूमिष्ठ होते ही मर जानेपर वह ब्राह्मण उनके शवोंको इसी प्रकार राज-द्वारपर रखता रहा और वही गाथा गाता रहा॥ २५॥

तामर्ज्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत॥ २६॥

किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्द्धरः।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्रमासते॥ २७॥

जब उसके नवें बालककी मृत्यु हो गयी, तब भी वह वहाँ आया। उस समय श्रीकृष्ण अर्जुनके समीप ही खड़े थे। ब्राह्मण पुनः पूर्वोक्त वचन कहने लगा। अर्जुनने उन आक्षेपात्मक वचनोंको सुनकर ब्राह्मणसे कहा—हे द्विजवर! आप व्यर्थमें किसलिए रो रहे हैं। (वहाँ उपस्थित लोगोंके प्रति कटाक्ष करते हुए कहा—) क्या राज-दरबारमें एक भी अधम क्षत्रिय बन्धु नहीं है, जो धनुर्धारी रक्षकके रूपमें आपके द्वारके सम्मुख खड़ा रहे। ये क्षत्रिय प्रजा-पालन छोड़कर ब्राह्मणोंके समान केवल यज्ञमें ही सम्मिलित हो सकते हैं क्या?॥ २६-२७॥

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः॥ २८॥

जिन क्षत्रियोंके राज्यमें ब्राह्मण, स्त्री और पुत्र, धन अथवा किसी अन्य प्रकारके वियोगसे शोकग्रस्त रहते हैं, वे क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं हैं बल्कि उदर-पोषणमें (आत्म-प्राण-तर्पणमें) लगे हुए ये नट केवल जीविका-निर्वाहके लिए राजवेश धारण किये हुए हैं॥ २८॥

अहं प्रजा वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह।
अनिस्तीर्ण-प्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः॥ २९॥

हे भगवन्! मैं इस स्थानपर दुःखग्रस्त आपकी तथा आपकी पत्नीकी सन्तानकी रक्षा करूँगा—यह मेरी प्रतिज्ञा है। यदि मैं प्रतिज्ञा-पालनमें असमर्थ रहा तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा—और ब्राह्मणके विलाप-श्रवण-जनित पापसे विशुद्ध हो जाऊँगा॥ २९॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत्॥ ३०॥
तत् कथं नु भवान् कर्म्म दुष्करं जगदीश्वरैः।
त्वं चिकीर्षसि बालिश्यात् तन्न श्रद्दध्महे वयम्॥ ३१॥

ब्राह्मणने कहा—अर्जुन! सङ्कर्षण, श्रीवासुदेव, धनुर्धर श्रेष्ठ प्रद्युम्न एवं अद्वितीय योद्धा अनिरुद्ध—ये सब भी जहाँ मेरे पुत्रकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सके, वहाँ तुम किस प्रकार समर्थ हो सकते हो? अरे! जो जगदीश्वरोंके लिए भी कठिन है, तुम मूर्खतावश उसी दुष्कर कार्यको करना चाहते हो। मैं तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं कर सकता॥ ३०-३१॥

श्रीअर्जुन उवाच—

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च।
अहं वा अर्ज्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः॥ ३२॥

श्रीअर्जुनने (गाण्डीव दिखाते हुए) कहा—हे ब्रह्मन्! मैं बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न अथवा अनिरुद्ध नहीं हूँ, परन्तु जिसके पास विश्व विख्यात गाण्डीव नामक अद्वितीय धनुष है, मुझे उसी अर्जुनके नामसे सब जानते हैं॥ ३२॥

मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्य्यं त्र्यम्बकतोषणम्।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजाः प्रभो॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! आप मेरे बल-पौरुषकी अवज्ञा मत कीजिये। मैं अपनी क्षमतासे पराक्रमी महादेवको सन्तुष्ट कर चुका हूँ। हे भगवन्! मैं साक्षात् यमराजको भी पराजित करके आपके पुत्रोंको लाऊँगा॥ ३३॥

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परन्तप।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्य्यं निशामयन्॥ ३४॥

हे शत्रुसन्तापकर राजन्! अर्जुनके इन वचनोंसे आश्वासन प्राप्त करके तथा उनके बल-पौरुषका वर्णन सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हो गया और अपने घर चला आया॥ ३४॥

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्य्याया द्विजसत्तमः।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः॥ ३५॥

इसके बाद जब पत्नीका प्रसवकाल आया, तब वह ब्राह्मण अर्जुनके पास गया और बड़े कातर होकर उनसे कहने लगा—हे अर्जुन! मृत्युसे मेरी सन्तानकी रक्षा करो, रक्षा करो (इस समय अर्जुनका द्वारका-वास था अथवा वे गर्भ-पूर्त्तिका समय समीप जानकर द्वारका चले आये थे)॥ ३५॥

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम्।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे॥ ३६॥

तब अर्जुनने पवित्र जलसे आचमन किया, महादेवको प्रणाम किया, दिव्यास्त्रोंका स्मरण किया, गाण्डीवपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और उस धनुषको हाथमें धारण किया॥ ३६॥

न्यरुणत् सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः।
तिर्य्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम्॥ ३७॥

अर्जुनने अनेक प्रक्षेपास्त्रोंका संयोजन किया और मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित बाणोंसे सूतिकागृहको चारों ओरसे बाँध लिया। इस प्रकार उन्होंने प्रसवगृहके ऊपर-नीचे एवं दायें-बायें बाणोंकी संस्थापना करके एक शर-पिञ्जर बना दिया॥ ३७॥

ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा॥ ३८॥

ब्राह्मणपत्नीने पुनः पुत्रको जन्म दिया। जन्म होते ही बालक रोने लगा। कुछ देर तक रोनेके बाद देखते-देखते ही सशरीर आकाशपथमें अदृश्य हो गया (कृष्णकी इच्छावश न तो दिव्य अस्त्र उस बालककी रक्षा कर सके और न ही महादेव)॥ ३८॥

तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम्॥ ३९॥

तब वह ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख ही अर्जुनका तिरस्कार करते हुए कहने लगा—अहो! मेरी कैसी मूर्खता है?

मैंने इस नपुंसक अर्जुनकी डींग भरी बातों पर विश्वास कर लिया॥ ३९॥

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः॥ ४०॥

भला जिसकी सन्तानकी प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बलराम एवं स्वयं श्रीकेशव भी रक्षा न कर सके, तो कोई अन्य इस कार्यमें किस प्रकार समर्थ हो सकता है?॥ ४०॥

धिगर्ज्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः॥ ४१॥

दैववश दूसरे लोकमें ले जाये गये मेरे पुत्रोंको यह वापस लाना चाहता है, इस दुर्मति अर्जुनकी यह कैसी मूर्खता है? इस मिथ्यावादी अर्जुनको धिक्कार है, इस आत्मप्रशंसकके गाण्डीव धनुषको धिक्कार है॥ ४१॥

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः॥ ४२॥

परीक्षित्! इधर ब्राह्मण अर्जुनको भला-बुरा कहता रहा और उधर अर्जुन अपनी योगविद्यासे तत्काल संयमनी पुरी पहुँच गये, जहाँ भगवान् यमराज सदैव विद्यमान रहते हैं॥ ४२॥

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम्।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः॥ ४३॥

ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता॥ ४४॥

जब अर्जुनने यमपुरीमें ब्राह्मण-पुत्रको नहीं देखा, तो उन्होंने शस्त्रोंको धारण कर लिया। वे शस्त्र लेकर क्रमसे इन्द्रलोक, अग्निलोक, निर्ऋतिलोक, चन्द्रलोक, वायुलोक, वरुणलोक, रसातलादि नीचेके लोकों, स्वर्गादि ऊपरके लोकों और महर्लोकादि अन्यान्य

लोकोंमें पहुँचे, किन्तु कहीं भी उस ब्राह्मण-पुत्रको खोज नहीं पाये। अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी न होनेपर अग्निमें प्रवेश करनेके लिए तैयार हो गये। तभी श्रीकृष्णने उन्हें रोक दिया और कहने लगे॥ ४३-४४॥

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना।
ये ते नः कीर्त्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥ ४५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे सखे! मैं तुम्हें ब्राह्मणके पुत्रोंको अभी दिखला रहा हूँ। तुम अपने आपको इतना तिरस्कृत मत समझो। जो इस समय हमारी निन्दा कर रहे हैं, वे ही बादमें हमारी निर्मल कीर्त्तिको स्थापित करेंगे (श्रीकृष्णने अर्जुनको कौतुक दिखाकर विस्मित करनेके लिए श्रीमहाकालरूप भी स्वयं धारण किया और स्वयं ही ब्राह्मणके बालकोंका अपहरण किया)॥ ४५॥

इति सम्भाष्य भगवानर्ज्जुनेन सहेश्वरः।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्॥ ४६॥

सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण यह कहकर अर्जुनके साथ अपने दिव्य रथपर चढ़कर पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ ४६॥

सप्तद्वीपान् ससिन्धूंश्च सप्तसप्तगिरीनथ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः॥ ४७॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ पथके मध्यवर्त्ती ब्रह्माण्डके सात पर्वत, सात समुद्रोंसे युक्त सात द्वीप एवं लोकालोक पर्वतकी सीमा पार करके प्रकृति-कृत घोर अन्धकारमें प्रवेश किया। यह ब्रह्माण्डके आवरणकी शेष (अन्तिम) सीमा है।

सप्त समुद्र, सप्त पर्वत, सप्त द्वीप एवं लोकालोक पर्वतसे वेष्टित भूमण्डल अथवा जम्बूद्वीपसे बहिर्भागको परिवेष्टित करके ब्रह्माण्डकी चारों दिशाओंमें एकके बाद एक क्षिति, जल, तेज, मरुत्, व्योम, अहं एवं महत्—इन सात तत्त्वोंके सात आवरण क्रमशः मण्डलाकारमें रहते हैं। इसके भी बाहर अष्टम आवरण

है—जो अनन्त व्यापक प्रकृति अथवा अन्धकारका आवरण है॥ ४७॥

तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीव-मेघपुष्पबलाहकाः।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ॥ ४८॥

तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः।
सहस्रादित्यसङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः॥ ४९॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ! उस अन्धकारमें रथके शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प एवं बलाहक नामक चार घोड़े ब्रह्माण्डके सात बाह्य आवरणोंकी अन्तिम सीमाके अष्टम आवरणके घोर अन्धकारमें अपना मार्ग भूल गये। तब इस अवस्थाको देखकर महायोगेश्वराधिपति भगवान् श्रीकृष्णने सहस्र सूर्योंके समान प्रभावशाली अपने सुदर्शन-चक्रको रथके आगे-आगे भेज दिया (वैकुण्ठसे आये रथोंके अश्वोंका प्रकृतिके अन्धकारमें गति-भ्रष्ट होना भगवान्‌की नर-लीलाके समान साधारण अश्वलीलत्व है—इसे अर्जुनादि द्रष्टाओं एवं श्रोताओंके चमत्कारके लिए जानना चाहिये)॥ ४८-४९॥

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्-
विदारयद्भूरितरेण रोचिषा।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः॥ ५०॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीरामचन्द्रके धनुषसे छूटे बाणोंने जिस प्रकार रावणकी सेनामें प्रवेश किया था, उसी प्रकार मनकी गतिके समान अति द्रुतगामी सुदर्शन भी अपने प्रभूत प्रज्वलित तेजसे निविड़ प्रकृतिके परिणामसे उत्पन्न उस घने एवं भयानक अन्धकारको चीरता हुआ आगे बढ़ा॥ ५०॥

द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः-
परं परं ज्योतिरनन्तपारम्।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे॥ ५१॥

सुदर्शनचक्रके पीछे चलता हुआ रथ जब द्वार-पथ (अन्तिम सीमापर) पहुँचा, तब अर्जुनको अन्धकारके उसपार सुविस्तृत, अनन्त एवं अपार उत्तम भागवत-ज्योति दिखायी पड़े, उनकी आँखें चौंधिया गयीं। उन्होंने दोनों नेत्र बन्द कर लिये।

सुदर्शनचक्रने सातों आवरण भेद दिये और अर्जुनको प्रकृतिके अन्धकारके बाद उस लोकमें ले गया, जहाँ श्रेष्ठ चिन्मय ज्योति व्याप्त हो रही थी। उस ज्योतिसे चकाचौंध होकर अर्जुनने अपने नेत्र बन्द कर लिये। इस ज्योतिके विषयमें श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—हे भरतवंशश्रेष्ठ! तुम जो ब्रह्मतेजमयी, महादिव्य ज्योतिको देख रहे हो, वह मेरा ही सनातन (नित्य) तेज है—यह मेरी सनातनी परा प्रकृतिके व्यक्त एवं अव्यक्त रूपोंसे युक्त है। श्रेष्ठ योगी इसमें प्रवेशकर मुक्त हो जाते हैं—यही ज्योति तपस्वियों एवं सांख्यगणोंकी भी गति है—यही ज्योति परब्रह्म है, जिसके द्वारा सारा जगत् विभक्त है। हे भारत! इस तेजको मेरा घनीभूत तेज समझ सकते हो। मेरी पराप्रकृति ही चिन्मय ब्रह्म है। मेरी स्वरूपशक्ति परा अर्थात् मायातीत है॥ ५१॥

ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५२॥

इसके बाद उन्होंने दिव्य एवं अति विशाल जलराशिमें प्रवेश किया, जो प्रबल वायु-वेगके कारण विशाल तरङ्गरूप भूषणोंसे भूषित हो रही थी। उस जलराशिमें प्रविष्ट होकर अर्जुनने महाकालपुरको देखा, वहाँ एक अत्याश्चर्यमय सुन्दर भवन था, उसमें द्युतिमयी मणियोंसे रचित सहस्र-सहस्र खम्भे थे। उस भवनके चारों ओर दीप्तिमय पदार्थोंकी उज्ज्वल ज्योति प्रकाशित हो रही थी।

कारण-समुद्र अथवा विरजा नदीके जलसे उच्छलित होकर महातरङ्गें ही भूषण हैं जिसकी—ऐसा अद्भुत भवन है—महाकालपुर!

मृत्युञ्जयतन्त्रमें कहा गया है—हे देवि! ब्रह्माण्डकी ऊपरी दिशामें ब्रह्माका महान् गृह अर्थात् सत्यलोक है, उसके ऊपर विष्णुगणोंका अर्थात् विकुण्ठ-सुतोंका वैकुण्ठ है, तब और ऊपर क्रमशः रुद्ररूपी अहङ्कार आवरण स्थित रुद्रलोक, महाविष्णु अर्थात् महत्-तत्त्व आवरण स्थित महाविष्णुलोक, महादेवी अर्थात् प्रकृतिके आवरण स्थित महादेवीका लोक एवं ब्रह्म-पीयूष-वारिधि कारण-समुद्र, महाकाल अर्थात् परब्रह्म स्थित महावैकुण्ठनाथ, उनके ही कारण-समुद्र जलके मध्यगत गृह—महाकालपुरको अर्जुनने देखा। यह कारणार्णव प्रकृति एवं परव्योमके मध्य स्थानपर सीमारूपमें विराजमान है॥ ५२॥

तस्मिन् महाभोगमनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्द्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणक्षणोल्वणं
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम्॥ ५३॥

उस महलमें अनन्तदेव विराजमान थे। वे बड़े ही अद्भुत दिखायी दे रहे थे। उनका शरीर स्फटिक गिरिके समान श्वेत, विशाल और दीप्तिमान् था। उनके सहस्र सिर थे और प्रत्येक फणपर अवस्थित मणियाँ चमचमा रही थीं। प्रत्येक सिरमें दो नेत्र होनेके कारण वे दो सहस्र नयनोंसे युक्त थे। उनका कण्ठ तथा जीभ नीले वर्णके थे॥ ५३॥

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम्।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम्॥ ५४॥

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्व्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयावृतम्॥ ५५॥

सुनन्द-नन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्त्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्त्यजयाखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमानं परमेष्ठिनां पतिम्॥ ५६॥

परीक्षित्! अर्जुनने देखा कि अनन्तदेवके सुविशाल शरीररूप सुखप्रद एवं कोमल शय्यापर महाप्रभावशाली, लोकपालोंके अधीश्वर, महत्-तत्त्व-स्रष्टाके भी ईश्वर पुरुषोत्तम भगवान् विभु विराजमान हैं। उनके श्रीविग्रहकी कान्ति श्यामल मेघके समान है। उन्होंने पीत वर्णके सुरम्य परिधान धारण कर रखे हैं। नेत्र बड़े ही सुन्दर एवं विशाल हैं (ये दो सहस्त्र नयन भीषण एवं उग्र भी हैं), मुखमण्डलपर अति मनोहर मुसकान है, अपरिमित सहस्त्र अलकावलियाँ इधर-उधर लहरा रही हैं, महामणियोंसे जड़ित मुकुट एवं कुण्डलोंकी कान्तिसे सर्वत्र उज्ज्वलता स्फुरित हो रही है, आजानुलम्बित सुरम्य आठ भुजाएँ हैं। गलेमें कौस्तुभ मणि, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और घुटनों तक वैजयन्ती नामक वनमाला विभूषित हो रही है। सुनन्द-नन्दादि उनके निजी पार्षद, मूर्त्तिमान चक्रादि (शङ्ख, गदा, खड्ग, चर्म, शर, चाप, पाश) आयुध, पुष्टि, श्री, कीर्त्ति और अजा—ये चारों शक्तियाँ तथा अणिमादि समस्त विभूतियाँ रूप धारण करके उनकी आराधना कर रही हैं (ये महाविष्णु अमित प्रभावशाली, सर्वव्यापक विभु, भूमा पुरुष है। ये कारणार्णवशायी भगवान् सङ्कर्षण, गर्भोदकशायी भगवान् प्रद्युम्न एवं क्षीरोदशायी भगवान् अनिरुद्ध—इन तीनों 'पुरुषावतार' अथवा पुरुष श्रेष्ठोंके भी पूजनीय हैं। ये परम पुरुषोत्तम एवं ब्रह्मादि परमेष्ठियोंके तथा सभी देवताओंके पति एवं प्रभु हैं)॥ ५४—५६॥

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्ज्जया गिरा॥ ५७॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही स्वरूप भगवान् अनन्तदेवको (मनुष्यलीलाका अनुकरण कर) प्रणाम किया। अर्जुन जो उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे, उन्होंने भी उन अनन्त प्रभावसे सम्पन्न महापुरुषको (अनन्तदेवको) प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े रहे। तब परमेष्ठियोंके (ब्रह्माण्डोंके समस्त शासकोंके) अधिपति वे विराट् (भूमा) पुरुष मुसकराये एवं मधुर तथा गम्भीर वाणीमें कहने लगे—।

अब श्रीकृष्णने अपनी कौतुक लीला हेतु अपने विष्णु अंशकी स्वयं ही वन्दना की है, जैसे गोवर्धन पूजामें व्रजवासियोंके साथ गोवर्धन-नाथने स्वयं ही स्वयंको प्रणाम किया है। भगवान् अनन्त हैं, असंख्य स्वरूपमय हैं और यह अष्ट-भुजरूप उनमेंसे एक है। यह उनकी अच्युत नरलीला है अर्थात् नरलीलाके रक्षण हेतु वे अपने पदसे च्युत नहीं होते। भूमा पुरुषने कृष्णके स्वांश होनेपर भी कृष्णकी वन्दना न करके ईश्वर-लीलाका प्रदर्शन किया है, जिस प्रकार गोवर्धन पूजामें कृष्णने अपनेसे भी अधिक गोवर्धनका महत्त्व दिखाया है। परमेष्ठि अर्थात् कोटि ब्रह्माण्ड स्थित चतुर्मुख ब्रह्माओंके स्वामी श्रीकृष्ण अर्जुनको मोहित करनेके लिए अर्जुनको अपने रथमें लाये हैं और अपने द्वारा प्रकटित पुरुषोत्तमोत्तम महाकाल शक्तिमय भूमा रूपका दर्शन कराया है। कृष्णके अभिप्रायको जानकर ही महाविष्णु भूमाने कहा, आपका अंश होकर भी मैं अपना आधिक्य अर्थात् अपनी श्रेष्ठता व्यक्त करूँगा। मेरे वचनोंमें आपके रूप, गुण, ऐश्वर्यका आधिक्य व्यक्त होगा और आपका अंशी तत्त्व भी प्रकाशित होगा। (आप ही मेरे मूल उद्‌गम हैं।) देखो, मेरी चातुरी! बादमें आप भी अर्जुनको अपना निज तत्त्व अवश्य बतायेंगे—इस प्रकार हँसते हुए प्रार्थना भी की॥५७॥

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्म्मगुप्तये।

कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥ ५८॥

भूमा पुरुषने कहा—हे श्रीकृष्ण और अर्जुन! मैं तुम दोनोंके दर्शनोंकी अभिलाषासे ही ब्राह्मणके पुत्रोंको यहाँ ले आया हूँ। तुम दोनों धर्मकी रक्षाके लिए मेरे सर्वांशसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हो। अतः पृथ्वीके भाररूप असुरोंका विनाश करके शीघ्र इसी स्थान पर मेरे समीप आ जाओ॥ ५८॥

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम्॥ ५९॥

तुम दोनों ऋषिवर नर और नारायण हो। यद्यपि तुम सर्व-लोकोत्तम, और पूर्णकाम हो, तथापि धर्मकी रक्षा एवं लोकशिक्षाके लिए धर्मका आचरण करो॥ ५९॥

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान्॥ ६०॥
न्यवर्त्ततां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम्।
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः॥ ६१॥

समस्त लोकोंके अधीश्वर भूमा पुरुषने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनको इस प्रकार आदेश दिया, तब श्रीकृष्ण और अर्जुनने 'तथास्तु' कहकर उन वचनोंको स्वीकार किया और उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर अपने साथ ब्राह्मण बालकोंको लेकर अतिशय प्रसन्न चित्तसे वे जिस मार्गसे आये थे, उसी मार्गका अनुसरण करते हुए अपने धाम लौट आये। उन्होंने ब्राह्मणको उसके पुत्र सौंप दिये, जो रूप और आकृतिमें वैसे ही थे, जैसे शैशवावस्थामें थे, परन्तु उनकी वय बढ़ गयी थी॥ ६०-६१॥

निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः।
यत्किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम्॥ ६२॥

अर्जुन श्रीकृष्णके परमधामको देखकर अति विस्मित हो गये थे। उन्होंने यह स्थिर कर लिया कि जीवोंका जो सम्पूर्ण पौरुष है, वह श्रीकृष्णकी कृपाका ही फल है।

अर्जुन पहले आत्यन्तिक महैश्वर्य देखकर, "अहो! यह मैंने पाण्डुपुत्र नरलोकवासी होकर भी कृष्णके प्रसादसे सर्वमूलस्वरूप (हर वस्तुके मूलस्वरूप) परमेश्वरका दर्शन किया है—यह अति विस्मयकारी है" क्षणकाल विचार करके कहने लगे, अहो! महाकालपुर-अधिपतिने कृष्णसे ऐसा क्यों कहा कि आपका दर्शन करनेके लिए आपको बुलाया है? आद्यावतार परमेश्वरकी अपने अंश कृष्णको देखनेकी इच्छा किस प्रकार सम्भव हो सकती है? यदि यह इच्छा किसी विशेष क्षणिक परिस्थितिके लिए भी होती, तो ऐसा कुछ व्यक्त नहीं किया। यदि यह इच्छा सार्वकालिक है तो द्वारका स्थित कृष्णका इन विभुने (ब्रह्माण्डके सर्वव्यापक स्रष्टा महाविष्णुने) वहाँ दर्शन क्यों नहीं किया? अपने द्वारा सृष्ट विश्वमें स्थित द्वारका तो इनके लिए हाथमें रखे आमलकी फलके समान है। यदि इनका विभुत्व न रहता तो ब्राह्मण-पुत्रोंको लानेके लिए प्रत्येक वर्ष द्वारका नहीं जाते। तैलिक और ताम्बूलिक (तेली एवं पनवाड़ी) जिन्हें देख सकते हैं, तो इन्हें कृष्ण क्यों दिखायी नहीं दिये? वस्तुतः कृष्णकी इच्छाके बिना कृष्णका दर्शन नहीं किया जा सकता, इसीलिए कृष्ण-दर्शन इन्हें नहीं हुआ होगा। तब ब्रह्मण्यदेव होकर भी ब्राह्मणको प्रत्येक वर्ष दुःख क्यों दिया? सोचता हूँ कि कृष्ण-दर्शनकी उत्कण्ठाका त्याग नहीं कर पाये होंगे, इसलिए अकरणीय कार्य भी किया है। ठीक है, अनुचित कार्य करें, परन्तु ब्राह्मणके पुत्रोंका हरण करनेके लिए किसी सेवकको क्यों नहीं भेजा? स्वयं ही क्यों गये! हो सकता है—द्वारकासे ब्राह्मण-पुत्रका हरण दूसरेके लिए दुःसाध्य हो। भूमा पुरुषका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि कृष्ण-नगरमें स्थित ब्राह्मणको दुःख दूँगा तो कृष्ण उसका दुःख सहन

नहीं कर पायेंगे और मुझे दर्शन प्रदान करेंगे। अतः अन्तर्यामी द्वारा प्रेरित होकर ही इस मुखर ब्राह्मणने कृष्णके निकट जाकर हर बालककी मृत्युके बाद व्यथा व्यक्त की है। अतः मैं अनुमान करता हूँ कि कृष्णका ऐश्वर्य भूमा पुरुषसे भी अधिक है। अन्ततः परम विस्मित अर्जुनने यह सब तथ्य जाननेके लिए जिज्ञासा की तब कृष्णने स्पष्ट किया कि मेरे दर्शनके लिए ही इन महापुरुषने ब्राह्मण बालकोंका हरण किया है क्योंकि ब्राह्मणके लिए ही कृष्ण मेरे पास आयेंगे, अन्य प्रकारसे नहीं। कृष्णने यह भी कहा, किन्तु मैं ब्राह्मणके लिए यहाँ नहीं आया, परन्तु हे सखा! तुम्हारे प्राणोंकी रक्षाके लिए आया हूँ। यदि ब्राह्मणके लिए आता तो प्रथम बालकके हरणके बाद ही आ जाता। इस प्रकार भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको परव्योमनाथ पर्यन्त सकल पुरुषोंका ऐश्वर्य दिखाया। इस प्रकार 'वेद-स्तव' के आरम्भसे यहाँ तक दशम स्कन्धके अन्तमें दशम आश्रय-तत्त्व कृष्णके सर्वोत्कर्षत्वका ही विशेषरूपसे वर्णन किया है। यह घटना भारत-युद्धके पूर्व घटित हुई है, किन्तु कृष्णकी श्रेष्ठ कथाके प्रस्तावमें अब वर्णित हुई है॥ ६२॥

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन्।
बुभुजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्यूर्ज्जितैर्मखैः॥ ६३॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस मर्त्त्यलोकमें पराक्रमशाली बहुत-सी लीलाएँ कीं। यहाँ उन्होंने लौकिक विषयोंका भोग किया एवं महासमृद्ध यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया॥ ६३॥

प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थितः॥ ६४॥

सर्वश्रेष्ठ पदपर आरूढ़ भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणादि प्रजाजनोंके लिए सम्पूर्ण अभीष्टोंका उसी प्रकार वितरण किया, जिस प्रकार इन्द्र उचित अवसरोंपर वारि-वर्षण करते हैं॥ ६४॥

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः।
अञ्जसा वर्त्तयामास धर्म्मं धर्म्मसुतादिभिः॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः॥ ८९॥

हे राजन्! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने कंसादि अधार्मिक राजाओंका स्वयं विनाश किया और अपने प्रमुख भक्तों वीर अर्जुनादिसे बहुतोंका विनाश करवाया। उन्होंने युधिष्ठिरादि धार्मिक राजाओंके द्वारा साक्षात् वैष्णव धर्मका प्रवर्त्तन करवाया॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके नवासीवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी रानियोंका दिव्योन्माद और उनके वंशका विस्तार

श्रीशुक उवाच—

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः।
सर्व्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः॥ १॥

स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः॥ २॥

नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः।
स्वलंकृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः॥ ३॥

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः॥ ४॥

रेमे षोडशसाहस्त्रपत्नीनामेकवल्लभः।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु॥ ५॥

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च॥ ६॥

विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम्॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीपति भगवान् श्रीकृष्ण अपनी द्वारकापुरीमें सुखपूर्वक रहने लगे। यह पुरी समस्त सम्पदाओंसे युक्त थी। इस नगरकी छटा अलौकिक थी। इसके मार्ग मदस्त्रावी उन्मत्त हाथियों, सुसज्जित पैदल योद्धाओं, सजे-धजे घुड़सवारों और सुवर्ण निर्मित रथोंकी विशाल संख्यासे सदा-सर्वदा भरे रहते थे। चारों दिशाओंमें अति मनोहर उद्यान एवं हरे-भरे उपवन दिखायी देते थे, जो फूलों-फलोंसे परिपूर्ण तरुओंकी

श्रेणियोंसे (वृक्षोंकी पंक्तियोंसे) समृद्ध थे। इनपर मण्डराते हुए भ्रमर एवं विहग-कुल अपने गुञ्जार एवं कलरवसे सम्पूर्ण वातावरणको मुखरित करते थे। यदुश्रेष्ठगण इसका सेवन करते हुए परम आनन्दित होते थे। वहाँके प्रासादोंमें नवयौवन-सम्पन्न सुन्दर-सुन्दर रमणियाँ उत्तम वेशभूषासे सुसम्पन्न रहती थीं। जब वे महलोंमें कन्दुक-क्रीड़ा करतीं, तब उनके अङ्गोंसे ऐसी द्युति निकलती, मानो बिजली चमचमा रही हो। भगवान् श्रीकृष्ण सोलह हजारसे भी अधिक पत्नियोंके एकमात्र प्राणवल्लभ थे। उन महा-प्रभावशाली श्रीकृष्णने भी अपने सोलह हजार विचित्र (अद्भुत) शरीरोंमें अपना विस्तार करके उनके साथ उतने ही महलोंमें विहार किया था। इन महासमृद्धिशाली महलोंके प्रांगणमें सुन्दर-सुन्दर सरोवर बने हुए थे। इनका जल अति विमल था। यह जल उत्पल, कह्लार, कुमुद, अम्भोज आदि विविध प्रकारके कमल-कुसुमोंकी रेणुसे सुवासित रहता था। चारों ओर पक्षियोंका कूजन सुनायी पड़ता था। जब इन जलाशयों और नदियोंमें भगवान् यथेच्छ क्रीड़ा-विलास करते, तब उन कामिनियोंके आलिङ्गनसे उनके कुच-कुङ्कुमपर लगा हुआ राग भगवान्के श्रीअङ्गों पर लग जाता। 'मधुरेण समापयेत्'—इस न्यायके अनुसार कृष्णके जल-विहारका वर्णन करते हुए प्रथम उद्दीपनरूपमें नगरकी रमणीयताका चित्रण किया है॥ १—७॥

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान्।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः॥ ८॥
सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः।
प्रतिषिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव॥ ९॥

उस समय गन्धर्वगण बड़े हर्षके साथ मृदङ्ग, पणव, ढोल एवं आनक (नगाड़े) आदि वाद्य-यन्त्र बजाते हुए उनके चरितका कीर्त्तन करते। सूत, मागध एवं बन्दीगण वीणादि वाद्योंके द्वारा उनकी स्तुति करते। श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हँसती हुई उनपर

पिचकारियोंसे जल छिड़कतीं और तब भगवान् जलसे अभिषिक्त होकर उन्हें भी पिचकारियोंके जलसे सींच देते। श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ परस्पर जल-सेचनपूर्वक क्रीड़ा करते, जिस प्रकार यक्षराज कुबेर यक्षणियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं (यह दृष्टान्त आंशिक है)॥ ८-९॥

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः।
कान्तं स्म रेचकजिहीर्षयोपगुह्य
जातस्मरोत्स्मयलसद्वदना विरेजुः॥ १०॥

जलके सिञ्चनसे कामिनियोंके पहननेके वस्त्र भीग जाते, जिससे उनके वक्षःस्थल एवं जंघाएँ झलकने लगतीं। बड़ी-बड़ी चोटियों और जूड़ोंसे पुष्प गिरने लगते। उनकी पत्नियाँ जल-सेचन-यन्त्र (पिचकारियाँ) छीन लेनेकी अभिलाषासे (बहानेसे) अपने प्रियतमका आलिङ्गन करतीं। इस प्रकार श्रीकृष्णका स्पर्श पाकर रानियोंका कामवेग बढ़ जाता और मुखपर उत्कृष्ट मुसकान खिल उठती, जिससे उनका सौन्दर्य और भी निखर आता॥ १०॥

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्त्रक्
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः।
सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः॥ ११॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी निज वनमाला उन रानियोंके कुच-कुङ्कुम रागसे रञ्जित हो जाती। क्रीड़ामें पूरी तरह मग्न हो जानेके कारण भगवान्की अलकावलियोंके बन्धन ढीले पड़ जाते। पत्नियोंके जल-सिञ्चनके द्वारा अभिषिक्त होकर प्रत्युत्तरमें वे स्वयं भी उन्हें जलसे सराबोर कर देते। उनके साथ इस प्रकार विहार करते, मानो कोई गजपति हथिनियोंसे परिसेवित होकर विहार करता है॥ ११॥

नटानां नर्त्तकीनाञ्च गीतवाद्योपजीविनाम्।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात् तस्य च स्त्रियः॥ १२॥

श्रीकृष्ण एवं उनकी महिषियाँ जलक्रीड़ाके समय अपने पहने हुए वस्त्र एवं आभूषण उन नर्त्तक और नर्त्तकियोंको प्रदान कर देते, जो गीत-वाद्योंसे ही अपनी जीविकाका निर्वाह करते थे॥ १२॥

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः।
नर्म्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः॥ १३॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पत्नियोंके साथ इसी प्रकार विहार किया करते। वे अपनी गति-भङ्गिमा, सप्रेम संभाषण, कटाक्षपूर्ण (तिरछी) चितवन, मन्द-मन्द मुसकान, मधुर हास्य, परिहासमयी क्रीड़ा और आलिङ्गन आदिसे रानियोंका चित्त आकर्षित कर लिया करते थे॥ १३॥

ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम्।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु॥ १४॥

परीक्षित्! इन कृष्णगतप्राणा रानियोंके श्रीकृष्ण ही प्राणसर्वस्व थे। वे पद्मपलाशलोचन श्रीकृष्णके चिन्तनमें इतनी मग्न रहती थीं कि कभी-कभी तो उन्मत्तके समान असम्बद्ध (विचार-शून्य) बातें करने लगती थीं। इन बातोंको मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो।

रानियाँ उन्मत्तके समान बुद्धिहारा (हतबुद्धि) हो गयी थीं मानो किसीका चित्त धतूरा खानेसे विक्षिप्त हो गया हो। श्रीकृष्णका परोक्षरूपसे चिन्तन करते हुए वे जड़ अर्थात् विचार-रहित हो गयी थीं। यह दशा प्रेमकी छठी भूमिका अनुरागका भेद है, जिसे प्रेम-वैचित्री कहा जाता है। इसका लक्षण है—प्रियतमके निकट होनेपर भी प्रेमके उत्कर्ष स्वभावके कारण विरह-बुद्धिसे परम दुःख होने लगता है। अग्रिम दस श्लोकोंमें उनकी उन्माद दशाका वर्णन हुआ है। महिषियोंको कुररी पक्षी, चक्रवाकी, समुद्र,

चन्द्रमा, मलयवायु, मेघ, कोयल, पर्वत, नदियों एवं हंसमें अपने ही भाव दिखायी दे रहे थे॥ १४॥

श्रीमहिष्य ऊचुः—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्व्विद्धचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १५ ॥

महिषियोंने कहा—हे कुररी! अज्ञात-तत्त्व ईश्वर श्रीकृष्ण इस जगत्में अखण्ड-बोध छिपाकर रात्रिकालमें सोये हुए हैं। (पता नहीं, कहाँ सोये हैं) तुम्हें नींद नहीं आ रही क्या, जो तुम उनकी निद्रा भङ्ग करनेके लिए विलाप कर रही हो, परन्तु वे शयन कर रहे हैं, अतः ऐसा करना उचित नहीं है। अथवा हे सखि! नलिन-नयन श्रीकृष्णके मधुर हास्य एवं उदार तथा कौतुकमय लीला-चिन्तनसे हमारे समान तुम्हारा चित्त भी अतिशयरूपसे विद्ध हो गया है क्या?॥ १५॥

नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किंवा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम्॥ १६॥

हे चकवी! रात्रिके समय तुम अतिशय करुणस्वरसे क्यों क्रन्दन कर रही हो? क्या तुम्हें अपने प्रियतम दिखायी नहीं दे रहे हैं? अपनी दोनों आँखें बन्द किये हुई हो—क्यों? अथवा हमारे समान तुम भी अच्युत श्रीकृष्णकी दासी बनकर उनके श्रीचरणों द्वारा सेवित पुष्प-मालाको अपने केश-पाशमें धारण करनेकी इच्छासे रो रही हो॥ १६॥

भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-
न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।

किंवा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः,
प्राप्तां दशां त्वञ्च गतो दुरत्ययाम्॥ १७॥

हे प्रिय जलनिधे! क्या तुम्हें स्वभावतः नींद नहीं आती, जो जागते रहते हो और सर्वदा गर्जना करते रहते हो। अथवा ऐसा तो नहीं है कि मिलन-प्रसङ्गमें (सम्भोगकालमें) श्रीकृष्णने जिस प्रकार हमारे कुङ्कुमादि चिह्नोंको हर लिया था, उसी प्रकार तुम्हारे भी लक्ष्मी, कौस्तुभ आदि चिह्नोंको हर लिया है, जिसके कारण तुम इस दुर्लंघ्य दशाको प्राप्त हो गये हो॥ १७॥

त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः॥ १८॥

हे चन्द्र! क्या तुम्हें राजयक्ष्मा रोग ने आक्रान्त कर लिया है, जो तुम इतने क्षीण हो गये हो और अपनी किरणोंसे अन्धकारको भी नहीं हटा पा रहे हो अथवा तुमने भी हमारे समान ही श्रीकृष्णकी रहस्यमयी एवं उत्साहमयी बातोंको विस्मृत कर दिया है और इस विस्मृतजात-अनुरागके कारण तुम्हारी वाणी स्तब्ध हो गयी है—ऐसा प्रतीत हो रहा है॥ १८॥

किं न्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम्।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम्॥ १९॥

हे मलयानिल! तुम हमसे क्यों अप्रसन्न हो? हमने तुम्हारा क्या अनिष्ट किया है? अरे! गोविन्दके कटाक्षपातरूप बाणों द्वारा हमारा चित्त तो पहले-से ही विदीर्ण हुआ पड़ा है और तुम रन्ध्र-पथसे हमारे हृदयमें कामका सञ्चार कर रहे हो। तुम किसलिए इस विपद्के समय हमसे वैरका व्यवहारकर रहे हो॥ १९॥

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः।

अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः॥ २०॥

श्रीमान् जलधर! तुम निश्चय ही लोगोंके आतप-जनित दुःखोंको हरण करनेके कारण यादवेन्द्र श्रीकृष्णके दयित सखा बने हो और इसलिए उनके प्रेममें आसक्त-चित्त होकर हमारे समान श्रीवत्स-लाञ्छन श्रीकृष्णका स्मरण करते रहते हो। उनका और तुम्हारा वर्ण तो समान है, किन्तु उनके श्रीवत्स चिह्नमें तुम्हारी अधिक आसक्ति है। उनका निरन्तर स्मरण करनेके कारण तुम्हारा चित्त हमारे ही समान दुःखी एवं मलिन हो गया है, तभी अति उत्कण्ठित भावयुक्त होकर नेत्रोंसे पुनः-पुनः जल-धाराएँ (आँसू) विसर्जित कर रहे हो। हाय! तुमने किसलिए उनके साथ सख्य भावका स्थापन किया है? अरे! उनके प्रसङ्ग तो अतिशय दुःख प्रदान करनेवाले होते हैं॥ २०॥

प्रियरावपदानि भाषसे
मृतसञ्जीविकयानया गिरा।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल॥ २१॥

हे रमणीय कण्ठ (अखिल-प्रिय) कोयल! तुम्हारी मधुर बोलीमें तो मधुर बोलनेवाले प्रियतम, प्रियवर श्रीकृष्णकी मधुर-वाणीकी झङ्कार सुनायी दे रही है। तुम्हारी कुहक तो विरहसे मृत प्रेमियोंको सञ्जीवित करनेवाली है, परन्तु तुम्हारा विचित्र सुन्दर कण्ठ इस विरहमें हमें प्रिय प्रतीत न होकर हमारे हृदयको और जला रहा है। तुम आदेश करो। आज हम तुम्हारा क्या प्रिय करें?॥ २१॥

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम्।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम्॥ २२॥

हे महामते (रैवतक) पर्वत! तुम निर्वाक एवं निस्पन्द भावसे ही खड़े हो, न कुछ बोलते हो और न ही हिलते-डुलते हो, प्रतीत होता है कि तुम किसी विशिष्ट प्रयोजनीय विषयका चिन्तन कर रहे हो। अच्छा, समझमें आ गया। तुम भी हमारे उन्नत स्तनोंके समान अपने ऊँचे शिखरोंपर श्रीकृष्णके चरणकमलोंको धारण करना चाहते हो। यदि ऐसा ही है, तो परिणाममें तुम्हें भी हमारे समान उपेक्षा ही मिलेगी॥ २२॥

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्त्तुः।
यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म॥ २३॥

हे सिन्धुपत्नी नदियो! इस ग्रीष्मकालमें तुम्हारे प्रियतम समुद्र मेघोंके द्वारा अमृत-वर्षण करके तुम्हें आनन्द-प्रदान नहीं कर रहे हैं न? अहो! हम जिस प्रकार अपने प्रियतम स्वामी श्रीकृष्णकी प्रणय-दृष्टि (प्रेमभरी चितवन) के अभावमें वञ्चित होकर अपना हृदय खो बैठी हैं और इस कारण अतिशय कृशताको प्राप्त हो रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारा चित्त भी अपहृत होनेके कारण तुम्हारा ह्रद शुष्क हो गया है और शरीर कृश हो गया है। कमलोंकी शोभा भी दिखायी नहीं देती॥ २३॥

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किंवा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम्॥ २४॥

हे हंस! तुम्हारा आगमन तो सुखपूर्वक हुआ है न! आओ, आओ और बैठो! प्रिय हंस! शूरवंशी श्रीकृष्णकी वार्त्ता कहो। हम तो समझती है कि तुम उनके दूत हो। जरा बतलाओ तो, ये अजित श्यामसुन्दर सुखपूर्वक तो हैं न? वे अपने पूर्वकालीन वचनोंका स्मरण तो करते हैं न? हे क्षुद्रवार्त्तावह! (हे क्षुद्रके

दूत)! हम उनकी सेवा किसलिए करें? हम तुम्हारा अनुनय क्यों स्वीकार करें? देखो, यदि वे रति-विहारके लिए हमारा आह्वान कर रहे हों, तो, जो लक्ष्मी हमें वञ्चित करके अकेले ही उनकी सेवा कर रही हैं, तो उन लक्ष्मीको छोड़कर उन कामप्रद प्रियतमको अकेले ही यहाँ आनेके लिए कहना। यदि तुम कहते हो कि लक्ष्मी उनके प्रति एकनिष्ठ चित्त वाली हैं; अतः उनका परित्याग असम्भव है तो बतलाओ जरा, स्त्रियोंमें क्या वही एकमात्र एकनिष्ठ चित्तवाली हैं, क्या अकेली वे ही अनुरक्त हैं, हम क्या वैसी नहीं हैं॥ २४॥

श्रीशुक उवाच—

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम्॥ २५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! श्रीकृष्णकी प्रिय पत्नियाँ ब्रह्मादि योगेश्वरोंके भी अधिपति श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थीं। इसी अनुरागसे उन्होंने परमपदको प्राप्त कर लिया।

इन महिषियोंकी प्राप्य वस्तु क्या थी—"श्रीकृष्ण विषयक अनुराग।" वैष्णवोंकी प्राप्य वस्तु यही प्रेमाभक्ति है। ये महिषियाँ अप्राकृत भगवान्‌की नित्य प्रेयसियाँ हैं। इन्हें भगवान्‌का सच्चिदानन्द विग्रह प्राप्त था। योगियोंके निर्विशेष ब्रह्म-आस्वादसे अधिक इन्होंने भगवान्‌के माधुर्यका आस्वादन किया था। इनके लिए मोक्षादि फलोंकी प्राप्ति अवाञ्छनीय है। प्रेमाधिक्य ही इनकी प्राप्य वस्तु है। ये भावोन्मादकी चरम सीमामें गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णसे तादात्म्यावस्थाको प्राप्त हो गयी थीं, जिस प्रकार रासके समय अन्तर्धानमें गोपियोंके उन्मत्त वाक्य थे—"मैं कृष्ण हूँ, देखो! मेरी गति (चाल) कैसी है।" कुररी आदिसे प्रश्नोंके बाद उनकी यह अवस्था प्रेम-वैचित्री दशाको दिखलाती है। अनुराग विलासिनी इन पट्टमहिषियोंकी प्रेम-दशा कृष्णके साथ अनुराग पर्यन्त वर्णित हुई है। महिषियोंकी प्रेमदशा आगन्तुक है। ये द्वारकालीलाके माधुर्य भावकी सिद्ध परिकर हैं॥ २५॥

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनाञ्च किं पुनः॥ २६॥

जिन श्रीकृष्णके विषयमें कोई सङ्गीतकी उच्च स्वर-लहरीमें विविध सुरम्य भावोंसे उनकी कीर्त्तिका गान करे अथवा कोई साधारण सङ्गीतमें सामान्य स्वरोंसे साधारण भावसे उनका कीर्त्तन करे तो उस सङ्गीतके श्रवणमात्रसे ही कामिनियोंका चित्त बलपूर्वक उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है, तब श्रीकृष्णके साक्षात् अवलोकनसे उनकी भार्याओंका चित्त जिस प्रकारसे अपहृत हो गया था, उस विषयमें कहना ही क्या है?॥ २६॥

याः सम्पर्य्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः॥ २७॥

जिन स्त्रियोंने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको अपना पति मानकर विशुद्ध प्रेमभावसे उनकी पाद-संवाहनादि सेवाएँ सम्यक् प्रकारसे कीं, उनके पुण्योंके (अथवा तपस्याके) विषयमें क्या कहा जाय॥ २७॥

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत् पदम्॥ २८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही सत्पुरुषोंकी एकमात्र गति हैं। श्रीकृष्णने इस प्रकार वेद-विहित धर्मोंका बार-बार आचरण करके यह दिखला दिया कि घर ही धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गके साधनका स्थान है॥ २८॥

आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम्।
आसन् षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम्॥ २९॥

इसीलिए गृहस्थोचित श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेकर वे व्यवहार कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ थीं॥ २९॥

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः॥ ३०॥

हे राजन्! स्त्रियोंमें रत्नस्वरूप उन सब महिषियोंमें रुक्मिणी आदि जो आठ प्रधान महिषियाँ थीं, मैंने पहले ही उनके और उनके पुत्रोंके विषयमें उल्लेख कर दिया है॥ ३०॥

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान्।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः॥ ३१॥

सत्यसङ्कल्प जगदीश्वर श्रीकृष्णने उन आठ पटरानियोंके अतिरिक्त अपनी दूसरी पत्नियोंसे भी दस-दस पुत्र उत्पन्न किये॥ ३१॥

तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु॥ ३२॥

श्रीकृष्णके उन सभी अप्रतिहत प्रभावशाली पुत्रोंमेंसे जो अट्ठारह महायशस्वी, महान् योद्धा थे, उनके नाम सुनो॥ ३२॥

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानुरेव च।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः॥ ३३॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च॥ ३४॥

वे थे—प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि एवं न्यग्रोध॥ ३३-३४॥

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः॥ ३५॥

हे राजेन्द्र! मधुसूदन भगवान्‌के इन सभी पुत्रोंमें रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न ही समस्त गुणोंमें पिताके समान सर्वश्रेष्ठ थे॥ ३५॥

स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः।
तस्यां ततोऽनिरुद्धोऽभूत् नागायुतबलान्वितः॥ ३६॥

महारथी प्रद्युम्नने रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीसे विवाह किया था। उसके गर्भसे प्रद्युम्नके अनिरुद्ध नामक पुत्र हुए, जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था॥ ३६॥

स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः।
वज्रस्तस्याभवद्यस्तु मौषलादवशेषितः॥ ३७॥

रुक्मीके दौहित्र अनिरुद्धने रुक्मीकी पौत्री रोचनासे विवाह किया था। अनिरुद्धकी इस पत्नीके गर्भसे वज्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। विप्र-शापसे हुए मौषल-युद्धमें एकमात्र यही बचे रहे थे॥ ३७॥

प्रतिबाहुरभूत् तस्मात् सुबाहुस्तस्य चात्मजः।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः॥ ३८॥

वज्रसे प्रतिबाहु, प्रतिबाहुसे सुबाहु, सुबाहुसे शान्तसेन और शान्तसेनसे शतसेनका जन्म हुआ था॥ ३८॥

न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे॥ ३९॥

हे राजन्! इस कृष्णवंशमें ऐसा कोई भी नहीं हुआ, जो निर्धन, अल्प सन्तानवाला, अल्पायु अथवा ब्राह्मण-विद्वेषी हो॥ ३९॥

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम्।
संख्या न शक्यते कर्त्तुमपि वर्षायुतैर्नृप॥ ४०॥

परीक्षित्! सारे यदुवंशियोंकी गणना तो दूर रहे, इनमें जो महायशस्वीके रूपमें विख्यात थे, उनकी भी गिनती यदि की जाय, तो दस हजार वर्ष भी कम पड़ जायेंगे॥ ४०॥

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च।
आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम्॥ ४१॥

सुना गया है कि यदुवंशी कुमारोंको शिक्षा प्रदान करनेके लिए तीन करोड़ अट्ठासी लाख अध्यापक नियुक्त थे॥ ४१॥

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम्।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः॥ ४२॥

परीक्षित्! इन यादवोंकी गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? स्वयं महाराज उग्रसेन पद्म संख्यक परिजनोंसे परिवेष्टित होकर विराजमान रहते थे॥ ४२॥

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे॥ ४३॥

हे राजन्! प्राचीन कालमें देवासुर संग्राममें जो भयानक दैत्य मारे गये थे, वे ही मनुष्योंके राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए थे और प्रजाओंका उत्पीड़न करते थे॥ ४३॥

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप॥ ४४॥

इन्हींके दमनके लिए श्रीहरिके द्वारा आदेश दिये जानेपर देवता यदुकुलमें अवतीर्ण हुए थे और एक-सौ-एक वंशोंमें विभक्त हो गये थे॥ ४४॥

तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाभवद्धरिः।
ये चानुवर्त्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः॥ ४५॥

वे समस्त ही श्रीकृष्णको ईश्वर और अपना आदर्श भी मानते थे। वेदादिके प्रति उनकी जितनी श्रद्धा थी, श्रीकृष्णके प्रति भी वे उतने ही श्रद्धावान् थे। उनके समीपमें रहकर वे उनकी सेवामें ही निरत रहते थे। वे सभी यादव सर्वतोभावसे दूसरे सभी यादवोंकी अपेक्षा अधिक वृद्धि एवं उन्नतिको प्राप्त हो गये थे॥ ४५॥

शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः॥ ४६॥

कृष्णगत चित्त इन वृष्णिवंशी यादवोंका सोना, बैठना, भ्रमण करना, आलाप करना, क्रीड़ा, स्नान इत्यादि शारीरिक गतिविधियाँ

स्वतः यन्त्रवत् चला करती थीं। इन व्यस्तताओंमें वे अपनी सुध-बुध भूल गये थे॥ ४६॥

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्म्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य॥ ४७॥

परीक्षित्! भगवान्के चरणोंकी धोवन गङ्गा समस्त तीर्थोंमें प्राचीन है, परन्तु यदुवंशमें श्रीकृष्ण-कीर्त्तिरूप जिस तीर्थकी उत्पत्ति हुई, उससे गङ्गाकी महिमा अपेक्षाकृत कम हो गयी और वह कृष्ण-कीर्ति (सुयश) समस्त तीर्थोंके ऊपर विराजमान हो गयी। भगवान्से प्रेम करनेवाले उनके मित्रों एवं उनसे द्वेष करनेवाले शत्रुओंने उनके ही समान नित्य स्वरूप प्राप्त किया था। जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवताओंने भी यत्न किया था, वही लक्ष्मीदेवी दूसरोंके लिए अप्राप्य होकर एकमात्र कृष्ण-सेवामें ही रत रहती थीं। जिनका नाम श्रवण अथवा कीर्त्तन करनेपर समस्त प्रकारके अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं, जिन्होंने ऋषि-वंशमें धर्मका प्रवर्त्तन किया है, हे राजन्! ऐसे उन सर्वसंहारक, कालमूर्त्ति एवं दुरन्त प्रभावयुक्त चक्रधारी श्रीकृष्णके लिए इस भू-भारका हरण करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

दशमस्कन्ध श्रीकृष्ण नित्यलीलाका 'रत्नाकर' है। इसका उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी अन्य अवतारोंसे श्रीकृष्णकी पाँच विशेषताएँ बतलाते हैं—

१. जिन्होंने यदुवंशमें जन्म-ग्रहण करके कृष्ण-कीर्त्ति महातीर्थकी अपेक्षामें अपने पाद-धौत गङ्गादि तीर्थोंकी महिमाको कम किया है। इससे पूर्व गङ्गा ही सर्वतीर्थ शिरोमणि थी, अब कृष्ण-कीर्ति ही गङ्गासे अधिक हो गयी। यह प्रथम आश्चर्य है।

२. द्वितीय आश्चर्य है कि जिनके शत्रु कंसादि ने सायुज्य मुक्ति एवं स्निग्ध (परमप्रेमवती) गोपियों आदिने स्वरूप माधुर्य

प्राप्त किया है। दोनों ही श्रेणीके जनोंको श्रीविग्रहका सानिध्य प्राप्त हुआ है।

३. तृतीय आश्चर्य है कि जिनकी कृपाका लेशमात्र प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि यत्न करके भी उन लक्ष्मीको जय नहीं कर पाये, वे लक्ष्मीजी कठिन तपस्या द्वारा भी व्रजदेवियोंके समान श्रीकृष्णको वशीभूत नहीं कर पायीं और रासलीलामें प्रवेश नहीं पा सकीं।

४. चतुर्थ आश्चर्य यह है कि जिनके 'कृष्ण' नामके दो अक्षर 'कृष्+ण' नारायण आदि सभी भगवत्–अंशोंके नामोंसे उत्कृष्ट हैं तथा अमङ्गल, अविद्याका नाश करनेवाले हैं अथवा मुक्त प्रग्रह–वृत्ति द्वारा मङ्गलका सर्वोत्कर्षत्व प्रकट करनेवाले हैं। उच्चारण करने पर कृष्णनाम श्रुतमय बन जाता है अर्थात् यह सर्वसाधनके फलोंके उत्कर्षका मन्थन करके श्रवण एवं कीर्त्तन द्वारा अपनी सर्वोत्कर्षताको प्रकट करता है। पवित्र विष्णुनामको तीन बार उच्चारण करने पर और कृष्णनामका एक बार उच्चारण करने पर समान फल प्राप्त होता है—यह ब्रह्माण्ड पुराणमें कहा गया है।

५. पञ्चम आश्चर्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण धर्मके चारों पद (चरण) दया, तपस्या, शौच एवं सत्यका स्थापनकर पृथ्वीकी रक्षा करते हैं जब कि प्रत्येक युगमें धर्मका एक–एक चरण क्षीण हो जानेके कारण उस समय धर्मका एक ही चरण शेष रह गया था। उनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी परन्तु धर्मके चारों चरणोंके उदयसे ब्रह्माण्ड विस्मित हो उठा था॥ ४७॥

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत् स्वैर्द्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्॥ ४८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही अन्तर्यामीरूपमें समस्त जीवोंके आश्रय स्थान हैं अर्थात् सभीके हृदयोंमे उनका नित्य निवास है। 'देवकीके उदरसे जन्म' जिनके लिए केवल वाद मात्र है, वस्तुतः वे अजन्मा हैं। यदुश्रेष्ठ उनके सेवक हैं और वे यादवोंके अधिपति हैं। इच्छामात्रसे विनाश करनेमें समर्थ होनेपर भी जिन्होंने अपने बाहुबलसे अथवा अपने ही समान बलवाले अर्जुनादि भक्तोंके द्वारा धर्म-विरोधी असुरोंका संहार करवाया, जो स्थावर-जङ्गमोंके संसाररूप दुःखको हरनेवाले हैं, वे ही व्रज-पुरमें अपने सेवकोंके विरह-दुःखको हरनेवाले हैं। उनका मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त सुन्दर मुखारविन्द मथुरा, द्वारका एवं व्रजपुरीमें स्थित स्त्रियोंके हृदयमें कामका सञ्चार करनेवाला है। ऐसे उन श्रीकृष्णकी जय हो, जय हो।

श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि हे परीक्षित्! हाय! हाय! इस प्रकार शोक मत करो कि कृष्ण अब तक क्यों नहीं रहे। मनुष्योंमें, गोपोंमें एवं यादवोंमें उनका निवास है, वे जननिवास हैं, उनकी सार्वकालिक स्थिति कही गयी है। उनकी सर्वोत्कृष्टरूपसे जय वर्त्तमान है। 'जन निवासः' उनका विशेषण है।

देवकी-वसुदेव एवं नन्द-यशोदा दोनोंसे ही जन्मका सिद्धान्त यहाँ कहा गया है। आदि पुराणमें नन्द भार्याके दो नाम बतलाये गये हैं—यशोदा एवं देवकी। 'देवकी जन्मवादः', 'देवकीसे जन्म' एक वाद है, किन्तु वे परमात्मा सर्वघटवासी हैं॥ ४८॥

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्॥ ४९॥

परीक्षित्! यदुवर भगवान् श्रीकृष्ण पूर्वोक्तरूपसे अपने द्वारा प्रवर्त्तित धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिए मत्स्य, कूर्मादि विविध मूर्त्तियाँ धारण करते हैं। इन अवतार-लीलाओंका स्मरण करनेसे मनुष्योंके

कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं तथा कर्म-कषाय नष्ट होकर नैष्कर्म्य भाव प्राप्त हो जाता है। जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना चाहते हैं, उसे उनके तद्-तद् अवतारोंके अनुरूप उनकी लीलाओंका श्रवण-स्मरण करना चाहिये॥ ४९॥

मर्त्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथा-श्रवणकीर्त्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे श्रीमहिषीगीतं नाम नवतितमोऽध्यायः॥ ९०॥

इति दशमस्कन्धोत्तरार्धः सम्पूर्णः॥

हे राजन्! मानव नित्यप्रति निष्ठापूर्वक भगवान् मुकुन्दकी सुरम्य कथाओंका श्रवण, कीर्त्तन एवं चिन्तन करे, ऐसा करनेपर क्रमशः अभिवृद्धित भक्ति-बलसे वे दुर्लंघ्य-कालके प्रभावको अतिक्रमण कर जायेंगे और भगवान्के नित्य धामकी प्राप्ति कर सकेंगे। कालकी गतिके परे पहुँचा नहीं जा सकता, परन्तु भक्त कालके प्रभावका भी अतिक्रमण कर जाते हैं। इसी परम धामकी प्राप्तिके लिए प्राचीनकालमें राजाओंने राज्यका परित्याग कर दिया था और वे भक्तिपूर्वक तपस्याके लिए वनमें चले गये थे।

श्रीपाद चक्रवर्त्ती ठाकुर प्रार्थना करते हैं कि—

श्रीगोपालकृष्ण यदि मेरे वचनरूपी गायोंको कृपापूर्वक स्वीकार करते हैं तो उनके प्रिय भक्तगण अमृत तुल्य दुग्ध-पान करके अप्रतिहत आनन्द प्राप्त कर सकते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके नब्बेवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

श्रीमद्भागवतम्

(चतुर्थ-खण्ड – स्कन्ध ११-१२)

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास-प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(चतुर्थ-खण्ड — स्कन्ध ११-१२)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य-केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीमद्भागवतम् (चतुर्थ-खण्ड — स्कन्ध ११-१२)

रचियता — श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास

सम्पादक — श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

प्रकाशक — गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, सेवाकुञ्ज, वृन्दावन, जिला मथुरा (उ॰प्र॰)

मुद्रक — स्पैक्ट्रम प्रिंटिङ्ग प्रेस प्रा॰ लि॰, ओखला, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण — श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव-तिथि
श्रीशरद-पूर्णिमा, २० अक्तूबर, २०२१

ISBN: 978-81-950106-0-8

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ॰प्र॰)	९७१९०७०९३९
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९२१९४७८००१
३. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, गोवर्धन (उ॰प्र॰)	(०५६५)२८१५६६८
४. श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ, जनकपुरी, नई दिल्ली	(०११)२५५३३२६८
५. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, नवद्वीप (प॰बं॰)	९३३३२२२७७५
६. श्रीगोपीनाथ-भवन, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९६३४५६३७३९
७. जयश्रीदामोदर गौड़ीय मठ, पुरी (उड़ीसा)	९७७६२३८३२८
८. श्रीराधे-कुञ्ज, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९४५७२२५५६७
९. श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ, फरीदाबाद (हरियाणा)	९९११२८३८६९
१०. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, बड़ौत (उ॰प्र॰)	९४११८२६२१५
११. श्रीकुञ्जविहारी गौड़ीय मठ, अम्बाला (हरियाणा)	९७२९३८४९९५
१२. श्रीराधाविनोदविहारी गौड़ीय मठ, नोएडा (उ॰प्र॰)	९६५०८२४४४२

Please visit us at www.purebhakti.com & www.harikatha.com

समर्पण

भक्त-भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ-भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करनेवालोंके लिए पाषण्ड-गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध-भागवत-परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप-उप-छलादि धर्मरूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत-अर्ककी प्रभा-राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा. मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'

एम.ए. (संस्कृत) पी–एच.डी.

टंकण

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज

श्रीमान् कमलाकान्त दासाधिकारी

श्रीमान् अच्युतानन्द दासाधिकारी

श्रीमती वृन्दा देवी दासी

संयोजना

श्रीपाद भक्तिवेदान्त नारसिंह महाराज

श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज

डा. मधु खण्डेलवाल

विशेष सहयोग

श्रीमान् सुबलसखा दासाधिकारी

सुश्री राधिका खण्डेलवाल

प्रच्छद एवं अन्य चित्र

श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

ले–आउट

श्रीमान् सतीश अग्रवाल

कवर डिज़ाइन

श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

आभार

श्रीमती सपना खण्डेलवाल

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा

स्व॰ श्रीमान् भानु खण्डेलवालकी स्मृतिमें उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शैला खण्डेलवाल एवं पुत्र श्रीमान् सौरभ खण्डेलवाल, श्रीमती सुचित्रा देवी दासी, श्रीमती अनुराधा खण्डेलवाल, श्रीमती करुणा देसाई, श्रीमती गीता खण्डेलवाल, श्रीमान् रमेश माधोगड़िया, श्रीमान् राधेश्याम मालानी इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा–योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपा–भाजन हुए हैं।

विषय-सूची

❀ ❀ ❀

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

रसिककुल चूड़ामणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर

नैमिषारण्यमें श्रीशौनकादि ऋषियों द्वारा श्रीसूत गोस्वामीसे प्रश्न पूछना

महर्षि मार्कण्डेयके मनको विचलित करनेके लिए कामदेव द्वारा प्रेषित अप्सराएँ

अश्वारोही भगवान् श्रीकल्कि अवतार

एकादशः स्कन्धः

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

एकादश स्कन्धकी कथाका सार

महाभागवत श्रीशुकदेव गोस्वामीने दशम स्कन्धमें परीक्षित् महाराजके निकट भगवान् बलराम-कृष्णकी भौम-लीला-कथाका वर्णन करके अब ग्यारहवें स्कन्धमें यदुकुल-संहार-कथाके प्रसङ्गमें नवयोगेन्द्र संवाद, अवधूत-गीता एवं उद्धव-गीताके विषयमें बतलाया है।

भगवान् कृष्णचन्द्रने दैत्यवध एवं कुरुक्षेत्रके समय बहुत-से दुष्ट राजाओंका संहार करके पृथ्वीका भार प्रचुर परिमाणमें दूर कर दिया था, तथापि दुर्जय यदुकुलको पृथ्वीपर छोड़कर भौमलीला संगोपन करनेकी उनकी इच्छा नहीं थी। जो भी कृष्ण-विमुख यादव साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें अपनेको कृष्णके समान पूज्य बतलाकर भ्रम उत्पन्न कराते थे, उनके भी वधके द्वारा श्रीकृष्णने पृथ्वीका भार दूर किया था।

भगवान्की प्रेरणासे विश्वामित्र-प्रमुख मुनि द्वारकाके निकट पिण्डारक तीर्थ आये थे। यदुकुमारोंने साम्बको आसन्न-प्रसवा स्त्री-वेशमें सजाया और मुनियोंके समीप पहुँचकर साम्बके प्रसवके विषयमें 'पुत्र होगा या पुत्री'—इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे। इसपर मुनियोंने कुपित होकर साम्बको अभिसम्पात दिया कि वह कुलनाशन मुषल उत्पन्न करेगा। यदु-कुमारोंने तत्क्षण ही साम्बका उदर खोला और देखा कि सत्य ही वहाँ मुषल है। वे इस मुषलको लेकर यदुराज उग्रसेनके निकट पहुँचे और उनको सम्पूर्ण वृतान्त सुनाया। उग्रसेनजीने मुषलको चूर्ण-विचूर्ण करके समुद्रमें फेंकवा दिया। लोहेका किञ्चित् अवशिष्ट बचा था, जिसे एक मत्स्य भक्षण कर गया। जब वह मत्स्य धीवरके जालमें फँस गया, तो उसे उसके उदरसे वही लोहेका खण्ड प्राप्त हुआ। जरा

नामक व्याधने उससे बाण बना लिया। अन्तर्यामी भगवान् सब जानते थे, परन्तु उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया। मुषल-चूर्णसे एरका-वनकी सृष्टि हो गयी।

एक दिन महर्षि नारद वसुदेवजीके घर आये। वसुदेवजीने नारदजीसे सर्वभयहारी भागवत-धर्मकी कथाके विषयमें पूछा। नारदजीने उसके उत्तरमें निमि-नवयोगेन्द्र संवादके विषयमें बतलाया।

कवि, हवि, अन्तरीक्ष इत्यादि श्रेष्ठ महापुरुष संयोगवश निमि राजाके यज्ञ-स्थलमें उपस्थित हुए। राजा निमिने उनकी यथायोग्य पूजा करके उनसे नौ प्रश्न किये।

निमिका प्रथम प्रश्न था—जीवका आत्यन्तिक मङ्गल क्या है? इसके उत्तरमें नवयोगेन्द्रोंमें-से एक कविने कहा—भगवच्चरणसे विमुख जीवोंके द्वितीयाभिनिवेशके कारण जीवोंमें निरन्तर भय बना रहता है। गुरुदेवतात्म होकर गुरुदेवके आनुगत्यमें भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेपर समस्त प्रकारके भय नष्ट हो जाते हैं और ऐकान्तिक मङ्गल होता है।

निमिका द्वितीय प्रश्न था—भागवतगणोंके स्वभाव, आचार और लक्षण कैसे होते हैं? इस विषयके उत्तरमें हविने तीन प्रकारके वैष्णवोंका परिचय प्रदान किया।

तीसरा प्रश्न था—भगवान्की बहिरङ्गा मायाका स्वरूप एवं उसके क्या-क्या कार्य हैं? इसके उत्तरमें अन्तरीक्षने कहा—समस्त कारणोंके कारण भगवान् जीवोंके भोगापवर्गके लिये पञ्चमहाभूतकी सृष्टि करते हैं तथा इनसे निर्मित देहोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं। जीव देहमें आत्मबुद्धिके कारण नाना प्रकारके कर्मफलोंका भोग करता है। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर परमपुरुष समस्त सृष्टिका संहार कर देते हैं।

चौथा प्रश्न था—मायासे मुक्तिका क्या उपाय है? इसके उत्तरमें प्रबुद्धने कहा—जगत्में स्त्री-पुरुष दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिकी आशासे कर्म करते रहते हैं, परन्तु फल विपरीत ही प्राप्त होता

है। तब इस लोक एवं परलोकको नश्वर जानकर शब्दब्रह्म एवं परब्रह्ममें निष्णात श्रीगुरुके चरणोंमें प्रपन्न होकर भागवत-धर्मकी शिक्षा एवं आचरण द्वारा भगवत्-परायण होनेपर मायाके कवलसे मुक्त हुआ जा सकता है।

पाँचवाँ प्रश्न था—ब्रह्मका स्वरूप क्या है? इसके उत्तरमें पिप्पलायनने कहा—जो विश्वके जन्म-स्थिति एवं लयके हेतु हैं और स्वयं अहेतु होकर स्वांश-वैभव द्वारा सृष्टि-स्थिति-लयादि कार्य कराके निर्लिप्त रहते हैं; जो जीवकी जागर, स्वप्न, सुषुप्तिमें अधिष्ठित रहकर भी उन अवस्थाओंसे पृथक् रहते हैं, जिनसे देह, मन, प्राणादि सञ्जीवित एवं परिचालित होते हैं, वे ही ब्रह्म हैं।

छठा प्रश्न था—नैष्कर्म्य क्या है? इसके उत्तरमें आविर्होत्रने कहा—कर्म, अकर्म एवं विकर्म तीनों ही वेदशास्त्रगम्य हैं, वे लोगोंके द्वारा ज्ञातव्य नहीं हैं। वेद अपौरुषेय हैं, इस कारण पण्डितोंको भी भ्रम होता है। वेदमें कर्म-निवृत्तिके लिये कर्मका विधान हुआ है। आचार्यकी कृपा प्राप्त होनेपर उनके उपदेशोंसे श्रीहरिका अर्चन करनेपर नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त होती है।

सातवें प्रश्नके उत्तरमें द्रुमिलने भगवदवतारोंकी लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन किया।

भगवद्-विमुख जीवोंकी गति क्या है?—इस अष्टम प्रश्नके उत्तरमें चमस ऋषिने कहा—सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यसे ब्राह्मणादि वर्ण एवं आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। सभीकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप भगवान्‌की आराधना न करके आत्मेन्द्रिय तर्पणादिमें नियुक्त रहनेपर (अपनी इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करते रहने पर) परिणाममें अधोगति होती है।

भगवान् किस युगमें किस नाम एवं किस रूपसे पूजित होते हैं—इस नवम प्रश्नके उत्तरमें करभाजन ऋषिने कहा—सत्ययुगमें भगवान् शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, जटा, वल्कलादि धारण करनेवाले ब्रह्मचारी वेशमें अवतीर्ण होकर हंस, सुपर्ण आदि नामोंसे अभिहित

होते हैं। उस युगके सभी लोग ध्यानयोग द्वारा भगवान्‌की आराधना करते हैं। त्रेतामें रक्तवर्ण यज्ञावतार यज्ञोंके द्वारा पूजित होते हैं। द्वारकामें महाराजोपलक्षण युक्त भगवान् श्यामसुन्दर पीले वस्त्रोंको पहनते हैं एवं वैदिक एवं तान्त्रिक विधिके अनुसार पूजित होते हैं। कलियुगमें पीतवर्ण श्रीकृष्णचैतन्यदेव अङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदोंके साथ अवतीर्ण होकर सङ्कीर्त्तन यज्ञ द्वारा पूजित होते हैं।

ब्रह्मा, रुद्र प्रमुख देवता गन्धर्व, अप्सराओंके साथ द्वारकामें आकर भगवान् कृष्णचन्द्रकी पूजा एवं स्तुति करते हैं। उनके अवतरणका उद्देश्य साफल्यमण्डित (सफलतापूर्वक सम्पन्न) हो चुका है, इस कारण लीला-संगोपनके लिये भगवान्‌के निकट प्रार्थना करते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र ब्रह्माजीके निकट यदुवंशके भावी ध्वंसके विषयसे अवगत होकर देवताओंको अपने-अपने धाममें लौटनेका आदेश देते हैं। इसके बाद द्वारकामें नाना प्रकारके अरिष्ट-सूचक दृश्य दिखायी देनेसे कृष्णचन्द्र यदुवंशके वृद्धजनोंको बुलाकर उनसे कहते हैं कि द्वारकामें रहना मङ्गलजनक नहीं है। भगवान् उनको प्रभास तीर्थ जानेका उपदेश देते हैं। इतनेमें ही महाभागवत उद्धवजी श्रीकृष्णके समीप आते हैं और भगवत्-उद्देश्यका तात्पर्य भगवान्‌से जानना चाहते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र उद्धवजीको अवधूत-यज्ञ-संवादका उल्लेख करके प्रपञ्चकी नश्वरताका वर्णन करते हैं। यह प्रसङ्ग इस प्रकार है कि ययातिनन्दन यदुने किसी अवधूतको जड़ोन्मत्त पिशाचवत् फिर भी परमानन्दमें विचरण करते हुए देखा। यदुने उससे उनकी ऐसी अवस्थाका कारण जानना चाहा। तब अवधूतने उत्तर दिया कि वह चौबीस गुरुओंके निकट विविध विषयोंसे सम्बन्धित शिक्षा ग्रहण करके मुक्त भावसे विचरण किया करता है, यथा –

(१) पृथ्वीसे परोपकार-चेष्टा एवं परार्थपरता।

(२) प्राणवायुसे प्राणवृत्तिमें सन्तोष एवं बाह्यवायुसे देह एवं विषयोंसे निर्लिप्तता।

(३) आकाशसे सर्वव्यापी आत्माकी अपरिच्छिन्नता एवं अदृश्यता।

(४) जलसे निर्मलत्व एवं पावनत्व।

(५) अग्निसे सर्ववस्तुभक्ष्यत्व एवं अमलकारित्व; दाताका सर्व-अशुभ-विनाशत्व; समस्त देहोंमें आत्माका अस्तित्व एवं उत्पत्ति-विनाशका अलक्ष्यत्व।

(६) चन्द्रमासे देहकी ह्रास-वृद्धि।

(७) सूर्यसे विषय-स्पर्श होनेपर भी अभिनिवेश-शून्यता।

(८) कबूतरसे स्त्री-पुत्रादिमें आसक्तिका परिणाम।

(९) अजगरसे संयोगवश अथवा भाग्यवश प्राप्त द्रव्यों द्वारा सन्तुष्ट रहकर भगवद् भजनमें नियुक्त रहना।

(१०) समुद्रसे प्रसन्नता, गाम्भीर्य, सुख-दुःखमें अविचलता।

(११) पतिङ्गसे रूपमें आसक्तिका परिणाम।

(१२) मधुकरसे माधुकरी वृत्ति एवं सञ्चयका परिणाम।

(१३) हाथीसे स्पर्श-सुखकी आसक्तिसे अनर्थ।

(१४) भ्रमरसे दूसरोंके आहृत द्रव्य द्वारा जीवन-निर्वाहका उपाय।

(१५) हिरणसे सङ्गीतासक्तिका अनर्थत्व।

(१६) मछलीसे जिह्वा-वेगका परिणाम।

(१७) पिङ्गलासे नैराश्य।

(१८) कुरर पक्षीसे विषयोंसे अनासक्ति।

(१९) बालकसे निश्चिन्तता।

(२०) कुमारीसे सङ्ग वर्जन।

(२१) शर बनाने वालेके पास चित्तकी एकाग्रता।

(२२) सर्पके निकट एकलत्व, निर्दिष्ट वास-स्थान-शून्यत्व एवं अलक्ष्यगति।

(२३) मकड़ीसे सृष्टि-प्रलयादि कार्य।

(२४) पेशस्कृत (भृङ्गी नामक कीट) से स्नेह, द्वेष एवं भयादिके कारण वस्तुका सारूप्य। धीर व्यक्ति मनुष्यदेहके सुदुर्लभत्व एवं अनित्यत्वको समझकर कल्याण प्राप्तिके लिये यत्न करें।

प्रवृत्तिमार्गमें निरवच्छिन्न सुखके अभावके कारण एवं विषयोंके ध्यानको स्वप्नवत् विफल जानकर भगवदाश्रित व्यक्ति पञ्चरात्रादि विधानके अनुसार गुरुसेवा एवं वैष्णव-धर्म-पालनमें निरत रहकर निष्काम चित्तसे काल-यापन करें।

विद्या एवं अविद्या जीवके संसार-मुक्ति एवं बन्धनके कारण हैं। अविद्या युक्त त्रिगुण-ताड़ित जीव अहङ्कार-विमूढ़ अस्मितासे शोक, मोहादिके वशीभूत होकर स्वकृत कर्मफलका भोग करता है, परन्तु विद्या-युक्त मनुष्य विस्तृत दर्शनके प्रभावसे युक्तवैराग्यरूप असि (तलवार) द्वारा छिन्न-संशय होकर श्रीकृष्णपादपद्ममें चित्त समर्पण करते हुए परा शान्ति प्राप्त करता है। बुद्धिमान् व्यक्ति साधु-सङ्गसे आत्म-तत्त्व जानकर भक्तिके विविध अङ्गोंके याजन द्वारा वस्तु-सिद्धि प्राप्त करते हैं। शम, दम, कृष्णैकशरण्यता इत्यादि छब्बीस गुण साधुओंके लक्षण हैं। साधु-सङ्ग जिस प्रकार संसारासक्तिको नष्ट करके भगवान्को अपनी भक्तिसे वशीभूत करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है, स्वाध्याय, तपः, नियम, यमादि साधनोंमें उस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं है। प्रत्येक युगमें सत्सङ्गके प्रभावसे रजः, तम प्रकृतिके व्यक्ति वेदाध्ययनादि अन्यान्य साधनोंके अङ्गोंके बिना ही भगवत्-चरण-प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अबला व्रज-रमणियोंने भगवत्-स्वरूप-विषयमें अनभिज्ञ होकर भी जार-बुद्धिसे भगवत्-सेवाकी कामना-हेतुसे ब्रह्मादिको दुष्प्राप्य भगवत् चरणकमलोंको प्राप्त कर लिया था। उनकी श्रीकृष्णमें इतनी गाढ़ आसक्ति थी कि रास-रजनीमें श्रीकृष्णके सङ्गके कारण उनका चित्त आनन्दसे सराबोर हो गया और सहस्र युग-परिमित समय उन्हें आधे क्षणके समान अनुभूत हुआ। जब कि श्रीकृष्णके मथुरा गमन करने पर भगवत्-विरहमें एक-एक रात्रि उन्हें कल्पके समान सुदीर्घ ज्ञात हुई। कृष्ण-विरह-कातर उन्हें कृष्ण-सङ्गके बिना दूसरा कुछ भी सुखकर बोध नहीं होता था। वस्तुतः गोपीप्रेम ही सर्वोत्कृष्ट है।

सत्त्व, रजः और तम—ये तीनों गुण बुद्धिके हैं, आत्माके नहीं। सत्त्व द्वारा रजः एवं तमो गुणोंको नष्ट करते हुए विशुद्ध सत्त्वसे सत्त्वगुणको निरस्त करना ही प्रयोजन है। सात्त्विक पदार्थके सेवनसे सत्त्वगुणमें वृद्धि होती है। विवेकी व्यक्ति विषयोंसे अनासक्त रहकर युक्त वैराग्यसे केवल भक्तिका आश्रय करते हैं।

ब्रह्मा जब सनकादि द्वारा जिज्ञासित होनेपर उत्तर देनेमें असमर्थ हो गये, तब भगवान्ने हंसरूपमें अवतीर्ण होकर आत्मतत्त्व, त्रिविध अवस्थाएँ एवं संसार पर विजय प्राप्त करनेके उपाय बतलाये। ऋषि भगवत्-कृपासे संशयसे मुक्त हो गये। इससे वैदिक धर्मका प्रचार हुआ। वासना-वैचित्र्यके कारण विविध प्रकारकी मतिके उदय होनेपर मनुष्य नाना प्रकारके श्रेयः साधनोंका वर्णन करते हैं। कोई धर्म, कोई यश, कोई तप इत्यादिको श्रेयः-साधन बतलाकर व्याख्या करते हैं। भगवद्-भक्ति ही प्रकृत श्रेयःका उदय कराती है। केवला भक्ति भगवत्-प्राप्ति करानेमें समर्थ है, अन्यान्य साधन नहीं। (अष्टाङ्ग योगादिसे अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ साधकोंके चित्तको लुभाती हैं और जीवनके समयको वृथा ही क्षय करती हैं। वे भजनके लिये विघ्न-स्वरूप हैं।

विश्वमें जितना भी तेज, सौन्दर्य, कीर्त्ति, ऐश्वर्यादि हैं—वे सभी भगवान्की विभूतियाँ हैं, किन्तु उनमें भगवद्-भक्तोंको अभिनिविष्ट नहीं होना चाहिए।

सत्ययुगमें एकमात्र हंस वर्ण था एवं मनुष्य अनन्य-भक्ति-परायण होकर ध्यानयोगसे भगवद्-भजन करके कृतकृतार्थ होते थे, इसलिये इस युगका दूसरा नाम कृतयुग है। त्रेतामें यज्ञ रूपी भगवान् अवतीर्ण होते हैं। चार वर्ण एवं चार आश्रम उनसे ही उत्पन्न हैं। इसके बाद कृष्णचन्द्र चारों वर्ण एवं आश्रमोंके धर्म तथा तद्-तद् वर्णोंके एवं अन्त्यज व्यक्तियोंके स्वभावका वर्णन करते हैं।

प्रकृत विद्वान् व्यक्ति द्वैत प्रपञ्च एवं उसके साधनोंका परित्याग करके श्रीहरिको सुखी करनेकी चेष्टा करते हैं। तप, जपादि पुण्यकर्मसे

ज्ञान-योग श्रेष्ठ है, उससे शुद्ध भक्ति श्रेष्ठ है। भगवत्-कथा-श्रवणमें श्रद्धा, सर्वदा भगवत्-कीर्त्तन, पूजा, स्तुति, वन्दना, भक्त-पूजा इत्यादिके द्वारा भक्तिका उदय होता है।

मोक्ष-साधनके लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्ति-योग वर्णित हुए हैं। अविरक्त कामी व्यक्तियोंके लिये कर्मयोग, कर्मत्यागी जनोंके लिये ज्ञानयोग और युक्त-वैरागी व्यक्तियोंके लिये भक्तियोगका निदर्शन है। जिस समय तक कर्मफल भोगसे विरक्ति और भगवत्-कथामें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब तक कर्मानुष्ठान करना चाहिए। त्यागी अथवा भक्तका कर्मानुष्ठान अनावश्यक है। मनुष्य जन्ममें ही भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है, इसीलिये देवता भी मनुष्य-देहकी कामना करते हैं। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति भवसागर पारके नौकास्वरूप नरदेहको प्राप्त करके शुद्धभक्तरूप कर्णधारके आश्रयमें अनायास ही भव-समुद्रसे पार होनेके लिये यत्न करेंगे। भगवद्-भक्तिके द्वारा समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, भक्तके लिये ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंसे कोई प्रयोजन नहीं है।

ज्ञान और भक्तिमें निमग्न व्यक्तियोंके लिये देश, काल एवं पात्रगत कोई दोष, गुण नहीं है। कर्मनिष्ठ साधकोंके चित्तशोधनके लिये नित्य-नैमित्तिक कर्मका विधान है। उन कर्मोंको करनेसे गुण एवं न करनेसे दोष लगता है। ज्ञान-निष्ठका ज्ञानाभ्यास एवं भक्तका श्रवणादिरूप भक्ति ही गुण है। काम्यकर्म श्रेयः साधन नहीं है। उसका उद्देश्य है—प्रवृत्तिका सङ्कोच एवं क्रमशः रुचिका उत्पन्न होना। वेदके कुसुमित वचनोंको आक्षिप्तचित्त मनुष्य समझ नहीं सकता। स्वयं भगवान्के बिना वेदके निगूढ़ तात्पर्यको कोई दूसरा जान नहीं सकता।

तत्त्व संख्या-निर्देशमें अनेक मतभेद दिखायी देते हैं। भगवान्की मायाके प्रभावसे इस प्रकारके मतभेद असम्भव नहीं हैं। तत्त्व-ज्ञानके अभावमें विषय-विमूढ़ जीव संसार-गति प्राप्त करते हैं। आत्मा विषय-भोग नहीं करता, विषय-भोग तो इन्द्रिय-भोग्य हैं, अतएव

श्रेयस्कामी व्यक्ति विवेकका आश्रय ग्रहण करके तथा विषय-भोगका परित्याग करके अपनी आत्माका उद्धार करनेका उद्यम करें। भगवत्-चरणाश्रित व्यक्ति किसी प्रकारके विषयसे अभिभूत न हों। वे अवमानित अथवा ताड़ित होनेपर भी धैर्य धाारण करके स्वयंकी रक्षा करें। अवन्ती-देशीय ब्राह्मण-भिक्षु इसका उदाहरण है। वह अत्यन्त कृपण एवं कोमल स्वभावका था। इसलिये उसके सगे-सम्बन्धी एवं बन्धु-बान्धव उसे प्रिय नहीं मानते थे। कालक्रमसे दस्यु, ज्ञाति एवं दैव द्वारा उसका समस्त अर्थ अपहरण कर लिया गया। धनहीन होनेपर सभीने उसका परित्याग कर दिया। अतः तब वह ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हुआ। उसने विचार किया कि अर्थ ही अनर्थका कारण है; जीवनके शेष समयमें हरिभजन करना चाहिए—यह सोचते हुए उसने दृढ़ सङ्कल्प किया एवं त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण कर लिया। वह भिक्षाके लिये नगरादिमें यहाँ-वहाँ जाया करता। लोग उसे भाँति-भाँतिसे उत्पीड़ित करते, किन्तु वह अटल एवं अचल भावसे सब कुछ सह लेता—ऐसी कुछ बातोंका भागवत शास्त्रमें वर्णन किया गया है। उनका सारार्थ यही है कि संसारके सुख-दुःखका कारण एवं सम्पूर्ण साधन मनका निग्रह ही है। भगवान्के चरणोंमें मनोनिवेश करना समस्त साधनोंका सार है।

पुरुषसे क्षोभको प्राप्त हुई प्रकृतिसे महत्तत्त्वका प्रकाश होता है। उससे त्रिविध अहङ्कार एवं उस अहङ्कारसे देवता, मन, दशेन्द्रिय, पञ्च-महाभूत और पञ्च तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पुरुषके नाभि-कमलसे ब्रह्माजीका जन्म होता है। वे चौदह लोकोंकी सृष्टि करते हैं। जगत्की जो कुछ सत्ता है, वह समस्त ही नश्वर और पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न है। आत्मा नित्य है। यह सांख्य-ज्ञान समस्त संशय एवं बन्धनका उच्छेदक है।

शम, दमादि सत्त्वकी, काम-मदादि रजकी एवं क्रोध, लोभ, मोहादि अविमिश्रित तमकी वृत्तियाँ हैं। सत्त्व प्रकृति कर्म-निरपेक्ष है, रजः प्रकृति फलाकाङ्क्षी है और तमः प्रकृति हिंसाकामी है।

जीवमें त्रिगुण विद्यमान हैं, किन्तु श्रीहरि निर्गुण हैं। जीवको त्रिगुणका सङ्ग त्यागकर भगवद्-भजन करना चाहिए।

भगवत्-परायण व्यक्ति मायामुक्त है; मायाबद्धगण शिश्नोदरपरायण एवं असत् हैं, उनके सङ्गके फलस्वरूप अन्धतामिस्र नरकमें जाना पड़ता है। उर्वशीके सङ्गसे मुग्ध सम्राट् पुरूरवा निर्वेदको प्राप्त हो गये थे। इस स्कन्धमें स्त्री-सङ्गसे घृणा एवं भयानक-परिणाम आदि विषयोंका वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति त्वचा, माँस, अस्थिमय पुरुष अथवा स्त्री देहमें आसक्त है, वह कृमि सदृश है। स्त्री द्वारा जीत लिये गये व्यक्तिके विद्या, तपस्या, मौनादि सभी विफल होते हैं। स्त्री एवं स्त्री-सङ्गीका सङ्ग सर्वथा परित्यज्य है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति इस समस्त दुःसङ्गका परित्याग करके साधुसङ्गकी ओर आकर्षित होंगे। साधु मुक्त एवं भगवत्परायण होते हैं। वे सदुपदेश द्वारा मनकी आसक्तिका छेदन कर सकते हैं।

भगवदर्चन चित्तको प्रसन्नतासे भर देता है। अर्चन—वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र—तीन प्रकारका है। प्रतिमा आठ प्रकारकी होती है। सात्वत-विधिसे भगवदर्चन करना चाहिए। भगवदुक्त विधिके अनुसार अर्चन करनेपर भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है।

विश्वके निखिल भाव प्राकृत, त्रिगुणजात एवं असत् हैं, इसलिये उनमें अच्छे-बुरेका पार्थक्य विद्यमान है, किन्तु जड़ासक्तिवश इन सबकी निन्दा, प्रशंसादि करनेपर परमार्थकी हानि होती है। समग्र विश्वमें एक आत्मा ही कार्य-कारणरूपमें वर्त्तमान है—इस विचारका अवलम्बन करके अनासक्त भावसे संसार-यात्राका निर्वाह करना चाहिए। अवास्तव देहमें इन्द्रियादिके साथ जबतक सम्बन्ध है, तबतक संसार-प्रतीति है। सद्‌गुरुकी कृपासे ब्रह्म-विवेक प्राप्त होता है और देहादिके अनात्मत्वकी उपलब्धि होती है। अतः विषयोंके सङ्गका वर्जन करते हुए दृढ़ भक्तियोगका आश्रय करना चाहिए। योगादि उपायोंसे देहका तारुण्य अटूट रखनेकी चेष्टा काल-क्षेपण (समयको नष्ट करना) एवं देह-सिद्धि मात्र है।

भगवन्-माया-मुग्ध अभिमानी, कर्मी एवं योगी भगवत्-चरणकमलोंका आश्रय नहीं करते। भगवान् हंसोंके आराध्य हैं। भगवान् चैत्यगुरु एवं आचार्यरूपमें समस्त अमङ्गलोंको दूर करके स्व-स्वरूपका प्रदर्शन करते हैं। समस्त कर्म भगवान्के लिये ही अनुष्ठेय हैं। भगवत्-धामादिका आश्रय करके भगवत्-सेवा एवं यात्रा-महोत्सवादि करना चाहिए। सर्वत्र समस्त प्राणियोंमें कृष्णाधिष्ठान जानकर समदृष्टि प्राप्त होती है, जिससे अहङ्कारादि नष्ट हो जाते हैं। अनन्य भावसे भगवान्में आत्मसमर्पण करनेपर भगवत्-प्रीति साधित होती है।

अनन्तर उद्धव भगवान्के आदेशसे बदरिकाश्रम चले गये। भगवान्ने द्वारकामें नानाविध अशुभ, महोत्पात देखे तो उन्होंने यादवोंको प्रभास तीर्थमें जानेका उपदेश दिया। तदनुसार सभी वहाँ चले गये। भगवान्की मायाके प्रभावसे यादवगण मद्यपानसे मतवाले होकर परस्पर कलह करने लगे और इसी कलह-युद्धमें एक-दूसरेका वध करने लगे। श्रीबलदेवजीने भी योगबलसे प्रपञ्चका त्याग कर दिया। अब इसके बाद श्रीकृष्णचन्द्र मौनभाव धारण करके विराजमान थे। जरा नामक व्याधने मृगके भ्रमसे भगवान्के श्रीचरणोंमें बाणका प्रहार किया। उसे जब अपने भ्रमका बोध हुआ, तब चरणोंमें दण्डवत् गिरकर क्षमा-याचना करने लगा। भगवान्ने यह उनकी इच्छासे घटित हुआ है, यह समझाकर व्याधको स्वर्ग भेज दिया। उसी समय सारथि दारुक वहाँ आया और उसने भगवान् कृष्णचन्द्रको उस अवस्थामें देखा तो शोक व्यक्त करने लगा। भगवान्ने उसे द्वारका भेजा और समस्त वृत्तान्त बतलाकर सभी द्वारकावासियोंको द्वारका छोड़कर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश दिया। दारुकने भी उनकी आज्ञाका पालन किया।

वसुदेवादिने दारुकसे भगवान्की लीला संगोपनके विषयमें सुना, तो उन सबने भगवान्का अनुगमन किया। भगवान्की लीलामें सहायताके लिये जो देवता यदुकुलमें अवतीर्ण हुए थे, वे भी अपने

धाम चले गये। कृष्ण-विरहसे कातर अर्जुनने कृष्णके उपदेशोंका स्मरण करते हुए सान्त्वनायुक्त चित्तसे सभी परलोकगत आत्माओंके श्राद्धादि सम्पन्न किये। तत्क्षण ही समुद्रने भगवद् गृहको छोड़कर सारी द्वारकाको आत्मसात् कर लिया। अर्जुन अवशिष्ट यादवोंको लेकर इन्द्रपस्थ आये और वज्रनाभको राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया। युधिष्ठिर इत्यादि पाण्डवोंने भगवान्के लीला-संगोपनका संवाद सुना, तब वे परीक्षित्को राज्य समर्पण करके महाप्रस्थान कर गये।

❁ ❁ ❁

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

एकादशः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

यदुवंशियोंको विप्रशाप

श्रीबादरायणिरुवाच—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्॥ १॥

श्रीबादरायणि (श्रीव्यासदेवके पुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीजी) ने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने बलराम और अन्यान्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुत-से दैत्योंका (पूतना, कंसादिका) संहार किया तथा कौरव और पाण्डवोंमें भी शीघ्र महाहिंसापरिणामी अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न कराके पृथ्वीका भार उतार दिया॥ १॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान्।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः॥ २॥

दुर्योधन आदि कौरवोंने कपटपूर्ण जूएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे, द्रौपदीके केश खींचने आदि दुर्व्यवहारसे, विष खिलाकर मारनेके प्रयत्नसे, लाखसे बने हुए घरमें जलाकर हत्या करनेके प्रयाससे तथा अन्यान्य कारणोंसे पाण्डु-पुत्रोंको अनेक बार क्रोधित किया था। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर दोनों पक्षोंमें एकत्र हुए राजाओंका विनाश करके पृथ्वीका भार हल्का कर दिया॥ २॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते॥ ३॥

अप्रमेयस्वरूप (जिनकी विचार-प्रणाली जाननेकी क्षमता मनुष्यमें नहीं है) भगवान् श्रीकृष्णने निज भुजबलसे सुरक्षित यदुवंशियोंके द्वारा पृथ्वीके भारभूत राजाओं एवं उनकी सेनाओंका संहार करवाके मन-ही-मन विचार किया कि ये यादवगण यद्यपि (मेरे संरक्षणके कारण) अजेय एवं अबध्य हैं, किन्तु जिस प्रकारसे ये उद्धत हो रहे हैं, इनके रहते लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार दूर हो जानेपर भी यथार्थमें पृथ्वीका भार अभी दूर नहीं हुआ॥ ३॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम्।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम॥ ४॥

श्रीकृष्णने मनमें निश्चय किया कि मेरे आश्रयके कारण इन यादवोंका पराभव असम्भव है, परन्तु हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल इत्यादि विशाल वैभवके कारण इनकी उच्छृङ्खलता बहुत बढ़ गयी है—देवता भी इनका वध नहीं कर सकते। अतएव मैं बाँसके वनमें परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निके समान इस यदुवंशमें परस्पर कलह उत्पन्न कराके प्रभासतीर्थमें इनका विनाश कराऊँगा और शान्तिपूर्वक अपने धाममें जाऊँगा। (यदुकुलमें उत्पन्न यादवोंकी स्वेच्छाचारिताको साधारण लोग कृष्णानुकूल मानकर उनका सम्मान न करने लग जायें, इसलिये भगवान्ने उनके संहारका विचार किया।)॥ ४॥

एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः॥ ५॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् सत्यसङ्कल्प, सर्वनियन्ता एवं जगदीश्वर हैं। उन्होंने इस प्रकार स्थिरकर ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार करवा डाला और सबको समेटकर अपने धाममें ले गये॥ ५॥

स्वमूर्त्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः॥ ६॥

आच्छिद्य कीर्त्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः॥ ७॥

हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्ग-प्रभा त्रिलोकीके लावण्यको विजय करनेवाली थी। वे अपनी सौन्दर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। उनकी मधुर वाणी एवं मधुर दिव्यातिदिव्य उपदेश उनके वचनोंके स्मरण करनेवालोंके चित्तको मुग्ध कर लेते थे। यहाँ-वहाँ अङ्कित उनके श्रीचरण-कमलके चिह्न त्रिभुवनसुन्दर थे—जिनके दर्शनसे लोगोंकी बहिर्मुखता दूर हो गयी थी और वे जड़-कर्म-प्रपञ्चसे ऊपर उठकर अपनी समस्त इन्द्रियोंसे उनकी सेवामें नियुक्त हो गये थे। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस विचारसे अपनी पुण्यकीर्त्तिका विस्तार किया कि मनुष्य उसका गान, श्रवण एवं स्मरण करके संसार-समुद्रसे (अज्ञान-अन्धकारसे) सहज ही पार हो जायें। इसके बाद परमैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमधाममें चले गये॥ ६-७॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥ ८॥

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतद् सर्वं वदस्व मे॥ ९॥

यह सुनकर महाराज परीक्षित्ने पूछा—हे मुनिवर! यदुवंशी तो ब्राह्मणोंके हितकारी थे। वे बड़े उदार थे, अपने कुलके गुरुजन

और वृद्धोंकी सदा-सर्वदा सेवा करनेवाले थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि श्रीकृष्णमें उनका चित्त ऐकान्तिकरूपसे अर्पित था। ऐसे यदुवंशियोंको विप्रोंने अभिशाप क्यों दिया? उस शापका कारण क्या था? वह किस प्रकारका था? सुहृद यदुवंशियोंमें किस प्रकारसे भेद-बुद्धि हो गयी और वे किस प्रकार परस्पर युद्ध करके विनाशको प्राप्त हुए, हे द्विजोत्तम! इसके विषयमें आप विस्तारपूर्वक मुझे बतलाइए॥ ८-९॥

श्रीशुक उवाच—

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्त्तिः
संहर्त्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—त्रिलोकीके सौन्दर्यके आधार, सर्वत्र समदर्शी श्रीकृष्णने परमशोभनीय विग्रह धारणकर पृथ्वीतलपर कल्याणजनक कर्मोंका आचरण किया। पूर्णकाम प्रभुने द्वारकाभवनका निर्माण कर वहाँ विहार करते हुए मधुर-मधुर लीलाएँ कीं तथा अपनी उदार कीर्त्तिकी स्थापना की। तत्पश्चात् पृथ्वीका भार दूर करनेका कार्य अभी कुछ शेष रह गया है, ऐसा विचारकर अपने कुलके संहार करनेकी अभिलाषा की॥ १०॥

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो निसृष्टाः॥ ११॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्व्वासा भृगुरङ्गिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वशिष्ठो नारदादयः॥ १२॥

कालस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेवके गृहमें निवास करते हुए अनेकानेक पुण्यप्रद, परमकल्याणजनक और सुमङ्गलकारी कार्य

किये। इनका गान करनेसे मनुष्योंके कलिगत सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। एक बार उनकी ही प्रेरणासे विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुनि उनके समीपसे विदा लेकर द्वारकाके समीपवर्त्ती पिण्डारक तीर्थ (गुजरातकी प्रान्त सीमामें समुद्रसे एक कोस दूर) पहुँचे॥ ११-१२॥

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥ १३॥

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥ १४॥

प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति॥ १५॥

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उन मुनियोंके समीप पहुँचे। कृत्रिम नम्रता दिखाते हुए उन्होंने उन मुनियोंके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे। कौमारवयःस्थ उन उद्दण्ड यदुनन्दनोंने जाम्बवतीके पुत्र साम्बको स्त्रीके वेशमें सजा लिया। उसीको दिखाकर ऋषि-मुनियोंसे कहने लगे—हे विप्रगण! आप अमोघदर्शन हैं (आपका ज्ञान अबाध है—आप सर्वज्ञ हैं)। यह स्त्री गर्भवती है, इसके प्रसवका समय निकट आ गया है, यह पुत्र-सन्तान चाहती है। लज्जावश आपसे साक्षात्‌रूपसे नहीं पूछनेके कारण हमसे जिज्ञासा करवा रही है कि यह पुत्रको जन्म देगी या कन्याको? आप कृपापूर्वक बतलाइए।

(श्रीगौरसुन्दरकी अपनी माताके द्वारा श्रीअद्वैतप्रभुके स्थानपर अपराध-खण्डन इत्यादि लीला औदार्यका आदर्श हैं। श्रीकृष्णकी यदु-संहारलीला भक्तवात्सल्यकी ज्ञापिका है। ब्राह्मण, वैष्णव, ऋषि इत्यादि अनभिज्ञ होते हैं—इसी विश्वासके कारण जाम्बवतीके पुत्र यदुकुमारने साम्बको स्त्रीवेश धारण कराके वैष्णव-समाजका उपहास करनेका जो प्रयास किया है—वह वैष्णवापराध है—यही

बतानेके लिये कृष्णलीलामें भगवत्-पार्षद साम्ब यदुकुल-संहारके कारण बने।)॥ १३-१५॥

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्॥ १६॥

हे राजन्! जब उन कुमारोंने ऋषि-मुनियोंसे उपहासपूर्ण वचन कहे, तब वे भगवत्-प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा—हे मूर्खो! यह स्त्री एक ऐसा मुसल प्रसव करेगी, जो तुम्हारे कुलका संहार करनेवाला होगा॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्॥ १७॥

मुनियोंके ये वचन सुनकर वे यादव कुमार अतिशय भयभीत हो गये। उन्होंने शीघ्र ही साम्बका उदर खोला, वास्तवमें उसमें एक लोहेका मुसल दिखायी दिया॥ १७॥

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः॥ १८॥

उनका चित्त अति व्याकुल हो गया। वे कहने लगे—'अहो! हम बड़े दुर्भागे हैं। देखो, हमने यह क्या अनर्थ कर डाला? अब लोग हमें क्या कहेंगे?' इस प्रकार कहते हुए वे उस कुलनाशन मुसलको लेकर अपने घर लौट आये॥ १८॥

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ॥ १९॥

उस समय उन यदुकुमारोंके मुखकी शोभा म्लान हो गयी थी। उन्होंने उस मुसलको ले जाकर यादवोंकी भरी सभामें सबके समक्ष रख दिया एवं महाराज उग्रसेनको सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर दिया॥ १९॥

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः॥ २०॥

राजन्! जब द्वारकावासियोंने ब्राह्मणोंके अभिशापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मुसलको देखा, तब सब-के-सब आश्चर्यचकित और भयभीत हो गये। वे जानते थे कि ब्राह्मणोंका अभिशाप कभी मिथ्या (अव्यर्थ) नहीं होता॥ २०॥

तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहञ्चास्यवशेषितम्॥ २१॥

यदुराज उग्रसेनने श्रीकृष्णसे पूछे बिना ही उस मुसलको चूर्ण-विचूर्ण करवाकर धूलिकणोंमें बदलवा दिया और लोहेका कुछ अंश जो पूर्णरूपसे चूर्ण-विचूर्ण नहीं हुआ था, उस अवशिष्ट अंशको अकिञ्चित्कर जानकर समुद्रमें फेंकवा दिया॥ २१॥

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः॥ २२॥

हे परीक्षित्! एक मछली तत्काल ही उस निक्षिप्त लौह-खण्डको निगल गयी तथा सारा चूर्ण समुद्रकी तरङ्गोंके साथ बह-बहकर समुद्रके किनारेकी बालुके साथ मिल गया। कुछ ही दिनोंमें वह चूर्ण एरक तृण (बिना गाँठकी एक घास) के रूपमें उग आया॥ २२॥

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे।
तस्योदरगतं लोहं सशल्ये लुब्धकोऽकरोत्॥ २३॥

अनन्तर मत्स्यजीवी मछुआरोंने समुद्रमें दूसरी मछलियोंके साथ उस मछलीको भी जालके द्वारा पकड़ लिया। उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था, वह जरा नामक व्याधको प्राप्त हुआ, जिसे व्याधने अपने बाणके अग्रभागमें लगा लिया॥ २३॥

भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्त्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीविप्रशापो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ थे। शापका प्रतिकार करनेमें सर्वथा समर्थ होनेपर भी उन्होंने उसका निवारण करना उचित न समझा। कालरूपी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यदुओंके विनाशरूप ब्राह्मणोंके शापको स्वाभीष्ट जानकर उसका अनुमोदन ही किया॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना एवं उन्हें विदेहराज निमि तथा नवयोगेन्द्रका संवाद सुनाना

श्रीशुक उवाच—

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! देवर्षि नारदजीको मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णके समीप रहनेकी बड़ी लालसा थी, इसलिये वे श्रीकृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकामें—जहाँ दक्ष आदिके शापका कोई प्रभाव नहीं हो सकता था—विदा करनेपर भी पुनः-पुनः आ जाते थे तथा श्रीकृष्णके समीप वहीं द्वारकामें निरन्तर वास करते थे॥ १॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ २॥

हे राजन्! ऐसा कौन प्राणी है, जो इन्द्रियवान् होते हुए अर्थात् कर्णादि इन्द्रियोंके रहते ब्रह्मादि देवेन्द्रोंके भी सेवनीय श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी आराधना न करता हो? इस व्यक्त जगत्का हर प्राणी परिवर्त्तनशील धर्मके अन्तर्भुक्त है, अतः उसकी मृत्यु अनिवार्य है। मुकुन्दचरणाश्रय ही उसके निज मङ्गलका कारण है॥ २॥

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत्॥ ३॥

एक समय देवर्षि नारद वसुदेवजीके घर पधारे। श्रीवसुदेवजीने उनका यथोचित अभिवादन किया और उनके सुखपूर्वक बैठ

जानेपर विधिपूर्वक उनका अर्चन-पूजन किया। तत्पश्चात् प्रणाम कर उनसे जिज्ञासा करने लगे॥ ३॥

श्रीवसुदेव उवाच—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमःश्लोकवर्त्मनाम्॥ ४॥

वसुदेवजीने कहा—भगवन्! संसारमें माता-पिताका आगमन अपने पुत्र-पुत्रियोंके लिये ही सुखकर और कल्याणकारी होता है, इसी प्रकार भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-सन्तोंका पदार्पण कृपण अर्थात् प्रपञ्चमें उलझे हुए सर्वनिकृष्ट प्राणियोंके लिये भी बड़ा ही सुखकर और मङ्गलकारी होता है। भगवन्! आप तो स्वयं भगवान्‌के परम भक्त हैं। आपका आगमन समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये होता है। (कृपण एवं ब्राह्मण भेदसे आत्मा दो प्रकारकी है। क्षुद्र वस्तुके अनुसन्धानकारी 'कृपण' शब्द-वाच्य हैं एवं ब्रह्म वस्तुके अनुसन्धानकारी 'ब्राह्मण' शब्द-वाच्य हैं।) इस स्थलपर श्रीनारदमुनिका सभी प्राणियोंके प्रति वात्सल्य दिखाया गया है॥ ४॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥ ५॥

पर्जन्यादि (इन्द्रादि) देवताओंके चरित्र कभी प्राणियोंके लिये दुःखके हेतु और कभी सुखके हेतु बन जाते हैं, किन्तु हे भगवन्! आप जैसे भगवद्भक्त साधुओंका परम पवित्र चरित्र समस्त प्राणियोंके लिये सर्वदा सुख और कल्याणके लिये ही होता है (इन्द्रादि देवता तो अतिशय अथवा अल्प वृष्टि द्वारा वृक्षोंके लिये दुःखके कारण होते हैं।)॥ ५॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥ ६॥

जो लोग देवताओंकी जिस प्रकारसे आराधना करते हैं, देवता भी परछाईंके समान ठीक उसी रीतिसे आराधकोंको फल देते हैं;

क्योंकि देवता कर्मके अनुचर अर्थात् उन कर्मोंके अधीन हैं। वे कर्मानुग होकर कर्मके तारतम्यानुसार फल प्रदान करते हैं, परन्तु आप जैसे साधुगण सर्वदा ही दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो ताप-त्रयसे अभिभूत हैं, उनपर वात्सल्य प्रकाश करते हैं। आप देवताओंके समान स्वार्थपर नहीं हैं॥ ६॥

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव।
यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! यद्यपि हम आपके शुभागमन और शुभदर्शनसे ही कृत्कृत्य हो गये हैं, तथापि श्रद्धापूर्वक जिसे सुनकर मर्त्त्य जीव सब प्रकारके भयसे परित्राण प्राप्त करता है, मैं आपके निकट उसी भागवत धर्मको जाननेकी इच्छा करता हूँ॥ ७॥

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया॥ ८॥

हे मुनिवर! पूर्वजन्ममें इस भूतलपर मैंने मुक्तिदाता भगवान् श्रीहरिकी आराधनाकी थी, किन्तु देवमायासे मोहित होकर सन्तानकी (पुत्रकी) कामनासे उनकी आराधना की, मुक्तिकी अभिलाषासे नहीं॥ ८॥

यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात्।
मुच्येमह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत॥ ९॥

हे सुव्रत! इस समय आप मुझे सुस्पष्टरूपसे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं जन्म-मृत्युरूप विचित्र व्यसनोंसे परिपूर्ण एवं विविध भयोंसे सङ्कुल इस भयावह संसारसे अनायास ही मुक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ ९॥

श्रीशुक उवाच—

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजन्! विवेकशील वसुदेवने भगवान्‌के स्वरूप और गुण आदिके विषयमें श्रवण करनेके अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था। देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्‌के अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और आनन्दमें भरकर श्रीवसुदेवसे कहने लगे॥ १०॥

श्रीनारद उवाच—

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्म्मांस्त्वं विश्वभावनान्॥ ११॥

नारदने कहा, हे यदुश्रेष्ठ वसुदेव! आपने सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले भागवत-धर्म-विषयको ही अपने प्रश्नमें उत्थापित किया है (भूमिका बनायी है), इसलिये आपका सङ्कल्प अतिशय उत्तम कहा जाएगा॥ ११॥

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि॥ १२॥

वसुदेव! यह भागवत धर्म ऐसा है, जिसे श्रवण करने, श्रवणके बाद स्वयं करने, वाणीसे स्वयं उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण (ध्यान) करने, हृदयसे आदर करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो, उसका अनुमोदन करने इत्यादिसे मनुष्य मात्रको चाहे वह भगवान्‌का या सारे संसारका ही द्रोही क्यों न हो, उसी क्षण पवित्र कर देता है॥ १२॥

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणे मम॥ १३॥

आपके प्रश्नके कारण इस समय मेरे हृदयमें पुण्यश्रवण, कीर्त्तनशील (जिनका श्रवण एवं कीर्त्तन परम पुण्यप्रद है), परममङ्गलमय भगवान् नारायणकी स्मृति उदित हो गयी है, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि आपने मुझपर अतिशय अनुग्रह किया है॥ १३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणाञ्च संवादं विदेहस्य महात्मनः॥ १४॥

वसुदेवजी! आपने भागवत धर्मके निर्णयके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया है, उसके सम्बन्धमें सन्त पुरुष ऋषभके नौ योगेन्द्र पुत्रों एवं विदेहके संवादके रूपमें एक प्राचीन उपाख्यान कहते हैं, वह सुनिए॥ १४॥

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥ १५॥

स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत नामके पुत्र बहुत प्रसिद्ध थे। उनके पुत्रका नाम था आग्नीध्र और आग्नीध्रके पुत्रका नाम था नाभि। इन्हीं नाभिके पुत्र ऋषभ नामसे विख्यात हुए॥ १५॥

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम्॥ १६॥

शास्त्रोंमें ऋषभदेवको भगवान् वासुदेवका अंश बतलाया गया है। मोक्षधर्मका प्रवर्त्तन करनेकी इच्छासे इन्होंने पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र हुए, वे सभी वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे॥ १६॥

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ १७॥

इन सौ पुत्रोंमें ऋषभदेवके सबसे बड़े पुत्र राजर्षि भरत थे। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे इस भूखण्डका नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। पहले इसका नाम अजनाभ वर्ष था॥ १७॥

सभुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः॥ १८॥

ये भरत महाराज सारे भूमण्डलका राज्य भोगकर अन्तमें इस भुक्तभोगा पृथ्वीको छोड़कर तपस्याके लिये वनमें चले गये और

तपोयोगसे भगवान् श्रीहरिकी आराधना कर तीन जन्मोंमें (१—राजा (क्षत्रिय) जन्म, २—मृग जन्म, ३—परमहंस जन्म) भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हुए॥ १८॥

तेषां नवनवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः॥ १९॥

श्रीऋषभदेवके सौ पुत्रोंमें-से, नौ पुत्र भारतवर्षके चारों ओर स्थित ब्रह्मावर्त्त आदि नौ द्वीपोंके (जम्बूद्वीपके नौ खण्ड अथवा वर्ष—भारत, किन्नर (किम्पुरुष), हरि, कुरु, हिरण्मय, रम्यक (रमणक), इलावृत, भद्राश्व, केतुमालके) अधिपति हुए अर्थात् उन्होंने अपने आधिपत्यका विस्तार किया और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके (सकाम यज्ञोंके) प्रवर्त्तक ब्राह्मण हुए॥ १९॥

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः॥ २०॥

कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ २१॥

शेष नौ पुत्र कवि, हवि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन अधिकारियोंको परमार्थ-वस्तुका उपदेश दिया करते थे। वे दिगम्बर (वायु-वस्त्र), परब्रह्म-तत्त्व निरूपणमें तत्पर, आत्माभ्यासमें महान् प्रयासरत (श्रमण) एवं आत्मविद्यामें विशारद थे। विदेहराज निमिने नवयोगेन्द्रोंसे ये नौ प्रश्न किये—(क) आत्यन्तिक कल्याण क्या है? (११/२/३०) (ख) भागवत (वैष्णव) धर्म, स्वभाव, आचार, वचन एवं लक्षण क्या हैं? (११/२/४४) (ग) भगवान् विष्णुकी बहिरङ्गा माया किसको कहते हैं? (११/३/१) (घ) इस मायासे निवृत्ति किस प्रकारसे होती है? (११/३/१७) (ङ) ब्रह्मका स्वरूप क्या है? (११/३/३४) (च) फलभोगमूलककर्म, भगवदर्पित कर्म एवं नैष्कर्म्य किसको कहा जाता है? (छ) भगवदावतारावलीकी लीलाएँ क्या-क्या हैं?

(११/४/१) (ज) भगवद्-विमुख भक्तिहीन अर्थात् अभक्तोंकी निष्ठा अथवा गति क्या है? (झ) चारों युगोंके युगावतार—चतुष्टयका कैसा वर्ण है, आकार किस प्रकारका है, उनके नाम क्या-क्या हैं और उनकी पूजाकी विधि कैसी है? (११/५/१९) इन नौ प्रश्नोंके उत्तरमें महाभागवत परमहंस योगेन्द्रोंने जो उत्तर दिये, उनकी श्लोक-संख्या यथाक्रमसे इस प्रकार है—(क) ११/२/३३-४३, (ख) ११/२/४५-५५, (ग) ११/३/१६, (घ) ११/३/१८-३३, (ङ) ११/३/३५-४०, (च) ११/३/४३-५५, (छ) ११/४/२-२३, (ज) ११/५/२-१८ एवं (झ) ११/५/२०-४२)॥ २०-२१॥

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम्॥ २२॥

वे कवि आदि नवयोगेन्द्र स्थूल-सूक्ष्मात्मक एवं व्यक्त-अव्यक्त भगवद्स्वरूपभूत इस जगत्को अपनी-अपनी आत्मासे अभिन्नरूपमें अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरण करते थे॥ २२॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम्॥ २३॥

उन मुक्त नवयोगेन्द्रोंको अपने किसी भी अभीष्ट स्थानमें जानेके लिये कोई प्रतिरोध नहीं था। वे जहाँ चाहते, अप्रतिहत गतिसे वहीं चले जाते। उनकी आसक्ति कहीं न थी। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोक तथा मुनि, चारण, भूतनाथ शिवके कैलाश, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थान गोकुल—इन सभी लोकोंमें वे स्वच्छन्द विचरण करते थे। वे सभी जीवन्मुक्त थे॥ २३॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः॥ २४॥

एक बार वे स्वच्छन्द विचरण करते हुए भारतवर्षमें उस स्थानपर उपस्थित हुए, जिस स्थानपर ऋषिगण महात्मा निमिके यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे॥ २४॥

तान् दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान् महाभागवतान् नृप!
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे॥ २५॥

हे राजन्! वे नवयोगेन्द्र सूर्यके समान तेजस्वी, महाभागवत एवं भगवान्के परम प्रेमी भक्त थे। उन्हें देखकर यजमान महाराज निमिने, आहवनीय आदि मूर्त्तिमान् अग्नियोंने, ऋत्विज आदि याज्ञिक ब्राह्मणोंने एवं वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने उठकर उनका अभिनन्दन किया॥ २५॥

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।
प्रीतः संपूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः॥ २६॥

विदेहराज निमि उन लोगोंको भगवान्के परम भक्त जानकर अति प्रसन्न हुए। उन्होंने परम प्रीतिके साथ नवयोगेन्द्रोंको आसनोंपर बिठाया तथा विधिपूर्वक पूजा की॥ २६॥

तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः॥ २७॥

वे नवयोगेन्द्र अपने अङ्गोंकी कान्तिसे इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो ब्रह्माजीके पुत्र सनक आदि मुनीश्वर ही हों। राजा निमि उनके दर्शन करके परम आनन्दित हुए तथा चरणोंमें विनयपूर्वक झुककर बड़े प्रेमके साथ उनसे पूछने लगे॥ २७॥

श्रीविदेह उवाच—

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥ २८॥

विदेहराज निमिने पूछा—हे मुनिगण! मैं ऐसा समझता हूँ कि आप लोग साक्षात् भगवान् मधुसूदनके पार्षद ही हैं। अहो, भगवान्

विष्णुके पार्षद (निजजन) पतित जीवोंको पावन करनेके लिये ही सर्वत्र विचरण किया करते हैं॥ २८॥

दुर्ल्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्ल्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥ २९॥

जीवोंके लिये परम पुरुषार्थ साधक मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर होनेपर भी परम दुर्लभ है। उसमें भी भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका दर्शन और भी दुर्लभ है (मानव देहमें ही हरिकथा श्रवणका सौभाग्य उदित होता है; इसीलिये दिव्यसूरि वैष्णवोंका साक्षात्कार अतीव सुदुर्लभ एवं विशेष प्रयोजनीय है।)॥ २९॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्॥ ३०॥

इसलिये हे त्रिलोकपावन महात्माओ! भाग्यवश आपके सुदुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए हैं। हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्सङ्ग मनुष्योंके लिये परम निधिकी प्राप्ति स्वरूप आनन्दजनक होता है॥ ३०॥

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥ ३१॥

हे मुनिवरो! जिस धर्मके अनुष्ठानके कारण भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर शरणागतजनोंको अपना स्वरूपतक प्रदान कर देते हैं, वह भागवत-धर्म यदि हमारे श्रवणयोग्य हो, तो उसका वर्णन कीजिए॥ ३१॥

श्रीनारद उवाच—

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम्॥ ३२॥

देवर्षि नारदने कहा—वसुदेव! जब महात्मा निमिने उन परमप्रेमी भगवद्भक्तोंसे यह प्रश्न किया, तब वे महाप्रभावशाली मुनिगण

अतिशय प्रसन्न हुए एवं सदस्य, पुरोहितादि तथा ऋत्विजोंके साथ विराजमान महाराज निमिसे प्रेमपूर्वक कहने लगे॥ ३२॥

श्रीकविरुवाच—

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्-
विश्वात्मना यत्र निवर्त्तते भीः॥ ३३॥

उन नवयोगेन्द्रोंमें-से पहले कविने कहा—राजन्! इस संसारमें भगवान्के श्रीचरणोंकी नैरन्तर्यमयी उपासना परम कल्याणकारी, आत्यन्तिक क्षेममयी तथा सर्वभयविनाशनी है। देह, गेह आदि तुच्छ एवं असत् वस्तुओंमें आत्मबुद्धि होनेसे जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति त्रितापसे अत्यन्त सन्तप्त हो रही है, उन लोगोंका भय भी उन्हीं भगवान् श्रीअच्युतकी सेवासे पूर्णतया निवृत्त हो जाता है॥ ३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥ ३४॥

राजन्! भगवान्ने अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे आत्म-प्राप्ति अर्थात् भगवत् प्राप्तिके लिये जो सुगम उपाय स्वयं अपने श्रीमुखसे बतलाये हैं, उसे ही 'भागवत-धर्म' जानना चाहिए। भगवान्को प्राप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिका साधन ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है, इसीको 'भागवत धर्म' समझो॥ ३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥ ३५॥

हे राजन्! भागवत धर्मका अवलम्बन करनेपर मनुष्य कभी विघ्नोंसे बाधित नहीं होता। इस मार्गमें नेत्र बन्दकर दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी मार्गसे कोई स्खलित नहीं होता अर्थात् पतित नहीं होता, न ही प्रत्यवायसे ग्रस्त होता है और न ही फलसे वञ्चित होता है॥ ३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ ३६॥

मानव विधिवशतः अथवा जन्म-जन्मान्तरोंके स्वभावके प्रेरणावश अपने शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि या चित्तसे जो कुछ कर्म करें, उन सबको परब्रह्म नारायणके लिये (नारायणकी सेवाके लिये) समर्पण कर दें। [यही सुगम (सीधा-सादा) भागवत धर्म है। जिस प्रकार विषयीगण प्रातःकालसे आरम्भ करके मल-मूत्रादि त्याग, मुख-प्रक्षालन, दन्त-धावन, स्नान, दर्शन, श्रवण कथन आदि दैहिक कार्य विषय-सुख भोगके लिये करते हैं, कर्मीगण देव-पूजा एवं पितृ-पूजनके लिये ये समस्त कर्म करते हैं, किन्तु भगवद् भक्तोंकी ये सब क्रियाएँ भगवत्-सेवाके लिये होती हैं।]॥ ३६॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥ ३७॥

जो व्यक्ति भगवान्‌से विमुख होता है, भगवान्‌की मायाके कारण स्वरूप विषयमें (भगवद्-दास्यमें) उसकी विस्मृति रहती है एवं इसी कारण 'यह देह मैं हूँ'—यह ज्ञानरूप विपर्यय (अज्ञानको ही ज्ञान मान लेना) रहता है और इसीसे द्वितीयाभिनिवेश अर्थात् उपाधिभूत देह-इन्द्रियादिमें अहङ्कार रहता है। इस अहङ्कारसे भय समग्ररूपसे उपस्थित हो जाता है। अतएव विवेकी व्यक्तिको अपने गुरुको ही परमाराध्यतम—परम प्रियतम मानकर एवं अन्यान्य कामनाओंसे रहित होकर भगवान्‌की आराधना भलीभाँति करनी चाहिए॥ ३७॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो-
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥ ३८॥

यह द्वैत प्रपञ्च (भौतिक जगत्) असत्य (अविद्यमान) होनेपर भी मनुष्यके प्रापञ्चिक (सांसारिक) भोगबुद्धि-सम्बन्धित मानसिक चिन्तनके कारण निद्राकालमें उसे स्वप्नमें दिखायी देता है तथा मनोरथजात (इच्छित) पदार्थोंके समान जागरणकालमें इस प्रपञ्चका प्रकाश होता है। [तात्पर्य यह है कि चन्दन, वनितादि भोग्य संसार जिनका नहीं है, रहने पर भी जिनका परित्याग करके जो वनमें वास करते हैं, उनको कोई भय नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ध्यानकारी मनुष्यके मनमें वह जड़ीभूत संसार प्रत्यक्ष होता है, इसे मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं।] अतः प्रापञ्चिक ध्यान भगवदितर विषयका ध्यान मात्र ही है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनको विवेकके आश्रयसे नियन्त्रित करे। मनके निग्रहसे ही सारे भय दूर होनेपर वह अकुतोभय हो जाता है—यह मनका निग्रह एकमात्र भगवत्-सेवा द्वारा ही सम्भव है॥ ३८॥

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥ ३९॥

इस संसारमें भगवान् चक्रपाणिकी त्रिलोक-कीर्त्तित बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उन्हें सुनते रहना चाहिए। भगवान्के जन्म, गुण तथा लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले उनके बहुत-से नाम प्रसिद्ध हैं। लोकलाज-सङ्कोच छोड़कर उनका गान भी करते रहना चाहिए। किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्त न रहकर अचञ्चल भावसे सर्वत्र विचरण करते रहना चाहिए।

नाम-गानरूप केवला भक्तिके द्वारा जीवको नित्य सर्वार्थ-सिद्धिकी प्राप्ति होती है॥ ३९॥

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ४०॥

जो विशुद्ध व्रत या नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम श्रीहरिका नामकीर्त्तन करनेसे प्रेमका अङ्कुर उदित हो जाता है और उस जातानुरागका चित्त द्रवित होने लगता है। वह बाह्य-ज्ञानसे रहित होकर (मनुष्यों द्वारा कृत उपहास अथवा प्रशंसादिपर ध्यान न देकर) कभी खिलखिलाकर हँसता है, तो कभी फूट-फूटकर रोदन करता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। जब वह अपने प्रियतमको नेत्रके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उन्मत्तकी भाँति नृत्य भी करने लगता है। (नाम-सङ्कीर्त्तनसे जब प्रेमाभक्तिका उदय होता है, तब श्रीकृष्णके दर्शन करनेकी उत्कण्ठारूप अग्निके द्वारा उसका चित्तरूप स्वर्ण गलित हो जाता है।)॥ ४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ ४१॥

हे राजन्! भगवद्भक्त आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि ग्रह-नक्षत्र, समस्त प्राणी, दिग्मण्डल, वृक्ष, लताएँ, नदियाँ, सागर आदि जितने भी स्थावर जंगम हैं, सबको भगवान् श्रीहरिके अवयव (अधिष्ठान) समझकर एकचित्त होकर उन्हें प्रणाम करते हैं। (जगत् भगवत्-सेवोपकरणका अधिष्ठान है, कृष्णके अतिरिक्त

अन्य कुछ भी नहीं है—भक्तको इस प्रकारसे भगवान्‌की सन्धिनी शक्तिकी परिणतिकी उपलब्धि होती है।) ॥ ४१ ॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ ४२॥

जिस प्रकार भोजन करनेवाले व्यक्तिको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि अर्थात् उदर-पूर्त्ति (जीवनीशक्तिका सञ्चार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक ही साथ होते जाते हैं; उसी प्रकार शरणागत मनुष्यको भजनके प्रत्येक क्षणमें प्रेम लक्षणा भक्ति, प्रेमास्पद भगवान्‌के स्वरूपकी अनुभूति और भगवान्‌से भिन्न इतरविषयोंसे विरक्ति—इन तीनोंकी एक ही साथ उपलब्धि होती जाती है (सेवा-प्रवृत्तिके बिना भगवद्-अनुभव छलना मात्र है।) ॥ ४२ ॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥ ४३॥

हे राजन्! जो अभ्यासके साथ प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका भजन करता है, उस भजनशील भागवत पुरुषके भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति विरक्ति और अपने प्रियतम भगवान्‌की अनुभूति (तत्त्वज्ञान)—ये भावत्रय सम्पन्न होते हैं। इसके बाद वह स्वयं परम शान्तिका (आत्यन्तिक मङ्गलका) अनुभव करता है। (ऐसा भक्त कदापि विचलित नहीं होता। वह सर्वक्षण सेवाराज्यमें प्रतिष्ठित होकर उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त करता है। इस स्थलपर निमिराजाके प्रश्न 'आत्यन्तिक क्षेम क्या है?' का उत्तर समाप्त हुआ।) ॥ ४३ ॥

श्रीराजोवाच—

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥ ४४॥

यह सुनकर महाराज निमिने जिज्ञासा की—हे ब्राह्मण! अब आप कृपा करके भागवत महापुरुषके धर्म (लक्षण) बतलाइए। उसका धर्म कैसा होता है अर्थात् उत्तम-मध्यम एवं साधारण भेदसे उसके स्वभावका तारतम्य कैसा होता है (मानस चिह्न)? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है (कायिक चिह्न)? कैसे बोलता है (वाचिक चिह्न)? तथा किन लक्षणोंके द्वारा वह भगवान्‌का भक्त निदर्शित (लक्षित) किया जा सकता है। यह सब बतलाइए॥ ४४॥

श्रीहविरुवाच—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ४५॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से दूसरे श्रीहविःने उत्तर दिया—राजन्! जो व्यक्ति निखिल प्राणियोंमें अपनी और अपने आराध्य भगवान्‌की सत्ताका तथा अपने एवं अपने आराध्यदेवमें समस्त प्राणियोंकी सत्ताका दर्शन करता है, वह उत्तम कोटिका महाभागवत है॥ ४५॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥ ४६॥

जो व्यक्ति अपने उपास्य भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत है॥ ४६॥

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ ४७॥

और जो भगवान् श्रीहरिकी प्रीतिकी कामनासे केवल अर्चा-विग्रह (मूर्त्ति) इत्यादिकी पूजा तो श्रद्धापूर्वक करता है, किन्तु उन भगवान्‌के भक्तों अथवा दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, भेदबुद्धिके कारण वह प्राकृत (साधारण) श्रेणीका अर्थात् कनिष्ठ भगवद्भक्त है॥ ४७॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥ ४८॥

जो इस विश्वको विष्णुकी कल्पित मायाके रूपमें जानता है एवं अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा जागतिक विषयोंको ग्रहण करके भी उन विषयोंसे न तो द्वेष करता है और न ही हर्षित होता है (भगवद्‌भक्तगण युक्त-वैराग्यमें अवस्थित होकर जड़ासक्तिमें हर्षित नहीं होता एवं चिन्मय अनुभूतिसे विक्षिप्त नहीं होता), वे उत्तम भागवत है। (इसके विपरीत बद्धजीव इन्द्रियजज्ञानसे स्वयंको आबद्ध करके जगत्‌में भगवदितर अनुभूतियोंके साथ प्रणय अथवा विद्वेष कर लेता है।)॥ ४८॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥ ४९॥

जो पुरुष भगवान्‌के निरन्तर स्मरणके प्रभावसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे उत्पन्न (शरीरके) जन्म-मृत्यु (प्राणके), भूख-प्यास (इन्द्रियोंके), श्रमसाध्य-कष्ट (मनके), भय-तृष्णा (बुद्धिके) इत्यादि दुःखोंसे भरे हुए संसारके धर्मसे मोहित नहीं होता, वह उत्तम भागवत है॥ ४९॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥ ५०॥

जिनके चित्तमें कामादि वासनाओंका उदय, उस कारणसे स्त्री आदिके प्रति काम और बादमें कर्म अर्थात् इन्द्रियों द्वारा कृत कार्य—ये तीन जिनके चित्तमें उदित नहीं होते तथा जो वासुदेवैक-निलय हैं—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत हैं, वे उत्तम भागवत हैं। (वस्तुतः काम-कर्मके बीजके अङ्कुरित होनेपर ही प्रपञ्चमें ताण्डव-नृत्य आरम्भ होता है।)॥५०॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥५१॥

जिन्हें इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म ग्रहण करनेसे, प्रशंसामूलक जप, ध्यानादि कर्मसे, न ही वर्ण, आश्रम अथवा उच्चजातिकी प्राप्तिसे अहङ्कार होता है, वे श्रीहरिके प्रिय हैं। (उत्तम भक्त होनेकी रुचि प्राप्त करनेपर परम करुण भगवान् जीवको अपनी क्रोडमें आदरके साथ बिठा लेते हैं।)॥५१॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥५२॥

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें अपना और परायेका (अपने शरीरसे प्रीति एवं दूसरेसे अप्रीतिका) भेदभाव नहीं रखता तथा समस्त प्राणियोंमें समभाव रखता है, ऐसा शान्त व्यक्ति ही उत्तम भागवत है। (ये भक्त परमात्माके साथ जीव-जगत् और जड़-जगत्का सम्बन्ध जाननेसे भक्तिपथसे विच्युत नहीं होते।)॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-
निमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥५३॥

हे राजन्! त्रैलोक्यकी राज-लक्ष्मीकी प्राप्तिकी सम्भावना रहने पर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, जो अकुण्ठितबुद्धियुक्त होकर सदा-सर्वदा भगवत्-स्मरण करता रहता है, बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि अपने अन्तःकरणमें जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, भगवान्‌के ऐसे दुर्लभ श्रीचरणकमलोंसे आधे क्षण भी जिसका मन हटता नहीं है, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य (सबसे श्रेष्ठ) है। (भगवद् भक्तमें क्षणभरके लिये भी हरि-सेवा-विमुखताकी सम्भावना नहीं है।)॥५३॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥५४॥

चन्द्रमाके उदित होनेपर जिस प्रकार सूर्यके प्रचण्ड तापकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके महाविक्रमशाली पाद-पद्मोंमें स्थित अङ्गुलियोंकी नख-मणियोंकी सुशीतल किरणों (चन्द्रिका) द्वारा उन महाभागवतोंके सन्तापके निरस्त होनेपर हृदयमें पुनः उसके उदयका अवसर नहीं रहता। (भगवत्-सेवा विषयमें अत्युल्लास है, वह प्रापञ्चिक तापका आवाहन कर भी कैसे सकता है?)॥५४॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे नारदवसुदेवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

विवशतासे भी नामका उच्चारण करने पर जो मनुष्यकी समस्त पाप-राशिको विनष्ट कर देते हैं, ऐसे श्रीहरि अपने चरण-युगलको

भक्तोंके परम प्रेमके बन्धनमें आबद्ध रखते हैं। वे इन भक्तोंके हृदय-क्षेत्रका परित्याग करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो पाते हैं। इन्हीं भक्तोंको उत्तम भागवत कहा गया है॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

मायाका स्वरूप, मायासे पार होनेके उपाय, परम ब्रह्मका स्वरूप और कर्मयोगका निरूपण

श्रीराजोवाच—

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम्।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः॥ १॥

विदेहराज निमिने कहा—हे ब्रह्मविद् मुनिवरो! सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर श्रीहरिकी जो माया ब्रह्मादि बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देती है, मैं उसी मायाके विषयमें जानना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे उसका स्वरूप बतलाइए॥ १॥

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्त्यस्तत्तापभेषजम्॥ २॥

हे योगीश्वरो! मैं संसार-तापसे निरन्तर सन्तप्त, मर्त्त्य जीव हूँ—यही कारण है कि ताप-निवारक परम-महौषध—आपके वचनरूपी हरिकथामृतरूपका पान करके भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है॥ २॥

श्रीअन्तरीक्ष उवाच—

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥ ३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से तीसरे योगेन्द्र अन्तरीक्षजीने कहा—हे महाबाहो! (हे जिज्ञासु-प्रवर)! आदिपुरुष भगवान् जिस शक्तिके बलपर समस्त भूतोंके कारण होते हैं एवं कारणस्वरूप होकर स्वांशभूत जीवोंके विषय-भोग, परलोक-गमन, आत्माकी मुक्ति एवं भक्ति-प्राप्तिके लिये (उन जीवोंके) बुद्धि, इन्द्रिय, मन एवं प्राणकी सृष्टि करते हैं, उस शक्तिको ही भगवान्‌की गुणमयी मायाके रूपमें

जानो। [बद्धजीवगण जिन स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा विषय भोग करते हैं, वह नित्य सेवोन्मुख इन्द्रियोंका व्यवधानयुक्त स्मृति-विपर्ययका क्रियामात्र (भगवान्‌की सेवा भूलकर अपनी जड़-इन्द्रियोंका सेवन) है। नित्यलीलामय भगवान्‌का लीला-पोषण मायिक नश्वर जगत्‌के समान बाधा-प्राप्त नहीं है।]॥ ३॥

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः।
एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान्॥ ४॥

पञ्चमहाभूतोंके द्वारा बने हुए देवादियोंके शरीरोंमें (वयष्टि एवं समष्टि प्रतीतिके अभ्यन्तरमें) उन्होंने अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश किया। वे अपनेको ही पहले एक भागमें अर्थात् अन्तःकरणके (मनके) अभिमानीरूपमें और बादमें दस भागोंमें अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों (सूक्ष्मरूपमें) तथा कर्मेन्द्रियोंके (स्थूलरूपमें) अभिमानी रूपमें विभाजितकर सारे विषयोंका बद्धजीवको उपभोग कराते हैं। (भगवत्-सेवोन्मुख जीवोंको मायिक बन्धनसे उन्मुक्त करके वैकुण्ठ-सेवा-प्रवृत्तिका उदय कराते हैं।)॥ ४॥

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते॥ ५॥

वह देहाभिमानी जीव अन्तर्यामी परमात्माके चैतन्य बलसे अनुप्राणित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता है और पञ्चभूतोंके द्वारा निर्मित शरीरको ही आत्मा मानकर उसीमें आसक्त हो जाता है। [यही भगवान्‌की माया है अर्थात् भगवद्-विमुखता ही जीवको आत्म-बोधसे रहित करके अनात्म-प्रतीति (देह ही आत्मा है) में आबद्ध कर देती है।]॥ ५॥

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥ ६॥

देहाभिमानी जीव कर्मेन्द्रियोंसे उत्तरोत्तर देह (देहसे कर्म एवं कर्मसे देह) धारणके लिये वासनाओंसे युक्त कर्मोंका

आचरण करते हुए सुख-दुःखात्मक कर्मफल अनुभव कर संसारमें नारकीय योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। (यही भगवान्‌की माया है)॥ ६॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसंप्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः॥ ७॥

इस प्रकार कर्मके वशीभूत होकर जीव देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि विविध दुःखप्रद, अमङ्गलमय कर्म-गतियोंको और उनके फलोंको प्राप्त करता हुआ भौतिक (सृष्ट वस्तुओंके) प्रलयकाल तक जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा रहता है॥ ७॥

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति॥ ८॥

जब पञ्च-महाभूतोंके प्रलयका काल निकट होता है, तब अनादि और अनन्त (उत्पत्ति एवं विनाश) रहित महाकाल (भगवान्) स्थूल और सूक्ष्म, द्रव्य और गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिको अव्यक्त कारणके प्रति आकर्षित करता है अर्थात् वह महाकाल इस विश्वको मूल अव्यक्त अवस्थामें समेट लेता है। (अब विश्वका संहार बतला रहे हैं।)॥ ८॥

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति॥ ९॥

उस समय (महाकालके उपस्थित होनेपर) सौ वर्षोंतक पृथ्वीपर भयङ्कर एवं दुःसह्य अनावृष्टि होती है। हे राजन्! इसी कालधर्मके कारण सूर्यकी उष्णता अतिशय बढ़ जाती है और वे तीनों लोकोंको सन्तप्त करने लगते हैं॥ ९॥

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्द्धते वायुनेरितः॥ १०॥

उस समय सङ्कर्षणके (शेषनागके) मुखसे आगकी प्रचण्ड लपटें ऊपरकी ओर उठती हैं। वे लपटें वायुकी प्रबल प्रेरणासे

परिचालित होकर पाताल-तलको जलाना आरम्भ करती हैं तथा चारों दिशाओंको दग्ध करती हुई सर्वत्र प्रसारित हो जाती हैं॥ १०॥

संवर्त्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्॥ ११॥

इसके बाद प्रलयकालीन सम्वर्तक मेघगण हाथीकी सूँड़के समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्ष तक बरसते रहते हैं। उससे यह विराट् ब्रह्माण्ड जलराशिमें लीन हो जाता है॥ ११॥

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः॥ १२॥

हे राजन्! उस समय ब्रह्माण्डरूप उपाधिके लय होनेपर विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ उक्त ब्रह्माण्ड एवं अपने विराट् शरीरको त्यागकर अव्यक्त अर्थात् कारणमें उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं, जैसे ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि। [विराट् पुरुषका नश्वर सृष्टिमें जो अनित्य रूप, गुण एवं क्रिया-वैचित्र्य अवस्थित है, वह समस्त ही प्रत्यावर्त्तनकालमें (संहारकालमें) निर्विशिष्टताको प्राप्त होता है, इसलिये विराट्का नित्यविग्रहत्व स्वीकृत नहीं हो सकता]॥ १२॥

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥ १३॥

उस समय यही संवर्त्तक वायु पृथ्वीके गन्ध गुणको अपहृत कर लेती है, जिससे पृथ्वी जलके रूपमें परिणत हो जाती है। पुनः उसी वायुके द्वारा जलका रस खींच लिये जानेपर जल अग्निके रूपमें बदल जाता है। (यह सृष्टि-कार्यका अर्थात् समष्टि विराज ब्रह्मासे पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वोंका विपरीत क्रमसे लय है।)॥ १३॥

हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते।
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते॥ १४॥

तदनन्तर जब अन्धकार अग्निका रूप हरण कर लेता है, तब वह अग्नि वायुमें लीन हो जाती है और आकाशके द्वारा वायुके स्पर्श गुणका हरण कर लिये जानेपर वह वायु आकाशमें लीन हो जाती है। तत्पश्चात् कालरूपी ईश्वर आकाशके शब्द गुणका हरण कर लेते हैं। तब आकाश तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूत भी तामस अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं॥ १४॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि॥ १५॥

हे राजन्! तदनन्तर इन्द्रियाँ एवं बुद्धि अपने कारणरूपी राजस अहङ्कारमें लीन होते हैं। मन वैकारिक देवताओंके साथ सात्त्विक अहङ्कारमें लीन होता है। इस प्रकारसे त्रिविध गुणोंके साथ एवं अपने विग्रहके साथ अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन होता है। अनन्तर यह महत्तत्व प्रकृतिमें लीन होता है। (प्रकृति भगवान्‌की बहिरङ्गा मायाशक्ति है।)॥ १५॥

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १६॥

हे राजन्! जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयकारिणी त्रिवर्णा (लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्णा) अर्थात् सत्त्व, रज एवं तमोगुणयुक्त मायाका स्वरूप हमने वर्णन किया। लोहित (लाल) वर्णसे प्रपञ्चकी सृष्टि है, शुक्ल वर्णसे अवस्थिति (पालन) है तथा कृष्ण वर्णसे विलुप्ति (संहार) है। इसके पश्चात् अब आप और क्या सुनना चाहते हैं, बतलाइए॥ १६॥

श्रीराजोवाच—

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्षे इदमुच्यताम्॥ १७॥

(सभामें पण्डिताभिमानी कर्मियोंकी ओर कटाक्ष करते हुए) राजा निमिने जिज्ञासा करते हुए कहा—हे महर्षे! इस स्थूल-देहमें अहं-आत्म-बुद्धि-विशिष्ट (स्थूल-देहमें मैं-मेरेका भाव रखनेवाले) एवं अजितेन्द्रिय (इन्द्रियोंको वशमें नहीं करनेवाले) मनुष्य इस दुस्तरणीय मायाको अनायास ही किस प्रकारसे पार कर सकते हैं—कृपा करके यह बतलाइए॥ १७॥

श्रीप्रबुद्ध उवाच—

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ १८॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें चौथे योगेन्द्र प्रबुद्धजी कहते हैं—हे राजन्! स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि बन्धनोंमें बँधे हुए कर्मफल-बाध्य स्थूल-बुद्धि मनुष्य परस्पर एकत्र होकर सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये नाना प्रकारके कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, किन्तु उनके कर्मोंका फल सदा ही विपरीत हो जाता है—सुखके बदले वे दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर उनका दुःख अधिक बढ़ता जाता है। अतः मनुष्योंको इस विषयमें निपुणतापूर्वक विचार करना चाहिए॥ १८॥

नित्यार्त्तिदेन वित्तेन दुर्ल्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥ १९॥

अर्थके साथ कैसी प्रीति! यह निरन्तर दुःखप्रद, अति कष्टदायक तथा परिश्रमसाध्य है। मिल भी जाय, तो आत्माके लिये मृत्यु-स्वरूप ही है। इस दुःखदायी धनसे संग्रह किये हुए गृह, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु आदि सभी अनित्य एवं नाशवान् हैं—यदि इन क्षणस्थायी वस्तुओंका कोई संग्रह कर भी ले, तो उसे किञ्चित् भी सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है क्या?॥ १९॥

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम्॥ २०॥

जिस प्रकार खण्ड राज्योंके अधिपतियोंमें परस्पर स्पर्द्धा इत्यादि देखे जाते हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्मोंसे अर्जित स्वर्गादि परलोकके अधिपतियोंमें भी समान व्यक्तिके प्रति स्पर्द्धा एवं उच्चपदस्थितोंके प्रति असूया (ईर्ष्या) देखे जाते हैं। स्वर्गस्थ देवता अपने विनाशकी आशङ्कासे सदैव संशयग्रस्त एवं भयभीत रहते हैं। कर्मार्जित ऐहिक भोग्य वस्तुओंके समान पुण्यादि अनुष्ठानोंसे अर्जित पारलौकिक भोग्य वस्तुएँ भी भोगोंके द्वारा क्षीण हो जाती हैं। दोनों ही लोकोंके भोग एवं भोग्य वस्तुएँ क्षणस्थायी एवं ध्वंसशील हैं। ध्वंसके बाद शोक होना भी अवश्यसम्भावी है॥ २०॥

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ २१॥

इसलिये जीवोंके परम मङ्गल अर्थात् जो लौकिक और पारलौकिक कर्मोंके द्वारा प्राप्त भोगोंकी भाँति अनित्य नहीं है, ऐसे शाश्वत कल्याणको जाननेके इच्छुक व्यक्तिको शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म विषयमें निष्णात गुरुके शरणागत होना चाहिए। गुरुको उपाश्रयम् होना चाहिए अर्थात् उनका चित्त शान्त (क्रोध, लोभादिके अवशीभूत) तथा प्रपञ्चके विषयोंमें अनासक्त होना चाहिए॥ २१॥

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥ २२॥

ऐसे श्रीगुरुदेवको अपना परम हितकारी बान्धव और परमाराध्य हरिका स्वरूप जानकर उनका निरन्तर निष्कपट भावसे अनुगमन करना चाहिए तथा जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपनेको भी दे देनेवाले श्रीहरि सन्तुष्ट हो जाते हैं, उससे उस भागवत धर्मकी अर्थात् भगवान्को प्राप्त करानेवाले भक्तिके साधनोंकी शिक्षा उनसे (गुरुदेवसे) ग्रहण करनी चाहिए॥ २२॥

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ २३॥

सर्वप्रथम देह, गेह, पुत्र आदि समस्त विषयोंमें चित्तकी अनासक्ति, तत्त्वविद् और अपने प्रति प्रीतियुक्त साधुओंका सङ्ग, अपनेसे छोटे प्राणियोंके प्रति यथार्थतः दया, तुल्य व्यक्तियोंके प्रति मित्रता और अपनेसे उत्तम पुरुषोंके प्रति विनयकी (दैन्य-विज्ञप्तिकी) निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहणकर उसका अभ्यास करना चाहिए॥ २३॥

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥ २४॥

इसके बाद मिट्टी, जल आदिसे बाह्य-शरीरकी पवित्रता, तपः अर्थात् काम, क्रोध, दम्भ, छल, कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, क्षमा, मौन, स्वाध्याय (भक्ति-विधायक श्रीगोपालतापनी आदि उपनिषद्, वेद एवं भागवत-पाठ), सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखना चाहिए॥ २४॥

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥ २५॥

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें सच्चित्-स्वरूपसे (चेतनरूपसे) आत्मवस्तुका और नियन्तारूपसे ईश्वर-वस्तुका अनुसन्धान (निज इष्टदेवके दर्शनका अभ्यास), एकान्त सेवन (निर्जनमें विचरण), गृहादिविषयक अभिमानशून्यता अर्थात् 'यह घर मेरा है'—ऐसे भावसे रहित होना, निर्जन स्थानमें पतित शुद्ध वस्त्रखण्ड या विशुद्ध बल्कल (वृक्षोंके छाल) आदिको पहनना, बिना परिश्रमके लब्ध वस्तुमात्रसे सन्तुष्ट रहना सीखना चाहिए॥ २५॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥ २६॥

भगवद्विषयक शास्त्रोंमें श्रद्धा, दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, मन, वचन और कर्मका संयम करना, सत्य (यथार्थ

भाषण) तथा शम (भगवान्में निष्ठा बुद्धि), दमका (अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंके दमनका) अभ्यास करना भी सीखना चाहिये॥ २६॥

श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥ २७॥

हे राजन्! अद्भुत-चरित भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म (अवतार), नाम, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्त्तन तथा ध्यान करें और भगवान्के प्रति प्रीतिकी कामनासे अपने समस्त कर्मोंका (दन्त-धावनादि आह्निक कृत्योंका) अभ्यास करें॥ २७॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥ २८॥

यज्ञ आदि इष्टकर्म, दान, तप, जप, सदाचार और अपने प्रिय गन्ध, पुष्प आदि द्रव्य, स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण आदि समस्त विषयोंको भगवान्के उद्देश्यसे समर्पण करना सीखे। (हरिकथामें सर्वतोभावसे नियुक्त होकर श्रवण-कीर्त्तनमें सम्पूर्ण चेष्टा संस्थापित हो जानेपर जीवकी इतर-वस्तुओंमें चेष्टा रह नहीं सकती—यही भागवत धर्म है।)॥ २८॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यांञ्चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥ २९॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके आश्रित मनुष्योंके प्रति सौहार्द (प्रीति), स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा, विशेषकर मनुष्योंके प्रति—उनमें भी स्वधर्मशील व्यक्तियों और उनमें भी महाभागवतोंकी सेवा-शुश्रूषा करना सीखे (समग्र जगत्को भगवत्-सेवोपकरण माने एवं सभीके प्रति पूज्य-बुद्धि रखे, विशेष रूपसे हरिसेवोन्मुख जनोंकी परिचर्या करे।)॥ २९॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥ ३०॥

उक्त भगवद्भक्तोंके साथ मिलकर परमाराध्य श्रीकृष्णके पवित्र यशके सम्बन्धमें परस्पर अनुक्षण कीर्त्तन, परस्पर आत्माका अनुराग, (भक्तोंके साथ प्रणय-वर्द्धन) समस्त विषयोंमें परस्पर सन्तुष्ट रहना एवं विषय-भोगादि निखिल दुःखोंकी निवृत्तिके लिये परस्पर शिक्षा ग्रहण करे॥ ३०॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ ३१॥

इस प्रकार भागवत (भगवत्-प्रेमी) पुरुष साधन-भक्तिसे उत्पन्न प्रेमा-भक्तिके प्रभावसे आन्दोत्फुल्ल होकर समस्त प्रकारके अमङ्गलोंका ध्वंस करनेवाले श्रीहरिका स्मरण करे और सङ्कीर्त्तन द्वारा दूसरोंको भी स्मरण करावे। (ऐसे भक्तोंके चित्तमें विषयकी मलिनता किञ्चित् मात्र भी नहीं रहती और वे साध्य-सेवामें नियुक्त रहकर सर्वदा प्रेमोद्रेकसे पुलकित शरीर धारण करते हैं।)॥ ३१॥

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ३२॥

अनन्तर अनित्य देहमें 'मैं-मेरा रूप आत्मबुद्धि'की निवृत्ति होनेपर उनकी साधारण संसारी लोगोंसे कुछ विलक्षण चेष्टाएँ होती हैं। वे इस अवस्थामें निरन्तर भगवत् चिन्तनमें निमग्न होकर कि अब तक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन उनकी प्राप्ति करावे—इस प्रकार सोचते-सोचते कभी-कभी रोने लगते हैं। कभी-कभी यह देखकर कि परम ऐश्वर्यशाली भगवान् गोपवधूके घरमें चोरीके लिये अन्धकारमयी रात्रिमें किसी गोपके प्राङ्गणमें वृक्षके तले छिपकर खड़े हैं और किसी गुरुजनके पूछनेपर कि 'अरे! तुम कौन हो?'—यह सुनकर पलायन करने लगते हैं, कृष्णकी ऐसी लीलाओंकी स्फूर्त्ति होनेपर खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी अपने आराध्य देवका

दर्शनकर आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ वार्त्तालाप करने लगते हैं। कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाते हैं। कभी गीत गाकर उन्हें प्रसन्न करते हैं और कभी श्रीहरिकी मधुर लीलाओंका अभिनय करने लगते हैं। इस प्रकार वे श्रीहरिका साक्षात्कार प्राप्तकर शान्त एवं मौन भाव धारण करके रहते हैं। (इस प्रकार कृष्णानुशीलनमें अति व्यस्त रहकर बाह्य जगत्‌की चेष्टाओंसे पृथक् होकर गम्भीर भावसे प्रेमसुख-सेवा प्राप्त करते हैं।)॥ ३२॥

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥ ३३॥

हे राजन्! भागवत-धर्मकी शिक्षाके अभ्यास करनेवालेको उस शिक्षाके प्रभावसे प्रेमा-भक्तिकी प्राप्ति होती है। वह प्रेमी श्रीकृष्ण-परायण होकर दुस्तरणीया मायाको अनायास ही पार कर जाता है। (मायाको पार करना प्रेमा-भक्तिका आनुषङ्गिक फल है।)॥ ३३॥

श्रीराजोवाच—

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः॥ ३४॥

यह सुनकर महाराज निमिने कहा—हे मुनियो! आपलोग ब्रह्मज्ञ अर्थात् भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये आपलोग नारायण शब्दसे प्रतिपाद्य वस्तुका एवं ब्रह्म तथा परमात्म वस्तुका स्वरूप हमारे निकट वर्णन करनेमें समर्थ हैं। अतः कृपया आपलोग इस तत्त्वका निरूपण कीजिए। (ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीनों शब्दोंकी अभिधेय जो विष्णु-वस्तु है, निष्ठाके अभावमें उसे समझा नहीं जा सकता।)॥ ३४॥

श्रीपिप्पलायन उवाच—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥ ३५॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें पाँचवे योगेन्द्र पिप्पलायनजीने कहा—हे राजन्! जो इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूलकारण हैं, वे ही नारायण संज्ञक परमतत्त्व भगवान्के रूपमें ज्ञातव्य हैं। जो स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्तिकी दशामें तथा समाधि आदि अवस्थाओंमें सर्वत्र साक्षीरूपमें (सद्रूपमें) वर्त्तमान रहते हैं, वे ही ब्रह्मस्वरूप परमतत्त्व हैं। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदय जिनके प्रभावसे सञ्जीवित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं—उन्हींको परमात्मा नामक परमतत्त्व समझो॥ ३५॥

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥ ३६॥

जिस प्रकारसे चिनगारियाँ आदि अग्निके निज अंश (मूल) अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं अथवा उसे जला नहीं सकतीं, उसी प्रकार मन, वचन, नेत्र, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ भी पूर्वोक्त परमतत्त्वको (भगवत्तत्त्वको) प्रकाशित नहीं कर सकते। उक्त आत्म-वस्तुके (भगवत्तत्त्वके) प्रमाणस्वरूप शब्द अर्थात् वेदका बोधकत्व धर्म (वाणीसे प्रकाशित करनेवाला धर्म) वहाँ निषिद्ध होनेके कारण (वेदोंकी प्रामाणिक भाषा भी भगवान्का वर्णन नहीं कर सकती) वे वेद भी साक्षात्रूपसे उन्हें प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं, परन्तु स्थूलत्व और अणुत्व आदि सम्पूर्ण धर्मोंके निषेधकी सीमाभूत ब्रह्मवस्तुकी सिद्धि नहीं होनेसे उन सबका

निषेध भी सम्भव नहीं होता [अभिप्राय यह है कि परब्रह्मके अस्तित्वके बिना वेदोंसे प्राप्त विधि-निषेधोंका कोई तात्पर्य नहीं होता। वेदोंमें कहा गया है कि 'यन्मनो न मनुते' 'मन चिन्तनके द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता' और यह भी कहा गया है कि 'दृश्यते त्वग्रय्या बुद्ध्या' 'अति सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उनको देखा जा सकता' है। इसलिये शब्द अर्थात् वेद अर्वाधीन हैं अतः गौणरूपमें ही उनका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होते हैं। (अचिन्त्यविग्रह भगवान् अपनी करुणाके द्वारा भक्तोंके नयनोंमें प्रकट होते हैं।)]॥ ३६॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥ ३७॥

वह ब्रह्मवस्तु पहले अद्वितीयरूपमें (एक ही रूपमें) अवस्थित रहकर बादमें बहिरङ्गारूपमें (मायारूपमें) सत्त्व, रजः और तमः—इस त्रिगुणात्मक अवस्थामें प्रधानके नामसे, क्रियाशक्तियुक्त (कार्य करनेकी शक्तिसे युक्त) अवस्थामें सूत्र नामसे, ज्ञानशक्तियुक्त अवस्थामें महत्तत्त्वके नामसे एवं जीवकी उपाधिभूत अवस्थामें अहङ्कार नामसे जानी जाती है। तदनन्तर अचिन्त्य अनन्त शक्तिविशिष्ट उक्त ब्रह्मवस्तु ही पहले कहे गये देवता, इन्द्रिय, विषय, तत्प्रकाश अथवा उस विषयोंके अनुभवजनित कर्मफलरूप सुख, दुःख आदिरूपमें और परम कारण होनेके कारण स्थूल, सूक्ष्म सभी वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित होती है। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कृष्णके आलोकसे ही समस्त विश्व आलोकित होता है।) अतः ब्रह्म सभी स्थूल एवं सूक्ष्म अभिव्यक्तियोंके स्रोत हैं, अतः परम हानेके कारण उन सबसे परे भी हैं॥ ३७॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥ ३८॥

नित्य शुद्ध आत्माका जन्म, वृद्धि, ह्रास या विनाश नहीं है। वह (आत्मा) प्राणकी भाँति अव्यभिचारीरूपसे (अपरिवर्तनशीलरूपसे) व्यभिचारी अर्थात् बाल्य, यौवन आदि आगमपायी-धर्म-विशिष्ट (जीवन-मरणसे युक्त) दशाओंसे ग्रस्त शरीरोंमें तत्-तत् कालमें (सर्व कालोंमें) साक्षीरूपसे (ज्ञातारूपसे) अनुवर्त्तमान (विद्यमान) रहता है। वह सत्य और ज्ञानात्मक वस्तु (आत्मा) इन्द्रियोंके आधारपर नाना प्रकारसे कल्पित होकर सदा-सर्वदा सभी देहोंमें भौतिक शरीरोंके सम्पर्कसे विविध भौतिक उपाधियाँ धारण करते हुए इस प्रकार अवस्थित रहता है, जैसे विद्युत शक्ति एक है किन्तु भौतिक दशाओंके अनुसार विविध-रूपोंमें प्रकट होती है। आत्मा जड़का भोक्ता नहीं है॥ ३८॥

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥ ३९॥

जगत्‌में चार प्रकारके जीव होते हैं—अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि), जरायुज (नालसे बँधे होकर उत्पन्न होनेवाले पशु, मनुष्यादि), उद्भिज्ज (धरतीसे उत्पन्न वृक्ष-वनस्पति), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न खटमल आदि)। इन समस्त शरीरोंमें प्राण जिस प्रकार अविकृतरूपसे (अपरिवर्तितरूपसे) जीवात्माका अनुगमन करता है (आत्माका अनुगमन करते हुए एक शरीरसे दूसरे शरीरमें चला जाता है), उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें (बिना स्वप्न देखे प्रगाढ़ निद्रामें) भौतिक इन्द्रियों एवं अहङ्कारके लीन (निश्चेष्ट अथवा निष्क्रिय) होनेपर विकारके (परिवर्तनके) हेतुभूत लिङ्ग-शरीररूप उपाधिके अभावमें आत्मा भी निर्विकाररूपसे (अपरिवर्तितरूपसे) अवस्थान करता है। इस समय उसका लय नहीं होता है; क्योंकि

सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत दशामें 'मैं सुखपूर्वक सोया'—यह स्मृति सुषुप्तिकालमें भी साक्षीरूपसे वर्तमान आत्म-वस्तुका परिचय प्रदान करती है अर्थात् उस समय भी उस आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है॥ ३९॥

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ ४०॥

श्रीहरिके पादपद्मकी सेवाकी अभिलाषा होनेपर जीव जिस समय सब प्रकारसे चेष्टारत होता है, उस समय परम प्रेमाभक्तिके कारण उसके अन्तःकरणसे प्राकृत गुण-कर्मजनित मालिन्य सम्पूर्णरूपसे क्षालित (निर्मल) हो जाता है। सम्यक्-दृष्टि-विशिष्ट साधारण मनुष्यके नेत्रद्वय जैसे सूर्यके प्रकाशित होनेपर उसकी साक्षात् उपलब्धि करनेमें समर्थ होते हैं, वैसे ही वह जीव विशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है। अनन्तर उसे भगवान्का दर्शन एवं सान्निध्य प्राप्त होता है। (इस प्रसङ्गमें श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट 'चेतोदर्पणमार्जनम्' श्लोक द्रष्टव्य है।)॥ ४०॥

श्रीराजोवाच—

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्॥ ४१॥

महाराज निमिने कहा—हे योगेश्वरो! मनुष्य जिस कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा इस जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष-प्रतिबन्धक (मोक्षमें रुकावट डालनेवाले) कर्मोंको निरस्त कर देता है तथा सुकृतियुक्त होकर मोक्षके उपयोगी नैष्कर्म्यजनित (कर्म-निवृत्ति साध्य) परम ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, आप मेरे लिये उस कर्मयोगका वर्णन कीजिए॥ ४१॥

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम्॥ ४२॥

पूर्वकालमें मैंने अपने पिता महाराज इक्ष्वाकुके निकट अवस्थित (बैठे हुए) ब्रह्माजीके मानस-पुत्र सनक आदि ऋषियोंसे इसी विषयमें प्रश्न किया था, परन्तु सनक आदि ऋषियोंने सर्वज्ञ होकर भी न जाने क्यों उसका उत्तर प्रदान नहीं किया। उसका कारण क्या है? आप कृपया बतलाइए॥ ४२॥

श्रीआविर्होत्र उवाच—

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ ४३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें छठे योगेश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन्! कर्म (शास्त्रविहित आचरण), अकर्म (शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण न करना) एवं विकर्म (शास्त्रनिषिद्ध आचरण करना)—इन तीनोंका स्वरूप एकमात्र वेदशास्त्रके द्वारा ही विदित है। ईश्वरसे प्रकाशित होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं; साधारण मनुष्योंके द्वारा ज्ञातव्य नहीं हैं। वेद-वर्णित वचनोंका पूर्वापर द्वारा तात्पर्य ज्ञान (विरोधी प्रतीत होनेवाली श्रुतियोंका सामञ्जस्य) दुष्कर है। भगवान्‌ने कहा है—शब्दब्रह्म वेद एवं परब्रह्म मैं—ये दोनों मेरे नित्य तनु हैं। अतः वेद-निरूपित कर्मोंके अभिप्रायका निर्णय करनेमें बड़े-बड़े पण्डित भी मोहित हो जाते हैं। (वेद साक्षात् नारायण हैं—स्वयं उत्पत्तिविशिष्ट हैं अर्थात् परम महतत्त्व कारणार्णवशायी विष्णुके निःश्वाससे प्रकटित हैं) तुम उस समय बालक थे—इसलिये सनक आदि मुनियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया॥ ४३॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ ४४॥

वेदका स्वभाव परोक्षवादात्मक है अर्थात् एक प्रकारकी स्थितवस्तुके यथार्थ तत्त्वको गोपन रखनेके लिये उसका अन्य

प्रकारसे वर्णन करना है। पिता जिस प्रकार लड्डू आदि मिठाइयोंका प्रलोभन दिखलाकर अपनी सन्तानको आरोग्य-फलप्रद ओषधिका सेवन कराता है, उसी प्रकार वेद भी अनभिज्ञ मनुष्योंकी प्रवृत्तिके लिये स्वर्गादि सुखोंके प्रलोभन-छलसे कर्मसे निवृत्तिके लिये ही विहित कर्मोंका प्रतिपादन करता है। (तात्पर्य यह है कि वैदिक आदेश पहले तो रजोगुणमय सकाम कर्मोंका विधान करते हैं, अनन्तर परोक्ष रीतिसे परम मोक्षके मार्गपर ले जाते हैं।)॥ ४४॥

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥ ४५॥

जो अजितेन्द्रिय अज्ञानी पुरुष वेद-विहित कर्मोंका (प्रातःस्नान, सन्ध्या-वन्दनादिका) आचरण नहीं करता, वह कर्मके अननुष्ठान-जनित अधर्मके कारण मृत्युके बाद पुनः मृत्युके मुखमें ही पतित होता है। (भगवान्का कथन है कि मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। अतः विहित कर्मोंका आचरण न करने पर वह विवेक-रहित वेद-निषिद्ध कर्म करेगा, फलतः नरक यन्त्रणाओंको प्राप्त होगा।)॥ ४५॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥ ४६॥

इसलिये जो फलकी अभिलाषा छोड़कर निःसङ्गभावसे (अनासक्त भावसे) उन कर्मफलोंको भगवान्को समर्पणकर वेदोक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते हैं, वे नैष्कर्म्य सिद्धि अर्थात् कैवल्य (केवला भक्ति) प्राप्त करते हैं। स्वर्ग आदि दूसरे-दूसरे जिन फलोंके विषयमें श्रुतियोंमें उल्लेख है, उन्हें केवलमात्र कर्ममें रुचि-उत्पन्न करनेके लिये ही समझना होगा, फलकी सत्यतामें नहीं (कर्मकाण्डके मूलमें आत्मसुखवाञ्छा है, किन्तु कृष्णके लिये जो अखिल वैदिक क्रियानुष्ठान है, वह फलकी आकाङ्क्षासे रहित निःसङ्गत्वका ज्ञापक और भगवत्-सेवनका अमिश्र अङ्ग-विशेष है।)॥ ४६॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥ ४७॥

हे राजन्! जो शीघ्र-से-शीघ्र अपनी हृदयग्रन्थि—मैं और मेरेकी (मिथ्या अहङ्कारकी) गाँठको खोलनेके इच्छुक हैं, वे तन्त्रों और वेदोंमें वर्णन किये गये विधानके अनुसार भगवान् श्रीकेशवकी पूजा करें (वेदशास्त्र 'निगम' शब्दसे कहे जाते हैं तथा निगमके सुष्ठु विस्तारको ही 'आगम', 'तन्त्र' कहा जाता है।)॥ ४७॥

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥ ४८॥

सर्वप्रथम निष्कपट सेवा आदिके द्वारा आचार्यको प्रसन्नकर उनके निकट उनकी कृपा-स्वरूप दीक्षा—उपनयन एवं मन्त्र आदि प्राप्त करे तथा अर्चन प्रणाली जानकर अपनी अभीष्ट मूर्त्तिमें (भगवान्के अत्यन्त आकर्षक किसी साकाररूपमें) श्रीभगवान् हरिकी आराधना करे॥ ४८॥

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य सन्न्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम्॥ ४९॥

स्नान आदिके द्वारा पवित्र होकर तिलक लगाकर अपने इष्ट भगवत्-मूर्त्तिके सामने आसीन हो, तदनन्तर प्राणायाम आदिसे देह-शुद्धि (भूत-शुद्धि), अङ्ग-न्यास और कर-न्यास आदिके द्वारा रक्षा-बन्धन (भगवान् द्वारा सुरक्षाका आवाहन) आदिका अनुष्ठान करके श्रीहरिका अर्चन करे॥ ४९॥

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्॥ ५०॥

पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥ ५१॥

अनन्तर यथायथ विधानके अनुसार पुष्पादि द्रव्योंसे कीट-शोधन करके, भूमिका मार्जन करके, अव्यग्ररूपसे (शान्तभावसे) आत्म-शोधन

करके, श्रीमूर्त्तिसे चन्दन पोंछ करके एवं जलादि द्वारा प्रक्षालन करके अर्चाविग्रहको पूजनके लिये तैयार करे। अब पाद्यादि सम्पादन करे। तदनन्तर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर एकाग्रतापूर्वक अर्चादिमें (श्रीमूर्त्तिमें) अथवा हृदयमें भगवान्‌की निकटताकी कल्पना करते हुए हृदयादि मन्त्र एवं मूलमन्त्रसे न्यास क्रियाका सम्पादन करे। अन्तमें यथालब्ध देश, काल आदिके अनुकूल पूजा-सामग्रीसे प्रतिमा आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्‌का अर्चन करे (कृष्ण-मन्त्रसे संसारका मोचन होता है एवं कृष्ण नामसे कृष्णके चरणोंकी प्राप्ति होती है।) ॥ ५०-५१ ॥

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदो तां तां मूर्त्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥

अपनी-अपनी उपास्या श्रीमूर्त्तिके हृदयादि अङ्ग, सुदर्शनचक्र, शङ्ख आदि उपाङ्ग और उनके पार्षदोंकी निज-निज मन्त्रानुसार पाद्य (चरण धोनेके जल), अर्घ्य (सत्कारके लिये सुगन्धित जल), आचमनीय (मुख-प्रक्षालनके लिये जल), स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, माल्य, अक्षत, रत्नादि माला, धूप, दीप इत्यादि उपहारोंके द्वारा यथोचित पूजा सम्पन्न करे एवं यथाविधि स्तुति-वचनोंसे आदरपूर्वक स्तव करते हुए श्रीहरिको प्रणाम करे ॥ ५२-५३ ॥

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्त्तिं सम्पूजयेद्धरेः।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥ ५४ ॥

अर्चक स्वयंको भगवन्मय (भगवान्‌के नित्य दासके) रूपमें चिन्तन करते हुए भगवान्‌के अर्चा-विग्रहकी पूजा करे। (उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अर्चा-विग्रह उसके हृदयमें भी अवस्थित है।) तदनन्तर निर्माल्यको अपने मस्तकपर धारण करे

और आदरपूर्वक अपने उपास्य देवता अर्थात् भगवत्-विग्रहको यथास्थान स्थापितकर पूजा सम्पन्न करे॥ ५४॥

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे जायन्तेयोपाख्याने विदेहप्रश्नस्तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

जो मनुष्य अग्नि, सूर्य, जल आदि भूतोंमें अतिथि या अपने हृदयमें संसार-बन्धन-विनाशन श्रीहरिका अर्चन करते हैं, वे अति शीघ्र मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तीसरे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

भगवान् श्रीहरिके भूत, वर्तमान और भविष्यके अवतारों एवं उन अवतारोंके गुणोंका विवेचन

श्रीराजोवाच—

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करोति कर्त्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः॥ १॥

राजा निमिने कहा—हे योगेन्द्रो! सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीहरि भक्तिके वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक अनेक अवतार ग्रहण करते हैं और इस लोकमें विविध लीलाएँ करते हैं। अब कृपा करके श्रीहरिकी उन मधुर लीलाओंका वर्णन कीजिए, जो वे कर चुके हैं, कर रहे हैं और भविष्यमें करेंगे॥ १॥

श्रीद्रुमिल उवाच—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ २॥

अब नौ योगेन्द्रोंमें-से सातवें योगेन्द्र द्रुमिलजीने कहा—हे राजन्! भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण, अवतार एवं लीलाएँ भी संख्यातीत हैं। जो लोग जगदीश्वर श्रीहरिके गुणोंकी गणना करना चाहते हैं, वे अतिशय अज्ञ (बाल-बुद्धि) हैं। हो सकता है कोई किसी प्रकार सुदीर्घ कालमें पृथ्वीके कणोंकी (परमाणुओंकी) गणना कर ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आधार श्रीहरिके अनन्तकोटि गुणोंको गिननेमें वह कोई किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता॥ २॥

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः॥ ३॥

आदिपुरुष भगवान् नारायण जिस समय अपनी मायाके द्वारा रचित पञ्चभूतोंके द्वारा विराट् ब्रह्माण्डरूप शरीरका (दृश्यजगत्का) निर्माण करके उसमें स्वांशसे अन्तर्यामीरूपमें (साक्षीरूपमें) प्रवेश करते हैं, तब वे पुरुष नाम धारण करते हैं। यही पुरुषावतार उनका पहला अवतार है। (पुरुषोत्तमकी पुरी वैकुण्ठधाम है, उसीसे विक्षिप्त बद्ध जीवोंकी पुरी—देवीधाम ब्रह्माण्ड है।)॥ ३॥

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता॥ ४॥

उन्हीं महाविष्णुके इस ब्रह्माण्ड-शरीरमें ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः—असंख्य लोक स्थित हैं। उन्हींकी इन्द्रियोंसे समष्टि एवं व्यष्टि समस्त देह-धारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ कार्योंका सम्पादन करती हैं। उनके अन्तर्यामी स्वरूपसे ही देहधारियोंके स्वतःसिद्ध ज्ञानका सञ्चार होता है एवं उनके ही श्वास-प्रश्वाससे (प्राणसे) समस्त प्राणियोंमें बलका (देहशक्तिका) सञ्चार होता है तथा इन्द्रियोंमें ओज (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। उन्हींके सत्त्व आदि गुण-त्रयसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्त्ता नारायण हैं (गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुषावतार इस श्लोकके आलोच्य विषय हैं। विष्णुके त्रिविध पुरुषावतारोंमें अन्तर्यामीरूपमें सर्वव्यापक भूमाके वर्णनमें पुरुषसूक्तोदिष्ट परमात्मा विचारको ही भगवदंशरूपमें प्रकाश किया गया है।)॥ ४॥

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥ ५॥

वे ही आदिपुरुष इस जगत्के सृष्टि-कार्यके नियामकरूपमें सर्वप्रथम रजोगुणके द्वारा ब्रह्मा, तत्पश्चात् जगत्की स्थिति कार्यमें सत्त्वगुणके द्वारा ब्राह्मण एवं धर्मके पालक यज्ञपति विष्णुमूर्त्ति तथा संहारकार्यमें तमोगुणके द्वारा रुद्रमूर्त्ति धारण करते हैं। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजाकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते रहते हैं। (गुणजात विश्व एवं बद्धजीवोंके सम्बन्ध-निरूपणके लिये ही इस स्थलपर भगवान्के गुणावतारोंका वर्णन है।)॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥ ६॥

दक्ष प्रजापतिकी तेरहवीं कन्याका नाम मूर्त्ति था। वह धर्मकी पत्नी थी। उसके गर्भसे भगवान्ने ऋषियोंमें श्रेष्ठ, परमशान्त नर-नारायणके रूपमें अवतार लिया। इस अवतारमें उन्होंने आत्म-साक्षात्कारके उपायभूत कर्मोंका आचरण (नैष्कर्म्य अर्थात् भगवत्-सेवा) एवं प्रचार किया था। वे उत्तम ऋषि-मुनियोंके द्वारा पूजित होकर आज भी पृथ्वीमें (बदरिकाश्रममें) विराजमान हैं॥ ६॥

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७॥

उन्हें इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए देखकर (अदूरदर्शी) इन्द्रने ऐसी आशङ्का की कि ये मेरा इन्द्रपद एवं स्वर्ग छीन लेना

चाहते हैं। इसलिये उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये उन्होंने परिजनोंके साथ कामदेवको नियुक्त किया। तब कामदेव अप्सराओं, वसन्त ऋतु और मलय पवनके साथ बदरिकाश्रममें उपस्थित हुए और उनकी महिमा न जाननके कारण कामिनियोंके कटाक्षरूप बाणसे उन्हें विद्ध करवाने लगे। (बदरी वृक्षोंसे विभूषित होनेके कारण इस स्थानका नाम बदरिकाश्रम है। यहाँ ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिमी तटपर ऋषियोंके यज्ञानुष्ठान सम्पन्न होते हैं)॥ ७॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
मा भैर्विभो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्॥ ८॥

आदिदेव नर-नारायण ऋषि इन्द्रकृत अपराधको जान गये। वे कन्दर्प और अप्सराओंको शापके भयसे काँपते हुए देखकर बिना किसी अहङ्कारसे हँसते हुए कहने लगे—हे प्रबल पराक्रमशाली! कामदेव! हे पवनदेव! हे देववधुओ! अप्सराओ! तुमलोग भयभीत न हो, इस समय तुम सब मेरा आतिथ्य ग्रहण करो और इसी स्थानपर सदैव निवास करो॥ ८॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९॥

हे राजन्! जब नर-नारायण ऋषिने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा, तब कामदेव आदि देवताओंके सिर लज्जासे झुक गये। उन्होंने परम कारुणिक नर-नारायण ऋषिकी कृपा पानेके लिये कातर स्वरमें उनसे कहा—हे विभो! बड़े-बड़े आत्माराम मुनिगण और धीर (शान्त) पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणत रहते हैं। आप मायासे परे और निर्विकार परम पुरुष-स्वरूप हैं। आपके लिये ऐसा करना आश्चर्यजनक नहीं है॥ ९॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्धनि॥ १०॥

जो लोग आपकी आराधनाकर देवताओंके पद स्वर्गादि लोकोंका भी उल्लंघनकर आपके परम पादपद्मकी प्राप्तिका प्रयास करते हैं, देवतागण उनकी उपासनामें नाना प्रकारके विघ्न-बाधा उत्पन्न किया करते हैं और जो लोग यज्ञमें देवताओंके लिये बलि (पूजोपहार) प्रदान करते हैं, उनके अनुष्ठानमें वे देवता किसी भी प्रकारका विघ्न उत्पन्न नहीं करते। आपके सेवक, आपके भक्त आपके द्वारा ही रक्षित हैं, इसलिये वे ऐसी विघ्न-बाधाओंके मस्तकपर पदार्पण करते हुए उन्हें अतिक्रमण करके सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। (आपके भक्तगण स्वर्गको अतिक्रमण करके आपके धाममें चलकर जाते हैं, अतएव मात्सर्यके कारण देवता विध्न उपस्थित करते हैं।)॥ १०॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वशैश्ना-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ ११॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपार समुद्रके समान देवताओं द्वारा प्रदत्त दुर्लंघ्य क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्णता, वर्षारूप-कालधर्म, आँधी, वर्षाके कष्टोंको तथा रसनेन्द्रिय, जननेन्द्रियके वेगोंको सह लेते हैं अर्थात् पार तो कर जाते हैं, किन्तु निष्फल क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं। इसलिये उनका वैसा पतन गायके खुरसे बने गड्ढेमें गिरकर डूब मरनेके समान है। उन्हें दुष्कर तपस्या द्वारा भोग या मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं होता, बल्कि शाप आदिके कारण वे विनष्ट हो जाते हैं। (क्रोधवश अभिशापादि देनेपर तपस्याका फल

नष्ट कर बैठते हैं।) अन्तमें क्लान्त होकर अपनी चेष्टाओंका भी परित्याग कर देते हैं॥ ११॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः॥ १२॥

जब कामदेव, अप्सराओं और वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार नर-नारायणकी स्तुति की, तब सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने अपने योगबलसे उनके सामने अपनी सेवा-शुश्रूषामें नियुक्त बहुत-सी रमणियोंको दिखलाया, जो अद्भुत एवं दिव्यरूप लावण्यसे सम्पन्न एवं सुरम्य अलङ्कारोंसे सुसज्जित थीं॥ १२॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः॥ १३॥

जब देवराजके अनुचरोंने साक्षात् लक्ष्मीके समान पूर्वोक्त स्त्रियोंको देखा, तब उनके अद्भुत रूप-सौन्दयके प्रभावसे वे निष्प्रभ हो गये तथा उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्यगन्धसे मोहित हो गये॥ १३॥

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम्॥ १४॥

देवदेवाधिपति नारायणने कन्दर्प आदि इन्द्रदेवके अनुचरोंको इस प्रकार मोहित और प्रणत देखकर प्रायः हँसते हुए कहा—तुमलोग इन रमणियोंमें-से तुम्हारे अनुरूप किसी एक रमणीको ग्रहण करो, वह तुम्हारे स्वर्गलोकके लिये भूषण-स्वरूप होगी॥ १४॥

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः॥ १५॥

तब देवेन्द्रके अनुचरोंने उनके आदेशको स्वीकार करते हुए उन्हें प्रणामकर उन परम सुन्दरी रमणियोंमें-से एक रमणीका वरण किया। उस श्रेष्ठ और परम रूपवती अप्सराका नाम उर्वशी था। वे उसे आगे कर स्वर्ग चले गये॥ १५॥

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम्।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः॥ १६॥

जब वे अनुचर स्वर्गमें पहुँचे, उस समय सभामें इन्द्र बैठे थे। उन्हें प्रणाम करके सब श्रोताओंके समक्ष उन्होंने श्रीनारायण ऋषिके प्रभावका वर्णन किया, जिसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त विस्मित और भयभीत हो गये (कि मैंने उनके प्रति अपराध कर डाला।)॥ १६॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये॥ १७॥

भगवान् अच्युत विष्णुने जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतारोंमें (अंशतः) अवतीर्ण होकर, हंस, दत्तात्रेय, सनकादि कुमार और हमारे पितृदेव ऋषभदेवके रूपमें आत्मज्ञानका उपदेश किया है। उन्होंने (विष्णुने) ही हयग्रीव मूर्त्ति धारणकर मधु और कैटभ नामक दैत्योंको विनष्टकर उनके द्वारा चुराये गये वेदोंका पातालसे उद्धार किया था (और ब्रह्माजीको प्रदान किया था।)॥ १७॥

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्त्तम्॥ १८॥

उन्होंने ही प्रलयकालमें मत्स्य अवतार लेकर पृथ्वी, सत्यव्रत मुनि एवं जौ आदि शस्यबीजोंकी रक्षा की थी। वराहावतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वीका जलसे उद्धार कर हिरण्याक्षका वध किया था। कूर्म अवतारमें अमृत मन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया था और श्रीहरिरूपमें अवतार

लेकर ग्राहके मुखसे पीड़ित और अपने शरणागत भक्त गजेन्द्रको मुक्त किया था॥ १८॥

संस्तुन्वतोऽब्धि निपतितान् श्रमणानृषींश्च
शक्रञ्च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे॥ १९॥

एक समय बालखिल्य नामक ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये समिधा (यज्ञकाष्ठ) ला रहे थे, तो थककर गायके खुरसे बने गड्ढेमें गिर गये, उस समय इन्द्र उनका उपहास कर रहे थे। तब उन्होंने अपने उद्धारके लिये श्रीहरिकी स्तुति की, उस समय उन श्रीहरिने ही उनका उस विपत्तिसे उद्धार किया था। वृत्रासुरको मारनेके कारण जब देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा और वे उसके भयसे भागकर छिप गये, तब श्रीहरिने ही उस पापसे इन्द्रकी रक्षा की थी। श्रीहरिने ही असुरोंके घरमें बन्दी अनाथ देवाङ्गनाओंको अपने घरमें लाकर उन्हें मुक्त किया था और उन्होंने ही नृसिंह अवतारमें साधुजनोंको (भक्त प्रह्लादको) अभय प्रदान करनेके लिये दैत्यराज हिरण्यकशिपुका संहार किया था॥ १९॥

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः॥ २०॥

उन्होंने ही देवासुरसंग्राममें देवताओंकी रक्षाके लिये दैत्यपतियोंका संहार किया और सभी मन्वन्तरोंमें अपने विभिन्न अवतारोंके द्वारा निखिल भुवनकी रक्षा की है। उन्होंने ही श्रीवामनदेवके रूपमें दान माँगनेके छल द्वारा दैत्यराज बलिसे इस भूमण्डलका हरण कर लिया और अदितिनन्दन इन्द्रादि देवताओंको उसे प्रदान कर दिया॥ २०॥

निःक्षत्रियामकृत गाञ्च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्त्तिः॥ २१॥

उन्होंने ही परशुराम अवतार ग्रहणकर पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियविहीन किया, वे ही हैहयवंशका संहार करनेके लिये मानो भृगुवंशमें अग्निके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने ही लोकपावनकीर्त्ति भगवान् श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण होकर समुद्रपर पुल बाँधा तथा रावण और उसकी राजधानी लङ्काको विध्वंस कर दिया। (चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं कि जिस समय नवयोगेन्द्र यह कथा कह रहे थे, उसी समय भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ था। श्लोकस्थ 'जयति' शब्द यही सूचित करता है।)॥ २१॥

भूमेर्भारावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥ २२॥

हे राजन्! अजन्मा होनेपर भी भगवान् पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण होकर देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुष्कर कर्म करेंगे। तदनन्तर बुद्धके रूपमें प्रकट होकर यज्ञके अनधिकारी असुरोंको यज्ञ करते देखकर वेद-विरुद्ध पशु-हिंसाकी निन्दा करेंगे, नाना प्रकारके तर्क-वितर्कोंके (मायावादके) प्रचार द्वारा मोहित करेंगे एवं कलियुगके अन्तमें कल्किरूपमें अवतीर्ण होकर वे ही म्लेच्छधर्ममें मग्न शूद्र राजाओंका संहार करेंगे॥ २२॥

एवम्विधानि जन्मानि कर्माणि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे निमिजायन्तेयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

हे महाबाहो विदेहराज! जगदीश्वर श्रीहरिकी कीर्त्ति अनन्त है। महात्माओंने जगत्पति भगवान्‌के ऐसे-ऐसे असंख्य अवतार एवं चरितोंका प्रचुरतासे वर्णन किया है॥२३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौथे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिरहित पुरुषोंकी गति और विभिन्न युगोंमें भगवान्‌की पूजा-विधिका विवेचन

श्रीराजोवाच—

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम्॥ १॥

महाराज निमिने कहा—हे ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ मुनियो! आपलोग सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्‌के भक्त हैं। अब यह बतलाइए कि इस लोकमें बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते, ऐसे अजितेन्द्रिय तथा कामनापरवश पुरुषोंकी क्या गति होती है?॥ १॥

श्रीचमस उवाच—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ २॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ ३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से आठवें योगेन्द्र चमसजीने कहा—राजन्! आदिपुरुष भगवान् विष्णुके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व और रजोगुण प्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रजः और तमःप्रधान वैश्य और चरणोंसे तमःगुण प्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थ आश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम भी उन्हींके साथ प्रकट हुए हैं। भगवान् विष्णु ही इन चार वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता, इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और

आश्रममें स्थित जो मनुष्य अज्ञानवशतः अपनी उत्पत्तिके साक्षात् कारणस्वरूप भगवान्‌का भजन नहीं करते अथवा जान-बूझकर (प्रापञ्चिक अहङ्कारवश) उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य-योनिसे भी च्युत हो जाते हैं, उनका अधःपतन हो जाता है॥ २-३॥

दूरे हरिकथाः केचिद् दूरे चाच्युतकीर्त्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्॥ ४॥

बहुत-सी स्त्रियाँ, शूद्रादि तथा अन्यान्य पतित जातिके लोग साधु-सङ्ग, हरिकथा-श्रवण एवं अच्युत-माहात्म्य-कीर्त्तन (हरिनाम-सङ्कीर्त्तन) से वञ्चित हो गये हैं। वे आप जैसे भगवद्-भक्तोंकी कृपाके पात्र हैं। आप भक्तिका उपदेश देकर उन्हें कृतार्थ करें। गुरु ही श्रेयःपथके उपदेष्टा होते हैं॥ ४॥

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥ ५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंके कारण श्रीहरिके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करनेके लिये उत्तम अधिकार रखते हैं, परन्तु वेदोंके यथार्थ तात्पर्यको न समझकर उनके अर्थवादसे मोहित हो जाते हैं तथा भगवदुपासना त्यागकर स्वर्ग आदि कर्म-फलोंमें आसक्त हो जाते हैं॥ ५॥

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥ ६॥

यथार्थ कर्मके विषयमें अकोविद अर्थात् अनभिज्ञ, अविनीत अर्थात् उद्दण्ड, मूर्ख फिर भी अपनेको पण्डित माननेवाले और अभिमानसे ग्रस्त मूढ़जन श्रुतियोंके मधुर तथा वैदिक अर्थवाद (स्वर्ग आदि सुख प्रतिपादक) वचनोंसे उत्सुक और मोहित होकर यज्ञ आदिमें उन-उन कर्म-फलोंको देनेवाले देवताओंकी चाटुकारी

करते हैं अर्थात् प्रशंसामूलक वचनावलियोंसे उनको प्रसन्न करनेका प्रयास करते हैं॥ ६॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥ ७॥

रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके सङ्कल्प अति घोर हिंसाविषयक (मेरा शत्रु मर जाय आदि कुटिल भावमय) होते हैं तथा उनकी कामनाओंकी सीमा नहीं रहती। वे कामुक, सर्प-तुल्य क्रोधी, दाम्भिक, घमण्डी तथा पापपूर्ण आचरणमें संलग्न रहते हैं और भगवद्भक्तोंका उपहास किया करते हैं॥ ७॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः॥ ८॥

वे मूर्ख स्त्रियोंकी सेवामें निमग्न होकर, मैथुन सुखको ही श्रेष्ठ मानकर घरमें रहते हुए परस्पर घर-गृहस्थी सम्बन्धी बातें करते हैं, अन्न आदि दानसे रहित, दक्षिणासे रहित एवं अविधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं तथा हिंसा दोषके विषयमें अनभिज्ञ होकर केवलमात्र अपनी जीविका निर्वाहकी कामनासे पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ८॥

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥ ९॥

ऐसे क्रूरचित्तवाले मनुष्य, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, विद्या, सत्कुल, दान, रूप एवं देहबलसे तथा वैदिक यज्ञ आदि कर्मजनित गर्वसे अन्धे हो जाते हैं। वे विवेक-बुद्धिसे रहित होकर जगदीश्वर श्रीहरि और उनके भक्त साधुओंका अपमान अथवा तिरस्कार करते हैं (ऐसे दुष्ट-स्वभाव लोगोंका पतन अवश्यम्भावी है।)॥ ९॥

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतञ्च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्त्तया॥ १०॥

राजन्! वे मूर्ख अखिल प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें आकाश-तुल्य अर्थात् निःसङ्गरूपसे निरन्तर अवस्थित एवं वेदों द्वारा कीर्त्तित परम प्रेमास्पद, परमाराध्य, जगदीश्वर श्रीहरिकी कथा सुनकर भी उसे समझ नहीं पाते तथा अपने-अपने मनोरथजात ग्राम्य-प्रसङ्गोंके कहने-सुननेमें ही अपना समय व्यतीत करते हैं॥ १०॥

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ ११॥

जगत्में स्त्रीसङ्ग, माँस-भक्षण एवं मद्यपानमें प्राणीमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेके कारण इन विषयोंमें शास्त्र-विधानकी कोई आवश्यकता नहीं है। इन सब प्रवृत्तियोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना असम्भव हो, तो विवाहके द्वारा स्त्रीसङ्ग, यज्ञके द्वारा माँस-भक्षण एवं सौत्रामणी नामक यज्ञके द्वारा मद्यपानका विधान (व्यवस्था) वेदमें विहित है। वस्तुतः इन समस्त विषयोंसे सर्वतोभावेन निवृत्ति कराना ही वेदका मुख्य उद्देश्य (तात्पर्य) है। (इन्द्रिय-तोषणपर क्रमशः नियन्त्रण लगाना ही वैदिक विधि है। पार्थिव-विचारसे इन्द्रिय-तर्पण, परहिंसा द्वारा निजदेह-पोषण एवं आत्मवञ्चनरूप आसव-पान हरिविमुख जनोंका ही एकमात्र कृत्य है।)॥ ११॥

धनञ्च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥ १२॥

धर्म ही धनका एकमात्र उत्कृष्ट फल है। इस धर्मसे ही विज्ञानके साथ अपरोक्ष परमतत्त्वका ज्ञान अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार होता है, उसीसे शास्त्र-ज्ञान होता है। उसके बाद ही प्रकृष्ट-प्राप्ति अर्थात् मोक्ष होता है, परन्तु जो लोग धार्मिक कृत्योंके सम्पादनमें उपयोगी (जो धन धर्ममें लगना चाहिये) उस धनको घर-गृहस्थीके कार्योंमें, आत्मेन्द्रिय-तृप्ति साधनमें (कामभोगमें) ही व्यवहार करते हैं, वे अप्रतिहतवीर्य (अनिवार्यरूपसे प्राप्त होनेवाली अतिविक्रमशाली) मृत्युकी चिन्ता नहीं करते॥ १२॥

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथापशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥ १३॥

शास्त्रोंमें सौत्रामणी यज्ञमें भी सुराके भक्षणका ही विधान आघ्राणके लिये ही है, पानके लिये नहीं। उसी प्रकारसे यज्ञमें पशुओंका आलम्भनमात्र अर्थात् स्पर्शमात्र ही विहित है, यथेष्ट हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी केवल धार्मिक परम्पराके रक्षण हेतु अर्थात् सन्तान-उत्पत्तिके लिये है, विषयोंका भोग करनेके लिये नहीं, परन्तु जो विषयी लोग नाना मनोरथोंमें उलझे हैं, वे इस विशुद्ध स्वधर्मको कैसे जान सकते हैं॥ १३॥

ये त्वनेवम्विदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४॥

विशुद्ध धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोग बड़े अभिमानी होते हैं, वास्तवमें तो वे दुष्ट हैं, परन्तु अपनेको श्रेष्ठ साधु समझते हैं। वे दुर्जन बिना किसी शङ्काके पशुओंकी हिंसा करते हैं। हे राजन्! मृत्युके बाद वे पशु ही परलोकमें उन मारनेवालोंका भक्षण करते हैं॥ १४॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥ १५॥

यह स्थूल शरीर 'मृतक' अथवा जड़देह कहा जाता है। मनुष्य इस स्थूल शरीरसे सम्बन्ध-विशिष्ट पुत्र, कलत्रादिमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है। ऐसा मानव दूसरे शरीरोंमें स्थित जीवात्माके प्रति हिंसाकी दृष्टि रखता है और परमात्मरूपी जगदीश्वर श्रीहरिके प्रति विद्वेष कर लेता है। इसीके परिणामस्वरूप वह नरकगामी होता है। आत्माका स्वरूप भगवत्-उपासना है—इसकी उसे अनुभूति नहीं होती॥ १५॥

ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥ १६॥

जो लोग इस संसारमें तत्त्वज्ञानको प्राप्त नहीं कर पाते अर्थात् सम्पूर्ण रूपेण तत्त्वज्ञ नहीं हैं एवं जो अत्यन्त जड़ताके भावको पार कर चुके हैं अर्थात् जो पूरे-पूरे मूढ़ (अज्ञ) भी नहीं हैं। ऐसे मध्यवर्त्ती (जो अज्ञ भी नहीं हैं, तत्त्वज्ञ भी नहीं) धर्म, अर्थ, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें आसक्त रहते हैं, उन्हें एक क्षणके लिये भी शान्ति नहीं मिलती। वे आत्मस्वरूपसे वञ्चित होकर अपनी आत्माको विनष्ट करते हुए अपनेको नरकादि लोकोंकी प्राप्तिके योग्य बना लेते हैं। वस्तुततः ये ही लोग आत्मघाती हैं॥ १६॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥ १७॥

ये सब आत्म-वञ्चक, अशान्त-चित्त मनुष्य कर्मको ही ज्ञान-साधनका उपयोगी मानकर असत् कर्मोंका आचरण करते हैं और उसके फलस्वरूप कालके प्रभावसे विफल-मनोरथ होकर नरककी यन्त्रणाओंका भोग करते हैं॥ १७॥

हित्वात्मायारचिता गृहापत्यसुहृत्स्त्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १८॥

भवगद् विमुख ऐसे मनुष्य अपनी इच्छा न रहनेपर भी अन्तिम कालमें भगवान्‌की मायाके द्वारा रचित कुण्ठा धर्मके आश्रय गृह, पुत्र, बन्धु-बान्धव, स्त्री आदि सबको त्याग करके नरकमें (सूर्य-रहित गाढ़ अन्धकारसे आवृत लोकोंमें) प्रवेश करते हैं॥ १८॥

श्रीराजोवाच—

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥ १९॥

यह सुनकर महाराज निमिने कहा—हे योगेन्द्रो! अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि भगवान् किस कालमें कौन-सा वर्ण, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं तथा मनुष्य किन नामोंसे और किन विधियोंके अनुसार उनकी उपासना करते हैं?॥ १९॥

श्रीकरभाजन उवाच—

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥ २०॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से करभाजनजीने कहा—राजन्! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग हैं। इन युगोंमें भगवान् श्रीहरिके विविध वर्ण, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनका अर्चन-पूजन होता है॥ २०॥

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् विभ्रद्दण्डकमण्डलु॥ २१॥

सत्ययुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका वर्ण श्वेत होता है। उनकी चार भुजाएँ तथा सिरपर जटिल केश अर्थात् जटाएँ होती हैं। वे बल्कल वस्त्र पहनते हैं। इस युगमें वे मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, अक्षमाला (अकारसे क्षकार पर्यन्त वर्णमयी माला), दण्ड और कमण्डलु धारण करके ब्रह्मचारीके वेशमें अवतीर्ण होकर दर्शन देते हैं॥ २१॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥ २२॥

सत्ययुगमें लोग बड़े शान्त, परस्पर शत्रुतारहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग शम, दम और तप अर्थात् ध्यानयोगसे भगवान्‌की आराधना करते हैं॥ २२॥

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते॥ २३॥

सत्ययुगमें भगवान् हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा—इन नामोंसे पूजित होते हैं। उस समयके लोग अपनी-अपनी स्थितिमें इन्हीं भगवान्‌के गुण, लीला इत्यादिका गान करते हैं॥ २३॥

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः॥ २४॥

राजन्! त्रेतायुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका वर्ण रक्त अर्थात् लाल होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं, वे कटिभागमें (ऋक्, साम एवं यजुः वेदोंकी दीक्षाके अङ्गभूत) त्रि-गुण कटिसूत्र अर्थात् मेखला धारण करते हैं, उनके केश सुनहरे होते हैं, वे वेद-त्रय-प्रतिपादित यज्ञ-विग्रहके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। उस समय स्रुक, स्रुवा इत्यादि यज्ञके पात्र ही भगवान्‌के चिह्न होते हैं॥ २४॥

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः॥ २५॥

त्रेतायुगमें वेदोंमें पारङ्गत धार्मिक मनुष्य त्रयीविद्या द्वारा अर्थात् वेदोंमें विहित यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा सर्वदेवमय अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरिकी यज्ञ-विधिसे आराधना करते हैं॥ २५॥

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव ऊरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च ऊरुगाय इतीर्य्यते॥ २६॥

त्रेतायुगमें मनुष्य विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, ऊरुक्रम, वृषाकपि (जिनके स्मरण मात्रसे भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंका वर्षण होता है), जयन्त (जो सर्वदा सबपर जय प्राप्त करते हैं) और ऊरुगाय नामोंसे भगवान्‌के गुण और लीला आदिका कीर्त्तन करते हैं॥ २६॥

द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥ २७॥

द्वापरयुगमें भगवान्‌का वर्ण अतीस पुष्पके समान श्याम होता है (इसीलिये भगवान्‌को श्याम-सुन्दर कहा जाता है।) वे अपने श्यामल वपुपर पीताम्बर धारण करते हैं। शङ्ख, चक्र, गदा आदि उनके आयुध होते हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न (रोमावलीका दक्षिणावर्त्तरूप) अङ्कित होता है तथा कौस्तुभमणि इत्यादिसे विभूषित होकर वे इस जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं॥ २७॥

तं तदा पुरुषं महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥ २८॥

हे राजन्! उस समय तत्त्वज्ञान-जिज्ञासु मनुष्य छत्र, चँवर आदि राजा-महाराजाओंके चिह्नोंसे युक्त परमपुरुष भगवान्‌की वैदिक और तान्त्रिक (पञ्चरात्र) विधियोंसे उपासना-अर्चना करते हैं। भगवत्-सेवाको धर्मादि चतुर्वर्णके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए॥ २८॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥ २९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ३०॥

हे भगवन्! हे वासुदेवरूपी भगवान्! आपको नमस्कार है, सङ्कर्षणरूपी आपको नमस्कार है, प्रद्युम्नरूपी आपको नमस्कार है। अनिरुद्धरूपी आपको नमस्कार करता हूँ। हे देव! हे विश्वेश्वर! सर्वभूतान्तर्यामी विश्वमूर्त्ति नारायण ऋषि नामक महापुरुषरूपी आपको

प्रणाम करता हूँ। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण एवं लीलादिका कीर्त्तन होनेपर ही जीवमें श्रवण-योग्यताका उदय होता है॥ २९-३०॥

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नाना तन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु॥ ३१॥

राजन्! इस प्रकार लोग द्वापरयुगमें भगवान् जगदीश्वरकी स्तुति करते हैं, अब कलियुगमें विविध तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्‌की जैसी आराधना की जाती है, उसका वर्णन सुनो—अर्थात् कलियुगकी आराधनाके नियम सुनो॥ ३१॥

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥ ३२॥

जो सदा-सर्वदा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंका कीर्त्तन करते हैं और कृष्ण नाम और उनकी लीला-कथाओंका उपदेश करते हैं अथवा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंसे युक्त कृष्णके कीर्त्तन द्वारा श्रीकृष्णके अनुसन्धानमें तत्पर रहते हैं अर्थात् उन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, जिनके 'अङ्ग' अर्थात् श्रीमन्नित्यानन्द और श्रीअद्वैत प्रभु-द्वय हैं तथा 'उपाङ्ग' अर्थात् जिनके आश्रित श्रीवास आदि शुद्ध भक्तगण हैं और जिनका 'अस्त्र' श्रीहरिनाम है और जिनके 'पार्षद' श्रीगदाधर पण्डित, स्वरूप दामोदर, राय रामानन्द, श्रीरूप, श्रीसनातन आदि हैं तथा जिनके अङ्गोंकी कान्ति 'अकृष्ण' अर्थात् पीत (गौर) है; उन्हीं अन्तःकृष्ण और बहिर्गौर श्रीराधा-भाव-द्युति-सुवलित श्रीशचीनन्दन श्रीमद्‌गौरसुन्दरकी कलियुगमें बुद्धिमान् पुरुष सङ्कीर्त्तन-प्रधान यज्ञके द्वारा आराधना करते हैं (कलियुगमें कीर्त्तन-यज्ञके द्वारा भगवत् पूजा-विधि है।)॥ ३२॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥

वे लोग भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करते हैं—प्रभो! आप शरणागत भक्तोंके रक्षक हैं। हे परतम पुरुषोत्तम महाप्रभो! आप निरन्तर ध्यानयोग्य हैं, अन्याभिलाष कर्म, ज्ञान, योग आदि केवला-भक्ति विरोधी मार्गोंको पराजित करनेवाले हैं, श्रीकृष्ण-प्रेमको देनेवाले हैं, श्रीगौरमण्डल, क्षेत्रमण्डल और व्रजमण्डल आदि तीर्थोंके आश्रयस्वरूप हैं। ब्रह्म-सम्प्रदायके आचार्य श्रीमदानन्दतीर्थानुगत श्रौतपथाश्रित श्रीरूपानुग महाभागवतोंके एकमात्र आश्रयस्वरूप हैं। (ब्रह्म-सम्प्रदायकी श्रवण-परम्परा श्रीमद् आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) से प्रारम्भ होती है एवं रूपानुग महाभागवतों अर्थात् श्रीमन् चैतन्य महाप्रभुके अनुयायियों द्वारा आगे बढ़ती है) आप ही सदाशिवके अवतार श्रीमदद्वैताचार्य प्रभु और विरिञ्चिके अवतार श्रीमन्नामाचार्य हरिदास प्रभुके द्वारा स्तव-स्तुति किये जाते हैं, आप समस्त शरणागत जनोंके आश्रयणीय हैं, अपने सेवक कुष्ठविप्रका कुष्ठरोगरूपी दुःख अर्थात् आर्त्तिको दूर करनेवाले हैं, सार्वभौम भट्टाचार्य और श्रीप्रतापरुद्र आदिके क्रमशः मोक्षकी इच्छा एवं भोगकी इच्छारूप भवसागरको पार करनेके लिये पोत (नाव) स्वरूप हैं। आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ३३॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्-
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

हे महाप्रभो! आप (बहिर्दृष्टिसे संन्यास ग्रहणके छलसे) वैधी भक्त-धर्मके प्रचारक-आचार्यकी लीलाका अभिनय करनेवाले जगद्गुरुके रूपमें विद्यमान रहते हैं एवं (अन्तर्दृष्टिसे) सभी रागात्मिक धार्मिकोंकी शिरोमणि श्रीमतीराधाके कृष्ण-विरह-भावमें विभावित रहते हैं। देवताओंकी वाञ्छित राज्य-लक्ष्मीका एवं प्राणोंसे भी अधिक प्रिया दुष्परिहार्या (जिसे त्यागा नहीं जा सकता) लक्ष्मीस्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवीका आपने त्याग कर दिया था। इस प्रकार आपने

ज्ञान एवं ऐश्वर्यमिश्रा मुक्ति एवं भक्तिका त्याग किया था। विप्र शापका पालन करनेके छलसे आपने चतुर्थाश्रम यतिधर्मको स्वीकार किया था। (चैतन्य-चरितामृतमें वर्णन है कि एक विप्र महाप्रभुके कीर्त्तन-कक्षमें प्रवेश नहीं कर पाया था, तब उसने श्रीमन्महाप्रभुको समस्त भौतिक सुखोंसे वञ्चित रहनेका शाप दिया था—महाप्रभुने इस शापको वरदान मानकर संन्यास ग्रहण कर लिया था। श्रीगौरसुन्दरकी संन्यास-ग्रहण-लीला कृष्णान्वेषणके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी छलसे वे तदनुग व्यक्तियोंको सुष्ठुरूपेण भजन-रीतिका निर्देश करते हैं)। जो कनक, कामिनी एवं प्रतिष्ठाकी आशारूपा अथवा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-रूपा मायाका अन्वेषण करते रहते हैं एवं कृष्ण-सेवासे इतर भोग्य विषयोंमें अत्यन्त व्यस्त रहा करते हैं—ऐसे जीवों पर अहैतुकी एवं अमन्दोदय-दया (दुःखोंको आत्यन्तिक नष्ट कर देनेवाली दया) के कारण आप स्वाभीष्ट प्राणनाथ गोपीजनवल्लभ श्यामसुन्दरको पुकारते रहते हैं; सर्वत्र उनका अन्वेषण करते रहते हैं। विशाखा सखीके समीप चित्रजल्पमें निरत उद्घूर्णामयी (अधिरूढ़ महाभावका विकार जिनमें प्रकाशित होता है), परमप्रेष्ठा प्रेयसी श्रीमती राधिका जिन्हें पानेकी अभिलाषा करती रहती हैं और जो स्वयं ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपिणी श्रीमती राधिकाका अन्वेषण करते हैं (राधाजीके आराधनके कारण कृष्ण वृन्दावनका परित्याग नहीं करते), ऐसे श्रीराधारमणका अनुसन्धान जिन्होंने विरहिणी गोपियोंके भावमें विभावित होकर किया है, उन आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ३४॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्त्तिभिः।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः॥ ३५॥

हे राजन्! परम पुरुषार्थ कृष्ण-प्रेमको देनेवाले भगवान् श्रीहरि इस प्रकारसे प्रत्येक युगमें मूर्त्ति धारण करते हैं एवं उन-उन रूपों-में मनुष्योंके द्वारा पूजित होते हैं॥ ३५॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते॥ ३६॥

हे राजन्! कलियुगमें एकमात्र श्रीहरिके नाम-सङ्कीर्त्तनके द्वारा ही समस्त युगोंके सभी प्रकारके पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। इसलिये गुणग्राही बुद्धिमान् मनुष्य इस युगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं (सत्ययुगमें ध्यान द्वारा, त्रेतामें यज्ञ द्वारा, द्वापरमें अर्चन द्वारा जो प्राप्त होता है, कलियुगमें वह सब श्रीकेशव-सङ्कीर्त्तन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।)॥ ३६॥

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥ ३७॥

इस संसारमें भ्रमणशील जीवोंके लिये हरिनाम-सङ्कीर्त्तनसे बढ़कर परम कल्याणकारी कुछ भी नहीं है, क्योंकि नाम-सङ्कीर्त्तन होनेसे संसार-भ्रमण रुक जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है (कीर्त्तनकी तुलनामें कोई भी साधन-प्रणाली उतनी लाभकारी नहीं है। यह गौणरूपसे संसार-नाश भी कर देती है।)॥ ३७॥

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥ ३८॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥ ३९॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ ४०॥

हे राजन्! सत्य, त्रेता और द्वापरके मनुष्य भी कलियुगमें जन्म ग्रहणकी इच्छा करते हैं। इस कलियुगमें किसी-किसी स्थानपर अल्पसंख्यक भक्त प्रकट होंगे, परन्तु द्रविड़देशमें विशेषतः बहुसंख्यक भगवद्भक्त महापुरुष जन्म ग्रहण करेंगे। हे मनुजेश्वर! उस द्रविड़देशमें ताम्रपर्णी, बहुतोया कृतमाला, पयस्विनी, परम

पवित्र कावेरी एवं प्रतीची नामकी महानदी प्रवाहित होती हैं। हे राजन्! वहाँके मनुष्य नदियोंका जल पान करते हैं, जिससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवद्भक्ति प्राप्त करते हैं॥ ३८–४०॥

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥ ४१॥

हे राजन्! जो लोग इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरे' के अभिमानको त्यागकर सब प्रकारसे परम शरण्य श्रीहरिके शरणागत होते हैं, वे साधारण मनुष्यकी भाँति देवता, ऋषि, भूतगण, स्वजन और पितृलोकके किङ्कर अथवा ऋणी नहीं होते अर्थात् ये भक्त पञ्च-ऋण-परिशोधनके लिये कर्त्तव्यपरायणतारूप कैङ्कर्यमें बाध्य नहीं होते॥ ४१॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्-
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥ ४२॥

जो लोग अनन्य भावसे (सभी पार्थिव कर्मों एवं विचारोंका परित्याग करते हुए) भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी शरण ग्रहणकर उनकी आराधना करते हैं, ऐसे प्रिय भक्तोंके हृदयमें किसी प्रकारकी विकर्मकी प्रवृत्ति (विपरीत बुद्धि) उत्पन्न होती भी हो, तो भी उनके हृदयमें (विवेक मूलमें) स्थित परमेश्वर श्रीहरि उस प्रवृत्तिको सम्पूर्णरूपेण विनष्ट कर देते हैं॥ ४२॥

श्रीनारद उवाच—

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्॥ ४३॥

श्रीदेवर्षि नारद कहते हैं—हे वसुदेवजी! इस प्रकार अपने उपाध्यायोंके साथ मिथिलाके अधिपति निमि महाराज नवयोगेन्द्रोंसे भागवत धर्म सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने सन्तुष्ट होकर उन जयन्तीनन्दन अर्थात् ऋषभनन्दन नवयोगेन्द्रोंकी विधिपूर्वक पूजा की [जो वृत्ति (वेतन) के लिये वेदांश या वेदाङ्गका अध्यापन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है।]॥ ४३॥

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम्॥ ४४॥

इसके बाद सब लोगोंके समक्ष ही कवि आदि सिद्धपुरुष अन्तर्धान हो गये। महाराज निमिने भी उनसे श्रुत भागवत धर्मोंका आचरण किया और परम गति प्राप्त की॥ ४४॥

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवतान् श्रुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम्॥ ४५॥

हे महाभाग वसुदेवजी! आप भी निष्काम एवं श्रद्धायुक्त होकर उन भागवत धर्मोंका अनुष्ठानकर उत्तम पद प्राप्त कर सकेंगे॥ ४५॥

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः॥ ४६॥

हे वसुदेवजी! भगवान् जगदीश्वर श्रीहरि आपके पुत्रत्वको स्वीकार करके आविर्भूत हुए हैं, इसलिये आप दोनोंकी (देवकी और वसुदेवकी) कीर्त्तिसे जगत् पूर्ण हो गया है॥ ४६॥

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः॥ ४७॥

आप दोनोंने श्रीकृष्णके प्रति पुत्र-स्नेहवान् होकर उनका दर्शन, आलिङ्गन किया है एवं उनके साथ वार्त्तालाप किया है। आपने अति तन्मयतासे उनको शयन कराया है, अपने साथ बिठाया है एवं भोजन कराया है—इससे आपका चित्त पवित्र हो गया है॥ ४७॥

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र–
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ४८॥

हे वसुदेवजी! शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्वादि राजागण सोते–बैठते सभी कार्योंमें शत्रुभावसे श्रीकृष्णके लीलाविलास, चितवन, गमनादि क्रियाओंका चिन्तन करते थे। इससे उनकी बुद्धि कृष्णाकार हो गयी और उन दुरात्माओंने भगवत्‌–चिन्तन–जनित सुकृतिके फलस्वरूप श्रीकृष्णका साम्य प्राप्त कर लिया। तब जो कृष्णानुरक्त भक्त अनुकूलभावसे उनकी अनुरागपूर्ण सेवा करते हैं, उन्हें विशेष मङ्गल प्राप्त होगा—उनका साम्य प्राप्त होगा—इस विषयमें वक्तव्य क्या है?॥ ४८॥

माऽपत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये॥ ४९॥

श्रीकृष्ण सर्वान्तर्यामी, अव्यय–स्वरूप, परमपुरुष, स्वयं भगवान्‌ हैं। ये अपनी योगमायाके बलसे मनुष्य–लीला–अभिनयके द्वारा अपने ईश्वरत्वको (भगवत्ताको) गोपन करते हैं। अतः आप इनको पुत्र न समझें, अनुराग–बुद्धि रखें, उदासीनताका भाव नहीं॥ ४९॥

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते॥ ५०॥

इन श्रीकृष्णने पृथ्वीके भारस्वरूप क्षत्रियराजारूप दैत्योंका संहार करने, साधुओंकी रक्षा करने और जीवोंकी मुक्तिके लिये अवतार ग्रहण किया है। इस समय सम्पूर्ण जगत्‌में उनके यशका विस्तार हो रहा है॥ ५०॥

श्रीशुक उवाच—

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः॥ ५१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजी कहते हैं—महासौभाग्यवान् श्रीवसुदेवजी और महाभाग्यवती देवकीको देवर्षि नारदजीसे इन सब तत्त्वोंको सुनकर बड़ा ही विस्मय हुआ। उन्होंने अपने मोहजनित (असुरोंको भी कृष्णने मोक्ष प्रदान किया) अज्ञानका परित्याग कर दिया॥ ५१॥

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे जायन्तेयोपाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

जो लोग एकाग्रचित्तसे इस पुण्यमय इतिहासका श्रवण करते हैं, वे शरीरमें अवस्थित रहकर भी समस्त प्रकारके सांसारिक मोहको परित्यागकर ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पाँचवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंकी भगवान् श्रीकृष्णसे स्वधाम पधारनेके लिये प्रार्थना, यादवोंका प्रभास तीर्थमें जानेके लिये प्रस्तुत होना तथा भक्त उद्धवका श्रीकृष्णके समीप आना

श्रीशुक उवाच—

अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात्।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—परीक्षित्! जब देवर्षि नारद वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये, तब ब्रह्माजी अपने सनकादि पुत्रों, इन्द्रादि देवताओं एवं मरीचि आदि प्रजापतियोंसे परिवेष्टित होकर तथा सभी प्राणियोंके लिये मङ्गलप्रद शिव अपने भूतगणोंसे परिवृत होकर द्वारकामें उपस्थित हुए॥ १॥

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः॥ २॥

गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः॥ ३॥

द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः।
वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम्॥ ४॥

हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णने अपने जिस श्रीविग्रहके द्वारा मनुष्योंका मनोरञ्जन (हृदयमें आनन्द-दान) करते हुए समग्र जगत्में सभी प्राणियोंके पाप-विनाशन यशका विस्तार किया है, उसी परम रमणीय श्रीविग्रहकी माधुरीका दर्शन करनेकी अभिलाषासे मरुद्गणोंके साथ देवराज इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, दोनों अश्विनीकुमार,

ऋभुगण, अङ्गिरा ऋषिके वंशज, ग्यारह रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर एवं किन्नर सभी द्वारकापुरी पहुँचे॥ २-४॥

तस्यां विभ्राजमाणायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम्॥ ५॥

हे राजन्! अनन्तर वे ब्रह्मादि देवता परम ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, महासमृद्धिशाली एवं अति शोभामयी द्वारका नगरीमें प्रविष्ट होकर सुरम्य दर्शन भगवान् श्रीकृष्णका अतृप्त नयनोंसे दर्शन करने लगे॥ ५॥

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्॥ ६॥

उस समय वे सभी नन्दनवन-जात (स्वर्ग राज्यके उद्यानसे लायी हुई) पुष्पमालाओं द्वारा यादव-प्रवर, जगदीश्वर श्रीकृष्णको विभूषित करके लालित्यमय पद-विन्यास एवं अर्थ-विन्यास युक्त गीतोंसे उनका स्तव करने लगे॥ ६॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदिभावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिःकर्ममयोरुपाशात् ॥ ७॥

देवताओंने स्तुति करते हुए कहा—हे नाथ! योगीगण संसारके कर्ममय दृढ़ बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अपने हृदयमें जिनका ध्यान मात्र कर पाते हैं, दर्शन नहीं; हमलोग आपकी कृपासे उन्हीं श्रीपादपद्मयुगलका साक्षात् दर्शनकर बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं वचनके द्वारा उनको प्रणाम करते हैं। (बाहुद्वय, पदद्वय, जानुद्वय, वक्ष, मस्तक, दृष्टि, मन एवं वचन द्वारा किया गया प्रणाम अष्टाङ्ग प्रणाम कहा जाता है।)॥ ७॥

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः॥ ८॥

हे अजित! आप सात्त्विकादि मायिक गुणोंके नियन्ताके रूपमें अवस्थित रहकर अपनी त्रिगुणमयी मायाशक्तिके द्वारा अपने अचिन्त्य प्रभावसे स्वस्वरूपमें ही महत्तत्त्वादि प्रपञ्चकी सृष्टि, पालन एवं संहार-लीलाका सम्पादन करते हैं, परन्तु इन कर्मजनित पाप-पुण्यादि फलोंमें आप लिप्त नहीं होते। आप अविद्यादि दोषोंके सम्पर्कसे रहित आवरणात्मिका एवं विक्षेपात्मिका वृत्तियोंसे समन्वित माया शक्तिसे अनावृत एवं अविक्षिप्त रहकर सर्वदा (निरवच्छिन्नरूपसे) आत्मानन्दमें विराजमान रहते हैं॥ ८॥

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ९॥

हे जगद्-वन्दनीय! हे पुरुषोत्तम! सात्वत (तत्त्वज्ञ) भक्तोंके श्रीमुखसे आपके विमल यश-श्रवणसे उत्पन्न दृढ़ एवं प्रबल श्रद्धासे साधुओंकी चित्तवृत्ति जिस प्रकारसे विशुद्ध होती है, उस प्रकारसे विषय-वासनामें आविष्ट तथा राग-द्वेषसे कलुषित मनुष्योंकी चित्तवृत्ति देवान्तर-उपासना, आध्यक्षिक ज्ञान हेतु वेदार्थ श्रवण एवं अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययन, अनित्य वस्तुके दान एवं जड़भोग हेतु तपस्याके द्वारा शुद्ध नहीं हो सकती॥ ९॥

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्त्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥ १०॥

हे प्रभो! परममङ्गलकी अभिलाषा करनेवाले मुनिजन प्रेमसे आर्द्र (द्रवित) अपने हृदयके द्वारा आपका सतत चिन्तन (ध्यान) करते हैं, आपके आश्रित भक्तजन पञ्चरात्र आदि विधियोंसे आपके समान ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें आपकी आराधना करते हैं (महत्-स्रष्टा आदिपुरुष, ब्रह्माण्डव्यापी समष्टि विष्णु, सर्वभूतोंमें अवस्थित व्यष्टि विष्णु—जो 'पुरुषावतार' रूपमें कथित हैं, वे वासुदेवादि-व्यूह-चतुष्टय प्रपन्न जीवको स्वर्लोक-भोगाभिमानसे विमुक्त करके भगवद्-भक्तिमें प्रतिष्ठित करते हैं) और कतिपय भगवत्-तत्त्वज्ञ धीर, जितेन्द्रिय पुरुष स्वर्ग लोकको भी तुच्छ जानकर सालोक्यरूप वैकुण्ठ प्राप्तिके लिये तीनों कालोंमें (प्रातः, दोपहर एवं सायं) आपका अर्चन-पूजन करते हैं, आपके वे ही सर्वाभीष्टप्रद श्रीचरणकमल हमारी समस्त अशुभ कामनाओं—विषय वासनाओंको भस्म करनेके लिये धूमकेतु अर्थात् अग्नि स्वरूप हों॥ १०॥

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः॥ ११॥

हे जगत्पते! याज्ञिक ब्राह्मण तीनों वेदोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार अपने संयत हाथोंमें यज्ञीय हवि लेकर यज्ञकुण्डमें आहुति देते हुए जिनके अधिष्ठानका चिन्तन करते हैं (कि आपकी बाहु आदि रूपमें इन्द्रादि आपके विभूतिस्वरूप हैं), जिसकी आत्मस्वरूपिणी मायाके जिज्ञासु योगीजन अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंको पानेकी कामनासे अध्यात्म योगसे (आत्माकी अनुभूति हेतु योग-पद्धतिसे) जिनका ध्यान करते हैं, एवं निष्किञ्चन परम महाभागवतजन सर्वत्र पूजित जिनको अपना परम इष्ट आराध्यदेव मानकर सेवा करते हैं, ऐसे आपके

श्रीचरणकमल हमलोगोंकी अशुभ विषय वासनाओंको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों॥ ११॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्द्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥ १२॥

हे विभो! आपके वक्षःस्थलपर विलास (निवास) करनेवाली भगवती लक्ष्मीदेवी अपने निवास-स्थलपर मुरझायी हुई बासी वनमालाको देखकर सपत्नीवत् (सौतकी तरह) ईर्ष्या करती हैं (कि मैं जिस वक्षःस्थलपर निवास करती हूँ, वहाँ बासी माला शोभा प्राप्त कर रही है?) फिर भी आप लक्ष्मीदेवीके प्रति अनादर दिखाते हुए भक्तोंके द्वारा माला-अर्पण द्वारा सम्पादित उस अर्चनको प्रेमसे स्वीकार करते हैं। हे देव! ऐसे भक्तवत्सल आपके श्रीचरणकमल हमारी विषय-वासनाओंको दग्ध करनेके लिये सर्वदा अग्निस्वरूप हों॥ १२॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः॥ १३॥

हे भूमन्! हे भगवन्! त्रिविक्रम अवतारमें दैत्यराज बलिके बन्धनकालमें उनके द्वारा प्रदत्त तीन पग पृथ्वी मापने हेतु जब आपने अपना एक पादपद्म उठाया, तब वह त्रिलोकीमें व्याप्त होकर ब्रह्माण्ड-कटाह तक पहुँच गया था। उस समय उसकी शोभा अत्युच्च विजय-ध्वजके समान प्रतीत हो रही थी। ब्रह्माजीके द्वारा चरण-पद्मको पखारनेके बाद उस पादपद्मसे निःसृत त्रिलोक-विहारिणी भगवती गङ्गाकी तीन धाराएँ तीनों लोकोंमें गिरती हुईं उस विजय-ध्वजकी पताकाओंकी भाँति जान पड़ती थीं। (तीन धाराओंमें प्रवाहित यह पवित्र वारि मन्दाकिनी, भोगवती एवं

गङ्गा नामसे प्रसिद्ध है।) आपके श्रीचरणकमल असुरोंके लिये भयप्रद, देवताओंके लिये अभयप्रद, साधुओंके लिये मङ्गलप्रद तथा असाधुओं (दुष्टों) के लिये ध्वंसप्रद हैं। हे भगवन्! हम आपके महाविभूतियुक्त इन्हीं चरण-कमलोंका भजन करते हैं। आप हमारे दुष्कृतोंका शोधन कर हमें पवित्र करें॥ १३॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥ १४॥

हे देव! ब्रह्मा आदि जितने भी तनुभृत (शरीरधारी) जीव हैं, वे सभी प्रकृति-पुरुषसे अतीत (श्रेष्ठ), कालस्वरूप, सर्वनियन्ता आपके अधीन नाकमें नथे हुए बैलोंके समान रहकर मत्सरादि दोषोंसे पीड़ित रहते हैं एवं परस्पर युद्ध-विग्रहादि किया करते हैं। हे पुरुषोत्तमस्वरूप! आपके श्रीचरण हमारा मङ्गल-विधान करें। (इस कथनसे देवताओंकी अनीश्वरता व्यक्त हुई है)॥ १४॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः।
सोऽयं त्रिनाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम्॥ १५॥

हे प्रभो! श्रुतियाँ आपको प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके नियन्तारूपमें वर्णन करती हैं, इसलिये आप ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारणस्वरूप हैं। हे नाथ! आप ही शीत, ग्रीष्म और वर्षाकालरूप तीन नाभियोंवाले (चातुर्मास्य-त्रयसे युक्त) सम्वत्सरके रूपमें सबको क्षय (ह्रास) की ओर ले जानेवाले महावेगशाली कालस्वरूप हैं। आप गभीररय हैं अर्थात् आपकी गति अबाध और गम्भीर है; अतएव आप ही स्वयं पुरुषोत्तम हैं। (द्वादश मासमें सूर्य-भ्रमणके पथको ज्योतिष शास्त्रमें 'त्रिनाभिः' कहा

गया है अर्थात् मेष, वृष, मिथुन एवं कर्कट, सिंह, कन्या, तुला एवं वृश्चिक तथा धनु, मकर, कुम्भ एवं मीन—ये सूर्यभ्रमण-पथकी तीन नाभियाँ हैं।) भगवान् परमवेगशाली कालके रूपमें अखिल जगत्का संहार करते हैं॥ १५॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य ययास्य वीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम्॥ १६॥

हे देव! आदिपुरुषावतार-कारणाब्धिशायी-अमोघवीर्य-महाविष्णु आपसे ही भगवत्-वीर्य अर्थात् सर्जक-शक्ति प्राप्त करके इस जगत्के बीजस्वरूप (वीर्य-स्वरूप) महत्-तत्त्वकी सृष्टि करते हैं अर्थात् महत्-तत्त्वको विश्वके गर्भके समान धारण करते हैं। यह महत्-तत्त्व भगवत्-मायासे युक्त होकर हिरण्यगर्भरूपमें अपनेमें-से सप्त-व्याहृति (भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) रूप सप्तावरण-मण्डित (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार एवं मन तत्त्वोंसे युक्त) बहिर्जगतके अभ्यन्तरमें ब्रह्माण्डरूप सुवर्ण अण्डकोषकी सृष्टि करता है॥ १६॥

तत् तस्थूषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान्।
अर्थान् जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म॥ १७॥

हे हृषीकेश! (हे इन्द्रिय-नियन्ता!) आप अपनी मायासे प्रकाशित इन्द्रियवृत्तिके द्वारा उपनीत (प्राप्त) शब्द, स्पर्शादि विभिन्न विषयोंका उपभोग करके भी (अनन्त इन्द्रिय-विषय-कार्योंके अधीक्षणके समय) उनसे अनासक्त रहते हैं—उनमें लिप्त नहीं होते हैं; इसलिये आप ही स्थावर-जङ्गमके एकमात्र अधीश्वर हैं। अन्यान्य जीव अथवा योगीगण तो स्वयंके द्वारा ही परित्यक्त विषय-भोगोंसे सर्वदा ही भयभीत रहते हैं॥ १७॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः॥ १८॥

हे विभो! रुक्मिणी आदि सोलह हजारसे अधिक महिषियाँ अपनी मृदु-मन्द मुस्कान एवं तिरछी चितवनसे विलसित मनोहर भौंहोंके सङ्केतोंसे अपने हृद्गत अभिप्रायको व्यक्त करती हैं, सौरत-मन्त्रोंसे (सुरत-आलापोंसे) सुनिपुण एवं सम्मोहक काम-बाणोंका निक्षेप करती हैं, कामकलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना चाहती हैं, परन्तु वे आपके चित्तको क्षुभित नहीं कर पातीं (डिगा नहीं पातीं), असफल ही रहती हैं॥ १८॥

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति॥ १९॥

हे देव! आपकी कीर्त्ति-सुधा (लीलामृत) प्रवाहिनी कथा-नदी एवं पाद-प्रक्षालन-जनित गङ्गा (चरणामृत) इत्यादि नदियाँ त्रिलोकीके पापोंका विनाश करनेमें समर्थ हैं। अतः शुद्ध चित्तके अभिलाषी मनुष्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा वेदवर्णित आपके प्रकीर्त्ति-तीर्थकी एवं अङ्ग-स्पर्श द्वारा आपके पादपद्म-प्रसूत तीर्थकी (गङ्गादेवीकी) सेवा करते हैं॥ १९॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम्।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः॥ २०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजेन्द्र! श्रीशङ्कर और समस्त देवताओंके साथ शतधृति (ब्रह्मा) श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तव-स्तुति

और उन्हें प्रणामकर आकाश-मार्गमें स्थित हो गये और पुनः भगवान् श्रीगोविन्दसे कहने लगे॥ २०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो।
त्वमस्माभिरशेषात्मन् तत् तथैवोपपादितम्॥ २१॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे सर्वान्तर्यामी! प्रभो! हमलोगोंने पूर्व समयमें पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये आपसे प्रार्थना की थी। आपने वह कार्य हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपमें सम्पूर्ण कर दिया। (प्रार्थना क्षीरोदशायी विष्णुसे की गयी थी, कार्य श्रीकृष्ण द्वारा सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके अवतारी स्वरूप हैं—क्षीरोदशायी विष्णु उनका एक स्वरूप हैं।)॥ २१॥

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया।
कीर्त्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा॥ २२॥

हे देव! आपने सत्यपरायण साधुओंके लिये सद्धर्मकी स्थापना की है और सम्पूर्ण दिक्‌मण्डलमें ऐसी कीर्त्तिका विस्तार किया है, जिसे सुनकर समस्त प्राणियोंका कल्मष दूर होता है और चित्त शुद्ध होता है॥ २२॥

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम्।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः॥ २३॥

हे प्रभो! आपने यह सर्वोत्तम विग्रह धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्‌के मङ्गलके लिये अप्रतिहत (जिसे रोका न जा सके) विक्रमयुक्त लीलाओंका अनुष्ठान किया॥ २३॥

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ।
शृण्वन्तः कीर्त्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥ २४॥

हे प्रभो! कलियुगमें जो सदाचारसम्पन्न साधु पुरुष हैं, वे आपके चरित एवं लीलाओंका श्रवण और कीर्त्तन करेंगे और अनायास ही इस अज्ञानरूपी अन्धकारको पार कर जायेंगे

(ये साधु अन्यान्य मनुष्योंको भी भगवान्‌की नाम-कथाके प्रति उन्मुख करेंगे।)॥ २४॥

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीताय पञ्चविंशाधिकं प्रभो॥ २५॥

हे नाथ! हे पुरुषोत्तम! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! यदुवंशमें आपका अवतार होनेके बाद एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये हैं॥ २५॥

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम्।
कुलञ्च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम्॥ २६॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
सलोकान् लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान्॥ २७॥

हे निखिल जगत्‌के आश्रय! हे भगवन्! अब आपका भूभार-हरण-रूप कार्य समाप्त हो गया है और यह यदुवंश भी ब्रह्मशापसे एक प्रकारसे विनष्ट ही हो चुका है। इसलिये यदि आपकी इच्छा हो अर्थात् यदि आप उचित समझें, तो अब आप अपने परमधाममें पधारिये और मेरे जैसे वैकुण्ठके सेवक लोकपालोंका एवं हमारे लोकोंका भी पालन-पोषण कीजिए। (द्वारका धाममें कृष्ण स्वरूपमें प्रवेश करें एवं वैकुण्ठ श्वेतद्वीपादिमें नारायणादि स्वरूपमें प्रवेश करें, क्योंकि आप सभी अंशोंको लेकर अवतीर्ण हुए हैं।)॥ २६-२७॥

श्रीभगवानुवाच—

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः॥ २८॥

ब्रह्माजीके वचनोंको सुनकर श्रीभगवान्‌ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी! आपने इस लोकमें जो मेरे समस्त कार्योंकी समाप्तिकी बात कही है, उसे मैं यथार्थ समझता हूँ, क्योंकि पृथ्वीका भार हरण हो चुका है और आपलोगोंके भी सभी कार्य सम्पादित हो चुके हैं॥ २८॥

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः॥ २९॥

परन्तु सम्प्रति यह यादवकुल अतुलनीय वीर्य, शौर्य एवं ऐश्वर्यसे प्रमत्त होकर महासमुद्रकी उद्वेलित जलराशिके समान लोगोंका विनाश करनके लिये उद्यत हो रहा है, मैंने समुद्रकी तट-भूमिके समान इसको रोक रखा है (अब मैं स्वयं ही निज-कुलके संगोपनकी व्यवस्था उसी प्रकार कर रहा हूँ, जिस प्रकार दृढ़ बेलाभूमि समुद्रकी उद्वेलित जलराशिको अवरुद्ध कर लेती है।)॥ २९॥

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति॥ ३०॥

अतः यदि मैं मदसे गर्वित इस विशाल यादवकुलका संहार किये बिना अपने धाममें गमन करूँ, तो मेरे पश्चात् मर्यादाका लङ्घन करनेवाले उच्छृङ्खल ये यादवगण निश्चय ही सारे लोकोंका संहार कर डालेंगे॥ ३०॥

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन् त्रतदन्ते तवानघ॥ ३१॥

हे निष्पाप ब्रह्मन्! ब्राह्मणोंके शापसे इस विशाल यदुवंशका विनाश (अदर्शन) पहले ही आरम्भ हो चुका है। इसका विनाश होनेपर जब मैं वैकुण्ठ लोकमें प्रस्थान करूँगा तब आपलोगोंके वास-स्थान ब्रह्मलोकादिमें भी मैं अवश्य आऊँगा॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम्।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत॥ ३२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब अखिल लोकोंके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने उन्हें प्रणाम किया एवं देवताओंके साथ अपने धाममें चले गये॥ ३२॥

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान्।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान्॥ ३३॥

इसके बाद द्वारकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्वयंकी इच्छासे विविध महोत्पात उठने लगे, जिन्हें देखकर यादव-श्रेष्ठ (यदु-वृद्ध) वहाँ उपस्थित हुए। भगवान् उनसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३३॥

श्रीभगवानुवाच—

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः॥ ३४॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम्॥ ३५॥

भगवान्ने कहा—हे यदुकुलके वृद्धजनो! आजकल द्वारकापुरीमें सर्वत्र ही विविध प्रकारके प्रबल उत्पात देखे जा रहे हैं। विशेषतः आपलोग जानते हैं कि ब्राह्मणोंने हमलोगोंके वंशको ऐसा अभिशाप दिया है, जिसका निराकरण बहुत ही कठिन है। अतएव हे आर्यगण! यदि हमलोग अपने जीवनकी रक्षा चाहते हैं, तो अब यहाँपर वास करना उचित नहीं है। ऐसी स्थितिमें हम आज ही परम पवित्र प्रभास क्षेत्रमें चलेंगे। इस विषयमें आपलोग विलम्ब न करें॥ ३४-३५॥

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट्।
विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम्॥ ३६॥

प्राचीनकालमें चन्द्रदेव दक्षके शापके कारण क्षयरोगसे (राजयक्ष्मा रोगसे) पीड़ित हो गये थे। तब उन्होंने इस प्रभास-तीर्थमें स्नान करके अविलम्ब क्षयरोगसे मुक्ति प्राप्त की थी तथा पुनः कलावृद्धिको प्राप्त हो गये थे॥ ३६॥

वयञ्च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितृन् सुरान्।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा॥ ३७॥

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम्॥ ३८॥

अतः हम उक्त प्रभास तीर्थमें चलकर स्नान करेंगे, देवता एवं पितरोंके लिये तर्पण करेंगे। विविध गुणोंसे युक्त एवं स्वादिष्ट भोजन बनाकर शुभ लक्षणोंसे युक्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे। तदनन्तर उन सत्पात्र ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक प्रचुर दान-दक्षिणा देंगे। इस दान-दक्षिणासे अपनी प्रचुर पापराशिको हम वैसे ही पार कर जायेंगे, जैसे कोई नौकाके द्वारा समुद्रको उत्तीर्ण कर जाता है॥ ३७-३८॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुरुनन्दन।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन्॥ ३९॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—हे कुरुनन्दन! भगवान् श्रीकृष्णके इस आदेशके अनुसार यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास-तीर्थ जानेका निश्चय किया और सब अपने-अपने रथोंमें घोड़े आदि वाहन जोतने लगे॥ ३९॥

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम्।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः॥ ४०॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत॥ ४१॥

हे परीक्षित्! उस समय भयानक अपशकुनों और उत्पातोंको देखकर, श्रीकृष्णके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर तथा यादवोंके प्रभास तीर्थमें जानेका उद्योग देखकर श्रीकृष्णकी सेवामें नित्य-निरन्तर अनुरक्त रहनेवाले उद्धव निर्जनमें जगदीश्वर श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुए। हे राजन्! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे॥ ४०-४१॥

श्रीउद्धव उवाच—

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्त्तन।
संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान्।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन् न यदीश्वरः॥ ४२॥

उद्धवजीने कहा—हे देवोंके अधीश्वर! हे पुण्य श्रवण-कीर्त्तन! हे योगेश्वर श्रीकृष्ण! आप समस्त जगत्के ईश्वर हैं। सब प्रकारसे समर्थ होनेपर भी आपने जिस कारणसे ब्राह्मणके शापमें बाधा प्रदान नहीं की, उस कारणसे मैं समझता हूँ कि आप निश्चय ही यादवकुलका संहार करवाके मर्त्त्यलोकका परित्याग कर देंगे॥ ४२॥

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्द्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥ ४३॥

परन्तु हे केशव! मैं आधे क्षण भी आपके श्रीचरणकमलोंका परित्याग करनेमें समर्थ नहीं हूँ। अतएव हे नाथ! मुझे भी अपने धाममें ले चलें॥ ४३॥

तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्।
कर्णपीयूषमासाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः॥ ४४॥

हे श्रीकृष्ण! आपकी लीलाएँ मनुष्योंके लिये परम मङ्गलकारी और कर्ण-रसायन अर्थात् कानोंके लिये अमृतस्वरूप हैं। आपका लीला-चरितामृत सुनकर मनुष्य इस लोकको समस्त विषय-वासनाओंका परित्याग कर देते हैं॥ ४४॥

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेम हि॥ ४५॥

हे देव! हमलोग चिरकालसे उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते सब समय आपके साथ रहे हैं, आपके साथ ही हम लोगोंने स्नान किया, क्रीड़ाएँ कीं, भोजन इत्यादि सम्पूर्ण कार्य किये; इस प्रकार हमने अपने प्राणप्रिय एवं आत्मस्वरूप आपकी निरन्तर सेवा की है। आपके प्रेमीभक्त हम अब आपको कैसे छोड़ सकते हैं?॥ ४५॥

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥ ४६॥

हे देव! हम आपको छोड़नेमें असमर्थ हैं। अतः आपके साथ चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। आपकी मायासे भयभीत होकर हम ऐसा नहीं कह रहे; हम तो आपके सेवक हैं। हम आपके द्वारा धारण की हुई मालाको पहनते रहे हैं, आपके पहने हुए परिधानोंसे स्वयंको सुसज्जित करते रहे हैं, चन्दनादि गन्धको प्रसादीरूपमें ग्रहण किया है, विभूषित आभूषणोंसे अपने आपको अलङ्कृत किया है। हम आपके उच्छिष्टभोजी हैं। हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे॥ ४६॥

वातवसना य ऋषयः श्रमणा ऊर्द्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः॥ ४७॥

हे प्रभो! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर तथा आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए भजनादि कठिन परिश्रम करते हैं। ऐसे शान्त, निर्मलचित्त ऋषि-संन्यासी ब्रह्मचर्य आदि महाकठोर साधनोंके द्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं॥ ४७॥

वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः॥ ४८॥
स्मरन्तः कीर्त्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम्॥ ४९॥

किन्तु हे महायोगिन्! हमलोग तो इस संसारमें भ्रमण करते हुए भी आपके प्रेमी भक्तोंके साथ आपकी लीला-कथाओंका कीर्त्तन और मनुष्य लीलाके अनुरूप आपका चाल-चलन, मन्द-मुसकान, हास-परिहास, तिरछी चितवन आदि विविध प्रकारके विचित्र कर्म और उपदेशोंका श्रवण और कीर्त्तन करते हुए इस दुःखमय संसार-सागरको सहज ही पार कर लेंगे॥ ४८-४९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धेभगवदुद्धवसंवादे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जब भक्त उद्धवजीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने अपने अनन्यचित्त, परमप्रेमी सखा और सेवकको सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके छठे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीभगवानुवाच—

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे महाभाग उद्धव! तुमने यदुकुल-संहार एवं वैकुण्ठ-लोक-गमनके विषयमें मेरी अभिलाषाकी जो बात व्यक्त की है, वह वस्तुतः मेरा ही अभिप्रेत (वांछित) है; क्योंकि ब्रह्मा, शिव एवं अन्यान्य लोकपाल मुझसे अब वैकुण्ठवासके लिये प्रार्थना कर रहे हैं॥ १॥

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः॥ २॥

विशेषतः मैं ब्रह्माकी प्रार्थना अनुसार जिस कार्यका सम्पादन करनेके लिये अपने अंशरूपी बलदेवके सहित पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुआ था, वह भूभार हरणरूप—देवताओंका कार्य सब प्रकारसे सम्पन्न हो गया है॥ २॥

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येनां पुरीञ्च प्लावयिष्यति॥ ३॥

अब ब्रह्मर्षियोंके शापसे दग्ध यह यदुकुल परस्पर विवाद एवं युद्ध करके विनष्ट हो जाएगा और आजसे सप्तम दिवस समुद्र इस द्वारकापुरीको डुबो देगा॥ ३॥

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः॥ ४॥

हे साधो उद्धव! मैं जिस क्षण इस पृथ्वीतलका त्याग करूँगा, उसी क्षण यहाँ भयङ्कर कलियुग उपस्थित होगा तथा पृथ्वीके सारे मङ्गल शीघ्र ही नष्ट हो जाएँगे। (जिस स्थलपर श्रीकृष्णसे सम्बन्ध नहीं है, उस स्थलपर मनोधर्मके सङ्कल्प-विकल्प आकर कलिधर्म रूप विवाद एवं तर्क-वितर्क उपस्थित करा देते हैं और आम्नाय श्रौतपथ आक्रान्त होने लगता है।)॥ ४॥

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।
जनोऽभद्ररुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे॥ ५॥

हे भद्र! मेरे इस भूतलसे चले जानेपर तुम्हारा इस स्थानपर रहना उचित नहीं है, क्योंकि कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी॥ ५॥

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्॥ ६॥

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन, बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध सम्पूर्णरूपसे परित्याग करो और सम्यक् रूपसे चित्त मुझमें समर्पण करके समदृष्टि-सम्पन्न होकर पृथ्वीपर सर्वत्र स्वच्छन्द रूपमें विचरण करो। [कृष्ण-सम्बन्धसे (प्रत्येक वस्तुमें कृष्ण हैं और कृष्णमें प्रत्येक वस्तु है) सम्बन्धयुक्त होकर तथा शरीर, वाणी एवं मनके वेगका परित्याग करके पृथ्वीपर जो विचरण करते हैं, वे भगवद्भक्त 'गोस्वामी' कहलाते हैं।]॥ ६॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥ ७॥

हे उद्धव! तुम मन, वचन, नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयीभूत इस विश्वको माया-कल्पित, कालक्षोभ्य और नश्वर समझो॥ ७॥

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्म-विकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥ ८॥

विक्षिप्तचित्त (माया-मोहित एवं मनोधर्मी) मनुष्योंको ही इस जगत्में नाना प्रकारकी वस्तुएँ होनेका भ्रम उत्पन्न होता है और उनका वह भ्रम ही वस्तुतः गुण और दोषयुक्त होता है। जिस व्यक्तिका अन्तःकरण वैसे गुण-दोषोंमें (क्या उत्कृष्ट है, क्या निकृष्ट है) आबद्ध है, उन्हींके लिये कर्म, अकर्म और निषिद्ध कर्मरूप भेदोंका प्रतिपादन हुआ है॥ ८॥

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥ ९॥

इसलिये तुम अन्तःकरण और इन्द्रियोंको वशीभूत करके सुखदुःखमय इस भोग्य जगत्को आत्मामें (भोक्ता जीवमें) अवस्थित जानो एवं आत्माको परमात्मारूपी मुझ नियन्ताके अधीन (मेरे अधिष्ठितरूपमें अर्थात् मेरे नियन्त्रणमें) दर्शन करो॥ ९॥

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभव-तुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥ १०॥

इस प्रकार जब तुम आत्म-ज्ञान (वेद-तात्पर्य-निर्णय) एवं विज्ञानसे (उसके अर्थके अनुभवसे) सम्पन्न हो जाओगे तथा आत्मानुभवके द्वारा (कृष्णसेवानुभवके द्वारा प्रसन्नात्मा होकर देह-देहीके भेदकी कल्पनासे मुक्त होनेपर) तुम्हारा चित्त परितृप्त हो जाएगा, उस समय तुम देवता आदि सभीकी प्रीतिके पात्र हो जाओगे। तब तुम्हारे लिये कोई भी विघ्न-बाधा नहीं रहेगी॥ १०॥

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्त्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११॥

जो लोग गुण और दोष दोनों प्रकारकी बुद्धिसे अतीत हो जाते हैं, उनकी बालकके समान निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्ति और वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु वे निवृत्ति-प्रवृत्ति, गुण विचारकी दृष्टिसे नहीं, परन्तु स्वभावकी प्रेरणासे होती हैं। पूर्वोक्त विवेकी पुरुष भी उसी प्रकार गुण-दोष विचारसे रहित

होकर केवल पूर्व संस्कारके वशीभूत होकर ही निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्त तथा विहित कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। ये जान सकते हैं कि कृष्ण ही एकमात्र सेव्य हैं॥ ११॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥ १२॥

ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, शान्त और समस्त भूतोंमें समदर्शी उक्त विवेकी पुरुष (बुद्धिमान् पुरुष) विश्वको मेरा स्वरूप जानकर पुनः संसार-बन्धनसे ग्रस्त नहीं होते अर्थात् जन्म-मरणके चक्रमें नहीं पड़ते॥ १२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम्॥ १३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार आदेश करनेपर महाभागवत उद्धवजीने उन्हें प्रणाम किया और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया—॥ १३॥

श्रीउद्धव उवाच—

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः॥ १४॥

उद्धवजीने कहा—हे योगेश (कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगके ईश्वर अथवा युक्त-वैराग्य-सम्पन्न भक्तियोगमें अवस्थित भक्तोंके स्वामी)! हे योगविन्यास (अभक्तोंको भी भक्तियोगकी शक्ति प्रदान करनेवाले)! हे योगात्मन् (भक्तियोगसे ही आत्मवृत्ति सुष्ठुरूपसे प्राकट्य प्राप्त करती है, अतः आप (भगवद् वस्तु) ही योगात्मा हैं)! हे योगसम्भव (समस्त योग आपसे ही सम्भव हैं)! आपने मेरे परम-कल्याण-प्राप्तिके लिये ही संन्यासरूप त्यागविधिका (भक्तियोग नामक पारमहंस्य धर्मका) वर्णन किया है॥ १४॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥ १५॥

हे भूमन्! (अनन्त) हे सर्वात्मन्! विषयोंमें आसक्त चित्तवाले पुरुष विशेषतः जो आपके भक्त नहीं हैं, उनके लिये इस प्रकार कामनाओंका त्याग करना—मैं अत्यन्त दुष्कर (कठिन कार्य) समझता हूँ॥ १५॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥ १६॥

हे भगवन्! मैं आपकी मायाके द्वारा रचित इस मायिक नश्वर देहमें, पुत्र, कलत्र आदि विषयोंमें तथा 'मैं' और 'मेरे'की बुद्धिमें अत्यन्त निमग्न हो रहा हूँ, मैं अत्यन्त मूढ़मति हूँ। अतएव मैं आपके द्वारा दिये गये उपदिष्ट विषयोंका अनायास ही साधन कर सकूँ, अपने इस सेवकको ऐसी शिक्षा प्रदान करें॥ १६॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥ १७॥

हे देव! आप स्वप्रकाशतत्त्व एवं सत्यस्वरूप हैं। मुझे इस स्वयंप्रकाश सत्य एवं परमात्मवस्तुके विषयमें उपदेश देनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई दिखायी नहीं देता, क्योंकि ब्रह्मा इत्यादि समस्त जीवोंका चित्त आपकी मायासे मोहित है। वे देह, पुत्रादि बाह्य विषयोंको ही सत्य मानकर उनमें परमार्थ बुद्धि कर लेते हैं॥ १७॥

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमु हे वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

हे भगवन्! इसलिये मैं दुःख-सन्तप्त तथा वैराग्य-युक्त होकर इस समय देश, काल आदि परिच्छेदोंसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, काल आदिसे पराभव-रहित अर्थात् कालादिके वशीभूत नहीं रहनेवाले, वैकुण्ठ लोकमें अवस्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित, जीवोंके कल्याणमें सदा निरत एवं नरके नित्य सखा नारायणरूपी आपके श्रीचरणोंमें शरणागत हो रहा हूँ (आपके अतिरिक्त मेरी और कोई गति नहीं है।)॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ १९॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! इस संसारमें लोक-तत्त्व-विशारद (मङ्गल-अमङ्गलका विचार करनेवाले) मनुष्य प्रायः विवेक-बुद्धिके बलसे अपने चित्तको अशुभ विषय-वासनाओंसे बचा लेते हैं॥ १९॥

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ २०॥

हे उद्धव! मनुष्योंका आत्मा ही अपना विशेषरूपसे गुरु होता है, क्योंकि मनुष्य (जीवन्मुक्त पुरुष) स्वयं ही प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर अपना परम-मङ्गल प्राप्त कर लेते हैं (यह परम-मङ्गल कुछ प्रत्यक्ष रूपमें प्राप्त होता है और कुछ अनुमानके द्वारा।)॥ २०॥

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥ २१॥

इस मनुष्यजन्ममें सांख्य-योग विशारद विवेकी (धीर एवं निर्मत्सर) मनुष्य साक्षात् आविर्भूतरूपमें मेरा (प्रत्यक्ष) दर्शन करते हैं। (शुद्ध भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेमें दक्ष एवं आत्म-तत्पर व्यक्तिको सांख्य-योग विशारद कहा जाता है।)॥ २१॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया॥ २२॥

इस जगत्में एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पदहीन नाना प्रकारके शरीरोंकी सृष्टि हुई है, उनमें मनुष्य शरीर ही पुरुषार्थका (प्रयोजनका) साधक होनके कारण मुझे प्रिय है॥ २२॥

अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३॥

मेरा स्वरूप इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष अगोचर (न ग्रहण किये जाने योग्य) है, तथापि मनुष्य-देहमें अवस्थित जीव अपनी बुद्धि आदि गुणोंके आश्रयसे प्रकाश (प्रत्यक्ष) एवं अप्रकाश (अप्रत्यक्ष) लक्षणों (चिह्नों) के द्वारा उन सबके प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर मेरा सन्धान करते हैं (यह सन्धान सदसत्के हेतुमूलमें जड़-जगत्में प्रकाशित बाह्य कार्य एवं अन्तरस्थ कारणके रूपमें होता है।) भक्तियोगमें लगा मानव बुद्धिके अनुमानादि गुणोंसे भगवान्की खोज करता है। अप्रत्यक्षरूपसे उसे प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धि आदि गुणोंका कोई स्रष्टा है जो सभीका नियमन करता है। भगवान्के नाम तथा यशके कीर्त्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान्की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। भक्तियोगसे इन्द्रियाँ जब दिव्य एवं परिष्कृत हो जाती हैं, तब भगवान्की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। भगवान् कल्पनाकी वस्तु नहीं हैं॥ २३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः॥ २४॥

इस विषयमें (अनुमानगम्य अन्तर्यामीरूपमें प्राप्तिके विषयमें) प्राचीन लोग अमित तेजस्वी (परम विवेकी) एक अवधूत एवं महाराज यदुके संवादका पुरातन इतिहास उदाहरणके रूपमें कहा करते हैं॥ २४॥

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ २५॥

महाराज यदु धर्मवित् थे। वे एक बार निर्भय होकर विचरण कर रहे थे कि उन्होंने परम विवेकी, तरुण वयस्क एक अवधूत ब्राह्मणको देखा और उनसे प्रश्न पूछने लगे॥ २५॥

श्रीयदुरुवाच—

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्त्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ २६॥

महाराज यदुने कहा—हे ब्रह्मन्! आप किसी सत्कर्मका अनुष्ठान तो करते नहीं, फिर भी सर्वलोक-विलक्षण ऐसी बुद्धि आपको कैसे प्राप्त हुई कि जिस बुद्धिके बलपर आप विद्वान् होकर भी बालककी भाँति पृथ्वीपर निर्भयतापूर्वक विचरण कर रहे हैं?॥ २६॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायाञ्च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७॥

इस संसारमें मनुष्य प्रायः आयु, यश एवं ऐश्वर्यकी कामनासे ही धर्म, अर्थ, काम एवं आत्म-तत्त्वके विचारोंमें प्रवृत्त हुआ करते हैं॥ २७॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्त्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८॥

आप समर्थ, ज्ञानी, निपुण, सुन्दर और मधुरभाषी हैं, तथापि जड़, उन्मत्त और पिशाचकी भाँति रहकर किसी भी कार्यके लिये कोई चेष्टा नहीं करते, उसके आचरणकी तो बात ही क्या?॥ २८॥

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः॥ २९॥

इस जगत्में अधिकांश मनुष्य काम एवं लोभके दावानलमें निरन्तर सन्तप्त हो रहे हैं, परन्तु आप तो गङ्गाकी प्रचुर जलराशिमें

स्थित हाथीकी भाँति इस दावानलकी ज्वालाओंके सन्तापसे रहित होकर मुक्तरूपमें अवस्थित हैं॥ २९॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! आप स्त्री-पुत्र इत्यादिसे रहित हैं। विषयभोगोंमें आपकी कोई स्पृहा नहीं है, तब भी आपके हृदयमें इतना आनन्द किस प्रकार स्फुरित हो रहा है? कहाँसे आ रहा है? मैं उसका कारण जानना चाहता हूँ। कृपया आप उसका वर्णन करें॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच—

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! ययाति-पुत्र महाराज यदु परम बुद्धिमान् थे। वे ब्राह्मण-हित-परायण थे। उन्होंने महाभाग ब्राह्मणसे (अवधूतसे) अति सम्मानके साथ इस प्रकार जिज्ञासा की और विनयसे अवनत होकर उनके समक्ष स्थित हो गये। अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदुसे कहने लगे॥ ३१॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान् शृणु॥ ३२॥

दत्तात्रेयजीने कहा—हे राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे इस जगत्में विद्यमान बहुतोंको गुरुके रूपमें स्वीकार किया है, जिनसे ज्ञान प्राप्त करके (उपदेश प्राप्त करके नहीं) मैं संसार-तापसे मुक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरण करता हूँ। मैं उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो॥ ३२॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः॥ ३३॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४॥
एते मे गुरवो राजन् चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५॥

हे राजन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, भ्रमर या मधुमक्खी, हाथी, मधु-हरणकारी व्याध, हिरन, मछली, पिङ्गला नामक वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी, बाण बनानेवाला कोई एक लुहार, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट इन चौबीसोंको मैंने अपने हृदयमें गुरुरूपसे स्वीकार किया है, इनका आचरण देखकर मैंने स्वयं शिक्षणीय विषय ग्रहण किये हैं॥ ३३-३५॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६॥

हे वीर ययातिनन्दन! पुरुषश्रेष्ठ! मैंने इन लोगोंसे—इनके आचरणसे जो शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, उन्हें बतला रहा हूँ, आप श्रवण करें॥ ३६॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७॥

दुःख-सहिष्णु मनुष्य दैवाधीन प्राणियों द्वारा उत्पीड़ित होकर भी यह दैव-प्रेरणावश है—यह जानकर धर्मपथसे विचलित नहीं होते; मैंने प्राणियोंके पदसे आहत निश्चला पृथ्वीसे क्षमाव्रतकी शिक्षा ग्रहण की है। (आधिभौतिक दुःखोंके द्वारा अभिभूत होनेपर जीवमें सहिष्णुता धर्म नहीं रहता, पृथ्वीका धर्म है—सहनशीलता। पृथ्वीको गुरु मानकर मुझे भी सहिष्णु होना चाहिए।)॥ ३७॥

शश्वत् परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८॥

पृथ्वी दो प्रकारकी है—एक पर्वतरूपा और दूसरी वृक्षरूपा। साधु व्यक्ति वृक्ष, तृण, निर्झरादि प्रसव करनेवाले पर्वतोंसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे तथा वृक्षोंसे उनका शिष्य बनकर परोपद्रव-सहिष्णुता एवं पराधीन-जीवनकी शिक्षा ग्रहण करे। (एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाकर रोपण एवं सेचन करनेपर वृक्ष विरुद्ध आचरण नहीं करते।) पर्वतवत् अचलता एवं वृक्षवत् सहिष्णुताके बिना भगवान्‌की सेवा सम्भव नहीं है॥ ३८॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९॥

वायु दो प्रकारकी है—शरीरमें स्थित प्राणवायु और बहिर्जगतकी वायु। प्राणवायु जिस प्रकार रूप-रसादि विषयोंकी अपेक्षाके बिना जीवन-रक्षाके उपयोगीरूपमें केवल आहारादि प्राप्त करके प्रवाहित होती है (इन्द्रियोंके समान भिन्न-भिन्न रूप, रसादिके भोगकी अपेक्षा नहीं रखती), मनस्वी पुरुष भी उसी प्रकार, जिससे ज्ञान विनष्ट न हो और वाणी एवं मन विक्षिप्त न हों, उतनी ही जीविका मात्रसे सन्तुष्ट रहें, इन्द्रियोंकी अभीष्ट वृत्तियों द्वारा सन्तुष्ट रहनेका प्रयास नहीं करें। [अतिशय रुक्ष (रूखा) एवं असंस्कृत आहार द्वारा वाणी एवं मन विक्षिप्त होते हैं। अति स्निग्ध भोजन द्वारा भी आलस्यकी वृद्धि होती है एवं मनमें क्षोभ होता है।]॥ ३९॥

विषयेष्वाविशेन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ ४०॥

योगी पुरुष सुख-दुःख आदि चिन्ताओंसे रहित होकर स्थिर चित्तसे नाना धर्म युक्त (लघु, गुरु, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट गुणोंसे युक्त) विषयोंका भोग करके भी बहिर्वायुकी भाँति सर्वत्र अनासक्त रहे। वायु न तो बन्द गृहमें प्रवेश करती है और न ही दाह-कार्योमें आसक्त होती है, उसी प्रकार योगी-मुनि सर्वत्र अनासक्त रहें॥ ४०॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१॥

वायु जिस प्रकार गन्ध द्वारा लिप्त नहीं होती, आत्म-तत्त्वज्ञ योगी पुरुष भी उसी प्रकार पार्थिव देहोंमें प्रवेश करके और उसके बाल्यादि धर्मोंको ग्रहण करके उसमें आसक्त नहीं होता। वायु जिस प्रकार गन्धको वहन मात्र करती है, गन्ध द्वारा बाध्य होकर अपने धर्मका परित्याग नहीं करती, उसी प्रकार आत्म-तत्त्वज्ञ स्थूल एवं सूक्ष्म देहोंके विषयोंमें (देहाभिराम एवं मनोभिराम क्रियाओंमें) लिप्त न होकर अनासक्त भावसे उनको ग्रहण करते हुए भगवत्-सेवामें तत्पर रहें॥ ४१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२॥

साधक पुरुष देहमें अवस्थित रहनेपर भी अपने ब्रह्म-स्वरूपत्वकी भावना करते हुए आकाशकी भाँति स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंमें (प्राणियोंमें) अधिष्ठातृरूपसे अनुगमन-हेतु सर्वगत (सर्वव्यापी) आत्माके अपरिच्छिन्नत्व एवं असङ्गत्वका चिन्तन करे। तात्पर्य यह है कि परमात्मा देहके भीतर रहकर भी बाहरमें सर्वव्यापी हैं। अतः योगी विशेषज्ञान द्वारा परमात्माके सर्वव्यापकत्वकी आकाशकी भाँति भावना करे। आत्मा व्यापक होनेके कारण स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें ब्रह्मस्वरूपसे व्याप्त है, कोई व्यवधान नहीं है। आकाश सर्वव्यापकत्वके कारण घटादिमें रहकर भी घटादिसे जैसे परिच्छिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा देहमें रहकर भी देह द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३॥

जिस प्रकार मेघ आदि वायु द्वारा प्रेरित होकर आकाशमें विचरण करते हैं, परन्तु आकाश उनसे लिप्त नहीं होता, उन्हें स्पर्श भी नहीं करता (उनमें तात्कालिक मिश्रता दिखती अवश्य है, परन्तु दोनोंका संमिश्रण कभी नहीं होता), उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) भी कालरचित पृथ्वी, जल एवं तेजोमय देहादिमें प्रवेश तो करता है, परन्तु इन पदार्थोंसे लिप्त नहीं होता। (आत्मा अथवा पुरुष स्थूल एवं सूक्ष्म कोष-द्वयसे तात्कालिकरूपमें आबद्ध दिखायी देता है, किन्तु है इन दोनोंसे अछूता ही।)॥ ४३॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्त्तनैः॥ ४४॥

हे राजन्! जिस प्रकार स्वच्छ जलका स्पर्श सभी वस्तुओंको स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार साधकको भी जलके समान स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध (सभी प्राणियोंमें दया एवं मित्रतासे युक्त), मधुर भाषी तथा लोकपावन होना चाहिए। वह तीर्थ-स्वरूप होकर अपने दर्शन, स्पर्श और भगवत्-नाम-कीर्त्तनके द्वारा लोगोंको पवित्र करे॥ ४४॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्द्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्ष्योऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५॥

तेजस्वी, तपप्रभावसम्पन्न (तपस्यासे दीप्त), दुर्द्धर्ष (अचल, जिसे कोई क्षुभित नहीं कर सकता), अपरिग्रहशील (भोक्ष्य-द्रव्यका संग्रह न करनेवाले) मुक्तस्वभाव मुनि समस्त प्रकारकी वस्तुओंका भक्षण (अर्थात् दैवात् कोई निषिद्ध द्रव्य-भक्षण) करनेपर भी अग्निके समान किसी भी प्रकारकी मलिनतासे ग्रस्त नहीं होते। ऐसे परम चेतनामय साधु समस्त विषयोंमें अधिकार प्राप्त करके भी तद्-तद् विषयोंका भोग नहीं करते। नश्वर पदार्थोंमें अभिनिवेश न होनेके कारण वे युक्तात्मा रहते हैं। अपरिग्रह वृत्तिविशिष्ट ये साधु अनासक्त भावसे जितना प्रयोजनीय है, उतना ग्रहण करते

हैं। दृश्यमान् जगत्‌की किसी भी वस्तुसे आकर्षित न होकर वे सभी आकर्षणोंको पराभूत कर देते हैं॥ ४५॥

क्वचिच्छत्रः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥ ४६॥

अग्नि जिस प्रकार किसी स्थलपर (काष्ठादिमें) गूढ़-रूपसे अप्रकट रहती है, तो किसी स्थलपर प्रकाशित, उसी प्रकार साधु भी कहीं तो तमोच्छादित अग्निके समान निज माहात्म्य प्रकाशित नहीं करते और कहीं प्रज्वलित अग्निके समान लोकशिक्षाके लिये अपना विस्तार करते हैं। ये साधु मङ्गल चाहनेवाले बद्ध जीवोंके उपास्यरूपमें उनकी स्तुति आदिको उसी प्रकार स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार अग्नि याज्ञिकों द्वारा प्रदत्त घी आदि हवन सामग्रीको लील जाती है। ऐसे साधुगण दाताओंके भूत एवं भविष्यकी पापराशिको अग्निके समान दग्ध करते हुए सर्वत्र उपहार-द्रव्य ग्रहण करते हैं॥ ४६॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि॥ ४७॥

सर्वव्यापी परमात्मा अपनी मायाके द्वारा रचित देव, मनुष्य, विप्र, शूद्र, तिर्यक् आदि विविध शरीरोंमें प्रविष्ट होकर भी, लकड़ीमें प्रविष्ट अग्निकी भाँति उनके समानरूपकी ही भाँति प्रतीत होते हैं। (अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें प्रविष्ट रहती है, मन्थनके द्वारा प्रकट होती है, उसी प्रकार भगवान् इस जगत्‌में प्रविष्ट रहते हैं, श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति-अभ्याससे प्रकट होते हैं।)॥ ४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना॥ ४८॥

जिसकी गति लक्ष्य नहीं की जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी पन्द्रह कलाएँ घटती-बढ़ती हैं, किन्तु षोडशकलारूप चन्द्रमाके किसी भी प्रकारसे ह्रास एवं वृद्धि नहीं होते, उसी प्रकार

जन्मसे मरण तक जितने भी विकार (अवस्थाएँ) हैं, सब शरीरके ही हैं, आत्माकी कोई विकृति नहीं है, क्योंकि आत्माका शरीरसे सम्बन्ध ही नहीं है—मैंने चन्द्रमासे यही शिक्षा ग्रहण की है॥ ४८॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९॥

अग्निकी ज्वालाएँ जिस प्रकार कालके वेगके प्रभावसे किसी क्षण ऊँची-ऊँची उठती हैं और किसी क्षण लुप्त हो जाती हैं; अर्थात् वायुके समान किसीको भी दिखायी नहीं देतीं (अर्थात् ज्वालाओंकी उत्पत्ति एवं विनाश है, अग्निका नहीं), उसी प्रकार कालके प्रबल वेगसे नदीके प्रवाहकी भाँति प्राणियोंके शरीर क्षण-क्षण उत्पत्ति एवं विनाश आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं, दिखायी नहीं देते। (आत्मा क्षय-वृद्धिके वशीभूत नहीं है। आत्माके सम्बन्धसे देहकी उत्पत्ति एवं विनाश हैं। इस प्रकार अग्निसे मैंने वैराग्यकी शिक्षा ग्रहण की है।)॥ ४९॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०॥

सूर्य जिस प्रकारसे ग्रीष्मकालमें अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल आकर्षण कर लेते हैं और समय आनेपर उसे विसर्जन कर देते हैं, उसी प्रकार योगी पुरुष भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर अर्थात् याचक आदिके उपस्थित होनेपर उसे दान कर देता है, उन वस्तुओंमें वह कभी भी आसक्त नहीं होता अर्थात् योगीका हृदय रूप-रसादि विषयोंसे कभी कलुषित नहीं होता। ('मुझे प्राप्त हुआ, मैंने दान दे दिया'—ऐसा अभिनिवेश उसमें कभी नहीं होता।) यह शिक्षा मैंने सूर्यसे ग्रहण की है॥ ५०॥

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१॥

जलके द्वारा परिच्छिन्न न होनेपर भी सूर्य अपने किरणमण्डलके सहित अभिन्नरूपमें दिखायी देनेपर भी जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर स्थूलबुद्धिविशिष्ट मनुष्योंको अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत उपाधि द्वारा अविच्छिन्न आत्मा स्वरूपमें स्थित रहनेके समय अभिन्नरूपमें ही परिलक्षित होता है, किन्तु भिन्न-भिन्न देहरूप उपाधिमें प्रवेश करनेपर प्रतिबिम्बित सूर्यकी भाँति स्थूलबुद्धिपरायण पुरुष उसे पृथक्‌रूपमें देखते हैं। (जीवकी जब स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकारकी उपाधि परित्यक्त हो जाती हैं, तब जीव वैकुण्ठमें भगवत्-सेवामें निरन्तर नियुक्त रहता है। सेव्य-सेवकका भेद भगवान् एवं भक्तमें नित्य वर्तमान है, इसमें किसी प्रकारकी गुणगत तामसिकता नहीं है अथवा आनन्दके व्याघातकी सम्भावना नहीं है।)॥ ५१ ॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्त्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२॥

किसी भी विषयमें या किसीके साथ अत्यन्त अधिक प्रीति या लालन-पालनादिके कारण उनमें आसक्ति रखना उचित नहीं है। ऐसा होनेपर विवेकहीन (विरहकातर) कबूतरकी भाँति दुःखी होना पड़ता है। कबूतरसे मैंने यह शिक्षा ली है। (नश्वर वस्तुमें स्नेह या आसक्ति क्लेशका कारण होती है।)॥ ५२ ॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्द्धमुवास कतिचित् समाः॥ ५३॥

एक कबूतरने जंगलमें एक वृक्षके ऊपर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी पत्नी कबूतरीके साथ कई वर्षों तक वह उसी घोंसलेमें रहा॥ ५३ ॥

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४॥

गृहधर्ममें आसक्त उस कबूतर और कबूतरीके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। उन्होंने एक-दूसरेको दृष्टि-से-दृष्टि, अङ्ग-से-अङ्ग और मन-से-मनको बाँध रखा था। (भगवद्-विस्मृति ही जड़ स्नेह एवं आसक्तिका कारण है।)॥ ५४॥

शय्यासनाटनस्थानवार्त्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विश्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५॥

हे राजन्! वे विश्वस्त-चित्त होकर एक साथ वनमें साथ शयन करते, साथ उठते-बैठते, साथ ही घूमते-फिरते, साथ रहते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे। (सच्चिदानन्द भगवत्-वस्तुसे पृथक् होनेपर जीवकी इन्द्रिय-तर्पण-वासनारूपी दुर्गति होती है।)॥ ५५॥

यं यं वाञ्छति सा राजन् तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६॥

हे राजन्! कबूतरी अपनी मुसकानभरे दृष्टिपात और मधुर आलाप आदिके द्वारा कपोतकी प्रीतिको बढ़ाते हुए उसकी कृपा-पात्री बनकर उससे जो कुछ चाहती, अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यन्त कष्टप्रद होनेपर भी उसे लाकर उसकी कामनाएँ पूर्ण करता॥ ५६॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती॥ ५७॥

इसके बाद पतिव्रता कबूतरीने पहला गर्भ धारण किया। प्रसवकाल आनेपर उसने घोंसलेमें अपने पतिके समक्ष ही कतिपय अण्डे प्रसव किये॥ ५७॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः॥ ५८॥

समय आनेपर उन अण्डोंमें-से भगवान् श्रीहरिकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सुन्दर अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहित बच्चे उत्पन्न हुए। बच्चोंके अङ्ग अति कोमल थे तथा रोमावलि स्निग्ध थी॥ ५८॥

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः॥ ५९॥

अनन्तर पुत्रवत्सल कबूतर-कबूतरी अपने शावकोंका कूजन एवं मधुर बोली सुन-सुनकर आनन्दमें मग्न हो जाते। वे बड़े प्रेम और आनन्दसे बच्चोंका पालन-पोषण करने लगे॥ ५९॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥ ६०॥

जब वे कपोत-शावक हर्षितभावसे अपने सुकुमार पंखोंसे माता-पिताका सुस्पर्श करते, कूजते, सुरम्य चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर उड़नेका प्रयास करते, तब कबूतर-कबूतरी अतिशय आनन्दमें मग्न हो जाते॥ ६०॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः॥ ६१॥

इस प्रकार विष्णुकी मायासे मोहित होकर कपोत दम्पतिका हृदय परस्पर आसक्त (मोहग्रस्त) रहता। सन्तान-पालनकी व्यग्रताके कारण वे दुःखार्त्त अर्थात् दीनधिय (विवेकशून्य) हो गये थे, परन्तु उनका पालन करते रहे॥ ६१॥

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२॥

कुटुम्ब पालनमें आसक्त कबूतर-कबूतरी एक दिन अपने बच्चोंके लिये भोजन संग्रह करने हेतु वनमें गये और उसकी खोजमें जंगलमें चारों ओर बहुत समय तक विचरण करते रहे॥ ६२॥

दृष्ट्वा तान् लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥ ६३॥

उसी समय एक बहेलिया वनमें भ्रमण करते-करते संयोगवशतः उनके घोंसलेके समीप चला आया। वहाँ घोंसलेके आसपास उसने

कबूतरके बच्चोंको विचरते हुए देखा, तो जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया॥ ६३॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४॥

तदनन्तर सन्तान–पोषणमें सदैव उत्सुक रहनेवाले कपोत–कपोती उनके आहार–संग्रहके लिये वनमें गए थे। वहाँ उन्होंने आहारका संग्रह किया और अपने वास–स्थानपर लौट आए॥ ६४॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकान् जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५॥

तदनन्तर वहाँ कबूतरीने अपने शावकोंको जालमें आबद्ध देखा, जो लौट आयी माताको देखकर जोर–जोरसे रोदन कर रहे थे। तब वह बहुत दुःखी हो गयी और रोते–रोते उनकी ओर दौड़ी॥ ६५॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयञ्चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः॥ ६६॥

भगवान्‌की मायाके प्रभावसे कबूतरीका चित्त स्नेहके प्रगाढ़ बन्धनमें बँधा था। वह शावकोंकी व्यथासे कातर हो उठी और अपनी चेतनता खो बैठी। उन बच्चोंको जालमें आबद्ध देख स्वयं भी उसी जालमें आबद्ध हो गयी॥ ६६॥

कपोतः स्वात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्याञ्चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥ ६७॥

प्राणोंसे भी प्रिय बच्चोंको तथा आत्म–तुल्य (प्राणोंके समान प्रिय) पत्नीको जालमें बँधे देखकर कबूतर अत्यन्त दुःखी हो गया और दीन–हीन होकर विलाप करने लगा॥ ६७॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥ ६८॥

हे जीवो! मैं अल्पपुण्यवान् (अभागा) हूँ—मैं ऐहिक (लौकिक) सुखोंसे अतृप्त हूँ तथा पारलौकिक सुखोंके प्रयासोंसे भी विमुख हूँ। मुझ अल्पपुण्यवान् दुर्मतिकी (महामूर्खकी) दुर्गतिको तो देखो, आज त्रिवर्गसाधनभूत (धर्म, अर्थ, कामका मूल) मेरा यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया॥ ६८॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्य गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥ ६९॥

अहो! मेरी पतिव्रता (मुझ पतिको ही पूज्य देवताके समान माननेवाली), अत्यन्त अनुगता (स्वामी-भक्त अर्थात् मेरी हर आज्ञा माननेवाली) एवं प्राणोंसे अधिक प्रिय भार्या आज शून्यगृहमें मुझे अकेला छोड़कर अपने सीधे-साधे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग जा रही है॥ ६९॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०॥

हाय! मैं अति दीन-दुःखी हूँ, मेरी पत्नी मर गयी, मेरे पुत्र मर गये, मैं विरह-वेदनासे व्यथित हूँ, इतना कष्टप्रद जीवन मैं किसलिये धारण कर रहा हूँ? मैं जीवित रहनेकी इच्छा भी क्यों करूँ?॥ ७०॥

तांस्तथैवावृतान् शिग्भिर्मृत्युग्रस्तान विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१॥

अनन्तर इस प्रकारसे वह मूर्ख, कातरचित्त कबूतर अपने बच्चोंको जालमें आबद्ध, मरणोन्मुख और मृत्युसे छुटकारा पानेका यत्न करते हुए देख करके स्वयं भी जालमें कूद पड़ा॥ ७१॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीञ्च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२॥

अनन्तर हे यदुराजजी! निष्ठुर, लोभी-चित्त व्याध (बहेलिया) इस प्रकार गृहमेधी (गृहमें आसक्त) कबूतर, कबूतरी और उनके

बच्चोंके प्राप्त हो जानेसे बड़ा ही प्रसन्न हुआ और अपनेको सिद्ध-मनोरथ मानकर घरकी ओर चल दिया॥ ७२॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३॥

पूर्वोक्त कबूतर-कबूतरीकी भाँति मैथुन सुखमें निमग्न, दीन, अजितेन्द्रिय व्यक्ति इसी प्रकार अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही आसक्त रहता है, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। वह गृहमेधी कबूतरके समान अपने परिजनोंके साथ मोह-जालमें बँधकर बड़ा कष्ट पाता है॥ ७३॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धेभगवदुद्धवसंवादे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

जो पुरुष विमुक्त अर्थात् अर्गला-रहित, मुक्तिके द्वार-स्वरूप (मुक्तिकी साधनभूत) मनुष्य-देह प्राप्त करके भी कपोतके समान गृहधर्ममें (गृहस्थ-सुख-दुःखमें) आसक्त (लिप्त) हो जाते हैं, पण्डितगण उन्हें 'आरूढ़च्युत' (श्रेयःपथपर आरोहण करके भी पतित होनेवाले) के रूपमें जानते हैं। (मनुष्य इस संसारमें रहते हुए ही नित्य-मङ्गलकी प्राप्तिका प्रयत्न करे—इन आठों—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य एवं कपोतको गुरुयोग्य मानकर कृष्णोन्मुख हो जाए। कृष्णोन्मुखी बुद्धि व्यक्तिको मुक्त होनेका अधिकार प्रदान करती है।)॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सातवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीब्राह्मण उवाच—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः॥ १॥

अवधूत ब्राह्मण श्रीदत्तात्रेयजी कहते हैं—हे राजन्! प्राणियोंको स्वर्ग और नरकमें प्रारब्धके अनुसार बिना माँगे ही जिस प्रकार दुःख उपस्थित होता है, उसी प्रकारसे इन्द्रिय-जन्य सुख भी बिना माँगे उपस्थित हुआ करते हैं। इसलिये विवेकी पुरुष, ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकार भी प्रयत्न नहीं करे। जिस प्रकार दुःख न चाहने पर भी आ ही जाते हैं, उसी प्रकार सुख भी बिना इच्छाके आ ही जाएँगे। इनके लिये चेष्टा करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ १॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥ २॥

अजगरके समान निश्चेष्ट भावसे (बिना किसी प्रयत्नके) रहते हुए अनायास ही जो भी आहार मिल जाए—स्वादिष्ट हो अथवा स्वाद-रहित (रुखा-सूखा), बहुत मात्रामें हो अथवा अल्प परिमाणमें—भोजन करके अपने जीवनका निर्वाह कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'यथा-लाभ' सन्तुष्ट रहना चाहिए॥ २॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनयेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥ ३॥

यदि कभी दैव-इच्छासे भोजन प्राप्त न हो, तो उसे भी प्रारब्ध-भोग (दैव ही इसका कारण है) समझकर विवेकी पुरुष

अजगरकी भाँति निश्चेष्ट रहकर बहुत दिनों तक धैर्यपूर्वक अनाहार ही रहे॥ ३॥

ओजःसहोबलयुतं विभ्रद्देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि॥ ४॥

शरीरमें इन्द्रियबल, मनोबल एवं देह बल—इन तीनोंके रहते हुए भी सर्वदा निश्चेष्ट रहे। जीवन-निर्वाहके लिये व्यर्थके प्रयासोंसे विरत रहे—इससे समय व्यर्थ ही चला जाता है। इन्द्रियोंसे युक्त रहने पर भी बाह्य-विषयोंको ग्रहण करनेके लिये यत्न न करे। (निद्रादिका त्याग करके) भगवत्-चिन्तन इत्यादि स्वार्थ-सम्बन्धी विषयोंमें सर्वदा मनको नियुक्त रखे—यह शिक्षा मैंने अजगरसे ग्रहण की है॥ ४॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्त पारो ह्यक्षोभ्यस्तिमितोद इवार्णवः॥ ५॥

मुनि बाहरसे सर्वदा प्रसन्न रहे एवं अन्तरदेशमें (हृदयमें) समुद्रके समान गम्भीर (जिससे कोई उसके अभिप्रायको न जान सके), दुर्विगाह्य (अगाध अर्थात् उसके मनोभाव दूसरेके लिये अलक्षित हों), दुरत्यय (आध्यात्मिक तेजस्विताके कारण वह अलंघ्य हो), अनन्तपार (स्वरूपाविर्भाव होनेके कारण काल-देशकी सीमाओंसे परिच्छिन्न न हो अर्थात् कभी भी, कहीं भी परिस्थितियोंसे विवश न हो), अक्षोभ्य (कामजयी होनेके कारण अन्यों द्वारा क्षोभसे रहित) एवं रागद्वेषादि विकारोंसे रहित (ज्वार-भाटे एवं तरङ्गोंसे रहित) होकर सलिलपूर्ण समुद्रके समान शान्त रहे॥ ५॥

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६॥

वर्षाकालमें समुद्र नदियोंका सङ्गम प्राप्त करके भी मर्यादाको नहीं लाँघता और ग्रीष्म ऋतुमें उनके (नदियोंके) अभावमें शुष्क नहीं होता। वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक काम्य

पदार्थोंकी प्राप्तिसे न तो प्रसन्न होना चाहिए और न उनके अभावसे दुःखी ही होना चाहिए। ये शिक्षाएँ मैंने समुद्रसे प्राप्त की हैं। श्रीहरि-परायण भक्त तो श्रीहरिके माधुर्यका अनुभव करके हर्षित होते हैं और अनुभवके अभावमें दुःखी होते हैं॥ ६॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ७॥

पतिङ्गा जिस प्रकार अग्निके रूप-विलाससे मोहित होकर उसकी ओर दौड़ते हुए उसमें जा गिरता है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष दैवमाया द्वारा रचित स्त्रियोंको और उनकी विलासमयी चेष्टाओंको देखकर लुब्ध एवं मोहित हो जाता है और पतिङ्गेके समान नरकमें पतित होकर बड़ा कष्ट भोगता है। [पतिङ्गा रूपसे आकर्षित होकर, भौंरा गन्धसे आकर्षित होकर, हाथी शिकारी द्वारा बन्दिनी हथिनीके स्पर्श पानेके लोभसे आकर्षित होकर और मछली रससे (काँटेमें लगे चारेको खानेकी इच्छासे) अपनेको नष्ट कर डालते हैं। मनुष्यको इन पाँचोंसे शिक्षा ग्रहण करके किसी भी प्रकारके आकर्षणसे बचना चाहिए।]॥ ७॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८॥

अविवेकी पुरुष दैवमाया-रचित कामिनी, काञ्चन, भूषण, वसन आदि द्रव्योंकी भोगवासनामें प्रलुब्ध और विवेकबुद्धिरहित होकर पतिङ्गेकी भाँति विनाशको प्राप्त हो जाता है। भोगबुद्धिमें पतित, कर्मकाण्डमें रत एवं अन्याभिलाषीके लिये एकमात्र शिक्षक है—अग्न्यालोक मोहान्ध पतिङ्गा॥ ८॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९॥

भ्रमर विशेष प्रकारकी गन्धके लोभसे एक ही कमल-पुष्पमें बैठा रह जाता है। सूर्यास्तके समय जब वह कमल-पुष्प मुकुलित (बन्द) हो जाता है, तो वह भ्रमर भी उसीमें कैद हो जाता है। इसी प्रकार साधक भी भोजनादि द्रव्योंके लिये किसी व्यक्तिके गुणसे आकर्षित होकर उसीपर आश्रित हो जाता है, तो वह मोहमें बँध जाता है। साधक जितने परिमाणमें भोज्य वस्तु द्वारा जीवन-यात्राका निर्वाह हो सके, उतने ही परिमाणमें किसी एक गृहस्थीको कष्ट दिये बिना कई घरोंसे थोड़ा-थोड़ा भोज्य-द्रव्य संग्रह कर ले। भ्रमर जैसे विभिन्न पुष्पोंसे उनका मकरन्द ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधक भी एक घरसे दूसरे घर जाते हुए (माधुकरी वृत्तिका आश्रय लेकर) देहके निर्वाहके लिये अल्प-अल्प भोज्य करे॥ ९॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०॥

जिस प्रकार भौंरा क्षुद्र, बृहत् आदि नाना पुष्पोंसे मधु संग्रह करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह छोटे और बड़े सभी प्रकारके शास्त्रोंसे उसका सार अंश ग्रहण करे। कई स्थलोंपर देखा जाता है कि मनुष्य श्रीगौरसुन्दरके “लीलावसान” एवं “द्वारकाभ्रमण” इत्यादि बहिर्जगतके विषयों पर चर्चा करके आत्म-वञ्चना करते हैं तथा कोई-कोई मन्दिरके जीर्ण-संस्कारादि कार्योंमें फँसे रहकर समय व्यतीत करते हैं। सार ग्रहण न करनेपर भक्तकी चतुरता सिद्ध नहीं होती॥ १०॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही॥ ११॥

‘यह सायंकालमें भोजन कर लूँगा, यह दूसरे दिन ग्रहण कर लूँगा’—यह सङ्कल्प करके भिक्षासे प्राप्त अन्नादिका सञ्चय करके नहीं रखना चाहिए, हस्त-पात्रमें जितने परिमाणमें अन्न ग्रहण

किया जा सके अथवा उदर-भाण्डमें एक बारमें जितना रखा जा सके, उतना ही भिक्षाके द्वारा संग्रह करना चाहिए। मधुमक्खीकी तरह सञ्चय-प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रयोजनके अतिरिक्त सञ्चय आत्म-विनाशका कारण होता है। अधिक संग्रह करनेपर आसक्तिके कारण मधुमक्खी अपने छत्तेमें ही अटक जाती है। (भगवद्-भजन करने अथवा दूसरोंको करानेके लिये भिक्षाका संग्रह करना तो चाहिए।)॥ ११॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥ १२॥

भिक्षुक सायंकालके लिये अथवा दूसरे दिनके लिये कदापि संग्रह न करे, संग्रह करनेपर उसे मधुमक्खियोंकी भाँति सञ्चित द्रव्योंके साथ ही विनष्ट हो जाना पड़ेगा। (अत्यावश्यक होनेसे यहाँ वाक्यकी पुनरावृत्ति है।)॥ १२॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ १३॥

स्पर्श-विषयमें आसक्ति नाशका कारण है। यह शिक्षा हाथीसे प्राप्त हुई है। साधक मुनि काष्ठमयी स्त्रीमूर्त्तिको देख भी ले, तो पैरसे भी उसका स्पर्श न करे। स्त्रीमूर्त्तिके स्पर्शसे उसे अङ्ग-संसर्गवश हथिनी द्वारा प्रलोभित हाथीके समान विषय-गर्त्तमें पतित एवं बद्ध होना पड़ता है। हाथीका शिकार करनेवाला हस्तिनीको दिखाकर उसे घाससे ढके गड्ढेमें गिराकर अपना कार्य साध लेता है॥ १३॥

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४॥

विवेकी पुरुष कभी भी अपनी मृत्यु-स्वरूप कामिनियोंके संसर्गकी प्रार्थना अथवा कामना न करे, क्योंकि हथिनीमें आसक्त वह बलवान् हाथी उसी हथिनीमें आसक्त दूसरे अधिक बलवान् हाथियों द्वारा मार दिया जाता है। उसी प्रकार वह स्त्री-संसर्गी पुरुष

भी उक्त स्त्रीमें आसक्त और उसके द्वारा आनीत दूसरे अधिक बलवान् जार पुरुषों द्वारा मार दिया जाता है॥ १४॥

न देयं नोपभोग्यञ्च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु॥ १५॥

संसारके लोभी पुरुष कष्टसे धनका सञ्चय तो करते रहते हैं, परन्तु उस सञ्चित धनका वे न तो स्वयं उपभोग करते हैं और न ही किसीको दान देते हैं। मधु निकालनेवाला मनुष्य जिस प्रकार वृक्षके कोटरकी आस-पासकी मधुर ध्वनिसे अवगत होकर तथा मधुमक्खियोंके आवागमनको देखकर उन मधुमक्खियोंके द्वारा सञ्चित मधुको निकाल ले जाता है, उसी प्रकार लोभी मनुष्य द्वारा सञ्चित धनकी टोह रखनेवाला मनुष्य उस लोभीके विविध रूप-लक्षण देखकर एवं भू-गर्भादिमें स्थित गुप्त धनकी वार्त्तासे अवगत होकर उस धनका उपभोग करने लगता है। अतः बुद्धिमान्के लिये संग्रह करना उचित नहीं है—यह शिक्षा मैंने मधुमक्खीसे ग्रहण की है॥ १५॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६॥

निज उद्यम बिना भोग सम्भव है—इस विषयमें मधुहरणकारी मेरा गुरु है। मधुहरणकर्त्ता व्याध जिस प्रकार दूसरेका सञ्चित मधु हरण कर लेता है, उसी प्रकार यति पुरुष भी सुख-भोग-ऐश्वर्यके अभिलाषी गृहस्थोंके कष्टसे अर्जित अर्थ द्वारा निष्पादित अन्नादि भक्ष्य द्रव्योंका पहले भोजन करते हैं अर्थात् बद्ध जीवों द्वारा संग्रहीत एवं सञ्चित वित्तके प्रथम भागको भिक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। (यह बाह्य दृष्टि है, वस्तुतः वे तो इस भिक्षाको भगवत्-सेवाके लिये स्वीकार करते हैं। कहा गया है कि गृहस्थ व्यक्ति पक्व अन्नको ब्रह्मचारी एवं यतिको न देकर स्वयं भोग करता है, तो उसे चान्द्रायण प्रायश्चित करना पड़ता है।)॥ १६॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७॥

वनवासी संन्यासीको कभी भी विषयभोग-सम्बन्धी (ग्राम्य) सङ्गीत नहीं सुनना चाहिए, वह इस बातकी शिक्षा हिरनसे ग्रहण करे, जो व्याधके संगीतसे मोहित होकर बँध जाता है तथा असमय मृत्युको प्राप्त होता है। अतः हिरनोंसे सङ्गीत-आसक्तिरूप दोषकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जड़कर्ण-रसायन ग्राम्यगीत सुनकर संन्यासी भोगपरायण हो सकता है॥ १७॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥ १८॥

हिरनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियोंके विषय-सम्बन्धी नृत्य, गीत और वाद्य देख-सुनकर उनके वशीभूत हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे॥ १८॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥ १९॥

जिस प्रकार आहार्य-रस-विमोहिता मछली काँटेमें लगे हुए माँसके टुकड़ेके लोभसे काँटेको भी निगल जाती है और मृत्युके मुखमें जा पड़ती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपनी दुर्जय जिह्वाके रसमें आसक्त होकर मारा जाता है। यह शिक्षा मैंने मछलीसे सीखी है। जिह्वा-वेगका दास होनेपर कृष्णका भजन नहीं होता॥ १९॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०॥

विवेकी पुरुष उपवासी (निराहार) रहकर प्रायः दूसरी सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु इससे उनकी जिह्वा वशमें नहीं होती। उपवासीका जिह्वा-वेग तो पहलेसे और भी प्रबल हो जाता है। (षड्-रस-सेवन स्थूलरूपसे जिह्वाका कार्य

है।) श्रीव्रजमण्डलके द्वादश वनोंके भ्रमणसे द्वादश प्रकारके सूक्ष्म (भौतिक) रस-संग्रहसे मुक्ति मिल जाती है तथा कृष्णानुशीलनसे श्रीव्रजमण्डलके बारह रसों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, हास्य, वीभत्स, वीर, रौद्र, भय, आश्चर्य, दया) का रसिक हुआ जा सकता है। प्रिय वस्तुसे वञ्चित होने पर जिह्वा अत्यन्त लुब्ध हो जाती है, अतः विवेकी रुचि परिवर्तन करते हुए इन्द्रियों पर सदैव जय प्राप्त करें, रसके वशीभूत होकर प्रेयःपथपर अग्रसर न हों॥ २०॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१॥

मनुष्य जब तक रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को जय नहीं कर लेता, तब तक दूसरी सभी इन्द्रियोंको वशीभूत कर लेनेपर भी वह जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। जिह्वाके वेगको जय कर लेनेपर सभी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो सकती है। जिह्वा वेगको जीतनेके लिये उच्चस्वरसे भगवान्‌के नामका कीर्त्तन एवं भगवत्-प्रसाद-सेवन ही साधन है॥ २१॥

पिङ्गला नाम वेश्यासीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२॥

हे नृपनन्दन! प्राचीन कालमें विदेहनगरीमें पिङ्गला नामक एक वेश्या रहती थी। मैंने उससे कुछ शिक्षा ग्रहण की है, उसे श्रवण करो॥ २२॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारे बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३॥

एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी वेश्या सायंके समय किसी पुरुषको (उपपतिको) अपने रमणस्थानमें लानेके लिये उत्तम रूप धारण करके (अपने हाव-भाव दिखाती हुई) बहुत देर तक अपने घरके दरवाजेके बाहर खड़ी रही॥ २३॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
तान् शुल्कदान् वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुकी॥ २४॥

हे पुरुषवर! उस वेश्याको धनकी आकाङ्क्षा थी। मार्गमें प्रत्येक पुरुषको आते देखकर सोचती कि यह व्यक्ति धनवान् एवं मूल्यदाता है। यही रतिशुल्कदायी मेरा कान्त होगा अर्थात् धन देकर मेरा उपभोग करेगा॥ २४॥

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६॥

मार्गमें आते पुरुषोंको आँखोंसे दूर जाते वह सङ्केत-उपजीवनी (वेश्यावृत्ति ही जिसके जीनेका साधन था) यही सोचती कि कोई धनवान् आएगा और मुझे प्रचुर मात्रामें धन देगा—इस दुराशामें उसे नींद भी नहीं आती, वह घरके द्वारका सहारा लेकर बहुत समय तक खड़ी रहती। वहाँसे वह कभी घरमें प्रवेश कर जाती और कभी पुनः बाहर आ जाती। इसीमें अर्द्ध रात्रि उपस्थित हो गयी॥ २५-२६॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७॥

राजन्! तदनन्तर धनकी आशामें धनी लोगोंकी बाट जोहते-जोहते पिङ्गलाका मुख सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे तीव्र वैराग्य हो गया। अर्थका चिन्तन करते-करते उसमें जो परम वैराग्य उत्पन्न हुआ, वही परिणाममें प्रकृत (वास्तव) सुखकारी हो गया॥ २७॥

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥ २८॥

इस प्रकारसे जब पिङ्गलाके हृदयमें वैराग्यकी भावना उत्पन्न हुई, तब उसने एक गीत गाया। उस गीतको मुझसे सुनिए। वैराग्य ही पुरुषोंके आशारूपी बन्धनको खण्ड-खण्ड करनेके लिये एक तीव्र धारवाली तलवारके समान है॥ २८॥

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९॥

हे राजन्! मनुष्योंके हृदयमें जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह शरीर और उसके बन्धनको परित्याग करनेकी इच्छा उसी प्रकार नहीं करता, जिस प्रकार विज्ञान-रहित अज्ञानी पुरुष ममताके बन्धनको त्यागना नहीं चाहता॥ २९॥

पिङ्गलोवाच—

अहो मे मोहवितर्तिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०॥

पिङ्गलाने यह गीत गाया था—अहो! हाय! हाय! मैं अपनी इन्द्रियोंके वशीभूत हो गयी। मुझे कैसा प्रबल मोह उत्पन्न हुआ है! सभी लोग देखें कि इस मोहके कारण मैं विवेकरहित होकर तुच्छ मनुष्योंके निकट काम्य-प्राप्तिकी आशा कर रही हूँ, यह कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ। (अर्जन-प्रवृत्ति अजितेन्द्रिय मनुष्योंके मोह-विस्तारका कारण है। विवेक उपस्थित होनेपर ही जीवका प्रेयःपथानुगमन श्रेयःपथानुगमनमें परिणत होता है।)॥ ३०॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१॥

मेरी मूर्खताकी चरम-सीमा तो देखो! मेरे निकट ही मेरे हृदयमें रति सुख प्रदान करनेवाले, प्रचुर धन देनेवाले, नित्यकालस्थायी मेरे

प्रियतम जगदीश्वर सर्वदा वर्तमान हैं, तो भी मैं उनकी सेवाका परित्याग करके ऐसे तुच्छ पुरुषोंकी सेवा कर रही हूँ, जो मेरी कामना पूर्ण करनेमें असमर्थ हैं, दुःख-भय-दुश्चिन्ताओंसे ग्रस्त हैं तथा शोक-मोह ही देनेवाले हैं॥ ३१॥

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्त्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२॥

हाय! हाय! मैंने स्त्री-लम्पट, अर्थ-लोलुप (अर्थकी तृष्णासे युक्त), शोचनीय और निन्दनीय लोगोंके निकट रतिसुख और धनकी आशामें अपने शरीरको बेच दिया है। (भोगके उद्दीपक कौशलको साङ्केत्य वृत्ति कहा जाता है। इस कौशलसे उपार्जित वित्त असद् जीविकाके अन्तर्भुक्त माना जाता है।) बड़े दुःखकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय वेश्या-वृत्तिका अवलम्बनकर अपने शरीर और मनको व्यर्थ ही कष्ट दिया है। मुझे धिक्कार है!॥ ३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३॥

हाय! जीवका यह स्थूल शरीर गृहवत् है। यह शरीर अस्थियोंसे निर्मित है तथा वंश (रीढ़की हड्डी), वंश्य (पसलियों) और खम्भों (हाथ-पैरों) से युक्त है अर्थात् यह शरीररूपी घर आड़ी-पड़ी शहतीरों, थूनियों तथा खम्भोंसे बना हुआ है। यह शरीर चाम, रोएँ और नाखूनोंसे आच्छादित है और इसके नौ द्वार हैं, जिनसे निरन्तर मलादि क्षरित होते रहते हैं। आश्चर्य है, मुझे छोड़कर अन्य कौन-सी ऐसी स्त्री होगी, जो मल-मूत्रसे परिपूर्ण इस मनुष्य शरीरको अपना प्रिय कान्त समझकर सेवा करेगी?॥ ३३॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥ ३४॥

इस विदेह नगरमें मेरे समान और कौन विवेकशून्या (महामूर्खा) है, जो आत्मस्वरूप-प्रदाता अखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिका परित्याग करके अन्य मनुष्योंके निकट भोग्यवस्तुओंकी कामना करती हो। (अनित्य वस्तुका सेवन-मूर्खताका परिचायक है।)॥ ३४॥

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५॥

केवल भगवान् अच्युत ही जीवोंके एकमात्र प्रियतम, स्वामी, हितकारी, प्रभु और अन्तर्यामी हैं। मैं आत्मनिवेदन-मूल्यके बदले उन्हें खरीद लूँगी और उनके साथ लक्ष्मीदेवीकी भाँति (लक्ष्मीदेवीके शरणापन्न होकर) विहार करूँगी॥ ३५॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६॥

कालके प्रभावसे निरन्तर आद्यन्तवन्त (आदि एवं अन्तसे युक्त) अर्थात् उत्पत्ति और विनाशशील ये समस्त जागतिक विषय भला क्या सुख प्रदान कर सकते हैं, कामप्रद मनुष्य और देवता अपनी पत्नियोंको सुख प्रदान करनेमें किञ्चित् भी समर्थ नहीं हो सके हैं। वे तो स्वयं कर्मफलसे प्राप्त जन्म-मृत्युरूप कालके शिकार बने हुए हैं। (अतएव इस लोकमें अथवा परलोकमें परमात्मासे बढ़कर कोई सेवनीय नहीं है।)॥ ३६॥

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥ ३७॥

मैं समझती हूँ कि अवश्य ही मेरे किसी (अज्ञात) शुभ कर्मसे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो मेरे दुराशा-ग्रस्त हृदयमें परम कल्याणकारी एवं सुखप्रद वैराग्यका उदय हुआ है॥ ३७॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८॥

मनुष्य वैराग्य उदित होनेपर गृहादि बन्धनोंका परित्याग करके शान्ति प्राप्त करते हैं—आज मेरे हृदयमें भी विरक्तिका उदय हो रहा है। मैं भाग्यशालिनी हूँ, जो मुझे भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त हो रहा है। यदि भगवान् मुझसे प्रसन्न न होते, तो मुझ मन्दभागिनी वेश्याका यह कष्ट इस प्रकार से निर्वेदका कारण न बनता। महान् कष्ट पानेवाला संसारसे विरक्त हो जाता है॥ ३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९॥

इसलिये मैं भगवान् श्रीहरिका यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और ग्राम्य-विषय-सम्बन्धिनी दुराशाओंका परित्याग करके उन्हीं जगदीश्वर श्रीहरिकी शरण ग्रहण करती हूँ॥ ३९॥

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०॥

उनके शरणागत होनेके बाद उनके उपकारों पर विश्वास रखकर, उनके प्रति भाग्यक्रमसे श्रद्धावती होकर जो कुछ भी वस्तु प्राप्त हो जाए, उसीसे सन्तुष्ट होकर जीवन धारण करूँगी एवं अपने हृदयमें विद्यमान रतिप्रद श्रीहरिके साथ विहार करूँगी॥ ४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१॥

इस भवकूपमें पड़े हुए रूप, रस आदि विषयोंके द्वारा अपहृत-विवेक (जिनकी बुद्धिको विषयोंने अन्धा बना दिया है), काल सर्पके मुखमें कवलित जीवोंको उद्धार करनेमें श्रीहरिके अतिरिक्त और कौन समर्थ है? कोई भी नहीं॥ ४१॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४२॥

जब मनुष्य समग्र जगत्‌को इस प्रकारसे काल सर्पके कवलमें कवलित देखता है, तो वह स्वयं विवेकवान् होकर सब प्रकारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर स्वयं ही अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ४२॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी कहते हैं—पिङ्गला वेश्याने ऐसा निश्चयकर उपपति समागमरूप तृष्णा-जनित दुराशाका परित्याग कर दिया और शान्त-चित्त होकर अपनी शय्यापर सो गयी॥ ४३॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे पिङ्गलोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इस संसारमें आशा ही मनुष्योंका परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब कान्त-समागमकी आशाको परित्याग कर दिया, तभी वह सुख-निद्राको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकी॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके आठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीब्राह्मण उवाच—

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत् प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः॥ १॥

अवधूत ब्राह्मण श्रीदत्तात्रेयजीने कहा, हे राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अतिशय प्रिय लगती हैं, उन सबकी आसक्ति ही दुःखका कारण होती है। अतः जो आसक्तिका परिणाम जानकर अकिञ्चन हो जाए, वही परमानन्दकी प्राप्तिमें समर्थ हो सकता है॥ १॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥ २॥

एक बार एक कुरर पक्षी अपनी चोंचमें माँस लिये हुए था कि अलब्ध-माँसवाले कुरर पक्षी माँस प्राप्त करनेके लिये उसपर टूट पड़े, तब इस पक्षीने उस माँसका परित्याग कर दिया और शान्ति प्राप्त की। (भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेके लिये उत्सुक व्यक्ति हिंसा-नीतिका अवलम्बन नहीं करता तथा उसके सुखमें बाधा डालनेवाला उसका कोई शत्रु भी नहीं रहता। कुरर पक्षीका माँस-त्याग यही सिखाता है।)॥ २॥

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३॥

मुझे अपने मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है। गृहस्थ लोगोंकी भाँति अपने घर और परिवार आदिके विषयमें भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, इसलिये मैं बालककी भाँति अपने साथ ही

क्रीड़ा करता हूँ और आत्मतृप्त होकर भूमण्डलमें विचरण करता हूँ। वस्तुतः आत्मा ही एकमात्र लभ्य वस्तु है॥ ३॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४॥

इस जगत्में अज्ञ (भोला-भाला) एवं निश्चेष्ट (उद्यम-रहित) बालक तथा गुणातीत एवं तत्त्वज्ञ पुरुष—ये दो प्रकारके लोग ही चिन्तासे रहित होते हैं और परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। (अज्ञ एवं सर्वज्ञ दोनों ही निश्चिन्त होते हैं।)॥ ४॥

क्वचित् कुमारी आत्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥ ५॥

(कुमारीसे शिक्षाके विषयमें बता रहे हैं) एक बार एक विवाह-योग्य बालिका थी, जिसके पितादि बान्धव घरसे कहीं बाहर गये थे, उसका वरण करनेके लिये कुछ लोग उसके घरमें उपस्थित हुए। उसने स्वयं ही कुश, आसन, जलादि द्वारा उनका आतिथ्य सत्कार किया॥ ५॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥ ६॥

हे पार्थिव! वह बालिका उन अतिथियोंको भोजन करानेके लिये घरके भीतर एकान्तमें शालिधान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पहने हुए शङ्खके कङ्गन परस्पर टकराकर जोर-जोरसे शब्द करने लगे॥ ६॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७॥

धान कूटना दरिद्रताका परिचायक है, इसलिये अतिथियोंके निकट यह अत्यन्त निन्दाकी बात होगी—यह विचार करके उस बुद्धिमती बालिकाने लज्जाके कारण दोनों हाथोंकी कलाइयोंमें शङ्खके दो-दो कङ्गन छोड़कर क्रमशः समस्त कङ्गन तोड़ दिये॥ ७॥

उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्वशङ्खयोः।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्-ध्वनिः॥ ८॥

तत्पश्चात् उक्त बालिका पुनः धान कूटने लगी। उस समय वे शङ्खके दोनों कङ्कन भी परस्पर आघातके कारण पुनः शब्द करने लगे। अब उसने अपने हाथोंसे एक-एक कङ्कन और उतार दिया। एक-एक कङ्कन बचे रहनेसे धान कूटनेपर कोई शब्द नहीं हुआ॥ ८॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम।
लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्त्वविवित्सया॥ ९॥

हे रिपुदमन! उस समय लोक-तत्त्वकी शिक्षा-ग्रहणके लिये समस्त पृथ्वीपर परिभ्रमण करते हुए उस दिन मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने अपनी आँखोंसे स्वयं उस कुमारीको देखकर यह शिक्षा प्राप्त की है—॥ ९॥

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्त्ता द्वयोरपि।
एक एव वसेत् तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः॥ १०॥

हे यदु महाराज! जब बहुत लोग एकत्र वास करते हैं, तब उनमें नाना विषयोंपर परस्पर कलह होता है। दो व्यक्तियोंके साथ रहने पर भी परस्पर वृथा बातचीतमें ही काल अतिवाहित होता है। इसलिये कुमारी कन्याके शङ्ख-वलयके समान अकेले ही विचरण करना चाहिए। (स्निग्ध स्वजातीयाशयोंके साथ भजन करना चाहिए तथा विरुद्ध भावाश्रितोंको छोड़ देना चाहिए, अन्यथा विरोध अवश्यम्भावी है।)॥ १०॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्त्रितः॥ ११॥

मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर सावधानीपूर्वक वैराग्य और भक्ति-मिश्रित अभ्यासयोगके द्वारा अपने मनको वशीभूत कर ले और फिर

बड़ी सावधानीसे उस मनको एक मात्र लक्ष्य-वस्तुमें संयोग कर दे॥ ११॥

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेतत्
शनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२॥

लय-विक्षेपात्मक चित्तके भगवत्-वस्तुमें प्रतिष्ठित होनेपर कर्मवासनाका अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुणका क्रमशः परिहार (त्याग) हो जाता है और सत्त्वगुणकी वृद्धि होने लगती है, जिससे चित्त लय एवं विक्षेपसे रहित हो जाता है और सत्त्वगुण भी क्रमशः क्षीण होता हुआ ईंधनरहित अग्निके समान निर्वाण अर्थात् परमानन्दको प्राप्त करता है। (प्रकृतिके गुणरूपी ईंधनके निवृत्त होनेपर संसाररूपी अग्नि बुझ जाती है। गुण-मुक्त होनेका एकमात्र उपाय है—'मनका निग्रह'। अतः जगदीश्वरमें मनका संयोग कर लेना चाहिए॥ १२॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न विवेद पार्श्वे॥ १३॥

जिसका चित्त परमात्मामें स्थिर हो जाता है, उसे बाहरी और भीतरी किसी भी पदार्थका भान नहीं होता। एक बाण बनानेवाला कारीगर बाणको सीधा एवं तीव्र बनानेमें इतना तन्मय हो गया था कि उसके पासके मार्गसे ही भेरी-ध्वनिके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पता तक नहीं चला। उसी प्रकार साधक पुरुष भी भगवान्में आत्म-समर्पणके समय बाण बनानेवालेके समान चित्तको इस प्रकार तन्मय कर दे कि बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक किसी भी विषयको वह जान ही न पाये॥ १३॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः॥ १४॥

सर्पसे शिक्षाके विषयमें कहते हैं कि साधकको निर्दिष्ट वासस्थानसे रहित अर्थात् स्थिर एवं सुनिश्चित आवासके बिना अकेले ही सर्पके समान भ्रमण करना चाहिए, सावधानीपूर्वक एकान्त-वासी होकर गुहा इत्यादिमें पड़े रहना चाहिए, अलक्ष्यगतिसे (अनदेखा तथा अनजाना) रहकर ऐसा आचरण करना चाहिए कि कोई उसे पहचान न सके। उसे असहाय (किसीकी सहायता लिये बिना) एवं अल्पभाषी होना चाहिए॥ १४॥

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५॥

नश्वरदेहयुक्त प्राणियोंके लिये गृह-निर्माण दुःखकर एवं व्यर्थ ही है। सर्प दूसरोंके द्वारा बनाये गये गड्ढेमें प्रवेश करके सुखपूर्वक वृद्धिको प्राप्त होता है। (अतः भक्तगण भौतिक प्रगतिके लिये प्रयास न करें तथा प्राप्त ऐश्वर्यको भगवान्‌की सेवामें लगावें।)॥ १५॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः॥ १६॥

मैंने मकड़ीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जगत्पति, सर्वाराध्य, सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायण अकेले ही अर्थात् किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके बिना ही अपनी माया शक्तिके द्वारा सृष्टिकालमें इस विश्वकी सृष्टि करते हैं तथा पूर्वसृष्ट इस विश्वको प्रलयकालमें कालरूप अपने अंश (शक्ति) के द्वारा अपने भीतर ही समेट लेते हैं (संहार कर देते हैं)। वे स्वयं ही स्वयंके आधार, अखिल शक्तियोंके आधार, एक (सजातीय चिद्रूपी जीव-भेदसे रहित), अद्वितीय (विजातीय प्रधानादि भेदसे रहित) होकर अवस्थित हैं। [महाप्रलयके बाद महासमष्टि (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों) एवं व्यष्टि जीवोंका

विनाश होनेके कारण वे अद्वितीय हैं, एक हैं, अन्य कोई ईश्वर नहीं है। भगवान् स्वयं अपने ही आश्रय पर रहते हैं।]॥ १६॥

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः॥ १८॥

कल्पके अवसानमें भगवान् अपने प्रभावसे कालशक्तिके द्वारा सत्त्वादि अपनी शक्तियोंको निरपेक्ष साम्यावस्था तक पहुँचा देते हैं, तो भी वे प्रकृति (प्रधान), ब्रह्मादि देवगण, उच्च-नीच, मुक्त एवं बद्ध जीवोंके एकमात्र आश्रय (परमाराध्य अथवा नियन्ता) बने रहते हैं। प्रलयकालमें जगत्-पालनादि व्यापार न रहनेके कारण वे एकमात्र सनातन पुरुष अनुभव एवं परमानन्दरूपमें विद्यमान रहते हैं। किसी भी उपाधिधारी सम्बन्धसे रहित होनेके कारण वे निरुपाधिक कहे जाते हैं; प्रलय कालमें उनकी माया आदि शक्तियाँ निद्रित अवस्थामें रहती हैं (वे स्वयं निद्रित नहीं होते), इसलिये भी वे निरुपाधिक कहे जाते हैं। केवल मात्र अवशिष्ट रहनेके कारण उनका नाम कैवल्य (मोक्ष) है। जीव जब गुणत्रयसे मुक्त होकर भगवान्‌की नित्यसेवामें निरत रहता है, तब वह केवलानुभवानन्द-सन्दोह (अनुभव एवं आनन्दकी समग्रता) एवं उपाधि-रहित व्रजवासरूप कैवल्य पदको प्राप्त होता है अर्थात् उनका साकार दर्शनकर आनन्दके सागरमें लीन रहता है॥ १७-१८॥

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥ १९॥

हे शत्रुदमन! वे भगवान् ही सृष्टिकालमें सर्वप्रथम आत्मानुभवरूप अपनी कालशक्तिके द्वारा अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको क्षुब्ध करते हैं और उसीसे क्रिया-शक्ति-प्राधान्य-युक्त महत्तत्त्वकी अर्थात् प्रधानसूत्रकी रचना करते हैं॥ १९॥

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०॥

सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण जिससे यह सारा विश्व सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत (ग्रथित) है और जिसके द्वारा जीव संसार-दशाको प्राप्त होता है, शास्त्रकार त्रिगुणात्मक विचित्र विश्वको अहङ्कार द्वारा प्रकट करनेवाले उस सूत्ररूप महत्तत्त्वको ही त्रिगुणका कार्य कहा करते हैं। वायु ही सूत्र है। सूत्रसे ही ये लोक-परलोक तथा सभी भूत बँधे हुए हैं। इसी वायुरूप प्राणके द्वारा जीव संसरण करता है॥ २०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा सूत्र जाल फैलाती है, उसी सूत्रपर विहार करती है और पुनः स्वयं ही उसे निगल जाती है, उसी प्रकार परमेश्वर भी अपनेसे इस विश्वका सृजन करते हैं, स्वयं ही उसमें विहार (लीला-विलास) करते हैं और प्रलयकालमें पुनः अपनेमें ही उसका संहार कर लेते हैं—लीन कर लेते हैं॥ २१॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम्॥ २२॥

मैंने भृङ्गी कीटसे यह शिक्षा ग्रहण की है—देही जीव अनुराग, विद्वेष अथवा भयपूर्वक जिन-जिन वस्तुओं या विषयोंके प्रति बुद्धि सहित एकाग्ररूपसे अपने मनको लगा देता है, उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥ २३॥

हे राजन्! जिस प्रकार एक बलवान् कीड़ा (भृङ्गी) किसी दुर्बल कीड़ेको अपने घरमें (छत्तेमें) ले आता है और उसे बन्दी

कर देता है, तो वह दुर्बल कीड़ा भयके कारण अपनेको आबद्ध करनेवाले बलवान् कीटका निरन्तर चिन्तन करता रहता है। परिणामतः अपनी पूर्व देहका त्याग किये बिना ही क्रमशः वह भृङ्गीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार मृत्युके समय जीव जिस ध्येय वस्तुमें एकाग्ररूपसे अपने मनका निवेश कर देता है, वह उसी ध्येय वस्तुकी स्वरूपताको प्राप्त करता है, इस विषयमें कहना ही क्या है? जीव इसी शरीरमें रहते ही अपने स्वरूप-सिद्धिक्रमसे आश्रयजातीय विचारमें प्रतिष्ठित होकर चिन्मयी बुद्धिके प्रभावसे चिन्मय स्वरूप प्राप्त कर सकता है। (भगवान्का ध्यान करते-करते भगवत्-स्वरूप ही हो जाता है।)॥ २३॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४॥

हे राजन्! इस प्रकार मैंने अपनी मतिके अनुसार इन सभी गुरुओंसे ये सभी शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बतला रहा हूँ। उसे तुम सावधानीसे सुनो। (इस शरीरको धारण किये रहनेका फल है—एक दुःखके बाद दूसरे दुःखकी प्राप्ति।)॥ २४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥ २५॥

सर्वदा परिणाममें दुःखप्रद, उत्पत्ति और विनाशशील यह शरीर वैराग्य और विवेककी शिक्षा प्रदान करता है—इसलिये यह मेरा गुरु है; तथापि यह शृगाल-कुत्ते आदिकी भक्ष्य सम्पत्ति अर्थात् भोजन है। (शरीरको 'पारक्यम्'—'दूसरोंके द्वारा खा लिया जानेवाला' इसीलिये कहा गया है।) यह निश्चयकर इस देहके प्रति आसक्ति-रहित होकर केवलमात्र इसके आश्रयमें यथायथ तत्त्वोंका अनुसन्धान करते हुए मैं इस संसारमें विचरण कर रहा हूँ॥ २५॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मः॥ २६॥

जीव नाना प्रकारके कष्टोंको सहकर अर्थ सञ्चय करता है और उस अर्थसे शरीरके सुख एवं भोगादि सम्पादनके लिये उक्त अर्थके द्वारा स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, पशु, भृत्य, गृह एवं आत्मीय स्वजन इत्यादिका विस्तार एवं पालन करता है। आयुष्काल शेष हो जानेपर वही शरीर वृक्षकी भाँति (वृक्ष जिस प्रकार दूसरा वृक्ष उत्पन्न करनेके लिये बीजकी सृष्टि करता है एवं कालके प्रभावसे अपने काष्ठका विनाश कर डालता है) दूसरे शरीरकी सृष्टिके बीजस्वरूप कर्मका सृजन करके स्वयं ही अपने लिये दुःखकी व्यवस्था करके संसार-प्रवाहमें चल देता है॥ २६॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७॥

किसी गृहस्थकी अनेक स्त्रियाँ हों, तो जिस प्रकार प्रत्येक ही पतिको अपनी-अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टा करती है, उसी प्रकार जिह्वा, पिपासा, जननेन्द्रिय, त्वचा, उदर, कर्ण, नासिका, चञ्चल दृष्टि एवं कर्मेन्द्रियाँ उस देहाभिमानी जीवको अपने-अपने विषयोंकी ओर खींचते हैं। अतएव इस गुरुरूपी देहको प्राण धारण मात्रके लिये ही उपयोगी भोजन दान करे, वह भी अनासक्त भावसे, यही देह रूपी गुरुकी सेवा है। जीभ स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है, प्यास जलकी ओर, जननेन्द्रिय स्त्री-सम्भोगकी ओर, त्वचा, उदर और कर्ण क्रमशः—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचते हैं। नासिका कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है, तो चञ्चल नेत्र सुन्दर-सुन्दर

रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ देहासक्त पुरुषको अधःपतनके लिये आकर्षित करती हैं॥ २७॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदन्दशूकान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८॥

भगवान्ने अपनी अचिन्त्य माया-शक्तिके द्वारा वृक्ष, साँप आदि रेंगनेवाले (जन्तु) पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग एवं हिंस्र प्राणी रूप विविध प्रकारके शरीरोंकी—योनियोंकी रचना की, परन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। अन्ततः उन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये उपयोगी बुद्धिसे युक्त इस मनुष्य शरीरकी सृष्टि की। तब वे उससे सन्तुष्ट व आनन्दित हुए॥ २८॥

लब्ध्वा सुदुर्ल्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९॥

अतएव बहुत जन्मोंके बाद जगत्में भाग्यवश पुरुषार्थ-साधक इस अनित्य एवं परम दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मरणशील इस देहका जबतक पतन हो, उससे पहले ही विवेकी पुरुष त्वरित ही निःश्रेयस (परममङ्गल) की प्राप्तिके लिये यत्नवान् हो जाए, क्योंकि विषयभोग तो अन्यान्य अश्व आदि निकृष्ट शरीरोंमें (योनियोंमें) भी सम्भव होते हैं, परमार्थकी प्राप्ति अन्य देहोंमें कदापि सम्भव नहीं है। (शरीरको मरणशील कहनेसे तात्पर्य है कि मृत्यु सदैव इसके पीछे पड़ी रहती है। अतः हे यदु महाराज! आप ही विचार कीजिये कि क्या हेय है और क्या उपादेय।)॥ २९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतः॥ ३०॥

हे राजन्! इस प्रकार बहुत-से गुरुओंके निकटसे शिक्षा प्राप्त करके विज्ञान-प्रदीप मेरे हृदयमें प्रज्वलित रहता है, जिसके आलोकसे मैं परमात्माकी साक्षात्-अनुभवरूप-दृष्टि उपलब्ध करता हूँ। मेरे अन्तःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, मैं आसक्ति-रहित (मुक्त-सङ्ग) हो गया हूँ, अहङ्कारका मुझमें लेशमात्र भी नहीं रह गया है। अब मैं परमात्म-वस्तुमें प्रतिष्ठित होकर इस भूमण्डलमें सर्वत्र स्वच्छन्दरूपसे विचरण करता हूँ॥ ३०॥

नह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥ ३१॥

ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्म-वस्तुका भिन्न-भिन्न रूपोंमें वर्णन किया है। इसलिये केवल एक गुरुसे ही प्राप्त ज्ञान सुप्रचुर और सुदृढ़-सुस्थिर नहीं होता। (मनुष्य अपने गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों एवं प्राप्त शिक्षाओंको सर्वत्र व्यावहारिक उदाहरणके रूपमें देखते हुए पुष्ट करे। वह भक्तिके मार्गमें प्रकाश देनेवाली किसी भी वस्तुका आदर कर सकता है अर्थात् भगवत् सेवा-शिक्षा हेतु व्यावहारिक पदार्थ-ज्ञानकी आवश्यकता हो, तो शिक्षागुरु कई ग्रहण किये जा सकते हैं। मन्त्र-उपदेष्टा गुरु एक ही होना चाहिए।)॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितः स्वर्चितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा, हे उद्धव! अगाध बुद्धिसम्पन्न अवधूत ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने सम्भाषणपूर्वक महाराज यदुके लिये पूर्वोक्त तत्त्वोंका वर्णन किया। तदनन्तर महाराज यदुने उनकी पूजा एवं वन्दना की। दत्तात्रेय उनसे अनुमति लेकर प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे ही चले गये॥ ३२॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे भगवदूद्धवसंवादे अवधूतगीतं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

हे प्रिय उद्धव! हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज महाराज यदु अवधूत दत्तात्रेयजीके उक्त वचनोंको सुनकर सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त होकर सर्वत्र समबुद्धि हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी सारी आसक्तियोंको छोड़कर समबुद्धि हो जाना चाहिए।)॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके नवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

जैमिनिके पूर्व-मीमांसाके मतका खण्डन, ज्ञानका साधन और देहके सम्बन्धमें आत्माकी बद्धताका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! मैंने पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें कहे गये जिस वैष्णव धर्मके विषयमें वर्णन किया है, मेरे शरणागत व्यक्तिको विशेष सावधानीसे समस्त प्रकारकी इतर कामनाओंसे रहित होकर अर्थात् मनोयोगी एवं निष्काम होकर पालन करना चाहिए तथा उस धर्मके अविरोधी वर्ण, आश्रम और कुल-धर्मोंके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करना चाहिए॥ १॥

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम्।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम्॥ २॥

विषयोंमें आसक्त मनुष्य विषयोंको सत्य मानकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये सुखाभिलाषी होकर जो समस्त प्रयत्न करते हैं, उनका विपरीत फल अर्थात् दुःखादिकी प्राप्ति देखकर विशुद्धचित्त पुरुषोंको निष्काम हो जाना चाहिए॥ २॥

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः॥ ३॥

(व्यावहारिक फलोंकी नश्वरताके कारण उन फलोंकी प्राप्ति होना भी अप्राप्तिके समान ही है—यही कहते हैं) विषयोंके चिन्तनमें रहनेवाला निद्रित व्यक्ति स्वप्नमें अथवा जाग्रतावस्थामें

मनःकल्पित जिन विषयोंका (मनोरथोंका) मन-ही-मन साक्षात्कार करता है, वे सभी विषय नाना-वस्तु-विषयक एवं ऐन्द्रियक होनेके कारण जिस प्रकार विफल अर्थात् पारमार्थिक फलसे रहित अर्थात् असत्य (वस्तुशून्य) होते हैं, उसी प्रकार शब्द, रसादि भिन्न-भिन्न विषयोंमें परस्पर भिन्न इन्द्रियोंके द्वारा जिस बाह्य भेदात्मक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वह विफल (व्यर्थ) ही है। गुणमय वस्तुओंकी भेदात्मक पृथक्-पृथक् बुद्धि पारमार्थिक फलसे रहित है। हाँ जो बुद्धि परमेश्वरके आश्रयमें रहती है, वही पारमार्थिक फल प्रदान करती है॥ ३॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्म्मचोदनाम्॥ ४॥

मेरे परायण मनुष्यको प्रवृत्तिरूप काम्य-कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर देना चाहिए, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम तथा नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करना चाहिए (निषिद्ध कर्म तो कदापि नहीं)। अनन्तर आत्मतत्त्वके विषयोंमें भलीभाँति निविष्ट होनेपर निष्काम कर्म सम्बन्धी शास्त्रीय विधि-विधानोंका (विधि वाक्योंका) भी आदर नहीं करना चाहिए। भगवत्-सेवा ही प्रकृत निष्काम कर्म है। जड़भोग लालसासे प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों ही दोषावह हैं, क्योंकि इनमें नित्य भगवत्-सेवाकी कोई बात ही नहीं है॥ ४॥

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ ५॥

मद्गतचित्त होकर अहिंसादि यम-नियमोंका निर्वाह करे। शौच आदिके नियम यदि आत्मज्ञानके विरोधी न हों, तो उनका यथाशक्ति पालन करे। अनन्तर यम-नियमोंके लिये विशेष आग्रह न रखते हुए मेरे तत्त्व एवं स्वरूपको जाननेवाले मेरी ही मूर्त्ति-स्वरूप, शान्त गुरुदेवकी सेवामें नियुक्त हो जाए। हरि-गुरु-वैष्णवकी सेवामें उदासीन रहनेवालेका कभी मङ्गल नहीं हो सकता॥ ५॥

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्॥ ६॥

(गुरुसेवकका धर्म बतलाते हैं) गुरुसेवकको निरभिमान, ईर्ष्या-रहित, लौकिक-विषयोंसे अहंता-ममता रहित, निरालस, गुरुदेवके प्रति अति विश्रम्भ (विश्वास) एवं दृढ़ प्रीतियुक्त, व्यग्रता अर्थात् भौतिक कार्योंमें मोहसे रहित, तत्त्वज्ञानका अभिलाषी, दूसरोंके दोष-अनुसन्धानसे रहित और वृथालाप न करनेवाला होना चाहिए॥ ६॥

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७॥

वह पत्नी, पुत्र, गृह, खेत, स्वजन और धन-सम्पत्ति आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक समान प्रयोजनीयता देखकर कि ये सभी मेरे समान ही भगवान्‌की सेवाके उपकरण हैं—अतः इनमें स्वामित्वकी भावना न रखकर इनसे उदासीन ही रहे तथा स्वयंको नित्य-निरन्तर गुरुकी सेवामें नियुक्त रखे। धन, स्वर्णादि जबतक अपने प्रभुत्वमें होते हैं, तभी तक ममतास्पद हैं, सर्वदा नहीं॥ ७॥

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८॥

जिस प्रकार दाह्य अर्थात् जलाये जाने योग्य अग्नि प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशन होने योग्य अग्निसे सर्वथा पृथक् है, उसी प्रकार यह आत्मा पाञ्चभौतिक जड़ एवं दृश्य स्थूल-शरीर तथा मन-बुद्धि-अहङ्कार आदिसे निर्मित सूक्ष्म-शरीरसे विलक्षण (भिन्न), द्रष्टा, स्वप्रकाशवान् (परापेक्षारहित), नित्य और चेतन है॥ ८॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्ते एवं देहगुणान् परः॥ ९॥

दाह्य-पदार्थोंके अन्तर्गत अग्नि जिस प्रकार तद्-तद् पदार्थकृत (ईंधनकी दशाके अनुसार) आवरण (प्रसुप्ति), प्रकाश (प्राकट्य),

अणुत्व, बृहत्त्व इत्यादि नाना प्रकारके भावोंको (गुणोंको) ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार देहमें प्रविष्ट जीवात्मा भी देहके विविध धर्मोंको स्वीकार कर लेती है। जिस प्रकार काष्ठका ही विनाश है, अग्निका नहीं, उसी प्रकार देहका विनाश है, आत्माका नहीं। अज्ञानके कारण ही हम नित्यस्वरूप आत्मापर शरीरके स्थूलतादि अनित्य लक्षणोंको आरोपित कर लेते हैं कि आत्मा उत्पन्न हो गया, आत्मा मर गया। जिस प्रकार अग्निका ईंधनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार शरीरके किसी भी धर्मका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है॥ ९॥

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः॥ १०॥

ईश्वरके अधीन उनकी अचिन्त्य शक्ति मायाके गुणोंके द्वारा ही इस परोक्ष सूक्ष्म देहकी तथा प्रत्यक्ष स्थूल देहकी रचना हुई है। जीवका इन देहोंसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि देहाध्यासकृत अविद्याके कारण जीवकी जन्म-मृत्युरूप संसार-दशा उत्पन्न होती है। अतएव ईश्वरानुग्रहसे प्राप्त चिन्मय आत्म-ज्ञान ही इस संसार-दशाका छेदन करनेमें समर्थ है॥ १०॥

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम्।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥ ११॥

जीवात्मा इस स्थूल-शरीरके अन्तर्गत होनेपर भी विशुद्ध है और शरीर आदिसे विलक्षण है, इसलिये अपने यथार्थ आत्माके स्वरूपको—आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिए। कार्य-कारण समष्टि-स्थित शुद्ध परमात्म-तत्त्वको विचारपूर्वक जानकर स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर आदिमें जो सत्यबुद्धि हो रही है, उसका क्रमशः परित्याग करना चाहिए॥ ११॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः॥ १२॥

विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य निम्न-स्थित अरणि अर्थात् मन्थनकाष्ठ और शिष्य ऊपर-स्थित अरणि अर्थात् मन्थनकाष्ठ अर्थात् सन्धान हैं, उपदेश-वाक्य मध्यमें स्थित मन्थनकाष्ठ है और उनके संयोगसे उत्पन्न ज्ञानकी प्राप्ति ही सान्धि अर्थात् अग्नि तुल्य है, जो अज्ञान राशिको दग्धकर विलक्षण सुख देनेवाली होती है। गुरु-पदाश्रयसे ही शिष्यके स्वरूप-ज्ञानका उदय होता है, क्योंकि यह स्वरूप-ज्ञान अविद्याग्रस्त जीव एवं विद्यावान् श्रीगुरुदेवके मध्यवर्त्ती स्थानपर स्थित है॥ १२॥

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयञ्च शाम्यत्यसमिद्यथाग्निः॥ १३॥

इस यज्ञमें निपुण शिष्य गुरुसे उपदिष्ट विशुद्ध आत्म-विषयिणीरूप विद्यारूपी अग्निको प्राप्त करके प्रकृतिके त्रिविध गुणोंसे निर्मित विषयोंकी मायाको दग्ध करके भस्मसात् कर देता है। इस विश्वके कारणस्वरूप मायिक गुणोंको दग्ध करनेपर विषयाभावमें (आत्मासे अतिरिक्त कोई भी वस्तु अवशिष्ट न रहने पर) वह उसी प्रकारसे शान्त हो जाता है, जिस प्रकार समिधाके अभावमें हुताशन। इसी विद्याके बलपर वह भगवल्लोकको भी प्राप्त करता है॥ १३॥

अथैषां कर्मकर्त्तृणां भोक्तृणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्॥ १४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः॥ १५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्॥ १६॥

हे उद्धव! यद्यपि पूर्वोक्त सिद्धान्त ही यथार्थ है, जो मैंने तुम्हें बतलाया था, तथापि यदि जैमिनिके मतका अनुसरण करते हुए तुम

कर्म-कर्त्ता एवं सुख-दुःखभोक्ता (अपने सकाम कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखका भोग करनेवाले) जीवोंका बहुत्व (नानात्व), स्वर्गादि भोग-लोक, भोग-काल अर्थात् उनके द्वारा भोगा गया काल, भोग-प्रतिपादक-शास्त्र (भोग प्राप्त करनेके साधन बतलानेवाले शास्त्र) तथा भोक्ता पुरुषका नित्यत्व (सूक्ष्म शरीरका शाश्वतत्व), माला, चन्दन, सुन्दर स्त्री आदि भोग्य-विषयोंकी सम्पूर्ण सामग्रीकी प्रवाहरूपमें यथार्थ नित्यसत्ता एवं घट-पटादि आकारोंके भेदसे विषय-ज्ञानकी उत्पत्ति एवं भेद स्वीकार करते हो, तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। ऐसा माननेसे आत्माकी नित्य सत्ताका ज्ञान न हो सकेगा और न ही जन्म-मृत्युके प्रवाहसे मुक्तिकी सिद्धि सम्भव होगी। इस मतको माननेसे जन्म, मरण, जरावस्था एवं रोग सर्वदा वर्तमान रहेंगे। तुम देहादि पदार्थ एवं खण्ड-कालको नित्य मानते हो, तो सम्पूर्ण प्राणियोंके देहसे सम्बन्ध एवं सम्वत्सरादि खण्ड-कालसे सम्बन्धके कारण अति कष्टप्रद जन्म-मरणादि विकारोंकी निरन्तरताको अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकारसे मीमांसकोंके मतका सार यह है कि जीव स्वभावतः एवं मूलतः कर्मोंका कर्त्ता है और अपने कर्मोंके फलानुसार ही उसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जीव बहुत हैं। उनके द्वारा भोग प्राप्त किये जानेवाला यह जगत्, भोगा गया समय, भोग-प्राप्तिका साधन बतलानेवाला शास्त्र, सूक्ष्म शरीर जिससे जीव भोगोंका अनुभव करता है—ये सभी नानारूपोंमें शाश्वतरूपसे विद्यमान रहते हैं। जीवको पदार्थों एवं स्थितिकी नश्वरता तथा मायाके प्रभावको देखकर विरक्त होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे सृष्टि एवं संहारके प्राकृतिक प्रवाहमें सदैव विद्यमान रहते हैं। जगत् सत्य है, मायामय नहीं। आत्म-ज्ञान शाश्वत नहीं, परिवर्त्तनशील है क्योंकि यह जागतिक वस्तुओंके भेदसे उत्पन्न होता है। उनका मानना है कि मुक्तिकी अपरिवर्त्तनशील स्थिति जीवकी सहज क्रियाशीलताको पंगु बना देती है, जो उसके हितमें नहीं है अतः निवृत्ति-मार्ग रोचक नहीं है, इन्द्रिय-तृप्ति ही एकमात्र लक्ष्य

होना चाहिए। भगवान्‌ने इस दर्शनको भौतिक एवं मिथ्या बतलाते हुए कहाकि यह सिद्धान्त जीवके हितमें नहीं है।॥ १४-१६ ॥

तत्रापि कर्मणां कर्त्तुरस्वातन्त्र्यश्च लक्ष्यते।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः कोन्वर्थो विवशं भजेत्॥ १७॥

विशेषतः इस मतके अनुसार कर्म करनेवाले पुरुषका एवं सुख-दुःख आदि भोग करनेवाले जीवका पारतन्त्र्य ही दिखायी देता है। यदि जीव स्वतन्त्र होता, तो दुःखका फल क्यों भोगता? पराधीन व्यक्तिका निश्चय ही कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, कालकी अधीनतासे जन्म, मृत्यु होते रहते हैं। अधीन पुरुषके विषय सुख प्राप्तिकी अपनी कोई योग्यता नहीं है॥ १७॥

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि।
तथाच दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम्॥ १८॥

तर्क हो सकता है कि जो सम्यक्‌रूपेण कर्म करना जानते हैं, वे सुखी हैं और जो नहीं जानते, वे दुःखी हैं; तो इसपर कहते हैं कि किसी स्थलपर बड़े-बड़े पण्डितोंको भी दुःख प्राप्त होते देखा जाता है और किसी स्थलपर मूर्खोंको भी सुख प्राप्त होते देखा जाता है। अतएव 'मैं कर्ममें कुशल हूँ, इसलिये मैं सुखी रहूँगा'—इसे व्यर्थका अहङ्कार ही समझना चाहिए। (कृष्ण-विमुख जीव पण्डित हो या मूर्ख—दोनों ही अवस्थाओंमें सुख प्राप्त नहीं कर सकता।)॥ १८॥

यदि प्राप्तिं विघातञ्च जानन्ति सुखदुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा॥ १९॥

यद्यपि जीवोंके लिये सुख प्राप्त करने और दुःखको दूर करनेका उपाय जानना सम्भव हो सकता है, तथापि मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, उसके प्रभाव क्षेत्रसे अपनी रक्षा करनेका उपाय सम्भव ही नहीं है॥ १९॥

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।

आद्यातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥ २०॥

जब तक जिऊँगा, तब तक सुखपूर्वक रहूँगा—यदि ऐसा तर्क है, तो मरणासन्न व्यक्तिको कौन-सी भोग-सामग्री अथवा भोग-कामना सन्तुष्ट कर सकती है? जिस व्यक्तिको फाँसीपर लटकानेके लिये वध्य-स्थान पर ले जाया जाता है, उस समय खीर, पकवान अथवा यथेष्ट वस्तुएँ (चन्दन, माला, स्त्री) उसे किस प्रकार सुख प्रदान कर सकते हैं? उसी प्रकार विषय एवं विषयोंसे प्राप्त सुख भी मरणशील पुरुषको सन्तोष प्रदान नहीं कर सकते॥ २०॥

श्रुतञ्च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्द्धासूयात्ययव्ययैः।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम्॥ २१॥

इस लोकमें सुख न हो, तो दूसरे लोकोंमें तो होगा—इसपर कहते हैं—स्वर्गादि सुख भी स्पर्द्धा, असूया, नाश एवं क्षयरूप दोषोंसे दूषित होनेके कारण ऐहिक सुखके समान वस्तुतः दुःखजनक ही हैं। विशेषरूपसे उसको प्राप्त करानेवाले यज्ञादि कर्म प्रभूत (बहुत अधिक) विघ्नोंके कारण उसी प्रकार विफल हो जाते हैं, जिस प्रकार कृषि-कर्म (कीट-दंशन-दोष, औसर भूमि, सूखा, बीज-दोष, पशु-पक्षी आदिके उपद्रव आदि विघ्नोंके कारण) निष्फल हो जाता है॥ २१॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥ २२॥

मान लो, यदि यज्ञ आदि धर्म विघ्न एवं वैगुण्य आदिसे रहित होकर अच्छी तरहसे अनुष्ठित हो भी जायें, तो भी पहले कहे गये धर्मके अनुष्ठान द्वारा प्राप्त स्वर्गादि पद (भोगपरायण भूमि) जिस तरहसे विनष्ट होते हैं, उस विषयमें मैं बतलाता हूँ, श्रवण करो॥ २२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत् तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥ २३॥

यज्ञ करनेवाले मनुष्य इस जगत्‌में यज्ञोंके द्वारा इन्द्र आदि

देवताओंकी आराधना करके स्वर्गपद प्राप्त करते हैं और बादमें वहाँ अपने पुण्य फलसे अर्जित दिव्य भोग्य वस्तुओंका देवताओंकी भाँति उपभोग करते हैं॥ २३॥

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक्॥ २४॥

उसे उसके पुण्यके अनुसार बड़ा ही सुन्दर शरीर मिलता है। वह मनोहर वेश धारण करके सर्वभोगसम्पन्न शुभ्र विमानमें स्वर्गकी अप्सराओंके साथ क्रीड़ा करता है और गन्धर्व लोग भी उसकी स्तुति करते हैं॥ २४॥

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥ २५॥

वह किङ्किणियोंसे (बजती घंटियोंसे) सुशोभित स्वेच्छा-विहारी विमानमें बैठकर उसे जहाँ भी ले जाना चाहता है, वहीं ले जाता है। उस विमानमें आसीन अप्सराओंके साथ प्रसन्नचित्त होकर नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना मुग्ध हो जाता है कि वह यह सोच ही नहीं पाता कि मेरे पुण्य अब समाप्त होनेवाले हैं और भोगोंके अन्तमें यहाँसे मेरा पतन अवश्यम्भावी है॥ २५॥

तावत् स मोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ २६॥

जब तक भोगोंके द्वारा उसके पुण्यकी समाप्ति नहीं होती, तब तक स्वर्गमें गया हुआ व्यक्ति वहाँ देवताओंके समान स्वर्ग-सुखका भोग करता है। अनन्तर पुण्य क्षय होनेपर इच्छा नहीं रहते हुए भी कालकी गतिसे परिचालित होकर उसका अधःपतन होता ही है॥ २६॥

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाऽजितेन्द्रियः।

कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७॥

पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥ २८॥

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥ २९॥

(काम्य कर्मवान्‌की गतिके बाद अब अधर्म-प्रवृत्तिवान्‌की गति बतलाते हैं) जीव यदि असत्-सङ्गके प्रभावसे अधर्ममें निरत हो जाए अथवा अजितेन्द्रिय हो जाए, तो उसके कारण वह कामुक, कृपण, लुब्ध (विषय-तृष्णाओंसे आकुल), स्त्री-लम्पट हो पड़ता है। वह प्राणी हिंसक होकर वेद-शास्त्रके विरुद्ध अविधिपूर्वक पशु-वध (बाज-यज्ञ आदि) करता हुआ भूत-प्रेतोंकी आराधना करने लग जाता है। ऐसी कर्माधीनताके परिणामस्वरूप वह अति घोर अन्धकारमय नरकको प्राप्त होता है। वहाँसे उसे तमोगुणमय स्थावर शरीर प्राप्त होता है और ऐसे स्थावर शरीरसे परिणाममें दुःख देनेवाले कर्मोंका वह पुनः आचरण करता है तथा उन कर्मोंका भोग करनेके लिये उसे तदुपयोगी दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इस तरह घोर अन्धकारमय प्रवृत्ति मार्गमें भटकते हुए उसे बार-बार जन्म पर जन्म और मृत्यु पर मृत्यु प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थितिमें मरणशील पुरुषको क्या सुख प्राप्त हो सकता है?॥ २७-२९॥

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः॥ ३०॥

स्वर्गादि सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्पतक (एक हजार चतुर्युग) है। ऐसे कल्पकालजीवी देवतागण यहाँ तक कि दो परार्द्ध (३१,१०,४०,००,०००००००) सौर वर्ष समय तक जीवित रहनेवाले स्वयं ब्रह्मा भी कालरूपी मुझसे

अपनी पद-च्युतिके कारण भयभीत रहते हैं॥ ३०॥

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥ ३१॥

इन्द्रियाँ परस्त्री-गमनादि पाप एवं देवपूजादि कर्मोंका अनुष्ठान करके अदृष्ट एवं दृष्ट फलोंका सृजन करती हैं। सत्त्व, रजः एवं तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कार्योंमें प्रेरित करते हैं, किन्तु जीव सत्-असत् इन्द्रियों एवं सत्त्वादि गुणोंसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियों एवं गुणोंको ही अपना स्वरूप मान बैठता है और इनसे किये गये मङ्गल एवं अमङ्गल कर्मोंका फल—सुख-दुःख भोगता है॥ ३१॥

यावत् स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि॥ ३२॥

जिस काल-पर्यन्त अहङ्कारादि सृष्टि-क्रममें सत्त्वादि गुणोंका वैषम्य घटित होता है, तब तक इन्द्रियों द्वारा कृतकर्मोंके फलसे उच्च-नीच गति प्राप्तिरूप वैषम्य होता है अर्थात् एक ही जीवात्माको देवता, पक्षी आदि विविध रूपोंकी प्राप्ति होती है। जीव जबतक नाना देह धारण करता रहेगा, तबतक वह कर्मके अधीन रहेगा ही। (कर्माधीन जीवका 'मैं-मेरा' छूटता नहीं है, इसीसे वह पञ्चोपासक होकर विविध वासनाओंका दास हो जाता है तथा भगवान्‌की अचित्-शक्तिसे प्रकटित यह जगत् उसका भोग्य-स्थान बन जाता है।)॥ ३२॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः॥ ३३॥

जो प्रवृति मार्गको ही मङ्गलका कारण मानते हैं, उनका तिरस्कार करते हुए भगवान् कहते हैं—जबतक जीव कर्मके अधीन रहता है, उस काल-पर्यन्त उसे कर्मफलदाता मुझसे संसार-भय रहेगा ही। जो जीव इस गुण-वैषम्य, उसके द्वारा कृत भोग एवं

बहिर्मुख कर्मोंकी सेवा करते हैं, वे शोक-मोहसे ग्रस्त होकर मोहको प्राप्त होते हैं। उन पर मायाकी आवरणी एवं विक्षेपात्मिका दोनों शक्तियाँ आधिपत्य कर लेती हैं और गुणोंसे प्रताड़ित वे 'मूढ़' कहे जाते हैं॥ ३३॥

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥ ३४॥

जब प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ होता है, उस अवस्थामें पुरुषोत्तम वस्तुका अभिज्ञान पूर्णरूपसे विलुप्त हो जाता है और मानव मेरा काल (समस्त गुणोंका उद्रेक एवं नियन्त्रण मुझसे ही होता है), आत्मा (सर्वसाक्षी, सम्पूर्ण), आगम (ज्ञानकी साक्षात् मूर्त्ति), लोक (ब्रह्माण्ड-स्वरूप), स्वभाव (स्ववश होनेके कारण), धर्म (प्रत्येक वस्तुको धारण करनेवाला) इत्यादि विविध नामोंसे वर्णन करते हैं तथा विभिन्न मतवादोंका प्रचार करते हैं॥ ३४॥

श्रीउद्धव उवाच—

गुणेषु वर्त्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥ ३५॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे विभो! जीव गुणोंमें वर्तमान रहकर भी किस हेतुसे गुणों द्वारा सुखादिमें आबद्ध नहीं होता, अथवा अनावृत्त (निर्लिप्त) दशामें किस हेतुसे गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है? (उद्धवजीका तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मामें भी खाना-पीना, सुनना-बोलना आदि पाये जाते हैं, जो कि स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंके कार्य हैं, तो ये दत्तात्रेय, भरतादि प्रकृतिके गुणोंसे क्यों बद्ध नहीं होते और आकाश तुल्य चिन्मय जीव किस हेतुसे भौतिक प्रकृतिके गुणों द्वारा बद्ध हो जाते हैं?)॥ ३५॥

कथं वर्त्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः।

किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥ ३६॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रमः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

बद्ध अथवा मुक्त पुरुष किस प्रकार रहता है? वह कैसे विहार करता है? अथवा वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है? वस्तु-परित्याग (मल-त्याग) आदि कैसे करता है? वह कैसे सोता-बैठता और कैसे चलता है? हे प्रश्नोंके उत्तरोंको जाननेवाले श्रेष्ठ अच्युत श्रीकृष्ण! आप मेरे इन सभी विषयोंसे सम्बन्धित प्रश्नोंका उत्तर दीजिए तथा एक ही आत्मा किस प्रकारसे नित्य बद्ध और नित्य मुक्त हो सकता है, इसके सम्बन्धमें मुझे जो भ्रम हो रहा है, उसका भी उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। (बाहरी शारीरिक क्रियाएँ नित्यबद्ध एवं नित्यमुक्त जीवकी समान होती हैं—इनका पार्थक्य समझसे परे है, अतः स्पष्ट कीजिए।)॥ ३६-३७॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके दसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

बद्ध और मुक्त जीवोंका भेद, भक्तोंके लक्षण और भक्तिके अङ्गोंका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वाद् न मे मोक्षो न बन्धनम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मेरे सत्त्व, रज और तम—तीन गुणरूप उपाधिके (संज्ञाओंके) वशीभूत होनेपर आत्माको बद्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। वस्तुतः—(तात्त्विक दृष्टिसे) आत्माके बन्धन और मुक्तिकी सम्भावना नहीं है। गुण मायामूलक हैं—मायाके कार्य हैं, इसलिये स्वरूपतः मेरा कोई बन्धन अथवा मुक्ति नहीं है—मैं इन दोनोंसे परे हूँ। (भौतिक जगत्के साथ गुणोंका सम्बन्ध मिथ्या कल्पना है। भौतिक शरीर आत्मा नहीं है। अतएव मेरे मतमें बन्धन नहीं है, बन्धनके अभावमें मोक्ष भी नहीं है।)॥ १॥

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यदात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥ २॥

स्वप्न जिस प्रकार बुद्धिका विवर्त्त (सृजन) मात्र है, वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार शोक, मोह, सुख, दुःख एवं देह-सम्बन्धरूप (देह-ग्रहण एवं देह-पातरूप) संसारको मायिकरूपमें (मायाकी सृष्टिके रूपमें) जानना चाहिए, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता नहीं है। 'जागर' एवं स्वाप' दोनों ही कालोंमें बद्धजीव अहङ्कार-विमूढ़ अस्मितामें त्रिगुणसे आकर्षित होकर शोक, मोह, भयादि अथवा देह एवं विपद् इत्यादिके विचारोंमें अवस्थित रहता है। इसके

विपरीत वास्तविक जगत्‌में तो भक्तिके दो ही तत्त्व हैं—विषय एवं आश्रय॥ २॥

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥ ३॥

हे उद्धव! विद्या एवं अविद्या—ये दोनों ही मेरी माया द्वारा रचित, अनादि, मेरी शक्तिकी अंशस्वरूपा हैं। विद्या मोक्षकारिणी है एवं अविद्या बन्धनकारिणी है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इन दोनोंका स्वातन्त्र्य भी नहीं है। ये दोनों वस्तु भी नहीं हैं और वस्तुसे पृथक् भी नहीं हैं॥ ३॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥ ४॥

हे महामते! मैं अद्वितीयस्वरूप हूँ। मेरे अंशसे (विभिन्नांशसे) अनादि जीवको अविद्याके द्वारा बन्धन प्राप्त होता है और विद्याके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। (भगवान्‌की शक्ति तीन प्रकारकी है—परा स्वरूपशक्ति, क्षेत्रज्ञा जीवशक्ति एवं अविद्या शक्ति—इसे 'कर्म' भी कहते हैं। विभिन्नांशपर विद्या एवं अविद्याका प्रचुर प्रभाव रहता है।)॥ ४॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥ ५॥

हे उद्धव! अनन्तर एक धर्मी शरीरमें परमात्मा नियम्य (स्वाधीन) रूपसे और जीव नियन्त्रित (पराधीन) रूपसे अवस्थित हैं। जीव शोकसे युक्त एवं परमात्मा आनन्द धर्मसे युक्त हैं—इस विरुद्धधर्मद्वयविशिष्ट बद्धजीव एवं मुक्त ईश्वर वस्तुका वैलक्षण्य मैं तुम्हें बतला रहा हूँ॥ ५॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ ६॥

चित् धर्ममें ऐक्यमतके कारण अथवा चेतनस्वरूप होनेसे परस्पर सादृश्ययुक्त एवं कभी भी वियुक्त न होनेवाले जीव एवं ईश्वररूपी दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक (क्रमशः आसक्त एवं अनासक्त भावसे) देहरूप अश्वत्थवृक्षके हृदयरूपी घोंसलेमें सख्यभावसे आलिङ्गित होकर अवस्थान करते हैं। उनमें-से एक अर्थात् जीव कर्मफलका भोग करता है और दूसरा अर्थात् ईश्वर कर्मफलका भोग न करके अपने आनन्दमें तृप्त रहकर ज्ञानादि-शक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे अतीत एवं जीवके साक्षीके रूपमें विराजमान रहता है। ईश्वर भोक्ता जीवसे अधिक बलवान है। (इस प्रकार चेतन होनेके कारण जीव और ईश्वर एक समान हैं, परन्तु ईश्वर विभु-चित् हैं और जीव अणु-चित् है। जीव कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर उसके साक्षी हैं, अतएव ज्ञानशक्ति एवं आनन्दके आधार पर दोनों कदापि एक नहीं हैं, इन दोनोंमें नित्य भेद है।)॥ ६॥

आत्मानमन्यञ्च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥ ७॥

साथ ही और भी एक भेद यह है कि कर्मफलका अभोक्ता, नित्य ज्ञानका आश्रय सर्वज्ञ ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और जीव तत्त्वको भी जानते हैं, परन्तु कर्मफल भोक्ता अनभिज्ञ जीव न तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको। इन दोनोंमें-से अविद्यासे युक्त होनेके कारण जीव अनादि कालसे ही नित्यबद्ध है और विद्याप्रधान होनेके कारण ईश्वर अनादिकालसे ही नित्य मुक्त हैं, इन दोनोंमें यह नित्य भेद है। पाप-पुण्यसे मुक्त जीव सम्पूर्णरूपसे भक्तिमान् होनेपर पाप-पुण्यरूप कर्मफलका भोक्ता नहीं होता॥ ७॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥ ८॥

हे उद्धव! ज्ञान-सम्पन्न मुक्त पुरुष संस्कारके (स्वरूपसिद्ध होनेके) कारण देहस्थ होकर भी स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी भाँति स्वप्न-देहके सुख-दुःख फलोंका भोगी नहीं होता; परन्तु अविद्या-ग्रस्त अर्थात् अज्ञ बद्धजीव स्वरूपतः देहगत सुख और दुःखरूपी फलोंका भोगी न होनेपर भी स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिकी भाँति काल्पनिक अथवा स्वप्न-देहके सुख और दुःखका भोगी हुआ करता है॥ ८॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥ ९॥

रागादि दोषोंसे रहित अर्थात् विषयोंमें आसक्तिसे मुक्त विद्वान् व्यक्ति गुणोंसे उत्पन्न इन्द्रियोंके उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेपर भी 'मैं ग्रहण कर रहा हूँ' इस प्रकार अहङ्कार नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि गुण ही गुणोंको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसके विपरीत भौतिक इच्छाओंके कारण जिसका हृदय विकारोंसे भरा पड़ा है तथा इन्द्रियाँ गुणजात विषयोंको ग्रहण करनेमें रत हैं, ऐसा व्यक्ति यदि कहता है कि "मैं कुछ नहीं करता, मैं कुछ ग्रहण नहीं करता", वह कपटी, अधम, वञ्चक एवं महाबद्ध है॥ ९॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्त्तमानोऽबुधस्तत्र कर्त्तास्मीति निबध्यते॥ १०॥

अज्ञानी व्यक्ति प्राक्तन अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके अधीन शरीरमें अवस्थित रहकर 'मैं करनेवाला हूँ'—इस प्रकार मिथ्या अभिमानके वशीभूत होकर गुणोंसे उत्पन्न कर्मोंके द्वारा मोहग्रस्त होकर देह आदिमें आबद्ध रहता है॥ १०॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु
न तथा बध्यते विद्वान् तत्र तत्रादयन् गुणान्॥ ११॥

हे उद्धव! विषयोंसे विरक्त विवेकी पुरुष सोने, बैठने, भ्रमण करने, स्नान करने, देखने, स्पर्श करने, सूँघने, भोजन करने और सुनने आदि सभी क्रियाओंमें इन्द्रियोंको विषय भोग कराके भी स्वयं साक्षीके रूपमें वर्त्तमान रहता है। अतः ऐसा व्यक्ति अविवेकी पुरुषकी भाँति इन कर्मोंसे बँधता नहीं है। अविवेकी पुरुष इन सभी विषयोंको आसक्तिके साथ करता है, इसलिये सुख-दुःखके बन्धनमें बँध जाता है॥ ११॥

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्त्तते॥ १२-१३॥

जिस प्रकार आकाश सर्वत्र अवस्थित रहकर, सूर्य जलमें प्रतिबिम्बित रहकर एवं वायु सर्वत्र प्रवाहित होकर भी कहीं आसक्त नहीं होते, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष प्रकृतिमें अवस्थित रहकर भी उससे अनासक्त रहते हैं, वैराग्यकृत अति तीक्ष्ण तलवारसे सुनिपुण स्वरूप-ज्ञान द्वारा समस्त संशयोंका छेदन कर डालते हैं तथा स्वप्न-दर्शनसे जगे हुए पुरुषकी भाँति इस देहादि प्रपञ्चसे निवृत्त एवं विरक्त हो जाते हैं॥ १२-१३॥

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥ १४॥

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मनः एवं बुद्धिकी वृत्तियाँ—ये सभी सङ्कल्पसे (भौतिक इच्छाओंसे) रहित हैं, जो देहमें रहकर भी शोक, मोहादि देह-धर्मसे मुक्त हैं, ऐसे पुरुष देहमें रहकर भी स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंसे पूर्णतया मुक्तरूपमें अवस्थित रहते हैं।

(भक्तोंके प्राण, इन्द्रिय भगवत्-सेवा तात्पर्यमय होते हैं, अभक्त वासनाके दास होनेसे आबद्ध रहते हैं।)॥ १४॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित् तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५॥

हिंसा-परायण दुर्जन व्यक्ति अथवा उग्र पशु उनके शरीरको पीड़ा पहुँचाए अथवा दैवयोगसे किसी स्थानपर कोई व्यक्ति उनका सम्मान करे—ये पुरुष इन कारणोंसे न तो दुर्जनोंपर अथवा हिंसा-परायण पशुओंपर क्रोध करते हैं और न ही सम्मान करनेवालोंसे सन्तुष्ट होकर आसक्त होते हैं—इसलिये ये 'मुक्तपुरुष' के रूपमें गण्य होते हैं॥ १५॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६॥

जो लौकिक-व्यवहारसे विमुख हैं, समदर्शी हैं, जिनके लिये कोई सत्कर्म करे अथवा असत्कर्म या सत्-वचनोंका उच्चारण करे अथवा असत्-वचनोंका—वे किसीकी स्तुति (प्रशंसा) अथवा निन्दा नहीं करते—ऐसे ही व्यक्ति मुक्त पुरुषके रूपमें गण्य हैं। इनकी अच्छे या बुरे किसी भी कार्यके करने या कहनेमें चेष्टा नहीं देखी जाती॥ १६॥

न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७॥

जीवन्मुक्त पुरुष शरीरके लिये सत् या असत् विषयोंका आचरण, अनुष्ठान, उच्चारण और चिन्तन नहीं करते। सभी कर्मोंसे उदासीन रहकर केवलमात्र आत्माराम स्वरूपमें स्थित होकर जड़की भाँति विचरण करते हैं॥ १७॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ १८॥

जो व्यक्ति शब्द-ब्रह्ममें अर्थात् वेदादि शब्द-शास्त्रोंमें पारङ्गत (पारदर्शी) होकर भी परब्रह्म अर्थात् भगवान्‌की भक्तिमें सुनिपुण न होनेसे ध्यानादिके द्वारा भक्तियोगका सन्धान नहीं करता, तो उसका परिश्रम उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार बिना दूधवाली अथवा दीर्घकालमें प्रसव करनेवाली अथवा वन्ध्या गायके पालन करनेवालेका परिश्रम व्यर्थ होता है। शास्त्र-अभ्यास-जनित परिश्रम भगवत्-सेवामें निष्ठा न होनेके कारण पुरुषार्थप्रद नहीं होता॥ १८॥

गां दुग्धदोहामसतीञ्च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजाञ्च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥ १९॥

हे उद्धव! दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारणी स्त्री, पराधीन शरीर, अधम पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन एवं मेरी लीलादिके वर्णनसे रहित शास्त्र-वाणियोंकी रक्षा करनेवाला उत्तरोत्तर दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है॥ १९॥

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥ २०॥

हे उद्धव! जिन वाणियोंमें जगत्‌के विशुद्धि-जनक, मेरे सृष्टि-स्थिति-प्रलयात्मक चरित और उनसे भी उत्कृष्ट जगत्-प्रेमास्पद राम, नृसिंह आदि अवतार एवं उत्कृष्टतमरूपमें वर्णित सर्वजगत्-मङ्गलकारी मेरे जन्म एवं बाल्य लीलादिका वर्णन नहीं है, बुद्धिमान् पुरुष ऐसी निष्फल वाणियोंको धारण नहीं करते। मेरी चरित-कथासे रहित तो वेद-वाणी भी निष्फल अथवा वन्ध्या है॥ २०॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे॥ २१॥

इस प्रकार निश्चयपूर्वक विचारके (विश्लेषणात्मक बुद्धिके) द्वारा आत्म-विषयमें देहाध्यासका (स्थूल-सूक्ष्म देहाभिमान तथा देव, मनुष्यत्वादिमें नानात्वरूप भेदकी मिथ्या धारणाका) निरास (त्याग) करके मुझमें श्रद्धायुक्त होवे। अनन्तर भक्तिजात विज्ञान द्वारा मुझमें अपना शुद्ध सत्त्वमय चित्त समर्पण करके उपरत हो जाये अर्थात् शान्ति प्राप्त करे॥ २१॥

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥ २२॥

हे उद्धव! यदि परब्रह्ममें निश्चल (विषय-रहित) चित्तको स्थिर न कर सको, तो फलकी कामनासे रहित होकर नित्य और नैमित्तिक सभी कर्म एवं उनके फलको मेरे उद्देश्यसे समर्पण करके निरपेक्ष भावसे रहो॥ २२॥

श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥ २३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥ २४॥

हे उद्धव! श्रद्धालु पुरुष (भक्तिमें श्रद्धावान् ही अधिकारी होता है) मेरे मङ्गलमय, लोकपावनकारी चरित यथा—दधि-चोरी, नवनीत-चोरी, वेणुगीत एवं रासादिका श्रवण, कीर्त्तन एवं निरन्तर ध्यान करे, मेरे जन्मोत्सव, नन्दोत्सव एवं कालिय-दमनादि लीलाओंका नाटक आदि द्वारा बार-बार अभिनय करे। मेरे शरणागत होकर मेरी प्रीतिके लिये धर्म (ब्राह्मण, वैष्णवोंको अन्न एवं वस्त्रादि दान), अर्थ (विष्णु-वैष्णव सेवाके लिये धनका संग्रह), काम (महाप्रसादका सेवन, भगवान्‌के माला, चन्दन, वस्त्रादिको धारण)

इत्यादिका अनुष्ठान करता है, तो सनातन पुरुष मुझमें सनातनी अर्थात् निश्चल प्रेममयी भक्ति प्राप्त करता है॥ २३-२४॥

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्॥ २५॥

सत्सङ्गसे (परम वैष्णवसे नाम, मन्त्र इत्यादि ग्रहण करनेसे) भक्ति प्राप्त करके भक्त पुरुष मेरा ध्यान (नैष्ठिकी उपासना) करते हैं अर्थात् भजन-परायण होते हैं। अनन्तर ध्यानयोगसे महाजनों (साधुओं) द्वारा प्रदर्शित मेरे धाम (परमपद) को अनायास ही प्राप्त करते हैं। (भक्त मेरे ध्यानसे अति शीघ्र ही रुचि, आसक्ति, रति एवं प्रेम भूमिकामें आरूढ़ होकर मेरे धामको प्राप्त करते हैं।)॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता॥ २६॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम्॥ २७॥

श्रीउद्धवने कहा, हे उत्तमःश्लोक! हे प्रभो! (लोग अपनी-अपनी मतिसे साधुओंकी कल्पना करते हैं) आप किस प्रकारके पुरुषको साधु (अपना सच्चा भक्त) मानते हैं? (लोगों द्वारा बहुत प्रकारकी भक्ति दिखायी देती है) आपकी भक्ति कैसी होनी चाहिए, जिसका सन्त (नारदादि) समादर करते हैं? हे पुरुषाध्यक्ष! (महत्-तत्त्वके स्रष्टा प्रथम पुरुष आदिके अध्यक्ष)! हे लोकाध्यक्ष! (परम ऐश्वर्यशाली महावैकुण्ठादि लोकोंके अध्यक्ष)! हे जगत्प्रभो! (मायिक जगत्के लोगों पर अपार करुणा करने हेतु आपका प्राकट्य हुआ है)! मैं प्रणत (शरणागत), अनुरक्त (परम अनुरागी) एवं प्रपन्न (आपके अतिरिक्त अन्य किसीका उपासक नहीं) हूँ, आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर दें॥ २६-२७॥

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥ २८॥

हे भगवन्! आप प्रकृतिसे परे, आकाशतुल्य निर्लिप्त, परम ब्रह्मस्वरूप होकर भी स्वेच्छासे पृथक्-पृथक् रूप धारण करते हैं और अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत होकर उनपर करुणाके लिये उनकी इच्छासे भिन्न-भिन्न अवतार लेते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ २९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ ३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३१॥
आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स तु सत्तमः॥ ३२॥

श्रीभगवान्ने कहा, हे उद्धव! जो कृपालु (दूसरोंके दुःखको न सहन करनेवाला, कृष्ण-भक्ति-वितरणकारी), अकृतद्रोह (स्वयंके साथ द्रोह करनेवालेसे भी द्वेष न करनेवाला), तितिक्षु (अपने प्रति किये गये अपराधको क्षमा करनेवाला), सत्यनिष्ठ (आनन्दकन्द भगवान्की सेवाके अतिरिक्त वृथा कार्योंमें अपनेको नहीं लगानेवाला), अनवद्यात्मा (असूयादि दोषोंसे रहित), समचित्त (सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें समान भावसे रहनेवाला तथा बाह्य घटनाओंसे प्रभावित हुए बिना नित्य-वस्तुके प्रति दृष्टिसम्पन्न), सर्वहितरत (यथाशक्ति सबका उपकार करनेवाला), कामसे अक्षुब्धचित्त (विषयवासनाओंसे जिसका चित्त क्षुभित न होता हो), दान्त (इन्द्रियों पर संयम रखनेवाला), मृदु स्वभाव (जिसके चित्तमें कठोरता नहीं होती), शुचि अथवा सदाचारी (पवित्र एवं सम्यक् आचरण करनेवाला), अकिञ्चन

(अपरिग्रहशील), अनीह अर्थात् लौकिक क्रियारहित, मितभोजी, शान्त (अन्तःकरणको नियन्त्रित रखनेवाला), स्थिर (अपने धर्ममें स्थैर्य धारण करनेवाला), मच्छरणः (मुझे ही एकमात्र शरण माननेवाला), मननशील (मेरे ही आश्रयमें रहनेवाला), अप्रमत्त (सावधान), गभीरात्मा (निर्विकार), धैर्ययुक्त (विपत्‌में धैर्य धारण करनेवाला), जितषड्गुण (भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा एवं मृत्यु रूप षड् धर्मोंको जीतनेवाला), अमानी (मानकी आकाङ्क्षासे रहित), मानद (दूसरोंको सम्मान देनेवाला), कल्प अर्थात् पर-प्रबोधदक्ष (दूसरोंसे हरिभजन करानेमें निपुण), मैत्र अर्थात् अवञ्चक (धोखा न देकर सबसे मित्रता रखनेवाला), कारुणिक (परदुःखमें दुःखी) एवं कवि (सम्यक् ज्ञानी) है, वह मेरे शरणागत रहता है। वेद शास्त्रोंमें मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मोंके अनुष्ठानसे चित्त शुद्धि इत्यादि गुण होते हैं और उनका आचरण न करनेसे दोष होता है—यह जानकर भी उन साधारण धर्मोंको मेरी उपासनामें (ध्यानमें) विघ्नदायक मानकर यही निश्चय करता है कि मेरी भक्तिके बलसे समस्त सिद्धि हो जाएगी। अतः वह समस्त धर्मोंका परित्याग करके मेरी सेवा करता है। ऐसा व्यक्ति भी पूर्वोक्त पुरुषोंकी भाँति उत्तम साधु (भक्त) रूपमें गण्य होता है॥ २९-३२॥

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ ३३॥

जो मेरे सच्चिदानन्दादिगुण-विशिष्ट, असीम (देशकालादिसे अपरिच्छिन्न), सर्वान्तर्यामी-स्वरूपसे अवगत होकर अथवा अज्ञानतापूर्वक ही ऐकान्तिक भावसे मेरी सेवा करता है, मैं उन्हें उत्तम भक्त मानता हूँ॥ ३३॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्त्तनम्॥ ३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥ ३५॥

मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥
यात्राबलिविधानञ्च सर्ववार्षिकपर्वसु।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥ ३७ ॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया॥ ३९ ॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्त्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥ ४० ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ ४१ ॥

हे उद्धव! मेरे श्रीविग्रह तथा मेरे प्रिय भक्तोंका दर्शन, स्पर्श, सेवन-पूजन एवं स्तवन करे और उन्हें प्रणाम करे। मेरे गुण एवं लीलादिका कीर्त्तन करे, उनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करे, निरन्तर मेरा ध्यान करे, जो कुछ प्राप्त हो, वह सब तथा ममतास्पद वस्तुओंको मुझे समर्पण करे, मेरा दासत्व स्वीकार करते हुए आत्मनिवेदन करे, मेरे दिव्य जन्म, चरित एवं लीलाओंका अनुकीर्त्तन करे, जन्माष्टमी आदि पर्वोंका अनुमोदन करे, इष्ट-गोष्ठीके साथ मेरे मन्दिरमें गीत, वाद्य एवं नृत्यके द्वारा उत्सव करे-करावे। सभी प्रकारके वार्षिक पर्वोंके दिन जैसे फाल्गुन पूर्णिमा आदि पर आयोजित दोलयात्रा आदि उत्सवोंमें भाग ले और उसमें विविध वस्त्र, अलङ्कार, मिठाई, माला, चन्दन, पुष्पादि पूजाके उपहार प्रदान करे। वैदिकी एवं तान्त्रिकी दीक्षा-संस्कार ग्रहण करे। एकादशी इत्यादि मेरे व्रतोंका पालन करे। मेरे श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठामें अनुराग एवं श्रद्धा रखे, मेरे उद्देश्यसे फल-दान करे। मेरे लिये उद्यान, उपवन, विहार-क्षेत्र

मन्दिर इत्यादिका निर्माण करे तथा सामर्थ्य न होवे, तो दूसरोंके साथ मिलकर प्रयास करे। निष्कपट होकर सेवककी भाँति धूलादिका मार्जन करे, जलसे लेपन करे एवं शुष्क स्थानों पर गुलाबजलादिसे छिड़काव करे। सर्वतोभद्रमण्डलादिका निर्माण करके मेरे मन्दिरकी सेवा करे। कंजूसी न करे। दम्भ एवं मानका परित्याग करे, अपने द्वारा की गयी भक्तिका प्रचार न करे। मेरे लिये निवेदित किये गये दीपकके आलोकको अपने व्यवहारमें न लावे। दूसरोंके उद्देश्यसे निवेदित वस्तुको मेरे लिये अर्पण न करे। जगत्में जो वस्तुएँ अभीष्ट हों, जो स्वयंको अति प्रिय हों, वे सभी वस्तुएँ मुझे समर्पण कर दे। ऐसा करनेसे दानका अक्षय फल प्राप्त होता है। सुखैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणाका त्याग करे। इन्हीं आचरणोंसे युक्त पुरुष मेरे विचारसे उत्तम भक्त है॥ ३४–४१॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥ ४२॥

हे भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, भूमि, जीव और सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरी पूजाका अधिष्ठान समझना चाहिए॥ ४२॥

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना॥ ४३॥

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः॥ ४४॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥ ४५॥

हे प्रिय उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदके मन्त्रोच्चार, सूक्तपाठ एवं नमस्कार द्वारा सूर्यादि अधिष्ठानोंमें मेरी पूजा करनी चाहिए। घृताहुति अर्थात् हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्य सत्कार द्वारा श्रेष्ठ

ब्राह्मणमें, हरी-हरी घास, उपयुक्त अन्न एवं कण्डुयन आदिके द्वारा गायोंमें, आसक्तिपूर्वक सत्कारके द्वारा बन्धु-बान्धवोंके समान वैष्णवोंमें (उपदेशकको नित्य बन्धु जानकर उसके आदेश-पालन द्वारा), सहृदय एवं प्राणयुक्त होकर ध्यान-निष्ठाके द्वारा हृदयाकाशमें, विष्णु-बुद्धि द्वारा मुख्य प्राण-वायुमें, पुष्प, तुलसी-दल एवं द्रव्य जल (द्रव्यके मालिन्यका परिष्कार करते हुए जल प्रयोग द्वारा) जलमें, बीज (रहस्य अर्थात् गुह्य) मन्त्रोंके न्यास द्वारा (लेपनादि द्वारा, संस्कृत भूमि पर यन्त्र अङ्कन करके रहस्यमन्त्र लिखकर) भूमिमें, जीवात्माको शास्त्रविहित भोग-प्रदान द्वारा (यह मेरी आत्मा मेरे प्रभुका अधिष्ठान है, इस बुद्धिसे भोग प्रदान) द्वारा निजदेहमें, समदर्शन द्वारा अर्थात् समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीस्वरूपसे क्षेत्रज्ञ परमात्मा विराजमान हैं—इस बुद्धिसे मेरी आराधना करे। (इन सबको भगवत्-सम्बन्धसे ही पूज्य मानना चाहिए।) ॥ ४३-४५ ॥

धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः॥ ४६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त अधिष्ठानोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित मेरी चतुर्भुज, शान्त मूर्त्तिका ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त होकर मनोयोगके साथ मेरा पूजन करे। (अद्वय-ज्ञान अथवा एकाग्रताके अभावमें भगवद्-अर्चन नहीं होता, बल्कि विषय-भोग मात्र ही होता है।) ॥ ४६ ॥

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥ ४७॥

जो इष्ट (अपने शुभके लिये यागादि) एवं पूर्त्त (परोपकारार्थ कूप-खनन) इत्यादि विधियों द्वारा एकाग्रचित्त होकर मेरी पूजा करते हैं, वे मेरी स्थिर-भक्ति प्राप्त करते हैं। तदनन्दतर साधु-सेवाके कारण मद्-विषयक ज्ञानका उदय होता है। (ज्ञातव्य है कि भगवान्की सेवाके उद्देश्यका परिहार करके जो इष्टापूर्त्त कार्योंमें

आत्मनियोग करते हैं, वे वञ्चित होते हैं। तपस्या आत्म-मङ्गलका कारण नहीं है, परन्तु शुद्ध भगवदनुशीलन ही परम-चरम कल्याणका एकमात्र कारण है।)॥ ४७॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामहम्॥ ४८॥

हे उद्धव! क्योंकि मैं साधु-वैष्णव अर्थात् भक्तोंका परम आश्रयस्वरूप हूँ, इसलिये साधु-सङ्गसे उत्पन्न भक्ति-योगके अतिरिक्त संसार-सागरको पार करनेका और कोई उत्कृष्ट उपाय नहीं है। (सत्सङ्गके प्रभावसे भगवत्-सेवा धर्ममें अवस्थित होनेपर सम्पूर्णरूपसे अभिधेयकी सिद्धि होती है।)॥ ४८॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

हे यदुनन्दन उद्धव! तुम मेरे सेवक, सुहृत्, प्रिय एवं सखा-स्वरूप हो। इसलिये अब मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय होनेपर भी एक परम गुह्य तत्त्व बतलाऊँगा, तुम उसे सावधान होकर सुनो॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

साधुसङ्गकी महिमा और व्रजवासियोंके प्रेमकी सर्वोत्कर्षताका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥ १॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥ २॥

श्रीभगवान्‌ने कहा, हे उद्धव! सत्सङ्ग (भगवान् पुरुषोत्तमके भक्तोंका सङ्ग) समस्त विषयोंकी आसक्तिका विनाश करनेवाला है, इसलिये यह मुझे जिस प्रकारसे वशीभूत करता है, उस प्रकारसे आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्ग योग, आत्मा-अनात्माका पार्थक्यज्ञानरूप सांख्य, अहिंसादि साधारण धर्मोंका अनुष्ठान, वेदपाठादि स्वाध्याय, कष्टसाध्य तपस्या, संन्यासरूप त्याग, अग्निहोत्र यागादि इष्टकर्म, कूप-खननादि पूर्त्तकर्म, दक्षिणारूप सामान्य दान, चातुर्मास्यादि व्रत, देवपूजारूप यज्ञ, सरहस्य मन्त्र, तीर्थ, नियम अथवा यम—ये सब मुझे वशीभूत नहीं कर सकते॥ १-२॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना खगाः मृगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥ ३॥

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे युगे॥ ४॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥ ५॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥ ६॥

हे उद्धव! सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—सभी युगोंमें, केवल मात्र सत्सङ्गके प्रभावसे ही रजः, तमः स्वभाववाले तथा अन्य लोगोंने भी मुझे प्राप्त किया था। यातुधान (असुर) यथा वृत्रासुर, प्रह्लादको पूर्व जन्ममें श्रीनारदका सङ्ग प्राप्त था। वृषपर्वा माताके द्वारा परित्यक्त होकर मुनि-पालित विष्णु-भक्त हुए, बलिको प्रह्लाद महाराजका सङ्ग, बाणासुरको बाण-छेदनके समय कृपालु महादेवका सङ्ग, मयदानवको सभा-निर्माणके समय पाण्डवोंका सङ्ग, विभीषणको हनुमान्‌का सङ्ग, सुग्रीवादिको लक्ष्मणका सङ्ग, गजराजको पूर्वजन्ममें नारदादिका सङ्ग तथा जटायु पक्षीको गरुड़ एवं दशरथका सङ्ग प्राप्त हुआ था। वणिक् तुलाधारकी कथा महाभारतमें प्रसिद्ध है। धर्म व्याध पहले ब्रह्मराक्षस था, (वराहपुराण) जिसे किसी वैष्णवराजाका सङ्ग प्राप्त हुआ था। कुब्जाको पूर्वजन्ममें नारद-सङ्ग प्राप्त था (हरिवंश-पुराण)। मुनिचरी गोपियोंको पूर्वजन्ममें साधु-सङ्ग एवं इस जन्ममें नित्यसिद्ध गोपियोंका सङ्ग, यक्षपत्नियोंको क्रय-विक्रयके लिये मथुरा-गमनकालमें श्रीकृष्णकी दूतियों (माली एवं ताम्बूली) व्रजस्त्रियोंका सङ्ग प्राप्त हुआ था। यथार्थतः सत्सङ्गके प्रभावसे सभीकी अयोग्यता दूर हुई है तथा पुरुषोत्तम भगवान्‌की सेवा प्राप्त हुई है॥ ३-६॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः मत्सङ्गान्मामुपागताः॥ ७॥

उन सबने न तो वेदका अध्ययन किया था, न विधिपूर्वक महत्पुरुषोंकी सेवा या उपासना की थी। अत्यन्त कष्टपूर्ण चान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी, मात्र सत्सङ्गके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये (साधुओंका सङ्ग ही मेरा सङ्ग है।)॥ ७॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥ ८॥

इनमें-से वृत्रासुर आदि अन्यान्यका शुद्ध भावमें कुछ साधनान्तर रहे हों (दूसरे कोई साधन अपनाये गये हों), परन्तु गोपियोंने मधुर रससे, व्रजकी गौओंने वात्सल्य रससे, गोवर्द्धन आदि पर्वत एवं हिरनोंने सख्य रससे, वृन्दावनीय तरु-गुल्मादि (झाड़ियों) एवं कालियनाग आदिने साध्य-साधनादि विषयमें अज्ञ होनेपर भी दास्य रससे मुझे प्राप्त किया है। यमलार्जुन आदिने सत्सङ्गसे प्राप्त अनन्यभावके कारण अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर ली। ये सभी शुद्ध प्रेमसे अर्थात् ज्ञान, कर्मादिसे अमिश्रा निष्काम भक्ति-भावके कारण कृत्कृत्य हुए हैं॥ ८॥

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥ ९॥

किन्तु अन्यान्य साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुति-व्याख्या, वेद-पाठ तथा संन्यास आदि कष्टपूर्ण साधनोंका सुष्ठुरूपसे प्रयत्न करके भी मुझे प्राप्त नहीं कर सके॥ ९॥

रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥ १०॥

उद्धव! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय मुझमें प्रगाढ़रूपसे अनुरक्त प्रेमकी षष्ठी भूमिकामें (चरणावस्थामें) स्थित गोपियोंका हृदय तीव्र एवं दुःसह विरह-तापसे सन्तप्त हो रहा था। उन्हें मेरे मिलनके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु सुखकर प्रतीत नहीं होती थी॥ १०॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।

क्षणार्द्धवत् ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥ ११॥

हे उद्धव! जब मैं वृन्दावनमें रहता था, तब इन गोपियोंने अपने प्रियतमस्वरूप मेरे साथ रासके समय बहुत-सी रात्रियाँ आधे क्षणके समान सुखपूर्वक व्यतीत कर दीं और मेरी विरह-दशामें वे ही रात्रियाँ उन्हें कल्पके समान सुदीर्घ प्रतीत होने लगी। (गोचारणके लिये जाता था, तब भी वे एक-एक क्षणको शत-शत युगके समान मानती थीं और मेरे विरहमें चार प्रहरकी रातको बहुत कल्पोंके समान मानती थीं।)॥ ११॥

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥ १२॥

जैसे मुनि समाधियोगमें आत्मवस्तुमें चित्तके लय होनेके कारण (मेरी अनुभूतिके फलस्वरूप) नाम-रूप आदि उसी प्रकार विस्मृत कर देते हैं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपना नाम-रूप सब खो देती हैं। इसी तरह गोपियाँ भी मुझमें दृढ़ भावसे आसक्त-चित्त होनेके कारण अहङ्कारास्पद निज देह, ममतास्पद पति, पुत्र इह लोक अथवा परलोक कुछ भी नहीं जानती थीं। (ज्ञातव्य है कि विस्मरण अंशके लिये ही मुनियोंका दृष्टान्त है, भगवत्-प्राप्तिके सन्दर्भमें नहीं।)॥ १२॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥ १३॥

वे सैकड़ों-हजारों गोप-रमणियाँ मेरे वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ थीं (मेरे महामाधुर्यका अनुभव उनको होता था, परन्तु मेरे परम ऐश्वर्यका ज्ञान उनको नहीं था) तथा रतिप्रद (रमण)—जार (उपपति) —भावसे मेरी कामना करती थीं। उद्धव! मेरे सङ्गके प्रभावसे वे

मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गयीं। (परम पुरुषका एकमात्र आश्रय ग्रहण करनेके कारण उनकी सभी क्रियाएँ सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्टरूप-से, सबसे ऊपर अवस्थित हैं।)॥ १३॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ १४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥ १५॥

इसलिये हे उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध (प्रवृत्ति-निवृत्ति), सुनने योग्य और सुने हुए सभी विषयोंका परित्यागकर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामीस्वरूप मुझ एकको ही सर्वात्मभावसे शरण ग्रहण करो। ऐसा होनेसे ही तुम मेरे द्वारा सर्वथा अभय हो जाओगे। (न तो तुम्हें संसारका भय रहेगा और न ही कर्म, ज्ञानमें अधिकारका।)॥ १४-१५॥

श्रीउद्धव उवाच—

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्त्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥ १६॥

यह सुनकर उद्धवने कहा—हे योगेश्वरेश्वर! आपके द्वारा कहे गये वचनोंको सुन तो रहा हूँ, फिर भी मेरे हृदयका संशय अभी तक दूर नहीं हो रहा है; इसलिये मेरा मन भटक रहा है। (समस्त कर्मोंसे निरपेक्ष होना कर्मका अधिकार प्राप्त होना है, श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌के अधीश्वर हैं—यह जानना ज्ञानका अधिकार है एवं उनके पूर्णरूपसे शरणागत हो जाना भक्तिका अधिकार है। श्रीकृष्णने उद्धवको ये तीनों अधिकार प्रदान किये हैं।) (उद्धवके संशयका कारण है कि सनकादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कई प्रकारके उपदेश दिये हैं, यथा—मनुष्यको एकमात्र भगवान्‌की शरण ग्रहणकर वर्णाश्रम प्रणालीके अन्तर्गत निष्काम भावसे अपने कर्त्तव्य करने चाहिए—उद्धवने इसे ज्ञान-मिश्रा

भक्तका उपदेश माना), इसके बाद भगवान्‌ने क्रमशः कहा—भक्तिके बिना मनन-चिन्तन पूर्ण नहीं हो सकता; मनुष्यको श्रद्धाके साथ भगवान्‌की महिमाका श्रवण एवं कीर्त्तन करना चाहिए, भक्तोंका सङ्ग करना चाहिए, भक्तिके बिना मोक्षका प्रयास व्यर्थ है, भक्तोंका आनुगत्य करे, सकाम कर्मों एवं मनोकल्पनाओंका त्याग करके मेरी शरण ग्रहण करे। अतः उद्भव मोहग्रस्त हो रहे हैं।)॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥ १७॥

श्रीभगवान्‌ने कहा, हे प्रिय सखा उद्धव! (वेदके रूपमें चतुर्मुख ब्रह्माके चार मुखोंसे मैं ही आविर्भूत हुआ हूँ। इस स्थलपर 'जीव' शब्दका अर्थ है, जो सबको जीवन दान करते हैं—ऐसे परमेश्वर।) आधार चक्रमें अभिव्यक्तिशील ये अपरोक्ष परमेश्वर परा नामक नादयुक्त प्राणके साथ गुहा अर्थात् आधार चक्रमें प्रविष्ट होते हैं। (परमात्माके अपरोक्ष होनेका कारण है आधार आदि चक्रोंमें जिनकी प्रसूति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है।) उसके बाद 'पश्यन्ति' नामक मणिपुर चक्रमें तथा मध्यमा नामक विशुद्ध चक्रमें मनोमय सूक्ष्मरूपको प्राप्त होते हैं। उसके बाद मुख-विवरमें ह्रस्वादि मात्रा, उदात्तादि स्वर एवं अकारादि वर्ण-क्रमसे अति स्थूल भावमें (वैखरी वाणीके रूपमें) नाना वेद-शाखारूपमें प्रकाशित होते हैं। तात्पर्य यह है कि परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा नामसे प्राण, मन एवं बुद्धि स्थानीय आधार चक्र, नाभिचक्र एवं हृदयचक्रमें स्फूर्त्ति प्राप्त होनेपर भी बाहरसे प्रकाशित नहीं होते, 'वैखरी' नामक वाक् इन्द्रियमें आकर ही वचन नाम धारण करके मुखसे प्रकाशित होते हैं।

वैखरी—मुख विवरमें शब्दोंके उच्चारणसे जो व्यक्त होती है, इसे दूसरा भी सुन सकता है। यह अत्यन्त स्थूल वैखरी वाणी

वेदोंकी अनेक शाखाओंका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य इसी चौथे प्रकारकी वाणीका प्रयोग करते हैं।

मध्यमा—विशुद्ध चक्रमें ऐसे शब्द—जिनका उच्चारण कोई दूसरा नहीं सुन सके यथा नाम-जप।

पश्यन्ती—इसमें शब्दोंको देखा जाता है अर्थात् वायुके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले बुद्धिगत प्रत्यक्षरूप इन्द्रियोंके द्वारा जो भीतर देखती है उच्चारण नहीं करती है, इस वाणीका नाम पश्यन्ती है, यथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि-महर्षियोंने मन्त्रोंको देखा। इसमें ऐसा विचार रहता है कि मैं पश्यन्तीका उच्चारण कर रहा हूँ।

परा—यह परमसे सम्बन्धित है। शब्दरूप परमेश्वरको अर्थात् शब्द ब्रह्मको जानना, देखना परा कहलाता है। परा वाणी इन्द्रियोंसे परे शाश्वत एवं सर्वोत्कृष्ट है॥ १७॥

यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समेधते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥ १८॥

(क्रमपूर्वक प्रकाशके दृष्टान्तके विषयमें कहते हैं) जिस प्रकार आकाशमें अर्थात् काष्ठगत आकाशमें 'उष्मा' (विद्युत) रूपमें स्थित अग्नि पहले अव्यक्त होनेपर भी मन्थन (अरणिमन्थन) द्वारा प्रकाशित होती है, बादमें और अधिक मन्थन करने पर वायुकी सहायतासे (उसी काष्ठसे) सूक्ष्म चिनगारियाँ प्रकाशित होती हैं, तत्पश्चात् वही स्थूल अग्निरूपमें प्रकाश प्राप्त करती हुई घीके द्वारा प्रचण्ड वृद्धिको प्राप्त होती हैं (अर्थात् यज्ञ साधित होता है), उसी प्रकार मेरी यह वेदवाणी भी सूक्ष्म-स्थूल क्रमसे मेरी ही अभिव्यक्तिके रूपमें ज्ञात होती है। (यह वेदवाणी मेरा ही स्वरूप है, इसके अति गूढ़ अर्थको मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है? मैं शब्द ब्रह्मरूप-से क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ। कृष्णनामसे (सङ्कीर्तनसे) क्रमशः

कृष्णरूप, कृष्णगुण एवं कृष्णलीलादि एवं कृष्णधाम आदि सम्यक् प्रकटित होते हैं।)॥ १८॥

एवं गदिः कर्मगतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥ १९॥

समष्टि एवं व्यष्टि रूपमें समस्त इन्द्रियोंका व्यापार मेरा ही प्राकृत प्रकाश है, ऐसा समझो वाक् इन्द्रियोंका कार्य बोलना, हाथोंकी वृत्ति कर्म, पदकी वृत्ति गति, पायुकी वृत्ति मलमूत्र आदि परित्याग, नासिकाकी वृत्ति सूँघना, रसनाकी वृत्ति रस-ग्रहण, नेत्रोंकी वृत्ति दर्शन, त्वक्की वृत्ति स्पर्श, कर्णकी वृत्ति श्रवण, मनकी वृत्ति सङ्कल्प, बुद्धिकी वृत्ति विज्ञान, अहङ्कारकी वृत्ति अभिमान, प्रधान अर्थात् प्रकृतिकी वृत्ति—सत्त्व, रज और तमोगुणके विकारसे उत्पन्न अधिदैव आदि त्रिविध प्रकारके मायिकी प्रपञ्च मेरे ही अभिव्यक्ति-स्वरूप हैं, इस प्रकार समझो (इसलिये विवेकी व्यक्ति इस जगत्में व्यामोहको प्राप्त नहीं होते।)॥ १९॥

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्॥ २०॥

बीज जिस प्रकार क्षेत्रको प्राप्तकर एक होकर भी अनेक रूपोंमें (वृक्ष, शाखा, पत्र एवं पुष्पादिके रूपोंमें) प्रकाशित (उद्गत) होता है, उसी प्रकार त्रिगुणोंके आश्रय, सनातन, लोकपद्मके कारण-स्वरूप वे परमेश्वर भी पहले एक अव्यक्त स्वरूपमें (विराट् जगत्के क्षेत्रके बाहर) अवस्थित होकर काल गतिसे वाक्-इन्द्रिय आदि भौतिक शक्तिके विभाजनके द्वारा देव, मनुष्यादि बहुत प्रकारसे प्रकाशित होते हैं॥ २०॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥ २१॥

पट (वस्त्र) जिस प्रकार विस्तृत तन्तुओंमें ओतप्रोतरूपसे अवस्थित रहता है, उसी प्रकार यह निखिल जगत् उन परमेश्वरमें ओतप्रोतरूपसे अवस्थित है। अनादि, प्रवृत्तिशील (कर्म-प्रवाहमय) यह संसार-वृक्ष भोग एवं मुक्तिरूप पुष्प एवं सुख-दुःखरूप फलको प्रसव करता रहता है। (तात्पर्य यह है—जिस प्रकार सूत्र द्वारा निर्मित वस्त्र सूत्रसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार ईश्वरकी मायासे विलसित, ईश्वरका आश्रय यह जगत् ईश्वरसे पृथक् नहीं है)॥ २१॥

द्वे अस्य बीजो शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥ २२॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै
र्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ २३॥

इस संसार वृक्षके पुण्य-पाप ये दो बीज हैं, अपरिमित वासनाएँ इसकी जड़ (मूल) हैं, सत्त्व आदि तीनों गुण इसके तने हैं, पञ्चभूत इसके स्कन्ध हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं, शब्द आदि विषय-पञ्चक इससे उत्पन्न रस-स्वरूप हैं; वात, पित्त और कफ इसके तीन बल्कल हैं, सुख-दुःख इसके फल-द्वय हैं, जीव और परमात्मा रूप दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर विराजमान हैं। यह विशाल वृक्ष (बहिर्जगत्) सूर्यमण्डल तक व्याप्त है (इस अर्क-मण्डलका भेदन करनेवाला मुक्त पुरुष इस संसारमें पुनः नहीं

आता), गीध अर्थात् कामी गृहस्थ व्यक्ति इसके दुःखरूप फलका भोग करते हैं तथा हंस और विवेकी अरण्यवासी संन्यासीगण इसके सुखरूप फलका भक्षण करते हैं। जो लोग पूजनीय गुरुवर्गकी सहायतासे इस संसार-वृक्षको एक परमानन्द पुरुषकी ही मायाशक्तिके प्रभावसे नाना रूपोंमें प्रकट देखते हैं, वे यथार्थतः वेदके तत्त्वार्थको समझनेवाले हैं (भगवत्-उपलब्धिसे ही जड़जगत्‌की नश्वर-प्रतीति एवं भगवत्-ज्ञानसे ही सम्बन्ध ज्ञानका उदय होता है।)॥ २२-२३॥

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अतएव हे उद्धव! तुम भी विवेकवान् एवं सावधान होकर पहले कहे गये क्रमसे श्रीगुरुदेवकी सेवा जनित ऐकान्तिकी (अव्यभिचारिणी) भक्तिके साथ अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञान-कुठारके द्वारा जीवकी उपाधि—त्रिगुणात्मक लिङ्ग-शरीरको (सूक्ष्म-शरीरको) छेदनकर परमात्म-वस्तुके प्राप्त होनेपर ज्ञानरूप साधन-अस्त्रका भी परित्याग कर देना॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्नचात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धिके (अविद्याके) ही गुण हैं, आत्माके गुण नहीं, क्योंकि आत्मा गुण, धर्मसे युक्त नहीं है। सत्त्व वृत्तिके द्वारा रज एवं तमोगुणकी वृत्तिको जय करना चाहिए। तदनन्तर विशुद्ध सत्त्व गुणकी उपशमात्मिका (शान्त) वृत्तिके द्वारा सत्य, दया आदि सात्त्विक वृत्तियोंको भी जय कर लेना चाहिए॥ १॥

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्त्तते॥ २॥

सत्त्व गुणके प्रबल होनेपर जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और उसीके द्वारा धर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है॥ २॥

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥ ३॥

सत्त्व-वृद्धिके समान अन्य कोई उत्तम गुण नहीं है। सत्त्व-वृद्धिरूप इस उत्कृष्ट धर्मसे ही रजः एवं तमोगुणका विनाश होता है और इनके विनाश होनेपर तन्मूलक (रजो एवं तमो गुणका आकर) अधर्म (धर्मके प्रतिबन्धक राग, द्वेष, प्रमाद एवं आलस्यादि) भी नष्ट हो जाता है॥ ३॥

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥ ४॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यथायोग्यरूपसे गुणका कारण होती हैं। ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं॥ ४॥

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद्राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५॥

इनमें-से श्रीव्यास इत्यादि प्राचीन तत्त्वज्ञानी जिन-जिन (परम कल्याणप्रद एवं गुण समृद्धिकारक) वस्तुओंकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिन-जिन वस्तुओंकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं तथा जिनकी उपेक्षा (न ही प्रशंसा तथा न ही निन्दा) करते हैं, उन्हें राजसिक समझो॥ ५॥

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥ ६॥

जबतक आत्माका साक्षात्कार एवं स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर तथा उनके कारण तीनों गुणोंका परिहार न हो जाये, तबतक मनुष्यको सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक विषयोंका अर्थात् सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करना चाहिए। सत्त्वगुण बढ़ने पर धर्म एवं धर्म उत्पन्न होनेपर परमात्म विषयक ज्ञान प्राप्त होता है। (दस सात्त्विक वस्तुओंका सेवन इस प्रकारसे है—तीर्थका जल, निवृत्ति मार्गपरक शास्त्रका सेवन, निवृत्ति-प्राप्त मनुष्योंका साथ, निर्जन देशमें वास, ब्राह्ममुहूर्त्तमें उपासना, नित्य-नैमित्तिक विधि-विधानोंका पालन, प्रणव-दीक्षा (हरे कृष्ण महामन्त्र-दीक्षा) रूप दूसरा जन्म ग्रहण, भगवान् एवं भक्तोंका ध्यान, महामन्त्रादिकी सेवा एवं आत्मशोधक संस्कार।)

इसके विपरीत प्रवृत्तिपरक पाखण्ड शास्त्र, गन्धोदक, मदिरा, दुराचारीपुत्र, द्यूत, प्रदोष तथा अर्द्धरात्रि, काम्य एवं अभिचार कर्म, शाक्तवंश, कामिनी एवं काम्य मन्त्रोंका सेवन सर्वथा ही त्याज्य है॥ ६॥

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥ ७॥

वनमें स्थित बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार अपने आश्रयभूत (स्रोत) बाँसके वनको दग्धकर डालती है और तब स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अग्निके समान क्रियाशील यह गुण-वैषम्य जात (गुणोंकी परस्पर विवदमान क्रियाके द्वारा उत्पन्न) शरीर भी स्वभावजात ज्ञान (विचार-मन्थन) द्वारा अर्थात् ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होनेपर अपने शरीरके आश्रयभूत गुणोंको भस्मसात् करते हुए स्वयं भी शान्त हो जाता है; उस समय शरीरकी स्थूल-सूक्ष्म-उपाधि नहीं रहती है। (गुणोंके द्वारा गठित देह वनाग्निकी क्रियाके समान गुणोंके ध्वंस होनेपर स्वयं ही विनष्ट हो जाती है।)॥ ७॥

श्रीउद्धव उवाच—

विदन्ति मर्त्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्॥ ८॥

इसे सुनकर श्रीउद्धवजीने पूछा—हे श्रीकृष्ण! प्रायः सभी मनुष्य विषयको आपद्का कारण समझते हैं, तथापि (भविष्य-दृष्टि-रहित) कुत्ता जिस प्रकार कुतियाके द्वारा तिरस्कृत होकर भी, गधा गधीकी दुलत्ती खाकर भी और निर्लज्ज बकरा वधके स्थानमें वधके लिये ले जाये जानेपर भी स्त्री-सङ्गकी (बकरीकी) कामना करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी विषयोंके कारण विपद्ग्रस्त होकर भी उन्हीं विषयोंकी ही सेवा करते हैं। इसका कारण क्या है, बतलाइए॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९॥

रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! विवेकरहित व्यक्तिके हृदयमें पहले तो देह-विषयक अहंबुद्धि-रूप (मैं-मेरा) मिथ्या ज्ञानका उदय होता है, जिससे दुःखात्मक रजोगुण (प्रचण्ड राजसी प्रवृत्ति) सत्त्व-प्रधान मनको व्याप्त कर लेता है अर्थात् वह हृदयपर अपना अधिकार कर लेता है। इसके पश्चात् रजोगुणयुक्त मनमें सङ्कल्प और विकल्प उदित होने लगते हैं, जिसके कारण वह दुर्बुद्धि विषयोंके चिन्तनमें निमग्न हो जाता है तथा दुःसह विषय-वासनाकी सृष्टि करता रहता है, जिससे पार पाना दुष्कर है॥ ९-१०॥

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि संपश्यन् रजोवेगविमोहितः॥ ११॥

तदनन्तर विषय-वासनाओंके वशीभूत एवं रजोगुणसे मोहित अजितेन्द्रिय पुरुष कर्मोंका प्रत्यक्ष परिणाम दुःखप्रद देखकर भी उन कर्मोंको करता रहता है॥ ११॥

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥ १२॥

किन्तु विवेकवान् मनुष्यका चित्त रजोगुण और तमोगुणके द्वारा विक्षिप्त होनेपर भी सावधानीपूर्वक मनको संयत कर लेता है तथा विषय-भोगोंमें दोष देखकर उन विषयोंमें पुनः आसक्त नहीं होता॥ १२॥

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनोमय्यप्रयन् शनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥ १३॥

साधक सावधान, आलस्य-रहित, श्वासजयी (प्राण-वायुपर विजय प्राप्त करनेवाला) एवं जितासन होकर त्रिकाल मेरे प्रति मन अर्पण करके क्रमशः (शनैः-शनैः) एकाग्रताका अभ्यास करे (सम्पूर्णरूपेण भगवत्परायण हो जाए।)॥ १३॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥ १४॥

सनकादि मेरे भक्तोंने योगका यही स्वरूप निर्दिष्ट किया है कि साधक अपने मनको समस्त विषयोंसे हटाकर उसे यथारूप साक्षात् मुझमें आविष्ट कर दे, मेरे विराट् स्वरूपमें नहीं॥ १४॥

श्रीउद्धव उवाच—

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम्॥ १५॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे केशव! आपने जिस समय और जिस रूपसे अपने भक्त सनकादि ऋषियोंको योग-विषयक उपदेश प्रदान किया था, मैं उसी काल और उसी रूपके विषयमें जानना चाहता हूँ, कृपा करके बतलाइए॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—एक समय ब्रह्माके मानस पुत्र सनकादि मुनियोंने ब्रह्माजीके निकट योगकी दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म एवं ऐकान्तिक गतिकी) पराकाष्ठा—अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इसी प्रकार प्रश्न किया था॥ १६॥

श्रीसनकादय ऊचुः—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ १७॥

सनकादि ऋषियोंने जिज्ञासा की—हे प्रभो! रागादि (गुणों) के वशीभूत होकर मनुष्योंका चित्त स्वभावतः विषयोंके प्रति आकृष्ट रहता है और विषय भी वासनाके रूपमें चित्तमें प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं। अतः जो उन विषयोंसे पार होनेकी अभिलाषा रखते हैं, ऐसे मुमुक्षुओंका विषय एवं चित्तका परस्पर सम्बन्ध कैसे विनष्ट हो सकता है? विषय एवं चिन्तनको एक-दूसरेसे पृथक् कैसे कर सकते हैं, कृपा करके यह बतलाइए॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! ब्रह्माजी समस्त देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू (स्वयं कारण-रहित) एवं निखिल प्राणियोंके कारण स्वरूप हैं, तो भी कर्मोंमें (सृष्टि-कार्यमें) निरन्तर विक्षिप्त-चित्त होनेके कारण वे अत्यन्त विचार करके भी पूर्वोक्त प्रश्नके मूलतत्त्वका निरूपण नहीं कर सके॥ १८॥

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥ १९॥

तब ब्रह्माजीने उनके प्रश्नका उत्तर जाननेके लिये भक्तिभावसे मेरा ध्यान किया। तब मैं हंसरूप धारण करके उनके समक्ष प्रकट हुआ। (हंस जिस प्रकार जल एवं दुग्धको पृथक् करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार मैं विषय एवं चित्तको पृथक् करनेमें समर्थ हूँ।)॥ १९॥

दृष्ट्वा मां त उपव्रजय कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥ २०॥

उस समय सनकादि मुनिगण मेरे हंसरूपका दर्शनकर ब्रह्माको आगेकर मेरे समीप आये और मेरे चरणोंकी वन्दना करके यह प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं?'॥ २०॥

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥ २१॥

हे उद्धव! योग-तत्त्वके जिज्ञासु सनकादि कुमारोंके ऐसा पूछनेपर मैंने उनसे जो कुछ कहा, वह सब मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, तुम सुनो—॥ २१॥

वस्तुनो यद्यनानात्व आत्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥ २२॥

हे विप्रगण! यदि आपलोग मुझे जीव समझकर 'आप कौन हैं'—यह प्रश्न कर रहे हैं, तो वस्तुगत जीवोंके एकत्व (आत्माके चित्कणत्व तथा नानात्वसे सर्वथा रहित) होनेके कारण जीवके सम्बन्धमें आप लोगोंका यह प्रश्न (बहुतोंमें निर्धारणरूप) कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता है? पक्षान्तरमें आत्माका किसी प्रकार जाति, गुण एवं क्रिया आदि विशेषत्व न रहनेके कारण मैं किस विषयका आश्रयकर उत्तर दूँ?॥ २२॥

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥ २३॥

यदि यह प्रश्न देह-विषयक है, तो देव, मनुष्य आदि सभी पञ्चभूतात्मक हैं अर्थात् पञ्चभूतोंसे निर्मित हैं और एक परमात्म-वस्तुके अधीन होनेके कारण (परस्पर भिन्न होनेपर भी) सभी समान अर्थात् अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं'—यह प्रश्न निरर्थक है, वाणीका व्यवहारमात्र (वाणीका विलास मात्र) है। ऐसे विचार-रहित प्रश्नोंका कोई फल अथवा प्रयोजन भी नहीं है॥ २३॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ २४॥

जगत्में मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्यान्य इन्द्रियोंसे भी जो विषय ग्रहण किये जाते हैं, वह सर्वस्व मेरा ही स्वरूप है,

मैं सर्वात्मक हूँ, मुझसे भिन्न कुछभी नहीं है—तुम्हें यह सिद्धान्त तत्त्व विचारके द्वारा समझना होगा॥ २४॥

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥ २५॥

हे पुत्रो! मनुष्योंका चित्त विषयोंमें प्रविष्ट हो अथवा विषय चित्तमें प्रविष्ट हो—चित्त एवं विषय—ये दोनों ही ब्रह्मस्वरूप मदात्मक जीवकी उपाधि (आत्मतत्त्वको प्रच्छन्न करनेवाले) हैं, स्वरूप नहीं; अतएव आत्माका चित्त एवं विषयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। (भगवद्-भक्तको अपनी मनोवृत्तिको विषयोंसे अछूता रखना चाहिए।)॥ २५॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥ २६॥

अतएव जप-ध्यानकारी मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त करके (मेरा साक्षात्कार करके) (कि वह मुझसे भिन्न नहीं है अर्थात् मुझ परमात्मासे अभिन्न है) पुनः-पुनः विषय-सेवनके फलस्वरूप विषयोंमें आविष्ट चित्तका तथा संस्कारवश चित्तमें उद्भूत विषय-वासनाओंका परित्याग कर दे। वस्तुतः निर्लिप्त जीवके चित्तका विषयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। विषय एवं चित्त दोनों ही मद्‌रूप हैं। इनमें आविष्ट न हो॥ २६॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥ २७॥

सत्त्वगुणसे जागरण, रजोगुणसे स्वप्न एवं तमोगुणसे सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)—बुद्धिकी ये तीनों वृत्तियाँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार उत्पन्न होती हैं और जीव इन सबके साक्षीके (द्रष्टा) रूपमें इनसे सर्वथा विलक्षण है—यही सिद्धान्त विशेषरूपसे निरूपित हुआ है। तात्पर्य यह है कि निर्गुण मुक्त जीव इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् रहनेके कारण गुणाधीन नहीं होता, द्रष्टारूपसे गुणादिका दर्शन मात्र करता है॥ २७॥

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्॥ २८॥

चूँकि यह बुद्धि-बन्धन ही जीवको त्रिगुणात्मक विषय-वृत्ति प्रदान करता है, इसीलिये तुरीय चैतन्यस्वरूप मुझमें प्रतिष्ठित होकर गुण-जात इस बुद्धि-बन्धनका (संसार-बन्धनका) परित्याग कर दे, ऐसा करने पर तत्काल ही विषय (गुण) एवं चित्तके परस्पर सम्बन्धका स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। गुणातीत ही विषय-वासनासे मुक्त हो सकता है॥ २८॥

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥ २९॥

अहङ्कार कृत (देहमें अहं बुद्धि द्वारा) बन्धन ही जीवके परिपूर्णतम सत्य, अखण्ड ज्ञान एवं आनन्दादि गुणोंका आवरण कर देता है, इसीसे अनर्थ होता है—यह जानकर वैराग्यके साथ मुझ तुरीय वस्तुमें अवस्थान करते हुए बुद्धि जनित अभिमान, भोग-चिन्तन एवं अज्ञान तथा दुःखस्वरूप संसारका परित्याग कर दे। (भोग-वासना-राहित्य प्रबल होनेपर भगवदनुशीलनका सुयोग उपस्थित होता है, वही तुरीयावस्थामें अवस्थान कहा जाता है।)॥ २९॥

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्त्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥ ३०॥

जिस समय तक जीवका भेद-ज्ञान (यह अच्छा है अथवा यह बुरा है—बुद्धिसे नानात्व ग्रहण) युक्ति-विचार द्वारा (कि यह मेरा नहीं है) निवृत्त नहीं हो जाता, तबतक जीव जाग्रत अर्थात् विषय-कर्ममें सचेष्ट देखा जाता है, वस्तुतः उस अज्ञका यह जागरण स्वप्न-द्रष्टाके जागरणके समान अवास्तव ही है (स्वप्नद्रष्टाको स्वप्नावस्थामें प्रतीत होता है कि मैं जाग रहा हूँ), अर्थात् स्वप्नावस्था मात्र ही है। संसार-मोचनका उपाय जानकर भी जीव संसारासक्तिका ही संरक्षण करता है॥ ३०॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१॥

परमात्मासे अन्य (भिन्न) नामरूपात्मक देहादिमें विभिन्न भावनाओंके (वस्तुओंके) असत्त्व (अभाव) के कारण देहादिकृत (देहाभिमानाश्रित) वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि कर्म-फल एवं कर्म-समूह—यह सारा प्रपञ्च सभी स्वप्नदर्शी पुरुषके स्वप्नदृष्ट विषयोंके समान वस्तुतः मिथ्या ही हैं। स्वप्नकालमें दृष्ट वस्तुओंका कर्त्तृत्व जिस प्रकार जागरणकालमें प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तावस्थामें वर्णाश्रमादि, स्वर्गादि भोग एवं अन्यान्य अवस्थाएँ प्रतीत नहीं होतीं॥ ३१॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥ ३२॥

जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा क्षणभङ्गुर धर्मविशिष्ट देहादिके स्थूल विषय—बाल्य, तारुण्यादि बहिर्व्यापारका उपभोग करता है, स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रतकालमें देखे गये पदार्थोंके समान वासनामय अस्थायी विषयोंका सेवन करता है, सुषुप्ति अवस्थामें (स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रामें) किसी पदार्थको देखता नहीं, किसी विषयका अनुभव नहीं करता—इस अवस्थामें सभी अनुभव परमात्म-वस्तुके द्वारा अज्ञानमें लीन हो जाते हैं, तब जीव यह समझ सकता है कि चेतनाकी तीनों अवस्थाओंमें वह एक ही है। वही जाग्रत अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंका अधीश्वर है, स्वाप्कालका मन भी वही है और संस्कारयुक्त बुद्धिका स्वामी भी वही है। वही जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्तिकी सरणि—जिसमें मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ—की स्मृति द्वारा अनुसन्धानवश सभी अवस्थाओंमें संयोग (सम्बन्ध) रहनेके कारण अवस्था-त्रयका साक्षी है॥ ३२॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥ ३३॥

हे उद्धव! विचार-बुद्धिपूर्वक यह निश्चय कर लो कि सत्त्वादि गुणकृत जागरणादि तीनों मानसिक अवस्थाएँ मेरे द्वारा सृष्ट अविद्या (मायाशक्ति) द्वारा मुझमें कल्पित (विद्यमान) मानी गयी हैं (आत्मामें ये सर्वथा असत्य है)। इसके बाद तुम अनुमान, साधुओंके सदुपदेश एवं शास्त्ररूप तीक्ष्ण-ज्ञानकी खड्ग द्वारा अहङ्कारको छेदन करके अखिल संशयोंके विनाशकरूपमें मेरा भजन करो। मिथ्या अभिमान सभी संशयोंको प्रश्रय देनेवाला है। (भगवान्‌की सेवासे सभी संशयोंका विनाश हो जाता है)॥ ३३॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥ ३४॥

मनोकल्पित, विनाशशील, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी अर्थात् लकड़ीको घुमानेसे बने लाल रङ्गके गोले) के समान अति चञ्चल (अत्यन्त क्षणिक) एवं मनके कौतुकास्पद इस दृश्य जगत्‌को तुम भ्रम-युक्त समझो। विज्ञानस्वरूप परमात्म चैतन्य एक ब्रह्म ही नाना रूपों एवं अवस्थाओंमें प्रकाशित हो रहे हैं—वे विभिन्न प्रकारके नहीं हैं। गुणोंके परिणामस्वरूप जागरणादि भेदत्रय स्वप्नवत् हैं; ये मायाके विलास अर्थात् तात्कालिक प्रतीति मात्र हैं (प्रकृतिके गुण आत्माकी चेतनाको जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें बाँट देते हैं। वस्तुतः ऐसी विविधताएँ मायामात्र हैं, इनका अस्तित्व स्वप्नके समान है)॥ ३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५॥

अतएव वास्तव ज्ञानके द्वारा (कि बहिर्जगत् भ्रममय एवं अनित्य है) दृश्य प्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर विषय-तृष्णासे रहित, मौनी (निश्चेष्ट अर्थात् मन एवं वाणीके व्यापारसे रहित), निरीह (कायिक प्रयासोंसे रहित) होकर आत्मानन्दके अनुभवका सन्धान करे। कभी-कभी प्राण-धारण हेतु नितान्त आवश्यक आहारादि कार्योंमें जगत्-सम्पर्क यद्यपि होता हो, तथापि यह सम्पर्क मोहको (भ्रमात्मिका बुद्धिको) उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि पूर्व ही इस जगत्को अवास्तव (आत्मवस्तुसे पृथक् एवं मिथ्या) जानकर परित्यक्त कर दिया गया है। (इस स्थितिमें देहनिपात पर्यन्त मात्र संस्काररूपमें इस जगत्का आभास होता है। स्वरूपसिद्ध अवस्थामें भोग्य वस्तुओंकी तुच्छताकी उपलब्धि हो ही जाती है।)॥ ३५॥

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥

मदिरासे अन्ध व्यक्ति जिस प्रकार यह नहीं जान पाता कि पहना हुआ वस्त्र शरीरसे गिर गया है अथवा दैववश पुनः संलग्न हो गया है (किसीने पहना दिया है), उसी प्रकार सिद्ध पुरुष भी स्वरूप-ज्ञान प्राप्त होनेके कारण यह जान नहीं पाता कि यह नश्वर शरीर आसनपर स्थित है, वहाँसे उठ गया है अथवा पुनः कहीं चला गया है, वहाँसे आ गया है। ब्रह्मानुभव-प्राप्त किसी भी अवस्थामें क्यों न रहे, वह यह सब नहीं जान पाता। (स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जड़भोगके प्रति सर्वदा ही उदासीन एवं विस्मृति युक्त रहते हैं।)॥ ३६॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७॥

दैवाधीन (दैवके वशीभूत) यह गतिशील देह भी अपने आरम्भक कर्मके स्थितिकालतक (जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है) प्राण एवं इन्द्रियोंके सहित अवश्य ही जीवित रहता है, परन्तु समाधि-योगमें आरूढ़ होनेपर (कृष्ण-स्मृतिकी निरन्तरताको प्राप्त होनेपर) तथा परमार्थ तत्त्वके ज्ञात होनेपर वह प्रबुद्ध व्यक्ति स्वप्नके समान सप्रपञ्च (अर्थात् इन्द्रिय-विषय-भोगादि सहित) इस देहमें पुनः आसक्त नहीं होता अर्थात् योगारूढ़ मनुष्य प्रपञ्चके साथ पुनः इस शरीरको स्वीकार नहीं करता॥ ३७॥

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥ ३८॥

हे विप्रगणो! मैंने सांख्य (आत्म-अनात्म-विवेक) एवं योग (ब्रह्मसे सम्बन्धित अष्टाङ्ग योग) विषयमें जो गोपनीय तत्त्व (सांख्य एवं योगकी असत् व्याख्यारूप बाह्य विचारका खण्डन) है, वह तुम लोगोंको बतलाया। मैं स्वयं विष्णु ही धर्मोपदेश प्रदान करनेके लिये इस स्थानपर उपस्थित हुआ हूँ, ऐसा समझो॥ ३८॥

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्त्तेर्दमस्य च॥ ३९॥

हे द्विजश्रेष्ठो! मैं सांख्य, योग, सत्य, ऋत (मधुर भाषण), प्रभाव, श्री, कीर्त्ति और दम (इन्द्रिय निग्रह)—इन सबकी परम-गति या आश्रय-स्वरूप हूँ॥ ३९॥

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥ ४०॥

मैं अनित्य प्राकृत गुणोंसे रहित, निरपेक्ष (मायिक गुणोंकी अपेक्षासे रहित), सर्व-हितकारी, सर्व-प्रेमास्पद, सर्व-अन्तर्यामी, सर्व-आश्रयस्वरूप हूँ। साम्य (समत्व), नित्यत्व एवं सङ्ग-राहित्य इत्यादि सद्गुण मुझमें नित्य अवस्थित रहते हैं॥ ४०॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥ ४१॥

हे उद्धव! इस प्रकार मेरे उपदेशसे सनकादि मुनि संशय-मुक्त हो गये और उस समय उन्होंने प्रेमलक्षणा भक्तिके साथ मेरी पूजा करके दिव्य स्तोत्रके द्वारा मेरी स्तुति की॥ ४१॥

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

उन परमर्षियोंके द्वारा पूजित और वन्दित होकर मैं साक्षात्कारी ब्रह्माजीके समक्ष ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यानविधिका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता॥ १॥

उद्धवजीने कहा—हे श्रीकृष्ण! ब्रह्मवादी ऋषिगण आत्मकल्याणके विविध साधनोंका वर्णन अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे करते हैं। अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी श्रेष्ठ हैं अथवा उनमें-से किसी एककी प्रधानता है? आप अनुग्रहकर मुझे बतलाइए॥ १॥

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः॥ २॥

हे प्रभो! जिस निष्काम भक्तियोग द्वारा समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके चित्त आपमें निविष्ट होता है, आपके द्वारा उपदिष्ट वह निष्काम (अहैतुक) भक्तियोग सर्वसम्मतरूपसे श्रेष्ठ है अथवा केवल आपके द्वारा ही सम्मत है, यह निर्धारण करके बतलावें॥ २॥

श्रीभगवानुवाच—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥ ३॥

भगवान‍्ने कहा—जिस वेद-वाणीमें मेरे स्वरूपभूत धर्मका—भागवत धर्मका वर्णन हुआ है, वह प्रलयमें कालके प्रभावसे लुप्त हो गयी थी। सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने ही वाणीरूप वेदका (वेद नामक वाणीका) उपदेश अपने सत्यसङ्कल्पसे ब्रह्माको प्रदान किया था। भक्तियोग ही सर्वोत्कृष्ट है। इसके अतिरिक्त किसी और पथमें

मङ्गल ही नहीं है, तब किसी एककी प्रधानताके विषयमें पूछनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है॥ ३॥

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥ ४॥

ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उसका उपदेश प्रदान किया और उनसे भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात ब्रह्म-महर्षियोंने ग्रहण किया। ये सभी प्रजापति भी कहलाते हैं॥ ४॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥ ५॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किंपुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥ ६॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥ ७॥

भृगु इत्यादि पितरोंसे उनके पुत्र देव, दानव, गुह्यक (यक्षके समान देवयोनि), मनुष्य, सिद्ध गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव (जिनके शरीरसे पसीनेकी दुर्गन्ध नहीं आती अथवा द्वीपान्तरवासी मनुष्य), किन्नर (नरके समान किञ्चित् मुख अथवा शरीर), किंपुरुष (किञ्चित् पुरुषके समान वानरादि), नाग एवं राक्षसादिने प्राप्त किया। इन सभी जीवोंमें रजो एवं तमोगुणसे उत्पन्न विविध वासनाएँ रहती हैं। इन वासनाओंके कारण देव, असुर, मनुष्यादि भूतगण एवं भूतपतिगण विभिन्न प्रकारके होते हैं और उनके वासना-वैचित्र्यके कारण धर्मकी विविध प्रकारकी व्याख्याएँ हैं। जीवोंकी भगवद्-विमुखताके तारतम्यक्रमसे वेदमन्त्र भी विभिन्न आकार धारण करके भोगी जीवोंकी वासना तृप्त करते हैं॥ ५-७॥

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥ ८॥

इस प्रकार मनुष्योंकी कामनाओंके भेदसे विभिन्न प्रकारकी मतिका उदय होता है। कोई-कोई वेद पढ़े बिना ही उपदेश-परम्परा क्रमसे लोगोंको विभिन्न मतोंसे ग्रस्त कर देते हैं और अन्यान्य कुछ मनुष्य भक्तिहीन वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इन लोगोंके व्याख्यान-प्रवचनसे वेदका अर्थ विरस एवं विरुद्ध फलप्रद होता है। ऐसे मतोंको ग्रहण करना दुर्भाग्यका परिचायक है॥ ८॥

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥ ९॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! मनुष्य मेरी मायासे मोहित होकर रुचि-भेद एवं कर्म-भेदसे नाना प्रकारके श्रेयः साधन बतलाते हैं। साधु-सङ्गका अभाव ऐसे लोगोंको अनर्थ-सागरमें पतित कर देता है। श्रद्धाके अभावके कारण ही उनकी भगवद्-भक्तिमें रुचि नहीं होती, आसक्ति तो दूरकी बात है॥ ९॥

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद् यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान् यमान्॥ १०॥

उनमें-से कर्ममीमांसक धर्मको, काव्य, अलङ्कार-कर्त्ता यशको (इनकी मान्यता है कि जबतक मनुष्यके यशका गायन पुण्य लोकोंमें किया जाता है, तबतक वह मनुष्य सहस्रवर्षों तक स्वर्गलोकमें पूजित होता है), कामशास्त्री (वात्सायनादि) कामको, योग-शास्त्रकारी सत्य-दम-शमको तथा दण्डनीतिकार ऐश्वर्यको ही स्वार्थ-परमार्थ मानते हैं। चार्वाकादि दान-भोगको, वैदिकगण यज्ञको तो कोई तप-दान-व्रत-नियम-यम इत्यादिको श्रेयःका साधन बतलाते हैं॥ १०॥

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः॥ ११॥

पूर्वोक्त मनुष्योंको तद्-तद् कर्मजनित जो लोक प्राप्त होते हैं, वे अनित्य, परिणाममें दुःखद, मोहजनक, क्षुद्र, हीन एवं शोकमय होते हैं। कर्मकाण्डके फलकी आशासे जो यहाँ-वहाँ भागते हैं, उनके लिये फल उदित होता ही नहीं, उदित हो भी जाए, तो नष्ट हो जाता है। कर्म-भोगके समयमें वे असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे भरे रहते हैं। कर्मकाण्डकी अन्तिम गति घोर अज्ञान है॥ ११॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥ १२॥

हे साधो! जो अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, ऐसे विषय-वासना रहित निरपेक्ष व्यक्तिके हृदयमें मेरे परमानन्द स्वरूपकी स्फूर्ति होनेसे जैसा सुख होता है, विषयोंमें आसक्त पुरुषोंको वैसा सुख किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है॥ १२॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥ १३॥

जो अकिञ्चन (सर्वत्र स्पृहारहित), दान्त (इन्द्रिय-दमनमें समर्थ), शान्त (किसी प्रकारकी कामनासे अविचलित), सर्वत्र समचित्त (किसीको भी अपनेसे तुच्छ नहीं माननेवाले) एवं आत्मपरितृप्त हैं तथा भगवत्-प्रदत्त सभी अवस्थाओंमें सन्तुष्ट-चित्त हैं अर्थात् विश्वकी किसी वस्तुमें उनका अभिनिवेश नहीं है, उनको समस्त दिशायें सुखमय प्रतीत होती हैं॥ १३॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ १४॥

जिन्होंने अपना चित्त मुझमें समर्पण कर दिया है, ऐसे साधक मुझसे अतिरिक्त ब्रह्माकी पदवी, इन्द्रपद, सार्वभौमपद अर्थात् समग्र

जगत्का आधिपत्य, पातालराज्याधिपत्य, अणिमादि योग-सिद्धि, मोक्ष-पद प्राप्ति अथवा जन्म-राहित्य इत्यादि क्षुद्र कामनाएँ नहीं करते॥ १४॥

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ १५॥

हे उद्धव! तुम मेरे भक्त होनेके कारण मुझे जिस रूपसे प्रियतम हो, मेरे पुत्र ब्रह्मा, स्वरूपभूत सखा शङ्कर, भ्राता सङ्कर्षण, भार्या लक्ष्मीदेवी, यहाँतक कि अपना स्वरूप भी मुझे उतना प्रिय नहीं है (वैष्णव सिद्धान्तानुसार सभी भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, उनसे भी गोपियाँ श्रेष्ठ हैं और गोपियोंसे भी उनकी चरण-धूलि श्रेष्ठ है—जिसकी स्वयं उद्धवजीने प्रार्थना की है।)॥ १५॥

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ १६॥

मैं अपने भक्तोंकी चरणधूलिके द्वारा सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करूँगा, इस भावसे मैं सर्वदा निष्काम, मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन, शान्त, वैरभावरहित, समदर्शी भक्तोंके पीछे-पीछे अलक्षितभावसे निरन्तर घूमा करता हूँ। भक्तिसे ही मेरे माधुर्यका अनुभव होता है॥ १६॥

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥ १७॥

जो निष्किञ्चन (समस्त विषयोंसे निःस्पृह), शान्त, निरभिमान, अखिल जीववत्सल (समस्त प्राणियोंमें दयायुक्त), विषय-रागके सम्पर्कसे रहित मनुष्य मेरी एकाग्रचित्त होकर सेवा करते हैं, वे ही निरपेक्ष-भक्तों द्वारा लभ्य-परमसुखको प्राप्त करते हैं, अन्य कोई उस सुखको प्राप्त नहीं कर सकता। भक्तोंकी निरपेक्षताको जाननेकी क्षमता विश्वके किसी पण्डिताभिमानीमें सम्भव नहीं है॥ १७॥

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ १८॥

हे उद्धव! जो लोग सब प्रकारसे अपनी इन्द्रियोंको जय करनेमें समर्थ नहीं हैं, वैसे प्राकृत भक्त भी विषयोंके द्वारा आकृष्ट होनेपर भी भक्ति-सामर्थ्यके कारण प्रायः विषयोंसे अभिभूत नहीं होते। साधन भक्ति और तत्पश्चात् भावभक्तिकी कथामें जिनका अनुराग हो गया है, उनको विषय बाधित नहीं कर सकते॥ १८॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥ १९॥

हे उद्धव! अग्नि जिस प्रकार पाकादि कार्योंके उद्देश्यसे प्रज्वलित होनेपर प्रवृद्ध शिखायुक्त होकर (धधककर) काष्ठ-राशिको (लकड़ियोंके ढेरको) भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार मेरे उद्देश्यसे की गयी भक्ति पापराशिको सम्पूर्णरूपेण विनाश कर डालती है॥ १९॥

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ २०॥

हे उद्धव! दिनों-दिन बढ़नेवाली साधनात्मिका, प्रबल एवं अनन्य प्रेममयी भक्ति जिस प्रकार मुझे वशीभूत करती है, योग, सांख्य, धर्म, वेद-पाठ, तपस्या अथवा दान-क्रिया आदि मुझे उस प्रकार वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ २०॥

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ २१॥

मैं साधु भक्तोंका परमात्मा एवं प्रियस्वरूप हूँ। श्रद्धाजनित अनन्य भक्तिके प्रभावसे मेरी प्राप्ति होती है। एकाग्रभावसे की गयी मेरी भक्ति चण्डालको (कुकुर-भोजीको) भी पवित्र कर देती है

(स्पष्ट है कि भक्ति जिस प्रकारसे प्रारब्ध-पाप-नाशक है, ज्ञानादि उस प्रकारसे नहीं। निष्ठायुक्त भक्ति चाण्डालादिको जाति-दोषसे पवित्र कर देती है।)॥ २१॥

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् पुनाति हि॥ २२॥

सत्य एवं दयासे (परदुःख दूर करनेके यत्नसे) युक्त धर्म एवं तपस्यात्मिका विद्या (यज्ञादि तथा दानादिमूलक ज्ञान) मेरी भक्तिसे रहित होनेपर मनुष्यके अन्तःकरणको सम्यक्‌रूपेण पवित्र करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ २२॥

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥ २३॥

जबतक अनुभवगम्य भक्तिके कारण रोमहर्ष (रोंगटे खड़े होना अथवा पुलकित होना) नहीं होता, चित्त नहीं पिघलता एवं आनन्दसे अश्रुपात नहीं होता, तबतक भक्तिका आविर्भाव कैसे जाना जा सकता है? जबतक भक्तिका आविर्भाव न हो—भक्तिके प्रवाहमें अन्तःकरण सराबोर न हो, तबतक चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है?॥ २३॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ २४॥

जिनकी वाणी प्रेमसे गद्गद (अस्पष्ट) हो रही है, चित्त सर्वकाल द्रवीभूत रहता है, जो आनन्दानुभूतिके कारण पुनः-पुनः रोदन करते हैं, कभी खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी निर्लज्ज होकर उच्च स्वरसे गाते हैं तथा कभी नृत्य करने लगते हैं—ऐसे भक्तिमान् पुरुष त्रिभुवनको पवित्र कर देते हैं॥ २४॥

यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ २५॥

आगमें तपानेपर सोना जिस प्रकार अन्तर्मलका त्याग करके निर्मल हो जाता है एवं अपनी स्वाभाविक उज्ज्वलताको धारण कर लेता है (अपने शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है), उसी प्रकार मनुष्योंका चित्त मेरे भक्तियोगके द्वारा कर्मवासनाओंका परित्यागकर मुक्त हो जाता है। भक्तियोगके प्रभावसे हृदयमें महाप्रेमका आविर्भाव होता है और ऐसा व्यक्ति मेरी नित्य सेवा-पद्धतिको प्राप्त करता है॥ २५॥

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६॥

(भक्तिका तारतम्य दिखाते हैं) मेरी परम-पावन लीला-कथाओंका श्रवण करनेसे चित्त जिस परिमाणमें परिमार्जित होता है, उतने ही परिमाणमें सूक्ष्म-वस्तु अर्थात् अधोक्षज-तत्त्वके (मेरे रूप, लीलादिके) दर्शन होने लगते हैं (मेरे माधुर्यका अधिकाधिक अनुभव होने लगता है), जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगानेसे निर्मल दृष्टि प्रकटित होती है और अति सूक्ष्म वस्तु भी दिखायी देने लगती है॥ २६॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ २७॥

जिस प्रकार विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका चित्त विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उसी प्रकार नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले भक्तोंका चित्त परमात्मरूपी मुझमें (मेरी माधुरीमें) ही निमग्न हो जाता है॥ २७॥

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥ २८॥

इसलिये तुम स्वप्न-मनोरथकी भाँति कल्पित दूसरे-दूसरे असत् साधनोंका और उनके फलोंके चिन्तनका त्याग करके मेरे भजनके प्रभावसे अपने विशुद्ध अन्तःकरणको (भक्ति-सुसंस्कृत मनको) मुझमें ही समाहित कर दो (अवस्था-त्रयका अतिक्रम करके केवलाभक्तिके प्रभावसे जीवका नित्य मङ्गल साधित होता है।)॥ २८॥

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥ २९॥

विवेकी व्यक्तिको स्त्रियों और स्त्री-सङ्गियोंका सङ्ग दूरसे ही त्याग करके निर्भय, निर्जन और पवित्र स्थानमें बैठकर सावधानीसे मेरा ही ध्यान करना चाहिए। (इनका सङ्ग करनेसे धैर्यवान् व्यक्तियोंका धैर्य नष्ट हो सकता है।) श्रीधर स्वामीपादने अपनी 'भाव प्रकाशिका' टीकामें कहा है कि वात्सल्ययनादि द्वारा उक्त काम-मार्ग सर्वथा परित्याज्य है॥ २९॥

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसस्तथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३०॥

स्त्रीसङ्ग और स्त्रियोंका सङ्ग करनेवाले पुरुषोंके सङ्गसे जीवको जिस प्रकार क्लेश और संसार-बन्धन प्राप्त होता है, अन्य किसी भी विषयके सङ्गसे वैसा नहीं होता। (आनन्द जीवका परम प्रयोजनीय है, इस कारण परमोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर भी मनुष्य स्त्री-सङ्गमें आबद्ध हो द्वितीयाभिनिवेशमें (जड़-बन्धनमें) पतित हो जाता है।)॥ ३०॥

श्रीउद्धव उवाच—

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं यावदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि॥ ३१॥

श्रीउद्धवजीने पूछा—हे कमलनयन श्रीकृष्ण! जो मुक्तिकी कामना करते हैं, ऐसे पुरुषोंको आपका जो रूप है, जो स्वरूप है, उसका ध्यान किस प्रकारसे (भावसे) करना चाहिए, यह मुझे बतलाइए। (हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके चरणकमलोंको देखते हुए) मैं सर्वदा आपके इन पादपद्म-युगलका ही ध्यान करता हूँ—मेरे लिये तो आपकी दासता ही पुरुषार्थ है। प्रस्तुत श्लोक ध्यानाङ्ग विषयक है॥ ३१॥

श्रीभगवान् उवाच—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥ ३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥ ३३॥

भगवान्ने कहा—प्रिय उद्धव! समतल आसनपर शरीरको सीधा रखकर सुखपूर्वक आसीन हो जाए, गोदमें दोनों हाथोंको उत्तान भावसे (फैलाकर) एकके ऊपर एक रखकर अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखे। अन्तरमें ध्येयका ध्यान करे। बाहर दृष्टि न रखे। इन्द्रियोंका निग्रह करते हुए पुरुष पूरक-कुम्भक-रेचक क्रमसे प्राणवायुके मार्गका (इडा-पिङ्गला नाड़ियोंका) शोधन करे, उसके बाद रेचक-कुम्भक-पूरक इस प्रकार विपरीत क्रमसे प्राणायामका अभ्यास करे॥ ३२-३३॥

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं विसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः सम्वेशयेत् स्वरम्॥ ३४॥

मूलाधरसे आरम्भ करके अविच्छिन्नरूपसे (अर्थात् ताँता न टूट जाये) मृणालसूत्रके समान (कमल-नालके मध्य स्थित सूत्रके समान) हृदयमें अवस्थित घण्टानादवत् ॐकार ध्वनिको प्राणवायुके सहित ऊर्ध्वदेशमें द्वादश अङ्गुल पर्यन्त ले जाए और वहाँ उस ॐकार ध्वनिको पन्द्रह बिन्दुओंसे (संस्कृत स्वरोंसे) संयोजित करे

अर्थात् जोड़ दे। उसके बाद पुनः हृदयमें उसी स्वर-नाद अथवा बिन्दुको स्थिर करे॥ ३४॥

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥ ३५॥

इस प्रकार प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें दस-दस बार ॐकार सहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके भीतर प्राण-वायुको जय किया जा सकता है॥ ३५॥

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्द्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्द्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्।
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्॥ ३६॥

वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम्।
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्॥ ३७॥

सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्।
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३८॥

हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालविभूषितम्॥ ३९॥

नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्।
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम्॥ ४०॥

सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्॥ ४१॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥

मनुष्य हृदयमें स्थित ऊर्ध्वनाल विशिष्ट (जिसकी डण्डी ऊपरकी ओर है), मुकुलित, कर्णिकायुक्त, अष्टदल पद्मके विकसित रूपका अधखुली आँखोंसे ध्यान करे। उस पद्मकी कर्णिकामें उत्तरोत्तर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्निको स्थापित करके अग्निमें ध्यानके

शुभ विषयीभूत मेरे उस रूपका चिन्तन करे, जो मैं बतलाने जा रहा हूँ। मेरा यह रूप सम (अनुरूप अवयव विशिष्ट) प्रशान्त एवं सुप्रसन्न है। सुन्दर, लम्बी चार भुजाएँ हैं, ग्रीवा सुघड़ एवं कपोल-द्वय सुचारु हैं, विशुद्ध हास्यकी सुन्दर छवि मुखमण्डलपर विद्यमान है, दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल सुशोभित हैं, श्रीविग्रह सुवर्णसम पीतवस्त्रोंका परिधान किये हुए हैं, नवीन नीरदसम (वर्षाके मेघके समान) श्यामल कान्ति है, सुविस्तृत वक्षःस्थल पर दाएँ-बाएँ श्रीवत्स एवं लक्ष्मीके निवास-स्थानका असाधारण चिह्न-विशेष एवं वन्य पुष्पोंसे निर्मित वनमाला अलङ्कृत है, कर-कमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विद्यमान हैं—चरण-युगलमें नूपुर सुशोभित हो रहे हैं, ग्रीवापर दीप्तिमय कौस्तुभ मणि, श्रीमस्तक पर किरीट (मुकुट) श्रीकरोंमें कङ्कन एवं अङ्गद (बाजुबन्द) सम्यक् रूपसे विभूषित हैं। सभी अङ्ग अतिशय सुन्दर, अभिराम, मनोरम एवं मनोहर हैं, सुशोभन मुख-कमलपर मृदु मन्द मुस्कान छिटक रही है तथा चितवन कृपा-वर्षण कर रही है—प्रिय उद्धव! मेरे इस सुकोमल रूपका चिन्तन करे और अपने मनको मेरे अङ्ग-अङ्गमें संन्यस्त कर दे। विवेकी पुरुष अपने चित्तके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको समस्त विषयोंसे हटा ले एवं बुद्धि रूप सारथि द्वारा उस चित्तको मेरे दिव्य अङ्गोंमें स्थिर कर दे। इस प्रकार करने पर एकाग्ररूपसे मेरा निविड़ (गहन) ध्यान सम्भव होगा॥ ३६-४२॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

तदनन्तर चित्तको सर्वाङ्ग वितरणकारी चिन्तनसे आकृष्ट करके, किसी एक अङ्गमें निविष्ट करे। उस समय अन्यान्य अङ्गोंके चिन्तनका परित्याग करके केवल सुरम्य मुस्कान युक्त मेरे मुखमण्डलका ही ध्यान करे॥ ४३॥

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ४४॥

तदनन्तर मुखमण्डलमें सुप्रतिष्ठित चित्तको वहाँसे आकृष्ट करके सर्वकारणभूत आकाशमें धारण (ध्यानपूर्वक भक्ति) करे। अनन्तर उस आकाशके चिन्तनका भी परित्याग करके मुझमें प्रतिष्ठित होकर ध्यान विधिका भी परित्याग कर दे (ब्रह्मरूप मुझमें चित्तको आरूढ़ कराके अन्य किसीका चिन्तन न करे। भक्ति-कणिका युक्त जीव ब्रह्मका ही अनुभव करे।)॥ ४४॥

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥ ४५॥

चित्त समाहित होनेपर मनुष्य जीवात्मामें ब्रह्मका दर्शन करे और ब्रह्मवस्तुमें ज्योतिः संयुक्त ज्योतिके समान जीवात्माका दर्शन करे—जीवात्माको सर्वात्मा मुझमें संयुक्त कर दे। (एक ज्योतिसे जैसे दूसरी ज्योति मिलती है, उसी प्रकारसे अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपना अनुभव करे।) जीव ब्रह्मज्योतिःका कणमात्र है—यह जान ले॥ ४५॥

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगितो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

जो योगी इस प्रकार सुतीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तको संलग्न कर देता है, उस युञ्जान योगी पुरुषका द्रव्य-ज्ञान-क्रियाविषयक अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध-अध्यास रूप भ्रम शीघ्र ही निवृत्त (शान्त) हो जाता है। केवल भक्तियोगसे जो ध्यान है, वह कीर्त्तन नामक भक्तिके प्रतिपाद्य श्रीभगवन्नामके अन्तर्भुक्त रूप, गुण, परिकर-वैशिष्ट्य एवं लीलाका मेरुदण्ड है। साधनराज्यमें भक्तिके अनुकूल अनुष्ठान न रहनेपर ध्यान फलदायी नहीं होता। द्रव्यभ्रान्ति, ज्ञानभ्रान्ति एवं क्रियाभ्रान्ति क्रममें ही जीवकी हठयोग एवं राजयोगमें प्रवृत्ति है।

इन सभी यौगिक अनुष्ठानोंकी समाप्ति पर निवृतिका उदय होता है—यही भक्तियोग नामसे कथित है। भ्रम अथवा विवर्त्तके हाथोंसे पूरी तरह परित्राण प्राप्त कर लेनेपर स्वरूप-सिद्धि एवं बादमें वस्तुसिद्धि होती है॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौदहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

अणिमा आदि अष्ट प्रधान एवं दस गौण-सिद्धियोंके विघ्न-स्वरूपका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! जितेन्द्रिय, जितश्वास (प्राण वायुको जीतनेवाला) स्थिरचित्त योगी पुरुष जब अपने चित्तमें मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके निकट धारणाका अनुगम करनेवाली अणिमादि बहुत-सी सिद्धियाँ स्वयं ही उपस्थित होती हैं॥ १॥

श्रीउद्धव उवाच—

कया धारणया कास्वित् कथं वा सिद्धिरच्युत।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान्॥ २॥

इसे सुनकर श्रीउद्धवजीने कहा—हे अच्युत! आप ही योगियोंके सिद्धिप्रदाता हैं, इसलिये कौन-सी धारणा करनेपर कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है, उनकी संख्या कितनी है, उनकी धारणा तथा सिद्धि भी कितने प्रकारकी है, आप कृपाकर उनका वर्णन करें॥ २॥

श्रीभगवानुवाच—

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! योगमें पारदर्शी ऋषियोंने धारणा और उसके द्वारा प्राप्त सिद्धियोंको अठारह प्रकारकी बतलाया है। उनमें-से आठ प्रकारकी सिद्धियाँ प्रधानरूपसे मुझको आश्रय

करके उत्पन्न होती हैं (दूसरोंमें न्यूनमात्रामें रहती हैं) और दूसरी दस सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण आविर्भूत होती हैं।॥ ३॥

अणिमा महिमा मूर्त्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ ४॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः॥ ५॥

अणिमा (छोटे-से-छोटा हो जाना), महिमा (बड़े-से-बड़ा होना) तथा लघिमा (हल्के-से-हल्का हो जाना)—ये तीनों सिद्धियाँ देहकी हैं, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके साथ सम्बन्ध 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि है, अदृष्ट पारलौकिक अथवा अदृष्ट ऐहिक (श्रुत विषयमें अर्थात् दर्शनके अयोग्य विषयमें, दृष्ट विषयमें—दर्शन-योग्य विषयमें एवं भूमिके नीचे आच्छादित गड़े हुए पदार्थोंके विषयोंमें) भोग-दर्शनकी जो सामर्थ्य है, उसका नाम 'प्राकाम्य सिद्धि' है। मायिक कार्योंमें स्वच्छापूर्वक अपनी शक्तिका सञ्चार करके जीवोंमें ऐश्वर्य विस्तारका नाम 'ईशिता सिद्धि' है। विषयभोगोंमें अनासक्तिका नाम 'वशिता' है। यथेच्छ कामनानुसार सुखकी सीमाकी सर्वोत्कृष्टताकी प्राप्ति 'कामवशायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। हे सौम्य! ये आठों सिद्धियाँ स्वाभाविकी एवं निरतिशय हैं॥ ४-५॥

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ ६॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥ ७॥

गौण दस सिद्धिका वर्णन करते हैं—शारीरिक क्षुधा, तृष्णादि वेगोंसे रहित होना, दूर स्थित वस्तुका श्रवण अथवा दर्शन कर लेना, मनके वेगके साथ शरीरकी द्रुत गति होना, इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, पर देहमें प्रवेश, स्वेच्छा मृत्यु, अप्सराओंके साथ देवताओंकी क्रीड़ाका दर्शन प्राप्त होना, सङ्कल्पके अनुरूप

पदार्थोंकी प्राप्ति, अप्रतिहत गति—जिसके आदेश एवं गतिको कोई बाधा न दे सके अर्थात् सर्वत्र गति एवं त्वरित आज्ञा-पालन—ये दस गुण-जात (गौण सिद्धि) हैं॥ ६-७॥

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥ ८॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे॥ ९॥

त्रिकालज्ञता, शीत-उष्णादि द्वन्द्व-सहिष्णुता, परचित्तादि विषयक ज्ञान (दूसरेके मनकी बात जान लेना), अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादिके प्रभावका स्तम्भन कर देना और सर्वत्र अपराजय—ये पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। हे उद्धव! पूर्वोक्त योग धारण करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनके मैंने नाम एवं लक्षण तुम्हें बतला दिये, अब जिस धारणा द्वारा, जिस प्रकारसे, जिस सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वह सुनो॥ ८-९॥

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम॥ १०॥

जो सूक्ष्मभूतरूप (तन्मात्रात्मक) उपाधिके अभ्यन्तरमें (भीतरमें) स्थित मेरे प्रति अपने चित्तको तदाकार (सूक्ष्मभूताकार) बनाकर उसमें सन्निविष्ट कर देते हैं और मेरे उस तन्मात्रात्मक स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे मेरी 'अणिमा' सिद्धिकी प्राप्ति करते हैं। अणिमा नामक योगशक्तिसे पत्थर जैसे ठोस पदार्थमें प्रवेश करनेकी अणुता-शक्ति प्राप्त हो जाती है। पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं। तन्मात्राके उपासक भगवान्‌की सूक्ष्म उपाधिकी सेवा करके इस सिद्धिको प्राप्त करते हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त ये किसी और वस्तुका चिन्तन नहीं करते॥ १०॥

महत्तत्त्वात्मनि मयि यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानाञ्च पृथक् पृथक्॥ ११॥

जो साधक ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्त्वरूप उपाधिके अभ्यन्तर स्थित मुझमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामक सिद्धिकी प्राप्ति होती है; इसी प्रकार आकाशादि अन्यान्य भौतिक उपाधि-पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—उनमें मन लगानेसे उनके अनुरूप ही महिमा (महत्ता) प्राप्त होती है अर्थात् महत्तत्त्वके साथ कृष्णका सम्बन्ध अवगत होनेपर जीव भोग्य क्षिति, अप्, तेजः, मरुत् एवं व्योमादि भूतोंके यथार्थ सम्बन्धको जान सकते हैं। यही 'महिमा' नामकी सिद्धि है। यह सृष्टि भगवान्से अभिन्न है, हर तत्त्वमें भगवान्की उपस्थिति है। इसका अनुभव होनेपर योगी प्रत्येक भौतिक तत्त्वकी महानताको प्राप्त कर लेता है॥ ११॥

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात्॥ १२॥

वायु इत्यादि भूत सम्बन्धित परमाणुरूप उपाधिके अभ्यन्तरमें स्थित (प्रत्येक वस्तुके अभ्यन्तरमें स्थित होनेसे भगवान् भौतिक तत्त्वोंके पारमाणविक घटकोंके सारभूत हैं) मुझ परमाणु उपाधिके प्रति अपने मनको लगाते हैं—ऐसे योगी पुरुष अपने चित्तको तदाकार बना लेनेके कारण कालके सूक्ष्मांश पारमाणविक वस्तुके समान हलका (सूक्ष्म) बननेकी 'लघुता' शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। (पाँचों स्थूल तत्त्व परमाणुओंसे बने हैं, अतएव पारमाणविक कण सूक्ष्म वस्तु कालकी अभिव्यक्ति हैं, कालको परमाणु कहा गया है। कालका भोग करनेवाला परमाणुरूपताको प्राप्त कर लेता है।)॥ १२॥

धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः॥ १३॥

जो वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्काररूप उपाधिके अभ्यन्तर स्थित मुझमें अपने मनको एकाग्ररूपसे संलग्न कर देता है, वह समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठातृरूपा 'प्राप्ति' नामक सिद्धिको प्राप्त करता है

अर्थात् सभी इन्द्रियोंके अभीष्ट विषयोंके ग्राहक भोक्तृत्वको प्राप्त कर लेता है। वैकुण्ठ भगवान्‌के साथ सम्बन्धयुक्त होनेपर सभी इन्द्रियाँ हृषीकेशकी सेवामें नियुक्त हो जाती हैं॥ १३॥

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥ १४॥

जो योगी सूत्रमें अर्थात् क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्वरूप उपाधिसे युक्त मुझमें अपने मनको लगा देता है, वह अव्यक्तजन्मा मुझसे 'प्राकाम्य' नामक सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। इस सिद्धिसे उसे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं॥ १४॥

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनाम्॥ १५॥

जो त्रिगुणमायाधीश्वर, कालस्वरूप (सभीको काल-कवलित करनेवाले कालविग्रह), द्रष्टा, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, विष्णुरूपी मुझे अपने चित्तमें धारण करते हैं, वे क्षेत्रज्ञ जीव एवं क्षेत्ररूप देहोंकी उपाधियोंको अपनी इच्छानुसार प्रेरण करनेकी (नियन्त्रित करनेकी) सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं अथवा उनमें अपनी शक्तिका सञ्चारण कर लेते हैं—इसे 'ईशित्व' नामक सिद्धि कहते हैं॥ १५॥

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥ १६॥

जो योगी षडैश्वर्यसमृद्ध, तुरीय संज्ञक, नारायणरूप (सच्चिदानन्दवस्तुरूप) मुझमें अपना चित्त तन्मय कर देते हैं, उसमें मेरे स्वाभाविक गुण प्रकटित होने लगते हैं तथा उन्हें 'वशिता' (वशीकरण) नामक सिद्धि प्राप्त होती है। इस सिद्धिसे उनकी गुणोंमें अनासक्ति हो जाती है॥ १६॥

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥ १७॥

जो साधक मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप मुझमें अपना निर्मल चित्त स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामवसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। इसके प्राप्त होनेपर उसकी सारी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं और वह मेरे जैसे ही परमानन्दको प्राप्त हो जाता है॥ १७॥

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयन् श्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः॥ १८॥

सात्त्विक धर्मके अधिष्ठाता, शुद्ध-सत्त्वात्मक, श्वेत-द्वीपके अधिपति, मुझमें चित्तकी धारणा करनेसे साधक भूख, प्यास, क्षय, मृत्यु, शोक एवं मोह षड्विध ऊर्मियोंसे रहित हो जाते हैं तथा उनका हृदय परम शुभ्रताको प्राप्त होता है॥ १८॥

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः श्रृणोत्यसौ॥ १९॥

जो व्यक्ति आकाशात्मक प्राणरूप (समष्टि एवं व्यष्टिरूप) उपाधिविशिष्ट मुझमें अपने मनके द्वारा ॐकार नादका चिन्तन करते हैं, वे आकाशमें अभिव्याप्त समस्त प्राणियोंके शब्दोंको दूरसे सुन लेते है। यह 'दूरश्रवण' सिद्धि है॥ १९॥

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः॥ २०॥

जो सूर्यमण्डलमें चक्षुका संयोग एवं चक्षुओंमें सूर्यका संयोग करता है एवं दोनोंमें संयोगसे युक्त चित्त द्वारा मेरा ध्यान करता है, वह दूरसे ही समस्त वस्तुओंका दर्शन कर सकता है, इसे 'दूरदर्शन' नामक सिद्धि कहते हैं॥ २०॥

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनुवायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः॥ २१॥

मनका मुझमें संयोग करके और तदनुगामी (मनका अनुसरण करनेवाली) प्राणवायुके साथ देहका सम्यक्‌रूपेण मुझमें संयोग

करके जो मेरी धारणा करता है, उस धारणाके (ध्यान शक्तिके) प्रभावसे उसका मन जहाँ जाता है, उसकी स्थूल देह भी वहाँ चली जाती है, अर्थात् मनके सङ्कल्पके साथ ही उसका शरीर वहाँ पहुँच जाता है, इसे 'मनोगति' या 'मनोजव' सिद्धि कहते हैं॥ २१॥

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति।
तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः॥ २२॥

जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर देवादि जिस-जिस रूपको धारण करनेकी इच्छा करता है, उस समय वह मनोभीष्ट तद्-तद् रूपको प्राप्त हो जाता है। अचिन्त्यशक्तिमय विविधमूर्त्तियुक्त मेरे प्रति चित्त धारणके प्रभावसे यह 'कामरूप (इच्छारूपी)' सिद्धि प्राप्त होती है॥ २२॥

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥ २३॥

दूसरी देहमें प्रवेशका अभिलाषी योगी पुरुष परदेहमें आत्म-चिन्तन (मैं उस शरीरमें हूँ) करता है, तब भ्रमर जिस प्रकार एक पुष्पसे दूसरे पुष्पमें अनायास ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार प्राणप्रधान लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीररूप उपाधियुक्त आत्मा निज स्थूल देहका त्याग करके बाह्य वायुमार्गसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, इसीको 'परकाय प्रवेश' सिद्धि कहते हैं॥ २३॥

पाष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्द्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत् तनुम्॥ २४॥

एड़ी द्वारा गुदाद्वारका निरोध करके प्राणोपहित (प्राण उपाधि द्वारा) आत्माको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ एवं मस्तक तक ऊपर ले जाये और वहाँसे ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा ब्रह्मवस्तुके निकट ले जाये और तब देहका परित्याग करे, उसे 'स्वच्छन्द मृत्यु' सिद्धि कहते हैं॥ २४॥

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥ २५॥

योगी पुरुष जब देव-विहार-स्थलीपर विहार करनेकी इच्छा करता है, तब वह मेरे मूर्त्तिस्वरूप शुद्धसत्त्वकी भावना करता है। ऐसा करने पर शुद्ध सत्त्वांशसे उत्पन्न देवरमणियाँ दिव्ययान पर चढ़कर उसके निकट उपस्थित होती हैं और उसे स्वर्गस्थित देवस्त्रियोंके साथ देवक्रीड़ाकी प्राप्ति होती है॥ २५॥

यथा सङ्कल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्यै मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते॥ २६॥

सत्यसङ्कल्प मेरे प्रति मनको सम्पूर्ण रूपसे निविष्ट करके आत्यन्तिक श्रद्धा-सम्पन्न योगी पुरुष अपने मनके द्वारा समय, असमय जिस विषयमें जैसा सङ्कल्प करता है, अभीष्ट वस्तु उसे उसी प्रकारसे प्राप्त हो जाती है, इसे 'सङ्कल्पसिद्धि' कहते हैं॥ २६॥

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥ २७॥

जो सर्वनियन्ता, सर्ववशीकर्त्ता मुझसे ध्यानातिशयके द्वारा 'ईशितृत्व' शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उनकी आज्ञा मेरी आज्ञाके समान सर्वत्र अप्रतिहत होती है। इसे 'अप्रतिहत गति' नामकी सिद्धि कहते हैं॥ २७॥

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता॥ २८॥

मेरी भक्तिसे जिनका चित्त विशुद्ध हो गया है एवं जो त्रिकालज्ञ ईश्वरकी धारणा-विधिको अच्छी प्रकारसे जानता है, ऐसे योगी पुरुषोंमें जन्म, मृत्युके ज्ञानके साथ त्रैकालिक (भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान सम्बन्धित) सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसे 'त्रिकालज्ञ' सिद्धि कहते हैं॥ २८॥

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा॥ २९॥

जलमें रहनेवाले जन्तुओंका शरीर जिस प्रकार जल द्वारा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मेरे भक्तियोगके प्रभावसे शान्तचित्त मुनियोंका योग-परिपक्व देह भी अग्नि, जल आदिके द्वारा अभिहत (नष्ट) नहीं होता। वे अग्नि, जलादिकी शक्तिको स्तम्भित करके उनके साथ क्रीड़ा कर सकते हैं, इसे 'स्तम्भित' सिद्धि कहते हैं॥ २९॥

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः॥ ३०॥

जो व्यक्ति ध्वजा, छत्र, चामर, श्रीवत्स और अस्त्रके द्वारा विभूषित मेरे अवतारोंका चिन्तन करता है, वह भक्त पुरुष सर्वत्र अजेय हो जाता है, इसे 'अपराजय' सिद्धि कहते हैं॥ ३०॥

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः॥ ३१॥

इस प्रकार पूर्वोक्त योग-धारणाओंके द्वारा जो योगी मेरी उपासना करता है, उसे पहले कही हुई सभी सिद्धियाँ अपने-आप ही समग्ररूपसे प्राप्त हो जाती हैं॥ ३१॥

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्ल्लभा॥ ३२॥

जितेन्द्रिय, संयमी, श्वासजयी, चित्तजयी और सर्वदा मेरे चिन्तनमें निरत रहनेवाले मुनियोंके लिये कोई भी सिद्धि सुदुर्लभ नहीं है॥ ३२॥

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥ ३३॥

जो साधक उत्तम भक्तियोगके आचरणसे मेरे स्वरूपभूत प्रेम-सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उनके लिये पूर्वोक्त सिद्धियाँ वृथा और विघ्नस्वरूप हैं; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ

ही उनके समयका क्षय होता है तथा मेरी प्राप्तिमें विलम्ब होता है॥ ३३॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥ ३४॥

इस लोकमें जन्म, ओषधि, तपस्या, मन्त्र आदिके द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, वे सभी सिद्धियाँ मेरे ध्यानरूप योगके द्वारा अनायास ही सुलभ हो जाती हैं, इसलिये अन्य किसी उपायसे मेरे सालोक्यादि सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा नहीं करनी चाहिए। सालोक्यादि मुक्तिको भी योगगति कहा जाता है॥ ३४॥

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥ ३५॥

हे उद्धव! मैं ही समस्त सिद्धियों, योग, सांख्य (मोक्षका साधनभूत ज्ञान), निष्काम कर्म, धर्म और ब्रह्मवादियोंका कारण, पालक और प्रभुस्वरूप हूँ॥ ३५॥

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

पञ्चमहाभूत जिस प्रकार पृथ्वी आदि चतुर्विध भौतिक पदार्थोंके अन्तर एवं बहिर्देशमें विराजमान हैं, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंमें अन्तरात्मारूपसे एवं बाह्य सर्वव्यापकरूपसे विराजमान हूँ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

भगवान्‌की विभूतियोंका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम्।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः॥ १॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः॥ २॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे भगवन्! आप स्वयं अनादि, अनन्त एवं आवरण (सीमा) से रहित परब्रह्म हैं। आप ही समस्त प्राणियों तथा महत्तत्त्वादि पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति, जीवन-रक्षण और प्रलयके कारणस्वरूप हैं। अजितेन्द्रिय व्यक्ति आपको जान नहीं सकते। आप अपनेको उनसे गूढ़ ही रखते हैं। केवल वेद-तात्पर्यको जाननेवाले पुरुष ही उत्कृष्ट एवं निकृष्ट सभी प्राणियोंमें अवस्थित एवं अपुण्यशालियोंके लिये दुर्ज्ञेय आपकी यथोचित आराधना करते हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ, जिस-जिस रूपमें आप अवस्थान करते हैं, उस-उस स्थानपर उस-उस रूपमें वे तारतम्यभावसे आपकी उपासना करते हैं॥ १-२॥

येषु येषु च भूतेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे॥ ३॥

परमर्षिगण जिन-जिन प्राणियोंमें भक्तिके साथ आपके शरणागत होकर आपकी उपासना करके सम्यक् सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझे बतलाइए॥ ३॥

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते॥ ४॥

हे भूतभावन (सभी प्राणियोंके जीवनदाता)! आप प्रााणियोंके अभ्यन्तरमें अन्तर्यामीरूपसे अस्फुटभावसे (गूढ़रूपसे) विचरण करते हैं, परन्तु आपकी मायासे मोहित होकर वे 'सर्वदर्शी' आपको देखकर भी नहीं देख पाते॥ ४॥

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

हे महाविभूतिशालिन्! स्वर्ग, मर्त्त्य, रसातल एवं दिग्-दिगन्तमें आपकी जो विभूतियाँ संयोजित (अभिव्यक्त) हो रही हैं, कृपया उन सबका वर्णन कीजिए। सकल तीर्थोंके आश्रयस्वरूप आपके श्रीचरण-कमलोंको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रश्नतत्त्वज्ञवर! कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्धाभिलाषी अर्जुनने भी मुझसे तुम्हारे ही समान इसी विषयमें प्रश्न किया था॥ ६॥

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥ ७॥

"मैं ही अपने बन्धु-बान्धवोंका नाश करनेवाला हूँ और ये बन्धु-बान्धव मेरे द्वारा बध्य हैं"—इस प्रकारकी प्राकृत बुद्धिसे युक्त होकर अर्जुन राज्यके लिये बन्धुओंकी हत्याको निन्दनीय और अधर्मकारी मानकर युद्धसे विरत हो गया था॥ ७॥

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्द्धनि॥ ८॥

हे पुरुषप्रवर! उस समय युक्तियुक्त उपदेशोंके द्वारा मैंने उसको यथार्थ तत्त्व समझाया था। उसने भी रणक्षेत्रके अग्रभागमें मुझसे ऐसे ही प्रश्न किये थे, जैसे तुम अब कर रहे हो॥ ८॥

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः॥ ९॥

हे उद्धव! मैं समस्त प्राणियोंका परमात्मा, सुहृत् (स्वभावतः हितकारी), ईश्वर (सबका प्रवर्त्तक अर्थात् सबके व्यवहारका सम्पादन करनेवाला), सबका अधिष्ठान एवं सृष्टि, स्थिति तथा संहारका कारणस्वरूप हूँ। (अतः मैं ही सबका उपास्य हूँ। इस तरह सर्वत्र जानना चाहिए)॥ ९॥

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम्।
गुणानाञ्चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः॥ १०॥

मैं ही गतिशील पदार्थोंकी परम गति हूँ, (मैं ही कर्मी, ज्ञानी इत्यादिकी गति अर्थात् प्राप्य फल हूँ), वशीभूत (नियन्त्रण) करनेवालोंमें मैं कालस्वरूप हूँ, सत्त्वादि गुणोंमें मैं साम्यावस्था प्रकृति हूँ तथा गुणीवस्तुओंमें (धर्मियोंमें) मैं स्वाभाविक गुण-स्वरूप हूँ (यथा आकाशमें शब्द)॥ १०॥

गुणिनामप्यहं सूत्रं महताञ्च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः॥ ११॥

गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं सूत्रात्मा (क्रियाशक्ति प्रधान प्रथम कार्य—सूत्र तत्त्व प्राण) हूँ, महत् पदार्थोंमें अर्थात् अन्तःकरणोंमें ज्ञानशान्तिप्रधान मैं महत्तत्त्व—महान् चित्त हूँ, सूक्ष्म पदार्थोंमें मैं जीव हूँ (श्रुति कहती है—अणु आत्मा चित्तमें प्राण पञ्चरूपोंमें विभक्त होकर प्रवेश करता है—जीवका परिमाण परमाणु तुल्य है, केशके अग्रभागको शत भागोंमें विभाजित करके, उसके एक भागको पुनः शत भागोंमें कल्पना करके जो एक भाग है, वही जीवका परिमाण कहा गया है) एवं दुर्जेय पदार्थोंमें मैं मनःस्वरूप

हूँ। (सूक्ष्मोपाधिसे युक्त जीवात्मा बुद्धिके गुणसे तथा आत्माके गुणसे युक्त है)॥ ११॥

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम्॥ १२॥

मैं वेदके अध्यापकोंमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हूँ, मन्त्रोंमें मैं त्रिमात्रायुक्त (तीन अक्षरोंवाला) प्रणव हूँ। अक्षरोंमें मैं अकार हूँ और छन्दोंमें मैं त्रिपदा गायत्री-स्वरूप हूँ॥ १२॥

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः॥ १३॥

देवताओंमें मैं ही इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित-स्वरूप (सदाशिव) हूँ॥ १३॥

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्द्धान्यस्मि धेनुषु॥ १४॥

मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गायोंमें कामधेनु-स्वरूप हूँ॥ १४॥

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितृणामहमर्यमा॥ १५॥

मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ॥ १५॥

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम्॥ १६॥

हे उद्धव! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्र एवं ओषधियोंमें उनका स्वामी चन्द्र, यक्ष और राक्षसोंमें उनका अधिपति कुबेर-स्वरूप हूँ॥ १६॥

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणाञ्च भूपतिम्॥ १७॥

मैं गजराजोंमें ऐरावत, जल-जन्तुओंमें उनका प्रभु वरुण, तेजस्वी और दीप्तिमान् वस्तुओंमें मैं सूर्य और मनुष्योंमें मैं भूपति अर्थात् राजा-स्वरूप हूँ॥ १७॥

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम्।
यमः संयमताञ्चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ १८॥

मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि-स्वरूप हूँ॥ १८॥

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ॥ १९॥

हे उद्धव! नागराजोंमें मैं अनन्त (शेषनाग) हूँ, शृङ्गधारियोंमें कृष्णसार मृग, दाढ़वाले अर्थात् हिंसक प्राणियोंमें मैं सिंह, आश्रमोंमें मैं चतुर्थ संन्यास आश्रम एवं वर्णोंमें मैं प्रथम ब्राह्मण हूँ॥ १९॥

तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्॥ २०॥

मैं तीर्थ और प्रवाहोंमें गङ्गा, स्थिर जलाशयोंमें समुद्र, शस्त्रोंमें धनुष और धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि-शङ्कर-स्वरूप हूँ॥ २०॥

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः॥ २१॥

मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल वृक्ष और ओषधियोंमें यव-स्वरूप हूँ॥ २१॥

पुरोधसां वशिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यं भगवानजः॥ २२॥

मैं पुरोहितोंमें वशिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें कार्त्तिकेय और सन्मार्गप्रवर्त्तकोंमें (अग्रणियोंमें) मैं ब्रह्मा-स्वरूप हूँ॥ २२॥

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः॥ २३॥

सम्पूर्ण यज्ञोंमें मैं वेदपाठरूप यज्ञस्वरूप (स्वाध्याय) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत हूँ और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल एवं वाणी-स्वरूप हूँ॥ २३॥

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्॥ २४॥

आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोधरूप समाधि हूँ। विजयकी अभिलाषायुक्त पुरुषोंमें मैं मन्त्र-स्वरूप (कुशल नीतिकार) हूँ, कौशलोंमें मैं आन्वीक्षिकी (आत्म-अनात्म-विवेकरूप कौशल) विद्यास्वरूप और ख्यातिवादियोंमें काठिन्यको जाननेवाला विकल्प-स्वरूप हूँ। (निर्विशेषवादियोंके अख्याति, अन्यथाख्याति, शून्यख्याति, असत्यख्याति तथा अनिवर्चनीयक्ष्यातियोंमें मैं विकल्प हूँ।)॥ २४॥

स्त्रीणान्तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनाञ्च कुमारो ब्रह्मचारिणाम्॥ २५॥

मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनियोंमें नारायण ऋषि तथा ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार-स्वरूप हूँ॥ २५॥

धर्माणामस्मि सन्न्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सुनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्॥ २६॥

मैं धर्मोंमें दान एवं त्याग (संन्यास) स्वरूप, अभय स्थानोंमें अन्तर्निष्ठा-स्वरूप, रहस्यपूर्ण वस्तुओंमें प्रिय वाणी और मौन-स्वरूप, (इनसे मनुष्यका अभिप्राय प्रकाश नहीं होता) तथा स्त्री-पुरुष मिथुनोंमें मैं प्रजापति-स्वरूप हूँ॥ २६॥

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्॥ २७॥

मैं अनिमिष अर्थात् अप्रमत्त (सदा सावधान रहनेवाले) पदार्थोंमें सम्वत्सररूप काल-स्वरूप हूँ, ऋतुओंमें वसन्त (चैत्र एवं वैशाख)

हूँ, महीनोंमें मैं अग्रहायण (मास) हूँ और नक्षत्रोंमें मैं अभिजित नक्षत्र हूँ॥ २७॥

अहं युगानाञ्च कृतं धीराणां देवलोऽसितः।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥ २८॥

युगोंमें मैं सत्ययुग हूँ, धीर पुरुषोंमें मैं देवल और असित हूँ, वेद विभाग करनेवालोंमें मैं कृष्णद्वैपायन हूँ और कवियोंमें मैं विवेकी शुक्राचार्यस्वरूप हूँ॥ २८॥

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः॥ २९॥

सृष्टिकी उत्पत्ति एवं लय, प्राणियोंके जन्म तथा मृत्यु और विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महापुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। भगवत्-प्रेमी-भक्तोंमें मैं तुम अर्थात् उद्धव-स्वरूप हूँ, किम्पुरुषोंमें हनुमत्-स्वरूप और विद्याधरोंमें सुदर्शन-स्वरूप हूँ॥ २९॥

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम्।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम्॥ ३०॥

मैं रत्नोंमें पद्मराग, सुन्दर वस्तुओंमें कमलकोश, दर्भजातीय दूर्वादि पदार्थोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी-स्वरूप हूँ॥ ३०॥

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३१॥

मैं व्यवसायियोंमें लक्ष्मी (सम्पति), छल-कपट करनेवालोंमें द्यूत, सहिष्णुओंमें क्षमा और सात्त्विक पुरुषोंमें मैं सत्त्व-स्वरूप हूँ॥ ३१॥

ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम्।
सात्वतां नवमूर्त्तीनामादिमूर्त्तिरहं परा॥ ३२॥

मैं बलवानोंमें ओजः (शारीरिक बल) तथा सहःस्वरूप (मानसिक बल) हूँ, सात्वतोंके (भक्तोंके) सम्बन्धमें भक्तिपूर्वक किये गये

श्रवण, कीर्त्तनादि कर्मस्वरूप हूँ, सात्वतन नवव्यूह अर्चनमें जो वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध-नारायण-हयग्रीव-वराह-नृसिंह-ब्रह्मामें मैं सर्वश्रेष्ठ एवं आदिमूर्त्ति वासुदेव-स्वरूप हूँ (किसी महाकल्पमें विष्णु ही उक्त ब्रह्मा हो जाते हैं—ये ब्रह्मा वही हैं।)॥ ३२॥

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः॥ ३३॥

मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें पूर्वचित्ति अप्सरा हूँ। पर्वतोंमें स्थिरता-स्वरूप और पृथ्वीमें मैं गन्ध-तन्मात्र-स्वरूप हूँ, पृथ्वीकी मूल पवित्र गन्ध सभी दुर्गन्धोंका निवारण करती है॥ ३३॥

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः॥ ३४॥

मैं जलके धर्मोंमें मधुररसस्वरूप, तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंकी प्रभा-स्वरूप और आकाशमें परम (पराख्य) शब्द-स्वरूप हूँ॥ ३४॥

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः॥ ३५॥

उद्धव! मैं ब्राह्मणभक्तोंमें विरोचन-पुत्र बलिस्वरूप, वीरोंमें अर्जुन-स्वरूप, प्राणियोंके सम्बन्धमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय स्वरूप हूँ॥ ३५॥

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम्।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम्॥ ३६॥

मैं ही गमन (चरण), उक्ति—सम्भाषण (वाणी), उत्सर्ग—मलादि-विसर्जन (गुदा), ग्रहण (हाथ), आनन्द—उपभोग (जननाङ्ग), इन पाँच कर्मेन्द्रियोंका व्यापार-स्वरूप हूँ और मैं ही आस्वाद (जिह्वा), श्रवण (कर्ण), आघ्राण (नासिका), दर्शन (चक्षु), स्पर्श

(त्वक्)—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य-कलाप हूँ। मैं सभी इन्द्रियोंके विषय-ग्रहणके लिये शक्तिस्वरूप हूँ, जिससे समस्त इन्द्रियाँ तद्-तद् पदार्थोंका अनुभव करती हैं॥ ३६॥

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्।
अहमेतत् प्रसंख्यानां ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः॥ ३७॥

मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द—ये पञ्च तन्मात्र, अहङ्कार एवं महत्तत्त्व—ये सात प्रकृतिके विकार, पञ्चमहाभूत, एकादश इन्द्रिय (षोडशसंख्यक), पुरुष (जीव), अव्यक्त प्रकृति—ये पच्चीस तत्त्व, सत्त्व, रजः एवं तमः—ये तीन प्रकृतिके गुण, इन सभी पदार्थोंकी परिगणना (क्रम) इनके लक्षणके अनुसार इनका ज्ञान और उसका फल तथा तत्त्वनिर्णयस्वरूप मैं ही हूँ॥ ३७॥

मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित्॥ ३८॥

मैं ही ईश्वर, जीव, गुण, गुणी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप हूँ। मैं ही सबकी आत्मा और सर्व-स्वरूप हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं रह सकता। (शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न होनेके कारण आधारस्वरूप भगवान्में ही समस्त शक्तियाँ निहित हैं।)॥ ३८॥

संख्यानां परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः॥ ३९॥

यद्यपि पृथ्वी आदि परमाणुओंकी गणना मैं महादीर्घकाल पर्यन्त करनेमें समर्थ हो पाऊँ, किन्तु असंख्य ब्रह्माण्ड-रचयिता मैं अपनी विभूतियोंकी गणना करनेमें समर्थ नहीं हूँ। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी जो मैं सृष्टि करता हूँ, उनकी ही संख्या नहीं है, तो इन समस्त ब्रह्माण्डगत वस्तुओंकी विभूतियोंकी संख्या किस प्रकारसे होगी?॥ ३९॥

तेजः श्रीः कीर्त्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥ ४०॥

जिन-जिन वस्तुओंमें प्रभाव (तेज), श्री, कीर्त्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, मन एवं नेत्रोंको आह्लादित करनेवाला सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान (स्वरूप-ज्ञान) आदि श्रेष्ठ-गुण दिखायी देते हों, वे सब मेरा ही अंश (विभूति) हैं॥ ४०॥

एतास्ते कीर्त्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते॥ ४१॥

हे उद्धव! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपमें समस्त विभूतियोंका वर्णन किया। ये वाणीमात्रके द्वारा कथित आकाश-कुसुम आदि पदार्थोंकी भाँति मनःकल्पना प्रसूत हैं, वस्तुतः ये यथार्थ (सत्य) नहीं हैं, इसलिये इनमें अभिनिवेश करना उचित नहीं है। (भगवान्‌की निज शक्तिका प्रकृष्ट परिचय उनकी विभूतियोंसे कभी भी समरूपमें दिखायी नहीं देता। समरूपसे दिखनेपर भी अन्तरङ्गा एवं बहिरङ्गा शक्तिकी परिणत वस्तुओंमें वैचित्र्य है। एक मायिक विकारके अन्तर्गत है, दूसरा चिच्छक्ति परिणत। अतः विकारकी तुच्छता उनका स्पर्श नहीं कर सकती।)॥ ४१॥

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥ ४२॥

इसलिये वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंका संयम करो और अन्तमें सात्त्विक गुणसम्पन्न बुद्धिके द्वारा द्वेष-बुद्धिको शान्त करो। (न किसीका अपमान करो और न ही किसीसे वैर रखो।) इससे तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप मार्गमें पतित नहीं होना पड़ेगा। (तात्पर्य यह है कि वाणीको स्वच्छन्द भाषणसे एवं मनको सङ्कल्प-विकल्प करनेसे रोको, प्राणोंको वशमें करो तथा इन्द्रियोंका दमन करो। सात्त्विक गुणके द्वारा प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको शान्त करो। इससे भवाटवीमें भटकना नहीं पड़ेगा।)॥ ४२॥

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ४३॥

जो यतिपुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया संयत नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान इत्यादि सभी प्रकारके अनुष्ठान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जिस प्रकार कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल क्षरित हो जाता है॥ ४३॥

तस्माद्वचोमनःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे महाविभूतिः नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

इसलिये हे प्रिय उद्धव! मेरे प्रिय भक्त भक्तिसे युक्त बुद्धिके द्वारा वाणी, मन और प्राणको संयतकर उनके द्वारा कृतार्थ हो जाया करते हैं, उन्हें कुछ भी करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रह जाता॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सोलहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण

श्रीउद्धव उवाच—

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥ १॥

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्समाख्यातुमर्हसि॥ २॥

श्रीउद्धवने कहा—हे कमलनयन श्रीकृष्ण! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मके आचारका पालन करनेवालों और वर्णाश्रमाचारहीन मनुष्योंके सम्बन्धमें उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। हे प्रभो! अब जिस प्रकार स्वधर्मका (अपने नियत-कर्त्तव्योंका) अनुष्ठान करनेसे उक्त भक्तिधर्म प्राप्त होता है, उसे मुझे बतलाइए॥ १-२॥

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव॥ ३॥

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्त्यलोके प्रागनुशासितः॥ ४॥

वक्ता कर्त्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्त्तिधराः कलाः॥ ५॥

कर्त्त्राविता प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति॥ ६॥

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो॥ ७॥

हे महाबाहो! हे प्रभो! हे माधव! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने जिस परमसुखरूप धर्मका उपदेश किया था, बहुत समय बीत जानेके कारण अब वह पूर्व उपदिष्ट धर्म पृथ्वीसे लुप्तप्राय हो रहा है। हे अच्युत! पृथ्वीमें अथवा जिस स्थानमें मूर्त्तिमान् वेद आदि विराजमान हैं, उन विरिञ्चिकी सभामें भी आपके अतिरिक्त आपके धर्मका दूसरा कोई वक्ता (उपदेश करनेवाला), कर्त्ता (अनुष्ठान करनेवाला) और रक्षक नहीं है। हे देव! हे मधुसूदन! धर्मोंके कर्त्ता, वक्ता और पालकरूप (प्रवर्त्तन करके संरक्षण करनेवाला) आपके द्वारा इस पृथ्वीका परित्याग करनेपर और कोई दूसरा इस धर्मकी व्याख्या करनेमें समर्थ नहीं होगा। इसलिये हे प्रभो! हे सर्वधर्मज्ञ! (सर्वधर्मोंका रहस्य जाननेवाले)! मनुष्योंमें आपका भक्तिरूप धर्म जिस रूपमें विहित (कथित) हुआ है, उसे उसी प्रकारसे मेरे निकट वर्णन करें॥ ३-७॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्त्यानां धर्मानाह सनातनान्॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—अपने परम श्रेष्ठ भक्त उद्धवके द्वारा इस प्रकार जिज्ञासा किये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर मर्त्त्यजीवोंके कल्याण हेतु उनके लिये सनातन धर्मका वर्णन किया। (सनातन धर्म कहनेसे एकमात्र भक्तिको ही जाना जाता है। निर्मल आत्मा जब उपाधिग्रस्त हो जाता है, तब यही परमधर्म भक्तिसे रहित होकर कर्म, ज्ञान एवं योगादि विषयोंमें रुचि उत्पन्न करा देता है।)॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम्हारा यह प्रश्न धर्मसङ्गत है, इसीसे वर्णाश्रम-धर्मी एवं अन्यान्य मनुष्योंको परम कल्याणस्वरूप भक्ति प्राप्त होती है। अतएव मैं तुम्हें उस धर्मका उपदेश कर रहा हूँ, श्रवण करो। (होता ऋगवेदका उच्चारण करता है एवं अग्निमें आहुति डालता है, उद्गाता सामदेवका उच्चारण करता है और मधुर स्वरसे ऋचाओंको गाकर वह देवताओंको प्रसन्न करता है तथा अध्वर्यु यजुर्वेदका उच्चारण व यज्ञशालाकी तैयारी करता है।)॥ ९॥

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृत्यकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥ १०॥

प्रथमतः सत्ययुगमें मनुष्योंका हंस नामक केवल एक ही वर्ण था। (वर्ण विभाजन न होनेके कारण वह एकायन पद्धति नामसे कथित होकर अविभक्त हंस नामसे परिगणित होता है अर्थात् सभी लोग उस वर्णसे सम्बद्ध होकर परमेश्वरके शरणागत होकर सभी कार्य करते थे। परमात्मा 'हंस' थे एवं जीव हंसपाल्य 'भक्त' रूपमें प्रसिद्ध थे।) उस युगमें सब लोग जन्मसे ही अनन्य भक्तिपरायण होनेके कारण कृतकृत्य होते थे; इसलिये उस युगको पण्डित कृतयुग नामसे जानते थे॥ १०॥

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥ ११॥

उस समय प्रणवात्मक वेद शास्त्र अविभक्तरूपसे विराजमान था। (पहले वेद प्रणवरूपमें (ॐकार रूपमें) अविभाज्य था।) मैं मनोविषयीभूत चतुष्पाद (तपस्या, शौच, दया एवं सत्य) वृषभरूपी धर्ममें विद्यमान था। यज्ञादि कोई विशेष क्रिया नहीं थी। तपोनिष्ठ अर्थात् इन्द्रिय एवं मनकी एकाग्रता-युक्त निष्पाप मनुष्य मेरे विशुद्धरूपका (हंसरूपका) ध्यान करते थे॥ ११॥

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान् मे हृदयात् त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत् तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥ १२॥

हे महाभाग! इसके बाद त्रेतायुगके प्रारम्भमें मेरे प्राणाधार हृदयसे वेदत्रयरूपिणी (ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद रूप) विद्याका आविर्भाव हुआ और उस त्रयी विद्यासे यज्ञरूपी मैं होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता—इस त्रिरूपमें प्रादुर्भूत हुआ॥ १२॥

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ १३॥

तत्पश्चात् चतुर्वर्ण विराट्रूपधारी मेरे मुख, बाहु, जंघा और चरणोंसे क्रमशः अपने-अपने स्वभाव और आचरण-सम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंकी उत्पत्ति हुई॥ १३॥

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थलाद्वने वासः सन्यासः शिरसि स्थितः॥ १४॥

मेरे ऊरुस्थलसे गृहस्थ आश्रम, हृदयसे (वक्षःस्थलके निम्न भागसे) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ आश्रम और उत्तमाङ्ग शिरोभागसे संन्यास आश्रमकी उत्पत्ति हुई है॥ १४॥

वर्णानामाश्रमाणाञ्च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥ १५॥

उत्पत्ति स्थानके उत्तम-अधम भावोंके अनुसार मानवोंके वर्ण एवं आश्रम हैं, इसीलिये प्रजाएँ उत्तम स्वभावमयी और अधम स्वभावमयी हैं। मुख एवं मस्तककी सर्वोत्तमताके कारण विप्र वर्ण एवं संन्यास आश्रम, बाहु एवं वक्षःस्थलसे वैश्य वर्ण एवं ब्रह्मचर्य आश्रम, चरण एवं कटिदेशसे शूद्रवर्ण एवं गृहस्थ आश्रम उद्भूत हुए हैं। वर्ण एवं आश्रम मनुष्यके प्रकृति-विचारमें संस्थित हैं अर्थात् नीचस्थानजात नीच एवं उत्तमस्थानजात उत्तम—इस प्रकार सभी मनुष्योंकी पृथक्-पृथक् प्रकृति होती है॥ १५॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥ १६॥

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, सरलता (ऋजुता), क्षमाशीलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये सभी ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं॥ १६॥

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १७॥

तेज, बल, धैर्य, शौर्य, सहिष्णुता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण-हितैषिता और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं॥ १७॥

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८॥

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा, और अर्थ-संग्रहसे अतृप्त होकर और अधिक अर्थ-वृद्धिकी आकाङ्क्षा—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं॥ १८॥

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १९॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा और इन सेवाओंसे प्राप्त धनादिके द्वारा सन्तोष-प्राप्ति—ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं॥ १९॥

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्यावसायिनाम्॥ २०॥

अपवित्रता, असत्य, चोरी, ईश्वर एवं वेदधर्ममें अविश्वास, व्यर्थ कलह, काम, क्रोध एवं विषय-तृष्णा—ये सब चतुर्वर्ण एवं चारों आश्रमोंसे बाहर निम्न पदस्थ मनुष्योंके—अन्त्यजोंके स्वभाव हैं॥ २०॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥ २१॥

अहिंसा (मन, वाणी एवं कामसे किसीकी हिंसा न करना), सत्य, अस्तेय (परद्रव्य ग्रहण न करना), काम, क्रोध एवं लोभादिमें अप्रवृत्ति (त्याग), प्राणीमात्रसे प्रीति एवं सभीके हितकी कामना—ये सार्ववर्णिक अर्थात् पाँचों वर्णोंमें साधारणरूपसे न्यूनाधिक रूपमें लक्षित होते हैं॥ २१॥

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहूतः॥ २२॥

द्विज अर्थात् त्रैवर्णिक पुरुष (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—तीन वर्ण) क्रमपूर्वक अर्थात् गर्भाधानादि संस्कारक्रमसे पहले शौक्र जन्म, दूसरा सावित्र अर्थात् उपनयन नामक द्वितीय जन्म प्राप्त करके आचार्य द्वारा आमन्त्रित होकर गुरुकुलमें रहे तथा दम गुणयुक्त चित्तसे अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करके वेदाध्ययन करे॥ २२॥

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून्।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत्॥ २३॥

जटा, कुशनिर्मित मेखला, अजिन (मृगचर्म), दण्ड, अक्षसूत्र यज्ञोपवीत, कमण्डलु एवं कुश धारण करे। चमकीले दिखानेके लिये (विलासपूर्ण उत्तेजनाके लिये) दन्त-धावन न करे और न ही क्षार-योगसे वस्त्रोंको धोए। आसनको भी रञ्जित न करे। रक्तवस्त्र न तो पहने और न ही उसपर आसीन हो॥ २३॥

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः।
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि॥ २४॥

स्नान, भोजन, हवन, जप (सन्ध्या-वन्दन) और मल-मूत्र त्यागके समय मौन रहे। नख एवं केशका छेदन न करे। कक्ष (काँख) और उपस्थ स्थित लोम-छेदन सभी अवस्थाओंमें ही अविहित है॥ २४॥

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥ २५॥

ब्रह्मचारी कभी इच्छापूर्वक वीर्यपात न करे। यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे और त्रिपदा गायत्रीका जप करे॥ २५॥

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुरान् शुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च द्वे यतवाग् जपन्॥ २६॥

ब्रह्मचारी पवित्र, एकाग्रचित्त और मौनी होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याओंमें जपके साथ उपासना करे और अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और देवताओंकी पूजा भी करे॥ २६॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥ २७॥

गुरुदेवको मेरा अभिन्न आश्रय-विग्रह समझे। न तो कभी उनकी अवज्ञा करे और न ही कभी साधारण मनुष्य जानकर उनमें दोष-दर्शन करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवस्वरूप हैं। (गुरु मुकुन्द-प्रेष्ठ हैं, भगवान्‌की सब प्रकारसे सेवा करनेवाले तद्वस्तुमय हैं। सामान्य मनुष्य-बुद्धि द्वारा उनका अपमान कदापि न करे।)॥ २७॥

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥ २८॥

प्रातःकाल एवं सायंकालमें भिक्षासे प्राप्त अन्नादि एवं अन्यान्य सम्पूर्ण वस्तुओंको गुरुदेवके समीप लाकर उन्हें निवेदन कर दे। इसके बाद उनकी आज्ञा मिलनेपर उन वस्तुओंको स्वयं संयत भावसे ग्रहण करे। (ऐसा न करनेसे अभक्त हो जाना पड़ता है एवं ब्रह्मविद्याकी स्फूर्त्ति नहीं होती।)॥ २८॥

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥ २९॥

गुरुसेवामें तत्पर ब्रह्मचारी गुरुदेवके गमनके समय भृत्यके समान उनका अनुगमन करे, निद्राकालमें उनके सो जानेके बाद बड़ी

सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। विश्राम कालमें पास बैठकर चरण-सम्वाहन आदि अन्य सेवा-कार्य करे और बैठे हों, तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार सर्वदा गुरुदेवकी आराधना करे। सभी व्यावहारिक विषयोंमें सेव्य-सेवक भाव रहनेसे शिष्यका आत्ममङ्गल होता है॥ २९॥

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम्॥ ३०॥

जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाए, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर पूर्वोक्त आचरणोंका पालन करते हुए पूर्ण (अक्षत अर्थात् अखण्ड) ब्रह्मचर्य-व्रत धारणकर गुरुकुलमें निवास करे। उसे सुख-सुविधाकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिए॥ ३०॥

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः॥ ३१॥

यदि ब्रह्मचारी महर्लोक तथा वहाँसे ब्रह्मलोक (जहाँ मूर्त्तिमान वेद विराजते हैं) तक आरोहण करनेकी अभिलाषा रखे, तो उसे बृहत् व्रत अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लेना चाहिए और वेदोंके स्वाध्यायके लिये कायमनोवाक्यसे अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिए॥ ३१॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥ ३२॥

ब्रह्मचारी वेदाभ्याससे ब्रह्मतेज सम्पन्न ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है और कभी भी पापमें निमग्न नहीं होता। वह भोग्य पदार्थोंको नश्वर जानकर स्वयंमें कभी भी भोक्ता अभिमान नहीं करता और अविच्छिन्न सेवामें रत रहता है। ऐसा ब्रह्मचारी अग्नि, गुरु, निज आत्मा एवं समस्त प्राणियोंमें अभेद बुद्धि रखकर मुझ परमात्माकी उपासना करता है। (वह जानता है कि सभीके हृदयमें एक ही परमात्माका निवास है।)॥ ३२॥

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥ ३३॥

गृहस्थके अतिरिक्त अन्य सभी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी प्रथम तो स्त्रियोंका दर्शन (भावपूर्ण अवलोकन) ही न करें। (गृहस्थ भी असंयत होनेके कारण गृहव्रती हो पड़ता है।) उनका स्पर्श न करे, न ही उनके साथ परिहास अथवा सम्भाषण करे। उन्हें मैथुनरत कीटादि प्राणियोंके प्रति कभी भी दृष्टिपात नहीं करना चाहिए॥ ३३॥

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम्॥ ३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥ ३५॥

हे उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, त्रिसन्ध्योपासना, मेरा अर्चन (विष्णु-पुजा), तीर्थ-सेवा, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य एवं असम्भाष्य विषयोंका (एवं मनुष्योंका) वर्जन, समस्त प्राणियोंमें मैं ही अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हूँ—यह ज्ञान, मानसिक, वाचिक एवं कायिक संयम—ये सभी धर्म समस्त आश्रमोंमें ही पालनीय हैं॥ ३४-३५॥

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥ ३६॥

नैष्ठिकव्रतावलम्बी ब्रह्मचारी इन नियमोंका पालन करे, तो ब्रह्मतेजसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके द्वारा उसके सारे कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा निष्काम होकर वह मेरा भक्त हो जाता है। उत्तरोत्तर कृष्ण-सेवोन्मुखता-चन्द्रिका सेवकके हृदयाकाशको आलोकित करती जाती है॥ ३६॥

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथाजिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः॥ ३७॥

तदनन्तर ब्रह्मचारी वेदार्थ-विचारका समापन करके यदि गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता है, तो वह गुरुदक्षिणा प्रदान करे और उनकी अनुमति प्राप्त करके अभ्यङ्गादि स्नान करे (तेल मर्दन करे, अच्छा परिधान करे एवं केश कटवाये आदि)। तत्पश्चात् समावर्त्तन करे। (अपने गृहकी ओर लौटे)। सर्वकाल ही आश्रम विहित क्रियाएँ करनी चाहिए, नहीं तो अमङ्गल हो जाता है। भगवद् भक्तका पतन तो नहीं होता, किन्तु भगवत्-सेवा-वैमुख्य हो जाता है और इस अपराधसे अन्याभिलाषिता होनेपर अधःपतन हो जाता है॥ ३७॥

गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथामत्परश्चरेत्॥ ३८॥

ब्रह्मचारी सकाम होनेपर ब्रह्मचर्य आश्रमसे गृहस्थ आश्रममें अथवा अन्तःकरण-शुद्धिके कारण निष्काम होनेपर वनमें प्रवेश करे अर्थात् वानप्रस्थी हो जाये। निष्काम ब्राह्मण द्विजोत्तम ब्राह्मणसे संन्यास ग्रहण करे अथवा क्रमके अनुसार एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्यके बाद गृहाश्रम, तदनन्तर वनवासी और शेषमें संन्यास आश्रममें प्रवेश करे। नियमका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारमें कदापि प्रवृत्त न होवे अर्थात् विपरीत क्रमसे आश्रम-रहित (अनाश्रमी) होकर भ्रमण न करे। किसी भी स्थितिमें मेरी भक्तिसे रहित न होवे॥ ३८॥

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीन्तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्॥ ३९॥

गृहाश्रमाभिलाषी ब्रह्मचारीको सवर्णा (अपने समान वर्णकी), अनिन्दिता (आक्षेपोंसे रहित), शास्त्रलक्षणसम्पन्ना, कुलीन एवं वयसमें अपनेसे छोटी कन्यासे विवाह करना चाहिए। यदि कामतः (अपनी

इच्छासे) असवर्णा कन्यासे पाणिग्रहण करना चाहे, तो सवर्णा कन्याके पाणिग्रहणके बाद वर्णक्रमानुसार (सवर्णाके बाद क्षत्रिया, क्षत्रियाके बाद वैश्य कुलकी और उसके बाद शूद्र कन्याके साथ) विवाह करना चाहिए। ब्राह्मण चारों वर्णोंकी कन्याके साथ विवाह कर सकते हैं, क्षत्रिय तीनों वर्णोंके साथ, वैश्य दो वर्णोंके साथ और शूद्र केवल एक वर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है, यह स्मृति-शास्त्र सम्मत है॥ ३९॥

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषाञ्च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनञ्च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥ ४०॥

इज्या (यज्ञ, यागादि), अध्ययन, दान—ये त्रैवर्णिक द्विजमात्रके (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यके) आवश्यक धर्म हैं। दान लेना, अध्यापन एवं यज्ञ करना मात्र ब्राह्मणकी ही वृत्तियाँ हैं। (ब्राह्मणोंकी सहायताके बिना अध्ययन सम्भव नहीं है, यज्ञानुष्ठानके लिये उपदेश-प्राप्तिका उपाय नहीं है और दानकी भी सम्भावना नहीं है। ब्राह्मणका आश्रय करके ही क्षत्रिय एवं वैश्य अपने-अपने आश्रमका कर्त्तव्य पालन करनेमें समर्थ होते हैं।)॥ ४०॥

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः॥ ४१॥

अथवा दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करनेवाली मानते हो, तो अध्यापन और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपने जीवनका निर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी परावलम्बन, दीनता आदि दोष दीखते हों—तो शिलोच्छ वृत्तिसे अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपनी जीविकाका निर्वाह कर ले। हरिभक्तिपरायण भगवान्के शरणागत होकर उनके द्वारा प्रदत्त द्रव्यादिके द्वारा आत्म-निर्वाह करें, अन्योंपर निर्भर रहकर जीवन-यापन न करें॥ ४१॥

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥ ४२॥

प्रिय उद्धव! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है; यह शरीर केवल तुच्छ विषयोंके भोगके लिये नहीं है, परन्तु इस लोकमें कष्टपूर्ण तपःसाधन और परलोकमें अनन्त सुख प्राप्तिके उद्देश्यके लिये ही है, ऐसा समझकर क्षुद्र कामको जलाञ्जलि दे देना चाहिए। भगवत्-सेवोन्मुख होना ही एकमात्र कृत्य है॥ ४२॥

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्
नाति प्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥ ४३॥

ब्राह्मण शिलवृत्ति एवं उञ्छवृत्ति द्वारा (फसल कटनेके बाद खेतमें पड़े हुए और मंडीमें गिरे हुए अन्न-कणोंके संग्रह द्वारा) सन्तुष्ट रहकर आतिथ्यादिरूप निष्काम उत्तम (उदात्त) धर्मोंकी सेवा करता हुआ मेरे प्रति अपने चित्तका सम्पूर्णरूपसे समर्पण कर दे। ऐसा ब्राह्मण गृहाश्रममें ही अनासक्त भावसे रहकर मोक्ष अर्थात् परम शान्तिको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ ४३॥

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥ ४४॥

जो मेरा भक्त ब्राह्मण हो अथवा अन्य कोई भी हो—जो इनको दारिद्र्य-क्लेशसे बचा लेते हैं, मैं ऐसे साधकोंकी समस्त विपत्तिसे अति शीघ्र उसी प्रकार रक्षा करता हूँ, जिस प्रकार नौका समुद्रमें गिरे हुए व्यक्तिकी रक्षा कर लेती है। भगवान् स्वयं शिक्षा अर्थात् उपदेशरूपी नौकाके द्वारा उनको भव-समुद्रमें पतनसे बचा लेते हैं॥ ४४॥

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥ ४५॥

(राजाका धर्म)—यूथपति हाथी जिस प्रकार यूथमें स्थित समस्त हाथियोंकी रक्षा करता है और अपनी भी रक्षा करता है, उसी

प्रकारसे धीर राजा भी पिताके समान सारी प्रजाका विपद्से उद्धार करे और स्वयं भी अपना उद्धार करे॥ ४५॥

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते॥ ४६॥

ऐसा राजा (पर-रक्षक और आत्मरक्षक) इस लोकमें समस्त पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें इन्द्रके साथ सूर्यतुल्य प्रदीप्त विमानमें विहार करता है॥ ४६॥

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत्।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन॥ ४७॥

अपनी वृत्ति अध्यापन अथवा यज्ञ-याग आदिसे अपनी जीविका निर्वाह करनेमें असमर्थ दरिद्र विप्र वैश्य-वृत्तिका आश्रयकर (मद्य एवं लवण छोड़कर) नाना प्रकारके पदार्थोंके क्रय-विक्रयके द्वारा उस विपत्तिसे उद्धार पा ले। वैश्य-वृत्तिमें भी विपद्ग्रस्त होनेपर विप्र राजवृत्ति अर्थात् क्षत्रिय-वृत्ति अवलम्बनकर तलवार उठा ले, परन्तु किसी भी अवस्थामें ब्राह्मण नीच जातिकी सेवा जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे॥ ४७॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन॥ ४८॥

क्षत्रिय निज वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह-करनेमें असमर्थ हो, तो वैश्य वृत्ति अपनाकर व्यापार कर ले अथवा शिकार कर ले अथवा ब्राह्मणवृत्ति स्वीकार करके अध्यापनादि कर ले, किन्तु किसी प्रकारसे शूद्रवृत्ति (नीच जनोंकी सेवा) स्वीकार न करे॥ ४८॥

शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा॥ ४९॥

वैश्य भी विपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति-सेवासे (नौकरीसे) अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शुद्र विपत्तिके दिनोंमें कारुजातीय निम्नमानवोंकी चटाई बुनना आदि वृत्तियोंका आश्रय ले और अपने

जीवनका निर्वाह करे, किन्तु विपत्तियोंसे मुक्त हो जानेपर किसी भी निन्दनीय कर्मके द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेकी इच्छा न करे। विपद्मुक्त होनेपर इन वृत्तियोंको त्यागकर सभी अपनी-अपनी वृत्तियाँ ग्रहण करें॥ ४९॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥ ५०॥

गृहस्थ प्रतिदिन अपने वित्तके अनुसार वेद-अध्ययनके द्वारा ऋषियोंको, स्वधा मन्त्र अर्थात् तर्पणके द्वारा पितरोंको, स्वाहा मन्त्र अर्थात् हवनके द्वारा देवताओंको, उपहार वस्तुओंके द्वारा प्राणियोंको और अन्न, जल आदिके द्वारा इन सबको मेरा स्वरूप जानकर उनकी प्रतिदिन यथाशक्ति पूजा करे अर्थात् पञ्चयज्ञ द्वारा यथाशक्ति ऋणशोधन करे। ये सभी मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अतः इनके प्रति ईश्वर दृष्टि रखे॥ ५०॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥ ५१॥

गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त अपनी विशुद्ध वृत्तिके द्वारा उपार्जित शुद्ध धनसे अपने भृत्य आदि आश्रित प्रजाओंको पालनकर (उन्हें बिना पीड़ा दिये) न्यायके अनुसार यथाशक्ति पञ्चयज्ञादि एवं धार्मिक उत्सवोंका अनुष्ठान करे॥ ५१॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ ५२॥

विद्वान् गृहस्थको अपना बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी उनके प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए तथा ईश्वर-निष्ठामें सर्वदा सावधान रहना चाहिए। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, वैसे स्वर्ग आदि परलोकोंके भोग भी नाशवान् ही हैं। 'नश्वर' शब्दका अर्थ है अस्थायी एवं तात्कालिक प्रतीति-युक्त अवस्थिति। अपनेको कुटुम्बका पालक

एवं बन्धु जानकर कुटुम्बिता ही जीवका धर्म है—इस प्रकारकी भ्रान्ति भगवत्-वैमुख्य करा देती है॥ ५२॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥ ५३॥

पुत्र, पत्नी, आप्त (सम्बन्धी), बन्धु इत्यादिके साथ समागमको पानीयशाला (प्याऊ) पर बटोहियोंके समागमके समान क्षणिक जानना चाहिए। निद्राकालमें स्वप्नमें देखे पथार्थ जिस प्रकार निद्राकी समाप्ति पर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पुत्रादि सम्बन्ध भी देहके नष्ट होनेके साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं॥ ५३॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः॥ ५४॥

जो इस प्रकार विचार करके जड़ वस्तुओंमें ममता एवं भोक्ता अभिमानका परित्याग करके अतिथिके समान घरमें वास करते हैं, वे कभी गृहस्थीके बन्धनमें आबद्ध नहीं होते॥ ५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥ ५५॥

गृहस्थ भक्त गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करते हुए गृहमें वास करे अथवा वनमें प्रवेश करे अथवा पुत्रवान् हो, तो वनमें चला जाये अथवा संन्यास ग्रहण कर ले॥ ५५॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥ ५६॥

जो गृहस्थ स्त्रैण, क्षुद्रबुद्धि, विवेकरहित एवं पुत्र वित्तादिके सन्धानमें लगा हुआ गृहमें आसक्त रहता है, वह देहादिमें 'मैं' और पुत्रादिमें 'मेरे' इस प्रकार 'अहं-मम' भावमयी बद्ध-दशामें आबद्ध रहता है॥ ५६॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥ ५७॥

आसक्त व्यक्ति यही सोचते हैं कि "हाय! हाय! मेरे वृद्ध माता-पिता, शिशु-सन्तानवती भार्या और मुझसे अभिन्न मेरे पुत्र मेरे बिना अनाथ और दीन-दुःखी होकर किस प्रकार जीवन धारण कर सकेंगे।" (मुझे कर्त्तव्य विचलित जानकर मेरी निन्दा करेंगे।)॥५७॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे वर्णाश्रमविभागो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अविवेकी पुरुष गृहवासनासे इस प्रकार विक्षिप्तचित्त एवं अतृप्त रहकर अपने आत्मीयगणोंका चिन्तन करते-करते मर जाता है और मृत्युके बाद अतितामसी योनि प्राप्त करता है अथवा घोर अन्धकारमय नरकमें चला जाता है॥५८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सत्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्मका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः॥ १॥

श्रीभगवान्ने कहा—वानप्रस्थकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति पत्नीकी रक्षाके लिये उसे अपने पुत्रोंको सौंप दे अथवा उसके साथ ही शान्तचित्तसे जीवनके तृतीय भागको वनमें व्यतीत करे॥ १॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥ २॥

वनमें उत्पन्न होनेवाले पवित्र कन्द-मूल-फल द्वारा जीविकाका निर्वाह करे तथा वल्कल (वृक्षोंकी छाल), घास-पात अथवा मृगचर्मका परिधान करे॥ २॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद्दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ३॥

केश, रोम, नख, दाढी तथा शरीर-मलको हटानेकी चेष्टा न करे, दाँतोंका शोधन न करे, दिनमें तीनों समय जलमें प्रवेश करके स्नान करे और भूमिपर शयन करे। (इस अवस्थामें क्षौरकारका स्पर्श वर्जित है।)॥ ३॥

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवं वृत्तस्तपश्चरेत्॥ ४॥

ग्रीष्म कालमें चारों ओर अग्नि जलाकर अग्नि-चतुष्टय एवं ऊर्ध्वदेशमें स्थित सूर्यदेवकी पञ्चम अग्निके रूपमें कल्पनाकर इस पञ्चाग्निके उत्तापमें तपे। वर्षा कालमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी

बौछार सहे (इसे 'आसारसाद्' तपस्या कहते हैं और 'अभ्रावकाश' नामक व्रत भी कहते हैं।) और शीत कालमें आकण्ठ जलमें निमग्न होकर तपस्या करे। (इसे 'उदकवास' व्रत कहते हैं।)॥ ४॥

अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥ ५॥

अग्निमें पकाये हुए अन्नादिका अथवा समयानुसार पके हुए फलादिका भोजन करे। ओखली अथवा सिलपर मुसल अथवा प्रस्तर द्वारा आहार्य पदार्थको कूटा जा सकता है अथवा दाँतोंके द्वारा ही ओखलीका कार्य सम्पन्न करे अर्थात् पर्याप्त मात्रामें चबा-चबाकर भोजन करे॥ ५॥

स्वयं सञ्चिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥ ६॥

देश-काल एवं बलका (सामर्थ्यका) विचार करके तदनुसार अपनी जीविकाके साधनोपयोगी सभी वस्तुओंका स्वयं संग्रह करे। एक बार सञ्चित की गयी वस्तुको दूसरी बार ग्रहण न करे। यदि स्थान कष्टप्रद है, आपत्काल है, अति दुर्बल शरीर है, तो यह नियम त्यागा जा सकता है। दूसरेसे सेवा ग्रहण करने पर जन्मान्तरमें उसी सेवा द्वारा ऋणका परिशोधन करना होता है॥ ६॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥ ७॥

वानप्रस्थ धर्मका आश्रय करनेवाला पुरुष वनमें उत्पन्न नीवारादि शस्यसे (जंगली अन्नसे) बने हुए चरु-पुरोडाश आदि द्वारा आग्रयण इत्यादि कालोचित वैदिक धर्मोंका आचरण करे अर्थात् अग्रहायण मासमें धान्यादि (अर्थात् वर्षाऋतुके बाद प्रकट होनेवाले पहले फलादि) पकनेपर उससे मेरा यजन करे, किन्तु वानप्रस्थी श्रुति-विहित होनेपर भी पशुमाँस द्वारा मेरी आराधना (यज्ञ) कभी न करे॥ ७॥

अग्निहोत्रञ्च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥ ८॥

वानप्रस्थ धर्मके आश्रय करनेवाले पुरुषके लिये वेदवादी गृहस्थोंके समान ही अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास इत्यादि याज्ञिक कार्य एवं चातुर्मास्य व्रतका विधान है॥ ८॥

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥ ९॥

इस प्रकार जीवनभर तपस्या करते हुए उसकी देह क्षीण हो जाती है, माँस सूखने लगता है, एक-एक नस दिखने लगती है, ऐसी कठिन आराधना करनेवाला वानप्रस्थी मुनि महर्लोकादिको अतिक्रमण करता हुआ मुझे प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है। (ऋषिलोकमें पहुँचनेपर अकिञ्चित्करताकी उपलब्धि होती है और भगवद्भजनमें रुचि होती है। वानप्रस्थ धर्मके सर्वोच्च शिखर पर भजनका प्राचुर्य दिखायी देता है, वहाँ तपस्याकी अतिशयता नहीं है।)॥ ९॥

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः॥ १०॥

जो व्यक्ति महाकष्टसे सञ्चित इस मोक्षफलजनक उत्तम तपस्याको ब्रह्मलोक अथवा स्वर्गादि तुच्छ कामोपभोगके लिये नियोजित करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? भक्तिरहित तपस्या तो कर्मकाण्डमें ही आदर प्राप्त करती है॥ १०॥

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥ ११॥

संन्यास-कालसे पूर्व वृद्धावस्थाके कारण देह काँपने लगे और अपने नियत धर्मोंके अनुष्ठानमें असमर्थ हो जाए, तो मुनि व्यक्ति ध्यान द्वारा अग्नि-साध्य कर्मोंका (यज्ञ-अग्निका) अपने अन्तःकरणमें आरोप कर ले तथा मद्गतचित्त होकर

अग्निमें प्रवेश करके देहत्याग कर दे। (जिनका चित्त भगवान्में अर्पित है, उनकी तो शरीरको विनाश करनेकी प्रवृत्ति होती नहीं; श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्तनके द्वारा भव-दावाग्नि स्वयं बुझ जाती है।)॥ ११॥

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः॥ १२॥

यदि कर्मफल-जनित, परिणाममें दुःखकर (नरकोंके समान दुःखोंसे परिपूर्ण), ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी लोकोंसे सम्यक्‌रूपसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तो अग्नियोंका विधिपूर्वक परित्याग करके वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण कर ले॥ १२॥

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ १३॥

जो वानप्रस्थी संन्यास लेना चाहे, वह पहले वेद-विधिके अनुसार यज्ञ (आठ प्रकारके श्राद्ध एवं प्राजापत्य यज्ञके) द्वारा मेरी आराधना (अर्चन) करके ऋत्विजको अपना सर्वस्व दान कर दे तथा आत्मामें अग्नियोंका आरोपकर निरपेक्ष-चित्त होकर संन्यास (विशुद्ध परिव्राजकका धर्म) ग्रहण करे॥ १३॥

विप्रस्य वै सन्न्यसतो देवा दारादिरूपिणः।
विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्॥ १४॥

'यह संन्यास धर्माश्रयी पुरुष हमें भी अतिक्रम करके परब्रह्मको प्राप्त करेगा'—ऐसा सोचकर देवता पत्नी, पुत्र तथा मित्र आदिका वेश धारणकर अथवा उनकी देहमें आविष्ट होकर संन्यास-इच्छुक व्यक्तिके लिये विघ्न डालने आ जाते हैं, परन्तु ये विघ्न उनके मार्गको रोक नहीं पाते। ये पत्नी आदि संसारकी प्रयोजनीयताको ही धर्म बतलाकर कृष्ण-भजन-परायण जीवोंको परमार्थसे वञ्चित करते हैं॥ १४॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि॥ १५॥

संन्यासीको केवल कौपीन (लँगोटी) धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अन्य वस्त्र ग्रहण करना चाहता हो, तो जिस परिमाणके वस्त्रके द्वारा कौपीन ढक जाय, उसी परिमाणमें वस्त्र धारण करे तथा आश्रमोचित दण्ड कमण्डलुके अतिरिक्त संन्याससे पूर्व त्याग की हुई कोई भी दूसरी वस्तु अपने पास नहीं रखे॥ १५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १६॥

जिससे किसी भी प्रकारसे प्राणियोंकी हिंसा न हो, उस प्रकारसे चारों ओर दृष्टि डालते हुए धरती पर पैर रखे। वस्त्र-खण्डमें छानकर विशुद्ध जलका पान करे। सत्यसे पवित्र की हुई वाणीका वाचन करे एवं मनसे पवित्र किये हुए अर्थात् बुद्धि-विवेकसे विचार करके समस्त कार्योंका सम्पादन करे। मनकी समाधिके द्वारा मोक्ष सम्भव है॥ १६॥

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः॥ १७॥

हे उद्धव! जो संन्यासी मौन-अवलम्बनके द्वारा वाणीका, व्यर्थकी चेष्टाओंसे रहित होकर शरीरका एवं प्राणायामके द्वारा चित्तका संयम नहीं कर सकता, वह व्यक्ति केवलमात्र त्रिदण्ड धारण करनेसे दण्डी-स्वामी नहीं हो जाता। वाग्दण्ड-रूप मौन, देहदण्डरूप चेष्टा-राहित्य एवं कृष्ण-सेवा-चिन्तन द्वारा चित्तको स्थिर न करनेपर 'गोस्वामी' नहीं हो सकते। त्रिदण्डग्रहणकी सार्थकता कृष्ण-भजनानुकूल जीवन-यापन करनेमें है॥ १७॥

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता॥ १८॥

चारों वर्णोंमें-से अभिशप्त, पतित (जातिच्युत, गोधाती) आदि निन्दनीय व्यक्तियोंके घरोंको छोड़कर बिना निश्चय किये हुए अनिन्दित सात घरोंसे भिक्षा करे तथा इससे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे। (भैक्ष्य तीन प्रकारका है—किञ्चित्-किञ्चित्-संग्रह करके अपने प्रयोजनका निर्वाह हो जाय, उसे 'माधुकर भैक्ष्य' कहते हैं, यह भिक्षु जीवनकी सर्वोत्तम वृत्ति है, कोई दाता भिक्षा देगा या नहीं देगा—यह विचार किये बिना जो भिक्षाचर्या है, उसे 'असंक्लृप्त भैक्ष्य' कहते हैं, ये (नियमित) दाता अवश्य ही भिक्षा देंगे—यह 'प्राक्प्रणीत भैक्ष्य' है।)॥ १८॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम्॥ १९॥

इसके बाद बस्तीसे बाहर जलाशयमें जाकर स्नान-आचमन करके भिक्षा प्राप्त अन्नका प्रोक्षण (धोकर पवित्र) कर ले। अब इस विशुद्ध अन्नको विष्णु इत्यादिके उद्देश्यसे यथोचित भाग करके (जलाशय-तट पर स्थित प्राणियोंके साथ बिना तर्क-वितर्क किये उन्हें देकर) अवशिष्टका सम्पूर्णरूपेण भक्षण कर ले, भोजन-पात्रमें बचाकर न रखे। भोजन करते समय मौन रहे तथा भगवत्-कृपाका ध्यान करे॥ १९॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥ २०॥

संन्यासी आत्मक्रीड़ारत (निरन्तर कृष्ण-सेवामें नियुक्त), आत्म-सन्तुष्ट (कृष्ण-कथा कीर्त्तन करते हुए परमात्माका अनुभव करनेवाला), आत्मवान् (धीर एवं स्वरूपस्थ), संयतेन्द्रिय (कृष्णार्थ अखिल-चेष्टा-परायण एवं इन्द्रियोंके वृथा प्रयाससे रहित), निःसङ्ग (कृष्ण-कार्ष्ण-सङ्ग एवं असत्-सङ्गसे दूर रहनेवाला) एवं एकाकी होकर पृथ्वीपर भ्रमण करे॥ २०॥

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥ २१॥

संन्यासी मङ्गलमय निर्जन, निर्भय एवं एकान्त-स्थानका आश्रय करे। मेरी भावनासे विशुद्ध हुए चित्तमें अपनेको मुझसे अभिन्न मानकर आत्मतत्त्वका (चिदंशके ऐक्यका) चिन्तन करे॥ २१॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षञ्च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषाञ्च संयमः॥ २२॥

ज्ञाननिष्ठाके द्वारा स्वयंके बन्धन एवं मोक्ष विषयपर पुनः विचार करे। इन्द्रियोंका विषयोंके प्रति अभिमुख (विक्षिप्त) होना बन्धन है और उनका प्रत्याहार करके मेरे प्रति समर्पण मोक्ष है—यह जानना चाहिए॥ २२॥

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्॥ २३॥

अतएव संन्यासी मुनि काम, क्रोधादि छह वेगोंका संयम कर, तुच्छ विषय-सुखसे विरक्त होकर, आत्मामें ही चिदानन्दका अनुभवकर मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करे॥ २३॥

पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत्।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम्॥ २४॥

वह पवित्र देश (स्थान), नदी, पर्वत एवं वर्णाश्रमयुक्त भूमिपर विचरण करता रहे, भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ (अहीरोंकी बस्ती) एवं यात्रियोंके समीप जाये॥ २४॥

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्।
संसिध्यत्याश्वसन्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा॥ २५॥

संन्यासी वानप्रस्थधर्मावलम्बी मनुष्योंके आश्रमसे ही प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करे, क्योंकि शिलवृत्तिसे प्राप्त उनके अन्न-भोजनसे चित्त सम्पूर्णरूपसे विशुद्ध एवं मोहरहित हो जाता है और शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है॥ २५॥

नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात्॥ २६॥

जितनी भी वस्तुएँ प्रत्यक्ष दृश्यवान् हैं, वे सभी विनाशशील हैं, अतएव मिष्ठान्नादि समस्त पदार्थोंको ही अवास्तवरूपमें विचार करे तथा ऐहिक एवं पारत्रिक विषयोंसे अनासक्त होकर सकाम कर्मसे (वाञ्छित विषयोंकी प्राप्तिकी चेष्टासे) विरत हो जाए॥ २६॥

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत्॥ २७॥

ममताके विषयीभूत इस जगत्को एवं मनः, वाक्य एवं प्राणके संघातरूप अहङ्कारके विषयीभूत इस शरीरको स्वप्नादि-दृष्टान्तके विचार अर्थात् तर्क-वितर्कसे माया-मात्र (मायाका कार्य) जानकर परित्याग कर दे और आत्मनिष्ठ (अपने स्परूपमें स्थित) होकर इस जगत्की किसी वस्तुका पुनः स्मरण न करे॥ २७॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥ २८॥

जो बाह्य-विषयोंसे विरक्त होकर मोक्षकी कामनासे केवल ज्ञाननिष्ठ हैं अथवा मोक्ष-विषयमें भी आकाङ्क्षासे रहित होकर मेरे निष्काम भक्त हैं, वे त्रिदण्डादि चिह्नोंके साथ संन्यासके सभी धर्मोंका त्याग करके विधि-निषेधसे (शौच, आचमन, स्नान, ध्यानादिसे) निरपेक्ष होकर यथोचित धर्मका आचरण करे। परिपक्व परमहंस भगवत्परायण ज्ञानी एवं निष्काम भक्त प्रतिष्ठापर्यन्त सभी अपेक्षाओंसे रहित होते हैं, ऐसे ही भक्त आश्रमके चिह्नोंके साथ आश्रमका त्याग कर सकते हैं॥ २८॥

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ २९॥

विवेकी होकर भी अनभिज्ञ बालकके समान मानापमान बुद्धिसे रहित होकर विहार करे (यश-प्रतिष्ठासे चित्त-विक्षेप हो सकता है

अतः बुद्धि-कौशलको प्रकाश न करे)। निपुण होकर भी उन्मत्तके समान वार्त्तालाप करे (यथोचित वार्त्तालापमें संलग्न न हो) और वेदार्थ-निष्ठ अथवा वैदिक अनुष्ठानमें निपुणता प्राप्त करके भी अनिर्दिष्ट एवं अनियमित आचारका पालन करे। (विशिष्ट वस्त्र, अनुष्ठानादिके नियमोंसे अनियन्त्रित रहे।)॥ २९॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्॥ ३०॥

आत्मगोपनके लिये वेदकी कर्मकाण्डादि व्याख्यामें रत न हो, पाखण्डी अर्थात् बौद्ध आदि चिह्न धारण न करे, केवल तर्कनिष्ठ न हो और निष्प्रयोजन (शुष्क) विवादमें एकका पक्ष ग्रहण करके दूसरे पक्ष द्वारा निन्दित अथवा प्रशंसित न हो॥ ३०॥

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित्॥ ३१॥

दूसरोंके दुर्वचनोंको धैर्यपूर्वक सहन कर ले, किसीके भी प्रति अवज्ञाका प्रदर्शन करके उसे उद्विग्न न करे अथवा देहके उद्देश्यसे किसीके भी साथ पशुके समान शत्रुता (क्रूरता) न करे। कायमनोवाक्यसे जीवोंको कष्ट-प्रदान करना निषिद्ध है॥ ३१॥

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥ ३२॥

एक चन्द्रमा जिस प्रकार विभिन्न जलाशयोंमें विविध रूपोंमें प्रतिविम्बित होता है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही विभिन्न देहों एवं आत्माओंमें अन्तर्यामी सूत्रसे बहुत रूपोंमें विद्यमान रहते हैं। सभी देह एक आत्माके साथ सम्बन्धयुक्त हैं। (अतः किसीसे भी वैर भाव रखकर जीवहिंसामें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। सभीके शरीर पाञ्चभौतिक होनेके कारण एकात्मक ही हैं।)॥ ३२॥

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥ ३३॥

धैर्यवान् मुनिको किसी समय अन्नादि प्राप्त न हो, तो उस अप्राप्ति-कालमें उसे विपन्न नहीं होना चाहिए और किसी समय प्राप्त हो जाए, तो उस प्राप्ति-कालमें उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए क्योंकि प्राप्ति एवं अप्राप्ति—इन दोनोंको ही दैवाधीन जानना चाहिए। ऐसा न होनेपर स्वकर्त्तृत्वकी भावनासे बद्ध होना पड़ेगा। हर्ष, विषादादि विकारसे मन विकृत हो जाएगा॥ ३३॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥ ३४॥

स्वाभाविकरूपसे भिक्षा न मिले, तो आहारके लिये चेष्टा अवश्य करनी होगी, क्योंकि प्राण-रक्षा अवश्य करणीय है। प्राण-रक्षा करने पर ही तत्त्व-विचार हो सकता है और उसीसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है॥ ३४॥

यदृच्छयोपपन्नामद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥ ३५॥

मुनिको उत्तम अथवा अधम अन्न, वस्तु एवं शय्या जो भी अनायास ही प्राप्त हो जाए, उसीको स्वीकार कर लेना चाहिए। यह अन्न सुस्वादु है, यह नीरस है—यह कहकर आदर अथवा अनादर नहीं करना चाहिए॥ ३५॥

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥ ३६॥

मैं ईश्वर होनेके कारण विधि-निषेधके अधीन नहीं हूँ, तथापि जिस प्रकार स्वेच्छासे कर्मोंका आचरण करता हूँ, उसी प्रकार ज्ञान-निष्ठ पुरुष भी विधि-निषेधके किङ्कर न होकर शौच, आचमन एवं स्नानादि कर्मोंका आचरण करें। भगवत्-सेवाके अनुकूल जीवन-यापन करनेवाले सर्वदा ही जीवन्मुक्त हैं॥ ३६॥

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।
आ देहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया॥ ३७॥

उस समय ज्ञाननिष्ठ मुनि व्यक्तिको हृदयमें निरन्तर मेरी स्फूर्ति रहनेसे भेद-प्रतीति नहीं रहती (अर्थात् भगवत् इतर कोई विकल्प नहीं रहता), पहले जो भेद-प्रतीति (भ्रामक बुद्धि) होती हो, वह भी मद्विषयक ज्ञानके द्वारा (मेरे साक्षात् अनुभव द्वारा) विनष्ट हो जाती है। अतः देहान्त-काल-पर्यन्त बाधित-ख्यातिका (कृष्णसे पृथक् किसी वस्तुके अनुभवका) कदाचित् उदय हो अर्थात् उनका आचरण साधारण दृष्टिसे अन्यरूप प्रतीत होता हो (देह तथा मनके अभ्यस्त होनेके कारण भौतिक अनुभूतियोंकी पुनरावृत्ति होती दिखती हो), किन्तु देहावसानमें सार्ष्टि नामक मेरे समान ही सम्पत्ति उसे प्राप्त होती है (स्वरूप-सिद्धिके बाद वस्तु-सिद्धि प्राप्त होती है)॥ ३७॥

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो मुनिं गुरुमुपव्रजेत्॥ ३८॥

(परिपूर्ण विज्ञ व्यक्तिके विषयमें बतलाकर अब ज्ञानेच्छुके विषयमें बतला रहे हैं) जो परिणाममें दुःखद काम्य-विषयोंसे तो विरक्त हो गये हैं, किन्तु अभी भी मद्धर्मविषयक ज्ञानकी जिज्ञासा नहीं कर पाये हैं—वे अपना मङ्गल चाहते हों, तो उन्हें मनका संयम करके परब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवके शरणागत होना चाहिए। साथ ही अभक्त-सङ्गका भी त्याग करना चाहिए॥ ३८॥

तावद् परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः॥ ३९॥

जिज्ञासु ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेतक श्रद्धावान्, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित और भक्तिमान् होकर आदरपूर्वक श्रीगुरुदेवको मेरा स्वरूप जानकर उनकी सेवा-परिचर्या करे॥ ३९॥

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते माञ्च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥ ४१ ॥

जो कामादि षड् रिपुओंको नियन्त्रित नहीं कर पाते, ज्ञान-वैराग्यसे रहित हैं, प्रबल इन्द्रियरूप सारथिके द्वारा परिचालित हैं, फिर भी अपनी जीविकाके लिये त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण करते हैं, संन्यासी दिखानेका अभिनय करते हैं, ऐसे अविपक्व कषाय अर्थात् राग (आसक्ति), द्वेषादि भौतिक कल्मषसे युक्त तथा विषय-वासनाओंसे ग्रस्त आत्मघाती मनुष्य आराध्य देवताओंको, अपनी आत्माको एवं आत्मस्थित मुझको वञ्चित करके स्वयं भी दोनों लोकोंसे वञ्चित हो जाते हैं। लोकवञ्चनाकारी एवं भगवत्वञ्चनाकारी कभी भी भगवत्-भजनमें समर्थ नहीं होता और न ही उसका कोई मङ्गल होता है ॥ ४०-४१ ॥

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

संन्यासीके (भिक्षुकके) धर्म हैं—शम (मनका संयम) एवं अहिंसा (कायमनोवाक्योंसे प्राणियोंको उद्वेग न देना), वानप्रस्थीके धर्म हैं—सद्-असद् (आत्म-अनात्म) वस्तुके विवेक-ज्ञानसे युक्त होकर तपस्या करना, गृहस्थके धर्म हैं—सामाजिक प्राणियोंकी सेवा एवं यज्ञ (अपने संसारमें निष्पाप होकर भगवदर्चन करना) तथा ब्रह्मचारीका धर्म है—गुरु-सेवा ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृत्यौ गन्तुः सर्वेषां सदुपासनम् ॥ ४३ ॥

गृहस्थ ऋतुकालमें ही अर्थात् नियमित समयमें ही सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-सहवास करे, वह भी ब्रह्मचर्य, तपः, शौच, सन्तोष एवं समस्त प्राणियोंसे मैत्री धर्मका निर्वाह करे।

परन्तु सभी वर्णाश्रमियोंके लिये एकमात्र मेरी आराधना ही नित्य धर्म है॥ ४३॥

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम्॥ ४४॥

इस प्रकार जो अनन्य भावसे (अन्य-भजन-रहित) होकर अपने-अपने धर्मानुसार सर्वदा मेरी सेवा करता है और समस्त प्राणियोंमें मैं अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ—इस प्रकार चिन्तन करता है, वह मेरी दृढ़ अर्थात् अविचल (ऐकान्तिक) भक्ति प्राप्त करता है॥ ४४॥

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः॥ ४५॥

हे उद्धव! वह मनुष्य अनपायिनी (भगवान्‌के श्रीचरणोंसे कभी अलग न होनेवाली) भक्तिके द्वारा समस्त लोकोंकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके हेतुभूत, निखिल लोकोंके महेश्वर तथा जगत्-कारण ब्रह्मरूपी मुझे ही प्राप्त करता है॥ ४५॥

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात् समुपैति माम्॥ ४६॥

इस प्रकार स्वधर्मके आचरण द्वारा जो विशुद्धसत्त्वसे सम्पन्न होते हैं, मेरे ऐश्वर्यके सम्बन्धमें जानते हैं एवं ज्ञान-विज्ञानसे (शास्त्र-ज्ञान एवं स्वरूप ज्ञानसे) अवगत होते हैं, वे अति शीघ्र ही मुझे प्राप्त करते हैं। (यही प्रधानीभूता भक्ति है।)॥ ४६॥

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥ ४७॥

वर्णाश्रमावलम्बी मनुष्योंका जो धर्म पितृलोक-प्राप्तिके साधनरूपमें आचरित होता है—वह मेरी भक्तिसे युक्त होनेपर तथा मुझको ही फल-अर्पण द्वारा अनुष्ठित होनेपर निःश्रेयसकारी और परममुक्तिप्रद हो जाता है। (सभी धर्मोंका भगवद्-अर्पण गुणीभूता भक्ति कहलाती है।)॥ ४७॥

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम्॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे यतिधर्मनिर्णयोनामअष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

हे साधो! (साधु स्वभाव उद्धव!) स्वधर्माश्रित भक्त जिस प्रकारसे परमात्मारूपी मुझे प्राप्त करते हैं—इस विषयमें तुमने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया है॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके अठारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

ज्ञानीके साधनका त्याग, भक्तकी शाश्वती नित्य भक्ति तथा यम आदिके लक्षणोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्॥ १॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो व्यक्ति आत्म-तत्त्वज्ञ है, शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न है अर्थात् अनुभवकी समाप्ति पर्यन्त श्रवण सम्पन्न है एवं अपरोक्ष ज्ञानवान् है (जो मात्र शास्त्र-ज्ञानवान् न होकर तथा जड़के प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर निर्भर न होकर साक्षात् अनुभव करता है कि यह परिदृश्यमान् जगत् मायिक होनेके कारण अस्थिर है), वह इस द्वैत-प्रपञ्चको, इसकी निवृत्तिके ज्ञान-साधनको एवं ज्ञानको भी माया जानकर मेरी प्राप्तिके लिये मुझमें अर्पण करे॥ १॥

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥ २॥

ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ (फल) एकमात्र मैं ही हूँ, उस अभीष्ट फलको प्राप्त करनेके साधन, अभ्युदय (स्वर्ग) एवं संसार-निवृत्ति (मुक्ति) रूपमें मैं ही सम्मत हूँ (परम साध्य और साधनरूपमें मैं ही स्फूर्त्त होता हूँ)। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई स्वर्ग अथवा मुक्ति, अन्य कोई वाञ्छनीय प्रिय प्राप्य-वस्तु अथवा साधन नहीं हैं॥ २॥

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्त्ति माम्॥ ३॥

ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्यक्-सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति मेरे चरणारविन्दको ही परम श्रेष्ठ पदके रूपमें मानता है, ब्रह्म तत्त्वको नहीं। भजनपरायण ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान द्वारा मुझे प्रसन्न करता है। (वह ब्रह्म-वस्तुको मुझ कमलनयनकी प्रभाके रूपमें जानता है।) वह मुझे अतिशय प्रिय है। (भुक्ति-मुक्ति ज्ञानीको वांछनीय कैसे हो सकती हैं? ज्ञानी तो अपने अन्तःकरणमें निरन्तर मुझे धारण करता है।)॥ ३॥

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ ४॥

भगवत्-सम्बन्ध-ज्ञानके लेशमात्र द्वारा (भगवत्-सेवामें इन्द्रियोंको युक्त करके) जिस सिद्धिका उदय होता है, तपः, तीर्थ-भ्रमण, जप, दान एवं अन्यान्य पुण्यकर्म उस सिद्धिको उदय करानेमें उस प्रकारसे समर्थ नहीं होते॥ ४॥

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ ५॥

अतएव हे उद्धव! तुम ज्ञानके सहित उसके अन्तर्गत आत्मवस्तुको जानो (कि सेव्य-स्वरूप ज्ञानात्मक है एवं सेवक-स्वरूप विज्ञानात्मक है)। ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न चित्तमें भक्तिभावसे भावित होकर मेरी आराधना करो। (तुम्हें सेव्य-सेवक-सम्बन्ध-ज्ञानसे युक्त होकर मेरी सेवा करनी चाहिए।)॥ ५॥

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ ६॥

प्राचीन कालमें ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने-अपने अन्तःकरणमें समस्त यज्ञोंके अधिपति अन्तर्यामी स्वरूप मेरी पूजाकर मेरी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त किया था॥ ६॥

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किंस्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥ ७॥

हे उद्धव! जिन आध्यात्मिकादि तीन प्रकारके विकारोंने तुम्हारा आश्रय किया है—उसे तुम माया मात्र समझो, क्योंकि वर्तमान कालमें ही रज्जुमें सर्पादिकी प्रतीतिके समान इसकी (देहकी) प्रतीति हो रही है। इसकी पूर्वापर कोई सत्ता नहीं है—न इसका आदि है और न अन्त (यह शरीर पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा)। मध्य समयमें ही इसकी प्रतीति है। जिस समय इस विकार (असत्) पदार्थके (शरीरादिके) जन्मादि (जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना) होते हैं, उस समयमें उसके अधिष्ठान-स्वरूप तुम्हारी कोई क्षति नहीं है। उससे न तुम्हारा उपकार हो सकता है और न ही अपकार। इस शरीरका एवं मनका तुम्हारी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। (नित्य ज्ञान तात्कालिक प्रतीतिसे पृथक् है।) असत् सर्पादि पदार्थोंके पूर्वापरमें जिस प्रकार रज्जुत्व सिद्ध है, उसी प्रकार मध्य अर्थात् प्रतीतिकालमें भी रज्जुत्व ही यथार्थ है। (आदि, अन्त एवं मध्यमें केवल रज्जु ही रहता है।) अतः विकारोंकी भी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है॥ ७॥

श्रीउद्धव उवाच—

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्-
वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्त्ते
त्वद्भक्तियोगञ्च महद्विमृग्यम्॥ ८॥

उद्धवने कहा—हे विश्वेश्वर! वैराग्य-विज्ञान (सत्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति करानेवाला) युक्त पुरातन (प्राचीन ज्ञानियों द्वारा सम्मत परम्परागत सनातन) यह विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकारसे निर्धारित हो सकता है तथा जो महाजनोंके (ब्रह्मा एवं सनकादिके) द्वारा

अन्वेषणीय ज्ञानादिसे अमिश्र आपका भक्तियोग है, हे विश्वमूर्त्ते! आप उसका सम्यक्‌रूपसे वर्णन करें॥ ८॥

तापत्रयेणोभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्‌घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥ ९॥

हे ईश! इस घोर (भीषण) संसार मार्गमें विचरणशील, तापत्रयसे अभिभूत एवं अति सन्तापग्रस्त मेरे जैसे जीवोंके लिये आपके चरणयुगलको मैं छत्र-छाया एवं (ब्रह्मानन्दसे भी अधिक) आनन्दामृत-वर्षक समझ रहा हूँ। हे स्वामिन! आपके पादपद्मसे भिन्न अन्य कोई आश्रयणीय मुझे दिखायी नहीं दे रहा है॥ ९॥

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव॥ १०॥

हे महानुभाव! क्षुद्र-सुखोंकी आकाङ्क्षासे अति तृष्णाग्रस्त, संसार-कूपमें पतित एवं कालसर्प द्वारा डसे हुए मेरे जैसे जीवोंका आप उद्धार करें तथा कृपया अपने श्रीमुखचन्द्रसे कथित अपवर्ग-बोधक (वैराग्ययुक्त) वचनामृतसे अभिषिक्त कर कृतार्थ करें॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतांवरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम्॥ ११॥

भगवान्‌ने कहा—हे उद्धव! पूर्वकालमें अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने हम श्रोताओंके समक्ष धार्मिक-प्रवर भीष्मसे इसी प्रकार प्रश्न किया था॥ ११॥

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत॥ १२॥

कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डव युद्धके अवसानपर स्वजन सम्बन्धी-वधसे शोक-विह्वल राजा युधिष्ठिरने भीष्म पितामहसे बहुतसे धर्मोंके विषयमें सुननेके पश्चात् अवशेषमें मोक्ष-धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया था॥ १२॥

तानाहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३॥

उस समय भीष्म पितामहके मुखसे सुने हुए उन ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा और भक्तियुक्त धर्मोंकी सारी बात मैं तुम्हारे निकट वर्णन कर रहा हूँ॥ १३॥

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४॥

जिस ज्ञान द्वारा ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त विश्वकार्यमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र, ग्यारह इन्द्रिय, पञ्च महाभूत, सत्त्वादि तीन गुण—इन अट्ठाईस तत्त्वोंको श्रीकृष्णके अनुगतरूपमें (श्रीकृष्णके मिलित रूपमें) 'प्रत्यक्ष' किया जाता है। अनन्तर जिस ज्ञान द्वारा इन सभी अट्ठाईस तत्त्वोंमें एक परमात्म तत्त्वका ही अनुगतरूप (मिलितरूप) 'अनुभव' किया जाता है (कि कार्य-कारणरूप यह जगत् परमकारण-स्वरूप उन परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, एक ही है), उस मद्विषयक ज्ञानको निश्चित ही मेरे द्वारा सम्मत जानो॥ १४॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५॥

अब विज्ञान बतलाते हैं—पहले (ज्ञानदशामें) जिस ज्ञान द्वारा विभिन्न पदार्थोंको एक परमात्माके अनुगतरूपमें दर्शन किया था, किन्तु अब वैसा दर्शन न होकर उन पदार्थोंके कारणरूपी एक

ब्रह्मवस्तुका ही दर्शन होता है अर्थात् इस विज्ञान दशामें मात्र परमात्माका ही अनुभव होता है। यह अनुभव ही विज्ञान शब्द द्वारा वाच्य है। त्रिगुणात्मक सावयव (त्रिगुणात्मक) जागतिक पदार्थमात्रको ही उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश धर्मोंसे युक्त जानो—इनकी अनित्यताको समझो, सार्वकालिक न होनेके कारण इनकी असत्यताका बोध करो॥ १५॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥ १६॥

जो तत्त्व वस्तु उत्पत्ति (आदि) एवं प्रलय (अन्त) में कारणरूपमें और मध्य (स्थितिकाल) में आश्रयता (कारणता) हेतु सृज्य (कार्य) वस्तुसे सृज्य पदार्थान्तर (कार्यान्तर) में अनुगत होती है (कार्य-कारणकी शृङ्खलासे असंख्य वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है) एवं प्रलयके अन्तमें भी अवशिष्ट रहती है, उसे 'सत्' जानो। (एकमात्र परमात्मा ही सत्य हैं, महदादि पदार्थोंकी सत्यता एवं कारणता रहने पर भी उनकी सर्वकालिक सत्यता नहीं है और न ही वे सर्वकारण हैं।)॥ १६॥

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते॥ १७॥

अब वैराग्यके विषयमें कहते हैं—श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (ऐतिहासिक महाजन-प्रसिद्धि) एवं अनुमान—इन चारों प्रमाणोंसे मनुष्य स्वर्गादि भोगमय विकल्पोंके (भौतिक विविधताओंके) सार्वकालिक अवस्थानके अभावके कारण अर्थात् ये अस्थिर, नश्वर एवं मिथ्या हैं—इस ज्ञानके कारण द्वैत प्रपञ्चसे विरक्त हो जाता है॥ १७॥

कर्मणां परिणामित्वादविरिञ्च्यादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८॥

विद्वान् पुरुषको चाहिए कि ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी अदृष्ट स्वर्गादि सुख हैं, उनको यज्ञादि कर्मजनित तथा दृष्ट राज्यादिके

समान स्पर्द्धा एवं असूयादि युक्त, विपद् युक्त, अमङ्गलकारी तथा अनित्य समझे। कर्म मात्र ही नश्वर है, इसमें जीव आबद्ध न हो॥ १८॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥ १९॥

हे निष्पाप (निरपराध) उद्धव! मैंने अपना प्रीति-पात्र होनेके कारण पहले भी तुम्हारे लिये भक्तियोगका वर्णन किया था। अतृप्त रहनेके कारण तुमने पुनः जिज्ञासा की है। अतः अब मैं श्रेष्ठ एवं मङ्गलकारी अपनी भक्तिके प्रधान साधनका पुनः वर्णन कर रहा हूँ। (ज्ञातव्य है कि अपराध होनेसे भक्तिमें प्रीतिका ह्रास होता है।)॥ १९॥

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥ २०॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ २१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥ २२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥ २३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥ २४॥

प्रिय उद्धव! मेरे सभी चरित अति माधुर्यसे परिपूर्ण हैं, किन्तु रासलीला आदि कथाओंके श्रवणमें अति श्रद्धा रखे, सर्वदा उनका कीर्त्तन करे, मेरे सन्तोष-विधानके लिये मुझसे भी अधिक मेरे भक्तोंकी पूजा करे, मद्विषयक पूजादिमें आसक्ति रखे, दन्त-धावनादि दैहिकी क्रियाएँ (अङ्ग चेष्टाएँ) भी मेरी सेवाके लिये करे, सुललित स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करे, मद्सेवाविषयक आदर

रखे (मेरी यात्रा, उत्सवादिके लिये श्रीगुरु वैष्णवादिको अर्थ प्रदान करे), समस्त प्राणियोंमें मेरा दर्शन करे (प्राणीमात्र ही भगवान्‌की सेवा-सम्बन्धसे युक्त है—यह समझे), मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करे, अपने वचनोंसे मेरा गुणगान करता रहे, मेरे प्रति अपने चित्तको समर्पण कर दे, समस्त कामनाओंका परित्याग कर दे, स्त्री-प्रसङ्ग एवं पुत्र लालनादि सुख-भोगोंकी लालसा न रखे, यागादि इष्ट कर्म सम्पन्न करे। (ब्राह्मण-वैष्णवोंको पकवान भोजन कराये, 'विष्णवे स्वाहा' यह कहकर संस्कार-युक्त अग्निमें तिल एवं घृतादिकी आहुति दे, एक हजार अथवा एक लाख संख्यामें भगवान्‌के नाम-मन्त्रका जप करे। घृताहुति, वैष्णव-भोजन एवं नाम-जप—ये तीनों भक्तोंके इष्ट अर्थात् याग हैं), दान अर्थात् भगवान्‌की सेवामें उपयोगी न होनेवाले भजन-विरोधी अर्थकी उपेक्षा कर दे; हवन, जप, व्रत एवं तपस्या (मेरी प्राप्तिके लिये एकादशी आदि व्रत ही मेरे भक्तोंकी तपस्या है) आदि धर्मोंके अनुष्ठान द्वारा आत्म-निवेदन करनेवाले मनुष्योंकी मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे निष्काम भक्तोंके लिये और क्या फल शेष रहता है? हाँ, परलोकमें भी पुनः मेरी अमृत-कथा श्रवणादि ही फल हैं। उस समय मेरे भक्तोंके लिये साध्य अथवा साधनरूप किसी विषयका अभाव नहीं रहता। जिस प्रकार ज्ञानीके लिये जो साध्य है, उसकी प्राप्ति होनेके बाद साधनका त्याग बतलाया गया है, उस प्रकारसे मेरे भक्तोंको साध्य-भक्ति—प्रेमा भक्ति प्राप्त होनेपर भी श्रवण, कीर्त्तन आदि साधन-भक्तिका त्याग नहीं करना होता है, बल्कि प्रेमरसरूप साध्य-भक्तिके अनुभवस्वरूप उनका श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति-अङ्गोंका पालन पहलेकी अपेक्षा हजार गुना अधिक होने लगता है॥ २०-२४॥

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यञ्चाभिपद्यते॥ २५॥

जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि होने पर जिस समय शान्तचित्त परमात्मामें समर्पित होता है, उस समय मानवको धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्-भक्तिके उदित होनेपर जीवमें भगवत्-स्वरूप ज्ञान, निज-स्वरूप ज्ञान, कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य एवं भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तामें सब प्रकारसे निर्भरता, चित्त-शमता, शुद्ध सत्त्वमें अवस्थान इत्यादि परिलक्षित होने लगते हैं॥ २५॥

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलञ्चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्॥ २६॥

जब चित्त मुझे छोड़कर देह, गेह आदि नश्वर पदार्थोंमें आसक्त होकर इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंमें भ्रमण करता है, तब वह रजोगुण-आधिक्य युक्त एवं असद् (निषिद्ध)-विषय-निष्ठ हो जाता है। इसी कारणसे वह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (मोह) एवं अनैश्वर्य आदिको प्राप्तकर विपर्यय-ग्रस्त हो जाता है॥ २६॥

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यञ्चाणिमादयः॥ २७॥

उद्धव! जिससे मेरी भक्ति हो, वही प्रकृष्ट धर्म है; सर्वदा, सर्वत्र समस्त पदार्थोंका एक परमात्माके साथ अभिन्न दर्शन ही ज्ञान है, त्रय-गुणसे अनासक्त होकर विषयोंसे निर्लिप्तता वैराग्य है एवं अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं—यह शास्त्रोंमें कहा गया है॥ २७॥

श्रीउद्धव उवाच—

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्षण!
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥ २८॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा॥ २९॥

पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमान् दया लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च॥ ३०॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥ ३१॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः कः ईश्वरः।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥ ३२॥

उद्धवजीने कहा—हे शत्रुनिसूदन! हे प्रभो! हे श्रीकृष्ण! यम और नियम कितने प्रकारके हैं? शम, दम, तितिक्षा, धृति, दान, तपस्या, शौर्य, सत्य, ऋत, त्याग, इष्ट, धन, यज्ञ, दक्षिणा, बल, दया, लाभ, पराविद्या, लज्जा, श्री, सुख, दुःख, पण्डित, मूर्ख, मार्ग, उन्मार्ग, स्वर्ग, नरक, बन्धु, गृह, धनी, दरिद्र, कृपण और ईश्वर किसे कहते हैं? हे भक्तवत्सल प्रभो! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिए और साथ ही इनके विरोधी भावोंका भी वर्णन कीजिए॥ २८-३२॥

श्रीभगवानुवाच—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यञ्च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ ३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! अहिंसा (किसीसे भी मत्सर न रखना), सत्य (नित्य अवस्थान करना), अस्तेय (चोरी न करना), असङ्ग (इन्द्रियतोषणरत मनुष्योंके सङ्गकी स्पृहासे रहित होना), लज्जा (दूसरोंके मङ्गल साधनके लिये चित्तकी दुर्वृत्तिका दूरीकरण), असञ्चय (मुक्त हस्तसे दान), आस्तिक्य (भगवान्में श्रद्धा), ब्रह्मचर्य, मौन (प्रजल्प-त्याग), स्थैर्य (अचाञ्चल्य), क्षमा (सामर्थ्य रहने पर

भी क्षमा कर देना) एवं भय (शास्त्र-विधि-उल्लंघनमें भय)—ये बारह प्रकारके यम हैं। बाह्य शौच (स्नानादि), आभ्यन्तर शौच (हरिसेवाकी चेष्टादि), भगवान्‌के नामका जप, तप (एकादशादि व्रत-पालन), होम (हरि-कर्म—भक्ति-रूप यज्ञ-सम्पादन), श्रद्धा (हरिकथामें आदर), आथित्य (हरिजन-परिचर्या), मेरा अर्चन (श्रीमूर्त्ति-सेवन), तीर्थ-भ्रमण (हरितीर्थ-पर्यटन), परहित चेष्टा (वास्तव परोपकार), तुष्टि (भगवत्-विहित आचरणमें अवस्थान एवं सन्तोष) एवं गुरु-सेवा—ये बारह नियम कहे गये हैं। इनके अनुष्ठान द्वारा उपासकोंको इच्छानुसार मोक्ष एवं अभ्युदयकी प्राप्ति होती है॥ ३३-३५॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥ ३६॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यञ्च समदर्शनम्॥ ३७॥

अन्यच्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ३८॥

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम्॥ ३९॥

सङ्कल्प-विकल्प रहित भगवत्-सेवामें निष्ठ हो जाना 'शम' है (भगवत्-निष्ठाके अभावमें शान्तिका प्रयास निन्दित है)। रूप-रसादिमें इन्द्रिय-वृत्तिका सङ्कोच 'दम' है। पर-कृत अपमानसे दुःखी न होना, पर-सुखसे असहनशील होनेकी वृत्तिका त्याग करना तथा अपने प्रारब्धके कष्टोंको भगवत्-अनुकम्पा जानकर सहन करना 'तितिक्षा' है (स्वेच्छासे शीत, उष्णादि दुःखोंको सहन करना मूर्खता है, तितिक्षा नहीं)। जिह्वा-जय एवं उपस्थ-जय अर्थात् उत्कृष्ट एवं सुस्वादु द्रव्योंको ग्रहण करनेकी चेष्टा एवं काम-चेष्टासे रहित हो जाना 'धृति' है। दूसरोंके द्वारा किये गये अन्यायके प्रतिशोधका

त्याग तथा प्राणीमात्रसे ही विद्वेषका त्याग 'दान' है (धन-अर्पण दान नहीं)। एकादशी कार्त्तिक व्रतादिमें शास्त्र-विहित भोग-त्यागका नाम एवं भोग्य वस्तुके समीप रहने पर भी उसकी उपेक्षा कर देनेका नाम 'तपस्या' है (देहको कष्ट देनेका नाम तपस्या नहीं है)। विषयोंको ग्रहण करनेकी नैसर्गिक तृष्णाके दमनकी चेष्टा 'शौर्य' है, समस्त वस्तुओंको भगवद्भावमय देखना श्रेष्ठ 'समदर्शन' है—यही 'सत्य' है। सत्य एवं प्रिय वचन 'ऋत' नामसे कथित हैं। कर्म एवं भोग्य वस्तुमें आसक्त न होना अथवा कृष्ण-सम्बन्धके कारण नैष्कर्म्य हो जाना 'शौच' है, उपभोगोंसे विरक्ति एवं स्त्री, पुत्रादिमें ममताका त्याग 'संन्यास' है। धर्म अथवा सत्य-धारणा अभीष्ट 'धन' है (गाड़ी, अश्वादि धन नहीं)। भगवत्-सेवन 'यज्ञ' है—मेरी जन्म-यात्रा, नगर-सङ्कीर्तन, उत्सवादिका अनुष्ठान करना यज्ञ है (अश्वमेधादि यज्ञ अनित्यफलदायी हैं)। सम्बन्ध-ज्ञानका उपदेश देना अर्थात् मेरे कीर्त्तनादि रसके अनुभवके विषयमें निज इष्ट-मित्रोंको बतलाना 'दक्षिणा' है (धन-वस्त्रादिका दान दक्षिणा नहीं है)। उद्धव! दुर्दमनीय मनका दमन करनेवाला 'बल' प्राणायाम है॥ ३६-३९॥

भगो मे ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु॥ ४०॥

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥ ४१॥

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः॥ ४२॥

नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते॥ ४३॥

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्य्ययः॥ ४४॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्व्वे साधु निरूपिताः।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे श्रेयोभेदनिर्णयोनाम एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

'दया' नामसे जो लोकमें प्रसिद्ध है, मेरे मतमें भी वही 'दया' है, उसका कोई पृथक् लक्षण नहीं है। मेरे ऐश्वर्यादि षड्गुण ही 'षट्श्री' अर्थात् भग हैं। (ब्रह्मा, जीव एवं इन्द्रादिका ईश्वरत्व कदापि नहीं है।) भगवत्-सेवा ही (भक्ति) 'उत्तम लाभ' है (पुत्रादि प्राप्ति नहीं)। भगवान्से अतिरिक्त किसी भी वस्तुमें अभिनिवेशका न होना तथा जीवात्मामें अविद्याकृत भेद-दर्शनका (मिथ्या द्वैत अथवा अनात्मत्वका) निरास होना 'विद्या' है (अधीत व्याकरणादि विद्या नहीं है)। अभक्त होनेसे चित्त भोगप्रवण होता है, जिससे यथेच्छाचार होता है—यही पाप है—उससे घृणा होना तथा पापरूप अकर्ममें हेयत्व (परित्यज्यता अथवा लोकनिन्दा) देखना 'लज्जा' है, निरपेक्षतादि गुण ही 'श्री' अर्थात् शोभा हैं (किरीटादि नहीं)। सुख-दुःखकी अपेक्षासे रहित होकर उनका अतिक्रम कर जाना एवं भगवत्-प्रणयकी अभिलाषा होना 'सुख' है, जबकि विषय-भोगकी अपेक्षा रखना 'दुःख' है (आग आदिसे दाह होना दुःख नहीं है)। जो जीवका संसारसे बन्धन एवं मोक्ष जानते हैं, वे ही पण्डित हैं (शास्त्रकी विशद व्याख्या करनेवाले पण्डित नहीं होते), स्थूल-सूक्ष्म देह एवं गेहमें अस्मिता बुद्धि अर्थात् मैं-मेरेका आरोप 'मूर्खता' है। मुझको प्राप्त करानेवाला श्रौतपथ (निवृत्तिमार्ग) ही 'गन्तव्य' है, इसके विपरीत भोग-वासनासे चित्तका विक्षेप (चाञ्चल्य) होना (प्रवृत्तिमार्ग पर चलना) 'उत्पथ' अर्थात् कुपथ है। सत्त्वगुणका उदय 'स्वर्ग' है (इन्द्रादि लोक नहीं) एवं तमोगुणमें प्रवृत्ति 'नरक' है। जगत्गुरु एवं श्रीगुरुसेव्य भगवान्के रूपमें मैं ही एकमात्र

सबका ‘बन्धु’ हूँ, यह जान लो। मनुष्यका भोगायतन शरीर ‘गृह’ है। सद्‌गुण–सम्पन्न व्यक्ति ‘धनी’ है, जीवनसे असन्तुष्ट रहनेवाला व्यक्ति ‘दरिद्र’ है। इन्द्रियतोषण परायण, अदान्त, अजितेन्द्रिय पुरुष ‘कृपण’ है। विषयोंसे चित्तका अनासक्त होना एवं गुण–त्रयसे बुद्धिका अविचलित होना ‘ईश्वरता’ है, इसके विपरीत विषयोंमें आसक्त होना तथा गुण–त्रयसे अभिभूत होना ‘वश्यता’ अथवा इन्द्रियोंकी ‘अधीनता’ (दासता) है। हे उद्धव! तुम्हारे सभी प्रश्नोंके उत्तर मेरे द्वारा निर्धारित कर दिये गये हैं। सद्गुणों अथवा दुर्गुणोंके अधिक वर्णनकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। संक्षेपमें यही समझो कि गुण–दोषका विचार ही दोष है एवं उसके विपरीत गुण है। यही सर्वोत्कृष्ट गुण है कि गुण एवं दोष दर्शनका सदैव परित्याग किया जाए॥ ४०–४५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं उसके अधिकारीका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषञ्च कर्मणाम्॥ १॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे कमललोचन श्रीकृष्ण! आप जगदीश्वर हैं। वेदशास्त्र आपके आदेशरूप हैं। इनमें विधि-निषेधके ज्ञापकरूपमें कर्मके गुण-दोषका विचार है। (भगवत्-सेवा विमुख जीवोंकी क्रियाएँ दो भागोंमें विभक्त हैं—गुण एवं दोष। विधि-विहित कर्मोंमें गुण देखा जाता है तथा निषिद्ध कर्मोंमें दोषका प्रतिपादन है। ये विधि निषिद्ध वाक्य कर्मोंके गुण एवं दोषको पुण्य एवं पाप फलके रूपमें निरीक्षण करते हैं।)॥ १॥

वर्णाश्रमविकल्पञ्च प्रतिलोमानुलोमजम्।
द्रव्यदेशवयःकालान स्वर्गं नरकमेव च॥ २॥

प्रतिलोमज (उत्तम वर्ण स्त्री एवं हीन वर्ण पुरुषसे उत्पन्न सन्तान), अनुलोमज (उत्तम वर्णके पुरुष एवं हीन वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान), तद्गत गुण-दोष, द्रव्य, देश, वयस एवं कालगत योग्यता तथा अयोग्यता, वर्ण एवं आश्रमोंके विकल्प एवं भेद एवं तद्गत गुण-दोष और स्वर्ग-नरकका विचार वेदशास्त्र ही करते हैं॥ २॥

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम्॥ ३॥

गुण-दोषके मध्य भेद-दर्शनके बिना आपके कर्मकाण्डीय विधि-निषेधका परित्याग करने पर (पाप-पुण्यपरक आदेश कि

यह विहित होनेके कारण गुण है तथा निषिद्ध होनेके कारण दोष है) वे प्राणियोंके लिये किस प्रकार मङ्गलकारी हो सकते हैं? सम्पूर्ण वेदको विधि-निषेधरूपसे स्वीकार किया जाता है। विधि-निषेधके वचनोंके बिना मानवोंकी मुक्ति भी सम्भव नहीं हो सकती। आपकी आज्ञा होनेके कारण गुण अवश्य ही पालनीय हैं तथा दोष अवश्य ही परित्यज्य हैं॥ ३॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥ ४॥

हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! प्रत्यक्ष अनुभव आदि प्रमाणोंके अगोचर (परे) स्वर्ग, मोक्ष आदि विषयोंमें तथा साध्य एवं साधनके ज्ञानके विषयमें आपके आदेशरूप वेदशास्त्र ही पितृलोक, देवलोक, एवं मनुष्यलोकके लिये उत्तम प्रमाण-स्वरूप हैं। वस्तुतः वेद ही इन सबके चक्षु-स्वरूप हैं॥ ४॥

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात् तेन हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः॥ ५॥

हे देव! गुण एवं दोषकी भेद-दृष्टि आपकी आज्ञारूप वेद-वचनोंसे ही प्रवर्त्तित होती है, वह स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकती। और भी, आपके वेद-वचनोंके द्वारा भेद-प्रतीतिका अपसरण (दूरीकरण) भी होता है, वह भी स्वतः नहीं होता। इस कारण मेरे हृदयमें विशेषरूपसे सन्देहका उदय हो रहा है। आप मेरे संशयको दूर करें॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये अधिकारी एवं अवस्था भेदसे तीन प्रकारके योगोंका निर्देश किया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग।

इनके अतिरिक्त लोक-मङ्गलके लिये अन्य कोई उपाय कहीं भी नहीं है॥ ६॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७॥

इन तीन प्रकारके योगोंमें कर्मफलसे विरक्त, कर्म-त्यागी (गृह कुटुम्बादिमें अनासक्त) मनुष्योंके लिये ज्ञानयोगका अधिकार सिद्धि प्रदान करता है तथा कर्म-विषयमें दुःखबुद्धि-रहित, अविरक्त, कामी पुरुषोंके लिये कर्मयोग सिद्धि-प्रद होता है॥ ७॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ ८॥

जो मनुष्य सौभाग्यसे मेरी कथामें आदर (श्रद्धा) रखते हैं एवं जिनको विषयोंसे न वैराग्य है, न अत्यासक्ति, ऐसे मनुष्योंके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद कहा गया है। अभिप्राय यह है कि गृहादिमें निर्वेदयुक्त व्यक्तिका ज्ञानमें अधिकार है, गृहादिमें अति आसक्त व्यक्तिका कर्ममें अधिकार है और गृहादिमें अति-आसक्ति-रहित होनेपर भक्तिमें अधिकार है। भक्त-सङ्ग होनेपर व्यक्तिमात्रका ही भक्तिमें अधिकार है॥ ८॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ ९॥

जबतक कर्म-विषयमें (कर्ममय जगतमें, कर्म-फलमें एवं विधि-निषेधमें) दुःख जानकर उससे विरक्ति न हो जाए और मेरी कथाके श्रवणमें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाए, तबतक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते रहना चाहिए। श्रद्धालु व्यक्तिका केवला-भक्तिमें अधिकार है, कर्ममें नहीं है॥ ९॥

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥ १०॥

हे उद्धव! अपने धर्ममें स्थित होकर आचरण करते हुए फलकी कामनासे रहित पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके यदि विहितका अतिक्रम नहीं करता तथा निषिद्धका वर्जन करता है, तो उसे स्वर्ग अथवा नरक प्राप्त नहीं होता। अपस्वार्थवश कामना होनेपर जीवको नरकादिकी प्राप्ति होती है एवं यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे फलभोगकी पिपासा उसे स्वर्ग ले जाती है, परन्तु फलभोगकी कामनारहित व्यक्तिकी स्वर्ग-नरकादि भोगोंकी सम्भावना नहीं है॥ १०॥

अस्मिन् लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥ ११॥

स्वधर्मपरायण (अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला), निषिद्ध कर्मोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति रागादि दोषोंसे रहित हो जाता है तथा इसी लोकमें वर्त्तमान दशामें ही केवल ज्ञान अथवा सौभाग्यक्रमसे चित्त द्रवीभूत होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त कर लेता है। (सौभाग्यक्रमसे तात्पर्य है कि निष्काम कर्म करनेके कारण अन्तःकरण निष्पाप एवं शुद्ध हो जाता है, जिससे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानसे मोक्ष भी हो सकता है। यदि सौभाग्यवश शुद्ध भक्तका सङ्ग प्राप्त हो जाए, तो केवला भक्ति प्राप्त होती है और इसीसे प्रेमा भक्ति प्राप्त होती है। कर्म एवं ज्ञानमिश्रा भक्तिसे अन्ततः शान्तरति प्राप्त होती है।)॥ ११॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम्॥ १२॥

मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। नारकीय प्राणी एवं देवता अर्थात् स्वर्ग एवं नरक दोनोंमें ही रहनेवाले व्यक्ति ज्ञान-भक्तिके साधक इस मनुष्य-जन्मकी प्रार्थना करते हैं, क्योंकि उक्त दोनों प्रकारकी देह ही ज्ञानभक्ति साधनके अयोग्य हैं। (स्वर्गके विषयसुख-भोगमें बद्ध जीव इतना मग्न हो जाता है कि अपने मङ्गलके एकमात्र

उपाय भक्तिसे उसका कोई परिचय नहीं होता तथा नरकादिमें प्राप्त यन्त्रणामें इतना अभिभूत हो जाता है कि भक्तिका सुयोग प्राप्त नहीं कर सकता।)॥ १२॥

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।
नेमं लोकञ्च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति॥ १३॥

बुद्धिमान् पुरुष नरक, स्वर्ग अथवा मनुष्य लोककी कामना नहीं करते, क्योंकि किसी भी शरीरमें देहासक्तिके कारण प्रमाद (देहाभिमानवश असावधानी) उपस्थित होता है, जिसके कारण प्रयोजनीय ज्ञान अथवा भक्तिमें ध्यान नहीं रहता अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति दूर हो जाते हैं॥ १३॥

एतद्विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्॥ १४॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर ज्ञान-भक्तिरूप पुरुषार्थका साधन है, तथापि है तो नश्वर (मृत्यु-ग्रस्त) ही—यह जानकर विद्वान् व्यक्ति अप्रमत (अनलस) होकर मृत्युसे पूर्व ही मुक्तिके लिये (जन्म-मरणके चक्रकी समाप्तिके) प्रयासरत होकर अपने मङ्गलका वरण करें॥ १४॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः॥ १५॥

[देहमें आवेशके (देहासक्तिके) त्यागका दृष्टान्त कहते हैं] यमके समान निर्दय मनुष्य उस वृक्षका छेदन करता है, जिसमें पक्षीका अपना गृह, अपना आश्रय (घोंसला) है, यह देखकर अनासक्त अर्थात् चतुर पक्षी उस वृक्षका परित्याग करके चल देता है। उसी प्रकार मनुष्य गृहासक्तिका परित्याग करके अपने कल्याणके योग्य बन जाता है॥ १५॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति॥ १६॥

बुद्धिमान् भगवत्-सेवक जीव-देहको अहोरात्र क्षीयमाण (दिन और रात आयुको प्रतिक्षण क्षीण कर रहे हैं) विचार करके भयसे काँपने लगता है एवं जड़ जगत्‌की आसक्तिका परित्याग कर देता है। तत्पश्चात् मुक्तसङ्ग वह परब्रह्म तत्त्वको जानकर निष्काम हो जाता है और उपशान्तिको प्राप्त कर लेता है अर्थात् ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है॥ १६॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ १७॥

यह मनुष्य-देह समस्त मङ्गलकारी फलोंकी प्राप्तिका एकमात्र मूल (उपाय) है, सुदुर्लभ (बहुत जन्मोंके बाद प्राप्त होनेवाला) होनेपर भी सौभाग्यसे प्राप्त हो गया है, भगवदनुशीलन निपुण श्रीगुरुदेव इस देह रूप नौकाके कर्णधार हैं, मत्स्मरणस्वरूप अर्थात् भगवत् कृपारूप अनुकूल वायु प्रवाहित होकर इसका (लक्ष्यकी ओर) परिचालन कर रही है। तब जो नरदेहको जान नहीं सकते, भव-पारके लिये प्रयत्न नहीं कर सकते, गुरुदेवको अपना कर्णधार नहीं मान सकते एवं भगवत् कृपाको अनुकूल वायुरूप मङ्गल अथवा प्रयोजनसाधकके रूपमें नहीं जान सकते, वे अपने नित्य मङ्गलका विनाशकर आत्मघाती होते हैं॥ १७॥

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥ १८॥

जब आबद्ध कर्मोंमें दुःख देखकर उद्विग्नता आ जाय और उसके फलके प्रति वैराग्य उपस्थित हो जाय, तब वह योगी पुरुष इन्द्रियोंको संयतकर आत्मविषयक मङ्गलकी स्वाभाविक वृत्तिका विस्तार करके अपने चञ्चल चित्तको निश्चलभावसे मुझमें धारण करे॥ १८॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥ १९॥

यत्नके साथ धृत चित्त (संयम किया हुआ चित्त) जब भटक रहा हो एवं लक्ष्य वस्तुमें स्थिर न हो रहा हो, तब सावधानीसे उसकी कुछ अपेक्षाएँ पूर्ण कर दे। अपने मनको अनुरोधपूर्वक समझाकर एवं विधि मार्गके नियत नियमों पर चलाकर उसे अपने वशमें करके भगवत्-सेवोन्मुख कर दे॥ १९॥

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥ २०॥

मनकी गतिकी उपेक्षा न करे—उसे स्वतन्त्र न छोड़े, बल्कि जितेन्द्रिय और जितप्राण (प्राणवायु पर विजयी) होकर सात्त्विक बुद्धि द्वारा उसको अपने वशीभूत कर ले। (मन स्वयं अनात्म वस्तु है, अतः अनात्म द्रव्य संग्रहमें ही वह व्यस्त रहता है तथा आत्माके आनुकूल्य साधनसे विमुख रहता है, अतः मनको धारण न करनेपर जीवके लिये स्वरूपोपलब्धि प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है।)॥ २०॥

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः॥ २१॥

अश्वचालक जिस प्रकार दुर्दान्त घोड़ेको अपने अभीष्ट मार्गमें चलानेका इच्छुक होकर भी कुछ समय तक घोड़ेकी इच्छित गतिका अनुवर्त्तन करता है, परन्तु उस समय भी उसकी लगामको पकड़े रहता है, पूरी तरहसे छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार अनुवृत्ति मार्गमें अपने हृदयकी गतिके अभिप्रायको समझे और चित्तका क्रमशः वशीकरण करे। इसीको 'उत्तम योग' कहा गया है॥ २१॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति॥ २२॥

जबतक मन स्थिर (निश्चल) न हो जाय, तब तक उसे सांख्य योगके अनुसार अर्थात् तत्त्वविवेकके द्वारा महत्तत्त्वसे स्थूल-शरीर पर्यन्त सभी पदार्थोंकी उत्पत्तिका अनुलोम क्रमसे (प्रकृति आदि क्रमसे) और उनके प्रलयका प्रतिलोम विधिसे (पृथ्वी आदि क्रमसे) प्रतिक्षण चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २२॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥ २३॥

जिसे जड़जगत्से निर्वेद एवं वैराग्य हो गया है, वह अपने चित्तमें भगवान्के निजजन—गुरुदेव द्वारा उपदिष्ट विषयको हर क्षण अनुशीलन (स्मरण) करता रहे। इन विषयोंके पुनः पुनः चिन्तनके द्वारा जागतिक पदार्थोंकी नश्वरता-बोधसे देहाभिमानका परित्याग कर दे। (परित्याग न करने पर भोग-प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तथा अनेक प्रकारके अमङ्गल होने लगते हैं।)॥ २३॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥ २४॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गसे, तर्कविद्या अर्थात् तत्त्ववस्तुका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे अथवा मेरे श्रीविग्रहके अर्चन और ध्यान आदिके द्वारा मन परमात्माका स्मरण करने लगता है; इसके अतिरिक्त उनके स्मरणका और कोई उपाय नहीं है॥ २४॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन॥ २५॥

योगी पुरुष यदि प्रमाद (असावधानी) के कारण किसी प्रकारका निन्दनीय कर्म करता है, तो उस कर्मजनित पापको योग द्वारा (ज्ञानाभ्यास द्वारा) दग्ध कर डाले। इस विषयमें कष्टसाध्य प्रायश्चित अथवा किसी और उपायके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है। (नाम-सङ्कीर्तन द्वारा पापका शमन हो जाता है।)॥ २५॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥ २६॥

अपने-अपने अधिकारानुसार (ज्ञानीकी ज्ञान द्वारा, भक्तकी भक्ति द्वारा) जो निष्ठा लक्षित होती है, उस निष्ठामें एकाग्रता ही गुण नामसे कही गयी है और वही निष्ठा जीवके लिये मङ्गलप्रद है। अधिकारसे बहिर्भूत सभी अनुष्ठान दोषावह हैं। विधि-निषेध रूप गुण-दोषके विधान द्वारा विषय-सङ्गका परित्याग कर्त्तव्य है। कर्म जन्मसे ही अशुद्ध है, इसलिये कर्मीगण स्वभावतः ही अशुद्ध हैं, इसी कारण गुण-दोषकी व्यवस्था है। आसक्तिवश ये पापकर्ममें रत रहते हैं। कर्मीगणोंको अशुद्ध कर्मोंके प्रति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिका सङ्कोच करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि वेद कदापि प्रवृत्तिपरक नहीं है॥ २६॥

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥ २७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥ २८॥

भक्ति अधिकारीके विषयमें बतलाते हैं—मेरी लीला-कथामें श्रद्धायुक्त मनुष्य वैदिक एवं लौकिक काम्य-कर्मोंको तथा विषय-वासनाओंको दुःखस्वरूप जानकर भी यदि उनका परित्याग करनेमें असमर्थ हो, तो वह उद्विग्न पुरुष अत्यन्त श्रद्धाके साथ यह दृढ़ निश्चय करे कि 'मेरी भक्ति द्वारा ही समस्त विषयोंमे सिद्धि प्राप्त होगी' और तब परिणाममें दुःखद विषयोंका निन्दाके साथ उपभोग करे और उनसे अप्रसन्न होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करे। (भोग एवं भक्ति विपरीतजातीय हैं। भोगके परित्यागकी कामना भक्तिपथपर अग्रसर होनेका सुयोग प्रदान करती है।)॥ २७-२८॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥ २९॥

इस प्रकार बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरी उपासना (सेवा) करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आसीन हो जाता हूँ और मेरे आसीन होते ही उसके हृदयमें अवस्थित सभी विषय-वासनाएँ संस्कार-सहित नष्ट हो जाती हैं, जैसे सूर्य और अन्धकार एक साथ नहीं रहते। भगवान्‌के भक्त सर्वदा ही हृदय-सिंहासन पर भगवान्‌को स्थापनकर उनकी सेवा करते हैं॥ २९॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ ३०॥

सर्वान्तर्यामी, परमात्म-स्वरूप मेरा साक्षात्कार करने पर जीवके अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश हो जाता है, हृदय-ग्रन्थिरूप अहङ्कारका ध्वंस हो जाता है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं तथा कर्मराशि भी क्षीण हो जाती है। (अखिलरसामृत-मूर्त्तिका आश्रय करनेपर जड़-रसकी लालसा स्वतः ही नष्ट हो जाती है; तब न कोई संशय रहता है और न ही तर्क।)॥ ३०॥

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ ३१॥

अतएव मद्‌गतचित्त (मुझमें चित्त अर्पण करनेवाला) तथा मद्‌भक्तियुक्त योगीके लिये ज्ञान एवं वैराग्य इस संसारमें परमार्थके साधन नहीं कहे जा सकते। ज्ञानी तो है, परन्तु भगवत्-सेवासे विरक्त है, तो उसका मङ्गल नहीं हो सकता। भक्ति-योगसे अर्थात् भगवत्-सेवासे संयत-ज्ञान एवं युक्त-वैराग्य सम्पूर्णरूपसे प्रकट हो जाते हैं। भक्ति-योग ही आत्यान्तिक मङ्गलकारी है।॥ ३१॥

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ ३२॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति॥ ३३॥

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, तीर्थ-यात्रा एवं व्रत आदि अन्यान्य श्रेयःसाधनों द्वारा जगत्में जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, उन सबको मेरे भक्त भक्तियोगके द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लते हैं। यद्यपि वे कभी भी प्रार्थना नहीं करते, तथापि स्वर्ग, मोक्ष और वैकुण्ठकी भी उन्हें प्राप्ति हो जाती है॥ ३२-३३॥

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥ ३४॥

जो धैर्यवान् (परम शान्त) साधु भक्त हैं, वे केवल मेरे प्रति ही प्रीतियुक्त हैं, मेरे अनन्य प्रेमी हैं—इसलिये वे मेरे द्वारा प्रदत्त आत्यन्तिक (जन्मान्तर-राहित्यरूप कैवल्य) मोक्ष भी सेवा-बाधक जानकर किसी प्रकारसे ग्रहण करना नहीं चाहते॥ ३४॥

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ३५॥

परम महत् मोक्षफल तो निरपेक्षता (अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञानादि क्षुद्रफलोंमें चेष्टाका अभाव) है, वही भगवद्-भक्तिका साधन भी कही गयी है। अतः निष्काम एवं निरपेक्ष मनुष्योंमें ही मेरी भक्ति उदित होती है॥ ३५॥

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥ ३६॥

रागादिसे रहित (अनासक्त), सर्वत्र समबुद्धि सम्पन्न (समदर्शी) एवं प्राकृत बुद्धिसे अतीत भगवद्वस्तुओंको प्राप्त (सच्चिदानन्द-विग्रह सेवापरायण) मेरे ऐकान्तिक भक्तोंमें विहित या निषिद्ध कर्मजन्य पुण्य अथवा पापकी सम्भावना नहीं है। (मेरे भक्त तो स्वर्ग, मोक्ष एवं नरकको समतुल्य देखनेवाले हैं।)॥ ३६॥

एवमेतान् मया दिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे विंशतितमोऽध्यायः॥ २०॥

इस प्रकार जो मेरे द्वारा उपदेश दिये गये इस चरम कल्याणप्रद भक्तिपथका अनुष्ठान करते हैं, वे काल, माया आदिसे रहित मेरे वैकुण्ठलोकको और परब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त होते हैं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

कर्माधिकारियोंके गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप तथा श्रुतियोंका अर्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जो मेरे द्वारा बतलाये गये इस भक्ति, ज्ञान और कर्मात्मक मार्गोंको छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा तुच्छ विषयोंका सेवन करते हैं, वे गुण-दोषके भागी होकर संसारमें नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करते हैं॥ १॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥ २॥

उद्धवजीने गुण क्या है और दोष क्या है—यह पूछा था। इसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कह रहे हैं कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण है और इसके विपरीत इन्द्रिय चाञ्चल्यके कारण निष्ठाका परित्याग करना ही दोष है। गुण-दोषका इसी प्रकार निर्धारण करना चाहिए॥ २॥

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ॥ ३॥

हे निष्पाप उद्धव! द्रव्यकी (वस्तुकी) विचिकित्सा अर्थात् योग्यत्व-अयोग्यत्वके सन्देहकी निवृत्तिके लिये वस्तुओंके समान होनेपर भी धर्मके लिये शुद्धि-अशुद्धि, व्यवहारके लिये गुण-दोष तथा देहयात्रा निर्वाहके लिये पवित्र-अपवित्रका (शुभ-अशुभ,

उपादेय-अनुपादेय, अर्थकारी-अनर्थकारीका) विधान किया गया है, जिससे द्रव्योंका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके तथा अयोग्य, अशुद्ध, दोषपूर्ण, अपवित्र एवं अशुभ, अनुपादेय, अनर्थकारी आदि द्वारा सन्देहकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबन्ध अथवा सङ्कोच किया जा सके॥ ३॥

दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्॥ ४॥

इस प्रकारसे धर्मरूप भार वहन करनेवाले कर्मजड़ मनुष्योंके लिये मैंने मनु आदि रूपोंमें यह आचरण (धर्मका सम्पादन, समाजका व्यवहार एवं देहयात्राका निर्वाह) दिखाया है। फल-भोगकी कामनावाले मनुष्य ही शुद्धि-अशुद्धि, शुभ-अशुभ एवं गुण-दोषका विचार करते हैं। पारमार्थिक विचारवाले इनमें आबद्ध नहीं होते॥ ४॥

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः॥ ५॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश समानरूपसे एक परमात्म-वस्तुसे सम्बन्धयुक्त हैं—ये पाँचों धारण करनेके कारण धातु कहलाते हैं। ये पाँच ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सभीके शरीरोंके आरम्भक हैं। इसी कारण देहसे समान कहे गये हैं और आत्मासे भी॥ ५॥

वेदेन नामरूपाणि विषयाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥ ६॥

हे उद्धव! समान देहोंके अर्थात् सभी शरीर पञ्च धातुओंसे बने रहने पर भी वेदों द्वारा विषम नाम (यह ब्रह्मचारी है, यह ब्राह्मण है, यह तैलिक है आदि) एवं रूपादिका विधान किया गया है, यह विधान नियम द्वारा अर्थात् अपनी-अपनी वासनामूलक प्रवृत्तियोंका सङ्कोच करके धर्मादि चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये है॥ ६॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥ ७॥

हे साधुश्रेष्ठ! कर्मोंके सङ्कोचके (उच्छृंखलताके प्रतिबन्ध अर्थात् मर्यादा-स्थापन एवं अहङ्कारके प्रशमनके) लिये (मैंने देहके ही नहीं, बल्कि) देश, कालादि पदार्थ एवं ब्रीहि (जौ) इत्यादि उपादेय द्रव्योंके गुण-दोषका भी विधान किया है। बद्धजीवकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके तोषणमें रहती है, इसलिये गुण-दोषकी यह व्यवस्था फल-भोगके निवारणके लिये तथा जीवकी अतिशय आसक्तिकी निवृत्तिके लिये है॥ ७॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम्॥ ८॥

(शुचि-अशुचिके विषयमें बतलाते हैं कि) देशोंमें कृष्णसार अर्थात् कृष्णवर्णके हरिणसे रहित देश अशुचि है, उनमें भी जहाँ ब्राह्मण-भक्तिसे रहित लोग रहते हों, वे स्थान और भी अपवित्र हैं, कृष्णसार मृग द्वारा श्रेष्ठ होनेपर भी सौवीरों (सम्माननीय साधु पुरुषों) से रहित कीकट, अङ्ग-षङ्ग-कलिङ्ग देश (असाधु, असभ्य लोग जहाँ रहते हैं), मार्जनादि संस्कारोंसे रहित, म्लेच्छादि-बहुल (माँस-भक्षकोंकी प्रधानतावाले) देश एवं बंजर (ऊसर) आदि देश अपवित्र हैं॥ ८॥

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा।
यतो निवर्त्ततेकर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः॥ ९॥

(कालकी शुचि एवं अशुचिके विषयमें बतलाते हैं) द्रव्य-सम्पत्तिके कारण अर्थात् जिस कालमें कर्म करने योग्य द्रव्योंकी प्राप्ति हो सके तथा जो सत्कर्मके योग्य हो, वह काल प्रशस्त है अर्थात् वह समय स्वाभाविक गुण-विशिष्ट रूपमें निर्दिष्ट है और जिस समय द्रव्य-सम्पत्तिका अभाव हो (जीव अपने प्राप्यसे वञ्चित हो जाय अथवा प्रारब्ध कर्मका व्याघात उत्पन्न हो जाय), स्वाभाविक दोष अथवा राष्ट्र-विप्लवके कारण कर्म न हो सके अथवा सूतिका-शौचादि (सूतक) के कारण कर्मका बन्धन हो जाय, वह काल अशुद्ध है। (श्रीहरिवासर एवं भक्तोंके सङ्गकी प्राप्ति ही

वास्तवमें सर्वोत्तम काल है। मेघाच्छन्न दिन दुर्दिन नहीं है, अपितु भगवत्-सेवा विमुख जन-सङ्ग-काल ही दुःखमय है।)॥ ९॥

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा॥ १०॥

(द्रव्यादिके संयोगसे ही द्रव्यकी शुद्धि एवं अशुद्धिका विचार करते हैं) गङ्गोदकादि द्रव्य वस्त्रादि द्रव्योंके शुद्धिकारक हैं जबकि विसर्जनीय मूत्रादि द्रव्योंकी अशुद्धि करनेवाले हैं। शुद्ध-अशुद्ध सन्देह-स्थलपर ब्राह्मण-वचनसे शुद्धि-अशुद्धिका विचार किया जाता है (अशुद्ध होनेपर भी श्रौत प्रमाणके द्वारा मृत जन्तुके शरीरकी अस्थि यथा शङ्खादि शुद्ध माने जाते हैं), प्रोक्षण (जल छिड़कने) से पुष्पादिकी शुद्धि होती है, जबकि सूँघनेसे उनको अशुद्ध माना जाता है। दशाहादि काल द्वारा नूतन जलाशयादिकी शुद्धि है, अन्यथा अशुद्धि है (नूतन जलाशयादिका जल दस दिनोंके बाद शुभ माना जाता है, विपत्कालमें तीन दिनोंके बाद) तथा अन्त्यजादिसे स्पृष्ट होनेपर भी पद्म-पुष्करिणी आदि बृहत् जलाशयोंका जल शुद्ध है, जबकि अल्प जलाशय कूपादि स्पर्श-दोषके कारण अशुद्ध माने जाते हैं। बासी अन्नादि समर्थ व्यक्तिके लिये अशुद्ध है, असमर्थ व्यक्तिके लिये शुद्ध है। इस प्रकार वस्तुओंकी शुद्धि-अशुद्धिका विचार दूसरी वस्तुके संयोगसे, शब्दोंसे, अनुष्ठानोंसे (संस्कारोंसे), कालके प्रभावसे अथवा आपेक्षिक महत्त्वसे (महानता अथवा अल्पतासे) किया जाता है॥ १०॥

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥ ११॥

शक्ति, अशक्ति, बुद्धि एवं समृद्धिके अनुसार भी पवित्रता एवं अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। सूर्यग्रहण अथवा सूतिकान्नादि शक्त पुरुषके लिये अशुद्धि है एवं अशक्त पुरुषके लिये शुद्धि है, पुत्रोत्पत्ति आदि स्थलों पर दस दिनों तक ज्ञान (बुद्धि) द्वारा अशुद्धि है, जबकि बाह्य ज्ञानसे शुद्धि है (सामान्य लोग शिशु

जन्मके बाद दस दिन शुभ मानते हैं, जबकि विद्वान् इस अवधिको अशुद्ध मानते हैं)। समृद्धि द्वारा—जीर्ण, मलिन वस्त्रादि समृद्ध पुरुषके लिये अशुद्धि है और दरिद्र पुरुषके लिये वे ही शुद्धि रूपमें ग्राह्य हैं। ये समस्त द्रव्य-वचनादि अथवा द्रव्य-शुद्धि द्वारा आत्माके प्रति पापका जो सङ्कोच करते हैं, उसे भी देश एवं अवस्था-भेदसे जानना चाहिए। सारग्राही एवं भारवाही भेदसे एक ही प्रकारका कर्म भिन्न-भिन्नरूपोंमें परिदृष्ट होता है। इसी कारण धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रवपूर्ण तथा सुखद देश एवं तरुण और वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि-अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है॥ ११॥

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥ १२॥

किस द्रव्यसे किस द्रव्यकी शुद्धि होती है—यही बतलाते हैं—धान्य, लकड़ीसे बने ग्रह-चमसादि द्रव्य (यज्ञके पात्र), गजदन्तादि अस्थि, सूत, मधु, लवण, तैल, घृतादि रस द्रव्य और उनमें बने हुए पकवान, स्वर्ण, पारा इत्यादि तैजस वस्तुएँ, चर्म एवं पार्थिव (चमड़े एवं मिट्टीसे बने) घट, ईंट, राजमार्ग, कर्दम (कीचड़)—इन समस्त पदार्थोंकी शुद्धि काल, वायु, अग्नि, मिट्टी एवं जल—इन सब शोधक सामग्रियोंके संयोगसे अथवा पृथक्-पृथक् अर्थात् किसी एकसे भी होती है। उदाहरणार्थ—तैजस पात्रोंकी शुद्धि मृत्तिका, जल एवं अग्नि द्वारा होती है, जबकि तसर वस्त्रोंकी शुद्धि केवल हवा लगनेसे होती है॥ १२॥

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धलेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥ १३॥

किसी अपवित्र पदार्थसे लिप्त लकड़ीका आसन, वस्त्र अथवा पात्रादि क्रमशः तक्षणसे (छीलनेसे), अम्ल अथवा क्षारादि द्रव्योंसे (नमक, खटाई तथा जल तीनों मिलाकर धोनेसे), मिट्टी एवं जलसे अथवा किसी भी प्रक्रियासे अपनी गन्ध एवं परतका (लेपका)

परिहार करके अपने शुद्धरूपको अर्थात् मूल प्रकृतिको प्राप्त हो जाएँ, उस वस्तुकी शुद्धिपर्यन्त तक्षणादि कर्म ही शोधकरूपमें कहे गये हैं॥ १३॥

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः॥ १४॥

(द्रव्य-शुद्धिके बाद कर्त्ताकी शुद्धि बतलाते हैं) स्नान, दान, तपस्या, कौमार्यादि अवस्थाएँ, सामर्थ्य, उपनयनादि संस्कार, सन्ध्योपासनादि कर्म एवं मेरे स्मरणके द्वारा कर्त्ताकी शुद्धि होती है। द्विज, वैश्य, क्षत्रिय तथा शूद्रादि सभी शुद्ध होकर समस्त विहित कर्मोंको करें (भगवान्के स्मरणसे ही व्यक्तिके कर्म शुद्ध होते हैं)॥ १४॥

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः॥ १५॥

सद्गुरुके मुखसे यथोचित (साङ्ग, उपाङ्ग एवं विनियोग सहित) प्राप्त ज्ञानसे मन्त्रकी शुद्धि होती है, मुझे अर्पण करनेसे कर्मकी शुद्धि होती है। देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र एवं कर्म—इन छहोंकी शुद्धि द्वारा धर्म सम्पन्न होता है, इसके विपरीत होनेपर अधर्म होता है। (सदाचार-सम्पन्न सद्गुरुके निकटसे मन्त्र ग्रहण न करने पर गुरु-नामधारी असद् व्यक्तिके निकट विषतुल्य मन्त्रसे साधकका अमङ्गल ही होता है।)॥ १५॥

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥ १६॥

कभी गुण ही दोषरूपमें तथा दोष भी विधि-बलसे गुणरूपमें ग्रहण किये जाते हैं। एक ही विषयमें गुण-दोषका यह नियम उनका भेद मिटानेके लिये है। गुण-दोषका विभाग कहीं भी एकरूप नहीं है। ज्ञानी व्यक्तिके लिये कुटुम्बका त्याग गुण है और कर्मीके लिये दोष। इसी प्रकार आपत्तिकालमें प्रतिग्रह लेना

गुण है, परन्तु जब आपत्तिकाल न हो तो निषिद्ध होनेके कारण वही प्रतिग्रह दोष है॥ १६॥

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः॥ १७॥

जो पहलेसे ही अधोदेशमें सोये हुए हैं, उनका जिस प्रकारसे अधःपतन सम्भवपर नहीं है (वे और कितना नीचे सोएँगे?) इसी प्रकार सुरापान इत्यादि तुल्य कर्मोंके आचरणसे अपतित व्यक्तियोंका तो पतन होता है, किन्तु पतितोंका और पतन नहीं होता। ऋतुकालमें भार्या-समागमादि यतियोंके लिये दोष है, परन्तु गृहस्थोंके लिये गुण है—ऋतौ भार्यामुपेयात्—यह वैदिक आदेया है। आरूढ़ व्यक्तिके ही पतनकी सम्भावना है, पतित व्यक्तिकी नहीं॥ १७॥

यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥ १८॥

जिन-जिन विषयोंसे निवृत्ति (उपरति) होगी अथवा गुण-दोषोंसे प्रवृत्तिका सङ्कोच होगा, उनसे ही मानव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शास्त्रोंका तात्पर्य निवृत्ति मार्गमें ही है—यही कल्याणका मार्ग है—इसीसे साधकके शोक, मोह एवं भयका विनाश होता है॥ १८॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात् तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्॥ १९॥

विषयोंके गुणोंकी पर्यालोचनाके कारण मनुष्योंकी उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्त्तिमें बाधा पड़ने पर कलह (विवाद) उत्पन्न होता है॥ १९॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम्॥ २०॥

कलहसे दुःसह क्रोध उत्पन्न होता है, और क्रोधसे 'तम' अर्थात् सम्मोह (सत्-असत्का विचार न होना) उत्पन्न होता है एवं

मोहसे (मूढ़तासे) कार्य-अकार्य-स्मृतिरूप (निर्धारणरूप) चेतनाका शीघ्र ही लोप हो जाता है॥ २०॥

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च॥ २१॥

हे साधु उद्धव! कार्य-अकार्य-विषयमें ज्ञानसे रहित होनेपर जीव असत् पदार्थके (अस्तित्वहीनके) समान शून्य-सा हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, जिससे वह मूर्च्छित-सा अथवा मृतवत् हो जाता है। इस अवस्थामें वह स्वार्थ एवं परमार्थ—सभी प्रकारके प्रयोजनोंसे भ्रष्ट हो जाता है॥ २१॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥ २२॥

ज्ञान-रहित वृक्ष जिस प्रकार अनायास प्राप्त जल ग्रहण करते हुए निरुद्यमी हो जाता है, उसी प्रकार विषयाभिनिविष्ट मनुष्य यदृच्छा-प्राप्त आहारादिको ग्रहण करते हुए वृथा ही जीवन धारण करता है, लुहारकी धौंकनीके समान उसकी श्वास-प्रक्रिया चलती रहती है। ऐसा मृततुल्य व्यक्ति न तो परमात्म-विषयमें और न ही आत्म-विषयमें कोई ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसके सभी पुरुषार्थोंकी हानि हो जाती है॥ २२॥

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥ २३॥

कर्मसे प्राप्त स्वर्गादि फलश्रुति कल्पित है, इसमें मनुष्योंका परम पुरुषार्थ कदापि नहीं है। लड्डू-प्रदानादिरूप आश्वासन-वचनोंसे बालकमें जैसे ओषधि-सेवन हेतु रुचि उत्पन्न की जाती है, उसी प्रकार मोक्षरूप परम कल्याणके उद्देश्यसे कर्ममें आग्रहके लिये फलश्रुति कही गयी है। फलकी कामना रखनेवाले कर्मफलको सुनकर उनमें प्रवृत्त तो हो जाते हैं, वस्तुतः कोई सुफल उनको प्राप्त होता नहीं है। बहिर्मुख मनुष्योंके लिये मोक्षका प्रलोभन

भी निष्काम कर्ममें रुचि उत्पन्न करानेके लिये एवं अंतःकरणकी शुद्धिके लिये है॥ २३॥

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु॥ २४॥

मनुष्य स्वाभाविकरूपसे जन्मसे ही अपने अनर्थके मूल कारण पशु आदि भोग्य पदार्थोंमें, प्राणमें, इन्द्रिय, बल, वीर्य आदिमें तथा पुत्र आदि सगे-सम्बन्धियोंमें आसक्त हुआ करते हैं। यही आसक्ति उनकी आत्माकी उन्नतिमें बाधक और परिणाममें दुःखमयी है॥ २४॥

नतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः॥ २५॥

जो परम-सुखके विषयमें अनभिज्ञ हैं, काम्य-मार्गमें भ्रमणशील एवं वृक्षादि तामस योनियोंमें प्रवेश करनेवाले हैं, सर्वलोकहितकारी वेद-शास्त्र अपने वचनोंमें विश्वास रखनेवाले उन जीवोंको काम्य-कर्ममें पुनः प्रवृत्त होनेका उपदेश क्यों देंगे?॥ २५॥

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥ २६॥

कर्ममीमांसक इत्यादि कतिपय कुबुद्धियुक्त पुरुष वेदशास्त्रोंके पूर्वोक्त अभिप्रायसे अवगत न होनेके कारण अवान्तर फल—प्ररोचनासे (जिन व्याख्याओंको सुनकर लोग प्रसन्न हों) उक्त रमणीय श्रुतिवाक्योंको सत्य एवं परमफलविषयक बतलाते हैं, किन्तु व्यासादि वेदज्ञ पुरुषोंका ऐसा मत नहीं है। वस्तुतः वे अज्ञानके कारण पुष्पोंमें ही फलकी भावना करते हैं और फलश्रुतिरूप प्रशंसा-वाक्योंको ही वेदका प्रमाण बतलाते हैं॥ २६॥

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥ २७॥

कामी, कृपण एवं लुब्ध (तृष्णाकुल) मीमांसकगण अवान्तर (गौण) फलोंको ही परम फल जानकर अग्नि-साध्य-कर्मोंमें

(यज्ञ-यागोंमें) अभिनिवेशके (मुग्धताके) कारण विवेक-बुद्धि-रहित हो जाते हैं और परिणाममें आत्मतत्त्वको (अथवा अपने धामको) भलीभाँति न जाननेके कारण धूममार्गका आश्रयकर अन्धकार-पथसे जाते हैं॥ २७॥

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः॥ २८॥

हे उद्धव! घोर अन्धकारके (कुहरेके) द्वारा आच्छादित नेत्रोंवाला व्यक्ति जिस प्रकार समीपवर्ती वस्तुको देख नहीं पाता, उसी प्रकार यज्ञ-याग आदि कर्म ही जिन अज्ञानियोंके पशु-हिंसा-साधनके शस्त्रस्वरूप (कुल्हाड़ी, फरसेके समान) हैं, वे इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेवाले कर्मी (मीमांसक) इस दृश्यमान् जगत्के कारणभूत और स्वरूपभूत एवं सभी प्राणियोंके हृदय-स्थित अन्तर्यामी मुझे देख नहीं पाते और नाना-प्रजल्प-परायण होकर इस जगत्में विचरण करते हैं॥ २८॥

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना॥ २९॥

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥ ३०॥

माँस-भक्षणके लिये यदि हिंसामें प्रवृत्ति होती है, तो केवल यज्ञमें ही हिंसा करें—इस प्रकार वेदमें परिसंख्याका विधान किया गया है। यह परिसंख्याविधि सन्ध्या-वन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है। हिंसा-क्रीड़ारत दुष्ट कर्मीगण मेरे ऐसे अस्फुट (अस्पष्ट अथवा परोक्ष) मतके तात्पर्यको न जानकर निहत-पशुगत-साधित यज्ञोंके द्वारा स्वर्गादि सुखकी कामनासे देवता, पितर एवं भूतपतियोंकी आराधना करते हैं। पशु-हननका इनका (विषय-लोलुपाका) तात्पर्य निज-सुख एवं विहार-व्यसन है॥ २९-३०॥

स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम्।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्॥ ३१॥

वणिक् जिस प्रकार दुस्तर समुद्रको लाङ्घकर किसी अनिश्चित धन-प्राप्तिकी आशासे मूल (पूर्व-सञ्चित) धनको व्यय करके दोनों ओरसे भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मी पुरुष भी स्वप्नवत्, नश्वर एवं श्रुति-प्रिय (कानोंको प्रिय लगनेवाले) स्वर्गादि परलोकके सुखकी आशासे तथा इस लोकमें राज्यादिके सुखकी कामनासे विघ्न-बाहुल्यमय यज्ञादि कर्मोंमे अर्थ व्यय कर डालते हैं। क्षणस्थायी परलोककी कामना अप्रयोजनीय ही है, परन्तु मनुष्य वेदकी पुष्पित वाणीसे आकर्षित होकर यज्ञादि कर्म करता है तथा अपने नित्य धनसे ही वञ्चित हो जाता है॥ ३१॥

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा　　रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न यथैव माम्॥ ३२॥

वे सत्त्व, रज और तमोनिष्ठ व्यक्ति सत्त्व, रज और तमोनिष्ठ इन्द्र आदि देवताओंकी आराधना करते हैं, परन्तु गुणातीतस्वरूप मेरी उपासना नहीं करते। यद्यपि इन्द्र आदि देवता मेरे ही अंशभूत हैं, इसलिये उनकी उपासना मेरी ही उपासना है, परन्तु उन्हें मुझसे भिन्न अथवा स्वतन्त्र जानकर उनकी उपासना करनेसे मेरी यथार्थ उपासना नहीं होती॥ ३२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥ ३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनाञ्चातिलुब्धानां मद्वार्त्तापि न रोचते॥ ३४॥

हठी कर्मियोंके चञ्चल मनका अभिलाष व्यक्त करते हैं—हम इस लोकमें यज्ञ द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गलोकको प्राप्त होंगे, वहाँ विहार करेंगे। स्वर्गादि भोगके क्षय होनेपर पुनः पृथ्वीपर महाकुलमें (महत्-वंशमें अर्थात् राज-परिवारोंमें) उत्पन्न होकर उत्तम (वैभवशाली) गृहस्थरूपमें जीवन जिएँगे—इस प्रकार रोचक, मधुर एवं अर्थवाद-बहुल कर्मकाण्डीय वेद-वचनसे विक्षिप्तचित्त

अति लुब्ध-जड़भोगाभिमानी व्यक्तियोंको मेरे प्रसङ्ग प्रीतिकर नहीं होते। अतः ये मीमांसक नित्य संसारी होते हैं॥ ३३-३४॥

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥ ३५॥

वेद त्रिकाण्डविषयक हैं—कर्मकाण्ड, देवताकाण्ड एवं ब्रह्मकाण्ड अर्थात् कर्म, उपासना एवं ज्ञानविषयक। तीनों ही काण्डोंमें आत्माके ब्रह्मत्वका ही प्रतिपादन है—संसारित्वका प्रतिपादन वेदका उद्देश्य नहीं है। मन्त्र या मन्त्रदर्शी ऋषि परोक्षरूपमें वेदकी व्याख्या करते हैं, साक्षात् रूपसे नहीं। हे उद्धव! मुझे भी परोक्षवाद अत्यन्त प्रिय है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, उनका वैदिक-गुह्य-वस्तुतत्त्वको जाननेका अधिकार है, क्योंकि वे परोक्षवादको भलीभाँति समझ सकते हैं। अशुद्ध चित्तवाले अनधिकारी मनुष्योंमें वेदके आप्त वचनोंको जाननेकी सामर्थ्य नहीं है। वे ज्ञान-प्राप्तिके प्रयासमें चित्त-शोधक कर्मको भी व्यर्थ ही त्यागकर पतित हो सकते हैं॥ ३५॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ ३६॥

'शब्दब्रह्म' अर्थात् वेदवचन स्वरूपतः एवं अर्थतः दुर्ज्ञेय हैं। ये वेदवचन प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय (बुद्धिमय) एवं इन्द्रियमयस्वरूप हैं। ये वचन समुद्रके समान अनन्त, गम्भीर एवं दुर्विगाह्य (अपार अर्थात् जिनकी थाह पाना अति कठिन हो) हैं। इनके दो प्रकार हैं—सूक्ष्म एवं स्थूल। इनमें सूक्ष्म स्वरूपतः दुर्ज्ञेय है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी—इस विचार-चतुष्टयमें वेदवाणी प्रथम प्राणमय (वैदिक ध्वनिकी प्राण-अवस्था) 'परा' नामक पदार्थ आधारचक्रमें स्थित है, तत्पश्चात् मनोमय (मानसिक अवस्था) 'पश्यन्ती' नामक पदार्थ नाभिदेशमें अनाहतचक्रमें अवस्थित है, ज्ञानमय (बौद्धिक अवस्था) 'मध्यमा' नामक पदार्थ हृदयमें मणिपुर चक्रमें स्थित है, इसके बाद इन्द्रियमय (ऐन्द्रिय अवस्था) 'बैखरी' नामक पदार्थ

कण्ठमूलमें अवस्थित है। इसी स्थानसे वाक्यका विकाश होता है। कारण है कि तीन विभाग जीवके भीतर स्थित हैं, चौथा विभाग ही वाणीके (कण्ठनादके) रूपमें बाह्यतः प्रकट होता है। साधारण मनुष्य बोल तो सकता है, परन्तु तत्त्वको नहीं जान सकता। शब्द जब वर्णरूपमें परिणत इन्द्रियमयी बैखरीको प्रणवरूपमें प्रकाशित मध्यमाको, ध्वनिस्वरूपा मनोमयी पश्यन्तीको एवं जड़ेन्द्रिय तथा मनको अन्तर्भुक्त कर लेता है, उस समय वह प्राणमयी 'पराविद्या' के रूपमें प्रतिभात होता है॥ ३६॥

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥ ३७॥

अपरिच्छिन्न (सर्वव्यापक), निर्विकार (अपरिवर्त्तनशील), अनन्त शक्तिमय, रूप-बाहुल्यसे युक्त एवं अन्तर्यामी-स्वरूप (समस्त जीवोंके हृदयमें रहनेवाला) मेरे द्वारा अधिष्ठित एवं उपबृंहित अनाहत नादकेरूपमें विद्यमान यह शब्दब्रह्म (वैदिक ज्ञानका बीज—ॐकार) मृणालदण्डमें तन्तुके (सूक्ष्म सूतके) समान आप्त मनीषियोंमें लक्षित अर्थात् अनुभूत होता है। तन्तु जिस प्रकार मृणालमें अविच्छेद्यरूपसे (अपृथक्रूपसे) स्थित है, उसी प्रकार अप्राकृत श्रीनामके साथ भगवद्वस्तु अविच्छेद्यरूपसे (सार्वकालिक सम्बन्धरूपमें) स्थित रहनेके कारण मुक्त जीवोंके द्वारा आराध्य होती है॥ ३७॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद्घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥ ३८॥

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्॥ ३९॥

विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥ ४०॥

मकड़ी जिस प्रकार हृदयसे मुख-रन्ध्र द्वारा सूत्रको (जालेको) उगलती है और निगल लेती है, उसी प्रकार वेदमय (छन्दोमय) एवं

अमृतमयमूर्त्ति नादयुक्त (शब्दमय) प्राणरूपी हिरण्यगर्भात्मक भगवान् स्पर्शादि वर्ण व्यञ्जक एवं सङ्कल्पशील मनके द्वारा हृदयाकाशमें बृहतीका (बृहद्वाक्यमय वेदका अर्थात् परावाणीका) सृजन करते हैं और अपनेमें लीन करते हैं। इस बृहतीका पथ अपार, अनन्त, बहुमार्गोंसे युक्त है। यह उरः एवं कण्ठादिके संयोगसे प्रकाशित, ॐकारन्तर्गत स्पर्श-स्वर (अकारादि सोलह वर्ण), व्यंजन (क से म), उष्म (श, ष, स, ह) एवं अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्णोंसे व्यञ्जित, विचित्र भाष्योंसे सुविस्तृत एवं उत्तरोत्तर चतुरक्षराधिक छन्दोंसे (प्रत्येक छन्द पिछलेवालेसे चार वर्ण अधिक) परिवर्द्धित एवं छन्दों द्वारा निबद्ध है। इस प्रकार छन्दोंसे उपलक्षित अनन्तपार वाणीका भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं एपसंहार करते हैं।

वैखरी नामक वेद-स्वरूप वाणीकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाते हुए कहते हैं—वाणीकी उपाधिभूत भगवान् हिरण्यगर्भ नामसे कहे जाते हैं, जो साक्षात् छन्दोमय वेदमूर्त्ति एवं अमृतमय हैं। इनके द्वारा परावाणीका निदर्शन होता है। सङ्कल्पात्मक मनके द्वारा वेहृदयाकाशमें पश्यन्ती नामक वेदवाणीका सृजन करते हैं। आधार चक्रको आश्रय बनाकर ओङ्कारसे मध्यमा वाणीका निर्देश है। हृदय तथा कण्ठ आदि उच्चारण स्थानोंके संयोगसे अभिव्यक्त, स्पर्शादि वर्णोंसे अलङ्कृत वैखरी वाणी ही हृदयमें विद्यमान ओङ्कार यहाँ सूक्ष्मरूपसे अभिप्रेत है॥ ३८-४०॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट्॥ ४१॥

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्दः, अत्यष्टि, अतिजगती और अति-विराट्—ये सब छन्द वेदोंके अन्तर्गत ही हैं। गायत्रीमें चौबीस अक्षर, उससे चार अक्षर वृद्धि होकर उष्णिक्में अट्ठाईस अक्षर, उससे चार अक्षर वृद्धि होकर अनुष्टुप् इस प्रकार चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं—वेद इन सब छन्दोंसे उपलक्षित हैं॥ ४१॥

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥ ४२॥

कर्मकाण्डके विधिवाक्य (आनुष्ठानिक कर्मों) में क्या विधान है, देवताकाण्डके (उपासना काण्डके) मन्त्र वाक्योंमें क्या प्रकाशित हो रहा है और ज्ञानकाण्डके विविध विकल्पोंमें निषेधके उद्देश्यसे कौन-सी वस्तुका उल्लेख है—क्या विचार किया गया है—इस वेदके हृद्गत तात्पर्यको मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं जानता। (अतः जो समस्त वस्तुओंके एकमात्र आश्रय हैं, जो समस्त आश्रयोंके एकमात्र विषय हैं, वे पुरुषोत्तम भगवान् ही अद्वयज्ञान तत्त्व-वस्तु हैं अर्थात् वे ही वैदिक ज्ञानके चरम लक्ष्य हैं।)॥ ४२॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें यज्ञरूपी मेरा ही विधान करती हैं एवं देवताकाण्डमें (उपासना काण्डमें) तद्-तद् देवतारूपमें मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानकाण्डमें जिन समस्त आकाशादि पदार्थोंका उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है कि ये सब आकाशादि मेरे ही स्वरूपभूत हैं, मुझसे पृथक् नहीं। इस प्रकारसे वेदका तात्पर्य जानना चाहिए। वेद परमार्थरूपमें एकमात्र मेरा ही आश्रय करके भेदको (द्वैतको) मायामात्र रूपमें अनुवाद करते हैं और तत्पश्चात् द्वैतका सम्पूर्ण रूपसे निषेध करते हुए निवृत्त हो जाते हैं। जो पहले वर्णन किया, बादमें उसका निषेध किया—पहले सकाम कर्मको त्यागकर निष्काम कर्म करे, पश्चात् ज्ञानमें आरूढ़ होकर निष्काम कर्मका भी त्याग कर दे। ज्ञान सिद्धिकी दशामें

ज्ञानका भी मुझमें समर्पण कर दे। भक्ति-त्यागका कभी भी किसी भी शास्त्रमें किसी भी वाक्य द्वारा प्रतिपादन नहीं देखा जाता, हाँ, कर्म-ज्ञान-त्यागके विषयमें मैंने पर्याप्तरूपसे कहा है। कर्मयोग एवं ज्ञानयोगको मायामात्र जानें—यदि मुझसे पृथक् हैं तो। (भगवान् ही वेदके प्रतिपाद्य प्रयोजन तत्त्व हैं, वे बृहत् हैं, वे भूमा हैं, वे ही सर्वसेव्य हैं।) इस प्रकार भगवान्‌ने उद्धवका भ्रम दूर किया॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोंकी संख्या एवं पुरुष-प्रकृतिका विवेक

श्रीउद्धव उवाच—

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादशपञ्चत्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम॥ १॥

केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्य्येकादशापरे॥ २॥

केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि॥ ३॥

श्रीउद्धवजीने कहा, हे विश्वेश! हे प्रभो! यह बतलाइये कि ऋषियों द्वारा वर्णित तत्त्वोंमें कितने प्रकारके तत्त्व वस्तुतः सङ्गत (युक्तियुक्त) हैं। आपके श्रीमुखसे अट्ठाईस तत्त्वोंके (पूर्णपुरुषोत्तम, तदाश्रित शक्ति, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चमहाभूत-मन, दस कर्म-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च तन्मात्ररूप इन्द्रिय-विषय एवं सत्त्वादि गुणत्रयके) विषयमें सुना है किन्तु कोई छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कोई पच्चीस। दूसरे कोई सात, नौ अथवा छह मानते हैं। कोई चार स्वीकार करते हैं तो कोई ग्यारह। कोई ऋषि सत्रह तो कोई सोलह और कोई तेरह तत्त्वोंका वर्णन करते हैं। हे आयुष्मान्! ऋषियोंने जिस प्रयोजनको लक्ष्य करके पृथक्-पृथक्रूपमें तत्त्वोंके विभिन्न प्रकार बतलाये हैं, इसका रहस्य आप वर्णन कीजिये॥ १-३॥

श्रीभगवानुवाच—

युक्तञ्च सन्ति सर्व्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥ ४॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे उद्धव! वेदज्ञ ऋषियोंने जो-जो स्वरूप बतलाये हैं, वे सभी युक्तियुक्त हैं, उनके वाक्य सत्य हैं—सभी तत्त्व सभी विषयोंमें ही अन्तर्निहित (अन्तर्भुक्त) हैं। (विवादका कारण जानना चाहते हो तो) उन सभीने मेरी माया-शक्तिका आश्रय करके अर्थात् मेरी मायासे मोहित होकर तत्त्वोंका इस प्रकारसे वर्णन किया है—उनका कुछ भी कहना असम्भव नहीं है॥ ४॥

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत् तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥ ५॥

दो पक्षके व्यक्ति इस प्रकार कहते हैं—तुम तत्त्वके विषयमें जैसा कह रहे हो, वह वैसा नहीं है, मैं जो कह रहा हूँ, वह तत्त्व उस प्रकारसे है—इस प्रकार विवदमान मनुष्योंकी असहमतियोंसे कारण तत्त्वोंकी जो पृथक्-पृथक् संख्या है—उसमें मेरी दुरतिक्रमणीया शक्ति—मायाकी सत्त्वादि वृत्ति ही एकमात्र कारण है—इसीसे पृथ्वी पर विवाद एवं संवाद होते हैं॥ ५॥

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम्।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति॥ ६॥

अन्तःकरणकी वृत्तिके क्षोभके कारण वादियोंमें इस प्रकारसे विकल्प (विषय-भेद) अर्थात् सहस्त्रों प्रकारके विवाद (यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है) उपस्थित होते हैं, शम (मुझमें निष्ठापूर्वक बुद्धि) और दम (इन्द्रिय-संयम) प्राप्त होने पर सभी विकल्पोंका लय हो जाता है। विकल्पोंका नाश होने पर (अहङ्कार न रहे तो) सब प्रकारके विवाद एवं संशय भी शान्त हो जाते हैं॥ ६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्व्वापर्य्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥ ७॥

हे पुरुष श्रेष्ठ उद्धव! तत्त्वोंका एक-दूसरेमें प्रवेश रहता ही है। वक्ता (वादी) जिस प्रकारसे (जितनी संख्यामें) बतलानेकी

इच्छा करता है, उसीके अनुसार कार्यमें कारणका प्रवेश, कारणमें कार्यका प्रवेश सिद्ध करके (कार्यको कारणमें मिलाकर तथा कारणको कार्यमें मिलाकर) कम अथवा अधिक संख्याकी गणना कर लेता है और इस प्रकारसे मत पृथक्-पृथक् हो जाते हैं॥ ७॥

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्व्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्व्वशः॥ ८॥

इस जगत्में पूर्ववर्त्ती कारण-रूप तत्त्वमें इतर कार्य-तत्त्व मिट्टीमें घटके समान सूक्ष्मरूपसे और परवर्त्ती कार्य-तत्त्वमें कारण-तत्त्व अनुगतरूपसे घटमें मिट्टीके समान प्रविष्ट होते देखे जाते हैं। सभी सूक्ष्म तत्त्व अपने स्थूल कार्योंमें उपस्थित रहते हैं एवं सभी स्थूल तत्त्व अपने सूक्ष्म कारणमें उपस्थित रहते हैं क्योंकि भौतिक सृष्टि सूक्ष्मसे स्थूल तत्त्वोंकी क्रमागत अभिव्यक्तिके रूपमें होती है। अतः हम किसी एक तत्त्वमें सारे भौतिक तत्त्वोंको प्रविष्टरूपमें देख सकते हैं॥ ८॥

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥ ९॥

अतएव तत्त्वोंका पौर्वापर्यरूप (पूर्व कारण अपर कार्य) एवं उनकी संख्या वर्णन करनेवाले मनुष्योंमें जिस उद्देश्यसे जिसका मुख जिस प्रकारसे व्याख्या कर रहा है, वे समस्त ही सर्वत्र यथार्थरूपसे स्वीकार्य हैं क्योंकि सभीमें युक्तियाँ विद्यमान हैं। (चिच्छक्तिके अपव्यवहारसे अविद्याग्रस्त जीव नाना प्रकारके मतवादोंमें प्रविष्ट हो जाता है और जो अपव्यवहार-वर्जित हैं, जड़भोगकी प्रवृत्तिसे रहित हैं—वे जगत्को भगवत्-सेवामय-ज्ञानसे आलोकित करते हैं।)॥ ९॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥ १०॥

उद्धवजी! अच्छी बात है, प्राकृत तत्त्वोंका उक्त न्यायके अनुसार परस्परमें अन्तर्भुक्त होनेसे संख्याका भेद होता है तो हो, किन्तु जीव और ईश्वरका भेद निरूपण करनेके लिये छब्बीस तत्त्व क्यों मानते हैं, उसीको बतला रहा हूँ।

अनादि, अविद्याग्रस्त मनुष्योंके लिये स्वयं आत्मतत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है, अतएव स्वाभाविक तत्त्वज्ञानयुक्त कोई दूसरा अर्थात् सर्वज्ञ परमेश्वर ही आत्मज्ञान प्रदान करते हैं। (पच्चीस तत्त्वोंके समर्थक जीव एवं विष्णुको एक कोटिमें गिनते हैं जबकि छब्बीस तत्त्वोंके समर्थक दोनोंको पृथक् कोटिमें रखते हैं। कोई ईश्वर, जीव एवं चौबीस प्राकृतिक तत्त्वोंको मिलाकर छब्बीस संख्या बतलाते हैं। जीव एवं परमेश्वर को एक माननेवाले पुरुषोत्तम एवं पुरुषके नित्य वैचित्र्यकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ होते हैं)॥ १०॥

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानञ्च प्रकृतेर्गुणः॥ ११॥

पुरुष एवं ईश्वर—इन दोनोंमें चिद्रूपत्वके कारण किसी प्रकारका भेद नहीं है—इन दोनोंमें अत्यन्त पार्थक्यकी कल्पना व्यर्थ है। अणुमात्र चित्रूप होनेके कारण जीव शक्ति है, ईश्वर शक्तिमान् है। सत्त्वगुणकी वृत्तिके कारण ज्ञान प्रकृतिके अन्तर्भुक्त ही है अर्थात् ज्ञान प्रकृतिका गुण-विशेष है, अलग तत्त्व नहीं है। इसीलिये पच्चीस तत्त्ववाद प्रचलित हुआ है॥ ११॥

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः॥ १२॥

बहिरङ्ग-शक्ति-परिणत-प्राकृत-जगत्में सत्त्व, रजः एवं तमोगुण—तीनों प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशके हेतु है। ये गुण प्राकृतिक हैं, आत्माके नहीं। तीनों गुणोंकी समतासे ही प्रकृतिका अभ्युदय होता है। प्रकृतिसे ही गुण-त्रयकी विचित्रता प्रपञ्चमें प्रकटित है। आत्म-जगत् अथवा वैकुण्ठमें प्राकृत गुण प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ तो अप्राकृत गुणत्रय-ह्लादिनी, सन्धिनी एवं

सम्वित् नामसे परिचित हैं तथा सृष्टि आदि कालाधीन कोई विषय ही नहीं है॥ १२॥

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च॥ १३॥

अतएव सत्त्व गुणकी वृत्ति ज्ञान है, रजोगुणकी वृत्ति (सकाम) कर्म है तथा तमोगुणकी वृत्ति अज्ञान है। गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले ईश्वर काल नामसे कहे जाते हैं और महत्तत्त्वको (आदि सूत्रको) स्वभाव नामसे कहा जाता है। इस प्रकार पच्चीस एवं छब्बीस तत्त्वोंकी संख्या युक्तियुक्त ही है क्योंकि रजोगुण एवं तमोगुणके द्वारा कर्म एवं अज्ञानका प्रकृतिमें अन्तर्भाव हो जाता है॥ १३॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव॥ १४॥

पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल भूमि—इन नौ तत्त्वोंके विषयमें मैंने तुम्हें पहले ही बतला दिया था। प्रकृति अव्यक्त है, जहाँ प्रकृति ज्ञेय अर्थात् मेरे द्वारा व्यक्त है, वहाँ वह महत्तत्त्वके रूपमें कही जाती है। (प्रकृतिके तीनों गुण पच्चीससे भिन्न हैं। ये तीनों आगमपायी (उत्पत्तिशील एवं विनाशशील) होनेके कारण प्रकृतिके भेदरूपमें कहे गये हैं।)॥ १४॥

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिः कर्म्माण्यङ्गोभयं मनः॥ १५॥

हे उद्धव! श्रोत्र, त्वचा, चक्षुः, नासिका, रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं—मन—कर्म एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनोंका परिचालक है इसलिये इन्द्रिय-पर्यायमें ये ग्यारह तत्त्व हैं। ये 'करण' नामसे भी प्रसिद्ध हैं॥ १५॥

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपञ्चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्म्मायतनसिद्धयः॥ १६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियके विषय हैं, इनके परिणामसे ही आकाशादि पञ्चभूतोंकी सृष्टि होती है। गति, उक्ति, शिल्प, उत्सर्ग अथवा त्याग—ये पाँच कर्मेन्द्रियकी वृत्ति-विशेष हैं—ये पृथक् तत्त्व नहीं हैं॥ १६॥

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्य्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते॥ १७॥

सोलह (ग्यारह इन्द्रिय एवं पञ्चभूत) विकार कार्य हैं। महत्, अहङ्कार एवं पञ्च तन्मात्राएँ सात कारण हैं। इस प्रकारसे (महत्तत्त्वके आदिरूपमें) कार्य-कारणात्मिका प्रकृति इस विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भमें सत्त्वादि गुणों द्वारा सृज्यत्वादि (सृष्टि, स्थिति एवं विनाश) अवस्थाएँ धारण करती है। प्रकृति ही जगत्का उपादान कारण है। अपरिणामी, अव्यक्त पुरुष निमित्तस्वरूप होकर एवं अविकृत भावसे कूटस्थ रहकर ईक्षणके द्वारा प्रकृतिको सृष्टि आदिमें प्रवृत्त कराके केवल उसके एवं उसकी अवस्थाओंके साक्षी रूपमें अवस्थित रहते हैं॥ १७॥

व्यक्तादयो विकुर्व्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्य्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥ १८॥

(महत्तत्त्वादिसे आरब्ध इस ब्रह्माण्डका महत्तत्त्वादिमें ही अन्तर्भाव है) प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वादि प्रमुख धातुएँ विकारोन्मुख होती हैं एवं पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिलितरूपसे प्रकृतिके आश्रयमें ब्रह्माण्डकी रचना करती हैं॥ १८॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥ १९॥

सप्ततत्त्ववाद भी युक्तिसङ्गत है; इस मतमें आकाशादि पञ्चभूत द्रष्टा (जीव) एवं दृश्य (जगत्) दोनोंका आधारभूत आत्मा (परमात्मा) ये सात तत्त्व ज्ञातव्य हैं। इन सात तत्त्वोंमें-से देह-इन्द्रिय-प्राणादि समस्त कार्य-पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसलिये इस मतमें

उनकी गणना पृथक्‌रूपसे नहीं की गयी है। तत्त्वोंको धातु भी कहा जाता है॥ १९॥

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत्॥ २०॥

छह प्रकारके तत्त्वोंमें पञ्च महाभूत एवं पुरुष षष्ठस्थानीय है। (पञ्चभूतोंमें ही अन्य तत्त्वोंका अन्तर्भाव है) परमात्मा अपनेसे उत्पन्न पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देहादिकी सृष्टि करते हैं और उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं। (इस मतमें पुरुषमें ही जीवका अन्तर्भाव है।)॥ २०॥

चत्वार्य्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु॥ २१॥

चारतत्त्ववादियोंके मतमें तेज, जल, पृथ्वी एवं आत्मा—ये चार तत्त्व निर्णीत हुए हैं—इन चार तत्त्वों द्वारा समग्र जगत् उत्पन्न है, कार्यकी उत्पत्ति इसके ही अन्तर्भुक्त है॥ २१॥

सङ्ख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः॥ २२॥

सत्रह तत्त्व माननेवाले पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन एवं आत्मा—ये इस तरहसे सत्रह तत्त्वोंकी गणना करते हैं॥ २२॥

तद्वत् षोडशसङ्ख्याने आत्मैव मन उच्यते।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश॥ २३॥

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह मानते हैं, वे सत्रह तत्त्वोंकी भाँति गणना किया करते हैं, उनके विचारसे मन और आत्मा भिन्न नहीं है, मन आत्माके ही अन्तर्भुक्त है। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या तेरह स्वीकार करते हैं, वे पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, जीवात्मा और परमात्मा—इस प्रकारसे तेरह तत्त्वोंकी

गणना करते हैं। आत्मा जब सङ्कल्प करता है, तब वह मन कहलाता है॥ २३॥

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ॥ २४॥

ग्यारह तत्त्व स्वीकार करनेवाले पञ्च महाभूत, पञ्च इन्द्रियाँ और आत्मा—इस प्रकारसे ग्यारह तत्त्वोंकी गणना करते हैं। अष्ट-संख्यावादी पञ्चभूत एवं मनः-बुद्धि-अहङ्कारका विचार करते हैं और नव संख्यावादी पूर्वोक्त आठ संख्याके साथ पुरुषके योगसे नव संख्याको मानते हैं॥ २४॥

इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्व्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम्॥ २५॥

ऋषिगण इस प्रकारसे तत्त्वोंकी नाना प्रकारसे गणना करते हैं। युक्तियुक्तताके कारण उनकी समस्त गणनाएँ ही सार्थक एवं न्यायोचित हैं। तत्त्वज्ञानियोंके किसी विषयमें कुछ भी असङ्गत अथवा अयौक्तिक नहीं है॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः।
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि॥ २६॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे श्रीकृष्ण! शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकृति एवं पुरुष—इन दोनोंका जड़ एवं अजड़रूपसे वैलक्षण्य (भिन्नता) है तथापि देहके आश्रयसे दोनोंकी सर्वदा मिलितरूपमें प्रतीति होती है, भेद दिखाई नहीं देता। प्रकृति तथा उसके कार्यभूत शरीरमें आत्मा एवं आत्मवस्तुमें प्रकृति सर्वदा ही अभिन्न प्रतीत होते हैं—परस्पर आश्रयसे भिन्न इनकी प्रतीति स्पष्ट (पृथक्-पृथक्रूपसे) क्यों नहीं होती॥ २६॥

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि।
छेत्तुमर्हसि सर्व्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः॥ २७॥

हे पुण्डरीकाक्ष! कमलनयन! हे सर्वज्ञ! आप युक्तियोंमें निपुण वचनोंके द्वारा मेरे हृदयके इस प्रबल सन्देहको दूर करें॥ २७॥

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाय गतिं वेत्थ न चापरः॥ २८॥

आपकी कृपासे ही जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायासे ही ज्ञानका नाश होता है। आप ही अपनी मायाके स्वरूप एवं गतिको जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। आपकी इसी विमोहिनी माया शक्तिसे जीवोंमें भ्रान्ति होती है क्योंकि यह सभी बद्ध जीवोंको अपने गाुणोंसे आक्रान्त कर लेती है। यह मायादेवी आपके ही आश्रित है। इसकी विक्षेपात्मिका एवं आवरणी दोनों वृत्तियोंको आप ही जानते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पुरुष प्रवर! प्रकृति एवं पुरुषमें अत्यन्त भेद है। प्रकृतिके गुण-क्षोभक धर्मके कारण इस देहादि-सङ्घातमें जन्म, मरणादि विकार लगे रहते हैं। ईक्षणकारी पुरुष निर्विकार हैं। (पुरुष एक है, प्रकृति नानात्मिका है। पुरुष निरपेक्ष है, प्रकृति पुरुष-सापेक्ष है। पुरुष स्वप्रकाश हैं, प्रकृति दूसरोंके द्वारा प्रकाश्य हैं। पुरुष दुर्ज्ञेय है, परिणामयोग्य प्रकृतिकी प्रतीति सम्भवपर है।) जड़ प्रकृतिसे अतीत राज्यमें पराप्रकृतिकी कार्यकारिता है—वहाँ गुणक्षुब्ध धर्म नहीं है, नित्य धर्म विराजमान है—इसलिये उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके स्थानपर सच्चिदानन्दकी ही वहाँ अभिव्यक्ति है॥ २९॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥ ३०॥

हे उद्धव! असीम विस्तारवाली मेरी गुणमयी माया (बहिरङ्गा शक्ति) सत्त्वादि गुणोंके विविध भेदोंकी एवं उन भेदोंसे सम्बन्धित अनेक विकल्पोंकी (बुद्धियोंकी वृत्तियोंकी) सृष्टि करती है। गुण भेद-ज्ञानके प्रवर्त्तक हैं। ये भेद नाना विकारोंसे युक्त हैं, तो भी स्थूलरूपसे इन्हें तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। उद्भव, अवस्थान एवं लय—ये त्रिविध व्यापार प्राकृत सृष्टिमें ही अवस्थित हैं। (मेरी अन्तरङ्गा शक्ति गुणमयी नहीं है—यह ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्विद्रूपा भगवदङ्गमयी है)॥ ३०॥

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः॥ ३१॥

जीवकी नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका दृश्य-रूप (रूप-ज्ञान) अधिभूत है एवं इस नेत्रगोलकमें (दर्शनेन्द्रियमें) स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है। ये तीनों अध्यात्मादि पदार्थ एक-दूसरेके आश्रयमें परस्पर सापेक्षरूपसे प्रकाशमान् हैं। इसके अतिरिक्त आकाशमें जो सूर्य हैं, वे मण्डलात्मा सूर्य इन तीनोंसे मुक्त स्वतःसिद्ध प्रकाशमान् वस्तु हैं। अपने प्रकाशके लिये अथवा दूसरोंको प्रकाशित करनेमें वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। (चक्षुः आदिकी परस्पर सापेक्षता एवं सूर्यकी निरपेक्षताके दृष्टान्तसे प्रकृति एवं पुरुषमें भिन्नता स्पष्ट हो जाती है) परमात्मा तो इन अध्यात्म आदि भेदोंके कारण (मूल स्रोत), उनके साक्षी एवं उनसे परे हैं अर्थात् इन सबसे भिन्न स्वतःसिद्ध वस्तु हैं। एकवचन होनेके कारण वे एक हैं तथा समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूल सिद्धि हैं। अपनी अनुभूतिसे

स्वतः सिद्ध प्रकाश्य द्वारा द्वारा वे परस्पर एक-दूसरेके प्रकाशक अखिल वस्तुओंके प्रकाशक हैं॥ ३१॥

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्॥ ३२॥

चक्षुमें अधिभूत आदि त्रिविधत्व दिखाकर अब अन्य इन्द्रियोंमें भी दिखाते हैं। जिस प्रकार चक्षुमें चक्षु, रूप एवं सूर्यका अंश है। अधिष्ठातृ देवता सूर्यसे ही चक्षुरिन्द्रियमें प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रियमें त्वक्, स्पर्श एवं वायु (अधिष्ठातृ देवता) हैं, कर्णेन्द्रियमें श्रवण, शब्द एवं दिक् हैं, जिह्वामें जिह्वा, रस, वरुण देवता है, नासिकामें नासा, गन्ध एवं अश्विनी-कुमार-द्वय हैं, चित्तमें चित्त, चेतयिता (चिन्तनका विषय) एवं वासुदेवका अंश है। इसी प्रकारसे मन, मन्तव्य (मनका विषय) एवं चन्द्रमा है, बुद्धि, बोद्धव्य (जाननेका विषय) एवं ब्रह्मा हैं। अहङ्कार, अहङ्कर्त्तव्य (अहङ्कारका विषय) एवं रुद्र—इसी प्रकारसे अन्य सभीमें त्रैविध्य है। ये सभी अध्यात्मादिके अन्तर्भुक्त हैं। अतः प्राकृत एवं अप्राकृतमें परस्पर भेद धर्म अवस्थित है। अचिन्त्य भेदाभेद-विचारमें एक ही वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ युगपत् भेद तथा अभेद है। अभेद विचारसे वैचित्र्य होनेपर भी विरोध नहीं है॥ ३२॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च॥ ३३॥

परमेश्वर गुणत्रयके क्षोभजनक हैं। प्रधानमूलक अर्थात् अव्यक्त प्रधानसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्वमें गुणोंके क्षोभसे जो विकार उत्पन्न होता है, वही विकारात्मक अहङ्कार कहा जाता है (अर्थात् अहङ्कार प्रकृतिका ही एक विकार है)। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक मोह-त्रयके कारण जड़ जगत्में अहङ्कारात्मक विकार अवस्थित रहता है। भेद-ज्ञानके हेतुसे ही यह मोहमय अहङ्कार तीन प्रकारका है—वैकारिक, तामस एवं ऐन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियज।

अध्यात्मादि विकल्प भी मोहके ही कारण हैं। मोह अर्थात् अज्ञान। अज्ञान भी सत्य, मिथ्या अथवा नित्य—इन विकल्पोंका कारण हैं। "मैं जगत्का भोक्ता हूँ"—इस प्रकारके अहङ्कारका परित्याग होनेपर मोहके सम्पादक गुणत्रय (सात्त्विकादि) निरस्त हो जाते है और जीव अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है॥ ३३॥

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्॥ ३४॥

जगत्का सत्यत्व और जगत्का मिथ्यात्व—यह भेद-विषयक विवाद आत्म-विषयक अज्ञानके कारण है। (आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सगुण-निर्गुण, सत्य-मिथ्या, अस्ति-नास्ति आदि विवादोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।) मोहमयी (अज्ञानमयी) बुद्धि सङ्कल्प एवं विकल्प—दो विचारोंमें प्रविष्ट रहती है, इसलिये मुझे प्रकृत अधिष्ठानके प्रति बुद्धिको सन्देहका अवकाश प्राप्त हो जाता है। प्रकृतिकी त्रिगुणात्मक वृत्ति भी सत्यके प्रति सन्दिग्ध होकर विवाद उपस्थित कर देती है। भेद-निष्ठता अर्थात् भेद-ज्ञान-मूलक समस्त विचार (परमात्मा है कि नहीं इत्यादि) व्यर्थ है, तथापि स्वरूपभूत मुझसे जो पराङ्मुख अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख मनुष्योंका यह विवाद कभी समाप्त नहीं होता। मेरे भक्त ऐसे विवादमें कोई रुचि नहीं रखते। मेरे चिन्तनमें ही आयु सफल करते है॥ ३४॥

श्रीउद्धव उवाच—

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्म्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥ ३५॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्व्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः॥ ३६॥

श्रीउद्धवने कहा—हे प्रभो! जो आपके स्वरूपज्ञानसे बहिर्मुख हैं, वे सभी स्वकृत कर्मोंके कारण जिस प्रकारसे उत्तम-अधम नाना योनियोंको धारण करते हैं एवं त्याग करते हैं, उस तत्त्वका (व्यापक अकर्त्ता एवं नित्य आत्माके विभिन्न शरीरोंमें आने-जानेका) वर्णन कीजिए। हे गोविन्द! यह तत्त्व मूर्ख मनुष्योंके लिये तो दुर्ज्ञेय है ही, ज्ञानी भी आपकी मायासे वञ्चित एवं मोहित हैं। अतः वे भी प्रायः इस तत्त्वको नहीं जानते। कर्त्तव्य बाध्यताकी उलझनसे ग्रस्त रहनेके कारण उनकी भी इस विषयमें जिज्ञासा बनी रहती है॥ ३५-३६॥

श्रीभगवानुवाच—

मनः कर्म्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्त्तते॥ ३७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मनुष्योंका कर्मसंस्कारयुक्त मन (सूक्ष्म देह) ही पञ्चेन्द्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करता है। इन्द्रियोंका राजा मन कर्मके संस्कारका पुञ्ज है। अतः इन्द्रियोंके कर्म एवं विकर्मके फलका भार मनको ही वहन करना होता है। आत्मा मनसे पृथक् है, किन्तु अहङ्कार द्वारा कर्ममय मनके सहित संसर्गके कारण कर्म कालुष्यवश आत्माको सूक्ष्म शरीरका अनुगमन करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है॥ ३७॥

ध्यायन्मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।
उद्यत् सीदत् कर्म्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनुशाम्यति॥ ३८॥

कर्मके अधीन मन कर्मजनित ऐहिक (दृष्ट) एवं पारत्रिक (श्रुत) विषयोंका चिन्तन करता है। अनुक्षण चिन्तन करते-करते वह चिन्तित विषयोंमें आविर्भूत होकर उनमें ही लीन हो जाता है, बादमें उसकी स्मृति भी नष्ट हो जाती है। सूक्ष्म शरीरका अनुगमन करनेवाले जीवात्माका स्थूल शरीरके साथ वियोग मृत्यु है, संयोग जन्म है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष चिन्तनमें अभिभूत होनेके

कारण चिन्मय स्मृतिकी सम्भावना न रहनेसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है॥ ३८॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥ ३९॥

वर्त्तमान देहके अनन्तर कर्मजनित (कर्मानुसार) देहकी प्राप्ति होती है। देवादि देहगत सुखमें अथवा नारकीय यातनामयी देहगत दुःखमें जीवका इतना अभिनिवेश रहता है कि मन पूर्व देहको एवं स्वयं को स्मरण नहीं कर पाता—इस प्रकार जो मृत्यु अर्थात् स्थूल देहका वियोग है, वह पूर्वदेह विषयमें अत्यन्त विस्मृति है। किसी एक हेतुसे प्रारब्ध (भौतिक शरीरका निर्धारित कर्म) समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है। यह मृत्यु एक स्थूलदेहसे दूसरी स्थूलदेहकी प्राप्तिके विचार-मूलमें अवस्थित है अर्थात् किसी शरीर-विशेषका कर्म-भोग जब समाप्त हो जाता है, तब वह शरीर मन पर प्रभाव नहीं डालता। मनुष्यकी सारी चेतना उसके वर्त्तमान शरीरमें लीन रहती है॥ ३९॥

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्व्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥ ४०॥

हे प्रभूतदानशील उद्धव (हे परम उदार)! 'जन्म' विषय अर्थात् कर्म द्वारा उपस्थापित देहको सर्वतोभावसे अपना मानकर जो स्वीकृति (अभिमान) है, उस आत्यन्तिक अभिमानको 'जन्म' कहा जाता है। यह अभिमान स्वप्न एवं मनोरथके समान है। ये दोनों अभिमान ही अकिञ्चित्कर हैं। जागरावस्थाके अभावमें विषयजातीय वस्तुका सानिध्य प्राप्त न होनेपर सुप्त व्यक्तिके कर्त्तृत्वाभिमानसे प्रदर्शित क्रिया 'स्वप्न' है और मनुष्यकी कल्पना ही कार्यमें परिणत होनेसे पहले मनोरथ (मनोराज्यका विलासात्मक अभिमान) है। अतः 'जन्म' किसी उत्पत्तिका सूचक नहीं, एक अवस्था विशेष है॥ ४०॥

स्वप्नं मनोरथञ्चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।
तत्र पूर्व्वमिवात्मानमपूर्व्वञ्चानुपश्याति॥ ४१॥

जिस प्रकार वर्त्तमान स्थूलदेहमें अवस्थित जीव पूर्व स्थूलदेहका स्मरण नहीं करता, उसी प्रकार वर्त्तमान स्वप्नाभिभूत या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके अनुभूत स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता, बल्कि वर्त्तमान शरीरमें अवस्थित पूर्व सिद्ध आत्माको ही अपूर्व (सद्योजात) अर्थात् नवीन-जन्मके समान समझता है। 'जातिस्मर' अपवाद है और अपवादसे नियमकी पुष्टि होती है॥ ४१॥

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा॥ ४२॥

जीव जिस प्रकार स्वप्नमें विविध-मिथ्या देहोंका सृजन एवं दर्शन करता हुआ बहुत रूपोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके आश्रयसे मनके देहान्तरमें (नवीन शरीरमें) अभिनिवेश-जनित-सृष्टिके कारण उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीनों सांसारिक श्रेणियाँ—आत्म-वस्तुमें सद्रूपमें (आत्माके भीतर) प्रतीत होती हैं। यह आत्मा ही बाह्य-आभ्यन्तर सकल भेद-बुद्धियोंका कारणस्वरूप है। पुत्र जिस प्रकार अपने कार्योंसे पिताकी दूसरोंके साथ शत्रुता एवं प्रणय उत्पन्न करा देता है (पुत्रका शत्रु पिताका शत्रु एवं पुत्रका मित्र पिताका मित्र बन जाता है) उसी प्रकार अहङ्कारसे प्रेरित होकर आत्मा बहिर्जगत्के विषयोंको आत्मसात् कर लेता है। वह निजस्वरूपको भूलकर विश्वमें वास करता है, सुख-दुःखादिके अन्तःद्वैतमें आबद्ध होकर क्लेशोंका आवाहन करता है। इस प्रकार अनात्म प्रतीतिके योगसे आत्माकी विरूपता (कष्टमयता) दिखायी देती है॥ ४२॥

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ ४३॥

हे अङ्ग! (हे प्रिय उद्धव)! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे साधरणतः देखा नहीं जाता। इस कालके प्रभावसे प्रतिक्षण ही प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं नाश होते रहते हैं। जिस प्रकार सूक्ष्मत्वके कारण कालवेग लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार कालकृत उत्पत्ति एवं विनाश अर्थात् जन्म एवं मृत्यु भी अज्ञानियों द्वारा लक्षित नहीं होते॥ ४३॥

यथार्चिषां स्रोतसाञ्च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्व्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥ ४४॥

कालके प्रभावसे अग्नि-शिखा आदि ज्योतिष्क पदार्थोंकी क्षीण उज्ज्वलतादि परिणामके द्वारा, नदीके स्रोतोंकी (प्रवाहोंकी) गति आदिके द्वारा, फलोंके पक्व-अपक्व रूप-परिवर्त्तनके द्वारा विभिन्न अवस्थाएँ हर क्षण बदलती दिखाई देती हैं, उसी प्रकार कालाधीन प्राणियोंकी कौमार्य, तारुण्य, यौवन, तेज, बल एवं कौशल आदि विभिन्न अवस्थाएँ क्षण-क्षण परिवर्त्तित होती रहती है। इस जगत्में परिणामशील धर्म ही अवस्थित है, आत्मा अपरिवर्त्तनशील है॥ ४४॥

सोऽयंदीपोऽर्च्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥ ४५॥

जिस प्रकार अग्नि-शिखामें एक क्षणमें ही सहस्त्र-सहस्त्र किरणोंका सृजन, रूपान्तर एवं क्षय आदि परिणाम होते हैं, दीप्त एवं अदीप्त रूपोंमें भेद भी होते हैं, परन्तु मिथ्या ज्ञानके (सादृश्यके) कारण व्यक्ति निर्देश करता है कि 'दीपकका यह वही प्रकाश है', तथा जिस प्रकार प्रवाहमयी नदीका जल निरन्तर बढ़ता हुआ दूर चला जाता है, परन्तु मनुष्य एक क्षणके बाद ही मिथ्या निर्देश करता है कि 'नदीका यह वही जल है' (नदीमें विभिन्न जल-अणु निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं) उसी प्रकार कौमार-कालमें दृष्ट व्यक्तिको यौवन-कालमें देखकर 'यह वही व्यक्ति है' इस प्रकार परिणामशीलताको आत्मधर्म मानकर मनुष्य मिथ्या ज्ञान कर लेता है। आत्मधर्ममें तो विपर्यय है ही नहीं,

परन्तु अज्ञ मनुष्य शरीरकी किसी भी अवस्थाको आत्माकी सही प्रत्यभिज्ञा (पहचान) मानकर अपने जीवनको विषयोंके चिन्तनमें व्यर्थ ही गँवा देता है। शरीरकी कोई भी अवस्था आत्माकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है, वह वृथा आडम्बर है॥ ४५॥

मा स्वस्य कर्म्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः॥ ४६॥

महाभूत तेजरूप अग्निके एक कल्पपर्यन्त स्थायी होनेपर भी काष्ठका संयोग होनेपर उसकी उत्पत्ति (प्राकट्य) और काष्ठका वियोग होनेपर उसकी मृत्यु (अप्राकट्य) कही जाती है, उसी प्रकार जन्म-मृत्यु रहित मनुष्य भी अपने कर्मबीजके कारण उत्पन्न अथवा विनष्ट नहीं होता—भ्रान्तिके कारण ही उत्पन्न या मृत नामसे कहा जाता है अथवा उस प्रकारका दिखायी पड़ता है। वह अजन्मा होकर जन्मता है और अमर होकर भी मरता है। लकड़ीमें अन्तर्स्थित अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लकड़ीको जलाती और बुझाती है, उसी प्रकार भोग्य कर्मके विचारसे भोक्ताकी उत्पत्ति और विनाश प्रमाणित होते हैं। (कृष्णसेवोन्मुख जैवकर्म एवं कृष्णविमुख जैवकर्ममें नित्यानित्य भेद है।)॥ ४६॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥ ४७॥

बद्धजीवके देहकी नौ अवस्थाएँ हैं—निषेक अर्थात् मातृगर्भमें प्रवेश, गर्भमें वृद्धि (गर्भवास), जन्म (मातृगर्भसे बाहर प्रकाश), बाल्य (पाँच वर्ष तक) के साथ पौगण्ड एवं कैशौर्य (सोलह वर्ष तक), यौवन (पचास वर्ष तक), मध्यम वयस (प्रौढ़त्व अथवा अधेड़ावस्था) (साठ वर्ष तक), उसके बाद जरा (आजीवन) और अन्तिम अवस्था मृत्यु है॥ ४७॥

एता मनोरथमयीर्हन्यस्योच्चावचस्तनूः।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च॥ ४८॥

जीव अविवेकके कारण देहगत कर्मजनित उच्च-नीच अवस्थाओंको अपनी ही मानकर अभिमान करता है—विविध मनोरथ करता है, कर्मके वशीभूत होकर मनमें विषयोंका ध्यान करता है, अविद्याके कारण गुण-सङ्ग करता है और इस प्रकार अन्य देहकी अवस्थाको ग्रहण करता है। कदाचित् किसी मनुष्यको परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो जाय तो विवेक बलसे वह इस अभिमानका त्याग कर देता है। (विवेकका अर्थ है यह जीव अवस्थावाले शरीरका द्रष्टा है, स्वयं अवस्थावाला नहीं।)॥ ४८॥

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भावप्ययौ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः॥ ४९॥

और्ध्वदैहिक कार्यकालमें (दाहादि कार्योंमें) अपने पिताकी देहका विनाश देखकर एवं पुत्रदेहके जातकर्ममें निषेक, जन्मादि देखकर अपनी देहके भी जन्म-मृत्युका अनुमान कर लेना चाहिये। जो देहकी उत्पत्ति-विनाशका साक्षी है, वह देहसे भिन्न है, वह जन्म-मृत्यु दोनों धर्मोंसे रहित है। कालाधीनता अथवा नश्वरता आत्माका धर्म नहीं है। द्रष्टाके अधिकार भेदसे भोगमयी अवस्थाएँ हैं। स्वरूप-ज्ञाता देहीकी ऐसी सम्भावनाएँ नहीं हैं॥ ४९॥

तरोर्बीजविपाकाभ्यां ये विद्वान् जन्मसंयमौ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक्॥ ५०॥

जो बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति एवं पकने पर उसका विपाक अर्थात् अन्तिम परिणाम देखता है, वह दृष्टा पुरुष वृक्षसे भिन्न वस्तु है, उसी प्रकार शरीरके जन्म एवं मृत्युको देखनेवाला पुरुष भी शरीरसे पृथक् है—यह जानो। साक्षी रूपमें दृश्य-पदार्थके साथ पार्थक्य-दर्शन होना मुक्त पुरुषकी उपलब्धिका विषय है। यदि मुक्त भी बद्ध जीवके समान दर्शन करते हैं, तो अपने स्वरूपकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ होंगे॥ ५०॥

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसारं प्रतिपद्यते॥ ५१॥

अपने स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष आत्माको प्रकृति और शरीरसे पृथक् न जानकर विषयोंमें आसक्त हो जाता है और देहमें ही आत्माके अभिमानके कारण पुनः-पुनः संसार दशाको प्राप्त होता है॥ ५१॥

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्।
तमसा भूततिर्य्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्म्मभिः॥ ५२॥

गुण-प्रवाह क्रमसे आत्मा अपने स्वरूपको विस्मृत कर लेता है एवं भोक्ता एवं कर्त्ताके अभिमानसे संसार-मार्गमें कर्म-चालित होकर सत्त्वगुणके आधिक्यसे ऋषित्व एवं देवत्व, रजोगुणके आधिक्यसे असुरत्व एवं मनुष्यत्वको प्राप्त करता है तथा तमोगुणके आधिक्यसे भूत-प्रेत, पशु-पक्षी इत्यादि अवर योनियोंमें भ्रमण करता है॥ ५२॥

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्य्यते॥ ५३॥

नर्त्तक एवं गायकको देखकर दर्शक जिस प्रकार उसका यथायथ अनुकरण करता है, मन-ही-मनमें स्वर, ताल, गति, शृङ्गार आदि रसोंका अनुवर्त्तन करता है, उसी प्रकार साक्षी पुरुष (आत्मा) स्वयं निष्क्रिय (निरपेक्ष) होकर भी बुद्धिके सापेक्ष गुणोंका अनुकरण करते हुए विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है॥ ५३॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥ ५४॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः॥ ५५॥

हे दाशार्ह! जलाशयमें प्रतिबिम्बित तरुओंकी भी चञ्चलता दिखाई देती है अर्थात् नौकामें आरूढ़ लोगोंको किनारे पर स्थित

वृक्ष चलते हुए दिखाई देते हैं, चक्षुके घूर्णत्वके (चारों ओर घूमनेके) कारण पृथ्वीका भी घूर्णन दिखाई देता है, उसी प्रकार स्वरूप-बुद्धिके (कृष्ण सेवोन्मुखताके) विपर्ययमें जड़ जगत्का भोक्ताभिमान होता है। मनोरथ-बुद्धि तथा स्वप्न-बुद्धि जैसे मिथ्या हैं, उसी प्रकारसे जीवका संसार, संसार-बन्धन, विषयका अनुभव एवं विषय-भोग सभी मिथ्या हैं॥ ५४-५५॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ५६॥

स्वप्नमें जिस प्रकार सर्प-दंशनादि मिथ्या विषयोंका उद्‌भव होता है, उसी प्रकार वस्तुतः विषयोंकी सत्ता न रहनेपर भी विषय-चिन्तनके कारण मनुष्योंकी मिथ्या संसार-प्रवृत्ति होती है। दृष्टाकी स्वप्नकालीन अनुभूति निद्राके भङ्ग हानेपर जिस प्रकार फलहीन होती है, उसी प्रकार निर्मल जीवात्माका जड़-भोग-भ्रम अथवा तात्कालिकी प्रतीति नित्य नहीं है। यह जानकर भी दुर्भागा जीव अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवामें पूर्णमात्रामें नियुक्त नहीं होता॥ ५६॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥ ५७॥

अतः हे उद्धव! असत् इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन मत करो और आत्मविषयक अज्ञानके कारण उससे जो विकल्प अर्थात् देहाध्यासजनित भ्रमका उदय हो रहा है, उस पर विचार करो। (बुद्धिमान् मनुष्यके लिये कृष्णेत्तर-अकिञ्चित्कर विषयोंका विचार करते हुए सतर्क रहना ही कर्त्तव्य है)॥ ५७॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥ ५८॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥ ५९॥

(विषय-भोगोंसे रहित होकर किस प्रकार रहना है—यह बतलाते हैं) दुर्जन व्यक्ति आक्षेप करे, अपमान करे, उपेक्षा करे, उपहास करे, ईर्ष्या करे, डाँटे-फटकारे-मारे, बाँध ले, जीविकासे वञ्चित कर दे, थूक दे, मूत्र द्वारा गीला कर दे इत्यादि रूपोंमें परमेश्वर-निष्ठासे विचलित करे, परन्तु अपना कल्याण चाहनेवाला मनुष्य नाना कष्टोंसे घिरकर भी अपनी बुद्धि द्वारा अपनी रक्षा करे। यदि वह प्रतिशोधकी आङ्काक्षामें व्यस्त रहता है तो श्रेयः प्राप्तिमें विलम्ब होता है। सहिष्णु एवं जड़-अहङ्कार रहित होना ही एकमात्र कल्याणका पथ है॥ ५८-५९॥

श्रीउद्धव उवाच—

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर॥ ६०॥

उद्धवजीने कहा—हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ प्रभो! जिस प्रकार मैं आपके इन उपदेशोंको विशेषरूपसे समझकर उन्हें धारण कर सकूँ, उस प्रकार उपदेश कीजिये। तिरस्कारोंको सहन करके कैसे विवेक प्राप्त होगा—यह प्रकार बतलाइये॥ ६०॥

सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्।
विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।
ऋते त्वद्धर्म्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान्॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

हे विश्वरूपिन्! जीवोंके स्वभावका पार पाना बहुत ही कठिन है—इसलिये आपके चरणाश्रित शान्त भक्तोंके अतिरिक्त पण्डितोंके लिये भी दुर्जनों द्वारा अनुष्ठित पूर्वोक्त अपराधोंको (तिरस्कारादिको) सहना अतीव कठिन एवं असाध्य है—मैं तो ऐसा मानता हूँ॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बाईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तितिक्षु त्रिदण्डि-भिक्षुका इतिहास

श्रीबादरायणिरुवाच—

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमावभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—भक्तप्रवर उद्धवके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर पुण्यश्लोक यादवोत्तम श्रीकृष्णने अपने भक्तके वचनोंका अभिनन्दन करते हुए उनसे कहा—॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

बार्हस्पत्य स नास्त्यत्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे बृहस्पति-शिष्य उद्धव! (यह पारमार्थिक पथ तुम्हारे गुरुके लिये भी अगम्य है) इस लोकमें ऐसे साधु पुरुष दुर्लभ हैं, जो दुर्जनोंके द्वारा कहे गये दुर्वचनोंसे क्षुब्ध चित्तको शान्त करनेमें समर्थ हों। सरल-चित्त एवं शान्तिप्रिय भक्त असाधुओंके ताण्डव-नृत्यको देखकर हृदयमें बड़ी व्यथा पाते हैं। (दुर्जन कपट एवं छलसे जिन वचनोंका प्रयोग करते हैं, वे वस्तुतः मानव-जातिकी उन्नति-पथके बाधक हैं।)॥ २॥

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैस्तु मर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥ ३॥

दुर्जनोंके कर्कश एवं मर्मान्तक वाक्-बाण मनुष्योंको जितना व्यथित करते हैं, जितनी पीड़ा पहुँचाते हैं, मर्मभेदी बाणोंसे विद्ध होनेपर मनुष्य उतने सन्तप्त नहीं होते॥ ३॥

कथयन्ति महत् पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः॥ ४॥

हे उद्धव! इस विषयमें पौराणिकगण जिस महापुण्यशाली इतिहासका (गाथाका) वर्णन करते हैं, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम चित्तको स्थिर करके सावधानीपूर्वक सुनो॥ ४॥

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्॥ ५॥

एक भिक्षुक था, जो दुर्जनों द्वारा नाना प्रकारसे तिरस्कृत होता था। इसे वह अपने पूर्व कर्मका ही फल मानता था। इस सम्बन्धमें धैर्यके साथ उसने जो गान किया था, मैं उसीका वर्णन कर रहा हूँ। (कर्मफल भोगनेपर यदि कोई असहिष्णु हो जाता है, तो उसे पुनः दुर्जनके पथपर ही चलना पड़ता है। वृक्षके समान सहनशील होनेके लिये श्रीमन् महाप्रभुने उपदेश दिया है। इनके साथ शत्रुताका भाव न रखा जाय, तो ये दुर्जन स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। 'कृते प्रतिक्रियां कुर्यात् हिंसिते प्रतिहिंसितम्' अर्थात् 'जैसेको तैसा' नीतिका त्याग करना चाहिए।)॥ ५॥

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्त्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६॥

प्राचीन कालमें मालवदेशके अवन्ती नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त समृद्धिशाली था। खेती, वाणिज्य आदि कार्योंमें लगा रहता था। वह कामी, लोभी, अत्यन्त क्रोधी एवं कदर्य (अपनी पत्नी, पुत्रादि, अतिथि एवं भृत्यादिको उत्पीड़ित करनेवाला) था॥ ६॥

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७॥

उसने कभी भी मधुर वार्त्ता द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों अथवा अतिथियोंका अभिनन्दन-अर्चन नहीं किया। यह तो दूर रहे,

धर्म-कर्मसे रहित रहते हुए उसने अपने घरमें अपने शरीरको एक भी दिन यथासमय भोगों द्वारा तृप्त नहीं किया॥ ७॥

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम्॥ ८॥

उसके दुर्व्यवहारके कारण उसके पुत्र एवं बन्धुगण उससे सर्वदा विद्वेषका भाव रखते थे; स्त्री सदैव विषादग्रस्त रहती थी, पुत्रियाँ एवं नौकर आदि कभी भी उसको प्रिय लगनेवाला आचरण नहीं करते थे॥ ८॥

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९॥

यक्षके समान वह अपने धनकी रक्षामें लगा रहता था। न ही उसने कोई धर्म किया और न ही कोई भोग भोगा। लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो गया। पञ्चयज्ञ भागी देवता (देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य एवं अन्य प्राणी) अपने-अपने अंशसे वञ्चित होनेके कारण उससे क्रोधित हो गये। (देवयज्ञ—देवपूजादि, ऋषियज्ञ—ऋषिसेवा, पितृयज्ञ— पितृ-श्राद्धादि, मानुषयज्ञ—अतिथिसेवा एवं भूतयज्ञ—साधारण प्राणियोंकी परितृप्तिके लिये अन्नादि दान)॥ ९॥

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १०॥

हे प्रभूतदानशील उद्धव! इस प्रकार पञ्चयज्ञभागी देवताओंके अनादरके कारण उसके सारे पुण्य नष्ट हो गये। पूर्वकृत पुण्यके जिस अंशसे उसे धन प्राप्त होता था, वह धन भी समाप्त हो गया तथा कृषि आदि व्यापार करके बहुत प्रयासोंसे जो धन उसने प्राप्त किया था, वह भी उसकी आँखोंके सामने जाता रहा॥ १०॥

ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित् किञ्चिद्दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११॥

हे उद्धव! उस अधम ब्राह्मणके धनका कुछ अंश तो उसके सगे-सम्बन्धियोंने छीन लिया, कुछ चोर-डाकू चुरा ले गये, कुछ घरमें आग लगनेसे नष्ट हो गया, कुछ दैव-दुर्विपाकसे (भाग्यके विपरीत क्रमसे) फसलके रूपमें नष्ट हो गया, कुछ कालके प्रभावसे नष्ट हो गया, कुछ साधारण मनुष्य ले भागे और जो थोड़ा-बहुत बचा, उसे राजकर्मचारियोंने कर अथवा दण्डके रूपमें ले लिया। इस प्रकार वह ब्रह्म-बन्धु (तथाकथित ब्राह्मण) पूरी तरहसे निर्धन हो गया॥ ११॥

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम्॥ १२॥

उसका सम्पूर्ण धन नष्ट हो गया। इस ब्राह्मणने अपने जीवनमें न तो कोई धार्मिक अनुष्ठान किया, न ही किसी प्रकारका सांसारिक भोग भोगा। उसके अपने ही पुत्र-पत्नी आदि स्वजन उसकी उपेक्षा करते थे। इस अवस्थामें वह अत्यधिक चिन्ताग्रस्त हो गया॥ १२॥

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥ १३॥

सम्पत्तिके नष्ट हो जानेके बाद ब्राह्मण सन्तप्त रहने लगा, दीर्घकालतक अपनी नष्ट सम्पत्तिके विषयमें सोचते रहनेसे उसका मन खिन्न हो गया, आँसुओंसे कण्ठ अवरुद्ध हो गया। अब इस ब्राह्मणके चित्तमें उत्कट वैराग्यका उदय हुआ। (इस कदर्य ब्राह्मणके अपराधमूलक भोगाचरणकी समाप्ति होनेपर किसी प्राचीन संस्कारविशेष द्वारा उसमें वैराग्य-बुद्धिका उदय हो गया)॥ १३॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥ १४॥

वैराग्यसे अभिभूत होकर वह इस प्रकार कहने लगा—अहो! मैंने इतने परिश्रमके द्वारा जो सब धन-सम्पत्ति उपार्जित की थी,

वह न तो किञ्चित् मात्र धर्म-कर्ममें ही लगी और न ही मैं उसका कोई उपभोग कर सका। मैंने अपने शरीरको व्यर्थ ही कष्ट दिया। हाय! यह तो अत्यन्त कष्टकर है॥ १४॥

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥ १५॥

जो अपने पुत्र-पत्नी आदिको दुःखी करता है, उस कृपणका वह धन उसे कभी सुख प्रदान नहीं कर सकता। इस लोकमें तो वह धन आत्म-कष्टप्रद होता ही है, व्ययके भयसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे परलोकमें भी नरकका कारण होता है॥ १५॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ १६॥

जरा-सा श्वेत कुष्ठरोग जैसे सर्वाङ्गसुन्दर मनुष्योंके मनोरम सौन्दर्यको क्षति पहुँचाता है, वैसे ही तनिक-सा लोभ भी यशस्वियोंके निर्मल यश एवं गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर डालता है॥ १६॥

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ताभ्रमो नृणाम्॥ १७॥

अर्थके उपार्जन एवं वर्द्धनमें महाप्रयास, व्यय करनेमें त्रास, रक्षण एवं उपभोगमें दुश्चिन्ता एवं विनाशकी आशङ्का सदैव उपस्थित रहते हैं। अतः मनुष्योंको परिश्रम, भय, दुश्चिन्ता एवं आशङ्काओंसे सदैव ग्रस्त रहना पड़ता है॥ १७॥

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥ १८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ १९॥

चोरी, हिंसा, मिथ्यावचन, दम्भ, काम, क्रोध, चिन्ता, गर्व, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता (स्त्री विषयक व्यसन),

जूआ एवं शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही उपस्थित होते हैं। अतएव कल्याणकामी पुरुषको अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए। इन्द्रिय-तर्पणके प्रतीक स्वरूप विनिमयकी उपयोगी स्वर्ण, रजत आदि मुद्राओंको भी 'अर्थ' कहा जाता है॥ १८-१९॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥ २०॥

भाई, पत्नी, पिता, मित्र, बान्धव आदि जो अतिप्रिय थे, एक प्राणसे बँधे थे, बीस कौड़ियों (अति अल्प धन) के लिये वे शीघ्र ही शत्रुता ठान लेते हैं और एक-दूसरेके वैरी बन जाते हैं॥ २०॥

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥ २१॥

ऐसे अर्थ-लोलुप मनुष्य किञ्चित् धनके लिये क्षुभित एवं क्रोधित होकर सम्बन्ध एवं सौहार्दका सहसा ही परित्याग कर देते हैं। इनका चित्त स्पर्द्धाके वशीभूत होकर पिता, भाई आदिका वध करनेके लिये तत्पर हो जाता है॥ २१॥

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ २२॥

जो लोग देवताओंके भी प्रार्थनीय दुर्लभ मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण शरीरको प्राप्तकर उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ—परमार्थका नाश करते हैं, वे नारकी गतिको प्राप्त होते हैं। देवजन्ममें सुखभोगातिशयता एवं मानवेतर जन्मोंमें दुःखातिशयताके कारण सर्वक्षण आत्म-हित-चिन्तनका अभाव रहता है—इसलिये मानव-जन्म देवताओंका भी वाञ्छित होता है॥ २२॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २३॥

अतः मरणधर्मशील ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो स्वर्ग एवं अपवर्गके द्वारस्वरूप इस दुर्लभ मनुष्य देहको प्राप्तकर अनर्थोंके (माया-मरीचिकाके) एकमात्र हेतुभूत धनमें आसक्त रहेगा? ॥ २३ ॥

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥ २४॥

देव, ऋषि, पितर, प्राणी, भाई, बन्धु, कुटुम्बी—ये सभी धनके अंशीदार (भागीदार) हैं। जो इन्हें उनका अंश न ही देता है और न ही स्वयं उसका उपभोग करता है, यक्षतुल्य ऐसा धनसञ्चयी एवं धनरक्षक अवश्य ही अधःपतित होता है॥ २४॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किंनु साधये॥ २५॥

मैं इतने दिनों तक व्यर्थ ही अर्थ-संग्रहकी चेष्टामें प्रमत्त रहा, विवेकीगण इस अर्थको भगवत्-आराधनामें नियुक्त करके परमार्थ-सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, अब तो मेरा धन-सम्पत्ति, यौवन, बल सब कुछ नष्ट हो गया है। अब इस वृद्धावस्थामें कौन-सा श्रेयस्कर साधन करूँगा? ॥ २५ ॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥ २६॥

इस लोकमें अर्थको अनर्थका विषय जानकर भी बड़े-बड़े विद्वान वृथा ही उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयास करते हैं, इसलिये उत्पीड़ित रहते हैं। निश्चय ही इस विषयमें लोग किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं॥ २६॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥ २७॥

वस्तुतः जो मनुष्य निश्चितरूपसे मृत्युसे ग्रसित होनेवाला है, उसके लिये धन, धनप्रद वस्तु एवं देवता, काम, कामप्रद वस्तु

एवं भोगवासनाओंकी पूर्त्ति करनेवाले लोग और जन्मप्रद कर्मोंसे प्रयोजन ही क्या है? अथवा कर्मफलप्रद कर्त्तृत्वाभिमानका जीवके लिये प्रयोजन ही क्या है?॥ २७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥ २८॥

जिनके अनुग्रहसे मेरी यह धनहीन अवस्था उपस्थित हुई है तथा संसार-सिन्धुमें निमज्जित आत्माके उद्धारके उपाय-स्वरूप (नौका-स्वरूप) जो वैराग्य मुझमें उदित हुआ है, वे सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि निश्चित ही मुझसे प्रसन्न हैं। वैराग्य ही संसार सागर पार करनेके लिये सुदृढ़ नौका है॥ २८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥ २९॥

अतएव इसके बाद यदि मेरे जीवनका कुछ समय भी शेष रहता है, तो मैं सभी धर्मादि-साधन-विषयमें सावधान रहूँगा तथा अपने आपमें सन्तुष्ट रहकर तपस्याके द्वारा शरीरको सुखा डालूँगा अथवा ज्ञानाभ्यास द्वारा इसे लय कर दूँगा। आयु पर्यन्त समस्त स्वार्थके सारभूत भगवत्-चरण-चिन्तनमें सावधानीपूर्वक लगा रहा, तो मेरी सिद्धि हो जाएगी॥ २९॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्त्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत्॥ ३०॥

त्रिलोकाधिपति देवतागण (इन्द्रादि देवता) इस विषयमें मेरा अनुमोदन करें (जिससे इस वृद्धावस्थामें कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय)। खट्वाङ्ग राजाने मुहूर्त्तकाल (दो घड़ी) (चतुर्वर्गकी अभिलाषाका त्याग करके) साधनके द्वारा वैकुण्ठलोक प्राप्त कर लिया था; अतः मेरे लिये भी स्वल्पकालमें सिद्धि प्राप्त होना असम्भव नहीं है। (आवन्तिक ब्राह्मणने त्रिलोकस्थ देवताओंसे कृष्ण-भक्ति-वरदानकी प्रार्थना की है। भक्ति-परामर्शदाताओंकी कृपाके बिना साधककी भुक्ति-मुक्तिसे वितृष्णा नहीं होती।)॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा, अवन्ती देशका वह श्रेष्ठ ब्राह्मण मन-ही-मन सङ्कल्प करके एवं हृदयके समस्त अहङ्कार (भोग-मोक्ष-वासनाकी जटिल ग्रन्थि) तथा ममताके बन्धनका उन्मोचन करके शान्त, मौनी और संन्यासी हो गया। वह परम भाग्यवान् भगवद् भक्तके समान त्रिदण्डिभिक्षु हो गया॥ ३१॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥ ३२॥

उसने चित्त, इन्द्रिय एवं प्राणवायुका संयम कर लिया। (बुभुक्षु एवं मुमुक्षु—दोनों ही प्रकारके सङ्गका परित्याग करके) वह सब प्रकारसे निःसङ्ग होकर भूतलपर पर्यटन करता हुआ तथा अपने स्वरूपको दूसरोंसे अलक्षित रखता हुआ अनासक्त चित्तसे (अमानित्व धर्ममें प्रतिष्ठित होकर) भिक्षाके लिये नगर-नगर और गाँव-गाँवमें घूमने लगा॥ ३२॥

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥ ३३॥

हे भद्र! नगर एवं गाँवमें आये उस वृद्ध मलिन भिक्षुको देखकर दुर्जन विविध प्रकारके तिरस्कारों द्वारा उसका अपमान करने लगे॥ ३३॥

केचित् त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठञ्चैकेऽक्षसूत्रञ्च कन्थां चीराणि केचन।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः॥ ३४॥

कोई उस मुनिके (मौनरतके) त्रिदण्डको छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्रको, कोई उसके कमण्डलुको तो कोई उसके आसनको ले भागता, कोई उसके अक्ष-सूत्रको (जप-मालाको) तो कोई कन्था

(गूदड़ी) और वस्त्र-खण्डोंको (लँगोटी आदिको) झटक लेता। कभी वे इन वस्तुओंको उसे देनेके लिये उसके सामने दिखाते और फिर उन्हें ले भागते। एक देता, दूसरा छीन लेता॥ ३४॥

अन्नञ्च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे।
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्द्धनि॥ ३५॥

जब वह नदीके किनारे बैठकर भिक्षा प्राप्त अन्नको भोजन करने लगता, तब पापी लोग उसके अन्न पर मूत्र त्याग कर देते और उसके मस्तक पर थूक देते॥ ३५॥

यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्।
तर्ज्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमितिवादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति॥ ३६॥

कोई उसी मौनव्रती संन्यासीको वाक्योच्चारणमें प्रवर्तित करनेकी चेष्टा करता (अर्थात् उससे कुछ कहलवानेकी चेष्टा करता), जब वह नहीं बोलता, तो दण्डादिके द्वारा उसे मारने लगता। दूसरा कोई 'यह व्यक्ति चोर है'—इस प्रकार कहकर उसकी भर्त्सना करता और कोई 'इसे बाँध लो' कहकर रस्सीसे बाँध देता॥ ३६॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ ३७॥

यह धूर्त्त है, कपटी धार्मिक (ढोंगी) है, अपनी धन-सम्पत्ति खो बैठा है, अतः बन्धु बान्धवोंने इसे घरसे निकाल दिया है, अब जीवन-निर्वाहके लिये त्रिदण्ड लेकर भिक्षु-वेश धारण कर लिया है—इस प्रकार कहकर उसकी अवज्ञा और निन्दा किया करते॥ ३७॥

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः॥ ३८॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम्॥ ३९॥

अहो! इस महाबलीने हिमालय पर्वतके समान धैर्य धारण कर लिया है और बगुलेके समान दृढ़निश्चयी होकर चुपचाप अपने स्वार्थके साधनेमें लगा हुआ है—यह कहकर कोई उसका परिहास करता, कोई उसके ऊपर अधोवायु छोड़ देता और कोई शुक-सारिका आदि पालतू पक्षियोंके समान उसे जंजीरोंसे बाँध देता तो कोई उस ब्राह्मणको घरमें कारागृहके समान बन्दी कर लेता। (जड़ाभिमान परित्यागके परिणामस्वरूप सहिष्णुता गुण स्वतः ही आ जाता है।)॥ ३८-३९॥

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकञ्च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत॥ ४०॥

इस प्रकार उसे पुनः-पुनः आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःख प्राप्त होते—परन्तु वह यही निर्णय करता कि यह सब दैव (विधाता) द्वारा प्रदत्त है, इसे मुझे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। (अतः वह दुर्जनों द्वारा दी गयी यन्त्रणाओंको, दैहिक जरादिको तथा दैविक शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको सह लेता। श्रीनित्यानन्दके चरणाश्रयसे तीनों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो जाती है। अनर्थनिवृत्त जीव विष्णुभक्तिहीन पाखण्डियोंके दुष्कार्योंसे विचलित नहीं होते, बल्कि उनसे पराङ्मुख रहते हैं)॥ ४०॥

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम्॥ ४१॥

अधम मनुष्य उसे स्वधर्मसे स्खलित करनेके लिये अनेक प्रकारके तिरस्कार करते, पर वह सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर अपने धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहता। (भिक्षु त्रिदण्ड ग्रहणके समयसे ही भिक्षु-गीतकी दुहाई देते हैं और सब प्रकारसे उपदेशामृतके विचारोंका आचरण करते हैं) अपने मन, प्राण, इन्द्रिय एवं क्रियाओंको धैर्यपूर्वक नियन्त्रण करके उस भिक्षुने जो उद्गार व्यक्त किये, उसे भिक्षुगीत कहा जाता है॥ ४१॥

द्विज उवाच—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्त्तयेद् यत्॥ ४२॥

ब्राह्मणने कहा—मनुष्य, देवता, आत्मा, फलदाता ग्रह, स्वकृतकर्म अथवा विधाता काल, ये मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं—श्रुतिगण एवं तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि जिसके द्वारा यह संसार-चक्र परिभ्रमित हो रहा है—वह मन ही सुख-दुःखका एकमात्र कारण है। मनके द्वारा ही जीव देखता-सुनता है। भोगबुद्धिरूप यह मन ही समस्त अमङ्गलका आकर है। तत्त्वज्ञगण इसी प्रकारसे बतलाते हैं॥ ४२॥

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४३॥

महा बलवान् मन ही जीवोंके चित्तमें गुणोंकी सृष्टि करता है और उन्हीं गुणोंसे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक नाना प्रकारके विचित्र कर्मसमूह उत्पन्न होते हैं। इन कर्मोंके अनुरूप ही देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि विविध गतियाँ होती हैं। मनोधर्मी व्यक्ति आत्माकी अप्राकृत अनुभूतिको विस्मृत कर बैठता है॥ ४३॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥ ४४॥

जीवोंके नियन्ता, सखा (जीवात्माका सनातन सखा), ज्ञानशक्ति सम्पन्न परमात्मा क्रियाशील मनके साथ उपस्थित रहनेपर भी स्वयं निष्क्रियरूपसे मात्र साक्षीरूपसे समस्तका दर्शन करते हैं। जिसकी

अभिव्यक्ति संसार-द्योतक मनके द्वारा होती है, उसी मनको जीवात्मा आत्मरूपमें अर्थात् 'मैं' रूपमें ग्रहणकर उसके कर्मसङ्गके कारण उस मनकी क्रियाओंका भोक्ता बन जाता है तथा विषयोंका भोग करते-करते संसारमें बँध जाता है। मनके अध्यास (भ्रम) के कारण ही जीवका संसार है। [बद्ध जीव चतुर्वर्ग-प्राप्तिको जो प्रयोजन मानता है, वह भ्रान्तिमूलक है। भक्तिके प्रभावसे इस भ्रान्तिका संशोधन हो जाता है। ज्ञातव्य है कि साधनकी सिद्धिमें सूक्ष्म देह-भङ्गकी (मनरूपी लिङ्ग-शरीरके भङ्गकी) व्यवस्था है—वही वस्तुसिद्धिका प्राक्-भाव है]॥ ४४॥

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतञ्च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥ ४५॥

दान, नित्य-नैमित्तिक स्वधर्म, यम, नियम, शास्त्र-श्रवण (स्वाध्याय), एकादशी आदि सद्व्रत एवं सत्कर्म—ये सभी मनोनिग्रहरूप फल-प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठित होते हैं। मनका निग्रह अथवा समाधि (एकाग्र होकर मनका सम्पूर्णरूपेण भगवान्में लग जाना) ही परम योगरूपमें अथवा परम ज्ञानरूपमें कथित है। (भगवद्-भक्ति योगके प्रभावसे मनकी समाधि होती है। अभक्तिपूर्वक किये गये कर्मयोग, हठयोग, ज्ञानयोग एवं राजयोग इत्यादिसे मनकी समाधिकी उपलब्धि नहीं हो सकती)॥ ४५॥

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्य-
द्दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥ ४६॥

जिसका मन संयमित, प्रशान्त और समाहित है, उसे दानादि सभी साधनोंका फल प्राप्त हो चुका है, उसका ऐसे अनुष्ठानोंसे

कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु जिसका मन आलस्यादिमें लीन, असंयमित एवं विक्षिप्त है, उसका इन दानादि अनुष्ठानोंसे क्या इष्ट-साधन होगा? वस्तुतः मनका निग्रह प्रधान है॥ ४६॥

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥ ४७॥

इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता मनके वशीभूत हैं, परन्तु मन किसीके भी वशीभूत नहीं होता। यह मन (मनरूपी देवता) बलवान्से भी महाबलशाली, योगियोंसे भी भयङ्कर एवं साहसियोंसे भी अधिक साहसी है। जो ऐसे मनको वशीभूत कर लेता है, वह सर्वेन्द्रिय-विजयी होता है। मनके वशीभूत होनेपर समस्त इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं, अन्यथा इनकी वृत्तियाँ मनकी परिचालिका बन जाती हैं॥ ४७॥

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगम्
अरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥ ४८॥

अतएव वे लोग अत्यन्त मूर्ख हैं, जो असहनीय रागादि वेगोंसे युक्त, मर्म-पीड़क (हृदय आदि अन्तःकरणको व्यथित करनेवाला) मनरूप दुर्जय शत्रुको पराजित न कर उसके लिये व्यर्थ ही किसी मनुष्यके साथ अनुचित अथवा प्रतिकूल आचरण (कलह) करते हैं। इस कलहके कारण वे किसीको मित्र, किसीको शत्रु और किसीको उदासीन समझते हैं। (सङ्कल्प-विकल्प, राग-द्वेष एवं प्रणय-विरोध आदि सभी मनके धर्म हैं। इनसे इन्द्रियोंमें प्रबल वेग उपस्थित होता है, जिससे मनुष्य मिथ्या अहङ्कारमें लीन हो जाता है और इस जगत्में नाना भौतिक देहोंको धारण करता है)॥ ४८॥

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥ ४९॥

मनुष्य मनः-कल्पित इस देहको आत्मरूपमें तथा पुत्रादिकी देहको आत्मीयरूपमें स्वीकार करते हैं और विवेक ज्ञानसे रहित होकर 'यह मैं हूँ', 'यह मुझसे अलग कोई और है' इत्यादि भ्रमवश अपार संसारमें भ्रमण (गमन-आगमन) करते रहते हैं॥ ४९॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत्।
जिह्वां क्वचित् सन्दशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥ ५०॥

यदि इस जगत्में मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी आत्मा सुख-दुःखका कर्त्ता अथवा कर्म नहीं है। आत्माका सुख-दुःखसे कोई सम्बन्ध नहीं है। विकारयुक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरमें ही कर्तृत्व अथवा कर्मत्व रहता है (सुख-दुःखके कर्त्ता एवं कर्म दोनों पार्थिव हैं—दोनों ही पृथ्वीके विकार मात्र हैं। अमूर्त्त एवं अविकृत आत्मा हननादि क्रियाओंका न तो कर्त्ता हो सकता है और न कर्म)। यदि मनुष्य कभी अपने ही दाँतसे अपनी जीभ काट ले, तो उससे जो वेदना होगी—उसके लिये क्या वह दूसरे पर कोप कर सकेगा? जिस दाँतने उसे दुःख दिया है, क्या वह उस दाँतको क्षति पहुँचाएगा? अतः किसीपर क्रोध करना उचित नहीं है॥ ५०॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे॥ ५१॥

यदि इन्द्रियाधिष्ठाता देवता सुख-दुःखके कारण होते हैं, तो भी आत्माका सुख-दुःख विषयमें कर्त्तृत्व अथवा कर्मत्व नहीं कहा जा सकता। विकारभूत इन्द्रियाधिष्ठाता देवता यदि कर्त्ता हैं, तो कर्म (भोक्ता) भी वही हैं (यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो दुःख सहनेवाले भी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता ही हैं), आत्माको दोष देना सङ्गत नहीं है। अतएव देहस्थ कोई अङ्ग किसी अन्य अङ्ग द्वारा आहत होता है, तो मनुष्य किसके प्रति क्रोध करेगा?॥५१॥

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
नह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम्॥५२॥

यदि आत्माको ही सुख-दुःखका हेतु मानकर कल्पना की जाय, तो इसे आत्माका स्वभाव मानकर किसी दूसरेके प्रति कोप नहीं करना चाहिए, क्योंकि किसी दूसरेका कोई अपराध नहीं है। अपना स्वभाव ही सुख-दुःखका कारण है। यदि अन्य किसी पदार्थकी प्रतीति (अनात्म प्रतीतिमें आत्म प्रतीति) होती है, तो मिथ्या होनेके कारण सुख-दुःख है ही नहीं; अतः किसीपर कोपका कोई कारण भी नहीं है। आत्मासे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। जड़ीय सुख-दुःख भोग आत्मधर्म नहीं है, इसलिये आत्मामें सुख-दुःखका अस्तित्व नहीं है॥५२॥

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥५३॥

सूर्य आदि ग्रहोंको यदि सुख-दुःखका कारण मानते हो, तो भी अजन्मा (जन्म-रहित) आत्माका सुख अथवा दुःख सम्भवपर नहीं है, क्योंकि ग्रह शरीरके ही सुख-दुःखके निमित्त होते हैं और दैवज्ञ गण भी आकाश-स्थित ग्रहों द्वारा शरीर-स्थित ग्रहोंको

ही पीड़ा देते हैं। (ज्योतिषियोंके अनुसार ग्रहोंका प्रभाव उन पर पड़ता है, जिनका जन्म हो चुका है। अतः जन्म-लग्नादिकी अपेक्षासे अष्टम, द्वादश आदि राशियोंपर बैठकर ग्रह ही दुःखके निमित्त होते हैं—आकाश स्थित ग्रहोंके द्वारा आकाश स्थित ग्रहोंकी अष्टमादि दृष्टि भेदसे शरीरमें पीड़ा होती है) अतएव शरीर एवं ग्रहसे भिन्न आत्मा किसलिये और किसपर क्रोध करे?॥५३॥

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै नहि कर्ममूलम्॥५४॥

कर्म यदि सुख-दुःखका कारण है, तो भी आत्माका कोई प्रयोजन ही नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जड़त्व एवं चेतनत्व—इन दोनों धर्मोंसे युक्त हो, उसके लिये ही कर्म सम्भव है, परन्तु शरीर केवल जड़त्व धर्मसे युक्त है और आत्मा केवल चैतन्य धर्मसे युक्त है। जड़ होनेके कारण विकारवान् होना युक्तियुक्त है तथा चेतन होनेके कारण हित-अहितके अनुसन्धानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जड़ शरीरमें चेतनत्व नहीं है, अतः उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। चेतन आत्मा शरीर एवं ग्रह दोनोंसे पृथक् ज्ञानस्वरूप है। अतः शरीर एवं आत्मा—दोनोंके लिये ही सुख-दुःखजनक कर्म सम्भव नहीं हैं—अतः किसके प्रति क्रोध किया जाय?॥५४॥

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनास्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥५५॥

यदि कालको सुख-दुःखका हेतु कहा जाय, तो भी आत्माका सुख-दुःख सम्भव नहीं है। यह जीवात्मा चेतनात्मक ब्रह्मका अंशभूत है और कालका ब्रह्मसे ऐक्य है। अतः आत्मा कालरूपी ब्रह्मका अंश होनेके कारण किसी प्रकारका दुःखादि प्राप्त कर नहीं सकता।

अंशको अंशीसे उसी प्रकार दुःख नहीं हो सकता, जिस प्रकार अग्नि अपने अंश शिखा इत्यादिको तप्त अथवा दग्ध नहीं कर सकता और हिम अपने अंश तुषारकण आदिको (हिमकणोंको) विनष्ट नहीं कर सकता। अग्नि अपने उत्तापके कारण और शीतल वस्तु अपने शैत्यके कारण कष्टका अनुभव नहीं करती, इसी प्रकार आत्मा कालका अंश होनेके कारण किसी प्रकारके दुःखादिको प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः आत्माका सुख-दुःख न रहनेके कारण किसी पर कोप क्यों किया जाय? बद्ध बुद्धिमें जो तात्कालिकता है, उसी कारण किसी समय सुख, किसी समय दुःख इत्यादि अज्ञानके कारण उपलब्ध होते हैं, जिनका जीवात्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है॥ ५५॥

न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥ ५६॥

अविद्यमान (मिथ्या) संसारके प्रकाशक अहङ्कारका जिस प्रकार सुख-दुःखादिसे सम्बन्ध होता है, प्रकृतिसे अतीत आत्म-वस्तुका कहीं भी किसीके साथ किसी भी प्रकारके सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। प्रबुद्ध मनुष्य यदि यह जान ले (कि अहङ्कार निमित्त मात्र है, वास्तविक नहीं), तो वह किसी भी भौतिक प्राणी अथवा निमित्तसे भयभीत नहीं होता॥ ५६॥

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥ ५७॥

इसलिये प्राचीन ऋषि-मुनियोंने जिस परमात्मनिष्ठाका आश्रय लेकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा दुरन्तपार (अनन्त, अपार) तमःस्वरूप संसारको पार कर लिया था, उसी प्रकार

कृष्णपादपद्मकी सेवा करके मैं भी अज्ञान-अन्धकाररूप इस संसार-सागरको अवश्य ही पार कर जाऊँगा॥ ५७॥

श्रीभगवानुवाच—

निर्विद्य नष्टद्रविणे गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्॥ ५८॥

भगवान्‌ने कहा—धन क्या विनष्ट हुआ, वह ब्राह्मण ही विरक्त हो गया और उसने संन्यास ग्रहण कर लिया। वह अवसाद एवं क्लान्तिरहित होकर पृथ्वीपर बड़े उत्साहके साथ विचरण करने लगा। दुर्जनोंने पूर्वोक्तक्रमसे उसका बहुत तिरस्कार किया, परन्तु वह स्वधर्मसे विचलित नहीं हुआ। वह यही गीत गाता रहता था। जब तक त्रिदण्डिभिक्षुकी गाथाके श्रवणकी योग्यता नहीं आती, तब तक संसार-दास्य प्रबल ही रहता है॥ ५८॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥ ५९॥

मनुष्योंके लिये सुख-दुःखप्रद दूसरा कोई भी नहीं है। मित्र, उदासीन, शत्रु अथवा संसार—यह सब केवल चित्तका भ्रम है, अज्ञान-कल्पित है, वस्तुतः सत्य नहीं है॥ ५९॥

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥ ६०॥

हे उद्धव! अतएव मेरे प्रति अपनी बुद्धिको समाहित करके मुझसे युक्त हो जाओ। इसको ही योगके साररूपमें समझो। एकमात्र भक्तियोग ही मनका निग्रह करनेमें समर्थ है। कर्मयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, राजयोग इत्यादि मनचाञ्चल्यकारी धर्म-प्रणालियोंमें जीव आबद्ध होकर अभक्त हो जाता है और वैकुण्ठ-कृपासे वञ्चित हो जाता है। शुद्ध भक्ति ही समस्त धर्मोंका सार है॥ ६०॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयन् श्रावयन् श्रृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे भिक्षुगीत नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

जो समाहित चित्तमें भिक्षु (वैष्णव-संन्यासी) द्वारा गाये हुए इस ब्रह्मज्ञानतत्त्वको स्वयं धारण करता है तथा दूसरोंके निकट इसका कीर्त्तन करता है अथवा स्वयं इसका श्रवण करता है, वह सुख-दुःखादिसे कभी भी अभिभूत नहीं होता। [अखिल दया सम्पन्न होकर अमन्दोदय-दयाके वितरण द्वारा जीवको अनुसरण-पथपर (कृष्ण-सेवा-मार्गपर) चलनेका परामर्श इस गीत द्वारा दिया गया है। चतुर्वर्गाभिलाषीको गुरुके रूपमें वरण करके मनुष्य व्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूपबोध एवं प्रेमसे चिर-वञ्चित हो जाता है। भिक्षु गीतसे सम्पूर्ण मोह दूर हो जाता है और भगवान् अपने भक्तोंके हृदयमें परमानन्दरूपमें प्रकाशित होने लगते हैं।]॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोगका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम्॥ १॥

मनः-प्रधान सूक्ष्मदेहमें अहं बुद्धि अथवा आत्मामें देहबुद्धिका आरोप होना ही जीवात्माके दुःखका कारण है, यह भिक्षुगीतमें बताया गया था। आत्मा एवं अनात्मका पार्थक्य-ज्ञान सांख्य-ज्ञान-मूलक है—इसीका उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धव! मनुष्य जिस तत्त्वसे अवगत होकर उसी समय भेदबुद्धि-मूलक सुख-दुःखादि भ्रमका परित्याग कर देता है एवं भ्रमसे मुक्त हो जाता है, उस कपिलादि महाजनों द्वारा निर्दिष्ट सांख्य-ज्ञानका (सत्ययुगके प्रारम्भसे पूर्व महाप्रलयके समय महर्षि कपिलने सांख्य शास्त्रका प्रणयन किया था) मैं अब तुम्हारे लिये वर्णन करूँगा॥ १॥

आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥ २॥

युगोंसे पूर्व अर्थात् जब युग प्रवर्त्तित नहीं हुआ था—उस प्रलयकालमें एवं आदि सत्ययुगमें (सत्यके आविर्भाव युगको 'सत्य युग' कहा जाता है) जब सर्वप्रथम युग प्रवर्त्तित हुआ था, तब जो भी मनुष्य विद्यमान थे, वे सभी भेद-बुद्धिसे रहित विवेक-निपुण थे। उस समय समग्र ज्ञान (ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् शब्दों द्वारा कथित अद्वय ज्ञान अर्थात् द्रष्टा) से किसी भी भेदसे रहित एक निर्विकल्प (अपृथक्) रूपमें ही अवस्थित था अर्थात् संहारके समय द्रष्टाका ही एकमात्र अस्तित्व था, जो दृश्य पदार्थसे (जीव, जगत्से) अभिन्न है॥ २॥

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्‌मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्‌बृहत्॥ ३॥

अनन्तर वाणी एवं मनके लिये अगोचर (दुर्गम), निर्विकल्पक, सत्य, केवल भावयुक्त बृहत्-ब्रह्मने स्वयंको माया (बहिरङ्गा नामकी निजशक्ति) एवं फल (जीवके फल-भोगके लिये तत्प्रकाशस्वरूप—निज चित्कणरूप तटस्था शक्ति) रूप दो भागोंमें प्रकट कर दिया। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं। माया अव्यक्त है एवं जीव अति सूक्ष्म है—ये दोनों ही सत्य एवं नित्य हैं॥ ३॥

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥ ४॥

इन दो भागोंमें माया नामका पदार्थ—प्रकृति एक अंश है—जो कार्य एवं कारणस्वरूपा (उभयस्वरूपा) है और दूसरा पदार्थ ज्ञानस्वरूप (चेतनामय) पुरुष है—यह पुरुष ही जीवात्मा (भोक्ता) है॥ ४॥

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥ ५॥

अनन्तर मुझ पुरुष द्वारा प्रकृतिमें ईक्षण द्वारा क्षोभ उत्पन्न करनेपर सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण आविर्भूत हुए। ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध भावोंसे युक्त हैं और जय-पराजय धर्ममें अवस्थित हैं। ये ही जन्म, स्थिति एवं प्रलयादि क्रियाओंके मूल आकर हैं। (तीनों गुण एक दूसरे पर विजय पानेके लिये शत्रुवत् बन जाते हैं। इसी कारण जन्मादि तीनों क्रियाओंमें निरन्तर होड़ लगी रहती है। जीवके प्राक्तन (प्रारब्ध) कर्म, ज्ञान, भक्ति-साधन सम्पन्न हों, जीवका अदृष्ट प्रयुक्त हो, इसीलिये भगवान्‌से इङ्गित होकर प्रकृति प्रपञ्चकी सृष्टि करती है)॥ ५॥

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकुर्वतो जातो योऽहङ्कारो यो विमोहनः॥ ६॥

(अब सृष्टिकी प्रसिद्ध धाराका निरूपण करते हैं) उन तीनों गुणोंसे आदि सूत्र अर्थात् क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम विकार-पदार्थ (कर्मशक्तियुक्त प्रकृतिका प्रथम रूपान्तर) और इसी सूत्रसे संयुक्त (पृथक् नहीं) ज्ञानशक्तिप्रधान महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ (महत्-तत्त्व ज्ञान एवं क्रियासे युक्त होनेके कारण सूत्रसे संयुक्त है)। विकारभावयुक्त (रूपान्तरित होनेवाले) उस महत्-तत्त्वसे ज्ञानशक्तिरूप अहङ्कार उत्पन्न हुआ, जो जीवके भ्रमका अथवा मोहका हेतुभूत है। [जिस परिमाणमें भक्तिमें शिथिलता आती है, उतने परिमाणमें जड़ भोग अथवा त्याग प्रवृत्ति उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार आलोकके क्षीण होनेपर अन्धकार बढ़ता जाता है। सूत्र प्रकृतिका प्रथम विकार (रूपान्तर) है, जो कर्म-शक्तिको प्रकट करता है और सूत्रसे युक्त जो महत्तत्त्व है, वह ज्ञान शक्तिसे युक्त है। सूत्र शब्द आरम्भ-ज्ञापक है। विश्व-प्रपञ्चमें मनुष्यका ज्ञान कर्म तथा मनोज्ञानसे आवृत रहता है और इसीसे प्रारब्ध बन जाते हैं]॥ ६॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः॥ ७॥

अहङ्कार वैकारिक, तैजस, एवं तामस—इन तीनों वृत्तियोंसे समन्वित (युक्त) है एवं पञ्च तन्मात्राओं, इन्द्रिय एवं मनका कारण है। यह चिदाभास प्राप्त (चेतन आत्मा) होनेके कारण चिन्मय एवं जड़त्वके (अचेतन शरीरके) कारण अचिन्मय होनेके कारण उभयात्मक है। उभयात्मक होनेसे यह प्रकृतिके तीनों गुणोंसे मोहित हो जाता है और भक्तिके प्रतिकूल चेतनकी आवृत वृत्तिका प्रदर्शन करता है॥ ७॥

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्॥ ८॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पञ्च तन्मात्राओंके (भौतिक जगत्की अनुभूतियोंके) कारणस्वरूप तामस अहङ्कारसे

तामस पदार्थ अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूत (आवरण स्वभावके कारण ये तामस कहे जाते हैं), तैजससे (राजससे) दस इन्द्रियाँ (ये प्रबल प्रवृत्तिवाली होती हैं) एवं सात्त्विकसे (वैकृतसे) दिक् (दिशाओंके देवता), वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र, ब्रह्मा और चन्द्र—इन ग्यारह इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं एवं मनकी उत्पत्ति हुई। शब्दसे मनका भी ग्रहण होता है। देवता स्वभावतः प्रकाशमय होते हैं॥ ८॥

मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९॥

पूर्वोक्त सभी सूत्रादि पदार्थोंने मेरी (वैराज अन्तर्यामीकी) प्रेरणासे सम्मिलितरूपसे क्रियाशील होकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि की—जो मेरा आयतनस्वरूप (सर्वोत्तम निवास) है॥ ९॥

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः॥ १०॥

तदनन्तर उक्त अण्ड कारणजलमें स्थित हो गया। ब्रह्माण्डके अन्तर्गत जलकी जहाँ संस्थिति है, वहाँ मैं नारायण गर्भोदशायीरूप विष्णु-लीलाविग्रहको स्वीकार करते हुए प्रकाशित हुआ। उस समय मेरी नाभिसे लोक-कारण-स्वरूप विश्व नामक पद्म उत्पन्न हुआ। उस पद्मसे वैराज (जीवोंके आदि पुरुष) ही पुनः भोग-विग्रह चतुरानन ब्रह्मा रूपमें आविर्भूत हुए॥ १०॥

सोऽसृजत् तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति त्रिधा॥ ११॥

उन विश्वात्मा ब्रह्माने रजोगुणसे युक्त होकर मेरे अनुग्रहसे तपके प्रभावसे लोकपालोंके सहित भूः, भुवः, स्वः—इन तीन लोकोंकी एवं लोकपालोंकी सृष्टि की॥ ११॥

देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानाञ्च भुवः पदम्।
मर्त्यादीनाञ्च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥ १२॥

स्वर्गलोक देवताओंका वास-स्थान, भूलोक मरणशील प्राणियोंका वास-स्थान तथा अन्तरिक्ष भूत, प्रेत एवं पिशाचोंका और दोनों ही लोकोंके जीवोंका तात्कालिक (अस्थायी) निवास है। इस त्रिलोकीसे परे महः इत्यादि लोक सिद्ध जीवोंके निवास-स्थान हैं। इस ब्रह्माण्डसे मुक्ति प्राप्त करनेवालोंकी चेष्टाके फलस्वरूप सत्यादि (सत्य, महः, जन एवं तप) चार लोक स्थित हैं॥ १२॥

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥ १३॥

सृष्टि आदि कार्य करनेमें समर्थ ब्रह्माजीने पृथ्वीके नीचेके स्थानोंमें असुर और नागोंके आवास-स्थानके रूपमें अतल, पाताल आदि लोकोंका निर्माण किया। त्रिगुणात्मक कर्मफल-बाध्य जीव इन्हीं पाताल आदि लोकोंके सहित त्रिलोकीमें देवता आदि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं॥ १३॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥ १४॥

तपस्या, योग और संन्यासादिके न्यूनाधिक प्रभावसे जीव महः, जन, तपः एवं सत्य लोकमें विशुद्ध (उत्तम) गति प्राप्त करते हैं। इन समस्त लोकोंकी प्राप्ति अल्पकालके लिये ही होती है; जैसे ही अर्जित कारणोंका क्षय हो जाता है, वैसे ही जीव तद्-तद् लोकोंसे पतित हो जाते हैं। मेरी भक्तिके योगसे निर्गुण साधकको वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है॥ १४॥

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिनुन्मज्जति निमज्जति॥ १५॥

इस कर्मयुक्त जगत्की सृष्टि मैंने की है। मैं कालात्मक (कालशक्तिधारी) परमेश्वर कर्मफल-प्रदाता हूँ। सत्त्वादि गुण-प्रवाह-जात इस संसारमें पड़ा हुआ जीव कभी सत्यलोक पर्यन्त उच्च गति

प्राप्त करता है और कभी स्थावर आदि निम्न गति प्राप्त करता है। मैं विधाता अपनी कालशक्तिके द्वारा कर्मफल भोगी जीवोंको चौदह भुवनोंमें विचरण कराता हूँ॥ १५॥

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिद्ध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १६॥

अणु-बृहत्, कृश-स्थूल इत्यादि जितने भी भाव (स्वरूप अथवा धर्म) जगत्में विद्यमान हैं, वे सभी भौतिक प्रकृति एवं भोक्ता पुरुष द्वारा (भोक्ता-भोग्य-धर्मसे) सिद्ध (निर्मित) होते हैं। कारणमें कार्यकी व्याप्ति रहती है; सभी भाव अथवा स्वरूप (धर्म) कार्यस्वरूप पदार्थ हैं॥ १६॥

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यञ्च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥ १७॥

जो सत्पदार्थ (पहलेसे ही विद्यमान पदार्थ) जिस कार्यकी उत्पत्ति (आदि कारण) एवं विनाशका (लयका) स्थान अर्थात् उपादान कारण है, वह सत्पदार्थ उस कार्यके मध्य वर्त्तमानमें भी अवस्थानस्वरूप रहता है अर्थात् कार्य कारणमें व्याप्त रहता है जैसे पार्थिव पदार्थ एवं तैजस पदार्थ—यह सत्य है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमें अविकृत कारण बादमें विकृत होकर कार्यरूपताको प्राप्त होता है। कार्य कारणसे पृथक् वस्तु नहीं है। कार्य एवं कारण दोनों सत्य हैं। तैजस (स्वर्ण निर्मित) कङ्कन, कुण्डलादि एवं पार्थिव (मृत्तिका निर्मित) घट, सकोरा आदि जैसे केवल व्यावहारिक पदार्थ मात्र हैं (मिट्टीसे बने घट आदिका ही व्यवहार होता है और कुण्डल आदिको धारण किया जाता है), उसी प्रकार विकार (कार्य) वस्तु मात्र ही व्यावहारिक है। कारण पदार्थ एक मात्र सत्य वस्तु है, वही आदि, मध्य एवं अन्त्य भावयुक्त है अर्थात् वह सभी अवस्थाओंमें रहती है। विकार-जनित दृश्य वस्तु अर्थात् व्यक्त अवस्था अनित्य है॥ १७॥

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥ १८॥

जिस मूल (अवयव) वस्तुको उपादान कारणरूपमें ग्रहण करके महत्तत्त्वादि पदार्थ अहङ्कारादि दूसरे विकार पदार्थोंकी (कार्यवर्गकी) सृष्टि करते हैं, वह उपादान कारण ही यथार्थमें सत्य वस्तु है, परन्तु जिस समय जो पदार्थ जिस कार्यके आदि एवं अन्त्य कारणरूपमें कथित होता है, उस समय उसे सत्य कहा जाता है। अतः श्रुतिमें दृष्टान्तस्थलपर मृत्तिका पदार्थको (मिट्टीको) सत्य कहनेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। (जिस प्रकार मिट्टीका पिण्ड लेकर कुम्भकार स्वयं निमित्त कारण बनकर घटका सृजन करता है, वह मृत्तिका सत्य ही है! मृत्तिकाका मूल पृथ्वी भी सत्य ही है। घट तात्कालिक विकार है, नित्य नहीं। अतः घटमें नश्वरताका आरोप तो किया जा सकता है, मिथ्यात्वका नहीं। आदि एवं अन्त्यसे युक्त सभी पदार्थ सत्य हैं।)॥ १८॥

प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम्॥ १९॥

इस सत्कार्यका (जगत्का) उपादान कारण प्रकृति है, प्रकृतिका अधिष्ठाता (अधिष्ठान कारण) पुरुष (मेरा अंश-महाविष्णु) है और गुण-क्षोभके द्वारा उसका अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) काल निमित्त कारण है—ये तीनों पदार्थ मुझ शुद्ध ब्रह्मके स्वरूप हैं, मुझसे भिन्न नहीं हैं। प्रकृति मेरी शक्तिके कारण, पुरुष मेरे अंशके कारण और काल मेरी चेष्टारूपताके कारण—ब्रह्मस्वरूप ही हैं। प्रकृति जगत्का उपादान होनेके कारण मैं ही उपादान कारण हूँ परन्तु प्रकृतिका विकारित्व होनेपर भी मुझमें विकारित्व नहीं है। प्रकृति मेरी शक्ति होनेपर भी मेरी स्वरूपशक्ति नहीं है। मेरी स्वरूप शक्ति तो मायातीत है—यह समस्त शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है॥ १९॥

सर्गः प्रवर्त्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥ २०॥

जिस समयतक सृष्टि विषयमें पालनकी इच्छाके (प्रकृतिके) अनुकूल परमेश्वरका ईक्षण रहता है, उस समय तक गुण-विसर्ग (विविध-देहोंमें) जीवोंके भोग-प्रयोजनके लिये पिता-पुत्रादि अविच्छेद्य क्रमसे बहुल सृष्टि-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। भगवदीक्षण कालतक अर्थात् परमेश्वरकी ईक्षण शक्ति जब तक कार्य करती है, तब तक ही प्रकृति और कालका वैशिष्ट्य लक्षित होता है। काल एवं प्राकृत जगत् भगवद्-विमुख जनोंके तात्कालिक भोगके लिये सृष्ट होता है। भगवत्-सेवाकी उन्मुखता न रहनेपर ही यह जड़ जगत् भोग्यरूपमें प्रतिपादित होता है॥ २०॥

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह॥ २१॥

यह विराट् ब्रह्माण्ड मुझ कालात्मक द्वारा आक्रान्त अर्थात् व्याप्त है। यह ब्रह्माण्ड विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय भूमि है। जब मैं प्रलयका सङ्कल्प करता हूँ, जब यह विराट् ब्रह्माण्ड समस्त भुवनोंके साथ पञ्चत्व अर्थात् विनाषरूप विशेष विभागके योग्य हो जाता है। पञ्चत्व अर्थात् मृत्यु॥ २१॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते॥ २२॥

अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥ २३॥

रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्रे इन्द्रियाणि स्वयोनिषु॥ २४॥

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः॥ २५॥

स सलीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये॥ २६॥

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥ २७॥

प्रलयकालमें (सौ वर्षों तक अनावृष्टि होनेपर) यह मर्त्त्य शरीर क्षीण होता हुआ अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्ध-तन्मात्रामें, गन्ध जलमें, जल रस-तन्मात्रामें, रस तेजमें, तेज रूप-तन्मात्रामें, रूप वायुमें, वायु स्पर्श-तन्मात्रामें, स्पर्श आकाशमें, आकाश शब्द-तन्मात्रामें, सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रवर्तक देवताओंमें, देवता नियामक मनमें, मन अहङ्कारमें, शब्द तामस अहङ्कारमें, तीनों अहङ्कार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व गुणोंमें, सभी गुण प्रकृतिमें, प्रकृति कालमें, काल ज्ञानमय जीवमें और जीव मुझमें लीन हो जाता है। विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका मूलकारण स्वरूप निरुपाधिक मैं किसीमें भी लीन नहीं होता, मैं सर्वदा स्व-स्वरूपमें विराजमान रहता हूँ। जीवमें तटस्था शक्तिके कारण नित्यत्व है, अतः अन्य तत्त्वके समान उसके स्वरूपका लय नहीं है। समग्र विश्व-विभूतिके साथ भगवान् जिस समय भोग-विग्रहके साथ लीला-विग्रहमें विद्यमान रहते हैं—यह उनकी प्रकाशावस्था है, इसीका नाम सृष्टि है और एक अप्रकाशावस्था है, उसका नाम प्रलय है। उनकी पालन-वृत्तिका अवसान होनेपर प्रलय हो जाता है। इस प्रलयमें उपाधि-रहित वह जीव परमात्मामें मिलित होकर अर्थात् आत्मामें स्थित रहता है। जब तक भगवान् नित्य जीवके नित्य आश्रय नहीं हो जाते, तब तक विकार जनित सत्ता जीवकी बद्धताका प्रतिपादन करती है। कालका खण्ड-धर्म जीवको नानाविध अमङ्गलोंमें डाल देता है। बद्ध जीव अपनेको प्राकृत गुणोंके अधीन मान लेता है—यह अवस्था विकल्पके अधीन है, भगवत्-सेवा-सङ्कल्पमें बद्धता कदापि नहीं है।

प्रलयके क्रमकी विवृति इस प्रकार की जा सकती है कि मर्त्त्य शरीर जिससे वृद्धिको प्राप्त होता है, वह अन्नमें लीन होता है। अन्न बीजमें लय होता है अर्थात् बीजको भूमिपर बोये जानेपर भी अन्न बढ़ता नहीं है। सूर्यकी प्रलयकालीन प्रचण्ड किरणोंसे सन्तप्त भूमि सङ्कर्षणसे मुखसे निकलती प्रलय ज्वालाओंसे दग्ध होकर सूक्ष्मावस्था गन्ध तन्मात्रामें लीन होती है। गन्ध सौ वर्षोंतक प्रलय-वृष्टिसे प्लावित होता हुआ जलमें लीन हो जाता है, जल तेज द्वारा सुखा लिया जाता है, तब वह रसरूप हो जाता है। रस तेजमें लीन हो जाता है। वायु तेज को अभिभूत कर लेती है अतः तेज भी अवशिष्ट होकर रूपमें लीन हो जाता है। रूप वायुमें लीन होता है। कालके द्वारा प्रेरित होकर वायु आकाश द्वारा ग्रस्त स्पर्श तन्मात्रमें और आकाश भी तामस अहङ्कारके द्वारा ग्रसा जाता हुआ शब्द तन्मात्रामें लीन हो जाता है। मर्त्त्य शरीरसे शब्द पर्यन्त लय तामस अङ्ककारका कार्य है।

राजस अहङ्कारका कार्य है—इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ अपने प्रवर्त्तक देवताओंमें लीन हो जाती हैं। इन्द्रियोंका स्वभाव प्रवृत्तिवाला होता है, इसीलिये वे प्रवृत्तिके देवताओंके अधीन रहती हैं। अतः अपने नियामक इन्हीं देवताओंमें अथवा राजस अहङ्कारमें इनका लय हो जाता है। देवताओंका लय अपने नियामक मनमें हो जाता है। मन वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारमें लीन हो जाता है। तीनों प्रकारका अहङ्कार महत् तत्त्वमें लीन हो जाता है। अहङ्कार तत्त्व सर्वशक्तिमान् एवं समस्त शारीरिक तत्त्वोंमें सर्वप्रथम है। महत् तत्त्व भी समर्थ है एवं समस्त जगत्को मोहित करनेवाला है। यह अपने जड़-अंशका परित्याग करके अपने कारण ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिरूप प्रधान गुणोंमें लीन हो जाता है। इन्हीं गुणोंके कारण महत् तत्त्वको 'गुणवत्तम' भी कहा जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होकर प्रकृतिकी साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाता है। प्रकृति कालमें लीन हो जाती है। कालाधीन होनेके कारण

प्रकृति कालके ही समान हो जाती है। प्रलय कालमें कालकी वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। काल स्रष्टाके द्वारा सृज्य है। यह भगवान् की चेष्टा-स्वरूप है। प्रतियोगीके अभावमें परमात्मा ही सततरूपसे बने रहते हैं और सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। उनके लयकी सम्भावना नहीं है। वे केवल और उपाधि-रहित हैं॥ २२-२७॥

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥ २८॥

आलोकमय सूर्यके उदय होनेपर आकाशमें जिस प्रकार अन्धकार रह नहीं सकता, उसी प्रकार जो समस्त (विकारवान्) प्राणियोंके आत्मामें लयका निरीक्षण कर लेता है, उस विचारवान् मनुष्यके चित्तमें 'यह वैकारिक देह मैं हूँ'—यह भेद विषयक भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि उत्पन्न हो, तो भी इस सांख्ययोग द्वारा नित्य आत्म एवं अनात्म देहका विवेक होनेपर स्थिर नहीं रह सकता। मनोधर्मी निरन्तर भ्रान्त रहता है, वह सत्यका अनुसन्धान करता है, तो भी इस विकल्पका (आत्म-अनात्मरूप भ्रामक द्वैतका) ही आश्रय लेता है। विकल्प दूर होनेपर परम उपादेय आत्माकी स्वाभाविकी वृत्ति जीवको भगवान्‌की नित्य-सेवा परायण बना देती है॥ २८॥

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे सांख्ययोगो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

हे उद्धव! मैं सम्पूर्ण कार्यकारणदर्शी हूँ। मैंने अन्वय-व्यतिरेक रूपसे संशय-ग्रन्थि-छेदक इस सांख्य विधिका तुम्हारे निकट वर्णन किया। मेरा शरणागत व्यक्ति समस्त विषयोंका उत्तमरूपसे

दर्शन कर सकता है। मनुष्योंको भगवान् एवं भगवत्-शक्तिकी अनुलोम एवं प्रतिलोम अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकरूपसे विवेचना करनी चाहिए॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौबीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

गुणानामसंमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पुरुषवर्य उद्धव! अन्य गुणोंके साथ अमिलित अर्थात् विभक्त गुणोंमें जिस गुणके कारण मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह तुम मुझसे सुनो॥ १॥

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥ २॥

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः॥ ३॥

क्रोधो लोभोऽनृतंहिंसा याच्ञा दम्भः क्लमःकलिः।
शोकमोहौ विषादार्त्ती निद्राशा भीरनुद्यमः॥ ४॥

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्व्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु॥ ५॥

ये शम (मनका संयम), दम (इन्द्रिय-निग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), ईक्षा (विवेक), तप (स्वधर्मका अनुष्ठान), सत्य, दया, स्मृति (पूर्वपरानुसन्धान), यथालाभ सन्तोष, त्याग (व्ययशीलता), विषयोंके प्रति अनिच्छा अर्थात् वैराग्य, गुरु आदिमें श्रद्धा, लज्जा (अनुचित कर्ममें स्वाभाविक सङ्कोच), दानादि सद्‌गुण (दया, सरलता एवं विनयादि), आत्मरति (आत्माराम होनेका प्रयत्न) आदि सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। काम (प्रकृति जात वस्तुओंको भोगनेकी अभिलाषा), चेष्टा (सर्वदा प्रवृत्त रहना), दर्प (अपनेको

श्रेष्ठ मानकर प्रमत्त रहना), विषय-तृष्णा, स्तम्भ (अकड़), धनादिकी प्राप्तिके लिये देवताओंके निकट प्रार्थना, मिथ्या गर्व, भेदज्ञान (दूसरोंके सुखसे असहिष्णु होकर अपने सुखकी कामना), विषयाभिलाष, मत्तताके कारण युद्धादिकी अभिलाषा, स्तुतिप्रियता (दूसरोंके निकट स्तुति-प्राप्तिका इच्छुक), उपहास (दूसरोंको लघु जानकर उपहास करनेकी प्रवृत्ति), वीर्य (अपनेको शक्तिशाली जानकर अभिमान करना) एवं अपने बलके कारण उद्यम अर्थात् हठपूर्वक उद्योग करना—ये सब रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं। क्रोध (असहिष्णुतारूप दम्भ), लोभ (व्यय-विमुखता), असत्य (अशास्त्रीय वचन), हिंसा (परद्रोह), याच्ञा (प्राप्य न होनेपर भी द्रव्य-प्रार्थना), दम्भ (धर्मध्वजिताका प्रदर्शन), थकान, कलहकी स्पृहा, शोक, मोह, भ्रम, दुःख, दैन्य (अपात्रमें अकारण दैन्य), निद्रा (तन्द्रा), आशा, भय, अनुद्यम (जड़ता)—ये सब तमोगुणके धर्म हैं। इसी प्रकारसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। अब उनके सम्मिलनसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो॥ २-५॥

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः॥ ६॥

हे उद्धव! मनुष्योंमें 'मैं शान्त (सतोगुणी), कामी (रजोगुणी) और क्रोधी (तमोगुणी) हूँ एवं मेरी शान्ति, काम, क्रोध इस प्रकार जो बुद्धि देखी जाती है (जो एक प्रकारसे सन्निपात अर्थात् तीनों गुणोंका मिश्रण है), उसमें पूर्वोक्त तीनों गुणोंकी वृत्ति समानरूपसे मिश्रित है, इसलिये इसे मिश्र-वृत्ति कहते हैं तथा मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राणके द्वारा चलनेवाले विषय-व्यवहारको भी मिश्र-वृत्ति ही समझना चाहिए। इन्द्रियज ज्ञानका ज्ञाता मन इन्द्रियोंके द्वारा जिस विषयको ग्रहण करता है, उसके द्वारा ही व्यावहारिक जगत् चलता है। यह सम्पूर्ण व्यवहार सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणोंके सम्मिश्रणपर आधारित होकर सन्निपातज होता है॥ ६॥

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः॥ ७॥

मनुष्यमें जिस समय धर्म, अर्थ एवं काममें निष्ठा होती है, उस समय वह मिश्रगुणोंसे युक्त होकर त्रिविध फलकी आकाङ्क्षामें संलग्न हो जाता है है। सात्त्विक गुणकी सहायतासे धर्ममें प्रवृत्त होनेपर धर्मविषयक श्रद्धाका उदय होता है, अर्थमें प्रवृत्त होनेपर राजस गुणकी सहायतासे अर्थमें प्रवृत्त होनेपर अनुराग एवं तामस गुणके प्रभावसे काममें विषय-सुख प्राप्त करता है। इस तरह यह गुण-त्रयके सन्निपातका कार्य है॥ ७॥

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मे चानु तिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा॥ ८॥

जिस समय प्रवृत्तिरूप काम्य धर्ममें पुरुषकी निष्ठा होती है, उस समय पुरुष गृहाश्रममें अवस्थान करता है और वहाँ स्वधर्म अर्थात् निरन्तर नित्य-नैमित्तिक धर्मोंमें लगा रहता है—उस समय भी वह गुण-त्रयकी मिश्रवृत्ति (सन्निपात) में अवस्थान करता है। काम्य धर्म गृहासक्ति है, स्वधर्म रजः-तमः-सत्त्वमय है। (श्रीगौरसुन्दरने जीवके स्वरूपके परिचय-वर्णनमें वर्णाश्रम धर्मको जड़-जगत्का प्राकृत, तात्कालिक एवं अप्रयोजनीय धर्म बतलाकर उसे हेय-सुखैषणा-परक बतलाया है। गुणजात जगत्की गुणमिश्रावस्थामें इस प्रकारके भाव अणुचित् जीवके प्राप्य होते हैं। भगवत्-सेवकमें इस भोग-वासनाके स्थानपर नित्यलीलामें नित्यावस्थानके सौन्दर्यके प्रति निष्ठा देखी जाती है)॥ ८॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम्॥ ९॥

शमादि अर्थात् इन्द्रिय-जयादि लक्षणोंसे युक्त मनुष्यको सत्त्व-गुणाधिक्यसे युक्त सतोगुणी, कामादि लक्षणोंके कारण रजोगुणाधिक्यसे युक्त रजोगुणी एवं क्रोधादि लक्षणोंके कारण तमोगुणाधियुक्त तमोगुणी अनुमान कर लेना चाहिए॥ ९॥

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा॥ १०॥

जिस समय स्त्री या पुरुष निष्काम होकर भक्तिके सहित अपने नियत कर्मोंके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, उस समय उस पुरुष और स्त्रीको सत्त्व-प्रकृतिके द्वारा अनुप्राणित समझना चाहिए॥ १०॥

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं तरःप्रकृतिं विद्यात् हिंसामाशास्य तामसम्॥ ११॥

जिस समय मनुष्य (धन, जन, यशादि) काम्य-विषयोंकी प्रार्थना करते हुए मेरा भजन करता है, उस समय उसको रजः-प्रकृतिका और जिस समय शत्रु-मारणादि हिंसाकी कामनासे मेरी आराधना करता है, उस समय उसे तमो-प्रकृतिका जानना चाहिए॥ ११॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥ १२॥

सत्त्व, रज और तम—ये जीवके चित्तमें उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। जीव-उपाधि चित्तमें (अन्नमय मनमें) ये गुण उदित होते हैं और वहीं अभिव्यक्त होते हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं गुणोंके द्वारा मनुष्य दैहिक, भौतिक वस्तुओंमें आसक्त हो जाता है और बन्धनमें पड़ जाता है। मैं गुणोंका नियन्ता हूँ, सृष्टिका कर्त्ता हूँ, परन्तु इन सबसे परे मैं नित्य मुक्त हूँ—उद्धव! तुम यह समझ लो॥ १२॥

यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥ १३॥

जब भास्कर अर्थात् प्रकाशक, विशद अर्थात् निर्मल एवं शिव अर्थात् शान्त सत्त्वगुण अन्य दोनों गुण—रजोगुण एवं तमोगुणको अभिभूत कर लेता है, उस समय मनुष्य सुख, धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि गुणोंसे युक्त हो जाता है। उसमें शमादि गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जो उस बद्ध जीवका मङ्गल विधान करते हैं॥ १३॥

यदा जयेत् तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया॥ १४॥

जिस समय आसक्ति एवं भेद-ज्ञानका जनक चञ्चल स्वभाव रजोगुण दूसरे दोनों—सतोगुण एवं तमोगुणका जय कर लेता है, उस समय भेद बुद्धिके कारण मनुष्य दुःखसे युक्त हो जाता है (श्रुति भी है—द्वितीयाद् वै भयं भवतीति—दूसरेसे भय होता है) चञ्चल स्वभावके कारण उसका कर्म-सङ्ग हो जाता है, और वह ऐश्वर्य-आकाङ्क्षी एवं प्रतिष्ठा-परायण हो जाता है, कर्मवीर कहलवाना चाहता है तथा धनाधिपति होनेका प्रयत्न करता है॥ १४॥

यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया॥ १५॥

जिस समय विवेक-नाशक, आवरण-धर्म विशिष्ट (मनुष्यकी चेतनाको आच्छादित करनेवाला), जड़ तमोगुण अन्य दोनों गुणोंको अभिभूत करके उच्च स्थान प्राप्त करता है, उस समय मनुष्यमें शोक, मोह, निद्रा, निरुद्यमता, हिंसा एवं दुराशाएँ इत्यादि दिखायी देती हैं॥ १५॥

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियणाञ्च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम्॥ १६॥

जिस समय चित्त निर्मल होता है, इन्द्रियाँ शान्त-प्रशान्त रहती हैं, देह निर्भय हो जाता है और मन इस प्राकृत जगत्में विषय-सङ्गसे (अनुपादेय वस्तुओंके ग्रहणकी पिपासासे) अनासक्त हो जाता है, तब मेरी उपलब्धिके अधिष्ठानभूत सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिए। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है॥ १६॥

विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिवृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय॥ १७॥

जिस समय कर्म करते-करते मनुष्यकी बुद्धि विकृत हो जाय, चित्त विक्षिप्त हो जाय, ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हो जाय, कर्मेन्द्रियाँ

विकारयुक्त होकर अस्वस्थ हो जाएँ और मन चञ्चल हो जाय, उस समय जान लेना चाहिए कि रजोगुणका आधिक्य है॥ १७॥

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय॥ १८॥

जिस समय चित्त व्याकुल होकर अवसादयुक्त हो जाय (जड़ भावको प्राप्त हो जाय), चेतना (जागरुकता) को धारण करनेमें असमर्थ हो जाय, सङ्कल्पात्मक मन भी लीन भावको प्राप्त हो जाय अर्थात् सुन्न-सा हो जाय तथा चित्तमें अज्ञान, ग्लानि (खिन्नता), विषाद इत्यादि भाव उपस्थित हो जाएँ, उस समय तमोगुणका आधिक्य जानना चाहिए॥ १८॥

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणाञ्च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम्॥ १९॥

हे उद्धव! सत्त्वगुणकी (निवृत्तिकी) वृद्धि होनेपर देवताओंका, रजोगुणकी (प्रवृत्तिकी) वृद्धि होनेपर असुरोंकी एवं तमोगुणकी (मोहकी) वृद्धि होनेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है (निर्गुण भावकी वृद्धि होनेपर भक्तोंका बल बढ़ जाता है)॥ १९॥

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥ २०॥

प्राकृत जगत्में सत्त्वगुणसे जीवोंमें जागरण, रजोगुणसे स्वप्न एवं तमोगुणसे गाढ़ निद्रा—इस प्रकारसे तीन अवस्थाएँ होती हैं। चतुर्थ गुणातीत तुरीय अवस्था पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओंमें वितत अर्थात् एक रस, एक आत्मतत्त्वरूपमें रहती है अर्थात् आत्म तत्त्व एक समान बना रहता है। यह तुरीय अवस्था प्रकृतिके गुणोंसे आच्छादित रहती है, परन्तु जीवमें शाश्वत रूपसे विद्यमान रहती है॥ २०॥

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः॥ २१॥

वेदानुष्ठान-परायण मनुष्य सत्त्वगुणके प्रभावसे ऊर्ध्वके स्थानोंमें ब्रह्मलोक पर्यन्त गमन करता है, जो तमोगुणसे युक्त हैं, वे स्थावर (वृक्षादि) पर्यन्त अधोगतिको प्राप्त होते हैं और जो रजोगुणसे युक्त हैं, वे मनुष्यगतिको प्राप्त करते हैं। (अभिप्राय यह है कि वर्ण श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ सत्त्वगुणके प्रभावसे, शूद्रादिके शोक, वैश्यादिकी धनाशा एवं क्षत्रियोंकी शौर्य पिपासाको अतिक्रम करके सत्त्वगुणमें अधिष्ठित हो जाते हैं। अन्यान्य मनुष्य तमोगुणके आश्रयसे उच्च स्तरसे क्रमशः निम्नस्तरगामी होकर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र एवं अन्त्यज आदिकी निकृष्ट प्रवृत्तिसे युक्त हो जाते हैं। इनमें ही रजोगुणके प्रभावसे उन्नति एवं अवनतिके स्तर दिखायी देते हैं)॥ २१॥

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥ २२॥

सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर मनुष्य स्वर्ग लोकमें जाता है, रजोगुणकी वृद्धिके समय मरनेपर मनुष्य-लोकको प्राप्ति होती है; और तमोगुणकी वृद्धिके समय मरनेसे नरककी गति होती है तथा निर्गुण व्यक्ति जीवित अवस्थामें ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं। निर्गुण अवस्थामें 'मृत्युकाल' शब्द नहीं रहता। ये जीवन्मुक्त वैकुण्ठ-पथके पथिक होते हैं॥ २२॥

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥ २३॥

मुझे प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्म अथवा निष्काम होकर केवल दास्यभावसे अनुष्ठित (किये हुए) अपने नित्य-नैमित्तिक इत्यादि कर्म सात्त्विक हैं, फलभोगकी कामनासे युक्त कर्म राजस हैं और हिंसा आदि युक्त या दम्भ मात्सर्य आदिके द्वारा किये हुए कर्म तामस हैं॥ २३॥

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥ २४॥

देहादिसे व्यतिरिक्त शुद्ध आत्मविषयक ज्ञान सात्त्विक है, ऐसे मनुष्य भगवान् विष्णुको ही एकमात्र आराध्य मानते हैं और उनकी प्रसन्नताको ही एकमात्र प्रयोजन। देहादि विषयक ज्ञान राजस है—राजसिक व्यक्ति अद्वय-ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं, बहुल भोगोंकी आशामें जीते हैं, विकल्प ज्ञानसे इनका चित्त निरन्तर चञ्चल रहता है—कभी प्रवृत्तिका और कभी निवृत्तिका यत्न करते हैं, कभी किसीको सत्य मानते हैं, तो किसीको असत्य। तामसिक व्यक्ति व्यभिचारमें प्रमत्त होकर आत्म-विनाशको ही चरम मङ्गल मानते हैं। ये प्राकृत आहार-विहारके चिन्तनमें डूबे रहते हैं। इन्द्रिय-केन्द्रित वस्तुओंको बालक एवं मूकादि बाधित व्यक्तिके समान देखते हैं। उद्धव! मद्-विषयक ज्ञान निर्गुण है। (ऐसे व्यक्ति भगवान्के अनुकूल अनुशीलनमें ही आत्मनियोग करते हैं अर्थात् कृष्ण-प्रेम संग्रहमें नियुक्त रहते हैं)॥ २४॥

वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥ २५॥

सात्त्विक व्यक्ति जड़ भोगका परित्याग करके वनवासी हो जाते हैं। वे उन्नतिके पथपर क्रमशः आगे बढ़ते हुए वृन्दावनके सौन्दर्यका दर्शन कर सकते हैं। राजसिक व्यक्ति भोग्य पदार्थोंके सुभोग और कुभोगके सन्धानमें रत रहकर अपनी प्रतिष्ठाके लिये यत्न करते हुए ग्राममें (अपने परिवारके साथ घरोंमें) रहते हैं। तामसी व्यक्ति द्यूत-क्रीड़ा-स्थलोंपर रहकर जय-पराजयमें आसक्त रहते हैं। मेरे गुणाख्यानमें आसक्त होनेसे भगवत्-स्थलोंमें रहनेकी योग्यता मेरे त्रिगुणातीत शुद्ध भक्तोंमें परिलक्षित होती है॥ २५॥

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ २६॥

अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला (दुःसङ्गका त्याग करके निर्जनताका पक्षपाती) 'सात्त्विक', विषय-भोगोंमें आसक्त चित्तसे कर्म करनेवाला 'राजस', स्मृति-भ्रष्ट (पूर्वापर एवं हिताहितके विवेकसे

रहित) यथेच्छाचारी 'तामस' और मेरा आश्रय करनेवाला 'निर्गुण' नामसे कहा जाता है॥ २६॥

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥ २७॥

आत्म-विषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी होती है—ऐसे सात्त्विक व्यक्ति नित्य-मङ्गलाकाङ्क्षी होते हैं, कर्म-विषयिणी श्रद्धा राजसी होती है—ऐसे राजसिक व्यक्ति अहङ्कार विमूढ़ होनेके कारण कर्मवीर होते हैं और अधर्म-विषयिणी श्रद्धा तामसी होती है—ऐसे तामसी व्यक्ति अधार्मिक होते हैं। अधर्मको ही धर्म मानते हैं। मेरी सेवा-विषयिणी श्रद्धा निर्गुण होती है—गुणातीत मुक्त जीवोंमें भोग-प्रवृत्ति नहीं होती, जड़ानुशीलनमें अपने-आपको विस्मृत नहीं करते तथा अखिल चिद् गुणोंसे विभूषित होते हैं॥ २७॥

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसञ्चार्त्तिदाशुचि॥ २८॥

हितकर (अरोग्यप्रद), पवित्र, अनायास प्राप्त भोज्य पदार्थ सात्त्विक हैं, कटु, अम्ल, लवण (खट्टे, नमकीन) आदि इन्द्रिय-रुचिकर भोज्य पदार्थ राजसिक हैं और दुःखदायी, अशुद्ध भोज्य पदार्थ तामसिक है। एकमात्र मेरे उद्देश्यसे निवेदित भोज्य पदार्थ ही निर्गुण हैं॥ २८॥

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ २९॥

इस गुणजात जगत्में आत्मस्वरूप-ज्ञानजनित अर्थात् आत्म-चिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है, विषय भोगसे उत्पन्न सुख राजसिक है तथा मोह, दैन्यसे उत्पन्न सुख तामसिक है। गुणजात जगत्को अतिक्रम करके भगवदाश्रय-जनित सङ्कीर्त्तन एवं मद्विषयक सेवासे निर्गुण सुखका उदय होता है॥ २९॥

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥ ३०॥

द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक अर्थात् कर्त्ता, श्रद्धा, आकृति (देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् शरीर) एवं निष्ठा (शरीर-त्यागके बाद गन्तव्य)—ये सभी भाव (पदार्थ) त्रिगुणात्मक हैं—यह त्रैगुण्य ही संसारका हेतुभूत हैं॥ ३०॥

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ ३१॥

हे पुरुष-श्रेष्ठ उद्धव! देखे गये, सुने गये एवं बुद्धि द्वारा विवेचित जो समस्त भाव प्रकृति और पुरुषमें अधिष्ठित हैं, उन सबको इसी प्रकारसे त्रिगुणमय समझो॥ ३१॥

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥ ३२॥

हे सौम्य! मनुष्यकी ये सभी संसार-दशाएँ त्रिगुणजात कर्मसे उत्पन्न होती हैं—अतएव जो चित्त-जात गुणोंको जीत लेते हैं, वे मेरे भक्तियोगसे मेरे विषयमें निष्ठायुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। बद्धजीवके कर्म तथा मायिक जगत्के गुणोंसे जो सृष्टि होती है, वह समस्त ही त्रिगुणमयी है। नित्य भगवत्-सेवापरायण मनुष्य भक्तियोगके द्वारा तीनों गुणोंको पराजय करके आत्म-स्वरूपसे गुणातीत राज्यमें वास करता है और भगवद्-भावोंकी (दास्य, सख्यादिकी) सेवा करनेमें समर्थ होता है॥ ३२॥

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥ ३३॥

बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिए कि ज्ञान एवं विज्ञानके उत्पत्ति-क्षेत्र-स्वरूप इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके गुणोंके सङ्गका परित्याग कर दे और मेरा ही भजन करे। जिस समयतक भगवत्-सेवाको गुण-जात विचार समझा जाता है, उस समयतक स्थूल-सूक्ष्म दोनों देह भगवत्-भजन करनेमें समर्थ नहीं होतीं—केवल भोग अथवा

त्यागमें ही अपनेको लीन कर लेती हैं। इसीलिये बद्धजीवको गुणातीत होनेका परामर्श दे रहा हूँ॥ ३३॥

निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः॥ ३४॥

ज्ञानी पुरुष आलस्य-रहित, जितेन्द्रिय और विषयोंमें अनासक्त होकर मेरी उपासना करेंगे और सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे रज और तमोगुणको सम्यक्‌रूपसे जीतकर समस्त गुणोंमें आसक्तिका परित्याग कर देंगे॥ ३४॥

सत्त्वञ्चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥ ३५॥

शान्तचित्त पुरुष उपशमात्मक सत्त्वगुणसे युक्त होकर मिश्रित सत्त्वगुणको जय कर लेते हैं, इसके बाद वे गुणमुक्त होकर निरपेक्ष भाव द्वारा अर्थात् भक्ति-जात वितृष्णा द्वारा लिङ्गदेह (सूक्ष्म-शरीर उपाधिरूप जीवभाव) का त्याग करके मुझको प्राप्त होते हैं॥ ३५॥

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

इस प्रकार लिङ्गशरीर एवं चित्तजात गुणोंसे विमुक्त जीव ब्रह्मस्वरूप मेरे अनुभवसे परितृप्त (सन्तुष्ट) होकर सब प्रकारसे बाह्य शब्दादि विषयोंसे एवं शोक, मोहादि आभ्यन्तर विषयोंसे रहित होकर विचरण करता है। वह सदा-सर्वदा पूर्ण सत्यविग्रह श्रीनामकी सेवामें नियुक्त रहता है। विवेकी पुरुषको संसारमें संसरण करनेकी परम्पराको भक्तिरसके प्रवाहमें बहा देना चाहिए॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पच्चीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षड्विंशोऽध्यायः

पुरूरवाकी वैराग्योक्तिके द्वारा स्त्रीसङ्गके दोष और साधुसङ्गकी महिमाका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! यह मनुष्य शरीर मेरे स्वरूप-ज्ञानकी प्राप्तिका साधक है। इस मनुष्य-देहरूप विशेष सुयोगको प्राप्त करनेपर जो देहधर्म एवं मनोधर्मका त्याग करके आत्मधर्म अर्थात् मेरी भक्तिमें अवस्थित हो जाते हैं, वे जीवन्मुक्त अपनी आत्मामें नियामकरूपसे अवस्थित मुझ परमानन्दमय परमात्म पुरुषको प्राप्त होते हैं॥ १॥

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।
वर्त्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः॥ २॥

जो मनुष्य ज्ञाननिष्ठाके कारण गुणमयी जीवोपाधिसे (जीव-योनिसे अर्थात् अपनी मिथ्या प्रत्यभिज्ञासे) विमुक्त हो गये हैं, वे विषयोंको अवस्तुभूत जानकर कि समस्त वस्तुएँ भगवत्-सम्बन्धकी गन्धसे रहित, प्रकृतिसे निर्मित मायामात्र अर्थात् अवास्तविक होनेपर भी दृश्य हैं—इस विवेचनाके द्वारा समस्त गुणोंके साथ विद्यमान रहकर भी बद्धजीवके समान मिथ्याभूत विषयोंके बन्धनमें नहीं बँधते॥ २॥

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥ ३॥

मनुष्य शिश्नोदर-तर्पणरत (विषय-भोगोंमें लीन रहनेवाले) असद् मनुष्योंका सङ्ग कभी न करे (ऐसे किसी एक व्यक्तिका भी सङ्ग न करे), क्योंकि ऐसे एक जनका अनुवर्त्तन करनेपर अन्धानुवर्त्ती (अन्धेके सहारे चलनेवाले) अन्धेके समान नरकमें पतित होना पड़ता है। जड़ भोगान्ध व्यक्तिको गुरु मान लेनेपर अन्धतमःसे घोरतर तममें जाना पड़ता है॥ ३॥

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे॥ ४॥

हे उद्धव! महायशस्वी सम्राट् (चक्रवर्त्ती राजा) इला पुत्र ऐल अर्थात् पुरूरवा उर्वशीके विरहमें पहले तो शोकसे मोहित हो रहे थे, बादमें कुरुक्षेत्रमें उर्वशीको प्राप्त करके उन्होंने गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त अग्नि द्वारा देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ किया एवं पुनः उर्वशीलोकको प्राप्त हुए। इससे उनके शोककी शान्ति हो गयी, भोगकी वासना चली गयी। विघ्नोंके कारण जो ज्ञान-वैराग्य-भक्ति स्थगित हो गये थे, वे उन्हें पुनः प्राप्त हो गये और वे वैराग्यपूर्वक अपने चरित्र पर आधारित यह गाथा गाने लगे॥ ४॥

त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः॥ ५॥

जब उर्वशी सम्राट पुरूरवाको छोड़कर अपने लोकमें जा रही थी, उस समय उसके विरहमें पुरूरवा अत्यन्त व्याकुल हो गये और नग्न होकर—'देवि! निष्ठुर हृदये! इस घोर दुःसमयमें ठहर जा (तू जा क्या रही है? मेरे प्राण ही हर ले जा रही है), भाग मत'—इस प्रकार उन्मत्तकी भाँति विलाप करते हुए उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे॥ ५॥

कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ ६॥

एक ही स्थानपर साथ रहते हुए उर्वशीने उनका चित्त हरण कर लिया। वे क्षुद्र काम्य विषयोंका निरन्तर उपभोग कर रहे थे, परन्तु उन्हें तृप्ति नहीं हो रही थी। इस तरह बहुत वर्षोंकी रात्रियाँ आयीं और चली गयीं, किन्तु उन्हें इस आवागमनका कुछ पता ही नहीं चला॥ ६॥

ऐल उवाच—

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः॥ ७॥

पुरूरवाने कहा—अहो! मेरी कैसी मूढ़ता है! मेरे मोहका विस्तार तो देखो! उर्वशीके द्वारा प्रणयपूर्वक मेरे कण्ठको ऐसा आलिङ्गन बद्ध कर लिया गया कि इतने समय तक मेरा चित्त काम-कलुषित ही रहा। मेरे जीवनकालके अंशस्वरूप कितने दिन-रात ऐसे ही व्यतीत हो गये, मुझे कुछ सुध ही न रही॥ ७॥

नाहं वेदाभिनिर्म्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मूषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत॥ ८॥

मेरी विस्मृतिकी सीमा तो देखो—मैं रमणमें ही रमता रहा और सूर्यदेव कितनी ही बार अस्त हो गये, निद्राके बाद उठा, सूर्य उदित भी हुए, किन्तु मैं तो पुनः निद्रामें लीन हो गया, सूर्य-असूर्य कुछ न जान सका। कितने दिन, कितने वर्ष ऐसे ही चले गये, उर्वशीने मेरा सम्पूर्ण विवेक हर लिया, हाय! हाय! उसके द्वारा वञ्चित होकर मैंने कितना समय नष्ट कर डाला! (नित्य प्रयोजनीय भगवत्-भजन किया नहीं। भावोदय होनेपर साधन-सिद्ध भक्तोंका अव्यर्थ-कालत्व धर्म देखा जाता है)॥ ८॥

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्त्ती नरदेवशिखामणिः॥ ९॥

नरदेव-शिखामणि (राज-चूड़ामणि) सम्राट होनेपर भी मैंने अपना यह शरीर कामिनियोंके क्रीड़ा-साधन मृगके रूपमें परिणत

कर दिया। (मैं स्त्रियोंके खेलनेका पशु बन गया।) अहो! मेरी आत्म-विस्मृति भी अतीव विचित्र है। ओह! कैसा मोह है यह!॥ ९॥

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियञ्चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन्॥ १०॥

जिस समय उर्वशी मेरा राज-पाट (राजोचित समस्त भोग सामग्री) और राजेश्वर-स्वरूप मुझे तृणके समान त्याग करके चली गयी, उस समय मैं नग्न होकर उन्मत्तके (पागलके) समान रोदन करते हुए उस पलायनकारिणी प्रणयकुपिताके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। हाय! (भगवत्-सेवाके बिना मनुष्यकी सम्पूर्ण अस्मिता अनादृत ही होती है)॥ १०॥

कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः॥ ११॥

मैं सार्वभौम नरपति—वह मेरा प्रभाव कहाँ चला गया। मेरा तेज (बल) और मेरा ऐश्वर्य (प्रभुत्व) अब कहाँ रहे? इन सबकी तो मुझमें सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि मैं तो गर्दभीके पदसे ताड़ित (गधीकी दुलत्तियाँ खानेवाले) गर्दभके समान उर्वशीके गमन-कालमें उसका पीछा करता रहा॥ ११॥

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥ १२॥

जिसका मन स्त्री द्वारा अपहरण कर लिया गया है, उसके विद्या (हित-अहित-विवेक) साधन-जनित तपस्या, संन्यास (त्याग), शास्त्र-श्रवण (उन्नतिके उपदेश), निर्जन-वास एवं मौन इत्यादि सद्गुणोंका क्या लाभ? (श्रीकृष्णको कान्त माननेवाली परम मुक्त गोपियोंकी चेष्टाके अनुगमनसे जीवका मनोधर्म कामनाओंसे कलुषित नहीं होता)॥ १२॥

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम्।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवर्जितः॥ १३॥

मुझे निखिल मनुष्योंका प्रभुत्व प्राप्त है, मैं चक्रवर्त्ती सम्राट हूँ, परन्तु स्त्रियोंने मुझे गधे एवं बैलके समान वशीभूत कर लिया है। मैं हूँ तो स्वार्थ (कल्याण-स्वरूप-कृष्ण-प्रेम) विषयमें अनभिज्ञ और स्वयंमें पण्डित अभिमान कर बैठा हूँ। मुझ जैसे मूर्खको धिक्कार है। (काम-किङ्कर अवस्था नितान्त निन्दनीय एवं घृण्य है)॥ १३॥

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा॥ १४॥

मैं वर्षों तक उर्वशीके अधरामृतका पान करता रहा, किन्तु मेरे चित्तमें उत्पन्न काम शान्त नहीं हुआ, क्रमशः अधिक बढ़ता गया जैसे अग्नि बार-बार आहुति प्राप्त करके तृप्त नहीं होती, अधिक बढ़ती जाती है॥ १४॥

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं कोऽन्वन्यो मोचितुं प्रभुः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम्॥ १५॥

इस लोकमें आत्माराम मनुष्योंके उपास्य भगवान् अधोक्षज श्रीहरिके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस पुंश्चलीके द्वारा अपहृत मेरे चित्तकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है; अतः मैं अबसे परमेश्वर श्रीहरिकी ही आराधना करूँगा। (यज्ञादि कर्मोंसे देवताओंकी आराधना करके मैंने दुःखोंको ही प्राप्त किया, काम तो मेरे चित्तसे गया ही नहीं)॥ १५॥

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः॥ १६॥

उर्वशीने यथार्थ सूक्त (वैदिक) वचनोंके द्वारा मुझे मेरे हित-तत्त्वके विषयमें समझाया भी था (हे पुरूरवा! तुम विरहमें सन्तप्त मत होओ। इन्द्रियाँरूपी वृक तुम्हें खा जायेंगे। स्त्रियोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि इनका हृदय सालावृकके समान नये-नये पुरुषोंको ढूँढ़ता रहता है), परन्तु अजितेन्द्रिय दुर्मतिग्रस्त

मेरे चित्तसे महामोह दूर ही नहीं हुआ। (भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं और उनकी गोपियाँ जीवोंकी एकमात्र गुरु हैं—जबतक यह उपलब्धि नहीं होती, तब तक जीवकी दुर्मति शुद्ध नहीं होती)॥ १६॥

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः।
रज्जुः स्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः॥ १७॥

कोई व्यक्ति अपनी भ्रान्तिके कारण रस्सीको सर्प समझकर उससे डर जाय, तो जैसे उस स्थानपर रस्सीका कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार इस स्थानपर अजितेन्द्रियताके कारण मैं स्वयं ही अपराधी हूँ, उर्वशीने मेरा कोई अपकार नहीं किया है। अज्ञ व्यक्ति अपने अज्ञानसे ही भयभीत होता है। इसीसे भ्रम और मोह उत्पन्न होते हैं॥ १७॥

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥ १८॥

कहाँ दुर्गन्ध इत्यादि दुर्गुणोंसे युक्त अति मलिन, अपवित्र शरीर और कहाँ पुष्पके समान सुगन्ध, सौकुमार्य इत्यादि सुन्दर गुण? मैंने अज्ञानताके कारण उर्वशीकी देहमें इतने सुन्दर गुणोंका आरोप कर लिया॥ १८॥

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते॥ १९॥

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितञ्च मुखं स्त्रियाः॥ २०॥

यह शरीर माता-पितासे उत्पन्न होनेके कारण उनकी सम्पत्ति है अथवा पत्नीको भोगप्रद होनेके कारण उसकी सम्पत्ति है? अथवा स्वामीके अधीन होनेके कारण (उसके भोगके कारण) उसकी क्रीत सम्पत्ति है? अथवा अन्त्येष्टिक्रियाके समय अग्निकी आहुति होनेके कारण उसकी सम्पत्ति है? अथवा (देह-दहन न होनेपर)

कुत्ते, गीधका भक्ष्य होनेके कारण उनकी सम्पत्ति है? अथवा जीव (आत्मा) शरीर कृत शुभ-अशुभका (पाप-पुण्यका) फल-भागी होनेके कारण यह शरीर आत्माकी सम्पत्ति है? अथवा उपकारिताके कारण बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्ति है (अथवा अधर्म सम्बन्धसे शत्रुओंकी सम्पत्ति है)?—इस प्रकार कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। अविवेकी मनुष्य ऐसे अनिश्चित तुच्छ, परिणामशील अपवित्र (मल-मूत्रसे भरे) शरीरमें, 'अहो इस रमणीका मुख अत्यन्त सुरम्य है, नाक अति सुन्दर है, मुस्कान अति मनोरम है'—इस प्रकार कल्पनाओंका आरोप करके देहमात्रमें (जिसका अन्त भस्म अथवा विष्ठामें होता है) ही ममता एवं आसक्ति कर लेते हैं। मेरे जैसे अहङ्कार विमूढ़ात्मा अनित्य सम्बन्धमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ १९-२०॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥ २१॥

जो लोग त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और हड्डियोंके ढेर इत्यादिके समष्टिभूत और मल-मूत्र तथा पीवसे भरे हुए इस शरीरमें रमण करते हैं, तो मुझ जैसे उन रमणशील पुरुषोंमें एवं मल-मूत्रके कीड़ोंमें क्या अन्तर है?॥ २१॥

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ २२॥

विवेकी पुरुष इन सबपर विचार करके स्त्रियों और स्त्रीलम्पट पुरुषोंका सङ्ग किसी भी प्रकारसे न करे। स्त्री आदि विषय और चक्षु आदि इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार (चाञ्चल्य) होता है, अन्यथा वह चञ्चल नहीं होता॥ २२॥

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते।
असंप्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः॥ २३॥

अदृष्ट (जिसको कभी प्रत्यक्ष देखा नहीं गया है) अथवा अश्रुत (जिसके विषयमें कभी सुना नहीं गया है) विषयोंके कारण

चित्तमें क्षोभ (मनमें विकार) उपस्थित नहीं होता, अतएव दर्शन एवं श्रवण करनेवाले प्राण एवं इन्द्रियोंके संयम करनेवाले व्यक्तिका मन निश्चल एवं शान्त रहता है॥ २३॥

तस्मात् सङ्गो न कर्त्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविस्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥ २४॥

अतएव स्त्री अथवा स्त्रैण मनुष्योंके साथ किसी भी प्रकारसे वाणी, कान तथा मन आदि इन्द्रियका सङ्ग नहीं करना चाहिए (न तो उनसे बात करे, न उनकी बात सुने, यहाँ तक कि उसे देखे भी नहीं), क्योंकि कामादि षड्वर्ग पण्डितोंके लिये भी विश्वासयोग्य नहीं हैं। स्थिर बुद्धिवाले ज्ञानियोंकी जब ऐसी दुर्दशा हो सकती है, तो मेरे जैसे यथेच्छाचारी, अन्याभिलाषी एवं चञ्चलमति मनोधर्मी अज्ञ जीवके विषयमें कहना ही क्या है?॥ २४॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजराजेश्वर पुरूरवाने इस प्रकार सुन्दर उद्गारोंका प्रकृष्टरूपसे गान करते हुए उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया। वे अपने हृदयमें अन्तर्यामी-स्वरूप मेरा अनुभव करने लगे। मेरे प्रेमास्पद स्वरूपका ज्ञान होनेके कारण वे मोहसे निवृत्त हो गये और उन्होंने परम शान्ति प्राप्त की॥ २५॥

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥ २६॥

अतएव विवेकशील मनुष्योंको दुःसङ्गका परित्याग करके साधुओंका सङ्ग करना चाहिए, क्योंकि साधु ही अपने नित्यमङ्गलकारी उपदेशोंसे मनकी घोर आसक्तिको दूर कर

सकते हैं। (सुकृति, तीर्थ, देवता, शास्त्र-ज्ञानादिमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है।)॥ २६॥

सन्तोऽनपेक्षाः मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २७॥

साधु कैसे होते हैं तो सुनो—साधु अपने सङ्गीका आत्यन्तिक मङ्गल करते हैं; वे ज्ञान-कर्मादिसे निरपेक्ष, स्वार्थपरायण देवता, मनुष्यादिकी अपेक्षा नहीं रखनेवाले होते हैं अर्थात् निष्काम, प्रशान्त (अपने द्वेषीपर भी क्रोध न करनेवाले), समदर्शी (बन्धु, शत्रु एवं निरपेक्ष व्यक्तियों पर समान दृष्टि रखनेवाले), ममत्व बुद्धि-रहित, निरहङ्कारी (अहं बुद्धिसे रहित), शीतोष्ण, मान-अपमानादि द्वन्द्वोंसे रहित एवं मद्‌गत्तचित्त होते हैं। वे कहीं भी कुछ भी परिग्रह नहीं करते (अर्थात् या तो अविवाहित होते हैं या पत्नी-पुत्रादिमें अनासक्त होते हैं)—इनको ही साधु कहा गया है॥ २७॥

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥ २८॥

हे महाभाग उद्धव! उन महासौभाग्यवान् साधुओंके बीच सर्वदा मेरी लीला-कथाओंका कीर्त्तन हुआ करता है और उन लीला-कथाओंके सेवन करनेवाले मनुष्योंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उनका परम मङ्गल होता है॥ २८॥

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥ २९॥

मत्परायण जो व्यक्ति आदर और श्रद्धाके साथ साधुओंके मुखसे निःसृत मेरी लीला-कथाओंका श्रवण करते हैं, गान करते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे निश्चय ही मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं॥ २९॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥ ३०॥

जो सन्त पुरुष अचिन्त्य अनन्त गुणोंके आश्रय चिदानन्दमय केवल अनुभव तथा विशुद्ध आत्मा परब्रह्म स्वरूप मेरी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उन साधुपुरुषोंके लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। वास्तव-वस्तुका कैङ्कर्य-वरण (दासत्व स्वीकार करना) ही सौभाग्यका परिचय है॥ ३०॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ ३१॥

भगवान् अग्निदेवका आश्रय करनेसे जिस प्रकार मनुष्योंके शीत-भय अथवा अन्धकार-भय दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार सन्त पुरुषोंका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवकी कर्म-जड़ता, संसार-भय एवं इस त्रिगुणात्मक संसारका मूल अज्ञान—ये सभी विघ्न सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं। साधु-सङ्ग अग्निकी दाहिका शक्तिके समान प्रबल है॥ ३१॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सुमज्जताम्॥ ३२॥

सुदृढ़ नौका जिस प्रकार जलमें डूबे हुए मनुष्योंका परम आश्रय है, उसी प्रकार घोर संसार-सागरमें उच्च-नीच योनियोंमें विचरनेवाले प्राणियोंके लिये ब्रह्मज्ञ, शान्तचित्त साधुगण ही परम आश्रय-स्वरूप हैं। भगवद्-भक्ति बद्ध जीवोंको सुदृढ़ नौकाके समान आश्रय प्रदान करती है। साधु-सङ्गरूप नौकामें आरोहण करनेपर तापत्रयका उन्मूलन हो जाता है॥ ३२॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्त्तानां शरणन्त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥ ३३॥

अन्न जिस प्रकार प्राणियोंका जीवन-स्वरूप है, उसी प्रकार मैं भी आर्त्त प्राणियोंका आश्रय-स्वरूप हूँ (जिस प्रकार अन्नके बिना प्राण नहीं रह सकते, उसी प्रकार साधुओंके बिना भक्ति सिद्ध नहीं होती)। जिस प्रकार अनाथ एवं दीन-दुःखियोंका मैं

आश्रय हूँ, उसी प्रकार भक्ति-प्रार्थियोंके रक्षक साधुगण हैं। धर्म जिस प्रकार काल-पाशसे भयभीत लोगोंका परलोकमें वित्तस्वरूप अर्थात् रक्षक है, उसी प्रकार संसार-पतनशील एवं भजन-मार्गमें काम-क्रोधादि दस्युओंके पाशसे भयभीत मनुष्योंके लिये साधु ही भक्ति-पथके रक्षक हैं॥ ३३॥

सन्तो दिशन्ति चक्षुंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ३४॥

सूर्यदेव सम्यक् उदित होनेपर भी केवल बाह्य नेत्रोंको ही प्रकाश देते हैं, जबकि साधु मनुष्योंके आन्तरिक ज्ञान-चक्षुको प्रकाशित कर देते हैं, नवधा भक्तिका दान करते हैं। भक्ति-पथपर चलनेवाले मनुष्योंके लिये साधु ही देवता (इन्द्रादि नहीं), बान्धव (पिता, चाचा, मामा आदि नहीं), आत्मा (देहादि नहीं) एवं इष्टदेवस्वरूप हैं। सन्तोंके रूपमें मैं ही विद्यमान रहता हूँ॥ ३४॥

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे ऐलगीतं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार महाराज पुरूरवाको उर्वशी-लोककी स्पृहा न रही। सत्सङ्गके कारण वे मुक्त होकर आत्मारामताको प्राप्त हो गये तथा स्वच्छन्दरूपसे पृथ्वीपर विचरण करने लगे। उर्वशी-लोकसे निःस्पृह होकर वे पृथ्वीपर चले आये थे। शरीरधारी होनेपर भी मुक्त जीवों एवं बद्धजीवोंमें साम्य नहीं है। एक सिद्धिको प्राप्त कर चुका है और दूसरा चञ्चलमनका किङ्कर अर्थात् सांसारिक सुख और वित्त आदिका भिक्षुक है॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात् त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥ १॥

उद्धवने कहा—हे सात्वतर्षभ (हे यादवश्रेष्ठ)! हे प्रभो! भक्तोंमें जो सात्वत अर्थात् अधिकारी श्रेष्ठ भक्त, जिसका आश्रयकर जिस प्रकारके विधानानुसार आपकी आराधना (आगम-शास्त्र उक्त अर्चनाङ्ग भक्ति) करते हैं, उस आपकी आराधना-रूप क्रियाविधिका वर्णन कीजिए॥ १॥

एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः॥ २॥

हे देव! नारद, भगवान् व्यास एवं देवाचार्य बृहस्पति इत्यादि मुनि बार-बार यही कहते हैं कि आपकी उपासना (क्रियायोग) ही मानवोंके लिये परम निःश्रेयसजनक (कल्याणकारी) है॥ २॥

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥ ३॥

एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणाञ्च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणाञ्च मानद॥ ४॥

सर्वप्रथम ब्रह्माजीने आपके मुखकमलसे आपके अर्चन-विषयमें उपदेश प्राप्त करके भृगु इत्यादि पुत्रोंको भी वही उपदेश प्रदान किया था। शङ्कर भगवान्ने भी पार्वतीजीको इसी अर्चनकी पद्धति बतलायी थी। हे मानद! मैं मानता हूँ कि आपकी उपासनाको सभी वर्णों, सभी प्रकारके आश्रम-स्थित पुरुषों

यहाँ तक कि स्त्री-शूद्रोंके लिये सर्वश्रेष्ठ श्रेयः-साधन कहा गया है॥ ३-४॥

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर॥ ५॥

हे कमलनयन! हे विश्वेश्वरेश्वर (शङ्कर आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर)! मैं आपका भक्त हूँ, आपका प्रेमी हूँ! आप मेरे कर्म-बन्धन-विमोचनके (मोक्षके) उपायको (क्रियायोगरूप साधनको) मुझे बतलाइए॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! इस अनन्त तथा अपार कर्मकाण्डकी सीमा नहीं है। अतएव मैं संक्षेपमें यथोचितरूपसे क्रमपूर्वक इसका वर्णन करूँगा (लौकिक हो या वैदिक—अभक्तिपूर्वक किया गया कोई भी कार्य नश्वर कर्मके अन्तर्गत होता है)॥ ६॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥ ७॥

हे उद्धव! मेरी पूजा तीन प्रकारसे होती है—वैदिक (चारों वेद तथा उपवेदके मन्त्रोंसे सम्पन्न यज्ञादिसे), तान्त्रिक (पाञ्चरात्रिक एवं गौतमीय तन्त्रादिमें उक्त अष्टादशाक्षर—हरे कृष्ण महामन्त्र आदिसे) तथा मिश्र विधिसे (दोनों प्रकारका अर्चन जिसमें मिश्रित हो, उससे)—इन तीन प्रकारोंमें-से मनुष्य अपनी अभीष्ट विधिके अनुसार मेरा अर्चन करे॥ ७॥

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पुरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे॥ ८॥

जिस समय त्रैवर्णिक पुरुष स्वाधिकार प्रवृत्त वेद-विधानके अनुसार (अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुसार) उपनयन प्राप्त

करके अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कारसे सुसंस्कृत होकर श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक जिस प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं, उस समय उस विषयमें जो विशेष विधि है, उसे मुझसे सुनो। (शौक्र, सावित्र्य एवं दैक्ष्य—तीन प्रकारके जन्म हैं। शौक्र—गर्भसे उत्पन्न जड़-शरीर, सावित्र्य अर्थात् वैदिक अथवा पाञ्चरात्रिक विधानसे उपनयनादि संस्कार एवं दैक्ष्य—दीक्षा-प्राप्ति। दैक्ष्य जन्मसे ही भक्तिका उदय होता है)॥ ८॥

अर्च्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजः।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥ ९॥

द्विज भक्तिसे युक्त होकर अर्चा-विग्रहमें, (मन्त्रादि द्वारा पवित्र) भूमिमें, अग्निमें, सूर्यमण्डलमें, जलमें अथवा अपने हृदयमें शास्त्रोक्त विधिसे निर्दिष्ट उपचारों द्वारा (सामग्रियों द्वारा) निष्कपट-भावसे स्वगुरु अर्थात् अपने इष्टदेवरूपी मेरी पूजा करे। (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गायत्री मन्त्रकी दीक्षा लेकर द्विजत्वको प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक प्रथाके अनुसार ब्राह्मण-बालकको आठ वर्षमें, क्षत्रियको ग्यारह वर्षमें और वैश्यको बारह वर्षमें यज्ञोपवीत दिया जा सकता है।)॥ ९॥

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना॥ १०॥

मनुष्य प्रातःकाल सर्वप्रथम दन्त-धावनादि करके देह-शुद्धिके लिये स्नान करे। वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्रोंके अनुसार मृत्तिका-लेपनादि करके पुनः स्नान करे। मन्त्र देवताके स्मरणसे जड़-भोग प्रवृत्ति दूर होती है॥ १०॥

सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम्॥ ११॥

भगवद्-विषयमें सङ्कल्प-युक्त होकर वेद-विहित सन्ध्योपासनादि कर्मोंका (दिनकी तीन सन्धियोंपर गायत्री मन्त्रका उच्चारण आदिका)

अनुष्ठान करे और तब जिससे कर्मोंका परिहार (कर्मबन्धनका त्याग) हो जाता है, ऐसी मेरी पूजाका अनुष्ठान करे। (वैदिक रीतिसे पूजा करनेपर सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं और मनुष्य कर्म-फलसे पवित्र होते हैं, वे नैष्कर्म्य-प्राप्तिरूप भगवत् पूजामें अग्रसर होते हैं)॥ ११॥

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ १२॥

शिलामयी (प्रस्तरकी), दारुमयी (लकड़ीकी), सुवर्णादि-धातुमयी, लेप्या अर्थात् मृत्तिका-चन्दनादिमयी, चित्रपटादिमें अङ्किता (आलेख्यमयी), बालूकामयी, मनोमयी एवं मणिमयी—इन आठ प्रकारकी प्रतिमाओंकी बात शास्त्रादिमें कही गयी है॥ १२॥

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने॥ १३॥

हे उद्धव! चल एवं अचल—इन दो प्रकारकी प्रतिमाओंमें भगवदधिष्ठान होता है। अचल प्रतिमाकी आराधना करनेपर आवाहन अथवा विसर्जन नहीं किया जाता। प्रतिष्ठाकालमें भी नित्यस्थायीरूपसे आवाहन कर लिया जाता है। भगवान् इसमें प्रकृष्ठरूपसे स्थित रहते हैं, इसलिये इसका नाम प्रतिष्ठा अथवा प्रतिमा है। प्रतिमा ही भगवान्‌का मन्दिर है। भक्तोंके लिये ये जगन्नाथादि प्रतिमाएँ सेव्य वस्तु हैं—इसलिये वे दर्शनादि द्वारा उनका अनुशीलन (निरन्तर पूजन) करते हैं। नित्य रूपवान् भगवान् बाह्य भोग्यरूपमें अवस्थित हैं—इस विचारमें ही आवाहन और विसर्जन है—यह विचार भौतिकवादी है। भक्त भोग्य-प्रतिमाके स्थानपर सेव्य-वस्तु विचार करते हुए दर्शनादि द्वारा उनका अनुशीलन करते हैं॥ १३॥

अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम्।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम्॥ १४॥

चल-प्रतिमामें आवाहन और विसर्जनका वैकल्पिक विधान है (अर्थात् करे अथवा न करे)। पवित्र भूमिपर स्थापित अर्चा-विग्रहका निश्चित रूपसे विसर्जन होता है (इसका आवाहन भी मन्त्रों द्वारा होता है, फिर अर्चा विग्रहसे बाह्य रूप त्यागनेका अनुरोध किया जाता है)। बालूमयी, मृण्मयी एवं आलेख्यमयी मूर्त्तिको छोड़कर सभी प्रकारकी प्रतिमाओंको स्नान कराया जा सकता है। मृण्मयी एवं आलेख्यमयी प्रतिमाका केवल परिमार्जन करना चाहिए (निर्मल वस्त्रसे पोंछना भर चाहिए)। शालग्रामका आवाहन और विसर्जन नहीं होता॥ १४॥

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि॥ १५॥

मेरी प्रतिमामें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सुशोभन पदार्थोंसे (अत्युत्तम द्रव्योंसे) मेरी पूजा की जाती है, किन्तु मेरा निष्काम भक्त अनायास ही प्राप्त पदार्थोंसे एवं हृद्गत भावनामात्रसे (मनोमय द्रव्योंसे) ही मेरी पूजा करे। भक्तके हृदयके भाव ही पूजाके प्रधान उपकरण हैं॥ १५॥

स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः॥ १६॥

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥ १७॥

हे उद्धव! धातु निर्मित प्रतिमामें स्नान तथा अलङ्कार-प्रदान, पवित्र आधार-भूमि अर्थात् बालूकामयी अथवा मिट्टीकी वेदीपर तत्त्व-विन्यास (अङ्ग और उसके प्रधान देवताओंका तत्-तत् मन्त्रों द्वारा यथास्थान न्यास-पूजन), अग्निमें घृत-तिलादि हवन-सामग्रीकी आहुति, सूर्यका उपस्थान (देवताके निकट उपस्थिति) तथा अर्घ्य द्वारा पूजन, जलमें जल अर्थात् तर्पण आदिके द्वारा यजन (उदकशायी पुरुषावतारकी उपासना) करे। भगवद्-भक्त श्रद्धा-युक्त हृदयके साथ जलादि जो कुछ भी अर्पण करे, वही मेरी

प्रीतिका कारण होता है। मेरी पूजा उत्कृष्ट द्रव्योंसे की जानी चाहिए, पूजाके उपकरण-संग्रहमें दरिद्रता जीवकी सेवा-वृत्तिका ह्रास करती है॥ १६-१७॥

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यञ्च किं पुनः॥ १८॥

अभक्तोंके द्वारा लायी हुई प्रभूत (बहुत अधिक मूल्यवान्) वस्तुएँ मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं। भक्त यदि गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं अन्नादि (नैवेद्यादि) प्रदान करे, तो इस विषयमें कहना ही क्या है?॥ १८॥

शुचिः संभृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः॥ १९॥

पूजाकालमें मनुष्य पवित्र होकर पहले पूजाकी सामग्री एकत्र करे (अपने निकट ही रख ले)। कुश ऐसे बिछाए, जिसके अग्रभाग पूर्वकी ओर रहे। तब उस कुशासन पर पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख होकर बैठ जाय अथवा स्थिर प्रतिमाकी (श्रीमूर्त्तिकी) ओर मुख करके बैठ जाय और उसकी पूजा करे॥ १९॥

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनामृजेत्।
कलशं प्रोक्षणीयञ्च यथावदुपसाधयेत्॥ २०॥

(तत्पश्चात् गुरु आदिको नमस्कार करके गुरुके उपदेशानुसार) मूलमन्त्रके द्वारा यथायथ अङ्ग-न्यास और कर-न्यास करे। इसी प्रकार अर्चा-विग्रहमें भी न्यास-क्रिया सम्पन्न करे। पूर्व निवेदित निर्माल्यादि वस्तुओंको हटाकर अपने पवित्र हाथोंसे मेरी प्रतिमाको पोंछ दे। प्रोक्षण-पात्र (पोंछने आदिके लिये जलसे भरे पात्र) एवं पवित्र कलश (जलसे पूर्ण कुम्भ) को चन्दन, पुष्पादि द्वारा यथोचितरूपसे सुसज्जित करे॥ २०॥

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्चसाधयेत्॥ २१॥

उस प्रोक्षणीय-पात्रके जलसे पूजाका स्थान, पूजा-सामग्री एवं अपनी देहपर छिड़काव करे। तदनन्तर कलशमें-से पाद्य, अर्घ्य और आचमन हेतु तीन पात्रोंमें जल भरे एवं उन्हें गन्ध, पुष्पादि द्वारा सुसज्जित करे। [पूजा पद्धतिके अनुसार पात्रोंमें निम्न वस्तुओंको रखा जाय। पाद्यपात्रमें—(चरण-पखारनेके पात्रमें) साँवाके दाने, दूर्वा, कमल-पुष्प एवं अपराजिता पुष्प। अर्घ्यपात्रमें—(पूजा-पात्रमें) चन्दन, पुष्प, अक्षत, जौ, कुशाग्र, तिल, सरसों एवं दूर्वा। आचमनीय-पात्रमें—(भगवान्‌के मुख-प्रक्षालन पात्रमें) जायफल, लौंग एवं कक्कोल]॥ २१॥

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि देशिकः।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥ २२॥

पूजक पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीयके लिये तीनों अर्चनकारी पात्रोंका यथाक्रमसे हृदयमन्त्र (हृदयाय नमः), शिरोमन्त्र (शिरसे स्वाहा), शिखा मन्त्र (शिखायै वषट्) तथा गायत्री मन्त्रसे अभिमन्त्रित करते हुए शोधन करे। समर्थ होनेपर 'केशव-कीर्त्ति' न्यास करे॥ २२॥

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥ २३॥

(सर्वप्रथम भूत-शुद्धि अर्थात् देहगत शुद्धि आवश्यक है) अतः देहके कोष्ठगत वायुको (प्राणवायुको) आन्तरिक प्राणायामादि द्वारा शोधित एवं आधारगत अग्नि द्वारा दग्ध (शुद्ध) करे। तत्पश्चात् ललाट-स्थित चन्द्रमण्डलसे अमृत-वृष्टि द्वारा मलिनता-पूर्ण दग्ध देहके अमृतमय होनेपर नादके अन्तमें (प्रणवके अकार, उकार, मकार, बिन्दु एवं नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें) सिद्धगणों द्वारा चिन्तित (ध्यान-सिद्ध), हृत्-कमलमें मध्यवर्त्तिनी सूक्ष्माकृति मेरी जीवकला (जीव जिसकी कलाएँ—अंश हैं) अर्थात् श्रीनारायणमूर्त्तिका ध्यान करे। (मुक्त पुरुष ॐकार नाद ध्वनिके

अन्तमें भगवान्‌का ध्यान करते हैं। आकाशमें एक सूर्यके उदित होनेपर जगत् आलोकित होता है, इसी प्रकार भक्त साधकके हृदयमें सूर्यमण्डलका उदय होता है। चन्द्रमण्डलके आलोकसे रात्रिका अन्धकार भी पलायन कर जाता है। तत्पश्चात् अत्युज्ज्वल अग्निमण्डल है, जिससे किसी भी समय हृदयमें ज्ञान आलोकका अभाव नहीं रहता है।)॥ २३॥

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्॥ २४॥

यह जीव-कला आत्मस्वरूपिणी है। आत्मरूपमें (अपने भावों द्वारा) चिन्तित उक्त मूर्त्तिके निज देह एवं अन्तःकरणमें व्याप्त होनेपर (जैसे दीप-शिखासे घर व्याप्त हो जाता है) प्रथमतः हृदयमें (मन-ही-मनमें) उसकी (मेरी मूर्त्तिकी) मानसोपचारसे पूजा करे और उसमें तन्मय हो जाय। तत्पश्चात् प्रतिमादिमें परमात्माका आवाहन (आमन्त्रण) एवं स्थापन करते हुए उसके (मेरे) अङ्गोंमें मन्त्रों द्वारा न्यास क्रिया सम्पन्न करे तथा पवित्र सामग्रीसे सम्यक्‌रूपसे अर्चन करे॥ २४॥

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम॥ २५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये॥ २६॥

(उपस्पर्श अर्थात् आचमन एवं अर्घ्य समर्पण करनेके पश्चात्) मेरे आसनकी कल्पना करे। इस आसनके आग्नेयादि कोणोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यके अधिष्ठात्री देवता विराजमान हैं, पूर्वादि दिशाओंमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्यके देवता स्थित हैं। आसनकी सभी दिशाओंमें रहनेके कारण इनको आसन-देवता कहा गया है। मध्यस्थलमें अष्टदलकमल है। कमलके प्रत्येक पत्रमें पूर्वादि क्रमसे विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी,

सत्या, ईशानी और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विद्यमान हैं। उस आसन-पर्यङ्कमें सत्त्व, रजस एवं तमस—इन तीन पटरियोंका बना हुआ पीठ है। आसनकी यह अष्टदलपद्म (मेरा योगपीठ) कर्णिका एवं पीताभ केशरादिसे सुदीप्त है। इस प्रकारसे कल्पना करके मुझे उस आसन पर बिठाए। तब भोग एवं मोक्ष—दोनों प्रकारकी सिद्धिके लिये वैदिक एंव तन्त्रोक्त विधानसे पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय एवं स्नानीय इत्यादि मेरे उद्देश्यसे प्रदान करे॥ २५-२६॥

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुषलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सञ्चानपूजयेत्॥ २७॥

पूजाके बाद आठों दिशाओंमें सुदर्शन-चक्र, पाञ्चजन्य-शङ्ख, कौमोदकी गदा, श्रीवास कमल, नन्दक असि (खड्ग), शार्ङ्ग धनुष, बाण, हल एवं मुसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा करे। बादमें कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला एवं श्रीवत्स (वक्षःस्थित रोमावली) की यथाक्रमसे वक्षःस्थल पर अर्चना करे॥ २७॥

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलञ्चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम्॥ २८॥

तदनन्तर आठों दिशाओंमें नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद, कुमुदेक्षण—श्रीनारायणके (मेरे) नित्यसिद्ध पार्षद ऐश्वर्यरसाश्रित इन आठ आश्रय-विग्रहोंकी आठ दिशाओंमें सेवा करे एवं सम्मुखमें श्रीगरुडजीकी पूजा करे॥ २८॥

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥ २९॥

अनन्तर चारों कोणोंमें दुर्गा, विनायक, व्यास एवं विष्वक्सेनकी, वामभागमें गुरुवर्गकी एवं क्रमानुसार पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंको सम्मुख (अर्चाविग्रहके अभिमुख) रखकर प्रोक्षण एवं अर्घ्यादि द्वारा पूजन करे। ये सभी श्रीनारायणके आवरण देवता वैकुण्ठवासी हैं। ये दुर्गा एवं विनायक (गणेश) देवी धामके काम

एवं अर्थ (सिद्धि) दाता दुर्गा एवं गणेश नहीं हैं। ये भगवान्‌के सङ्गी नित्य वैकुण्ठवासी हैं॥ २९॥

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति॥ ३०॥

स्वर्णधर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभि राजनादिभिः॥ ३१॥

यदि यथेष्ट वैभव (अर्थ-सामर्थ्य) रहे तो चन्दन, उशीर (खस), कपूर, कुङ्कुम-केशर, अगुरु (अरगजा) एवं सुवासित जल द्वारा प्रतिदिन अभिषेक करे। इस अभिषेक-कालमें 'सुवर्णं धर्मं परिवेदनम्' अर्थात् स्वर्ण-धर्म-नामक वेदके अध्यायसे स्वर्ण धर्मानुवाक, 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन, सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुष पूर्वजेति' इत्यादि महापुरुष विद्या (महापुरुष नामक मन्त्र), 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इत्यादि मन्त्रात्मक पुरुष सूक्त, 'इन्द्र नरो नेमाधिता हवन्त' इत्यादि साममन्त्रोक्त राजनादि सामगीत एवं रोहिण्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करता रहे॥ ३०-३१॥

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग् गन्धलेपनैः।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥ ३२॥

मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञसूत्र, आभूषण, पत्र-रचना, तुलसी-पत्र-माला, पुष्पहार, गन्ध एवं अन्यान्य अनुलेपन द्वारा प्रीतिपूर्वक मेरा यथोचित रूपसे शृङ्गार करे॥ ३२॥

पाद्यमाचमनीयञ्च गन्धं सुमनसोऽक्षतान्।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः॥ ३३॥

पूजक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य (चरण-प्रक्षालनके लिये जल), आचमनीय (मुख धोनेका जल), चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि अन्यान्य उपहार्य सामग्रियाँ अर्पण करे॥ ३३॥

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान्।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत्॥ ३४॥

यदि पर्याप्त वैभव रहे, तो गुड़, खीर (परमान्न), घृतपक्व गुँजिया, पूरी (घीमें तली), मालपूए, लड्डू, हलवा, दही, तरकारियोंका सूप एवं अन्यान्य स्वादिष्ट व्यञ्जनोंकी व्यवस्था करे॥ ३४॥

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम्॥ ३५॥

इसी प्रकार एकादशी आदि विशेष पर्वपर अथवा सामर्थ्य रहे, तो प्रतिदिन ही महाभिषेक करे। सर्वप्रथम दन्तधावन (नीमकी दातुन द्वारा), सुगन्धित तैल द्वारा अङ्ग-मर्दन, कुङ्कुम-कपूर-चूर्णादि द्वारा उबटन, पञ्चामृत (दूध, दधि, मधु, घृत एवं शर्करा) द्वारा स्नान, सुगन्धित जल द्वारा स्नान, बहुमूल्य कौशेय वस्त्र, रत्न, अलङ्कारादि प्रदान, चन्दनादि लेपन एवं पुष्पमाला प्रदान, दर्पण-प्रदर्शन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, आचमनीय, सुगन्धित, जल, ताम्बूल एवं माला द्वारा आरती, शयनार्थ पुष्प-शय्या, शयन-सेवाके लिये व्यजन एवं चामर-अर्पण करे। तत्पश्चात् गीत एवं नृत्य आदिका विधान भी करे॥ ३५॥

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्त्तवेदिभिः।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम्॥ ३६॥

(अधिक फल प्राप्तिके इच्छुकोंके लिये अग्निमें पूजाकी विधि बतला रहे हैं) वेदोक्त विधानसे परिष्कृत भूमिमें सीमासूत्र (तीन लड़ोंवाली मेखलासे लिपटी हुई), गर्त्तादि (एक हस्त मात्र गहरे गड्ढे) से युक्त अग्नि कुण्ड (यज्ञ-वेदी) का निर्माण करे और उसमें प्रज्वलित अग्निको स्थापित करे। उस अग्निको हाथमें लेकर उसके द्वारा चारों दिशाओंमें प्रज्वलित अग्निका परिसमूहन करे अर्थात् उसे एकत्र करे॥ ३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि।
प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥ ३७॥

अनन्तर वेदीके चारों ओर यथाविधि बीस-बीस कुश बिछाकर (कुश-कण्डिकाकी रचना करके) चारों दिशाओंसे जल छिड़के,

व्याहृति (मन्त्र-पाठ) द्वारा अन्वाधान कृत्यका (अग्निमें चारों समिधाओंका आधान) सम्पादन करे, समिधाको मिला ले—इस यज्ञीय द्रव्यको (होमकी उपयोगी सामग्रीको) व्यवस्थित करके अग्निके उत्तर भागमें रखे। इसके बाद प्रोक्षणीय पात्रोदक द्वारा समस्त यज्ञीय द्रव्यका प्रोक्षण करके अग्निमें मेरा ध्यान करे॥ ३७॥

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम्॥ ३८॥

स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ३९॥

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः॥ ४०॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोड़शर्चावदानतः।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टिकृतं बुधः॥ ४१॥

अनन्तर तप्तकाञ्चनवर्ण, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मसे शोभित चतुर्भुज, प्रशान्त, मृणाल-सूत्र-निर्मित पद्मकेशर तुल्य पीतवसनधारी, समुज्ज्वल किरीट-कटक (स्वर्ण-वलय), कटिसूत्र (मेखला) एवं अङ्गदसे (केयूर अथवा बाजूबन्दसे) विभूषित, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स अङ्कित, देदीप्यमान कौस्तुभसे अलङ्कृत, वनमालाधारी मेरे रूपका चिन्तन एवं आराधन करे। इसके बाद शुष्क समिधाओंको घृत-सिक्त करके (सूखी लकड़ीके खण्डोंको घी नामक हविष्यमें डुबोकर) अग्निमें चारों ओरसे आहुति प्रदान करे। आज्य भागकी (पिघलाये हुए घीकी—अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा—इन दो मन्त्रोंसे) एवं आधार भागकी (प्रजापतसे स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा—इन विशेष मन्त्रोंके उच्चारणके साथ) दो-दो आहुतियों द्वारा हवन करे, इसके बाद घृत-सिक्त तिलादि हव्य-द्रव्यकी आहुतियाँ दे। तदनन्तर अष्टाक्षर मूलमन्त्र 'ॐ नारायणाय नमः' एवं सोलह ऋक्से (पंक्तियोंसे) युक्त पुरुषसूक्तके प्रत्येक मन्त्रसे घीकी आहुति दे तथा स्वाहान्त

नाम-मन्त्रोंसे यथाविधि धर्मादि (यमराजादि) आसन देवताओंके उद्देश्यसे स्विष्टिकृत नामक आहुतिसे (स्विष्टकृत स्वाहा—इस प्रकार स्वाहायुक्त मन्त्रों द्वारा) हवन करे॥ ३८-४१॥

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत्।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन् नारायणात्मकम्॥ ४२॥

तदनन्तर अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्‌की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे। आठों दिशाओंमें नन्द, सुनन्दादि पार्षदोंके उद्देश्यसे बलि (पूजोपहार) प्रदान करे। तदनन्तर अर्चाविग्रहके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान्‌का स्मरण करे एवं यथाशक्ति मूल नारायणात्मक मन्त्रोंसे अर्थात् अपने इष्टमन्त्रसे जप करे॥ ४२॥

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत्।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत्॥ ४३॥

उसके बाद भगवान्‌को आचमनीय (मुख-शुद्धिके लिये जल) प्रदान करे। नैवेद्यभाग (प्रसाद) विष्वक्सेनको निवेदन करे। इसके बाद अपने इष्टदेवको सुगन्धयुक्त ताम्बूलादि मुखवास प्रस्तुत करे तथा पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। विष्वक्सेनके आदेशानुसार स्वयं प्रसाद ग्रहण करे॥ ४३॥

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम।
मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत्॥ ४४॥

तत्पश्चात् कुछ समय तक मेरे लीला-चरितका गान करे, कीर्त्तन करे, दूसरोंको सुनाए, स्वयं सुने, मेरी लीलाओंका अभिनय करे एवं नृत्यादि करते हुए उत्सव-आनन्दके इन क्षणोंमें तन्मय हो जाय॥ ४४॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥ ४५॥

इसके बाद ऋषि प्रोक्त अथवा पुराणोक्त स्तुति-स्तोत्र या स्वरचित छोटे-बड़े स्तवों द्वारा अथवा सामान्य स्तोत्रों द्वारा स्तुति

करे। तत्पश्चात् "हे भगवन्! प्रसन्न हों!"—इस प्रकार कहते हुए भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे। (भक्तोंपर भगवान्‌की किस प्रकारसे करुणा होती है—यह स्तव-स्तुतियोंके प्रसङ्गमें स्पष्ट दिखायी देता है। जिनकी पौराणिक स्तव करनेकी सामर्थ्य नहीं है—वे गोपाल, गोविन्द, दामोदर, गदाधर इत्यादि गा-गाकर स्तुति करें—इससे भी भगवान् सन्तुष्ट होते हैं।)॥ ४५॥

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्याञ्च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥ ४६॥

मेरे चरण-युगलमें अपना मस्तक रखकर अपने दाएँ हाथसे मेरा दायाँ और अपने बाएँ हाथसे मेरा बाँया चरण धारण करे तथा "हे प्रभो! मृत्युमुखरूप समुद्रसे मैं अति भयभीत होकर आपके शरणागत हुआ हूँ, आप मेरी रक्षा करें"—यह कहकर प्रणाम करे। [गर्भगृहमें (श्रीकृष्ण-मन्दिरमें) सामनेसे, पीछेसे, श्रीमूर्त्तिके बाएँ भागसे तथा निकटसे जप, होम अथवा नमस्कार नहीं करे। भगवान्‌की दायीं ओर कुछ दूर रहकर मस्तक झुकाकर वन्दना करें।]॥ ४६॥

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः॥ ४७॥

पूर्वोक्त प्रार्थना करते हुए मुझे अर्पित माल्यको मस्तकपर इस भावसे धारण करे कि मैंने (भगवान्‌ने) इस निर्माल्यको कृपापूर्वक प्रदान किया है। उसका आघ्राण भी करे। यदि सैकतादि प्रतिमाको विसर्जन करना हो, तो जो दिव्य तेज पहले प्रतिमामें नियोजित था, उसीको अपने हृदय-कमल स्थित ज्योतिमें उत्कर्षके साथ विराजमान करे। (अर्थात् यह भाव रखे कि प्रतिमासे जो दिव्य ज्योति निकल रही है, वह मेरे हृदय स्थित ज्योतिमें प्रवेश कर रही है। अपने हृदयमें गुप्त भावसे रक्षण ही विसर्जन है।)॥ ४७॥

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः॥ ४८॥

प्रतिमादिमें जिस समय जिस अधिष्ठानमें श्रद्धा होती है, उस समय उसी अधिष्ठानमें मेरी पूजा करे; क्योंकि मैं सर्वान्तर्यामीरूपसे समस्त प्राणियोंमें और पृथक्‌रूपसे स्वयंके हृदयमें भी सर्वदा अवस्थित हूँ। (श्रीअर्चा-विग्रह भगवान्‌का अवतार है। अतः जिस-जिस प्रतिमामें भगवान्‌के स्वरूपकी उद्दीपना होती है, उस-उस प्रतिमामें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का षोडशोपचार अर्चन करना चाहिए। अर्चा-विग्रह अर्चककी श्रद्धाका आकर्षण करके उसका मङ्गल-विधान करता है।)॥ ४८॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥ ४९॥

हे उद्धव! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक क्रियायोगों द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि भुक्ति-मुक्ति प्राप्त करता है। वैदिक एवं पाञ्चरात्रिक—दोनों मन्त्रोंके अनुशीलनसे भगवत्-कृपा प्राप्त होती है॥ ४९॥

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद्दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥ ५०॥

सामर्थ्यवान् भक्त सुदृढ़ मन्दिरकी स्थापना करे। वहाँ मेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करे। पूजामें प्रतिदिन पुष्पार्पणके लिये समीपमें ही सुरम्य उद्यान बनवाए। (पुष्पके स्वाभाविक सौगन्ध्य, सौकुमार्य एवं माधुर्यसे देवता मुग्ध हो जाते हैं। जो फूल-हिंडोलामें भगवान् जनार्दनकी प्रचुर पुष्पोंके द्वारा अर्चना करते हैं, वे देव-दुर्लभ पदको प्राप्त होते हैं।) जन्माष्टमी, गौर-जयन्ती आदि पर्व यात्राओंमें डोलाको पुष्पोंसे सज्जित करे। वसन्त-पञ्चमी, होली आदि महोत्सवोंमें उत्साहपूर्वक विशेष पूजा करे॥ ५०॥

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात्॥ ५१॥

महापर्वोंमें राजसेवा एवं प्रतिदिन नियमितरूपसे पूजा करनेके लिये जो स्वाभीष्ट देवताके उद्देश्यसे अपना खेत, बाजार, नगर अथवा ग्रामादि समर्पण कर देता है, वह मेरे ही समान सम्पदाको प्राप्त होता है॥५१॥

प्रतिष्ठाय सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥५२॥

फल चाहनेवालोंके लिये कह रहे हैं—मेरी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका सार्वभौम-पद, मेरे मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी धारावाहिक व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके अनुष्ठान करनेसे मेरा सारूप्य प्राप्त होता है। यह सेवा निरपेक्षरूपसे भी की जा सकती है। निष्काम सेवाको ही शुद्धभक्ति कहा गया है। सेव्यका सौख्य-विधान ही भक्तियोग है॥५२॥

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥५३॥

जो निष्कामभावसे भक्तियोगके द्वारा साक्षात्‌रूपसे मेरी पूजा करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। जो पूर्वोक्त विधियोंके साथ मेरी पूजा करते हैं, वे भी प्रेमाभक्ति और मुझे प्राप्त करते हैं॥५३॥

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम्॥५४॥

जो व्यक्ति अपनी दी हुई या दूसरोंके द्वारा दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका अथवा द्रव्यका अपने भोगके लिये हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षों तक विष्ठा-भोजी कृमिका (कीड़ेका) जन्म प्राप्त करता है॥५४॥

कर्त्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम्॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः॥२७॥

अपहरण (चोरी) करनेवाले मनुष्यको उस विषयमें जो सहायता करते हैं, अथवा प्रेरणा देते हैं अथवा अनुमोदन करते है, वे भी मृत्युके बाद उक्त कर्मके समान ही फलभोगी होते हैं। वे परलोकमें अपहरणकारी मनुष्यके समान ही फल प्राप्त करते हैं। ऐसे अपकर्मोंमें सहयोगीका अधिक साथ रहा, तो उसको भी अधक फल भोगना पड़ता है॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सत्ताईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टाविंशोऽध्यायः

सब प्रकारके मतों तथा जगत्को मिथ्या कहनेवाले अद्वैतवादियोंके ज्ञानयोगका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! प्रकृति और पुरुषके साथ अखिल विश्वकी एकात्मताका दर्शनकर अर्थात् इसे एक अन्तर्यामी परमात्माके द्वारा ही नियन्त्रित जानकर किसीके स्वभाव तथा उसके अनुसार कर्मोंकी न तो स्तुति करनी चाहिए और न ही निन्दा। निन्दा एवं प्रशंसा विश्वका धर्म है। विश्वमें गुणत्रयका प्राबल्य है तथा एकका दूसरेके ऊपर आधिपत्य है। वैकुण्ठमें गुणत्रयकी क्रियाएँ नहीं हैं। प्रकृति एवं पुरुष, द्रष्टा एवं दृश्य सभी एक ही अधिष्ठान-स्वरूप परब्रह्मपर आश्रित हैं॥ १॥

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २॥

जो व्यक्ति दूसरेके स्वभाव और कर्मोंकी प्रशंसा या निन्दा करता है, तो मायिक, असत् द्वैताभिनिवेशके (देह-गेहादिमें अहम् और मम) कारण उसका अमङ्गल उपस्थित होता है अर्थात् वह स्वार्थ विषयसे (अपने सर्वोत्तम हितसे) शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है। अभक्तके कर्म अज्ञतामिश्र होते हैं। उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा न करके सबको मिलकर हरिकीर्त्तन करना चाहिए॥ २॥

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३॥

राजस अहङ्कारका कार्य हैं—इन्द्रियाँ। जब ये निद्रासे अभिभूत हो जाती हैं, तब देहस्थ जीव मनके द्वारा स्वप्न-रूप मायाको प्राप्त होता है और जब मनका भी लय हो जाता है, तब उसकी चेतना नष्ट हो जाती है, वह मृत्यु अथवा मृत्यु तुल्य सुषुप्ति-दशाको प्राप्त होता है। इस प्रकार नाना पदार्थोंका द्रष्टा द्वैत-अभिमानी जीव अपनी अणुचित् नित्य अवस्थितिको भूलकर विक्षेप एवं लयको प्राप्त होता है एवं नानात्व देखने लगता है। भगवान्‌की बहिरङ्गा-शक्तिसे परिणत इस जगत्‌में भोक्तृत्वाभिमान उसकी चेतनाको ग्रस लेता है, भगवत्-सेवा-विमुख वह व्यक्ति मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है जिस तरह प्राज्ञके सम्पर्कसे विश्वका भोगक्षयरूप भ्रंश होता है, उसी प्रकार अनात्माके सम्पर्कसे आत्माका भी स्वरूप भ्रंश हो जाता है॥ ३॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥ ४॥

जब द्वैत मात्र ही असत्य है, तब इस मिथ्या द्वैतमें यह वस्तु उत्कृष्ट है, यह अंश अपकृष्ट है, यह अंश इतना अच्छा है, यह अंश इतना बुरा है—इस प्रकारके विचारसे एक भी वस्तु प्रशंसा या निन्दाका पात्र नहीं हो सकती। विश्वकी सभी वस्तुएँ जो वाणीसे कही जा सकती हैं, मनसे सोची जा सकती हैं—निर्विषय, दृश्य एवं अनित्य (अस्थायी) होनेके कारण उन्हें मिथ्या ही समझो क्योंकि इनका कोई विषय ही नहीं है। जिसमें चित्शक्ति नहीं है, वही द्वैत अर्थात् मिथ्या है। भगवान्‌का विग्रह, नाम, धाम और उनके भक्त चित्‌रूपी हैं, इसलिये वे ही अद्वैत हैं और उन सबसे भिन्न सभी द्वैत हैं। अभक्तिपूर्वक सभी विचार निज अहङ्कारका ही पोषण करते हैं॥ ४॥

छाया प्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्॥ ५॥

छाया (प्रतिबिम्ब), प्रतिध्वनि एवं आभास अर्थात् शुक्ति-रजतादि जिस प्रकार मिथ्या (भ्रामक) वस्तुएँ होकर भी अर्थक्रियासाधक (मनुष्यके हृदयमें भय, कम्प तथा भ्रम उत्पन्न करनेवाली) हैं अर्थात् भ्रान्त दृष्टिसे इनकी कार्यकारिता देखी जाती है। यथा—छाया साथ-साथ चलती है, हाथ-पैर हिलाने पर वह भी हाथ-पैर हिलाती है तथा जलाशयके निकट कोलाहल-रहित समयमें उच्चस्वरसे चीत्कार करनेपर ठीक उसीके अनुरूप प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार मन, अहङ्कार देहादि भाव-पदार्थ मिथ्या हैं, तो भी वे अज्ञानियोंमें भ्रामकताके कारण मृत्युकालपर्यन्त संसारकी विभीषिकाका भय उत्पन्न करते हैं। (जिन्हें ज्ञानके द्वारा संसारकी मृग-मरीचिकाकी असत्यताका बोध हो जाता है, वे भगवान्‌की शरणमें आकर अभय हो जाते हैं एवं जो अज्ञानी भगवान्‌के अभयप्रद चरणोंकी शरणसे वञ्चित हैं, शोक, मोह, भयादिकी धारणाएँ उनको भयभीत करती रहती हैं।)॥ ५॥

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ ६॥

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ ७॥

ईश्वर, प्रभु (अनुग्रह एवं निग्रहकारी), विश्वरूपी परमात्मा ही (अपनी बहिरङ्गा शक्तिसे) इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं विनाश करते हैं—वस्तुतः वे स्वयं ही सृष्ट, पालित एवं विनष्ट होते हैं। (नश्वरताका धर्म विश्वमें आबद्ध है। यहाँ हरि-विमुख बद्धजीवोंकी भूमिका मात्र तात्कालिक है।) सृज्य वस्तुओंकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। सृष्ट-पदार्थ परमेश्वरके अतिरिक्त पृथक्‌रूपसे निर्णीत नहीं हैं अर्थात् सृष्टि आदिका कर्त्ता स्पष्टतः कर्मात्मक होनेपर भी द्वैत नहीं है—परमात्मासे भिन्न सभी कुछ द्वैत है (परमात्मा

हर वस्तुसे तथा हर किसीसे पृथक् हैं, किन्तु किसी भी वस्तु अथवा जीवको उनसे पृथक्‌रूपमें निर्णय नहीं किया जा सकता)। वस्तु-तत्त्वका इस प्रकारसे निरूपण होनेपर आत्मामें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—प्रकृतिकी इन त्रिविध प्रतीतियोंको भी मिथ्या जानना चाहिए, क्योंकि ये परमात्मासे भिन्न माया-कृत पदार्थ हैं, जो निर्मूल है तथा त्रिगुणात्मक अचिन्त्य मायाशक्तिके विलासमात्रसे (सत्त्व, रज एवं तमोगुण से) द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्यका खेल अज्ञानियोंको अहङ्कारविमूढ़ात्मा बनाता रहता है। (केवला भक्तिके आश्रयसे जीवकी मायिक तपस्याकी प्रवृत्ति ध्वंस हो जाती है एवं सेवोन्मुख प्रेमाभक्ति इस गुणमय जगत्‌के भोक्तृत्वको नष्ट कर देती है)॥ ६-७॥

एतद्विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥

हे उद्धव! जो ज्ञान-विज्ञानके पराकाष्ठास्वरूप मेरे द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त तत्त्वको अच्छी प्रकारसे जान लेते हैं तथा उसमें निपुण हो जाते हैं, वे सूर्यके समान समभावमें रहकर सर्वत्र विचरण करते हैं—वे प्राकृत मनुष्य और जागतिक-व्यापारकी प्रशंसा अथवा निन्दा नहीं करते। चित्-अचित्-विवेकसम्पन्न ये व्यक्ति ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठमें सभी वस्तुओंके दर्शनमें समर्थ होते हैं। अपनी सेवोन्मुखताके कारण वैकुण्ठमें दास्य सेवाके अधिकारी होते हैं। विश्वभोगकी पिपासा इनमें नहीं रहती॥ ८॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥ ९॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, वेदवाक्य एवं स्वानुभवके (आत्मज्ञानके) द्वारा जान लेना चाहिये कि यह विश्व आदि-अन्त युक्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाशशील मिथ्या पदार्थ हैं। अतः यहाँ ससङ्गभावसे (अनासक्त होकर) विचरण करना चाहिए।

यह संसार किस प्रकारसे असत् है, वही प्रमाणों द्वारा बतलाते हैं—यथा 'प्रत्यक्ष'—इसके द्वारा ज्ञात होनेवाले घटादि नाशवान तथा असत् हैं। 'अनुमान'के द्वारा जो सावयव होता है जैसे पृथ्वी आदि। पृथ्वी सावयव होनेके कारण दृश्य एवं असत्य है। 'शास्त्र'के द्वारा जैसे आकाश। आकाश सावयव नहीं है तथा प्रत्यक्षका विषय भी नहीं है, किन्तु वह दृष्य है। नीला आकाश सबको प्रतीत होता है। अतएव आकाश आदि एवं अन्तवाला होनेके कारण असत्य है। आत्मसंविदाके द्वारा यह अनुभव होता है कि जो दृश्यमान है वह आदि एवं अन्तवाला है, इसलिये असत् है। इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च ही असत् है॥ ९॥

श्रीउद्धव उवाच—

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥ १०॥

उद्धवने पूछा—हे प्रभो! यह दृश्यमान् द्वैत प्रपञ्च (भौतिक जगत्) यदि द्रष्टा-वस्तु चेतन (अजड़) आत्माका भी नहीं है और दृश्य-वस्तु जड़ शरीरका भी नहीं है, तब यह (जन्म-मृत्यु-रूप संसार) किसका कहा जाएगा? अनात्मा अर्थात् जड़ वस्तुकी दृष्टि-शक्ति सम्भव नहीं है, उसके लिये संसार-दुःखका अनुभव असम्भव है और आत्माका आत्म-दर्शनके अतिरिक्त द्वितीयाभिनिवेश नहीं है, वह स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् है, अतः उसके ज्ञानका लोप सम्भव नहीं है। जब इन दोनोंमें-से किसीकी भी संसार-दशा सम्भव नहीं है, तब इस संसारकी प्रतीतिकी उपलब्धि हुई कैसे?॥ १०॥

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः॥ ११॥

आत्मा अव्यय (विनाशादिका अभाव), त्रिगुणातीत (परस्पर रागादिका अभाव), शुद्ध (पाप-पुण्यादि परिच्छेदोंका अभाव), स्वयंप्रकाश (अज्ञानादि अन्धकारका अभाव), आवरणशून्य (अनात्मके

द्वारा अनावृत) एवं निर्लेप है। अचेतन देह प्रकाश्य काष्ठके समान जड़-पदार्थ है। अग्नि एवं काष्ठका भेद रहनेपर भी जैसे काष्ठ प्रकाश्य है, अग्नि प्रकाशक है, उसी प्रकार देह प्रकाश्य है, जीवात्मा प्रकाशक है; अतः इस लोकमें इन दोनोंमें-से किसकी संसार-दशा हो सकती है?॥ ११॥

श्रीभगवानुवाच—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥ १२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जब तक देह, शरीर एवं प्राणके साथ आत्माका सम्बन्ध रहता है, तब तक अविवेकी व्यक्तियोंके निकट यह अकिञ्चित्कर, अर्थरहित, अफल, मिथ्याभूत संसार प्रकाशरूप फलवान्‌के रूपमें सत्य-सा स्फुरित होता है। अविवेकीकी अज्ञान-जनित उपलब्धि वास्तव उपलब्धि नहीं है॥ १२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ १३॥

स्वप्नमें जिस प्रकार मिथ्याभूत व्याघ्र-सर्प-दंशन इत्यादि अनिष्ट (विपत्) सत्यरूपमें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार विषयोंकी अवर्त्तमानता होनेपर भी उन विषयोंका चिन्तन करनेसे आत्माकी इस संसारके प्रति असत्य बुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती। अज्ञानीकी संसृति-दशा चलती रहती है॥ १३॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥ १४॥

स्वप्न सोये हुए मनुष्यके लिये विविध अनर्थोंको उपस्थित करता है। जागरणकालमें उस मनुष्यको दृष्ट स्वप्नका स्मरण तो रहता है, परन्तु वह उससे मोहित नहीं होता। भौतिक जगत्‌के मिथ्यात्वको बोध करनेवाले आत्मवित्‌के लिये दृश्य जगत्‌की अकर्मण्यता एवं दृश्य वस्तुकी अवास्तविकता सिद्ध हो ही जाती है॥ १४॥

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥ १५॥

अनात्म-प्रतीतिमें मनुष्यको अभावके कारण शोक, प्राप्तिके कारण हर्ष, अमङ्गल-प्राप्तिकी आशङ्कासे भय, तात्कालिक अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिमें क्रोध, इन्द्रिय-तर्पण-उद्देश्यसे लोभ, उसकी आशामें मोह, स्पृहा एवं जन्म-मृत्यु इत्यादि भाव अहङ्कारकी जड़ताके कारण अनुभव होते हैं—वास्तवमें तो ये शोकादि इसी अहङ्कारके कार्य हैं, जो भोगी व्यक्तिके लिये व्यवहारोपयोगी हैं, आत्मवित् तो इनको अनात्मरूपमें जानता है। अतएव उसका संसार नहीं है॥ १५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्त्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार
आधावति कालतन्त्रः॥ १६॥

भोगी सूत्रमें कालाधीन होकर संसार प्रवृत्ति-क्रमसे जो भ्रमण है—उसके उपादान हैं—देह, इन्द्रिय, प्राण एवं मनः पदार्थोंमें अभिमानशील गुण एवं कर्ममय जीवात्मा। गुण एवं कर्मोंसे बना हुआ लिङ्गशरीर उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूर्त्ति (शरीर) है। जिस सूत्रमें ये सब आबद्ध हैं, उसको सूत्रात्मा, महान् महत्-तत्त्व इत्यादि विविध शब्दोंसे एवं बहुत प्रकारसे कीर्त्तित किया जाता है। जीव अहङ्कारवश इस गुण एवं कर्ममय विग्रहको (लिङ्ग-शरीरको) अपना स्वरूप मान लेता है। अहङ्कार जीवकी उपाधि है। जीवात्मा अहङ्कार धर्मको ग्रहण नहीं करता, अहङ्कार ही जीवात्माको बलपूर्वक अपना धर्म ग्रहण करा देता है। इस प्रकार अहङ्कार रूप अविद्या द्वारा बद्ध होकर जीव गुण एवं कर्ममय विग्रहसे कालरूप परमेश्वरकी अधीनतामें संसार-दुःखमें पतित होकर इधर-उधर नाना आकारोंमें भटकता रहता है॥ १६॥

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः॥ १७॥

वस्तुतः यह अहङ्कार-बन्धन निराधार है—इसका कोई यथार्थ आधार नहीं है। यह अहङ्कार अज्ञानके कारण मन, वचन, प्राण एवं शरीरकी चेष्टाओंमें (कार्योंमें) एवं देवता, मनुष्यादि बहुत रूपोंमें प्रकाशित होता है तथा सम्मोह उपस्थित करता है। अतः मन, वचन, प्राण एवं देहमें स्थित अहङ्कारको गुरु-उपासना एवं भगवान्‌की अनन्य-भक्तिसे प्राप्त शाण पर चढ़ाकर तीक्ष्ण-ज्ञान रूपी खड्गसे मूलोच्छेद (जड़से छिन्न-भिन्न) करके आशा, तृष्णासे रहित होकर तथा हृदयमें मौन धारणकर इस पृथ्वीपर अकिञ्चन भावसे विचरण करे। यह अहङ्कार ज्ञान-पथका महाकण्टक स्वरूप है॥ १७॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ १८॥

आत्म एवं अनात्मका विवेक अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् समझ लेना ही ज्ञान है तथा वेद (शुद्ध हृदयसे वेदादि शास्त्रोंका श्रवण), स्वधर्म (तपस्या), प्रत्यक्ष (स्वानुभव), ऐतिह्य (प्राचीन पौराणिक उपदेश एवं महापुरुषोंकी युक्तियाँ) तथा अनुमान अर्थात् वेदशास्त्रके अविरोधी तर्कपूर्ण निष्कर्ष-स्वरूप है। इन साधनोंसे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि यह द्वैत प्रपञ्च अद्वयज्ञान तत्त्व ब्रह्म-वस्तुमें ही अवस्थित, उससे ही उत्पन्न एवं उसमें ही पर्यवसित है। इस अद्वयज्ञानकी तीन प्रतीतियाँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्। ये तीनों अभिन्न हैं। कार्य-कारणकी भौतिक विधि कालक्रमसे घटित होती है। इस जगत्‌के आदि एवं अन्तमें जो मूलकारण (ब्रह्म-वस्तु उपाधिशून्य अर्थात् निर्विकल्प है। काल इसकी अभिव्यक्ति है॥ १८॥

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥ १९॥

कटक, कुण्डल इत्यादि अलङ्कारोंके रूपमें गठित जितने भी स्वर्णमय विकार पदार्थ हैं, सभीकी उत्पत्तिके पूर्व एवं विनाशके पश्चात् केवल स्वर्ण ही वर्त्तमान रहता है—कटकादि पदार्थ नहीं। मध्य दशामें ही स्वर्ण निर्मित ये वलय, कटक, कुण्डल आदि आकृति-भेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार विश्वका कारणरूपी मैं भी नाना प्रकारके व्यवहारोंका अवलम्बन-स्वरूप हूँ। वस्तुतः विश्वके अन्तर्गत जितने प्रकारके भाव (पदार्थ) एवं घटक हैं, मुझसे पृथक् नहीं हैं। मैं ही विश्वके पूर्वमें, पश्चात्में और मध्यमें हूँ। मैं सृष्टि आदिके समय अपनी भौतिक शक्तिको गति प्रदान करता हूँ। यह शान्ति मुझसे भिन्न नहीं है॥ १९॥

विज्ञानमेतत् त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्॥ २०॥

हे अङ्ग (हे प्रिय) उद्धव! जब अणुचित् जीव इस जगत्के बन्धनमें आबद्ध रहता है, तब उसका मन (विज्ञान) तीन अवस्थाओंसे युक्त रहता है—सत्त्व, रज एवं तम। इस अवस्थात्रय कार्यके हेतुभूत हैं—सत्त्व, रज एवं तम—गुणत्रय। तीनों गुणोंका कार्यरूप यह जगत् भी त्रिविध है—अध्यात्म (इन्द्रियादि सूक्ष्मकारण), अधिभूत (पृथ्वी आदि स्थूल कार्य) एवं अधिदैव (कर्त्ता)—यह त्रैविध्य जिससे प्रकाशित होता है, उस चतुर्थ कारण तुरीय वस्तुको ही एकमात्र सत्य मानो। समाधि इत्यादि दशामें त्रैविध्य नहीं रहता, मात्र यही वस्तु अवशिष्ट रहती है, इसीकी सत्ता बनी

रहती है। यह तुरीय तत्त्व त्रैविध्यसे परे है और इनमें अनुगत होकर प्रकाशित होता है। (अन्वय एवं व्यतिरेकसे ब्रह्मतत्त्वको जानना चाहिए। अनुगत अर्थात् सीधे क्रमका नाम अन्वय और इसके विपरीत क्रमका नाम व्यतिरेक है। अन्वय अर्थात् अनुगत (एकके बाद एक) क्रमसे—तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्मका अनुभव होता है और व्यतिरेक अर्थात् विपरीत क्रम-तत्त्वज्ञान न होनेपर ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। उक्त सभी त्रिविधताएँ ब्रह्मकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि दशामें (व्यतिरेक रूपसे) जब ये त्रिविधताएँ नहीं रहतीं, तब भी उनकी सत्ता रहती है। ब्रह्मके प्रकाशसे समस्त वस्तुएँ आलोकित होती हैं एवं उनसे यह विश्व आलोकित होता है॥ २०॥

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धञ्च परेण यद्यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥ २१॥

जो सृष्टिसे पूर्व नहीं था, विनाशके बाद भी नहीं रहेगा और मध्य (स्थिति) कालमें पृथक्रूपसे जिसकी स्थिति नहीं है, केवल नामके लिये अवस्थित है, उसे व्यवहारमात्र ही समझो। जो-जो वस्तुएँ अन्य वस्तुसे उत्पन्न एवं प्रकाशित होती हैं तथा भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीयमान एवं प्रसिद्ध होती हैं—उन्हें कारण एवं प्रकाशक वस्तुके रूपमें ही सत्ताविशिष्ट जानो—उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है—मैं ऐसा मानता हूँ। (अप्रकाशित वस्तुएँ दूसरेसे ही प्रकाशित होती हैं—यह परिवर्त्तन-शीलता धर्म जिससे उद्भूत हुआ है, वही वस्तु सत्य है। उस सत्य वस्तुसे निःसृत तात्कालिकी शक्तिके द्वारा आदि, मध्य और अन्त अथवा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् इत्यादि कालगत विचारसे परिणत समस्त कार्य ही नित्य सत्तासे प्रकाशित होनेके कारण परम सत्यमें अनुस्यूत हैं—अतः अभिन्न हैं। यह जगत् सत्य वस्तुसे उत्पन्न है, अतः मिथ्या नहीं है। जिन्हें

वास्तव वस्तुका ज्ञान नहीं है, वे ही विश्वकी सत्यताके सम्बन्धमें सन्दिग्ध हैं। खण्डित भोक्ताका अखण्डके साथ पार्थक्य रहने पर भी प्रसूत वस्तुमें जो अवरता अवस्थित है, उसकी उपलब्धिके लिये ही यह विश्व-संसार है। बद्ध जीवकी जो अनित्यमें रुचि दिखायी देती है, उस अनित्यताका भाव हेय, अवाञ्छनीय एवं अप्रयोजनीय है। इस ज्ञानकी उपलब्धि होनेपर जीव भोक्ता होनेके स्थानपर वैकुण्ठका सेवापरायण होता है)॥ २१॥

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ २२॥

यह दृश्यमान् विकार पदार्थ-समूह (रूपान्तर) पहले अविद्यमान होनेपर भी ब्रह्म-वस्तु द्वारा रजोगुणसे रचित होकर उसी ब्रह्म वस्तु द्वारा प्रकाशितके समान प्रतिभात होता है। (ब्रह्मा द्वारा सृष्ट) यह राजस सर्ग ब्रह्मका ही कार्य है। ब्रह्म स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश वस्तु हैं, कार्य नहीं। अतएव ब्रह्म ही इन्द्रिय, पञ्च तन्मात्र, मनः, पञ्चभूतात्मक विचित्र विकारोंमें चित्रित अथवा प्रकाशित होते हैं—इसलिये यह वैचित्र्यमय विश्व ब्रह्मके समान दृष्ट होता है। (ब्रह्म निर्विकार वस्तु हैं। ब्रह्म-वैचित्र्य एवं सङ्कीर्ण-जड़-वैचित्र्यमें भेद है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म स्वरूपतः नित्य-वैचित्र्य धर्म-विशिष्ट हैं। प्रकृतिके रजोगुणसे उद्भूत यह अनित्य जागतिक विकार तात्कालिक प्रकाश-युक्त होकर मात्र बद्धजीवके इन्द्रिय-गोचर होता है। नश्वर जगत् पूर्वमें अविकृत होनेपर भी बादमें रजोगुणके प्रभावसे विकृत हो जाता है। वैकुण्ठमें ऐसा तात्कालिक अवस्थान नहीं है। जिस स्थानपर वैकुण्ठका वैचित्र्य विलुप्त होता है, उस स्थलपर ज्योतिरूप पदार्थको ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। स्वयं प्रकाश-धर्मी स्वयंरूप एवं अपने धामका प्रकाशक है, वह राजस अथवा वैकारिक नहीं है)॥ २२॥

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः॥ २३॥

इस प्रकार वेद, स्वधर्म, तपस्या, प्रत्यक्ष, उपदेश, अनुमान (तर्क) आदि ब्रह्मज्ञानके जनक—श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं आत्मानुभूतिरूप सुस्पष्ट उपायोंसे एवं सुनिपुण गुरुकी सहायतासे देहात्मभावको दूर करे तथा आत्म-विषयक संशयोंका छेदनकर आत्मानन्दमें परितुष्ट होकर इन्द्रियादि समस्त कामवासनामय पदार्थोंकी आसक्तिसे उपरत हो जाय। (तत्पश्चात् कृष्णानन्दके उदय होनेपर अप्राकृत मदनमोहनका तोषण ही एकमात्र धर्म है—इसकी उपलब्धि करे)॥ २३॥

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम्॥ २४॥

यह शरीर घटके समान पार्थिव (पृथ्वीजात) पदार्थ होनेके कारण आत्मा नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृदेवता, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार—ये भी शरीरकी भाँति अपने धारण एवं पोषणके लिये अन्नको आश्रय करके विद्यमान रहते हैं (अन्नके अभावमें ये सूखकर मर जाते हैं), अतः अन्न विकारके कारण ये देहवत् हैं, आत्मा नहीं हैं। वायु, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी आदि ये पञ्च-महाभूत, शब्द आदि पञ्चविषयक तन्मात्राएँ और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति—सभी जड़त्वके कारण आत्मा नहीं हैं॥ २४॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्॥ २५॥

सूर्यके आकाशमें अधिष्ठित होनेपर जिस प्रकार मेघोंके आगम एवं अपगम अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यकी कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जिन्होंने सम्यक्‌रूपसे मेरे स्वरूपको जान लिया है, उसकी त्रिगुणात्मक इन्द्रियाँ निश्चल होकर समाधिस्थ हों, तो कोई गुण नहीं है और वे अचञ्चल होकर विक्षिप्त हो जाएँ, तो कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्तःकरण एवं बाह्यकरण सभी गुणमय हैं और आत्माका इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवत्-सेवक मुक्तात्मा हैं, अतः प्रपञ्चमें समस्त कार्योंका सम्पादन करनेपर भी उनकी भक्ति नष्ट नहीं होती। जीवन्मुक्त ब्रह्मवत् ही होता है॥ २५॥

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्त्तुगुणैर्न सज्जते।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम्॥ २६॥

आकाश जिस प्रकार वायुके शोषण, अग्निके दहन, जलके क्लेदन और पृथ्वीके रजो धूसरत्व (धूल, धूमादि मालिन्यकरण) इत्यादि धर्मोंसे अथवा शीतोष्णादि आगमपायी ऋतु धर्मोंसे युक्त अथवा आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार परम-अक्षर ब्रह्म भी अहङ्कार सम्भूत सत्त्व, रज एवं तमो गुणके मलसे मलिन नहीं होते। (जीवका गुणजात अहङ्कार उसकी बद्धताका ज्ञापक है, उसके स्वरूपका प्रकाशक नहीं। संसारके भटकावका कारण है त्रिगुणात्मक एवं कर्मात्मक वृत्ति; जो कि आत्माका स्पर्श भी नहीं कर सकती)॥ २६॥

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः॥ २७॥

(अपूर्ण ज्ञानी मुक्त व्यक्तिके समान यथेच्छरूपसे आचरण न करे। यद्यपि जीव मात्र ही भगवत्-दास है, तथापि भगवत्-भक्तिमें विकाररूप रजोगुणकी उसमें प्रविष्ट होनेकी योग्यता बनी रहती है। गुणजात विश्व माया द्वारा रचित है, इसलिये चित्त चञ्चल हो सकता है—इस पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं)—जब तक मेरे सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा रजोगुणरूप मल (रागरूप हृदय-कषाय) दूर नहीं हो जाता, तब तक मायारचित विषयोंका सर्वथा त्याग कर दे। दृढ़ भक्तियोग न रहनेपर जीव मनोधर्मसे चालित रहता है और अपनेको मिथ्या ही भक्त समझ लेता है। वह सेवा-वृत्तिसे विमुख होकर अहंग्रहोपासक हो जाता है॥ २७॥

यथामयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः सन्तुदति प्ररोहन्।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम्॥ २८॥

रोगकी भली-भाँति चिकित्सा न होनेपर (चिकित्सा-विज्ञानमें अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा चिकित्सा होनेपर) रोग जिस प्रकार पुनः-पुनः उद्भूत होकर (उभड़कर) मनको यन्त्रणा देता है, उसी प्रकार (कुयोगीके आश्रयसे अथवा इतर सङ्गके प्रभावसे) मनोगत रागादि कषाय (वासनादि) एवं तन्मूलक कर्म यदि सम्पूर्णरूपसे नष्ट नहीं होते, तो वे (कर्म-कषाय) अपूर्ण ज्ञानीको बार-बार व्यथित करते हैं। असम्यक् ज्ञानी अहं-मम इत्यादि विषयासक्तिके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है॥ २८॥

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम्॥ २९॥

जो योगरूढ़ अपरिपक्व योगी (असम्यक् ज्ञानी) देवताओंके द्वारा प्रेरित बन्धुओंसे (पुत्रादिसे), शिष्यादि-रूप धारण करनेवालोंसे

एवं नानाविध विघ्नोंसे योगसे भ्रष्ट हो जाते हैं, वे जन्मान्तरमें पूर्व संस्कारके बलपर भक्तियोगसे आकर्षित होकर पुनः योगके अनुशीलनमें ही लग जाते हैं, कर्मके विस्तारके जालमें नहीं फँसते। (देवताओंको ब्रह्म-ज्ञान प्रिय नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञानीकी तुलनामें उनकी स्थिति गौण हो जाती है।)॥ २९॥

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या॥ ३०॥

अविद्वान् पुरुष किसी संस्कारादिसे प्रेरित होकर मृत्युकाल पर्यन्त भोजनादि कर्मोंमें लगा रहता है। वह भोजनसे लय-पर्यन्त तत्-तत् कर्म करता हुआ पुष्टि इत्यादि विभिन्न विकारोंको प्राप्त होकर कुत्ते एवं सुअर आदि योनियोंमें भटकता रहता है। जबकि विद्वान् ज्ञानी स्वानन्दानुभवसे परितृप्त रहकर देहमें अवस्थित होकर भी न तो कर्म करता है और न ही कर्मके बन्धनमें बँधता है। अतः उसकी संसार-दशा नहीं होती। अहङ्कार प्रबल रहनेपर भोगवासना जीवको वासनासे मुक्त नहीं होने देती, जबकि अहङ्कारसे रहित हो जाने पर विद्वान पुरुष हर्ष-विषादको पुनः संसारमें प्राप्त नहीं करता। भगवान्‌की पूर्ण-सुखानुभूतिके लिये अखिल-चेष्टा-परायण होना चाहिए और तृष्णाओंसे सम्पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाना चाहिये। यही वास्तव ज्ञान है॥ ३०॥

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम्।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद॥ ३१॥

जिनका मन सर्वदा आत्मामें ही स्थित है, ऐसे व्यक्तिका देह खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा कोई स्वाभाविक कर्म कर

रहा है; वह किसी भी कर्मकी चेष्टा क्यों न करता रहे, उसे उसका पता ही नहीं चलता। उसे देहकी सुध-बुध नहीं रहती, क्योंकि उसकी सारी वृत्तियाँ परमात्मामें ही स्थिर रहती हैं। कृष्णसेवा-परायण होनेसे उनकी समस्त चेष्टाएँ भक्ति शब्द वाच्य होती हैं॥ ३१॥

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥ ३२॥

ज्ञानी व्यक्ति यदि कभी समाधि भङ्ग होनेपर बहिर्मुख (असत्) इन्द्रियोंके रूप, रसादि विषयोंका दर्शन करते हैं, परन्तु आत्मासे पृथक् इन वस्तुओंको अनुमान, युक्तियों एवं प्रमाणोंके विरुद्ध मानकर उन्हें उसी प्रकार सत्य नहीं मानते, जिस प्रकार स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्न दृष्ट विषयोंको सत्य नहीं मानता। (स्वप्न मनोरथ जैसे स्वयं ही अन्तर्हित (तिरोहित) हो जाते हैं, ज्ञानी व्यक्तिके विषय-दर्शनको भी इसी प्रकारसे असत् जानना चाहिए)॥ ३२॥

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग।
निवर्त्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा॥ ३३॥

हे उद्धव! बद्धावस्थामें गुण-कर्मके वैचित्र्यसे युक्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ अज्ञानके कारण (पहले आत्म-वस्तुमें अध्यस्त होकर) आत्मासे अभिन्नरूपमें गृहीत हुए थे, उनका ज्ञान नहीं था, अब मुक्तावस्थामें आत्म-दृष्टि (ज्ञान-प्राप्ति) होनेपर उस अज्ञानकी एवं उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् देहादिमें होनेवाली आत्मत्व बुद्धि दूर हो जाती है। भोग एवं त्यागकी वृत्तियोंके द्वारा त्वं पदार्थ आत्माका कभी भी, किसी भी रूपमें ग्रहण

अथवा त्याग नहीं होता—यह जीवात्मा एकरस ही रहता है। ज्ञानका ही ग्रहण अथवा त्याग होता है। आत्माकी वृत्ति नित्य है। अतः अज्ञान-प्रतीतिके साथ कभी भी उसकी समता नहीं हो सकती। अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। (अभिप्राय यह है कि जड़-जगत्‌का भोग्यभाव चिज्जगत्‌में ले जाया नहीं जा सकता। बन्ध तथा मोक्षमें आत्माका संस्पर्श नहीं होता। अनात्म मन एवं देह ही ग्रहणरूप भोग एवं त्यागका आवाहन करते हैं। गुणकृत वस्तुओंका स्वरूप विचारणीय होता भी नहीं है)॥ ३३॥

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥ ३४॥

सूर्योदय जिस प्रकार मानव-नेत्रके (विषय-दर्शनके) प्रतिबन्धक अन्धकार मात्रको ही नष्ट करता है, घटादि दृश्य विषयोंकी सृष्टि नहीं करता, क्योंकि वे तो पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार मेरी सुनिपुण आत्मविद्या भी मनुष्यके बुद्धिगत स्वरूपके आवरक अज्ञानका नाश करती है, स्वरूपकी सृष्टि नहीं करती। स्वरूप स्वतः ही विद्यमान रहता है। आत्म-विद्या प्राप्त होते ही आगन्तुक आवरण दूर हो जाता है—नित्य वस्तु स्वतः ही प्रकाशित हो जाती है॥ ३४॥

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥ ३५॥

परमात्मा जीवात्मासे पृथक् हैं। वे एक अद्वितीय, जन्मरहित, स्वयंज्योतिः, अप्रमेय (देश काल परिच्छेदसे रहित सर्वव्यापकताके कारण अप्रमेय), चित्पुञ्जस्वरूप एवं सर्वज्ञ हैं। जीव असंख्य, उपाधि द्वारा जन्य, तत्प्रकाश्य, चित्कण एवं अल्पज्ञ हैं। परमेश्वर

आत्म-तुल्य अन्य कोई न रहनेके कारण सजातीय भेदसे रहित हैं, जीव एवं माया उनकी शक्तिके रूपमें उनसे ऐक्य होनेके कारण वे विजातीय भेदसे रहित हैं। उन परमात्माके द्वारा प्रेरित होकर प्राण एवं वाणी अपने-अपने निर्दिष्ट विषयोंमें प्रवर्तित होते हैं अर्थात् उनकी प्रेरणासे वाक्य व्यक्त होते हैं और प्राणवायु प्रवाहित होती है जबकि वे स्वयं वाक्से अगोचर होकर स्वप्रकाश रूपमें अवस्थित रहते हैं। वे सभीके प्राप्य एवं अधिगम्य हैं। भेद जगत्की वाणीका विराम होनेपर उनके अद्वय-ज्ञानत्वकी उपलब्धि होती है॥ ३५॥

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्यृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥ ३६॥

अद्वितीय (अभिन्न) आत्मामें जो भेद-ज्ञान (विकल्प, द्वैत अथवा पृथक् ज्ञान अर्थात् भौतिक शरीर या मनको आत्माका मूलभूत घटक मान लेना) है, उसका ही नाम मनका भ्रम है। वह भ्रम ही आत्ममोह (अपरिपक्व-विवेक) है, क्योंकि अपनी आत्माके बिना उस विकल्पका (भेदका) अवलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है अर्थात् आत्माओंमें किसी भी पदार्थका मिश्रण नहीं हो सकता है। स्वयंप्रकाश आत्मा चित्प्रकाश योग्य वस्तुको ही प्रकाशित करता है, उसके अचित् इत्यादि अन्य आश्रय नहीं हैं। अतः चिद्-वैशिष्ट्य एवं चिद्-विलासमें जड़जगत्के क्षणभङ्गुर धर्मको संयुक्त करनेका प्रयास अथवा विचार ठीक नहीं है॥ ३६॥

यन्नामाकृतितिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम्।
स्वर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम्॥ ३७॥

जो नाम-रूप-आकृतिसे विशिष्ट एवं इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पञ्चवर्णात्मक (पञ्चभूतात्मक) द्वैत प्रपञ्च है, इसे पण्डित नहीं, पण्डिताभिमानी सत्य मानते हैं। उनके अनुसार यह द्वैत प्रपञ्च अबाधित (सत्य) है, इसमें आदि-अन्तकी बाधा नहीं है, परन्तु

ऐसी बातें अर्थहीन और वाणीका आडम्बर मात्र मूल विषयसे अतिरिक्त ऐसे भ्रान्त विषयकी प्रतीति इन्हीं पण्डितोंके लिये सम्भव है—व्यर्थ प्रतीतियाँ तत्त्वज्ञोंके द्वारा अनुमोदित नहीं हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ भोगके लिये उपयोगी हैं और इन्द्रियोंके आद्यन्त होनेके कारण उनकी पृथक् सत्ता अथवा सत्यता भी सिद्ध नहीं होती। अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा, शास्त्र द्वारा तथा निज ज्ञान द्वारा आदि-अन्तसे युक्त पदार्थको असत् जानकर निःसङ्ग होकर इस जगत्में विचरण करे—मेरा यह कहना है॥ ३७॥

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः॥ ३८॥

जो योगाभ्यासकी साधनामें रत हैं, परन्तु परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाये हैं, उनका शरीर योगकालमें यदि रोगादि उपद्रवोंसे आक्रान्त हो जाय, तो इस प्रकारसे प्रतिकार करना चाहिए। (ये सभी उपदेश भगवत् शरणागतिसे रहित कर्मयोगी एवं हठयोगियोंके लिये हैं। ये लोग पार्थिव ज्ञानका सम्बल करके योग-साधना करते हैं)॥ ३८॥

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत्॥ ३९॥

गरमी-ठण्डक आदि विघ्नोंको सूर्य-चन्द्रमा आदिकी धारणाके द्वारा, वात आदि रोगोंको वायुकी धारणासे युक्त आसनोंके द्वारा और पापग्रह एवं सर्पादिकृत उपसर्गोंको अर्थात् विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र और ओषधिके द्वारा प्रशमन करना चाहिए॥ ३९॥

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्त्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान् शनैः॥ ४०॥

मेरे निरन्तर ध्यान एवं नाम-सङ्कीर्त्तनादि द्वारा काम, क्रोधादि उपद्रवोंको नष्ट करे तथा विघ्नकारी दम्भ, मदादि अशुभोंको श्रेष्ठ योगियोंके आनुगत्यमें धैर्यके साथ धीरे-धीरे नष्ट करे॥ ४०॥

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥ ४१॥

कोई-कोई धीर पुरुष इस शरीरको जरा-रोगसे रहित, चिर-स्थायी-यौवनसे विशिष्ट रखनेके लिये पूर्वोक्त एवं हठयोगादि अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन करते हैं और बादमें परकाया-प्रवेशादि विविध सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये योगाचरण करते हैं। ज्ञाननिष्ठ भक्त ऐसा नहीं करते॥ ४१॥

न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥ ४२॥

योगाभ्यास करनेवालोंके ये आचरण बुद्धिमान् पुरुषोंके लिये आदरणीय नहीं हैं, क्योंकि आत्मा वृक्षके समान स्थायी है और शरीर वृक्षके फलके समान नश्वर है। फलकी निवृत्तिके समान देहकी भी निवृत्ति हो जाती है—अतः देह-विषयक स्थैर्यके लिये प्रयास करना निरर्थक है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों ही देह नश्वर हैं॥ ४२॥

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ ४३॥

नित्य योगमें रत मनुष्यका शरीर यद्यपि जरा, रोगादिसे रहित होकर देह-सिद्धि प्राप्त कर ले, एक कल्प तक भी जीवित रह जाय, तथापि जो मत्परायण हैं, मुझमें आसक्त हैं, ऐसे विवेकशील योगी पुरुष योगका परित्याग करके उसमें श्रद्धा नहीं रखेंगे, मेरी भक्तिमें ही रत रहेंगे॥ ४३॥

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे परमार्थनिर्णयोनामऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

योगी यदि मेरे आश्रयमें ऐसा योगाभ्यास करते हैं, तो वे किसी भी विघ्नसे अभिभूत नहीं होंगे, बल्कि निष्काम होकर आत्मानन्दानुभवमें (सच्चिदानन्दकी अनुभूतिमें) तन्मय रहेंगे। अतः भक्तियोग ही वरणीय है। यह सब प्रकारसे निरपेक्ष है तथा इसमें कोई विघ्न भी नहीं है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भागवतधर्मोंका निरूपण एवं उद्धवका बदरिकाश्रम गमन

श्रीउद्धव उवाच—

सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत॥ १॥

उद्धवने कहा—हे अच्युत! जिस मनुष्यका मन वशमें नहीं है, उसके लिये पूर्वोक्त योगानुष्ठान बहुत कठिन है—मैं ऐसा मानता हूँ, अतएव मनुष्य जिस प्रकारसे अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर सकें, आप मुझे ऐसे सरल एवं सुबोध्य साधन (उपाय) बतलावें॥ १॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः॥ २॥

हे कमलनयन श्रीकृष्ण! योगी ब्रह्ममें मन स्थिर करनेके लिये समाधि-पर्यन्त बहुत प्रयास करते हैं, परन्तु जब भी वे मनका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं हो पाते हैं, तब श्रान्त एवं दुःखी हो जाते हैं॥ २॥

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्म्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः॥ ३॥

हे कमललोचन! अतएव सार-असार-विवेक-निपुण परमहंसगण जिनसे शान्ति प्राप्त होती है, ऐसे सर्वानन्द-परिपूरक आपके चरणकमलोंका ही सुखपूर्वक आश्रय करते हैं; हे विश्वेश्वर! ऐसे आपके भक्त कभी दुःखी नहीं होते किन्तु जो योग अथवा कर्ममार्गके अभिमानमें डूबे रहते हैं (मैं योगी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं

कर्मी हूँ इत्यादि), वे आपका चरणाश्रय नहीं करते और आपकी मायासे वञ्चित होकर विनष्टप्रायः हो जाते हैं॥ ३॥

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत् किरीटतटपीडितपादपीठः॥ ४॥

हे अखिल बान्धव श्रीकृष्ण! जब आप रामरूपमें प्रकट हुए थे, तब ब्रह्मादि देवगण अपने उज्ज्वल एवं सुरम्य किरीटके अग्रभाग द्वारा आपकी पादपीठपर विलुण्ठित (लोटपोट) होनेके लिये लालायित रहते थे, उस समय भी आपने वानर, मृग, भालु, आदिके साथ प्रीतिपूर्वक सख्य स्थापित कर रखा था, जबकि इन्होंने योगादि विविध उपायों द्वारा कुछ भी अर्जन नहीं किया था। वृन्दावनमें भी आपने हिरणोंको साथ लेकर गोचारण कराया था, चुरा-चुराकर वानरोंको नवनीत खिलाया था। हे अच्युत! नन्द महाराज, गोपी, बलि आदि आपके एकान्ताश्रित दास हैं, तथापि आप उन सबके प्रति जो अधीनताका प्रदर्शन करते हैं—इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? (अद्वैतवादी ज्ञानियोंके आप अधीन हुए हो, ऐसा कभी सुना नहीं है)॥ ४॥

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किंवा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥ ५॥

आप सम्पूर्ण जगत्के अन्तर्यामी हैं, सर्वश्रेष्ठ प्रिय बन्धु हैं, अपने भक्तोंके प्रति अनुग्रहकारी हैं एवं आश्रितोंके लिये सर्वार्थप्रद हैं। जो बलि (जिसके हृदय-द्वारकी रक्षा हेतु आप बाध्य हुए हैं), प्रह्लाद (जिनके निष्काम होनेपर भी आपने भुक्ति-मुक्ति प्रदान की थी) आदि भक्तोंपर आपके असीम अनुग्रहसे परिचित हैं, वे ऐश्वर्य-साधक परन्तु आपकी विस्मृति-कारक स्वर्गादि-पदको दिये

जानेपर भी ग्रहण नहीं करते। वे आपका कभी भी त्याग नहीं कर सकते। (आप अन्तर्यामीरूपमें विराजमान रहकर सभी पर उपकार करते हैं।) हे देव! हम आपकी चरण-रेणुके सेवक हैं, हमें क्या अभाव रह सकता है?॥ ५॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥ ६॥

हे परमेश्वर! आप बाहरमें आचार्यके (मन्त्र गुरु एवं शिक्षा गुरुके) रूपमें तथा अन्तरमें अन्तर्यामीके (चैत्य गुरुके) रूपमें अपनी भक्तिके उपदेशों द्वारा जीवोंके अशुभ अर्थात् अपनी भक्तिके प्रतिकूल विषय-वासनाओंका नाशकर उनके प्रति अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं। ब्रह्म-ज्ञान सम्पन्न पारदर्शी सुधीजन ब्रह्माजीके समान आयु प्राप्त करके भी आपके ऋणसे मुक्त होनेमें समर्थ नहीं हो सकते। उनके चित्त आपके द्वारा कृत उपकारोंका स्मरण कर-करके परमानन्दसे समृद्ध रहते हैं। वे आपका भजन करते-करते प्रेमी पार्षदत्वकी गति प्राप्त कर लेते हैं॥ ६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः।
गृहीतमूर्त्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब अन्तर्यामीरूपसे श्रीकृष्णने अपने अनन्य भक्त, अनुरक्तचेता (अति प्रेमसे भरे हुए) उद्धवको भविष्यत् कलियुगवर्त्ती भक्तोंके आनन्द हेतु इस प्रकारसे प्रश्न करनेकी अन्तःप्रेरणा दी, तब मूर्त्तित्रय-गृहीत अर्थात् जो अपनी शक्ति-त्रय-अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा एवं तटस्था द्वारा नित्य समन्वित

हैं, जो अन्तर्यामी स्वरूपमें, जीव रूपमें, देहरूपमें अपनी क्रीड़ाका विस्तार करते हैं, यह अखिल जगत् जिनकी क्रीड़ाका उपकरण है, निज भक्ति-रसका वितरण जिनका क्रीड़ा-वैशिष्ट्य है, जो सत्त्व-रज-तमो गुणोंके द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रका रूप धारण करते हैं, जो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयके प्रवर्त्तक हैं, जो आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मारूपोंमें विद्यमान हैं, उद्धव रूपमें प्रश्नकर्त्ता हैं, स्वयं अर्थात् श्रीकृष्णरूपमें उत्तरदाता हैं, जो देशकालके अन्तरवर्त्ती शुद्ध परीक्षित् आदि भक्तोंके रूपमें विद्यमान हैं, प्रश्नोत्तर-अमृत-प्रदानकी ऐसी कृपा-चातुरी जिनके अतिरिक्त अन्यके लिये सम्भव नहीं है—ऐसे ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमसहित मनोहर मृदु हास्यके साथ कहना प्रारम्भ किया॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्।
यान् श्रद्धयाचरन् मर्त्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! मरणशील मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिन भक्ति, ज्ञानादि धर्मोंका अनुष्ठान करनेपर अत्यन्त दुर्जय मृत्युको जय करनेमें समर्थ हो जाता है, अपने उस मङ्गलमय भागवत-धर्मोंका तुम्हें अति सहजरूपमें उपदेश कर रहा हूँ॥ ८॥

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ ९॥

मेरे प्रति सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनका तथा उद्वेगरहित हृदयका समर्पण कर दे, मेरे धर्मोंमें अर्थात् मेरी भक्ति आदिमें आत्मा एवं मनकी रतिको (आसक्तिको) निष्ठ करे तथा मेरा स्मरण करता हुआ आडम्बर-रहित हो जाय। नित्य-नैमित्तिकादि (व्यावहारिक दन्त-धावनादि, पारमार्थिक श्रवण-कीर्त्तनादि एवं वर्णाश्रम विहित भी) सभी कर्मोंका अनुशीलन मेरी प्रीतिके लिये करे (इस

स्थलपर भगवान्‌ने केवला एवं प्रधानीभूता भक्तिको कुछ आच्छादित किया है)॥ ९॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥ १०॥

(केवला भक्ति—वैधी एवं रागानुगाका वर्णन करते हैं) मेरा भक्त साधु पुरुषों द्वारा आश्रित द्वारकादि स्थानोंमें वास करे तथा देवता, असुर एवं मनुष्योंमें जो नारद, प्रह्लाद, अम्बरीषादि मेरे भक्त हैं, उनके आचरणका ही अनुसरण करे (वैधीभक्ति)। गोकुल, वृन्दावन, गोवर्द्धन आदिका आश्रय करके चन्द्रकान्ति, वृन्दा एवं गोपियोंका अनुसरण करे (रागानुगा भक्ति—एकान्त प्रेमकी प्रेरणासे अर्जित भक्तिका नाम रागानुगा है)॥ १०॥

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्।
कारयेद्‌गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः॥ ११॥

सामर्थ्य रहनेपर अकेले ही अथवा बहुत-से मनुष्योंको एकत्र करके महाराजोचित विपुल वैभव द्वारा मेरे उद्देश्यसे एकादशी आदि पर्व, यात्रा (विशिष्ट लोगोंका सम्मेलन) एवं सबके साथ मिलकर होलिकादि महोत्सव नृत्य, गीत आदिके साथ सम्पन्न करे॥ ११॥

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥ १२॥

ज्ञानी भक्त निर्मलचित्त होकर समस्त प्राणियोंके हृदयमें तथा अपनी आत्मामें सर्वत्र पूर्णरूपसे अवस्थित, आकाशके समान सर्वव्यापी, अनासक्त एवं अपावृत (आवरण-रहित) मुझ परमात्माका सम्पूर्ण रूपसे दर्शन करे॥ १२॥

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥ १३॥

ब्राह्मणे पुक्वसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥ १४॥

हे महाद्युति उद्धव! (तुम तो केवला भक्ति द्वारा सबसे अधिक तेज सम्पन्न हो—भक्ति-रहित केवल ज्ञान तो निन्दित है) जो इस प्रकारसे केवल ज्ञानरूप (भक्तिमयी) दृष्टिका आश्रय करके समस्त प्राणियोंमें मेरा स्वरूप जानकर सभीका सम्मान करते हैं, चाहे ब्राह्मण अथवा चाण्डाल यह जातिगत वैषम्य हो, ब्राह्मणकी सम्पत्ति हरण करनेवाला चोर अथवा ब्राह्मणके लिये दानादि करनेवाला ब्राह्मण भक्त—यह कर्मगत वैषम्य हो, सूर्य अथवा अग्निकण—यह परिमाणगत वैषम्य हो, क्रोधी अथवा अक्रोध यह गुणगत वैषम्य हो, सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न होकर मुझ एक परमात्माका जो सर्वत्र दर्शन करते हैं, वे ही पण्डित, ज्ञानी हैं। जाति आदिमें वैषम्य दर्शन करनेवाला अज्ञानी है॥ १३-१४॥

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्द्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥ १५॥

जो समस्त प्राणियोंमें सर्वदा मेरी नित्य विद्यमानताका चिन्तन करते हैं, उन मनुष्योंके स्पर्द्धा (अपने समानके प्रति), असूया (अपनेसे अधिकके प्रति), तिरस्कार (अपनेसे कनिष्ठके प्रति) इत्यादि दुर्गुण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। सर्वत्र एवं स्वयंमें ब्रह्मदर्शन करनेसे अहङ्कार दोष भी कहाँ रहेगा?॥ १५॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडाञ्च दैहिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥ १६॥

(सर्वत्र स्वाभाविक ही मेरे सद्भावका दर्शन हो—इसका साधन बतलाते हुए कहते हैं)—मात्सर्यसे युक्त अपने ही सखागण उपहास करें, तो उसपर ध्यान न दे, देह-विषयमें उच्च-नीच दृष्टि (मैं महान् हूँ और यह नीच है) का परित्याग करे और यह महान् होकर भी नीच व्यक्तिको प्रणाम कर रहा है, ऐसी लोक-लज्जाका त्याग करके कुक्कुर, चाण्डाल, गाय, गधा पर्यन्त सभी जीवोंको देखते ही भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे। सबसे मैं हीन हूँ—यह

जानकर सबका सम्मान करे। ऐसा करनेसे नाम-भजनमें सफलता प्राप्त होती है॥ १६॥

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥ १७॥

जबतक समस्त प्राणियोंमें अतिशयरूपसे मेरा भाव स्वाभाविक न हो जाय, तबतक काय-मनो-वाक्यकी वृत्ति द्वारा एवं प्रणामादि शारीरिक चेष्टाओं द्वारा मेरी उपासना करे। (सभीको सम्मान देनेसे किसी प्राणीके द्वारा आक्रान्त होनेका भय नहीं रहता एवं निरन्तर भजन सम्भव हो जाता है)॥ १७॥

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥ १८॥

इस प्रकार सर्वत्र ईश्वर-दृष्टि-रूपी विद्या (अपनी मनीषा) द्वारा समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मदर्शन करते हुए मुक्त-संशय होकर सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत हो जाय। ऐसे आचरणशील उपासकके लिये समस्त वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हो जाती हैं। चारों ओर ब्रह्मका दर्शन होता है। काय-मनो-वाक्यसे भगवद्-भजन होनेपर किसीके प्रति मात्सर्य नहीं रहता॥ १८॥

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेष मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ १९॥

ज्ञानियोंकी ब्रह्म-प्राप्तिके लिये जितने भी उपाय हैं—उन सबमें मैं सहज-समीचीन उपाय यही मानता हूँ कि काय-मनो-वाक्यकी वृत्तियों (चेष्टाओं) द्वारा समस्त प्राणियोंमें परमात्मा-रूप मेरा ही दर्शन करे॥ १९॥

नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥ २०॥

हे उद्धव! क्योंकि मेरे द्वारा यह धर्म ही निर्गुणत्वके कारण यथार्थतः सर्वोत्तमरूपमें निर्णीत हुआ है, इसलिये मेरे इस

निष्काम-धर्मके अनुष्ठानमें वैगुण्यादिके (विघ्नादिके) द्वारा बिन्दु मात्र भी विनाश होनेकी सम्भावना नहीं है। यह भक्ति धर्म आरम्भ मात्र ही हुआ हो, अङ्गहीन भी हो, तो भी अन्यान्य धर्मोंकी तरह व्यर्थ नहीं होता। गुणातीत धर्म होनेसे इसका विनाश सम्भव नहीं है; यह मेरे द्वारा पूरी तरहसे रक्षित है॥ २०॥

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम॥ २१॥

हे सत्तम-प्रवर (सज्जनोंमें श्रेष्ठ) उद्धव! भय-शोक आदिके कारण पलायन, क्रन्दन इत्यादि जो चेष्टाएँ हैं, वे व्यर्थ ही हैं। यदि ये चेष्टाएँ परमात्मारूपी मेरे उद्देश्यसे निष्काम भावसे समर्पण कर दी जाती हैं, तो वे धर्मस्वरूप हो जाती हैं। भय, शोकादिके प्रयास व्यर्थ हैं—वे निज विषयको पाकर जिस प्रकार स्वयं हो ही जाते हैं, उसी प्रकार मुझे विषयरूपमें पाकर भजन हो ही जाता है। भक्तिके लिये जो यत्न किया जाता है, वह भक्तिमें अतिशय अनुरागका द्योतक होता है॥ २१॥

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्त्येनाप्नोति मामृतम्॥ २२॥

बुद्धिमानोंका यथार्थ विवेक एवं मनीषियोंका (चतुर मनुष्योंका) उत्कृष्ट चातुर्य इसीमें है कि वे इस असत्य (नश्वर)—मर्त्त्य देह द्वारा इसी जन्ममें सत्य एवं अमृतस्वरूप मुझे प्राप्त कर लें। प्राकृत राज्यमें रहते हुए भी प्राकृत-विकार-रहित होनेपर अप्राकृत फल-प्राप्ति सम्भव है॥ २२॥

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः॥ २३॥

हे उद्धव! ब्रह्म-तत्त्वको निरूपण करनेवाला यह समग्र-सार मैंने तुम्हें संक्षेप और विस्तार—दोनों प्रकारसे सुना दिया। यह ब्रह्म-विचार देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय है॥ २३॥

अभीक्ष्णशास्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत्।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः॥ २४॥

हे उद्धव! मैंने सुस्पष्ट एवं युक्तियुक्त ज्ञानका तुम्हारे निकट बार-बार वर्णन किया है। जो मनुष्य इसे जान लेता है, वह समस्त संशयोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है॥ २४॥

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत्।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ २५॥

जो तुम्हारे प्रश्न तथा मेरे सुविस्तृत उत्तरोंका और इस उपाख्यानका तत्त्वानुसन्धान करेंगे, इन प्रसङ्गोंको धारण करेंगे, वे वेदोंके रहस्यभूत सनातन परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे॥ २५॥

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना॥ २६॥

जो मेरे भक्तोंको प्रभूत एवं पुष्कलरूपमें सम्यक् प्रकारसे यह तत्त्वविषयक उपदेश प्रदान करता है, मैं उस ब्रह्मोपदेशकके लिये स्वयं ही अपने-आपका दान कर देता हूँ। अतः श्रद्धावानोंको हरि-भक्ति-वितरण अवश्य करना चाहिए॥ २६॥

य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन्॥ २७॥

यह उपाख्यान परम पवित्र एवं दूसरोंके चित्तको भी विशुद्ध करनेवाला है। जो इस तत्त्वज्ञानका उच्च स्वरसे पाठ करते हैं तथा दूसरे मनुष्योंकी दृष्टिमें भी ज्ञान-प्रदीप द्वारा मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं—वे स्वयं विशुद्ध रहते हैं। सेवा-परायण होनेपर जीव परम-पवित्र एवं शुचि होता है, उसमें किसी प्रकारका अज्ञानान्धकार रह नहीं सकता॥ २७॥

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते॥ २८॥

जो मनुष्य सावधानीपूर्वक अर्थात् अविचलित चित्तसे इसका सदा-सर्वदा श्रवण करता है, वह मेरी परम भक्ति अर्जित करता है और कभी भी कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ता॥ २८॥

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः॥ २९॥

हे उद्धव! हे सखे! तुमने मेरे द्वारा कथित इस ब्रह्म-तत्त्वको अच्छी प्रकारसे समझ लिया न? तुम्हारे पूर्ववर्त्ती मानसिक शोक, मोह दूर हो गये तो? तुम्हारे हृदयमें अब कोई शोक तो नहीं है न? सारे सन्देह छिन्न हो गये हैं न? (ज्ञातव्य है कि नित्यसिद्ध एवं त्रिगुणातीत उद्धवको ज्ञानादि ग्रहण करानेके लिये अपनी शक्ति द्वारा मोह उत्पन्न किया है और ज्ञानादिके उपदेश द्वारा उनका मोह स्वयं ही दूर किया है। अब लीलापूर्वक जिज्ञासा कर रहे हैं)॥ २९॥

नैतत् त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०॥

जो दाम्भिक, वञ्चक, नास्तिक, श्रद्धाहीन (श्रवणकी इच्छासे रहित), दुर्विनीत (उद्धत) एवं मेरे भक्त नहीं हैं—उन लोगोंको मेरा यह उपदेश प्रदान न करना॥ ३०॥

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्यात् शूद्रयोषिताम्॥ ३१॥

जो पूर्वोक्त दोषोंसे रहित हैं, ब्राह्मण-हितैषी हैं, प्रेमी हैं, साधु हैं, एवं शुद्धचित्त हैं—उन सबको मेरी भक्तिकी बातें बतलाना। (ये सब अपने-अपने प्राकृत-वर्ण-धर्मका त्याग करके भगवत्-सेवोन्मुख हो सकते हैं।) शूद्र (सामान्य श्रमिक) एवं स्त्रियोंमें यदि मेरे प्रति भक्ति है, तो उनके लिये भी ये उपदेश प्रदान करना। भक्तिके कारण उन्हें भी श्रवणका अधिकार प्राप्त है॥ ३१॥

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासेर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥ ३२॥

दिव्य, सुस्वादु, अमृत-पान करनेके बाद मनुष्यको जिस प्रकार अन्य कुछ पान करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती, उसी प्रकार यह तत्त्व जान लेनेपर तत्त्व-जिज्ञासुके लिये और कुछ जाननेका विषय अवशिष्ट नहीं रहता। मेरे भक्त तो भक्तिसे ही कृतार्थ रहते हैं, उन्हें ज्ञानसे क्या प्रयोजन है?॥ ३२॥

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥ ३३॥

हे उद्धव! ज्ञान, कर्म, योग, कृषि इत्यादि वाणिज्य एवं दण्डनीति द्वारा मनुष्योंके जिस धर्मादि चतुवर्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है, मेरे भक्त मेरी प्राप्तिसे ही सभी पुरुषार्थोंके अधिकारी हो जाते हैं। हे वत्स! तुम्हारे जैसे अनन्य भक्तोंके लिये चारों प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ। ज्ञानसे मोक्ष, वेद-विहित कर्मका फल धर्म, योगका फल अणिमादि सिद्धि—सिद्धि एवं ऐश्वर्य कामके ही अन्तर्गत हैं—इन सबसे आंशिक फल प्राप्त होता है, सम्पूर्ण नहीं। चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये जिस साधन-सम्पत्तिकी आवश्यकता है, मेरा आश्रय करनेपर उस साधनके बिना ही सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है॥ ३३॥

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥ ३४॥

हे प्रणयी उद्धव! मनुष्य जिस समय यदृच्छासे समस्त कर्मोंकी चेष्टा एवं प्रापञ्चिक ज्ञान इत्यादिका परित्याग करके मेरे लिये आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह योगी, ज्ञानी आदिसे कुछ विलक्षण वैकुण्ठ-वस्तुकी सेवा करनेका अभिलाषी होता है। परिणामतः वह विशिष्ट माननीयरूपमें गण्य होकर अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है तथा मेरे समान ऐश्वर्यका भागी हो जाता है॥ ३४॥

श्रीशुक उवाच—

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमःश्लोकवचो निशम्य।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः॥ ३५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको योगमार्गका उपदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको सुनकर प्रेमसे उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्लावित होने लगे, हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े रहे, वाणीसे कुछ भी उच्चारण न कर सके॥ ३५॥

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहुमन्यमानः।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम्॥ ३६॥

हे राजन्! तदनन्तर प्रणय-विक्षुब्ध अर्थात् प्रेमावेशके कारण अत्यन्त व्यग्रचित्तको उन्होंने धैर्यपूर्वक स्थिर किया। अपनेको अत्यन्त कृतार्थ मानते हुए मस्तक झुकाकर यदुवंश-शिरोमणि भगवान्के चरणारविन्दयुगलका स्पर्श किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे—॥ ३६॥

श्रीउद्धव उवाच—

विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव सन्निधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य॥ ३७॥

श्रीउद्धवने कहा—हे अज! हे आदिपुरुष! आप ब्रह्मादिके मूल कारण हैं। मैंने इससे पूर्व जिस मोह-रूप महा-अन्धकारका आश्रय कर रखा था, तो हे सिद्धान्त-रहस्य-प्रदीप! आपके सान्निध्यसे

अब मेरा वह अन्धकार सम्पूर्णरूपसे दूर हो गया है। जो सूर्यके समीप रहता है, उसके लिये शैत्य, अन्धकार अथवा तज्जनित भय किस प्रकार रह सकते हैं? ॥ ३७ ॥

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यं समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥ ३८ ॥

हे प्रभो! (मैंने आत्मा–बुद्धि–इन्द्रियादिके साथ आपके प्रति आत्मनिवेदन किया था) आपने परम करुणा करते हुए मुझ जैसे सेवकको स्वरूप–ज्ञान–प्रदीप प्रदानकर पूर्णकृत किया है। आपके ऐसे उपकारोंको अनुभव करके ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो आपके चरण–कमलके आश्रयका त्याग करके किसी अन्य आश्रयको स्वीकार करेगा? ॥ ३८ ॥

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥ ३९ ॥

हे देव! सृष्टि–वृद्धिकी कामनासे आपने अपनी मायासे दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, यादवादि सज्जनोंके साथ जो मेरा सुदृढ़ स्नेह–पाश विस्तृत किया था (मैं इनको अपना सम्बन्धी मानकर इन कुलोंकी वंश–वृद्धि एवं दिग्–दिगन्त व्यापिनी विजयकी कामना करता था), आज आपने आत्मतत्त्व–ज्ञानरूप शस्त्र द्वारा उस स्नेहपाशको काट दिया है। अब आपके रूप, गुण, कथा, सेवा, माधुर्यका आस्वाद–रूप स्नेहपाश सदा–सर्वदा मेरा भूषण बने ॥ ३९ ॥

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥ ४० ॥

हे महायोगिन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देव! आपके चरणारविन्दमें नित्यकाल मेरी आसक्ति रहे, अनन्य अनपायिनी भक्ति बनी रहे—अपने इस शरणागतको इस प्रकारकी शिक्षा प्रदान करें। (आप अपने योगबलसे सर्वत्र ही मुझे आनन्द प्रदान करते रहे हैं)॥ ४०॥

श्रीभगवानुवाच—

गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥ ४१॥

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥ ४२॥

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ४३॥

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम्॥ ४४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! तुम मेरे उपदेशानुसार (लोक-संग्रहके लिये) बदरिकाश्रम जाना, वहाँ मेरे चरणोंसे निःसृत तीर्थ-जलसे स्नान-आचमन करके अपने आपको पवित्र करना, अलकनन्दाके दर्शनसे (स्नानादिके पहले ही दर्शन मात्र से) समस्त पापोंसे मुक्त होकर वल्कल-वस्त्र पहनना, वन्य फल-मूलका आहार करना, सुखसे निःस्पृह रहना, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंके प्रति सहिष्णु रहना, सुशील एवं सौम्य स्वभाव रखना एवं आत्म-संयमी रहना, शान्त एवं ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त होकर निर्जनमें (एकान्तमें) मुझसे सीखे हुए समस्त तत्त्व-विषयपर अनुभवपूर्वक निरन्तर चिन्तन-मनन करना, वाचनिक एवं मानसिक अर्थात् वाक् एवं मनकी वृत्तियोंको मुझमें समर्पण करके भक्तिधर्ममें (भागवत-धर्ममें) निरत रहना। तब तुम त्रिगुणात्मक गतियोंको अतिक्रम करके उनसे

परे मेरा सामीप्य प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाओगे। (हे उद्धव! यादव-परिकरोंमें मेरे समान होनेके कारण तुम मेरी प्रतिमूर्त्ति हो, तुम मुझसे अणुमात्र भी न्यून नहीं हो। जो कार्य मैं स्वयं करना चाहता था, वह मैं तुमसे करवा रहा हूँ। पहले व्रजभूमिमें भेजा था, अब बदरिकाश्रममें भेज रहा हूँ। मिथिला आदि भूतल प्रदेशमें, सुतलमें, वैकुण्ठादिमें जाकर मैं श्रुतदेव, बहुलाश्व, बलि, वैकुण्ठनाथको अपना दर्शन एवं ज्ञान देकर कृतार्थ कर आया हूँ। तुम बदरिकाश्रम जाकर वहाँके लोगोंको आनन्द प्रदान करना। यही मेरा कार्य है। सबको आनन्द प्रदान करनेके कारण तुम्हारा नाम उद्धव यथार्थ ही है। मेरे अवतारके एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये हैं। बदरिकाश्रम स्थित श्रीनर-नारायणादि तुमसे जिज्ञासाएँ करेंगे—तुम मुझसे शिक्षित ज्ञान-विज्ञानके अनुभवकी सारी बातें उन्हें बतलाना)॥ ४१-४४॥

श्रीशुक उवाच—

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—हे राजन्! जिनका स्मरण करनेपर संसारके पाप-ताप छिन्न हो जाते हैं, ऐसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको इस प्रकार आदेश दिया। तब उद्धवने उनकी परिक्रमा की और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक रख दिया। परीक्षित्! उद्धव सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे स्वभावतः मुक्त थे, तथापि वहाँसे चलते समय उनका चित्त विरहसे कातर हो रहा था। नेत्रोंसे प्रवाहित अश्रु-धाराओंसे उन्होंने श्रीकृष्णके चरणयुगलको अभिषिक्त कर दिया॥ ४५॥

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।

कृच्छ्रं ययौ मूर्द्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥ ४६॥

वहाँसे उद्धव चलनेका उपक्रम तो कर रहे थे, परन्तु श्रीकृष्णका स्नेह सुदुस्त्यज्य है, उनके विरहसे कातर होकर वे उस स्थानका त्याग नहीं कर पा रहे थे। विह्वल होनेके कारण अतिशय कष्टका अनुभव कर रहे थे, तब श्रीकृष्णने कृपा करते हुए उनको अपनी चरण-पादुकाएँ प्रदान कीं, जिन्हें वे मस्तकपर धारणकर बारम्बार नमस्कार करते रहे, बादमें आज्ञा पालन करते हुए वहाँसे बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये। भगवद्-विरह एक ओर असह्य है, परन्तु दूसरी ओर सब प्रकारसे प्रतिपाल्य भी है। (श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं कि उद्धवने बदरिकाश्रम जाते हुए सुनाकि भगवान् प्रभास क्षेत्रकी ओर चले गये हैं, तब वे भी पीछे-पीछे गये थे। जब भगवान्के वंशका उपसंहार हो गया, तब भगवान्को एकान्तमें बैठे हुए देखा, तब मैत्रेय ऋषि भी वहाँ आ गये थे। दोनोंको भगवान्ने उपदेश दिया था। भगवान्से उपदिष्ट विषयका चिन्तन करते हुए वे भगवान्की आज्ञासे बदरिकाश्रम चले गये।)॥ ४६॥

ततस्तमन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
ततः समास्थाय हरेरगाद्गतिम्॥ ४७॥

अनन्तर महाभागवत उद्धवने जगत्के एकमात्र बन्धु भगवान् श्रीकृष्णको अपने हृदयमें स्थापन किया और अनन्यशरण श्रीकृष्णके बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ पर तपस्या की और श्रीकृष्णके आदेशानुसार उनके ही स्वरूपको, उनके ही धामको प्राप्त हुए। अर्थात् उद्धव वैकुण्ठ-स्थित द्वारका लौट आये॥ ४७॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।

कृष्णेन　योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य　जगद्विमुच्यते॥ ४८ ॥

जो शंङ्कर, ब्रह्मादि योगेश्वरोंके भी आराध्य हैं, उन श्रीकृष्णने अपने परमभक्त उद्धवको उपदेश दिया। यह उपदेश-ज्ञानामृत आनन्द-महासागरका सार है। भगवत्-भक्तिसे भावित जो मनुष्य प्रगाढ़ श्रद्धाके साथ इसका किञ्चित् मात्र भी सेवन करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उनके संसर्गसे समस्त जगत् ही मुक्त हो जाता है। भगवद्-भक्तोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनेपर जीवोंका संसार-मोचन होता है तथा भगवद्-भक्ति भी प्राप्त होती है—उनकी अनायास मुक्तिके विषयमें कहना ही क्या है?॥ ४८॥

भवभयमपहन्तुं　ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे　भृङ्गवद्वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे उद्धवस्य बदर्याश्रमप्रवेशोनामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९ ॥

अब अन्तमें श्रीशुकदेव गोस्वामी जगद्गुरुको प्रणाम करते हुए कहते हैं कि वेद-रचयिता भगवान् श्रीकृष्णने प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी जीवोंके भव-भय-भञ्जन हेतु सम्पूर्ण वेद पुष्पके उद्यानसे मधुकरके समान ज्ञान-विज्ञानके सारभागस्वरूप-वेदतात्पर्यरूप इस भक्तिरसामृतका सङ्कलन किया है। उन्होंने पहले भी समुद्रसे अमृत उद्धृत करके असुरोंकी वञ्चना की और अमृतको अपने अनुगत देवताओंको पान कराया था। मैं जगत्के आदिकारण कृष्ण नामक पुरुषश्रेष्ठको प्रणाम करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके उनतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिंशोऽध्यायः

यदुकुलका संहार

राजोवाच—

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम्।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान् भूतभावनः॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुनिवर! जब महाभागवत उद्धव बदरीकाश्रमको चले गये, तब निखिल भूतभावन (समस्त जीवोंका पालन करनेवाले) भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें क्या लीला रची, उसका वर्णन करें॥ १॥

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत्॥ २॥

ब्रह्मशापसे अपने वंशका उपसंहार होनेके पश्चात् यादवोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने शाप-वचनके सम्मानके लिये सर्वजन-नयन-मनोरम-आनन्दप्रद-अतिप्रिय श्रीविग्रहका त्याग कैसे किया, वह कृपा करके मुझे बतलाइए (सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण श्रीविग्रहका त्याग असम्भव है)॥ २॥

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम्।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः॥ ३॥

अपने-अपने नेत्रोंसे दर्शन करके स्त्रियाँ जब उनके श्रीविग्रहके सौन्दर्यमें मोहित हो जाती थीं, तब वहाँसे वे अपनी दृष्टि लौटानेमें समर्थ नहीं हो पाती थीं। जब उनकी रूप-माधुरीका वर्णन साधुओंके कर्णछिद्रके मार्गसे हृदयमें प्रवेश करता है, तब ऐसा

हृदयस्थ (चिरलय) हो जाता है कि कभी वहाँसे हटता ही नहीं है। उनका सौन्दर्य कवियोंकी वाणीमें (काव्य-रचनामें) उल्लास भर देता है और अतिशय सम्मान बढ़ा देता है। महाभारतके युद्धके समय जब वे मेरे दादा अर्जुनके रथपर विराजमान थे, तब उनके श्रीविग्रहकी अनुपम शोभाका दर्शन करनेके कारण मृत पुरुषोंको सारूप्यकी (स्वरूपताकी) प्राप्ति हुई थी। ऐसे अद्भुत एवं प्रिय श्रीविग्रहका अन्तर्धान किस प्रकार हुआ—इसका वर्णन कीजिए। (आत्माराम साधुओंके हृदयमें गुणमय वस्तु रह नहीं सकती, नित्य प्रेयसी लक्ष्मी आदि आह्लादिनी शक्तियाँ भी प्राकृत वस्तुमें आसक्त नहीं होतीं—अतः कृष्णके विग्रहके त्यागका वर्णन करनेवाले मुनि कृष्ण-मायासे मोहित ही हैं)॥ ३॥

श्रीऋषिरुवाच—

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान्।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम्॥ ४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने जब सूर्यके चारों ओर वृत्ताकार फैला हुआ प्रभा-मण्डल, भूमण्डलपर भूकम्प एवं अन्तरिक्षमें दिग्दाह आदि सर्वत्र ही विविध महोत्पातोंको उठते देखा, तब सुधर्मा नामकी निज सभामें उपस्थित यादवोंसे इस प्रकार कहा—॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच—

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र यदुपुङ्गवाः॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे श्रेष्ठ यदुवंशियो! द्वारकामें इस समय यम-पताकाके समान मृत्युसूचक अति भीषण उत्पात उपस्थित हो रहे हैं। अतः अब क्षणभर भी यहाँ रहना हमारे लिये उचित नहीं है॥ ५॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती॥ ६॥

अतः स्त्रियाँ, बच्चे एवं वृद्ध इस स्थानसे शङ्खोद्धार-क्षेत्रकी ओर जाएँ। हम लोग प्रभास क्षेत्र चलें, जहाँ सरस्वती पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती हुई समुद्रमें जा मिली है॥ ६॥

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः॥ ७॥

हम प्रभासक्षेत्रमें सरस्वती नदीमें स्नान करके पवित्र होंगे तथा उपवास द्वारा संयत-चित्त होकर सुगन्धित तेल, चन्दन-लेपन एवं अन्य पूजोपहार द्रव्योंसे देवताओंकी पूजा करेंगे॥ ७॥

ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम्।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८॥

महाभाग ब्राह्मण हमारे लिये स्वस्त्ययनादि शान्ति-कृत्योंका अनुष्ठान करेंगे और हम बहुत-सी गायों, पृथ्वी, स्वर्ण, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ गृह-दानादिके द्वारा उन विप्रोंका सम्मान करेंगे॥ ८॥

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम्।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः॥ ९॥

यही विधि समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाली एवं परम मङ्गलको साधित करनेका उपाय है, विशेषरूपसे देवताओं, ब्राह्मणों एवं गायोंकी पूजा देवलोकादिमें उत्कृष्ट जन्मादिका कारण होती है॥ ९॥

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः॥ १०॥

मधुरिपु भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर सभी वृद्ध यदुवंशियोंने 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो' कहकर अनुमोदित किया। उन्होने नौकाओंके द्वारा समुद्र पार किया। तटपर उतरकर वे रथोंपर सवार हुए और प्रभासकी ओर चल पड़े॥ १०॥

तस्मिन् भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम्॥ ११॥

प्रभासक्षेत्र पहुँचकर सभी यादवोंने परम भक्तिके साथ यदु-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार सारे माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किये तथा अन्यान्य नानाविध स्वस्तिवाचन आदि श्रेयस्कर कार्योंको भी बड़ी श्रद्धाके साथ सम्पन्न किया॥ ११॥

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरयकं मधु।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः॥ १२॥

तदनन्तर दैववश उनकी मति हर ली गयी। उन्होंने सुस्वादु एवं अति मधुर मैरेयक नामक मदिराका प्रचुर मात्रामें पान कर लिया। इससे उनकी बुद्धिका नाश हो गया। (उन्होंने सोचा कि दानादि माङ्गलिक कार्योंके सम्पादनसे हम विप्र-शापसे मुक्त हो गये हैं, अतः मदिरा-पान करके अन्तर्धान होकर स्वर्ग पहुँच जाएँगे)॥ १२॥

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम्।
कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत्॥ १३॥

अनन्तर कृष्ण-मायासे मोहित एवं मदिरा-पानसे प्रमत्त (उन्मत्त) यादव-वीरोंका हृदय गर्वसे भर गया। इन बलवान् यादवोंमें परस्पर तुमुल कलहका आरम्भ हो गया। (मदिरा-पानसे भी अधिक प्रमुख हेतु था कृष्ण-मायासे विमूढ़ होना)॥ १३॥

ययुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४॥

अनन्तर आततायी यादव-वीर क्रोधाविष्टचित्तसे समुद्रके तटपर ही धनुष-बाण, तलवार, भाले, गदा, तोमर, ऋष्टि आदि अस्त्रोंके द्वारा परस्पर युद्ध करने लगे॥ १४॥

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।

मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन् श्ररैर्दद्भिरिव द्विपा वने॥ १५॥

वन्य हाथी जिस प्रकार अपने दाँतोंसे एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार सुदुर्मद (मदोन्मत्त) एवं क्रोधाविष्ट वीर भी फहराती पताकाओंसे युक्त रथों, हाथियों, गधों, ऊँटों, गायों, भैंसों, मनुष्यों एवं घोड़ोंपर चढ़कर समुद्रके तटपर ही बाणोंके द्वारा एक दूसरेके प्राण हरण करनेके लिये उद्यत हो गये॥ १५॥

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढ़मत्सरा-
वक्रूभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः॥ १६॥

प्रद्युम्न एवं साम्ब, अक्रूर एवं भोज, अनिरुद्ध एवं सात्यकि, सुभद्र एवं संग्रामजित्, कृष्णानुज गद एवं कृष्णनन्दनगद, सुमित्र एवं सुरथ इत्यादि योद्धा शत्रुतासे भर गये और बड़े ही दारुण-रूपमें एक-दूसरेका वध करनेके लिये तत्पर हो गये॥ १६॥

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम्॥ १७॥

इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु इत्यादि यादववीर भी भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित हो गये। मदान्धतातो उनके सिर पर सवार थी। इसीसे परिचालित होकर और भी भीषणरूपमें एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे॥ १७॥

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः।
विसर्ज्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्त जघ्नुः सुविसृज्य सौहृदम्॥ १८॥

दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुक्कुर और कुन्ति वंशमें उत्पन्न वीर सम्यक्‌रूपसे बन्धुत्वका भाव परित्याग करके परस्पर वध करने लगे॥ १८॥

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढाः॥ १९॥

मूढ़ता एवं मदान्धतावश पुत्र पिताके साथ, भाई भाईके साथ, मामा भांजेके साथ, नाना दौहित्रके साथ, भतीजा चाचाके साथ, मित्र मित्रके साथ, सुहृत् सुहृत्‌के साथ युद्ध करने लग गये। मूर्ख सम्बन्धी अपने ही सम्बन्धियों पर (समगोत्री आदि रिश्तेदारों पर) प्रहार करनेके लिये उद्यत हो गये॥ १९॥

शरेषु हीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः॥ २०॥

जब सब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये एवं शस्त्रास्त्र क्षयको प्राप्त हो गये, तब वे अपनी मुट्ठियोंसे एरका नामक लम्बे-लम्बे डंठलवाली घास उखाड़ने लगे। यह वही घास थी, जो ऋषियोंके शापके कारण लौहके (मुसलके) चूर्णसे उत्पन्न हुई थी॥ २०॥

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तञ्च ते॥ २१॥

उनकी मुट्ठीके संयोगमात्रसे ही एरका डंठल वज्रके समान मजबूत मुद्‌गरके रूपमें परिणत हो गये। वे उन्हें मुद्‌गरके समान ही धारण करने लगे। श्रीकृष्णने इसके लिये मना भी किया, परन्तु वे अपने विद्वेषियोंके साथ श्रीकृष्ण पर ही प्रहार करने लगे॥ २१॥

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रञ्च मोहिताः।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः॥ २२॥

हे राजन्! इन बुद्धि-भ्रमित (मूढ़) आततायियोंने बलदेवजीको भी शत्रु समझ लिया और उनके वधके लिये कृतसङ्कल्प होकर उनकी ओर दौड़ पड़े॥ २२॥

अथ तावपि सङ्क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि॥ २३॥

हे कुरुनन्दन! इसके बाद बलराम एवं श्रीकृष्ण भी क्रोधित हो गये और एरकाको दोनों मुट्ठियोंसे उखाड़-उखाड़कर और उसके डंठलोंको मुद्गरकी भाँति धारणकर युद्धक्षेत्रमें विचरण करते हुए प्रतिपक्षियोंका संहार करने लगे॥ २३॥

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम्।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम्॥ २४॥

बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार बाँसके वनको जला डालती है, उसी प्रकार कृष्णकी मायासे आवृत-चित्त एवं ब्रह्मशापसे आक्रान्त यादवोंका स्पर्द्धाजनित क्रोध अपने ही वंशके क्षयका साधन बन गया। क्रोधने उनके वंशको ही ध्वंस कर दिया॥ २४॥

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः॥ २५॥

अपने समस्त कुलको सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हुआ देखकर श्रीकृष्णने सोचा कि अब मैंने पृथ्वीका समस्त भार ही उतार दिया है॥ २५॥

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम्।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि॥ २६॥

उस समय बलराम समुद्र-तटपर आसीन हो गये। ध्यान-योगसे परमपुरुषका चिन्तन करते हुए उन्होंने परमात्मामें अपने चित्तको स्थिर किया—आत्मामें ही आत्मस्वरूपका संयोग करके मनुष्यलोकका (मनुष्य शरीरका) त्याग कर दिया। बलराम स्वरूपसे महावैकुण्ठमें और निज अंश अनन्तरूपसे पाताललोकमें प्रस्थान कर गये॥ २६॥

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम्॥ २७॥

देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्ण बलरामकी निर्याण-लीलाको (अप्रकट-लीलाको) देखकर उसी समय समीपवर्त्ती एक पीपलके वृक्षके नीचे मौन होकर धरतीपर ही बैठ गये॥ २७॥

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः॥ २८॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम्।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम्॥ २९॥

सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम्।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३०॥

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम्॥ ३१॥

वनमालापरीताङ्गं मूर्त्तिमद्भिर्निजायुधैः।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम्॥ ३२॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने चतुर्भुज रूप धारण किया, जो निर्धूम अग्निके समान अपनी अङ्गप्रभासे समस्त दिग्मण्डलके अन्धकारको दूर करते हुए प्रकाशवान् हो रहा था। वर्षाकालीन निविड़ मेघ सदृश नीलवर्ण, श्रीवत्स चिह्नसे सुशोभित वक्षस्थल, तप्तकाञ्चन प्रदीप्त देह, मङ्गलमय कान्ति, कौशेय-वस्त्र-युगल (रेशमी पीताम्बर-दुपट्टा एवं धोती) परिहित, मुख-कमल रक्ताभ एवं ईषत् हास्यसे विभूषित, नील कुन्तलावलीसे मण्डित मस्तक एवं उसकी लटकनसे विलसित कपोल-द्वय पुण्डरीकके समान सुकुमार एवं मनोहर नयन-युगल, प्रस्फुरित-प्रदीप्त (चमचमाते) मकराकृति कुण्डलोंसे विभूषित कर्णद्वय, कटिमें कटिसूत्र (मेखला), स्कन्धदेशमें यज्ञसूत्र (ब्रह्मसूत्र), मस्तकपर किरीट, कलाइयोंमें कङ्गन, बाहुओंमें अङ्गद, अङ्गुलियोंमें अङ्गुठियाँ, कण्ठमें विराजित हार एवं कौस्तुभ,

नूपुर परिहित चरण-द्वय ध्वज-वज्र-अङ्कुश आदि मुद्राओंसे विलसित, वनमालासे वेष्टित श्रीअङ्ग, मूर्त्तिमान् शङ्ख-चक्र-गदादि अपने आयुधों द्वारा चारों दिशाओंसे परिवेष्टित-परिसेवित, देदीप्यमान, सुमङ्गल रूप धारण किये हुए वे अपने दाहिने उरुदेशपर (जांघपर) पङ्कजतुल्य रक्तिमप्रभ अपना बाँया चरण रखकर बैठे हुए थे॥ २८-३२॥

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया॥ ३३॥

यादवोंके द्वारा चूर्णित मुसलसे अवशिष्ट लोहेके खण्डसे जरा नामक व्याधने एक बाण बना लिया था। उस समय मृगके मुखके समान आकृति-विशिष्ट श्रीकृष्णका चरण उस व्याधको दूरसे सचमुचका मृग ही जान पड़ा। उसने उस बाणसे श्रीकृष्णके चरणको बिद्ध कर दिया। (वस्तुतः बाणसे चरणका स्पर्श मात्र हुआ है, विद्ध नहीं हुआ है। श्रीकृष्णके अङ्ग सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। व्याध स्वयं भयभीत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा है, उसने दोनों-चरणोंमें मस्तकसे प्रणाम किया है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसने चरणसे शरको निकाला)॥ ३३॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः॥ ३४॥

अनन्तर जब इस जरा नामक व्याधने चतुर्भुज श्रीकृष्णको देखा, तो वह समझ गया कि उससे अपराध हो गया है। वह व्याध नतमस्तक होकर असुरारि कृष्णके चरण-युगलमें गिर पड़ा एवं उनसे निवेदन करने लगा॥ ३४॥

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ॥ ३५॥

हे उत्तमश्लोक! हे मधुसूदन! मैं अतीव दुराचारी हूँ। मैंने अज्ञानताके कारण यह महापाप कर डाला है। हे अनघ! आप मेरे अपराधको क्षमा कर दीजिए॥ ३५॥

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम्।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो॥ ३६॥

हे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो! ज्ञानीजन जिनके निरन्तर ध्यानको अज्ञानरूपी अशेष अन्धकारको नाश करनेवाला बतलाते हैं, ऐसे आपके प्रति मैंने अक्षम्य असाधु कृत्य किया है॥ ३६॥

तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम्।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम्॥ ३७॥

अतएव हे वैकुण्ठ! मुझ मृगलुब्धक दुराचारीसे पुनः साधुओंके प्रति ऐसा अकरणीय अपराध न हो, इसलिये आप मुझे अति शीघ्र ही मार डालिये। (छप्पन करोड़से भी अधिक यदुवीरोंकी महायुद्धमें मृत्यु हुई थी—रक्तकी नदी प्रवाहित हो रही थी, अतः उस समय व्याधका मृग-शिकारके लिये आना किस प्रकारसे सम्भव था? पुनः भीरु स्वभाव मृगोंकी वहाँ उपस्थितिकी सम्भावना भी नहीं थी। सूर्यास्तके समय सरस्वती नदीका स्पर्श करके मौन धारण करके बैठना और तब व्याधका वहाँ आना—यह कृष्ण-प्रेरणासे ही सम्भव है)॥ ३७॥

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः॥ ३८॥

हे प्रभो! ब्रह्मा एवं उनकी सन्तति परम्परा, रुद्रादि देवता एवं अन्यान्य वेदद्रष्टा ऋषिगण (बृहस्पति आदि) भी आपकी मायासे आच्छादित-दृष्टि होनेके कारण आपकी स्वाधीन मायासे रचित ऋषि-शापादिरूप वृतान्तोंके रहस्यको जाननेमें समर्थ नहीं हैं, तब मुझ-जैसा पाप-योनि-सम्भूत, व्याधवृत्तिसम्पन्न क्षुद्र मनुष्य आपकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन कर सकता है?॥ ३८॥

श्रीभगवानुवाच—

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥ ३९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरा! उठो, डरो मत। तुमने मेरा अभिलषित कार्य ही सम्पन्न किया है। अब मेरी अनुमतिसे तुम पुण्यवानोंके प्राप्य—स्वर्गलोकमें जाओ॥ ३९॥

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ॥ ४०॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—परीक्षित्! स्वतन्त्र इच्छामय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी इच्छासे ही शरीर धारण करते हैं। जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन बार परिक्रमा की, प्रणाम किया और विमानपर सवार होकर स्वर्ग लोक चला गया॥ ४०॥

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम्।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ॥ ४१॥

उसी अवसर पर कृष्ण-सारथी दारुक श्रीकृष्णके अवस्थान-क्षेत्रका अनुसन्धान करते-करते उनके समीपवर्त्ती स्थान पर पहुँचा और वहाँ भगवान्के द्वारा धारणकी हुई तुलसीकी गन्धसे आमोदित वायुका आघ्राण करते हुए, उनकी उपस्थितिका अनुमान करके उनके सम्मुख उपस्थित हो गया॥ ४१॥

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम्।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः॥ ४२॥

वहाँ अश्वत्थके मूलमें समासीन तीक्ष्ण-द्युतिमय-मूर्त्तिमान्-चक्रादि आयुधोंसे समन्वित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके दारुकका हृदय स्नेहसे आर्द्र हो गया, लोचन वाष्पाकुलित हो गये। वह रथसे उतरा और भगवान्के चरणोंमें गिर पड़ा और उनसे कहने लगा—॥ ४२॥

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे॥ ४३॥

'हे प्रभो! निशाकालमें चन्द्रमाके दिखायी न देनेपर लोगोंको जिस प्रकारसे दिग्भ्रान्ति हो जाती है—उसी प्रकार आपके श्रीपादपद्मका दर्शन न करनेसे मेरी दृष्टि लुप्त हो गयी है, अन्धकारमें प्रविष्ट व्यक्तिके समान न तो दिशाका ज्ञान हो रहा है और न ही किसी प्रकारकी शान्ति मिल रही है'॥ ४३॥

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः॥ ४४॥

हे राजेन्द्र! दारुकने इस प्रकारसे कहना आरम्भ ही किया था कि गरुड-चिह्नित-रथ घोड़ों एवं पताकाओंके साथ उसीके सम्मुख आकाशमें उड़ गया। (भगवान्‌का इस प्रकारसे स्वधाम-गमन युधिष्ठिर, अर्जुनादिके प्रेमवर्द्धनके लिये है। वैराग्य तो उनका स्पष्ट ही है)॥ ४४॥

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्द्दनः॥ ४५॥

दिव्य वैष्णव-अस्त्र (श्रीकृष्णके आयुध)—चक्रादि भी रथके पीछे-पीछे चले गये। यह देखकर दारुकका हृदय अतिशय विस्मयसे भर गया। तब भगवान्‌ने उसको सम्बोधन करते हुए कहा—॥ ४५॥

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः।
सङ्कर्षणस्य निर्य्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम्॥ ४६॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दारुक! तुम यहाँसे द्वारका चले जाओ। वहाँ बन्धु-बान्धवोंको यदुवंशियोंके पारस्परिक युद्धमें उनके निधन, भैया

बलरामका योगमार्गके द्वारा महाप्रयाण एवं मेरे भी स्वधाम-गमनका वर्णन करना॥ ४६॥

द्वारकायाञ्च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति॥ ४७॥

जैसे ही मैं द्वारकापुरीसे प्रस्थान करूँगा, वैसे ही समुद्र द्वारकापुरीको जलसे प्लावित करेगा। अतः तुम्हें एवं तुम्हारे बन्धुओं-पारिवारिकजनोंके लिये यहाँ द्वारकामें रहना उचित नहीं है॥ ४७॥

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ॥ ४८॥

सभी यादव अपने-अपने परिजन एवं मेरे माता-पिता (देवकी-वसुदेव) को साथ लेकर अर्जुनके संरक्षणमें रक्षित होकर इन्द्रप्रस्थ चले जाएँ॥ ४८॥

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज॥ ४९॥

हे दारुक! तुम भी मेरे भक्तिधर्मका आश्रय लेकर ज्ञाननिष्ठ हो जाओ। सभीके प्रति उदासीन होकर इन सभी लीलाओंको मेरी मायासे रचित (साधारण जनोंको भ्रम दिखानके लिये यह लीला है) जानकर शान्त रहना। (व्यर्थमें ही शोक मत करना)॥ ४९॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम्॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे यदुकुलसंहारो नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अनन्तर दारुकने श्रीकृष्णकी यह आज्ञा प्राप्त करके उनकी परिक्रमा की, चरणोंमें अपना मस्तक रखा एवं पुनः-पुनः नमस्कार

करते हुए (कुलके विनष्ट हो जानेके कारण) दुःखीचित्तसे द्वारकाकी ओर चल दिये॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान्का स्वधामगमन

श्रीशुक उवाच—

अथ तत्रागमद्ब्रह्म भवान्या च समं भवः।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अनन्तर ब्रह्मा, पार्वतीके साथ शङ्कर, मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ इन्द्रादि प्रमुख देवता एवं सनकादि मुनि द्वारकामें (प्रभासक्षेत्रमें) आये॥ १॥

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।
चारणाः यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः॥ २॥

द्रष्टुकामा भगवतो निर्य्याणं परमोत्सुकाः।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्म्माणि जन्म च॥ ३॥

पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, चारण, यक्ष, रक्ष, किन्नर, अप्सरा एवं गरुड़लोकवासी पक्षी सभी भगवान्की प्रयाण-लीलाके दर्शनकी कामनासे अत्यन्त उत्सुकताके साथ शौरि श्रीकृष्णके जन्म, चरित एवं लीलाओंका कीर्त्तन एवं स्तव-स्तुति करते हुए वहाँ उपस्थित हो गये॥ २-३॥

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युताः॥ ४॥

हे राजन्! उन सबके विमानों द्वारा आकाशमण्डल भर गया। वे परम भक्तिके साथ भगवान्पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ ४॥

भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥ ५॥

विभु भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मा एवं अपने अंश-सम्भूत इन्द्रादि देवताओंको देखकर अपने चित्तको अपने परमात्म-स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया॥ ५॥

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥ ६॥

जो सभीकी ध्यान-धारणाके विशुद्ध विषयीभूत हैं अर्थात् जिनके ध्यान एवं धारणासे सभीको मङ्गलकी प्राप्ति होती है, उन भगवान् श्रीकृष्णने लोकाभिराम (लोक-चक्षुओंके लिये परम मनोरम एवं आनन्दप्रद) शुद्ध-जम्बूनद-स्वर्णवत् अपने श्रीविग्रहको आग्नेयी (अग्निमयी)-योगधारणासे दग्ध नहीं किया, अपितु योग-धारणासे सशरीर निज धामको चले गये (भगवान्ने कहा भी था—वह्नि मध्ये स्मरेत् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम् (११.१४.३७) अर्थात् अग्निमें मेरे स्वरूपका ध्यान करे, जो ध्यानका शुभ विषय है)॥ ६॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात्।
सत्यं धर्म्मो धृतिर्भूमेः कीर्त्तिः श्रीश्चानु तं ययुः॥ ७॥

उस समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, आकाशसे पुष्प-राशिका वर्षण होने लगा। सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्त्ति और श्री—इन सभी गुणोंने पृथ्वीको छोड़कर श्रीकृष्णका अनुगमन किया। जो सत्य एवं धर्म कुमति द्वारा पराभूत हो रहे थे, वे कृष्णके अन्तर्धानके समय पुनः जाग्रत हो उठे और उनके साथ चल दिये॥ ७॥

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः॥ ८॥

ब्रह्मादि देवता, ऋषिगण इत्यादि अज्ञेयगति (जिनकी गति, मन एवं वाणीसे परे है) श्रीकृष्णको अपने धाममें प्रवेश करते हुए न देख सके—कहाँसे चले गये, वे जान ही नहीं पाये। किसी-किसी

स्थानपर किसी-किसीने (उनके पार्षदोंने) देखा, तो वे अति विस्मित हो उठे॥ ८॥

सौदामन्या यथाकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥ ९॥

सौदामिनी (बिजली) जैसे मेघमण्डलको छोड़कर आकाशमें प्रवेश कर जाती है, उसकी गतिको कोई भी नहीं जान सकता, उसी प्रकार भूमण्डलको त्यागकर स्वलोकमें प्रवेशके समय श्रीकृष्णकी गति भी देवताओंके लिये भी अलक्षित थी॥ ९॥

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥ १०॥

ब्रह्मा, रुद्र आदि सभी प्रमुख देवता श्रीकृष्णके योग-प्रभावको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उनकी परम योगगतिकी प्रशंसा करते-करते प्रसन्नचित्तसे वे अपने-अपने लोकोंमें प्रस्थान कर गये॥ १०॥

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविड़म्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते॥ ११॥

हे राजन्! जिस प्रकार नट अपने स्वरूपमें अविकृत रहकर ही रङ्गमञ्चपर दर्शकोंके समक्ष जन्म-मरण आदि विविध खेलोंका अभिनय करता है, उसी प्रकार परमात्मा श्रीकृष्णका भी यदुकुलमें आविर्भाव-तिरोभाव अर्थात् मनुष्योंके समान जन्म-लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना—उनकी मायाका विलासमात्र है। वस्तुतः वे परमपुरुष स्वयं ही इस जगत्‌की सृष्टि करते हैं, अन्तर्यामीरूपसे उनमें प्रविष्ट होकर विहार करते हैं और प्रलयकालमें संहार लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूपमें शान्त भावसे अवस्थित हो जाते हैं॥ ११॥

मर्त्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वाञ्चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम्॥ १२॥

जिन्होंने यमपुरीसे गुरुपुत्रको सशरीर लाकर पुनः उसके माता-पिताके समीप लौटा दिया था, तुम्हारा शरीर ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हो गया था, तब जिन शरणागत-रक्षक भगवान्‌ने तुम्हारी रक्षा की थी, जिन्होंने संग्राममें मृत्युञ्जय को भी पराजित कर दिया था और जिन्होंने अपने शरीरपर प्रहार करनेवाले अत्यन्त अपराधी व्याधको भी सदेह स्वर्ग भेज दिया—वे भगवान् श्रीकृष्ण क्या अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे? कदापि नहीं। (वे तो अपने पार्षदोंके साथ दृश्यरूपमें सदा ही विराजमान हैं। हाँ, वाञ्छित भजनके अभावमें उनका दर्शन असम्भव है)॥ १२॥

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक्।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्॥ १३॥

यद्यपि अशेष शक्तिशाली (सम्पूर्ण शक्तियाँ धारण करनेवाले) भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार कार्योंके निरपेक्ष (अनन्य) कारण-स्वरूप हैं, तथापि उन्हें इस शरीरको इस मर्त्त्यलोकमें रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। (भगवान्‌को मर्त्त्यलोककी अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मादिकी प्रार्थनासे ही उनका मर्त्त्यलोकमें आविर्भाव है और उनकी ही प्रार्थनासे अपने धाममें गमन है।) आत्मनिष्ठोंकी दिव्यगति ही प्रकृष्ट अर्थात् सर्वाङ्गसुन्दर है, यह दिखलानेके लिये ही यदुवंशके संहारके पश्चात् उन्होंने मृत्युलोकमें अपने श्रीविग्रहको रखना उचित नहीं समझा। (तात्पर्य यह है कि भगवान् मनुष्योको यह शिक्षा देना चाहते हैं कि आत्मनिष्ठको इस मर्त्त्यशरीरसे क्या प्रयोजन है। वह इस शरीरको

बचाये रखनेकी चेष्टा न करे अन्यथा योग-बलसे देहकी सिद्धि करके वे इस भौतिक जगत्में ही रमण करने लगेंगे। जो कदापि उचित नहीं है।)॥ १३॥

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम्।
प्रयतः कीर्त्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ १४॥

जो पुरुष प्रातःकाल उठकर एकाग्रचित्तसे भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णके इस दिव्य परमधामगमनकी कथाका कीर्त्तन करेगा, उसे भगवान्का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होगा। भगवान्की स्वधाम-गमन लीला सच्चिदानन्द-स्वरूप ही है॥ १४॥

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्त्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः॥ १५॥

इधर दारुक भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर द्वारका लौट आया और वसुदेवजी और उग्रसेनके चरणोंमें गिरकर आँसुओंसे उन्हें अभिषिक्त करने लगा। (भगवान् चाहते थे कि वसुदेव आदिको भी अपने लोकोंकी प्राप्ति हो जाय।)॥ १५॥

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥ १६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम्॥ १७॥

हे राजन्! दारुकने उनको यदुवंशियोंके निधनका सम्पूर्ण वृतान्त सुना दिया, जिसे सुनकर उनका चित्त उद्विग्न हो गया तथा वे शोकसे मूर्च्छित हो गये। कृष्ण-विरहमें विह्वलताके कारण वे अपने हाथोंसे अपने सिरको पीटते हुए शीघ्र ही उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ उनके भाई-बन्धु निष्प्राण पड़े थे॥ १७॥

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्त्ता विजहुः स्मृतिम्॥ १८॥

माता देवकी, रोहिणी एवं वसुदेव अपने प्यारे श्रीकृष्ण-बलरामको न देखकर शोकाकुलताके कारण अपनी सुध-बुध खो बैठे। (जिस प्रकार भगवान्‌के नित्य परिकर प्रद्युम्न, अनिरुद्धादिका अंश द्वारकासे प्रभास गया था, उसी प्रकार देवकी एवं रोहिणी आदिका अंश ही प्रभासमें आया था, मूलस्वरूप देवकी इत्यादि द्वारकामें ही जागतिक लोगोंकी आँखोंसे अदृश्य होकर विराजमान थीं)॥ १८॥

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।
उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः॥ १९॥

तदनन्तर हे तात! श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर देवकी आदिने वहींपर अपने प्राण छोड़ दिये। स्त्रियोंने अपने-अपने पतियोंके शवोंको हृदयसे लगाया और चितापर चढ़कर उनके साथ भस्म हो गयीं॥ १९॥

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥ २०॥

बलरामकी पत्नियाँ उनके शरीरको, वसुदेवकी पत्नियाँ उनके शरीरको, भगवान्‌की पुत्र वधुएँ अपने-अपने पतियोंको आलिङ्गन करके चिताग्निमें प्रवेश कर गयीं। श्रीरुक्मिणी आदि श्रीकृष्णकी पटरानियाँ तद्‌गतचित्त होकर अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं॥ २०॥

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥ २१॥

अर्जुन अपने प्रिय सुहृत् श्रीकृष्णके विरहमें अत्यन्त कातर थे, परन्तु उन्होंने कुरुक्षेत्र-समरकालमें श्रीकृष्ण द्वारा गीतोक्त सदुपदेशोंके स्मरण द्वारा (यथा अज्ञानी संसार मुझ अव्यय एवं अजन्माको नहीं जानता आदिके द्वारा) स्वयंको स्थिर किया॥ २१॥

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥ २२॥

जिनकी सन्तति परम्परामें कोई बचा न था, अर्जुनने ऐसे निःसन्तान यादव-बन्धुओंके यथाक्रमसे (एक-एक करके) पिण्डोदकादि सभी और्ध्वदैहिक-कृत्य यथाविधि सम्पन्न करवाये॥ २२॥

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम्॥ २३॥

हे महाराज! भगवान् श्रीहरिने जैसे ही द्वारकापुरीका परित्याग किया, वैसे ही समुद्रने श्रीकृष्णके निवास-स्थानको छोड़कर समस्त पुरीको क्षणकालमें ही जल-प्लावनसे विध्वस्त कर दिया। (जिस द्वारकाका निर्माण देवताओंके शिल्पी विश्वकर्माने किया हो—सुधर्मा सभाभवनको स्वर्गसे लाया गया हो—उसका विध्वंस होना सम्भव नहीं है—यह श्रीकृष्णकी लीलामात्र है)॥ २३॥

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥ २४॥

भगवान् मधुसूदन द्वारका-स्थित अपने मन्दिरमें नित्यकाल ही विराजमान हैं। समस्त मङ्गलोंके मङ्गल-स्वरूप उस मन्दिरके स्मरणमात्रसे ही मनुष्योंके सभी प्रकारके विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा परम मङ्गलकी प्राप्ति होती है॥ २४॥

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनञ्जयः।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत्॥ २५॥

धनञ्जय अर्जुनने युद्धसे बचे हुए स्त्री, बच्चों एवं वृद्धोंको ले जाकर पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थमें स्थापित किया। उन्होंने अनिरुद्धपुत्र वज्रको वहाँके राजाके पदपर अभिषिक्त किया॥ २५॥

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः।
त्वान्तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम्॥ २६॥

हे राजन्! तुम्हारे पितामह युधिष्ठिरादिने अर्जुनके मुखसे सुहृत्गणोंके निधनकी बात सुनी, तो तुमको वंशधरके रूपमें राजपद पर संस्थापित करके हिमालयकी ओर महाप्रस्थान कर गये॥ २६॥

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च।
कीर्त्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २७॥

जो मनुष्य श्रद्धाके साथ देवताओंके भी देवता भगवान् श्रीकृष्णके इन जन्म-चरित-लीलाओंका कीर्त्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ २७॥

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे भगवानस्य स्वधामगमनो नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

जो मानव श्रीमद्भागवत पुराण अथवा अन्यान्य पुराणोंमें वर्णित निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अनुष्ठित परममङ्गलप्रद मनोहर अवतार-चरित, विस्मयकारी वीर्यवार्त्ता, चारु-रुचिर एवं परमानन्दप्रय बाल्यलीला, मधुरातिमधुर एवं मनोज्ञ कैशोर-लीला आदिका सङ्कीर्त्तन करता है, वह परमहंसजनोंके एकमात्र शरण्य (प्राप्तव्य) श्रीकृष्णके प्रति परम भक्ति प्राप्त करता है॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके इकतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

❀ ❀ ❀

द्वादशः स्कन्धः

द्वादश स्कन्धकी कथाका सार

महाभागवत श्रीशुकदेव गोस्वामीने दसवें एवं ग्यारहवें स्कन्धमें चन्द्रवंशावतंस श्रीकृष्णचन्द्रकी चरितामृत-कथाका वर्णन करनेके बाद उसी चन्द्रवंशकी अन्तिम स्थितिके प्रसङ्गमें बतलाया कि जरासन्धके पुत्र सहदेवसे रिपुञ्जय पर्यन्त बीस राजाओंके राज्यके बाद रिपुञ्जयका मन्त्री शुनक राजा रिपुञ्जयका वध करके अपने पुत्र प्रद्योतको राजा बनाएगा। उसके बाद उसके वंशमें पाँच राजाओंके बाद क्रमशः शिशुनाग, मौर्य, शुङ्ग, काण्ववंशीयगण, आन्ध्रजातीयगण, आभीर, गर्दभी, कङ्क, यवन, तुरस्क (तुर्क), गुरुण्ड, मौल, पाँचकिलकिला, आन्ध्र, बाह्लिक इत्यादि राजा राज्य करेंगे। तत्पश्चात् विभिन्न प्रदेशोंमें शूद्रप्राय एवं म्लेच्छप्राय अधर्मपरायण राजाओंका शासनाधिकार होगा।

कलिकी वृद्धिके साथ-साथ पाखण्ड-धर्म भी प्रबल होता जाएगा। सभी वर्ण शूद्रप्राय, गौएँ बकरियोंके समान एवं आश्रम गृहप्राय हो जाएँगे तथा बन्धुत्व यौवन-सम्बन्धमें पर्यवसित हो जाएगा। तब भगवान् कल्किदेव शम्भल ग्राममें विष्णुयश ब्राह्मणके गृहमें अवतीर्ण होकर राजवेशी दस्युओंका संहार करेंगे। इसीसे सत्ययुगके आगमनकी सूचना प्राप्त होगी।

जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग, जो मृत्युके खिलौने-स्वरूप हैं, वे मुझे जीत लेना चाहते हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है कि मनु आदि सभी राजा आये और समय-समयपर मेरा त्याग करके चले गये। वस्तुतः पृथ्वी अजेय है एवं इसे अवश्य ही छोड़कर जाना पड़ेगा, तब भी लोग सम्पूर्ण पृथ्वी अथवा उसके कुछ अंशके लिए व्यर्थ ही परस्पर युद्ध-कलह किया करते हैं। जगत् अनित्य एवं असार है, मात्र कृष्णभक्ति

ही समस्त अमङ्गलोंका नाश करने वाली है, यही जीवका परम पुरुषार्थ है।

सत्ययुगमें चार चरणोंसे विशिष्ट धर्मका त्रेतादि युगमें क्रमशः एक-एक चरण ह्रास होते-होते कलिमें यह धर्म मात्र एक पादमें पर्यवसित हो जाता है और वह भी धीरे-धीरे क्षीण होकर विलुप्त होता जाता है। उस समय पाखण्डता, नीचता एवं शिश्नोदरपरायणता प्रबल हो जाती हैं। फिर भी, सर्वदोषाकर कलिका एक महद् गुण यह है कि केवल कृष्ण-कीर्त्तन द्वारा समस्त आसक्तियोंसे मुक्त होकर परम वस्तु—श्रीकृष्णको प्राप्त किया जा सकता है।

एक हजार चतुर्युग ब्रह्माका एक दिन होता है और उतने ही समय तक उनकी रात होती है—यह रात ब्रह्माका निद्राकाल होती है। उनके निद्राकालमें नैमित्तिक प्रलय होता है—उस समय तीनों लोकोंका विनाश हो जाता है। ब्रह्माके आयुषकालका सौ वर्ष पूर्ण होनेपर प्राकृत प्रलय होता है। उस समय महदादि तत्त्वोंका एवं ब्रह्माण्डका ध्वंस हो जाता है। वास्तव वस्तुका ज्ञान प्राप्त होनेपर जब प्रपञ्चकी पृथक् प्रतीतिका लय हो जाता है, तब उसको आत्यन्तिक लय कहते हैं। कालवेगके प्रभावसे प्रत्येक क्षण देहादिका जो क्षय है, उसे नित्य-प्रलय कहते हैं। संसार तो सृष्टि-प्रलयके अधीन है। भगवत्-लीला-कथा-सेवन भव-सिन्धु-तरणका उपाय है।

इसके बाद श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित्को मृत्युकी चिन्ताका त्यागकर और आत्मस्थ होकर वासुदेवके नित्य-निरन्तर ध्यानमें मग्न होनेका उपदेश देते हैं। ऐसा होनेपर तक्षक-दंशनकी यन्त्रणाका अनुभव उन्हें नहीं होगा।

श्रीहरिके लीलामृतसे पूर्ण भागवती कथाका श्रवण करके श्रीपरीक्षित् महाराजने अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तिको भगवान्के श्रीचरणोंमें नियुक्त कर दिया और अपने चित्तका भी समर्पण करके

प्राणोंके परित्यागके लिए श्रीशुकदेवसे अनुमतिकी प्रार्थना करने लगे। श्रीशुकदेवने भी परीक्षित्‌को प्राण त्याग करनेके लिए आज्ञा प्रदान की और इच्छानुसार प्रस्थान कर गये। संशय-मुक्त महाराज परीक्षित् आसनपर बैठकर परमात्माके ध्यानमें निमग्न हो गये। तक्षक वहाँ आया और उसने उनको डस लिया। इससे परीक्षित् महाराजकी देह भस्मीभूत हो गयी।

परीक्षित्-पुत्र जन्मेजय पिताके वियोगके संवादसे क्रुद्ध हो गये और सर्प-यज्ञ आरम्भकर सर्पोंका विनाश करने लगे। तक्षक इन्द्रके शरणागत होनेके कारण उनके यज्ञानलमें पतित नहीं हुआ। यह देखकर राजाने मुनियोंको रक्षकके (इन्द्रके) साथ तक्षकको मन्त्र द्वारा आकर्षित करनेका आदेश किया। तदनुसार तक्षकके साथ देवराज इन्द्र भी मन्त्र द्वारा आकृष्ट हो रहे हैं—यह देखकर बृहस्पतिने सिद्धान्तपूर्ण वचनोंसे जन्मेजयको जीव-हिंसासे रोका।

ब्रह्माने ॐकार द्वारा चारों वेदोंकी सृष्टि करके अपने पुत्रोंको उनका अध्ययन कराया था। द्वापरयुगमें भगवान् व्यासदेवने उन वेदोंको विभाजित कर दिया एवं ऋषियोंने सम्प्रदायानुसार इसका अभ्यास किया। याज्ञवल्क्य ऋषिसे पठित समस्त वेदोंको गुरुकी आज्ञासे उद्‌गीर्ण करने पर मुनियोंने तित्तिर पक्षीके रूपमें उनको ग्रहण कर लिया। इसीलिए यजुर्वेदीय शाखाओंका नाम तैत्तिरीय पड़ गया।

अनन्तर श्रीसूतजीने अथर्ववेदका विस्तार, उसके अध्यायिकोंके नाम, पौराणिकोंके नाम, पुराणोंके लक्षण एवं अठारह पुराणोंके नाम बतलाये हैं।

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने छह मन्वन्तर तक श्रीहरिकी आराधना की। इन्द्रने उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिए सानुचर कामदेवको भेजा। कामदेव उनसे पराभूत हो गया। अब मार्कण्डेय ऋषिपर अनुग्रह करनेके लिए श्रीनर-नारायण उनके निकट उपस्थित हुए। ऋषिने श्रीहरिकी पूजा करके विचित्र भाषामें उनकी स्तुति की।

भगवान् उनसे सन्तुष्ट हो गये और उनसे वरदान माँगनेके लिए कहा। मार्कण्डेयने भगवान्‌की मायाके वैभवको देखनेकी अभिलाषा की। भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। कुछ ही समय बाद मार्कण्डेय जब सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे कि अकस्मात् त्रिभुवन प्रलय-जलमें प्लावित हो गया। मार्कण्डेय घोर कष्टके साथ जलमें इधर-उधर भ्रमण करते रहे, तभी उन्होंने वट-पत्र-शायी एक सुन्दर शिशुको अपने पैरके अंगूठेका पान करते देखा। वे उनके निकट गये और शिशुके निःश्वासके साथ उसके शरीरमें प्रवेश कर गये। ऋषिने उसके शरीरमें सम्पूर्ण विश्वको देखा। कुछ समय बाद वे शिशुके प्रश्वासके साथ बाहर आये और पुनः प्रलय-पयोधिमें पतित हो गये। उन्हें ज्ञात हो गया कि वह शिशु ही उनके आराध्यदेव अधोक्षज भगवान् श्रीहरि हैं। वे उनका आलिङ्गन करनेके लिए उद्यत हुए कि भगवान् अन्तर्धान हो गये; प्रलय भी अदृश्य हो गया। मार्कण्डेय भगवान्‌की मायाके वैभवका अनुभव करके उन्हीं भगवान् नारायणके शरणागत हो गये। एक दिन पार्वतीजीके साथ भगवान् शङ्कर आकाश मार्गसे विचरण कर रहे थे कि उन्होंने समाधिमें मग्न मार्कण्डेय ऋषिको देखा। पार्वतीजीकी इच्छासे शङ्कर उन्हें सिद्धि प्रदान करनेके लिए उनके समीप आये। निरुद्ध-चित्तवृत्ति मार्कण्डेयको उनके आगमनका बोध नहीं हुआ, तब भगवान् शिव मार्कण्डेयके हृदयाकाशमें प्रवेश कर गये। इससे उनकी समाधि भङ्ग हो गयी। मार्कण्डेयने शङ्कर एवं पार्वतीके चरणोंकी पूजा-वन्दना की और उन दोनोंकी अभीष्ट सेवा सम्पन्न हो सके—इस वाञ्छित वरकी प्रार्थना की।

भगवान् शङ्कर मार्कण्डेयसे सन्तुष्ट हो गये। वे भगवान्‌के भक्तोंको अभीष्ट वर प्रदान करनेवाले हैं। मार्कण्डेयने भगवान् शङ्करकी स्तुति करके एक और वरकी प्रार्थना की कि श्रीहरि, उनके भक्त और भगवान् शङ्करमें उनकी अविचल भक्ति बनी रहे। शङ्कर मार्कण्डेयकी भगवद्-भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए

और उन्हें प्रलय-पर्यन्त अजरत्व, अमरत्व, त्रैकालिक-ज्ञान एवं पुराणोंका आचार्यत्व प्रदान किया।

इसके बाद श्रीसूत गोस्वामीने शौनकजीके प्रश्नोंके अनुसार श्रीहरिके अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध, वेश एवं अमृतत्व-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप क्रियायोगका निरूपण किया। उन्होंने आदित्यके बारह मासोंके नाम, उनके व्यूह-स्वरूप देवताओंके नाम एवं कर्मोंका भी वर्णन किया।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें वर्णित विषयोंके सार-स्वरूप वर्णनके अन्तमें श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भगवद्-गुणावली ही सत्य है, उसके अतिरिक्त जो भी वाक्य हैं, सब असत् हैं। भगवत्-कथा मङ्गलजनक एवं नित्यानन्द प्रदान करने वाली है। असार-ग्राही लोग ही भगवदितर कथाओंमें रत रहते हैं। विष्णु-भक्तिरहित ज्ञानका एवं ईश्वरमें अनर्पित कर्मका कोई मूल्य नहीं है। श्रीमद्भागवत-श्रवण-कीर्त्तनादिसे आत्मा पवित्र होती है एवं मनुष्य समस्त पापों एवं समस्त भयोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त होते हैं। इसके पाठ करनेपर समस्त वेद-पाठका फल प्राप्त हो जाता है।

अनन्तर पुराण-संहिताओंकी समष्टि, श्रीमद्भागवतकी वस्तु, उसकी प्रयोजनीयता, उसके दानकी महिमा, उसका सर्वश्रेष्ठत्व एवं भगवत् प्रणामके द्वारा श्रीमद्भागवतकी कथाको विश्राम दिया गया है।

❁ ❁ ❁

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः॥

श्रीमद्भागवतम्

द्वादशः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

कलियुगके राजवंशोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे।
कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने॥ १॥

महाराज परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने परमधाम पधार गये, तब पृथ्वीपर किस वंशका राज्य हुआ? अब किसका राज्य होगा? आप कृपा करके मुझे यह बतलाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भविष्यो बारहद्रथः।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम्॥ २॥

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्त्ता यत्पालकः सुतः।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! नवम-स्कन्धके अन्तिम भागमें मैंने तुम्हें रिपुञ्जय नामक राजाके विषयमें बताया था। उसका दूसरा नाम था पुरञ्जय। उसका जन्म जरासन्धके वंशमें हुआ था। उसका शुनक नामक मन्त्री उसका वध करके प्रद्योत नामक अपने पुत्रको राजा बनाएगा। (पुरञ्जय-वंश परम्परा यहाँ नष्ट हो गयी)। प्रद्योतका पुत्र होगा पालक, पालकका पुत्र होगा

विशाखयूप और विशाखयूपका पुत्र होगा राजक—इस क्रमसे राजत्व चलेगा।

नवम स्कन्धमें चन्द्रवंश शाखाके पुरुवंशमें उपरिचर वसु बृहद्रथ, जरासन्ध, सहदेवसे लेकर रिपुञ्जय (पुरञ्जय) तक भावी बीस राजाओंके विषयमें बताया गया था। इसके बाद यह वंश सङ्करादि दोषोंसे मलिन हो गया था। चन्द्रवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्रके चरितामृत कथा-सिन्धुमें निमज्जित होकर आनन्द प्राप्त करनेवालोंको इस वंशमें दूसरी शाखाओंसे वैराग्य-प्राप्तिके कारण यह वंशावली कही जा रही है॥ २-३॥

नन्दिवर्द्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः॥ ४॥

राजकका नन्दिवर्द्धन नामक पुत्र होगा। इन पाँचों राजाओंको प्रद्योतन नामसे ही जाना जाएगा। ये एक सौ अड़तीस वर्षों तक पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ ४॥

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः॥ ५॥

नन्दिवर्द्धनसे शिशुनाग नामक राजा होगा। शिशुनागका काकवर्ण, उसका क्षेमधर्मा और क्षेमधर्माका पुत्र क्षेत्रज्ञ होगा॥ ५॥

विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः॥ ६॥

क्षेत्रज्ञका विधिसार, विधिसारसे अजातशत्रु, अजातशत्रुसे दर्भक, और दर्भकसे अजय जन्म ग्रहण करेगा॥ ६॥

नन्दिवर्द्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ ७॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः।
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली॥ ८॥

महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥ ९॥

तत्पश्चात् अजयसे नन्दिवर्द्धन, नन्दिवर्द्धनसे महानन्दि जन्म ग्रहण करेगा। हे परीक्षित्! कलियुगमें शिशुनाग-वंशके ये दस राजा तीन सौ साठ वर्षों तक पृथ्वीपर राज्य करेंगे। हे राजन्! अनन्तर महानन्दिके औरससे किसी शूद्राके गर्भसे नन्द नामक एक बलवान् राजा जन्म ग्रहण करेगा, जो महापद्म नामक निधिका अधिपति होगा। इसलिए इसे लोग 'महापद्म' भी कहेंगे। यह क्षत्रियोंके विनाशका कारण बनेगा। उसी समयसे राजागण शूद्रप्राय एवं अधार्मिक हो जाएँगे॥ ७-९॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः॥ १०॥

महापद्मपति नन्द पृथ्वीका एकच्छत्र शासक होगा। उसके शासनकी गति अप्रतिहत होगी। क्षत्रियोंके विनाशमें हेतु होनेकी दृष्टिसे तो उसे दूसरा परशुराम ही समझना चाहिए॥ १०॥

तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्य प्रमुखाः सुताः।
य इमं भोक्ष्यन्ति महीं राजानश्च शतं समाः॥ ११॥

उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे। वे सभी राजा होंगे और सौ वर्षोंतक इस पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ ११॥

नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
तेषामभावे जगतीं मौर्य्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ॥ १२॥

चाणक्य नामका (कौटिल्य, वात्स्यायनादि नामोंसे भी प्रसिद्ध) कोई एक ब्राह्मण विश्वविख्यात राजा नन्द एवं उसके आठ पुत्रोंका (नव-नन्दका) संहार कर डालेगा। उनकी अनुपस्थितिमें कलियुगमें मौर्यवंशीय राजा पृथ्वी पर शासन करेंगे॥ १२॥

स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्द्धनः॥ १३॥

यही चाणक्य ही मौर्यवंशीय आदि (प्रथम) पुरुष चन्द्रगुप्त मौर्यको राजाके पदपर अभिषिक्त करेगा। अनन्तर चन्द्रगुप्तका पुत्र वारिसार एवं वारिसारका पुत्र अशोकवर्द्धन राजा बनेगा॥ १३॥

सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद्बृहद्रथः॥ १४॥

अनन्तर अशोकवर्द्धनसे सुयशा, सुयशासे सङ्गत, सङ्गतसे शालिशूक, शालिशूकसे सोमशर्मा, सोमशर्मासे शतधन्वा एवं शतधन्वासे बृहद्रथका जन्म होगा। (चन्द्रगुप्तसे मौर्यवंशियोंकी संख्या नौ ही होती है। विष्णु पुराणके अनुसार मौर्यवंशके पाँचवें राजाका नाम दशरथ होगा। दशरथको लेकर मौर्यवंशके दस राजा होंगे।)॥ १४॥

मौर्य्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम्।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह॥ १५॥

हे कुरुवंशधर! मौर्य संज्ञक ये दस राजा कलियुगमें एक सौ सैंतीस वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करेंगे॥ १५॥

अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठो भविता ततः।
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता सुतः॥ १६॥
ततो घोषः सुतस्तस्माद्वज्रमित्रो भविष्यति।
ततो भागवतस्तस्माद्देवभूतिः कूरूद्वह॥ १७॥
शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम्।
ततः काण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृप॥ १८॥

अनन्तर बृहद्रथका सेनापति (पुष्पमित्र) विष्णुमित्र बृहद्रथका वध करके राज्यपर अधिकार करेगा। वह शुङ्गवंशीय राजाओंमें प्रथम राजा होगा। उसका पुत्र अग्निमित्र, अग्निमित्रका पुत्र सुज्येष्ठ, सुज्येष्ठका पुत्र वसुमित्र, वसुमित्रका पुत्र भद्रक, भद्रकका पुत्र पुलिन्द, पुलिन्दका पुत्र घोष, घोषका पुत्र वज्रमित्र, वज्रमित्रका पुत्र भागवत तथा भागवतका पुत्र देवभूति—ये शुङ्ग नामके दस राजा सौ वर्षोंसे

भी अधिक समय तक (चक्रवर्त्ती ठाकुरके अनुसार एक सौ बारह वर्षों तक) पृथ्वी पर राज्य करेंगे। इसके बाद यह पृथ्वी कण्ववंशियोंके हस्तगत हो जाएगी। कण्ववंशीराजा अपने पूर्ववर्त्ती शासकोंकी तुलनामें कम गुणवाले होंगे॥ १६-१८॥

शुङ्गं हत्वा देवभूतिं काण्वोऽमात्यस्तु कामिनम्।
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः॥ १९॥

देवभूति पर-स्त्री कामी होगा। इसीका मन्त्री कण्ववंशीय महामति वसुदेव इस देवभूतिका वध कर देगा और अपनी बुद्धिके बलपर स्वयं राजा बन जाएगा॥ १९॥

तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः।
नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः॥ २०॥

काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणाञ्च कलौ युगे॥ २१॥

वसुदेवका पुत्र भूमित्र, भूमित्रका पुत्र नारायण, नारायणका पुत्र सुशर्मा होगा। चतुर्थ काण्व सुशर्मा बड़ा यशस्वी होगा—ये सभी कण्ववंशीय राजागण काण्वायन कहलायेंगे, जो कलियुगमें तीन सौ पैंतालीस वर्षों तक राज्य करेंगे॥ २०-२१॥

हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित् कालमसत्तमः॥ २२॥

अनन्तर काण्व सुशर्माका एक सेवक होगा बलि, जो गो-भक्षण करनेवाला अन्ध्र जातिका शूद्र होगा और भयङ्कर दुष्ट होगा। यह सुशर्माको मारकर कुछ समयतक राज्य भोग करेगा॥ २२॥

कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः॥ २३॥

लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानास्तु तस्य च॥ २४॥

अनिष्टकर्म्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः॥ २५॥
चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः।
तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता ततः॥ २६॥
मेदशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः॥ २७॥
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्य्यब्दशतानि च।
षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन॥ २८॥

इसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण पृथ्वीपति होगा। कृष्णका पुत्र श्रीशान्तकर्ण, श्रीशान्तकर्णका पुत्र पौर्णमास राजा बनेगा। पौर्णमासका पुत्र लम्बोदर, लम्बोदरका पुत्र चिबिलक होगा। चिबिलकका पुत्र मेघस्वाति, मेघस्वातिका पुत्र अटमान, अटमानका पुत्र अनिष्टकर्मा, अनिष्टकर्माका पुत्र हालेय, हालेयका पुत्र तलक, तलकका पुत्र पुरीषभीरु और पुरीषभीरुका पुत्र सुनन्दन राजा होगा। तत्पश्चात् सुनन्दनका पुत्र चकोर होगा; चकोरके आठ पुत्र होंगे, जो सभी 'बहु' राजा कहलायेंगे। इन बहु संज्ञक आठ राजाओंमें सबसे छोटेका नाम होगा शिवस्वाति। वह बड़ा वीर होगा। शत्रुओंका दमन करेगा। शिवस्वातिका पुत्र गोमती और उसका पुत्र पुरीमान् होगा। पुरीमान्का मेदःशिरा, मेदःशिराका शिवस्कन्द, शिवस्कन्दका यज्ञश्री, यज्ञश्रीका विजय और विजयके दो पुत्र होंगे—चन्द्रविज्ञ और लोमधि। हे कुरुनन्दन! ये तीस राजा चार सौ छप्पन वर्षोंतक पृथ्वीका राज्य भोगेंगे॥ २३-२८॥

सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्द्दभिनो नृपाः।
कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः॥ २९॥

अनन्तर अवभृति-नगरीमें उत्पन्न आभीर नामक अथवा आभीर जातीय सात नरपति, गर्दभि नामक दस नरपति एवं कङ्क नामक सोलह राजा पृथ्वीपर राज्य करेंगे—ये सभी अति लोभी होंगे॥ २९॥

ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौला एकादशैव तु॥ ३०॥

तत्पश्चात् आठ यवन नृपति, चौदह तुरुष्क (तुर्क) राजा, दस गुरुण्ड नामक राजा एवं ग्यारह मौल नामक राजा राज्यका भोग करेंगे॥ ३०॥

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च।
नवाधिकाञ्च नवतिं मौला एकादश क्षितिम्॥ ३१॥
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः।
किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः॥ ३२॥
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट्॥ ३३॥

हे राजन्! मौल राजाओंके अतिरिक्त आभीर इत्यादि पैंसठ राजा एक हजार निन्यानबे वर्षोंतक तथा ग्यारह मौन नरपति तीन सौ वर्षतक पृथ्वीका शासन करेंगे। जब उनका अवसान हो जाएगा, तब किलकिला नामकी नगरीमें भूतनन्द, वङ्गिरि, शिशुनन्दि तथा उसका भाई यशोनन्दि, प्रवीरक—ये एक सौ छः वर्षतक पृथ्वीपर राज्य करेंगे॥ ३१-३३॥

तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च॥ ३४॥

एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कौशलाः।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि॥ ३५॥

पूर्वोक्त भूतनन्द इत्यादि राजाओंके बाह्लिक नामक तेरह पुत्र होंगे। ये सभी बाह्लिक कहे जाएँगे। अनन्तर बाह्लिकोंमें से ही पुष्पमित्र नामक क्षत्रिय एवं उसका पुत्र दुर्मित्र राज्य करेगा। बाह्लिकवंशी राजागण अलग-अलग खण्ड-राज्योंके (विभिन्न प्रदेशोंके) मण्डलपति होंगे। इनमें से अन्ध्रदेशके सात एवं कोशलदेशके भी सात अधिपति

होंगे, तो कुछ विदुर-भूमिके शासक एवं कुछ निषध-देशके स्वामी होंगे॥ ३४-३५॥

मागधानान्तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः।
करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान्॥ ३६॥

अनन्तर प्राचीन पुरञ्जय (पुरोंको जीतनेवाला) नामसे प्रसिद्ध, उसके ही समान एक और विश्वस्फूर्जि नामक द्वितीय पुरञ्जय होगा, जो मागधगणोंका राजा बनेगा। वह ब्राह्मणादि वर्णोंको म्लेच्छोंके समान पुलिन्द, यदु, मद्रक इत्यादि हीन जातियोंमें परिणत कर देगा॥ ३६॥

प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्म्मतिः।
वीर्य्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरी।
अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम्॥ ३७॥

दुष्टबुद्धि, महाबलवान् विश्वस्फूर्जि राज्यमें त्रिवर्णसे (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंसे) बहिर्भूत प्रजाओंकी (शूद्रोंकी) स्थापना अर्थात् रक्षा करेगा तथा क्षत्रियोंको उखाड़ फेंकेगा। वह पद्मावती-नगरीमें रहकर (उसे अपनी राजधानी बनाकर) गङ्गाद्वारसे (हरिद्वारसे) प्रयाग पर्यन्त अपने बाहुबलसे रक्षित राज्यका उपभोग करेगा॥ ३७॥

सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः॥ ३८॥

अनन्तर सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद एवं मालवदेशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी प्रजागण उपनयन-रहित अर्थात् संस्कारहीन हो जायेंगे और राजा भी शूद्रप्राय हो जाएँगे॥ ३८॥

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः॥ ३९॥

अनन्तर सिन्धुतटपर, चन्द्रभागाके तटपर, कौन्ती एवं काश्मीर-मण्डलमें वेदाचार-रहित एवं संस्कार-च्युत नाममात्रके ब्राह्मणादि द्विजातीय (पतित ब्राह्मणों), म्लेच्छों एवं शूद्रोंका शासन होगा॥ ३९॥

तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः।
एतेऽधर्म्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः॥ ४०॥

हे राजन्! ये सब-के-सब म्लेच्छ-प्राय राजा एक ही समयमें नाना भूखण्डोंमें शासन करेंगे। ये बड़े अधार्मिक, असत्यपरायण, अल्पदानशील और प्रचण्ड क्रोधी होंगे॥ ४०॥

स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः॥ ४१॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥ ४२॥

तत्कालीन राजा स्त्री, बालक, गाय एवं ब्राह्मणोंका वध करनेवाले होंगे। परस्त्री एवं परधन हड़प लेनेके लिए सदैव लोलुप रहेंगे, हर्ष-शोकादि बहुल होंगे अर्थात् क्षणमें हँसेंगे, क्षणमें रोएँगे, पराक्रम नाम मात्रका होगा, आयु अल्प होगी, असंस्कृत अर्थात् गर्भाधानादि संस्कारसे रहित, यज्ञादि क्रियाओंसे रहित एवं रज एवं तमोगुणसे आच्छन्न रहेंगे, क्षत्रियराजके रूपमें म्लेच्छ ही प्रजाओंका धनादि-अपहरण-रूप शोषण करेंगे॥ ४१-४२॥

तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे राजवंशानुकीर्त्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

पूर्वोक्त विकृत राजाओंकी परिचालनामें प्रजाएँ भी उनके आचार, चरित्र एवं भाषाका अनुकरण करेंगी। (यथा राजा तथा प्रजा) ये प्रजागण राजाओंके अत्याचारसे त्रस्त एवं परस्पर भी उत्पीड़ित होकर विनाशको प्राप्त हो जायेंगे॥ ४३॥

आचार्यगण कहते हैं कि भागवतोंको इस धर्म-विप्लवसे किञ्चित् मात्र भी भयकी आवश्यकता नहीं है, जब तक कि लोकदृष्टिसे अगोचर भगवान्‌की परमप्रतीक-स्वरूप श्रीभागवत भूतल पर

नित्यस्वरूपमें विद्यमान है। प्रबल कलि भागवत-धर्मके सेवापरायण भक्तोंका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता।

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् कल्किका अवतार, तात्कालिक अधार्मिकोंका विनाश तथा सत्ययुगका आरंभ

श्रीशुक उवाच—

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! तदनन्तर महाबलवान् कलियुगके प्रभावसे दिन प्रतिदिन मनुष्योंके धर्म, सत्य, क्षमा, दया, पवित्रता, आयु, बल और स्मरणशक्तिका उत्तरोत्तर लोप होता जाएगा॥ १॥

वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि॥ २॥

कलियुगमें धन ही मनुष्योंकी कुलीनता, सदाचार एवं सद्‌गुणोंके उत्कर्षका बोध करानेवाला होगा तथा जिसके पास शक्ति होगी, धर्म एवं न्यायकी व्यवस्था उसीके अनुकूल होगी॥ २॥

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि॥ ३॥

दाम्पत्य सम्बन्ध कुल एवं आचारके आधार पर नहीं, पारस्परिक अनुराग-आसक्तिके आधारपर होंगे, क्रय-विक्रयादिमें उत्कर्षता (व्यवहार-कुशलता) का हेतु कपटता होगी, स्त्री-पुरुषके श्रेष्ठत्वका विचार रति-कौशलसे किया जाएगा एवं ब्राह्मणत्वका निर्णय भी सूत्रमात्र (जनेऊ-परिधान-मात्र) से ही होगा॥ ३॥

लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः॥ ४॥

ब्रह्मचर्य, संन्यास आदि अन्यान्य आश्रमोंके उत्कर्ष एवं अपकर्ष परिचय-विशेषमें दण्ड, कमण्डलु एवं अजिन (मृगचर्म) आदि चिह्न ही होंगे, एक आश्रमसे दूसरे आश्रमकी स्वीकृतिके विषयमें भी शिखा, दण्डादिका परित्याग एवं परिग्रहण ही साक्षी-स्वरूप होंगे, ज्ञान एवं सदाचार नहीं। अर्थादि-दानमें (रिश्वतादि देनेमें) असमर्थ होनेपर न्यायमें पराजय होगी और पाण्डित्य-निर्णयमें वाक्पटुता ही निर्णायक होगी॥४॥

अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम्॥५॥

दारिद्र्य असाधुताका (चोरी आदि अभियोगका) ज्ञापक होगा और दम्भ-प्रदर्शनसे साधुताका निश्चय होगा, वचनकी स्वीकृति मात्र ही विवाहकी परिचायक होगी और स्नान किये बिना मात्र केश-परिष्कार एवं सजना-सँवरना स्नान मान लिया जाएगा॥५॥

दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धाष्ट्र्यमेव हि।
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम्॥६॥

दूर स्थित जलाशय तीर्थ माने जाएँगे (गुरु आदि नहीं), कुञ्चित केशोंको धारण करना लावण्यका प्रतीक होगा, अपने उदरका पोषण (स्वार्थ) ही प्रधान पुरुषार्थ माना जाएगा (धर्मादि नहीं), शठता (धृष्ठता) युक्त वचनोंसे सत्यकी प्रतिष्ठा होगी, कुटुम्ब (पुत्र, कलत्रादि) का परिपोषण ही दक्षताका निरूपक होगा। यश-प्राप्तिके लिए ही धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता समझी जाएगी॥६॥

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः॥७॥

इस प्रकार दुष्ट प्रजाओंके द्वारा सम्पूर्ण क्षितिमण्डल भर जाएगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें जो बलवान् होंगे, वे ही राजा होंगे॥७॥

प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्॥ ८॥

लोभी, निर्दय, दस्यु राजाओं द्वारा बलपूर्वक स्त्रियों एवं धनका अपहरण कर लिये जानेपर प्रजाएँ अपने-अपने गृहोंको त्यागकर दुर्गम जंगलों एवं पर्वतोंका आश्रय करेंगी॥ ८॥

शाकमूलामिषक्षौद्र - फलपुष्पाष्टिभोजनाः।
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः॥ ९॥

उस समयकी प्रजाएँ दुर्भिक्ष एवं राजकीय करोंके अतिशय भारसे प्रपीड़ित होकर शाक, कन्द-मूल, मांस, वन्य-मधु, फल, मूल और बीज-गुठली आदि भोजन करनेसे देह धारण करनेमें असमर्थ हो जाएँगी। अनावृष्टिके कारण सूखा (दुर्भिक्ष) पड़ जाएगा और प्रजा विनाशको प्राप्त होगी॥ ९॥

शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः।
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया॥ १०॥

मानव एकके बाद दूसरा—इस प्रकारसे शीत (कड़ाकेकी सर्दी) आँधी, भयङ्कर गर्मी, मुसलाधार वर्षा, पाला, परस्पर विवाद, भूख, प्यास, रोग एवं दुश्चिन्ताओंके कारण सन्तप्त रहेंगे॥ १०॥

त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्॥ ११॥

कलियुगमें मनुष्योंकी परमायु मात्र पचास वर्षकी होगी॥ ११॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथ नृणाम्॥ १२॥

पाषण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु।
चौर्यानृतवृथाहिंसा नानावृत्तिषु वै नृषु॥ १३॥

शूद्रप्रायेषु वर्णेषु छागप्रायासु धेनुषु।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु॥ १४॥

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु॥ १५॥
इत्थं कलौ गतप्राये जनेषु खरधर्मिषु।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति॥ १६॥

कलिके दोषोंके कारण मनुष्योंके शरीर क्रमशः छोटे-छोटे एवं रोगोंके कारण क्षीयमाण होंगे, मनुष्योंके लिये वर्ण एवं आश्रमके धर्मोंको बतानेवाला वेद-मार्ग नष्ट हो जाएगा, धर्ममें पाखण्डकी प्रचुरता हो जाएगी, राजा दस्युप्राय होंगे, मानवोंकी जीविका चोरी, झूठ, वृथा (निरपराधकी) हिंसा आदि विविध दुष्कर्मों पर निर्भर होगी, सभी वर्ण शूद्रप्राय हो जाएँगे, गौएँ बकरियोंके समान छोटी एवं अल्प दूध देनेवाली हो जाएँगी, वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि विरक्त आश्रम गृहप्राय अर्थात् घर-गृहस्थी जैसे हो जाएँगे। मात्र वैवाहिक-सम्बन्धसे ही कुटुम्बिता एवं बन्धुत्व माना जाएगा, ओषधियाँ (धान, गेंहूँ आदि वृक्षावलियाँ) श्यामाक (एक प्रकारका अन्न) के समान अल्पाकार एवं अल्प रसवाली हो जायेंगी, सभी वृक्ष शमी नामक छोटे वृक्षके समान एवं कँटीले हो जायेंगे, बादल बहुत होंगे, बिजली भी बहुत चमकेगी, परन्तु वर्षा नहीं होगी, घर वेदाचरण धर्मादिसे रहित सूने-सूनेसे हो जायेंगे। जब कलियुग प्रायः समाप्त होने लगेगा, तब मनुष्योंका स्वभाव गदहोंके समान दुःसह चेष्टापरायण हो जायेगा। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण धर्मकी रक्षाके लिए सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अवतीर्ण होंगे॥ १२-१६॥

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये॥ १७॥

चराचरगुरु, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर, भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव कर्मबन्धनसे साधुओंके मोक्षके लिए एवं धर्मकी रक्षाके लिए होता है॥ १७॥

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥ १८॥

शम्भल नामक ग्रामके प्रधान सज्जनप्रवर विष्णुयश नामक एक सदाशय (श्रेष्ठ) ब्राह्मणके घरमें भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे॥ १८॥

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः॥ १९॥
विचरन्नाशुना क्षौण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति॥ २०॥

अणिमादि अष्ट सिद्धियों एवं सत्यसङ्कल्पादि गुणोंसे समन्वित, अतुलनीय कान्तिसे युक्त जगदीश्वर भगवान् कल्किदेव द्रुतगामी एवं असाधु दमनकारी देवदत्त नामक अश्व पर सवार होकर आएँगे और भूमण्डल पर विचरण करते हुए तलवार द्वारा बड़ी तीव्रतासे छद्म राजवेशधारी असंख्य दस्युओंका संहार करेंगे॥ २०॥

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।
वासुदेवाङ्गरागाति - पुण्यगन्धानिलस्पृशाम्।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु॥ २१॥

इस प्रकार जब सब-के-सब डाकुओंका संहार हो जाएगा, तब भगवान् वासुदेवके चन्दन आदि अङ्गरागोंके सौरभसे युक्त वायुका स्पर्श पाकर नगरकी और देशकी सारी प्रजाओंका चित्त पवित्र हो जाएगा॥ २१॥

तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्त्तौ हृदि स्थिते॥ २२॥

उस समय सत्त्वमूर्त्ति भगवान् वासुदेव देशवासियोंके हृदयमें विराजमान होंगे, उसके फलस्वरूप वे जनपदवासी प्रभूत सन्तति (सन्तान) सृष्ट करेंगे॥ २२॥

यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी॥ २३॥

धर्मके स्वामी कल्किरूपी भगवान् श्रीहरि जिस कालमें अवतीर्ण होंगे, उस समय सत्ययुगका प्रारंभ होगा तथा पुण्यशाली एवं सात्त्विकी प्रजाओंकी सृष्टि होगी॥ २३॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति भविष्यति तदा कृतम्॥ २४॥

जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति पुष्य-नक्षत्रके आश्रित होकर कर्कट राशिमें अवस्थान करते हैं, उस समय सत्ययुगका आरम्भ होता है॥ २४॥

येऽतीता वर्त्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः॥ २५॥

हे राजन्! चन्द्रवंशीय और सूर्यवंशीय जो राजा पहले थे, वर्त्तमान हैं और भविष्यमें होंगे—उन राजाओंका मैंने संक्षेपमें वर्णन किया है॥ २५॥

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रन्तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥ २६॥

हे राजन्! तुम्हारे जन्मकालसे महानन्दि-सुत राजा नन्दके राज्याभिषेक तक एक हजार एक सौ पचास वर्ष बीत जाएँगे॥ २६॥

सप्तर्षीणान्तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि॥ २७॥
तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥ २८॥

(अब कलिके उत्पत्तिकाल एवं वृद्धिकालका निरूपण करनेके लिए विशेष काल-ज्ञान बतला रहे हैं।) आकाशमें पूर्व दिशामें

सात तारोंसे युक्त शकटाकार-सप्तर्षि मण्डलके उदय कालमें दो तारे पहले दिखायी देते हैं—क्रतु एवं पुलह। उनके बीचमें रात्रिकालमें दक्षिणोत्तर-रेखामें समदेशमें अवस्थित अश्विनी आदि नक्षत्रोंमें से जो एक नक्षत्र दिखायी देता है, उस नक्षत्रसे युक्त होकर सप्तर्षिगण मनुष्योंकी गणनाके परिमाणसे सौ वर्षों तक अवस्थान करते हैं। हे राजन्! तुम्हारे इस राजत्व-कालमें सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रको आश्रय करके स्थित हैं।

ये सप्तर्षि जिस समय मघा नक्षत्रका आश्रय करते हैं, उस समय श्रीकृष्णचन्द्रका अन्तर्धान एवं कलिका प्रवेश होता है। पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें सप्त ऋषियोंके आनेपर कलिकी वृद्धि होती है। नन्दादि राजाओंसे कलि-वृद्धिका प्रारम्भ हो जाएगा॥ २७-२८॥

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः॥ २९॥

भगवान् विष्णुका कृष्ण नामक शुद्धसत्त्वमय विग्रह जिस समय वैकुण्ठमें प्रवेश कर गया, उस समयसे ही कलियुग पृथ्वीमें प्रविष्ट हो गया और उसने लोगोंके हृदयों पर अधिकार कर लिया। इसी कारण लोग पापमें आसक्त हो गये हैं। (भगवान् सूर्य—श्रीकृष्णकी किरणरूप जो वैकुण्ठनाथ हैं, उनके वैकुण्ठमें जानेपर श्रीकृष्ण इस नामसे परिपूर्ण-ख्याति हैं जिनकी, वे प्रकाशित रहते हैं।)॥ २९॥

यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रन्तुं न चाशकत्॥ ३०॥

रमापति श्रीकृष्ण जिस समय तक अपने पादपद्म-युगलसे पृथ्वीका स्पर्श करके विराजमान रहे, तब तक कलियुग पृथ्वीतलपर आक्रमण नहीं कर सका॥ ३०॥

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥ ३१॥

जिस समय मघा नक्षत्रमें सप्तर्षिगण विचरण करते हैं, उस समयसे ही कलिका प्रारम्भ होता है एवं दैव-परिमाणानुसार बारह सौ वर्षों तक उसका भोग होता है। मनुष्य गणनासे यह काल चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका है॥ ३१॥

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ ३२॥

जिस समय सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रसे पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रकी ओर जाएँगे, उस समय कलियुग प्रद्योतन नामक राजाके राजत्व-कालसे वृद्धिको प्राप्त करता हुआ राजा नन्दके समयसे और अधिक वृद्धि प्राप्त करेगा॥ ३२॥

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः॥ ३३॥

जिस दिवस, जिस क्षणमें श्रीकृष्ण वैकुण्ठगत हुए, उस दिवस, उस क्षण ही कलियुगने पृथ्वी पर प्रवेश कर लिया था—पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानोंका यह कथन है।

नियमानुसार युगके सन्ध्यांश शेष रहने पर कलिका आरम्भ हो जाता है, अतः कलिने द्यूत क्रीड़ा एवं द्रौपदी-वस्त्राकर्षणके समय प्रवेश तो कर लिया था, परन्तु भगवान्‌के प्रभावसे उसका प्रवेश व्यर्थ हो गया॥ ३३॥

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम्।
भविष्यति तदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम्॥ ३४॥

दिव्य (देवताओंके) एक हजार वर्ष बीत जानेके बाद चतुर्थ कलियुगमें सन्ध्यांशका समय शेष रहने पर पुनः सत्ययुगका प्रवेश होगा और मानवोंका हृदय अपना यथार्थ स्वरूप जाननेमें समर्थ होगा अर्थात् मनुष्योंका मन आत्माका प्रकाश करनेवाला बन जायेगा॥ ३४॥

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे॥ ३५॥

पृथ्वीपर मनुवंशीय राजाओंकी उच्च-निम्न अवस्थाओंका मैंने वर्णन किया तथा जिस परिमाणमें उनकी संख्या (गणना) बतलायी, उसी प्रकारसे उन-उन स्थलोंपर स्थित ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्रोंका भी युग-युगमें अवस्था भेद, एवं वंशजातगत संख्या-भेद वर्णन न करने पर भी जान लेना चाहिए॥ ३५॥

एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम्।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्त्तिरेव स्थिता भुवि॥ ३६॥

जिन राजाओंका मैंने वर्णन किया, अब उनका नाम-मात्र ही उनकी पहचान है और ये नाम भी पौराणिक कथाओंमें ही विद्यमान रहेंगे। अब इन महापुरुषोंकी कीर्त्ति ही पृथ्वी पर शेष रह गयी है, न इनका राज्य है और न ही इनकी सन्तति-परम्परा॥ ३६॥

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥ ३७॥

चन्द्रवंशीय शान्तनु (भीष्मपितामहके पिता) राजाका भाई देवापि एवं सूर्यवंशीय मरु—ये दोनों इस समय कलाप-ग्राममें (योगियोंके निवास-रूपमें प्रसिद्ध एक स्थान पर) रह रहे हैं। श्रीकृष्णके निकट शिक्षा-प्राप्तिके कारण ये महायोगबलसे युक्त हो गये हैं॥ ३७॥

ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥ ३८॥

कलियुगकी समाप्तिपर सत्ययुगके आरम्भमें ये दोनों भगवान्के आदेशसे इस लोकालयमें आयेंगे और सत्ययुगादिके समान पुनः वर्णाश्रम धर्मका विस्तार (प्रसार) करेंगे॥ ३८॥

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्त्तते॥ ३९॥

सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—ये चारों युग एक-एक करके पृथ्वी पर लोगोंके हृदयमें अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं॥ ३९॥

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः॥ ४०॥

हे राजन्! मैंने जो देवतुल्य राजाओं, विप्र, वैश्य, शूद्रादि एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि कुलोमें उत्पन्न मनुष्योंका उल्लेख किया, ये सभी पहले तो इस धरा पर ममताका (मैं-मेरा भावका) विस्तार करते हैं और बादमें इस पृथ्वीका त्याग करके निधनको प्राप्त हो जाते हैं॥ ४०॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ ४१॥

इन राजा नामधारी शरीरोंके मरणके बाद कृमि (कीड़ा), विष्ठा, भस्म इत्यादि नाम हो जाते हैं। जो व्यक्ति इस अनित्य देहके पोषणके लिए प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह न तो अपना स्वार्थ जानता है, और न ही परमार्थ। प्राणियोंकी हिंसासे तो नरककी प्राप्ति होती है॥ ४१॥

कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा॥ ४२॥

यह अखण्ड (समग्र) धरती मेरे पूर्वजों द्वारा सुरक्षित थी, सम्प्रति मेरे शासनाधीन है—इस प्रकार ममतावान् पुरुष चिन्ता करता रहता है कि यह अखण्ड भूमण्डल मेरे न रहनेपर मेरे पुत्र-पौत्रादि, परवर्त्ती वंशजोंको किस प्रकार प्राप्त होगा?॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वात्मतयाबुधाः।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः॥ ४३॥

अज्ञानी मानव ममतामें पड़कर क्षिति, जल एवं तेजोमय क्षणभङ्गुर देहको अपना आत्मा मान लेता है और पृथ्वीको

अपनी वस्तु। अन्तमें दोनोंका ही त्यागकर अन्य लोकोंमें चला जाता है॥ ४३॥

ये ये भूपतयो राजन् भुञ्जन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे कलिधर्मो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

हे राजन्! प्राचीन कालमें जिन समस्त राजाओंने अपने प्रबल प्रतापसे राज्यका (पृथ्वीका) भोग किया था, इस समय वे पौराणिक कहानियोंमें कथारूपमें अवशिष्ट रह गये हैं (इतिहासके विषय बनकर रह गये हैं)—उनका अब कोई चिन्ह विद्यमान नहीं है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके दूसरे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

भूमि-गीत, युगधर्म एवं कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—नाम-सङ्कीर्तन

श्रीशुक उवाच—

दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! यह पृथ्वी अपनेको जीतनेवाले राजाओंको अपने प्रयासोंमें व्यग्र देखकर हृदयमें उनका इस प्रकारसे उपहास करती है—अहो! ये राजा मृत्युके क्रीड़ा-साधन-पदार्थ अर्थात् खिलौने-स्वरूप हैं और मुझे जीतना चाहते हैं। कैसा आश्चर्य है?॥ १॥

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद्विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः॥ २॥

इस कामनासे विमूढ़ होकर ये राजागण फेनके बुलबुलेके समान इस अनित्य, क्षणभङ्गुर देहपर अत्यधिक विश्वास करते हैं। राजा ही नहीं, पण्डित भी ऐसी कामनाएँ करते हैं, किन्तु उनकी ये आशा-अभिलाषाएँ कभी सफल नहीं होतीं॥ २॥

पूर्व्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्त-करीन्द्रानस्य कण्टकान्॥ ३॥

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम्॥ ४॥

ये लोग सोचते हैं कि प्रथमतः मैं इन्द्रिय-षड्वर्गको (मन सहित पाँचों इन्द्रियोंको) जीतकर शक्तिका सञ्चय करूँगा, तत्पश्चात् राज-मन्त्रियोंको वशीभूत करके अन्यान्य अमात्य, पुरवासी (नागरिक),

सुहृद्-बन्धु-बान्धव एवं हस्ति-रक्षकोंको भी वशमें कर लूँगा। अनन्तर कण्टक-स्वरूप शत्रुओंको भी उन्मूलित करके समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वीको क्रमशः जीत लूँगा। इस प्रकार ये राजागण हृदयमें बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधे रहते हैं, जिससे इन्हें अपने समीप स्थित मृत्यु दिखायी नहीं देती॥ ३-४॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम्॥ ५॥

कोई-कोई राजा तो समुद्र पर्यन्त पृथ्वीको जीतकर समुद्रके पार दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करनेके लिये उत्साहपूर्वक समुद्र-यात्रा करते हैं, अति तृष्णाके कारण समुद्रके रत्नोंका भी आहरण कर लेना चाहते हैं—परन्तु ये अतिशय मूर्ख हैं, क्योंकि इन्द्रिय-संयमका परम फल मुक्ति है, राजाओंको जीतना तो इस आत्म-संयमका अति तुच्छ फल है।

हिरण्यकशिपुकी आत्मसंयमपूर्वक तपस्या देव-दलनके लिए थी तो रावणकी इन्द्रिय भोगके लिए—अतः ऐसा आत्म-संयम निरर्थक है॥ ५॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः॥ ६॥

हे कुरुनन्दन! पृथ्वी कहती है—महर्षि मनु एवं उनके वंशधर राजा युद्धमें जयकी आशाका परित्याग करके अपने-अपने ज्ञानानुसार विरक्त हो गये थे। वे मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँ से आये थे, वहीं प्रस्थान कर गये। अब ये अबोध मुझे जीत लेनेका प्रयास करना चाहते हैं॥ ६॥

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणाञ्चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम्॥ ७॥

मेरा भोग करनेके लिए जिनका हृदय ममतासे आबद्ध हो जाता है—ऐसे दुष्ट पिता-पुत्र एवं भाई-भाई मेरे लिए परस्पर कलह करते हैं॥ ७॥

ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्द्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः॥ ८॥

'हे मूर्ख! यह समस्त धरती मेरी है, तुम्हारी नहीं'—इस प्रकार कहते हुए ये मन्दबुद्धि राजागण परस्पर स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिए एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं भी पञ्चत्वको प्राप्त हो जाते हैं॥ ८॥

पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः॥ ९॥
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः॥ १०॥
हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः॥ ११॥
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः॥ १२॥
ममतां मय्यवर्त्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्त्यधर्मिणः।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो॥ १३॥

पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, कार्त्तवीर्यार्जुन, मान्धाता, सगर, राम (इस नामका कोई अन्य राजा, दाशरथि राम नहीं), खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्र, लोकभयङ्कर (संसारको रुलानेवाला) रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा अन्य बहुत-से दैत्य और शक्तिशाली नरपति हो गये हैं, वे सभी सर्वज्ञ थे, शूर थे, सर्वजयी थे, पूर्ण-मनोरथ थे, रूप-गुणके द्वारा परम यशस्वी थे, अपराजेय होनेपर भी मेरे प्रति अतिशय ममता युक्त थे, किन्तु ये सभी मर्त्त्यधर्मा अकृतार्थ होकर कालके द्वारा ग्रसित हो गये। अब तो इनकी कथा मात्र ही शेष रह गयी है॥ ९-१३॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां,
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो,
वचो विभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥ १४॥

हे राजन्! मैंने तुम्हारे निकट विज्ञान (महनीय प्रियव्रतादि महीपालोंका भगवत्-अनुभव) एवं वैराग्यका विकास करनेके उद्देश्यसे इन प्रतापी महापुरुषोंके चरितका वर्णन किया है (जिससे विषयीकी असारताका ज्ञान और संसारसे वैराग्य हो जाय)। इस जगत्में ये यशका विस्तार करते हुए परिणाममें मृत्यु दशाको प्राप्त हुए हैं। यह समग्र चरित-वर्णन वाग्-विलास मात्र है, पारमार्थिक-सत्य नहीं।॥ १४॥

यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः,
संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं,
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥ १५॥

महाजन नित्य-निरन्तर सर्वविघ्नविनाशन-स्वरूप उत्तमश्लोक श्रीकृष्णके चरित्रकी महिमाका निरन्तर गुणगान करते हैं, श्रीकृष्णकी विशुद्ध भक्तिके अभिलाषी हर दिन, हर क्षण उनकी कथाओंका ही श्रवण करें। वस्तुतः भगवान् एवं भगवद्-भक्तोंका गुण-कीर्त्तन एवं श्रवण भक्तिका आकर है।

वंशावली श्रवणकी भी उपकारिता एवं उपयोगिता इसलिए है कि मनुष्योंमें एक ओर तो स्वधर्माचरण करते हुए ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्तिका उदय हो और दूसरी ओर अवैधानिक कृत्योंके कारण मानव किस तरह कलुषित हो जाते हैं—यह जानकर साधु मानव सावधान हों॥ १५॥

श्रीराजोवाच—

केनोपायेन भगवन् कलेर्दोषान् कलौ जनाः।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने॥ १६॥

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—हे भगवन्! कलियुगमें राशि-राशि दोष सञ्चित हैं—ये समयके साथ वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं। उन दोषोंको मनुष्य किस उपायके द्वारा नाश करेंगे, हे मुनिवर! उसका यथावत् वर्णन कीजिए॥ १६॥

युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः॥ १७॥

हे देव! इसके अतिरिक्त युगोंके नाम, युगधर्म, उनकी स्थिति और प्रलयकालके मान और जगदीश्वर कालरूपी भगवान् विष्णुके स्वरूप-ज्ञानके विषयमें भी कृपापूर्वक अनुग्रहकर वर्णन करें॥ १७॥

श्रीशुक उवाच—

कृते प्रवर्त्तते धर्मश्चतुष्पात् तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! सत्ययुगमें तत्कालीन लोगों द्वारा अनुष्ठित धर्म चार चरणोंसे युक्त था। सत्य, दया, तप एवं दान—ये चार गुण ही उसके चार चरण भी हैं—जिनका लोग पूरी निष्ठाके साथ पालन करते थे॥ १८॥

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः॥ १९॥

सत्ययुगके मनुष्य प्रायः सन्तोषी, करुणावान्, मैत्रीभावयुक्त, शान्त, दान्त (जितेन्द्रिय), सहिष्णु (सुख एवं दुःखको समानरूपसे सहन करनेवाले), आत्मतृप्त, समदर्शी और आत्म-अनुशीलनमें तत्पर रहते हैं॥ १९॥

त्रेतायां धर्मपादानां तुर्य्यांशो हीयते शनैः।
अधर्मपादैरनृतहिंसाऽसन्तोषविग्रहैः॥ २०॥

परीक्षित्! धर्मके समान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह। त्रेतायुगमें इनके प्रभावसे धीरे-धीरे अधर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाता है अर्थात्

असत्यके द्वारा सत्य, हिंसाके द्वारा दया, असन्तोषके द्वारा तपस्या और कलहके द्वारा शौच इत्यादि अधर्म अंशों द्वारा क्रमशः चतुष्पाद धर्मका एक चतुर्थांश क्षय हो जाता है॥ २०॥

तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप॥ २१॥

हे राजन्! उस समय मनुष्य यज्ञादि कर्मकाण्ड एवं तपस्यामें निष्ठा रखते हैं। वे प्रायः अहिंसक एवं अलम्पट (नारियोंमें आसक्ति रहित) होते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गके साधक होते हैं। अधिकांश लोग वेद-विद्यामें समृद्ध (पारङ्गत) होते हैं और हे राजन्! समग्र जातियोंमें ब्राह्मणोंकी ही प्रधानता रहती है॥ २१॥

तपःसत्यदयादानेष्वर्द्धं ह्रस्वति द्वापरे।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्म्मस्याधर्मलक्षणैः॥ २२॥

द्वापरयुगमें हिंसा, असन्तोष, मिथ्या एवं द्वेषरूप अधर्म द्वारा दया, तपस्या, सत्य एवं दानरूप धर्मके चरणोंका अर्द्धांश (आधा भाग) क्षीण हो जाता है॥ २२॥

यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः॥ २३॥

इस युगमें वर्ण-धर्माश्रित सभी मनुष्य यशस्वी अर्थात् प्रशंसाप्रिय, उत्तम स्वभाववाले, वेदाध्ययनमें निरत, समृद्ध, बड़े-बड़े कुटुम्बवाले एवं प्रसन्नचित्त होते हैं। द्वापरयुगमें ब्राह्मण एवं क्षत्रियोंकी प्रधानता रहती है॥ २३॥

कलौ तु धर्मपादानां तुर्य्यांशोऽधर्महेतुभिः।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥ २४॥

कलियुगमें धर्मके चरणोंका चतुर्थांश (चौथा भाग) ही शेष रहता है। वह भी अधर्मके बढ़ते रहनेके कारण क्षीयमाण होकर युगका अन्त होते-होते सम्पूर्णरूपसे लुप्त हो जाता है॥ २४॥

तस्मिन् लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः।
दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदासोत्तराः प्रजाः॥ २५॥

कलियुगी मनुष्य लोभी, दुराचारी, निर्दय, शुष्क अर्थात् निष्प्रयोजन कलह-रत, दुर्भाग्ययुक्त एवं विषय-तृष्णाओंसे अतिशय ग्रस्त होते हैं। कलियुगका अन्त होते-होते शूद्र एवं केवटोंकी प्रधानता हो जाती है॥ २५॥

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः।
कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्त्तन्त आत्मनि॥ २६॥

स्वभावतः सभी मनुष्योंमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण दिखायी देते हैं, किन्तु युग-भेद एवं कालकी प्रेरणाके तारतम्यके अनुसार इन सभी गुणोंका ह्रास-वृद्धिरूप परिवर्त्तन होते रहते हैं।

जैसे सूर्यादि ग्रहोंकी भोगकालमें कई अन्तर्दशाएँ होती हैं, उसी प्रकार एक युगमें भी चार युग होते हैं। यही कारण है कि कलियुगमें कभी धर्मका ह्रास और कभी वृद्धि होती है। अन्तःकरणमें भी गुणत्रय यातायात करते हैं॥ २६॥

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः॥ २७॥

जिस समय मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें अतिशय प्रतिष्ठित अपना कार्य करती हैं तथा मनुष्योंकी ज्ञान एवं तपस्यामें विशेष रुचि होती है, उस समयको सत्ययुग समझना चाहिए॥ २७॥

यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम्।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन्॥ २८॥

हे बुद्धिमन् परीक्षित्! जिस क्षण काम्य (सकाम) कर्मों एवं यशके विषयमें मनुष्योंकी आसक्ति दिखायी देती है, उस समय जान लेना चाहिए कि रजोगुणकी प्रधानतायुक्त त्रेतायुगका प्रवर्त्तन हो रहा है॥ २८॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः।
कर्म्मणाञ्चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः॥ २९॥

जिस समय लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ, मत्सरता एवं काम्य कर्मोंमें अनुराग तथा अधर्ममें प्रेम दिखायी देता है, उस समय रजः-तमोगुण-प्राधान्ययुक्त द्वापरयुग जानना चाहिए॥ २९॥

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्।
शोकमोहो भय दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥ ३०॥

जिस समय प्रवञ्चना (धोखा, कपट), मिथ्या, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय, दैन्य इत्यादि प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं, उसे तमोगुण प्रधान कलियुग जान लेना चाहिए। इस युगमें अधर्ममें प्रीति रहती है॥ ३०॥

यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥ ३१॥

यही कारण है कि कलियुगमें मनुष्य क्षुद्र-दृष्टि (मन्दमति) होते हैं, भाग्य भी अल्प होता है, वे प्रचुर-भोजी (अत्याहारी एवं हर समय भोजनकी प्रवृत्तिवाले), दरिद्र होनेपर भी कामनापरायण (बड़ी-बड़ी कामनाएँ-कल्पनाएँ करनेवाले) होते हैं एवं स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी तथा असती होती हैं॥ ३१॥

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाषण्डदूषिताः।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः॥ ३२॥

जनपद (देश, गाँव, कस्बा सभी) दस्युओं (डाकुओं एवं लुटेरों) से भरे हुए, वेद पाखण्डियों द्वारा कुव्याख्याओंसे (मनमाने अर्थोंसे) दूषित, शासक प्रजा-पीड़क (प्रजाओंको बिना कोई सुविधा दिये समस्त धन हड़पनेवाले) और ब्राह्मण काम-लम्पट तथा उदर-पूरक होंगे॥ ३२॥

अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः॥ ३३॥

कलियुगमें ब्रह्मचारी उपनयनादि आचार, ब्रह्मचर्य व्रत एवं शुचितासे रहित होंगे, गृहस्थ भिक्षा दान न करके स्वयं भिक्षाजीवी हो जायेंगे, तपस्वी अर्थात् वानप्रस्थी वनका त्याग करके ग्रामवासी हो जायेंगे और गृहस्थोंको ही अपनी तपस्या दिखाएँगे तथा सर्वत्यागी संन्यासी अतिशय धन-लोलुप (अर्थ-पिशाच) होंगे॥ ३३॥

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः॥ ३४॥

कलिकालमें स्त्रियाँ क्षुद्रकाया (छोटे आकारवाली), बहुभोजन परायणा, बहुसन्तान जनयित्री, निर्लज्जा, सर्वदा कटुभाषिणी एवं चोरी और कपटतामें अनियन्त्रित साहस करनेवाली होंगी॥ ३४॥

पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्त्तां साधुजुगुप्सिताम्॥ ३५॥

क्षुद्र व्यापारी अधर्म एवं कपटसे युक्त होकर क्रय-विक्रयादि व्यवसाय करेंगे। मनुष्य आपत् काल न रहने पर भी साधुओं द्वारा निन्दित एवं घृणित वृत्तियोंको उत्तम मानकर अपनी जीविका चलाएँगे॥ ३५॥

पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम्।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः॥ ३६॥

सर्वगुणयुक्त सम्पन्न स्वामी यदि दरिद्र हो जाता है, तो सेवकगण उसे छोड़कर दूसरे स्थानोंपर चले जाते हैं और स्वामी भी कार्यमें असमर्थ होनेपर अथवा रोगसे विपन्न होनेपर वंशपरम्परागत पुराने भृत्योंका त्याग कर देते हैं। स्त्रियाँ निर्धन होनेपर पतिको और गो-स्वामी दुग्धहीन होनेपर अथवा वृद्ध होनेपर गायोंका त्याग कर देते हैं॥ ३६॥

पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः॥ ३७॥

कलियुगमें यौन-सम्बन्धके आधारपर ही सौहार्द्र प्रतिष्ठित होगा। मनुष्य स्त्रैण, कामासक्त एवं विषयवासनाके वशीभूत होकर अति दीन (कृपण) हो जायेंगे। वे पिता, माता, भाई, सुहृत् (शुभचिन्तक मित्र) एवं ज्ञातिगणोंको (निकट-सम्बन्धियोंको) छोड़कर पत्नीके भाई, बहन अर्थात् साले, सालियोंके साथ मन्त्रणा (सलाह) करेंगे॥ ३७॥

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम्॥ ३८॥

शूद्रगण जीविकार्जनकी अभिलाषासे दण्डादिवेश, तपस्वीवेश धारण करके दानका प्रतिग्रह (सञ्चय) करेंगे एवं धर्मतत्त्वज्ञानसे हीन व्यक्ति धर्मवक्ताके श्रेष्ठपदपर आसीन होकर अधिकारपूर्वक धर्मकी व्याख्या करेंगे॥ ३८॥

नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः।
निरन्ने भूतले राजन् अनावृष्टिभयातुराः॥ ३९॥
वासोऽन्नपानशयन - व्यवाय - स्नानभूषणैः।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः॥ ४०॥

हे राजन्! कलियुगमें पृथ्वीपर अन्नका अभाव होनेके कारण दुर्भिक्ष पड़ेगा, प्रजा अनावृष्टि (सूखे)के भयसे कातर रहेगी, साथ ही राजकर दानकी पीड़ासे उसका हृदय निरन्तर उद्विग्न एवं विचलित रहेगा—इस तरह प्रजा अति कष्टपूर्वक समय व्यतीत करेगी। उनके लिए पर्याप्त वस्त्र, पेय पदार्थ, अन्न, शय्याका (सोनेके लिये जमीनका) अभाव रहेगा। दाम्पत्य-सुख एवं स्नानसे भी वर्जित रहेंगे, सजने-सँवरनेके लिए आभूषण भी नहीं होंगे। इस कालके लोग पिशाच-सदृश होते जाएँगे॥ ३९-४०॥

कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि॥ ४१॥

कलियुगके मनुष्य मात्र बीस रुपये जैसी छोटी-सी राशि (कौड़ी-कौड़ी)के लिए सौहार्द्द भावका विसर्जन करके कलह करेंगे।

सर्वापेक्षा अपने प्रिय प्राणोंका भी परित्यागकर आत्मघाती बनेंगे, स्वजनोंके प्राणोंका भी संहार कर डालेंगे॥ ४१॥

न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि।
पुत्रान् भार्य्यांञ्च कुलजां क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः॥ ४२॥

अपनी जननेन्द्रियकी तृप्ति और पेट भरनेमें लगे हुए क्षुद्र पुरुष अपने वृद्ध पिता, माता, सत्कुलोत्पन्न पत्नी एवं समस्त कार्योंमें कुशल अपने पुत्रोंका भी भरण-पोषण नहीं कर पाएँगे॥ ४२॥

कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं,
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम्।
प्रायेण मर्त्त्या भगवन्तमच्युतं,
यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः॥ ४३॥

हे राजन्! कलियुगमें मनुष्य पाखण्डियोंकी प्रेरणासे प्रायशः विकृतचित्त एवं हतज्ञान हो जाते हैं। वे जगत्के परमगुरु भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते, जिनके श्रीपादपद्मोंकी त्रिलोकपति ब्रह्मादि देवगण मस्तक झुकाकर वन्दना करते हैं॥ ४३॥

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥ ४४॥

म्रियमाण (मरनेवाला) व्यक्ति असहाय एवं आतुर होकर शय्यापर (बिस्तर पर) गिरता है और इसी पतित अवस्थामें विवश होकर जिनका नाम उच्चारण करके कर्मरूप अर्गलाके (जंजीरोंके) बन्धनसे मुक्त होकर उत्तमगतिको प्राप्त कर लेता है, कलियुगके मनुष्य उन्हीं भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते॥ ४४॥

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥ ४५॥

चिन्तन-ध्यानके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब हृदयमें विराजित हो जाते हैं, तो मनुष्योंके धार्मिक कृत्योंमें जो द्रव्य-सम्बन्धी, देश-सम्बन्धी, चित्तजात-वैगुण्यादि कलिकृत जितने भी दोष हैं, पूर्व एवं पर अर्थात् अनन्त जन्मजात जितने भी पातक हैं, उन सबका वे हरण कर लेते हैं॥ ४५॥

श्रुतः सङ्कीर्त्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥ ४६॥

भगवान् श्रीहरि श्रुत, कीर्त्तित, चिन्तित, पूजित अथवा केवल भक्ति-भाव द्वारा आदृत होनेपर उसी समय हृदयमें प्रकट हो जाते हैं और मनुष्योंके सहस्रों जन्मोंसे अर्जित पाप-पुण्योंका क्षय कर देते हैं॥ ४६॥

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥ ४७॥

जिस प्रकार सोनेके साथ संयुक्त होनेपर तद्गत (उसमें मिली हुई) ताम्र आदि धातुओंके संसर्ग-जनित मालिन्यादि दोषोंको अग्नि नष्ट कर देती है, परन्तु जल आदि दूसरे पदार्थ उस मालिन्यादिको दूर नहीं कर सकते, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि युक्त-योगियोंके (साधकोंके) हृदयमें अवस्थित रहकर उनकी पाप-पुण्यात्मक वासना-राशिको विनष्ट कर देते हैं, जबकि योग (यम, नियम) आदिके द्वारा यह सम्भव नहीं है॥ ४७॥

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा, यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥ ४८॥

भगवान् श्रीहरिके हृदयमें विराजमान होनेपर मनुष्यके अन्तःकरणकी जैसी वास्तविक शुद्धि होती है, देवताओंकी आराधना, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियोंके प्रति हितैषिता, तीर्थ-स्नान, व्रत, दान एवं जप आदि किसी भी साधनसे वैसी शुद्धि नहीं होती॥ ४८॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम्॥ ४९॥

अतएव हे राजन्! सर्वतोभावसे सावधान होकर भगवान् श्रीहरिको अपने हृदयमें प्रतिष्ठित कर लो। अनुक्षण (हर पल) उनके ध्यानके विषयमें सावधान रहनेसे मृत्यु-कालमें उनका स्मरण होगा तथा मरणोत्तरकालमें तुम परमगतिको प्राप्त करोगे॥ ४९॥

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥ ५०॥

सभी मर्त्त्यवान् जीवोंको सब प्रकारसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान्का ही ध्यान करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार ध्यान करनेसे सबके परमाश्रय, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी भगवान् उनको अपना स्वरूप प्रदान करते हैं॥ ५०॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥ ५१॥

हे राजन्! यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका आश्रय (खजाना) है, परन्तु इसमें एक महान् गुण है कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका नाम-सङ्कीर्तन करने मात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे एक राजा असंख्य दस्युओंको मार डालता है, उसी प्रकार नाम-सङ्कीर्त्तन समस्त दोषोंको नष्ट कर देता है॥ ५१॥

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे युगानुवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

सत्ययुगमें भगवान्का ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका

अर्चन करनेसे जो फल प्राप्त होता है वह समस्त फल कलियुगमें एकमात्र श्रीहरिके नाम-कीर्त्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है। सर्वयुगगत भगवत्-प्राप्तिके सभी साधन यह कलियुग-विशेष अकेला ही प्रदान कर देता है॥५२॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

चार प्रकारके प्रलय

श्रीशुक उवाच—

कालस्ते परमाग्वादिर्द्विपरार्द्धावधिर्नृप।
कथितो युगमानञ्च शृणु कल्पलयावपि॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे राजन्! मैंने परमाणुसे लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त कालका स्वरूप और सत्यादि युगका काल-परिमाण तुम्हें पहले (तीसरे स्कन्धमें) बतलाया था। अब मैं तुम्हें कल्पकी स्थिति एवं लयके विषयमें बतला रहा हूँ, सुनो॥ १॥

चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्द्दश विशाम्पते॥ २॥

हे पृथ्वीश्वर! मानव-परिमाणसे चार-सहस्र युगोंका (चार युगोंका एक हजार चक्र परिमित) काल ब्रह्माके दिवा-भागमें (एक दिन) कहा गया है, इसीका नाम कल्प है। इस कल्पमें क्रमशः चौदह मनु उत्पन्न होते हैं॥ २॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि॥ ३॥

पूर्वोक्त कल्परूप ब्राह्म-दिवाकालके अवसानमें उतने ही परिमित कालमें अर्थात् चार-सहस्र युग ब्रह्माकी रात्रि भी कही गयी है—यही प्रलयकाल है। यह परिदृश्यमान् त्रिलोक इसी ब्रह्मरात्रिमें लयको प्राप्त हो जाता है (जितना बड़ा कल्प होता है, उतनी ही बड़ी ब्रह्माकी रात्रि भी होती है)॥ ३॥

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः॥ ४॥

इसीको नैमित्तिक (चार प्रकारके प्रलयमें-से प्रथम) प्रलय कहा गया है। उस समय अनन्तासनस्थित (शेषशायी) विश्वस्रष्टा नारायण विश्वका उपसंहार करके उसे अपनेमें आत्मसात् कर अनन्त शय्यापर शयन करते हैं। आत्मभू ब्रह्माजी भी उनमें प्रवेश करके निद्राको प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्माजीकी निद्राको निमित्त बनाकर तीनों लोकोंका प्रलय होता है, इसी कारण इसे नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है, इसे दैनन्दिन प्रलय भी कहते हैं। (आत्मभू ब्रह्मा एवं भगवान् विष्णुमें अभेदकी विवक्षा भी द्रष्टव्य है)॥ ४॥

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥ ५॥

परमेष्ठि ब्रह्माका मनुष्योंकी दृष्टिसे दो परार्द्धका और स्वयं ब्रह्माजीके अपने मानसे सौ वर्षका आयुष्काल (दिनके बाद रात और रातके बाद दिन—इस प्रकारसे सौ वर्ष) समाप्त होनेपर महत्तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्च तन्मात्राएँ—इस सप्त प्रकृतिका लोप हो जाता है। प्रकृति-जात होनेसे इनके लयको प्राकृतिक लय कहा जाता है॥ ५॥

एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोषस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते॥ ६॥

हे राजन्! इस समय काल द्वारा विघातक कारण उपस्थित होनेपर अर्थात् विनाशकाल (प्रलयकाल) निकटवर्त्ती होनेपर महदादि सप्त प्रकृतियोंका समष्टिरूप (मिश्रणसे बना हुआ) ब्रह्माण्ड अपने स्थूलरूपका परित्याग करके अपनी मूल अवस्था प्रकृतिमें विलीन हो जाता है—इसीलिए इसे प्राकृतिक लय कहते हैं। (महदादि तत्त्वोंका समूह ही ब्रह्माण्ड कोष है)॥ ६॥

पर्ज्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्ष्यमाणाः क्षुधार्द्दिताः।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः॥ ७॥

हे राजन्! उस समय सौ वर्षों तक मेघ पृथ्वीपर जल नहीं बरसाते, अतः अन्नके अभावमें प्रजागण क्षुधासे आर्त्त होकर एक-दूसरेका भक्षण करते हैं और इस प्रकार कालके उत्पीड़नसे वे क्रमशः (धीरे-धीरे) नष्ट हो जाते हैं॥७॥

सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्त्तको रविः।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति॥८॥

उस समय सांवर्त्तक नामक प्रलयकालीन सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे समुद्रस्थ जल, भूमिस्थ रस एवं देहस्थ रक्त पर्यन्त समस्त रसोंका आकर्षण कर लेते हैं, किन्तु बिन्दु मात्र भी रस-वर्षण नहीं करते॥८॥

ततः संवर्त्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भू-विवरानथ॥९॥

अनन्तर सङ्कर्षणके मुखसे उत्थित संवर्त्तक नामक प्रलयानल वायुवेगसे और भी उठता हुआ प्राणियोंसे रहित (क्योंकि सूर्यके द्वारा देहस्थित रसको पहले ही खींच लिये जानेसे प्राणी मर चुके होते हैं) पातालादि भू-विवरोंको दग्ध कर देता है॥९॥

उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत्॥१०॥

उस समय ऊर्ध्वदेशसे सूर्यकी किरणें और अधोदेशसे आगकी लपटें—इनसे ब्रह्माण्ड चारों ओरसे दग्ध होने लगता है और वह अग्निसे दह्यमान गोबरके पिण्डके (उपले अर्थात् दहकते अङ्गारके समान प्रतीत होता है॥१०॥

ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम्।
परः सांवर्त्तको वाति धूम्रं खं रजसावृतम्॥११॥

अनन्तर अति प्रचण्ड सांवर्त्तक नामक प्रलयानिल सौ वर्षोंसे भी अधिक समय तक प्रवाहित होता रहता है, जिससे आकाशमण्डल धूलसे आवृत एवं धूमाच्छन्न होकर धूम्रवर्णका हो जाता है॥११॥

ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः॥ १२॥

हे राजन्! उसके बाद विविध प्रकारकी एवं विचित्र वर्णोंकी मेघमालाएँ आकाशमें भीषण स्वरसे गर्जनाएँ करती हैं और सौ वर्षोंतक वारि-वर्षण होता रहता है॥ १२॥

तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम्॥ १३॥

उस समय ब्रह्माण्ड-विवरके भीतरका सम्पूर्ण विश्व जलमय (जलमग्न) हो जाता है और वह जलसे पूर्ण एक समुद्र बन जाता है॥ १३॥

तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते॥ १४॥

सम्पूर्ण विश्वमें जलप्लावन होनेके कारण जल भूमिके गन्ध गुणको ग्रस लेता है, गन्धहीन होनेके कारण पृथ्वीका सम्पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है—वह जल (प्रलय-पयोधि) ही बन जाती है अर्थात् पृथ्वी घुलकर जल ही बन जाती है॥ १४॥

अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा॥ १५॥

लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम्।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम्॥ १६॥

शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनु लीयते।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः॥ १७॥

महान् ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम्।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम्॥ १८॥

न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम्॥ १९॥

अनन्तर रूप-रहित होकर तेज (अग्नि) जलके रस-गुणका शोषण कर लेता है, तब जल नीरस होकर प्रलय-योग्य होकर तेजमें सम्पूर्णरूपसे लीन हो जाता है। वायु तेजके रूप-गुणको ग्रस लेता है, तब रूप-रहित होकर तेज वायुमें लीन हो जाता है। तदनन्तर आकाश वायुके स्पर्श-गुणको हरण कर लेता है, तब स्पर्श-गुण-हीन वायु आकाशमें प्रवेश कर जाती है। उसके बाद तामस अहङ्कार आकाशके शब्द-गुणको हर लेता है, तब निःशब्द आकाश तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार तैजस (राजस) अहङ्कार इन्द्रियोंको ग्रास कर लेता है। हे राजन्! वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्कार इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंको उनकी वृत्तियोंके सहित ग्रस लेता है अर्थात् साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है। राजस अहङ्कार द्वारा इन्द्रियोंको ग्रस लिये जानेपर महत्तत्त्व अपनी-अपनी वृत्तियोंके साथ पूर्वोक्त तीनों प्रकारके अहङ्कारको अपनेमें लीन कर लेता है। तदनन्तर सत्त्वादि गुण-त्रय महत्तत्त्वको ग्रस लेते हैं और अव्याकृत प्रकृति कालसे प्रेरित होकर—इन सत्त्वादि गुणत्रयको ग्रास कर जाती है (कालके अवयव दिन, रात, पक्षादि द्वारा प्रकृतिके क्षयादि परिणाम नहीं होते)। तात्पर्य यह है कि यह प्रकृति स्वयं अनादि (प्रथम विकार—जन्म) अनन्त (द्वितीय विकार—अन्त) अव्यक्त (तृतीय विकार—अस्तित्व) नित्य, सर्वदा एकरूपविशिष्ट अर्थात् एक रूप रहनेवाली (चतुर्थ विकार—वृद्धि) अव्यय (पञ्चम विकार—अपक्षय) एवं प्रधानके काल-अवयव अहोरात्रादि (क्षण-पल-दिन-रात-मास-वर्ष आदि) कालांश द्वारा परिणाम—(विपरिणामरूप षष्ठ विकार) से रहित है। अतः प्रकृतिमें षडादि विकार नहीं है॥ १५-१९॥

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः॥ २०॥

न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति॥ २१॥

कारणात्मक प्रकृतिकी इस अव्यक्त अवस्था (प्रधान) में स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपसे वाणी, मन प्रवेश नहीं कर पाते। सत्त्व, रज एवं तमोगुण, महत्तत्त्व, अहङ्कारादि भाव-पदार्थ (विकारादि), प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय एवं इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता—कोई भी उसमें प्रकाश पानेमें समर्थ नहीं होते। न तो स्वर्गादि लोक-रूप रचना-विशेषकी स्थिति रहती है (प्रकृतिमें लोक-रूप-संनिवेश अर्थात् रचना-विशेष प्रकृतिमें नहीं हैं) और न ही कल्पना अर्थात् सृष्टिके समय जो लोक रहते हैं, उनकी कल्पना भी प्रकृतिमें नहीं रहती है। स्वप्न, जाग्रदवस्था अथवा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ नहीं रहतीं तथा आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, सूर्य भी उसमें वर्त्तमान नहीं रहते। इसी सोये हुए के समान, शून्य-सदृश अचिन्तनीय (तर्क द्वारा अनुमानसे परे) अव्याकृत-संज्ञक तत्त्वको ही समस्त भाव पदार्थोंका (भौतिक सृष्टिका) मूलीभूत कारण कहा जाता है॥ २०-२१॥

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः॥ २२॥

जिस समय पुरुष एवं प्रकृति दोनोंकी सत्त्वादि शक्तियाँ काल-विप्लवसे विवश होकर सम्यक्‌रूपसे प्रकृतिमें (अपने मूल रूपमें) लयको प्राप्त होती हैं, वही प्रलय प्राकृतिक प्रलयके नामसे कहा जाता है। पुरुष एवं अव्यक्तकी कभी भी कोई क्षति नहीं है॥ २२॥

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २३॥

अब भावनामय आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन करते हैं—बुद्धि, इन्द्रिय एवं पदार्थ आदि प्रपञ्चके अधिष्ठान ब्रह्म ही बुद्धि, इन्द्रिय

एवं पदार्थके (विषय अर्थात् इन्द्रिय-अनुभूतिके) रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, परन्तु ये बुद्धि इत्यादि प्रपञ्च तो आदि-अन्त-युक्त (उत्पत्ति-लय-विशिष्ट) हैं तथा (इन्द्रियग्राह्य कनक-कुण्डलादिके समान) दृश्य हैं। बुद्धि आदिकी आश्रयसे (अपने परम आधारसे) पृथक् सत्ता न रहनेके कारण घटादिके समान वस्तुरूपमें परिचित होनेपर भी नित्यकाल न रहनेके कारण परमार्थतः अवस्तु (असत्य पदार्थ) ही हैं। (ब्रह्मगोपालपुरी आदि भगवत्-धाम दृश्य होनेपर भी निर्गुणत्वके कारण नित्य हैं) सीमित इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत वस्तु नित्य नहीं हो सकती। इस प्रकार सभी सूक्ष्म एवं भौतिक रूप परमेश्वरकी शक्तिसे दृश्य बनते हैं और प्रलयकालमें वे अदृश्य (अप्रकट) हो जाते हैं। अपने प्रसरण एवं विलयनका एक ही स्रोत होनेके कारण ये मूल-रूपसे पृथक् नहीं हैं॥ २३॥

दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च ज्योतिषो न पृथग्भवेत्।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्॥ २४॥

रूपग्राहक नेत्र (इन्द्रिय) रूपग्रहण करनेके विषयमें करण-स्वरूप प्रदीप एवं ग्राह्य (दृश्य) रूप—ये तीनों पदार्थ जिस प्रकार तेजसे (अग्नि तत्त्वसे) भिन्न नहीं हैं, तेजके अंश हैं—तेज रूप ही है, उसी प्रकार विषयग्राहिका बुद्धि, विषय ग्रहणमें करण-स्वरूप इन्द्रियाँ तथा ग्राह्य विषय—ये भी सत्य-स्वरूप ब्रह्मवस्तुसे पृथक् नहीं हैं (इनका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है)—ब्रह्म रूप ही हैं, परन्तु ब्रह्म कार्यवस्तुसे (प्रपञ्चादिसे) सर्वथा भिन्न हैं॥ २४॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि॥ २५॥

हे राजन्! जागरण, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये बुद्धिकी तीन अवस्थाएँ विशेषरूपसे कही गयी हैं। जिस प्रकार बुद्धिकी ये तीनों वृत्तियाँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार हे राजन्! प्रत्यगात्मामें (शुद्ध जीवमें) विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ रूप नानात्वका जो ज्ञान है, वह श्रीमायाका विलास मात्र है। बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई

सम्बन्ध नहीं है। (जब बुद्धि ही असत्य है, तो उसकी अवस्थाएँ सत्य कैसे हो सकती हैं?॥ २५॥

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्॥ २६॥

मेघ जिस प्रकार आकाशमें उदय एवं लयको प्राप्त होते हैं अर्थात् कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते हैं, उसी प्रकार यह सावयव (घटादिके समान आदि-अन्त युक्त अवयवी) विश्व भी ब्रह्म-वस्तुमें कभी उदित होता है एवं कभी लयको प्राप्त होता है। अतएव आद्यन्त भावविशिष्ट होनेके कारण यह विश्व सत्पदार्थ नहीं है, अनित्य है। (मेघमालाका दृष्टान्त जगत्की आगमपायी अवस्थाको सूचित करनेके लिये है, मिथ्यात्वको नहीं) ब्रह्म जगत्की अवधि है॥ २६॥

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्व्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः॥ २७॥

हे राजन्! वेदान्तशास्त्रमें कार्यवस्तुके कारणमात्रको ही सत्यरूपमें कहा गया है। इस लोकमें जो भी अवयवी पदार्थ हैं, उनके न रहने पर भी उनके कारण अवयव पृथक्‌रूपमें सत्य माने जाते हैं, जैसे कि कार्य-पदार्थ—वस्त्रकी सत्ताके बिना भी कारण-पदार्थ तन्तुओंकी सत्ता प्रतीत होती है। अतः कार्य एवं कारण वस्तुका ऐक्य दर्शन वस्त्र एवं तन्तुके समान है॥ २७॥

यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २८॥

जगत्में जितने भी पदार्थ प्रतीयमान होते हैं, वे सभी मिथ्या हैं, क्योंकि कार्य-कारण भावके विचारसे वे पदार्थ अन्योन्याश्रयी अर्थात् परस्पर अपेक्षा-युक्त हैं, अतः उनका निरूपण करना असम्भव है। आत्मसिद्धि-विषयमें जो पदार्थ परापेक्षी (एक-दूसरेके सापेक्ष) हैं—वे सभी आदि एवं अन्तयुक्त होनेके कारण भ्रामक

(मिथ्या), अवस्तु अथवा अमूलक हैं। (सामान्य कारण एवं विशेष कार्य—इस प्रकारका भेद दोनोंके आदि एवं अन्तसे युक्त होनेके कारण भ्रामक हैं। कारणका स्वभाव कार्यके बिना अनुभव नहीं किया जा सकता। अग्निकी दाहिका शक्ति वस्तुके राख होनेमें देखी जाती है—इस तरह दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जबकि क्लेदन शक्ति वस्त्रके भीगनेमें देखी जाती है। सामान्यके बिना विशेषकी और विशेषके बिना सामान्यकी प्रतीति नहीं होती। अन्योन्याश्रित होनेके कारण दोनों ही आदि एवं अन्तसे युक्त हैं। समस्त कारणोंके कारण ब्रह्मका न आदि है और न अन्त।)॥ २८॥

विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्॥ २९॥

यह विकारभूत पदार्थ—प्रपञ्च यद्यपि प्रकाशमान् दिखायी देता है, तथापि ब्रह्म-वस्तुके प्रकाशके बिना इसका निरूपण अणुमात्र भी नहीं किया जा सकता अर्थात् अपने अधिष्ठान-स्वरूप ब्रह्मसे यह भिन्न नहीं हो सकता। यदि ब्रह्मवस्तुके बिना इसकी सत्ताका निरूपण सम्भव होता, तो यह प्रपञ्च भी ब्रह्म-तुल्य स्व-प्रकाश एवं एकरूप-विशिष्ट होता, नित्य एवं अव्यय होता, चित्-रूप होता। प्रपञ्च शुद्ध वस्तुके समान नित्य एवं अव्यय नहीं है। मरुस्थलमें दृश्यमान मृग-मरीचिका वास्तवमें प्रकाशकी अभिव्यक्ति है—जलका मिथ्या प्राकट्य प्रकाशका विशिष्ट रूपान्तर है—इसी प्रकार यह प्रपञ्च भगवान्का प्रकाश-विशेष है जो उनकी बहिरङ्ग शक्ति द्वारा रचित है।॥ २९॥

न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव॥ ३०॥

परम सत्य चित् पदार्थका (आत्म-वस्तुका) नानात्व (भौतिक द्वैत) नहीं है। यदि अज्ञ व्यक्ति इसमें नानात्व (द्वैत) मानता है, तो उसकी इस भेद-प्रतीतिको औपाधिक (उपाधि-जन्य अथवा मनःकल्पित) मात्र जानना चाहिए। एक ही आकाशकी घटाकाश

और महाकाश रूपोंमें भेद प्रतीति, आकाशस्थ सूर्यका तथा जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका नानात्व (भिन्न-भिन्न) रूपोंमें बोध तथा देहस्थ वायु एवं बाह्य वायुका पार्थक्य ज्ञान अज्ञताके बोधक है॥ ३०॥

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते,
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो,
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः॥ ३१॥

मानव व्यवहार-मार्गमें जिस प्रकार एक ही स्वर्णका रचना-भेदसे कटक, कुण्डल इत्यादि विविध रूपोंमें दर्शन करता है, उसी प्रकार अहङ्कार उपाधिसे युक्त मनुष्य लौकिक एवं वैदिक वाक्यों द्वारा अधोक्षज श्रीहरिका विभिन्न रूपोंमें वर्णन करते हैं॥ ३१॥

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो,
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो,
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥ ३२॥

मेघ जिस प्रकार सूर्य-रश्मियोंके परिणाम-विशेषसे उत्पन्न होते हैं एवं सूर्य द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, तथापि वे ही मेघ सूर्यके अंशभूत नेत्रोंके सूर्य-दर्शन पथमें प्रतिबन्धक होते हैं (सूर्यकी किरणें मेघरूपमें परिणत होकर वर्षण करती हैं, अग्निमें प्रदत्त आहुतिको सम्पूर्ण रूपसे सूर्यतक पहुँचाती हैं, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, उसीसे प्रजाकी सृष्टि होती है—इस प्रकार सूर्यकी प्रभा ही मेघ है और सूर्य द्वारा ही प्रकाशित है, परन्तु वे मेघ ही सूर्य-किरणरूप चक्षुओंके लिए आवरण बन जाते हैं), इसी प्रकार ब्रह्म-वस्तुसे उत्पन्न एवं उसके द्वारा प्रकाशित अहङ्कार ब्रह्मांशभूत जीवके ब्रह्म-रूप दर्शनमें प्रतिबन्धक बन जाता है अर्थात् अहङ्कार द्वारा जीव अपना ही बन्धन कर लेता है, ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर पाता॥ ३२॥

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते,
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो,
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ ३३॥

जिस समय सूर्यसे उत्पन्न मेघ वायु-सञ्चालन द्वारा विदीर्ण (तितर-बितर) हो जाते हैं, उस समय नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्यका दर्शन कर पानेमें समर्थ होते हैं, उसी प्रकार जिस समय आत्माकी उपाधि अहङ्कार—ब्रह्म जिज्ञासा द्वारा तिरोहित हो जाती है, उस समय जीव भी स्वरूपभूत ब्रह्मका दर्शन (अनुभव) करता है, उनके स्वरूपका अनुक्षण स्मरण करता है। (उल्लूके नेत्र जैसे सूर्यको देख नहीं सकते, उसी प्रकार अभक्त ज्ञानियोंके चक्षु ब्रह्म-स्वरूपका दर्शन नहीं कर सकते।)॥ ३३॥

यदैवमेतेन विवेकहेतिना,
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते,
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥ ३४॥

हे राजन्! जीव जिस समय पूर्वोक्त क्रमसे भगवत्-स्मरण-रूप विवेकास्त्र द्वारा मायामय अहङ्कारकृत आत्म-बन्धनका (अहङ्कार ही आत्माका बन्धन है) छेदन करके अच्युत भगवान्में परिपूर्णरूपसे आत्मानुभवसे सम्पन्न होता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मानुभवमें सुदृढ़ ध्यान द्वारा स्थिरचित्त हो जाता है, तब इस मायामुक्त वास्तविक अवस्थाको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं॥ ३४॥

नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ ३५॥

हे शत्रुपातन परीक्षित्! कोई-कोई सूक्ष्म-तत्त्वदर्शीगण कहते हैं कि ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति

एवं प्रलय हर क्षण होते रहते हैं—इसी कारण इसे नित्य प्रलय कहते हैं॥ ३५॥

कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः॥ ३६॥

नदी-प्रवाह, प्रदीप-शिखा इत्यादि प्रतिक्षण परिणामशील (बदलते रहनेवाले) पदार्थोंका जिस प्रकारसे उच्च-नीच अवस्था-भेद (बदलती अवस्थाएँ) दिखायी देता है, कालरूप स्रोतके वेग (प्रवाह) द्वारा आशु (अति शीघ्रतापूर्वक) परिवर्त्तनशील इस देहादिका भी उसी प्रकारसे प्रतिक्षण अवस्था-भेद (बाल्य, पौगण्ड, जन्म, लय) ही जन्म-मृत्युका कारण होता है॥ ३६॥

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्त्तिना।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव॥ ३७॥

आकाशमें सञ्चरणशील (हर समय चलते रहनेवाले) चन्द्रादि ज्योतिष्क-मण्डलका जिस प्रकार सूक्ष्म गति-भेद परिलक्षित नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वरांशभूत आद्यन्तरहित इस कालके प्रभावसे प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाला अवस्था-भेद (बाल्य, तारुण्यादि) भी दिखायी नहीं देता। वस्तुतः किसी भी परिणामी पदार्थकी परिवर्त्तित-अवस्था परिदृष्ट नहीं होती। प्रदेशान्तरमें स्थितिको देखकर जैसे चन्द्रादिकी गतिकी कल्पना की जाती है, उसी प्रकार बाल्य, तारुण्यादि अवस्थाओंको देखकर उनके मध्यमें होनेवाली सूक्ष्म अवस्थाओंकी कल्पना कर ली जाती है॥ ३७॥

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी॥ ३८॥

हे राजन्! मैंने तुम्हारे निकट नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक—प्रलयके चार प्रकारोंका वर्णन किया। वास्तवमें कालकी सूक्ष्म गति ऐसी ही है॥ ३८॥

एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः,
कात्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः॥ ३९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! अखिल जीवोंके आश्रय जगत्कर्त्ता नारायणका यह समस्त लीला-चरित्र संक्षेपमें मैंने तुमको बतलाया। परन्तु इसका सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हो सकते॥ ३९॥

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण,
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य॥ ४०॥

जो लोग आध्यात्मिक आदि अनेक प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं अथवा जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जानेके अभिलाषी हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन, कोई नौका नहीं है॥ ४०॥

पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः॥ ४१॥

मैंने जो कुछ तुम्हें बतलाया, वही श्रीमद्भागवत महापुराण संहिता है। पूर्वकालमें सनातन (अव्यय) नारायण ऋषिने नारदजीको यही उपदेश प्रदान किया था और देवर्षि नारदने इसी उपदेशको मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासको सुनाया था। (श्रोताओंके श्रीमद्भागवतके सुहृद करनेके लिये सम्प्रदायकी प्रवृत्ति बतलाई गई है)॥ ४१॥

स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्॥ ४२॥

हे महाराज! भगवान् वेदव्यासने सन्तुष्ट होकर इसी भागवत-संहिताका उपदेश मुझे प्रदान किया था। शुकदेवजीके इस कथनका अभिप्राय यह है कि श्रीमद्भागवतका पठन, पाठन, श्रवण करना-कराना इत्यादि श्रीगुरु सम्प्रदायके शुद्ध अविच्छिन्न अनुसरणमें श्रौत-परम्परासे करना चाहिए॥ ४२॥

इमां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ संपृष्टः शौनकादिभिः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे प्रलयवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

हे कुरुश्रेष्ठ! (सूतजी आगे ही बैठे थे, अङ्गुली द्वारा उनको निर्देश करते हुए कहते हैं कि) अब इसके बाद ये सुविख्यात पौराणिक वक्ता सूतजी नैमिषक्षेत्रमें दीर्घकाल तक चलनेवाले यज्ञकालमें शौनकादि ऋषियों द्वारा जिज्ञासित होनेपर उन्हें यही पुराण-संहिता सुनाएँगे॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके चौथे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुकदेवजीका अन्तिम उपदेश

श्रीशुक उवाच—

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे राजन्! ब्रह्मा जिनके प्रसाद-सम्भूत हैं एवं रुद्र जिनके क्रोध-सम्भूत हैं (वस्तुतः ये दोनों भगवान्के शुद्ध-सत्त्व-स्वरूप ही हैं)—ऐसे विश्वनियन्ता भगवान् श्रीहरिका इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें निरन्तर कीर्त्तन हुआ है—अतएव जो इस महापुराणका श्रवण कीर्त्तन करते हैं—उन्हें किसी प्रकारके भयकी शङ्का रह नहीं सकती। (राजा परीक्षित्के तक्षकके काटनेसे मृत्युके भयको दूर किया गया है। जिनके कृपा प्रसादसे जगत्-स्रष्टा एवं क्रोधसे जगत्-संहारक रुद्र उत्पन्न हुए हैं—ऐसे श्रीहरिकी कथाका श्रवण कर लेनेपर दूसरे किसीका क्या भय हो सकता है? 'प्रसाद' शब्दसे रजोगुणकी वृत्तिस्वरूप हर्ष (क्रोधका विलोम शब्द) को कहा गया है।)॥ १॥

त्वन्तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥ २॥

हे राजन्! तुम 'मैं मरूँगा' इस पशुबुद्धिको विवेक द्वारा नष्ट कर दो (परीक्षित्में पाशविक बुद्धि नहीं थी, किन्तु अर्जुनके समान सभीको लक्ष्य करके ऐसा कहा गया है)। तुम जीवात्मा हो, देहसे सर्वथा भिन्न हो। (कथा-श्रवणसे कृतकृत्य भी हो गये हो) यह शरीर पहले नहीं था, अब उत्पन्न हुआ, फिर नष्ट हो जाएगा—इस शरीरकी भाँति तुम पहले अविद्यमान थे, अब जन्म हुआ है और आगे मर जाओगे—यह यथार्थ नहीं है॥ २॥

न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान्।
वीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः॥ ३॥

अग्नि जिस प्रकार उत्पत्ति एवं विनाशशील काष्ठादि पदार्थोंसे भिन्न है, उसी प्रकार तुम भी आद्यन्तयुक्त देहादि पदार्थोंसे भिन्न वस्तु हो। अतएव तुम पुत्र-पौत्रादि रूपमें बीजाङ्कुर प्रवाह क्रमसे (बीजसे अङ्कुर, अङ्कुरसे बीजके समान) उत्पन्न नहीं होओगे। देहसे देहका जन्म होता है, आत्माका नहीं॥ ३॥

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम्।
यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः॥ ४॥

जन्म-मरणादि अवस्थावान् देहसे आत्माका पार्थक्य है—स्वप्नमें अपने शिरच्छेदनका द्रष्टा आत्मा देहसे पृथक् है, इसी प्रकार जागरण कालमें भी देहसे पृथक्-स्वरूप आत्मा देहकी पञ्चत्वादि दशाका दृष्टा है—अतः आत्माकी मृत्यु इत्यादि ज्ञान भ्रम मात्र है। वस्तुतः आत्मा अज (जन्म रहित) एवं अमर (मरण-रहित) है॥ ४॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥ ५॥

घटरूप उपाधिके नष्ट होनेपर घटोपहिताकाशांश (घट उपाधिसे युक्त घटके भीतर आकाशका अंश) जिस प्रकार पूर्ववत् (पहलेकी तरह) निरुपाधिक (बिना किसी उपाधिके) भावको प्राप्त रहता है अर्थात् पहलेकी तरह ही आकाश बना रहता है, उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म देहके विनाश होनेपर तत्त्वज्ञानके द्वारा जीवात्माका ब्रह्म-सम्बन्ध बना रहता है अर्थात् जीवात्मा अपनी स्वरूप-स्थितिको धारण करता है।

जैसे घट रहनेपर भी आकाश पहले अनावृत रहता है, निरुपाधिक रहता है, उसी प्रकार घटके फूट जानेपर भी आकाश अनावृत ही रहता है। घटके अन्तर एवं बाहरमें आकाश वर्त्तमान रहनेके कारण आकाशका घट किस प्रकारसे आवरण कर सकता

है? उसी प्रकार अजीव अर्थात् जीवसे भिन्न परमात्मा सर्वव्यापक होकर विराजमान रहते हैं, उनको आवृत नहीं किया जा सकता॥५॥

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥६॥

मन दैव द्वारा प्रेरित होकर जहाँ-जहाँ धावित होता है, उस-उस स्थलपर वह आत्माके विकारजात देह (विषय), गुण एवं कर्म इत्यादिकी सृष्टि करता है—दैवमाया मनकी सृष्टि करती है। अतएव माया (अविद्या) आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे ही जीवकी संसार-दशा उत्पन्न होती है॥६॥

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्नि-संयोगो यावदीयते।
तावद्दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति॥७॥

जबतक तेल, दीपाधार (तेल रखनेका पात्र), वर्त्तिका एवं अग्निका संयोग रहता है, तबतक दीपके ज्योतिमय पदार्थका दीपत्व अर्थात् ज्वालारूप परिणाम दिखायी देता है, उसी प्रकार तैल-स्थानीय कर्म, उसका अधिष्ठान मन, वर्त्तिका स्थानीय देह, अग्नि-संयोग स्थानीय चैतन्यका अध्यास रहता है, तबतक संसार-दशा (दीपत्व स्थानीय) रहती है, जन्म-मृत्युका चक्र चलता रहता है। रज, सत्त्व एवं तमोगुणकी वृत्तियोंके परिणामके कारण संसार-दशा उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होती है। हे राजन्! तत्त्वज्ञान होनेपर संसार-दशा नष्ट हो जाती है। देहके साथ संयोग होनेपर आत्माका यह संसार है॥७॥

न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः॥८॥

दृश्य स्थूल एवं अदृश्य सूक्ष्म देहोंसे भिन्न स्वयंज्योति-स्वरूप आत्मवस्तु निर्विकार (देहादि प्रपञ्चसे परे), अनन्त (जन्म-मरण रहित), निरुपम (उपमा रहित अर्थात् आत्माकी उपमा आत्मा

ही है) एवं अपरिवर्त्तनशील आकाशके समान आत्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान होनेके कारण देहमें प्रतीयमान होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होती। अतः दीपके समान संसारका ही नाश होता है, ज्योति-स्वरूप आत्माका नहीं॥ ८॥

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया॥ ९॥

हे राजन्! इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमसे (विशुद्ध विवेकसे) वासुदेवका निरन्तर ध्यान करो। ऐसी सद्व्यवसायवती, ध्यानमयी, अनुमान-गर्भिणी (दृष्ट-दृश्य-अन्वय-व्यतिरेकसे युक्त) बुद्धि एवं मनके द्वारा तुम देहादि उपाधिरूप आवरणके भीतर स्थित आत्मस्वरूपका विचार करो कि आत्मा देहसे पृथक् है॥ ९॥

चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्॥ १०॥

ऐसा होनेपर विप्रशापके द्वारा प्रेरित तक्षक अपने दंशनके द्वारा तुम्हें दग्ध नहीं कर सकेगा। मूर्त्तिमान् मृत्यु, मृत्युके हेतुभूत ब्रह्मशापादि तुम्हें किञ्चित्मात्र भी कष्ट नहीं दे पाएँगे। तुम अब देहादि उपाधियोंसे मुक्त, भक्तिविघ्नविनाशक एवं स्वतन्त्र-स्वरूप हो। तुम्हें कोई पीड़ित नहीं कर सकता॥ १०॥

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥ ११॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरञ्च विश्वञ्च पृथगात्मनः॥ १२॥

"मैं ही ब्रह्मनामक परमधाम हूँ, मैं ही परमपद ब्रह्म हूँ" (मैं संसारी नहीं हूँ, मैं परमेश्वरका हूँ, सूर्यके समान चित्कण हूँ—मैं निष्कल-देह-रहित अर्थात् भौतिक गन्तव्यसे रहित हूँ) इस प्रकार चिन्तन करते हुए निरुपाधिक ब्रह्म-वस्तुमें अपने चित्तका समर्पण कर दो। तब तुम लपलपाती जिह्वा द्वारा अपने ओष्ठ-प्रान्तको

चाटनेवाले तथा विषाक्त मुख द्वारा अपने पैरोंका दंशन करनेवाले तक्षकको, अपनी देहको तथा इस विश्वको आत्मवस्तुसे पृथक्‌रूपमें दर्शन नहीं करोगे। श्रीकृष्णके चरण-कमलके साक्षात्कार-रूप आनन्दमूर्च्छाको प्राप्त करके तुम्हें आत्मासे पृथक् कुछ भी अनुभव न होगा॥ ११-१२॥

एतत्ते कथितं तात यदात्मा पृष्टवान् नृप।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

हे वत्स! परीक्षित्! तुमने मुझसे सर्वान्तर्यामी श्रीहरिके लीलाचरितके विषयमें प्रश्न किया था, इसलिए मैंने उसका वर्णन किया। अब इसके बाद और क्या सुनना चाहते हो, यह बतलाओ॥ १३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके पाँचवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

परीक्षित्‌की परमगति, जन्मेजयका सर्पसत्र और वेदोंके शाखाभेद

श्रीसूत उवाच—

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्-
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः॥ १॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! श्रीव्यासनन्दन शुकदेव निखिलात्मदर्शी (निखिलात्म श्रीकृष्ण शुकदेवको देखते हैं एवं शुकदेव सम्पूर्ण जगत्‌में श्रीकृष्णका अनुभव करते हैं) एवं समबुद्धिसम्पन्न हैं। (तात्कालिक ब्रह्मोपदेश द्वारा किसी-किसी निर्विशेष ज्ञानीके मनको भी आनन्दित करते हैं) विष्णुरात महाराज परीक्षित्‌ने उनके मुखसे कहे गये भागवत-वचनोंका श्रवण किया। अनन्तर उन्होंने उनके चरण-कमलोंमें मस्तक झुकाया एवं हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीराजोवाच—

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुनिवर! मैंने साक्षात्‌रूपसे जिन्हें अपने गर्भमें देखा, अपने बाल्यकालमें देखा, आपने उन्हीं अनादि-अनन्त श्रीहरिकी चरित-कथा सुनायी है। इसीलिए हे करुण हृदय! मैं आपके द्वारा अनुगृहीत एवं कृतार्थ हुआ हूँ॥ २॥

नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः॥ ३॥

जो सांसारिक त्रितापसे सन्तप्त हैं एवं आत्म-परित्राणसे अनभिज्ञ हैं, ऐसे जीवोंपर कृष्णासक्त-चित्त महापुरुषोंके अनुग्रहको मैं आश्चर्य नहीं मानता॥ ३॥

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमःश्लोको भगवाननुवर्ण्यते॥ ४॥

मुनिवर! मैंने आपसे भागवती पुराण संहिताका श्रवण किया। इसमें उत्तमःश्लोक भगवान् श्रीहरि निरन्तर वर्णित हुए हैं, अन्य जो कुछ भी वर्णन हुआ है, वह भगवत्-वर्णनके पोषणके लिए है॥ ४॥

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न विभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥ ५॥

हे भगवन्! मैं आपके द्वारा प्रदर्शित (उपदिष्ट) अभय-कैवल्य रूप ब्रह्मपदको प्राप्त हो गया हूँ। अतः तक्षकादि मृत्युके कारणोंसे मैं भयभीत नहीं हूँ। (परीक्षित्के कहनेका अभिप्राय है कि उसके जैसे भक्तोंके लिए निर्वाण मोक्ष निश्चय ही असह्य है, तक्षकादि अथवा अन्य किसी भी कारणसे जन्म-जन्मान्तरमें मृत्यु प्राप्त हो—उसका डर नहीं है। ब्रह्म-निर्वाणका उपदेश अधिक भय उत्पन्न करनेवाला है—यह परीक्षित्का श्रीमन् मुनीन्द्र शुकदेवके प्रति परिहासमय आक्षेप व्यक्त है और श्रीशुकदेवजीके द्वारा परीक्षित् महाराजकी भक्ति-निष्ठाकी परीक्षा है, जैसा कि उन्होंने प्रायोवेशनके आरम्भमें ही प्रतिज्ञा की थी कि ब्रह्म-निर्वाणमें उनकी रुचि नहीं है। परीक्षित्जीकी अभिलाषा है कि इस सृष्टिमें जब-जब भी जन्म हो, तब-तब श्रीभगवान्में रति, भगवदाश्रित महत्पुरुषोंका सङ्ग, सर्व मैत्री एवं ब्राह्मणोंके लिए परमादर रहे॥ ५॥

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्॥ ६॥

हे ब्रह्मन्! मैं अधोक्षज—इन्द्रियातीत श्रीहरिके चरणोंमें अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तिको लगाकर एवं विषय-वासनासे रहित अपने चित्तको उन्हींके चरणोंमें समर्पणकर प्राणोंका परित्याग करूँ, आप इस विषयमें अनुमति प्रदान करें। (शुकदेवने कहा था कि अब और क्या श्रवण करना चाहते हो, तो राजाका उत्तर है कि मैं पूर्णरूपेण कृतार्थ हूँ, अब अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहता हूँ।)॥ ६॥

अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञान-निष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम्॥ ७॥

आपके द्वारा उपदिष्ट भगवत् विषयक ज्ञान और विज्ञानमें (ऐश्वर्य और माधुर्यके अनुभवमें) परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान एवं उसका संस्कार भी सर्वदाके लिए नष्ट हो गया है। आपने भगवान् श्रीहरिके परमकल्याणप्रद स्वरूपका मुझे साक्षात्कार भी करा दिया है॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित्की प्रार्थनाके अनुसार शुकदेव गोस्वामीने उन्हें प्राण-त्यागके विषयमें अनुमति प्रदान की। अनन्तर राजाके द्वारा पूजित होकर श्रीशुकदेव गोस्वामी संन्यासियोंके (मुनीन्द्रगणोंके) साथ यथाभिलाष स्थानपर चले गये॥ ८॥

परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः॥ ९॥

प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः॥ १०॥

समस्त प्रकारके संशयोंसे मुक्त, सभी आसक्तियोंसे असङ्ग, ब्रह्मस्वरूपज्ञ महायोगी राजर्षि परीक्षित् गङ्गाके तटपर पूर्वाग्र कुशासनपर उत्तरमुख होकर आसीन हो गये। उन्होंने बुद्धि द्वारा मनको आत्मवस्तुमें समाहित किया और स्पन्दन-रहित-वृक्षके स्थाणु (ठूँठ) के समान निश्चल भावसे परमात्माके ध्यानमें मग्न हो गये॥ ९-१०॥

तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना।
हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम्॥ ११॥

हे विप्रगणो (शौनकादि ऋषियो)! तदनन्तर क्रुद्ध मुनिकुमार शृङ्गीके द्वारा भेजा हुआ तक्षक सर्प राजा परीक्षित्को डसनेके लिए उनके पास चला। पथपर उसने कश्यप नामक एक विषहारी ब्राह्मणको देखा॥ ११॥

तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्त्य विषहारिणम्।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम्॥ १२॥

तक्षकने अभिलषित धन द्वारा कश्यपको सन्तुष्टकर वहाँसे लौटा दिया। तक्षक इच्छानुसार रूप धारण करनेमें सक्षम था। उसने छद्म ब्राह्मणका वेश बनाया और राजा परीक्षित्को डस लिया। (कश्यप मुनि विष-चिकित्साके द्वारा परीक्षित्की रक्षाके लिए आ रहे थे। पथपर तक्षकने देखा कि जिस वट-वृक्षको उसने अपने जहरीले दाँतोंसे क्षार-क्षार कर दिया था, उसीको कश्यप मुनिने अङ्कुरादि क्रमसे पुनः जीवित कर दिया है।)॥ १२॥

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥ १३॥

इसके बाद सभी प्राणियोंके समक्ष ही राजर्षि परीक्षित्की देह तक्षककी विषरूप अग्निसे तत्क्षण ही भस्मीभूत हो गयी। राजा परीक्षित् तो पहले ही ब्रह्मभूत (ब्रह्म-स्वरूपज्ञ) हो गये थे। (यथा पुत्र अपने पिताके मृत शरीरका दाह-संस्कार करता है उसी प्रकार विषाग्निसे राजाका शरीर भस्म हुआ है।)॥ १३॥

हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः।
विस्मिता ह्यभवन् सर्व देवासुरनरादयः॥ १४॥

उस समय भूलोकमें, आकाशमें एवं सभी दिशाओंमें महा हाहाकारकी ध्वनि उठी। असुर, देवता एवं मनुष्य सभी विस्मित रह गये॥ १४॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः॥ १५॥

उस समय देवता दुन्दुभियाँ बजाने लगे, गन्धर्व एवं अप्सराएँ जयगान करने लगे तथा देवता साधुवाद करते-करते पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ १५॥

जन्मेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम्।
यथाजुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः॥ १६॥

जन्मेजयने जब सुना कि तक्षकने पिताको मार दिया है, तो वह क्रोधित हो उठा। उसने जगत्को सर्पोंसे रहित करनेका निश्चय कर लिया। वह ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञानलमें सर्पोंको यथाविधि आहुति देने लगा॥ १६॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान्।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ॥ १७॥

तक्षकने देखा कि सर्प-यज्ञकी प्रचण्ड अग्निमें बड़े-बड़े सर्प दग्ध हो रहे हैं। तब उसका चित्त भयसे विह्वल हो गया और वह इन्द्रकी शरणमें पहुँचा॥ १७॥

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान्।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः॥ १८॥

राजा जन्मेजयने यज्ञमें तक्षकको उपस्थित नहीं देखा, तो ब्राह्मणोंसे कहा—'हे ब्राह्मणो! सर्पाधम तक्षक अभी तक अग्निमें दग्ध क्यों नहीं हुआ?'॥ १८॥

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम्।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ॥ १९॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे राजन्! शरणागत तक्षककी रक्षा इन्द्र कर रहे हैं। उन्होंने तक्षकको वहीं स्तम्भित कर दिया है अर्थात् अपने आसनसे बाँधकर रखा है, इसी कारण वह अग्निमें नहीं गिर रहा है॥ १९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते॥ २०॥

जन्मेजय प्रशस्त बुद्धिसम्पन्न (उदारधी) थे। ब्राह्मणोंके वचन सुनकर उन्होंने कहा—हे ब्राह्मणो! आप इन्द्रके साथ ही तक्षकको अग्निकुण्डमें क्यों नहीं गिरा देते?॥ २०॥

तच्छ्रुत्वा जुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता॥ २१॥

ब्राह्मण जन्मेजयके इन वचनोंको सुनकर 'मरुद्गणयुक्त इन्द्रके सहित हे तक्षक! शीघ्र ही अग्निमें गिर पड़ो' इस प्रकारसे आकर्षण मन्त्र उच्चारण करके यज्ञमें इन्द्रके साथ तक्षकका आह्वान करने लगे। (वायु देवताने ही आकर बताया था कि तक्षककी रक्षा इन्द्र कर रहे हैं)॥ २१॥

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः।
बभूव संभ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः॥ २२॥

ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित पूर्वोक्त आक्षेप-वचनोंसे (अपमानपूर्ण वचनोंसे) इन्द्रका चित्त विक्षिप्त हो गया। विमानपर विराजमान इन्द्र अपने विमान एवं तक्षकके साथ अपने स्थानसे विचलित होने लगे। (वे अतिशय घबरा गये और उनका विमान चक्कर काटने लगा)॥ २२॥

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात्।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः॥ २३॥

उस समय अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीने देखा कि आकाशसे देवराज इन्द्र विमान और तक्षकके साथ ही यज्ञानलमें गिर रहे हैं; तब उन्होंने राजा जन्मेजयसे कहा—॥ २३ ॥

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट्।
अनेन पीतममृतमथवा अजरामरः॥ २४॥

'हे महाराज! यह सर्पराज तक्षक अमृत पान कर चुका है, इसलिए जरा एवं मृत्युसे रहित हो गया है—अब वह अजर एवं अमर है। अतः यह तक्षक आपके द्वारा नहीं मारा जा सकता॥ २४॥

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः॥ २५॥

हे राजन्! स्वयंसे उपार्जित कर्म-बन्धनसे ही जीवको जीवन, मरण एवं लोकान्तर-गतिकी प्राप्ति होती है, कर्मके बिना अन्य कोई भी जीवका सुख-दुःख प्रदाता नहीं है। (यह व्यवस्था निकृष्ट जीवके लिए है—तुम्हारे पिताकी तो अश्वत्थामाके अस्त्रसे रक्षा स्वयं कृष्णने की है, अपने प्रिय श्रीशुकदेवजी द्वारा उपदेश प्रदान कराके अपने धामकी प्राप्ति करायी है, तक्षक तो निमित्त मात्र है। दुर्मरणके कारण तुम्हारे पिताकी दुर्गति इसनेकी है, ऐसी शङ्का आप न करें।)॥ २५॥

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्ते आरब्धकर्म तत्॥ २६॥

हे राजन्! सर्प, चोर, आग, बिजली, भूख, प्यास एवं रोगादि द्वारा जो पञ्चत्वकी प्राप्ति है, वह और कुछ नहीं, केवल प्रारब्ध-कर्मोंका भोग मात्र है। (तुम्हारे पिता भक्त है, उनका प्रारब्ध-भोग नहीं है। सर्प आदि अपने कर्मके कारण ही दंशनादि करते हैं, इस विषयमें वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं।)॥ २६॥

तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम्।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते॥ २७॥

अतएव हे राजन्! इस आभिचारिक यज्ञको इसी समय रोक दो। आपने बहुत-से निरपराध सर्पोंको जला दिया है, इसमें आपका अपराध नहीं है, प्राणी मात्र ही अपने-अपने पूर्वकर्मोंका (भाग्य-फलका) भोग करता है॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम्॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महर्षि बृहस्पतिके इन वचनोंको जन्मेजयने श्रद्धाके साथ शिरोधार्य किया। उन्होंने शीघ्र ही ब्राह्मणोंको सर्प-यज्ञ-समापनका आदेश दिया। सर्प-यज्ञसे निवृत्त होकर उन्होंने बृहस्पतिकी पूजा की। (आभिचारिक यज्ञ निन्दनीय माने गये हैं)॥ २८॥

सैषा विष्णोर्महामायाबाध्ययालक्षणा यया।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः॥ २९॥

भगवान् विष्णुकी माया अचिन्त्या (अतर्क्या) एवं अलङ्घनीया (अबाध्या) है। इस मायाकी शक्तिके अनिवार्य प्रभावसे विष्णुके अंशभूत सभी प्राणी देहादिमें क्रोध इत्यादि गुणजात वृत्तियों एवं देहमें आत्मज्ञानरूप मोहको प्राप्त होते हैं। (यही कारण है कि ब्राह्मणको क्रोध आया, राजाको शाप हुआ और मृत्यु हुई तथा जन्मेजयको भी क्रोध आया और बहुत सारे सर्प मारे गये।)॥ २९॥

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत्॥ ३०॥

न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम्।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन् विरमेत तन्मुनिः॥ ३१॥

विष्णुस्वरूपमें माया अपने प्रभावका विस्तार नहीं कर सकती। दम्भयुक्त पुरुषपर इसका आक्रमण होता है अर्थात् 'यह पुरुष दम्भी, कपटी है'—इस प्रकारकी बुद्धिमें बार-बार प्रतीत होनेवाली जिस मायाका निरन्तर उल्लेख होता है, वही माया विष्णुमें एवं उनके भक्तोंमें दम्भ न रहनेके कारण भयभीत एवं निष्प्रभ रहती है। आत्मवादीगणों द्वारा आत्मवादकी चर्चा पुनः-पुनः प्रवर्तित होनेपर माया वहाँ निर्भयतापूर्वक रह नहीं सकती। जहाँ विष्णु-स्वरूप स्फुरित होता है तथा निरन्तर प्रामाणित विष्णु-विषयक चर्चा रहती है, वहाँ न तो मायाश्रित विवाद-संवाद रहते हैं और न ही संकल्प-विकल्परूपा (निर्णय-संशयात्मकरूपा) मनकी मायिकी वृत्तियाँ रहती हैं। सृजन करनेवाले कारकोंके साथ कर्म एवं उनके साधनसे प्राप्य स्वर्गादि फल भी वहाँ विद्यमान नहीं रहते। सृज्य (सृजित वस्तुएँ) एवं स्रष्टाके स्वयं ही पृथक्रूपसे स्फुरित होनेपर फलकी स्फूर्त्ति नहीं रहती। स्रष्टा, सृज्य एवं फल भावत्रययुक्त, सत्त्वादि गुणत्रययुक्त एवं जागरादि तीन गुणोंसे युक्त अहङ्कारात्मक जीवभावका (बद्ध आत्माका) वहाँ अवस्थान नहीं होता। बाध्य (जीव-दशा) एवं बाधक (गुण-दशा) से जो रहित है, उसे आत्मस्वरूप परम सत्य जानना चाहिए। मुनिगण इन अहङ्कारादि ऊर्मियोंको निरस्त (बाधित) करके इसी आत्मस्वरूप परमसत्यमें विशेषरूपसे विहार करते हैं। (आत्मस्वरूपज्ञ न किसीके द्वारा बाधित होते हैं और न ही विरोधी होते हैं।)॥ ३०-३१॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्-
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा,
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः॥ ३२॥

पूर्वोक्त जिस वस्तुका (विष्णुपदका) समाधिमग्न भक्तों द्वारा ध्यानादिके (पुनः-पुनः स्मरणके अभ्यास) द्वारा हृदयमें उपलब्धि होना निश्चित हुआ है, अनन्यभाव युक्त वे भक्त परम वस्तुसे भिन्न वस्तुका 'नेति नेति'—यह अनुकूल नहीं है, यह अनुकूल नहीं है—इस विचार क्रमसे देहात्म ज्ञानादिका—(देह, गेह, पुत्र, स्त्री आदिका) एवं क्षुद्र दौरात्म्यका अर्थात् अहं-ममतास्पद वस्तुओंका परित्याग करके उस वस्तुका उत्तम वैष्णव-स्वरूपकी प्राप्तिके रूपमें निर्देश करते हैं। यह सौभाग्य अर्थात् वैष्णव पद अर्थात् विष्णु-स्वरूप ऐकान्तिक भक्तोंके हृदयमें गोपनरूपमें अवस्थित अनन्य सौहार्द अनुभूत होता है, अन्यको नहीं॥ ३२॥

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥ ३३॥

विष्णुके परम-पद अथवा स्वरूपसे वे ही अवगत हो सकते हैं, जिनके अन्तःकरणमें देहज 'मैं' बुद्धि तथा गेहज 'मेरा' बुद्धि इस प्रकारका दौरात्म्य (दुर्जनता) रूप दोष नहीं है॥ ३३॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ३४॥

हे शौनकादि ऋषियो! निन्दा-तिरस्कार इत्यादि प्रतिवादोंको सहन कर ले, कटूक्तियों द्वारा किसीको उत्तर न दे, किसीकी भी अवज्ञा न करे, किसीके भी साथ वैर भाव न रखे, विपक्षीसे भी द्वेष न करे—रागानुगीय रसिक भक्तोंको इस प्रकारसे रहना चाहिए। (यदि कोई अपराध होता है, तो विष्णु-पद तिरोहित हो जाता है।)॥ ३४॥

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम्॥ ३५॥

जिनके पादपद्मोंके चिन्तनके प्रभावसे मैंने इस भागवती संहिताको श्रीशुकदेवके श्रीमुखसे अध्ययन किया है—उन अकुण्ठज्ञानसम्पन्न, अप्रतिहत-प्रभाव भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३५॥

श्रीशौनक उवाच—

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः।
वेदाश्च कथिता व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहि नः॥ ३६॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे सौम्य सूतजी! वेदव्यासके शिष्य पैलादि वेदाचार्य, महात्मागणोंने व्यासदेव द्वारा विभक्त वेदोंका जिस रूपमें वर्णन किया है, वह हमें बतलाइए। (संहिता शब्द सुनकर ऋषियोंके हृदयमें यह स्वाभाविक जिज्ञासा हुई है)॥ ३६॥

श्रीसूत उवाच—

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते॥ ३७॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्रह्मन्! समाहित-चित्त परमेष्ठी ब्रह्माके हृदयाकाशसे सर्वप्रथम एक नाद (शब्द) उत्पन्न हुआ। कर्णपुटके आच्छादनसे (कर्ण-छिद्र बन्द करनेपर) श्रवण-वृत्तिके निरुद्ध होनेपर (बाह्य श्रवण-क्रियाके रुकनेपर) भी हृदयके अन्तरमें इस ध्वनिको अनुभव किया जा सकता है॥ ३७॥

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्॥ ३८॥

हे ब्रह्मन्! योगीगण भी उसी अनाहत नादकी उपासनाके द्वारा आत्माके आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन तीन प्रकारके आत्ममलको (द्रव्य, क्रिया एवं कारकरूपी मलको) नष्ट करके परमगति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करते हैं॥ ३८॥

ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥ ३९॥

हे मुनिवर! उक्त नादसे अव्यक्त-प्रभव (अस्पष्ट उत्पत्ति है जिसकी), स्वराट् (स्वयं प्रकाशमान्) त्रिमात्रात्मक प्रणव अर्थात् 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार रूप तीन मात्राओंसे युक्त ॐकार प्रादुर्भूत हुआ। यह ॐकार परब्रह्मके बोधका द्वार-स्वरूप है, यह ज्ञानियोंके लिए ब्रह्म-स्वरूप (परम निर्विशेष सत्य), योगियोंके लिए परमात्माका लिङ्ग-स्वरूप तथा भक्तोंके लिए भगवत्-स्वरूप है॥ ३९॥

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥ ४०॥

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्॥ ४१॥

इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मामें स्वाभाविक ज्ञान रहता है। श्रवणेन्द्रियकी वृत्तिसे रहित होनेकी दशामें भी वे इस स्फोट (अव्यक्त एवं नित्य सूक्ष्म) ॐकार ध्वनिका श्रवण करते हैं। यह ॐकार हृदयके आकाशमें आत्मासे प्रकाशित होता है और इसी ॐकारसे बृहती अर्थात् वेद-लक्षणा वाणी प्रकाशित होती है। यह ॐकार निज आश्रय ब्रह्म-वस्तुका, परमात्म-वस्तुका, भगवत् वस्तुका साक्षात् वाचक है। यह ॐकार सम्पूर्ण मन्त्रोंका रहस्य एवं उपनिषद् तथा वेदोंका सनातन बीज-स्वरूप है। ब्रह्म-स्वरूप होनेके कारण सर्वदा एकरूप (अविकारी) है॥ ४०-४१॥

तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह।
धार्य्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः॥ ४२॥

हे भार्गववर शौनकजी! ॐकारसे 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार रूप तीन वर्ण प्रकट हुए। यह त्रिवर्णात्मक प्रणव ऋक्-यजुः-सामरूप नामत्रय, सत्त्व-रजः-तम—गुणत्रय, भू-भुवः-स्वः लोकत्रय एवं जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—वृत्तित्रयको धारण करता है। ॐकार माधुर्य-ओज-प्रसाद—शब्द-गुण एवं अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना

शब्द-वृत्तिको उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार वट-बीज वट-वृक्षको धारण करता है तथा वट-वृक्ष स्कन्ध, शाखा, पुष्प एवं फलादि धारण करता है॥ ४२॥

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्श-ह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्॥ ४३॥

अनन्तर सर्वशक्तिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजीने पाठक्रमका निर्देश करते हुए अक्षर-समष्टिकी सृष्टि की—उसका स्वरूप है यथा—य, र, ल, व—अन्तःस्थ, श, ष, स, ह—उष्म, अकारादिसे औकारादि पर्यन्त चौदह-स्वर—स्वरोंके ह्रस्व, दीर्घादि भेद, ककारादिसे म पर्यन्त स्पर्श अर्थात् व्यञ्जन एवं व्यञ्जनोंके जिह्वामूलीयादि भेद—इसीको अक्षर-समाम्नाय अर्थात् वर्णमाला कहते हैं॥ ४३॥

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया॥ ४४॥

तदनन्तर सर्वशक्तिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजीने अक्षर-समाम्नाय द्वारा होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं बह्वृच (ब्रह्मा)—इन चार प्रकारके याज्ञिक पुरोहितोंके चातुर्होत्र कर्मोंके उपदेशके लिए ॐकार द्वारा सप्रणव एवं भूरादि (भूः, भुवः, स्वः आदि) व्याहृतियोंके साथ अपने चार मुखोंसे चारों वेदोंको प्रकट किया॥ ४४॥

पुत्रानध्यापायत् तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान्।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्॥ ४५॥

ब्रह्माजीने वेदोच्चारणादिमें निपुण मरीचि आदि ब्रह्मर्षि पुत्रोंको वेदोंका अध्ययन कराया। धर्मोपदेष्टा इन मरीचि आदिने भी अपने-अपने पुत्रोंको उसी विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ ४५॥

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः॥ ४६॥

संयमादि व्रताचरणशील मरीचि आदिके शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा चारों युगोंमें ही गुरुपरम्परासे वेद प्राप्त होते रहे अर्थात् सम्प्रदायके

रूपमें वेदोंकी रक्षा होती रही। अन्ततः द्वापर युगके अन्तमें व्यासादि महर्षियों द्वारा उनका विभाजन किया गया॥ ४६॥

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः॥ ४७॥

उस समय व्यासादि ब्रह्मर्षियोंने कालके प्रभावसे मनुष्योंकी अल्प आयु, अल्प बल और अल्प बुद्धि देखकर अन्तर्यामी श्रीहरिके द्वारा प्रेरित हो करके ही वेदका विभाग किया था। श्रीहरिकी प्रेरणासे किये वेद-विभाजनका हमें समादर करना चाहिये॥ ४७॥

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवान् लोकभावनः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये॥ ४८॥
पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥ ४९॥

हे महाभाग! ब्रह्मन्! इसी वैवस्वत मन्वन्तरमें ही त्रिलोकपालक भगवान् श्रीहरिने ब्रह्मा, शिव आदि लोकपालोंके द्वारा धर्म रक्षाके लिए प्रार्थना किये जानेपर पराशर मुनिसे सत्यवतीके जठरसे (गर्भसे) मायाके सात्त्विक अंशसे आविर्भूत होकर (अवतार लेकर) वेद शास्त्रको चार विभागोंमें विभक्त किया था॥ ४८-४९॥

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥ ५०॥

समूहमें संग्रहीत पद्मराग, हीरक इत्यादि विविध मणियोंको विचारपूर्वक जैसे पृथक्-पृथक् कूटोंमें (वर्गोंमें) विभक्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार व्यासदेवने ऋक्, अथर्व, यजुः एवं साम मन्त्रोंको प्रकरण भेदके अनुसार उद्धृत करके चार संहिताओंका प्रणयन किया॥ ५०॥

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः॥ ५१॥

हे ब्रह्मन्! अनन्तर महामति, शक्तिमान् वेदव्यासने अपने चारों शिष्योंको समीपमें बुलाया और प्रत्येकको एक-एक संहिताके विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ ५१॥

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥ ५२॥

साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥ ५३॥

उन्होंने पैल नामक शिष्यको 'बह्वृच' नामकी प्रथम ऋक् संहिता, वैशम्पायनको गद्यात्मक 'निगद' नामकी यजुः संहिता, जैमिनिको 'छन्दोग' नामकी साम-संहिता और सुमन्तको 'अथर्वाङ्गिरस' संहिताके विषयमें (अथर्ववेदका) उपदेश प्रदान किया॥ ५२-५३॥

पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्र प्रमितये मुनिः।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्॥ ५४॥

चतुर्द्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव।
पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्रमितिरात्मवान्॥ ५५॥

अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम्।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्॥ ५६॥

अनन्तर पैल मुनिने अपनी ऋक् संहिताको दो भागोंमें विभक्त करके इन्द्र-प्रमिति एवं बाष्कल नामक दो शिष्योंको उपदेश प्रदान किया। बाष्कलने अपनी संहिताको चार भागोंमें विभाजित करके बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर एवं अग्निमित्रको अध्ययन कराया। महामति इन्द्र-प्रमितिने विद्वान् ऋषि माण्डूकेयको (निज पुत्रको) अपनी संहिताका उपदेश प्रदान किया। माण्डूकेयके शिष्य देवमित्रने सौभरि इत्यादि मुनियोंको तद्विषयक उपदेश प्रदान किया॥ ५४-५६॥

शाकल्यस्तत्सुतः स्वान्तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम्।
वात्स्य-मुद्गलशालीय-गोखल्य-शिशिरेष्वधात्॥ ५७॥

माण्डूकेयके पुत्र शाकल्यने अपनी संहिताके पाँच विभाग करके उन्हें वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर नामक पाँच शिष्योंको उपदिष्ट किया॥ ५७॥

जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम्।
बलाक-पैलजावाल-विरजेभ्यो ददौ मुनिः॥ ५८॥

शाकल्यके शिष्य जातूकर्ण्य मुनिने अपनी संहिताको तीन भागोंमें विभक्त किया। उन्होंने वैदिक पदोंके अर्थकी व्याख्याके अनुरूप एक निरुक्त शास्त्रका (वैदिक शब्दसंग्रह-चतुर्थ अनुभागका) भी प्रणयन किया। इन चारों ग्रन्थोंके एक-एक भागको उन्होंने बलाक, पैल, जाबाल एवं विरज नामक अपने चार शिष्योंको अर्पण कर दिया॥ ५८॥

बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम्।
चक्रे वालायनिर्भज्यः काशारश्चैव तां दधुः॥ ५९॥

बाष्कल-पुत्र बाष्कलिने प्रत्येक शाखासे मन्त्रोंका संग्रह करके वालखिल्य नामकी संहिताका प्रणयन किया। वालायनि, भज्य एवं काशार—इन्होंने इस संहिताको ग्रहण किया। (इन तीनोंको दैत्यवंशका माना गया है।)॥ ५९॥

बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६०॥

पूर्वोक्त पैलादि ब्रह्मर्षियोंने सम्प्रदायके (शिष्य परम्पराके) अनुसार ऋग्वेदीय (बह्वृच) विविध संहिताओंका अभ्यास (अध्ययन-अध्यापन) किया। इस छन्द-विभागके (वैदिकस्तात्रोंके विभाजनके) श्रवण करनेपर मानव समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ६०॥

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम्॥ ६१॥

यजुर्वेद संहिताके अध्यायी वैशम्पायनके शिष्यगण अध्वर्यु हुए। उन्होंने अपने गुरुके ब्रह्म-हत्या-जनित पापके नाशके लिए विहित

व्रतका आचरण किया था—इसलिए ये शिष्य चरक-अध्वर्यु एवं यजुर्वेदज्ञ संज्ञाओंसे अभिहित हुए॥ ६१॥

याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत्।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम्॥ ६२॥

उक्त व्रताचरणके समयमें ही वैशम्पायनके एक और शिष्य याज्ञवल्क्यने कहा—हे गुरुदेव! इन अल्पशक्ति सम्पन्न शिष्योंके प्रायश्चित्ताचरणसे आपको कितना-सा फल प्राप्त होगा? ये विरत हों; आराम करें; मैं अकेले ही इनकी अपेक्षा अधिक फलप्रद सुदुष्कर-तपश्चर्या (प्रायश्चित्तरूप व्रताचरण) करूँगा॥ ६२॥

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति॥ ६३॥

याज्ञवल्क्यके इन वचनोंसे गुरु वैशम्पायन क्रोधित हो गये। उन्होंने कहा—ब्राह्मणका अपमान करनेवाले तुम्हारे जैसे शिष्यकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है (विनीत शिष्योंको अल्पशक्तिवान् कहकर तिरस्कार क्यों करते हो); तुम यहाँसे दूर चले जाओ। तुमने मुझसे अब तक जो अध्ययन किया है, उसका शीघ्र परित्याग कर दो॥ ६३॥

देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम्।
ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान्॥ ६४॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाददुः।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः॥ ६५॥

तब गुरुके आदेशसे देवरात-पुत्र याज्ञवल्क्यने उनसे अधीत यजुर्वेदीय मन्त्रोंको उद्गीर्ण (वमन) कर उन्हें बाहर कर दिया और वहाँसे प्रस्थान कर गये। अनन्तर मुनियोंने इन उद्‌गीर्ण मन्त्रोंको साक्षात् देवस्वरूपमें देखा। उन मन्त्रोंको ग्रहण करनेकी लोलुपताके कारण उन्होंने तित्तिर (तीतर) पक्षीका रूप धारण किया तथा सम्पूर्ण यजुर्वेदको ग्रहण कर लिया। (वमन कृत वस्तु ब्राह्मणके

द्वारा ग्रहण करना उचित नहीं है, अतः तीतर रूप धारण किया है।) इसी कारण अति रमणीय एवं सुरम्य यजुर्वेदीय शाखाएँ तैत्तिरीय नामसे प्रसिद्ध हुईं॥ ६४-६५॥

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मंश्छन्दांस्यधिगवेषयन्।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम्॥ ६६॥

हे ब्रह्मन् शौनकजी! इसके बाद याज्ञवल्क्यने जितनी भी वेद विद्या उनके गुरुके पास थी, उनसे अज्ञात तथा उनसे भी अधिक वेदज्ञानकी गवेषणाकी अभिलाषासे वेदाधिपति सूर्यदेवकी सम्यक् उपासना एवं स्तुति की॥ ६६॥

श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच—

ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्म-स्वरूपेण काल-स्वरूपेण च चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलव-निमेषावयवोपचित-संवत्सरगणेनापामादान-विसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति॥ ६७॥

श्रीयाज्ञवल्क्यजी इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे ॐकार-स्वरूप भगवन् आदित्य! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देव! आप एक होकर भी अखिल जगत्के अन्तरमें आत्मस्वरूपमें तथा बाहर कालरूपमें विराजित हैं। आप ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब (घासकी पत्ती) तक चार प्रकारके (जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज) प्राणियोंके निकेतन स्थान—समग्र जगत्के अन्तर और बाहरमें उपाधिके द्वारा अनाच्छादितरूपसे अवस्थित होकर अर्थात् उपाधिके धर्मोंसे असङ्ग रहकर आकाशवत् रहते हैं (जिस प्रकार आकाश अपनेमें विद्यमान बादलोंसे आच्छादित नहीं हो सकता, उसी प्रकार आप भौतिक (मिथ्या) उपाधियोंसे आच्छादित नहीं हो सकते।) क्षण, लव, निमेष इत्यादि अवयवोंसे (काल-खण्डोंसे) संघटित

संवत्सर–समष्टि द्वारा आप अपने तेजसे पृथ्वीका रसाकर्षण करके प्रत्येक वर्ष जलराशिका (वृष्टिका) दान करते हैं। इस प्रकार आदान–प्रदानके (शोषण–विसर्गके) साथ लोकोंका पालन करते हुए आप संसार–यात्राका सम्पादन करते हैं॥ ६७॥

यदु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नाय–
विधिनोपतिष्ठमानानामखिल–दुरितवृजिनबीजावभर्जन
भगवतः समभिधीमहि तपन मण्डलम्॥ ६८॥

हे विबुधवर (देवश्रेष्ठ) सवितः! आप नित्य (प्रतिदिन) तीनों सन्ध्याओंमें वेद–विधिसे उपासना करनेवाले मनुष्योंकी सम्पूर्ण दुष्कृति, उसके फलस्वरूप दुःख एवं उसके बीजस्वरूप अज्ञानका विनाश कर देते हैं। हे तपन देव! हे भगवन्! मैं आपके इस प्रकाशमान् (तेजोमय) मण्डलके सम्मुख रहकर आपका ध्यान करता हूँ॥ ६८॥

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां
मन–इन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति॥ ६९॥

हे जगत् पिता! यह चराचर जगत् आपका निकेतन–स्वरूप है। आप स्वयं अन्तर्यामी आत्मस्वरूप होकर स्थावर, जङ्गम सभीके जड़, मन, इन्द्रिय, एवं प्राणोंको प्रेरणा देते हुए उनको अपने–अपने कार्योंमें नियुक्त करते हैं॥ ६९॥

य एवेमं लोकमतिकराल–वदनान्धकारसंज्ञाजगर–
ग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया
परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि
स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयति॥ ७०॥

हे परम कारुणिक! आप इस जगत्को अति करालमुख अन्धकार (अज्ञान) रूप अजगरके द्वारा ग्रस्त, मृतप्राय एवं अचेतन देखकर अपने कृपा–कटाक्षपातसे (दया–दृष्टि–दानसे) उसे जाग्रत करते हैं; इस तरह आप अति करुणाकर हैं। आप

प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें पुष्पात्माओंको आत्मतत्त्वमें अवस्थानरूप परमकल्याणप्रद स्वधर्ममें लगाते हैं अर्थात् आत्मोपासनामें प्रवर्त्तित (प्रेरित) करते हैं॥ ७०॥

अवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति परित
आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः॥ ७१॥

आप पृथ्वीपतिके (राजाके) समान सर्वत्र परिभ्रमण करते हुए दुष्टोंके अन्तरमें भयका सञ्चार करते हैं। आपके उद्रेकका सञ्चारण-मार्गमें इन्द्रादि दिक्पालगण कमल-कोषके समान अपनी अञ्जलियोंके द्वारा अर्घ्य एवं आदरपूर्ण भेंटें आदि प्रदान करके आपकी उपासना करते हैं॥ ७१॥

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवन-
गुरुभिरभिवन्दितमहमयातयामयजुष्काम उपसरामीति॥ ७२॥

हे भगवन्! आप इतने महिमामण्डित हैं कि तीनों लोकोंके सभी पूजनीय जन आपके चरण-युगलकी वन्दना करते हैं, अतः आप त्रिभुवन पूजनीय महानुभावोंके द्वारा भी पूजनीय हैं। मैंने दूसरोंके द्वारा अज्ञात (अयातयाम अर्थात् नित्य-नवीन) यजुर्वेद मन्त्रोंकी प्राप्ति हेतु आपके चरण-कमलोंका आश्रय लिया है॥ ७२॥

श्रीसूत उवाच—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो रविः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥ ७३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—याज्ञवल्क्यके द्वारा इस प्रकार अभिवन्दित एवं सन्तुष्ट होकर सूर्यदेवने अश्व रूप धारण किया और ऋषि याज्ञवल्क्यको अन्योंके द्वारा अविज्ञात यजुर्वेदके मन्त्रोंका उपदेश प्रदान किया। इससे पहले ये मन्त्र किसीको भी प्राप्त न थे॥ ७३॥

यजुर्भिरकरोच्छाखा दश पञ्चशतैर्विभुः।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः॥ ७४॥

परम शक्तिमान् याज्ञवल्क्यने सैकड़ों यजुर्वेदीय मन्त्रों द्वारा पंद्रह शाखाओंका प्रणयन किया। काण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियोंने इन समस्त शाखाओंका अध्ययन किया। अश्वरूपी सूर्यके वाजस् अर्थात् अश्वकेशरसे (अयालोंसे) निःसृत होनेके कारण इन शाखाओंको वाजसनेयी कहा जाता है॥ ७४॥

जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः।
सुत्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम्॥ ७५॥

सामवेदज्ञ जैमिनिका पुत्र सुमन्तु और सुमन्तुका सुत्वान् नामक पुत्र था। जैमिनिने अपनी संहिताको दो भागोंमें विभक्त किया तथा पुत्र और पौत्रको एक-एक शाखाका उपदेश प्रदान किया॥ ७५॥

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः॥ ७६॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः॥ ७७॥

हे द्विज! जैमिनिके अति मेधावी शिष्य सुकर्माने भी सामवेदरूप महातरुको एक हजार शाखाओंमें विभक्त कर दिया। शौनकजी! इसके बाद सुकर्माके शिष्य कुशल-तनय हिरण्यनाभ एवं पौष्यञ्जि—ये दो शिष्य तथा आवन्त्य नामक अन्य ब्रह्मज्ञ-प्रवर शिष्यने इन सभी संहिताओंको ग्रहण किया। इस प्रकार सामवेदका विस्तार हुआ॥ ७६-७७॥

उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन् पञ्चशतानि वै।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते॥ ७८॥

पौष्यञ्जि, आवन्त्य और हिरण्यनाभके उत्तरदेशीय पाँच सौ सामवेदज्ञ शिष्य थे। उन्होंने कालान्तरमें उत्तरदेशीय और पूर्वदेशीय शिष्योंको उस विषयमें उपदेश दिया। वे उत्तरदेशीय निवासी होनेके कारण उदीच्य सामवेदी कहलाये, कालक्रमसे उन्हींको प्राच्य सामवेदी भी कहते हैं। उन्होंने एक-एक संहिताका अध्ययन किया॥ ७८॥

लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुशीदः कुक्षिरेव च।
पौष्यञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम्॥ ७९॥

पौष्यञ्जिके और भी शिष्य थे—लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुशीद और कुक्षि। इनमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताओंका अध्ययन किया॥ ७९॥

कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान्॥ ८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

हिरण्यनाभके शिष्य कृत नामक मुनिने अपने शिष्योंको चौबीस साम संहिताओंका अध्ययन कराया। कुछ प्रसिद्ध संहिताएँ शेष रह गयी थीं, उन्हें आत्मवान् आवन्त्यने अपने शिष्योंको प्रदान कर दिया॥ ८०॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

अथर्ववेदकी शाखाओं एवं पुराणोंके नाम तथा लक्षण

श्रीसूत उवाच—

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम्।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—सुमन्तुमुनि अथर्ववेदके ज्ञाता थे। उन्होंने अपने निस्सीम तेजयुक्त कबन्ध नामक प्रिय शिष्यको अपनी संहिताके विषयमें उपदेश प्रदान किया। कबन्धने उसे दो भागोंमें विभक्तकर पथ्य और वेददर्श नामक दो शिष्योंको उस विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ १॥

शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु।
कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित्॥ २॥

वेददर्शके चार शिष्य हुए—शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि। वेददर्शने अपनी संहिताको चार भागोंमें विभक्त करके इन चार शिष्योंको पढ़ाया। अब पथ्यके शिष्योंके नाम सुनो। हे ब्रह्मन्! ये शिष्य थे—कुमुद, शुनक और जाजलि—इन सबने पथ्यसे अथर्ववेदका अध्ययन किया था॥ २॥

बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे॥ ३॥

अनन्तर अङ्गिराके पुत्र शुनकके शिष्य बभ्रु एवं सैन्धवायन—इन दोनोंने शुनक द्वारा विभक्त अथर्ववेदकी तीन शाखाओंका अध्ययन किया। इसके बाद सैन्धवायन आदिके शिष्य सावर्ण्य आदिने भी इन शाखाओंकी शिक्षा प्राप्त की॥ ३॥

नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः।
एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने॥ ४॥

हे मुनिवर! नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप, आङ्गिरस आदि अथर्ववेदके आचार्य थे। हे मुनि! अब पौराणिकोंके नाम सुनो॥ ४॥

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः।
वैशम्पायन-हारीतौ षड्वै पौराणिका इमे॥ ५॥

त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन एवं हारीत—ये छहों पुराणोंके आचार्य हैं॥ ५॥

अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम्॥ ६॥

श्रीव्यासदेवके शिष्य मेरे पिता रोमहर्षणसे इन छह जनोंने एक-एक करके पुराण संहिताओंका अध्ययन किया। मैं इन छहों पुराण-आचार्योंका शिष्य हूँ। मैंने इन आचार्योंसे सभी (छहों) संहिताओंका सम्यक्रूपेण अध्ययन किया है॥ ६॥

कश्यपोऽहञ्च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः॥ ७॥

उन छह संहिताओंके अतिरिक्त और भी चार मूल संहिताएँ थीं। मुनि कश्यप, सावर्णि एवं परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रत तथा इन सबके साथ मैंने भी व्यासजीके शिष्य अपने पिता श्रीरोमहर्षणजीसे इन मूल चार संहिताओंका अध्ययन किया है। (रोमहर्षणने पुराणोंको चार मूल संहिताओंमें विभाजित कर दिया था।)॥ ७॥

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! अब वेदशाखाके अनुसार ब्रह्मर्षियों द्वारा निरूपित पुराणोंके लक्षणोंको समाहित चित्तसे श्रवण करो॥ ८॥

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ ९॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥ १०॥

पुराणज्ञ पण्डितोंने पुराण प्रसङ्गमें इस विश्वका प्रकाश (ब्रह्माण्डकी सृस्टि), विसर्ग (लोक एवं जीवोंकी सृष्टि), विश्वके लोगोंकी वृत्ति (पालन-पोषण), भरण (रक्षा), मन्वन्तर (विभिन्न मनुओंका शासनकाल), वंश (महान् राजओंके वंश), वंशानुचरित (राजाओंके कार्यकलाप), संस्था (प्रलय अथवा निरोध), कारण (हेतु—कर्मवासना शब्दसे कही जानेवाली ऊतियाँ) एवं अपाश्रय (आश्रय)—इन दस लक्षणोंसे युक्त शास्त्रको पुराण कहा है। हे मुनिवर! कोई-कोई दस लक्षणोंसे युक्त शास्त्रको महापुराण एवं पाँच लक्षणों (सृष्टि, गौणसृष्टि या परिसर्ग, राजवंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित) से युक्त शास्त्रको उपपुराण कहते हैं॥ ९-१०॥

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥ ११॥

लक्षणोंको विस्तारपूर्वक कहते हैं—अव्याकृत (अव्यक्तावस्था) प्रधानके गुणोंमें जब क्षोभ उत्पन्न होता है—तब उससे महत् तत्त्व उत्पन्न होता है—महत् तत्त्वसे त्रिविध अहङ्कार (तामस, राजस और वैकारिक) की उत्पत्ति होती है। त्रिविध अहङ्कारसे भूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रिय, विषय एवं इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंकी उत्पत्ति 'सृष्टि' नामसे कही जाती है॥ ११॥

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम्॥ १२॥

ईश्वरके अनुग्रहसे सामर्थ्य प्राप्त करके महत्तत्त्वादि सदसद् (शुभाशुभ) पूर्वकर्मवासनाओंके अनुसार जीव-उपाधि स्वरूप चराचरकी (जीव नामक शरीरोंकी) उत्पत्ति करते हैं। इसी उत्पत्ति

अर्थात् कार्य-प्रवाहका (एक बीजसे दूसरे बीजके समान सृष्टिका नाम 'विसर्ग' है॥ १२॥

वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥ १३॥

चर प्राणियोंके जीवन-निर्वाहकी अथवा भरण-पोषणकी विधिको वृत्ति कहते हैं। चर प्राणियोंकी उपजीविकाकी सामग्री (वृत्ति) साधारणतः अचरभूतगण (जड़प्राणी) ही हैं, चर प्राणियोंके दुग्धादि भी जीवनोपाय हैं। मनुष्योंमें कुछने स्वभाववश कामनाके अनुसार तथा कुछने विधि-वाक्योंकी प्रेरणाके अनुसार यज्ञादि कराना तथा खेती-व्यवसायादिको जीविकाके निर्वाहके लिए निश्चित किया है॥ १३॥

रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥ १४॥

पक्षी इत्यादि तिर्यक् योनि, मनुष्य, ऋषि एवं देवताओंमें भगवान् श्रीहरिके जो युग-युगमें अवतार होते हैं, उन-उन अवतारोंमें वे वेद-द्वेषी दैत्योंका वध करते हैं, भगवान्‌की यह दैत्य-विनाशन-अवतार लीला ही 'रक्षा' नामसे कही जाती है। दुष्टोंका निग्रह करके भगवान् सभी समय बड़े-बड़े भयोंसे अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। वस्तुतः परमेश्वरका अनुग्रह (पोषण) ही 'रक्षण' है।॥ १४॥

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ १५॥

स्वायम्भुवादि मनु, इन्द्रादि देवता, मनुपुत्र, प्रधान-प्रधान देवता, सप्त ऋषि एवं भगवान्‌के अंशावतार—ये छह (षड्विध अथवा षडङ्ग) जन जिस समय अपने-अपने अधिकारमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् अपना-अपना कृत्य करते हैं, उसी समयको मन्वन्तर कहा जाता है। मन्वन्तरोंको सद्धर्म भी कहते हैं॥ १५॥

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये॥ १६॥

ब्रह्माजीसे उत्पन्न त्रैकालिक अर्थात् भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य तक की सन्तान-परम्पराको वंश कहा जाता है और उन विशुद्ध राजाओं तथा उन राजाओंके सुप्रसिद्ध वंशधरोंके (अर्थात् प्रियव्रत, ध्रुव, पृथु इत्यादिके) चरित्रको वंशानुचरित कहा जाता है॥ १६॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्द्धास्य स्वभावतः॥ १७॥

अतीतदर्शी विद्वानोंने इस विश्वके नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य एवं आत्यन्तिक—इन चार प्रकारके स्वभावतः मायिक लयका 'संस्था' नामसे वर्णन किया है। संस्थाको ही प्रलय कहते हैं॥ १७॥

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
यञ्चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ १८॥

इस जगत्के सर्गादि कार्योंका निमित्त कारण अर्थात् हेतु जीव है। अविद्याके कारण यह जीव कर्म करता है—यह कर्म-कर्त्ता जीव एवं उसका अदृष्ट ही विश्व-सृष्टि इत्यादि कार्योंका हेतु अथवा निमित्त बन जाता है। चैतन्य प्राधान्यकी दृष्टिसे देखनेवाले इस जीवको अनुशयी (मायिक उपाधिके साथ प्रकृतिमें शयन करनेवाला मायिक शरीरस्थ) कहते हैं, तो दूसरे इसे अव्याकृत (अव्यक्त) अर्थात् साधुसङ्गवश भक्ति-पथ पर रहनेवाला अप्राकृत चिन्मय पार्षद शरीरवान् भी कहते हैं। भगवान् इस जगत्में बद्ध जीवोंके ऐहिक विषय-भोगके लिए, पारलौकिक विषय भोगके लिए, आत्माकी मुक्ति एवं भक्तिकी प्राप्तिके लिए जीवोंके बुद्धि, इन्द्रिय, मन एवं प्राणोंका सृजन करते हैं। अन्यथारूपका त्याग करके स्वरूपमें अवस्थान, विशेषरूपसे चिद्घन शरीर प्राप्त करके अवस्थित होनेको मुक्ति कहा जाता है। बद्धावस्थामें जीवको यह उपलब्धि नहीं हो सकती॥ १८॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः॥ १९॥

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिरूप अवस्थाओंमें—इनकी अभिमानी विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप मायामय जीव-वृत्तियोंमें जो अन्वय-व्यतिरेकरूपसे अर्थात् विश्व, तैजस प्राज्ञ—इन वृत्तियोंमें साक्षीरूपसे अन्वित हैं तथा समाधि आदिमें जिनका व्यतिरेक रहता है तथा जो इनमें ओतप्रोतरूपसे वर्त्तमान रहनेपर भी इनसे परे तुरीय आदि रूपोंमें भी पृथक्रूपसे वर्त्तमान हैं—संसारकी प्रतीति एवं बाधमें भी अधिरूठानकी अवधिभूत ब्रह्म-वस्तुको अपाश्रय नामसे कहा गया है॥ १९॥

पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु।
बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्॥ २०॥

मिट्टी आदि पदार्थ जिस प्रकारसे घट आदि पदार्थोंमें युक्त अर्थात् अन्वित भावसे और उनके अतिरिक्त स्थानोंमें उनसे अयुक्त अर्थात् अनन्वित भावसे अवस्थित हैं; विशेषतः रूप एवं नामोंमें सत्तामात्रसे अवस्थित हैं, उसी प्रकार गर्भाधान आदिसे पञ्चत्व तक देहकी सभी अवस्थाओंमें जो साक्षी और अधिष्ठानके रूपमें युक्त एवं अयुक्त हैं—वह ब्रह्म वस्तु ही अपाश्रय (अद्वितीय आश्रय) है॥ २०॥

विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्त्तते॥ २१॥

चित्त जिस समय जाग्रदादि तीनों वृत्तियोंका परिहार करके स्वभावतः अथवा योगाभ्यासके कारण विषयोंसे विरत हो जाता है, उस समय आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि होती है और साधक सांसारिक चेष्टाओंसे उपरत हो जाता है। उदराग्नि जिस प्रकार भुक्त द्रव्योंको जीर्ण कर डालती है, इसी न्यायसे (उसी प्रकार) चित्त केवला भक्ति-श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा स्वयं ही तीनों वृत्तियों एवं तीनों गुणोंको त्याग करके परमात्माका अनुभव करता है॥ २१॥

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥ २२॥

हे शौनकजी! पुराणज्ञ मुनिगण इन लक्षणोंसे युक्त अठारह उपपुराण एवं अठारह महापुराणोंका निर्णय करते हैं। इनमें कोई-कोई तो क्षुद्र कलेवर हैं और कोई आकारमें बृहत् हैं॥ २२॥

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्द-संज्ञितम्॥ २३॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥ २४॥

उनके नाम ये हैं—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, गरुड़पुराण, नारदपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेय-पुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण ये अठारह महापुराण हैं॥ २३-२४॥

ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्द्धनम्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे पुराणलक्षणवर्णनं सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! महर्षि वेदव्यासने वेद-पुराणकी शाखाओंका विस्तार किया, जिनका मैंने तुम्हारे लिए वर्णन किया। शिष्य-प्रशिष्य परम्परासे जो इन वेद-संहिता एवं पुराण-संहिताओंको कहते-सुनते हैं, उनके ब्रह्म-तेजकी वृद्धि होती है।

पुराण-प्रकाश भगवान्‌की एक अपूर्व दयाका दान है। पृथ्वी पर यदि पुराणोंका प्रचार न होता, तो आज हम भगवान्‌के मत्स्य, कूर्मादि अवतारोंको जान नहीं पाते और राम, कृष्ण आदिकी मधुर लीलाओंके आस्वादनसे वञ्चित रह जाते॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके सातवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीकी तपस्या और वर-प्राप्ति

श्रीशौनक उवाच—

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः॥ १॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे वाग्मिवर (प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ) सूतजी! आप चिरञ्जीवी हों। आप इस दुस्तर संसारमें (अज्ञानान्धकारमें) भटकनेवाले मनुष्योंके पथ-प्रदर्शक हैं। (मार्कण्डेय पुराणका नाम सुनते ही शौनकादि ऋषियोंको मार्कण्डेयकी चरितावलीको जाननेकी उत्सुकता हुई है।)॥ १॥

आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डु-तनयं जनाः।
यः कल्पान्ते ह्युर्व्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत्॥ २॥

स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः।
नैवाधुनापि भूतानां संप्लवः कोऽपि जायते॥ ३॥

एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल।
वटपत्रपुटे तोकं शयानन्त्वेकमद्भुतम्॥ ४॥

एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः।
तं नश्छिन्धि महायोगिन् पुराणेष्वपि सम्मतः॥ ५॥

मनुष्य मृकण्ड-तनय मार्कण्डेय ऋषिको चिरञ्जीवी कहते हैं। प्रलयकालमें जब यह जगत् विध्वस्त हो गया था, तब एकमात्र वे ही बचे थे। हे सूतजी! भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेयजी इसी कल्पमें हमारे वंशमें उत्पन्न हुए हैं और इस कल्पमें अब तक कोई प्रलय नहीं हुआ है, फिर वे अकेले प्रलय-समुद्रमें किस प्रकार विचरण करते रहे? हम यह प्रवाद सुनते आये

हैं कि प्रलय-पयोधिमें (एकार्णवमें) विचरण करते हुए उन्होंने अक्षय-वटके पत्तेके दोनेमें सोये हुए बालकाकृति एक अद्भुत पुरुषको देखा था। हे महायोगिन्! इस विषयमें हमारे मनमें महा सन्देह है। आप सभी वादियोंके द्वारा पुराणज्ञरूपमें सम्मत हैं। हे सूतजी! हमें बड़ा कौतूहल हो रहा है। आप हमारे इस सन्देहको मिटा दीजिए॥ २-५॥

श्रीसूत उवाच—

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा॥ ६॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे महर्षे! जिसका वर्णन करनेसे कलिमल-विनाशक भगवान्‌के कथा-चरितका गुणगान होगा तथा जिसे जानकर लोकभ्रम अर्थात् मनुष्योंके संशयका नाश होगा, आपने उसी विषयसे सम्बन्धित प्रश्न किया है॥ ६॥

प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात्।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः॥ ७॥

बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः।
बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम्॥ ८॥

कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्च्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम्॥ ९॥

सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नोचेदुपोषितः॥ १०॥

एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम्।
आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम्॥ ११॥

मार्कण्डेयने अपने पितासे गर्भाधानादिसे लेकर उपनयन तक सभी संस्कार विधि-विधानसे प्राप्त किये। उन्होंने वेदोंका अध्ययन किया, तपस्या की, स्वाध्यायमें लगे रहे और तब वे एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन गये। वे सदैव शान्त रहते थे, जटाएँ एवं बल्कल

(वृक्षकी छाल) धारण करते थे। धर्मकी वृद्धिके लिये मेखला (कटिसूत्र), यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, अक्षसूत्र (कमलके बीजकी जपमाला), कालामृगचर्म एवं कुश धारण करके प्रातः और सायंकालमें अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण एवं आत्मामें विराजमान श्रीहरिकी आराधना-अर्चना करते थे। प्रातः एवं सायंकाल भिक्षामें जो भी लाते, वह सब गुरुजीके लिए उपहारस्वरूप निवेदन कर देते। उनकी अनुमति होनेपर ही मौन भावसे एक बार भोजन करते, अन्यथा उपवास करते। इस प्रकार उन्होंने तपस्या एवं वेदपाठमें रत रहकर अयुत-अयुत वर्षों तक भगवान् हृषीकेशकी आराधना करके दुर्जय मृत्युको भी जीत लिया था॥ ७-११॥

ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च येऽपरे।
नृदेव-पितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः॥ १२॥

उस समय ब्रह्मा, भृगु, शिव, दक्ष एवं अन्यान्य ब्रह्माजीके पुत्र, मनुष्य, देवता, पितरगण, भूतगण सभी उनके इस दुष्कर कार्यको (दुर्जय मृत्युपर विजयको) देखकर अतिशय विस्मित हो गये॥ १२॥

इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्याय-संयमैः।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना॥ १३॥

महायोगी मार्कण्डेयने वेदपाठ (तपस्या) एवं संयम (आत्मानुशासन) द्वारा नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धारण किया—उनके रागादि सम्पूर्ण क्लेश ध्वस्त हो गये, कोई कामना न रही। अपने निवृत्त-चित्तको उन्होंने अन्तरात्माकी ओर प्रत्याहृत किया (मोड़ लिया) और शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान् श्रीहरिका ध्यान करने लगे॥ १३॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः।
व्यतीयाय महान् कालो मन्वन्तरषडात्मकः॥ १४॥

महायोगी मार्कण्डेयने अमोघ योगके द्वारा श्रीहरिमें चित्तका ऐसा संयोग किया कि छह मन्वन्तर तकका दीर्घ समय ध्यानमें ही व्यतीत हो गया॥ १४॥

एतत् पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम्॥ १५॥

हे ब्रह्मन्! इस सप्तम मन्वन्तरमें इन्द्रको जब उनकी तपस्याके विषयमें ज्ञात हुआ, तो उन्होंने स्व-पद-च्युतिकी आशङ्कासे (तपस्या द्वारा मेरा स्थान ग्रहणकर लेंगे) उनकी तपस्यामें विघ्न डालना आरम्भ कर दिया॥ १५॥

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा॥ १६॥

इन्द्रने मार्कण्डेयजीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिए गन्धर्व, अप्सराएँ, कामदेव, वसन्त, मलयानिल, रजोगुणके अत्यन्त प्रिय पुत्र लोभ और मद—इन सबको उनके आश्रमपर भेजा॥ १६॥

ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो॥ १७॥

हे विभो! ये सभी मार्कण्डेय-आश्रममें उपस्थित हुए, जो हिमालयके उत्तर भागमें अवस्थित था। इस स्थान पर पुष्पभद्रा नदी एवं चित्रा नामकी शिला वर्त्तमान है॥ १७॥

तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम्।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम्॥ १८॥
मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम्।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम्॥ १९॥
वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान्।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम्॥ २०॥

उस समय मार्कण्डेयजीका आश्रम पुण्य विमल जलाशयसे युक्त था और मलय-पवन प्रवाहित हो रहा था। पुण्य वृक्षावली आकर्षक लताओंसे सुशोभित थी। पुण्य-पावन मुनिगण चारों ओर विराजित थे। पुष्पोंके मकरन्दका पान करके मदमत्त हुए भ्रमरोंका सङ्गीत मुखरित (गुञ्जार) हो रहा था, तो प्रमत्त कोकिल-वृन्दका

कूजन मुखरित हो रहा था। उनमत्त मयूर विचित्र पंख फैलाकर कलापूर्ण नृत्य करते हुए अत्यन्त गर्वके साथ के-का रव कर रहे थे। मत्त विहग-कुलसे वह आश्रम सङ्कुलित था। इस अपूर्व आश्रममें पुण्य सलिल प्रविष्ट होकर सुशीतल निर्झरके जल-बिन्दुओंको लेकर सुगन्धित कुसुम-राशिका आलिङ्गन करनेके कारण प्राणियोंके चित्तमें कामवेगको उद्दीप्त करते हुए प्रवाहित हो रहा था॥ १८-२०॥

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तवकालिभिः।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत् कुसुमाकरः॥ २१॥

आश्रममें वसन्त ऋतुका आविर्भाव हो गया था। सन्ध्याका समय था। उदीयमान चन्द्रमाकी (अर्थात् निशा-नायकके मुखकी) ज्योत्स्ना सन्ध्या-कालको दीप्त कर रही थी। वृक्षोंकी पंक्तियोंपर नवीन पल्लवोंके स्तवक (गुच्छे) संलग्न थे। लताएँ वृक्षोंका आलिङ्गन करते हुए अति शोभा पा रही थीं॥ २१॥

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः॥ २२॥

इतने ही में हाथोंमें धनुष-बाण (सम्मोहनादि बाण) लिये कामदेव दिखायी दिया। अखिल गीत-वाद्यादिमें पारङ्गत गन्धर्व उसके पीछे-पीछे आ रहे थे। अप्सराओंका झुण्ड भी उसके साथ-साथ चला आ रहा था॥ २२॥

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्त्तिमन्तमिवानलम्॥ २३॥

अग्निहोत्र होमकी समाप्तिके बाद दुराधर्ष अर्थात् अद्भुत तेजसे सम्पन्न मुनि आँखें बन्द करके भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे—इस अवस्थामें उनको देखकर इन्द्रके अनुचरोंको अनुभव हुआ कि अग्निदेव ही साक्षात् मूर्त्तिमान होकर विराजमान हों॥ २३॥

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः।
मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम्॥ २४॥

उस समय अप्सराएँ उनके सम्मुख नृत्य करने लगीं, गायकवृन्द सुमधुर गान करने लगे और वादक मृदङ्ग-वीणा-पणव इत्यादि यन्त्रोंके द्वारा मनोरम वाद्य बजाने लगे॥ २४॥

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन्॥ २५॥

कन्दर्पने भी उसी समय अपने पुष्प-निर्मित शरासनपर पञ्चमुख (शोषण, मोहन, सन्दीपन, तापन एवं मादन) अस्त्रका सन्धान किया। वसन्त, लोभ, मद एवं अन्यान्य इन्द्रके सेवक भी ऋषि मार्कण्डेयके चित्तमें चाञ्चल्य उत्पन्न करनेकी चेष्टा करने लगे॥ २५॥

क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात्।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः॥ २६॥
इतस्ततो भ्रमदृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम्।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम्॥ २७॥

पुञ्जिकस्थली नामकी कोई अप्सरा गेंद खेलनेमें व्यस्त थी। स्तनोंके भारके कारण उसका मध्य कटिभाग लचक जाता था। कन्दुककी उछालकी दिशामें उसके नेत्र इधर-उधर सञ्चालित हो रहे थे, केशोंमें सुसज्जित पुष्पमालाओंसे पुष्प धरतीपर झड़ रहे थे, कन्दुकके पीछे दौड़नेके कारण उसकी मेखला टूट गयी, जिससे उसके सूक्ष्म वसन (झीने वस्त्र) को वायु सहसा उड़ा ले चली॥ २६-२७॥

विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः॥ २८॥

इतने ही में कन्दर्पने विचार किया कि मुनिको मेरे द्वारा जीत लिया गया है, अतः उसने अपने काम-बाणका मुनिपर सन्धान कर दिया। जिस तरह अनीश अर्थात् दैवानुकूल्य-रहित (नास्तिक अथवा भाग्यरहित) व्यक्तिकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, उसी प्रकार मुनिपर प्रयुक्त कामदेवके सभी साधन व्यर्थ हो गये॥ २८॥

त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः॥ २९॥

हे मुने! बालक जिस प्रकार सोये हुए साँपको जगाकर बादमें 'अब क्या होगा' यह सोचकर उसके प्रतापसे डरकर भाग जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके अनुचरोंने मुनिके प्रतिकूल आचरण तो किया, किन्तु बादमें उनके तेजसे उत्पीड़ित (दग्ध) होकर वहाँसे भाग गये॥ २९॥

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! इन्द्रके अनुचरोंने महामुनि मार्कण्डेयपर धृष्टतापूर्वक आक्रमण किया, किन्तु स्वयं ही पराजित हो गये। "मैंने कामदेवको जीत लिया"—यह अहङ्कारजनित विकार महामुनिमें उदित ही नहीं हुआ। महापुरुषोंका ऐसा चरित्र होना कोई विचित्र बात नहीं है॥ ३०॥

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट्।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम्॥ ३१॥

बलशाली इन्द्रने अनुचरोंके साथ कामदेवके पराभवको देखा और योगशक्तिसम्पन्न मार्कण्डेय ऋषिके प्रभावको देखा, तो वे अतिशय विस्मित हो उठे॥ ३१॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः॥ ३२॥

मार्कण्डेय ऋषि तपस्या, वेदाभ्यास एवं संयम द्वारा अपने चित्तको भगवान्में अर्पित करके योगाभ्यासरत रहते थे, तब उनपर अनुग्रह-प्रसादके लिए भगवान् श्रीहरि नर-नारायणरूपोंमें वहाँ उपस्थित हुए॥ ३२॥

तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ,
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ।

पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्,
कमण्डलुं दण्डमृजुञ्च वैणवम्॥ ३३॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्ज्जनं,
वेदञ्च साक्षात्तप एव रूपिणौ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा,
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ॥ ३४॥

भगवान् श्रीहरिके नरनारायणरूपी विग्रह युगलमें एक शुक्लवर्णका था और दूसरा कृष्णवर्णका था। उन दोनोंके नेत्र नवीन कमलकी शोभासे युक्त अतिप्रफुल्लित थे, चार-चार भुजाएँ थीं, उन्होंने कृष्ण-अजिन (कालेमृगका चर्म) एवं तरु-बल्कल (पेड़की छाल) पहन रखे थे, त्रिगुणीकृत नवसूत्र निर्मित उपवीत (तीन सूत्रोंवाला जनेऊ) पहन रखा था (मानो वे त्रिवृत् होकर बाहरकी वस्तुओंको पवित्र कर रहे थे), वे पावनकारी श्रीकरकमलोंमें कमण्डलु, बाँससे निर्मित सीधा दण्ड, पद्मबीज-रचित जपमाला एवं जीव-शुद्धि करनेवाले कुशमुष्ठि (डाभकी मुट्ठी) को धारण किये हुए थे, देदीप्यमान विद्युतके समान तेज था, पिङ्गल-द्युति (लालिमायुक्त भूरे-से रंग) के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो तप ही मूर्त्तिमान हो गया हो, विग्रह उन्नत था (ऊँचा कद था) एवं श्रेष्ठ देवताओं द्वारा सम्मानित हो रहे थे॥ ३३-३४॥

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत्॥ ३५॥

उस समय श्रीहरिकी युगल-मूर्त्ति-नर-नारायण ऋषियोंको देखकर मार्कण्डेय ऋषि आसनसे उठे एवं अतिशय आदरके साथ पृथ्वीपर लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ३५॥

स तत्सन्दर्शनानन्द-निर्वृतात्मेन्द्रियाशयः।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम्॥ ३६॥

उन्हें देखते ही मार्कण्डेय ऋषि आनन्दसे सराबोर हो गये, उनके देह, इन्द्रियाँ एवं मन स्वस्थ एवं तृप्त हो गये, कलेवर पुलकित एवं रोमाञ्चित हो गया, आँखोंमें आनन्दाश्रु छलक आये, जिस कारण वे श्रीनर-नारायण ऋषियोंको देख पानेमें समर्थ नहीं हो पा रहे थे॥ ३६॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरम्॥ ३७॥

अनन्तर वे उठकर खड़े हो गये, अति विनम्र भावसे अपने दोनों हाथ जोड़े। मार्कण्डेय ऋषिको इतनी उत्सुकता हुई मानो वे उन दोनोंका आलिङ्गन कर लेंगे, स्वर गद्गद् हो उठा और बार-बार मात्र यही कहने लगे—नमस्कार, नमस्कार॥ ३७॥

तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत्॥ ३८॥

अतःपर मार्कण्डेय ऋषिने उन दोनोंको आसन प्रदान किया तथा उनके चरणोंको धोकर चन्दन आदि उपलेपन, द्रव्य, धूप, माला और अन्यान्य उपहारोंके द्वारा उनकी पूजा की॥ ३८॥

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत्॥ ३९॥

अनन्तर परम पूज्यतम दोनों मुनि सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हो गये। वे दोनों मार्कण्डेय ऋषिपर अनुग्रह वर्षण करनेके लिए उद्यत थे। मार्कण्डेय ऋषिने पुनः श्रीनर-नारायण ऋषियोंके चरणोंकी वन्दना की और इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ ३९॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामज-शर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥ ४०॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे विभो! आपकी प्रेरणासे समस्त प्राणी, ब्रह्मा, शङ्कर एवं मेरे भी प्राण स्पन्दित हो रहे हैं, प्राणोंके स्पन्दनको लक्ष्य करके ही वाक्, मन एवं अन्यान्य इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं (अर्थात् आपकी प्रेरणासे प्राणोंकी शक्तिका सञ्चार होनेपर इन्द्रियोंमें बोलनेकी शक्ति अनुप्राणित होती है)। सभीके प्रेरक होनेपर भी आप अपने भजन करनेवालोंके आत्म-बन्धु-स्वरूप हैं, मैं आपकी क्या स्तुति करूँ? (भजनके प्रत्युपकारमें असमर्थ होनेपर आप ऋणीके समान अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत रहते हो, उनके बन्धनमें बँध जाते हो, आपका कृपा-वैभव अद्भुत है।)॥४०॥

मूर्त्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरामाय च मृत्युजित्यै।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः॥४१॥

हे भगवन्! आपके ये दोनों मूर्त्तिमान विग्रह त्रिलोकीका पालन, दुःख-निवृत्ति एवं मृत्यु-विजय अर्थात् उनके मोक्षके लिए प्रकट हुए हैं। आप इस विश्वके पालन (रक्षण) के लिए मत्स्य, कूर्मादि नानाविध विग्रह स्वीकार करते हैं। आप इस विश्वकी सृष्टि करके स्वयं इसका उसी प्रकार उपसंहार (लय) कर लेते हैं, जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) सूत्रकी सृष्टि करके स्वयं उसको निगल लेती है। (ऐसे नैमित्तिक अवताररूपोंमें भगवान् अपनी लीला करके पुनः आत्मगोपन कर लेते हैं।)॥४१॥

तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरजः स्पृशन्ति।
यद्वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै॥४२॥

हे भगवन्! गुण, कर्म एवं काल-जनित पाप अथवा अन्यान्य तापादि दुःख आपके आश्रित सेवकोंको अभिभूत (स्पर्श) भी नहीं

कर सकते। वेद-रहस्य-ज्ञाता ऋषि आपकी प्राप्तिके लिए निरन्तर स्तव, प्रणाम, आराधना एवं ध्यान करते हैं। मैं स्थावर-जङ्गमके अन्तर्यामी, जगत्-रक्षणरत आपके श्रीचरणारविन्दकी आराधना करता हूँ। (जब पूर्ण वस्तुका सान्निध्य प्राप्त होता है, तब साधककी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं रहती, न ही त्रैगुण्य उसे ताड़ित करते हैं और न ही उसे काल क्षुभित कर पाता है। तात्कालिकता स्थितियाँ भी भक्तका स्पर्श नहीं कर पातीं।)॥ ४२॥

नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्त्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्द्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम्॥ ४३॥

हे ईश (सम्पूर्ण जगत्के नियामक प्रभो! सभी जीव सर्वत्र ही चारों ओर से भयभीत हैं। उन जीवोंके लिए आपके श्रीचरण अपवर्गस्वरूप हैं अर्थात् मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। आपके इन्हीं श्रीचरणोंकी प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य कोई मङ्गल मेरी समझमें नहीं आता। द्विपरार्द्ध काल तक रहनेवाले ये ब्रह्मा भी आपके शासनमें (नियमनमें) रहनेवाले कुटिल-भ्रूकुटि-स्वरूप कालसे हर क्षण अत्यन्त भयभीत रहते हैं, तब ऐसे उन ब्रह्मासे सृष्ट भौतिक प्राणियोंके भयोंके विषयमें क्या कहा जाय!॥ ४३॥

तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं,
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं ,
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम्॥ ४४॥

इसलिए मैं आत्माके स्वरूपका आच्छादन करनेवाले, जो निरतिशय तुच्छ, विनाशशील, स्वरूपतः आत्मासे पृथक्रूपमें जिसकी सत्ता नहीं है, उन देह-गेहादिके सम्बन्धका परित्याग करके आपके श्रीचरणोंका भजन करता हूँ। आप सर्वदा सत्य ज्ञानसे सम्पन्न, जीवोंके नियन्ता-स्वरूप अर्थात् जीवोंके परम गुरु एवं सर्वश्रेष्ठ

ज्ञान-स्वरूप हैं। मनुष्य आपकी सेवा करके आपसे अपने सभी अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥ ४४॥

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम्॥ ४५॥

हे अनाथजीवबन्धो! हे जगदीश! यद्यपि आप इस विश्वकी सृष्टि-स्थिति-संहारके कारणरूपमें सत्त्व-रज एवं तमोगुणरूप मायामय लीलाओंको स्वीकार करते हैं, तथापि सात्त्विकी लीलाएँ ही बद्ध मनुष्योंके मोक्षका कारण हुआ करती हैं। राजस (सुष्टि आदि) एवं तामस (संहार आदि) लीलाएँ मङ्गलकी विघातक अर्थात् अनिष्टकारिणी एवं दुःख, मोह तथा भयजनक होती हैं, उनसे मुक्ति-प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। इन्द्र, चन्द्रादि देवता भी नश्वर हैं, उनकी सेवासे मायातीत आपकी प्राप्ति किस प्रकार होगी? ॥ ४५॥

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत्॥ ४६॥

हे भगवन्! जिस सत्त्वगुणसे वैकुण्ठ-पद की प्राप्ति होती है, भय नहीं रहता एवं हृदय आत्मानन्दसे परिपूर्ण रहता है। (अर्थात् जिस स्थान पर पतनका हेतुभूत भय नहीं है एवं कर्मफलके परिवर्त्तमें सर्वदा आत्मसुख है, वही वैकुण्ठ है, यहाँ शुद्ध सत्त्व है, अन्य प्राकृत सत्त्व नहीं) पाञ्चरात्र शास्त्रानुयायी भक्त इसी कारण इस सत्त्वगुणको ईश्वरका स्वरूप मानते हैं, दूसरे राजसी एवं तामसी गुणोंको नहीं। इसीलिए विवेकीगण इस जगत्में स्वाभीष्ट आपके 'श्रीनारायण' संज्ञक विशुद्ध विग्रहको एवं आपके निजगणोंमें 'नर' संज्ञक शुद्धविग्रहकी उपासना करते हैं॥ ४६॥

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने,
विश्वाय विश्वगुरवे परदैवताय।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय,
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय॥ ४७॥

हे भगवन्! आपको नमस्कार है। हे भूमापुरुष! पुरुषाकार होनेपर भी आप सर्वव्यापक हैं, आपको नमस्कार है! हे विश्वमूर्त्ते! आप विश्वरूप अर्थात् देव, मनुष्य एवं तिर्यगादि सर्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप विश्वगुरु अर्थात् भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके उपदेष्टा हैं, आपको नमस्कार है। आप परम दैवत हैं अर्थात् आप उपदेष्टा ही नहीं हैं, बल्कि परमाभीष्ट एवं परम पूजनीय हैं, आपको नमस्कार है। नर-नारायण दोनों ही एक अवतार हैं, अतः युगलस्वरूप सर्वव्यापी पुरुषस्वरूप भगवान् नारायण ऋषिको एवं नरोत्तमको नमस्कार है। विवाह नहीं करनेके कारण आप हंसस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप संयतवाक्य (मौनपरायण) एवं निगमेश्वर (वेदमार्गके प्रवर्त्तक) हैं, आपको नमस्कार है॥ ४७॥

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वकेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु।
तन्माययावृतमतिः स उ एव साक्षा-
दाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम्॥ ४८॥

कपटतापूर्ण इन्द्रिय-मार्गमें जिन व्यक्तियोंकी बुद्धि आपकी मायासे आवृत होकर विभ्रान्त (मोहित) हो गयी है, वे अपने इन्द्रियादि करणोंमें, रूपादि विषयोंमें एवं अपने अन्तःकरणमें निरन्तर नियन्तारूपसे (नियामकरूपसे) अवस्थित (वर्त्तमान) रहनेवाले आपके स्वरूपको जान नहीं सकते, ऐसे अनभिज्ञ व्यक्ति जगत्गुरुरूपमें आपके द्वारा प्रवर्तित वेदज्ञान प्राप्त करके भी आपको साक्षात्रूपसे समझ नहीं सकते। अखिल-गुरु-स्वरूप साक्षात् आपसे वेद प्राप्त करके जब आदि ब्रह्माजी आपको जान नहीं सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? आप अधोक्षज हैं; अतः

निगमपथका आश्रय करनेपर ही आपका साक्षात्कार होता है, वैकुण्ठवस्तु इन्द्रियज ज्ञानके लिए अप्रमेय है॥ ४८॥

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीनारायणस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

हे भगवन्! रहस्य–प्रकाशक एकमात्र वेदसे ही आपका ज्ञान प्राप्त होता है, ब्रह्मादि प्रमुख ज्ञानी सांख्य, योगादि मार्गोंसे आपके स्वरूपकी उपलब्धिके विषयमें प्रयास किया करते हैं, परन्तु आपके स्वरूपके विषयमें मोहित ही रहते हैं। आप सांख्यादिवादीगणोंके विभिन्न वादानुयायी विषयोंके अनुरूप अनुसरण करते हुए विभिन्न स्वभाव प्रकट करते हैं अर्थात् सांख्य आदि वादियोंके जो भिन्न–भिन्न प्रकारके वाद हैं, उन्हीं वादोंके अनुसार आप अपना रूप बना लेते हैं। जीवोंके निकट देहादि उपाधियोंमें आपका स्वरूपज्ञान निगूढ़ (छिपा हुआ) रहता है। ऐसे हे महापुरुष! मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके आठवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीका माया-दर्शन

श्रीसूत उवाच—

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—महामति मार्कण्डेयजीने जब इस प्रकार स्तव-वन्दन किया, तब नर-सखा भगवान् नारायण प्रसन्न होकर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्याय-संयमैः॥ २॥

भगवान्‌ने कहा—हे ब्रह्मर्षिप्रवर! तुम मुझमें चित्तकी एकाग्रता तथा अविचल भक्ति, मद्विषयक तपस्या, वेदाभ्यास एवं अपने संयम (ब्रह्मचर्य) द्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके हो॥ २॥

वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदोऽस्मि त्वदीप्सितम्॥ ३॥

आजीवन ब्रह्मचर्यमें तुम्हारी निष्ठा देखकर हम सन्तुष्ट हुए हैं। मैं वर प्रदान करनेमें समर्थ हूँ, तुम वर माँगो। तुम्हें जो अभीष्ट हो, मैं उसे पूर्ण कर सकता हूँ—तुम्हारा कल्याण हो॥ ३॥

श्रीऋषिरुवाच—

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्त्तिहराच्युत।
वरेणैतावतालं नो यद्भवान् समदृश्यत॥ ४॥

मार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे शरणागत जनोंके दुःख हर लेनेवाले! हे देवदेवेश! हे अच्युत! आपने वर प्रदान करनेमें अपना आग्रह दिखाकर अपना उत्कर्ष प्रकाश किया है। मैंने जो आपका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया है, वही मेरा अभीष्ट वरदान था॥ ४॥

गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम्।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षिगोचरः॥ ५॥

प्राकृत मनुष्योंने अपने योगबलसे परिपक्व चित्तसे जिनके श्रीचरणकमलोंका साक्षात्कार प्राप्त करके ब्रह्मादि पद प्राप्त किया है, आज वे ही आप मेरे नयन-पथ-गोचर हुए हैं॥ ५॥

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम्॥ ६॥

हे पुण्यश्लोक-चूड़ामणे! पद्मपलाश-नयन! यद्यपि मेरे लिए आपका दर्शन ही यथेष्ट है, तथापि आपकी जिस माया शक्तिसे लोकपालोंके सहित सभी लोग सद्‌वस्तुमें (अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें) भेदका दर्शन करते हैं, मैं आपकी उसी मायाका दर्शन करना चाहता हूँ॥ ६॥

श्रीसूत उवाच—

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान् मुने।
तथेति स स्मयन् प्रागाद्‌बदर्याश्रममीश्वरः॥ ७॥

श्रीसूतजीने कहा—हे मुनिवर! शौनकजी! भगवान् जगदीश्वर नरनारायणने ऋषि मार्कण्डेय द्वारा इस प्रकारसे वन्दित एवं यथेष्टरूपमें पूजित होकर मुस्कुराते हुए 'तथास्तु' कहा एवं बदरिकाश्रमकी ओर प्रस्थान कर गये। (जिस प्रकार पिता परिणामतः दुःखद कर्मका आग्रह होनेपर अपने हठी पुत्रको रोक नहीं पाता, इसी प्रकार अपनी माया शक्तिका परिणाम जानकर परन्तु भक्तके आनन्दको देखकर भगवान् हँस पड़े थे।)॥ ७॥

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बु-भू-वायु-वियदात्मसु॥ ८॥
ध्यायन् सर्व्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत्।
क्वचित् पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसंप्लुतः॥ ९॥

अनन्तर मार्कण्डेय अपने आश्रममें रहकर भगवान्‌की माया-दर्शनरूप प्रयोजनसे नित्य चिन्तन किया करते। वे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, भूमि, वायु, आकाश एवं आत्मामें सर्वत्र श्रीहरिका ध्यान एवं मानसोपचारसे (मानसिक द्रव्योंसे) पूजा करते। कभी-कभी तो प्रेमरससे अभिभूत होकर पूजाके विधि-विधानको ही भूल जाते॥ ८-९॥

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान्॥ १०॥

हे भृगुवर! एक बार मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय पुष्पभद्रा नदीके किनारे बैठे हुए सन्ध्यावन्दन कर रहे थे कि तभी प्रचण्ड वायु प्रवाहित होने लगी॥ १०॥

तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन् करालाः।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः
स्वनन्त उच्चैरभि वर्षधाराः॥ ११॥

इस वायुसे अति प्रचण्ड ध्वनि हो रही थी, इसके पीछे-पीछे गर्जन-तर्जन करते मेघ भी आकाशमें छा गये। बिजली कड़कड़ाने लगी। रथके अक्ष अर्थात् धूरेके समान जलकी स्थूल धाराएँ मुसलाधार वर्षा करने लगीं॥ ११॥

ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र -
महाभयावर्त्तगभीरघोषाः ॥ १२॥

अनन्तर चारों दिशाओंसे चारों महासागर महाभयङ्कर शब्द करते हुए ऐसे उमड़े चले आये मानो धरतीको निगल लेंगे, तूफानी हवाओंके कारण गम्भीर घोष करती हुई तरङ्ग मालाएँ उठ-उठकर भूतलको प्लावित करती-सी दिखायी दे रही थीं, भयानक भँवर ऊँचे-ऊँचे उठ रहे थे, स्थान-स्थानपर उग्र मगर उछलते हुए बड़े डरावने लग रहे थे॥ १२॥

अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्रदाभीरुपतापितं जगत्।
चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
र्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत्॥ १३॥

उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी सर्वत्र प्रसारित जलराशिसे आप्लावित हो गयी, जलकी उत्ताल तरङ्गें स्वर्गमण्डलको स्पर्श करने लगीं, सूर्यकी प्रखर रश्मियों एवं विद्युत-कणों द्वारा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज—चारों प्रकारके भौतिक पदार्थ अन्तर एवं बाहरसे उत्तप्त हो गये। यह देखकर ऋषि अति सन्तप्त एवं खिन्न हो गये। उनका हृदय उदास हो गया। वे अत्यधिक भयभीत हो गये॥ १३॥

तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः
क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम्॥ १४॥

ऋषिने उत्कण्ठित चित्तसे देखा कि इसी समय मुसलाधार वर्षण करते हुए मेघोंने सर्वतोभावसे महासमुद्रको और भी भर दिया है, प्रलय-पयोधिमें भयङ्कर तरङ्गमालाएँ उठ रही हैं, आँधीके वेगसे उमड़ते-घुमड़ते समुद्रने द्वीप, वर्ष एवं पर्वतोंके साथ सम्पूर्ण पृथ्वीको आच्छादित कर दिया है—सबकुछ जलमग्न हो गया है॥ १४॥

सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्।
स एक एवोर्वरितो महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत्॥ १५॥

उस समय भूमण्डल एवं अन्तरीक्षमें स्थित प्राणी, स्वर्गस्थ देवतागण, ज्योतिष्क-मण्डल, सम्पूर्ण त्रिलोक ही जलमें प्लावित हो गया। एकमात्र मार्कण्डेय ही बचे रहे। तब वे अपनी जटाओंको बिखेरते हुए अन्धे एवं जड़ व्यक्तिके समान जलमें यहाँ-वहाँ भ्रमण करने लगे॥ १५॥

क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलै-
रुपद्रुतो वीचिनभस्वताहतः।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो
न वेद खं गाञ्च परिश्रमेषितः॥ १६॥

इस प्रकारसे मार्कण्डेय ऋषि दुस्तर अन्धकारमें पतित, क्षुधा- तृष्णासे ग्रस्त, मकर, तिमिङ्गिल इत्यादि जल-जन्तुओंसे उत्पीड़ित, उत्तुङ्ग तरङ्गों युक्त अन्धड़से आहत एवं परिश्रान्त होकर दिक्-दिगन्तमें भ्रमण करते रहे। उस भयङ्कर जलराशिके मध्य उन्हें दिशा, आकाश अथवा पृथ्वीका कोई ओर-छोर ही ज्ञात न हुआ॥ १६॥

क्वचिन्मग्नो महावर्त्ते तरलैस्ताडितः क्वचित्।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योऽन्यघातिभिः॥ १७॥

क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम्।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्द्दितः॥ १८॥

महामुनि कभी तो भयङ्कर आवर्त्तोंमें निमग्न होकर घूर्णित होते रहते, कभी चञ्चल तरङ्गोसे प्रताड़ित होते, कभी परस्पर युद्ध करनेवाले जल-जन्तुओंसे आहत होते तथा कभी शोक, कभी मोह, कभी दुःख, कभी सुख और कभी भयको प्राप्त

होते और कभी तो रोगादिसे आक्रान्त होकर मृत्युसम यातनाका भोग करते॥ १८॥

अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायावृतात्मनः॥ १९॥

इस प्रकार विष्णुकी मायासे आक्रान्त (मोहित) चित्तवाले मुनि प्रलयाब्धिमें यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ पछाड़ खाते रहे और ऐसे ही लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत हो गये॥ १९॥

स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि द्विजः।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम्॥ २०॥

मार्कण्डेय ऋषि एकार्णव जलमें भ्रमण कर ही रहे थे कि एक बार पृथ्वीके किसी उच्च प्रदेशमें फल-पल्लवादिसे सुशोभित एक कोमल वट-वृक्ष दिखायी दिया॥ २०॥

प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम्।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः॥ २१॥

उन्होंने उस वट-वृक्षके पूर्वोत्तर कोणमें स्थित शाखाओंमें पत्रपुटमें (पत्तोंके दोनेमें) लेटे हुए एक शिशुको देखा, जो अपनी देहकी उज्ज्वल प्रभासे घोर अन्धकारका हरण कर रहा था॥ २१॥

महामरकत-श्यामं श्रीमद्वदन-पङ्कजम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम्॥ २२॥

श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम्।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम्॥ २३॥

पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम्।
श्वासैजद्वलिसंविग्न-निम्ननाभिदलोदरम्॥ २४॥

चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम्।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः॥ २५॥

उस शिशुका वर्ण महामरकतमणिके समान श्यामल, मुखकमल सुरम्य, ग्रीवा कम्बु (शङ्ख) के समान तीन रेखाओंसे युक्त, वक्षःस्थल सुप्रशस्त, नासिका अति मनोरम एवं भौंहे भी बड़ी सुन्दर थीं, कपोल-प्रान्त पर छायी अलकावलियाँ श्वासवायुसे सञ्चालित एवं कम्पित होती हुई अति सुशोभित हो रही थीं, शङ्खके समान अन्तर्वलयसे युक्त (घुमावदार) सुरम्य कानोंमें दाड़िमके (अनारके) पुष्प अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे। शिशुकी अमृतमयी उज्ज्वल एवं मधुर मुसकान विद्रुम (मूँगे) वर्णीय अधरोंकी शोभासे युक्त होकर आरक्तिम (लालिमामयी) हो गयी थी, नेत्रप्रान्त (आँखोंकी कोर) कमलके गर्भदेशके (भीतरी भागके) समान ईषत् अरुण-वर्णके थे, चितवन मनोरम मुसकानमयी थी, नाभि गभीर त्रिवलीसे युक्त थी जो श्वास-सञ्चालनसे कम्पित एवं चलायमान हो रही थी, उदर अश्वत्थ-पत्रके सदृश था। उस समय वे मनोरम अङ्गुलियोंसे युक्त कर-युगल द्वारा अपने एक चरणकमलको उठाकर अपने मुखके गह्वरमें रखकर पान कर रहे थे। मुनि यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये। (मेरे चरणकमल कितने मधुमय हैं, इनका आस्वादन करनेके लिए भक्त बहुत यत्न करते हैं। अतएव मैं भी इसका आस्वादन करके देखूँ—यह सोचकर अपने चरणका अगूँठा चूस रहे थे।)॥ २२-२५॥

तद्दर्शनाद्वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पद्म-विलोचनाम्बुजः।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम्॥ २६॥

शिशुके दर्शनसे मार्कण्डेयजीका परिश्रम दूर हो गया तथा हृदयपद्म एवं नयनकमल आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठे। उस समय उनके शरीरका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। शिशुके अद्भुत भावको देखकर मनमें शङ्काएँ उठने लगीं। बालकका परिचय जाननेकी इच्छासे वे उसकी ओर चलने लगे॥ २६॥

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत्।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरा मुह्यदतीव विस्मितः॥ २७॥

मार्कण्डेयजी वहाँ पहुँचे ही थे कि शिशुकी श्वास-वायुके आकर्षणसे वे मच्छरके समान उनके शरीरमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण विश्वको (सृष्टिको) उसी प्रकार समग्ररूपसे व्यवस्थित देखा, जैसा प्रलयकालसे पहले देखा था। इस अद्भुत दृश्यको देखकर वे अतीव विस्मित एवं मोहित हो गये॥ २७॥

खं रोदसी भागणानद्रिसागरान्
द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान्
खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः॥ २८॥

महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
कालञ्च नानायुग-कल्पकल्पनम्।
यत् किञ्चिदन्यद्व्यवहारकारणं
ददर्श विश्वं सदिवावभासितम्॥ २९॥

मार्कण्डेयजीने वटपत्रशायी उस शिशुके उदरमें आकाश, स्वर्ग, मर्त्यलोक, ज्योतिष्कमण्डल, पर्वत, सागर, वर्ष, द्वीप, लोक, दिशाएँ, सुर, असुर, वन, देश, नदी, पुर, आकर (खानें), किसानोंके गाँव (बस्तियाँ), गो-कुल (गायोंका समूह), आश्रम, वर्ण, उनकी वृत्तियाँ अर्थात् उनके आचार-व्यवहार, पञ्च महाभूत, भौतिक पदार्थ, विविध-युग, कल्प-प्रणेता-काल एवं लोक-यात्रा-निर्वाहकी उपयोगी (जिन पदार्थोंसे जगत्का व्यवहार सम्पन्न होता है) एवं अन्यान्य जो भी वस्तुएँ हैं, उन सबको परमार्थ वस्तुके समान सत्य प्रतीत होते देखा। उस बालकके द्वारा प्रकाशित होती हुई सभी वस्तुएँ उन्होंने उस बालकके उदरमें देखीं॥ २८-२९॥

हिमालयं पुष्पवहाञ्च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषी अपश्यत्।
विश्वं विपश्यन् श्वसिताच्छिशोर्वै
बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ॥ ३०॥

उन्होंने वहाँ हिमालय, पुष्पभद्रा नदी एवं जहाँ नर-नारायण ऋषिका साक्षात्कार हुआ था, उस निज आश्रमको भी देखा। (उन्होंने पुष्पभद्रा नदीको अपने आश्रमके समीप ही देखा था) इस तरह सम्पूर्ण सृष्टिको देखते-देखते वे शिशुके प्रश्वास-वायुके वेगसे पुनः बाहर निकल आये और प्रलय-सागरमें गिर पड़े॥ ३०॥

तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटञ्च तत्पर्णपुटे शयानम्।
तोकञ्च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥ ३१॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि।
अभ्ययादिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम्॥ ३२॥

अनन्तर उन्होंने पृथ्वीके उन्नत प्रदेशमें (सागरके मध्य टीलेमें) उत्पन्न उसी वट-वृक्षको एवं उसके पत्र-पुटमें (पत्तेके दोनेमें) सोते हुए उसी बालकको देखा। उसकी चितवन प्रेममयी, सुधामयी, मधुरातिमधुर, उज्ज्वल कान्तियुक्त एवं सस्मित थी। मार्कण्डेय ऋषिने नेत्रमार्गके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट उस बालकका अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके रूपमें दर्शन किया। वे अत्यधिक क्लिष्ट (क्लान्त) थे। वे उनका आलिङ्गन करनेके लिए बड़े कष्टसे उनकी ओर दौड़े। (आलिङ्गन करनेका यत्न तो किया, परन्तु भगवान्‌को और देख न सके। भगवद्दर्शन दृश्य वस्तुके समान भोग्य व्यापार नहीं है।)॥ ३१-३२॥

तावत् स भगवान् साक्षाद्योगाधीशो गुहाशयः।
अन्तर्दध ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता॥ ३३॥

मार्कण्डेय ऋषि सबके हृदयरूपी गुहामें शयन करनेवाले एवं योगेश्वरोंके अधिपति भगवान्का आलिङ्गन करना ही चाहते थे कि उसी क्षण उनके निकटसे भगवान् उसी तरह अन्तर्धान हो गये, जिस प्रकार दैवानुकूल-रहित (भाग्यहीन) मनुष्यकी कार्य-चेष्टाका कोई फल दिखायी नहीं देता। (ऋषि प्रलय-समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंमें अयुत वर्षों तक डूबते-उतरते रहे और बड़ा भारी कष्ट सहते रहे। वटपत्रशायी बालकके श्वास-प्रश्वासके द्वारा उन्होंने उसके उदरमें सात बार प्रवेश तथा सात बार निर्गमन किया। उनकी भगवान्को दर्शन करनेकी वाञ्छा ऐसी थी, जैसे दरिद्रकी धनादिकी वाञ्छा, जो शीघ्र उत्पन्न होती है एवं शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।)॥ ३३॥

तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसंप्लवः।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमार्कण्डेयस्य मायादर्शनं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

हे ब्रह्मन्! भगवान्के अन्तर्द्धान (तिरोधान) होते ही क्षणभरमें मार्कण्डेयके सम्मुखसे वटवृक्ष, अपार जलराशि एवं ब्रह्माण्डका प्रलय सब अन्तर्हित हो गये। उन्होंने देखा कि वे पहले ही के समान अपने आश्रममें बैठे हुए हैं॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके नौवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीको भगवान् शङ्करका वरदान

श्रीसूत उवाच—

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम्।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—मार्कण्डेय इस प्रकारसे नारायण-रचित योगमायाके वैभवका अनुभव करके उन नारायणके ही शरणापन्न हो गये। (भगवान्‌से विच्छिन्न माया भगवद्-निर्मित योगमायाका बहिः-वैभव मात्र है। योगमाया जीवको सेवोन्मुखिनी वृत्ति प्रदान करती हैं, महामाया विक्षेपात्मिका एवं आवरणी शक्तिके द्वारा जीवको मोहित करती हैं। योगमायाका बहिर्वैभव महामाया जिस समय तक जीव हृदयमें अधिष्ठित रहती हैं, तब तक भगवत्-प्रपत्तिकी सम्भावना नहीं है।)॥ १॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया॥ २॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे हरे! आपकी माया ज्ञानके समान ऐसे प्रकाशमान् होती है कि ज्ञान (भजन) न रहनेपर भी मनुष्य ऐसे मोहित हो जाते हैं, मानो वे ज्ञानी हैं। आपकी मायासे ब्रह्मादि देवता भी मोहित हो जाते हैं। आपके चरण-कमल शरणागतोंको अभय प्रदान करनेवाले हैं, मैं आपके चरण-तलका आश्रय लेता हूँ। (शरणागत व्यक्ति अपने प्रपन्नस्वभाववश सेवा-वृत्तिके कारण अहङ्कार-विमूढ़ न होकर वास्तव ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है, प्रतीति मात्रमें नहीं।)॥ २॥

श्रीसूत उवाच—

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन्।
रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः॥ ३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—उसी समय प्रमथ इत्यादि अपने गणोंसे परिवेष्टित भगवान् शङ्कर पार्वतीके साथ नन्दी बैलपर सवार होकर आकाशमार्गसे विचरण करते हुए मार्कण्डेयजीको देख रहे थे, जो शरणापन्न होकर समाधिकी अवस्थामें तन्मय हो रहे थे॥ ३॥

अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरीशं समभाषत।
पश्येमं भगवन् विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम्॥ ४॥

अनन्तर जब पार्वतीजीने मुनिको इस ध्यानावस्थामें देखा, तो शङ्करजीसे कहा—हे भगवन्! इस विप्रको देखिए—इसके देह, इन्द्रिय एवं चित्त समाधिके कारण निश्चल (शान्त) हो गये हैं॥ ४॥

निभृतोदझषव्रातो वातापाये यथार्णवः।
कुर्वस्य तपसः साक्षात् संसिद्धिं सिद्धिदो भवान्॥ ५॥

झंझावातकी (तूफानकी) समाप्तिपर अपार जलराशि एवं मछलियोंसे परिपूर्ण समुद्र जिस तरह निस्तब्ध एवं निश्चल हो जाता है, उसी प्रकार ये ऋषि अचल एवं शान्त बैठे हैं। आप स्वयं सिद्धिके दाता हैं, अतः आप इनके सम्मुख प्रकट हों एवं इनकी तपस्याकी सिद्धि प्रदान करें॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये॥ ६॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे देवि! इन ब्रह्मर्षिने अव्यय पुरुष भगवान् श्रीहरिके प्रति परम भक्ति प्राप्त कर ली है। अतएव इन्हें स्वर्गादि लोक-विषयक अभ्युदय अथवा अणिमादि सिद्धियोंकी कोई कामना नहीं है, ये तो मोक्षतककी भी इच्छा नहीं करते॥ ६॥

अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः॥ ७॥

हे भवानी! तब भी मैं इनके साथ वार्त्तालाप करूँगा; क्योंकि ऐसे साधुओंका समागम जीवोंके परम कल्याणके लिए होता है॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम्॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—समस्त विद्याओंके अधिपति (प्रवर्त्तक), समस्त जीवोंके ईश्वर, सज्जनोंके आश्रय (शरण) एवं आदर्श शङ्कर पार्वतीसे इस प्रकार कहकर ऋषिके निकट उपस्थित हुए। (साधुओंको वाञ्छित भक्ति प्रदान करने हेतु शङ्कर ही गति हैं।)॥ ८॥

तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च॥ ९॥

उस समय मार्कण्डेय ऋषिकी चित्तवृत्ति शान्त थी। जगत्के अन्तर्यामी उमा-महेश्वरके साक्षात् आगमन, अपनी देह एवं सम्पूर्ण विश्वके विषयमें उनको कुछ भी सुधबुध न थी॥ ९॥

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः॥ १०॥

जगदीश्वर भगवान् शङ्कर उनकी अवस्थाको अच्छी तरहसे जानते थे। वायु जिस प्रकार रन्ध्रमें (छिद्रमें) प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार वे योगमायाके बलसे उनके हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो गये॥ १०॥

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम्।
त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम्॥ ११॥

व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसि-चर्मभिः।
अक्षमालाडमरुक-कपालं परशुं सह॥ १२॥
बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः॥ १३॥

ऋषि सहसा तड़ित्‌की छटाके समान पिङ्गल (पीत) वर्ण जटाधारी, त्रिनेत्रसे सुशोभित, त्रिशूल, धनुष, बाण, तलवार, ढाल, अक्षमाला, डमरु, कपाल, व्यघ्राम्बर एवं परशु धारण किये हुए दस भुजाओंसे युक्त, उन्नत कलेवर, उदीयमान सूर्यके समान भगवान् शिवको अन्तर्देशमें अकस्मात् प्रकाशित देखकर विस्मित हो गये। वे मनमें विचार-विमर्श करने लगे—ये कौन हैं और कहाँ-से आये हैं? और यह सोचते हुए वे अपनी समाधिसे निवृत्त हो गये॥ ११-१३॥

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽगतम्।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः॥ १४॥

अनन्तर उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि अपने परिजनों एवं पार्वतीजीके साथ त्रिलोकीके एकमात्र गुरु भगवान् शिव यहाँ उपस्थित हैं। उन्होंने उनके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ १४॥

तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः॥ १५॥

अब इसके बाद मार्कण्डेय ऋषिने स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्पमाला, धूप एवं दीप द्वारा पार्वतीजीके साथ सपरिवार भगवान् शिवकी पूजा की॥ १५॥

आह त्वात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत्॥ १६॥

मार्कण्डेय ऋषिने भगवान् शिवसे कहा—हे विभो! हे ईशान! आप आत्मानन्दानुभूतिके कारण पूर्णकाम हैं। यह सम्पूर्ण जगत्

आपकी शान्तिसे ही शान्ति प्राप्त कर रहा है। आप बतलाइए कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिए क्या उपचार (कौन-सी सेवा) करूँ?॥ १६॥

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च।
रजोजुषेऽथ घोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे॥ १७॥

हे देव! मैं आपके निर्गुण (त्रिगुणातीत), सर्वमङ्गलकारी सदाशिव-स्वरूपको एवं त्रैगुण्ययुक्त अर्थात् सत्त्वगुणके आश्रयसे सबको आनन्द प्रदान करनेवाले शान्तस्वरूपको, रजोगुणके आश्रयसे घनघोर (भयङ्कर) रूप धारण करनेवाले एवं तमोगुणसे भी सान्निध्य रखनेवाले आपके अघोर स्वरूपको प्रणाम करता हूँ॥ १७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत॥ १८॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—जब मार्कण्डेयजीने आदिदेव, सज्जनों (साधुजनों) के परमाश्रयस्वरूप भगवान् शङ्करकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे मुनिकी स्तुतिसे परम सन्तुष्ट हुए और उनसे कहने लगे॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम्॥ १९॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे मुनिवर! आप मुझसे अभीष्ट वर माँगिए। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—हम तीनों वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। मरणशील मनुष्य हमसे मोक्ष (अमृतत्व) का वरदान प्राप्त करते हैं एवं हमारा साक्षात्कार (दर्शन) कभी व्यर्थ नहीं जाता॥ १९॥

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः॥ २०॥

सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः॥ २१॥

जो ब्राह्मण सदाचार-सम्पन्न, शान्त, निष्काम, समस्त प्राणियोंसे प्रेम करनेवाले, वैरभावसे रहित, समदर्शी एवं हमारे ऐकान्तिक भक्त होते हैं, लोकपालगण सम्पूर्ण लोकोंके (लोकवासियोंके) साथ उनकी स्तुति एवं वन्दना करते हैं। मैं, ब्रह्माजी एवं जगदीश्वर श्रीहरि हम सब भी उनका सम्मान करते हैं। (भगवान्के गुणावतार ब्रह्मा एवं शिव वस्तु-विचारसे अभिन्न हैं।)॥ २०-२१॥

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च जनस्यापि तद्युष्मान् वयमीमहि॥ २२॥

ऐसे शान्त पुरुष ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें किञ्चित् मात्र भी भेद-दर्शन नहीं करते तथा स्वयं और अन्य जीवोंमें पार्थक्य नहीं रखते (अपने तथा दूसरेके साथ सुख-दुःखादिमें भेद नहीं देखते), इसी कारण हम आप जैसे सन्त भक्तोंका सम्मान करते हैं॥ २२॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः॥ २३॥

पृथ्वीपर सभी जलमय स्थान वस्तुतः 'तीर्थ' पद वाच्य नहीं हो सकते एवं अचेतन (जड़) प्रस्तरमयी, मृत्तिकामयी मूर्त्तियाँ यथार्थतः 'देव' पद वाच्य नहीं हो सकतीं, क्योंकि दीर्घकाल पर्यन्त सेवा करनेके बाद वे सेवकको पवित्र करते हैं, परन्तु आपके जैसे साधु तो दर्शन मात्रसे ही मनुष्योंको पवित्र कर देते हैं। अतः वास्तविक तीर्थ तो इाप ही हैं॥ २३॥

ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम्।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः॥ २४॥

जो ब्राह्मण आत्मसमाधि (चित्तकी एकाग्रता), तपस्या, वेदपाठ (स्वाध्याय) एवं संयम (वागादि-नियमन) के द्वारा हम तीनोंसे अभिन्न त्रयीमय वेदात्मक शरीरको धारण करते हैं, हम उन्हें

प्रणाम करते हैं। (भक्तियोगी भगवद्भक्त सर्वतोभावसे शुद्ध विचार सम्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणोत्तम हैं।)॥ २४॥

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः॥ २५॥

महापातकी एवं चाण्डालादि अन्त्यज भी आपके नाम-श्रवणसे अथवा आपके स्वरूप-दर्शनसे पवित्र हो जाते हैं, यदि आपके साथ सम्भाषण हो जाय तो बात ही क्या कही जाय?॥ २५॥

श्रीसूत उवाच—

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम्।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन्॥ २६॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महर्षि मार्कण्डेय चन्द्रललाम (चन्द्रभूषण) शङ्करजीके मुखसे निःसृत धर्मके गोपनीय रहस्यसे युक्त अमृतास्पद वचनोंका अपने कानोंसे पान तो कर रहे थे, परन्तु उन्हें तृप्तिका कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा था। (ऋषिको अपनी स्तुतिसे आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा था, स्तुतिके छलसे जो धर्मकी शिक्षा दी जा रही थी, उससे वे तृप्त नहीं हो रहे थे।)॥ २६॥

स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम्।
शिववागमृतध्वस्त-क्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत्॥ २७॥

भगवान् विष्णुकी मायाशक्तिसे वे चिरकालतक भटक चुके थे और अतिशय कृश हो गये थे—बहुत थक चुके थे। महादेवजीके वचनामृत-पानसे उनके सारे कष्ट दूर हो गये थे। वे उनसे कहने लगे—(अनर्थयुक्त अवस्थामें जीव मायासे आकृष्ट रहता है एवं गुणजात कष्टोंको भोगता रहता है। श्रीगुरु-वचनोंके श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणसे अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। श्रद्धासम्पन्न होकर गुरुदेवका आश्रय करनेसे भजन आरम्भ होता है और भजनके फलस्वरूप अनर्थ मिट जाते हैं।)॥ २७॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः॥ २८॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—अहो! यह ईश्वर-चरित मुझ जैसे जीवोंके लिए अचिन्त्य (समझके बाहर) है, क्योंकि जो जगदीश्वरके द्वारा शासन-योग्य (अधीन) हैं, वे ही उन्हें (मुझ-जैसोंको) प्रणाम एवं स्तव करते हैं॥ २८॥

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च॥ २९॥

अथवा वे स्वयं धर्म-प्रणेता एवं धर्म-प्रवक्ता होकर भी जीवको धर्म-शिक्षा प्रदान करनेके लिए प्रायशः स्वयं धर्मका अनुष्ठान करते हैं और दूसरोंके धार्मिक कृत्योंका अनुमोदन करते हैं तथा धर्मका पालन करनेवालोंकी स्तुति भी करते हैं॥ २९॥

नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा॥ ३०॥

जिस प्रकार मायावी (जादूगर) अपनी माया (जादूगरी) दिखलाता है, तो उन खेलोंसे उसके प्रभावमें कोई कमी नहीं होती, इसी प्रकार आपके लोकशिक्षाप्रद नमस्कारादि मायिक कार्योंसे वस्तुतः आपका माहात्म्य किञ्चित् मात्र भी दूषित नहीं होता। (यद्यपि श्रीरुद्र द्वारा उनकी स्तुति आदि मायाकृत नहीं है, परन्तु अपनी स्तुतिसे लज्जित मुनि इस प्रकारके दृष्टान्तका प्रयोग कर रहे हैं। ध्यान रहे, निरपेक्ष सरलता एवं सांसारिक कपटता समजातीय नहीं है।)॥ ३०॥

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्त्तेव स्वप्नदृग् यथा॥ ३१॥
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्त्तये॥ ३२॥

जो सङ्कल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते हैं और अन्तर्यामीरूपसे उनमें प्रवेश करते हैं, जो स्वयं अकर्त्ता होकर भी स्वप्नदर्शी पुरुषकी भाँति प्रकृतिके गुणोंको क्रियमाण बनाकर इस जगत्के प्रत्यक्ष कर्त्ताके समान प्रकाशित हो रहे हैं, ऐसे उन त्रिगुणमय, गुण-नियन्ता, विशुद्ध (प्रकृतिके गुणोंके स्वामी होकर भी प्रकृतिसे पृथक् रहनेवाले), अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप (परब्रह्मके आदि-साकाररूप) जगद्गुरुको मैं प्रणाम करता हूँ। (श्रीगुरुदेव भगवान्की आश्रय-जातीय ब्रह्ममूर्त्ति हैं।)॥ ३१-३२॥

कं वृणे नु परं भूमन् वरं त्वद्वरदर्शनात्।
यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत्॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! आपके दर्शन मात्रसे ही मनुष्य पूर्णकाम और सत्यकाम हो जाते हैं। आपके दर्शनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। अतः आपसे मैं और क्या दूसरा वर माँगूँ?॥ ३३॥

वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात्।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि॥ ३४॥

आप अपने भक्तोंकी समस्त कामनाओंको प्रदान करनेवाले पूर्णस्वरूप हैं, इसलिए मैं आपसे एक यही वर माँगता हूँ कि अच्युत भगवान् श्रीहरि, भगवद्भक्त और आपके प्रति मुझे अविचल (अस्खलित) भक्ति प्राप्त हो॥ ३४॥

श्रीसूत उवाच—

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा।
तमाह भगवान् शर्वः शर्वया चाभिनन्दितः॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब मुनिने सुरम्य वचनोंसे भगवान् शङ्करका इस प्रकार स्तवन एवं पूजन किया, तब पार्वतीसे अभिवन्दित होकर एवं उनसे अनुमोदन प्राप्त करके शर्व (शिव) मुनिसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३५॥

कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे।
आकल्पान्ताद्यशः पुण्यमजरामरता तथा॥ ३६॥

हे महर्षे! अधोक्षज श्रीहरिके प्रति आपका अनपायिनी (अविचल) भक्ति बनी रहे, आपके सम्पूर्ण अभिलाष पूर्ण हों, प्रलयकाल पर्यन्त आपका अजरत्व, अमरत्व रहे एवं पुण्यकीर्त्ति बनी रहे कि आप अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके सेवक हैं॥ ३६॥

ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानञ्च विरक्तिमत्।
ब्रह्मवर्च्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते॥ ३७॥

हे ब्रह्मन्! आप ब्रह्मतेजसे युक्त हो। आप त्रिकालज्ञ हो। वैराग्य-युक्त भक्ति-रस-विज्ञानका आपमें अभ्युदय हो। पुराणोंका आचार्यत्व आपको प्राप्त हो॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं वरान् स मुनये दत्त्वागात् त्र्यक्ष ईश्वरः।
देव्यै तत्कर्म्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जगदीश्वर त्रिलोचनने मुनि मार्कण्डेयको वर प्रदान किया तथा पार्वतीसे उनके द्वारा अनुभूत विष्णुमायाके वैभव और उनके तपस्यादि आश्चर्यजनक कार्योंका वर्णन करते-करते वहाँसे प्रस्थान कर गये॥ ३८॥

सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः॥ ३९॥

भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेय ऋषिको भगवद्-भक्ति-विषयक महायोगकी महिमा उपलब्ध हो गयी थी। वे भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्तके (अनन्य-प्रेमीके) रूपमें अब भी इस जगत्‌में विचरण करते हैं॥ ३९॥

अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः।
अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम्॥ ४०॥

हे मुने! महामति मार्कण्डेयजीके इस अद्भुत चरित्रका एवं उनके द्वारा अनुभूत विष्णुमायाके विचित्र वैभवका मैंने आपके समीप वर्णन किया॥ ४०॥

एतत् केचिदविद्वांसो माया संसृतिरात्मनः।
अनाद्यावर्त्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते॥ ४१॥

जो लोग बद्धजीवोंके सृष्टि-प्रलय-रूपमें रचित संसृतिको (संसार-भावको) भगवान्‌की माया द्वारा रचित कारणके रूपमें नहीं जानते, ऐसे अज्ञानी व्यक्ति मार्कण्डेयके इस आकस्मिक (कदाचित्क अर्थात् किसी एक समय होनेवाले) वृतान्तको अनादिकालसे परिवर्त्तनशील दैव-द्विसहस्र युगान्तरका पुन-पुनः आवर्त्तितरूपमें अर्थात् अनादिकालसे चले आ रहे अन्तहीन चक्रके रूपमें तुलना करते हैं। (मार्कण्डेयजीका माया-वैभव दर्शन भगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हुआ था—यह केवल उनके लिए ही था, सर्वसाधारणके लिए नहीं। परन्तु कोई-कोई देवताओंके सहस्र युग परिमाणके चक्रसे इसका सात कल्प कहकर वर्णन करते हैं।)॥ ४१॥

य एवमेतद्भृगुवर्यवर्णितं
रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम्।
संश्रावयेत् संशृणुयादु तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत्॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमार्कण्डेयस्य वरलाभो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

हे भृगुवर्य! जो पूर्ववर्णित रथाङ्गपाणि श्रीहरिके अचिन्त्य प्रभावसे युक्त मार्कण्डेय ऋषिके इस चरित्रका दूसरेके निकट वर्णन करता

है अथवा स्वयं श्रवण करता है—उन दोनोंका ही कर्मवासना-जनित संसार-भाव (जन्म-मृत्यु) समाप्त हो जाता है और अधोक्षज भगवान्‌की नित्य सेवाकी उपलब्धि होती है॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके दसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

भगवान्‌के अङ्ग, उपाङ्ग एवं आयुधोंका रहस्य तथा विभिन्न सूर्यगणोंका वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम्।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवत तत्त्ववित्॥ १॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे भागवत-प्रवर सूतजी! आप बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ, भगवद्-भक्त एवं समस्त तन्त्रोंके (पूजाकी व्यावहारिक विधि बतानेवाले शास्त्रोंके) सिद्धान्ततत्त्वको जाननेवाले हैं—अतः इस विषयमें हम आपसे कुछ जानना चाहते हैं॥ १॥

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः॥ २॥

तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम्।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम्॥ ३॥

आपका कुशल हो! तान्त्रिकघन चैतन्यघनविग्रह लक्ष्मीपति श्रीहरिकी उपासनाके विषयमें जिस प्रकारसे जिन समस्त तत्त्वोंके द्वारा उनके अङ्ग (पाणि-पाद आदि), उपाङ्ग (गरुड़ इत्यादि), आयुध (सुदर्शन चक्र आदि) और वेश (कौस्तुभादि अलङ्कारों) की कल्पना तान्त्रिकगणों द्वारा की जाती है एवं मनुष्य जिस क्रिया-नैपुण्यके द्वारा (पाञ्चरात्रिक विधिके) द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है, हम उसी क्रियायोगको (उपासना विधिको) जाननेके इच्छुक हैं। आप हमारे निकट पूर्वजिज्ञासित तत्त्वका वर्णन करें॥ २-३॥

श्रीसूत उवाच—

नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि।
याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः॥ ४॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—ब्रह्मादि आचार्योंने, वेदोंने और पाञ्चरात्रादि तन्त्र-ग्रन्थोंने भगवान् विष्णुकी जिन वैष्णवी विभूतियोंका वर्णन किया है, मैं श्रीगुरुवर्गके चरणोंमें नमस्कार करके आपलोगोंके लिए उसीका वर्णन कर रहा हूँ॥ ४॥

मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट्।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम्॥ ५॥

भगवान्‌के जिस चेतनाधिष्ठित विराट्‌रूपमें यह त्रिभुवन दिखायी देता है, वह अव्यक्त प्रकृति, सूत्रात्मा, महतत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन नौ मूलभूत तत्त्वोंके सहित ग्यारह इन्द्रियों तथा पञ्चभूत—इन सोलह विकारोंसे बना हुआ है। (चेतना द्वारा विराट्‌रूपको अधिष्ठित करनेपर इसमें तीनों लोक दिखायी देने लगते हैं।)॥ ५॥

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः॥ ६॥

प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः॥ ७॥

लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्द्धजाः॥ ८॥

यही भगवान्‌का पौरुष रूप है। (किस किस विभूति द्वारा कौन-कौन-सा अङ्ग कल्पित है, वही बतलाते हैं। सच्चिदानन्द विग्रह जगदीश्वर भगवान्‌के चरणयुगल यह भूलोक है, (अभेद निदर्शनके लिए कहते हैं कि भूलोक ही चरण-द्वय हैं—अपने चरणोंसे वे अपनी विभूति पृथ्वीका धारण-पोषण करते हैं) स्वर्ग लोक उनका मस्तक है, आकाश नाभि है, सूर्य नेत्र-द्वय हैं, वायु

नासा-द्वय है, दिशाएँ कर्ण-द्वय हैं, प्रजापति जननाङ्ग है, मृत्यु पायु (गुदा) है, लोकपालगण उनकी भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है, यमराज भ्रू-युगल है, लज्जा ऊपरका ओष्ठ है, लोभ नीचेका ओष्ठ है, ज्योत्सना दन्त-पंक्ति है, भ्रम अर्थात् माया हास्य है, वृक्षावली रोम है और मेघ-माला विराट् पुरुषके केश-स्वरूप है॥ ६-८॥

यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया॥ ९॥

यह लौकिक व्यष्टि पुरुष जिस प्रकार अवयव-सन्निवेश द्वारा परिमाण विशिष्ट (सात वितस्ति) है, उक्त विराट् पुरुष (समाष्टि) भी लोक सन्निवेश द्वारा उसी प्रकारसे परिमाण विशिष्ट (सात वितस्ति) है॥ ९॥

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्त्यजः।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षाच्छ्रीवत्समुरसा विभुः॥ १०॥

अजन्मा भगवान् श्रीहरि कौस्तुभमणिके छलसे शुद्ध जीव-चैतन्यरूप आत्मज्योतिको धारण करते हैं तथा उस कौस्तुभकी सर्वव्यापिनी प्रभाको ही साक्षात् श्रीवत्सरूपसे अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं। [अकार द्वारा विष्णु, उकार द्वारा श्रीलक्ष्मी एवं मकार—उन दोनोंके दासको पच्चीस तत्त्वात्मक (जीव) कहते हैं। इसी कारणसे भगवान् अपने दासको हृदयमें धारण करते हैं। कौस्तुभकी ज्योतिः दक्षिण स्तनके ऊर्ध्वपर्यन्त व्याप्त है, उसीको श्रीवत्स कहते हैं। अर्थात् भगवान् दक्षिणावर्त्त शुभ्रवर्ण मृणाल तन्तुके समान सूक्ष्म रोमावलिके आकारको धारण करते हैं। (श्रीवत्सकी विभूति धर्म है) इसी प्रकार वाम स्तनके ऊपर लक्ष्मी रेखा अथवा स्वर्णरेखा है। (इसकी विभूति जगत्के राज्य आदि सम्पद् हैं।)]॥ १०॥

स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम्॥ ११॥

बिभर्त्ति साङ्ख्यं योगञ्च देवो मकरकुण्डले।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्व्वलोकाभयङ्करम्॥ १२॥

विविध गुणमयी अर्थात् त्रिगुणमयी निज माया उनकी वनमालाकी विभूति है तथा पीताम्बरकी विभूति वैदिक छन्द हैं, त्रिमात्रक (अ, उ, म) प्रणव ब्रह्मसूत्र (यज्ञसूत्र अर्थात् जनेऊ) के रूपमें है, सांख्य एवं योगशास्त्रको वे मकराकृति कुण्डल-द्वयके रूपमें एवं सर्वाभयप्रद शिरोभूषण अर्थात् किरीटके रूपमें वे ब्रह्मलोकको धारण करते हैं॥ ११-१२॥

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥ १३॥

जिसको अधिष्ठान करके भगवान् अवस्थित हैं, वह अनन्त नामक आसन (शेषशय्या) अव्याकृत प्रधान (प्रकृतिकी अव्यक्त अवस्था) कहा जाता है। प्रधान अनन्तकी विभूति है, जो जगत्‌की सृष्टिका आदि कारण है तथा धर्म, ज्ञानादिसे युक्त जो सत्त्वगुण है वही नाभिकमल (पद्मासन) है॥ १३॥

ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्॥ १४॥
नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम्।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम्॥ १५॥

(जिन अस्त्रोंको वे धारण करते हैं, उनके सम्बन्धमें बतलाते हैं) ओजः शब्दसे इन्द्रिय शक्ति (मरुत्), सहः शब्दसे मनःशक्ति (व्योम) एवं बल शब्दसे दैहिक शक्ति (क्षिति)—इन तीन शक्तियोंसे युक्त प्राण तत्त्व ही गदा रूपमें वर्णित है, इस प्रकारसे पाञ्चजन्य शङ्ख जलतत्त्व एवं सुदर्शन तेज तत्त्व है। आकाशके समान निर्मल नभः तत्त्व उनका असि (तलवार) है एवं तमोतत्त्व चर्म (ढाल) है। शार्ङ्ग नामक धनुष कालस्वरूप एवं कर्मेन्द्रियाँ तरकस स्वरूप हैं॥ १४-१५॥

इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम्।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम्॥ १६॥

ज्ञानेन्द्रियाँ शरस्वरूप हैं, क्रियाशक्तियुक्त (चञ्चल एवं वेगवान्) मनः रथस्वरूप है और शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ उनके रथके बाहर अभिव्यक्त होती हैं। उन्होंने वरद एवं अभयदरूप मुद्राएँ धारण कर रखी हैं—उनकी इन मुद्राओंसे (हाथोंके सङ्केतोंसे) लोक-व्यवहारके लिये उनकी क्रियाशीलता स्पष्टतः व्यक्त होती है॥ १६॥

मण्डलं देवयजनं दीक्षासंस्कार आत्मनः।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः॥ १७॥

सूर्यमण्डल अथवा अग्निमण्डल भगवद्-पूजाका अधिष्ठान (स्थान अर्थात् भूमि) है—यहाँ भगवान् पूजे जाते हैं, गुरुमुखसे प्राप्त दीक्षा-संस्कार भगवद्-पूजाका अधिकार (योग्यता) है अर्थात् दीक्षा आत्माकी शुद्धिका साधन है एवं मन्त्र-प्रयोगकी विभूति जीवका संस्कार है। भगवत्-सेवा जीवके समस्त पापोंकी विनाशिनी है॥ १७॥

भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत्॥ १८॥

ऐश्वर्यादि षड्गुण 'भग' शब्दके वाचक हैं। भगवान् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य—इन षड्गुणरूप लीलाकमलको धारण करते हैं। भगवान् धर्म तथा यशःस्वरूप चामर एवं व्यजनको स्वीकार करते हैं॥ १८॥

आतपत्रन्तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम्।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्॥ १९॥

हे द्विजगण! श्रीहरिका आतपत्र (छत्र) समस्त भयोंसे रहित वैकुण्ठधाम है एवं वेदत्रयी (ऋक्, यजुः एवं साम) गरुडस्वरूप है। ये गरुड ही वेदत्रयीको धारण करते हैं और यज्ञरूपी विष्णुके वाहनका काम करते हैं। (लोकगत जो कुछ

भी निर्भयत्व अनुभूत होता, उसे निश्चय ही छत्रकी विभूति जानना चाहिए।)॥ १९॥

अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।
विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्त्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः॥ २०॥

भगवान्से कभी अलग न होनेवाली भगवती लक्ष्मी देवी जगत्के अन्तर्यामी श्रीहरिकी नित्यशक्तिरूपिणी हैं। भगवान्के प्रधान पार्षद विष्वक्सेन तन्त्रमूर्त्ति अर्थात् पञ्चरात्रादि आगम स्वरूप हैं। भगवान्के स्वाभाविक गुण अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ ही नन्दादि आठों द्वारपाल हैं (पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें (२५६/९-२१) अठारह द्वारपालोंके नाम दिये गये हैं—नन्द, सुनन्द, जय, विजय, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, धाता, विधाता, कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख एवं सुप्रतिष्ठित।)॥ २०॥

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्त्तिव्यूहोऽभिधीयते॥ २१॥

चतुर्दिक्में स्थित चतुर्व्यूहके विषयमें बतलाते हैं—हे ब्रह्मन्! नारायण मूर्त्तिभेदसे नारायण स्वयं ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार नामोंसे (अंश-चतुर्व्यूहरूपसे) अभिहित होते हैं॥ २१॥

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते॥ २२॥

वे भगवान् ही विषय, इन्द्रिय, आशय एवं ज्ञानयुक्त वृत्तियोंके द्वारा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके रूपमें ध्यान किये जाते हैं (वासुदेवकी विभूति विश्व, सङ्कर्षणकी तैजस, प्रद्युम्नकी प्राज्ञ एवं अनिरुद्धकी विभूति तुरीय ज्ञान (दिव्य चेतनाका उच्चतम स्तर) कही जाती है। विषयको ग्रहण करनेवाली शक्ति ही इन्द्रिय है, आशय शब्दसे मन (अज्ञान-संस्कार) कहा जाता है। जिसके

द्वारा ज्ञान आवृत एवं विक्षिप्त होता है। ज्ञान इन तीनोंका साक्षी अथवा ज्ञाता है।)

चतुर्व्यूह-उपासनाको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे भगवान् ही जागरावस्थाके अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंको ग्रहण करते हैं, स्वप्नावस्थाके अभिमानी तैजस बनकर बाह्य विषयोंके बिना मन-ही-मन विविध विषयोंको ग्रहण करते हैं और देखते हैं, वे ही सुषुप्ति अवस्थाके अभिमानीप्राज्ञ बनकर विषय एवं मनके संस्कारोंसे युक्त अज्ञानसे आवृत्त हो जाते हैं और वे ही सबके साक्षी तृरीय रहकर समस्त ज्ञानोंके अधिष्ठान रहते हैं॥ २२॥

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्त्ति स्म चतुर्मूर्त्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः॥ २३॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार मूर्त्तियोंमें विश्व, तैजस, आदि रूपोंको धारण करके भी ईश्वररूपमें ही अवस्थित रहते हैं। उनकी चारों ही मूर्त्तियों अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध एवं आभूषणसे युक्त होती हैं। चारों ही स्वरूप विश्वादि चारों अवस्थाओंको धारण करते हैं। वासुदेवके अङ्ग (शरीर), उपाङ्ग (आयुध), आभूषण एवं पारिषद (सङ्गी) ये सभी भगवान्से अभिन्न हैं। वासुदेव अङ्ग, सङ्कर्षण उपाङ्ग, प्रद्युम्न अस्त्र एवं अनिरुद्ध पारिषद हैं।)॥ २३॥

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः॥ २४॥

हे द्विजवर! भक्तों द्वारा आत्मरूपमें लभ्य, स्वप्रकाश, स्वमहिमासे परिपूर्ण, वेदयोनि (वेदोंके मूल स्रोत) भगवान् अनावृतज्ञान (कर्मों एवं नामोंसे भगवान्का ज्ञान कभी आवृत नहीं होता) युक्त होकर अपनी माया द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करनेमें

ब्रह्मा-विष्णु-महेशके नामसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंके समान शास्त्रमें कहे गये हैं, परन्तु वस्तुतः वे भिन्न नहीं हैं। (भगवान् ब्रह्म अर्थात् वेदके प्रकाशक हैं, इनका कोई प्रकाशक नहीं है, ये स्वप्रकाश हैं, राजाके समान ऐश्वर्यके लिए इनको प्रकृतिकी अपेक्षा नहीं है—निज महिमासे परिपूर्ण हैं। क्रीड़ाके लिए निज शक्ति माया द्वारा ब्रह्मादि नामोंका सृजन करते हैं एवं वे ही इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं संहृति करते हैं। भगवान् द्वारा धारण की हुई कौस्तुभ मणि यह निर्दिष्ट करती है कि सभी जीव भगवान्‌के वक्षःस्थलकी कौस्तुभ मणि अर्थात् उसी मणिकी विभूति हैं। अतः एक भी जीव निन्दा अथवा विद्वेषके योग्य नहीं है।)॥ २४॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥ २५॥

हे कृष्णसख (अर्जुनके सखा)! हे वृष्णिश्रेष्ठ! पृथ्वी-द्रोही राजाओंके वंशको दहन करनेवाले! हे श्रवणमङ्गल! गोपवधुओं-नारदादि भक्तगणों द्वारा कीर्त्तित हे पुण्यकीर्त्तिशालिन्! हे गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! आप मुझ जैसे अपने सेवकोंकी रक्षा कीजिए॥ २५॥

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम्।
तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम्॥ २६॥

जो ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर पवित्र एवं तद्‌गतचित्त होकर पूर्वोक्त मन्त्रका (अङ्ग, उपाङ्ग, आयुधादि वर्णनात्मक पाठका) जप करता है, वह हृदयस्थ महापुरुषरूपी ब्रह्मका दर्शन प्राप्त कर लेता है अर्थात् अन्तर्यामी परमात्माको जान लेता है॥ २६॥

श्रीशौनक उवाच—

शुको यदाह भगवान् विष्णुराताय शृण्वते।
सौरो गणां मासि मासि नाना वसति सप्तकः॥ २७॥

तेषां नामानि कर्माणि नियुक्तानामधीश्वरैः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः॥ २८॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे सूतजी! सौर सप्तगण (सूर्य सम्बन्धित सात प्रकारके पुरुष सूर्य देवता, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, राक्षस तथा नाग) प्रत्येक मासमें विभिन्न स्थानोंमें अवस्थान करते हैं अर्थात् प्रत्येक महीने बदलते रहते हैं। यह श्रीशुकदेवजीसे कथा श्रवण करनेवाले कहाराज परीक्षित्को (पञ्चम स्कन्धमें) बतलाया गया था। हम श्रीहरिके व्यूह (अंश-विस्तार) के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हैं। आप हमें बतलाइए कि ये सप्तगण अपने अधिपतियों द्वारा अधिष्ठित होकर (अपने स्वामी द्वादश आदित्योंके साथ रहकर) क्या करते हैं? इन सप्तमूर्त्तियोंके नाम क्या-क्या हैं?॥ २७-२८॥

श्रीसूत उवाच—

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम्।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्त्तते॥ २९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—निखिल प्राणियोंके अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरिने अपनी अनादि एवं अचिन्त्य मायाके द्वारा सूर्यदेवकी रचना की है। ये सूर्यदेव समस्त लोकोंके प्रवर्त्तक (निर्वाहक) रूपमें सभी लोकोंमें विचरण करते हैं॥ २९॥

एक एव हि लोकानां सूर्य्य आत्मादिकृद्धरिः।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥ ३०॥

जगत्के अन्तर्यामी आदिकर्ता अद्वितीय श्रीहरि ही वास्तवमें सूर्यके रूपमें प्रकाशित होते हैं। समस्त वैदिक क्रियाओंके मूल (उद्‌गम) कारण उनका ही ऋषियोंने उपाधि भेदसे बहुत रूपों एवं नामोंमें वर्णन किया है॥ ३०॥

कालो देशः क्रिया कर्त्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥ ३१॥

हे शौनकजी! वे ही श्रीहरि मायाके द्वारा काल (प्रातः कालादि), समतलादि देश, यज्ञादि क्रिया, कर्त्ता (ब्राह्मणादि), स्रुवा आदि करण, यागादि कर्म, वेदमन्त्र, शाकल्य आदि द्रव्य और स्वर्गादि फलरूपसे नौ प्रकारके कहे गये हैं॥ ३१॥

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक्।
लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः॥ ३२॥

कालरूपधारी भगवान् सूर्य लोक यात्राका सम्यक् निर्वाह करनेके लिए चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ भ्रमण करते हैं॥ ३२॥

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी॥ ३३॥

हे मुनि! धाता नामक सूर्य, कृतस्थली नामक अप्सरा, हेति नामक राक्षस, वासुकि नामक नाग, रथकृत नामक यक्ष, पुलस्त्य नामक ऋषि और तुम्बुरु नामक गन्धर्व—ये चैत्र मासमें अपने-अपने कार्योंका निर्वाह करते हैं॥ ३३॥

अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम्॥ ३४॥

अर्यमा नामक सूर्य, पुलह नामक ऋषि, अथौजा नामक यक्ष, प्रहेति नामक राक्षस, पुञ्जिकस्थली नामकी अप्सरा, नारद नामक गन्धर्व, कच्छनीर नामक नाग—ये वैशाख मासके कार्य-निर्वाहक हैं॥ ३४॥

मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी॥ ३५॥

मित्र नामक सूर्य, अत्रि नामक ऋषि, पौरुषेय नामक राक्षस, तक्षक नामक नाग, मेनका नामकी अप्सरा, हहा नामक गन्धर्व और रथस्वन नामक यक्ष—ये शुक्र अर्थात् ज्येष्ठ मासके कार्य-निर्वाहक हैं॥ ३५॥

वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी॥ ३६॥

वरुण नामक सूर्यके साथ वशिष्ठ नामक ऋषि, रम्भा नामकी अप्सरा, सहजन्य नामक राक्षस, हूहू नामक गन्धर्व, शुक्र नामक नाग और चित्रस्वन नामक यक्ष आषाढ़ मासमें अपने-अपने कार्यका निर्वाह करते हैं॥ ३६॥

इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी॥ ३७॥

इन्द्र नामक सूर्य, विश्वावसु नामक गन्धर्व, श्रोता नामक यक्ष, एलापत्र नामक नाग, अङ्गिरा नामक ऋषि, प्रम्लोचा नामकी अप्सरा और वर्य नामक राक्षस—ये नभ अर्थात् श्रावण मासके निर्वाहक हैं॥ ३७॥

विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी॥ ३८॥

विवस्वान् नामक सूर्य, उग्रसेन नामक गन्धर्व, व्याघ्र नामक राक्षस, आसारण नामक यक्ष, भृगु नामक ऋषि, अनुम्लोचा नामक अप्सरा और शङ्खपाल नामक नाग—ये भाद्र महीनेके कार्यके निर्वाहक हैं॥ ३८॥

पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी॥ ३९॥

पूषा नामक सूर्य, धनञ्जय नामक नाग, वात नामक राक्षस, सुषेण नामक गन्धर्व, सुरुचि नामक यक्ष, घृताची नामकी अप्सरा और गौतम नामक ऋषि—ये माघ महीनेके कार्यके निर्वाहक हैं॥ ३९॥

ऋभुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित् तथा।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी॥ ४०॥

पर्जन्य नामक सूर्य, ऋभु नामक यक्ष, वर्चा नामक राक्षस, भरद्वाज नामक ऋषि, सेनजित् नामकी अप्सरा, विश्व नामक

गन्धर्व और ऐरावत नामक नाग—ये फाल्गुन महीनेके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४०॥

अथांशु कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी॥ ४१॥

अंशु नामक सूर्य, कश्यप नामक ऋषि, तार्क्ष्य नामक यक्ष, ऋतसेवन नामक गन्धर्व, उर्वशी नामक अप्सरा, विद्युच्छत्रु नामक राक्षस और महाशङ्ख नामक नाग—ये अग्रहायण मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४१॥

भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी॥ ४२॥

भग नामक सूर्य, स्फूर्ज नामक राक्षस, अरिष्टनेमि नामक गन्धर्व, ऊर्ण नामक यक्ष, आयु नामक ऋषि, कर्कोटक नामक नाग और पूर्वचित्ति नामकी अप्सरा—ये पौष मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४२॥

त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा।
ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद्धृतराष्ट्र इषम्भराः॥ ४३॥

त्वष्टा नामक सूर्य, जमदग्नि नामक ऋषि, कम्बल नामक नाग, तिलोत्तमा नामकी अप्सरा, ब्रह्मापेत नामक राक्षस, शतजित् नामक यक्ष और धृतराष्ट्र नामक गन्धर्व—ये आश्विन मासके पालक हैं॥ ४३॥

विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित्।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी॥ ४४॥

विष्णु नामक सूर्य, अश्वतर नामक नाग, रम्भा नामकी अप्सरा, सूर्यवर्चा नामक गन्धर्व, सत्यजित् नामक यक्ष, विश्वामित्र नामक ऋषि और मखापेत नामक राक्षस—ये कार्तिक मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४४॥

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने॥ ४५॥

आदित्यरूपी भगवान् श्रीहरिकी इन सारी विभूतियोंको प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी पापराशि विनष्ट हो जाती है॥ ४५॥

द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै।
चरन् समन्तात् तनुते परत्रेह च सन्मतिम्॥ ४६॥

उक्त सूर्यदेव गन्धर्वादि षड् गणोंके साथ बारहों महीने सर्वत्र भ्रमण करते हैं और मनुष्योंके इहलोक एवं परलोकमें सन्मति (शुभ चेतना) का विस्तार करते हैं॥ ४६॥

सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम्।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः॥ ४७॥
उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः॥ ४८॥

ऋषिगण, उनके (सूर्यदेवके) प्रकाशक साम, ऋक् एवं यजुः मन्त्रों द्वारा इन सूर्यदेवकी सम्यक् स्तुति करते हैं, गन्धर्व उनके माहात्म्यका गान करते हैं, अप्सराएँ उनके सम्मुख नृत्य करती हैं, नाग दृढ़तापूर्वक उनके रथको बाँधे रहते हैं, यक्ष रथमें घोड़ोंको योजित करते हैं और बलवान् राक्षस पीछेसे बलपूर्वक रथका सञ्चालन करते हैं॥ ४७-४८॥

वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्॥ ४९॥

वालखिल्य नामक साठ हजार विशुद्धचित्त ब्रह्मर्षि उनकी (सूर्यकी) ओर मुख करके उनके आगे-आगे चलते हैं एवं स्तुति-वचनोंसे सूर्यदेवकी स्तुति करते हैं॥ ४९॥

एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमदादित्यव्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अनादिनिधन (आद्यन्तरहित) अज भगवान् जगदीश्वर श्रीहरि प्रत्येक कल्पमें इस प्रकारसे अपना विभाग करके सारे लोकोंका पालन करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी संक्षिप्त विषय-सूची

श्रीसूत उवाच—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—मैं हरिभक्तिस्वरूप महत् धर्म एवं भक्ति-प्राप्य जगत्के विधाता श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ। अनन्तर व्यासादि ब्राह्मणोंको एवं श्रीमद्भागवत-प्रकाशक-गणोंको नमस्कार करके सनातन धर्म (भगवान्के, भक्तियोगके एवं श्रीकृष्ण चरित्रोंके निर्गुणत्वके कारण नित्य धर्म) का वर्णन करूँगा। महत् धर्मसे तात्पर्य है—भगवत्-लीला-चरितोंका श्रवण एवं कीर्तन॥ १॥

एतद्वः कथिते विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम्।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नारणां पुरुषोचितम्॥ २॥

हे मुनिगण! आपने मुझसे मनुष्योंके सुनने योग्य जिस विषयकी जिज्ञासा की थी, विष्णुका वही अद्भुत चरित मैंने आपके निकट वर्णन किया है॥ २॥

अत्र संकीर्त्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः।
नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः॥ ३॥

यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है। इसमें नारायण (नार अर्थात् जीवोंके, अयन अर्थात् आश्रय), हृषीकेश (समस्त के प्रवर्त्तक अथवा स्वामी), उद्धवादि सात्वतोंके पति, भगवान् यादवेश्वर श्रीहरिका साक्षात्‌रूपसे वर्णन हुआ है॥ ३॥

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम्।
ज्ञानञ्च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम्॥ ४॥

इस श्रीमद्भागवत नामक महापुराणमें निर्गुण परब्रह्मके परम रहस्यमय (वाक् आदि इन्द्रियोंसे अग्राह्य अति गोपनीय) तत्त्वका वर्णन हुआ है। उनसे ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं। इस पुराणमें उन्हीं परब्रह्मके विज्ञान-सहित ज्ञान (साक्षात् अनुभवके सहित) ज्ञानका वर्णन है, एवं उसके साधनोंका स्पष्ट निर्देश है॥ ४॥

भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यञ्च तदाश्रयम्।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च॥ ५॥

इस पुराणमें साध्य-साधनरूप भक्तियोग और उससे उत्पन्न वैराग्यका भी भलीभाँति वर्णन उपलब्ध है। इसमें श्रीपरीक्षित् महाराजके और देवर्षि नारदजीके उपाख्यान भी बतलाये गये हैं॥ ५॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः॥ ६॥

इस ग्रन्थमें बतलाया गया है कि मुनिके शापके कारण राजर्षि परीक्षित्ने किस प्रकार प्रायोपवेशन (उपवास) का व्रत ले लिया था। ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव एवं परीक्षित्के मध्य भगवत्-धर्म विषयक प्रश्नोत्तररूप संवादका वर्णन भी इसमें हुआ है॥ ६॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः।
अवतारानुगीतञ्च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः॥ ७॥

योग-धारणाके द्वारा उत्क्रान्ति (शरीर-त्याग) अर्थात् अर्चिरादि गति, ब्रह्मा-नारदजीका संवाद, अवतार-सङ्कीर्तन एवं महत्तत्त्वादिरूपमें प्रधान कार्य-रूप प्राकृतिक सृष्टिका वर्णन हुआ है। (प्रथम स्कन्धसे ही प्रकरणके अर्थोंका अनुक्रम करके कहते हैं—पहले जन्मगुह्याध्यायकी कथा अति प्रसिद्ध होनेपर भी उसका लङ्घन

किया गया है। इसी प्रकारसे चित्रकेतु, त्रिपुरवध आदिकी कथा, भीष्म-निर्याण, अम्बरीष आदिकी कथा, अघासुर-वध, ब्रह्ममोहनादि कथा—इस प्रकारसे बहुत-सी कथाओंका भी लङ्घन किया गया है। कहीं-कहीं विपरीत क्रम भी हुआ है।)॥७॥

विदुरोद्धव-संवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः॥८॥

विदुरजी एवं उद्धवका संवाद, अनन्तर विदुर एवं मैत्रेयजीका संवाद, पुराण संहिता विषयक प्रश्न एवं महापुरुषका अवस्थान (महापुरुषमें अर्थात् भगवान् पद्मनाभमें संस्थिति-प्रलयकालमें उनके उदरमें ब्रह्माका शयन) वर्णित हुआ है॥८॥

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः॥९॥

अनन्तर गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न प्राकृतिक सृष्टि, महत्तत्त्वादि सात-विकृति-प्रकृतिके द्वारा कार्य सृष्टि एवं ब्रह्माण्डोत्पत्तिका वर्णन हुआ है। इसी प्रसङ्गमें विराट्पुरुषकी स्थितिके विषयमें भी बतलाया गया है॥९॥

कालस्य स्थूल-सूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा॥१०॥

स्थूल एवं सूक्ष्म कालगति, नाभि-कमलकी सृष्टि (गर्भोदशायी विष्णुकी नाभिसे लोककमलकी उत्पत्ति) एवं प्रलय-समुद्रसे पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहजी द्वारा हिरण्याक्षके वधका वृत्तान्त वर्णित हुआ है॥१०॥

ऊद्र्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च।
अर्द्धनारीश्वरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः॥११॥

अनन्तर ऊर्ध्व-सृष्टि (देवतादि उच्च योनियोंकी सृष्टि) मनुष्योंकी सृष्टि, तिर्यक् सृष्टि (पशु-पक्षीकी सृष्टि), अधः-सृष्टि (निम्न आसुरी आदि योनियोंकी सृष्टि), रुद्र सृष्टि एवं स्वायम्भुव मनुके उत्पत्तिक्षेत्र

अर्धनारीश्वरकी सृष्टि (अर्धनारीश्वरसे स्वायम्भुव मनुका प्राक्ट्य) भी वर्णित हुई है। (अर्द्ध नारी-नरसे मनु एवं शतरूपाका जन्म हुआ है)॥ ११॥

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः॥ १२॥

नारियोंमें श्रेष्ठ उत्तम आद्या प्रकृति शतरूपा नामकी स्त्रीकी कथा एवं कर्दम प्रजापतिकी धर्मपत्नियोंकी सन्ततिका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है॥ १२॥

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता॥ १३॥

अनन्तर महात्मा भगवान् कपिलदेवके अवतार एवं परम विवेकी कपिलमुनिके साथ देवहूतिके संवादके विषयमें बतलाया गया है॥ १३॥

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम्।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात् पृथोः प्राचीनबर्हिषः॥ १४॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च॥ १५॥

मरीचि आदि नवसंख्यक ब्राह्मणोंकी (ब्रह्माके पुत्रोंकी) उत्पत्ति, प्रजापति दक्षके यज्ञका विनाश, ध्रुव-चरित, पृथु-चरित, प्राचीनबर्हिः-चरित एवं प्राचीनबर्हिः तथा नारदके मध्य संवादका वर्णन हुआ है। हे द्विजो! इसके साथ ही प्रियव्रत-चरित, नाभि-चरित, ऋषभ-चरित एवं भरत-चरित भी वर्णित हुए हैं॥ १४-१५॥

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः॥ १६॥

इस ग्रन्थमें द्वीप-वर्ष-समुद्रोंका, पर्वत एवं नदियोंका सम्यक्रूपेण वर्णन प्राप्त होता है। साथ ही ज्योतिष्क-मण्डलकी स्थिति तथा पाताल एवं नरककी स्थिति भी बतलायी गयी है।

नरकको दूर करनेवाले अजामिल-उपाख्यानका वर्णन इसके बाद हुआ है॥ १६॥

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणाञ्च सन्ततिः।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः॥ १७॥

प्रचेताओंके पुत्ररूपमें दक्षका पुनर्जन्म, दक्षकी कन्याओंकी सन्तानोत्पत्ति एवं उनसे देव, असुर, नर, तिर्यक् योनि, वृक्ष, पक्षी इत्यादि समस्त प्राणियोंके जन्मके विषयमें छठे स्कन्धमें बतलाया है॥ १७॥

त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः॥ १८॥

हे द्विजगण! वृत्रासुरका जन्म एवं संहार, हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुका जन्म तथा वध और दैत्येश्वर (दैत्य-शिरोमणि) महात्मा प्रह्लादका चरित भी इसमें वर्णित हुआ है॥ १८॥

मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः॥ १९॥

ग्रन्थमें मन्वन्तरोंका वर्णन, गजेन्द्र-मोक्ष एवं विभिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले श्रीहरिके हयग्रीवादि अवतारोंका वर्णन हुआ है॥ १९॥

कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनञ्च जगत्पतेः।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम्॥ २०॥

अनन्तर जगत्पति श्रीहरिके कौर्म, मात्स्य, नारसिंह एवं वामन अवतार तथा अमृत-प्राप्ति हेतु देवताओंके समुद्र-मन्थनकी कथा कही गयी है॥ २०॥

देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्त्तनम्।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः॥ २१॥

देवासुर-महायुद्ध, राजवंश-वर्णन, इक्ष्वाकु-जन्म, उनके वंशका वर्णन एवं महात्मा सुद्युम्नके वंशके वर्णनके विषयमें भी बतलाया गया है॥ २१॥

इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः॥ २२॥

मरीचि आदि नव ब्राह्मणोंसे उत्पत्ति, इला एवं ताराका उपाख्यान, सूर्य-वंश वर्णन, शशाद तथा नृग आदि राजाओंके चरित्रका वर्णन हुआ है॥ २२॥

सौकन्यञ्चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च॥ २३॥

अनन्तर सुकन्या, शर्याति, ककुत्स्थ, खट्वाङ्ग, मान्धाता, सौभरि ऋषि एवं सगरका चरित भी कीर्त्तित हुआ है॥ २३॥

रामस्य कोशलेन्द्रस्य चरितं किल्विषापहम्।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानाञ्च सम्भवः॥ २४॥

कौशल-नरेश भगवान् श्रीरामचन्द्रका पुण्य-चरित, महाराज निमिका देह-त्याग एवं जनक राजाओंकी उत्पत्तिके विषयमें भी बतलाया गया है॥ २४॥

रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च॥ २५॥
दौष्मन्तेर्भरतस्यापि शान्तनोस्तत्सुतस्य च।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्त्तितः॥ २६॥

परशुराम द्वारा क्षत्रियोंका संहार, सोमवंशीय ऐल, ययाति, नहुष, दुष्मन्त-नन्दन भरत, शान्तनु एवं उनके पुत्र भीष्मादिका तथा ययातिके ज्येष्ठ-पुत्र यदुके वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है॥ २५-२६॥

यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले॥ २७॥

यदुवंशमें कृष्ण नामक जगदीश्वर भगवान् अवतीर्ण हुए हैं। वसुदेव-गृहमें उनका जन्म एवं गोकुलमें उनके बड़े होनेकी अनेकानेक लीलाएँ इस ग्रन्थमें वर्णित हुई हैं॥ २७॥

तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्त्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः॥ २८॥
तृणावर्त्तस्य निष्पेषस्तथैव बक-वत्सयोः।
अघासुरवधो धात्रा वत्सपालावगूहनम्॥ २९॥

असुर-रिपु श्रीकृष्णके अनन्त लीला-चरित्रोंका निरूपण है यथा बाल्यावस्थामें पूतनाका स्तनपान करते हुए उसका प्राण-संहार, शकट-निक्षेप, तृणावर्त्त, बक एवं वत्सासुर-वध, अघासुर-वध एवं ब्रह्मा द्वारा गोवत्सोंका हरणादि वर्णन हुआ है॥ २८-२९॥

धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः।
गोपानाञ्च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः॥ ३०॥

श्रीकृष्णके साथ बलदेवजी द्वारा धेनुक एवं प्रलम्बासुरका संहार एवं परिसरणशील (चारों दिशाओंमें फैलते हुए) दावानलसे गोपोंके परित्राणके विषयमें बतलाया गया है॥ ३०॥

दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम्।
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः॥ ३१॥
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणाञ्चानुतापनम्।
गोवर्द्धनोद्धारणञ्च शक्रस्य सुरभेरथ॥ ३२॥
यज्ञाभिषेकः कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु।
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः॥ ३३॥

अनन्तर कालियनाग-दमन, महासर्पके ग्राससे नन्द महाराजका परित्राण, कृष्ण-प्राप्ति हेतु गोपकन्याओंकी व्रत-चर्या, व्रतसे श्रीकृष्णका सन्तोष, यज्ञरत विप्रपत्नियोंके प्रति अनुग्रह, विप्रोंका अनुताप, गोवर्द्धन-धारण, इन्द्र एवं सुरभि द्वारा यज्ञ एवं अभिषेक, शारदीय रात्रियोंमें गोप-रमणियोंके साथ रासक्रीड़ा, शङ्खचूड़, अरिष्ट एवं केशी नामक दैत्योंके संहारका भी वर्णन हुआ है।॥ ३१-३३॥

अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः।
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः॥ ३४॥

तदनन्तर अक्रूरका मथुरासे वृन्दावन-आगमन, उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजीका मथुराके लिए प्रस्थान, व्रज रमणियोंका विलाप तथा श्रीबलदेव और श्रीकृष्णके मथुरा दर्शनका वर्णन हुआ है॥ ३४॥

गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां तथा वधः।
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः॥ ३५॥

अतःपर कंसके कुवलयापीड़ नामक हाथी, मुष्टिक, चाणूर और कंस आदिका संहार, यमालयसे गुरु सान्दीपनि मुनिके मृत पुत्रका पुनः आनयन आदि प्रसङ्गोंका भी वर्णन हुआ है॥ ३५॥

मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत् प्रियम्।
कृतमुद्धव-रामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः॥ ३६॥

हे ब्राह्मणो! तदनन्तर मथुरामें रहते समय उद्धव और श्रीबलरामके सहित श्रीकृष्णने यदुवंशियोंके जो सब प्रियकार्य सम्पन्न किये थे, उनका वर्णन हुआ है॥ ३६॥

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम्॥ ३७॥

जरासन्ध द्वारा सत्रह बार एकत्र करके लायी गयी सेनाओंका वध, कालयवनका मुचुकुन्द द्वारा संहार एवं रातोंरात द्वारकापुरीकी स्थापनाका वर्णन किया गया है॥ ३७॥

आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात्।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः॥ ३८॥

अनन्तर स्वर्गसे द्वारकामें पारिजात वृक्ष एवं सुधर्मा नामकी देवसभाका आनयन (लाना) तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजय करते हुए रुक्मिणीदेवीके हरणकी कथा बतलायी गयी है॥ ३८॥

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम्।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणञ्च यत्॥ ३९॥

बाणासुर-युद्धमें शिवजीका स्तम्भन (उनका जँभाई लेते रह जाना), बाणासुरकी भुजाओंका छेदन तथा प्राग्ज्योतिष-पुराधिपति नरकासुरका वध करते हुए उसके द्वारा अवरुद्ध सोलह हजार स्त्रियोंके द्वारकामें लानेकी कथा भी वर्णित हुई है॥ ३९॥

चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्रस्य दुर्मतेः।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः॥ ४०॥

माहात्म्यञ्च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम्।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्॥ ४१॥

शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुर्मति दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन इत्यादिके प्रभाव एवं उनका संहार, वाराणसी-पुरी-दाह तथा पाण्डवोंको निमित्त करके भू-भार-हरणकी कथा भी कही गयी है॥ ४०-४१॥

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः॥ ४२॥

यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः।
ततो मर्त्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः॥ ४३॥

हे शौनकजी! अनन्तर विप्र-शापके छलसे अपने वंशका संहार, वसुदेव-संवाद एवं उद्धव-संवादमें सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान-वर्णन एवं वर्णाश्रमधर्म-निर्णय तथा अपनी योगमायाके प्रभावसे मनुष्य-लीला एवं मर्त्त्यलीलाके परित्यागका वर्णन किया गया है॥ ४२-४३॥

युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा॥ ४४॥

विभिन्न युगोंके लक्षण, युगानुरूप वृत्ति, कलियुगमें मानवोंका उपद्रव (धर्म-विप्लव) चार प्रकारके प्रलय एवं त्रिविधा (प्राकृती, नैमित्तिकी एवं नित्या) सृष्टिका वर्णन हुआ है॥ ४४॥

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः॥ ४५॥

इसके बाद महामति राजर्षि परीक्षित्‌का देह-त्याग, श्रीव्यासदेव द्वारा वेद-पुराणकी शाखाओंका विस्तार, मार्कण्डेयका पुण्य-चरित, महापुरुष-संस्थिति (भगवान्‌के अङ्ग-उपाङ्गोंके स्वरूपका वर्णन) एवं सूर्य-संस्थानका (सूर्यके गणोंका) वर्णन हुआ है॥ ४५॥

इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः।
लीलावतारकर्माणि कीर्त्तितानीह सर्वशः॥ ४६॥

हे द्विजश्रेष्ठगण! आप लोगोंने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किये थे, उन सबका वर्णन मैंने कर दिया। इस ग्रन्थमें समस्त प्रकारके लीलावतार-चरितोंका भी वर्णन किया गया है॥ ४६॥

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ ४७॥

जो ऊँचाईसे नीचे गिरते समय अथवा कुएँ आदिमें गिरते समय, सीढ़ीसे गिरते समय अथवा पग-सञ्चालनमें त्रुटिसे, दुःखी होकर अथवा छींकते समय अथवा छींकनेके बाद विवशतापूर्वक उच्च-स्वरसे 'हरये नमः' उच्चारण करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है (जड़ाभिनिवेश भोग एवं काल्पनिक त्यागसे उसकी मुक्ति हो जाती है।)॥ ४७॥

सङ्कीर्त्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥ ४८॥

भगवान् श्रीहरिका चरित-कीर्त्तन अथवा माहात्म्य श्रवण करनेपर वे मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट होकर उसी प्रकार सारे दुःखोंको दूर

कर देते हैं, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको एवं प्रबल वायु घनघोर मेघोंको छिटका देते हैं। (सूर्य हृदयगत गुहाके अन्धकारको दूर नहीं कर सकता, जब कि वैकुण्ठ श्रवण-जनित सम्यक् कथाएँ जीवके चित्तमें प्रविष्ट होकर भोग एवं त्यागकी प्रवृत्तिको नष्ट कर देती हैं।)॥ ४८॥

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा,
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं,
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥ ४९॥

जिसमें अधोक्षज भगवान् श्रीहरिकी कथाओंका कीर्त्तन नहीं, वे सभी कथाएँ असत्, मिथ्या एवं सारहीन हैं। जिन कथाओंमें भगवान्के अनन्त गुणोंका अभ्युदय होता है, वे ही वाक्य सत्य हैं, वे ही मङ्गलप्रद हैं एवं वे ही पुण्यजनक हैं—यह जान लेना चाहिए। (भागवत शास्त्रका तात्पर्य कृष्ण-कीर्त्तन ही है। जिन कथाओंमें भगवान्का वर्णन नहीं होता, वे असत् ही हैं। ऐसी असत् कथाएँ कहनेवाले सत्यवादी होनेपर भी मिथ्यावादी हैं, प्रियवादी होनेपर भी कटुभाषी हैं। इसके विपरीत अपनी कल्पनासे असत् होनेपर भी यदि उसमें भगवान्के यशका वर्णन है, तो वे सत्य हैं, गृहाश्रम-विध्वंसक होनेपर भी वे मङ्गलमयी हैं। इन कथाओंमें दोष कदापि नहीं होता।)॥ ४९॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ ५०॥

जिस वाणीके द्वारा उत्तमश्लोक भगवान्के परम पवित्र यशका गान क्षण-क्षण होता है, वही वाणी नव-नवायमानरूपमें अनुभूत होनेवाली, रुचिप्रद, रम्य, चित्तके लिए नित्य महोत्सवकारी एवं शोक-समुद्रको शोषित करनेवाली है॥ ५०॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥५१॥

जो वाणी पद-पदपर विचित्र छन्द-अलङ्कारसे युक्त हो, परन्तु उसमें श्रीहरिके लोकपावनकारी यशका वर्णन नहीं है, ऐसी वाणी विष्ठादिभोजी कौएके समान है, जो असारग्राही मनुष्योंके लिए तो प्रीतिप्रद हो सकती है, किन्तु ज्ञानियोंके लिए नहीं। सारग्राही ज्ञानी तो इसका सेवन (श्रवण) कभी नहीं करते। विमल चित्त, परम पवित्र, क्षीर-नीर भेदकारी साधुगण (हंसगण) भगवद्-गीतिसे युक्त वचनोंमें ही प्रीति रखते हैं और उनका ही निरन्तर सेवन करते हैं॥५१॥

तद्वाग्विसर्गो जनताघसंप्लवो,
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्,
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥५२॥

परमहंस साधु दूसरोंके द्वारा कीर्त्तित कथाओंको स्वयं सुनते हैं और श्रोताओंके समीप उनका गान करते हैं, कोई सुननेवाला न मिले तो स्वयं ही कथाएँ कहते हैं। श्रीहरिके यश, पुण्य नाम, रूप, लीलाओंसे युक्त काव्यादिमें यदि पद, बन्धादि शिल्पात्मक सौंदर्य न हो, तो भी उसके श्रवण-गान-कीर्त्तनसे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो जाता है। ['न यत् वच', 'तद् वाग्' एवं 'नैष्कर्म्यम्' ये तीनों श्लोक (भा.१०/१२/५१-५३) भक्तिकी सर्वोत्कर्षताके विस्तारक हैं। अतः इन तीनोंको महापुराणके प्रथम अध्याय (१/५/१०-१२) में भी कहा गया है, जैसे कोई महामन्त्र आदि एवं अन्तमें दो अथवा तीन बीजों द्वारा सम्पुटित होता है।]॥५२॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्॥ ५३॥

नैष्कर्म्य ब्रह्मका प्रकाशक एवं उपाधि निवर्त्तक (निरुपाधिक) निर्मल ज्ञान भी यदि विष्णु-भक्तिसे रहित होता है तो, वह यथार्थरूपमें शोभा नहीं पाता। अतः जो कर्म साधनकालमें एवं फलकालमें सर्वदा दुःखात्मक हैं, ऐसे कर्म सर्वोत्तम होकर भी यदि ईश्वरको समर्पित नहीं होते, तो वे किस प्रकारसे शोभा पा सकते हैं? (कर्मानुष्ठानके विनिमयमें जीवका किसी प्रकारसे मङ्गल नहीं हो सकता, मुक्त पुरुषोंका नैष्कर्म्य भी भगवद्-भक्तिसे रहित हो, तो वह भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता।)॥ ५३॥

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादरादिभिः ॥ ५४॥

वर्णाश्रम धर्मके अनुकूल आचरण, तपस्या एवं शास्त्र-श्रवणादि विषयक जो परिश्रम किया जाता है, वह मात्र यश एवं ऐश्वर्यका कारणस्वरूप हो सकता है, किन्तु भगवान्के गुणानुवादका आदरपूर्वक श्रवण श्रीधरके (श्रीहरिके) पादपद्म-युगलका अविस्मरण (अविचल स्मृति)—रूप महाफल प्रदान करता है॥ ५४॥

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥ ५५॥

कृष्ण-पदारविन्द युगलकी स्मृति मनुष्योंके अशुभका विनाश करती है, चित्तकी शुद्धि करती है, श्रीहरि-भक्ति प्रदान करती

है, विज्ञान-वैराग्यसे युक्त ज्ञान देती है एवं समस्त मङ्गलका विस्तार करती है। (भगवत्-स्मृति केवल अमङ्गलका ही विनाश करती हो, ऐसा नहीं है, यह प्रचुर मात्रामें वास्तव मङ्गल प्रदान करती है।)॥ ५५॥

यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम्।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा भजताविवेश्य॥ ५६॥

हे द्विजवरगण! आप सब अतिशय पुण्यवान् एवं धन्य हैं। आप सदा-सर्वदा अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित, सभी मनुष्योंके आराध्य, अन्य किसी देवताके अनधीन, जगदीश्वर नारायणको हृदयमें संस्थापित करके भक्तिसे युक्त होकर निरन्तर उनकी आराधना करते हैं। (भगवत्-सेवाके प्रभावसे बद्धजीवमें भी नित्य सेव्य प्रभुका, अपने सेवकत्वका एवं सेवावृत्तिके ज्ञानका उदय होता है।)॥ ५६॥

अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात्।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम्॥ ५७॥

पुराकालमें महाराज परीक्षित् प्रायोपवेशनका व्रत लेकर बड़े-बड़े ऋषि एवं अन्यान्य महाजनोंकी सभामें परमर्षि श्रीशुकदेवजीके मुखसे कथा श्रवण कर रहे थे, तब मैंने भी उस कथाको सुना था। अब आपने मेरे चित्तमें पुनः उसी आत्मतत्त्वकी स्मृति करायी है (भगवत्-कथा-श्रवणमें किञ्चित् मात्र भी अनुराग होनेपर जीवका परम मङ्गल होता है।)॥ ५७॥

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम्॥ ५८॥

हे विप्रगण! एकमात्र जिनका महान् चरित कीर्त्तनीय है, उन्हीं श्रीकृष्णके सर्व-पाप-विनाशन माहात्म्यका मैंने आपके निकट वर्णन किया है॥ ५८॥

य एतत् श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
श्लोकमेकं तदर्द्धं वा पादं पादार्द्धमेव वा।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः॥ ५९॥

जो तद्‌गतचित्त (कृष्णमयचित्त) होकर प्रति दिन प्रत्येक प्रहर, प्रत्येक क्षण दूसरोंके निकट इस भागवतशास्त्रका कीर्त्तन करते हैं अथवा श्रद्धायुक्त होकर इसके एक श्लोक, आधे श्लोक, श्लोकके चतुर्थ अथवा अष्टम भागका क्षण-प्रतिक्षण श्रवण करते हैं, वे अपनी आत्माको पवित्र करते हैं। (श्रद्धापूर्वक हरिकथा-श्रवण जीवके भक्ति-पथका प्रथम सोपान है।)॥ ५९॥

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान् भवेत्।
पठत्यनश्नन् प्रयतः पूतो भवति पातकात्॥ ६०॥

जो मनुष्य द्वादशी अथवा एकादशीको भागवत श्रवण करता है, वह दीर्घजीवी होता है और जो उन दिनों उपवासी रहकर एकाग्रचित्तसे इसका पाठ करता है, वह समस्त पापोंसे विमुक्त हो जाता है॥ ६०॥

पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान्।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात्॥ ६१॥

पुष्कर, मथुरा एवं द्वारका क्षेत्रमें उपवास करके जो संयत-चित्तसे इस भागवत-संहिताका पाठ करते हैं, वे समस्त भयोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ६१॥

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्त्तनात्॥ ६२॥

जो इस पुराणका कीर्त्तन करते हैं, दूसरोंको सुनाते हैं और स्वयं सुनते हैं—देवगण, मुनिगण, सिद्धगण, पितृगण,

मनुगण एवं राजागण ऐसे मनुष्योंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं॥ ६२॥

ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत् फलम्॥ ६३॥

ब्राह्मणगण ऋक्, यजुः एवं सामवेदका पाठ करके मधुकुल्या, घृतकुल्या, पयःकुल्या रूप (मधु, घी एवं दूधकी नदियाँ अर्थात् समस्त प्रकारकी समृद्धिरूप) जो भी फल प्राप्त करते हैं, इसका पाठ करनेपर मनुष्यको वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं॥ ६३॥

पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत् पदं परमं व्रजेत्॥ ६४॥

ब्राह्मण संयत चित्तसे इस पुराण संहिताका पाठ करनेपर भगवान्के उस परम-पदकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाते हैं, जिसका वर्णन भगवान्ने स्वयं किया है॥ ६४॥

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वञ्च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्॥ ६५॥

इस महासंहिताका अध्ययन करनेसे ब्राह्मणको भक्ति, क्षत्रियोंको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य, वैश्योंको निधिपति कुबेरका पद और शूद्रोंको पापसे छुटकारा मिल जाता है॥ ६५॥

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्त्तिः,
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गः॥ ६६॥

कलि-कलुष-विनाशन, सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वर श्रीहरिका अन्यान्य शास्त्रोंमें अव्याहत (निरन्तर) गतिसे कीर्त्तन नहीं है, परन्तु इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थके कथा-प्रसङ्गमें तो पद-पदपर अनन्त-विग्रह श्रीहरिकी ही कथा वर्णित हुई है॥ ६६॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदय–स्थिति–संयमात्म–शक्तिम्।
द्युपतिभिरज – शक्र – शङ्कराद्यै –
र्दुरवसितस्तवमच्युतं　　नतोऽस्मि॥ ६७॥

जो जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार शक्तिसे सम्पन्न होकर भी अच्युत हैं, ब्रह्मा, इन्द्र, महेश आदि स्वर्गके अधिपति भी जिनकी स्तुति करना लेशमात्र भी नहीं जानते, मैं उन्हीं अज, अनन्त, आत्मरूपी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ॥ ६७॥

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म–
न्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय　।
भगवत　उपलब्धिमात्रधाम्ने
सुरऋषभाय　नमः　सनातनाय॥ ६८॥

जिनके अनन्त विग्रहमें (अपने आत्मस्वरूपमें) ही प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्रारूप उपरचित (समीपमें निर्मित) नवविध शक्तियों द्वारा स्थावर–जङ्गमात्मक धामकी (आवासकी) व्यवस्था हुई है, उन्हीं विज्ञानरूपी (उपलब्धि द्वारा जिनके स्वरूपका ज्ञान होता है) सनातन, देवोत्तम श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ६८॥

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो–
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत　कृपया　यस्तत्त्वदीपं　पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं　व्याससूनुं　नतोऽस्मि॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

श्रीशुकदेव महाराज जो अपने आत्मानन्द (निर्गुण ब्रह्मानन्द अर्थात् ब्रह्म–साक्षात्कार) में विभोर रहते थे। अपने उसी भावके कारण उन्होंने अन्याभिलाषको अपसारित कर दिया था। श्रीहरिकी अति बलवती, रम्य और रुचिर लीलाओंके द्वारा उनका चित्त

आकृष्ट होकर स्थिरीभूत (कदापि विचनित न होनेवाला) हो गया था। उन्होंने जीवोंपर दया करनेके लिए परमार्थ-तत्त्वके प्रकाशक श्रीमद्भागवत-रूपी प्रदीपको प्रकाशित एवं विस्तृत किया है। मैं उन्हीं अखिल पाप-नाशन, व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको प्रणाम करता हूँ॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके बारहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

विभिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या और श्रीमद्भागवतकी महिमा

श्रीसूत उवाच—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र-रुद्र-मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपद-क्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र एवं मरुद्गण दिव्य स्तुति-वचन एवं अङ्ग—(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष एवं निरुक्त) तथा पद-क्रम-उपनिषद् युक्त वेदवचनोंके द्वारा जिनका स्तव करते हैं, साम-सङ्गीतज्ञ जिनके माहात्म्यका गान करते हैं, योगी समाधिकालमें एकाग्रचित्तसे जिनके स्वरूपका दर्शन करते हैं एवं सुर-असुर जिनके माहात्म्यकी सीमाको नहीं जान सकते, मैं उन देवताको प्रणाम करता हूँ॥ १॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्द-मन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कार-कलानुवर्त्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यर्नाद्यापि विश्राम्यति॥ २॥

महाभारी मन्दर पर्वत कच्छप भगवान्की पीठके ऊपर द्रुत गतिसे भ्रमण कर रहा था, उस समय उसकी चट्टानोंकी नोंकके घर्षणसे उनकी पीठमें खुजलाहट हो रही थी—जिससे तनिक-सा सुख मिलनेके कारण भगवान् सो गये थे—उन कूर्म भगवान्की श्वासवायु आप लोगोंकी रक्षा करें। इस श्वासवायुके संस्कारके

लेशमात्र अनुवर्त्तनके (भगवान्‌के श्वास-निश्वासके अनुकरणके) क्षोभके छलसे समुद्री जलराशिका यातायात (ज्वारभाटा) आज भी निरन्तर प्रवर्त्तमान (चल रहा) है, कभी भी विश्राम नहीं है। (कूर्मावतारका प्राकट्य एवं कूर्मलीलाकी प्रयोजनीयता बद्ध जीवोंके हृदयमें अनुकूल वायुके प्रभावसे जड़-भोग्य-कण्डूयनकी शान्ति करे, उनका श्वासानिल बद्धजीवोंके तर्क-कण्डूयनकी भी शान्ति करे।)॥ २॥

पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत॥ ३॥

हे द्विजगण! अब आप पुराण-संहिताओंकी श्लोक-संख्या, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय एवं प्रयोजन, इसका दान, दान-पद्धति, दान-माहात्म्य एवं इसके पाठादिकी महिमा श्रवण करें। (जिस प्रकार राजाके सम्मुख उसकी स्तुति करते समय मण्डलेश्वरोंकी भी गणना की जाती है, उसी प्रकार महापुराण-चक्रवर्त्ती श्रीमद्भागवतके निकट सभी पुराणोंकी संख्याका स्मरण किया जाना चाहिए।)॥ ३॥

ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम्॥ ४॥

दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः।
मार्कण्डं नव वाह्नञ्च दशपञ्चचतुःशतम्॥ ५॥

चतुर्द्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशैव तु॥ ६॥

चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम्।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्त्तितम्॥ ७॥

कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्द्दश।
एकोनविंशत् सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु॥ ८॥

एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।
तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ ९॥

ब्रह्मपुराण दस हजार श्लोकात्मक, पद्मपुराण पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराण तेईस हजार, शिवपुराण चौबीस हजार, श्रीमद्भागवत अठारह हजार, नारदपुराण पच्चीस हजार, मार्कण्डेय पुराण नौ हजार, अग्निपुराण पन्द्रह हजार चार सौ, भविष्यपुराण चौदह हजार पाँच सौ, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण अठारह हजार, लिङ्गपुराण ग्यारह हजार, वराहपुराण चौबीस हजार, स्कन्दपुराण इक्यासी हजार एक सौ, वामनपुराण दस हजार, कूर्मपुराण सत्रह हजार, मत्स्यपुराण चौदह हजार, गरुड़पुराण उन्नीस हजार एवं ब्रह्माण्डपुराण बारह हजार श्लोकात्मक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पुराणोंके श्लोकोंकी कुल संख्या चार लाख कही गयी है। इनमें श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार श्लोक हैं। (जिस प्रकार अवतारोंमें कृष्णकी गणना करके पुनः 'एते चांश कला' इत्यादि कहकर कृष्णकी पृथक्‌रूपसे गणना है, उसी प्रकार पुराणोंमें भी श्रीमद्भागवतकी गणना करके अठारह हजार श्लोकात्मक श्रीमद्भागवतकी पुनः गणना इसके पुराणचक्रवर्त्तित्वको प्रकाश करती है। 'श्रीमत्' यह पद इसकी सम्पूर्णताको निर्दिष्ट करता है॥ ४-९॥

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्॥ १०॥

हे शौनकजी! भगवान् नारायणने सर्वप्रथम अपने नाभिकमलपर स्थित और संसारसे (दुर्दमनीय इन्द्रियोंसे) भयभीत ब्रह्मापर कृपा करके इस श्रीमद्भागवतका उपदेश प्रदान किया था। (भगवान्‌ने प्रपञ्च-सृष्टिसे पूर्व ब्रह्माको भागवत धर्मका उपदेश दिया था।) देवसृष्टिके पहले ब्रह्माका आविर्भाव-काल है। पारमार्थिकताके अभावके कारण जो आतङ्क उपस्थित हुआ है, उसका निराकरण करते हुए श्रीगौरसुन्दरने आश्वस्त करते हुए कहा है—'आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश। कभु ना बाँधिवे तोमाय विषय तरङ्ग' अर्थात् मेरी आज्ञासे गुरु बनकर—कृष्णके उपदेश सुनाकर इस देशकी रक्षा करो। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि विषयकी तरङ्गें तुम्हें कभी बाँध नहीं सकेंगी॥ १०॥

आदि-मध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्॥ ११॥
सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥ १२॥

इस श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य और अन्त्य भागमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाले बहुत-से आख्यान हैं, जिनसे संयुक्त हरिलीलाकथामृत वितरणसे सत्पुरुष एवं देवता अति आनन्दित होते हैं। इसमें अखिल वेदान्त-उपनिषद्का सारभाग अर्थात् वेदादि सार, वेदमध्यसार एवं वेदान्तका सारभाग वर्णित हुआ है। इसमें आत्मैकत्वस्वरूप (आत्मासे अभिन्न) अद्वितीय ब्रह्मवस्तु विषयक विचार हैं और कैवल्य (केवला भक्ति अर्थात् प्रेमभक्ति) ही इसका एकमात्र फल (प्रयोजन) है।

वास्तव वस्तु स्वयंरूप कृष्ण ही एक सम्बन्ध है, कृष्णसेवैक-निष्ठा ही एक अभिधेय है, कृष्णप्रेमैक-निष्ठा ही केवला भक्ति है। भगवत्-निष्ठा द्वारा भक्ति ही समस्त ज्ञानका परम सुष्टु आदर्श है। केवला भक्ति ही प्रेम नामक प्रयोजनके कैवल्य शब्दकी सार्थकता करती है॥ ११-१२॥

प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

जो व्यक्ति भाद्रपद मासकी पूर्णिमा-तिथिपर श्रीमद्भागवत-पुराणको सोनेके सिंहासनपर आरूढ़ कराके उसका दान करता है, उसे परमगति प्राप्त होती है॥ १३॥

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम्॥ १४॥

जबतक अमृतका सागर-स्वरूप श्रीमद्भागवत पुराण कर्णगोचर नहीं होता, तब तक अन्यान्य पुराण साधु-समाजमें स्थान प्राप्त करते हैं। (प्रौष्ठपदी अर्थात् भाद्रमासकी पूर्णिमा तिथिपर मुनीन्द्र

श्रीमन् शुकदेवजी द्वारा यह शास्त्र सम्पन्न किया गया था। जब तक श्रीमद्भागवत-सूर्यको नहीं देखा जाता, तभी तक अन्यान्य नक्षत्र रूपी पुराणोंका प्रभाव रहता है।)॥ १४॥

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ १५॥

श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तके सारभूतरूपमें कहा गया है। जो इसके रसामृतास्वादनसे सन्तुष्ट एवं तृप्त हैं, उनकी अन्यत्र कहीं भी आसक्ति नहीं हो सकती। (प्रापञ्चिक बुद्धिसे चिन्मयरसको जड़रसके समान समझनेके कारण दुर्बुद्धिका उदय होता है और ऐसे लोग श्रीमद्भागवतको समस्त वेदान्तके सार-रूपमें धारण करनेमें असमर्थ होते हैं। चिन्मय रसामृतसे जो तृप्त हैं, उन्हें कृष्णेतर साहित्यमें रुचि नहीं रहती।)॥ १५॥

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥ १६॥

हे द्विजगणो! जिस प्रकार सर्वपाप-विनाशत्वके कारण गङ्गा सभी पुण्य नदियोंसे श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्टत्वके कारण विष्णु सभी देवताओंसे श्रेष्ठ हैं, भागवत धर्मके उपदेष्टाके कारण शिव सभी वैष्णवोंसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण समस्त पुराणोंमें श्रेष्ठ है॥ १६॥

क्षेत्राणाञ्चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः॥ १७॥

हे द्विजगण! सभी पुण्य-स्थानोंमें जिस प्रकार काशीधाम सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वोत्तम है॥ १७॥

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ १८॥

यह श्रीमद्भागवत नामक विशुद्ध पुराण वैष्णवोंकी परम प्रिय वस्तु है। इस पुराणमें जीवनमुक्त परमहंसों द्वारा लभ्य सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय और मायाके लेशसे रहित दिव्य ज्ञानका वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी प्रकाशित है। जो मनुष्य भक्तिके साथ इसका श्रवण, पठन और मनन करता है, उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है॥ १८॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥ १९॥

जिन्होंने कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके निकट इस ज्ञान-प्रदीपको (श्रीमद्भागवतको) प्रकाशित किया था, अनन्तर ब्रह्माजीके रूपमें महर्षि नारदजीको, नारदजीके रूपमें महर्षि वेदव्यासको, वेदव्यासके रूपमें योगीन्द्र शुकदेवजीको और शुकदेवके रूपमें करुणा पूर्वक अनुग्रह-वर्षण करते हुए शापोपविष्ट विष्णुरात महाराज परीक्षित्‌के लिए प्रकाशित किया था, उसी विशुद्ध, विमल, शोक-रहित, अमृत, परम-सत्यस्वरूप श्रीनारायण तत्त्वका हम ध्यान करते हैं। (जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्वर्गकी अभिलाषा करते हैं—ऐसे कपटयुक्त व्यक्ति प्रेमकी धारणा करनेमें असमर्थ होते हैं, इसीलिए स्पष्टतः कहा है—जो कल्मष युक्त, शोकयुक्त, परिणामशील एवं अशुद्ध हैं, उनके लिए सत्यवस्तुके ध्यानकी सम्भावना नहीं है। गायत्री द्वारा जिस प्रकार इस ग्रन्थका आरम्भ किया गया था, उसी प्रकार गायत्री द्वारा ही उपसंहार किया गया है। यह ग्रन्थ ब्रह्मविद्याका ग्रन्थ है; यह साक्षात् कृष्णलीलामय है। इसके अनुक्षण अनुशीलनके प्रभावसे जीव बद्धावस्थाको पार करके अधोक्षज-सेव्यका ध्यान कर सकते हैं।)॥ १९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥ २०॥

हम उन विश्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको प्रणाम करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मोक्षाभिलाषी ब्रह्माको इस श्रीमद्भागवत महापुराणका उपदेश किया था। (उपदेशसे पूर्व ब्रह्माजीकी मुक्तिकी इच्छा थी किन्तु उपदेशके बाद प्रेम-विषयमें उनकी आकाङ्क्षा जाग उठी और मोक्षके प्रति उपेक्षा हो गयी।)॥ २०॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।
संसारसर्प्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ २१॥

संसार-रूप काल-सर्पने जिनका दंशन कर लिया था, उन राजा परीक्षित्को जिन्होंने मुक्त किया था, उन ब्रह्म-स्वरूप योगीन्द्र शुकदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। (जिस प्रकार अर्जुनका मोह गीताशास्त्र द्वारा, उद्धवजीका मोह एकादश-स्कन्ध द्वारा भगवान्ने नष्ट किया था, उसी प्रकार परीक्षित्के संसारको श्रीशुकदेवजीने नष्ट किया था—यह प्राकृत लोकदृष्टिसे कहा जाता है। श्रीकृष्णने कृपापूर्वक परीक्षित्को युधिष्ठिरके लिए दान दिया था और स्वयं उन्हें सर्वक्षण संरक्षण प्रदान करते हैं—ऐसे विष्णुरात परीक्षित्के लिए संसार हो नहीं सकता। सर्प-विष-हरण-मन्त्र लोगोंके अर्थ-ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार अर्थ जानें अथवा न जानें श्रीमद्भागवतका शब्द-शब्द संसार-विषको समूल नष्ट कर देता है। श्रीकृष्णचन्द्र ही सार्वकालिक सर्वजगत्-गुरु हैं, वे ही श्रीकृष्णचैतन्यरूपमें बद्धजीवके लिए अमन्दोदया करुणाका विस्तार करते हैं।)॥ २१॥

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥ २२॥

हे प्रभो! हे देवाधिदेव! हे श्रीकृष्ण! आप कृपा करके ऐसा विधान करें कि हम जब-जब जन्म ग्रहण करें, तब-तब आपके श्रीचरण-कमलोंमें यथार्थ एवं अविचल भक्तिका अभ्युदय होता रहे॥ २२॥

नामसङ्कीर्त्तनं यस्य सर्वपाप-प्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीभागवतमाहात्म्यं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

समाप्तमिदं द्वादश-स्कन्धात्मकं श्रीमद्भागवतम्।

जिनका नाम सङ्कीर्त्तन समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है और जिनके प्रति किया गया नमस्कार समस्त दुःखोंको हर लेनेवाला है, मैं उन परम पुरुष श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

❀ ❀ ❀